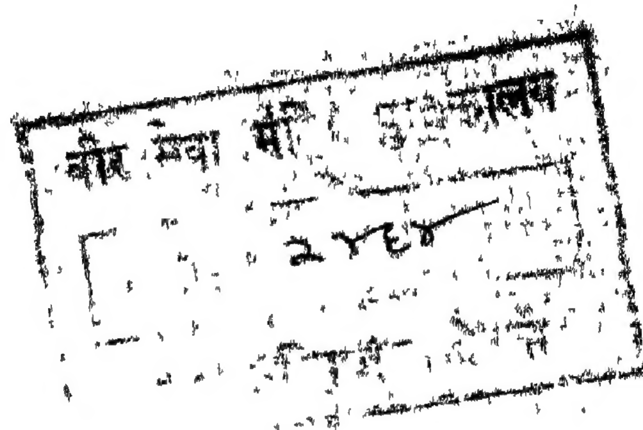

वीर सेवा मंदिर पुस्तकालय
२५६४

—॥ श्रीः ॥—

माधुरी

विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र

मासिक पत्रिका

वर्ष ४, खंड १

श्रावण-पौष, ३०२ तुलसी-संवत् (१९८२ वि०)

जुलाई-दिसंबर, १९२५ ई०

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

श्रीरूपनारायण पांडेय

प्रकाशक

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

वार्षिक मूल्य ७॥)]   [छमाही मूल्य ४)

मुद्रक तथा प्रकाशक—
केसरीदास सेठ, सुपरिंटेंडेंट
नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

लेख-सूची

१—पद्य

२—गद्य

चित्र-सूची

क—रंगीन

ख—व्यंग्य

ग— सादे



तुलसी-पूजन

[चित्रकार—श्रीयुत रामेश्वरप्रसाद वर्मा]

N. K. Press, Lucknow



[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ४ खंड १	भाद्रपद-शुक्ल ७, ३०२ तुलसी-संवत् (१९८२ वि०)— २६ अगस्त, १९२५ ई०	संख्या २ पूर्ण संख्या ३८

रूप-राशि

(चतुर्दशपदी)

था नभ निर्मल निरा। चतुर्दिक् चंद्र की
चाँदी-सी चाँदनी घनी थी छा रही।
प्रकृति पिला पीयूष अमल निज रूप का
हृदय हरे लेती थी। बाहर बाग़ में
आया मैं घर से। शासन था शांति का।
केवल करती थी कल-नाद निकट नदी।
फीका करती अन्य प्रकृति-सौंदर्य को
वहाँ एक रमणी तटिनी तट पर खड़ी
छिटकाती थी छटा रुचिर निज रूप की।
लखकर उसको स्थिर सिकता पर मैं हुआ—
सरक गई धरती मेरे पैरों-तले।
हत्तंत्री ने तुरत यही झंकार दी—
"इसका मुख-छवि-चुंबक ही तुझको यहाँ
निज सुशक्त किरणों से लाया खींच है।"

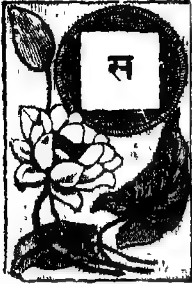
दुलारेलाल भार्गव

कब ?

कलप-कलप दिन कल्प-सम बीत रहे,
कृष्ण, वह 'शक्ति' साज नूतन सजेगी कब ?
गीता-ज्ञानवाली लाली पाकर निराली, बन
पूर्ण शोभाशाली राष्ट्र-कालिमा लजेगी कब ?
प्रीति की प्रतीति-रीति कब प्रकटेगी, प्रभु,
कुटिल कुनीति साथ स्वार्थ का तजेगी कब ?
मुसकान माधुरी की दीखेगी झलक कब ?
भगवान, त्राणकारी बाँसुरी बजेगी कब ॥१॥
आती जन्म-तिथियाँ हैं प्रतिवर्ष, जाती चली,
हर्ष उपजाती नहीं एक भी हृदय में !
जन्म-भूमि, कर्म-भूमि, लीला भूमि भारत का,
भूल क्यों रहे हो, भगवान, वृद्ध-वय में ?
अधिक प्रतीक्षा न कराओ नाथ, आओ-आओ,
हाथ गह साथ दीजे भक्तों की विजय में :
धर्म को बचाओ, फहराओ ध्वजा भारत की,
गाओ-गाओ कर्म-राग मुरली की लय में ॥२॥

रसिकेंद्र

भारत में हिंदुओं की दशा



सन् १९२१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से हिंदुओं के संबंध में जो बातें मालूम हो सकती हैं, उन्हें मैं इस लेख में देने का प्रयत्न करता हूँ। इस रिपोर्ट में हिंदू-शब्द का उपयोग उस अर्थ में नहीं किया गया, जिस अर्थ में अखिल-भारतवर्षीय हिंदू-महासभा ने किया है। इस महासभा के स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार हिंदुओं में आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, जैन, सिख और बौद्ध भी शामिल हैं। परंतु मनुष्य-गणना-रिपोर्ट में हिंदू-शब्द का सनातनधर्मी हिंदुओं के लिये ही उपयोग किया गया है, और आर्यसमाजी तथा ब्रह्मसमाजी व्यक्तियों की संख्या अलग दी गई है। जैन, सिख और बौद्धों को हिंदुओं से अलग माना गया है। मैं इस लेख में भारतवर्षीय हिंदू-महासभा के वक्तव्य के अनुसार ही हिंदू-शब्द का उपयोग करूँगा।

भारत में हिंदुओं की संख्या ही सबसे अधिक है। मार्च सन् १९२१ में यह संख्या नीचे-लिखे अनुसार थी—

				संपूर्ण जन-संख्या का फ़ी सैकड़ा
सनातनी	२१ करोड़	६२ लाख	६१ हज़ार	६८·४
आर्यसमाजी		४ ,,	६८ ,,	०·१
ब्रह्मसमाजी			६ ,,	
सिख		३२ ,,	३९ ,,	१·०
जैन		११ ,,	७८ ,,	०·४
बौद्ध	१ ,,	१५ ,,	७१ ,,	३·७
संपूर्ण हिंदू	२३ करोड़	२७ लाख	२३ हज़ार	७३·६

इस कोष्टक से विदित होता है कि भारत में हिंदुओं की संख्या संपूर्ण जन-संख्या का ७३·६ प्रति सैकड़ा है, और सनातनधर्मी क़रीब ६८·४ प्रति सैकड़ा। आर्यसमाजियों की संख्या केवल ४ लाख ६८ हज़ार है, और ब्रह्मसमाजियों की संख्या सबसे कम—केवल ६,३८८—है। इनमें से ४६०० बंगाल, बिहार और उड़ीसा में निवास करते हैं। गत दस वर्षों में इनकी संख्या में १६ फ़ी सैकड़े की वृद्धि हुई है। ४ लाख ६८ हज़ार आर्यसमाजियों में से २ लाख तो युक्त-प्रांत में और २ लाख २३ हज़ार पंजाब में निवास करते हैं। काश्मीर-राज्य में इनकी संख्या २३ हज़ार है, जो दस वर्ष पहले केवल १ हज़ार थी। बिहार में आर्यसमाजियों की संख्या केवल ४½ हज़ार और अन्य प्रांतों में इससे भी कम है। गत दस वर्षों में आर्यसमाजियों की संख्या में ९२ फ़ी सैकड़े की वृद्धि हुई है। यद्यपि शुद्धि के कारण इनकी कुछ संख्या अवश्य बढ़ी है, तो भी उनकी वृद्धि अधिकतर सनातनधर्मियों में से ही हुई है। सन् १९२१ के बाद से शुद्धि-आंदोलन ने अधिक ज़ोर पकड़ा है; और संभव है कि इस समय आर्यसमाजियों की संख्या पाँच लाख से अधिक हो गई हो।

गत चार मनुष्य-गणनाओं की रिपोर्टें देखने से मालूम होता है कि संपूर्ण हिंदुओं की संख्या—ख़ासकर सनातनधर्मियों की संख्या—मुसलमान और ईसाइयों की अपेक्षा बराबर कम होती जा रही है। नीचे के कोष्टक में यह बतलाया गया है कि गत चार मनुष्य-गणनाओं के समय भारत में फ़ी सैकड़े कितने व्यक्ति हिंदू थे।

सन्	फ़ी सैकड़े कितने व्यक्ति			
	सनातनधर्मी	सिख	जैन	बौद्ध
१८९१	७२·३	०·६७	०·४९	२·४८
१९०१	७०·३	०·७५	०·४५	३·२२
१९११	६९·३	०·९६	०·४०	३·४२
१९२१	६८·४	१·०३	०·३७	३·६६

इस कोष्टक से सिख और बौद्धों की वृद्धि तथा सनातनधर्मी और जैनों के भयंकर ह्रास का पता लगता है। बौद्ध अधिकतर बर्मा और सिक्कम रियासतों में ही रहते हैं। इनकी वृद्धि बर्मा की जन-संख्या की वृद्धि के बराबर हुई है, जो कि स्वाभाविक ही है। सिख अधिकतर पंजाब और उस प्रांत के रक्षित राज्यों में ही निवास करते हैं। गत तीस वर्षों में इनकी बहुत वृद्धि हुई है। सन् १८९१ में इनकी संख्या १९ लाख थी, अब १९२१ में वह ३२ लाख से अधिक हो गई है। सिखों में बाल-विवाह कम होता है, इससे उनकी मृत्यु-संख्या अन्य हिंदुओं से कम है। तो

भी इनकी वृद्धि अधिकतर सनातनधर्मियों में से ही हुई है। जैन प्रायः सब प्रांतों और राज्यों में पाए जाते हैं। इनमें बाल-विवाह की प्रथा बहुत अधिक प्रचलित है, और विधवा-विवाह भी बंद है। इसी कारण इनकी संख्या कम हो रही है। इन लोगों को बाल-विवाह शीघ्र बंद करना चाहिए।

सनातनधर्मी हिंदुओं की कमी बहुत भयंकर है। गत तीस वर्षों में ही इनकी संख्या ४ प्रति सैकड़े कम हो गई है। जिस गति से सनातनधर्मियों का ह्रास हो रहा है, वही सिलसिला अगर जारी रहा, तो दो शताब्दी के अंदर ही भारत की अधिकांश जनता अहिंदू हो जायगी, और छः शताब्दियों के अंदर ही इनकी संख्या २१ करोड़ से कम होकर शायद २१ लाख ही रह जायगी! क्या इस समय समस्त सनातनधर्मियों का यह प्रधान कर्तव्य नहीं है कि वे इस ह्रास को तन-मन-धन से रोकें? इस ह्रास के प्रधान कारण दो हैं—

(१) बाल-विवाह और दारिद्रता

(२) धर्म-परिवर्तन

बाल-विवाह और दारिद्रता के कारण सनातनधर्मियों की मृत्यु-संख्या बहुत अधिक बढ़ गई है। मुसलमानों की मृत्यु-संख्या इनसे कम है। नीचे के कोष्ठक में हिंदुओं और मुसलमानों की, गत दस वर्षों की, फ़ी हज़ार वार्षिक मृत्यु-संख्या दी जाती है—

सन्	फ़ी हज़ार	मृत्यु-संख्या
	हिंदू	मुसलमान
१९११	३३·४	२१·२
१९१२	३०·४	२७·६
१९१३	२९·०	२८·४
१९१४	३०·१	३०·२
१९१५	२९·१	३२·०
१९१६	२९·२	२८·३
१९१७	३३·३	३१·९
१९१८	६४·६	५६·१
१९१९	३६·४	३३·६
१९२०	३१·०	३३·०

बाल-विवाह की प्रथा हिंदुओं में कितनी प्रचलित है, यह आगे बतलाया जायगा। मुसलमान तथा ईसाई मिशनरी समय-समय पर निर्बोध, सरल मनुष्यों, दुर्बल बालक-बालिकाओं को तथा उच्छृंखल विवेक-हीन युवकों को नाना प्रकार के प्रलोभन देकर अपने धर्म में दीक्षित करते हैं। ग़रीब को वे धन और वस्त्र का लोभ देते हैं, निर्बोध सरल प्राणी के सामने पुराणों की गाथाओं का ऊटपटाँग अर्थ करके हिंदू-धर्म के ऊपर से उनकी श्रद्धा हटाने की चेष्टा करते हैं, और उन्मत्त युवकों को रूप-माधुरी के जाल में फँसाने की चेष्टा करते हैं। इसी धर्म-परिवर्तन के कारण हिंदुओं की संख्या बराबर कम हो रही है। अधिकतर धर्म-परिवर्तन उन्हीं जातियों से होता है, जिनको हिंदू-समाज ने अछूत मान रक्खा है, और जिनके साथ ऐसा निंदनीय व्यवहार किया जाता है, जैसा विधर्मियों के साथ भी नहीं किया जाता। इन अछूत कहलानेवाले व्यक्तियों की संख्या मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में ५ करोड़ २६ लाख ८० हज़ार बतलाई गई है, जो प्रांतों के अनुसार नीचे दी जाती है—

प्रांत व राज्य	हिंदुओं में अछूत कहलानेवाले व्यक्तियों की संख्या	
आसाम	२०	लाख
बंगाल	९०	,,
बिहार और उड़ीसा	८०	,,
बंबई-प्रांत	२८	,,
मध्य-प्रांत और बरार	३३	,,
मद्रास-प्रांत	६४	,,
पंजाब	२८	,,
युक्त-प्रांत	९०	,,
बड़ौदा-राज्य	२	,,
मध्य-भारत	११	,,
ग्वालियर-राज्य	५	,,
हैदराबाद-राज्य	२३	,,
मैसूर-राज्य	९	,,
राजपूताना	२३	,,
ट्रावनकोर	१२	,,

यदि हिंदू-समाज ने अछूत कहलानेवाले भाइयों को शीघ्र न अपनाया, और उनके प्रति उचित व्यवहार न किया, तो धीरे-धीरे ये ५ करोड़ २६ लाख हिंदू

हमेशा के लिये अन्य धर्म स्वीकार कर लेंगे, और गोरक्षक की जगह गोभक्षक हो जायँगे। इसके सिवा हमने अपने सनातनधर्म को इतना अनुदार और संकुचित बना दिया है कि एक बार जो भूले-भटके हमें छोड़ जाता है, वह फिर इस धर्म में प्रवेश करने का अधिकारी ही नहीं रहता! हिंदू-जाति को भयंकर ह्रास से बचाने के लिये हमारा यह कर्तव्य है कि शुद्धि की तरफ़ उचित ध्यान दें और बिछुड़े हुए भाइयों को उचित प्रायश्चित्त से शुद्ध करके फिर से हिंदू-समाज में मिला लें।

मार्च सन् १९२१ में भिन्न-भिन्न प्रांतों और राज्यों में सनातनधर्मी हिंदुओं की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी—

प्रांत व राज्य	सनातनधर्मियों की संख्या	सन् १९२१ में फ़ी सैकड़े कितने व्यक्ति हिंदू थे	सन् १९२१ में फ़ी सैकड़े कितने व्यक्ति मुसलमान थे
आसाम	४१ लाख	५४	२९
बंगाल	२ करोड़ २ ,,	४३	५४
बिहार और उड़ीसा	२ ,, ८१ ,,	८३	११
बंबई	१ ,, ४८ ,,	७६	२०
बर्मा	५ ,,	४	४
मध्य-प्रांत व उत्तर बरार	१ ,, १६ ,,	८३	४
मदरास	३ ,, ७५ ,,	८९	७
उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत	१½ ,,	७	९२
पंजाब	६४ ,,	३१	५५
युक्त-प्रांत	३ ,, ८४ ,,	८५	१४
अन्य ब्रिटिश-भाग	८ ,,	७०	२०
संपूर्ण ब्रिटिश भारत	१६ करोड़ २७ लाख	६६	२४
बड़ोदा-राज्य	१७ लाख	८२	८
मध्य-भारत	५२ ,,	८७	५
राजपूताना	८२ ,,	८३	९
ग्वालियर-राज्य	२८ ,,	८८	५
हैदराबाद	१ क० ६ ,,	८५	१०
काश्मीर	६⅔ ,,	२०	७७
मैसूर	५४ ,,	९२	६
ट्रावनकोर-राज्य	२५ ,,	६४	७

बिहार और उड़ीसा, मध्य-प्रांत और बरार, मदरास, युक्त-प्रांत, बड़ोदा-राज्य, मध्य-भारत, राजपूताना, ग्वालियर-राज्य, हैदराबाद-राज्य और मैसूर-राज्य में हिंदुओं की संख्या संपूर्ण जन-संख्या के ८० फ़ी सैकड़े से अधिक है। बर्मा, उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत और काश्मीर में हिंदुओं की संख्या बहुत कम है। पंजाब में सनातनधर्मियों की संख्या संपूर्ण जन-संख्या के एक-तिहाई से भी कम है। बंगाल, उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत, पंजाब और काश्मीर-राज्य में मुसलमानों की संख्या हिंदुओं से अधिक है। बंगाल और पंजाब में हिंदुओं की संख्या गत ४० वर्षों से बराबर कम हो रही है। इस कमी को रोकने का दत्तचित्त होकर शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए।

हिंदुओं में बाल-विवाह की निंदनीय प्रथा का बहुत प्रचार है। नीचे के कोष्ठक में यह बतलाया जाता है कि मार्च सन् १९२१ में १५ वर्ष से कम उमर की फ़ी सैकड़े कितनी लड़कियाँ और २० वर्ष से कम उमर के फ़ी सैकड़े कितने लड़के विवाहित थे—

हिंदुओं के भेद	फ़ी सैकड़े कितने विवाहित थे — लड़के: ० से ५ वर्ष	लड़के: ५ से १० वर्ष	लड़के: १० से १५ वर्ष	लड़के: १५ से २० वर्ष	लड़कियाँ: ० से ५ वर्ष	लड़कियाँ: ५ से १० वर्ष	लड़कियाँ: १० से १५ वर्ष
सनातनधर्मी	०·७	४·२	१४·४	३३·९	१·४	११·१	४३·७
आर्यसमाजी	०·१	१·६	१०·८	३९·४	०·२	४·६	३·१
ब्रह्मसमाजी	०·१	०·८	३·०	१४·४	×	२·४	११·०
सिख	×	०·६	६·३	२५·७	०·१	२·५	२२·३
जैन	०·७	१·३	५·६	२८·७	१·२	५·७	२९·३
बौद्ध	×	×	०·१	६·३	×	×	०·४

इस कोष्ठक से विदित होता है कि बौद्ध, ब्रह्मसमाजी, आर्यसमाजी और सिखों में बाल-विवाह का अधिक प्रचार नहीं है। सनातनधर्मी और जैनों में इसका ख़ासा प्रचार है। सनातनधर्मियों में तो वह सबसे अधिक है। नीचे विवाहित सनातनधर्मी लड़के-लड़कियों की संख्या दी जाती है—

उमर	विवाहित लड़कों की संख्या	विवाहित लड़कियों की संख्या
०-१	९२ हज़ार	१ लाख ८४ हज़ार

उमर	विवाहित लड़कों की संख्या	विवाहित लड़कियों की संख्या
५-१०	६ लाख ६१ हज़ार	१७ लाख १५ हज़ार
१०-१५	१६ ,, ७७ ,,	४६ ,, ४७ ,,
१५-२०	३१ ,, ३५ ,,	६६ ,, ६८ ,,

क्या यह आश्चर्य और खेद की बात नहीं कि सनातनधर्मियों में पाँच वर्ष से कम उमर के १२ हज़ार लड़के और १ लाख ८४ हज़ार लड़कियाँ सन् १९२१ में विवाहित थीं ? ऐसे विवाहित लड़के लड़कियों की संख्या, जिनकी उमर एक वर्ष से भी कम थी, क्रमश ६ हज़ार और ७ हज़ार थी। इस बाल-विवाह के भयंकर दुष्परिणामों से कौन नहीं परिचित है ? हमारी सामाजिक दुर्दशा का यह भी एक प्रधान कारण है। हिंदू-समाज के नेताओं को इस निंदनीय प्रथा को शीघ्र रोकने का तत्परता से प्रयत्न करना चाहिए।

हिंदुओं में विधवाओं की संख्या भी बहुत अधिक है। नीचे के कोष्टक में यह बतलाया गया है कि हमारे समाज में उमर के अनुसार फ़ी सैकड़े कितनी स्त्रियाँ और लड़कियाँ, सन १९२१ में, विधवा थीं।

उमर	फ़ी सैकड़े कितनी स्त्रियाँ या लड़कियाँ विधवा थीं					
	सनातन-धर्मी	आर्य-समाजी	ब्रह्म-समाजी	सिक्ख	जैन	बौद्ध
०-५	०·१	×		×	०·२	×
५-१०	०·६	०·२	×	०·१	०·६	×
१०-१५	२·०	१·१	०·८	०·३	१·८	×
१५-२०	४·८	४·२	४·८	१·४	४·२	१·६
२०-३०	१०·३	६·१	८·	४·१	१५·६	८·७
३०-४०	२३·१	२०·६	१५·१	११·४	३४·८	११·४
४०-६०	५१·६	४४·३	३६·१	३४·७	६२·०	२८·२
६०सऊपर	८३·४	४·५	७४·८	७४·१	८६·७	६५·८
संपूर्ण	१६·१	१४·६	१२·८	१३·५	२५·५	११·५

इस कोष्टक से मालूम होता है कि जैनों और सनातनधर्मियों में विधवाओं की संख्या सबसे अधिक है। जैनों में सनातनधर्मियों के बराबर बाल-विवाह प्रचलित नहीं है, तो भी उनमें विधवाओं की संख्या सनातनधर्मियों से बहुत अधिक है। इसका प्रधान कारण शायद यह है कि जैनों में विधवा-विवाह बिलकुल बंद है। सबसे कम विधवाओं की संख्या बौद्धों में है। सिखों, ब्रह्मसमाजियों और आर्यसमाजियों में भी वह बहुत अधिक नहीं है। बाल विधवाओं की संख्या सनातनधर्मियों में ही अधिक है, और यह, बाल-विवाह की कुप्रथा का प्रत्यक्ष दुष्परिणाम है। सनातनधर्मियों में बाल-विधवाओं की संख्या सन १९२१ में नीचे लिखे अनुसार थी—

उमर	सनातनधर्मी बाल-विधवाओं की संख्या
०-१	५९७
१-२	४९४
२-३	१,२५७
३-४	२,८३७
४-५	६,७०७
०-५	११,८९२
५-१०	८५,०३७
१०-१५	२ ३३,१४७
१५-२०	३,९६,१७२
०-२०	७,२६,२४८

इस प्रकार सनातनधर्मियों में बाल-विधवाओं की संख्या ७ लाख २६ हज़ार है, जिसमें क़रीब ११ हज़ार ९ सौ विधवाओं की उमर तो पाँच वर्ष से भी कम है। हमारे समाज में ५९७ विधवाएँ तो ऐसी दुधमुँही बच्चियाँ हैं, जिनकी अवस्था अभी एक वर्ष भी नहीं हुई। संसार में शायद ही ऐसा अन्य कोई सभ्य देश हो, जिसमें पाँच वर्ष से कम उमर की लड़कियाँ विधवा हो गई हों। हमारे समाज में विधवाओं की—खासकर बाल-विधवाओं की—दशा कैसी शोचनीय है, यह किसी से छिपा नहीं। इनकी दशा सुधारने का प्रयत्न शीघ्र होना चाहिए। प्रत्येक बड़े शहर में विधवा-आश्रम अवश्य खोला जाना

चाहिए। जिन जातियों में विधवा-विवाह प्रचलित नहीं है, उनमें बाल-विधवाओं का विवाह जारी किए जाने का प्रयत्न भी होना चाहिए।

अब हमें यह जानना चाहिए कि हिंदुओं में साक्षर स्त्री-पुरुषों की संख्या कितनी है। नीचे के कोष्टक में यह बतलाया जाता है कि सन् १९२१ में अक्षर-ज्ञान-प्राप्त स्त्री-पुरुषों की संख्या क्या थी—

हिंदुओं के भेद	अक्षर-ज्ञान-प्राप्त पुरुषों की संख्या (हज़ार में)	५ से अधिक उमर के फ़ी सैकड़े साक्षर पुरुषों की संख्या	अक्षर-ज्ञान-प्राप्त स्त्रियों की संख्या (हज़ार में)	५ से अधिक उमर की फ़ी सैकड़े साक्षर स्त्रियों की संख्या
सनातनधर्मी	१,२७,८३	१३·०	१४,५४	१·६
आर्यसमाजी	३९	२८·४	६	११·२
ब्रह्मसमाजी	२	७८·४	१ २/३	६५·७
सिख	१,७३	१०·७	१८	१·६
जैन	३,१३	५०·५	४३	८·७
बौद्ध	२७,६९	५५·४	५,६३	११·०

इस कोष्टक से पता लगता है कि सनातनधर्मियों और सिखों में अक्षर-ज्ञान-प्राप्त स्त्री-पुरुषों की संख्या, अर्थात् ऐसे स्त्री-पुरुषों की संख्या, जो किसी प्रकार से पत्र पढ़ सकते और सीधे-टेढ़े अक्षरों में अपना नाम या पत्र लिख सकते हैं, बहुत ही कम है। सनातनधर्मियों में साक्षर पुरुषों की संख्या केवल १ करोड़ २७ लाख है, जो पाँच साल से अधिक उमरवाले पुरुषों के १३ फ़ी सैकड़े के बराबर है। पाँच वर्ष से अधिक उमर वाले प्रत्येक १०० पुरुषों में ८७ निरक्षर भट्टाचार्य हैं! हैदराबाद-राज्य, मध्य-भारत, राजपूताने, युक्तप्रांत और मध्य-प्रदेश में अपढ़ सनातनधर्मियों की संख्या ९० प्रति सैकड़े से भी अधिक है। हमारे देश में साक्षर स्त्रियों की संख्या तो बहुत ही कम है। सारे भारत में सनातन-धर्मी साक्षर स्त्रियों की संख्या केवल १४ लाख ५४ हज़ार है, जो ५ वर्ष से अधिक उमर की स्त्रियों के १.६ फ़ी सैकड़े के बराबर है। हमारे समाज में ९८ फ़ी सैकड़े से अधिक स्त्रियाँ लिखना-पढ़ना कुछ नहीं जानतीं। इतने वर्षों से ब्रिटिश-सरकार और देशी राज्यों-द्वारा शिक्षा-प्रचार के संबंध में जो कुछ प्रयत्न हुए हैं, उन्हीं का यह फल है! संसार में शायद ही कोई ऐसा सभ्य देश हो, जिसमें अपढ़ स्त्री-पुरुषों की संख्या इतनी अधिक हो, जितनी सनातनधर्मी और सिखों में है। हमारे देश में ही आर्य-समाजी और जैन लोग सनातनधर्मियों से शिक्षा-प्रचार में बहुत आगे बढ़े हुए हैं, और ब्रह्मसमाजियों ने तो इस संबंध में अपनी बहुत उन्नति कर ली है। ब्रह्मसमाजियों में ७८ फ़ी सैकड़े पुरुष और ६५ फ़ी सैकड़े स्त्रियाँ साक्षर हैं। अब हमको यह जानना चाहिए कि हम लोग अपने लड़के-लड़कियों में शिक्षा-प्रचार की ओर कैसा ध्यान दे रहे हैं। नीचे के कोष्टक में पंद्रह वर्ष से कम उमर के साक्षर लड़के लड़कियों की संख्या दी जाती है, और यह बतलाया जाता है कि दस से पंद्रह वर्ष तक के संपूर्ण लड़के लड़कियों में से फ़ी सैकड़े कितने लड़की-लड़के सन् १९२१ में साक्षर थे

हिंदुओं के भेद	१५ वर्ष से कम उमर के साक्षर लड़कों की संख्या	१० से १५ वर्ष के फ़ी सैकड़े कितने लड़के साक्षर थे	१५ वर्ष से कम उमर की साक्षर लड़कियों की संख्या	१० से १५ वर्ष की फ़ी सैकड़े कितनी लड़कियाँ साक्षर थीं
सनातन-धर्मी	१९ लाख ४० हज़ार	१०·७	३ लाख ९२ हज़ार	२·३
आर्य-समाजी	७ हज़ार	३२·७	२ हज़ार	१४·६
ब्रह्म समाजी	४००	७६·६	४००	७४·६
सिख	१७ हज़ार	७·४	४ हज़ार	२·१
जैन	५२ हज़ार	५२·३	१३ हज़ार	१४·५
बौद्ध	३ लाख ४४ हज़ार	३६·२	१ लाख ७ हज़ार	११·२

इस कोष्टक से निम्न-लिखित बातें मालूम होती हैं—

(१) ब्रह्मसमाज में लड़के-लड़कियों की शिक्षा की तरफ़ सबसे अधिक ध्यान दिया जाता है। इस समाज

में १० से १५ वर्ष की उमर के ७० फ़ी सैकड़े से अधिक लड़के-लड़की साक्षर हैं। यह समाज ही केवल ऐसा है, जिसमें लड़कों और लड़कियों की शिक्षा की तरफ़ बराबर ध्यान दिया जाता है। सिख और सनातनधर्मियों में तो लड़कियों की शिक्षा की तरफ़ बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता।

(२) सिख और सनातनधर्मियों में लड़कों की शिक्षा की तरफ़ भी बहुत कम ध्यान दिया जाता है। सनातनधर्मियों में १० से १५ वर्ष के प्रत्येक १० लड़कों में ९ लड़के अपढ़ हैं। यह हमारे लिये बहुत लज्जा की बात है कि हम अपने लड़के-लड़कियों की शिक्षा की तरफ़ उचित ध्यान नहीं दे रहे हैं। शिक्षा-प्रचार पर ही देश और समाज की सब प्रकार की उन्नति निर्भर है। हमें शिक्षा-प्रचार की तरफ़ विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए, और इस तरह से प्रयत्न करना चाहिए कि आगामी मनुष्य-गणना (सन् १९३१) तक सनातनधर्मियों में कम-से-कम ५० फ़ी सैकड़े लड़के और २५ फ़ी सैकड़े लड़कियाँ तो साक्षर हों।

(३) जैनियों ने अपने लड़के-लड़कियों में शिक्षा-प्रचार बौद्धों से भी अधिक कर लिया है। उनको ब्रह्मसमाजियों की बराबरी करने का प्रयत्न करना चाहिए। बौद्धों को भी अधिक उत्साह से शिक्षा-प्रचार का पवित्र कार्य करना चाहिए।

(४) दस से पंद्रह वर्ष के इतने अधिक अपढ़ लड़के-लड़कियों को अपढ़ देखते हुए प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य की जाने की आवश्यकता स्वयंसिद्ध है। पहले प्रारंभिक शिक्षा लड़कों के लिये अनिवार्य की जानी चाहिए। जिन शहरों में प्रारंभिक शिक्षा अभी तक अनिवार्य नहीं की गई, वहाँ शीघ्र की जानी चाहिए। ग्रामों में भी प्रारंभिक शिक्षा अनिवार्य करने का प्रयत्न देशी राज्यों, प्रांतिक सरकारों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों को करना चाहिए। शिक्षा-प्रणाली में भी उचित परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

हिंदुओं में अँगरेज़ी-शिक्षा का प्रचार भी धीरे-धीरे हो रहा है। अगले कोष्ठक में अँगरेज़ी के अक्षर-ज्ञान-प्राप्त स्त्री-पुरुषों की संख्या देकर यह बतलाया जाता है कि सन् १९२१ में फ़ी सैकड़े कितने स्त्री-पुरुष अँगरेज़ी जानते थे—

हिंदुओं के भेद	अँगरेज़ी जाननेवाले पुरुषों की संख्या	पाँच वर्ष से ऊपर के फ़ी सैकड़े कितने पुरुष अँगरेज़ी जानते थे	अँगरेज़ी जाननेवाली स्त्रियों की संख्या	पाँच वर्ष से ऊपर की फ़ी सैकड़े कितनी स्त्रियाँ अँगरेज़ी जानती थीं
सनातनधर्मी	४ ला० २७९०	१·६	६६९००	०·०७
आर्यसमाजी	८ ,,	६·६	५,५००	०·६०
ब्रह्मसमाजी	१⅔ ,,	५१·०	१,१००	५२·५०
सिख	२१ ,,	१·३	९५०	०·०५
जैन	२२ ,,	४·१	९००	०·१८
बौद्ध	६८ ,,	०·९	६,६००	०·१३

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि ब्रह्मसमाजियों में सबसे अधिक अँगरेज़ी-शिक्षा का प्रचार हुआ है। इस समाज में आधे से अधिक स्त्री-पुरुष ऐसे हैं, जिनको अँगरेज़ी की शिक्षा प्राप्त है। आर्यसमाजियों और जैनियों में भी अँगरेज़ी-शिक्षा का प्रचार कुछ कम नहीं है। सबसे कम अँगरेज़ी का प्रचार सिखों और सनातनधर्मियों में हुआ है।

हिंदू-समाज में असंख्य जातियाँ होने के कारण एकता का बिलकुल अभाव है। इस समय हिंदुओं में संगठन की अत्यंत आवश्यकता है। अखिल भारतवर्षीय हिंदू-महासभा की स्थापना हो गई है। प्रत्येक शहर और ग्राम में इसकी शाखाएँ स्थापित हो जानी चाहिए। प्रत्येक हिंदू का यह प्रथम कर्तव्य है कि वह हिंदू-महासभा का सदस्य होकर हिंदू-जाति के उत्थान के लिये तन-मन-धन से प्रयत्न करे। भिन्न-भिन्न जातियों को भी अपना जातीय संगठन कर और हिंदू-महासभा से संबद्ध होकर उसके प्रस्तावों को कार्य-रूप में परिणत करने का, दत्तचित्त होकर, प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में कुछ प्रधान जातियों की, सन् १९२१ की, जन-संख्या दी हुई है। हम उसमें से कुछ हिंदू-जातियों की जन-संख्या नीचे देते हैं। इस कोष्ठक में उन सब हिंदू जातियों की जन-संख्या दी हुई है, जिनकी मनुष्य-संख्या सन् १९२१ में १० लाख से अधिक थी। शेष जातियाँ अपने महत्त्व के कारण चुन ली गई हैं।

क्रमानुसार नंबर	हिंदू-जातियों के नाम	सन् १९२१की जन-संख्या	पुरुषों की संख्या (हज़ार-में)	स्त्रियों की संख्या (हज़ार-में)
१	ब्राह्मण	१क ४२ला.५४ह०	७५, ४६	६७,०८
२	चमार	१ ,, १२ ,, ६० ,,	५७, ४०	५५ २०
३	अहीर	९० ,, २८ ,,	४७, ०१	४३,२७
४	राजपूत (हिंदू)	८० ,,३० ,,	४२, ८०	३७,५०
५	मराठा	६५ ,, ६६ ,,	३३, ८८	३१,७८
६	जाट (हिंदू)	४५ ,, ८० ,,	२५, ८५	१९,९५
७	कुर्मी	३७ ,, ८६ ,,	१९, ३९	१८,४७
८	तेली (हिंदू)	३५ ,, ०९ ,,	१७, ७६	१७,३३
९	कापू(मद्रास, हैदराबाद)	३३ ,, ७९ ,,	१६, ६७	१७,१२
१०	कुनबी	३२ ,, २८ ,,	१६, ६८	१५,६०
११	महार	३० ,, ०३ ,,	१४, ९१	१५,१२
१२	कुम्हार (हिंदू)	२९, ०५ ,,	१४, ८९	१४,१६
१३	कैवर्त (बंगाल, बिहार)	२८ ,, ७८ ,,	१४ ,५६	१४,२२
१४	पाली (मद्रास)	२७ ,, ०९ ,,	१३ ,८०	१४,२९
१५	बानिया	२८ ,, ०४ ,,	१४, ७७	१३,२७
१६	लिंगायत	२७ ,, ३८ ,,	१३, ९२	१३,४६
१७	वेल्लाला(मद्रास)	२७ ,, १५ ,,	१३, ४३	१३,७२
१८	कोली	२४ ,, ९७ ,,	१३, २९	११,६८
१९	परैया(मद्रास)	२४ ,, ०७ ,,	११, ७८	१२,२९
२०	नाई	२३ ,, ३५ ,,	१२, ०४	११,३१
२१	कायस्थ	२२ ,, १२ ,,	१२, १७	१०,९५
२२	नमः शूद्र	२१ ,, ७४ ,,	११, ०६	१०,६८
२३	मल्ल (बंगाल,मद्रास	१९ ,, ८७ ,	९, ९९	९,८८
२४	राजबंसी	१८ ,, १८ ,,	९, ४४	८,७४
२५	माली (हिंदू)	१७ ,, ८६ ,,	९, १४	८,७२
२६	धोबी (,,)	१६ ,, ८९ ,	८, ५८	८,३१
२७	मदीगा (मद्रास,मैसूर)	१६ ,, ८८ ,,	८, ४३	८,४५
२८	कोहरी	१६ला०८०ह०	८, ४७	८,३९
२९	लोध	१६ ,, १७ ,	८, ४२	७,७५
३०	पासी	१४ ,, ८८ ,,	७, ६४	७,२४
३१	गोल्ला(मद्रास)	१४ ,, १७ ,,	७, १६	७,०१
३२	धनगर(बंबई, मध्य-प्रांत)	१३ ,, ५६ ,,	६, ९१	६,६५
३३	नैयर	१३ ,, ११ ,,	६, ४३	६,६८
३४	वक्कलिगा (मैसूर)	१३ ,, ०४ ,,	६, ५७	६,४७
३५	गड़रिया	१३ ,, ०० ,	६, ८०	६,२०
३६	कमसाला (मद्रास)	१२ ,, ७८ ,,	६, २९	६,४९
३७	काछी	१२ ,, २९ ,,	६, ४३	५,८६
३८	गूजर (हिंदू)	११ ,, ९५ ,,	६, ६०	५,३५
३९	लोहार (,,)	११ ,, ७१ ,,	६, १३	५,५८
४०	भुँइहार ब्राह्मण	११ ,, ६७ ,,	५, ९९	५,६८
४१	कम्मा(मद्रास)	११ ,, ६० ,,	५ ,८८	५,७२
४२	केवट	११ ,, ४९ ,,	५, ६७	५,८२
४३	चुहरा(पंजाब)	११ ,, ४६ ,,	६, २५	५,२१
४४	बलीजा(मद्रास हैदराबाद)	१० ,, ७५ ,,	५, ३४	५,४१
४५	तेलिगा(मद्रास)	१० ,, ६६ ,,	५, २७	५,३९
४६	इलुवाँ (मद्रास)	१० ,, ४१ ,,	५, १२	५,२९
४७	गोंड(हिंदू)	१० ,, २७ ,,	५, ०६	५,२१
४८	कलवार	९ ,, ६६ ,,	४, ९३	४,७३
४९	भील (हिंदू)	९ ,, ६७ ,,	४, ९१	४,७६
५०	सुनार(,,)	९ ,, ६३ ,,	५, ०६	४,५७
५१	बढ़ई (,,)	८ ,, ८१ ,,	४, ५७	४,२४
५२	अरोरा	७ ,, ८२ ,,	४, ३०	५,५५
५३	लुनिया	७ ,, ६२ ,,	३, ७८	३,८४
५४	संथाल (हिंदू)	७ ,, ३९ ,,	३, ६८	३,७१
५५	क्षत्रिय	७ ,, ०४ ,,	३, ४८	३,५६
५६	मल्लाह	६ ,, ३५ ,,	३, ०४	३,३१
५७	बारी(बं०,बि०)	६ ,, १८ ,,	३, ०६	३,१२
५८	भंगी (हिंदू)	५ ,, ६१ ,,	२, ९४	२,६७
५९	खत्री	५ ,, ३२ ,,	२, ९९	२,३३
६०	हलवाई(बिहार)	१ ,, ४८ ,,	७४	७४

इस कोष्टक को देखने से मालूम होता है कि हिंदुओं में ऐसी कुछ जातियाँ हैं, जिनमें स्त्रियों की संख्या पुरुष से बहुत कम है। उनकी सामाजिक दशा अवश्य ही संतोष-प्रद न होगी। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जिनमें स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। ब्राह्मण, चमार, अहीर, राजपूत और मराठों की संख्या सबसे अधिक है। केवल ये ही पाँच जातियाँ ऐसी हैं, जिनमें ५० लाख से अधिक व्यक्ति हैं। राजपूतों के संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि उनमें क़रीब १७ लाख १७ हज़ार मुसलमान हैं। इनको शुद्ध करने का प्रयत्न शीघ्र होना चाहिए। यद्यपि ब्राह्मणों की संख्या सबसे अधिक है, पर उनमें फूट की मात्रा भी सबसे अधिक है। ब्राह्मण-जाति सैकड़ों छोटी-छोटी जातियों में विभाजित हो गई है। उनमें परस्पर सहानुभूति और प्रेम का अभाव है। यदि ब्राह्मणों की सब जातियाँ परस्पर एकता-बद्ध होकर अपनी उन्नति नहीं करेंगी, तो यह विशाल और वरेण्य जाति धीरे-धीरे लोगों की नज़रों से गिरती जायगी। समग्र ब्राह्मण-जाति का उचित संगठन होना अत्यंत आवश्यक है। समस्त ब्राह्मण-जाति की सम्मिलित शक्ति, इस अवनति के ज़माने में भी, बहुत कुछ अपना और देश का उपकार कर सकती है। आशा है, विद्वान् ब्राह्मण अपनी जाति का संगठन करने का प्रयत्न शीघ्र करेंगे।

दयाशंकर दुबे

हार की जीत

(१)



माँ को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनंद आता है, वही आनंद बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुंदर था, बड़ा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाक़े में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, ख़ुद दाना खिलाते, और देख-देखकर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन ऐसे प्यार, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने प्यारे को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था, रुपया, माल, असबाब, ज़मीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब एक गाँव से बाहर छोटे-से मंदिर में रहते और भगवान् का भजन करते थे। परंतु सुलतान से बिछुड़ने की वेदना उनके लिये असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी भ्रांति-सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस प्रेम को देखकर चकित थे; कभी-कभी कनखियों से इशारे भी करते थे; परंतु बाबा भारती को इसकी परवा न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह उस इलाक़े का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुनकर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची। उसका हृदय उसे देखने के लिये अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा, और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—"खड्गसिंह, क्या हाल है?"

खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"आपकी दया है।"

"कहो, इधर कैसे आ गए?"

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जाओगे।"

"मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुंदर है।"

"क्या कहना! जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी; आज उपस्थित हो सका हूँ।"

बाबा और खड्गसिंह, दोनों अस्तबल में पहुँचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे; परंतु ऐसा बाँका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुज़रा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस साधु को ऐसी चीज़ों से क्या लाभ? कुछ देर तक आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा।



बाबा भारती और खड्गसिंह डाकू

इसके पश्चात् हृदय में हलचल होने लगी। बालकों की-सी अधीरता से बोला—"परंतु बाबाजी, इसकी चाल न देखी, तो क्या देखा?"

(२)

बाबाजी भी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिये उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर लाए, और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचककर सवार हो गए। घोड़ा वायु वेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देखकर, उसकी गति देखकर खड्गसिंह के हृदय पर साँप लोट गया। वह डाकू था, और जो वस्तु उसे पसंद आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहु-बल था, और आदमी थे। जाते-जाते उसने कहा—"बाबाजी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा।"

बाबा भारती डर गए। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रति-क्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता। परंतु कई मास बीत गए, और वह न आया। यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवा हो गए, और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को, और मन में फूले न समाते थे।

सहसा एक ओर से आवाज़ आई—"ओ बाबा! इस कँगले की भी बात सुनते जाना।"

आवाज़ में करुणा थी। बाबा ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है। बोले—"क्यों, तुम्हें क्या कष्ट है?"

अपाहिज ने हाथ जोड़कर कहा—"बाबा, मैं दुखिया हूँ। मुझ पर दया करो। रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।"

"वहाँ तुम्हारा कौन है?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।"

बाबा भारती ने घोड़े से उतरकर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया, और स्वयं उसकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर तनकर बैठा, और घोड़े को दौड़ाए लिए जा रहा है। उनके मुख से



"मुझ पर दया करो। मुझे घोड़े पर चढ़ा लो।"

भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई। यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले—"ज़रा ठहर जाओ।"

खड्गसिंह ने यह आवाज़ सुनकर घोड़ा रोक लिया, और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा—"बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूँगा।"

"परंतु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा, जैसे बकरा क़साई की ओर देखता है, और कहा—"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिये न कहूँगा। परंतु खड्गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना; नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।

"बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ; केवल यह घोड़ा न दूँगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।"

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा, परंतु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा; परंतु कुछ समझ न सका। हारकर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गड़ा दीं, और पूछा—"बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है?"

सुनकर बाबा भारती ने उत्तर दिया—"लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।"

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई संबंध ही न था। बाबा भारती चले गए; परंतु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे ऊँचे विचार हैं, कैसा पवित्र भाव है! उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे, इसके बिना मैं रह न सकूँगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोए नहीं। भजन भक्ति



"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

न कर रखवाली करते रहे ! परंतु आज उनके मुख पर दुःख की रेखा तक न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख़याल था कि कहीं लोग ग़रीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया। ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं, देवता है।

(३)

रात्रि के अंधकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मंदिर में पहुँचा। चारो ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भौंकते थे। मंदिर के अंदर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे; परंतु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने उन्हें हानि की ओर से बेपरवा कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया, और बाहर निकलकर सावधानी से फाटक बंद कर दिया। इस समय उसकी आँखों में नेकी के आँसू थे।

अंधकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरंभ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठंडे जल से स्नान किया। उसके पश्चात् इस प्रकार, जैसे कोई स्वप्न में चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परंतु फाटक पर पहुँचकर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई, साथ ही घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन-भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गए।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया, और ज़ोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अंदर घुसे, और अपने घोड़े के गले से लिपटकर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिलकर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते, बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते और कहते थे—अब कोई ग़रीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ये आँसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे,



खड्गसिंह का घोड़े को वापस लाना

जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था।

दोनों के आँसुओं का उसी भूमि की मिट्टी पर परस्पर मिलाप हो गया।

सुदर्शन

प्राणियों में वीर्य-संयोग, संतान-उत्पादन और लिंग-भेद के कारण



संसार के निर्जीव और सजीव पदार्थों की उत्पत्ति की केवल दो मुख्य रीतियाँ हैं—एक तो 'संयोगात्मक' और दूसरी 'वियोगात्मक'। एक पदार्थ से दूसरेपदार्थ के संयोग को 'संयो गात्मक क्रिया' कहते हैं।

उदाहरणार्थ, जल की उत्पत्ति हाइड्रोजन एवं ऑक्सिजन-वायु के संयोग से होती है। इस 'संयोगात्मक क्रिया' को 'रासायनिक संयोग' कहेंगे। यदि जल का हाइड्रोजन एवं ऑक्सिजन किसी कारण से फिर विभक्त हो जाय, तो इस विभाजन को 'रासायनिक वियोग' कहेंगे। ये ही प्राकृतिक रीतियाँ सजीव पदार्थों में भी विद्यमान हैं। स्थूल दृष्टि से निर्जीव या सजीव पदार्थों में भेद तथा अंतर मालूम होता है। पर सूक्ष्म दृष्टि से और आधुनिक आविष्कारों के प्रमाणों के अनुसार देखा जाय, तो यह अंतर नहीं रहता।

जीवन-मूल * (Protoplasm), जो सजीव

---

* जीवन-मूल एक सजीव रासायनिक पदार्थ है, जो प्रत्येक प्राणी के कोष में होता है, और यह रासायनिक अमेश-जातीय पदार्थों (Proteid Substances) का सगठित रूप है। इसमें वैज्ञानिक अन्वेषण से निम्न-लिखित रासायनिक तत्त्व मिलते हैं—

कार्बन (Carbon)	५१.५ से	५४.५	फ़ी सदी	अंश
हाइड्रोजन (Hydrogen)	६.९ ,,	७.३	,,	,,
ऑक्सिजन (Oxygen)	२०.९ ,,	२३.५	,,	,,
नाइट्रोजन (Nitrogen)	१५.२ ,,	१७.०	,,	,,
गंधक (Sulphur)	०.३ ,,	२.०	,,	,,

इसके अतिरिक्त और भी बहुत-से रासायनिक पदार्थ, जैसे Calcium megnasium आदि मिलते हैं।

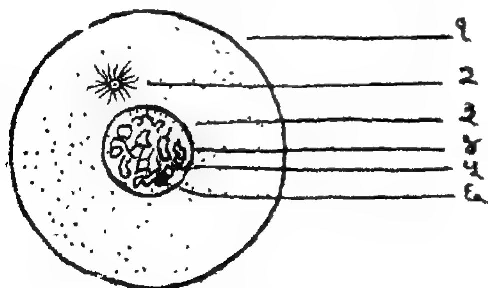
पदार्थों का सबसे मुख्य अंश है, और जिस पर जीवन-शक्ति अर्थात् चैतन्य या गति निर्भर है, अभी तक रासायनिक रीतियों से पूर्ण रूप से विभाजित नहीं हो सका, तो भी जो रासायनिक या भौतिक अन्वेषण अब तक हुए हैं, वे हमारे अनुमान के लिये यथेष्ट हैं।

प्राणियों की संतानोत्पत्ति भी प्रायः संयोगात्मक या वियोगात्मक क्रियाओं द्वारा होती है। इन रीतियों के उल्लेख से पहले प्राणी-मात्र की शारीरिक रचना का कुछ परिचय देना अनुचित न होगा। सब प्राणियों की रचना कोष (Cell) से बनी हुई है। यह कोष अर्थात् सेल (Cell) शरीर का एक अंश-मात्र (Unit) है। प्राणिशास्त्र-विद् मक्स स्कल्ज़ (Max Schultze) की परिभाषा के अनुसार—"कोष जीवन-मूल का एक सूक्ष्म अंश या कण है, जिसमें एक केंद्र स्थापित है।" अस्तु। शरीर का आंतरिक हाल जानने के लिये कोष की बनावट एवं उसके सूक्ष्म हिस्सों को जानना ज़रूरी है।

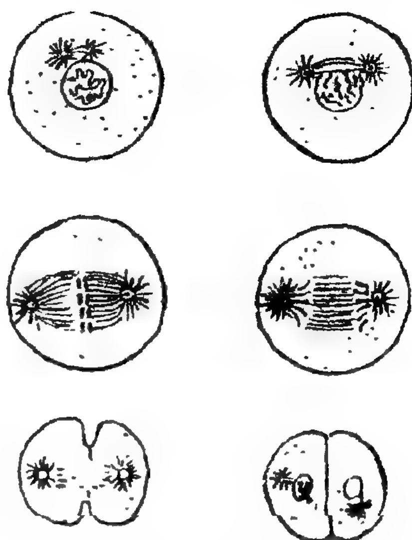
कोष की रचना

कोष शरीर का एक सूक्ष्म हिस्सा है, और निम्न-लिखित तत्त्वों से निर्मित है—

(१) कोष-मूल (Cytoplasm)—यह कोष का बड़ा अंश है, और इसमें रासायनिक पदार्थों के सूक्ष्म कण प्रविष्ट रहते हैं, जिन्हें Proteids या Plastids कहते हैं। कोष के चारों ओर, कोष-मूल को घेरे हुए, एक पतली झिल्ली रहती है, जिसे 'कोष' की झिल्ली अर्थात् 'कोष की दीवार' (Cell wall) कहते हैं। यह झिल्ली वनस्पति आदि के कोषों में अधिक मोटी और रासायनिक पदार्थ सेल्यूलोज़ (Cellulose) की बनी होती है; पर प्राणियों के कोष में यह झिल्ली न तो उतनी मोटी ही होती है, और न उसमें सेल्यूलोज़ ही पाया जाता है।



क—जीवन-कोष


ख—कोष की विभाजित अवस्था

चित्र-संख्या (१)—कोष और कोष-विभाजन (Karyo Kinesis)

(१) कोष की दीवार, (२) गति-केंद्र (Centrosphere or Centrosome, (३) कोष-मूल (Cytoplasm), (४) कोष-केंद्र (Nucleus), (५) क्रोमोसोम (क्रोमेटीनलता), (६) न्युक्लियोलस (उप-कोषकेंद्र)

(२) कोष-केंद्र (Nucleus)—यह पदार्थ कोष के बीच में या उसके एक तरफ़ कोष-मूल में प्रविष्ट रहता है, और इसमें एक द्रव पदार्थ होता है, जिसे 'केंद्र-मूल' (Nucleo-plasm) कहते हैं। 'कोष-केंद्र' भी एक झिल्ली से घिरा रहता है। इस झिल्ली को, केंद्र की झिल्ली (Nuclear Membrane) कहते हैं। इसके अतिरिक्त केंद्र-मूल, अर्थात् स्वयं केंद्र, में बारीक और सूक्ष्म तागों की लता होती है, जिसे 'क्रोमोसोम' (Chromosome) कहते हैं। 'क्रोमोसोम' के बहुत-से हिस्से रासायनिक रंग ले लेते हैं। इसलिये उन रासायनिक रंग लेनेवाले हिस्सों को 'क्रोमेटीन' (Chromatin) कहते हैं।

(३) गति-केंद्र (Centrosphere or Centrosome)—यह सूक्ष्म वस्तु, 'कोष-मूल' में 'कोष-केंद्र' के निकट होती है, और सूक्ष्म धाराओं के होने से सितारे के सदृश दिखाई पड़ती है (चित्र सं० १ में (१) देखो)। 'गति-केंद्र' कोष का एक मुख्य अंग है ; क्योंकि कोष की विभाजन-शक्ति इसी पर निर्भर है। कोष के और हिस्सों के विभाजन के पूर्व ही यह स्वयं दो भागों में विभाजित हो जाता है, याने एक के दो 'गति-केंद्र' हो जाते हैं, जो बारीक सूक्ष्म धाराओं के द्वारा एक दूसरे से लगे रहते हैं । परीक्षा करके यह देखा गया है कि यदि 'गति-केंद्र' और 'कोष-केंद्र' कोष से रहित कर दिए जायँ, तो कोष या तो विभाजित नहीं होता, या उसका अंत ही हो जाता है । उपर्युक्त वर्णित हिस्सों के अतिरिक्त कई और भी वस्तुएँ आधुनिक खोज से ज्ञात हुई हैं, जिनका हम विस्तार के कारण उल्लेख करना नहीं चाहते । हाँ, कोष के विषय में दो-चार बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(क) हर प्राणी की प्रत्येक जाति के शारीरिक कोष में 'क्रोमोसोम' की संख्या ख़ास होती है, और विभिन्न जाति के प्राणियों में विभिन्न । Haecker की खोज के अनुसार सबसे कम संख्या जो देखने में आई, वह २ है, जो केचुए (Ascaris) में मिलती है ; और सबसे अधिक संख्या १,६०० है, जो सामुद्रिक सूक्ष्म कीटाणु 'रेडिओलेरियन' (Radiolarian) में पाई जाती है ।

(ख) वीज़मान (Wiesmann) के सिद्धांतानुसार पिता-माता या उनके पूर्वजों के गुण, स्वभाव, दोष इत्यादि 'क्रोमोसोम' ही के द्वारा संतान में आते हैं । वीज़मान का यह सिद्धांत प्रमाण के साथ स्वीकृत हो चुका है । आगे चलकर विज्ञ पाठकों को मालूम होगा कि 'नर' या 'नारी'-संतान का होना भी क्रोमोसोम पर ही निर्भर है ।

(ग) गोड्लेवोसकी (Godlevosky) या और प्राणितत्ववेत्ताओं ने परीक्षा द्वारा सिद्ध किया है कि 'कोष-मूल' अर्थात् Cytoplasm द्वारा भी बाह्य व जातीय (Racial) गुण संतान में आते हैं ।

संतान-उत्पादन की रीति

प्राणियों में संतानोत्पत्ति प्रायः चार प्रकार से होती है—

(१) वीर्य-संयोग (Fertilisation) एवं वीर्य-सम्मेलन (Conjugation) द्वारा ।

(२) प्राणियों के शारीरिक वियोग या विभाजन (Binary fission or asexual budding) द्वारा ।

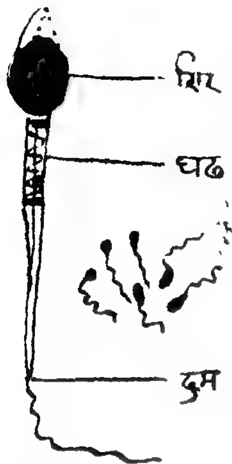
(३) विकल्प (प्रत्यंतर) रीति से, अर्थात् दो परस्पर विभिन्न संतानों के होने से (Alternation of generation) ।

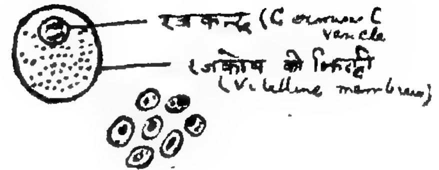
(४) संयोग-हीन अंडे (Parthenogenetic eggs) द्वारा ।

उपर्युक्त चार रीतियों में से (१) वीर्य-संयोग व वीर्य-सम्मेलन और (२) वियोगिता या विभाजन की रीति तो प्राणियों में साधारणतः प्रचलित है; शेष का व्यवहार प्रायः कम देखने में आता है ।

(१) वीर्य-संयोग और वीर्य-सम्मेलन—ऊँची श्रेणी के प्राणियों में संतानोत्पादन बहुधा वीर्य-कोष (Germ or sex-cell) के मिलने से होता है । इन प्राणियों में नर तथा नारी का भेद होता है । नर की संतानोत्पादनेंद्रिय (Reproductive organ) से जो परिपक्व वीर्य-कोष बनकर निकलता है, उसे 'नर-वीर्य-कोष' (Male germ-cell) और स्त्री (नारी) की जननेंद्रिय से जो वीर्य-कोष तैयार होकर निकलता है, उसे 'स्त्री-वीर्य-कोष' अर्थात् 'रज-कोष' (Female sex-cell or Ova) कहते हैं । नर-वीर्य-कोष का रूप तथा बनावट रज-कोष की अपेक्षा विभिन्न होती है । इसलिये हम इन्हें वीर्य-कीटाणु (Spermatozoa) के नाम से प्रसिद्ध करते हैं । वीर्य-कीटाणु के शरीर के तीन भाग होते हैं—(१) सिर, (२) धड़ और (३) दुम (चित्र सं० २ देखो) । ये कीटाणु गति में बड़े तेज़ होते हैं, और अपनी दुम के सहारे द्रव वीर्य में तेज़ी से तैरते रहते हैं । रज-कोष (Ova) की शकल गोल या बेज़ावी होती है, और साधारण कोष की तरह इसमें सब हिस्से होते हैं (चित्र देखो) ।

उपर्युक्त वर्णन से यह प्रकट है कि वीर्य-कीटाणु रज-कोष की अपेक्षा विभिन्न होते हैं । अब जानना चाहिए कि संतान इन दो विभिन्न वीर्य-कोषों के मिलने से ही होती है (चित्र देखो), इसलिये इन दो विभिन्न वीर्य-कोषों के मिलने को, अर्थात् वीर्य-कीटाणु और रज-कोष के संयोग को, 'वीर्य-संयोग' (Fertilisa-





वीर्य कीटाणु (Spermatozoa) रज कोष (ovum)



वीर्य संयोग (fertilisation)

चित्र-संख्या (२)—वीर्य-कीटाणु, रजकोष और उनका वीर्य-संयोग

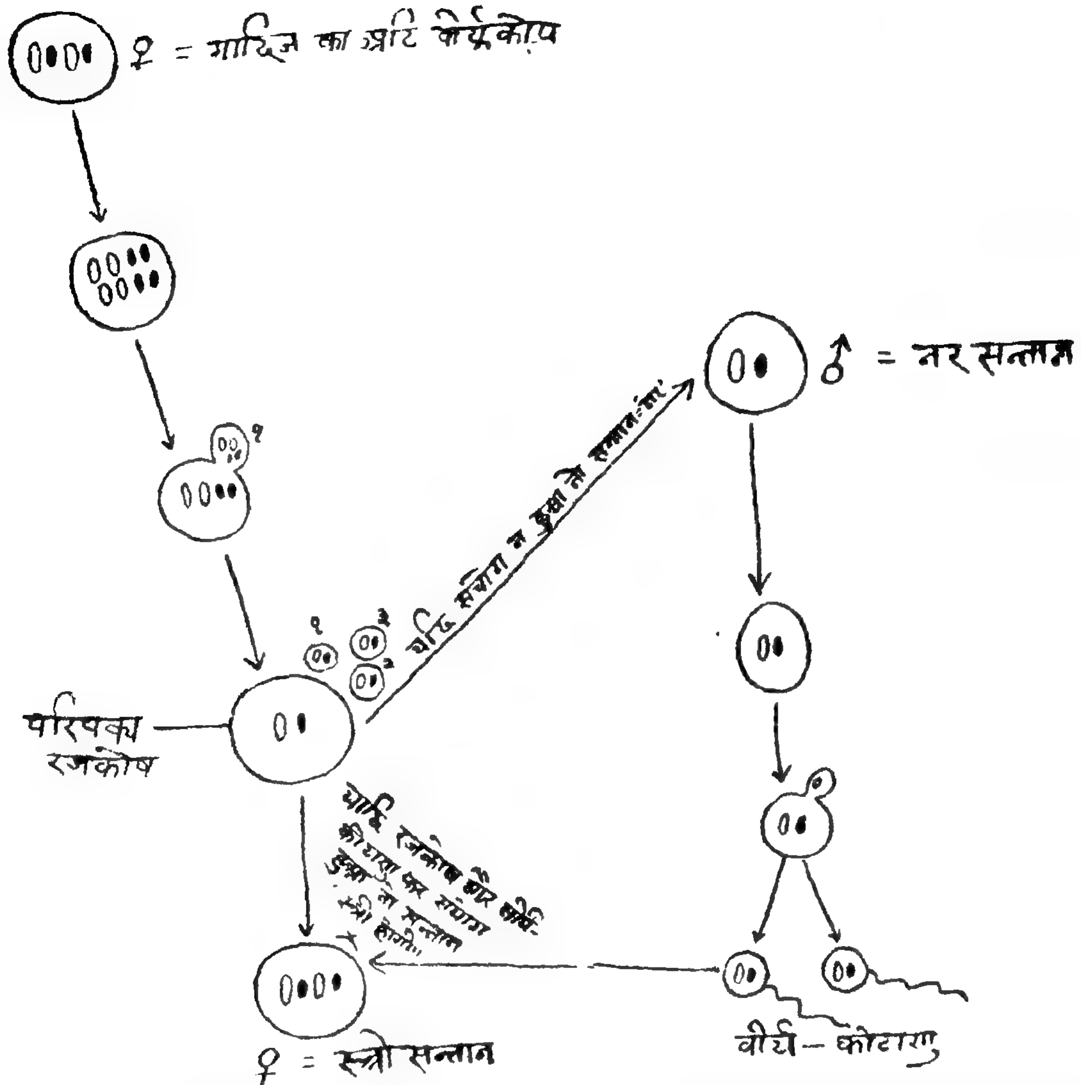
tion) कहते हैं। पर निम्न श्रेणी के प्राणियों में न तो नर-नारी का भेद ही होता है, और न उनके वीर्य-कोष एक दूसरे से विभिन्न होते हैं। इसलिये ऐसे दो सदृश वीर्य-कोषों के संबंध को 'वीर्य-सम्मेलन' (Conjugation) कहते हैं। 'वीर्य-संयोग' या 'वीर्य-सम्मेलन' शब्दों में केवल थोड़ा-सा पारिभाषिक अंतर है।

वीर्य-संयोग दो तरह का होता है—

(१) आंतरिक वीर्य-संयोग (Internal Fertilisation)—इसमें नर या नारी प्राणी के आलिंगन के समय, वीर्य-कीटाणु स्त्री के गर्भ (Uterus) में प्रवेश करता और वहाँ गर्भ के अंदर रज-कोष से 'संयोग' करता है। फलतः वीर्य-कीटाणु या रज-कोष के संयोग से एक 'संयोगात्मक वीर्य कोष' बनता है, जिसे 'बच्चा' या 'संतान' कहते हैं, और जो गर्भ में पूर्ण रूप से बढ़ने के पश्चात् बाहर निकलता है। उदाहरणार्थ, समस्त दूध देनेवाले प्राणी (मनुष्य, बंदर, कुत्ता, बकरी इत्यादि)।

(२) बाह्य वीर्य-संयोग (External Fertilisation)—जिसमें संतानोत्पत्ति के समय नर या नारी प्राणी की जननेंद्रिय से वीर्य बाहर निकलता और जल व स्थल में रज-कोष से वीर्य-कीटाणु का संयोग होता है। फल स्वरूप संयोगात्मक वीर्य-कोष ('संतान-केंचुए') की वृद्धि बाहर प्राकृतिक स्थान में ही होती है; जैसे—मेंढक, कीट-पतंग, मछलियाँ इत्यादि।

(२) विभाजन-द्वारा संतानोत्पादन—कितनी ही श्रेणियों के प्राणियों में संतानोत्पत्ति एक विचित्र रीति से होती है, जिसे विभाजन की रीति (A Sexual mode of reproduction) कहते हैं। इस रीति में, प्राणी के स्वयं विभाजन या उसके संतानोत्पादनेंद्रिय द्वारा वीर्य-कोष के विभक्त होने से संतान होती है, जैसे अमीबा (Amoeba), पेरामीशियम (Paramæium), स्पंज (Sponge), मूँगे (Corals), सूक्ष्म कीटाणु (जिन्हें बक्टीरिया कहते हैं), हाइड्रा (Hydra) इत्यादि। पूर्वोक्त प्राणियों में प्रायः नर या नारी का भेद नहीं होता, और न 'वीर्य-संयोग' (fertilisation) ही।



चित्र-सं० ३—संयोग-हीन अंडे-द्वारा बर, डाँस, चींटी इत्यादि जीवों का संतानोत्पादन (Parthenogenesis)

१, २, ३—प्रथम, द्वितीय और तृतीय ध्रुव-कोष। ऊपर का चित्र देखने से मालूम होगा कि अगर रज-कोष का संयोग वीर्य-कीटाणु से न हो, तो संतान 'नर' होगी, और यदि संयोग हो, तो स्त्री।

♀ = मादा या स्त्री। ♂ = नर। × = वीर्य-संयोग।

(३) प्रत्यंतर संतानोत्पादन (Alternation of generation)—कुछ श्रेणी के प्राणियों में वियोग तथा वीर्य-संयोग, दोनों बातें होती हैं; अर्थात् एक बार वियोग-द्वारा एक संतान उत्पन्न होती है, और उसके पश्चात् 'वीर्य-संयोग' या वीर्य-सम्मेलन द्वारा दूसरी। अतएव इन प्राणियों की परस्पर दो विभिन्न संतानें होती हैं, जैसे—ऑबीलिया (Obelia), मलेरिया के कीटाणु (Malarial parasites) इत्यादि।

इस विचित्र रीति में संतानों का आचरण और उनकी प्रकृति भी एक-दूसरे से कुछ निराली होती है।

(४) संयोग-हीन अंडे-द्वारा संतानोत्पादन (Parthenogenesis)—बहुत-से ऐसे भी प्राणी हैं, जिनमें 'रज-कोष' (अर्थात् मादा के अंडे) का 'संयोग' बहुधा वीर्य-कीटाणु से नहीं होता, और संतान विना संयोग के ही होती है। इसलिये उन अंडों को, जिनका 'संयोग' (Fertilisation) वीर्य-कीटाणु के साथ किसी कारण से नहीं होता, 'संयोग-हीन' या 'संयोग-रहित' अंडे (Parthenogenetic eggs) कहते हैं। यह विचित्र रीति प्रायः कीड़ों (Insects) की जातियों [जैसे चींटी (Ants), बर, डाँस (Wasps), मधु-मक्खी (Bees) आदि] में देखी जाती है। पूर्वोक्त जाति के प्राणियों में 'संयोग-हीन' अंडे से नर उत्पन्न होता है। यदि मादा के अंडे का 'संयोग' हुआ, तो संतान 'मादा' होती है (चित्र-सं० ३ देखो)।

यहाँ हम उदाहरण के लिये मधु-मक्खी की संतानोत्पत्ति और जीवन-काल का कुछ वर्णन करते हैं। मधु-मक्खी तीन तरह की होती हैं। प्रत्येक का कार्य एक-दूसरे से विभिन्न होता है। एक तो 'नर' (Drone or male) कहलाती है, जिसका विशेष कार्य केवल संतानोत्पादन है। दूसरी 'रानी' कहलाती है, जिसकी संतानोत्पादनेंद्रिय पूर्ण अवस्था में होती है। इसका भी विशेष कार्य, नर की भाँति, संतानोत्पादन है। तीसरी मक्खी 'सेविका' या दाई (Worker) के नाम से प्रसिद्ध है। 'सेविका' की संतानोत्पादनेंद्रिय बड़ी हीन अवस्था में होती है, और यह संतानोत्पादन में सदा असमर्थ रहती है; पर होती है बड़ी समझदार और तेज़ बुद्धि की। इसके बुद्धि-बल का परिचय इसी से मिलता है कि यह बड़ा सुंदर छत्ता बनाती है। सेविका का एक काम मधु (शहद) को फूलों से एकत्र करना भी है। सेविका की छोटी सखियाँ भी होती हैं, जिनका काम केवल 'रानी के अंडों-बच्चों की सेवा करना' है। चित्र ३ के देखने से मधु-मक्खी के संतानोत्पादन का पूरा हाल मालूम होगा। रानी-मक्खी की संतानोत्पादनेंद्रिय से विभक्त होकर परिपक्व रज-कोष उत्पन्न होता है, जिसमें 'क्रोमोसोम' की संख्या शारीरिक कोष की अपेक्षा केवल आधी होती है। अब यदि इस 'रज-कोष' अर्थात् अंडे का संयोग न हुआ, तो इससे 'नर' उत्पन्न होंगे, और यदि वीर्य-कीटाणु से संयोग हुआ, तो रानी या सेविका उत्पन्न होंगी। यह स्मरण रखने की बात है कि 'संयोग-हीन' अंडे से प्रायः 'नर' ही उत्पन्न होते हैं। यही रीति चींटी, बर, डाँस इत्यादि में भी प्रचलित है।

क्रोमोसोम की संख्या की नित्यता का अर्थ

हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि प्रत्येक जाति के प्राणी के शारीरिक कोष (Somatic cells) में 'क्रोमोसोम' की संख्या ख़ास होती है, और यह संख्या विभिन्न जातियों के प्राणियों के कोष में विभिन्न होती है; अर्थात् किसी में ज़्यादा, किसी में कम। इसका क्या कारण है कि प्रत्येक शारीरिक कोष में क्रोमोसोम की वही संख्या नित्य बनी रहती है—न घटती है, न बढ़ती? इसके तीन कारण हैं —

(क) प्रथम यह कि जब शारीरिक कोष का विभाजन होता है, तब क्रोमोसोम भी विभक्त होते हैं, उनकी संख्या दुगनी हो जाती है, और इन दुगने क्रोमोसोमों में से उनकी आधी संख्या प्रत्येक विभाजित कोष में चली जाती है। इसलिये पहले क्रोमोसोम की जो संख्या कोष में थी, वही फिर हो जाती है (चित्र १ और ४ देखो)।

(ख) द्वितीय कारण यह है कि वीर्य-कीटाणु (नर-वीर्य-कोष) और रज-कोष में क्रोमोसोम की संख्या शारीरिक कोष की अपेक्षा केवल आधी ही होती है। फलतः वीर्य-संयोग के समय जब रज-कोष और वीर्य-कीटाणुओं का मेल होता है, तो संतान में फिर वही पूर्व संख्या, जो आदि-कोष में थी, हो जाती है। इस तरह क्रोमोसोम की असली संख्या, जो कोष में होनी चाहिए, नित्य बनी रहती है।

(ग) तृतीय कारण यह है कि यदि क्रोमोसोम की संख्या में कुछ बढ़ाव या घटाव हो, और यह नित्यता न हो, तो प्राणी एवं उसकी संतान को प्राकृतिक और स्वाभाविक गुण नहीं मिल सकते। इसलिये विशेष जाति के प्राणी में क्रोमोसोम की संख्या की विशेषता होना एक प्राकृतिक नियम है।

अब हम वीर्य-कीटाणु एवं रज-कोष के उत्पादन का

वर्णन करते हैं। इससे यह विदित होता कि हर प्राणी के पूर्वोक्त वीर्य-कोष में क्रोमोसोम की संख्या में न्यूनता (Reduction) होती है, और वह संख्या शारीरिक कोष की अपेक्षा साधारणतः आधी होती है। (चित्र-सं० ४ देखो)

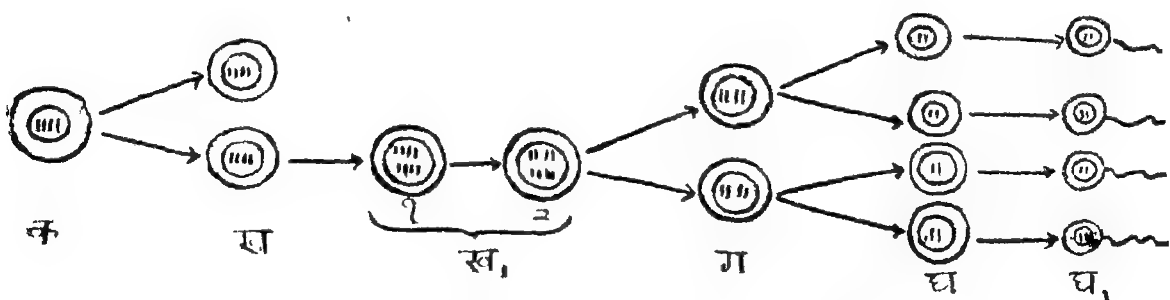
वीर्य-कीटाणु-उत्पादन (Spermatogenesis)

नर-प्राणी की संतानोत्पादनेंद्रिय सूक्ष्म कोष की तहों (layers) से बनी होती है। ऊपरवाली तह के सूक्ष्म कोष को आदि-वीर्य-कोष (Primitive germ cells) कहते हैं, और आदि-वीर्य-कोष के ही परिवर्तन तथा विभाजन से वीर्य-कीटाणु बनते हैं। अतएव आदि-वीर्य-कोष को कई श्रेणियों मे परिवर्तित होना पड़ता है, तब कहीं अंतिम वीर्य-कीटाणु का विकास होता है। चित्र ४ के देखने से मालूम होगा कि आदि-वीर्य-कोष मे वीर्य-कीटाणु की उत्पत्ति इस प्रकार होती है—

१—आदि-वीर्य-कोष, जिसमें उदाहरणार्थ ४ क्रोमोसोम दिखाए गए हैं (चित्र ४-क देखो), विभाजित हुआ: उससे दो कोष उत्पन्न हुए, जिन्हें नर-जननी-कोष (Spermatocyte) कहते हैं। प्रत्येक नर-जननी-कोष मे फिर ४ क्रोमोसोम हो गए।

२—इसके पश्चात नर-जननी-कोष के ४ क्रोमोसोम विभाजित होकर ८ क्रोमोसोम हुए, जिनमें से ४-४ क्रोमोसोम, कोष के प्रत्येक ध्रुव की ओर जा लगते हैं। (चित्र ४-ख₁-१ देखो) यह कोष 'प्रथम-नर-जननी' (Ist. Spermatocyte) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके पश्चात् प्रथम-नर-जननी-कोष के क्रोमोसोम एक-दूसरे से जोड़े में श्रेणी-बद्ध होते हैं, अर्थात् ८ क्रोमोसोमके ४ जोड़े क्रोमोसोम हो जाते हैं। क्रोमोसोम का हरएक जोड़ा २-२ क्रोमोसोम का बना होता है। (चित्र ४-ख₁-२ देखो) क्रोमोसोम की यह अवस्था, जब वे इन जोड़ों में श्रेणी-बद्ध (Group) होते हैं, 'संयुक्त-सोम-अवस्था' (Synapsis) है। 'संयुक्त-सोम-अवस्था' के पूर्ण होते ही 'प्रथम-नर-जननी-कोष' का विभाजन होता है, और उससे पुनः दो कोष बनते हैं,जिन्हें 'द्वितीय-नर-जननी-कोष' (Secondary Spermatocyte) कहते हैं (चित्र ४-ग देखो); और प्रत्येक कोष में २ जोड़े अर्थात् ४ क्रोमोसोम पुनः विकसित होते हैं।

३—इसके पश्चात् प्रत्येक 'द्वितीय-जननी-कोष, (2nd spermatocyte) के विभाजन से २-२, अर्थात् ४ कोष बने। इन कोषों को कीटोत्पादक कोष (Spermatids) कहते हैं। प्रत्येक कीटोत्पादक कोष में केवल दो क्रोमोसोम होते हैं। यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि क्रोमोसोम की संख्या में न्यूनता हो गई, जो आदि-वीर्य-कोष (एवं शारीरिक कोष) की अपेक्षा घटकर केवल आधी रह गई (चित्र ४-घ देखो)।



चित्र-सं० ४—वीर्य-कीटाणु-उत्पादन (Spermatogenesis)—एस्किरिस प्राणी

क—आदि-वीर्य-कोष (४ क्रोमोसोम दर्शित हैं)। ख—नर-जननी-कोष (Spermatogonium) ख₁—प्रथम-नर-जननी-कोष (Ist Spermatocyte) (१) पहली श्रेणी और क्रोमोसोम का द्विगुण मे विभाजन (२) द्वितीय श्रेणी—जिसमें क्रोमोसोम जोड़े में श्रेणी-बद्ध होकर संयुक्त-सोम(Synapsis)-अवस्था को प्राप्त हुए हैं। ग—द्वितीय-नर-जननी-कोष (2nd Spermatocyte) घ—कीट-उत्पादक-कोष (Spermatids), जिसमें क्रोमोसोम की संख्या आधी-आधी है घ₁—वीर्य-कीटाणु (Spermatozoa)।

४—उपर्युक्त 'कीटोत्पादक कोष' अंत में परिवर्तित होकर वीर्य-कीटाणु (Spermatozoa) बन जाते हैं, जिनमें क्रोमोसोम की घटी हुई संख्या केवल २ होती है (चित्र ४-घ, देखो)।

रज-कोष-उत्पादन (Ovogenesis)

स्त्री की संतानोत्पादकेंद्रिय भी सूक्ष्म कोषों की तहों से बनी होती है। इन सूक्ष्म कोषों को वीर्य-कोष कहते हैं। रज-कोष का वर्णन हम कर चुके हैं, अतएव यह वह कोष है, जिसका वीर्य-कीटाणु से संयोग (Fertilisation) और जिससे संतान का जन्म होता है। सूक्ष्मदर्शक-यंत्र-द्वारा देखने से रज-कोष का संगठन या रूप एक साधारण जीवन-कोष की तरह मालूम होता है। इसके चारों ओर एक झिल्ली होती है, जिसे विटेलाइन मेंब्रेन (Vitalline membrane) कहते हैं। यह झिल्ली बाज़ प्राणी के रज-कोष में बहुत मोटी होती है, जैसे पक्षी, साँप इत्यादि के। इसके अतिरिक्त कोष-मूल में, कोष-केंद्र की तरह एक वस्तु होती है, जो रज-केंद्र या वीर्य-केंद्र (Germinal Vesicle) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'जर्मीनल वेसिकिल' से भी छोटी एक वस्तु होती है, जिसे 'जर्मीनल स्पॉट' (Germinal spot) कहते हैं। यह क्रोमोसोम के सूक्ष्म तागों से चारो ओर घिरी होती है। वीर्य-कीटाणु की तरह रज-कोष का भी उत्पादन अर्थात् विकास आदि-वीर्य-कोष के परिवर्तन व विभाजन से होता है, जो निम्न-लिखित रीति के अनुसार है—

(१) आदि-वीर्य-कोष, जिसमें ४ क्रोमोसोम हैं, विभाजित हुआ, और उससे दो कोष बने। इन कोषों को 'रज-जननी-कोष' (Oocyte) कहते हैं। इसके पश्चात्—

(२) रज-जननी-कोष के विभाजन से एक दूसरा कोष बना, जिसे प्रथम-रज-जननी(Primary or 1st Oocyte)-कोष कहते हैं। इस कोष में भी, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, क्रोमोसोम की संयुक्तावस्था (Synapsis) होती है, यानी क्रोमोसोम जोड़े में श्रेणी-बद्ध होते हैं (चित्र-५-ख, २। देखो)।

(३) संयुक्त-सोम-अवस्था (Synapsis) के बाद फिर कोष का विभाजन होता है (चित्र ५-ग देखो), और दो कोष उत्पन्न होते हैं, जिनमें एक छोटा होता है, और दूसरा बड़ा। छोटे कोष को 'प्रथम-ध्रुव-कोष' (1st Polar body) कहते हैं, और बड़े कोष को 'द्वितीय-रज-जननी-कोष' (Secondary Oocyte) (चित्र ५-ग देखो)। इन कोषों में से प्रत्येक में ४ क्रोमोसोम होते हैं। इसके बाद 'द्वितीय-रज-जननी-कोष' से विभाजित होकर एक दूसरा कोष बना, जिसे 'द्वितीय-ध्रुव-कोष' (2nd polar body) कहते हैं। प्रथम ध्रुव-कोष भी इस समय विभाजित होता है, और उससे एक 'तृतीय-ध्रुव-कोष (3rd polar body) उत्पन्न होता है। जिस समय ये तीनों ध्रुव-कोष बनकर निकल जाते हैं, तो रज-जननी-कोष पूर्ण अवस्था को प्राप्त होकर वीर्य-कीटाणु के संयोग के योग्य होता है। अतएव ऐसी अवस्था में रज-जननी-कोष को 'परिपक्व रज-कोष' (matured ovum) कहते हैं। एक बात ध्यान देने-योग्य है। वह यह कि यहाँ भी क्रोमोसोम की संख्या में न्यूनता हुई, अर्थात् परिपक्व रज-कोष एवं ध्रुव-कोष में आदि-वीर्य-कोष की अपेक्षा केवल आधी संख्या है (चित्र ५-घ देखो)।

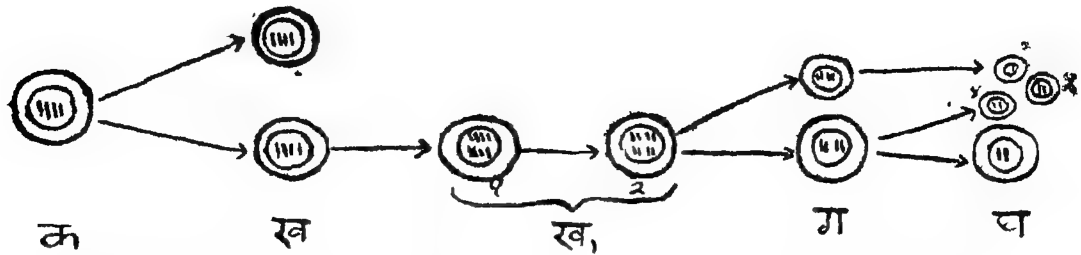
उपर्युक्त वर्णन से यह प्रकट है कि वीर्य-कीटाणु और रज-कोष में क्रोमोसोम की संख्या आदि-वीर्य-कोष की अपेक्षा केवल आधी है। फलतः वीर्य-संयोग के समय संतान में क्रोमोसोम की पूर्ण संख्या—अर्थात् ४ क्रोमोसोम—फिर हो जाती है। चित्र ५ के देखने से यह बात भली भाँति समझ में आ जायगी।

लिंग-भेद के कारण और सिद्धांतों का निर्णय

यह उल्लेख किया जा चुका है कि संतान का उत्पादन नर व नारी-वीर्य-कोष (germ cell) के संयोग से होता है। अब यह प्रश्न होता है कि नर या नारी होने का क्या कारण है? अर्थात् नर या नारी-संतान की उत्पत्ति वैज्ञानिक नियमों के आधार पर होती है, या नहीं? इसके उत्तर में यह कहना ज़रूरी है कि स्त्री-पुरुष-भेद के क्या कारण हैं, इसके विषय में बहुत मतभेद है। इन मतों को हम दो श्रेणियों में रखते हैं—

(अ) कुछ वैज्ञानिकों का यह मत है कि बाह्य-अवस्था (External conditions) ही इस स्त्री-पुरुष-भेद का कारण है।

(आ) वीर्य-कोष की आंतरिक अवस्था (Internal



चित्र-सं० ५—रज-कोष-उत्पादन का (Ovogenesis)—(एस्किरिस प्राणी का)

क—आदि-वीर्य-कोष (४ क्रोमोसोम दर्शित है) । ख—रज-जननी-कोष (Oogonium) । ख,—प्रथम-रज-जननी-कोष (1st Oocyte) (१) क्रोमोसोम की द्विगुण संख्या, (२) क्रोमोसोम का जोड़ में श्रेणी-बद्ध होना और संयुक्त-सोम-अवस्था (Synapsis stage) ग—द्वितीय-रज-जननी-कोष (2nd Oocyte) और प्रथम-ध्रुव-कोष (३)की उत्पत्ति । घ—परिपक्व रज-कोष (Matured ovum) जो बहुत बड़ा है । (३) प्रथम-ध्रुव-कोष (1st Polar body) (४) द्वितीय-ध्रुव-कोष (2nd polar body) (५) तृतीय-ध्रुव-कोष (3rd polar body) जो प्रथम ध्रुव-कोष के विभाजन से उत्पन्न हुआ है—रज-कोष और ध्रुव-कोष में क्रोमोसोम की अर्द्ध-संख्या है ।

condition) के ही कारण स्त्री या पुरुष-संतान होती है ।

अब हम कुछ वैज्ञानिक तत्त्वज्ञों की कल्पनाओं तथा सिद्धांतों पर समालोचनात्मक विचार प्रकट करते हैं—

(१) फ्रेंच वैज्ञानिक केनेस्ट्रीनी (Canistrini) ने कल्पना की कि लिंग-भेद की रचना उस वीर्य-कीटाणु की संख्या पर निर्भर है, जो वीर्य-संयोग के समय हो, अर्थात् जितने वीर्य-कीटाणु रज-कोष से संयोग करें, उन्हीं की संख्या के अनुसार स्त्री या पुरुष-संतान होगी । केनेस्ट्रीनी का सिद्धांत अत्यंत निर्बल है, और वैज्ञानिक प्रमाणों के अनुसार ठीक नहीं मालूम होता; क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है, और सर्वमान्य है कि केवल एक ही वीर्य-कीटाणु से रज-कोष का संयोग होता है । यदि कभी एक से अधिक वीर्य-कीटाणु रज कोष से संयोग करें, तो परिणाम यह होगा कि कोई विचित्र रूप की संतान होगी, जो या तो पूर्ण-रूप से बढ़ ही नहीं सकेगी, और या उत्पत्ति के समय ही विनाश को प्राप्त हो जायगी।

(२) प्रोफ़ेसर थुरी (Thury) ने १८६३ में और डूसिंग (Dusing) ने १८७३ में यह कल्पना की कि यदि वीर्य-कीटाणु रज-कोष से तत्काल ही संयोग करें, जिस समय कि रज-कोष का उत्पादन हो, तो नारी अर्थात् मादा होगी, और यदि वीर्य-कीटाणु रज-कोष के उत्पादन के कुछ देर बाद उससे संयोग करें, तो नर-संतान होगी । यद्यपि कुछ प्रमाण, देर के वीर्य-संयोग (Fertilisation) का मिलता है, जो नर-संतान होने के पक्ष में है, तो भी इन महाशयों के सिद्धांत स्वीकृत नहीं किए जा सकते; क्योंकि वे परीक्षा-द्वारा सिद्ध नहीं होते ।

(३) प्राणितत्त्वज्ञ वॉन हेंसन (Van Hensen) ने सन् १८८१ में कल्पना की कि यदि वीर्य-कीटाणु और रज-कोष अपने पूर्ण वेग, अर्थात् तेज़ चाल की अवस्था में हों, तो संतान स्त्री होगी । एच्० एम्० वर्नन (H. M. Vernon) ने भी सन् १८९८ में वैज्ञानिक प्रमाणों से यही सिद्ध किया कि वीर्य-कोष की तात्कालिक उत्पत्ति का भी प्रभाव नर तथा नारी होने पर अधिक और अवश्य पड़ता है । इन वैज्ञानिकों के इन विचारों-द्वारा भी यह पूरी तौर से निश्चित नहीं हुआ कि लिंग-भेद (स्त्री-पुरुष भेद) का असल कारण क्या है ।

(४) हॉफ़ेकर (Hofacker) ने सन १८२३ में और सेडलर (Sadler) ने सन १८३० में कई स्थानों से अंक-शास्त्र द्वारा बहुत-से अंक एकत्र किए, और यह फल निकाला कि यदि पुरुष स्त्री से उम्र में बड़ा हो, तो उसके नर-बालक अधिक होंगे, और यदि स्त्री पति से बड़ी हो, तो कन्या-संतानें अधिक होंगी । उक्त

प्रमाणों के ही आधार पर इन विद्वानों ने यह सिद्धांत स्थापित किया कि स्त्री-पुरुष का आयु-संबंधी अंतर ही नर-नारी होने का मुख्य कारण है। इस सिद्धांत से भी लिंग-भेद का कारण ज्ञात नहीं होता; क्योंकि और विद्वानों को जो अंक प्राप्त हुए हैं, वे हॉफ़ेकर और सैडलर के अंकों से नहीं मिलते। अतएव अंक-शास्त्र-द्वारा प्रमाणों का एकत्र करना व्यर्थ है। बहुत लोगों का विश्वास है कि माता-पिता के शारीरिक बल तथा स्वास्थ्य पर संतान का नर या नारी होना निर्भर है, अर्थात् पिता बलवान् हुआ, तो बालक होगा, और माता बलवती हुई, तो बालिका। यह विचार भी प्रयुक्त प्रमाण के अनुसार ठीक नहीं कहा जा सकता।

(५) बहुत-से प्राणिशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि खान-पान (Nutrition) का भी संतान पर अधिक प्रभाव पड़ता है, और यह प्रायः रीढ़धारी अर्थात् पृष्ठ-वंशीय प्राणियों (Vertebrates) में देखा गया है [यदि यह विचार सही है कि रीढ़धारी प्राणी अपनी गर्भावस्था से शिखंडी की श्रेणी* (Hermaphrodite condition) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनकी गर्भावस्था में एक ऐसी श्रेणी होती है, जिसमें संतान न तो स्त्री कही जा सकती है और न पुरुष] तो यह मत ठीक नहीं।

(क) जर्मन प्राणिविज्ञ इनफ़ंग Enfung ने प्रयोग करके देखा कि जब मेंढक के बच्चे (Tadpoles) वनस्पति के आहार पर रक्खे जाते हैं, तो नर व मादा की संख्या (Proportion) लगभग ४३ या ५७ फ़ी सैकड़े (अर्थात् ४३ नर और ५७ मादा) के हो जाती है। किंतु यदि वनस्पति के स्थान में मांस का आहार दिया जाय, तो मादा की संख्या पहले की अपेक्षा बढ़ जाती है।

(ख) मिसेज़ ट्रीट (Mrs. Treat) ने भी प्रयोग-द्वारा दिखलाया है कि यदि कीड़े-पतंगों के बच्चों (Caterpillars) को निराहार रक्खा जाय, तो सब नर हो जाते हैं। पर और वैज्ञानिकों को इसके विरुद्ध परिणाम देख पड़ा है।

(६) डार्विन (Darwin) का अनुमान था कि नर तथा नारी-संतान का पैदा होना मनुष्य एवं प्राणियों की स्वाभाविक संतानोत्पादन-शक्ति पर निर्भर है। यों अनुमान कीजिए कि कोई दो प्राणी 'क' (नर) और 'ख' (स्त्री) प्राकृतिक 'जीवन-संग्राम' (Struggle for Existence) में जीवित रहे, और 'क' का संबंध 'ख' से हुआ। अब यह देखना चाहिए कि 'क' और 'ख' में कौन प्राकृतिक समाज के योग्य है। कल्पना कीजिए, 'क' योग्य है। तब यदि 'क' के पूर्वजों के अधिक नर या मादा-संतान हुई, तो 'क' की संतान भी वैसी ही होगी। अब 'ख' का उदाहरण लीजिए। यदि 'ख' प्राकृतिक समाज के योग्य हुई, तो वह भी अपने पितामह के अनुसार बालक और बालिकाएँ उत्पन्न करेगी। डार्विन का "प्राकृतिक संकलन-सिद्धांत" (Theory of Natural Selection) सर्वमान्य और बहुत ठीक है। पर कहाँ तक? हम मानते हैं कि संसार में नित्य प्राकृतिक जीवन-संग्राम होता है; जो इस लड़ाई में योग्य होता है, वही जीवित रहता है, और अपनी भावी संतान में अपना गुण भी पहुँचाता है। पर लिंग-भेद का कारण डार्विन के सिद्धांत से हल नहीं होता। इसे हम विज्ञ पाठकों के विचार के लिये ही छोड़ते हैं।

(७) वैद्यों तथा डॉक्टरों की यह कल्पना रही कि दोनों ओर की रज-कोषेंद्रियों (Ovaries) से दो प्रकार के वीर्य-अंडे अर्थात् रज-कोष (Ova) उत्पन्न होते हैं— (१) वह, जिससे स्त्री होती है, (२) वह, जिससे नर अर्थात् पुरुष होता है। मानव-जाति में, यह अनुमान किया जाता है कि दोनों रज-कोषेंद्रियाँ एकसाथ ही वीर्य-कोष (रज-कोष) का उत्पादन नहीं करतीं, बल्कि एक के बाद दूसरी, अर्थात् एक इंद्रिय से जब वीर्य-कोष का उपार्जन हो चुकता है, तो वह इंद्रिय कुछ समय के लिये स्थिर रहती है, और वीर्य-कोष का उत्पादन बंद कर देती है। फिर दूसरी इंद्रिय से वही काम शुरू होता है। इसी तरह एक के बाद दूसरी इंद्रिय की बारी आती रहती है। इससे यह ज्ञात हुआ कि यदि पहले वीर्य-संयोग (Fertilisation) का फल मालूम हो गया कि नर या नारी-संतान हुई, तो पीछे के वीर्य-संयोग के परिणाम को निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि क्या होगा। पर यह

* शिखंडी-प्राणियों से अभिप्राय उन प्राणियों से है, जिनमें दोनों तरह की जननेंद्रियाँ होती हैं—जैसे केंचुआ, जोंक इत्यादि।

सिद्धांत भी यथार्थ में प्रमाणित और सिद्ध नहीं होता। यह केवल डॉक्टरों का एक कल्पित विचार है, जो प्रयोग-रहित और बिलकुल प्रमाण-शून्य है। कारण, न तो दो प्रकार के वीर्य-अंडे (रज-कोष) ही प्रयोग में दृष्टि-गोचर हुए, और न उनका वीर्य-संयोग ही देखने में आया, जिससे यह ज्ञात होता कि नर या नारी-संतान की उत्पत्ति उपर्युक्त कल्पना के अनुसार होती है।

(८) कल्पनाएँ तो लिंग-भेद के विषय में लगभग ५०० के हैं, बल्कि इससे भी अधिक हों, तो कुछ आश्चर्य नहीं ; पर इनसे कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला। अभी हाल के अन्वेषण से ज्ञात हुआ है कि स्त्रीत्व व पुरुषत्व का गूढ़ रहस्य वीर्य-कोष में ही स्थापित है। पर इस आंतरिक संभावना का विचार वैज्ञानिकों को यथाक्रम प्रकट हुआ—

(क) सबसे प्रथम जो जाँच संयोग-हीन अंडे (Parthenogenetic eggs) पर की गई, उससे यह ज्ञात हुआ कि जिन अंडों से मादा उत्पन्न होती है, उन अंडों से वे, जो नर उत्पन्न करते हैं, विभिन्न होते हैं।

(ख) उक्त विभिन्नता के अतिरिक्त उन अंडों में संयोग होने या न होने का एक और अंतर भी है : क्योंकि हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि जिन अंडों से नर उत्पन्न होते हैं, उनका वीर्य-कीटाणु से संयोग नहीं होता, अर्थात् वे अंडे संयोग-हीन होते हैं, और जिन अंडों से मादा (स्त्री) उत्पन्न होती है, उनका संयोग होता है।

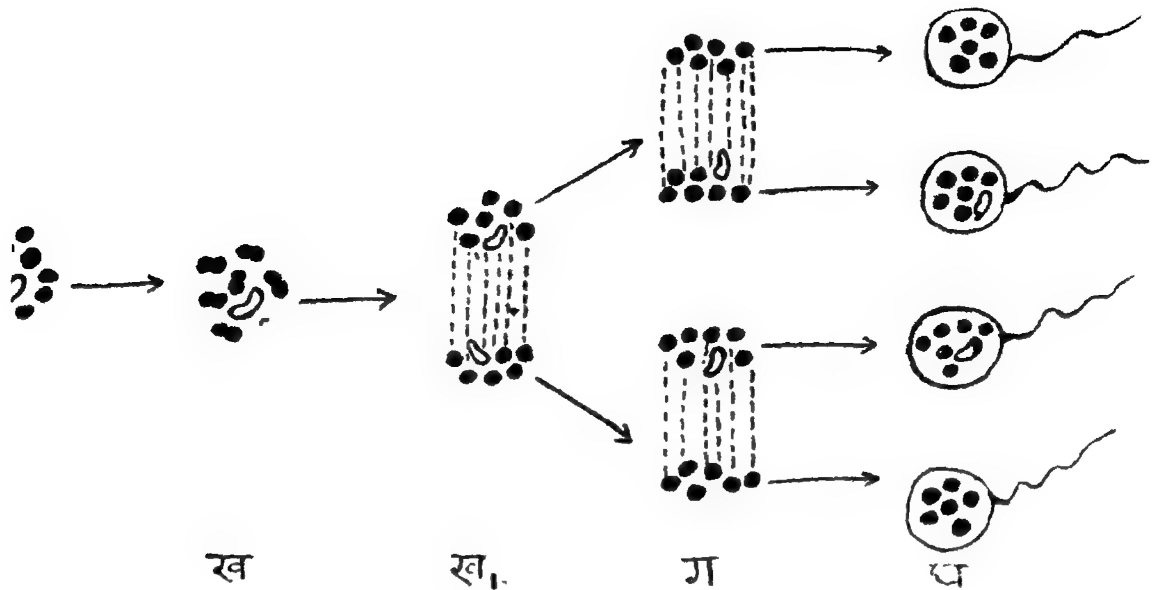
(ग) जब उपर्युक्त (क) और (ख) भेद ज्ञात हुए, तो कोष-तत्त्ववेत्ताओं (Cytologists) ने यह कल्पना की कि "अंडे का संयोग होना और न होना ही स्त्रीत्व व पुंस्त्व का मुख्य कारण है।" पर यह कल्पना संतोषजनक न होने के कारण अस्वीकृत रही, और डांकेस्टर (Doncastor) आदि कोषज्ञों ने "क्रोमोसोम-सिद्धांत"-द्वारा जो सिद्धांत निकाला, वह ठीक प्रमाणित हुआ। यहाँ यह कहना ज़रूरी है कि संयोग-हीन अंडे के विषय में वैज्ञानिकों में बहुत वाद-विवाद हो चुका है। पर इस वाद-विवाद से उनको अन्वेषण का एक नवीन मार्ग मिला, जो बहुत ही सुगम, और फलदायक सिद्ध हुआ।

उपर्युक्त वर्णित कल्पनाओं तथा सिद्धांतों के समालोचनात्मक विचार से विदित होता है कि प्रयुक्त प्रमाणों की कमी के कारण इनके आधार पर लिंग-भेद के किसी विशेष और संतोषजनक सिद्धांत का समर्थन करना कठिन है। अतएव स्त्रीत्व या पुंस्त्व के कारण जानने के लिये हमें और रास्ते ढूँढ़ना चाहिए; पर यह गुप्त भेद केवल वीर्य-कोष की आंतरिक अवस्था ही से प्रकट हो सकता है। वीर्य-कोष के संबंध में जो आधुनिक अन्वेषण हुए हैं, और उनसे जो बहुत निश्चित प्रमाण मिले तथा परिणाम निकले हैं, उनका वर्णन हम यहाँ करते हैं—

आधुनिक अन्वेषण और लिंग-क्रोमोसोम का वर्णन

ई० बी० विलसन (E. B. Wilson) ने सन् १६०६ में अपने अन्वेषण से यह सिद्ध किया कि तितली, कीड़े, पतंगे, कातर, मक्खी व अन्य कीड़ों की सैकड़ों जातियों में दो प्रकार के वीर्य-कीटाणु होते हैं, जो एक विचित्र क्रोमोसोम के होने के कारण, एक दूसरे से विभिन्न होते हैं। इस विचित्र क्रोमोसोम को हम विलसन के मतानुसार एक्स-क्रोमोसोम अर्थात् लिंग-क्रोमोसोम (X-chromosome or Sex chromosome) के नाम से प्रसिद्ध करते हैं। यह लिंग अर्थात् एक्स-क्रोमोसोम दोनो प्रकार के वीर्य-कीटाणुओं में साधारणतः नहीं होता, बल्कि एक वीर्य-कीटाणु में होता है, और दूसरे में नहीं। इसके अतिरिक्त यह एक्स-क्रोमोसोम वीर्य-कीटाणु के साधारण क्रोमोसोमों की अपेक्षा कुछ विभिन्न होता है।

विलसन ने उन प्राणियों के वीर्य-संयोग की परीक्षा की, जिनमें उक्त प्रकार के वीर्य-कीटाणु होते हैं, और यह देखा कि (१) जब रज-कोष का संयोग एक्स-क्रोमोसोमवाले वीर्य-कीटाणु से होता है, तो संतान मादा यानी स्त्री होती है, (२) और यदि रज-कोष का संयोग एक्स-क्रोमोसोम-रहित वीर्य-कीटाणु से होता है, तो संतान नर होती है। विलसन के अतिरिक्त और प्राणितत्त्ववेत्ताओं ने भी परीक्षा की, और वे भी एक निश्चित परिणाम पर पहुँच गए हैं। उक्त प्रायोगिक प्रमाणों से अब यह प्रकट है कि स्त्रीत्व या पुंस्त्व के भेद का मूल कारण एक्स-क्रोमोसोम ही है। यहाँ हम 'प्रोटीनर' (Protenor)-नामक प्राणी का वर्णन करते हैं, जिसमें उल्लिखित दो प्रकार के वीर्य-कीटाणु होते हैं—



चित्र-सं० ६—प्रोटीनर बिलफ्रेजई का वीर्य-कीटाणु-उत्पादन (Margan के चित्र में कुछ परिवर्तित)

क—आदि-वीर्य-कोष (१३ क्रोमोसोम दर्शित हैं—काले बिंदुवाले १२ तो साधारण क्रोमोसोम हैं, और एक सफ़ेद बिंदुवाला लिंग-क्रोमोसोम है, जो औरों की अपेक्षा लंबा और बड़ा है) । ख—प्रथम-नर-जननी-कोष की संयुक्त-सोम-अवस्था (Synapsis) । ख₁—द्वितीय-नर जननी-कोष और लिंग-क्रोमोसोम का विभाजन । ग—कीट-उत्पादक कोष, जो क्रोमोसोम के चार दलों में है । घ—वीर्य-कीटाणु (Spermatozoa), जो संख्या में चार हैं, जिनमें से दो में तो लिंग-क्रोमोसोम है, और दो में नहीं ।

(क) नर प्रोटीनर बिलफ्रेज़ई (Protenor belfregei) का वीर्य-कीटाणु-उत्पादन (Spermatogenesis) चित्र ६ में देखो । यह कीड़े (insect) की एक जाति है । नर प्रोटीनर के शारीरिक कोष (Body cell) में १३ क्रोमोसोम होते हैं, और यही संख्या इसके आदि-वीर्य-कोष में भी होती है । इन १३ क्रोमोसोमों में १२ क्रोमोसोम तो साधारण क्रोमोसोम की तरह होते हैं, पर शेष एक क्रोमोसोम इन १२ अन्य क्रोमोसोमों की अपेक्षा बड़ा होता है । यह बड़ा और फुट (Unpaired) क्रोमोसोम लिंग-क्रोमोसोम है, और इसे एक्स-क्रोमोसोम के नाम ही से प्रसिद्ध करना उचित है । अब 'प्रोटीनर' में दो प्रकार के वीर्य-कीटाणु किस तरह उत्पन्न होते हैं, और एक्स-क्रोमोसोम उनमें कैसे प्रवेश करता है, यह आगे के वर्णन से विदित होगा—

(ख) आदि-वीर्य-कोष, जिसमें कुल १३ क्रोमोसोम हैं, (१२ तो साधारण और एक एक्स-क्रोमोसोम) विभाजित हुआ, और उसमें एक वीर्य-कोष उत्पन्न हुआ, जिसे 'प्रथम-नर-जननी-कोष' (Primary Spermatocyte) कहते हैं (चित्र ६-क देखो) । इस 'प्रथम-नर-जननी' कोष के पूर्वोक्त क्रोमोसोम जोड़े में श्रेणी-बद्ध होते हैं—अर्थात् १२ साधारण क्रोमोसोम में से प्रत्येक दो क्रोमोसोम के ६ जोड़े हुए, और लिंग-क्रोमोसोम (एक्स-क्रोमोसोम) बेजोड़ का रहता है (चित्र ६-ख देखो) । क्रोमोसोम की जोड़े में श्रेणी-बद्ध अवस्था को 'संयुक्त-सोम-अवस्था' (Synapsis) कहते हैं । इसके पश्चात्—

(ग) प्रथम-नर-जननी-कोष के संयुक्त-क्रोमोसोम के विभाजन से दो कोष उत्पन्न हुए (चित्र ६-ख₁ देखो), जिन्हें द्वितीय नर-जननी-कोष कहते हैं । प्रत्येक कोष में

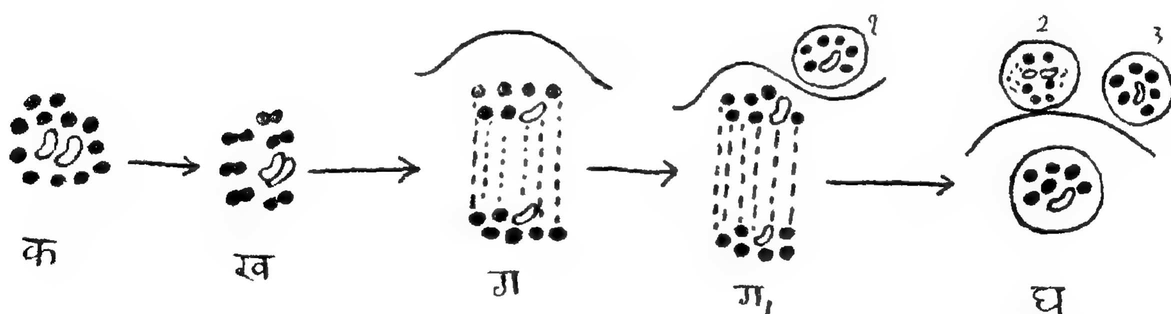
७ क्रोमोसोम होते हैं, जिनमें ६ तो साधारण क्रोमोसोम, और १ एक एक्स-क्रोमोसोम है। जिस समय प्रथम नर-जननी-कोष के संयुक्त-क्रोमोसोम विभाजित होते हैं, उस समय लिंग-क्रोमोसोम भी विभाजित होता है। एक्स-क्रोमोसोम की यह विशेषता स्मरण रखने-योग्य है: क्योंकि एक्स-क्रोमोसोम का विभाजन केवल 'द्वितीय-नर-जननी'-कोष के समय ही होता है।

(घ) प्रत्येक द्वितीय-नर-जननी-कोष के ७-७ क्रोमोसोम के दल (चित्र ६ देखो) विभाजित होकर १३-१३ क्रोमोसोम के दो दल हो जाते हैं (चित्र ६ ग देखो)। इस समय लिंग अर्थात् एक्स-क्रोमोसोम का विभाजन नहीं होता। पूर्वोक्त १३-१३ क्रोमोसोमों के दल, चार कीट उत्पादक कोषों में इस तरह श्रेणी बद्ध होते हैं—दो कीट-उत्पादक कोष में तो ६ साधारण क्रोमोसोम प्रवेश करते हैं, और शेष दो में ७ क्रोमोसोम (चित्र ६ ग देखो)। फलतः दो द्वितीय-नर-जननी-कोष के विभाजन से चार कीट-उत्पादक कोष उत्पन्न हुए, जो दो प्रकार के हैं—दो तो लिंग क्रोमोसोम-रहित कोष, जिनमें प्रत्येक में ६ क्रोमोसोम होते हैं, और दो लिंग-क्रोमोसोम-सहित कोष, जिनमें प्रत्येक में ७ क्रोमोसोम होते हैं। पूर्वोक्त ४ कीट-उत्पादक कोष, अंत में परिवर्तित होकर चार वीर्य-कीटाणु बन जाते हैं। ये वीर्य-कीटाणु दो प्रकार के हैं—(१) दो वे, जिनमें एक्स-क्रोमोसोम नहीं होता, और (२) शेष दो वे, जिनमें लिंग अर्थात् एक्स क्रोमोसोम होता है (चित्र ६ घ देखो)

प्रोटीनर बिलफ्रेजई (Protenor belfregei) का रज-कोषोत्पादन (Ovogenesis)

मादा प्रोटीनर के शारीरिक या आदि-वीर्य-कोष के देखने से कुल १४ क्रोमोसोम ज्ञात होते हैं, जिनमें से १२ तो साधारण क्रोमोसोम की तरह होते हैं, और शेष दो, जो लिंग-क्रोमोसोम हैं, बड़े होते हैं (चित्र ७ देखो)। हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं कि प्रत्येक प्राणी के रज-कोष या वीर्य-कीटाणु के उत्पादन के समय क्रोमोसोम की संख्या में कमी होती है, और वे घटकर रज-कोष (या वीर्य-कीटाणु) में आदि-वीर्य-कोष की अपेक्षा केवल आधे रह जाते हैं। पर प्रोटीनर के रज-कोष में एक विशेषता यह है कि साधारण क्रोमोसोमों की कमी के साथ लिंग-क्रोमोसोम की भी घटती होती है। यह नीचे के वर्णन से स्पष्ट होगा—

आदि-वीर्य-कोष के १४ क्रोमोसोम 'प्रथम-रज-जननी-कोष' में, संयुक्तसोम अवस्था (Synapsis) में, ७ जोड़ों में, श्रेणी-बद्ध होते हैं (६ जोड़े तो साधारण १२ क्रोमोसोम के और १ जोड़ा दो लिंग क्रोमोसोमों का बनता है) (चित्र ७-क देखो)। इसके पश्चात् 'प्रथम-रज-जननी-



चित्र-सं० (७)—प्रोटीनर बिलफ्रजई के रज-कोष-उत्पादन (Morgan के चित्र से कुछ परिवर्तित)

क—आदि-वीर्य-कोष (१४ क्रोमोसोम दर्शित हैं—१२ काली बिंदीवाले तो मामूली क्रोमोसोम हैं, और शेष दो, जो सफेद और बड़े हैं, लिंग-क्रोमोसोम हैं)। ख—प्रथम रज-जननी-कोष और क्रोमोसोम का जोड़े में श्रेणी-बद्ध होकर संयुक्तसोम-अवस्था में होना। ग—द्वितीय-रज-जननी-कोष और पूर्वोक्त संयुक्त-क्रोमोसोम का विभाजन। ग,—(१)प्रथम ध्रुव-कोष का द्वितीय-रज-जननी-कोष से उत्पत्ति। घ—(१) परिपक्व-रज-कोष (Matured ovum), (२) प्रथम ध्रुव-कोष की तृतीय ध्रुव-कोष के लिये विभाजित दशा, (३) द्वितीय ध्रुव-कोष।

कोष' (1st Oocyte) से विभाजित होकर 'द्वितीय-रज-जननी-कोष' (2ndry Oocyte) बनता है, और इसमें क्रोमोसोमों के पूर्वोक्त जोड़े विभाजित होकर पुनः १४ क्रोमोसोम हो जाते हैं, जिनमें से ७-७ क्रोमोसोमों के दो दल बनकर कोष के प्रत्येक ध्रुव (Pole) की ओर जा लगते हैं (चित्र ७-ग देखो) । इसके बाद कोष के ऊपरी ध्रुव के क्रोमोसोमों के दलों के विभाजन से एक ध्रुव-कोष (७ क्रोमोसोम का) उत्पन्न होता है। यह ध्रुव-कोष 'प्रथम-ध्रुव-कोष' (1st polar body) के नाम से प्रसिद्ध है (चित्र ७-ग-१ देखो)। प्रथम-ध्रुव-कोष के बाद एक और ध्रुव-कोष (७ क्रोमोसोमों का) तैयार होता है, जो 'द्वितीय-ध्रुव-कोष' (2nd polar body) कहा जाता है (चित्र ७-घ देखो) । अब जो ७ क्रोमोसोम रज-जननी-कोष में रह गए, उनका रज-कोष (ovum) बन जाता है । थोड़े समय के पश्चात् 'प्रथम-ध्रुव-कोष' से विभाजित होकर एक तृतीय-ध्रुव-कोष (3rd polar body) भी उत्पन्न होता है । जिस समय 'रज-कोष' से सब ध्रुव-कोष बनकर निकल जाते हैं, उस समय रज-कोष पूर्णता को प्राप्त होता है, और परिपक्व या पूर्ण रज-कोष (matured ovum) कहा जाता है ; क्योंकि बिना रज-कोष के परिपक्व हुए, अर्थात् बिना ध्रुव-कोषों के निकले, वीर्य-कीटाणु से रज-कोष का संयोग (fertilisation) कदापि नहीं होता । यही प्राकृतिक नियम हर प्राणी में प्रचलित है । चित्र ७-घ के देखने से मालूम होगा कि रज-कोष में शारीरिक या आदि-वीर्य-कोष की अपेक्षा क्रोमोसोम की केवल आधी संख्या है । यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रोटीनर के रज-कोष, वीर्य-कीटाणु की तरह दो प्रकार के नहीं होते, अर्थात् प्रोटीनर के सब रज-कोष एक-से हैं, और उनमें क्रोमोसोमों की संख्या बराबर है, याने कुल ७ क्रोमोसोम होते हैं, जिनमें से ६ तो साधारण, और १ लिंग याने एक्स-क्रोमोसोम (Sex or X-chromosome) है।

अब हम प्रोटीनर, लीजियस, एस्किरिस इत्यादि प्राणियों के वीर्य-संयोग (fertilisation) के फलों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं—

प्रोटीनर, लीजियस और एस्किरिस के वीर्य-संयोग और उनमें लिंग-भेद

(१) प्रोटीनर (Protenor)—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, प्रोटीनर में दो प्रकार के वीर्य-कीटाणु होते हैं—एक तो एक्स-क्रोमोसोम-रहित कीटाणु (जिनमें कुल ६ साधारण क्रोमोसोम होते हैं), दूसरा एक्स-क्रोमोसोम-बद्ध कीटाणु (जिनमें १ लिंग-क्रोमोसोम और ६ साधारण क्रोमोसोम होते हैं) । अब इस प्राणी में जब रज-कोष (Ova) का संयोग एक्स-क्रोमोसोम-रहित वीर्य-कीटाणु से होता है, तो संतान नर होती है, और यदि रज-कोष का संयोग एक्स-क्रोमोसोम-सहित वीर्य-कीटाणु से हो, तो संतान हमेशा मादा होगी (चित्र-सं० ८-क देखो) ।

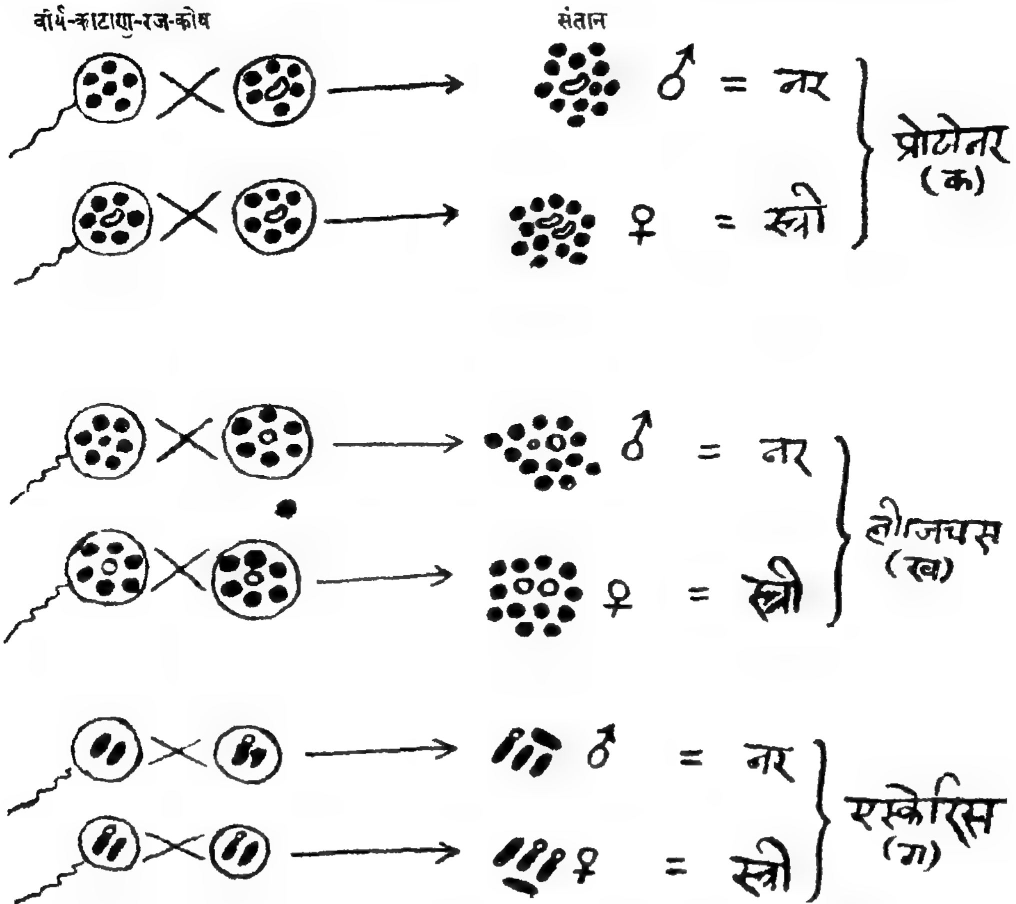
(२) लीजियस (Lygeus)—इस प्राणी में भी दो प्रकार के वीर्य-कीटाणु होते हैं, और दोनों में लिंग-क्रोमोसोम होता है। भेद केवल इतना ही है कि एक वीर्य-कीटाणु का एक्स-क्रोमोसोम, दूसरे वीर्य-कीटाणु की अपेक्षा बड़ा होता है। अतएव इस प्राणी में जब रज-कोष का संयोग, छोटे लिंग-एक्स-क्रोमोसोम-सहित वीर्य-कीटाणु से होता है, तो संतान नर होती है, और जब बड़े लिंग-क्रोमोसोम-सहित वीर्य-कीटाणु से होता है, तो संतान मादा (नारी) होती है (चित्र-सं० ८-ख देखो) ।

(३) एस्किरिस (Ascaris)—इस प्राणी में भी प्रोटीनर की तरह, एक वीर्य-कीटाणु में लिंग-क्रोमोसोम होता है, और दूसरे में नहीं। पर प्रोटीनर और लीजियस की अपेक्षा इस प्राणी के शारीरिक या आदि-वीर्य-कोष में क्रोमोसोम की संख्या बहुत कम होती है। अतएव इस प्राणी में जब रज-कोष का संयोग लिंग-क्रोमोसोम-रहित वीर्य-कीटाणु से होता है, तो संतान नर, और जब लिंग-क्रोमोसोमवाले वीर्य-कीटाणु से होता है, तब मादा होती है (चित्र-सं० ८-ग देखो) ।

उपर्युक्त प्राणियों के वीर्य-संयोग से स्पष्ट विदित होता है कि स्त्रीत्व तथा पुंस्त्व का मुख्य कारण लिंग अर्थात् एक्स-क्रोमोसोम ही है । उन्हीं के, विचित्र रूप से, वीर्य-कीटाणु में होने या न होने के कारण प्राणियों में लिंग-भेद होता है ।

मानव-जाति में लिंग-भेद

प्राणियों के अतिरिक्त मानव-जाति में भी, अन्वेषण से सिद्ध हुआ है कि दो प्रकार के वीर्य-कीटाणु होते हैं । एक में लिंग-क्रोमोसोम होता है, और एक में नहीं । इस



चित्र-सं० (८)—प्रोटीनर, लीजियस और एस्किरिस प्राणियों के वीर्य-संयोग के फल और उनके संतानों में लिंग-भेद

(उपर्युक्त चित्र के देखने से विदित होगा कि प्रोटीनर, लीजियस और एस्किरिस प्राणियों में से प्रत्येक में, दो प्रकार के वीर्य-कीटाणु (Dimorphic Spermatozoa) होते हैं, और उक्त प्राणियों की भावी संतानों में लिंग-भेद इन वीर्य-कीटाणुओं के कारण होता है। प्रोटीनर और एस्किरिस प्राणियों के वीर्य-कीटाणुओं में, एक कीटाणु में, लिंग-क्रोमोसोम है, और एक में नहीं। पर, लीजियस प्राणी के वीर्य-कीटाणुओं में एक कीटाणु में लिंग-क्रोमोसोम छोटा है, और एक में बड़ा)

बात में तो वैज्ञानिक लोग सहमत हैं कि मनुष्य में दो प्रकार के वीर्य-कीटाणु होते हैं: पर विवाद और शंका हुई, और अब भी है, तो केवल वीर्य-कोष के क्रोमोसोम की संख्या के विषय में। मत-भेद का होना स्वाभाविक है, और इसके कई कारण हैं—

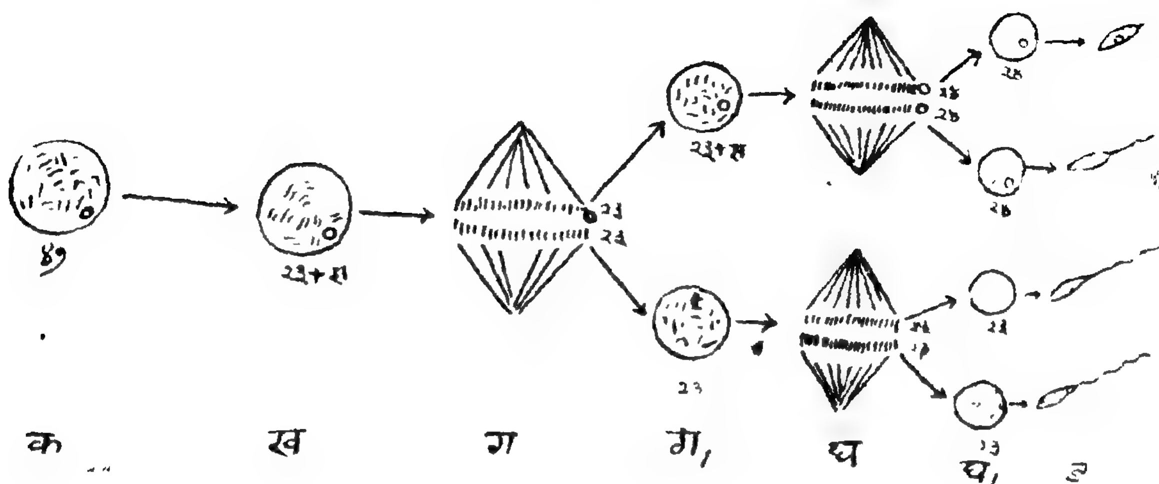
(१) एक तो यह कि मानव-जाति में अन्वेषण करना कठिन कार्य है।

(२) क्रोमोसोम की सूक्ष्मता और अधिकता के कारण उनको गिनना बड़े धैर्य और परिश्रम का काम है।

(३) उपर्युक्त क्रोमोसोमों का आपस में चिपके या जुटे रहना एक और कठिनता का कारण है।

(४) अन्वेषण के लिये ताज़े द्रव वीर्य की प्राप्ति मुश्किल है।

(५) विभिन्न जातियों के मनुष्यों में क्रोमोसोमों की संख्या की विभिन्नता का होना।



चित्र-सं० (६)—मानव-जाति के वीर्य-कीटाणु-उत्पादन का ; Von Winiwarter के चित्र से कुछ परिवर्तित

क—आदि-वीर्य-कोष (जिसमें ४६ साधारण क्रोमोसोम, और १ लिंग-(एक्स) क्रोमोसोम दर्शित हैं) । ख—प्रथम-नर-जननी-कोष की संयुक्तसोमावस्था (Synapsis stage)—साधारण क्रोमोसोम, श्रेणी-बद्ध होकर २३ जोड़ों में हो गए हैं, और एक्स-क्रोमोसोम बे-जोड़ का है । ग—प्रथम-नर-जननी-कोष की विभाजित अवस्था और द्वितीय-नर-जननी-कोष की उत्पत्ति । ग,—दो द्वितीय-नर-जननी-कोष (जो पूर्वोक्त (ग) कोष से विभाजित होकर बने हैं)—एक में लिंग-क्रोमोसोम है, और एक में नहीं । घ—द्वितीय नर-जननी-कोष की विभाजित अवस्था और घ,—चार कीट-उत्पादन कोष की उत्पत्ति । ङ—४ वीर्य-कीटाणु—२ में लिंग-क्रोमोसोम है, और दो में नहीं ।

यह अनुमान किया जाता है कि हबशी-जाति (Negros) के वीर्य-कोष में क्रोमोसोमों की संख्या, गोरे लोगों की अपेक्षा केवल आधी होती है ।

उक्त कठिनाइयों के होने पर भी हमें निराश न होना चाहिए । मानव-जाति में अन्वेषण ने जो रूप यथाक्रम बदला है, उसका भी, संक्षेप में, हम वर्णन करते हैं—

(१) सबसे पहले गायर (Guyer) ने १६१० में यह खोज की कि पुरुष-जाति में भी दो फुट (Unpaired) क्रोमोसोम होते हैं, जो अन्य प्राणियों तथा कीड़ों के फुट (अर्थात् लिंग) क्रोमोसोमों के सदृश और वीर्य-कोष के साधारण क्रोमोसोमों की अपेक्षा कुछ विभिन्न होते हैं । उक्त एक्स-क्रोमोसोम-सहित वीर्य-कीटाणुओं से तो स्त्री-संतान होती है, और एक्स-क्रोमोसोम-रहित कीटाणुओं से नर । गायर ने १२ क्रोमोसोम एक श्रेणी के वीर्य-कीटाणु में गिने, और १० क्रोमोसोम दूसरी श्रेणी के वीर्य-कीटाणु में ; पर उसका प्रमाण कुछ कमी के कारण निश्चय पूर्वक स्वीकृत न हो सका ।

(२) मांटगुमरी ने भी इसी विषय में खोज की, और क्रोमोसोमों की जो संख्या गायर को ज्ञात हुई थी, वही मांटगुमरी को भी । पर एक्स-क्रोमोसोमों का पता मांटगुमरी को नहीं लगा । जार्डन ने भी, कई दूध देने-वाले पशुओं में, अन्वेषण किया है । उसका दृढ़ विचार है कि बहुतों में दोनों ही प्रकार के वीर्य-कीटाणु होते हैं, जिस तरह कि अन्य कीट-पतंग आदि में पाए जाते हैं ।

(३) हाल में जो खोज हुई है, वह प्राणिशास्त्रज्ञ वॉन विनिवार्टर की की हुई है । इन महाशय की विधि गायर, मांटगुमरी तथा जार्डन की अपेक्षा उत्तमतर और पुष्ट है । विनिवार्टर को ४७ के लगभग क्रोमोसोम ज्ञात हुए हैं (चित्र ६-क देखो) । उक्त ४७ क्रोमोसोमों में से ४६ क्रोमोसोम तो कोष-विभाजन के समय संयुक्तसोम-अवस्था

(Synapsis) में जोड़े-के-जोड़े श्रेणी-बद्ध होकर २३ जोड़े हो जाते हैं (चित्र ९-ख देखो), और शेष एक (अर्थात् सैंतालीसवाँ क्रोमोसोम) फूट रहता है। यही क्रोमोसोम लिंग या एक्स-क्रोमोसोम है। संयुक्तसोम-अवस्था के पश्चात् (द्वितीय-नर-जननी-कोष के लिये) कोष का विभाजन होता है। उस समय क्रोमोसोम के पूर्वोक्त जोड़े भी पुनः विभाजित होते हैं। फलतः २३-२३ क्रोमोसोमों का दल कोष के प्रत्येक ध्रुव की ओर जा लगता है, और लिंग-क्रोमोसोम केवल एक ही ध्रुव की ओर रहता है (चित्र ९-ग देखो), याने कोष के एक ध्रुव की ओर तो २४ क्रोमोसोम और दूसरे ध्रुव की ओर केवल २३। इसके पश्चात् उक्त क्रोमोसोम दो द्वितीय-नर-जननी-कोषों (2ndry Spermatocyte) में प्रवेश करते हैं (चित्र ९-ग.)। फिर, दोनों द्वितीय-नर-जननी-कोषों के विभाजन से चार कीटाणु-उत्पादक कोष उत्पन्न हुए, जिनमें से दो कीट-उत्पादक कोषों (Spermatids) में तो २३-२३ क्रोमोसोम होते हैं, और शेष दो में २४-२४ (चित्र ९-घ, घ. देखो) क्रोमोसोम। इसके बाद पूर्वोक्त कीट-उत्पादक कोष परिवर्तित होकर चार वीर्य-कीटाणु बन जाते हैं, जिनमें क्रोमोसोमों की संख्या वही रहती है, जो कीट-उत्पादक कोष में होती है। चित्र ९-ङ के देखने से मालूम होगा कि दो वीर्य-कीटाणुओं में तो लिंग-क्रोमोसोम होते हैं, और दो में नहीं। विनिवार्टर को रज-कोष के क्रोमोसोमों के अन्वेषण में कुछ बाधा और रुकावट हुई थी। बड़ी कठिनाई से उन्होंने ४८ क्रोमोसोमों तक गिना; क्योंकि और वैज्ञानिकों का विचार है कि रज-कोष में क्रोमोसोमों की संख्या इससे भी कुछ अधिक होती है। विनिवार्टर के घोर परिश्रम और खोज के लिये वैज्ञानिक बहुत कृतज्ञ हैं। यदि विनिवार्टर की खोज की पुष्टि अन्य कोष-तत्ववेत्ताओं द्वारा हो जाय, तो रही-सही शंकाएँ भी दूर हो जायँ। जिस तरह अन्य प्राणियों में विभिन्न प्रकार के वीर्य-कीटाणुओं के कारण लिंग-भेद होता है, उसी तरह मानव-जाति में भी उल्लिखित वीर्य-कीटाणुओं द्वारा लिंग-भेद होता है, अर्थात् लिंग-क्रोमोसोम-सहित वीर्य-कीटाणु से तो संतान स्त्री होती है, और लिंग-क्रोमोसोम-रहित वीर्य-कीटाणु से पुरुष।

उल्लिखित वैज्ञानिक तथा प्रायोगिक प्रमाणों से अब स्पष्ट विदित हो गया कि स्त्रीत्व या पुंस्त्व का कोई मुख्य आंतरिक कारण है, जो वीर्य-कोष में ही स्थापित है। यह संभव है, बाल्य-अवस्था का कुछ प्रभाव संतान पर पड़े; पर इस परिवर्तन का लिंग-भेद से गूढ़ संबंध नहीं है। हाँ, यहाँ तक स्वीकृत किया जा सकता है कि बाह्य परिवर्तन का कुछ प्रभाव विभिन्न प्रकार के वीर्य-कीटाणुओं और रज-कोष के संयोग या सम्मेलन पर पड़े, जिसमें नर तथा स्त्री-संतान की संख्या में कमी-बेशी हो जाय; पर लिंग-भेद से इस परिवर्तन का कोई संबंध नहीं है। लिंग-भेद के आंतरिक कारणों की पुष्टि हरमॉन-सिद्धांत (Harmone theory) तथा मेंडीलियन-सिद्धांत (Mendelian theory) से भी होती है।

नवलकिशोरसिंह

बस्ती-ज़िले के कुछ कवि

(१)



ऐतिहासिक दृष्टि से बस्ती-प्रांत बहुत प्रसिद्ध है। प्राचीन काल से लेकर अब तक की अनेक घटनाओं में इस प्रांत का भाग रहा है। इसके पश्चिम में पुरानी अयोध्या-नगरी है, दक्षिण की सीमा पर आद्योपांत सरयू-नदी बहती है। उत्तर में नेपाल, और पूर्व में बुद्ध भगवान् की पवित्र भूमि है। वाराह-क्षेत्र, चतुर्भुजी देवी तथा ब्रह्मस्थान आदि तीर्थ-स्थान पुराने जान पड़ते हैं। दक्षिण में, सरयू के तट पर, अभी तक दशरथ के दामाद शृंगी-ऋषि तथा उनकी स्त्री की समाधियाँ हैं, जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है। रामरेखा और मनोरमा* नदियाँ भी बहुत पुरानी प्रतीत होती हैं। मनोरमा के ही तट पर अभी तक वह स्थान वर्तमान है, † जहाँ राजा दशरथ ने पुत्रोत्पत्ति के लिये यज्ञ किया था। अभी एक महीना हुआ, इस ज़िले के पतित-पावन ब्राह्मणों ने इसी स्थान पर एक बड़ा भारी यज्ञ

* देखिए, विष्णुपुर-निवासी पं० रामनारायण शर्मा-लिखित 'मनोरमा-माहात्म्य'।

† आजकल इसका नाम है 'मखौड़ा', अर्थात् मख-स्थान [मख=यज्ञ]।

किया, और वहाँ एक ब्रह्मचर्याश्रम की नींव डाली है। इसी नदी के किनारे, पंडूर-घाट पर, प्रतिवर्ष बड़ा भारी मेला लगता है। लोग कहते हैं, पांडवों ने अपने अज्ञात-वास का कुछ काल यहीं बिताया था। उत्तर में बाण-गंगा नाम की एक पहाड़ी नदी है। कहा जाता है, गउओं की रक्षा के लिये पांडव लोग इसी तराई में आए थे, और अर्जुन के बाण से ही यह नदी निकली थी। कुछ लोग तो यहाँ के बाँसी-राज को ही विराट का राज्य बतलाते हैं। पंडूर-घाट के पास ही एक छोटा-सा नाला है, जो आजकल 'भीमा-नाला' के नाम से प्रसिद्ध है। दंत-कथा है कि भीम ने एक राक्षस को मारकर घसीटा था; वह इतना बृहत्काय था कि उसकी रगड़ से यह नाला खुद गया था। इधर एक और दंत-कथा प्रसिद्ध है। कहा जाता है, सीताजी जा रही थीं। चलते-चलते उनके पैरों में घाव हो गए। रास्ते में चने के खेत थे, घावों में जब चने के पेड़ों की नमकीन पत्तियाँ लगीं, तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। उन्होंने उसी समय शाप दे दिया कि यहाँ जो कोई चना बोवेगा, उसका बड़ा अनिष्ट होगा। सचमुच, मनोरमा और सरयू के बीच का जो भाग है, उसमें अभी तक लोग चने की खेती करते ही नहीं। भूमि, सर्वथा इसके लिये उपयुक्त है, पर सीताजी के शाप का भय बड़ा भारी है। इधर दो-चार वर्षों से नई रोशनी के एक-आध लोग अलबत्ता चने की खेती करने लगे हैं। अइला, मुइला, चंदो, भारतभारी तथा बखिरा, ऐसे-ऐसे कई बड़े-बड़े ताल भी यहाँ हैं। भारतभारी को लोग रामचंद्र-जी के समय का बतलाते हैं। देखने से यह प्राचीन जान भी पड़ता है। चंदो और बखिरा ताल तो शायद दो बड़े नगरों के धँस जाने से हो गए हैं। इनमें अब तक लोहे तथा पीतल की पुरानी चीज़ें मिलती हैं। मुइला के किनारे तो किसी अँगरेज़ ने शायद कभी कुछ खुदाई भी कराई थी। कुछ मंदिर तथा अन्य घरों के प्राचीन खँडहर मिले थे। कहा जाता है, कुछ रुपए भी मिले थे। इस ज़िले के उत्तर में 'थारू'-जाति के लोग बसते हैं। ये लोग कभी-कभी इधर आकर डेरा डाल देते हैं। इनके पास ताम्र-पत्रों पर लिखे हुए पुराने बीजक रहते हैं; ये उन्हीं के अनुसार कहीं-कहीं खोदना प्रारंभ करते हैं, और जो कुछ धन मिलता है, उसे लेकर रात को चुपके से चल देते हैं। एक बार तो मेरे गाँव के पास ही ऐसा हुआ था, और प्रातःकाल कुछ चरवाहों को गले-सड़े पैसे मिले थे।

बौद्धकाल की प्राचीनता के भी चिह्न यहाँ हैं। कपिल-वस्तु, इस ज़िले की उत्तर सीमा पर ही है। उधर, आस-पास ही और कई ऐसे स्थान हैं, जहाँ समय-समय पर चीन-जापान से यात्री आया करते हैं। कसया, अर्थात् प्राचीन कुशीनगर भी पास ही है। पिंडारियों को शांत रखने के लिये अँगरेज़ों ने उनमें से एक-आध को इसी ज़िले में भेजा था। वे अब तक गनेशपुर आदि क़स्बों में आबाद हैं। इस ज़िले में अँगरेज़ों की भी अनेक रियासतें हैं। कबीर का समाधि-स्थान, मगहर * इसी ज़िले में है। जड़ी-बूटियाँ भी प्राचीन तपोभूमियों में ही पाई जाती हैं। यदि इनका मिलना प्राचीनता का चिह्न है, तो मछोई † तथा कुँआनो आदि नदियों के किनारे सफ़ी और अन्यान्य बूटियाँ भी बहुतायत से मिलती हैं।

(२)

ऐसे प्रसिद्ध स्थान में लेखकों और कवियों का होना उचित ही है। कविवर लछिराम इसी प्रांत के अमोढ़ा-नामक पुराने स्थान के निवासी थे। इनके लड़के अभी तक जीवित हैं; पर खेद है, वे लोग पढ़े-लिखे नहीं हैं, और न उनके पास कविवर के कोई ग्रंथ ही हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल तथा बाबू जगन्मोहन वर्मा-जैसे हिंदी के सुलेखक इसी ज़िले के हैं। बाबू रंगनारायण पालजी वर्मा भी हिंदी के पुराने सुकवि हैं। यह, बाबू हरिश्चंद्र तथा पंडित अंबिकादत्त व्यास की मंडली के हैं। आजकल आपकी अवस्था लगभग ७० वर्ष की है। जीवन-भर आपने सिवा गाने-बजाने तथा कविता लिखने-पढ़ने के और कुछ किया ही नहीं। अभी तक आप नियमित रूप से कुछ-न-कुछ प्रतिदिन लिखते रहते हैं। इसी से अनेक स्थलों पर इनकी कविता में एक ही भाव दुहरा दिए गए हैं। आप ख़लीलाबाद तहसील में, हरिहरपुर

* आजकल यहाँ, गोरखपुर से आगे चलकर बी० एन्० डबल्यू० रेलवे का स्टेशन भी है।

† इसका पुराना और शुद्ध नाम संभवतः "मत्स्योदरी" [मत्स्य+उदरी] है।

के कुलीन क्षत्रिय रईस हैं। आर्थिक स्थिति आपकी इतनी अच्छी है कि गत मास कलकत्ते के "मार-वाड़ी-पुस्तकालय" से इन्हें जो पुरस्कार मिला था, उसे इन्होंने सहर्ष लौटा दिया। काव्य के ऐसे रसिक सहृदय बहुत कम मिलेंगे। 'शांत-रसार्णव' आदि कई ग्रंथ भी आपने लिखे हैं। पत्र-पत्रिकाओं को सर्वथा सहायता देने के लिये आप उत्सुक रहते हैं। आज तक आपने कितनी ही समस्याओं की पूर्ति की है। "बहार है" समस्या की ये दो पूर्तियाँ आपने होली के अवसर पर लिखी थीं—

मंजु मरीचिन ब्याज अमी की, रह्यो जनु ढारि सुधाधर-धार है;
रंगजू पाल सदा गति डोलत मंद-हि-मंद सुगंध के भार है।
कैलिया कूकि रही चहुँ ओरन, त्यों पिय-पीय पपीहा पुकार है;
तापै निहार बगार रही यह, चैत की चाँदनी कैसी "बहार है"।

आली हौं अकेली रही आवती निकुंजन सों,
सुमन सुहाए लिए पोहिबे को हार है;
रंगपाल मेरी जान मद मतवारो कारो,
औचक हीं टूटि परयो जैसे बटपार है।
रंग मारे मारी पिचकारी हौं रिसानी तऊ,
कह्यो कौन चोरी आज कौ तो यह चार है;
मीड़ि मुख रोरी बरजोरी जात भज्यो कहि,
माफ़ करो गोरी! आज होरी की "बहार है"।

आपने शांत-रस के भी अनेक पद लिखे हैं। जिस प्रकार भारतेंदुजी "गुलाम राधारानी के" थे, वैसे ही 'रंगपाल'जी भी अपने को सर्वत्र "राधामाधव-चरण-कमल-मधुकर" ही लिखते हैं। यों तो यह श्रीकृष्ण के ही अनन्य भक्त हैं, पर हैं सनातनधर्मी। इनके और बहुतेरे पद अन्य देवताओं की स्तुति में भी हैं। नमूने के लिये एक सुनिए—

बानि जग-रानि आनद-कारिणि तुहीं;
लोक-जोहानि अमल यश-प्रसारिणि तुहीं।
कुमति तम निविड़ दुख दुसह-टारिणि तुहीं;
सुमति परकाशि करि सुख-सचारिणि तुहीं।
सचित बहु जन्म अघ-ओघ-हारिणि तुहीं;
दानि गौरव, सुगुण-गण-प्रचारिणि तुहीं।
शंभु अज विष्णु वर हिय-विहारिणि तुहीं;
'रंगजू पाल' भव-सिंधु तारिणि तुहीं।

इनकी कविता का अधिकांश राधा-माधव के ही कीर्ति-वर्णन में है। "रंग-उमंग"-नामक ग्रंथ की भी एक ऐसी ही कविता देखिए—

रास रची वृंदावन मंजुल कुंजन पुंज थली। अली री।
बेलि लता लपटीं द्रुम-डरियाँ झूमति फूलि फली;
भूमि मई मणि-फटिक जगामग चित्रित भाँति भली।
मंडल जोरि रहीं छवि-आगरि नागरि नेह पली;
शोभित मध्य प्रिया प्रीतम रति मनमथ-मान दली।

रंगपालजी राग, ताल तथा बाजों के अच्छे ज्ञाता हैं, और इनकी पुस्तकों से इसका अच्छा पता चलता है। कवि-जनों और सहृदयों का इनके यहाँ बड़ा सत्कार होता है। आपने बहुत-से गीत और पद लिखे हैं। दो-एक नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

बिन बालम जियरा जराती रे आली, चैता की चाँदनि राती;
कारी करि अरुनारी अँखियन बैरिन कूर कुजाती।

× × ×

पिय-पिय रटत पपीहा पापी, पकरि कहूँ जो पाती।
सीतल सुरभि बयरिया मानहुँ तरवरिया बहि जाती;
बिकसित बिपिन भौंर की गुंजन, औरहु छाती दरकाती।

यह तो हुई विरहिणी की दशा। देखिए ऐसे ही गीत में खंडिता नायिका क्या कहती है—

बलम कहँ रैन बिताए भोरवाँ घर आए?
बदन श्रम-बिंदु सलोने जुलफन बिथराए;
मानहुँ फले वारिजात पर ओस कनाकन छाए।

× × ×

अंजन अधर लिलार महावर पलकन पीक लगाए,
नई छवि छलकन छाए।

× × ×

आपके सभी ग्रंथ फुटकल कविताओं के संग्रह हैं। दो और समस्या-पूर्तियों के नमूने नीचे दिए जाते हैं। ये भी फाग के ही वर्णन में हैं—

गोरी लै गुलाल मूठ भरिबे पिया पै चली,
तौलों प्राणप्यारी तकि कुंकुमा चलायो है;
ओढ़े कर नीचो नारि सिमिटी पिछौहैं चली,
रंगपाल, हेरि छबि आनँद अघायो है।
पाटी सो पिछलि सीस-फूल मुकुतान युत,
पक्षासन-जड़ित उरोज यों सुहायो है;
त्यागि तम-तोमहिं तरैयन को लीने संग,
मानौ सूर सरकि सुमेरु पर आयो है।

कैसी बढ़िया कल्पना है ! ऐसी ही एक और सुनिए—

राँची ग्वाल-बाल मिलि फाग अनुरागवारो,
गावत धमाल धुनि मिलित मृदंग त ;
ताकत गुलाल मूठ मेलि चली प्राणप्यारी,
बिहँसि पिया के मुख काढ़ि सखि संग ते ।
पाटी सों बिखरि आगी दै लट लुरन रमो ही,
रंगपाल बाल के बदन हाह ढंग ते ;
बाँहन पसारि निज पति सों छबीली छपा,
परसि रही है मानो प्रेम के 'उमंग तें' ।

इस ज़िले के अधिकतर कवि ख़लीलाबाद-तहसील में ही हुए हैं । इसी तहसील में मलौली-नामक एक स्थान है । यहाँ, पंडित दुनियाराम चौबे संस्कृत के अच्छे कवि हो गए हैं । यहीं के बिंद्राप्रसाद और महादेवदत्तजी फ़ारसी के अच्छे कवि थे । इस गाँव में चौबे लोग ही बसते हैं । ये लोग बड़े धनाढ्य और सम्माननीय कुल के ब्राह्मण हैं । पं० रामगरीब चौबे इसी घराने मे हो गए हैं । कविता में यह अपना उपनाम 'गंगाजन' अथवा 'गरीब' रखते थे । यह गंगाजी के बड़े भक्त थे । शायद लछिराम के समकालीनों में थे, और इन्हें मरे कोई ४० वर्ष हुए होंगे । यह बड़े ही धर्मी थे, और इन्हें वैद्यक में बड़ी रुचि थी । जान पड़ता है, कविता और वैद्यक में कुछ घनिष्ट संबंध-सा है—अनेक कवि वैद्य हुए हैं । इसी से शायद वैद्यों को मानव-जीवन के ज्ञान के लिये अनेक सुगम अवसर प्राप्त होते हैं । चौबेजी के यहाँ दवाएँ मुफ़्त बटती थीं । इन्होंने गीतों का एक संग्रह लिखा था "जगन्नाथाष्टक" । सुनते हैं, इनके और भी कई ग्रंथ हैं, पर वे हमारे देखने में अभी तक नहीं आए हैं । इनकी एक कविता पार्वतीजी की स्तुति में है । सुनिए—

सुंदर सुचाली ताली रसना रसालीवाली,
द्विजन प्रवाली वाली हिमवन्तनालीजू ;
लोचन विशाली विरदवाली हे मतवाली,
चेत परनाली वरदानवाली कालीजू ।
दास अघघाली खरसाली मुंडमाली, संग,
सोहत बेहाली दुष्ट मेकी कहँ व्यालीजू ;
'गंगाजन' पाली करि कृपा मातु हाली कार्य,
सिद्धिए उताली तोहिं सपथ कपालीजू ।

देखिए, अपना कार्य सिद्ध कराने के लिये पार्वती को कैसी शपथ रखा दी है । 'गरीब'जी के पुत्र पं० हरिशरणजी भी कविता करते थे । 'गरीब'जी का देहांत अयोध्या में हुआ था । हरिशरणजी को भी मरे कई वर्ष हो गए । जान पड़ता है, यह अधिकतर शृंगार-रस की कविता करते थे । एक बार समस्या दी गई "बिनु सीस जटा लटकाए फिरै ।" बहुतों ने अपनी अक़्ल तोड़-मरोड़कर कल्पना ही करने में ख़र्च कर डाली, पर हरिशरणजी की कविता सर्वश्रेष्ठ मानी गई—

उमड़ै घुमड़ै बरसै गरजै गिरि मंदिर ते झरनाये झरैं ,
पिक दादुर मोर के सोर सुनै बिरही जन चित्त न होत थिरै ;
युत बास कदंब के बार लगे अकुलात हियो नहिं भावै बिरै ,
झलकेतु के पीर सों आली पिया बिनु सीस जटा लटकाए फिरै ।

यहीं, पास ही में, एक प्रसिद्ध गाँव है सिरसी-घोरांग । घोरांग में बनमालीराय नाम के एक राठौर क्षत्रिय कवि हो गए हैं । यह 'गरीब'जी के समकालीन ही थे । इन्होंने दोहा-चौपाई में रामायण के ढंग पर एक "सुदामा-चरित" लिखा है । यह ग्रंथ, सुनते है, बड़ा अच्छा है, पर अभी तक हमारे देखने में नहीं आया है । खेद है, इनकी कविता के नमूने हम यहाँ नहीं दे सकते । इनके पास ही सिंगरामऊ में रामलोचन बंदीजन एक और अच्छे कवि हो गए हैं । यह फुटकल कविता करते थे और महाराज दिग्विजयसिंह के सत्संगी थे* ।

इसी तहसील में, हैंसर-बाज़ार में, एक कवि हुए हैं मुंशी शिवांबरप्रसादजी । यह जाति के वैश्य थे, और जीवन-भर अध्यापक रहे । काव्य का ज्ञान इन्हें बड़ा अच्छा था, और इनकी कविता बड़ी भाव-पूर्ण और सरस होती थी । दुर्भाग्य-वश इनकी भी कोई कविता हमें नहीं मिल सकी है । यह, अधिकतर ब्रजभाषा मे कविता करते थे । इसी तहसील के उत्तर-भाग में, बखिरताल के पास पं० धनराज शास्त्री प्रज्ञाचक्षु का गाँव है । सुनते हैं, आप भी अच्छी कविता करते हैं । संस्कृत के तो आप धुरंधर विद्वान् हैं ही, फ़ारसी के भी अच्छे ज्ञाता हैं । किसी समय तो यह अवतार ही माने जाते थे । सरस्वती आदि पत्रिकाओं में इनके विषय में बहुत कुछ वाद-विवाद चला था, और काशी के बाबू भगवानदासजी ने आपके श्लोक-बद्ध ग्रंथ "प्रणव-वाद" का अँगरेज़ी में एक बड़ा अनुवाद

* ख़लीलाबाद-तहसील के इन कवियों के विषय में पं० राममनोरथ त्रिपाठी से बड़ी सहायता मिली है ।

भी छपाया था। हमें इनसे मिलने का तो सौभाग्य प्राप्त हुआ है, पर नमूने के लिये कोई कविता नहीं मिल सकी। आप बहुत दिन से राजपूताने में, किसी राजा के यहाँ, दरबार में, रहते हैं।

(३)

तहसील बाँसी में, मिहावल-नामक स्थान में, भट्ट ब्राह्मण पं० लक्ष्मीनारायणजी "रंगदेव" एक अच्छे कवि हैं। आप बड़े सत्संगी और बस्ती के राजा शीतलाबख़्श-सिंहजी के दरबारी कवि हैं। इस समय इनकी अवस्था लगभग ७० वर्ष की है। किसी राजा के यहाँ 'सुदी' नाम की कोई वेश्या थी। उससे-इनसे कुछ वाद-विवाद छिड़ गया, तो इन्होंने उसके ऊपर निम्न-लिखित कवित्त लिखा—

मीनवारी मृगवारी खंजन मुकुंजवारी,
अवली अलि-पुंजवारी गुंजन घनेरे हैं;
कहै 'रंगदेव' कीर कोकिल कपोतवारी,
कंबुवारी मंजुल मुकुर अवसेरे है।
चंदवारी चाँदनी तड़ित कुरविंदवारी,
हंसवारी गमन गयंद मुख फेरे है;
मेरी प्राणप्यारी वारी सुदी रमा-सी हार,
तेरे मुखचंद पे चकोर चख मेरे हैं।

बड़े-बड़े आदमियों से आपकी मैत्री है। इनमें से बहुतों के ऊपर आपने कविताएँ भी लिखी हैं। मेरे एक रईस मित्र के विवाह के अवसर पर आपने ये पंक्तियाँ लिखी थीं—

जौलौं आदि जोति महारानी विंध्यवासिनीजू,
तौलौं आठो याम द्वार नौबत बजो करै;
कहै 'रंगदेव' विधि, हरि, हर सबेरो-साँझ,
दे-दै धन्यवाद पात आसिस दयो करै।
साहिबी अचल सूबी पे हू अकबाल की है
कृपा विश्वनाथ भोन सपति भरी करै;
ठाकुर प्रतापसिंह दूलह अरु दूलही,
लोमस लौं आयु बैठि राज सों कियो करै।

'रंगदेव'जी की नायिका-भेद में बड़ी गति है, और बिहारी-सतसई की आप बड़ी अच्छी विवेचना करते हैं। आपकी शृंगार-रस की ही कविता सब रसों की कविता से अच्छी होती है। दो-एक नमूने पाठकों के सम्मुख रक्खे जाते हैं। एक नायिका का वर्णन सुनिए—

बैठी एक नागरि नवेली परजंक पर,
भीतर महल के सुआछि उपमान है;
कहै 'रंगदेव' मढ़े जालीदार कंचुकी सों,
उरज उतुंग युग संभु के समान हैं।
ताकन तिरीछी तीखे बान सम बाँके नैन,
काजर की कोर सान कान लौं वितान हैं;
काम कहँ जीतिबे को कियो है उपाय मानो,
लाल बिन तेरे भौंह कुटिल कमान हैं।

देखिए तो, कैसी बढ़िया उपमा है, और कल्पना तो अद्भुत ही है। जो "सकलभुवनं व्याकुलयति", उसी सर्वशक्तिशाली कामदेव को पराजित करने की चेष्टा की गई है! अकेले महादेवजी ने काम को तो जीत ही लिया था, यहाँ तो दो-दो महादेव हैं! एक और गोपिका का वर्णन सुनिए। वह वृंदावन की गली में अकेली जा रही है—

संग ना सहेली नवनागरि अकेली बीर,
वृंदावन वीथिन मों अजब सुतीछे ते;
कहै 'रंगदेव' चली जात पै न बोलै कछू,
उतर न देत बात तेरी सौंह पूछे ते।
काम की कला-सी चपला-सी चंदमुखी चारु,
बेनी छोर छूट्यो महा दीति छवि पाछे ते;
नेह को नसा मों मानो साँवरे छबीले पास,
भाग्यो जात इंदु यों फनिंद परयो पाछे ते।

अच्छी दौड़-दौड़ है! भाव कोमल है, और यहाँ—

"मानहुँ चंद को चूसत नाग
सुधा-रस च्वै रह्यो पूछ की ओरन"

वाली पंक्ति की विकरालता भी नहीं है।

सुनते हैं, बाँसी ही तहसील के जोवा-गाँव में एक और कवि हैं पं० यदुनाथजी। जोवा में कुलीन ब्राह्मणों की बस्ती है, और इन लोगों में, बहुत दिनों से, विद्या-प्रेम रहा है। बाँसी के पास ही एक दूसरा गाँव है तिवारीपुर। यहाँ पं० गदाधर त्रिपाठी एक अच्छे वैद्य थे। मिश्र-बंधु विनोद में इनका उल्लेख है; पर इधर तीन-चार वर्ष हुए इनका देहांत हो गया। यह भी कुछ कविता करते थे। इन्होंने वैद्यक के भी "अश्व-चिकित्सा" आदि कई ग्रंथ लिखे हैं। बाँसी के राजघराने में इनका बड़ा सम्मान था, और जीवन का अधिक भाग इन्होंने इसी रियासत में बिताया था। आपने वहाँ की वंशावली ठीक करके कविता में लिखी थी। इनकी

अधिक कविताएँ रईसों की प्रशंसा में ही हैं। यदि त्रिपाठीजी अन्य प्रकार की कविता में जी लगाते, तो अच्छे कवि हुए होते। मुझे इनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। बाँसी-राज्य की ही अधिष्ठात्री देवी की स्तुति में आपने लिखा है—

नमो सुप्रसन्नानना चारु हासी;
नमो खड्गिनी शूलिनी शुभ्रवासी।
नमो पिंकवर्णा सुवर्णा सुबाला;
नमो काशिनी वासिनी गंगवाला।
बजै बाजने डिंम डिंबा नकारा;
नचै नर्तकी लै मृदंगै सितारा।

× × ×

नमो केशिनी कृत्स्नकाया भवानी;
नमो लंबकेशी प्रसन्ना भवानी।
नमो सर्वमाया हहाकाल काली;
नमो चाग्रदंताग्रदंता कराली।
चढ़ै चून गेरिका सो सिंदूरा;
फलै नारिकेलै बतासे कै कूरा।

बाँसी-नरेश श्रीरत्नसेनसिंहजी सी० आई० ई० के यह विशेष स्नेह-भाजन थे, और उनकी मृत्यु के थोड़े ही दिन बाद मर भी गए। उन्हीं की प्रशंसा में त्रिपाठीजी का यह कवित्त है—

मगन महान मन मृदुल महीपन के,
रविजा के नीर मुक्त तबुन तनायो है;
हाथिन के हलके हमेल भूमि मण्डित के,
कलस कँगूर हेम-हौदन धरायो है।
रावेहु निसान बहु पीठि पै क्रमेल कानि,
होत ध्वनि घोर मानो घन घहरायो है;
जंबू और जूनागढ़ भारत-नरेस जेते,
ते सब मिलन महाराजजू को आयो है।

गदाधरजी की कविता कुछ ऊँचे दरजे की नहीं होती थी। आपने जो कुछ लिखा है, सब लोगों की प्रशंसा में ही है। किसी रईस की बड़ाई में आप कहते हैं—

आदर बिरादर को देत है 'गदाधर'जू,
ब्राह्मण प्रवीण ताको देत है बड़ाई सो;
तपसी को वेष जानि देत है सुपुष्कि प्रेम,
गुणी कवि देवन को आदर सदाई सो।

× × ×

(४)

तहसील बस्ती-सदर में भी कई कवि हुए हैं। पुरानी बस्ती-नामक क़स्बे में ही हुए हैं एक कवि "दया"। इनका नाम था पं० द्वारकाप्रसाद तिवारी। यह बस्ती-ज़िले के उन लोगों में से थे, जिन्होंने पहले-पहल अँगरेज़ी पढ़ी थी। बहुत दिन तक यह पोस्ट-मास्टर थे। सन् १९१० ई० में इनका देहांत हुआ। इनके कई पुत्र-पौत्र अभी जीवित हैं, जो सरकारी नौकरी करते हैं। "दया"जी उर्दू और फ़ारसी की भी कविता करते थे और एकआध कविताओं में तो संस्कृत तथा फ़ारसी, दोनों आधी-आधी मिली हैं। सुनते हैं, आपने एक "दीवाने-दयाराम" भी उर्दू में लिखा है। यह गंगाजी के बड़े भक्त थे, और "गंग-तरंग" एवं "गंगाष्टक" नाम की इनकी दो छोटी-छोटी पुस्तकें भी हैं। गंगाजी की ही प्रशंसा में एक सवैया सुनिए—

ब्रह्म की जोति भई जलरूप, पहाड़न फोरि धरा पर धाई;
गंगा जमुना औ सरस्वति की छवि देखि महाकवि सिंधु लजाई।
संगम की उपमा इनकी कवि हेरि थके पै 'दया' नहिं पाई;
ताते प्रयाग मों आय मिली मनो ब्रह्म मों माया औ जीव सुहाई।

कैसी भक्ति की पराकाष्ठा है। राधा-कृष्ण पर भी आपकी बड़ी श्रद्धा थी। देखिए, एक कवित्त 'श्याम' के ही ऊपर है—

स्याम ही सलोनो है, अलोनो लोग और रूप,
स्याम ही सो लागी है समाधी चंद्रभाल की;
स्याम अबिनासी, सर्वभूतन निवासी स्याम,
स्याम ही सों जागी रहै भाग्य ब्रजबाल की।
स्याम ही स्वरूप सुर, नर, मुनि ध्यान धरें,
स्याम ही सों पायी प्रीति गोपी औ ग्वाल की;
स्याम ही को ध्यैहौं 'दया', गैहौं गुन स्याम ही को,
मन मों बसैगी स्याम मूर्ति नंदलाल की।

राधा-माधव के चरित-वर्णन में आपने कितने ही ललित पद भी लिखे हैं। सुनिए, कोई गोपिका कहती है—

ऊधो हम हरि-हाथ बिकानी;
श्रीकृष्ण चरनकमल-चिंतन तजि और नहीं कछु जानी।
मृदु मुसकानि, मनोहर चितवनि, बोलनि अमृत-सानी;
हास-बिलास, रासलीला, छबि नटवर रूप लुभानी।

जब से लगन लगी माधव की बिसरी आस बिरानी ;
निसि-दिन रहत सरन उनही की गुन गोविंद बखानी ।
जो चाहे मरे, मजर है ताको, दृवत प्रेम पहिचानी ;
'दया' कहै प्रभु दीनदयाल सों कवन दीनता आनी ।

इस पद को पढ़कर तो सूरदास की "तब ही ते हरि-हाथ बिकानी" और "बिकानी हरि-मुख की मुसकानि"-वाली पंक्तियाँ स्मरण आ जाती हैं । एक पद और सुनिए, जो इससे भी सुंदर है—

नटवर नट बार-बार आवत ढिग मेरे ।
द्वार खड़ो होत प्रात, जहाँ जात संग जात,
प्रेम-भरी करत बात डगर डगर घेरे ।
पीत बसन लसत अंग, छवि लखि लज्जित अनंग,
नाचत गर बाँह डारि मधुर मुरलि टेरे ।
कमल-नैन, स्यामगात, मंद-मंद मुसकिरात,
'दया' जाहि योगीजन गलिन-गलिन हेरे ।

इस पद में तो सूरदास के भाव के साथ-साथ तुलसी-दास का धारा-प्रवाह आ गया है । विचार के यह सनातनधर्मी थे ; गंगाजी पर इतनी श्रद्धा तो थी, पर भावों में इतनी उदारता कि संसार में शुद्धता को ही यह मुक्ति-मार्ग समझते थे । कुछ नीति की पंक्तियाँ सुनिए—

चित्त सुधारि विचारि चलै परदार औ द्रव्य को छोड़ि प्रसंगा ;
सत्य, क्षमा, संतोष, विवेक सों जीतत है मनमत्त मतंगा ।
ज्ञान को नाव बनाय 'दया' सहजै तरि जात है मोह-तरंगा ;
न्यान भरे नित ही हरि को, जिनको मन चंगा कठौतिन गंगा ।

देखिए, कविता की कविता और कहावत की कहावत । कहाँ तो गंगा को ही ब्रह्म की ज्योति कहा था, और कहाँ 'कठौतिन' गंगा मिल रही है ! उदारता इसी को कहते हैं । हिंदू-धर्म ही ऐसा व्यापक है कि विरोधात्मक सिद्धांतों का भी विवेचन साथ-साथ हो सकता है ।

भक्ति के अतिरिक्त 'दया'जी शृंगार-रस की भी कविता करते थे । देखिए, एक वसंत-विरहिणी गोपिका कह रही है—

आयो है जा दिन सों समाज ऋतुराजजू को,
काम को मुकाम दोप ग्राम-ग्राम परिगो ।
सीतल सुगंध × × × ×
ऐरी बसंत आली, कैसो है कुचाली देखु,
मेरो बनमाली बिनु मेरो गात करिगो ।

यह तो हुई वसंत की व्याकुल विरहिणी । 'दया'-जी की वर्षा-वियोगिनी को तो और भी क्लेश हो रहा है । जो कुछ हो, ज़रा उसका भी भाव-पूर्ण वर्णन देखिए—

पावस की घटा घहरात घन घमि-घुमि,
झूमि-झूमि बादर बिरहानल बरसावें री ;
झाँकि-झाँकि झुकि-झुकि झरोखनि चंद्रमुखी,
चातक सों चाह कृष्णचंद्र की बढ़ावें री ।
फूलन की सेज पै परी है बाल व्याकुल यों,
मानो मीन दीन जल-हीन दुख पावें री ;
दूजो न दूती जाय लावे गोपाल 'दया',
प्राण ही को पायक प्राणप्यारे पहँ पठावें री ।

इसी तहसील के एक और कवि हैं पं० बलरामप्रसाद मिश्र । आप अभी जीवित हैं, और इस समय लगभग ५० वर्ष के हैं । खेद है, इस समय आप बीमार हैं, और अस्पताल में पड़े हैं । हमें इनसे मिलने का अवसर प्राप्त हुआ है । यह बड़े ही मिलनसार और सज्जन हैं, घर के बड़े रईस और गाने-बजाने के बड़े प्रेमी । कविता में इनका उपनाम है "द्विजेश" । आप कुलीन ब्राह्मण और बस्ती-शहर के पास ही मिसरौलिया-गाँव के रहनेवाले हैं ।

द्विजेशजी की कविता मौलिक और सरस होती है । व्रजभाषा का माधुर्य इनके शब्दों में मिलता है, और मैं तो समझता हूँ, इस प्रांत के कवियों में यही सर्व-श्रेष्ठ हैं । इनकी रसिकता बड़ी भावुक और स्वाभाविक है । अधिकतर इन्होंने शृंगार रस की कविता की है । विपरीत रति का थोड़ा-सा वर्णन सुनिए—

बनि-ठनि ठानी विपरीत पिया पीतम पै,
पारि परजंक ज्यों मयंक अंक लावै है ;
कसि अंगिया कंचुकी कलित मरपच को यों,
पच की कहानि कानि रचकी न लावै है ।
उझकि-उझकि झुकि-झुकि झूमि झोंकन दै,
छकि छकि छति केलि यों "द्विजेश" छवि छावै है ;
मानो है यशंत केलि कंत चित्त चोरिबे को,
कुंत कुच-नोकन ते नक्रब लगावै है ।

देखिए, कैसी नक़ब-ज़नी है ! हाँ, तो फिर दिल चुराना है न । एक बार काशी के महामहोपाध्याय पं० अयोध्या-

नाथजी ने एक समस्या दी थी "गज बकरी हरि गाय"। उसी की पूर्ति में द्विजेशजी ने यह दोहा लिखा था—

पंचानन सूकर अबी तेंदुआ रीछ लुलाय :
मारजार हय जोमरी गजब करी हरिगाय।

देखिए तो, श्लेष से कैसी छटा आ गई है, और साथ-साथ सभी जानवरों के नाम भी आ गए हैं। अन्वय करने पर यह दोहा इस प्रकार होगा—"री! तें (तै) लुलुआय पंचानन सू अबी दुआ कर। मार जार लो मरी हय, हरि गाय गजब करी।"

अच्छा, एक दूसरी नायिका का वर्णन सुनिए—

कनक-छरा-सी कै छुरी-सी छटा-बिज्जुरी-सी,
　　जुरी लै सयानी मोनकरी मति भंगी-सी :
हट गई पट दै लिपट गयो प्रीतम त्यों,
　　छुटि गई पाय गति प्रथम अपर्णा-सी।
व्यथित बेचैन अति श्रम के व्यतिक्रम सों,
　　क्रम-क्रम भई सो 'द्विजेश' नील रंगी-सी :
अधर-सो अमृत अधीर अधरन दाबि,
　　अधमरी अधमारी अहि अरधंगी-सी।

केवल रति-वर्णन की ही नहीं, कल्पना की भी सीमा हो गई। इसमें तो हुआ रति-वर्णन। एक दूसरे छंद में मिश्रजी ने मध्या नायिका का वर्णन किया है। नायिका के आधे भाग में काम का प्राधान्य है, आधे में लज्जा का। दोनों के सम्मेलन के विषय में कवि ने कैसी कल्पना की है, और कैसा समझौता बैठा दिया है—

भूमि तन ती के भूमिभागी भए द्वै द्विजेश,
　　लाज औ मनोज क्रम अंग मों समाने के :
सो विधि अमीन तखमीन कीन ऐसो कछू,
　　राख्यो है कमी न बेशी काहू ऐशमाने के।
ऊँचो भाग उर ते उरोजन ते नीचो भाग,
　　बीचो द्वै उरोज पीन इमि उपमाने के :
मानो द्वै जमींपति के झगरै निकारिबे को,
　　गाढ़ि दीने पृथक पहान द्वै सिवाने के।

वाह-वाह! झगड़े का कैसा निपटारा किया है! अमीन ने अपना काम कैसी सफ़ाई से किया है! सच-मुच, कविता की अमानत ही की गई है।

'द्विजेश'जी अँगरेज़ी भी जानते हैं। कुछ दिन हुए, रियासत के कुछ झंझटों में पड़कर इन्हें बड़ा कष्ट हुआ। मुक़दमा हाईकोर्ट में चल रहा था, मीयाद के लिये अपील करना था, उसमें ज़िले के कलेक्टर की सिफ़ारिश की ज़रूरत थी। कलेक्टर साहब विद्या-व्यसनी सज्जन थे। उन्हें हिंदी-कविता में भी कुछ पहुँच थी। 'द्विजेश'जी ने जाकर उन्हें एक अँगरेज़ी की घनाक्षरी सुनाई—

Hardyal Mishra who was in Mutiny of 57,
　　the Manager of Raj of Basti :
Basti Gazetteer see page 158, he did good service
　　to help Her Majesty :
We are his grandsons troubling with creditors,
　　wanting your good will of which is necessity :
　　Yours faithfully,
Balram Prasad Mishra, Zemindar,
　　resident, District Basti

प्रतिभा इसे कहते हैं। साहब भी गुण-ग्राहक थे, बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने लिख दिया, और मिश्रजी को साल-भर की मुहलत मिल गई।

कुछ दिन पूर्व मैं 'द्विजेश'जी से मिला था, तो यह कहते थे कि एक संग्रह शीघ्र छपवाएँगे। आशा है, आप शीघ्र अच्छे हो जायँगे, और हिंदी की बहुत कुछ सेवा करेंगे। एक कवित्त इनका और सुनाकर अन्य कवियों का हाल लिखा जायगा। देखिए, कैसी सुकुमार नायिका है—

कलधौत कुंदन-सी केलिकृत चंदन-सी,
　　चंदन-सी चौगुनी सुगंधन बसी-सी जाति :
पिय दै पयोधर अधर सों अधर लै-लै,
　　लचकि-लचकि लंक लंक मे लसी-सी जाति।
मन मथि लेति मनमथ के मथन ही ते,
　　बिहँसि 'द्विजेश' सुधा-बुंद बरसी-सी जाति :
मैन बकसी-सी कै बसी सी ज्यों करति सी सी,
　　सरसी-सी कसी-सी त्यों-त्यों पिय सों पिसी-सी जाति।

बस्ती ही तहसील के अंतर्गत एक गाँव है डुमरी। वहाँ एक कविराय हरिमंगलसिंह रहते हैं। यह कुछ अधिक पढ़े-लिखे तो नहीं : पर इनमें कविता के अंकुर पहले से ही विद्यमान थे। आपने "सूर-संगर" नाम का एक वीर-रस का ग्रंथ लिखा है। इसमें आल्हा आदि की लड़ाई का कवित्तों में वर्णन है। इसके कुछ अंश मैंने आपके ही मुख से सुने हैं। ग्रंथ में यमक का

अच्छा जमघट है, और आप उसे पढ़ते भी हैं बड़े ओज के साथ। लड़ाई के आदिम भाग का एक छंद सुनिए—

कल-बल-छल की लड़ाई चउहान करि,
　　बच्छराज-पूत को पसारि मयदान मों;
पूजि तरवारि कोपि चढ़यो है चँदेलपुर,
　　ओरई को चुगुल मिल्यो है चउहान मों।
सैनानि समूह सों विभाग करि जुत्थपति,
　　उतरी कटक थल चतुर विधान मों;
'मंगल' मचो है हलचल परिमालपुर,
　　तोप घहरात न सहात धुनि कान मों।

लड़ाई के लिये सेनाएँ दोनो ओर से आती हैं। बीच में से युद्ध-वर्णन का एक और कवित्त यह है—

उत युवराज के सदन सपराई होति,
　　विविध बड़ाई मों लिखाई बाँट जाति है;
दगी है सलामी दरबार के किलन जब,
　　सोर सुनि दल को दिमाग भार जाति है।
एक ओर सावन घटा सो गजजुत्थ भीर,
　　एक ओर बाजिन की बोज ठहनानि है;
एक ओर सैनिक सिपाहिन-समूह लिए,
　　जो करिबे को जनु आग धुनियानि है।

घमासान युद्ध हो रहा है। देवता भी दृश्य देखने आ गए हैं—

बाजि दस लाख के कलाकलन नाहिं थिर,
　　बाजी लेत बाजिन मैं बाढ़ि बार बार को;
फानि-फानि दल माहिं कर सूर सेन-हानि,
　　डंर नाहिं नगन तमचन की मार को।
स्यात करि रण मों तरवार के यमकल मों,
　　रोके बाग रोपै जिमि आहत अँगार को;
ठाढ़ि देवी सारदा बिलोकैं बाजि बार-बार,
　　ये तो बीर बाहन है दवलकुमार को।

मुंशी बब्बनलाल "तालिब" बी० ए० भी इसी तहसील के निवासी हैं। आप धनघटी के रहनेवाले और अभी नवयुवक ही हैं। उर्दू की कविता के लिये इन्हें कितनी ही बार पारितोषिक और पदक मिल चुके हैं। इनकी कविता बड़ी सरल और भावमयी होती है। दो-एक शेर पेश किए जाते हैं—

रात किसकी याद में रोई थीं कलियाँ फूटकर?
सुबह दम भीगा था दामन हर गुलेनाशाद का।

भला कोई कलियों के क्रंदन का कारण कह सकता है! और सुनिए—

बँधी मुद्दत की उम्मीदें चमन में आज खुलती हैं;
चटखना सुनके गुंचों का बपा शोरे अनादिल है।

कलियाँ तो न जाने क्यों रोई थीं, पर बुलबुल के रोने की वजह सुन लीजिए—

न हो क्यों इस क़दर नालाँ अनादिल रुख़सते गुल पर;
गुलों के रंग में उनके जिगर का ख़ून शामिल है।

वाह-वाह! क्या अच्छी उक्ति है, और कैसा तत्त्व निकाल लिया है! बेशक! दोस्ती हो, तो ऐसी ही। पर "तालिब"जी की राय है कि—

बीमारमुहब्बत की हसरत पे नज़र करना;
जब शामेवस्ल आप दुनिया से सफ़र करना।

और इश्क़-मजाज़ी के अलावे आप इश्क़हक़ीक़ी की भी शायरी उतनी ही नफ़ासत से करते हैं। ज़रा इनकी आत्मविस्मृति देखिए—

जो भूले ख़ुद को तेरी याद में बाहोश कामिल है;
जो नादाँ बनके बैठा है जहाँ में मर्द आमिल है।

दोनो इश्क़ों का कैसा अच्छा सम्मेलन है—

किसी दिन आपको पर्दे के बाहर देख तो लेते;
हम अपने जीते-जी आँखों से महशर देख तो लेते!

क्या जाने चर्म-चक्षुओं को यह 'महशर' कभी दृष्टि-गोचर होगा या नहीं। क्यों न हो, तालिबजी शिकवा करते हैं अपनेआप—

तुझे उनसे न मिलना था, तुझे उनसे न कहना था,
बहुत दुश्वार है ऐ दिल! किसी का राज़दाँ होना।

सचमुच, राज़ जानना बड़ा कठिन है, ख़ासकर यह महशर का राज़। इसमें बड़ी-बड़ी तकलीफ़ें होती हैं। देखिए तो—

बवक़्ते निज़अ* हर तारे नफ़स मेरा मुख़ालिफ़ है;
रगे जाँ थी जो पहले आज पहलू में वो नश्तर है।

तालिबजी बड़े सहृदय और भावुक हैं। परमात्मा आपको दीर्घायु करें हिंदी की भी कुछ सेवा आपसे करावे!

इसी तहसील में पं० लक्षपति उपाध्याय तथा पं० रामलाल शुक्ल बी० ए० दो और कवि हैं। उपाध्यायजी

* मरने के पहले की वह अवस्था, जिसमें आँखें उलटने लगती हैं—'झटका'।

हिंदी-स्कूल के अध्यापक हैं, आपने "भूमिका-श्रृंगार" आदि दो-तीन छोटी-मोटी पुस्तकें लिखी हैं। शुक्लजी अभी नवयुवक हैं, और खड़ी बोली तथा व्रजभाषा, दोनों में अच्छी कविता करते हैं। बिहारी-सतसई के ढंग पर आप एक सतसई लिख रहे हैं। गाने-बजाने के यह बड़े प्रेमी हैं। उर्दू की भी अच्छी कविता करते हैं। इन्हें कई पदक भी प्राप्त हो चुके हैं। आप मेरे घनिष्ठ मित्रों में से हैं, और पं० रामचंद्र शुक्लजी के घर के पास ही कचूर-नामक गाँव में रहते हैं।

(४)

बस्ती-ज़िले में पाँच तहसीलें हैं। डुमरियागंज-तहसील के किसी कवि का हमें अभी तक पता नहीं लगा है। सुनते हैं, मभारी के कोई त्रिपाठीजी कुछ लिखते हैं। अयोध्या के निकट हरैया-तहसील है। तुलसीदासजी के रामचरित-मानस में जो भाषा मिलती है, ठीक वही अवधी यहाँ अभी तक बोली जाती है। लछिराम के घर के ही पास बड़हरि एक गाँव है। वहाँ रहते थे एक कवि प० महेशप्रसादजी पांडेय। आप बहुत दिन तक टाउन स्कूल के हेडमास्टर थे, और मुझे भी इनसे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कई वर्ष हुए, इनकी अचानक मृत्यु हो गई। "महेश"जी उर्दू-हिंदी, दोनों में अच्छी कविता करते थे। इनके एकआध नमूने, जो मिल सके हैं, उद्धृत किए जाते हैं। इन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा। इनके फुटकर छंद मिलते हैं। सन १९११ ई० में महाराज जॉर्ज पंचम के राज्याभिषेक के अवसर पर आपने कुछ लिखा था। मुझे जो कुछ स्मरण रह गया है, वही यहाँ लिखता हूँ—

जा दिन ते जग जन्म लियो अमरावति हू ते बढ़ी छबि लंदन :
मातु पिता सुखदायक ह्वै जगनायक में नृप-शीश के चंदन।
× × × 'महेश' करै पदपंकज बंदन :
× × × चिरजीवो सदा एडवर्ड के नंदन।
शाहजहाँ नृप आलमगीर सिकंदर सों बढ़ि मुल्क जितैया :
रुस्तम सों अति बीर महान, सु हातिम सों बढ़ि दान दिवैया।
शाह अकब्बर सों नृपनीति, पिथावर सों बढ़ि फौज-सजैया,
× × × चिरंजै एडवर्ड के लाल कन्हैया।

इतिहास की सारी उपमाएँ आपने खर्च कर दी हैं—

कैकाऊस कैसर कोखिराज को न ऐसो राज,
देखि नौशेरवाँ का नादिम ज़माना है :
दारा में दिमाग़ औ न शान है सिकंदर में,
औज आलिमाना वैसे फैज़ फ़ाज़िलाना है।'

* * *

इसी प्रसंग में आपने दिल्ली का भी वर्णन कर दिया है—

जा छिति पै छितिपाल अनेक धरे सिरताज प्रजागन मिल्ली,
भासत ताहि 'महेश' महान सु बासुकि के फन पै जनु खिल्ली :
× × × जाको न भई कबहूँ छबि ढिल्ली,
ता छिति पै श्रीपंचम जार्ज धरे सिर छत्र सुधाम है दिल्ली।

खेद है, 'महेश'जी के नमूने अपूर्ण हैं। इनके तीन पुत्र हैं, जिनमें दो अध्यापक हैं; पर इन लोगों के पास भी उनकी कोई कविता न मिल सकी। पंडितजी के एक हाथ में कुछ लकवे की शिकायत थी, पर एक ही हाथ से विद्यार्थियों को मार भी गिराते थे। थोड़ी-सी कविता उसी संबंध में इनकी और सुन लीजिए—

छाई मंजु महिमा अखंड महिमंडल मो,
दीप-दीप गाजै जाके बिरद बिसाल हैं :
सोभा मान सूरता सुबिज्ञता बिचित्र जैसी,
वैसी न 'महेश' कहूँ जग में मिसाल है।
रूस सुलतान खान कैसरखाकान धाम,
नाए पद सीस जाके सब महिपाल हैं :
साजै सिर ताजै छत्र छाजै आजु,
× × × जार्ज पंचम नृपाल है।

तभी आपने एक उर्दू की कविता लिखी थी, जिसकी पहली पंक्ति यह थी—

"ख़ुदाया रख हमेशा आबरू सल्तनत की दौलत को।"

इनका थोड़ा-सा जाड़े का वर्णन भी मुझे याद है। देखिए, कैसा ललित और सजीव है—

दसन दबैटे औटे आनन छिपाय लीटे,
क्यों हू न सिरानि गति सीत भीत माला की ;
पाला-सम लागत दुसाला औ दुलाई छोर,
भाला-सम लागत समीर सीतकाला की।

'महेश'जी बड़े ही सरल स्वभाव थे। घर के काम-काज और अन्य झंझटों में फँसे रहने से आप कुछ अधिक नहीं लिख सके, नहीं तो कवि अच्छे थे।

दूसरे कवि इस तहसील में हुए हैं छपिया के पं० शंभुनाथ शुक्ल। आप कुलीन ब्राह्मण थे। इन्हें मरे लगभग ३० वर्ष हुए होंगे। यह ७० वर्ष की अवस्था में मरे, और जीवन-भर तंत्र के अटूट विश्वासी थे। अपनी

तांत्रिकता के बल से इन्होंने बड़े-बड़े कार्य किए थे, पर थे बड़े ही कट्टर तांत्रिक। तुलसी-रामायण के यह बड़े विरोधी थे, और दुर्गाजी के परम भक्त। रामायण के ढंग पर "दुर्गा-भक्ति-सुधार्णव" नाम का एक बड़ा ग्रंथ भी आपने लिखा था। इसमें काली-विजय, शिव-तत्त्व-प्रकाश, श्यामा-विलास आदि सात खंड हैं, और अधिकांश छंद भी रामायण के ही अनुकरण में हैं। यह ग्रंथ सन् १८७८ ई० में, नवलकिशोर-प्रेस में, छपा भी था। श्रीमद्भागवत का एक संक्षिप्त गुटका भी आपने १८०० श्लोकों में लिखा था। इस संस्कृत-ग्रंथ का नाम है "कृष्ण-विलास"। "दैवज्ञाभरण" नाम का हिंदी में इनका लिखा एक ज्योतिष-ग्रंथ भी है। तुलसीदास की विनय-पत्रिका के अनुकरण पर दुर्गाजी की स्तुति में एक दूसरी "विनयपत्रिका" भी आपने लिख मारी थी। परंतु हमारे देखने में तो इनके "सुधार्णव" के ही कुछ भाग आए हैं। आप संस्कृत के चाहे बड़े पंडित रहे हों, पर इनकी हिंदी-कविता तो अच्छी नहीं है। हाँ, उसमें कोमल भावों तथा हिंदू-धर्म के विश्वासों का विरोध अलबत्ता झलकता है। दुर्गाजी की ही प्रशंसा में एक कविता सुनिए—

कालिका कालभद्रप्रिया कालिनी कालगुनमालिनी कालगेहा ;
कृष्णचन्द्रार्चिता कृष्णमुग्धदायिनी कृष्णमनभाविनी कृष्णदेहा।
कामिनी कामठी ( ) जालपा कामदा × × × काममाता ;
कामगुनमालिनी कामतनुवासिनी कामजनकासिनी कामगाता।

शंभुनाथजी के पौत्र अब भी हैं। इनके कुल में पंडिताई अच्छी होती है; पर कवि कोई नहीं है।

इस तहसील में और भी कुछ कवि हैं। एक तो हैं पं० बुद्धिसागर मिश्र "पंचानन", जो मार्जन-मिश्रों के केंद्र-स्थान, बढ़नी में रहते हैं। "पंचानन"जी की बाल्य-काल की पढ़ाई अनेक कारणों से बहुत नहीं हो सकी थी; पर आप उर्दू-हिंदी के अच्छे ज्ञाता हैं, और संस्कृत की भी योग्यता रखते हैं। उपनिषद्, पुराण तथा शास्त्रों का आप पारायण कर गए हैं, और धर्मशास्त्र एवं समाज-शास्त्र का विवेचन बड़ी मौलिक रीति से करते हैं। खड़ी बोली तथा व्रजभाषा, दोनो में आप कविता करते हैं। व्रजभाषा में आपने "विनयबावनी" नाम की एक छोटी पुस्तक भी लिखी है। यह गल्पें भी अच्छी लिखते हैं, और इनके लेख तथा कविताएँ सामयिक पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं। मिश्रजी कुछ दिन तक 'बस्ती-गज़ट' के संपादक भी रहे हैं, और आजकल बस्ती में ही अमीन हैं। आप बड़े सरल-स्वभाव तथा स्वतंत्र विचार के हैं, पर हैं कट्टर सनातनधर्मी। गृहस्थी के झंझटों से भी आप साहित्य-सेवा के लिये समय निकाल लेते हैं। थोड़े ही दिन हुए, आपकी पत्नी तथा कनिष्ठ पुत्र का देहांत हो गया है। आप सत्संग के बड़े प्रेमी हैं, और आजकल एक पुस्तक-माला का भी संचालन कर रहे हैं।

दूसरे हैं शुक्लपुरा-निवासी पं० रामलखनजी शुक्ल बी० ए०। शुक्लजी से मेरा परिचय है। यह बड़े ही सहृदय और भावुक हैं। व्रजभाषा तथा खड़ी बोली, दोनों की अच्छी कविता लिखते हैं, पर शायद कविताओं के प्रकाशन में इनका विश्वास नहीं। आप आजकल प्रयाग में अध्यापक हैं, और लगभग ३५ वर्ष के हैं। एक और कवि हैं पं० रामचरित्र पांडेयजी "पावन"। यह बेलभरिया के रईस और ऑनरेरी मैजिस्ट्रेट हैं। आपकी अवस्था ४० वर्ष की है। आप बड़े उत्साही और नई रोशनी के क़ायल हैं। "पावन"जी की कविता कुछ उच्च श्रेणी की तो नहीं होती, पर लिखते हैं आप दोनों—व्रजभाषा और खड़ी बोली—की कविता। पत्रों में इनकी कुछ कविताएँ प्रकाशित भी हो चुकी हैं। सुनते हैं, धेनुगावाँ में भी एक कवि हैं, जो आजकल बुंदेलखंड की किसी रियासत में रहते हैं। धेनुगावाँ से और अयोध्या के महाराज सर प्रतापनारायणसिंह से पारिवारिक संबंध था, और अभी तक यहाँ के लोग वहाँ आते-जाते हैं। सर प्रताप स्वयं कविता-प्रेमी थे, और सदैव अपने यहाँ दो-चार सुकवि रखते थे। इनके महल और कमरों के नाम देखने से ही इनकी काव्य-मर्मज्ञता का पता चलता है। इनके शरीर-पात से हिंदी-काव्य की बड़ी क्षति हुई है; पर अपने पीछे भी महाराज बाबू जगन्नाथ-दास "रत्नाकर" बी० ए०-जैसे सहृदय कवि और रसिक अपनी राजधानी में छोड़ गए हैं।

खेद है, इन कविजनों में से बहुत लोगों की कविता के नमूने हम यहाँ नहीं दे सके।*

श्रीरामाज्ञा द्विवेदी

---

* लेख के अंतर्गत कितने ही पद्य कविता की दृष्टि से दूषित हैं; पर प्राचीन रचना समझकर हमने उन्हें ज्यों-का-त्यों छाप दिया है।—मा०-स०

अछूतोद्धार

[चित्रकार—हकीम मुहम्मदखाँ]



उनकी शान

नज़ा मुझको दिखाई जाती है :
सर पर अब मौत आई जाती है।
हश्र बरपा है उनके कूचे में :
लाश किसकी उठाई जाती है ?
कहीं वो खूने-आरज़ू न करें,
आज मेंहदी लगाई जाती है।
बाद मरने के मरनेवालों से
एक बस्ती बसाई जाती है।
वह कहानी मेरी नहीं सुनते,
जो कहानी सुनाई जाती है।
घिसके माथा किसी की चौखट पर
किस्मत आज आज़माई जाती है।
कभी तुर्बत बनाई जाती थी :
आज तुर्बत मिटाई जाती है।
या इलाही वह किसको देखेंगे ?
क्यों यह चिलमन उठाई जाती है ?
कौन निकला है आज पर्दे से ?
देखने को खुदाई जाती है।
गुल गई शमा मेरी तुर्बत पर :
बेकसी और छाई जाती है।
तेरी उल्फ़त में, तेरी फ़ुरकत में :
चोट-पर-चोट खाई जाती है।
सोज़े गम और ज़ब्ते अश्के रवाँ :
आग दिल की बुझाई जाती है।
तेरी क़ातिल में हज़रते "बिसमिल";
और ही शान पाई जाती है।

सुखदेवप्रसाद 'बिसमिल'

क्या हमारा बही-खाता सिंगल एंट्री-पद्धति पर है ?



हिंदी-साहित्य में व्यापार-विषयक पुस्तकों की बड़ी कमी है। जिस व्यापार पर देश का समस्त वैभव अवलंबित है, और पर-राष्ट्रों की निगाह में गौरव बढ़ता है, उसी के प्रति हमारी ऐसी उपेक्षा रहे, तो हमारे दिन कैसे फिर सकते है ? व्यापार आज ही नहीं, सदैव से संसार में सभ्यता का प्रचारक रहा है। सभ्य व्यापारी असभ्य देशों में व्यापार के लिये प्रवेश करते है, और वहाँ के निवासी उनके सहवास से शनैः-शनैः सभ्य बनते जाते हैं। इस व्यापार की भी स्वतंत्र विद्या है। इसके भी नियम हैं। ये नियम साधारण नियमों की अपेक्षा कुछ विशेष प्रकार के होते हैं। व्यापारी इन्हीं नियमों का पालन कर व्यापार में सफलता प्राप्त करता है।

कृषि के अतिरिक्त जन-समुदाय की आजीविका का प्रधान साधन व्यापार है। व्यापार ही वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचाता है, अनावश्यक या फ़ाज़िल वस्तुओं का आवश्यक या उपयोगी वस्तुओं से विनिमय कराता है। इस काम के लिये प्रत्येक व्यापारी को कई सहायकों का सहायता की ज़रूरत होती है। व्यापारी गुमाश्ते नौकर रखता है, और उनको अधिकतर मासिक वेतन और कभी-कभी मुनाफ़े में भी भाग देता है। ऐसे गुमाश्ते भी व्यापारी ही कहे जा सकते है। जिस प्रकार हमारे कृषक कृषि के वैज्ञानिक ज्ञान से शून्य है, और इसीलिये भूखों मरते हैं, ठीक उसी प्रकार हमारे देशी व्यापारी भी व्यापार के वैज्ञानिक ज्ञान से कोरे है। फलतः दिन-दिन व्यापार से आजीविका प्राप्त करना हमारे लिये बड़ा कठिन हो रहा है। जिस प्रकार व्यापार में आजकल थोड़ी पूँजी से काम नहीं चलता, वैसे ही पुश्त-दर-पुश्त आते हुए व्यापारिक ज्ञान से व्यापार में सफल होना भी कठिन हो गया है।

व्यापारी की सबसे आवश्यक और प्रथम विद्या 'बही-

खाता' है। इसी से व्यापारी अपनी पूँजी और देने का आँकड़ा तैयार करता है। यही विद्या उसके अँधेरे घर में प्रकाश करनेवाली ज्योति है। इस विद्या की जो स्थिति योरप में, विक्रम की १४-१५ शताब्दी में, साधारणतया थी, वही क़रीब क़रीब आज इस बीसवीं शताब्दी में, हमारे इस भारतवर्ष में, विद्यमान है। हम अभी तक यही माने बैठे हुए हैं कि व्यापारी-विद्या पूर्णत: व्यावहारिक है। उसकी शिक्षा व्यापार में खोने और कमाने ही से पूर्ण प्राप्त हो सकती है। हमारी यह धारणा आज की नहीं, बहुत प्राचीन जान पड़ती है। यदि ऐसा न होता, तो हमें अन्य भारतीय विद्याओं की भाँति इसका भी दिग्दर्शन करानेवाला एकआध ग्रंथ ही हमारे पूर्वजों का लिखा हुआ अवश्य मिलता। कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में हिसाब के गबन (Embezzlement) के ४० भिन्न भिन्न तरीक़ों का विशद रूप से उल्लेख किया है, हिसाब-खाते के भिन्न-भिन्न महकमे और उनके निरीक्षक आदि लोगों के कार्यों का भी विस्तृत विवरण दिया है, प्रतिवर्ष आषाढ़-मास में गत वर्ष का हिसाब साफ़ कर देने की ताकीद की है, इस आज्ञा का उल्लंघन करने पर दंड का विधान भी किया है; परंतु यह हिसाब किस प्रकार रक्खा जाय, इसके लिये कौन-कौन-सी बहियाँ रक्खी जायँ, आमद और ख़र्च का जमा-ख़र्च कितनी मदों में किया जाय, इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। यह अर्थ-शास्त्र अर्थ-शास्त्र का नहीं, राजनीति का एक बृहद् ग्रंथ है। बार्हस्पत्य, कामंदकीय आदि अर्थ-शास्त्रों की भी यही दशा है।

हमारे यहाँ मुद्रा का ढालना सदा से राजकीय व्यापार माना गया था। जाली मुद्रा बनानेवालों और तेज़ाब आदि के द्वारा उनमें से शुद्ध धातु का अंश कम कर देनेवालों के लिये कौटिल्य आदि आचार्यों ने देश-निकाले ही का दंड योग्य समझा था। मुद्रा की नियमित तोल एवं शुद्धता का प्रत्येक राजनीति के आचार्य ने उतना ही ख़याल रक्खा है, जितना उसके स्वरूप आदि का; परंतु किसी भी आचार्य ने यह नहीं लिखा कि मुद्रा के निकृष्ट होने से देश के सामाजिक जीवन को, व्यापार को एवं राष्ट्रीय संपत्ति को हानि पहुँचती है। ऐसी कई बातें हमारे प्राचीन साहित्य से उद्धृत की जा सकती हैं, जिनसे व्यापारी-विद्या के प्रति हमारी सर्वथा उपेक्षा स्पष्ट प्रकट होती है।

पाश्चात्य देशों की हिसाब रखने की पद्धति विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में बिलकुल अविकसित थी। जिस डबल एंट्री पद्धति (Double Entry) का योरप को आज इतना अभिमान है, और जिसके साथ हमारी पद्धति की तुलना करने की चेष्टा व्यापार-विद्याविशारद करते हैं, वह विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी में, श्रीयुत एफ़० डब्ल्यू० पिक्सले के मत से, पहलेपहल इटली में आविष्कृत हुई थी। वहीं से यह सारे योरप में फैली। इसके पूर्व हिसाब किस पद्धति पर रक्खे जाते थे, यह निर्णय करना यद्यपि आज कठिन है, परंतु विद्वानों की जो यह धारणा चली आ रही है कि डबल एंट्री सिंगल एंट्री के सुधार से ही आविष्कृत हुई है, उस पर हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व योरप शायद सिंगल एंट्री-पद्धति पर ही हिसाब रखता था। रोमन साम्राज्य के समय और उसके बहुत पीछे भी वहाँ हिसाब बड़ी भद्दी तरह से टैलियों (Tally) के सहारे रक्खा जाता था। बही-खाते का प्राचीन इतिहास खोजने की यहाँ आवश्यकता नहीं, और न ऐसा करना प्रयोजनीय ही है*। परंतु इस सुधरी हुई बही-खाता विद्या के ज्ञान का बराबर प्रचार हो सके, इसलिये वहाँ के विद्वान् हमारी तरह इसे लिपि-बद्ध कर देना नहीं भूले। योरप में, विक्रम की संवत् १५५१ का लिखा हुआ, वेनिस-नगर में प्रकाशित, एक गणित का ग्रंथ पाया गया है, जिसमें बही-खाते के विषय की ३६ अध्यायों में चर्चा की गई है। इस भाग की भूमिका में लेखक ने क्या ही मार्मिक शब्द लिखे हैं। वह लिखता है—"महाराजाधिराज अरबिनो के ड्यूक की माननीय प्रजा व्यापार के सुसंचालन में पूर्ण शिक्षित हो सके, इस ग़रज़ से मैंने इस ग्रंथ के निर्धारित विषय (गणित) से बाहर जाने का निश्चय किया है, और इस आवश्यक ग्रंथ में इस अंश का समावेश किया है।" क्या हमारे दूरदर्शी सर्वगुण-संपन्न आचार्यों से हम ऐसी आशा नहीं कर सकते थे?

अस्तु, भारतीय इतिहास में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सम्राट् अकबर के कोषाध्यक्ष राजा टोडरमल ने व्यापारी

* इस विषय पर विशेष जानने के लिये पाठकगण मेरा 'विज्ञान' में प्रकाशित बही-खाते का 'सैद्धांतिक विवेचन'-शीर्षक लेख देखें।

शब्दावली का संस्कृत से उस समय की बोलचाल की उर्दू-भाषा में परिवर्तित किया था। 'जमा' और 'नावें' हमारे संस्कृत-शब्द नहीं हैं। शब्द-परिवर्तन के समय राजा टोडरमल को इस विद्या को लिपि-बद्ध कराने की क्यों न सूझी, यह भी आश्चर्य की बात है। यह उपेक्षा-दृष्टि पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चली आ रही है। आज भी, इस बीसवीं शताब्दी का चतुर्थांश बीत जाने पर भी, इस विद्या के हिंदी में छोटे-मोटे सब मिलाकर केवल ५ ही ग्रंथ मेरे देखने और सुनने में आए हैं। मराठी, गुजराती आदि भाषाओं मे भी शायद इतने ही ग्रंथ मिलेंगे। इन सबके द्वितीय संस्करण निकलने की भी बारी शायद न आई हो, तो कुछ आश्चर्य नहीं। यह मेरा अनुमान-मात्र ही है। इधर तो यह स्थिति है, उधर जब हम अँगरेज़ी आदि पाश्चात्य भाषाओं में प्रकाशित इस विषय के ग्रंथों का ध्यान करते हैं, तो हमें दाँतों-तले उँगली दबानी पड़ती है। केवल अँगरेज़ी ही में इसके इतने ग्रंथ आज तक छप चुके हैं, जिनकी सूची तैयार करने के लिये काफ़ी समय और स्थान चाहिए। इनमें से कई के तो ४० और ४७ संस्करण तक हो चुके हैं। इस पर भी आश्चर्य यह कि नित्य नए-नए ग्रंथ निकलते ही जाते हैं। परंतु इधर हमारा व्यापारी समाज उक्त पाँचों ही ग्रंथों से बिलकुल बेख़बर मालूम होता है। उसकी दृष्टि मे ये निकम्मे हैं : न तो वह इनके गुण-अवगुणों की परीक्षा कर उन्हें सुधारने की चेष्टा ही करता है, और न अपनी संतान को शिक्षित करने मे उनका उपयोग ही। इस उपेक्षा का मुख्य कारण एक तो हमारी उपर्युक्त धारणा और दूसरे व्यापारियों का अशिक्षित होना है। अधिकांश लोग व्यापारी हिसाब करने और व्यापारी लिपि पढ़ने की मामूली योग्यता प्राप्त करते ही व्यापार में घुस पड़ते हैं। इससे अधिक प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने की न तो वे परवा ही करते हैं, और न उन्हें वह आवश्यक ही प्रतीत होती है। इस स्थिति का फल यहाँ तक पहुँच चुका है कि आपको अच्छे नावेंदार ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकते। जिस समय आजकल के वयोवृद्ध नावेंदार लीला-संवरण कर जायँगे, तब हमें उनका स्थान भरना कठिन हो जायगा। दूसरा कुफल यह हुआ है कि हमारी यह विद्या दिन-दिन हीन होती जा रही है। बीकानेर, मारवाड़ आदि स्थानों के व्यापारियों को छोड़कर शुद्ध शैली पर बही-खाते रखता हुआ शायद ही कोई मिलेगा। बही-खाते में नक़ल-बही का जमा ख़र्च सबसे टेढ़ा और बुद्धिमत्ता का काम है। रोकड़ बही में 'आवे सो जमा और देवे सो नावें' तो एक बच्चा भी, बताने पर, कर सकता है। रोकड़ के अलावे व्यापारी लेन-देन का सारा जमा-ख़र्च इस नक़ल-बही में होता है, जिसमें सबसे कम स्थल में सब प्रकार से पूर्ण और ब्योरेवार व कम-से-कम बाद का जमा-ख़र्च करना ही बुद्धिमानी है। हमारे इस कथन को लोग यह कहकर उड़ा सकते हैं कि सराफ़ों को ही नावें की इतनी बारीकियों मे जाने की ज़रूरत है, दूसरे व्यापारियों के लिये नहीं। परंतु इतने से ही न तो हमारी समस्या हल हो सकती है, और न गिरती हुई स्थिति ही गिरने से रोकी जा सकती है।

इस विद्या के प्रति अभी तक स्वयं व्यापारियों की उपेक्षा तो है ही, परंतु पढ़े-लिखे लोग भी इस विषय की ओर से अभी तक बेपरवा थे। हर्ष है कि अब वे कुछ जाग्रत हुए हैं, और जन-साधारण के लिये यह विद्या लिपि-बद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं। आज तक प्रकाशित बही-खाता-विषयक ग्रंथ न तो किसी व्यापारी के लिखे हुए थे, और न किसी गण्यमान विद्वान् के। मेरा लिखा 'हिंदी-बही-खाता' विद्यार्थी-अवस्था का प्रयास है। पर, अभी हाल में 'हिसाब की कुंजी'-शीर्षक जो ग्रंथ प्रकाशित हुआ है, वह ग्वालियर रियासत के असिस्टेंट कमर्शियल ऑडीटर श्रीयुत नव्वाब हबीबउल्लाख़ाँ की प्रौढ़ क़लम से लिखा गया है। श्रीयुत देवीदत्त पंत ने ज्येष्ठ-मास की 'माधुरी' में उक्त ग्रंथ की समालोचना की है। समालोचक महोदय ने उक्त ग्रंथ में मुख्य चार ख़ामियाँ बतलाई हैं। मैंने उक्त ग्रंथ को अभी नहीं देखा। अतएव यह नहीं कह सकता कि पुस्तक की उक्त ख़ामियाँ क्षम्य हैं, अथवा नहीं। परंतु समालोचना पढ़कर मैं यह अवश्य कहूँगा कि लेखक और समालोचक, दोनों ही हमारी भारतीय बही-खाता-पद्धति से यदि बिलकुल ही अपरिचित नहीं, तो कम परिचित अवश्य हैं। लेखक महोदय अँगरेज़ी की हिसाब-पद्धति के जानकार अवश्य हैं; परंतु शायद उसकी 'सिंगल' और 'डबल' एंट्री के भेद को ठीक-ठीक नहीं समझ पाए हैं। इसीलिये भारतीय पद्धति की इससे तुलना करने में आपने भूल कर दी है। दो विभिन्न मतों की तुलना तभी अच्छी तरह हो सकती है, जब

हम दोनों का पृथक्-पृथक् एवं तुलनात्मक अध्ययन करें। एक के अध्ययन कर लेने से दूसरे का अध्ययन भी हुआ-सा मान लेना भूल है। अस्तु, लेखक महोदय से उक्त भूल के होने का कारण हमें तो यह जान पड़ता है कि आपकी क़ौम में इस विषय के जानकार आदमी शायद ही हैं। जो इने-गिने लोग मिलेंगे भी, वे सब अँगरेज़ी बही-खाते के जानकार। अँगरेज़ी में हिसाब रखने की पद्धतियों के सिंगल और डबल एंट्री, ये दो भेद सिखाए जाते हैं, जिनमें डबल एंट्री सिंगल एंट्री के सुधार से बनी हुई पद्धति बताई जाती है। पाश्चात्य देशों में इस विद्या का विकास इसी ढंग से हुआ है। हमारे देश में इस विद्या के एसे दो भेद कहीं नहीं माने जाते। लेखक महोदय ने भी ऐसा कहीं नहीं सुना है। अतएव आपने इसी सिद्धांत के आधार पर कि "भारतवासी अभी असभ्य अधिक हैं," उन्हें सिंगल एंट्री की पुरानी और असभ्य पद्धति का अनुगामी मान लिया है। इस भूल का दूसरा कारण यह भी है कि इस विषय का कोई भी ऐसा प्रामाणिक ग्रंथ भारतीय भाषा में नहीं है जिसे आप निधड़क स्वीकार कर सकते हों। आज के लेखकों के लिये प्राचीन ग्रंथ ही एक अगाध प्रमाण हैं।

श्रीयुत हबीबउल्लाख़ाँ का मत है कि "*हिंदोस्तान में जो लोग पश्चिमी तरीक़े से तिजारत नहीं करते, अपना हिसाब बही-खाते पर लिखते हैं, जो केवल सिंगल एंट्री के क़ायदे पर लिखा जाता है।*" इस लेख में हमें अपनी पद्धति के इसी लांछन पर विचार करना है। आशा है, लेखक महोदय इस लेख को पढ़कर भारतीय बही-खातों को शीघ्र लांछन-मुक्त कर देंगे, और अपनी पुस्तक के अगले संस्करण में तदनुसार संशोधन करने की कृपा करेंगे।

सिंगल एंट्री और डबल एंट्री

हम यह पहले ही कह आए हैं कि श्रीयुत हबीबउल्लाख़ाँ अँगरेज़ी की सिंगल और डबल एंट्री की उलझन को ठीक-ठीक नहीं समझ पाए हैं। उनका भारतीय पद्धति को सिंगल एंट्री-पद्धति क़रार दे देना ही हमें ऐसा अभिप्राय प्रकट करने को बाध्य करता है। बही-खाते का कोई सामान्य जाननेवाला सिंगल और डबल एंट्री की परिभाषा समझते ही हमारे मत का समर्थन किए बिना नहीं रह सकता।

देखिए, स्पाइसर और पेजलर ने अपनी 'बुक कीपिंग और एकाउंटस'*-नामक ग्रंथ में सिंगल एंट्री की व्याख्या इस प्रकार की है —

"Single Entry *only* recognises the *personal aspect* of transactions, and as a result those not possessing such aspect are left entirely *unrecorded*, consequently the only books kept under single Entry are *Personal Ledgers*. In practice, however, one usually finds a cash book in addition, though it is often merely a memorandum book."

अर्थात् सिंगल एंट्री व्यापार (लेन-देन) के केवल वैयक्तिक बाजू को ही स्वीकार करती है, और इसी के फल-स्वरूप वे लेन-देन, जो इस दृष्टि के नहीं होते, बिलकुल बिना लिखे ही छोड़ दिए जाते हैं; अतएव सिंगल एंट्री के अंतर्गत रखने की एकमात्र बहियाँ (किताबें) व्यक्तिगत (धनीवार के) खाते ही हैं। अलबत्ता व्यवहार में इसके अलावे रोकड़-बही भी साधारणतः पाई जाती है, परंतु वह बहुधा केवल हस्त-नोट की तरह होती है।

उक्त लेखकों ने ही डबल एंट्री के विषय में यह लिखा है—

"The theory of Double Entry is *not* that for every debit there must be a credit and *vice versa*. Double Entry is that system of Book-keeping which *takes advantage of the fact that every transaction that can be recorded in terms of account has two aspects; the one involving the receiving of benefit by one account or accounts, and the other the yielding of that benefit by another account or accounts.* The account that receives the benefit is debited; the account that yields the benefit is credited; and so one gets as a result a debit for every credit."

अर्थात् डबल एंट्री का सिद्धांत यह नहीं है कि प्रत्येक नामे के लिये जमा और जमा के लिये नामे होना ही चाहिए। यह तो उस पद्धति का परिणाम-मात्र है। डबल एंट्री बही-खाते की वह पद्धति है, जो इस बात का लाभ उठाती है कि प्रत्येक व्यापार (लेन-देन) के, जो बही-खाते के हिसाब से लिखा जा सकता है,

---

* Spicer & Pazler, Book-keeping and Accounts अध्याय १, पैरा ३।

दो बाज़ू हैं । एक तो वह, जिसमें एक अथवा अधिक खाते लाभ लेते हैं, और दूसरी वह जिसमें दूसरा खाता अथवा अधिक खाते वह लाभ देते हैं । जो खाता अथवा खाते लाभ उठाते हैं, उनमें रक़म नावें माड़ी जाती है : और जो लाभ देते हैं, उनमें वह रक़म जमा की जाती है । इसी के फल-स्वरूप हम प्रत्येक जमा के लिये नावें और नावें के लिये जमा पाते हैं ।

उपर्युक्त परिभाषाएँ हमने इसलिये विस्तार से उद्धृत की है कि हम इन ख़ास बातों के अनुसार अपनी पद्धति की परीक्षा कर सकें । यद्यपि इन परिभाषाओं को ध्यान-पूर्वक देखने ही से हरएक को यह जचने लगता है कि हमारी पद्धति पूर्ण डबल एंट्री पर है ; परंतु इतने ही से हमें संतोष नहीं हो सकता । इसको सिद्ध करने के लिये हमारे पास और भी ज़ोरदार प्रमाण चाहिए । इस दृष्टि से हमारे लिये इन दोनों ही पद्धतियों के एक-एक उदाहरण पर विचार कर लेना ठीक होगा । इससे दोनों का भेद हम भले प्रकार समझ सकेंगे । इतना ही नहीं, डबल एंट्री सिंगल एंट्री से किन-किन बातों में अच्छी है, यह भी हम सहज ही समझ सकेंगे ।

पहले डबल एंट्री का ही उदाहरण लीजिए । इस विषय में हमें यह न भूल जाना चाहिए कि लाभ का देना और उठाना, दोनों एक ही समय की बहियों में होता है, और वह खातों ही का माना गया है, न कि व्यक्तियों का । जैसे, यज्ञदत्त अपने किसी असामी ब्रह्मदत्त से रुपया पाता है । अब यदि हम यज्ञदत्त की बहियों में नक़द के खाते * की कल्पना कर लें, तो वह रक़म हमें नक़द-खाते में इस पद्धति के अनुसार नावें माड़नी होगी ; क्योंकि इसी खाते को इस लेन-देन का लाभ मिला है । और, ब्रह्मदत्त के खाते में (यज्ञदत्त की बहियों में ही) हमें वह रक़म जमा करनी होगी ; क्योंकि यही खाता लाभ देता है । अब किसी ख़र्च की रक़म का विचार कीजिए । जब हम किसी प्रकार का ख़र्च करते हैं, तो ख़र्च-खाते को उतना ही लाभ मिलता है । फलतः वह रक़म ख़र्च-खाते में नावें माड़ी जाती और नक़द-खाते में जमा की जाती है । इस पद्धति में, प्रत्येक लेन-देन का, दोनों ही दृष्टियों से जमा-ख़र्च किया जाता है, इसलिये अवैयक्तिक (Impersonal) याने ख़र्च आदि 'श्री' खातों के तमाम लेन-देनों का भी उसी अवधि के, धनीवार के लेन-देनों के साथ-साथ ब्योरेवार एवं पूर्ण जमा-ख़र्च रह जाता है । इस पद्धति पर हरएक प्रकार के व्यापार का हिसाब रक्खा जा सकता है : क्योंकि उस प्रत्येक व्यापार या लेन-देन की, जिसमें नक़द अथवा नक़द के एवज़ का प्रयोग होता है, दो बाज़ू होते हैं । यही एक-मात्र पद्धति ऐसी है, जिसमें दोनों बाज़ुओं का पूर्णतया हिसाब रक्खा जा सकता है ।

यह पद्धति सिंगल एंट्री (Single Entry) की पद्धति से निम्न-लिखित बातों में श्रेष्ठ रहती है—

(१) यदि किसी नियत मिती तक की प्रत्येक रक़म खाते में खतियाई जा चुकी हो, तो उस मिती तक लेनी-देनी-बक़ाया की सूची शीघ्र तैयार की जा सकती है । इस सूची को अँगरेज़ी में ट्रायलबैलेंस (Trial Balance) याने कच्चा आँकड़ा कहते हैं; क्योंकि इस पद्धति में प्रत्येक जमा के लिये नावें और प्रत्येक नावें के लिये जमा होना चाहिए, इसलिये लेनी बक़ाया का जोड़ देनी बक़ाया के जोड़ के बराबर होना ही चाहिए । और, यदि ऐसा ही हो, तो हमें वह हिसाब-किताब, अदला-बदली (Compensatory) की ग़लतियों की सम्भावना को छोड़कर पाटी गणितरूपेण (Arithmetically) बिलकुल ठीक मानना ही चाहिए ।

(२) प्रत्येक लेन-देन का, इस पद्धति में, अवैयक्तिक (Impersonal) बाज़ू से भी जमा-ख़र्च रहता है, इसलिये वे सब रक़में, जो किसी ख़ास अवधि तक का हानि लाभ बतानेवाली हैं, तरतीबवार इकट्ठी की जा सकती हैं । इन रक़मों में से जमा की रक़मों का जोड़ यदि नावें की रक़मों के जोड़ से विशेष हो, तो उस अवधि का उतना ही लाभ, और यदि कम हो, तो उस अवधि की उतनी ही हानि होती है । परिणामतः इसको देखते ही यह कहा जा सकता है कि हानि-लाभ किस रीति से निकाला गया है । इस हिसाब को, जिसे व्यापारी लोग वृद्धि-खाता (Profit and Loss Account) कहते हैं, प्रत्येक रक़म की,

* यही पूर्वी और पश्चिमी बही-खाते का मुख्य भेद है । इसी की उलझन में पड़कर लोग हमारे बही-खाते को सिंगल एंट्री पर मान लेते हैं । इसका विशेष खुलासा इसी लेख में आगे किया गया है ।

गत वर्षों के वृद्धि-खाते की उन्हीं खातों की रक़मों से तुलना की जा सकती है. और इस प्रकार हानि-लाभ के कारण का पता लगाया जा सकता है।

(३) इस वृद्धि-खाते के बक़ाए की सत्यता (Arithmetical Correctness), अदला-बदली की (Compensatory) ग़लतियों को छोड़कर आँकड़ा याने तलपट (Balance Sheet) तैयार करके सिद्ध की जा सकती है। आँकड़ा उसे कहते हैं, जिसमें 'श्री' अथवा अवैयक्तिक (Nominal) खातों के बक़ाए को एक खाते में एकत्रित करने के बाद, जो ख़ास बही में खुले खाते रहें, उनके बक़ाए को, जिसमें उक्त खाते की बक़ाया भी शामिल रहे, वर्गीकृत याने सिलसिलेवार छँटा हुआ सारांश (Summary) पाया जाता है। इस आँकड़े के दाहनी ओर का हमारा सब लेना और बाईं ओर का सब देना होता है । 'आँकड़ा लेन-देन-व्यवस्था-द्योतक पत्र है।' यह परिभाषा अपूर्ण है; क्योंकि इसमें कई बार दोनों ही ओर ऐसी भी रक़में पाई जाती हैं, जो न तो पूँजी ही कही जा सकती है, और न देना ही।

(४) इस पद्धति पर रक्खी हुई बहियों की पाटीगणितरूपेण (Arithmetically) परीक्षा की जा सकती है, इसलिये इस पद्धति में जालसाज़ी की अथवा उसके न पकड़ जाने की जोखम भी बहुत कम रहती है।

उपर्युक्त चारो ही बातें सिंगल एंट्री पर (Single Entry) हिसाब रखनेवालों के लिये असंभव हैं। प्रत्येक व्यापारी अपने लेन-देन का हिसाब इसीलिये रखता है कि उसे शीघ्र अपना नफ़ा-नुक़सान और लेना-देना मालूम हो जाय। सिंगल एंट्री पर हिसाब रखनेवाले अपना नफ़ा-नुकसान और लेना-देना कैसे निकालते हैं, उसका भी यहाँ पर तनिक दिग्दर्शन करा देना असंगत न होगा; क्योंकि इन सब तरीक़ों से अपनी बही-खाता-पद्धति के लांछन का हम सत्यासत्य निर्णय कर सकेंगे।

ऊपर दी हुई सिंगल एंट्री की परिभाषा के शब्दों पर ही सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने से हम यह सहज ही समझ सकेंगे कि इस पद्धति में केवल व्यक्तिगत लेन-देन का हिसाब ही रक्खा जाता है। फलतः पूँजी, माल, वेतन, मकान-किराया, ग़लत उगाही, सिकमंद वृद्धि-खाता आदि व्यापारी ख़र्च का, जिनसे व्यापार का हानि-लाभ कूता जाता है, कोई भी हिसाब नहीं रहता। यदि कोई व्यापारी इस पद्धति में रोकड़-बही भी रखता है, तो वह इस बही से केवल धनीवार की रकमें ही खाते में खतियाता है, ख़र्च आदि की रक़में उसमें यों ही बिना खतौनी के छोड़ देता है। इस दशा में व्यापार के हानि-लाभ का पता लगाना बड़ा ही कठिन काम होता है। इतना ही नहीं, निकाला हुआ हानि-लाभ ठीक-ठीक सही है अथवा नहीं, इसकी जाँच करने का भी हमारे पास कोई साधन नहीं रहता। कहीं-कहीं इस पद्धति पर हिसाब रखनेवाले व्यापारी धनीवार के खातों के अलावे रोकड़-बही, माल-बिक्री और ख़रीद-बही, ये तीन बहियाँ भी रखते हैं। इन बहियों में जमा-ख़र्च की हुई धनीवार की रक़में तो सिर्फ़ खातों में खतिया दी जाती हैं, पर बाक़ी सब यों ही छोड़ दी जाती हैं।

व्यापारी का अमुक समय तक देना लेने से जितना विशेष हो, वही इस पद्धति में उस व्यापारी की पूँजी कहलाती है। ऐसे दो समयों की पूँजी निकालकर ही उनके बीच की अवधि के व्यापार का हानि-लाभ बनाया जाता है। यदि अवधि के बाद की पूँजी पूर्व की पूँजी से विशेष हो, और व्यापारी ने बीच में न तो कुछ रकम उठाई हो, और न लगाई हो, तो अंतिम पूँजी जितनी अधिक है, उतना ही उस अवधि का कमाया हुआ लाभ माना जाता है। यदि यह अंतिम जितनी पूँजी कम रहे, तो उतनी ही हानि समझी जाती है।

इस पूँजी का पता लगाने के लिये इस पद्धति में एक व्यवस्था-पत्रक तैयार किया जाता है, जिसे अँगरेज़ी में 'स्टेटमेंट ऑफ़ अफ़ेअर्स' (Statement of Affairs) कहते हैं। वैयक्तिक अर्थात् धनीवार के खातों से धनीवार असामियों अथवा ग्राहकों में लेनी या देनी बक़ाया रक़म का पहले पृथक्-पृथक् पत्रक तैयार किया जाता है। यह देनी बक़ाया उन लोगों के आए हुए हिसाब से मिला ली जाती है। यदि रुपयों का लेन-देन बैंक के ही द्वारा किया गया है, तो उसकी लेनी रक़म बैंक की पास-बुक से मिला ली जाती है। पास के नक़द रुपए भी गिन लिए जाते हैं, माल की मुड़ती ली जाती है, जायदाद, ज़मीन आदि जो कुछ पूँजी की वस्तुएँ हों, उन सबकी तात्कालिक क़ीमत अंदाज़ी जाती है। नक़द ऋण के रूप में जिन लोगों का रुपया व्यापार में आया है, और

जिन लेनदारों का ब्योरा माल-ख़रीद-बही (Bought Ledger) में नहीं आया है, उनका भी पृथक् पत्रक उतारा जाता है। उस मिती तक बाक़ी देना—किराया, वेतन आदि भी—पृथक् और ब्योरेवार छाँट लिया जाता है। इस प्रकार लेने और देने के ब्योरेवार पत्रक तैयार कर लेने पर सारा लेना एक पृथक् नवीन काग़ज़ पर दाहनी ओर और देना बाईं ओर लिख लिया जाता है। इस पत्र को तब 'स्टेटमेंट ऑफ़ अफ़ेयर्स' कहते हैं। इस स्टेटमेंट की जो बाज़ू कम हो, उधर ही उतनी रक़म जोड़कर दोनो बाज़ू बराबर कर दी जाती हैं। यदि रक़म जमा यानी बाईं बाज़ू कम हो, तो उतनी ही हमारी पूँजी होती है, इससे विपरीत दशा में हानि। इस प्रकार का व्यवस्था-पत्रक उक्त अवधि के प्रारंभ और अंत के लिये पृथक्-पृथक् तैयार किए जाते हैं। इससे हमें दोनो ही समयों की पूँजी मालूम पड़ जाती है, जिससे उपर्युक्त रीति से हानि-लाभ निकाला जा सकता है।

सिंगल एंट्री से हानि-लाभ निकालने का उदाहरण

श्रीयुत बेनीप्रसाद का मि० कार्तिक-शुक्ल १, संवत् १९७८ तक का व्यवस्था-पत्रक—

देना		लेना	
धनीवार का देना रु०	६०००)	दूकान का सामान, मेज़-कुरसी आदि	५००)
हुंडी-पुर्ज़े सकारना बाक़ी	५००)	माल-पोते	२०००)
पूँजी (इस मिती तक लेना, देने से विशेष)	३०००)	ग्राहकों से लेना	४५००)
		हुंडी-पुर्ज़े वसूल होने	१०००)
		नक़द पोते बाक़ी	१५००)
	९५००)		९५००)

मिती कार्तिक-सुदी १, संवत् १९७९ को वह देखता है कि उसको धनीवार का ४५००) हुंडी-पुर्ज़े आदि का ७००) देना है; और उसके पास दफ़्तर का सामान आदि ४५०) का, माल-पोते १५००), ग्राहकों से लेना ५३००) और हुंडी-पुर्ज़े की वसूली से रु० ७००), तथा नक़द सिलक हाथ में ८००) है। इस साल-भर की अवधि में उसने कुल ४५०) उठाए हैं, और अपने एक मकान की बिक्री के रु० ७००) भी उसी में और लगा दिए हैं। इस दशा में अंतिम अवधि पर इसका व्यवस्था-पत्रक निम्न-लिखित रूप का होगा—

देना		लेना	
धनीवार का देना रु०	४५००)	दूकान का सामान आदि ...	४५०)
हुंडी-पुर्ज़े सकारना	७००)	माल-पोते ...	१५००)
पूँजी (इस मिती तक देने से लेना ज़्यादा)	३५५०)	ग्राहकों से लेना	५३००)
		हुंडी-पुर्ज़े सकारना	७००)
		नक़द रुपया ...	८००)
योग	८७५०)	योग	८७५०)

अंतिम अवधि की पूँजी ...	३५५०)
अवधि में उठाई हुई रक़म ...	४५०)
कुल पूँजी, यदि रक़म न उठाई जाती	४०००)
बाद मकान की बिक्री के रुपए, जो इस अवधि में और लगाए गए	८००)
	३२००)
बाद प्रारंभ की पूँजी	३०००)
अतएव मुनाफ़ा	२००)

डबल एंट्री के कच्चे आँकड़े, वृद्धि-खाते और आँकड़े (Balance Sheet) का नमूना भी यहाँ दे देना शायद असंगत न होगा।

उदाहरण कच्चे आँकड़े का (सिर्फ़ खातों का बक़ाया)

देना (जमा)		लेना (नावे)	
पूँजी-खाते जमा	५००)	मालिक से लेने	१५)
बिक्री-खाते जमा	७४०)	ख़रीदी-खाते नावे	६६२-)॥
हुंडावण बटावखाते	५।)	वेतन-ख़र्च	१६७)
महेशप्रसाद का देना	११०)	फुटकल ख़र्च	१०=)
प्यारेलाल का देना	१३०)	मकान-किराया	८)
		सामान	४०)
		भाड़ा	७)
		गोदाम-ख़र्च	४७-)
		ताराचंद से लेना	३०)
		नथमल से लेना	८०)
		रामचंद्र से लेना	१७०)
		रोकड़ बैंक में	१९१)
		,, पेटी में	५॥।≡)॥
	१५६५।)		१५६५।)

उक्त प्रकार से तैयार किया हुआ वृद्धि-खाता (Profit & Loss Account)

जमा		नावें	
माल बिका	७४०)	माल ख़रीदा	६६२–)॥
माल-पोते (कड़ती लगाने से)	३२५)	बाक़ी मुनाफ़ा	७२॥≈)॥
	१०६५)		१०६५)
माल का मुनाफ़ा	७२॥≈)॥	वेतन-ख़र्च	१६)
बटाव हुंडावण	५।)	फुटकल ख़र्च	१०≈
		मकान-किराया	६)
		गोदाम-भाड़ा	७)
		बाक़ी मुनाफ़ा खरा	३७)॥
	७८≈)॥		७८≈)॥

पक्का आँकड़ा (Balance Sheet)

देना		लेना	
पूँजी	५००)	ताराचंद से लेना	३०)
मुनाफ़ा खरा	३७)॥	नथमल से लेना	८०)
	५३७)॥	रामचंद्र से लेना	१७०)
बाद उठाए	१५)	माल-पोते	३२५)
	५२२)॥	गोदाम में सामान	४०–)
महेशप्रसाद के देने	१६०)	रोकड़ बैंक में	१६१)
प्यारेलाल के देने	१३०)	,, पेटी में	५॥≡)॥
	८४२)॥		८४२)॥

सिंगल एंट्री की अपेक्षा डबल एंट्री की पद्धति में, ऊपर जो विशेषताएँ बताई गई हैं, उनमें मुख्य, संक्षेप में, इस प्रकार हैं—(१) खाते-बही से ही कच्चे आँकड़े का उतार लिया जाना तथा जमा और नावें से उसके जोड़ों का बराबर मिलना । (२) कच्चे आँकड़े से हानि-लाभ का पता लग सकना और (३) इन दोनों से व्यापार का पक्का आँकड़ा तैयार कर सकना । उक्त तीनों ही बातें बही-खाते पर रक्खे हुए हिसाब से पूर्णतया संभव हैं । पूर्वी पद्धति का कुछ भी जानकार यह कह सकता है ।

इतना ही नहीं, छोटे-से-छोटा व्यापारी भी सिंगल एंट्री-पद्धति के अनुसार अपना नफ़ा-नुक़सान 'स्टेटमेंट ऑफ़ अफ़ेअर्स'—तैयार कर नहीं निकालता । वह भी ऐसा हिसाब रखता है, जिसमें उसका हानि-लाभ पूर्णतया निश्चित और पाटीगणितन्यायेन सत्य है । श्रीयुत हर्षीवउल्लाख़ाँ को इसके लिये प्रत्यक्ष उदाहरण से अपना निर्णय सिद्ध करने की आवश्यकता है । सिंगल एंट्री-पद्धति में सिर्फ़ धनीवार के खाते और डबल एंट्री की पद्धति में इनके अलावे रोकड़-बही और नक़ल-बही (Cash Book and Journal) आवश्यक बहियाँ मानी गई हैं । हमारी पूर्वीय बही-खाता-पद्धति में रोकड़, खाता और नक़ल-बही, तीन आवश्यक बहियाँ हैं । ये ही तीनों बहियाँ व्यापारी की आदि एवं प्रधान और आवश्यक बहियाँ मानी जाती हैं । रोकड़ और नक़ल-बही में जमा-ख़र्च हुए बिना कोई भी रक़म खाता-बही के किसी भी खाते में नहीं जाती । नक़द के लेन-देन के सिवा सारे जमा-ख़र्च, जो रोकड़-बही में नहीं किए जा सकते, इसी नक़ल बही में किए जाते हैं । रोकड़-बही तो नक़द लेन-देन और उनमें प्राप्त हुए हुंडावण, बटाव आदि छूट के जमा-ख़र्च के लिये ही सिर्फ़ काम आती है । छोटे-छोटे व्यापारी, जिनका उधार पर विशेष व्यापार नहीं होता, नक़ल-बही का काम बहुधा रोकड़ ही से निकाल लिया करते हैं । इसका कारण यह है कि रोकड़-बही का लिखना सहज है । रोकड़-बही में जमा और नावें के लिये स्थान निश्चित है । इसलिये जब किसी से माल अथवा नक़द कुछ भी प्राप्त हो, वह उसके नाम से रोकड़-बही में जमा की ओर लिखकर जमा किया जा सकता है ; और, यदि दिया जाय, तो नावें डाला जा सकता है । इसमें थोड़ा पढ़ा-लिखा होने से भी भूल नहीं हो सकती; परंतु नक़ल-बही ऐसी नहीं होती । रोकड़-बही की भाँति उसमें जमा और नावें के लिये स्थान निश्चित नहीं होता । यह बही इकसली होती है, जिसमें कभी सिरे पर नावें, तो पेटे में जमा और कभी सिरे पर जमा, तो पेटे में नावें लिखा जाता है । अँगरेज़ी के जरनल से हमारी इस नक़ल-बही की तुलना की जा सकती है ; परंतु वह यहाँ तक कि इन दोनों का क्षेत्र नक़द के अलावे सब प्रकार के व्यापार-संबंधी जमा-ख़र्चों तक व्याप्त है । जमा-ख़र्च के विषय में तो दोनों ही का ढंग निराला है । अँगरेज़ी में पहले रक़म नावें लिखी जाती है, पीछे जमा । हमारे यहाँ इसका निश्चय रक़म के ब्योरे से किया जाता है ; ब्योरा साधारणतया सदैव पेटे में दिया जाता है । यदि



[illegible]

[पं० रामचरित उपाध्याय-रचित 'श्री द्रौपदी' का एक चित्र]

हुई द्रौपदी की दुनिया में [illegible] ,

[illegible] , [illegible] !

दुलारेलाल भार्गव

[illegible]

ब्योरा सिरे पर दिया जा सके, तो पहले रक़म नावें में लिखकर पेटे में जमा की जाती है, अन्यथा पहले जमा कर ली जाती है। नक़ल के जमा-ख़र्च में ख़ास बात यह है कि प्रत्येक जमा-ख़र्च स्वयं पूर्ण होता है। एक रक़म के किसी खाते में सिरे पर जमा हो जाने से उतनी ही रक़म दूसरे खाते अथवा खातों में नावें माँडनी पड़ती है। यह बात डबल एंट्री की उपर्युक्त परिभाषा का अक्षरशः समर्थन करती है। इस प्रकार के जमा-ख़र्च में यह नहीं देखा जाता कि व्यक्तिगत (Personal) खातों ही में रक़म जमा और नावें होनी चाहिए। चाहे कैसे ही खातों में हो, प्रत्येक रक़म, जो नक़ल-बही में जमा की जाय, उतनी ही नावें भी मँडनी चाहिए। रोकड़-बही में दोनों ही पद्धतियाँ समान हैं।

डबल एंट्री की ख़ास विशेषता यह बताई गई है कि उसमें अवैयक्तिक (Impersonal) खातों का भी समावेश कर लिया गया है। अब ज़रा हमारी पद्धति पर विचार कीजिए। हमारे यहाँ खातों के (१) वस्तुगत, (२) व्यक्तिगत, (३) व्यापारगत, इस प्रकार तीन भेद किए गए हैं। वस्तुगत खातों को व्यापारी लोग 'श्रीखाता' और व्यक्तिगत खातों को 'धनीवार' (Personal) के खाते कहते हैं। श्रीखाते माल-असबाब, कपड़े-लत्ते, ख़र्च आदि-संबंधी हैं। धनीवार के खाते में भिन्न-भिन्न लोगों तथा दूकानदारों के लेन-देनों का संग्रह किया जाता है। व्यापारगत खाते व्यापार की जोखम आदि का निर्णय करते हैं। जो माल व्यापारी की निज की जोखम से ख़रीदा जाता है, वह सब 'हमारे घरू' खाते में और आढ़तिए का 'तुमारे घरू' खातों में नावें माँडा जाता है। नक़ल-बही अथवा रोकड़-बही की कोई भी क़लम ऐसी नहीं, जो खाते में न खतियाई जाती हो।

अँगरेज़ी में 'क्रेडिट' और 'डेबिट', इन शब्दों के समानार्थक शब्द हिंदी में 'जमा' और 'नावें' हैं; परंतु अँगरेज़ी के बही-खाते की 'क्रेडिट' साइड और 'डेबिट' साइड हमारी 'जमा' और 'नावें' की बाज़ू से बिलकुल विपरीत होती है। अँगरेज़ी रोकड़-बही में 'डेबिट' साइड में आमद, और 'क्रेडिट' साइड में ख़र्च लिखा जाता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक रोकड़ का मेल एक प्रकार से 'रोकड़ का खाता' ही कहा जा सकता है। फलतः जब रुपए की आमद होती है, तो उसका लाभ 'रोकड़ के खाते' को मिलता है। इसलिये वह रक़म रोकड़ के खाते में नावें माँडने के लिये डेबिट की ओर लिखी जाती है। हिंदी में रक्खी हुई रोकड़-बही की जमा (आमद) का बाज़ू अँगरेज़ी में रक्खी हुई रोकड़ की 'डेबिट' साइड से इस हेतु मिल जाता है, और तब 'डेबिट' और क्रेडिट का यह जाल भ्रम में डाल देता है। इस प्रकार भ्रम होने का कारण यह है कि खाता रखने का हमारा और पाश्चात्य लोगों का ढंग ही विपरीत है। हम खाते-बही में खाते अपनी दृष्टि से लिखते हैं; अँगरेज़ी में खाते विपक्षी की दृष्टि से लिखे जाते हैं। कल्पना कीजिए कि हमने 'यज्ञदत्त' का हिसाब अँगरेज़ी और हिंदी, दोनों पद्धतियों से पृथक्-पृथक् काग़ज़ पर लिख लिया है। अब यदि अँगरेज़ी में लिखे हुए हिसाब पर हम यज्ञदत्त को खड़ा हुआ समझ लें, तो उसके बाएँ बाज़ू में तो वे रक़में हैं, जो उसे प्राप्त हुई हैं, और दाहने बाज़ू की रक़में वे हैं, जो उसने दी हैं। यदि यज्ञदत्त यह हिसाब स्वयं हिंदी में लिखता, तो जितना उसे प्राप्त होता, वह सब बाएँ बाज़ू में, जो हमारी 'जमा' का बाज़ू है, जमा करता, और जो कुछ वह देता, वह सब दाहने बाज़ू में नावें लिखता। इस प्रकार हिंदी में यज्ञदत्त-द्वारा रक्खा हुआ निज का हिसाब ठीक उसी प्रकार लिखा जाता, जैसा हमने अपनी बही में उसका अँगरेज़ी में हिसाब लिखा है।

यह हम पहले ही कह आए हैं कि हमारी रोकड़-बही और अँगरेज़ी में रक्खी हुई रोकड़-बही के जमा और नावें के बाज़ू एक-से होते हैं। इसमें केवल 'डेबिट'-'क्रेडिट' के परिवर्तन की ही ज़रूरत रहती है। परंतु रोकड़-बही खतियाने का हमारा और अँगरेज़ी का ढंग विपरीत है। हमारे यहाँ तो जमा की जानेवाली प्रत्येक रक़म जिस खाते की हो, उसी खाते में जमा की ओर खतियाई जाती है। रोकड़-बही और नक़ल-बही में, कहीं भी, खतौनी की चाल में भेद नहीं है; पर अँगरेज़ी में रोकड़-बही में जो रक़म आमद याने 'डेबिट' की तरफ़ लिखी हुई है, वह खतियाते समय जिस खाते की हो, उसके 'क्रेडिट' याने दाहने बाज़ू में खतियाई जाती है। हमारी पद्धति की भाँति रोकड़-बही और खाता-बही में यह रक़म एक ही तरह से नहीं लिखी जाती। इसका कारण हम पहले ही बतला चुके हैं।

अँगरेज़ी में रोकड़-बही का प्रत्येक मेल साधारणतया

मासिक रक्खा जाता है। दैनिक ख़र्च आदि के हिसाब के लिये पृथक् एक छोटी कैशबुक रक्खी जाती है, जिसमें एक नियत रक़म रख दी जाती है। उसके ख़र्च हो जाने पर उतनी ही रक़म और दे दी जाती है। इस रोकड़-बही में व्यापारी लोग नक़द की आय और व्यय के हिसाब के अतिरिक्त बैंक-द्वारा लेन-देन और नक़द के छुट-बट्टे आदि का हिसाब भी रख सकने के हेतु दो ख़ाने अब अधिक करने लग गए हैं। खाते-बही में अन्य खातों की भाँति एक रोकड़ का भी खाता खोला जाता है, जिसमें रोकड़ में 'डेबिट' के बाज़ू में लिखी हुई रक़मों का कुल जोड़ डेबिट की ओर और क्रेडिट में लिखी हुई रक़मों का कुल जोड़ क्रेडिट की ओर लिख दिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक महीने की रोकड़ का बक़ाया भी खाते ही से मालूम हो जाता है। जब खाता-बही से कच्चा आँकड़ा तैयार किया जाता है, तो रोकड़ के बक़ाए को रोकड़-बही से लेने की ज़रूरत, जैसा हम किया करते हैं, नहीं पड़ती। इसीलिये लेनी और देनी-खातों के बक़ाए का जोड़ मिल जाता है। हमारे यहाँ रोकड़-बही की कल्पना खाते ही के अंगीभूत हुई है। समूची रोकड़-बही खाते ही का अंग है, जिसमें विशेषता यह है कि प्रत्येक रक़म का ब्योरा विस्तृत रूप से दिया हुआ रहता है। केवल इसी दृष्टि से हमारी पद्धति को गँवारू और बाबा आदम के ज़माने की कह देना अभिमान-पूर्ण है। यह बात सत्य है कि पाश्चात्य लोगों ने डबल एंट्री की पद्धति सीखकर उसे विस्तृत किया है, और हम, जो पहले ही से उसे जानते थे, उसी तरह लिए पड़े रहे। सच बात तो यह है कि जहाँ व्यापार के परिवर्तन हो जाने से हमारी पद्धति की मौलिकता रुकती है, ठीक वैसे ही पाश्चात्यों की पद्धति में मौलिकता शुरू होती है। डबल एंट्री के १४-१२ शताब्दी में इटली से आविष्कृत होने की बात में भारी मर्म समाया हुआ है। इसी बीच में योरप का भारतवर्ष से व्यापार-संबंध बढ़ रहा था। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में ही योरप ने अंकों का आजकल की भाँति १, २, ३ इत्यादि लिखना अरब-निवासियों से सीखा था। अंक और ख़ासकर शून्य की कल्पना भारतवर्ष ही की है, यह सब इतिहासज्ञ मानते हैं। इस दशा में क्या हमारा यह अनुमान करना सर्वथा असंगत होगा कि इस डबल एंट्री-पद्धति पर हिसाब रखने का ज्ञान भी इटली को अरबों-द्वारा, भारतवर्ष ही से प्राप्त हुआ हो। इसके ऐतिहासिक प्रमाण इकट्ठे करने की पूर्ण आवश्यकता है।

भारतवर्ष के व्यापार में हुंडी (Bill of Exchange) का प्रयोग बहुत प्राचीन माना जाता है। यह हुंडी व्यापार के विकास की उन्नतम सीमा है। साख पर प्रचुर व्यापार होने का भी यही सबल और प्रत्यक्ष प्रमाण है। ऐसे सम्मिश्रित व्यापार के हिसाब रखने की पद्धति सिंगल एंट्री-सी दोष-पूर्ण, अपूर्ण, भ्रांति-मूलक, अवैज्ञानिक और व्यवस्था-रहित कदापि नहीं हो सकती।

कस्तूरमल बाँठिया

इंडो-सिदिया

(गंगा से कास्पियन समुद्र तक[१])



पाश्चात्यों का एक लांछन यह है कि हिंदुओं की पाचन-शक्ति इतनी प्रबल थी कि हिंदू-क्षत्रियों और अन्य उच्च हिंदू-जातियों में बहुत-सी विजेता इंडो-सिदियन जातियाँ ऐसी विलीन हो गई हैं कि आधुनिक हिंदू-समुदाय मिश्रित हो गया है। बहुत-सी हिंदू-जातियाँ तो साक्षात् इंडो-सिदियन ही हैं। अब अन्वेषणीय विषय यह है कि सिदिया देश कहाँ है, वहाँ के निवासी किस जाति और वंश के थे, वे हिंदुओं में सचमुच विलीन या मिश्रित हो गए हैं, या नहीं, और यदि विलीन हो गए हैं, तो क्यों? और कैसे?

सिदिया

सिदिया शाकद्वीप का नाम है[२], जो जंबू-द्वीप से मिला हुआ और उसके पश्चिम में है। पौराणिक शाकद्वीप लवण-सागर (पर्शियन साल्ट डेज़र्ट) और क्षीरसागर

India not confined to its modern restricted definition, but that of antiquity, when Hindustan or Indo-Scythia extended from the Ganges to the Caspian.

(Tod's Rajasthan, P. 420.)

२. By-Saca-Dwipa Scythia is understood. (Tod's Rajasthan, P. 24)

(Red sea=लाल सागर) के मध्य का देश है। इसकी लंबाई जंबूद्वीप से दुगनी और चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) तिगनी थी[1]। जंबूद्वीप की लंबाई १०० योजन थी[2]। मत्स्यपुराण में शाकद्वीप के पर्वत सुमेरु, जलधार, सोमक, रत्नाकर, नारद, सुमना और विभ्राज बताए गए हैं[3]।

सौवर्ण उदय नाम के सुमेरु-पर्वत में सोना निकला था। यहाँ देवर्षि और गंधर्व रहते थे[4]। सोमक-पर्वत पर देवतों ने समुद्र-मथन के समय अमृत पिया था[5]। अंबिकेय उपनाम सुमना-पर्वत पर हिरण्याक्ष को वाराह ने मारा था[6]। विभ्राज-पर्वत उपनाम केशव पर अग्नि निकलती है[7]। अम्बिकेय-पर्वत का एक खंड मैनाक उपनाम क्षेमक है[8]। शाकद्वीप में सुवर्ण की प्रथम राशि शिव (Siwas) में निकली थी[9]। यहीं अंगिरा और भृगु ऋषियों का स्थान था[10]। यहीं यक्षाधिप कुबेर की राजधानी थी। समुद्र-मथन कश्यपसागर का हुआ था[11]। सोमनान के निकट सोमक-पर्वत ईरान का देमावंद (Demavand) पहाड़ (वैकुंठ-स्थान) है[12]। समना-पर्वत, बेबीलोनिया का सोमेसट (Some-isat) पहाड़ है, जिसके निकट हिरण्यनगर (Harran) में वाराह ने हिरण्याक्ष को मारकर बराहिया (Barahea उपनाम Aleppo)-नगर बसाया था विभ्राज-पर्वत बाकू के निकट है, जहाँ अब भी अग्नि निकलती है[1]। कदाचित् केशव काकेशस-पर्वत का नाम है। रत्नाकर-पर्वत कश्यप-सागर के निकट है। यहीं समुद्र-मथन में १४ रत्न निकले थे। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि पर्शिया, बेबीलोनिया, अरब, सिरिया, आरमीनिया, एशिया-माइनर और लाल-सागर के तट तक के देश शाकद्वीप में थे। शाकद्वीप का नाम इलावृतखंड भी है, जिसके दो खंड उत्तर और दक्षिण इलावृत थे; एक की राजधानी ईलाम तथा दूसरे की राजधानी एल या इला (Ayla) थी।

अलिसंदर (Alexander) के समय का ईरानी नक़्शा देखने से विदित होगा कि २५ देशांतर-रेखा से लेकर लगभग ७५ देशांतर-रेखा तक का देश सिदिया (Scythia) तथा Sacae (शाका) कहलाता था। ७० देशांतर-रेखा से ९५ देशांतर-रेखा तक जंबूद्वीप है। अतएव जंबूद्वीप से शाकद्वीप अवश्य दूना था। पाश्चात्यों के अनुसंधान में शाक प्रथम अग्निवर्मा के तटस्थ स्थानों के वासी और इला तथा बृहस्पति के पुत्र साध्य (Scythes) के वंशज हैं[3]। वे कहते हैं कि साध्य के पुत्र पाल तथा नीप थे, जिनसे पाली तथा नैपियन, दो वंश उत्पन्न हुए। उन्होंने मिश्र की नील नदी तक के देशों को जीत लिया। शाकों के वंशज Sacans (Sacae), Massagetae (Getes or Jits या जाट) और अरिअस्प (Aswas of Aria) भी कहे जाते हैं। इन्होंने असुर तथा मद्र के सूर्यवंशियों (Sauro-Matians) को जीता था। स्ट्रैबो के इतिहास में कश्यप-सागर से पूर्व को

१. जम्बूद्वीपस्य विस्ताराद् द्विगुणस्तस्य विस्तर :
विस्ताराात्त्रिगुणश्चापि परिणाहः समन्ततः।
तेनावृत समुद्रोय द्वितीयो लवणोदक :
उभयत्रावगाढ़ो च लवणक्षीरसागरौ।
(मत्स्यपुराण, प० ३६५)

२ शतं द्वीपस्य विस्तर.। (मत्स्यपुराण, ३३५)

३. मत्स्यपुराण, शाकद्वीप-वर्णन।

४. देवर्षिगन्धर्वयुत प्रथमो मेरुरुच्यते :
प्रागायत. ससौवर्ण उदयो नाम पर्वत।
(मत्स्यपुराण, ३६५)

५. स वै सोमक इत्युक्तो देवयत्रामृतं पुरा।
(मत्स्यपुराण, ३६६)

६. तस्यापरे चाम्बिकेयः सुमनाश्चैव सस्मृतः :
हिरण्याक्षो वराहेण तस्मिन् शैले निषूदितः।

७. मत्स्यपुराण, प० ३६६

८. अम्बिकेयश्च मैनाकं क्षेमकश्चैव तत्स्मृतम्।
(मत्स्यपुराण, ३६६)

९. Highways of the world

१० Angora and Phrygia or Brygy

११. कच्छप की पीठ मथी गई थी। (विष्णुपुराण)

१२ Iranian Paradise, (H P Vol. 1, P 110.)

१ Fire Phenomena of Baku (H P, Vol 1)

२ History of Persia, Vol 1 P 252

३ The Scythians had then first abode on the Araxes (अग्निवर्मा) of the Puranas, the Jaxartes or Sihoon The Puranas thus describe Saca-Dwipa as Scythia. Diodorus makes the Herodus the boundary between Saca-Scythia and India Proper (Tod's Rajasthan, P 51.)

४ Tod's Rajasthan, 51

समस्त जातियाँ शाक (Scythic) बतलाई गई हैं[१]। परंतु यह असत्य है ; क्योंकि कश्यप-सागर के पश्चिम आरमीनिया का नाम भी शाकस्थान (Sacasenae) था[२]। आरमीनिया के शाकों के वंशज (Anglo-Saxons) भी हैं[३]। स्कैंडिनेविया-निवासी भी बुद्ध-उपासक तथा उनके वंशज शाक (Scythic) हैं। वे वहाँ ५०० बीसी में गए थे[४]। पाश्चात्यों का मत है कि जर्मन भी शाक हैं,[५] और जटलैंड के जाट (शाक) हेंगिस्ट तथा होरसा के साथ स्कॉटलैंड में भी जाकर बसे हैं। असि (Asi) वंश के जाट (Getes, Yuets or Juts) जटलैंड में बसे हैं[६]। केल्टिक तथा ड्रुयिड (Druids) के चक्र तथा भवन सौराष्ट्र की कामर्ना जाति के भवन तथा शिला-चक्रों से मिलते हैं[६]। सौराष्ट्र के काटी जर्मनी के महाप्राचीन निवासी हैं[६]। केल्ट (Kelt) तातार से गए हुए शाक हैं[७]। स्वीडन (Sweden) के निवासी (Swedes) शाक काशगर से वहाँ गए हैं[७]। योरप के जिट (Gete) Transaxiana से गए हुए शाक हैं[७]। इसी प्रकार योरप, के स्वीवी (Suevi) भारतवासी "सू" (अहीर) हैं[७]। पाश्चात्य लोग तक्षक-वंश को भी शाक ही मानते हैं[७]। फ्रांस अथवा गाल (Gauls) ग्वाल हैं। योरप की कुछ और जातियाँ भी शाक हैं, और शाकद्वीप से ही वहाँ गई हैं। ईरानी तथा पाश्चात्य इतिहासों में ये जातियाँ केवल देश-वाची नाम "शाक" से प्रख्यात हैं; परंतु उनके वंश-वृक्ष का यथार्थ पता नहीं है। हाँ, पौराणिक वंश-वृक्ष तथा ईरान के इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन से शाकद्वीप की कुछ जातियों के वंश का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है।

१ Strabo Says. "All the tribes, east of the Caspian, are called Scythic"

२. Tod's Rajasthan, P. 52.

३ Turner's History of Anglo Saxons The Sacasenai were the ancestors of the Anglo-Saxons. Tod's Rajasthan, P. 52.

४ Scandinavia was occupied by the Scythae in 500 B. C These worshipped Budh or Woden and believed themselves his progeny

५ Tod's Rajasthan, P. 52.

६. Tod's Rajasthan, P. 52

७ Tod's Rajasthan, P. 53.

शाकद्वीप की कुछ जातियाँ—

(१) *The Jatu*

अयाति

इनका स्थान हरकेनिया, बैक्ट्रिया तथा खुरास्मिया के मध्य में जाटाली (Zotale या Zothale)-प्रदेश था[१]। कनिंघम महोदय ने इनके जाटाली-देश के निवास से यह अनुमान किया है कि अयाति भी जाट ही थे[१]। अयाति, ययाति के भाई, अयाति के वंशज चंद्र-वंशी क्षत्रिय थे। ययाति वृषपर्वा दैत्य तथा शुक्राचार्य के जामाता थे। वृषपर्वा की राजधानी सिरिया में थी। शुक्राचार्य अंगोरा (अंगिरा) के निवासी थे—गार्डियम (Gordium) इन्हीं का गुरुद्वारा था।

जाट

(२) The Jatts, Zotts, Zanthii, Getae, Juts, Jutes Zathi, Xuthi, Messagetae Thassagetae, Gypsy Zame, Gete Jits, ये सब नाम पाश्चात्य देशों में जाटों के हैं। एजियन (Aegean)-सागर के निकट समोस(Samos)-द्वीप के निवासी Xuthi जाट हैं[२]। करमान के निकट के Zutti भी जाट हैं[२], और दोनों एक ही वंश के हैं[२]। ग्रीस में मोरिया (Morea) के निकट Zoute-द्वीप के निवासी जाट हैं। ऑक्सस (Oxus)-नदी के तट जाटाली(Zotale)-प्रदेश के निवासी Zanthii of Strabe भी जाट हैं[१]। अरब-निवासी जाट (Jatt) को Zott तथा Gypsy भी कहते थे[३]। मिश्र का नाम इजिप्ट (Egypt) जाटों के जिप्सी (Gypsy) नाम से पड़ा है। टर्की तथा सिरिया की सीमा पर और खानेकिन-स्थान में जिप्सी (जाट) अब भी बसते

१ The parent country of the Jatu was Zotale or Zothale on the bank of the Oxus between Bacteria, Hyrkania and Khorasmia. Cunningham (—Vol II, P 55.)

२ Xuthi of Dionysius of Samos were Jatii or Jats who are coupled with the Arieni and in the Zuthi of Ptolemy who occupied the Karmanian desert on the frontier of Drangiana (Cunningham, Vol. II, P. 55)

३ Zott, Arab term for Jatt. (H. P. Vol. II, P 79

है[१]। करमान तथा खुरासान में भी (जाट) बसते हैं[१]। इनकी भाषा के ग्रंथ भी वहाँ मिलते हैं।

डैन्यूब (Danube) नदी के तट तथा हेमुस (Haemus)-पहाड़ के ऊपर के निवासी Getae, ऑक्सस के निकट के Massagetae और Thassagetae के Getae जाट हैं; जटलैंड के निवासी Juts (जट) या Yuets or Getae और इँगलैंड के जूट (Jutes) भी जाट हैं[२]। भैसों का उपयोग योरप को जाटों ने ही सिखाया था।

(३) Parthians (पारद) तथा (४) Pahlawas (पल्लव)

ईरानी पारद पौराणिक वृषलत्व क्षत्रिय हैं[३]। ईरानी इतिहासज्ञों को पारदों के वंश-वृक्ष का यथार्थ ज्ञान नहीं है[४]। इस

पारद और पल्लव

विषय में वे केवल इतना जानते हैं कि मनुवंशी दीर्घबाहु (Artaxerxes Mnemon) कोई परदेशी थे, जो पारदों के अरिशार्सा नामधारी राजा हुए। इन्हीं के वंशज पारदियन हैं। कनिंघम के अन्वेषण से अरिशार्सा तथा पंजाब के दर्भ-विसार के राजा अबिसार (Abisares), दोनों सगे भाई थे[५]। दर्भ-विसार नाम का सातवाहनों का एक छोटा-सा राज्य पंजाब में अब भी है। जब ईरानी पारदियन परदेशी थे, तो उनका देश अवश्य भारतवर्ष था। यहाँ उनके भाई थे। पारदों के नाम बहुधा 'मित्र' पर हैं। पारदों के एक राजवंश के राजा कदाचित् दिलीप के पुत्र अनमित्र उपनाम शासन (Sasan) के वंशज हैं। दिलीप का राज्य ईरान में था। ईरानी पल्लव भी पौराणिक वृषलत्व क्षत्रिय हैं[१]। पदुकोटा के महाराज भी पल्लव-क्षत्रिय हैं। कांची, अमरावती और कृष्णा के तटस्थ देशों में आंध्रों के पश्चात् पल्लवों का राज्य स्थापित हुआ था। सिंहवर्मा और सिंहविष्णु आदि पल्लव-वंश के प्रख्यात नरेश हो गए हैं। इनके देश तक यवन-सभ्यता का विस्तार और राज्याधिकार नहीं पहुँचा। स्मिथ के अन्वेषण से पल्लव भारतवर्ष के प्राचीन तथा स्वदेशी शुद्ध क्षत्रिय हैं[२]। यदि भारतीय पल्लव ईरानी नहीं हैं, तो क्या ईरानी पल्लव भारतीय पल्लव हैं ? यदि नहीं, तो पल्लव कौन हैं ? पल्लवी पारदों की भाषा का नाम है।[३] पारदिया का शुद्ध नाम पार्थिव है[३]। पार्थिव-श्रेष्ठ वसिष्ठ भी यहीं के निवासी थे[४]। शासन-वंशी ईरानी नरेशों की राज्य-भाषा विशेषकर पल्लवी कहलाती थी[३]। शासन बाहुमान उपनाम दीर्घबाहु के भाई थे[३]। जो कथा रघु के गाय चराने की यहाँ प्रचलित है,

---

१ Gypsy dialect in Karman and Khorasan Provinces (H. P. Vol. II, P. 79.)

Jatts expelled to Khanikin on the Turkish frontier and to the frontier of Syria (H. P. Vol. II, P. 79.)

२ Tod's Rajasthan pp. 51, 52, 53

३. मनुस्मृति

४ The origin of the Parthian dynasty cannot be traced with certainty. The founder of the dynasty was Arsaces. Artaxerxes Mnemon was named Arsaces. The Arsacids were not a native dynasty, but came from outside.

History of Persia, pp. 330-331

५. Arrian calls Abisare's brother Arsace or the dragon worshipping Scythes of Media and Parthia. (Cunningham, Vol. 1, P. 23.)

१. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ;
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ;
पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ।

(मनुस्मृति, १०, ४३-४४)।

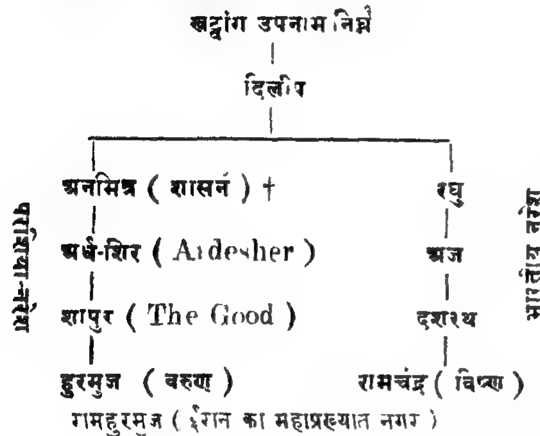
२ Recent research shows that Pallavas are an indegenous tribe, clan and caste and the names Pallavas and Pahlavas are so identical that most writers think that both mean the same people. (V. A. Smith, P. 419.)

३ Pahlavi means Parthian from Parthava, in which form the proper name appears in the Behisteen inscription. Persians call archaic Persian, Pahlavi, but Europeans know that Pahlavi was the official language of the Sasanian kings who are descended from Sasan brother of Bahuman, from whose head the sun illuminated the whole world and whom Papak, King of Fars, crowned king of Persia. (H. P. Vol. 1, pp. 422-423.)

४. मत्स्यपुराण, वसिष्ठ पार्थिव-श्रेष्ठ (मग)

ठीक वही कथा शासन के बकरी चराने की ईरानी कुर्दिस्तान में प्रचलित है। शासन की चौथी पीढ़ी में हुरमुज (वरुण) परशिया के राजा हुए। रघु की चौथी पीढ़ी में राम जंबूद्वीप के राजा हुए थे। दिलीप के दो पुत्र अनामित्र और रघु थे। अनमित्र ईरान के राजा हुए, और रघु भारतवर्ष के।

दोनों देशों के राजवंश का वृक्ष यह है—



रामहुरमुज (ईरान का महाप्रख्यात नगर)

राम (विष्णु) तथा हुरमुज (वरुण), दोनों के संयुक्त नाम का एक ही स्थान ईरानी रामहुरमुज है, जो भारतीय माल का ईरान में विशाल वाणिज्य-केंद्र (Emporium of the gorgeous East) था। पारद में 'मित्र' (इंद्र) का भी प्रथम इंद्रासन था। अर्जुन भी इसी इंद्रासन और वरुण-देश में रहे थे। अर्जुन का नाम भी पारथ था। कदाचित् स्वर्गारोहण (ईरान-यात्रा) में अर्जुन पार्थिव में ही रह गए थे।

पारद प्रतिपदा के दिन और कुँवार के महीने को शुभ एवं त्योहार मानते हैं। ये मित्र की दिग्विजय के सूचक हैं। ईरान के इतिहास से विदित है कि शासनवंशी पारद पह्लव कहलाते हैं। इनकी भाषा पह्लवी से इनका नाम पह्लव या पह्लव पड़ा है। पारद और पह्लव ईरानी मत से एक ही जाति के, परंतु भिन्न काल के नरेश थे। मित्र सूर्य के भाई थे। सूर्य के वंशज शासनवंशी थे। अतएव पौराणिक मत से भी ईरानी 'मित्रदत्त-वंश' (प्राचीन पारद) और शासनवंश (Sasanians) एक ही वंश के थे। पारद तथा पह्लव (पह्लव) में यही भेद है।

(५) पौराणिक दरद भी वृषलत्व क्षत्रिय हैं। दरदों के स्थान दरदनी (Dardani) और दरदनिलिस (Dardanells) हैं। दरदनिलिस को अब दरे-दानियाल कहते हैं। यहाँ तक भारतवर्ष की सीमा पहले थी[१]।

दरद

(६) किरात भी वृषलत्व क्षत्रिय हैं। वाँग (Wang)-वंशी मंगोलों की, जो हुन (Huns)-वंशी हैं, एक शाखा का नाम किरात है। तुरबात हैदरी और टर्की के तुर्क (Turks), दोनों किरात हैं। किरातों की एक शाखा अब नेस्टोरियन क्रिश्चियन (Nestorian Christians) के नाम से प्रख्यात है। पाश्चात्य देशी कराई (Karai) भी किरात हैं[२]।

किरात

(७) ग्रीस पौराणिक यवन-देश है। ग्रीस के समुद्र का नाम (Ionian Sea) यवन-सागर, और द्वीपों का नाम आयोनियन (Ionian)-द्वीप-पुंज है। यवन भी वृषलत्व क्षत्रिय हैं। ईरान के Yemen व Youna-प्रदेश भी यवनों के स्थान हैं। ग्रीस के क्रीट (Crete)-द्वीप के प्रथम नरेश Minos या Menes तथा मिश्र के प्रथम नरेश Sunborn Menes पौराणिक वैवस्वत-मनु थे। इक्ष्वाकु के पुत्र देवराज विकुक्ष उपनाम शशा ईलाम उपनाम शशा के विजेता थे[३]। विकुक्ष के पुत्र परंजय उपनाम ककुत्स्थ (बैलारूढ़) को ग्रीस का Minotaur (मनु अवतार) कहते हैं[४]। बेबीलोनियावाला Gilgames and the Bull (राम बाबा) नामी युद्ध इन्हीं का है[५]। Taurus-प्रदेश के विजेता भी यही थे। टारस बैल को कहते हैं[६]।

ग्रीस

परंजय के वंशज महाराज आद्र के नाम पर आद्र-सागर

---

१. इनके समय में देवासुर-संग्राम हुआ था।

२. History of Persia, Sasanian Dynasty

१ Illyria तथा Mount Haemus के मध्य Dardani प्रदेश है।

२. Kerants, tribe (H P Vol II, P 147.) Vide also Karai, a Mongol tribe (H P Vol II, pp. 147, 387, 411)

३ Susa or Shasha or Shash the ancient Capital of Elam (H P, Vol I, P 59)

४ Minotaur—Half man and half bull.

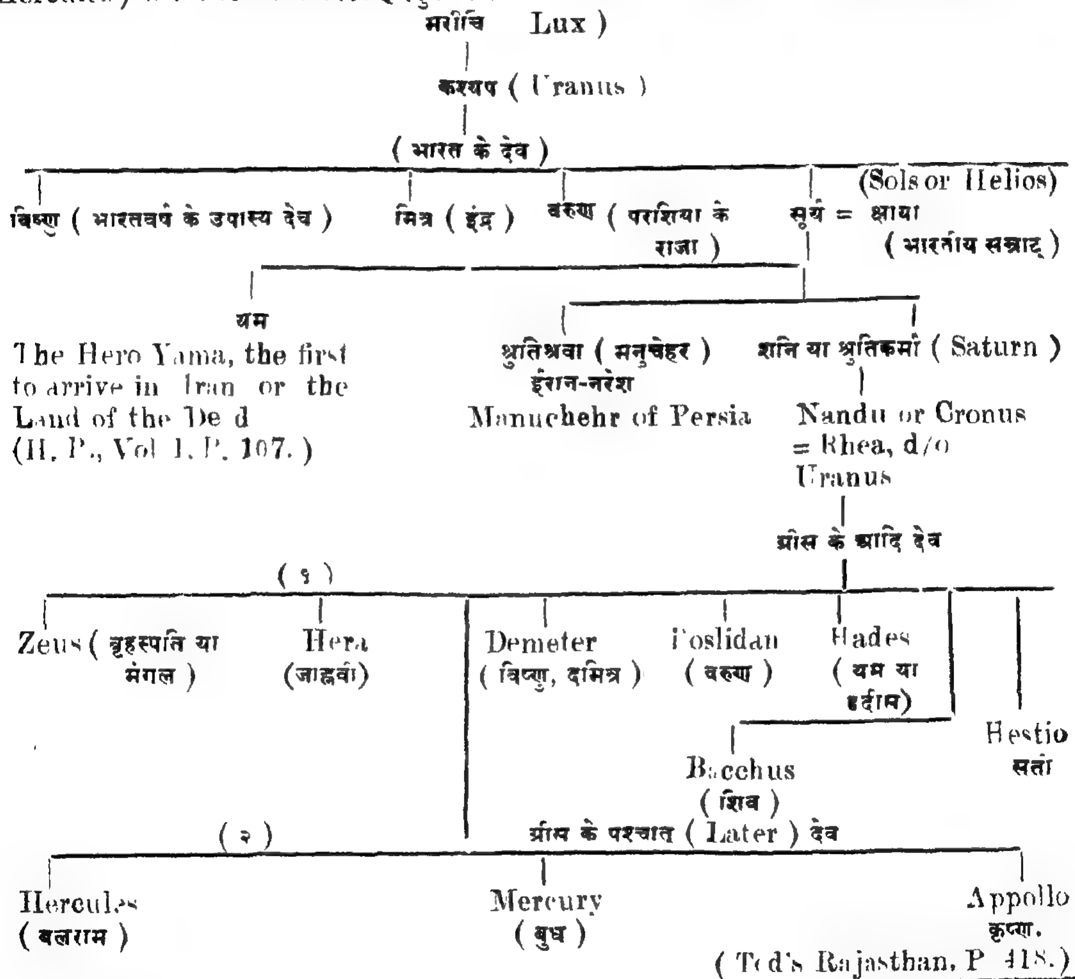
५. History of Persia, Vol 53

The Gilgames in conflict with the Bull. (Genesis X—22)

६ Taurus=Bull (Dictionary)

(Adriatic sea) और आद्रि-यॉनोपल (Adrion-ople) नगर हैं। आद्र के पुत्र यवनाश्व ग्रीस के नरेश थे[1]। इनके वंश का नाम Heliadae (सूर्यवंश) है। स्पार्टा के प्रथम नरेश Euristhenes को टॉड ने युधिष्ठिर बताया है[2]। ग्रीस का 'Atreus'-राजवंश आत्रि-वंशी है[3]। अत्रिवंशी (Atreus) ईरान में एक हेलि-आडे (Heliodae या सूर्यवंश) अथवा हरिकुलवंश (Hercules) भी था। बलराम अत्रिवंशी हरिकुल थे[3]। हरिकुल सिंडिया व सिरिया के भी राजा थे। सिरिया के (Hercules) हरिकुल तथा सिंडिया के Heraclius हरिकुल बलराम थे। ग्रीस और बालकन (Balcan) आदि देशों के विजेता तथा स्वामी शांतनु के भाई बाह्लिक थे[4]। बलख उपनाम बाह्लिक, बाह्लीक (Syria) और बलकन (Balkans) इन्हीं के नाम के देश थे। ग्रीक लोग इन्हीं के वंशजों का नाम 'Balica-Putras बताते हैं[5]।

ग्रीस के आराध्य देव भी भारतीय नरेश थे, यथा—



१ The Greeks or Ionians are descended from Yawan or Javan, the 7th from Japhet The Herculas are also Yavans claiming from Yavan or Javans, 13th in descent from Yayati the 3rd son of Primeval Patriarch

The Heliadae (or Suryabansh) of Greece had settled there anterior to Herculas of the Indu (Lunar) race

२ Euristhenes was the first King of the Heraclidae Yudhisthera had sufficient affinity in name to the first spartan King

३ The Heraclidae claimed descent from Atreus, the Herculas claim from Atri

४ The Heraclidae penetrated into the Peloponnesus (according to Volney) 1078 years before Christ

५ Balica-putras Balica or Balakh emphatically called the mother of cities (Tods' Rajasthan, P 28, 45.)

सूर्य के पुत्र शनि उपनाम श्रुतिकर्मा ग्रीस तथा रोम के प्रथम नरेश हुए । रोम और ग्रीस की सृष्टि इनसे पूर्व की नहीं है । ग्रीस के प्रथम आराध्य देव शनि हैं । इनके राजत्व-काल को ग्रीस और रोमवाले सतयुग (Golden Age) मानते हैं[१] । कृषि-विद्या का प्रचार प्रथम इन देशों में शनि ने ही किया था । ग्रीस तथा रोम में शनिवार (Sabath) प्रथम दिन माना जाता है[२] । शनि का त्योहार (Saturnalia) रोम तथा ग्रीस में बड़े उत्सव का दिन है[३] । महीने का अंतिम शनिवार (Last Saturday) भी यहीं का त्योहार है । भारत-वर्ष में शनि का दान लोहा, और ग्रीस तथा रोम में शीशा (Lead) है[४] । इन देशों में भी शनि का रंग काला मानते हैं ।

ग्रीक शनि की स्त्री का नाम राज्ञी (Rhea) बताते हैं[५]; परंतु राज्ञी उनकी माँ थी । लैटिन की प्राचीन धर्म-पुस्तकें शनि की प्रशंसा में लिखी गई हैं । ग्रीस में सूर्य का नाम हिलियस (Helias) है[७] । पाश्चात्य-देशों में सूर्य-वंशियों को टाइटंस कहते हैं । टाइटन का अर्थ 'सजीव-सूर्य' है[८] । यह शब्द त्रियतन (Traitana) का अपभ्रंश है । त्रियतन (Traitana or Thraetona) कश्यप का नाम है[९] । परशिया का झंडा (Duru fish kawani) इन्हीं का झंडा है[१०] । काव्य (शुक्राचार्य) तथा त्रैतन कश्यप) ने इसी झंडे को लेकर ईरानी जोहाक (नाग वंशी) को मारा था । तभी से यह ईरान का राज-झंडा बना है । इनके पुत्र इरिज, शमस, हिलियस अथवा सूर्य थे । ग्रीक Leus को Cronus (शनि) का पुत्र मानते हैं[४] । Leus के भाई तथा बहन Pascidon (Nepture), Hades (Pluto), Demeter(Ceres),Hera (Juno) और Hestia (Vesta) को मानते हैं; Pascidon (Nepture) वरुण का नाम है; Demeter और Ceres विष्णु अन्नदाता है; Hera (Juno) कदाचित् जाह्नवी है; Vesta या Hestia सती का नाम है; Bacchus (बाघवर) शिव का नाम है ।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि ग्रीस, रोम और ईरान सूर्य के राज्य के उपनिवेश थे । ईरान के प्रथम नरेश यम (The Hero Yama of Persian History) और सावर्णि-मनु थे । ग्रीस तथा रोम के प्रथम नरेश सावर्णि-मनु के भाई शनि उपनाम श्रुतिकर्मा थे । यही कारण है कि ईरानी तथा ग्रीक स-गोत्री (Sister Nations) माने गए हैं । ग्रीस में न केवल एक Saturnalia ही त्योहार था, वरन् फागेसिया (Phagesia) भी अर्थात् फाल्गुनी देवी की फगुई भी वहाँ मनाई जाती थी

(८) बर्बर भी पौराणिक सूर्यवंशी क्षत्रिय हैं[१] । इनका निवास स्थान अब ब्रिटिश सोमालीलैंड तथा मिश्र के बर्बर प्रदेश (Berber) में है । ये दोनों प्रदेश बर्बर (Berber) नाम ही से प्रख्यात हैं[३] । बारबेरियन (Barbarian)-शब्द के जन्म-दाता बर्बर ही हैं ।

बर्बर (Berber)

(९) काकेशियन पौराणिक 'खश' सूर्यवंश क्षत्रिय हैं[२] । मोगल का शुद्ध शब्द मंगोल है । मंगोल मगल की राजधानी के निवासी तथा के वंशज हुन (Hun) के यमराज वंशज तथा द्रविड के भाई हैं । इसी वंश के तातार भी थे; तातार 'तात' शब्द का अपभ्रंश है[६] ।

काकेशियन मागल

१. Dictionary
२. Saturn is the ancient Roman God of agriculture.
३. Saturnalia festival (Dictionary)
४ Dictionary.
५ Dictionary, see ' Leus ' and others.
६. मत्स्य पुराण तथा विष्णुपुराण ।
७. Tod's Rajasthan and Dictionary.
८ Dictionary, Titan or 'sun personified '
९. History of Persia, Vol. 1, pp 142 etc.
१०. History of Persia, Volume 1, P. 118.

१ Tod's Rajasthan —Festivals, P 474
२. मनुस्मृति
३ School Atlas
४ Tod's Rajasthan
५. History of Persia Vol pp 145-146
६ Tatar, correct form is Tata
(History of Persia, Vol. II, P 145)
मंगोल from Mong = Bold Moghals are Mongols
(H. P. Vol. II, P 145)

(१०) हुन यमराज के पौत्र थे । इन्हें हूण भी कहते हैं । हुन तिब्बत के राजा थे । हुन के वंशज मोगाल (मंगोल) तथा किरात (टर्क), दोनों हैं[१] ।

हुन (*Huns*)

(११) हुन के एक भाई रमण भी यमराज के पौत्र थे । ईरानी रवनदिश (Ravandish) रवण के वंशज हैं । ईरान में ये आत्मा को अविनाशी अब भी मानते चले आते हैं ।

रवनदिश *Ravandish*

(१२) अजमीढ़ के वंशज तथा उत्तर-मद्र (रूस) के निवासी पौराणिक मद्र हैं । शल्य, अश्वपति और पुरूरवा मद्र के ही राजा थे ।

मीडिज *Medes Madri*

(१३) नेम्रिटज़ सूर्यवंशी नृग के वंशज हैं ।

नेम्रिटज *Nimrits*

(१४) नरमसिन नृसिंह, नृग तथा इक्ष्वाकु के भाई थे । ईरानी नरमसिन पौराणिक नृसिंह थे ।

नरमसिन *Naram Sin*

(१५) गिरगिस उत्तरी तुर्किस्तान का नाम था । यहाँ के राजा नृग थे । अतएव नृग गिरगिस (गिरगिट) कहलाए ।

गिरगिस्ट *Ghirghist Girons*

(१६) कण्व-वंशी घोर के वंशज हैं । घोर एक गोत्र है । ये ब्राह्मण भी होते हैं ।

गोरी पठान *Ghori*

(१७) गिरगिस्ट पठान राजा नृग के वंशज हैं[२] ।

गिरगिस्ट *Ghargashti, Girorst*

(१८) ददीक पठान दधीचि-वंशी सारस्वतों के भाई हैं ।

ददीक पठान *Dadea Pathan*

(१९) मिश्र के केपियट कपोत हैं, जिनको महाराज शिवि ने फ़िरोहा से रक्षा करके शिविस्थान (शिशतान) में बसाया था । रुहेला पठान कपोत हैं । कपि-वंशियों को भी कपि कहते हैं । नील (Nile) के नीच कपि (बानर) महाराज कपि के वंशज थे । कपि के भाई पुष्कर के वंशज पुष्तन (पठान) हैं । इन्हीं की भाषा का नाम पश्तो है । कपि, पुष्कर और व्यूषण महाराज वरुक्षय के पुत्र क्षात्रोपेत द्विज थे । वरुक्षय का राज्य कश्यप-प्रदेश (Caspian Provinces) में था । केस्पियन सागर का नाम इसीलिये वारुक्षय (Vouru Kash) भी था । वरुक्षय काश्यप-प्रदेश का भी नाम है ।

केपियट्स *Captots*

(असमाप्त)

चौधरी धनराजसिंह

१ History of Persia, Vol II

२ The term Ghargusht or Ghirgist is a corruption of Ghirgisht or Ghargusht, the third son of Kais (सूर्य).

The word is only an altered form of Girgis or Girghis "wanderer on the Steppe" and indicates the country, whence they originally come, namely Northern-Turkistan

(Crooks, Tribes and castes, Vol IV, P 163)

असाधारण बालकों की शिक्षा



कृति के नियमों के अनुसार बच्चों की मानसिक शक्तियों का विकास साधारण रूप से एक अवस्था में एक ही प्रकार का होना चाहिए ; पर बहुधा माता-पिता के गुण-दोष, स्थान-विशेष के प्रभाव एवं रहन-सहन के ढंग के कारण ऐसा नहीं होता । अतएव हमें ऐसे बहुत-से बालक मिलते हैं, जिनकी मानसिक शक्तियाँ ठीक समय पर विकसित नहीं होतीं ; कभी समय के पहले और कभी समय के बाद उनका विकास होता है । ऐसे बालकों को उचित रीति से शिक्षा देना शिक्षा-संसार की एक कठिन समस्या है ।

१ History of Persia, Vol. I P 27

ऐसे बालकों को साधारण शिक्षा से अधिक लाभ नहीं होता। पिछड़े हुए बालक, जिनकी मानसिक शक्तियाँ कक्षा के दूसरे बालकों की अपेक्षा कम विकसित है, उक्त कक्षा की शिक्षा से लाभ नहीं उठा सकते। कारण, उनके मन और मस्तिष्क वह शिक्षा ग्रहण करने की क्षमता नहीं रखते। पक्षांतर में ऐसे बालक भी, जिनकी मानसिक शक्तियाँ समय से पहले ही विकास पा चुकी हैं, अपनी अवस्था के अनुरूप साधारण बालकों के साथ शिक्षा पाकर लाभ नहीं उठा सकते; क्योंकि ऐसी दशा में उन्हें अधिक परिश्रम करना नहीं पड़ता। दौड़ने की इच्छा रखते हुए भी उन्हें दूसरे बालकों के साथ मंद गति से चलना पड़ता है। बौनों के समूह में वे देवों की तरह रहते हैं, तथा उनका मन और मस्तिष्क उतनी उन्नति नहीं कर पाते, जितनी वे वास्तव में कर सकते हैं। इस प्रकार असाधारण कोटि के अधिकांश मस्तिष्क-सुमन स्कूलों में ही सदैव के लिये मुरझा जाते हैं। सचमुच बालकों के संबंध में 'सभी धान बाईस पसेरी' का परिणाम बड़ा भयंकर होता है।

पिछड़े हुए बालकों की ओर विशेष ध्यान न देने से केवल देश और जाति ही उनकी सेवा से वंचित नहीं रह जाती, प्रत्युत और भी हानि होती है। प्रोफ़ेसर ग्रीन ने लेखा लगाकर बतलाया है कि इँगलिस्तान के ऐसे मनुष्यों में, जो छोटे-छोटे अपराधों के लिये जेल भेजे जाते हैं, साठ फ़ी सैकड़े ऐसे होते हैं, जिनका मस्तिष्क बचपन में ठीक समय पर विकसित नहीं हुआ। भारतीय क़ैदियों के संबंध में इस प्रकार का लेखा प्राप्त नहीं; पर यदि दूसरे देशों में ऐसा होता है, तो भारत में ऐसा क्यों नहीं हो सकता? यदि ऐसे विद्यार्थियों की शिक्षा का यथोचित प्रबंध होता, तो देश में बदकारों की संख्या बहुत कम हो जाती।

पिछड़े हुए बालकों के संबंध में जो अनुसंधान हुए हैं, उनसे पता चलता है कि उनमें से अधिकांश में कोई-न-कोई शारीरिक त्रुटि रहती है। छोटी अवस्था में किसी प्रकार की बीमारी होना भी मानसिक विकास का अवरोधक है। वैसे तो बारह वर्ष की अवस्था तक किसी भी बीमारी के प्रबल आक्रमण से मस्तिष्क को बड़ा आघात पहुँचता और उसकी वृद्धि रुक जाती है: पर एक से लेकर चार वर्ष की अवस्था तक यदि निमोनिया इत्यादि का आक्रमण हो जाता है, तो इससे दिमाग़ को स्थायी क्षति पहुँचती है। बहुधा ऐसे बालकों की स्मरण-शक्ति बहुत कमज़ोर हो जाती है, और वे आजन्म मूढ़ बने रहते हैं। मस्तिष्क की वृद्धि पर दृष्टि की कमज़ोरी इत्यादि का भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

छोटी अवस्था में उचित प्रकार का भोजन न मिलने से भी मस्तिष्क कमज़ोर हो जाता है, और मानसिक विकास में बाधा पड़ती है। सर जेम्स ब्राउन लिखते हैं—यदि कोई तुमसे कहे कि मस्तिष्क मनुष्य-शरीर का ऐसा अंग है, जिसे भोजन न मिलने से शरीर के और अंग-प्रत्यंगों की अपेक्षा कम हानि होती है, तो उसका विश्वास न करो। मेरा पूर्ण विश्वास है कि भोजन न मिलने से सबसे पहले दिमाग़ को ही हानि पहुँचती है। संभव है, मनुष्य के भूखे रहने पर भी उसका मस्तिष्क दुर्बल न जान पड़े, पर क्या इससे उसके अंतर्गत सूक्ष्म तंतु-जाल पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता? मस्तिष्क-संबंधी काम करनेवाला प्रत्येक मनुष्य इस बात को भली भाँति जानता है कि ठीक समय पर भोजन न मिलने से दिमाग़ कैसा थोदा हो जाता है। जब वयस्क मनुष्यों पर भोजन का ऐसा असर पड़ता है, तब उन छोटे-छोटे बालकों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। यदि हम अपनी जाति की उन्नति करना चाहते हैं, तो हमें इस बात का पूरा प्रबंध करना चाहिए कि हमारे देश के प्रत्येक विद्यार्थी को सदैव उचित ढंग का भोजन उचित मात्रा में अवश्य मिले।

भारत में ८० प्रतिशत से अधिक ऐसे विद्यार्थी मिलेंगे, जो स्कूल और कॉलेज से निकलते-निकलते जीर्ण शीर्ण और जर्जर होकर संसार में प्रवेश करते हैं। भारत-जैसे दरिद्र देश में ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर, तो भी, माता-पिता को इस बात का ख़याल रखना चाहिए कि इस प्रकार बालकों को शिक्षा देना उन्हें शिक्षा न देने से भी बुरा है। हम स्कूल की फ़ीस देने-भर को समर्थ हों, केवल इतना ही इसके लिये यथेष्ट नहीं है कि हम बालकों को अवश्य स्कूल भेजें। रूखे-सूखे और आधे पेट भोजन पर मज़दूर भले ही निर्वाह कर ले, विद्यार्थी नहीं कर सकता। अनेक विद्यार्थी इसी प्रकार अपने माता-पिता की भूल से असमय में ही काल-कवलित हो जाते हैं। जो बच जाते

हैं, उनके मन और मस्तिष्क, उनके शरीर के ही साथ-साथ, इतने निर्बल हो जाते है कि वे संसार में किसी काम के नहीं रहते। इसलिये प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य है कि वह अपने बालकों के लिये उपयुक्त भोजन का प्रबंध पहले करे, फ़ीस का बाद को।

आपने देख लिया कि अपर्याप्त भोजन तथा शारीरिक दोष ही बच्चों के मानसिक विकास के मुख्य बाधक हैं। इसलिये माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे अपने बच्चों के खान-पान की ओर अधिक ध्यान दें, और उनके शारीरिक दोषों के निराकरण का प्रयत्न करें। यदि किसी बालक की आँखें कमज़ोर हों, तो उनकी कमज़ोरी दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि किसी को कम सुन पड़ता हो, तो उसके कानों का इलाज किया जाय। यदि बारह वर्ष से कम अवस्थावाले किसी बालक को कोई कठिन रोग हो जाय, तो उसको दूर करने के साथ ही उसके बुरे प्रभाव को भी दूर करने का यत्न करना आवश्यक है। ऐसा कोई शारीरिक विकार नहीं, जिसका थोड़ा बहुत निराकरण न हो सकता हो, और जिसका कुछ-न-कुछ प्रभाव शरीर पर न रह जाता हो।

तो फिर इन पिछड़े हुए या बोदे बालकों को किस प्रकार शिक्षा देनी चाहिए? अधिकतर ऐसा होता है कि वे एक ही दर्जे में वर्षों पड़े रहते हैं; पर इससे बड़ी हानि होती है। ऐसा होने से स्कूल के नीचे दर्जों में महापंडितों का जमघट हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि दर्जे के साधारण बालक भी प्रायः बिगड़ जाते हैं। छोटे बच्चों पर उदाहरण का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। जब वे यह देखते हैं कि बड़े-बड़े लड़के उनसे अधिक मूर्ख हैं, तब उन्हें परिश्रम करने की कहाँ तक उत्तेजना मिलती होगी, यह स्पष्ट है। शिक्षक भी उनके कारण हैरान रहते हैं। वे कक्षा के गले में चक्की की तरह पड़े रहते हैं; उनके कारण कक्षा की पूरी उन्नति नहीं हो पाती। इससे उनका कुछ भला भी नहीं होता। बार बार, वर्ष-प्रतिवर्ष उसी पाठ की पुनरावृत्ति करने से पाठ के प्रति उनकी अभिरुचि तो नहीं बढ़ पाती, बल्कि वे उससे घृणा करने लग जाते हैं। साथ ही छोटे-छोटे बालकों के बीच में बैठते-बैठते और शिक्षकों की झिड़कियाँ सहते-सहते उनके स्वाभिमान की मात्रा बहुत कम हो जाती है, और वे अपने को महामूढ़ समझने लगते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे भावों का उनकी शिक्षा पर कैसा असर पड़ता है। इन सब बातों से यह पता चलता है कि बोदे बालकों को साधारण शिक्षा से बिलकुल लाभ नहीं होता। अतएव उनकी शिक्षा का विशेष प्रबंध होना आवश्यक है।

योरप के बड़े-बड़े नगरों में ऐसे बालकों की शिक्षा के लिये विशेष प्रकार के स्कूलों का प्रबंध है। उनमें केवल ऐसे ही बालक पढ़ते हैं, दूसरे नहीं। पाठ्य-विषय साधारण स्कूलों के ही सदृश है। किसी दर्जे में पंद्रह से अधिक विद्यार्थी नहीं रक्खे जाते। जब कोई बालक पढ़ने लिखने में अच्छी उन्नति कर दिखाता है, तो उसे वहाँ से निकालकर किसी साधारण स्कूल में भेज दिया जाता है।

पर इस प्रकार इन बोदे बालकों को अलग कर देने से भी अधिक लाभ नहीं। सच बात तो यह है कि उन्हें अलग रखने की इतनी आवश्यकता नहीं, जितनी कि उनके पाठ्य-विषय में परिवर्तन करने की। यह अंतिम बात इन स्कूलों में नहीं होती। इन स्कूलों में दूसरा दोष यह है कि ये भी प्रायः उतने ही प्रसिद्ध हैं, जितने असाध्य रोगियों के अस्पताल। कोई लड़का ज्यों ही इनमें भेजा जाता है, त्यों ही वह अपने को मूढ़ समझने लगता है। इसका परिणाम उसके लिये अच्छा नहीं होता। कारण, इस प्रकार के स्कूलों के नाम प्रायः 'मूर्ख-स्कूल', 'मूढ़-विद्यालय' इत्यादि रहते हैं। इन स्कूलों का इस प्रकार नाम-करण करना उतना ही बुरा है, जितना किसी दवाख़ाने का 'असाध्य-औषधालय' नाम रखना। अंतर केवल इतना ही है कि एक संस्था के आगंतुक अपने को मरा हुआ समझने लगते हैं, और दूसरे के मूढ़।

इन स्कूलों में एक और भी बुराई है। इनमें पहुँचकर बालक को अपने ही सदृश बालकों के साथ रहना पड़ता है। अच्छे लड़कों से सहवास का उसे अवसर ही नहीं मिलता। परिणाम यह होता है कि संसार में प्रवेश करने पर वह अपने ही सदृश लोगों से व्यवहार करना जानता है, दूसरों से नहीं। ऐसी अवस्था में उस शिक्षा से उसे कोई लाभ नहीं होता।

अमेरिका में पिछड़े हुए बालकों की शिक्षा के लिये दूसरे ही प्रकार का प्रबंध है। वहाँ मूर्खों के लिये ख़ास

स्कूल नहीं हैं, किंतु आवश्यकतानुसार ऐसे बालकों के लिये विशेष श्रेणी का प्रबंध कर लिया जाता है। इनमें सबसे अच्छी बात यह है कि पाठ्य-विषय को बालकों के अनुरूप बनाने का प्रबंध रहता है। यही नहीं, भर्ती होने के समय प्रत्येक बालक की अभिरुचि की जाँच कर ली जाती है, और हर विद्यार्थी के लिये अलग-अलग पाठ्य-क्रम बनाया जाता है। एक दर्जे में पंद्रह से अधिक विद्यार्थी नहीं रहते।

निम्न-लिखित विषय इन स्कूलों के पाठ्य क्रम के मुख्य अंग हैं—

१. खेल—क्रीकेट, हॉकी, फुटबाल।

२. संगीत।

३. नृत्य।

४. जिमनास्टिक।

५. बालकों की रुचि के अनुसार काग़ज़ काटना, मिट्टी के खिलौने बनाना, बढ़ईगीरी इत्यादि।

साथ ही गणित, इतिहास, भाषा इत्यादि की भी शिक्षा दी जाती है। पर इन विषयों में उनकी शिक्षा उतनी क्लिष्ट और अधिक नहीं होती, जितनी साधारण बालकों की। हाँ, नृत्य-संगीत इत्यादि की शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया जाता है; क्योंकि एक तो बोदे बालकों का इनमें खूब मन लगता है, दूसरे इन विषयों के द्वारा उनकी ज्ञानेंद्रियाँ कार्यशील हो जाती हैं। इस प्रकार उनके बोदेपन का मुख्य कारण दूर हो जाने पर धीरे-धीरे वे साधारण बालकों के साथ लिखने-पढ़ने-योग्य हो जाते हैं।

इँगलिस्तान के भी अनेक स्कूलों में बोदे बालकों के लिये ख़ास-ख़ास दर्जे हैं। उनमें भी उनके सुधार के प्रायः ये ही तरीक़े प्रचलित हैं। सबसे पहले प्रत्येक बालक की भली भाँति परीक्षा होती है, और यह देखा जाता है कि उसकी रुचि किस ओर है। जिस प्रकार के खेल में उसका जी लगता है, उसी के द्वारा उसकी ज्ञानेंद्रियों को प्रखर बनाने का यत्न किया जाता है। बोदे-से-बोदे बालक भी प्रायः संगीत को बहुत पसंद करते हैं। श्रवण तथा वाक्-शक्ति को उत्तेजित करने का यह अमूल्य साधन है। इसके अतिरिक्त बालकों को वस्तुओं के छूने, तोड़ने तथा बनाने में बड़ा आनंद आता है। उनकी इस रुचि से भी उक्त स्कूलों में लाभ उठाया जाता है। इस प्रकार उनकी स्पर्श-शक्ति तथा नेत्रों की शक्ति उत्तेजित की जाती है।

उन्हें स्कूल के अन्य बालकों से अलग नहीं रक्खा जाता। क़वायद, ईश्वर-वंदना तथा खेल के समय उन्हें औरों से मिलने तथा बातचीत करने पर ज़ोर दिया जाता है। छुट्टी तथा आराम के घंटों में भी वे साधारण बालकों से मिलते-जुलते हैं। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि थोड़े ही दिन की इस प्रकार की शिक्षा से अनेक बोदे बालक सँभल जाते हैं, और फिर उन्हें साधारण बालकों के साथ शिक्षा मिलने लगती है।

पर प्रत्येक स्कूल में बोदे बालकों के लिये इस प्रकार के दर्जों का प्रबंध नहीं हो सकता। लेखक को जहाँ तक मालूम है, भारत-भर में शायद एक भी ऐसा स्कूल नहीं, जिसमें इस प्रकार के दर्जे हों। ऐसी हालत में शिक्षकों का कर्तव्य क्या है? यदि अधिक नहीं, तो इतना अवश्य हो सकता है कि प्रत्येक स्कूल के शिक्षक अपने-अपने दर्जे के बोदे बालकों का विशेष रूप से ख़याल रक्खें, और उनमें से प्रत्येक की अभिरुचि जानकर उसी के अनुकूल उसकी ज्ञानेंद्रियों को उत्तेजित तथा बोदेपन को दूर करने का यत्न करें। पर हाँ, इसके लिये मास्टरों तथा हेड-मास्टरों को कुछ अधिक स्वतंत्रता मिलने की आवश्यकता है।

अब हम उन बालकों की शिक्षा पर विचार करेंगे, जिनकी मानसिक शक्तियाँ समय के पहले ही विकसित हो जाती हैं। ऐसे बालक दो कोटियों में विभाजित किए जा सकते हैं—एक तो वे, जो किसी एक विषय में उत्कृष्टता प्राप्त करते हैं, और दूसरे वे, जो सभी विषयों में श्रेष्ठ होते हैं।

इनमें पहली कोटिवाले अधिक अच्छे नहीं होते। उनकी उत्कृष्टता प्रायः किसी मानसिक विकार का कारण होती है, और स्थायी नहीं रहती। कभी-कभी ऐसे बालक आगे चलकर बोदे हो जाते हैं। पर यदि यत्न किया जाय, तो उनकी एक-विषयक उत्कृष्टता क़ायम रह सकती है। जिस विषय में वे तेज़ हों, उसमें उन्हीं के लिये दर्जे के और बालकों की अपेक्षा ऊँची शिक्षा का प्रबंध करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि पाँचवें दर्जे का एक बालक ड्राइंग में इतना तेज़ है कि छठे दर्जे में चल सकता है, पर और विषयों में पाँचवें ही दर्जे के लायक़ है, तो उसे

ड्राइंग की शिक्षा छठे दर्जे के साथ और शेष विषयों की पाँचवें दर्जे के साथ दी जानी चाहिए। इसी प्रकार और विषयों के संबंध में भी करना उचित है; पर इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उनकी अन्य विषयों की शिक्षा में किसी प्रकार की कमी न होने पावे। हाँ, आगे चलकर जब उन्हें सभी प्रारंभिक विषयों का पर्याप्त ज्ञान हो जाय, तब उन्हें उनकी उत्कृष्टता के क्षेत्र में ही चलने देना चाहिए।

अब रहे वे बालक, जो सभी विषयों में श्रेष्ठ हैं। उनके संबंध में हमें केवल इतना ही कहना है कि साधारण बालकों के साथ वर्ष-भर तक एक ही दर्जे में रखकर फिर उन्हें ऊँचे दर्जे में भेजना ठीक नहीं। जब साधारण-से-साधारण बालक भी वर्ष-भर में अपनेको इस योग्य बना लेता है कि वह उससे ऊँचे दर्जे में जा सके, तो किसी असाधारण कोटि के मन तथा मस्तिष्कवाले बालक को भी उतने ही समय तक एक दर्जे में रखना अनुचित है। उसकी योग्यता के अनुसार तीन या छ महीने में ही उसे आगे चलता कर देना चाहिए, जिससे उसके मन और मस्तिष्क बेकाम न बने रहें।

कहीं पर यदि इस प्रकार के कई बालक हों, तो उनका एक विशेष दर्जा बना लेना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ख़याल रखना चाहिए कि उनमें अपनी योग्यता के प्रति अभिमान की भावना न उत्पन्न होने पावे। यह भी देखते रहना चाहिए कि कोई बालक अपनी शक्ति से बाहर तो मानसिक श्रम नहीं कर रहा है। ऐसा करनेवाले को तुरंत रोकना चाहिए, नहीं तो उसके शरीर तथा मन, दोनों ही बिगड़ सकते हैं।

भूपनारायण दीक्षित

मन-मीन

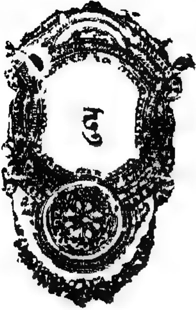
मछली, मछली, कितना पानी?—ज़रा बता दो आज;
देखूँ, कितने गहरे में है मेरा जीर्ण जहाज़।
मन की मछली, डुबकी खाकर कह दो कितना जल है,
कितने नीचे, कितने गहरे, कहाँ थाह का थल है?
पंकिल थल, सुनील जल, हिल-मिल, हुए कहाँ हैं एक?
मछली, मछली, मुझे बता दो, कहाँ थाह की रेख?
कई बार तल से टकराया, फिर भी पता न पाया;
ज्यों ही पैठा, त्यों ही उफनाकर फिर से उतराया।
जल-निधि के उलोचने को टपकाए बिंदु अनेक,
किंतु टिटिहरी का धीरज छूटा, अथाह जल देख।
अब तुमसे कहता हूँ, मुझको ज़रा बता दो मीन;
कितने नीचे तल की भूमि सिमिटती है संकीर्ण?
तरल तरंगें बढ़ आती हैं, होता हूँ हैरान;
ये उठती लहरें सिंचित करतीं तट का मैदान।
यहाँ, वहाँ, सर्वत्र आप-ही-आप जलधि का क्षार,
कीर्णित हो जाता है मम जीवन-तट पर प्रति बार।
कैसे यह जल का प्लावक विप्लव होवेगा शांत?
मन की मछली, कहो, हृदय कैसे होगा विश्रांत?
तुम्हें डूबने ही में सुख मिलता है क्या जल-बीच?
आने में संकोच किया करती हो क्यों थल-बीच?
मेरा जल, थल एक हो रहा है, न करो कुछ सोच,
प्राण-नाश का अर्थ हो गया है जीवन का लोच!
इधर-उधर मुड़ जाने ही से जीवन गाँठ बँधी है;
मछली, मछली, इसीलिये अभिलाषा आज सधी है।
यदि थल में आ जाओगी, तो प्राण नहीं तड़पेंगे;
द्रवित तटों के पंकिल रज-कण में दुखिया अटकेंगे।
यदि तड़पे ये बंदी तो भी चरणों में जाएँगे;
वहीं रहेंगे मँडराते ये, वहीं शांति पाएँगे।
जो के कठिन प्रश्न का उत्तर यों ही मिल जाएगा;
मन की मछली, निठुर प्रेम यों सौदा निपटाएगा।
जिसके एक-एक पद-संचालन से कँपते प्राण,
जिसके नेह-पगे अवलोकन से तुरता है त्राण,
प्राण-प्राण के मिस होता है जहाँ नेह का दान,
नेह-दान के मिस जो करती है मुझको म्रियमाण।
उसका कुछ परिचय दे दो, वह निठुर प्रतिमा कौन।
मन की मछली, क्यों साधे बैठी हो तुम यह मौन?

* * *

गहराई के अंतस्तल में कौन छिपी बैठी है?
मछली, मछली, ज़रा बता दो कौन हूक पैठी है।

'नवीन'

द्यूत-नीति



दुर्व्यसनों में फँसे हुए आदमी के हाथ में धन वैसे ही होता है, जैसे फूटे घड़े में पानी। इधर आया, उधर गया। बैरिस्टर पन्नालाल ने बहुत पैदा किया, और बहुत उड़ाया। आप इंद्रियों के उपासक थे, आत्मा के आदेशों पर कान न देते थे। कहा करते— जवानी सुख-भोग के लिये है, अध्यात्म और वैराग्य के लिये नहीं। धर्म का आत्मा से संबंध है। धर्मानुराग आंतरिक प्रेरणा से उत्पन्न होता है, और आंतरिक प्रेरणा तभी होती है, जब मन काम-तृष्णा से मुक्त हो जाय। मन तृष्णा-रहित तभी होता है, जब उसे पूर्णतः तृप्ति हो जाय, और मन तृप्त तभी होता है, जब कोई अरमान बाक़ी न रहे।

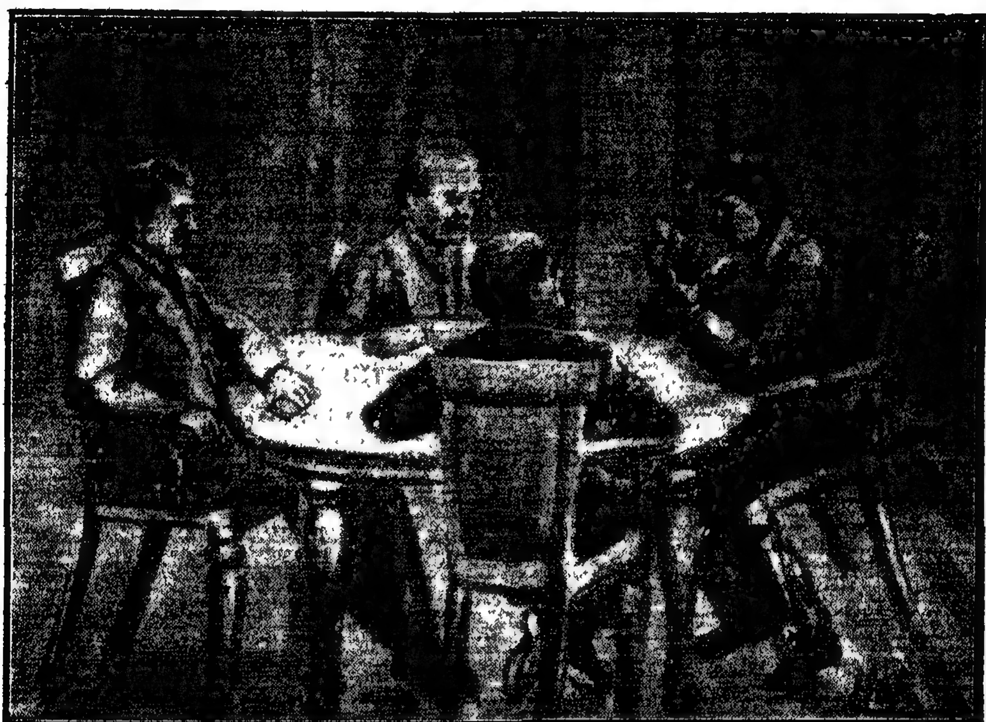
बाबू साहब को वह स्वर्ग-अवस्था नसीब नहीं हुई। वासना वह तिलिस्मी महल है, जो बाहर से अत्यंत सुंदर एवं दोष-रहित प्रतीत होता है, किंतु भीतर पैर रखते ही जिसकी सभी बातें रहस्यमय होती जाती हैं। दर्शक ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, रहस्य दुर्भेद्य होता जाता है। इस रेशमी जाल से निकल जाना विरले ही का काम है। पक्षी ज्यों-ज्यों पर मारता है, फंदा कसता जाता है! यौवन रँगरेलियों में बीत गया, किंतु विलास-लालसा बढ़ती ही गई। न आंतरिक प्रेरणा हुई, न एलहाम! पहले दस नौकर थे, अब उनकी संख्या पंद्रह हो गई। पहले देशी खाना स्वादिष्ट लगता था, अब चाय और कटलेट बिना ज़िंदगी का मज़ा नहीं। पहले तंज़ेब और आबेरवाँ पर सब्र कर लेते थे, अब ब्राइना और काशी-सिल्क चुभता है। पहले एक जोड़ी काफ़ी थी, अब तीन तीन मोटरें कम पड़ती हैं। कभी जवानी नश्वर थी, पर अब सदा बहार है। मूँछों के बाल पकते देख उन पर छुरा फेर दिया। वृद्धावस्था का कोई चिह्न ही न रहा। और, सिर के बाल? वह तो आजकल नौजवानों के भी पक जाते हैं!

भोग-लिप्सा रंग अवश्य लाती है। विषय और आलस्य का चोली-दामन का साथ है। पहले मुवक्किलों के मुक़दमे चटपट तैयार हो जाते थे, अब महीनों पड़े रहते हैं। अतएव बाबू साहब के मुवक्किलों की तादाद घटने लगी। उधर व्यय बढ़ा, इधर आय घटी। महाजनों की बन आई। सेठ रामसरनदास के यहाँ लेन-देन शुरू हुआ।

विलास-प्रिय लोगों की उधार-धर्म पर अगाध श्रद्धा होती है। फ़ैशन और विलास की सामग्रियाँ उधार मिल जाती है, और कभी नहीं भी मिलतीं। मदिरा आदि तो उधार आ सकती है, किंतु सौंदर्य का बाज़ार उधार नहीं चलता। जुए में भी नक़द का व्यवहार चाहिए।

(२)

रात के नौ बज चुके थे। इंडियन क्लब के एक कमरे में बाबू पन्नालाल और उनके मित्र, रसिकलाल, गुलामहुसेन, और जॉन, एक गोल मेज़ के इर्द-गिर्द बैठे हुए थे। कमरा आराइशात से सजा हुआ था; एक कोने में एक क़ीमती पर्दा पड़ा हुआ था। गुलामहुसेन ने जेब से ताश निकाले, पत्ते बँटे, खेल आरंभ हुआ। बाबू पन्नालाल ने अपने पत्ते सँभाले। देखते ही बाछें खिल गईं—तीन ग़ुलाम और एक मेम! बैठते ही जीते। फिर ताश बँटे। इस बार फिर बाज़ी बाबू साहब के हाथ रही। बाबू साहब लगातार पाँच बाज़ी जीते, छठी हार गए। यह सातवीं बाज़ी थी। बाबू साहब पत्ते हाथ में लेते ही उछल पड़े—तीन इक्के और एक बादशाह! मनोभाव छिपा रखना जुए की नीति का अत्यंत आवश्यक सिद्धांत है; परंतु मुखाकृति पर बाबू साहब का वश न था। होंठों को कितना भी दबाते, किंतु वे फड़क ही जाते। नेत्रों में आशा की ज्योति चमकने लगी। उन्होंने सिगरेट-केस निकाला, सिगरेट जलाई और पतलून की जेबों में हाथ डालकर टहलने लगे। व्यग्रता और निश्चिंतता का विचित्र सम्मेलन था। कमरा विद्युत्-प्रकाश से जगमगा रहा था। शेष तीनों आदमियों में नेत्र-संकेतों द्वारा बातें हो रही थीं। उनके नेत्र बाबू साहब के मेज़ पर पड़े हुए पत्तों पर ऐसे लगे हुए थे, मानो वृक्षों पर बैठे हुए गिद्धों की ललचाती आँखें ज़मीन पर पड़े हुए गोश्त के टुकड़ों पर जमी हों। उनकी दशा उन लुटेरों के सदृश थी, जो अशर्फ़ियों की थैली लिए हुए बलिष्ठ मुसाफ़िर की लोहबंद लाठी देखकर हिम्मत हार जाते हैं; फिर उससे मित्रता कर इसलिये साथ हो लेते हैं कि अँधेरा होते ही मौक़ा पाकर थैली ले भगें! सहसा



बाबू पन्नालाल अपने मित्रों के साथ बैठे ताश खेल रहे हैं

बत्तियाँ बुझ गईं। कमरे में अँधेरा छा गया। बाबू साहब चौंक पड़े—यह क्या हुआ!

"न-जाने क्या माजरा है। कुछ समझ में नहीं आता!"

"क्या विद्युत्-प्रवाह रुक गया?"

"मिस्टर जॉन, देखो तो भई क्या बात है।"

मिस्टर जॉन उठे ही थे कि फिर बत्तियाँ रोशन हो गईं। खेल शुरू हुआ, चालें चली जाने लगीं। बाबू साहब की उत्सुकता का कुछ ठिकाना न था। गुलामहुसेन और जॉन ने अपने-अपने पत्ते फेंक दिए। बाबू पन्नालाल और रसिकलाल में चोटें होने लगीं।

रसिकलाल—मेरी एक चाल एक हज़ार की।

पन्नालाल—मेरी दो हज़ार की।

"मेरी भी दो हज़ार की हुई।"

"मैं तीन हज़ार चला।"

"मेरी एक चाल पाँच हज़ार की हुई।"

रसिकलाल ने पाँच हज़ार निकालकर सामने रख दिए, और बोले—पत्ते दिखाइए।

बाबू पन्नालाल ने गर्व से अपने ताश उठाए, और सामने खोलकर रख दिए; किंतु उनके आश्चर्य की सीमा न रही, जब पत्तों में केवल दो ही इक्के निकले। तीसरा इक्का क्या जाने किधर हवा हो गया!

"ऐं! मेरे पास तीन इक्के आए थे, और एक बादशाह। ये दो कैसे! एक क्या हुआ?"

रसिकलाल रुपयों का ढेर सँभालते हुए बोले—कहाँ के इक्के, और कहाँ का बादशाह। यह देखिए, बादशाह की ट्रेल और यह मेम।

बाबू साहब ने गरजकर कहा—यह धोखा है, सरासर बेईमानी है।

रसिकलाल ने कड़ककर उत्तर दिया—यहाँ कोई उठाईगीर नहीं है; साफ़ खेल खेलते हैं। जिसका जी चाहे, खेले; जिसका जी न चाहे, न खेले।

बाबू साहब ने क्रोधोन्मत्त होकर कहा—मैं नहीं जानता था कि तुम इतने नीच हो!

रसिकलाल ने उत्तेजित होकर कहा—ज़रा होश सँभालिए, ज़बान को लगाम दीजिए, वरना सारी शेख़ी भुला दूँगा।

इधर से पन्नालाल झपटे, उधर से रसिकलाल, और क़रीब था कि विनोद का स्थान युद्ध-स्थल में परिणत हो जाता कि गुलामहुसेन और जॉन ने, जो अभी तक खड़े तमाशा देख रहे थे, बीच-बचाव कर दिया।

जुआरी पैसे-पैसे के लिये उलझ पड़ते हैं। यह तो इतनी बड़ी रक़म थी। एक तो शराब की गरमी, दूसरे क्रोध। बाबू साहब की आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं। परंतु अपनी शारीरिक दुर्बलता और प्रतिद्वंद्वी के बल का ज्ञान साहस का क्षय कर देता है। निर्बल का क्रोध शब्दों-द्वारा प्रकट होता है। हाथ-पैर चाहे विवश हो जायँ, परंतु ज़बान हार माननेवाली नहीं। ज़बान सहज़ोर घोड़े के समान है। उसे क़ाबू में रखने के लिये धैर्य चाहिए। निर्बल क्रोध का हास्यास्पद दृश्य होता है। बाबू पन्नालाल की ठीक वैसी ही दशा थी। कोलाहल आरंभ हो गया। ख़ानसामे, बेटर, बावर्ची और क्लब के अन्य सदस्य एकत्र हो गए, और कुतूहलजनक दृष्टि से यह अभिनय देखने लगे। मामला बढ़ता देख गुलामहुसेन बाबू साहब को संतोष का उपदेश देते और रसिकलाल को बुरा-भला कहते मोटर तक लिवा लाए, और उन्हें बिठालकर शोफ़र को इशारा किया। मोटर हवा से बातें करने लगी।

बँगले पर पहुँचते ही नौकरों की शामत आ गई। इसको डाँट, उसको फटकार। दरबान बैठे-बैठे ऊँघ रहा था। बाबू साहब ने पहुँचते ही वह ठोकर दी कि बेचारा बिलबिला उठा। नौकर जूता उतारने लगा। फ़ीता खोलने में देर लग गई, झल्लाकर वह चपत जमाई कि ग़रीब का सिर भन्ना उठा। किसी तरह जब 'सरकार' को नींद आई, तो बेचारों के जान में जान आई।

(३)

उधर तो बाबू पन्नालाल अपने शयनागार के अंधकार में पड़े करवटें बदल रहे थे, इधर क्लब में घी के चिराग़ जल रहे और आनंदोत्सव मनाए जा रहे थे। वही कमरा था, और उसमें वही त्रिमूर्ति।

गुलामहुसेन ने रसिकलाल से कहा—वाह रे! मेरे शेर, बड़े मूज़ी को ज़क दिया। उस्ताद, मानता हूँ। 'खिला गुल, पगड़ी ग़ायब' की मसल सादिक़ आई!

रसिकलाल—नहीं हज़रत, इस कामयाबी का सेहरा तो आपके सिर है। चाल तो यार तुम्हारी ही सोची हुई थी।

जॉन—भई, मैं तो डर रहा था कि कहीं पन्नालाल ने परदे के उस तरफ़ झाँका, तो परदा फ़ाश हो जायगा। मगर ख़ुदा ने बड़ी मदद की।

गुलामहुसेन—ख़ुदा नेक काम में मदद देता है!

इस बात पर एक फ़रमायशी क़हक़हा पड़ा।

जॉन—भई, अबदुल्ला ने बड़ी मदद की, वरना कुछ किए-धरे न बनता। ऐसा दम साधे हुए था कि ज़रा भी नहीं सनका।

गुलामहुसेन—और, इशारा पाते ही रोशनी गुल की। उसे परदे के अंदर छिपा रखने की ख़ूब सूझी!

रसिकलाल—और, परदा भी बड़े मौक़े से लगाया गया था। शुबहा भी पैदा नहीं हुआ।

उधर से अबदुल्ला ख़ानसामा ब्रांडी की बोतलें और प्याले लिए आ पहुँचा। बोतलें मेज़ पर रखते हुए बोला—जे हुज़ूर, अब इनाम दिलवाइए। ख़ुदा गवाह है, आज बड़ी मेहनत पड़ी है। दो घंटे तक साँसत में जान फँसी रही। आप जानते हैं, मुझे खाँसी का मर्ज़ है। उधर बाबू साहब ने सिगरेट पीना शुरू किया। हुज़ूर, खाँसी आते-आते रुकी। मैंने झट मुँह में कपड़ा ठूँस लिया। दम घुटने लगा। ऊपर से यह डर खाए जाता था कि कहीं बाबू साहब ने ख़ुदानख़्वास्ता परदे के अंदर देखा, तो सारा भंडा फूट जायगा।

रसिकलाल—हाँ, इसमें शक नहीं। तुमने आज बड़ा काम किया। अच्छा, यह अपना हक़ लो।

रसिकलाल ने दस-दस रुपए के पाँच नोट अबदुल्ला के हाथ में रख दिए। अबदुल्ला ने झुककर सलाम किया, और बाहर चला गया। इधर दौर-पर-दौर चलने लगे।

(४)

प्रातःकाल का समय था। बाबू पन्नालाल अपने वकालतख़ाने में बैठे रात की घटनाओं पर विचार कर रहे थे। इस समय वह रात के बिगड़े, मतवाले बाबू साहब नहीं, अनुभवी, विचारशील बारिस्टर थे। उन्होंने निष्पक्ष होकर विचार आरंभ किया—इसमें कहाँ तक मेरा दोष था, कहाँ तक रसिकलाल का? मेरे पास तीन इक्के आए थे। फिर दो ही कैसे रह गए? क्या ठीक है, मैंने ग़लत देखा हो। नशा ज़ोरों का था ही। और, यह भी मेरी ही

ब्रजती थी कि पत्ते मेज़ पर पड़े रहने दिए। रोशनी कैसे बुझ गई? बिजली का एकाएक रुक जाना कोई असाधारण बात नहीं; और, ठीक उस समय रुकना, जब मेरे पास इतने बड़े पत्ते आए थे, संदेह उत्पन्न करता है। पर संदेह सत्य भी हो, तो भी यह एक आदमी का काम नहीं हो सकता। रसिकलाल मेरे पत्ते बदल सकता था, परंतु रोशनी कैसे बुझाता? वह तो अपनी जगह से उठा भी नहीं। तो क्या सब-के-सब मिले हुए थे? कैसे कहा जा सकता है। केवल संदेह तो प्रमाण नहीं हो सकता। भला इससे उन्हें लाभ ही क्या होता? दस-पाँच हज़ार तो कोई बड़ी रक़म नहीं। बड़े-बड़े रईसों के सौजन्य और घनिष्ठता को तिलांजलि देकर ऐसी हरकत करना यक़ीन में नहीं आता।

बाबू साहब इसी तरह तर्क-वितर्क में पड़े थे। इतने में अर्दली ने एक पत्र लाकर सामने रख दिया। वह क्लार्क-कंपनी का बिल था। बाबू साहब ने उसे जाँचने के बाद सेठ रामसरनदास के पास भेज दिया।

एक घंटे के बाद आदमी फिर लौटा। सेठ रामसरनदास ने रुपए देने से इनकार कर दिया, और लिख भेजा कि पिछला हिसाब साफ़ हो जाय, तो अगला चले। यह बात बाबू साहब को बड़ी बुरी लगी। "कंपनी का आदमी अपने मन में क्या ख़याल करेगा—जाकर मैनेजर से सारी बातें कहेगा। मेरी कितनी बदनामी होगी। यदि इस समय रुपया चुका देते, और बाद में हिसाब करते, तो क्या हानि हो जाती! तीन हज़ार तो कोई बड़ी रक़म न थी।" आदमी को बुलाकर कहा—अच्छा, तुम जाओ। मैं रुपए भेजूँगा। उन्होंने क्रोध के आवेश में सेठजी को एक लंबा पत्र लिखा। सभ्य भाषा में ख़ूब खरी-खोटी सुनाई, और मुनीम को हिसाब लेकर बुलाया।

प्रायः दो वर्ष से सेठ रामसरनदास के यहाँ बाबू साहब का खाता चलता रहता था। इस बीच में न बाबू साहब ने हिसाब किया, न सेठजी ही उत्सुक हुए। बाबू साहब जब चाहते, रुक़्क़ा भेज देते थे, और रुपया चला आता था। आज हिसाब हुआ, तो असल और सूद मिलाकर सेठजी के पूरे चार लाख रुपए निकले! बाबू साहब अवाक् रह गए। इस समय उनकी दशा उस विचार-हीन तैराक की-सी थी, जो अपने बल और कौशल के गर्व में दूर तक तैरता निकल जाता है, परंतु जब मुड़कर किनारे की ओर दृष्टि करता है, तो हिम्मत छूट जाती है—दिल टूट जाता है।

(५)

बाबू साहब के क़र्ज़ की बात सारे शहर में फैल गई। गली-गली इसी बात की चर्चा थी। सर्वसाधारण को जितना आनंद कीर्ति-गान में मिलता है, उससे कहीं अधिक अपमान-चर्चा में मिलता है। यह आग रसिकलाल की लगाई हुई थी। कहते फिरते थे—देखा न महाशय, ढोल के अंदर पोल। यह रियासत, यह टीम-टाम, यह तो ठाट-बाट, और घर में भूँजी भाँग नहीं। इसका कारण था—स्वाभाविक ईर्षा। किसी का घर जलता है, बला से जले। हम तमाशा तो देख लें। नीच प्रकृति, द्वेष और तमाशबीनी की आदत—बस, इधर सेठ रामसरनदास को भड़काया, और उधर शहर में ढिंढोरा पीट दिया।

बाबू साहब के सामने जटिल समस्या उपस्थित हो गई—ऋण कैसे अदा हो? वकालत में इतना ज़ोर नहीं रहा, और कहीं से धन मिलने की आशा नहीं। यदि बँगला बेच डाला जाय, सामान नीलाम कर दिया जाय, तो भी दो-ढाई लाख से अधिक नहीं मिल सकते। शेष दो लाख कहाँ से आएँगे?

बाबू पन्नालाल दिन-रात चिंताओं से घिरे पड़े रहते थे। न कहीं जाते, न कहीं आते। सेठजी के तक़ाज़े बराबर आते रहते, कंपनियों के आदमी बराबर बिल ले-लेकर दौड़ते फिरते। बाबू साहब निरुपाय थे, कुछ करते-धरते न बना। नालिशें दायर हुईं, लेकिन बाबू साहब की तरफ़ से पैरवी न हुई। इकतरफ़ा डिग्रियाँ हुईं—जारी हुईं। क़ुर्क़ी के लिये तयारियाँ होने लगीं। अपमान और पतन का अंतिम समय सामने आ गया।

(६)

बाबू साहब की दशा तूफ़ान में फँसी हुई किश्ती पर बैठे हुए उस यात्री की-सी थी, जो बचाव का कोई उपाय न देख माँझी पर क्रोध उतारने लगता है! संकट के समय कलुषित-से-कलुषित हृदय में भी विशेषतः भक्ति और अनुराग का विकास हो जाता है। किंतु पश्चात्ताप ही वह जल-धारा है, जो हृदय में जमी हुई कालिमा को धो-धोकर साफ़ करती है। बाबू साहब को पश्चात्ताप न था, दुःख था भंडा फूट जाने का। इस छिपाकर क़र्ज़-पर-क़र्ज़

खाते चले आते हैं, इसमें अपमान दिखाई नहीं देता; लेकिन क़र्ज़ की बात खुल जाने पर शर्म से सिर उठाते नहीं बनता। जो बात घर में सामान्य प्रतीत होती है, वही बाहर लज्जास्पद जान पड़ती है।

इन सारी मुसीबतों का कारण रसिकलाल था। बाबू साहब को इसका काफ़ी प्रमाण मिल चुका था। बाबू साहब अभिमानी आदमी थे। हृदय को कड़ी चोट पहुँची। क्रोध से काँपने लगे। दिन-भर खून का घूँट पीते रहे। वह उदार-हृदय न थे; उन्होंने क्षमा का पाठ न पढ़ा था। उनका हृदय बदला माँगता था। वह सारे दिन भाँति-भाँति के मंसूबे बाँधते रहे।

संध्या बीत गई। निशा-सुंदरी का आगमन हुआ। बाबू साहब उठे, जल्दी-जल्दी कपड़े पहने, और जेब में एक रिवाल्वर छिपाकर निकल पड़े। उनके मुख पर वह गंभीरता थी, जो किसी विकट संकल्प के पश्चात् व्यक्त होती है। न क्रोध था, न उद्विग्नता। बाबू साहब निर्जन, अँधेरी सड़कों से होते हुए क्लब की ओर जा रहे थे। जहाँ कोई आदमी दिखाई देता, वृक्षों की आड़ में छिप जाते। क्लब के सामने पहुँचकर वह एक वृक्ष के नीचे अँधेरे में खड़े हो गए। क्लब के अहाते में और उसके सामने की सड़क पर इधर-उधर मोटरें और गाड़ियाँ खड़ी हुई थीं। वह संकल्प-विकल्प की दशा में बड़ी देर तक वहीं खड़े रहे। सोचते थे, जाऊँ कि न जाऊँ। इस समय जाना उचित नहीं जान पड़ता। कहीं किसी ने देख लिया, तो? इसके लिये एकांत चाहिए।



सहसा पन्नालाल तमंचा ताने कमरे में घुसे

आधी रात बीत गई। गाड़ियाँ और मोटरें एक-एक कर चली गईं। सड़क सुनसान हो गई। उन्होंने दूर तक नज़र दौड़ाई, कोई आता दिखाई न दिया। धीरे-धीरे फाटक के अंदर घुसे, और वाटिका के घोर अंधकार में विलीन हो गए।

क्लब के एक कमरे में रसिकलाल अपने मित्रों के साथ बैठे थे। सामने मेज़ पर ताश, शराब की बोतल और एक प्याला था। सहसा पन्नालाल तमंचा ताने कमरे में घुसे, और रसिकलाल की मित्र-मंडली घबराकर इधर-उधर भगी। पन्नालाल ने तुरंत भीतर से किवाड़ बंद कर लिए। यह कार्यवाही इतनी शीघ्रता से हुई कि रसिकलाल को सावधान हो जाने का अवकाश ही न मिला। किंतु वह पुराना घाघ

था। उसे एक क्षण में स्थिति का ज्ञान हो गया। उसने नैराश्य-पूर्ण दृष्टि से एक बार बंद किवाड़ की ओर देखा, फिर बाबू पन्नालाल के उग्र रूप पर नज़र डाली। पन्नालाल के आग्नेय नेत्र उस भट्टी की तरह जल रहे थे, जो लोहा तक भस्म कर सकती है! बचाव का कोई साधन न था। उलझने में कुशल न थी। उसने कार्य-क्रम निश्चित कर लिया। जानता था, क्रोध के सामने नम्रता ही काम आती है। आग आग से नहीं, शीतल जल से ठंडी होती है।

पन्नालाल ने क्रोधोन्मत्त होकर कहा—रसिकलाल, मौत तुम्हारे सिर पर खेल रही है।

रसिकलाल (उदासीनता से)—हाँ, देख रहा हूँ।

"तो बचने का कोई उपाय करते हो?"

"मौत का इलाज ही क्या है।"

"तो तुम मौत के लिये तैयार हो?"

"मौत तैयारी के लिये समय कब देती है। उसे हमारी सम्मति या विरोध से क्या प्रयोजन?"

"तुम्हें क्या इस असामयिक मृत्यु से दुःख न होगा।"

"मैं आपके प्रश्न का आशय नहीं समझा। मेरी ज़ात से किसी का फ़ायदा ही क्या था कि मुझे अफ़सोस हो। हाँ, मेरी मृत्यु से समाज को लाभ अवश्य होगा।"

रसिकलाल ने अपने को तिरस्कृत करना कार्य-सिद्धि का उपयुक्त साधन समझा; किंतु वह पन्नालाल को धोखे में न डाल सका। रसिकलाल की बातें कितनी सत्य थीं; पर यह पश्चात्ताप न था, कौशल-जाल था।

पन्नालाल ने तिरस्कार-पूर्ण भाव से कहा—रसिकलाल तुम्हारी चाल मुझसे चल नहीं सकती। अपनी करतूतों पर परदा डालना चाहते हो?

"पर्दा, डाल तो नहीं, फ़ाश कर रहा हूँ।"

"तुम गली-गली मेरी बुराई करते फिरे?"

"इतना ही नहीं, उस रात को आपका दस हज़ार हमीं लोगों ने हड़प लिया, और कितनी ही बार आपको ऐसा ही धोखा दिया।"

रसिकलाल अभी तक निराश नहीं हुआ था। वह समझता था कि स्पष्टवादिता काम दे जायगी; किंतु पाँसा उलटा पड़ा। पन्नालाल के क्रोध में घृणा आ गई। यह कपट, यह धूर्तता!

पन्नालाल—तो मेरा शक ठीक निकला। रसिकलाल, तुम्हें याद है, मैंने तुम्हारे साथ कितनी नेकियाँ की हैं?

"हाँ, और यह भी जानता हूँ कि उनका बदला मैंने विश्वासघात से दिया। पर बाबू साहब मेरे विश्वासघात से बढ़कर आपका कोई उपकार नहीं हो सकता था।"

"कैसे? क्या नेकियों का बदला विश्वासघात है?"

"मैंने आपकी आँखें खोल दीं, और दिखा दिया कि हर कसोनाकस मित्र बनने-योग्य नहीं होता।"

पन्नालाल पिस्तौल का खटका दबाना ही चाहते थे कि उनके हृदय में प्रश्न उठा—क्या नेकी का यही बदला है? रसिकलाल को तो उपदेश देते थे, अब स्वयं वही कर रहे हो। इतने में बाहर से किसी के गाने की आवाज़ आई—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय;
जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय।

गानेवाला संगीत का कोई निपुण ज्ञाता तो न जान पड़ता था; परंतु गाने में स्वर की कमी न थी। अलंकार का कहीं नाम न था, पेंसिल का ख़ाका था, किंतु चतुर, नाजुक उँगलियों द्वारा खिंचा हुआ। बाबू पन्नालाल का ध्यान स्वर-माधुर्य से पदों के गूढ़ भावों पर गया।

उन्होंने कितनी ही बार ये भाव-पूर्ण पंक्तियाँ सुनी थीं; परंतु कभी इतना असर न हुआ था, उनमें कोई विशेषता न दिखाई देती थी। आज उन्हीं सरल पंक्तियों में मानव-स्वभाव की दार्शनिक मीमांसा दिखाई दी। उनके हाथ से पिस्तौल छूटकर गिर पड़ा। मैं दूसरे के अवगुणों का राग अलापता फिरता हूँ। कभी अपने गरेबाँ में भी मुँह डालकर देखा? अपनी अधोगति का कारण मैं स्वयं हूँ। फिर दूसरों पर दोषारोपण क्यों करता हूँ? उनके जी में आया कि रसिकलाल के चरणों पर गिर पड़ूँ, किंतु अभी उनमें आत्मबल की कमी थी। उन्होंने कहा—रसिकलाल, तुम निर्दोष हो, यह सारा विष मेरा ही बोया हुआ है। जैसा बोया था, वैसा काटूँगा!

बाबू पन्नालाल बाहर निकल गए। रसिकलाल का मुख विजय-गर्व से चमकने लगा। उसकी समझ में उसकी जीत उसकी चालाकी और मानव-स्वभाव के ज्ञान के कारण हुई थी।

(७)

बाबू पन्नालाल का क्रोध ग्लानि में परिणत हो गया। आत्मा पर विषय-वासना की बरसों से जमी हुई कालिमा धुल गई। शत्रु के परास्त होते ही आत्मा ने सिर उठाया। आज वह उग्र रूप धारण किए हुए थी। उसने सहस्र-

मुखों से धिक्कारना आरंभ किया—मैंने पहले ही चेतावनी दी थी। बार-बार कहती रही—देखो, सीधी राह चलो ; पर तुमने मेरी अवहेलना की, मेरी बात पर कान न दिया। आज उसी का फल भुगत रहे हो। धन गया, ऐश्वर्य गया, मान गया, मर्यादा गई ! अब किसके बल पर चलोगे ? संसार में कैसे सिर उठाकर चलोगे ? क्या इसीलिये पैदा हुए थे कि जन्म-भर पाप की कमाई करो, और अंत में उसी की गठरी बाँधे चले जाओ ? तुमने न अपना भला चेता, न दूसरे का। जीना निरर्थक हुआ।

बाबू साहब क्लब के बाहर यों चले जा रहे थे, मानो कोई अभियुक्त अदालत से आजन्म कारावास का दंड पाकर बंदीगृह की ओर यह सोचता हुआ जा रहा हो कि इस तरह कुढ़-कुढ़कर जीने से तो मर जाना अच्छा है ! आँखों में अँधेरा छाया हुआ था, किंतु अंतर्दृष्टि दिव्य थी। सड़क पर लालटेनें अब भी रोशन थीं। आँखें देखकर भी न देखती थीं, किंतु अंतर्दृष्टि वह देख रही थी, जो आँखों को देखना नसीब न हुआ था। बाह्य नेत्रों में नैराश्य का अंधकार था, पर अंतर में चेतना का प्रकाश। बाबू साहब इसी दशा में चले जा रहे थे कि सहसा फिर किसी के गाने की आवाज़ आई—

मन, तू बिरथा मति पछितावे।

बाबू साहब ने चौंककर देखा। सामने एक क्षीण-काय, दुर्बल भिखारी लाठी टेकता हुआ चला आ रहा था। आवाज़ में वही लोच थी, वही माधुर्य था। बाबू साहब आगे बढ़े, और भिक्षुक के समीप जाकर उसके हाथ में दो रुपए रख दिए। फ़क़ीर ने उन्हें गौर से देखा, और कहा—भगवान् कल्याण करें। पर बाबा, ये रुपए क्या होंगे ! मुझे तो दो-चार पैसे बहुत हैं।

बाबू साहब को आश्चर्य हुआ। किसी भिक्षुक का रुपए पाकर लेने से इनकार करना कोई साधारण बात न थी। उन्होंने पूछा—तुम्हें आपत्ति क्या है ?

फ़क़ीर—रुपया लेना अपनी शामत बुलाना है। आज रुपया ले लूँ, कल आलस आ घेरेगा। पापी मन बड़ा चंचल है—नशा-पानी की सूझेगी, गाँजा-चरस की धुन लग जायगी। हौसला बढ़ता ही जायगा। मुद्दत का कियाधरा मिट्टी में मिल जायगा। बाबा, मुझे बरसों की कमाई छिन में गँवाना मंजूर नहीं।

बाबू साहब फ़क़ीर को प्रशंसा की दृष्टि से देख रहे थे, और अपनी उससे तुलना कर रहे थे—यही आत्मसंयम है, यही मनोविराग है। यह कितना महत् है, मैं कितना क्षुद्र। फ़क़ीर ने कुछ सोचकर फिर कहा—बाबा, आज तो आप दे रहे हैं, कल लालच बढ़ेगी, तब क्या होगा ? चोरी-चमारी की सूझेगी।

बाबू साहब ने परीक्षार्थ कहा—यदि महीनों के थके-माँदे शरीर को दो-चार दिन आराम मिल जाय, तो क्या हर्ज है ?

"फ़क़ीर का चलता रहना ही अच्छा। परिश्रम ही उसका विश्राम है। तालाब और गढ़ों में जल जमा हो जाता है ; पर उनमें न प्रवाह होता है, न निकलने का कोई मार्ग। जल सड़ने लगता है, दुर्गंध उठने लगती है। वही हाल आलसी आदमी का है। वह बुराइयों का घर होता है। अपना तो सर्वनाश करता ही है, दूसरों को भी ले डूबता है। रही दो-चार दिन की बात। सो कलाई पाते ही पहुँचा पकड़ लेना मनुष्य का स्वभाव है।"

फ़क़ीर कोई मामूली भिखारी न था। उसकी सरल बातों में बाबू साहब को विचित्र आत्मिक शांति प्राप्त हो रही थी। उन्होंने पूछा—तो क्या ऐसे आदमी का जीना बेफ़ायदा है, जिससे दुनिया की भलाई के बदले बुराई हो ?

"हाँ, ऐसे जीवन का अंत हो जाना ही अच्छा।"

"तो फिर ऐसे आदमी को आत्महत्या कर लेनी चाहिए ?"

"नहीं, आत्महत्या हमें पापों के दंड से मुक्त नहीं कर सकती। किसी मकान की दशा जब बिगड़ जाती है, दीवारें पोली हो जाती हैं, जगह-जगह लोनी लग जाती है, तो उसे गिराकर फिर उठाते हैं। आत्महत्या से हम शरीर नष्ट कर सकते हैं, किंतु पुनर्जीवन का साधन हमारे हाथ नहीं रहता। जीवन का संबंध हमारे कर्मों से है। अपने पूर्व के किए हुए बुरे कर्मों को भुला देने और नई पाक ज़िंदगी शुरू करने से ही हमारे दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त हो सकता है।"

इतना कहकर फ़क़ीर ने रुपए बाबू साहब के हाथ में रख दिए, और आगे बढ़ गया। बाबू साहब वहीं मूर्तिवत् खड़े रहे। मस्तिष्क में सहस्रों विचार उठ रहे थे। सामने दो रास्ते थे—जीवन और मृत्यु। जीवन कठिन था, मृत्यु आसान। एक में आए दिन झगड़े थे, दूसरे में एक डुबकी और बेड़ा पार।

बाबू साहब कठिनाइयों के लिये तैयार न थे, इन्हीं तरंगों में झूल रहे थे।

सामने की सड़क गंगा-तट की ओर जाती थी। आपने यही राह पकड़ी, और आध घंटे में गंगा-तट पर पहुँच गए। अंधकार के परदे में नदी का जल कल-कल-नाद कर रहा था, मानो काले बादलों में छिपा हुआ मेह शोर मचा रहा हो! बाबू साहब का दिल दहल गया, पर साहस कर जल के अंदर घुसे। दो ही एक क़दम गए होंगे कि हिम्मत छूट गई। पानी कमर तक आ गया था। उनका हृदय अज्ञात शंका और भय से काँप उठा। न-जाने मौत के बाद क्या होता है, क्या-क्या यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं। इसी समय उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो वही फ़क़ीर हाथ में लाठी लिए खड़ा कह रहा है—आत्महत्या तुम्हें पापों के दंड से मुक्त नहीं कर सकती।

बाबू साहब के हृदय से एक बोझ-सा उठ गया। जल से बाहर निकल आए, और सोचने लगे—क्या करूँ? क्या घर लौट चलूँ? पर अब वहाँ क्या रक्खा है? फ़क़ीर की बात ही ठीक मालूम होती है। अच्छा, आज से नई ज़िंदगी शुरू करूँगा।

इस निश्चय के साथ ही उनके हृदय में विचित्र शांति आ गई। वह वहीं आँखें बंद कर बैठ गए, और शांति-मय आनंद का रस लेने लगे।

(८)

बाबू पन्नालाल के सुपुत्र हीरालाल विलायत में विद्या-ध्ययन करते थे। बैरिस्टरी की परीक्षा में अभी सात महीने की देर थी। हीरालाल के ख़र्च के लिये पिता के पास से प्रति मास २००) जाया करते थे। पिछले कई महीनों से कुछ नहीं आया था। हीरालाल बड़ी चिंता में पड़े हुए थे।

इसी समय हीरालाल को पिता का एक पत्र मिला। पत्र क्या था, एक गुम-राह जीवन का विस्तृत इतिहास था, वर्तमान समाज का एक भाव-पूर्ण ख़ाका था, अशांत संसार-सागर की विकराल लहरों में पड़ी हुई एक लक्ष्य-हीन जीवन-नौका का करुण चित्र था। पत्र की एक-एक पंक्ति ज्ञान और उपदेश से सराबोर थी। बीच-बीच में स्नेह से सने उद्गार थे। अंत में लिखा था—ये ही पंक्तियाँ एक दरिद्र, सिद्धांत-विहीन पिता अपने पुत्र के लिये छोड़े जाता है। क्या मुझे दुःख है? कदापि नहीं। लोग धन छोड़ते हैं, संपत्ति छोड़ते हैं, और छोड़ते हैं अपनी चिरसंगिनी वासना। मैं न धन छोड़े जाता हूँ, और न संपत्ति; वासना भी नहीं छोड़े जा रहा हूँ, जो तुम्हें अपना दास बना सके। मैं तुम्हें एक समृद्धिशाली रईस की हालत में नहीं छोड़े जा रहा हूँ, जो चिराय इंद्रियों का दास बना रहता है। तुम्हारी दशा उस निरावलंब, किंतु साहसी, वीर सिपाही की-सी है, जिसे अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी है। पुरुषार्थ, धैर्य, उत्साह सिपाही के वे अस्त्र-शस्त्र हैं, जिनके सामने पहाड़ भी नतमस्तक हो जाता है। किंतु बेटा, पुरुषार्थ चाहे जवाब दे जाय, धैर्य चाहे छूट जाय, उत्साह चाहे भंग हो जाय, परंतु चरित्र पर कदापि धब्बा न आने देना। यदि चरित्र निष्कलंक है, तो सभी बातें वापस मिल सकती हैं। इस आदेश पर चलोगे, तो मैदान तुम्हारे हाथ रहेगा। अब तुमसे कभी भेंट न होगी। मैं रण से भागा हुआ कायर सिपाही हूँ। मुझे सिवा डूब मरने के दूसरा उपाय नहीं। किंतु इसके लिये शोक न करना। सच्चे सिपाही के लिये हर्ष और विषाद, दुःख और सुख, दोनों समान हैं। वह न जय में उन्मत्त होता है, न पराजय में हिम्मत हारता। पराजय में उसकी विजय होती है। वह जीत में तो लड़ाइयाँ जीतता है, और हार में अपनी कमज़ोरियों को। मेरी यही अभिलाषा है कि तुम नीति-कुशल सिपाही बनो।

हीरालाल के हृदयाकाश पर शोक की घटा उमड़ आई, अश्रु-वृष्टि होने लगी। उनका मर्मस्थल विदीर्ण हो गया। वह बचपन ही में मातृ-स्नेह से वंचित हो चुके थे; पिता से भी आज नाता टूट गया। बिलख-बिलखकर रोने लगे।

शोक का वेग कम होते ही उन्होंने फिर पत्र पढ़ना शुरू किया। एक-एक शब्द में उन्हें भावों का विचित्र समावेश दिखाई देता था। उनके नेत्र उस पंक्ति पर जम गए—"सच्चे सिपाही के लिये हर्ष और विषाद, दोनों समान हैं। वह न जय में उन्मत्त होता है, न पराजय में हिम्मत हारता।" उन्हें ऐसा जान पड़ा, मानो कोई निर्मोही, विरागी, जीवन-संग्राम का कोई रण-कुशल सिपाही यह वाक्य दोहरा रहा हो। उनके नेत्र सजल हो गए; किंतु इन आँसुओं में शोक और वेदना की मलीनता नहीं, भक्ति और अनुराग की विमल ज्योति

थी—नयन-नीर पर कुहरे की चादर न थी, प्रकाश की किरणें मुस्किरा रही थीं। पत्र समाप्त होते-होते उनके हृदय में उत्साह का संचार हुआ, रगों में स्फूर्ति दौड़ने लगी, युगल बाहु फड़कने लगे। उनके मन की दशा उस उत्साही यात्री की-सी थी, जो सामने पहाड़ तो देखता है, पर साथियों से कहता है—अभी मिनटों में पहाड़ की चोटी पर पहुँचे जाते हैं।

परंतु जीवन-संग्राम इतना सहज नहीं, जितना समझा जाता है। बाबू हीरालाल तन्मय होकर काम ढूँढ़ने लगे। उन्हें ऐसे काम की तलाश थी, जो उच्च श्रेणी का आदमी कर सके। पाश्चात्य देशों में ऐसे लोगों का गुज़र नहीं, जो मज़दूरी की महत्ता नहीं जानते। वहाँ श्रमजीवी ही सफल सैनिक समझा जाता है, दफ़्तर का बाबू नहीं। अंत में हीरालाल के मिथ्याभिमान ने श्रम-प्रेम के सामने सिर झुकाया। उन्हें साबुन बनाने के एक कारख़ाने में काम मिल गया। उनके अध्यापक उनका सदुत्साह देखकर अत्यंत प्रसन्न हुए, और उन्हें हर तरह की सहायता देने लगे।

हीरालाल जब घर लौटे, तो उस यात्री की अवस्था में, जो चिरयात्रा के बाद घर लौटने पर स्वयं अपने घर में बेगाना मालूम होता है। न अपना घर ही था, न वे पुरानी बातें। जिस घर को घर समझते थे, उस पर दूसरे का आधिपत्य था। किंतु युवा सैनिक अधीर न हुआ। परिश्रम और निरंतर उद्योग ने उन्हें अच्छा फल दिया। उनका सितारा उरूज पर था। लक्ष्मी की कृपा-दृष्टि हो गई। हीरालाल प्रयाग के नामी वकीलों में गिने जाने लगे।

(६)

प्रातःकाल का समय था। सेठ रामसरनदास बैठक में बैठे काग़ज़-पत्र उलट-पलट रहे थे। नौकर ने एक कार्ड लाकर सामने रख दिया। बाबू हीरालाल मिलने आए थे। सेठजी बाहर निकल आए, और उचित शिष्टाचार के बाद उन्हें अंदर ले जाकर बिठाला।

रामसरनदास—कहिए महाशय, कैसे कृपा की ?

"एक ख़ास काम के लिये आया हूँ। मेरे पिता बाबू पन्नालाल पर आपका चार लाख रुपए का ऋण था। मैंने काग़ज़ात देखे हैं। आपको केवल दो लाख वसूल हुए थे। मैं अपने पिता का क़र्ज़ चुकाने आया हूँ। यह लीजिए।"

हीरालाल ने नोटों का एक पुलिंदा निकाला, और रामसरनदास के सामने रख दिया। सेठजी विस्मय और प्रशंसा की दृष्टि से देखते हुए बोले—मेरा आप पर क़ानूनन् कोई हक़ नहीं है।

"क़ानूनन् न सही, नैतिक तो है। मेरे पिता की आत्मा कभी शांत नहीं हो सकती, जब तक यह ऋण अदा न हो जाय।"

"आपका ख़याल ग़लत है। मैं उनका ऋणी हूँ, वह मेरे नहीं। वह मेरे मित्र थे। सच पूछिए, तो मैं उन्हीं का बनाया हुआ हूँ। दुष्टों के बहकाने में पड़कर मैंने उनका जो अपकार किया, उसका मुझे उम्र-भर दुःख रहेगा। मैं रुपए नहीं ले सकता।"

"नहीं, आपको लेना चाहिए—मेरे इतमीनान के लिये लेना चाहिए।"

"मैं लेने के लिये बाध्य नहीं हूँ, लेकिन अगर आप मजबूर करते हैं, तो लाइए, किसी धर्म-कार्य में लगा दूँगा।"

"आप जो चाहें कीजिए। मेरा कर्तव्य पूरा हो गया।"

"मेरे यहाँ एक साधु आए हैं। आइए, आपको दर्शन कराऊँ। सच्चे विरागी हैं, कोई धूर्त-लपट नहीं। क्षमा की साक्षात् मूर्ति हैं। गार्हस्थ्य जीवन में मैंने उनका बड़ा अपकार किया था। चाहिए तो यह था कि मुझसे वैमनस्य रखते, लेकिन साधु हो, तो ऐसा। एक दिन मैं नदी में स्नान करने गया था। मैं तैरना नहीं जानता। सहसा मेरा पैर उखड़ा, और मैं डूबने लगा। किंतु इन्हीं महात्मा की दया से आज जीवित हूँ।"

हीरालाल फ़क़ीर-परस्त न थे, किंतु इस वृत्तांत ने उनके हृदय में श्रद्धा उत्पन्न कर दी। सेठजी ने द्वार खोला। सामने एक सुंदर वाटिका थी। एक वृक्ष के साए में, तख़्त पर, मृगचर्म बिछा हुआ था। उसी पर बैठे स्वामीजी स्वाध्याय में लीन थे। रामसरनदास ने कहा—यही वह महात्मा हैं। आप स्वामी परमानंद हैं।

हीरालाल साधु को ध्यान से देखने लगे। सहसा वह झपटे, और स्वामीजी के चरणों में गिर पड़े। संन्यासी की आँखें भर आईं। स्नेह-विह्वल होकर उन्होंने हीरालाल को हृदय से लगा लिया।

हीरालाल आँखों में आँसू-भरे मुसकिराते हुए बोले—आपने मुझे बताया तक नहीं कि आप जीवित हैं। मैं कितना धोखे में था।

"बेटा, मेरे पूर्व जीवन का अंत हो गया। वह तो नई यात्रा है। उस जीवन के साथ-साथ उसके संबंधियों से भी नाता टूट गया। मैंने वे सभी बातें त्याग दीं, जिनके कारण मुझे उन गए-बीते दिनों की याद आती थी।"

"तो क्या आपने मुझे भी त्याग दिया।"

"मैं समझता तो ऐसा ही था; परंतु मुझे आज ज्ञात हुआ कि मेरा हृदय अभी मोह-रहित नहीं हो पाया।"

रामसरनदास—लीजिए स्वामीजी, कठिनाई हल हो गई। अनाथालय के लिये खासी दो लाख की रक़म मिल गई।

"किसने दी?"

"बाबू हीरालाल ने।"

"नहीं, मैं ये रुपए नहीं ले सकता।"

हीरालाल—मेरे रुपए नहीं, सेठजी के हैं।

स्वामी जी—सेठजी, यद्यपि मोह संन्यासी के लिये क्षम्य नहीं, तथापि ऐसे पुत्र का प्रेम किसी साधु के अभिमान की बात हो सकती है। हीरा, तुम सच्चे सिपाही हो। तुमने युद्ध-नीति का वास्तविक मर्म समझा।

हीरा की आँखें नीची हो गईं। निस्स्वार्थ, उदार आदमी को अपमान से अधिक प्रशंसा लज्जित कर देती है। उदार आदमी वह कोमल पुष्प है, जो पत्तों की झुर्मुट में छिपे-छिपे सुगंध फेंकता है, किंतु गुलदस्ते में लगकर कुम्हला जाता है! न वह सुगंध रह जाती है, और न वह ताज़गी। वह अंधकार में चमकनेवाला तारा है, जो सूर्य के प्रकाश में मंद पड़ जाता है!

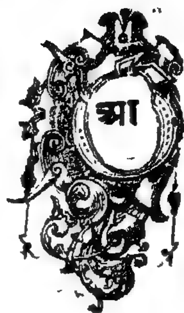
स्वामीजी हीरालाल के मन का भाव ताड़ गए। उनके हृदय में हीरा के प्रति स्नेह के स्थान पर श्रद्धा का विकास हुआ!

राजेश्वरप्रसादसिंह

कोरिया की दुःख-गाथा

"There is blood that is silent, and blood that cries aloud. The blood of the battle field is drunk in secret by the Earth, the peaceful blood that is shed rises moaning towards the heavens, God receives and avenges it."

"Chateaubriand."



आज हम पाठकों को स्वतंत्रता की बलि-वेदी पर एक अभागे और परतंत्र देश के आत्म-बलिदान की दुःख-गाथा सुनाना चाहते हैं। गत योरपीय महायुद्ध समाप्त होने के बाद जब संसार के समस्त परतंत्र राष्ट्रों में स्वतंत्र होने की प्रबल भावना उत्पन्न हुई थी, तब निद्रित एशिया ने भी करवट बदलने के कुछ चिह्न दिखाए थे। ईरान, टर्की, अरब, अफ़ग़ानिस्तान, कोरिया इत्यादि सभी देशों में स्वतंत्रता के लिये आंदोलन उठा था। अफ़ग़ानिस्तान और टर्की ने तो अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली, ईरान भी प्रभाव-क्षेत्र के भयंकर कूप से निकल गया; किंतु अभागा कोरिया, अत्यंत परिश्रम और बलिदान करने पर भी, स्वतंत्रता-देवी को प्रसन्न न कर सका। नीचे के कुछ शब्दों में हम कोरिया की परतंत्रता की कहानी, उससे मुक्त होने के लिये उसके उद्योग और असफलता की दुःखजनक कथा का ही वर्णन करेंगे।

क्षेत्र-फल व जन-संख्या

कोरिया एशिया के पूर्व-उत्तर कोने पर चीन, जापान और रूसी साइबेरिया के बीच में है। इसका क्षेत्रफल ८४,००० वर्ग-मील, लंबाई ६६० मील और चौड़ाई १३० मील है। इसकी आबादी १ करोड़ ७४ लाख १२ हज़ार ८७१ है, जिसमें १८ हज़ार ६७२ चीनी, ४६७ अमेरिकन, २२३ अँगरेज़, १०७ फ्रांसीसी, ४७ जर्मन और ३ लाख ३ हज़ार ६२६ जापानी हैं।

संक्षिप्त इतिहास

कोरिया का इतिहास और उसकी सभ्यता बहुत प्राचीन है। उसका इतिहास ईसवी सन से २,३३३ वर्ष पहले शुरू होता है। इस देश पर विदेशियों के अनेक हमले हुए हैं। सन् १२१८ ई० में चंगेज़ख़ाँ ने इस पर आक्रमण किया था। १५१२ में जापान का भी इस पर हमला हुआ था। किंतु कोरिया-निवासियों ने कुछ समय के भीतर ही इन तमाम विदेशियों को निकालकर अपने देश में अपना राज्य क़ायम कर लिया था। जापान के आक्रमण के पश्चात् बुद्ध-धर्म के प्रचारकों ने यहाँ हिंदू-सभ्यता फैलाई। कोरिया की वर्तमान सभ्यता में आज भी जापान की अपेक्षा हिंदू-सभ्यता का विशेषतर अंश पाया जाता

है। पढ़ना-लिखना, शहर की रक्षा के लिये उसके चारों ओर दीवारें बनाना, जानवरों का इस्तेमाल, लोहे का काम, रेशम बनाना इत्यादि कला-कौशल का ज्ञान इस देश को बहुत प्राचीन समय में हो गया था। कोरिया ने ही जापान को सभ्यता की उपर्युक्त बातों की शिक्षा दी है। कोरिया जापान का गुरु है।

विदेशियों के अनेक आक्रमण होते हुए भी कोरिया पिछले १,५०० वर्षों में बराबर स्वतंत्र रहा है। इस बीच में इसने बड़े-बड़े विद्वान्, तत्त्वज्ञानी, सेनापति, राजनीतिज्ञ और महात्माओं को जन्म दिया है। कोरिया का साधारण व्यक्ति आज भी साधारण जापानी से अधिक साहित्य-प्रिय और सभ्य होता है। हिंदू-सभ्यता और महात्मा कन्फ़्यूशस की शिक्षा के प्रभाव से कोरियन बहुत शांति-प्रिय, मधुर और सुशील होते हैं। इनके जीवन में संयम और पवित्रता पाई जाती है।

कोरिया की दुःख-गाथा सन् १९०४ से शुरू होती है।

दासता का आरंभ

इसी वर्ष रूस और जापान की प्रसिद्ध लड़ाई छिड़ी थी। कोरिया एक ऐसा देश था, जहाँ से होकर ही जापानी रूसियों का मुक़ाबला कर सकते थे। दो प्रबल और परस्पर-विरुद्ध राष्ट्रों के बीच में किसी निर्बल देश का आ जाना बड़ी दुःखजनक बात होती है। जैसे बेलजियम और अलसेस-लोरेन के प्रदेश, पिछले महायुद्ध में, जर्मनी और फ्रांस के बीच में पड़कर नष्ट भ्रष्ट हो गए, वैसे ही कोरिया भी रूस और जापान के युद्ध में अपनी स्वतंत्रता खो बैठा। उसे जापानी सेना को अपनी भूमि पर आने की इजाज़त देनी पड़ी; किंतु कोरिया ने जापान से, इसके पहले, खुली और साफ़ शर्त इस बात की कर ली थी कि जापान अपनी सारी सेना युद्ध के समाप्त होने के बाद तुरंत ही वापस ले जायगा। १९०४ में रूस के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करते हुए भी जापान-नरेश ने वचन दिया था कि कोरिया की स्वतंत्रता और अखंडता क़ायम रखना जापानी साम्राज्य अपना कर्तव्य मानता है। २३ फ़रवरी, १९०४ को जापान और कोरिया में जो अहदनामा हुआ, उसकी तीसरी शर्त स्पष्ट शब्दों में यह थी कि जापान कोरियन साम्राज्य की स्वतंत्रता और अखंडता क़ायम रक्खेगा। सीधे-सादे कोरिया-निवासियों ने जापान की इन्हीं बातों पर विश्वास करके जापान की सेना को अपनी भूमि पर क़दम रखने दिया था। जापान ने अपनी प्रबल सेना को कोरिया में ही संगठित करके रूसियों को हराया; किंतु युद्ध समाप्त होने के बाद जापानी सेना कोरिया से बाहर नहीं निकली। अगस्त, १९०४ में कोरिया को इस बात पर मजबूर किया गया कि वह विदेशों से संधि-विग्रह आदि बिना जापान की सलाह के न करे। एप्रिल, १९०५ में तार, टेलीफ़ोन, डाकख़ाने आदि का सारा प्रबंध जापानियों ने अपने हाथ में ले लिया। १९०५ के अंत में जापान ने कोरिया के राजा को तख़्त से उतारकर उसे बाज़ाब्ता अपने साम्राज्य का एक अंग बना लिया।

शासन की बागडोर हाथ में आते ही जापानियों ने

जापानी शासन

कोरिया को हर ओर से दासता की ज़ंजीरों में मज़बूती से बाँधना शुरू किया। कोरियन धन से जापानी राष्ट्र को समृद्धिशाली बनाने की नीति काम में लाई जाने लगी। जिस समय कोरिया जापानियों के हाथ में आया था, उसका राष्ट्रीय क़र्ज़ केवल ३ लाख ६८ हज़ार २५६ डालर था; किंतु १९१८ के अंत में वह क़र्ज़ बढ़कर ५ करोड़ २४ लाख ६१ हज़ार ८२७ डालर हो गया। प्रजा पर कर की मात्रा भी खूब बढ़ा दी गई। १९०५ में, अर्थात् कोरियन राजा के शासन में, प्रजा से केवल ३५ लाख ६१ हज़ार ९०७ डालर सालाना कर लिया जाता था। १९१९ में यह कर बढ़ाकर १ करोड़ ९८ लाख ४१ हज़ार १२८ डालर कर दिया गया, अर्थात् पहले से साढ़े पाँचगुना। रेल की जितनी सड़कें कोरिया में बनाई गई हैं, वे प्रजा की ज़मीन ज़ब्त करके बनी हैं, और उनके ऊपर काम करने के लिये मज़दूर भी बेगारी में लिए गए हैं। जापानी गवर्न्मेंट, कोरिया में काफ़ी जापानियों को बसा देना और उनको ज़मींदार बनाकर कोरियन किसानों को उनकी दासता में रखना चाहती है। गवर्न्मेंट की सहायता से बड़ी-बड़ी कंपनियाँ बनाई गई हैं, जो कोरियन किसानों से उनकी ज़मीनें ख़रीद लेती हैं। हज़ारों किसान इस तरह बे-घरबार के और व्यवसाय-हीन हो गए, और उन्हें अपना देश छोड़कर साइबेरिया, मंचूरिया आदि में रोटी कमाने के लिये जाना पड़ा।

कोई धनी कोरियन अपना रुपया अपनी इच्छा के अनुसार ख़र्च नहीं कर सकता। हरएक कोरियन सेठ के

ऊपर एक जापानी मुख़्तार मुक़र्रर कर दिया जाता है, जो उसके घर-बार के आमद-ख़र्च का हिसाब रखता और ख़र्च करने के मामले में सलाह देता है। मेजर चू ने पेकिंग में कोरियन बालकों की शिक्षा के लिये एक स्कूल खोला था, और कोरिया से इस स्कूल की धन से सहायता किया करते थे। इनके मुख़्तार साहब ने इस ख़र्च को मुनासिब नहीं समझा; किंतु मेजर चू ने इनकी आज्ञा नहीं मानी। परिणाम यह हुआ कि मेजर चू पर मुक़दमा चलाया गया।

कोई कोरियन बैंक से एक हज़ार 'येन' से ज़्यादा रक़म एकसाथ नहीं निकाल सकता। १९११ में भी किम-सेंग नाम के एक कोरियन सेठ ने सरकारी बैंक में दस लाख येन जमा किए थे। एक दफ़े उसने एक लाख येन निकालना चाहा। बैंक ने चेक वापस कर दिया, और पूछा कि इतना ज़्यादा धन एकदम से निकालने का कारण बताओ। उसने अपील की, पर कुछ सुनवाई न हुई। बाद को उसने इधर-उधर आंदोलन शुरू किया। जापानी सरकार ने उसका सारा धन इस अपराध में ज़ब्त कर लिया!

सरकारी और ग़ैर-सरकारी दफ़्तरों में कोरियन कर्मचारियों को निकाल-निकालकर उनकी जगह जापानी रक्खे जाते हैं। जिन दफ़्तरों में पहले ४०० कोरियन क्लर्क काम करते थे, वहाँ आज ४ भी नहीं दिखाई देते। कोरियन क्लर्क की तनख़्वाह जापानियों की तनख़्वाह की तिहाई रक्खी जाती है, और ऊँची-ऊँची सब जगहें जापानियों को ही मिलती हैं। बैंकों में, कंपनियों में तथा और व्यापारिक संगठनों में भी यही नीति बर्ती जाती है।

कोरिया में जापान की शिक्षानीति भी बड़ी भयंकर है। ये लोग कोरिया-निवासियों को उनके प्राचीन इतिहास से बिलकुल अज्ञ और अशिक्षित रखना चाहते हैं। कोरिया के प्रथम जापानी शासक टिरौची ने इसीलिये अपने शासन के आरंभ में ही कोरियन इतिहास की समस्त पुस्तकें और वीर तथा महान् कोरियनों के जीवन-चरित पुस्तकालयों, स्कूलों और अन्य लोगों के घरों से इकट्ठे कराकर जलवा दिए। कोरिया में कोरियन इतिहास की पुस्तकें क़ानून के ख़िलाफ़ समझी जाती हैं। उनका रखना जुर्म है। इसलिये मकानों की तलाशियाँ होती हैं, और जहाँ कोई कोरियन इतिहास की पुस्तक मिली, ज़ब्त कर ली जाती है, और पुस्तक रखनेवाले को जेल भेज दिया जाता है।

वहाँ का प्रेस-एक्ट भी बड़ा भयंकर है। प्रेस खोलने के पहले इतनी ज़्यादा ज़मानत माँगी जाती है कि छापाख़ाना खोलना बहुत कठिन हो जाता है। फिर छपने की हरएक सामग्री, छपने के पहले, प्रूफ़ की सूरत में, सरकारी अफ़सर के पास मंज़ूरी के लिये भेजनी पड़ती है। सरकारी अफ़सर ज़रा-ज़रा-सी बात पर अख़बारों और किताबों का छपना बंद कर देते और लेखक पर मुक़दमा चलाते या तंबीह करते हैं। किसी ने किपलिंग की बनाई हुई जंगल-बुक का कोरियन भाषा में अनुवाद किया था। उसका छपना इसलिये रोक दिया गया कि उसमें एक जगह हाथी ने अपने दूसरे स्वामी की सेवा से इनकार कर दिया था! सरकारी अफ़सर का एतराज़ यह था कि इससे कोरियनों के बालक अपने विदेशी स्वामी जापानियों की सेवा करने से इनकार करना सीखेंगे। एक अख़बार ने कविता में वसंत का आह्वान किया था। अख़बार की ज़मानत ज़ब्त कर ली गई; क्योंकि सरकारी एतराज़ यह था कि नए वर्ष के जन्म के साथ राष्ट्र के जन्म का ख़याल कोरिया-निवासियों में पैदा होगा, इसलिये यह गवर्नमेंट के ख़िलाफ़ विद्रोह फैलाने के बराबर है। एक धार्मिक पुस्तक में कोरियन लोगों को उपदेश दिया गया था कि शैतान को अपने अंदर से निकालना चाहिए। पुस्तक ज़ब्त कर ली गई, और लेखक महाशय को तंबीह की गई। जापानी अफ़सर ने उसका यह अर्थ लगाया कि शैतान जापानियों के लिये कहा गया है। लेखक ने बहुत उज्र किया कि यह बात नहीं है; किंतु अंतिम फ़ैसला वही रहा, और यह हुक्म हो गया कि शैतान के निकालने की बात किसी किताब में न छापी जाय!

कोरिया के प्रथम जापानी शासक जनरल टिरौची का यह सिद्धांत था कि कोरिया-निवासी या तो जापानी राज्य के सामने सिर झुकावें, नहीं तो हम उनका नाश कर देंगे—"The Korean must submit to our rule or perish." जापानियों का उद्योग यह है कि कोरिया-निवासी अपनी राष्ट्रीयता भूल जायँ, और अपनी सभ्यता भूलकर जापानी राष्ट्र और सभ्यता में लुप्त हो जायँ। इसलिये उनकी सभ्यता नष्ट करने के हरएक प्रकार के यत्न किए जाते हैं, और कोरियनों को अपने रंग में ढालने का उद्योग होता है।

कोरियन भाषा की जगह जापानी भाषा राज-भाषा कर दी गई है। सरकारी स्कूलों में जापानी भाषा ही के ज़रिए शिक्षा दी जाती है। कोरियन भाषा या साहित्य की उन्नति का कोई प्रबंध नहीं। शहरों के प्राचीन नाम बदल-बदलकर नए जापानी नाम रक्खे गए हैं। कोरिया का नाम योसन और उसकी राजधानी सिओल का नाम काईज़ रक्खा गया है। इसी तरह अनेक शहरों के जापानी नाम रक्खे गए हैं। कोरियन सरकारी अफ़सर, जो शासन-प्रबंध में ऊँचे-ऊँचे पदों पर काम करते थे, अपनी-अपनी जगहों से हटा दिए गए और सारी ऊँची-ऊँची जगहें जापानियों को दी गई हैं। इतना ही नहीं, जापानियों की, शासन-विभाग से, ज़रूरत से ज़्यादा परवरिश की जाती है। हिंदुस्थान की शासन-मशीन केवल १,२०० अँगरेज़ों से चल रही है; किंतु कोरिया में १७,००० जापानी शासन-विभाग में काम करते हैं। जहाँ कहीं कोई कोरियन अफ़सर मुक़र्रर भी किया गया, वहाँ उसके साथ एक जापानी सलाहकार (Advisor) भी मुक़र्रर होता है, जिसकी राय के ख़िलाफ़ वह कोई काम नहीं कर सकता। अगर करे, तो अपनी जगह से बरख़ास्त कर दिया जाता है।

पुलीस सारी-की-सारी जापानियों की है, और उसके अख़्तियारात बेइंतिहा ज़्यादा हैं। पुलीस बिना मैजिस्ट्रेट की इजाज़त के सिर्फ़ शुबहे पर तलाशी ले सकती और स्वयं ही बिना मुक़दमा चलाए सज़ा भी दे सकती है। सबूत इकट्ठा करने के लिये पुलीस मुल्ज़िम को मार-पीट भी सकती है। दुनिया के और मुल्कों का तो यह क़ायदा है कि जब तक अभियुक्त के ख़िलाफ़ जुर्म साबित न किया जाय, वह निर्दोष समझा जाता है; किंतु कोरिया में यह नियम रक्खा गया है कि जिसे पुलीस ने पकड़ लिया, वह दोषी तो उसी समय हो गया। अब अपनी निर्दोषिता का प्रमाण देना अभियुक्त का काम है। ज़्यादातर मुक़दमे पुलीस ख़ुद ही फ़ैसल कर देती है, और अभियुक्त न्यायालय तक पहुँचने भी नहीं पाता, जैसा कि नीचे के अंकों से पता चलता है—

सन्	कुल मुक़दमे	पुलीस ने ख़ुद सज़ा दे दी
१९१३	३६,९९३	२१,४८३
१९१४	४८,७६३	३२,३३३
१९१५	५६,४३६	४१,२३६
१९१६	८१,१३४	५६,०१३

ऐसी भयंकर स्थिति में कोई भी क़ौम अपनी वीरता और आत्मसम्मान क़ायम नहीं रख सकती। पुलीस के अत्याचारों से, राष्ट्रीय धन के प्रति वर्ष भारी ह्रास से, नित्य-प्रति दासता की अनेक यातनाओं से परतंत्रता की बेड़ियों में फँसी हुई कोरियन क़ौम भी बहुत जल्द बेताब हो गई। देश के हितचिंतकों ने स्पष्ट देख लिया कि जापानी लोग कोरियन राष्ट्र और कोरियन सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट करने का उद्योग कर रहे हैं। इसलिये उन्हें मालूम हो गया कि यदि कोई यत्न शीघ्र ही न किया गया, तो कोरियन क़ौम जल्द ही नाश को प्राप्त हो जायगी।

कोरिया और जापान का राष्ट्रीय चरित्र

कोरिया-निवासियों में जापान की अपेक्षा हिंदू और बौद्ध-सभ्यता का अधिक प्रचार है। उनका जीवन पवित्र और सरल होता है। उनके समाज में सदाचार पर विशेष ज़ोर दिया जाता है। पातिव्रत कोरियन महिला का अमूल्य भूषण है। इनका नैतिक जीवन महात्मा कन्फ्यूशस के नैतिक नियमों के ढाँचे में ढला है। विदेशी इनकी सच्चरित्रता और शुद्धता पर तुरंत ही मोहित हो जाता है। १८वीं शताब्दी के एक अँगरेज़ यात्री ने कोरिया की दशा निम्न-लिखित शब्दों में बयान की है—"कोरियनों के व्यवहार बहुत ही संयत हैं। चोरी और व्यभिचार इनके यहाँ नाम-मात्र को नहीं पाया जाता। यहाँ रात को मकान या दूकान के दरवाज़े बंद नहीं किए जाते। हालाँकि संसार की गति से कोरिया-निवासियों की पुरानी शुद्धता और पवित्रता अब उतनी क़ायम नहीं है, लेकिन आज भी कोरिया का राष्ट्र बहुत-से राष्ट्रों के लिये सच्चरित्रता में आदर्श है।"

इसके विपरीत जापानियों में इंद्रिय-लोलुपता बहुत है। जापान में विलास-प्रियता ज़्यादा है। ये लोग युद्ध-प्रिय हैं। साहित्य और तत्त्वज्ञान की चर्चा इनमें कम है। शुद्धता और पातिव्रत का भूषण जापानी महिला के लिये एक विदेशी चीज़ है। विवाहित अवस्था में स्त्री के जीवन में ज़रूर कुछ संयम की आशा की जाती है, किंतु अविवाहित अवस्था में स्वैरिणी होना बुरा नहीं समझा जाता। पुराने ज़माने में, अर्थात् सौ-पचास वर्ष पहले, जापानी कन्याएँ कुटुंब की दरिद्रता को दूर करने के लिये, माता-पिता की वृद्धावस्था में आर्थिक सहायता कर सकने के लिये, स्पष्ट रूप से वेश्यावृत्ति कर लेती थीं। आज-

कम भी बहनें अपने भाइयों को कॉलेज की उच्च शिक्षा दिलाने के लिये कहीं-कहीं उपर्युक्त वृत्ति ग्रहण कर लेती है। सामाजिक जीवन में ऐसे कुटुंब या व्यक्ति किसी प्रकार पतित नहीं समझे जाते। आज भी जापान में व्यभिचारी जीवन मनुष्य के सम्मान में रत्ती-भर बाधा नहीं डालता। इंपीरियल युनिवर्सिटी के एक भूतपूर्व प्रेसिडेंट, जापान के मुख्य नेता और तत्त्वज्ञ ने एक पुस्तक लिखी है, जिसमें व्यभिचार को निर्दोष और निष्पाप कर्म सिद्ध किया है। आधुनिक जापान के प्रसिद्ध और परम विख्यात नेता प्रिंस आइतो के संबंध में कहा जाता है कि वह दिन तो शासन-संबंधी काम में और रात्रि निंदित कार्यों में व्यतीत किया करते थे। एक योरोपियन ने एक दिन इनसे प्रश्न किया कि क्या आपके इस प्रकार जीवन व्यतीत करने का आगामी संतान पर बुरा प्रभाव न पड़ेगा? और, क्या जापानी नवयुवक इससे बुरा उदाहरण न सीखेंगे? प्रधान मंत्री प्रिंस आइतो ने उत्तर दिया कि मैं अपना प्रधान मंत्री का पद त्याग सकता हूँ, अपनी पार्टी का नेतृत्व भी छोड़ सकता हूँ; किंतु अपनी विलासिता को कदापि नहीं।

असल बात यह है कि जापानी इस प्रकार के जीवन को बुरा नहीं समझते। इसलिये अपने अधीन देशों में भी अपनी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार ही परिस्थिति पैदा करते हैं। जापान के अधीन होने के पहले कोरिया में वेश्याएँ नहीं पाई जाती थीं; किंतु जब से जापानी आए, कोई शहर ऐसा नहीं, जहाँ सौ-पचास वेश्याएँ न हो गई हों। जापानी लोग कुछ वेश्याएँ अपने साथ लाए थे, और कुछ कोरिया में पैदा की गई हैं। जापानी व्यापारी दस-पंद्रह वेश्याओं की मंडली बनाकर गाँव-गाँव, क़स्बे-क़स्बे फिरते और इस तरह व्यभिचार का प्रचार करके धन कमाते हैं। एक सच्चरित्र राष्ट्र के लिये जहाँ पवित्रता और सदाचार को इतना महत्त्व दिया गया हो, वहाँ उपर्युक्त परिस्थिति निस्संदेह दुःख-मय और अत्यंत संतापजनक है।

स्वतंत्रता के लिये उद्योग

कोरियन देश-सेवकों से यह राष्ट्रीय अधोगति बहुत दिनों तक देखी न जा सकी। इस-लिये उन्होंने जापानी शासन के विरुद्ध बहुत जल्द आंदोलन शुरू कर दिया। सच तो यह है कि जब से जापान ने कोरिया पर क़ब्ज़ा किया है, कोरिया-निवासी एक-न-एक जगह विद्रोह करके अपने स्वतंत्रता प्रेम का प्रमाण देते ही रहे हैं। १९०७ में जापान-गवर्नमेंट ने कोरिया की पुरानी राष्ट्रीय सेनाओं को तोड़ दिया। उस समय पेक नाम के सेनापति की पल्टन ने हथियार नहीं दिए, और अपने से दस-बीसगुने जापानी सिपाहियों के होते हुए भी ग़दर कर दिया। जब तक इस पल्टन का एक-एक सैनिक समर-भूमि में लड़ते-लड़ते सदा के लिये सो नहीं गया, लड़ाई जारी रही। इसी अवसर पर हज़ारों कोरियन नवयुवक वालंटियरों में अपने नाम लिखाकर देश को आज़ाद करने के लिये तैयार हो गए। शस्त्र इनके हाथ में नहीं थे, किंतु हृदय में देश-प्रेम ज़रूर था। इन्हीं स्वयंसेवकों के दल को डाकुओं का समूह कहा जाता था! सन् १९१५ तक यह आंदोलन चला; किंतु जापानी सरकार ने इसे १९१५ के अंत तक बिलकुल दबा दिया। कोरियन और जापानियों में इसके बाद भी इधर-उधर युद्ध होता ही रहा। फ़रवरी, १९२० में, मन-चिन-नगर में, २००० कोरियनों ने जापानियों पर आक्रमण कर दिया था। हनचन-नगर में, जो मंचूरिया में है, ऑक्टोबर, १९२० में कोरियनों का जापानियों के ऊपर इतना प्रबल आक्रमण हुआ था कि जापान की राजधानी से २,००० सेना तुरंत ही भेजी गई थी।

हज़ारों कोरियन देशभक्त अपना देश और नगर छोड़-कर साइबेरिया में जा बसे हैं। पराधीनता उन्हें असह्य है। राष्ट्र की अधोगति और उसका नष्ट-भ्रष्ट होना उनसे अपनी आँखों देखा नहीं जाता। कोरिया की सरहद पर वे इस आशा से जा बसे हैं कि वहाँ रहकर अपने को खूब संगठित कर सकेंगे, एक ऐसी प्रबल सेना का निर्माण कर सकेंगे, जो जापानियों को कोरिया से निकाल दे।

स्वतंत्रता के आंदोलन का आरंभ

किंतु मुख्य-मुख्य देशभक्त कोरिया में ही रहकर स्वातंत्र्य-आंदोलन करने का विचार कर रहे थे। वे आंदोलन उठाने के लिये किसी मौक़े की तलाश में थे। अस्तु, वह आ ही गया। कोरिया को जापानी साम्राज्य का अंग बनाने के बाद जापानियों ने कोरिया-नरेश महाराज ईजी को जापान में नज़रबंद कर रक्खा था, और यह इरादा कर रहे

थे कि महाराज मीजी के पुत्र शासन-च्युत युवराज का विवाह किसी जापानी राजकन्या से करके कोरिया-राजवंश ही समाप्त कर दिया जाय। महाराज मीजी इसीलिये अपने लड़के का विवाह किसी जापानी कन्या से करने को राज़ी न थे। जापानियों ने कोरिया-नरेश के विरोध की परवा न कर विवाह की तिथि नियत कर दी। विवाह-तिथि—ता० २०-१ १६—को सायंकाल के समय महाराज मीजी मरे हुए पाए गए। जापानियों का कथन है कि उनकी मृत्यु अचानक, किंतु स्वाभाविक थी। पर कोरियनों का विश्वास है कि उनको विष दिया गया। कुछ लोग कहते हैं कि उन्होंने स्वयं ज़हर खा लिया; क्योंकि वह अपने राज-वंश का लोप नहीं देख सकते थे। कोरिया में इस पर बड़ी खलबली मची। जापानियों के विरुद्ध समस्त कोरिया में उग्र भाव पैदा हो गए। कोरियनों ने शोक-सभा करनी चाही, किंतु सरकार ने उस समय इजाज़त नहीं दी। जापानियों ने कोरिया में यह नियम बना रक्खा है कि कोरियन लोग दस-पंद्रह की तादाद में बिना पुलीस की इजाज़त के न तो सफ़र कर सकते हैं, और न कोई सभा। इसलिये महाराज मीजी की मृत्यु की शोक-सभा और जुलूस बहुत दिनों तक रुका पड़ा रहा।

किंतु सरकार की इस निरंकुशता के कारण जोश दिन-दिन बढ़ता ही गया। अंत को ३ मार्च, १६१६ को स्वर्गवासी महाराज मीजी की मृत्यु पर शोक-सभा करने का दिन निश्चित हुआ। जापानी सरकार ने भी इजाज़त दे दी। देश-सेवकों में फिर खलबली मची। चर्चा होने लगी कि ३ मार्च को कुछ-न-कुछ होना चाहिए। देश-नेताओं की अनेक सभाएँ हुईं। सब यही चाहते थे कि ३ मार्च को कोरिया की स्वतंत्रता का झंडा फिर से उठाया जाय, कोरियन राष्ट्र में उस दिन नई ज़िंदगी फूँकी जाय, और संसार पर कोरिया की वास्तविक दशा ज़ाहिर कर दी जाय। देश के नेताओं में दो मत के लोग थे। एक उद्दंडतावादी, जो कहते थे कि कोरिया को परतंत्रता की यातना सहते-सहते बहुत दिन बीत गए, अब एक दिन ऐसा मुक़र्रर होना चाहिए, जब कोरियन जहाँ-जहाँ जापानियों को पावें, मार डालें। कोरियन जापानियों से ६० गुने हैं। क्या साठ-साठ कोरियन एक जापानी को न मार सकेंगे? अधिक-से-अधिक क़ुरबानी के लिये तैयार हो जाना चाहिए, नतीजा चाहे जो हो। दूसरा दल अहिंसावादियों का था। ये कहते थे कि उद्दंडता से सफलता की कोई संभावना नहीं। इससे कोरियनों का ही विशेष दमन किया जायगा, और फल कुछ न होगा। जापानियों को मौक़ा मिल जायगा कि वे अपनी सारी सेना कोरिया में उतार दें, और कोरियनों को इतना नष्ट भ्रष्ट कर दें कि फिर अगले १०० वर्ष तक सिर उठाना नामुमकिन हो जाय। देश के सर्वोत्तम वीर और निष्कपट युवक इस युद्ध की पहली आहुति में ही भस्म हो जायँगे। इसके अतिरिक्त कोरियन सशक्त नहीं हैं, और न उनके पास शस्त्र पाने के साधन ही हैं। ऐसी अवस्था में उद्दंडता का मार्ग त्याग कर शांतिमय मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। अंत को निश्चय यह हुआ कि कोरिया-नरेश की मृत्यु-सभा के दिन कोरिया-निवासी अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दें। प्रत्येक नगर में सारी जनता का विराट् जुलूस निकाला जाय, लोग राष्ट्रीय झंडा लेकर "मेनसी आई" (स्वतंत्रता की जय) पुकारते हुए निकलें, जापानियों के शासन को स्वीकार करने से इनकार कर दें; किंतु किसी भी दशा में स्वयं उद्दंडता न करें।

सारे देश में इस निश्चय की सूचना भेज दी गई।

कोरिया का महात्मा सनवगही

३३ नेताओं ने स्वतंत्रता की घोषणा पर हस्ताक्षर किए। इन तेंतीस नेताओं में १६ ईसाई थे, १५ चनतोकियो धर्म के और ३ बौद्ध; किंतु कोरिया के इस आंदोलन का सर्वश्रेष्ठ नेता सनवगही था। यह स्वयं चनतोकियो धर्म का अनुयायी था; किंतु सभी धर्मों के कोरियन इस पर पूर्ण विश्वास करते थे।

सनवगही का संक्षिप्त जीवन-चरित इस स्थान पर दिया जाता है। बाल्यावस्था ही में इन्हें कन्फ्यूशियस और बौद्धधर्म की फ़िलासफ़ी तथा धर्म-ग्रंथ का पूर्ण अध्ययन कराया गया था। धार्मिक शिक्षा समाप्त करने के बाद यह जापान गए, और वहाँ कुछ दिन रहकर उसकी पाश्चात्य सभ्यता का ज्ञान प्राप्त किया। बाद को जब यह कोरिया वापस आए, तो इन्होंने देश में यह प्रचार करना शुरू किया कि कोरिया का निस्तार तभी हो सकता है, जब उसके पुत्र दृढ़चरित्र, सच्चे, निष्कपट, वीर और साहसी हों। इनकी धार्मिक शिक्षा को जापानी गवर्नमेंट ने पहले राजनीतिक दृष्टि से उपद्रवकारी नहीं समझा; किंतु समय आने पर इनकी धार्मिक शिक्षा और आदर्श-वाद

बहुत ही क्रियात्मक साबित हुआ । सनवंगही लोगों का धार्मिक और आत्मिक पथ-प्रदर्शक ही नहीं निकला, बल्कि राजनीतिक नेता भी हो गया । स्वतंत्रता की घोषणा पर हस्ताक्षर करनेवालों में सबसे पहला नाम महात्मा सनवंगही का था ।

जापानी सरकार को भी पता चल गया था कि ३ मार्च को कुछ गड़बड़ होनेवाली है, इसलिये स्वतंत्रता की घोषणा का दिन दो रोज़ आगे बढ़ा दिया गया । १ मार्च, १९१९ को, ठीक २ बजे दिन को, कोरिया के हर शहर और क़स्बे में हज़ारों की संख्या में इकट्ठी कोरियन जनता को स्वतंत्रता की घोषणा पढ़कर सुना दी गई, और "मेनसी आई ! मेनसी आई !! मेनसी आई !!!" की ध्वनि और प्रतिध्वनि से सारा कोरिया गूँज गया ।

इसी दिन रात को कोरिया के ३३ सपूत एक स्थान पर एकत्रित हुए ; साथ-साथ भोजन किया, गले मिले । कोरिया की स्वतंत्रता के लिये प्रार्थना की गई । घोषणा की नक़ल गवर्नमेंट के पास भेज दी गई, और इन नेताओं ने नज़दीक की कोतवाली को इत्तिला भिजवा दी कि हम ३३ आदमियों ने ये-ये काम किए हैं । पुलीस से यह भी कहला दिया कि हम लोग अमुक स्थान पर बैठे गिरफ़्तारी का इंतिज़ार कर रहे हैं । पुलीस की मोटरें फ़ौरन् चारों ओर दौड़ पड़ीं । समस्त नेता एकदम गिरफ़्तार कर लिए गए । कोरिया-निवासियों ने हज़ारों और लाखों की संख्या में इकट्ठे होकर इनकी जय-ध्वनि से सारे नगर को प्रकंपित कर दिया । राष्ट्रीय झंडे तमाम घरों पर फहराने लगे । कोरिया की राजधानी सिओल में जहाँ-जहाँ अन्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि-गृह थे, वहाँ-वहाँ जनता ने जाकर लाखों की तादाद में स्वतंत्रता की घोषणा सुना दी । कोरिया के अन्य नगरों, क़स्बों तथा गाँवों में भी इसी प्रकार के जुलूस निकले । व्यापारी और विद्यार्थी, छोटे-बड़े, बच्चे-बूढ़े और जवान, स्त्री और पुरुष, सब-के-सब स्वतंत्रता की लहर में बहने लगे । सरकारी नौकरी करनेवाले अनेक कोरियनों ने अपना काम छोड़ दिया, उपाधिधारियों ने उपाधियाँ वापस कर दीं, और शिक्षित-समुदाय भी, जो बहुधा बहुत नरम और फूँक-फूँककर क़दम रखनेवाला समुदाय होता है, इस आंदोलन में शामिल हो गया ।

गिरफ़्तारियाँ शुरू हो गईं । जापान की फ़ौज ने जहाँ-जहाँ कोरियनों का झुंड देखा, गोलियाँ चलानी शुरू कर दीं । महीनों इस प्रकार भयंकर दमन जारी रहा ; किंतु जनता हताश नहीं हुई । २३ एप्रिल, १९१९ को जब जापानियों का दमन परा काष्ठा पर पहुँचा हुआ था, सारे देश के राष्ट्रीय प्रतिनिधियों ने एकत्र होकर सिओल नगर में प्रजा-तंत्र की नियमावली बना डाली, और कोरियन प्रजा-तंत्र स्थापित कर दिया । डॉक्टर सिगमैनरी इस प्रजातंत्र के प्रमुख चुने गए । यह जाति के ईसाई थे ।

कोरिया की क़ुरबानी

कोरियन राष्ट्र ने इस आंदोलन को क़ायम रखने में जितनी क़ुरबानी की, वह वास्तव में शिक्षाप्रद और आश्चर्यजनक है । जापानी सरकार ने इस आंदोलन का दमन करने में पुलीस को पूरा अख़्तियार दे रक्खा था । पुलीस का यह नियम था कि नेताओं को गिरफ़्तार करती और निश्शस्त्र जनता के जुलूस पर, जिसमें बच्चे-बुड्ढे और स्त्रियाँ भी होती थीं, गोलियाँ चलाती थी । अक्सर ऐसा हुआ कि पुलीस के गोलियाँ चलाने पर जुलूस की पहली क़तार कटकर गिर जाती थी, जो दो-चार बच जाते थे, उनको सवारों की संगीनें और उनके घोड़ों की टापें ख़तम कर देती थीं, लेकिन दूसरी क़तार तुरंत ही बढ़ आती और "मेनसी आई !" की जय-ध्वनि से गोलियों का स्वागत करती थी । इस तरह जब एक जुलूस नष्ट-भ्रष्ट हो जाता, तब बचे-खुचे आदमी जापानी फ़ौज की आँखों के सामने तुरंत ही दूसरा जुलूस तैयार कर लेते और फिर पूर्ववत् "मेनसी आई !" की जय-ध्वनि करते हुए जापानी सेना के मुक़ाबले में सीने खोलकर खड़े हो जाते थे । नैथेनियल पेफर ने अपनी पुस्तक 'The truth about Korea' में लिखा है—

"हम पश्चिम-निवासी अक्सर सुनते रहते हैं कि पूर्व के रहनेवालों में शारीरिक वीरता नहीं पाई जाती ; किंतु मैं तो उससे अधिक वीरता और बलिदान की कल्पना भी नहीं कर सकता, जैसे कोरिया-निवासियों ने, बिना बदला लेने का ख़याल किए, दमन के भयंकर रूप और परिणामों को जानते हुए, निश्चित, निर्भय और प्रसन्न-बदन रहकर इस आंदोलन के अवसर पर दिखाई है ।"

जापानियों का ज़ुल्म

एसोसिएटेड-प्रेस का संवाददाता लिखता है—मैंने निम्न लिखित बातें अपनी आँखों देखी हैं—

"स्कूल के छोटे-छोटे विद्यार्थियों को

जापानी सिपाही पटक देते और बेदर्दी से मारते थे। वे लोग स्त्रियों और लड़कियों के जुलूस पर गोलियाँ चलाते थे, केवल इस दोष पर कि वे "मेनसी आई" चिल्लाती थीं।

एक १० वर्ष के लड़के की पीठ में गोली मार दी गई। ६५ वर्ष के निरपराध बुड्ढे को कई जापानी सिपाहियों ने मिलकर इतना मारा और रौंदा कि वह चलने-फिरने के क़ाबिल न रहा।

२० लड़कियों का एक समूह चुपचाप सड़क पर से गुज़र रहा था। जापानी सिपाहियों ने इनका पीछा किया। बंदूक़ के कुंदों से इन्हें मारा, ज़मीन पर गिरा दिया, और इनके साथ इतना बुरा व्यवहार किया, जिसको सोचकर ख़ून उबल आता है।

स्त्रियाँ बंदूक़ से गिरा दी जाती थीं, और ठोकरें मार-कर ख़ंदकों में डाल दी जाती थीं।

एक अमेरिकन का कथन है कि घोषणा के चौथे दिन सिओल के यूनियन-क्रिश्चियन कॉलेज के एक विद्यार्थी ने देखा कि एक जापानी सिविल अफ़सर एक कोरियन लड़की के बाल पकड़े, उसे सड़क पर घसीटता हुआ लिए जा रहा है। यह कन्या ईसाई थी, और "मेन-सी आई" पुकारती हुई शहर की सड़कों पर घूम रही थी। उद्दंडता-विरक्त रहने की स्पष्ट आज्ञा होने पर भी इस नवयुवक से यह करुण दृश्य न देखा गया। इसने लड़की को दौड़कर छुड़ा लिया, और निर्दयी जापानी की ख़ूब मरम्मत की। इतने में फ़ौज के और दो-चार सिपाही आ गए। तुरंत ही इस नवयुवक के दोनो हाथ काट लिए गए, और यह जेल में बंद कर दिया गया। दूसरे दिन उक्त अमेरिकन ने उसके पिता से जाकर सहानुभूति प्रकट की। वृद्ध पिता ने उत्तर दिया—"मुझे अपने बच्चे के दोनों हाथ कट जाने का ज़रा भी शोक नहीं। ऐसे वीरता और पुण्य के कार्य में अगर मेरे लड़के के प्राण भी चले जायँ, तो मैं शोक न करूँगा।"

जापानियों के अत्याचार से कोरिया-निवासियों की कोई भी श्रेणी नहीं बची। विद्वान् से लेकर कुली तक, शहर के व्यापारी से लेकर गाँव के किसान तक, आठ और नौ वर्ष के लड़के-लड़कियों से लेकर ६० वर्ष के बुड्ढे तक, सभी के ऊपर जापानियों का दमन-चक्र एक-सा चला है। एक कोरियन कन्या की दुर्घटना नीचे दी जाती है—

पेंगयंग-नगर के एक कोरियन सज्जन ने अपनी कन्या को, जो बाहर थी, तार देकर बुलाया था, इस ख़याल से कि सारे देश में दंगा-फ़साद है, लड़की घर ही में रहे, तो अच्छा। जिस समय यह लड़की स्टेशन पर उतरी, पुलीसवालों ने उसे गिरफ़्तार कर लिया। उस पर अप-राध यह लगाया गया कि उसने 'कोरिया की जय" पुकारी और जापानी-राज्य के विरुद्ध बातें कही हैं। थाने में लाकर उसका बयान लिया गया। लड़की ने बतलाया कि मैं बिलकुल निरपराध हूँ। इस पर पुलीस ने उसके सिर पर डंडे मारने शुरू किए। जब इस पर भी इसने कुछ न कहा, तो इसकी उँगलियों के बीच में लकड़ी के टुकड़े रखकर उन्होंने उँगलियाँ ऐंठना शुरू कर दिया। यहाँ तक कि वह बेहोश हो गई। जब होश आया, तो उससे कहा गया कि तुम अपना क़सूर क़बूल करो। क़सूर तो कोई था ही नहीं, क़बूल क्या करती! इस पर उस लड़की को बिलकुल नंगा कर दिया गया, और सैकड़ों कोड़े मारे गए। इसके बाद उसके सिर पर पुलीसवालों ने एक पत्थर रख दिया, और तीन घंटे सब-के सामने उसे नग्न खड़ा रक्खा। इस अत्याचार के कारण उसके मुँह से ख़ून की क़ै भी हो गई। १४ दिन तक वह पुलीस की गिरफ़्तारी में रही। इस दर्मियान में सात मर्तबा पुलीसवालों ने उसके साथ ऊपर लिखा हुआ अत्याचार और व्यवहार किया। जब लड़की बिलकुल मरने के क़रीब हो गई, तब उसे उन्होंने छोड़ दिया।

गाँवों और छोटे-छोटे क़स्बों में, जहाँ न कोई समाचार-पत्र थे, और न कोई और साधन, जिनसे जापानियों के ज़ुल्म का पता संसार को चलता, जापानी दमन का रूप अत्यंत भयंकर था। यागसांग-नगर का हाल एक अमे-रिकन ने निम्न-लिखित शब्दों में बयान किया है—

"मार्च के पूर्वार्द्ध में, जब यहाँ की जनता ने 'स्वतं-त्रता की जय' पुकारना शुरू कर दिया था, फ़ौज और पुलीस के अफ़सरों ने नगर के ४६ मुख्य-मुख्य आदमियों को कोतवाली में बुलाया। इन लोगों के कोतवाली में आ जाने पर सारे दरवाज़े बंद कर लिए गए। फ़ौज के सिपाही दीवारों पर चढ़ गए, और वहाँ से इन नेताओं पर गोलियाँ चलाने लगे। जो लोग गोलियों

की बौछार में भी बच गए, उन्हें उतरकर संगीनों से छेद दिया गया। २६ में से २३ तो तुरंत ही मर गए, ३ मरणासन्न बचे, जो मुर्दों के ढेर में से रेंग रेंगकर बाहर निकले। निकलकर ये कितनी देर और ज़िंदा रहे या कब मर गए, इसका कुछ पता नहीं।"

विलियम गाइलस लिखते हैं—"दक्षिण कोरिया की एक घाटी में, जो फ़ुसान से क़रीब ४० मील पर है, जापानी फ़ौज ने वहाँ रहनेवाले कोरियनों को चारो ओर से घेर लिया। पहाड़ पर चढ़कर घाटी में बसे हुओं पर गोलियाँ चलाईं, जिससे सैकड़ों निरपराध वहीं मरकर रह गए।"

मध्य-कोरिया में सुवान-ज़िले के पास, जो सिओल से तीस मील के फ़ासले पर है, जापानी फ़ौज ने १५ गाँव बिलकुल नष्ट कर डाले। सिपाही गाँवों में जाते और घरों में इच्छानुसार आग लगा देते थे। जिसे चाहते, गोली से मार देते या संगीन भोंक देते थे।

जापान-पुलीस की इब्तिदाई तहक़ीक़ात बड़ी भयंकर चीज़ है। मुलज़िम—विशेषतः राजनीतिक मुलज़िम—के तो इसका स्मरण आते ही रोएँ खड़े हो जाते हैं। इस तहक़ीक़ात में पुलीस खुल्लमखुल्ला कठिन-से-कठिन कष्ट देती है, जिसके दो-चार उदाहरण ये हैं—

हवालात के अत्याचार

"आदमियों और लड़कों को छत में उलटा टाँग दिया जाता था। थोड़ी देर टँगे रहने के बाद फिर उन्हें उतारते और फिर टाँग देते थे। इससे वे बहुत जल्द बेहोश हो जाते थे। उनकी उँगलियों को गरम लोहे से दागते थे। उनके मांस में तेज़ और टेढ़े कीले भोंककर खींचते थे, और ज़ख़्म को लाल लोहे से दाग देते थे। पैर के नाख़ून पिंसर से पकड़कर उखाड़ लिए जाते थे। आदमियों को तंग बक्स में बिठाकर ऊपर से उसे कसकर बंद कर देते थे। उलटा टाँगकर आदमियों की नाक में गरम पानी या लाल मिर्च का पानी डाला जाता था। कोड़े मार-मारकर लोग बेहोश कर दिए जाते थे। कुछ यातनाएँ ऐसी भी दी जाती थीं, जो छापी नहीं जा सकतीं।"

स्त्री-क़ैदियों के साथ तो भयंकर व्यवहार किया गया है। पढ़ी-लिखी और सुशील स्त्रियाँ, कॉलेज की ग्रेजुएट लड़कियाँ, "देशभक्त स्त्रियों की संस्था" में शामिल होने या "कोरिया की जय" और "मनसी आई" पुकारने के अपराध में, जेल में भर दी गई थीं। वहाँ उनके साथ जो व्यवहार हुआ, वह निम्न-लिखित शब्दों से मालूम होगा।

एक क़ैदी कन्या का बयान है—

"५ मार्च को मैंने और मेरे साथ कई और स्त्रियों ने मिलकर अपने देश की स्वतंत्रता के नाम पर एक जुलूस निकाला। जैसे ही हम लोग 'पैलेस' के पास पहुँचे, एक जापानी सिपाही ने मेरे बाल पकड़ लिए, मुझे ज़मीन पर ज़ोर से ढकेल दिया और इतनी ठोकरें लगाईं कि मैं बिलकुल बेहोश हो गई। बाल पकड़कर मुझे घसीटता हुआ यह आदमी चंगनो-पुलीस-स्टेशन पर ले गया। कोतवाली के फाटक पर २५ या ३० सिपाही खड़े थे, जिनमें से हरएक ने एक-एक डंडा मेरे मुँह पर मारा। मैं समझ न सकी कि यह क्या हो रहा है।

"इसके बाद मुझे एक कमरे में ले गए, जहाँ डंडे से, ठोकरों से और हरएक तरह से मेरी इतनी मरम्मत की गई कि मैं बिलकुल बेहोश हो गई।

"जब होश आया, तो मैंने अपने को एक कमरे में ठुँसा हुआ पाया, जिसमें और भी अनेक जवान मर्द और स्त्रियाँ बंद थीं। इनके साथ पुलीस का व्यवहार देखकर मेरा हृदय काँप गया। थोड़ी देर के बाद मुझे जिरह के लिये बुलाया गया। हरएक सवाल के बाद मेरे मुँह पर तमाचा मारा जाता था, थूका जाता था, और घृणित गालियाँ दी जाती थीं।

"मुझसे कहा गया कि मैं अपने स्तन खोलकर खड़ी हो जाऊँ। मैंने इनकार किया। इस पर सिपाहियों ने ज़बरदस्ती मेरी कुर्ती फाड़ डाली, और दोनों हाथों को बाँध दिया। मैंने अपनी आँखें बंद कर लीं, और ज़मीन पर गिर पड़ी। इस पर जिरह करनेवाले अफ़सर ने बहुत ज़ोर से मुझे डाँटा, और उठकर मेरे दोनों स्तनों को पकड़कर ज़ोर से मुझे हिलाया। कहा—'स्वतंत्रता लेगी ? स्वतंत्रता ले। स्वतंत्रता, जब जेल में भर दी जाएगी, तब मिलेगी !' फिर मेरे सिर के बाल पकड़कर मुझे हिलाया। पर इतने से भी यह पिशाच संतुष्ट न हुआ। इसने मेरे सिर पर डंडे लगाए, मुझसे कहा, हाथ फैलाओ, और मेरे हाथों पर कुरसी रख दी। कुरसी

मुझसे नहीं सँभली, इस पर इसने मेरे टख़नों पर डंडे मारे। इसी तरह एक-दो घंटे तक वह आदमी मुझे यातना पहुँचाता रहा। × × × पाँचवें दिन मुझे वेस्टगेट के जेलख़ाने में भेज दिया गया, जहाँ मैं नंगी कर दी गई। मर्दों ने मुझे ख़ूब देखा।"

दूसरी लड़की का बयान यह है—"मैं प्यंगयंग-नगर में ३ मार्च को गिरफ़्तार की गई, और पुलीस-स्टेशन में तुरंत ही पहुँचा दी गई। मेरे साथ कई मर्द और औरतें भी गिरफ़्तार हुई थीं। किंतु बाद को सब छोड़ दिए गए, केवल १५ औरतें क़ैद रख छोड़ी गईं। पुलीसवालों ने सब औरतों को नंगा कर दिया। एक स्त्री को जब नग्न करने लगे, तो वह रोकने लगी। सिपाहियों ने इस पर उसे बेतरह पीटा।"

अमेरिक-निवासियों का मत

कोरिया-प्रवासी अमेरिका-निवासियों ने इस संबंध में अपने हस्ताक्षरों से एक बयान प्रकाशित कराया था, जिससे दमन की भयंकरता का पता चल सकता है। कुछ वाक्य उस बयान के नीचे दिए जाते हैं—

"जिन स्त्रियों को स्वतंत्रता-आंदोलन के संबंध में गिरफ़्तार किया गया था, उनके साथ बहुत अपमानजनक और अत्याचार-पूर्ण व्यवहार किया गया है। जापानी स्त्री-पुरुष एक दूसरे के सामने नग्नावस्था में आने से लज्जा का अनुभव नहीं करते; किंतु कोरिया में अन्य सभ्य राष्ट्रों के समान ही लज्जा की मर्यादा है। जापानी लोग इस बात को जानते हैं।"

इसलिये गिरफ़्तारी के बाद तहक़ीक़ात के समय पुलीसवाले स्त्रियों को बिलकुल नंगा कर देते थे; किसी कमरे में स्त्री-द्वारा नहीं, बल्कि पुलीस के मर्द-सिपाही स्वयं ऐसा करते थे। नग्नावस्था में ही उन्हें कमरे से पुलीस-अफ़सर के सामने तक आना पड़ता था। रास्ते में जो इन्हें चाहता था, इसी अवस्था में देखता था। नहाते वक़्त भी इन्हें अपने सारे वस्त्र उतार देने पड़ते थे, और सबके सामने नग्न होकर नहाना पड़ता था। पुलीस-अफ़सर के सामने नग्न किए जाने पर जिन स्त्रियों ने अपनी लज्जा अपने हाथों से छिपाने की कोशिश की, उनके हाथ पीछे बाँध दिए गए। एक स्त्री का हाथ इस अपराध के लिये इतने ज़ोर से मरोड़ा गया कि जोड़ से उखड़ गया। इतना ही नहीं, अनेक स्त्रियों के पेटों में ठोकरें मारी गईं और इन पिशाचों ने इनके साथ अन्य अमानुषिक अत्याचार भी किए हैं।

दमन-सूचक अंक

नीचे-लिखे अंकों से पता चल सकता है कि स्वतंत्रता-आंदोलन का वेग कितना था, और उसका दमन कितना विस्तृत हुआ—

१ मार्च, १९१९ से १ मार्च, १९२० तक

कोरियन मार डाले गए	७,६४५
" घायल हुए	४५,५६२
" क़ैद हुए	४९,८११
मकान जलाए गए (जापानी सिपाहियों-द्वारा)	७२४
चर्च " " "	५९
स्कूल " " "	३

१ मार्च, १९१९ से २० जुलाई, १९१९ तक
(जापानी सरकार के स्वीकृत अंक)

जुलूस भंग किए गए	३४१
" " (ज़बरदस्ती) ...	५१
" " (गोलियों और संगीनों से)	१८५
कुल	५७७
कोरियन मारे गए	६३१
जापानी मारे गए	९
कोरियन ज़ख़्मी हुए और गवर्नमेंट-अस्पताल में आए	१,४०९

गिरफ़्तारियाँ और सज़ाएँ

पुलीस के हुक्म से कोड़े लगाए गए ...	९,०७८
अदालत " " ...	१,५१४
क़ैद किए गए	५,१५६
मुक़दमे चलाए गए	९,९९३
अपील की इजाज़त दी गई	१,८३८
सज़ाएँ माफ़ की गईं	२८२
रिहा हुए	७,११६
मारे हुए, ज़ख़्मियों और गिरफ़्तार हुओं की संख्या	३६,०२६

उपसंहार

यह लेख पाठकों के हृदय को दुखी करने के उद्देश्य से नहीं लिखा गया है। इससे तो पाठक संसार के राजनीतिक इतिहास की एक झलक पा सकते हैं। अनीश्वरीय सभ्यता के मद से

उन्मत्त एक पूर्वीय राष्ट्र की आसुरी प्रवृत्ति का यह साधारण नमूना है। जापान ने कोरिया के साथ जो कुछ किया, वह संसार के इतिहास में कोई असाधारण बात नहीं। मनुष्य ने मनुष्य के साथ योरप में और एशिया में भी इससे भयंकरतर अत्याचार किए हैं। परमात्मा की इस पृथ्वी पर ऐसी आसुरी बातें हुई हैं, होती हैं, और होंगी। निर्बल और पतित इन व्यवहारों को सहते और ज़िंदा रहते हैं। उत्तम और महान् जातियाँ इन व्यवहारों को नहीं सहतीं। वे या तो उन्हें नष्ट कर डालती या स्वयं नष्ट हो जाती हैं।

शीतलासहाय

शव

(१)

इस धूलि में धरा क्या, जिसमें पड़े लपेटे ?
मेरे सरल बटोही !
पथ ताप से भरा क्या, किस हेतु मौन लेटे ?
अनजान देश-द्रोही !

(२)

ममता कहाँ चली है, यौवन कहाँ टहलता ?
दृग बंद हैं तुम्हारे।
सूखी कुसुम-कली है, भौंरा नहीं मचलता :
उत्साह लुप्त सारे।

(३)

भर कौन खेद मन में, किस सिंधु-मध्य भोगी,
तरणी डुबा रहे हो ?
कैसे सघन विजन में, संन्यास ले वियोगी !
जीवन डुबा रहे हो ?

(४)

मुरझा रही तुम्हारी, ऐश्वर्य-बेलि बोई,
प्याली शराब-हीना।
सुरभित कनेर-क्यारी, बैठा उजाड़ कोई,
लूटा नया नगीना।

(५)

बहती न गीत-लहरी, स्वर हैं अपूर्ण मन के ;
चंचल कहाँ इशारे ?
कैसी अशांति गहरी, क्यों तुम बने गगन के
विक्षिप्त तुच्छ तारे ?

(६)

उस पार से बुलाती, गो-धूलि पंचरंगी ;
किस सोच में पड़े हो ?
बुलबुल बिहाग गाती, तोता मयूर संगी ;
किस तीर तुम खड़े हो ?

(७)

चुनता न हंस मोती, कादंबरी मलीना,
भू रक्त-रंजिता है।
उड़ती नहीं कपोती, वह आज पंख-हीना
दुर्भाग्य-सिंचिता है।

(८)

कर टूक-टूक जीवन, तरुणी नवीन बाला
मूर्च्छित उधर पड़ी है।
छू लो अछूत ! दामन, भर दो सुहाग प्याला :
यम-यातना कड़ी है।

(९)

मा का उदास क्रंदन, सुनते नहीं बधिर ! क्यों ?
आँखें अपाढ़-सी हैं।
कोई न सूझते फ़न, घेरे पड़ा तिमिर क्यों ?
घड़ियाँ विपत्ति की हैं।

(१०)

पागल पिता बिलखता, ज्वाला धधक धधकती,
है मौत का तमाशा।
बेटा उधर तड़पता, बेटी इधर सिसकती,
साथिनि बनी निराशा।

(११)

तुम रम रहे जहाँ हो, उस देश से न कोई
क्या भूख लौटता है ?
कोकिल! कहो कहाँ हो, भव-निधि अमूल्य खोई ?
हा ! खून खौलता है।

(१२)

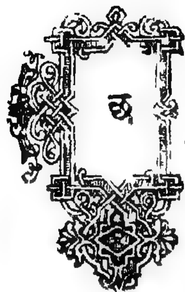
झूठा बना रुद-बाना, अव्यर्थ सिसकियों से
दिल विश्व का दलेंगे।
कफ़नी उढ़ा पुरानी, कस अंग रस्सियों से
ले घाट पर चलेंगे।

(१३)

रोकर कुटिल पड़ोसी, मृदु फूल-सी तुम्हारी
यह देह फूँक देंगे।
झुक जायँगे सदोषी, क्या मार हम कटारी
अनुताप में मरेंगे ?

"गुलाब"

महाकोसल (छत्तीसगढ़) और उसकी प्राचीन राजधानियाँ



त्तीसगढ़ का प्राचीन नाम महाकोसल या दक्षिण-कोसल था ; परंतु समुद्रगुप्त के प्रयागवाले शिला-लेख में इसका नाम केवल 'कोसल' ही लिखा हुआ मिलता है, और उसका वर्णन "दक्षिणा-पथ" के राज्य-समूह में सर्व-प्रथम आता है । इस लेख में हम महाकोसल की प्राचीन राजधानियों का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करेंगे ।

विक्रम-संवत् १७४६ में लिखित, गोपाल कवि-कृत "खूब तमाशा" में उस समय के कोसलाधिप और उनकी राजधानी का जो शब्द-चित्र खींचा गया है, वह यों है—

काशी सरस प्रयाग पुण्य थल बाधा देश विमाँहि ;
देश रतनपुर राजसिंह को, शहर राजपुर सोंहि ।
धरम करम कुल सरम सिंधु सम देत दान अनलेखा ;
तखतसिंह को बखत बली नृप खूब तमाशा देखा ।

पुनश्च—

हैहय-वंश सकल वसुधा के सुजस छत्र सिर छाजे ;
राजसिंह को शहर राजपुर सुंदर सघन विराजे ।
सकल धर्म को धाम धरा पर राम दियो जिहि तोरा ;
ता साहिब के हुकुम पाय कवि खूब तमाशा जोरा ।

× × ×

राजभवन पुर भवन-भवन प्रति मंगल सकल सुहावे ;
बनि-बनि बनिता बालक सौं सब गारि रसाला गावे ।
बजै निसान भेरि सहनाई बाढ़े सुख अनलेखा ;
शहर राजपुर बसे सुहायो खूब तमाशा देखा ।

× × ×

जोरी जरब जरी के पहिने जोबन जोर उनाई ;
पावस बीर-बहूटी छूटी कौंधा राइमुनाई ।
कचव बर्छी संग सहेली कहँ पहेली छाजे ;
शहर राजपुर राजसिंह की आंत नौबत बाजे ।

ऊपर के वर्णन से उस समय की श्री-संपन्नता, सौंदर्य-प्रियता, धर्मानुरक्ति और संगीत तथा साहित्य-रसिकता का पता लग सकता है ।

राजा राजसिंह प्रसिद्ध महाराज मोरध्वज के वंशज और उनसे ४२वीं पीढ़ी में थे । वर्तमान रतनपुर या रत्नपुर के निकट इन्होंने "राजपुर"-नामक नगर बसाया था । इनका "सतखंडा" कजरा-तालाब की पश्चिम-दक्षिण दिशा में अब तक, खँडहर के रूप में, विद्यमान है ।

जैमिनि अश्वमेध (भाषा) में प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त महाराज मोरध्वज की राजधानी का जैसा वर्णन उक्त गोपाल कवि ने किया है, उसे भी देखिए—

निरखत कृष्ण रतनपुर-शोभा ;
उपवन सर देखत मन लोभा ।
घर-घर मंगल घर-घर बाजे ;
नित्य गीत गुण ज्ञान समाजे ।
कहुँ हरि-कथा कहुँ हरि-पूजा ;
हरि बिनु देव न जानत दूजा ।
जित कित विप्र वेद-धुनि धारे ;
तन मन भक्ति कृष्ण पर वारे ।
बहु विधि नगर विनोद सुहाए ;
निरखत राजद्वार प्रभु आए ।

राजा राजसिंह की राजधानी राजपुर या रत्नपुर में (जो बिलासपुर से १६ मील उत्तर-दिशा में है), 'महाभारत'-काल में, महाराज मोरध्वज की राजधानी थी, यह बात कुछ लोग मानते हैं, और कुछ लोग नहीं । पर इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान "रतनपुर" हैहय-वंशीय राजाओं का प्रेम-पात्र "रत्नपुर-नगर" है । इस नगर की स्थापना "तुम्माणाधिपति कमलराज" के पुत्र-रत्न रत्नराज या रत्नेश ने की थी । Kalingrāj's son was Kamalrāj and his son again Ratnarāj or Ratnesh, who ornamented Tumana with temples, gardens etc. and *founded Ratnapur*. रत्नराज के पुत्र, पृथ्वीदेव (प्रथम) का एक ताम्र-लेख, अमोदा (बिलासपुर) में, गत मई महीने में मिला है । उसमें चेदि-संवत् ८३१ लिखा है । चेदि संवत् ८३१=सन् ई० १०७९=विक्रम-सं० ११३६ । अर्थात् विक्रम-संवत् ११३६ के पहले 'रत्नपुर'-नगर को रत्नराज राजा ने बसाया था ; पर

१ रत्नपुर

इन्होंने तथा इनके पुत्र पृथ्वीदेव ने 'तुम्माण' से राजधानी कब हटाई, इसका कुछ पता नहीं लगता।

बारहवीं शताब्दी के एक शिला-लेख में लिखा है—

... ... यालक्ष्यते

श्रीमद्रत्नपुर दिशिश्रुतयशो रत्नेश्वरो यद्व्यधात्।

अर्थात् रत्नेश्वर ने जो रत्नपुर बसाया, उसका नाम चारों ओर प्रकट है।

कोकल्ल, जिनका उल्लेख आगे किया जायगा, दक्षिण-कोसल के हैहय-वंशीय राजाओं के आदि-पुरुष हैं। इनके १८ पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र का नाम मुग्धतुंग (प्रसिद्ध धवल) था। वह त्रिपुरी (जबलपुर) के सिंहासन पर सन् ६०० ई० के लगभग बैठा था। मुग्धतुंग ने कोसल के राजा से युद्ध किया था, और उससे पूर्व समुद्र की ओर की प्रधान पुरी "पाली" छीन ली थी—

विजित्य पूर्वाम्बुधिकूलपालीः

पालीस्समादाय च कोसलेन्द्रान्ः

निरन्तरोद्रामितवैरिधाया

धामाधिक खड्गलतिर्ग आसीत्।

ऊपर के श्लोक से स्पष्ट है कि मुग्धतुंग के शासन-काल में कोसल-देश का विस्तार पूर्व समुद्र के कूल तक था, और वहाँ के राजा "कोसलेंद्र" कहलाते थे। क्या वे राजे 'श्रीपुर'वाले केसरी-वंश की विनितपुर या ययाति-नगरवाली शाखा के थे? ये राजे (ययाति राजदेव तथा जनमेजयदेव) अपने को "त्रिकलिंगाधिपति" कहते हैं; पर "विनितपुर" से दिए गए एक ताम्र-शासन से प्रकट है कि इनके दान में दिए हुए ग्राम 'कोसल'-देशांतर्गत थे।

कोसलदेशप्रतिबद्धगुनटपाटमण्डले चोतरपट्टीयनिविण्डाग्रामे ब्राह्मणान् सपूज्य × × × × × × कोसलीयमरमेण्ग्रामास-वास्तव्यायश्रीपुण्डरीकशर्मणे दीक्षिताय × × ×

बी० सी० मजूमदार महोदय लिखते हैं—

All the plates discovered upto date relate to the Sambalpur tract; and this tract has been designated as a part of *Kosala*-Desa —

विनितपुरवाले सोमवंशीय राजाओं के अधिकार में कोसल-देश का कुछ अंश अवश्य था; पर मुग्धतुंग के समय में "कोसलेंद्र" के पद पर किस वंश के भूमिपति प्रतिष्ठित थे, यह अज्ञात ही है।

हैहय-वंश

छत्तीसगढ़ के लोगों की आज तक यही धारणा है, और पहले भी थी कि रत्नपुर (वर्तमान रतनपुर) अति प्राचीन नगर है, और वह महाभारत-काल में भी विद्यमान था; परंतु अब तक प्राप्त शिला-लेखों और ताम्र-शासनों के वर्णन से ज्ञात होता है कि हैहय-वंशीय राजाओं की राजधानी "तुम्माण" में सर्वप्रथम स्थापित की गई थी।

२

तुम्माण

इसके पूर्व वे लोग और उनके पूर्वज "त्रिपुरीश" या "त्रिपुरी-नाथ" कहलाते थे, और "डहलमंडल" के, जिसमें नव लक्ष * ग्राम थे, शासक थे।

'कार्तवीर्य' के वंश में कोकल्ल या कोकल्ल-नामक राजा हुए—

तद्वंशप्रभवा नरेन्द्रपतयः ख्याताः क्षितौ हैहयाः

तेषामन्वयभूषणं रिपुमनो विन्यस्ततापानलः ;

धर्मध्यानधनानुसंचितयशाः सश्वत्सता सौख्यकृत्

प्रेयान्सर्वगुणान्वितः समभवत् श्रीमानसौ कोकल्लः।

इन कोकल्ल नामधारी हैहय-राजा के १८ पुत्र हुए—

अष्टादशारिकरिकुम्भविभङ्गसिंहाः

पुत्रा बभूवुरतिशौर्यपराश्च तस्य ;

तत्राग्रजो नृपवरस्त्रिपुरीश † आसीत्

शेषाश्च मण्डलपतीन स चकार बन्धून्।

इन अठारहों भाइयों में सबसे छोटे थे कलिंगराज।

ख्यातस्तेषु लघुः कलिङ्गनृपतिवङ्केश्वराराधनात्

तुम्माणाधिपतिः सुतोऽस्य कमलः श्रीरत्नराजस्ततः;

पुनश्च—

(क्षोणी) दक्षिणकोसलो जनपदो बाहुद्वयेनार्जितः

राजधानी स तुम्माणः पूर्वजैः कृत इत्यतः ;

तत्रस्थोऽरिक्षयं कुर्वन् वर्धयामास सश्रियम्।

(Epi. Ind. Vol. 1)

* नवलक्षाणि डाहलाः।

† कोकल्ल के १८ पुत्रों में मुग्धतुंग (धवल) सबसे बड़े थे, और यही त्रिपुरी के राजा हुए। इस वंश के गांगेयदेव राजा की सोने-चाँदी और ताम्र की मुद्राएँ मिली हैं। इन चेदि-राजवंश के राजों की ध्वजाओं में वृषभ (बैल) का चिह्न रहता था। ये शैव थे।

'तुम्माण' में सर्वप्रथम हैहय-नरेशों का आधिपत्य जमा। तुम्माण वर्तमान रतनपुर के उत्तर में ४५ मील पर है। अब उसका नाम तुमान हो गया है। यह स्थान वर्तमान लाफा-ज़मींदारी में है। तुम्माण के बाद रत्नपुर की बारी आई, और कमलराज के पुत्र रत्नराज राजा ने 'रत्नपुर'-नामक नगर बसाकर वहाँ अपनी राजधानी क़ायम की, जिसका वर्णन ऊपर दिया जा चुका है।

श्रीकेसरी-वंश

इसके पहले के शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों में कोसल-देश की राजधानी का नाम श्रीपुर लिखा हुआ मिलता है। यह मनो-मुग्धकर 'श्रीपुर'* नगर महानदी के तट पर स्थित था। आजकल यह भीषण अरण्यवत् होकर काल की कराजता प्रकट कर रहा है। टूटे-फूटे विशालकाय मंदिरों तथा प्रस्तर-मूर्तियों और स्तंभों के समूह उसकी प्राचीनता और सामंतावस्था की मूक साक्षी दे रहे हैं।

३
श्रीपुर

कोसलाधिपति महाराज तीवरदेव (पांडुवंशीय) के ताम्र-शासन "श्रीपुर" से मिले हैं। यथा—

३० जयतिजगत्त्रयतिलकश्चितिभृत्कुलभवनमङ्गलस्तम्भश्री-मत्तीवरदेवो धरिय. सकलपुण्यकृता। स्वस्ति श्रीपुरात्

× × ×

इस ताम्र-शासन का अंतिम श्लोक यों है—

श्रीमत्तीवरदेवस्य कोसलाधिपतेरिदम् ;
शासनं धर्मवृद्ध्यर्थं स्थितमाचन्द्रतारकम्।

श्रीपुर से मिले हुए ताम्र-शासन और वहाँ के मंदिरों में प्राप्त शिला-लेखों के अक्षरों से ज्ञात होता है कि ईसवी सन् ८०० और ९०० के आसपास वे लिखे गए थे। जो राजवंश 'श्रीपुर'-राजधानी से कोसल-देश का शासन करता था, वह केसरी-वंश कहलाता था। पांडव-वंशोत्पन्न प्रसिद्ध उदयन उस वंश का मूल-पुरुष था। इस वंश के कई राजे और उनकी रानियाँ वैष्णव-धर्मावलंबी थे। इतिहास में इनका परिचय "महाकोसल के सोमवंशीय राजे" अथवा उत्तरगुप्त के नाम से दिया जाता है। इनकी नामावली नीचे दी जाती है—

१. उदयन
२. इंद्रबल
३. नन्नदेव या नन्नेश्वर
४. महाशिव तीवरदेव (इनके छोटे भाई का नाम था चंद्रगुप्त)
५. हर्षगुप्त (तीवरदेव के भाई चंद्रगुप्त के पुत्र
६. महाशिवगुप्त बालार्जुन
७. महाभवगुप्त
८. शिवगुप्त
९. महाभवगुप्त जनमेजय
१०. महाशिवगुप्त ययाति
११. महाभवगुप्त भीमरथ

शरभपुरवाले राजे

श्रीपुर की श्री-हानि के साथ-साथ "शरभपुर" में राजधानी स्थापित कर एक राजवंश सन् ई० ८००-९०० के आसपास कोसल में राज्य करता था; पर अपने ताम्र-शासनों में उसके राजे अपने को 'कोसलाधिपति' नहीं बताते। उनके केवल चार ताम्र-शासन मिले हैं, और चारों में केवल दो राजाओं के नाम हैं। ये किस वंश के थे, यह अज्ञात है। इनके नाम हैं—

४
शरभपुर

१. महासुदेवराज
२. महाजयराज

आरंग (ज़िला रायपुर), रायपुर-नगर, खरियार (ज़िला रायपुर) और सारंगढ़, इन्हीं चार स्थानों में ये ताम्र-पत्र पाए गए थे। चारों स्थान छत्तीसगढ़ ही में हैं। इन शरभपुरीय राजाओं के जितने लेख मिले हैं, वे "ताम्र-शासन" ही है। एक भी शिला-लेख अब तक कहीं नहीं पाया गया।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, वह रायबहादुर हीरालाल तथा मध्य-प्रदेश के गज़ेटियरों के संपादक मि० नेल्सन का मत है; पर एक फ्रेंच विद्वान् (G. Jouveau Dubreuil) का मत इससे भिन्न है। वह शरभपुरवाले इन राजों का समय ईसवी सन् की पाँचवीं सदी के मध्य में मानते हैं, अर्थात् इनके माने हुए समय से ४०० वर्ष पीछे ले जाते हैं। वह लिखते हैं—

I believe, we can place the two kings Sudeva and Jayadeva approximately in the second half of V (fifth) century. It is possible that their kingdom was the southern Kosal.

* रायपुर-ज़िले का वर्तमान "सिरपुर"-ग्राम।

इन राजों की वंशावली वह इस भाँति देते हैं—

प्रसन्न
(राष्ट्रकूट वंशज)
|
मानमात्र (मानपुर के राजा)
|
सुदेवराज
|
जयराजदेव — भविष्य
|
अभिमन्यु (मानपुर के राजा)

खरियार के ताम्र-पत्र की मोहर पर से तीन ही नाम ज्ञात होते हैं, ऐसा आपका कथन है—

प्रसन्नार्णवसम्भूतमानमात्रेन्दुजन्मन‍ः
श्रीमत्सुदेवराजस्य स्थिरं जगति शासनम् ।

अनुमान किया जाता है कि जयराजदेव सुदेवराज के ज्येष्ठ पुत्र थे। "ठंडाबाटिक" ताम्र-पत्र से ज्ञात होता है कि सुदेवराज के कई पुत्र थे। जयराजदेव और भविष्य भाई रहे होंगे। भविष्य का पुत्र अभिमन्यु 'मानपुर' में रहता था। यह मानपुर, वर्तमान रीवां के बाँदोगढ़ के निकट था।

'शरभपुर' कहाँ था, यह ठीक-ठीक नहीं जाना जाता। फ्लीट विद्वान् का कहना है—This town cannot be identified , however, it is probable that this king (Sudevaraj) reigned in the neighbourhood of the moderntown of Raipur, which is situated in the south of the *Mahanadi* and near its source. This kingdom was therefore situated between Kalinga in the east and the kingdom of the *Vākātākas* in the west. It is also very probable that the kings of Sharabhpura were the Vassals of the *Vākātakas*

रायबहादुर हीरालाल "रायपुर-रश्मि" में लिखते हैं—

डॉक्टर स्टन कुनफ के मतानुसार यह स्थान (शरभपुर) गोदावरी-ज़िले में "शरभवरम" नाम से प्रसिद्ध है। यदि यह ठीक है, तो ये लोग कोई तिलंग राजा थे, जिन्होंने 'सिरपुर' (श्रीपुर) के सोम-वंशियों को अपनी राजधानी से भगा दिया था।

इसके पूर्व रा० ब० हीरालाल का मत था कि 'श्रीपुर' के केसरी-वंश को ध्वंस करने के कारण इन राजों ने, अपने गौरव और प्रताप-प्रदर्शनार्थ, अपने को 'शरभ' के सदृश बली बतलाने के उद्देश्य से, अधिकृत श्रीपुर-राजधानी का नाम बदलकर "शरभपुर" रख दिया था। "शरभ" * एक अष्टपदी वन जंतु है, जो सिंह या केसरी का शत्रु है, और उससे भी अधिक बल रखता है।

'शरभ'-शब्द का प्रयोग महाकवि कालिदास के मेघदूत में भी आया है। यथा—

ये त्वां मुक्तध्वनिमसहनाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
दर्पोत्सेकादुपरि शरभा लङ्घयिष्यन्त्यलङ्घ्यम् ;
तान् कुर्व्वीथास्तुमुलकरका वृष्टिहासावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ।५६।

(अनुवाद)

सुनत शब्द घनघोर शरभ जिहिं परबत माहीं,
कुपित होइँगे अधिक तोहि सहि सकिहैं नाहीं।
कूद कूद, करि दर्प वृथा अपनो तन तोरें ;
तो अलघ्य कों चहैं लाँघ ऊपर कों ओरैं।
बरसाइ घने करका तिन्हैं दीजो बिहँसि भजाइ घन;
को न जगत लज्जित भयो जिन कीनों निष्फल यतन।

(राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद से)

क्या अमर-कवि कालिदास के समय में, किसी पहाड़ी प्रदेश में, शरभ-वंश के वीर राजों का राज्य था? पर ताम्र-पत्रों में "शरभपुर" का उल्लेख है, 'शरभ-वंश' का नहीं।

राजा महासुदेव के खरियार में प्राप्त ताम्र-शासन का श्रीगणेश इस प्रकार किया गया है—

स्वस्ति शरभपुरात् विक्रमोपनतसामन्तमकुटचूडामणिप्रभाप्रसेकाम्बुधौतपादयुगलो रिपुविलासिनीसीमन्तोद्धरणहेतुर्वसुवसुधागोप्रदपरमभागवतो मातापितृपादानुध्यातश्रीमहासुदेवराज ।

बौद्ध राजा सूर्यघोष तथा पांडु-वंशीय राजा

'श्रीपुर' के केसरी-वंशीय राजों के मूल-पुरुष "उदयन" का नाम भांडक (चाँदा सी० पी०) के एक शिला-लेख में आता है ; परंतु इस शिला-लेख के विषय में यह भी कहा जाता है कि यह रतनपुर में मिला था। यह 'भांडक'

भांडक या भद्रपत्तन

* शरभः=अष्टापदमृगविशेष.।

से रतनपुर कब और क्यों लाया गया, इसका कुछ पता नहीं लगता।

उदयन के वंशधर भवदेव "रण-केसरी" के राजत्व के पूर्व "सूर्यघोष"-नामक एक प्रतापी राजा भांडक में राज्य करता था—

आसीत् क्षितौ क्षितिपतिर्नृपमौलिमाला-
माणिक्यभृङ्गपरिचुम्बितपादपद्मः ;
श्रीसूर्यघोष इति सूर्य इवैकचक्र-
यानप्रसादितजगत्प्रथितोरुधामा ।

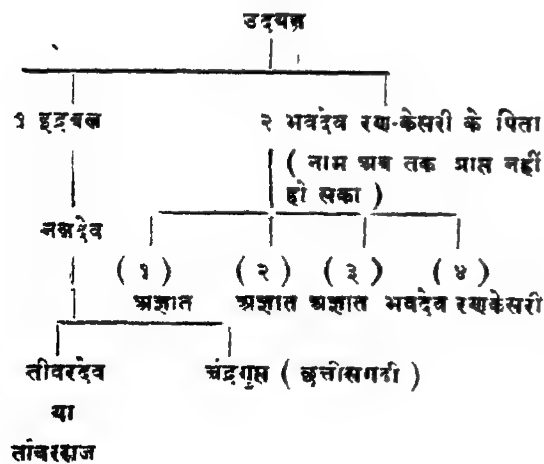
सूर्यघोष के पश्चात् उदयन के वंशधरों का वर्णन है। उदयन-संबंधी श्लोक यों है—

गच्छति भूयसि काले भूमिपतिः सौ रतसकलरिपुपक्षः ;
पाण्डववंशात् गुणवान् उदयननामा समुत्पन्नः ।

उसी लेख के ११वें श्लोक के अंतिम चरण में "भवदेव" का नाम आया है—

भव इव भवदेवस्तस्य पुत्रस्तुरीयः ।

डॉक्टर कीलहार्न का मत है कि "भवदेव रण-केसरी" इंद्रबल के छोटे भाई के चतुर्थ पुत्र थे। 'भांडक'-शिला-लेख के कई श्लोक नष्ट हो गए हैं। उन श्लोकों के नष्ट हो जाने के कारण भवदेव या भवदेव रण-केसरी के पिता का नाम ज्ञात नहीं हो सका, पर भवदेव रण-केसरी ऊपर दी हुई नामावली के तीसरे राजा नन्नदेव के चचेरे भाई थ। यथा—



इन तथा अन्यान्य कारणों से अनेक प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञों का कहना है कि श्रीपुर के केसरी-वंशीय राजाओं की प्राचीन राजधानी भांडक (ज़ि० चाँदा) में थी। और, जब हुएनसंग (चीनी यात्री) भारत-भ्रमण के लिये आया था, तब महाकोसल की राजधानी इसी भांडक (प्राचीन भद्रावती) में थी। यह ईसा की सातवीं सदी और सन् ७०० के आसपास की बात है। रायबहादुर हीरालाल सा० लिखते हैं—

The celebrated Chinese traveller *Yuan Chuang* (Hiuen Jsiang) visited this Province (C. P.) in the 7th Century A. D., and found a Kshatriya King, but Buddhist in religion ruling over *Mahakosala*, of which *Bhandak* (old Bhadravati) was then the capital.*

अर्थात् जब सन् ईसवी के सातवीं सदी में हुएनसंग मध्य-प्रदेश में आया था, तब उसे महाकोसल में एक बौद्ध धर्मावलंबी क्षत्रिय राजा राज्य करता हुआ मिला था। उस समय महाकोसल की राजधानी भांडक में थी।

हुएनसंग ने सन् ६३९ ई० के महाकोसल का जो वर्णन किया है, वह नीचे इस प्रकार है—

"The king is of Kshatriya caste. He deeply reverences the law of Buddha, and is well affected towards learning and the art. There are 100 *Sangharams* in the capital and 10 thousand monks. There are a great number of heretics, who have intermixed with the population, and also Deva temples.

'This country, more than 6000 *li* circuit, was surrounded by mountains and was a succession of woods and marshes, its capital being about 40 *li* in circuit. The soil of the country was rich and fertile, the towns and villages were close together, the people were prosperous, tall of stature and black in colour."

महाकोसल-देश का राजा क्षत्रिय-जाति का है। वह बौद्ध धर्म का बड़ा आदर करता है, विद्या और कला के प्रति उचित अनुराग रखता है। उसकी राजधानी में १०० संघाराम (बौद्ध मठ) हैं, और १०,००० बौद्ध साधु रहा करते थे। भिन्न धर्मावलंबी (विशेषतः हिंदू) लोगों की संख्या अत्यधिक है, और देव-मंदिर (हिंदुओं के मंदिर) भी बहुत हैं।

* Indian Antiquary, July 1908, P. 208, footnote 19.

राज्य का घेरा ६००० ली है। यहाँ पहाड़ और जंगल तथा दलदल भरे पड़े हैं। राजधानी का घेरा ४० ली है (ली= ⅕ मील)। राजधानी का घेरा इस हिसाब से ८ मील, और राज्य का १२०० मील होता है। भूमि सरस और उपजाऊ, और ग्राम तथा नगर घने बसे हुए थे। लोग संपन्न थे। वे क़द के ऊँचे और काले रंग के थे।

हुएनसंग ने अपने "यात्रा-विवरण" में न तो इस राजा ही का नाम दिया है, और न राजधानी ही का। यदि उसके द्वारा राजा और राजधानी का स्पष्ट नामोल्लेख किया गया होता, तो उससे पता लग जाता कि सातवीं सदी में पांडु-वंशीय राजा राज्य करते थे, या अन्य किसी राजवंश के वंशधर इस भूमि के दंडधर थे।

"राजर्षितुल्यकुल" वंश के राजा अथवा वर्मा राजवंश

सन् ६०१ ई० का लिखा हुआ एक ताम्र-पत्र

६ वर्मा राजवंश

आरंग (ज़ि० रायपुर) के श्रीकृष्ण मालगुज़ार के पास है। यह ताम्र पत्र "राजर्षितुल्यकुल" वंश के राजों से हमें परिचित कराता है, और इसमें दिया हुआ समय "गुप्त-संवत" है।

सन् ६३९ ई० में हुएनसंग महाकोसल में यात्रा-प्रसंग से आया था। उसके आगमन के ३८ वर्ष पूर्व का लिखा हुआ यह ताम्र-पत्र है। क्या हुएनसंग की यात्रा के समय इसी राजवंश का आधिपत्य महाकोसल में था ? तब क्या इस वंश का तात्कालिक राजा बौद्ध धर्मा-वलम्बी था ? ताम्र-पत्र में राजधानी का नामोल्लेख नहीं है; नहीं तो इस दिशा में कुछ प्रकाश पड़ सकता था। ताम्र-पत्र के लेख में कोसल देश या कोसलाधिपति आदि शब्दों का भी प्रयोग नहीं किया गया। वेदज्ञ ब्राह्मणों को दान देते हुए भला राजों को यह क्या ज्ञात था कि कभी ऐसा समय भी आवेगा कि उनके दान-पत्र या ताम्र-शासनों में लिखित संक्षिप्त वाक्यावलियों की ऐसी छान-बीन की जायगी।

दोंडा-नामक ज़िले के "वटपालिका" ग्राम को 'अग्रहार' (देवद्विज-हितार्थ-दान) में प्रदान किए जाने का उल्लेख 'ताम्र-पत्र' में है। ये दोनों स्थान रायपुर-ज़िले में हैं। आरंग से २५ मील पश्चिम-दिशा में एक "दुंडा"-नामक ग्राम है। यही "दोंडा" कहलाता रहा होगा। 'वटपालिका' का वर्तमान नाम 'बटपाली' हो गया है। यह स्थान आरंग से ३० मील पूर्व की ओर है।

महाराज भीमसेन (द्वितीय) का आरंगस्थ ताम्र-पत्र

ॐ स्वस्ति ॥ सुवर्णनद्याः सर्व्वमद्राजर्षितुल्यकुल-प्रभावकीर्तेः श्रीमहाराजसूरस्य प्रपौत्रः प्रजादयितस्य श्री-महाराजदयितस्य पौत्रः प्रख्यातसामन्तस्याशातविभीष-णस्य श्रीमहाराजविभीषणस्य पुत्रः शक्तिसिद्धिसम्पन्नो धर्म्मविजयी न्यायोपार्जित अनेकरत्नगोभूमिस्वर्णहिर-ण्यादिप्रदः श्रीमहाराजभीमसेनः तस्य पुत्रः तच्चरितानु-कारी सद्भिर्महद्भिश्च आध्युषितसदः श्रीमहाराज-दयितवर्म्मा तस्य पुत्र. तत्पादानुध्यातोत्य(न्त)देव-गुरुब्राह्मणभक्तः श्रीमहाराजभीमसेनः कुशली।

दोण्डविषयिकवटपालिकायाम ब्राह्मणादीन् प्रति-वासिनः कुशलमुक्त्वा समाज्ञापयत्येषः ग्रामो मया भद्रभोगेनैव मातापित्रोरात्मनश्च पुण्याभिवृद्धये भरद्वाजसगोत्राभ्याम् बह्वृचहरिस्वामिबप्पस्वामिभ्याम् सर्वप्रत्ययवान् महाप्रलयकालावस्थाय्याग्रहारो दत्तस्तन भवद्भिरनयोराज्ञाश्रवणविधेयैर्भूत्वा समुचितमेयसुवर्ण-हिरण्यादिप्रत्यायोपनयः कर्तव्यः ॥

यश्चात्र कश्चित उभयलोकनिरपेक्षः सन्दशाभिरती-तैरागामिभिश्च एतावद्भिः स्ववशः सहाधोयियासुः स्वल्पम् अपि पीडान कुर्यात कारयेत अनुमन्येत् वा सपञ्चभिः महापातकैरुपपातकैश्च संयुक्तः [स्यात् एनश्चास्मिन्नर्थे भगवता व्यासेन अभिहितम्।

षष्टिवर्षसहस्राणि स्वर्गे मोदति भूमिदः।
आक्षेता चानुमन्ता च तान्येव नरके वसेत ॥

इति एवमादिश्लोकः

गुप्तानां संवत्सरशते २००, ८०, २=२८२ गुप्त-संवत (सन् ६०१ ई०)

भाद्र दि. । १०८ दूतकश्च राजपुत्र
सुभद्रः उत्कीर्णम् च लक्ष्मणेनेति ॥

ताम्र-शासन का भावार्थ नीचे दिया जाता है—

ॐ स्वस्ति। सुवर्ण नदी से (यह शासन दिया गया) अपने पिता के पद-कमलों में ध्यान-रत, देव-गुरु-ब्राह्मणों के परमभक्त श्रीमहाराज भीमसेन हुए। इनके पिता महाराज दयितवर्मा थे, जो अपने पिता के आदर्श पर चलनेवाले थे, और जिनकी राजसभा सज्जन-महज्जनों से सदा समलंकृत रहा करती थी। दयितवर्मा के पिता शक्ति-सिद्धि-संपन्न, धर्म-विजयी, न्यायोपार्जित अनेक रत्न-गो-भूमि-स्वर्ण-हिरण्यादि-प्रदाता श्रीमहाराज

भीमसेन हुए। भीमसेन के पिता श्रीमहाराज विभीषण हुए, जो सामंतराजों से वंदित और अपने शत्रुगण में अत्यंत भय उत्पन्न करनेवाले थे। इन श्रीमहाराज विभीषण के पिता, परम प्रजापालक श्रीमहाराज दयित थे। और, इनके पिता थे श्रीमहाराज सूर, जो सर्वराजर्षियों के कुल प्रभाव और कीर्ति के तुल्य कुल प्रतिष्ठा, राज-वैभव और सुयश से सुशोभित थे।

वह महाराज भीमसेन स्वस्थावस्था में रहकर एवं दोंडा-नामक विषय (ज़िला) के 'वटपालिका' ग्राम के ब्राह्मण तथा अन्यान्य निवासियों की शुभ-कामना-पूर्वक यह आज्ञा दे रहे हैं—

समृद्धि के साथ राज्य-शासन करते हुए मेरे द्वारा यह ग्राम, माता-पिता की तथा स्वीय धर्म-वृद्धि के निमित्त भरद्वाज-गोत्रीय ऋग्वेदी हरिस्वामी, और बप्पास्वामी को अग्रहार * (दान) के रूप में समस्त भूमिकर-सहित महाप्रलय-पर्यंत दिया गया। इसलिये उन (द्विजवरों) की आज्ञा के पालन में दत्तचित्त होकर आप सब उन्हें उचित रीति से भूमिकर स्वर्णमुद्रा, हिरण्यादि दिया करें। यदि कोई व्यक्ति दोनो लोकों से निरपेक्ष हो अपने विगत दश पीढ़ी और आगामी दश पीढ़ियों-सहित नरक जाने की इच्छा रख इस दान या कीर्ति को किंचित् भी हानि पहुँचावे, या हानि पहुँचाने के काम में सम्मति दे, वह उपपातकों के सहित पाँच महापातकों का भागी होगा। भगवान व्यास ने इस संबंध में कहा है—

भूमिदान देनेवाला पुरुष साठ हज़ार वर्षों तक स्वर्ग में सुख भोगता है; पर जो मनुष्य दान में दी हुई भूमि को छीन लेता है, या उसके हरण करने में अनुमति प्रकट करता है, वह साठ हज़ार वर्षों तक नरक में दुःख पाता है।

इसी प्रकार अन्य पद्यों में भी कहा गया है।

गुप्तों के संवत्सर में २००, ८०,२ =२८२

भाद्र दिन १०,८ = १८

राजपुत्र सुभद्र दूतक (राजाज्ञा-वहनकारी) थे।

लक्ष्मण ने (ताम्र-शासन के लेख को) खोदा।

सन् ६०१ ई० के आगे महाकोसल में भीमसेन (द्वितीय) के पूर्वजों का राज्य कब तक रहा, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता; पर 'भीमसेन' (द्वितीय) से 'सूर' तक ६ पीढ़ियाँ होती हैं। यदि प्रति पीढ़ी का शासन-काल २० वर्ष माना जाय, तो 'सूर'-नामक राजा का शासन ६×२०=१२० वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ होगा।

सन् ४८१ ई० (१) सूर
(२) दयित
(३) विभीषण
(४) भीमसेन (प्रथम)
(५) दयित वर्मा
सन् ६०१ ई० (६) भीमसेन (द्वितीय)

सन् ६०१ में १२० वर्ष घटा देने पर सन् ४८१ ई० रहता है, जो महाराज 'सूर' के शासन-काल का द्योतक है। इस वंश को हम 'वर्मा'-राजवंश क्यों न कहें ? दयित (द्वितीय) के नाम के साथ 'वर्मा'-पद शोभित भी है।

महेंद्र

सन् ईसवी की चौथी सदी के मध्य-काल में, सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपने दिग्विजय-क्रम में, महाकोसल के राजा महेंद्र को अपना करद राजा स्वीकार कर एवं उनके राज्य-श्री को अपहरण न कर अपनी महानुभावता प्रकट की थी। उस समय 'दक्षिणापथ' में अनेक राज्य थे। प्रयाग के क़िले की "लाट" के शिला-लेख में उन राज्यों और राजाओं के नाम दिए गए हैं। यथा—

७ कौसलयक महेंद्र

१ कौसलयक महेंद्र, २ महाकांतारक व्याघ्रराज, ३ कौरलक मंत्रराज, ४ पैष्टपुरक महेंद्र, ५ गिरिकोट्टूरक स्वामिदत्त, ६ एरंडपल्लक दमन, ७ कांचेयक विष्णुगोप, ८ अवमुक्तक नीलराज, ९ वेंगेयक हस्तिवर्म, १० पालक्कक: उग्रसेन, ११ दैवराष्ट्रक कुबेर, १२ कौस्थलपुरक धनंजय प्रभृति सर्व-दक्षिणापथराजग्रहण-मोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य।

समुद्रगुप्त को अपनी विजय-यात्रा में सबसे पहले महाकोसल मिला; पर उस समय उसका नाम 'कोसल' ही रहा होगा। नहीं तो कौसलयक न लिखकर "महाकौसलयक" लिखा गया होता। कोसल-देश के महेंद्र के अतिरिक्त 'लाट' के शिला-लेख से और कुछ नहीं जाना जाता। 'रायपुर गज़ेटियर' में तो ऐसा लिखित है—

× × In the middle of the 4th century A. D., when the great Emperor Samudra Gupta directed his attention to the conquest of the south, and the kingdom of the *South Kosala*, the old name of Chhattisgarh was the first country he conquered in his 'kingdom taking' expedition.

* A grant-made in favour of a God or a Brahman.

The invader marching due south from his capital पाटलिपुत्र or पटना overthrew its king *Mahendra*

कोसल के बाद का देश 'महाकांतार' था, जो आजकल की धमतरी-तहसील के 'सिहावा'-नामक स्थान और उसके आसपास के विस्तृत आरण्य-प्रदेश में फैला हुआ था। अन्यान्य देश दक्षिण-दिशा की ओर थे। पिष्टपुर (आधुनिक पिट्टपुरम्) कलिंग-देश की प्राचीन राजधानी थी।

कुमारगुप्त की मुद्राओं में एक ओर* "श्रीमहेन्द्र" लिखा हुआ मिलता है, और दूसरी ओर—

† विजितावनिरवनिपतिः
कुमारगुप्तो दिवं जयति।

लिखित है क्या ऐसी मुद्राएँ कोसलराज "महेंद्र" की हैं? क्या कुमारगुप्त के समय तक 'महेंद्र' जीवित थे?

कई मुद्राओं पर "श्रीअश्वमेध महेन्द्र" लिखित है; कई पर "जयत्यजेयो जितमहेन्द्र" लिखित है।

इन मुद्राओं से महेंद्र (कोसल-नरेश) का कुछ संबंध है या नहीं, यह सुप्रसिद्ध मुद्रा-तत्त्वविद् पंडित ही बतला सकते हैं।

'महेंद्र' महाराज ने महाकोसल के किस पवित्र स्थल में अपनी राजधानी स्थापित की थी, इसका भी पता लगाने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

किरारी (चंद्रपुर) के काष्ठस्तंभ पर लिखित प्रशस्तिवाले राजे

८ अज्ञात-नाम महाराजाधिराज

सन् १९२१ के मई-महीने में, बिलासपुर-ज़िले के चंद्रपुर-तालुक़े के "किरारी"-नामक एक ग्राम के तालाब के भीतर, मिट्टी से एक ९ हाथ लंबा चौकोर यज्ञ-स्तंभ प्राप्त हुआ था। स्तंभ सरई या साल लकड़ी का है। इस खंभे के चारों ओर सब मिलाकर ४०० के ऊपर अक्षर रहे होंगे। स्तंभ के धूप में रहने के कारण अक्षर नष्ट-भ्रष्ट हो गए। अब खंभे पर केवल २५-२६ अक्षर बच रहे हैं। खंभा नागपुर के अजायबघर में रक्खा गया है।

स्तंभ के लेख की एक नक़ल किरारी के पंडित लक्ष्मीप्रसाद ने उतार ली थी। उस पर से पुरातत्त्वज्ञों को पता लगा है कि स्तंभ में जो लेख या प्रशस्ति थी, उसका एक बड़े ही प्रतापशाली महाराजाधिराज से संबंध था। उस महाराजाधिराज की राजसभा में महासेनानी, सेनापति, भांडागारिक, महानासिक (Kitchen Officer), सौगंधिक (Officer-in-charge of perfumes), गोमांडलिक (Officer-in charge of cows & cattle), लेखवारक, कुल-पुत्रक (architects), रथिक, अश्वारोही, नगर-रक्षक आदि प्रधान-प्रधान कर्मचारी थे। इनकी राजधानी कहाँ थी, यह ज्ञात नहीं। खंभे के अक्षरों से अनुमान किया जाता है कि इन महाराजाधिराज का समय ईसा की दूसरी सदी के आसपास रहा होगा।

९ राजा कुमार-वासंत

शक्ति या सक्ती-राज्य के गुंजी-नामक गाँव के पास एक चट्टानपर 'कुमारवासत' राजा के दो शिला-लेख पाली-भाषा में हैं। ये ईसवी सन् की पहली सदी के हैं। "कुमार वासत" राजा के वंश या राजधानी का कुछ पता नहीं चलता।

पौराणिक काल की राजधानियाँ

पौराणिक काल की राजधानियों में तीन नाम अति प्रसिद्ध हैं—

(१) रत्नपुर या रत्नावतीपुर
(बिलासपुर-ज़िले का रतनपुर)
(२) मणिपुर या चित्रांगदापुर
(रायपुर-ज़िले का सिरपुर)
(३) भद्रावतीपुर या भद्रपत्तन
(चाँदा-ज़िले का भांडक)

रत्नावतीपुर का वर्णन 'महाभारत' तथा "जैमिनी अश्वमेध" में दिया गया है। प्रसिद्ध हैहय-वंशीय राजा मयूरध्वज की राजधानी रत्नावतीपुर में थी।

मणिपुर में अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन राज्य करते थे। 'महाभारत' में मणिपुर का उल्लेख है। बभ्रुवाहन की माता चित्रांगदा इसी मणिपुर के राजा की पुत्री थी। चित्रांगदा की सौत उलूपी शेषनाग की कन्या थी।

भद्रावतीपुर में यौवनाश्व (बनासु) राजा राज्य करते थे। इन्हीं के यहाँ 'श्यामकर्ण' अश्व था, जिससे महाराज युधिष्ठिर का अश्वमेध किया गया था। 'जैमिनि अश्वमेध' में इस राजा और उसकी राजधानी का सुंदर वर्णन किया गया है।

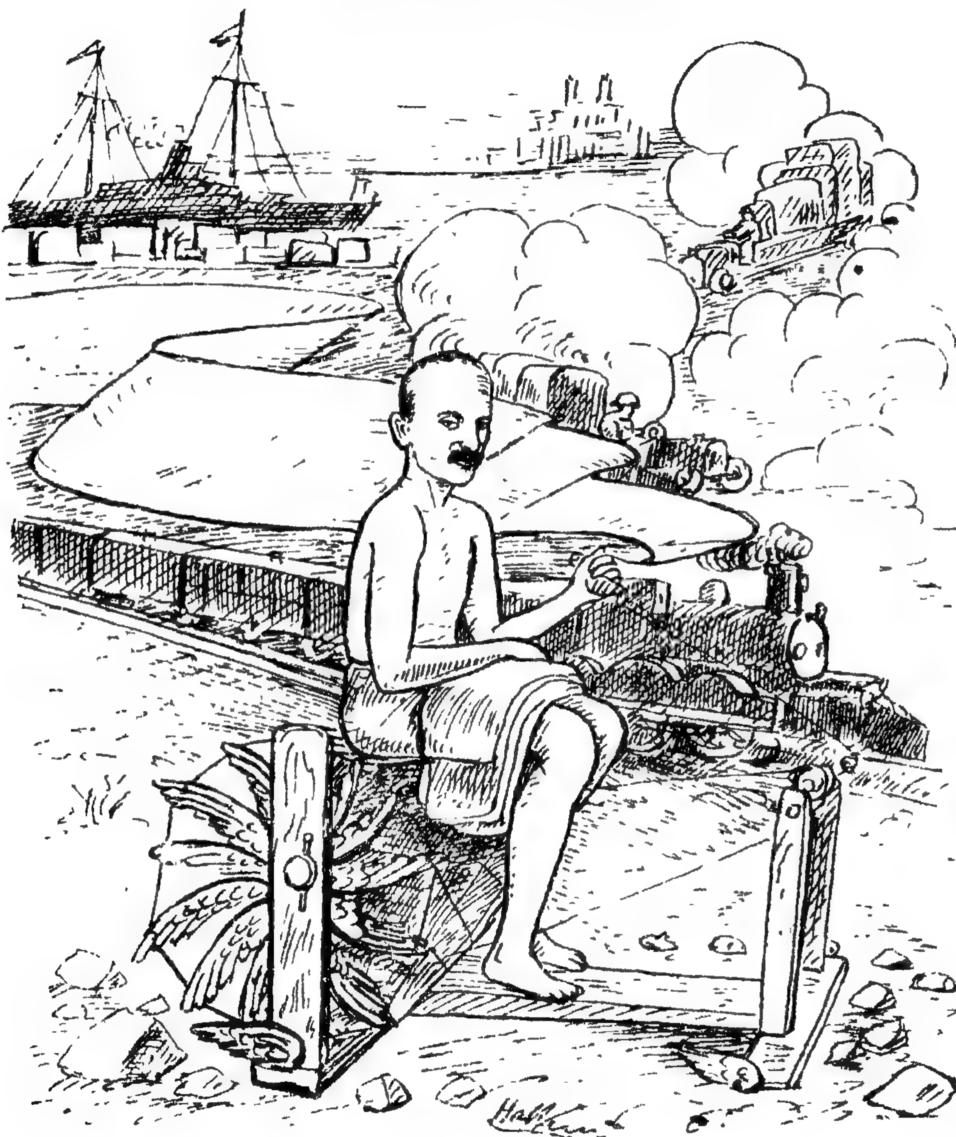
लोचनप्रसाद पांडेय

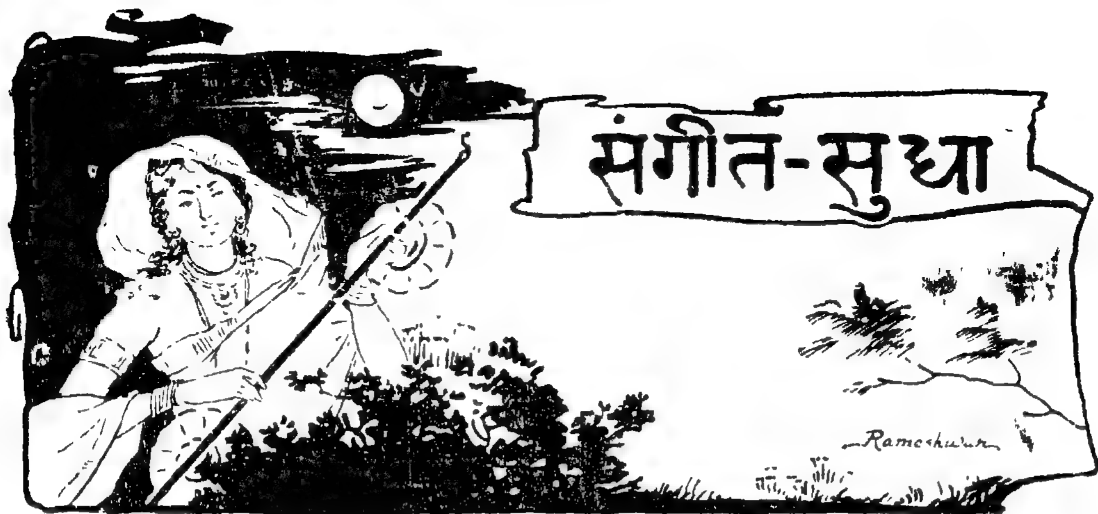
---

* देखिए, श्रीयुत राखालदास बनर्जी-कृत "प्राचीन मुद्रा"।

दौड़

[चित्रकार—हकीम मुहम्मदखाँ]





स्वरकार—"निषाद"] [शब्दकार—गोविंदवल्लभ पंत

भैरवी—तीन ताल

गीत

कोई नहीं इस जग में अपना।

(१)

सुख-वैभव है केवल छाया,
आशा है मृगतृष्णा, माया,
मुग्ध हुआ क्यों, क्यों है लुभाया ?
जीवन निद्रा, जग है सपना।
कोई नहीं इस जग में अपना।

(२)

कंटक बिछे हुए पग-पग में,
कठिन क्लेश, दारुण दुख जग में ;
विरह-वियोग-भरे इस मग में—
कभी तड़पना, कभी कलपना।
कोई नहीं इस जग में अपना।

(३)

श्याम सलोना, नँद का लाला,
रासविहारी, वंशीवाला,
उसके गुण की लेकर माला—
उसको सुमिर, उसी को जपना।
कोई नहीं इस जग में अपना।

स्थायी

२				०				३				×			
नी	सा	ग	म	गम	पध	पम	प	ग	प	ध	सांनी	ध	प	मग	रेसा
को	—	ई	न	हीं-	--	इ-	स	ज	ग	में	--	अ	प	ना-	--
नी	—	सा	सा	ग	—	म	म	ग	ग	म	प	म	ग	रे	सा
को	—	ई	न	हीं	—	इ	स	ज	ग	में	—	अ	प	ना	—

अंतरा—१

ध	ध	म	म	धनी	सांरें	सांरें	सांरें	नी	—	सां	सां	नीसां	रें	सांनी	ध
सु	ख	वै	—	भ-	व-	है-	--	फै	—	य	ल	छा-	—	या-	—
प	—	प	प	पध	पनी	धप	म	ग	—	म	प	ग	रे	सा	—
आ	—	शा	—	है-	—	मृ-	ग	तृ	—	ष्णा	—	मा	—	या	—
सा	ध	प	ध	प	ध	पध	निसां	सारें	सांगं	रेंसां	नी	नीसां	नीरें	सांनी	ध
मु	—	ग्ध	हु	आ	—	क्यों-	--	क्यों-	--	है	लु	भा-	--	या-	—
प	—	म	म	मप	मध	पम	ग	नी	नी	सा	म	ग	रे	सा	—
जी	—	व	न	नि-	--	द्रा-	—	ज	ग	है	—	स	प	ना	—

सर्वाधिकार रक्षित]

शेष अंतरे भी इसी प्रकार



१. उत्कल-भाषा में श्रीतुलसी-रामायण



परम हर्ष का विषय है कि गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरित-मानस' के सातों कांडों का सरल, सरस उत्कलानुवाद छपकर प्रकाशित हो गया। उत्कलानुवाद पयार-छंद (१४ अक्षर के छंद) में किया गया है, और पूर्ण मित्राक्षर है। यथास्थान क्षेपकों का भी अनुवाद कर दिया गया है। इसके अनुवादक हैं उत्कल-साहित्य के प्रसिद्ध लेखक और कवि श्रीरामेश्वरदास 'कवि भूषण'। आप संबलपुर-ज़िले के रहनेवाले हैं, और आजकल संबलपुर से "साधना"-नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाल रहे हैं। इसके पहले आप "उत्कल-सेवक" (साप्ताहिक पत्र) तथा "हीराखंड" (मासिक पत्र) के संपादक रह चुके हैं। सातों कांड सुंदर काग़ज़ पर स्वच्छता से छापे गए हैं। मूल्य ३) प्रति पुस्तक है। इसकी भूमिका उड़ीसा में विख्यात 'भक्त कवि' रायबहादुर श्रीमधुसूदनराव महोदय ने लिखी है।

गत १६ वर्षों से अनुवादक महाशय इस परम पावन ग्रंथ-रत्न के प्रकाशन के प्रयत्न में धनी-मानी सज्जनों के साहाय्य की अपेक्षा करते रहे; पर न तो छत्तीसगढ़ के देशी राज्यों के अधिपतियों ने, और न उड़ीसा की राजन्य-मंडली ने ही अपने को इस विमल यश और पुण्य के भाजन बनाने की उदारता एवं गुणग्राहकता प्रकट की। यह पुण्य और सुयश मदरास-प्रांत के गंजामांतर्गत, धराकोट के अधिपति श्रीमान् माननीय राजा श्रीमदनमोहनसिंहदेवजी के लिये संचित था, और उन्हीं की उदार सहायता से ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। ग्रंथ में आपका एक सुंदर चित्र (फ़ोटो) भी दिया गया है, और एक फ़ोटो अनुवादक महाशय का भी है। इस बृहद् ग्रंथ के अनुवाद और प्रकाशन पर हम अनुवादक एवं धराकोटाधिपतिजू को हार्दिक बधाई देते हैं, जिनकी प्रतिभा और राम-भक्ति के कारण यह अमूल्य ग्रंथ उड़ीसा प्रांत एवं उड़िया-भाषा-भाषी जनता को सुलभ हो सका।

भूमिका-लेखक रायबहादुर मधुसूदनराव महोदय ने 'रामचरित मानस' तथा उसके अनुपम प्रचार और प्रसार-पूर्वक अलौकिक प्रभाव का वर्णन बड़े ही मार्मिक शब्दों में किया है, जो अक्षर-अक्षर सत्य है। आपने ग्रियर्सन साहब की नीचे-लिखी सम्मति भी उद्धृत की है—

It is difficult to speak of it in too high terms. It has made Hindustan what it is now, a country of sturdy yeoman, honest, simple, and not afraid to fight for what they believe to be right. Tulsi Das is one of the few poets who has sounded the depth of humanity who appeals to the east and west alike, who is not the poet of any time but of all times, not for any country but for all the world, where there are men who have hearts to feel, to honour, and to love.

नीचे इस अनुवाद से कुछ पद्य मूल-सहित दिए जाते हैं —

(मूल)

सोइ सर्वज्ञ, गुणी, सोइ ज्ञाता ;
सोइ महि-मंडल पंडित दाता।
धर्म-परायण सोइ कुल-त्राता ;
रामचरण जाकर मन राता।

(उड़िया-अनुवाद *)

से एका सर्वज्ञ सेहि सुगुणी सुज्ञाता ;
सेहि टि मही मंडन सुपंडित दाता।
धर्म-परायण सेहि कुल त्राणकारी :
रामचरण रे मन आसक्त जाहारि।

(मूल)

नीति-निपुण सोइ परम सयाना ;
श्रुति-सिद्धांत ठीक सोइ जाना।
सोइ कवि-कोविद सोइ नर-धीरा ;
जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा।

(उड़िया-अनुवाद)

नीति रे निपुण सेहि परम चतुर ;
निगम सिद्धांत ज्ञान ताहार प्रचुर।
सेहि टि कोविद काव से नर सुधीर ;
जेहु छल छाड़ि भजे राम रघुबीर।

(मूल)

धन्य नारि पतिव्रत अनसरी ;
धन्य सो देश, जहाँ सुरसरी।
धन्य सो भूप नीति जो करई ;
धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई।

(उत्कलानुवाद)

धन्य सेहि पातिव्रत्य जे नारी आचरे ;
धन्य सेहि देश जहिं जाह्नवी बिचरे।
धन्य सेहु भूप जेहु राजनीति धरे ;
धन्य सेहि द्विज रहे जे निज धर्मरे।

हमने अपने एक लेख में (देखिए, माधुरी, पृष्ठ १६ श्रावण सं० १६८०) गोविंद कवि-कृत 'रामचरित-मानस' के अनुवाद से ग्रंथ के आदि की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। उसी अंश का अनुवाद हम कविवर स्वमेश्वरदासजी के ग्रंथ से पाठकों को भेंट करते हैं—

जय सिद्धि-दाता करि-मुख गणेश्वर ;
हे बुद्धि-गण-सदन अनुकंपा कर।
जय रामचंद्र जय दशरथ-बाल ;
तव कृपा-बले मूक हुअइ बाचाल।
तुम्भ अनुग्रहे पंगु लंघे गिरिवर ;
परमानंद माधव मोते त्राहि कर।
जय कोकनद-नेत्र इंदीवर-गात्र ;
'क्षीर-सिंधु-शायि' मुहि तव कृपा-पात्र।
कृपा-मूर्ति उमापति कुंद-इंदु-देह ;
मदन-मर्दन कर दीन प्रति स्नेह।
वंदे कृपासिंधु, नर-हरि गुरु-पद,
मोह तम विनाशन—भानुजाक-पद।
सुंदर सुवास गुरु-चरण-पंकज ;
बंदुछि से रम अनुरागयुक्त रज।
गुरु-पाद-पद्म-रज अमृत चूरण ;
भव-व्याधि-विनाशने अटइ शमन।
से रजर गुणराशी अलेख अनंत ;
शिव विमल विभूति परि मंडवंत।
सेवक-मन-मुकुर कलुष-हारक ;
गुरु पद-रज वशीकरण तिलक।
गुरु पद-नख मणि पुण्य ज्योति परि,
दर्शन अज्ञान-तम दिअइ संहरि।

यद्यपि इस अंश का अनुवाद एक सुयोग्य पंडित का किया हुआ है, तथापि ग्रामीण और अपढ़ गोविंद साव के अनुवाद से सरसता में बढ़कर नहीं है।

पाठक, उत्कलानुवाद के दो-चार और उदाहरण देखिए—

मूल

काम कोह मद मान न मोहा ;
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा।
जिन्हके कपट दंभ नहिं माया ;
तिनके हृदय बसहु रघुराया।

(उत्कलानुवाद)

नाहिं जार मने काम क्रोध मद मोह ;
काहा प्रति नाहिं लोभ छोभ राग द्रोह।
दांभिकता, कपटता माया, नाहिं जार ;
हे रघु पुंगव बस, हृदये ताहार।

* उड़िया-अनुवाद की इन पंक्तियों का मिलान उड़िया-प्रेमी पाठक "श्रीगोविंद-रामायण" की पंक्तियों से कर सकते हैं। 'गोसाईं-कृत रामायण का उड़िया और बँगला-अनुवाद'-शीर्षक हमारा लेख माधुरी (श्रावण १६८०) में देखिए।

(मूल)

सबके प्रिय सबके हितकारी ;
दुख-सुख-सरिस प्रशंसागारी ।
कहहि सत्य-प्रिय वचन विचारी ;
जागत सोवत सरन तुम्हारी ।
तुम्हहिं छाड़ि गति दूसरि नाहीं ;
राम बसहु तिन्हके मन माहीं ।

(उत्कलानुवाद)

समस्तंक प्रिय सर्व-जन हितकारी ;
सुख दुःख निंदा स्तुति समान जाहारि ।
विचारि कहइ सत्य प्रिय जे वचन ;
निद्रा जागरणे निए तुम्हर शरण ।
तुम्भकु छाड़ि जाहार नाहिं अन्य गति ;
ता हृदय मध्ये राम ! करह बसति ।

(मूल)

जननी सम जानहिं परनारी ;
धन पराव विष तें विष भारी ।
जे हरषहिं पर-संपति देखी ;
दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी ।
जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पियारे ;
तिनके मन शुभ सदन तुम्हारे ।

(उत्कलानुवाद)

परर रमणी मणे जननी समान ;
पर धन विष ठारू बालि करे ज्ञान ।
हरषित हुए देखि जे पर संपत्ति ;
विशेष दुःखित देखि परर विपत्ति ।
प्राण-सम प्रिय जेहू तुम्भक मणइ ;
ता हृद शुभ सदन तुम्हर अटइ ।

पं० स्वप्नेश्वरदासजी के अनुवाद के प्रकाशन के पूर्व गंजाम (मदरास) के एक रामभक्त सज्जन-द्वारा लिखित गुसाईंजी के 'रामचरित-मानस' का उत्कलानुवाद प्रकाशित हो चुका था, और उस अनुवाद ही को प्रकाशित अनुवादों में प्रथम कहलाने का गौरव प्राप्त है । वर्तमान अनुवाद छपे अनुवादों में दूसरा है ; पर भाषा, भाव और अनुवाद की उत्तमता में पं० स्वप्नेश्वरदासजी-कृत अनुवाद का स्थान ऊँचा है । उभय अनुवादों को ध्यान-पूर्वक पढ़नेवाले उत्कलीय विद्वानों की ऐसी ही सम्मति है । जो हो, हमें तो इसका हर्ष है कि विद्वद्रोत्कल में गोसाईंजी-कृत रामायण का एक अनुवाद यदि उत्कल-भाषी जनता में "श्रीतुलसी की कविताई" की सुधा सुलभ कर रहा है, तो अन्य अनुवाद मदरास-प्रांत के 'गंजाम' में उक्त अमर काव्य का "गुण-गौरव-ग्राम" फैला रहा है । श्रीजानकी-जीवन भगवान् रामचंद्रजी की दया से इन अनुवादों का प्रचुर प्रचार हो, यही कामना है ।

गंजाम-वासी सज्जन के अनुवाद के अवलोकन का अवसर हमें अद्यावधि प्राप्त नहीं हुआ । कभी उसका संक्षिप्त परिचय प्रदान करने की चेष्टा की जायगी । पं० स्वप्नेश्वरदास-कृत अनुवाद के मिलने का पता—अनुवादक अथवा मैनेजर, 'साधना-प्रेस', संबलपुर बी०एन्०आर०, उड़ीसा ।

लोचनप्रसाद पांडेय

× × ×

२. आँखों का आकर्षण

अपने दिन रात हुए उनके,
क्षण ही भर में छवि देख यहाँ ;
सुलगी अनुराग की आग वहाँ,
जल से भरपूर तड़ाग जहाँ ।
किससे कहिए अपनी सुधि को,
मन है न यहाँ, तन है न वहाँ ;
अब आँख नहीं लगती पल भी,
जब आँख लगी, तब नींद कहाँ ?

रामनरेश त्रिपाठी

× × ×

३. चित्र

(गद्य-काव्य)

वह एक चित्र था—रेखा-विहीन, आकार-रहित, अपरिचित । किसका चित्र ? चित्रकार ने कहा—'एक चित्र है ; देखो ।' उत्सुकता बढ़ी । चतुर्दिक् दृष्टि डाली ; पर कहीं कुछ नहीं । देखा—न तो धरातल, और न कहीं किसी प्रकार का अंकन । किंतु वह चित्र था, और था चिह्न-विहीन ।

* * *

उसमें प्रकाश था आकाश और सीमा की कल्पना से रहित । किसी निश्चय पर न पहुँचा । जहाँ से देखा—वहीं दो दूरस्थ वस्तुओं का संयोग । और कुछ नहीं, भिन्न-भिन्न रूप-रंग का सम्मिश्रण । एक गोलाकार परिधि के भीतर अंधकार-विहीन प्रकाश । ऊपर-नीचे, दाएँ-बाएँ, चारों

ओर एक रूप, एक प्रकाश—अप्रतिम शोभा। सर्वत्र एक-मयता। किंतु वह एक चित्र था।

*　　*　　*

मौन ? नहीं, सजीव, बोलता हुआ विलक्षण चित्र। उसके हृदय में कविता थी और थी, वाणी से विभूषित। देखा ; मुग्ध हो रहा—तन्मय हो गया। प्रकृति ने मौन धारण किया ; सचराचर जगत् स्तब्ध हुआ—आकाश निष्कंप, वायु शांत, और जल कलरव-विहीन। किंतु वह एक चित्र था।

*　　*　　*

ध्यान टूटा—चैतन्य जगा। देखा, सुषुप्ति और जागृति का संयोग—अद्भुत मिलन। आँख चित्र-पट पर, कानों में नीरव संगीत, वाणी में मूकता। देखा—एक प्रवाह है, प्रकाश में बह रहा है, बीच में मैं और मेरे गले में दोनों ओर से दो हाथ—एक कठोर, कुछ कर्कश ; दूसरा कोमल, शांत। अग्नि और जल का संयोग और उसका केंद्र मेरी ग्रीवा—मेरे स्कंध। किंतु वह एक चित्र था।

*　　*　　*

दृश्य बदला। दो मूर्तियाँ—प्रत्यक्ष, प्रतिबिंब-विहीन—बीच में मैं, जैसे सर्प और भौंरों के बीच में मृणाल। भीरुता सिमकी, कायरता काँपी। हृदय ने फटकार बताई। एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई। धीरज हुआ। अपने को ऊपर से नीचे तक देखा—देखा, मैं स्वयं प्रकाश हूँ। मेरे उच्छ्वास से चतुर्दिक् आलोक है। कितना निर्मल, कितना मधुर। किंतु वह एक चित्र था—केवल रेखा-विहीन नहीं, कल्पना-विहीन।

*　　*　　*

कुछ चकराया। न रहा गया। बोल उठा—कौन? कहाँ—कहाँ ले जा रहे हो ? प्रकाश मुसकिराया—हँस पड़ा। गूँज उठी—प्रतिध्वनि उठी—कर्तव्य और प्रेम—अज्ञात की ओर। मैंने हाथ फैला दिए। खिलखिलाकर झट उसी प्रवाह में कूद पड़ा। चित्र-पट कंपायमान हुआ, जैसे नीरव वायुमंडल में सूर्यालोक। किंतु वह एक चित्र था।

विद्यार्थी जगन्नाथप्रसाद चमड़िया

×　　×　　×

४. बुक-कीपिंग की कठिनाइयाँ

चैत्र-मास की माधुरी के सुमन-संचय में श्रीयुत जी० एस्० पथिकजी का 'बुक-कीपिंग की कठिनाइयाँ'-शीर्षक नोट पढ़कर मुझे अत्यंत आश्चर्य और खेद हुआ। खेद इसलिये कि लिमिटेड कंपनियाँ, विक्रय-कला, बीमा, आयात-निर्यात आदि हमारे देश के लिये सर्वथा नवीन विषयों के अनेकों शब्द रच लेनेवाले श्रीयुत 'पथिक'जी बुक-कीपिंग-जैसे विषय के शब्दों को, जिस कला के जमा-ख़र्च-विभाग में यह देश अब भी पाश्चात्यों से बाज़ी ले जाने का दावा कर सकता है, रचना में असफल-मनोरथ रहे, और उन्हें इसके लिये बेबस होकर 'माधुरी' के विज्ञ पाठकों की सहायता का आवाहन करना पड़ा। ऐसी पोची भाषा के साहित्य की सर्वांगीण उन्नति के पथानुयायी 'पथिकों' के लिये निस्संदेह यह दुर्भाग्य की बात है। ऐसे दुस्तर कार्य में अपना जीवनार्पण करनेवालों की शतशः बलिहारी है।

खेद के साथ ही आश्चर्य करने का कारण यह कि श्रीयुत 'पथिक'जी, जो अँगरेज़ी बुक-कीपिंग का हिंदी में अनुवाद कर इस भाषा पर असीम उपकार करना चाहते हैं, स्वयं ही इस विषय में अर्धदग्ध मालूम पड़ते हैं। 'नीम हकीम ख़तरे जान'वाली उक्ति के अनुसार हमें तो इससे भाषा की हानि होने का ही डर है। यह तो आपके उक्त नोट के पढ़ने से स्वतः सिद्ध हो जाता है कि आप हमारी देशी बही-खाता-पद्धति से बिलकुल ही अनजान हैं; परंतु 'डबल एंट्री' का 'दो बार हिसाब रखने की प्रणाली', ऐसा अक्षरशः अनुवाद करने की भूल करनेवाले 'पथिक'जी के अँगरेज़ी बुक-कीपिंग के ज्ञान की भी थाह सहज ही लग जाती है। यही कारण है कि इस कला के अँगरेज़ी डेबिट, क्रेडिट, टु और बाई शब्दों के पर्यायवाची हिंदी-शब्दों के बिना आपका अनुवाद-कार्य सहसा रुक गया है। अपने ग्रंथों को भूलकर प्रत्येक विषय के अनुवादित ग्रंथों से ही हिंदी-साहित्य का उपकार होना कठिन है।

अकेले श्रीयुत 'पथिक'जी ही इस विषय में दोषी नहीं, उन्हीं की तरह अन्य विद्वान् भी यह समझे हुए हैं कि हमारे यहाँ अँगरेज़ी की 'सिंगल एंट्री'-पद्धति की भाँति ही अब तक हिसाब-किताब रक्खा जाता है। 'हिसाब की कुंजी' के लेखक, ग्वालियर-रियासत के आसिस्टेंट कमर्शियल आडिटर श्रीयुत हकीम हकीमउल्लाख़ाँ और उक्त पुस्तक के भूमिका-लेखक श्रीयुत कोठारीजी एवं माधुरी के समालोचक श्रीयुत देवीदत्त पंत की भी यही धारणा मालूम पड़ती है। गत वर्ष की 'माधुरी' के ज्येष्ठ के अंक में जब मैंने



निद्रालु महारानी
[श्रीयुत 'प्रेमी' की कृपा से प्राप्त]

N. K. Press, Lucknow.

'हिसाब की कुंजी' की समालोचना में अपनी हिसाब-पद्धति पर स्पष्टतया उक्त लांछन लगा देखा, तो मुझे अत्यंत खेद और आश्चर्य हुआ था। अस्तु, इस छोटे-से नोट से इस विषय का बहुत कुछ समाधान होगा।

बही-खाते की आजकल मुख्य तीन शाखाएँ मानी जाती हैं, यथा—जमाख़र्ची (Recording), घड़ंत (Constructing) और विश्लेषात्मक (Analytical)। इन तीनों ही शाखाओं का भारतीय बही-खाता में समयानुसार विकास हुआ था। अर्थ-शास्त्र के प्राचीनतम ग्रंथों में हमें इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। दुःख की बात है कि इस विषय पर स्वतंत्र रूप से लिखा हुआ कोई भी प्राचीन ग्रंथ पुरातत्त्वज्ञों को आज तक नहीं मिला। इस समय भी जो इसके जानकार हैं, वे प्रायः मारवाड़ी हैं, जिनकी भाषा एवं लिपि विद्वानों को प्रिय नहीं। यही कारण है कि हमारी बही-खाता-पद्धति के संबंध में भ्रमात्मक कल्पनाएँ की जाती हैं। भारतवर्ष में खाने का, कंसाइनमेंट तथा उवाइंट ऐडवेंचर का, हुंडा-मन का व्यापार बहुलता से होता था, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। संभूय समुत्थान-पद्धति पर भी भारतवासियों के व्यापार करने के प्रमाण हैं। इस दशा में भी क्या हमारी बही-खाता-पद्धति को 'सिंगल एंट्री'-सी गँवारू पद्धति मानना भ्रांति नहीं है? यह बात सच है कि आधुनिक लिमिटेड कंपनियों, बैंकों, बीमा-कंपनियों आदि के हिसाब इस पद्धति पर रक्खे हुए नहीं मिलते; परंतु इसका दोष हमारी पद्धति की असमर्थता नहीं, वरन् हमारी ही उपेक्षा है। पाश्चात्य पद्धति प्रारंभ से ही आज की-सी विकसित नहीं थी! इसके इतिहास की गवेषणा का यह स्थल नहीं; परंतु पश्चिम में जिस प्रकार नए-नए प्रकार के व्यवसाय निकलते गए हैं, वैसे ही पाश्चात्यों ने अपनी इस कला को भी विकसित अथवा प्रांजल करने की चेष्टा की है। उन्होंने इसके लिये विदेशी ज्ञान की हू-ब-हू नक़ल नहीं की। नक़ल के पीछे दुर्भाग्य से हमारा यह देश अभी तक मर रहा है, और अपने पड़ोसी जापान का उदाहरण देखकर भी नहीं चेतता। अस्तु। विद्वानों से मेरी नम्र प्रार्थना है कि विदेशी चीज़ के समक्ष आयास की चेष्टा न कीजिए। 'घर की मुर्ग़ी दाल-बराबर' मानकर उसकी आँखें बंद कर क़त्ल मत कर डालिए।

अब 'पथिक'जी की शंकाओं के संबंध में मुझे यह कहना है कि यदि आप इस विषय पर लिखी हुई हिंदी-पुस्तकें देखने की रंच-मात्र भी तकलीफ़ उठाते, अथवा किसी व्यापारी के यहाँ थोड़े दिन तक बही-खाते का काम देखते, तो 'डेबिट', 'क्रेडिट' और 'टु' तथा 'बाइ' की समस्या आपको ऐसी कष्टसाध्य न मालूम पड़ती। परंतु आप तो इसी में मग्न बैठे हैं कि अँगरेज़ी बुक-कीपिंग के बिना हमारा काम ही नहीं चल सकता। तब हिंदी की बही-खाता-संबंधी किताबें देखने की 'प्रेरणा' होती ही कैसे? इस समय हिंदी में छोटी-मोटी मिलाकर बही-खाता पर ही कोई सात पुस्तकें हैं, जिनकी सहायता से प्रत्येक बात विशद रूप से समझ में आ सकती है। अँगरेज़ी में जिसे 'डेबिट' कहा जाता है; उसे हमारे व्यापारी 'नामे', 'लेखे', 'उधार' आदि और क्रेडिट को 'जमा' कहते हैं। जिस प्रकार अँगरेज़ी में, किसी खाते में 'डेबिट' की जानेवाली रक़म 'टु' अमुक खाता (To...a/c) करके, और क्रेडिट की जानेवाली रक़म बाइ (By) करके लिखी जाती है, उसी प्रकार हमारे यहाँ जमा की रक़म 'अमुक खाते जमा' और उधार की रक़म 'अमुक खाते उधार', 'लेखे' या 'नामे' लिखी जाती है। 'टु' के लिये भी 'उधार', 'नामे' अथवा 'लेखे' और बाइ के लिये 'जमा' शब्द ही का प्रयोग किया जाता है। हमारे व्यापारी लोगों ने इन शब्दों के लिये पाश्चात्यों की भाँति अन्य संक्षिप्ताक्षर नहीं रचे हैं।

इस संबंध में यह विचार करना अनुचित न होगा कि हमारे पढ़े-लिखे लोगों को देशी बही-खाता-पद्धति से इतनी घृणा और अँगरेज़ी-पद्धति से इतना प्रेम क्यों है? हमें तो इसका एक-मात्र कारण यह जान पड़ता है कि देशी बहियों की बेडौल शकल, और अँगरेज़ी की भाँति उसका बिना ख़ाने-छपी होना ही इसका प्रधान कारण है। इस पर मारवाड़ी, मुंडी आदि लिपियों के सतत प्रयोग ने घी होमने का काम किया है। परंतु अँगरेज़ी कैश-बुक आदि के कालम जिस प्रकार रूलों-द्वारा खींचे जाते हैं, हमारे यहाँ वे ही काग़ज़ को मोड़कर सल पाड़कर कर लिए जाते हैं। अँगरेज़ी रक़म के लिये जो भिन्न-भिन्न ख़ानों की आवश्यकता हुई है, उसका कारण उस भाषा की असुविधा ही है। हमारी भाँति रुपए, आने और पैसों के संकेत-चिह्नों का वहाँ आविष्कार ही नहीं

हुआ। हमारे ये संकेत-चिह्न इतने असंदिग्ध हैं कि इनमें कभी धोखा ही नहीं होता; परंतु अँगरेज़ी में आने से इधर-उधर लिखे जाने पर अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अस्तु, इतनी सुव्यवस्थित पद्धति को पलट-कर पाश्चात्य पद्धति का अंध अनुकरण सर्वथा अनुचित एवं अवांछनीय है। इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हिंदी में हिसाब रखने के लिये खानेदार किताबों का इस्तेमाल ही न किया जाय, और न हिंदी में कंपनी आदि के हिसाब रखने की चेष्टा ही। लेखक स्वयं हिंदी में 'प्रौढ़ बही-खाता' नाम की पुस्तक 'हिंदी-बही-खाता' की पुरौनी-स्वरूप लिख रहा है, जिसमें अँगरेज़ी की किताबों में बताए हुए प्रत्येक व्यवसाय के हिसाब रखने का दिग्दर्शन रहेगा। भाषा की उन्नति और विद्या के प्रचार के लिये ऐसे अनेकों प्रयास किए जाने की आवश्यकता है; परंतु वे प्रयास उन्हीं के द्वारा होने चाहिए, जो अधिकारी हों। अनधिकार चेष्टा से लाभ के बदले हानि ही की अधिक संभावना है।

एक बात और। हमारे विद्वान् लोग ग्रंथ लिखते समय व्यवहार का कुछ विचार नहीं करते। जिस विषय पर ग्रंथ लिखा जा रहा है, उसकी व्यावहारिक भाषा-प्रणाली कैसी है, इससे वे प्रायः अनभिज्ञ होते हैं। इसीलिये उनके ग्रंथ विद्यार्थियों के सिवा दूसरों के विशेष काम के नहीं होते। उदाहरण-स्वरूप हम 'माधुरी' की आषाढ़-संख्या में प्रकाशित श्रीयुत दयाशंकर दुबे के 'विदेशी हुंडियों की दर और सट्टा'-शीर्षक लेख की एक-दो बातें यहाँ लिखते हैं—

श्रीयुत दुबेजी ने 'टाइम्स ऑफ् इंडिया' के हुंडी-भावों की तालिका को समझाते हुए लिखा था कि B. C. T. T. rate बैंक क्रास तार का रेट है, जो यथार्थ में बिल-कलेक्टिंग रेट है। दैनिक तार की हुंडी के भाव से बिल-कलेक्टिंग रेट सदैव कुछ अधिक रहता है। इसी प्रकार बाज़ार की टोन (Tone) के, जिसे व्यापारी 'रंगत' कहते हैं, कई शब्द प्रचलित हैं, जिनको देखते ही बाज़ार की स्थिति का अनुमान व्यापारी कर लेते हैं। इन बातों का परिचय व्यवहार किए बिना नहीं होता। आशा है, विद्वान् लोग मेरे इस कटु लेख के लिये, जो केवल सद्भावना से लिखा गया है, मुझे क्षमा करेंगे।

कस्तूरमल बाँठिया

× × ×

५. व्यर्थ भटकना

(१)

मैंने चाहा तेरा प्यार।
इसीलिये तेरे चरणों को ढूँढ़ फिरा संसार।
मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर में,
वन-उपवन में, डगर-डगर में,
ढूँढ़ फिरा, पा सका न लेकिन तेरा कहीं निशान;
सब तीर्थों की धूल छानता रहा बना नादान।
आया किंतु न कुछ भी हाथ,
मुझको मिला न तेरा साथ;
योग-भोग कुछ हाथ न आया, हुई ज़िंदगी भार।
मैंने चाहा तेरा प्यार।

(२)

मैंने चाहा तेरा प्यार।
छोटा-सा यह जीव, और यह है अनंत संसार।
कहाँ-कहाँ ढूँढूँ मैं तुझको,
सत्पथ का है ज्ञान न मुझको:
चिल्ला-चिल्ला थका सर्वदा बजा-बजाकर ढोल,
तू भी हँसता रहा, न बोला, भीतर डाँवाँडोल:
तो भी रहा मान में चूर,
भर आया कषाय का पूर:
तेरा झूठा नाम सुनाकर चकित किया संसार;
मैंने चाहा तेरा प्यार।

(३)

मैंने चाहा तेरा प्यार।
छल करने में छला गया मैं बनकर मूर्ख-गँवार।
समझा था, जग को छलता हूँ,
ज्ञात हुआ मैं ही जलता हूँ:
तुझको धोखा देना ही था धोखा देना आप।
अब समझा तू मन में बैठा लखता कार्य-कलाप,
मेरा चूर हुआ अभिमान,
तेरी देख पड़ी मुसकान:
रोया, चरणों से आ लिपटा, फेंका सारा भार;
इसीलिये तेरे चरणों को ढूँढ़ फिरा संसार।

दरबारीलाल जैन

× × ×

६. देश पर भाषा का प्रभाव

दुनिया की बातों को जो पढ़ता है, वह जानता है कि

भाषा का देश पर कैसा प्रभाव पड़ता है। इतिहास-वेत्ताओं से यह छिपा नहीं कि जब विदेशी भाषा का आधिपत्य इस भारतवर्ष में हुआ, तभी इस देश में विदेशियों की सत्ता भी दृढ़ हुई। बिना अपनी भाषा के वे कभी इतनी सफलता के साथ इस देश का शासन नहीं कर सकते थे। पर इस विदेशी भाषा ने कुछ लाभ पहुँचाने के साथ ही देश और जनता में जो भयंकर और सर्वनाशक बीज बोया है, वह अभी तक हमारे सभ्य कहलानेवाले बंधुओं को विदित नहीं। इस बीज का यदि हम समय पर नाश न कर सकेंगे, तो हमें डर है कि वह पल्लवित होकर हमारा सत्यानाश कर देगा।

स्वराज्य की मुख्य नींव 'भाषा' है। जहाँ भाषा ही अपनी नहीं, वहाँ स्वराज्य की आशा करना आकाश-कुसुम प्राप्त करने के समान है। यदि हमें अपना राज्य स्थापित करना है, तो हमारा मुख्य कर्तव्य होना चाहिए अपनी भाषा का प्रचार। बिना इसके स्वराज्य की आशा करना निरी मूर्खता है। हमें अनुताप के साथ कहना पड़ता है कि अपनी भाषा का नाश एवं विदेशी भाषा को चिरस्थायी करने का कलंक बंगाल और मदरास पर सर्व-प्रथम है। इसीलिये यदि यह कहा जाय कि इन दोनों प्रांतों ने चिरकाल के लिये देश से स्वराज्य-संभावना को उखाड़ फेंका, तो अत्युक्ति नहीं। वास्तव में अकेले एक विदेशी भाषा ने ही देश को चौपट करने के सब उपाय इकट्ठे कर दिए हैं। केवल एक विदेशी भाषा ने ही सारे भारतवर्ष को गुलामी की सख्त ज़ंजीरों में जकड़ दिया है। उसी की बदौलत ईसाइयों ने हमारे इतिहासों को झूठा और अपनी झूठ बातों को भी सत्य बनाकर लिखा है। नन्हे-नन्हे बालकों के कोमल स्मृति-पथ में ही यह ज़बर्दस्ती ठूँस दिया जाता है कि 'कृष्ण विषयी, चोर और उद्दंड था!' बड़े होकर ये ही बालक उसे सत्य मान हिंदू-धर्म-श्रद्धा से विहीन हो जाते हैं। वे ईसा की चर्चा करते समय उन्हें 'सर्वेसर्वा' मनवाने लगते हैं। अस्तु। बड़े होकर हमारे बालक ईसाई-धर्म को ही सर्वोपरि धर्म समझने लगते हैं। उस दिन हमारे एक मदरासी मित्र ने महाप्रभुजी-प्रणीत 'जल-भेद' का प्रसंग छेड़ते हुए कहा था—क्यों जी, जल-भेद में क्या लिखा हुआ है? मैंने कहा—क्यों? उसमें तो महा-प्रभुजी ने भिन्न-भिन्न जलों के दृष्टांत देकर भिन्न-भिन्न भक्तों के भावों का उल्लेख किया है। मदरासी बोला—आप क्या कहते हैं? हमारी लाइब्रेरी में तो उस ग्रंथ का परिचय इस प्रकार दिया गया है कि उसमें ग्रंथकर्ता ने भिन्न-भिन्न जलों से भिन्न-भिन्न रोगों का कैसे नाश होता है, यह लिखा है। कहिए, जहाँ यह दशा है, वहाँ हम कौन-सी आशा रख सकते हैं। दुर्भाग्य से हम अभी तक मदरास नहीं गए। यदि जाते, तो अपनी आँखों यह सब देख आते।

ऐसे-ऐसे एक नहीं, अनेक दृष्टांत अंकित किए जा सकते हैं; परंतु केवल लिखने से क्या हो सकता है? जब तक हम उसे कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सकते, तब तक सब अरण्य-रोदन है।

ईसाइयों ने हमारे ऋषि-मुनि-संचालित धर्म को अन्याय सिद्ध किया है। वे लिखते हैं—In those early days Shudras were not allowed to show their faces nor, were allowed to collect wealth. In those days Shudras were badly treated by the high-class Brahmins.

इस प्रलाप का खंडन हम अपने "कथं शूद्राः पददलिता अस्माभिः"-शीर्षक लेख में कर चुके हैं। यहाँ इसकी चर्चा अप्रासंगिक समझ छोड़ दी जाती है।

कहाँ तक कहें, उन्होंने हमारे ऋषि-मुनियों को अन्याय-कर्ता और अपने इन जजों को, जिनका अत्याचार प्रमाणित होता चला जा रहा है, न्याय-प्रिय लिखा है। किंतु भाषा के गुलामों ने यह सब सुना। इतना ही नहीं, सत्य भी मान लिया! आज तक ऐसा एक भी 'माई का लाल' अखाड़े में नहीं उतरा, जो इन विदेशियों को उनकी बे-अदबी के लिये ललकारता। ललकारते कैसे? विदेशी भाषा की गुलामी ने उनकी आँखों को अंधा कर दिया है, उनके कानों पर पट्टी बाँध दी है, उनकी धर्म-बुद्धि पर अपनी सभ्यता का प्रभाव डाल रक्खा है। उन्हें अपने पूर्व पुरुषों का स्वरूप ही नहीं दिखाई देता। वे बात-बात में अपने पितरों को मूर्ख, उजड्ड आदि सभ्य शब्दों से संबोधित कर उनकी आत्मा को चिरशांति-प्रदान कर रहे हैं। अँगरेज़ी-भाषा में निष्णात हो, वे बात-बात में कह उठते हैं—Damn this old rotten reli-

gion. उन्हें अपना ही इतिहास असत्य-सा प्रतीत हो रहा है । वे प्रातःस्मरणीय भगवान् रामचंद्र और श्रीकृष्ण की लीलाओं को गप्प मानते हैं । अँगरेज़ी-भाषा पढ़कर वे अपने पूर्वजों को भी गँवार कहने लगते हैं ।

अस्तु, अपनी राष्ट्रीयता को स्थापित करने के लिये ही हमारे देश में सर्वत्र ही हिंदी-भाषा प्रचलित होनी चाहिए । अन्य प्रांतीय मनुष्य भी, इसी भाषा के सहारे, टूटे-फूटे शब्दों में ही, अपने भाव व्यक्त कर सकता है । यह एक ऐसी सीधी-सादी भाषा है कि दो मास के सरल प्रयत्न से आ सकती है । हमें बड़ा दुःख है कि देश के जिन नेताओं ने भारत के दुःख दूर करने का बीड़ा उठाया है, जो लोग भारत के लिये स्वराज्य स्थापित करना चाहते हैं, और जो लोग साधारण जनता के नेतृत्व का झंडा लिए फिरते हैं, उन्हें ही राष्ट्-भाषा हिंदी नहीं आती ! अभी उस दिन चक्रवर्ती राजागोपालाचारियर यहाँ आए थे । आप स्टेज पर खड़े हो अपना वक्तव्य कहने लगे । लोग उनकी अँगरेज़ी न समझ सके । लोगों ने भी अँगरेज़ी ही मे कहा—Hindi Please. चक्रवर्तीजी ने शर्मिंदा होकर कहा—I am very sorry, sir. I do not know Hindi ! कहिए, कैसी बात है ! स्वराज्य-जैसी बड़ी समस्या को तो ये लोग हल करने चले है, परंतु इस विदेशी भाषा के तुच्छ प्रश्न को पहले हल नहीं कर सकते ।

यदि बंगाल-निवासी नेता अपने प्रांत की करुण कथा गुजरात-जैसे सुदूर प्रांत में पहुँचाना चाहता है, तो वह अपने विचार किस भाषा में प्रकट करेगा ? हिंदी-भाषा ही एक ऐसी भाषा है, जो सर्वत्र बेरोक-टोक समझी जाती है । इसलिये नेताओं को शीघ्र ही इस भाषा को अपनाना चाहिए । विदेशी भाषा का बीज आज सारे भारतवर्ष में फल-फूल-सहित वृक्ष में परिणत हो गया है । यदि इसे स्थानांतरित कर हिंदी को हम अब भी न अपनाएँगे, तो न-जाने भविष्य में हमारा क्या होगा, यह संशयात्मक है ।

भट्ट श्रीव्रजनाथ-रमानाथ शास्त्री

× × ×

७. अपनी हीनता

केश वेष कुंचित सँवारत सुगंध साज,
अंजन अनूप रूप रंजन रचाए हैं ;
बिंदु भर भाल लाल, लोचन लजीले लसैं,
अंगन अनंग अंग-रंग अलसाए हैं ।
बनत जनाने मनमाने केलि ठाने नित्य,
जानैं नहीं जाति-गुण-गौरव लजाए हैं ;
विद्या, बल, बुद्धि खोई; सकल समृद्धि खोई,
परमुख जोय जोय जीवन बिताए हैं ।
देखो ज्ञान-गौरव, सुलेखो गुण, नीति-रीति,
प्रभुता परेखो निज जाति मे समाई जो ;
पूरब प्रथा को पंथ पूर्ण पहिचानो अब,
चेतो चित नेक चर्चा आई चतुराई जो ।
अंबर, अडंबर, असत्य, अभिमान छोड़ो,
त्यागो यह पातक सों पाई प्रभुताई जो ;
"प्रेम" सुखदाई कुल-कीरति-कमाई सबै
भूलो नहीं भूलि, भाई, भरम गमाई जो ।

बालकृष्णदेव भट्टाचार्य

× × ×

८. धर्मांतर और शुद्धि की ऐतिहासिकता

आजकल भारत के एक सिरे से दूसरे तक शुद्धि की चर्चा चल रही है । यद्यपि अभी तक यह मसला सर्वमान्य नहीं हो पाया है, तथापि लोगों का दृष्टि-कोण बदल रहा है, और लोग इस विषय मे दिन दिन अधिक रुचि प्रदर्शित करने लगे हैं । इसी से आज हम इस संबंध के कुछ ऐतिहासिक प्रमाण उद्धृत करने का प्रयत्न करते हैं ।

विक्रम-संवत् से २१५ वर्ष पूर्व भारत मे अशोक नाम का एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ था । उसके खुदवाए अनेक लेख भारत में अब तक विद्यमान हैं । इनमें से उसके तेरहवें शिला-लेख में लिखा है—

"मुझे धर्म-विजय प्राप्त हुई है । मेरे राज्य में, और आठ सौ योजन तक के सीमांत के राज्यों में, जहाँ पर अंतियोक-नामक यवनराज है, और उस अंतियोक के

१. एक योजन चार कोस का होता है ।

२. Antiochos यह सिल्यूकस का पौत्र था । इसका राज्य वि० स० के २०४ से १८१ वर्ष पूर्व तक सीरिया और पश्चिमी एशिया मे था ।

आगे (उत्तर में) जो चार राजे—तुरमय,[1] अंतिकोन,[2] मग,[3] एवं अलिकसुंदर[4] हैं, इनके राज्य में तथा नीच, चोड, पांड्य, ताम्रपर्णी और दरद, इनमें तथा विषवज्र, यवन,[5] कांबोज, नाभक, नाभ-प्रांत, भोज, प्रातिनिक्य, आंध्र और पुलिंदों[6] में, सब जगह, मेरी शिक्षा का अनुकरण किया जाता है।"

इससे ज्ञात होता है कि आज से क़रीब २१८८ वर्ष पूर्व भी सीरिया, मिस्र, मैसिडोनिया, उत्तरी आफ्रिका, एप्रेस, तिब्बत और ग्रीस-निवासियों को हिंदू-धर्म के अंगभूत बौद्ध-धर्म में लाने का प्रयत्न किया गया था, और इसमें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई थी। इस बात की पुष्टि में वे अनेक प्राचीन मूर्तियाँ भी उपस्थित की जा सकती है, जिनमें भारतीयों के साथ-साथ यूनानी लोग भी बुद्ध का पूजन करते हुए पाए गए हैं।

विक्रम-संवत के प्रारंभ के निकट का एक खरोष्ठी अक्षरों का लेख मथुरा से मिला है। उससे ज्ञात होता है कि महाक्षत्रप राजुल की पटरानी नंदसिअकसा ने बुद्ध की अस्थियों पर एक स्तूप बनवाया था।

नासिक, जुन्नर, कार्लि आदि की गुफाओं में खुदे लेखों से भी प्रकट होता है कि बाहर से आए हुए अनेक यवनों ने बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया था, और कुछ ही दिनों में उन्होंने यहाँ तक उन्नति की थी कि अशोक ने अपने गुरु उपगुप्त के कहने से यवन (यूनानी) धर्मरक्षित को कोंकण में धर्म-प्रचार करने के लिये भेजा था।

नासिक की गुफा के लेख में यवन धर्मदेव के पुत्र का नाम इंद्राग्निदत्त लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि भारतीय धर्म ग्रहण करने पर धीरे-धीरे ये यवन लोग भारतीय नाम भी ग्रहण करने लगे थे। इसकी पुष्टि क्षत्रपवंशी रुद्रसिंह, ईश्वरदत्त, विजयसेन, स्वामी सत्यसिंह के नामों से एवं तुर्की राजा वासुदेव और शकवंशी अश्वयवर्मा के सिक्के पर खुदे हुए उसके पिता इंद्रवर्मा के नाम से भी होती है।

इसके बाद जब पौराणिक धर्म ने फिर ज़ोर पकड़ा, तब भी भारतवासियों ने इस देश में बसे हुए यवनों और तुर्कों को अपने धर्म का अनुयायी बनाने में आगा-पीछा नहीं किया। इसके प्रमाण में वैष्णव-मतानुयायी यवन हेलिओदोर का बेसनगर (भिलसा के पास) में मिला हुआ गरुड़ध्वज स्तंभ अब तक विद्यमान है। इसमें उक्त यवन के नाम के आगे 'भागवत' विशेषण भी लगा है। इसका निर्माण-काल विक्रम की पहली शताब्दी का अंतिम भाग अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार मध्य एशिया की येहची (तुरुष्क)-जाति के कडफिसस द्वितीय के सिक्कों पर की त्रिशूल और पाश हाथ में लिए बैल-सहित खड़ी शिव की मूर्ति से और उसके उत्तराधिकारी कनिष्क और वासुदेव के सिक्कों पर की मूर्तियों से उक्त राजों का शैव-मतानुयायी होना सिद्ध होता है।

इनके अलावा भविष्य-पुराण में लिखा हुआ मग (भोजक) ब्राह्मणों का क़िस्सा भी प्रसिद्ध ही है। उसमें लिखा है कि मग लोग ज़रथुश्त के वंशज थे, और पहलेपहल सांब ने ही इन्हें शाकद्वीप से यहाँ लाकर अपने बनाए हुए सूर्य-मंदिर का पुजारी नियत किया था। इसके प्रमाण में आज तक की मिली बहुत-सी प्राचीन सूर्य-मूर्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं। इन मूर्तियों में घुटनों तक बने मोज़े या बूट ईरानी सभ्यता के द्योतक हैं।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल में बल्लालसेन-नामक राजा हुआ था। आनंदभट्ट-रचित बल्लाल-चरित से प्रकट होता है कि उसने एक बड़ा यज्ञ किया था। परंतु उसके उपरांत जब भोज का समय आया, तब सुनार-बनियों ने कुछ गड़बड़ की। इससे क्रुद्ध होकर उक्त राजा ने उन्हें तो वैश्यों की श्रेणी से निकालकर सच्छूद्रों में डाल दिया, और कैवर्तों (मल्लाहों), मालियों, कुम्हारों और लुहारों से प्रसन्न होकर उनकी अस्पृश्यता दूर कर दी, तथा उन्हें सच्छूद्रों में ले लिया।

१. Ptolmey Philadelphos वि० सं० के २२८ से १९० वर्ष पूर्व तक मिस्र-देश का शासक रहा।

२. Antigonos Gonatas वि० सं० के २२० से २८२ वर्ष पूर्व तक मैसिडोनिया का अधिपति था।

३. Magas वि० सं० के २२८ से २०१ वर्ष पूर्व तक उत्तरी आफ्रिका के Cyrene-प्रदेश का स्वामी रहा।

४. Alexander वि० सं० २१५ से २०१ वर्ष पूर्व तक एप्रेस का अधिकारी था।

५. भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर के विदेशी लोग।

६. शायद तिब्बत के निवासी।

'बल्लाल-चरित' बल्लालसेन के समकालीन विद्वानों के लिखे हुए वृत्तांत के आधार पर वि० सं० १५६७ में बनाया गया था। इससे जाना जाता है कि विक्रम की बारहवीं शताब्दी तक शुद्धि का प्रचार था। साथ ही यह भी अनुमान होता है कि उक्त पुस्तक के लिखे जाने के समय तक, अर्थात् विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में भी, इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं समझी जाती थी ; क्योंकि यदि ऐसा होता, तो आनंदभट्ट-जैसा कट्टर ब्राह्मण अपनी पुस्तक में इस बात का उल्लेख इस प्रकार गर्व के साथ कभी न करता।

इन बातों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि शुद्धि का कार्य प्राचीन काल से होता आया है, और इस समय भी यदि देश, काल और पात्र का विचार कर यह कार्य किया जाय, तो इससे बहुत कुछ लाभ की आशा की जा सकती है।

आगे इस विषय के कुछ शास्त्रीय प्रमाण भी दिए जाते हैं—

पाणिनि के 'शूद्राणामनिर्वसितानाम्' (२ । ४ । १०), इस सूत्र पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने लिखा है— "कुतोऽनिर्वसितानाम्। आर्यावर्तादनिर्वसितानाम्। यद्येवं शकयवनं न सिध्यति। एवं तर्हि पात्रादनिर्वसितानाम्।"

अर्थात् कहाँ से नहीं निकाले हुए ? भारतवर्ष से नहीं निकाले हुए। यदि ऐसा कहोगे, तो 'शकयवनं' सिद्ध न होगा ; क्योंकि ये भी विदेशी हैं। अच्छा तो भोजन के पात्र से न बहिष्कृत किए हुए समझ लो। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि उस समय भी शक और यवन लोग विदेशी समझे जाते थे, तथापि उनके भोजन का पात्र संस्कार से शुद्ध माना जाता था। भाष्य-प्रदीपकार काश्मीरी पंडित कैयट ने इस भाष्य की पंक्तियों का यह तात्पर्य निकाला है कि शूद्रों को भी पंचयज्ञ करने का अधिकार है। इससे विदित होता है कि आजकल के ब्राह्मण के ब्राह्मणों और अब्राह्मणों के झगड़े की तरह उस समय कोई झगड़ा न था। उस समय धोबियों और जुलाहों तक के भोजन के पात्र संस्कार से शुद्ध मान लिए जाते थे।

मनुस्मृति में लिखा है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः :
वृषलत्वंगता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च। ४३।
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजाः यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः। ४४।

(मनुस्मृति, अध्याय १०)

अर्थात् यवन, कांबोज, शक आदि जातियाँ पहले क्षत्रिय थीं ; परंतु पीछे कर्म-भ्रष्ट होकर पतित हो गई।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हेमचंद्र सूरि ने कुमार-पाल-चरित बनाया था। उसने क्षत्रिय-वंशों की जो सूची दी है, उसमें हूण-वंश का भी उल्लेख है।

इस लेख को समाप्त करने के पूर्व इतना लिख देना आवश्यक है कि हमारी सम्मति में ज़माने को देखते हुए, जहाँ तक संभव हो, पहले अपनी बिछड़ी हुई जातियों के आचार-विचार को शुद्ध कर उनके दुर्गुणों को दूर करना और उनके चित्त में हिंदूपन के भाव को दृढ़ करना प्रत्येक समझदार हिंदू का कर्तव्य है। इसके साथ ही उनके मार्ग की अनावश्यक रुकावटों को दूर कर उन्हें उनके पेशों में उन्नति करने का मार्ग बतलाना भी बहुत ही आवश्यक है। इससे वे धीरे-धीरे अपनी मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करने में सफल होकर हिंदू-जाति को दृढ़ और सुसंगठित बना सकेंगी। परंतु उपर्युक्त मार्ग को छोड़कर एक बार ही देश, काल और पात्र का विचार किए बिना जातीय संगठन को तोड़ना सिवा हानि के लाभदायक नहीं हो सकता ; क्योंकि आगे बढ़ने के पूर्व अपने को उसके योग्य बना लेना बहुत ही आवश्यक है। आशा है, विद्वान् लोग इस विषय में अपनी-अपनी सम्मति सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करने की कृपा करेंगे।

विश्वेश्वरनाथ रेऊ

---

१. पाणिनि का समय विक्रम-संवत् से ५०० वर्षों के भी पूर्व माना जाता है।

२. पतंजलि विक्रम-संवत् से १८-८३ वर्ष पूर्व विद्यमान थे।

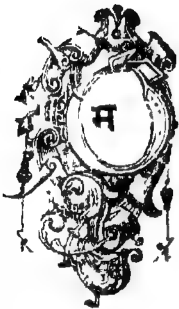
३. यह कैयट 'काव्य-प्रकाश' के रचयिता मम्मट का छोटा भाई था। इसका समय वि० सं० ११५७ के क़रीब होना चाहिए। चारों वेदों पर भाष्य लिखनेवाला औवट भी इसी का भाई था।

१. हमारे ब्राह्मण और स्मृति-ग्रंथों में अनेक प्रायश्चित्तों का उल्लेख है, जिनसे ऐसे लोग शुद्ध किए जाते थे।

विज्ञान-वाटिका



१. मनुष्य, यंत्र या जीवाणु ?



मनुष्य मनुष्य-जाति का जितना बड़ा शत्रु है, उतना बड़ा कोई दूसरा उसका शत्रु नहीं। उसे अपने विचार तथा तर्क-शक्ति का अभिमान है; किंतु उन्हीं की सहायता से वह अपनी कब्र आप खोदता है। आज से दस-पंद्रह वर्ष बाद योरप एक मरु-भूमि बन जा सकता है, और उसकी सभ्यता के अव-शिष्ट चिह्न अमेरिका के अजायबघरों में ही पाए जा सकते हैं। आज से पाँच सौ वर्ष के भीतर ही इस पृथ्वी से मनुष्यों का लोप हो जा सकता है, और इस पर चींटी या अन्य कीड़ों का आधिपत्य हो सकता है।

मि० जॉन लांगडन डेवीज़ से एक प्रश्न पूछा गया था—"संसार का भविष्य क्या है?" उन्होंने गंभीर भाव से उत्तर दिया—

"राजनीति तथा अर्थ-शास्त्र के विद्वान् एकस्वर से भविष्य-वाणी कर रहे हैं कि दस-पंद्रह वर्ष के भीतर ही कोई-न-कोई युद्ध अवश्यंभावी है। लॉर्ड थॉमसन ने कहा है कि यदि कोई युद्ध छिड़ भी जाय, तो उसका अंत एक-दो हफ़्ते ही में हो जायगा; क्योंकि वह युद्ध जल या थल का युद्ध न होकर आकाश का युद्ध होगा। हाल के आविष्कृत बड़े-बड़े गोले गिरानेवाले वायुयान योरप के बड़े-बड़े शहरों को बात-की-बात में जलाकर ख़ाक कर देंगे। अतएव यदि योरप की सभ्यता की रक्षा करनी है, तो यमालय का रास्ता दिखानेवाली आजकल की मशीनों को अजायबघरों में रख देना पड़ेगा। सभ्यता मनुष्य की संचित की हुई शक्ति का फल है। यदि मनुष्य-जाति अपनी शक्ति को अपने ही विरुद्ध व्यवहार में लावेगी, तो महाप्रलय अवश्यंभावी है।

"संसार के प्रभुत्व का इतिहास देखने से पता चलता है कि यहाँ जिन पशुओं का प्रभुत्व रहा, वे आपस ही में लड़ मरे, और वह जाति पृथ्वी से सदा के लिये लुप्त हो गई। चौरासी फ़ीट लंबे सर्पों को ही देखिए। जिस समय पृथ्वी पर इनका प्रभुत्व था, वे मनुष्यों को उसी नज़र से देखते थे, जिस नज़र से आज हम लोग चींटियों को देखते हैं। किंतु मनुष्यों के मस्तिष्क था—विचार-शक्ति थी। इन्होंने छोटे-मोटे यंत्र बनाए, और उन जानवरों को मारकर आप ही पृथ्वी के अधिपति बन बैठे।

"कौन जानता है कि पृथ्वी का अंतिम अधिपति मनुष्य ही है! हो सकता है कि पाँच सौ वर्ष बाद यदि दूसरे नक्षत्र का कोई जीव इस पृथ्वी पर उतर आवे, तो यहाँ चींटियों को राज्य करते देखे। मनुष्यों ने ही सर्वप्रथम अपनी बुद्धि तथा मस्तिष्क से काम लेकर ऐसे यंत्र बनाए, जिनके आश्रय से वे दाँत-नखवाले पशुओं से युद्ध कर सके। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, वे अपने यंत्रों में और उत्क्रांति

करते गए। अंत में इन्होंने यंत्र-युग या यंत्र-सभ्यता की ही उत्पत्ति कर दी। अब आश्चर्य के साथ कहना पड़ता है कि वे अपनी मृत्यु आप ही बुलाने पर उतारू हो गए हैं।

"क्या ही अच्छा होता कि हम अपनी विचार-धारा को इस ओर से हटाकर शत्रुओं से अपनी रक्षा करने की ओर लगाते। आजकल मनुष्यों के शत्रु सिंह, बाघ और विषैले साँप नहीं रहे हैं; शत्रु हैं जीवाणु या माइक्रोब। सन् १९१८ ई० में इंफ़्लुएंज़ा से जितने लोगों की मृत्यु हुई, उससे कहीं कम मनुष्य गत महायुद्ध में मारे गए थे। केवल भारतवर्ष में प्रायः एक करोड़ आदमी मरे! यमदूत-सी यह बीमारी सारे पूर्वी देशों में फैल गई थी। हम लोगों का विश्वास है कि चिकित्सा-शास्त्र काफ़ी उन्नत हो चुका है, और ऐसी भयंकर बीमारियों का होना अब असंभव है; किंतु, वास्तव में, नए-नए रोग उत्पन्न होकर हमें चकित कर रहे हैं। आधुनिक सभ्यता का विषम फल ताऊन, पीला-ज्वर, हृदय की बीमारी, काला-ज्वर, सन्निपात आदि के रूप में दिखलाई देता है। धन्य हैं वे असभ्य मनुष्य, जिन्हें ये रोग होते ही नहीं।

"जब कभी कोई रोग फैलता है, अधिकतर हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ मनुष्य ही उसके शिकार होते हैं; दुबले-पतले तथा कमज़ोर मनुष्यों की रक्षा प्रकृति करती है। इसलिये योग्यतम व्यक्तियों की रक्षा का सिद्धांत यहाँ लागू नहीं होता। रक्षित व्यक्तियों में सब समय केवल योग्य व्यक्ति ही नहीं होते।

"यदि इन रोग-जीवाणुओं को नष्ट करने के उपाय निकालने में समय दिया जाता, तो मानव-समाज का कितना उपकार होता! मनुष्य की दृष्टि अन्य दिशा—भ्रांत दिशा—में ही अधिक है। यदि वह अपनी ही शक्ति का दुरुपयोग करता है, तो उसका विनाश निश्चित है। कोई कह नहीं सकता कि मनुष्यों को सभ्य हुए कितने दिन हुए। जंगलों तथा पृथ्वी के नीचे शहरों के भग्नावशेषों को देखकर अनुमान किया जाता है कि उन स्थानों में किसी समय सभ्य मनुष्य रहते थे। किंतु वे कहाँ गए, उनका अस्तित्व इस पृथ्वी पर से कैसे मिट गया, यह कोई नहीं बता सकता। इसी प्रकार इस यंत्र-युग में किस समय हमारा अस्तित्व न रहेगा, यह बताना कठिन है।

"आदि से जितनी लड़ाइयाँ हमने शत्रुओं से लड़ी हैं, सबमें हमारी विजय हुई है। कोई कारण नहीं कि जीवाणुओं से युद्ध में हम हार जायँ। किंतु मनुष्यो! पागल का-सा आचरण न करो, अपने ही भाई के गले पर छुरी चलाने का यत्न न करो, अपनी ही जाति को नष्ट करने के लिये नए-नए साधन तैयार न करो; अन्यथा एक दिन पृथ्वी मनुष्य-शून्य हो जायगी!"

मि० लॉगडन डेवीज़ के ये उद्गार कहाँ तक सच निकलते हैं, इसे भविष्य ही प्रमाणित करेगा।

× × ×

२. प्रेम-परीक्षा

पाश्चात्य देशों में, विवाह के पहले, स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की प्रेम-परीक्षा कर लिया करते हैं। इसके लिये उनके पास बहुतेरे साधन भी मौजूद रहते हैं; किंतु तो भी देखा जाता है कि उनका वैवाहिक जीवन सुखमय तथा आनंद-प्रद नहीं होता। इसका कारण, अधिकांश में, प्रेम-परीक्षा के समय अत्यधिक प्रेम-रंग में रँगकर भूल कर बैठना है। प्राथमिक प्रेम में एक प्रकार की विशेषता रहती है। उस समय स्त्री-पुरुष अपने प्रेम-पात्र के दोष को भी गुण ही मान लेते हैं, और उनकी यह भूल तब तक प्रकट नहीं होती, जब तक उनके वास्तविक जीवन का कुछ समय बीत नहीं जाता। इससे जो विषम फल फलता है, उसका अंदाज़ा पाश्चात्य जगत् के किसी भी हिस्से की तलाक़-सूची को देखकर लगाया जा सकता है। तलाक़ की बढ़ती हुई संख्या को देखकर वैज्ञानिकों का हृदय दहल उठा है, और वे इसका प्रतिकार करने की फ़िक्र में लगे हुए हैं।

पेरिस के डॉ० ल्यूटेंबेचर ने कार्डीमिटर नाम का एक यंत्र बनाया है, जो मनुष्य के हृदय की उत्तेजनाओं (Emotions) को अंकित करता है। इसके द्वारा कोई भी स्त्री यह पता लगा सकती है कि उसके भावी पति का प्रेम सच्चा है, या नहीं—उसके साथ विवाह करने से दंपति-जीवन सुखमय होगा, अथवा दुःखमय। पुरुष यह जान सकता है कि उसकी भावी पत्नी केवल अतुलित धन पाने की आशा से उसके साथ शादी करना चाहती है, अथवा उसके जीवन की चिरसहायिका बनकर सुख-दुःख में हाथ बँटाने के लिये। इस यंत्र की सहायता से पारस्परिक प्रेम की परीक्षा करके जब स्त्री-पुरुष विवाह-सूत्र में बँधेंगे, तो उनका जीवन अवश्य आनंदप्रद होगा, ऐसा इसके आविष्कारक का कहना है। अच्छा, अब इस यंत्र के विषय में भी कुछ सुन लीजिए—

हृदय

(जैसे मृत्यु, रोग, शोक आदि), कुछ करुणोत्पादक (जैसे दया, प्रार्थना आदि), और कुछ ऐसे, जिनका कोई अर्थ नहीं होता। प्रत्येक शब्द के उच्चारण पर मनुष्य के हृदय में किसी-न-किसी प्रकार की उत्तेजना उठती है। इन उत्तेजनाओं को कार्डोमिटर अंकित करता है। उन्हें देखकर स्त्री को पता लग जाता है कि उस मनुष्य के साथ उसका भावी जीवन किस प्रकार कटेगा। इसी प्रकार पुरुष भी स्त्री के प्रेम की परीक्षा कर सकता है।

इस यंत्र-द्वारा केवल हृदय की अवस्था का पता लगता है। किंतु मि० डब्ल्यू० व्हॉटर्ली स्मिथ ने एक ऐसा गैलवेनोमिटर बनाया है, जो हृदय तथा मस्तिष्क, दोनो की अवस्थाओं को अंकित कर सकता है। इन यंत्रों ने पाश्चात्य संसार में बड़ी हलचल पैदा कर दी है। एक-एक शब्द का उच्चारण करने पर हृदय की उत्तेजनाएँ किस प्रकार अंकित होती हैं, यह ऊपर चित्र में दिखलाया गया है।

प्रेम-परीक्षा का फल

(प्रेम और चुंबन करने से हृदय कितना उत्तेजित होता है, यह इस चित्र से जान पड़ेगा)

जिस मनुष्य के प्रेम की परीक्षा करनी होती है, उसे एक कुर्सी पर बिठाकर उसके एक हाथ का संबंध कार्डोमिटर के साथ कर दिया जाता है। इसके बाद स्त्री कई प्रश्न पूछती है, जिनके कई शब्द प्रेम-सूचक (जैसे प्रेम, चुंबन, आलिंगन आदि) होते हैं, कुछ भयोत्पादक

कुर्सी पर बिठाया गया मनुष्य

× × ×

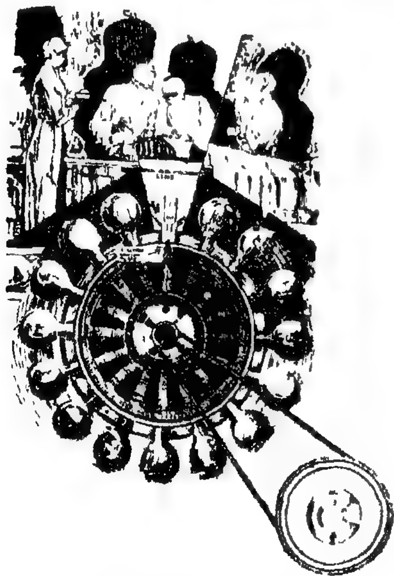
२. ताप-रहित प्रकाश

वैज्ञानिक ताप-रहित प्रकाश का स्वप्न बहुत दिनों से देख रहे हैं; किंतु वह स्वप्न अब वास्तविकता में परिणत होता जान पड़ता है। फ्रेंच ऐकेडेमी ऑफ् साइंस ने प्रसिद्ध विद्युच्छास्त्रवेत्ता प्रो० दुसाद की दो ऐसी पद्धतियों को प्रकाशित कराया है, जिनके द्वारा वह ताप-रहित

प्रकाश उत्पन्न करते हैं । अब तक प्रकाश उत्पन्न करने के जितने कृत्रिम उपाय जाने गए हैं, उन सबमें प्रकाश के साथ ही गर्मी का उत्पन्न होना आवश्यक है । चिराग़, मोमबत्ती, लैंप, बिजली की बत्ती आदि प्रकाश देने के लिये हैं ; किंतु उनका सैकड़े पीछे ९२ हिस्सा केवल गर्मी उत्पन्न करने ही में ख़र्च हो जाता और केवल ८ हिस्सा प्रकाश देने के काम में आ जाता है ।

प्रो० डुसाद की पहली पद्धति विद्युत-रासायनिक है । इसके द्वारा गर्मी प्रकाश से अलग कर दी जाती है । फल यह होता है कि ताप-रहित प्रकाश अलग व्यवहृत होता है, और गर्मी का व्यवहार अलग । इससे लाखों रुपए के कोयले और विद्युच्छक्ति की बचत होती है । किंतु उनकी दूसरी पद्धति अधिक मनोरंजक है । दस फ़ीट व्यास का एक पहिया अपनी धुरी पर निरंतर घूमता रहता है । उसके किनारे पर, थोड़ी-थोड़ी दूर के अंतर पर, बहुत-से इलेक्ट्रिक बल्ब लगे रहते हैं । ये बल्ब मामूली बल्बों से हज़ारगुने अधिक शक्तिशाली होते हैं ।

पहिए के सिरे पर, विद्युत-संयोग होने से, विद्युत-धारा कुछ काल के लिये (बहुत थोड़े काल के लिये) प्रवाहित होती और बल्ब जल उठता है । उसके स्थानांतरित होते ही उसका विद्युत्-संयोग टूट जाता है, इसलिये वह तो बुझ जाता है ; किंतु उसके स्थान पर दूसरा बल्ब आ जाता है, और विद्युत्-संयोग होने के कारण जल उठता है । उसके हटते ही तीसरा बल्ब उसका स्थान ग्रहण करता है । इस प्रकार प्रत्येक बल्ब उस स्थान पर आते हैं, विद्युत-संयोग होने के कारण कुछ समय के लिये जल उठते हैं, और गरम होने के पहले ही संयोग-हीन हो जाने से बुझ जाते हैं । इस काम के इतनी जल्दी-जल्दी होने पर भी प्रकाश सदा एक-सा रहता है । उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं होती । ऐसा जान पड़ता है कि पहिया स्थायी है, और बिजली का एक ही बल्ब निरंतर प्रकाश देता है ।



ताप-रहित प्रकाशोत्पादक यंत्र

(इसी की सहायता से ऊपर चीड़-फाड़ हो रही है)

इस प्रकार के विद्युत-संयोग और वियोग का फल यह होता है कि कोई भी बल्ब गरम नहीं होने पाता और सारी शक्ति प्रकाशोत्पादन में ही व्यय होती है । इस प्रकाश को लोग एक्स किरण की जगह चीड़-फाड़ के काम में भी लाना चाहते हैं ।

× × ×

४ वृक्ष की आत्मरक्षा

हमारे वृक्ष-विषयक ज्ञान में प्रति वर्ष उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है । इस ज्ञान-वृद्धि से हमें बहुत-सी आश्चर्य-जनक बातें मालूम हुई हैं । दक्षिण अमेरिका का एक वृक्ष बड़ी ही अद्भुत रीति से आत्मरक्षा करता है । यह वृक्ष जंगल के उस हिस्से में पाया जाता है, जहाँ उसकी पत्तियाँ खानेवाले कीड़ों की भरमार है ; किंतु आश्चर्य की बात है कि वे इसकी पत्तियों का कोई भी हिस्सा नष्ट नहीं कर सकते, और यह सदा फल-पत्तियों से हरा-भरा रहता है । इसकी रक्षा चींटियों का एक दल करता है । उस दल को यह वृक्ष आश्रय तथा भोजन देता है । इसकी शाखाएँ छोटे-छोटे कोषों (cells) की बनी हुई हैं, जिनमें चींटियाँ अपने भोजन की सामग्री जुटाकर रखतीं और अपने बच्चों को पालती हैं ।

इन सैनिक चींटियों के लिये नौकर-चींटियाँ होती हैं, जो उनके काम तथा उनके लिये गो-पालन करती हैं ।

ये गउएँ इस वृक्ष की पत्तियों पर चरने जाती हैं। उनको चराने के लिये एक चरवाहा जाता है, और उनकी रक्षा के लिये छोटे-छोटे कुत्ते-कीड़े भी होते हैं। यह देखकर आश्चर्य होता है कि इन कुत्ते-कीड़ों के शरीर में जूँ भी सटी रहती हैं। ये कीड़े पेड़ के भिन्न-भिन्न हिस्सों में रहकर दिन रात उसकी रक्षा करते हैं। यदि पत्ती काटनेवाला कोई कीड़ा पेड़ पर आक्रमण करता है, तो चींटियाँ उन पर टूट पड़ती और तुरंत उसका काम तमाम कर देती हैं। आक्रमणकारी कीड़ों की संख्या प्रतिदिन २४,००० से कम नहीं होती। चींटियाँ कई हिस्सों में बँटकर बारी-बारी से रक्षण-कार्य करती हैं।

सैनिक चींटियों को सब प्रकार का आराम पहुँचाया जाता है। उनके लिये गृहस्थ-चींटियाँ अन्न पैदा करती हैं, उन्हीं के लिये गउएँ पाली जाती हैं, और उन्हीं के लिये नौकर रक्खे जाते हैं। प्रकृति की बलिहारी है! उसकी सारी सृष्टि में सदा युद्ध चल रहा है। उसकी रक्षा करना या उसे नष्ट करना सर्वथा उसी के हाथ में है। उसकी आश्चर्यजनक सृष्टि में मनुष्य के बाद चींटियों का ही स्थान है। इसीलिये विद्वान् सालोमन ने कहा था—

"Go to the ants, thou Sluggard: consider their ways and be wise."

× × ×

५. भीमकाय टेलिस्कोप

विक्टोरिया की वेधशाला में एक फ़ोटो लेनेवाला भीमकाय टेलिस्कोप स्थापित किया गया है। कहा जाता है, यह इतना शक्तिशाली है कि मंगल में रहनेवाले व्यक्तियों का फ़ोटो ले सकता है। इसके द्वारा फ़ोटो लेकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की जा रही है कि मंगल में भी जीव रहते हैं। समूचे यंत्र का वज़न ४० टन अर्थात् १,१०० मन है। इसके लेंस का व्यास ७२ इंच, मोटाई १२ इंच और वज़न ४,००० पौंड है। परीक्षा लेने पर ही इसकी शक्ति का पता चलेगा। अभी से भविष्य-वाणी करना ठीक नहीं।

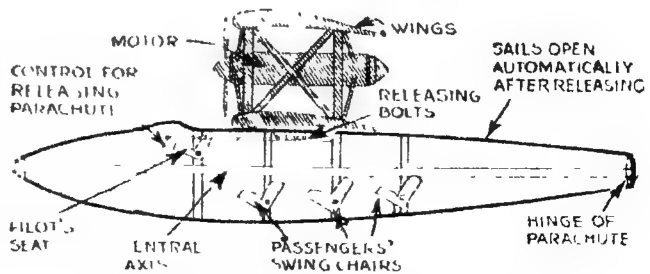


भीमकाय टेलिस्कोप

× × ×

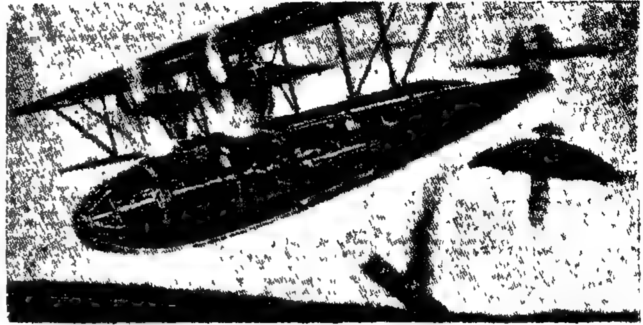
६. वायुयान-रक्षा का एक साधन

अनुमान कीजिए, आप किसी वायुयान में बैठकर ज़मीन से हज़ारों फ़ीट की ऊँचाई पर उड़ रहे हैं; अचानक एक धड़ाका हुआ। मशीन की चाल कम हो गई। अब मशीन का चलना भी बंद हो गया। बस, एक या दो मिनट में आपका वायुयान ज़मीन पर इस ज़ोर से जा गिरा कि चकनाचूर हो गया। उसमें बैठे हुए मनुष्य एक-एक करके सुर-लोक को सिधार गए। क्या इसका कोई प्रतिकार नहीं?



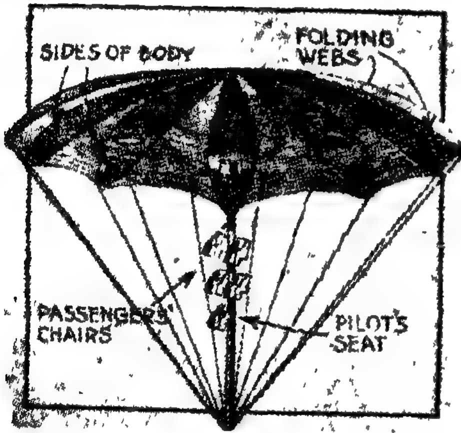
वायुयान की साधारण हालत का चित्र

मशीन के चलने में किसी कारण-वश व्याघात हो जाने से वायुयान इतने ज़ोर से ज़मीन पर गिरता है कि उसके शरीर, मशीन आदि का तो पता रहता ही नहीं, उसमें बैठे हुए चालक तथा अन्य मनुष्यों को भी अपने अमूल्य प्राणों से हाथ धोने पड़ते हैं। किंतु अब इस भय का कोई कारण नहीं रहा। अब वायुयान, मशीन के ख़राब हो जाने के कारण, एकाएक पृथ्वी पर नहीं गिर सकता। उसके गिरने में समय लगेगा, और वह धीरे-धीरे नीचे गिरेगा। मशीन के ख़राब होते ही चालक तुरंत एक कल दबाता है, और वायुयान एक बड़े छाते का आकार ग्रहण कर लेता है। इस छाते के नीचे की हवा उसकी गति को रोकती है, और मशीन धीरे-धीरे ज़मीन की ओर उतरती है।



एक गिरा हुआ वायुयान

(बाईं ओर एक वायुयान उड़ता हुआ दिखलाया गया है। मशीन ख़राब हो जाने पर वह दाहनी ओर के चित्र का आकार ग्रहण करेगा। नीचे एक गिरा हुआ वायुयान दिखलाया गया है, जिसमें गिरते ही आग लग गई है)



छाते का आकार ग्रहण करने के बाद उसी वायुयान का चित्र

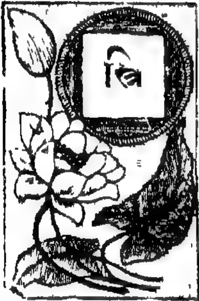
फ्रांस-वासी कैप्टेन लिपिंट वायुयान-चालक हैं। इन्होंने वायुयान-संबंधी बहुत-से आविष्कार किए हैं। यह भी उन्हीं का आविष्कार है। उनका कहना है कि मशीन ख़राब हो जाने पर वायुयान प्रति सेकंड ६ फ़ीट से अधिक चाल के हिसाब से नीचे नहीं गिरेगा। अतएव उसके टूटने का डर जाता रहेगा, मनुष्यों की मृत्यु नहीं होगी, पेट्रोल के पीपे के न फटने से उसमें आग भी लगने की संभावना न रहेगी, अर्थात् वायुयान सब प्रकार सुरक्षित रहेगा।

रमेशप्रसाद



महिला मनोरंजन

१. जालंधर का कन्या-महाविद्यालय



यों की शिक्षा के लिये इस समय भारतवर्ष में कई संस्थाएँ हैं ; पर ऐसी संस्थाएँ बहुत कम हैं, जो आदर्श कही जा सकें। जालंधर का कन्या-महाविद्यालय इन्हीं इनी-गिनी संस्थाओं में से है। बड़े-बड़े विद्वान् और नेता इसको आदर्श कन्या-महाविद्यालय मानते हैं। पं० मदनमोहन मालवीय, लाला लाजपतराय, स्व० देशबंधु दास, श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि सभी प्रसिद्ध व्यक्तियों ने इसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

जालंधर-कन्या-महाविद्यालय आदर्श क्यों है ? इसका कारण यह है कि यहाँ पाश्चात्य पद्धति से पढ़ाई नहीं होती। प्राचीन समय में गुरु के साथ रहकर विद्यार्थियों को शिक्षा मिलती थी। यहाँ भी कन्याओं को उसी प्रकार शिक्षा दी जाती है। शिक्षण-क्रम भी ऐसा है, जो भारतवर्ष के गृह-जीवन के अनुकूल एवं उपयोगी है। यहाँ अनेक शाखाओं की शिक्षा इस प्रकार दी जाती है कि यहाँ से निकली हुई कन्याएँ गृहिणी बनते ही गृहस्थी का सब भार आसानी से उठा सकें ; केवल यही नहीं, गृह-जीवन को मधुर भी बना सकें। भाषा और साहित्य की शिक्षा के साथ-साथ गृह-व्यवस्था, पाक-शास्त्र, घरेलू चिकित्सा, रोगी की सेवा-शुश्रूषा, सिलाई, बुनाई, संगीत, बाग़बानी इत्यादि उपयोगी विषयों की भी शिक्षा उनको दी जाती है।

पर केवल कन्याओं ही की शिक्षा का भार इस विद्यालय पर नहीं है, वरन् विधवाओं के जीवन को सुधारने का भार भी इस संस्था ने अपने ऊपर लिया है। अस्तु। विद्यालय के साथ-साथ एक विधवा-आश्रम और एक कन्या-अनाथालय भी स्थापित किया गया है।

विधवा-भवन में निवास करनेवाली विधवाओं को साधारण विद्याभ्यास के बाद ऐसी शिक्षा दी जाती है, जिससे वे चाहें, तो घर-बैठे अनेक प्रकार के उद्योग कर सकती हैं। उनको समाज-सेवा और धर्म की शिक्षा भी दी जाती है। इससे वे स्वतंत्र रूप से अपना जीवन-निर्वाह कर सकती हैं।

इस विद्यालय की स्थापना तारीख़ २६ सितंबर, सन् १८८६ को हुई थी। स्त्री-शिक्षा के हिमायती तथा विधवाओं के हित-चिंतक प्रसिद्ध जालंधर-निवासी लाला देवराज ने केवल दो-तीन कन्याओं से इस विद्यालय को प्रारंभ किया था। कन्याओं और विधवाओं के जीवन को हर प्रकार योग्य और उपयोगी बनाना ही उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य मान रक्खा था। इसी के लिये वह फ़क़ीर बने। आत्मबल पर भरोसा रखकर उन्होंने इस-- की स्थापना की थी।

दस वर्ष तक इसे उत्तम प्रकार से आपने चलाया; पर इन्हीं दस वर्षों में कन्याओं को ऐसी उत्तम रीति से शिक्षा दी गई कि जनता की सहानुभूति संस्था की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती गई, और अन्य सद्गृहस्थ भी इसकी उन्नति देखकर तन, मन और धन से इसकी सहायता करने के लिये तैयार हो गए। इस सहानुभूति से उत्तेजित होकर दसवें वर्ष ही इसको गुरुकुल का स्वरूप दे दिया गया, और ता० १४ जून, सन् १८९६ को संस्था का नाम कन्या-महाविद्यालय रक्खा गया।

विद्यालय ज्यों-ज्यों सार्वजनिक सेवा में अधिक भाग लेता गया, उसकी ख्याति बढ़ती गई। विद्यालय का नाम सुन-सुनकर अनेक अनाथ कन्याएँ यहाँ पढ़ने के लिये आने लगीं।

१२ ऑक्टोबर, सन् १८९८ को विद्यालय के अंतर्गत एक कन्या-अनाथालय भी खोल दिया गया। विद्यालय में आनेवाली अनाथ कन्याओं को इस संस्था मे रक्खा जाता है। उनके खाने-पीने तथा रहने और पुस्तकों का प्रबंध विद्यालय की ओर से किया जाता है। एक अधिष्ठात्री-देवी इन कन्याओं की देख-रेख करती हैं। आनंद-पूर्वक ज्ञान प्राप्त करने के अभिप्राय से वर्ष में एक बार इनको भिन्न-भिन्न स्थानों में यात्रा करने का अवसर भी दिया जाता है।

संस्थापक महोदय के दूसरे उद्देश्य की पूर्ति सन् १९०६ में हुई, जब विधवाओं के लाभार्थ "विधवा-भवन" की स्थापना की गई। अनाथालय की तरह इसकी भी देख-रेख एक अधिष्ठात्री करती हैं, और उसकी ही तरह इस भवन की विधवाओं के खाने-पीने और कपड़े-लत्ते का प्रबंध भी संस्था की ओर से होता है। इस संस्था की विधवाओं को, योग्य शिक्षा देकर, समाज-सेवा के लिये तैयार किया जाता है। पंजाब के विभिन्न स्थानों में इस विद्यालय से संबद्ध सौ से अधिक शाखा-पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी हैं, जिनमें विद्यालय की पद्धति पर ही शिक्षा दी जाती है।

महाविद्यालय का प्रबंध एक समिति के हाथ में है, जिसमें २१ पुरुष और १० स्त्रियाँ हैं। यह समिति महाविद्यालय की देख-रेख करती और सम्मति देती है। अंतरंग व्यवस्था महाविद्यालय की आचार्या के हाथ में है।

महाविद्यालय का शिक्षण-क्रम पाश्चात्य नहीं है, यह पहले बतलाया जा चुका है। वह राष्ट्रीय है, और देश की आवश्यकतानुसार तैयार किया गया है। इसका उद्देश्य भारतीय आदर्श और सभ्यता के अनुकूल भारतीय गृह-जीवन को अधिक उपयोगी बनाना है।

महाविद्यालय के संचालकों की प्रबल इच्छा है कि शिक्षण-क्रम ऐसा हो, जो कन्याओं को कुटुंब-वत्सल गृह-राज्य की सच्ची रानी बना सके, तथा गृह-जीवन को मधुर और सुखमय। यहाँ अँगरेज़ी-भाषा पर बहुत ज़ोर नहीं दिया जाता; गृह-व्यवस्था और देशी भाषा के ज्ञान की अभिवृद्धि पर अधिक ज़ोर दिया जाता है। फिर भी, वहाँ की कन्याओं का अँगरेज़ी-भाषा-ज्ञान किसी कॉलेज में शिक्षा पाई हुई महिला के ज्ञान से कम नहीं। विद्यालय की स्वर्गस्थ आचार्या श्रीमती सावित्रीदेवी और वर्तमान आचार्या कुमारी लज्जावती इस बात की प्रमाण-स्वरूप हैं। इन्होंने इसी महाविद्यालय में शिक्षा पाई है, अन्य किसी युनिवर्सिटी या कॉलेज में नहीं। जो सज्जन इन महिलाओं को जानते हैं, वे इस बात को बेधड़क कह सकते हैं कि यहाँ अँगरेज़ी-साहित्य की शिक्षा किसी प्रकार कम नहीं दी जाती।

महाविद्यालय में कुल १२ दर्जे हैं। पाँचवें दर्जे तक की पढ़ाई तो नगर की शाखा (स्कूल) में होती है, जो इसी विद्यालय की एक शाखा है, और महाविद्यालय में छठे दर्जे से शिक्षा दी जाती है।

पाँचवें दर्जे में पास होनेवाली परीक्षार्थिनी को 'सभ्या' की, सातवें में पास होनेवाली को 'शिक्षिता' की, नवें में 'दीक्षिता' की, दसवें मे 'उपस्नातिका' की और बारहवें में पास होनेवाली परीक्षार्थिनी को 'स्नातिका' की उपाधि दी जाती है।

शिक्षण-क्रम

धार्मिक शिक्षा के बाद संस्कृत, हिंदी और अँगरेज़ी-भाषा की तथा इतिहास, भूगोल और गणित की शिक्षा दी जाती है। धार्मिक शिक्षा तो सब दर्जों में अनिवार्य है; पर संस्कृत पाँचवें और छठे दर्जे में ही—सातवें और आठवें दर्जे में ऐच्छिक कर दी गई है। अनुभव से यह देखा गया है कि कन्याएँ संस्कृत पढ़ने के लिये बड़ी आतुर रहती हैं। हिंदी आठवें दर्जे तक अनिवार्य विषय है। आगे के दर्जों में भी इसे अनिवार्य



कन्या-महाविद्यालय की पाठिकाएँ

करने की योजना हो रही है। अँगरेज़ी-भाषा पाँचवें दर्जे से लेकर नवें दर्जे तक ऐच्छिक है। कन्याएँ संस्कृत और अँगरेज़ी, इन दोनों में से एक विषय पसंद कर सकती हैं। नवें दर्जे तक उनको अँगरेज़ी का इतना ज्ञान हो जाता है कि वे अँगरेज़ी अच्छी तरह लिख, बोल और पढ़ सकती हैं। अभी विज्ञान की पढ़ाई यहाँ नहीं होती। हाँ, योजना हो रही है कि यह विषय भी शीघ्र ही शिक्षण-क्रम में रक्खा जाय।

किसी कॉलेज में शिक्षा पाई हुई कन्या गृह-व्यवस्था बिलकुल नहीं जानती, पर यहाँ की कन्याएँ इस विषय का अच्छा ज्ञान रखती हैं। इस विषय की शिक्षा इतनी अच्छी तरह दी जाती है कि कन्याओं को वह रोचक होती है, और वे उत्सुकता-पूर्वक उसे ग्रहण करती हैं। भविष्य में उनके जीवन के लिये यह गौरव-वर्द्धक है।

कन्याओं को प्राथमिक चिकित्सा की शिक्षा भी दी जाती है। इससे, किसी समय, परिवार में किसी को चोट आने पर तत्काल औषधोपचार के लिये डॉक्टर की राह देखने की ज़रूरत नहीं रहती। छोटे-मोटे घावों पर मरहम-पट्टी और बीमार की सेवा-सुश्रूषा करने में यहाँ की कन्याएँ घबराती नहीं। इसके अतिरिक्त यहाँ उनको संगीत, चित्रकला, बाग़बानी, सिलाई, बुनाई आदि की भी शिक्षा दी जाती है। वक्तृत्व-शक्ति बढ़ाने और व्याख्यान देने का अभ्यास कराने के लिये भी एक समिति है। इस समिति के सम्मुख हर आठवें दिन कोई उपयुक्त विषय चुनकर सब उस पर अपने विचार प्रकट करती हैं।

गृह-जीवन से संबंध रखनेवाले सब विषयों की परीक्षा समारंभ के समय ली जाती है। पाक-शास्त्र, संगीत, चित्र-कला, सिलाई, बुनाई और डॉक्टरी के कामों में जो कन्या सबसे अच्छा कौशल दिखाती है, उसको इनाम भी दिया जाता है।

यहाँ की कन्याएँ बहुत सादा जीवन व्यतीत करती हैं। फ़ैशन का तो यहाँ नामोनिशान तक नहीं। यहाँ बड़े-छोटे या अमीर-ग़रीब का भेद-भाव भी नहीं है।



कन्या-महाविद्यालय की बालिकाएँ बाग़वानी कर रही है

सभी को एक ही प्रकार के कपड़े पहनने पड़ते हैं। भोजन भी एक ही प्रकार का मिलता है। कन्याओं को गहने पहनने और पास में पैसे रखने की मनाई है। अगर किसी के पास कुछ रुपए-पैसे होते हैं, तो अधिष्ठात्री के पास जमा हो जाते हैं। सब प्रकार के ख़र्च विद्यालय की तरफ़ से होते हैं। बाहर से आई हुई कन्याओं के लिये एक अलग आश्रम है, जहाँ उनके रहने और खाने-पीने का इंतज़ाम रहता है। पढ़ने के लिये विद्यालय है।

अभी तक जिन कन्याओं ने यहाँ शिक्षा पाई है, और जो अब गृहिणी हो गई हैं, वे भी इस विद्यालय की उन्नति के लिये दत्तचित्त हैं। इन महिलाओं की एक समिति है, जिसका नाम 'विद्यालय-मंडली' है। यह मंडली विद्यालय को धन से सहायता करने में प्रयत्नशील रहती है। वार्षिक समारंभ भी उसके ही ख़र्च से होता है।

बुद्धि और शरीर के विकास के लिये एक बड़ा पुस्तकालय तथा वाचनालय और व्यायाम-शाला भी है। विद्यालय ने समय-समय पर 'पांचाल-पंडिता', 'भारत' तथा 'भारती' नाम के मासिक पत्र भी निकाले हैं। पर धनाभाव के कारण वे सब बंद हो गए, और इसी धनाभाव के कारण ही इस विद्यालय की और अधिक उन्नति में बाधा पड़ रही है। खेद की बात है, स्त्री-शिक्षा के हिमायती लंबी-चौड़ी बातें बनाना तो जानते हैं; पर आगे बढ़कर ऐसे आदर्श विद्यालय को धन की सहायता दे आगे नहीं बढ़ा सकते!

यदि जनता इस विद्यालय की ओर ध्यान देकर इसकी उत्तरोत्तर उन्नति में तन, मन और धन से योग दे, तो जो कुछ कमी है, वह भी शीघ्र पूर्ण हो जाय।

बबूलाल द्विवेदी

कवि-चर्चा



१. कवि 'पद्माकर'-कृत 'आलीजाह-प्रकाश'



धिया-वंश के नर-रत्नों के नाम, उनकी श्रेष्ठता के कारण, महाराष्ट्र के इतिहास में अजरामर हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर जब हम उनके नाम हिंदी साहित्य के इतिहास में भी अंकित देखते हैं, तब तो हमारे आनंद की सीमा नहीं रहती। महाराष्ट्रीय अर्जुन वीरवर जयाप्पा सिंधिया का गौरव सूदन कृत 'सुजान-चरित' जैसे तत्कालीन अनेक ग्रंथों में अंकित है। इसके अतिरिक्त राजपूताने के भाट-चारण भी ऐसे वीरता-सूचक पदों से उनका स्मरण करते हैं—

> याद घणा दिन आवसी, आपा वाला हेल ;
> भागा तीनों भूपता, माल खजाना मेल ।

महाराज महादजी साहब के विषय में तो कहना ही क्या ! 'एक ही पाँव ते सिंधिया साहि न टूटि परै नाहि भूमि धरा है', इस पद की रचना करनेवाले को उन्होंने जागीर देकर गौरवान्वित किया था। राजपूताने में "घोड़ा जूड़ा पागड़ी, मूँछा औ तलवार" वाले भाटों के गीत से उनकी वीरता प्रकट होती है। 'हिम्मतबहादुर-विरदावली' आदि ग्रंथों में उनका वर्णन है। इसी लेखक-द्वारा प्रकाशित 'माधव-विलास' की उनकी मधुर हिंदी कविताओं से तो उनका नाम हिंदी-साहित्य में अमिट ही हो गया है, और हिंदी-ग्वालियर-नामे में भी उनका यश अंकित है। पर आज हम अपने पाठकों को उन्हीं के सत्पुत्र महाराज दौलतराव साहब के तत्संबंधी कार्य का हाल सुनाते हैं। अस्तु।

ग्वालियर में हमें हिंदी-मराठी के हज़ारों ऐतिहासिक महत्त्व के कागज़ात तथा अप्रकाशित ग्रंथ प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें महाराज दौलतराव का यश वर्णित है। महाराज का वर्णन शिव कवि के 'दौलतबाग-विलास' (बाग लगाने और इंजीनियरिंग का ग्रंथ) में, रघुनाथदेव के 'मिताक्षरा' में, लक्ष्मणराव फाटक की 'लछमन-चंद्रिका' में और पद्माकर के 'पंच-तंत्र-हितोपदेश' में पाया जाता है। किसी कवि-द्वारा महाराज के ही नाम पर की गई हिंदी-कविता भी हमारे संग्रह में मौजूद है। 'दौलतबाग-विलास', 'मिताक्षरा' आदि ग्रंथ भी हमारे पास हैं।

कहा जाता है कि पद्माकर ने अपने 'आलीजाह-प्रकाश' में महाराज की कीर्ति गाई है, और इसका उल्लेख हिंदी-साहित्य के इतिहास में भी पाया जाता है। पर आज तक उस ग्रंथ का पता लाला भगवानदीनजी, मिश्रबंधु तथा नागरी-प्रचारिणी सभा के संशोधन करनेवाले इतिहास-प्रेमियों को नहीं लगा था। जब से ग्वालियर में संशोधन का कार्य आरंभ किया, तब से

हम भी इस ग्रंथ की खोज में लगे रहे। अब, अंत को, हाल ही में, अपने एक मित्र-द्वारा यह ग्रंथ-रत्न हमें प्राप्त हो गया है।

ग्वालियर के पंडित वासुदेवनंदनजी भारद्वाज के पूर्वज पंडित रामलालजी अलवर-राज्य के लेखक थे। आपके संग्रह में उनकी लिखी हुई कुछ प्राचीन पुस्तकें हैं। आप हमारी अभिरुचि और इच्छा के अनुसार कुछ पुस्तकें अपने घर से उठा लाए। उन्हीं में अचानक यह ग्रंथ मिल गया। उसी का परिचय, संक्षेप में, यहाँ लिखा जाता है—

कवि पद्माकर की जीवनी के विषय में बड़ी गड़बड़ है। थे तो वह दाक्षिणात्य तैलंग-ब्राह्मण; पर उनके पुरखा १७वीं शताब्दी में उत्तरी भारत में आ बसे थे। 'मथुरास्थ मोहनलाल भट्टात्मज पद्माकर', ऐसा उल्लेख प्राप्त ग्रंथ में है। इससे स्पष्ट है कि वह मथुरा-निवासी थे। कहा जाता है कि उनके पिता भी संस्कृत के अच्छे पंडित और मंत्र-शास्त्र में निपुण थे, जिससे उन्हें मध्य-प्रदेश के अंतर्गत सागर के महाराष्ट्र-राजा रघुनाथराव आबा साहब ने आश्रय दिया था। हमारा इस कथन पर विश्वास नहीं; क्योंकि आबा साहब का समय सं० १८१६-४८ निश्चित है।

लाला भगवानदीनजी-संपादित पद्माकर-कृत हिम्मत-बहादुर-विरदावली में इन सागर नरेश का स्पष्ट नामोल्लेख होते हुए भी मिश्रबंधुओं ने रघुनाथराव को नागपुर और सितारे का राजा लिखा है। लालाजी के कथनानुसार पद्माकर के पिता की सं० १८२६ के पूर्व ही मृत्यु हो चुकी थी, और उस साल के पहले आबा साहब सागर के राजा थे, न कि रघुनाथराव। अतः वह उन्हें कैसे बुला सकते थे? विरदावली में सं० १८४९ के युद्ध का हाल लिखा है, जिससे राजा रघुनाथराव से रूठकर पद्माकर का बाँदा जाना भी सत्य प्रतीत नहीं होता। संभव है, पद्माकर पहले सुंगरा-निवासी नोने अर्जुनसिंह की तरफ़ और फिर सं० १८४९ में उनकी मृत्यु हो जाने पर हिम्मत-बहादुर (मृ० का० सं० १८६१) के आश्रय में तथा फिर वहाँ से रूठकर राजा रघुनाथराव के दरबार में चले गए हों। रघुनाथरावजी के महाराष्ट्रीय होने पर भी वहाँ पर पद्माकर का अच्छा सम्मान हुआ था, जो उनकी विविध कविताओं से साफ़ मालूम होता है। लालाजी के कथनानुसार पद्माकर का सागर से ग्वालियर जाना भी ठीक प्रतीत नहीं होता, वरन् वह जयपुर, जोधपुर, उदयपुर और बूँदी होते हुए ग्वालियर आए थे। यद्यपि कवि-रचित 'जगद्-विनोद' में ग्रंथ-रचना-काल नहीं दिया गया है, तथापि प्राप्त 'आलीजाह-प्रकाश' से उक्त बात की ही पुष्टि होती है। महाराज जगतसिंह २१ दिसंबर, सन् १८१८ को स्वर्ग सिधारे। उनकी मृत्यु से पद्माकर का आश्रयदाता जाता रहा, और वह राजाश्रय पाने के लिये ग्वालियर पहुँचे। उस समय कवि ने महाराज दौलतराव सिंधिया को प्रसन्न करने के उद्देश्य से पहली भेंट ही में निम्न लिखित कविता कही थी—

> कौन गढ़ बंबई सुमंद मदराज बंग,
> बंदर को बंद कर बंदर बसावैगो ;
> कहै पदमाकर कसकि कासमीर हू को,
> पिंजर मों घेरि के कलिंजर छुड़ावैगो ;
> बाका नृप आलीजा दौलत महाराज कबौ,
> साजि दल दपटि फिरंगिन दबावैगो ;
> दिल्ली दहपट्टि पटना हू को झपट्टि करि,
> कबहुक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो।

कहा जाता है कि कवि ने सागर में जो कुछ पाया उससे दूसगुना महाराज सिंधिया ने दिया। उन्हें एक लाख रुपया नक़द मिलने की कथा भी ग्वालियर में सुनी जाती है। फिर—

> महाराज माधव-तनय, नृप-मणि दौलतराव ;
> साहब सिंधिया कुल-कलस, दया-दान-दरियाव ;
> संवत सत्र फनिंद को, नव त सुचित गोविंद ;
> जग जानत जन त जग्यो, दौलतराव नरिंद ;
> दौलत आलीजाह नृप, हुकुम किया निधि-नेहु ;
> आलीजाह-प्रकास यह, सरस ग्रंथ करि देहु ;
> दौलत आलीजाह को, हुकुम पाय सविलास ;
> कवि पद्माकर करत हैं, आलीजाह-प्रकास।

ऐसा उल्लेख ग्रंथ के आरंभ में पाया जाता है। जोधपुरी काग़ज़ पर, ९×७ इंच के आकार के १०७ वर्क़ों अर्थात् २१४ पृष्ठों में, यह पुस्तक समाप्त हुई है। पुस्तक तत्कालीन ही लिखी मालूम होती है। लिखी सुवाच्य अक्षरों में गई है; पर शब्द तोड़कर लिखने में ढिलाई की गई है। अंत में फिर लिखा है—

दौलत नृप के हुकुम ते, आली अतिहि हुलास ;
कवि पद्माकर हो कियो, आलीजाह-प्रकास ।

इति सिद्धिश्री मथुरास्थ मोहनलाल भट्टात्मज कवि पद्माकर-विरचित आलीजाह-प्रकास काव्य सपूर्णम ।

और फिर—

निधि दृगन करि जानि, उन पर अठहत्तर अधिक ;
विक्रम मों पहिचानि, श्रावन सुदि इंदु अष्टमी ।

ऐसा उल्लेख पाया जाता है, जिससे स्पष्ट है कि श्रावण-सुदी अष्टमी, सोमवार, स० १८७८ को यह ग्रंथ समाप्त हुआ । लेखक का नाम 'मुकुंद' भी अंत मे लिखा है। इन्हीं पद्माकरजी का, महाराज दौलतराव साहब के सरदार ऊदाजीराव खटके-मरनोबत के आज्ञानुसार रचित, संस्कृत-हितोपदेश का गद्य-पद्यमय भाषानुवाद भी प्राप्त है, जिसमे लिखा है—

आनंदोजी राव को, सुत रानोजी राव ;
ता सुत ऊदाजी उदित, जाको परम प्रभाव ।
ऊदाजी तम्या । दादा । प्रबल, शुभ-मति-गुण गंभीर ;
नृप मणि दौलतराव को, मुख्य मुसाहिब वीर ।
ऊदाजी के नेह सो, पद्माकर सुख पाय ;
राजनीति की चंद्रिका, यों भाषत चित लाय ।

पद्माभरण, प्रबोध-पचासा, गंगा-लहरी, जगद् विनोद आदि इनके बनाए और ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं ।

अब रही आलीजाह-प्रकाश के अतरंग की बात । सो उससे यह सिद्ध है कि जिस प्रकार इस ज़माने में मराठी-किताबों से अनुवाद करने पर भी मूल ग्रंथ का नाम न लिखनेवाले, खाक अँगरेज़ी न जानने पर भी 'अँगरेज़ी से अनुवादित' कहनेवाले, दूसरों की कृतियों को तोड़-मरोड़कर अपनी बताने और अपनी कृतियों को ही विभिन्न रूपों में प्रकट करनेवाले लिक्खाड़ पाए जाते हैं, वैसे ही पहले ज़माने में भी थे । किंतु कवि पद्माकर का स्वय ऐसे गौण मार्गों का अवलंबन करना तो अनुचित ही जान पड़ता है । उन्होंने राजा रघुनाथराव के विषय में जो कविता की, उसे जगद्विनोद में रख दी, और फिर जगद्विनोद की सारी कविता महाराज दौलतराव को प्रसन्न करने के लिये, चुराकर, एक टकियल की भाँति, आलीजाह-प्रकाश में, कुछ घटा-बढ़ाकर, रख दी। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि इस ग्रंथ की कुछ कविता अवश्य नवीन है । हमारे सामने इस समय नवलकिशोर-प्रेस और खेमराज-श्रीकृष्णदास के यहाँ के दो जगद्विनोद हैं, जिनका आली-जाह-प्रकाश से मुक़ाबला करने पर इसके कुछ पद्य इस-में और उसके कुछ पद्य इसमें नहीं पाए गए। उदाहरणार्थ निम्न-लिखित पद 'जगद्विनोद' में नहीं पाए जाते—

मुग्धा

थापति-सी चातुरी सरापति-सी लक (?) अह,
श्रापति-सी पारति अजानपन (?) में ;
कहै पदमाकर सुश्रोप दरसावति-सी,
ल्यावति-सी नेसुक उचाइ उरोजन में ।
लाज ही चलावति-सी सखिन रिझावति-सी,
नावति-सी प्रीति अति पीतम के मन में ;
आखिन असीसति-सी दीसति सी मद-मद,
आवति चली यों तरुनाई तिय तन में ।

शांत-रस

सब में रहै भासि, सदा सब तें,
मनमाया मलीन को जीतत है ;
पदमाकर बेदन को सुनिके,
गुनिके गति ज्ञान की गीतत है ।
ध्वनि है जनते निज गेह में देह में,
आतम-ऋद्धि न चीतत है ;
परिपूरन ब्रह्म विचारहिं में,
निज को छिन में दिन बीतत है ।

इसी भाँति अज्ञातयौवना का 'स्वेद के भेद न कोऊ कहै', जगद्विनोद का यह उदाहरण आलीजाह-प्रकाश में नहीं है। पर आलीजाह-प्रकाश विनोद से बहुत बड़ा है, और इसमें ही हुई बाद की रचना से कवि की विकसित कविता के रसास्वादन का आनंद प्राप्त हो सकता है । इसलिये कम-से-कम जगद्विनोद की सभी प्राप्त प्रतियाँ एकत्रित करने के बाद उनका मिलान कर आलीजाह-प्रकाश* का सपादन करना अत्यंत आवश्यक है । इससे निस्संदेह भाषा-साहित्य में एक अच्छे ग्रंथ की वृद्धि होगी, और नायिका-भेद, रस, भावादि के श्रेष्ठ उदाहरणों से हिंदी-साहित्य अलंकृत होगा ।

भास्कर-रामचंद्र भालेराव

---

* पद्माकर की ग्रंथावली भी सुकवि माधुरी-माला में, हमारे द्वारा सपादित होकर, निकलेगी । उसी में यह ग्रंथ भी रहेगा ।— माधुरी-सपादक



१. धर्म-शास्त्र

प्राचीन भगवद्गीता—लेखक और प्रकाशक, श्री-मंगलानंदपुरी, कागज़ और छपाई संतोषजनक ; स्कूली साइज़ ; पृ०-सं० ८८ ; मूल्य ।=) ; अनरमया, प्रयाग से प्राप्य।

प्रसिद्ध 'भगवद्गीता-सप्तशती' में ७०० श्लोक हैं ; परंतु इसमें लेखक के कथनानुसार ७०० के स्थान में ७० ही । आपकी धारणा है कि यही 'प्राचीन' भगवद्गीता है । कारण, एक तो युद्ध के समय ७०० श्लोकों का लंबा व्याख्यान देना संभव नहीं ; दूसरे बालीद्वीप में जो गीता प्राप्त हुई है, और जिसे 'माडर्न रिव्यू' ने (जुलाई, १९१४ में) प्रकाशित किया है, उसमें ७० श्लोक ही हैं । इसके अतिरिक्त वर्तमान गीता में "ब्रह्मा, शिव, ऋषि, सर्प आदिकों को आपके शरीर में देखता हूँ, (११-१९) इत्यादि बातें कही गई हैं, जो अप्रासंगिक होने के साथ ही अवैदिक भी हैं; क्योंकि ब्रह्मा-विष्णु आदि...का वर्णन तो पुराणों में ही आया है ।.प्राचीन ग्रंथों...में ऐसी बातों का लेश-मात्र भी नहीं है ।" महाभारत में बहुत-सा क्षेपक है ही । फिर गीता में ७० के अतिरिक्त जो कुछ है, उसे क्षेपक क्यों न माना जाय ? इन ७० श्लोकों की परस्पर-संगति लगाने का "बड़ा टेढ़ा सवाल था—जिसने ७० श्लोकों के मनन पर मेरा (लेखक का) ९ मास का भारी समय ख़र्च करा दिया ।" इत्यादि बातें स्वयं श्रीयुक्त मंगलानंदजी की लिखी प्रस्तावना और भूमिका से हमें ज्ञात हुई हैं ।

अब हम श्रीमंगलानंदजी के ९ मास के घोर परिश्रम से प्रसूत इस मंगलमय रत्न का हृदय से स्वागत करते हैं; परंतु आपके तर्कों के संबंध में हमें कुछ निवेदन करना है ।

"३७ सालों से भगवद्गीता का प्रेमी होने के कारण काफ़ी युक्तियों के आधार पर (आप) इसी निर्णय पर आरूढ़ थे कि उस रण-भूमि में खड़े-खड़े इतना भारी (७०० श्लोकों का) व्याख्यान दिया जाना संभव न था ।" भला क्यों ? क्या खड़े-खड़े थक जाते ? अथवा व्याख्यान में समय बहुत लगता ? या रण-भूमि होने के कारण इतनी देर में किसी ओर से अचानक प्रच्छन्न आक्रमण के हो जाने की आशंका थी ? पहले तो गीता का उपदेश खड़े-खड़े नहीं हुआ था, भगवान् कृष्ण और अर्जुन दोनों रथ पर बैठे थे । दूसरे जिनमें इतनी नज़ाकत है कि घंटे-भर भी खड़े नहीं रह सकते, उनसे महाभारत-जैसे युद्ध में विजय प्राप्त करने की कौन आशा कर सकता है ? इसके अतिरिक्त जिस रण-भूमि में युधिष्ठिर को इतना अवसर मिल सकता है कि वह कवच उतारकर, शस्त्र छोड़कर, केवल धोती पहने, नंगे सिर, नंगे पैर, हाथ जोड़े हुए, शत्रु की युद्ध-दुर्मद-सन्नद्ध सेना में घुस जाय, और भीष्म, द्रोण आदि की प्रदक्षिणा

एवं प्रार्थना करके युद्ध की आज्ञा माँगकर फिर उसी तरह अछूता अपनी सेना में आ जाय, क्या उस रण-भूमि में कृष्ण और अर्जुन को बातचीत करने का भी अवसर नहीं मिल सकता? वस्तुतः बात यह है कि हम आजकल के नितांत कलुषित वायु-मंडल से दूषित हृदय के द्वारा उस समय के लिये तर्क तैयार करते हैं, जब आदर्श का अधःपात होने पर भी धर्म का बहुत कुछ अंश विद्यमान था, और भागते हुए, शरणागत, गिरे हुए या अन्य-मनस्क शत्रु पर आक्रमण करना कायरता समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त जब तक रण-भेरी-द्वारा युद्ध के आरंभ करने की सूचना न दे दी जाय, तब तक किसी पर हाथ चलाना उस समय की नीति नहीं थी। इधर जब अर्जुन-जैसा प्रधान वीर रण से विमुख हुआ बैठा है, तो रण-भेरी कौन बजाए, और उसके बिना युद्ध कैसे आरंभ हो? जब तक युद्ध का आरंभ नहीं हुआ, तब तक ७०० क्या, यदि ७००० श्लोकों का भी कोई पारायण कर डाले, तो किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? फिर गीता में ७०० श्लोक हैं। इनका पाठ ४०-४५ मिनटों में हो सकता है। धीरे-धीरे पढ़ा जाय, तो एक घंटा पर्याप्त है। यदि श्लोक न पढ़कर बातचीत में ही संक्षिप्त भाव कहा जाय, तो आधा घंटा ही बहुत है। क्या इतना समय भी वहाँ नहीं मिल सकता था? हाँ, ७०० श्लोकों का व्याख्यान किसने दिया था? क्या भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को श्लोक सुनाए थे? आपको ३१ वर्ष तक गीता से प्रेम रहने पर भी यह निश्चय नहीं हो पाया कि ये श्लोक व्यासजी के बनाए हैं, या श्रीकृष्ण के!

आपने लिखा है कि "सन् १४७८ ई० में जावाद्वीप पर जब मुसलमानी राज्य स्थापित हुआ है, उस समय जावा से एक ब्राह्मण अपने धर्म की रक्षा के लिये कुछ धार्मिक पुस्तकें लेकर वाली में भाग आया था।" उन्हीं में एक प्रति खंडित महाभारत की थी; उसी में यह खंडित गीता मिली। ७० श्लोकों की संख्या पूरी करने के लिये अनेक जगह डेढ़ श्लोक पर एक श्लोक की संख्या दी गई है (शायद यह गड़बड़ मूल में ही हो)। एक जगह तो केवल एक पद "ओषधीनाम्" बस इतना ही है। वाक्य-पूर्ति के लिये, आगे-पीछे, कुछ नहीं है। कई जगह आध श्लोक के आगे पूरे श्लोक का चिह्न है। कहीं पद्यों के अंतिम दो अंश ही रक्खे हैं। पूर्वांशों का पता तक नहीं। जैसे—

ज्योतिषामहमशुमान् नक्षत्राणामहं शशी। ४७।

यह एक श्लोक माना गया है। इसी प्रकार—

"वरुणो यादसामहम् यमः संयमतामहम्—

प्रह्लादः सर्वदैत्यानां कालः कलयतामहम्।"

इस पद्य के पूर्वार्द्ध में दोनों अंतिम चरण इकट्ठे कर दिए हैं। इस प्रकार के अनेक खंडित और साकांक्ष अंशों के देखने और वाली की गीता का इतिहास सुनने से यही निश्चय होता है कि ज्ञान के शत्रु मुसलमानों-द्वारा नष्ट-भ्रष्ट होते देख कुछ पुस्तकें लेकर कोई ब्राह्मण जावा से वाली भाग गया, और उसके खंडित महाभारत में से यह खंडित गीता मिली। श्रीपं० बालगंगाधर तिलक महाराज का अनुमान था कि जावावालों ने गीता के अधिकांश को अपनी भाषा में कर लिया, और कुछ प्रधान-प्रधान पद्यों को संस्कृत में ही रहने दिया। वही यह (खंडित) गीता है। परंतु श्रीस्वामीजी का कहना है कि यही गीता प्राचीन, अतएव "वैदिक" सिद्धांतानुगामिनी है, और वर्तमान गीता में, प्रक्षेप होने के कारण, बहुत-सी पौराणिक बातें ठूँस दी गई हैं—जैसे, विराट् रूप के प्रकरण में श्रीकृष्ण के शरीर में ब्रह्मा, शिव, ऋषि, सर्प आदि की "अप्रासंगिक" और "अवैदिक" चर्चा। परंतु आपकी इस वैदिक गीता को भी 'अवैदिक' बातों से छुटकारा नहीं मिला। इसमें एक पद्य है—

"पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।"

ये नाना वर्ण और नाना आकृतियों के रूप, निराकार परमात्मा में, बिना अवतार के कैसे हो गए? फिर रूप भी कैसा?

'अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्;

अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्। ५७।'

हम जब देखते हैं कि एक ओर तो स्वामीजी अपनी गीता में

'रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्। ४८।

लिखते हैं, और दूसरी ओर भूमिका में शिव आदि को 'अवैदिक' और अप्रासंगिक कहकर वर्तमान गीता को प्रक्षिप्त सिद्ध करना चाहते हैं, तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता! यदि श्रीस्वामीजी वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद-भाष्य (जिसे श्रीस्वामी दयानंदजी ने भी

प्रमाण माना है) का सृष्टि-प्रकरण देख लें, तो आपको विदित हो जाय कि प्राचीन ग्रंथों में 'ब्रह्मा, शिव' का 'लेश-मात्र' है, या नहीं।

भगवान् कृष्ण को ईश्वर मानने में आनाकानी करनेवाले लोग गीता के विभूति-प्रकरण और विराट् रूप के प्रकरणों में सीधे अक्षरों की जैसा खींचातानी कर अस्वाभाविक अर्थ किया करते हैं, उसी दर्जे की प्रकृत स्वामीजी की भाषा-टीका भी है।

७० श्लोकों की संगति को देखकर तो हमें यही कहना पड़ता है कि श्रीस्वामीजी के '६ मास परिश्रम' का यह 'बाल गुल्म' है।

× × ×

श्रीगीतार्थ-चन्द्रिका (प्रथम खंड)—लेखक, श्रीयुत स्वामी दयानंदजी; श्रीब्रह्मावर्त-सनातनधर्म-महामंडल के शास्त्र-प्रकाश-विभाग-द्वारा प्रकाशित; छपाई संतोषजनक; कागज़ साधारण; आकार डबलक्राउन, १६पेजी; पृ०-सं० २८१; मूल्य १।)

संस्कृत-साहित्य में 'भगवद्गीता' एक रहस्यमय वस्तु है। जिस प्रकार भावना के अनुरूप भक्त को भगवान् के दर्शन होते हैं, उसी प्रकार भगवद्गीता में भी भावुकजन अपनी-अपनी भावना का भंडार भरा पाते हैं। शंकराचार्य-जैसे ज्ञान-गंभीर जगद्गुरु को गीता में ज्ञान का अगाध गांभीर्य दिखाई पड़ता है। संन्यासी लोग उसमें कर्म-संन्यास और ज्ञान-योग देखते हैं। वैष्णव आदि संप्रदायों के आचार्य भक्ति-रस का स्वाद पाते हैं। अर्जुन गीता सुनकर अनेक अक्षौहिणी सेनाओं का संहार कर डालते हैं। तिलक-जैसे अप्रतिहत-प्रज्ञ उसमें कर्मयोग की छाप पाते हैं। अरविंद-जैसे तपस्वी उसमें अपनी निष्कपट कामनाओं की पूर्ति पाते और घोर राजद्रोही कहलानेवाले अराजक दल के तेजस्वी नवयुवक गीता को गोद में लेकर हँसते-हँसते फाँसी की यातनाओं को पार कर जाते हैं। अस्तु, गीता के संबंध में यह उक्ति प्रत्यक्षर सत्य उतरती है—

जिनकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

भगवद्गीता के भावों के कितने स्वरूप हैं, यह तो भगवान् ही जानें; पर वर्तमान समय में, प्रधान सिद्धांतों का विरोध, बड़े-बड़े लोगों को भी चक्कर में डाल रहा है।

यदि वस्तुतः गीता में यही उपदेश है कि 'सब कुछ छोड़कर, लँगोटा लगाकर संन्यासी हो जाय', तो फिर अर्जुन को इसके उपदेश की क्या आवश्यकता थी? वह तो पहले ही से सब कुछ छोड़े बैठा था। इसे सुनकर वह युद्ध में प्रवृत्त कैसे हुआ? उसे तो संन्यासी हो जाना चाहिए था? और, यदि गीता में प्रवृत्ति-मार्ग का ही उपदेश है, निवृत्ति-मार्ग का लेश भी नहीं है, तो भगवान् शंकराचार्य-जैसे ज्ञान-गुरु को वह कैसे दिखाई दिया? क्या उन्होंने समझने में भूल की? किसकी हिम्मत है, जो ऐसा कहे? क्या उनका किया हुआ भाष्य स्वाहिलक नहीं? किसका दम है, जो यह 'कलामएकुफ्र' ज़बाँ पर लाए? आख़िर बात क्या है? अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर-विरोधी—प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग—दोनों एक ही शब्द से कैसे निकल सकते हैं?

हमें कहते अत्यंत प्रसन्नता होती है कि सनातनधर्म के धुरंधर वक्ता, सुनिपुण विवेचक श्रीस्वामी दयानंदजी ने इस गीतार्थ-चंद्रिका में उक्त प्रश्न की बड़ी योग्यता से मीमांसा की है। भूमिका में ही आपने इस पर प्रकाश डाला है; और भी बहुत-सी ज्ञातव्य बातों की विवेचना की है। ग्रंथ में पहले मूल श्लोक, उसके नीचे अन्वय (हिंदी-पदार्थ-सहित), उसके आगे 'सरलार्थ' और अंत में 'चंद्रिका'-नामक उपयोगी और चारु विचार पूर्ण दिया गया है। हिंदी-जगत् में इस प्रकार की व्याख्या की बड़ी आवश्यकता थी। श्रीस्वामीजी एक अत्यंत महत्त्व-पूर्ण अभाव की पूर्ति कर हिंदी-जगत् और विशेषकर धार्मिक जगत् के धन्यवाद-भाजन हुए हैं।

पर भगवान् शंकराचार्य के संबंध में लिखे हुए श्री-स्वामीजी के कई शब्दों से हम सहमत नहीं। हम यह नहीं मानते कि "उन्होंने (श्रीशंकराचार्य ने) सामयिक (वास्तविक नहीं) कल्याण के लिये कर्म-मात्र का खंडन करते हुए ज्ञान-कर्म के समुच्चय-वाद पर ही प्रचंड प्रहार किया", और "कालानुसार जीव-कल्याण के लिये" अथवा "विषयी जीव के चित्त को विषय से पृथक् करने के लिये समस्त चराचर को मिथ्या मृग-मरीचिका तथा स्वप्नवत् बता दिया"। ...हमारी धारणा है कि कामिनी और कांचन में फँसे हुए, मद्य और मांस में परम आनंद का प्रत्यक्ष अनुभव करनेवाले विषयी जीव के आगे यदि आप सैकड़ों युक्तियों के द्वारा संसार को

मृग-मरीचिका तथा स्वप्न बताएँगे, तो भी वह धीरे से मुसकिराकर यही कहेगा — "हाय कंबख़्त तूने पी ही नहीं।" ऐसे विषयी जीवों को हम वेदांत का अधिकारी नहीं समझते । भगवान् शंकराचार्य ने अपने शारीरक मीमांसा-भाष्य में स्पष्ट रूप से साधन-चतुष्टय-संपन्न पुरुष को वेदांत का अधिकारी बताया है—"नित्यानित्यवस्तुविवेकः — इहामुत्रार्थभोगविरागः—शमदमादिसाधनसंपत् —मुमुक्षुत्वञ्च ।" केवल यहीं का नहीं, स्वर्ग का सुख-भोग भी जिसे आकर्षित न करे, उस वैराग्य-संपन्न पुरुष का वेदांत में अधिकार है । इत्यादि । व्यवहार-दशा में शांकर मत कहीं भी कर्मों का परित्याग नहीं बताता । भगवान् शंकराचार्य कितने बड़े कर्म-योगी थे, यह उनकी कृतियों पर ध्यान देने से सहज ही जाना जा सकता है । परन्तु, समष्टि-रूप से, चंद्रिका के विचारों को हम अत्यंत परिमार्जित, परिष्कृत, समयोपयोगी और आदरणीय समझते हैं । हम श्रीगीतार्थ-चंद्रिका का हृदय से स्वागत करते और हिंदी-जगत् में इसके यथेष्ट प्रचार के अभिलाषी हैं ।

× × ×

धार्मिकलक्षणवर्णनम्—लेखक और टीकाकार, आर्य प० आणनंद मणि ; स्कर्मा साइज़, छपाई-सफ़ाई संतोषजनक कागज़ अच्छा; पृष्ठ-सं० ७८; मूल्य ॥); धर्म-ग्रंथ रत्नाकर-कार्यालय, जकरिया-स्ट्रीट, कलकत्ता से प्राप्य ।

पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है । प्रेषक महाशय को धन्यवाद !

× × ×

श्रीमद्दयानंदनिरूपण—लेखक, श्रीमत्ब्रह्मदत्त नदोलः पृ०-सं० ५३, छपाई-सफ़ाई स्वच्छ; मूल्य 'प्रेम' । १०२ दिल्ली रोड, मेरठ से प्राप्य ।

पुस्तक का विषय नाम से ही स्पष्ट है । प्रेषक महाशय को धन्यवाद !

शालग्राम शास्त्री

× × ×

पुनर्जन्म—लेखक और प्रकाशक, पं० नंदकिशोरजी विद्यालंकार, गोविला ब्रदर्स कंपनी, ८ । २ हेस्टिंग्स-स्ट्रीट, कलकत्ता ; मूल्य १); पृष्ठ-संख्या ८+१६६+८; कागज़, छपाई, जिल्द इत्यादि उत्तम ।

आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म का विषय बहुत जटिल है, और साधारण लोगों की समझ में सहसा नहीं आता; परंतु पंडित नंदकिशोरजी ने बड़ी मनोरंजकता के साथ, अनेक उदाहरण देकर, अपने विषय को समझाया है । पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारों की तुलना करते हुए आपने पुनर्जन्म-विषय पर बहुत सुंदर प्रकाश डाला है । आपने पुनर्जन्म से संबंध रखनेवाले कर्मवाद, सृष्टि-उत्पत्ति, ईश्वर की सत्ता इत्यादि अनेक विषयों का बहुत ही विद्वत्ता-पूर्ण विवेचन किया है । वैदिक दर्शनों के अतिरिक्त अन्य अवैदिक दर्शनों का, पुनर्जन्म के विषय में, क्या मत है, यह भी पुस्तक में दिखला दिया गया है । विवेचन-शैली में सिर्फ़ धार्मिक ग्रंथों के प्रमाणों को ही आधार नहीं मान लिया गया है, बल्कि तर्क से भी पूरा-पूरा काम लिया गया है ; और इस कारण पश्चिमी विकास-वाद के अध्ययन से हमारे देश के जिन नवयुवकों की प्रवृत्ति नास्तिक-वाद की ओर झुक गई है, वे यदि इस पुस्तक का अध्ययन करेंगे, तो आशा है, पुनर्जन्म, ईश्वर के अस्तित्व और आत्मा की अमरता पर उनका भी विश्वास हो जायगा ।

इसमें संदेह नहीं कि विवेचना-शैली कहीं-कहीं जटिल भी हो गई है, पर इसमें लेखक का विशेष दोष नहीं ; क्योंकि लेखक ने विद्यार्थी-दशा में इस निबंध को लिखा था । फिर विषय भी काफ़ी जटिल है । इस ग्रंथ में संस्कृत तथा अँगरेज़ी के जो वाक्य जगह-जगह उद्धृत किए गए हैं, उनका अर्थ कई जगह नहीं दिया गया । यदि वह भी दे दिया जाता, तो पुस्तक की उपयोगिता हिंदी पढ़नेवालों की दृष्टि में और भी अधिक बढ़ जाती ।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

× × ×

२. अर्थ शास्त्र

अवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्

'रघुवंश'

गो-धन (सचित्र)—लेखक, श्रीयुत पंडित गिरीशचंद्र चक्रवर्ती, किशोरगंज ; प्रकाशक, श्रीबाणीनाथजी चक्रवर्ती बी० ए०, किशोरगंज (मैमनसिंह); पृष्ठ-संख्या १६+४१६+२०; कागज़-छपाई उत्तम; मूल्य ४)

संसार-भर के सब देशों में भारत प्राचीनतम देश है । आजकल के उन्नत राष्ट्रों की श्रेणी में उसका नाम भले ही स्थान न पा सकता हो ; पर यह बात निर्विवाद

है कि आधुनिक विद्या-प्रेमी उन्नत राष्ट्र उसके प्राचीन साहित्य का यथोचित आदर करते और उससे लाभ उठाते हैं। उन्नत राष्ट्रों के पुरातत्त्व-पारगामी विद्वानों की सम्मति है कि आज-दिन भारत के पास जैसा प्राचीन साहित्य है, वैसा किसी के पास नहीं है। भारत का प्राचीन और पाश्चात्य जगत् का वर्तमान साहित्य इस बात में एक-मत है कि संसार में वही देश उन्नत होकर अपनी उन्नति की रक्षा कर सकता है, जो अपने देश के गो-कुल की उचित सेवा कर उसे प्रसन्न रक्खा करता है।

भारत के प्राचीन आर्यों की बुद्धि ज्यों-ज्यों विकसित होती गई, ज्यों-ज्यों उनकी गवेषणा-शक्ति बढ़ती गई, त्यों-त्यों उनको मालूम होता गया कि गो-वंश में मनुष्य का उपकार करने की अमित शक्ति है। खोज करते-करते वे इस सिद्धांत पर पहुँचे कि मनुष्य को, जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यंत, प्रतिदिन जिन पदार्थों की अनिवार्य आवश्यकता हुआ करती है, वे सब प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से, गो-वंश की सहायता-द्वारा ही मिला करते हैं। अनुभव और प्रत्यय से जब यह बात प्रमाणित हो गई, तब यहाँ के कृतज्ञ आर्यों ने 'गौ' को गो-माता कहना आरंभ किया। उनका 'गौ' को गो-माता कहना बहुत ही सार्थक है। मनुष्य को जन्म देनेवाली माता उसका भरण-पोषण एक-दो वर्ष करती है; किंतु गौ उसका आमरण पालन करती है। गौ, अकेले मनुष्य को ही नहीं, किंतु प्राणी-मात्र को भरण-पोषण की सामग्री, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से, जन्म-भर पहुँचाती रहती है।

अत्यंत खेद, परिताप और संताप का विषय है कि हम वर्तमान हिंदू, गौ को अभी तक माता तो कहते जाते हैं; पर उसकी उचित सेवा बिंदु-मात्र भी नहीं करते। यह हमारी उचित गो-सेवा-विमुखता का ही तिक्त फल है कि आज-दिन भारत में शुद्ध दूध-घी मुँह-माँगे दामों पर भी यथेष्ट परिमाण में नहीं मिलता। इतना ही नहीं, अन्यान्य भोज्य पदार्थ भी भयंकर रूप से महँगे हो गए और नित्य-प्रति महँगे होते जाते हैं। अन्न-कष्ट की मात्रा इतना भीषण रूप धारण कर चुकी है, तो भी भारतवासियों का ध्यान उसकी ओर अणु-मात्र भी नहीं जाता। 'किं मूर्खत्वमतः परम्'। भारत के वर्तमान कृतविद्य लोगों को यह बात भली भाँति समझ रखनी चाहिए कि वे संसार में सुखी और समादृत तभी होंगे, जब कवि-कुल-गुरु कालिदास के शब्दों में अपने गो-वंश को अपनी उचित सेवा से प्रसन्न कर उसे अपने लिये कामधेनु बनावेंगे।

भारत के प्राचीन विद्वानों ने (सुरों ने) जिस प्रकार साहित्य-समुद्र का मंथन कर अनेकानेक रत्नों के साथ कामधेनु को प्राप्त किया था, ठीक उसी प्रकार ऋग्वेद से लेकर रघुवंश-पर्यंत भारतीय साहित्य तथा पाश्चात्य जगत् के गोपालन-शास्त्र का समुचित मंथन कर श्रीयुत पंडित गिरीशचंद्रजी चक्रवर्ती ने इस गोधन-नामक ग्रंथ-रत्न को प्राप्त किया है। आपकी इस सफलता के लिये हम आपको शुद्ध अंतःकरण से बधाई देते हैं। आपने अपने इस ग्रंथ-रत्न को निम्न-लिखित खंडों तथा परिच्छेदों में विभक्त किया है—

खंड	परिच्छेद
१	४
२	१
३	२६
४	२४
५	१३
६	१०
७	७

चक्रवर्तीजी ने अपनी अनुभव-प्रसूत लेखनी तथा ज्ञानार्जन-स्पृहा-द्वारा प्राप्त बातों को जिन उक्त संख्यक विषयों में विभक्त किया है, वे इतने ज्ञान-दानेच्छुक हैं कि उन्हें पढ़कर विवेकी पाठक के मन में गो-पालन के प्रेम का प्रादुर्भाव हुए बिना रुक नहीं सकता।

प्रथम खंड—इस खंड में, भारत के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य से सार-गर्भित अवतरण देकर तथा उनकी पाश्चात्य जगत् के वर्तमान गो-पालन-विज्ञान से पुष्टि कर, विद्वान् ग्रंथकार ने गो-वंश की उपयोगिता का बहुत ही उत्तम वर्णन किया है। इस वर्णन को पढ़कर गो-वंश के अनंत उपकारों का स्वयं ज्ञान पाठक को हो सकता है। साथ ही यह भी ज्ञात हो सकता है कि भारत के दूर-दर्शी विद्वानों ने गो-वंश का इतना आदर क्यों किया, और पाश्चात्य जगत् के लोग उनका पालन यथेष्ट चतुराई और सावधानी से क्यों करते हैं।

इस खंड के तृतीय परिच्छेद में उन तेईस कारणों

का उल्लेख किया गया है, जिनकी घोर उपेक्षा के कारण भारत के जीवन-सर्वस्व—गो-वंश—का भयंकर नाश किया जा रहा है। उन तेईस कारणों में से नीचे-लिखे कारण सर्वप्रधान हैं—

(१) गो-जननोपयोगी उत्तम साँड़ों का अभाव।

(२) भारत में गो-पालन, अथवा गो-चिकित्सा की शिक्षा के लिये विद्यालयों का अभाव।

(३) भारत में गो-पालन-शिक्षा, गो-पीड़ा और चिकित्सा-संबंधी ग्रंथों का अभाव।

(४) धनी और शिक्षित लोगों में गो-पालन की उपेक्षा, घृणा और अमनोयोग तथा ग्वालों का अज्ञान।

उक्त तथा उनके सवर्गीय अन्यान्य कारणों का उल्लेख करते हुए चक्रवर्ती महाशय ने बहुत ही ठीक कहा है कि समय रहते भारत के राजे-महाराजे, ज़मींदार, विद्वान् और धन-कुबेरगण भयानक गो-नाश के रोकने का उचित उपाय यदि नहीं करेंगे, तो देश का नाश हो जायगा। ईश्वर ऐसा न करे। वह हमारे विद्वानों तथा धन-कुबेरों को सद्बुद्धि दे, जिससे वे उचित गो-पालन-द्वारा गो-वंश की यथेष्ट रक्षा कर भारत की उन्नति कर सकें।

चौथे परिच्छेद में भारत की गो-जाति की उन्नति के युक्ति-युक्त उपायों का उल्लेख करते हुए आपने लिखा है कि "योरप में क्लोवर, लूसर्न, मेडिक प्रभृति घास उत्पन्न की जाती है, घास-जातीय शस्य का बीज, तथा यव, गेहूँ, मूँग, उर्द इत्यादि शस्य, गोगण के भोजनार्थ उत्पन्न किए जाते हैं; परंतु इस देश में यह प्रथा नहीं है। हमारे देश में तो उससे भी अधिक चेष्टा कर, गो-खाद्य उत्पन्न करना चाहिए; क्योंकि इँगलैंड में यदि गाएँ न भी रहें, तो वहाँ के मनुष्यों की विशेष हानि नहीं हो सकती, परंतु भारत में, गाय के न रहने पर, खेती बंद होने से यहाँ के सब मनुष्य ही ध्वंस हो जायँगे।" (पृ० ४०)। भारत के समझदार लोगों को चक्रवर्तीजी के उक्त कथन पर मनोयोग-पूर्वक विचार करना चाहिए।

गो-पालन-साहित्य के प्रचार की आवश्यकता प्रदर्शित करते हुए ग्रंथकार ने पृष्ठ ५१ पर लिखा है—

"स्वस्थ गाय के लिये कैसे आहार-विहार की आवश्यकता है, इस संबंध की पुस्तकें, भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखकर, इस देश में कम मूल्य पर या विना मूल्य, प्रत्येक ज़िला, सब डिवीज़न, गाँव, मुहल्ले तथा प्रत्येक गृहस्थ के घर में नित्य के व्यवहार में पंचांग की भाँति रहनी चाहिए; यहाँ तक कि इनका प्रचार पंचांगों से भी अधिक होना चाहिए। इस विषय पर सदाशय सरकार तथा इस देश के मेरुदंड-स्वरूप राजे-महाराजे, धर्म-सदाशय, धर्म-परायण समाज और देश-हितैषी महोदयों की सुदृष्टि होनी चाहिए। यदि इस ओर उनकी सुदृष्टि पड़ेगी, तो देश में एक दूसरा ही युग उपस्थित हो जायगा, और शीघ्र ही लाखों अच्छी गाएँ दिखाई देने लगेंगी।" भारत में जिन लोगों ने थोथी गो-रक्षिणी सभाएँ और गो-शालाएँ खोल रक्खी हैं, उन्हें चक्रवर्तीजी के उक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए।

द्वितीय खंड—इस खंड में भारत के समस्त गो-वंश तथा पाश्चात्य जगत् के गो-वंश का सचित्र इतिहास लिखा गया है। गो-वंश का इतिहास बहुत ही ज्ञानवर्द्धक है। उचित रूप से पालन करने पर गाएँ कैसी सुंदर, सुडौल और दुधार बन सकती हैं, इसका ख़ासा ज्ञान इस खंड के अध्ययन से हो सकता है। इस खंड में चक्रवर्ती-जी गौ के अंग-प्रत्यंग तथा गुण-धर्म-द्योतक एक चित्र और भी दे देते, तो बहुत अच्छा होता।

तृतीय खंड—इस खंड के परिच्छेदों में उत्तम साँड़ तैयार करने की विधि, तथा उससे होनेवाले लाभों का बहुत ही अच्छा वर्णन है। साथ ही उत्तम बैल, उत्तम गौएँ, गौओं का ऋतुकाल, गर्भ-धारण, प्रसूति आदि के विषय में आवश्यक सावधानी रखने का भी बहुत ही उत्तम वर्णन लिखा गया है।

चतुर्थ खंड—इस खंड में गो-शालाओं के संचालन की विधि लिखी गई है। गो-शालाओं में गौओं के लिये कैसे स्थान बनवाने चाहिए, उन्हें खाने को दाना-चारा किस प्रकार का, और कितना एवं कब-कब देना चाहिए, उनके उच्च वंश को वर्णसंकर-दोष से किस प्रकार बचाना चाहिए, दूध की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ाकर उन्हें अधिक उपयोगी किस प्रकार बनाना चाहिए, आदि विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

भारत की गो-शालाओं के संचालकों को इस खंड से शिक्षा लेकर अपने उद्योग को सफल करना चाहिए। अर्थ-संकट के गीत गा-गाकर गो-शाला को बंद नहीं कर देना चाहिए।

पंचम खंड—इस खंड में दूध-दही-मक्खन आदि गव्य पदार्थों की श्रेष्ठता का ख़ासा वर्णन किया गया है। इसके पाठ से विज्ञ पाठकों को ज्ञात हो सकता है कि वर्तमान भारतवासी अपनी निंद्य तथा गर्हणीय उपेक्षा के कारण दूध-घी-जैसे सर्वश्रेष्ठ भोज्य पदार्थों को किस प्रकार दूषित कर डाला करते हैं। जिन भारतवासियों को पुरुषार्थ-चतुष्टय-दायक स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने का बोध हो, उन्हें उचित है कि वे लोग गव्य पदार्थों की शुद्धता और पवित्रता का ज्ञान इस खंड के अध्ययन-द्वारा शीघ्र प्राप्त कर स्वस्थ बनें।

षष्ठ खंड—इस खंड में गो-वंश के चर्म, रोम, सींग, खुर आदि की उपयोगिता का वर्णन किया गया है। इसकी सभी बातें भारतीय वर्तमान गो-भक्तों के मनन करने-योग्य हैं। उन पर विचार किए बिना भारत में गो-रक्षा का काम सफल नहीं हो सकेगा।

सप्तम खंड—इस खंड में गो-वंश के नाना प्रकार के रोगों के निदानों तथा उनकी चिकित्साओं का ख़ासा वर्णन किया गया है। भारत के नामी-ग्रामी गो-भक्त इस खंड को पढ़कर देखें कि अकेले गो-शाला खोल देने से ही गो-रक्षा का काम पूरा नहीं हो सकता। गो-शाला में रक्खी हुई गौओं और उनकी संतति की रोगों से रक्षा भी करनी होती है। ज़मींदार लोगों को भी गो-चिकित्सा का ज्ञान इस खंड से प्राप्त करना चाहिए।

इस परमोपयोगी ग्रंथ के ग्रंथकार बंगाली हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनके ग्रंथ में बहुत-सी वे ही बातें हों, जो उनके प्रांत से संबंध रखती हैं। प्रत्येक प्रांत के भारत-हितैषी लोगों को चाहिए कि वे लोग भी अपने प्रांत के गो-कुल के विषय में ऐसी उपयोगी पुस्तक अपनी प्रांतीय भाषा में छपवाकर उसका प्रचार करें।

ई० सन् १९१७ में, कलकत्ते के गो-भक्तों ने सर जॉन उडरफ साहब की अध्यक्षता में जो गो-सभा की थी, उसके सभ्यों को, उक्त साहब बहादुर ने इस ग्रंथ के बँगला-संस्करण की प्रशंसा बड़े प्रेम के साथ सुनाई थी। बंगाल के धनी ज़मींदारों ने इस पुस्तक के बँगला-संस्करण का, सुनते हैं, अच्छा आदर किया है। बँगला-संस्करण का मूल्य केवल दो रुपए था। हिंदी-संस्करण का मूल्य भी उतना ही रक्खा जा सकता, तो अच्छा होता। अब देखना है कि हिंदी-भाषा-भाषी नामी गो-भक्त राजे-महाराजे, सेठ-साहूकार आदि इस उपादेय ग्रंथ का कितना आदर करते हैं। जिनके हृदय में गो-वंश की सच्ची उन्नति की धुन जागृत होगी, वे इस ग्रंथ-रत्न को अवश्य ही देखेंगे।

पर हिंदी-भाषा के सौभाग्य से जब इस ग्रंथ के दूसरे संस्करण के प्रकाशित करने का समय आवे, तो इसके संपादक महाशय से प्रार्थना है कि वह हमारी निम्न-लिखित सूचनाओं पर भी विचार कर लेने की कृपा करें—

(१) इस ग्रंथ के वर्तमान संस्करण की भाषा-प्रणाली बँगला के ढंग की है। उसे ऐसी बनाना चाहिए कि साधारण हिंदी लिखा-पढ़ा भी सुगमता से समझ सके। हिंदी-भाषी सर्वसाधारण अभी उसे नहीं समझ सकते।

(२) पृष्ठ २१२ और २३० पर लिखा है—"पियाज़ करमकल्ला, गाजरें, शलजम और मूली खिलाने से भी गायों का दूध ख़ूब बढ़ता है। × × × सन का फूल, महुआ का फूल पानी में उबालकर खिलाने से भी दूध बढ़ता है।" पृष्ठ २६५ पर लिखा है—"नीम और गड-भाँग खिलाने से गाय का दूध कड़ुवा हो जाता है, और उसमें चीनी का भाग कम रहता है। लहसुन या पियाज़ खानेवाली गौ के दूध में दुर्गंध रहती है।"

हमारा अनुभव है कि महुआ, मूली और पियाज़ जैसी दुर्गंधवाली चीज़ों के खाने से गौ के दूध में उनकी ही दुर्गंध आती है। अतः वैसी चीज़ें उन्हें खिलाना ही नहीं चाहिए। चक्रवर्ती जी को अपने ग्रंथ के उक्त पृष्ठों से उक्त विषयक 'वदतो व्याघात' दोष को अलग कर देना चाहिए।

(३) पृष्ठ १८६ पर लिखा है—"दूध दुहने के बाद गायों को कुछ अवश्य ही खिलाना चाहिए। ख़ाली-पेट दुहने से गाएँ अक्सर चंचलता दिखाया करती हैं।" उक्त वाक्य में 'बाद' के स्थान पर 'पहले' शब्द होना चाहिए—'बाद' शब्द से दूसरे वाक्य का संदर्भ बिगड़ जाता है।

(४) पृष्ठ १७२ पर लिखा है—"संतान भी दुग्ध-वती होगी"। इस वाक्य में 'स्त्री-संतान' शब्द बहुत सार्थक होगा।

चक्रवर्तीजी ने अपने ग्रंथ के इस हिंदी-संस्करण को प्रकाशित कर हिंदी जाननेवालों को गो-पालन-विषयक ज्ञान प्राप्त करने की जो सुविधा कर दी है, तदर्थ हम आपको अनेकानेक साधुवाद देते हैं। साथ ही, हिंदी-भाषा-भाषी

ग्रंथावलोकन-प्रेमी सज्जनों से उक्त ग्रंथ के अवलोकन करने का सानुनय आग्रह करते हैं।

भारत की प्रत्येक गौ यही कह रही है —

अबेहि मा कामदुघा प्रसन्ना ।

अर्थात्, प्रत्येक भारतवासी को उचित है कि वह अपनी गौ का उचित पालन कर उसे प्रसन्न करे, और उससे अपने अभीष्ट हित को प्राप्त कर सुखी बने।

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

× × ×

३. कविता

पराग—लेखक, श्रीयुत पंडित रूपनारायण पांडेय (माधुरी-संपादक); प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ; पृ०-सं० १३२+१२, चित्र-संख्या २; पद्य-संख्या ४६; मूल्य रेशमी जि० १), सादी ॥)

यह पांडेयजी की 'सरस कविताओं का संग्रह' है। इसकी छपाई की शुद्धता और स्वच्छता के विषय में कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि प्रकाशक का नामोल्लेख-मात्र ही पर्याप्त है। गंगा-पुस्तकमाला की पुस्तकों में कई प्रत्यक्ष विशेषताएँ होती हैं—वे सुसंपादित होती हैं, सादगी ही उनकी शोभा है, और जिस विषय की पुस्तक होती है, उसी विषय की चुनी हुई पुस्तकों की सूची आरंभ में दी जाती है। भाषा के प्रवाह और विराम-चिह्नों के सदुपयोग का खूब ख़याल रक्खा जाता है। मुद्रण-कला की बारीकियों पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है। छपाई-संबंधी आडंबर बिलकुल नहीं—न कहीं फूल-पत्ती, न कहीं बेल-बूटे।

इस पुस्तक में दो चित्र हैं—एक तो पांडेयजी का और दूसरा पं० दुलारेलालजी भार्गव का, जिन्हें ग्रंथकार-द्वारा यह पुस्तक समर्पित की गई है। भूमिका पं० शिवनारायण मिश्र वैद्य ने लिखी है, जो 'प्रभा' के प्रसिद्ध प्रकाशक हैं—नहीं, थे! मिश्रजी की साहित्य-सेवा उच्च कोटि की है। अतएव उनकी सम्मति का भी बड़ा भारी वज़न है। उनकी सारी भूमिका में केवल एक ही वाक्य है, जो इस पुस्तक की कविताओं की काफ़ी वकालत करता है। वह यह है—"पांडेयजी की कविताएँ हिंदी-भाषा के साहित्य में एक विशेष स्थान रखती हैं।"—इस विचार-पूर्ण सम्मति से सहृदय साहित्यज्ञों का मतभेद नहीं हो सकता। अस्तु।

इस पुस्तक की कविताएँ बोलचाल की सीधी भाषा में हैं। कहीं-कहीं तो बड़े हृदयग्राही भाव हैं। वाग्धाराओं का प्रयोग बड़ी उपयुक्त रीति से किया गया है। सबसे बड़ी बात है सामयिकता, जो इसकी उपयोगिता का पूर्ण समर्थन करती है। अनुप्रासों की छटा रहने पर भी भाषा में प्रवाह है।

इसकी ४६ कविताओं में ४ कविताएँ इतनी अच्छी हैं कि उन्हें बार बार पढ़ने की इच्छा होती है। वे ये हैं—मातृ-मूर्ति, हमारा प्रण, वन-विहंगम और दलित कुसुम। इन चारों में हमें सबसे अधिक पसंद है वन-विहंगम। इतनी पसंद कि स्वयं पांडेयजी भी मेरी इस धारणा को रद करने के लिये अपनी कोई दूसरी रचना इसमें नहीं दिखा सकते। हाँ, इसी के समान पांडेयजी की एक और कविता हमें पसंद आई है, जिसका, इस पुस्तक के अभाग्य-वश, संग्रह नहीं किया गया है; पर अपने ख़ास संग्रह से हम आगे चलकर उसे उद्धृत करेंगे। वन-विहंगम भी हमारे संग्रह में है। पहलेपहल इस कविता को हमने खंडवा (मध्य-प्रदेश) की 'प्रभा' में पढ़ा था। उस समय से आज तक अनेक बार हम इसका पारायण कर चुके; पर जी नहीं भरता। इसकी भाषा की सरलता और सरसता, भाव की स्वाभाविकता और पवित्रता तथा वर्णन-शैली की हृदयग्राहिता देखने-योग्य है। इसके सभी पद्य एक-से-एक सुंदर हैं, इसलिये एक-दो उदाहरण उपस्थित करने में भी हम असमर्थ हैं। खेद है, स्थानाभाव के कारण सारी कविता उद्धृत करने का लोभ संवरण करना पड़ता है।

"मातृ-मूर्ति" को हमने पहलेपहल सरस्वती में पढ़ा था। उसी समय के लिखे हुए इसके चार पद्य हमारे ख़ास संग्रह में हैं, जिन्हें हम "प्रेम-पुष्पांजलि" और "प्रेम-कली" तथा "सेवा-धर्म" आदि निज-संपादित संग्रहों में संकलित कर चुके हैं। सारी कविता में उन चार ही पद्यों के चुने जाने का कारण यह है कि पांडेयजी की अनेक कविताओं के भाव-समूह एकत्र होकर भी उन चार पद्यों का मुक़ाबला नहीं कर सकते। वे ये हैं—

कहते हैं सब लोग हमें,
　　हम दीन-हीन हैं, भिक्षुक हैं;
कुछ भी हो, हम लोग अभी
　　अच्छे होने के इच्छुक हैं।

सच है, वैभव नहीं रहा,
पर बुद्धि हमारी दीन नहीं;
पौरुष कम है, मगर हुए हैं
मनुष्यत्व से हीन नहीं।

* * *

हैं हम में मतभेद; मगर
वह धर्म, कर्म, शिक्षा में है,
राष्ट्र-नीति में, धर्म-नीति में,
उद्यम में, भिक्षा में है।
किंतु देश की सेवा का जब
प्रश्न सामने आवेगा,
तब हममें हरएक एकमत
होकर हाथ बढ़ावेगा।

* * *

चरण-तले मैया के मिलकर
दीक्षा ग्रहण करो आओ;
प्रेम-खड्ग से पशु-प्रवृत्ति-
बलिदान करो, फिर वर पाओ*।
काल-कुंड में तेज-अग्नि रख
उद्यम का ईंधन धर दो;
दुर्मति, दुर्गति, दुख-दरिद्रता
सब उसमें स्वाहा कर दो।

* * *

जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी,
मुसलमान, सिख, ईसाई;
कोटि कंठ से मिलकर कह दो—
"हम सब हैं भाई-भाई।
पुण्यभूमि है, स्वर्ग-भूमि है,
जन्म-भूमि है देश यही,

* यह वाक्य 'सरस्वती' में यों छपा था, जैसा कि हमारे संग्रह में उद्धृत है—"प्रेम-खड्ग से पशु-प्रवृत्ति की भेंट चढ़ाओ, वर पाओ।" जब यह पद्य "प्रेम-कली" में हमने उद्धृत किया, तब हमारे स्वर्गीय मित्र कुमार देवेंद्रप्रसाद जैन ने उक्त वाक्य निकलवा दिया। वे "अहिंसा परमो धर्मः" के ऐसे कट्टर भक्त थे कि "पशु" और "भेंट चढ़ाओ"-नामक शब्दों को "प्रेम-मंदिर" की सीढ़ी पर पैर तक न रखने दिया! "प्रेम-कली" में, पाठक देख सकते हैं, यह पद्यांश नहीं है!

लेखक

इससे बढ़कर, या ऐसा ही,
दुनिया-भर में जगह नहीं।"

* * *

कहिए, क्या बाक़ी रहा इन पद्यों में? इनमें बीज-रूप से पांडेयजी ने जो कुछ कहा है, उसी को अपनी अन्यान्य कविताओं में पल्लवित किया है। यदि वह ये चार ही पद्य लिखते, तो भी उनके हृदय का जौहर खुल जाता।

"दलित कुसुम" को हमने पहलेपहल संभवतः काशी के अस्तंगत "इंदु" में पढ़ा था। इसमें पुत्र-शोक-विह्वल पितृ-हृदय का बड़ा ही मार्मिक वर्णन है—प्रत्येक पद्य से करुणा का उद्रेक होता है।

चौथी कविता है "हमारा प्रण"। इसमें शब्दों, मुहावरों और भावों की बहार देखिए—

"इसी चर्खे से मशीनों को चरखा करके छोड़ेंगे;
इसी से देश में दौलत की बरखा करके छोड़ेंगे।
न हम अब भी अगर चेते, तो पशु-बल के मर्मी होंगे;
यहाँ की सारी सरमस्ती को चर खा करके छोड़ेंगे।
मिलेगा फिर नहीं ताना जो ताना-बाना अब ताना,
हम अपने वीर बाने को न डर खा करके छोड़ेंगे।
न होंगी हैट-नेकटाई, न कालर और पतलूनें,
हम इँगलिश-कोट को फिर से अँगरखा करके छोड़ेंगे।
मशक्कत, कैद-तनहाई, सभी झेलेंगे हँस-हँसकर;
जगत में शांति के सिक्के को परखा करके छोड़ेंगे।

यह कविता पहले हमने कभी नहीं पढ़ी थी, इसी पुस्तक में आज पहलेपहल देखने में आई, और निहायत पसंद आई। हमारा विश्वास है, अगर इसे महात्माजी सुन लें, तो बेशक नाच उठें!

पांडेयजी की और भी दो-तीन अच्छी कविताएँ, जो हमारी "प्रेम-पुष्पांजलि" में हैं, इसमें नहीं हैं। मालूम होता है, पराग का दूसरा खंड भी प्रकाशित होगा; पर ऐसी कोई सूचना या संकेत इस पुस्तक में नहीं है। यदि दूसरे खंड में न हों, तो दूसरे संस्करण में ही सही, मगर उन कविताओं का संग्रह अवश्य हो जाना चाहिए। शुरू में हम जिस कविता के विषय में कह आए हैं, वह "हृदयेश्वरी"-शीर्षक से "सरस्वती" में छपी थी। अपने "संग्रह" से हम उसे यहाँ देते हैं—

"हाँ, जो कहीं अब हो सजीव, कलंक-हीन, अमंद;
तो ठीक वैसा हो सके सुंदर सरद का चंद।

कोमल कमल का फूल भी खिलकर न हो जो म्लान ;
तो फिर कहीं पावे प्रिया सुख-साम्य का सामान ॥ १ ॥
पिक जो निरंतर नित्य आकर करे पंचम गान ;
तो हो सके उसके मधुरतर कंठ का उपमान ।
आकाश में सुस्थिर रहे बिजली अगर हर आन ;
तो प्राप्त हो उसको रसीली उस हँसी का ज्ञान ॥ २ ॥
जो मार सकती तीर हरिणी वक्र भृकुटी तान ;
शायद कहीं कहते उसे तो प्रिया नेत्र-समान ।
चलकर सदा मलयज करे जो ताप का अवमान ;
हा, तो कहीं हो, उस प्रिया के कर-स्पर्श समान ॥ ३ ॥
फूले-फले चिर दिन रहे रस-राग-रंग अनंत ;
तो उस प्रफुल्लित अंग की पावे बहार वसंत ।
होता न मामा-हीन जो अति स्वच्छ नीलाकाश ;
तो मिले उसमें कहीं उसके हृदय का आभास ॥ ४ ॥
भीतर न होती वाडवानल-तिमि-तिमिंगल भीर ;
होता उसी के तुल्य तो सागर सुगम गंभीर,
था रम्य, पर, होता न जो पाषाण-अस्त-व्यस्त ।
होता हिमाचल उच्च वैसा ही अवश्य प्रशस्त ॥ ५ ॥
जो पाप से परिपूर्ण पृथ्वी पर न आती, - मित्र,
तो जाह्नवी होती उसी के तुल्य परम पवित्र ।
भूकंप में होती न जो विचलित कभी एक बार,
तो भूमि उसके तुल्य ही होती सहिष्णु उदार ॥ ६ ॥"

आश्चर्य है, ऐसी भावमयी सुंदर कविता इस संग्रह में नहीं दी गई। फिर भी इसमें जो कुछ है, वह रसास्वादन करने ही योग्य है। इसमें कविताओं का जो विषय-विभाग किया गया है, उसके प्रधान शीर्षक भी यदि कविता-सूची में दिए जाते, तो पाठकों को अधिक सुगमता होती। गंगा-पुस्तकमाला की पुस्तकों में 'प्रेस के भूतों' की लीला देखने में नहीं आती ; किंतु इसमें हमने केवल तीन जगह यह लीला देखी। यह बड़े आश्चर्य की बात है। पृष्ठ ६ की आठवीं पंक्ति के बीच में अनावश्यक विराम-चिह्न, पृष्ठ ३१ की तीसरी पंक्ति में 'किफ़ायत-शारी' और पृष्ठ १२६ में 'क्रांति' के बदले 'भ्रांति'! सर्वांगशुद्धता में ये तीन साधारण त्रुटियाँ भी खटक रही हैं, इसीलिये सविस्मय इनका उल्लेख करना हमने आवश्यक समझा।

अब हम इस संग्रह से दो वाक्य यहाँ उद्धृत करके पाठकों से इस मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद संग्रह का संग्रह करने के लिये सविनय अनुरोध करते हैं—

"धन्य-धन्य ये वीर युवक, इनमें पैठा परमेश्वर है ;
आर्त-त्राण-परायण में नारायण में क्या अंतर है ?"

—पृष्ठ २३

"देस की भलाई भला आई न जो तोहिं मन,
नाहक बिताई कविताई में बयस क्यों ?"

—पृष्ठ १२६

शिवपूजनसहाय

× × ×

४. मारवाड़ी

मारवाड़ी ब्राह्मण (साप्ताहिक)—संपादक, पं० हनुमानदत्त जोशी काव्यतीर्थ, और पं० बद्रीदास पुरोहित वेदांत-भूषण; ६, मलिक स्ट्रीट, कलकत्ता से प्राप्य ; वार्षिक मूल्य २)

यह मारवाड़ी ब्राह्मण-भाइयों का पत्र है। मारवाड़ी जाति जहाँ लक्ष्मी की पात्र है, वहीं वह सरस्वती से प्रायः वंचित भी है। अस्तु, ब्राह्मण-भाइयों का यह उद्योग प्रशंसनीय है। मारवाड़ी-समाज को चाहिए कि इस पत्र को अपनाकर अपनी जाति-हितैषिता का परिचय दे।

× × ×

५ प्राप्ति-स्वीकार

लाला खुशीराम और लज्जावती—लेखक और प्रकाशक, गुरांदित्ता मल खन्ना ; प्राप्ति-स्थान—लाला बंशीधर कपूर कागज़ी, गुरुबाज़ार, अमृतसर।

यह एक काल्पनिक कहानी है। इसमें एक वृद्ध-विवाह का चित्र खींचने का प्रयास किया गया है। कहानी साधारण है।

निष्कलंक—लेखक, नाथूराम-शालग्राम ; प्रकाशक, शीतलप्रसाद गुप्त, शांति-प्रिंटिंग-प्रेस, सहारनपुर ; मूल्य ≈)

इसमें एक कलंक लगाए हुए व्यक्ति को निष्कलंक सिद्ध किया गया है।

प्रीतम-शतक—बिजावर-राज्य के निवासी श्रीयुत देवीप्रसादजी "प्रीतम" ने समय-समय पर 'भगवान् रामचंद्र और कृष्णचंद्र की मनोहर लीलाओं पर जो सवैए रची हैं, उन्हीं का संग्रह-शतक है। मंत्री, दीन-मंडली, बिजावर से प्राप्य।

चित्र-विज्ञान और हस्त-लेखन (प्रथम भाग)—अनुवादक, वैद्यनाथसहाय ; मूल लेखक श्रीयुत माणिक-चंद्र भट्टाचार्य-द्वारा प्रकाशित ; मूल्य ।-) ; कमला-बुक-डिपो, मुरादपुर, पटना से प्राप्य।

चित्रकला-संबंधी यह अच्छी पुस्तक है। विद्यार्थियों के

काम की है। अच्छा हो कि इस पुस्तक के अन्य भाग भी प्रकाशित किए जायँ। छोटी, पर उपयोगी एवं अच्छी पुस्तक है।

क्या इस्लाम शांतिदायक है?—लेखक और प्रकाशक, श्रीमंगलानंदपुरी, आर्य-समाज, कानपुर ; मूल्य ~)॥

इस पुस्तिका में महात्मा गांधी के समय-समय पर मुसलमानों के प्रति प्रदर्शित सहानुभूति-सूचक वाक्यों को लेकर दिखाया गया है कि हिंदू-मुस्लिम-एके के लिये उनका उद्योग एकतरफ़ा अंततः निरर्थक है। मुसलमान नेताओं के वक्तव्यों को 'मिलाप' आदि कई पत्रों से उद्धृत कर आपने उनकी हृदय-स्थिति का चित्र खींचा है, और अंत में महात्माजी से प्रार्थना की है कि हिंदू-मुस्लिम-मेल के लिये मुसलमानों को 'गो-भक्षक' से 'गो-रक्षक' बनावें, तथा तबलीग़ बंद करावें ; शुद्धि आप-ही-आप बंद हो जायगी।

कपास की खेती—युक्तप्रांतीय खादी-मंडल, जनरल-गंज, कानपुर-द्वारा प्रकाशित ; मूल्य ~)॥

इसमें कपास की खेती की महिमा और आवश्यकता बतलाई गई है।

श्राद्ध-गुण-विवरण (४वाँ, ६ठा भाग)—अनुवादक, पं० रामचरित उपाध्याय ; प्रकाशक, मंत्री श्री-आत्मानंद-जैन-ट्रैक्ट-सोसायटी, अंबाला ; मूल्य ≡)

ये पुस्तिकाएँ परमर्षि श्रीजिनमंडन गणि-विरचित 'श्राद्ध-गुण-विवरण' के अनुवाद हैं। गृहस्थ-धर्म की विवेचना अच्छी की गई है।

भीषण पाप-परिणाम—लेखक और प्रकाशक, गुरांदित्ता खन्ना ; पुस्तक मिलने का पता—देसराज गुरांदित्ता मल, शाल-मर्चेंट, कटड़ा आहलूवाली, अमृतसर ; मूल्य कुछ नहीं। एक काल्पनिक कहानी है। स्त्री-जाति पर किए जानेवाले अत्याचारों का चित्र खींचा गया है।

वर्णयुक्तोपदेश—लेखक, लाला रामदयाल पटवारी ; प्रकाशक, तुलसीराम मनेरिया ; मूल्य =)

इसमें स्वर और व्यंजनों का प्रयोग कविता में बताया गया है। साथ ही नीति का उपदेश भी दिया गया है। बच्चों के पढ़ने-लायक़ पुस्तक है।

दयानंदमहाकाव्य—रचयिता, श्रीपं० आर्यमुनिजी ; प्रकाशक, पं० देवदत्त शर्मा ; मूल्य ।) ; मिलने का पता—श्रीकुंदनलाल अग्रवाल, कोल-मर्चेंट, करनाल।

जान पड़ता है कि लेखक महाशय 'महाकाव्य' का अर्थ ही नहीं जानते। पुस्तक पद्य में है। व्यर्थ पैसे ख़राब किए गए।

वनवास (पौराणिक नाटक)—रचयिता, अमरनाथ-दत्त एम्० ए० ; प्रकाशक और प्राप्ति-स्थान का पता नहीं ; मूल्य ॥)

सीतावनवास की कथा इसमें दिखाई गई है। बंगाली लेखक होने के कारण ही भाषा अशुद्ध हो सकती है। इस डेढ़ घंटे के नाटक में तीस-पैंतीस पात्रों का आना नाट्य-कला के बिलकुल विपरीत है।

थॉट्स इन दि गिरिविलास—रचयिता, अमरनाथ-दत्त एम्० ए०, सारंगगढ़ स्टेट, सी० पी० ; मूल्य ।~) और ॥)

पुस्तक अँगरेज़ी में है। गिरिविलास महल के चारों ओर प्राकृतिक दृश्य को देखकर जो भाव लेखक के हृदय में उठे थे, उन्हीं का वर्णन है। भाव अच्छे हैं।

कबीर—लेखक, श्री शिवमंगल पांडेय बी० ए० ; इसमें महात्मा कबीरदास की जीवनी और काव्य-चर्चा संक्षेप में दी गई है, और यह भाग नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के ४थे भाग की तीसरी संख्या से उद्धृत किया गया है।

ध्रुव-चरित्र—लेखक और प्रकाशक, पं० रामानंद शर्मा भजनोपदेशक, रावलपिंडी ; मूल्य ≈)

हमारी समझ में यह 'ध्रुव-चरित्र' है। पुस्तक के अंतर्गत भक्त 'ध्रुव' का ही चरित्र पद्य में मिलता है। कविता का नमूना लीजिए—

> राम-राम तू कहाँहीं, कौन राम है मात ;
> मुझको भी समझाय दे, कौन राम की जात।
> है कौन जात बतला दे मात मेरा उससे क्या नाता है ;
> मत जान अजान नदान मुझे परकाश से भ्रम मिट जाता है।

वेदांत-गीतांजलि—पद्य पुस्तक ; रचयिता, पं० दुर्गा-प्रसाद शुक्ल ; प्रकाशक, पं० इंद्रदत्त शुक्ल, अनवरगंज, कानपुर ; मूल्य ~)

ब्रह्मयज्ञ (संध्या)—अनुवादक, स्वामी मंगलानंदपुरी ; प्रकाशक, पं० नरदेव शर्मा, सरस्वतीद्र-पुस्तकालय, काशी ; मूल्य)॥

समश्लोकीगीता—प्रकाशक, उपर्युक्त स्वामीजी, अतरसूया, प्रयाग ; मूल्य)।

मनोविनोद—लेखक, सूर्यनारायण व्यास 'सूर्य' ; प्रकाशक, पं० रामकृष्ण शर्मा, भारतीय भवन, उज्जयिनी, मालवा ; मूल्य)॥

पंजाब प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का प्रथम वार्षिक विवरण (सं० १९८१-८२)—सम्मेलन-द्वारा लाहौर से प्रकाशित।

नागरी-प्रचारिणी सभा, बुलंदशहर का १३वाँ वार्षिक वृत्तांत—सभा-द्वारा प्रकाशित।

श्रीवृद्ध-सेवा-समिति का द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वार्षिक विवरण—मंत्री-द्वारा प्रकाशित।

श्रीअग्रवाल-दिगंबर-जैन-मंदिर का आय-व्यय-हिसाब—बालमुकुंद शर्मा, फ़ेरजुम्मा मसजिद, आगरा-द्वारा प्रकाशित।

प्रथम युक्तप्रांतीय दलितोद्धार अधिवेशन के सभापति श्रीलफ़्टिनेंट राजा दुर्गानारायणसिंह एम० एल० सी० तिरवाँ-नरेश का भाषण—विचार अच्छे हैं।

कारमायकेल पुस्तकालय बनारस के ५२वें अधिवेशन की वार्षिक रिपोर्ट

कान्यकुब्ज बैंक ऑफ़ इंडिया (लिमिटेड) की सन् १९२४ की रिपोर्ट

श्रीआत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी, अंबाला की सन् १९२४ की रिपोर्ट

अमर-पुस्तकालय, कोटपूतली (राजपूताना) की तृतीय और पंचमवार्षिक रिपोर्ट

संयुक्तप्रांतीय मारवाड़ी-अग्रवाल-सम्मेलन के द्वितीय अधिवेशन, बहराइच का कार्य-विवरण

जैन श्वेतांबर कमेटी हस्तिनापुर की वार्षिक रिपोर्ट

भाऊ व विर्यांचा, पूना का सन् १९२५-२६ का सूचीपत्र



इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुबीते के लिये प्रति मास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास में नीचे-लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

(१) "आज़ाद-कथा (प्रथम भाग)", उर्दू के सुप्रसिद्ध हास्यरस-पूर्ण उपन्यास का संक्षिप्त रूपांतर। लेखक, स्वर्गीय पं० रतननाथ दर। रूपांतरकार, श्रीयुत प्रेमचंद। संपादक, पं० दुलारेलाल भार्गव। मूल्य २॥), सुनहरी रेशमी जिल्द ३)

(२) "पूर्ण-संग्रह (सचित्र)", स्वर्गीय राय देवीप्रसाद "पूर्ण" की चुनी हुई कविताओं का संग्रह। संग्रहकर्ता, पं० लक्ष्मीकांत त्रिपाठी एम्० ए०। संपादक, पं० कृष्णविहारी मिश्र बी० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य १॥।), सजिल्द २।)

(३) "संक्षिप्त शरीर-विज्ञान (सचित्र)", लेखिका, श्रीमती हेमंतकुमारीदेवी भट्टाचार्य। संपादक, पं० दुलारेलाल भार्गव। मूल्य ॥।)

(४) "लक्ष्मी (सचित्र)", स्त्रियोपयोगी उपन्यास। ४ रंगीन चित्र-सहित। लेखक, स्वर्गीय गिरिजाकुमार घोष। संपादिका, श्रीमती कृष्णकुमारी। मूल्य ॥=)

(५) "कीड़े-मकोड़े (सचित्र)", बालकोपयोगी। लेखक, पं० भूपनारायण दीक्षित बी० ए०, एल्० टी०। संपादक, श्रीप्रेमचंद। मूल्य ॥=)

(६) "बहता हुआ फूल", सुप्रसिद्ध उपन्यास। द्वितीय संशोधित और सचित्र संस्करण। अनुवादक, पं० रूपनारायण पांडेय। संपादक, पं० दुलारेलाल भार्गव। मूल्य २॥), सुनहरी रेशमी जिल्द ३)

(७) "देवी द्रौपदी", महिलोपयोगी आख्यायिका। द्वितीय संस्करण। २ रंगीन चित्र। लेखक, पं० रामचरित उपाध्याय। संपादिका, श्रीमती कृष्णकुमारी। मूल्य ॥)

(८) "नवरस-तरंग", रीति-ग्रंथ। कविवर बेनीप्रवीन-कृत। संपादक, पं० कृष्णविहारी मिश्र। मूल्य १)

(९) "हिंदी-कुरान", अनुवादक, श्रीरघुनाथप्रसाद मिश्र। मूल्य ३॥)

(१०) "अंजनादेवी", कहानी। ले० श्रीरामस्वरूप 'शार्दूल'। द्वितीय संस्करण। मूल्य ॥=)

(११) "प्रायश्चित्त", उपन्यास। अनुवादक, श्रीरामचंद्र शर्मा। मूल्य ३)

(१२) "भारत में रेल-पथ", लेखक, श्रीरामनिवास पोद्दार। मूल्य २॥)

(१३) "प्रेम", गल्पों का संग्रह। लेखक, श्रीदुर्गाप्रसाद खत्री। मूल्य १)

(१४) "सूर-रामायण", संपादक, श्रीसत्यजीवन वर्मा। मूल्य ।=)

(१५) "उषा-अनिरुद्ध", नाटक। लेखक, श्रीराधेश्याम कविरत्न। मूल्य ॥।)



१. हिंदी-हितैषी सेठ लालचंदजी सेठी वाणिज्य-भूषण



लक्ष्मी और सरस्वती में परस्पर प्राचीन प्रतिस्पर्द्धा है। तभी तो सरस्वती के सुपुत्रों से लक्ष्मी रूठी रहती है, और लक्ष्मी के लाड़ले लालों से सरस्वती अपनी सेवा कराना शायद समुचित नहीं समझती। इस अभागे देश में लक्ष्मीदेवी के कृपा-पात्र रईस-ताल्लुक़ेदार, राजे-महाराजे सरस्वतीदेवी की सेवा से सर्वथा तटस्थ रहते हैं—उसे अपना कर्तव्य नहीं समझते। अपनी भाषा और अपने साहित्य की समुन्नति और श्री-वृद्धि में तन-मन से न सही, धन से ही योग देना उन्हें निरर्थक जान पड़ता है। उनका धन तो मानो रंडी-भड़ुओं के लिये ही होता है। अपने-अपने रंगमहल की रँगरेलियों में ही वे मस्त रहते हैं। मातृभाषा की प्रगति में हाथ बँटाने का उन्हें स्वप्न में भी ख़याल नहीं आता। सच पूछिए, तो धनी-मानी सज्जनों की इस उदासीनता के कारण ही मातृभाषा की उन्नति वैसी द्रुत गति से नहीं हो रही है, जैसी होनी चाहिए। अतएव, ऐसी निराशाजनक स्थिति में, यदि हमें किसी ऐसे नर-रत्न के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त होता है, जो लक्ष्मी का प्यारा पुत्र होते हुए भी सरस्वतीदेवी की पूजा-अर्चना से मुख नहीं मोड़ता—तन, मन, धन से उनकी भी सेवा करता है, तो हमारा हृदय हर्ष से नाच उठता है—वैसे ही, जैसे दिन-रात मूसलधार वर्षा के बाद भगवान् भास्कर को देखकर। भारत-माता की एक ऐसी ही सुयोग्य संतान से आज हम प्रेमी पाठकों को परिचित कराते हैं।

आपका शुभ नाम है सेठ लालचंदजी सेठी वाणिज्य-भूषण। आपका जन्म मार्गशीर्ष-शुक्ला ४, संवत् १९५० को, श्रवण-नक्षत्र के प्रथम चरण में, खंडेलवाल श्रावक-कुल में, हुआ था। आपके पिता भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध व्यापारी सेठ बालचंदजी सेठी थे। आपकी फ़र्म 'सेठ विनोदीरामजी-बालचंदजी' के नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष के अनेक बड़े बड़े शहरों में उसकी कोई २० से ऊपर शाखाएँ हैं। मुख्य दूकान झालरापाटन में है, जो सर्वथा दर्शनीय और उस नगर की शोभा है। इसके अतिरिक्त आपकी ६ जिन हैं, और उज्जैन में कपड़े की 'विनोद-मिल्स'।

आप ५ भाई-बहन थे; किंतु बड़े भाई श्रीदीपचंदजी और बहन अनूपबाई का स्वर्गवास हो गया है। श्रीभँवर-लालजी श्रीदीपचंदजी के होनहार पुत्र हैं। श्रीलालचंदजी



हिंदी-हितैषी सेठ लालचंदजी सेठी वाणिज्य-भूषण

के दूसरे ज्येष्ठ भ्राता रायबहादुर ताज़िरुलमुल्क श्रीमान् सेठ मानिकचंदजी सेठी वाणिज्य-भूषण ग्वालियर-राज्य की लेजिस्लेटिव-कौंसिल के सदस्य हैं। तीसरे कनिष्ठ भ्राता हैं सेठ नेमीचंदजी सेठी। लालचंदजी का विवाह इंदौर के सुप्रसिद्ध दानवीर, रायबहादुर, सर सेठ हुकुमचंदजी की ज्येष्ठा कन्या श्रीमती रत्नप्रभा सरस्वतीजी के साथ हुआ है। उनसे आपको तीन संतति हैं—एक पुत्र, दो पुत्रियाँ। श्रीमतीजी आदर्श पत्नी हैं, और आदर्श माता भी। 'निखिल भारत-साहित्य-संघ' की 'निबंध'-परीक्षा पास करके आपने 'सरस्वती' की उपाधि प्राप्त की है।

सेठीजी पर झालावाड़-नरेश की बड़ी कृपा है। आपको वह पुत्रवत् मानते हैं। आपके गुणों पर मुग्ध होकर और व्यापार-कुशलता देखकर उन्होंने आपको 'वाणिज्य-भूषण' की उपाधि से विभूषित किया है। नगर की म्युनिसिपलिटी के महाराज सभापति और सेठीजी उपसभापति हैं। इस उच्च पद पर रहकर म्युनिसिपलिटी के कार्य का आप योग्यता और परिश्रम-पूर्वक, सुचारु रूप से, संचालन कर रहे हैं। जैन-समाज के आप एक रत्न हैं। अपनी जातीय सभाओं में आप कई बार सभापति का पद ग्रहण कर चुके हैं। नवंबर, १९२० में खंडेलवाल-महासभा का जो अधिवेशन आपके सभापतित्व में हुआ था, उसमें आप ही की कोशिश से बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु विवाह, अनमेल विवाह, कन्या-विक्रय, विवाह में आतशबाज़ी, रंडियों का नाच आदि सामाजिक कुरीतियाँ बिलकुल बंद कर दी गई हैं। आपने एक 'कुटुंब-सहायक फ़ंड' खोला है, जिसके द्वारा अनाथ परिवारों को सहायता दी जाती है। स्थानीय सेवा-समिति को आपने खूब सुसंगठित कर दिया है। उसके द्वारा दीन-दुखियों को अन्न-वस्त्र प्रति मास घर-बैठे मिल जाता है। दरिद्र रोगियों की चिकित्सा और सेवा-सुश्रूषा करना और कराना आपकी आदत में दाखिल हो गया है। अपने स्वर्गीय माता-पिता की तरह ही आप भी बड़े दानवीर हैं। किंतु आपके दान गुप्त होते हैं। कारण, कीर्ति-लोलुपता का आपमें लेश भी नहीं। सभी सार्वजनिक संस्थाओं को आपसे सहायता मिलती रहती है। आपकी स्वर्गवासिनी माताजी ने तो अपने जीवन-काल में १ लाख रुपयों का दान किया था! आपका रहन-सहन बहुत सीधा-सादा है। दुर्व्यसनों से आप दूर रहते हैं। अभिमान और क्रोध आपको छू भी नहीं गया!

किंतु आपका सबसे बड़ा गुण है आपकी हिंदी-हितैषिता। अगर आपको कोई व्यसन है, तो बस, विद्या का। हिंदी, अँगरेज़ी, बँगला, गुजराती और मारवाड़ी-भाषाओं का आपको अच्छा ज्ञान है। हिंदी की सभी अच्छी-अच्छी पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकमालाओं के आप ग्राहक हैं। माधुरी और गंगा-पुस्तकमाला पर तो आपकी बहुत बड़ी कृपा है। सैकड़ों ग्राहक बनाकर आपने इन दोनों की

सहायता की है ! हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और गुजरात-वर्नाक्युलर-सोसाइटी के आप आजीवन सभ्य हैं। आपका 'विमल-पुस्तकालय' एक आदर्श निजी पुस्तकालय है। उसमें उपर्युक्त भाषाओं की हज़ारों उत्तमोत्तम पुस्तकें हैं। पुस्तक-संग्रह का आपको व्यसन-सा है। आपके पुस्तकालय में सभी पत्रों की पूरी फ़ाइलें रखने का प्रबंध है। झालरापाटन की राजपूताना-हिंदी-साहित्य सभा को, काव्यालंकार पं० गिरिधर शर्माजी की सहायता से, आप ही ने स्थापित किया है। झाला वाड़-नरेश उसके संरक्षक हैं, और आप मंत्री। इस सभा-द्वारा हिंदी-प्रचार का अच्छा काम हो रहा है। सेठीजी साहित्य-सेवियों का बड़ा सम्मान करते हैं। कुछ महीने हुए, हिंदी के सुप्रसिद्ध लेखक, हमारे मान्य मित्र पं० शुकदेवविहारीजी मिश्र कार्य-वश झालरापाटन गए थे। वह आपके सद्व्यवहार से बहुत संतुष्ट हुए, और आपकी बड़ी प्रशंसा करते थे।

सुनते हैं, हिंदी की उन्नति के पर्याप्त कार्य को आप अब और भी ज़ोरों के साथ करना चाहते हैं। आपका विचार है कि एक आदर्श प्रेस स्थापित करें, जिसमें ऊँचे दर्जे की समयानुकूल छपाई तो हो ही, साथ ही काम भी काफ़ी निकल सके। उसी से एक उत्कृष्ट और सर्वांग-सुंदर पत्र का प्रकाशन भी होगा। कहना न होगा, हिंदी-संसार में अच्छे प्रेसों की बड़ी कमी है। जो दो-चार हैं भी, वे काम से लदे हुए। इसलिये अगर एक अप-टु-डेट प्रेस स्थापित हो, तो हिंदी की एक बड़ी ज़रूरत रफ़ा हो जाय। देखें, भगवान् वह दिन कब दिखाता है। हम उत्सुकता के साथ उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कारण, सेठीजी-सरीखे दो-चार धनी भाई यदि हिंदी-सेवा में तन, मन, धन से लग जायँ, तो क्या नहीं हो सकता !

× × ×

२. धर्म और राजनीति

संसार परिवर्तनशील है। जो बातें कल थीं, वे आज नहीं हैं; जो आज हैं, वे कल नहीं रहेंगी। सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में किस द्रुत गति से परिवर्तन का चक्र चल रहा है, यह प्रायः सभी विचारशील जानते हैं। जब जैसी परिस्थिति उपस्थित होती है, तब तदनुसार ही नियम बन जाते हैं। नियमों के बनने में देश, काल और पात्र का विचार सबसे मुख्य रहता है। जो नियम एक समाज अथवा देश के लिये हितकर हैं, वे ही दूसरे के लिये अहितकर हो सकते हैं। जो बातें किसी एक काल में उपयुक्त समझी जाती हैं, वे ही भिन्न काल में सर्वथा अनुपयुक्त प्रतीत होती हैं। इसी प्रकार किसी व्यक्ति-विशेष के लिये जो नियम लाभदायक हो सकते हैं, वे ही दूसरे के लिये सर्वथा हानिकर सिद्ध होते हैं। इसीलिये समाज, राजनीति आदि के नियमों में सदा से परिवर्तन होता आया है, देश-काल आदि का उन पर प्रभाव पड़ा है।

एक समय ऐसा था, जब धर्म को राजनीति से पृथक् रखना पाप समझा जाता था। राजनीति और धर्म साथ-साथ चलते थे—एक के बिना दूसरे की स्थिति असंभव थी। यही नहीं, कभी-कभी तो दोनों प्रायः अभिन्न माने जाते थे—एक से ही दूसरे का बोध होता था। इस समय भी अनेक विज्ञ जनों का मत यही है कि धर्म और राजनीति कदापि पृथक् नहीं हो सकते; परंतु इसके विपरीत अन्य कई राजनीति-तत्त्व-विशारद इस बात का समर्थन करते हैं कि धर्म और राजनीति दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं, वे एक दूसरे के कार्य में बाधा नहीं पहुँचा सकते, दोनों स्वतंत्र रूप से अपना-अपना कार्य कर सकते हैं। आजकल जैसी हवा चल रही है, उसे देखते हुए तो यही कहना पड़ेगा कि धर्म और राजनीति एक दूसरे से सदूर होते चले जा रहे हैं, और वह समय शीघ्र ही आनेवाला है, जब दोनों में बहुत थोड़ा संपर्क रह जायगा। यद्यपि यह सच है कि इस द्रुत गति से हो रहे पार्थक्य को कुछ लोग रोकने की चेष्टा कर रहे हैं, पर उसका कुछ फल होता दिखलाई नहीं देता। योरप में ईसाई-धर्म तो राजनीति से सर्वथा पृथक् ही हो गया है। तुर्क लोगों ने भी धर्म और राजनीति के संबंध को शिथिल कर दिया है। अन्यान्य देशों की भी यही दशा है। भारतवर्ष की प्राचीन परिपाटी अवश्य इन दोनों का संबंध स्थिर रखने की चेष्टा करती आई है; परंतु अब वह समय आ गया है कि यहाँ भी दोनों को एक दूसरे से स्वतंत्र होना पड़ेगा। ऐसा हुए बिना भारतवर्ष संसार के अन्य देशों के साथ, राजनीतिक क्षेत्र में, समता करने की क्षमता न रख सकेगा।

इस देश में तो इस बात की विशेष आवश्यकता है

कि राजनीति धर्म से सर्वथा पृथक् रहे, और धर्म भी राजनीतिक स्थिति में हस्तक्षेप न कर सके। यहाँ के हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य ने तो इस बात की और भी पुष्टि कर दी है कि यदि भारत को राजनीतिक पथ पर सरलता-पूर्वक अग्रसर होने देना है, तो परस्पर के धार्मिक विवाद राजनीति से सर्वथा दूर रक्खे जायँ। जब तक ऐसा न होगा, जब तक धार्मिक कलह को राजनीति से पृथक् न रक्खा जायगा, तब तक भारत पीड़ित और उसकी राजनीतिक परतंत्रता अक्षुण्ण बनी रहेगी। धार्मिक कलह यदि हो, तो होता रहे। उसका क्षेत्र पृथक् होना चाहिए। राजनीतिक नेताओं में कदापि धार्मिक संकीर्णता न आनी चाहिए। जिस प्रकार एक ही हिंदू-समाज में विभिन्न प्रकार के मत-मतांतर विद्यमान हैं, शैव और शाक्त, शाक्त और वैष्णव, जैन और बौद्ध इत्यादि परस्पर विरोध रखनेवाले संप्रदाय हैं, किंतु हिंदू होने के नाते सब सर्वथा एक हैं, उसी प्रकार हिंदू और मुसलमान, पारसी और क्रिस्तान आदि सब भिन्न-भिन्न-धर्मानुयायी भारतीय होने के नाते एक हैं। उन्हें मिलकर भारत के उद्धार की चेष्टा करना अपना पुनीत कर्तव्य समझना चाहिए। धार्मिक संकीर्णताओं को अपने-अपने संप्रदाय में ही रहने देना चाहिए। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति कुछ अपनी विशेषताएँ रखता है (यथार्थ में ये विशेषताएँ ही उसे दूसरे व्यक्ति से पृथक् करके उसके अस्तित्व को सूचित करती हैं), परंतु विशेषताएँ रखते हुए भी उसे सामाजिक कार्यों में समाज के अनुकूल नियमों का पालन करना पड़ता है, और अपनी व्यक्ति-गत स्वतंत्रता तक का नाश कर देना पड़ता है, उसी प्रकार प्रत्येक समाज की भी विशेषताएँ होती हैं—बिना उन विशेषताओं के समाज की स्थिति संभव ही नहीं—परंतु यह सर्वथा अनुचित है कि समाज अपनी विशेषताओं की देश पर छाप डालकर उसकी विशेषताओं को बाधा पहुँचावे। समाजों को देश के हित और अहित का विचार रखकर ही कार्य करना पड़ता है। इसी नियम के अनुसार हिंदू-मुसलमान प्रभृति स्वतंत्र रूप से अपने-अपने धर्म का पालन करें। एक को दूसरे के धर्म में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं। कम-से-कम हिंदू-धर्म का तो सदा से यही सिद्धांत रहा है कि इस संबंध में सभी सर्वथा स्वतंत्र हैं। भगवान् ने भी गीता में कहा है—"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।", "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।" इत्यादि। इन भगवद्वाक्यों के आधार पर ही यथार्थ में समाज की स्थिति संभव है। व्यक्तिगत धर्म को समाज-गत धर्म के सामने दबना पड़ता है। इसी प्रकार समाज-धर्म को भी देश के आगे नत-मस्तक होना पड़ेगा। देश और समाज के स्वार्थ में यदि संघर्ष होगा, तो समाज को ही स्वार्थ-त्याग करना पड़ेगा; जैसे यदि व्यक्ति और समाज के स्वार्थों में विरोध होगा, तो निश्चय ही व्यक्ति-गत स्वार्थ को समाज के आगे झुक जाना पड़ेगा। इसी बात को लक्ष्य में रखकर संस्कृत की यह उक्ति प्रचलित हुई है—"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्: ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।" अस्तु।

इन सब बातों पर विचार करने से यही सिद्ध होता है कि राजनीति में समाजों का अथवा धर्मों का आधिपत्य अवश्य अहितकर है। इस नीति के अवलंबन से न तो देश का ही भला होगा, और न समाज का ही। अतएव प्रत्येक समाज का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह देश को अभ्युन्नत और स्वतंत्र होने में पूर्ण सहायता पहुँचाए। प्रत्येक देशसेवी नेता का यह धर्म होना चाहिए कि वह व्यक्ति-विशेष अथवा समाज-विशेष के लिये देश के लाभ को पददलित न करे। जैसे कोई नेता अपने व्यक्ति-गत स्वार्थ-साधन के लिये कोई काम करने से निंदनीय समझा जाता है, वैसे ही समाज-विशेष के लिये देश-हित को हानि पहुँचानेवाला भी सर्वथा हेय है। जो लोग देश-सेवा के व्रती हों, जो लोग देश को ही अपना सर्वस्व मानने को तैयार हों, उन्हें चाहिए कि सर्वदा देश-हित ही की ओर ध्यान दें, व्यक्ति-गत रूप से वे चाहे किसी भी संप्रदाय के क्यों न हों। संप्रदाय अथवा धर्म देश की भलाई में बाधक न हो, जब तक हमारा यह लक्ष्य न रहेगा, तब तक अभ्युदय की आशा दुराशा-मात्र है। जब तक धर्म को राजनीति से पृथक् न माना जायगा, तब तक देश का कल्याण असंभव है। देश का कल्याण हमारा प्रधान लक्ष्य होना चाहिए, और उसके अंतर्गत रहकर ही अवांतर धर्म, समाज आदि अपना-अपना विकास करें। कारण, जिस प्रकार एक कुटुंब में अनेक व्यक्ति होते हैं, उसी प्रकार देश के अंतर्गत पृथक् पृथक् समाज हैं। प्रत्येक पुरुष को पहले भारतीय

होने का गर्व होना चाहिए, पश्चात् हिंदू या मुसलमान होने का गौरव। जब तक यह भाव नेताओं के रोम-रोम में व्याप्त न हो जाय, उन्हें नेता कहना ही गलती है। नेतृत्व के लिये जिन उदार विचारों की आवश्यकता है, जिस स्वार्थ-त्याग की आवश्यकता है, उसमें व्यक्ति-गत स्वार्थ के साथ-साथ समाज-गत स्वार्थ का त्याग कर देने की भी आवश्यकता है। जो व्यक्ति समाज के मंडल से ऊपर नहीं उठ सकता, उसे नेता होने का कोई अधिकार नहीं। वह देश-सेवक कहलाने-योग्य ही नहीं। वह स्वार्थी है। देश की सच्ची सेवा तो वही कर सकेगा, जो इस सिद्धांत को समझेगा कि देश की सेवा के लिये, देश के अभ्युत्थान के लिये, देश के स्वातंत्र्य के लिये, व्यक्ति को, समाज को, प्रांत तक को पददलित कर देना पाप नहीं, पुण्य है—यही परम पुनीत मार्ग है।

× × ×

३. प्राचीन बनाम नवीन साहित्य

"हिंदी के पुराने साहित्य में कूड़े-करकट के सिवा और कुछ नहीं; उससे हिंदू-समाज को हानि पहुँची है; उसका जला देना ही श्रेयस्कर है; उसकी रक्षा करने से कुछ लाभ नहीं।" —हिंदी के प्राचीन साहित्य के प्रति कुछ उच्च अँगरेज़ी शिक्षा से दीक्षित हिंदी-प्रेमियों के ऐसे ही विचार हैं। ठीक इसके विपरीत नवीन हिंदी-साहित्य के विरोधियों की बात भी सुनने-लायक़ है। उनका कहना है कि "आजकल जो पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं वे किसी काम की नहीं। उनमें कला की हत्या और नियमों की अवहेलना की जाती है, और प्रदर्शन के अति-रिक्त ठोस चीज़ कुछ भी नहीं" इत्यादि। इस प्रकार के दो परस्पर विरोधी विचारों को, जिनमें आकाश-पाताल का अंतर है, देखकर बड़ा क्षोभ और आश्चर्य होता है। क्या सचमुच पुराना साहित्य कूड़े-करकट के सिवा कुछ नहीं? क्या यह बात सत्य है कि नवीन साहित्य बिलकुल निकम्मा और दिखाऊ है? ऊपर से देखने पर यह समस्या बड़ी ही जटिल मालूम पड़ती है; पर बात ऐसी नहीं। असल झगड़ा उपयोगिता-वाद और कला का है।

आजकल यह मत ज़ोरों पर है कि ललित कला का भी उपयोग है, उससे भी संसार और समाज का लाभ है। जिस कला का कोई उपयोग न हो, जिससे समाज और संसार को लाभ न पहुँचता हो, उसका होना-न होना बराबर। बस, आधुनिक विद्वान् हिंदी के पुराने साहित्य—विशेषकर शृंगार-कविता—को इसी कसौटी पर कसते हैं, और जब उसको लाभप्रद नहीं पाते, तो वे ही बातें कह बैठते हैं, जो इस नोट की आरंभ की पंक्तियों में लिखी हैं। उधर प्राचीन ढंग की कविता के प्रशंसक 'कला का उप-योग कला' बतलाकर साहित्य के सौंदर्य और आनंद में मग्न हो जाते हैं। उनके मतानुसार उपयोगिता-वाद के कारण संपूर्ण आनंद और सौंदर्य का विकास नहीं होने पाता। उपयोग के आश्रय में डालकर कला से प्रचार का काम लिया जा रहा है। बस, इन दो विभिन्न दृष्टि-कोणों से देखने के कारण ही प्राचीन और नवीन साहित्य के समर्थकों में ऐसा भयंकर संघर्ष उपस्थित हो गया है। असल में झगड़ा विशुद्ध कला और उपयोग-समवेत कला का है। इस नोट में इन दोनों के भेद और उपयोग पर कुछ लिखना संभव नहीं। कहना केवल इतना ही है कि प्राचीन साहित्य का और कोई उपयोग यदि न भी माना जाय, तो क्या उसका ऐतिहासिक उपयोग भी अस्वीकृत किया जा सकता है? इसका उत्तर 'नहीं' के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। जब बात ऐसी है, तो प्राचीन हिंदी साहित्य की रक्षा करनी ही होगी। इसी प्रकार आधुनिक साहित्य में यदि कला नहीं, यदि दिखाऊ-पन और प्रचार का प्रदर्शन है, तो क्या उसमें भी वर्तमान समय का संपूर्ण वायुमंडल व्याप्त नहीं है? यदि है, तो वर्तमान को समझने का ऐसा उत्तम साधन उसके अति-रिक्त और कहाँ मिलेगा? फिर उसको पढ़कर वर्तमान युग को समझने से पराङ्मुख रहना कहाँ की बुद्धिमानी है? शुद्ध कला की कसौटी पर खरी न उतरने से ही कोई वस्तु त्याज्य नहीं। उसी प्रकार कोरे उपयोगिता-वाद का पोष्य-पुत्र न होने से ही किसी ग्रंथ को अर्द्धचंद्र नहीं दिया जाना चाहिए। यदि एक बात में हमें एक चीज़ अच्छी नहीं लगती, तो क्या ऐसी और बातें नहीं हैं, जिनमें वह अच्छी लगे? हमारा उत्तर है कि ऐसी बातें हैं, और उन्हीं के लिये हमें प्राचीन और नवीन हिंदी साहित्य की रक्षा करनी चाहिए।

× × ×

४. जीवन-चरित

किसी ग्रंथकार के ग्रंथों का अध्ययन करते समय यदि हमें उसका जीवन-चरित मालूम रहे, तो उसके ग्रंथों में

हमारी दिलचस्पी बहुत अधिक बढ़ जाती है। कभी-कभी ग्रंथ में आनेवाले भावों को समझने में भी ग्रंथकार के जीवन-चरित का ज्ञान सहायक होता है। विद्वानों का कथन है कि ग्रंथकार की सांसारिक कार्य-शैली का प्रतिबिंब उसके ग्रंथों पर पड़ता है। रचयिता अपनी जीवन यात्रा में जो-जो काम करता रहता है, उसकी झलक उसके साहित्यिक जीवन में भी अवश्य पड़ती है। ऐसी दशा में यदि हम किसी कवि या लेखक के जीवन की बहुत-सी बातें पहले से जानते हों, तो हमें उसकी कृति के सभी अंश समझने में निश्चय ही सुबीता रहेगा। यह व्यापक नियम है। पर इसके अपवाद भी पाए जाते हैं। ऐसे उदाहरण भी दिए जा सकते हैं कि लेखक या कवि की कृति को देखकर उसके संबंध में जो धारणा दृढ़ होती है, वह कभी-कभी उक्त लेखक या कवि की जीवनी पढ़ने के बाद नष्ट हो जाती है। ग्रंथ से ग्रंथकार कुछ और ही जान पड़ता है; पर जब उसके सांसारिक कार्यों को देखते हैं, तो कुछ और ही। ग्रंथ पढ़कर हम जिसे ऋषि मान बैठते हैं, उसी को संसार के कर्मक्षेत्र में राक्षस-रूप से आचरण करते हुए पाते हैं। इसी तरह जिसकी कृति से उसके रचयिता की दानवता टपकती है, उसी को व्यावहारिक जीवन में हम महात्मा पाते हैं। उदाहरण देकर हम इस तथ्य बात को अप्रिय नहीं बनाना चाहते, थोड़ा-सा विचार करने ही से हमारा यह कथन ठीक जँचेगा। कहने का तात्पर्य यह कि कभी-कभी जीवन-चरित का ज्ञान ग्रंथ को समझने में सहायक होने की जगह बाधक भी होता है। तो भी, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, व्यापक तथ्य यही है कि जीवन-चरित से ग्रंथकार की कृति अधिक स्पष्ट भासित होती है।

पर जीवन की सभी घटनाएँ साहित्यिक कृति को समझने के लिये आवश्यक नहीं होतीं। इसलिये सभी जीवन-चरित भी ग्रंथों के मर्म समझने को आवश्यक नहीं। यदि किसी जीवन-चरित में ग्रंथकार के छोटे-से-छोटे काम का वर्णन होता है, तो उससे उसी लेखक या कवि की कृति को समझने में बड़ी गड़बड़ उपस्थित हो जाती है। परस्पर विरोधी बातों को पाकर उलझन बढ़ जाती है। इन्हीं कठिनाइयों को देखकर कुछ विद्वान् इस हद तक चले गए हैं कि उन्होंने यह राय क़ायम कर ली है कि किसी ग्रंथ को समझने के लिये उसके रचयिता की जीवनी पढ़ना बिलकुल अनावश्यक है। पर यह सम्मति ठीक नहीं। अच्छे जीवन-चरितों के पाठ से कवि या लेखक की रचना समझने में अवश्य सहायता मिलती है। अच्छे जीवन-चरित से हमारा अभिप्राय उस जीवनी से है, जिसमें अनावश्यक बातें छोड़कर प्रधान-प्रधान बातों का वर्णन हो, जिनसे कवि या लेखक की रुचि, सम्मान, कार्य-शैली आदि पर प्रकाश पड़ता हो। खेद है, हिंदी में न तो पुराने कवियों और लेखकों की अच्छी जीवनियाँ ही पढ़ने को मिलती हैं, और न नवीन ग्रंथकारों के जीवन-चरित लिखने की ओर ही उत्साह दिखलाई पड़ता है। भूतकाल में जो कुछ हुआ, सो हुआ; पर अब तो हमें अपने लेखकों और कवियों की जीवनियाँ लिखने से विरत न रहना चाहिए, नहीं तो वर्तमान के समान ही भविष्य में भी हमारे साहित्य में अच्छे जीवन-चरितों की कमी रहेगी।

× × ×

५. छायावाद और तुकांत-हीन कविता

हिंदी में तुकांत-हीन और छायावाद का आश्रय लेनेवाली कविता का प्रारंभ हुआ है। यह प्रसन्नता की बात है। पर अभी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सफल हो सकेगी या नहीं। हाँ, इसने थोड़े समय में उसने साहित्य-संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है, जिससे यह पता चलता है कि उसमें कुछ सार अवश्य है। छायावादी और तुकांत-हीन रचना करनेवाले कवि परंपरा से स्वीकृत कविता के नियमों के पाबंद नहीं। यथार्थ कविता के लिये वे इन नियमों का पालन आवश्यक नहीं समझते। आध्यात्मिकता से संपुटित भावों की रमणीयता को ही वे कविता मानते हैं। यदि इन भावों का प्रस्फुटन तुकांत-हीन पद्य में हो जाय, तो वह कविता है, चाहे ऐसा करने में कविता के कुछ प्रचलित नियमों की अवहेलना ही क्यों न हो जाय। पुराने ढंग की कविता के प्रशंसक चाहे इसे उच्छृंखलता कहें, पर छायावादी इसे दोष नहीं मानते। भावों के विकास में वे नियमों की रोक-थाम के क़ायल नहीं। फिर उनका छायावाद भी सहज बोधगम्य नहीं है। जैसे छाया को हम कभी नहीं पकड़ सकते—वह कभी हमारे वश में नहीं आ सकती—वैसे ही छायावाद की कविता के संपूर्ण भाव को व्यक्त करना भी सहज नहीं। उसी पद्य को भिन्न-भिन्न योग्यता के विद्वान्

समास और व्यास-रूप से समझा सकते हैं; पर फिर भी कुछ-न-कुछ कहने की गुंजाइश रह ही जाती है। इस प्रकार तुकांत-हीन छायावाद की कविता का आदर्श बहुत ऊँचा और कार्य-क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। नियमों की पाबंदी न होने से कल्पना को स्वच्छंदता पूर्वक विचरने का अवसर मिलता है। इस प्रकार की कविता का अँगरेज़ी में यथेष्ट सत्कार है। बँगला में तो अब उसका बहुत प्रचार होता जाता है। बँगला की देखादेखी अब उसने हिंदी में भी प्रवेश किया है।

हिंदी में जो पुराने ढंग की कविता होती है, उससे इस छायावाद की कविता में बहुत भेद है। पुरानी कविता अधिकतर तुकांतमय है। वह क्लिष्ट भले ही हो, पर प्रत्येक पद्य का अर्थ हो सकता है। ऐसा नहीं है कि छाया के समान उसका अर्थ भागता फिरे, और हाथ न आवे। महामति कबीर की कविता में कुछ लोग छायावाद और आध्यात्मिकता का समावेश मानते हैं। ऐसा हो सकता है, पर कबीर की सभी रचनाओं का अर्थ किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वह कविता के नियमों को भी स्वीकृत किए हुए है। जब पुरानी और छायावाद की नवीन ढंग की कविता में इतना प्रकट पार्थक्य है, तो यह बात नितांत स्वाभाविक है कि लोग अपने-अपने ढंग की कविता की उत्तमता दिखलाने के लिये एक दूसरे के छिद्रान्वेषण में लगें। इस प्रकार के छिद्रान्वेषण से ईर्ष्या और कलह का प्रादुर्भाव होता है; जो सर्वथा त्याज्य है। हमारी राय में छायावाद की कविता का प्रचार करनेवालों का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। वे हिंदी-साहित्य को एक नवीन वस्तु भेंट कर रहे हैं। यदि किसी को यह भेंट स्वीकार करने में कुछ झिझक हो, तो इससे उन्हें रुष्ट न होना चाहिए। उन्हें अपनी भेंट के गुण और उसकी उत्तमता को शिष्टता के साथ प्रकट करना चाहिए। यदि उनकी कविता में गुण हैं, यदि वह वास्तव में हृदय को आकृष्ट करनेवाली है, तो उसका प्रचार होगा, और निश्चय होगा। और यदि उसमें कोरी कृत्रिमता है, अर्थ को पूर्णतया प्रकट न कर सकने की असमर्थता ज़बर्दस्ती गुण बनाई जा रही है, और नियमों के न जानने की कमी अब नियमों की खुल्लमखुल्ला अवहेलना करा रही है, तो लाख चेष्टा करने पर भी हिंदी-साहित्य में इस कविता का आदर न होगा।

× × ×

६. श्रीपटेल और स्वराज्य-दल

बड़ी व्यवस्थापिका सभा में इस बार पहलेपहल सभापति के चुनाव का प्रश्न उपस्थित हुआ। शासन-सुधार के नियमों के अनुसार इस सभा का पहला सभापति विलायत से मनोनीत होकर आया था। उसके शासन-काल की अवधि ४ वर्ष थी। उसके बाद स्वयं अपने में से ही किसी को सभापति चुन लेने का व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को अधिकार था। अतएव इस बार जब सभा का अधिवेशन आरंभ हुआ, तो अधिकतर लोगों का ध्यान इसी प्रश्न की ओर आकर्षित हुआ। यद्यपि प्रारंभ में स्वराज्य-पार्टी की नीति यही थी कि हम शासन-सुधार के आधार पर बनी कौंसिलों में कोई पद ग्रहण न करेंगे, पर अब इधर उसने इस नीति का त्याग कर दिया है। अतः सभापति-पद के लिये उसने, अपनी ओर से, मिस्टर पटेल को नामज़द किया। इनके विरोध में स्वतंत्र-दल की ओर से श्रीरंगस्वामी ऐयंगर खड़े हुए थे। दोनों ओर से बड़े उद्योग हुए। लोगों का कहना है कि इस व्यवस्थापिका सभा में इससे पहले और किसी मामले में इतनी दिलचस्पी नहीं ली गई थी। सरकार स्वतंत्र-दल के सदस्य के पक्ष में थी; फिर रंगस्वामी ऐयंगर पहले से सहकारी सभापति थे भी, अतः उन्हीं के जीतने की अधिक संभावना थी। उधर श्रीपटेल को बंबई-प्रांत के सभी वोट प्राप्त थे, तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू भी उनके लिये उद्योग कर रही थीं। कहने का तात्पर्य यह कि दोनों दलों ने अपने सदस्य की जीत के लिये कोई बात उठा नहीं रक्खी। नियत दिन को जब वोट लिए गए, तो स्वराज्य-दल के सदस्य के पक्ष में ५८ वोट आए, और स्वतंत्र-दल के सदस्य के पक्ष में ५६। इस प्रकार श्रीपटेल २ वोटों से जीत गए, और अंत को वही सभापति हुए। उनके इस निर्वाचन से स्वराज्य-दल में बड़ी प्रसन्नता फैली। सब दल के लोगों ने उन्हें बधाई दी। उन्होंने भी अवसर के उपयुक्त एक सुंदर व्याख्यान देकर बधाई देनेवालों को धन्यवाद दिया, और अपना काम पक्षपात-रहित होकर करने का वादा किया।

श्रीपटेल के इस निर्वाचन से हम भी प्रसन्न हैं। पर प्रश्न यह उठता है कि उनके सभापति हो जाने से स्वराज्य-दल को क्या लाभ होगा? साधा-

स्वतः तो उसका एक वोट कम हो गया। फिर श्रीपटेल ने अपने व्याख्यान में यह भी कहा था कि सभापति चुने जाने के बाद अब मैं किसी दल का नहीं रहा। यदि आवश्यकता होगी, तो मैं वायसराय से भी बराबर मिला करूँगा। इस प्रकार वायसराय या अन्य सरकारी पदाधिकारियों से मिलना स्वराज्य-दल की नीति के विरुद्ध है। श्रीपटेल वही नीति-विरुद्ध काम करने को कहते हैं। कहते ही नहीं, उन्होंने वैसा करना शुरू भी कर दिया है। अब वह सरकारी भोजों में निस्संकोच सम्मिलित होते हैं, तो क्या हम यही मान लें कि अब श्रीपटेल स्वराज्य-दल के नहीं रहे। यदि यही बात है, तो स्वराज्य-दल को कुछ भी लाभ नहीं हुआ। ख़ैर, एक और विचित्र पहेली समझ में नहीं आती। श्रीपटेल तो कहते हैं कि अब मैं स्वराज्य-दल का नहीं रहा; पर स्वराज्य-दल के मंत्री का कहना है कि नहीं, वह अब भी बराबर स्वराज्य-दल के सदस्य हैं? अब किसकी बात सच मानी जाय? देखते हैं, धीरे-धीरे स्वराज्य-दल की नीति बड़ी ही जटिल होती जाती है। उसकी और लिबरल-दल की कार्य-शैली में अब अधिक भेद नहीं समझ पड़ता। श्रीपटेल के चुनाव से स्वराज्य दल की जीत भले ही हुई हो; पर उक्त दल की नीति में न सुलझनेवाली एक गुत्थी और पड़ गई है।

× × ×

७. पं० मोतीलालजी का संशोधक प्रस्ताव

उस दिन बड़ी व्यवस्थापिका सभा में स्वराज्य-दल के नेता पं० मोतीलालजी नेहरू ने एक उपप्रस्ताव इस आशय का उपस्थित किया कि यह सभा गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल से सिफ़ारिश करती है कि वह इँगलैंड की सरकार से भारतीय शासन-विधान में निम्न-लिखित परिवर्तन करने को कहे—

(१) भारत में सरकार को मालगुज़ारी आदि से जो आय होती है, उसका उत्तरदायित्व इँगलैंड स्थित भारत-मंत्री पर न रहकर सपरिषद् गवर्नर जनरल पर रहा करे।

(२) गवर्नर जनरल भारतीय व्यवस्थापक सभाओं के आगे उत्तरदायी होंगे, और कुछ को छोड़कर शेष सब मदों में उनको व्यय करने का अधिकार रहेगा।

(३) इँगलैंड-स्थित भारत-मंत्री की कौंसिल तोड़ दी जाय।

(४) स्वल्प और निर्दिष्ट समय के भीतर भारतीय सेना में भारतवासियों का ही प्राधान्य हो जाय, उनको उच्च-से-उच्च पद मिलें, और इस मामले में सहायता पहुँचाने के लिये एक मंत्री नियुक्त किया जाय।

(५) बड़ी और प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं के सभी सदस्य निर्वाचित ही हों। मत देने का अधिकार और भी व्यापक बनाया जाय।

(६) कुछ बातों को छोड़कर शासन-संबंधी सभी मामलों में यह सिद्धांत स्वीकार किया जाय कि शासन-व्यवस्था व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी है।

(७) वर्तमान प्रांतीय द्वैध शासन का अंत कर दिया जाय, और प्रांतीय स्वतंत्रता प्रदान की जाय।

(८) निर्दिष्ट समय के बाद बड़ी व्यवस्थापिका सभा को सभी मामलों और मदों के संबंध में क़ानून बनाने का अधिकार हो जाय।

(९) ऐसी सभा आमंत्रित की जाय, जिसमें भारत के सभी दलों के प्रतिनिधि उपस्थित हों, और वे लोग विचार करके एक शासन-व्यवस्था तैयार करें; फिर वह व्यवस्था बड़ी व्यवस्थापिका सभा में मंजूरी के लिये उपस्थित की जाय, और वहाँ से स्वीकृति मिलने पर ब्रिटिश पार्लियामेंट में क़ानून का रूप पाने के लिये भेज दी जाय।

इस प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए पं० मोतीलालजी ने एक बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण, गंभीर और जोशीला भाषण दिया। आपका भाषण प्रायः १½ घंटे तक होता रहा। अंत में आपने यह बात स्पष्ट कर दी कि सरकार के हृदय में परिवर्तन होने पर ही उनका दल उससे सहयोग करने को तैयार है, अन्यथा नहीं। आपने यह भी बतलाया कि हमारा दल स्वर्गीय देशबंधु दास की उन सभी बातों को मानने के लिये तैयार है, जो उन्होंने अपने फ़रीदपुरवाले व्याख्यान में कही थीं। पंडितजी के इस प्रस्ताव का समर्थन प्रायः सभी दलों के गैर-सरकारी सदस्यों ने किया। समर्थन में मिस्टर जिन्ना ने जो व्याख्यान दिया, वह बड़ा ही उत्कट, भाव-पूर्ण और ओजस्वी था। आपने सरकार की अनुचित काररवाइयों का निर्दयता-पूर्वक भंडाफोड़ कर डाला। कुछ लोगों का विचार है कि इस उपप्रस्ताव के संबंध में जो वाद-विवाद हुआ,

उसमें मिस्टर जिन्ना का भाषण सबसे उत्तम था। सरकार ने उक्त उपप्रस्ताव का घोर विरोध किया, और अर्थ-सदस्य श्रीचार्ल्स इनीज़ ने कई बार ग़ैर-सरकारी सदस्यों में फूट डालने की विफल चेष्टा की। वोट लेने पर सरकार को ४५ और पं० मोतीलालजी को ७२ वोट मिले। इस प्रकार स्वराज्य दल के वृद्ध, किंतु त्यागी और मनस्वी नेता ने एक बार सरकार को फिर बुरी तरह पराजित किया।

ख़ैर, यह तो हुई उपप्रस्ताव के परिणाम की बात। पर इस संशोधक प्रस्ताव को लेकर देशी समाचार-पत्र तथा राजनीतिज्ञ लोग तरह-तरह की बातें कर रहे हैं। स्वराज्य-दल के पक्षपातियों का कहना है कि पं० मोतीलालजी ने बड़ी चतुरता के साथ और दल-वालों को अपनी ओर मिला लिया और इस प्रकार स्वराज्य-दल की प्रतिष्ठा बहुत कुछ बढ़ा दी है। उधर लिबरल लोगों का कहना है कि आख़िर हम लोगों ने स्वराज्य-दलवालों से भी वे ही माँगें उपस्थित करवा दीं, जिनको माँगने के कारण लोग हमारे दल को बुरा-भला कहा करते थे। उनका कहना है कि पं० मोतीलालजी के संशोधक प्रस्ताव में वे ही सब बातें हैं, जो मुडीमैन कमिटी की माइनरिटी रिपोर्ट में अथवा लिबरल फ़िडरेशन के शासन-सुधार-संबंधी प्रस्ताव में हैं। श्रीचिंतामणि ने प्रकट किया है कि इस प्रस्ताव को उपस्थित कर चुकने के बाद अब स्वराज्य-दल और लिबरल-दल के कार्य क्रम में बहुत कम भेद रह गया है। मदरास के स्वराज्य-पत्र का ख़याल है कि पं० मोतीलालजी के इस काम से स्वराज्य-दल का और भी अधःपतन हुआ है। स्वयं स्वराज्य-दल के नेता श्रीअभयंकर ने यह स्वीकार किया है कि वास्तव में संशोधक प्रस्ताव में वे ही बातें हैं, जो लिबरल फ़िडरेशन माँगता है, पर स्वराज्य-दल की माँग और फ़िडरेशन की माँग में फ़र्क़ इतना ही है कि यदि सरकार इस माँग को स्वीकृत न करेगी, तो स्वराजी लोग अपनी माँगों के पक्ष में देश में एक बड़ा भारी आंदोलन उपस्थित करेंगे। इस प्रकार का मत-भेद होते हुए भी सभी भारतीय दलों ने इस बात से प्रसन्नता प्रकट की है कि इस संशोधक प्रस्ताव की बदौलत, बहुत संभव है, सभी राजनीतिक दलों में समझौता हो जाय, और वे सब कांग्रेस के झंडे के नीचे आ सकें।

देशी पत्रों का मत तो इस प्रकार का है, पर विदेशी अँगरेज़ी पत्रों का हाल कुछ और ही है। यद्यपि स्वतंत्र मज़दूर-दल ने पं० मोतीलालजी को इस जीत पर बधाई दी है, पर और अँगरेज़ राजनीतिज्ञ पंडितजी के प्रस्ताव को बड़े ही संशय की दृष्टि से देखते हैं। 'इँग-लिशमैन'-पत्र की राय है कि इस प्रस्ताव के कारण उन्नति के मार्ग में निराशा-पूर्ण अड़ंगा लगा है। 'पायो-नियर' कहता है कि लक्ष्य की प्राप्ति वास्तविक सेवाओं से ही होगी, व्यर्थ के आंदोलन से नहीं। उसका यह भी कहना है कि शासन-सुधार में वृद्धि चाहनेवालों ने माकूल दलीलें नहीं पेश कीं। व्यवस्थापिका सभा के निर्णय से कलकत्ते का 'स्टेट्समैन'-पत्र सबसे अधिक क्षुब्ध है। इस संबंध में उसने जो अग्र-लेख लिखा था, उसका शीर्षक था 'मूर्खता'। संशोधक प्रस्ताव को जो इतने अधिक वोट मिले, उसे वह नाटकीय आडंबर बतलाता है। इस प्रकार के प्रस्ताव पास कराने की नीति को लेकर उक्त पत्र ने लिखा है कि ये ऐसी चालें हैं, जिनमें राजनीतिज्ञता है ही नहीं।

जो हो, पं० मोतीलालजी के इस संशोधक प्रस्ताव के पास हो जाने से यह बात स्पष्ट हो गई कि भारत के सभी राजनीतिक दल, यदि चाहें तो, मिलकर काम कर सकते हैं, और उनके मिलकर किए हुए काम का प्रभाव भी सरकार पर अधिक पड़ सकता है। हम देश में ऐसी स्थिति देखकर प्रसन्न हैं; पर हमें एक बात पसंद नहीं। स्वराज्य-दल अब तक जिस नीति पर चल रहा था, निश्चय ही वर्तमान व्यवस्थापिका सभा में वह उस नीति पर नहीं चल रहा है। फिर वह इस बात को साफ़-साफ़ स्वीकार क्यों नहीं कर लेता? नीति-परिवर्तन कोई पाप नहीं। हाँ, परिवर्तन करके भी उसे परिवर्तन न मानना अनुचित है। आशा है, पटने के अधिवेशन में स्वराज्य-दल अपने भावी कार्य क्रम और नीति को बिलकुल स्पष्ट कर देगा।

× × ×

८. भारत में लोहे के सामान का आयात

इस औद्योगिक युग में कोयले और लोहे का बहुत महत्त्व है। प्रत्येक देश की आर्थिक उन्नति बहुत कुछ इन्हीं पर निर्भर रहती है। इँगलैंड और अमरिका (संयुक्त-राज्य) के औद्योगिक संसार में इतने प्रभावशाली होने का प्रधान कारण यही है कि वहाँ कोयले की उत्तम खानें

है, और लोहे का सामान तैयार करनेवाले कई बड़े-बड़े उन्नत कारख़ाने भी। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति बड़ी बड़ी और क़ीमती मशीनों का उपयोग किए बिना नहीं हो सकती। फिर मशीनें चलाने के लिये एंजिनों की आवश्यकता पड़ती है। इन मशीनों और एंजिनों के अधिकांश भाग लोहे और फ़ौलाद के बने होते हैं। कैसे खेद की बात है कि भारत को लोहे के मामूली सामान के लिये भी अन्य देशों का मुँह ताकना पड़ता है। हमारे देश में आजकल प्रतिवर्ष क़रीब ४०-५० करोड़ रुपयों का लोहे का सब प्रकार का सामान अन्य देशों से आता है। नीचे के कोष्ठक में यह बतलाया जाता है कि गत १०-१२ वर्षों में लोहे और फ़ौलाद के सामान के वार्षिक आयात का मूल्य कितना था—

सन्	लोहे और फ़ौलाद का सामान * (लाख रुपए)	मशीनें (लाख रुपए)	रेल का सामान (लाख रुपए)	मीज़ान (लाख रुपए)
१९१३-१४	१९,९५	७,७५	९,८०	३७,५०
१९१८-१९	१५,६१	५,००	१,०४	२१,६५
१९२०-२१	४० ३८	२२,३७	१३,५७	७६,३२
१९२१-२२	२७.०५	३४,२५	१८,९१	८०,२१
१९२२-२३	२३,५१	२३,४८	११,०६	५८,०५
१९२३-२४	२२,३५	१९,१३	११,७२	५३,२०
१९२४-२५	२३ ६२	१४,९४	६,०७	४४,६३

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि गत महायुद्ध के पहले लोहे और फ़ौलाद के सब प्रकार के सामान का मूल्य क़रीब ३७ करोड़ था। महायुद्ध के समय में लोहे के सामान की, युद्ध-क्षेत्रों में, बड़ी आवश्यकता पड़ी। इसलिये लोहे के बड़े-बड़े कारख़ानों में अधिकतर, युद्ध-सामग्री ही तैयार होने लगी। अन्यान्य लोहे के सामान की क़ीमत बहुत बढ़ गई। भारत को यह सामान लाने के लिये जहाज़ों की कमी पड़ने लगी। अतएव, इन्हीं सब कारणों से, भारत में, युद्ध-काल में, लोहे के सामान का आयात कम होने लगा। युद्ध के अंतिम वर्ष सन् १९१८-१९ में लोहे के संपूर्ण आयात का मूल्य केवल २१ करोड़ रुपए था। युद्ध समाप्त होने पर, सन् १९२० में, भारत सरकार ने विदेशी विनिमय की दर बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया। इससे विदेशी माल भारत में सस्ता बिकने लगा। भारतवासियों को लोहे के सामान की अपनी कमी दूर करने का यह अच्छा अवसर मिला। करोड़ों रुपयों के लोहे के सामान के लिये उस समय इँगलैंड ऑर्डर भेजे गए। इससे सन् १९२०-२१ और १९२१-२२ में लोहे के सामान के आयात में बहुत वृद्धि हुई। सन् १९२१-२२ में तो लोहे के सामान का आयात ८० करोड़ रुपयों तक पहुँच गया! किंतु भारत सरकार विदेशी विनिमय की दर को दो शिलिंग फ़ी रुपए तक बढ़ाए रखने में असफल हुई। यह दर एक शिलिंग चार पेंस से भी नीचे गिर गई। अतएव भारत में विदेशी माल की क़ीमत फिर बढ़ने लगी, और लोहे के माल का आयात कम होने लगा। मई, सन् १९२४ से भारत-सरकार ने लोहे और फ़ौलाद के उद्योग के संबंध में संरक्षण-नीति का पालन आरंभ किया है। इससे भी गत वर्ष के आयात में कुछ कमी हो गई है। सन् १९२४-२५ में लोहे के सामान के आयात का मूल्य ४५ करोड़ रुपयों से भी कम था। भारत में लोहे के सामान का कुछ भाग तो अमेरिका (संयुक्त-राज्य), जर्मनी और बेलजियम से आता है, पर अधिक भाग इँगलैंड ही से। इसलिये हमारी औद्योगिक उन्नति बहुत कुछ इँगलैंड ही पर अवलंबित है। बड़ी-बड़ी और क़ीमती मशीनें तो भारत में कई वर्षों तक न बन सकेंगी। हाँ, रेल का सामान तथा लोहे और फ़ौलाद के अन्य कई प्रकार के सामान भारत में अब भी बन सकते हैं, और बन रहे हैं। दत्तचित्त होकर उनकी उपज बढ़ाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

× × ×

भारत में लोहे की खानें और उपज

भारत में लोहे की खानों की कमी नहीं। वे कई ज़िलों में पाई जाती हैं। कुछ भूगर्भ-शास्त्र-वेत्ताओं ने यह हिसाब लगाने का प्रयत्न किया है कि संसार-भर की लोहे की खानों में कितना कच्चा लोहा है, और उसमें से कितना स्वच्छ लोहा निकाला जा सकता है। आगे के कोष्ठक में यह बतलाया जाता है कि उनके हिसाब के

* इसमें Iron और Steel का सामान और Hardware and Cutlery शामिल है।

अनुसार संसार के मुख्य-मुख्य देशों की खानों में कितना कच्चा लोहा है, और फिर उनमें स्वच्छ लोहे का परिमाण क्या है—

देश	कच्चे लोहे का परिमाण (करोड़ टन)	स्वच्छ लोहे का परिमाण (करोड़ टन)
फ्रांस	५,६३	१,८६
अमरिका (संयुक्त-राज्य)	४,२५	२,१३
न्यूफ़ाउंडलैंड	३,६३	१,५५
भारत	२,८३	१,७०
क्यूबा	२,५५	१,०८
नार्वे और स्वीडन	१,४७	८६
इँगलैंड और स्काटलैंड	१,३०	४५
जर्मनी	१,२६	४१
रशिया	८३	३८
स्पेन	७१	३५
लक्सेंबर्ग	२७	६
आस्ट्रिया	२१	७
योरप के अन्य देश	२६	११

इस कोष्ठक से पता लगता है कि भारत की खानों में कच्चे लोहे का परिमाण काफ़ी अधिक है, और फिर उसमें स्वच्छ लोहे का परिमाण भी कम नहीं। अतएव क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि भारत एक ऐसे देश (इँगलैंड) से, जिसमें कच्चे लोहे का परिमाण भारत की अपेक्षा आधे से भी कम और स्वच्छ लोहे का तो क़रीब चौथाई ही है, ४०-५० करोड़ रुपयों का लोहे का सामान प्रति वर्ष मँगाता रहे?

यद्यपि भारत में लोहे की खानों की कमी नहीं, तो भी उनमें से प्रति वर्ष बहुत कम कच्चा लोहा निकाला जाता है; और इस कच्चे लोहे को स्वच्छ बनाकर उसके बहुत कम सामान तैयार किए जाते हैं। आगे कोष्ठक में यह बतलाया जाता है कि सन् १९२० में, संसार के कुछ देशों में, खानों से कितना कच्चा लोहा निकाला गया, कितना स्वच्छ लोहा तैयार किया गया, और फ़ौलाद का कितने परिमाण में सामान बनाया गया—

देश	कच्चे लोहे का परिमाण (लाख टन)	स्वच्छ लोहे का परिमाण (लाख टन)	फ़ौलाद के सामान का परिमाण (लाख टन)
अमेरिका	६,७६	३,७१	३,५२
इँगलैंड और स्कॉटलैंड	१,२७	८१	९०
फ्रांस	१,३८	३४	६८
जर्मनी	६३	५५	८०
स्वीडन	४५	५	८
भारत	६	३	१

इस कोष्ठक से यह भली भाँति विदित होता है कि अन्य देशों की अपेक्षा भारत में प्रति वर्ष बहुत ही कम कच्चा लोहा खानों से निकाला जाता है, स्वच्छ लोहे का परिमाण भी कम होता है, और फ़ौलाद का सामान तो बहुत ही कम तैयार किया जाता है। सन् १८७० तक लोहे के जितने कारख़ाने भारत में खोले गए, सबमें असफलता हुई। आजकल बंगाल तथा बिहार और उड़ीसे में लोहे के केवल तीन बड़े-बड़े कारख़ाने हैं। यह उद्योग अभी बाल्यावस्था में है, अतः भारत-सरकार का यह कर्तव्य है कि वह उसे हर प्रकार से सहायता पहुँचावे। टेरिफ़-बोर्ड की सिफ़ारिशों के अनुसार लोहे के सामान के आयात पर रक्षित कर लगा दिया गया है, और इस वर्ष (१ अक्टोबर, १९२४ से ३० सितंबर, १९२५ तक) ५० लाख रुपयों की सहायता भी दी जा चुकी है। टेरिफ़-बोर्ड ने अब फिर ९० लाख रुपयों की सहायता देने की सिफ़ारिश की है। भारत-सरकार केवल ६० लाख रुपए ही देने को तैयार है। किंतु लोहे के उद्योग की हीन दशा देखते हुए उसके लिये ९० लाख रुपयों की सहायता अत्यंत आवश्यक है। आशा है, लेजिस्लेटिव एसेंबली के सदस्य, टेरिफ़-बोर्ड की सिफ़ारिश के अनुसार, लोहे के उद्योग को पूरी सहायता दिलाने का प्रयत्न करेंगे।

× × ×

१०. शिक्षा-प्रणाली

भारत की आधुनिक और प्राचीन शिक्षा-प्रणालियों में बहुत बड़ा भेद है। नवीन प्रणाली से भारत का हित

हुआ है अथवा अहित, यह बात विवादास्पद है। उसके पक्षपाती उसमें लाभ के अतिरिक्त कुछ नहीं पाते। उनका कहना है कि आधुनिक भारत में विचार-स्वातंत्र्य और राष्ट्रीयता के जो भाव दिखलाई पड़ रहे हैं, उनका सारा श्रेय नवीन प्रणाली ही को है। उधर इस प्रणाली के समालोचकों का विचार है कि इसके द्वारा कुछ उपकार भले ही हुआ हो, पर सबसे बड़ा अपकार यह हुआ है कि शिक्षा में भारतीय आदर्श नष्ट हो गया है, और इस कारण भारत इस प्रणाली-द्वारा सच्चा लाभ कभी नहीं उठा सकता। उन लोगों का यह भी कहना है कि प्राचीन प्रणाली में और चाहे जितने दोष रहे हों, पर उसमें सबसे बड़ा गुण यह था कि उसके सामने सदैव भारतीय आदर्श रहता था। इस कारण उस शिक्षा-प्रणाली की आत्मा भारतीय भावों से ओतप्रोत थी। जो हो, यह बात निर्विवाद है कि दोनों ही प्रणालियों में कुछ गुण हैं, तो कुछ दोष भी। बिलकुल निर्दोष न तो प्राचीन प्रणाली है, और न नवीन ही।

अच्छा तो अब देखना यह है कि इन दोनों प्रकार की शिक्षा-प्रणालियों में किन-किन मुख्य बातों में भेद-भाव है। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में धार्मिक और नैतिक शिक्षा का प्राधान्य था। नवीन में इसका सर्वथा अभाव है। यह बात असंभव नहीं कि आजकल का उच्च शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी अपने धर्म का कुछ भी हाल न जानता हो। पुरानी शिक्षा-प्रणाली का संचालन सरकार के हाथ में न था। वह सर्वथा स्वतंत्र थी—मनमानी शिक्षा दे सकती थी। सरकार उसमें किसी प्रकार की रोक-टोक न करती थी। नवीन शिक्षा-प्रणाली सोलहो आने सरकार के हाथ में है। कौन चीज़ पढ़ानी होगी, कौन नहीं, किस प्रकार पढ़ाना होगा, कब पढ़ाना होगा, पढ़नेवालों को कितना धन खर्च करना पड़ेगा इत्यादि सभी बातों का निर्णय सरकार के हाथ में है। वह जो चाहे, पढ़ावे; जो न चाहे, न पढ़ावे। यदि उसकी इच्छा न हो, तो हिंदू विद्यार्थी कालिदास और तुलसीदास के ग्रंथ नहीं पढ़ सकते। नवीन शिक्षा-प्रणाली में विदेशी भाषा अँगरेज़ी का प्राधान्य है। अनेक विषय केवल अँगरेज़ी ही में पढ़ाए जाते हैं। पुरानी शिक्षा भारतीय भाषाओं में होती थी। नवीन शिक्षा-प्रणाली में भारतीय आदर्श शिक्षा के सौंदर्य का बिलकुल अभाव है। शिक्षा एक क्रय-विक्रय की वस्तु है। अध्यापक और विद्यार्थी में दूकानदार और खरीदार का व्यापारिक संबंध स्थापित हो गया है। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में गुरु, आचार्य और कुलपति के साथ शिष्य का जिस सम्मान, पवित्रता और स्नेह का भाव था, उसका अब एक प्रकार से अभाव ही है। प्राचीन प्रणाली में विचार स्वातन्त्र्य के भाव संकुचित थे, और शिक्षा के विषय कम होने के कारण सांसारिक ज्ञान की परिधि भी विस्तृत न थी। यह मानना ही पड़ेगा कि राष्ट्रीयता के भावों का प्राचीन प्रणाली में समावेश न था; पर इस कमी को मनुष्यता के भावों का ज्ञान पूर्ण ही न करता था, वरन् बढ़ा देता था।

ऊपर दोनों प्रणालियों में जो भेद की बातें बतलाई गई हैं, वे कल्पित नहीं। थोड़ा-सा विचार करके कोई भी उनकी यथार्थता का अनुभव कर सकता है। इस समय भारतवर्ष में शिक्षा-विस्तार का आंदोलन ज़ोरों पर है। क्या ही अच्छा हो कि भविष्य की पीढ़ियों की शिक्षा के लिये कोई ऐसी प्रणाली निश्चित की जाय, जिसमें प्राचीन और नवीन, दोनों ही प्रणालियों के गुण तो चुन लिए जायँ, और दोष निकाल डाले जायँ। यदि ऐसी निर्दोष प्रणाली स्थिर हो सके, तो भारत का बड़ा कल्याण हो।

× × ×

११. बधिरता-प्रेमी वैज्ञानिक एडिसन

बधिरता शारीरिक दोष है। श्रवणेंद्रिय के बेकाम हो जाने पर मनुष्य को इसका सामना करना पड़ता है। इस रोग के दूर करने की अनेक औषधियाँ हैं, और उनके द्वारा लोग, यथाशक्ति धन व्यय करके, इसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। कारण, बहरा आदमी सभा-समाज के काम का नहीं रह जाता। उससे बात करने में बड़ी कठिनता होती है। कोई भी मनुष्य बधिर होना पसंद नहीं करता। सभी इस रोग से घबराते और बहरे हो जाने पर इसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं। अभी तक किसी भी ऐसे प्राणी का हाल नहीं मालूम था, जिसको बधिरता से प्रेम हो, जो इसे अपने काम में सहायक समझता हो। पर उस दिन अमेरिका से प्रकाशित होनेवाली 'लिटरेरी डाइजेस्ट' को पढ़ने से मालूम हुआ कि उक्त देश में एक ऐसे महापुरुष

हैं, जो इस रोग को अपने अन्वेषण-कार्य के लिये उपयोगी समझते हैं, और यद्यपि शस्त्र-क्रिया-द्वारा उनका यह रोग सहज ही में अच्छा किया जा सकता है, पर वह अच्छा ही नहीं होना चाहते। उनको बधिरता में ही सुख है। इस अवगुण को वह अपने अन्वेषण-कार्य के लिये गुणकारी पाते हैं। आप ४० वर्ष से बधिर हैं, और जीवन के अंत तक बधिर ही रहना चाहते हैं। आप कोई साधारण पुरुष नहीं, फ़ोनोग्राफ़ के आविष्कारक मिस्टर टॉमस ए० एडिसन हैं। आप विश्वविख्यात विज्ञानवेत्ता हैं। विज्ञान-संसार में आपकी धाक है। आप ही संसार के वह महापुरुष हैं, जिन्हें बधिरता से प्रेम है। आप विचारशील पुरुष हैं। आपका विश्वास है कि भिन्न-भिन्न शब्द सुनते रहने से विचार-कार्य में विघ्न पड़ता है। इसलिये जिस बात से इन शब्दों से छुटकारा मिले, वह बुरी नहीं। बधिरता ऐसी ही चीज़ है, और इसीलिये आपने उसे पसंद कर रक्खा है। कितने आश्चर्य की बात है कि जिस महापुरुष ने ग्रामोफ़ोन का आविष्कार करके नाना भाँति के शब्दों की प्रतिध्वनि से संसार को व्याप्त कर दिया है, वही पक्षियों का मधुर कलरव, संगीत की सुरीली तानें और मित्रों की मीठी बातचीत सुनने से वंचित है, और इसी दशा में रहना उसे अच्छा भी जान पड़ता है!

एडिसन साहब इधर ४० वर्ष से बहरे हैं। जब वह प्रारंभ में बहरे हुए, तो लोगों को विश्वास हो गया कि अब वह इस रोग से अच्छे नहीं हो सकते। यद्यपि कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, तो भी धीरे-धीरे वह कष्ट सेज-सा गया, और एडिसन साहब का काम मज़े में चलने लगा। बहरे होने के २५ वर्ष बाद श्रीमती एडिसन ने अपने पति की डॉक्टरों से परीक्षा कराई, तो जान पड़ा कि यह रोग तो एक साधारण शस्त्र-क्रिया ही से अच्छा हो जायगा। आख़िर बहुत कहने-सुनने पर एडिसन साहब ऑपरेशन के लिये राज़ी हुए, और इस काम के लिये दिन भी नियत हो गया। पर जिस दिन ऑपरेशन होने को था, उस दिन साहब का विचार बदल गया। उन्होंने डॉक्टर को फ़ोन करवा दिया कि आप यहाँ न आइए। मैं ऑपरेशन न करवाऊँगा। इस अस्वीकृति का जो कारण आपने बतलाया, वह इस प्रकार है—

"झगड़ों और शब्दों से अपरिचित रहकर ही मुझे सोचने की आदत पड़ गई है। मरने से पूर्व मुझे अभी बहुत कुछ सोचना और मनन करना है। यदि मेरी श्रवण-शक्ति लौट आवेगी, तो मुझे दूसरे प्रकार से सोचने की क्रिया फिर से सीखनी पड़ेगी। इस काम के लिये मैं अपना समय नष्ट नहीं करना चाहता!"

× × ×

१२. फ्रांस और संतान-वृद्धि

विगत योरपीय महासमर में जितना प्रबल जन-संहार हुआ है, उसका स्मरण करके रोमांच हो आता है! इस विकराल संहार की बदौलत योरप में स्त्री-पुरुषों की संख्या में बहुत बड़ा फ़र्क़ पड़ गया है। उक्त महाद्वीप में इस समय पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक है। अतएव योरप के सामने यह विकट समस्या उपस्थित हो गई है कि अधिक स्त्री-समाज के लिये पुरुष-पतियों का प्रबंध कैसे किया जाय? यदि बहुतेरी स्त्रियाँ बिना पतियों के ही रहने दी जायँ, तो योरपीय जाति की वृद्धि बंद हो जायगी, और निकट-भविष्य में उस जाति के संपूर्ण विनाश की संभावना उपस्थित होगी। दूरदर्शी योरपीय विद्वान् इस भीषण विभीषिका से विचलित हैं। समग्र योरप में इस समय १,५०,००,००० ऐसी स्त्रियाँ हैं, जिनको पति नहीं मिल रहे हैं। इस विपत्ति में सबसे अधिक फ्रांस फँसा हुआ है, और सबसे कम जर्मनी। जर्मनी की जन-संख्या आजकल असाधारण रूप से बढ़ रही है। इसलिये वह अविवाहित स्त्रियों के आधिक्य से उतना भयभीत नहीं। पर फ्रांस की जन-संख्या में वृद्धि की कौन कहे, प्रति वर्ष कुछ कमी हो जाती है। इसलिये वह अत्यंत भय-विह्वल है। उस देश में इस समय इस प्रश्न पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया जा रहा है कि संतान-वृद्धि के लिये किन-किन उपायों का सहारा लिया जाय। फ्रांस को इस समय संतान-वृद्धि की कितनी बड़ी आवश्यकता है, इसका अनुमान इसी बात से किया जा सकता है कि उस देश के हितचिंतक विद्वानों ने यह सलाह दी है कि कुछ काल के लिये फ्रांस में बहु विवाह की प्रथा जारी कर दी जाय, अर्थात् एक पति अनेक स्त्रियाँ रख सके। इसके अतिरिक्त यदि फ्रांसीसी रमणियाँ चाहें, तो विदेशियों से भी विवाह कर सकें। फ्रांस-सरकार पर दबाव डाला जा रहा है कि वह इस आशय का कोई क़ानून

भी पास कर दे। इस समय फ्रांस में २०,००,००० अवि-वाहित स्त्रियाँ हैं, जिनको पतियों का मिलना दुर्लभ है।

पर हाल ही में, 'पेरिस मेडिकल-पत्र' में, डॉक्टर पॉल कारनाट ने जन-संख्या-ह्रास रोकने के लिये एक विचित्र उपाय बतलाया है। उनका कहना है कि यदि मेरे उपाय का अवलंब न लिया जायगा, तो २० वर्ष में फ्रांस की जन-संख्या नहीं के बराबर रह जायगी। जाति की विशुद्धता नष्ट होने के विचार से फ्रांसीसी महिलाओं का विदेशियों के साथ विवाह करना उन्हें पसंद नहीं। बहु-विवाह के संबंध में उनकी राय है कि आजकल एक स्त्री की आवश्यकता तो पति पूरी ही नहीं कर पाता, अनेक पत्नियों का भरण-पोषण क्या करेगा! ऐसी दशा में बहु विवाह को आप अव्यवहार्य समझते हैं। अच्छा, तो अब आपका उपाय भी सुनिए। आप कहते हैं कि फ्रांस में 'माता-प्रमुख परिवार' स्थापित किए जायें। इन कुटुंबों की स्वामिनी माताएँ रहें। कुटुंब में केवल माता और उसके बच्चे हों, पिता नहीं। इन कुटुंबों के भरण-पोषण का भार फ्रांस-सरकार पर रहे। इन्हें समाज प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे, और प्रत्येक बच्चा पैदा करने के उपलक्ष्य में 'माता-प्रमुख परिवार' की स्वामिनी माता को सरकार बढ़िया पुरस्कार दे। डॉक्टर साहब का कहना है कि जाति-संरक्षण के लिये ऐसे परिवारों को प्रश्रय देना परमावश्यक है। इन परिवारों की प्रतिष्ठा और प्रचार के लिये आप विवाह-प्रथा को बंद करने की सलाह देते हैं। डॉक्टर साहब की यह दृढ़ धारणा है कि यदि फ्रांस का विनाश रोकना है, तो उक्त देश की प्रत्येक महिला को माता बनकर संतान-वृद्धि के पवित्र काम में सहायता पहुँचानी पड़ेगी।

× × ×

१३. दानवी लीला

दक्षिण-भारत में मैंगलोर-नगर बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ मिस्टर सी० जे० वार्की-नामक एक सज्जन रहते हैं। आपको विश्वविद्यालय की एम्० ए०-डिग्री प्राप्त है। आप स्थानीय अलोइसियस कॉलेज में इतिहास के लेक्चरार और 'कैथोलिक एजुकेशनल रिविउ' के संपादक हैं। 'दि वेस्ट कोस्ट स्पेक्टेटर' में, आपके संबंध में, एक बड़ी ही विचित्र घटना छपी है। इस विषय में जो लोग अधिक छान-बीन करना चाहें, उन्हें वार्की महोदय से हिल्टन-लॉज, पोस्ट-ऑफ़िस कोडेलबाई, मैंगलोर के पते से पत्र-व्यवहार करना चाहिए। यहाँ पर हम उस घटना को संक्षिप्त रूप में लिखते हैं—

विगत मास, ३री अगस्त की रात को, वार्की महोदय अपने कमरे में सो रहे थे। एकाएक आपकी निद्रा भंग हो गई। ऐसा जान पड़ा कि कोई असाधारण बात हुई है। पर कमरे में चारो ओर निगाह डालने पर भी आपको कोई नई बात न मालूम हो सकी। तब आपने आँखें बंद कर लीं। इतने ही में आपको अपने दाहने पैर में किसी चीज़ का स्पर्श मालूम हुआ। आँखें खोलीं, तो देखते क्या हैं कि एक महाकुरूप और भयंकर दानव सामने खड़ा है! यह देखकर आपके होश-हवास ठिकाने न रहे। आप इतने डर गए कि न तो चिल्ला सके, और न साथ ही बिछौने पर लेटी अपनी स्त्री को जगा सके। लैंप की मंद रोशनी में उस दानव की कुरूपता और भी भीषण जान पड़ती थी। मिस्टर वार्की थर-थर काँपने लगे। आखिर निस्तब्धता भंग करके दानव ने बड़े ही कठोर स्वर में वार्की से कहा—"देखो जी, मैं अपने बड़ों की आज्ञा से जान-बूझकर तुम्हारे सामने आया हूँ कि तुम्हें इस अपराध के लिये घोर दंड दूँ; तुमने अपने एक अतिथि के साथ दुर्व्यवहार किया था। कल ठीक प्रातः ८ बजे दिन को तुम्हारी स्त्री के एक बच्चा पैदा होगा। याद रक्खो, वह मेरी संतान होगी, तुम्हारी नहीं। इस बात को तुम शीघ्र ही समझ जाओगे।" इतना कहकर दानव ने हाथ उठाया, और वार्की की जाँघों पर बड़े ज़ोर से बेंत का प्रहार किया। अब तक वार्की के मुँह से एक शब्द तक न निकला था; पर जब बेंत लगा, तो वह इतने ज़ोर से चिल्लाए कि पड़ोस के और कमरों में सोनेवाले लोग भी जग पड़े, और उनकी ओर दौड़े। वहाँ जाकर लोगों ने वार्की को बेहोश पाया। थोड़ी देर बाद जब चेतना हुई, तो उन्होंने दानव का सारा वृत्तांत कह सुनाया। किसी ने उनकी बात पर विश्वास न किया, और उस घटना को भय-जनित मानसिक विकार समझा। प्रातः-काल तक सब लोग उनके पास बैठे रहे, और उनके आश्चर्य की सीमा न रही, जब ठीक आठ बजे वार्की की स्त्री के एक बच्चा पैदा हुआ, जिसे न तो मनुष्य ही कह सकते हैं, और न पशु ही। इस बच्चे के चार पैर हैं, और लोमड़ी की-सी झालरदार पूँछ; परंतु सिर की आकृति मनुष्य-

जैसी है। सारे शरीर पर लंबे, काले और घुँघरवाले बाल हैं। इसकी नाक साधारण मनुष्य की नाक से कुछ बड़ी है, और जीभ कुछ बाहर की ओर निकली हुई । अस्तु। इस विचित्र बच्चे के जन्म की बात बिजली की तरह फैल गई। इस अद्भुत घटना को देखने के लिये अड़ोस-पड़ोस के सभी लोग दौड़ आए। जो चाहे, जाकर बच्चे को स्वयं अपनी आँखों से देख सकता है। वह अब तक जीवित है।

ऊपर जिस घटना का हाल दिया गया है, वह यदि सत्य है, तो अत्यंत आश्चर्यजनक है। ऐसी बातें तो कथा-कहानियों ही में पढ़ने को मिलती थीं। ईश्वर की सृष्टि बड़ी अद्भुत है। इसमें अभी ऐसी असंख्य समस्याएँ हैं, जिनके विषय में २०वीं शताब्दी का सभ्यताभिमानी मनुष्य भी अभी तक कुछ नहीं जानता!

× × ×

१४. स्वर्ग-प्राप्त सर रामकृष्ण भांडारकर

सर रामकृष्ण भांडारकर की मृत्यु से भारत का एक बहुत बड़ा संस्कृतज्ञ और पुरातत्त्ववेत्ता उठ गया। पुरातत्त्व-विषय में ख्याति पानेवाले भारतीयों की संख्या बहुत थोड़ी है, और उसमें भी प्राचीन भारत और संस्कृत-साहित्य के विशेषज्ञों की तो और भी कम। सर रामकृष्ण ऐसे ही इने-गिने विशेषज्ञों में थे। उनका नाम भारत के बाहर, पाश्चात्य देशों में भी, बड़े आदर के साथ लिया जाता था। मृत्यु के समय इनकी अवस्था ८८ वर्ष की थी, और वृद्धावस्था के कारण इनका शरीर जर्जरीभूत होकर रोग-मंदिर बन रहा था। कौटुंबिक दुःखों के कारण इनको मानसिक वेदना भी थी। यह कहना अत्युक्ति नहीं कि इस समय इनका जीवन दुःखमय था। ऐसे ही अवसरों को लक्ष्य में रखकर विद्वानों ने कहा है कि मृत्यु ने सारा दुःख मेट दिया। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस भौतिक शरीर को छोड़ने से रामकृष्णजी जिस घोर कष्ट को झेल रहे थे, उससे छुटकारा पा गए। साधारण लोकाचार की बात छोड़कर हमें यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं कि सर रामकृष्ण की मृत्यु असामयिक न थी, और उनके दुःखों का अवसान देखकर हमें दुःखी होने की ज़रूरत भी नहीं। सर रामकृष्ण पुरातत्त्ववेत्ता थे, समाज-सुधारक थे, और राजनीतिक नेता भी थे। शिक्षा-नीति-संचालन में भी उनका हाथ था। इस प्रकार उन्होंने व्यापक कार्य-क्षेत्र में बहुत वर्षों तक काम किया। यदि



स्वर्गीय सर रामकृष्ण भांडारकर

उनकी जीवनी लिखी जाय, तो एक विस्तृत पुस्तक बन जाय। यहाँ हम उनके कार्य-कलाप की मुख्य-मुख्य घटनाओं को सिलसिलेवार लिखते हैं—

सर रामकृष्ण गोपाल भांडारकरजी का जन्म ६ जुलाई, सन् १८३७ को हुआ था। यह ब्राह्मण थे। इनके माता-पिता दरिद्र थे। इन्होंने रत्नागिरि में शिक्षा पाई। यहाँ पर इनके पिता मामलतदार के मुंशी थे। १८५३ में स्कूल की शिक्षा समाप्त करके यह एल्फिन्स्टन कॉलेज में भरती हुए। कॉलेज में इन्हें अँगरेज़ी-साहित्य, इतिहास, प्रकृति-विज्ञान और गणित से विशेष रुचि थी। अपनी कुशाग्र बुद्धि के प्रभाव से ये उक्त कॉलेज के फ़ेलो हो गए, और उसके बाद इनका संबंध डेकन-कॉलेज से हो गया। उक्त कॉलेज में उनको और मिस्टर हावर्ड साहब की मुलाक़ात हुई। साहब ने रामकृष्णजी से संस्कृत पढ़ने के लिये कहा। इन्होंने भी उनकी सलाह मान ली, और अपने विषय में पारंगत हो गए। भांडारकरजी ने १८६२ में बी० ए० और १८६३ में एम० ए० की डिग्रियाँ प्राप्त कीं। शिक्षा-समाप्ति के बाद इनको

सिंध-हैदराबाद में, एक स्कूल में, अध्यापकी का काम मिल गया, किंतु थोड़े दिनों बाद अपने ही कॉलेज में वह इसी काम पर आ गए। इनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर बंबई-विश्वविद्यालय ने इन्हें परीक्षक नियुक्त किया। इसके बाद यह एलिफ़स्टन-कॉलेज और डेकन-कॉलेज में संस्कृत-प्रोफ़ेसरी का काम अस्थायी रूप से करते रहे। पर १८८१ में, डेकन-कॉलेज में, संस्कृत के स्थायी प्रोफ़ेसर हो गए। सन् १८८३ में इन्होंने सरकारी नौकरी से पेंशन ले ली। तब यह बंबई-विश्वविद्यालय के वाइस-चैंसलर नियुक्त किए गए।

सर रामकृष्णजी के साहित्यिक जीवन का प्रारंभ सन् १८७२ से होता है। इसी वर्ष से 'इंडियन एंटिक्वेरी'-नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। इस पत्रिका में पुरातत्त्व-संबंधी बड़े ही महत्त्व-पूर्ण लेख प्रकाशित होते थे। सर भांडारकर ने भी इसमें लिखना शुरू किया। फिर क्या था, आपकी ख्याति दूर-दूर तक हो गई। बर्लिन के जगद्विख्यात पुरातत्त्ववेत्ता प्रोफ़ेसर वेबर ने महर्षि पातंजलि के समय का निरूपण करने के लिये एक लेख लिखा था। सर रामकृष्ण ने एक लेखमाला निकालकर प्रोफ़ेसर महोदय की दलीलों का खंडन कर डाला। इससे आप और भी प्रसिद्ध हो गए। सन् १८७४ में आपने 'भारतवर्ष में वेद'-नामक एक महत्त्व-पूर्ण और लंबा लेख लिखा। उसी वर्ष लंदन में पुरातत्त्ववेत्ताओं की जो अंतरराष्ट्रीय परिषद् बैठी, उसमें सर भांडारकर भी निमंत्रित किए गए। यद्यपि आप परिषद् में उपस्थित न हो सके, पर उस अवसर पर पढ़े जाने के लिये 'नासिक के शिला-लेख'-नामक एक लेख भेजा। इस लेख की बड़ी प्रशंसा हुई—वह उत्कृष्ट लेखों में परिगणित हुआ। सन् १८७५ में सर भांडारकर 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' के ऑनरेरी सदस्य निर्वाचित हुए। सन् १८७६ में प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता विलसन के स्मारक में 'तुलना-मूलक भाषा-शास्त्र' के अध्यापन के लिये एक नए प्रोफ़ेसर की नियुक्ति की आज्ञा हुई, और सबसे प्रथम यह पद आप ही को दिया गया। आपने भी इस पद पर प्रतिष्ठित होकर जो व्याख्यान दिए, वे बड़े ही गंभीर और विशुद्ध स्थायी साहित्य की सामग्री हैं। इसके बाद सरकार ने आपको संस्कृत की हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज का निरीक्षक नियुक्त किया। इस काम को भी आपने बड़ी अच्छी तरह किया। आपके द्वारा जैन-साहित्य का बहुत उपकार हुआ। इसी समय आपने 'वैष्णव-धर्म के मूल सिद्धांत' पर भी एक महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ लिख डाला। सन् १८८५ में जर्मनी के गाटिंजन-विश्वविद्यालय ने आपको पी० एच्० डी० की डिग्री से विभूषित किया। १८८६ में डॉक्टर महोदय वाइना में पुरातत्त्ववेत्ताओं की परिषद् में उपस्थित हुए। फिर तो योरप और अमेरिका की बीसों संस्थाओं ने आपका सम्मान किया। पाश्चात्य देशों में आप भारत के सबसे बड़े संस्कृतज्ञ माने जाते थे। आपका दक्षिण का 'प्राचीन इतिहास' एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। आपकी 'वैष्णव, शैव तथा अन्य धर्म' नाम की पुस्तक की बड़ी प्रतिष्ठा है। आपके स्मारक को बनाए रखने के लिये एक 'प्राच्य-शिक्षा-संस्था' की भी स्थापना, सन् १९१७ में, हो गई है। इसके द्वारा खोज का काम होता है।

सर भांडारकर दादाभाई नौरोजी के शिष्य थे। बंबई-विश्वविद्यालय से इन्होंने और महामति रानाडे ने ही पहले-पहल एम्० ए० की डिग्रियाँ पाई थीं। सर रामकृष्ण के शिष्यों में सर नारायण चंदावरकर, मुधोलकर और गोखले मुख्य थे। समाज-सुधार-आंदोलन में भी भांडारकरजी का हाथ था। आप प्रार्थना-समाज के स्तंभ थे, परंतु समाज-सुधार के विरोधियों को फटकारने में आप जैसी खरी-खरी बातें कहते थे, उससे सुधार के मामले में विरोध अधिक फैलता था। इन्होंने कौंसिलों में भी कई बार काम किया है, पर वहाँ वह सदा सरकार का ही पक्ष लेते थे। 'युनिवर्सिटी-बिल' के मामले में यह सरकार के समर्थक थे और इनके शिष्य श्रीगोखले उसके विरोधी। राजनीतिक मामलों में यह जनता के पक्ष का समर्थन नहीं करते थे, और इसी कारण सर्वसाधारण में लोक-प्रिय न थे।

इनकी स्त्री का देहांत हुए प्रायः २५ वर्ष बीते। इनके पुत्र भी इनके सामने ही मर गए थे। भांडारकरजी एक बड़ा कुटुंब छोड़कर स्वर्ग सिधारे हैं।



कमल-नयनी

[श्रीदुलारेलाल भार्गव की चित्रशाला से]

मैन-ऐन ए नैन सोहैं सरसिज सौं सुभग ;
ए विकसित दिन-रैन वे फूलैं बस दिवस ही ।

दुलारेलाल भार्गव

N. K. Press, Lucknow



[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

मिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ४ खंड १ } आश्विन-शुक्ल ७, ३०२ तुलसी-संवत् (१९८२ वि०)— २४ सितंबर, १९२५ ई० { संख्या ३ पूर्ण संख्या ३९

ज्वालामुखी

(१)

ज्वालामुखी माइ, दिव्य दरस तिहारौ पाइ,
भव्य भावना मैं हमि मति अनुरागी है ;
कहै 'रतनाकर' दिवाकर दिया के यह,
लसन कौं लाखित अंसस लव लागी है ।
कैधौं मनि कामद मयूष की छटा है, कैधौं
सुर-मुनि-तेज-लटा ललित अदागी है ;
कैधौं बेद-कवि की प्रतच्छ प्रतिभा है, कैधौं
प्रगट प्रभा है आदि-जोति जग जागी है ।

(२)

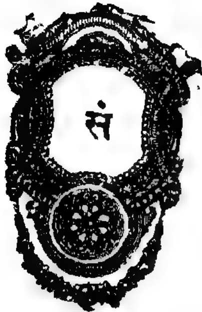
सकल मनोरथ की सिद्धि बल-बुद्धि वृद्धि,
संपति समृद्धि दै दुलारतै रहति है ;
कहै 'रतनाकर' निहारि करुना की कोर,
करवर-निकर निवारतै रहति है ।
दारिद के व्यूह औ समूह दुरभागनि के,
पातक के जूह जोहि जारतै रहति है ;
ज्वालामुखी मात, निज भक्तनि सुखी कै सदा,
भुक्ति-मुक्ति-बृंदनि बगारतै रहति है ।

(३)

सकल सँधारन की सिद्धि सुभ तोमैं ताकि,
विधि बुधि जोग औ अजोग की बिसारी है ;
कहै 'रतनाकर' तिहारौ प्रतिपाल हेरि,
परिहरि चिंता, सुख-नींद हरि धारी है ।
सब-दुख घालन की घात मैं बिलोकि तोहिँ,
अचल समाधि साधि राखी त्रिपुरारी है ;
भारत की आरत पुकार सुनिबे कौं एक,
ज्वालामुखी मात, जोति जागति तिहारी है ।

"रत्नाकर"

लौकिक संस्कृत-साहित्य की मौलिक भाषा



संस्कृत-साहित्य में इतिहास का अभाव है। जब हम देखते हैं कि संस्कृत-भाषा में दर्शन, काव्य, नाटक, व्याकरण, वैद्यक आदि प्रत्येक विषय का अद्वितीय और मौलिक भांडार है, तब यह कमी आँखों को और भी अधिक खटकने लगती है। इतने अधिक विस्तृत संस्कृत साहित्य में केवल एक पुस्तक—कल्हण-कृत राजतरंगिणी—वास्तव में ऐतिहासिक ग्रंथ है, यद्यपि आधुनिक इतिहास की परिभाषा के अनुसार अनेक विद्वानों की दृष्टि में उसमें भी अनेक त्रुटियाँ हैं। इस प्रकार संस्कृत-साहित्य के इतिहास का लिखना एक कठिन समस्या हो गई है। उसकी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध घटनाओं, कवियों तथा पुस्तकों का समय आदि केवल कल्पना से निर्धारित किया जा रहा है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि आज इतनी खोज और आलोचना के होने पर भी संस्कृत के आदि-कवि वाल्मीकि तथा कवि-शिरोमणि कालिदास का समय ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो पाया। यही नहीं कि विद्वान् लोग अभी तक पुरानी समस्याओं को ही हल न कर पाए हों, बल्कि उनके साथ-साथ अब अनेक नई कठिन समस्याएँ भी खड़ी हो गई हैं। मालूम नहीं, इस अन्वेषण का संस्कृत साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा; पर इतना अवश्य है कि इससे संस्कृत भाषा में ऐतिहासिकता के अभाव पर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है। आज हम इसी प्रकार की समस्याओं में से एक आश्चर्यजनक एवं नवीन समस्या पर विचार करना चाहते हैं। आश्चर्यमय और नवीन इसलिये कि बहुत कम पाठकों ने उसके संबंध में सुना होगा; और उस पर विश्वास लानेवाले तो विरले ही होंगे।

प्रोफ़ेसर सिलवेन लेवी संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। संस्कृत-नाटकों का आपने प्रशंसनीय स्वाध्याय किया है। आप तथा कुछ अन्य योरपियन विद्वान्, संस्कृत-साहित्य के ऐतिहासिक अनुशीलन के पश्चात्, इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि सबसे प्रथम लौकिक संस्कृत-साहित्य, संस्कृत-भाषा में नहीं, प्राथमिक प्राकृत-भाषा में लिखा गया था। उनका कहना है कि वैदिक संस्कृत केवल धार्मिक साहित्य के लिये प्रयुक्त होती थी, और संस्कृत शिक्षित ब्राह्मणों-द्वारा यज्ञादि धार्मिक कृत्यों में। वैदिक वा संस्कृत आम बोलचाल की भाषा न थी। बोलचाल की भाषा इनसे भिन्न थी, जिसे वह प्रारंभिक प्राकृत (Primary Prakrit) के नाम से पुकारते हैं। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि प्राथमिक प्राकृत से तात्पर्य प्राकृत और पाली की प्रथम श्रेणी से है; क्योंकि काव्य, नाटक, पुराण आदि लौकिक विषय हैं। उनका एक-मात्र उद्देश्य साधारण जनता को प्रसन्न करना तथा शिक्षा देना है। इसलिये उनका निर्माण साधारण बोलचाल की भाषा में होना स्वाभाविक था। स्पष्ट शब्दों में, इस सिद्धांत के अनुसार, रामायण या आदि-काव्य (Epic poetry), नाटक तथा पुराण आदि लौकिक ग्रंथ प्रथम-प्रथम प्राकृत या बोलचाल की भाषा में बनाए गए थे, और पीछे से विशेष दशाओं में संस्कृत में उनका अनुवाद हुआ। संस्कृत के विद्वानों के लिये यह एक नवीन कल्पना है, विशेषकर उनके लिये, जो योरपियन स्वाध्याय और अन्वेषण के ढंग से अनभिज्ञ हैं। हमारी समझ में यह एक कल्पना-मात्र है, और इसको सिद्ध करने के लिये लेखक प्रो० लेवी ने (Ind. Ant. XXXIII, 163 ff) कोई ऐसी युक्ति नहीं दी, जिसका समाधान न किया जा सके; प्रत्युत इसके विरुद्ध अनेक युक्तियाँ भी दी जा सकती हैं। अस्तु।

पहले यह आवश्यक है कि जिन युक्तियों के आधार पर यह समस्या-भवन खड़ा किया गया है, वे बतला दी जायँ। कहा जाता है कि आदि-काव्य पहले प्राकृत में बनाया गया था; परंतु ईसवी सन् के प्रारंभ के समय कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनसे उनका संस्कृत में अनुवाद होना आवश्यक समझा गया। बौद्ध-धर्म के जन्म और विस्तार के बाद ब्राह्मण-धर्म उसका कट्टर विरोधी बन गया था। वह उसे नास्तिक-मत मानकर उसके विनाश और अपनी उन्नति का उपाय सोचने लगा। ब्राह्मण-धर्म के अनुयायियों ने

अपनी धार्मिक एवं शिक्षाप्रद पुस्तकों को एक स्थायी रूप देना चाहा। इसके लिये उन्होंने संस्कृत का आश्रय लिया। यह ठीक भी था ; क्योंकि संस्कृत-भाषा इस योग्य है कि उसका साहित्य बहुत काल तक बिना परिवर्तन के रह सके। उसकी धार्मिक पुस्तकें आज सहस्रों वर्षों के बाद भी उसी रूप में दिखाई देती हैं, यद्यपि उसके पश्चात् वही अनेक भाषाएँ सदा के लिये लुप्त हो गई हैं। इसके अतिरिक्त, संस्कृत के आश्रय का दूसरा कारण यह भी था कि बौद्धों ने प्राकृत-भाषाओं को अपना अस्त्र बना लिया था। इसके विरोध में ब्राह्मणों ने यह चाहा कि संस्कृत को अपनाकर कार्यों का प्राकृत से संस्कृत में अनुवाद किया जाय। अस्तु, संस्कृत के इस प्रकार लौकिक कार्य में प्रयुक्त होने पर उसी में लौकिक ग्रंथ भी रचे जाने लगे।

इसी तरह के विचार 'नाटक' के संबंध में भी प्रकट किए गए हैं। प्रोफ़ेसर साहब को भरत मुनि-कृत 'नाट्य-शास्त्र' में अनेक प्राकृत-शब्द दिखाई देते हैं, अर्थात् उन शब्दों के देखने से उन्हें यह प्रतीत हुआ है कि वे प्राकृत या बोलचाल की भाषा से लिए गए हैं। उदाहरणार्थ—भाषा-विज्ञान के आधार पर शुद्ध संस्कृत-भाषा के आदि-रूप में मूर्द्धन्य वर्णों का अभाव बतलाया जाता है। इन वर्णों का प्राकृत से संबंध है, और ये वहीं से संस्कृत में लिए गए हैं। इस प्रकार 'नट' या 'नाटक' शब्द स्वयं प्राकृत है, और प्राकृत से ही संस्कृत में आया है। प्रो० लेवी कहते हैं कि संस्कृत-साहित्य का लौकिक प्रयोग पहले पश्चिम के शक-क्षत्रपों ने किया। इसके प्रमाण में वह रुद्रदामन् (१५० ई०) का गिरनारवाला शिला-लेख पेश करते हैं। रुद्रदामन् ने अपने पितामह को 'स्वामिन्' और 'सुगृहीत-नामा' शब्दों से संबोधित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शब्द 'नाट्य-शास्त्र' ने यहीं से लिए। तथाच, उज्जयिनी, जो पश्चिम के शक-क्षत्रपों की राजधानी थी, शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतों से घिरी हुई थी, इसीलिये ये तीन प्राकृत-भाषाएँ नाटकों में प्रयुक्त हुईं; अर्थात् प्राकृत में नाटक शुरू से ही लिखे जाते थे; परंतु जब शक-क्षत्रपों ने संस्कृत के लौकिक प्रयोग का प्रारंभ किया, तो ये संस्कृत में भी लिखे जाने लगे। 'नाट्य-शास्त्र' ने अनेक शब्द रुद्रदामन् की भाषा से लिए। इसके अतिरिक्त प्राचीन नाटकों में नवीन नाटकों की अपेक्षा प्राकृत-भाषा का अधिक पाया जाना भी उसी पक्ष का प्रतिपादन करता है।

अपने सिद्धांत को पुष्ट करने के लिये आगे चलकर यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया गया है कि संस्कृत उस समय की साधारण बोलचाल की भाषा न थी। इसके लिये कुछ ऐतिहासिक युक्तियाँ भी दी गई हैं। यदि कोई चाहता है कि उसकी पुकार राजमहल से लेकर एक निर्धन की झोपड़ी तक पहुँचे, और सर्वसाधारण बिना कठिनाई के उसे सुन और समझ सकें, तो निस्संदेह उसको बोलचाल की भाषा का आश्रय लेना होगा। कतिपय ऐतिहासिक साक्षियाँ ऐसी हैं कि तीर्थंकर महावीर और महात्मा बुद्ध ने जैन तथा बौद्ध-धर्म का उपदेश प्राकृत एवं पाली-भाषा में ही किया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ये ही उस समय की प्रचलित भाषाएँ थीं। आगे चलकर इतिहास इसी बात को पुष्ट करता दिखाई देता है। बौद्ध-धर्मानुयायी प्रसिद्ध सम्राट् अशोक के संपूर्ण स्तूप-लेख एवं शिला-लेख प्राकृत-भाषा में हैं। यद्यपि उनकी भाषा में परस्पर भेद है, तथापि इससे कोई इनकार नहीं कर सकता कि वे प्राकृत-भाषाएँ हैं। यही नहीं कि प्राकृत का यह प्रयोग केवल सम्राट् अशोक तक ही परिमित रहा हो ; अपितु आश्चर्य है कि ईसवी सन् २०० तक के शिला-लेख प्राकृत-भाषा में ही हैं, और उसके बाद संस्कृत उसका स्थान ग्रहण करती है। निस्संदेह यह युक्ति ऐतिहासिक होने के कारण अधिक मूल्य रखती है। इससे यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि प्राकृत उस समय के साधारण जन-समाज की बोलचाल की भाषा थी, संस्कृत को यह गौरव प्राप्त न था ; क्योंकि राजाज्ञाएँ सदा प्रचलित भाषा में दी जाया करती हैं, और इसका कोई खंडन नहीं कर सकता कि उस समय के शिला-लेख संस्कृत में नहीं पाए जाते। यह सिद्धांत अधिकतर इसी युक्ति पर आश्रित है।

पर यह सिद्धांत केवल आदि-काव्य और नाटकों तक ही परिमित नहीं रहता ; लौकिक साहित्य के अन्य विभागों के संबंध में भी यही कहा जाता है। कलकत्ता-हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज मि० पार्जीटर ने पुराणों के विषय में बहुत स्वाध्याय किया है। आपकी पुराण-साहित्य-संबंधी Ancient Indian tradition नाम की पुस्तक पठनीय है। इस पुस्तक के अतिरिक्त पुराणों पर आपने कई निबंध भी लिखे हैं। आपका कहना है कि प्राथमिक पुराण प्राकृत-भाषा में बनाए गए, और फिर संस्कृत में उनका

अनुवाद किया गया था। उनके कथनानुसार आधुनिक पुराणों में प्राकृत शब्द पाए जाते हैं, और उनमें छंद तथा व्याकरण-संबंधी अनेक त्रुटियाँ भी। यहाँ उनके सिद्धांत का तर्क है। दूसरे शब्दों में इन त्रुटियों के समाधान के लिये वह अपना सिद्धांत युक्ति-रूप से उपस्थित करते हैं। संस्कृत-व्याकरण के नियम प्राकृत पर लागू नहीं हैं। उनके आधार पर जाँच करने पर प्राकृत साहित्य में अनेक त्रुटियाँ (?) दृष्टिगोचर होंगी। उसी प्रकार संस्कृत छंदःशास्त्र और प्राकृत छंदःशास्त्र में भी भेद है। प्राकृत छंद का संस्कृत में अनुवाद करने पर संस्कृत-श्लोक में अशुद्धि रह जाना स्वाभाविक है। इसलिये प्राकृत-पुराणों का संस्कृत में रूपांतर करने पर इन त्रुटियों का रह जाना संभव था।

संक्षेप में ये ही इस सिद्धांत की युक्तियाँ तथा उदाहरण हैं। अनेक योरपियन विद्वानों ने इस पर आलोचनात्मक लेख लिखे तथा पक्ष-विपक्ष में युक्तियाँ दी हैं। डॉक्टर कीथ ने भी अपनी नवीन प्रकाशित पुस्तक (Classical Sanskrit Literature) में इस समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला है। वह इसे मानने को तैयार नहीं। अब हम इसके विपक्ष में युक्तियाँ तथा खंडन देकर अंत में कोई सिद्धांत स्थिर करने का प्रयत्न करेंगे।

ये युक्तियाँ पढ़कर पाठकों को जानना होगा कि प्रस्तुत समस्या वस्तुतः संस्कृत-भाषा के प्रचलित होने या न होने पर अवलंबित है। यदि उस समय संस्कृत बोलचाल की भाषा थी, तो लौकिक संस्कृत-साहित्य का उद्भव प्राकृत में न होकर संस्कृत में ही हुआ होगा। और यह बात अगर नहीं है, तो प्राकृत में हुआ होगा। ऊपर प्रो० लेवी की भी यही युक्ति दी गई है कि "संस्कृत उस समय की प्रचलित भाषा न थी; यह गौरव प्राकृत को प्राप्त था, इसलिये लौकिक साहित्य पहलेपहल प्राकृत-भाषा में लिखा गया।" इस प्रकार यह समस्या एक दूसरा ही रूप धारण कर लेती है; और यह आवश्यक हो जाता है कि प्रथम यह सिद्ध किया जाय कि लौकिक संस्कृत-साहित्य के बाल्य-काल में (सन् ईसवी ५००-१००० वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'संस्कृत' से तात्पर्य उस संस्कृत से है, जिसको यास्क और पाणिनि ने 'भाषा' की संज्ञा दी है, तथा पतंजलि-कृत महाभाष्य जिसका व्याकरण-ग्रंथ है। यह कहनेवाले कि संस्कृत केवल धार्मिक कार्यों और विद्वानों की मंडली में ही व्यवहृत होती थी, यह बात भूल जाते हैं कि उस समय वैदिक तथा यज्ञ-संबंधी संस्कृत-भाषा के अतिरिक्त मध्यम श्रेणी के पुरुषों की भी एक संस्कृत थी। इसी को पाणिनि ने 'भाषा' कहा है, और यही बोलचाल की भाषा थी। संस्कृत को बोलचाल की भाषा मानने के लिये साधारणतः ये प्रमाण दिए जा सकते हैं—

(१) यदि संस्कृत से निकली हुई भाषाएँ बोली जाती हैं, तो संस्कृत अवश्य बोली जाती होगी।

(२) यास्क तथा पाणिनि ने वैदिक और लौकिक भाषाओं में भेद दिखाया है। यास्क अपने वैदिक ग्रंथ 'निरुक्त' में लौकिक भाषा के लिये तथा पाणिनि अपने लौकिक ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' में वैदिक भाषा के लिये अपवाद देते हैं। उन्होंने वैदिक भाषा को 'वैदिक', 'संहिता', 'निगम' आदि शब्दों से, और लौकिक को 'भाषायाम्' और 'लोके' आदि शब्दों से अभिहित किया है। 'भाषा' से उनका तात्पर्य प्रचलित वाणी से है। उनकी 'भाषा' यहाँ संस्कृत है। 'भाषा' का धात्वर्थ भी 'बोलचाल की वाणी' है। इसके अतिरिक्त यास्क और पाणिनि भिन्न-भिन्न प्रांत की संस्कृत के भिन्न भिन्न प्रयोग भी लिखते हैं।

(३) अष्टाध्यायी में अनेक उदाहरण ऐसे हैं, जो केवल बोलचाल में ही प्रयुक्त हो सकते हैं, जैसे—अभिवादन के समय प्लुति के नियम ; 'खाद खादेति खादति' 'हस्तग्राहं गृह्णाति' (अर्थात् हाथ से पकड़कर खींचता है) इत्यादि।

(४) कात्यायन मुनि ने पाणिनि-व्याकरण को पूर्ण करने के लिये एक वार्तिक-ग्रंथ बनाया था। उनका समय पाणिनि से लगभग २०० वर्ष पीछे का है, जिससे प्रतीत होता है कि पाणिनि और कात्यायन के बीच के अल्प काल में ही संस्कृत व्याकरण में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया था। कात्यायन को वार्तिक-सूत्र बनाने पड़े। ये परिवर्तन तभी संभव थे, जब संस्कृत नित्य के व्यवहार में आती थी ; क्योंकि वैसा न होने पर कोई भाषा इतनी जल्दी नहीं बदल सकती। आज इतने समय के बाद भी उस व्याकरण में किसी परिवर्तन की आवश्यकता नहीं ; क्योंकि बहुत काल से संस्कृत प्रचलित नहीं रही।

(५) महाभाष्य में व्याकरण पढ़ने के प्रयोजन बतलाते हुए पतंजलि मुनि पूर्वपक्षी की ओर से शंका उठाते हैं—"वैदिक शब्दों का प्रयोग वेद से आ सकता है, और लौकिक शब्दों का नित्य के व्यवहार से। फिर व्याकरण पढ़ने का क्या प्रयोजन ?" इसका उत्तर वह स्वयं देते हैं—"बिना व्याकरण के ठीक प्रयोग करना असंभव है, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिए × × ×।" इस प्रकार जिस व्याकरण के पठन का वह आदेश करते हैं, वह है लौकिक संस्कृत-भाषा का व्याकरण। उनका कहना है कि इस व्याकरण के बिना लौकिक प्रयोगों का शुद्ध ज्ञान नहीं हो सकता।

(६) नाट्य-शास्त्र में भरत मुनि लिखते हैं कि नाटक की संस्कृत ऐसी होनी चाहिए, जो सबकी समझ में आ जाय।

(७) इसके प्रमाण में संस्कृत का अति नियमित होना पेश किया जाता है। कहा जाता है, संस्कृत एक बनावटी भाषा है ; क्योंकि बोलचाल की भाषा इतनी अधिक नियमित नहीं हो सकती। परंतु यह ठीक नहीं। इसके विपरीत संस्कृत व्याकरण में अनेक अनियमन हैं, जो अपवादों के रूप में दिखाए गए हैं। संस्कृत-व्याकरण में एक ही प्रयोजन के लिये अनेक प्रयोग दिखाए गए हैं। अन्य भाषाओं तथा संस्कृत के व्याकरण में केवल भेद इतना है कि संस्कृत-व्याकरण के बनानेवाले संस्कृत के पूर्ण विद्वान् थे। उन्होंने भाषा को पूर्ण रूप से समझ लिया था, इसीलिये उनके नियम इतने पूर्ण हैं।

अब यह बात समझ में आ सकती है कि संस्कृत उस समय की साधारण बोलचाल की भाषा थी। परंतु यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह संस्कृत वैदिक तथा यज्ञ-संबंधी संस्कृत से भिन्न अवश्य थी। संभवतः प्रोफ़ेसर साहब अपने सिद्धांत की स्थापना के समय इस बात को भूल जाते हैं। इसलिये जब संस्कृत ही बोलचाल की भाषा थी, तब लौकिक साहित्य को प्राकृत में प्रकट करने की कोई आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त ईसवी सन् के आसपास आदि-काव्य रामायण के प्राकृत से संस्कृत में अनूदित करने का ज़िक्र कहीं नहीं पाया जाता। हाँ, ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि रामायण पाणिनि से पूर्व भी संस्कृत-भाषा में ही थी। उस समय की स्थिति देखने से भी ऐसा होना समझ में नहीं आता ; क्योंकि वह ब्राह्मण-धर्म की अवनति तथा राजनीतिक एवं सामाजिक उथल-पुथल का समय था। ऐसी दशा में, रामायण का संस्कृत में ही रचा जाना मानना पड़ता है, और रामायण का संस्कृत में ही बनना मान लेने से संपूर्ण संस्कृत-काव्य के विषय में संस्कृत की मौलिकता सिद्ध हो जाती है। कारण, रामायण से लेकर मध्य-काल तक के काव्यों में रचना की उत्तरोत्तर उन्नति का क्रम स्पष्ट दिखाई देता है। कालिदास की अनुपम उपमाओं तथा गुणों का बीज आदि-कवि वाल्मीकि की रचना में वर्तमान है।

नाटक के प्राकृत-भाषा में प्रादुर्भूत होने की कल्पना और भी अधिक निर्मूल प्रतीत होती है। नाटक का बीज रामायण तथा महाभारत के कथा-पाठ में है। अर्थात् प्रारंभ में इन काव्यों की कथा होती थी ; धीरे-धीरे उसमें वाद-विवाद, गान, नृत्य आदि जोड़ दिए गए, और उसका परिणाम नाटक का उद्भव हुआ। इस प्रकार यदि नाटक का संबंध महाकाव्यों के कथा-पाठ से है, तो उसका संबंध संस्कृत से होना सहज ही समझ में आ सकता है। इसके अतिरिक्त नाटक-संबंधी यह दूसरा सिद्धांत भी कि 'नाटक का जन्म धार्मिक साहित्य से है', इसी की पुष्टि करता है ; क्योंकि उस दशा में भी नाटक और संस्कृत का घनिष्ठ संबंध स्थापित होता है। भारतीय प्रमाणों के अनुसार भरत मुनि-कृत 'नाट्य-शास्त्र' ही नाटक-संबंधी आदि-ग्रंथ है। उसमें साफ़-साफ़ लिखा है कि नाटक की संस्कृत ऐसी होनी चाहिए, जो सबकी समझ में आ जाय। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत उसी समय से नाटकों में प्रयुक्त होती थी। नाट्य-शास्त्र संस्कृत का ही ग्रंथ है। यदि यह मान भी लिया जाय कि 'नट' आदि शब्द प्राकृत से संस्कृत में लिए गए, तो भी इने-गिने चुने हुए शब्दों के आधार पर इतनी बड़ी बुनियाद नहीं खड़ी की जा सकती। इसके अतिरिक्त पाणिनि की अष्टाध्यायी यह सिद्ध करती है कि उस समय मूर्द्धन्य ('ट'वर्ग) वर्णों का संस्कृत में समावेश हो चुका था, और रामायण में भी मूर्द्धन्य वर्णों की कमी नहीं है।

संस्कृत का लौकिक प्रयोग पहलेपहल भारत के पश्चिम के शक-क्षत्रपों ने किया और रुद्रदामन् का शिला-लेख इसका प्रमाण है। यह धारणा बिलकुल भ्रम-पूर्ण है। बौद्ध कवि अश्वघोष के नाटकों ने यह सिद्ध कर

दिया है कि नाटक ईसा के बाद की प्रथम शताब्दी में भी संस्कृत ही में लिखे जाते थे। अश्वघोष कवि, सम्राट् कनिष्क का समकालीन होने से, प्रथम शताब्दी का कवि था। जब उसके नाटक और काव्यों में उच्च कोटि की संस्कृत पाई जाती है, तो यह कहना कि संस्कृत का लौकिक प्रयोग रुद्रदामन् के समय (१५० ई०) में शुरू हुआ, कहाँ तक ठीक है, यह पाठक स्वयं विचार लें। अश्वघोष के नाटकों से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय से बहुत पहले ही नाटकों और काव्यों की संस्कृत उच्च कोटि में पहुँच चुकी थी। अस्तु, उसमें नाटक लिखना बहुत समय पहले शुरू किया गया होगा। रुद्रदामन् के 'स्वामिन्', 'सुगृहीतनामा' आदि शब्दों के लिये इतना कह देना पर्याप्त होगा कि वे उन स्थानों में बिलकुल भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। नाटक में इनका प्रयोग दूसरा ही है।

गौतम बुद्ध तथा महावीर के पाली और प्राकृत में प्रचार करने से यह सिद्ध नहीं होता कि संस्कृत उस समय की बोलचाल की भाषा न थी; क्योंकि अभी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन धर्म प्रवर्तकों की भाषा पाणिनि की 'भाषा' से कितनी भिन्न थी, और न, अनेक विद्वानों की राय में, यह निर्विवाद है कि बुद्ध और महावीर की भाषाएँ ही पाली तथा प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध थीं। किंतु यदि ऐसा मान ही लिया जाय, तो भी यह कहा जा सकता है कि ये दोनों धर्म ब्राह्मण-धर्म के शत्रु तथा ब्राह्मण-धर्म के स्थान की सीमा से भी बाहर थे। ब्राह्मण-धर्म के आश्रय की पवित्र भूमि कुरुक्षेत्र तथा उसके आसपास का प्रदेश है, और बौद्ध-धर्म का क्रीड़ा-क्षेत्र पूर्वीय प्रांत है। संभवतः इन्हीं कारणों से इन धर्म-प्रवर्तकों ने प्राकृत का आश्रय लिया होगा, न कि इसलिये कि संस्कृत उस समय प्रचलित न थी। सम्राट् अशोक के शिला-लेखों के लिये यह कहा जा सकता है कि अशोक-जैसे बौद्ध-धर्माभिमानी सम्राट् से संस्कृत के प्रयोग और उन्नति की आशा करना व्यर्थ था। बौद्ध-धर्मानुयायी होने के कारण अशोक का यह कर्तव्य था कि वह अपनी धर्म-भाषा का प्रचार करता, और वैसा उसने किया भी। उसके बाद के राजा भी उसकी देखादेखी उसी भाषा का प्रयोग करते रहे। इसके अतिरिक्त अशोक के लेखों से यह भी प्रकट होता है कि उसका प्रयत्न अपनी भाषा को संपूर्ण साम्राज्य की प्रचलित भाषा (Lingua Franca) बनाने का था। पूर्व, पश्चिमोत्तर, उत्तर, दक्षिण तथा मध्य-भारत के लेख भाषा का बृहद् रूपांतर प्रस्तुत करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि देश-काल के अनुसार राजभाषा में परिवर्तन किया गया था।

इसके अतिरिक्त उस समय के प्राकृत-काव्यों तथा शिला-लेखों की भाषा और रचना पर संस्कृत के प्रभाव की छाप स्पष्ट दिखाई देती है, जिससे संस्कृत के महत्त्व तथा प्रचार का अनुमान होता है। रामगढ़-पर्वत की सीता-बेंगा तथा जोगीमारा-कंदराओं के प्राकृतिक शिला-लेख, जो लगभग उसी काल के बतलाए जाते हैं, इसका उदाहरण हैं। प्रकरण वश यह लिख देना भी अनुचित न होगा कि संस्कृत का लगातार प्रयोग और उपयोग होता रहा है। प्रो० मैक्समूलर का सिद्धांत (Renaissance theory) अब निर्मूल सिद्ध हो चुका है। जिन शताब्दियों को वह संस्कृत-रचना के अभाव का काल बताते हैं, उन्हीं शताब्दियों के संस्कृत-काव्य तथा उनसे प्रभावित प्राकृत-काव्य पाए गए हैं। अश्वघोष का बुद्ध-चरित तथा हरिषेण आदि कवियों की कविताएँ इसका प्रमाण हैं। अश्वघोष बौद्ध थे। उन्होंने बौद्ध-धर्म के सिद्धांतों को ब्राह्मण-धर्मानुयायियों में फैलाने के लिये संस्कृत का आश्रय लिया था। इससे भी यही प्रतीत होता है कि उस समय संस्कृत का पर्याप्त प्रचार था।

महाभाष्य तथा उसके समकालीन अन्य संस्कृत-साहित्य को देखने से यही जान पड़ता है कि उस समय संस्कृत प्रचलित थी, और उसमें प्रत्येक प्रकार की रचना की जाती थी। महाभाष्य के 'कंसमघातयत्', 'बलिमबन्धयत्' आदि उदाहरणों में नाटक का बीज देखने का प्रयत्न किया गया है। इससे भारत-काव्य के अस्तित्व का भी प्रमाण मिलता है। उस समय ऐसे चारण वर्तमान थे, जो संस्कृत में राजों और ऋषियों का यशोगान करते थे। महाभाष्य में वररुचि-कृत काव्य का निर्देश है। यत्र-तत्र उद्धृत पद्यांशों से नैतिक तथा धार्मिक काव्य के प्रचार का अनुमान होता है। 'काकतालीयम्', 'मार्जार-मूषकम्' आदि पद संस्कृत में साधारण कथाओं और कहावतों के प्रचार की साक्षी हैं।

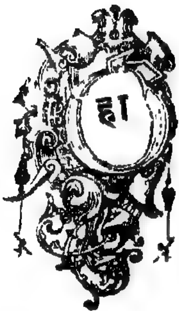
इतना कह चुकने के बाद पुराणों के संबंध में लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती। उनकी वृद्ध और

व्याकरण के विषय की अशुद्धियाँ कोई अत्यंत आश्चर्यजनक बात नहीं हैं। संस्कृत के अनेक काव्यों में ऐसे स्थल हैं। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार देखने से रामायण में अनेक त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होंगी। इसके समाधान में हम तो यही कह सकते हैं कि इन ग्रंथों के रचयिता पाणिनि-व्याकरण का विशेष ध्यान न रखते होंगे, अथवा प्रो० कीथ के शब्दों में "पाणिनि का व्याकरण इन ग्रंथों के लिये नहीं, उच्च संस्कृत के लिये था।"

अंत में हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि संस्कृत-साहित्य की ऐसी समस्याओं के संबंध में कोई निश्चित सिद्धांत स्थिर करना एक कठिन पहेली है; क्योंकि संस्कृत में ऐतिहासिक की साक्षी का अत्यंताभाव है।

महेंद्रनाथ शास्त्री

चोरी



हाय बचपन! तेरी याद नहीं भूलती! वह कच्चा, टूटा घर, वह पयाल का बिछौना; वह नंगे बदन, नंगे पाँव खेतों में घूमना; आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हैं। चमरौधे जूते पहनकर उस वक्त जितनी ख़ुशी होती थी, अब 'फ़्लैक्स' के बूटों से भी नहीं होती। गरम पनुए रस में जो मज़ा था, वह अब गुलाब के शर्बत में भी नहीं; चबेने और कच्चे बेरों में जो रस था, वह अब अंगूर और खीरमोहन में भी नहीं मिलता।

मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गाँव में एक मौलवी साहब के यहाँ पढ़ने जाया करता था। मेरी उम्र ८ साल की थी, हलधर (वह अब स्वर्ग में निवास कर रहे हैं) मुझसे दो साल जेठे थे। हम दोनों प्रातः-काल बासी रोटियाँ खा, दोपहर के लिये मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे। फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहाँ कोई हाज़िरी का रजिस्टर तो था नहीं, और न ग़ैरहाज़िरी का जुर्माना ही देना पड़ता था। फिर डर किस बात का! कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की क़वायद देखते, कभी किसी भालू या बंदर नचानेवाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते, कभी रेलवे-स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते। गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमको था, उतना शायद टाइम-टेबिल को भी न था। रास्ते में शहर के एक महाजन ने एक बाग़ लगवाना शुरू किया था। वहाँ एक कुआँ खुद रहा था। वह भी हमारे लिये एक दिलचस्प तमाशा था। बूढ़ा माली हमें अपनी झोपड़ी में बड़े प्रेम से बैठाता था। हम उससे झगड़ झगड़कर उसका काम करते। कहीं बालटी लिए पौदों को सींच रहे हैं, कहीं खुरपी से क्यारियाँ गोड़ रहे हैं, कहीं क़ैंची से बेलों की पत्तियाँ छाँट रहे हैं। इन कामों में कितना आनंद था! माली बाल-प्रकृति का पंडित था। हमसे काम लेता; पर इस तरह, मानो हमारे ऊपर कोई एहसान कर रहा है। जितना काम वह दिन-भर में करता, हम घंटे-भर में निबटा देते थे। अब वह माली नहीं है, लेकिन बाग़ हरा-भरा है। उसके पास से होकर गुज़रता हूँ, तो जी चाहता है, उन पेड़ों के गले मिलकर रोऊँ, और कहूँ—प्यारे, तुम मुझे भूल गए हो, लेकिन मैं तुम्हें नहीं भूला; मेरे हृदय में तुम्हारी याद अभी तक हरी है—उतनी ही हरी, जितने तुम्हारे पत्ते। निस्स्वार्थ प्रेम के तुम जीते-जागते स्वरूप हो।

कभी-कभी हम हफ़्तों ग़ैरहाज़िर रहते, पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी चढ़ी हुई त्योरियाँ उतर जातीं। उतनी कल्पना-शक्ति आज होती, तो ऐसा उपन्यास लिख मारता कि लोग चकित रह जाते। अब तो यह हाल है कि बहुत सिर खपाने के बाद कोई कहानी सूझती है। ख़ैर, हमारे मौलवी साहब दरज़ी थे। मौलवीगीरी केवल शौक़ से करते थे। हम दोनों भाई अपने गाँव के कुरमी-कुम्हारों से उनकी ख़ूब बड़ाई करते थे। यों कहिए कि हम मौलवी साहब के सफ़री एजेंट थे। हमारे उद्योग से जब मौलवी साहब को कुछ काम मिल जाता, तो हम फूले न समाते। जिस दिन कोई अच्छा बहाना न सूझता, मौलवी साहब के लिये कोई न-कोई सौग़ात ले जाते। कभी सेर-आधसेर फलियाँ तोड़ लीं, तो कभी दस-पाँच ऊखें; कभी जौ या गेहूँ की हरी-हरी बालें ले लीं। इन सौग़ातों को देखते ही मौलवी साहब का क्रोध शांत हो जाता। जब इन चीज़ों की फ़सल न होती, तो हम सज़ा से बचने का कोई और ही

उपाय सोचते । मौलवी साहब को चिड़ियों का शौक़ था । मकतब में श्यामा, बुलबुल, दहियल और चंडूलों के पिंजड़े लटकते रहते थे । हमें सबक़ याद हो, या न हो; पर चिड़ियों को याद हो जाते थे । हमारे साथ ही वे भी पढ़ा करती थीं । इन चिड़ियों के लिये बेसन पीसने में हम लोग खूब उत्साह दिखाते थे । मौलवी साहब सब लड़कों को पतिंगे पकड़ लाने की ताकीद करते रहते थे । इन चिड़ियों को पतिंगों से विशेष रुचि थी । कभी-कभी हमारी बला पतिंगों ही के सिर चली जाती थी । उनका बलिदान करके हम मौलवी साहब के रौद्र रूप को प्रसन्न कर लिया करते थे ।

एक दिन सवेरे हम दोनों भाई तालाब में मुँह धोने गए, तो हलधर ने कोई सफ़ेद-सी चीज़ मुट्ठी में लेकर दिखाई । मैंने लपककर मुट्ठी खोली, तो उसमें एक रुपया था । विस्मित होकर पूछा—यह रुपया तुम्हें कहाँ मिला ?

हलधर—अम्माँ ने ताक पर रक्खा था ; चारपाई खड़ी करके निकाल लाया ।

घर में कोई संदूक़ या आलमारी तो थी नहीं ; रुपए-पैसे एक ऊँचे ताक पर रख दिए जाते थे । एक दिन पहले चचाजी ने सन बेचा था । उसी के रुपए ज़मींदार को देने के लिये रक्खे हुए थे । हलधर को न-जाने क्योंकर पता लग गया । जब घर के सब लोग काम-धंधे में लग गए, तो आपने चारपाई खड़ी की, और उस पर चढ़कर एक रुपया निकाल लिया ।

उस वक़्त तक हमने कभी रुपया छुआ तक न था । वह रुपया देखकर आनंद और भय की जो तरंगें दिल में उठीं, वे अभी तक याद हैं । हमारे लिये रुपया एक अलभ्य वस्तु थी । मौलवी साहब को हमारे यहाँ से सिर्फ़ ॥) मिला करते थे । महीने के अंत में चचाजी खुद जाकर पैसे दे आते थे । हमारा इतना भी विश्वास न था । वही हम आज एक रुपए के छत्र-पति राजा थे । भला कौन हमारे गर्व का अनुमान कर सकता है ! लेकिन मार का भय आनंद में विघ्न डाल रहा था । रुपए अनगिनती तो थे नहीं । चोरी का खुल जाना मानी हुई बात थी । चचाजी के क्रोध का भी मुझे तो नहीं, हलधर को प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका था । यों उनसे ज़्यादा सीधा-सादा आदमी दुनिया में न था । चची ने उनकी रक्षा का भार सिर पर न लिया होता, तो कोई बनिया उन्हें बाज़ार में बेच सकता था । पर जब क्रोध आ जाता, तो फिर उन्हें कुछ न सूझता । और तो और, चची भी उनके क्रोध का सामना करते डरती थीं । हम दोनों ने कई मिनट तक इन्हीं बातों पर विचार किया, और आख़िर यही निश्चय हुआ कि आई हुई लक्ष्मी को न जाने देना चाहिए । एक तो हमारे ऊपर संदेह होगा ही नहीं, और अगर हुआ भी, तो हम साफ़ इनकार कर जायँगे—कहेंगे, हम रुपया लेकर क्या करते; हमारी नंगा-झोली ले लीजिए । शायद और शांत चित्त से विचार करते, तो यह निश्चय पलट जाता, और वह बीभत्स लीला न होती, जो आगे चलकर हुई, पर उस समय हममें शांति से विचार करने की क्षमता ही न थी ।

मुँह-हाथ धोकर हम दोनों घर आए, और डरते-डरते अंदर क़दम रक्खा । अगर कहीं इस वक़्त तलाशी की नौबत आई, तो फिर भगवान् ही मालिक हैं; लेकिन सब लोग अपना-अपना काम कर रहे थे । कोई हमसे न बोला । हमने नाश्ता भी न किया, चबेना भी न लिया ; किताब बग़ल में दबाई और मदरसे का रास्ता लिया ।

बरसात के दिन थे । आकाश पर बादल छाए हुए थे । हम दोनों खुश-खुश मकतब चले जा रहे थे । आज काउंसिल की मिनिस्टरी पाकर भी शायद उतना आनंद न हो । हज़ारों मंसूबे बाँधते थे, हज़ारों हवाई क़िले बनाते थे । यह अवसर बड़े भाग्य से मिला था । जीवन में फिर शायद ही यह अवसर मिले । इसलिये रुपए को इस तरह ख़र्च करना चाहते थे कि ज़्यादा-से-ज़्यादा दिनों तक चल सके । यद्यपि उन दिनों ।-) सेर बहुत अच्छी मिठाई मिलती थी, और शायद आधसेर मिठाई में हम दोनों अफर जाते, लेकिन यह ख़याल हुआ कि मिठाई खाएँगे, तो रुपया आज ही ग़ायब हो जायगा । कोई सस्ती चीज़ खाना चाहिए, जिसमें मज़ा भी आए, पेट भी भरे, और पैसे भी कम ख़र्च हों । आख़िर अमरूदों पर हमारी नज़र गई । हम दोनों राज़ी हो गए । दो पैसे के अमरूद लिए । सस्ता समय था, बड़े-बड़े बारह अमरूद मिले । हम दोनों के कुर्तों के दामन भर गए । जब हलधर ने खटकिन के हाथ में रुपया रक्खा, तो उसने संदेह से देखकर पूछा—रुपया कहाँ पाया, लाला ? चुरा तो नहीं लाए ?

चोरी का ढिंढोरा पीटना था। बहुत सोचने के बाद यह निश्चय किया कि ।।।) तो मौलवी साहब को दे दिए जायँ; शेष ≡)।। की मिठाई उड़े। यह फ़ैसला करके हम लोग मकतब पहुँचे। आज कई दिन के बाद गए थे। मौलवी साहब ने बिगड़कर पूछा—इतने दिन कहाँ रहे?

मैंने कहा—मौलवी साहब घर में गमी हो गई थी।

यह कहते-ही-कहते ।।।) उनके सामने रख दिए। फिर क्या पूछना था! पैसे देखते ही मौलवी साहब की बाछें खिल गईं। महीना ख़त्म होने में अभी कई दिन बाकी थे। साधारणतः महीना चढ़ जाने और बार-बार तक़ाज़े करने पर कहीं पैसे मिलते थे। अब की इतनी जल्द पैसे पाकर उनका ख़ुश होना कोई अस्वाभाविक बात न थी। हमने अन्य लड़कों की ओर सगर्व नेत्रों से देखा, मानो कह रहे हो—एक तुम हो कि माँगने पर भी पैसे नहीं देते; एक हम हैं कि पेशगी देते हैं।

हम अभी सबक़ पढ़ ही रहे थे कि मालूम हुआ, आज तालाब का मेला है, दोपहर से छुट्टी हो जायगी।



रुपया कहाँ पाया, लाला? चुरा तो नहीं लाए?

जवाब हमारे पास तैयार था। ज़्यादा नहीं, तो दो-तीन किताबें तो पढ़ ही चुके थे। विद्या का कुछ-कुछ असर हो चला था। मैंने झट से कहा—मौलवी साहब की फ़ीस देनी है। घर में पैसे न थे, तो चचा जी ने रुपया दे दिया।

इस जवाब ने खटकिन का संदेह दूर कर दिया। हम दोनों ने एक पुलिया पर बैठकर ख़ूब अमरूद खाए। मगर अब साढ़े पंद्रह आने पैसे कहाँ ले जायँ! एक रुपया छिपा लेना तो इतना मुश्किल काम न था। पैसों का ढेर कहाँ छिपता। न कमर में इतनी जगह थी, और न जेब में इतनी गुंजाइश। उन्हें अपने पास रखना अपनी मौलवी साहब मेले में बुलबुल लड़ाने जायँगे। यह ख़बर सुनते ही हमारी ख़ुशी का ठिकाना न रहा; ।।।) तो बैंक में जमा ही कर चुके थे; ≡)।। में मेला देखने की ठहरी। ख़ूब बहार रहेगी। मज़े से रेवड़ियाँ खाएँगे, गोल-गप्पे उड़ाएँगे, झूले पर चढ़ेंगे, और शाम को घर पहुँचेंगे। लेकिन मौलवी साहब ने एक कड़ी शर्त यह लगा दी थी कि सब लड़के छुट्टी के पहले अपना-अपना सबक़ सुना दें। जो सबक़ न सुना सकेगा, उसे छुट्टी न मिलेगी। नतीजा यह हुआ कि मुझे तो छुट्टी मिल गई, पर हलधर क़ैद कर लिए गए। और कई लड़कों ने भी सबक़ सुना दिए थे। वे सभी मेला देखने चल पड़े।

मैं भी उनके साथ हो लिया। पैसे मेरे ही पास थे, इसलिये मैंने हलधर को साथ लेने का इंतज़ार न किया। तै हो गया था कि वह छुट्टी पाते ही मेले आ जायँ, और दोनों साथ-साथ मेला देखें। मैंने वचन दिया था कि जब तक वह न आएँगे, एक पैसा भी न ख़र्च करूँगा। लेकिन क्या मालूम था कि दुर्भाग्य कुछ और ही लीला रच रहा है। मुझे मेला पहुँचे एक घंटे से ज़्यादा गुज़र गया; पर हलधर का कहीं पता नहीं। क्या अभी तक मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी, या रास्ता भूल गए? आँखें फाड़-फाड़कर सड़क की ओर देखता था। अकेले मेला देखने में जी भी न लगता था। यह संशय भी हो रहा था कि कहीं चोरी खुल तो नहीं गई, और चचाजी हलधर को पकड़कर घर तो नहीं ले गए। आख़िर जब शाम हो गई, तो मैंने कुछ रेवड़ियाँ खाईं, और हलधर के हिस्से के पैसे जेब में रखकर धीरे-धीरे घर चला। रास्ते में ख़याल आया, मकतब होता चलूँ। शायद हलधर अभी वहीं हों। मगर वहाँ सन्नाटा था। हाँ, एक लड़का खेलता हुआ मिला। उसने मुझे देखते ही ज़ोर से क़हक़हा मारा, और बोला—बचा घर जाओ तो, कैसी मार पड़ती है। तुम्हारे चचा आए थे। हलधर को मारते-मारते ले गए हैं। अजी ऐसा तानकर घूँसा मारा कि मियाँ हलधर मुँह के बल गिर पड़े। यहाँ से घसीटते ले गए हैं। तुमने मौलवी साहब की तनख़्वाह दे दी थी; वह भी ले ली। अभी से कोई बहाना सोच लो, नहीं तो बेभाव की पड़ेगी।

मेरी सिट्टी-पिट्टी भूल गई, बदन का लहू सूख गया। वही हुआ, जिसका मुझे शक हो रहा था। पैर मन-मन-भर के हो गए। घर की ओर एक-एक क़दम चलना मुशकिल हो गया। देवी-देवतों के जितने नाम याद थे, सभी की मानता मानी—किसी को लड्डू, किसी को पेड़े, किसी को बतासे। गाँव के पास पहुँचा, तो गाँव के डीह का सुमिरन किया; क्योंकि अपने हलक़े में डीह ही की इच्छा सर्वप्रधान होती है।

यह सब कुछ किया, लेकिन ज्यों-ज्यों घर निकट आता, दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी। घटाएँ उमड़ी आती थीं। मालूम होता था, आसमान फटकर गिरा ही चाहता है। देखता था, लोग अपने-अपने काम छोड़-छोड़ भागे जा रहे हैं। गोरू भी पूँछ उठाए घर की ओर कुदकते-कूदते चले जाते थे। चिड़ियाँ अपने घोंसलों की ओर उड़ी चली आती थीं। लेकिन मैं उसी मंद गति से चला जाता था, मानो पैरों में शक्ति ही नहीं। जी चाहता था, ज़ोर का बुख़ार चढ़ आवे, या कहीं चोट लग जाय। लेकिन कहने से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता। बुलाने से मौत भी नहीं आती, बीमारी का तो कहना ही क्या। कुछ न हुआ, और धीरे-धीरे चलने पर भी घर सामने आ ही गया। अब क्या हो? हमारे द्वार पर इमली का एक घना वृक्ष था। मैं उसी की आड़ में छिप गया कि ज़रा और अँधेरा हो जाय, तो चुपके से घुस जाऊँ, और अम्माँ के कमरे में चारपाई के नीचे जा बैठूँ। जब सब लोग सो जायँगे, तो अम्माँ से सारी कथा कह सुनाऊँगा। अम्माँ कभी नहीं मारतीं। ज़रा उनके सामने झूठ-मूठ रोऊँगा, तो वह और भी पिघल जायँगी। रात कट जाने पर फिर कौन पूछता है। सुबह तक सबका गुस्सा ठंडा हो जायगा। अगर ये मंसूबे पूरे हो जाते, तो इसमें संदेह नहीं, मैं बेदाग़ बच जाता। लेकिन वहाँ तो विधाता को कुछ और ही मंज़ूर था। मुझे एक लड़के ने देख लिया, और मेरे नाम की रट लगाते हुए सीधे मेरे घर में भागा। अब मेरे लिये कोई आशा न रही। लाचार घर में दाख़िल हुआ, तो सहसा मुँह से एक चीख़ निकल गई, जैसे मार खाया हुआ कुत्ता किसी को अपनी ओर आते देखकर भय से चिल्लाने लगता है। बरोठे में पिताजी बैठे थे। पिताजी का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ ख़राब हो गया था। छुट्टी लेकर घर आए हुए थे। यह तो नहीं कह सकता कि उन्हें शिकायत क्या थी; पर वह मूँग की दाल खाते थे, और संध्यासमय शीशे के ग्लास में एक बोतल में से कुछ उँडेल-उँडेलकर पीते थे। शायद यह किसी तजुरबेकार हकीम की बताई हुई दवा थी। दवाएँ सब बसानेवाली और कड़वी होती हैं। यह दवा भी बुरी ही थी; पर पिताजी न-जाने क्यों इस दवा को ख़ूब मज़ा ले-लेकर पीते थे। हम जो दवा पीते हैं, तो आँखें बंद करके एक ही घूँट में गटक जाते हैं। पर शायद इस दवा का असर धीरे-धीरे पीने में ही होता हो। पिताजी के पास गाँव के दो-तीन, और कभी-कभी चार-पाँच और रोगी भी जमा हो जाते, और घंटों दवा पीते रहते थे; मुशकिल से खाना खाने उठते थे। इस समय भी वह दवा पी रहे थे। रोगियों की मंडली जमा

थी। मुझे देखते ही पिताजी ने लाल-लाल आँखें करके पूछा—कहाँ थे अब तक?

मैंने दबी ज़बान से कहा—कहीं तो नहीं।

"अब चोरी की आदत सीख रहा है। बोल, तूने रुपया चुराया कि नहीं?" मेरी ज़बान बंद हो गई। सामने नंगी तलवार नाच रही थी। शब्द भी निकलते हुए डरता था।

पिताजी ने और ज़ोर से डाँटकर पूछा—बोलता क्यों नहीं; तूने रुपया चुराया कि नहीं?

मैंने जान पर खेलकर कहा—मैंने कहाँ......

मुँह से पूरी बात भी न निकलने पाई थी कि पिताजी विकराल रूप धारण किए, दाँत पीसते, झपटकर उठे, और हाथ उठाए मेरी ओर चले। मैं ज़ोर से चिल्लाकर रोने लगा—ऐसा चिल्लाया कि पिताजी भी सहम गए। उनका हाथ उठा ही रह गया। शायद समझे कि जब अभी से इसका यह हाल है, तो तमाचा पड़ जाने पर कहीं इसकी जान ही न निकल जाय। मैंने जो देखा कि मेरी हिकमत काम कर गई, तो और भी गला फाड़-फाड़कर रोने लगा। इतने में मंडली के दो-तीन आदमियों ने पिताजी को पकड़ लिया, और मेरी ओर इशारा किया, भाग जा! बच्चे बहुधा ऐसे मौक़े पर और भी मचल जाते हैं, और व्यर्थ मार खा जाते हैं। मैंने बुद्धिमानी से काम लिया।



चची हलधर को डाँट रही थीं, और अम्माँ बैठी मसाला पीस रही थीं

लेकिन अंदर का दृश्य इससे कहीं भयंकर था। मेरा तो ख़ून सर्द हो गया। हलधर के दोनों हाथ एक खंभे से बँधे थे, सारी देह धूल-धूसरित हो रही थी, और वह अभी तक सिसक रहे थे। शायद वह आँगन-भर में लोटे थे। ऐसा मालूम हुआ कि सारा आँगन उनके आँसुओं से भीग गया है। चची हलधर को डाँट रही थीं, और अम्माँ बैठी मसाला पीस रही थीं। सबसे पहले मुझ पर चची की निगाह पड़ी। बोलीं—लो, वह भी आ गया। क्यों रे, रुपया तूने चुराया था कि इसने?

मैंने निश्शंक होकर कहा—हलधर ने।

अम्माँ बोलीं—अगर उसी ने चुराया था, तो तूने घर आकर किसी से कहा क्यों नहीं?

अब झूठ बोले बग़ैर बचना मुश्किल था। मैं तो समझता हूँ कि जब आदमी को जान का ख़तरा हो, तो झूठ बोलना क्षम्य है। हलधर मार खाने के आदी थे। दो-चार घूँसे और पड़ने से उनका कुछ न बिगड़ सकता था। मैंने मार कभी न खाई थी।

मेरा तो दो ही-चार घूँसों में काम तमाम हो जाता। फिर हलधर ने भी तो अपने को बचाने के लिये मुझे फँसाने की चेष्टा की थी, नहीं तो चची मुझसे यह क्यों पूछती—रुपया तूने चुराया, या हलधर ने? किसी भी सिद्धांत से मेरा झूठ बोलना इस समय स्तुत्य नहीं, तो क्षम्य ज़रूर था। मैंने छूटते ही कहा—हलधर कहते थे, किसी से बताया, तो मार ही डालूँगा।

अम्माँ—देखा, वही बात निकली न। मैं तो कहती ही थी कि बच्चा की ऐसी आदत नहीं; पैसा तो हाथ से छूता ही नहीं। लेकिन सब लोग मुझी को उल्लू बनाने लगे।

हल०—मैंने तुमसे कब कहा था कि बताओगे, तो मारूँगा?

मैं—वहीं, तालाब के किनारे तो।

हल०—अम्माँ, बिलकुल झूठ है।

चची—झूठ नहीं, सच है। झूठा तो तू है, और तो सारा संसार सच्चा है। तेरा नाम निकल गया है न! तेरा बाप भी नौकरी करता, बाहर से रुपए कमा लाता, चार जने उसे भला आदमी कहते, तो तू भी सच्चा होता। अब तो तू ही झूठा है। जिसके भाग में मिठाई लिखी थी, उसने मिठाई खाई। तेरे भाग में तो लात खाना ही लिखा था।

यह कहते हुए चची ने हलधर को खोल दिया, और हाथ पकड़कर भीतर ले गईं। मेरे विषय में स्नेह-पूर्ण आलोचना करके अम्माँ ने पाँसा पलट दिया था, नहीं तो अभी बेचारे पर न-जाने कितनी मार पड़ती। मैंने अम्माँ के पास बैठकर अपनी निर्दोषता का राग खूब अलापा। मेरी सरलहृदया माता मुझे सत्य का अवतार समझती थीं। उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि सारा अपराध हलधर का है। एक क्षण बाद मैं गुड़ चबेना लिए कोठरी से बाहर निकला। हलधर भी उसी वक़्त चबेने खाते हुए बाहर निकले। हम दोनों साथ-साथ बाहर आए, और अपनी-अपनी बीती सुनाने लगे। मेरी कथा सुखमय थी, हलधर की दुःखमय; पर अंत दोनों का एक था—गुड़ और चबेना।

प्रेमचंद

कराँची-बंदर



कराँची-नगर हिंद-महासागर के पश्चिमी कोने पर एक बड़े भारी मैदान में बसा है।

शहर की स्थिति

प्रयाग से कराँची को दिल्ली, भटिंडा और सामसट्टा होकर जाना पड़ता है। भटिंडे के आगे ही राजपूताने के उत्तरी भाग का रेगिस्तान शुरू हो जाता है। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाइए, रेतीला मैदान बढ़ता जाता है। सामसट्टा जंकशन है भावलपुर-रियासत के आगे। इसके आगे जब गाड़ी चलती है, तब कोसों का मैदान चारों तरफ़ नज़र आता है। कहीं वृक्षों का नाम-निशान नहीं है। हाँ, बीच-बीच में करील और थूहर की झाड़ियाँ मैदान-भर में दिखलाई देती हैं, जिनके कारण मैदान के दृश्य की रमणीयता और भी बढ़ जाती है। हवा प्रायः तेज़ चला करती है, जिससे मैदान की रेत उड़-उड़कर खिड़कियों से रेल-गाड़ी के अंदर आती और मुसाफ़िरों के कपड़ों और शरीर को धूलि-धूसरित कर देती है। खिड़कियाँ बंद कर देने पर भी रेत से बचत बहुत कम होती है।

मैं अपने सम्माननीय मित्र हिंदी-हितैषी, देशभक्त लाला फूलचंदजी के साथ कानपुर से चलकर कोई ४४ घंटे में, डाक गाड़ी से, कराँची पहुँचा। कराँची का स्टेशन बहुत सुंदर तो नहीं है; परंतु, चारों ओर कोसों का मैदान होने के कारण, लंबा-चौड़ा खूब है। रेलवे के लंबे-चौड़े गोदाम हैं, जिनमें करोड़ों मन ग़ल्ला, रुई, बिनौला इत्यादि भारत की—विशेषकर पंजाब की—अमूल्य संपत्ति विदेशों को भेजने के लिये उतारी जाती है।

शहर कोसों के रेतीले मैदान में खूब खुला हुआ बसा है। सड़कें खूब चौड़ी और बहुत ही साफ़ हैं। म्युनिसिपलिटी ने सफ़ाई का बहुत अच्छा प्रबंध कर रक्खा है। अनेक घोड़ा-गाड़ियों और अन्य वाहनों के निरंतर चलते रहने पर भी सड़कों पर कहीं गंदगी दिखाई नहीं देती। मेहतर घूमते ही रहते हैं; जहाँ ज़रा-सी गंदगी देखी कि चट साफ़ कर दिया। परंतु गलियों की दशा अच्छी नहीं। गलियाँ यद्यपि पक्की और साफ़ बनी हैं, पर बस्ती के लोग सफ़ाई

का ख़याल नहीं रखते। ऊँचे-ऊँचे भवनों के ऊपर से स्त्रियाँ गंदा पानी और कूड़ा-करकट दिन-भर नीचे गलियों में फेंका करती हैं। यह गंदगी कभी-कभी रास्ता चलनेवालों के ऊपर भी गिर पड़ती है। यदि कोई बिगड़े-दिल का गुंडा हुआ, तो उन स्त्रियों को गालियाँ भी सुना देता है! यह प्रथा बहुत बुरी है। परंतु जब तक शहर के निवासी स्वयं इसका सुधार न करना चाहें, म्युनिसिपलिटी कुछ नहीं कर सकती।

करॉंची के भवन प्रायः बहुत ही साफ़-सुथरे और सुंदर बने हुए हैं। विशेषता यह है कि सब प्रायः एक ही रंग—ख़ाकी रंग—से पुते हैं। इसलिये शहर की रमणीयता और भी बढ़ गई है। सवारियाँ यहाँ मोटर, ट्राम, घोड़ा-गाड़ी, ऊँट-गाड़ी और गधा-गाड़ी हैं। ऊँट-गाड़ी और गधा-गाड़ी केवल बोझा ढोने के काम आती हैं। बैलों का उपयोग प्रायः नहीं के बराबर है। ट्राम-गाड़ी यहाँ पर बिजली से नहीं, मोटर से चलती है।

समुद्र के किनारे और भारत के पश्चिम कोण पर होने के कारण करॉंची का जल-वायु प्रायः सम-शीतोष्ण है। स्वास्थ्य के लिये यहाँ का जल-वायु बहुत लाभदायक जान पड़ता है।

व्यापार-व्यवसाय

व्यापार-व्यवसाय यहाँ जो कुछ है, वह बंदरगाह के ही कारण। अपने देश की चीज़ों को बाहर भेजना और बाहर की चीज़ों को अपने देश में पहुँचाना ही यहाँ के व्यापारियों का धंधा है। जहाज़ी स्टेशन, अर्थात् बंदरगाह और रेलवे-स्टेशन, दोनों में से किसी के गोदामों को देखिए, माल से पटे पड़े हैं; भारत से गल्ला, रुई, बिनौला, अन्य तेलहन-दाना तथा कच्चा माल रवाना किया जा रहा है, और विदेश से आनेवाला कपड़ा तथा नाना प्रकार की विलासिता की चीज़ें जहाज़ों से उतारकर, भारत के शहरों में भेजने के लिये, रेल-गाड़ी पर लादी जा रही हैं। यहाँ के व्यवसायी, और कुछ नहीं, सिर्फ़ विदेशी कंपनियों के दलाल या एजंट हैं। शहर के बाज़ार विदेशी माल से पटे पड़े हैं।

करॉंची का अधिकांश व्यापार पंजाब, सिंध और दिल्ली-प्रांत के साथ होता है। अब करॉंची-बंदर का व्यापारिक महत्त्व और भी बढ़नेवाला है; क्योंकि विलायत से भारत की डाक हवाई जहाज़ के द्वारा लाने का विचार हो रहा है, और उसका मुख्य स्टेशन करॉंची में ही बनने-वाला है। इसके सिवा सिंध के सक्खर-नामक प्रसिद्ध व्यापारोपयोगी नगर के पास, सिंध-नद को बाँधकर, एक नहर निकालने का भी विचार हो रहा है। इस नहर से सिंध की पैदावार बढ़ाई जायगी, और नहर के द्वारा माल के आने-जाने का भी प्रबंध किया जायगा। इन दो कारणों से करॉंची-बंदर का व्यापारिक महत्त्व अवश्य बढ़ जायगा।

दर्शनीय स्थान

१. मनोरा—यह स्थान बंदरगाह से लगभग डेढ़ मील दूर, समुद्र के बीच में, है। यह एक पहाड़ी है, जिसको घेरकर सरकार ने समुद्री क़िला बनाया है। इसमें एक दीप-स्तंभ अर्थात् 'लाइट-हाउस' भी है। इससे रात को 'सर्चलाइट' डालकर जहाज़ों के आने-जाने का पता लगा सकते हैं। क़िले में विशेषकर फ़ौजी सामान रहता है। इसको देखने के लिये यात्री लोग डोंगी पर चढ़कर जाते हैं।

२. बंदरगाह—करॉंची का बंदरगाह शहर से लगभग तीन मील पर है। शहर से बंदरगाह को जो सड़क जाती है, उसका नाम भी 'बंदर-रोड' है। बंदरगाह को जाते समय बीच में समुद्र का एक चौड़ा-सा सोता पड़ता है। इसके ऊपर दो सुंदर पुल बने हुए हैं। एक पुल घोड़ा-गाड़ी, ट्राम और मनुष्यों आदि के आने-जाने के लिये है, और दूसरा रेल-गाड़ी के लिये। बंदरगाह में सामने की ओर सुंदर सजी हुई डोंगियाँ लगी रहती हैं, जो मनोरे इत्यादि की ओर दर्शकों को ले जाती हैं। दूसरी ओर जहाज़ी अड्डा है, जहाँ जहाज़ों से माल उतारा और चढ़ाया जाता है। जिस दिन हम बंदरगाह देखने गए थे, उस दिन 'सिटी ऑफ़ पेरिस' और 'शिमला' नाम के सुंदर जहाज़ करॉंची-बंदर में ही ठहरे हुए थे। एक जहाज़ मुसाफ़िरों को लेकर जाने को तैयार था। इसके तीसरे दर्जे में बहुत-से पंजाबी और सिख जानवरों की तरह ठूँस दिए गए थे।

३. हवा-बंदर—यह स्थान करॉंची-शहर से कोई ७८ मील पर, समुद्र के किनारे, है। यहाँ एक बहुत ही लंबा-चौड़ा प्लेटफ़ार्म है। प्लेटफ़ार्म में एक ओर सुंदर बेंचें पड़ी रहती हैं। दोनों तरफ़, और बीच में सुंदर बारह-दरियाँ भी बनी हुई हैं। बीच से एक लंबा-सा पुल नीचे



मनोरे मे 'लाइट-हाउस' या दीप-स्तम्भ (कराँची)



समुद्र में मनोर की पहाड़ी के एक ओर का दृश्य (कराँची)

समुद्र की ओर मैदान को चला गया है। हवा खाने के लिये यह स्थान बहुत ही अच्छा है। चारों ओर कोसों तक मैदान और सामने समुद्र का मनोहर दृश्य है। इस स्थान को श्रीजहाँगीर कोठारी नाम के एक पारसी सज्जन ने तीन लाख रुपए लगाकर बनवाया है। परंतु जैसे बंबई में चौपाटी की सैर का आनंद सभी ग़रीब और अमीर ले सकते हैं, वैसे यहाँ नहीं। इसका कारण यही है कि वह स्थान शहर से बहुत दूर पड़ता है। इस स्थान के पास समुद्र के किनारे शिवजी का एक मंदिर भी है, जहाँ शिव-रात्रि के दिन बड़ा भारी मेला लगता है।

४ सरकारी बाग़ या चिड़िया-घर—यह स्थान शहर से कोई तीन मील के फ़ासले पर है। बाग़ में नाना प्रकार के स्थल, जल और आकाश के जीव-जंतु, पशु-पक्षी एकत्र किए गए हैं। बीच में एक सुंदर कृत्रिम तालाब बना है। उसके ऊपर सैर करने के लिये एक 'हैंगिंग ब्रिज' अर्थात् झूलता हुआ पुल भी है। इस तालाब में नाना प्रकार के जल-पक्षी और मछलियाँ आदि हैं। कई प्रकार के शेर, चीते, भेड़िए, बंदर, दरियाई घोड़े, दरियाई हाथी और जंगली सुअर आदि मौजूद हैं। शेर जिस स्थान मे है, वहीं एक बिल्ली भी। दोनों बड़े प्रेम से खेल रहे थे। बिल्ली शेर के मुँह से मांस का टुकड़ा खींचकर खा रही थी। शेर और बिल्ली का प्रेम देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। परंतु फिर सोचा, बिल्ली शेर की मौसी कहलाती है, इसी से शायद यह प्रेम हो!

५. मग्घा पीर—यह स्थान कराँची से कोई सोलह मील पर है। यहाँ घोड़ा-गाड़ी, टाँगा तथा मोटरें जाती

हैं। यहाँ की एक पहाड़ी पर 'मग्घे पीर' की एक पुरानी दरगाह है। नीचे एक सुंदर तालाब है, जिसमें बड़ी-बड़ी सुंदर मछलियाँ और मच्छ हैं। यहाँ से कुछ दूर पर गंधक के गरम जल के सोते हैं, जिनमें स्नान करने से चर्म-रोग दूर हो जाते हैं। यह स्थान भी बहुत ही स्वास्थ्यप्रद है। यहाँ कुष्ठ-रोग के बहुत-से रोगी आकर निवास करते हैं। कहते हैं, यहाँ के जल-वायु और स्नान से उनको बहुत लाभ होता है।

हैं। इन्होंने कई निज की पाठशालाएँ और पुस्तकालय खोलकर हिंदी-प्रचार का कार्य भी शुरू कर दिया है। करांची में जो संस्थाएँ और जो सज्जन हिंदी-प्रचार में उत्साह दिखला रहे हैं, वे ये हैं—

मारवाड़ी-विद्यालय—इसके प्रधान सहायक सेठ शिवरतनजी मोहता बहुत ही उत्साही देश-भक्त मारवाड़ी व्यापारी हैं। विद्यालय में कोई तीन सौ के लगभग छात्र हिंदी और अँगरेज़ी की शिक्षा पा रहे हैं। प्रधान अध्या-



बंदर-रोड में डेन्सोहाल का कोना (करांची)

हिंदी-प्रचार

करांची-शहर सिंध-प्रांत के अंतर्गत है। बंबई के शिक्षा-विभाग के वर्णनानुसार यहाँ के स्कूल-पाठशालाओं में अँगरेज़ी, मराठी, उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत, गुजराती, सिंधी इत्यादि भाषाओं के पढ़ाने का प्रबंध है ; पर हिंदी-भाषा को वहाँ के शिक्षा-विभाग ने अभी तक स्वीकार नहीं किया। यद्यपि मारवाड़ी भाइयों की यहाँ पर काफ़ी संख्या है। पंजाब तथा दिल्ली-प्रांत के भी बहुत-से हिंदी-भाषा-भाषी सज्जन व्यापार की ग़रज़ से आकर यहाँ के निवासी बन गए हैं, फिर भी शिक्षा-विभाग उनके बालकों को हिंदी-द्वारा शिक्षा देने का प्रबंध नहीं कर रहा है।

परंतु बड़े आनंद की बात है कि अनेक सिंधी, पंजाबी और मारवाड़ी सज्जन हिंदी के पक्ष में आंदोलन कर रहे

पक श्रीयुत ताराचंदजी एम्० ए० योग्य विद्वान्, स्वार्थ त्यागी और उत्साही सज्जन हैं। आप पहले काँगड़ी के गुरुकुल में प्रोफ़ेसर रह चुके हैं, और आजकल इस विद्यालय को चलाते हैं। इसी संस्था की ओर से एक पुस्तकालय भी खुला हुआ है। लाला शालग्राम और बाबू रामप्रसादजी इसके मंत्री हैं। ये बड़े उत्साह से हिंदी-प्रचार का कार्य कर रहे हैं।

शिकारपुरी पंचायती स्कूल और पुस्तकालय—इस संस्था को चलानेवाले कुछ सिंधी सज्जन हैं। ये लोग हिंदी को स्थान देकर देश का बड़ा कल्याण कर रहे हैं। सेठ लुणीदारामजी इसके उत्साही मंत्री हैं।

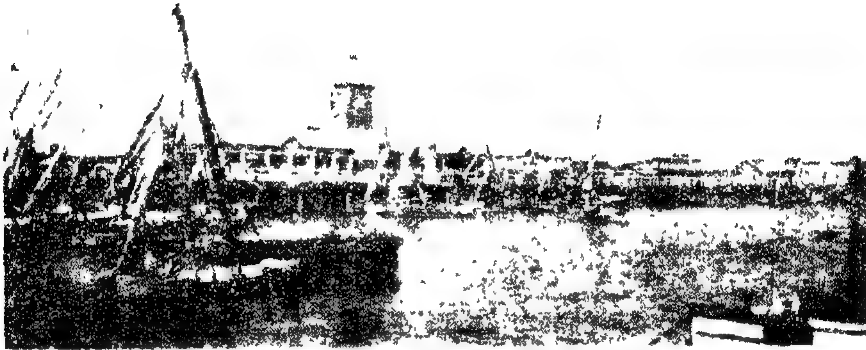
प्रियतम-धर्म-सभा—इस सभा की ओर से 'हरिवल्लभ-पाठशाला' और 'हरिवल्लभ पुस्तकालय' नाम

की दो संस्थाएँ हिंदी-प्रचार का कार्य करती हैं। साथ ही एक विद्यार्थी-आश्रम भी है, जिसमें 'विद्यार्थी-जीवन' नाम का एक छोटा-सा मासिक पत्र भी हिंदी में निकलता है। इस संस्था के संचालक श्रीयुत चेटूमल-फूलचंदजी हैं। सिंध में यह संस्था बहुत पुरानी है। इसकी ओर से शिकारपुर में भी हिंदी का प्रचार बहुत दिनों से हो रहा है।

न्यू हाई स्कूल—इसके प्रिंसिपल श्रीयुत नारा-चंदजी शाहाणी बी० ए० हैं। इस संस्था में भी हिंदी की पढ़ाई होती है।

सरस्वती-मंदिर-पाठशाला—इसके संचालक सेठ नारायणदास-आनंदजी बेचर हैं। यहाँ हिंदी की शिक्षा दी जाती है।

साधुवर टी० एल० वस्वानी एम्० ए०, और उनके



'कीमार्ग'-बंदर का एक दृश्य (करांची)

आर्य-समाज—इसकी ओर से दो पुत्री-पाठशालाएँ खुली हुई हैं। एक सार्वजनिक पुत्री-पाठशाला और दूसरी वैदिक पुत्री-पाठशाला। इन पाठशालाओं में कन्याओं को हिंदी में ही शिक्षा दी जाती है। इनके संचालक दीवान टेकूमलजी तथा डॉ० परमानंदजी एम० बी०,बी०एस० हैं।

इसके अतिरिक्त एक डी० ए० वी० मिडिल स्कूल भी है, जहाँ बालकों को अँगरेज़ी के साथ-साथ हिंदी की भी शिक्षा दी जाती है। इसके संचालक लाला जसवंतरायजी एम्० ए० हैं, जो किसी समय प्रसिद्ध अँगरेज़ी समाचार-पत्र 'पंजाबी' के संपादक थे। अन्य कितने ही उत्साही आर्यसमाजी भाई भी हिंदी-प्रचार के लिये प्रयत्न करते रहते हैं।

सिंधु-संस्कृत-उत्तेजक-मंडल—इस संस्था के संचालक श्रीयुत प्रह्लादजी वैद्य हैं। आप भी हिंदी के प्रचार में अच्छा भाग लेते और अपनी संस्था में भी हिंदी की शिक्षा देते हैं।

सुयोग्य शिष्य श्रीयुत टी० के० जेठवानी एम० ए०, जो 'न्यू टाइम्स'-नामक दैनिक अँगरेज़ी पत्र के सुयोग्य संपादक हैं, हिंदी-प्रचार के लिये अपने पत्र में सदैव आंदोलन करते रहते हैं। टी० के० वस्वानी महाशय म्युनिसिपलिटी के शिक्षा-विभाग के चेयरमैन हैं। आप म्युनिसिपलिटी की पाठशालाओं में हिंदी-प्रचार के लिये खूब उद्योग कर रहे हैं। आप ही के उद्योग से हिंदू-बालकों के लिये नागरी-अक्षरों का सीखना म्युनिसिपलिटी की पाठशालाओं में अनिवार्य हो गया है।

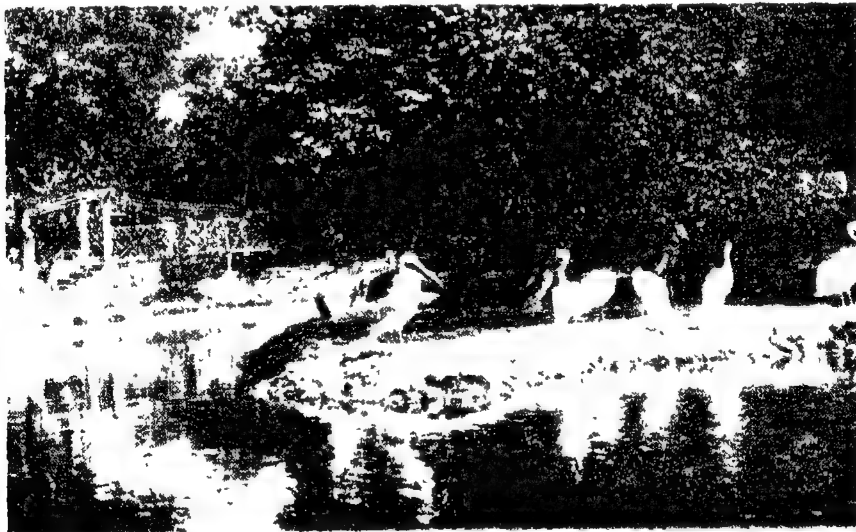
सिंधी-भाषा

पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि सिंधी-भाषा, जो सिंध के हिंदुओं की मातृभाषा है, अरबी-अक्षरों में लिखी तथा छापी जाती है। सिंधी के अख़बार भी इन्हीं अक्षरों में



हवा-बंदर या क्लिफटन (करौंची)

निकलते हैं। बालक-बालिकाओं को अपनी मातृ-भाषा सीखने के लिये इन्हीं अक्षरों का अभ्यास करना पड़ता है। अब कई सिंधी देश-भक्त इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि इनकी जगह पर देवनागरी-अक्षरों का उपयोग होने लगे। जाँच करने पर मुझे मालूम हुआ कि



चिड़िया-घर के तालाब का दृश्य (करौंची)

कुछ वर्ष पहले तक सिंध में सिंधी लिपि भी प्रचलित थी; पर बीच में मुसलमान-भाइयों के संसर्ग और हिंदू-भाइयों की ग़फ़लत से इस बर्बटी लिपि का प्रचार हो गया! इसके सीखने और लिखने-पढ़ने में हिंदू बालक और बालिकाओं को बहुत परिश्रम एवं समय खर्च करना पड़ता है। आशा है, हमारे सिंधी भाई बहुत शीघ्र उद्योग करके सुंदर और सुगम नागरी-अक्षरों का प्रचार कर लेंगे।

रहन-सहन और धार्मिक स्थिति

यहाँ के लोगों का रहन-सहन, जहाँ तक मैंने देखा, विलासितामय ही जान पड़ा। कुछ थोड़े-से हिंदुओं के विषय में मैं नहीं कह सकता; परंतु सिंध के अधिकांश हिंदू—चाहे वे कुलीन ब्राह्मण ही क्यों न हों—मांसाहार करते हैं। करौंची में सब्ज़ी-मंडी के पीछे की ओर आधे हिस्से में मांस की बड़ी-बड़ी दूकानें हैं। मछलियों की बिक्री तो कई जगह होती है। हिंदू, मुसलमान, सभी मांसाहारी हैं। मांसाहार के साथ-साथ शराब और वेश्याओं का बाज़ार भी यहाँ खूब गरम है।

यहाँ हिंदू, मुसलमान आदि किसी जाति की स्त्रियों में परदे का रिवाज नहीं है। सिंध की स्त्रियाँ यों ही बड़ी सुंदरी होती हैं, तो भी बनावटी वेश-भूषा से अपने को सजाने का प्रयत्न करती रहती हैं। वे बहुत बारीक



मंगोपीर की दरगाह और तालाब (कराँची)

रेशमी और सूती वस्त्र, बड़े फ़ैशन के साथ, पहनती हैं। स्त्रियों में सोलह आने विलायती फ़ैशनेबिल कपड़ों का प्रचार है। पुरुषों का भी क़रीब-क़रीब यही हाल है।

हिंदुओं में अपने धर्म का बिलकुल अभिमान नहीं है; और न वे अपने भाइयों में ही धर्म-प्रचार का कोई उद्योग करते हैं। आग़ाख़ाँ के अनुयायी मुसलमानों की संख्या यहाँ ख़ूब बढ़ रही है। ये लोग 'खोजा' कहलाते हैं। यहाँ आग़ाख़ाँ के अनुयायियों का एक धर्म-मंदिर भी है। जिस दिन मैं उस ओर गया था, उसी दिन मंदिर के आचार्य की ओर से संप्रदाय की स्त्रियों को दावत दी गई थी। सैकड़ों स्त्रियाँ रंगीन फ़ैशनेबिल कपड़े पहने वहाँ एकत्र थीं। जाँच करने पर मालूम हुआ कि इस मंदिर में आग़ाख़ाँ की ओर से एक धर्माचार्य रहते हैं, और वह इसी प्रकार अपने धर्म का प्रचार किया करते हैं।

हिंदुओं के मंदिर कराँची में बहुत कम दिखलाई देते हैं। आर्य-समाज का प्रचार कुछ पढ़े-लिखे लोगों में अवश्य है; परंतु जनता में 'खाना-पीना और आनंद करना' इसी मत के लोग विशेष हैं। अधिकांश लोग व्यापारी हैं, और रात-दिन रुपए कमाने में मस्त रहते हैं। जो कुछ समय मिलता है, उसको ऐश-आराम और मनोरंजन में ही व्यतीत करते हैं।

श्रीयुत टी० एल्० वस्वानी एम्० ए० पहले लाहौर के दयालसिंह-कॉलेज, फिर पटियाले के महेंद्र कॉलेज में प्रिंसिपल थे। पीछे

साधु वस्वानी



'फ़ेयर'-हाल-पुस्तकालय (कराँची)

आप विरक्त होकर साधु हो गए। आपने कपड़े नहीं रँगे, किंतु मन रँग लिया है। परोपकार और ईश्वर-चिंतन में ही आपका सारा समय बीतता है। आप बड़े दार्शनिक विद्वान्, कवि और अँगरेज़ी-भाषा के उच्च कोटि के लेखक हैं।

जब मैंने सुना कि आप आजकल करांची में ही रहते हैं, तो उनके दर्शन की मुझे उत्कट अभिलाषा हुई। उन दिनों आप एक गाड़ी से पैर कुचल जाने के कारण बड़े कष्ट में थे। फिर भी मैं आपके दर्शन की अपनी प्रबल इच्छा को रोक न सका, और बाबू राम-प्रसादजी को साथ लेकर आपके भवन पर पहुँचा। वहाँ आपके सुयोग्य शिष्य श्रीयुत जेम-वानीजी से भी मुझे कार्य-वश मिलना था। श्रीजेमवानीजी तो मकान पर नहीं थे; परंतु साधुजी मौजूद थे।

हम साधुजी के कमरे में पहुँचे, तो सामने ही एक चारपाई पर खद्दर की चादर पैरों पर डाले, खद्दर की ही टोपी और कुरता पहने आप बैठे थे। हम लोगों को देखते ही आपने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, और मुसकिराते हुए बड़े प्रेम और आदर से बोले—"क्षमा कीजिएगा। हिंदू-सभ्यता और हिंदू-भाव के अनुसार तो मुझे दरवाज़े के पास ही चलकर आपका स्वागत करना चाहिए था; पर मैं इस समय असमर्थ हो रहा हूँ।"



एंप्रेस-मार्केट या सब्ज़ी-मंडी (करांची-कैंप)



हार्डिंज-ब्रिज या नेटिव जट्टी पुल (करांची)
(एक ओर गाड़ियों तथा मनुष्यों के चलने का पुल है, दूसरी ओर रेल गाड़ी का : बीच में समुद्र का दृश्य है)

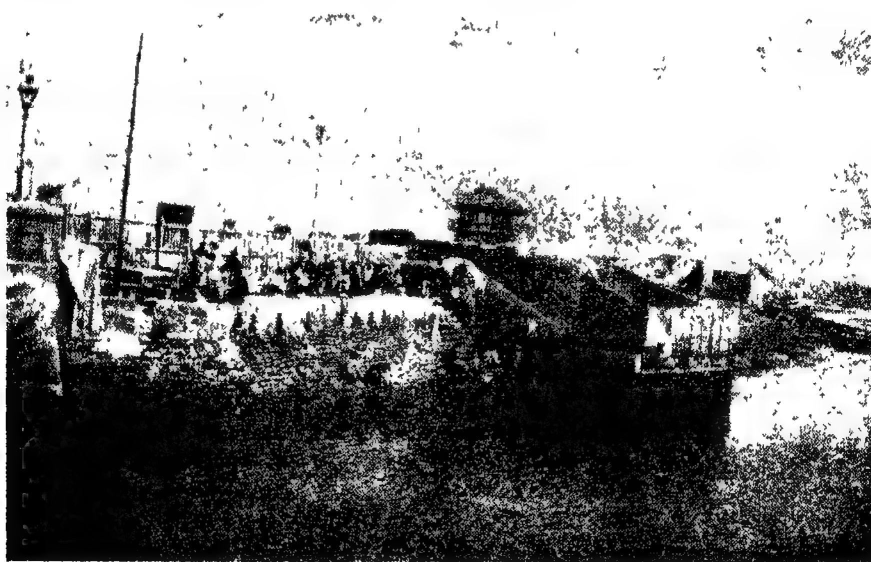
मैंने कहा—"मुझे आपके दर्शन की बड़ी इच्छा थी। कष्ट के लिये क्षमा करें।"

साधुजी को सचमुच ही इस समय बड़ा कष्ट था; पर उनका चेहरा प्रफुल्लित था। जान पड़ता था, अपने शारीरिक कष्ट की ओर उनका कुछ भी ध्यान नहीं है। मैंने उनसे कोई आध घंटे तक वार्तालाप किया। आप बड़ी प्रसन्नता और उत्साह के साथ वार्तालाप करते रहे। धन्य है आपकी सहनशीलता।

वार्तालाप का विषय "सिंध में हिंदी-प्रचार" था। इस विषय में आपने अपनी अमूल्य सम्मति प्रकट की।

आपने कहा—"पहले तो सिंध-प्रांत के लोगों में हिंदू-भावों का प्रचार करने की बड़ी आवश्यकता है। यहाँ के लोगों में धार्मिक भाव बिलकुल नहीं है। आचरण में सभी हिंदू लगभग मुसलमान हो रहे हैं। मद्य-मांस इत्यादि से तो बहुत कम लोगों को परहेज़ है। इनमें हिंदू-भाव और हिंदी-भाषा का प्रचार करने के लिये निःस्वार्थ तपस्वी उपदेशकों की आवश्यकता है। आज-कल के कार्यकर्ता नेताओं में तप की बहुत कमी है। आप इन नेताओं से, जो धनवान् लोगों के पीछे धन के लिये घूमते हैं, कुछ आशा नहीं कर सकते, और न इनका जनता पर कुछ प्रभाव ही पड़ सकता है। वास्तव में चरित्रवान् और तपस्वी नेताओं की ही आवश्यकता है।"

फिर तप की महिमा बतलाते हुए आपने कहा—"भारतवर्ष में तप का ही प्रभाव पड़ सकता है। यहाँ जो कुछ काम अब तक किया गया है, वह सब तपस्वी लोगों ने ही किया है। इस देश में बड़े-बड़े हिंदू और मुसलमान राजे-महाराजे हो गए हैं, जिन्होंने अपने समय में अपना बहुत कुछ प्रभाव फैलाया; पर आज उनका वह प्रभाव तो है ही नहीं, उनका नाम भी अज्ञात है। किंतु श्रीरामचंद्रजी के समान महाराजों का प्रभाव अब भी वैसा ही बना है। इसका कारण क्या है? यही कि वह सब त्यागी तपस्वी थे। जो ऋषि-मुनि भारत में हुए, सब तपस्वी थे। इसी कारण लाखों वर्ष बाद भी आज हमारे जीवन पर उनका पूरा प्रभाव है। उनके आश्रम अभी तक मौजूद हैं, और जब हम लोग उन ऋषियों में से किसी एक के भी आश्रम में पहुँच जाते हैं, तो हमारे चित्त पर विलक्षण प्रभाव



स्नान का घाट (कराँची)

(हार्डिंज-ब्रिज के पास, बंदर-रोड पर, समुद्र के किनारे स्त्री-पुरुषों के स्नान का घाट : स्त्रियों का घाट घिरा हुआ है)

पड़ता है। उन आश्रमों से पवित्रता का स्रोत आज भी प्रवाहित हो रहा है। इसीलिये इस समय तपस्वी नेताओं की बड़ी आवश्यकता है।"

इसके बाद आपने सिंध में हिंदी-प्रचार करने के ये चार उपयुक्त साधन बतलाए—

(१) म्युनिसिपल-बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा शिक्षा-विभाग में इस बात का प्रयत्न किया जाय कि पाठशालाओं और स्कूलों में अन्य भाषाओं के साथ ही हिंदी भाषा के पढ़ाने का भी प्रबंध रहे।



साधुवर्य टी० एल० वस्वानी एम० ए०

(२) हिंदी के समाचार-पत्र सिंध-प्रांत से निकले जायँ।

(३) धार्मिक संस्थाओं और मंदिर आदि में हिंदी की कक्षाएँ खोली जायँ।

(४) हिंदू लोग अपना बही-खाता, अपने सब निजी काम तथा पत्र-व्यवहार नागरी-लिपि और हिंदी-भाषा में किया करें।

हिंदू लोगों में हिंदू-सभ्यता और हिंदू-भाव के प्रचार पर आपने विशेष ज़ोर दिया।

साधुजी स्वयं बड़े तपस्वी और परोपकारी जीव हैं। आप आबाल-ब्रह्मचारी हैं। कराँची की जनता में सदाचार और धर्म का उपदेश सदैव करते रहते हैं। आपके चरित्र का कराँची में बहुत बड़ा प्रभाव है। स्वदेश और स्वधर्म की सेवा ही आपने अपने जीवन का लक्ष्य बना रक्खा है।

लक्ष्मीधर बाजपेयी

इंडो-सिदिया

(उत्तरार्द्ध)

असुर, सिरियन, असीरियन, विग्नु, काश्यप, फोनेशियन, ज्यू, हब्शु, खर

बलि-वंशी The Baal of Assur असुरों[1] की राजधानी प्रथम असुर उपनाम सुमेर थी[2]। असुर के बाद निमरोद राजधानी हुई[3], और उसके पश्चात निनीवह (Nineveh)[4]। असुर, कश्यप व दिति के पुत्र दैत्य थे[5]। पाश्चात्य भाषाओं के Diety और Dietas शब्द स्वयं दिति (Diety) तथा दैत्य (Dieta) के नाम हैं[5]। सुरा न ग्रहण करने से दैत्यों का नाम असुर पड़ा[6]। ईरानी असुर The Baal of Assur के उपासक थे[1]। कश्यप-सागर का नाम काश्यप इस कारण पड़ा कि उसके पश्चिमी तट पर काश्यप बसते थे[7]। ये काश्यप हिरण्यकश्यप के वंशज दैत्य हैं। असूरिया असुर शब्द का अपभ्रंश है। इसी

---

१ History of Persia, Vol 1, P 110

The worship of Baal of Assur of Zews(बृहस्पति) in Iran. बृहस्पति भी बलि के गुरु थे। मत्स्यपुराण पृ० १५६ etc

२ Assur and Sumer on the Persian Gulf, H P Vol 1, P. 50, 85.

३ Nimri and Nimrod, H. P Vol. 1, P. 85.

४. विष्णुपुराण।

५. Dictionary.

६. वाल्मीकीय रामायण—विशाला-वर्णन।

७ History of Persia, Vol. 1, P. 28

The Caspii tribe on the Western shores of the Caspian sea gave this name to this sea.

प्रकार सिरिया सुरपुर का । सुरपुर का नाम श्याम तथा मधुपुर भी है । श्याम तथा माधवकृष्ण ने सुरपुर को बाणासुर से जीता था[१] । सिरिया के आधुनिक निवासी (Phoenicians, Jews, Hebrew) आ के वंशज दानव अर्थात् सेमेटिक[३] हैं । त्रैपुर-युद्ध वीर विद्युन्माली दैत्य के वंशज विद्युन् (बदू) (Beduins[४]) हैं। विद्युन्माली की राजधानी त्रिकूत बसरा के निकट थी । बलसुरा (बसरा) में बदू अब भी हैं[५] ।

जेनेसिस की शीनार-भूमि सुमेर ही का नाम है[६] । निमरुद् निमि[७] असुर की राजधानी थी । निमि को बाइबिल में निमरोद् कहा है[८] ।

(२०) बैबिलोनिया के पाशे[९] वरुण (पाश) के वंशज हैं[१०] । वरुण का अस्त्र पाश था ; उनका नाम भी पाश था । टर्की के पाशा भी पाश-वंशी हैं ।

बैबिलोनिया के पाशे (*Pashe*) व पाशा (*Pasha*)

(२१) बैबिलोनिया के प्रलय-वीर तथा राक्षस-वंश के मूल-पुरुष निमि को पाश्चात्य निमिरुद् अथवा ग़िलमो (Gilgames[१]) कहते हैं । हूर या अहूर असुर का नाम है[२] । यदि ईरानी-वैकुंठ की यात्रा का कोई अभिलाषी हो, तो वहाँ उसे हूर और ग़िलमा (परशिया के असुर व बैबिलोनिया के ग़िलमा यहूदी) मिलेंगे । बहिश्त में हूर और ग़िलमों के मिलने की कथा का तथ्य यही है । ग़िलमा निमरुद के वंशज दानव (यहूदी) हैं । खर, तृण के भवनों में रहनेवाले असुरों का नाम है[४] । अब भी बैबिलोनिया में बहुधा तृण ही के भवन बनते हैं[४] ।

हूर व ग़िलमा *Ahura & Gilgames.*

(२२) किश (Kish कुश), कासाइट (Kassites), इरिज (Erij), शम्स (Shamsh), हदीस (Helios, Heliadae, Sols, Sun-born-Menes, Minos or Menes, Hades), सूर्यस् (Suryas), मित्र (Mithra), टाइटन शासन (Titans), (गिरगिस्ट) नृग (Negritos), काकर (Kakar Pathans), पठान (Ghirghisht), शनि (Saturn), शर्क़ैहहीन-वंश (Jamshid) ये सब नाम पाश्चात्य देशों में सूर्य अथवा सूर्य-वंशियों के हैं ।

(क) किश-वंश (Kish dynasty) का राज्य ईलाम में २७५०-२६५० वर्ष ईसवी सन के पूर्व था[५] । ईरान में किश (Kish)-नामी एक प्रदेश भी था । किश के पौत्र गिर-

१. इलावृत-खंड का सुरपुर (Ayla के ऊपर Syria) Shiam or the Syrian See Tod's Rajasthan and मत्स्यपुराण ।

२. भागवत-पुराण—ऊषा की कथा—ऊषा व अनिरुद्ध का ब्याह ।

३. Semetic civilisation The greatest builders, H. P Vol. 1, P 132 etc

४ Beduins of Basra, H P Vol 1, P 531 Vol. II, P. 27 etc.

५ Balsora or Basra, H P Vol 1, P. 27.

६. H P, Vol 1, P 50

Sumer which is referred to as the Land of Shinar in the book of Genesis.

Genesis X - 10

७. निमि—राक्षस-कुल के मूलपुरुष ; जैन-इतिहास ।

८. Nimrod of Genesis or Gilgames or the Deluge Hero, H. P. Vol 1, Gilgames.

९. Pashe dynasty of Babylon, H. P. Vol. 1, P. 83.

१०. वरुण का नाम पाश भी था । पाश उनका अस्त्र भी था ।

मत्स्यपुराण पृ० ६४४

तौ पाशशीतांशुधरौ वरुणेन्दुमहाबलौ ;
द्वावम्बुदनाथौ समरे तौ पाशहिमयोधिनौ ।

१ Gilgames in the legend of Deluge Gilgames being himself the Nimrod of the book of Genesis, H P Vol 1, P 62

२ Asura of Sanskrit-Ahura of Avesta, H. P Vol. 1, P 107

३. Iranian Paradise, H P Vol 1, P 117.

४ The houses in Babylonia were constructed of reeds etc, H P. Vol. 1, P. 67.

खर, खरारि, खरदूषण etc.

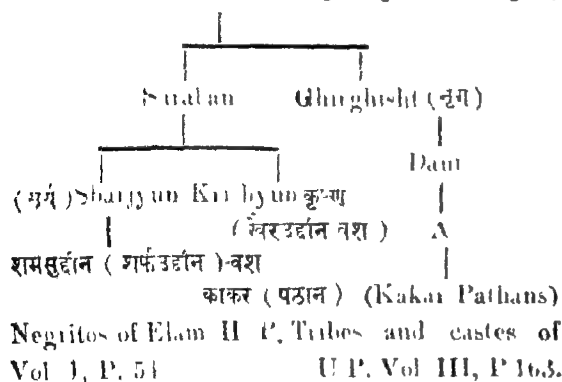
५ Upon the down fall of Lagash rose the dynasty of Kish (2750-2650 B C) History of Persia, Vol. 1, PP. 50, 70.

६. Akhad or Agada had Sippar, Kish, Babylan and Barsippa, H. P. . . 1 P. 50.

गिस्ट (नृग) (Ghirghist) थे[१] । इनके वंशज गिर-गिस्ट पठान और ईरानी नृग Negrito है[१] । काकर पठान तथा शर्फ़उद्दीन-वंशी भी इन्हीं नृग एवं किश के वंशज हैं[१]। किश्म (Kishm)-द्वीप तथा खुरासान के निकट किशमार (Kishmar) नाम का एक और स्थान इन्हीं के स्थान ईरान में है । शमसुद्दीन-वंशी भी सूर्य (शम्स) के वंशज हैं[२] । शम्स (सूर्य) बेबिलोनिया के भी राजा थे[३] । कासाइट उपनाम सूर्यस् (Suryas) सूर्य-वंशियों का राज्य १७००-११३०वर्ष ईसवी सन् के पूर्व बेबिलोनिया में था । इन्हीं कासाइट (Kassites) उपनाम सूर्यस(Suryas) का राज्य, जो Helios के नाम से प्रसिद्ध है, ग्रीस में था । कश्यप (फिरदुन) (त्रैतन) के पुत्र इरिज (सूर्य) भी ईरान के राजा थे[४] । साल (Sal)[६] भी सूर्य का नाम है ।

ग्रीस के Heliadae व Heraclidae राज-वंश सूर्य-वंशी थे[१]। ग्रीस के राजा आद्र तथा यवनाश्व Heraclidae-वंशी थे[१] । ईरानी इतिहासज्ञ भी (Mitra or Mithra) मित्र एवं सूर्य को भाई मानते हैं[२] । मित्र ईरान के इंद्र (प्रधान नरेश) थे । इनकी राजधानी कदाचित् कपिदेश Cappadocia) में थी, जहाँ इनका शिला-लेख वरुण के शिला-लेख के साथ मिला है[३]। मिसर के नरेश(Sun-born Mines)वैवस्वत-मनु तथा स्पार्टा के नरेश (Menes or Minos) ककुत्स्थ थे । ग्रीस के राजा हदीस एवं ईरानी धर्म-शास्त्र(हदीस)-प्रचारक सूर्य के पुत्र यम (Hades) थे[४]। यम के भाई शनि ग्रीस और रोम के प्रथम नरेश एवं उपास्य देव शनि (Cronus या Saturn) थे[५] । मित्र की वीर-पूजा चेस्टर, यार्क, जर्मनी, रोम तथा ग्रीस आदि देशों में भी होती थी । यह उपासना उनके इंद्र होने की वीर-पूजा है[६] । योरप

१. Ghirghisht was the youngest son of Kais or Kish, the great ancestral progenitor of the Afghan Nation of Modern times. They claim to be Rajputs



Negritos of Elam H P, Tribes and castes of Vol 1, P. 54 U P. Vol III, P 163.

२ Shamsh, the God of the Sun H P Vol 1, P. 54.

३ Shamsh worshipped in Babylonia. H P. Vol. 1, P. 119

The Aryan Kassites and their cheif God Suryes the Sun Suryes Indian Surya and the Greek Helios

४ Erij, son of Feridun and father of Manuchehr सावर्णिमनु, King of Persia, H. P Vol. 1, P. 142.

६ Sol=the Sun (Dictionary).

१ The ancient Heraclidae of Greece asserted, they were as old as the Sun May not this boast conceal the fact that the Heliadae (or Suryavansh) of Greece settled anterior to the Indu-(Lunar) Herculas (or Atrews—Hercules)

Tod's Rajasthan, P. 45.

[See आद्र father of यवनाश्व and Adriatic Sea and Adrianople and, Ionian Sea and Ionian Islands

२ Whatever the origin of the duality (Mitra and Anhita) he was also on the way to the Sol invicties of Mithraism, H.P. Vol. 1, P. 247.

३ H P Vol 1, P 102.

४ Tod's Rajasthan and Dictionary, See Minataur and Minas See Hades, Pluto, Yama or Jamshid, or the King of the Dead, the first King of Persia, H. P Vol 1, P. 110 and Dictionary.

Vide also Yamut tribe and Yamathal. H. P Vol 11, P. 564.

५ Dictionary

६ H.P. Vol 1, P. 418 etc, See Mithra cult in Europe and Iran, also Dictionary, 'Mithra or Mitra.'

के विजेता Titans सूर्य-वंशी थे[1]। योरपवाले इनको (Uranus) कश्यप और Gaea के पुत्र मानते हैं[2]। ईरानी शासन-वंश (Sasaman) सूर्य-वंशी थे[3]। राजों के ईश्वरीय अधिकार (Divine right of Kings), इस मत के ये पक्षपाती थे। अतएव शिया हैं, और सुन्नियों के विरुद्ध हैं।

बसु
The Busae

(२३) यमराज के वंशज बसु ईरान के निवासी हैं। वहाँ इनको The Busae कहते हैं। इनका स्थान कश्यप-प्रदेश के निकट था। ये मद्र (Medes) की एक शाखा थे। (H. P. Vol 1, 103)

द्रौपनी बाजी
Dropana Bazi

(२४) महाराज द्रुपद बाजश्व के वंशज हैं। बाजश्व अजमीढ़ के वंशज थे। द्रुपद की कन्या द्रौपदी का 'पंचभर्ता' होना पाश्चात्य लोग एक सिदियन रीति मानते हैं। बैबिलोनिया के बाज़ी-(Bazi Dynasty) वंशी राजे कदाचित् महाराज बाजश्व के वंशज थे। ईलाम में एक द्रौपनी-जाति रहती है। द्रौपनी संभवतः द्रुपद के वंशज हैं। स्वर्गारोहण (ईरानी-यात्रा) में द्रौपदी अपने पिता द्रुपद के घर में, ईलाम (द्रौपनी-प्रदेश) में, रह गई थी। अजमीढ़ का राज्य अज (सिरिया) और मीढ़ [मिदिका (Medes) तथा मेसीडोनिया] में था।

छलदेशी
Chaldean Chaldea

(२५) बैबिलोनिया का नाम छलदेश (Chaldees) भी है। यहाँ के निवासी छलदियन (Chaldeans) कहलाते हैं। वामन ने बलि को बसरा (बलसरा) में छला था। इस देश के छल नाम होने का यही कारण है।

कुदुर (कद्रव)
Kudurs Kadrus Casus (Cadesia)

(२६) ईरानी ईलाम के नरेश कुदुर कुकूमल, कुदुर-लगमर, कुदुर-माबुग, कुदुर-ननखंडी, कश्यप और कद्रु के वंशज काद्रव थे। कादस भी काद्रव थे। कादसों के देश कादेसिया (Cadesia or Kadesivah) और कुर्दिस्तान (कश्यप-सागर के निकट) थे।

बुधवर्णी
The Budu

(२७) ईरान के बुध-वर्णी बुध के वंशज हैं। पार्शियन (Persian मद्रनाथ, अबुद्नाथ) पुरूरवा के वंशज हैं[4]। चंद्रमा के पिता अत्रि की राजधानी अत्ररबिजान (अत्रिपत्तिन) थी[5]। स्कैंडिनेविया के (Woden) तथा ट्यूटन के Tues भी बुध के उपासक और

---

१. कश्यप के पुत्र सूर्य व पृथिवी (Gaea) के पुत्र मंगल थे।

२. Titans=Sun personified. Titanic Wars in Europe. Tod's Rajasthan and Dictionary.

३. Sasan, from whose head the Sun illuminated the whole world, was King of Persia

History of Persia, Vol 1,
Sasaman Dynasty.

४. Of this race was Drupada, father of Droupadi, the wife of the 5 Pandu-brothers, manners peculiar to Scythia.

Drupada was of the Aswa race, being descended from Bajiswa of the line of Ajmedha. Ajmedha by his wife Nila had many sons, who spread their lines beyond the Indus. They migrated to distant regions.

It is possible they might be the ancestors of the Medes who are descended from Aswati Aja-goat. Syrian was called 'Goat'. The Macedonians were the Rams, (मेष)

Tod's Rajasthan PP 37, 43

Dropani of Elam. History of Persia, Vol. 1, P 76

The invasion by the Elamite of Ur was responsible for the departure from Ur of the Chaldees of Abraham's tribe. History of Persia, Vol 1 P 78

The Chaldeans or Babylonians, H. P. Vol. 1, P. 81

२ History of Persia, Vol 1, P 53

३ The Budu and the Magi were Turanians, H. P. Vol. 1. P. 103.

४ Persian in Elburz range, H. P. Vol. 1, P. 204

५ Azerbaijan or Atropatine, H. P. Vol. 1, P. 319.

उन्हीं के वंशज हैं। बुध-वंशी The Budumad (Media) में रहते हैं। पुरूरवा मद्र (मिडिया) ही के राजा थे।

(२८) फ्रिजियन या भृगी शुक्राचार्य (भार्गव) के वंशज हैं। भृगु ऋषि का स्थान फ्रिजिया उपनाम अंगिरा (अंगोरा) में था। ऋानिस भी भृगु-वंशियों का एक दूसरा देश है।

फ्रिजियन या भृगी
Phrygians or Bhrigu

(२९) ग्रीस के राजा हरिकुलिस (Hercules) मथुरा के हरिकुल-बलराम थे। सिदिया के हिराक्लिद अत्रियस (Atreus) अत्रि के वंशज बलराम के अपत्य थे। मुद्रा का प्रचार योरप में हिराक्लिद ने ही किया था। रोम और ग्रीस के Heraclius-वंशी हरिकुल-बलराम के वंशज थे। इनका हिराक्लिया Heraclia-नगर ईरान में अब तक विद्यमान है।

हरिकुलिस (हरिकुल)
Hercules, Heracled, Heraclius, Heracles

(३०) महाराज शांतनु के भाई बल्हिक का राज्य बल्हिक (बलख), सिरिया (बाह्लीक), तथा ग्रीस (बल्लकन) में था। बल्हिक-पुत्र बलराम के वंशज थे।

बल्हिकपुत्र
Balcaputras

(३१) ईलम के शुशिनाक शेषनाग-वंशी थे। शुशिनाक, बाशा शुशिनाक, शिलहक-शुशिनाक आदि ईरान के शेषनाग-वंशी राजा थे। शेषनाग कश्यप और सुरसा के पुत्र थे। वासुकि (अजदाहक) (ज़ोहाक) सिरिया के राजा थे। जमशिद (यमराज) को ज़ोहाक ने मारा था।

शुशिनाक-वंश
Shushinak Dynast

ज़ोहाक
(Zohak)

(३२) मग, मगस, मानस, मंदग और मौनीमुनि (देवल), सूर्य तथा छाया की संतति, और ईरान के निवासी हैं। मित्रावरुण वसिष्ठ भी मग थे। ज़ोराष्टर भी मग थे। बसरा के मंदग (Mandeans) शैव थे। उन्हीं के (Sabean) शैव-धर्म का रूपांतर आधुनिक मुसलिम-धर्म है। मगों के देश पारदिया और आरमेनिया थे। इन्हें पार्थिव-श्रेष्ठ, सूफ़ी एवं मौनीमुनि भी कहते हैं।

मग, मगस, मानस, मंदग, मौनीमुनि
Magi-Magas, Mandeans, Manes

(३३) भारतवर्ष के दो राजे कृष्ण (Kishane) और दमित्र (Demeter विष्णु), ईसवी सन के १८० वर्ष पूर्व आरमेनिया के नरेश, बलर्षक के यहाँ गए थे। उन्हीं के वंशज कुशान, डिमीट्रियस (दमित्र) कुँअर मेघतेस, और उनके वंशज मेघस्थनीज़ हैं। होदियस दमित्र के पुत्र थे। ये आरमेनिया के विशप-नगर में बसे। सेंट ग्रेगरी ने इनका धर्म बलात नष्ट कर दिया। उनमें से थोड़े-से बचकर भारतवर्ष लौट आए। इन्हीं के स्वदेश-पुनरागमन को पाश्चात्य लोग इंडो सिदियन आक्रमण कहते हैं।

कृष्ण (कुशान), दमित्र (विष्णु), होदियन, कुँअर मेघतेस, मेघस्थनीज
Kishane-Kushan, Demeter Demetrius, Hud, Kunwar Megates

१ Tod's Rajasthan and Dictionary. Budha (Mercury) the son of the Moon became the patriarchal and spiritual leader as Fom Chinese, Woden and Teutates of the tribes migrating to Europe. See Teutates and Toth, Tata and तात, the Mercury in Egypt. Tod's Rajasthan P. 50

२ Balica or Balkh, the mother of cities Tod's Rajasthan

३. Shushinak, the God, H P Vol. 1, P. 50
Bashar-Shushinak, H P. Vol. I, P 57
Shilhak-i-Shushinak, H P Vol, P. 58

Zohak, from whose shoulders hissing snakes grew, was legendary King of Syria. He killed Jamshed but was himself killed by Traitana and Kawa H P Vol I P 112

४. भविष्यपुराण, अ० १३३।

The Magi the Magas, the Mandeans, the Manai or the Manians of Iran H. P Vol II P 103 319, Vol II P I Vol I, P 124

ईरान=उत्तर-कुरु-देश, विश्वकर्मा का देश है। विश्वकर्मा मग, मगस, मदग तथा मनस के नाना थे। भविष्यपुराण, अ० १३३।

The Mandeans who professed Sabeanism, H P.

See Sabeanism, H P

कनिष्क आदि कुशान एवं शालिवाहनों के शत्रु हूदी इन्हीं के वंशज हैं, जो भारतवर्ष लौट आए थे। कुशान, हूदी, द्मित्र और मेघस्थनीज़ का इतिहास यदि ज़ीनब (Zenab) पादरी ने न लिखा होता, तो पाश्चात्यों के इस लांछन का कि इंडो-सिदियन हिंदुओं में विलीन हो गए, उत्तर देना कठिन हो जाता। परंतु भाग्य-वश यह इतिहास विद्यमान है। पाश्चात्यों के लांछन का आधार है इन्हीं दो वंशों का भारतवासियों से मिल जाना; किंतु ये दोनों वंश तो क्षत्रियों के ही थे, जैसा ज़ीनब के इतिहास से सिद्ध है। यदि वे लौटकर क्षत्रियों में मिल गए, तो क्या दोष है? मेघस्थनीज़ का अर्थ Nobles है[१]। पारदों के सरदारों का नाम भी मेघस्थनीज़ था।

(३४) ईरानी अरॉट—अत्यरात-वंशी आरमेनिया के निवासी हैं। ईरानी तपोरत अत्यरात के भाई तपोरत के वंशज हैं। ईरानी उर वंशी महाराज अत्यराति जानंतपति के भाई उर के वंशज हैं। उनके भाई अंगिरा तथा मन्यु (अमर) के वंशज कदाचित् अमरडियंस (Amardians) हैं।

अमर (*Amardians*), उर-वंश (*Urdynasty*) तपोरत (*Tapuretae*) व अरॉट (*Arrat*)

(३५) ईरानी ज़ोरास्टर पार्थिव-श्रेष्ठ, मग और वरुण के उपासक थे। इन्हीं मगों का ज़ोरास्ट्रियन धर्म है।

ज़ोरास्टर धर्मानुयायी

(३६) फूस के भवनों में रहनेवाले व फूसिया-प्रदेश के निवासी फूसिया, सर्ती, सेमाइट और कलदेशी (यहूदी, ज्यू) दानव थे।

फूसियन (*Phocian*), सर्ती (*Suti*), सेमाइट (*Semites*), कलदेशी (*Chaldeans*)

(३७) ये श्वतांबर हुन (White Huns)-वंशी हैं। ये ओंग-देश (तिब्बत) के निवासी थे।

ओंगत (*On-gut*)

१. Megistanes or nobles of Parthia, H. P. Vol 1, P. 393.

(३८) कंधार के मार्तवैस वृषलत्व-क्षत्रिय हैं।

मार्तवस (*Mar Vats*)

(३९) ये पंजाब के सारंग-प्रदेश के निवासी और हूदी वंश के वैष्णव-क्षत्रिय हैं।

सारंग (*Sarangians*)

(४०) गर्ग (Gurg अथवा Gurgan) जॉर्जिया या गिरगा (Georgia या Gurga)-प्रदेश के निवासी गर्ग ब्राह्मण हैं। बेबिलोनिया के शुक्र (Sukkals) शुक्र हैं। मिसर के मिसरम (Misraim) मिश्र-ब्राह्मण हैं। मिश्र के केपियट (Capiots) तथा काबुल के पुष्तन पठान कपि एवं पुष्कर के वंशज हैं। टयूनिस के काबिस (Cabes) शुक्राचार्य काव्य के वंशज भार्गव हैं। ईरानी च्यवन (Achaemenians) के वंशज च्यावन हैं।

गर्ग (*Gurg* या *Georgia*), शुक्र (*Sukkals*), मिसरम (*Misraim*), कपि (*Capiots*), पुष्तन (पठान), काबिस (*Cabes*), च्यावन (*Achaemenians*)

उपर्युक्त प्रमाणों से विदित होगा कि शाकद्वीप (सिदिया) की ये सब जातियाँ पौराणिक हिंदू थीं। पिंकरटन (Pinkerton) का मत है कि गंगा से कास्यप-सागर तक इंडो-सिदिया या इंडो-जेटिक देश था[१]। स्ट्रैबो (Strabo) का मत है कि कास्यप-सागर से पूर्व की समस्त जातियाँ एक ही वंश-वृक्ष और धर्म की थीं, तथा उन्हें सीदियन कहते थे[२]। समस्त सिदियन-जातियाँ बुध और सूर्य की उपासक थीं[३]। भारत की गौरी, मिसर की डायना (Diana), स्वीडा

१ Indo Scythia or Indo-Getic empire extended from the Ganges to the Caspian. Pinkerton

Tod's Rajasthan, P 440.

२. All the tribes east of the Caspian were called Scythic Strabo. Tod's Rajasthan, P 56.

३. All the Indo Scythic invaders held the religion of Budha. Tod's Rajasthan, P. 56 Suryes the God of all nations. Tod's Rajasthan, P. 438.

(Suevi) की आइसिस (Isis) या अर्थ (Ertha) और फ्रांजिया (Phrygia) की सिबोल (Cybele) एक ही थीं[१]। पुराणों में सिदियन और जंबूद्वीप की जातियों के वंश-वृक्ष एक ही हैं[२]। शिवरात्रि को स्कैंडिनेविया में भी मैदर नाइट मानते हैं[३]। सूर्य के जन्म के फाल्गुन-मास को ग्रीस और मिसरवाले भी Phagesia या Phamenoth नाम से उत्सव का समय या त्योहार मानते थे[४]। बैबिलोनिया और सिरिया तो हिंदुत्व के सदैव से केंद्र एवं प्रामाणिक क्षेत्र थे[५]। बालिनाथ की उपासना बाइबिल से भी (Belovus) प्रमाणित है[६]।

बाइबिल के निमिरुद (निमरोद Nimrod) पौराणिक निमि (राक्षस)-वंश के मूल-पुरुष थे[७]। असुर-देव (the Assur Baal or Baal of Assur) पौराणिक राजा बलि हैं[८]। इनका कुलदेश (Chaldees) बैबिलोनिया था। यहीं वामन ने इन्हे छला था[१]। ज़ोरास्टर के हुरमुज़्द या हुरमुज़ आकाश-देव पौराणिक वरुण है,[२] जिनकी राजधानी इलाम का महा-प्राचीन नगर सूषा (Susa) थी[३]। मिसर के ऑसिरिस, एप्स और हरमीज़ (Osiris, Apes तथा Hermes) भारतीय शिव, नंदी तथा ब्रह्मा हैं[४]। भारतवर्ष से योरप तक मित्र[५], शनि[६], सूर्य[७], बृहस्पति[८], बुध[९], मंगल[१०], चंद्रमा[११], शुक्र[१२], अग्नि[१३], इला[१४], विष्णु[१५], अंगिरा-मन्यु[१६], शिव[१७], सती[१८],

१. Tod's Rajasthan, P. 438.

Gouri compared with the Diana of Egypt, the Isis or Ertha of the Suevi and the Phrygian Cybele.

२. The Puranas incorporate the Scythic tribes with the Hindus. Tods' Rajasthan, P. 440.

३. Tods' Rajasthan P. 441.

४. Tods' Rajasthan, P. 491.

Phalguna called Phamenoth in Egypt, and Phagesia by the Greeks sacred to Dionysus.

५. That Hinduism pervaded the whole of Babylonia and the Assyrian empire scriptures furnish abundant proof. Tods' Rajasthan, P. 140.

६. See Balonus, worship of.

७. जैन-इतिहास, खंड २, निमि राक्षस-वंश के नेता Nimrod, the Deluge—Hero of Genesis—Genesis X.

८. The Baal of Assur राजा बलि H. P. Vol. 1, P. 110.

९. Chaldees or Babylonia, H. P. Vol. 1. PP. 50, 51.

See also Chalsedon (छलमदन) H. P. Vol. 1, P. 475.

Chalsis H. P. Vol. 1, P. 215.

Chaldisan village near Khoi, H. P. Vol. II, P. 245.

१. मत्स्यपुराण (बलि इलावृत-खंड में बाँधे गए थे)

२. Varuna or Hormuza or Hormuzo the Sky God of Persia, Vol. 1, PP. 105, 110.

३. Susa the capital of Elam and the most ancient site in the world. History of Persia.

सुषानाम पुरी रम्या वरुणस्यापि धीमतः।

(मत्स्यपुराण-भविष्य-पुराण)

४. Tod's Rajasthan Ch. XXII.

५. Mitra cult in Europe and Iran, H. P. Vol. 1, P. 4.9.

६. Worship of Kronus or Saturn in Iran Greece and Rome. Dictionary and H. P. Vol. 1, P. 1.0.

७. Helios in Greece, Shamsh in Babylonia Suryas in Persia and Sol in Europe.

८. Jupiter in Arabia, Greece (Zeus) and Rome and Thor in Scandinavia and Germany.

९. Woden, Odin a Tod's Rajasthan, P. 56.

१०. Mercuries in Egypt, Greece, Rome, Persia, and Scandinavia. Tod's Rajasthan.

Wodensday of Northmen, Mardi of France, the dies Martis of the Romans.

११. See Mondayne or Mundane=belonging, to the whole world. Dictionary.

१२. Worship of Venus in Karbala. Egypt, Phrygia, Greece and Rome.

१३. Zoroastrianism and Judaism.

१४. Ella, Erth etc in Scandinavia, Greece, Rome, China, Persia, etc.

१५. Ceres of Rome, Demeter of Greece and Persia, etc. See also Cereals (अन्न)

१६. History of Persia, Vol. 1, P. 110.

Angyra—Mainyu or Ahriman or Satan or the spirit of Evil.

१७. Osiris of Egypt. Bacchus of Greece and Rome.

१८. Hestia of Greece or Vesta of Rome.

बलि', कामदेव, ब्रह्मा, शेषनाग, हरिकुल, कृष्ण और बलराम, एकलिंग, मरुद्गण आदि हिंदू-नरेशों तथा उपास्य देवों की वीर-पूजा होती थी।

भारतीय (कुमार) षडानन, रोम के मार्स (Mars), ग्रीस के जुनो (Juno), स्कैंडिनेविया के सामेज़ (Sammes), सैक्सनों के ६ सिरवाले युद्ध-देवता (Six headed War-God) तथा किम्ब्री (Cimbri) के ६ सिरवाले मार्स (Six-headed Mars), जिनकी उपासना Wesen पर इरमानस्यूल (Irmanseul)-मंदिर में Sacasenae एंग्लो सैक्सन, the Catti जर्मन, the Siebi or Suevi स्वीबी, the Jotæ or Gete जाट और Cimbri सिंब्रियाई करते थे, एक ही थे। ग्रीस का सैटरनेलिया (Saturnalia), भारत की फगुई और मिसर की होलिका (Phallica), तीनों एक ही त्योहार हैं। खड्ग की पूजा इंडिया और सिदिया में एक सी थी। दशहरा सिदिया में भी मनाया जाता था। भारतवर्ष के गणेश, रोम के जनु (Janus) और ईरान के गरगॅस (Gurganes) भी एक ही थे।

भारतीय लक्ष्मी और रोमन Juno Moneta (जाह्नवी माता) तथा Minerva और उनका वाहन उल्लू (owl) एक ही है। यमदीप (यमद्वितीया) या the Lamp of Pluto के त्योहार एक ही हैं। दीवाली (the festival of lamps) मिसर, ईरान, अरब और चीन में भी मनाई जाती थी। शबरात दीवाली ही है। Finlanders के उपास्य-देव यमल (Yamala) यम ही हैं। ईरान में भी यमथल-प्रदेश तथा यामूत (Yamut) थे। उपर्युक्त प्रमाणों से विदित होगा कि इन सब देशों के इतिहास की पौराणिकता (Mythology) भी भारतीय है। योरप में ये सब देव परदेशी (Imported) माने जाते हैं। योरप ने इनकी उपासना ईरान से सीखी। परशिया में सबसे प्रथम मंगल (Zeus), सूर्य (Sun), चंद्र (Moon), इला (Earth), अग्नि (Fire), वरुण (Water) और मरुद्गणों (Winds) की उपासना होती थी। इन्हीं देवों की उपासना ईरान से योरप ने सीखी। ईरान (शाकद्वीप) और जंबूद्वीप (India), दोनों का सम्मिलित नाम भारतवर्ष था। इन दोनों देशों के ७वें मन्वंतर के सब देवता एक ही हैं। बिना किसी राजनीतिक ऐक्य अथवा कुल की समानता के लगातार इतने देवताओं की अकस्मात् वीर-पूजा का दोनों देशों में एक ही नाम से होते रहना असंभव है।

उपर्युक्त देवों में से अंगिरा और मन्यु तथा उनके भाई अश्वराति, तपोरत, उर और पुर ईरान के ६ पवित्र अमर (the Six Holy Immortal Ones) माने जाते हैं। ये न तो परशिया के देव थे, और न योरप के, प्रत्युत ये भारतवर्ष के नरेश और चाक्षुष-मनु के पुत्र थे। ईरान

१. Baal of Assur, H P Vol I P 110
२. Cupid—Tods' Rajasthan
३. Hermes of Egypt } Tods' Rajasthan, H P Vol 1, P. 110
Hormuzd of Persia
४. Zohak of Syria, Shushinak of Persia and Babylonia
५. Appollo, Hercules and Mercuries of Greece.
६. Eulil of Babylonia } H P Vol. I, PP 68, 38
Lingat of Elam
७. Maruthas of Persia "The Winds of Herat".
८. Tods' Rajasthan, P 58
९. Tods' Rajasthan, P. 438
१०. Tods' Rajasthan, P. 157.
११. Tods' Rajasthan Chapter XXII.
१२. Tod's Rajasthan, Chapter XXII
१. Tod's Rajasthan Chapter XXII
२. History of Persia, Vol II, P 564
३. It must not be supposed that Mitra was the only God imported from Persia into Europe. At the head of the divine hierarchy stood cronus or Saturn, representing Infinite Time. Mithraism was a purely Iranian religion introduced into Europe. H P Vol I P 420.
४. The Persians offered sacrifices to Zeus, the sun, the moon, the earth, the fire, the water and the winds. To these alone they offered sacrifices' Herodotus. H P. Vol. 1, P 106.

मे इनकी वीर-पूजा Ahriman, the spirit of Evil की उपाधि से, और हेब्रू-देश में शतान (Satan) के नाम से इनके तीव्र आक्रमणों के कारण ही भय-वश होती थी। ईरानी-इतिहास साक्षी है कि ये परदेशी एवं ईरान के विजेता देव थे --

(क) Ahriman or Angyra—Manyu or Satan created all noxious creatures which it is the bounden duty of all the faithful to destroy H. P. Vol. I, P 113.

(ख) Fundamentally hostile to Ahura-Mazda and having power to thwart his beneficient *action for a while* is Angyra-Mainyu or Ahriman the spirit of evil, who is almost identical with the Hebrew Satan, H. P. Vol. I, P 112.

शत्रु-भाव से अंगिरा-मन्यु की वीर-पूजा ईरान और ग्रीस (Worship of Memnon मन्यु) की राजनीतिक परतंत्रता का एक प्रमाण है। रोम की कृषि और कौटुंबिक परंपरा शनि से[१], और ग्रीस की शनि के पुत्र (Zeus) तथा (Ceres) विष्णु से आरंभ हुई[२]।

कौटुंबिक परंपरा

ईलाम की वंश-परंपरा वरुण तथा शेषनाग से, तथा राज्य-क्रम यम से आरंभ हुआ[३]। मिसर का प्रथम राजवंश (Sun-born Menes) वैवस्वत-मनु से आरंभ हुआ। ईरान का द्वितीय राजवंश शेषनाग और तीसरा उर-वंश है[४]। ग्रीस के प्रथम राजवंशी अत्रि (Atreus) तथा यवन (Yavan) है[५]। बैबिलोनिया का प्रथम राजवंश मत्स्य है[२]। ईरानी कथानक है कि मत्स्य-वंश का राज्य यहाँ जल-विप्लव (Deluge of Noh) के ६,९१,२०० वर्ष पूर्व था।

ये सब प्रायः ७वें मन्वंतर के देवता व नरेश है। इससे विदित है कि हिंदुओं ने प्राय. ७वें मन्वंतर में इन देशों को उपनिवेश बनाया था, और यह प्रवास मध्य-एशिया से कदापि नहीं, प्रत्युत भारतवर्ष से हुआ था; क्योंकि आर्य (India) जंबूद्वीप में स्वायंभुव-मन्वंतर से विद्यमान थे। इनके पुत्र प्रियव्रत ने इसका नाम जंबूद्वीप रखकर इसका राज्य-शासन अपने पुत्र अग्नीध्र को दिया था।

ग्रीस तथा रोम के प्रथम पौराणिक नरेश शनि[३], तथा परशिया में प्रलय के पश्चात् प्रथम यात्री एवं राजा यम की जन्मभूमि जंबूद्वीप थी। इनके पिता सूर्य की राजधानी आदित्यपुर (मूलस्थानपुर अथवा मुलतान) थी[४]। सूर्य के पिता कश्यप की भी राजधानी कश्यपपुर उपनाम मुलतान थी[५]। यम के भाई वैवस्वत-मनु की राजधानी अयोध्या थी[६]। अतएव यम, शनि तथा सूर्य के भाई

१ Saturn the ancient God of Rome and God of agriculture

२ Zeus, son of Cronus (शनि) and brother of Ceres विष्णु, Jupiter (बृहस्पति), Poseidon (वरुण), Hades (Pluto) यम etc. See Dictionary

३ Shushinak, the ancient God of Elam, H.P Vol I, P 57 Hormuzd the Supreme Lord the creator H P Vol I P 110 The Hero Yama, the setting sun was the first *to arrive* and to show the way to many to this Land of Death (परशिया) the Iranian plateau, the Upvarta or Doshakh (दोज़ख) after the Deluge History of Persia

४. Tods' Rajasthan, P 30

५ The dynasty of Shushinak ruled before the dynasty of Ur H P Vol I, P. 57

१ यवन सूर्य वंशी आद्र के पुत्र यवनाश्व थे। See Adriatic and Ionian seas, अत्रि चंद्रमा के पिता थे। Tods' Rajasthan, P 45

Heraclidae and Atreus dynasties

२ Pannes half man and half fish, and his descendants ruled Babylonia for 6 91 200 years H. P Vol I P. 65

३ Mythology is the parent of history—Tod's Rajasthan Saturn, Saturnalia and Sabath day Saturday last Saturday holiday

Saturn the God of Agriculture of Greece and Rome

४ The Hero Yama was the *first to arrive* to the Iranian plateau, then the Land of Death, Doshakh (दोज़ख) H P Vol I, P 109 etc

५ Cunningham, Vol V

मुलतान, मूलस्थानपुर, आदित्यनगर, हंसपुर, भागपुर, काश्यपनगर, साम्बपुर इत्यादि मुलतान ही के नाम है।

६ मनुपुरी या अयोध्या वाल्मीकीय रामायण। अयोध्या मनु की बसाई है।

विष्णु, मित्र एवं वरुण जंबूद्वीप ही से शाकद्वीप आदि देशों को गए थे।

पाश्चात्यों का यह मत कि मध्य-एशिया से आर्य लोग योरप को गए थे, पौराणिक मत, ईरानी और ईसाई-इतिहास-ग्रंथ, तीनों से असत्य है[1]। इसकी असत्यता के अनेकों प्रमाण ईरानी-इतिहास में विद्यमान हैं। यम और अंगिरा-मन्यु जब ईरान के मूल-निवासी न थे, तो वे वहाँ कहाँ से गए? अवश्य वहाँ से, जहाँ उनके पूर्वज थे। ये सारे प्रवास जंबूद्वीप से आरंभ हुए, जैसा मिल्टन और सर वाल्टर रैले का मत है[2]। जंबूद्वीप से जाकर भारतीय आर्य ही सर्वप्रथम खरासन (खुरासान) के निकट मध्य-एशिया में गए; फिर कालांतर में वहाँ से अन्य देशों में फैले। वैवस्वत-मनु (Sun-born Menes) शनि तथा यम के उपनिवेशों को मिलाकर जंबूद्वीप, शाकद्वीप एवं कुशद्वीप (मिस्र) और स्पार्टा आदि के प्रथम-नरेश थे। स्पार्टा के 'Minos' ये ही थे।

पिंकरटन और स्ट्रैबो ने सिदिया का विस्तार केवल काश्यप-सागर तक माना है, परंतु काश्यप-सागर के भी पश्चिम आरमेनिया का नाम Sacasena था, जहाँ के ऐंग्लो-सैक्सन हैं। रूम (एशियामाइनर) में शाकारियानगर है। शिव, अंगिरा और गुरुदेवम (Siwas, Angyra तथा Gordium) भी वहीं के नगर हैं। भृगुक्षेत्र (Brygy) भी उसी देश का नाम है। उत्तर-कुरु (कुर्दिस्तान) काश्यप-सागर के पश्चिम था। Caffadecia में मित्र तथा वरुण के राजत्व के शिलालेख मिले हैं। वहाँ का Pteria नगर 'पीर+तारा' का संयुक्त नाम है[4]। ग्रीस के दरदनी एवं दरदनिलिस, दरद वृषलत्व-क्षत्रियों के देश हैं। इनसे भी पश्चिम, अलिसंदर के नक़्शे में, Scythae रहते थे। ग्रीस का नाम यवन, तथा आद्रसागर और आद्रनगर के नाम भी हिंदू-नरेशों के दिए हुए नाम हैं[1]। टर्की के किरात भी पौराणिक वृषलत्व-क्षत्रिय हैं[2]। रोम की परंपरा हिंदू-परंपरा थी[3]; मित्र और शनि की उपासना उसकी राजनीतिक परतंत्रता का प्रमाण है। जर्मनी के हंस (Hans), काठी (Cattii) और 'सू' (Suevi), फ़्रांस के Gauls (ग्वाल), स्वीडन के 'सू' या शश (Sus), Galatia के (गलित पंच-पांडव) गलित, Jutland or Yuetland के जाट और यूची,[4] ब्रिटेन के Sacasena[5] तथा Jutes or Jits (शाक तथा जाट) और Keltic अर्थात् तात (Tatars), स्कैंडिनेविया के[6] Asi, Jit, Cimbri तथा Woden

१. As we journeyed from the East, we settled in the Land of Shinar, H. P. Vol. 1

२. India was the first planted and peopled country after the flood. Sir W. Raleigh, P. 60

But such as to this day to Indians known
In Malabar or Deccan, spreads her arms.
Both together want—(Adam and Eve).
Paradise Lost Book IX

३. Turner's History of Anglo-Saxons.

४. Pteria in Caffadecia of Varuna of Indra (मित्र) before 1400 B. C. H. P. Vol. 1, P. 102

१. यवनाश्व के पिता आद्र

Adriatic sea, Adrianople

२. मनुस्मृति।

३. मित्र, सूर्य, विष्णु, यम, सर्ता आदि रोम के भी देव थे। Mitra, Sol, Ceres, Pluto, Vesta etc.

४. Tod's Rajasthan

The Cattii were one of the early German tribes. Asi was the term applied to the Getae or Gete Yuets or Juts, when they invaded Scandinavia and founded Yuetland or Jutland. Tod's Rajasthan P. 52. See also Edda.

The Swedes went from Kashgar. Keltic are descended from Tartar or Tata Gauls, Cimbrians, Kelts, Huns, Alans, Swedes, Vandals, Franks were swarms of the same hive. Tod's Rajasthan P. 52 etc.

५. One of these the Sacasenee supposed to be ancestors of our Anglo-Saxons, lived on the Araxes or classical Asi Varma in Armenia adjoining Albania. Tod's Rajasthan, P. 439

६. Scandinavia was occupied by Scythic 500 years before Christ. The Gothic Mythology was Grecian whose gods were the progeny of Cœlus and Terra (बुध+इला)

भी शाकद्वीप ही से गए थे । यम के पुत्र साध्य (Scythes), वसु (Busae), रमण (Ravandish) तथा उनके पुत्र हुन (Huns), द्रविड (Dravedians), हंस (Germans Hans) नीप और पाल (Napeans and Pallas),[१] तुर्क (किरात), हयताल (Turks) एवं मंगोल भी (Moghals) ईरानी यमथल Yamathal) की यामृत(यमतनय—Yamut)-वंश की शाखा है । योरप के Sauromatians और Titans भी सूर्य-वंशी थे[२] । इसी प्रकार बाल्कन (Balkans) बल्कि के वंशज हैं । अस्तु, उपर्युक्त स्वीकृत प्रमाणों से विदित होगा कि सिदिया काश्यप-सागर ही तक न था, प्रत्युत योरप का भी कुछ भाग इसमें सम्मिलित था, और योरप की बहुत सी जातियाँ सिदिक हैं ।

(ग) पाश्चात्यों के अनुसंधान से सिदियन-जातियों की दो प्रख्यात शाखाएँ 'सू' या शश और यूची थीं । ट्रोगस पांपीयस (Trogus Pompius) ने इनके नाम क्रमश Saranicae और Asi बतलाए हैं[३] । कहा जाता है कि सू या शश सूसियाना, सूसिस तथा सूसिया-प्रदेश के निवासी थे[४] । शश (Sus) सुषा (Susa or Shash) का नाम है[५] । सुषा ईलाम की प्राचीन राजधानी, परशिया का सबसे प्राचीन नगर तथा वरुण की राजधानी है[६] । ईरान का ईलाम-प्रदेश सदैव से देवों (अदिति के वंशजों)—जंबूद्वीप के राजों—का स्थान था । 'सु' 'सुर' का नाम है । अदिति के वंशजों का नाम 'सुर' था । इनके शाकद्वीपी-स्थान, ईलाम (शश) तथा सिरिया (Syria) आदि थे । सिरिया सुरपुर का अपभ्रंश है, जैसे असूरिया (Assyria) 'असुर' का[१] । इसी प्रकार 'असी' 'Asi' असुर का अपभ्रंश है ।

सुरनका Saranicae सुरों का स्थान है । कनिंघम के मत से "सू" या "अवारटी" तथा "अवार" एक ही थे[२] । 'अवारटी' तथा 'अवार'-शब्द अपवर्त के अपभ्रंश हैं । ईरान के ईलाम (शश) अथवा "सू"-प्रदेश (सूसियाना) का नाम अपवर्त था[३], जैसे जंबूद्वीप का नाम आर्यावर्त था । जब अपवर्त पर वरुण के पश्चात उनके भतीजे यम का राज्य हुआ, तो अपवर्त का नाम यमपुरी, नरक या दोज़ख पड़ गया[३] । यहीं परशुराम की राजधानी पर्सी (Persae or Perse) थी[४] । यहीं प्रह्लाद की राजधानी इष्टखर (Istkhr) थी[५] । यहीं और्व की राजधानी (Wrva) थी । यहीं और्व के वंशज उर्वजों का (Urvaja) ईलाम-प्रदेश भी था[६] ।

१ The Scythic Pali may be the shepherd invaders of Egypt where Pali character still exists, and many letters assimilate with the captn The Romans felt the power of the Asi Catti and Cimbri from the Baltic shore.

२ Tod's P 139.

३ According to the Chinese Scythians were of two distinct hordes—Su or Sus and Yuchi or Saranicae and Asi of Trogus Pompiu

४, Susia—H P Vol. I,P 284.

Susiana—H. P Vol 1. P 54

Susis—H P, Vol 1, P. 54

See also Su Lake or Sovar in Iran

५ Susa or Shush and the Susian plain, H. P Vol 1 P 59

६, Susa or Shush may indeed claim to be the oldest known site in the world The aborigines Negritos occupied the Susian plain H P Vol 1 P 59 55

सुषानाम पुरी रम्या वरुणस्यापि धीमत. (मत्स्यपुराण) ।

१ Assyria or the Land of Assur H P, Vol 1, P 85

२ Abars or Sus or Suari but different names of the same people Cunningham, Vol. II

३ According to Brunnahafer, Apavarta is preserved in Bavard or Kilat-i-Nadiri or Abivard, the modern Dushakh

The mountain range of Zapavartenon or Apavartı, Dara or Darhum or Kalamarau. H. P Vol. 1 P 54.

See also Yamathal in Iran in Apavarta Range H P. Vol 1. P 56.

४ Perse or Persae Capital of Parsi or Forsae H P Vol 1 P 5, 7.

५ Istkhar or Passargacae, H P Vol 1.

६, Urvaja or Elam History of Persia, Vol. 1, P 54.

यहीं के अपार्टे (Apartae) पठान हैं[१]। शश (Sus) इली के तट के निवासी थे। इली ईलाम की नदी है। ईलाम में इला एवं बुध की भी राजधानी थी। ईरानी बुध-वंशी (The Budu) यहीं के राजा थे। "सू" के दो स्थान Oxus तथा Jaxartes के तट थे। Oxus के सू Dahae तथा Jaxartes के "सू" सुस कहलाते थे। सुस की शाखा Sagraidae, Sagaraukae, Sagartu एवं Sakarauli कहलाती थी।

ये सगर के वंशज थे। सगर ने औंर्व (Urva) से ही शाकद्वीपी दिग्विजय किया था। 'सू' सूर्य-वंशी सुर (आदित्य) थे। दाहे (Dahae) द्रुह्य के वंशज थे, जिनकी राजधानी गंधार थी[३]। दाहे की Latii, Paralatae तथा Messageto ये तीन शाखाएँ थीं। ये अयाति मद्रनाथ पुरूरवा के सगोत्री चंद्र-वंशी क्षत्रिय हैं। Messagetae अथवा Xanthii जाट थे। Parabatae कदाचित् प्रह्लाद के वंशज असुर थे, जो योरप को चले गए। योरपियन इनको सीदियन भी कहते हैं[४]। "सू" अथवा अवार को अब आभीर या जाट कहते हैं[५]। यूची का नाम टोचारी भी है[६]। Yuti कदाचित् पौराणिक यती हैं। टोचिरिस्तान में शेषनाग, हूण (White Huns) तथा चंद्र-वंश का राज्य था। नृग भी यहीं के राजा थे। यूची की दो शाखाएँ, बड़े यूची और छोटे यूची हैं। बड़े यूचियों की उपाधि "राव" और छोटे यूचियों की उपाधि 'शाही' थी[७]। कनिंघम का अनुमान है कि कुशान यूची-जाति के थे : परंतु इसका कोई संतोष-जनक प्रमाण नहीं, और यह असत्य भी है। कनिष्क का नाम Rao Kanerka था। यदि "सू" या "शश" आभीर या जाट, और यूची गूजर हैं, तो फिर इंडो-सिदियन उच्च हिंदुओं में कहाँ मिल गए? आभीर (अहीर), जाट और गूजर तो विभिन्न दशा ही में यहाँ विद्यमान हैं। कनिंघम और टॉड को एक भी संबंध जाट और क्षत्रियों का नहीं मिला। अहीर तथा गूजर भी पृथक् हैं। इनके भी बेटी-रोटी के संबंध क्षत्रिय या ब्राह्मणों से नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि पाश्चात्यों का यह मत कि इंडो-सिदियन विजेता ब्राह्मण तथा क्षत्रियों में मिल गए, नितांत असत्य है[२]। यदि यह सत्य भी हो, तो यूची-हूण (White Huns) भी तो यम के वंशज क्षत्रिय एवं "सू" सुर (सूर्य-वंशी) आदित्य थे। भारत पर आक्रमण करनेवाली इंडो-सिदियन जातियाँ कुशान (Kushan), मेघतेस, दमित्र (Demetrius), हूदी (Hudi) तथा मिहिरकुल (Mihirkula) हुए हैं। मिहिर मग थे। मगों का गोत्र मिहिर है[३]। भानु की ये गुप्त उपासना करते थे। अतएव मिहिरकुल का नाम भानुगुप्त भी था। मग वसिष्ठ के सगोत्री पार्थिव-श्रेष्ठ सदा से भारत-संबद्ध भारतवासी थे। मिहिरकुल के विवाह आदि काश्मीर के

Urva or Tus new Kharism History of Persia, Vol II P 563

१ Tribes and Castes of U P The Pathan, Vol II

२ The Sus were driven from the Ili river amongst their brethren on the Jaxartes & Oxus Cunnigham, Vol II P 40

३. गंधार द्रुह्य के वंशज थे। विष्णुपुराण।

४ Paralatae were European Scythians Cunningham, Vol II, P. 50

५ Yuchi or Tochari Cunningham, Vol II, P 61.

६. The Kushan race had the Kingly title of Rao, which still exists amongst the Rajputs of Kach and Jesulmer. Cunningham, Vol II P 69.

७ Cunningham. Vol II, P 69

१ Cunningham Vol II P 70

२ The foreign immigrants merged in the general population The Sakas and Yuehchi universally yielded to the wonderful assimilating power of Hinduism and rapidly became Hinduized Clans and families were readily admitted into the frame of Hindu polity as Kshattriyas The Parihars and many other famous Rajputs developed out of the barbarian hordes which poured into India during the 5th and 6th Centuries The rank and file became Gujars and other castes In the same way indigenous Gonds, Bhar and Kharwars emerged as Chandels, Rathors, Gaharwars duly equipped with Pedigrees, reaching back to the Sun and the Moon V. A. Smith, P 322.

३. भविष्यपुराण, अ० १३३।

राजवंश में होने से कोई अनुचित संबंध नहीं हुआ। 'HinduizedYuechi' कुशानों के वंश का पाश्चात्यों को यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ। रोमन शब्द कुशान (Kushan), चीनी '*Kwie Shang*' का अपभ्रंश है, और ये दोनों शब्द Kisane के अपभ्रंश हैं, तथा Kisane कृष्ण का। कुशान कैस्पियन-प्रदेश में आरमेनिया की अर्त्राक-नदी के तटस्थ उरजाऊ प्रदेशों के निवासी थे¹। इस ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर यदि हम सिरियन पादरी ज़ीनब के इतिहास को पढ़ें, तो सारा भेद खुल जाता है। ज़ीनब ने लिखा है— "भारतवर्ष के दो राजे Kisane और Demeter अपने सम्राट Dinsakhe से रुष्ट होकर आरमेनिया के राजा बलर्षक के शरणागत हुए। बलर्षक ने उन्हें दारो-(Darenm)-प्रांत रहने को दिया। इन हिंदू-नरेशों ने दारों में विशप(Vishop)नामी एक नगर बसाया, और उसके निकट अस्टिपट(Ashtishat)-नगर में भी उन्होंने कृष्ण तथा दमित्र (विष्णु) की हिंदू-मूर्तियाँ स्थापित की। इनके पुत्र कु० मेघेस (Meghtes) तथा हूदी (Hodian) थे। इन्होंने फ़रात-नदी के तट पर Kishane और Demeter-नामी मंदिर एवं नगर बसाए। केश्नर मेघतस तथा होदियन इन मंदिरों के पुजारी थे। मंदिरों के व्यय के लिये १२ ग्राम लगे थे। सेंट ग्रेगरी ने आरमेनिया पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में ज़ीनब पादरी भी सम्मिलित था। सेंट ग्रेगरी ने इनका धर्म बलात् नष्ट करके इन्हें ईसाई बनाना चाहा। आटज़नAtzan-नामी एक हिंदू-पुजारी और उनके पुत्र Demeter इस युद्ध में मारे गए, तथा एक सहस्र अन्य हिंदू भी इस धार्मिक युद्ध में काम आए। ईसाइयों ने १२ से १४ हाथ ऊँची ताम्र-मूर्तियों को भी तोड़ डाला; मंदिर को गिराकर वहाँ गिरजा बनवाया, और जहाँ Kishane की मूर्ति थी, वहाँ सूली (Cross) खड़ी की गई। पाँच सहस्र हिंदू-पुजारी ईसाई बनाए गए, और ४८३ हिंदू सिर मुड़वाकर काश्यप-प्रदेश की ओर खदेड़ दिए गए।"

J. R. A. S. of 1904, page 311.

पाश्चात्यों के 'Hinduized Yuechi Kushans' ये ही कृष्ण थे, जो काश्यप-प्रदेश से धर्म बचाकर भारतवर्ष को लौटे, और कैडफ़ाइसिस, कनिष्क, हुविश्क एवं बसुदेव आदि के नाम से राजा हुए। यही कारण है कि वे आते ही हिंदुओं में हिंदू और क्षत्रियों में क्षत्रिय हो गए¹। इसमें 'हिंदुओं की प्रबल पाचन-शक्ति की विचित्रता का कुछ काम न था।"

भारतीय नरेश Demetrius अंतियोक के जामाता तथा काबुल, पंजाब और सिंध के (१९० बी.सी.)राजा इन्हीं भारतीय नरेश Demeter के वंशज थे, जो कृष्ण (Kishane) के साथ आरमेनिया गए थे, और ईरान पर काश्यप प्रदेश की ओर खदेड़ दिए गए थे। जैसलमेर के इतिहास से विदित है कि शालिवाहन के पूर्वज पृथ्वीबाहु मरुस्थली (ईरानी सर्वेदश्त) के राजा थे, तथा उनकी उपाधि कृष्ण थी। इन्हीं कृष्ण के वंशज कुशान हैं। कुशानों का आदि-स्थान बैक्ट्रिया था भी²। कुशानों की उपाधियाँ 'देव-पुत्र', 'शाही' तथा 'राव' थी। शाही का गोत्र भरद्वाज है³। ये अपने को शालिवाहन का वंशज बतलाते हैं³। अंतियोक तथा उसके पिता सिल्यूकस (Seleucus) भी हिंदू-नरेश थे, अन्यथा चंद्रगुप्त-जैसा विजेता एवं प्रतापशाली सम्राट उसकी कन्या को ग्रहण न करता। दमित्र Demetrius विष्णु का नाम है। Demeter विष्णु-वंशी तथा उनके उपासक क्षत्रिय थे। केश्नर मेघतेस के वंशज पारद राज-परिषद के सरदार थे⁴। इसी प्रकार मिहिर (Mihirdates मग) भी पारदों

१. The Kushan inhabited the maritime province of the Caspian Sea H P Vol. 1, P 473

Kevee-Shang known to the Romans as Kushan History of Persia, Vol. 1, P 469.

१ I have no doubt that the ruling families of the Kushans, when they became Hinduized were admitted to rank as Kshattriyas in the Hindu caste System V A Smith, P 409.

२ History of Persia, Vol 1, P 469

३ The chiefs of Salu or Lohara, a petty hill state near Ahsara, traced their descent from Salivahan, Cunningham Vol II P. 22

४ The Megistanes and Mihirdates or nobles of the Parthian assembly or House of Lords, H P. Vol. I. P. 395.

की एसेंबली या हाउस ऑफ् लार्ड्स Assembly or House of Lords के मेंबर थे। ईरान के मिहिर-बुज़ुर्ग, मिहिर-दत्त, मिहिरा तथा मिहिर-नरेश आदि सचिव (वज़ीर) एवं राजे भी मग थे। Hodian के वंशज हूदी (Hudi) और शालिवाहन के पुत्र रसाल भी एक दूसरे के शत्रु, परंतु संबंधी थे[1]। रसाल की कन्या सारँग का ब्याह हूदी से हुआ था। इनके वंशज सारंग (Sarangians) ईरान तथा पंजाब में अभी तक हैं। ज़ीनब का इतिहास बतलाता है कि कुशान (Kishane) और दमित्र (Demeter) भारतीय क्षत्रिय थे। इनके वंशज मेघतेस (मेघस्थनीज़), होदियन (Hodian) तथा दमित्र Demetrius भी भारतीय क्षत्रिय थे। आरमेनिया से लौटकर इनके क्षत्रियों में मिल जाने में कौन-सा दोष था? परशुराम भी मग थे, उनकी माँ भी सूर्य-वंशी क्षत्रिय राजा रेणु की कन्या थीं। बस, इन्हीं वंशों के हिंदू-क्षत्रियों में मिल जाने की कथा पर पाश्चात्य इतिहासज्ञों का यह लांछन निर्भर था कि आधुनिक भारतीय क्षत्रिय इंडो-सिदियन हैं, या उनसे संबंध रखते हैं।

इंडो-सिदियन जातियाँ एक ही वंश-वृक्ष की हैं। इंडो-सिदिया भारतवर्ष का नाम है। भारत-साम्राज्य के दो खंड—इंडिया इंदु-वंशियों का राज्य और सिदिया सूर्य-वंशियों का राज्य—ऐसे थे। केवल २००० वर्ष से मुसलिम तथा ईसाई-धर्मों के प्रादुर्भाव से धर्म भिन्नता हो गई, और यह अंतर प्रतीत होने लगा कि सिदियन कोई विदेशी या भिन्न जाति के थे। भारतवर्ष में इस धर्म-भिन्नता के पश्चात् सिदियन भारतवासियों में नहीं मिले; परंतु पाश्चात्य संसार में जाति-भिन्नता मिट जाने से सारी जातियाँ मिल गई हैं, यह कनिंघम का मत है, और यह पाश्चात्य संसार के लिये युक्ति-संगत भी है। 'जाट, गड़रिया, गूजर, गोला; इन चारो का हेला मेला।' वहीं जाट (Jits, Jutes, Gete, Xanthi, Jott, Zotts, Gypsies etc:), गड़रिया (Gandharian शाक), गूजर (Yuechis) तथा गोला (मिहिरगुल, मग) व ग्वाल (Gauls), ये सब जातियाँ मिल गई। किंतु भारतवर्ष में आए हुए सिदियन जाट, अहीर तथा गूजर नाम से, ब्राह्मण एवं क्षत्रियों से, तथा परस्पर भी, अब तक विभिन्न विद्यमान हैं। भारतवर्ष ने शाकद्वीप तथा कुशद्वीप (Africa) का न केवल आधिपत्य, प्रत्युत धर्म-भिन्नता के कारण उनसे संबंध भी त्याग दिया।

चौधरी धनराजसिंह

---

१. रसाल की कन्या सारँग, हूदी की स्त्री थी। (Gazetteer of Sialkot).

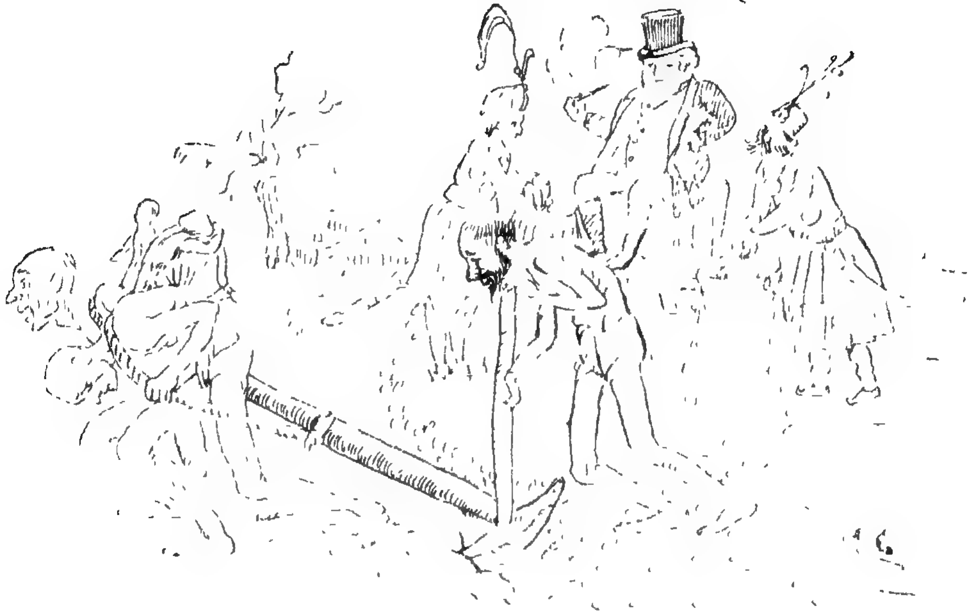
२. Tod's Rajasthan.

एक काँटा

मेरे रहते और को इतना सताया जायगा,
यह तो मुझसे देखती आँखों न देखा जायगा।
सोनेवाले आँखें मलते उट्ठे कच्ची नींद से;
रोनेवाले रात के कब तक तू रोता जायगा?
घाव मारा किसने तिर्छी चितवनों से देखकर?
अब तो जब तक साँस है, कोई तड़पता जायगा।
हाँ, वही जिनसे चला जाता नहीं सीधे सुभाव;
बस, उन्हीं की चाल से तो कोई मिटता जायगा।
झुटपुटे से कुछ चमक-सी है टपकते घाव में;
रात-भर यों ही दिया यह झिलमिलाता जायगा।
यों किसी पर आज वह छुरियाँ चलाते जायँगे;
वार होते जायँगे, कोई तड़पता जायगा।
यह चुटीली मुस्किराहट, मुझको रोते देखकर;
रूठकर भी अब तो उन पर प्यार आता जायगा।
बाल बिखरे, लड़खड़ाती चाल, आँखें मद-भरी;
आज लोगों में कोई अंधेर करता जायगा।
सब मुझी को कहते हैं, क्या सबकी मत मारी गई;
देखकर उन अँखड़ियों को किससे सँभला जायगा।
रोनेवाले रोएँगे और भीगती जाएगी रात;
तारे भी टूटेंगे, आँसू भी टपकता जायगा।
देख ले ऐ मरनेवाले, आँख भरके देख ले;
साँस उलटते ही किसी से फिर न बैठा जायगा।
याद आती जायगी वो तिर्छी चितवन ऐ 'फ़िराक़';
एक काँटा-सा कलेजे में खटकता जायगा।

रघुपतिसहाय 'फ़िराक़'

हमारी खेती



चीन का त्राता डॉक्टर सन-यात-सेन



चीन-प्रजातंत्र के प्रवर्तक स्वर्गीय डॉक्टर सन-यात-सेन उन महा-पुरुषों में थे, जो अपने आत्म-बल, त्याग, चरित्र और ज्वाला-मुखी शक्ति से युगांतर-सूचक परि-वर्तन करके अपने देश का मुख उज्ज्वल भी करते हैं, और एक ही नियम और एक ही लगन—देश के उत्थान—में अंतिम श्वास तक, विरोध और आपत्तियों का सामना करते हुए लगे भी रहते हैं। जिन परिस्थितियों का सामना डॉक्टर सन-यात-सेन को करना पड़ा, और जिस प्रकार उन्होंने उन पर विजय पाई, वह एशिया के स्वातंत्र्य-युद्ध के इतिहास में नहीं, तो चीन के इतिहास में तो अवश्य ही स्वर्ण अक्षरों में लिखने योग्य है। एक किसान का बालक देश की पतितावस्था देखकर चीन के सम्राट् मंचू-वंश से लड़ने को उद्यत हुआ। यह साहस कोई असाधारण पुरुष ही कर सकता है। जब सन-यात-सेन ने देखा, विशाल चीन का मान संसार में कुछ नहीं, गोरे लोग उसको एक जीता-जागता मुर्दा समझते हैं, और मंचू-वंश देश के लिये कुछ करनेवाला नहीं है, तो उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि जो शासन-प्रणाली इतनी खोखली है कि प्रजा के साधारण अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकती, उसका अंत ही कर देना चाहिए। मंचू-वंश को उन्होंने चीन की भावी समृद्धि के लिये एक ऐसा विषैला रोग समझा, जिसकी छूत से शासन-प्रणाली मृतप्राय हो गई थी, और जिसके दूर हुए बिना चीन गोरे लोगों द्वारा टुकड़े-टुकड़े कर दिया जायगा। बस, उस शासन-प्रणाली का अंत करने और चीन को एक जीता-जागता राष्ट्र बनाने के लिये उन्होंने अपने गले में झोली डाली!

इसमें कोई संदेह नहीं कि वह चीन का गृह-युद्ध नहीं रोक सके; पर इससे उनकी महत्ता और कीर्ति में कोई कमी नहीं पड़ती। उन्होंने चीन को मंचू-वंश के दलदल से निकालकर सुगम पथ पर लगा दिया। पवन-सुत के समान उन्होंने चीन को संजीवनी-बूटी पिलाई, और उसका दारुण रोग हरा। पथ्य-कुपथ्य का विचार न करने-वाला रोगी अच्छा होकर डॉक्टर की योग्यता और सेवा पर कोई लांछन नहीं लगा सकता।

डॉक्टर सन-यात-सेन का जन्म सन् १८६६ ई० में, कैंटन-नगर के समीपवर्ती एक ग्राम में, हुआ था। आप एक किसान के लड़के थे। उन्होंने अल्प आयु ही में



कैंटन नगर के पास का एक गाँव, जिसमें डा० सन यात सेन का जन्म हुआ था

अँगरेज़ी पढ़ना शुरू कर दिया, और १८८७ ई० में हांगकांग के अस्पताल स्कूल में भरती हो गए। पाँच वर्ष के उपरांत उन्होंने डॉक्टरी की परीक्षा पास की। वह ईसाई-धर्मावलंबी थे, अतएव लंदन मिशन के सदस्य हो गए, और मकाओ में डॉक्टरी शुरू कर दी। पर उन्हें मकाओ छोड़ना पड़ा; क्योंकि उनके पास डॉक्टरी की पोर्चुगीज़ डिग्री नहीं थी। वहाँ से वह कैंटन चले आए। कैंटन और हांगकांग में ही वह चीन की नवीन जागृति के प्रतिपादक हुए, और राजनीतिक कार्यों में उन्होंने भाग लेना आरंभ कर दिया—'तरुण चीन'-संस्था की स्थापना कर दी। उन्होंने चीन की शासन-प्रणाली सुधारने का भरसक प्रयत्न किया; पर मदांध शासकों ने एक न सुनी। सन् १८९४-९५ में चीन-जापान-युद्ध हुआ। चीन को उसमें बुरी तरह हारना पड़ा। चीन की इस हार का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होंने एक बार फिर वायसराय



१८ वर्ष के डॉ० सन-यात-सेन

ली-हंग-चांग से चीन की शासन-प्रणाली में सुधार करने के लिये प्रार्थना की। पर जिसको राज-सत्ता का मद होता है, वह सुधार और परिवर्तन के नाम से बिगड़ता है। फिर शासकों के बिगड़ने से असंतोष की जो प्रतिक्रिया होती है, वह भी बड़ी भयंकर होती और ज़बरदस्ती को उच्च आसनों से गिराकर धूल में मिला देती है। अब डॉक्टर सन-यात-सेन को ज्ञान हो गया कि सीधी उँगलियों घी नहीं निकलेगा। उन्होंने क्रांति की ओर अपनी शक्तियों को जुटाया, गुप्त रूप से प्रचार शुरू कर दिया। कभी-कभी बिना खाए-पिए वह क्रांति-योजना के संगठन में लगे रहते थे। एक षड्यंत्र रचा गया, जिसका उद्देश्य दक्षिणी प्रांत को सैनिक बल से स्वतंत्र करना और कैंटन-नगर पर अपना अधिकार जमाना था। अस्त्र शस्त्र तथा गोले-बारूद एकत्र कर लिए गए, और जो वीर अपना जीवन देने तक को उतारू थे, वे चुन लिए गए। आक्रमण के लिये समय भी नियत कर लिया गया। जब थोड़ा-सा समय रह गया, और हथियारबंद दल कैंटन को हथियाने के लिये चल भी पड़े, एक विश्वासघाती ने प्रांतिक कर्मचारियों से भंडाफोड़ कर दिया, और वे सब कागज़ात, जिनमें षड्यंत्रकारियों की योजनाएँ और आगामी वर्षों का कार्य-क्रम था, उन्हें दे दिए। फिर क्या था! भगदड़ मच गई। अनेकों पकड़े गए, और उन पर लोम-हर्षण अत्याचार किए गए। अंत को उन्हें बड़ी निर्दयता से फाँसी पर लटकाया गया। डॉक्टर सन-यात सेन, चीन के भाग्य से, उन बचे-खुचे नायकों में थे, जो बच निकले थे। सरकारी कर्मचारी षड्यंत्र के नेता डॉक्टर सन-यात सेन को ही पकड़ना चाहते थे, और उनकी खोज में अनेकों गुप्तचर लगा दिए गए थे; पर इन्होंने अपना वेष बदल लिया, और रात्रि के समय नगर की चहार-दीवारी पर चढ़कर, गुप्तचरों एवं सरकारी सैनिकों के बीच से होकर निकल गए। अभी वह सुरक्षित नहीं थे। पुलीस इनके पीछे खूनी कुत्तों की भाँति लगी हुई थी। ग्राम के झोपड़ों, नावों और खेतों में छिप-छिपकर पुलीस और सैनिकों को चकमा देते हुए वह मकाओ पहुँच गए।

इसके उपरांत उनके आगामी पंद्रह वर्ष रोमांचकारी घटनाओं, आपत्तियों और चीन के बाहर आंदोलन-संबंधी ठोस कार्य में बीते। संसार के मुख्य-मुख्य देशों में घूम-घूमकर उन्होंने चीन के उद्धार के लिये भगीरथ-प्रयत्न किया, और चीन के बाहर रहनेवाले अपने देश-वासियों को एक सूत्र में बाँध दिया—उनमें वह जागृति और उत्साह फूँक दिया कि लोग दंग रह गए! मंचू-वंश तिलमिलाने लगा। उन्होंने चीन के बाहर रहनेवाले चीनी लोगों को एकता के सूत्र में बाँधकर क्रांतिकारी बना दिया, और अपने देशवासियों से संपर्क स्थापित करके चीन को एक अंतिम प्रयत्न द्वारा मुक्त करने का उद्योग किया। सैकड़ों अनुयायियों ने चीन में जागृति, क्रांति, उत्साह और अंतिम बलिदान के बीज बोए। सन-यात-सेन का संगठन इतना सजीव और प्रभाव-शाली हो गया कि मंचू वंश का आसन हिलने लगा। उनका प्रभाव चीन में धीरे-धीरे ऐसा बढ़ा, जैसे समुद्र की ओर जानेवाली नदी बढ़ती है। चीन-सरकार ने भी उनको मरवा डालने या पकड़वा मँगाने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी। सैकड़ों गुप्तचर छोड़े गए। वे उनका पीछा जापान, अमेरिका और इँगलैंड तक करते रहे। जिस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के सम्मुख बाहरी आक्रमण से एक बड़ी भारी समस्या बचाव की होती है, उसी प्रकार चीन सरकार के सम्मुख सन-यात-सेन का प्रश्न करने की थी। उनको जीवित या मृत लानेवाले के लिये लाखों रुपए का इनाम रक्खा गया। गुप्तचरों ने इनाम

के लालच से डॉक्टर सन यात-सेन का पीछा भूखे भेड़ियों की भाँति किया ; पर वीरवर सन यात-सेन तनिक भी न झिझके, और न उनके आंदोलन ही में अंतर पड़ा। हाँ, वह काफ़ी सावधान रहने लगे। असंख्य लालची और क्रूर गुप्तचरों के होते हुए भी वह वेष बदलकर, फेरी-वाले के रूप में, अथवा कुली या मछुआ बने हुए अकस्मात् चीन में प्रकट हो जाते। गाँव-गाँव फिरते, और भिखारी के वेष में प्रचार तथा संगठन करते। स्मरण रहे, ये घटनाएँ उस समय हुईं, जब वह कैंटन-षड्यंत्र के विफल होने पर विदेश भाग गए और चीन के बाहर आंदोलन कर रहे थे। कभी-कभी रात्रि के बारह बजे ऊजड़ और बीहड़ स्थान में वह सभा करते थे।

पर किसी को यह पता न चलता कि उनके आने का समाचार उनके अनुयायियों को कैसे चलता है। उनका आगमन एक प्रकार से रोमांचकारी उपन्यासों के पात्रों से मिलता-जुलता है। उन्हें न कुछ जादू आता था, और न कुछ माया ही। हाँ, देशभक्ति की लगन के कारण वह अपने प्राण हथेली पर लिए विदेश से चीन में चक्कर लगा जाते। ऐसी अवस्था में उनका चीन में कुछ ही घंटे रहना बारूद का काम करता था। दो-एक बार संध्या के समय वह चीन में आए, तीन चार घंटे वार्तालाप किया, और गायब हो गए। उपस्थित लोग भी चुप-चाप, सन्नाटे में, एक एक दो दो करके, तितर-बितर हो गए, और पुलीस के फ़रिश्तों तक को पता न चला। पुलीस इस बात को जानती थी कि डॉक्टर सन-यात-सेन इस प्रकार चीन में आया करते हैं। वह सब कुछ प्रयत्न करती; पर चिड़िया हाथ न आती। डॉक्टर सन यात सेन-जैसे विप्लववादी और षड्यंत्रकारी को शरण देने के संदेह में लोगों पर अमानुषिक अत्याचार होते, पर 'रॉबिनहुड' की भाँति सन-यात सेन पुलीस को छकाते ही रहे। उनको मारने और पकड़ने के लिये पुल, जहाज़, रेल और होटलों में गुप्तचर 'निशाचर-माया' से घूमते रहते थे। कई बार तो वह बाल-बाल बच गए। एक बार एक गुप्तचर ने उन्हें पहचान लिया, और उनका पीछा किया। वह एक नाव में जा रहे थे। एक स्थान पर उनको संदेह हुआ, और वह आँख बचाकर एक दूसरी नाव में जा पहुँचे ; क्योंकि छिपने के सिवा और कोई उपाय न था। उस आदमी ने उन्हें ढूँढ़ लिया, कहा, आज मुझे वांछित धन मिल गया। डॉक्टर सन यात-सेन ने उससे केवल एक बात चाही। वह यह कि वह उनकी बात सुन ले। वह राज़ी हो गया। जब उसने डॉक्टर सन-यात-सेन से वाद-विवाद किया, तो उनके पैरों पर गिर पड़ा, और क्षमा माँगकर चला गया। उनके पौरुष, आत्मबल, तेज और चरित्र का ऐसा ही प्रभाव था! एक बार जब डॉक्टर सन-यात-सेन ने चीन का गुप्त चक्कर लगाया, तो वह एक दिन दक्षिणी चीन के हैनन-टापू में थे। सैनिक अधिकारियों को संदेह हो गया कि सन-यात-सेन किसी बाड़े में छिपे हुए हैं। उन्होंने एक सैनिक दस्ते का पहरा बिठा दिया। डॉक्टर सन-यात-सेन वहाँ से ६ महीने तक न हिले। अंत को एक दिन, भाग्य पर भरोसा करके, वेष बदले हुए, वहाँ से निकले, और अधिकारियों के नीचे से साफ़ निकलकर चीन की सीमा के बाहर हो गए।

सन् १८९६ ई० की बात है कि वह संयुक्त-राज्य अमेरिका से लंदन आए। यहाँ चीन-सरकार के गुप्तचर झाँसा देकर और बहकाकर उन्हें चीनी दूत के भवन में ले आए। उन्हें एक कमरे में बंद कर दिया गया, और उनकी गिरफ्तारी अत्यंत गुप्त रक्खी गई। उन्हें किसी से मिलने भी नहीं दिया जाता था। गुप्तचरों का उद्देश्य था कि उन्हें गुप्त रूप से चीन भेजकर अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया जाय। सन-यात-सेन ताड़ गए। अधिकारियों के हाथ में पड़कर उनकी वही गति होने को थी, जो ईसा की हुई थी। यदि किसी प्रकार इनके मित्रों को उनकी स्थिति का पता चल जाता, तो वे कुछ करते भी ; पर पता कैसे चलता? उन्होंने कुछ समाचार और नोट नौकरों द्वारा भिजवाए। इन्होंने उन्हें गुप्तचरों को दे दिया। इस-से उन पर और कड़ा पहरा बिठा दिया गया। तब उन्होंने कुछ नोटों में दो शिलिंग के सिक्के रखकर सींकचेदार खिड़की से बाहर फेंके। जिस आदमी ने उन्हें उठाया, उसे उन्होंने इस बात पर राज़ी कर लिया कि वह डॉक्टर जेम्स कैटली को, जिनसे वह हांगकांग में पढ़े थे, उनकी स्थिति का संवाद पहुँचा दे। डाक्टर कैटली के सम्मुख अपने शिष्य की भयंकर स्थिति का चित्र खिंच गया : क्योंकि जिस स्टीमर में वह भेजे जानेवाले थे, वह लद रहा था। डॉक्टर कैटली ने पुलीस, समाचार-पत्र और पर-राष्ट्र-कार्यालय को छान डाला। जब जाँच शुरू हुई, तो चीनी-

दूत-भवन के अधिकारियों ने डॉक्टर सन-यात-सेन के पते से अनभिज्ञता प्रकट की। परंतु जब देखा कि इस प्रकार झूठ से काम न चलेगा, तो कहा कि डॉक्टर सन-यात-सेन यहाँ स्वयं ही आए थे; वह चीन-सरकार के अधीन हैं; अतः उन्हें बंदी बनाने का हमें पूरा अधिकार है। परंतु इँगलैंड का पर-राष्ट्र-विभाग अपनी माँग पर डटा रहा। साथ ही समाचार-पत्रों ने भी ऊधम मचा दिया। अतएव डॉक्टर सन-यात-सेन छोड़ दिए गए।

आंदोलन-कार्य ने लोगों के मस्तिष्क में पहले ही से क्रांति-पूर्ण विचारों की बारूद भर दी थी। यॉगटीज़ के एक साधारण-से उपद्रव ने उस बारूद में चिनगारी का काम किया, और वे लोग भी, जो अब तक तटस्थ थे, क्रांतिकारियों की ओर हो गए। अंत को मंचु-वंश को सिंहासन छोड़ना पड़ा। इस समय डॉक्टर सन-यात-सेन लंदन में थे। उनको यह शुभ समाचार तार से दिया गया, और वह चीन-प्रजातंत्र के राष्ट्रपति-पद के लिये आमंत्रित किए गए। अस्तु। पहली जनवरी, सन् १९१२ ई० को वह चीन-प्रजातंत्र के प्रथम राष्ट्रपति बने।



अनुभव-प्राप्त डॉ० सन-यात-सेन



सपत्नीक डॉ० सन-यात-सेन

इस प्रकार उनके अदम्य साहस, अद्भुत शक्ति, सुदृढ़ संगठन, उद्देश्य की पवित्रता, त्याग और चरित्र के सम्मुख चीन के अधिकारियों का पल्ला ढीला पड़ता गया, और निर्जीव मंचु शासन-प्रणाली खोखली होती गई। उनकी वर्षों की तपस्या-लता लहलहाने लगी, और सन् १९११ ई० के आते-आते क्रांति के लिये परिस्थिति अनुकूल हो गई।

पर वह बहुत दिनों तक राष्ट्रपति नहीं रहे। जब उन्होंने देखा कि कुछ स्वार्थी लोग नाम के भूखे हैं, तो वह स्वयं ही इस पद से अलग हो गए, जिसमें उनका किया-कराया काम मिट्टी में न मिल जाय। धीरे-धीरे उत्तरी चीन और दक्षिणी चीन में भेद-भाव ने ज़ोर पकड़ा, और इस प्रकार गत कई वर्षों से चीन में गृह-युद्ध

हो रहा है। सन् १९१७ ई० में उन्होंने चीन के दक्षिणी भाग में प्रजातंत्र की स्थापना की; परंतु इसमें उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं हुई, और बहुत-से अंतरराष्ट्रीय प्रश्न सामने आ खड़े हुए। उसके बाद गृह-युद्ध ने चीन में भयंकर रूप धारण किया। डॉक्टर सन-यात-सेन ने उसकी ज्वाला को बहुत कुछ रोका। किंतु इसी युद्ध-काल में वह बीमार पड़ गए और अमर गति को प्राप्त हुए।

लोग कहते हैं, प्रजातंत्र की स्थापना के उपरांत उनका प्रभाव चीन में बहुत कुछ घट गया था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। स्वयं महात्मा गांधी का भी प्रभाव कुछ दिनों से कितना घट गया है! कहाँ तो महात्माजी के उँगली उठाते ही लोग, जो कुछ वह कहते थे, करने लग जाते थे; और कहाँ आज इतनी घोर तपस्या करने पर भी वह हिंदू-मुस्लिम-उपद्रवों को शांत नहीं कर सकते! पर क्या महात्मा गांधी देश के पूज्य और आराध्य देव नहीं हैं? कौन ऐसा अभागा भारतवासी है, जो उनसे मत-भेद रखता हुआ भी उनको महापुरुष और देश का नेता न माने? ठीक यही बात डॉक्टर सन-यात-सेन के विषय में है। एक किसान का लड़का देश से निर्वासित किया गया, उसका सिर लाने के लिये लाखों का पुरस्कार रक्खा गया; पर वह वीर देश-हित की खातिर प्राणों की परवा न कर मृत्यु के मुख में घुस-घुसकर अपने कर्तव्य-पथ पर डटा रहा! वह जानता था कि पकड़े जाने पर उसकी बोटी-बोटी काट डाली जायगी; पर क्या मृत्यु का भय उसे डरा सकता था? वह अपने उद्देश्य में सफल हुआ। मचू-वंश को उसने जड़ उखाड़कर फेंक दी, और प्रजातंत्र की स्थापना की। चीन के प्रजातंत्र का स्मरण आते ही वीरवर डॉक्टर सन-यात-सेन की मूर्ति सम्मुख नाचने लगती है। डाक्टर सन-यात-सेन वर्तमान एशिया के उन तीन महापुरुषों (महात्मा गांधी, कमालपाशा और डॉक्टर सन-यात-सेन) में से एक हैं, जिन्होंने अपनी छाप एशिया पर लगा दी है, और एशिया के इतिहास में जिनकी विमल विभूति की रश्मियाँ प्रलय-काल तक मुर्दे तथा पीड़ित देशों के लोगों के हृदयों में प्रकाश डालेंगी। डॉक्टर सन-यात-सेन वास्तव में एक महापुरुष और चीन के भाग्य-विधाता त्राता थे।

सीतानाथ शर्मा

औद्भिज्ज-विकास



प्राणियों से उद्भिदों की प्राचीनता

जीवन की उत्पत्ति के संबंध में लिख चुकने के पश्चात् अब हमारे सामने जीवन का इतिहास वर्णन करने का प्रसंग उपस्थित होता है। परंतु जीवन के इतिहास में प्राणियों से पहले उद्भिदों का ही स्थान है। इसलिये क्रम के अनुसार हमें भी, प्राणिजगत् के विकास के रोचक प्रसंग को छोड़कर, पहले उद्भिद-विकास का ही वर्णन करना पड़ता है; क्योंकि हम पहले ही लिख चुके हैं कि प्राणिसंसार का आधार वनस्पति ही हैं, और अनुमान से यही विदित होता है कि भू-पृष्ठ पर प्राणियों के आविर्भाव से पहले ही उद्भिदों की सृष्टि हुई होगी। हम पहले के किसी लेख में दिखा चुके हैं कि प्राणिसर्ग का निर्वाह सीधे जल, वायु या तत्त्वों के द्वारा नहीं हो सकता; वनस्पति-सर्ग ही प्राणिसर्ग के लिये अपनी शारीरिक प्रयोगशाला में भोजन तैयार करता है। ऐसी अवस्था में, बिना किसी प्रमाण और जटिलता में प्रवेश किए भी, हम स्पष्ट समझ सकते हैं कि खानेवालों के पहले ही भोज्य पदार्थों की सृष्टि हुई होगी, अन्यथा प्राणियों का जीवित रहना ही असंभव था। इस संबंध में हम अधिक लिखना नहीं चाहते। दो-एक अपवादों को छोड़कर, साधारणतः, वैज्ञानिकगण भी वनस्पति-सर्ग की पूर्व-सत्ता को स्वीकार करते हैं।

प्रकृति का विभाजन

साधारणतः प्रकृति तीन खंडों---जड़-विभाग, औद्भिज्ज-विभाग, और प्राणिविभाग---में विभक्त की जाती है। पर विचार करने पर यह वर्गीकरण बिलकुल ठीक नहीं प्रतीत होता। हम पहले के किसी लेख में निर्जीव और सजीव के भेद को क्षीण और प्रायः एकदम मिटते हुए दिखा चुके हैं। आइए, हम लेख में औद्भिज्ज और प्राणिसंसार के अंतर तथा सादृश्य पर विचार करें।

प्राणी और वनस्पति

प्राणी और वनस्पति के एक बहुत बड़े भेद का कई दफ़े, और अभी ऊपर भी, हम उल्लेख कर चुके हैं। वनस्पति अपना भोजन सीधे जल, वायु, मिट्टी और सूर्य की

किरणों से प्राप्त करती है ; परंतु प्राणिजीवन का आधार वनस्पति ही है । बिना वनस्पतियों के प्राणियों का जीवन धारण किए रहना नितांत असंभव है । वनस्पतियों के शरीर में ऐसी कौन-सी विशेषता है, जिसके द्वारा वे इस कार्य का संपादन करती हैं, एवं जिसके अभाव के कारण प्राणिगण इस काम के करने में असमर्थ रहते हैं ? वह विशेष वस्तु जिससे वनस्पति युक्त और प्राणी रहित हैं, तथा जिसके द्वारा ही वनस्पतियाँ अपने महत् कार्य करने में समर्थ होती हैं, 'क्लोरोफ़िल' के नाम से प्रसिद्ध है । क्लोरोफ़िल सूर्य की किरणों का शोषण करके एक अद्भुत रासायनिक क्रिया उत्पन्न कर देती है । इसके द्वारा कार्बोलिक एसिड गैस में से कार्बन और अम्लजन, तथा जल से उज्जन और अम्लजन पृथक् किए जाते हैं । इस प्रकार कार्बन और उज्जन का एक संयोजन तैयार होता है, और इसी में शक्ति संचित रहती है । प्राणिसंसार इस शक्ति को वनस्पतियों से ही प्राप्त करता है ; क्योंकि स्वयं क्लोरोफ़िल से रहित होने के कारण, वनस्पति का आश्रय ग्रहण करने के सिवा उसके पास शक्ति प्राप्त करने का और दूसरा कोई साधन नहीं । वैज्ञानिक दृष्टि से वनस्पति और प्राणी के बीच का प्रधानतम भेद यही है । परंतु बहुत समय पहले नज़र दौड़ाने से, निकृष्टतम प्रकार के जीवन पर दृष्टिपात करने से, यह भेद भी मिटता हुआ नज़र आता है । वैज्ञानिकगण ऐसे जीव-धारियों—निस्संदेह ये जीव क्षुद्र, अनुन्नत और अवि-कसित हैं—से भी परिचित हैं, जिनके शरीर में वनस्पतियों के समान क्लोरोफ़िल विद्यमान है । उदाहरण के लिये 'इनफ़्युज़ोरिया', 'स्पंज' और 'फ़्लैनरी' जीवों की कुछ उपजातियों का अवलोकन कीजिए । कैसी विचित्रता है ! क्या ही विस्मयावह रहस्योद्घाटन है !! विकास-क्रिया का अध्ययन सभी भेद-भावों को मिटाता हुआ, प्रबल असादृश्य—अनंत भिन्नता—के मौजूद रहने पर भी, सभी जगह भिन्नताओं और अनेकताओं को अनंत एकता में विलीन करता हुआ दृष्टिगोचर होता है !!!

क्लोरोफ़िल

साधारणतः प्राणियों और वनस्पतियों के बीच एक और बड़ा भेद यह भी माना जाता है कि वनस्पतियाँ स्थावर हैं, वे चल-फिर नहीं सकतीं ; परंतु प्राणी जंगम होते हैं । विकास की उन्नत अवस्था में प्राणी और वनस्पति के बीच निस्संदेह यह भेद पैदा हो जाता है ; परंतु प्रारंभिक अवस्था में यह बात नहीं है । इस अवस्था में हमें स्थावर प्राणी और जंगम वनस्पतियाँ भी दृष्टि-गोचर होती हैं । बहुत प्रकार के सामुद्रिक उद्भिद एवं 'फ़र्गी'*-जाति की कुछ वनस्पतियाँ अपनी प्रार-म्भिक अवस्था में जल के बीच अपनी पतली-पतली पिप-नियों के द्वारा दौड़ती रहती और अवसर पाकर किसी स्थान पर जम जाती हैं, तथा उनके द्वारा नए पेड़ की सृष्टि होती है । * 'डायटोम' तथा 'डेस्मिड' * की तरह कुछ क्षुद्र सामुद्रिक वनस्पतियाँ तो आजीवन गतिशील ही रहती हैं । स्पंज और मूँगा आदि जल के कुछ जीव स्थावर होते हैं । इन सबसे अलग कुछ ऐसे जीव भी हैं, जो अपने जीवन की एक अवस्था में वनस्पति और दूसरी अवस्था में प्राणी प्रतीत होते हैं । देखिए, स्थावर और जंगम—प्राणी और वनस्पति का भेद भी क्षीण होकर एकता में विलीन होता हुआ नज़र आता है !

स्थावर और जंगम

वनस्पतियों और प्राणियों के अन्य भेद भी मिटते जा रहे हैं । अन्वेषण द्वारा विदित हुआ है कि वनस्पतियाँ भी भोजन-परिपाक का काम जीवधारियों के सदृश ही संपादन करती हैं । मांस-भोजी पौदों—जिनकी पत्तियों में 'पेप्सिन' (भोजन पचानेवाला प्रधान रस) पाया जाता है—की बात तो छोड़ दीजिए, निकृष्टतम प्रकार के पौदों में भी कुछ ऐसे देखे गए हैं, जो जीव-धारियों के सदृश 'गैसट्रिक जूस' (भोजन पचानेवाले रस) का उत्पादन करते हैं । इसके द्वारा वे भोजन को उसी प्रकार पचाते हैं, जिस प्रकार अपने उदर में हम । उद्भिदों और प्राणियों की शारीरिक क्रियाओं में भी अनेक सादृश्य दिखाई पड़ते हैं । दोनो एक ही तरह स्वस्थ और अस्वस्थ होते हैं । बहुत-से क्षुद्र बैक्टीरिया प्राणियों की तरह उद्भिदों की भी जान ले लिया करते हैं । अँधेरे में वृक्ष हमारे ही सदृश अम्लजन का ग्रहण और

वनस्पतियों और प्राणियों के अन्य भेद

* थलोफाइटा-विभाग के अंतर्गत इनका वर्णन पाठकों को इसी लेख में आगे मिलेगा ।

कार्बन का त्याग करते हैं। अब रही वृक्षों में नाड़ी-संस्थान की बात। इसको हमारे देश के विज्ञानाचार्य अध्यापक जगदीशचंद्र वसु ने अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है। जटिल प्रमाणों और गूढ़ गवेषणा को छोड़कर, साधारण लाजवंती या मक्खी पकड़नेवाले पौदों या फ़रीदपुर के विचित्र ताल-वृक्ष तथा अन्य चेतना-युक्त पौदों के अवलोकन द्वारा साधारण मनुष्य भी सुगमता के साथ यह समझ सकते हैं कि उद्भिदों में भी नाड़ी-संस्थान का किंचित प्रबंध अवश्य मौजूद है। क्या इन चेतना-युक्त पौदों के अकस्मात् सिकुड़ जाने की तुलना जीवधारियों की आँख के सामने किसी वस्तु के उपस्थित हो जाने पर आँख के बंद हो जाने, या पैर के तलवे में अज्ञात रूप से गुदगुदाने पर एकाएक किसी मनुष्य के पाँव समेट लेने के साथ नहीं कर सकते? दोनों क्रियाएँ एक ही हैं। यदि कोई भेद है, तो केवल न्यूनाधिक्य का। अतएव प्राणी और वनस्पति के संबंध में अध्ययन और तुलना द्वारा आधुनिक विज्ञान इसी नतीजे पर पहुँचा है कि दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं, तथा दोनों का उद्गम-स्थान भी एक ही है। आदिम समय में दोनो एक ही थे। पीछे काम की भिन्नता के कारण दोनों ने विकास के दो मार्ग ग्रहण कर लिए।

प्राणियों और वनस्पतियों में भेद की स्थापना

यहाँ पर हम पाठकों का ध्यान पहले के "जीवन की उत्पत्ति"-शीर्षक लेख की ओर पुन आकर्षित करते हैं। हमने उस लेख में कहा था कि निर्जीव और सजीव के बीच में सीमा निर्दिष्ट करना अत्यंत कठिन है। हमने यह भी निवेदन किया था कि वर्त-मान समय के किसी भी जीव—साधारण से साधारण 'बैक्टीरिया'—की भी तुलना संसार के आदिम जीवों के साथ नहीं की जा सकती। आइए, संसार के इन्हीं आदिम निवासियों को ध्यान में रखकर हम अब प्राणी और वनस्पति-विभाग के क़ायम होने की बात पर विचार करें।

अति प्राचीन समय के जो जीवन-बीज लगातार मिट्टी और उसमें मिश्रित रासायनिक पदार्थों द्वारा भोजन प्राप्त करते रहे, उन्हीं से वृक्षों और वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई। चूँकि वृक्ष को सीधे भूमि से ही भोजन प्राप्त होता है, इसलिये उन्हें चलने फिरनेवाले अवयवों की कोई आवश्यकता नहीं हुई। उन्होंने अपनी जगह पर स्थिर रहने के निमित्त जड़ें फेंकीं, और स्थावर हो गए, एवं जल और वायु से भोजन ग्रहण करने के निमित्त उनमें पत्तियों की सृष्टि हुई। स्थावर जीवों को चेतना की कोई आवश्यकता नहीं रहती, इसलिये उद्भिद चेतना-शून्य और ज्ञानेंद्रिय-रहित रहे। परंतु तो भी प्राचीन जीवों में से कुछ जीवभक्षक हो गए, और अपने पड़ोसियों को भक्षण करने लग गए। यहीं से प्राणियों की सृष्टि हुई, और उनके विकास का मार्ग भी दूसरा हो गया, अर्थात् वे शिकारी बन गए। इस तरह के जीवन का तात्पर्य स्पष्ट है। शिकारियों को आक्रमण करने और आक्रमण से बचने के लिये चेतनता—चलने-फिरने के अवयव—इत्यादि की आवश्यकता है, इसलिये उनमें इन अवयवों की भी सृष्टि हुई। विकास का यह दूसरा मार्ग ग्रहण करने के कारण ही वह अन्य अवयवों से भी युक्त हो गए। परंतु यहाँ पर इन बातों के वर्णन करने का अवकाश नहीं। प्राणिविकास का वर्णन करते समय इन सबका उल्लेख किया जायगा।

वनस्पति और प्राणिविकास के बीच सादृश्य

वनस्पति और प्राणिविकास में भी हमें बहुत बड़ा सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। प्राणियों के सदृश उद्भिद भी आरंभ में एक गोलक-विशिष्ट (Unicellular) होते हैं। प्राणिजगत के सदृश यहाँ भी एक गोलक-विशिष्ट उद्भिदों से लेकर तरह-तरह के पेचीदे और जटिलता-पूर्ण उद्भिद देखने में आते हैं। साधारण एक-गोलक-विशिष्ट बैक्टीरिया से लेकर पीपल या गुलाब इत्यादि पर दृष्टिपात करने तथा औद्भिज-जीवन की नानात्वमय एकता एवं विकास के क्रम का निरीक्षण करने से यहाँ भी हमारे हृदय पर वही असर पड़ता है, जो प्राणिजीवन की एकता का रहस्योद्-घाटन होने से। प्राणिजगत के सदृश ही उद्भिद्-जीवन और औद्भिज-विकास में भी लिंग-भेद ने प्रधान भाग लिया है। संक्षेप में प्राणिविकास और औद्भिज-विकास, दोनो का इतिहास एक ही प्रकार का है। दोनो एक ही नियमों के अधीन हैं। दोनों का विकास एक ही प्रकार के प्राकृतिक नियमों द्वारा होता है। वनस्पति भी प्राणिसर्ग ही की तरह अपने को अपनी परिस्थिति के अनुकूल बनाने में सचेष्ट रहते हैं। वनस्पति का समस्त शरीर ही—

जड़, डाल, पत्तियाँ, पुष्प, और फल—इसका प्रमाण है। वनस्पतियाँ किस सुंदरता के साथ अपनी परिस्थिति में खड़ी रहती हैं—वे किस प्रकार जड़, डालों और पत्तियों इत्यादि की सृष्टि करती हैं—वही जड़, जो वनस्पति को अपने स्थान पर क़ायम रखती है, किस प्रकार उसे भोजन भी देती है—हवा के झोंकों से बचने के लिये वृक्षों के ऊपर की डालें क्रमशः किस तरह पतली और लचीली होती जाती हैं, तथा हवा से बचने और भोजन प्राप्त करने के निमित्त पत्तियाँ क्योंकर चौड़ी होतीं और इधर-उधर हटकर हवा को मार्ग दे देती हैं—पतझड़ के समय जलाभाव के कारण ये ही पत्तियाँ किस तरह स्वयं अपनी जान देकर वृक्ष की प्राण-रक्षा करतीं, उसमें तरी बनाए रखतीं एवं उसे सूखने से बचाए रखती हैं इत्यादि बातों को पाठकगण उद्भिद-विज्ञान की किसी भी पुस्तक में देख सकते हैं। जनन और वंश-रक्षा के लिये भी उद्भिद कम प्रयत्न नहीं करते। संक्षेप में औद्भिज्ज-जीवन में भी जीवन-धारण किए रहने के लिये प्रयास और प्रयत्न पूर्ण मात्रा में दृष्टिगोचर होते हैं। उद्भिद भी कठिनाइयों का अनुभव और उनसे बचने के लिये यत्न करते हैं। वे भी अपने को अहितकर और प्रतिकूल परिस्थिति के अनुकूल बनाने में सचेष्ट रहते हैं। अस्तु, जीवन-संग्राम का नियम उद्भिद-जगत में भी काम करता नज़र आता है।

वर्तमान उद्भिद्-संसार पर एक दृष्टि

इन प्रारंभिक बातों को समाप्त करके जब हम उद्भिद्-जगत—उद्भिदों की शरीर-रचना—का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तो हमें औद्भिज्ज-विकास के समझने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। हम तो केवल वर्तमान समय में समुद्र और भूमि पर पाए जानेवाले उद्भिदों के आधार पर ही उनकी उत्पत्ति और उन्नति के इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। वनस्पतियों का तुलनात्मक अध्ययन और वर्गीकरण, तथा उद्भिदों को प्रधान जातियों और उपजातियों एवं इनको पुनः खंडों और क्षुद्र जातियों इत्यादि में विभक्त करके उद्भिद्-विज्ञानविद् इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि समस्त उद्भिद्-जीवन का आरंभ एक ही स्थान से होता है। पुनः वनस्पतियों और प्राणियों के तुलनात्मक अध्ययन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि

जीवन-वृक्ष

दोनों प्रकार के जीवन का उद्गम-स्थान एक ही है। वास्तव में जीवन एक वृक्ष है, प्राणिजीवन और उद्भिद्-जीवन इसी के दो प्रधान तने हैं, तथा नानात्वमय उद्भिदों और प्राणियों की जातियाँ इन्हीं दो तनों की हज़ारों डालों और शाखाओं के सदृश हैं।

अच्छा आइए, अब हम वर्तमान समय के उद्भिद्-संसार पर एक बार दृष्टिपात करें। उद्भिदों के दो मुख्य बड़े और प्रधान विभाग हैं—

उद्भिद्-जगत् का वर्गीकरण—पुष्प-हीन और पुष्प-सहित उद्भिद

१. क्रिप्टोगैम—अर्थात् वे उद्भिद, जिनमें फूल नहीं लगते, और जिनके बीज पैदा करनेवाले अवयव ख़ाली आँखों से, बिना सूक्ष्म-दर्शक यंत्र की सहायता के, नहीं देखे जा सकते। सूक्ष्म-दर्शक यंत्र की उन्नति और साधारण प्रचार के पूर्व यह अनुमान किया जाता था कि इस श्रेणी के उद्भिदों के बीज या 'फल' (यहाँ पर फल-शब्द का अर्थ उद्भिद-विज्ञान के अनुसार किया गया है, साधारण बोलचाल की भाषा के अनुसार नहीं) उत्पन्न करने का कार्य गुप्त रीति से संपादित होता है, और वह जाना नहीं जा सकता। इसीलिये इनका नाम क्रिप्टोगैम्स [Gr. Kruptus=hidden (छिपा हुआ) Games=marriage (विवाह)] रक्खा गया था। परंतु सूक्ष्म-दर्शक यंत्र के आविष्कार ने इस विचार को भ्रमात्मक सिद्ध कर दिया है। तो भी यह वर्गीकरण अत्यंत उपयोगी और सुबोध्य है। हमें केवल उपर्युक्त बातों को याद रखना चाहिए।

२. फ़ेनरोगैम—[Gr. Phaneros=open (खुला हुआ); Games=marriage (विवाह)] इस विभाग के अंदर उन सभी वनस्पतियों का स्थान है, जिनमें फूल लगते हैं, अर्थात् जिनके पुष्प, और फल या बीज उत्पन्न करनेवाले अवयव ख़ाली आँखों से देखे जा सकते हैं। एक शब्द में हम Cryptogams को 'पुष्प-रहित' और Phanogams को 'पुष्प-युक्त' कह सकते हैं। सुबोध्य होने के कारण ही हम इस लेख में इस पुराने वर्गीकरण का अनुसरण करते हैं, यद्यपि शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से हमारा यह वर्गीकरण कदापि निर्दोष नहीं कहा जा सकता। हम सभी पुष्प-हीन उद्भिदों

को 'क्रिप्टोगैम' और सभी पुष्प-युक्त उद्भिदों को 'फ़ेनरोगैम' कहेंगे, चाहे उनमें और कितने ही भेद क्यों न हों।

पुष्प-हीन उद्भिदों की जातियाँ

क्रिप्टोगैम-जाति के उद्भिदों के तीन विभाग किए गए हैं। उनके नाम ये हैं—(१) 'थैलो-फ़ाइटीज़' [Gr. Thallos=a shoot (कोंपल या अंकुर): Phyton=a plant (उद्भिद्)], (२) 'ब्राइओफ़ाइटीज़' [Gr. Bryon=moss (काई)], (३) टीरीडो-फ़ाइटीज़ [Gr. Pteris=a fern (फ़र्न-जाति के उद्भिद्)]। आपने अकसर उद्यानों में फ़र्न-जाति के उद्भिदों को देखा होगा। फ़र्न अकसर अपनी हरियाली और पत्तों की शोभा के लिये गमलों में भी लगाई जाती है।

थैलोफ़ाइटीज़ विभाग

१. Thallophyta—इस विभाग के अंदर बहुत-से उद्भिद् रक्खे गए हैं। इनकी संख्या प्रायः अस्सी हज़ार है। इनकी बनावट अत्यंत साधारण और सीधी-सादी होती है। इनमें अभी तक डाल, पत्ती और जड़ इत्यादि का भेद नहीं स्थापित हुआ। ये अकसर एक-गोलक-विशिष्ट (unicellular) होते हैं, और इनका जनन कार्य अत्यंत सरल होता है। ये टूट-टूटकर अन्य गोलकों की सृष्टि और इस प्रकार अपनी वंश-वृद्धि करते हैं। इस जाति के बहु गोलक-विशिष्ट निम्न श्रेणी के उद्भिद केवल गोलकों का समूह या जमघट होते हैं। इनमें भी संगठन का प्रायः अभाव ही है। इस अवस्था में गोलक कतार में या एक दूसरे को घेरे हुए चारों ओर फैले नज़र आते हैं।

उपजातियाँ

'थैलोफ़ाइटीज़'-विभाग के अंदर दो मुख्य भेद किए गए हैं—(क) 'अलजी', (ख) 'फ़ंगी'।

अलजी

(क) अलजी-जाति के अंदर एक इंच से दस लाख-गुने छोटे डेस्मिड आदि जल के उद्भिदों से लेकर सैकड़ों फ़ीट लंबा और समुद्र का सैकड़ों वर्ग-मील स्थान छेकनेवाली सामुद्रिक वनस्पतियों का स्थान है। अतएव अलजी की परिभाषा देना कठिन है। यद्यपि अलजी साधारणतः जल में ही पाए जाते हैं, तो भी इनकी कई उपजातियाँ ठंडी ज़मीन में भी उगा करती हैं। लेकिन सभी अलजी क्लोरोफ़िल से युक्त होते हैं। इस-लिये क्लोरोफ़िल से युक्त सभी थैलोफ़ाइटा अलजी कहलाते हैं। अलजी की एक और विशेषता याद रखने के योग्य है। और वह यह कि बहुत-से अलजी सब्ज़ रंग पैदा करनेवाले क्लोरोफ़िल के अतिरिक्त और कई रंगों—उदाहरणार्थ नील-भूरे-पीले या लाल—के पैदा करने की भी शक्ति रखते हैं। इन्हीं रंगों के आधार पर अलजी के और भी कई श्रेणी-विभाग किए गए हैं। परंतु यहाँ पर उनके वर्णन का स्थान नहीं। प्राचीनता के लिहाज़ से अलजी अत्यंत आदरणीय हैं; क्योंकि यद्यपि उनका कोमल काष्ठ-हीन शरीर 'फ़ॉसिल' के रूप में सुरक्षित बचा हुआ नहीं रह सका है, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन समुद्र अलजी की घनी हरियाली से परिपूर्ण थे, और शायद लाखों वर्ष तक अलजी ही भू-पृष्ठ पर उद्भिद-जीवन के एक-मात्र प्रति-निधि की तरह निवास कर रहे थे।

फ़ंगी

(ख) अलजी के बाद उद्भिद-जीवन में फ़ंगी का स्थान है। इन उद्भिदों में क्लोरो-फ़िल नहीं होता, और इसलिये अन्य वनस्पतियों की तरह ये अपना भोजन प्राप्त नहीं कर सकते। इन्हें भी प्राणिजगत् ही की तरह अपने शरीर-पोषण के लिये दूसरे सजीव पदार्थों का आश्रय लेना पड़ता है। परंतु ये उद्भिदों के समान स्थावर होते हैं, याने आधे प्राणी, और आधे उद्भिद् हैं। इनकी उत्पत्ति सजीव पदार्थों के मृत शरीरों में या प्राणियों अथवा उद्भिदों के शरीरों से निकले हुए पदार्थों से हुआ करती है। उदाहरण के लिये आप काठ या गोबर से निकलनेवाले छातों या टेकनस को स्मरण करें। स्वतंत्र रूप से इन उद्भिदों का जन्म नहीं हो सकता। इन्हें सदैव प्राणियों या वनस्पतियों के मृत शरीर का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। प्रकृति इनके द्वारा संसार की सफ़ाई का भी प्रबंध करती है। फ़ंगी प्राणी या वनस्पति की मृत देह को पुनः पंचतत्त्वों में मिलाकर उन्हें फिर नए संयोजनों के लिये तैयार करते हैं। इतना ही नहीं, उद्भिद्-संसार के बीच फ़ंगी बहुत-सी बीमारियों को उत्पन्न करके कितने ही वृक्षों और वनस्पतियों का जीवन-हरण भी करते हैं। प्राणियों के ही सदृश फ़ंगी और बैक्टीरिया द्वारा कितने उद्भिद् भी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इस तरह के फ़ंगी की हज़ारों जातियाँ

हैं। फंगी-जनित बीमारियों और बीमारी पैदा करनेवाले फंगियों का अध्ययन उद्भिद्-विज्ञान में अत्यंत कठिन माना जाता है। इस लेख में तो उनके वर्णन की आवश्यकता भी नहीं है। इनकी वृद्धि अत्यंत तीव्र गति से होती है, और हिसाब लगाने से विदित हुआ है कि सिर्फ़ एक बेक्टीरिया से आठ घंटे में ही १ करोड़ ६० लाख बेक्टीरिया की सृष्टि हो सकती है। बहुत-से उद्भिद्-विद्या-विशारद निस्संदेह फंगी का अल्जी से उत्पन्न होना अनुमान करते हैं, परंतु प्रमाणों और दलीलों का समझना कठिन है, इसलिये हम उनका वर्णन यहाँ पर करना नहीं चाहते।

लाइचेनस

फंगस-जाति की एक उपजाति लाइचेनस (Lichens) की स्वतंत्र रूप से व्याख्या करने की ज़रूरत जान पड़ती है; क्योंकि बहुत दिनों तक उद्भिद्-विद्याविद् लोग लाइचेनस को फंगस की उपजाति नहीं, किंतु थैलोफ़ाईटा-विभाग के अंतर्गत एक स्वतंत्र जाति मानते थे। परंतु अब यह पूर्ण प्रमाणित हो गया है कि लाइचेनस् भी एक प्रकार के फंगी ही हैं। यद्यपि एकआध अपवादों का उल्लेख कहीं-कहीं पर पाया जाता है, तथापि उन्हें छोड़कर लाइचेनस सदैव अल्जी के साथ संयुक्त (living symbiotically) पाए जाते हैं। संक्षेप में वे फंगी, जो अल्जी के ऊपर अधिकार जमाते हैं, लाइचेनस् कहे जाते हैं। बहुत दिनों के सहवास से इनमें यह विशेषता आ गई है कि सिवा विशेष अल्जी के वे दूसरे प्रकार के उद्भिदों के साथ नहीं रह सकते। अन्य फंगी और लाइचेनस् में एक और भी भेद है। अन्य सभी फंगी उन उद्भिदों का, जिन पर वे अपना अधिकार जमाते हैं, विनाश कर डालते हैं; परंतु लाइचेनस् के द्वारा अल्जी की कोई प्रत्यक्ष क्षति नहीं होती। कभी-कभी तो स्वतंत्र रूप से जीवन-धारण करने की अपेक्षा लाइचेनस के साथ संयुक्त होने पर अल्जी के गोलक कहीं अधिक बड़े और चमकदार हुआ करते हैं। संयुक्त फंगस कभी-कभी इनकी रक्षा भी करता है, और इन्हें ऐसे स्थानों पर रहने की क्षमता भी देता है, जहाँ वे अकेले कभी नहीं रह सकते थे। लाइचेनस् में सर्दी और गरमी बर्दाश्त करने की अद्भुत क्षमता होती है।

ब्राइओफाईटा

२. ब्राइओफ़ाईटा (Bryophyta)—इस विभाग के अंदर वे सब काइयाँ सम्मिलित हैं, जिनके दूर तक बिछे हुए सब्ज़ मख़मली फ़र्श हमारे नेत्रों को तृप्त और आनंदित करते हैं। इनमें जड़, शाखा और पत्तियों का आरंभ हो गया-सा नज़र आता है; परंतु इनकी बनावट अभी तक गोलकमय ही है। अभी तक किसी रेशे या काष्ठ-मय पदार्थ की सृष्टि नहीं हुई। उद्भिद्-जगत् में इनका स्थान अल्जी और फ़र्न के बीच में पड़ता है। ब्राइओफ़ाईटा-जाति के अंदर प्रायः १६,००० उपजातियों की गणना होती है, परंतु इस विभाग के अंदर मुस्सी या

उपजातियाँ—मुस्सी और लाइवर्ट

मॉस तथा लाइवर्ट, ये ही दो मुख्य जातियाँ हैं। उद्भिद्-विज्ञान के पंडितों का मत है कि लाइवर्ट-जाति से ही फ़र्न की उत्पत्ति हुई है।

टेरिडोफ़ाईटा

३. फ़र्नों में काष्ठमय पदार्थ तथा वृक्षों को भोजन पहुँचानेवाली नलियों की उत्पत्ति स्पष्टता के साथ हो गई-सी नज़र आती है। इस विभाग के मुख्य तीन भेद हैं, और इसके अंतर्गत प्रायः पाँच हज़ार उपजातियों का पता लगाया गया है। देखिए, विकास-क्रम कितनी स्पष्टता के साथ झलक उठता है। प्रथम विभाग के उद्भिद् पूर्णतया गोलक-विशिष्ट हैं। द्वितीय श्रेणी के उद्भिद् भी यद्यपि गोलक-विशिष्ट ही हैं, तथापि उनके बीच जड़, डाल और पत्तों का प्राथमिक पृथक्करण—आभासमय उत्पत्ति—दृष्टि-गोचर होता है। किंतु तो भी इनके अंदर किसी काष्ठ-मय पदार्थ का पता नहीं चलता, और न इनके बीच उन नलियों ही का कोई पता है, जिनके द्वारा सभी उन्नत वनस्पतियों को भोजन प्राप्त होता है। परंतु फ़र्नों में यह अभाव भी दूर हो गया है, और इसलिये ये क्रिप्टोगैम-विभाग के सबसे उन्नत उद्भिद् समझे जाते हैं। इनमें भी अभी तक पुष्पों की उत्पत्ति नहीं हुई। जनन-कार्य का संपादन स्पोर के द्वारा होता है। स्पोर ही इस विभाग में बीज का काम करते हैं। स्पोर और शुद्ध बीज में बहुत अंतर है, जो पाठकों को आगे चलकर इसी लेख में मालूम हो जायगा।

स्पोर उन गोलकों को कहते हैं, जो वनस्पतियों के शरीर से निकलकर नए उद्भिदों में परिणत हुआ करते हैं।

परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि निम्न-श्रेणी के जीवों में लिंग-भेद है ही नहीं। वनस्पतियों में लिंग-भेद आदिम अवस्था से ही शुरू हो जाता है, यद्यपि हमें उन्नत उद्भिदों में पाई जानेवाली प्रेम-लीला तथा पुष्पों के गर्भ धारण करने का दृश्य स्पष्टता के साथ नज़र नहीं आता। कोयले का वर्णन करते समय हम संक्षेप में इन फ़र्नों के संबंध में लिख चुके हैं। प्राइमरी या प्राथमिक समय के डीवोनियन इत्यादि विभागों में पृथ्वी इन फ़र्नों के विशाल और घने जंगलों से परिपूर्ण थी। उस समय के फ़र्न बहुत बड़े और लंबे होते थे, और उन्हीं के द्वारा कोयले की सृष्टि हुई, यह हम पूर्व के किसी लेख में लिख चुके हैं। आजकल पाए जानेवाले फ़र्नों की कई उपजातियाँ—उदाहरणार्थ club-mosses, horse-tail, आदि—इन प्राचीन विशाल फ़र्नों की ही क्षुद्र संतति एवं प्रतिनिधि हैं।

पुष्प-युक्त उद्भिद्

फ़ेनरोगैम्स—इस जाति के उद्भिदों में लिंग-भेद, जिसका आभास हमें बहुत पहले ही से मिलने लगा है, परा काष्ठा पर पहुँच जाता है। पुष्पेंद्रिय और जननेंद्रिय का विकास स्पष्टता के साथ हो जाता है, और गर्भ धारण करने तथा बीजों की उत्पत्ति का कार्य भी बहुत जटिल हो जाता है। फ़ेनरोगैम्स के अंदर जिम्नोस्पर्म और एंजियोस्पर्म, ये दो मुख्य जातियाँ हैं।

जिम्नोस्पर्म

१. जिम्नोस्पर्म—इन उद्भिदों के बीज नंगे होते हैं, अर्थात् उनमें गर्भाशय या जठरायु का विकास पूर्णता के साथ नहीं होता। इस जाति के उद्भिदों में एंजियोस्पर्म के असदृश बीज पैदा करनेवाला अंडा किसी ओवरी (ovary) या अंडाशय में बंद नहीं रहता, बरन यह नंगा होता है, और पॉलन, पुरुष-रेणु या पराग इसी के ऊपर आकर गिरता है। इनके द्वारा पुष्प-हीन उद्भिदों के पुष्प-संपन्न अवस्था में विकसित होने का क्रम अच्छी तरह देखा जा सकता है। इस जाति के उद्भिद् बहुत कम देखे जाते हैं, और वैज्ञानिकगण शायद इसकी ४०० से अधिक उपजातियों से परिचित नहीं हैं।

एंजियोस्पर्म

२. एंजियोस्पर्म—इन जातियों में गर्भ-धारण-क्रिया अत्यंत जटिल हो गई है। पॉलन, पराग या पुरुष-रेणु सीधे अंडों के ऊपर आकर नहीं गिरता, बरन् वह पहले पुष्प की स्त्री-इंद्रिय के ऊपर पहुँचता है। यहाँ पहुँचने पर उसके ऊपर स्त्री इंद्रिय का प्रभाव पड़ना शुरू होता है। पराग या पुरुष-रेणु पुष्प के इस स्थल के तरल पदार्थ का शोषण करने लगता है, और इस रेणु से एक नली (tube or pollen tube) उत्पन्न हो जाती है। यह नली बढ़ती-बढ़ती लंबी होती जाती है। इसका व्यास भी चौड़ा हो जाता है, और ऊपरी तह को छोड़कर रेणु के भीतर का समस्त पदार्थ इस नली में चला आता है। अंत में यह नली अंडाशय द्वारा आकर्षित होकर उसकी ओर बढ़ती और उसको भेदकर अंडे तक पहुँचती है। पुष्प गर्भ धारण करता है, और कुछ समय के बाद बीज तैयार हो जाते हैं। विषय अत्यंत कठिन है, और बिना कठिन पारिभाषिक शब्दों की सहायता तथा सूक्ष्म-दर्शक यंत्र द्वारा पुष्पों की गर्भ-धारण-क्रिया को बिना देखे एवं उद्भिद्-विज्ञान की पुस्तकों का बिना अध्ययन किए इसका समझ में आना अत्यंत कठिन है। हमने सभी ज़रूरी बातों का संक्षेप में और सुबोध रीति से वर्णन करने का प्रयत्न किया है। परंतु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बात इतनी मुख्तसर और सीधी नहीं है। तो भी इतने ही से पाठकों को प्रकृति के अद्भुत प्रबंध का पता चल गया होगा। वे लिंग-संबंधी आकर्षण के दुर्दमनीय प्रभाव तथा लिंग-भेद के यथार्थ मर्म एवं विकास के यथार्थ तात्पर्य को ज़रूर समझ गए होंगे। अनंत प्रकृति का अनंत प्रबंध हमें मंत्र-मुग्ध और विस्मय-विमूढ़ बना देता है। नन्हे-से पॉलन या पराग की जटिलता और चमत्कार से, इस नन्हे-से पराग के अंदर पाई जानेवाली चीज़ों के निरीक्षण से, पुष्प के तरह-तरह के खंडों और अवयवों को देखकर एवं यह स्मरण कर कि इस क्षुद्र पुष्प की गर्भ-धारण-क्रिया भी प्राणियों की गर्भ-धारण-क्रिया से कम विचित्र अथच विस्मयावह और जटिल नहीं है, हम चमत्कृत हो जाते हैं। वस्तु-निरीक्षण हर समय अनंतता का ही परिचय देता है। हर तरफ़, हर ओर अनंत ही नज़र आता है। कोई भी वस्तु क्षुद्र और तुच्छ नहीं है, सभी अनंत हैं। अस्तित्व केवल अनंत का ही है, और सब कुछ भ्रम है। एक अनंत ही विद्यमान है, और सब कुछ विनश्वर और माया है।

पुष्पों के गर्भ-धारण करने का प्राकृतिक प्रबंध

पुष्प कभी-कभी पुरुषेंद्रिय और स्त्री-इंद्रिय, दोनो से युक्त होते हैं, अर्थात् वह पराग भी उत्पन्न करते हैं, और उनमें अंडे भी मौजूद होते हैं; परंतु अकसर पुष्प एक ही लिंग के होते हैं। प्रथमोक्त पुष्प भी अपने ही पराग से बहुत कम गर्भ धारण करते हैं। बहुधा दूसरे ही पुष्पों के पराग से बीज उत्पन्न होता है। तब पराग के स्त्री-इंद्रिय तक पहुँचने का कौन-सा ज़रिया है? एक अंश में यह कार्य वायु द्वारा संपादित होता है। हवा पराग को उड़ा ले जाकर पुष्प की स्त्री-इंद्रिय तक पहुँचाती है। हवा द्वारा गर्भ धारण करनेवाले उद्भिद् सुंदर, नयनाभिराम पुष्पों से युक्त नहीं होते, और न वे मधु ही उत्पन्न करते हैं। परंतु प्रकृति उनमें पराग की उत्पत्ति अन्य पुष्पों की अपेक्षा कहीं अधिक करती है, और इस प्रकार वायु की अनिश्चितता से उनकी रक्षा होती है। कभी-कभी तो ऐसे पुष्पों के पराग से भूमि ढकी नज़र आती है। परंतु बहुधा पुष्प मधुमक्खियों, तितलियों तथा अन्यान्य कीड़ों द्वारा गर्भ धारण करते हैं। इसके लिये प्रकृति ने अत्युत्तम प्रबंध भी किया है। ऐसे पुष्प मधु-संचय करते हैं, और वे देखने में सुंदर और चमकीले होते हैं, जिससे कीड़े आकर्षित होकर उन पर आकर बैठा करते और जाते समय कुछ पराग अपने पंखों या शरीर पर ले जाया करते हैं। जब वे दूसरे पुष्प पर बैठते हैं, तो वहाँ कुछ पराग गिर पड़ता है, और इस प्रकार पुष्पों में बीज की उत्पत्ति होती है। इसी अभिप्राय से अधिकांश पुष्पों में प्रकृति आनंददायक सौरभ भी उत्पन्न करती है, जिससे कीड़े और भी विशेष रूप से पुष्प की ओर आकृष्ट हों। फूलों और कीड़ों में क्या ही उत्तम सहयोग उत्पन्न किया गया है! पुष्प कीड़ों को भोजन देते हैं, और कीड़े वंश-वृद्धि—बीज उत्पन्न करने—में उनकी सहायता करते हैं। परंतु प्रकृति इतने ही से संतुष्ट नहीं होती। उसने आगे के लिये भी दूरदर्शिता से काम लिया है। परिपक्व बीज हवा द्वारा इधर-उधर दूर तक बिखेरे जाते हैं। पर वे फल, जिनके बीज इस तरह बिखेरे जाते हैं, देखने में सुंदर और स्वादिष्ट नहीं होते। हाँ, सुंदर गूदेदार और सुस्वादु फल पक्षियों और प्राणियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। पक्षी उन्हें खाते हैं; परंतु उनका बीज उनके पेट में हज़म नहीं होता। वे दूर-दूर तक मीलों और कोसों की उड़ान भरते हैं, और जब बीट करते हैं, तो ये बीज उनके पेट से निकलकर नए बीजों की सृष्टि करते हैं। यह स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त विचित्रता-पूर्ण फूलों और इस प्रकार के फलों को जीवन-संग्राम में विशेष सहायता प्राप्त होती है, और इसी प्रकार निम्न प्रकार के उद्भिदों की अपेक्षा इनकी वंश-वृद्धि अधिक होती है। हम भी सुंदर, सुगंधित फूलों तथा मीठे सुस्वादु और रसीले फलों को लगाकर इस कार्य में प्रकृति का हाथ बटाते हैं।

विकास का यथार्थ मर्म और प्रकृति का अभिप्राय

इस प्रसंग में, उद्भिदों के निरीक्षण द्वारा हम जो एक सुंदर पाठ प्राप्त करते हैं, उसका अत्यंत संक्षिप्त वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है, यद्यपि पीछे हम इसका सविस्तर वर्णन करेंगे। प्राकृतिक निरीक्षण द्वारा यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रकृति व्यक्तियों की अपेक्षा जाति की कहीं अधिक परवा करती है। चाहे व्यक्ति की मृत्यु हो जाय, परंतु जाति जीवित रहे। प्रकृति सदा इसी बात के लिये सचेष्ट रहती है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति में प्रकृति ने वंश-वृद्धि करने की दुर्दमनीय प्रवृत्ति उत्पन्न की है। प्राणि-संसार के सदृश उद्भिद-संसार में भी इसी नियम का शासन दृष्टिगोचर होता है। वृक्ष बढ़ता-बढ़ता पत्र-पल्लव-संपन्न होता है। पर किस लिये? वृक्ष जब पूर्ण यौवन को प्राप्त होता है, तो उसमें फल लगते हैं? पर फूल का भी क्या अभिप्राय है? वृक्ष की शोभा? यौवन का मद? नहीं, कदापि नहीं। फूल का अभिप्राय केवल बीज उत्पन्न करना, अर्थात् वंश-वृद्धि करना ही है। वृक्ष बहुत दिनों तक बढ़ता है, उसकी जड़ उसे भोजन देती है, पत्तियाँ उसे जीवित और तरोताज़ा रखती हैं। पर यह सब किस लिये? केवल इसीलिये कि वृक्ष में फूल लगे। और, स्वयं फूल का जन्म किस लिये होता है? केवल बीजों के लिये। और इन बीजों को उत्पन्न करने में ही फूल सहर्ष अपने प्राण गँवाता है। वह अपने रंग, अपनी सुंदरता और शोभा तथा अपने सौरभ की रत्ती-भर भी परवा नहीं करता। कितना कठोर उत्सर्ग, कितना बड़ा स्वार्थ-त्याग, कितनी निस्पृहता और कैसा आत्मविसर्जन है! प्रकृति में केवल संग्राम, लूट-खसोट और स्वार्थ ही का एकाधिपत्य नहीं है, यद्यपि इनका अस्तित्व किसी

प्रकार अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जीवन-संग्राम का अर्थ ही यही है। परंतु स्मरणीय बात यह है कि स्वार्थ का अंत परार्थ में होता है। सभी उद्भिद् और प्राणी इस वंश-वृद्धि-कार्य के संपादन के लिये व्यस्त रहते हैं। उनके वैयक्तिक जीवन का एक-मात्र यही ध्येय है। इसके लिये उन्हें बहुत परिश्रम और कष्ट झेलना पड़ता है। कभी-कभी तो आत्मोत्सर्ग तक बहुत से उद्भिद् बढ़कर और बड़े होकर, तथा फूलों और बीजों को उत्पन्न कर फ़ौरन सूख जाते हैं। दूसरी महत्त्व-पूर्ण शिक्षा जो हमें मिलती है, वह यह है कि प्रकृति विशेष रूप से उन जीवों, प्राणियों या उद्भिदों को चुनती है, जिनमें निस्स्वार्थता की मात्रा अधिक हो, अर्थात् जिनको इस वंश-वृद्धि-कार्य के संपादन में अधिक परिश्रम करना पड़ता हो। ऐसे ही जीवों को जीवन-संग्राम में शिष्टता प्राप्त होती है। स्तन्य-पायी (mamalia) जीवों को बहुत समय तक अपने बच्चों को गर्भ में रखना पड़ता तथा बाद को भी अपने रक्त से बच्चों के लिये भोजन—दूध—तैयार करना पड़ता है; परंतु निम्न-श्रेणी के जीवों में माता और बच्चे का वियोग उसी समय हो जाता है, जब वे अंडे ही की अवस्था में रहते हैं। पुनः मनुष्य-जाति के अंदर तो संतानोत्पत्ति का कार्य—उनका जनन और लालन-पालन आदि—चरम सीमा पर पहुँच जाता है। यह स्पष्ट ही है कि जीवन-संग्राम में अन्य निकृष्ट जीवों की अपेक्षा स्तन्यपायी जीवों को, और अन्य स्तन्यपायी जीवों की अपेक्षा मनुष्य को कहीं अधिक शिष्टता प्राप्त है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रकृति स्वार्थपरता की अपेक्षा स्वार्थहीनता को कहीं अधिक पसंद करती है। इसीलिये प्राकृतिक निर्वाचन या जीवन-संग्राम में स्वार्थ-रत जीवों की अपेक्षा निस्स्वार्थ जीवों को अधिक योग्यता प्राप्त होती है। उद्भिद्-संसार में भी यही बात है। लिंग-हीन उद्भिदों की अपेक्षा लिंग-युक्त उद्भिद्, थैलोफ़ाइटा की अपेक्षा टेरीडोफ़ाइटा, टेरीडोफ़ाइटा की अपेक्षा जिम्नोस्पर्म और जिम्नोस्पर्म की अपेक्षा एंजियोस्पर्म अधिक उन्नत और जीवन-संग्राम में अधिक शिष्टता संपन्न हैं।

एक और विचारणीय बात यह है कि उन्नत जीव और उद्भिदों के संतानें भी कम होती हैं, अर्थात् निकृष्ट जीवों और उद्भिदों की अपेक्षा वे कम संतान उत्पन्न करते हैं। मछली हज़ारों अंडे दिया करती है; परंतु कुतिया साल में एक ही बार, और वह भी अधिक-से-अधिक ४-६ पिल्ले पैदा करती है। स्त्रियों के तो एक ही बच्चा होता है, और वह भी कितनी यंत्रणा सहने, कितना कष्ट उठाने के बाद! इसी कारण मछली की अपेक्षा कुत्ते को, और कुत्ते की अपेक्षा मनुष्य को जीवन-संग्राम में अधिक शिष्टता प्राप्त है। दूसरे शब्दों में प्रकृति संख्या की अपेक्षा योग्यता और गुण को, स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ को, अनैतिक की अपेक्षा नैतिक को अधिक पसंद करती है। प्राकृतिक निर्वाचन का यही तात्पर्य है। किंचित् प्रसंगांतर होने के भय से हम इस संबंध में अधिक लिखने में असमर्थ हैं। संकेत मात्र ही पाठकों के लिये काफ़ी होगा। हम इस विषय को अन्यत्र लिख भी चुके हैं। *

आदिम विकास

इसी लेख में आदिम विकास के सविस्तर वर्णन—विकास की रीति तथा परिवर्तन के कारण इत्यादि—का उल्लेख असंभव है। तो भी उपर्युक्त वर्णन से पाठकगण विकास के अस्तित्व और उसके क्रम से अवश्य अवगत हो गए होंगे।

अलजी की उत्पत्ति

जब हम समस्त उद्भिद्-संसार पर दृष्टिपात करते और साधारण और अजटिल उद्भिदों की जटिलतामय उद्भिदों के साथ तुलना करते हैं, तो हमें यही प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे अत्यंत मंद गति से क्षुद्र और अजटिल उद्भिद् उन्नत एवं विकसित हुए हैं; उन्नत और जटिल उद्भिद् भी क्षुद्र और साधारण उद्भिदों की अवस्था से होकर गुज़रे हैं।

जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं, आज का निकृष्टतम उद्भिद् जल में रहता है। वह एक-गोलक-विशिष्ट होता है। अस्तु, हमें यह समझने में कठिनाई नहीं हो सकती कि संसार का आदिम उद्भिद् इससे बहुत भिन्न न रहा होगा। अब यदि यह कहें कि सभी सामुद्रिक उद्भिद् धीरे-धीरे इसी से उन्नत हुए हैं, तो शायद हम कोई बड़ी भूल भी न करेंगे। सामुद्रिक उद्भिदों की भिन्न-भिन्न जातियों की तुलना करने पर वे हमें क्रमानुसार एक दूसरे से पृथक् और भिन्न नज़र आते हैं, और इससे यही प्रतीत होता है कि विकास का क्रम भी ऐसा ही रहा होगा। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि आदिम

* "नीति-विज्ञान" देखो।



[illegible]

आदिम उद्भिद्—प्रोटोप्लाज्म

सामुद्रिक उद्भिद शायद गोलक की अवस्था में भी न पहुँच सके थे, और न गोलक की दीवार या चादर द्वारा परिवेष्टित थे। वे नंगे जीवन-बीज (protoplasm) मात्र थे। अस्तु, अपेक्षाकृत अधिक निरापद होने के

गोलक

लिये ही वह गोलक के खोल से परिवेष्टित हुए।

आकार के बढ़ने पर गोलकों का टूटकर दो खंडों में विभक्त होना भी स्वाभाविक ही था, क्योंकि गोलक की

गोलक का टूटना

पतली चादर, बिना स्वयं फटे और इस प्रकार उद्भिद का बिना प्राण-नाश किए, एक हद से खिंचाव को बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। इसलिये आकार-वृद्धि का स्वाभाविक परिणाम गोलकों

गोलकों की लड़ी

का टूटना ही था। परंतु कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि गोलकों का उपर्युक्त विच्छेदन जब अत्यंत तीव्र गति से चलने लगता है, तो गोलकों के पूर्णतया पृथक् होने के पहले ही उनमें विच्छेदन-क्रिया आरंभ हो जाती है, और गोलक एक दूसरे से पृथक् नहीं होने पाते, सब-के-सब स्वतंत्र और अलग होने पर भी एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। इस प्रकार गोलकों का एक धागा या लड़ी बन जाती है। इस श्रेणी के अलजी हमें सुगमता से इस समय भी जल में प्राप्त हो सकते हैं। निस्संदेह प्राचीन समय में भी ऐसा ही होता रहा होगा। अब यह स्पष्ट है कि गोलकों की

बहु-गोलक—विशिष्ट उद्भिदों की उत्पत्ति

यह लड़ी सदा तागे में पिरोए हुए मोतियों की माला के सदृश लंबी ही न बढ़ती जायगी, वरन् गोलक आगे-पीछे, ऊपर-नीचे और अगल-बगल, चारों ओर से भी बढ़ने लग जायँगे, और इस प्रकार पैदा हुआ उद्भिद अपेक्षाकृत बहुत बड़ा होगा। भिन्न-भिन्न आकार और स्वरूप के बहु-गोलक-विशिष्ट उद्भिद इस समय भी प्रचुरता से देखे जाते हैं। इसी प्रकार प्राचीन उद्भिद बड़े, लंबे और मोटे हुए होंगे।

इस तरह के परिवर्तन का बहुत गहरा प्रभाव भी

उद्भिदों के अवयवों का आभास

पड़ा होगा, यह भी स्पष्ट है। इसने गोलकों के परस्पर-संबंध में युगांतर उपस्थित कर दिया होगा। केवल जल का स्पर्श रखनेवाले बाहर के ही गोलक जल का शोषण करते रहे होंगे, और भीतर के गोलकों को जल के लिये इन्हीं का आश्रय ग्रहण करना पड़ा होगा। इसी श्रम-विभाग द्वारा उद्भिदों के भिन्न-भिन्न अंशों और अवयवों की सृष्टि हुई होगी, और गोलकमय उद्भिद् के भिन्न-भिन्न अंशों में अंतर स्थापित हुआ होगा।

अस्तु, उद्भिद का आकार ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, त्यों-त्यों रक्षा और जल-शोषण का काम बाहर के गोलकों के मत्थे पड़ने लगा। अंदर के गोलकों में कम रोशनी पहुँचने के कारण वे क्लोरोफ़िल से रहित और भोजन बनाने में असमर्थ होते गए। कुछ आंतरिक गोलकों ने उद्भिद-शरीर के लिये जल पहुँचाने का काम ले लिया। उद्भिद जितना मोटा होता गया, उतना ही बाहर की गोलकमय सतह उसे सभी ज़रूरी चीज़ें पहुँचाने में असमर्थ होती गई, अर्थात् आकार के लिहाज़ से उद्भिद के बाहर की सतह कम होती गई। इस प्रकार चिपटे तौर से बढ़ने में असमर्थ होने तथा उद्भिद् की ऊपरी सतह पर गोलकों की भीड़ होने के कारण, जगह-जगह उद्भिद की सतह पर अंकुर या गाँठ आ गई, और वह कुछ ऊपर की ओर बढ़ने लगा। इसी तरह शाखाओं की उत्पत्ति हुई। इससे उद्भिद को लाभ भी पहुँचा; क्योंकि शाखाओं के बीच के स्थान द्वारा जल की गति में बाधा भी कम पड़ने लगी, और पानी सुगमता के साथ, बहुत कम अवरोध के साथ, निकलने लगा। जीवन-संग्राम में इतना मौक़ा पा लेने का क्या तात्पर्य है, यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

आकार के बढ़ने से यह भी ज़रूरी हो गया कि उद्भिद किसी वस्तु के सहारे एक स्थान पर टिक जाय, और इधर उधर जल में निरुद्देश्य बहता न फिरे। इसीलिये उद्भिदों में चिपकनेवाले अवयवों की सृष्टि हुई। ये ही उद्भिदों की प्राथमिक जड़ें थीं, और इस तरह की जड़ों से युक्त उद्भिद् इस समय भी समुद्र के किनारे देखे जाते हैं। परंतु इन जड़ों और विशुद्ध जड़ों में बहुत अंतर है। ये केवल लंगर के सदृश हैं, जिनके द्वारा उद्भिद अपने स्थान पर अवस्थित रहता है। इनका और कोई उद्देश्य नहीं। परंतु विशुद्ध जड़ें उद्भिद को अपने स्थान पर अवस्थित रखने के अतिरिक्त उसे जल और भोजन भी पहुँचाया करती हैं। थैलोफाईटा-जाति के उद्भिद् इससे अधिक उन्नति नहीं कर सके, और उनमें—चाहे

वे बड़े शाखादार और मोटे हों, या क्षुद्र शाखा-रहित और पतले — डाल, पत्ती और जड़ के विभेद का कोई पता नहीं चलता।

जल के उद्भिदों की संख्या-वृद्धि की रीति और उसका क्रम-विकास

जिस समय उद्भिद् की शारीरिक बनावट में ये परिवर्तन उपस्थित हो रहे थे, उसी समय वंश-वृद्धि की रीति में कम महत्त्व-पूर्ण क्रांति भी धीरे-धीरे नहीं हो रही थी। जब तक उद्भिद् केवल एक-गोलक-विशिष्ट था, तब तक तो सिर्फ़ गोलकों के विभाजन से ही अन्य उद्भिदों की सृष्टि होती थी; परंतु जब गोलकों की लड़ियाँ बनने लगीं, तो यह रीति स्वभावतः बंद हो गई। तो भी अभी तक वंश-वृद्धि की रीति में कोई मौलिक अंतर नहीं उपस्थित हुआ। गोलकों के टूटने के बदले अब अंजीर ही टूटने लगी। वंश-वृद्धि की यह रीति अभी तक कुछ नीले अल्जी और बहुत-से फ़ंगियों में देखने में आती है।

परंतु यह रीति सुविधाजनक नहीं है, और इस प्रकार बहुत-से उद्भिदों की सृष्टि भी नहीं हो सकती। इसलिये उद्भिद् के शरीर में ख़ास तरह के गोलक पैदा होने लगे, और वे उनके शरीर से अलग होकर अन्य उद्भिदों की सृष्टि करने लगे। वैज्ञानिकगण इस तरह के गोलकों को 'गोनीडिया' कहते हैं। ये कई प्रकार के होते हैं, और प्रायः बहुत बड़ी संख्या में उत्पन्न हुआ करते हैं। बहुत-से अल्जियों और फ़ंगियों की संख्या-वृद्धि इसी प्रकार के गोलकों से होती है।

परंतु इस प्रकार पैदा हुई संतान मज़बूत नहीं होती। इसलिये समय बीतने पर संख्या-वृद्धि के लिये एक दूसरी पद्धति का अनुसरण किया गया। प्रत्येक गोनीडिया या गोलक स्वतंत्र रूप से एक नए उद्भिद् की सृष्टि करने के बदले एक अन्य गोनीडिया या गोलक के साथ संयुक्त होने लगा, और इस तरह दोनों मिलकर एक बनने और नए उद्भिदों को जन्म देने लग गए। इस प्रकार के दो गोलकों के संयोग (Conjugation) से जो बीज तैयार होता है, उसे ज़ाईगोट कहते हैं। हम आज भी गोनीडिया को समुद्र में एक दूसरे से मिलकर बीजों की सृष्टि करते हुए अपनी आँखों देख सकते हैं।

लिंग-भेद की प्राथमिक अवस्था यही है। यद्यपि अभी

लिंग-भेद

पुरुष और स्त्री का भेद पूर्णता के साथ उपस्थित नहीं हुआ था, तथापि कुछ समय के बाद वह अवस्था भी आ पहुँची। कुछ गोनीडिया अपेक्षाकृत बड़े और आलस्यशील तथा समय बीतने पर एकदम निश्चल हो गए। पर कुछ गोलक पूर्वावस्था में ही रहे। अब प्रथमोक्त गोलक (अर्थात् स्त्री-गोलक) के साथ दूसरी तरह के गोलक (अर्थात् पुरुष-गोलक) के तैरकर संयुक्त होने से बीजों की सृष्टि होने लगी। मगर अभी तक ये गोलक उद्भिद् के किसी भी गोलक से उत्पन्न हो सकते थे। शीघ्र ही ऐसे गोलकों की सृष्टि कुछ ख़ास गोलकों से होने लगी, अर्थात् उद्भिद् एक ख़ास जननेंद्रिय से युक्त हो गए (इसी को वैज्ञानिक oogonim कहते हैं)। पुरुष और स्त्री का भेद क़ायम हो गया। छोटे और गतिशील गोलक पुरुष, और अपेक्षाकृत बड़े और आलस्यशील गोलक स्त्री कहलाए। अंत में स्त्री-गोलक उद्भिद् के साथ एकदम आबद्ध हो गए, और वे कभी अलग न होने लगे। माता के गर्भाशय में ही पुरुष-गोलक के साथ उनका संयोग होने लगा। इस प्रकार के संयोग को वैज्ञानिक 'सफलीभवन' (Fertilization) कहते हैं, तथा इस तरह के स्त्री-गोलक को 'ओवम' और पुरुष-गोलक को 'स्पर्म'। इस अवस्था में पहुँचने पर प्राकृतिक प्रबंध के अनुसार (जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं) स्त्री-गोलकों की अपेक्षा पुरुष-गोलक अधिक पैदा होने लगे, ताकि संख्या-वृद्धि में कोई अड़चन न पड़े, और अपेक्षाकृत कम पैदा होनेवाला स्त्री-गोलक अवश्य सफल हो। इसी उपर्युक्त प्राकृतिक प्रबंध के अनुसार, लिंग-संबंधी रीति से संख्या-वृद्धि के परिणाम-स्वरूप, उद्भिदों की कम संतानें होने लगीं; पर अधिक बलवती और शिष्ट।

तो भी अभी तक अनिश्चितता बनी ही रही। पुरुष-गोलक का जल द्वारा तैरकर स्त्री-गोलक तक पहुँचना एकदम असंदिग्ध नहीं था। अतएव संख्या-वृद्धि के लिये उद्भिदों ने एक दूसरी रीति का आश्रय ग्रहण किया। ज़ाईगोट (जिसका वर्णन हम अभी कर चुके हैं) टूटकर कई गोलकों की सृष्टि करने लगा। एक 'सफलीभवन' से कई उद्भिदों का जन्म होने लगा। इस प्रकार उत्पन्न होने-

वाले बीजों को 'स्पोर' कहते हैं । गोनीडिया से ये किस प्रकार भिन्न हैं, यह स्मरण रखना चाहिए । समय बीतने पर इस रीति में भी परिवर्तन हुआ । 'सफल' हुआ गोलक तत्क्षण टूटकर स्पोरों की सृष्टि न कर वह बढ़ने, बड़ा होने और बहु-गोलक विशिष्ट होने लगा । इसके अंदर श्रम-विभाग भी स्थापित हो गया । इसके एक अंश द्वारा स्पोरों की सृष्टि होने लगी, और दूसरा अंश उनकी रक्षा और पोषण का प्रबंध करने लगा । इस दूसरे अंश का नाम 'स्पोरोकार्प' (Sporocarp) है । आज भी लाल अल्जी में पैदा-यश के वक़ इस प्रकार के बीज नज़र आते हैं ।

स्थलीय उद्भिदों की उत्पत्ति और विकास

हम अभी तक जल के उद्भिदों की उत्पत्ति और विकास एवं उनके जनन-कार्य का वर्णन करते आ रहे हैं । अब हमें स्थलीय उद्भिदों के संबंध में विचार करना होगा । संसार के आदिम उद्भिदों का जन्म जल में हुआ था, और वे जल में ही निवास करते थे; परंतु उनमें से प्रायः उद्भिद् किनारे पर जल के बाहर हलक़ों द्वारा फेंके जाया करते थे । केवल जल में ही रहने के अभ्यस्त होने के कारण उनमें से बहुतेरे मृत्यु को प्राप्त होते थे । परंतु धीरे-धीरे कुछ टिक भी गए । इससे उनके अंदर प्रायः विप्लवकारी परिवर्तन आरंभ हो गया । जल में वे हर ओर बढ़ सकते थे । चाहे वे किसी दिशा में— जल की सतह पर, या ऊपर की ओर—बढ़ें, इससे उन्हें कोई विशेष हानि या लाभ न होता था । इसीलिये जल के उद्भिद आज भी जल की ही सतह पर प्रायः चिपटे हुए बढ़ते हैं; परंतु भूमि पर के उद्भिद् प्रायः ऊपर की ओर बढ़ते हुए पाए जाते हैं । अब हमें यही देखना है कि यह क्रांतिकारक परिवर्तन क्योंकर आरंभ हुआ ।

शायद सबसे पहला उद्भिद्, जो भूमि पर आकर टिक गया, चिपटा और कई गोलकों से बना हुआ था । बहुत संभव है कि यह भूमि पर उस समय आया हो, जब संख्या-वृद्धि की वे रीतियाँ, जिनका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं, जारी हो चुकी हों । अब हम यह अच्छी तरह अनुमान कर सकते हैं कि इस चिपटे पदार्थ के सभी अंश — सभी गोलक — सदैव जल का स्पर्श और शोषण न कर सके होंगे । प्रत्येक गोलक के नीचे की भूमि समान रूप से गीली न रहेगी । अतएव इस चिपटे पदार्थ का सिर्फ़ कोई-कोई अंश जल को छूता रहा होगा । गोलकों की वृद्धि और उद्भिद के आकार के बढ़ने पर तो प्रत्येक गोलक का जल से संसर्ग रखना असंभव ही हो गया होगा ।

जड़ों की उत्पत्ति

अतएव भूमि पर पहुँचने के बाद उद्भिद् जल के अभाव का अनुभव करने लगे । इसलिये भूमि का स्पर्श करनेवाले उनके गोलकों से अत्यंत पतले रेशे की तरह तंतुओं की सृष्टि हुई । इन्हें राइज़ोइड कहते हैं । ये भूमि की सतह से चिपक जाते और धीरे-धीरे उसके अंदर प्रवेश भी करते हैं । ये मिट्टी के कणों के साथ अत्यंत दृढ़ता से सट जाते और उनमें पहुँचनेवाले जल के अणुओं का शोषण करते हैं । प्राथमिक जड़ों की सृष्टि यहीं होती है, यद्यपि इसका किंचित् आभास जल में रहने-वाले उद्भिदों के अंदर ही मिलने लगता है, और हम इसे पहले देख भी चुके हैं ।

डालों की उत्पत्ति

भूमि पर पहुँचने से इन उद्भिदों को संख्या-वृद्धि-कार्य में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । जलाभाव के कारण पुरुष और स्त्री-गोलकों का मिलना—स्पर्म का ओवम तक पहुँचना —अपेक्षाकृत कठिन हो गया । इसलिये एक 'सफलीभूत' (fertilized) गोलक से अब और भी अधिक स्पोरों की सृष्टि होने लगी । कार्यतः अब एक दूसरे से सटे हुए बहुत-से उद्भिदों की उत्पत्ति भी होने लगी, और इनमें भीषण जीवन-संग्राम या द्वंद्व उपस्थित हो गया । एक ही स्थान पर बहुत-से नूतन व्यक्तियों की भीड़ हो गई, और इन सभी के लिये प्रकाश और मिट्टी से खाद्य पदार्थ इत्यादि का प्राप्त करना बहुत कठिन हो गया । अतएव इनका चिपटा आकार नई परिस्थिति के लिये एकदम अनुपयुक्त सिद्ध हुआ, और प्रत्येक उद्भिद के सामने ऊपर की ओर बढ़ना या मृत्यु को प्राप्त होना, ये ही दो सवाल रह गए । इसलिये मजबूरन् इन उद्भिदों को ऊपर की ओर बढ़ना पड़ा । राइज़ोइड (प्राथमिक जड़) अब उद्भिद् के भूमि को स्पर्श करनेवाले अंशों की अपेक्षा और भी कहीं छोटे भागों से निकलने लगीं । उद्भिद् का शेष अंश अब हवा की ओर बढ़ने लगा । इसी प्रकार जड़ और डालों का विभाजन एवं उत्पत्ति हुई ।

संख्या-वृद्धि की रीति में भी बहुत परिवर्तन हुआ।

संख्या-वृद्धि की रीति

उद्भिद के ऊपर की ओर बढ़ने से, जलाभाव के कारण पुरुष और स्त्री-गोलकों के मिलने का जो कार्य कठिन हो गया था, वह अब और भी कठिन हो गया : क्योंकि अब उद्भिद की केवल जड़ ही भूमि को स्पर्श कर रही थी। इसीलिये इस समय पुरुष और स्त्री गोलकों के उत्पन्न करनेवाले विशेष अवयवों की सृष्टि हुई। इन्हें एंथिरीडिया और आर्किगोनिया कहते हैं। ये अवयव उद्भिद के ऐसे स्थानों में उत्पन्न होने लगे, जो सुगमता-पूर्वक वर्षा के जल या ओस से भीग सकें। अब इसी आर्किगोनिया

जननेंद्रिय का विकास

के बीच ओवम का जन्म होने लगा, और वहीं स्पोर की भी सृष्टि। स्पोरो-कार्प—स्पोर को बंद रखनेवाली डिबिया—भी अब बहुत उन्नत और जटिल हो गई। अपने अंदर स्पोर के लिये भोजन संचित करने के अतिरिक्त अब इसमें क्लोरोफ़िल से युक्त कुछ गोलकों की भी सृष्टि हुई। दूसरे शब्दों में इसमें अब स्वयं भोजन तैयार करने की भी किंचित् क्षमता आ गई। अब यह पहले की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र हो गया। इसलिये अपेक्षा-कृत अधिक दिनों तक जीवित रह सकता था। वर्तमान समय के मॉस (काई—ब्राईओफ़ाईटा-जाति के उद्भिद्) विकास की इसी अवस्था में हैं।

हम केवल जल के गोलकमय उद्भिदों से स्थलीय उद्भिदों की उत्पत्ति और विकास—जड़, डाल, जननेंद्रिय इत्यादि की उत्पत्ति—की कथा का वर्णन कर चुके। बाद के विकास की कथा का वर्णन करना—मॉसों से फ़र्नों, फ़र्नों से जिम्नोस्पर्म और जिम्नोस्पर्म से एंजियोस्पर्म के उन्नत और उत्पन्न होने की बातों की व्याख्या—अत्यंत कठिन है, और सभी ज्ञातव्य बातों का समावेश भी इसी लेख में होना असंभव है। अतएव इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विकास, परिवर्तन और उन्नति का शुरू हो गया हुआ काम धीरे-धीरे पूरा ही होता गया, और अंत में अत्यंत धीरे-धीरे औद्भिज्ज-विकास इस समय एंजियोस्पर्म-अवस्था तक पहुँचा है। इस संबंध में फ़र्नों तथा पुष्प-युक्त उद्भिदों के बारे में जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है, उतना ही काफ़ी होगा। उद्भिद जब तक जल में रहते हैं, तब तक उन्हें बीज की कोई आवश्यकता नहीं होती : क्योंकि उनसे निकलकर गोलक स्वतंत्र रूप से, या अन्य गोलकों के साथ मिलकर, आसानी से नए उद्भिदों को जन्म दे सकते हैं। परंतु ये ही उद्भिद जब पृथ्वी पर आते हैं, तो इन्हें बीज की किंचित् आवश्यकता प्रतीत होने लगती है, और इसे हम स्पोरो-कार्प की उत्पत्ति इत्यादि के द्वारा अभी ऊपर देख चुके हैं। चूँकि अभी तक सफलीभवन (fertilization) का साधन जल ही है, इसलिये क्रिप्टोगैम जाति में फूलों की उत्पत्ति नहीं होती। परंतु जब वनस्पतियाँ अधिक उन्नत, बड़ी और ऊँची हो जाती हैं, और इसलिये जब उन्हें जल के द्वारा सफलीभवन की सुविधा नहीं प्राप्त होती, तो सफलीभवन का काम वायु द्वारा संपादित होता है, और इसीलिये उद्भिदों में फूल निकलने लगते हैं। परिस्थिति ही सभी परिवर्तनों की जननी है, और इसी से जातियों और उपजातियों का जन्म होता है।

उद्भिद-विकास-संबंधी सभी बातों का वर्णन इस लेख में असंभव है : परंतु हम इतना

फ़ॉसिलों के द्वारा उद्भिदों का इतिहास-निर्माण

कहने का साहस अवश्य कर सकते हैं कि उद्भिदों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा विकास की शृंखला स्पष्ट रूप से देखी जाती है। यद्यपि बीच में कहीं-कहीं इसकी कड़ियाँ ग़ायब हैं, और इसलिये शृंखला टूटी हुई मालूम पड़ती है, तथापि इसमें शृंखला या विकास के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं रह जाता। हाँ, विकास के संबंध में हमारा ज्ञान अवश्य किंचित अधूरा रह जाता है, पर फ़ॉसिलों की प्राप्ति और अध्ययन से यह अभाव भी बहुत अंशों में दूर हो गया है, और अब हम इन फ़ॉसिलों के ही संबंध में कुछ लिखना चाहते हैं। इससे उद्भिदों का विकास और भी स्पष्ट हो जायगा।

पहले हमें फ़ॉसिलों की उत्पत्ति के संबंध में कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

फ़ॉसिलों की उत्पत्ति

यदि आप आज भी समुद्र के किनारे ज्वार के समय टहलें, तो आपको टीलों पर उत्पन्न होने-वाले उद्भिदों के अंश दृष्टिगोचर होंगे ; केवल मनुष्य द्वारा लाए गए नारंगी और केले के छिलके ही नहीं, बरन् पत्तियों, पेड़ की शाखाएँ तथा लकड़ी के टुकड़े भी अवश्य मिलेंगे। नदियाँ इन वस्तुओं को बहाव के साथ समुद्र के गर्भ में गिराती हैं, और समुद्र के हलक़ों द्वारा

ये पुनः किनारे पर पहुँच जाती हैं । अब धारा के कुछ उलट-फेर तथा हलकों की तेज़ी में कुछ अंतर उपस्थित हो जाने के कारण, इनका बालू या कीचड़ में ढक जाना सर्वथा स्वाभाविक है । और, यदि ये पूर्ण रूप से इस प्रकार ढक गए, तो बालू और कीचड़ की तहों में गलने सड़ने और विनाश से बचकर सुरक्षित रह सकते हैं । फ़ॉसिलों की उत्पत्ति का एक तरीक़ा यह भी है । उद्भिदों या प्राणियों की अस्थियाँ या शारीरिक अंश किस प्रकार पाषाण की अवस्था में परिणत होते हैं (अर्थात् फ़ॉसिल का रूप धारण करते हैं), वैज्ञानिकों ने इसका भी अन्वेषण किया है । परीक्षाओं से पता चलता है कि इस पाषाणीकरण के काम में मुख्य भाग सिलिसिक एसिड और कैल्सियम कार्बोनेट का है, यद्यपि 'मैग्नेशियम कार्बोनेट', 'कैल्सियम सल्फ़ेट' और 'फ़ेरिक ऑक्साइड' भी कुछ-न-कुछ काम अवश्य करते हैं । जैसा कि हम पूर्व के किसी लेख में लिख चुके हैं, जल और स्थल की स्पर्द्धा अनंत काल से चली आ रही है ; बहुत दिनों पहले ही से—शायद पृथ्वी के निकलने के समय से ही—समुद्र के हलके किनारों से टकराते रहे हैं । इसीलिये पुराने समुद्र के किनारों पर फ़ॉसिल अधिकता के साथ पाए जाते हैं । जल और स्थल के स्थान-परिवर्तन के संबंध में भी उक्त लेख में कुछ लिखा जा चुका है । जो स्थान कभी उद्भिदों और प्राणियों के निवास-स्थान थे, वे जल में ग़र्क़ होते हैं, और जो स्थल कभी समुद्र के गर्भ में छिपे हुए थे, वे सूखी भूमि का रूप रखते हैं । इसीलिये उन स्थानों

फ़ॉसिल-निर्मित विकास-शृंखला की अपूर्णता

से भी, जो कभी झील या बड़ी नदियों के मार्ग थे, फ़ॉसिल मिलते हैं । इन्हीं फ़ॉसिलों द्वारा प्राचीन उद्भिदों का पता लगाया गया, और वैज्ञानिकों ने दूर दूर से उद्भिदों के पाषाणीकृत क्षुद्र अंशों को लाकर तथा जोड़कर उद्भिद-विकास का क्रम निश्चित किया है । जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, विकास-शृंखला की सभी कड़ियाँ मौजूद नहीं हैं, बीच-बीच की कड़ियाँ कहीं-कहीं एकदम लुप्त हो गई हैं, तथापि फ़ॉसिलों के विषय के अध्ययन से विकास-शृंखला के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं रह जाता । और, यदि सभी कड़ियाँ मौजूद नहीं पाई जातीं, तो इसमें आश्चर्य की भी कोई बात नहीं । जो मौजूद हैं, वे ही ग़नीमत हैं । हमें तो इन्हीं के लिये प्रकृति को धन्यवाद देना और सुव्यवस्था के लिये उसकी प्रशंसा करनी चाहिए, जिसके कारण हमें प्राचीन काल के संबंध में इतना भी ज्ञान प्राप्त हो सका । एक उदाहरण लीजिए । इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे पहनने के कपड़ों का क्रम-विकास हुआ है, तथा हमारी पोशाक में रोज़ कुछ-न-कुछ परिवर्तन हुआ ही करता है । फ़ैशन सदैव बदला करते हैं, यह हम लोग जानते ही हैं । परंतु क्या हम उन सब सूक्ष्म परिवर्तनों के नमूनों को भी, जिनके द्वारा हमारी पोशाक वर्तमान अवस्था को पहुँची है, जमा कर सकते हैं ? नहीं, यह किसी प्रकार संभव नहीं । पुरानी और व्यवहार में न आनेवाली चीज़ों की कोई परवा नहीं करता, और वे विनाश को प्राप्त होती हैं । इसलिये लाखों वर्ष के पुराने प्राणियों और उद्भिदों के जिन नमूनों को प्रकृति ने सुरक्षित रक्खा है, उनके लिये वह अवश्य धन्यवाद की अधिकारिणी है ।

पेलियोबॉटनी

विचार जगत् में विकास-वाद की स्वीकृति ने उद्भिद्-फ़ॉसिलों के महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया है । इसका अध्ययन उद्भिद्-विज्ञान का एक प्रधान अंग बन गया है, और वह पेलियोबॉटनी के नाम से प्रसिद्ध है । पृथ्वी पर प्राचीन समय में जन्म-ग्रहण करनेवाले सभी उद्भिदों को प्राप्त करना और उनको जोड़कर विकास की समस्त शृंखला तैयार करना ही पेलियोबॉटनी का उद्देश्य है । परंतु अभी तक उसे पूरी सफलता नहीं प्राप्त हुई; और, जैसा कि हम अभी ऊपर लिख चुके हैं, शायद पूरी सफलता कभी प्राप्त हो भी नहीं सकेगी । तो भी इसके द्वारा हमारा बहुत उपकार हुआ है, और हमारे ज्ञान में अभिवृद्धि भी ।

फ़ॉसिल की किस्में

फ़ॉसिल दो प्रकार के होते हैं । जैसा कि हम अभी लिख चुके हैं, कभी-कभी वृक्षों और वनस्पतियों के अंशों में घुले हुए खनिज पदार्थ घुस जाते हैं, और पीछे शुष्क एवं कठिन होकर वे वनस्पति या उद्भिद् के उस अंश को सड़ने-गलने से बचाकर उसे पाषाण में परिणत करते तथा सुरक्षित रखते हैं । इसी का नाम पाषाणीकरण

१. पाषाणीकरण

(fossilization or retrifaction) है। इनके द्वारा हमें केवल उद्भिदों के बाहरी आकार-प्रकार का ही पता नहीं चलता, वरन् उनकी आंतरिक बनावट का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है; परंतु सदैव हमें इस तरह के फ़ॉसिल प्राप्त नहीं हुआ करते, और कभी-कभी हमें केवल उद्भिदों के बाहरी आकार-प्रकार इत्यादि से ही संतुष्ट होना पड़ता है। इस रीति का नाम 'बहिरावेष्टन' या (Incrustation) है। इस अवस्था में हमें वनस्पति या उद्भिद सुरक्षित नहीं मिलते। बालू या कीचड़ की ऊपर और नीचे की तहों पर हमें इन उद्भिदों या वनस्पतियों के बाहरी आकार, उनकी पत्तियों के रेशे और गठन, उनके बीज और डालों के ढाँचे इत्यादि इस प्रकार अंकित नज़र आते हैं, मानो इन कीचड़ या बालू की तहों पर इन उद्भिदों या वनस्पतियों की छाप लगाई गई हो। दूसरे शब्दों में, मानो प्रकृति ने पहचान के लिये इन उद्भिदों से बालू या मिट्टी की तहों पर अँगूठे का निशान बनवा लिया हो! इस प्रकार के चिह्नों (Casts) में कभी-कभी असली औद्भिज-पदार्थ भी मकड़ी के जाल से पतली झिल्ली के स्वरूप में मौजूद पाए जाते, और अध्ययन में हमारी बड़ी सहायता करते हैं; परंतु कभी-कभी वे पूर्ण अंतर्द्धान भी हो जाते हैं।

२. बहिरावेष्टन

(क) चिह्न

उद्भिद् अन्य पदार्थों द्वारा परिवेष्टित होने के बदले कभी-कभी स्वयं साँचे का काम करते हैं। उद्भिदों के नली के सदृश भागों में खनिज पदार्थ घुस जाते और स्वयं उद्भिद के साँचे में ढल जाते हैं। इस प्रकार हमें वृक्ष के आंतरिक आकार-प्रकार का पता चलता है। कभी-कभी तो साँचे में ढली हुई इन जड़ मूर्तियों के ऊपर असल औद्भिज-पदार्थ पतली झिल्ली के समान मौजूद नज़र आते हैं; पर कभी-कभी वे अपने आंतरिक आकार-प्रकार का केवल फ़ोटो ही छोड़कर विनष्ट हो जाते हैं।

(ख) ढाँचा

यह तो हम पहले ही लिख चुके हैं कि समस्त उद्भिद् एक ही स्थान पर अपनी जीवितावस्था की तरह मौजूद नहीं पाए जाते। कहीं पर जड़ मिलती है, तो कहीं पत्ते; कहीं डाल, तो कहीं बीज। इन सभी को जोड़ना अत्यंत कठिन है, और केवल एक ही प्रकार के फ़ॉसिल के द्वारा यह काम संपन्न भी नहीं हो सकता। पाषाणीकृत उद्भिदों के द्वारा हमें उनकी आंतरिक और रासायनिक बनावट का पूरा पता मिलता है, तो उनके चिह्नों और साँचों के द्वारा हमें उनकी बाहरी और आंतरिक बनावट के संबंध में जानकारी प्राप्त होती है। किसी-किसी हालत में तो वर्षों के अध्ययन और अध्यवसाय के बाद भी वैज्ञानिकगण डाल, पत्ती और बीज इत्यादि को मिलाने में असमर्थ रहते हैं। उद्भिद्-विज्ञान का यह विभाग अभी अपेक्षाकृत नया है, तो भी इसके द्वारा इतने ही दिनों में हमारे ज्ञान में जो वृद्धि हुई है, उससे भविष्य के लिये बड़ी-बड़ी आशाएँ बँधती हैं।

फ़ॉसिलों का अध्ययन

विकास-सिद्धांत का समर्थन

जीवधारियों के फ़ॉसिलों का अध्ययन करते समय जिस प्रकार हमें प्राचीन जगत् में सबसे पहले एकदम साधारण अनुन्नत, असंगठित और रीढ़-रहित जीवों का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है, तत्पश्चात्, धीरे-धीरे आगे बढ़ने पर, मछलियों की तरह साधारण रीढ़-युक्त जीव तथा अंत में स्तन्यपायी जीवों और मनुष्यों का साम्राज्य नज़र आने लगता है, उसी प्रकार उद्भिद्-फ़ॉसिलों के अध्ययन से भी वर्तमान उद्भिदों के विकास का पता चलता है। हम वर्तमान समय को छोड़कर प्राचीन समय की ओर जितना ही अग्रसर होते हैं, उतनी ही वर्तमान और प्राचीन उद्भिदों की विभिन्नता धीरे-धीरे बढ़ती नज़र आती है। भिन्नता के मौजूद रहते हुए भी हम कुछ जातियों को पहचान सकते हैं; परंतु बहुत-सी प्राचीन जातियाँ एकदम लुप्त हो गई हैं।

पेलियोज़ोइक-समय

पेलियोज़ोइक (Palaeozoic or Primary)-समय में हमें आजकल के सदृश फूलवाली वनस्पतियों (Angiosperm) का पूरा अभाव ही दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि उस समय जिम्नोस्पर्म-जाति के उद्भिदों की सृष्टि हो चुकी थी। पर प्राथमिक चट्टानों से एंजियोस्पर्म-जाति का एक भी उद्भिद् अब तक नहीं प्राप्त हुआ। उस समय के मुख्य उद्भिद् 'टेरीडोफ़ाईटा' हैं। निम्न-श्रेणी के उद्भिदों में अल्जी और फ़ंगी के मौजूद रहने के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं, परंतु ब्राईओफ़ाईटा के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण नहीं मिलते।

पैलियोज़ॉइक-समय में बैक्टीरिया का अस्तित्व भी निश्चयात्मक रूप से प्रमाणित किया जा चुका है।

फ़र्नों की प्रचुरता

इसलिये पैलियोज़ॉइक-समय के मुख्य उद्भिद् टेरीडोफ़ाइटा के संबंध में दो-चार शब्द और भी लिखने की आवश्यकता प्रतीत होती है; क्योंकि उस समय इन वनस्पतियों की अपूर्व उन्नति हुई थी, और आज के फ़र्न, आकार और सौंदर्य में, उनका सामना करने में एकदम असमर्थ हैं। इस बात के द्वारा जीवन-संग्राम और प्राकृतिक निर्वाचन का पाठ भी हमें स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। कोयले का वर्णन करते समय हम इन उद्भिदों के संबंध में भी कुछ लिख चुके हैं। कुछ जातियों के फ़र्न तो १०० से २०० फ़ीट तक या इससे भी अधिक ऊँचे हुआ करते थे। इनके साथ-ही-साथ फ़र्नों की छोटी जातियाँ भी विद्यमान थीं। परंतु आधुनिक समय तक सभी जातियाँ जीवित नहीं रह सकीं। वर्तमान समय में हमें इन प्राचीन सगठित और जटिलतामय फ़र्नों के कुछ क्षुद्र प्रतिनिधि ही देखने में आते हैं। नतीजा स्पष्ट है। फ़र्न-जाति के उद्भिद प्राचीन समय में उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गए थे; परंतु उच्च जाति के उद्भिदों के आविर्भाव और उन्नति के द्वारा प्राचीन जंगलों में इनका अखंड एकाधिपत्य नष्ट हो गया, और वर्तमान समय में इनके कुछ क्षुद्र नमूने ही जीवित रह गए।

परंतु विकास की दृष्टि से टेरिडोस्पर्म-जाति के फ़र्नों का

टेरिडोस्पर्म-जाति के फ़र्न और विकास-शृंखला की लुप्त कड़ियाँ

मिलना अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है। फ़ासिलों के बीच कुछ ऐसे उद्भिद भी पाए गए हैं, जो देखने में तो बिलकुल फ़र्नों ही के सदृश हैं, परंतु उनकी वंश-वृद्धि स्पोर के द्वारा नहीं, वरन् बीजों के द्वारा होती है; अर्थात् फ़र्न होकर भी ये उद्भिद् बीज उत्पन्न करते हैं। इस 'प्राप्ति' के द्वारा क्रिप्टोगैम (पुष्प-हीन उद्भिद) और फ़ेनरोगैम (फूलवाले उद्भिद्) के बीच की खाड़ी किस तरह भर जाती है, इसका अनुमान पाठकगण स्वयं कर सकते हैं। इस प्राप्ति के बाद फ़र्नों से जिम्नोस्पर्म जाति के विकसित होने में संदेह नहीं रह जाता। कोयले के युग में तो प्रधानता इसी प्रकार के उद्भिदों की थी; परंतु वर्तमान समय में इनकी एक भी उपजाति बाक़ी नहीं नज़र आती।

पैलियोज़ॉइक-समय में जिम्नोस्पर्म-जाति के उद्भिद् भी प्राप्त होते हैं; परंतु वे वर्तमान समय के जिम्नोस्पर्म से भिन्न हैं, और दो-एक अपवादों को छोड़कर शायद उनकी कोई भी उपजाति वर्तमान समय में नहीं पाई जाती।

बाद के युगों के उद्भिदों के बारे में विशेष रूप से

बाद के युगों के उद्भिद्

लिखने की आवश्यकता नहीं। मेसोज़ॉइक समय के पहले कई युगों में डाल शाखासंपन्न, नाड़ी-संस्थान-युक्त (Vascular), पुष्प-हीन उद्भिदों (क्रिप्टोगैम) की जगह ताल-वृक्ष के सदृश फ़र्नों (काइकैड-जाति के उद्भिदों) की सृष्टि हो गई नज़र आती है। यद्यपि फ़र्न-जाति के उद्भिद अभी तक अपने स्थान पर डटे हैं, तथापि अब जंगलों का साम्राज्य उनके हाथों से निकलकर 'पाइन', 'फ़र' इत्यादि नग्न बीज-वाली वनस्पतियों के हाथों में चला गया है। तथापि अभी

जिम्नोस्पर्म

तक यथार्थ पुष्पवाले (एंजियोस्पर्म) उद्भिद नज़र नहीं आते। इन उद्भिदों का समय 'मेसोज़ॉइक-महायुग' में बहुत दिनों के बाद—

एंजियोस्पर्म

अर्थात् 'क्रिटेशियस'-युग में शुरू होता है। मज़े की बात तो यह है कि शीघ्र ही एंजियोस्पर्म जाति के उद्भिद अन्य अनुन्नत उद्भिदों के ऊपर अपना अधिकार जमा लेते हैं। यहाँ तक कि बाद के युगों में तो केवल इन्हीं का अखंड एकाधिपत्य दृष्टि-गोचर होने लगता है। 'क्रिटेशियस'-काल के बाद से उद्भिदों का इतिहास सरल और जटिलता-शून्य हो जाता है। इन उद्भिदों और वर्तमान उद्भिदों में बहुत अंतर नहीं है, और ये सुगमता के साथ पहचाने जा सकते हैं। यही नहीं, इन्हें उद्भिदों के वर्तमान वर्गीकरण के अंदर रखने में भी कुछ कठिनाई नहीं होती।

इस लेख में औद्भिज्ज-विकास का पूर्ण वर्णन असंभव है। भूत और वर्तमान समय की लाखों जातियों और उप-जातियों के तुलनात्मक अध्ययन और निरीक्षण द्वारा उद्भिद्-विज्ञानवेत्ताओं ने विकास की प्रायः समस्त ज़ंजीर को जोड़ दिया है। प्राचीन और अर्वाचीन उद्भिदों को ध्यान-पूर्वक देखने तथा उनके सादृश्य और वैषम्य की तुलना करने से विकास के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं रह जाता

हम जैसे ही वर्तमान समय से कुछ प्राचीन समय की ओर अग्रसर होते हैं, वैसे ही, सादृश्य के मौजूद रहते हुए भी, उद्भिदों के बीच भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगती है, तथा क्रमशः और जितने प्राचीन समय में पहुँचते हैं, उतनी ही अधिक भिन्नता भी बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि एक समय ऐसा आता है, जब सभी सादृश्य दूर हो जाते और उद्भिदों की दो जातियाँ नज़र आने लगती हैं।

एक आपत्ति—सभी उद्भिद् विकसित क्यों नहीं हो गए ?

यहाँ पर पाठकगण एक आपत्ति कर सकते हैं, और अंत में उसका भी कुछ जवाब देना उचित प्रतीत होता है। वे कह सकते हैं—"जब तुम हमें तालाब के जल में एक-गोलक-विशिष्ट अल्जी को दिखलाते हो, और तत्पश्चात् अल्जी की ज़ंजीर या गुच्छों को दिखलाकर यह कहते हो कि विकास का यह दूसरा दर्जा है, तथा इसी प्रकार एक क्षुद्र गोलक से सभी बहु गोलक-विशिष्ट उद्भिदों और प्राणियों की सृष्टि हुई है, तो यह बात हमारी समझ में आ जाती है। पुनः जब तुम यह कहते हो कि बहुत से गोलकों का संयोग होने पर गोलक अपना-अपना काम बाँट लेते हैं—कुछ डालों की, कुछ पत्तियों की और कुछ जड़ों और बीजों इत्यादि की सृष्टि करते हैं—तो हमें इसके समझने में भी कठिनाई नहीं होती। हम इस बात को भी मानते हैं कि इस तुच्छ आरंभ से जीवन की उन्नति तथा काई और फ़र्न, रीढ़-रहित मछली और मूँगे, काइफ़ैड और उरग जीव से गुलाब, खग और मनुष्य की उत्पत्ति हो सकती है। परंतु जब उद्भिद और प्राणी सचमुच उन्नत होते हैं, तो समस्त संसार की उन्नति क्यों नहीं हुई ? फ़र्न, झींगा, सलामैंडर तथा अन्य प्रकार की मछलियाँ या दूसरे निकृष्ट जीव क्योंकर बचे रह गए ? सभी का विकास क्यों नहीं हुआ ?"

उत्तर

अस्तु, एक उदाहरण के द्वारा इस विषय को स्पष्ट करना अच्छा होगा। मान लो कि मछलियों से स्थल के जीवों की उत्पत्ति हुई है। ऐसी अवस्था में यह सोचना नितांत भ्रम-पूर्ण होगा कि मछलियों के जल से भूमि पर आते समय समस्त समुद्र ख़ाली हो गया होगा, और सभी मछलियाँ समुद्र को छोड़कर भूमि पर चली आई होंगी। कुछ मछलियों के भूमि पर चले आने पर भी समुद्र ही अधिकांश मछलियों का स्वाभाविक और उचित घर रह गया होगा, भले ही कुछ मछलियाँ भूमि पर आकर बस गई हों। यदि पाठकों की उपर्युक्त दलील ठीक है, तो अमेरिका और आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों का स्थापन करते समय समस्त अँगरेज़-जाति को तो मर जाना चाहिए था। विकास का अध्ययन करते समय इस बात को सदा याद रखना चाहिए कि प्राचीन अथच आदिम परिस्थिति पुराने प्रकार के जीवों के लिये उपयुक्त ही रहती है। नई परिस्थिति में पड़ने पर तथा स्वभाव या भोजन-परिवर्तन के कारण नई जातियों की सृष्टि होती है। प्रकृति में लाखों तरह की परिस्थितियाँ मौजूद हैं, इसलिये लाखों जातियाँ भी मौजूद पाई जाती हैं।

औद्भिज-विकास में भी यही बात चरितार्थ हुई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी समय क्षुद्र सामुद्रिक उद्भिदों को छोड़कर संसार में और कोई वनस्पति न थी। इनमें से कुछ ने पृथ्वी पर आक्रमण किया, और नई परिस्थिति के द्वारा काइयों और फ़र्नों में विकसित हुईं। परंतु इससे क्षुद्र सामुद्रिक उद्भिदों के जीवन में कोई अंतर नहीं उपस्थित हुआ, और वे पूर्ववत् जीवन-यापन करते रहे। इसी प्रकार समय बीतने पर काइयों और फ़र्नों के द्वारा अपेक्षाकृत उन्नत उद्भिदों की सृष्टि हुई ; परंतु काइयों और फ़र्नों का अपना क्षेत्र अक्षुण्ण ही रहा। गीले और सायादार स्थानों में आज भी हमें इन्हीं का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता है ; क्योंकि वे विशेषकर इन्हीं के लिये उपयुक्त हैं, और वहाँ दूसरे उन्नत उद्भिद जीवित नहीं रह सकते। इसी प्रकार पाइन प्रभृति उद्भिद प्राचीन बर्फ़ीले युगों की संतान हैं, और आज भी वे उपयुक्त परिस्थिति, अर्थात् ठंडे और कठोर स्थानों, में ही जीवन बिताते देखे जाते हैं। किसी उद्भिद् या प्राणी के जीवन-धारण किए रहने योग्य परिस्थिति प्रकृति में जब तक मौजूद रहती है, तब तक उसकी मृत्यु नहीं होती। इसीलिये युगों से लगातार उन्नति-पथ पर अग्रसर होनेवाले प्राणी और उद्भिद, अपने तय किए हुए रास्ते पर, यहाँ-वहाँ, अपने प्रत्येक पड़ाव और छावनी पर (अविकसित जातियों के स्वरूप में) अपना रिसाला छोड़ गए हैं, और इन्हीं के द्वारा हमें मंज़िलों की दूरी तथा विकास के क्रम का स्पष्ट पता मिल जाता है।

गोवर्द्धनलाल

तपोवन !

अहो तपोवन !
प्रकट हुआ था तेरे कोमल सुखद अंक मे,
किस अनादि के आदि मे
वेद-विहित आर्य-जीवन ।
जब इस जनाकीर्ण वसुधा पर,
गगन-विचुंबित रत्न-खचित क्या,
तृण-निर्मित भी एक उटज न था :
तेरी सुखद, स्निग्ध छाया मे
गूँज उठा था तब, दिगन्त को
मुखरित करके ॐकार-नाद ।
भरा हुआ था उस पवित्र स्वर से
उद्दाम पवन,
अहो तपोवन !
वेद-उपनिषद् नहीं बनाए गए
किसी जनपद उपवन में;
प्रत्युत होम-धूम धूमरित विटप के नीचे ही
ऋषियों ने इनको प्रकटाया—
ज्ञान-उदधि का कर मथन :
अहो तपोवन !
"मा भै" का हुंकार यहीं से सुना चकित हो
तीन लोक ने ।
"सोऽहम्" का रहस्य-उद्घाटन हुआ यहीं पर ;
"मा निषाद" के बाद यहीं पर मेघ-मंद्र-सा
ध्वनित हुआ था आदि-काव्य का
अमर अनुष्टुप :
यहीं नहीं घुस पाए थे
विभेद-सर्पगण !
अहो तपोवन !
रक्षित थी प्राचीन सभ्यता,
इन्हीं वृक्ष-वल्लरियों के नीचे :
"वीत-राग-भय-रोष" यहीं के थे अधिवासी :
हो जाता था विमल मुकुर-सा यहीं पहुँचकर
कोटि जन्म का महामलिन मन :
अहो तपोवन !
कर्म-उत्स भी प्रथम प्रवाहित हुआ यहीं से,
नहीं धर्म की सुदृढ़ शृंखला बनी यंत्र शाला मे,
आया था ऋतु-राज भिखारी बनकर,
यहीं "रूप" की भीख माँगने ।
स्नेह-कोकिला कूक उठी थी पंचम स्वर में ;
प्रथम पूर्णिमा की विभावरी विहँस पड़ी थी ।
इसी तपोवन में शकुंतला ने गाया था प्रणय-गान ।
यहीं सिंह-शिशु से, वसुधा के
भावी सप्त खंड का कर्ता खेला था ।
यहीं उमा ने पुष्प-भार-अवनता लता-सी
नत होकर योगीश्वर के रक्त-कमल-से चरणों पर
उत्सर्ग किया था स्नेह-सुधा से सिक्त सुकोमल हृदय-कमल।
यहीं रति खो बैठी थी अपना जीवन-धन ;
अहो तपोवन !
यहीं बिताया चार्वाक, कणभक्षी कणाद ने
अपना शैशव : व्यासदेव का यही
ललित क्रीड़ा का सुंदर क्षेत्र था ।
अखिल विश्व के भावी का निर्णय
हो जाता था पर्णासन पर यहीं :
ज्ञान, कर्म, साधना का था यह जन्म-स्थान,
श्लाघ्य, पूज्य था यह अनंत अंबर के नीचे,
भूत-दया का था केंद्र, शांति का जनक ।
इस पापी के लिये कठिन है,
अब उसका पवित्र दर्शन ।
अहो तपोवन !

श्रीमोहनलाल महतो गयावाल "वियोगी"

राजस्थान और हस्त-लिखित पुस्तकें

(१)



राजस्थान हस्त-लिखित पुस्तकों का एक वृहत भंडार है । हिंदी-साहित्य के अन्वेषकों को यहाँ से बहुत बड़ी सामग्री उपलब्ध हो सकती है । राजा, महाराजा, मठाधीश और यतियों के पुस्तक-भंडार हस्त-लिखित पुस्तकों से भरे पड़े है। युक्त-प्रांत और पंजाब की भाँति, जब यहाँ भी खोज का कार्य होगा, तब साहित्य-संसार

को बहुत-सी नवीन बातें ज्ञात होंगी। स्वर्गीय मुं० देवीप्रसादजी इस संबंध में बहुत कुछ कार्य कर भी गए हैं। पर उनके असमय काल-कवलित हो जाने से यह काम कुछ शिथिल-सा पड़ गया है। आशा केवल इसीलिये बँधी हुई है कि अब हिंदी-प्रेमी आगे बढ़ने लगे हैं। संभव है, कोई माई का लाल इस कार्य को कर रहा हो। परंतु जब तक कोई संस्था या राजा-महाराजा स्वयं इस कार्य को चलाने का प्रयत्न न करे, पूर्ण सफलता प्राप्त होना दुस्तर ही है। जब तक इस रूप में कार्य प्रारंभ न हो, तब तक के लिये मैं राजस्थानी भाइयों से विशेष रूप से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने-अपने इलाक़ों के कवियों पर अवश्य ही प्रकाश डालने का प्रयत्न करें।

मैंने इस कार्य में अवकाश के समय लगभग दो साल से हाथ डाल रक्खा है। पर समयाभाव के कारण मुझसे अधिक कार्य नहीं हो सका। हाँ, अब तक जो ग्रंथ मुझे खोज में मिले हैं, उन पर प्रकाश डालता हूँ—

मैंने अब तक १० हस्त-लिखित कॉपियों से नोट लिए हैं, जिनमें से प्रत्येक में चार-चार या पाँच-पाँच ग्रंथ संगृहीत हैं। आज मैं केवल उसी कॉपी के नोट में कुछ लिख रहा हूँ, जो संवत् १८४३ की लिखी हुई है। यह कॉपी एक जैन-यति की, जो खरतर-गच्छीय थे, लिखी हुई है। उन्होंने एक साल में इसे पूरा किया था। यह कापी बड़ोदल (बीकानेर) के एक ओसवाल महाशय के यहाँ से पं० मिट्ठूलाल द्वारा मुझे प्राप्त हुई थी। अतः उक्त महानुभाव को मैं धन्यवाद देता हूँ। इस कॉपी में निम्न लिखित ग्रंथ हैं—

(१) राव रिणमलजी री बात। इसमें एक प्रेम-कहानी, २५ दोहों और गद्य में, वर्णित है।

(२) खिवै विजै री वार्ता। गद्य-कहानी है।

(३) मोहिलाँ री बात। इसमें मोहिले-राजपूतों का इतिहास है। बीकानेर-राज्य में जो भाग इस समय बीदावाटी कहलाता है, उस पर संवत् ६३१ से पूर्व, बागड़ियों का अधिकार था। संवत् ६३१ में उक्त भूमि मोहिलों ने बागड़ियों से छीन ली, और छापर, द्रोणपुर आदि नगर बसाए। ६०० वर्ष तक मोहिलों ने राज्य किया। इसके बाद, संवत् १५३२ में, जोधैराव ने मोहिलों से यह भाग छीन लिया, और बीदा राठौर को दे दिया, जो अब तक बीदावतों के ही अधिकार में है।

नमूना—

पुस्तक के अंतिम पृष्ठ से—

"........संवत ६३१ बागडीया तीरां मोहिले धरती लीवी सु ६००वर्ष ताई मोहिले धरती भोगवी संवत१५३१ से थी मोहिले धरती रही संवत १५३२ मे जोधैराव धरती लीधी मास ४-५ रही सु कुँवर मघो बछराजो धरती अरूठी लीधी तिणरी हकीकत कहीने राव जोधै धरती लेने कुँवर बीदै ने दीधी सु आज सुधी धरती बीदा भोगवै छै। राठौड़ रामदनारा विष्यरी छंद तिणमाहे सारा हकीकत छै।

छंद

बागड़ियों भागवीं बसाई, नर्मागर उवहीं वले न आई।
बोली बल मोहिले वारा, ... ।
भन बन पाग लिया षांत भाखे, रेह लिया मोहिल राठौ।
मेवामी राय जोधे मलाया, डामज भाज भिग मिर दलिया।
बेह नाजीन जिमा बेराड़, वसुधा राय जोधे समाई।
रके अली मिधार रायां, थाप जोध छापर थागा।
बीदे नाके नग्ग बसायां, जे तह था राव जोधे आयो।
मारे फेर वासन्यनामिर. गा बादे रत्तियों द्रोणागिर।
कवी बात नर कांधा, लीया दस भाम उल्लाधा।

ग्रंथ के लेखक व संवत् आदि का इसमें कुछ भी ज़िक्र नहीं है।

(४) जलाल गाहणी री बात। इसमें भी एक प्रेम-कहानी का वर्णन है, जिसमें १०१ दोहे और शेष गद्य है।

नमूना—

पुस्तक के प्रथम पृष्ठ से—

दोहा

बेटा कुलहनसीबरो, जास नहाणी माय।
जिसकी अंगन खबना, सो समना न सुहाय॥

वार्ता

"ठट्ठा भक्खर रो पातिसाहि मुगतसाहुची तिणरी बहिन गाहाणी तिका बल करो पातिसाह कुलहनसीब गढ गजनीपुर राजथान तिणने परणाई तिणरे बेटा दोय हुआ जितरे पातिसाहजी फौत हुआ बडो साह थेभो लहुरो साह जलाल। जिको बरस १० माहे थेभो हुवो बरस ७ माहे जलाल हुवो .... "

इसका आशय यह है कि ठट्ठा-भक्खर के बादशाह मुगत-साहुची की बहन गाहाणी गढ गजनीपुर राजथान के बादशाह कुलहनसीब को ब्याही गई थी। उसके दो पुत्र

हुए थेभो और जलाल । कुलहनमीब की मृत्यु के पश्चात् सिंध के बादशाह भवर की लड़की बूबनों के साथ जलाल की शादी आदि का वर्णन है।

पुस्तक के अंत में केवल इतना लिखा है— "कही जेठै" इससे ज्ञात होता है कि यह वार्ता जेठै की कही हुई है। सन्-संवत आदि कुछ भी नहीं लिखा।

(५) चौबोली री बात। एक कहानी है, जिसमें राजा भोज का चौबोली रानी से ब्याह वर्णन किया गया है।

(६) साई रा पलक में खलक बसे तीकी वार्ता। एक कहानी है।

(७) हितोपदेश भाषा। भाषाकार नारायण ब्राह्मण।

(८) मदन-शतक । इसमें एक प्रेम-कहानी का वर्णन १२६ दोहों और गद्य में है। अन्तिम दोहे से ज्ञात होता है कि यह पुस्तक 'दाम' कवि की लिखी हुई है—

दोहा

नाम कला सब मदन की, पूरन पुण्य पमाय।
'दाम' कहे जन सबन सें, पुण्य करहु मन लाय॥

(९) फुटकर कवित्त व दोहे । इसमें १,३४७ छंदों का संग्रह है। ऐसे छंद अधिक हैं, जिनमें कवि का नाम नहीं है। लगभग ४० कवियों के नाम छंदों में मिलते हैं। लेख बढ़ जाने के भय से कुछ ही कवियों की कृति पाठकों के सामने रखता हूं—

उदैराज —यह जैन-यति थे। इन्होंने बीकानेर के महाराजा रायसिंहजी के समय में कविता की है जिन्होंने संवत् १६३० से १६८८ तक राज्य किया। इस संग्रह में इनके छप्पय और दोहे पाए गए हैं। नमूना नीचे पढ़िए

रूप पन्न नदियां तरां, बगर बिषम जहाज।
उदैराज कहे तिरत नर, एक पेट के काज॥१॥
पग गरज मन और है, सगी गरज मन और।
उदैराज मन की प्रकृति, रहत न एकण ठौर॥२॥
मोल भयो, छेदन सह्यो, कुलाहि नव्यो उदैराज।
मिल न सक्यो, तरमत रह्यो, मुक्ता अधरन काज॥३॥

भद्रसेन —इनके संबंध में मुझे कुछ विशेष पता नहीं। केवल जैन-समाज से इतना ही ज्ञात हुआ कि यह भी जैन-यति थे।

कविता का नमूना—

घर छांरि बार छांरि नेहरू गुमान त्याग
मइया हू की मया छांरि प्रेम तजियतु है।
भाई छांरि बहिन छांरि मित्र हू कलत्र छांरि
भेख भाजि ऐसेऊ सें याचि जीवियतु है।
कोऊ देत पुन्य काज मुठी इक नाज कोऊ
दारी है का गारी देन मान लीजियतु है।
कहे कवि भद्रसेन पापी पेट हू के काज
देख तो कोऊ न कोऊ बात कीजियतु है॥

गड्डु कवि—इनके १६ छप्पय इस संग्रह में हैं—

नमूना—

जिमि मंगल मद्गलै राय बंधणों जड़ता।
कैसर पारस गलै लोह मकड़ै पड़ता॥
जिमि योवन मद गलै गुरू के बयण सुणता।
जिमि तरुणी मद गलै पूढ में केलि करता॥
मद्धगल कीर पिंजर पग्यो मुरखो सुपडित गलै।
कवि गड्डु कहे रे ठाकुरां दान बिना कीरति गलै॥

खींवे रा १४ दूहा इस संग्रह में हैं।

ढोल नगो धमकीइ, कायर नर कूदी गया।
बाल्हे बाही नग, न थाथड़ियो आमइत॥१॥
माजणिया माल नहीं, माल आई ठाण।
कूट गया मोल नहीं, मोत पड्या पलाण॥२॥

नागड़े रा २१ दूहा इस संग्रह में हैं।

नागड़ा नगर गयाह, मा टका मिलिया नहीं।
मिलिया लाख जणाह, या सू मन लाग्यो नहीं॥१॥
नागड़ा नवली नह, जण-जण रा काजे नहीं।
लाजे उगण छेह, आपणपो दीजे नहीं॥२॥

जेठवे रा २१ दूहा इस संग्रह में हैं।

जो जाइम तो जाई, निगुण विछोहो न करै।
तुझ बिछड़ण न है, जीवो लागो जेठवा॥१॥
अन्दर ऊठी आग, बिछड़ते ही बल्लहा।
मनह ज माध माग, ठरमी जुडियै जेठवा॥२॥

सूहव के ६२ दूहा इस संग्रह में हैं।

इनके दो दोहे इस संग्रह में ऐसे पाए जाते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यह मरोट (मारवाड़ में एक ग्राम है) के ठाकुर बीझलराय की लड़की थी। देखिए—

कोट परोट अपनों, बीझल जोइया बीर।
ता पुत्री 'सूहव' भई, अपच्छर रूप शरीर॥१॥
'सूहव' बीझलराय की, पुत्री रूप अपार।
जोई यारी जोखिहे, ककत नहीं लिगार॥२॥

इस संग्रह में इनके सब दोहे शृंगार-रस के ही हैं।

नमूना—

'सहज संग सुभाइ करि, अन्द समान न जोइ ।
मन चन्दो खइहह पर, रैन अधारी होइ ॥१॥
'सहज' धारा नैन दोउ, प्रकइ नयउ माँह ।
पगे हिलाये मिरग ज्यों, हाकल करतां खाहिं ॥२॥
'सुहब' और नैन दोउ, जिसि दोवरी लोइ ।
आपस मे लर-जर मरे, जो बिच नाक न होइ ॥३॥

धर्मसिंह के १० छंद हैं—

पूछत हैं जिणकूं सबहीं, जिण आगे धरे सब पाग रहइया ।
पंडित आइ प्रणाम करें, पुनि सेवत हैं समते समझइया ॥
आइ गरब अरज करें, सुधरे सिर पागा भल-भल भइया ।
साँच की बात कहै 'धमसी' जग सोई बडो जाकी गाँठ रुपइया ॥

इनके सिवा गंग, मान, सुंदरदास, बाजीद, वृंद, अहमद, श्याम, हंस और बिहारी आदि कवियों के भी छंद हैं, जो विस्तार-भय से नहीं दिए जाते।

(१०) संस्कृत श्लोक-संग्रह। इसमें फुटकर श्लोक ४१० हैं।

(११) वैताल-पचीसी भाषा। ग्रंथकार ने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया, केवल आदि में यही लिखा है कि महाराजा अनूपसिंहजी की आज्ञा से यह ग्रंथ भाषा में लिखा।

नमूना—

दोहा

प्रथम सरसुती पाइ, बले विनायक के नमूं ।
रिधि दे सिद्धि दिवार, मनमुख थाये सरसती ॥१॥
आरसियो प्रमाण, नौबे नोकै नागुरी ।
पैराधारा पखाण, भैरव भाजे विघन भय ॥२॥
देश मरुस्थल देख, नव कोटा में कोट नव ।
बीकानेर विशेष, मन निश्चै करि जाणियै ॥३॥
तहं राज करै राठोर, करनेसर-सुत करन-सो ।
महि खत्रिया सिरमोर, परवट प्रमाण खरो ॥४॥
ता सुत कुँवर अनूपसिंह पराक्रम सिंह-सो ।
मेदग भल गुण रूप, आगे तेहि आइसु दियो ॥५॥
संस्कृत थी सदभाइ, कथा विक्रम वेताल री ।
भाषा कहि समझाइ, तू 'दईदान' महातमा ॥६॥

इसके पश्चात् २५ कथाएँ भाषा में वर्णित हैं।

(१२) चतुरप्रिया। यह ग्रंथ नायिका-भेद का है। इसमें दो अध्याय हैं। पहले अध्याय में नायिका का और दूसरे अध्याय में नायक आदि का वर्णन है। ग्रंथकर्ता ने 'केशव' के उपनाम से कविता की है। ग्रंथ के अंत में ग्रंथकार ने अपना जो परिचय दिया है, उससे ज्ञात होता है कि इनका माता-पिता का दिया हुआ नाम केशवदास था, और गुरु का दिया हुआ कीर्ति-वर्द्धन। यह खरतरगच्छ की आचार्य-शाखा में जैन-यति हुए हैं। ग्रंथ-समाप्ति का समय संवत् १७०४ दिया है। इनकी जीवनी के संबंध में इसके अलावा और अधिक कुछ भी नहीं ज्ञात हुआ। ग्रंथ के अंत में इन्होंने लिखा है—

खरतरगच्छ आचारिज साख में श्रीजिनचन्द मुनिंद महासिध ।
सप्रति श्रीजिन रंग सूरि . . . पे बखते तखते सु तपोनिध ।
ताके सिष्य विचक्षण मुख्य बणारस श्रीसुरतनाभिध ।
कीरतिवर्द्धन ता सिष साख, सो नायकाभेद कह्यो अपनी बुध ।

दोहा

कीरतिवर्द्धन नाम है, गुरु को दियो प्रकाम ।
पितादत्त सत ही कहै, प्रगट केसवदास ॥

ग्रंथ-समाप्ति-समय का दोहा

संवत् सतर चमोतरे, चैत मास सित पख ।
चतुरप्रिया 'केसव' करी, तिथि दसमी गुरु पुख ॥

कविता का नमूना

मध्या स्वाधीनपतिका—

हाथ सों गथिके हार-सिंगार, सिंगारति है मोहि मन बनी ।
नहीं कछु लाज सखानि समाज, तजे गृह-काज सदा जु मनी ।
पल माँहि सभारति बार पचासनि, केसव जैसहि रंक धनी ।
बरजो हो हजार लजो सखियान न छोडत नायक सों अगनी ॥१॥

प्रौढा स्वाधीनपतिका—

लिये ही रहतु हिये किये अंक अंक-भोर
'केसव' निसंक जैसे संकर भवानी को ।
करति उपाव दाव धाइ-धाइ मैन काज ;
जैसे करि राम राइ किये सिया रानी को ।
उठे गात लाल नाव जाव-जाव जो लो पिउ
आव-आव पुकारति चातक ज्यों पानी को ।
एती कोन बूझ मोसे सूझे पिय साँवरे को
प्रान ज्यों न न्यारी करे प्यारी सी अयानी को ।

प्रौढा विप्रलब्धा—

दामिन से द्युति दूनी, सोने हूते सलोनी देखि
आज सेज सूनी, ऊनी सूनी होइके ।
हिय सों बिचारि कछु, दिया को बिराय दियो,
चौंकि धरे चौंक, फेरि करो दूर खोइके ।

आँबे से अधबीच लबे से उसास साच,
　लगो है हुतास बाम आसपास जोर्दके।
'केसव' अकुलाय चली, मिली सो निवारि अली,
　कमल के नाल बाल दूती को दुखोइके।

शिक्षा—

दँठ सा न दीजे पीठि दीजे सुख दीठि-दीठि ;
　सीठि-सी बसीठ ए न धीठ कैसे हूजिये।
बोल तैसी हँसी बोली हिली मिली खेली खाओ
　जन न हेसाओ मन देई बात छीजिये।
ओजे जो सनेह, तो न दीजे छेह, क्यहूँ करि,
　लनियो सो लाहु लेहु धोरो होइ न पूजिये।
दास ज्यों न न्यारो पाम 'कमोदास' सविलास
　परमेसुर जेम करि प्राननाथ पूजिये।

स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी ने अपनी सूची में इनका एक और ग्रंथ लिखा है, जिसका नाम 'सदेवछ सावलग्या' (सदावृक्ष-सारंगा ?) है। यह एक कहानी है, और संवत १६८७ में लिखी गई है।

अयोध्याप्रसाद शर्मा

अहल्या का आश्रम



महर्षि वाल्मीकि के आश्रम के संबंध में हमारा एक लेख अन्यत्र छपा था। उसमें हमने लिखा है कि अहल्या के आश्रम दो है—एक विशाला* से यज्ञवाट जाते हुए रास्ते में, जो अब 'अहियारी' के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरा बक्सर से एक मील पूर्व गंगा-तट पर अहिरौली-गाँव में†। आज इन दोनों स्थानों के विषय में अपनी जाँच का फल 'माधुरी' के पाठकों को भेंट किया जाता है। यह तो विदित ही है कि श्रीरघुनाथजी ने विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के पीछे मिथिला जाते समय अहल्या का उद्धार किया था। अतएव हम आरंभ ही से यात्रा का विवरण लिखते हैं—

पहले अहल्या के उद्धार की कथा सुनिए। अहल्या शाप-ग्रस्त थी। श्रीरघुनाथजी ने उसको शाप से मुक्त किया। साधारणतः यह कथा प्रसिद्ध है कि अहल्या पत्थर की हो गई थी, और भगवान् रामचंद्रजी के चरणों का स्पर्श होते ही वह फिर स्त्री हो गई। पर वाल्मीकीय रामायण, बाल-कांड, सर्ग ४८, ४९ में पत्थर का नाम नहीं है। शाप यह है—

"इह वर्षसहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि ;
वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि।"

शाप से मुक्ति का भी उपाय गौतम ने बता दिया था—

"यदा त्वेतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः ;
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि।
तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता ;
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि।"

रघुनाथजी मिथिला-नगर के समीप पहुँचे, तो उपवन में एक आश्रम देखा, जो सुहावना होने पर भी सूना पड़ा था। श्रीरघुनाथजी ने विश्वामित्रजी से पूछा कि यह किसका आश्रम है, और क्यों सूना पड़ा हुआ है ? इस पर महर्षि ने इंद्र के गौतम-रूप धारण करके अहल्या का धर्म नष्ट करने की कथा सुनाई। फिर मुनि के साथ दोनों भाइयों ने आश्रम

---

* मुजफ्फरपुर जिले का बिसाढ़।

† यहाँ राजा जनक वैदिक यज्ञ कर रहे थे। यह स्थान जनकपुर से सात कोस पर नेपाल-राज्य में सप्तरी-परगने के एक वन में है। इसको धनुखा कहते हैं। यहाँ अब भी एक बड़ा धनुष-खंड पड़ा है।

१. तू केवल वायु खाती हुई, निराहार, अपने कुकर्म पर पछताती हुई, एवं जलती भस्म पर लेटी हुई प्राणियों से अदृश्य होकर इस आश्रम में कई हजार वर्ष रहेगी।

२. जब महाराज दशरथ के बेटे राम इस भयानक वन में आवेंगे, तब तू लोभ-मोह छोड़कर उनका आतिथ्य-सत्कार करके पवित्र हो जायगी, और प्रसन्नचित्त हो अपने पुराने रूप में फिर मेरे पास आ जायगी।

में प्रवेश किया, और देखा कि अहल्या तपस्या के तेज से ऐसी जाज्वल्यमान है कि उसको सुर-असुर कोई नहीं देख सकता। जान पड़ता था, विधाता ने उसको बड़े प्रयत्न से मायामयी बनाया है मानो जलती अग्नि की शिखा धुएँ से घिरी हुई हो। उसके शरीर से सूर्य का-सा तेज निकल रहा था। उसे कोई छू नहीं सकता था। परंतु उसके शाप की अवधि पूर्ण हो रही थी, इसलिये श्रीरघुनाथजी ने उसे देख लिया, और दोनो भाइयों ने उसके पाँव छुए। अहल्या ने भी गौतम की बात स्मरण कर उनकी पूजा की, और श्रीरघुनाथजी ने उसका आतिथ्य स्वीकार कर लिया। उस समय आकाश में दुंदुभियाँ बजीं, फूल बरसे, गंधर्वों और अप्सराओं ने बड़ा उत्सव मनाया, और देवतों ने 'धन्य-धन्य' कहकर अहल्या की पूजा की। इसके बाद महर्षि गौतम आए, और श्रीरामजी का आदर-सत्कार करके अहल्या के साथ तप करने चले गए। जहाँ तक हमने देखा है, अहल्या के पत्थर होने की कथा सबसे पहले 'पद्मपुराण' में लिखी गई है—

> "गच्छतस्तस्य रामस्य पादस्पर्शान्महाशिला ।
> काचिद् योषाऽभवत्साऽपि विस्मितो मुनिरब्रवीत् ।
> शापदग्धा पुरा भर्त्रा राम शक्रापराधतः ;
> अहल्याख्या शिला जज्ञे शतलिङ्गः कृतः स्वराट् ॥
> त्वदङ्घ्रिस्पर्शनान्तस्य शापान्तं प्राह गौतमः ;
> तस्मादियं ते पादाब्जस्पर्शाच्छुद्धाऽभवत् प्रभो ।"

अर्थात् जब श्रीरघुनाथजी जा रहे थे, तो उनके चरणों के स्पर्श से एक बड़ी शिला स्त्री हो गई। यह देखकर विस्मित हो विश्वामित्रजी बोले—"हे राम, किसी समय इंद्र के अपराध से रुष्ट होकर इस स्त्री (अहल्या) के पति ने इसको शाप दिया, यह पत्थर की शिला हो गई, तथा इंद्रदेव शतलिंग हो गए। गौतम (अहल्या के पति) ने ही तुम्हारे चरणों के स्पर्श से इसके शाप का अंत बताया था। इसी से आज यह तुम्हारे चरणों के स्पर्श से शुद्ध हो गई।"

पद्मपुराण का शतलिंग (सौ चिह्नवाला) इंद्र पीछे से हजार भगवाला कैसे और कब बना, इसकी जाँच से हमको प्रयोजन नहीं, परंतु वाल्मीकीय रामायण की अदृश्य तपस्विनी और पद्मपुराण की शिला का समाधान गोस्वामी तुलसीदासजी ने कर दिया है—

> "नाना भाँति राम-अवतारा ;
> रामायण सत कोटि अपारा ।
> कल्प-भेद हरि-चरित सुहाए ;
> भाँति अनेक मुनीसन गाए ।"

परंतु पद्मपुराण ही की शिला को कम-से-कम हम कलियुगियों ने सत्य माना। कालिदास 'रघुवंश', सर्ग ११ में 'किल' शब्द लिखकर कुछ संदेह-सा प्रकट कर रहे हैं। थोड़ी-सी अँगरेज़ी पढ़े हुए हम लोग भगवान् के अवतारों के भी चरित्रों और लीलाओं को मनुष्य-ज्ञानगम्य समझते हैं; क्योंकि उस परम कारुणिक ने हमारे ज्ञानगम्य ही होने के लिये अवतार लिया था। परंतु एक महात्मा कुमारिल भट्ट आजकल के ज्ञानियों से बढ़ गए हैं। उनका मत है कि अहल्या की कथा एक रूपक है। अहल्या 'रात' को कहते हैं, और इंद्र सूर्य का पर्याय है, जो रात्रि को नष्ट करता है। इसी को कुछ लोगों ने यहाँ तक बदला कि अहल्या रात है, और गौतम सूर्य। चंद्र की सहायता से इंद्र यानी बादल रात को आया, और सबेरा होते ही अर्थात् सूर्य के आने पर, बादल में सहस्र छिद्र हो गए, यानी वह छिन्न-भिन्न हो गया। परंतु यह कथा हमको ग्राह्य नहीं।

अहल्या एक तपस्वी की स्त्री थी। उसने पति का अपराध किया। इस पर पति ने उसको आज्ञा दी कि तू एकान्त-वास कर, किसी के आगे न निकल, और तपश्चर्या में अपने दिन काट, जब तक कि किसी बड़े अतिथि को अपनी पूजा-सत्कार से प्रसन्न न कर ले। यह कथा वाल्मीकीय रामायण में बड़े विस्तार से लिखी है। हम यहाँ उस स्थान की जाँच करना चाहते हैं, जहाँ अहल्या रहती थी, और उसका उद्धार हुआ था। यह तो विदित ही है कि श्रीरघुनाथजी अयोध्या के राजकुमार थे, और हम अपने अंगरेजी-लेख में दिखा चुके हैं कि अयोध्या पहले भी वहीं थी, जहाँ अब है। अयोध्या से चलकर विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण सरयू के दक्षिण-तट पर दो कोस आगे गए। यहाँ विश्वामित्र ने दोनो भाइयों को बला और अतिबला, ये दो विद्याएँ सिखाईं, जिससे वे न कभी थकें, और न उनको कोई जीत सके। ऐसा जान पड़ता है कि ऋषि के साथ राजकुमार भी भूमि पर सोते थे। दूसरे दिन ये लोग सरयू और गंगा के संगम पर पहुँचे। यह संगम आजकल छपरा-जिले में है।

महर्षि विश्वामित्र युगल राजकुमारों के साथ कुछ दूर तक नाव से, और कुछ दूर पैदल चलकर भगवती गंगा के संगम पर पहुँचे, जहाँ इस समय बलिया-नगर बसा है। इस संगम का बड़ा माहात्म्य है। यहाँ ददरी-क्षेत्र का बड़ा भारी मेला अब तक प्रति वर्ष लगता है। इस स्थान पर वे गंगाजी उतरकर उस पार गए, और 'मलद' और 'कारूष'-प्रांतों में, जहाँ अब डुमराँव-नगर बसा है, पहुँचने पर ताड़का से उनकी मुठभेड़ हुई। ताड़का शाहाबाद के 'ताड़'-ग्राम में रहती थी। फिर उसका पीछा करके राजकुमारों ने बक्सर में उसको मार डाला। इसके पीछे वे 'सिद्धाश्रम' में गए। सिद्धाश्रम कोई कुटीर या वाटिका नहीं, एक क्षेत्र का नाम है, जो गंगाजी के तट पर चार मील तक फैला हुआ है, और इसी के अंतर्गत बक्सर-नगर भी है। इसके अतिरिक्त उस क्षेत्र में तीस गाँव आबाद हैं। यहाँ मार्गशीर्ष-शुक्ला पंचमी से पाँच दिनों तक लोग पंचकोशी परिक्रमा करते हैं। लोग अहिरौली-ग्राम होते हुए पूर्व दिशा में 'नंदावन' को जाते हैं, फिर दक्षिण और 'बभुवार' को, तत्पश्चात् पश्चिम और घूमकर चैत्र-वन में पहुँचते हैं। महर्षि विश्वामित्र के निवास से इस स्थान की महिमा बढ़ गई। यद्यपि यह वैष्णव-तीर्थ है, तथापि यहाँ देवदेव महादेव के मंदिर बहुत हैं। यह स्थान 'वेदगर्भ' कहलाता है, और स्पष्ट मालूम होता है कि यहाँ महर्षि विश्वामित्र और उनके प्रतिद्वंद्वी महर्षि वशिष्ठ में तपस्या की चोटें चलती थीं। यहाँ से २५ मील पश्चिम गाज़ीपुर है, जो चीनी यात्री हुएनसांग का 'चेयू' है। स्थानीय कहावत से विदित होता है कि यह महर्षि विश्वामित्र के पिता राजा गाधि की राजधानी है, और इसका शुद्ध नाम 'गाधिपुर' है, जिसको मुसलमानों ने बदलकर गाज़ीपुर कर दिया। कोई सज्जन राजा गाधि की राजधानी वहाँ बताते हैं, जहाँ अब कन्नौज-नगर बसा हुआ है। यहाँ से थोड़ी दूर पर 'कर्मनाशा' और 'गंगा' का संगम है। महर्षि विश्वामित्र के कृपा-पात्र त्रिशंकु के पापों से कर्मनाशा की उत्पत्ति प्रसिद्ध ही है। महर्षि वशिष्ठ की तरह विश्वामित्रजी भी वैदिक ऋषि हैं, और संभव है जो मंत्र उनके तथा उनके शिष्यों के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन्हीं के प्रभाव से सिद्धाश्रम को लोग 'वेदगर्भ' भी कहने लगे हों। यही फिर 'वामनाश्रम' भी हो गया। शोण-नदी के किनारे, जहाँ वह गंगाजी से मिलती

है, बक्सर-नगर के पश्चिम में अब तक एक टीला मौजूद है, जिसे लोग वामनदेव की जन्म-भूमि कह-कर पूजते हैं। भादों के महीने में वहाँ मेला भी लगता है। वहाँ के जेल-सुपरिंटेंडेंट के हाते में एक छोटा-सा शिवालय है, जिसमें शिवजी की एक मूर्ति है। उस-को लोग वामनेश्वर कहते हैं।

प्रसिद्ध स्थान, जिनका संबंध इस अनुसंधान से है, केवल दो हैं—(१) चैत्ररथ-वन, (२) राम-रेखा-घाट।

(१) चैत्ररथ वन। चार एकड़ भूमि में गंगाजी के दक्षिण-तट पर, नगर से पश्चिम ओर, है। इस भूमि पर जहाँ-तहाँ साधुओं की कुटियाँ और मंदिर हैं। इनमें सबसे बड़ा मंदिर एक टीले पर है, और उसे 'रामचौरा' कहते हैं। तहखाने की कोठरी में, जिसको पातालपुरी कहते हैं, महर्षि विश्वामित्र और युगल राजकुमारों की मूर्तियाँ हैं। नाम की असलियत जान नहीं पड़ती। रामायण में लिखा है कि ताड़का-वध के पीछे श्रीदशरथ-राज-कुमार उस वन में वैसे ही सुशोभित हुए, जैसे गंधर्व-राज चैत्ररथ में, और देवराज नंदन-वन में।

(२) रामरेखा-घाट। बक्सर में यह एक अत्यंत रमणीय स्थान है। आजकल पाषाण का एक सुंदर घाट और मंदिर, जिसमें महर्षि विश्वामित्र की मूर्ति प्रतिष्ठित है, सार्वजनिक दान से बनवाए गए हैं। इस स्थान को रामरेखा इसलिये कहते हैं कि भगवान् ने यहाँ अपने धनुष की कोटि से एक लकीर इसलिये खींच दी थी कि उसी के भीतर ऋषिगण यज्ञ करें, वहाँ उन्हें राक्षस न सता सकें। यथा—

"रामकोटिकृता रेखा वामनाश्रममध्यगा।"

दूसरी आख्यायिका इस संबंध में यह है कि महर्षि विश्वामित्र प्रतिदिन प्रातःकाल गंगा-स्नान के लिये वाराणसी जाया करते थे, यद्यपि वही गंगा उनके आश्रम के नीचे बहती थीं। भगवान् रामचंद्रजी ने उनसे पूछा—"भगवन्, यहाँ उसी पवित्र धारा में स्नान न करके आप तीस कोस चलकर काशी क्यों जाया करते हैं?" महर्षि ने उत्तर दिया—"वाराणसी में उत्तरवाहिनी गंगा है। वहाँ स्नान करने का पुण्य विशेष है।" इस पर श्रीरामचंद्र ने अपने धनुष की कोटि से धारा फेर दी। अब भी उस स्थान पर यह स्पष्ट मालूम होता है, और वहाँ नदी राजा रुद्रशाही के पुराने टूटे कोट में टकराती हुई उत्तर को बहती है।

यह भी प्रसिद्ध है कि जब रेखा खींची गई, तब छोटी नदी 'वल्गा' बन गई। यह नदी ताड़का की लोथ से कलुषित हो गई थी; परंतु फिर परम पुनीत भी हो गई। इसका वर्णन ब्रह्मांड-पुराण में है।

रामेश्वरनाथ—महर्षि विश्वामित्रजी जब राजकुमारों को बक्सर ले आए थे, तब उनको पूर्ण रूप से इस बात का निश्चय था कि श्रीकौशल्या-नंदन भगवान् विष्णु के अवतार हैं, और उनमें ताड़का आदि का संहार करने की शक्ति है। परंतु शैवों को इससे संतोष न हुआ। भगवान् ने राक्षस-वध के पहले गंगाजी की बालू में शिव की प्रतिमा बनाई, और पूजा की। जल चढ़ाते ही जब बालू बहने लगी, तो भगवान् ने अपने कर-कमलों से उसे दबा दिया, और वह मूर्ति पत्थर की हो गई। मूर्ति पर उँगली के चिह्न अब तक बने हैं। जिस मंदिर में यह मूर्ति स्थापित है, वह ३०० वर्ष का बना हुआ है, और बासन-सूर्यपुर के एक कायस्थ ने उसे बन-वाया था। बासन बक्सर से १८ कोस पर पूर्व दिशा में है। सेंट्रल जेल के पूर्व में सोमेश्वरनाथ का मंदिर भी पुराना है।

रामरेखा के पूर्व 'गौरीशंकर' के मंदिर की भी कुछ चर्चा होनी चाहिए। लोग कहते हैं, पार्वतीजी ने शिवजी के साथ ब्याह की कामना से वहाँ तपस्या की थी। परन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि भगवती पार्वती हिमालय की पुत्री थीं, और उनकी तप-स्थली के विषय में महाकवि कालिदास ने इस प्रकार लिखा है—

"अजास्तु पश्चात्तीर्थयन्नदृष्टाया
जगाम गौरीशिखरं शिखिसंमतम् ।"

यहाँ शिव-मूर्तियों में एक विशेषता देखी गई। वे सब गोलाकार हैं, लिंगाकार नहीं। इसमें लिंग-वाली कल्पना, जिसकी हिंदू-धर्म के विरोधी हँसी उड़ाया करते हैं, कटी जाती है। लिंग का अर्थ चिह्न ही है। जिसका रूप नहीं, या जिसके रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता, उसे गोलाकार या वृत्ताकार मानने की पुरानी परिपाटी चली आती है। अब भी जो बात समझ में नहीं आती, उसे 'गोलमाल' कहते हैं।

इन दोनों स्थानों के सिवा एक और स्थान भी बहुत प्रसिद्ध है। इसको 'व्याघ्र-सर' कहते हैं। बक्सर-नगर का नाम भी इसी से पड़ा। 'गौरीशंकर'-मंदिर के निकट एक पवित्र सर है, जिसको अब 'बाघ-सर' कहते हैं। पहले इसको 'अघ-नाशक' सर कहते थे। वेदशिरा ऋषि ने एक बार ऋषि दुर्वासा को डराने के लिये व्याघ्र का रूप धारण किया था। दुर्वासा ने उन्हें उसी रूप में रहने का शाप दे दिया। परन्तु उक्त पुनीत तालाब में स्नान और भगवान गौरी-शंकर की पूजा करने से वह अपने पूर्व रूप को प्राप्त हो गए। तभी से तालाब का नाम 'बाघ-सर' प्रसिद्ध हो गया।

एक और स्थान 'सिद्धाश्रम' के नाम से विख्यात है। उसकी भी चर्चा करना आवश्यक है; क्योंकि महाकवि भवभूति ने अपने 'महावीर-चरित'-नाटक में उसका कौशिकी के तट पर होना लिखा है। आदि-कवि महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—"कौशिकी महर्षि विश्वामित्र की बहन थीं, और ऋचीक को ब्याही गई थीं। देहावसान के अनंतर वह नदी के रूप में परिणत हो गई। महर्षि विश्वामित्र अपनी बहन के प्रेम से उसी के किनारे रहने लगे।" यह आश्रम अब मिथिला से पूर्व, नेपाल की सीमा पर, बताया जाता है; परंतु विश्वामित्रजी ने स्पष्ट कह दिया है कि हमने उस स्थान को त्याग दिया, और तप करने के लिये सिद्धाश्रम को चले आए। न तो आदि-कवि इसे सिद्धाश्रम कहते हैं, और न लोकोक्ति से ही इसकी पुष्टि होती है। मिथिला-तीर्थ-प्रकाश में जो नक़्शा लगा है, उसमें कौशिकाश्रम लिखा है। दूसरा स्थान, जो महर्षि विश्वामित्र का आश्रम कह-लाता है, वह बिसौल, परगना भाला, जिला भागलपुर में, बतलाया जाता है।

इस विषय में और अधिक पता नहीं लगा। सिद्ध होता है कि यही वह अहल्या का आश्रम है, जिसका उल्लेख महर्षि वाल्मीकि करते हैं। हाँ, एक स्थान और भी है, जिसको अहल्या के पति गौतम का आश्रम कहते हैं। वह स्थान गोदना है, जो छपरा-ज़िले में घाघरा के बाएँ तट पर, रेविलगंज-स्टेशन से एक मील पर है। यह गौतमाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ एक संस्कृत-पाठशाला है, जिसमें न्याय-शास्त्र की शिक्षा दी जाती है। जो पंडित न्याय में निपुण नहीं होते, उनको वहाँ आश्रय नहीं मिलता, और न उस छात्र को छात्र-वृत्ति ही मिलती है जो न्याय में व्युत्पन्न नहीं होता। यहाँ कार्त्तिकी पूर्णिमा को मेला लगता है। यह बेतिया-राज्य में है। यहाँ

और भी श्रीमानों के मंदिर बने हुए हैं। यदि यह बात मान ली जाय कि न्याय-शास्त्र के कर्ता और अहल्या के पति एक ही थे, तो कोई बात ऐसी नहीं देख पड़ती, जिससे विदित हो कि अहल्या का उद्धार गोदना' में हुआ था। यह उस मार्ग से अलग है, जिससे भगवान श्रीरामचंद्रजी मिथिला को गए थे। महर्षि गौतम, बहुत संभव है, पहले इस स्थान में रहे हों। पुराणों में लिखा है कि महर्षि गौतम के तप से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने अहल्या के साथ उनका विवाह कर दिया। इससे सिद्ध होता है कि महर्षि गौतम और अहल्या मिथिला ही के थे। इस बारे में महर्षि वाल्मीकि का भी प्रमाण है। उनके पुत्र शतानंदजी मिथिलेश के पुरोहित थे। अब प्रश्न यह हो सकता है कि गंगाजी के दक्षिण 'अहिरौली' में अहल्या का आश्रम क्यों हुआ? गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन-चरित्र में एक महाशय लिखते हैं कि महर्षि गौतम और अहल्या भगवान् रामचंद्रजी से भेंट करने के लिये कदाचित् गंगा के दक्षिण गए हों। परंतु यह तर्क युक्ति-संगत नहीं मालूम पड़ता। आनंद-रामायण में महर्षि गौतम का शाप इस प्रकार लिखा है—"तू इस शिला में वास कर।" इसमें अहल्या का उद्धार सरल हो जाता है। परंतु राम-भक्त कहते हैं कि भगवच्चरण-रज से पाषाण मानवी रूप में प्रकट हो गया। इससे 'चरण-धूलि' 'मानुष-करनि मूरि' हो गई। महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं—"जब रामचंद्रजी सोन-नदी पर पहुँचे, तो वहाँ उनको नाव तैयार मिली। न केवल उन्हें गंगा-पार उतार देने के लिये, वरन विसाल तक पहुँचा देने के लिये कौशिक मुनि ने प्रबंध कर रक्खा था। परंतु मल्लाह राजी न हुए।" अध्यात्म-रामायण में लिखा है—"भगवान ने एक मल्लाह से गंगा-पार उतारने को कहा था।" ऐसी दशा में सोन-नदी तक जाने की जरूरत क्या थी। वे अहिरौली के निकट सिद्धाश्रम के पूर्ववर्ती किनारे पर गंगा-पार कर सकते थे। मल्लाह ने अहिरौली में अपनी आँखों देख लिया था कि भगवान ने अपने चरण-रज से कैसा आश्चर्य कर दिखलाया। इसीलिये उसने सरकार को अपनी नाव में बैठाना अस्वीकार कर दिया। उसने कह दिया—"जब तक पत्थर को मनुष्य बनानेवाली रज न धो दी जायगी, तब तक मैं पार न उतारूँगा।" रामायण में इस मल्लाह के वचन अनेक प्रकार से उल्लिखित हैं। अध्यात्म में वह कहता है—"मेरी नाव मनुष्य न बन जाय।" आनंद-रामायण में लिखा है—"यदि आपके चरण की धूलि से मेरी नाव स्त्री बन गई, तो मैं उस स्त्री को क्या करूँगा? मेरे पास तो एक स्त्री है।" उसी रामायण में आगे यह भी लिखा है—"अहल्या जन-स्थान में बहती हुई नदी हो गई, और सरकार जब वहाँ गए, तब उसका उद्धार किया।" पिछले लेखकों ने मल्लाह को अहिरौली से सिंगरौर (शृंगवेरपुर, जो इलाहाबाद-जिले में है) में कर दिया है। वाल्मीकीय रामायण में निषाद-राज कहता है—"हमारे कुटुंबवाले नाव खेवेंगे।" श्रीरामचरित-मानस से जाना जाता है कि वह एक साधारण केवट था, जिसको इस बात का भय था कि उसकी नाव मुनि की स्त्री होकर आकाश में उड़ जायगी। आनंद-रामायणवाले मल्लाह से तो इसकी भारी क्षति पहुँचती है। वहाँ तो नाव स्त्री हो जाती है, और उसी के पास रहती है, पर यहाँ आकाश में उड़ जाती है—

"चरन-कमल-रज कहँ सब कहहीं ;
मानुष-करनि मूरि कछु अहहीं।

अवत शिला भइ नारि सोहाई ;
पाहन ते न काठ-कठिनाई ।
तरनिउ मुनिघरनी ह्वै जाई ;
बाट परै, मोरि नाव उड़ाई ।
जो प्रभु अवसि पार गा चहहू ;
तौ पद-पदुम पखारन कहहू ।"

श्रीरामचरित मानस के प्रसिद्ध टीकाकार को जब यह कठिनाई देख पड़ी, तो उन्होंने उसको यह कहकर दूर कर दिया कि केवट और कोई नहीं, निषादराज ही थे, जिनमें इतनी प्रबल भक्ति थी कि वह धृष्टता-पूर्वक श्रीरामचंद्रजी से बोल सकें।

श्रीसत्यस्वामी सीताराम

न्याय, नीति, समता और स्वातंत्र्य

Speak without hatred and without fear ; tell that which thou knowest (Proudhon)

अर्थात्, घृणा और भय छोड़कर तू जो जानता है, सत्य-सत्य कह दे।



आज वह समय है कि मनुष्य-बुद्धि केवल शुष्क इति-वृत्त और प्रमाण के ही सामने सिर झुकाती है। कवि-कल्पना मनोरंजन चाहे करे, पर विश्वास का स्थान नहीं पा सकती। विज्ञान, मनुष्य धर्म और प्राकृत नियम कहते हैं कि उनके आगे कला-कौशल का अतिरंजन और कविता की असत्य कल्पना को उच्च स्थान नहीं मिल सकता। विज्ञान में मनुष्य और [नी]ति, दोनो ही शामिल हैं। सचाई के प्रकट होने का स्थान हरएक मनुष्य-हृदय है। इसमें रंग, रूप, देश, धर्म और जाति का कोई विवेक नहीं। हम अनंत के मध्य में हैं, हमसे पहले भी अनंत और पीछे भी अनंत का स्थान है। इस अनंत में किसी क्षणिक प्राणी की क्या हस्ती है? इसलिये मेरे छोटेपन को भूल जाओ ; देखो, मैं जो कहता हूँ, वह कहाँ तक सत्य है? देखो, स्वत्व और दायित्व क्या है? न्याय और नीति किसे कहते हैं? स्वातंत्र्य तथा स्वाधीनता का रूप कैसा है?

विद्वान् लोग कहते हैं कि मनुष्य की नीतिमत्ता ही उसको और पशुओं की बुद्धि के बीच की पृथक् करनेवाली रेखा है। मनुष्य में नीतिमत्ता न होती, तो उसमें और पशु में अंतर ही न होता। हमारा स्वाभाविक नैतिक ज्ञान ही न्याय की उत्पत्ति का प्रधान कारण है। कोई-कोई कहते हैं कि दोनो एक ही चीज़ हैं। एक तीसरा विद्वान् पशु-बुद्धि और मनुष्य-बुद्धि का भेद यों करता है—

पशु-बुद्धि, स्वभाव और स्वार्थ पर आश्रित होती है ; मनुष्य-बुद्धि अपने शेष जगत् के साथ के संबंध का भी विचार करती है। यहीं से नीति का आविर्भाव होता है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मनुष्य-बुद्धि और पशु-बुद्धि का अंतर किस तरह का है? दोनो में तारतम्य-भेद है, या जात्यंतर? सीधे शब्दों में, दोनो पृथक्-पृथक् हैं, या केवल गुणों की ही कमी-बेशी है?

इस प्रश्न का उत्तर हमें लोक और वेद के ज्ञाता यही देते आते हैं कि दोनों पृथक् पदार्थ हैं। मनुष्य की महत्ता का मुख्य कारण उसकी अंतरात्मा है, जो उसे ही मिली है। इसी से वह न्याय और अन्याय, उचित और अनुचित, भले और बुरे की विवेचना कर सकता है। मनुष्य-बुद्धि सत्यासत्य की निर्णायक होती है ; परंतु पशु की नहीं। यह विवेक अंतरात्मा का परिचायक लक्षण है। यह मनुष्य का प्रतिष्ठित अधिकार है। मनुष्य ही अपनी ऐहिक इच्छा को रोक सकता है, भले-बुरे का विचार कर सकता है, और अपनी स्वतंत्रता और न्याय-परायणता के कारण ईश्वर स्वरूप बन जाता है। ये सब बातें सुनने में तो बहुत अच्छी लगती हैं, लेकिन जब विश्लेषण करके देखते हैं, तो थोथी ही नज़र आती हैं।

अरस्तू कहता है—"मनुष्य सज्ञान सामाजिक प्राणी (पशु) है।" एक दूसरे विद्वान् 'बोनेल्ड' की परिभाषा यह है—"इंद्रियों और अंगों से सेवित बुद्धि ही मनुष्य है।" इस तरह अनेकों परिभाषाएँ इस विचित्र पशु 'मनुष्य' की की गई हैं, जिनमें सबसे उत्तम परिभाषा अरस्तू की है। इसलिये मैं उसी को मानकर विचार करता हूँ।

मनुष्य समाज में रहनेवाला पशु है। जब सोचते हैं कि समाज क्या है, तो मालूम होता है कि 'समाज'

समस्त संबंधों का योग है। इन संबंधों की श्रृंखला या पद्धति के आधार किसी-न-किसी प्रकार की शर्तें हैं। ये ही शर्तें मनुष्य-समाज के क़ानून हैं। तब ये शर्तें अर्थात् क़ानून क्या हैं? एक दूसरे के पारस्परिक विचार से स्वत्व क्या है? और न्याय किसे कहते हैं?

अनेक दार्शनिकों के इस तरह कहने का कोई अर्थ नहीं कि "यह ईश्वर-प्रदत्त समझ है, अविनाशी ईश्वरीय या स्वर्गीय आवाज़ है, प्रकृति-प्रदत्त पथ-प्रदर्शक मनुष्य के संसार में आने पर उसके लिये ईश्वर का प्रकट किया हुआ एक प्रकाश है। यह एक क़ानून है, जो हमारे हृदय-पटल पर अंकित किया गया है, हमारे आंतरिक विवेक-जनित भाव और बुद्धि की अनुज्ञा है।" इत्यादि। देखने में ये बातें चाहे जितनी सच्ची और सुंदर हों, लेकिन इनका अर्थ कुछ नहीं। यह केवल अस्पष्ट शब्दाडंबर-मात्र है।

नीति के विषय में भी दर्शनकार लिखते हैं—"यह स्वर्ग की लक्ष्मी है। संसार में आनेवाले हरएक आदमी को यह देदीप्यमान कर देती है। इसी से मनुष्य और पशु का विवेक होता है।" किंतु इस उपदेश से नीति के वास्तविक रूप का पता नहीं चलता। अरस्तू कहता है—"न्याय जनता का हित है।" यह भी शब्दों का उलट-फेर ही है। यह कहना कि क़ानून बनानेवाले मंडल का या व्यवस्थापिका समिति का उद्देश्य जनता की भलाई होनी चाहिए वैसी ही बात है, जैसी कि वैद्य का उद्देश्य बीमारों को चंगा करना या पुलीस का काम जनता की रक्षा करना।

अब ज़रा दूसरी तरह से विचार करें। स्वत्व उन सिद्धांतों का योग है, जिनसे मनुष्य-समाज चलाया जाता है, या चलता है। इन्हीं की प्रतिष्ठा करना और इन्हीं के अनुसार चलना मानवीय न्याय है। न्याय करना सामाजिक सहज बुद्धि या पशु-बुद्धि की अनुज्ञा का मानना ही है। यदि हम मनुष्यों के आचरण को देखें कि एक दूसरे के साथ जुदी-जुदी हालतों में वह कैसा होता है, तो हमें समाज की उपस्थिति और अनुपस्थिति का अंतर मालूम हो जायगा, और जिस नतीजे पर पहुँचेंगे, उससे हम फिर तर्क से क़ानून का पता लगावेंगे।

जो माता बच्चे की रक्षा करती है, वह समाज की समझ में अच्छी माता है; जो ऐसा नहीं करती, वह प्रकृति के विरुद्ध आचरण करनेवाली दुष्टा है। जो बीमार की सेवा करता है, डूबते को बचाता है, सबल से निर्बल की रक्षा करता है, वह भला आदमी, भाई और संगी है। जो सेवा नहीं करता, निर्दय है, जो किसी के प्राण-हरण का कारण होता है, वह हत्यारा है। इसी तरह दानी और चोर, कमाऊ और हरामख़ोर आदि की कल्पना होती है।

पर इस प्रकार के जितने काम देखे जाते हैं, सभी में प्रत्यक्ष देख पड़ता है कि मनुष्य अपने सजाति या सहचर की ओर किसी आंतरिक आकर्षण शक्ति से ही खिंचता है। मनुष्य में स्वभाव से ही एक अज्ञात समवेदना पैदा होती है, जैसे प्यार, कृतज्ञता, सहानुभूति आदि। यदि मनुष्य चाहे कि वह ऐसा न करे, तो उसे मन से लड़ना पड़ता है; क्योंकि स्वभाव या प्रकृति के विरुद्ध चलने में उसे कष्ट प्रतीत होता है। ये सब बातें नैसर्गिक समझ से होती हैं। इनका कारण ज्ञान (Intelligence) नहीं है।

इसलिये ऊपर कही हुई बातों से मनुष्य और पशु का कोई निश्चयात्मक अंतर स्पष्ट नहीं होता। पशु भी प्यार करते हैं। गऊ और बँदरिया अपने बच्चे को, जब तक वे निर्बल रहते हैं, प्राणों से अधिक प्यार करती हैं। बहुधा माताएँ अपनी जान को जोखिम में डालकर अपने बच्चे को ख़तरे से बचाती हैं। स्त्रियों को अपने बच्चे पर अत्याचार करते चाहे देखा हो, पर पशुओं को ऐसा करते नहीं देखा गया। ऐसे पशुओं की समता उन वीरों से ही हो सकती है, जिन्होंने प्राणों की बाज़ी लगाकर अपने देश को स्वतंत्र करने के लिये साहस दिखलाया हो। हरिणों में भी सामाजिक संगठन होता है। जब झुंड चरता होता है, तो उनमें से एक सिर ऊँचा किए पहरा देता है—ख़तरे के समय सबको भागने के लिये सावधान कर देता है। अनेक शिकारी जानवर मिलकर शिकार करते हैं, एक दूसरे को बुलाते हैं, अहेर का पता बतलाते हैं, ख़तरे में एक दूसरे का साथ देते हैं। एक बंदर को आप मारें, या उसके बच्चे को छीन लें, फिर देखिए, सारे बंदर किस तरह मिलकर आपका सामना करते हैं। जब कोई हाथी गढ़े में फँस जाता है, तो दूसरा उसकी सहायता करके निकालने की चेष्टा करता है। गउएँ जंगलों में अपने बच्चों को बीच में सुरक्षित

रखकर चरती हैं, इसीलिये कि उनके बच्चों को भेड़िया न ले जाने पावे। जो कदाचित् पकड़ ही ले, तो वे अपने सींग हिलाकर बड़ी ज़ोर से भेड़िए पर आक्रमण करती और बच्चे को छुड़ा लेती हैं। घोड़े, गधे, शूकर, सभी अपने सहचरों और सजातियों की मदद करते हैं। पशुओं में प्रेम-संबंध भी बहुत ही प्रगाढ़ होता है। मनुष्यों का विवाह उनके सामने कोई हक़ीक़त नहीं रखता। फिर भी पशु लड़ाई-झगड़ों से बरी नहीं होते। हम यह बात मनुष्यों में भी देखते हैं। वे दया, नीति, न्याय, दान, सहायता, सहानुभूति, समवेदना आदि सब कुछ रखते हुए भी लड़ाई-झगड़ों, लूट-खसोट, छीना-झपटी में पशुओं से अधिक आगे बढ़ जाते हैं। यहाँ तक कि कुत्तों को भी अपने स्वभाव से लज्जित कर देते हैं। इसी से मालूम पड़ता है कि इन सब बातों से पशु और मनुष्य का अंतर स्पष्ट नहीं होता।

सामाजिक बुद्धि मनुष्य में पशु से चाहे कुछ अधिक हो, यह तारतम्य दूसरी बात है; पर प्रकृति दोनों की एक है। मनुष्य संग-साथ की ज्यादा परवा करता है; पशु एकाकी रहकर भी समय व्यतीत कर लेते हैं। मनुष्यों में सामाजिक आवश्यकताएँ अधिक अनिवार्य और पेचीदा होती हैं, वैसे ही उनके साधन भी होते हैं। पशुओं की ज़रूरतें कम, ढीली और निर्बल होती हैं। इसलिये एक प्रकार से मनुष्य से पशुओं को अच्छा भी माना जा सकता है। पशुओं में बलात् स्त्री-संभोग, समय से पहले गर्भाधान-चेष्टा और पुरुषों का पुरुषों के साथ स्वाभाविक व्यभिचार आदि अनाचार नहीं देखे जाते। लेकिन मनुष्य पशु में ये सारी बातें मौजूद हैं। बात यह है कि मनुष्य अपनी जाति और व्यक्ति, दोनों की ख़ातिर जाता है, और पशु केवल अपनी जाति स्थिर रखने के लिये। अभी तक जो विचार हुआ, उससे मनुष्य की पशु से श्रेष्ठता प्रतिपादित नहीं हो सकी।

यदि हममें दुराचार, लंपटता, लालच, स्वार्थ-परायणता, अत्याचार, बदले का भाव आदि दुर्गुणों का समावेश नैसर्गिक है, तो हममें दया करने, खैरात देने, न्याय और प्रेम करने के भाव भी नैसर्गिक हैं। इसमें तो हम पशुओं की अपेक्षा कोई भी विशेषता श्रेष्ठता की ओर नहीं रखते। यहाँ तक तो हमें पशु-बुद्धि की अंध गति, दो पैर, दो हाथवाले पशु (मनुष्य) और चार पैर या चार हाथवाले पशुओं में समान नज़र आती है। लेकिन अंतर तो ज़रूर है। फिर वह क्या है?

इसका एक सरल सीधा दार्शनिक उत्तर यह है कि "मनुष्य तो अपनी सामाजिक योग्यता समझता है। वह जानता रहता है कि मुझमें सामाजिक योग्यता है; लेकिन जानवर इस गुण को रखते हुए भी यह नहीं समझते कि हममें यह बात है। हम अपनी सामाजिक बुद्धि पर किए हुए कामों की आलोचना, विचार एवं तर्क करते हैं; पर वे (पशु) ऐसा नहीं करते।" यह बात हम पशु-मनोविज्ञान के मनन करने से जान सकते हैं।

कुछ और आगे बढ़ें, तो जान पड़ता है कि हमारी तर्क और विचार-शक्ति के कारण यह सब है, जो हममें है, और पशुओं में नहीं। इसी से हमें ख़याल होता है कि यह काम हमारे और दूसरों के लिये हानिकर है। बहुत-से काम पहले हमारे लिये हानिकर होते हैं, फिर दूसरों के लिये। बहुत-से काम पहले दूसरों को हानि पहुँचाते हैं, और परिणाम में हमें। इसीलिये हम उस सामाजिक बुद्धि का, जो हमें क्रम से चलाती है, विरोध नहीं करते। इसी का नाम न्याय है। यह हमारी तर्क-शक्ति है, जो हमें बतलाती है कि स्वार्थी, डाकू और हत्यारा, या यों कहें कि समाज-वंचक पापिष्ठ है, और यदि वह जब जान-बूझकर दोष करता है, तो प्रकृति का शत्रु और समाज के समक्ष अक्षम्य अपराधी है। वह दूसरों के लिये भी हानिकर है, और अपने लिये भी। अस्तु, हमारे सामाजिक भाव—चाहे वे धर्म के नाम पर हों, चाहे क़ानून अथवा नीतिमत्ता के नाम पर—और हमारी तर्क-शक्ति हमें इस बात के लिये सावधान करती है कि हम लोग अपने किए की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लें। इसी सिद्धांत पर बदला, पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त और दंड-विधान बने हैं। इसी को दंड देनेवाला न्याय माना जाता है।

इस तरह हम अपने सहचरों के साथ के संबंधों पर तर्क-वितर्क करते हैं। हम अपने खाने, पीने, उठने, बैठने और ब्याह-शादी की छोटी-छोटी बातों पर भी विचार करते हैं। ऐसी कोई भी बात नहीं, जहाँ हमारी तर्कशीलता कतर-ब्योंत की बुद्धि न जगाती हो। पर इस तर्क या विचार से वस्तु-स्थिति में कोई अंतर नहीं आता। हमारे विचार करने से किसी वस्तु के परिचय के लक्षणों का न तो रूपांतर हो सकता है, और न प्रकृति अपना कोई नियम ही बदल सकती है। भले ही आप विचार करें कि सूर्य क्यों इतना बड़ा है, कैसे उगता है, पृथ्वी कैसी है, पानी बरसने के

क्या कारण है : पर क्या आपके विचारने और सोचने का कोई प्रभाव प्रकृति के किसी नियमों पर पड़ सकता है ?

मनुष्य प्रकृति का अंग है, प्राकृत है। उसमें कोई बात ऐसी नहीं हो सकती, जो पशुओं की नैसर्गिक प्रकृति से सर्वथा भिन्न हो। यदि कुछ बातों में कुछ अंतर देखा जाता है, तो वह तारतम्य-मात्र है, न कि जात्यंतर-भेद, जैसा कि ऊपर कहा गया है। हमारी नीतिमत्ता भी मनुष्य और पशु में ऐसा कोई भेद नहीं स्थापित कर सकती, जो हमारी उक्त प्रतिज्ञा को तुड़वा सके।

सामाजिकता के भाव को कुछ उच्चतर आदर्श से देखने वाले कहते हैं—जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है—कि सामाजिकता का दूसरा दर्जा न्याय है। न्याय की परिभाषा एक प्राचीन लैटिन-विद्वान् ने यों की है—

"Justum aequale est, injustum in aequale"

अर्थात्, समता न्याय है, विषमता अन्याय।

इसी को प्राउढन दूसरे शब्दों में यों कहता है—"Recognition of equality between another's personality and our own, is justice"

उसने इस बात को सिद्ध किया है कि प्रकृति जनित जो गुण पशु में हैं, वे ही मनुष्य में भी; क्योंकि दोनों ही पशु हैं। हाँ, पशुओं में बालकों की तरह केवल समझ होती है, और मनुष्यों में ज्ञान। इसलिये यदि न्याय के भाव हममें हैं, तो पशुओं में भी हैं। अंतर इतना है कि हम विचार बाँध सकते हैं, कल्पना कर सकते हैं, और पशु नहीं। किंतु इतने अंतर के कारण प्रकृति नहीं बदल सकती। हममें और पशुओं में और भी समाज-संबंध के जो बड़े अंतर हैं, उन्हें आगे चलकर स्पष्ट करने की कोशिश की जायगी। यहाँ पहले हमें यह जान लेना होगा कि समाज, न्याय और समता समानार्थक शब्द हैं। शाश्वत न्याय या प्राकृत न्याय और सामाजिक न्याय में अंतर है। पहला असल मूल और मनुष्य जाति का पद-प्रदर्शक है, दूसरा नक़ली और समाज पर आधार रखनेवाला। एक का आधार निसर्ग है, दूसरे का समाज, या सामाजिक क़ानून का बर्ताव।

यदि कोई आदमी पानी में बह गया हो, और मरणासन्न हो, तथा दूसरा आदमी जंगल में नदी के किनारे-किनारे जाते हुए उसे देखे, तो उसका यह कर्तव्य होगा कि किसी-न-किसी तरह उसे बचावे। यदि वह उसके बचा लेने का प्रयत्न नहीं करता, तो उसे समाज दोषी ठहरावेगा। लोग निर्दय और हत्यारा तक कहेंगे। संभव है, क़ानून जान-बूझकर इस निर्दयता-पूर्ण असावधानी करने के कारण दंड का विधान भी करे। मान लीजिए, उक्त यात्री की नीतिमत्ता ने डूबते हुए पुरुष के बचाने का ध्यान दिलाया, और इसने उसको बचा लिया, तथा थोड़ी देर में यत्न करने से वह ठीक भी हो गया। अब उसे खाने की ज़रूरत है, तो क्या मुसाफ़िर के पास जो खाना है, उसमें से भी उस उद्धृत पुरुष को हिस्सा मिलेगा ? यदि पानी में डूबते हुए मनुष्य की जान बचाना कर्तव्य है, तो भूखे को भूख से मरने से बचाना—अपने खाने में हिस्सेदार बनाना—भी कर्तव्य ही है। संसार के सभी पदार्थों पर तो मनुष्य-मात्र का समान अधिकार है। जो समाज मनुष्य के जीते रहने के अधिकार की इस तरह पर रक्षा करता है कि आग में जलाकर, पानी में डूबकर मरने नहीं देता, वही समाज यदि भूख से मनुष्यों को मर जाने देता है, तो समाज के लक्षणों में व्याघात होता है। पर हम देखते हैं कि कोई सड़कों पर रात बितानेवालों को अपने घर का हिस्सेदार नहीं बनाता, बिना अन्न-वस्त्र के दुःख पानेवाले को अपने अन्न-वस्त्र में हिस्सा नहीं देता। क्यों ? समाज के प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य अबाधित, अप्रतिबंधित असीमा-बद्ध होता है।

पर नहीं, मनुष्य अपने भोग्य पदार्थ दूसरे को नहीं देना चाहता। उसे डर है कि कभी आपत्ति का समय आ जायगा, तो मैं क्या करूँगा ? इसलिये अपने लिये वह अलग ही पदार्थों का संचय करता है। इसी कारण मनुष्य लूट-खसोट, छल-छद्म, चोरी-डकैती करने लग जाते हैं। वे कभी-कभी हत्या भी कर डालते हैं। पशुगण में कर्तव्य का ख़याल नहीं होता; क्योंकि उनकी बुद्धि में पूर्वापर के विचार को जगह नहीं होती। उनकी समझ मनुष्य के ज्ञान के समान नहीं। उन्हें अपने कामों के भले-बुरे नतीजे को जानने योग्य समझ नहीं होती। आश्चर्य तो यह है कि ज्ञान भांडार मनुष्य पशुओं में सर्वश्रेष्ठ संग-प्रिय व समाज प्रेमी जंतु का ज्ञान भी उसे क़ानून उल्लंघन करने का रास्ता बतलावे। यदि मनुष्य का ज्ञान स्वार्थ-परता ही के लिये है तो अच्छा हो कि ऐसा ज्ञान—ऐसी बुद्धि—मनुष्यों में से सदा के लिये जाती रहे। ऐसी बुद्धि

एव ज्ञानवाले मनुष्यों से पशु बहुत अच्छे हैं, जो दूसरे का भला नहीं, तो बुरा भी नहीं सोचते।

पशुओं में यह झगड़ा नहीं कि यह संपत्ति मेरी है: यह अन्न, यह वस्त्र मेरा है; हम अकेले इसे खायेंगे, रख छोड़ेंगे, अथवा नष्ट कर डालेंगे. इस पर दूसरे का अधिकार नहीं हो सकता। हाँ, मिलकर काम करनेवाले साझीदार अपने-अपने भाग के हिस्सेदार होते हैं: क्योंकि वे अपने साझीदारों के समाज के लिये काम करते हैं। लेकिन किसी आदमी को, जिसे वेतन देकर रखते हैं, नफ़ा-नुक़सान में हिस्सा नहीं देते: क्योंकि उसे उस समाज में नहीं समझते; पर पशुओं से काम लेकर हम चाहे जितना माल पैदा करें, उन्हें सखा चारा डाल देते हैं, हिस्सा करके उनका हिस्सा उनके लिये नहीं देते। निसर्ग से हमारा सबका सामाजिक संबंध एक है। सच तो यह है कि संसार के मनुष्यों के सांपत्तिक संबंध इतने मिले-जुले हैं कि एक ही मनुष्य-समाज संसार में है। अलबत्ता थोड़े-से मालदार मालिक लोग, जो श्रम नहीं करते, अपने हक़ के ज़ोर से माल पैदा करते हैं, समाज के बाहर के लोग हैं। न वे अपनी संपत्ति में किसी को भाग देते हैं, न दूसरा उन्हें देता है। बिना पारस्परिक योग के मनुष्य-समाज का— सिवा धनियों के, जो स्वामी बनकर हिस्सा ले लेते हैं— काम ही नहीं चल सकता। इस तरह पर समता ही समाज के लिये अनिवार्य आवश्यकता है। बिना इसके न तो औद्योगिक काम चल सकते हैं, और न खेती-बारी तथा वाणिज्य-व्यापार। इसलिये समाज के विरुद्ध जाना न्याय के विरुद्ध जाना है, और न्याय के विरुद्ध जाना समाज के विरुद्ध, क्योंकि समाज के हित के लिये समाज ने जो अपने नियम बनाए हैं, वे ही क़ानून हैं, और समाज में समानता स्थापित करना ही न्याय है, विषमता अन्याय। इससे यह स्पष्ट है कि न्याय, समाज और समता समानार्थक हैं।

इस सिद्धांत पर विचार पूर्वक ध्यान देनेवालों को मालूम हो जायगा कि जो स्वामित्व का दावा करता है— कहता है कि यह धरती मेरी है, यह गाँव मेरा है, यह भांडागार मेरा है, इन पर दूसरों का कोई हक़ नहीं— वह समाज में विषमता फैलाता है, और विषमता अन्याय है, इसलिये वह अन्याय करता है। समाज में भेद पैदा करता है, इसलिये वह समाज द्रोही है। पर जो सब मनुष्यों के पास समान पदार्थ हों, तो अलबत्ता कोई हर्ज नहीं; क्योंकि समता स्थिर रहती है। हाँ, इस समता को क़ायम रखना चाहिए। जब मनुष्य बढ़ जायँ, तो उन लोगों को भी शामिल करके बराबर भाग बाँट लेना चाहिए*। संसार सबके लिये एक-समान बना है; प्रकृति का फल सबके लिये है। शाश्वत न्याय के विरुद्ध सामाजिक न्याय होना अनुचित है।

अब स्वतंत्रता पर थोड़ा विचार करना चाहिए। स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि बाह्य हस्तक्षेपों से रहित मनुष्य (जिसमें स्त्रियाँ और गरीब लोग भी शामिल हैं) अपने जीवन को बिना स्वयं कष्ट उठाए और दूसरों को कष्ट दिए इस संसार में बिता सकें। यह तभी हो सकता है, जब चोरी, डकैती, लूट-खसोट और मनुष्य-मनुष्य का भेद-भाव मिट जाय। सबको देश की धरती, आकाश, जल, वायु, आकरों से एक-समान लाभ उठाने का अवसर हो। उस देश को स्वतंत्र नहीं कह सकते, जिसके एक मुट्ठी-भर आदमी तो समस्त प्राकृत पदार्थों को अपनी ज़बरदस्ती से आत्मसात किए बैठे हों, और दूसरे अधिकांश देश-वासी अन्न-वस्त्र के लिये कष्ट पाते हों, बात-बात में अप्राकृत (ग़ैरक़ुदरती) क़ानून उनका गला घोंटता हो। केवल इसलिये कि हमको सतानेवाले हमारे ही देश के हैं, हम स्वतंत्र हैं, और यदि विदेशी हैं, तो हम परतंत्र हैं, यह भावना सर्वथा असंगत और अयौक्तिक है।

इससे यह सिद्ध होता है कि समता और स्वातंत्र्य का आधार न्याय ही है; और जब न्याय, समाज तथा समता समानार्थक शब्द हैं, तो सामाजिक स्वातंत्र्य भी इन्हीं के भाव का द्योतक है। जहाँ कहीं भी मनुष्य को पृथ्वी का पैदा किया हुआ पदार्थ खाने की स्वतंत्रता नहीं, वहाँ न्याय कहाँ? जब पहलेपहल मनुष्यों ने भू-माता की गोद में नेत्र खोले, तब क्या धरती का बखरा-बटवारा था? क्या लोग हिस्से-बाँट का पट्टा लेकर आए थे? यह सब भेद-भाव कल्पित और निर्मूल है कि यह धरती हमारी है, हम अमीर हैं, तुम भूमि-विहीन निर्धन गरीब हो। यह हक़ कब, कैसे और कहाँ पैदा होता है कि एक आदमी मीलों धरती का अधिकारी बन जाय, और

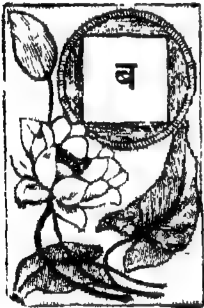
*यह्लना सिर्फ़ दलाल के लिये है, नहीं तो इसका प्रबंध 'कम्युनिज़्म' अच्छी तरह चलाता है। रूसी सोवियट सरकार इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

दूसरों के पास वह एक इंच भी न हो ? जिस देश में ऐसी अनैसर्गिक अवस्था और व्यवस्था देखी जाती है, उस देश के निवासियों को स्वतंत्र कहना स्वतंत्रता का अपमान करना है। इस संबंध में अधिक स्पष्ट विश्लेषण-पूर्वक विस्तृत रूप से कहने का यह स्थान नहीं है।

मैं समझता हूँ, इस छोटे-से लेख में इतना मसाला है, जो चतुर लोगों को इस बात के गंभीर विचार में डाल दे कि न्याय, नीति, समता और स्वातंत्र्य क्या हैं। एक बार जो व्यक्ति, जाति या समाज इस विचार में पड़ जायगा, वह निश्चय ही उचित सिद्धांत पर पहुँचे बिना न रहेगा।

राधामोहन गोकुलजी

राष्ट्रकूट और गाहड़वाल-वंश



बहुत-से प्राच्य और पाश्चात्य विद्वान दक्षिण के राष्ट्रकूटों और पांचाल-देश (कन्नौज) के गाहड़वालों को एक वंश का मानने में संकोच करते हैं, और अपने अनुमान की पुष्टि में निम्न-लिखित कारण उपस्थित करते हैं—

(१) राष्ट्रकूटों के लेखों में चंद्र-वंशी लिखा है, परंतु गाहड़वाल अपने को सूर्य-वंशी लिखते हैं।

(२) राष्ट्रकूटों का गौतम, तथा गाहड़वालों का काश्यप-गोत्र है।

(३) गाहड़वालों के लेखों में उनको राष्ट्रकूट न लिखकर गाहड़वाल ही लिखा है।

(४) राष्ट्रकूटों और गाहड़वालों के आपस में विवाह-संबंध होते थे।

(५) अन्य क्षत्रिय गाहड़वालों को उच्च वंश का नहीं मानते।

आगे क्रमशः इन शंकाओं पर विचार किया जाता है—

(१) राष्ट्रकूटों के विक्रम-सं० ६७१ के ताम्र-पत्र में ही पहलेपहल इनका चंद्र-वंशी यादव सात्यकि * के वंश में होना, लिखा है; परंतु विक्रम-संवत् १०५७ के यादव-राजा भिल्लम (द्वितीय) के ताम्र-पत्र से प्रकट होता है कि राष्ट्रकूटों और यादवों के आपस में विवाह-संबंध होते थे। यादव राजा सेउणचंद्र (द्वितीय) के वि० सं० ११२६ के ताम्र-पत्र से भी इसी बात की पुष्टि होती है। अतः हमारी सम्मति में ये राष्ट्रकूट-राजा वास्तव में सूर्य-वंशी ही थे; परंतु द्वारका के निकट रहने के कारण इन पर वैष्णव मत का विशेष प्रभाव पड़ गया। इसी से कालांतर में लोग इन्हें यदु-वंशी समझने लग गए। इसी प्रकार का एक और उदाहरण यहाँ पर दिया जाता है—

जिस समय गोहिलवंशी राजा लूनी-नदी पर के खेड़-नामक स्थान (मारवाड़) में राज्य करते थे, उस समय वे अपने को सूर्य-वंशी समझते थे; परंतु वि० सं० १३३० के बाद जब राठौर सीहाजी के पुत्र आसथानजी ने उनका राज्य छीन लिया, तो वे इधर-उधर घूमते हुए भावनगर में जा बसे। कुछ दिन बाद राष्ट्रकूटों की तरह इन पर भी वैष्णव मत का प्रभाव पड़ा। इससे उन्हीं सूर्य-वंशी गोहिलों के वंशज होने पर भी वहाँ के शासक आज अपने को चंद्र-वंशी समझते हैं।

यदि उपर्युक्त बातों को छोड़कर साधारण तौर से विचार किया जाय, तो भी यह सूर्य, चंद्र और अग्नि-वंश का झगड़ा पौराणिक कल्पना-मात्र ही प्रतीत होता है, क्योंकि एक ही वंश के लेखों में किसी में किसी को सूर्य-वंशी लिख दिया है, तो किसी में चंद्र या

* कुछ लोगों का अनुमान है कि जिस प्रकार कुंपावत, ऊदावत और जगमालोत नाम की शाखाएँ राठोरों और सीसोदियों के वंशों में मिलती हैं, उसी प्रकार संभव है, राष्ट्रकूट-वंश में भी कोई दूसरी यादव नाम की शाखा चल पड़ी हो। परंतु जिस तरह राठोरों और सीसोदियों के वंश की कुछ शाखाओं के नाम मिल जाने पर भी ये दोनों वंश बिलकुल भिन्न हैं, उसी तरह प्रसिद्ध चंद्र-वंशी यादव और यादव-शाखा के राठौर भी भिन्न ही हैं। इसके सिवा आजकल एक ही नाम की और भी अनेक ऐसी शाखाएँ प्रचलित हैं, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, आदि भिन्न भिन्न वर्णों तक में पाई जाती हैं। जैसे—नागदा, दाहिमा, सोनगरा, श्रीमाली, गौड़ आदि।

अग्नि-वंशी बना दिया है। आगे इस प्रकार के कुछ उदाहरण पाठकों के अवलोकनार्थ उद्धृत किए जाते हैं—

उदयपुर के वीर-शिरोमणि महाराणाओं का वंश जगत में सूर्य वंश के नाम से प्रसिद्ध है; परंतु वि० सं० १३३१ के चित्तौड़गढ़ के एक लेख में लिखा है

जीयादानन्दपूर्वं तदिह पुरमिलाखण्डसौन्दर्यशोभि
क्षोणीपृष्ठस्थमेव त्रिदशपुरमधः कुर्वदुच्चैः समृद्ध्या ।
यस्मादागत्य विप्रश्चतुरुदधिमहीवेदिनिक्षिप्तयूपो
बप्पाख्यो वीतरागश्चरणयुगमुपासीत हारीतराशेः ।

अर्थात् आनंदपुर से आकर बप्प-नामक ब्राह्मण ने हारीतराशि की सेवा की।

यही बात आबू के अचलेश्वर के मंदिर के पास के मठ से मिले वि० सं० १३४२ के समरसिंह के लेख से भी प्रकट होती है।

राणा कुंभा के समय में बने एकलिंग-माहात्म्य में लिखा है—

आनन्दपुरसमागतविप्रकुलानन्दनो महीदेवः
जयति श्रीगुहदत्तः प्रभवः श्रीगुहिलवंशस्य ।

अर्थात्—आनंदपुर से आए हुए ब्राह्मण-वंश का गुहदत्त गुहिल-वंश का संस्थापक हुआ।

जयदेव कवि रचित 'गीत गोविंद' पर राणा कुंभा की बनाई 'रसिकप्रिया' नाम की टीका है। इसके आदि में लिखा है—

श्रीवैजवापेन सगोत्रवर्यः श्रीबप्पनामा द्विजपुङ्गवोऽभूत् ।
हरप्रसादादुपलब्धराज्यः ... नृपोऽभवत् ।

अर्थात् वैजवाप गोत्र के ब्राह्मण बप्प को शिव के प्रसाद से राज्य मिला।

चाटसू (जयपुर-राज्य) से मिले हुए गुहिलोत बालादित्य के लेख में लिखा है—

ब्रह्मक्षत्रान्वितोऽस्मिन् समभवदसमे ×××

अर्थात्—(परशुराम के समान) ब्राह्म और क्षात्र तेजों को धारण करनेवाला (भर्तृभट-नामक राजा) इस वंश में हुआ (यहाँ पर कवि ने ब्रह्म-क्षत्र में श्लेष रखकर अर्थ को बड़ी खूबी से प्रकट किया है)।

ऊपर लिखे प्रमाणों से सिद्ध होता है कि इस प्रसिद्ध गुहिलोत-वंश का संस्थापक कोई वैजवाप-गोत्री नागर ब्राह्मण था। परंतु क्या कोई इस बात पर विश्वास करने को तैयार हो सकता है?

यही हाल सोलंकियों (चालुक्यों) के वंश का भी है। वि० सं० ११३३ के सोलंकी विक्रमादित्य (छठे) के लेख में लिखा है—

श्री स्वस्ति समस्तजगत्प्रसूतेर्भगवतो ब्रह्मणः पुत्रस्यात्रेर्नेत्रसमुत्पन्नस्य यामिनीकामिनीललामभूतस्य सोमस्यान्वये ××× श्रीमानस्ति चालुक्यवंशः।

अर्थात् चंद्र के वंश में चालुक्य-वंश हुआ।

यही बात इनकी दूसरी अनेक प्रशस्तियों से, हेमचंद्र रचित द्व्याश्रय-काव्य और जिनहर्षगणि-रचित वस्तुपाल-चरित से भी सिद्ध होती है।

वि० सं० ११०० के सोलंकी कुलोत्तुंगचोड़देव (द्वितीय) के ताम्र-पत्र में इनको चंद्र-वंशी, मानव्य-गोत्री एवं हारीति का वंशज लिखा है।

काश्मीरी पंडित बिल्हण ने अपने बनाए 'विक्रमांक-देव-चरित'-नामक काव्य में इस चालुक्य(सोलंकी)-वंश की उत्पत्ति ब्रह्मा के चुल्लू (अंजली) के जल से लिखी है, और इसका समर्थन वि० सं० १२०८ के सोलंकी कुमारपाल के समय के लेख, खंभात के कुंतनाथ के लेख तथा त्रिलोचनपाल के वि० सं० ११०७ के ताम्र-पत्र आदि से होता है।

हैहय(कलचुरी)-वंशी युवराजदेव (द्वितीय) के समय के बिलहारी (जबलपुर-ज़िले में) के लेख में इसी चालुक्य-वंश का द्रोण के चुल्लू से उत्पन्न होना लिखा है, परंतु पृथ्वीराज-रासो में सोलंकियों को अग्नि-वंशी लिखा है, इस समय स्वयं सोलंकी और बघेल * भी अपने पूर्वज चालुक्य का वशिष्ठ की अग्नि से उत्पन्न होना बतलाते हैं।

अब हम चौहान-वंश की उत्पत्ति पर विचार करते हैं—

वि० सं० १२२४ के, सर जेम्स टॉड को मिले हुए, हाँसी के क़िले के लेख में, और आबू-पर्वत पर के अचलेश्वर के मंदिर के, वि० सं० १३७७ के, देवड़ा (चौहान) राव लुंभा के लेख में चाहमान(चौहान)-वंश का चंद्र-वंशी और वत्स-गोत्री होना लिखा है एवं वीसलदेव (चतुर्थ) के समय के लेख से, नयचंद्र सूरि-रचित हम्मीर-महाकाव्य से और पृथ्वीराज विजय से इसे सूर्य-वंशी कहा गया है। परंतु पृथ्वीराज-रासो में चौहानों का अग्नि-वंशी होना लिखा

* सोलंकियों की एक शाखा।

है। आजकल के चौहान भी अपने पूर्वज का वशिष्ठ के अग्नि-कुंड से उत्पन्न होना मानते हैं।

आगे परमार-वंश की उत्पत्ति का कुछ विवरण देते हैं* —

पद्मगुप्त(परमल)-रचित नवसाहसांक-चरित में इस वंश की उत्पत्ति वशिष्ठ के अग्नि-कुंड से लिखी है, और इनके लेखों तथा धनपाल-रचित तिलक-मंजरी में भी इस बात की पुष्टि होती है। परंतु हलायुध ने अपनी पिंगल-सूत्रवृत्ति में एक श्लोक उद्धृत किया है। उसमें परमार-वंशी राजा मुंज को 'ब्रह्मक्षत्रकुलीन' कहा गया है। यह विचारणीय है।

आजकल मालवे की तरफ़ के परमार अपने को प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य का वंशज बतलाते हैं। परंतु इनके पूर्वजों के लेखादिकों से इस बात की पुष्टि नहीं होती।

इसी प्रकार प्रतिहार(पड़िहार)-वंश भी अछूता नहीं बचा। कहीं पर इस वंश को ब्राह्मण हरिश्चंद्र और क्षत्रियाणी भद्रा की संतान लिखा गया† है, तो कहीं पर इसे वशिष्ठ के अग्नि-कुंड से उत्पन्न हुआ माना गया है।

इन बातों पर विचार करने से अनुमान यह होता है कि इसी प्रकार राष्ट्रकूटों और गाहड़वालों के वंश में भी गड़बड़ की गई हो, तो कुछ आश्चर्य नहीं। यह सब झमेला संभवतः पुराणों की कथाओं के अनुकरण से उत्पन्न हुआ है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से यह विशेष महत्त्व का नहीं।

(२) विज्ञानेश्वर ने लिखा है कि राजपूतों का गोत्र उनके पुरोहित के गोत्रानुसार ही होता है। इससे ज्ञात होता है कि विक्रम की १२वीं शताब्दी के आसपास क्षत्रियों का गोत्र उनके पुरोहित के गोत्र के अनुसार ही समझा जाता था। अतः संभव है, कन्नौज की तरफ़ आने पर राष्ट्रकूटों के पुराने पुरोहित छूट गए हों, उन्होंने दूसरे पुरोहित बना लिए हों, और इसी से उनका गोत्र बदलकर गौतम के स्थान में काश्यप हो गया हो। यह भी संभव है कि पहले ये लोग काश्यप-गोत्री ही रहे हों, और मारवाड़ में आने पर पुरोहित के बदल जाने से इन्होंने गौतम-गोत्र धारण कर लिया हो।

राजों के लेखों में बहुधा उनके गोत्र का उल्लेख नहीं होता। अतः संभव है, कालांतर में पुराना गोत्र भूल जाने से ही इन्होंने काश्यप-गोत्र अंगीकार कर लिया हो, जैसा अनेक स्थानों में देखने में आता है। ऐसी हालत में चिरकाल से एक समझे जानेवाले राष्ट्रकूट और गाहड़वाल वंश को केवल गोत्र के आधार पर एक दूसरे से भिन्न समझना उचित नहीं प्रतीत होता।

(३) प्रतिहार बाउक का एक लेख जोधपुर से मिला है। उसमें लिखा है-

> श्रीमान् [illegible] देवराज [illegible] यो वल्लमण्डलपालकम्
> निपात्य तत्क्षणं भूमौ प्राप्तवान् छत्रचिह्नकम् ॥ १९ ॥

अर्थात् —जिसने वल्लमंडल के भाटी राजा देवराज को मारकर छत्र पाया।

तथा —

> [illegible] श्री [illegible] निशायां [illegible] तदस्मात् कक्कभूपतेः
> भाटिवंश्या महाराज्ञ्यां जातः श्रीबाउकः सुतः ॥ [illegible]६ ॥

अर्थात् —प्रतिहार राजा कक्क के भाटी-वंश की रानी से बाउक नाम का पुत्र हुआ।

इस लेख में प्रसिद्ध यादव-वंश का उल्लेख न करके उसकी भाटी-नामक शाखा का ही उल्लेख किया गया है। अतः क्या इससे यह समझ लेना चाहिए कि भाटी लोग यादवों से भिन्न वंश के हैं? यदि नहीं, तो फिर क्या कारण है कि युवराज गोविंदचंद्र के लेखों में राष्ट्रकूट-वंश के स्थान पर गाहड़वाल*-वंश का उल्लेख होने से ही राष्ट्रकूट और गाहड़वाल-वंश को भिन्न माना जाय? इसके अलावा

* चौहानों और परमारों का प्रामाणिक इतिहास हमारे 'भारत के प्राचीन राज-वंश'-नामक ग्रंथ के पहले भाग में दिया हुआ है।

† विप्र-श्रीहरिचन्द्राख्य पत्नी भद्रा च क्षत्रिया :
तां भ्यान्तु [ये सुता] जाता [प्रतिहा]राश्च तान्विदु ॥ ५ ॥
(प्रतिहार बाउक का लेख)

* चंदेल-वंशी राजाओं के लेखों में उनको अत्रि के पुत्र चंद्र का वंशज मानकर चंद्रात्रेय लिखा है। पृथ्वीराज रासो में इनकी उत्पत्ति गाहड़वाल-नरेश इंद्रजित के पुरोहित हेमराज की विधवा कन्या हेमवती के गर्भ से चंद्रमा द्वारा लिखी है। परंतु चंदेल अपने को राष्ट्रकूटों का वंशज बतलाते हैं। इनका राज्य बुंदेलखंड में और उसके आसपास था।

इसी प्रकार बुंदेले भी गाहड़वालों के वंशज माने जाते हैं। परंतु आजकल कारण-विशेष से अन्य क्षत्रिय वंश उन्हें अपनी बराबरी का नहीं समझते। इन बुंदेलों में पीछे से कुछ परमार, चौहान आदि भी मिल गए हैं।

आजकल भी चौहानों* की देवड़ा आदि और गुहिलोतों की सीसोदिया आदि शाखाओं के लोग चौहान या गुहिलोत के नाम से अपना परिचय न देकर देवड़ा या सीसोदिया आदि शाखाओं के नामों से ही देते हैं, और प्रसिद्ध हैहय-वंशी नरेशों का चलाया संवत उनकी कलचुरी-शाखा के नाम पर ही कलचुरि-संवत कहलाता है।

(४) महाराजाधिराज गोविंदचंद्र की रानी कुमारदेवी का एक लेख सारनाथ में मिला है। इससे ज्ञात होता है कि महण की नवासी इस कुमारदेवी से गाहड़वाल राजा गोविंदचंद्र का विवाह हुआ था। संध्याकर नंदी-रचित राम-चरित में इस महण (मथन) को राष्ट्रकूट-वंशी लिखा है। संभव है, यह संबंध कारण वश भूल से हुआ हो, अथवा संध्याकर के लिखने में ही गलती हुई हो; क्योंकि न तो उक्त लेख में महण के वंश का उल्लेख है, और न अन्य कोई ऐसा संबंध ही अब तक देखने में आया है। इसके सिवा बदायूँ में लखन-पाल के समय का एक लेख मिला है। अक्षरों को देखने से यह विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का प्रतीत होता है। इसमें मदनपाल द्वारा मुसलमानों के आक्रमण रोकने का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि यह घटना जयचंद्र की मृत्यु के पहले की ही होगी। इसमें लिखा है -

प्रख्याताखिलराष्ट्रकूटकुलजक्ष्मापालदोःपालिता
पांचालाभिधदेशभूषणकरी वोदामयूतापुरी।

अर्थात्—तमाम राष्ट्रकूट-वंशी राजों से रक्षित पांचाल देश को सुशोभित करनेवाली बदायूँ नामक नगरी।

यहाँ पर एक तो अखिल (तमाम) शब्द का प्रयोग करने से अनुमान होता है कि उस समय राष्ट्रकूट-वंश की अनेक शाखाओं का राज्य पांचाल-देश (कन्नौज और उसके आसपास के प्रदेश) पर था, अर्थात् उस समय कन्नौज पर राज्य करनेवाले गाहड़वाल भी राष्ट्रकूटों की ही एक शाखा समझे जाते थे। दूसरे, उक्त लेख में सबसे पहले नाम चंद्र और फिर उसके पुत्र का नाम विग्रहपाल दिया हुआ है। इसी प्रकार जयचंद्र के पुत्र हरिश्चंद्र के वि० सं० १२५३ के लेख में भी सबसे पहला नाम चंद्र और उसके पुत्र का नाम मदनपाल लिखा है, तथा इन दोनों लेखों में चंद्र को ही पहलेपहल पांचाल-देश का जीतनेवाला माना है। इससे भी ज्ञात होता है कि दोनों लेखों का चंद्र एक ही था। उसके बाद उसका बड़ा पुत्र मदनपाल तो कन्नौज का राजा हुआ, और छोटे पुत्र विग्रहपाल को बदायूँ की जागीर मिली। क्या इससे सिद्ध नहीं होता कि बदायूँ के राष्ट्रकूट और कन्नौज के गाहड़वाल एक ही वंश के थे?

वि० सं० ११०७ (श० सं० ९७२=ई० स० १०५१) का लाट-देश के सोलंकी त्रिलोचनपाल का एक ताम्र-पत्र मिला है। उसमें लिखा है—

कान्यकुब्जे महाराज राष्ट्रकूटस्य कन्यकाम् ;
लब्ध्वा सुखाय तस्यां त्वं चौलुक्याप्नुहि सन्ततिम् ॥६॥

अर्थात्—हे चौलुक्य, तू कन्नौज के राष्ट्रकूट राजा की कन्या से विवाह कर संतान प्राप्त कर।

इससे भी सिद्ध होता है कि कन्नौज के गाहड़वाल राष्ट्रकूटों की ही एक शाखा समझे जाते थे; क्योंकि अन्य किसी राठौर-वंश का वहाँ पर राज्य करना नहीं पाया जाता। अतः निश्चय ही पहले लिखे विवाह-संबंध में कुछ-न-कुछ भूल अवश्य हुई होगी।

(५) युवराज गोविंदचंद्र का वि० सं० ११६६ का एक लेख मिला है। उसमें लिखा है—

याते सूर्यसोमोद्भवविदितमहाक्षत्रवंशद्वयेऽस्मिन् ,
उत्सन्नप्रायवेदध्वनिनगदोऽलं मन्यमाने स्वयम्भूः।
... देहग्रहाय प्रवणमिह मनः ...
... वर्मसाम्राज्यलक्ष्मीविशदयश ...
वंशे ... गाहड़वालनाम्नि ;
... चन्द्रदेवो नृपः।

अर्थात्—सूर्य और चंद्र-वंशी राजों के नष्ट हो जाने पर जब संसार से वैदिक धर्म का लोप होने लगा, तब इन सबका उद्धार करने के लिये स्वयं ब्रह्मा ने इस वंश में चंद्रदेव राजा के नाम से अवतार लिया।

इससे सिद्ध होता है कि उस समय गाहड़वाल-वंश बड़ी ही श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था।

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि होरनले, स्मिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों और उनके अनुगामी अनेक प्राच्य विद्वानों की की हुई राष्ट्रकूटों और गाहड़वालों के संबंध की कल्पनाएँ निस्सार ही हैं।

* चौहान-वंशज होने पर भी कोटा नरेश उक्त वंश की हाड़ा-शाखा के नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

वि० सं० की बारहवीं शताब्दी में काश्मीरी पंडित कल्हण ने राजतरंगिणी-नामक काश्मीर का इतिहास लिखा था। उसके सातवें तरंग में लिखा है —

प्रख्यापयन्तः सम्भूतिं षट्त्रिंशतिकुलेषु ये ;
तेजस्विनो भास्वतोऽपि सहन्ते नार्के स्थितिम् ।

इससे प्रकट होता है कि उस समय क्षत्रियों के ३६ प्रसिद्ध वंश माने जाते थे। परंतु कुमारपाल-चरित और पृथ्वीराज-रासो आदि में उल्लिखित ३६ वंशों में गाहड़-वालों का नाम नहीं दिया है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि उस समय ये राष्ट्रकूटों के अंतर्गत ही समझे जाते थे। इसी से इनका अलग उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

इन्हीं राष्ट्रकूटों और गाहड़वाल नरेशों का विक्रम की सातवीं शताब्दी से लेकर आज तक का प्रामाणिक इतिहास हमने प्रकाशित करना आरंभ कर दिया है। यह हमारे 'भारत के प्राचीन राज-वंश'-नामक प्रसिद्ध इतिहास का तीसरा भाग होगा। पूर्व के दो भागों के समान यह भी शिला-लेखों, ताम्र-पत्रों, प्राचीन सिक्कों, संस्कृत-पुस्तकों, फ़ारसी तवारीख़ों और भाषा की हस्त-लिखित ख्यातों के आधार पर लिखा गया है। यह करीब ३५० पृष्ठों का होगा, और इसमें अनेक चित्र तथा नक़्शे भी रहेंगे।

विश्वेश्वरनाथ रेउ

कारागार

यही—हाँ—यह है कारागार,
पुण्य कर्मों का पारावार।
यही मेरे मंदिर का द्वार :
यहीं बहती यमुना की धार।
यहीं से मुरली की मृदु तान,
छिड़ी थी वृंदावन में आन ;
कान्ह का वंशीवट, रज-खान :
यही व्रज-बालाओं का मान।
यही कुंजों का मंजु विहार :
यही गोकुल की दीन पुकार।
यहीं होगा मघवा-मद क्षार :
तान लूँगा छिगुनी पर भार।
महाभारत का लीला-क्षेत्र,
यहीं होगा गीता का गान।
हाथ में लूँगा किंतु न अस्त्र :
विजय का मूल-मंत्र दृढ़ ठान।
धर्म की ध्वजा उड़ेगी यहीं ;
हँसेगा मोह-पाश, बन कर्म।
छिड़ेगी फिर स्वतन्त्रता-तान :
यही मेरे जीवन का मर्म।
पाप की सत्ता का कर नाश,
हरूँगा भू-मंडल का भार।
ताप से तप्त, कांति से दीप्त,
प्रकट होगा विजयी सुकुमार।
कर्म का उदय हो चुका, उठो,
चलो, वसुदेव-देवकी, आज।
तुम्हीं से मैं लेकर अवतार,
बचाऊँगा कृष्णा की लाज।
गगन फट गया—गूँजती गिरा—
बुलाती मुझको आर्त-पुकार।
कंस! रे क्रूर! भेज दे उन्हें,
और ले खोल मुक्ति का द्वार।

मातादीन शुक्ल

प्रेम-तत्त्व और देव



कुछ दिन हुए, 'शृंगार रस' पर हमने एक निबंध लिखा था ; उसमें यह प्रतिपादित किया था कि चूँकि शृंगार की स्थायी रति अन्य रसों की स्थायियों से बढ़कर है, इसलिये नव रसों में शृंगार ही श्रेष्ठ है। उस निबंध में प्रेम की व्याख्या कुछ विस्तार के साथ की थी, और वह विषय-सुख का पर्याय-मात्र नहीं माना गया था। हमारे इस निबंध को कई पत्र-पत्रिकाओं ने उद्धृत किया, और कई विद्वानों ने उस

पर अपने विचार भी प्रकट किए। एक सज्जन को इस बात पर बड़ा आश्चर्य हुआ कि हम शृंगार के स्थायी भाव प्रेम को विषय-सुख का पर्याय नहीं मानते। यद्यपि उन्होंने हमारे इस विचार की सराहना की, परंतु साथ ही यह भी प्रकट किया कि हिंदी के पुराने कवि तो वस्तुतः विषय-सुख को ही प्रेम मानते आए हैं—विषय-सुख से इतर प्रेम का ज्ञान कम-से-कम हिंदी के शृंगारी कवियों को न था। उन्होंने यह भी लिखा है कि प्रेम के इस ऊँचे आदर्श को दिखलाकर शृंगार-रस की महत्ता दिखलाने का उद्योग पहले-पहल हमीं ने किया है। उक्त लेखक महोदय के विचारों के लिये हम उनके परम कृतज्ञ हैं। उनकी लिखी बहुतेरी बातों पर हम और कभी लिखेंगे, आज केवल प्रेम और विषय-सुख पर ही विचार करते हैं।

हिंदी की शृंगार-रस की कविता का स्थायी भाव प्रेम विषय-सुख मात्र का पर्याय नहीं है, यह बात पहले-पहल हमीं ने नहीं कही है, वरन् यह बहुत पहले से प्रचलित थी। हम यह बात मानने के लिये तैयार हैं कि प्रेम का वर्णन करते समय हिंदी के कवियों ने प्रायः विषय-सुख को ही प्रधानता दे डाली है; पर किसी कवि ने सिद्धांततः एक-मात्र विषय-सुख को ही प्रेम मान लिया हो, यह स्वीकार करने में हमें संकोच है। प्रत्येक धर्म के मूल-सिद्धांत बहुत ही ऊँचे और भव्य हैं; परंतु देखने में यह आता है कि उन धर्मों के अनुयायी अपने आचरणों से प्रायः उन्हीं सिद्धांतों की अवहेलना करते पाए जाते हैं। तो क्या हम अनुयायियों के आचरण-मात्र को देखकर सिद्धांतों की हीनता स्वयं-सिद्ध मान लें? असहयोग के मूल-सिद्धांत निर्दोष, ऊँचे, उदार और प्रेममय हैं; पर अधिकांश असहयोगियों ने अपने आचरण द्वारा विपरीत दशा का भी परिचय दिया है। तो क्या इससे सिद्धांतों की महत्ता नष्ट हो सकती है? यदि हिंदी के शृंगारी कवियों ने प्रेम की यथार्थ मूर्ति का चित्रण नहीं किया, तो इससे प्रेम-तत्त्व का महत्त्व कम नहीं हो सकता।

पर क्या यह बात सत्य है कि हिंदी के कवि यथार्थ में प्रेम और विषय-सुख के भेद को नहीं जानते थे? हमारा नम्र, किंतु निश्चित दृढ़ उत्तर यह है कि वे इस भेद को अवश्य जानते थे। उन्होंने सच्चे प्रेम का वर्णन भी किया है; परंतु उन्होंने परिस्थिति में पड़कर प्रेम के साथ-साथ विषय-सुख को प्रधानता अवश्य दे डाली है।

देव हिंदी में शृंगार-प्रधान कवि हैं। कई सज्जन आजकल उनके विरुद्ध बहुत कुछ लिख रहे हैं। एक ने तो उन्हें महाअश्लील बकनेवाला और समाज-संहारक तक कहा है। किंतु हमें यहाँ इन सज्जनों की इन सम्मतियों पर विचार नहीं करना। इस बात के निर्देश-मात्र से हमारा अभिप्राय केवल यह है कि देव विषय-सुख के संबंध में भी कविता करते थे। अच्छा तो आइए, देखिए, इसने विषय-सुख और प्रेम को एक माना है, या पृथक्?

इस भेद की परीक्षा करने के लिये पहले यह देखना चाहिए कि देव शृंगार की सत्ता कहाँ तक स्वीकार करते हैं। वह कहते हैं—

> तब ही लौं सिंगार-रसु, जब लगि दंपति-प्रेम ;
> मलिन होत रस प्रेम बिन ज्यों कलई को हेम।

इस दोहे में यह बात स्पष्ट झलकती है कि इस कवि की राय में शृंगार की सत्ता दांपत्य प्रेम में ही है। इस बात को वह आगे और भी स्पष्ट कर देता है—

पात्र मख्य शृंगार को, शुद्ध स्वकीया नारि।

फिर स्वकीयाओं में भी मुग्धा की तन्मयता और अनन्य गति का कवि बड़ा प्रशंसक है। वह कहता है—

गति अनन्य मुग्धानि में, तनमयता नित होति ;
अंधकार जरि जात उर, प्रेम-दीप की जोति।

अब प्रेम के प्रभाव को और भी सुनिए—

प्रेम-पियूष-पयोधि में, मिलत बिमल, निरद्वंद ;
न्यारो होत न एक है, ज्यों जल तें जल-बुंद।

शृंगार-रस की सत्ता के लिये प्रेम की नितांत आवश्यकता है। अब यह बात भी देखिए—

रसनि-सार सिंगार-रस, प्रेम-सार सिंगार ;
बिना प्रेम दंपति बिपति, रुपाति-छल दुख-भार।

अच्छा, तो अब देव का यह स्पष्ट मत मालूम हो गया कि शृंगार की सार-वस्तु प्रेम है। पर कवि प्रेम के विषय में इतना ही कहकर चुप नहीं हो जाता। उसकी राय है—

ऐसे ही बिन प्रेम-रस, नीरस रस-सिंगार
प्रेम बिना सिंगार है, सकल रसायन सार।

अर्थात् यदि प्रेम न रहे, तो शृंगार रस ही नहीं रह जाता, नीरस हो जाता है। पर शृंगार न हो, तो भी प्रेम की सारवत्ता और शक्तिमत्ता बनी रहती है। आइए, अब इस प्रेम की कुछ बात और सुनिए—

छेम, छिमा, छिति प्रेम की, हेम भरे तेहि माखि ;
छियो, सियो, थोयो, पियो, अग-सग-अभिलाखि।

यहाँ तक तो कवि की जो बातें देखने को मिलीं, उनसे केवल यह जान पड़ा कि वह शृंगार-रस को विशुद्ध दांपत्य प्रेम पर अवलंबित मानता है। पर इससे यह बात कैसे प्रतिपादित मानी जाय कि यह प्रेम विषय-सुख का पर्याय-मात्र नहीं, बल्कि उससे ऊँचा है। इसके लिये देखिए—

दंपति सुख संपति सजत, तजत विषय-विष-भूख ;
देव सुकबि जीवत सदा, पीवत प्रेम-पियूष।

ऊपर देव ने बिलकुल स्पष्ट कर दिया कि प्रेम-पीयूष पीनेवाले दंपति विषय-विष की भूख को छोड़ करके ही सुख-संपत्ति में शोभा पाते हैं। इस बात को और भी स्पष्ट रूप में लीजिए—

यह बिचार प्रेमीन को, विषयी जन को नाहिं ;
बिषय-बिकाने जनन को, प्रेमी छ्वत न छाँह।

हमारी राय में विषय-सुख और प्रेम का पार्थक्य यहाँ पर कवि ने बहुत स्पष्ट करके दिखा दिया है। निश्चय ही वह विषय-सुख और प्रेम को पृथक् मानता था। यहाँ शंका की जा सकती है—मान लिया, वह विषय-सुख और प्रेम के भेद को जानता था ; पर इससे यह कैसे मान लिया जाय कि वह विषय-सुख को बुरा समझता था? हमारी राय में जब कवि 'विषय' को विष से उपमा देता है, तो वह उसे अवश्य ही बुरा मानता है। पर यदि इतने से संतोष न हो, तो हम कवि के और भी कई स्पष्ट कथन दिखलावेंगे—

(१) आसाबिष व्यापी विषम, विषय विष-महारूप।
(२) बिषयी जन ज्यालन बिषय, देखे बिष न पियूष।

ऊपर हमने जो कई उदाहरण दिए, उनसे यह बात स्पष्ट है कि कवि देव विषय-सुख को प्रेम से पृथक् मानते थे, तथा प्रेम के प्रशंसक और विषय-सुख के निंदक भी थे। यह होने पर भी हम इस बात से एक क्षण के लिये भी इनकार नहीं करते कि देव ने विषय-सुख का वर्णन नहीं किया। किया, और खूब किया है। इस भेद को स्पष्ट जानते हुए भी वह अपने मन को एक-मात्र प्रेम-वर्णन में ही संलग्न न रख सके। इसका उनको स्वयं खेद था, और इसीलिये नीचे लिखे छंद में उन्होंने अपने मन को खासी फटकार भी बतलाई है—

ऐसो जु हौं जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
ए रे मन मेरे, हाथ-पाँय तेरे तोरतो ।
आजु लौं हौं कत नर नाहन की 'नाहीं' सुनि,
नेह सों निहोरि, हेरि बदन निहारतो ।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक चितावनीन मारि मुँह मोरतो ;
भारो प्रेम-पाथर, नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधावर बिरद के बारिधि में बोरतो ।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि हिंदी के शृंगारी कवि बहुत समय से विषय-सुख और प्रेम का भेद जानते थे। यह भी प्रकट है कि वे विषय-सुख को अच्छा नहीं समझते थे। तो भी परिस्थिति के फेर में पड़कर उन्होंने शृंगार में विषय-सुख का वर्णन किया। पर इससे शृंगार के स्थायी प्रेम की महत्ता में कमी नहीं आ सकती। उसका ऊँचा आदर्श ज्यों-का-त्यों बना है, और वह शेष नव रसों में शृंगार की श्रेष्ठता की घोषणा करता रहता है। जो लोग प्रेम को विशेष व्यापक रूप देकर शृंगार को उसका एक अंग बनाना चाहते हैं, उन्हें जान लेना चाहिए कि इस प्रेम रस की व्यापकता को देव ने बहुत पहले देख लिया था। तभी तो उन्होंने कहा है—

प्रेम, बिना सिंगार ह्वै सकल रसायन-सार ।

तथा—

प्रेम हो बिन प्रेम रस, नाहिन रस सिंगार ।

विषय-सुख तथा प्रेम के पार्थक्य और हिंदी-कवियों के तद्विषयक ज्ञान के संबंध में इतना लिख चुकने के बाद अब हम विषय-सुख और प्रेम की उस सीमा को भी जानना चाहते हैं, जिसके जाने बिना यह कहा ही नहीं जा सकता कि यह शुद्ध प्रेम है, और यह केवल विषय-सुख। क्या विषय-सुख का भोग करनेवाले प्रेमी नहीं होते? हमारी राय में विषय-सुख में संलग्न होते हुए भी बहुत-से लोग सच्चे प्रेमी होते हैं, तथैव बहुत-से लोग विषय-सुख में तो लगे रहते हैं, पर प्रेम की उन पर परछाहीं भी नहीं पड़ती। प्रेम के लिये विषय-सुख आवश्यक नहीं। ऐसे बहुत-से प्रेमी हो सकते हैं, जो विषय के निकट भी नहीं जाते। पर विषय-सुख तभी प्रशंसनीय हो सकता है, जब वह प्रेम-पूर्ण हो, अन्यथा वह पशु-वृत्ति है। प्रेम-पूर्ण विषय-सुख में स्वकीया का वर्णन आता है। ऐसे वर्णन शृंगार-रस की महत्ता को नष्ट नहीं कर सकते। हाँ, परकीया और गणिका के वर्णन अवश्य ही शुद्ध शृंगार का मस्तक झुकानेवाले हैं। हम 'माधुरी' के आगामी अंक से देव कवि के 'स्वकीया-वर्णन' को लेकर एक लेख-माला लिखेंगे। उसमें प्रेम और विषय-सुख पर कुछ विस्तार के साथ विचार करेंगे। इस निबंध में हमें केवल इतना ही दिखाना था कि प्राचीन समय के हिंदी-कवि विषय-सुख को बुरा और प्रेम से पृथक् समझते थे।

कृष्णबिहारी मिश्र

भाग्य की मशीन

(१)



एक बार मैंने स्वामीजी से पूछा—महाराज, भाग्य को छोटा-बड़ा करने की भी कोई मशीन है? स्वामीजी ने कहा—वत्स, पौराणिक काल में इस वैज्ञानिक युग की-सी किसी मशीन का आविष्कार नहीं हुआ था। सृष्टि-रचना के समय ब्रह्मा ने मुझे इस विषय में कुछ भी नहीं बतलाया। मैं चट कह उठा—तो महाप्रभो, क्या इस नवीन युग का ब्रह्मा कोई दूसरा है? वह भौंहें चढ़ाकर बोले—रे दुर्मुख, तू विश्व-बृहन्नाटकालय के सूत्रधार, आदि-देव ब्रह्मा का अपमान करता है! तू पाखंडी एवं नास्तिक हो गया देख पड़ता है। अब तुझसे सृष्टि के कल्याण की आशा करना व्यर्थ है।

मैंने भय से काँपते हुए जड़ित कंठ से कहा—कल्याण-मूर्ते ! मैं आर्य होकर आपकी शरण आया हूँ, वाद-विवाद करने नहीं। मेरे हृदय में जो संदेह उत्पन्न हुआ है, उसे आप-जैसे उच्चाशय महात्मा के सिवा और कौन दूर कर सकता है ?

उन्होंने कहा—ईश्वर के विषय में संदेह करना मूर्खता का काम है।

मैंने हाथ जोड़कर कहा—सत्य-रूप, भाग्य पर मेरा ऐसा अटल विश्वास हो गया है कि उसके आगे मुझे संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति भी तुच्छ जान पड़ने लगी है।

स्वामीजी बोले—वत्स, भाग्य का भरोसा करना ही अकर्मण्यता है। सच पूछो, तो पुरुषार्थ ही भाग्य फेरने की कुंजी है। इसी मशीन से उसे छोटा-बड़ा कर सकते हो।

मैंने कहा—मुझे बतलाइए, राजा नृग ने ऐसी कौन-सी भूल की थी, जिसके कारण उन्हें गिरगिट बनना पड़ा, और पुरुषार्थ कुछ भी काम न आया ?

स्वामीजी की क्रोधाग्नि भभक उठी। उन्होंने मेरा कान मलकर कहा—तू छोटे मुँह बड़ी बात करता है ! राजा नृग को ब्राह्मण के शाप से गिरगिट होना पड़ा था।

मैंने चरण पकड़कर कहा—भगवन्, उस समय के ब्राह्मण तो आजकल के ब्राह्मणों-सरीखे क्रोध-परवश न थे। क्षमा ब्राह्मण का मुख्य गुण है, और उसके रहने ही से ब्राह्मणत्व की शोभा है। क्रोध से तप और तेज नष्ट हो जाते हैं। श्रीरामचंद्रजी महाराज के राज्य में शासन ब्राह्मणों के हाथ में था। इससे ज्ञात होता है, उससे पूर्व, सत्ययुग में, अवश्य ही ब्राह्मण दोषादोष-निरूपण की क्षमता रखते थे। अतः क्रोध को ब्राह्मण के शाप का कारण न मानने से इन सभी बातों का हल करना कठिन हो जायगा।

स्वामीजी ने खीझकर कहा—ब्राह्मण के शाप का कारण क्रोध माना जा सकता है; किंतु उससे राजा नृग की निर्दोषता नहीं प्रमाणित होती। पूर्व के किसी संस्कार के कारण, दैव की प्रेरणा से, ऐसा हुआ होगा—इस धारणा को निर्मूल भूल सिद्ध करने के लिये तेरे पास क्या प्रमाण है ?

मैंने कहा—वेदमूर्ते, मुझमें आपकी युक्तियाँ काटने की क्षमता कहाँ ? मैं तो आपका अनुगामी हूँ। आपके बतलाए मार्ग पर चल रहा हूँ। किंतु अंधेर यही है कि पाप में नाक तक सने हुए बड़े लालाजी एक बूढ़ी सड़ी-सी गऊ देकर सदा के लिये स्वर्ग के अधिकारी हो गए, और बेचारा राजा नृग लक्ष गउएँ नित्य देकर भी उस अँधेरे कूप-रूपी कारागृह की यंत्रणा से मुक्त न हो पाया ! मेरी तुच्छ बुद्धि में तो यही आता है कि लालाजी के पास अवश्य ही कोई भाग्य फेरने की मशीन थी।

स्वामीजी ने एक चपत जड़कर मुझसे कहा—यह सब पाखंड है। मनुष्य और देवता, सभी कर्म-सूत्र में बँधे हुए हैं। सबको किए कर्मों का फल भोगना पड़ता है। पाप-पुण्य के उदय और विलय का अनुसंधान तू क्योंकर कर सकता है ?

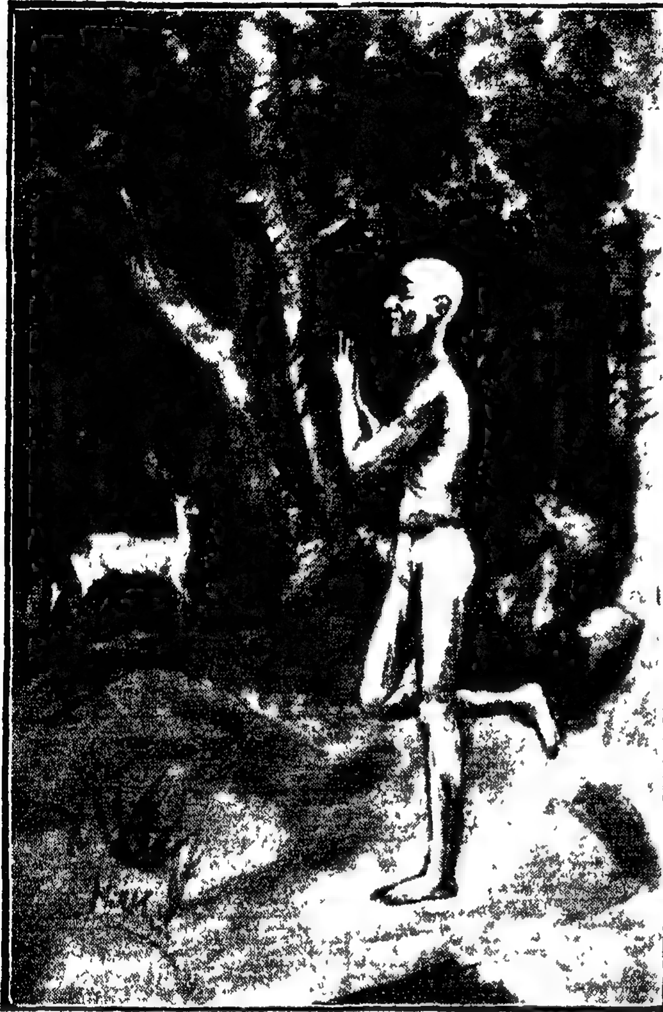
मैंने विनीत भाव से कहा—महाराज, इस जन्मांतर रहस्य को आप ही जानें। आप त्रिकाल-दर्शी हैं। मैं अज्ञात संसारी हूँ। आपकी बातें बिना किसी तर्क के मानने के लिये उद्यत हूँ। किंतु यदि देव, दानव, नाग, नर, गंधर्व, सभी एक ही न्याय के सूत्र में बँधे हैं, तो यह बतलाइए कि अश्वमेध-यज्ञ से घोड़ा चुरा ले जाने में इंद्र का दोष था, या यज्ञ करनेवाले का ? ऐसा निद्य कर्म करने पर इंद्र तो अपने आसन से च्युत नहीं होता था, किंतु वह बेचारा, जो इंद्रासन पाने के लिये इतना कठिन परिश्रम करता था, अपने साधन से च्युत हो जाता था ! इंद्र को इस गुप्त चोरी के लिये कोई दंड नहीं दिया जाता था।

अब की बार मेरे पागलपन पर स्वामीजी ने ज़ोर से हँस दिया, और बोले—वत्स, घोड़ा चुराने से इंद्र ही की करनी बिगड़ती थी, यज्ञ करनेवाले की नहीं। इसका मर्म जानना चाहो, तो इंद्र की तपस्या करो। उनका साक्षात्कार होने पर तुम्हें इसका उत्तर मिल जायगा।

मैं 'तथास्तु' कहकर पागल की तरह एक ओर चल दिया।

(२)

मैं इंद्रदेव को प्रसन्न करने के लिये तपस्या करने लगा। अन्न का त्याग किया, वन में उत्पन्न हुए कंद-मूलों से जठर-ज्वाला शांत करने लगा। वल्कल की छोटी-सी लँगोटी लगा, पौष-माघ के कड़े शीत में वृक्ष के नीचे बैठकर, इंद्र-भगवान् का ध्यान करता था। वन के पशु-



वल्कल की छोटी-सी लँगोटी लगा, पौष-माघ के कड़े शीत मे वृक्ष के नीचे बैठकर, इंद्र भगवान् का ध्यान करता था।

मधुर कूक मेरा ध्यान-भंग कर देती थी। किंतु उसके चले जाने पर मैं पुनः उन्हीं उपास्य-देव के ध्यान में मग्न हो जाता था। पत्तों पर पड़े हुए ओस के कण जब सूर्य की किरणों में मोती-से चमकते, तो उनमें उन्हीं आराध्य-देव की ओजोमयी मूर्ति देखने का प्रयत्न करता था; किंतु वह मुझसे बहुत दूर रहते थे। वर्षा के काले काले मेघों को देख मुझे उनके केशों का स्मरण हो आता था; पर मैं कवि-पुंगव कालिदास की तरह वाक्-सिद्ध न था, श्रीकाली और सरस्वती की वैसी सहानुभूति मैंने प्राप्त नहीं की थी। फिर भी, गला फाड़कर, उच्च स्वर से, उन(मेघों)के द्वारा उपास्य-देव के निकट अपना प्रेम-संवाद भेजने का प्रयत्न करता था। मेरे प्यारे दूत, संवाद-वाहक मेघ, जब धरित्रीदेवी का उत्ताप दूर करने के लिये नन्ही-नन्ही बूँदों से उन्हें सींचते और जब मयूरगण उन्हें देख हर्ष-विह्वल हो तांडव-नृत्य करते थे, तो उनके पुच्छ-गुच्छ में बनी हुई नेत्राकृति मानो सजीव होकर नेत्रों के द्वारा प्रियतम का शुभ संदेश सुनाती थी। निदान, कई वर्षों के कठिन तप से प्रसन्न हो एक दिन इंद्र भगवान् ने मूसलधार पानी बरसाना शुरू कर दिया। पर्जन्यदेव ने भीषण मूर्ति धारण कर सारे संसार को प्लावित कर दिया। नदी-नदों ने मर्यादा तोड़ पहले तो वन में प्रवेश किया, फिर जिस पर्वत पर मैं

पक्षी मुझे देखकर मानो हँस देते थे; किंतु मैं तनिक भी ध्यान न देता था—आँख उठाकर भी न देखता था। जब कभी कोई भूला-भटका पथिक मेरे पास आ जाता, तो मैं उसे फल-फूल देकर संतुष्ट करता, शीतल जल-वाले सुंदर सरोवर में स्नान कराकर मार्ग की थकावट दूर करता। कण्व मुनि की तरह उसे कभी धोखा न देता था। सरोवर में नृत्य करनेवाले पक्षी दोनों में से मेरी खाद्य-सामग्री उठा ले जाते और बदले में मुझे लोकोत्तर आनंद-दायक स्वर्गीय गीत सुनाते थे। मधु-कंठी की

बैठा था, उसे ही डुबाना चाहा। मैं भागकर एक बहुत ऊँचे वृक्ष पर चढ़ गया; किंतु देखा, जल भीषण-भैरव हुंकार करता और उस वृक्ष के चारों ओर चक्कर लगाता हुआ ऊपर चढ़ रहा है। मैं बहुत घबराया, और बचने का कोई उपाय न देख दोनो हाथ ऊपर उठा इंद्रदेव की दुहाई देने लगा। इतने में विद्युत्पात के सदृश एक भयानक शब्दाघात हुआ, और जल पर स्वर्ग का दिव्य प्रकाश फैल गया। उस घोर संकट के समय भी विस्मय-विमुग्ध नेत्रों से मैं उनकी ओर देखने लगा।

उसी प्रकाश मे मिली हुई, नेत्रों मे चकाचौंध डालनेवाली एक अत्यंत उज्ज्वल एवं दीप्तिमयी भव्य मूर्ति सामने आकर खड़ी हो गई! मैंने चिल्लाकर कहा—हे स्वर्गाधिपति, दया कर मेरे प्राण बचाइए, नहीं तो कुछ ही क्षण में यह अनंत जल-राशि मुझे डुबा देगी।

इंद्रदेव ने मेघ सदृश गंभीर स्वर से कहा—दया हम जानते नहीं।

मैंने पूछा—क्यों महाराज?

उत्तर मिला—जिस लोक मे निष्ठुरता है, वहीं के लोग दया करना जानते है। हमारे यहाँ दया की आवश्यकता ही क्या?

मैंने बड़े ही करुण स्वर से कहा—देवराज, तो क्या आपकी शरण मे आने पर भी इस भीषण जल-प्रलय मे रक्षा न होगी?

इंद्रदेव ने हँसकर कहा—कुछ पुण्य किया है?

मैं—महाराज, मुझे तो स्मरण नहीं। आप देवाधिदेव हैं; जानते होंगे।

इंद्र—न बतलाने से उद्धार न होगा।

मैं—मैं त्रिशंकु नहीं हूं, जिसे लात मारकर स्वर्ग से गिरा दिया था।

उत्तर सुनकर इंद्रदेव संतुष्ट हुए। उन्होंने मेरा हाथ पकड़ तिनके की तरह ऊपर आकाश की ओर फेंक दिया। मैं एक बहुत ऊँचे पर्वत-शृंग पर जा गिरा, और गिरते ही अचेत हो गया।

(३)

चेतना आते ही मैंने अपने को अमरों के पुण्यलोक मे पाया। यह लोक धर्म के दिव्य आलोक से आलोकित था। यहाँ के मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि सभी सुदर-सुडौल, नीरोग एवं तेजःपूर्ण थे। उनमे पारस्परिक वैषम्य न था, छोटे-बड़े का भेद न था। निर्बल को सबल से सताए जाने की आशंका न थी; मुट्ठी-भर दानों के लिये द्वार-द्वार भटकने और हाय-हाय करने की आवश्यकता न थी। द्रव्य के लिये सच को झूठ, झूठ को सच, न्याय को अन्याय, अन्याय को न्याय, भले को बुरा, बुरे को भला, नीच को ऊँच, ऊँच को नीच और धर्म को अधर्म तथा अधर्म को धर्म कहने की अंधी प्रथा यहाँ न थी। यहाँ के मनुष्य सांसारिक मनुष्यों-जैसे मिथ्याभिमानी न थे। उनमें ईर्षा-द्वेष की झलक तक न थी; सब-के-सब प्रफुल्ल एवं सतुष्ट दिखलाई देते थे। उनके चेहरों पर विषाद की छाया तक न पड़ने पाई थी। शोक, वियोग और संताप का यहाँ नाम भी न था—सर्वत्र शांति और प्रेम का अटल राज्य था। यहाँ के मनुष्य जन्म-मरण के बंधन से मुक्त थे। प्रेमी-प्रेमिकाओं को एक दूसरे के लिये मरना नहीं पड़ता था। सभी एक दूसरे को स्नेह-दृष्टि से देखते थे। मर्त्यलोक-जैसी कड़ी परीक्षाओं की व्यवस्था यहाँ न थी। यह भोग का स्थान था, योग का नहीं। किसानों को कड़ी धूप मे पृथ्वी का वक्षःस्थल विदीर्ण करने के लिये पसीना नहीं बहाना पड़ता था। मेघों से जल के लिये कातर प्रार्थना नहीं करनी पड़ती थी। अकाल और महामारी की व्याधियाँ यहाँ के लोगों को त्रस्त नहीं करती थीं।

इन सब गुणों के रहने पर भी यहाँ के लोगों मे एक बड़ा भारी दुर्गुण था। मर्त्यलोक मे उसे अकर्मण्यता कहते हैं। किंतु कह नहीं सकता, यहाँ के लोग उसे किस नाम से पुकारते थे। सब-के-सब भोग के कीड़े बने हुए थे। सुकुमारता की मात्रा यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि उन्हें उठकर बैठना तक भार प्रतीत होता था।

मैं इन धर्मात्माओं से संभाषण करना चाहता था; किंतु न-जाने क्यों, वे मुझे देखकर घृणा से नाक सिकोड़ते थे। फिर भी साहस कर मैंने एक के निकट जा स्नेहालाप करना चाहा। किंतु न-जाने कहाँ से एक दीर्घकाय बलिष्ठ मनुष्य दाँत पीसता आ गया। उस दुष्ट ने कान पकड़कर मुझे वहाँ से निकाल दिया। मैं उससे युद्ध करने के लिये तैयार हुआ; किंतु उसने इसके पहले ही मेरी नाक पकड़कर बहुत लंबी कर दी थी। मैंने रोकर कहा—महाराज, भूत की-सी बड़ी नाक लेकर मैं मर्त्यलोक वापस जाने मे अपनी मान-हानि समझता हूं। कृपा कर मेरी नाक अपेक्षाकृत छोटी कर दीजिए।

शायद उसे दया आ गई। उसने मेरी नाक बहुत छोटी और चपटी करके कहा—यह पुण्यात्माओं के रहने का स्थान है। पापियों का यहाँ क्या काम?

मैंने कहा—धर्म-मूर्ति, पापी क्या पुण्यात्मा नहीं हो सकता?

उसने कहा—कर्म-भूमि मे जाकर कर्म करो



उस दुष्ट ने कान पकड़कर मुझे वहाँ से निकाल दिया।

इतने में मध्याह्न के मार्तंड की तरह छिपते हुए इंद्र भगवान् आ गए। वह दुष्ट उनके डर से न-जाने कहाँ भाग गया, और मैं वहीं सिमटकर रह गया।

(४)

इंद्र ने कहा—अब तुम्हारी क्या इच्छा है?

मैंने विनीत भाव से कहा—महाप्रभो, मुझे संसार की यंत्रणाओं से मुक्त कर अपने इसी प्रेम-राज्य में विचरने दीजिए।

उन्होंने मुसकिराकर उत्तर दिया—मुझे यह अधिकार नहीं है।

मैंने विस्मय से कहा—स्वर्गाधिपति के लिये यह कौन बड़ा काम है?

इंद्र ने तिरस्कार-पूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखकर कहा—आत्मा की उन्नति और अवनति कर्म पर अवलंबित है। तुम चाहो, तो उसी कर्म के बल से स्वर्ग में आ सकते हो।

मैंने कहा—तो महाराज, अभी म इसका निर्णय कर दीजिए।

उन्होंने कहा—तू मूर्ख है। निर्णय धर्मराज करते हैं। मैं तो स्वर्ग का दारोगा हूँ। जो जीव पुण्य-बल से यहाँ आ जाते हैं, उन्हें पुण्योदय के शेष रहने तक यहाँ रखता हूँ। तदनंतर पुनः कर्म करने के लिये मर्त्यलोक भेज देता हूँ।

मैंने नम्र भाव से कहा—महामहिम, तब आप भी कर्म-सूत्र में बँधे हुए हैं।

इंद्र बोले—क्यों नहीं। हमारी भी अवधि है। तपोबल का क्षय होने पर हमारा स्थान भी अन्य व्यक्ति आकर ले लेता है। हम लोग भी पुनः कर्म-भूमि में जाकर कर्म करने के इच्छुक होते हैं। स्वर्ग का यह तुच्छ सुख अल्प-स्थायी है। इसे हम सदा नहीं भोग सकते।

मैं—तो भगवन्, क्या इससे भी बढ़कर कोई स्थायी पद है, जो पूर्णतया निरापद एवं अच्युत हो?

मैं—आपके राजाधिराज के दर्शन करके भी मैं पापी बना रहा?

उसने बड़े ही कर्कश स्वर से ललकारकर कहा—खाली दर्शन से कुछ नहीं होता; कर्म करो।

मैंने अपनी तपस्या की बात फिर भी मुख से नहीं निकाली। कारण, मुझे ययाति की तरह स्वर्ग से गिर जाने का डर था। मैंने कहा—तो आप मुझे नरक ही में डाल दीजिए। मैं मर्त्यलोक वापस नहीं जाना चाहता।

वह मेरे पागलपन पर बहुत हँसा, और बोला—यह स्वर्ग है कि नरक?

मैं—क्षमा कीजिए। मुझसे भूल हो गई।

इंद्र—इस विषय में मुझसे अधिक तुम्हारे स्वामीजी ही जानते हैं। उनसे जाकर पूछो।

मैं—महाराज, सुना है, ब्रह्माजी भाग्य-विधाता हैं। उनके पास भाग्य को छोटा-बड़ा करने की मशीन अवश्य होगी। मैं उनसे मिलकर इसका पता लगाना चाहता हूँ।

इंद्र—ब्रह्माजी भी कार्यकर्ता-मात्र हैं। उनके पास ऐसी कोई मशीन नहीं है, और न वह स्वेच्छा-पूर्वक किसी के भाग्य को छोटा-बड़ा कर ही सकते हैं। धर्म-राज शुभाशुभ कर्मों का जो लेखा पेश कर देते हैं, उसी के अनुसार वह भाल के अंक बना देते हैं।

मैं—तब उनसे मिलने की कोई आवश्यकता नहीं। सब बातों में मुझे कर्म ही प्रधान दिखलाई देता है।

इंद्रदेव ने अंतिम आज्ञा सुना दी—

"कर्म ही ईश्वर है, कर्म ही देवता है, कर्म ही वेद का रूप है। कर्म ही स्वर्ग-नरक और लोक-परलोक का अधि-कारी है। कर्म ही आत्मा की उन्नति और अवनति का कारण है। कर्म ही भाग्य को छोटा-बड़ा करने की मशीन है। अस्तु, उसी का आश्रय ग्रहण करो। उसी के द्वारा तुम्हारा सच्चा कल्याण होगा। मनुष्य-शरीर ही साधन, और मर्त्यलोक ही उसका स्थल है। अस्तु, तुम वहीं जाकर स्वामीजी के आदेश का पालन करो।

आत्माराम देवकर

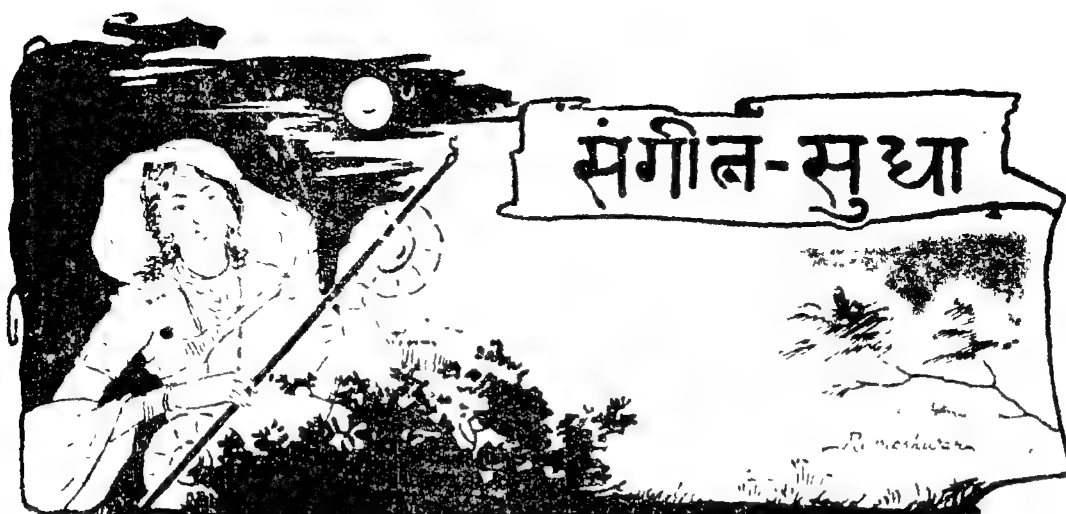
उन्माद

गर्दन मरोड़ दूँ प्रचंड की, निशाचर हूँ,
काल हूँ कराल, राजपूत मैं लवारी हूँ;
द्रोही-सम्राट-द्वेष, अस्थि-चर्म-पिंजर हूँ,
भूखा हूँ भुजग, भीख माँगता भिखारी हूँ।
झूठा, प्रतिकूल हूँ, कुपूत अति सुंदर हूँ,
चिंता की चिता को धुन फैली चिनगारी हूँ :
पीठ पर घूमूँ लाद सती-देह, शंकर हूँ,
यौवन-विकास, वीरभद्र भयकारी हूँ।
स्रोत हूँ, तरंग हूँ, शराब हूँ, हलाहल हूँ,
कपटी तमाशा, जय-पांडव-पताका हूँ;
प्रेम हूँ, प्रकाश हूँ, ज्वलंत ज्वल, बादल हूँ,
रंग-रंग चलता चरित्र हूँ, बलाका हूँ।
झील हूँ, समुद्र हूँ, कठोर अति कोमल हूँ,
जंग हूँ, उमंग हूँ, भयंकर धड़ाका हूँ;
सूर हूँ, सुलोचन हूँ, विह्वल हूँ, चंचल हूँ,
क्रंदन, मनोज-मुसकान हूँ, लड़ाका हूँ।
स्वर्ण-मृग, सीता सुख, लंपट दशानन हूँ,
डमरू बजाता डिम्-डिम्-डिम् संन्यासी हूँ :
नंगी पांचाली, निर्लज्ज दुःशासन हूँ,
पापी दुर्योधन, विराट अट्टहासी हूँ।
शबरी, अजामिल हूँ, आपस की अनबन हूँ,
कल्पना-तुरंग का सवार, कवि, फाँसी हूँ :
वीर-कर-कंकण हूँ, रक्त-दग अंजन हूँ,
उल्का, बटोही, अलबेला, अविनाशी हूँ।
कर्ण-कटु शब्द हूँ, सुधीर हूँ, स्वयंवर हूँ,
धूमकेतु, बिजली, पहेली, हठ-रागी हूँ;
शर्वरीश शीतल, दिगंबर, दिवाकर हूँ,
दीपक उदास, लघु कीट, अनुरागी हूँ।
दुर्बल, रहस्य-ज्ञान, पामर सुकिन्नर हूँ,
जामदग्न्य, भागीरथ, भर्तृहरि त्यागी हूँ;
बाँसुरी बजाता इठलाता नट-नागर हूँ,
हाड़ों के हार तोड़ चौंकता विरागी हूँ।
सावन का मोर हूँ, निकुंज, तप कानन हूँ,
ध्वंस-पथ, व्याघ्र हूँ, कुरंग शीघ्र-चेता हूँ;
नर्क-वायु, थर-थर-थर हिलता सिंहासन हूँ,
शुद्ध कुसुमांजलि बटोर रौंद देता हूँ।
बाज हूँ, लवा हूँ, जग-बंधन, अभिनंदन हूँ,
प्रांत-हीन देश का उपद्रव-प्रणेता हूँ;
हंसराज, सारंग हूँ, चोली हूँ, दामन हूँ,
भीषण भँवर-बीच विश्व का विजेता हूँ।
तोड़ता असंख्य मठ, सर्वनाश, पातक हूँ,
वल्कल लपेटे अभियोगी, उपवास हूँ;
भक्षक हूँ, रक्षक हूँ, म्लेच्छ प्रण पालक हूँ,
जीवन-रसायन, प्रभंजन उच्छ्वास हूँ।
मरघट में रामा मुख-चूमता हूँ, स्नातक हूँ,
नट हूँ, अहिंसक, विपक्षी उल्लास हूँ;
भैरव, निरंकुश, प्रसन्न लघु बालक हूँ,
चित्रकार, पंकिल पिपासा, इतिहास हूँ।

"गुलाब"

रोटी





[शब्दकार और स्वरकार—स्वर्गीय प्रोफेसर "व्याकुल"]

ठुमरी सोहनी—तीन ताल

गीत

नैन मिलाय नैनन में बस गए,
जिया चुराय पिया हाय निकस गए।
अब उन बिन कछु सूझे न मुँहि को :
कासे मरम की बिथा कहूँ रो-रो।
व्याकुल पिया तोरे दरस परस को :
रैन-दिवस दृग बरस तरस गए।

स्थायी

०				३				×				२			
—	मा	गा	गा	मा	धा	नि	सां	सां	रें	सा	रें	सां	सां	नि	सां
—	नै	न	मि	ला	य	नै	—	न	न	में	·	ब	स	ग	ए
—	सां	सां	सां	नि	नि	धा	धा	मा	धा	नि	सां	नि	धा	नि	धा
—	जि	या	चु	रा	य	पि	या	हा	—	य	नि	क	स	ग	ए

अंतरा

गा	गा	मा	मा	धा	धा	नि	नि	सां	—	सां	रें	सां	नि	सां	—
अ	ब	उ	न	बि	न	क	छु	सू	—	झे	न	मुँ	हि	को	—
—	सां	सां	सां	नि	नि	धा	धा	मा	धा	नि	सां	नि	धा	नि	धा
—	का	से	म	र	म	की	—	बि	था	क	हूँ	रो	—	रो	—
—	गां	गां	गां	गां	मां	धां	मां	गां	रें	सां	रें	सां	नि	सां	—
—	व्या	कु	ल	पि	या	तो	रे	द	र	स	प	र	स	कों	—

—	सां	सां	सां	नि	नि	धा	धा	मा	धा	नि	सां	नि	धा	नि	धा
—	रै	न	दि	व	स	ह	ग	व	र	स	त	र	स	ग	ए

स्वर-लिपि के संकेत

(स्वर)

१ जिन स्वरों के नीचे बिंदु हो, वे मंद्र-सप्तक के, जिनमें कोई बिंदु न हो, वे मध्य-सप्तक के, तथा जिनके शीर्ष में बिंदु हो, वे तार सप्तक के समझे जायँ। जैसे—सा, सा, सां।

२. जिन स्वरों के नीचे लकीर हो, उन्हें कोमल समझिए। जैसे—रे, गा, धा, नि। जिनमें कोई चिह्न न हो, वे तीव्र हैं। जैसे—रे, गा, धा, नि।

३ मध्यम कोमल का चिह्न 'मा' और मध्यम तीव्र का चिह्न 'मा' है।

(ताल)

१ सम का चिह्न × है, ताल के लिये अंक समझिए, और ख़ाली का द्योतक ० है।

२. ‿ इस चिह्न में जितने स्वर रहें, वे एक मात्रा में गाए या बजाए जायँगे। जैसे—सारे।

३ —यह दीर्घ मात्रा का चिह्न है। जिस स्वर या वर्ण के आगे यह चिह्न हो, उसे एक मात्रा-काल तक अधिक गाइए या बजाइए।



१. कवि देश-बंधु



जिसने 'देश बंधु' की 'सागर-संगीत' नाम की बँगला कविता-पुस्तक देखी होगी, वह भली भाँति जानता होगा कि देश बंधु का हृदय कितना कवितामय था। दास महाशय ने स्वयं इस पुस्तक का अँगरेज़ी-गद्यानुवाद किया था। श्रीअरविंद घोष ने उसका अँगरेज़ी-पद्यानुवाद किया है।

सागर संगीत बड़ी सुंदरता से, मनोमोहक ढंग से, छपा है। प्रत्येक पृष्ठ पर सागर का चित्र है, और उस पर कविता है। पर उससे भी अधिक सुंदर उसके भाव हैं। यह अद्वितीय काव्य है। समुद्र के विषय में देश-बंधु ने जैसे पद्य इस संगीत-माला में लिखे हैं, वैसे शायद ही किसी ने लिखे हों। उनमें से कुछ का परिचय हम पाठकों को कराना चाहते हैं—

"हे सागरराज, मुझे ऐसी आशा न थी कि मैं तुझे ऐसा देखूँगा। तू तो चमत्कारी है, मायावी है। ज़रा ठहर। मैं तेरा गीत जोड़ लूँ। ऊँघता हुआ स्वप्नावस्था में पड़ा यह शांत सागर आज चंद्रमा के प्रकाश में कैसा चमक रहा है!

"तेरे गंभीर भेद इस समय मेरे मन में रम रहे हैं। ठहर! मुझे इसकी कविता करनी है। तेरे मीठे गीत का स्वर अपने हृदय की ताल के साथ मिला देना है, और इस प्रकार मिला देना है कि वैसा माधुर्य जगत में पाया ही न जाय। अपने अंतर्हृदय के एकांत स्थल में मैं तुझे स्थान दिया चाहता हूँ। तू स्वप्न वेष रखकर आ! संगीत के साथ-साथ रहना। हे अनंत, स्थिर बनकर तू मुझ-में वास करना, और वहाँ रहकर जीवन का कार्य परिपूर्ण करना!

*   *   *

"हे सागर! प्रकाश से चमत्कृत इस उषा में तेरी मधुर गुनगुनाहट सुनने के लिये मैं कान लगाए हूँ। आहा! कैसा शब्द है! कैसा राग है! मेरा हृदय इससे ओतप्रोत होकर छलछला रहा है।

"क्या तू यह मानता है कि तेरे गीत से बनी हुई मीठी उषा में जो नाद सुनाई दे रहा है, उसे मैं नहीं समझता?

*   *   *

"मैं तो केवल उषा को देखा करता हूँ, परंतु मेरा अंतःकरण तो तेरे गीत से भर गया है। एक क्षण में तेरा संगीत मंद और शांत-रस लिए बहा करता है, तो दूसरे क्षण में तेरा नाद गंभीर गर्जन करने लगता है। कभी इस संगीत का करुण रस मेरी आँखों में आँसू भर देता है, तो कभी निरंकुश बनकर गीत स्वयं दुःखदायक बन जाता और सुननेवाले को भी दुःखित कर देता है।

"सागर, बता, तेरे किस भाग से यह संगीत निकल

रहा है ? उस संगीत का ऐसा कौन-सा तत्त्व है, जो चेतना-जनक है, उछल रहा है, हँस रहा और रो रहा है ?

"तेरा संगीत सुनकर मेरा एक-एक अवयव कंपित हो उठता है। तेरे हृदय का यह सनातन संगीत सुन-सुनकर मैं गूँजता और उषा को निरखता रहता हूँ।

* * *

"देख, प्रातःकाल के मांगलिक उत्सव की वंशी बजने लगी! सूर्य की किरणें तेरे वक्षःस्थल पर कैसे खेल रही हैं! तेरी नाचती हुई तरंगों पर ये किरणें प्रस्फुटित पुष्पों की भाँति दिखाई देती हैं! और, ये पुष्प हवा में, सूर्य के सुनहले प्रकाश में उड़कर, गीत बनकर तेरे चरणों का स्पर्श करने के लिये पुनः गिर जाते हैं!

"अब तो तेरे नाद का गीत पक्षी की भाँति उड़ने लगा! देख, सुनहले स्वप्न में इसके पंख रँग गए हैं! विशाल अंतराकाश में देख, वसंत-ऋतु की बहार में, प्रेम के आनंद में यह किस प्रकार स्वच्छंद विचरण कर रहा है!

* * *

"इस सुख का भार किसके गले बाँधूँ ? यह आँसुओं की भेंट किसे समर्पित करूँ ? इस अपार आनंद में, इस अज्ञात शोक में क्या करूँ ?

"मेरा मुख खिल रहा है। दुःख की कविता बनाने की तैयारी है। यह दुःख की कविता का प्रदेश, और सुख-रूपी पुष्पों का कुंज आश्चर्यदायक रहा है! यह झकोरे क्यों खा रहा है? यह काँप क्यों रहा है? क्या मैं यह नहीं जानता?

"हे सागर, कह, अपने हृदय का भार कहाँ रक्खूँ ?

"उषा सुनहले स्वप्न में डूबी हुई है, और तेरी प्रत्येक तरंग के साथ गान जारी है। यह मेरा अंतःकरण इस गान से लबालब भर गया है। वायु भी यही गीत गा रही है : आकाश में भी इस समय यही गान गाया जा रहा है।

"आज तूने मुझे क्या कर दिया ?

"आज मेरा हृदय शत तंत्रियों की सारंगी बन रहा है। तेरे स्पर्श से ये तार हिल रहे हैं, कंपित हो रहे हैं। देख, यह सारंगी महिमामय, गौरव-पूर्ण संगीत छेड़ती है!

* * *

"मेरी वाणी में कला नहीं ; मेरी भाषा में चतुराई नहीं। मैं गान-राग से अनभिज्ञ हूँ। ताल, लय, मात्रा, कुछ भी नहीं आता। पर मेरा हृदय विस्तृत आकाश है, और मेरे हृदय में अनंत निवास करता है।

"तेरे गान के राग में, प्रातःकाल के तेज में, रात्रि के अंधकार में मैं इस अनंत की आवाज़ सुनता हूँ। अपने हृदय का द्वार मैंने उन्मुक्त कर दिया है : प्रभाती गाई जा रही है, मैं उसमें अपने को—अनंत को—ढूँढ रहा हूँ।

"तेरी प्रभाती कैसी अद्भुत है! इसने तो मेरी आत्मा को तृप्त कर दिया। ले, यह अंजन ले! इसी प्रभाती के पश्चात् मैं तेरे चरण-कमलों में निवेदन करता हूँ।

* * *

"दिन-भर तेरे संगीत की ध्वनि मेरे हृदय में गूँजती रहती है : मानो मैं तेरी सारंगी हूँ, और तू मेरा उस्ताद!

"पर चल, एकांत तट पर चल ; मैं भी आता हूँ। वहाँ दिन हो या रात, प्रकाश हो या अंधकार, मैं तेरे साथ रमण करूँगा। तू मुझे बजाना, और मैं बजूँगा!

"मायावी प्रदेश में अकेला बादल होगा, कुंजों में आशा-भरी उषा आवेगी, उस समय तू गाना। पीछे पुनः आशा और तृष्णा से हीन संध्या आवेगी। कितनी निर्मलः पर आँसों से भरी! हे गायक, संध्या-समय भी तू बजाना। मैं तेरी सारंगी हूँ! संध्या का अंधकार मज़े का है! अंधकार सत्य है, वह सत्य नहीं, यह सत्य है!

* * *

"मुझे ग्रहण करने के बाद तूने मेरे साथ किसी प्रकार का रमण बाकी रक्खा है क्या? सचमुच तूने आश्चर्योत्पादक रीति से मेरे अंतश्चक्षु खोल दिए। मेरा हृदय कलुषित था। तेरा गान सुनकर वह संपूर्ण खिल उठा है! मेरा जीवन भी अब तुझे देखकर सुगंध तथा अजीब रंगों से बाह्य रूप में भी आकर्षक हो रहा है।

"हे सागर! तेरे गीतों ने मेरे प्राण को एक ऐसा अनंत राग सिखा दिया है कि वह उसे ही दिन-रात गाया करता है!

* * *

"गीत के अद्भुत प्रदेश में संगीत सुनकर मेरा हृदय चंचल हो रहा है। वह पक्षी की भाँति उड़ रहा है : पर उड़कर कहाँ जायगा, इसका कुछ पता नहीं। मैं भी गीत के विशाल प्रदेश में प्रवेश कर उड़ने लगा हूँ!

"इस अनहद नाद के एकांत में इस विचित्र संगीत का स्मरण नीरव बन गया है। अनहद नाद के इस विशाल प्रदेश में गहरे-गहरे गोते लगाकर भी मैं इसकी गंभीरता को नहीं नाप सकता।

"हे गीत के अपार, अगम्य प्रदेश, मेरे मन-कमल को कहाँ विकसित करेगा ?"*

श्रीगोपाल नेवटिया

× × ×

२. पावस-निशा

जाती घोर घनी बलाहक-घटा में लुप्त हो दामिनी,
मानो केश-कलाप से स्वमुख को है ढाँकती यामिनी;
फैला है तम, तीव्र वायु अपना फेरा यहाँ दे रही,
मानो रैन मलीन वस्त्र पहने उच्छ्वास है ले रही।
होता दादुर-मेघ-रोर, गिरती है वारि-धारा महा,
मानो है रजनी कठोर करती उल्लाप आँसू बहा;
हैं खद्योत उड़े, सुवेष तजने मानो लगी यामिनी,
कैसी आज निशा बनी विरहिणी शोकाकुला कामिनी!

मनमोहन अवधिया

× × ×

३. बिदा

माता की बिदा थी। सखी-सहेलियाँ प्रेम-पूर्ण कृतज्ञता प्रकाश करने के लिये एकत्र थीं। बच्चे—दुधमुँहे और सयाने—सतृष्ण देख रहे थे। फूल-माला का प्रबंध था, पान-सुपारी का आयोजन था। बिदा की बिदा संयोग से की जा रही थी; वह माता की न थी, बच्चों की थी, और थी अज्ञात अनंत के लिये!

* *

किसी ने गुण-गान किया, किसी ने प्राचीन परिचय का परिचय दिया; किसी ने शील और व्यवहार का वर्णन किया, तो किसी ने कृतज्ञता-प्रकाश। कहीं से लोकाचार का पालन किया गया।

माता का हृदय करुणागार होता है। प्रेम-स्रोत उमड़ उठा। व्यापक दृष्टि के सामने सजल घनश्याम छा गया, जैसे शुष्क कचनार की पंखड़ियों के ऊपर ओस के कण-समूह। आवृत पटल के भीतर शिशु खेल रहे थे। उन्हें कोई शक्ति छीन न सकी।

* * *

समय आया। प्रसव-वेदना शिशु-दर्शन की आशा दिलाती है; किंतु अपनी वेदना में माता को आशा का अंत देख पड़ा। संसार शून्य में विलीन हो रहा था। सोचा—हृदय-स्रोत से सिंचित कलिकाएँ टूट रही हैं, निर्दय हृदय उन्हें सुई की नोकों से छेदकर बाज़ार में बेचेगा। अपात्र के हाथों अनमोल का मोल होगा। पीनस के रोगी की तरह वे उन्हें फेंक देंगे, और उन्मत्त जगत् उन्हें मसल देगा! गला भर आया! बिदा की वेदना से अधिक भयंकर यह वेदना थी। हृदय उछला। वायु-मंडल भर गया। किंतु पटल के भीतर स्तब्ध अविचलता थी। डोरी के हिंडोले पर शिशु झूल रहे थे—थिरक रहे थे, जैसे वीणा पर संगीत।

* * *

संयोग से वियोग का जन्म होता है। संयोग अनित्य है; किंतु वियोग नित्य। भू-गर्भ से ज्वालामुखी उत्पन्न होते हैं, वियोग-वह्नि अप्रमेय गर्भ से उत्पन्न हुई। जलद-पटल भाप बनकर उड़ गए। शुष्क आकाश काँपा। धरती डोली। दिशाएँ विस्फारित हुईं। आभा-विहीन व्योम दो टूक हो गया, जैसे जीवन-स्पंदन एक। एक पर आलोकित थी शिशुओं की निर्मल मुसकान, और दूसरे पर माता का वात्सल्य। दोनों को स्पर्श-हीन प्राण समग्र कर रहा था।

मातादीन शुक्ल

× × ×

४. वसंत का अंतिम गान

आज बिदाई थी ऋतुपति की, शोभा की थी अंतिम रात,
पूर्व दिशा का द्वार खोलकर झाँक रहा था गौर प्रभात।
घोर जेठ-ज्वाला का जग में मर्मांतक छाया हुंकार,
भावी भय की छाया हृत्पट पर पड़ती थी पा विस्तार।
गाते थे खग, किंतु निहित था करुण स्वर उनके स्वर में,
सुख-मर्मर के बदले बहता था दुख-निर्झर अंतर में।
मर्मर से निर्गत होता था व्यथित हृदय का हाहाकार,
वन की थी शोभा विषादमय मानो विधवा का शृंगार।
था कटाक्ष भी वही प्रिया का किंतु न वह मादकता थी,
थी वीणा, पर नहीं किसी को उसकी आवश्यकता थी।
जिस मलयानिल ने वसुधा को स्वर्ग-संदेश सुनाया था,
जिस मलयानिल ने निद्रित कलियों को छेड़ जगाया था,
था सुमनों का जो प्रधान सहचर विश्वासी दक्षिण हस्त,
मान-दुर्ग कर भग्न किया जिसने निज प्रभु का सुयश प्रशस्त,
वही पवन सारे सुमनों की सुरभि हरण कर चला हरे!
कागज़ के कृत्रिम कुसुमों-से खिले रह गए हरे-भरे!

* एक गुजराती लेख से।

वह सुदूर दक्षिण अंचल में स्वयं हो गया जाकर लीन !
अस्थिर आश्रय के आश्रित भी शीघ्र हुए अस्तित्व-विहीन !

श्रीमोहनलाल महत्तो गयावाल "वियोगी"

× × ×

५. बीसलदेव-रासो का समय

माघ-मास की 'माधुरी' में बाबू सत्यजीवन वर्मा ने नरपतिनाल्ह-कृत 'बीसलदेव-रासो' की तिथि, ज्येष्ठ-बदी नवमी, बुधवार, विक्रम-संवत् १२७२, बतलाई है, और लिखा है कि उस संवत में उस तिथि को बुधवार पड़ा था। पुनश्च आप लिखते हैं कि चतुर्थ विग्रहराज के (जो बीसलदेव का दूसरा नाम था) १२१० और १२२० विक्रम-संवत के शिला-लेख मिले हैं, इससे स्पष्ट है कि विग्रहराज संवत् १२१० में सिंहासन पर आरूढ़ हो चुका था। तब तो वह गद्दी पर कम-से-कम ६२ वर्ष रहा होगा, यदि उसके ही ज़माने में रासो का निर्माण हुआ हो। वर्माजी नरपतिनाल्ह को बीसलदेव का समकालीन बतलाते हैं, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि उसी राजा के राज्य-काल में कवि ने उसका रासो बनाया।

इसकी क्रोनोलॉजी को देखने से स्पष्ट जान पड़ेगा कि संवत १२२२ में अजमेर की गद्दी पर बीसल की जगह उसका भतीजा पृथ्वीभट बैठ चुका था। जान पड़ता है, संवत के अंकों का अर्थ लगाने में भ्रम हो गया है। बीसल-रासो की तिथि वर्माजी के लेखानुसार इस प्रकार है—

'बारह सै बहोत्तराँहां मझार जेठ बदि नवमि बुधवार।

शुद्ध पाठ शायद 'बारह सै बरहोत्तरा' है, अर्थात् बरह सौ के ऊपर (पीछे) बारह=संवत १२१२। इस संवत में ज्येष्ठ-बदी नवमी सन् ११५५ ई० के २७ एप्रिल, बुधवार, को पड़ी थी। बहोत्तरा का अर्थ बहत्तर लेने से ऐतिहासिक युक्त तिथि नहीं जमती ; क्योंकि गत संवत १२७२ की ज्येष्ठ-बदी नवमी २४ एप्रिल, शुक्रवार, सन् १२१५ ई० को पड़ी थी, और चालू संवत् १२७२ की वही तिथि ४ मई, सन् १२१४ ई० में, सोमवार को पड़ी थी। गत १२७३ संवत् की तिथि अलबत्ता बुधवार, ११ मई सन् १२१६ को पड़ी थी ; परंतु इस दशा में "बारह सौ तेहत्तरा" पाठ करना पड़ेगा। वर्माजी का यह कहना सत्य है कि 'मिश्र-बंधु-विनोद' में अंदाज़ भिड़ाया गया है। न मालूम किस प्रकार संवत के अंक १२२० बतलाकर तथा उसको शकाब्द क़रार देकर उस संवत् की ज्येष्ठ-बदी ६ से संबंध लगा दिया गया है। यह तिथि ४ जून, सन् १२६८ ई० को पड़ती है, जब बीसलदेव के पीछे निदान तीन राजा गद्दी पर बैठ चुके थे।

हीरालाल

× × ×

६. प्रभु का वास

"महाराज, महाराज, मंदिर का द्वार खोलिए।"

"प्रभात के पहले ही पहर में, इस कड़ाके की ठंड में, हमको जगानेवाला कौन है ?"

"महाराज, मैं शिव-भक्त नहाकर उनकी सेवा करने आया हूँ।"

"मैं कौन ? किस जाति का ?"

"मैं कौन ? जगत् ने जिसको अस्पृश्य समझ कुत्ते से भी अधम स्थिति में बिठा दिया है, वही एक अत्यज।"

"क्या अस्पृश्य ? अंत्यज ? मूर्ख ! पातकी ! आज इस पवित्र धाम को अपवित्र करने आया है ? जा, चला जा।"

"महाराज, आज ही आया हूँ, यह बात नहीं। पहले भी आता था। नित्य ही रात्रि के पिछले पहर में छिप-छिपकर आता था, और देवादिदेव महादेव की पूजा करके चला जाता था। प्रातः उठकर आप आश्चर्य में पड़ जाते और लोगों से कहा करते थे कि रात्रि के समय कोई देव आकर शंकर की पूजा कर जाया करता है। महाराज, वह देव नहीं, किंतु मैं ही......। आज महादेव ने—जगत्-पिता ने - मुझे आज्ञा की है कि इस प्रकार छिप-छिपकर जाना पाप है। इसी से मैं आज आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ। महाराज, द्वार खोलिए, और मुझे पूजा करने दीजिए।"

"पापी पिशाच ! इतना झूठ ? शंकर क्या तुझे ही आज्ञा करने अथवा दर्शन देने के लिये बैठे थे ? चोर ! अस्पृश्य !! नराधम !!! चला जा यहाँ से। दरवाज़ा नहीं खुल सकता, और यदि दरवाज़े में हाथ भी लगाया, तो हड्डियाँ टूट जायँगी।"

"महाराज, महादेव क्या आप ही के देव हैं, हमारे नहीं ? क्या आपके सिरजनहार पिता वह हैं, और हमारे कोई दूसरे ? कीचड़ में किलबिलानेवाले कीड़े और मानसरोवर में मोती चुगनेवाले राजहंस, सभी पिता

महादेव हैं । द्वार खोलिए, और उस परम पिता के अन्य बालकों को पिता के पास जाने से मत रोकिए ।"

"चांडाल, बहुत क्यों बक रहा है ? चुपचाप यहाँ से चला जा, नहीं तो लोगों से कहकर, न्यायार्थ राजा के पास ले जाऊँगा, और उनसे यह कहकर कि रात्रि को छिप-छिपकर यह शिवालय में आता था, प्राण-दंड दिलवाऊँगा ।"

प्रभु की पूजा के लिये आया हुआ बेचारा अंत्यज क्षण-भर स्तब्ध खड़ा रहा। फिर हाथ जोड़कर सजल नेत्रों से आकाश की ओर देखकर कहने लगा—

"प्रभो ! परमात्मन् ! तुम्हारी आज्ञा मानी ; उसका यह फल ! नित्य ही रात को आपके चरण निर्विघ्न पूज जाया करता था । ऐसी आज्ञा देकर क्यों विघ्न डाल दिया ? देव, क्या मैं भक्ति-भाव से आपकी सेवा नहीं करता था, या आपको मेरी पूजा से संतोष न हुआ, जिससे ऐसी आज्ञा की ? जगत् के त्यागे हुए अपने अभागे बच्चे को तुम भी त्याग रहे हो । हा प्रभो ! अब मैं कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ?"

वाणी बहुत गद्गद थी । अंत में बोल बंद हो गया ; अंत्यज ज़मीन पर गिरकर बेसुध हो गया । मंदिर का द्वार अपने आप खुल गया । महादेव की पिंडी फटी, और उसमें से एक तेजःपुंज आकाश में, उस अंत्यज के ऊपर, जाकर ठहर गया । आकाश-वाणी हुई—"भक्त-राज ! मेरे परम प्रिय बालक !! उठ, मैं तेरा ही हूँ । जगत् की दृष्टि में पागल गिने जानेवाले नरसी और मीरा की तरह तू भी मेरा एक प्रिय भक्त है । मैं तेरे वश हूँ । देख, देख, अपने हृदय में देख, मैं वहीं बैठा हुआ हूँ । व्यर्थ क्यों मेरी खोज में इन अभिमान और धूर्तता से भरे हुए मंदिरों में भटकता है । देख, इस मूर्ति को देख । जिस रूप से और जितना मैं इस मूर्ति में वास करता हूँ, उतना ही और उसी रूप से तेरे हृदय में हूँ । किसी परम भक्त द्वारा स्थापित पत्थर की यह मूर्ति ऐसे अभिमानी, पाखंडी पापियों के लिये तो एक पत्थर का टुकड़ा ही है । इस पूजा से इनका उद्धार नहीं हो सकता । यह तो तेरे-जैसे भक्त श्रद्धालुओं का ही उद्धार कर सकती है । यदि संसार तुझको इन पूजाओं से विमुख रखना चाहता हो, तो अपने हृदय में ही मेरी पूजा का आयोजन कर । मैं तेरी उस भक्ति से ही प्रसन्न होकर तुझमें मिल जाऊँगा । जगत् की—जगत के इन ढोंगी मंदिरों की—तू क्यों परवा करता है ? देख, जिस मंदिर में मेरे भक्त के लिये स्थान नहीं, वहाँ मैं भी नहीं ठहरता ।"

ऐसा कहकर वह तेजःपुंज आकाश में अदृश्य हो गया ।

"ओ, दीन-दयालु परमात्मा, तेरी आज्ञा का पालन करूँगा" ऐसा कहते हुए हाथ जोड़कर अंत्यज खड़ा हो गया, और भक्ति-विह्वल नेत्रों से आकाश की तरफ़ देखता रहा ।

द्वार के खुलने की तथा मूर्ति के फटने की आवाज़ सुनकर पुजारी डर गया, और मूर्ति की यह स्थिति देखकर बहुत आश्चर्यान्वित हुआ ; अंत्यज की तरफ़ दौड़ा, और आकर दरवाज़े के पीछे खड़ा रहा । उसने आकाश-वाणी सुनी थी । तेजःपुंज के अदृश्य हो जाने के बाद पुजारी दौड़कर प्रभु-भक्त अंत्यज को गले लगाकर बोला—"भाई, तू तो मेरा भाई है । चलो, दोनो चलकर मंदिर में मूर्ति की, और उसमें प्रभु की फिर से स्थापना करें ।"

मंदिर में दोनो के प्रवेश करते ही मूर्ति स्वयं ही पूर्ववत् हो गई । दोनो ने साथ-साथ प्रभु की प्रार्थना की ।

न० ला० शिव

× × ×

७. बहता हुआ विश्वविद्यालय

बहुतेरे पाठकों को इस नोट के शीर्षक को देखकर बहुत आश्चर्य होगा । विश्वविद्यालय, और बहता हुआ ! भला इससे बढ़कर आश्चर्य की और क्या बात हो सकती है, किंतु ऐसे ही एक विश्वविद्यालय की आयोजना अमेरिका में हुई है । इस निमित्त एक जहाज़ ठीक कर लिया गया है, और उसी पर विश्वविद्यालय होगा । अमेरिका एक धनी और स्वतंत्र देश है । वह अपने युवकों की शिक्षा के लिये जो न करे, वही थोड़ा ।

भ्रमण से जो लाभ होता है, उससे हमारे पाठक परिचित ही हैं । इस पर कुछ कहना व्यर्थ है । स्कूल तथा कॉलेज के कमरों में जो शिक्षा दी जाती है, वह पूर्ण नहीं होती, बल्कि कई अंशों में अपूर्ण ही रह जाती है । इसी कारण व्यावहारिक शिक्षा के लिये विद्यार्थियों को बाहर भ्रमण कराने की प्रथा अब भारतीय कॉलेजों में भी प्रचलित हो गई है । पुरातत्त्व के विद्यार्थियों को साँची, तक्षशिला-जैसे प्राचीन स्थानों में ले जाकर वहाँ की प्राचीन

इमारतों, खँडहरों, तथा उनकी कारीगरी को दिखलाने से जितना लाभ होगा, उतना तो शायद दस किताबों के पढ़ने से भी न होगा। इसी प्रकार विज्ञान के विद्यार्थियों को किसी कल-कारख़ाने का निरीक्षण कराना लाभदायक होगा।

जब भारत की यह दशा है, तो अमेरिका जैसे-धन-संपन्न देश का क्या पूछना। वहाँ के एक विश्वविद्यालय ने तो अपने विद्यार्थियों को संसार-भर में भ्रमण कराने का विचार किया है। इस हेतु उसने १८००० टन का एक जहाज़ ही ठीक कर लिया है, और इसका पुनः नाम-करण किया है। 'युनिवर्सिटी या विश्वविद्यालय।' यह मत समझिए कि भ्रमण करनेवाले इस दल में दस-बीस या पचास विद्यार्थी रहेंगे। नहीं, बल्कि इसमें विश्वविद्यालय के पूरे ४५० विद्यार्थी शामिल रहेंगे। फिर भी विद्यार्थियों को जहाज़ पर केवल गपशप या उपन्यास पढ़ने ही का काम न रहेगा, बल्कि इसमें पढ़ाई का पूरा प्रबंध रहेगा। प्रत्येक विषय के अध्यापक, सहायक अध्यापक एवं व्याख्याता साथ रहेंगे। स्थल पर जैसे क्लास बैठती थी, हाज़िरी होती थी और अध्यापक पढ़ाते थे, ठीक इसी प्रकार यहाँ भी प्रबंध रहेगा। इस हेतु क्लास के लिये बड़े-बड़े कमरे और एक पुस्तकालय भी रहेगा। व्यायाम और मनोरंजन का भी प्रबंध जहाज़ पर ही रहेगा।

यह बहता हुआ विश्वविद्यालय अमेरिका से २५ सितंबर को प्रस्थान करेगा, और बराबर ८-६ महीने तक संसार-भर की सैर करता फिरेगा। संसार के सभी मुख्य-मुख्य देशों में यह विश्वविद्यालय जायगा। प्रोग्राम के अनुसार ५ महादेशों के ३५ प्रदेशों के ५० बंदरों में यह ठहरेगा। लंका में कोलंबो-बंदर में भी यह ठहरेगा, और विद्यार्थीगण वहाँ से उतरकर भारतवर्ष में आवेंगे, तथा प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय एवं मुख्य-मुख्य स्थानों को देखेंगे। फिर ये ज्ञानपिपासु सरस्वती-पुत्र बड़े-बड़े राजा-महाराजों और राज-कर्मचारियों से मिलेंगे, विद्वानों से वार्तालाप करेंगे। इस दल में विशेषकर इतिहास, अर्थ-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, ज्योतिष, जीव-विज्ञान इत्यादि विषयों के विद्यार्थी रहेंगे।

गंगेश्वरनाथ

× × ×

८. भँवरसेन (रीवाँ) की प्रशस्ति

रीवाँ-राज्य (मध्य-भारत) में शोणभद्र-नदी कैहजुआ-नामक पर्वत-श्रेणी को कई स्थानों में काटती हुई निकली है। इनमें से एक स्थान का नाम भँवरसेन (भ्रमरशैल) है *। यह स्थान अत्यंत एकांत, योगिजनोपयोगी, वनाच्छादित एवं रमणीय है। इसी में एक अत्यंत प्राचीन शिवालय, और एक अधूरा मठ है। मठ के दरवाज़े के दोनों पार्श्वों में दो प्रशस्ति-प्रस्तर लगे हैं, जिनसे मालूम होता है कि-शैवों के मयूर-वंश में पुरंदर का शिष्य शिखाशिव, प्रभु राजदेव नामक किसी व्यक्ति (राजा) द्वारा तपस्वियों का अधिपति बनाया गया। शिखाशिव के प्रशिष्य प्रबोधशिव ने अपने गुरु (प्रशांतशिव) के बनवाए हुए शिवालय के समीप यह मठ और सिंधु-नामक एक सरोवर बनवाया, तथा गुरु की बनवाई बावली का जीर्णोद्धार किया † ।

ॐ	अ	इ	उ	
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज		ञ
ट	ठ	ड		ण

इससे प्रकट होता है कि शिवालय मठ से भी प्राचीन है। प्रशस्ति में संवत् ३२४ खुदा है; पर यह नहीं मालूम होता कि यह किसका संवत् है। शिवालय की शिल्पकारी

* इसके शिखर में भँवर-नामक मधुमक्खियाँ छत्ता लगाया करती हैं। इसीलिये इसका नाम भँवरसेन (भ्रमरशैल) पड़ा।

† सरोवर एवं बावली दोनों के चिह्न अभी विद्यमान हैं।

मात्राएँ

(७) (६) (८)

संयुक्ताक्षर

(क्ष)

खजुराही (बुँदेलखंड) के शिवालयों के ढंग की है, और खजुराही की इमारतें तेरहवीं शताब्दी की अनुमान की

त ध द ध न

प फ ढ [illegible] ल

य र [illegible] [illegible] [illegible]

ष स ह

जाती हैं, एवं इसकी प्रशस्ति के अक्षर भी तेरहवीं शताब्दी के देवनागराक्षरों से मिलते-जुलते हैं। अतएव ये इमारतें भी तेरहवीं शताब्दी की सिद्ध होती हैं। इनमें चूना या गारा (सीमेंट) कहीं नहीं लगाया गया है, पत्थर पर पत्थर रक्खे गए हैं। इससे भी इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। परंतु इस प्रशस्ति में लिखित किसी व्यक्ति का कोई पता नहीं चलता।

प्रशस्ति संस्कृत में, सुंदर छंदों में, कविता-बद्ध है। उसके अक्षर इतने स्पष्ट एवं सुंदर हैं कि ऐसी उत्तमता से खुदी हुई कदाचित् ही कोई प्रशस्ति हो। (पाठकों के अवलोकनार्थ उसकी वर्णमाला के चित्र दिए गए हैं)। कदाचित् इसी विशेषता के कारण, प्रशस्तिकार कवि धौम्यट, लेखक दामोदर, उत्कीर्ण करने की आज्ञा देनेवाले शिल्पकार (मिस्त्री) सराक और उत्कीर्ण करनेवाले नीलकंठ, सबके नाम प्रशस्ति में लिखे गए हैं। अस्तु।

मठ में बारह-बारह फ़ीट लंबी एवं एक-एक फ़ुट मोटी विशाल शिलाएँ, छत पर लगाई गई हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि प्राचीन काल में बिना यंत्रों की सहायता के ये ऊपर कैसे लगाई गई होंगी। इससे अधिक आश्चर्य तो यह है कि जो पत्थर इस मठ में लगे हैं, उनकी खान मठ के आस-पास दूर-दूर चारों ओर कहीं नहीं है। प्रशस्ति के दो एक पद्यों को देकर अब हम इस नोट को समाप्त करते हैं। मंगलाचरण में कवि शिव-तांडव का वर्णन करता है—

> [illegible]-
> [illegible] :
> दोर्दण्डभ्रमणार्द्धकाण्डचलितब्रह्माण्डखण्डं मुदे
> भूयाद्वो निबिड[illegible]ताण्डवम् ।

इसी प्रकार आश्रम का वर्णन सुनिए—

> कुर्वन्ति वानरगणान्मृगशावपोता
> सिंहस्तनं पिबति चात्र शिशुर्मृगस्य :
> वैरं निजं परिहरन्ति विरोधिनोऽन्ये ,
> सत्त्वस्य शाम्यति मनो हि तपोवनेषु ।

विष्णु, कृष्ण और भानु

× × ×

९. बाजीगर का खेल

दिखाया बाजीगर ने खेल ।
आँख खुली थी, किंतु न देखा,
खींची उसने कैसी रेखा :
जिसने दो टुकड़े पृथ्वी के
किए मेल-बेमेल ।
पश्चिम-पूरब नाम रखाकर,
स्वामी-सेवक उन्हें बनाकर,
फूँका कुछ जादू-सा उसने
डाला मन में मैल ।
उधर स्वार्थ-मदिरा ले चाखी,
इधर द्वेष की भंग अनोखी :
पी-पीकर प्याले-पर-प्याले
दोनों बने नशेल ।
अपनी-ही-अपनी सभी है,
दो दीवानों में जूझी है ;
चाह रहे हैं दोनों, निकले
बालू से से तेल ।

देवीप्रसाद गुप्त 'कुसुमाकर'

× × ×

१०. आँसू

ये हैं सुराग-वीणा, कहते जिन्हें नयन हो ;
हैं तार नेत्र तारे प्रकटित मदन सदन जो ।
खटकी हृदय-मृतत्री, झट नेत्र पट पतन हो ;
अनुराग-अश्रुओं का तत्क्षण बहिर्गमन हो ।
हे अश्रु को न टूटें, मृदु राग ये निराले :
इनके सुदिव्य 'स्वर' को समझेंगे अश्रुवाले ।
संचित स्वरूप-धन तव दृक्कोष में हमारे,
प्रत्यंग रूप-रेखा मज्ञान वेष सारे ।
सुषमा, सुकांति, सौरभ, सौंदर्य रत्न प्यारे,
यह रत्नकोष अनुपम अनमोल देख हारे ।
जब-जब तुझे निहारें, दृक्कोष पट उठा दे,
आँसू न ये बहा दे—मोती मनो लुटा दे ।
सबलों की लाज तू है, निबलों का तू सहारा :
है शांति-पथ-प्रदर्शक, दुखियों को प्राणप्यारा ।
दुख-शोक अग्नि में जब जलता हृदय विचारा ;
तत्काल यह बुझाता है अश्रु-जल हमारा ।
तू हो न प्राप्य जग में, ऐसा न स्थान होगा ;
दोनों का मान धन भी, तुझ-सा न और होगा ।
चाहे तो तू निकलकर सारा जगत रुला दे ;
पीयूष प्राण होकर कुछ प्रेम-रस पिला दे ।
बहकर मयंक-मुख में जग को तू कुछ सिखा दे ;
निज ज्योति-शक्ति की या प्रतिभा तनिक दिखा दे ।
निकले नयन से ज्यों ही जादू को मात कर दे ;
पत्थर को मोम कर दे, कुछ ऐसी बात कर दे ।
अद्भुत प्रभाव तेरा, हे अश्रु, देख पड़ता ;
होता न तू, जगत् से जाती न नेक जड़ता ।
करुणा अनाथिनी थी, तुझ बिन न प्रेम भाता ;
व्यवहार-शून्य होता, दुख-सुख न कुछ सुहाता ।
होती न जो कसौटी यह अश्रु धार प्यारी ;
सुवरन-'हृदय' न होती, जग में परख तुम्हारी ।

"हृदय"

× × ×

११. सन् १३५९ ई० में विकारी संवत्सर

गत ज्येष्ठ की 'माधुरी' (पृष्ठ ६६४-६६५) में पं० लोचनप्रसाद पांडेय ने यह शंका प्रकट की है कि गणना करने से सन् १३५९ ईसवी, अथवा विक्रम-संवत १४१६ में विकारी संवत्सर नहीं पड़ता। इसमें भूल यह है कि उनकी गणना नर्मदा के उत्तर-भाग के लिये है, न कि दक्षिण-भाग के लिये । इन दोनों भागों के संवत्सर एक नहीं होते । नर्मदा के उत्तर-भाग में संवत्सर ३६१ दिन, १ घड़ी और ३६ पल का माना जाता है, जो बृहस्पति की मध्यम गति से एक राशि में रहने का समय है ; परंतु नर्मदा के दक्षिण-भाग में संवत्सर भी साधारण वर्ष के समान ही समझा जाता है, और इसका आरंभ भी चैत्र-शुक्ल-प्रतिपदा, अथवा मेष की संक्रांति से समझा जाता है, अर्थात् जिस समय विक्रमी या शक-संवत बदलता है, उसी समय दक्षिण-भाग में संवत्सर भी बदलता है। इसी भिन्नता से उत्तर और दक्षिण-भागों के संवत्सर भिन्न होते हैं। पंचांगों में दोनों प्रकार के संवत्सर दिए जाते हैं। इस वर्ष विक्रम संवत १९८२ में नर्मदा के उत्तर भाग में ईश्वर-नामक संवत्सर, और दक्षिण भाग में क्रोधन-नामक संवत्सर है, जो काशी के कई पंचांगों से सिद्ध हो सकता है।

तुलना करने से ज्ञान पड़ता है कि संबलपुर-ज़िले के

नरसिंहनाथ के मंदिर के शिला-लेख में विकारी संवत्सर, नर्मदा के दक्षिण-भाग की प्रथा के अनुसार, दिया गया है। संवत् १४१६ (सन् १३५६ ई०) की चैत्र-पूर्णिमा शुक्रवार के दिन अवश्य पड़ी थी, जैसा कि शिला-लेख में दिया हुआ है। अब यह देखना है कि उस वर्ष विकारी संवत्सर कैसे सिद्ध होता है। इसकी गणना यों है—

संवत् १४१६ वि० से संवत् १६८२ वि० तक २६६ वर्ष होते हैं। इतने वर्षों में दक्षिण-भाग में इतने ही संवत्सर भी बदलते हैं। परंतु ६० संवत्सरों का एक चक्र होता है, जो दक्षिण-भाग में ६० ही वर्ष में पूरा होता है। इसलिये यदि संवत् १४१६ में विकारी संवत्सर था, तो १४१६+४×६० अथवा १६५६ वि० में भी विकारी संवत्सर होना चाहिए; क्योंकि २४० वर्ष में ६० संवत्सरों के ४ चक्र पूरे होते हैं। अब १६५६ से १६८२ तक २६ वर्ष होते हैं। इतने समय में विकारी के बाद २६ संवत्सर और बदले।

संवत्सरों की सूची में विकारी ३३वाँ संवत्सर है। इसलिये विकारी से २६वाँ संवत्सर सूची का ५९वाँ संवत्सर होता है, जो क्रोधन है। इससे यह सिद्ध होता है कि उपर्युक्त शिला-लेख में जिस संवत्सर का प्रयोग किया गया है, उसका निश्चय उस गणना के अनुसार नहीं किया गया था, जो उत्तर-भाग के लिये लागू है, और जिसे पांडेयजी ने माधुरी में दिखाया है, वरन् उसका निश्चय दक्षिण-भाग की प्रथा के अनुसार किया गया था। *

पांडेयजी ने कवर्धा स्टेट के मड़वा-महल के शिला-लेख के जिस संवत्सर की चर्चा की है, उसका निश्चय नर्मदा के उत्तर-भाग की प्रथा के अनुसार किया गया था। इसीलिये इन दोनों में मेल नहीं खाता।

*......the so-called Jupiter's cycle .... as used to this day in Southern India is merely a cycle of 60 Indian solar years. The Jupiter's cycle, properly so-called, which has been in use in Northern India .... is a cycle of real Jovian (Jupiter's) years of 361 02672 days Indian chronology p 38.

साम्प्रत नर्मदेच्या उत्तरेस बार्हस्पत्य सवत्सर चालतात। नर्मदेच्या दक्षिणेस चालणाऱ्या। सवत्सरास ही कोणी बार्हस्पत्य सवत्सर म्हणतात, परंतु ती चूक आहे। आता त्यां मध्ये बार्हस्पत्यत्व राहिले नाहीं। (मराठी भारतीय ज्योतिष-शास्त्र पृष्ठ ३८८)

अंत में मेरी प्रार्थना है कि भारतवर्ष के अनेक खंडों में भिन्न-भिन्न प्रथा के अनुसार तिथियों और संवत्सरों का निश्चय अब भी किया जाता है। इसलिये यदि कहीं एक रीति से भिन्नता देख पड़े, तो दूसरी रीति से निश्चय करना आवश्यक है।

महावीरप्रसाद श्रीवास्तव

× × ×

१२. भाषा-परिवर्तन

श्रीजगदीश्वर-निर्मित सकल संसार में सबसे पहले मनुष्यता तथा सभ्यता प्राप्त करने का सौभाग्य आर्य-जाति ही को मिला था। आर्य-जातियों में भी सभ्य-शिरोमणि बनने का सौभाग्य वैदिकों को ही प्राप्त हुआ था। वैदिकों के प्रथम होने का प्रमाण प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि वेदों से अधिक पुरानी कोई पुस्तक आज तक किसी को नहीं मिली। सभी धर्मवाले इस बात को निस्संकोच मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं कि इस दुनिया में वेदों से पुरानी कोई पुस्तक नहीं है। यदि यह बात सिद्ध हो गई है, तो संस्कृत सबसे पुरानी भाषा है, यह बात भी अनायास ही सिद्ध हो गई। केवल भारतवर्ष के ही प्रांतों में नहीं, वरन् दूसरे-दूसरे प्रांतों में भी संस्कृत के शब्दों ने अपना पूर्ण प्रवेश क्रमशः कर लिया। भाषा के इतिहास तथा व्युत्पत्ति जाननेवाले विद्वान् इस बात को सप्रमाण स्वीकार करते हैं कि दुनिया में जितनी भाषाएँ प्रचलित हैं, उन सबमें संस्कृत के कुछ-न-कुछ शब्द उसी रूप में या परिवर्तित रूप में अवश्य ही मिले हुए हैं। स्मरण रहे कि मैं प्राकृत तथा प्राकृत की अन्य भाषाओं को भी संस्कृत ही का रूपांतर समझता हूँ। जिस समय आर्य-जाति ने सभ्यता प्राप्त की, उस समय एक ऐसी भाषा थी, जिससे प्राकृत, संस्कृत आदि अनेक भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस स्थान पर मैं उर्दू, फ़ारसी और अँगरेज़ी, इन्हीं तीन भाषाओं का उदाहरण दूँगा; क्योंकि मुझे संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त इन्हीं तीनों का कुछ-कुछ परिचय प्राप्त है। दूसरी भाषाओं से मेरा परिचय नहीं है। मारवाड़ी और गुजराती को एक प्रकार की हिंदी ही समझ लीजिए और बँगला को अपभ्रंश और संस्कृत का रूपांतर।

निम्न-लिखित कुछ शब्द फ़ारसी और उर्दू में व्यवहृत होते हैं। अब ज़रा इनकी व्युत्पत्ति पर ध्यान दीजिए कि ये कैसे उत्पन्न हुए—यथा आशिक़, माशूक़, आफ़ताब,



[illegible]

[पं० रामचरित उपाध्याय की [illegible]]

माहताब, वकील, जनाब, बारात, मेहमान. अस्प, पिदर, मादर, बिरादर इत्यादि ।

१. आशिक़—संस्कृत में एक शब्द है 'आसक्त' । जिसकी व्युत्पत्ति है आ+सञ्ज+क्त । उसका अर्थ होता है चारों तरफ़ से या अच्छी तरह लिपटा या सटा हुआ । आसक्त का प्राकृत 'आसक्क' है । पैशाची में इसका रूप होगा "आशक्क"; क्योंकि पैशाची में तालव्य शकार ही का प्रयोग होता है। इस प्रकार आशक्क से आशक, फिर आशिक़ बन गया ।

२. माशूक़—संस्कृत-रूप है 'माशोक', जिसका अर्थ है जिससे शोक न हो, अर्थात् जिससे शोक नष्ट हो जाय। इसका संस्कृत-विग्रह इस प्रकार है—"मा नास्ति शोकः यस्मात् स 'माशोकः' स्त्री चेत् 'टाप्' 'माशोका' । अब 'माशोक' और 'माशोका' शब्द यू० पी० और पंजाब की ओर गए, जहाँ 'क्योंकि' के बदले 'क्यूँकि' कहा करते हैं, और 'मैंह में' के बदले 'मैं में' । इसी प्रकार 'माशोक' का 'माशूक़' और 'माशोका' का 'माशूक़ा' बन गया, जैसा फ़ारसी और उर्दू में व्यवहार किया जाता है ।

३. आफ़ताब—इसका संस्कृत-शब्द है 'आपत्ताप', जिसकी व्युत्पत्ति "आपदायकः तापः यस्य सः (मध्यमपदलोपी बहुव्रीहिः) अथवा 'आपद्दायकः तापः' इति (शाकपार्थिवादीनामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः) आपत्ताप. । फ़ारसी-उर्दूवाले संस्कृत पद के मध्यस्थ 'प'कार को 'फ'कार से परिवर्तित करते हैं । इसीलिये वे लोग संस्कृत के आपत् (द्) शब्द को 'आफ़त' कह देते हैं । अस्तु, 'आपत्ताप' को उन लोगों ने 'आफ़त्ताप' कर दिया। फिर वे लोग पद के अंत में रहनेवाले 'प' को 'ब' से भी परिवर्तित कर देते हैं, इसीलिये जल-वाचक 'आप' (अप्-शब्द का प्रथमा का बहुवचन) को 'आब' कहते हैं । इस प्रकार 'ताप' का 'ताब' बन गया, और जब संयुक्त 'त'कार को एक ही तकार बना दिया, तो 'आफ़ताब' शब्द सिद्ध हुआ, जिसका अर्थ सूर्य है; क्योंकि उसमें बहुत गरमी है, और उससे बहुत तकलीफ़ होती है ।

४. माहताब—इसका संस्कृत-रूप है "महत्ताप" या 'महातापः' । इसका अर्थ है बड़ी गरमी पहुँचानेवाला, या जिसमें गरमी बहुत हो । इसकी संस्कृत-व्युत्पत्ति यों है—महान् तापो यस्य वा महान् तापः इति 'महातापः' । अब हमसे पूछिए कि इसका अर्थ चंद्रमा कैसे हुआ ? इसमें गरमी कहाँ से आई ? सुनिए । नैषध में एक जगह दमयंती ने अपनी सखी से कहा है—ऐ सखी, यहाँ का चंद्रमा तो महातापकारी है । क्या तुम्हारे घर और देश का चंद्रमा ठंडा है ? यदि ठंडा हो, तो मैं वहीं चलूँ । विरहिणी के लिये चंद्रमा सदा तापकारी ही रहता है । संस्कृत के सभी कवि विरहिणियों के लिये चंद्रमा का उष्ण (गरम) होना ही वर्णन करते हैं । केवल इसी बात को देखकर फ़ारसी तथा उर्दू के कवियों ने चंद्रमा को 'माहताब' कहना प्रारंभ कर दिया । उन लोगों की यही रीति है कि वे एकदेशी अर्थ को व्यापक अर्थ मान लेते हैं । उदाहरण के लिये 'वदन' शब्द को लीजिए । संस्कृत में 'वदन' शब्द का अर्थ मुख है ; क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति है "वदति अनेन इति वदनम् वद् + अनट् (करणाधिकरणयोश्चेति ल्युट् । लकारटकारौ इतौ 'यु' एतस्य स्थाने 'युवोरनाकौ' इति 'अन' आदेशः) जिससे बोला जाय, उसे वदन (मुँह) कहते हैं । इस व्युत्पत्ति से केवल उसी छिद्र को मुँह कहना चाहिए, जिससे बोलते हैं, किंतु संस्कृतवाले इसको थोड़ा-सा व्यापक मानकर कंठ के ऊपरी समस्त भाग को मुख कहते हैं । जैसे 'चंद्रमुखी' तथा 'चंद्रवन्मुखम्' इत्यादि । इसी वदन को फ़ारसी और उर्दू के कवि बहुत बड़ा व्यापक बनाकर समूचे शरीर को बदन कहते हैं । "गुलबदन के वास्ते दिल हाथ से जाता रहा", इसी प्रकार चंद्रमा विरहियों ही के लिये महाताप होकर भी सबके लिये (फ़ारसी-उर्दूवालों के मत से) माहताब कहलाने लगा । यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से ही 'प' को 'ब' में परिवर्तन करके 'माहताब' बन गया ।

५. वकील—इसका शुद्ध संस्कृत है 'वाकील' । इसकी व्युत्पत्ति है वाचा कीलयति न्यायाधीशस्य बुद्धिं इति वाकीलः (वाच्+कील+अच्) । जो अपने वचनों से न्यायाधीश की बुद्धि को घेर लेता है, उसे वाकील कहते हैं । वकीलों का बहुत बोलना प्रसिद्ध ही है ।

६. जनाब—यह शुद्ध संस्कृत शब्द है । इसकी व्युत्पत्ति है जनान् अवति (रक्षति) इति जनावः (जन+अव्+अच्; पचाद्यच् । पचादिराकृतिगणः)—जनों की रक्षा करनेवाला । उर्दूवाले भी इसको प्रतिष्ठित व्यक्ति ही के लिये प्रयुक्त करते हैं, और प्रतिष्ठा वास्तव में उसी को प्राप्त है, जिससे दस-पाँच को आश्रय रहता है ।

७. बारात—शुद्ध संस्कृत 'वरात' ही है ; क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति है वराः श्रेष्ठजनाः अतन्ति गच्छन्ति

अस्मिन्निति वरातः । बरात में सभी लोग अच्छे कपड़े-लत्ते पहनते हैं, इसलिये 'वर' श्रेष्ठ समझे जाते हैं। दूसरी व्युत्पत्ति यों है—वरः विवाहयोग्यो बालकः अतति गच्छति अस्मिन्निति वरातः (वर+अत+अच्)। बहुत-से लोग संस्कृत के व्रात (झुंड-वाचक) शब्द का अपभ्रंश बरात मानते हैं। इसी को 'बारात' भी कहते हैं। इसकी व्युत्पत्ति यों भी हो सकती है—वारे नियतदिवसे अतन्ति इति 'वारातः' (वार+अत+अच्)। बारात ठीक निश्चित किए हुए दिन को ही जाती है।

८. मेहमान—इसका संस्कृत-शब्द है महामान्य। मेहमान आदर करने के पात्र होते ही हैं। अतिथि-सत्कार की महिमा सभी शास्त्रों में है।

९. इसी प्रकार अश्व का अस्प, पितर का पिदर मातर का मदर, भ्रातर का ब्रादर इत्यादि हो गए हैं। इन सबमें सविभक्तिक पद का अनुकरण किया गया है। पितरः प्रथमा का बहुवचन है। मातरः को भी इसी प्रकार समझिए। 'भ' को 'ब' से बदलकर ब्रादर बना, और अश्व के 'श्व' को 'स्प' करके अस्प बना दिया गया। इसी प्रकार के हज़ारों नहीं, लाखों शब्द हैं।

अब हम अँगरेज़ी-शब्दों का भी दिग्दर्शन करा देते हैं, जिनमें से कुछ ये हैं—

Near नियर, Warn वार्न, November नवंबर, वाकेबुलरी, Pious पायस इत्यादि।

१. Near (नियर) - संस्कृत में एक शब्द निकट है, जिसका प्राकृत में नियड़ हो जाता है। इसी का अपभ्रंश है नियर, नियरा, नीरे इत्यादि। इसका अर्थ सब जगह समीप (नज़दीक) होता है।

२. Warn (वार्न)—संस्कृत में 'वारण' शब्द है, जिसका अर्थ मना करना, चेताना इत्यादि होता है।

३. November (नवंबर)—संस्कृत है 'नवांबर', नवानि अम्बराणि यस्मिन् स नवाम्बरः; अथवा नव+अम्बर। शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् (न दीर्घ) अतः नवम्बरः इत्यपि साधु। नवंबर में कुछ-कुछ जाड़ा पड़ने लगता है, इसलिये सब लोग नया कपड़ा पहनते हैं।

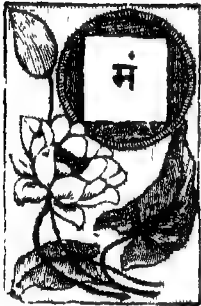
४. Vocabulary (वाकेबुलरी)—इसका संस्कृत-रूप है, 'वाक्य-वल्लरी' वा वाग्वल्लरी—वाक्यों की वल्लरी, लता, जिसमें बहुत शब्द हों, अर्थात् शब्दों की सूची।

५. Pious (पायस)—पयस्+अण्, जो दूध से बना हो। दूध से बनी चीज़ पवित्र होती है। अँगरेज़ी में भी पायस का अर्थ पवित्र ही है, इत्यादि।

अक्षयवट मिश्र



१. मंगल



मंगल-ग्रह की दूरी साधारणत: पृथ्वी से १,००० से २०,००० लाख मील है। किंतु पंद्रह वर्षों में एक बार वह हमसे केवल ३६० लाख मील की दूरी पर आ जाता है। गत अगस्त में वह हमारे निकट आया था। इस दूरी का अंदाज़ा लगाने के लिये आप एक ऐसे वायुयान की कल्पना कीजिए, जो एक मिनट में दो मील चलता हो। वह यदि दिन रात अविराम गति से चलता रहे, तो उसे मंगल तक पहुँचने में ३५ वर्ष लगेंगे : किंतु सबसे शक्तिशाली दूर दर्शक यंत्र उसे केवल ५०,००० मील की दूरी पर ला दिखाता है। इससे हमने उसके भूगोल के विषय में बहुत कुछ जान लिया है। पृथ्वी के दोनों 'ध्रुव'-स्थानों का पता हमें नहीं मिला, किंतु मंगल के दोनों ध्रुवों के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त हो चुकी है।

मंगल की प्राकृतिक स्थिति का भी ज्ञान हमें है। रश्मि-विश्लेषक (Spectroscope) यंत्र द्वारा हम यह जान चुके हैं कि उसके वायु-मंडल में बहुत थोड़े जल-कण हैं। उसके चारों ओर बादलों का अभाव भी इसकी पुष्टि करता है। उसके ध्रुवों पर सदैव बर्फ़ जमी रहती है : इससे वे प्रदेश बहुत ठंडे रहते हैं। जब यहाँ की बर्फ़ गलने लगती है, तब ग्रीष्म-ऋतु होने का अनुमान किया जाता है। मंगल में जो काली-काली रेखाएँ देख पड़ती हैं, वे उस समय और भी अधिक काली हो जाती हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि ये रेखाएँ नहरें हैं, जो पानी की अधिकता के कारण अधिक काली जान पड़ती हैं।

किंतु अब भी मंगल के विषय में बहुत कुछ जानना बाक़ी है। मंगल में झीलें, नदियाँ या समुद्र क्यों नहीं हैं? वहाँ की बर्फ़ पीली क्यों है? ऋतुएँ पृथ्वी की ऋतुओं से दूनी बड़ी क्यों होती हैं? उसकी सतह पर सीधी-सीधी रेखाएँ क्या हैं? ये रेखाएँ कभी-कभी दूनी क्यों हो जाती हैं? उस पर से गुज़रती हुई छाया-सदृश कौन-सी वस्तु कभी-कभी दिखाई देती है? ये ऐसे विषय हैं, जिन पर अभी प्रकाश पड़ना बाक़ी है।

मंगल में प्राणी रहते हैं या नहीं, यह प्रश्न इतना पुराना हो गया है कि इस विषय पर अधिक लिखना बेकार है। जीव-तत्त्ववेत्ताओं तथा रासायनिकों ने जाँच करके यह प्रमाणित किया है कि जहाँ कहीं गरमी, प्रकाश, जल तथा कार्बन के यौगिक और कुछ खनिज नमक होंगे, वहीं प्राणी रह सकता है। इनमें से प्रत्येक पदार्थ मंगल में मौजूद है। इसीलिये वहाँ प्राणियों का होना भी संभव है। फ़्रांस के विख्यात ज्योतिषी Camille Flammarion

का दृढ़ मत है कि मंगल में प्राणी रहते हैं, और उनसे बातचीत करने में हम लोग उसी प्रकार सफल होंगे, जिस प्रकार पृथ्वी के किसी दूसरे भाग के मनुष्य से बातचीत करने में। स्थिति अभी अनुकूल न होने के कारण ही वहाँ के प्राणियों से बातचीत करने में देर लग रही है। अवस्था अनुकूल होते ही मंगल के मनुष्यों से हम, रेडियो द्वारा, केवल सात मिनट में, समाचारों का आदान-प्रदान कर सकेंगे।

यदि मंगल में सचमुच प्राणी रहते होंगे, तो वे हम-जैसे न होंगे। कारण, जिस समय वहाँ की अवस्था हम-जैसे मनुष्यों के रहने योग्य रही होगी, उस समय पृथ्वी अग्नि का एक गोला थी। मंगल पृथ्वी से छोटा और सूर्य से, पृथ्वी की अपेक्षा, दूर है। इसलिये वह पृथ्वी के ठंडी होने के बहुत पहले ही ठंडा हो चुका होगा। वहाँ जीव-संचार का आरंभ पृथ्वी पर जीव-संचार होने से बहुत पहले हो चुका होगा। वहाँ के प्राणी पृथ्वी को आकाश में चमकती हुई देखते होंगे। यदि वे बुद्धिमान् होंगे, तो हमारे विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये उत्सुक भी रहते होंगे। कुछ ने उड़कर यहाँ तक आने का विचार भी किया होगा, अथवा यहाँ का वायु-मंडल जल से परि-पूर्ण जानकर वे डर गए होंगे कि पृथ्वी पर पहुँचने पर वे कहीं पानी में डूब न जायँ। कुछ तो हमसे बातचीत करने ही की धुन में मस्त होंगे, और पृथ्वी जब उनके पास से होकर गुज़रती होगी, तभी वे रेडियो द्वारा अपने समाचार भेजते होंगे। कौन जाने, हम कब उनका भेजा संवाद सुन और समझ सकेंगे। यदि संवाद सुन भी लें, तो उसे समझने के लिये आकाश-पाताल एक करना पड़ेगा।

आदिम ज़माने के लोग अपने भावों को चित्रों द्वारा या अपने शरीर की हरकतों से प्रकट करते थे। नीदर-थाल-संज्ञक मनुष्य कहीं पर मुँह खोले हुए बाघ का चित्र बनाकर यह भाव बताते थे कि उनका शिकार सकुशल समाप्त हुआ। क्रो-मैगनन नाम का मनुष्य किसी अनजान अभ्यागत को जब कभी अपना ख़ाली दाहना हाथ दिखलाता था, तो उसका अर्थ यह होता था कि मैं आपका स्वागत करता हूँ। हाथ फैलाने का अर्थ माँगना था। आँखें मूँदकर पड़ रहने से मर जाने का भाव जताया जाता था। इत्यादि। किंतु ये इशारे वहीं काम में लाए जा सकते हैं, जहाँ दो मनुष्य आमने-सामने हों, और एक दूसरे की भाषा न समझता हो। यहाँ तो कई लाख मील का फ़र्क़ है — कहाँ मंगल के रहनेवाले, और कहाँ हम! फिर भी वैज्ञानिकों का ख़याल है कि अब मंगल-निवासियों से संवाद के आदान-प्रदान की संभावना पहले से १०,०००गुनी अधिक हो गई है।

उन्हें केवल एक रेडियो का भरोसा है। एक वैज्ञानिक गर्व के साथ लिखता है—"देखो, रेडियो में हमने कितनी उन्नति की है! सन् १९१० में मारकोनी ने अटलांटिक के उस पार संवाद भेजने का यंत्र बैठाया। सन् १९१३ में हम लोगों ने चलती हुई रेल-गाड़ियों में रेडियो लगाया। सन् १९१५ में वाशिंगटन से पेरिस और होनोलूलू को टेलिफ़ोन से मिला दिया। १९२१ में साधारण मनुष्य भी रेडियो के सेट लगाने लगे, और साधारण 'ब्राडकास्टिंग स्टेशन' खुल गए! इस समय सारा संसार अदृश्य शब्द-तरंगों से व्याप्त हो गया है। अब केवल मंगल-निवासियों से बातचीत करना बाक़ी रह गया है। इतिहास में यह बहुत महत्त्व-पूर्ण युग माना जायगा।" देखें, वह दिन कब आता है।



मंगल के बाद

एक मिनट में दो मील की चाल से चलनेवाले वायुयान को मंगल तक पहुँचने में ३५ वर्ष लगेंगे; किंतु रेडियो

द्वारा वहाँ समाचार भेजने में केवल साढ़े तीन मिनट ! इसी चाल से चलनेवाला वायुयान सूर्य तक ८६ वर्षों में, शुक्र तक २५ वर्षों में और चंद्रमा तक ८३ दिनों में पहुँचेगा। सबसे निकटतम तारे तक पहुँचने में उसे दो लाख वर्ष लगेंगे !

× × ×

२. बिजली का घोड़ा

यदि कोई पढ़ा-लिखा मनुष्य लकड़ी या लोहे के घोड़े पर बैठकर लड़कों की तरह "टिक्-टिक् घोड़े चल बे चल" कहता रहे, और घोड़ा एक क़दम भी आगे न बढ़े, तो उस मनुष्य को आप क्या कहेंगे ? पागल ही न ? तो फिर इसी श्रेणी में अमेरिका के राष्ट्रपति कूलिज का भी नाम आप दर्ज कर लीजिए।



प्रेसीडेंट कूलिज अपने बिजली के घोड़े पर

यदि प्रेसीडेंट कूलिज भारतवर्ष-जैसे किसी परतंत्र देश के बड़े लाट, छोटे लाट, नवाब, राजा या महाराजा होते, तो उनका समय शिकार करने, मछली पकड़ने और सैर-सपाटे में बीतता। किंतु सौभाग्य या दुर्भाग्य से बेचारे को अमेरिका-जैसे स्वतंत्र देश का राष्ट्रपति-पद मिला है। आप दिन-रात काम के मारे चूर रहते हैं, यहाँ तक कि दैनिक कसरत करने का भी समय मुश्किल से मिलता है। किंतु उन्हें अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यान रहता है, इसलिये उन्होंने अपने घर में एक बिजली का घोड़ा बना रक्खा है। उसमें एक घोड़े की शक्ति की मोटर लगी हुई है, जिसका बटन घोड़े के सिर पर रहता है। बटन के दबाने से घोड़े के दौड़ने के समय उसकी पीठ की जैसी गति होती है, उसी प्रकार की गति इस यंत्र की भी होती है, अर्थात् यंत्र ऊपर-नीचे, आगे-पीछे होने लगता है। यंत्र में दो लीवर भी लगे हुए हैं, जिनसे इसकी चाल कम-वेश की जा सकती है। इसके द्वारा वह घोड़ा तेज़ या धीरे-धीरे चलाया जा सकता है। इस प्रकार घर के भीतर ही घोड़े पर चढ़ने का मज़ा मिलता है, और कसरत भी हो जाती है।

× × ×

३. तिनके से कागज़

कागज़ की माँग संसार में दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। केवल एक अमेरिकन संयुक्त-राज्य को ही लीजिए। वहाँ प्रति वर्ष ७५,००,००० टन कागज़ ख़र्च होता है। पचास वर्ष पहले वहाँ केवल ५,००,००० टन कागज़ की खपत थी; किंतु आज से पचास वर्ष बाद २,००,००,००० टन लगेगा—ऐसी लोग भविष्य-वाणी कर रहे हैं। अब यदि हम सारे संसार के कागज़ का लेखा लगावें, तो वह बहुत अधिक हो जायगा। इन अंकों को देखकर तथा कागज़ बनाने के साधनों के परिमाणों पर लक्ष्य रखकर कुछ वैज्ञानिकों को यह भय होने लगा है कि एक दिन कागज़ बहुत महँगा हो जायगा। इस भय को दूर करने के लिये फ़्रांस के मि० डे० वेंस तैयार हैं। उन्होंने भूसी, पुआल, तिनके आदि से कागज़ बनाने का एक नया साधन निकाला है।

तिनकों से कागज़ बनाना कोई नई बात नहीं है। गत पचास वर्षों से इस प्रकार का कागज़ योरप और अमेरिका में बन रहा है; किंतु वह लकड़ी की लुगदी से बननेवाले कागज़ के मुक़ाबिले का नहीं होता। तिनकों का कागज़ इतना ख़स्ता होता है कि उसे लिखने या छापने के काम में नहीं ला सकते। किंतु मि० वेंस के नए तरीक़े द्वारा उसका यह सब दोष जाता रहा है, और तिनकों से उसी प्रकार का कागज़ बन सकता है, जैसा लुगदी से।

दस वर्ष हुए, डे० वेंस ने इस तरीक़े की आज़माइश



शुरू की थी। अब उनकी ही प्रथा से काग़ज़ बनानेवाले प्रायः एक दर्जन कारख़ाने योरप में काम कर रहे हैं।



यहाँ खर-तिनको आदि का टुकड़ा किया जाता है, तथा उनकी लुगदी बनाई जाती है।

बाईं ओर के यंत्र में लुगदी बेरंग बनाई जाती है, और वह बरफ़-जैसी सफ़ेद बनकर नीचे दिखाए हुए रोलरों में काग़ज़ बनने के लिये दी जाती है



कनाडा का एक खलिहान

फ़सल कट जाने के बाद यहाँ इतना पुआल जला दिया जाता था, जिससे ५०,०००,००० टन काग़ज़ बन सकता है। अब यह पुआल काग़ज़ बनाने के काम में आता है

इस रीति से काग़ज़ बनाने में केवल नमक और चूना, ये ही दो रासायनिक पदार्थ काम में लाए जाते हैं।

× × ×

४. मिनट में तीन मील

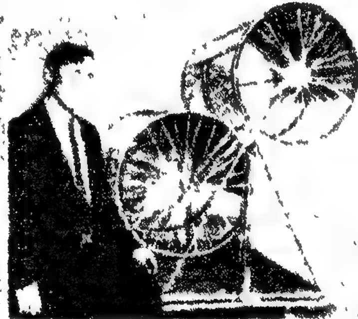
तीस वर्ष की बात है, नार्वे में एक लड़का माता-पिता से अपने लिये एक बाइसिकिल ख़रीद देने को झगड़ रहा था। नार्वे की भूमि पथरीली है, इसलिये उसके माता-पिता साइकिल ख़रीदने के लिये तैयार न थे। किंतु लड़के के हठ के सामने उनकी एक न चली, और उसके लिये एक साइकिल ख़रीदनी ही पड़ी। एक दिन वह साइकिल तोड़-ताड़कर एक गठरी में बाँधे घर पहुँचा। उसे देखकर माता-पिता को बड़ा दुःख हुआ कि नई चीज़ इसने तोड़ डाली। किंतु लड़के ने उन्हें समझाया कि इसे मैं तुरंत ठीक किए देता हूँ। वह जब टुकड़ों को एक-एक करके जोड़ने लगा, तो उसे जान पड़ा कि उसका एक हिस्सा कहीं खो गया है। इसलिये उसने एक पुर्ज़ा अपना बनाकर उसमें लगा दिया, और साइकिल बनकर खड़ी हो गई। अब वह लड़का औरों से, जिनके पास साइकिल थी, बाज़ी लगाने तथा चाल में सबको हरा देने लगा। इसी समय से उसकी प्रतिभा का विकास हुआ। उसका असली नाम हागडाल और चलतू सिग है।

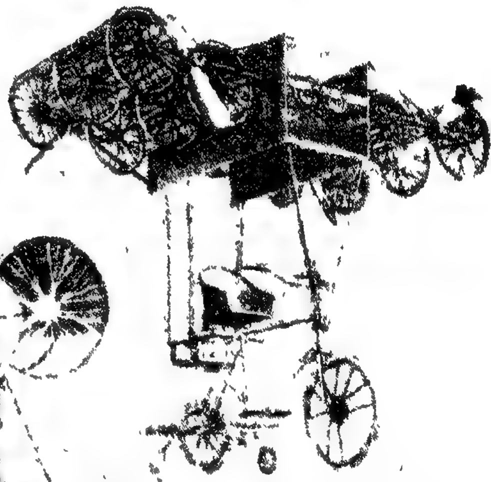


संसार का सबसे तेज़ मोटर-चालक सिग हागडाल

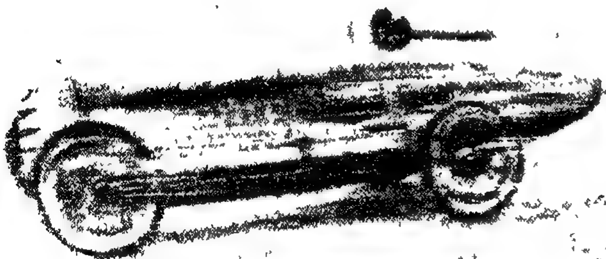
नार्वे से वह अमेरिका आया, जहाँ उसका चचा क़साई का काम करता था। यहाँ वह मोटर-साइकिल

बनाने का काम करने लगा। पीछे वह मोटर-साइकिल चलाने में इतना दक्ष हो गया कि एक दौड़ में उसकी चाल १०३ मील प्रति घंटे थी, और वह सबसे आगे था। किंतु इस दौड़ में उसकी एक टाँग टूट गई। इस कारण उसने सोचा कि यदि मोटरकार में दौड़ लगाऊँ, तो अच्छा हो। उस समय मोटरकार की चाल यदि घंटे में १०० मील होती, तो यही बहुत समझा जाता था। किंतु टामी मिल्टन ने अपनी एक मोटरकार को घंटे में १५६ मील दौड़ाकर यह साबित कर दिया कि मोटरकार की गति अभी चरम सीमा पर नहीं पहुँची। यह देख हागडाल ने सोचा, मैं तीन मील फ़ी मिनट की चाल से चलनेवाली मोटरकार बनाऊँ। उसने जाकर मिल्टन की गाड़ी देखी, और अपनी मोटरकार बनाने लगा। ग्यारह महीने दिन-रात परिश्रम करने के बाद उसने एक ऐसी मोटरकार बनाई, जो घंटे में १६१ मील के हिसाब से चली। किंतु उसकी अभिलाषा पूरी नहीं हुई। उसे तो घंटे में तीन मील चलनेवाली मोटरकार बनानी थी। इसलिये जजों से उसने कहा कि आप लोग कुछ दिन और सब्र कीजिए। अंत में उसने एक ऐसी मशीन बनाई, जो घंटे में १८०.२७ मील, अर्थात् १९.९७ सेकिंड में एक मील जाती है। तब से वह संसार में दौड़ का राजा





उड़नेवाली बाइसिकिल (असली हालत में) तथा उसका आविष्कारक



मिनट में तीन मील चलनेवाली मोटरकार

(World-speed King) कहलाने लगा। उसकी मोटरकार का नाम Three-Miles-a-Minute Wisconsin Special है। यह गाड़ी ठीक मछली के आकार की है। इसके सब पुर्ज़े बड़े ही मज़बूत बने हुए हैं। यह ऐसी बनी है कि इसमें हवा की बहुत ही कम रुकावट होती है।

× × ×

७. उड़नेवाली बाइसिकिल

शिकागो-शहर में एक दर्ज़ी रहता है। उसका नाम इज़रेल ज़िपेरस्टीन है। दिन-भर वह फतुही सीता रहता है; किंतु अपने शाम का अधिकांश भाग उड़नेवाली बाइसिकिल बनाने में लगाता है। पचीस वर्षों में उसने अपने यंत्र को जैसा बनाया है, उसे चित्र में देखिए। भारत के दर्ज़ी अपने फ़ुर्सत के समय का क्या उपयोग करते हैं? यहाँ के कितने इंजीनियरों के मस्तिष्क में इस प्रकार के यंत्र बनाने की भावनाएँ उठती हैं?

× × ×

८. मछलियों की सूँघने की शक्ति

वैज्ञानिकों का यह विश्वास था कि मछलियों में सूँघने की शक्ति नहीं होती। इसका कारण वे यह बताते थे कि जिन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार की बू सूँघनी पड़ती है, उनमें ही घ्राण-

शक्ति होती है। चूँकि पानी में भिन्न-भिन्न प्रकार की बू होना संभव नहीं, इसलिये पानी में रहनेवाली मछलियों को घ्राण-शक्ति की आवश्यकता नहीं होती। जर्मनी के प्रो० कार्ल नो फ़िश प्रसिद्ध प्राणिशास्त्र वैज्ञानिक हैं। उन्होंने अपनी कई परीक्षाओं द्वारा यह सिद्ध किया है कि मछलियों के भी घ्राण-शक्ति होती है। उन्होंने तालाब में एक स्थान पर भोजन रख दिया। मछलियाँ थोड़ी देर में वहाँ आ जुटीं। एक मछली को पकड़कर उन्होंने उसकी नाक में एक 'ऑपरेशन' कर दिया। अब वह भोजन के पास उतनी शीघ्रता से नहीं पहुँच सकती थी। भारतवर्ष में जो लोग मछली मारते हैं, वे कुछ सड़ा हुआ खाद्य पदार्थ तालाब के किसी एक स्थान में डाल देते हैं। उसी स्थान में मछलियाँ आकर जमा हो जाती हैं, और वे आसानी से उन्हें मार सकते हैं। मछलियों को श्रवण-शक्ति तथा घ्राण-शक्ति, दोनों प्राप्त हैं।

× × ×

७. चालीस करोड़ वर्ष का प्राणी

शिकागो के फ़ील्ड-नामक अजायबघर में चालीस करोड़ वर्ष का एक प्राणी सुरक्षित अवस्था में रक्खा है। जिस समय इस पृथ्वी पर शायद चट्टानों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, उस समय यह अद्भुत जीव इस पृथ्वी के उच्चतर प्राणियों में था। उस (पैले-ओज़ोइक) समय से यह प्राणी न्यूयार्क के उत्तर में ज्यों-का-त्यों पड़ा हुआ था। इसका ऊपरी हिस्सा सिर था, और नीचे का हिस्सा प्राणी का निचला अंश। एक खोपड़ी से अपने सारे शरीर को ढककर यह प्राणी उस समय समुद्र की तली में धीरे-धीरे रेंगा करता था। कैसा विचित्र प्राणी है!



चालीस करोड़ वर्ष का प्राणी

× × +

८. संसार के सबसे पुराने और छोटे ग्रंथ

फ़िलाडेल्फ़िया के पुस्तकालय में दो दर्शनीय पुस्तकें हैं। जो पुस्तक सबसे छोटी है, वह तलहत्थी पर है। इसमें कई सौ पेज हैं। यह कुछ ही वर्ष पहले बनी थी।



संसार के सबसे पुराने और छोटे ग्रंथ

दूसरी पुरानी पुस्तक डेढ़ इंच का चौखूँटा पत्थर है। यह ४००० वर्ष की पुरानी है। उर-वंश के बेबिलोनियन राजा के समय की कुछ बातें इस पर खुदी हैं।

× × ×

९. अँगूठी में पेंसिल

स्त्रियों के पास बहुधा पेंसिल रखने का कोई अच्छा साधन नहीं होता। पुरुष तो अपनी जेबों में कहीं रख लेते हैं, किंतु बेचारी स्त्रियों को कष्ट उठाना पड़ता है। यह कठिनाई दूर करने के लिये एक ऐसी अँगूठी बनी है, जिसमें पेंसिल भी रख सकते हैं। प्रायः अँगूठी जल्दी खो नहीं जाती, इसलिये आपकी पेंसिल भी एक प्रकार से निरापद है। अँगूठी प्रायः सब समय आपकी उँगली में रहती है। पेंसिल भी जब चाहिए, हाज़िर मिलेगी।



अँगूठी में पेंसिल

अँगूठी के काले तथा चौखूँटे या अंडाकार नग के नीचे यह पेंसिल छिपी रहती है। एक ओर थोड़ा-सा दबा देने से पेंसिल बाहर निकल आती है। 'स्क्रू' पर एक-दो ऐंठन लगाइए, पेंसिल का सीसा बाहर निकल आवेगा। सीसा ख़तम हो जाने पर दूसरा बदल दीजिए। साथ के चित्र में पेंसिल-युक्त नग चाँदी की एक अँगूठी पर जड़ा गया है।

× × ×

१०. बात करनेवाला पोस्टकार्ड

जर्मनी के बर्लिन शहर के कार्बरमेल वर्ग ने एक ऐसा पोस्टकार्ड ईजाद किया है, जो संवाद आँखों को न बताकर कानों को सुनाता है। इस पोस्टकार्ड पर ज़िलेटिन-नामक पदार्थ का एक पतला लेप (Coating) लगा रहता है। फ़ोनोग्राफ़ के सदृश एक यंत्र से इस पोस्टकार्ड पर चिह्न बना दिया जाता है। यह यंत्र इतना छोटा होता है कि इसे आप जेब में रख सकते और जब चाहें, पोस्टकार्ड पर रखकर उसके शब्द सुन सकते हैं। पोस्टकार्ड पर ६०० से ८०० शब्द तक लिखे जाते हैं।

× × ×

११. दूसरे नंबर का सबसे बड़ा जहाज़

संसार का सबसे बड़ा जहाज़ 'दि ह्वाइट स्टार लाइनर मैजेस्टिक' है। इसके बाद 'लेविएथन' का नंबर आता है। यह सन् १९१४ ई० में बना था। बना तो था



लेविएथन

केवल ८,४०० यात्रियों को ले जाने के लिये, किंतु अब उस पर १२,००० से भी अधिक सैनिक यात्रा करते हैं। साउथंप्टन के सूखे डक में यह महाकाय युद्ध-जहाज़ खड़ा है। नीचे खड़े हुए मनुष्यों से इसकी तुलना कीजिए।

श्रीरमेशप्रसाद



१. वर्तमान परिस्थिति



वर्तमान परिस्थिति पर विचार करने का इरादा बहुत दिनों से है ; पर लिखने का साहस नहीं होता। साहस हो ही कैसे सकता है ? भारतवर्ष में ऐसे प्राणी बहुत ही कम हैं, जो स्त्रियों की बात सुनना पसंद करें। जिसको देखिए, वही स्त्रियों के नाम से चिढ़ता है। पर अपनी ज़रूरतों के लिये स्त्रियों का नाम लेना ही पड़ता है। उनकी ज़रूरतों के आगे जहाँ स्त्री-समाज ने अपनी ज़रूरत की कोई बात कही, तो पहले घरवाले ही ज़बान खींच लेने का दम रखते हैं। फिर यदि लिखकर कुछ कहने का विचार करें, तो प्रेसवाले उसे प्रकाशित करने में अपना अपमान समझते हैं। स्त्री-संबंधी पत्रिकाओं में अगर लेख निकल भी गया, तो बहुत कम लोगों की निगाहों से पड़ता है। वेंकटेश्वर-प्रेस तो औरतों का एक तरह से दुश्मन ही है। जहाँ तक हो सकता है, वह स्त्रियों की ज़रूरी-से-ज़रूरी बात भी प्रकाशित नहीं करता। तुर्किस्तान में जो स्वातंत्र्य हुआ, वहाँवालों ने एक पंक्ति भी नहीं लिखी। यह तो संभव नहीं कि वे जानते न हों। हाँ, यह अनुचित है, ऐसी डाँट बताने को ही वहाँ स्त्रियों के संबंध की बातें लिखी जाती हैं। माधुरी कर्तव्य समझकर लिख तो देती है, मगर यह कहे विना नहीं रह सकती कि यहाँ की स्त्रियों के लिये ये उपयोगी नहीं। मेरा मतलब इस लेख से यह है कि हर तरह से स्त्रियों का जीवन कष्ट में तो है ही ; पर दो बातें मुख्य हैं—एक तो धनाभाव, दूसरे पर्दा। मुख्य कारण तो पर्दा ही है। उसी को छोड़ने से सब कष्ट मिट सकते हैं। पर स्त्री-समाज इसका इच्छुक नहीं। लाखों कष्ट, महाअपमान झेलें : पर वे बंधन में ही सुखी हैं। इसलिये इस विषय को छोड़कर मैं दूसरा विषय ही लूँगी।

स्त्री-समाज को धनाभाव के कारण ही अपरिमित कष्ट और अपरिमित अपमान सहना पड़ता है। स्त्री-समाज अगर इसके लिये उद्योग करता, तो अब तक कभी का सफल मनोरथ हो गया होता। लेकिन शोक तो इसी बात का है कि स्त्रियों में जाति का प्रेम ही नहीं है। एक स्त्री को देखकर दूसरी स्त्री हँसेगी, अपमानित को देखकर और अपमान करेगी, और गिरते को देखकर और दो लातें लगावेगी। परंतु यह कभी न तो देखा और न सुना कि एक स्त्री दूसरी स्त्री के कष्ट-हरण का उद्योग करती और कराती है। यही हमारा अधःपतन है। स्त्रियाँ ऐसी गहरी नींद सो रही हैं कि इस तरफ़ उनका ध्यान ही नहीं जाता। मेरा यह लेख सुखी एवं धनी बहनों के लिये ही है। वे चाहें, तो सब कुछ कर सकती हैं। माना कि तुम नौकरियों के योग्य नहीं हो, कचहरियों

में जगह नहीं पा सकतीं; लेकिन उद्योग-धंधे अवश्य कर सकती हो। वह भी पर्दों में छिपकर। फिर क्या कारण है कि आप कटि-बद्ध नहीं होतीं, और नाम और धर्म नहीं कमातीं? यदि बहनें चाहें, तो सब कुछ कर सकती हैं। मनुष्य के लिये कुछ भी असाध्य नहीं। स्त्रियों में ऐसी एक-से-एक होशियार हैं, जो मशीनों के तरह तरह के काम जानती और पुरुषों के कारख़ानों में काम करती हैं। एक बंगाली महिला को मैंने कानपूर में देखा, जो मशीनें बनाने में ऐसी चतुर है कि आवाज़ सुनकर पहचान जाती है कि मशीन में कहाँ क्या बिगड़ा है। कानपूर-ऊलन-मिल से उसको साढ़े सात सौ की तनख़्वाह मिलती है। और भी ऐसी ही अन्य बहुत सी स्त्रियों को मैंने देखा है, जो तरह-तरह के कामों में निपुण हैं; पर उनकी शक्ति बिखरी हुई है, जिससे सबको फ़ायदा नहीं हो सकता। कानपूर में एक ऐसा कारख़ाना खुला भी था, जिसमें स्त्रियाँ काम करती थीं। रोज़ दो-चार रुपयों की आमदनी थी। पर इससे स्त्री-समाज का थोड़ा-सा अंश सुखी था। मगर वह कारख़ाना पुरुषों की तरफ़ से था। पुरुषों का समाज भला यह कब देख सकता था! दो-चार बातें लगाके कारख़ाना तुड़वा डाला, तब जी ठंडा हुआ। इन बातों से मालूम होता है कि पुरुष-समाज तो पवित्रता का अवतार ही है। दूसरों के ऐब देखने को उसके हज़ार आँखें हैं। अहा, क्या पवित्र मूर्ति है! मर्दों के कारख़ाने, जहाँ निरे शराबी और ख़राब लोग हैं, एक भी नहीं टूटते। जो लोग औरतों से हँसते-बोलते और कटु वचन कहते ज़रा भी लज्जित नहीं होते, उन्हीं लोगों से ये कारख़ाने भरे पड़े हैं; लेकिन उनको टूटते कभी नहीं देखा। पर हा स्त्री-समाज! तूने तो अपना गौरव अपने हाथों गँवा दिया। बहुत दिनों से परतंत्रता में जकड़े रहने से तेरी सब चेतना-शक्ति जाती रही। एक दिन वह था, जब अपनेको अपमानित होते देख स्त्रियाँ मारने-मरने को उतारू हो जाती थीं। रावण के घर से आने पर कटु वचन सुनके सीता जलने को तैयार हो गईं, और वाल्मीकि के आश्रम से जब अयोध्या चलने की बात सुनी, तो हृदय इस अपमान को न सह सका कि जिस घर से निकाली गईं, उसी में फिर जायँ। उन्होंने कहा—"पृथ्वी तू फट जा; मैं तुझमें समा जाऊँ।" उनके तेज और सत्य-व्रत से वैसा ही हुआ। पर अब यह ज़माना है कि ऐसे-ऐसे कटु वचन तो मिसरी की डली ही हो गए हैं। इससे भी भयंकर दृश्य मैं यह देखती हूँ कि एक औरत के ऊपर पुरुष जब दूसरी रखैल ले आता है, तो उसके और पति के, जो अब उसका चेरा बन जाता है, कड़ुए-कड़ुए वचन और गाली-मार सब कुछ सहती हुई भी वह चूँ तक नहीं करती। यदि उनसे पूछो कि तुम ऐसा क्यों करती हो, तो यही उत्तर मिलता है कि फिर क्या करें? यदि चले जायँ, तो क्या खायँ? पति देगा नहीं; पति द्वारा बहिष्कृत को माता-पिता भी नहीं रक्खेंगे। अफ़सोस! वे फिर कैसे जिएँ! इसी कष्ट में बहुतेरी स्त्रियाँ आत्महत्या कर लेती हैं। ऐसे जीने से वे मौत को बहुत अच्छा समझती हैं। पर इतनी हिम्मत सबमें कहाँ? मेरी धनवान् और भाग्यवती बहनो, यदि तुम चाहो तो अपने शृंगार की सामग्री में से ही कुछ दाम करके एक स्त्री-फ़ंड खोल दो, जिसमें ग़रीब-अमीर सभी थोड़ा-बहुत जमा करें, और उस धन से दुखियों का कुछ उपकार हो। सारा धन अपने ही काम आया, तो किस काम का? एक शहर के धन को देश के लिये दे देने से कुछ-न-कुछ काम अवश्य निकल जायगा। एक शहर में एक-ही-एक कारख़ाना खुल जाने से बड़ा उपकार होगा। काम के साथ नाम भी अमर होगा, और धर्म होगा सो घाते में। यों तो विधवा-आश्रम और अनाथालय अनेक खुले हैं, पर उनमें बड़ा कष्ट है। हरएक स्त्री उनमें नहीं जा सकती। हे प्रिय बहनो, इस लेख का उत्तर मिले, और मुझे मालूम हो कि तुम लोग तैयार हो, तो मैं इस काम में हाथ डाल दूँ। वर्ना तुम्हीं सोचो, अकेला चना कहीं भाड़ फोड़ सकता है?

भगवतीदेवी

× × ×

२. विचार की लहर में

पर्दे की पराधीनता से निकलना, ऊँची शिक्षा पाना, राजनीति, विज्ञान, साहित्य और जीवन के अन्य उच्च क्षेत्रों में विचरना, ये सब स्त्री के धर्म-सिद्ध अधिकार हैं, जिनके लिये आज वह पुरुष से लड़ने पर उतारू है। किंतु ये सब उस उच्च आध्यात्मिक अधिकार के सामने कितने तुच्छ हैं, जिसके अंदर ये सब सम्मिलित और समाविष्ट हैं, जिसकी नींव पर ही ये सब खड़े होते हैं, जिसके होने से ही इन सबकी सार्थकता है। यदि आज स्त्री यह समझ ले कि वह पुरुष की वासनाओं को तृप्त

करने ही-भर के लिये नहीं है, पुरुष की कामुक आँखों को सुख देने के लिये गुड़िया नहीं है, वह सामग्री नहीं, स्वतंत्रकर्त्री है, तो कौन-सी आँख है, जो उसके सतीत्व का अपमान कर सके? कौन-सी शक्ति है, जो उसका खुली हवा में विचरना और स्वतंत्र विकास पाना रोक सके? इस दृष्टि-परिवर्तन के बिना उसके सभी सामाजिक और राजनीतिक अधिकार निरर्थक हैं।

* * *

उनके यहाँ आतिथ्य पाना जीवन का एक सौभाग्य है। कैसा उदार, विशाल हृदय, कैसा सरल, मधुर स्नेह और सबसे बढ़कर संकोचहीन खुला व्यवहार है। यह सब होते हुए भी मुझे अपने मित्र के घर में जो बात रह-रहकर चुभती है, जो मुझे अपनी उपस्थिति का अनुभव न होने देने, अपनी इच्छाओं को प्रकट न करने, अपनी वाणी को चुप और अपने व्यवहार को संकोच-पूर्ण रखने तथा जल्द-से-जल्द उनके घर को छोड़ भागने के लिये बाध्य करती है, वह यह कि मेरे कारण—सिर्फ़ मेरे कारण—घर के कुछ व्यक्तियों को अंदर की कोठरी में सादी क़ैद भोगने का दंड भोगना पड़ता है! अपनी कोठरी में भी मेरे कारण उनका ज़ोर से बोलना भी उसी प्रकार निषिद्ध है, जैसे जेल में क़ैदी का 'वंदे मातरम्' या 'सत् श्रीअकाल' का पाठ करना!

* * *

सचमुच क्या कभी पुरुष यह सोचते भी हैं कि यदि उन्हें एक दिन भी उस तरह बंद रहना पड़े, जिस तरह स्त्रियाँ बरसों रहती हैं, तो उनकी क्या दशा हो? दिन में कहीं-न-कहीं बाहर निकले बिना कैसी बेचैनी होती है? बाहर की दुनिया को देखने के लिये जी कैसा अकुलाता है?

वे कहते हैं, स्त्रियों में मूढ़ विश्वास है, वे मढ़िया और क़ब्रें पूजती हैं। पर वास्तव में चारों तरफ़ से हमेशा बंद रहने पर उन्हें जो कोई मार्ग बाहर निकलने का मिलता है, उसी से निकलना चाहती हैं। यह मनुष्य-स्वभाव है। इसे कोई रोक नहीं सकता।

जयचंद्र

× × ×

३. पुष्प

पुष्प! तुम्हारी सुंदरता का,
 वर्णन कैसे होगा आज।
मुग्ध हुए लख नयन, तृप्त मन,
 अद्भुत शोभा रही विराज।
करवाते हो रसिक जनों को,
 अपना सरस प्रेम-रस पान।
देवगणों के शीश चढ़ाकर,
 भक्त लोग करते हैं मान।
कैसी निर्दयता, पर उनकी,
 करते तनिक न इसका ध्यान।
जिनकी तुम बिन हो जावेगी,
 विरह-व्यथा में आधी जान।
भ्रमर-वृंद उन्मुक्त मस्त हो,
 करते फिरते अनुसंधान।
पर, तुम उनको आकर्षित कर,
 देते हो आनंद महान।
किंतु पुष्प! तुम भी मत करना,
 किंचित भी मन में अभिमान।
अंत गिरोगे, भूतल पर ही,
 यही तुम्हारा है सम्मान।

सुंदरप्यारी

कवि-चर्चा



दक्षण कवि



मुसलमान कवियों ने हिंदी की जो सेवा की है, उसे हिंदी के अभिमानी हिंदू कदापि नहीं भूल सकते। रहीम, रसखानि, आलम, जायसी आदि अनेक मुसलमान हिंदी के उत्कृष्ट कवि हो गए हैं, जिन्होंने हिंदी-भाषा का यथार्थ महत्त्व समझकर अत्युत्तम काव्य-ग्रंथ लिखे। आज इस छोटे-से लेख में हम एक मुसलमान-कवि की कृति का वर्णन करते हैं, जिसका स्थान हिंदी-साहित्य में, काव्य की दृष्टि से, अन्य मुसलमान-कवियों से किसी प्रकार नीचा नहीं है।

हिंदी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से दक्षण कवि ने उस समय हिंदी में कविता की, जिस समय मुसलमानों ने हिंदी के प्रति अश्रद्धा दिखाते हुए उर्दू को अपना रक्खा था। उस समय मुसलमान-बादशाहों के दरबार में भी हिंदी का मान बहुत कुछ घट गया था। ऐसे समय एक मुसलमान-कवि का हिंदी में कविता करना केवल विशेष महत्त्व ही नहीं रखता; किंतु अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक सराहनीय भी है।

अहमदुल्लाह, उपनाम 'दक्षण' कवि, से हिंदी-संसार जो अब तक अपरिचित है, यह कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं; क्योंकि आजकल भी हिंदी-पुस्तकों की खोज के संबंध में हिंदी के हिमायती बहुत उदासीन हैं। जो लोग यह समझे हुए हैं कि खोज का काम अब पूर्ण हो गया, उनको यह बताने की आवश्यकता नहीं कि वे भ्रम में पड़े हैं। सच तो यह है कि हिंदी में खोज-विषयक नित्य नई-नई बातों का पता चल रहा है; और अभी न-जाने कितनी सामग्री अप्राप्त है। हमें खोज में दक्षण कवि-कृत 'दक्षण-विलास' नाम का एक शृंगार-ग्रंथ मिला है। उसमें कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

भाषा काव्य रसाल तामें 'दक्षन' पद पायो;
पारसी काव्य सुदेस सुभग वालिद पद लायो।
पढ्यो मैं ग्रंथ अनंग पारसी और अरब्बी;
पूरब-पच्छिम उत्तर दच्छिन देख्यो सरबी।
अहमदुल्लाह निज नाम है, बासी बहरियाबाद को;
शुभ वंस अहै मारूफ के करखा पद जो आदि को। *

* * *

ग्यारह सै चौतीस हतो संवत जो बीत्यो;
दल मदीने नगर*डगर महमद जो जीत्यो।
चौतिसएं के अंत ग्रंथ मैं सोधि बनायो;
मास हतो जीकाद सो मैं यह रस बरसायो।

* यह छंद यतिभंग दोष से दूषित है।—संपादक

सुभ 'दच्छन-बिलास' इहि ग्रंथ को, नाम धरयो मैं प्रीतिकर ;
अब चलयो मैं मीत अर्सास दै, भाषा-रस-रँग जीति कर ।

* * *

दच्छन कर यह ग्रंथ है, महा सुदेस सुभाइ ;
'मुहमदफाजिल' मीत लगि, दच्छण लिख्यो बनाइ ।
ग्यारह सै चालिस बरस, हिजरी संवत आहि ;
पातसाह दिल्ली तखत, हतो 'मुहम्मदसाहि' ।
दिल्ली मधि 'दच्छन' लिख्यो, अपने कर यह ग्रंथ ;
भटके बाट कवित्त रस, रसिकन लावन पथ ।

इससे ज्ञात होता है कि अहमदुल्लाह, उपनाम दक्षण कवि, बहरियाबाद तथा दिल्ली का निवासी था। उसने हिजरी, सन् ११३४ में मीर मोहम्मदफ़ाज़िल के लिये 'दक्षण-विलास'-नामक ग्रंथ बनाया। हमारे पास इस ग्रंथ की जो प्रति है, वह निर्माण-काल के लगभग ११० वर्ष बाद की, अर्थात् संवत् १८६४ वि० की, लिखी हुई है।

दक्षण कवि का आश्रयदाता मीर मोहम्मदफ़ाज़िल मुग़ल-बादशाह मोहम्मदशाह का वज़ीर था। वह बड़ा काव्य-प्रेमी था। मीर मोहम्मदफ़ाज़िल का दूसरा नाम क़मरुद्दीन था। यह संवत् १७८९ के लगभग वर्तमान था। संवत् १८०५ में अहमदशाह अब्दाली के हाथों इसका वध हुआ। दक्षण कवि के अतिरिक्त इसने 'गंजन' कवि को भी अपने यहाँ रक्खा था। गंजन कवि ने अपना ग्रंथ 'क़मरुद्दीनख़ाँ हुलास' इसी को समर्पित किया था। 'दक्षण' ने मीर मोहम्मदफ़ाज़िल को अपना आश्रयदाता नहीं लिखा ; किंतु मित्र कहकर संबोधन किया है।

इस ग्रंथ में सब मिलाकर ६०० से अधिक छंद हैं। ग्रंथ के विषय में नायिका तथा नायक के भेदों के अतिरिक्त हाव, विभाव तथा अन्य नव रसों का भी समुचित वर्णन है। आरंभ में सरस्वती, शिव, गणेश, काली आदि हिंदू देवी-देवतों की स्तुति भी की गई है। इस ग्रंथ में कोई भी छंद खुदा, रसूल या अन्य किसी मुसलमान फ़क़ीर की प्रशंसा में नहीं कहा गया; अपने मित्र अथवा आश्रयदाता की प्रशंसा का भी कोई छंद नहीं है।

ग्रंथ का विषय-निरूपण इस प्रकार है—

देवी-देवतों की स्तुति	...	१० छंद
कवि-परिचय	...	२ ,,
नायक तथा नायिका के भेद	...	३०० ,,
भाव तथा उनके भेद	...	४ ,,
हाव-वर्णन	...	८१ छंद
सखी अथवा दूती का वर्णन	...	५५ ,,
रस-दशा-वर्णन	...	११७ ,,
हास्य, करुणा आदि अन्य आठ रस	...	३५ ,,
ग्रंथ-समाप्ति	...	५ ,,

इसमें लक्षण प्रायः दोहों में तथा उदाहरण कवित्त और सवैयों में हैं। अन्य छंद बहुत ही कम हैं। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों के वर्णन में, एक दोहे में लक्षण कहकर, राधा तथा कृष्ण के ऊपर ही छंद लिखे गए हैं।

इस छोटे-से लेख में हम इस ग्रंथ की पूर्ण समालोचना नहीं कर सकते। हमारा अभीष्ट केवल ग्रंथ और ग्रंथकार का परिचय कराना ही है। अंत में केवल थोड़े-से छंद उदाहरणार्थ दिए जाते हैं, जिनसे पाठकों को इस ग्रंथ की उत्कृष्टता और इसकी भाषा का कुछ ज्ञान हो जाय।

सरस्वती तथा शिव की स्तुति कवि ने इस प्रकार की है—

(१)

कलपवृक्ष सुखकंद कटन दुख-दद फंद अति ;
बेद बस गति हस सुकृत अवतस सदन-मति ।
महि-मंडल नवखंड माहि मंडयो ब्रह्मंडन ;
कमला-मंड प्रचंड सैन दारिद्र-बिहंडन ।
कर-बीन प्रबीन सरस्वती, हीय हार-मुक्ता लसत ;
कवि 'दच्छण' रच्छण जगत की, जग चच्छन-बच्छन बसत ।

(२)

मीन गति लीन जल बीन मे महा प्रबीन,
बसि के बँसीन जग दीन-बंद जानी है ;
कमला करन सुख, दारिद हरन दुख,
जाको होय सनमुख सो दिनेस बानी है।
बिद्या-रस-सानी, अघ-हानी रूप-रानी मानी,
तिहूँ लोक मानी हंस-बाहिनी सयानी है ;
बेद-गुन ज्ञानी कबि 'दच्छन' सुजानी, बानी,
नौ-निधि-निधानी अष्टसिद्धि-राजधानी है।

(३)

गंग-धार धारन अधम्म को उधारन,
त्रिलोक को सधारन सखा कुबेर काल को ;
सेत बृष-बाहन कपाल-मालचाहनं,
सुकालकूट-दाहनं पिनाक ब्याल-लाल को ।
जे अनंग-नासन रचै बरी हुतासनं,
अचल गौरिआसन मयक अंक भाल को ;

शुद्ध बुद्धि रोचन अशुद्धि सुद्धि मोचन,
विचक्षण त्रिलोचन हतोज जाल-जाल को।

क्या इन छंदों से कोई कह सकता है कि यह किसी मुसलमान-कवि की कृति है? हिंदू देवी देवतों का वर्णन, और वह भी शुद्ध हिंदी-भाषा में! ये बातें एक मुसलमान-कवि के लिये विशेष महत्त्वदायक हैं।

नायिका-भेद के वर्णन में मध्या-अधीरा का चित्र इस प्रकार खींचा गया है—

लक्षण

नायक को अपराध लखि, बोले बोल कठोर;
मध्या-अधिरा कहत हैं, ताहि गुनी-सिरमौर।

उदाहरण

नायिका की उक्ति नायक के प्रति

गात सुबास बसाइ सबै निसि काहू रसीली के रंग में बोरत;
भोरहि आवत हो अगराइ, हमें दिसराइ के नीर निचोरत।
'दलन' कान परी यह बानि, कोऊ विष आनि सुधा बिच घोरत;
कौन सवाद किए रसवाद जो डोरत हो तुम तोरत जोरत।

* * *

नाभी ते नागिन चली, सुधा सिंधु मुख गोल;
कलकटी पाटी डटी, हठी उरोजन सैल।

* * *

गोरी बनाइ के बैठी हुती इक जाके सरूप रमा-रति लाजै;
नैनन में कजरा, कर में गजरा, गजमोतिन के गल गाजै।
दुति देखत ही कर दर्पन लै, लट एक छुटी मुख पै छबि छाजै;
मनो एक ही रास में आइके 'दलन' सूर-सनीचर सोम बिराजै।

* * *

लक्षण

आन नारि रति चिह्न लखि, पति सों रूखी होइ;
अस्तुति में निंदा करै, मध्या-धीरा सोइ।

उदाहरण

आज तो 'दलन' रावरे लखन लाइ अचंभन की भर-सी है;
रोचन भाल, बिलोचन लाल, तिलोचन की छबि-सी परसी है।
चंदन खौरि में बदन लीक की, यों उपमा सुखमा सरसी है;
छीर-पयोनिधि के जल मानो सिखा बड़वानल की दरसी है।
अजू आज उठे अँग-अंगन तें, रस-रंग-तरंगन की छलकें;
अति 'दलन' भाव तजी बस नींद के आवत हैं झपकी पलकें।
भाल भँगा सित में नख-रेख की यों उपमा सुखमा झलकें;
मनो द्विज-निसापति को प्रतिबिंब नदीपुर के जल में झलकें।

मध्या-अधीरा तथा धीरा के उदाहरणों से पाठकों को पता चल गया होगा कि नायिका-भेद के उदाहरण कितने ठीक उतरे हैं। भाव के साथ शब्द-चमत्कार के लिये तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं।

कवि ने हाव-वर्णन भी बड़ी पूर्णता के साथ किया है। यहाँ केवल 'विलास'-हाव का ही उदाहरण दिया जाता है—

लक्षण

बोलनि, चलनि, चितोनि मैं, अँग-अंग हरख हुलास;
तिहि कबि जन मन कहत हैं, 'दलन' हाव-विलास।

उदाहरण

अली संग सखी बहु रंग घटा मुसकयान छटा चमकावन-सी;
धुनि पाइल नूपुर घूँघुर तें पिक-कोकिल झिल्लिन गावन सी।
'दलन' पावस की ऋतु राधिका मोर-हरी हरखावन-सी;
मन-भावन पास चली बनिकै रस को बरसावन सावन-सी।

सखी अथवा दूतो के भेद के वर्णन में कवि ने धाय, नटी, मालिन, संन्यासिन, रामजनी, सुनारिन, शिल्पिनी आदि के द्वारा दूती-कर्म कराया है। छंदों के शब्द-चमत्कार में दूती के व्यवसाय का चित्र-सा खिंच जाता है। यहाँ पर मालिन तथा सुनारिन के ही उदाहरण दिए जाते हैं—

(१)

तुम रूप-निधानी महाअभिमानी वेऊ गुन-ज्ञानी बड़े नँदलाला;
सुभ बाग ज्यों वे, तुम तो तरु ज्यों, तरु वे, तुम फूल सुबास की माला।
धनि वे हैं जु नीलम के नग 'दलन' हो तुम तारो सु ज्योति की ज्वाला;
अजहूँ सु कहा लियो दोयो तिहारो जो आवत-जात परे पग छाला।

(२)

जाके लिये हरि चैन न हो निसि-बासर 'दलन' साँझ-प्रभातो;
चंपक-केतकी, कुंदन तें सुखमा रज गात की है मदमातो।
चंदकला दुति हीरे कली, रद कुंद कलीन की मानहु पाँतो;
मालती माल-सी लाल जो बाल सो लाई हौं लाल के लाइए छातो।

(३)

कंचन ज्यों घरिया महँ सोच की जात हौं जो बिरहानल औटो;
सो तो सुनार जो प्रेम के कुंदन, चाहत है कियो घाल कसौटी।
लाज सो पीर कहौं न मसान सो, अर्थ को पावै बिना अकरौटी;
प्यारो मिलाओ हौं 'दलन' चाह सों ये पहनै धुनि चोर चमोटी।

शृंगार-रस का पूर्ण वर्णन करके कवि ने अन्य आठों रसों का सूक्ष्म वर्णन किया है। निम्न-लिखित उदाहरणों से

पता चलता है कि अन्य रसों के वर्णन में भी कवि ने गौण-रूप से शृंगार-रस का ही अवलंबन किया है—

हास्य

देखी आज राधिका सुखासन सखीन संग,
मोद मदमाती महामदन-विलास ते ;
जानिए न कौन बात अदभुत कान करि,
बेसुधि हँसत सुनी बाहर निवास ते।
आपने सँदेसे को उतरु चलि आप लीजे,
ज्यों ये उन कह्यो मोसों मन के हुलास ते ;
बात मैं न बूझी वाके हास के प्रकास ही ते,
बदन न सूझ्यो वाके रदन-उजास ते।

करुणा

कैसे सुहाऊ सखी कहि ताहि जो 'दत्तन' आपनी छाह सों भागै ;
पीर ते होय खराई खरी औ खराई ते सोरी सुधी-बुधि त्यागै।
कौन उपाय करी त्रिपुरारि जो छार कर्यो मनमत्थ अभागै ;
प्रेत भयो अस जाहि लगै तिहिं जंत्र, न मंत्र, न तंत्र न लागै।

वीर

लाखन की फौज अभिलाखन की मौज लै कै,
बान ले कटाच्छन मे सैनन की सान दै ;
प्रेम-गजबेलि तानि, पायक प्रमान मानि,
'दत्तन' बिलासन की कर पै कृपान दै।
सोहन को हय, कौल मंद-गति गज-दल,
मनोरथ रथ-दल, पैदल पयान दै :
राधे चतुरंग साजि जीतन को ब्रजराज,
चली परिहास पान साधन के पान दै।

भयानक

कारी कजरारी सारी निपट अँध्यारी भारी,
पावस-बिभावरी अमावस के मेल-सी ;
अंबुद गमक, काम दुंदुभि धमक धूम,
दामिनी दमक खग्ग-धार जल सेल सी।
'दत्तन' पवन झकझोर चहुँ ओर सोर,
भय तोर जोर गई मान-मति खेल-सी ;
पकरि-पकरि नक्नागर सो रही राधे,
झपटि-लपटि के तमाल बपु बेल-सी।

अद्भुत

'दत्तन' देखी सुनी नहिं कानन, दीनदयाल महाबटपारी ;
जाहि दया करि नेकु बिलोकत ताहि लगै सर मैन के कारी।
औरइ रूप अनूप छिनै छिन जात कही न अकथ कथारी ;
थोरी-सी बैस किसोरी-सी राधिका जासों बिहारी रहे हरि हारी।

शांत

रंग सों रंग ज्यों पानी सों पानी, गए मिलि 'दत्तन' अत्तन पी सों ;
भावै न सैन, सुहावै न बैन, लगे रहे नैन पिया-मग ही सों।
चंदन चाँदनी चंद चितौति न, चाउ उतारि धरे सब ही सों ;
ईठि सों ईठि लगी जब सों जग पीठि दै बैठी उबीठि कै जी सों।

इतने ही उदाहरणों से पाठकों को संतोष करना पड़ेगा। संभव है, फिर कभी इस कवि की अन्य शृंगारी कवियों के साथ तुलनात्मक समालोचना की जा सके।

मयाशंकर याज्ञिक
भवानीशंकर याज्ञिक



१. इतिहास

सचित्र महाभारत—लेखक, पं० संतरामजी मोगा-निवासी। प्रकाशक, लाजपतराय ऐंड संज़ (?) बुकसेलर्स (?) ऐंड पब्लिशर्स ("), लाहौर। मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका के लेखक हैं आर्य-समाज के सुप्रसिद्ध नेता और विद्वान् लाला हंसराजजी। महाभारत की उपयोगिता के संबंध में पाठकों का परिचय कराना पिष्टपेषण-मात्र है, तथापि अत्यंत संक्षेप में भूमिका-लेखक की ही भाषा उद्धृत कर देना अप्रासंगिक न होगा। आप लिखते हैं—"महाभारत एक बड़ा ही अद्भुत और विचित्र ग्रंथ है। इसमें जिन घटनाओं का वर्णन है, वे भारत के सब प्रांतों से संबंध रखती हैं, और भारत की प्रसिद्ध कथाओं में से कोई ही ऐसी होगी, जिसका बीज इस ग्रंथ में न पाया जाता हो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-संबंधी जितने उपदेश इस ग्रंथ में विस्तृत रूप से लिपि-बद्ध हैं, उतने संसार की किसी पुस्तक में भी दिखाई नहीं देते। समाज की रक्षा, स्थिति और उन्नति के जो उपाय वर्णन किए गए हैं, अथवा जो उच्च आदर्श व्यक्तियों और समष्टियों के सामने रक्खे गए हैं, उनकी तुलना कठिनता से ही किसी अन्य पुस्तक के अंतर्गत होगी। जगत्प्रसिद्ध भगवद्गीता, जिसका अनुवाद भूमंडल की सब प्रसिद्ध भाषाओं में हो चुका है, और जिसके आदर्श, रूप, बल और तेजोयुक्त, उच्च विचारों से भूषित उपदेशों के सामने बड़े-बड़े विद्वान् अपना सिर झुकाते हैं, इसी ग्रंथ का एक छोटा-सा अंग है। लोकोक्ति है कि कोई भी विषय ऐसा नहीं, जिसका वर्णन महाभारत में न मिलता हो।"

महाभारत में भी, अन्य ग्रंथों के समान, प्रक्षिप्त भाग भी सम्मिलित हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु यथार्थ मूल से क्षेपक को पृथक् करने का प्रयास करना प्रायः दुःसाध्य-सा प्रतीत होता है। आजकल तो प्रायः यह चाल-सी पड़ गई है कि जो भाग जिस संप्रदाय के मत के अनुकूल न दृष्टिगत हुआ, वह उसे प्रक्षिप्त मान लेता है। यदि किसी व्यक्ति विशेष के विचार के विरुद्ध कोई भाग मिल गया, तो तुरंत वह क्षेपक की आड़ लेने लगता है। परंतु यथार्थ में, निष्पक्षभाव से, प्रक्षिप्त को पृथक् करना, आवश्यक है। हर्ष का विषय है कि भांडारकर की स्मृति-स्वरूप जिस संस्था का जन्म हुआ है, उसकी विद्वन्मंडली इस महत्कार्य में प्रवृत्त हुई है, और उसके लिये पर्याप्त द्रव्य का भी संग्रह हो रहा है। कार्य का प्रारंभ भी हो गया है। परंतु ऐसे महत्त्व-पूर्ण कार्यों के लिये द्रव्य और श्रम के साथ ही समय भी सापेक्ष होता है। परंतु इसमें अणु-मात्र भी संदेह नहीं कि उपयुक्त समय में अवश्य ही उन लोगों का श्रम सफल होगा, और वे महाभारत का संस्कार निष्पक्ष भाव से करने में समर्थ होंगे।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम महाभारत है, परंतु यह

महाभारत के आधार पर लिखा हुआ एक स्वतंत्र निबंध है। लेखक ने महाभारत की मुख्य-मुख्य घटनाओं का विवेचन अपने शब्दों में किया है, और स्थान-स्थान में अपने कथन की पुष्टि करने के लिये प्रमाणभूत महाभारत के श्लोक भी प्रचुर परिमाण में उद्धृत किए हैं। स्थान-स्थान पर उन्हीं भावों को बल देनेवाले वेद-वाक्यों की भी अवतारणा की गई है। युधिष्ठिर और भीमार्जुन के जन्म का वर्णन करते समय नियोग की मर्यादा का भी उल्लेख किया गया है, और यह निष्कर्ष माना गया है कि "नियोग आपद्धर्म है, इससे तीन से अधिक संतान पैदा करना ऋषि नहीं बताते। आपद्धर्म में भी नियोग से अधिक संतान पैदा करना, एक स्त्री के लिये व्यभिचार हो जाता है।" कथा-प्रसंग में आए हुए विषयों का नवीन शैली से विवेचन भी किया गया है। निरुक्त के "देवो दानात् दीपनात् द्योतनाद" आदि के आधार पर देव-शब्द के विषय में यह उक्ति है—"देव दिव्य गुणों के कारण, ज्ञानी तथा विद्वान् पुरुषों का नाम है, भिन्न जाति नहीं।" इसी प्रकार दैत्य की भी व्याख्या सुनिए—"जैसे आदित्य विद्वान् देवों का नाम है, वैसे ही इसके उलटे अज्ञानी, अधर्मी, विषयी वा आर्याचार के विरोधियों का नाम दैत्य है।" पुस्तक-भर में लेखक की विलक्षण प्रतिभा का परिचय पर्याप्त परिमाण में प्राप्त होता है। आजकल के नवीन वैज्ञानिक युग में जो बातें असंगत और अप्राकृतिक प्रतीत होती हैं, उनके विषय में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। भीम के वृक्षोत्पाटन के संबंध में लेखक लिखते हैं—"आजकल जैसे खूँटा उखाड़ना घुड़सवार सिपाहियों को सिखाया जाता है, इसी प्रकार पुराने काल में वृक्ष उखाड़ने सिखाए जाते होंगे; और भीमसेन इस कार्य में बड़े निपुण प्रतीत होते हैं; क्योंकि समय-समय पर इनके वृक्ष उखाड़ने का वर्णन आता है।" विराट की सभा में नपुंसक-वेश में अर्जुन का प्रवेश कराते समय हमारे पंडितजी बड़े असमंजस में पड़ गए हैं। आप लिखते हैं—अर्जुन ने राजा विराट से कहा—"नरदेव, मैं गाना, बजाना और नाचना बहुत अच्छा जानता वा जानती हूँ।" यदि इस वाक्य को थोड़ा बदल देते, तो यह अड़चन दूर हो जाती। यथा—मुझे गाना-बजाना और नाचना बहुत अच्छी तरह आता है। तब यह ठीक है कि जिस विशेष वेश पर भाषा के द्वारा भी ध्यान आकृष्ट करना अभीष्ट था, उसका महत्त्व कुछ कम हो जाता। पुस्तक में जातीयता के भावों को प्रबल करने का प्रयत्न बड़ी उत्तम रीति से किया गया है। प्रत्येक स्थल में जाति और देश की महत्ता का प्राधान्य माना गया है। इस पुस्तक के पढ़ने से अवश्य ही भारतीयों का स्वदेश-प्रेम जाग्रत् होगा, और अपने देश की प्राचीन स्थिति का स्मरण करके उनमें नवीन जीवन का संचार होगा। भगवान् कृष्ण के आदर्श पर स्थान-स्थान में बहुत ज़ोर दिया गया है, और इसमें संदेह नहीं कि भगवान् कृष्ण का चरित महाभारत में इतने उच्च कोटि का है कि यदि उन्हें मानव ही माना जाय, तो भी उनकी समता करनेवाला दूसरा कोई उपलब्ध नहीं होता। इसलिये जो लोग भगवान् कृष्ण को साक्षात् परब्रह्म मानते हैं, अथवा जो केवल मनुष्य ही मानते हैं, दोनों का इस विषय में कोई मतद्वैध नहीं है कि भगवान् कृष्णजी लोकोत्तर थे; बल, विद्या और बुद्धि में एक ही थे। वह सर्व-सम्मत सिद्ध अद्वितीय नेता थे, जिनका कौरव और पांडव, दोनों ही समान रूप से समादर करते थे। इसी आधार पर उनका देवत्व सिद्ध हो जाता है। एक श्रद्धाभाजन लेखक ने कृष्णजी के ईश्वरत्व के खंडन में यह लिखा है कि जिस समय कृष्णजी महाभारत के रणक्षेत्र में विद्यमान थे, उस समय संसार का संचालन किसके हाथ में था। लेखक ने इतना भी विचार न किया कि क्या संसार-संचालन के लिये सर्वत्र उन्हें लाठी लिए खड़े रहने की आवश्यकता थी? अस्तु। इसके विवेचन का यह स्थल नहीं है। ईश्वरत्व उनमें था, यह प्रायः सभी मानते हैं। किस प्रकार का ईश्वरत्व था, इसकी व्याख्या-मात्र में मतभेद है।

पुस्तक आद्यंत पठन और मनन करने योग्य है। इसके उच्च आदर्श को सामने रखकर नवीन युवकगण बहुत लाभान्वित हो सकते हैं। ऐसी सुंदर पुस्तक जनता के समक्ष उपस्थित करने के लिये हम उक्त पंडितजी को सादर साधुवाद देते हैं। भारत में ऐसी पुस्तकों की बड़ी आवश्यकता है, जिनके द्वारा भारतीय उच्च आदर्शों की शिक्षा मिले। मतद्वैध होना सर्वत्र स्वाभाविक है, पर वह हमारे देश-प्रेम में व्याघात नहीं कर सकता। आदर्श सबका एक है। परिशिष्ट भाग से पुस्तक की उपयोगिता

बहुत बढ़ गई है। आर्यावर्तीय वंशावली, भारतीय शस्त्र-अस्त्र और यंत्रादि, तूण के भेद तथा भारतीय युद्ध के बाजे आदि उपयोगी विषय परिशिष्ट में निर्दिष्ट हुए हैं। प्रश्नोत्तरमालिका और धर्मपुत्र का अज्ञ-परिपालन, ये दोनों अंश भी बड़े महत्त्व पूर्ण हैं। सुशासित राष्ट्र की दशा के वर्णन में मूल श्लोक और उनके अनुवाद देकर लेखक महाशय ने संसार को दिखा दिया है कि महाभारत-काल में राष्ट्र के शासन का क्या आदर्श था। अन्य देशवालों को अब तक स्वप्न में भी इसकी कल्पना नहीं हो सकती। अस्तु। पुस्तक का यथार्थ महत्त्व पढ़ने से ही ज्ञात होगा। हाँ, भाषा के संबंध में कुछ वक्तव्य है। "और विशेष कर वृकस्थल में विशाल आयोजन कि जहाँ कि सर्वभूतहितैषी शांति-संस्थापक ने शांत्रिवास करना था।" पाऊँ, प्यारे, पाऊ, आसुवों, शत्रुवों, यूँ आदि प्रयोग भाषा की दृष्टि से खटकते हैं। अगले संस्करण में इन्हें ठीक कर दिया जाय, तो अच्छा। हाँ, एक बात रह गई। पुस्तक सचित्र है, अर्थात् एक-मात्र लेखक के ही चित्र से इसका सचित्रत्व सार्थक किया गया है।

आद्यादत्त

× × ×

आर्यसमाज का इतिहास (प्रथम भाग)—लेखक और प्रकाशक, पं० श्रीयुत इंद्रजी विद्यावाचस्पति, अर्जुन-प्रेस, नया बाजार, दिल्ली। मूल्य ३) ; पृष्ठ-संख्या ८+२५१। कागज, छपाई, जिल्द इत्यादि संतोष-जनक।

आर्य-समाज के इतिहास के इस प्रथम भाग के तीन खंड किए गए हैं। प्रथम खंड में वैदिक धर्म के साथ बौद्ध, क्रिश्चियन, इस्लाम, पारसी और हिंदू-धर्मों की तुलनात्मक चर्चा की गई है; दूसरे खंड में, ऋषि दयानंद का विस्तृत जीवन-चरित दिया गया है; और तीसरे खंड में, सन् १८८३ ई० से १८१० ई० तक का आर्य-समाज का इतिहास।

इतिहास अभी पूर्ण नहीं हुआ, इसलिये इसके विषय में हम अपनी विस्तृत सम्मति नहीं प्रकट कर सकते; पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि आर्य-समाज का इतिहास लिखने का, इसके पहले जिन लोगों ने प्रयत्न किया है, उनके प्रयत्न की अपेक्षा इंद्रजी का यह प्रयत्न विशेष अभिनंदनीय है। भाषा ज़ोरदार है; पर पंजाबीपन जगह-जगह झलकता है। यह अनिवार्य है; क्योंकि लेखक पंजाबी हैं। इसके सिवा इस इतिहास में, जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें भी प्रांतीयता ही विशेष है। आर्य-समाज का आंदोलन पहले ही से भारत-व्यापी रहा है। इस कारण अन्य प्रांतों के संबंध की भी पूरी-पूरी घटनाएँ जब तक न दी जायँ, इतिहास अधूरा ही रहेगा। संभव है, लेखक को पंजाब के ही संबंध की जानकारी विशेष हो, और अन्य प्रांतों के लोगों ने उनको सामग्री भेजने में सहायता न दी हो, इसी कारण एकदेशीयता रह गई हो। पर आर्य-समाज-संबंधी युक्तप्रांत की भी बहुत कम घटनाओं का इस भाग में उल्लेख हो पाया है।

आशा है, अगले भागों में लेखक इस बात का ध्यान रक्खेंगे, और इन प्रांतों के विद्वान् सज्जन भी लेखक को इस इतिहास के संपूर्ण करने में यथोचित सहायता देंगे।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

× × ×

२. जीवन-चरित्र

क्रांतिकारी राजकुमार—अनुवादक, श्रीप्यारेमोहन चतुर्वेदी; प्रकाशक, प्रताप-कार्यालय, कानपुर। मूल्य १) ; पृष्ठ-संख्या २६८; प्रताप-पत्र-पुष्प की छठी पुस्तक।

राजप्रासादों में जन्म लेकर, प्यार के पलने में झूलकर, सुख शय्या पर सोकर जिनके हृदय में दरिद्र दीनों की झोपड़ी देखने और उनकी स्थिति से द्रवित होने की ईश्वरीय प्रेरणा उत्पन्न होती है, वे धन्य हैं। वे ही ईश्वरता का प्रतिपालन करते हुए देखे जाते हैं। रूस के प्रिंस क्रोपाटकिन के 'अमीर' हृदय के भीतर वे तंत्रियाँ बज उठीं, जिन्होंने उन्हें महलों से खींचकर कुटियों में ला खड़ा किया। ऐसे ही एक साम्यवादी राजकुमार का यह जीवन-चरित्र स्वयं उनके हाथ का है—नहीं, उनकी ही आत्म-कहानी है।

क्रोपाटकिन के पिता प्रथम ज़ार निकोलस के समय एक सैनिक कर्मचारी थे। क्रोपाटकिन को अपने प्रारंभिक जीवन में एक सैनिक की विजय-गाथा सुनने का अवसर बहुत आया। भाग्य के वैभव का चित्र एक स्थान पर क्रांतिकारी राजकुमार स्वयं खींचते हैं—"शाहज़ादी मुझे लेकर एक मख़मली आराम-कुर्सी पर बैठ गई। मैं उनकी गोद में सो गया—नींद टूटने पर उन्होंने बहुत-सी मिठाई देकर मुझको प्रेम से विदा किया। उस समय मेरे पिता

व अन्य बांधवगण मुझे बारंबार पुकारकर कहते थे—"अब तुम ज़ार के पार्श्व-अनुचर हो।" ज़ार का पार्श्व-अनुचर होना उस समय एक महान् पदवी थी। नोबुल लोग इसके लिये बड़े लालायित रहा करते थे।"

किंतु क्रुरोपाटकिन को मख़मली आराम-कुर्सी न रुची। उन्हें ग़रीबों के कठोर बिस्तरे अधिक सुखद प्रतीत हुए। तीस वर्ष की अवस्था तक बादशाही के वैभव को देखते देखते उनके हृदय में वेदना उत्पन्न हुई, और उन्होंने जब उत्तरी एशिया के संबंध में भौगोलिक अनुसंधान किया, तो इसके बाद ही उनके जीवन में परिवर्तन हुआ। उन्होंने अपने आप प्रश्न किया—"क्या इस सुख ऐश्वर्य को मुझे अकेले भोगने का अधिकार है?" बस, साम्यवाद का बीज बो गया। अंकुर जमने लगा, और वह पूर्ण रूप से पल्लवित उस समय हुआ, जब वह दुबारा स्वीज़रलैंड गए। पूँजी-पतियों की स्वार्थांधता को देखकर राजकुमार क्रुरोपाटकिन के हृदय में एक उद्वेग उत्पन्न हुआ, और इसी भावना ने उनसे आजीवन समाज का रूप बदल देने का प्रयत्न कराया। यही इस राजकुमार के क्रांतिकारी जीवन का रहस्य है। किंतु इस क्रांति के भाव ने उनके हाथों दूसरों का बलिदान नहीं कराया। वह प्रतिहिंसावादी न थे, स्वयं अपना बलिदान करते थे। उनके हृदय ने उनको महापुरुषों के मंच पर बिठा दिया। रूस के वर्तमान साम्यवाद के जन्मदाताओं में क्रुरोपाटकिन महाशय एक हैं। यद्यपि बाद को साम्यवाद के अनुयायियों ने प्रतिहिंसा का प्रवेश भी अपने सिद्धांतों में कर दिया, जैसा कि बोल्शेविक षड्यंत्रकारियों के कार्यों से मालूम होता है; पर यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि ऐसी राज्य-क्रांति के जन्मदाता क्रुरोपाटकिन भी थे।

इस पुस्तक में इन्हीं क्रुरोपाटकिन की जीवनचर्या है। पुस्तक ४३ अध्यायों में विभक्त है। इस जीवन-चरित्र से स्पष्ट विदित होता है कि मनुष्यता अमीर-ग़रीब के भेद-भाव से बिलकुल पृथक् वस्तु है, जो केवल उच्च हृदयों में ही निवास करती है। अपने क्रांतिकारी जीवन में क्रुरोपाटकिन दो बार गिरफ़्तार किए गए, राजद्रोही क़रार दिए गए, देश से निर्वासित हुए। पर मानव-समाज की वेदना उन्हें दिन-दिन अधिक दृढ़ बनाती रही, और उन्होंने सिद्ध कर दिखाया कि पारस्परिक साहाय्य की बात उतनी ही प्राकृतिक है, जितनी कि जीवन-संग्राम की।

अपने उद्देश्य की सफलता मनुष्य को तन्मय कर देती है। क्रुरोपाटकिन ने पूँजीवाद के विनाश का बीज बोया था; राजसत्ता के संहार का झंडा उठाया था। भला ज़ारशाही के अंत से उन्हें क्यों न आनंद होता? जिस ज़ारशाही की छत्रच्छाया में क्रुरोपाटकिन का लालन-पालन हुआ, उसी के अत्याचारी शासन का अंत देखकर क्रांतिकारी राजकुमार का हृदय विजयोल्लास से भर गया। वह अब नहीं हैं, पर संसार के इतिहास में उनका त्याग, आत्मबलिदान, वैभव-विरक्ति और निस्स्वार्थ स्वातंत्र्य-प्रियता अजर-अमर है। रूस के कण-कण में उनका यश अंकित है, और ग़रीबों की प्रत्येक साँस से उनके लिये आशीर्वाद निकलता है।

परतंत्रता को हटानेवाले, क्षत-विक्षत होकर स्वतंत्रता के मार्ग के कंटकों को चुननेवाले क्रुरोपाटकिन का यह जीवन-चरित्र प्रकाशित कर प्रताप-कार्यालय ने हिंदी-भाषा-भाषियों के सामने एक विचित्र, किंतु आदर्श चरित-नायक ला खड़ा किया है। हमारी इच्छा है कि देश का प्रत्येक बालक इस जीवनी को पढ़े। ग़रीबों की अपेक्षा धनी कुटुंब के विद्यार्थी तो अवश्य ही इस पुस्तक को पढ़ें। उनके हृदय में मानव-प्रेम जाग्रत होगा; वह भावना उत्पन्न होगी, जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है। उनमें समाज के प्रति कर्तव्य-पालन की प्रेरणा होगी, और वे देखेंगे कि जीवन की वास्तविक सफलता उनके सन्निकट है। स्वतंत्रता-प्रेमी नागरिक अपनी संतान को ऐसी पुस्तकें देने में नहीं चूकते। यदि सचमुच निष्काम आदर्श चरित्र का निर्माण करना है, तो अवश्य ही यह पुस्तक पथ-प्रदर्शक होगी। उनमें एक दिव्य आत्मा उत्पन्न होगी, जो उन्हें यह बतलावेगी कि संसार के सुख-ऐश्वर्य को भोगने का अधिकार अकेले उन्हीं को नहीं है।

मातादीन शुक्ल

× × ×

श्रीमीराबाईजी की जीवनी—लेखक, श्रीअवधवासी सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीसीतारामशरण-भगवानप्रसाद (रूपकलाजी) प्रकाशक, श्रीरामगणेशप्रसाद वकील बी०, ए०, एल्-एल० बी० फ़ैज़ाबाद। हिंदी ७१ पृष्ठ। उर्दू ७० पृष्ठ। हिंदी की खड्ग-विलास-प्रेस, पटने से और उर्दू की नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ से मिलती है। सचित्र प्रति का मूल्य ॥=) है।

कुछ दिन हुए, हमें अनन्य भक्त श्रीमीराजी की जीवनी पाठ करने का महा आनंद प्राप्त हुआ। पश्चात् लखनऊ की माधुरी तथा बाँकीपुर की शिक्षा में उसकी समालोचनाएँ देखने में आई। इसके पूर्व 'श्रीगोस्वामी तुलसीदास'-नामक ग्रंथ लिखते समय हमको काशी-निवासी बाबू कार्तिकप्रसाद आदि अन्य लोगों की पुस्तकें तथा लेख अवलोकन करने, एवं हिंदी-संसार के सुपरिचित मुंशी देवीप्रसादजी से पत्र-व्यवहार करने की आवश्यकता हुई थी। हमने उक्त ग्रंथ में गोसाईंजी तथा मीराजी के परस्पर पत्र-व्यवहार तथा मिलन की संभावना या असंभावना के संबंध में ऐतिहासिक विचार से आलोचना की है। उसका उद्देश ही दूसरा है। आलोच्य पुस्तक के प्रणयन का उद्देश है हरिभक्ति का माहात्म्य-प्रदर्शन करना, भक्तों को भक्तिमार्ग में आरूढ़ रखना, तथा प्रभु-प्रेम-शून्य हृदयों में हरि-चरणानुराग और भक्तिभाव का संचार कर उन्हें प्रेमी बनाना। और, इसी प्रकार के रसिकों और लोगों के लिये विशेषतः इसकी रचना हुई है। ग्रंथकर्ता प्रायः सर्वत्र अन्य महापुरुषों के पदों और वाक्यों को एवं कतिपय फ़ारसी के मनोहर छंदों को समावेशित करके वर्णनीय विषय की पुष्टि करते गए हैं। यह अच्छी बात है। इससे एक ही विषय पर अनेक महानुभावों का मत जानने का सुयोग मिलता और पाठकों का उसमें अनुराग बढ़ता है। फ़ारसी के पद (ब्राकेट के भीतर) इस प्रकार रक्खे गए हैं कि केवल हिंदी जाननेवाले यदि उन्हें छोड़कर पढ़ें, तो भी विषयानुक्रम में कोई बाधा न पड़ेगी।

इस छोटी-सी पुस्तिका के लिये उर्दू-फ़ारसी के इतने प्रचुर मनोहर छंदों का संग्रह करने में इस अवस्था में इतना कष्ट उठाना आपके अपार ईश्वरानुराग और लोक-हितचिंतन का पूरा परिचायक है। जो हिंदी-भाषा से अनभिज्ञ हैं, वे भी श्रीमीराजी की जीवनी-रूपी अमृत-रस के आस्वादन से वंचित न रहने पावें, इस विचार से आपने परिश्रम करके इसे उर्दू भाषा में भी लिखकर पृथक् प्रकाशित कराया है।

हिंदी की भाषा तो सरल है ही, उर्दू-संस्करण की भाषा भले ही किसी जनसाधारण को क्लिष्ट जान पड़े; परंतु उर्दू-फ़ारसी के रसिक और रसज्ञ पाठक ऐसा क्यों समझने लगेंगे। वे तो आपकी मज़मून-आराई को निश्चय पसंद करेंगे, एवं विषयानुकूल छंदों के पाठ से उनका जी अवश्य फड़क उठेगा।

भक्ति-भाव-विभोर लेखक की लेखनी से उर्दू-संस्करण में यदि कहीं कहीं हिंदी के शब्द—साधारण या कठिन—निकल पड़े हैं, तो इससे कोई हानि नहीं। इससे भाव और भाषा के स्पष्ट समझने में बाधा नहीं पड़ती। हिंदी-पुस्तक में फ़ारसी के इतने पद आए, यदि उर्दू-पुस्तक में हिंदी के कुछ शब्द गए, तो ठीक ही हुआ।

हमें आपके रचे प्रायः सभी ग्रंथों के पढ़ने का सौभाग्य हुआ है। सभी में लेख-प्रणाली ऐसी ही पाई जाती है। बाहरी प्रमाण देने में न्यूनाधिकता अवश्य है। सबका उद्देश भी प्रभु-प्रेम और हरि-भक्ति दृढ़ करना ही है, इसके द्वारा अपना या किसी का मन बहलाना नहीं है। ऐसे सब ग्रंथों का उद्देश धर्म-शिक्षा ही होता है, चाहे वे साधारण हों या गूढ़; किसी साधारण जन के रचे हों, या किसी महापुरुष के। यों तो रामायण को भी—विशेष कर "परशुराम और लक्ष्मण-संवाद" तथा "अंगद और रावण-संवाद" को—बहुत-से लोग पहले मनोरंजन ही के लिये पढ़ते हैं; परंतु वैसा ही करते-करते उन्हें रामायण और ईश्वर में अनुराग उत्पन्न हो जाता है, और अंत में उनका कल्याण होता है। जब गोसाईंजी के कथनानुसार 'अनख और आलस' से भी हरिगुण गान करने से दसों दिशाओं में मंगल ही होता है, तो जो व्यक्ति मनोरंजन और चित्त-प्रसन्नता के हेतु हरिनाम और हरिजन-गुण-कीर्तन करेगा, उसका हित-साधन क्यों न होगा? जिस दिन किसी वस्तु से किसी की वास्तविक चित्त-प्रसन्नता हुई, मनोरंजन हुआ, उसी दिन समझिए कि उसका सब प्रकार से कल्याण हो गया।

कोई घड़ी-दो घड़ी मनोरंजन ही के लिये इसे पढ़े, इसमें हानि नहीं, लाभ ही है। यही दिल्लगी ईश्वर से दिल-लगी का ज़रिया होगी, और लेखक का उद्देश इससे भी सफल होगा। हमारे विचार में यह पुस्तक इस ढंग से लिखी गई है कि इसके पाठ से भक्तों और हरिजनों के हृदय में आनंद की तरंगें लहराया करेंगी, और जो मनोरंजन ही के लिये मन लगाकर दो-चार बार पढ़ेगा, उसके हृदय में भी निश्चय भक्ति का संचार होगा; क्योंकि श्रीमीराजी की भक्ति असाधारण है। जिस हृदय पर इनकी जीवनी के पाठ का प्रभाव न पड़े, वह हृदय नहीं, उसे काठ-पत्थर समझिएगा।

हाँ, कुछ लोग यह कह सकते हैं कि श्रीगिरिधरगोपाल की भक्ति और प्रेम करते हुए भी श्रीमीराबाई को कुल-मर्यादा पर लात मारना नहीं चाहिए था । पर वे भक्त-शिरोमणि श्रीगोपियों की श्रेणी की अनन्य भक्त थीं, जिन गोपिकाओं का कथन था—"हमें प्रेम के नेम निबाहनो है, कुल-लाज पै गाज भले ही परै ।"

भगवत्-संबंधी कार्यों का क्या निर्धन क्या धनी, सभी एक-समान संपादन कर सकते हैं, इसका ज्वलंत उदाहरण ग्रंथकर्ता ने इस पुस्तक में भली भाँति दिखाया है। सब भाँति संपन्न कोई प्रभु का लाल जिस प्रकार प्रभु के सेवा-कार्य को कर सकता है, एक ऐसा व्यक्ति—जो 'तीन टूक कौपीन को अरु भाजी बिनु नोन' के साथ अपना जीवन व्यतीत करनेवाला है—उससे तनिक भी कम नहीं कर दिखाता—इसके अक्षरशः उदाहरण और प्रमाण इस ग्रंथ के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में क्रम से मिलते हैं ।

इस पुस्तिका से आज ही नहीं, भविष्य में भी लाभ होगा । श्रीसीतारामजी के एक महान् अनन्य भक्त के द्वारा श्रीकृष्ण भगवान् की जगद्विख्यात एक अनन्य भक्त की लिखी गई जीवनी श्रीरामोपासकों और कृष्णोपासकों के वैमनस्य को अवश्य कम करेगी, जैसे रामायण के प्रचार से शैवों तथा वैष्णवों का वैमनस्य कम पड़ गया है ।

कोई किसी भाव से पढ़े, ये पुस्तकें सबके लिये पठनीय हैं । इनके रचने में लेखक ने अपने उद्देश में सफलता पाई है ।

शिवनंदनसहाय

× × ×

३. भूगोल

रायपुर-रश्मि—लेखक, श्रीयुत गोकुलप्रसाद । प्रकाशक, गोकुलप्रसाद ईश्वरदास जबलपुर । मूल्य १); पृष्ठ-संख्या ४+८२+६; चित्र-संख्या ३; नक्शा १ ।

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता रायबहादुर हीरालाल के भाई श्रीयुत गोकुलप्रसाद द्वारा खोज के साथ लिखी गई है । इसमें रायपुर-ज़िले के भूगोल के अतिरिक्त कुछ भाग प्राचीन इतिहास और कुछ नवीन इतिहास का भी है। इस 'रश्मि' को सात 'झलकों' में विभाजित किया गया है, जिनमें क्रमशः भौगोलिक स्थिति, इतिहास, जन-संख्या, जातियाँ तथा भाषाएँ, भूमि, व्यवसाय, वर्तमान शासन तथा भौगोलिक विवरण दिया गया है । अन्य बातों के साथ-साथ प्राचीन इतिहास की क्रमबद्ध खोज भी की गई है ।

प्राचीन काल में महाकोशल का राज्य दूर-दूर तक फैला हुआ था । उसका विस्तार बरार से लेकर कटक तक था। मौर्य-राजा अशोक, कलिंग-राज खारवेल, समुद्रगुप्त तथा हैहयवंशी राजों के शासन पर भी प्रकाश डाला गया है । रायपुर-नगर की स्थापना के संबंध में लेखक लिखते हैं कि प्राचीन रतनपुर के प्रतिनिधि लक्ष्मीदेव के पुत्र सिंहण ने उसकी स्थापना की । किंतु उन्हें भी संदेह ही है । राजधानी होने के कारण ही उस स्थान का नाम 'रायपुर' रक्खा गया था । अपने अनुमान को लेखक ने खलारी और अन्यत्र के शिला-लेखों के आधार पर ही पुष्ट किया है । सन् १४०२ से इधर का इतिहास क्रमबद्ध लिखा गया है, जो अधिक प्रामाणिक है । इस बीच में वहाँ पुराने घराने के क्षत्रियों, मराठों और अँगरेज़ों का आधिपत्य हुआ । इन सबका वर्णन बड़ी रोचकता के साथ किया गया है ।

छत्तीसगढ़ एक जंगली एवं पहाड़ी प्रांत है । वर्तमान सभ्यता के संस्पर्श के पूर्व वहाँ की आर्थिक एवं सामाजिक दशा कैसी थी, इस पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । सन् १८५४ में छत्तीसगढ़ के अँगरेज़ों के हाथ में आने के इतने दिनों बाद भी वहाँ के मूल-निवासियों के रस्म रवाज, आचार-विचार और रहन सहन में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ । छत्तीसगढ़ एक प्रकार से प्राचीन गोंडवाना-राज्य है । यहाँ के मूल निवासी अपने को रावण के वंशज बतलाते हैं; जंगली देवता—बूढ़ा या बड़ा देव—को मानते हैं । 'जागलीय'-धर्मावलंबियों की अपेक्षा कबीरपंथी और 'सतनामी' भी हैं । सतनामी-धर्म घासीदास चमार का चलाया हुआ है । इस धर्म की शिक्षा है—सत्य नाम को भजो, देवी-देवतों के पूजने से कुछ लाभ नहीं, ऊँच-नीच कोई जाति नहीं, अहिंसा परम धर्म है, मांस न खाना चाहिए । प्रायः पौने दो लाख चमार इस धर्म के अनुयायी हैं, और आज तक उनके गुरु की गद्दी अक्षुण्ण चली आती है इत्यादि । भाषा के संबंध में, इसी पुस्तक में, अन्यत्र लेखक लिखते हैं—' छत्तीसगढ़ी भाषा गँवारू समझी जाती है; परंतु वह अवधी के वर्ग की

है। इस भाषा के प्रायः सौ वर्ष के पूर्व का नमूना अंतिम हैहय-वंशी राजा के दिए हुए ताम्र-शासन में पाया जाता है। हमारा विश्वास है कि छत्तीसगढ़ में, वर्तमान काल में, कुछ और भी भाषाएँ बोली जाती हैं। ये सभी उक्त अवधी के यत्किंचित् विकृत रूप हैं। उड़िया-भाषा का मिश्रण भी उसमें पाया जाता है।"

इसके उपरांत वर्तमान शासन शुरू होता है। इसमें प्रायः सभी आधुनिक बातों का समावेश है, जो आज ऐतिहासिक और भौगोलिक ज्ञान के लिये यथेष्ट है।

अँगरेज़ी में ज़िलों के जो 'गज़ेटियर' पाए जाते हैं, उनसे यह पुस्तक किसी भी दशा में कम नहीं, हम तो समझते हैं कि खोज की दृष्टि से कहीं-कहीं गज़ेटियरों को भी मात करती है। इसके लिये हम लेखक को धन्यवाद देते हैं। हमारी धारणा है कि यदि स्कूलों की उच्च कक्षाओं में ऐसी पुस्तकें पढ़ाई जायँ, तो विद्यार्थियों को अपने ज़िले, प्रांत और अंत में देश के अंगभूत इतिहास का भी अच्छा ज्ञान हो सकता है। प्राइमरी और मिडिल कक्षाओं में तो—ख़ासकर छत्तीसगढ़ के ज़िलों में—इस पुस्तक को पाठ्य-क्रम में रखना चाहिए। इस माला की कई पुस्तकें रायबहादुर साहब की कृपा से अब उपलब्ध हैं। जिस-जिस ज़िले के ये 'गज़ेटियर' तैयार हैं, वहाँ-वहाँ ये क्यों न प्रचलित कर दिए जायँ। पुस्तक केवल विद्यार्थियों के ही नहीं, शिक्षकों और इतिहास-प्रेमियों के लिये अच्छी सामग्री देती है। ऐसी रचना के लिये हम लेखक को बधाई देते और आशा करते हैं कि अन्य प्रांतवाले भी अपने ज़िलों के हिंदी-गज़ेटियर इसी शैली पर तैयार कर हिंदी-भांडार को भरेंगे।

मातादीन शुक्ल

× × ×

४. काव्य

चित्रकूट-चित्रण—रचयिता, विद्या-भूषण 'विभु'। प्रकाशक, कला-कार्यालय, प्रयाग। मूल्य ।≈) ; पृष्ठ-संख्या ४६।

चित्रकूट ऐतिहासिक स्थान है। भगवान रामचंद्र का स्मरण आते ही चित्रकूट की पवित्रता का भी स्मरण हो आता है। रचयिता ने कविता में वहीं की प्राकृतिक शोभा का वर्णन किया है। इस पुस्तक की भूमिका के लेखक पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी लिखते हैं—"चित्रकूट का यह चित्र यद्यपि देखने में छोटा है; परंतु कविता के सद्गुणों से सुभूषित है। अतएव छोटा होने पर भी बहुत मनोहर है।" इस चित्रण में पाँच छवियाँ हैं, जिनमें लेखक ने चित्रकूट की शोभा का वर्णन किया है। हमारा अनुमान है कि प्राकृतिक दृश्य का वर्णन साधारण हृदय का मनुष्य नहीं कर सकता। प्राकृतिक चित्रण करने के लिये कवि में एक नैसर्गिक भावना होती है, वह सर्वत्र प्रकृति-मात्र को देखता है, और उसके वर्णन का इतना आकर्षण होता है कि पाठक स्वयं आकृष्ट हो जाता है। इस खंड-काव्य में वह शक्ति नहीं; फिर भी वह 'चित्रण' अवश्य है, सुंदर नहीं, तो सुंदरता-रहित भी नहीं। कुछ पद्य उदाहरणार्थ दिए जाते हैं—

चिदानंद आनंदकंद की यह विचित्र वसुधा प्यारी ;
विंध्याचल विख्यात इसी पर बढ़ा रहा शोभा न्यारी।
दिशा प्रतीची का प्राची से शुभ संबंध मिलाया है ;
अरब और गंगासागर पर सुंदर सेतु बनाया है।

* * *

विकल बालिका-सी यह बिजली बारंबार उछलती है ;
धूम्र-पुंज से अग्नि-शिखा या बुझ-बुझकर यह जलती है।
या बामी से रजत सर्पिणी पल-पल बाहर आती है ;
या कज्जल-गिरि की हिम-धारा निकल वहीं छिप जाती है।

* * *

या घनश्याम सफलता अपनी देख मुस्करा देते हैं ;
चित्रकूट को पलक उठाकर कभी-कभी लख लेते हैं।

अंत में शब्दार्थ-कोष भी दे दिया गया है, जिससे पुस्तक के कठिन शब्दों के समझने में पाठक को कठिनाई न पड़े। कविता मध्यम श्रेणी की है। विचारों में नवीनता नहीं, पर शब्द-योजना कुछ अच्छी है। खड़ी बोली में 'लौं' आदि का प्रयोग नहीं होता; पर इसमें किया गया है। और भी ऐसे कितने ही शब्द हैं, जिनका प्रयोग खटकता है। जैसे इंजिन चिल्लाता है, अँखियाँ इत्यादि। पुस्तक में रोचकता का अभाव है।

मातादीन शुक्ल

× × ×

बाग़बान—हिंदीकार, पंडित श्रीगिरिधर शर्मा काव्यालंकार। प्रकाशक, श्रीविजय-धर्म लक्ष्मी ज्ञान मंदिर, बेलनगंज, आगरा। पृष्ठ-संख्या लगभग २००। मूल्य १)

यह रवींद्रनाथ ठाकुर के 'गार्डनर' का रूपांतर है। कुछ आकर्षक नहीं—न भाषा की दृष्टि से, और न

उस छंद की दृष्टि से, जिसमें अनुवाद करना उचित समझा गया है। शर्माजी से हमारी प्रार्थना है कि यदि वह अनुवाद ही करने पर तुले हुए हों, तो कुछ और सावधानी से काम लिया करें। भाषा की भूलें बहुत खटकती हैं।

× × ×

चना-चबेना—रचयिता, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा। प्रकाशक, शिवपूजनसहाय, व्यवस्थापक, सरस-साहित्यमाला, आरा (बिहार)। पृष्ठ संख्या १२८; मूल्य १)

यह हास्य-रस-पूर्ण सरस 'पद्य-माला' सचमुच बड़ी मनोरंजक है। शर्माजी ने जहाँ हिंदी-लेखकों व प्रकाशकों को आड़े हाथों लिया है, वहाँ सच्चा चित्र खींच दिया है। कितनी ही रचनाएँ न तो शुद्ध खड़ी बोली में हैं, और न शुद्ध ब्रज-भाषा ही में। फिर भी उनकी सरसता में त्रुटि नहीं आने पाई।

× × ×

महाकवि अकबर और उनका उर्दू-काव्य—लेखक, उमरावसिंह कारुणिक बी० ए०। भूमिका-लेखक, राजा महेंद्र-प्रतापसिंह। प्रकाशक, चौधरी शिवनाथसिंह शांडिल्य, ज्ञान-प्रकाश मंदिर, पोस्ट माछरा, जिला मेरठ। पृष्ठ-संख्या १७१; मूल्य १)

इसमें उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि अकबर की जीवनी देकर उनके काव्य का अच्छा संग्रह किया गया है। अकबर पर 'माधुरी' में कई लेख निकल चुके हैं, जिनसे पाठकों को उनके तथा उनके काव्य के विषय में बहुत कुछ ज्ञात हो चुका है। यह पुस्तक अकबर के काव्य से उनका और भी अधिक परिचय करा देगी। आजकल के हिंदी-कवि भी इससे बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। बहुत-से शब्दों में कुछ न कहना या बहुत ही कम कहना, और थोड़े-से शब्दों में बहुत कुछ कह डालना, इन दोनों में भेद है। बिना सोचे-समझे पुरानी ही लकीर पीटे जाने से भी काम नहीं चलता। अकबर ने उर्दू-शायरी को एक नए रास्ते पर चलाया और उस पर जातीयता का रंग चढ़ाया है। उनके ढंग में लोच है, मर्मस्पर्शिता है। भाषा साफ़-सुथरी है; भाव सीधे हैं; बातें खरी हैं, चाहे उनसे कोई सहमत हो या नहीं।

बदरीनाथ भट्ट

× × ×

५. बाल-साहित्य

नटखट पाँड़े—बाल-विनोद-वाटिका का सातवाँ पुष्प। लेखक, श्रीयुत रूपनारायण दीक्षित कानपुरी। संपादक, हिंदी-संसार के परिचित प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्रीयुक्त प्रेमचंदजी। प्रकाशिका, गंगा-पुस्तकमाला, लखनऊ। पृष्ठ-संख्या १६५, ४ रंगीन तथा १० सादे सुंदर मनोरंजक चित्रों से सुसज्जित; काग़ज़ अच्छा। मूल्य १॥)

पुस्तक यद्यपि बालकों के विनोदार्थ लिखी गई है, परंतु जो विनोद व्यक्तिगत हृदय में जन्म लेकर समाज में स्थान पाता और पश्चात् साहित्य की ज़िंदादिली बन जाता है, उस विनोद से जवानों और बूढ़ों का मन भी प्रसन्न हुए बिना नहीं रहता।

लेखक के विनोद-पूर्ण हृदय की उपज 'नटखट पाँड़े' के नाम से, उपन्यास-सम्राट् श्रीप्रेमचंदजी के हाथों, हिंदी-संसार के सामने आई है। लेखक ने बड़े चातुर्य से विनोद के बहाने यह सिद्ध करके दिखला दिया है कि आजकल भारतीय समाज कितना गिर गया है।

माता-पिता का—विशेष कर धनिक माता-पिता का—अनुचित लाड़-प्यार, बालकों का चरित्र कितना बुरा बना देता है, उनकी लापरवाही उन्हें कितने गड्ढे में डाल देती है, यह जानना हो, तो 'नटखट पाँड़े' के काल्पनिक चरित्र को अवश्य पढ़िए। जब पाठक नटखट पाँड़े के शिक्षा-समय का वृत्तांत पढ़ने लगेंगे, तो पाँड़ेजी का नटखटपन उन्हें भले ही हँसा दे, पर यह जानकर पश्चात्ताप हुए बिना नहीं रह सकता कि देहाती ब्राह्मण-गृहस्थों का कितना अधःपात हो गया है। श्राद्ध-पुस्तक से विद्यारंभ-विधान कराने की बात पढ़ते हुए मुझे एक स्थान का स्मरण आ गया, जहाँ एक ब्राह्मण देवता ने सूची-पत्र की पोथी से सत्यनारायण की कथा कहकर भोले-भाले देहाती यजमान से टके ऐंठ लिए थे।

आगे चलकर यह बताया गया है कि स्कूलों की पढ़ाई में मास्टर लोग समय का कितना दुरुपयोग करते हैं, और अपने छात्रों से प्राप्ति की आशा करते और कुछ-न-कुछ ले ही लेते हैं। बोर्डिंग-हाउसों में बज़ाहिर लड़के क़ैदियों की-सी निगरानी में रक्खे जाते हैं; परंतु एक बदमाश लड़का अपने साथी अनेक लड़कों को किस तरह सुपरिंटेंडेंटों और चपरासियों की आँखों में धूल झोंककर रात्रि के मटरगश्त में निकाल ले जाता और शहर

के आवारा लड़कों से दोस्ताना पैदा कर लेता है, यह देखने-लायक है। टय़ूशन-प्रथा की भी अच्छी छीछालेदर की गई है।

जिस प्रकार कहा जाता है कि शुकदेवजी माता के गर्भ से सज्ञान पैदा हुए थे, उसी प्रकार नटखट पाँड़े को समझिए। माता के गर्भ में कुछ उत्पात नहीं किया, यह उस बेचारी का सौभाग्य ही था। आपकी स्मरण-शक्ति इतनी प्रौढ़ है कि पृथ्वी पर आने के समय से लेकर अपनी स्त्री द्वारा पढ़ना-लिखना सीखने तक की आत्मकथा इतनी खूबी से कही है, मानो वह इस समय भी उस प्रसंग को देख और तत्कालीन बातों को सुन रहे थे।

पुस्तक-भर में सत्रह परिच्छेद हैं। केवल एक प्रसंग को छोड़कर जिसमें इक्के के लौट जाने से पाँड़ेजी सहित उनके पिता, इक्केवाला और एक और मोटा आदमी बुरी तरह से धरती की धूल समेटने लगे थे, शेष सब शरारतों में पाँड़ेजी का पूरा-पूरा हाथ रहा है।

पुस्तक में एकआध बात खटकती है। जैसे पाँड़ेजी के साथ उनके साथी १०-१२ लड़के रात्रि के समय नाच देखने गए, और एक साथी की सहायता से सब-के-सब एक डिपुटी साहब के वंशज होने की धाक जमाकर मजलिस में अगला स्थान पा गए। उस समय मालिक-मकान और मजलिसी लोगों ने उन्हें अनेक रूप-रंग-वेष-भूषावाले देखते हुए भी, डिपुटी साहब के वंशज स्वीकार कर लिया, यह उस समाज का उपहास है। उन्हें निरा घोंघा-बसंत सिद्ध करना है। परंतु पुस्तक के विषय को देखते हुए ऐसी भूल क्षम्य है।

मैं सिफ़ारिश करूँगा कि हिंदी जाननेवाले पाठक 'नटखट पाँड़े' की एक प्रति अवश्य मँगाकर पढ़ें, और पढ़ते-पढ़ते अपने लड़कपन की शरारतों को हृदय में दुहरावें। मनोविनोद के साथ-साथ अपने बच्चों को सुधारने का ख़याल आए बिना न रहेगा। पुस्तक गंगा-पुस्तकमाला कार्यालय से प्राप्त हो सकती है।

मीर

× × ×

६. नाटक

यवनोद्धार नाटिका—लेखक श्रीललितआचरण गोस्वामी। प्रकाशक, श्रीहित नाट्य-समिति, वृंदावन। पृष्ठ-संख्या १०४। मूल्य ॥)

यह सांप्रदायिक पुस्तक है। वृंदावन में इसका अभिनय हो चुका है। इसमें श्रीहित हरिवंशजी के दर्शनों तथा उनके उपदेशों का प्रभाव दिखाया गया है। सांप्रदायिकता की पुट बहुत अधिक होने के कारण नाटक उतना अच्छा नहीं बन सका। फिर भी हम आशा करते हैं कि लेखक उत्साह-पूर्वक नाटक लिखने में दत्तचित्त रहेंगे, और हिंदी का भंडार भरेंगे। हमारी यह भी प्रार्थना है कि नाटक में आधुनिकता का आधिक्य होना के कथानक चाहिए। उसका व्यापक भाव कोई सांप्रदायिक सिद्धांत हो, तो कोई हानि नहीं। ऐसा होने से नाटक अधिक लोक-प्रिय हो सकेगा; नहीं तो संप्रदाय की चाहरदीवारी के ही भीतर रह जायगा, और केवल भावुक भक्त ही उससे लाभ उठा सकेंगे।

इस नाटक में भाव-शिष्टता की कमी नहीं, यह देखकर हमें हर्ष होता है। आशा है, लेखक महोदय आगे खड़ी बोली और व्रज-भाषा का संगम अपनी रचना में न कराया करेंगे।

× × ×

७. जैन-साहित्य

सत्यार्थ-दर्पण—लेखक, अजितकुमार शास्त्री। श्रीमान् धर्मनिष्ठ तीर्थभक्तशिरोमणि लाला देवीसहायजी रईस फ़ीरोज़पुर-वालों के प्रदत्त द्रव्य से प्रकाशित। पृष्ठ-संख्या १५३। मूल्य लिखा नहीं।

"इस पुस्तक-लेखन का अभिप्राय आर्य-समाज के सिद्धांतों पर आक्रमण करना नहीं, किंतु सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास के अंदर स्वामीजी ने जो बिना जैन-धर्म के परिचय के जैन-धर्म के ऊपर असत्य आक्षेप किए हैं, उनका उत्तर प्रेम-वश देना है।" जिनको धार्मिक खंडन-मंडन की पुस्तकें पढ़ने का शौक़ हो, वे इसे अवश्य पढ़ें; जो जैन-धर्म के सिद्धांतों से परिचय प्राप्त करना चाहें, वे भी इससे लाभ उठावें। इसकी भाषा में अश्लीलता तथा गाली-गलौज से काम नहीं लिया गया, यह अच्छा हुआ। कहीं-कहीं छापे की भूलें रह गई हैं।

बदरीनाथ भट्ट

× × ×

८. स्त्री-शिक्षा

नारायणी-शिक्षा अर्थात् गृहस्थाश्रम—लेखक और प्रकाशक, श्रीचिम्मनलाल वैश्य। छपाई-सफ़ाई साधारणतः अच्छी। पृष्ठ-संख्या ६३०। मूल्य ३) । श्रीचिम्मनलाल भद्रगुप्त, तिलहर, जिला शाहजहाँपुर से प्राप्त।

लेखक की बहन नारायणीदेवी ने गृहस्थाश्रम-संबंधी एक

स्त्रियों के लिये उपयोगी पुस्तक लिखने का अनुरोध किया। यह पुस्तक उसी का फल है। पुस्तक प्रकाशित होने के पूर्व नारायणीदेवी इस लोक से चल बसीं। लेखक ने अपना स्नेह प्रकट करने के लिये इसका नाम भी अपनी बहन के नाम पर 'नारायणी-शिक्षा' रक्खा।

लेखक के शब्दों में "इसमें वेदादि सत्य शास्त्रानुसार गृहस्थाश्रम के समस्त कर्तव्य कर्मों की व्याख्या है, जिस पर चलने से शारीरिक, सामाजिक और आत्मोन्नति अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

पुस्तक पढ़ने से सहसा यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि लेखक ने वास्तव में इसे स्त्रियों को गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से लिखा है, या अपने वेदादि के विशाल ज्ञान को जनता पर प्रकट करने के लिये, अथवा सनातन-धर्म पर कुठाराघात करके आर्य-सामाजिक सिद्धांतों की पुष्टि करने के लिये?

लेखक ने यह 'स्त्री-शिक्षा की सर्वोपयोगी' पुस्तक बनाई है, यदि यह बात मान ली जाय, तो क्या पुस्तक-भर में आदि से अंत तक श्लोक और संस्कृत-वाक्य भर देना ही उपयोगिता का लक्षण है? स्त्रियों के लिये पुस्तक तो शुद्ध, सरल और सुंदर भाषा में होनी चाहिए, जिसे कुछ ही पढ़ी-लिखी स्त्री भी आसानी से समझ सके। समझ में नहीं आता कि इस पुस्तक में, लेखक ने क्या समझकर वेद-शास्त्र-पुराणांतर्गत श्लोकों की भरमार कर दी है। संभव है, उन्होंने इन बड़े-बड़े श्लोकों की ओट में अपनी मनमानी कह डालने की ठानी हो। बात भी यही मालूम पड़ती है। कारण, कहाँ यह स्त्री-शिक्षा की पुस्तक, और कहाँ इसमें मकान बनाने की रीति, शिकार खेलना, वेद-स्मृति-पुराण-परीक्षा, ईश्वर-कृत वेदों का होना, मूर्ति-पूजा पर विचार, रसायन मंत्र तंत्र, आर्य-शब्द, व्रत और तपस्या, तीर्थ, मोक्ष और योग का वर्णन! यदि लेखक महोदय को उक्त विषयों पर अपने विचार प्रकट ही करने की लालसा थी, तो वह अलग किसी पुस्तक में प्रकट कर सकते थे। यदि उनकी यही इच्छा थी कि भारत की स्त्रियाँ उनके अमूल्य उपदेश से लाभ उठावें, तो उचित यह था कि वह इस पुस्तक में व्यर्थ की अनर्गल बातें न लिख मारते। जैसे—

(१) पृष्ठ ६०६ में व्रतों के संबंध में आप लिखते हैं—

"परंतु जब हम धर्मशास्त्र पर दृष्टि डालकर इन उपर्युक्त व्रतों की जाँच करते हैं, तो कहीं बिना अन्नादि के भूखे रहने की आज्ञा नहीं पाई जाती; क्योंकि भूख (?) के मारने से (एक दिन या सदा?) मंदाग्नि हो जाती है, मनुष्य निर्बल हो जाते हैं, किसी की बात अच्छी नहीं लगती, अच्छी को बुरी समझते हैं, सूरत भयावनी हो जाती है। (व्रत करनेवाले की, या जिसको खाने को नहीं जुरता, उसकी?)। बहुत लिखने की क्या आवश्यकता है, आप नित्य-प्रति देख सकते हैं कि जो स्त्रियाँ अन्नादि छोड़ देती हैं (किसी बीमारी अथवा व्रत के कारण?), उनकी क्या दशा हो जाती है, जिसके कारण वे गृहस्थी के कार्यों को नहीं कर सकतीं, और उनके गर्भाशय में अंतर पड़ जाता है, जिससे आनेवाली संतानों में नाना प्रकार के दोष हो जाते हैं। पुत्र-पुत्री आदि का पूर्ण रूप से लालन-पालन नहीं कर सकतीं।"

(२) पृष्ठ ६०७ में आप लिखते हैं—

"बहुत जन व्रती रहकर नाना कथाएँ वर्षों (?) तक सुनते रहते हैं; परंतु सौ में दो मनुष्य भी ऐसे न निकलेंगे, जो उन कथाओं को सुना सकें। फिर, उन कथाओं पर चलना कैसा?" उसी पृष्ठ में आप फिर लिखते हैं—

(३) "यदि भूखे रहने से ही एकाग्रता होती, तो हमारे ऋषि-मुनि क्यों इतना कष्ट उठाते, और जंगलों में रह, यम और नियमों का सेवन कर योगाभ्यास करते?"

ऐसी ऐसी और भी कितनी ही अनर्गल बातें लिखकर पुस्तक को पोथा पोथा बना दिया गया है। मालूम नहीं, आपको गंगा-स्नान से इतनी घृणा क्यों हो गई है कि पृष्ठ-के-पृष्ठ उसके विरोध में रँग डाले हैं।

इससे यदि श्लोकों की भरमार, द्वेष फैलानेवाली बातें निकाल दी जायँ, और भाषा अधिक सरल एवं सुंदर बना दी जाय, तो अवश्य लेखक की इच्छानुसार यह स्त्री-शिक्षा को सर्वोपयोगी पुस्तक हो सकती है।

× × ×

गृह-चिकित्सा-सार (प्रथम भाग)—लेखक और प्रकाशक, डॉ० शिवशंकरलाल श्रीवास्तव होमियोपैथिक एल्० एम्० एस्०। ठठेरी सड़क, कानपूर। छपाई-सफाई अच्छी। पृष्ठ संख्या २४७। मूल्य २॥)

यह पुस्तक तीन भागों में विभक्त है। दूसरे और तीसरे भाग अभी प्रकाशित नहीं हुए। इस भाग में स्त्री-रोग-चिकित्सा का वर्णन है। दूसरे में बाल रोग, और तीसरे में सार्वजनिक-रोग-चिकित्सा पर विचार होगा। पहले

भाग में छः प्रकरण हैं। पहले अध्याय में मासिक धर्म-संबंधी रोग, दूसरे में गर्भ-संबंधी, तीसरे में प्रसूति-संबंधी, चौथे में छातियों के रोग, पाँचवें में स्त्रियों के और रोग, और छठे में दवा बनाने आदि का तरीक़ा बताया गया है।

इसमें स्त्रियों के प्रायः सभी रोगों पर सुंदर और सरल भाषा में विचार किया गया है। होमियोपैथिक रीति से उनकी दवा भी लिख दी गई है। अल्प शिक्षित स्त्रियाँ भी इसमें से रोग की दवा देखकर उसका प्रयोग बड़ी आसानी से कर सकती हैं। होमियोपैथिक दवाओं के नाम, उनके गुण, किस रोग पर कौन दवा उपयुक्त होगी और वह कितनी देनी चाहिए आदि सभी इसमें लिखा है। पुस्तक अच्छी है। हरएक घर में ऐसी पुस्तक होनी चाहिए।

छन्नूलाल द्विवेदी

× × ×

भारत-रमणी-रत्न—लेखक, 'देवता-स्वरूप' भाई परमानंद एम्० ए०। प्रकाशक, आकाशवाणी-पुस्तकालय, लाहौर। मूल्य ।।।-) ; पृष्ठ-संख्या २१४।

इस पुस्तक के एक भाग में सीता, सावित्री, विदुला, सुलभा, दमयंती, द्रौपदी आदि पर छोटे-छोटे निबंध हैं, और शेष पुस्तक में भारतीय इतिहास की कुछ घटनाओं और चरित्रों का वर्णन, जिसको इस संग्रह में मिलाने की बिलकुल ज़रूरत न थी। भाषा सरल और सुबोध है।

प्रेमचंद

× × ×

७. उपन्यास

महर्षि उपन्यास (प्रथम भाग)—लेखक, बा० हरिवंशलाल गुप्त, रिटायर्ड डिप्टी मजिस्ट्रेट। प्रकाशक, लाला शीतलप्रसाद गुप्त, शांति-प्रिंटिंग-प्रेस, सहारनपुर। मूल्य ॥), पृष्ठ-संख्या ११२।

यह पुराने ढंग का ऐयारी का उपन्यास है। लेखक को यह कहानी एक महात्मा ने सुनाई थी। मालूम होता है, महात्माजी ऐयारी के क़िस्सों के विशेष प्रेमी होंगे। हमने समझा था, इसमें लेखक ने अपने सरकारी जीवन के अनुभव दिखाए होंगे, जिनसे अन्य अफ़सरों को कुछ मदद मिलेगी; पर यह क़िस्सा देखकर निराशा हुई। ऐसे क़िस्से लिखनेवाले हमारे यहाँ बहुत हैं, और इसके लिये एक तजुरबेकार अफ़सर को क़लम उठाने की ख़ास ज़रूरत न थी। क़िस्सा पढ़ने में मन तो लगता है, लेकिन तत्त्व कुछ नहीं निकलता। अभी यह पहला ही भाग है। भाषा भी सरकारी ढंग की है, जैसी अदालती काग़ज़ों में देखने में आती है, और छापे की अशुद्धियों की तो भरमार है।

प्रेमचंद



इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुबीते के लिये प्रति मास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास में नीचे-लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

(१) "प्रिया-प्रकाश", कवि-प्रिया की टीका। टीकाकार, लाला भगवानदीनजी। मूल्य २)

(२) "दरबारे-अकबरी", ऐतिहासिक। लेखक, मौ० मुहम्मदहुसेन साहब 'आज़ाद'। अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा। मूल्य २॥)

(३) "धर्मदिवाकरोदय-काव्य", जीवन-चरित्र। रचयिता, स्व० ठाकुर शेरसिंह वर्मा। मूल्य ॥)

(४) "आदर्श डाकू", जासूसी उपन्यास। लेखक, ठा० देवबलीसिंह। मूल्य १)

(५) "संक्षिप्त स्वास्थ्य-रक्षा", (सचित्र)। लेखिका, श्रीमती हेमंतकुमारी भट्टाचार्य। संपादक, पं० दुलारेलाल भार्गव। मूल्य ॥=)

(६) "बिहारी-बोधिनी", (सचित्र)। टीकाकार, लाला भगवानदीन। द्वितीय संस्करण। मूल्य १|=) और १॥)

(७) "संसार-चक्र", लेखक, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी। तृतीय संस्करण। मूल्य १)

(८) "कर्तव्याघात", (सामाजिक उपन्यास)। लेखक, देवनारायण द्विवेदी। मूल्य २॥) और ३)

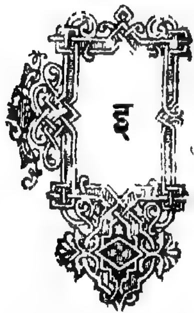
(९) "पृथ्वीराज", (सचित्र जीवन चरित्र)। लेखक, पं० चंद्रशेखर पाठक। मूल्य १)

(१०) "वीर अभिमन्यु", (सचित्र उपदेशप्रद उपाख्यान)। लेखक, पं० रमाशंकर त्रिपाठी। मूल्य ॥=)

(११) "अर्जुन", (सचित्र पौराणिक उपाख्यान)। लेखक, बाबू शिवपूजनसहाय 'हिंदी-भूषण'। मूल्य ॥=)



१. सोलहवाँ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन



स बार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सोलहवाँ अधिवेशन व्रजभाषा की जन्म-भूमि व्रज-भूमि के अंतर्गत श्रीकृष्णचंद्र के लीला-निकेतन परम पावन श्रीवृंदावन-धाम में होनेवाला है, इसकी सूचना हरएक हिंदी-पत्र-पाठक को पहले ही प्राप्त हो चुकी है। यह अधिवेशन आगामी ७, ८, ९ और १० नवंबर को होगा। इस बार स्वागत समिति के सभापति जैसे वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, स्व० भारतेंदु के समकालीन और सुहृद् पूज्य श्रीराधाचरणजी गोस्वामी हैं, वैसे ही सम्मेलन के अधिवेशन के सभापति स्वनामधन्य, विद्वद्वर श्रीअमृतलालजी चक्रवर्ती चुने गए हैं। चक्रवर्तीजी भिन्न-भाषा-भाषी होने पर भी हिंदी के अनन्य भक्त और सुलेखक ही नहीं, एक अनुभवी प्रवीण संपादक भी हैं। बंगाली विद्वानों में अधिकतर ऐसे ही पाए जाते हैं, जो हिंदी-भाषा को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं, और उसकी राष्ट्रभाषा होने की योग्यता को स्वीकार नहीं करते। किंतु चक्रवर्तीजी हिंदी के गुणों के हामी, हिंदी-प्रेमी हरिश्चंद्रादि सज्जनों के सिद्धांत के अनुगामी और एक नामी लेखक तथा सुचतुर संपादक हैं। आपकी अधिकांश आयु हिंदी की सेवा में ही बीती है। आपके लेख सुचिंतित और विचार-पूर्ण होते हैं। आपकी भाषा भाव भरी होती है। आप कहानियाँ भी बहुत अच्छी लिखते हैं। आपकी कथा-साहित्य की रुचिर रचना सुरुचि-संगत और उच्च आदर्श के दर्शन, नीति-निष्ठा का निदर्शन और दिव्य देव-चरित्रों का दिग्दर्शन कराती है। आपकी लेखनी में ओज है, असर है, मनुष्य के विचारों को बरबस बदल देनेवाली सजीवता है। आप हिंदी के कई प्रतिष्ठित पुराने पत्रों के संपादकीय विभाग में काम कर चुके हैं, और अब तक उसी अध्यवसाय के साथ हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में काम कर रहे हैं। भिन्न भाषा-भाषी होकर भी अनन्य-निष्ठा के साथ हिंदी की सेवा करनेवाले आप-सरीखे वयोवृद्ध विद्वान् को सम्मेलन का सभापति निर्वाचित कर हिंदी-प्रेमियों ने अपने कर्तव्य का ही पालन किया है। यद्यपि पं० गौरीशंकर-हीराचंदजी ओझा के लिये हम पहले सम्मति स्थिर कर चुके थे, तथापि इस चुनाव का भी हम सर्वथा समर्थन करते हैं। हमें आशा है, इस बार व्रज-भूमि के सम्मेलन में यह साहित्यिकों का समागम अभूतपूर्व ही होगा। सभापति महोदय की वक्तृता भी अब की विशेष महत्त्व की होगी। उसमें केवल हिंदी की उत्पत्ति इत्यादि के पुराने पचड़े का पिष्ट-पेषण

न स्थान पावेगा। वृद्ध अनुभवी सभापतिजी हिंदी-साहित्य की प्रगति पर अपने अध्ययनात्मक पर्यवेक्षण द्वारा यथेष्ट प्रकाश डालेंगे, हिंदी-साहित्य की समयानुकूल सार्थक सृष्टि, बहुमूल्य विविध विषयों के ग्रंथों की वृद्धि एवं मातृभाषा-भांडार के समग्र विभागों की संतोषजनक समृद्धि किस प्रकार की जा सकती है, इस पर विचार करके सफलता का कोई सीधा-सा रास्ता ढूँढ निकालेंगे। चक्रवर्तीजी से हम कोई विशेष महत्त्व-पूर्ण सलाह और सहायता पाने की आशा रखते हैं। उनके बहुकालीन प्राचीन अनुभव से उन्नति-मार्ग में प्रकृत प्रगति की किसी अभिनव प्रकृष्ट प्रणाली की उद्भावना की संभावना है। चक्रवर्तीजी का चित्र और संक्षिप्त जीवन-चरित आगामी संख्या में प्रकाशित करेंगे। इस संख्या में बहुत चेष्टा करके भी हम नहीं प्रकाशित कर सके।

× × ×

२. कवि-सम्मेलन

हिंदी-साहित्य-संसार में एक बार कवि सम्मेलनों की फिर धूम मच गई है। स्कूलों और कॉलेजों में तो कवि सम्मेलन वार्षिकोत्सव का एक स्थायी और मनोरंजक अंग हो गया है। वह समय दूर नहीं, जब हिंदी-कवि-सम्मेलन उर्दू के मुशायरों से कहीं अधिक रोचक हो जायगा। इन कवि-सम्मेलनों में एक बात और ध्यान देने योग्य है। इनमें जो कविताएँ पढ़ी जाती हैं, वे अधिकांश व्रजभाषा की ही होती हैं। इस प्रकार इन सम्मेलनों द्वारा व्रजभाषा-कविता की अवरुद्ध धारा एक बार फिर वेग से बहने लगी है। पर क्या किसी ने सोचा है कि आखिर इस खड़ी बोली की लोक-प्रियता के युग में व्रजभाषा के प्रति यह रुझान और उसका सम्मान क्यों हो रहा है? हमारी राय में इसके दो प्रधान कारण हैं। एक तो यह कि 'समस्या-पूर्ति' की प्रथा का विकास व्रजभाषा-कविता के साथ पहले हो चुका है, इसलिये वैसी कविता व्रजभाषा में कुछ सरलता से होती है। दूसरा कारण यह है कि मुशायरों में जिस प्रकार की कविता पढ़ी जाती है, उसकी प्रतिद्वंद्विता करने की योग्यता खड़ी बोली की अपेक्षा व्रजभाषा को अधिक है। हमारे ख़याल में ये ही दो कारण हैं, जिनसे व्रजभाषा की कविता कवि-सम्मेलनों पर अपना आधिपत्य जमाती जाती है। हम व्रजभाषा-प्रेमियों को अभी से सावधान कर देना चाहते हैं कि इस समय व्रजभाषा-कविता का सिक्का कवि-सम्मेलनों पर जम गया है सही, पर यह स्थिति स्थायी रूप से तभी बनी रह सकती है, जब वर्तमान व्रजभाषा-कविता समय-प्रवाह के साथ बहे। यदि ऐसा न होगा, तो कुछ समय के बाद व्रजभाषा का आकर्षण नष्ट हो जायगा।

कवि-सम्मेलनों के संचालकों को भी दो-एक बातों पर ध्यान देना चाहिए। सम्मेलनों में पढ़ी जानेवाली कविताओं को पहले से अवश्य देख लेना चाहिए। ऐसा न होने से कभी-कभी ऐसी रचनाएँ सुनने को मिलती हैं कि बस, चित्त उकता जाता है। पहले से कविताएँ न देख लेने से एक और भी हानि है। कभी-कभी कविगण अपनी रचनाओं में अन्य सज्जनों पर व्यक्तिगत आक्षेप भी कर बैठते हैं। इससे कलह की वृद्धि होती और विवाद बहुत बढ़ जाता है। यह बात भी पहले से ही तय हो जानी चाहिए कि कौन कवि अपनी कविता किस कवि के बाद या पहले पढ़ेगा। पुरस्कार और पदक देने के नियम में भी नियंत्रण होना चाहिए। योग्य कवि और कविता ही सम्मानित और पुरस्कृत होनी चाहिए। किसी तरह सम्मेलन की सभा में योग्यता का अपमान और अयोग्यता की पूजा न होनी चाहिए। हमारी राय में प्रत्येक सम्मेलन को एक 'परीक्षक-समिति' बना रखनी चाहिए। वही जिसको पुरस्कृत करे, उसे पुरस्कार मिलना चाहिए। आशा है, कवि-सम्मेलनों के संचालक हमारे इस निवेदन पर ध्यान देंगे।

× × ×

३. व्रजभाषा और समय का प्रवाह

यद्यपि कुछ सज्जनों का ख़याल है कि वर्तमान समय में हिंदी-पद्य की भाषा एक-मात्र खड़ी बोली है; पर कई उत्कृष्ट पत्रिकाओं में जो कविताएँ निकलतीं, समय-समय पर जो कवि-सम्मेलन होते और उनमें जो कविताएँ पढ़ी जाती हैं, वे सब एक-मात्र खड़ी बोली में ही होती हैं, यह कोई नहीं कह सकता। कवि-सम्मेलनों में तो हमें खड़ी बोली का साम्राज्य क़तई नहीं दिखलाई देता। जो हो, खड़ी बोली के रहते हुए भी व्रजभाषा में आज भी धड़ल्ले के साथ पद्य-रचना होती है, और संभवतः जब तक व्रज का अस्तित्व है, होती ही रहेगी। व्रजभाषा के वर्तमान कवियों की रचनाओं पर एक यह आक्षेप अवश्य किया जा सकता है कि उनमें समय-प्रवाह की छाप नहीं रहती।

व्रजभाषा के कवि बार-बार वे ही पुराने विचार दुहराया करते हैं। इस क्रिया में वे इतने कुशल हैं कि क्या मजाल, कोई ऐसा भाव उनकी कविता में आ जाने पावे, जिससे कोई यह अनुमान कर सके कि यह पद्य अमुक समय में बना होगा। उदाहरण के लिये व्रजभाषा के किसी प्रतिष्ठित कवि को ले लीजिए। उसके छंदों को पढ़ जाइए, और फिर किसी पुराने व्रजभाषा के कवि के छंदों को पढ़िए। दोनों में एक ही प्रकार के भाव मिलेंगे। यदि आप रत्नाकर और पद्माकर के समय को न जानते होंगे, तो आपके लिये यह कहना कठिन होगा कि रत्नाकर पुराने हैं या पद्माकर। यह देखकर कहना पड़ता है कि न तो व्रजभाषा की कविता में समय के प्रतिबिम्ब की शक्ति है, और न इसके पास नए भावों की सामग्री। बस, यह व्रज के पुराने समय के दृश्य और उस समय के प्रचलित भावों की प्रतिध्वनि किया करती है। माना, उन भावों में कविता की ख़ासी सामग्री है, यह भी माना कि कुछ चुने हुए भाव ही कविता के उपयुक्त होते हैं; पर यह सब होने पर भी समसामयिक भावों को अपने पास न फटकने देना अत्यंत अनुचित है। अनुचित ही क्यों, यह प्रवृत्ति एक जीवित भाषा के गौरव के प्रतिकूल है। यदि व्रजभाषा की कविता सामयिक भावों को भी अपने आश्रय में रक्खे, तो उसकी लोकप्रियता कहीं अधिक बढ़ जाय। एक सज्जन का कहना है कि सच्ची कविता का संबंध किसी विशेष समय, किसी विशेष देश और किसी विशेष व्यक्ति से नहीं रहता। इसलिये यदि वर्तमान समय में व्रजभाषा की कविता करनेवाले रत्नाकर-जैसे सुकवियों के काव्य में समय का प्रतिबिंब नहीं झलकता, तो यह बात उनके कवित्व के महत्त्व को घटानेवाली न होकर बढ़ानेवाली है; क्योंकि वे समय के बंधन से मुक्त हैं। कुछ अंशों में यह दलील ठीक है। पर सर्वांश में यह ठीक नहीं मानी जा सकती; क्योंकि व्रजभाषा की कविता व्रज से संबद्ध है, इसलिये सार्वभौम नहीं। वह कृष्ण और गोपियों के विहार-काल का ही घुमा-फिराकर वर्णन करती है, इसलिये सर्वकालीन भी नहीं। जब इन दो आपत्तियों का सामना उसे पहले से ही करना है, तो फिर अपने ऊपर आधुनिक समय का प्रतिबिंब न पड़ने देना एक नई आपत्ति को आमंत्रित करना है। हमारी राय में यदि व्रजभाषा की कविता को जीवित रहना है, तो उसे समय-प्रवाह के साथ रहना होगा। व्रजभाषा प्राचीन होने पर भी कहीं-कहीं अब तक बोली जाती है। उसमें मधुरता और संक्षिप्तता है। चतुर कवियों के हाथों में पड़कर वह ऐसी कुछ मँज गई है कि कविता के लिये सर्वथा उपयुक्त है। उसको उत्तराधिकार में विशाल प्राचीन साहित्य मिला है। इसलिये कविता की भाषा होने की उसमें संपूर्ण पात्रता है। यदि वह समय-प्रवाह के साथ रहे, तो लाख कोसी जाने पर भी उसमें कविता होना बंद नहीं हो सकता!

× × ×

४. ग्रंथकर्ता और समालोचक

ग्रंथकर्ता लोग समालोचकों से बहुत घबराते हैं। पर यह न होना चाहिए। मिस्टर चेंबरलेंड कहा करते थे— "ग्रंथकर्ताओं की ऐसी महीन चमड़ी न होनी चाहिए कि ज़रा-सा दबाव पड़ा और खाल फट गई। उनका चमड़ा तो गैंडे की खाल-जैसा होना चाहिए, जिस पर तेज़-से-तेज़ तलवार का वार कुछ नहीं कर सकता। जो ग्रंथकर्ता नवप्रसूत मेमनों के समान सुकुमार होते हैं, वे समालोचक के एक ही वार में ख़तम हो जाते हैं। पर ऐसे ग्रंथकर्ता उच्च श्रेणी के नहीं होते। बड़े ग्रंथकर्ता आत्मसम्मानी, धैर्यवान और निर्भय होते हैं। यदि ग्रंथकर्ता स्वयं अपनी इज़्ज़त न बिगाड़े, तो समालोचक उसका बाल भी नहीं बाँका कर सकता। ग्रंथकर्ता उस तीर के समान है, जो इस पृथ्वी पर फेंका गया है। उसको सदा यह आत्मविश्वास रहना चाहिए कि जो हवा मुझे उड़ा रही है, मुझमें उससे भी अधिक ज़ोर है। यदि यह विश्वास न रहेगा, तो उस कवि का पतन अवश्यंभावी है। हाँ, जो ग्रंथकर्ता विकृत, अपूर्ण, और समय-विरुद्ध रचनाएँ करते हैं, उनकी छीछालेदर समालोचकों द्वारा अवश्य होगी।"

प्रायः देखा जाता है कि मात्सर्य-पूर्ण और ईर्ष्या से जर्जरीभूत समालोचक कुछ समय के लिये किसी कवि की कीर्ति को कितना ही मलिन क्यों न कर दे, थोड़ी देर के लिये बादल सूर्य को भले ही ढक लें, पर अंत में प्रतिभा-प्रभाकर की रश्मियाँ ईर्ष्यालु आलोचना की अँधेरी को अवश्य ही छिन्न-भिन्न कर देती हैं। तब उलटे समालोचक की हँसी होती है। समालोचक में द्वेष-बुद्धि का होना उसके पतन का कारण होता है। समालोचक में नेकनीयती की परम आवश्यकता है। जो समालोचक नेकनीयत नहीं,

उसकी अप्रतिष्ठा अवश्य होगी । समालोचक को निर्भय भी होना चाहिए । अपने कर्तव्य के सामने उसे किसी की परवा न करनी चाहिए । उसे बड़े-से बड़े ग्रंथकर्ता के अनुचित अनुनय विनय की उपेक्षा करनी चाहिए । उसका लक्ष्य केवल समालोच्य-ग्रंथ ही होना चाहिए । यदि ग्रंथ-कर्ता के विषय में समालोचक बहुत-सी ऐसी बातें जानता है, जो समालोच्य-ग्रंथ में नहीं हैं, तो उसे समालोचना लिखते समय उन बातों को भुला देना चाहिए । उनसे चित्त पर और ही प्रभाव पड़ता है, जिससे समालोचना में वे बातें आ जाती हैं, जो समालोच्य-पुस्तक से संबंध नहीं रखतीं ।

ग्रंथकर्ता और समालोचक की बराबरी नहीं हो सकती । ग्रंथकर्ता का पद समालोचक से कहीं ऊँचा है । समालोचक की कृति समय-विशेष में आदृत होकर विलुप्त हो जाती है; पर ग्रंथकर्ता का यश बहुत समय तक अपना अस्तित्व अक्षुण्ण रखता है । ग्रंथकर्ता स्वयं सृष्टिकर्ता है । किंतु समालोचक सृष्टिकर्ता नहीं, केवल सृष्टि के गुण-दोषों का निर्देश करनेवाला है । यदि समालोचक सहृदय है, तो सत्साहित्य का निर्माण करा सकता है, और दूषित साहित्य का प्रचार भी रोक सकता है; पर यह काम वह ग्रंथकर्ताओं से ही करा सकता है, स्वयं नहीं कर सकता । इसी से कहते हैं, ग्रंथकर्ता समालोचक से श्रेष्ठ है । हाँ, ग्रंथकर्ता भी सहृदय समालोचक की समालोचना से अपने को सुधार सकता है । इसलिये उसे समालोचक को अपना एक सहायक मित्र समझना चाहिए ।

× × ×

५. संपादक और मान-हानि

समाचारपत्रों में जो समाचार छपने को आते हैं, उनमें कौन छापने के योग्य है, कौन नहीं, कौन सच्चा है और कौन झूठा, इसका निर्णय करना संपादक का काम है । जो समाचारपत्र में निकल जाता है, उसकी सारी ज़िम्मेदारी संपादक पर है । इन समाचारों की बदौलत वह मान-हानि के मुक़दमों की भेंट हो सकता है, उसे आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है, और जेल तक जाने की नौबत आ सकती है । मान-हानि का आतंक ख़ूब व्यापक है । ज़रा-से नाम के साम्य से, वर्णन की एकता से, एक शब्द के प्रयोग से, एक शीर्षक के प्रदर्शन से मान हानि की बात दृढ़ हो सकती है । एक बार एक समाचारपत्र में संपादक ने एक कल्पित व्यक्ति का चरित्र चित्रित किया । दुर्भाग्य से उस नाम के एक लेखक जीवित थे । उन्होंने संपादक पर दावा दायर करके एक अच्छी रक़म वसूल कर ली । एक बार एक साप्ताहिक पत्र में एक कहानी छपने को आई । उसमें एक गृहस्थ के संबंध में कुछ कलंक की बातें थीं । संपादक डर गया, और उसने कथानक में फेर-फार कर डाला । नाम बदल दिए, तब उसको छापा । पर उस समय उसके आश्चर्य की सीमा न रही, जब उसे मालूम हुआ कि हू-ब-हू एक वैसी ही घटना घट चुकी है । संपादकजी मान-हानि के चंगुल में फँस गए, और एक ख़ासी रक़म व्यय करके छुटकारा पाया । एक बार एक संवाददाता को यह समाचार मिला कि एक प्रतिष्ठित व्यक्ति फ़ौजदारी के मामले में सज़ा पा गया है । उसने यही ख़बर अपने पत्र को भेज दी । पर बात उलटी हुई थी । वह व्यक्ति बिलकुल निर्दोष प्रमाणित होकर छूट गया था । संवाददाता ने फिर जल्दी से अपनी पूर्व सूचना का खंडन भेजा । पर तब तक ख़बर छप चुकी थी । संपादक ने पत्र की प्रतियों का वितरण बंद करवा दिया; पर तब तक १७ कॉपियाँ बिक चुकी थीं । आख़िर मान-हानि का दावा दायर ही हो गया, और संपादक को कई सौ पाउंडों से हाथ धोने पड़े । ये तो अनजान की मान-हानि के मामले हैं, पर पारनेल के पत्रों और पिगट के मामले में अनजानपन की दुहाई नहीं दी जा सकती । इन उदाहरणों से पाठकगण समझ सकते हैं कि समाचारपत्र के संपादक का काम कितना उत्तरदायित्व-पूर्ण है, कितने ख़तरे का है, और इसमें पग-पग पर कितने संयम और अनुभव की ज़रूरत है । अभी उस दिन लखनऊ के इंडियन डेली टेलीग्राफ़-पत्र में बाबू मथुराप्रसाद मेहरोत्रा बी० ए०, एम्० एल्० सी० के नाम से एक इस आशय का पत्र प्रकाशित हो गया कि सीतापुर-ज़िले के बिसवाँ-क़स्बे में हिंदू-मुसलमानों में दंगा हो गया ; कई मौतें हुईं, तथा पुलिस ने गोली चलाई । यह समाचार बिलकुल निर्मूल था । मेहरोत्राजी ने इसका खंडन किया । बात सचमुच झूठी थी, और किसी दुष्ट ने मेहरोत्राजी के दस्तख़तों का जाल बनाया था । पाठक समझ सकते हैं कि समाचार के झूठे होने पर भी इसके प्रकाशित होने के कारण संपादकजी मेहरोत्राजी के प्रति उत्तरदायी थे । पर असल में उनका दोष क्या था ? उनके पास समाचार आया, और उन्होंने

उसे नेकनीयती के साथ छापा। मगर इससे क्या, वह क़ानून के चंगुल में आ गए थे, और मान-हानि का भूत उनको लग गया था। संपादकों का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा और जटिल है, इसमें संदेह नहीं।

× × ×

६. मिस्टर 'की' और हिंदी

जबलपुर के मिस्टर 'की' ने अँगरेज़ी में एक छोटा-सा हिंदी का इतिहास लिखा है। इस पुस्तक के अंतिम अध्याय में आपने हिंदी की वर्तमान अवस्था और उसके भविष्य के संबंध में कुछ बातें लिखी हैं। पाठकों को यहाँ पर हम मिस्टर 'की' की कुछ बातें सुनाते हैं—

मिस्टर 'की' की राय है कि इस समय शिक्षित भारत-वासी हिंदी को वह महत्त्व और सम्मान नहीं दे रहे हैं, जो अँगरेज़ी को प्राप्त है। भारतीयों में अब भी अपनी देश-भाषाओं को अनादर की दृष्टि से देखने का भाव बना है। अब भी लोग समझते हैं कि हिंदी में लिखना अशिक्षितों के लिये लिखना है। मिस्टर 'की' इस प्रवृत्ति को अत्यंत निंदनीय समझते हैं। उनकी राय में हिंदी के लिये दूसरी कठिनता यह है कि उसके गद्य का कोई आदर्श अब तक निश्चित नहीं हो पाया। कुछ लोग तो उसमें कठिन-से-कठिन संस्कृत-शब्द मिलाकर उसे दुरूह बनाते हैं, और कुछ अरबी, फ़ारसी और अँगरेज़ी के शब्दों की अत्यधिक पुट देकर हिंदी-रूप को ही नष्ट कर रहे हैं। हिंदी-गद्य का यह परिवर्तन-काल है, और मिस्टर 'की' की राय है कि हिंदी के विद्वानों को ऐसे गद्य का निर्माण करना चाहिए, जो सबके लिये बोध-गम्य हो, और उसका हिंदीपन भी न नष्ट होने पावे। आगे चलकर आप कहते हैं कि चूँकि हिंदी गद्य का अभी परिवर्तन-काल है, और वह कृत्रिम भी है, इसलिये पद्य में गद्य की भाषा बहुत लोक-प्रिय नहीं हो सकी है, और कई प्रांतीय बोलियों में अब भी कविता होती है। आपने राय दी है कि जहाँ तक हो सके, गद्य और पद्य की भाषा मिलती-जुलती ही रहनी चाहिए। हिंदी की इन कठिनाइयों का उल्लेख कर चुकने के बाद आपने उसके उज्ज्वल भविष्य की भी सुंदर चर्चा की है। आपका कहना है कि जैसे-जैसे शिक्षा का विस्तार होता जायगा, और अनिवार्य शिक्षा का प्रचार होगा, वैसे-वैसे हिंदी-साहित्य की प्रगति तेज़ होती जायगी। मताधिकार की वृद्धि से भी उत्तरदायित्व बढ़ेगा, और शिक्षा और ज्ञान का विकास होगा। यह असंभव है कि इन सब-के संयुक्त प्रभाव से १० करोड़ मनुष्यों की भाषा हिंदी का साहित्य न बढ़े। हिंदी का प्रचार करनेवाली सभा-समितियों की स्थापना से भी 'की' महोदय को हिंदी के अच्छे भविष्य की आशा हुई है। काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा की आपने बड़ी प्रशंसा की है, और प्रयाग के साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं से भी आप ख़ूब संतुष्ट हैं। 'नार्थ-इंडिया-ट्रैक्ट-सोसाइटी' ईसाइयों की एक संस्था है। इसके द्वारा ईसाई-मत—विशेष करके बाइबिल—का प्रचार किया जाता है। यह संस्था देशी भाषाओं में ट्रैक्ट छपवाकर बाँटती भी है, और बेचती भी। हिंदी में भी इसके ट्रैक्ट बँटते हैं। 'की' साहब की राय है कि हिंदी के प्रचार में इस संस्था ने भी बड़ा काम किया है। 'की' साहब इस बात से बहुत संतुष्ट हैं कि इस समय हिंदी में मौलिक और अनूदित ग्रंथ धड़ल्ले से निकल रहे हैं, और साप्ताहिक, दैनिक तथा मासिक पत्रों की धूम है।

× × ×

७. कविता, सदाचार और नीति

कविता का निर्माण जीवन से हुआ है, उसका संबंध जीवन से है, और उसकी स्थिति भी जीवन के लिये है। मैथ्यू आरनल्ड की राय है कि "वास्तव में कविता जीवन की समालोचना है, इसलिये कवि की महत्ता इसी में है कि वह अपने विचारों को जीवन से संबद्ध करे—इस प्रश्न का उत्तर दे कि जीवन कैसे व्यतीत करे। उक्त समालोचकप्रवर का कहना है कि वास्तविक जीवन नैतिक विचारों से ओतप्रोत है, इसलिये जो कविता नैतिक विचारों के प्रतिकूल है, वह जीवन के प्रतिकूल है, और जो उनसे उदासीन है, वह जीवन से उदासीन है। परंतु जीवन से प्रतिकूल अथवा उदा-सीन रहकर कविता कविता ही नहीं कहला सकती।"

कविता की इस व्याख्या को ध्यान में रखते हुए मिस्टर हडसन ने अपनी 'इंट्रोडक्शन टू लिटरेचर'-नामक पुस्तक में लिखा है कि 'कला का उपयोग कला है।' यह बात बहुत कही जाती है; पर इसका भाव स्पष्ट नहीं समझ पड़ता। इस सिद्धांत की दुहाई देनेवाले कवि और समालोचक प्रायः दूसरे दर्जे के होते हैं। संसार के वास्तविक बड़े कवियों ने इस सिद्धांत का

आश्रय कभी नहीं लिया। उन्होंने तो कविता की वही व्याख्या स्वीकृत की है, जो ऊपर दी हुई है। वास्तव में कविता नीति और सदाचार के विरुद्ध हो ही नहीं सकती। पर खेद यह है कि बहुतेरे लोग नीति और सदाचार की व्यापकता को समझ ही नहीं पाते। वे उनके संकुचित अर्थ के फेर में पड़कर भ्रमा करते हैं। कॉलरिज साहब की राय है—"प्रकांड तत्त्ववेत्ता हुए बिना कोई कवि हो ही नहीं सकता।" वर्डसवर्थ साहब की राय है—"पहले तत्त्व-ज्ञान और तब उसकी उपज—कविता—का नंबर है।" लावेल साहब तो और भी बढ़ जाते हैं। वह कहते हैं—"जिसकी कविता में कोई-न-कोई तत्त्व-ज्ञान का तथ्य नहीं, उसके रचयिता को मैं कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखता।" ख़ैर, यह तो उन लोगों की राय है, जो कविता को जीवन की समालोचना और नीति तथा सदाचार का आश्रय मानते हैं; पर हमारी अपनी राय यह है कि नीति और सदाचार के आश्रित रचनाएँ कविता हो सकती हैं, और नहीं भी। कविता की हमारी कसौटी तो रमणीयता है। यदि सदाचार और नीति-पूर्ण रचना रमणीय है, तो वह अवश्य कविता है, इससे हमें इनकार नहीं। पर कविता को जीवन की समालोचना माननेवालों से हमारा एक सीधा-सा प्रश्न है। समालोचना में तो दोष और गुण, दोनो का ही प्रदर्शन रहता है। हमारी राय में सदाचार और नीति की पूर्ण महत्ता तभी दृष्टि-गत होगी, जब इन भावों के प्रतिकूल भाव भी दिखलाए जायँ। ऐसी दशा में जीवन के पूर्ण महत्त्व का प्रतिपादन अनीति और असदाचार के पराभव को दिखलाकर ही हो सकेगा। तब कविता से अनीति और असदाचार का एकबारगी बहिष्कार कैसे होगा? फिर उसी जीवन की समालोचना में अनीति और असदाचार का संपूर्ण अभाव कैसे हो सकेगा? फिर यह भी पूछना है कि जिस जीवन की बात कही गई है, वह 'मनुष्य-जीवन' है या उससे इतर 'देव-जीवन'?

× × ×

८. खोज का काम

यह बड़े ही हर्ष की बात है कि हिंदी-संसार में प्राचीन पुस्तकों की खोज का काम बड़ी धूम-धाम के साथ हो रहा है। नित्य नए ग्रंथों का पता लगता आ रहा है, जिससे नए-नए कवियों का हाल तो मालूम ही होता जाता है, साथ ही अब तक जिन कवियों का हाल विदित था, उनके संबंध में भी कभी-कभी आश्चर्य में डालनेवाली नई बातें मालूम हो जाया करती हैं। जिस कवि को आज तक हम एक प्रसिद्ध कवि का भाई समझते थे, वही अब उसका पिता सिद्ध हो जाता है। अब तक लोग शिवनाथ कवि को गुरुदत्त का भाई मानते थे; पर अब विदित हुआ कि नहीं, वह गुरुदत्त का पिता था। महाकवि और कालिदास को लोग दो कवि समझते थे; पर अब वे एक प्रमाणित हो गए। इसी प्रकार सैकड़ों ऐसे कवियों के नाम मिलते जाते हैं, जिनको पहले लोग जानते भी न थे। यह बहुत बड़ा काम हो रहा है। हर्ष की बात है कि भारत सरकार और प्रांतीय सरकारें भी इस काम में काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा की मदद कर रही हैं।

हमें खोज का काम करनेवालों से एक निवेदन करना है। जब उन्हें अपनी खोज द्वारा किसी पुराने कवि की बाबत कोई नई बात मालूम हुआ करे, तो वे उसे प्रकट करते समय प्राचीन लेखकों के प्रति व्यंग्य-पूर्ण उक्तियों का प्रयोग न किया करें। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा, खोज के काम में सुगमता बढ़ती जायगी। इस काम के लिये हमारे पास आज जो साधन हैं, वे कल कहाँ थे? फिर आज से दस-बीस बरस पहले जिन महानुभावों ने खोज का काम किया है, उनकी भूल मिलने पर उन पर कटूक्तियाँ सुनाने की क्या ज़रूरत? क्या शिवसिंह-सरोज में भूलों की भरमार नहीं है? क्या उन भूलों के लिये स्वर्गीय ठा० शिवसिंहजी को कोसने की ज़रूरत है? कदापि नहीं। सच बात तो यह है कि यदि शिवसिंह सरोज न होता, तो डॉक्टर ग्रियर्सन के 'माडर्न लिटरेचर ऑफ़ हिंदुस्तान' और 'मिश्रबंधु-विनोद' के बनने में बहुत बड़ी कठिनता पड़ती। इसी तरह यदि 'कालिदास का हज़ारा' अथवा और ऐसे संग्रह-ग्रंथ न होते, तो 'शिवसिंह-सरोज' का बनना मुशकिल था। ऐसी दशा में जब नए खोजियों को कोई नई बात मालूम हो, तो उन्हें नम्रता-पूर्वक अपनी खोज की सूचना छपवानी चाहिए। इस खोज का मतलब है ज्ञान में वृद्धि, न कि किसी की मूर्खता का भंडा-फोड़। पुराने खोजियों ने जान-बूझकर कोई मिथ्या बात नहीं प्रकट की। वरन् उन्हें जो बात उस समय मालूम हुई,

उसी को लिख दिया। अब यदि आपको कोई और नई बात मालूम हुई है, तो उसे प्रकट कीजिए; पर खोज की खुशी में शिष्टता को हाथ से न जाने दीजिए, और पूर्व-कार्य-कर्ताओं को कोसिए भी नहीं। बस, यही हमारा निवेदन है।

× × ×

९. लोकमत का परिवर्तन

आज जो राजनीतिक नेता लोक-प्रिय है, दो वर्ष पहले लोग उसका नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ते थे। इसके विपरीत दो वर्ष पूर्व जो धर्मात्मा जनता के हृदय का हार था, आज उसी के व्याख्यान सुनने को भी कोई तैयार नहीं। ये सब सच्ची बातें हैं, और ज़रा-सा आँख उठाकर देखने पर इसके ढेरों उदाहरण देखने को मिलेंगे। यह लोकमत-परिवर्तन राजनीतिक क्षेत्र तक ही परिमित नहीं है, साहित्य के मैदान में भी इसका बोल बाला है। आज जिस कवि की कविता पर लोग लट्टू हो रहे हैं, १० वर्ष पूर्व लोग उसे जानते भी न थे, तथा १० वर्ष पूर्व जिस कवि की प्रतिष्ठा बड़े ज़ोरों में थी, आज लोग उसके ग्रंथों को अपने पुस्तकालयों तक में स्थान देने को तैयार नहीं हैं। लोकमत-परिवर्तन के ये ही खेल हैं। वह नित्य एक को बनाया और दूसरे को बिगाड़ा करता है। कुछ उदाहरणों से हमारा कथन अधिक स्पष्ट हो जायगा। अपने समय में प्रसिद्ध कवि पोप की कविता पर लोग इतना मुग्ध थे, समालोचकों ने यहाँ तक कह डाला कि बस, अब पोप के बाद कोई क्या कविता करेगा! उन्हीं बेचारे पोप की आज यह दशा है कि धुरंधर अँगरेज़-समालोचक प्रश्न करते हैं कि क्या पोप की रचनाओं में कविता भी है? कुछ ठिकाना है इस मत-परिवर्तन का! दूसरा उदाहरण लीजिए। 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' के रचयिता बेनियन को कौन नहीं जानता? पहलेपहल जब इनका ग्रंथ प्रकाशित हुआ, तो बड़े-बड़े समालोचकों ने उसे अच्छे गद्य-साहित्य में भी न गिना था। भरपूर निंदा हुई। पर समय पाकर बेनियन के भाग्य जागे। वही गद्य, जो अच्छा गद्य तक न था, अच्छी कविता मान लिया गया। आज तो पिलग्रिम्स प्रोग्रेस की गणना उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों में है। मत-परिवर्तन की क्रीड़ा का यह दूसरा दृश्य है। अपनी हिंदी-कविता में भी उदाहरण लीजिए। गंगजी को दास और कुलपति मिश्र-जैसे आचार्य तुलसी के समकक्ष कवि-सरदार मानते थे; पर आज साहित्य-क्षेत्र में गंग का पद क्या है? बहुत-से लोग तो उनका नाम भी नहीं जानते। केशवदास के कवित्व के संबंध में जो मत आज से २० वर्ष पहले था, वही क्या इस समय भी है? देव कवि की ख्याति इधर पिछले दो दशकों में क्या अधिक नहीं बढ़ी? हिंदी के नव-शिक्षित समाज में—विशेष करके उस समाज में, जो नगरों में रहता है—खड़ी बोली की कविता के प्रति जो भाव आज से पाँच वर्ष पहले हो गए थे, वे ही क्या इस समय भी हैं? क्या ब्रजभाषा की कविता की विडंबना आज उतने ही ज़ोरों से होती है, जितने ज़ोरों से आज से ५ वर्ष पूर्व होती थी? कहाँ तक गिनावें, लोकमत-परिवर्तन के खेल अनुपम और अनंत हैं। समय की गति, ज्ञान की वृद्धि अथवा ह्रास, समालोचनाओं का प्रभाव तथा और बहुत से अव्यक्त कारण ऐसे हैं, जो रुचि-परिवर्तन कराते हैं। व्यक्तिगत रुचि-परिवर्तन समुदाय के रुचि-परिवर्तन का रूप पाता है, और फिर लोकमत का परिवर्तन हो जाता है।

× × ×

१०. स्वर्गीय राजा मुंशी माधोलाल सी० आई० ई०

उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने पर प्राणी परंपरा की प्रणाली को प्रायः पद-दलित कर देता है। मान का मद और लक्ष्मी का लोभ उसके विवेक को विचलित कर देता है। यही कारण है कि कितने ही धनी-मानी श्री और सामर्थ्य से संपन्न रहने पर भी समय के अनुकूल सदा सर्वथा सत्कार्य संपादित करने में सुस्त कहे जाते हैं। पर स्वर्गीय राजा मुंशी माधोलालजी ऐसे महानुभावों में न थे। राजा और सी० एस० आई०-सरीखी उच्च पदवियाँ प्राप्त होने पर भी आपने अपने वंश-परंपरागत तथा अपनी पूर्वावस्था के द्योतक 'मुंशी'-शब्द को अपने नाम से अलग नहीं किया। आप काशी के निवासी थे। धनियों में काशी-नरेश के बाद आप ही का नंबर था। आपका जन्म १८४० ईसवी में, सिपाही-नागर जाति में, हुआ था। आपके पिता मुंशी बेनीलालजी बनारस और बलिया में मुंसिफ़ रहे थे। काशी के क्वींस कॉलेज में आपने शिक्षा प्राप्त की। अदालत की भाषा होने के कारण, अरबी और फ़ारसी को आपने घर ही पर सीखा। १८६० ई० में आपने मुंसिफ़ी और सदर अदालत की वकालत-परीक्षा पास की। इस परीक्षा में आप सर्व-प्रथम हुए। कुछ वर्ष काशी और आगरे में वकालत करने



स्वर्गीय राजा मुंशी माधोलाल सी० आई० ई०

के बाद आप द्वितीय श्रेणी के मुंसिफ़ नियुक्त हुए। फिर तो आप अपनी दक्षता और योग्यता की बदौलत बराबर उन्नति करते गए। आप प्रांतीय और बड़ी कौंसिल के कई बार मेंबर भी हुए। वहाँ भी आपने बड़ी योग्यता से सार्वजनिक हित के कार्य किए। आप अपने भाषण में कभी विषयांतर न आने देते थे। कौंसिल के योरपियन और हिंदोस्तानी मेंबर आप पर एक सा प्रेम रखते थे।

आपको कला-संबंधी ज्ञान भी पूरा था। लॉर्ड कर्ज़न ने अपने समय के दिल्ली-दरबार के समय होनेवाली प्रदर्शिनी में आप ही को पुरस्कार-निर्णायक बनाया था। आपके कला के सूक्ष्म ज्ञान से संतुष्ट होकर लॉर्ड कर्ज़न ने मुक्त कंठ से आपकी प्रशंसा की। लोकोपकारी भी आप कम न थे। अकाल के समय आपने लोगों की बड़ी सहायता की। जब कभी जनता पर कोई विपत्ति आती थी, तो आप भरसक उसे दूर करने के लिये कुछ उठा न रखते थे। १९०६ ई० की काशी की राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वागताध्यक्ष की हैसियत से आपने धन और जन से पूरी सहायता अगर न की होती, तो उसे कदापि इतनी सफलता न प्राप्त होती।

साहित्य से आपको कम प्रेम न था। संस्कृत के प्रति आपका विशेष अनुराग था। काशी के पंडित आपको वेद-रक्षक कहा करते थे। स्व० महामहोपाध्याय पं० गंगाधर-जी शास्त्री सी० आई० ई० ने आपको चारों वेदों की प्रशस्तियाँ बड़े समारोह से समर्पित की थीं। काशी का सुप्रसिद्ध 'सरस्वती भवन'-नामक संस्कृत-पुस्तकालय आप ही का बनवाया हुआ है। चालीस हज़ार देकर आपने अपने छोटे भाई के नाम पर साधोलाल छात्रवृत्ति देने का प्रबंध किया। यह वृत्ति संस्कृत की उच्च शिक्षा में उत्तीर्ण छात्रों को प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अनुसंधान-कार्य के लिये दी जाती है।

महासमर के समय आपने एक लाख आठ हज़ार का वार-लोन लेकर सरकार का उपकार किया था। सात हज़ार रुपए घायल सैनिकों की सुश्रूषा के लिये अस्पताली मोटर ख़रीदने को दिए थे। काशी के किंग एडवर्ड अस्पताल में रोगियों के रहने के लिये एक वार्ड भी बनवाया था।

बनारस और गोरखपुर-डिवीज़नों में आपके कई इलाक़े हैं। इसके सिवा बनारस-ज़िले के ६७ समूचे गाँव और चार गाँवों के कुछ हिस्से भी आपके हैं। यह सब अपने उत्तराधिकारी दौहित्र रायबहादुर कैप्टेन कुँअर नंदलाल के सिपुर्द कर इसी १२ सितंबर को आप स्वर्ग सिधार गए। आशा है, कुँअर साहब भी देश तथा साहित्य की समुचित सेवा का ध्यान रक्खेंगे।

× × ×

११. काश्मीर-नरेश की मृत्यु

देश-बंधु दास-जैसे नेता, सर सुरेंद्र-जैसे वक्ता, डॉ० भांडारकर-जैसे विद्वान् और ग्वालियर-नरेश-जैसे प्रजा-वत्सल राजा का वियोग अभी भूला भी नहीं था कि गत २३ सितंबर को काश्मीर-नरेश मेजर जेनरल महाराज सर प्रतापसिंह बहादुर जी० सी० एस० आई०, जी० बी० ई०, एल्-एल्० डी० भी इस संसार से चल बसे। आपका जन्म १८५० ई० में हुआ था। आप महाराज रणबीरसिंहजी के ज्येष्ठ पुत्र थे। आपके दादा महाराज



स्वर्गीय काश्मीर-नरेश मेजर जनरल महाराज सर प्रतापसिंह बहादुर
जी० सी० एस्० आई०, जी० बी० ई०, एल्-एल्० डी०

निरीक्षण में एक स्टेट-कौंसिल को सौंपा गया, जिसके मेंबर आपके छोटे भाई और दो अँगरेज़-अफ़सर हुए। सन् १८९१ ई० में आप उस कौंसिल के अध्यक्ष हुए, और आपके छोटे भाई राजा सर अमरसिंह के० सी० आई० ई० उपाध्यक्ष। सन् १९०५ ई० में कौंसिल टूट गई, और महाराज को शासन का पूरा अधिकार मिला।

गद्दी पर बैठने के बाद आपने अपनी रियासत में अनेक सुधार किए। निर्माण-विभाग और अर्थ-विभाग नए सिरे से बनाए गए। मालगुज़ारी के बंदोबस्त का नया नियम चलाया। बेगार, मुसलमान-विवाह-कर आदि उठा दिए गए। यही नहीं, ईंटे बनाने आदि के कितने ही काम, जो रियासत ने अपने लिये रख छोड़े थे, वे सार्वजनिक कर दिए गए। सेना का भी फिर से संगठन किया। राज्य में रेल का प्रसार, जंगल की रक्षा आदि काम भी आप ही के शासन में आरंभ हुए होंगे।

ये सुधार पूर्ण रूप से कार्य में परिणत भी नहीं होने पाए थे कि आपमें और भारत-सरकार में मनमुटाव हो गया। फल यह हुआ कि आपने ५ वर्ष के लिये अपने कुल अधिकार अपनी

गुलाबसिंहजी ने ही काश्मीर के वर्तमान राजवंश की स्थापना की थी। आप केवल राजा ही नहीं थे, संस्कृत के बड़े विद्वान् भी थे। क़ानून, विज्ञान और वैद्यक के भी अच्छे ज्ञाता थे। अँगरेज़ी-साहित्य से भी अपरिचित नहीं थे। १८८५ ई० में आप राजगद्दी पर बैठे थे। दो मंत्रियों की सहायता से आप राजकाज चलाने लगे। १८८७ ई० में आप राजकाज से अलग हो गए। शासन का भार रेज़ीडेंट के

इच्छा से त्याग दिए। फिर शासनारूढ़ होने पर आपने उक्त सुधारों के अलावा सफ़ाई, बिजली की रोशनी आदि का भी प्रबंध किया। अपनी प्रजा को शिक्षित बनाने के लिये कॉलेज, हाई स्कूल, मिडिल स्कूल आदि भी आपने स्थापित किए, अस्पताल खोले, पुरानी इमारतों की रक्षा का प्रबंध किया। व्यापार-वाणिज्य की वृद्धि के लिये सड़कें दुरुस्त कराईं। समय-

समय पर आपने लड़ाइयों में अपनी सेना द्वारा अँगरेज़-सरकार की सहायता भी ख़ूब की। आप भी अपने पूर्वजों की तरह सनातनधर्म के बड़े पक्के अनुयायी थे। प्रातःकाल और संध्या को अपना नित्य-कर्म करने से आप कभी नहीं चूकते थे। पर दूसरे धर्मों से आप द्वेष-भाव न रखते थे। आप बड़े दयालु और प्रजावत्सल थे। ठाट-बाट से सदा दूर रहते; सादगी-पसंद थे। राजपूतों में विद्या-प्रचार के काम में भी आपने बड़ी सहायता पहुँचाई है।

तैरना, कुश्ती लड़ना, घोड़े की सवारी और क्रिकेट ही आपके मन-बहलाव की वस्तुएँ थीं। क्रिकेट का आपको बड़ा शौक़ था। अभी तक आप उसे खेलते थे।

इस समय काश्मीर राज्य का क्षेत्रफल ८४,४३२ वर्गमील है। जन संख्या ३० लाख और वार्षिक आय डेढ़ करोड़ रुपए। अब आपके भतीजे महाराज सर हरिसिंह इंद्रमहेंद्रबहादुर ही आपके उत्तराधिकारी हुए हैं। ईश्वर आपको वंश मर्यादा की रक्षा के लिये समर्थ बनावें, यही प्रार्थना है। काश्मीर की गद्दी का गौरव अब आप ही के हाथ में है।



श्रीमन्महाराज सर हरिसिंह इंद्रमहेंद्रबहादुर सिपार ए-सल्तनत के० सी० आई० ई०

× × ×

१२. भारत में लोहे और फ़ौलाद का उद्योग

भारत की औद्योगिक उन्नति कई अंशों में लोहे और फ़ौलाद के उद्योग की वृद्धि पर निर्भर है। जैसा कि हम गत मास बतला चुके हैं, भारत में लोहे की खानें कम न होने पर भी, इस देश में प्रति वर्ष ४०-५० करोड़ रुपयों का लोहे और फ़ौलाद का सामान अन्य देशों से आता है। भारत में जितना लोहे और फ़ौलाद का सामान कारख़ानों में तैयार किया जाता है, वह भारत की आवश्यकताओं के लिये काफ़ी नहीं होता। भारत में फ़ौलाद का उद्योग अभी शैशव अवस्था में है। हमारी सरकार ने आरंभ-काल से ही मुक्तद्वार वाणिज्य (Free Trade) की नीति का अवलंबन किया, और यहाँ के उद्योग-धंधों को आयात-कर द्वारा, अथवा अन्य किसी तरह से, सहायता तथा प्रोत्साहन देना अपना कर्तव्य नहीं समझा। यह नीति भारतीय उद्योग धंधों के लिये—ख़ासकर लोहे और फ़ौलाद के उद्योग के लिये—बहुत घातक सिद्ध हुई। सन् १८७० ई० तक लोहे के बड़े कारख़ाने खोलने के जितने प्रयत्न किए गए, वे सब विदेशी प्रतिद्वंद्विता के कारण असफल हुए। सन् १८८६ ई० में 'बंगाल आयरन ऍंड स्टील कंपनी' ने अपना काम शुरू किया। बीस वर्षों तक बराबर घाटा उठाते रहने के बाद उसको नफ़ा होने लगा। इस कंपनी का कारख़ाना कुल्टी में है। सन् १९०७ ई० में 'ताता आयरन ऍंड स्टील कंपनी' की स्थापना हुई; परंतु उसने अपना काम सन् १९१२ ई० में शुरू किया। कंपनी की पूँजी शुरू में क़रीब तीन करोड़ पचास लाख रुपए की थी। युद्ध-काल में इस कंपनी को बहुत अधिक (२०० प्रति-सैकड़े से अधिक) नफ़ा हुआ। इस कंपनी का कारख़ाना जमशेदपुर में है। यह कारख़ाना अब बहुत बढ़ा दिया गया है, और इसमें कई हज़ार आदमी काम करते हैं। भारत में केवल यही एक ऐसी कंपनी है, जो फ़ौलाद (Steel) का सामान तैयार करती है। सन् १९१७ ई० में 'इंडियन आयरन ऍंड स्टील कंपनी' खोली गई। इसका कारख़ाना बर्नपुर में है। इसने लोहे के सामान तैयार करने का काम नवंबर, सन् १९२३ ई० में शुरू किया। आजकल लोहे और फ़ौलाद का सामान तैयार करनेवाले ये ही तीन बड़े कारख़ाने हैं। आगे के कोष्ठक में यह बतलाया जाता है कि गत आठ-नव वर्षों में कितना कच्चा लोहा भारतीय खानों से निकाला गया, भारतीय कारख़ानों में कितना साफ़ लोहा तैयार किया गया, तथा लोहे और फ़ौलाद का कितना सामान तैयार किया गया—

वर्ष	खानों से कितना कच्चा लोहा निकाला गया ? (हज़ार टन में)	कितना साफ़ लोहा तैयार किया गया ? (हज़ार टन में)	कितना लोहे का सामान तैयार हुआ ? (हज़ार टन में)	कितना फ़ौलाद का सामान तैयार हुआ ? (हज़ार टन में)
१९१६	४,१२	२,४५	३१	६३
१९१९	५,०२	३,१७	३०	१,३४
१९२१	६,४२	३,७०	२७	१,२५
१९२३	८,०४	५,९०	४२	१,५१

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि अब खानों से अधिक परिमाण में कच्चा लोहा निकाला जाने लगा है, और लोहे तथा फ़ौलाद के सामान तैयार करने की मात्रा में भी तरक़्क़ी हुई है। सन् १९१९ ई० की अपेक्षा सन् १९२१ ई० में लोहे और फ़ौलाद का सामान कम तैयार किया गया। इसका प्रधान कारण यह है कि सन् १९२०-२१ में भारतीय विनिमय की दर दो शिलिंग फ़ी रुपया, और उससे अधिक भी, रहने के कारण विदेशी माल भारत में सस्ता बिकने लगा। भारतीय कारख़ाने लोहे और फ़ौलाद के सामान को इतनी सस्ती क़ीमत पर, बिना घाटा उठाए, बेचने में असमर्थ रहे। इससे भारतीय कारख़ानों में, सन् १९२१ ई० में, सामान भी कम तैयार हुआ, और इस उद्योग में लगी हुई कंपनियों को नुक़सान भी उठाना पड़ा। परंतु भारतीय विनिमय की दर बहुत दिनों तक दो शिलिंग से अधिक नहीं रही। वह शीघ्र ही एक शिलिंग चार पेंस से भी कम हो गई। अब विदेशी कंपनियों ने, भारत के फ़ौलाद के व्यापार को अपने हाथों में कर लेने के उद्देश से, फ़ौलाद का सामान भारत में अपनी लागत से भी कम क़ीमत पर बेचना शुरू कर दिया। ताता-कंपनी की स्थिति डाँवाँडोल होने लगी, और उसने सरकार से सहायता के लिये प्रार्थना की।

× × ×

१३. ताता कंपनी को सरकार की सहायता

सन् १९२१ ई० में भारत-सरकार ने जो आर्थिक कमीशन नियुक्त किया था, उसने सन् १९२२ ई० में यह सिफ़ारिश की कि भारत-सरकार को भारतीय उद्योग-धंधों की सहायता करने के लिये संरक्षण की नीति स्वीकार करना चाहिए, और किस उद्योग को किस प्रकार कितनी सहायता दी जाय, इसकी जाँच के लिये एक बोर्ड भी नियुक्त करना चाहिए, जिसका नाम टेरिफ़-बोर्ड रहे। कमीशन की इस सिफ़ारिश को भारत-सरकार ने स्वीकार किया, और सन् १९२३ ई० में टेरिफ़-बोर्ड की स्थापना की गई। इस बोर्ड के सभापति सर जार्ज रेनी और सदस्य पूना-फ़रगुसन-कॉलेज के अर्थ-शास्त्र के प्रोफ़ेसर श्रीमान् पंडित वामनगोविंद काले और मिस्टर जिनवाला नियुक्त किए गए। इस बोर्ड ने पहले फ़ौलाद के उद्योग की जाँच शुरू की। इस बोर्ड के सामने ताता-कंपनी के प्रतिनिधि ने फ़ौलाद के आयात पर ३३$\frac{1}{3}$ फ़ी सैकड़े रक्षित कर लगाने का अनुरोध किया। जाँच समाप्त होने पर बोर्ड इस निर्णय पर पहुँचा कि आधुनिक परिस्थिति में बिना हानि उठाए फ़ौलाद का सामान भारत में नहीं बनाया जा सकता, और बिना सरकार की सहायता यह उद्योग जीवित भी नहीं रह सकता। राष्ट्रीय दृष्टि से उद्योग का महत्त्व बतलाकर बोर्ड ने यह सिफ़ारिश की कि फ़ौलाद के भिन्न-भिन्न पदार्थों के आयात पर २० रुपए फ़ी टन से ६० रुपए फ़ी टन तक रक्षित आयात-कर लगाया जाय। बोर्ड ने सरकार को यह भी सलाह दी कि भारत में जितनी रेल की लाइनें बनाई जायँ, उनके लिये सन् १९२४-२५ में ३२ रुपए फ़ी टन, १९२५-२६ में २६ रुपए फ़ी टन और १९२६-२७ में २५ रुपए फ़ी टन आर्थिक सहायता दी जाय। बोर्ड ने फ़ौलाद का रेलों में उपयोग किए जानेवाले माल के डिब्बों के लिये भी आर्थिक सहायता दिलाना उचित समझा। उसने सिफ़ारिश की कि सन् १९२४-२५ में ८०० डिब्बों के लिये ८५० रुपए फ़ी डिब्बा आर्थिक सहायता दी जाय, और प्रति वर्ष यह दर कम होते-होते पाँचवें वर्ष में १,६०० डिब्बों के लिये ४४० रुपए फ़ी डिब्बा आर्थिक सहायता दी जाय। भारत-सरकार ने बोर्ड की सब सिफ़ारिशों को स्वीकार कर लिया। जून, १९२४ ई० में इन सिफ़ारिशों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिये बड़ी व्यवस्थापक सभा और राष्ट्रीय परिषद् द्वारा आवश्यक क़ानून बना दिया गया। यह क़ानून पास करने में स्वराजियों ने भी सरकार की सहायता की। इस क़ानून द्वारा भारत-सरकार को यह भी अधिकार दिया गया है कि यदि उसे यह मालूम पड़े कि फ़ौलाद का सामान भारत में ऐसी क़ीमत पर भेजा जा रहा है, जो कि आयात-कर देने पर

भी भारत में बने हुए माल की लागत की क़ीमत से भी कम है, तो वह रक्षित आयात-कर की दर बढ़ा सकती है। जून, सन् १९२४ ई० से फ़ौलाद के आयात पर रक्षित कर लगा दिया गया, और ताता-कंपनी को नए क़ानून के अनुसार आर्थिक सहायता भी दी जाने लगी। इतने में भारतीय विनिमय की दर धीरे धीरे बढ़ने लगी, और वह चार महीनों के अंदर १ शिलिंग ४ पेंस से १ शिलिंग ६ पेंस तक पहुँच गई। विनिमय-दर की इस वृद्धि के कारण विदेशी माल भारत में सस्ता बिकने लगा; और रक्षित आयात-कर होते हुए भी विदेशी कंपनियाँ फ़ौलाद का माल भारत में ऐसी क़ीमत पर बेचने लगीं, जिससे ताता-कंपनी का लागत का ख़र्च भी नहीं निकलता था। ताता-कंपनी ने भारत-सरकार से आयात-कर बढ़ाने के लिये फिर प्रार्थना की। भारत-सरकार ने उसके प्रार्थना-पत्र को टैरिफ़-बोर्ड के पास जाँच करने के लिये भेज दिया। जाँच करने के बाद टैरिफ़-बोर्ड ने नवंबर, १९२४ ई० में फ़ौलाद के सामान पर और भी अधिक आयात-कर बढ़ाए जाने की सिफ़ारिश की। आयात-कर की इस वृद्धि से फ़ौलाद के माल के भारतीय उपभोक्ताओं को क़रीब दो करोड़ रुपए अधिक देने पड़ते, और ताता-कंपनी को केवल ५० लाख रुपयों की सहायता मिल पाती। यह सोचकर भारत-सरकार ने फिर से आयात-कर बढ़ाने की सिफ़ारिश को अस्वीकार किया, और ३० सितंबर, १९२५ ई० तक ताता-कंपनी को ५० लाख रुपयों की और भी आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया। जनवरी, सन् १९२५ ई० में कामर्स-सदस्य ने बड़ी व्यवस्थापिका सभा में यह प्रस्ताव उपस्थित किया। वह स्वीकार किया गया, और उसके अनुसार ५० लाख रुपयों की सहायता ताता-कंपनी को दी गई।

अब जुलाई, सन् १९२५ ई० में टैरिफ़-बोर्ड ने भारत-सरकार के आदेशानुसार फ़ौलाद के उद्योग की फिर से जाँच की, और उसने १ अक्टोबर, सन् १९२५ ई० से ३१ मार्च, सन् १९२७ ई० तक इस उद्योग को ९० लाख रुपयों की सहायता दिए जाने की सिफ़ारिश की। इस बोर्ड का यह मत है कि ताता-कंपनी को इतनी सहायता मिलने पर भी, और उसके कारख़ानों में लागत का फ़ी टन ख़र्च क्रमशः कम होने पर भी, इस कंपनी को अपनी पूँजी पर उचित मुनाफ़ा नहीं मिल सकेगा।

इस कंपनी ने गत तीन-चार वर्षों से अपने शेयर-होल्डरों को कुछ भी मुनाफ़ा नहीं दिया; और यदि उचित सहायता न मिली, तो संभव है, उसे अपना कारख़ाना बंद ही कर देना पड़े। भारत-सरकार ने टैरिफ़-बोर्ड की सिफ़ारिश को स्वीकार नहीं किया, और ३० मार्च, सन् १९२७ ई० तक ताता-कंपनी को केवल ६० लाख रुपयों की सहायता, बारह रुपए फ़ी टन की दर से, देना निश्चित किया है। यह प्रस्ताव बड़ी व्यवस्थापिका सभा और राष्ट्रीय परिषद् की, सितंबर की, बैठक में स्वीकार हो चुका है। उसके अनुसार ३० मार्च, सन् १९२७ ई० तक ताता-कंपनी को ६० लाख रुपयों की सहायता मिल जायगी। इसमें से १८ लाख ५० हज़ार रुपए तो उसे ३० मार्च, सन् १९२६ ई० तक ही मिल जायँगे।

भारत में फ़ौलाद के उद्योग का भविष्य बहुत आशा-जनक है। टैरिफ़-बोर्ड के हिसाब के अनुसार, आगामी १८ महीनों में (३० मार्च, सन् १९२७ ई० तक) क़रीब ४ लाख २४ हज़ार टन फ़ौलाद का सामान ताता-कंपनी के कारख़ानों में तैयार किया जायगा। जब यह उद्योग इस देश में अच्छी तरह से स्थापित हो जायगा, तब कम-से-कम ५० लाख टन फ़ौलाद का सामान प्रति वर्ष भारत में तैयार होने लगेगा। इसके लिये काफ़ी तादाद में कच्चा लोहा खानों से निकाला जाकर साफ़ किया जा सकेगा। इस प्रकार इस उद्योग से क़रीब १०० करोड़ रुपयों की इस देश की आय बढ़ जायगी, और क़रीब दस लाख व्यक्तियों को इस उद्योग में काम मिल सकेगा। ताता-कंपनी को अपने कारख़ाने में लागत का ख़र्च कम करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

सुना है, 'युनाइटेड स्टील कारपोरेशन ऑफ़ एशिया'-नामक एक बड़ी विदेशी कंपनी फ़ौलाद और लोहे का एक बड़ा कारख़ाना बंगाल में खोलनेवाली है। उसकी पूँजी क़रीब २० करोड़ रुपयों की होगी; परंतु आरंभ में वह ८ करोड़ की पूँजी से ही काम शुरू करेगी। भारत के धनी व्यवसायियों से हमारा अनुरोध है कि वे ताता-कंपनी की तरह इस उद्योग की तरफ़ ध्यान दें, अपना रुपया इसमें लगावें, जिससे यह उद्योग अधिकांश में विदेशियों के हाथ में न चला जाय, और इस उद्योग का अधिकांश लाभ देश में ही देशवासियों की उन्नति के लिये रहे।

× × ×

१४. भारत में कागज़ का आयात

प्रत्येक देश के लिये कागज़ एक अत्यंत आवश्यक वस्तु है। उसका महत्त्व भी बहुत अधिक है। वह ज्ञान का रखवाला है। उसके बिना आजकल ज्ञान का प्रचार ही नहीं हो सकता। हमारी सभ्यता भी आजकल अधिकांश में कागज़ पर ही निर्भर है। गूदड़, घास, लकड़ी तथा बाँस के हलवे या लुगदी से कागज़ बनाया जाता है। यद्यपि भारत में इन पदार्थों की कमी नहीं, फिर भी हमारे देश को इस आवश्यक वस्तु के लिये भी अन्य देशों का मुँह ताकना पड़ता है। प्रति वर्ष क़रीब तीन करोड़ रुपयों का सब प्रकार का कागज़ भारत में अन्य देशों से आता है। नीचे के कोष्ठक में यह बतलाया जाता है कि गत दस बारह वर्षों में कितने मूल्य के सब प्रकार के कागज़ (छापने का कागज़, लिखने का कागज़, पैक करने का कागज़, कार्ड-बोर्ड तथा अन्य प्रकार के कागज़) भारत में मँगाए गए—

वर्ष	सब प्रकार के कागज़ों का आयात		
१९१३-१४	१,५६	लाख	रुपए
१९१८-१९	२,७२	,,	,,
१९१९-२०	२,३४	,,	,,
१९२०-२१	७,३०	,,	,,
१९२१-२२	२,३४	,,	,,
१९२२-२३	२,७६	,,	,,
१९२३-२४	२,७१	,,	,,
१९२४-२५	३,०३	,,	,,

इस कोष्ठक से पता चलता है कि महायुद्ध के पहले क़रीब डेढ़ करोड़ रुपयों का कागज़ भारत में आता था। सन् १९१८-१९ और १९१९-२० के कागज़ के आयात के मूल्य में जो वृद्धि ऊपर के कोष्ठक में मालूम होती है, वह केवल कागज़ की क़ीमत के असाधारण रूप से बढ़ जाने के कारण है। असल में तो कागज़ के आयात का परिमाण इन वर्षों में सन् १९१३-१४ की अपेक्षा आधे से भी कम हो गया था। सन् १९२० ई० में भारत-सरकार ने विनिमय की दर बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न किया, और वह दो शिलिंग चार पेंस फ़ी रुपए से भी अधिक बढ़ गई। इससे विदेशी कागज़ भारत में बहुत सस्ता बिकने लगा। भारतवासियों को अपनी कागज़ की कमी दूर करने का अच्छा अवसर मिल गया। उस वर्ष उन्होंने करोड़ों रुपयों का कागज़ मँगाया। यही कारण है, जो सन् १९२०-२१ ई० में कागज़ के आयात का मूल्य ७ करोड़ रुपयों से भी अधिक हो गया। भारत-सरकार विनिमय की दर को अधिक समय तक बढ़ाए रखने में असफल हुई। सन् १९२१-२२ में विनिमय की दर १ शिलिंग ४ पेंस फ़ी रुपए की दर से भी कम हो गई। विदेशी कागज़ फिर से महँगा हो गया, और उसके आयात का मूल्य फिर तीन करोड़ रुपयों से कम हो गया। विदेशी कंपनियों ने भारत के व्यापार को अपने हाथ में करने के लिये कम क़ीमत पर, घाटा उठाकर भी, अपना कागज़ बेचना शुरू किया। साथ-ही-साथ सन् १९२३-२४ ई० में विनिमय की दर भी बढ़ने लगी, और वह सन् १९२४-२५ में १ शिलिंग ६ पेंस फ़ी रुपए तक पहुँच गई। इससे भी विदेशी कागज़ की क़ीमत कम हुई; उसका आयात बढ़ता गया, और अब तक बढ़ रहा है। कागज़ों की क़ीमत गिर जाने के कारण, उपर्युक्त कोष्ठक में दिए अंकों से गत तीन वर्षों के कागज़ के आयात की वृद्धि का बराबर पता नहीं लगता। नीचे के कोष्ठक में यह दिखाया जाता है कि गत तीन वर्षों में केवल लिखने और छापने का कितना कागज़ किस देश से भारत में आया—

देश	१९२२-२३ (लाख पौंड)	१९२३-२४ (लाख पौंड)	१९२४-२५ (लाख पौंड)
इँगलैंड और स्कॉटलैंड	२,३०	२,१०	२,१४
स्वीडन	५०	२८	३०
नार्वे	१,७२	१,३१	१,३७
जर्मनी	६६	१,६१	२,६५
हालैंड और डेन-मार्क	२७	३५	६३
अन्य देश	४७	६४	१,२८
मीज़ान	५,९२	६,२९	८,३७

इस कोष्ठक से यह भली भाँति मालूम होता है कि भारत में विदेशी काग़ज़ का आयात बड़ी तेज़ी से बढ़ रहा है। यह वृद्धि अधिकांश में जर्मनी से हुई है । इँगलैंड, स्वीडन और नार्वे से तो गत दो वर्षों मे काग़ज़ का आयात सन् १६२२-२३ ई० के आयात से कम ही रहा। इस बढ़ती हुई विदेशी प्रतिद्वंद्विता के कारण भारत के काग़ज़ के कारखानों को हानि उठानी पड़ रही है । कुछ बंद हो गए, और कुछ बंद हो रहे हैं। यदि भारत-सरकार द्वारा इस उद्योग को उचित प्रोत्साहन और सहायता नहीं मिली, तो वह कुछ वर्षों में नष्ट हो जायगा, और हमको अपनी काग़ज़ की आवश्यकता पूरी करने के लिये अन्य देशों पर ही पूर्ण रूप से निर्भर रहना पड़ेगा ।

× × ×

१५. भारत में काग़ज़ के उद्योग की दशा

चीन-निवासियों को सबसे प्रथम काग़ज़ बनाने की तरकीब ढूँढ़ निकालने का गौरव प्राप्त है । सुना जाता है, नेपालियों ने चीन-देश से काग़ज़ बनाने का हुनर सीखा, और नेपाल में काग़ज़ बनना शुरू हुआ । वहाँ से फिर भारतवासियों ने उसे सीखा । खोज करने से पता लगा है कि पाँच-छः शताब्दियों के पहले से ही भारत में बिना कल की सहायता के काग़ज़ तैयार किया जाने लगा था । पुराने ज़माने में, इस देश में, कपड़े के गूदड़ से काग़ज़ बनाए जाते थे, और यह उद्योग काफ़ी उन्नत दशा में था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में काग़ज़ बनाने की एक कल का आविष्कार हुआ, और उसके ज़रिए से वहाँ काग़ज़ कम लागत पर बनाए जाने लगे। यह कल अथवा मशीन गूदड़, घास, लकड़ी या बाँस के हलवे (pulp) का काग़ज़ बना देती है। यह काग़ज़ के कारखानों में उपयोग में लाई जानेवाली सभी मशीनों से बड़ी और अधिक पेचीदा होती है। इसके एक तरफ़ पानी-सहित मुलायम रेशेदार पल्प डाला जाता है, और दूसरी ओर से पाँच मील का लंबा काग़ज़, एक बड़ी चरख़ी पर लिपटता हुआ, निकलता है। यह मशीन लगभग १२० फ़ीट लंबी होती है, तथा प्रति मिनट १२० फ़ीट लंबा और ६० इंच चौड़ा काग़ज़ बनाती है । इस मशीन का चित्र नीचे दिया जाता है। जब इस मशीन का उपयोग योरप में होने लगा, और सस्ते काग़ज़ों का भारत में आना शुरू हुआ, तब काग़ज़ के पुराने उद्योग का भारत में धीरे-धीरे ह्रास होने लगा। यद्यपि बिना उक्त कल की सहायता के काग़ज़ बनानेवाले छोटे-छोटे कारखाने भारत में कहीं-कहीं अब भी पाए जाते हैं, पर उनकी संख्या बहुत कम है, और उनमें बहुत ही मामूली तरह का काग़ज़ बनाया जाता है।

उक्त कल की सहायता से काग़ज़ तैयार करनेवाले बड़े-बड़े कारखानों का आरंभ भारत में सन् १८७० ई० में हुआ था । इस वर्ष बेली पेपर-मिल नामक अँगरेज़ी कंपनी ने अपना एक कारखाना बंगाल में खोला। कई वर्षों तक इसको अपने कार्य में सफलता हुई । सन् १६०४ ई० में यह कंपनी टूट गई, और इसकी मशीनों को 'टीटागढ़ पेपर मिल' ने ख़रीद लिया। सन् १८७६ में 'अपर इंडिया कूपर पेपर-मिल' नाम की एक भारतीय कंपनी ने लखनऊ में अपना काग़ज़ का कारखाना खोला। इस कंपनी की शेयर पूँजी ८ लाख रुपए की है। महायुद्ध के समय इस कंपनी को अच्छा लाभ हुआ। इसमें क़रीब तीन हज़ार टन काग़ज़ प्रति वर्ष तैयार किया जाता है। इसकी दशा आजकल बहुत संतोषजनक नहीं है।



काग़ज़ बनाने की मशीन

(इसके एक तरफ़ पानी सहित पल्प डाला जाता है। दूसरी ओर से ५ मील का लंबा काग़ज़ एक बड़ी चरख़ी पर लपटता हुआ निकलता है)

सन् १८८१ ई० में महाराज सिंधिया ने ग्वालियर में एक काग़ज़ का कारख़ाना खोला। इसका काम कई वर्षों तक बंद रहा। अब इसे 'बंगाल पेपर-मिल' ने ख़रीद लिया है, और इसकी मशीन उसी में मिला दी गई है। सन् १८८२ ई० में 'टीटागढ़ पेपर-मिल' खोली गई। इसकी शेयर-पूँजी चार लाख सैंतीस हज़ार रुपए है। इस कंपनी ने सन् १६०२ में काँकिनारा की 'इंपीरियल पेपर-मिल', जो सन् १८६२ ई० में खुली थी, अपने में मिला ली, और सन् १६०४ ई० में 'बेलीमिल' की मशीनें भी ख़रीद लीं। सन् १६१८, १६१६ और १६२० ई० में इस कंपनी ने क़रीब ४० रुपए फ़ी सैकड़े मुनाफ़ा अपने शेयर-होल्डरों को दिया। इस कंपनी के कारख़ाने में क़रीब १८,००० टन काग़ज़ प्रति वर्ष तैयार होता है। इसकी दशा भी अब अधिक संतोषजनक नहीं है। गत तीन वर्षों से इस कंपनी ने कुछ मुनाफ़ा नहीं बाँटा। सन् १८८३ ई० में 'दक्षिण पेपर-मिल' नाम की एक कंपनी पूने में स्थापित हुई। इसमें केवल एक हज़ार टन काग़ज़ प्रति वर्ष तैयार होता है। सन् १८६० ई० में 'बंगाल पेपर-मिल' रानीगंज में खुली। इसकी शेयर-पूँजी ८ लाख ८८ हज़ार रुपए है। इस कंपनी ने सन् १६१७ से १६२० ई० तक ४२ रुपए फ़ी सैकड़े मुनाफ़ा अपने शेयर-होल्डरों को बाँटा। इसमें प्रति वर्ष क़रीब ७ हज़ार टन काग़ज़ तैयार होता है। इस कंपनी ने भी गत तीन वर्षों से कुछ मुनाफ़ा नहीं बाँटा। बंबई प्रांत में भी दो छोटे छोटे कारख़ाने काग़ज़ तैयार करते हैं। ट्रावनकोर-रियासत में भी काग़ज़ का एक कारख़ाना है। सन् १६२१ ई० की मनुष्य-गणना के समय भारत-भर में काग़ज़ के ११ कारख़ाने थे। उनमें ५ बंगाल में, ३ बंबई में और शेष मदरास, युक्त-प्रांत और ट्रावनकोर-राज्य में थे। इनमें से ऐसे कारख़ाने, जिनमें ४०० से अधिक व्यक्ति काम करते हों, केवल ५ ही थे। इन कारख़ानों में काम करनेवाले पुरुषों की संख्या ५,४१३ और स्त्रियों की १,०८४ थी। इन कारख़ानों में बड़ी-बड़ी जगहों पर ८४ विदेशी और ५१ भारतीय अफ़सर काम करते थे। चौदह वर्ष से कम उमर के क़रीब ३०० लड़के-लड़कियाँ भी काम करते थे। भारतीय कारख़ानों में अधिकांश काग़ज़ कपड़ों के गूदड़ और घास से ही बनाया जाता है। इनमें क़रीब ३० हज़ार टन काग़ज़ प्रति वर्ष तैयार होता है, और ६० हज़ार टन से अधिक काग़ज़ प्रति वर्ष अन्य देशों से भारत में आता है। हम यह पहले बता चुके हैं कि काग़ज़ का आयात भारत में बढ़ रहा है, और इससे भारत में काग़ज़ के उद्योग को बहुत हानि हो रही है। यदि यही दशा कुछ दिन और रही, और सरकार से कुछ सहायता नहीं मिली, तो शीघ्र ही प्रायः सब कारख़ाने बंद हो जायँगे।

× × ×

२६. काग़ज़ का उद्योग और भारत-सरकार की सहायता

विदेशी प्रतिद्वंद्विता बढ़ते देखकर भारत के काग़ज़ के कारख़ानेवालों ने भारत-सरकार से सहायता के लिये प्रार्थना की। भारत-सरकार ने टैरिफ़-बोर्ड को इस उद्योग की जाँच करने के लिये आज्ञा दी। जाँच-पड़ताल करके टैरिफ़-बोर्ड ने अपनी यह राय क़ायम की है कि ऐसे कारख़ानों को, जिनमें कपड़ों के गूदड़ और घास का उपयोग होता है, सहायता देने से देश को लाभ न होगा। उसका ख़याल है कि ये कारख़ाने विदेशी कंपनियों का, जो कि लकड़ी और बाँस के पल्प का उपयोग करती हैं, सामना नहीं कर सकते। हाँ, सहारनपुर में पंजाब-पेपर-मिल्स की तरफ़ से जो काग़ज़ का एक कारख़ाना खुल रहा है, उसे घास की कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं, इसलिये इस कारख़ाने का उद्योग सफल होने की आशा की जा सकती है। बोर्ड का यह मत है कि भारत में काग़ज़ के उद्योग का भविष्य बहुत आशाजनक है। भारत में बाँस और ऐसी लकड़ी की कमी नहीं, जिससे उत्तम काग़ज़ काफ़ी परिमाण में, कम लागत पर, बनाया जा सकता है। मदरास-प्रांत के राजमहेंद्री-नगर में और बंगाल में ऐसी कंपनियाँ खुली हैं, जो बाँस का उपयोग करके काग़ज़ बनाना चाहती हैं। टैरिफ़-बोर्ड ने सिफ़ारिश की है कि बाँस से काग़ज़ बनाने के उद्योग को सहायता पहुँचाने के लिये विदेशों से लिखने के काग़ज़ के आयात पर और छापने के ऐसे काग़ज़ के आयात पर, जिसमें ६५ फ़ी सैकड़े से अधिक लकड़ी के पल्प का उपयोग किया गया है, एक आना फ़ी पाउंड रक्षित आयात-कर, पाँच वर्ष के लिये, लगाया जाय। बोर्ड ने यह भी सिफ़ारिश की है कि 'इंडियन पेपर पल्प कंपनी' और राजमहेंद्री की काग़ज़-कंपनी को दस-दस लाख रुपए भारत-सरकार उधार दे। भारत-सरकार ने आयात कर बढ़ाने की सिफ़ारिश तो स्वीकार कर

ली, परंतु उक्त कंपनियों को लाखों रुपए उधार देना उचित नहीं समझा। कामर्स-सचिव ने यह प्रस्ताव बड़ी व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित करते हुए कह दिया कि यदि मदरास-सरकार उचित समझे, तो वह राजमहेंद्री के कारख़ाने को, टेरिफ़-बोर्ड की सिफ़ारिश के अनुसार, ७० लाख रुपए उधार दे सकती है। 'इंडियन पेपर पल्प कंपनी' सम्मिलित पूँजी की कंपनी नहीं, इसलिये सरकार द्वारा उसे कोई सहायता दिया जाना उचित नहीं समझा गया। सरकारी प्रस्ताव बड़ी व्यवस्थापिका सभा और राष्ट्रीय परिषद् की इसी सितंबर की बैठक में स्वीकार किया गया, और काग़ज़ के आयात पर एक आना फ़ी पाउंड रक्षित कर लगाने का क़ानून भी बना दिया गया। यह कर सात वर्ष के लिये लगाया गया है। इससे भारत-सरकार को फ़िलहाल क़रीब २१ लाख रुपयों की आमदनी होगी। भारतीय कंपनियों को काग़ज़ बनाने में बाँस का उपयोग शुरू कर देना चाहिए। उन्हें अब अपनी लागत का ख़र्च कम करके भारत के व्यापार को अपने हाथ में करने का प्रयत्न करना चाहिए। भारत के धनवान् व्यक्तियों को अब काग़ज़ के उद्योग में अपने रुपए लगाना चाहिए, जिससे यह उद्योग पूरी तरह से विदेशियों के हाथ में न चला जाय। आजकल भी यह अधिकांश में विदेशियों के हाथ में है। हम आशा करते हैं, सात वर्ष की अवधि समाप्त होने पर यह उद्योग इस देश में अच्छी तरह से स्थापित हो जायगा, उससे हमारी काग़ज़-संबंधी सब आवश्यकताएँ पूरी होने लगेंगी, और फिर काग़ज़ के आयात पर रक्षित आयात-कर लगाए रहने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

× × ×

१७. भारत में विदेशी कपड़े का आयात

भारत में सूती कपड़े का ही एक बड़ा उद्योग ऐसा है, जो अधिकांश में भारतवासियों के हाथ में है। इस देश में सूत कातने और कपड़ा बुनने की कला बहुत पुरानी है। हज़ारों वर्ष पहले भी भारतवासी बहुत उत्तम कपड़े तैयार करते और विदेशों को भेजते थे। पुराने ज़माने में हमारा सूती कपड़े का उद्योग इतनी उन्नत दशा में था कि हम अपने देश की कपड़े की माँग पूरी करके संसार के सब देशों को करोड़ों रुपयों के कपड़े प्रति वर्ष भेजते थे। ब्रिटिश-शासन के आरंभ-काल से ही हमारे सूती कपड़े के उद्योग की अवनति शुरू हो गई थी। भारत में सूती कपड़ों की क़रीब २६० मिलें खुलने पर भी हमको ७०-८० करोड़ रुपयों का सूती कपड़ा विदेशों से प्रति वर्ष मँगाना पड़ता है। नीचे के कोष्ठक में यह बतलाया जाता है कि गत दस-बारह वर्षों में कितने मूल्य का सब प्रकार का सूती कपड़ा भारत में आया—

सन्	सब प्रकार के सूती कपड़ों के आयात का मूल्य		
१९१३-१४	५८,१३	लाख	रुपए
१९१७-१८	४६,७१	,,	,,
१९२०-२१	८३,७६	,,	,,
१९२१-२२	४३,१५	,,	,,
१९२२-२३	५८,५१	,,	,,
१९२३-२४	५६,८३	,,	,,
१९२४-२५	६६,४०	,,	,,

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि महायुद्ध के पहले क़रीब ५८ करोड़ रुपयों का विदेशी कपड़ा भारत में मँगाया जाता था। युद्ध के समय कपड़े की क़ीमत बढ़ जाने पर भी आयात का मूल्य ५० करोड़ रुपयों से भी कम हो गया, अर्थात् आयात के परिमाण में बहुत ही अधिक कमी हो गई। महायुद्ध के बाद, सन् १९२०-२१ ई० में, विनिमय की दर अधिक होने के कारण, विदेशी माल भारत में बहुत सस्ता मिलने लगा, और इसी कारण उस वर्ष करीब ८४ करोड़ रुपयों का सूती कपड़ा मँगाया गया। फिर महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वदेशी आंदोलन शुरू हुआ, और विदेशी कपड़े का बहिष्कार भी जारी कर दिया गया। इससे सन् १९२१-२२ ई० में विदेशी सूती कपड़ों का आयात बहुत कम हो गया। उस वर्ष कपड़ों के आयात का मूल्य केवल ४३ करोड़ रुपए था। स्वदेशी आंदोलन वैसा ही अगले साल (१९२२-२३) में जारी नहीं रक्खा जा सका, और इसी कारण उस वर्ष आयात का मूल्य ५८ करोड़ रुपयों तक पहुँच गया। स्वदेशी आंदोलन की शिथिलता के साथ ही विदेशी कपड़े का आयात भी बढ़ता गया। इस वर्ष (सन् १९२४-२५) में ६६ करोड़ रुपयों का कपड़ा विदेशों से मँगाया गया। गत वर्ष से विनिमय की दर बढ़ गई है। इससे विदेशी माल भारत में सस्ता बिकता है। क़ीमत

गिर जाने के कारण ऊपर के कोष्ठक में दिए हुए अंकों से गत तीन वर्षों के सूती कपड़े के आयात की वृद्धि का बराबर पता नहीं लगता। नीचे के कोष्ठक में यह बतलाया जाता है कि गत तीन वर्षों में कितना कपड़ा किस देश से आया—

देश	१९२२-२३ (लाख गज़)	१९२३-२४ (लाख गज़)	१९२४-२५ (लाख गज़)
इँगलैंड और स्कॉटलैंड	१४५,३३	१३१,८७	१६१,८७
अमेरिका (संयुक्त-राज्य)	७६	६५	८८
जापान	१०,७८	१२,२६	१५,५३
हालैंड और डेनमार्क	१,३१	१,०८	१,१६
इटली	१९	५६	६६
अन्य देश	९२	२,०५	२,२१
मीज़ान	१५९,२९	१४८,४८	१८२,६१

इस कोष्ठक से मालूम होता है कि भारत में अधिकांश विदेशी कपड़ा (क़रीब ९० फ़ी सैकड़े) इँगलैंड और स्कॉटलैंड से आता है। सन् १९२४-२५ के आयात में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। जापान से कपड़े का आयात भी बड़ी तीव्र गति से बढ़ रहा है। गत दो वर्षों में ही वह ५० फ़ी सदी बढ़ गया है। इस आयात की वृद्धि से भारत की सूती कपड़ों की मिलों को बहुत हानि हो रही है। यद्यपि गत तीन वर्षों में इन मिलों में कपड़ों की पैदावार कम नहीं हुई, तो भी माल उनके गोदामों में ठसाठस भरा पड़ा है। जिस क़ीमत पर विदेशी माल बिक रहा है, उस पर देशी माल बेचने से लागत का ख़र्च भी नहीं निकलता। लागत का ख़र्च कम करने की ग़रज़ से पहली सितंबर से मिलवालों ने मज़दूरों की ११½ फ़ी सैकड़े मज़दूरी कम कर दी है। इससे मज़दूरों में भारी असंतोष फैला है, और अब तक क़रीब २ लाख मज़दूरों ने बंबई में हड़ताल कर दी है। कपड़े की सभी मिलें बंद हो गई हैं। अहमदाबाद में भी हड़ताल हो जाने की संभावना है। सुना गया है, लंकाशायर की कुछ कंपनियाँ भारतीय मिलों को, कम क़ीमत पर, ख़रीदने का विचार कर रही हैं। यदि मिलवालों को विवश होकर अपनी मिलें विदेशियों के हाथ बेच देना पड़ीं, तो देश के लिये इससे बढ़कर और कोई दुर्भाग्य की बात न होगी। यही एक बड़ा उद्योग ऐसा है, जो कि आजकल भारतवासियों के हाथ में है। यदि यह भी उनके हाथ से निकल गया, तो फिर भारतवासियों की क्या दशा होगी, यह पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं। मिलवालों ने भारत-सरकार से प्रार्थना की थी कि भारत के बने हुए कपड़े पर जो कर सरकार द्वारा लगाया जाता है, वह तुरंत उठा लिया जाय। अभी तो भारत-सरकार ने कोरा जवाब दे दिया है। हमारी समझ में भारत-सरकार का इस समय प्रधान कर्तव्य यही है कि वह कपड़े के भारतीय प्रधान उद्योग को इस संकट के समय सहायता दे, कपड़े पर का कर तुरंत उठा ले, और जापानी माल के आयात पर रक्षित-कर लगा दे।

× × ×

१८. अमेरिका की उन्नति और स्त्रियाँ

अमेरिका की इस उन्नति का रहस्य क्या है? वहाँ के लोगों में दरिद्रता क्यों नहीं पैठने पाती? वे संसार में सदा आगे ही क्यों बढ़ते जाते हैं? वे इतने प्रतिभाशाली और निडर क्यों हैं? इन सब प्रश्नों का एक ही कारण है। वह है वहाँ की शिक्षा। वहाँ की शिक्षा में स्त्रियों का जितना हाथ है, उतना और किसी देश में नहीं। यह तो निर्विवाद है कि पुरुषों के रहते स्त्रियाँ बालकों को शीघ्र शिक्षित बना सकती हैं। वे अपने सुमधुर आडंबर-रहित कोमल शब्दों से कठिन-से-कठिन बात को आसानी से उनके हृदय में उतार सकती हैं। यही कारण है कि वहाँ के बालक चाहे जितने कुद-मग़ज़ क्यों न हों, वे भी देश के लिये कुछ-न कुछ कर गुज़रते हैं।

अब देखिए, वहाँ की स्त्रियाँ किस प्रकार स्वयं शिक्षा पाती और देशोन्नति में योग देती हैं। हमारे भारतवर्ष में जैसे पुरुषों की सभा-समितियाँ हैं, वैसे ही अमेरिका में स्त्रियों के क्लब हैं। वहाँ के सब क्लबों के उद्देश्य एक नहीं। कोई राजनीतिक है, तो कोई सामाजिक, कोई धार्मिक है, तो कोई वैज्ञानिक। जिस स्त्री को जिस विषय से प्रेम होता है, वह उसी विषय के क्लब की सदस्या हो जाती है। वहाँ वे एकत्रित होकर अपने अपने विषय का ख़ूब अध्ययन करती हैं। अध्ययन के लिये वहाँ उनको सब प्रकार के सुबीते होते हैं। उस विषय की खोज की, जो अंतिम-से-अंतिम रिपोर्ट रहती है, वह सब

वहाँ तैयार रहती है, जिससे वे आसानी से, बिना दौड़-धूप किए, अपने विषय में अप-टू-डेट रह सकें। अध्ययन के बाद सब सदस्या आपस में विचार-वितर्क भी खूब करती हैं, जिससे और भी उस विषय की अनेक नई बातें प्रकट हो जाती हैं। अख़बारों में उनकी रिपोर्ट भेजकर जनता को भी लाभ उठाने का पूरा अवसर दिया जाता है। इस प्रकार उनके सामने नित्य नए प्रश्न विचार करने को उपस्थित होते रहते हैं। अतः जिस प्रश्न को उठाया जाता है, उसे एक बार खूब छान-बीनकर उस पर मत स्थिर कर लिया जाता है। फल यह होता है कि सुधार-प्रगति और उन्नति के नित्य नए मार्ग उनके लिये तैयार होते जाते हैं, और वे यथासाध्य प्रत्येक प्रकार से लाभ उठाने में ज़रा भी नहीं चूकतीं।

राजनीतिक क्लब में राष्ट्र की वर्तमान समस्या पर पूरा विचार किया जाता है। बड़ी-बड़ी सभाएँ करके जनता को उसके कर्तव्य का ज्ञान कराया जाता है। उसे बतलाया जाता है कि आगामी चुनाव में उन्हें किसे चुनना चाहिए—किसके लिये उन्हें वोट देना चाहिए। वहाँ की अधिक जनता भी कितने राजनीतिक रहस्यों के भेद जानने के लिये इनका मुँह ताकती है। समयानुकूल ये जनता को आवश्यक सूचना दिया करती हैं। इतना ही नहीं, ये अपनी बहनों को इस बात का पूरा ज्ञान कराती हैं कि राष्ट्र के प्रति उनका क्या कर्तव्य है। बालकों की देख-भाल पर इनका पूरा ध्यान रहता है। वे ही उनके भविष्य की प्रजा हैं। उनके पालन-पोषण में कोई त्रुटि नहीं होने देते। प्रति वर्ष वहाँ बालकों की प्रदर्शिनी होती है। जिनके बालक अच्छे स्वस्थ होते हैं, उनको इनाम दिया जाता है। किसी बालक में कोई ख़राबी होती है, तो डॉक्टर उसका कारण और दवा बतलाता है। ये अपनी प्रवासी बहनों को भी उनके कर्तव्य और अमेरिका के सच्चे नागरिक का कर्तव्य बताती हैं।

मानसिक उन्नति अर्थात् विद्या-प्रचार जिन क्लबों का उद्देश्य है, वे भी कमाल कर रहे हैं। अपने यहाँ के ग़रीब विद्यार्थियों को उच्च-से-उच्च शिक्षा प्राप्त कराने में वे धन से पूरी सहायता करते हैं। उत्तम वक्ता, उत्तम लेखक, उत्तम वैज्ञानिक, शिल्पी आदि को वे बराबर इनाम दे-देकर उत्साहित करती रहती हैं। इस प्रकार अमेरिका के कला-कौशल की पूर्ण रक्षा होती है। वहाँ के लोगों की प्रतिभा दरिद्रता आदि के कारण नष्ट नहीं होने पाती। परस्पर प्रेम और कर्तव्य-ज्ञान की मात्रा बराबर बढ़ती जाती है।

अमेरिका की स्त्रियों के इन क्लबों से क्या भारतवर्ष का महिला-समाज कुछ भी लाभ उठा सकेगा? जब तक भारतवर्ष की स्त्रियाँ अपना कर्तव्य नहीं समझेंगी, तब तक लाख सिर मारने पर भी भारत की अवस्था का सुधरना असंभव नहीं, तो बहुत कठिन अवश्य है। अच्छा हो, भारतवर्ष में भी ऐसे क्लब स्थापित हों, और यहाँ की महिलाएँ भी अमेरिका की स्त्रियों की तरह देशोन्नति में पूरा नहीं, तो कुछ तो योग अवश्य दें।

× × ×

११. साहित्य-निर्माण और स्त्रियाँ

क्या स्त्रियाँ भी साहित्य-निर्माण में सहायता पहुँचा सकती हैं? अगर उनमें इतनी ही योग्यता होती, तो भला भारतवर्ष की आज ऐसी दशा ही क्यों होती? क्या वे अविद्या, कलह और अनेक प्रकार के नए-नए लड़ाई-झगड़े का कारण नहीं हैं? लगातार इन प्रश्नों को सुनते-सुनते किसी को भी स्त्री-समाज पर अश्रद्धा हो जाना स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि ऐसे-ऐसे उत्साह को नष्ट करने वाले प्रश्नों को सुनकर स्त्रियाँ अपनी सब सुध-बुध भूल गईं। उनकी रही-सही विद्या-बुद्धि और चपलता ने भी साथ छोड़ दिया। दिनोंदिन उनका स्थान नीचा होता गया। पुरुष-वर्ग की निगाह में वह एकदम गिर गईं। पुरुष उनको निरा बच्चा ही समझने लगा। उनकी स्वाभाविक तेज़ी, कार्य-कुशलता आदि का लोप हो गया। इसका उत्तरदाता कौन है? जिस वस्तु को आप श्रद्धा की दृष्टि से देखेंगे, उसमें निरंतर श्रद्धा उत्पन्न होती जायगी। उसमें की एक-एक खूबियाँ आँखों के सामने नाचने लगेंगी। अश्रद्धा का चश्मा लगाकर देखने से भली वस्तु भी बुरी दिखाई देती है।

ख़ैर, साहित्य-निर्माण में स्त्रियाँ दो प्रकार से योग दे सकती हैं। एक तो अपने आचरण से, और दूसरे अपनी बुद्धि से। अगर उनका आचरण आदर्श हुआ, देश-काल के अनुकूल हुआ, तो प्रतिभाशाली कवि और लेखक उसके आधार पर बहुत कुछ लिखकर साहित्य-सेवा कर सकते हैं। यदि जनक-सुता सीता का आचरण आदर्श न होता,

तो भला वाल्मीकि और तुलसीदासजी रामायण की रचना क्यों करते ? द्रौपदी न होती, तो महाभारत की रचना क्यों होती ? राधा न होती, तो भागवत कैसे बनती ? इनको जाने दीजिए। आजकल भी जितने ग्रंथ, हिंदी, अँगरेज़ी या किसी भी भाषा में बनते हैं, उनमें अगर नायिका न हो, तो ग्रंथ अधूरा ही समझा जाता है। इस दृष्टि से यह लिखना कि साहित्य-निर्माण में स्त्रियों का भाग कम नहीं, अनुचित न होगा।

अब रही उनकी बुद्धि की बात। इसमें भी वे किसी से पिछड़ी नहीं हैं। लोगों ही ने उन्हें बहका रक्खा है। किसी बात को शीघ्र समझकर उसको दूसरे को समझाने में स्त्रियाँ जितनी कृतकार्य होती हैं, उतने पुरुष नहीं। यद्यपि पुरुष के नाम शिक्षा देने का पट्टा ही लिख गया है। स्त्रियों में ग्राह्य और अग्राह्य वस्तुओं की निर्णायक बुद्धि बड़ी तेज़ होती है। किसी बात से वे उसका सार बहुत जल्दी निकाल लेती हैं। फिर उसी को वह दूसरे अपने शब्दों में ऐसी अच्छी तरह समझा सकती हैं कि पुरुष उतनी सफलता शायद ही पाता हो। जब कभी किसी स्त्री का भाषण होता है, तो जनता बड़ी संख्या में एकत्र होती है। बातें भी शीघ्र समझी जाती हैं। कारण, स्त्रियों के भाषण में सब बातें सीधी-सादी, सुमधुर भाषा में कही जाती हैं। उनके वाक्य उनकी विद्वत्ता के द्योतक नहीं, मनोभाव के प्रचारक होते हैं। यही कारण है कि पत्रिकाओं में भी प्रायः देखा गया है कि स्त्रियों के लेख जिस चाव और आसानी से पढ़े और समझे जाते हैं, उतने पुरुषों के नहीं। अँगरेज़ी-पत्रिका में आप देखेंगे कि प्रायः पचास में से बीस कहानियाँ स्त्रियों ही की होती हैं, जिन्हें जनता भी चाव से पढ़ती और संपादक भी बड़े आग्रह से छापते हैं। फल यह होता है कि उनको इस प्रकार उत्साह मिलने से वे इस क्षेत्र की ओर अपनी बुद्धि को और भी प्रवृत्त करती हैं। क्या भारतवर्ष के संपादक भी इस ओर अपना ध्यान देना अपना कर्तव्य नहीं समझेंगे ?

× × ×

२० जानने योग्य बातें

१—शिकागो-युनिवर्सिटी के एक वैज्ञानिक ने हाल में लगातार ३३ दिन उपवास किया है। इस उपवास में उनके शरीर का वज़न ३० पौंड कम हो गया था। किंतु भोजन करने के बाद आठ ही दिन में २० पौंड तक बढ़ गया।

२—भारत से सन् १९२२ में १३,६७५, सन् १९२३ में १२,५०७, और सन् १९२४ में १०,१९५ गउएँ विदेशों को गईं।

३—सन् १९२१ में जापान के शिक्षा-विभाग की जो रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी, उससे जान पड़ता है कि उस समय स्कूल जाने योग्य अवस्था के छात्रों की संख्या कुल १ करोड़ ३ लाख १७ हज़ार ८६ थी। इनमें ८८ लाख ६७ हज़ार २२ छात्र (अर्थात् ९९.०३) स्कूलों में पढ़ते थे। इस श्रेणी के छात्रों की संख्या पहले वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष २,२५,३३५ बढ़ गई थी। समग्र जापान-साम्राज्य में इस वर्ष ४३,८२० विद्यालय, २,२८,६८२ शिक्षक, भिन्न-भिन्न आयु के १,०४,२५,७४२ छात्र और १९,०६,१३७ ग्रेजुएट थे। इस साल पहले के साल से १,०६३ स्कूल, १०,६४६ शिक्षक, ४,३८,४९५ छात्र और १,२०,५०० ग्रेजुएट अधिक थे। इस साल अंधों और बहरों के लिये ४ स्कूल नए खुले थे। १ नार्मल स्कूल, २३ मिडिल स्कूल, ५२ लड़कियों के लिये अँगरेज़ी के हाई स्कूल, ३ उच्च कोटि की अँगरेज़ी-शिक्षा देनेवाले कॉलेज और अन्य बहुत-से विषयों की शिक्षा देनेवाले लगभग २,००० विद्यालय नए खोले गए। यह हिसाब ४ साल पहले का है। इसी हिसाब से तेज़ी के साथ अब तक अगर जापान शिक्षा में उन्नति करता गया होगा, जो कि सर्वथा संभव है, तो इस समय वहाँ भारत की अपेक्षा बीसगुनी अधिक शिक्षितों की संख्या होगी।

४—कई बड़े-बड़े देशी नरेश ब्रिटिश सरकार को करस्वरूप कितना द्रव्य हर साल देते हैं, यह नीचे लिखा जाता है—

मैसूर	२,२३,३३३	पौंड
बरोदा	२५,०००	,,
मेवाड़	१३,३३३	,,
जयपुर	२६,६६२	,,
जोधपुर	६,५३३	,,
कोचीन	१३,३३३	,,
बूँदी	८,०००	,,
कोटा	१२,६४८	,,
काशी	१२,६६७	,,
कपूरथला	८,७२३	,,

५—संसार में इस समय राजनीतिक क़ैदियों की संख्या इस प्रकार है—

कोरिया	४३,८००
भारत	१५,०००
जर्मनी	७,०००
पोलैंड	६,०००
इटली	६,०००
बलगेरिया	४,५००
जुगोस्लाविया	३,०००
बाल्टिक स्टेट्स	३,०००
जावा	२,०००
रूमानिया	१,६००
स्पेन	८००
ग्रीस	३००
अन्यान्य देश	७,०००
कुल	१,००,०००

६—जापान के बौद्धों की एक 'शीन' नाम की शाखा है। इस शाखा के लोग चीन, जापान, अमेरिका, हवाई द्वीप समूह, सिंगापूर, मनीला आदि स्थानों में अपने केंद्र खोलकर बौद्ध-धर्म का प्रचार करते हैं। चीन में इस शाखा के ४५ पुरोहित २१ केंद्रों से प्रचार का कार्य करते हैं। इनके पास ४५,६०८ चीनी बौद्ध-धर्म के गूढ़ तत्वों की शिक्षा प्राप्त करते हैं। इसी तरह अमेरिका में ३६ पुरोहित २५ केंद्रों १०१ छोटे उपकेंद्रों से ७,३२७ मनुष्यों को धर्म की शिक्षा दे रहे हैं। हवाई द्वीपों में ४४ पुरोहित हैं, जो ४१ केंद्रों में ६४,७४० मनुष्यों को शिक्षा देते हैं। सिंगापुर और मनीला आदि स्थानों में ५ पुरोहित, ३ केंद्र और शिक्षार्थी बौद्ध २१८ हैं। इन सब केंद्रों का ख़र्च मेंबरों के चंदे और प्रधान केंद्र की सहायता से चलता है।

७—सन् १९२२-२३ में ४३,८०६ लाख रुपए की, सन् १९२३-२४ में ३,१७४ लाख रुपए की (इसके साथ ही पेपर-करेंसी रिज़र्व से बिके २० हज़ार पौंड के सोने की) और सन् १९२४-२५ में ७,६२४ लाख रुपए के सोने की बिक्री भारत में हुई।



मालिन

[श्रीदुलारेलाल भार्गव के चित्र-संग्रह से]

सजे अनेक सुभग सुमन ; सु मन न नेक परवाह ;
अमल कमल के भ्रम भ्रमर मुख-मंडल मँडराह ।

दुलारेलाल भार्गव

N. K. Press, Lucknow



[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ४ खंड १	मार्गशीर्ष-शुक्ल ७, ३०२ तुलसी-संवत् (१९८२ वि०)— २२ नवंबर, १९२५ ई०	संख्या ४ पूर्ण संख्या ४१

मालिन *

(१)

गजरा गुहै सुघर मालिनिया, भौंरा बहकि गयौ तहँा जाय ।

(२)

चारु चमेलिन की कलियन कौ परस न ताहि सुहाय ;
बेला, जुही, हार चंपा के दरसन सों अनखाय ।
गजरा० ।

(३)

सजि रहे थार भरे फूलन के, तिनहुँ न तनक पत्याय ;
औरस नवल मलिनिया ही के मुख-मंडल-ढिग धाय ।
गजरा० ।

श्रीधर पाठक

---

* इस कविता पर बनाया गया चारु चित्र भी अन्यत्र दिया जा रहा है ।—मा० सं०

तुलसी की कविता

परिपूरन पुन्य पयोनिधि के बिधि की सिधि सुंदरता सु लसी;
किधौं हंस के मानस की मनसा मिलिकै मन सारदा के हुलसी ।
अरुना करुना की प्रवाहिनि कै निरबाहिनि नीति-कलाकुल-सी;
रस-रासि-भरी कबिता के प्रसाद पै राखी मनो तुलसी तुलसी ।
पुन्य अरुनोदय के अमल उषा-सी मनो ,
मोद-भरी मानस गगन गोद सु लसी ;
अंबु अनुराग की सुमति सरसी मैं किधौं ,
उकुति बिनोदिनी कुमोदिनी-सी हुलसी ।
भक्ति-बाटिका के किधौं सुमन-समूहन मैं ,
भाव-मकरंदमई मंजुल मुकुल-सी ;
कैधौं कमनीय कबिता के केलि-मंदिर मैं ,
निज कृति दीपक-सिखा-सी सजी तुलसी ।

लक्ष्मीनारायणसिंह चौधरी "ईश"

भाषा और वर्णों की उत्पत्ति

"वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमा नो वाच व्याकुर्विति सोऽब्रवीद्वर वृणुत मह्य चैवैष वायवे च सहगृह्यतामिति तस्मादैन्द्रवायव सहगृह्यते तमिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादिय व्याकृता वागुद्यते।' (तैत्तिरीय-संहिता ६ । ४ । ७)



भाषा का अर्थ है प्रकाशन । जिस साधन से अपने मनोगत भावों का दूसरे पर इस उद्देश से प्रकाशित करें कि वह उसे समझे, उसे भाषा कहते हैं । यद्यपि एक पौधा, जो कल पानी बिना सूख रहा था और जिसकी पत्तियाँ कुम्हला गई थीं, आज पानी पाकर हरा-भरा हो गया, और उससे यह प्रकट होता है कि वह सुखी है, उसकी म्लानता जाती रही है, तथापि उसका यह हरा-भरा होना भाषा नहीं कहा जा सकता । कारण, उसकी यह दशा किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति अपना सुख-दुःख प्रकट करने के उद्देश से नहीं है । भाषा के अंतर्गत वे ही 'चेष्टा', 'इंगित' या 'शब्द' आ सकते हैं, जिन्हें कोई अपना आंतरिक भाव प्रकाशित करने के लिये इस उद्देश से प्रकट करे कि दूसरा चाहे उसकी जाति का हो या विजाति का, उसके आंतरिक भावों को समझ सके । सारांश यह कि अपने आंतरिक भावों को व्यक्त करने के लिये जो कुछ क्रिया, चेष्टा आदि की जाय, वही भाषा कही जा सकती है ।

यह मानने की बात है कि 'भाषा'-शब्द यद्यपि मनुष्यों की भाषा के लिये रूढ़ि-सा है, तथापि 'भाषा'-शब्द का व्यवहार प्राणिमात्र की उन समस्त चेष्टाओं और क्रियाओं के लिये हो सकता और होता है, जिन्हें अपने भावों के प्रकाशनार्थ करते या कर सकते हैं । लोक में कहते भी हैं कि बंदरों की भाषा, पशुओं की भाषा, पक्षियों की भाषा इत्यादि । पशु-पक्षियों की बोलियों पर ध्यान दीजिए, तो आपको ज्ञात होगा कि उनकी बोलियाँ सदा एक-सी नहीं रहतीं ; उनकी ध्वनियों और स्वरों की मात्राओं आदि में बड़ा अंतर होता है । यह सब भेद केवल हृदय के भिन्न-भिन्न भावों को अभिव्यक्त करने के उद्देश से है । यह विभेद प्रायः उन पशु-पक्षियों की बोलियों में पाया जाता है, जो वन में स्वच्छंद विचरनेवाले हैं । पालतू पशु-पक्षियों में इसकी न्यूनता होती जाती है । सच्ची बात तो यह है कि अपने हृदय की बात दूसरों पर प्रकट करने के लिये प्राणियों के पास प्रधान साधन तीन हैं--चेष्टा, इंगित और वाणी । प्राणी, अपने भावों और आवश्यकताओं के अनुसार, उत्तरोत्तर के अपर्याप्त होने की दशा में, इनका उपयोग करता है ।

चेष्टा आकृति की प्रसन्नता, मलिनता या उदासीनता आदि को कहते हैं । प्राणियों की चेष्टा उनके मनोविकारों के तीव्र या मंद होने के कारण बदलती रहती है । मनुष्य अथवा अन्य प्राणी अपनी चेष्टा पर पूरा नियंत्रण नहीं रख सकते ; क्योंकि वे अपने तीव्र मनोविकारों के वेगों को रोकने में असमर्थ होते हैं । मनोविकारों का संबंध चित्त या मन से है । मन या चित्त की उपमा एक ऐसे स्वच्छ सरोवर से दी जा सकती है, जिसमें इंद्रिय-जनित वेदनाओं के कारण क्षण-क्षण-भर पर वैसी ही तरंगें उठा करती हैं, जैसी स्वच्छ सरोवर में वायु के झोंकों से अथवा किसी कंकड़ी के गिरने से उठती हैं । आघात के अनुसार ये तरंगें तीव्र, मृदु या मंद होती हैं । जिस प्रकार सरोवर में उठनेवाली लहरें कैसी ही हलकी क्यों न हों, बिना किनारे तक पहुँचे विलीन नहीं होतीं, उसी प्रकार मन में उत्पन्न विकारों का प्रभाव भी मनुष्य की आकृति पर पड़े बिना नहीं रह सकता, और उन्हीं विकारों के आघात से उसकी आकृति में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे ही उसकी चेष्टा हैं । उदाहरण के लिये मान लीजिए, पिंजड़े में एक तोता बंद है । पिंजड़े के पास एक बिल्ली पहुँचती है । बिल्ली को देखकर उसके मन में भय-रूपी विकार उत्पन्न होता है । वह चकित होकर पंख फड़फड़ाता है । यह उसकी ऐसी चेष्टा है, जो भय के कारण उसमें उत्पन्न हुई है । इसी प्रकार हर्ष, शोक, दया आदि मनोविकारों के कारण प्राणियों की चेष्टा में अंतर पड़ता रहता है । यह चेष्टा एक प्रकार की भाषा है, जिसके द्वारा प्राणी अपने आंतरिक भावों को दूसरों पर प्रकट करते हैं ।

इंगित यद्यपि चेष्टा ही से उत्पन्न होता है, पर इसमें प्राणियों को कुछ थोड़ा-सा नियंत्रण का अधिकार रहता है । जब चेष्टा द्वारा प्राणी अपने मनोगत भाव प्रकट करने में असमर्थ होता है, तब, उस समय, उसको

इससे काम लेने की आवश्यकता पड़ती है। कभी-कभी तो इसका प्रयोग ऐसी दशा में देखा जाता है, जब दूसरा, जिसे वह अपने भावों को समझाना या ज्ञात कराना चाहता है, कुछ असावधान रहता है, अथवा उसकी ओर दत्तचित्त नहीं होता। मान लो, दो-चार बंदर किसी खेत में घास खा रहे हैं। इसी बीच में खेत का रखवाला आता और उनको भगाने के लिये एक बंदर को एक ढेला उठाकर मारता है। पहले तो वह बंदर उसे आकृति बनाकर डराना चाहता है, फिर भागता है, और लौट-लौटकर और बंदरों की ओर ताकता जाता है। यहाँ उसका आकृति बनाना और भागते हुए दूसरे बंदरों की ओर ताकते जाना ही उसका इंगित है। इसके लिये प्राणी अपने अवयवों में गति उत्पन्न करके दूसरों को अपने मनोगत भाव द्योतित करता है। प्रायः इंगित के साथ चेष्टा भी सम्मिलित रहती है।

वाणी का प्रयोग प्राणियों में तीव्र मनोविकारों की दशा में ही देखा जाता है। कभी-कभी परिस्थिति-वश विवश होकर प्राणियों के मुँह से, मनोविकार की अति तीव्रता के कारण, आप-से-आप शब्द निकलने लगते हैं। जैसे वसंत-ऋतु के आगमन में कोकिलाएँ बोलने लगती हैं, वर्षा-ऋतु के आरंभ में मेढक बोलना शुरू कर देते हैं। तुलसीदासजी लिखते हैं—

"दादुर-धुनि चहुँ ओर सुहाई। बेद पढ़ैं जनु बटु-समुदाई।"

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणियों की वाणी अव्यक्त होती है; अर्थात् उनकी वाणी में स्वर के अतिरिक्त जो ध्वनि होती है, वह वर्णात्मक नहीं होती। यद्यपि वह मनुष्यों को वर्णात्मक प्रतीत होती है, पर वास्तव में ऐसे अव्यक्त वर्णों से बनी होती है, जिन्हें मनुष्य व्यक्त नहीं कर सकता, और कानों में उनके वर्ण विश्लिष्ट नहीं हो सकते। प्राणियों में सबसे स्पष्ट शब्द कौए का है, और इसी कारण उसका नाम 'काक' या 'काग' पड़ा है, जिसमें पहला वर्ण—'का'—उसकी बोली की अनुकृति है, और दूसरा धातु का रूप। पर, फिर भी, यदि उसकी ध्वनि को सावधानी से सुना जाय, तो यह स्पष्ट जान पड़ेगा कि चाहे उसकी ध्वनि 'का' से मिलती-जुलती भले ही हो, पर वह 'का' कदापि नहीं है। इसी प्रकार अन्य प्राणियों की ध्वनियों को भी समझ लीजिए। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्यों की भाषा के अनेक शब्द पशु-पक्षियों की बोलियों की अनुकृति पर बने हैं; पर वह हमारा अनुकरण ठीक वैसा ही है, जैसा शुक-सारिकाओं का हमारी भाषा का अनुकरण करना। और, सच पूछा जाय, तो हमसे उनका अनुकरण कई अंशों में ठीक और सच्चा होता है। हमारे पूर्वज या आदिम काल के मनुष्य उनका कैसा उच्चारण करते थे, यह हम नहीं कह सकते। पर इसमें संदेह नहीं कि आदिम काल में उनकी भाषा भी अव्यक्त ही थी, और वह पीछे अव्यक्त से व्यक्त हुई। इन शब्दों की सृष्टि उन लोगों ने कब की? 'अव्यक्त'-दशा में, अथवा उस समय, जब उनकी भाषा अव्यक्त से व्यक्त हो रही थी? इस बारे में कुछ निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिये इस श्रेणी के 'सिंह'-शब्द को ले लीजिए। यद्यपि संस्कृत-व्याकरण के आचार्यों ने इसे 'हिंस'-धातु से निकला हुआ माना है, पर असल में यह सिंह के शब्द की अनुकृति ही है। वैदिक शिक्षा के अनुसार 'ह', 'स' और 'र' के पहले ॐकार बोला जाता है। पर यह उसी गंभीर ध्वनि का विकृत उच्चारण-मात्र है, जो आदिम काल के लोग सिंह को द्योतित करने के लिये करते थे। 'सिंह'-शब्द से उनका अभिप्राय उस प्राणी से था, जिससे यह शब्द निकलता था।

यद्यपि शब्द या वाणी के द्वारा प्राणी अपने भावों को अंधकार में अथवा दूर से दूरस्थ प्राणियों को समझा सकते हैं, तथापि इनको सुननेवाला वक्ता के भावों को उतना स्पष्ट नहीं समझ सकता, जितना कि पास का प्राणी, दिन में, उसके भावों को समझ सकता है। कारण, बहुत कुछ आंतरिक भाव को, जिसे वह चेष्टा और इंगितों द्वारा प्रकट करता है, देख नहीं सकता। सच्ची बात तो यह है कि चेष्टा का पूरक इंगित है, और उन दोनों का पूरक वाणी। यही कारण है कि पशु-पक्षियों की कौन कहे, मनुष्य भी दूसरे से बातें करते समय अपने हृद्गत भावों को सुस्पष्ट रूप से श्रोता पर व्यक्त करने के उद्देश से अपने मुँह को बनाते, त्योरी बदलते, हाथ झाड़ते और उँगलियों से भिन्न-भिन्न प्रकार की मुद्राएँ बनाते हैं—कभी-कभी बातें करते-करते हँसते, कभी उदासीनता दिखाते, कभी रोनी आकृति बनाते, कभी कुछ कभी कुछ करते हैं। पर यह सब क्यों? इसी-लिये कि सुननेवालों को अपने हृदय-गत भाव समझा दिए जा सकें।

इसे प्रायः अब सभी विद्वान् स्वीकार करने लगे हैं कि मनुष्य व्यक्त वाणी लेकर संसार में नहीं आया। चाहे

मनुष्य का विकास किसी ऐसे प्राणी से हुआ हो, जो वानरों के सदृश था (जैसा कि पाश्चात्य प्राणिशास्त्रविद् डार्विन आदि आचार्यों ने माना और वर्गीकरण करके मनुष्य और वानरों को एक ही वर्ग में रक्खा है। संस्कृत-भाषा में 'वानर'-शब्द की सृष्टि बंदरों के लिये हुई है, जिसका अर्थ है, विकल्प से मनुष्य), अथवा वह अलग उत्पन्न हुआ, और उसकी जाति का दूसरा प्राणी इस पृथिवी पर उत्पन्न नहीं किया गया, अथवा यदि रहा भी हो, तो अब उस जाति के प्राणी का संसार में पता नहीं है, किंतु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि मनुष्यों की भाषा अति आदिम काल में (धातु-काल में) या उससे भी बहुत पूर्व अव्यक्त थी, और उसमें क, ख आदि व्यक्त वर्ण नहीं थे। पाश्चात्य विद्वान् अनुमान के सिवा और कुछ इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं दे सकते पर भारतीय वैदिक साहित्य दे रहा है। सुनिए, तैत्तिरीय-संहिता में यह लिखा है कि (मनुष्यों की) वाणी पहले अव्याकृत (अव्यक्त) थी। देवतों ने इंद्र से कहा कि वाणी व्याकृत (व्यक्त) कर दो। इंद्र ने देवतों के कहने पर वाणी को व्यक्त किया*। पुनः शुक्लयजुर्वेद में 'अरण्यमायु' का नाम आता है, जिससे यह अनुमान होता है कि वैदिक काल में ऋषियों को मनुष्य से मिलते-जुलते किसी ऐसे प्राणी का ज्ञान था, जो वन में रहता और अव्यक्त वाणी बोलता था। शतपथब्राह्मण में इसी 'मायु' को 'किंपुरुष' लिखा गया है, जिसका यह नाम संभवतः इसीलिये पड़ा कि उसे देखकर यह भ्रम होता था कि यह पुरुष या मनुष्य तो नहीं है।

मनुष्यों की वाणी कब अव्यक्त थी? वह कितने दिनों में व्यक्त हुई? धातु-काल का आरंभ कब हुआ? अव्यक्त दशा में, या इस दशा में, जब वे अव्यक्त से वाणी को व्यक्त कर रहे थे? और वह काल कब तक रहा? इन सब प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर विद्वानों को अभी तक नहीं प्राप्त हुआ। पर यह सम्मति निर्विवाद है कि अत्यंत आदिम काल में मनुष्यों की भाषा अव्यक्त अवश्य थी, और उनकी भाषा को अव्यक्त से व्यक्त होने में दस-पाँच नहीं, सहस्रों वर्ष लगे हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

आदिम काल में मनुष्यों की भाषा कैसे व्यक्त हुई, इसे जानने का कोई साधन नहीं है। पर यह कहने में कोई रुकावट नहीं कि व्यंजनों के पहले स्वरों की अभिव्यक्ति हुई, और व्यंजनों में भी विसर्ग और अनुस्वार की अभिव्यक्ति अन्य व्यंजनों के पूर्व हुई होगी। इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा है—"वर्णानां चाप्यकारोऽस्मि", अर्थात् वर्णों में मैं अकार हूँ। तथा प्रथम व्यक्त होने के कारण ही आर्यों में 'ओम्' और 'अथ' का बड़ा माहात्म्य* है। हम यह नहीं कह सकते कि आदिम काल में 'ओम्' और 'अथ' का उच्चारण वैसा ही होता था, जैसा कि अब है। अधिक संभव है कि 'ओम्' का उच्चारण 'ओं' और 'अथ' का 'अः'-जैसा रहा हो। कारण, ये अनुकृति नहीं, वैकारिक हैं। वैदिक भाषा में भी ओंकार का प्रयोग 'स्वीकार' के अर्थ में देख पड़ता है; और हमारी भाषा के 'हूँ', 'हाँ' आदि शब्द, जिनका प्रयोग स्वीकार के अर्थ में मिलता है, इसी के विकृत रूप हैं। अधिक संभव है कि यही 'ओम्'-शब्द स्वीकार के अर्थ में आकर 'अहम्' की प्रकृति बन गया हो।

आदि-काल में मनुष्यों की भाषा वैकारिक रहती है। मनुष्यों ही की क्या, समस्त प्राणियों की भाषा वैकारिक है। मनुष्यों की और अन्य पशु-पक्षियों की भाषा में अंतर इतना ही है कि मनुष्यों की भाषा में अनुकृति अधिक है, और वह धातु-काल को पार कर अंकुरित, स्फुटमान और प्रोहित दशा तक पहुँच गई है। पशु-पक्षियों की भाषा वैकारिक-मात्र है। मनुष्यों की भाषा में अधिक परिवर्तन होते हैं और हुए हैं, परंतु पशु-पक्षियों की भाषा में परिवर्तन तो हुए हैं, लेकिन वे इतने कम हैं कि उन्हें नहीं के बराबर कह सकते हैं।

वैकारिक शब्दों या ध्वनियों का प्रादुर्भाव आदिम काल में, जैसा कि अन्य प्राणियों में देखा जाता है, दो प्रधान अवस्थाओं में हुआ होगा। एक तो भय की अवस्था में, अथवा किसी शत्रु या आपत्तिकारक घटना से आत्मरक्षार्थ औरों को सूचना देने के लिये, और दूसरे संवरण दशा में। कारण, जैसा अन्य प्राणियों में देखा जाता है, स्त्रियों को अपने वश में करने के लिये पुरुषों को एक प्रकार का प्रेम-युद्ध करना पड़ता है, जिसमें कभी-कभी खून-खराबी तक की नौबत आ जाती है। शृंगार में नखच्छद और रदच्छद इसी प्रेम-संग्राम के चिह्न-

* लेख के शीर्षक में जो तैत्तिरीय-संहिता का वाक्य उद्धृत किया गया है, उसी का यह अर्थ है।

* ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वाविमौ ब्रह्मणः पुरा ;
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ।

घिसाए रूप बच रहे जान पड़ते हैं। इन दोनो अवस्थाओं में प्राणियों के मुँह से जो शब्द निकलते हैं, वे तीव्र मनोविकारों से उत्पन्न होते हैं। संस्कृत-भाषा के 'आहव', 'हेति' आदि शब्द इसी प्रकार के वैकारिक शब्दों के विकृत रूप हैं। हमारी हिंदी-भाषा के ही नहीं, हमारी भाषा की प्रकृति संस्कृत और आर्य-भाषा के भी उपसर्ग, विभक्तियाँ तथा सर्वनाम प्रायः वैकारिक ध्वनियों के ही घिसे हुए रूप हैं। यही कारण है कि संस्कृत-भाषा के उपसर्ग, सर्वनाम और विभक्तियों का प्रायः सभी आर्य-जाति की भाषाओं से सरूपत्व है। हम यहाँ उनको सामने रखकर मिलाना नहीं चाहते। ऐसा करने से विषयांतर में चले जाना पड़ेगा। इसकी मीमांसा फिर कभी करेंगे। यहाँ हमें केवल आर्यों की वैकारिक ध्वनियों के संबंध में यह बताना है कि हा, हे, है, हो, अहो, अथो, धिक्, अ, इ, उ इत्यादि अव्यय वैकारिक ध्वनि ही हैं, अथवा उसी के विकार। यही कारण है कि उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। इतने काल से उनका प्रयोग चला आता है, उनको व्यक्त भी बनाया गया; पर अब भी वे ध्वन्यात्मक ही हैं, और अव्यक्त-सी ही रह गई हैं—मनुष्यों के मुँह से, तीव्र मनोविकार में अभिभूत होने की दशा में, अब भी निकल ही पड़ती है। मनुष्य के मुँह से अब भी अत्यंत पीड़ा की दशा में 'आः', अत्यंत शोक की दशा में 'हा', तथा घृणा में 'धिक्', 'छिः' आदि ध्वनियाँ निकल ही पड़ती हैं।

अनुकृति की दशा में भी मनुष्यों की भाषा व्यक्त नहीं हुई थी। इसका प्रमाण उनकी धातुओं के देखने और परीक्षा करने में मिलता है। कु, रु, कुश और अ-धातुओं में स्फोट-संबंध है, और ये प्रायः काकादि कटुभाषी पक्षियों की बोली का अनुकरण है। इसी प्रकार अण, रण, वण, भण, मण, कण, क्वण, बण, भ्रण, ध्वण, घण, घ्रण आदि धातुएँ किसी ऐसी ध्वनि से अनुकृति-रूप में ली गई हैं, जिसमें खनखनाहट पाई जाती थी। किंतु ये उस काल में ली गई हैं, जब मनुष्यों की वाणी व्यक्त हो रही थी, पर पूर्ण व्यक्त दशा को नहीं पहुँची थी। अब दो-एक ऐसी धातुओं के भी नमूने देखिए, जो उस दशा की हैं, जब मनुष्यों की भाषा व्यक्त हो गई थी। कूज-धातु में दो धातुएँ स्पष्ट देख पड़ती हैं, एक कू, दूसरी ज। इन्हीं दोनों धातुओं के योग से कू+ज= कूज-धातु बनी है। कू का मुख्य अर्थ उत्पन्न करना हुआ, और संस्कृत में अव्यक्त शब्द का उच्चारण करने के अर्थ इसका ग्रहण होता है। ऐसा ही खोजने के अर्थ में 'गवेष'-धातु का प्रयोग मिलता है। पर यह धातु गव और इष, इन दो धातुओं के संयोग से बनी हुई है, जिनमें पहली का अर्थ गो और दूसरी का अर्थ जाना है, अर्थात् गो के लिये जाना। प्राचीन काल में जब आर्यगण पशु-पालन करते थे, तो गउओं को चराते फिरते थे। जब कोई गऊ वन में इधर-उधर हो जाती थी, तो उसको ढूँढ़ने के लिये इधर-उधर जाते थे। इसीलिये इस धातु का आरंभ भटकी हुई गऊ को खोजने से हुआ। फिर पीछे इसका प्रयोग सामान्यतः खोजने के ही अर्थ में होने लगा। इसी प्रकार 'इषुध'-धातु का अर्थ है तीर बाँधना। यह धातु भी इषु और धा-धातु से बनी है, जिसके अर्थ बाण और धारण करने के हैं। इसी प्रकार अनेक यौगिक धातुओं की सृष्टि उस काल में हुई, जब मनुष्यों की भाषा व्यक्त हो गई थी। इन धातुओं में कितनी ही तो ऐसी संश्लिष्ट हो गई हैं कि उनका विश्लेषण करना अत्यंत कठिन है।

अब यहाँ कुछ ऐसे शब्द दिए जाते हैं, जिनके मुख्य अर्थों पर विचार करने से यह पता चलता है कि आदिम काल में मनुष्यों की सभ्यता कैसी थी। यद्यपि यह यहाँ कुछ प्रकरण-विरुद्ध-सा जान पड़ता है; क्योंकि यहाँ हमें 'वर्ण-विकास' दिखलाना है; पर विकास-वाद का सहायक होने ही के कारण हम इसे यहाँ देकर फिर आगे बढ़ना उचित समझते हैं। निघंटु में गृह-वाचक २२ पद दिए गए हैं। उन पदों में गय, कृदर, गर्त, दुरोणि और नीड़ का भी पाठ है। इनमें गर्त का अर्थ तो स्पष्ट गड्ढा है। नीड़ पक्षियों के घोंसलों को कहते हैं, जो पेड़ों पर होते हैं। दुरोणि पहाड़ों की दून या गुफाओं को कहते हैं। कृदर बनाए हुए दरारे का नाम है, जो खोदकर बनाया गया हो, जैसे दरारों में खोदकर गुफाएँ बनती हैं। गय उस चमड़े आदि से बने डेरे को कहते हैं, जिसे लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त वरूथ और छाया-पद भी आए हैं, जिनका अर्थ झुंड और छाया है। इससे यह निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि आदिम आर्य झुंडों में या वृक्षों पर, पर्वतों की स्वाभाविक गुहाओं में अथवा खोदकर बनाई गई

गुफाओं में रहते थे। पीछे के काल में जब वे पशु पालने लगे, तो पशुओं के चमड़े आदि का डेरा बनाकर उसकी छाया में रात काटते थे। ऐसी दशा में वे अपने बाल-बच्चों को भी साथ ही लिए फिरते थे। इसी कारण 'गय' का पाठ अपत्यार्थ में भी किया गया है। इसका पाठ धन के नामों में भी है, जिससे अनुमान होता है कि इसे वे संपत्ति भी समझते थे। इसी प्रकार हिरण्य के नामों में हिरण्य और हेम के अतिरिक्त चंद्र, रुक्म, अयः और लौह को भी गिनाया गया है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय उनको जिन-जिन धातुओं का ज्ञान था, सबको हिरण्य ही समझते थे। चंद्र चाँदी का, अयः लोहे का और लौह ताँबे का वाचक जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त 'वृक' का पाठ स्तेन के नामों में मिलता है। कारण, 'वृक' (भेड़िया) उनके पशुओं को चुपके से उठा ले जाता था। इसी प्रकार वेदों में सैकड़ों ऐसे शब्द हैं, जिनसे आर्यों की आरण्यावस्था, पशुचारणावस्था, बाल्यावस्था और पुनःशालीनावस्था का पता चलता है। यहाँ कुछ थोड़ा-सा दिग्दर्शन इसलिये कराया गया है कि उनके सभ्यता विकास के क्रम का अनुमान हो जाय।

इसमें संदेह नहीं कि स्वरों की व्याकृति सबसे पहले हुई, चाहे वह कुछ अविस्पष्ट ही क्यों न रही हो। अ, इ, उ, ऋ, लृ स्वरों की व्याकृति के अनंतर इनसे पाँच अंतस्थ वर्णों की व्याकृति हुई होगी, जिनको अ, य, व, र और ल कहते हैं। यद्यपि 'अ' अंतस्थ वर्ण हिंदी की वर्ण-माला में नहीं मिलता, पर अर्बी की वर्ण-माला में अब तक विद्यमान है, जिसे ऐन (ع) कहते हैं। शेष चार य, व, र, ल अब तक हमारी भाषा में विद्यमान हैं। स्वरों के उच्चारण में विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता; 'अ' का उच्चारण तो सबसे सुगम है, और प्रायः सभी प्राणी मुँह खोलते ही कंठ को तनिक सा संकुचित कर इसका उच्चारण करते हैं। 'इ' के उच्चारण में तनिक और जीभ को उभारकर कुछ वायु निकलने के मार्ग को संकुचित करना पड़ता है; और 'उ' के उच्चारण में मुँह के बाहर होठों को संकुचित कर उससे वायु को निकालना पड़ता है। पर इनमें कहीं जिह्वा से स्पर्श नहीं करना पड़ता। ऋ और लृ का उच्चारण यद्यपि आजकल हम लोग बिना स्पर्श के नहीं कर सकते, पर हमारे पूर्वज इनका उच्चारण बिना स्पर्श के करते और वायु के मार्ग को खुला रखते थे। अंतस्थ के उच्चारण में कुछ स्थानों के पास जीभ के अंशों को इतना समीप ले जाना पड़ता है कि लगभग स्पर्श-सा हो जाता है। यही अंतस्थ और स्वरों में अंतर है। ये अंतस्थ स्वर के ही विकारभूत होते हैं। पर इससे यह न समझना चाहिए कि स्वरों के अनंतर इनकी अभिव्यक्ति हुई है। विसर्ग का विकास स्वर के विकास के साथ-साथ हुआ, और उसी विसर्ग से विकृत होकर श, ष, स और ह की उत्पत्ति हुई। जिस प्रकार एक 'अ'-स्वर के विकारभूत इ, उ, ऋ और लृ हैं, तथा इनसे अंतस्थों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार विसर्ग से 'ह' उत्पन्न होता है, और ह से श, ष, स की उत्पत्ति, विकार को प्राप्त होने से, होती है। इनके उच्चारण में उच्चारण करनेवालों को नाद का कुछ बोध हो चला था; पर इतना नहीं था कि वे स्पर्श वर्णों का स्पष्ट उच्चारण कर सकते। निदान उनको श्वास, नाद तथा घोष का बोध अभ्यास द्वारा होने लगा, और वे स्पर्श वर्णों का उच्चारण चार प्रकार से, निरनुनासिक रूप में, करने लगे; अर्थात् श्वास, श्वास+घोष, नाद, नाद+घोष। यद्यपि इनका बीज वर्ण पहले अव्यक्त-सा था और एक ही रहा होगा, पर प्रयत्न भेद से वह एक चार-चार में विभक्त हो गया। पर सानुनासिक रूप अब तक एक ही है, और वह विभक्त नहीं हो सका। यद्यपि इन सानुनासिकों में न, म और ण सुव्यक्त हो गए हैं, पर शेष अब तक अर्द्धव्यक्त से ही हैं। यद्यपि अवस्थान-भेद से स्पर्श के अनेक भेद होते हैं, और संस्कृत में भी पाँच वर्ग पाए जाते हैं, पर अनुमान होता है कि मूर्द्धन्य वर्णों का उच्चारण आर्य लोग नहीं कर सकते थे। मूर्द्धन्य-वर्ग का उच्चारण आर्यों ने अनार्यों से लिया था। यही कारण है कि धातुओं में दस-बारह को छोड़ एक भी ऐसी धातु नहीं मिलती, जिसका आरंभ ट, ठ, ड और ढ से होता हो। णकारादि जितने धातु हैं, उन सबको नकारादि कहना ही अधिक उपयुक्त है; क्योंकि पाणिनि के सूत्र (णो नः। ४। १। ६५) के अनुसार धातु के आदि-अक्षर णकार के स्थान में 'न' आदेश हो जाता है, जैसे णद का नद। कंठ, तालु, दंत और ओष्ठ के अतिरिक्त एक और स्थान है, जो दंत और तालु के मध्य में पड़ता है। इसे उपदंत या दंत-तालु कहते हैं। ज़ंद-भाषा में इस स्थान से श्वास-प्रयत्न द्वारा उच्चारित केवल एक वर्ण काम

में आता है। यद्यपि चीनी आदि मंगोल या नाग-भाषाओं में इस स्थान से उच्चारित अन्य वर्ण भी मिलते हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि ज़ंद-भाषा में वह वर्ण नाग-भाषा से आया अथवा उसमें पहले से था। किंतु यह निर्विवाद और सर्वसम्मत है कि आर्यों की वर्ण माला में टवर्ग नहीं था। इसे भारतीय आर्यों ने अवश्य द्राविड़ों या अन्य भारतीय अनार्यों से लिया। आर्यों की भाषा में ऊष्म वर्णों का बाहुल्य था, और यद्यपि संस्कृत-भाषा में केवल चार ऊष्म वर्ण हैं, पर ज़ंद-भाषा में ६ हैं, जिनमें स, श, ष और ह के अतिरिक्त दो जो शेष हैं, उनका उच्चारण दंत और तालु-स्थानों द्वारा नाद और घोष-प्रयत्नों से होता है। वैदिक आर्यों में या तो ये वर्ण थे ही नहीं, और यदि थे भी, तो इनका लोप वैदिक काल में हुआ या कब, इसका कुछ ठीक पता नहीं चलता। सारांश यह कि भाषा जब अव्यक्त दशा से व्यक्त दशा को प्राप्त हुई, तभी से मनुष्यों में वर्णों के व्यवहार का आरंभ हुआ। पर आदिम पुरुषों ने सब वर्गों के समान-संख्यक वर्णों को भी एक ही काल में एक ही साथ व्यक्त किया, यह नहीं कहा जा सकता, और न माना ही जा सकता है।

मनुष्य को गर्भावस्था से जन्म ग्रहण करने तक की उन सभी अवस्थाओं को पार करना पड़ता है, जिनसे होकर विकास होते हुए वह इस दशा को पहुँचा है ; भेद केवल इतना ही है कि करोड़ों वर्षों में, भ्रूण-अवस्था से, जिसमें पहलेपहल जीवन का विकास होता है, प्राणी अंड आदि अनेक अवस्थाओं में होता हुआ, विकास-सोपान पर चढ़ता हुआ, मनुष्यत्व को पहुँचा है। पर उन सब अवस्थाओं को बालक नव महीने में पार करके मानव-रूप धारण कर गर्भ से बाहर आता है, यही सब प्राणिशास्त्रविदों का निर्विवाद मत है। इसी प्रकार यह भी कहने में कुछ संकोच नहीं हो सकता कि बालकों में भाषा के विकास का क्रम भी उनको अपने माता-पिता आदि से मालूम होता है, और अन्य साधनों से भी भाषा के विकास में सहायता और शिक्षा प्राप्त होती है, किसी-न-किसी रूप में वैसा ही हो सकता है, जैसा कि आदिम काल में मनुष्यों की भाषा का विकास-क्रम था। अंतर केवल इतना ही हो सकता है कि आदिम काल के मनुष्यों की परिस्थिति कुछ और थी, और आजकल के मनुष्यों की परिस्थिति कुछ और ही है। उस समय मनुष्यों को बिना किसी की सहायता के अपनी भाषा का विकास करना पड़ा था; उनको अपने अनुभव का ही सहारा लेना पड़ा था; उनके पूर्वजों का शब्द-भांडार अत्यंत ही संकुचित था; और आजकल के उत्पन्न बालकों को भाषा के विकास में उनके माता-पिता से विशेष सहायता मिलती है। मनुष्यों का शब्द-भांडार भरपूर है; और अल्प श्रम से वे अपनी भाषा को अल्प काल ही में जान लेते हैं। उनको वर्णों के उच्चारण के लिये सहस्रों वर्ष घोर श्रम नहीं करना पड़ता। अपने माता-पिता आदि के भाषण को सुनकर उसकी सहायता से अल्प काल ही में वे अपनी अव्यक्त भाषा को व्यक्त बना लेते और अपनी स्वाभाविक ध्वनियों को वर्णों में व्यक्त कर सकते हैं। वे जन्मते ही अपने माता पिता के उच्चारित व्यक्त वर्णों को सुनते और उनका अनुकरण करने की चेष्टा करते रहते हैं। यही कारण है कि बच्चे केवल वर्ष-डेढ़ वर्ष ही में मातृभाषा का इतना ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं कि अपने आंतरिक भावों को सामान्य रूप से दूसरों को समझा सकते हैं।

छोटे बालकों को देखने का और खेलाने का सबको अवसर मिला होगा। सब घरों में बालक होते हैं। पर कभी आपने यह भी ध्यान-पूर्वक देखा अथवा देखने का कष्ट उठाया है कि वे किस प्रकार अपनी धारणा-शक्ति से काम लेते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनके मन में अहंभाव पहले ही से होता है। उनकी आवश्यकताएँ इतनी कम होती हैं कि केवल भूख की निवृत्ति-मात्र अपेक्षित रहती है। उत्पन्न होने पर उनका मन स्वच्छ और विकार-हीन रहता है। न उनमें राग होता है, न द्वेष। उनका पेट भरना चाहिए। बस, उन्हें किसी और वस्तु की आवश्यकता नहीं। यहाँ तक कि पहले उन्हें अपनी माता का भी ज्ञान नहीं होता। पैतृक संस्कारवश वे केवल स्तन को मुँह में डालकर चूसना-भर जानते हैं। यही उनका काम होता है। भूख लगने पर रो देते हैं, और उसके निवृत्त हो जाने पर शांति-पूर्वक सुख से पड़े रहते हैं। धीरे-धीरे उनमें अनुराग उत्पन्न होने लगता है, और माता से, जो उनके पास अधिक रहती है, अधिक अनुराग होता है। वे अपनी आँखों से आस-पास के पदार्थों को देखते हैं, और अपने हाथों और पैरों को हिलाते, कभी हँसते कभी मुँह से कुछ अव्यक्त एकआध शब्दों का उच्चारण करते हैं। स्वर या ध्वनि, जो उनके

मुँह से निकलती है, ऐसी होती है, जिसका उच्चारण वे बिना होठों को मिलाए, केवल कंठ से, कर सकते हैं। ये यदृच्छा उनके मुँह से निकल पड़ते हैं, और वे इनका उच्चारण करने के लिये पुनः-पुनः प्रयत्न करते रहते हैं। आ, आँ, ऊँ आदि के ढंग के शब्द, जो अव्यक्त-से होते हैं, उनको वे मुँह से निकालते रहते हैं। अभ्यास करते-करते जब छ-सात महीने के होते हैं, तो कुछ अधिक ओं-आँ करने लगते हैं, और कभी-कभी होठों के स्पर्श से भी 'म' का उच्चारण करते हैं। साल-भर होने पर उनके अभ्यास और बढ़ जाते हैं, और वे स्वरों का उच्चारण कर लेते हैं। पर व्यंजनों का उच्चारण वे अव्यक्त ही करते हैं। 'ग', 'म', 'प', 'क' आदि वर्णों का कुछ-कुछ अर्द्ध-व्यक्त रूप में उच्चारण करने लगते हैं; पर 'च' और 'त' का उच्चारण वे ऐसा अव्यक्त करते हैं कि सुनकर कोई यह नहीं जान सकता कि वे किस वर्ण का उच्चारण करते हैं। 'चाचा' को वे ऐसा बोलते हैं कि सुननेवाले को ताता और चाचा में भेद नहीं प्रतीत होता। 'र' का तो उच्चारण करना बच्चों को बहुत काल के अभ्यास से आता है। हमने प्रायः बच्चों को 'राम' के स्थान पर 'लाम' कहते सुना है। 'य' और 'ज' का उच्चारण भी कुछ ऐसा ही होता है। 'ज' के उच्चारण में 'य' का भ्रम होता है। इसी प्रकार 'स' और 'थ' भी सुव्यक्त नहीं होते। चवर्ग और तवर्ग के उच्चारण कुछ ऐसे संश्लिष्ट होते हैं, जैसे जान पड़ता है कि बालक अपनी जीभ से उनके उच्चारण-स्थानों को टटोलता और श्वास और नाद की खोज करता है। बालक प्रायः 'संध्या' को 'थंधा' और 'सवेरा' को 'थएआ' कहा करते हैं। बह्वच् शब्दों के उच्चारण में बालक आदि के व्यंजनों का उच्चारण चाहे भली भाँति कर लें, पर द्वितीय और तृतीय व्यंजनों के उच्चारण में प्रायः प्रमाद करते हैं। उनकी तोतली भाषा में व्यत्यय और व्यंजन का परित्याग कर स्वरों का उच्चारण करना प्रायः देखने में आता है। कितनी ही दशाओं में तो यहाँ तक देखा गया है कि पाँच-पाँच, सात-सात वर्षों तक उनकी भाषा सुव्यक्त नहीं होती। बोलने को तो बोलते हैं; पर शब्दों के उच्चारण में वर्णों का उच्चारण सुव्यक्त नहीं कर सकते। हमने एक बालक को, जो उर्दू की वर्ण-माला पढ़ता था, रे, ज़े का ले, दे उच्चारण करते सुना है। कई दिनों तक निरंतर प्रयत्न करने पर उसे उनका उच्चारण करना आया। संयुक्त वर्णों का उच्चारण करना तो उनको सुदीर्घकाल तक प्रयत्न करने पर आता है। इतना कहने से हमारा तात्पर्य यही है कि जब इस काल में, जब कि हमारे चारों ओर एक जीती-जागती भाषा की ध्वनि सुनाई पड़ती है, सब प्रकार के साधन और सहायक उपस्थित हैं, और हमारे बालकों को केवल अभ्यास और प्रयत्न-मात्र करना रहता है, उनकी भाषा वर्षों में व्यक्त होती और स्थान तथा प्रयत्न के अनुसार वर्णों का उच्चारण करना उनको आता है, तब आदिम काल के मनुष्यों को अपनी भाषा के व्यक्त और वर्णों का विकास करने में कितना काल लगा होगा, कितना श्रम उठाना पड़ा होगा, इसका अनुमान ठीक-ठीक करना नितांत कठिन है। यह काम एक पुरुष का नहीं है। अपितु युगों के श्रम का यह परिणाम है कि हमारी भाषा अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था को प्राप्त हुई है। संसार के बड़े-बड़े विद्या-प्रेमी राजों ने यह परीक्षा करने के विचार से कि मनुष्य में भाषा का विकास कैसे होता है, नवजात बालकों को लेकर ऐसे स्थान में रक्खा है, जहाँ उनके पालन-पोषण का समुचित प्रबंध किया गया; पर इस बात का समुचित प्रबंध रहा कि वे किसी की बोली न सुन सकें। पर उनको न तो बोलना आया, और न उनकी वाणी ही व्यक्त हुई। सम्राट् अकबर ने ३० नवजात बालकों को इस उद्देश से लेकर अलग-अलग रक्खा था कि देखें, वे कौन-सी भाषा बोलते हैं, किस धर्म और नीति का अनुसरण करते हैं। यह परीक्षा उसने सन् १५८० में की थी। जिस घर में वे रक्खे गए थे, वहाँ कठिन पहरा रहता था। न कोई उनके पास जाने पाता और न कोई अपनी जीभ हिला सकता था। उनके लिये धाएँ नियत थीं, जो उनको दूध पिलाती थीं, भोजन देती थीं; पर न तो उनसे बोलती थीं और न उनको बोलाती थीं। तीन-चार वर्ष बीतने पर यह देखा गया कि सब-के सब लड़के गूँगे-से हैं, बोल नहीं सकते। इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि मनुष्य में भाषा की शक्ति बीज-रूप से रहती है, पर उसके प्रस्फुटित होने के लिये परिस्थिति और सहायता की अत्यंत आवश्यकता है। परिस्थिति अनुकूल न पाकर वह ज्यों-की-त्यों रह जाती है।

अब कुछ वर्णों के भेदों, स्थानों और प्रयत्नों के संबंध में कहा जाएगा। हम यहाँ वर्णों का विभाग किसी भाषा

को लक्ष्य करके नहीं करेंगे। हमारा यह वर्णों का विभाग विश्वव्यापी और इस लक्ष्य से होगा कि मनुष्य कितने प्रकार के वर्णों का उच्चारण कर सकता है। हिंदी-वर्ण-माला में प्रधान पाँच ही स्थान माने गए हैं, और उन्हीं के अनुसार स्वरों और वर्णों का विभाग किया गया है। कंठ, तालु, मूर्द्धा, दंत और ओष्ठ, इतने वर्णों के उच्चारण के प्रधान स्थान हैं। इनसे स्वरों और वर्णों का उच्चारण होता है। अतर केवल इतना ही है कि कंठ का अंतस्थ नहीं है, और ओष्ठ का ऊष्म नहीं। इसके अतिरिक्त ए, ऐ, ओ, औ, ये संध्यक्षर हैं। पर वास्तव में उच्चारण का एक और स्थान है, जो इन पाँचों से अलग और सबका मूल है। वह है 'उर'। इनके अतिरिक्त तीन और स्थान हैं, जहाँ से वर्णों का उच्चारण होता है। इन्हें संधि-स्थान या संश्लिष्ट स्थान कहते हैं। उनके नाम हैं दंततालु, उपदंत और दंत्योष्ठ। इन्हीं स्थानों से संसार की भाषा के सभी वर्ण, प्रयत्नों द्वारा, व्यक्त किए जाते हैं।

प्रयत्नों को जानने के पहले यह जानने की आवश्यकता है कि मुँह से ध्वनि की उत्पत्ति कैसे होती है। यों तो वायु मुँह से निकलती ही रहती है; पर उसके निकलते समय ध्वनि क्यों नहीं होती? ध्वनि की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक वायु वेग से न निकले, और निकलते समय उसके मार्ग में कोई अवरोध न पड़े। बाँस की नली को आपने प्रायः फूँका होगा; पर उससे कोई ध्वनि न निकली होगी। किंतु उसी बाँस की नली में जब वायु के मार्ग का अवरुंधन करने या उसको मोड़ने आदि के लिये छेद करके वंशी या अलगोज़ा आदि बाजे बनाए जाते हैं, तब उससे ध्वनि प्रकट होती है। ध्वनि उत्पन्न करने के लिये वायु के झोंके के कहीं पटखनी खाने की आवश्यकता है। बिना आघात के शब्द नहीं होता।

स्वरों का उच्चारण करना सुगम है। इसके लिये कुछ विशेष प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल मुँह को विवृत या संवृत करके हृदय से निकलनेवाली वायु से मुँह के भीतर के स्थानों में आघात पहुँचाना पड़ता है। पर व्यंजनों का उच्चारण करने में विशेष कौशल की आवश्यकता है। यों तो व्यंजनों का उच्चारण बिना स्वर की सहायता के होता ही नहीं, पर फिर भी स्वर से संयुक्त करने के पूर्व ही इनका उच्चारण करने के लिये यदि सावधानी से ठीक-ठीक प्रयत्न न किए जायँ, तो व्यंजनों की अभिव्यक्ति ही ठीक नहीं होती। इन व्यंजनों में जिनका उच्चारण अल्प श्रम से हो सकता है, वे 'य' और 'व' हैं। कारण, ये 'इ' और 'उ' स्वरों के विकार-मात्र हैं। यही कारण है कि इनको 'अर्द्धस्वर' भी कहते हैं। यद्यपि 'र' और 'ल' भी अर्द्धस्वर और ऋ और 'लृ' स्वरों के विकार-मात्र हैं, पर इनके उच्चारण में कुछ विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है। कारण, इनका उच्चारण करने में जीभ की कुछ विशेष आकृति बनानी पड़ती है। 'र' के उच्चारण में तो उसकी नोक में विशेष प्रकार का कंप उत्पन्न करना पड़ता है। यही कारण है कि प्रायः बच्चे बिना सुदीर्घ अभ्यास के 'र' का उच्चारण यथावत् नहीं कर पाते, और 'र' और 'ल' का भेद न करके 'र' के स्थान में 'ल' बोला करते हैं। इनका भेद इतना सूक्ष्म है कि स्वयं वैयाकरणों को इनकी सवर्णता स्वीकार करनी पड़ी। संस्कृत से प्राकृत और हिंदी होने में तो इन दोनों का प्रायः उलट-फेर होता है। जैसे—

संस्कृत	हिंदी
हरिद्रा	हल्दी
दरिद्र	दलिद्दर
लांगल	लंगर
पलाल	पराल, पयार, पयरा, पयाल
मुकुल	मौर, मउर, बउर
परिवार	पलिवार
सार	साल (लकड़ी की)

व्यंजनों के उच्चारण में वायु को कंठ-द्वार से, झोंके से, मुँह में लाना पड़ता है। फिर उसे जीभ के सहारे मुँह के भिन्न-भिन्न स्थानों पर आघात देते हुए निकालना पड़ता है। वायु के निकालने में कंठ-द्वार को कभी फैलाना और कभी सिकोड़ना या संकुचित करना पड़ता है, उस वायु को, जो कंठ-द्वार को फैलाकर निकाली जाती है, 'श्वास' कहते हैं, और जो उसके मार्ग को संकुचित करके निकाली जाती है, वह नाद कहलाती है। कभी कम वायु निकालनी पड़ती है, कभी अधिक। इन दोनों को क्रमशः अल्पप्राण और महाप्राण कहते हैं। कभी-कभी उच्चारण करते समय नासिका का मार्ग भी खोल देना पड़ता है, जिससे यदि अधिक नहीं, तो कुछ-न-कुछ वायु की मात्रा उससे अवश्य निकलती और गुनगुनाहट

आ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक स्थानों से सात-सात प्रकार के वर्णों के उच्चारण की संभावना होती है। पर किन्हीं-किन्हीं स्थानों से कम वर्ण उच्चारित होते हैं। जैसे उर या हृदय से अनुनासिक-वर्ण नहीं उच्चारित होते। उर से स्पर्श वर्णों का उच्चारण करने में कुछ कंठ से भी सहायता लेनी पड़ती है। कारण, उर में कोई स्पर्श हो ही नहीं सकता, और वहाँ वायु के श्वास और नाद-भेद हो सकते हैं। यद्यपि उर से केवल 'ह' का उच्चारण हो सकता है, पर कंठ की सहायता से क़ ख़ ग और, घ़ उच्चारित होते हैं। इसीलिये 'उर' की प्रधानता मानकर कंठ्य क, ख, ग, घ, ङ आदि से विभिन्नता दिखाने के लिये इनको 'औरस्य' कहा गया है। हम नीचे नवों स्थानों से उच्चारित वर्णों की सूची दिए देते हैं—

(स, श, ष और ह) हैं; पर ज़ंद में छः ऊष्म वर्ण हैं। संस्कृत के ऊष्मों के अतिरिक्त 'ज़' और 'झ़' दो और हैं। इनका प्रयोग ज़ंद-भाषा के शब्दों में संस्कृत के ज और ह के स्थान में मिलता है। यथा—

ज़ंद	संस्कृत	ज़ंद	संस्कृत
ज़ामातर्	जामातृ	झ़ानु	जानु
ज़न	जन	अझ़ि	अहि
ज़ा	हा	दझ़	दह
ज़स्त	हस्त	युझ़्म्	युयम्
हिज़्वा	जिह्वा	झ़्नातर	ज्ञातृ

अब थोड़ा-सा स्वरों के संबंध में कहना है। स्वर दो प्रकार के हैं, एक साधारण, दूसरे 'संध्यक्षर'। आ, इ, उ, ऋ, लृ, ये पाँच साधारण स्वर हैं, जिनमें अंत के दो स्वरों

स्थान		स्पृष्ट					नम स्पृष्ट	ईषत्स्पृष्ट		
		श्वास		नाद						
मुख्य	गौण या सहायक	अल्प-प्राण	महाप्राण	अल्प-प्राण	महाप्राण	अनुनासिक	ऊष्म	अंतस्थ	स्वर	
उर	कंठ	क़	ख़	ग	घ़		ह़			
कंठ	जिह्वामूल	क	ख	ग	घ	ङ	ह	अ़	अ	
तालु		च	छ	ज	झ	ञ	श	य	इ	
दंतमूर्द्धा		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible], [illegible]	र	ऋ	
मूर्द्धा		ट	ठ	ड	ढ	ण	ष, झ़	ळ		ड़ और ढ़ का उच्चारण अति-मूर्द्धा से होता है। अड़ार, चढ़ाना।
दंत		त	थ	द	ध	न	स, ज़	ल	लृ	
उपदंत		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]			
दंत्योष्ठ		प	फ़	व	व्ह					
ओष्ठ	उपध्मान	प	फ	ब	भ	म		व	उ	

उक्त वर्णों में कितने ही ऐसे हैं, जिनका प्रयोग हिंदी-भाषा में नहीं होता; पर अन्य भाषाओं में होता है। क़, ख़, ग़, अ़, ज़ का काम तो अर्बी-फ़ारसी के शब्दों के कारण पड़ता है, पर अन्यों का प्रयोग नहीं होता। कारण, अन्य भाषाओं के शब्द, जिनमें इतर वर्णों का प्रयोग मिलता है, हम तक फ़ारसी या अँगरेज़ी द्वारा पहुँचे हैं। ज़ंद-भाषा में ऊष्म वर्णों का आधिक्य है। संस्कृत में तो केवल चार ही

का व्यवहार केवल संस्कृत के शब्दों के लिखने में होता है। इनके ह्रस्व और दीर्घ, दो भेद होते हैं। ह्रस्व स्वर को एकमात्रिक और दीर्घ को द्विमात्रिक कहते हैं। संध्यक्षर चार हैं—ए, ऐ, ओ, औ। इनमें ह्रस्व-दीर्घ का भेद संस्कृत में नहीं होता; पर हिंदी में ए और ओ के ह्रस्व भी होते हैं। यद्यपि लोग हिंदी में ह्रस्व 'ए' और 'ओ' न लिखकर उनके स्थान में 'इ' और 'उ' का प्रयोग, लिखने



रानी दुर्गावती

[पं० बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती'-नाटक से]

दुष्ट-दनुज-दल-दलन को लिए तीक्ष्ण तरवार,
देश-शक्ति दुर्गावती दुर्गा को अवतार।

दुलारेलाल भार्गव

N. K. Press, Lucknow

में, करते हैं, और इस प्रकार 'ए' और 'ओ' के ह्रस्वत्व को स्वीकार नहीं करते, तथापि यह केवल हठधर्मी है। उच्चारण करते समय उनको भी 'इ' और 'उ' का उच्चारण ह्रस्व 'ए' और 'ओ' करना पड़ता है। हम नीचे कुछ 'ह्रस्व' 'ए' और 'ओ' के ऐसे उदाहरण देते हैं, जिनको 'इ' और 'उ' करने से अर्थ में परिवर्तन हो जाता है, और पढ़नेवाले को भ्रम होने की आशंका है। यथा—

ए (ह्रस्व)	खेलाना (खेलने का प्रेरणार्थक)	खिलाना (खाने का प्रेरणार्थक)
	भेजाना (भेजने का प्रे०)	भिजाना (भीगने का प्रे०)
	बेचाना (बेचने का प्रे०)	बिकाना (बिकने का सकर्मक)
	पेराना (पेरने का प्रे०)	पिराना (पीड़ा करना)
	बेलाना (बेलने का प्रे०)	बिलाना (विलीन वा नष्ट होना)
ओ (ह्रस्व)	छोलाना (छोलने का प्रे०)	छुलाना (छूने का प्रे०)
	घोलाना (घोलने का प्रे०)	घुलाना (घुलने का सकर्मक)
	सोखाना (सोखने का प्रे०)	सुखाना (सूखने का सकर्मक)
	मोड़ाना (मोड़ने का प्रे०)	मुड़ाना (मुंडन कराना)
	बोलाना (बोलने का प्रे०)	बुलाना (आह्वान करना)

यों तो 'ए', 'ओ' अ, इ और आ, उ के संयोग से बने हैं, और उनके उच्चारण में दोनों स्वर इस प्रकार से संश्लिष्ट हो गए हैं कि उनका विश्लेषण करना सुननेवाले के लिये नितांत कठिन है (और संस्कृत में तथा बहुधा हिंदी में इन दोनों का उच्चारण संश्लिष्ट ही होता है), पर हिंदी में कहीं-कहीं विश्लिष्ट 'ए' और 'ओ' का व्यवहार भी मिलता है। विश्लिष्ट दशा में 'अ' की मात्रा इकार और उकार से अलग हो जाती है, और सानुनासिक दशा में अकार केवल अर्द्ध-मात्रिक उच्चारित होता है। इसकी आधी मात्रा 'अनुनासिक' बोलने में लग जाती है। लिखने में तो इसे, निरनुनासिक दशा में, 'ए' और 'ओ' ही लिखते हैं, पर उच्चारण में विश्लिष्ट ही पढ़ते हैं। जैसे करेगा, जावेगा, आओगे, जाओगे। इनके उच्चारण में यद्यपि 'ओ' में विशेष अंतर नहीं जान पड़ता, और करोगे, बोलोगे आदि में 'ओ' का उच्चारण अर्द्धविश्लिष्ट-सा होता है, पर एकार का उच्चारण 'संभाव्य भविष्यत्' और 'सामान्य भविष्यत्' में स्पष्ट विश्लिष्ट करना पड़ता है। यथा तू चले (लङ्), वह आवे(वह)गा। इस विश्लिष्ट उच्चारण का भेद तब जान पड़ता है, जब इसे सामान्य-भूत आदि में उच्चारित 'ए' से मिलाया जाय। यथा हम गए, तुम चले थे, वे उठे हैं। सबसे विलक्षणता तो सानुनासिक 'ए' और 'ओ' की दशा में देखने में आती है, जहाँ उनका उच्चारण विश्लिष्ट होता है। विश्लिष्ट एकार सानुनासिक को तो लोग सानुनासिक 'एँ' ही लिखते हैं। यथा हम खेलें, हम उठें। पर जब विश्लिष्ट सानुनासिक 'ओ' को लिखना होता है, तो उसे 'ओं' न लिख सानुनासिक 'ऊँ' लिखते हैं। यथा मैं करूँ, मैं चलूँगा इत्यादि। इन सानुनासिक विश्लिष्ट ओकारों का भेद, जिसे लोग 'ऊँ' लिखते हैं, और सानुनासिक ऊँ का भेद तब जान पड़ता है, जब इनके उच्चारण को 'ऊँघना' और 'सूँघना' आदि में उच्चारित 'ऊँ' से मिलाया जाय।

'ऐ' और 'औ' के उच्चारण में विशेष भेद संस्कृत और हिंदी में नहीं है। केवल संस्कृत में 'औ' को कुछ विश्लिष्ट बोलते हैं, और हिंदी के शब्दों में वह संश्लिष्ट बोला जाता है। यथा 'लौटना', 'कौशल'। इनमें पहले में 'औ' का उच्चारण संश्लिष्ट और दूसरे में विश्लिष्ट होता है। अनुस्वार और सानुनासिक में, जिसे अर्द्धचंद्र कहते हैं, बहुत अंतर है। अनुस्वार ये गवाही है। इसमें स्वर का आश्रय अन्य व्यंजनों की अपेक्षा पर में न लगकर पूर्व में लगता है। जैसे 'संयम' में 'अ' का उच्चारण करने में सकार के अकार का आश्रय लगता है। पर सानुनासिक स्वर के उच्चारण में स्वर की चतुर्थांश मात्रा सानुनासिक बोला जाता है। जैसे अधियाव यहाँ, सिंचाई, कहीँ इत्यादि में, लिखने में असावधानी से अथवा आलस्य-वश, अर्द्धचंद्र न लिखकर केवल अनुस्वार ही लिखा जाता है; पर पढ़ने में यथास्थान उनको सानुनासिक पढ़ते हैं।

यद्यपि संस्कृत का (और विशेष कर छंदों में) यह नियम है कि संयोग के पहले आने से 'लघु' गुरु हो जाता

है, जैसे 'मुक्ति', 'शब्द' आदि में संयोग के पूर्व के लघु 'उ' और 'अ' गुरु बोले जाते हैं; पर हिंदी में यदि संयोग का दूसरा वर्ण 'य' हो, तो वह लघु ही रहता है, गुरु नहीं होता। यथा—

"कान्ह कह्यो गिरि गोवर्द्धन तें और देव नहिं दूजा।" (सूर) के 'कह्यो' में 'क' की मात्रा लघु से गुरु नहीं होती। यद्यपि इस प्रकार का प्रयोग खड़ी बोली में नहीं आता, विशेष कर ब्रजभाषा और अवधी की कविताओं ही में देखने में आता है, पर हिंदी-भाषा से संबंध रखने के कारण इसे यहाँ लिखना आवश्यक है। अवधी में तो इसे स्वर-विभाग से लिखते हैं—यथा कहेउ, करेउ, चलेउ आदि—पर ब्रजभाषा में स्वर-विभाग न करके आरंभ के व्यंजन को 'य' से मिलाकर लिखते हैं। यथा कह्यो, कर्‍यो, चल्यो इत्यादि। सबसे अधिक विलक्षणता 'र' और 'य' के योग में देखी जाती है। रकार का नियम है कि वह जिस व्यंजन से संयुक्त होता है, उसके सिरे पर पहुँच जाता है। यथा 'आर्य' ब्रह्मचर्य आदि में रकार 'य' के ऊपर लिखा जाता है। किंतु यहाँ उसे 'य' के पूर्व लगाते हैं, और कहीं र्‍य, कहीं 'र्‍य'-सा लिखते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदी की वर्ण-माला-जैसी किसी भाषा की वर्ण-माला सर्वांग-पूर्ण नहीं है। फिर भी वह भाषा की प्रतिमूर्ति नहीं कही जा सकती। कारण, जैसे भाषा द्वारा हम अपने अंतःकरण के भावों को सर्वतोभावेन दूसरों पर व्यक्त नहीं कर सकते, और कितने ही विचारों और भावों के लिये प्रोन्नत-से-प्रोन्नत भाषाओं में भी शब्द तक नहीं मिलते, अथवा शब्द भी भावों को यथार्थ व्यक्त करने में असमर्थ हैं, अपितु वे भावों के व्यक्त करने के साधन-मात्र हैं, उसी प्रकार लिपि भी भाषा की ध्वनियों का संकेत-मात्र है, केवल एक साधन है, जिससे सहायता मिल सकती है, पर वह सर्वतोभावेन उसकी प्रतिकृति नहीं मानी जा सकती। यही कारण है कि शिक्षा में लिखित पुस्तकों के आधार पर स्वाध्याय या वेद-पाठ करना निषिद्ध माना गया है। यथा—

गीती शीघ्री शिरःकंपी तथा लिखितपाठकः ;
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः ।

स्व० जगन्मोहन वर्मा

कर्तव्य-पालन

(१)



सबेरे सात बजे का समय था। गंगा-तट पर स्नानार्थियों की खूब भीड़ थी। उसी समय एक व्यक्ति गंगाजली हाथ में लिए और बग़ल में पूजन का सामान दबाए घाट पर आया। इस व्यक्ति की आयु ३० वर्ष के लगभग होगी। शरीर सुडौल तथा सुदृढ़ था। वर्ण स्वच्छ गौर था। इस व्यक्ति को देखते ही तख़्त पर बैठे हुए एक गंगापुत्र ने कहा—सदा जय रहे, भागीरथी सदा चोला प्रसन्न रक्खें; आओ भैया, आज तो बड़ी देर कर दी।

वह व्यक्ति बोला—हाँ, कल रात को ज़रा थिएटर देखने चला गया था, इसी से देर हो गई। तुम जानो, जो आदमी दो-ढाई बजे सोवेगा, वह पाँच बजे कैसे उठ सकता है?

गंगापुत्र दाँत निकालकर बोला—हाँ सरकार, यह बात तो वाजिबी है।

उस व्यक्ति ने गंगाजली तथा पूजा की पोटली तख़्त पर रख दी, और स्वयं भी उसी पर बैठते हुए बोला—ज़रा सुस्ता लूँ, तो स्नान करूँ। रात का जागना भी बड़ा बुरा होता है। अब इस समय यही जी चाहता है कि पड़के सो जाऊँ।

गंगापुत्र—बिना पाँच-छः घंटे सोए नींद पूरी नहीं होती।

वह व्यक्ति—हाँ, इस समय जी न-जाने कैसा हो रहा है।

गंगापुत्र—हुकुम हो, तो ठंडाई बनाऊँ। ठंडाई से गरमी शांत हो जायगी।

वह व्यक्ति—अब रहने दो, काहे को दिक़ होगे।

गंगापुत्र—इसमें दिक़ होने की कौन बात है मालिक, अभी सब लैस हुआ जाता है। चुटकी बजाते बनती है। आपका हुकुम-भर होना चाहिए।

वह व्यक्ति—तुम्हें कोई अड़चन न हो, तो बना लो।

गंगापुत्र—वाह सरकार, आपके काम के लिये कभी अड़चन हो सकती है? यह तो ज़रा-सी बात है, काम पड़े, तो तुम्हारे लिये प्राण तक हाज़िर हैं।

इतना कहकर गंगापुत्र ने पुकारा—मुनुआ, मुनुआ रे !

एक ओर से आवाज़ आई—आए !

कुछ सेकिंडों में एक दस वर्ष का बालक दौड़ता हुआ आया, और गंगापुत्र से बोला—काहे बप्पा, का है ?

गंगापुत्र—है का, यहाँ काम कर बैठके, इधर-उधर मारा-मारा घूमता है ।

वह व्यक्ति—इसे कुछ पढ़ाते-लिखाते नहीं ?

गंगापुत्र—अरे सरकार, यह साला न पढ़े न लिखे—दिन-भर खेला करता है । जो कहो कि अच्छा भाई, न पढ़-लिख, न सही, घाट ही पर बैठ, सो भी नहीं करता । ससुरे ने नाकों दम कर रक्खा है ।

वह व्यक्ति—अभी बच्चा है, धीरे-धीरे घाट पर बैठने लगेगा । थोड़ा पढ़ लेता, तो अच्छा था ।

गंगापुत्र—जो साले के करम में बदा होगा, सो होगा । हमारी तो आप लोगों के चरणों में पार हो आई है, अब आगे यह जाने, इसका काम जाने ।

गंगापुत्र ने एक खारुए की बड़ी थैली उठाई । उससे भाँग-इलायची, मिर्च-बादाम इत्यादि मसाला निकालकर लड़के को दिया, और कहा—जाओ, भाँग धो लाओ । बादाम पहले भिगो देना, जब तक भाँग धुलेगी, तब तक फूल जायँगे । जा, झटपट आना, नहीं तो डंडे पड़ेंगे ।

लड़का सब चीज़ें लेकर चला गया ।

वह व्यक्ति थोड़ी देर तक चुपचाप बैठा रहा । फिर बोला—आजकल हिंदू-मुसलमानों में बड़ी तनातनी हो रही है ।

गंगापुत्र—हाँ सरकार, मियाँ भाई बैठे-बिठाए छेड़खानी करते हैं—यह अच्छी बात नहीं । हिंदू-जाति बड़ी गऊ-जाति है । ऐसी गमखोर जाति दूसरी नहीं है । हम लोग हैं—अपनी गंगामाता की सेवा करते हैं; ठंडाई-बूटी छानी, मस्त पड़े हैं—आप लोगों की जय मना रहे हैं—न ऊधो का लेना, न माधो का देना । अब हम लोगों को छेड़ते हैं । सो हम भी जब तक गम खाते हैं, तभी तक । जिस दिन क्रोध आ गया, मियाँ लोग टका धरेंगे, पैसा उठावेंगे ।

वह व्यक्ति—हिंदू-मुसलमानों का आपस में लड़ना बड़ा बुरा है । यह ऐसी लड़ाई है कि इसमें जीते भी हार, और हारे तो हार हई है । क्या कहें, न-जाने हमारे देश पर किस पाप-ग्रह की कुदृष्टि पड़ी है ! लोग अपना हानि-लाभ नहीं समझते !

गंगापुत्र—न समझेंगे, तो पछतायँगे भी । हाँ मालिक, अपने गुलाम की यह बात याद रखिएगा—न समझेंगे, तो कपार पर हाथ धरके रोवेंगे ।

वह व्यक्ति—भला यह भी कोई बात है—एक जगह रहना, एक जगह बसना—फिर यह दशा कि एक दूसरे के प्राण लेने पर उतारू हैं—राम-राम ! इस मूर्खता का भी कोई ठिकाना है ?

एक अन्य महाशय उसी स्थान के निकट दूसरे तख़्त पर खड़े वस्त्र पहन रहे थे । उन्होंने इन दोनों का कथोपकथन सुनकर कहा—ये मुसलमान ही हैं, जो हिंदुओं के प्राण लेने पर उतारू हैं । हिंदू तो चींटी मारना भी पाप समझते हैं; वे किसी के प्राण क्या लेंगे ?

गंगापुत्र महाराज बोल उठे—सच है धर्मावतार ! हिंदू और चाहे जो करें, हत्या नहीं कर सकते ।

वह व्यक्ति बोला—करते क्यों नहीं, जहाँ हिंदुओं का दाँव लगता है, वहाँ हिंदू भी कर डालते हैं । पर इतनी बात अवश्य है कि हिंदू केवल क्षणिक क्रोध के वश होकर ऐसा करता है, और मुसलमान केवल इच्छा-मात्र उत्पन्न होने पर कर उठाता है ।

गंगापुत्र—मुसलमान जितने निर्दयी होते हैं, उतना हिंदू नहीं हो सकता ।

वह व्यक्ति—हाँ, इसमें कुछ सचाई अवश्य है । और इसका कारण केवल यह है कि मुसलमान मांसाहारी होते हैं । मांसाहारी लोग अवश्य कुछ निर्दय होते हैं—चाहे वे हिंदू हों, चाहे मुसलमान ।

उसी समय लड़का ठंडाई का सामान ठीक कर लाया । गंगापुत्र ने सिल सामने रखकर ठंडाई घोटना शुरू कर दिया । ठंडाई भी घोटते जाते थे, और बातें भी करते जाते थे ।

दूसरा व्यक्ति बोला—कुछ हो, पर यहाँ झगड़ा अवश्य होगा ।

गंगापुत्र—होगा, तो बजेगी भी खूब । आप लोगों ने आखिर किस दिन के लिये हम लोगों को माल खिला-खिलाकर पाला है ? जिधर गंगामैया की जय कहकर घुस पड़ेंगे, उधर मैदान साफ़ हो जायगा । यहाँ क्या, यहाँ तो एक दिन मरना ही है ।

पहला व्यक्ति—झगड़ा होना कोई अच्छी बात नहीं । चाहे हिंदू पिटें, चाहे मुसलमान—है बुरी बात । देश का

हानि दोनों तरह से है। वही कहावत है कि यह जाँघ खोलो तो लाज, वह जाँघ खोलो तो लाज। (एक ठंडा साँस लेकर) न-जाने हमारे देश में कैसी दुर्बुद्धि छाई है कि छोटी-छोटी बातें भी किसी की समझ में नहीं आतीं।

गंगापुत्र—समझ में इन मुसलमानों के नहीं आतीं, हिंदू तो सब समझते हैं।

यह बात सुनकर वे दोनों व्यक्ति हँस पड़े। पहला व्यक्ति हँसने के बाद गंभीर होकर बोला—यही तो बड़ी ख़राबी है कि हिंदू मुसलमानों को सर्वथा दोषी समझते हैं, और मुसलमान हिंदुओं को। वास्तविक बात क्या है, इस पर कोई ध्यान नहीं देता।

कुछ देर तक इसी प्रकार की बातें होती रहीं। इसके पश्चात् गंगापुत्र ने कहा—सरकार, ठंडाई तैयार है।

उस व्यक्ति ने ठंडाई पी, और स्नान करने के लिये गंगा-तट पर चला गया।

(२)

पं० गंगाधर पांडेय एक अच्छे और सुशिक्षित आदमी हैं। बज़ाज़ी की दूकान करते हैं। अपने मुहल्ले में आदर-प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते हैं। इन्हें व्यायाम का शौक़ बचपन ही से है। अतएव ख़ूब बलवान् तथा हृष्ट-पुष्ट हैं। कुश्ती भी अच्छी लड़ते हैं, और लकड़ी चलाना भी जानते हैं। हृदय के उदार हैं, सबसे प्रेम-भाव से मिलते हैं। कट्टर हिंदू होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति इनके हृदय में द्वेष का लेश-मात्र नहीं है। इनके मुहल्ले में मुसलमानों के कई घर हैं। इन सबसे इनका मित्र-भाव है।

प्रदोष-व्रत का दिन था। पांडेयजी प्रदोष का व्रत रखते थे, और उस दिन दूकान नहीं जाते थे। शाम को पूजन इत्यादि से निवृत्त होकर पांडेयजी अपनी बैठक में बैठे थे। उसी समय उनके पड़ोसी मियाँ इशमतअली उधर से निकले। उन्हें देखते ही पांडेयजी बोले—अजी शेख़ साहब, कहाँ चले?

शेख़ साहब खड़े हो गए, बोले—ज़रा तफ़रीह (मनोरंजन) के लिये बाग़ की तरफ़ जा रहा हूँ।

पांडेयजी—आइए, दो-चार मिनिट बैठिए, मैं भी आपके साथ चलूँगा।

"बेहतर है" कहकर शेख़ साहब बैठक में चले आए, और एक कुर्सी पर बैठते हुए बोले—आज आप दूकान नहीं गए?

पांडेयजी ने कहा—आज मैंने व्रत रक्खा था, जिसे आप लोग रोज़ा कहते हैं, इसीलिये नहीं गया।

शेख़ साहब बोले—हाँ, ठीक है; आप शायद महीने में दो बार रोज़ा रखते हैं?

पांडेयजी—जी हाँ। कहिए, शहर की क्या ख़बरें हैं?

शेख़ साहब मुँह बनाकर बोले—ख़बरें क्या, हालत अच्छी नहीं है। रोज़मर्रा तरह-तरह की अफ़वाहें उड़ती हैं। कुछ बदमाश इस बात की कोशिश कर रहे हैं कि हिंदू-मुसलमानों में झगड़ा हो जाय।

पांडेयजी—यह बुरी बात है।

शेख़ साहब—निहायत बुरी बात है। मगर किया क्या जाय, बदमाशों से कौन पेश पा सकता है? ख़ुदा अपना फ़ज़ल (कृपा) करे। बदमाशों का क्या, उन्हें न आबरू जाने का ख़ौफ़, न जेल जाने का डर। मुसीबत बाल-बच्चेदार भले आदमियों की है। फ़साद बदमाश करते हैं, और उसका ख़मियाज़ा (फल) शरीफ़ों को उठाना पड़ता है।

पांडेयजी—मुसलमानों के इस बारे में कैसे ख़याल हैं?

शेख़ साहब—मुख़्तलिफ़ (भिन्न) तरह के ख़यालात हैं। पंडितजी, यह बात याद रखिए, शरीफ़ और बदमाश हर मज़हब और हर क़ौम में हैं। शरीफ़ आदमी बुरी बात को हमेशा बुरा ही कहेगा, वह चाहे जिस क़ौम या फ़िरक़े का हो। बाज़ हिंदू समझते हैं कि मुसलमानों की क़ौम-की-क़ौम बदमाश है, और हिंदुओं को आज़ार (कष्ट) पहुँचाने की कोशिश करती रहती है। यह उनकी ग़लतफ़हमी है। इसी तरह कुछ मुसलमान हिंदुओं को अपना दुश्मने-जानी समझते हैं। यह उनकी ग़लती है। मगर उन्हें समझावे कौन?

पांडेयजी—यह आप दुरुस्त फ़रमाते हैं। मेरा भी ऐसा ही ख़याल है। लेकिन एक बात ग़ौरतलब है। लड़ाई-झगड़े की आग कौन भड़काते हैं, इसका पता नहीं चलता।

शेख़ साहब—अजी, यह तो ज़ाहिर बात है कि मज़हबी तअस्सुब ही इन झगड़ों की बुनियाद है। हिंदू और मुसलमान, दोनों में ऐसे सैकड़ों आदमी मिलेंगे, इनका के तअस्सुबी हैं। तअस्सुब को ये लोग मज़हब का ज़ेवर समझते हैं। ये ही लोग झगड़ा-फ़साद कराने की कोशिश करते हैं।

पांडेयजी—आख़िर इससे उन्हें फ़ायदा ?

शेख़ साहब—फ़ायदा ? शेख़ सादी साहब का क़ौल याद कीजिए—

नेशे अक़रब न दरपए कीनस्त ;
मिक़्तिज़ाए तबीयतश ईनस्त ।

अर्थात् बिच्छू की तो डंक मारने की आदत होती है, उसे इससे क्या बहस कि किसी को तकलीफ़ पहुँचती है या आराम मिलता है ? यही हालत इन मुफ़सिदों (झगड़ा करानेवालों) की है । इनकी ख़सलत (स्वभाव) यही है कि बैठे-बिठाए आग भड़काना । अगर ये लोग ऐसा न करें, तो खाना हज़म न हो ।

शेख़ साहब की यह बात सुनकर पांडेयजी बहुत हँसे । शेख़ साहब भी कुछ मुसकिराते हुए बोले—वल्लाह, मैं सच कहता हूँ, आप इसे ख़िलाफ़ मत समझिए। मैं एक नहीं, बीस आदमी ऐसे बता सकता हूँ, जिनका रात-दिन यही काम है । जुमे के दिन मैं जामा-मसजिद में नमाज़ पढ़ने जाता हूँ । वहाँ देखता हूँ, अजीब-अजीब क़िमाश के लोग जमा होते हैं । कुछ लोग ऐसे होते हैं कि वे नमाज़-वमाज़ तो बराए-नाम पढ़ते हैं, हाँ मुसलमानों को हिंदुओं के ख़िलाफ़ भड़काने की कोशिश ख़ूब किया करते हैं ।

पांडेयजी—हम हिंदुओं में भी ऐसे बहुत से आदमी हैं, जो मुसलमानों के ख़िलाफ़ हिंदुओं को भड़काते हैं ।

शेख़ साहब—ज़रूर होंगे—मैंने अर्ज़ किया न कि ऐसे मुफ़सिद आपको हर क़ौम में मिलेंगे । सो जनाब, करते थोड़े आदमी हैं, बदनाम कुल क़ौम होती है । और, ख़ता मुआफ़ कीजिएगा, लीडरों में भी ऐसे बहुत-से हैं, जो ख़्वाहमख़्वाह लोगों को जोश दिलाते हैं । कहने को तो हिंदू-मुसलिम-इत्तहाद (एकता) की कोशिश करते हैं, मगर लेक्चरों में ऐसी-ऐसी बातें कहते हैं, जिससे बिला वजह दोनो क़ौमें एक दूसरे के ख़िलाफ़ भड़कती हैं ।

पांडेयजी—आपका फ़र्माना दुरुस्त है । मैंने भी कई बार इस बात को महसूस किया है ।

शेख़ साहब—हमारे यहाँ मुल्ला और आपके यहाँ पंडित लोग, इन्हीं की वजह से ज़ियादा फ़साद होता है । मुल्ला लोगों की यह हालत है कि ख़ुदा बचावे । ऐसी-ऐसी बातें कहते हैं कि जुहला (मूर्ख) लोगों में जोश पैदा होता है । जो आक़िल (समझदार) हैं, वे कुछ बोल नहीं सकते । कुछ कहें, तो झट से मुल्ला साहब फ़तवा दे देते हैं कि यह काफ़िर है, मुरतिद है । लाचार ख़ून पीकर रह जाना पड़ता है । जब झगड़ा होता है, तो मुल्लाजी हुजरा (कोठरी) बंद करके बैठ रहते हैं ।

पांडेयजी—बिलकुल सच है । ऐसी ही हालत है ।

शेख़ साहब—जनाब, मैं तो इन बातों को पसंद नहीं करता । और, मुझी पर क्या फ़र्ज़ है, कोई भी शरीफ़ समझदार आदमी इन्हें पसंद न करेगा । हाँ, तो आप बाग़ चलेंगे ? अगर न चलें, तो मुझे इजाज़त दीजिए ।

पांडेयजी—चलता हूँ ।

यह कहकर पांडेयजी ने शीघ्रता-पूर्वक वस्त्र पहने, और शेख़ साहब के साथ हो लिए ।

(३)

शेख़ साहब के मकान के सामने ज़रा कुछ हटकर एक पठान का मकान था । इनका नाम सआदतख़ाँ था । यह पढ़े-लिखे वाजिबी-ही-वाजिबी थे, मगर अव्वल नंबर के चलते-पुर्ज़े थे । इनकी बिसातख़ाने की एक छोटी-सी दूकान थी । उसी से जीविका चलती थी । इनमें तअस्सुब कूट-कूटकर भरा हुआ था । यह व्यक्ति उन लोगों में से था, जो धर्म का अर्थ केवल विधर्मियों से घृणा करना समझते हैं । इनका एक जवान पुत्र भी था, जिसकी आयु २०-२२ वर्ष की होगी । इसका नाम रहमतअलीख़ाँ था । धार्मिक द्वेष में रहमतअली भी किसी प्रकार अपने पिता से कम न था । यह व्यक्ति भी सदैव हिंदुओं को वक्र दृष्टि से देखता रहता था ।

रात के आठ बज चुके थे । पिता-पुत्र, दोनो बैठे भोजन कर रहे थे । सामने कुछ दूर पर पानदान सामने रक्खे रहमतअली की मा पान लगा रही थी । पान लगाते हुए रहमतअली की मा ने कहा—ऐ, यह तीन-चार रोज़ से कैसी ख़बरें उड़ रही हैं ? कहते हैं, हिंदू-मुसलमानों में झगड़ा होगा ।

रहमतअली बोल उठा—जो हिंदू झगड़े का काम करेंगे, तो ज़रूर झगड़ा होगा ।

रहमतअली के पिता ने कहा—झगड़े की बातें तो कर ही रहे हैं । हिंदू अपनी शरारत से बाज़ नहीं आते । लिहाज़ा झगड़ा ज़रूर होगा ।

रहमतअली की मा ने कहा—जो झगड़े का ख़ौफ़ हो, तो

इस मुहल्ले से कुछ दिनों के लिये टल जायँ। यहाँ हिंदुओं की आबादी ज़ियादा है। कहीं किसी वक़्त निगोड़े हमला न कर बैठें।

रहमतअली—हमला करना ख़ालाजी का घर नहीं है! दाँत खट्टे हो जायँगे! मुक़ाबिला पड़े, तो हाथ लख। हिंदुओं को छठी का दूध याद न आ जाय, तभी कहना।

सआदतख़ाँ—हिंदुओं में इत्तिफ़ाक़ (मेल) तो है ही नहीं, हमला क्या ख़ाक करेंगे? जिस वक़्त झगड़ा हुआ, तो एक भी बाहर न दिखाई पड़ेगा, सब अपने-अपने दरवाज़े बंद करके बैठ रहेंगे। निहायत बोदी क़ौम है।

रहमतअली की मा—लाख बोदी हो, मगर तादाद में तो ज़ियादा है। मसल मशहूर है कि दबने पर चींटी भी काट खाती है। दुश्मन से कभी बेख़ौफ़ न रहना चाहिए।

रहमतअली—हाँ, यह तो दुरुस्त है—"दुश्मन नातवाँ हक़ीर व बेचारा शुमर्दा।" दुश्मन को कभी हक़ीर (तुच्छ) न समझना चाहिए।

सआदत—कल मेरी शेख़ इशमतअली से इसी बारे में गुफ़्तगू हुई थी। अजीब क़िमाश के आदमी हैं। मैंने तो ऐसा आदमी ही नहीं देखा।

रहमतअली की मा—क्या कहते थे?

सआदतख़ाँ—वह तो बस, हर बात में यही कहते थे कि मिल-जुलकर रहना चाहिए।

रहमतअली—अजी, आप भी किस काफ़िर की बातें करते हैं। वह तो आधा हिंदू है—मरदूद जब देखो, हिंदुओं की हिमायत करता रहता है।

सआदतख़ाँ—हिंदुओं से उसका मेल-जोल भी ख़ूब है।

रहमतअली—अजी, मैं तो ऐसे मेल-जोल पर लानत भेजता हूँ। हिंदू और मुसलमान का मेल ही क्या। कुजा (कहाँ) स्याही, कुजा सफ़ेदी।

रहमतअली की मा—हमारे पड़ोस में जो पंडितजी रहते हैं, वह तो भले आदमी हैं।

रहमतअली—कौन पं० गंगाधर?

मा—हाँ।

रहमत—भले-वले कुछ नहीं हैं, सब स्याह-क़ल्ब (कलुषित-हृदय) हैं। इन काफ़िरों का कोई एतबार नहीं।

सआदत—इशमतअली से उनकी राहोरस्म ख़ूब है।

रहमत—मैंने कहा न, वह तो आधा हिंदू है। अब्बाजान, कल मैं जामा-मसजिद गया था। वहाँ एक मौलवी साहब ने हिंदुओं के बारे में ऐसी-ऐसी बातें बतलाईं कि ख़ून जोश खाने लगा। वल्लाह, यही जी चाहता था कि इन बेदीनों से कोई तअल्लुक़ न रक्खे। मुसलमानों को ये बड़ी हिक़ारत की नज़र से देखते हैं।

सआदत—यह बात तो ज़ाहिर है कि ये लोग हमारा छुआ हुआ नहीं खाते। हालाँकि सच पूछो, तो मुसलमानों को ही इनका छुआ न खाना चाहिए।

रहमत—मैं तो जब इन लोगों के इस बर्ताव पर ग़ौर करता हूँ, तो बेअख़्तियार तैश (क्रोध) आता है।

मा—तू कहीं किसी से लड़ न बैठना। तुझे बड़ी जल्दी ग़ुस्सा आता है।

रहमत—अम्मा, लड़ाई तो एक बार होगी, और ज़ुरूर होगी, यह रुक नहीं सकती।

मा—उई अल्लाह, बेटा, मेरे सामने लड़ाई-झगड़े का ज़िक्र मत करो, मेरा दम ख़ुश्क होता है।

उसी समय रहमतअली की षोडशवर्षीया भगिनी उस स्थान पर आई। उसने पूछा—अम्मीजान, कहाँ लड़ाई होगी?

मा—लड़ाई-वड़ाई कहीं कुछ नहीं है, ऐसे ही बात-चीत हो रही है।

कन्या—कल भाई साहब एक अख़बार लाए थे। मैंने उसमें पढ़ा था कि एक जगह—देखो, नाम याद नहीं आता—बड़ी लड़ाई हुई, हिंदू-मुसलमान आपस में कट मरे।

मा—हुई होगी, तुझे इन झगड़ों से क्या मतलब? आज अभी तू सोई नहीं, और दिन तो चिराग़ जलते ही पलँग पर पहुँच जाती थी।

कन्या ने कुछ लजाकर मुसकिराते हुए कहा—आज नींद नहीं आई।

मा—तो जा, सो जाकर।

कन्या—एक पान खिला दो, तो जाऊँ।

मा—दुर निगोड़ी, पान खाके सोएगी!

मा ने एक पान लगाकर दे दिया। कन्या पान लेकर चली गई।

उसके चले जाने पर मा बोली—बेटा रहमत, तुम घर में ऐसे-वैसे अख़बार मत लाया करो। कुलसूम (कन्या का नाम) पढ़ती है—इसका ख़ून बड़ा हलका है—बड़ी जल्दी दहशत (भय) आ जाती है। देखा न, ज़रा काम में अनक पड़ गई, फ़ौरन् दौड़ी आई।

पिता-पुत्र दोनों भोजन करके उठे। मा ने पुकारा—ऐ नसीबन, नसीबन! मुई कहीं ग़ारत हो गई!

कन्या ने पूछा—क्या है अम्मीजान?

मा—वह नसीबन निगोड़ी कहाँ मर गई?

कन्या—नसीबन तो यहाँ पड़ी ख़र्राटे ले रही है।

मा—लो, मुई को शाम ही से साँप सूँघ गया! जगा दे मुरदार को। कुछ देर में नसीबन आँखें मलती हुई आई। रहमतअली की मा बोली—ऐसी शाम ही से कहाँ की नींद फट पड़ी? दिन-ब-दिन शऊर को दीमक लगती जा रही है।

नसीबन—मैं तो बीबी कुलसूम को कहानी सुना रही थी। सुनाते-सुनाते सो गई।

मा—जा, झटपट आफ़्ताबा और सिलफ़ची लाकर हाथ धुला।

नसीबन ने जल लाकर पिता-पुत्र के हाथ धुलाए। हाथ धोकर दोनों ने पान खाए। पुत्र तो सोने के लिये अपनी शय्या पर चला गया, पिता वहीं खड़ा रहा। पुत्र के चले जाने पर पत्नी ने पति से कहा—तुम ज़रा रहमत को दाबे रहा करो। लड़का जनूनी है, किसी रोज़ किसी से लड़ बैठा, और इसे कुछ हो गया, तो मैं तो ज़िंदा-दर-गोर हो जाऊँगी।

सआदत—ऐसा बेवकूफ़ थोड़े ही है, जो ख़्वाहमख़्वाह किसी से लड़ बैठे।

पत्नी—गुस्से में बड़े-बड़े दाना (बुद्धिमान्) नादान बन जाते हैं। गुस्सा बड़ी बद बला है, ख़ुदा बचावे, इंसान अंधा हो जाता है। और, अल्लाह जानता है, मुझे तो इन बातों से नफ़रत है। हिंदू-मुसलमान, दोनों ख़ुदा के बंदे हैं। यह माना कि एक गुमराह (पथ-भ्रष्ट) है, तो इससे क्या होता है। जब ख़ुदा ही ने हिंदुओं को गुमराह पैदा किया है, तो बंदा क्या कर सकता है? ख़ुदा-बंद-ताला ने सबके लिये सज़ा व जज़ा मुक़र्रर कर दी है। अब बंदा ख़्वाहमख़्वाह उसमें दख़ल देकर गुनहगार क्यों बने?

सआदत—तुम औरतज़ात इन दीनी मसलों को क्या समझो?

मज़हब की बारीकियाँ समझना हर कसोनाकस (सर्व-साधारण) का काम नहीं। इसे उलमा (विद्वान्) लोग ही समझ सकते हैं। हम लोग तो महज़ उनके बताए हुए रास्ते पर चलते हैं। ये काफ़िर हमेशा गर्दन-ज़दनी (गर्दन मारने के योग्य) हैं।

पत्नी—तौबा-तौबा! मैं ख़ुदा व रसूल के एहकाम (आज्ञाओं) के ख़िलाफ़ तो कुछ कह नहीं सकती; मगर इतना जानती हूँ कि इंसान को मिल-जुलकर रहना चाहिए, और वक़्त पर एक दूसरे की मदद करनी चाहिए। सब बंदे ख़ुदा के हैं।

सआदतख़ाँ ने इसका कुछ उत्तर न दिया, चुपचाप वहाँ से चले गए।

(४)

हिंदू-मुसलमानों में प्रतिदिन तनातनी बढ़ती ही चली गई। दोनों ओर ऐसे लोगों का आधिक्य था, जो लोगों में एक दूसरे के प्रति घृणा तथा क्रोध की आग भड़काने में लगे हुए थे। रुई की आग की तरह यद्यपि बाहर से असंतोष तथा द्वेष के कोई स्पष्ट चिह्न प्रतीत नहीं होते थे, परंतु भीतर-ही-भीतर ख़ूब आग फैल रही थी। मुसलमान हिंदुओं के और हिंदू मुसलमानों के रक्त के प्यासे हो रहे थे।

पं० गंगाधर उन इने-गिने आदमियों में से थे, जिन्हें धार्मिक द्वेष छू तक नहीं गया। जिस प्रकार वह मंदिर के अनादर को सहन नहीं कर सकते थे, उसी प्रकार मसजिद के अनादर को भी। उनका सिद्धांत था कि सभी धर्मों में कुछ-न-कुछ सार अवश्य है। जो जिस धर्म में उत्पन्न हुआ है, उसे अपने ही धर्म में रहना और दूसरों के धर्म का आदर करना चाहिए। सबको धार्मिक स्वतंत्रता समान रूप से प्राप्त रहनी चाहिए। जो धर्म दूसरे धर्म का अनादर करने की शिक्षा देता है, वह धर्म नहीं, अधर्म है। जब कभी उनसे और किसी हिंदू से बातचीत होती, और वह इनके सिद्धांत सुनता, तो यह समझता था कि पांडेयजी मुसलमानों का पक्ष लेते हैं। उनके मुँह पर तो नहीं, परंतु पीठ-पीछे लोग कह दिया करते थे—"आख़िर मुसलमानों के पड़ोस में रहते हैं न, कहाँ तक प्रभाव न पड़े!

ऐसे ही लोग समय पड़ने पर चोटी कटाकर मुसलमान हो जाते हैं।" कभी-कभी पांडेयजी के कानों तक भी यह बात पहुँच जाती थी ; परंतु वह सुन लेते थे, और मुसकिराकर चुप रह जाते थे।

एक दिन रात को मुहल्ले के तीन-चार आदमी पांडेयजी के मकान पर पहुँचे। उस समय वह भोजन करके कमरे में बैठे 'लीडर' पढ़ रहे थे। लोगों को देखते ही उन्होंने मुसकिराकर कहा—आइए, आज यह दल किधर भूल पड़ा ?

उनमें से एक बोला—आप ही के पास आए हैं।

पांडेयजी—कहिए, क्या आज्ञा है ?

पहला—बात यह है कि आजकल शहर की हालत जैसी है, वह आप जानते ही हैं।

पांडेयजी—हाँ-हाँ।

दूसरा—यह भी आपको ज्ञात है कि इस मुहल्ले में चार-पाँच घर मुसलमानों के भी हैं।

पांडेयजी—हाँ-हाँ।

पहला—तो ऐसी दशा में हम लोगों की रक्षा का क्या उपाय है ?

पांडेयजी मुसकिराए। उनके मुख पर कुछ घृणा का भाव उत्पन्न हुआ। कुछ देर तक चुप रहकर उन्होंने कहा—इस मुहल्ले में अधिकतर तो हिंदू ही हैं। यह आप मानते हैं न ?

पहला—हाँ, मानेंगे क्यों नहीं।

पांडेयजी—तो ऐसी दशा में रक्षा का अधिक विचार मुसलमानों के हृदय में उत्पन्न होना चाहिए ; क्योंकि वे लोग कम हैं। आप लोग क्यों चिंता करते हैं ? आपका तो मुहल्ला ही है।

दूसरा—अजी पांडेयजी, इन लोगों को आप जानते हैं, जहाँ एक ने अल्लाहोअकबर की आवाज़ लगाई, वहाँ चींटियों की तरह ताँता बँध जायगा। हम लोगों में से तो कोई घर के बाहर भी न निकलेगा।

पांडेयजी—तो इसमें किसका अपराध है ? जब आप संख्या में अधिक होते हुए भी अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं, तो मुसलमानों को दोष देना व्यर्थ है।

तीसरा—हमारा अभिप्राय यह है कि आपका मुसलमानों से मेल-जोल अधिक है, इस कारण आप उनके इरादों को जानते होंगे। हम लोग तो इन यवनों से बात करना भी उचित नहीं समझते।

पांडेयजी—आप लोग बात करना उचित समझते होते, तो आज यह नौबत ही क्यों आती ?

दूसरा—ख़ैर, इससे कोई बहस नहीं। अब यह बताइए कि हम लोगों को क्या करना चाहिए।

पांडेयजी—मैं तो यह जानता हूँ कि आप लोग अपने-अपने घर में बैठें, अपनी रक्षा का यथेष्ट प्रबंध रक्खें। स्वयं किसी पर आक्रमण करने का स्वप्न में भी विचार न करें। हाँ, यदि आप पर आक्रमण हो, तो उससे बचें, और समय पड़ने पर धैर्य तथा साहस के साथ एक दूसरे की सहायता करें। हिंदुओं में यह बड़ा भारी दोष है कि वे केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। यदि एक हिंदू पिट रहा है, तो दूसरा खड़ा-खड़ा देखेगा, उसकी सहायता कभी न करेगा। यह बुरी बात है। यही दशा देखकर दूसरों को हिंदुओं पर आक्रमण करने का साहस होता है।

इसी प्रकार समझा-बुझाकर पांडेयजी ने उन्हें बिदा किया। दो-तीन दिन इसी प्रकार व्यतीत हो गए। एक दिन संध्या को सआदतअलीख़ाँ के मकान से मिले हुए एक हिंदू के मकान में सत्यनारायण की कथा थी। अतएव शंख और घड़ियाल बजना स्वाभाविक था। इस पर सआदतअलीख़ाँ ने आपत्ति की। परंतु उनकी बात पर किसी ने कान न दिया। यह देखकर उस समय तो वह चुप हो गए, पर दूसरे दिन शाम को दस-बारह लठ-बंद मुसलमान उस हिंदू के द्वार पर आकर जमा हो गए, और लगे गालियाँ बकने। वह बेचारा घर का द्वार बंद करके बैठ रहा। यह देखकर मुसलमान किवाड़े तोड़कर भीतर घुसने की चेष्टा करने लगे। इसकी सूचना पं० गंगाधर को मिली। यह सुनते ही वह घबरा उठे। उन्होंने तुरंत एक लाठी अपने हाथ में ली, और एक अपने नौकर को, जो ठाकुर था, देकर उसे साथ लिया, और निकल खड़े हुए। बाहर निकलकर उन्होंने पहले तो देखा कि शेख़ साहब अपने दोमंज़िले पर खड़े हैं, और नीचे सआदतख़ाँ और उनका लड़का खड़ा है। सआदतख़ाँ शेख़ साहब को गालियाँ दे रहे थे—अबे ओ काफ़िर, नीचे उतर, आज तुझे भी हिंदुओं के साथ जहन्नुम पहुँचा दूँ। अबे ओ मरदूद, उतरता क्यों नहीं ? अब देखो, हरामज़ादा हिंदुओं की हिमायत करता था। अब कुछ हिम्मत हो, तो मर्दों के सामने आ।


"अबे ओ मरदूद, अब कुछ हिम्मत हो, तो मर्दों के सामने आ।"

पांडेयजी को देखते ही सआदतख़ाँ चिल्ला उठा—इस हरामज़ादे को मारो, खूब मारो! यही सारे फ़साद की जड़ है।

यह सुनते ही तीन-चार मुसलमान पांडेयजी की ओर बढ़े।

पांडेयजी ने सआदतख़ाँ से कहा—ख़ाँ साहब, अफ़सोस यही है कि आप मेरे पड़ोसी हैं। मैं पड़ोसी और भाई का एक ही दर्जा समझता हूँ, वरना अभी तक आपकी लाश पड़ी होती।

यह सुनते ही रहमतअलीख़ाँ ने लाठी उठाकर यह कहते हुए पांडेयजी पर वार किया—ओ नजिस कुत्ते, तेरा भाई कहीं जहन्नुम में पड़ा होगा!

पांडेयजी लठैत आदमी थे, इस लौंडे के वार को क्या समझते। उन्होंने अपनी लाठी पर उसकी लाठी रोककर तुरंत उलझाव से लाठी निकाली, और 'ख़बरदार' कहकर एक हलका-सा हाथ जो मारा, तो रहमतअली मुँह के बल ज़मीन पर आ रहा।

पांडेयजी सआदतख़ाँ से बोले—आपने इस लौंडे को बड़ा गुस्ताख़ बना रक्खा है। अपने बड़ों से भी गुस्ताख़ी करता है। इतना सुनते ही सब मुसलमान क्रोधांध होकर पांडेयजी पर टूट पड़े। खटाखट-खटाखट के अतिरिक्त और न कुछ सुनाई पड़ता था, और न कुछ दिखाई। पाँच मिनट तक यही दशा रही। पाँच मिनट बाद अन्य मुसलमान तो भाग खड़े हुए, केवल सआदतख़ाँ और रहमतअलीख़ाँ भूमि पर पड़े कराह रहे थे। पांडेयजी के सिर से भी रक्त बह रहा था, और उनके नौकर के भी चोट लगी थी।

पांडेयजी उन दोनों को वहीं छोड़कर चले आए। घर आकर उन्होंने अपना सिर धोया, और पट्टी बाँधी। नौकर ने भी अपने घाव धोकर पट्टी बाँध ली।

बीस मिनट बाद ही फिर शोर मचा। पांडेयजी ने नौकर से कहा—मालूम होता है, मुसलमान फिर आ गए।

यह देखकर पहले तो पांडेयजी ने एक ज़ोर की आवाज़ लगाई कि हिंदू-भाइयो, तुम्हें शर्म नहीं आता कि तुम्हारे एक भाई के प्राण संकट में हैं, और तुम सब चूड़ियाँ पहने घर में बैठे हो। इससे तो तुम जन्म लेते ही मर गए होते, तो अच्छा था। देखो, मैं आगे चलता हूँ। जिसको आना हो, मेरे पीछे आवे।

यह कहकर पांडेयजी अपने नौकर सहित उधर चले। पहले सआदतख़ाँ से मुठभेड़ हुई। पांडेयजी ने कहा—सआदतख़ाँ, शेख़ साहब को क्यों गालियाँ देते हो? उनका क्या कुसूर? जो कुछ कहना हो, मुझसे कहो।

यह कहकर उन्होंने फिर लाठी उठाई। नौकर भी अपनी लाठी लेकर साथ चला।

घटना-स्थल पर पहुँचे, तो देखा, सआदतख़ाँ शोर मचा रहा है। पांडेयजी को देखते ही बोला—पंडितजी, ख़ुदा के लिये मेरी आबरू बचाइए। आपके जाते ही दस-बारह हिंदू लाठी लेकर आए। पहले मुझे और मेरे लड़के को मारा, अब मेरे घर में घुस गए हैं—मेरे घर की औरतों को बेइज़्ज़त कर रहे हैं।

यह सुनते ही पांडेयजी की आँखों-तले अँधेरा छा गया। वह तुरंत सआदतख़ाँ के घर में घुसे। उन्होंने देखा, सआदतख़ाँ की पत्नी को दो-तीन हिंदू पकड़े खड़े हैं, और एक व्यक्ति उनकी युवती कन्या को पकड़कर घसीट रहा है।

यह देखते ही पांडेयजी ने गर्जकर कहा—कायरो, यह क्या करते हो? जब तुम्हारे बाप आए थे, तब तो सब अपनी-अपनी जोरुओं के लहँगों में घुसे बैठे रहे, और अब उसे निस्सहाय पाकर यह अत्याचार कर रहे हो? अलग हटो, नहीं मारे लाठियों के सबकी खोपड़ी तोड़ दूँगा।

पांडेयजी की गर्जना सुनते ही लोगों ने भयभीत होकर स्त्रियों को छोड़ दिया। एक हिंदू-युवक आगे बढ़कर बोला—इन मुसलमानों ने हमारे एक भाई के घर में घुसकर औरतों को बेइज़्ज़त करना चाहा था, तो हम भी क्यों न वैसा ही करें?

पांडेयजी पुनः गर्जकर बोले—उस समय तुम सब कहाँ मर गए थे? उनको परास्त करके ऐसा करते, तो कुछ वीरता भी थी। और, यदि मुसलमान जहन्नुम में जायँ, तो तुम भी क्या उनके साथ जाओगे? एक सच्चे हिंदू का यह कर्तव्य नहीं कि निस्सहाय मर्द पर भी ऐसा अत्याचार करे—न कि अबलाओं पर। स्त्रियाँ, बच्चे और देवस्थान, ये सबके बराबर हैं। इन पर जो अत्याचार करता है, वह कायर है, नारकी है, चाहे वह किसी भी जाति का हो। स्त्री किसी भी जाति की हो, वह सदैव अबला है। प्रत्येक पुरुष को उसकी रक्षा करनी चाहिए। बच्चा किसी भी क़ौम का हो, सदैव दया के योग्य है। इन पर अत्याचार करनेवाला मनुष्य नहीं, दैत्य है, पिशाच है, पशु है।

कहते-कहते पांडेयजी के मुँह में फेना आ गया। एक हिंदू ने पुनः साहस करके कहा—आप इस झगड़े में न पड़िए, अपने घर जाइए; हम लोग जैसा उचित समझेंगे, वैसा करेंगे।

पांडेयजी की आँखों से ख़ून बरसने लगा। उन्होंने दाँत पीसकर कहा—जब तक मेरी लाश न गिरेगी, तब तक तुम इन स्त्रियों के हाथ नहीं लगाने पाओगे। एक पाप तो तुमने यह किया कि पर्दानशीन स्त्रियों को आकर हाथ लगाया। अब दूसरा पाप नहीं करने पाओगे। नामर्दो, तुम्हें उचितानुचित का ज्ञान है कहाँ? उचितानुचित का ज्ञान होता, तो लहँगे पहनकर घर में घुसे बैठे रहते। तुम्हारे-जैसे ही ज़नानों ने हिंदू-जाति को बदनाम किया, और मुसलमानों का साहस बढ़ाया। पुरुषों के सामने तो निकलते नानी मरती थी, अब स्त्रियों को अपनी वीरता दिखाने आए हो। जाओ, गंगा में जाकर डूब मरो। तुम लोगों के मरने से हिंदू-जाति साफ़ हो जायगी। फिर एक हिंदू ने कहा—मुसलमान हमारी मा-बेटियों को बेइज़्ज़त करते हैं। आप उनको यह व्याख्यान क्यों नहीं सुनाते?

पांडेयजी—मैं हिंदू हूँ, हिंदुओं से कहने का मेरा अधिकार है। इसके अतिरिक्त, मूर्खो, तुम मुसलमानों के अवगुणों की नक़ल करते हो? यदि नक़ल करना है, तो उनमें निर्भयता, साहस, संगठन आदि जो गुण हैं, उनकी नक़ल करो। परंतु वह तो ग्वाऊँ का ठौर है न, उसे कैसे कर सकते हो! अबलाओं और बच्चों को मुलायम चारा पाया, इसलिये इस बात में झट मुसलमानों की नक़ल करने दौड़े। बस, मैं कहता हूँ, चुपचाप चले जाओ, अन्यथा एक-एक को गिन-गिनकर यहीं सुला दूँगा।

यह कहकर पांडेयजी ने लाठी घुमाई। यह देखते ही सब हिंदू घबराकर वहाँ से हटे, और बाहर चले आए। सआदतख़ाँ भी पांडेयजी के पीछे-पीछे चला आया था, और एक खंभे की आड़ में खड़ा होकर यह सब लीला देख रहा था। जब हिंदू चले गए, तो पांडेयजी ने सआदतख़ाँ की पत्नी से कहा—बहन, तुम बेख़ौफ़ होकर बैठो। मेरे रहते तुम पर कभी आँच न आने पावेगी। हम मर्द-मर्द आपस में लड़ें या कटें; पर तुम्हारी हिफ़ाज़त अपनी जान देकर करेंगे।

सआदतख़ाँ की पत्नी ने रोते हुए कहा—भैया, मैं हमेशा इनको मना करती रही कि हिंदुओं से दुश्मनी

क्यों मोल लेते हो ? सब खुदा के बंदे हैं। मगर इन्होंने न माना। आज तुम न आ जाते, तो हमारी आबरू जाने में बाक़ी ही क्या रह गया था।

पांडेयजी नेत्रों में आँसू भरकर बोले—बहन, मैं अच्छी तरह यक़ीन करता हूँ कि तुमने ज़रूर इनको मना किया होगा। औरतों का दिल ही ऐसा होता है। वे कभी लड़ाई-झगड़ा पसंद नहीं करतीं। वे हमेशा अमन चाहती हैं। उनका दिल इतना सख्त कभी नहीं हो सकता कि वे खून-खराबी देख सकें। ऐसे औसाफ़ (गुण) रखनेवाली औरत पर जो ज़ुल्म करे, वह संगसार (पत्थरों से मार डाले जाने) करने के क़ाबिल है।

सआदतअलीख़ाँ खंभे की आड़ से निकलकर पांडेयजी के चरणों पर गिर पड़ा, और रोते हुए बोला—पंडितजी, मेरी ख़ता मुआफ़ कीजिए। मैं नहीं जानता था कि आपका दिल इतना वसीअ (विशाल) है। आप इंसान नहीं, फ़रिश्ते हैं।

पांडेयजी उसे उठाकर बोले—सआदतख़ाँ, तुमने अपने नाजायज़ तअस्सुब की वजह से इतना तूल दे दिया। तुम्हारे ही-जैसे हिंदू-मुसलमान फ़साद कराते हैं, और बदनाम कुल क़ौम होती है। तुम्हारे पड़ोसी शेख़ साहब भी तो मुसलमान हैं, और तुमसे ज़ियादा उन्हें अपने मज़हबी असूलों की मालूमात है। मगर उनका बर्ताव देखो। हिंदू-मुसलमानों से एक तरीक़े पर मिलते हैं; मज़हबी इख़्तलाफ़ (प्रभेद) कभी ज़ाहिर ही नहीं होता। तुमने बड़ी नादानी की थी। ख़ैर "रसीदः बूद बलाए वले बख़ैर गुज़श्त।" अब इस तअस्सुब को छोड़ो, और सबसे मुहब्बत का बर्ताव करो।



पंडितजी, मेरी खता मुआफ़ कीजिए।

उसी समय शेख़ साहब भी आ गए, और सआदतख़ाँ से बोले—ख़ाँ साहब, आज देखा तुमने, इसी वजह से मैं हिंदुओं की हिमायत करता था। मैं जानता हूँ, हिंदुओं में भी शरीफ़ और फ़रिश्ता-ख़सलत (देव-तुल्य) इंसान मौजूद हैं, और मुसलमानों में भी शयातीन (पिशाच) भरे हैं। आज यह न होते, तो तुम्हारी आबरू पर पानी फिर जाता।

सआदतख़ाँ ने कहा—मैं आज से तोबा करता हूँ। कभी हिंदुओं से तअस्सुब न रक्खूँगा।

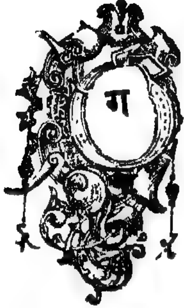
यह कहकर सआदतख़ाँ पांडेयजी से लिपट गया, और बोला—पंडितजी, आज से आप मेरे भाई हैं।

पांडेयजी मुसकिराकर बोले—मैं तो तुम्हें हमेशा भाई समझता रहा। शुक्र है, आज तुमने भी भाई को पहचान

लिया। मैंने कोई एहसान नहीं, केवल अपने कर्तव्य का पालन किया है।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक

गिरनार-पर्वत की यात्रा



त मई और जून-मास में हमें काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय के भूगर्भ-विद्या-विभाग (Department of Geology) की पार्टी में शामिल होकर गिरनार-पर्वत जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। आज हम उसी यात्रा का वर्णन माधुरी के पाठकों को सुनाते हैं। गिरनार-पर्वत का नाम तो प्रत्येक भारतवासी ने सुना होगा। यह जैनियों तथा हिंदुओं का बड़ा तीर्थ-स्थान है। जूनागढ़ का नाम इसी पर्वत के कारण भारत में प्रत्येक हिंदू जानता है। प्रतिवर्ष लाखों यात्री इस पवित्र पर्वत पर जाते हैं। मुसलमानों के लिये भी यह एक पवित्र स्थान है; क्योंकि इस पर्वत की एक चोटी पर 'दातार पीर' बनी हुई है, जिसके दर्शन का वे बड़ा माहात्म्य मानते हैं। ऋषियों ने हिंदुओं के तीर्थ-स्थानों को कैसा सोच-समझकर नियत किया है, इसका यदि अनुभव करना हो, तो भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों के दर्शन कीजिए। हमारा प्रत्येक तीर्थ-स्थान प्राकृतिक सौंदर्य का भांडार है। प्राचीन काल में तीर्थों का क्या ही अच्छा ध्येय था। उनके द्वारा सुगमता से देशाटन हो जाता था। उदाहरण-स्वरूप बदरीनारायण, द्वारकानाथ, सेतुबंध रामेश्वर तथा जगन्नाथ-पुरी की यात्राएँ समाप्त करते ही यात्री भारतवर्ष की एक परिक्रमा कर लेता था, और प्रत्येक प्रांत की बोली तथा रहन-सहन से भली भाँति परिचित हो जाता था। इसके अतिरिक्त यात्री को प्राकृतिक विषयों का—जैसे पर्वतों, घाटियों, झरनों तथा पत्थरों, खनिज पदार्थों और वनस्पतियों का—ज्ञान भी सहज ही में हो जाता था। परंतु आज हम तीर्थ-यात्रा किस तरह करते हैं? अत्यंत खेद का विषय है कि हम तीर्थों का प्राचीन महत्त्व बिलकुल ही भूल गए। आज-कल हम लोग प्रायः आँखें होते हुए भी अंधों की तरह पहाड़ों की चोटियों पर चढ़ जाते और वहाँ पर मंदिरों में पूजा करके उसी प्रकार वापस चले आते हैं।

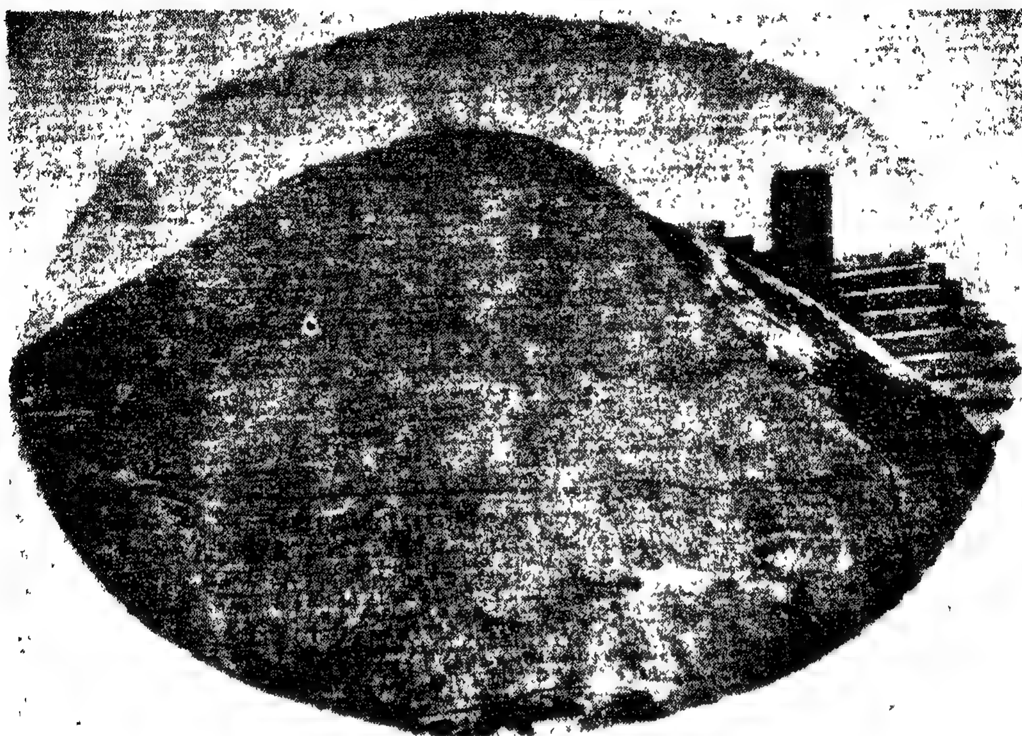
हमारा मतलब यह था कि हम गिरनार-पर्वत का भौगर्भिक सौंदर्य देखें, तथा वहाँ का शिला-निर्माण करें, न कि तीर्थ-यात्रा। इस कारण यदि हम गिरनार का भौगर्भिक दिग्दर्शन कराने के समान वहाँ के मंदिरों इत्यादि का दृश्य अच्छी तरह दिखा न सकें, तो आशा है, पाठक क्षमा करेंगे।

गिरनार का भौगर्भिक सौंदर्य

सारे काठियावाड़-प्रांत में गिरनार सबसे ऊँचा पर्वत है। एक पर्वत-समूह के बीच में गिरनार का मुख्य भाग, जो समुद्रतल से ३,७०० फ़ीट ऊँचा है, आकाश से बातें करता हुआ मालूम होता है। इस मुख्य भाग के चारों ओर वृत्ताकार (Circular) पहाड़ हैं; परंतु ये सब केंद्र के भाग से नीचे हैं। केंद्र के भाग में इन पहाड़ों को मिलाते हुए छोटी-छोटी पहाड़ियाँ हैं। इस प्रकार काठियावाड़ के मैदानों में एकाएक इन पहाड़ों के समूह का होना और फिर उनके केंद्र में एक बड़े ऊँचे भाग का रह जाना एक बड़ा अद्भुत दृश्य है। इसका कुछ अनुमान पाठकगण गिरनार के भौगोलिक चित्र से कर सकते हैं।

गिरनार की भौगर्भिक महत्ता उसकी शिलाओं के कारण है। पृथ्वी की शिलाओं को तीन प्रकार की शिलाओं में विभाजित किया जाता है—(१) आग्नेय (Igneous), (२) समुद्रज (Sedimentary) तथा (३) परिवर्तित (Metamorphic)

आग्नेय शिलाएँ पिघले हुए पिंड (Magma) के ठंडे होने से बनती हैं। समुद्रज शिलाएँ नदी इत्यादि से लाए हुए पत्थरों के कणों के समुद्र में एकत्र होकर ठोस हो जाने से बनती हैं। तीसरे प्रकार की शिलाएँ उपर्युक्त दोनों प्रकार की शिलाओं के परिवर्तन से बनती हैं। यह परिवर्तन गरमी से, दबाव (Pressure) से, अथवा दोनों तरह से होता है। आग्नेय शिलाएँ तीन प्रकार की होती हैं—



ऐतिहासिक शिला-लेख—जूनागढ़ मे गिरनार जानेवाली सड़क के किनारे (गिरनार-पर्वत की यात्रा)

(१) पातालीय (Plutonic)—शिलाएँ उस पिघले हुए पिंड से बनती है, जो पृथ्वीतल से बहुत नीचे ठंडा होता है। यह पिंड बहुत धीरे-धीरे ठंडा होता है, इस कारण इस प्रकार की शिलाओं के खनिज पदार्थों (Minerals) का आकार बड़ा होता है, और सब खनिज पदार्थों के क्रस्टल होते है।

(२) अर्द्ध-पातलीय (Hypabyssal)—शिलाएँ उस पिंड से बनती हैं, जो पृथ्वीतल से अधिक नीचे ठंडा न होकर ऊपर के पत्थरों की दरारों इत्यादि में होकर पृथ्वीतल पर आना चाहता है ; परंतु बिलकुल ऊपर न आकर बीच ही में ठंडा हो जाता है। इन शिलाओं के खनिज पदार्थ कुछ तो क्रस्टल रूप में होते और पहचाने जा सकते हैं, और कुछ खनिज पदार्थों में क्रस्टल नहीं बनते, और उनके पहचानने में अधिक कठिनता पड़ती है।

(३) ज्वालामुखीय (Volcanic)—शिलाएँ प्रायः ज्वालामुखी द्वारा पिघले हुए पिंड के पृथ्वीतल पर आकर ठंडे होने से बनती है। इस प्रकार की शिलाओं के खनिज पदार्थों का आकार पिंड के बहुत जल्दी ठंडे होने के कारण बड़ा-छोटा होता है। इन खनिज पदार्थों को खुर्दबीन से भी नहीं पहचाना जा सकता।

गिरनार-पर्वत की शिलाएँ आग्नेय शिलाएँ है। इस पर्वत-समूह के केंद्र के मुख्य भाग की शिलाएँ पातालीय प्रकार की है, और वृत्ताकार पहाड़ों पर प्रायः ज्वालामुखीय और अर्द्ध-पातालीय प्रकार की है। गिरनार-पर्वत की शिलाओं का महत्त्व इतना अधिक क्यों है, यह प्रश्न पाठकों के मन में उठ सकता है। गिरनार शिलाओं के लिहाज़ से भारत में एक ही स्थान है, और वह समय आनेवाला है, जब भूगर्भवेत्ता इसकी गणना संसार के

उन थोड़े-से स्थानों में करेंगे, जो आग्नेय शिलाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये श्रेष्ठ माने जाते हैं। यहाँ पर पातालीय प्रकार की भिन्न-भिन्न शिलाएँ मिलती हैं। इतने छोटे-से क्षेत्रफल में इतने प्रकार की आग्नेय शिलाओं का होना और फिर यह प्रमाणित हो जाना कि ये सब शिलाएँ एक ही पिंड के ठंडे होने पर बनी हैं, एक बड़े महत्व की बात है, जिसका वैज्ञानिक महत्व केवल शिला-विज्ञानवेत्ता (Petrologists) ही जान सकते हैं। हमको बड़े गर्व के साथ कहना पड़ता है कि इस पर्वत के शिला-निर्माण तथा उसका भौगर्भिक नक़्शा बनाने का श्रेय हमारे हिंदू-विश्वविद्यालय के भूगर्भ-शास्त्राचार्य श्रीयुत प्रोफ़ेसर कृष्णकुमार माथुर को है, जिन्होंने गत दो वर्ष की गर्मियों की छुट्टियों में बड़े परिश्रम से इस पर्वत पर काम करके यहाँ की शिलाओं का अध्ययन किया है।

जूनागढ़-शहर के चारों ओर पक्की चहारदीवारी खिंची हुई है, जैसी प्रायः बहुत-से प्राचीन शहरों में पाई जाती है। इस दीवार के गिरनार-नामक दरवाज़े से आप बाहर निकलिए, सामने गिरनार-पर्वत एक बड़ी घाटी के बीच से दृष्टिगोचर होगा। यहाँ से एक सुंदर सड़क, जिसके दोनों ओर विशाल वृक्ष लगे हुए हैं, आपको पर्वत के नीचे तक ले जायगी। शहर से एक मील चलकर आपको बौद्ध-धर्मावलंबी महाराजों के समय की एक ऐतिहासिक शिला मिलेगी। इस विशाल शिला के ऊपर छत बनवा दी गई है, जिसमें वह सुरक्षित रहे। इस शिला के तीन ओर तीन लेख लिखे हुए हैं। पूर्व की ओर, अर्थात् गिरनार-पर्वत की ओर तो महाराजा अशोक के १४ नियम (Edicts) लिखे हुए हैं। यह लेख ब्राह्मी लिपि और मागधी भाषा में, जो उस समय प्रचलित थीं, लिखा हुआ है।



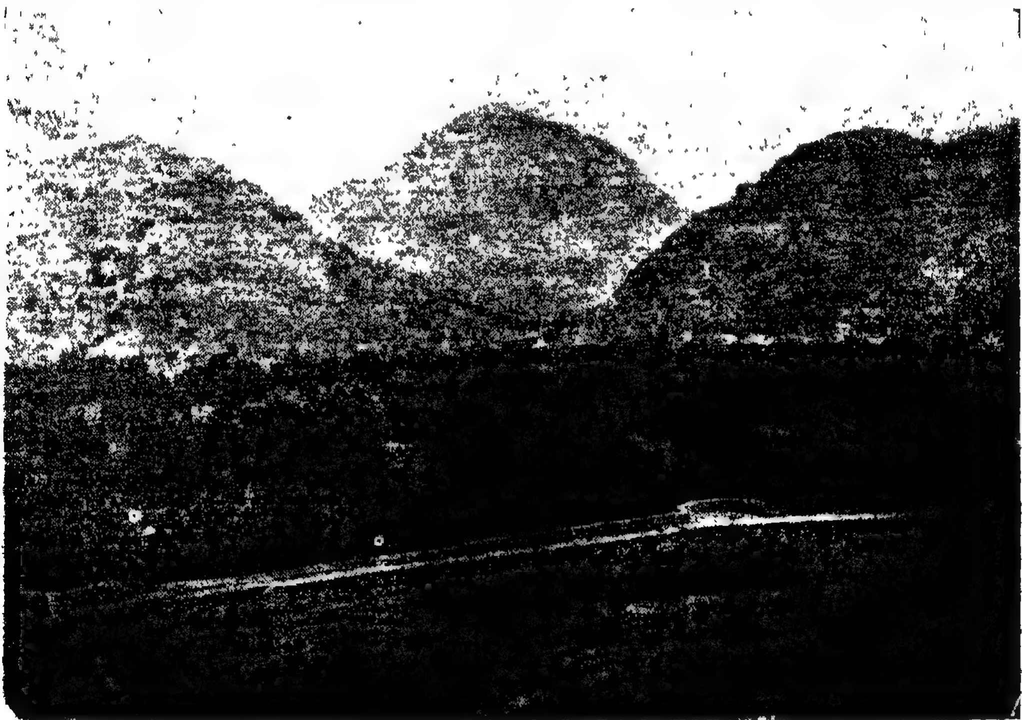
गिरनार की चहारदीवारी के जैन-मंदिर (गिरनार-पर्वत की यात्रा)

जूनागढ़ से गिरनार-पर्वत—शिला-लेख इत्यादि का वर्णन

अब हम पाठकों के सामने जूनागढ़ से गिरनार जाने के रास्ते का दृश्य उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे।

इसी शिला के पश्चिमी मुख पर महाराजा रुद्रदमन के समय का लेख है। ऐतिहासिक दृष्टि से द्वितीय लेख ही एक ऐसा लेख है, जिसमें महाराजा

अशोक * के नाम के सिवा उनके परम पिता चंद्रगुप्त का भी नाम आता है। इस शिला के उत्तर-पश्चिम और उत्तर की ओरवाले मुख पर महाराजा स्कंदगुप्त के समय का लेख है। दूसरा और तीसरा लेख ऐतिहासिक, भौगोलिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक सूचनाओं के भांडार हैं। इन लेखों से जूनागढ़-नगर की प्राचीनता का पता लगता और उसकी प्राचीन सुंदरता का फ़ोटो सामने खिंच जाता है। जूनागढ़ का प्राचीन नाम इन लेखों में 'गिरनगर' मिलता है। इन दोनों लेखों में एक 'सुदर्शन' नाम की झील का वर्णन है। इस झील के तीन ओर तो गिरनार के वृत्ताकार पहाड़ों के भाग थे, और चौथी ओर एक बड़ा बाँध बना हुआ था, जिससे पर्वत का सब पानी बाहर न जाकर झील में ही जमा हो जाता था। इन लेखों में इस झील का कुछ इतिहास—यथा झील के बनवाने का कारण, समय-समय पर भिन्न-भिन्न महाराजों का उसका आकार बढ़वाना, उसके बाँध की ऊँचाई, लंबाई इत्यादि तथा उस बाँध का समय-समय पर टूट जाना—सब अच्छी तरह दिया हुआ है। आज भी यदि कोई दर्शक जूनागढ़ के 'ऊपरकोट'-नामक क़िले से उस भूमि को देखे, जिस पर प्राचीन काल में सुदर्शन-झील बनी थी, तो वह भूमि सब स्थानों से हरी दिखाई देगी। जूनागढ़ के अच्छे-अच्छे बाग़ इसी भूमि में लगे हुए हैं।

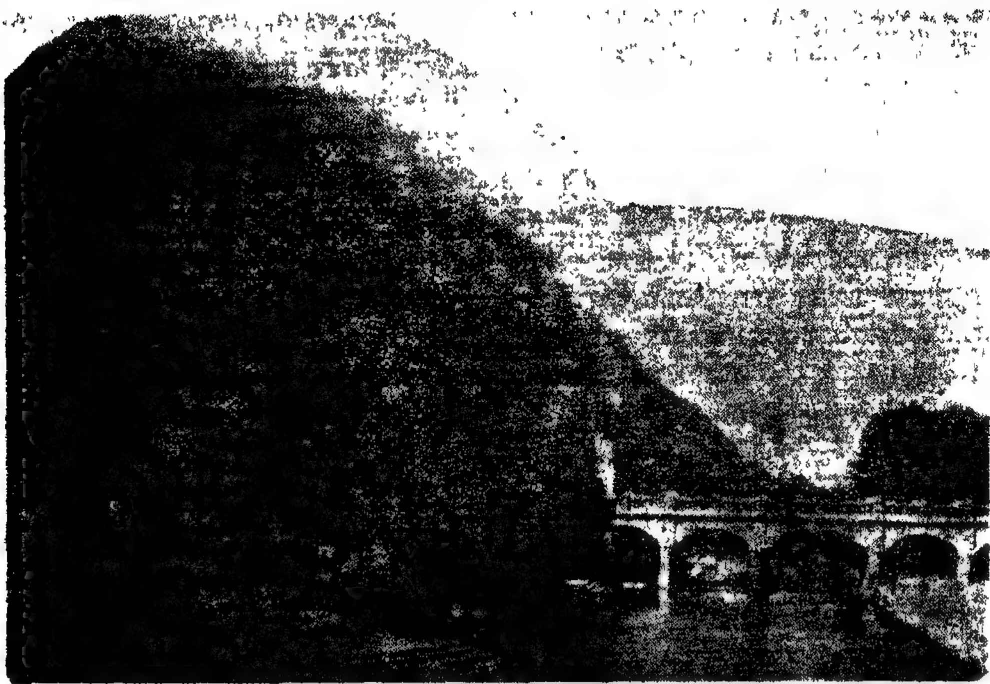


'ऊपरकोट' से गिरनार-पर्वत का दृश्य और 'सुदर्शन'-झील (गिरनार-पर्वत की यात्रा)

झील के सौंदर्य का वर्णन करने के अतिरिक्त उस समय की राजनीतिक दशा भी ये लेख बतलाते हैं। परंतु इन लेखों के विषय में अधिक न लिख अब हम आगे बढ़ते हैं।

इस शिला-लेख से थोड़ी दूर आपको सड़क के किनारे दामोदर-कुंड और उसके पास स्वर्णरेखा-नदी का पुल मिलेगा। मलमास के दिनों में इस दामोदर-कुंड में

* महाराजा अशोक के समय को लगभग २,१८० वर्ष हो गए। महाराजा रुद्रदमन का लेख दूसरी शताब्दी का माना गया है। महाराजा स्कंदगुप्त का राज्य भारत में पाँचवीं शताब्दी में था। इस कारण यह शिला बहुत प्राचीन है, और काठियावाड़ की उस समय की दशा का वर्णन इन लेखों में विस्तार-पूर्वक दिया है।—लेखक



दामोदर-कुंड और स्वर्णरेखा-नदी का पुल (गिरनार-पर्वत की यात्रा)

हज़ारों हिंदू स्नान करते हैं। इस कुंड के पास ही प्रसिद्ध 'नर्सी महता' का मंदिर है, जहाँ पर श्री-कृष्ण भगवान् ने अपने भक्त को दर्शन दिए थे। यहीं पर 'रेवती-कुंड' है। इस कुंड का नाम कृष्ण भगवान् के भाई बलदेव की स्त्री रेवती के नाम पर है। रेवती राजा रेवत की लड़की थी।

यहाँ से आगे चलकर आप सुंदर घाटी को पार करते और एक विशाल मैदान में पहुँच जाते हैं, जो चारों ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ है। सामने गिरनार-पर्वत के केंद्र का ३,७०० फ़ीट ऊँचा भाग खड़ा दिखाई देता है, जिसके ऊपर का भाग वृक्ष-विहीन होने के कारण बड़ा विचित्र मालूम देता है। इस पर्वत के एक ओर एक ढाई हज़ार फ़ीट ऊँचा खंभे के समान टुकड़ा निकला हुआ है, जो बड़ा रोमांचकारी दृष्टिगोचर होता है। यह भाग बिलकुल सीधा खड़ा हुआ है। इसको 'भैरवजप' कहते हैं। प्राचीन काल में हिंदुओं का ऐसा विश्वास था—और शायद अब भी हमारे कुछ भाइयों का हो कि भैरवजप से गिरकर मरने से मनुष्य मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। इस अंधविश्वास के कारण काठियावाड़ के बहुत-से हिंदू पहाड़ के इस भयानक भाग से स्वतः नीचे गिरकर इस संसार को छोड़ चुके हैं।

गिरनार पर्वत की चढ़ाई

गिरनार-पर्वत की चढ़ाई इसी स्थान से शुरू हो जाती है। पर्वत पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। पाठक सोचेंगे, तब तो इसकी चोटी पर चढ़ना बड़ा सुगम है। परंतु ऐसा नहीं है। इस पर्वत पर एक दिन में चढ़कर लौट तो आते हैं, परंतु दो-एक रोज़ तक यात्री की टाँगें दुखती रहती हैं। यद्यपि हमारी पार्टी पहाड़ों पर घूमने की बहुत ही आदी है, परंतु, फिर भी, पहली बार चढ़ने में हम सब थक गए थे। हाँ, बाद को हमें कुछ भी नहीं मालूम होता था। पर्वत के केंद्र के इस भाग की उँचाई मैदान से ३,५०० फ़ीट है। सीढ़ियों की संख्या ६ हज़ार से अधिक है। कहा जाता है, संसार में इससे अधिक सीढ़ियाँ कहीं भी नहीं हैं। इन सीढ़ियों के बनवाने में डेढ़ लाख रुपए व्यय हुए और बनाने का काम २० वर्ष में (सं० १८८६ से १९०८ ई० तक) समाप्त हुआ। पाठक गिरनार की चढ़ाई का इसी से अनुमान कर सकते हैं। परंतु फिर भी गुजराती युवक, स्त्रियाँ और

बालक प्रतिदिन सैकड़ों की संख्या में ऊपर जाते और उसी दिन या दूसरे दिन वापस चले आते हैं। गिरनार पर जाने के लिये डोलियाँ भी नीचे मिलती हैं, जिनको चार मनुष्य कंधों पर रखकर ले जाते हैं। हर चार-पाँच सीढ़ियों के बाद एक चौड़ी सीढ़ी बनी हुई है, जिससे यात्री अधिक न थक जायँ। इन सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते बीच में ठहरकर नीचे देखना बड़ा अच्छा मालूम पड़ता है। यहाँ से जूनागढ़-नगर का 'ऊपरकोट' नाम का पुराना क़िला तथा वहाँ के सफ़ेद भवन बड़े सुंदर दिखाई देते हैं।

गिरनार के मंदिर

इन सीढ़ियों के टेढ़े-मेढ़े रास्ते से लगभग २,७०० फ़ीट ऊँचे चढ़कर एक छोटा-सा प्लेटो (plateau) मिलता है, जिसको 'कोट' कहते हैं। वहाँ जैनियों के बहुत-से सुंदर-सुंदर मंदिर बने हुए हैं, जिनमें नेमिनाथ का मंदिर उल्लेख योग्य है। यह मंदिर बहुत प्राचीन है। इन सब मंदिरों के चारों ओर एक परकोटा खिंचा हुआ है।

यह स्थान पहले हिंदू राजों का महल और क़िला रहा है। गिरनार-जैसे ऊँचे पर्वत पर, जिस पर चढ़ना उन दिनों में अत्यंत ही कठिन होगा, हिंदू राजे-महाराजे सचमुच ही अपने क़िले में बड़े सुरक्षित थे। किसी शत्रु का वहाँ पर जाकर क़िला जीतना कठिन ही नहीं, असंभव था। सब-के-सब मंदिर अन्य प्राचीन मंदिरों के समान भारतीय कारीगरी के नमूने हैं।

कोट से क़रीब ३०० फ़ीट और ऊँचे चढ़कर गिरनार की पहली चोटी मिलती है, जिस पर अंबामाता का मंदिर बना हुआ है। अंबादेवी की विशाल मूर्ति यात्रियों को गिरनार के जंगलों में वीरता से जाने का उपदेश करती हुई मालूम होती है। गिरनार का जंगल बड़ा भारी है, ख़ासकर गिर-जंगल, जो इस पर्वत से २४ मील के फ़ासले पर है। भारत में शेर आजकल केवल इसी जंगल में मिलते हैं, और कहीं भी नहीं। अंबादेवी के मंदिर से नीचे उतरकर फिर दूसरी चोटी पर चढ़ना पड़ता है, जो सबसे ऊँची है। इस चोटी पर गोरखनाथ का मंदिर



गोरखनाथ की चोटी पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ (गिरनार-पर्वत की यात्रा)

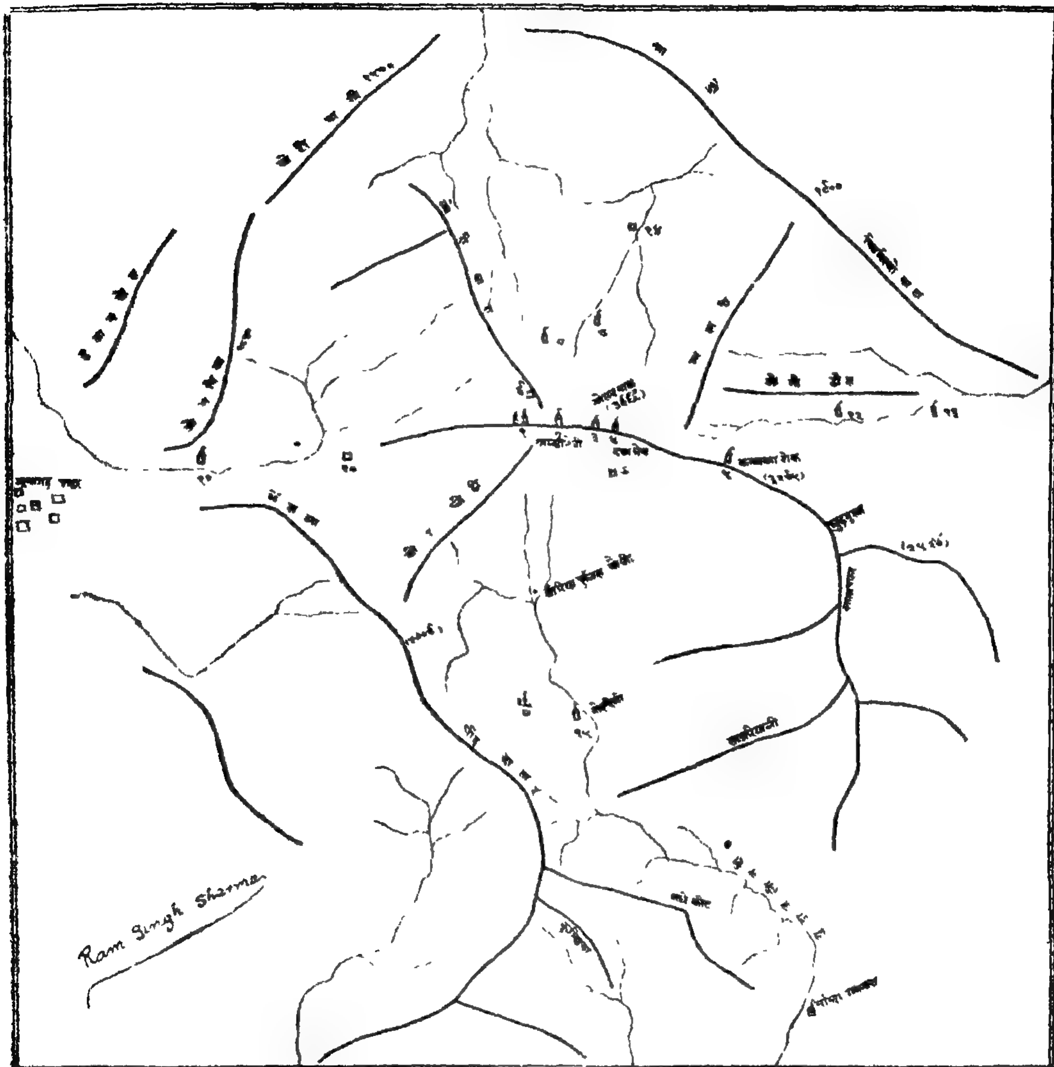


अंबाजी, गोरखनाथ और दत्तात्रेय की चोटियाँ (गिरनार-पर्वत की यात्रा)

है। यात्री को फिर थोड़ा नीचे उतरकर एक तीसरी चोटी पर चढ़ना पड़ता है, जहाँ दत्तात्रेय ऋषि के चरण बने हुए हैं। कहते हैं, ऋषिजी ने यहाँ आकर तपस्या की थी। इस चोटी और गोरखनाथ की चोटी के बीच में 'कमंडलु-कुंड' और एक मंदिर है। इस मंदिर में दत्तात्रेय की धूनी थी, और कुंड में वह पानी पिया करते थे। दत्तात्रेय की चोटी पर आकर ६ हज़ार सीढ़ियाँ समाप्त हो जाती हैं। इनमें भी अंत की थोड़ी-सी सीढ़ियाँ बड़ी भयानक हैं, वे छोटी-छोटी और सीधे ढाल पर बनी हुई हैं। पाठक सोच सकते हैं कि थके हुए यात्री को लगभग ६,००० सीढ़ियाँ चढ़कर इन अंत की सीढ़ियों पर चढ़ना कितना कठिन होता होगा।

प्रायः यहीं तक पहुँचने में यात्रियों का दम फूल जाता है; परंतु यदि आप और साहस करें, तो नीचे उतरकर कमंडलु-कुंड से अनसूयादेवी और अघोरियों की चोटियों के नीचे होते हुए कालिकादेवी की चोटी पर पहुँच सकते हैं, और वहाँ आकर एक गुफा के अंदर कालीजी की मूर्ति के दर्शन कर सकते हैं। ये छः चोटियाँ क्रमशः पश्चिम से पूर्व की ओर सीधी बराबर-बराबर खड़ी हैं, और इनमें से तीन-चार पर तो सीढ़ियों के अतिरिक्त किसी दूसरे रास्ते से चढ़ना असंभव है। गोरखनाथ की चोटी से चारो ओर का दृश्य देखने में बड़ा आनंद मिलता है। काठियावाड़ के विशाल मैदान दूर तक फैले हुए दृष्टिगोचर होते हैं। संध्या-समय अगर वायु-मंडल स्वच्छ हो, तो अरब-सागर, जो यहाँ से साठ मील दूर है, दिखाई पड़ता है। गिरनार के ऊपर संध्या-समय, मई-जून में, आँधी-पानी की खूब अधिकता होती है, यद्यपि नीचे मैदानों में बादलों का पता भी नहीं होता। हमने लेख अधिक बढ़ जाने के कारण देखने योग्य स्थानों में से मुख्य-मुख्य चार-पाँच स्थानों का ही विवरण पाठकों की सेवा में उपस्थित किया है; परंतु इनके अतिरिक्त और भी कुंड, बाग़ इत्यादि हैं। उदाहरण-स्वरूप गोमुखी-कुंड, भीमकुंड, पाँचों पांडवों की गुफा तथा रखबाग़, शेषवन और भरतवन इत्यादि बड़े रमणीय स्थान हैं।

गिरनार पर्वत का भौगोलिक चित्र।



लेख समाप्त करने के पहले हम पाठकों को एक और सुंदर एवं स्वच्छ स्थान का नाम बतलाना चाहते हैं, जहाँ हमारी पार्टी को कई दिन रहने का अवकाश मिला। वह स्थान 'बोरदेवी का मंदिर' है। गिरनार-पर्वत के बाँध के ऊँचे भाग के दक्षिण में यह मंदिर एक मैदान में, जो चारों ओर पहाड़ों से घिरा हुआ है, बना है। एक भारी जंगल में केवल एक मंदिर का होना सचमुच 'जंगल में मंगल' का नमूना है। इस मंदिर में संध्या-

समय आरती का होना परमात्मा की याद दिलाता और भक्ति पैदा करता है। इसी मंदिर के पास 'लाखामेढ़ी'-नामक एक स्थान है, जहाँ आजकल तो पुरानी ईंटों के ढेरों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। पर लोगों का कहना है कि इस स्थान पर 'लाखा' नाम के राजा के महल और दरबार थे। राजा कोई भी हो, परंतु यह स्थान बड़ा प्राचीन और किसी बौद्ध-धर्मावलंबी राजा का होगा। एक अँगरेज़ महाशय ने यह स्थान खुदवाया था। ३० फ़ीट नीचे ताँबे का एक पात्र निकला, जिसमें एक पीतल का कलश था। पीतल के कलश के अंदर एक चाँदी का कलश, और उसके भी अंदर एक सोने का पात्र निकला। सोने के पात्र में छः रत्न निकले, जिनमें पन्ना, पुखराज और नीलम भी थे। दुर्भाग्यवश इस जगह कोई लेख अभी तक नहीं मिला, जिससे 'लाखामेढ़ी' की आयु का अनुमान लगाया जा सके।

गिरनार की सुंदरता पर मोहित होकर कई मत-वालों ने इस पर्वत को अपनाना चाहा है। जैनियों का तो यह तीर्थ-स्थान ही है। उन्होंने तो जूनागढ़ के नवाब साहब से क़ानूनन् इस पर्वत को छीन लेने का इरादा किया था। यह हिंदुओं का भी तीर्थ-स्थान है। गोरख-नाथ, दत्तात्रेय, कालिकादेवी, अंबादेवी तथा रामानुजाचार्य के मंदिर हिंदुओं के ही बनवाए हुए हैं। मुसलमानों का भी यह तीर्थ-स्थान हो गया है; क्योंकि इस पर्वत की एक चोटी पर, जो २,१०० फ़ीट ऊँची है, "दातार पीर" नाम की पीर बनी हुई है। इस पीर तक जाने के लिये भी सीढ़ियाँ हैं।

मई-जून के महीने में तो इस पर्वत का जंगल प्रायः सूखा हुआ रहता है, इस कारण गिरनार का सच्चा प्राकृतिक सौंदर्य तो वर्षा-ऋतु के बाद ही दिखाई देता है, जब हर तरफ़ हरियाली-ही-हरियाली नज़र आती है। अंत में पाठकों से हमारा निवेदन है कि यदि वे काठियावाड़ की ओर जायँ, तो गिरनार-पर्वत को अवश्य देखकर अपने नेत्रों को सफल करें।

निरंजनलाल शर्मा

व्रजभाषा और खड़ी बोली

व्रजभाषा

व्रजभाषे, हौं भूल सकत कबहूँ नहिं तोकों;
तेरी महिमा और मधुरिमा मोहत मोकों।
वह बिंद्राबन, नंदगाँव, गोकुल, बरसानों;
जहाँ स्वर्ग को सार अवनि-तल पै सरसानों!
वे कालिंदी-कूल, कलित कलरव वा जल को—
झलकत जामें स्याम बरन अजहूँ स्यामल को।
वे करीर के कुंज चीर-दरझावनवारे;
रहे आप बलवीर जहाँ सुरझावनवारे!
वह केकी-पिक-कूक, हूक चातक की रटना;
साँझ-सबेरे नित्त नई पनघट की घटना।
धेनु धेरि मे मोर-मुकुटधारी वह झाँकी;
घूँघट-पट की ओट, चोट-सी चितवन बाँकी!
वह कदंब की छाँह, मेह-झर थोरी-थोरी;
दिए जहाँ गरबाँह साँवरी-गोरी जोरी।
वह बसंत की ब्यार, सरद की सुंदर पूनों;
नटनागर को रास-रहस वह दिन-दिन दूनों।
आँस-गाँस सों भरी, साँस-सी फूँकनवारी—
हरे बाँस की पोर हाय! हरि की वह प्यारी।
वह गोपिन को प्रेम-नेम निरबाहनवारो;
ऊधौ को सब ज्ञान-गरब-गिरि ढाहनवारो।
व्रजभाषे, ये सबै नाम मैं निवसें तेरे,
भव में आए भाव-विभव सब छिव लें तेरे।
रस-गोरस की धार बही है जाके ऊपर;
जनमी है तू सुकृतसालिनी ऐसी भू पर।
माखन-मिसरी पाय पली है, बड़भागिन, तू;
राग-भरी है सहज सुरीली सुर-रागिन, तू।
तब लों तोकों सकल प्रदेसन ने अपनायो;
को है ऐसो, जाहि गाम तेरो नहिं भायो?
तेरो पद-विन्यास विदित जनु रतनजटत है—
"गली साँकरी माँय, काँकरी पाँय गड़त है।"
तैंने केते सरस, सलोने ग्रंथ लिखाए;
प्रेम-भक्ति के हाव-भाव सब हमें दिखाए।
पै अब हा! वह समय कबहुँ को बीत गयो है;
गोरस को भंडार हमारो रीत गयो है।
बजत नाहिं अब और चैन की बंसी घर-घर;

भय-विषाद सों भरो हियो काँपत है थर-थर।
वह पराग को पुंज, मदन-ध्वज-पट न उड़त है;
धुँआँधार यह देख कौन को जीव जुड़त है?
तन सों, मन सों, हाय! सबै परतंत्र बने हैं;
जंत्र मनुज बन गए, मनुज जड़ जंत्र बने हैं!
ताहू पै निरबाह नाहिं दीसत है अब तो;
नित्त निरासा हाय! हियो पीसत है अब तो।
तेरो कोमल कंठ सहैगो यह सब कैसे?
कोयल की कल कूक—झार झंझा को जैसें!
रूखी-सूखी तोहि रुचैंगी का ये बातें?
या अशांति—या क्रांति-काल की घन-सी घातें!
या जग के प्रति मौन-मात्र है उत्तर तेरो;
क्लांत न हो, अब बैठ, बिछो विनयासन मेरो।
जो तेरी या बहन खड़ी है तेरे आगें;
दै याकों आसीस: और का अब हम माँगें?
याको पालन भयो याहि जग में है, तातें;
यातें रैहें छिपी न याकी बातें-घातें।
तैं सिंगारी गई सुकवियन तें है जैसें;
अब याहू को भाग-भावती जागै तैसें।
देव-बिहारी सरिस सुकवि सरसें याहू में;
पद्माकर के शब्द-चित्र दरसें याहू में।
केसव, दास-समान यहू आचारज पावै;
आरज-कुल को भाव भली बिध यामें आवै।
कबहुँ रस-निधि नाहिं नेक हू छूटै याको;
मो-जैसेन सों पिंड अंत में छूटै याको।

खड़ी बोली

तो अब आ जा, अरी खड़ी बोली, तू आ जा;
खड़ी क्यों न हो—नहीं, पड़ी बोली, तू आ जा।
कठिन काल में हमें कठिन ही होना होगा;
रगड़-रगड़कर मैल मोह का धोना होगा।
यह सोने का जन्म न सोकर खोना होगा!
इस मिट्टी का पुनः, देखना, सोना होगा!!
फिर अपना संसार सुदीर्घ, सलोना होगा;
जिसका वह सुरलोक एक लघु कोना होगा!
कान खोलकर सुनें, खड़ी बोली, सब तुझको;
निखिल-निसर्ग-निदेश सुनाना है अब तझको।
है सचमुच तू खड़ी आप, तो हमें खड़ा कर;
व्यापक है, तो हमें बड़ा तू और बड़ा कर।
जीवन जड़-जंजाल न तुझसे रहने पावे;
अपने मन की बात मनुज-कुल कहने पावे।
कोई ऐसा सुमन न हो, जो खिले न तुझमें;
कभी अर्थ की कमी किसी को मिले न तुझमें।
तेरा संचित कोष बराबर बढ़ता जावे;
कभी दीनता, और हीनता फटक न पावे।
ईश्वर का उद्देश्य सुना तू हमको सुख से;
और हमारी विनय सुनें वह तेरे मुख से।
कहना सब सुस्पष्ट, सरल शब्दों में खुलकर;
बनकर रहें सुवर्ण, वर्ण काँटे पर तुलकर।
और भाव? भगवान उन्हें देनेवाला है;
"कविर्मनीषी" स्वयं जन्म लेनेवाला है।
बन विभु की संदेशदायिनी, बन तू दूती;
गद्य-पद्य में बोल उठे तेरी ही तूती।
है तेरा कर्तव्य कठिन, यह भूल न जाना;
करना तोड़-मरोड़ न तू, निज नियम निभाना।
तुझे पत्र-रचना न कपोलों पर करनी है;
जीवन-रण में आज यहाँ तेरी बरनी है!
मधुर अधर-रस भूल आप आँसू पीना है;
लौटाकर वह विगत ज्ञान-गौरव जीना है।
तुझे कर्म के लिये कर्म में रत रहना है;
सत्य-धर्म का मर्म निडर होकर कहना है।
तेरे चित्रित चारु चित्र में चरित्रता हो;
नायक हो मनुजत्व, नायिका पवित्रता हो।
समझ झोपड़ों को न कभी कम राजभवन से;
कृषकों का हित सिद्ध किया कर तन से—मन से।
सदाचार के गीत गान कर, पुण्य पठन कर;
होती रहें पुनीत पीढ़ियाँ चरित गठन कर।
वज्रनाद से कर विरोध अत्याचारों का;
हृदय हिला दे हठी हेकड़ों—हत्यारों का।
बने जहाँ तक, मेट विश्व की विकट विषमता;
कर समता की वृद्धि बढ़ाकर ममता-क्षमता।
स्वावलंब के भूरि भाव हम सबमें भर दे;
रहें न हम परतंत्र—हमें बस, ऐसा कर दे।
त्याग और बलिदान हमारे जीवन-धन हों;
अगे, प्रेम में पगे, साहसी संयत मन हों।
शुचि, स्निग्ध, गंभीर गान सुनकर, हाँ, तेरा;
आत्मभाव जग उठे—मोह का मिटे अँधेरा।

रख तू उच्चादर्श देश के सम्मुख सारे ;
जिन पर कोई जाति गर्व कर सब कुछ वारे ।
सच तो यह है कि तू हमें वह अमृत पिला दे ;
मृतकों को भी एक बार जो यहाँ जिला दे ।
बन जा वह निर्दोष, घोषवाली घनमाला ;
जिसमें जल हो, और साथ ही जलती ज्वाला ।
विभु की बाँहें बढ़ें, और वे तुझे निबाहें ;
चाहें तेरा पद-स्पर्श उन्नति की राहें ।
तुलसी-सूर-समान सिद्ध कवि तू भी पावे ;
तेरा सत्साहित्य-गगन नव रस बरसावे ।

मैथिलीशरण गुप्त

वर्तमान भारत और चार सौ बरस पहले का योरप



साधारणतः ईसवी सन् की ग्यारहवीं, बारहवीं, तेरहवीं, चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दी योरप का "मध्य-काल" या "मिडिल एजेज़" मानी जाती हैं । यह ज़माना योरप के इतिहास में "अंधकार-युग" या "डार्क एजेज़" के नाम से भी मशहूर है । इस काल में योरप के लोग घोर अंधकार में पड़े हुए थे । विद्या, विज्ञान, साहित्य, दर्शन-शास्त्र, कला, कारीगरी, उद्यम और व्यापार की जो उन्नति आज योरप में दिखलाई पड़ रही है, उसका नाम-निशान भी उस ज़माने में न था । लोग मज़हब के पीछे दीवाने हो रहे थे ; मज़हब की तंग बातों को छोड़कर और किसी दूसरी तरफ़ उनका दिमाग़ जाता ही न था । उनकी ज़िंदगी का हरएक पहलू—उनके जीवन का हरएक विभाग—मज़हब के रंग में रँगा हुआ था । पहले तो उस काल में साहित्य, विज्ञान, दर्शन-शास्त्र और कला-कारीगरी का अस्तित्व ही न था ; और अगर थोड़ा बहुत था भी, तो उस पर मज़हब की छाप लगी हुई थी । इन सबका दर्जा मज़हब के नीचे था । मज़हब मुख्य ; और जितनी बातें, सब गौण थीं ।

गणित-ज्योतिष को कोई पूछता तक न था, किंतु फलित-ज्योतिष पर लोगों का हद से ज़्यादा विश्वास था । बिना ज्योतिषी की राय के कोई काम न हो सकता था । डॉक्टरों की दवा पर भी तब तक किसी का विश्वास न होता था, जब तक पादरियों के मंत्र से वह फूँकी न गई हो ।

भूत, प्रेत, जादू, टोना के भी लोग बेहद क़ायल थे । जब कभी महामारी, अकाल, प्लेग आदि कोई विपत्ति किसी देश पर आ पड़ती थी, तो लोग यह समझते थे कि भूत-प्रेत के नाराज़ हो जाने से या ईश्वर के कोप से ऐसा हुआ है । बजाय इसके कि अच्छा खाते, अच्छा पहनते, सफ़ाई के साथ रहते, तंदुरुस्ती का ख़याल रखते और गाँवों तथा शहरों में सफ़ाई का बंदोबस्त करते, उस ज़माने के लोग प्लेग आने पर व्रत करते थे, उपवास करते थे, दिन-दिन-भर पूजा-पाठ करते थे, गिरजाघरों में जाकर प्रार्थना करते और तरह-तरह के मंत्र और टोना-टनमन से भूत-प्रेत को मनाते थे । तब भी प्लेग से उनका पिंड लाखों तक न छूटता था । लाखों आदमी प्लेग-महामारी के शिकार हो जाते थे; पर सब यही समझते थे कि हमारा क्या दोष, ईश्वर के प्रकोप से ऐसा हुआ है ।

राष्ट्रीयता, देशभक्ति या "नेशनैलिटी" किस चिड़िया का नाम है—लोग जानते भी न थे । उस ज़माने में ईसाई-धर्म के दो बड़े संप्रदाय "रोमन कैथॉलिक" और "प्रोटेस्टेंट" थे । कुल योरप इन्हीं दो फ़िर्क़ों में बँटा हुआ था । इन दोनों संप्रदायों के बीच मज़हबी लड़ाई का कहीं ख़ातमा न था । जितने रोमन कैथॉलिक संप्रदाय के माननेवाले थे, वे सब एक ओर, और जितने प्रोटेस्टेंट संप्रदाय के, वे सब दूसरी ओर थे । इन दोनों संप्रदायों के बीच यह मज़हबी लड़ाई योरप में सैकड़ों बरस तक जारी रही । योरप के लोगों में उस समय राष्ट्रीयता या देशभक्ति का कितना अभाव था, यह एक इसी बात से सिद्ध है कि जब कोई रोमन कैथॉलिक या प्रोटेस्टेंट बादशाह किसी दूसरे मुल्क पर चढ़ाई करता था, तो उस मुल्क के रोमन कैथॉलिक या प्रोटेस्टेंट संप्रदाय के माननेवाले अपने देश के विरुद्ध शत्रु का पक्ष लेकर लड़ते थे । लोग मज़हबी लड़ाइयों में इतने ज़्यादा ग़र्क़ थे कि उन्हें राष्ट्रीयता या देशभक्ति का ध्यान कभी ख़्वाब में भी न आता था ।

स्वाधीन विचारों का रखना या स्वतंत्र विचारों का प्रकट करना उस ज़माने में बड़ा भारी जुर्म समझा जाता था। अगर कोई मनुष्य प्रचलित धर्म, संप्रदाय या रस्म-रिवाज के विरुद्ध प्रचार करता या उसके ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठाता था, तो वह धर्म और राज्य, दोनों का शत्रु गिना जाता था। दुनिया में कोई शक्ति फिर उस मनुष्य को प्राणदंड से नहीं बचा सकती थी। ख़ून करनेवाला आदमी बच भी सकता था ; पर प्रचलित धर्म के विरुद्ध प्रचार करनेवाला आदमी कभी भी मौत के पंजे से न छूट सकता था। इस तरह हज़ारों नहीं, लाखों आदमी सिर्फ़ अपने स्वतंत्र विचारों के कारण सूली पर चढ़ा दिए गए—क़त्ल कर दिए गए, और न-जाने कितने ज़िंदा जला दिए गए। यह योरप का वह ज़माना था, जब धर्म का सबसे अधिक प्रचार वहाँ था, और लोग बात-बात में धर्म की दुहाई दिया करते थे।

उस ज़माने में पोप और पादड़ी ही योरप के असली शासक थे। योरप की नकेल उन्हीं के हाथों में थी। राजे-महाराजे उनके हाथों की कठपुतली बने हुए थे। वे जैसा चाहते, वैसा नाच उनसे नचाते थे—जिसे चाहते, उसे राजगद्दी पर बिठाते थे, और जिसे चाहते, उसे उतारते थे। वकील, राजप्रतिनिधि, प्रधान मंत्री और राज्य के बड़े-बड़े अमले प्रायः पादड़ी ही होते थे। इसका कारण यह था कि पढ़ने-लिखने का एक-मात्र अधिकार ईसाई-धर्म के इन पुरोहित-पाधे-पादड़ियों के हाथ में था, और यह स्वाभाविक था कि जो पढ़ा-लिखा हो, वही राज्य के बड़े-बड़े ओहदों पर बैठ सके। पढ़ने-लिखने का एक-मात्र अधिकार अपने हाथ में रखकर पादड़ियों ने जनता को अंधकार में डाल रक्खा था। आम लोगों को बाइबिल पढ़ने तक का भी अधिकार न था! मूर्खता के गढ़े में छोड़कर उनको पादड़ी लोग अपने स्वार्थ के लिये जैसा समझा देते, वैसा ही वे समझ जाते थे। इस तरह भोली-भाली प्रजा को स्वार्थी पाधे-पुरोहित जिस तरह चाहते, उस तरह ठगते और मनमाना लूटते थे। इनमें से अधिकतर पादड़ी महाव्यभिचारी, पाखंडी और दंभ के अवतार थे। उनके व्यभिचारों की कहानियों से कई पन्ने भरे जा सकते हैं। मठ और मंदिर व्यभिचार और दुराचार के घर हो रहे थे। उन व्यभिचारों का हाल पढ़कर शरीर के रोंगटे खड़े होते हैं! बड़े-बड़े मठों के महंत वह ऐश करते थे, जो बड़े-बड़े बादशाहों को भी नसीब न था। यह सब ऐश-आराम की सामग्री—व्यभिचार का सामान—प्रजा को ठगकर, उनका ख़ून चूसकर, इकट्ठा किया जाता था। राजा या प्रजा, किसी की मजाल न थी कि चूँ तक भी कर सके। और, अगर कोई चूँ करने की हिम्मत करता था, तो वह फ़ौरन् अपनी ज़िंदगी से हाथ धो बैठता था।

उस ज़माने में योरप के लोग महात्मा, साधु और पूजनीय उन्हें समझते थे, जो घरबार छोड़कर संसार की ज़िम्मेदारियों से भाग, मठों में शरण लेकर, आलसी जीवन बिताते थे। बहुत हुआ, तो दिन-भर बाइबिल पढ़ते या माला खटखटाया करते थे। जो जितना ही संसार से विरक्त और अकर्मण्य होता था, वह उतना ही अधिक महात्मा एवं पूजनीय समझा जाता। वास्तव में सच्चे और परोपकारी महात्मा ऐसे लोगों में बहुत ही थोड़े होते थे।

उस समय पूजा-पाठ में, धार्मिक संस्कारों में, विवाह, जन्म और मृत्यु के समय जो मंत्र पढ़े जाते थे, जो प्रार्थनाएँ की जाती थीं, वे सब लैटिन-भाषा में होती थीं, जिनका एक अक्षर भी लोगों की समझ में न आता था। विवाह के समय स्त्री-पुरुष पादड़ी के सामने जन्म-भर के लिये एक दूसरे से क़रार करते थे; पर एक ऐसी भाषा में, जिसका एक-एक अक्षर उनके लिये अरबी-फ़ारसी के समान था। कोई विवाह बाक़ायदा न समझा जाता था, अगर उसमें कुछ संस्कार लैटिन-भाषा में न किया गया हो। किसी मृत मनुष्य की आत्मा को मुक्ति न मिल सकती थी, जब तक उसका अंतिम संस्कार लैटिन-भाषा में न किया गया हो! यहाँ तक कि छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े जितने धार्मिक कृत्य होते थे, सब लैटिन-भाषा के द्वारा। लोगों का विश्वास था कि ईश्वर तक आवाज़ तभी पहुँच सकती है, जब वह लैटिन-भाषा में कही गई हो। लोग बिना अर्थ समझे लैटिन-भाषा के मंत्रों को तोते की तरह रटा करते थे। किसी बात को बिना समझे बराबर रटते रहने से मनुष्य की बुद्धि मशीन की तरह जड़ हो जाती है। यही हाल उस ज़माने के लोगों का भी हुआ। उनमें स्वयं सोचने, अपनी बुद्धि लड़ाने की शक्ति ही जाती रही। इसी से कोई बड़ा बुद्धि का कार्य उस ज़माने में नहीं

हुआ, न कोई बड़ा ग्रंथ लिखा गया, न कोई विज्ञान का आविष्कार हुआ, और न कोई दर्शन-शास्त्र का ही निर्माण हुआ। बाइबिल भी सब कोई न पढ़ सकते थे; क्योंकि वह लैटिन-भाषा में थी, और अँगरेज़ी आदि प्रचलित भाषाओं में उसका अनुवाद करना पाप समझा जाता था। ईसाई धर्म के स्वार्थी पाधे-पुरोहित डरते थे कि अगर सब लोग बाइबिल पढ़ लेंगे, और उसके असली तात्पर्य को समझ जायँगे, तो फिर हमें कौन पूछेगा, और हम भोले-भाले धर्म के विश्वासियों को कैसे ठग सकेंगे। इसी से वे बाइबिल के अनुवाद का विरोध करते थे। दुनिया में स्वार्थ जो न कराए, सो थोड़ा है।

दक्षिणा ही सब कार्यों के सिद्ध करने का—सब पापों से मुक्त होने का—द्वार था। ईसाई-धर्म के पाधे-पुरोहित बात-बात पर दक्षिणा लेने का बहाना ढूँढ़ा करते थे। यह उनका ख़ासा रोज़गार हो रहा था। कैथॉलिक संप्रदाय के अनुसार व्रत और उपवास के दिन मांस खाना मना है। लेकिन अगर कोई पादड़ियों को दक्षिणा दे देता था, तो वह उस नियम से मुक्त हो सकता था। चचेरे भाई-बहनों का विवाह कैथॉलिक धर्म के अनुसार नाजायज़ था; पर पादड़ियों को दक्षिणा भेंट करने से वह जायज़ हो जाता था। जीवन-यात्रा के हर पड़ाव पर बिना इन पादड़ियों को दक्षिणा दिए काम न चल सकता था। जन्म के समय दक्षिणा, विवाह के समय दक्षिणा, ऐसे दक्षिणा, वैसे दक्षिणा—यहाँ तक कि मरते दम तक मनुष्य का दक्षिणा से पिंड न छूटता था! मरने के बाद भी दक्षिणा से पिंड छूट जाता रहा हो, सो नहीं। मरने के बाद तो भोले-भाले लोगों से और भी रुपया ऐंठने का मौक़ा मिलता था। अगर अमुक दक्षिणा न दी जायगी, तो मृत मनुष्य की आत्मा सदा नरक में पड़ी रहेगी; अगर अमुक संस्कार न किया जायगा, फ़लाँ पूजा-पाठ न होगा, तो फिर उस मनुष्य का उद्धार नहीं हो सकता—बस, ऐसी-ही-ऐसी धूर्तता की बातों से ईसाई-धर्म के पंडे-पुरोहित लोगों से माल ऐंठते थे। साधारण लोग धर्म का मतलब यही समझे हुए थे कि स्वर्ग की कुंजी पादड़ियों के हाथ में है, इन्हें दक्षिणा देने से स्वर्ग का दरवाज़ा हमारे लिये खुल सकता है। सर्वसाधारण अपने धर्म की इतिकर्तव्यता इसी में समझते थे कि पादड़ियों से अपने पाप की बातें कहकर उनसे क्षमा माँग ली जाय। पादड़ियों से क्षमा प्राप्त करने में केवल दक्षिणा देनी पड़ती थी। अस्तु, दक्षिणा देने से वे अपने पापों से मुक्त हो सकते थे। अगर कोई बड़ा भारी पाप किसी से हो जाता, तो प्रायश्चित्त करने के लिये उससे कहा जाता था; और अगर वह प्रायश्चित्त न कर सकता था, तो दक्षिणा देकर उससे मुक्त हो सकता था। किसी-किसी अपराध में तीर्थ-यात्रा करने के लिये कहा जाता था, और पादड़ियों को दक्षिणा देकर वह तीर्थ-यात्रा के कष्ट से भी छूट सकता था। बाद को पादड़ियों से क्षमा प्राप्त करने का रिवाज इतना ज़्यादा बढ़ गया कि ईसाई-धर्म के सबसे बड़े पोप ने एक क्षमापत्र निकाला, जो चार-चार आने में बिकने लगा। चार आने में पोप का क्षमापत्र ख़रीदा, और तुरंत सब पापों से मुक्त हो गए। धूर्तता और ठगपन का भी कोई ठिकाना है!

उस समय पहले तो कोई ग्रंथ लिखे ही नहीं जाते थे; और लिखे भी जाते थे, तो मुर्दा लैटिन-भाषा में। मातृ-भाषा इस योग्य न समझी जाती थी कि उसमें ग्रंथ लिखे जायँ, उसके द्वारा शिक्षा दी जाय और उसमें शास्त्रार्थ किया जाय। शास्त्रार्थ या बहस भी जो होती थी, वह सिर्फ़ उसी विषय पर, जिससे धर्म का कुछ तअल्लुक़ रहता था। बहस में कोई तत्त्व न होता था, सिर्फ़ बाल की खाल निकाली जाती थी। ग्रंथ भी जो लिखे जाते थे, वह इसी धर्म के विषय पर। प्रायः उनमें पुराने सड़े-गले ग्रंथों की उद्धरणी की जाती थी। गाए गीत को ही लोग बार-बार गाया करते थे। मनुष्यों का दिमाग़ ऐसी बातों पर ख़र्च हो रहा था, जिससे कोई नतीजा निकलना असंभव था; उनकी बुद्धि जीर्ण और पुरानी बातों के जाल में जकड़ी हुई किसी दूसरे उपयोगी विषय की ओर झुकती ही न थी।

यह हालत योरप की आज से ४०० वर्ष पहले थी। पर अब यह एकदम ग़ायब हो गई है। चार सौ बरस पहले के योरप से अब के योरप का मुक़ाबिला करने से एक नई दुनिया आँखों के सामने आ जाती है। मज़हब ने आदमियों की आँखों पर जो पर्दा डाल रक्खा था, उसे विज्ञान की नई-नई तरक़्क़ियों और आविष्कारों ने सदा के लिये दूर कर दिया है। पहले लोग मज़हब के पीछे दीवाने थे; पर आज इस विज्ञान की रोशनी से मज़हब की तारीकी हमेशा के लिये दूर हो गई है।

आज वहाँ मज़हब को कोई पूछता भी नहीं कि किस चिड़िया का नाम है। मज़हब को थोड़े-से पादड़ियों, बुड्ढों और बुढ़ियों के हाथों में सौंपकर लोग मज़े से दुनियावी तरक्की में लगे हुए हैं। कोई किसी से नहीं पूछता कि तुम किस धर्म के माननेवाले हो। कोई यह भी परवा नहीं करता कि तुम किसी धर्म को मानते भी हो या नहीं। जब तक योरपवालों की बुद्धि धर्म की बेड़ी में जकड़ी हुई थी, तब तक कोई भी तरक्की वे इस दुनिया में न कर सके; पर जब से उन्होंने धर्म को तिलांजलि दी, तभी से उन्होंने हर विभाग में तरक्की करना शुरू किया। आज इसी से योरप विज्ञान, साहित्य, कला-कारीगरी, व्यापार, राजनीति आदि जितनी उन्नति की बातें हैं, सभी में आगे बढ़ा हुआ है। आज योरप की तूती इसी की बदौलत बोल रही है। अगर योरप इस ज़माने में भी मज़हब को पकड़े बैठा रहता, तो वह हर्गिज़ यह तरक्की न कर सकता।

पहले वहाँ लोग फलित ज्योतिष के क़ायल थे—पृथ्वी को स्थिर मानते थे, सूर्य को घूमता हुआ समझते थे, सूर्य या चंद्रग्रहण के समय व्रत-उपवास करते थे, बिना ज्योतिषी की राय के कोई काम न करते थे। पर आज वहाँ ये सब बातें बिलकुल हवा हो गई हैं। आज फलित-ज्योतिष की गिनती वहाँ किसी विज्ञान में नहीं है। उस पर आज कोई भी समझदार आदमी विश्वास नहीं करता। आज फलित-ज्योतिष वहाँ किसी भी युनिवर्सिटी में अध्ययन का विषय नहीं है। जिस गणित-ज्योतिष की उस ज़माने के लोग कोई परवा न करते थे, वह आज वहाँ अध्ययन का प्रधान विषय हो रहा है। आज वहाँ बच्चा-बच्चा भी यह जानता है कि सूर्य स्थिर और पृथ्वी घूमती है। पहले जो इस बात को कहता, वह मौत की सज़ा पाता था। आज सर्वसाधारण इसे स्वयंसिद्ध बात मानते हैं। आज किसी बात को कोई तब तक मानने के लिये तैयार नहीं है, जब तक वह बुद्धि के पलड़े पर तौल न ली गई हो। सदा से लोग ऐसा मानते आए हैं या करते आए हैं—केवल इसी कारण से लोग किसी बात को मानने के लिये तैयार नहीं। विज्ञान ने मनुष्य की बुद्धि को ऐसा स्वतंत्र कर दिया है कि फलित-ज्योतिष-जैसी काल्पनिक बातों की ओर उनका दिमाग़ अब जाता ही नहीं। जब तक योरपवालों की बुद्धि फलित-ज्योतिष के समान काल्पनिक और मिथ्या बातों की ओर लगी रही, तब तक वे अज्ञान के अंधकार में पड़े रहे। पर जब से उनकी बुद्धि इन निरर्थक काल्पनिक विषयों से मुक्त हो गई है, और स्वयं अपनी बुद्धि से सोचने की स्वतंत्रता उन्हें मिली है, तभी से उन्होंने वह तरक्की की है, जो आज योरप में दिखाई पड़ रही है।

पहले लोग वहाँ भूत, प्रेत, जादू, टोना पर विश्वास करते थे; पर आज कुछ लोगों को छोड़कर, जिनकी संख्या बहुत थोड़ी है, सर्वसाधारण ऐसी फ़िज़ूल बातों पर अपना समय और दिमाग़ नहीं ख़र्च करते। आज किसी शहर में प्लेग या छूत की बीमारी फैलने पर कोई यह विश्वास नहीं करता कि भूत-प्रेत के नाराज़ हो जाने से या ईश्वर के कोप से ऐसा हुआ है। योरप के लोग पहले बड़े धार्मिक होते थे, ईश्वर की भक्ति करते थे, पूजा-पाठ में ज़िंदगी बिता देते थे; पर वर्षों तक उनका पिंड प्लेग, अकाल और महामारी से न छूटता था। किंतु आज वहाँ कोई धर्म की चर्चा भी नहीं करता, ईश्वर का नाम भी नहीं लेता, पूजा-पाठ का कभी ज़िक्र भी नहीं करता। और, पहले से आज वहाँ लोग ज़्यादा तंदुरुस्त, ज़्यादा ख़ुशहाल और ज़्यादा तरक़्क़ीयाफ़्ता हैं। क्यों? इसलिये कि अब लोग पहले से अधिक स्वतंत्र हैं, पहले से अच्छा खाते हैं, अच्छा पहनते हैं, सफ़ाई के साथ रहते हैं, तंदुरुस्ती के नियमों का ख़याल रखते और गाँवों और शहरों में भरपूर सफ़ाई का इंतज़ाम करते हैं। अब बीमारी आने पर लोग गिरजाघरों में जाकर ईश्वर-प्रार्थना करने में अपना समय नहीं ख़राब करते, बल्कि फ़ौरन् उस बीमारी को नेस्तनाबूद करने में लग जाते हैं। इसीलिये जब कि हिंदुस्तान में हमेशा प्लेग, इंफ़्लुएंज़ा और हैज़े का दौर-दौरा बना रहता है, योरप में कभी किसी महामारी का नाम भी सुनने में नहीं आता। आज योरप में अगर कोई नई विपत्ति आ खड़ी होती है, तो लोग उसे ईश्वर का कोप समझकर, हाथ-पर-हाथ रखकर, बैठ नहीं रहते, बल्कि फ़ौरन् उस विपत्ति का सामना साहस और धीरज के साथ करते हैं। आज का नास्तिक और लामज़हब योरप पहले के आस्तिक और मज़हबी योरप से हर बात में अच्छा और ख़ुशहाल है।

पहले जिस योरप में धर्म के आगे राष्ट्रीयता और देश-भक्ति को कोई पूछता भी नहीं था, वहीं के लोग आज

मज़हब को ताक पर रखकर राष्ट्रीयता को अपनी ज़िंदगी की सबसे बड़ी बरकत मान रहे हैं। जो स्थान पहले मज़हब का था, वही आज राष्ट्रीयता ने वहाँ ग्रहण कर रक्खा है। चाहे रोमन कैथॉलिक हो या प्रोटेस्ट्रैंट, यहूदी हो या ईसाई, सब एक देश के रहनेवाले, एक दूसर को भाई और अपनी मातृभूमि को माता समझते हैं। धर्म का भेद-भाव आज भाई भाई को अलग नहीं कर सकता। धर्म के लिये लड़ाई अब योरप में स्वप्न की-सी बातें हो गई हैं। जब तक धर्म पर ज़ोर दिया जाता था, तब तक योरप का हरएक देश धार्मिक लड़ाइयों का अखाड़ा बना हुआ था। जिस रोज़ से धर्म का ह्रास योरप में हुआ, तभी से राष्ट्रीयता का भाव वहाँ जाग्रत् हुआ, और योरप के अंदर हर देश के रहनेवाले आपस में मिल-जुलकर अपने-अपने देश की तरक्की में लगे। इँगलैंड ने, फ़्रांस ने, जर्मनी ने, और हाल में अमेरिका और जापान ने जो तरक्की की है, वह इसी राष्ट्रीयता के भाव की बदौलत हुई है। जब तक राष्ट्रीयता का विकास योरप में नहीं हुआ था, तब तक योरप के हर देश में रोमन कैथॉलिक और प्रोटेस्टेंट एक दूसरे का सिर फोड़ रहे थे।

आज से चार सौ बरस पहले योरप में स्वतंत्र विचारों का प्रकट करना या प्रचलित धर्म, संप्रदाय और रीति-रिवाज के विरुद्ध प्रचार करना बड़ा भारी जुर्म माना जाता था। पर अब कोई भी ऐसी संस्था, संप्रदाय या व्यक्ति योरप में नहीं है, जिस पर लोग आज़ादी के साथ खुल्लमखुल्ला अपनी राय ज़ाहिर न कर सकते हों। हर-एक मनुष्य को इस बात की पूरी आज़ादी है कि वह जिस तरह चाहे, उस तरह रहे, जो चाहे, वह काम करे, जो चाहे, वह खाए, जहाँ चाहे, वहाँ विवाह-शादी करे, और जैसे चाहे, वैसे विचार प्रकट करे, सिर्फ़ एक शर्त यही है कि वह कोई ऐसा काम न करे या ऐसा विचार न प्रकट करे, जिससे दूसरे की स्वतंत्रता में किसी प्रकार की बाधा पहुँचती हो। इसी स्वतंत्रता की बदौलत योरप आज उन्नति की दौड़ में सबसे आगे बढ़ा हुआ है। जो मनुष्य या जाति स्वतंत्र है, उसे न केवल राजनीतिक, बल्कि सामाजिक और धार्मिक, सभी प्रकार की परतंत्रता असहनीय होती है। इसी से योरप ने राजनीतिक परतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक और धार्मिक हर तरह की परतंत्रता से छुटकारा पा लिया है। जो लोग राजनीतिक परतंत्रता को दूर करना चाहते हैं, पर सामाजिक और धार्मिक गुलामी को उसी तरह क़ायम रखना चाहते हैं, उन्हें आँख खोलकर योरप का इतिहास पढ़ना चाहिए। तब उन्हें मालूम होगा कि राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के पहले समाज और धर्म की गुलामी से छुटकारा पाना बहुत ही ज़रूरी है। जो सामाजिक और धार्मिक परतंत्रता में पड़ा हुआ राजनीतिक आज़ादी हासिल करना चाहता है, वह असंभव को संभव करना चाहता और दुनिया के सामने अपनी हँसी कराता है।

चार सौ बरस पहले योरप में पोप और पादड़ी ही सब कुछ थे। योरप की नकेल उन्हीं लोगों के हाथ में थी। पर आज वे सब दो कौड़ी के हो रहे हैं। धर्म के ह्रास के साथ-साथ पोप और पादड़ियों का भी पतन हो गया है। पोप आज रोम में अलग एक कोने में पड़ा हुआ है। योरप के किसी राजनीतिक या सामाजिक मामले में दख़ल देने का अख़्तियार उसे नहीं है। पादड़ियों का काम भी अब सिर्फ़ हफ़्ते में दो-एक दिन गिरजाघरों में जाकर उपदेश या व्याख्यान देने के सिवा और कुछ नहीं है। इसके लिये उन्हें तनख़्वाह मिलती है, और वे अपने को सर्वसाधारण के नौकर समझते हैं। जो मठ और मंदिर पहले पादड़ियों के व्यभिचार और दुराचार के केंद्र हो रहे थे, वे सब अब सर्वसाधारण के उपकार के लिये उपयोगी संस्थाएँ बन गए हैं। जो संपत्ति पादड़ियों ने प्रजा का खून चूसकर उन मठों और गिरजाघरों में इकट्ठी कर रक्खी थी, वह अब सर्वसाधारण की संपत्ति बना ली गई और उस धन से ऐसी-ऐसी संस्थाएँ खुल गई हैं, जिनसे आम लोगों को भरपूर फ़ायदा पहुँचता है। अब मठों और गिरजाघरों की संपत्ति को पादड़ी लोग अपने ऐश आराम में ज़रा भी नहीं ला सकते।

चार सौ बरस पहले योरप में महात्मा और पूजनीय वे समझे जाते थे, जो घर-बार छोड़कर, जीवन की ज़िम्मेदारियों से मुँह मोड़कर, मठों में आलसी जीवन बिताते थे। जो जितना ही ज़्यादा आलसी, अकर्मण्य और जीवन के कर्तव्यों से विरक्त होता था, वह उतना ही अधिक पूज्य और महात्मा माना जाता था। पर अब योरप में महात्मा और पूज्य वे नहीं माने जाते, जो संसार से विरक्त हैं या जो भगवद्भजन में लीन रहते अथवा

व्रत, उपवास और तपस्या आदि किया करते हैं, बल्कि पूजनीय और महात्मा वे लोग समझे जाते हैं, जो संसार का उपकार करते हैं, जो देश के लिये अपना जीवन अर्पण करते हैं, जो कोई नया आविष्कार करके देश तथा संसार को फ़ायदा पहुँचाते और जो अपनी विद्या-बुद्धि से संसार के ज्ञान की पूँजी के बढ़ाने में सहायक होते हैं।

उस ज़माने में योरप में विवाह आदि जितने धार्मिक संस्कार और कार्य होते थे, सब लैटिन-भाषा के द्वारा होते थे, जिसका एक अक्षर भी लोग न समझते थे। जिस तरह हिंदुस्तान में लोग संस्कृत को देव-वाणी और पवित्र भाषा मानते हैं, उसी तरह चार सौ बरस पहले योरप के लोग लैटिन को देव-वाणी मानते थे। लैटिन ही पढ़ी-पढ़ाई जाती थी, उसी के द्वारा यावत् धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्य किए जाते थे। मातृ-भाषा का तिरस्कार किया जाता था; उसका प्रचार केवल अशिक्षित समुदाय में था। पर आजकल लैटिन-भाषा मुर्दा भाषा गिनी जाती है। जिन्हें प्राचीन भाषाओं के पढ़ने का शौक़ है, केवल वे ही लैटिन-भाषा का अध्ययन करते हैं। आजकल जितने भी धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्य हैं, सब मातृभाषा के द्वारा होते हैं। धार्मिक संस्कारों और कृत्यों के लिये मुर्दा भाषा का प्रयोग करना अब आवश्यक नहीं रहा। मातृभाषा के सामने किसी भाषा को ऊँचा स्थान नहीं दिया जाता। इसी से आज अँगरेज़ी, फ़्रांसीसी और जर्मन साहित्य का मुक़ाबिला संसार का कोई साहित्य नहीं कर सकता। अखिल विश्व का ज्ञान-भांडार इन भाषाओं में भरा पड़ा है। जब से मुर्दा लैटिन-भाषा के अप्राकृतिक बंधन से योरपवालों की बुद्धि आज़ाद हुई, तभी से वे तरह-तरह के आविष्कारों की ओर प्रवृत्त हुए। आज जो साहित्य, विज्ञान, दर्शन आदि की उन्नति योरप में दिखलाई पड़ रही है, उसका सूत्रपात तभी से हुआ, जब से वहाँवालों ने मुर्दा लैटिन-भाषा को उच्च स्थान से उतारकर मातृ-भाषा को उसके आसन पर बिठाया है। धर्म के संकुचित बंधन और लैटिन-भाषा के अप्राकृत बंधन, दोनों एक दूसरे पर निर्भर थे। एक के टूटने पर दूसरा बंधन आप-ही-आप टूट गया। भाषा की गुलामी सबसे ज़बर्दस्त गुलामी होती है। जो जाति अन्य भाषा की गुलामी से अपना छुटकारा कर लेती है, वह बहुत श[illegible] अधिकारिणी हो जाती है—योरप के इतिहास से [illegible] बात स्पष्ट प्रकट होती है।

पहले धर्म का मतलब यही समझा जाता था कि स्वर्ग की कुंजी पोप और पादड़ियों के हाथों में है; उन्हें संतुष्ट करने से, उन्हें दक्षिणा देने से, स्वर्ग का दरवाज़ा खुल सकता है। सर्वसाधारण धर्म की हरएक बात के लिये पादड़ियों का मुँह ताका करते थे। पर अब धर्म का मतलब कुछ और ही समझा जाता है। पादड़ियों की दक्षिणा से धर्म का अब कोई संबंध नहीं है। मनुष्यों की बुद्धि विज्ञान के प्रभाव से इतनी स्वतंत्र हो गई है कि वह अब धर्म के जाल में नहीं फँसती, पादड़ियों के जाल में तब वह किस तरह आ सकती है।

आज से चार सौ बरस पूर्व योरप में लोग पहले तो अविद्या के अंधकार में इतना पड़े हुए थे कि ग्रंथ लिखना या कोई नई बात सोचना जानते ही न थे; और अगर कोई ग्रंथ लिखा भी जाता था, तो वही मुर्दा लैटिन-भाषा में। उन ग्रंथों में जो बातें लिखी जाती थीं, उन सबका संबंध धर्म से रहता था। पढ़े-लिखे जिन बातों पर बहस करते थे, वे सब वही धर्म के पुराने सड़े-गले विषयों के बारे में होती थी। उनमें पुरानी बातों का पिष्ट-पेषण होता था, गाया गीत ही बार-बार गाया जाता था। पर अब साल में हज़ारों ग्रंथ योरप के हरएक देश में उन-उन देशों की मातृभाषा में निकलते हैं। उनमें से एक्का-दुक्का ग्रंथ धर्म के बारे में होता है, बाक़ी सब अन्य विषयों पर लिखे जाते हैं। किसी को अब फ़ुरसत नहीं कि वह धर्म के संबंध में पुस्तकें पढ़े या धर्म के बारे में अपना दिमाग़ खपावे।

अब ज़रा अपने देश की मौजूदा हालत का मुक़ाबिला योरप से करिए, तो आपको मालूम होगा कि जो हालत योरप की आज से चार सौ बरस पहले थी, बिलकुल वही हालत आज इस बीसवीं शताब्दी में इस अभागे हिंदुस्तान की है। हमारा देश उन्नति की दौड़ में योरप से चार सौ बरस पीछे पड़ा हुआ है। दुनिया के और-और देश इन चार सौ बरसों में कहाँ से कहाँ चले गए; पर यह देश जैसा चार सौ बरस पहले था, वैसा ही अब भी बना हुआ है। जो धार्मिक और सामाजिक गुलामी यहाँ चार सौ बरस पहले थी, वही अब भी बनी है।

. सौ बरस पहले योरप में लोग धर्म . दीवाने हो रहे थे, उसी तरह आज इस बीसवीं ताब्दी में—इस विज्ञान और तरक़्क़ी के ज़माने में भी—धर्म का पागलपन हम लोगों पर सवार है। हमारी ज़िंदगी का हरएक पहलू मज़हब के रंग में रँगा हुआ है। पग-पग पर धार्मिक बंधन हमें आगे बढ़ने से रोकता है। बात-बात में धर्म जाने का डर हमें लगा रहता है। प्रचलित रीति-रिवाज के विरुद्ध ज़रा भी सिर उठाने की चेष्टा किसी ने की कि धर्म की दोहाई दी जाने लगी। समुद्र पार गए कि धर्म छोड़कर भागा, किसी दूसरे मनुष्य का छुआ हुआ भोजन किया कि धर्म ने इस्तीफ़ा दिया, अपनी बिरादरी से ज़रा हटकर शादी की कि धर्म ने जाने का आल्टिमेटम दिया। कहाँ तक कहें, धर्म के आधार पर हमारे सामाजिक बंधन हमें ऐसा जकड़े हुए हैं कि कभी आज़ादी का ख़याल भी हमें नहीं आ सकता। जो जाति अनंत सामाजिक और धार्मिक बंधनों से जकड़ी हुई टस-से-मस न होती हो, उसके लिये आज़ादी की कल्पना करना भी दिमाग़ ख़राब करना है।

जिस तरह चार सौ बरस पहले योरप में लोग फलित-ज्योतिष के अंधभक्त थे, बिना ज्योतिषी की राय के कोई काम न करते थे, ग्रहण पड़ने पर व्रत-उपवास करते थे, ठीक उसी तरह आज यहाँ फलित-ज्योतिष पर लोगों का अंधविश्वास है। बिना पंडितजी से सायत बिचरवाए कोई यात्रा करने का साहस नहीं कर सकता। ज़रा-ज़रा-सी बातों में ज्योतिषी और पत्रे की शरण लेनी पड़ती है। इसी फलित-ज्योतिष ने हमारे दिमाग़ को पराधीन और कायर बना दिया है। फलित-ज्योतिष से साहस और उत्साह पर लात मारकर भाग्य पर रहने की शिक्षा लोगों को मिलती है। इसी भाग्य के भरोसे रहकर हम सदियों से ग़ुलाम बने हुए हैं।

जिस तरह योरप में चार सौ बरस पहले डॉक्टर की दवा और पादड़ी साहब की फूँक साथ-साथ चलती थी, उसी तरह यहाँ इस ज़माने में भी वैद्य की दवा और पंडितजी या ओझाजी की फूँक साथ-साथ चलती है। बीमार होने पर बिना पंडितजी के पुरश्चरण के कोई अच्छा ही नहीं हो सकता। बस, धूर्त लोगों की बन पड़ती है, इस पुरश्चरण के बहाने लोगों को ठगने का अच्छा मौक़ा उनके हाथ लगता है।

चार सौ बरस पहले योरप में जिस तरह भूत, प्रेत, जादू, टोना पर लोगों का विश्वास था, उसी तरह आजकल यहाँ लोग ऐसी फ़िज़ूल बातों पर विश्वास करते हैं। इस तरह की मिथ्या बातों के ऊपर विश्वास करने से क्या हानि हो रही है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे है। कलकत्ते में जिस मकान में मैं रहता हूँ, उसमें अधिकतर मारवाड़ी रहते हैं। कहा जाता है कि उसमें एक स्त्री पर कोई प्रेत आता है। उस प्रेत को मनाने के लिये प्रायः नित्य ही पंडित, पुजारी, ओझा, साधु, फ़क़ीर आदि आया करते हैं; पर प्रेतराम उसे छोड़ने का इरादा ही नहीं करते। वास्तव में बात यह है कि वह स्त्री पूरी युवती, और उसका पति नादान कम उम्र का बालक है। काम की शांति न होने से उसे एक प्रकार का उन्माद-रोग है। पर इस भूत-प्रेत के विश्वास से कोई ठीक दवा-दारू उसकी नहीं की जाती। इस तरह के सैकड़ों उदाहरण भारतवर्ष में प्रतिदिन देखने में आते हैं। अस्तु, सबसे बड़ी हानि जो भूत-प्रेत, जादू-टोना, मंत्र और ज्योतिष पर विश्वास रखने से हो रही है, वह यह है कि लोगों का दिमाग़ विशेषकर इन मिथ्या और काल्पनिक बातों में लगा रहने के कारण और किसी दूसरी ओर लग ही नहीं सकता। दूसरी हानि इससे यह हो रही है कि लोगों का दिमाग़ इस तरह की बातों में संकुचित रहने के कारण स्वतंत्र वायु में उड़ ही नहीं सकता। जिस तरह पर-कटा कबूतर आज़ादी के साथ हवा में नहीं उड़ सकता, उसी तरह जिसका दिमाग़ मिथ्या और काल्पनिक बातों के विश्वास में जकड़ा हुआ है, उसके हृदय में आज़ादी के ख़यालात कभी आ ही नहीं सकते।

चार सौ बरस पहले योरप में प्लेग या महामारी आने पर लोग यह समझते थे कि भूत-प्रेत के नाराज़ हो जाने से या ईश्वर के प्रकोप से ऐसा हुआ है। उस समय लोग उस महामारी का प्रतीकार सोचने के बजाय गिरजाघरों में जाकर ईश्वर-प्रार्थना करते थे, व्रत और उपवास करते थे, और भूत-प्रेत को मनाने की कोशिश करते थे। उसी तरह इस ज़माने में भी यहाँ जब कभी प्लेग या महामारी आती है, तो बजाय इसके कि अच्छा खाएँ, अच्छा पहनें, सफ़ाई रक्खें, तंदुरुस्ती के नियमों का पालन करें, और उस बीमारी को नेस्त-

मालूम करने में लग जायँ, लोग गंदगी के साथ रहते हैं—मंदिरों और मसजिदों में जाकर ईश्वर-प्रार्थना करते हैं, होम और पूजा-पाठ करते हैं, देवी-देवतों को मनाते हैं, पंडितों से पुरश्चरण कराते और न-जाने क्या-क्या निरर्थक उपाय करते हैं। पर तब भी उनका उस महामारी से पिंड नहीं छूटता। लोग उसे ईश्वर का कोप समझकर हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहते हैं, और कीड़े-खटमल की तरह मरते तथा पैदा होते रहते हैं।

चार सौ बरस पहले योरप में जिस तरह धर्म के आगे राष्ट्रीयता या देश-भक्ति की कोई पूछ न थी, उसी तरह यहाँ भी आजकल धर्म के आगे राष्ट्रीयता या देश-भक्ति की कोई इज़्ज़त नहीं है। जिस तरह योरप में उस ज़माने में प्रोटेस्टेंट और रोमन कैथॉलिक के बीच मज़हबी लड़ाइयाँ हुआ करती थीं, उसी तरह इस ज़माने में यहाँ हिंदू-मुसलमानों के बीच धार्मिक झगड़े हुआ करते हैं। जिस तरह उस ज़माने के लोग धर्म के पीछे देश की हत्या कर रहे थे, उसी तरह हिंदू-मुसलमान आजकल धर्म के पीछे देश का सत्यानाश कर रहे हैं। जब तक यह मज़हब की बू हिंदू-मुसलमानों में ज़रा भी बनी रहेगी, तब तक मुल्क में क़ौमियत का पैदा होना न सिर्फ़ बहुत ही मुश्किल, बल्कि नामुमकिन है। हिंदू-मुसलमानों में एकता एवं राष्ट्रीयता तभी पैदा हो सकती है, जब दोनों अपने-अपने धर्म को तुर्कों की तरह हमेशा के लिये तलाक़ दे देंगे। योरप में भी प्रोटेस्टेंटों और रोमन कैथॉलिकों में तभी एका पैदा हुआ, जब दोनों ने धर्म को तिलांजलि देकर राष्ट्रीयता का भाव अपने में आने दिया।

जिस तरह चार सौ बरस पहले योरप के लोग पादड़ियों के पंजे में थे, उसी तरह इस ज़माने में यहाँ के लोग ब्राह्मणों के हाथों की कठपुतली बने हुए हैं। धर्म की बागडोर उन्हीं के हाथों में होने से वे अशिक्षित प्रजा को जैसा चाहते हैं, वैसा समझाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। ब्राह्मणदेवता चाहे पढ़े हों या निरक्षर भट्टाचार्य, पर ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने की हैसियत से दूसरे वर्णों के पूज्य हैं! जिस तरह योरप में मठ और गिरजे पादड़ियों के व्यभिचार और दुराचार के घर हो रहे थे, उसी तरह यहाँ के मंदिर और तीर्थ-स्थान पंडों और गोसाइयों के व्यभिचार के केंद्र हो रहे हैं। भोली-भाली प्रजा से धर्म के नाम पर ठगा गया धन ऐसे-ऐसे ऐश-आराम में ख़र्च होता है, जो राजाओं को भी नसीब नहीं है!

जिस तरह योरप में चार सौ बरस पहले जो कुछ धार्मिक संस्कार या धार्मिक कार्य होता था, वह सब लैटिन-भाषा के द्वारा होता था, उसी तरह यहाँ भी आजकल जो कुछ धर्म संबंधी कार्य होता है, वह सब मुर्दा संस्कृत-भाषा के द्वारा, जिसका एक अक्षर भी सर्वसाधारण नहीं समझते। उनके लिये संस्कृत उतनी ही अजनबी भाषा है, जितनी ग्रीक या लैटिन। कैसे अचंभे की बात है कि जो भाषा मुर्दा भाषाओं में गिनी जाती है—जो लोगों के लिये उतनी ही कठिन है, जितनी ग्रीक या लैटिन—वह तो देव-वाणी गिनी जाय, उसको सबसे ऊँचा स्थान दिया जाय, विवाह, जन्म और मृत्यु के समय उसी भाषा के मंत्रों के द्वारा संस्कार कराया जाय। पर मातृभाषा को, जिसे हम माता के दूध के साथ पान करते हैं, जो जन्म से लेकर मरण तक हमारा साथ देती है, जिसके द्वारा हम अपने सच्चे भाव ठीक-ठीक प्रकट कर सकते हैं, जिसे बच्चा-बच्चा समझ सकता है, उसे हम तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं—संस्कृत के मुक़ाबिले में नीचा स्थान देते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि विवाह के समय पति-पत्नी जन्म-भर के लिये एक दूसरे से क़रार करते हैं; पर एक ऐसी भाषा में, जिसका एक अक्षर भी उनकी समझ में आना मुश्किल है। लोगों का अंधविश्वास है कि जब तक मुर्दा संस्कृत भाषा के मंत्रों का उच्चारण न किया जायगा, संस्कृत-भाषा के द्वारा ईश्वर-प्रार्थना न की जायगी, तब तक उनकी आवाज़ ईश्वर तक पहुँच ही नहीं सकती। यह अंधविश्वास हमारी बुद्धि को संकुचित बनाए हुए है, इसी से हम लोगों में स्वयं सोचने की शक्ति का ह्रास हो गया। इसी से मातृभाषा की उन्नति में भी बाधा पड़ रही है। हमारी दिमाग़ी तरक़्क़ी, हमारे साहित्य की उन्नति, हमारा यथेष्ट मानसिक विकास तब तक पूरी तरह नहीं हो सकता, जब तक हम उसी तरह संस्कृत-भाषा की ग़ुलामी से अपना पिंड छुड़ाकर मातृभाषा को न अपनावेंगे, जिस तरह योरपवालों ने लैटिन-भाषा को हटाकर मातृभाषाओं को अपनाया है। जब तक हम इस विश्वास को दूर न करेंगे कि संस्कृत-भाषा देवभाषा है, और उसका स्थान मातृभाषा से ऊँचा है, तब तक हमारी मानसिक ग़ुलामी हमसे दूर नहीं हो

सकती, और न असली आज़ादी ही हमें हासिल हो सकती है। जब तक हम धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक, हर-एक कार्य में संस्कृत-भाषा को काम में लाते रहेंगे, तब तक मातृभाषा और उसके साहित्य की वास्तविक उन्नति होना दुर्लभ है। आज़ादी कोई ऐसी चीज़ नहीं कि उसका विभाग या टुकड़ा किया जाय। राजनीतिक गुलामी के साथ-साथ आपको न केवल सामाजिक और धार्मिक गुलामी से स्वतंत्र होना होगा, बल्कि संस्कृत-भाषा की गुलामी से भी आपको अपना पिंड छुड़ाना होगा। आप यह नहीं कह सकते कि विदेशियों की गुलामी से तो हम छूटेंगे, पर समाज की गुलामी से नहीं; या समाज की गुलामी से छूटेंगे, पर धर्म की गुलामी से नहीं; या धर्म की गुलामी से छूटेंगे, पर भाषा की गुलामी से नहीं। जब आप एक बंधन तोड़ेंगे, तो उसके साथ आपको सभी बंधन तोड़ने पड़ेंगे—चाहे वे बंधन समाज के हों, धर्म के हों या भाषा के। आप संस्कृत-भाषा पढ़िए, उसके साहित्य का आनंद लीजिए; पर उसका दर्जा मातृ-भाषा के ऊपर मत रखिए। मातृभाषा मुख्य, और संस्कृत-भाषा गौण होनी चाहिए। आप विवाह में मंत्र का उच्चारण कीजिए, पर मुर्दा संस्कृत-भाषा में नहीं, सजीव हिंदी-भाषा में। आप संध्या-वंदन कीजिए, पर बाबा आदम के वक़्त की वैदिक भाषा में नहीं, बल्कि जीती-जागती मातृभाषा में। आप ईश्वर की वंदना कीजिए, पर अपनी प्यारी मातृभाषा के जीवित शब्दों में।

चार सौ बरस पहले के योरप की तरह आज यहाँ भी महात्मा और पूजनीय वे लोग समझे जाते हैं, जो संसार से विरक्त होकर पहाड़ों की कंदराओं और सुन-सान जंगलों में निवास करते हैं। जो जितना ही ज़िंदगी की ज़िम्मेदारियों से, अपने जीवन के कर्तव्यों से, भागता है, वह उतना ही अधिक महात्मा और पूजनीय समझा जाता है। इसी से सांसारिक जीवन के संघर्ष का सामना करने की शक्ति हम लोगों में बिलकुल नहीं रह गई। परोपकारी, देश-भक्त और विद्वानों के स्थान पर आलसी, अकर्मण्य एवं मूर्ख पूजे जाने लगे। महात्मा और पूजनीय का कैसा झूठा आदर्श हमारे यहाँ रक्खा गया है!

चार सौ बरस पहले योरप में जिस तरह धूर्त पादड़ी बात-बात में दक्षिणा के द्वारा प्रजा से धन चूसने का बहाना ढूँढ़ा करते थे, उसी तरह आज इस बीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष के ब्राह्मण, पंडे और पुरोहित भोले-भाले, धर्मभीरु, हिंदुओं से बात-बात में दक्षिणा का बहाना निकालकर अपनी टेंट गरम किया करते हैं। चार सौ बरस पहले के योरप की तरह वर्तमान भारत में भी लोग धर्म का मतलब यही समझते हैं कि स्वर्ग की कुंजी ब्राह्मणों के हाथ में है, ब्राह्मणों को दक्षिणा दिया कि स्वर्ग का दरवाज़ा हमारे लिये खुल गया। लोग अपने धर्म की इतिकर्तव्यता इसी में समझते हैं कि ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर अपने पापों का प्रायश्चित्त करा लिया जाय। जीवन-यात्रा के हर पड़ाव पर बिना इन ब्राह्मणों को दक्षिणा दिए काम नहीं चल सकता। मरने के बाद भी ब्राह्मणों के टैक्स से पिंड छूटना मुश्किल है। मरने के बाद तो दक्षिणा का दायरा तथा माल मारने का मौक़ा और भी बढ़ जाता है। अगर अमुक दक्षिणा न दी जायगी, इतने ब्राह्मणों का पेट न भरा जायगा, तो फिर मृत मनुष्य की आत्मा का नरक से उद्धार नहीं हो सकता—बस, ऐसी-ही-ऐसी बातों से हिंदू-धर्म के पंडे-पुरोहित भोली-भाली, धर्मभीरु प्रजा को सदा ठगते रहते हैं। हिंदू-धर्म के अनुसार चार आने का गोदान ब्राह्मण को देकर आप समस्त पापों से छूट सकते हैं। आठ आने रोज़ पंडितजी को दीजिए, और उनके दुर्गापाठ से जो पुण्य मिलनेवाला है, वह घर बैठे, बिना हाथ-पैर हिलाए, आपको मिल जायगा। आठ आने या एक रुपया देकर पंडितजी से महामृत्युंजय का जप कराइए, और आप मौत के मुँह से बच जायँगे। हिंदू-धर्म में कैसी सस्ती बिकी स्वर्ग और नरक, पाप और पुण्य की है! स्वर्ग और पुण्य की परिभाषा यही है कि मौक़े-बेमौक़े ब्राह्मणों, पंडों और पुजारियों का पेट भरा जाय। इस मिथ्या धर्म ने हिंदुस्तान के लोगों को कैसा डरपोक, कायर और झूठा बना दिया है—यह आप उनकी मौजूदा हालत से समझ सकते हैं। उनका धर्म अब सब जगह से हट-हटाकर जात-पाँत, छुआ-छूत और ब्राह्मणों की दक्षिणा में आ टिका है। वर्तमान हिंदू-धर्म के अनु-सार अगर आप जात-पाँत के बंधनों को ख़ूब अच्छी तरह मानते हैं, छुआ-छूत और खान-पान के भेद का पूरी तरह पालन करते और ब्राह्मणदेवता को दक्षिणा की घूस से अच्छी तरह संतुष्ट रखते हैं, तो बस, आप सोलहों आने हिंदू हैं। हिंदू होने के लिये साहस, वीरता, मर्दानगी,

धर्म के लिये बलिदान, सचाई और सिद्धांत की दृढ़ता की आवश्यकता नहीं है। जिसमें जितना ही ज़्यादा दंभ और कट्टरपन है, वह उतना ही पक्का हिंदू माना जायगा।

जिस तरह योरप में चार सौ बरस पहले लैटिन-भाषा में बाबा आदम के समय के ग्रंथ पढ़े-पढ़ाए जाते थे, बिलकुल उसी तरह आज हिंदुस्तान में मुर्दा संस्कृत-भाषा में सैकड़ों और हज़ारों वर्ष की पुरानी पुस्तकें पढ़ी जाती हैं। बड़े-बड़े शिक्षित भी यह विश्वास करते हैं कि संसार-भर का ज्ञान उन सड़ी-गली पुस्तकों के अंदर ही भरा है। हम अब भी हज़ारों वर्ष पुराने वेदों तथा व्याकरण, ज्योतिष, न्याय, मीमांसा, सांख्य, वेदांत और उपनिषदों को संस्कृत-भाषा में रटा करते हैं। हम योरप तथा अमेरिका के बड़े-बड़े विद्वानों और विचारकों के उन ग्रंथों का अनुवाद करने के बजाय, जिन्होंने संसार को हिला दिया है, और मनुष्यों के हृदयों में स्वतत्रता के महान् भाव पैदा कर दिए हैं, अपने यहाँ के जीर्ण ग्रंथों ही का उद्धरण करते जाते हैं।

प्यारे देशवासियो! आप वर्तमान युग में रहते हैं, प्राचीन युग में नहीं; आप रेल पर चढ़ते हैं, छकड़े पर नहीं; आप बिजली की रोशनी या केरोसिन तेल के लप इस्तेमाल करते हैं, मिट्टी के दिए नहीं; आप छपी हुई पुस्तकें पढ़ते हैं, भोजपत्र या तालपत्र पर लिखी हुई पोथियाँ नहीं। आप अपने को वर्तमान युग के योग्य बनाइए। आज सिवा इस अभागे भारत के और कोई भी देश धर्म को इस रूप में अपने यहाँ शरण देने के लिये तैयार नहीं। संसार के सब देश राष्ट्रीयता के पुजारी हो रहे हैं, अकेला भारतवर्ष ही तीन लोक से न्यारा होकर धर्म के ढकोसलों में पड़ा हुआ है। योरप का इतिहास आपके सामने है। उसे आँख खोलकर पढ़िए, और उससे शिक्षा ग्रहण कीजिए। जब तक योरप धर्म की गुलामी में जकड़ा हुआ पुरानी बातों का अंधभक्त बना रहा, तब तक वह बराबर गिरता ही गया। पर जब से उसने धर्म को तलाक़ देकर राष्ट्रीयता और देश-भक्ति को अपनाया, तभी से वह बराबर उन्नति की दौड़ में आगे बढ़ता चला जा रहा है। जिस मार्ग पर चलकर योरप ने तरक्की की है, जापान आगे बढ़ा है, टर्की ने आज़ादी हासिल की है, उसी मार्ग पर चलकर आप भी संसार की उन्नत जातियों के बीच बैठने के लायक़ बन सकते हैं। आपके लिये कोई दूसरा रास्ता नहीं है। प्यारे नवयुवको! इस समय आपको राजनीतिक क्रांति की आवश्यकता नहीं है; आवश्यकता है आपको एक महान् सामाजिक क्रांति की—धार्मिक उलट-फेर की। अपने धर्म तथा समाज के दंभी और अहम्मन्य नेताओं से कह दीजिए कि हमारे देवी-देवता सब पुराने और झूठे पड़ गए हैं, इस समय राष्ट्रीयता ही हमारा धर्म, और मातृभूमि ही हमारी देवता है। पुराने खूसटों से कह दीजिए कि धर्म, जात-पाँत, खान-पान और छुआ-छूत का बंधन हम एक माता की संतान—हिंदू, मुसलमान और ईसाई भाइयों—को अब अलग नहीं रख सकता। पुराने लकीर के फ़क़ीरों से भी कह दीजिए कि हमारे तीर्थ अब रामेश्वर, द्वारिका, बदरीनाथ, जगन्नाथ, काशी और प्रयाग नहीं हैं; उनमें सिवा मोटे पंडों और मरकहे साँड़ों के धरा ही क्या है। हमारे वर्तमान तीर्थ बर्लिन, पेरिस, लंदन और न्यूयार्क हैं, जहाँ से स्वतंत्र विचारों की पवित्र गंगा निकलकर संसार को अपने निर्मल प्रवाह से पवित्र बना रही है। अपनी सभ्यता और प्राचीनता का दम भरनेवाले मिथ्या देश-भक्तों से कह दो कि हमारे वेदों, शास्त्रों और पुराणों में सच और झूठ से मिली हुई, परस्पर-विरोधी और कपोल-कल्पित बातों के सिवा रक्खा ही क्या है। हमारे वेद, शास्त्र और पुराण आजकल रूसो और वाल्टेयर, मेज़िनी और मार्क्स, मिल और बर्क, टाल्स्टाय और क्रोपाटकिन, डार्विन और हक्सले तथा अन्य आधुनिक विद्वानों और विचारकों के ग्रंथ हैं, जिन्हें पढ़कर हम योरप की तरह स्वतंत्र और उन्नत बन सकते हैं। नहीं तो जिस तरह सदियों से गुलाम बने चले आ रहे हो, उसी तरह यदि आगे भी बने रहना है, तो दूसरी बात है।

जनार्दन भट्ट

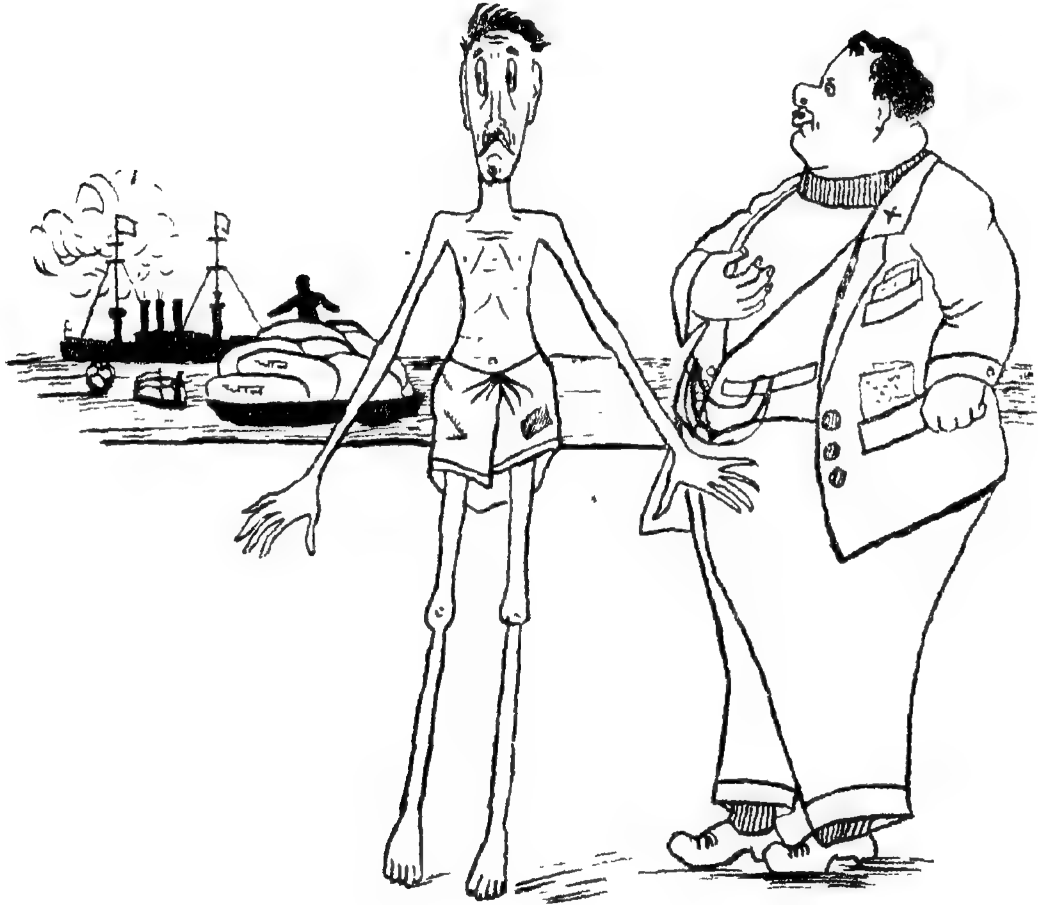
आ जा

तुही है बहकते हुओं का इशारा;
तुही है सिसकते हुओं का सहारा।
तुही है दुखी-दिलजलों का 'हमारा';
तुही भटके-भूलों का है ध्रुव का तारा।
ज़रा साँझवो में समाँ-सा दिखा जा;
मैं सुध खो चुका, उससे कुछ पहले-आ जा।

"वनवासी"

परिणाम

[चित्रकार—श्रीयत मोहनलाल महत्तो]



कल्पना और उसके प्रयोग



संसार में सबसे जटिल समस्या भविष्य की है। जीवन के पथ-पथ पर भविष्य के प्रश्नों का सामना करना पड़ता है। आगे क्या होगा, यह प्रश्न सभी के सामने है। विद्यार्थी दिन-रात विद्याध्ययन में लगे रहते हैं, कृषक खेती के कामों में जान खपाते हैं, वणिक् वाणिज्य की उन्नति में दत्तचित्त रहते हैं; पर सबके सामने यही—भविष्य ही का—प्रश्न आता है। जिसको देखिए, अपना भविष्य जानने के लिये व्याकुल है। हमारे भाग्य में क्या है, यही प्रश्न सदा हमारे मानस-तरंगों में भँवर डालता रहता है। हमारा भूतकाल चाहे जितना अंधकारमय रहा हो; पर हम भविष्य ही के भरोसे जीवन की नाव खे रहे हैं। भविष्य ही हमारा केवट है—वही पतवार है। यदि इसका अवलंब जाता रहे, तो संसार वास्तव ही में दुःखद हो जाय। एक धन-हीन व्यक्ति की मनोविद्या का अध्ययन कीजिए। उसका अतीत अंधकारमय है, तथापि वह भविष्य की आशा में अटूट परिश्रम कर रहा है। जब हम और आप अत्यंत दुःख में पड़ जाते हैं, तो कहते हैं—"क्या कहें भई, हमारा भविष्य उज्ज्वल नहीं मालूम होता; कुछ भी काम करने की तबीयत नहीं होती।"

प्राक्कथन

स्वभावतः यह प्रश्न यहाँ उठता है कि भविष्य की इतनी महत्ता क्यों है, भविष्य की तूती जीवन की प्रत्येक अवस्था में क्यों बोल रही है, तीनों कालों में इसी का बोलबाला क्यों है, और भविष्य पर हमारी इतनी आस्था क्यों है? हम पहले ही बतला चुके हैं कि घटना अकारण नहीं होती। अतएव यह तो स्पष्ट ही है कि इसके कुछ-न-कुछ कारण अवश्य ही हैं। भूतकाल हमारे हाथ के बाहर है। जो कुछ हो चुका, उसमें हम ज़रा भी चीं-चपड़ नहीं कर सकते। उसमें ज़रा भी परिवर्तन करना हमारे हाथ में नहीं। समय की प्रगति को रोकनेवाली कोई शक्ति इस असीम संसार में नहीं है। अतएव हमारी आस्था अतीत की ओर बिलकुल ही नहीं है। किसी ने सच कहा है—

"बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेय;
जो बनि आवे सहज में, ताही में चित देय।"

भूतकाल की तो यह कहानी रही। अब रहा वर्तमान। वह भी प्रकृति के अधीन है। संभव है, वर्तमान हमारे मन के अनुसार न हो। इस कारण वर्तमान में भी हमारी आस्था नहीं है। पर भविष्य की कुछ और ही बात है। भविष्य पर हमारी पूरी आस्था है; क्योंकि हम भविष्य को अपने मन के अनुसार गढ़ सकते हैं। साथ-ही-साथ हम अपने भाग्य के विधाता भी तो हैं। यह हमारी भूल है कि हम अपने भाग्य के विधाता अपने को न समझ बेचारे बूढ़े ब्रह्मा को समझते हैं। हम यह समझा करते हैं कि ब्रह्मा हमारे प्रत्येक काम की देख-रेख करता है, और उसका फल भी देता है। पर नहीं, हमारा तो ख़याल है कि सब कोई अपने-अपने भाग्य के विधाता हैं। यही कारण है कि हमारी भविष्य में इतनी प्रबल आस्था है। हम समझते हैं, भविष्य में हमारा हाथ है। प्रकृति हमारे प्रतिकूल नहीं चलती, सदा अनुकूल ही रहती है। अतएव हमें भविष्य की आशा का भरोसा रहता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आशा है क्या? इसके कारण हमारे मानसिक जगत् में क्यों खलबली उठती है? यहाँ इस प्रश्न के हल करने में हमारा दृष्टि-कोण मनोविद्या ही का रहेगा। प्रकृति का एक अटूट नियम है कि जो कुछ हुआ है, वही होगा। यदि आग से कल मनुष्य जले हैं, तो परसों भी अवश्य ही जल सकते हैं। प्रकृति के नियम शाश्वत है, अथवा दूसरे शब्दों में सत्य है। इसी के कारण हम और आप अनुमान कर सकते हैं। इस नियम को दार्शनिक "प्रकृति की समानता का नियम" बतलाते हैं। इसी नियम पर संसार चल रहा है। यदि यह नियम उठ जाय, तो संसार में एक क्षण भी रहना दुस्तर हो जाय। यदि आग आज जलावे, कल ठंडक पहुँचावे, और परसों मीठी लगे, तो संसार में हम कुछ भी काम नहीं कर सकते। इसी कारण हमारे यहाँ शास्त्रों में लिखा है कि संसार सत्य पर स्थित है। इस वाक्य की सत्यता को लोग नाना प्रकार से मिट्टी में मिलाते और इसका अर्थ का अनर्थ करते हैं। इसी विश्वास पर हम अपने भविष्य का फ़ोटो अपने मानसिक कैमरे में खींचते हैं। यहाँ यह फ़ोटो खींचने-वाला कौन है? इसको हम और आप कल्पना के नाम से पुकारते हैं। इस लेख में कल्पना ही की चर्चा की जायगी।

आशा, कल्पना और स्मृति

हम यह जान चुके कि कल्पना का जन्म किस प्रकार हुआ। पर जन्मकहानी कहने के बाद ही उसे उसकी सहेली स्मृति से पृथक् करने की आवश्यकता आ पड़ती है। इन दोनों सखियों में यमज की-सी समानता है। हम पहले लिख चुके हैं कि आशा में कल्पना का काम पड़ता है; बिना कल्पना के आशा पनप ही नहीं सकती। यहाँ आशा और स्मृति में पहले तुलना की जायगी। दोनों में से किसी का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें नहीं है। कल हमने मिठाइयाँ खाई थीं, इसकी स्मृति हमें है। पहले मिठाइयाँ खाने का स्मरण आया, फिर मिठाइयाँ खाना हमारा था, यह याद आया और फिर यह ज्ञान हुआ कि हमारा मिठाइयाँ खाना कल हुआ था। तब स्मृति के तीन अंग आवश्यक सिद्ध हुए—पहले अतीत का मानस में आना, दूसरे अतीत की पहचान, और तीसरे अतीत का एक विशेष समय। इसी प्रकार आशा के भी तीन अंग हैं, यथा भविष्य का मानस में आना, भविष्य की पहचान तथा भविष्य का एक नियत समय। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि दोनों में समानता है, और वह समानता भी कुछ मामूली नहीं।

हम किसी पिछले लेख में बतला चुके हैं कि समानता में यदि भेद न रहे, तो वह एकता के रूप में परिणत हो जाती है। अतएव यहाँ आशा और स्मृति में कुछ-न-कुछ भेद बतलाना आवश्यक हो जाता है। पर समानता के रहते हुए भी भेदों की कमी नहीं है। स्मृति अतीत की होती है, अतएव इसमें मन का झुकाव पीछे की ओर रहता है। पर आशा भविष्य की होती है, और आगे की ओर बढ़ती है। जैसा आगे लिख चुके हैं, अतीत जिस प्रकार का है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। स्मृति उसकी प्रतिलिपि—मक्षिकास्थाने मक्षिका—तैयार करती है। पर भविष्य में बहुत कुछ हमारा हाथ है। अतएव उसमें अधिक स्वतंत्रता है। हम उसमें कल्पना से काम ले सकते हैं। कल्पना भविष्य का चाहे जैसा फ़ोटो खींच ले, कोई आपत्ति करनेवाला नहीं।

पर यहाँ देखना यह है कि क्या स्मृति में कल्पना का ज़रा भी हाथ नहीं है? क्या हमको इस विषय में कुछ भी स्वतंत्रता नहीं है? क्या स्मृति अतीत की "मक्षिका-स्थाने मक्षिका"-प्रतिलिपि है? इस विषय में हम-आप जेम्स साहब से परामर्श लें, तो समस्या हल करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। आपने अपनी "साधारण मनोविज्ञान" (General Psychology)-शीर्षक पुस्तक में लिखा है—It is difficult to bathe in the same stream twice,—nay even once" अर्थात् मन जलप्रपात-जैसा है। जिस प्रकार नदी के उसी पानी में दो बार, नहीं-नहीं, एक बार भी नहाना कठिन है, ठीक उसी प्रकार दो बार एक ही मानसिक घटना का होना असंभव है। अतएव स्मृति अतीत की जीती-जागती प्रतिलिपि नहीं है। और भी संसार में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। इस दशा में भी स्मृति अतीत की सच्ची प्रतिलिपि नहीं हो सकती। फिर अतीत ऐसा भी हो सकता है, जिसको हम पसंद नहीं कर सकते। वैसी दशा में अतीत को हम अपने मन के अनुसार गढ़ लेते हैं, और इस प्रकार हमारी स्मृति फिर भी कल्पना के पंजे में आ जाती है। अतएव अंत में यही कहना पड़ता है कि स्मृति में भी कल्पना का कुछ-न-कुछ हाथ अवश्य है। वह चाहे जिस प्रकार की हो, सर्वत्र कल्पना का काम पड़ता ही है।

कल्पना के नियम

हम यह जान चुके कि कल्पना क्या है। यहाँ हम देखेंगे कि इसके नियम क्या हैं? किन नियमों पर यह पनपती है? इसकी बढ़ती की क्या शर्तें हैं? किस रीति से इसकी उन्नति होती है? पहले तो कल्पना का भी संबंध बाह्य जगत् से कुछ-न-कुछ अवश्य है। यहाँ भी हमें पूर्ण स्वतंत्रता नहीं। हम सोने के पहाड़ की कल्पना कर सकते हैं; क्योंकि हमने सोना और पहाड़, दोनों देखे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कल्पना की सामग्रियाँ हमें बाहर से मिलती हैं। हमारे हाथ में केवल उनका संगठन ही है। हम चाहे जिस प्रकार उनका संगठन करें। हमने हाथी और पुरुष, दोनों देखे हैं। अतएव हम गणेश की कल्पना कर सकते हैं। हमने क्षीर और सागर, दोनों देखे हैं, अतएव क्षीर-सागर की कल्पना कर सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि कल्पना की सामग्रियाँ बाहर की होती हैं, तथापि कल्पना के पदार्थ संसार के परे होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कल्पना अनुभव से नियत रहती है। यही कारण है कि २-३ वर्ष का बच्चा कल्पना नहीं कर सकता; क्योंकि उसके अनुभव

का ख़ज़ाना बिलकुल ख़ाली रहता है। फिर कल्पना स्मृति के अधीन भी है। जिस अतीत अनुभव की सजीव स्मृति हमें नहीं है, उसकी कल्पना हमारी शक्ति के बाहर है। कल्पना के लिये सजीव स्मृति की अत्यंत आवश्यकता है। तीसरे, कल्पना अटूट संगति से भी नियत है। जिन वस्तुओं अथवा अनुभवों में अटूट संगति है, उनकी अलग-अलग कल्पना नहीं हो सकती। जो अटूट संगति चिरकाल से चली आती है, उसमें हेर-फेर करना कल्पना के परे है। मिल साहब का कहना है कि जो अनुभव सदा एक ही रूप में संबद्ध पाए जाते हैं, उनको हम और आप अलग नहीं कर सकते। उदाहरण के लिये एक देहाती को लीजिए। प्रकाश और तेल के अनुभव उसे एक ही साथ मिले हैं। अतएव वह प्रकाश की कल्पना तेल के बिना नहीं कर सकता। बिजली की रोशनी देखकर वह आश्चर्य में पड़ जाता है; क्योंकि वह उसकी कल्पना के बाहर है। विचार के नियम भी कल्पना में लागू होते हैं। हम एक ही मनुष्य के नाटे और लंबे होने की कल्पना नहीं कर सकते। हम परियों की कल्पना स्त्रियों में ही करते हैं, पुरुषों में नहीं।

जैसा हम पहले लिख चुके हैं, जब तक हमें यथेष्ट अनुभव नहीं हो जाते, तब तक हम कल्पना नहीं कर सकते। यह भी कहा जा चुका है कि कल्पना की सामग्रियाँ बाहर के संसार से आती हैं। फिर भाषा का संबंध कल्पना से कुछ कम नहीं है। भाषा कल्पना की बड़ी भारी सहायता करती है। भाषा ही से विचार दृढ़ रहते हैं। अतएव भाषा की उन्नति के साथ-ही-साथ कल्पना की उन्नति भी होती है। प्रायः ३-४ वर्ष से जीवन में कल्पना का राज्य बढ़ चलता है। उसके लिये उस समय संसार एक अपरिचित पदार्थ रहता है। बालक संसार के किसी पदार्थ के विषय में नहीं जानता। उसके मानस में उत्सुकता बनी रहती है; वह संसार का रहस्य जानना चाहता है। जब वह अकेला रहता है, तो एक नए संसार की कल्पना करता रहता है। यह कल्पना लड़कों के खेलों में अधिकता से पाई जाती है। खेलों में वे मनुष्य-जीवन की कल्पना किया करते हैं—कभी गाड़ी हाँकते हैं, कभी रेलगाड़ी चलाते हैं, कभी विवाह करते और कभी उत्सव मनाते हैं। पर जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता जाता है, कल्पना नियंत्रित होती जाती है। आगे चलकर बालक 'बितना' की कहानी नापसंद करने लगता है। पर इसमें यह अनुमान न करना चाहिए कि उम्र बढ़ने के साथ-साथ कल्पना घटती ही जाती है।

हम पहले ही बतला चुके हैं कि कल्पना अनुभवों से नियंत्रित रहती है। वृद्धावस्था में अनुभव अधिक-से-अधिक रहते हैं, अतएव वहाँ कल्पना सबसे अधिक नियंत्रित रहती है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि कल्पना रहती ही नहीं। बात यों होती है कि इस अवस्था की कल्पना केवल कपोल-कल्पना ही नहीं रहती, बल्कि उसमें सत्यता का संबंध अधिक-से-अधिक रहता है। बाल्यकाल की कल्पना निरी कल्पना ही रहती है। संसार की ठोकरें उसे लगी नहीं, अतएव वह अपनी कल्पना की बागडोर ढीली किए रहता है—दिन-रात हवाई क़िले बनाता रहता है। उसके पैर ज़मीन पर पड़ते ही नहीं। पर जैसे-जैसे संसार की ठोकरें लगती हैं, वैसे-वैसे हमारे पैर ज़मीन पर पड़ने लगते हैं। कवि वर्ड्सवर्थ ने कल्पना के ह्रास का वर्णन अपनी "अमर्त्यता पर गीत" (Ode on Immortality)-शीर्षक कविता में भली भाँति किया है। आपने बतलाया है कि वृद्धावस्था में कल्पना शुद्ध रहती और सत्यता से संबंध रखती है। आपके पद हैं—

"The clouds that gather round the setting sun
Do take a sober colouring from an eye;
That hath kept watch over man's mortality"

यहाँ तक हम जान चुके कि कल्पना क्या है, कल्पना, आशा और स्मृति में क्या अंतर है, तथा कल्पना के क्या नियम हैं।

कल्पना के भेद

अब प्रश्न उठता है कि कल्पना कितने प्रकार की होती है? हम पहले ही बतला चुके हैं कि हमारे काम दो प्रकार के होते हैं। या तो हमारे काम अनायास होते हैं, या उनमें कुछ आयास पड़ता है। अस्तु, कल्पना भी दो प्रकार की होती है—अनायास अथवा अचेतन-कल्पना, और आयास अथवा सचेतन-कल्पना। अचेतन-कल्पना उसे कहते हैं, जिसकी चेतना हमें नहीं रहती; और सचेतन कल्पना वह है, जिसकी चेतना हमें रहती है। इन दोनों का यहाँ क्रमशः पूरा विवरण दिया जायगा।

अचेतन कल्पना—यह हमारी चेतना के अधीन नहीं रहती। हमारे मन में अनायास ही विचार-पर-विचार उठते हैं। विचारों का धारा-प्रवाह अपने-आप उठता है, इसकी चेतना हमारे मन में ज़रा भी नहीं रहती। कुछ ठिकाना नहीं कि यह धारा-प्रवाह किस ओर जायगा ; इसका धारा-प्रवाह हमारे हाथ का नहीं। विचार-संगठन के नियमों के अनुसार यह धारा-प्रवाह आगे बढ़ता जाता है। इसकी प्रगति का अवरोध करना विचार-संगठन के नियमों के सिवा किसी सांसारिक शक्ति के हाथ में नहीं है। हमारे मस्तिष्क-पटल पर अनेकानेक प्रकार की मूर्तियाँ चित्रित होती हैं। ये मूर्तियाँ केवल अपने ही नियमों का पालन करती हैं। हमारा मन बिलकुल अकर्मण्य बना रहता है। ये मूर्तियाँ अवसर पाकर उसी उपचेतना से हमारे मानस-पटल पर आ धमकती हैं। उदाहरण के लिये अत्यंत दुःखी अथवा अत्यंत भयभीत मनुष्य की कल्पनाओं को ले सकते हैं। भवभूति संस्कृत-साहित्य के अच्छे नाटककार हो गए हैं। कालिदास के विषय में जो उक्ति है, सो तो सबको मालूम ही है। लिखा है—"काव्येषु नाटकः श्रेष्ठः नाटकेषु शकुन्तला।" पर भवभूति के विषय में कवियों की राय है—"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते"। 'रामचरित' के द्वितीय अंक में जब मर्यादा-पुरुषोत्तम राम शूद्रक मुनि को मारकर तपोवन में जाते हैं, तो उनका मन सीता के विरह से विचलित हो जाता है। एक-पर-एक कल्पना उनके मन में उठती है। अतीत के विचार में—सीता के विरह में—वह सीता के विषय में अनेकानेक प्रकार की कल्पनाएँ करने लगते हैं। इन कल्पनाओं का उद्रेक इतना बढ़ गया है कि वासंती जब हाथी के बच्चे को बचाने के लिये कहती है, तो राम कह उठते हैं—"प्रिये!" ऐसा कल्पना का उद्रेक होता है कि मर्यादापुरुषोत्तम राम भी इसके कारण विचलित हो जाते हैं, और उनका भी मन पर कोई वश नहीं रह जाता। तो फिर हमारी और आपकी बात क्या है। इसी प्रकार मिल्टन साहब की कुसुम, जब ऐंद्रजालिक के भय से विचलित हो जाती है, तब उसके मन में नाना प्रकार की कल्पनाएँ उठती हैं, और उन कल्पनाओं पर उस बालिका का कुछ भी वश नहीं चलता। शेक्सपियर के 'मैकबेथ'-नामक नाटक में मैकबेथ का पति इतना डर जाता है कि सदा उसकी आँखों के सामने वही ख़ूनी तलवार, जिससे महाराज की मृत्यु हुई थी, नाचती रहती है। 'पद्मा' में राणा के भाई की भी वही दशा होती है। यहाँ यह कह देना उचित जान पड़ता है कि इन कल्पनाओं की प्रगति हमारे मन के वश के परे है। बीमारी की दशा में हम और आप देखते हैं कि इस प्रकार की कल्पनाएँ हमारे मानस-पटल पर टकराती रहती हैं। कभी-कभी यह भी होता है कि ये कल्पनाएँ हमारी मानसिक अवस्थाओं पर निर्भर रहती हैं। जैसे, दुःख में सुख की कल्पनाएँ नहीं आतीं, और सुख में दुःख की। हमारे स्वप्न भी इसी कल्पना में आ जाते हैं।

स्वप्नों में हमें पूरी चेतना तो रहती नहीं, हमारे मन में एक-पर-एक विचार उठते हैं। ये कल्पनाएँ बड़ी प्रौढ़ होती हैं। कभी हम समझते हैं कि हम देश विदेशों की यात्रा कर रहे हैं। स्वप्न की समस्या बड़ी ही जटिल है। प्रश्न है, स्वप्न क्या है? इसके कारण क्या हैं? स्वप्न की अवस्था में चेतना रहती है अथवा नहीं? सब प्रश्नों का समाधान तो यहाँ न होगा ; पर कुछ का यथास्थान समावेश किया जायगा। पहला प्रश्न है कि स्वप्न क्या है। इस प्रश्न के उत्तर में तो हम पहले ही लिख चुके हैं कि स्वप्न अचेतन-कल्पना है। हम स्वप्न में देखते हैं कि वक्तृता दे रहे हैं। यहाँ वक्तृता देने का अनुभव है, और अपना अनुभव भी है। इन्हीं दोनों के संगठन से यह कल्पना हुई। पर इसकी पूरी चेतना हमें नहीं है। स्वप्न में तो यही जान पड़ता है कि हमारे अनुभव प्रत्यक्ष ही हैं। इसका क्या कारण है? स्वप्न की अवस्था में स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ विचार ही नहीं रहते, जिनकी अपेक्षा स्वप्न क्षीण जान पड़े। अतएव हमारी कल्पनाएँ सत्य मालूम होती हैं। फ़्रॉइड, जंग, हाल इत्यादि महाशय स्वप्न की समस्या हल करने में लगे हुए हैं। कुछ का कहना है कि संसार के जीवन की ठोकरों से विचलित हो उनसे त्राण पाने के लिये स्वप्नों की आवश्यकता पड़ती है। फिर, दूसरे मतवालों का कहना है कि स्वप्न भविष्य की झाँकी देते हैं। कुछ तो कहते हैं कि स्वप्न स्नायुमंडल की अवस्था पर निर्भर रहते हैं। कुछ कहते हैं कि बाह्य संसार की घटनाओं का प्रभाव भी स्वप्नों पर पड़ता है। इस प्रकार अनेकानेक मत प्रचलित हैं। जो पाठक इस

विषय में अधिक जानना चाहते हों, वे "स्वप्न"-शीर्षक लेख में इसका कुछ वर्णन पावेंगे।

कवियों की कल्पना भी प्रायः इसी श्रेणी की होती है। कवि से आशय आजकल के तुक्कड़ों से नहीं है। इनमें तो कोई कल्पना ही नहीं होती। प्रायः कवि जब कविता करने लगते हैं, तो उनको चेतना नहीं रहती। शायद हमारे पाठकों ने कवियों को देखा न होगा। कविता करने के समय इनको कुछ सुध-बुध नहीं रहती। एक दैवी शक्ति उनकी लेखनी चलाती है। उनकी मानसिक अवस्था पागलों की-सी हो जाती है; आँखें स्थिर हो जाती हैं। इसी दैवी शक्ति की वंदना आरंभ में सरस्वती के नाम से की जाती है। इसी कारण उनको लोग पागल समझते हैं। कहावत है, कहने से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता। ठीक इसी प्रकार कहने से उत्कृष्ट कविता नहीं बन सकती; क्योंकि कल्पनाएँ वश की तो रहतीं नहीं। बहुत-से कवियों के विषय में तो ऐसी किंवदंती है कि वे अपनी कविताओं का अर्थ ही नहीं कर सकते। अँगरेज़ी-साहित्य में बायरन एक प्रसिद्ध कवि हो गया है। उसकी कविताओं की भाषा तो अत्यंत सरल है, पर भाव अत्यंत गूढ़। उसकी जीवनी में लिखा है कि एक समय उसके एक मित्र ने उससे किसी पद्य का अर्थ पूछा। उसने उत्तर दिया—"भई, हम कवियों का काम है लिखना; उसका अर्थ लगाना पाठकों का काम है। न-जाने उस समय हमारे मन में कौन-सी कल्पना थी।" अनुसंधानों में भी मनुष्यों की यही अवस्था रहती है। हमारा यह समझना सरासर भूल है कि विज्ञान में कल्पनाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती। किसी अन्वेषणकर्ता के कार्य देखिए। वह कल्पना के बाद कल्पना करता है। एक विशेष उदाहरण लीजिए। समस्या है कि वायुमंडल में कौन-कौन-से तत्त्व हैं। अन्वेषक ने कल्पना की कि इसमें अम्लजन और कार्बन, दो तत्त्व हैं। इसी कल्पना पर परीक्षा करना आरंभ किया। फिर अनेक तत्त्व और भी मिले, जिससे पहली कल्पना असत्य प्रमाणित हुई। इसी प्रकार अन्वेषक का काम कल्पना-पर-कल्पना तथा उनके सत्यासत्य का विचार करना ही है। अतएव हम देख चुके कि कल्पना के बिना विज्ञान भी नहीं बढ़ सकता।

अचेतन-कल्पना के अतिरिक्त सचेतन अथवा ऐच्छिक कल्पना भी होती है। इसी प्रकार की कल्पनाओं की चेतना और इच्छा हमें रहती है। हम पहले बतला चुके हैं कि कल्पना अचेतन होती है। एक-पर-एक विचार हमारे मानस-पटल पर अंकित और अपने साहचर्य के नियमों के अनुसार संघटित होते हैं। पुनः या तो हम इच्छा-पूर्वक अतीत को अपनी कल्पना में ला सकते और अपनी कल्पना की सृष्टि आप कर सकते हैं, अथवा अचेतन-कल्पनाओं को अपनी इच्छा के अनुसार नई कल्पना में गढ़ सकते हैं। यहाँ हम यह देखते हैं कि अचेतन-कल्पना सचेतन अथवा ऐच्छिक कल्पना को सामग्रियाँ पहुँचा सकती है। अस्तु, अचेतन-कल्पना के विचार-प्रवाह को बल-पूर्वक अपनी इच्छा के अनुसार भी हम गढ़ ले सकते हैं। ऊपर हम कवियों के विषय में लिख चुके कि उनकी कल्पनाएँ अचेतन होती हैं। पर साथ ही यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं कि प्रतिभा-शाली कवि अचेतन-कल्पनाओं के विचार अपने मन के अनुसार नई कल्पना में भी गढ़ सकते हैं। शेक्सपियर ने कवियों के विषय में लिखा है—

The poet's eye in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven,
And as imagination bodies forth,
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes, and gives to airy nothing
A local habitation and name.

सारांश यह कि कवि संसार के सभी अनुभवों को अपनी इच्छा के अनुसार संगठित कर एक आश्चर्यमयी सृष्टि करता है, और इस ढंग से करता है कि सब सत्य मालूम होता है।

पर ऐच्छिक कल्पना में आशा अवश्य होती है। कवि जब अपनी कविता में कल्पना करता है, तो उसे यह आशा तो अवश्य ही रहती है कि हमारी कल्पना अत्यंत सुंदर होगी, और अत्यंत मंगलप्रद भी; हमारी कल्पना को जनता पसंद करेगी। जेम्स वॉट जब बच्चा था, एक दिन उसके यहाँ चायदानी में चाय खौल रही थी। चायदानी भाप से भर गई थी। ढकना उठता और गिरता था। यह उसने अनुभव किया। गाड़ी के चलने का अनुभव तो पहले ही से था। अब इन दोनों अनुभवों का उसने संगठन कर

लिया, और एक ऐसी गाड़ी की कल्पना की, जो आप से चलेगी। उसका हृदय आशा से भरा हुआ था। इन उदाहरणों से यह तो स्पष्ट है कि ऐच्छिक कल्पना में आशा कुछ-न-कुछ अवश्य रहती है। इसके बिना कल्पना ठहर ही नहीं सकती।

पर, सब ऐच्छिक कल्पनाएँ एक-सी नहीं रहतीं। ऐच्छिक कल्पनाओं के भी दो भेद होते हैं। उनके नाम क्रम से रचना-प्रधान ऐच्छिक कल्पना और ग्रहण-प्रधान ऐच्छिक कल्पना हैं। ग्रहण-प्रधान ऐच्छिक कल्पना में हमारा हाथ नहीं रहता। इसमें कल्पना की सामग्रियाँ बाहर से मिलती हैं। ऐसी कल्पनाओं को मूल-कल्पना नहीं कह सकते। कारण, ऐसी कल्पनाएँ हमारी निज की नहीं होतीं; दूसरे मनुष्यों के इशारे पर हमारे मानस-मंदिर में प्रवेश करती हैं। ऐसी कल्पनाओं और स्मृति में भूल हो सकती है; क्योंकि इन कल्पनाओं में हमारी अपनी रचना तो रहती नहीं, और इसी कारण हम इनको स्मृति समझ सकते हैं। पर स्मृति और ग्रहण-प्रधान ऐच्छिक कल्पना में कुछ भेद अवश्य है। स्मृति में हम अपने अनुभवों को मन में लाते हैं; पर वहाँ अपने अनुभवों से काम नहीं है। वहाँ हम दूसरों के अनुभव अपनी कल्पना में लाते हैं। कल्पना कीजिए कि हम भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का 'सत्य-हरिश्चंद्र' पढ़ रहे हैं। श्मशान का दृश्य है। पढ़ते-पढ़ते हरिश्चंद्र की कल्पना मानस-मंदिर में प्रवेश करती है। पर यह कल्पना हमारी नहीं, भारतेंदु बाबू की है। शेक्सपियर का 'हैमलेट' पढ़ रहे हैं, तो हैमलेट के पागलपन की बातें पढ़-पढ़कर उसके पागलपन की कल्पना हम करने लगते हैं। यहाँ भी कल्पना अपनी नहीं, शेक्सपियर की है। सिपाही-विद्रोह का इतिहास पढ़कर और अँगरेज़ों के दुःख का स्मरण कर उस समय की कल्पना हमारे मानस में आ जाती है। पर यह कल्पना हमारी नहीं, ऐतिहासिक है। तुलसीदास की 'रामायण' में धनुष-यज्ञ का प्रसंग पढ़ते-पढ़ते उस समय की कल्पना हमारे मन में चली आती है। पर कल्पना हमारी नहीं, तुलसीदास की है। इन्हीं सब कल्पनाओं को ग्रहण-प्रधान ऐच्छिक कल्पना कहते हैं। कारण, इनमें ग्रहण करने की प्रधानता है।

ऐच्छिक कल्पना का दूसरा भेद, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, रचना-प्रधान कल्पना है। यहाँ रचना की प्रधानता तो रहती है, पर कल्पना अपनी रहती है। सामग्रियाँ भले ही बाहर से आवें; पर उनका संगठन हमारे हाथ में है। बाहर से मिली हुई सामग्रियों का संगठन मन अपने नियम के अनुसार करता है। इस प्रकार की कल्पना कविता करने तथा उपन्यास और इतिहास लिखने में काम आती है। उपन्यास और कविता पढ़ने में हमको लेखकों की कल्पनाएँ मन में ले आनी पड़ती हैं; पर लिखने में हमें अपनी कल्पनाएँ दूसरों को देनी पड़ती हैं। यह कल्पना अंतस्तल में सबसे प्रधान रहती है। मन जब अत्यंत विकसित हो जाता है, तब यह कल्पना हमारे मन में आती है।

कल्पना के उपयोग

हमने अपने 'सौंदर्य-शास्त्र-'शीर्षक लेख में यह बतलाया है कि ब्रह्म 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है, और हमारे जितने भी शास्त्र हैं, ब्रह्म की प्राप्ति के लिये हैं। कोई सत्य की खोज करता है, तो कोई मंगल में, और कोई सुंदर में लगा रहता है। संसार में जितने उपयोगी पदार्थ हैं, वे सब इन तीनों प्रकार से हमारे उपयोग में आते हैं। अस्तु, हम कल्पना के उपयोग के तीन भेद पाते हैं—यथा सत्य, सुंदर और मंगल।

सत्य—कल्पना सत्य की जननी कहलाती है, जब हम इसका प्रयोग सत्य की प्राप्ति के लिये करते हैं। यहाँ हम पदार्थ की ऐसी कल्पना करते हैं, जो उसके सत्य के रूप के अनुसार होती है। कारणों और नियमों की कल्पना सत्य की जाती है। सारांश यह कि सत्य ही की प्राप्ति के लिये ऐसी कल्पनाएँ की जाती हैं। पुस्तक पढ़ने में, वैज्ञानिक अन्वेषण करने में हमें ऐसी कल्पनाओं की आवश्यकता पड़ती है। पहले में ग्रहण-प्रधान कल्पना और दूसरे में रचना-प्रधान कल्पना की आवश्यकता होती है। यह समझना हमारी भूल है कि पढ़ने में केवल स्मृति ही का काम होता है। बात तो यों है कि पढ़ने में कल्पना भी कम आवश्यक नहीं है। यदि हम पाठ्य-विषय की कल्पना ठीक-ठीक कर सकें, तो हमें उसके समझने में आसानी होगी। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि विज्ञान में भी कल्पना का काम पड़ता है। इस विषय पर लिखा जा चुका है। इसी कारण हम विज्ञान में उपमा से काम लेते हैं। पृथ्वी हमारी कल्पना



तुलसी-पूजन

[चित्रकार - श्रीयुत काशिनाथ-गणेश खातू]

तिय तुलसी-सी पतिब्रता, गुन-गन-रूप-निधान,
हिय-हुलसी तुलसी-तरहि पूजति, पिय धरि ध्यान।

दुलारेलाल भार्गव

N. K. Press, Lucknow

के परे है, अतएव समझने के लिये पृथ्वी की उपमा नारंगी से देते हैं।

मंगल—कल्पना मंगल की जननी कहलाती है, जब हम इसका प्रयोग अपने कार्य में मंगल-प्राप्ति के लिये करते हैं। यहाँ हम ऐसे कार्यों की कल्पना करते हैं, जिनको हम और आप कर सकते हैं, और जहाँ हमें सफलता प्राप्त हो सकती है। जीवन के साधारण-से-साधारण काम में भी कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। बालक चलने या दौड़ने के पहले कल्पना ही से काम लेता है। यह कल्पना मशीन इत्यादि के आविष्कार में भी सहायता देती है। आविष्कार के पहले ही मनुष्य अपने आविष्कार की सामग्री की कल्पना कर लेता है। यह बात जेम्स वॉट साहब के उदाहरण से स्पष्ट है।

सुंदर—कल्पना सौंदर्य की जननी कहलाती है, जब हम इसका प्रयोग सौंदर्य के लिये करते हैं। यहाँ न तो ज्ञान ही की वृद्धि होती है, और न किसी उपयोगी वस्तु का आविष्कार ही। इस प्रकार की कल्पना का विशेष संबंध भाव से है। सचमुच जब कभी हम कल्पना का नाम लेते हैं, तब कल्पना भाव ही से प्रेरित और उसी पर स्थित रहती है। जब हममें भावों की अधिकता होती है, तो साथ-ही-साथ कल्पना की भी अधिकता होती है। उदाहरण के लिये हम यह कह सकते हैं कि भय के उद्रेक से भ्रम की उत्पत्ति होती है। भाव ही हमारी कल्पना के धारा-प्रवाह को घुमाते हैं। जैसा भाव उठता है, वैसी ही कल्पना भी होती है। अतएव आनंद में हम आनंद ही की कल्पना करते हैं। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि इस प्रकार की कल्पना, जिसका हम यहाँ वर्णन कर रहे हैं, हमारे भावों को विस्तीर्ण कर देती है। साधारणतः हमारे भाव संकुचित रहते हैं; पर इस कल्पना में हम प्रकृति के आनंद उठाते हैं। हम यहाँ अपने भविष्य का सुंदर फ़ोटो खींचते हैं। प्रकृति हमारी उन आँखों में बसने लगती है, जो उसे देख सकती हैं। प्रकृति के सौंदर्य के भावों से हमारा हृदय उमड़ उठता है। यही कल्पना शिल्प-कला, चित्र, संगीत और कविता में पाई जाती है। पहली दोनों को तो व्यावहारिक भी कह सकते हैं, पर पिछली दोनों का तो केवल सौंदर्य ही से संबंध है।

इस प्रकार हम देख चुके कि कल्पना सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् की प्राप्ति में किस प्रकार सहायता देती है, और इसके द्वारा 'ब्रह्म' की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है।

उपसंहार

संसार में जितने पदार्थ हैं, सबमें कोई-न-कोई गुण-अवगुण अवश्य ही है। गुलाब में सुंदरता है, तो साथ-साथ काँटे भी; चाँद में सुंदरता है, तो साथ-साथ धब्बे भी। कहाँ तक गिनाया जाय, गुण-अवगुण सभी में हैं। हम यहाँ कल्पना के गुणों का वर्णन तो कर ही चुके; अब कुछ अवगुणों का उल्लेख कर लेख समाप्त करेंगे।

किसी कवि ने कहा है—

अतिदर्पेण वै सीता अतिगर्वेण रावणः;
अतिदानाद्बलिर्बद्ध अति सर्वत्र वर्जयेत्।

सारांश यह कि अति सर्वत्र वर्जित है। आवश्यकता से अधिक रगड़ने पर चंदन से भी आग निकलती है। अत्यंत कल्पना से पागलपन आ जाता है। पागल अपनी कल्पना और सत्ता में भेद नहीं जानता। उसकी सब कल्पनाएँ उसे सच ही मालूम होती हैं। अत्यंत कल्पना के कारण कार्य में भी बाधा पड़ती है, जैसा शेक्सपियर ने हैमलेट के चरित्र-चित्रण में स्पष्ट कर दिखलाया है। सदा उसके मन में "To be or not to be" (जीने अथवा न जीने) की समस्या टकराती रहती थी, जिसके कारण वह न अपने पिता का बदला ले सका, और न अपनी प्रेमिका का ऋण चुका सका। इसके अतिरिक्त इसके दुरुपयोग से भ्रम और विभ्रम-नामक दो मानसिक भूलों की भी उत्पत्ति होती है। सामने रस्सी है। हम उसे साँप समझकर डर जाते हैं। यह हमारा भ्रम है; हमारे सामने कुछ भी नहीं है। पर अकेले निर्जन स्थान में एक अबोध बालिका पर बलात्कार किया है, उसकी कल्पना हमारे सामने है; और वह कल्पना इतनी सजीव है कि उसकी मूर्ति हमें प्रत्यक्ष मालूम होती है। इसी को विभ्रम कहते हैं। भ्रम और विभ्रम में अंतर इतना ही है कि भ्रम में पदार्थ रहता है, और विभ्रम में नहीं।

"बाण"

वर्तमान नेपाल



जब से हिंदू-संगठन की आवाज़ बलंद हुई है, तब से हिंदू-राज्य नेपाल की चर्चा भी ज़ोरों से चल पड़ी है। अभी हाल में नेपाल-सरकार ने अपने राज्य से गुलामी की प्रथा उठा देने की जो घोषणा की है, उससे संसार की आँखों में नेपाल का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। कलकत्ते में इस साल नेपाल सम्राट् का जन्म-महोत्सव भी बड़ी धूमधाम से मनाया गया है। लाला हरदयाल और श्रीयुत सावरकर ने भी हिंदू-संगठन के कार्यकर्ताओं को आदेश दिया है कि हिंदू-राष्ट्र नेपाल को हिंदू-संगठन का मेरुदंड बनाना चाहिए। वास्तव में इस समय नेपाल ही एक ऐसा सर्वतंत्र स्वतंत्र हिंदू राज्य है, जिस पर प्रत्येक हिंदू को गर्व होना चाहिए। प्राचीन हिंदू-सभ्यता के आदर्श की झलक अभी तक नेपाल में ही देखी जाती है। कलकत्ते के सुप्रसिद्ध अँगरेज़ी-मासिक पत्र 'माडर्न रिव्यू' में नेपाल पर एक सचित्र लेख निकला है। हम यहाँ हिंदी-पाठकों के लिये उसका आवश्यक अंश संकलित करते हैं, और अन्यान्य स्थलों से भी कुछ जानने योग्य बातें संग्रह किए देते हैं—

भारतवर्ष की उत्तरीय सीमा नागराज हिमालय से आच्छादित है। उसी के अंदर नेपाल-राज्य का विस्तार है। नेपाल-राज्य के उत्तर में तिब्बत है, दक्षिण में युक्त-प्रांत और बिहार के उत्तरीय ज़िले हैं, पूर्व में दार्जिलिंग और सिकिम तथा पश्चिम की ओर अलमोड़ा और नैनीताल हैं। पूर्व से पश्चिम तक राज्य की लंबाई ४५० मील है, और चौड़ाई १२० से १६० मील तक। कुल रक़बा ५४,००० वर्गमील है। जन-संख्या ५६,००,००० है। प्रति वर्गमील लगभग १०० मनुष्यों की बस्ती है। गोरखा, नेवार, मागर, किरात और भूटिया आदि जातियाँ बसती हैं। राजधानी में अधिकतर गोरखों और नेवारों की बस्ती है।

आदिम इतिहास क़िस्से-कहानी के रूप में चला आता है। शुरू में कुछ दिन गौड़ (बंगाल) और कांची (कांजीवरम्) के राजों ने राज्य किया। तब आए गुजरात के अहीर और पूर्व-देश के किरात। किरातों का सातवाँ राजा महाभारत में पांडवों की ओर से लड़ा और कुरुक्षेत्र ही में मारा गया था। सम्राट् अशोक जब नेपाल में गए थे, तब किरातों का राज्य था। किरात-राज्य के बाद सोमवंशी (चंद्रवंशी) और सूर्यवंशी क्षत्रियों ने नेपाल में राज्य किया। उसी समय भगवान् शंकराचार्य नेपाल गए थे, और हिंदू-धर्म का सुधार किया था। तदुपरांत नोआकोट के ठाकुरों का राज्य हुआ। सातवीं शताब्दी के मध्यभाग में अंशुवर्मन्-नामक राजा नेपाल में राज्य करता था। नवीं शताब्दी में नान्यदेव अपने साथ नेवारों को ले आए, जो मंगोल-जाति की एक शाखा थे। ग्यारहवीं शताब्दी के अंत में बंगाल के राजा विजयसेन ने नेपाल को जीत लिया। सन् १३२४ ई० में अयोध्या के हरिसिंहदेव नेपाल की तराई में सिमरावँगढ़-नगर बसाकर बस गए। धीरे-धीरे नेपाल की सारी तराई पर उनका अधिकार हो गया। फिर चौदहवीं शताब्दी के अंत में वहाँ जयस्थितिमल्ल-नामक राजा का राज्य स्थापित हुआ।

इसी समय के लगभग, चित्तौरगढ़-पतन के बाद, मेवाड़ के राणा-वंशी क्षत्रिय यहाँ आए, और नेपाल के पश्चिम



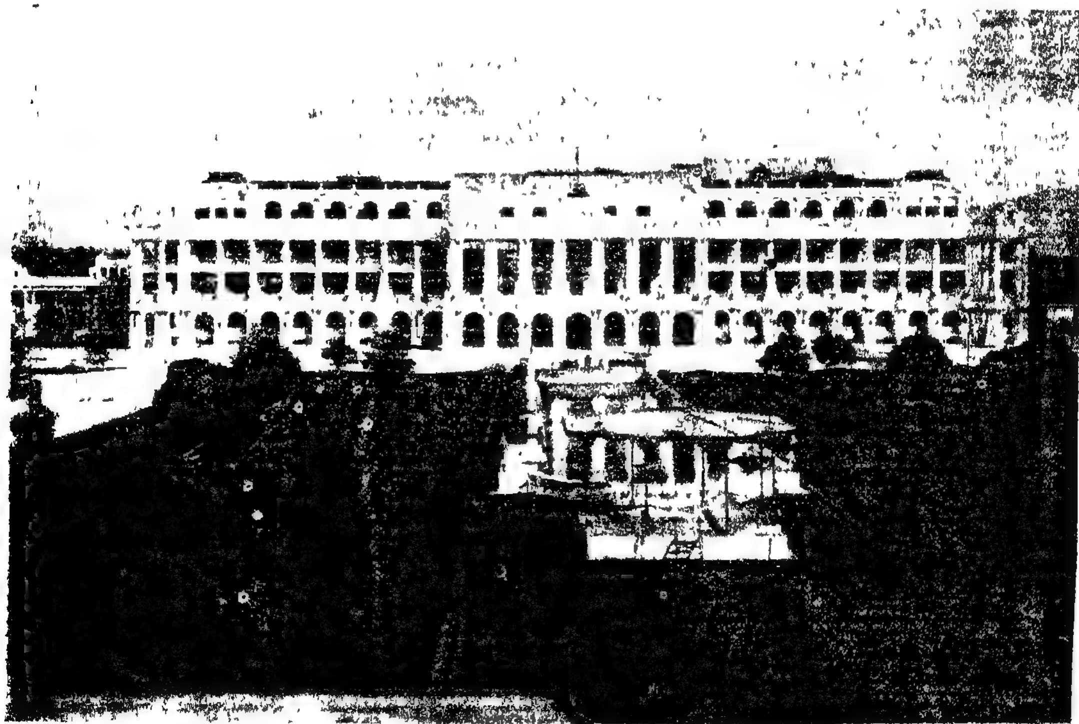
नेपाल के महाराज श्री ५ श्रीत्रिभुवनवीरविक्रमशाहदेव

ओर 'गोरखा'-नामक स्थान में बस गए। उन्हीं के एक वंशधर पृथ्वीनारायण-शाह ने नेपाल पर दख़ल जमाया। उस समय नेपाल का नाम कांतिपुर था। यह १७६८ ईसवी की घटना है। पृथ्वीनारायण-शाह ही सबसे पहले गोरखा-नरेश हुए। नेवारों के अंतिम राजा जयप्रकाशमल्ल थे। इन्हीं पृथ्वीनारायणशाह के वंशधर आज तक नेपाल पर शासन करते आ रहे हैं। वर्तमान नेपाल-सम्राट् है हिज़ मैजेस्टी महाराजाधिराज त्रिभुवनवीरविक्रमशाह देव बहादुर जंगबहादुर शमशेरजंग। इनके पूर्ववर्ती सम्राटों के नाम ये है—सिंहप्रताप-शाह, रणबहादुरशाह, गीर्वाणयुद्धशाह, राजेंद्रविक्रमशाह, सुरेंद्रविक्रमशाह और पृथ्वीवीरविक्रमशाह।



प्रधान मंत्री के निवास-स्थान सिंह-दरबार का फाटक

नेपाल की राजधानी 'काठमांडू' है। यह 'काष्ठ-मंडप' का अपभ्रंश है। कहते हैं, राजधानी में पहले एक ही वृक्ष के काष्ठ से एक पूरा मकान तैयार होता था, इसीलिये



महल — सिंह-दरबार

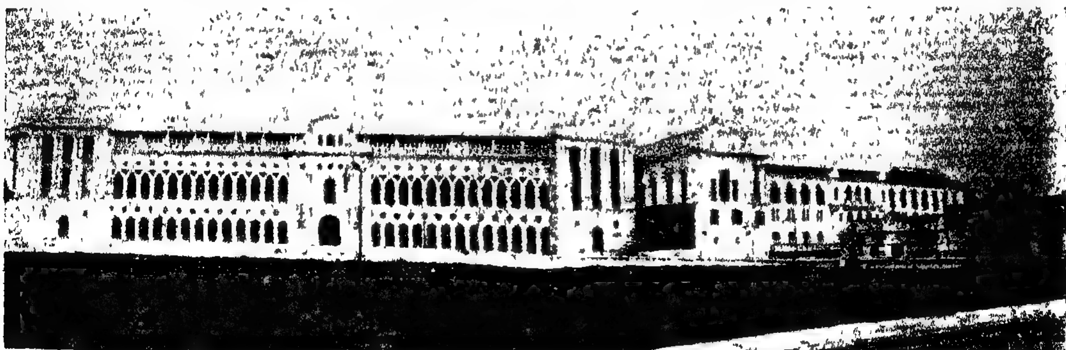
यह नाम पड़ा। जो हो, काठमांडू-नगर पहाड़ की तलहटी पर कंकणाकार पर्वत-शृंखला से घिरा और समुद्र-तल से ४,७४० फ़ीट की ऊँचाई पर बसा है। पहाड़-पहाड़ियों की अधिकता से यहाँ कोई बड़ी नदी नहीं है; फिर भी राजधानी की तिलड़ी करधनी की तरह तीन नदियाँ हैं। तीनों का संगम 'शंखमूल' नाम से प्रसिद्ध है। यह संगम राजधानी से दो मील दूर है। वहाँ का प्राकृतिक दृश्य अतीव सुंदर—अत्यंत रमणीय है। राजधानी से तीन मील दूर, कुछ पूर्व की ओर, 'मनोहरा'-नामक एक सुंदर नदी बहती है।



तपस्थली—महाराज सर जंगबहादुर का निवास-स्थान

राजधानी की बस्ती बहुत घनी है, और घनी बस्ती होने के कारण ही नगर के धनी-मानी, अमीर-उमरा और रईस-सरदार बाहर की ओर बसते चले जाते हैं। इस प्रकार इमारतों की संख्या बढ़ने से राजधानी का रक़बा भी बहुत बढ़ता चला जाता है। बड़े-बड़े लोगों ने नगर के बाहर जो आलीशान इमारतें बनवाई हैं, और राज्य की ओर से सार्वजनिक हित के लिये अनेक संस्थाओं के जो भव्य भवन बने हैं, उनके बीच 'सिंह-दरबार' की अद्भुत शोभा है। सिंह-दरबार ही वर्तमान प्रधान मंत्री का मुख्य निवास-स्थान है, और यही सदा के लिये नेपाल का 'गवर्नमेंट-हाउस' होगा। वहीं सम्राट् का महल भी है, जिसे नारायणहिट्टी-दरबार कहते हैं। इसके सामने ही लंबा-चौड़ा मैदान, अजायबघर और चिड़ियाख़ाना है। पुराना राजमहल राजधानी के अंदर 'हनुमान-ढोका' पर है। नए राजमहल के आस-पास—राजधानी की बस्ती से बाहर—पुस्तकालय, दरबार-स्कूल, त्रिभुवनचंद्र-कॉलेज, संस्कृत-पाठशाला, सरकारी अस्पताल, वीर-अस्पताल, श्रीचंद्र-बिजलीघर, श्रीचंद्रदातव्य औषधालय और सैनिक अस्पताल आदि की शानदार इमारतें हैं। उक्त संस्कृत-पाठशाला के सामने ही 'टुंडीखेल'-नामक सुविस्तृत मैदान है, जहाँ सैनिकों की क़वायद हुआ करती है।

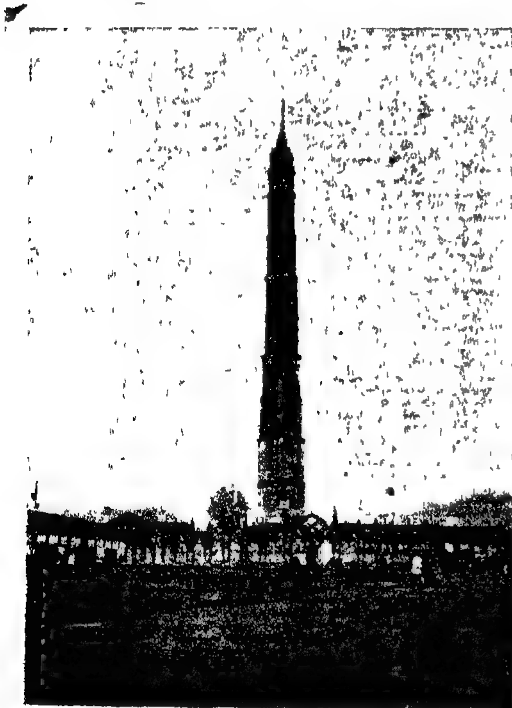
राजधानी के बीचोबीच एक अत्यंत विशाल घड़ियाल-स्तंभ (घंटाघर) है। वह ठीक 'रानी-पोखरी' के सामने पड़ता है, और कॉलेज की इमारतों के पास ही है।



नेपाल के महाराजाधिराज के महल का पूर्वी दृश्य



हनुमान-ढोका महल के प्रांगण के भीतर दो मंदिर



भीमसेन का धौंरहरा

इसके दूसरी ओर टुंडीखेल-मैदान के सामने लगातार कतार में अस्पताल और फ़ौजी छावनियों की बारकें हैं। उसी पंक्ति में, कुछ दक्षिण की ओर, एक अति विशाल दसमंज़िला धौंरहरा है, जिसे, आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व, भीमसेनथापा-नामक तत्कालीन राजमंत्री ने बनवाया था। वाग्मती-नदी पशुपतिनाथ के मंदिर की ओर पड़ती है। उसके दक्षिण-तट पर अँगरेज़ों और भारतवासियों के लिये अतिथिशालाएँ बनी हैं।

नगर-भर में हिंदू-देवतों के स्थान और मंदिर हैं। सब मंदिरों और देव-स्थानों में पशुपतिनाथ और गुह्येश्वरी भगवती, जो वाग्मती नदी के किनारे हैं, अधिक प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित तथा पूज्य हैं। वाग्मती नगर से लगभग डेढ़ कोस दूर है। उसका जल बड़ा स्वच्छ, मधुर और शीतल है। राजधानी में तो थोड़ी-थोड़ी दूर



बौद्धनाथ का मंदिर

(तिब्बत के लोग यहाँ ठहरना बहुत पसंद करते हैं)

पर ही देवालय मिलते हैं। काशी की तरह वहाँ भी असंख्य मंदिर हैं।

तराइयों में यत्र-तत्र बहुत-से बौद्ध-मंदिर और स्तूप भी हैं, जिनमें शंभुनाथ और बौद्धनाथ विशेष प्रसिद्ध हैं। पशुपतिनाथ का मंदिर कांचन के कलश से मंडित है। मंदिर के अंदर कोई प्रवेश नहीं कर पाता। बाहर से झाँकी-दर्शन होते हैं। मूर्ति बड़ी दिव्य है। पूजा षोडशोपचार-विधि से



पशुपतिनाथ के मंदिर का दृश्य



लेफ़्टिनेंट-जेनरल महाराज चंद्रशमशेरजंगबहादुर राणा जी० सी० बी०, जी० सी० एस्० आई०, जी० सी० वी० सी०, डी० सी० एल्०

होती है। राग-भोग और सेवाराधन बिलकुल राजसी ठाट का होता है। बड़े भारी-भारी विजय-घंट मंदिर के मंडप में लटक रहे हैं। पीतल का विशाल नंदी बड़ा सुंदर है। सम्राट्, सम्राज्ञी, प्रधान मंत्री, प्रधान सेनापति तथा अन्य बड़े-बड़े ओहदेदार और राजघराने की स्त्रियाँ प्रायः दर्शनार्थ चौकड़ी या मोटर पर आया करती हैं। मंदिर के पास पुलीस का प्रबंध अत्यंत शिष्ट, सभ्य और शांति-पूर्ण रहता है। शिवरात्रि के समय भारतवर्ष के असंख्य यात्री आते हैं। सम्राट् या पशुपतिनाथ के दर्शनार्थियों में किसी साधारण-से-साधारण यात्री को भी तनिक कष्ट नहीं होने पाता। सम्राट् नवयुवक हैं—बड़ी सौम्य सुष्ठु मूर्ति है ; किंतु वीर-वेष है। प्रधान मंत्री और प्रधान सेनापति तो वीरता और सादगी की प्रत्यक्ष मूर्ति हैं। देखकर एक बार हिंदुत्व के गौरव से छाती फूल उठती है।

लोगों का यह मिथ्या भ्रम है कि नेपाल में बाहरी कोई आने नहीं पाता। राजधानी में कपड़े के व्यवसायी मारवाड़ी बहुत हैं। पंजाबी भी बहुत हैं, जो मिठाइयों की दूकानें करते हैं। वहाँ के नेवार-जातिवाले भी अच्छे धनाढ्य व्यापारी हैं। बिहारी बढ़ई भी बहुत हैं, और मुसलमान दूकानदार भी कम नहीं हैं। कई पुश्तों से मुसलमान वहाँ

बड़ी शांति एवं संतोष के साथ रह रहे हैं। उनकी दो मसजिदें भी राजधानी में हैं। भारत की अन्य कई जातियाँ भी हैं। कितने ही मैथिल तथा बंगाली देवोत्तर एवं ब्रह्मोत्तर-संपत्तियों के अधिकारी हैं। अभी हाल में प्रधान मंत्री ने एक प्रकार की संपत्ति को, जो धनी पुजारियों और माल-मस्त महंतों के पेट में जाती थी, अनाथालय और कुष्ठाश्रम तथा दरिद्रालय के लिये दे दिया है। ख़ैर, शिवरात्र के समय लाखों दर्शनार्थी पशुपतिनाथ-धाम की यात्रा करते हैं। उनके लिये राज्य की ओर से ख़ास तौर से अनेक प्रकार की सुविधाएँ कर दी गई हैं। कोई रुकावट नहीं है। सिर्फ़ नेपाल की सीमा पर एक पासपोर्ट (प्रवेश-पत्र) लेना पड़ता है, जिसके लिये किसी तरह की फ़ीस नहीं ली जाती।

वर्तमान नेपाल की उन्नति का सूत्रपात गत शताब्दी में हुआ। उस समय प्रधान मंत्री थे महाराजा वीर शमशेर। आज हैं महाराज चंद्रशमशेरजंगबहादुर राणा। आप ब्रिटिश-सेना के भी अवैतनिक सेनाध्यक्ष हैं। आप ही की कृपा से दासत्व-प्रथा का मूलोच्छेद हुआ है। आप



महाराज चंद्रशमशेरजंगबहादुर राणा ऑनरेरी जेनरल ब्रिटिश आर्मी

बड़े तेजस्वी वीर, निर्भीक साहसी और उत्साही कर्मवीर हैं। राज्य के समस्त विभागों की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल और छान-बीन करके आपने उनमें समयानुकूल सुधार किए हैं। युग और देश की परिस्थिति के अनुसार पुराने क़ानून नए साँचे में ढाल दिए गए हैं। कितनी धाराएँ तो बिलकुल पलट ही दी गई हैं। और भी बहुत-से अदालती सुधार हुए हैं। आपके समय में एक हाईकोर्ट की भी स्थापना हुई है, जिसके प्रधान विचारपति (Chief Justice) हिज़ एक्सेलेंसी कमांडिंग जनरल धर्मशमशेरजंगबहादुर राणा हैं। एक कौंसिल भी बनी है, जिसके मेंबर कुछ तो राजघराने के लोग हैं, कुछ छोटे-मोटे राजा-रईस हैं, और कुछ सरकारी ऑफ़िसर भी हैं। अपील के लिये जो प्रिवी-कौंसिल है, उसे 'निकसारी अड्डा' कहते हैं। बड़ी कौंसिल (एसेंबली) के सभापति हैं माननीय सुप्रदीप्त मान्यवर जनरल सर तेज़शमशेरजंगबहादुर राणा के० सी० आई० ई०, के० बी० ई०।

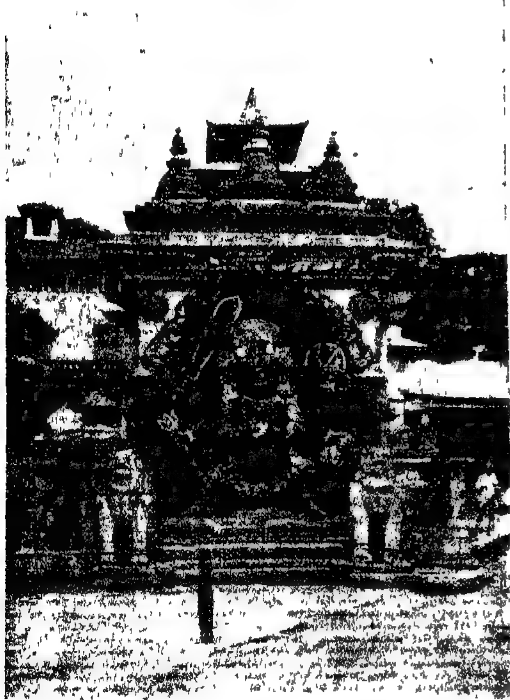
इनके अलावा और भी कितने ही ऑफ़िस हैं। यथा— मुल्की अड्डा, मुल्की बंदोबस्त, मंदेशबंदोबस्त, भंसार (कस्टम ऑफ़िस), मुंशीख़ाना (फ़ॉरेन ऑफ़िस), रक़म-बंदोबस्त, कुमारी चौक (एकाउंटेंट जनरल), मुल्की खाना (ख़ज़ाना), पुलीस, टकसाल-घर और रजिस्टरी-ऑफ़िस इत्यादि।

प्रधान मंत्री महाराजाबहादुर के प्राइवेट सेक्रेटरी हैं। बड़े क़ाज़ी मान्यवर मरीचिमानसिंह सी० आई० ई० हैं। सरदार नारायणभगत होम सेक्रेटरी हैं। सुब्बा मुरलीधर उपरैती बी० ए०, एल्-एल्० बी० और ख़रीदार योग्मामणि आचार्य एम्० ए० क्रमशः क़ानून और डाक-विभाग के प्रधान ऑफ़िसर हैं। धार्मिक संस्थाओं के अध्यक्ष हैं हिज़ होलिनेस धर्माधिकार बड़ा गुरुजी तर्कराज राजगुरु पंडितजी। वहाँ के सबसे बड़े सिविलियन ऑफ़िसर क़ाज़ी ही हैं, जिनकी अधीनता में सरदार, मीर-सुब्बा, सुबा खरीदार, मुखिया, बहीदार और कारिंदे आदि हैं। केवल नर-हत्या और गो-हत्या के अपराधी को ही फाँसी दी जाती है; किंतु ब्राह्मण और स्त्री प्राणदंड से सर्वथा मुक्त हैं। शासन के किसी विभाग या राज्य के किसी दल विशेष में किसी प्रकार का मतभेद अथवा अनबन होने पर अंतिम निर्णय स्वयं प्रधान मंत्री करते हैं। उनका निर्णय इतना न्याय-पूर्ण होता है कि दोनों पक्ष संतुष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि प्रजा को वह संतान-तुल्य मानते हैं, और प्रजा उन्हें पिता-तुल्य।

वर्तमान प्रधान सेनापति हैं हिज़ एक्सेलेंसी सुप्रदीप्त मान्यवर जनरल सर भीमशमशेरजंगबहादुर राणा, और जंगी लाट हैं माननीय जनरल युद्धशमशेरजंगबहादुर राणा। प्रधान मंत्री के ज्येष्ठ पुत्र सुप्रदीप्त मान्यवर जनरल सर मोहनशमशेरजंगबहादुर राणा सेना-व्यवस्था-विभाग के प्रधान हैं। सेना का शिक्षण और संचालन अँगरेज़ी तरीक़े पर होता है। वर्दी भी अब नए फ़ैशन की कर दी गई है। सैनिकों की वेतन-वृद्धि भी हुई है। एक फ़ौजी स्कूल खोला गया है, जिसके अध्यक्ष हैं मान्यवर कर्नल भैरवशमशेरजंगबहादुर राणा सी० आई० ई०। सन् १६०८ में ४५ हज़ार पैदल सेना और २½ हज़ार तोपें थीं। इसके अलावा सुरक्षित (रिज़र्व) सेना भी बहुत थी। पर तब से आज तक सेना में बहुत वृद्धि हुई है। एक हज़ार घुड़सवारों की एक नई सेना तैयार हुई है। पाँच वर्ष तक चाहे जो सैनिक शिक्षा प्राप्त कर सकता है; पर सेना में भर्ती होना उसके लिये अनिवार्य नहीं होता। इससे नेपाली युवक युद्ध-कुशल होते हैं, और राष्ट्र का बल भी बढ़ता है। फ़ौजी बाजों के कप्तान ने इँगलैंड में शिक्षा पाई है। महायुद्ध के समय नेपाली सेना ब्रिटिश सरकार को दी गई थी। उसके नायक थे प्रधान मंत्री के द्वितीय पुत्र माननीय सुप्रदीप्त मान्यवर सर बब्बरशमशेरजंगबहादुर राणा। नेपाली सेना अफ़रीदियों के साथ बड़ी वीरता और सफलता से लड़ी थी। उसके फल-स्वरूप केवल सिपाहियों और ऑफ़िसरों को पदक एवं पुरस्कार ही नहीं मिले, नेपाल-सरकार को भारत-सरकार की ओर से दस लाख रुपयों की वार्षिक मंज़ूरी भी मिली। वास्तव में गोरखे बड़े ही कट्टर लड़ाके हैं—मुठभेड़ में उनका सानी नहीं मिलता।

सेना विभाग की तरह शिक्षा-विभाग की भी बड़ी अच्छी दशा है—क्रमशः उन्नति ही होती जा रही है। पहले-पहल सन् १८८० ईसवी में अँगरेज़ी हाई स्कूल स्थापित हुआ था। उसका कलकत्ता-विश्वविद्यालय से संबंध था। सन् १६१८ ईसवी में त्रिभुवनचंद्र-कॉलेज खुला। इसमें बी० ए० तक की पढ़ाई होती है। इसके प्रिंसिपल हैं मान्य सरदार बटुकिष्टो मैत्र एम्० ए०। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर हैं माननीय जनरलबहादुर शमशेरजंगबहादुर राणा। उनके

सहकारी हैं मेजर शिवप्रतापथापा बी० एस्-सी० । आज से तीस वर्ष पूर्व जहाँ एक ग्रेजुएट था, वहाँ अब कोड़ियों हैं । पाँच नेपाली छात्रों ने कलकत्ता-विश्वविद्यालय से अँगरेज़ी, अर्थ-शास्त्र, इतिहास और संस्कृत आदि में एम्० ए० पास किया है, और तीन पास हुए हैं कलकत्ता-मेडिकल कॉलेज से एम्० बी०-परीक्षा में । कुछ छात्र रुरकी और शिवपुर से इंजीनियर होकर भी निकले हैं । नेपाल-सरकार के ख़र्च से आज भी हिंदोस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में अनेक नेपाली छात्र क़ानून, विज्ञान, कला, कृषि, आयुर्वेद, वाणिज्य आदि की शिक्षा पा रहे हैं । प्रधान मंत्री ने पाँच छात्रों को जापान भेजा था। ये बड़े कुशल इंजीनियर, भूगर्भ-तत्त्ववेत्ता, कृषिविशारद और शस्त्र-यंत्री होकर आए हैं ।



कालभैरव की मूर्ति

यह सब कुछ होते हुए भी, खेद है, वहाँ कोई कन्या-विद्यालय नहीं है । किंतु फिर भी उच्च और मध्यम-श्रेणी के लोगों की लड़कियाँ निरक्षर नहीं हैं । शायद ही सौ में एक अपढ़ मिले तो मिले । उच्च जाति की लड़कियों में धड़ल्ले से अँगरेज़ी-शिक्षा का प्रचार होता जा रहा है ! साथ-ही-साथ उन्हें संगीत और कला-कौशल की भी शिक्षा मिलती जा रही है ।

राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में बहुत-सी निःशुल्क प्रारंभिक पाठशालाएँ भी खुल गई हैं । इससे साधारण जनता में यथेष्ट शिक्षा-प्रचार हो रहा है । इतना ही नहीं, नेपाल की समस्त शिक्षा-संस्थाएँ निःशुल्क हैं ? यहाँ पर इतना और कहने का लोभ-संवरण करना कठिन है कि 'भूमि-कर' अथवा 'मादक-वस्तु-कर' के सिवा वहाँ और कोई भी 'कर' नहीं है । इनकम-टैक्स का तो पता ही नहीं !

लगभग दस वर्ष हुए, 'गोरखाली भाषा' की उन्नति के लिये एक 'गोरखा-भाषा-प्रकाशिनी-समिति' नाम की सभा बनी थी । उसके संचालक हैं सुब्बु राममणि-आचार्य दिक्षित । उसके द्वारा छात्रों के हितार्थ भिन्न-भिन्न विषयों की सैकड़ों पुस्तकें रची और अनुवाद की गई हैं ।

राजधानी के 'वीर-अस्पताल' के प्रधान डॉक्टर हैं के० एल्० गुप्त । उनके नीचे छोटे-बड़े ६ असिस्टेंट हैं । एक नेपाली विशेषज्ञ नेत्रचिकित्सक भी है । वह समस्त भारत के नेत्र-चिकित्सालयों में भ्रमण कर चुका है । जेल का डॉक्टर अलग है । मिस एच्० सन एम्० बी० लेडी-डॉक्टर हैं । उन्हें भी एक सहकारिणी मिली है । रसायनशाला अत्यंत सुसंपन्न और सुसज्जित है । एक्स-किरण प्रयोग के लिये हाल में एक इमारत बनी है, जिसमें सब प्रकार के यंत्र लंदन से आकर फ़िट कर दिए गए हैं । कप्तान कैसरजंगथापा, जो कलकत्ता-मेडिकल-कॉलेज और देहरादून में शिक्षा पा चुके हैं, उक्त अस्पताल के अध्यक्ष हैं । लंदन के एक डॉक्टर के परामर्श से उक्त अस्पताल में ही एक यंत्र-चिकित्सा-भवन बना और अप-टु-डेट चिकित्सा-शस्त्रों से सुसज्जित किया गया है । राज्य-भर में १८ अस्पताल और १४ दातव्य-औषधालय हैं । एक मेडिकल स्कूल भी खुला है, जिसमें साधारण श्रेणी के डॉक्टर तैयार किए जाते हैं । उससे निकले हुए कई छोटे-मोटे डॉक्टर प्रजा की प्रशंसनीय सेवा कर रहे हैं । उसी स्कूल का एक डॉक्टर गत महायुद्ध में अपनी सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप ब्रिटिश-सरकार से ओ० बी० ई० की उपाधि पा चुका है ।

इसी प्रकार इंजीनियरिंग-विभाग भी उन्नतिशील हो रहा है । पहले एक बंगाली सज्जन चीफ़ इंजीनियर थे ।

उन्होंने ही कलकत्ते के गवर्नमेंट-हाउस के नमूने पर स्वर्गीय प्रधान मंत्री का दरबार-महल बनाया था। किंतु अब शिवपुर, पटना, पूना और रुड़की के पास-शुदा नेपाली इंजीनियर बड़ी कुशलता से काम कर रहे हैं। इस कला के संबंध में कमांडिंग कर्नल कुमार-नरसिंह राणा सी० ई० और कर्नल किशोरनरसिंह राणा सी० ई० के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनो सज्जन इँगलैंड और अमेरिका के इंजीनियरिंग-एसोसिएशन के अवैतनिक सदस्य हैं। सात पुश्तों से नेपाल में बसनेवाले एक बंगाली ग्रेजुएट महाशय अभी हाल में सिविल-सर्विस में लिए गए हैं। आशा की जाती है कि निकट-भविष्य में वह किसी प्रांत के गवर्नर नियुक्त होंगे। राज्य में सबके लिये उदार भाव है।



भटगाँव का पँचमंजिला मंदिर

प्रधान मंत्री के तृतीय पुत्र माननीय सुप्रदीप्त मान्यवर जनरल सर कैसर शमशेर राणा जंगबहादुर म्युनिसिपलिटि के चेयरमैन हैं। म्युनिसिपलिटी बड़ी मुस्तैदी से काम कर रही है। राजधानी में ज़मीन के अंदर नालियाँ नहीं थीं। सड़कें भी पुराने ढंग की थीं। अब नालियाँ और सड़कें बहुत ही सुंदर बन रही हैं। सड़कों पर गिट्टियाँ जमाने के लिये एंजिन भी मँगा लिए गए हैं। ब्रिटिश-भारत के 'रक्सौल'-(चंपारन) रेलवेस्टेशन (बी० एन्० डब्ल्यू० आर०) से नेपाल-राज्य के अंदर तक पक्की सड़क पीटी जा रही है। मोटर-लॉरी दौड़ाने की भी व्यवस्था हो रही है। पहाड़ों को खोदकर रास्ते निकालने के लिये इँगलैंड और भारत से बड़े अच्छे-अच्छे इंजीनियर बुलाए गए हैं। राजधानी से १८ मील दूर 'भीमफेदी' तक तो पहले ही से मोटर चल रही है। वर्तमान प्रधान मंत्री के समय में राज्य-भर में काठ और लोहे के अनेक पुल बने हैं। साथ ही यात्रियों की सुविधा के लिये मार्ग में अनेक धर्मशालाएँ भी बनी हैं।



भटगाँव-दरबार का प्रांगण

सन् १८८२ में राजधानी में पानी का नल लगा था। उसे 'वीर-धारा' कहते हैं। यह स्वर्गीय प्रधान मंत्री की कीर्ति है। इसके बाद भीम-फेदी, सिंधुलाकर, भटगाँव और पाटन में भी जल-कल बनी है। पाटन की जल-कल वर्तमान प्रधान मंत्री की स्वर्गीय बड़ी महारानी के नाम पर उत्सर्गीकृत है। इन जल-कलों के बनने से प्रजा का बड़ा उपकार हुआ है। जब पानी का नल न था, तब पहाड़ का पानी लग

जाने से असंख्य मनुष्य अनेक रोगों के शिकार होकर मौत के मुंह में चले जाते थे।

राजधानी से सात मील दूर फरपिंग में बिजलीघर भी बन गया है। अमेरिका और इँगलैंड के इंजीनियरों ने इसे बनाया है। अब नेपाली इंजीनियर चला रहे हैं। राजधानी की गली-गली में रात-भर बिजली की रोशनी जगमगाती रहती है। पहाड़ी दृश्य के साथ-साथ यह विद्युत्प्रकाश का मनोरम दृश्य बड़ा ही सुहावना प्रतीत होता है।

वर्तमान युग की सभ्यता के समग्र प्रसादों से परिपूर्ण होकर नेपाल-राज्य इस समय सर्वथा दर्शनीय बन रहा है। अब तो झूला-रेल भी बन रही है। मिस्टर आर० एस० अंडरहिल एम० ए० (कैंटब) की देख-रेख में काम भी शुरू हो गया है। प्रधान मंत्री ने इसके लिये बीस लाख रुपयों की मंजूरी दी है।

पहले सूखा चमड़ा राज्य से बाहर—विदेशों में—चला जाता था। अब एक भारतीय ने चमड़े की फ़ैक्टरी खोली है। बिजली के प्रवेश से ही यह सुविधा प्राप्त हुई है। नाज कूटने, छाँटने, दलने और पीसने की मशीनें अब बिजली से ही चलती हैं। सोडावाटर-लेमनेड भी बनता है। ब्लॉक भी बनने और छपने लगे हैं। प्रेस भी खुल गया है। बिजली भवानी की इन सारी विभूतियों के साथ-साथ टेलीफ़ोन भी राजधानी से वीरगंज तक लग गया है। उपर्युक्त 'रक्सौल' के पास ही वीरगंज है। यह ब्रिटिश भारत की सीमा के पास, नेपाल की दक्षिणी सीमा पर, एक समृद्धिशाली नगर है। यहाँ नेपाल-सरकार का अस्पताल, जेल, कचहरी, डाकखाना और थाना आदि है। व्यापार का एक प्रधान केंद्र भी है। यहीं से नेपाल-राज्य में प्रवेश करने के लिये परवाना (आज्ञापत्र) मिलता है। कुली और ताँगे-तंजाम आदि सवारियाँ भी मिलती हैं।



गोसाईंस्थान-पर्वत—नेपाल में सबसे पवित्र स्थान

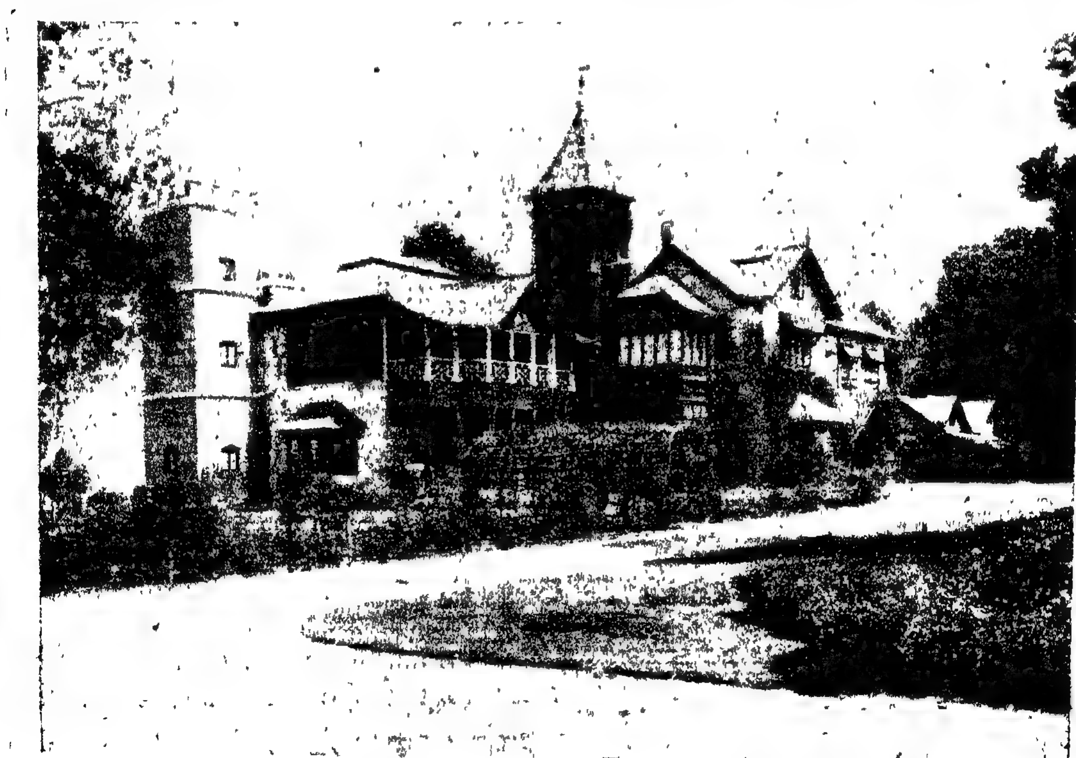
कृषि की उन्नति के लिये एक बहुत बड़ी नहर निकाली

जा रही है, जिसमें अब तक १४ लाख रुपए ख़र्च हो चुके हैं। बहुत-सी खानें भी हाल में मिली हैं। कोयले की तो एक बहुत बड़ी खान मिली है। आशा है, नेपाल-राज्य की व्यापारिक उन्नति में वह बड़ा काम देगी। आजकल बंदूक़ों और गोले-बारूद के कारख़ाने केवल नेपाली इंजीनियरों की देख-रेख में बड़े मज़े से चल रहे हैं। कर्नल भक्तबहादुर हाल ही में जापान से हथियार वग़ैरह बनाने की शिक्षा पाकर आए हैं। इन्होंने एक हावितज़र-तोप बनाई है, जो २,००० गज़ दूर तक गोला फेंक सकती है। नेपाली शस्त्रागारों में अब टोंटेदार बंदूक़ें भी बहुत अच्छी बनने लगी हैं।

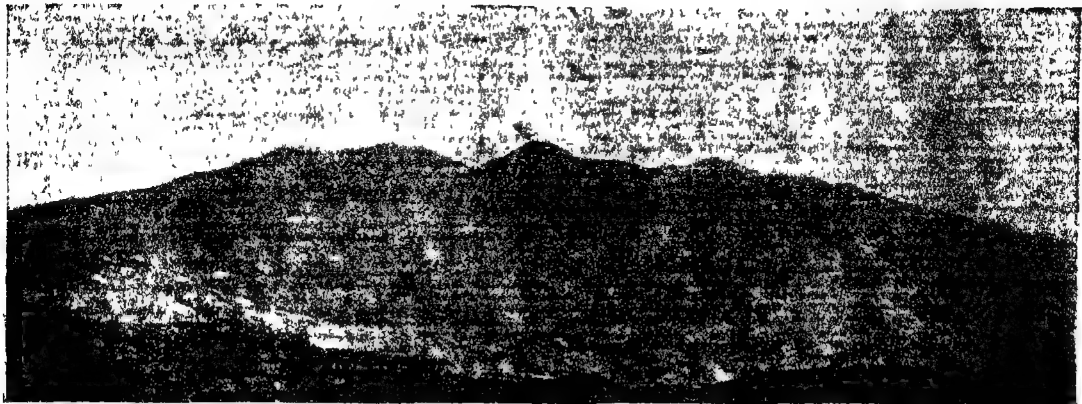
पुलीस का संगठन भी बहुत बढ़िया है। हज़ारीबाग़ (बिहार) से कई ग्रेजुएट शिक्षा पाकर आए और बड़ी तत्परता से काम कर रहे हैं। क़ैदियों को नए-नए ढंग के काम सिखाए जा रहे हैं। जेल का पुराना मकान तोड़कर नया दुतल्ला पक्का मकान बनवाया गया है। जेल की बनी चीज़ों की आमदनी से क़ैदियों के सुधार का उपाय किया जाता है।

नेपाल की प्रचलित भाषा 'गोरखाली' नागराक्षरों में ही लिखी जाती है। अक्षरों की बनावट क़रीब-क़रीब हिंदी से मिलती-जुलती है। चाँदी का 'मोहर'-नामक नेपाली सिक्का ब्रिटिश-भारत के।≈)। के बराबर होता है। सोने के सिक्के अशर्फ़ी कहलाते हैं। ताँबे के पैसे भी चलते हैं। ब्रिटिश-भारत के ही सिक्के सर्वत्र प्रचलित हैं।

ब्रिटिश-भारत में नेपाल-सम्राट् का बड़ा सम्मान है। उन्हें गोरी सरकार ३१ तोपों की सलामी देती है। प्रधान मंत्री के लिये २१ और प्रधान सेनाध्यक्ष के लिये १६ तोपों की सलामियाँ दगती हैं। सन् १९२३ की २१वीं दिसंबर को काठमांडू-राजधानी में अँगरेज़-सरकार और नेपाल-सरकार में मित्रता का एक संधिपत्र भी लिखा जा चुका है। उसमें अन्यान्य बातों के साथ-साथ यह भी तय हो चुका है कि नेपाल-सरकार विदेशों से जो अस्त्र-



रेज़िडेंसी



रेज़िडेंट के बँगले से पहाड़ियों का दृश्य

शस्त्र या गोले-बारूद अथवा दूसरी तरह के माल मँगावेगी, उन पर किसी प्रकार का कर न लग सकेगा। मगर अस्त्र-शस्त्र वहीं तक, जहाँ तक भारत के लिये खतरनाक न हो!!! इसी प्रकार सन् १८२४ में तिब्बत के साथ भी नेपाल की संधि हुई थी। उसके अनुसार तिब्बत-सरकार प्रतिवर्ष १०,०००) रुपए नेपाल को देती है, और नेपाल का एक राजप्रतिनिधि तिब्बत की राजधानी 'ल्हासा' में रहा करता है।

शिवपूजनसहाय

हर्षोद्गार*

(१)

धन्य! यह कमनीय कोशलभूमि परम ललाम ;
'गुरुप्रसाद'-विभूति लहि जहँ लसत जन 'श्रीराम'।
विमल मानस तें अभंग तरंग सरयू लाय ;
विमल मानस बीच तुंग तरंग देति उठाय—

(२)

बाल दिनकर, जासु सैकत-राशि पै कर फेरि ;
रामपद-नख ज्योति निर्मल नित्य काढ़त हेरि।
जासु पुलिन पुनीत पै करि शंखनाद-प्रचार ;
होति है भू-भार-हर की सदा जय-जयकार।

(३)

दलित जीवन के हमारे क्षीण सुर में लीन ;
धर्म के जयनाद की यह गूँज अति प्राचीन—
नाहिं हारन देति, हिय में करति बल संचार ;
देति आस बँधाय, टरिहैं अनय-अत्याचार।

(४)

मर्म-स्वर सब भूत को लै, करुण प्रेम जगाय ;
आदि-कवि, कल-कंठ तें प्रगटी गिरा जहँ आय।
बैठि तुलसी जहाँ 'मानस'-द्वार खोलि अनूप ;
दियो सबहिं दिखाय हरि को लोक-रंजन रूप।

(५)

सकल सुषमा प्रकृति की लै, रुचिर भाव मिलाय ;
गए श्रीद्विजदेव जहँ पीयूष-रस बरसाय।
निरखि वाही ठौर पै यह विज्ञ सुकवि-समाज ;
होत पुलकित गात, हृदय प्रमोद-पूरित आज।

रामचंद्र शुक्ल

* गत २० सितंबर को फैजाबाद के कवि-सम्मेलन में, सभापति के रूप में, पठित। —माधुरी-संपादक

नमक

उपक्रम



नमक भारतवर्ष में बहुत अधिकता से उत्पन्न होता है। नमक कई प्रकार का होता है—साँभर-नमक, सेंधा या खेवड़ा का नमक और खारा-गोड़ा का नमक। इनके अतिरिक्त बंबई, मदरास आदि स्थानों में समुद्र से भी नमक निकाला जाता है। सेंधा-नमक अँगरेज़ी में रॉक साल्ट कहलाता है, और यह पंजाब में खेवड़ा-नामक स्थान पर पहाड़ों के रूप में पाया जाता है। यह नमक बहुत शुद्ध और पवित्र होता है, इसी-लिये इसको फलाहार में सम्मिलित किया है।

हम इस लेख-माला द्वारा साँभर-नमक की उत्पत्ति, उसके व्यापार और सरकारी प्रबंध के औचित्य-अनौचित्य पर, तथा व्यापारियों एवं भारत को सुप्रबंध के अभाव से कितनी हानि पहुँच रही है, इस पर विचार करेंगे।

साँभर जयपुर एवं जोधपुर-राज्य की सम्मिलित मिलिक-यत है। पहले यह जोधपुर-राज्य के अंतर्गत थी, किंतु कहते हैं, जोधपुर ने इसका आधा हिस्सा जयपुर को दहेज़ में दे दिया था। भारत-सरकार ने नमक उत्पन्न करके बेचने का संपूर्ण अधिकार दोनों दरबारों से ठेके पर ले लिया, और वह नमक की आमदनी में से लग-भग दस लाख रुपए प्रतिवर्ष जयपुर और जोधपुर-दरबारों को दे देती है।

साँभर—डीडवाना, खेवड़ा, खारागोड़ा, वार्छा और कालाबाग़ में नमक उत्पन्न करने, उसे बेचने तथा सुप्रबंध रखने के लिये भारत-सरकार ने एक महकमा खोल रक्खा है, जिसे "उत्तर-भारत का नमक की रेवेन्यू का महकमा" (Northern India Salt Revenue Departments) कहते हैं। इस महकमे का मुख्य अधिकारी कमिश्नर है, जो अपने स्टाफ़-सहित आगरे में रहता है। साँभर में असिस्टेंट कमिश्नर का दफ़्तर है। आगरे में बैठकर कमिश्नर साहब, भारत-सरकार की सहायता से, नमक के सब महकमों पर शासन करते और दौरा करके नमक के विभागों का कार्य देखते रहते हैं। भारत-सरकार ने नमक का क़ानून बना दिया है; किंतु आवश्यकतानुसार समय-समय पर नोटिफ़िकेशन द्वारा अलग भी क़ानून बना दिए जाते हैं, जिससे कार्य-संचालन में असुविधा न होने पावे।

नमक की उत्पत्ति

साँभर में रहने के कारण, वहाँ किस प्रकार नमक उत्पन्न किया जाता था, अब कैसे उत्पन्न किया जाता है, तथा प्रबंध में परिवर्तन कहाँ तक लाभदायक हुए हैं, यही बताने की चेष्टा मैं करूँगा।

साँभर में बरसात का पानी चारों ओर इकट्ठा हो जाता है। यहाँ अलग-अलग क्यारियाँ बनी हुई हैं। इन क्यारियों में पानी भर दिया जाता है, जहाँ वह जम जाता और नमक बन जाता है। अधिकतर नमक की निकासी का काम मार्च में शुरू होता है, किंतु कभी-कभी वर्षा के शीघ्र समाप्त हो जाने के कारण नवंबर-दिसंबर में ही प्रारंभ हो जाता है। वर्ष में एक करोड़ मन नमक के लगभग निकाल लिया जाता है।

निकालने तथा बेचने का पुराना ढंग

पहले लगभग ६०-७० लाख मन नमक निकाला जाता था। कभी-कभी ७५ लाख से १ करोड़ मन तक भी नमक निकाल लिया जाता था। उस समय का नमक अधिकतर बहुत स्वच्छ, मोटा, आबदार और तीखा होता था। मज़दूर टोकरियों में भरकर क्यारियों के किनारे प्लेटफ़ार्म पर ढेरियाँ लगा देते थे, तथा उन्हें नाप-नापकर उनकी निश्चित मज़दूरी ठेकेदार द्वारा सुपरिंटेंडेंट दोपहर के दो घंटे में दिला देता था। जिस ढेरी में रद्दी नमक होता था, उसके दाम नहीं मिलते थे, जिसका परिणाम यह होता था कि मज़दूर लोग बड़े परिश्रम के साथ क्यारियों में से नमक को धो-धोकर निकालते थे। अधिक धोने से नमक स्वच्छ, उज्ज्वल और सुंदर निकल आता है। इस प्रकार कूता हो जाने के उपरांत उन ढेरियों को मज़दूर लोग खांड में जाकर डाल देते थे।

व्यापारियों को नमक देना

व्यापारियों को नमक देने के पहले दो तरीक़े थे—एक हाथ-भर्ती (Ordinary System), और दूसरा टेम की भर्ती (Through Traffic System)। इसमें से हाथ-भर्ती का उपयोग साँभर के व्यापारी करते थे, और टेम की भर्ती का उपयोग बाहर के व्यापारियों के लिये नमक

का महकमा करता था। इन दोनों तरीक़ों के लाभ और हानि तथा गुण-दोष इस प्रकार थे—

(१) हाथ-भर्ती

साँभर के व्यापारी चालान भरकर रक़म ख़ज़ाने में जमा कर देते थे। वहाँ से उन्हें दाख़ले मिलते थे, जिन्हें अँगरेज़ी में Treasury Receipts कहते हैं। इन दाख़लों को व्यापारी लोग असिस्टेंट कमिश्नर के दफ़्तर में दे देते थे, और वहाँ से उन्हें रवन्ने मिल जाते थे। महकमे की ओर से नित्य एक फ़ेहरिस्त निकल जाती थी, जिसमें रवन्नों की संख्या लिखी रहती थी, जिसका अर्थ यह था कि अमुक-अमुक नंबर के रवन्नों का नमक अमुक-अमुक दिन अमुक-अमुक स्थान पर भरेगा। जिन व्यापारियों के पास ये रवन्ने होते थे, जिनका नमक भरनेवाला था, वे चाहते, तो नमक की भर्ती का प्रबंध करते थे। ख़राब नमक वे नहीं भरते थे। फलतः उनके रवन्ने सबके अंत में पड़ जाते थे, और यदि वे अपना नमक निश्चित समय के भीतर-भीतर नहीं उठाते थे, तो उन्हें निश्चित दंड देना पड़ता था। इससे पता लगता है कि उस समय हाथ-भर्ती में व्यापारियों को निम्न-लिखित सुबीते थे।

(१) व्यापारी लोगों को मालूम हो जाता था कि कौन-से क़िस्म का नमक उन्हें मिला है, और इसलिये वे उस नमक को उसी दिसावर में भेज देते थे, जहाँ उसकी माँग रहती थी।

(२) नमक की तुलाई व्यापारियों के सामने ही होती थी, जिससे उन्हें विश्वास हो जाता था कि उन्हें पूरा नमक मिला है या नहीं।

(३) निश्चित समय में नमक न उठाने के कारण दंड देने के भय से व्यापारी लोग व्यर्थ में अपने रवन्ने पीछे नहीं पटकते थे, और व्यापारी लोग रवन्ने पीछे न पटका करें, इस भय से नमक का महकमा बढ़िया नमक निकाला करता था।

(४) हाथ-भर्ती में नमक की भर्ती व्यापारियों के हाथ में रहने के कारण नमक की ड्यटी १।) तथा क़ीमत ।) अर्थात् कुल १॥) फ़ी मन देना पड़ता था। टेम की भर्ती से)॥ फ़ी मन कम देना पड़ता था।

(२) थ्रू ट्रैफ़िक-सिस्टम या टेम की भर्ती

दूसरा ढंग था टेम की भर्ती का। यह ढंग बाहर के व्यापारियों के लिये उपयोग में लाया जाता था। बाहर के व्यापारियों का नमक सरकार स्वयं भरती थी, और इसलिये)॥ फ़ी मन मज़दूरी इत्यादि के ख़र्चे का अधिक ले लिया करती थी। इस ढंग में बाहर के व्यापारियों को केवल इतनी ही हानि थी कि उन्हें इच्छा के अनुसार नमक नहीं मिलता था, और लाभ यह था कि साँभर के व्यापारियों को उन्हें आढ़त नहीं देनी पड़ती थी। मज़दूरी इत्यादि का प्रबंध भर्ती के लिये करने के कारण सरकार उनसे)॥ फ़ी मन, ड्यटी और क़ीमत के अतिरिक्त और ले लेती थी।

इन दोनों प्रकार के ढंग में से आजकल केवल थ्रू ट्रैफ़िक का ही ढंग रख दिया गया है। इससे सरकार को निम्न-लिखित सुबीता और लाभ है—

(१))॥ मन ख़र्चे का, ड्यटी और क़ीमत के अलावा, लेने के कारण लगभग १ लाख रुपए प्रतिवर्ष की बचत हो जाती है। इस बचत के करने का अधिकार सरकार को नहीं है, और इसलिये)। मन ख़र्चे पर लेना चाहिए।

(२) रवन्नों के पीछे पड़ने का झंझट जाता रहा।

(३) जिस प्रकार का नमक सरकार देना चाहेगी, सब लेना पड़ेगा।

(४) तुलाई भी व्यापारियों के सामने न होने के कारण सरकार सुबीते के साथ इच्छानुसार निकासी बढ़ाने का प्रबंध कर सकती है। अस्तु।

यहाँ तक प्रेमी पाठकों को हम नमक निकालने और बेचने के ढंग बता चुके। अब हम विस्तार-पूर्वक यह बताने की चेष्टा करेंगे कि किस प्रकार नमक की पैदावार बढ़ाने तथा उसकी भर्ती इत्यादि के प्रबंध में परिवर्तन किया गया है, और उससे भारत को, भारत-सरकार को और व्यापारियों को किस हद तक लाभ तथा किस हद तक हानि पहुँची है।

नमक पर कंट्रोल

सन् १९१६-१९१७ में वर्षा की अधिकता तथा लड़ाई का समय होने के कारण विदेशी नमक का आना बंद हो जाने से साँभर में नमक के खोड़ों (Heaps) के चारों ओर पानी-ही-पानी भर गया था, और खोड़ों के बह जाने का भय था। बाहर भी रेलवे-लाइनों पर पानी भर रहा था। उधर प्लेग की बीमारी का ज़ोर था, और रेलवे से

गाड़ियों (Rolling Stock) के मिलने का अभाव हो गया था। इन सब कारणों का—इन सब घटनाओं का—परिणाम यह हुआ कि व्यापारियों को विश्वास हो गया कि नमक का शीघ्र मिलना कठिन है, प्रत्युत खोड़ों के बह जाने से नमक का अभाव हो जायगा; और अवस्था को देखते हुए यह कल्पना निराधार भी नहीं थी। नमक की माँग बढ़ गई, और देखते-देखते एक गाड़ा नमक पर, जिसका मूल्य ४०६॥−)॥ होता है, ११००) का नफ़ा हो गया, अर्थात् नमक का भाव फ़ी रुपए ५-६ सेर का हो गया। इधर व्यापारियों ने इतनी दरख़्वास्तें दीं कि ख़ज़ाना रुपयों से भर गया। कहते हैं, एक ही व्यापारी ने लगभग १५ लाख रुपए जमा करा दिए।

सरकार घबराई, और तुरंत अवस्था को ठीक करने के लिये दौड़ी। जिन अवस्थाओं में यह हाल हुआ था, उन्हें रोकने की शक्ति सरकार में तो क्या, किसी में नहीं है; और जब तक मूल-कारण न हटाए जायँ, अन्य उपायों का अवलंब लेना व्यर्थ था। फिर भी सरकार ने नमक पर कंट्रोल कर दिया, और म्युनिसिपल एजेंसियाँ खोल दीं, जिससे कोई व्यापारी अलग नमक नहीं ख़रीद सकता था। हरएक को म्युनिसिपल एजेंसी से ख़र्च के मुआफ़िक़ नमक ख़रीदना पड़ता था। नफ़ा बाँध दिया गया था। फिर भी एजेंट के विरुद्ध शिकायतें होने लगीं। लोगों को नमक न मिलने लगा; और सच बात तो यह है कि व्यापार का यह सिद्धांत है कि वह एक के हाथ में रहने से सभी को हानिकर सिद्ध होता और हर तरह की बदइंतिज़ामियाँ उसमें होती हैं। किंतु यदि किसी वस्तु का व्यापार अधिक हाथों में हुआ, तो प्रतिद्वंद्विता (Competition) के कारण किसी तरह की शिकायत नहीं रहती, और वस्तु के प्राप्त करने में कोई कठिनाई भी नहीं होती। तो भी नमक पर कंट्रोल ही रक्खा गया, और उस समय के कमिश्नर कनोली साहब के जाते ही वर्तमान कमिश्नर मि० फ़रग्युसन का पदार्पण हुआ। इन शिकायतों से ऊब जाने के कारण इन्होंने एक नई तरकीब सोची, और साँभर के व्यापारियों को लिमिटेड कंपनियाँ खोलने की आज्ञा दी। इन कंपनियों तथा ब्रिटिश-भारत के मुख्य-मुख्य प्रदेशों में नियुक्त किए गए एजेंटों के अतिरिक्त और कोई मनुष्य नमक नहीं ख़रीद सकता था। नफ़ा निश्चित कर दिया गया था; और यद्यपि साँभर के व्यापारियों की कंपनियाँ चाहे जितना नमक बेच सकती थीं, तथापि बाहर के एजेंट तीन बोरियों से अधिक एक ग्राहक के हाथ नहीं बेच सकते थे। अनुभव ने इस मार्ग को अनुपयुक्त सिद्ध कर दिया, और अंत में भारत-सरकार को फ़्री ट्रेड अर्थात् कंट्रोल हटाकर सबके लिये नमक का ख़रीदना और बेचना खोल देना पड़ा।

परिवर्तन का युग

"तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः" की नीति के अनुसार भारत-सरकार व्यापारी सरकार होने के कारण अपनी आमदनी बढ़ाने के लिये सदा ही लालायित रहती है। यह लालसा एक वैश्य के लिये स्वाभाविक हो सकती है; परंतु जो राजा वैश्य हो, उसे अपनी प्रजा, वैश्य तथा सर्व-साधारण को अपना तृष्णा बुझाने के लिये (यद्यपि तृष्णा कभी शांत नहीं होती) तृषित नहीं रखना चाहिए। किंतु भारत-सरकार से यह आशा करना असंभव था। कोई एक इंजीनियर महोदय, जिनका नाम कैप्टेन एस्० ए० बंटिंग था, अपनी स्कीम लेकर पधारे, और इस आशा में कि नमक की पैदावार दुगनी हो जायगी, तथा उसे निकालने से लगाकर एक स्थान पर एकत्र करने एवं गाड़ियों में लादने तक के ख़र्च में बहुत अधिक मित-व्ययिता हो सकेगी। सुतराम् इन्होंने साँभर में आकर अपना अड्डा जमा दिया, और भारत की गाढ़ी कमाई का रुपया मिट्टी में मिलाना शुरू कर दिया।

उसके कार्य

(१) प्रारंभ में इन्होंने बिजली का कारख़ाना खोलने, नई रेलवे-लाइन डालने तथा सेंट्रल स्टोर बनाने के लिये निरीह प्रजा की ज़मीनों पर हाथ साफ़ करना शुरू किया। ज़मीनों के मालिकों के विरोध करने पर उनका मूल्य देने का वचन दिया गया, और यदि साँभर के उस समय के हाकिम बीच में न पड़ते, तो इन ज़मींदारों को जो हानि उठानी पड़ रही है, न उठानी पड़ती। ज़मीनों में काश्त करके बेचारे अपना और अपने परिवार का जीवन-निर्वाह करते थे। आज वे ज़मीनें उनसे छिन गईं, और दाम इतना कम दिया जाता है, जो नहीं के बराबर है। यदि वे पहले मूल्य लेकर अपनी ज़मीनें देते, और एक

व्यापारी का-सा बर्ताव करते, तो उन्हें आज हानि न उठानी पड़ती। वे उन ज़मीनों की इतनी थोड़ी क़ीमत लेना नहीं चाहते, और ज़मींदार लोग नमक की संधि (Salt Treaty) के अनुसार अपना मामला पंचायत में डालकर तय कराना चाहते हैं। परंतु चतुर सरकार ने जयपुर और जोधपुर-नरेशों को बीच में डाल दिया है। इसलिये निरीह प्रजा असमंजस में पड़ गई है। आज ८ वर्ष के लगभग हो गए, उन्हें अपनी ज़मीनों का उचित मूल्य भी नहीं मिला।

(२) इंजीनियर साहब ने साँभर को चारों ओर से ऐसा बाँध लिया है कि विद्यालयों के छात्रों के लिये, फ़ुटबाल खेलने का स्थान तक नहीं छोड़ा। पशुओं को चरागाह तक पहुँचने का मार्ग इतना तंग हो गया है कि उनके खाइँयों में गिरने का सदा भय रहता है।

(३) सेंट्रल स्टोर ऐसे स्थान पर बनाए हैं कि उसके आसपास की ज़मीनें और कुएँ जो मीठे थे, उनके भी खारी होने का भय हो रहा है।

इसी प्रकार का एक सेंट्रल स्टोर गुढ़ा में स्थापित किया गया। साँभर में नई क्यारियाँ बनाई गईं। विश्वकर्मा को मात करनेवाले इंजीनियर बंटिंग साहब ने एक ऐसा गुंबज-सा बनाया, जिसमें ऑफ़िसरों के लिये लाइब्रेरी, खेलने का स्थान (बिलियर्ड-रूम) तथा एंजिन से खींचकर गुंबज के उपर्युक्त भाग में जल का स्टोर बना दिया गया, जहाँ नलों द्वारा महकमे-भर को तथा एंजिनों को पानी दिया जाता है। इस गुंबज में कहते हैं,४०,०००) ख़र्च किए गए हैं। मज़दूरों के सौभाग्य से अभी तक ऐसा कोई एंजिन या कल तैयार नहीं की गई है, जिसकी सहायता से नमक के काटने, बोरियों में भरने, उनका मुँह सीने, उन्हें तौलने और डब्बों में पटकने का काम भी हो जाय। बंटिंग साहब की ऐसी ही इच्छा थी, ऐसा सुना गया है; किंतु दुःख है कि बेचारे अपनी इच्छा पूर्ण करने के पूर्व ही नमक के महकमे से बिदा हो गए।

अपनी नई स्कीम को काम में लाने में बंटिंग साहब ने लगभग चालीस लाख रुपए ख़र्च किए, जिसका वार्षिक ब्याज ॥) सैकड़े के हिसाब से २,४०,०००) होता है, अर्थात् इतनी भारी रक़म तो प्रतिवर्ष ख़र्च हो चुकी समझिए। पुराने ढंग में निकासी का ख़र्च प्रतिवर्ष अनुमान से इतना ही होता था; और वह अभी क़रीब-क़रीब वैसा ही है, कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। पहले की अपेक्षा अब निकालने के ठेके में सरकार को १०) प्रतिशत की बचत जान पड़ती है, अर्थात् लगभग २०-२५ हज़ार प्रतिवर्ष बचा सकी है। परंतु २,४०,०००) तो प्रतिवर्ष निरर्थक ही नष्ट हुए; क्योंकि जिस स्कीम को काम में लाने के लिये चालीस लाख रुपए ख़र्च किए गए हैं, उससे कोई लाभ अभी तक दृष्टि में नहीं आया। प्रत्युत हानि ही हुई है।

ये हानियाँ नए तरीक़े में स्पष्ट मालूम होती हैं—

(१) जितना नमक अभी तक निकाल सके हैं, उतना पहले भी निकाल सकते थे; और संवत् १९५६ तथा सन् १९१८ में उन्होंने लगभग एक करोड़ मन नमक निकाला है।

(२) नमक अधिक निकालने के लालच में बढ़िया, शुद्ध और स्वच्छ नमक नहीं निकाला जाता, जिससे खानेवालों की हानि होती है।

(३) भारत की गाढ़ी कमाई में से २,४०,०००) का घाटा अनुमान स] तिवर्ष हुआ करेगा।

(४) व्यापारी लोग नमक का व्यापार फ़ायदे के साथ न कर सकेंगे।

यहाँ तक तो हुई परिवर्तन की लीला, ऑफ़िसरों का उत्तरदायित्व-हीन खेल और भारतीय व्यापारियों की दुर्दशा। अब रही-सही नमक के विभाग की लीलाओं को और सुन लीजिए, और फिर बैठकर भारत की दशा पर दो आँसू बहाइए।

जहाँ तक मुझे मालूम है, नमक के क़ानून के अनुसार भारत सरकार नमक की ड्यूटी और उसकी क़ीमत के सिवा और किसी अन्य ढंग से लाभ नहीं उठा सकती; परंतु फिर भी हम देखते हैं, जिधर हाथ मारा जा सकता है, उधर हाथ मारने की चेष्टा में नमक की सरकार रहती है। थ्रूट्रैफ़िक के ख़र्चे के लिये)। फ़ी मन काफ़ी है, बल्कि व्यापारियों के हाथ में भर्ती का काम छोड़ देने से ही काम चल सकता है, तो भी)॥ फ़ी मन लेकर नमक की आमदनी बढ़ाने की चतुराई नमक की सरकार खूब दिखा रही है। बारदाना बेचकर भी सरकार चाहे अपना लाभ न करती हो; परंतु व्यापारियों का और सबसे

अधिक बेचारे नमक खानेवालों का तो सरासर नुक़सान कर ही रही है। वह इस प्रकार है—

बारदाना

साँभर में बारदाना लेकर नमक के स्टोर पर भेजने का काम, उन्हें भरकर बिलटी देने का काम एक सुपरिंटेंडेंट के अधिकार में है। इसकी सहायता के लिये एक इंस्पेक्टर, कुछ कोटगश्त तथा सिपाही, क्लर्क वग़ैरह हैं।

बारदाने को सरकार स्टॉक में इसलिये रखती है कि यदि व्यापारी सुबीते के साथ चाहें, तो ख़रीद सकते और अपनी आवश्यकता पूरी कर सकते हैं। परंतु आजकल देखने में आया है कि सरकार व्यापारियों के सुबीते की अपेक्षा अपना सुबीता पहले देखती है। पहले एक बार नमक के काम में आया हुआ बारदाना दुबारा और तिबारा भी नमक के लिये काम में ले लिया जाता था, और किसी ऑफ़िसर को इसमें कोई आपत्ति न होती थी। अब सीधे मिलों से तैयार होकर आए हुए नए बोरे भी "काम के लायक़ नहीं हैं— (Unserviceable)" कहकर फेंक दिए जाते हैं। काम के लायक़ या काम के लायक़ नहीं हैं, इसकी व्याख्या या परिभाषा आज तक महकमे ने नहीं की है, और बोरों को लेने और फेंकने का काम इंस्पेक्टर की स्वेच्छाचारिता पर छोड़ दिया है। ये सरकार के यहाँ तक ख़ैरख़्वाह हैं कि जिस समय बारदाना पहुँचना चाहिए, उससे यदि एक मिनट की भी देर हुई, तो तुरंत सरकारी बारदाना लगा दिया जाता है; ज़रा-सी क्लेरिकल ग़लती हुई कि व्यापारियों की अर्ज़ियाँ फेंक दी जाती हैं। व्यापारियों को इनके दुर्व्यवहार से जो हानि उठानी पड़ती है, उसे वे ही जानते हैं।

यदि नई बोरियाँ पहले के अनुसार तीन भर्ती की ले ली जायँ, तो नमक के खानेवालों को नमक बहुत सस्ता मिले। इस समय सरकार एक बोरी की क़ीमत ॥=) लेती है। व्यापारी लोग बोरी समेत नमक बेचते हैं; क्योंकि वह बोरी, नमक की सरकार के अनुसार, किसी काम की नहीं रहती। इस प्रकार ।) फ़ी मन नमक खानेवालों को अधिक देना पड़ता है, अर्थात् १६,२५,०००) प्रतिवर्ष बेचारे ग़रीब भारत का व्यर्थ नष्ट हो जाता है। जो नई बोरियाँ आजकल सरकार देती है, वे आसानी के साथ तीन बार काम में आ सकती हैं; और इसलिये जो १६,२५,०००) प्रतिवर्ष बारदाने में ख़र्च हो जाते हैं, उनकी जगह केवल ५,४२,०००) ही प्रतिवर्ष ख़र्च हों, और १०,८४,०००) जो आज व्यर्थ नष्ट होते हैं, बच जायँ। सारांश यह कि यह रक़म व्यापारी लोग नमक के खानेवालों से ही लेते हैं, और इस प्रकार दीन भारत को ऑफ़िसरों की असावधानी से इतनी अधिक हानि उठानी पड़ता है।

तौल

नमक जो दिया जाता है, उसे सरकार ही तौलती है। तौलाई का प्रबंध ठीक न होने के कारण कोई गाड़ी ऐसी नहीं जाती, जिसमें १५-१५, २०-२० मन के लगभग नमक न घटता हो। यदि गाड़ियों में नमक पूरा तौलकर भरा जाता होता, तो व्यापारियों को फ़ी गाड़ी २०)-२५) रुपयों का नुक़सान क्यों उठाना पड़ता। किंतु अभी तक यह समझ में नहीं आया कि गाड़ियों में भरकर जो नमक कम जाता है, वह स्टोर में अवश्य बढ़ता होगा; और यदि नहीं बढ़ता, तो ठेकेदार को वाजिब से अधिक दाम (Over payment) दिए जाते होंगे। यदि औसत दर्जे फ़ी गाड़ी १० मन नमक कम हुआ समझ लिया जाय, तो व्यापारियों को अनुमानतः २½ लाख मन नमक अर्थात् १ लाख बोरियों की प्रतिवर्ष कसर पड़ती है। रेलवे का किराया देकर इस माल की क़ीमत ६।) फ़ी बोरी से कम नहीं पड़ती। इस प्रकार साँभर के व्यापारियों की अथवा जन-साधारण की गाढ़ी कमाई के ६,२५,०००) प्रतिवर्ष व्यर्थ नष्ट हो जाते हैं।

नमक की किस्म

यदि पाठक कभी साँभर आवें, तो हम उन्हें दिखावेंगे कि पेन का नमक, कूपों का नमक और अधिकांश स्टोर का नमक कितना गंदा, कितना अशुद्ध तथा कितना अप्रिय है। यदि किसी वैज्ञानिक के पास नमूना भेजकर दिखलाया जाय, तो पता लग सकेगा कि वह नमक खाने योग्य है या नहीं। ऐसा नमक पहले कभी नहीं निकलता था, पर अब निकलता है। इसके अतिरिक्त बेचारे व्यापारियों को भर्ती के समय नमक देखने नहीं देते, जिससे यह मालूम हो सके कि उन्हें कैसा नमक मिला, तथा कौन-से देसावर में वह माल भेजा जाय, जहाँ

उसकी माँग हो। इससे व्यापारियों को जो हानि और असुविधा होती है, उसे व्यापारी ही जानते हैं।

दिन-दहाड़े लूट

हाल ही में नमक के कमिश्नर साहब ने एक और लूट मचाने का आर्डर निकाला है। पाठक इसे पढ़कर इनकी लोभ-पिपासा का पता लगा सकेंगे। सरकारी बारदाने की क़ीमत ता० १०-१-२५ तक ॥) फ़ी बोरी थी। कई ख़रीदारों ने ५३॥) फ़ी गाड़ी के हिसाब से बतौर बारदाने के मूल्य के मार्च, १९२४ में जमा कर दिए थे। साँभर के व्यापारी, जहाँ तक उन्हें बाज़ार में सस्ता बारदाना मिल सकता है, सरकारी बारदाना नहीं ख़रीदते; किंतु १०-१-२५ के पहले ऐसा समय आ गया था कि व्यापारियों ने सरकारी बारदाना लेना लाभ-दायक समझा। उस समय तक सरकारी बारदाने की क़ीमत ॥) फ़ी बोरी थी। सरकारी बोरियों की माँग अधिक बढ़ जाने के कारण सरकार को बोरियों का आर्डर कलकत्ते की जूट-मिल को देना पड़ा, और इधर ता० १०-१-२५ से बारदाने की क़ीमत ॥=) फ़ी बोरी कर दी गई। व्यापारियों ने नया बारदाना ख़रीदना बंद कर दिया। जब सरकार ने देखा कि क़ीमत बढ़ाने से कुछ भी लाभ नहीं हुआ, तो एक नई तरकीब का सहारा लिया, और ता० १०-१-२५ के बाद जितनी गाड़ियाँ साइडिंग से निकलीं, तथा जिनमें सरकारी बारदाना था, सबसे १३।=) फ़ी गाड़ी और ले लिया। जिनसे न ले सके, उन्हें अब नोटिस दे दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि चारों ओर हाहाकार मच गया है। कोई क़ानून, कोई नियम सरकार के इस अनुचित कार्य का पोषक नहीं है; परंतु फिर भी दिन-दहाड़े यह लूट मचाई गई है।

भावी ज़ुल्म

उपर्युक्त ज़ुल्म तो नित्य हो ही रहे हैं, परंतु निकट-भविष्य में एक और अत्याचार होनेवाला मालूम होता है। आजकल जिस तेज़ी के साथ निकासी की जाती है, उससे नमक का वर्तमान स्टाक जुलाई, १९२५ के प्रथम सप्ताह में ख़तम हो जायगा। पश्चात् नया निकला हुआ नमक, जो वर्षा से धुल नहीं सकेगा, और इसलिये अस्वच्छ तथा अशुद्ध रहेगा, दिया जायगा। इसके अति-रिक्त वह गीला भी रहेगा, जिससे सूख जाने पर फ़ी गाड़ी २८-२९, १०-३० मन नमक कम निकलने की संभावना रहेगी। इसका परिणाम यह होगा कि व्यापारियों को भारी हानि उठानी पड़ेगी।

अंत में पाठकों की सेवा में नमक के विभाग के उन दुर्व्यवहारों को प्रकट करके, तथा व्यापारियों की मुर्दादिली पर दो आँसू बहाकर इस विस्तृत लेखमाला को समाप्त करूँगा, और पाठकों से प्रार्थना करूँगा कि वे इस पर ध्यान से विचार करें।

दुर्व्यवहार

नमक का कार्य भारत-सरकार के हाथ में होने से व्यापारी लोग कमिश्नर, असिस्टेंट कमिश्नर, सुपरिं-टेंडेंट, यहाँ तक कि इंस्पेक्टर का भी इतना ही आदर करते हैं, जितना कि एक प्रजा को अपने राजा का करना चाहिए। उपर्युक्त कठिनाइयों को दूर करने की प्रार्थना लेकर बहुत अच्छी प्रतिष्ठा के व्यापारी भी जब ऑफ़िसरों के पास जाते हैं, तो उन्हें जो धमकियाँ दी जाती हैं, उनके साथ जो दुर्व्यवहार किया जाता है, उसका वर्णन करते भी लज्जा आती है। "भेज दो इन्हें पागलख़ाने में", "भेज दो इन्हें बंटिंग साहब के कारख़ाने में", "ये लोग बड़े कमीने होते हैं" इत्यादि अपशब्दों के साथ प्रतिष्ठा-संपन्न व्यापारी भी दुत्कार दिए जाते हैं! क्या ख़ज़ाने में, क्या दफ़्तर में और क्या तोजीन के दफ़्तर में, कहीं पर व्यापारियों के बैठने के लिये स्थान नहीं है। प्लेटफ़ार्म पर वे इस प्रकार खड़े रहते हैं, जैसे कोई १०-१५ रुपए मासिक का नौकर। एक लखपती अथवा प्रतिष्ठा-संपन्न पढ़ा-लिखा व्यापारी असिस्टेंट कमिश्नर और कमिश्नर साहब की कौन कहे, सुपरिंटेंडेंट और इंस्पेक्टर के पास भी जाय, तो उसे इन हुज़ूरों के पास ऐसे खड़ा रहना पड़ता है, जैसे कोई अर्दली हो। उनको कुर्सी देना तो ये लोग अपना अपमान समझते हैं। बड़े-बड़े ऑफ़िसर कभी-कभी ठीक ढंग से बोल तो देते हैं; किंतु ये लोग तो अच्छी तरह से पेश आना भी अप्रतिष्ठाजनक समझते हैं। संसार में कोई सरकार व्यापारियों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार न करती होगी, जैसा सरकारी नमक के ऑफ़िसर साँभर के व्यापारियों के साथ करते हैं।

व्यापारियों की मुर्दादिली

यहाँ के व्यापारी भी "जी-हुज़ूर" करते-करते, गालियाँ खाते-खाते उनके आदी हो गए हैं। लाखों रुपए की हानि सह

रहे हैं, अपमान करा रहे हैं; किंतु एकदिल होकर, संगठित होकर, परस्पर विश्वास रखकर कार्य करना उचित नहीं समझते। स्वार्थ में वे इतने फँसे हुए हैं कि अपनी प्रतिष्ठा की, अपने व्यापार की रक्षा के लिये बोलना भी नहीं चाहते, और यह भी जानते हैं कि इस प्रकार की मुर्दादिली से, व्यर्थ की खुशामद से, वे अपना स्वार्थ भी सिद्ध नहीं कर रहे हैं। भगवान् इनकी रक्षा करे।

रामप्रसाद डुरकट

क्या कहूँ क्या-क्या हुआ?

जो न करना था—किया, जो कुछ न होना था—हुआ ;
चार दिन की ज़िंदगी में, क्या कहूँ, क्या-क्या हुआ ?
यह समझकर हम नहीं कहते, किसी से राज़े-दिल ;
इस तरफ़ निकला ज़बाँ से, उस तरफ़ चर्चा हुआ।
भरके ठंडी साँस, जो बीमार ने जब करवट ;
वह कलेजा थामकर कहने लगे, यह क्या हुआ ?
सुनिए-सुनिए, आतिशे-ग़म से हुए हम जलके ख़ाक ;
कहिए-कहिए, अब कलेजा आपका ठंडा हुआ ?
कौन रोया लाश पर—किसने जलाई ये शमा—
हमको इसकी क्या ख़बर जब मर गए, तो क्या हुआ ?
मेरे चेहरे से अयाँ है, देख लो—पहचान लो ;
दिल की सूरत, दिल का आलम, दिल का नक़शा क्या हुआ ?
क़त्लगह में देखी जाती थी न क़ातिल से तड़प ;
वह भी कहता है कि "बिस्मिल" मर गया—अच्छा हुआ।

सुखदेवप्रसादसिंह "बिस्मिल"

ईश्वर का बहिष्कार

(१)



प्रकृतिवादी और केवल काल्पनिक भाववादियों में बड़ा अंतर है। एक तो गुलाब के फूल को प्रत्यक्ष देखता है—उसकी बनावट का ज्ञान और रूप-रंग आदि अनेक गुणों का जानकारी रखता है ; यदि उससे कोई गुलाब के संबंध में प्रश्न कर, तो वह उसके अस्तित्व के प्रमाण में सीधी और वास्तविक दलीलों से काम लेगा, और गुलाब के फूल का यथार्थ ज्ञान भी करा देगा ; लेकिन दूसरा गुलाबी रंग का वर्णन करने को तैयार होता है, और उस दशा में, जब कि उसने स्वयं गुलाब नहीं देखा, तो कोई सीधा प्रमाण नहीं दे सकता। परोक्ष और अव्यावहारिक प्रमाणों से जो वह काम लेगा, तो निस्संदेह क़दम-क़दम पर ठोकरें खायगा। यह तो उस दशा में होता है, जब कि 'गुलाब' कोई वस्तु है, और गुलाबी रंगत, चाहे गुलाब से भिन्न द्रव्य-हीन अवस्था में उसका देखना असंभव हो, कोई ऐसी चीज़ है, जिसे हम आँखों से देख सकते हैं।

ईश्वर एक ऐसा कल्पित पदार्थ है, जिसे कभी किसी ने अपनी ज्ञानेंद्रियों से प्रत्यक्ष नहीं किया, इसलिये कि उसका अभाव है। और जिस पदार्थ का अत्यंत अभाव है, उसका अस्तित्व कभी हो ही नहीं सकता। संसार में जितनी वस्तुएँ हैं, वे चाहे कितनी भी सूक्ष्म क्यों न हों, सबका प्रादुर्भाव प्रकृति से होता है ; और प्रकृतिजन्य सारे पदार्थ किसी-न-किसी दशा में इंद्रियग्राह्य होते हैं। उदाहरण के लिये जल को लीजिए। यह भाप की सूरत में आँखों को दिखाई देता है। यदि यह विश्लिष्ट होकर वायव्य (gaseous) हो जाय, अर्थात् गैस का रूप धारण कर ले, तो भी वह इंद्रियों द्वारा जानने का विषय रहेगा। फिर देखिए, बिजली बहुत ही सूक्ष्म रूप की एक वस्तु है ; आँख, कान, नाक आदि द्वारा इसे यों नहीं देख सकते। लेकिन बिजली की उत्पत्ति प्राकृत पदार्थों से होती है ; और जब हम उसका व्यवहार किसी रूप में करते हैं, तो द्रव्यों में उसको स्पष्ट देखते हैं कि काम कर रही है।

यह बात 'ईश्वर' नाम के पदार्थ में नहीं है ; क्योंकि उसको प्रकृति का निर्माता, संचालक और नाशकर्ता माना जाता है। प्रकट है कि जो वस्तु नहीं है—केवल-मात्र एक काल्पनिक भाव है—उससे वास्तविक पदार्थ का बनना, बनाना या प्रकट हो जाना प्रत्यक्ष ही एक निर्मूल, अशुद्ध एवं मानव ज्ञान-विरुद्ध कल्पना-मात्र है। यदि हम इसे एक बल, शक्ति किंवा गति मानें, तो भी हम द्रव्य के सिवा अन्यत्र कहीं भी इसे नहीं देखते। इसी तरह गुलाबी रंग भी कभी किसी ने वस्तु से भिन्न स्वतंत्र कहीं न देखा होगा, जैसा ऊपर कहा गया है। सारांश यह कि प्रकृति से अलग कभी कोई शक्ति या भाववाचक पदार्थ नहीं देखा

गया। मन, ज्ञान, बुद्धि आदि सभी एक प्रकार के गुण या भाववाचक संज्ञाएँ हैं। इनका भी बोध हमें प्रकृति के ही द्वारा होता है। किसी ख़ास दशा का निरीक्षण करके हम उसको एक नाम दे देते हैं; परंतु वस्तुतः वह ऐसी कोई चीज़ नहीं है, जिसे हम प्रकृति से भिन्न मान लें।

ईश्वर के माननेवाले उसे सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वव्यापी इत्यादि सभी गुणों से विभूषित करते हैं। ये लोग यह नहीं सोचते कि शक्तिमान् कहने से ये एक गुण-शक्ति का दूसरी चीज़ में आरोप करते हैं, तो दूसरी चीज़ कोई वस्तु होनी चाहिए, और ईश्वर कोई वस्तु नहीं। यही तर्क न्याय, दया आदि के संबंध में भी किया जा सकता है। जीव को हम एक प्रकार से शरीर में देखते हैं, लेकिन बिना शरीर का कोई जीव-जैसा पदार्थ देखा नहीं जाता। संभव है, रसायन-शास्त्र के अनुसार जीव भी दो या अनेक चीज़ों के मेल से उत्पन्न कोई स्थिति-विशेष हो। मनोविज्ञान-सिद्ध कई कौतूहलजनक घटनाएँ देखने पर जान पड़ता है कि शंकर स्वामी को यह ख़याल हुआ था कि ईश्वर तो कोई चीज़ नहीं है; मगर जीव में कई विलक्षण शक्तियाँ हैं। इसलिये जीव और ईश्वर, दोनों एक ही पदार्थ हैं। इस तरह शंकर स्वामी ने संसार को काल्पनिक ईश्वर के मानने से बहुत दूर तक हटाया—"अहं ब्रह्मास्मि", "तत्त्वमसि", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का पाठ पढ़ाया। वेदांत भी, जहाँ तक ईश्वर की मिथ्या कल्पना का संबंध है, एक ख़ासा नास्तिकवाद है, जो संसार को बहुत ठीक मालूम होता जा रहा है। इनके विचार के लोगों की वृद्धि होती जाती है।

ईसाइयों ने ख़ुदा की पवित्रात्मा को चिड़िया के रूप में पानी पर तैराकर, उसका मरियम के साथ सहवास कराकर अथवा तूर-पहाड़ पर जलती आग की शक्ल में मूसा को दिखलाकर यही सिद्ध किया है कि बिना वस्तु के किसी शक्ति का स्थिर रहना असंभव है। क़ुरान ने ख़ुदा को एक बड़े मकान में बिठाकर तख़्ती पर लिखने और फ़रिश्तों द्वारा सारा काम अंजाम देने का ख़याल इसीलिये पैदा किया कि बिना किसी व्यक्त पदार्थ के ये सारे गुण उसमें नहीं हो सकते, जिन्हें मुसलमान ख़ुदा में मानते हैं। 'कुन' का कहना बिना जिह्वा के असंभव है, और जिह्वा होने से ख़ुदा भी प्रकृतिजन्य एक पदार्थ बन जाता है।

सातवें आसमान पर मुहम्मद साहब का बुराक़ पर चढ़कर जाना, रिज़वाँ का इन्हें बहिश्त दिखलाना, महात्मा मसीह का आसमान पर उठाया जाना तथा गरुड़पुराणादि की स्वर्गों और नरकों की कल्पनाएँ, सभी इस बात की साक्षी हैं कि धर्म केवल कल्पना-मात्र है। इनसे सिवा लोगों को मिथ्या झगड़ों में फँसाकर बेकार बनाने के कोई भी लाभदायक काम नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्य जितनी जल्दी ईश्वर, ख़ुदा या गॉड और धर्म, मज़हब या रेलिजन का त्याग दें, उतना ही अच्छा। मनुष्य-जाति के कल्याण के लिये ही मैंने इन विचारों को प्रकट करने का साहस किया है। आशा है, विचारशील पुरुष इससे लाभ उठावेंगे।

लोग जो समय रोज़े, नमाज़, संध्या-पूजा और प्रार्थना में नष्ट करते हैं, उसे यदि समाज के किसी उपयोगी काम में लगावें, तो अपने भाइयों का और अपना बहुत कल्याण कर सकते हैं। यदि संसार से ईश्वर और धर्म के व्यर्थ गपोड़े मिट जायँ, तो लोगों में फैले हुए कलह का अंत हो जाय। जब कोई मूर्ख-से-मूर्ख पिता भी अपना वश चलते अपने पुत्रों को नहीं लड़ने देता, तो यदि वास्तव में कोई ख़ुदा होता—और सर्व-शक्तिमान् ख़ुदा होता—तो वह अपने पुत्रों को कदाचित् अपने नाम पर कुत्तों की तरह न लड़ाता। यदि ख़ुदा शक्ति और बुद्धि होता, तो भी वह एक ही धर्म सारे संसार के लिये बनाता—सारे संसार की एक बोली और एक ही संस्कृति होती—जिससे इन झगड़ों का बीज ही न पड़ता। जो ख़ुदा झगड़ों का बीज बोता हो, जो धर्म वास्तविक मनुष्यों के लिये हितकर न हो, वह यदि वास्तव में कुछ हो भी, तो विषवत् त्याज्य ही है।

फ़्रांस का विद्वान् वालटेयर कहता है—(If God did not exist, it would be necessary to invent Him, for the people must have a religion) यदि ईश्वर न भी हो, तो भी हम एक ईश्वर का आविष्कार कर लें; क्योंकि लोगों को धर्म की ज़रूरत है। हमें इस पंडित की बात पर हँसी आती है। पहले तो उपर्युक्त वाक्य के पढ़ने से प्रकट होता है कि वालटेयर को स्वयं ईश्वर-नामक

किसी पदार्थ की सत्ता का विश्वास न था। इसी-लिये वह मूर्ख जनता को धोखे में डालने की नियत से एक ईश्वर की कल्पना करने के फेर में पड़ा। दूसरे, उसने ईश्वर के लिये 'Him' कर्मवाचक, एकवचन, पुंलिंग, प्रथमपुरुष का प्रयोग करके उसे मर्द क़रार दिया है। इससे प्रकट है कि निश्चय ही वह इस अजीब जानवर को मनुष्य मानता है; और मनुष्य मानने से उसकी सर्व-शक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता आदि की सारी बातें धूल में मिल जाती हैं। यही बात हिंदू-मुसलमानों के भी खुदा की है। तीसरे, जनता को एक धर्म दरकार है, इसलिये एक खुदा का आविष्कार करना भी ज़रूरी है, यह भी बड़ी मज़ेदार बात है। जनता ने कभी खुदा नहीं माँगा; वालटेयर और उसी की तरह सोचनेवाले भद्र पुरुषों ने ख़्वाहमख़्वाह एक खुदा गढ़कर जनता को अगणित बेहूद-गियों का शिकार बना डाला है।

खुदा ही की कल्पना ने इंजील, कुरान और पुराणों को रक्त-रंजित इतिहास का भांडागार बनाया और घृणित कथाओं और भावों से मनुष्य-जाति का सर्वनाश किया है। मैं तो महात्मा मिकाइल बेकुनिन को सराहता हूँ, जो खुले शब्दों में मनुष्य के हित के लिये कहते हैं—"If God really existed, it would be necessary to abolish Him" यदि खुदा सचमुच होता, तो भी उसे धक्का देकर निकाल देना ज़रूरी होता। सच है, धर्म और ईश्वर ऐसी ही बुरी कल्पना है। इनसे संसार का जब तक पीछा न छूटेगा, तब तक उसका कल्याण न होगा।

जब तक योरप में खुदा और धर्म-सदृश रद्दी काल्प-निक बातों का ज़ोर रहा, रोमन कैथॉलिक और प्रोटेस्टेंट निरंतर सिर फोड़ते रहे। कैथॉलिकों ने शक्ति प्राप्त होने पर प्रोटेस्टेंटों को अग्नि के हवाले किया, और प्रोटेस्टेंटों ने अधिकार पाने पर कैथॉलिकों के प्राणों की आहुति देकर अपना कलेजा ठंडा किया। भारत में शैव-शाक्त आदि ने धर्म के नाम पर खूब कुत्ते-बिल्लियों की-सी लड़ाई की। पर जिस दिन योरप ने धर्म और खुदा के ढकोसले को छोड़ा, उसी दिन से उसमें देश-प्रेम और ज्ञान-पिपासा जाग्रत् हुई; और आज वह प्रकृति की पूजा करके सर्वत्र अपने को पुजवा रहा है।

एशिया की बरबादी के कारण धर्म और खुदा ही हैं। आज बीसवीं सदी में भी इस मूर्खता के कारण एशिया की दशा अत्यंत शोचनीय हो रही है। जिस जाति में जितनी धर्मांधता है, वह उतनी ही अँधेरे गर्त में पड़ी हुई है। मुसलमानों में अधिक धर्मांधता है, इसी से उनका संसार में पतन होता जा रहा है। भारत में भी मुसलमान विद्या, बुद्धि और धन आदि सभी बातों में अत्यंत नीचे हैं। टर्की ने इस भेद को समझा, इसी-लिये उसने धर्म के हानिकर बंधन को ढीला कर दिया। और, वह समय रहते इस रद्दी ख़याल को अर्द्धचंद्र देकर सुखी होने का प्रयत्न करेगा, यह हमारा पूर्ण विश्वास है।

यदि ईश्वर और धर्म का ब्रह्मपाश कट जाय, यदि इस 'गार्डियन' गाँठ के टुकड़े हो जायँ, तो संसार के धर्म-ग्रंथों के सारे निस्सार गपोड़ों का भी अंत हो जाय; प्रत्यक्ष और विज्ञान-सिद्ध बातों के विरुद्ध विश्वास, आचार और व्यवहार का पाप मनुष्यों में से जाता रहे—स्वर्ग के झूठे, मन मोहनेवाले दास्तानों और बच्चों की-सी बेसिर-पैर की बातों से संसार का पीछा छूट जाय। ग़ालिब ने एक जगह बहिश्त का ख़ासा मज़ाक़ उड़ाया है। वह कहते हैं—

हमको मालूम है जन्नत की हक़ीक़त; लेकिन—
दिल के ख़ुश रखने को ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है।

किसी ने सच कहा है—"Doctrine kills the life, and the living spontaneity of action." सिद्धांतवाद जीवन को नष्ट कर देता और कार्य के स्वाभाविक अस्तित्व को मटियामेट कर छोड़ता है। सार यह कि व्यक्ति हो या जाति, कल्पना-मात्र की तरंगों से ताड़ित होकर, समुद्र में ख़ाली डॉट-लगी बोतल के समान, इधर-उधर ठोकरें खाती फिरती है; फल कुछ नहीं होता। हाँ, संसार के कितने ही मनुष्य विज्ञान की ओर ध्यान न देकर इंजील, कुरान, वेद-पुराण के पढ़ने में न-जाने कितना समय ख़राब कर देते हैं। अच्छा हो, इनमें सुबुद्धि का संचार हो। *

"प्रत्यक्षवादी"

---

* हम लेखक से सहमत नहीं हैं, तथापि इस विषय का विचार होने के लिये यह लेखमाला प्रकाशित करते हैं। यह लेखमाला पूरी हो जाने पर इसका उत्तर भी प्रकाशित होगा।—संपादक

हमारी हुंडावन-समस्या



दो

भिन्न-भिन्न देशों के सिक्कों के पारस्परिक परिवर्तन के मूल्य को व्यापारी लोग 'हुंडावन' कहते हैं जैसे हमारा सिक्का रुपया है, और इँगलैंड का पौंड। आज इस रुपए का पौंड मे, बाज़ार में, लगभग १८ पेंस का भाव है, याने एक रुपया यहाँ पर जमा कराकर हम लंदन मे उसके एवज़ में १८ पेनी प्राप्त कर सकते हैं। इसी हिसाब से हमें लंदन में जमा कराए हुए पौंडों के यहाँ पर रुपए मिल सकते हैं। यही १८ पेनी अभी इन दोनों देशों के बीच की हुंडावन है, और इसी हुंडावन को अँगरेज़ी में एक्सचेंज (Exchange) कहते हैं।

प्रत्येक देश के सिक्के भिन्न-भिन्न तोल एवं शुद्धता के होते हैं, इसलिये यह हुंडावन भी सबके लिये भिन्न-भिन्न होती है। प्रत्येक देश के हुंडावन-बाज़ार में लंदन की हुडावन का चिरकाल से प्राधान्य चला आ रहा है। इसका कारण यह है कि गत महायुद्ध के पूर्व तक इँगलैंड ही संसार मे सबसे अधिक धनी था। यद्यपि युद्ध ने यह स्थान अब अमेरिका को दिला दिया है, फिर भी इँगलैंड याने लंदन संसार-भर के बाज़ार (Money market) का मुख्य केंद्र है। यहाँ की हुंडी की हर जगह बहुत आसानी और फ़ायदे के साथ ख़रीद-फ़रोख़्त हो सकती है। इसका एक कारण यह भी है कि यहाँ के बैंकों की इस भूमंडल पर सबसे अधिक शाखाएँ हैं, जिनके द्वारा अधिकांश देशी और विदेशी व्यापार का संचालन होता है।

परंतु हमारे देश में इंगलैंड की हुंडी की प्रधानता का मुख्य कारण हमारा इसके अधीन होना है। जब से इस देश पर इँगलैंड की सत्ता जमी है, और व्यापारिक संबंध स्थापित हुआ है, तभी से इस देश को अपने निर्यात किए हुए माल के दाम रुपयों में नहीं, वरन् पौंड मे चुकाए जाते हैं। हमें ही इन पौंडों को रुपयों में भँजाना पड़ता है। फलतः हुंडावन के बढ़ने अथवा घटने से इन पौंडों के एवज़ में मिलनेवाले रुपयों की तादाद भी सदैव घटती-बढ़ती रहती है, और यह हानि-लाभ हमारे ही सिर पड़ता है। हम अपना माल पौंड मे न बेचकर रुपयों में क्यों नहीं बेच पाते, यह शंका की जा सकती है; परंतु इसके समाधान के लिये यह लेख नहीं लिखा जा रहा है।

हुंडावन की इस घट-बढ़ का हानि-लाभ केवल हमें ही उठाना पड़ता हो, सो बात नहीं। सरकार के ऊपर भी यह पड़ता है; क्योंकि भारत-सरकार को प्रतिवर्ष यहाँ से बतौर ख़िराज के (Tribute) लगभग २ करोड़ पौंड इँगलैंड भेजने पड़ते हैं, जिनकी ख़रीदी में हुंडावन के घट-बढ़ जाने पर रुपयों का ख़र्च भी असाधारण बढ़-घट जाता है। वह अपनी आय-व्यय का अंदाज़ा प्रतिवर्ष हुंडी का एक स्थिर भाव मानकर लगाया करती है। इसकी समस्त आय लगान और कर आदि से रुपयों ही मे होती है; परंतु ख़र्च अधिकतर पौंड मे रहता है। फलतः ख़र्च के लिये काफ़ी पौंड, यदि हुंडी नीची रक्खी जाय, तो रुपयों की आय बढ़ाने पर, और यदि यह आय बढ़ाना आसान न हो, तो हुंडी के बढ़ाने से ही प्राप्त हो सकते हैं। सरकार समय-समय पर इन दोनों ही उपायों का अवलंबन किया करती है।

इस विवेचन से हम सहज ही समझ सकेंगे कि हुंडी के प्रति हमारा और हमारी सरकार का एक-सा भाव नहीं है। हम तो यह चाहते है कि जब तक हमारा माल पौंड में बिके, हमे उसके एवज़ में मिलनेवाले रुपए अधिक-से-अधिक मिलें; और पक्षांतर मे हमारी सरकार यह चाहती है कि उसे 'होम-चार्जेज़' के भेजने के पौंड कम-से-कम रुपयों में मिलें। इसीलिये हमारी हानि मे उसका लाभ, और उसकी हानि में हमारा लाभ समाया हुआ है।

अब इसी प्रश्न पर, भारतवर्ष के आयात-व्यापार की दृष्टि से, विचार कीजिए। इँगलैंड ही नहीं, प्रत्युत सारा ब्रिटिश साम्राज्य, योरप, अमेरिका एवं जापान, सभी इस देश को अपने बनाए हुए माल की खपत का ख़ास बाज़ार समझते हैं, और यह सत्य भी है। ये देश हर प्रकार का बना हुआ माल भारतवर्ष भेजते तथा परिवर्तन मे कच्चा माल यहाँ से ख़रीद कर ले जाते हैं; पर जब तक ये लोग अपने माल का मूल्य रुपयों मे न लेते और न हमारे माल का रुपयों में देते है, तब तक इन्हें हुंडावन के प्रपंच से कुछ भी प्रयोजन नहीं। परंतु इनके माल की खपत उत्तरोत्तर बढ़े, यह इन्हें सर्वोपरि

अभीष्ट रहता है ; और यह आयात माल यहाँ पर विशेष खप सके, इसके लिये अन्य बातों के साथ यह भी आवश्यक है कि इसके दाम रुपयों में अपेक्षाकृत कम लगें। इतना ही नहीं, प्रत्युत यहाँ के बने देशी माल से भी वह सस्ता बिके। किंतु यह तभी संभव है, जब माल के बनाने का ख़र्च घटे ; और यदि यह संभव न हो, तो किसी और युक्ति से भाव में कमी की जाय। माल के बनाने का ख़र्च घटाना कठिन ही नहीं, वरन् इस समय असंभव-सा है। जब तक मज़दूरी नहीं घटती, खाद्यादि अन्य चीज़ों के तथा कच्चे माल के दाम नहीं गिरते, इतना ही नहीं, वरन् साधारण मूल्य-राशि (General Price-Level) जब तक कम नहीं हो पाती, तब तक यह बिलकुल असंभव है। हाँ, इस दशा में यदि हमारी हुंडी का भाव बढ़ जाय, तो यहाँ पर विदेशी माल बनानेवालों को किसी प्रकार की हानि पहुँचाए बिना ही सस्ता हो सकता है; और इँगलैंड में भयंकर बेरोज़गारी को देखते हुए वहाँ के माल की बिक्री का बढ़ाना ही वहाँ के हित-चिंतकों को अभीष्ट होना चाहिए।

इतना जान लेने पर सहसा हमें यह शंका होने लगती है कि क्या हमारी हुंडावन-नीति इतनी अस्थिर अथच अव्यवस्थित है कि उसमें मनमानी की जा सकती है ? अन्य विदेशों की नीति में तो इस भाँति मनमानी नहीं की जा सकती। फलतः यह उनसे किस प्रकार भिन्न है ? इस प्रश्न का उत्तर हमें अपनी मुद्रा-स्थिति का संक्षिप्त परिचय कराने की प्रेरणा करता है ; और तब, जैसा कि श्रीयुत बी० एफ़० मादन ने कहा है, हमारी समस्या हुंडावन की नहीं, वरन् स्पष्ट रूप से मुद्रा-व्यवस्था की ही रह जाती है।

इस समय संसार में मुख्यतः तीन प्रकार की मुद्रा-व्यवस्था है, जिनमें से पहली संपूर्णतः सोने की, दूसरी चाँदी की और तीसरी पूर्ण अपरिवर्तनीय काग़ज़ की है। इनके सिवा कुछ वर्षों से पूर्णतः सोने और चाँदी की मुद्रा-व्यवस्था के मध्य की भी एक व्यवस्था का आयोजन हो चुका है, जिसे अर्थशास्त्री लोग सुवर्ण-विनिमय-माध्यम कहते हैं। संपूर्णतः सोने की मुद्रा-व्यवस्था में देश का प्रधान सिक्का सोने का होता है, और चाँदी की व्यवस्था में चाँदी का। ऐसे देशों में मुद्रा-धातु ले आकर टकसाल से प्रधान सिक्के ढलवाने का जन-साधारण को अधिकार रहता है। कहीं तो सिक्के ढालने की मज़दूरी व खार का दाम ढलवानेवाले से वसूल किया जाता है, और कहीं मुफ़्त में सिक्के ढाल दिए जाते हैं। अस्तु, एक ही माध्यम-वाले देशों के सिक्कों के पारस्परिक परिवर्तन के भाव में साधारणतः मनमानी नहीं की जा सकती ; क्योंकि जब तक सिक्कों की निकासी किसी जगह स्थगित न कर दी गई हो, इनके आयात-निर्यात से विनिमय का काम पूरा किया जा सकता है। ऐसे एक ही माध्यमवाले देशों में विदेशी सिक्के धातु के भाव में स्वीकृत कर लिए जाते हैं। फलतः हुंडावन साधारणतः राह-ख़र्च से विशेष नहीं घट-बढ़ सकती।

परंतु जब हम दो असमान माध्यमवाले देशों की हुंडावन का विचार करते हैं, तो यह समस्या इतनी सरल नहीं रह जाती। सुवर्ण जिन देशों में माध्यम है, उनमें सब वस्तुओं के भाव सुवर्ण की अपेक्षा, और चाँदी के माध्यमवाले देशों में चाँदी की अपेक्षा कहे जाते हैं। फलत. एक स्थान से दूसरे स्थान में ये सिक्के आवश्यकता पड़ने पर पहुँच जायँ, और उस अवधि में यदि इनकी धातु का मूल्य दूसरी धातु की अपेक्षा घट-बढ़ जाय, तो इनसे ले जानेवाले को असाधारण हानि-लाभ उठाना पड़ता है। ठीक ऐसी ही स्थिति आज चीन की है, और ३० वर्ष पहले तक हमारे भारतवर्ष की थी। इँगलैंड में तो, सौ वर्ष से अधिक हुए, सुवर्ण-माध्यम स्वीकृत हो चुका था ; परंतु हमारे भारतवर्ष में सन् १८९३ तक पूर्णतः चाँदी का ही माध्यम प्रचलित था। इसीलिये तब तक पौंड और रुपए के परस्पर परिवर्तन की समस्या उलझन डालने-वाली थी ; क्योंकि हमारा रुपया तब चाँदी का एक नियत तोल एवं शुद्धता का टुकड़ा-मात्र था, और वस्तुओं के भाव तब इसी चाँदी की अपेक्षा आँके जाते थे। अस्तु, चाँदी के भाव में विलायत में घटी-बढ़ी होने पर हमारे रुपए की पौंड में क़ीमत भी घटती-बढ़ती रहा करती थी। इसी अनिश्चितता के कारण हमारी सरकार के निर्धारित बजट में प्रतिवर्ष असाधारण उथल-पुथल हो जाया करती थी, और इस उथल-पुथल में उसको अधिकतर हानि ही उठानी पड़ती थी। इसी समय योरप के अधिकांश देश तथा अमे-रिका भी सुवर्ण-माध्यम की ओर अग्रसर हो रहे थे। यही नहीं, वरन् योरप में तो सर्वत्र यह स्वीकृत ही हो चुका था। अस्तु, हमारी सरकार जो अब तक योरप में द्विधा-

त्विक माध्यम के पुनःस्थापन में विश्वास रखकर चाँदी के भाव की स्थिरता की मृगतृष्णा में इधर-उधर दौड़ रही थी, एकदम निराश हो गई; और इसलिये उसने भारतीय स्थिति के सुधार में उचित परामर्श देने के लिये एक कमीशन सन् १८९३ में बैठाया। यह उसके अध्यक्ष के नाम से हरशल कमेटी कहलाती है। इस कमेटी ने आनुषंगिक सारी स्थिति का विचार कर भारतीय मुद्रा-स्थिति के सुधार के लिये प्रथम यह सिफ़ारिश की कि चाँदी के रुपए ढलवाने का अधिकार जन-साधारण के लिये एकदम रद कर दिया जाय; और दूसरे, टकसाल में जन-साधारण का सिक्का ढलवाना बंद हो जाय। बस, कमेटी की इन दोनों सिफ़ारिशों को मानकर सरकार ने यहाँ से चाँदी का माध्यम सदा के लिये ही उठा दिया, और इसके एवज़ में परोक्ष-रूप से सुवर्ण-माध्यम अंगीकार कर लिया; क्योंकि तब हमारे राजकीय ख़ज़ाने में, इतनी काफ़ी तादाद में, सोना नहीं था कि उससे यहाँ पर सिक्के के साथ सुवर्ण-माध्यम प्रचलित किया जा सकता। फलतः इस अभाव की पूर्ति के लिये हमारा प्रधान सिक्का तो वही चाँदी का रुपया रक्खा गया; परंतु आईन में सोने की अपेक्षा से रुपए के मूल्य का स्पष्ट रूप से विधान कर दिया गया, जिसके अनुसार हमारा यह रुपया बतौर सोने के प्रमाण-पत्र के समझ लिया गया। रुपए का मूल्य तब १) ४ पेनी या ७ ग्रेन सोने के बराबर नियत किया गया था, हालाँकि बाज़ार में प्रचलित मूल्य इससे भी कम था। इस क़ीमत के विषय में उक्त कमेटी के सदस्यों में यद्यपि मतभेद पड़ गए थे, तथापि बहुमत इसी के पक्ष में था विरोधी अल्पमत ने रुपए का सुवर्ण में यह भाव, तब के बाज़ार-भाव पर ही आईन में विधान करने का, यद्यपि सबल प्रमाणों से सिद्ध किया था, तथापि सरकार ने बहुमत को ही स्वीकार किया, और ई० सन् १९२० तक वह इसी मत को पकड़े रही।

आईन में प्रधान सिक्के का, मुद्रा-माध्यम की धातु में, मूल्य निश्चित कर देने का मुख्य यह अभिप्राय है कि समय-कुसमय अंतरराष्ट्रीय पावने के लेने-देने में असुविधा न हो; याने यदि स्वदेश विदेशों का ऋणी हो, तो उसको अदा करने में, सोना भेजने के लिये राज्य-कोष अथवा टकसाल से, व्यापारियों को चलतू सिक्कों के परिवर्तन में इस आईन के अनुसार मूल्य के हिसाब से आवश्यकता पड़ने पर जितना चाहे, उतना सोना मिल जाय, और इससे विपरीत स्थिति में विदेश से आए हुए सोने अथवा सिक्के का इसी भाव से देशी चलन प्राप्त हो जाय। परंतु हमारे भाग्यविधाताओं ने रुपए का सोने में मूल्य निश्चित करते समय इन दोनो प्रकार का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर नहीं लिया, वरन् आईन में स्पष्ट विधान कर दिया कि सरकार विदेश से आए हुए सोने के एवज़ में तो आईन के मुआफ़िक़ भाव से चलनी सिक्का देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है; परंतु निर्यात के लिये इसी भाव से चलनी सिक्के के एवज़ में सोना देने की ज़िम्मेदारी नहीं लेती, हालाँकि वह जहाँ तक संभव होगा, ऐसा करने का आश्वासन दिलाती है। इस प्रकार निर्यात के लिये सोना देने की ज़िम्मेदारी न लेने का प्रधान कारण यह बताया जाता है कि भारतवर्ष सोने की एक ऐसी गहरी खान है, जिसमें जितना चाहें, उतना सोना डाल सकते हैं; परंतु ज़रूरत पड़ने पर आप इसमें से थोड़ा-सा भी वापस नहीं निकाल सकते। इसलिये सरकार के लिये निर्यात की सोने की ज़िम्मेदारी लेना भारी जोखिम का काम है। सरकार का यह कहना सत्य है अथवा नहीं, इस संबंध में हम यहाँ पर विशेष न लिखकर केवल सरकार की स्थिति का ही दिग्दर्शन कराना ठीक समझते हैं।

हम यह तो पहले ही कह चुके हैं कि लंदन संसार के नक़द बाज़ार का (Money market) केंद्र है। इसी के द्वारा अंतरराष्ट्रीय लेन-देन सलटाए जाते हैं। फलतः यदि लंदन में भारतवर्ष का सोना संग्रहीत रहे, तो वह आवश्यकता पड़ने पर विदेशी ऋण के चुकाने में उसी प्रकार काम आ सकता है, जैसे भारतवर्ष से भेजा हुआ सोना; और जब कि यह देश सदैव प्रति १० वर्ष में ९ वर्ष तक विदेशों से लेनदार रहता है, तो लंदन में इसके सोने का संग्रहीत होना बिलकुल साधारण बात है। हमारी सरकार ने इसके लिये तभी से कौंसिल-बिल्स * का आयोजन कर रक्खा है, जिससे भारतवर्ष के पावने से प्रतिवर्ष प्राप्त होनेवाले सोने को लंदन ही में रोकना सुलभ हो गया है।

---

* कौंसिल-बिल विलायत की उस हुंडी को कहते हैं, जो भारत मंत्री प्रतिसप्ताह लंदन के बाज़ार में बंबई, कलकत्ता और मदरास के भारतीय ख़ज़ानों के ऊपर लिखकर बेचा करते हैं।

यहीं सरकार को हमारी मुद्रा-स्थिति में मनमानी करने के लिये एक बड़ी पोल मिल गई है। ऐसी पोल किसी भी सभ्य देश की मुद्रा-व्यवस्था में नहीं है। इस पोल का हानिकारक परिणाम यहाँ तक हुआ है कि आज ३० वर्ष बीतने पर भी हम, सुवर्ण के सिक्के का माध्यम स्वीकार करने की दृष्टि से, ठीक उसी पहले की स्थिति में पड़े हुए हैं। इस पोल के विरुद्ध भारतीय एवं विदेशी विद्वानों तक ने कई बार आंदोलन किया ; परंतु जो सरकार भारतीय जनता के सामने शासन के लिये ज़िम्मेदार नहीं है, वह ऐसे आंदोलनों से कब विचलित हो सकती है। इतना ही नहीं, वरन् अपनी अंगीकार की हुई स्थिति पर विशेषज्ञों की मुहर दिलाने के लिये समय-समय पर ऐसी कमेटियाँ और कमीशन बैठाए जा चुके हैं, जिनके अधिकांश सदस्य उन्हीं के-से विचारों के पक्के हिमायती प्रसिद्ध हैं। उदाहरणार्थ सन् १९१३ के चेंबरलेन-कमीशन ने हमारी मौजूदा मुद्रा-व्यवस्था को 'परिचालित(Managed)-पद्धति' के सुदृढ़ लांछन से मुक्त करने की भरसक चेष्टा की है ; परंतु फिर भी वह अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाया है। उक्त कमीशन ने यह बात स्पष्ट स्वीकार की है कि "हमारा रुपया रूपक (Token)-सिक्का है ; परंतु उसे अपरिमित वैध चलन का (Unlimited Legal tender) वैसा ही अधिकार प्राप्त है, जैसा सुवर्ण-माध्यमवाले देशों में प्रधान सोने के सिक्कों को प्राप्त हुआ करता है"। इस कमीशन ने यह तो स्वीकार कर लिया कि इस देश का प्रधान सिक्का 'सावरेन' ही है, और "इच्छानुसार सावरेन विदेश से आयात कर सकने और सोने से उन्हें यहीं पर ढलवा सकने का अधिकार रखने, इन दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं है।" पर और कुछ नहीं।

पक्षांतर में हमारी भारतीय जनता अभी तक यही समझे बैठी है कि हमारा प्रधान सिक्का 'सावरेन' नहीं, वरन् वहीं ३० वर्षों पहले का-सा यह चाँदी का 'रुपया' ही है। ऐसी ही धोखे-धड़ी हमारी मौजूदा मुद्रा-व्यवस्था की फैली हुई है, जिसमें प्रवेश कर सत्य का पता लगाना बुद्धिविचक्षणों के लिये भी कठिन काम है।

माध्यम किसे कहते हैं ?

उपर्युक्त विवेचन में 'माध्यम'-शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है। अर्थ-शास्त्र में 'माध्यम' किसे कहते हैं, इसकी परिभाषा कर देना हमारे लिये अत्यंत आवश्यक है ; क्योंकि हम सरकार को माध्यम-परिवर्तन के अक्षम्य अपराध का अपराधी समझकर उसे अपनी भूल को शीघ्र सुधारने की प्रेरणा कर रहे हैं।

जिसकी अपेक्षा से सब वस्तुएँ मापी जायँ, उसे व्यापारी माध्यम कहते हैं। उदाहरणार्थ लंबाई नापने के लिये गज़ अथवा फुट का, और वज़न के लिये सेर अथवा मन का प्रयोग किया जाता है। अस्तु, लंबाई का माध्यम या इकाई गज़ अथवा फुट तथा तौल की इकाई सेर अथवा मन है। इसी भाँति वस्तुओं के मूल्य जिस धातु अथवा वस्तु की अपेक्षा मापे जाते हैं, वह धातु अथवा वस्तु उनके मूल्य का माध्यम होती है। जो देश इसके लिये सोने का प्रयोग करते हैं, वे सुवर्ण माध्यमवाले देश कहलाते हैं। इन दशा में सब वस्तुओं का मूल्य सोने की एक नियत निश्चित तौल पर मापा जाता है। जब कोई व्यक्ति वस्तु ख़रीदता है, तो उसके एवज़ में वह नियत तादाद में सोना देने और बेचते समय सोना लेने का इक़रार करता है, ऐसा माना जाता है। विक्रेता इस प्राप्त सोने को इसी भाँति अपनी ज़रूरत की चीज़ ख़रीदने में दे सकता है। अस्तु, सोने की इस नियत तौल को ही 'सिक्के' का नाम प्राप्त हुआ है। यही बात उस हरएक वस्तु के लिये भी सत्य है, जो समय-समय पर मूल्य के मापने के लिये काम आ चुकी है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि देश का प्रधान सिक्का केवल उसी धातु का ढाला जा सकता है, जिसमें वस्तुओं के मूल्य मापे जाते हैं, और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस देश ने सन् १८९३ से सुवर्ण-माध्यम को स्वीकृत कर लिया है। अतः इसका भी प्रधान सिक्का सोने ही का हो सकता है। पक्षांतर में हमारा चलनी सिक्का 'रुपया' चाँदी का है, इसीलिये इसे हम प्रधान सिक्का किसी हालत में भी नहीं कह सकते।

माध्यम का जब किसी समाज में निर्णय, निश्चय एवं विधान कर दिया जाता है, तो फिर पण आदि भी सब उसी तरह से होने लगते हैं। ठीक ऐसे ही जब से समाज ने सिक्के को निर्णीत एवं आईन-विहित बना दिया है, सब पण आदि (Contracts) सोने अथवा चाँदी की नियत तौल के एवज़ सिक्के की अपेक्षा से किए जा रहे हैं। फलतः अब सिक्का ही हमारा मूल्य का माध्यम एवं माप है। जिस प्रकार अन्य माप या तौल में कमी-बेशी

करनेवाला अपराधी एवं सीख देने का पात्र माना जाता है, ठीक इसी प्रकार सिक्के में परिवर्तन कर देनेवाला भी अपराधी तथा शिक्षा का पात्र है।

यह बात सत्य है कि गज़, सेर, मन आदि के मापों में कमी-बेशी करना जितना सरल है, उतना मूल्य के माप 'सिक्के' में परिवर्तन करना नहीं । परंतु इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी भी नहीं है । तेज़ाब आदि रसायनों द्वारा अथवा सिक्कों को काट अथवा रेतकर उसमें से थोड़ी-सी धातु निकाल ली जा सकती है । परंतु जिन राज्यों ने पहले ऐसा किया था, और जो अब भी करते हैं, उन्होंने मुद्रा-धातु की नियत तोल की अपेक्षा आईन-विहित सिक्कों से विशेष सिक्के ढालकर ऐसा किया है या करते हैं। उदाहरण के लिये आप सावरेन का ही विचार कीजिए। एक सावरेन मे ११३ ग्रेन शुद्ध सोना है। ऐसे १०० सावरेन में कुल ११,३०० ग्रेन सोना होना चाहिए। अब यदि इसके बजाय हम प्रति सावरेन १०० ग्रेन सोने की ढाल दें, तो इस ११,३०० ग्रेन सोने में ११३ सावरेन ढल सकेंगे। परंतु जिस व्यक्ति के पास यह सावरेन जायगा, उसे प्रति सावरेन १३ ग्रेन सोना कम मिलेगा। इस प्रकार ऐसे कम तौल के सिक्के बनानेवाली सरकार से वह ठगा जायगा।

अब आप इसी को 'रूपक'(Token)-सिक्के की अपेक्षा से विचार कीजिए। रूपक-सिक्का वह है, जिसकी चलनी क़ीमत धात्विक क़ीमत की अपेक्षा अधिक होती है। इसके चलते रहने में आईन ही मुख्य आधार है। प्रधान सिक्के की अपेक्षा जो मूल्य इसे आईन में दे दिया गया है, उसी मूल्य पर वह सदैव चलता रहता है। शुद्ध धातु से इसका कोई संबंध नहीं रहता। उदाहरणार्थ आप अँगरेज़ी सिक्के 'शिलिंग' को ले लीजिए। आईन में एक पौंड का बीसवाँ हिस्सा 'शिलिंग' माना गया है। युद्ध के पूर्व ६२५ अंश शुद्ध चाँदी के शिलिंग ढाले जाते थे। यद्यपि अब भी प्रत्येक शिलिंग का वज़न उतना ही है, तथापि चाँदी की शुद्धता घटाकर ५०० अंश कर दी गई है। फिर भी पौंड के वही २० शिलिंग होते हैं। रूपक-सिक्कों द्वारा जनता तभी ठगी जा सकती है, जब वज़न के मूल्य में परिवर्तन कर दिया जाय। हमारा 'रुपया' भी रूपक-सिक्का है, यह हम बतला चुके हैं। इस रुपए की चलनी क़ीमत में मनमाना परिवर्तन कर जन-साधारण को ठगा जा सकता है; और यह चलनी क़ीमत सिवा इसके कि रुपया इतने ग्रेन सोने का प्रमाण-पत्र है, और कुछ नहीं है। अस्तु, रुपए के एवज़ में मिलनेवाले सोने की तादाद में परिवर्तन करना भारी धोखेबाज़ी है।

रुपए का २ शिलिंग का भाव धोखा है

वही मुद्रा-व्यवस्था उत्तम कही जा सकती है, जिसमें किसी को भी दूसरे के विरुद्ध विशेष लाभ न रहे; जितना जिसका हक़ है, वह उसे मिल जाय। ऐसी सुवर्ण एवं संपूर्ण मुद्रा-व्यवस्था अभी तक आविष्कृत नहीं हुई है। सुवर्ण-माध्यम भी 'Deferred Payments' में साम्य रखने में असमर्थ सिद्ध हुआ है; क्योंकि इसकी क़ीमत वस्तुओं की अपेक्षा के अनुसार तो बदलती ही रहती है, और जब लेने और देने का समय वर्षों का रहता है, तो इस बीच में यह परिवर्तन काफ़ी हो जाता है। यह परिवर्तन मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है, अतएव इसके हानि-लाभ की दृष्टि से समाज के उत्तमर्णों और अधमर्णों को उठाने के सिवा छुटकारा ही नहीं है। परंतु जब सरकार की मनमानी से एक पक्ष को दूसरे पक्ष के विरुद्ध विशेषता प्राप्त हो जाय, और सरकार चेतावनी देने पर भी सुधार न करे, तो ऐसी सरकार के प्रति सद्भाव कहाँ तक दृढ़ रह सकते हैं? ठीक यही स्थिति सरकार ने गत १६२० के सितंबर-महीने से हुंडी का २ शिलिंग का भाव आईन में स्वीकार कर हमारे लिये उपस्थित कर दी है। यह बात सत्य है कि सरकार ने ३० वर्ष से नियत भाव को इस प्रकार एक-दम बिना सलाह के नहीं किया था; परंतु जिस विशेषज्ञ कमेटी ने (सन् १६१६ की बेबिंगटन-स्मिथ करेंसी कमेटी) सरकार को ऐसा करने की सम्मति दी थी, और जिसकी रिपोर्ट प्रकाशित ही नहीं हो पाई थी कि वे अधिकांश वजूहात, जिनके आधार पर कमेटी उक्त सिफ़ारिश करती थी, असत्य सिद्ध होने लग गए थे, वह अब कहाँ है? कुछ भी हो, सरकार अपने स्थान पर उसी प्रकार सिर उठाए डटी है । देखना है, इस २ शिलिंग के भाव से किसे और कितनी हानि उठानी पड़ती है?

इस नीति के पक्षपातियों की एक यह भी दलील है कि रुपए का मूल्य घटाने मे तो हानि हो सकती है; परंतु बढ़ाने में हानि कहाँ से आई? इसमे तो हमारा लाभ ही है । इस तर्क का यही अभिप्राय हो सकता है कि

यदि कोई कपड़े का व्यापारी अपना गज़ बड़ा कर ले, अथवा पंसारी तौल का मन भारी बना दे, तो उससे माल ख़रीदनेवालों को तो लाभ ही है। परंतु इसी भाँति क्या हम यह भी कह सकते हैं कि जो लोग ऐसे व्यापारियों को माल बेचते हैं, उन्हें भी लाभ ही रहता है ? नहीं, सर्वथा नहीं। माप के बढ़ाने में बेचनेवालों और घटाने में ख़रीद करनेवालों, दोनों को हानि उठानी पड़ती है। अस्तु, जितना माप को घटाना धोखा है, उतना ही उसे बढ़ाना भी।

ठीक यही बात रुपए के मूल्य को बढ़ाने के संबंध में लागू होती है। इससे उन लोगों को, जो क़र्ज़दार हैं, भारी हानि उठानी पड़ती है ; क्योंकि इस परिवर्तित मूल्य से उन्हें अपने ऋण चुकाने के लिये प्रति रुपया ११·३० ग्रेन सोना अथवा इतनी क़ीमत का माल अब देना पड़ता है। जब रुपए का भाव १ शि० ४ पेनी था, तब ७·५३ ग्रेन सोना याने इतनी क़ीमत का ही माल देकर वे अपना एक रुपए का क़र्ज़ अदा कर सकते थे। पर अब आप देख सकते हैं कि अधमर्णों को इस मूल्य-परिवर्द्धन से लगभग ५० प्रतिशत की हानि निश्चय ही उठानी पड़ती है। हमारे इस देश में अधमर्ण देनदार कौन है ? वे ही दुःखी व आधा पेट खानेवाले किसान लोग, जो सरकार और साहूकार के ऋण-भार से बेतरह दबे हुए हैं।

सरकार अपने पक्ष के समर्थन में यह कह सकती है कि रुपया तो वही है ; परंतु सरकार की यह उक्ति ठीक वैसी ही है, जैसी एक पंसारी अथवा बज़ाज़ मन को भारी और गज़ को बड़ा बनाकर भी कह सकता है कि मन और गज़ तो मन और गज़ ही हैं। क्या हमें ऐसी उक्तियों से संतोष हो सकता है ? हमें मन, गज़, रुपया आदि नामों से प्रयोजन नहीं, बरन् उनके एवज़ में मिलनेवाले अन्न, कपड़े एवं सोने से है। सरकार ने— हमें खेद के साथ कहना पड़ता है—पहले के पर्णों का तदनुरूप संशोधन करने का प्रबंध किए बिना ही रुपए की सोने में क़ीमत बढ़ा दी है, और इससे सरकार १२॥ प्रतिवर्ष करोड़ रुपए का लाभ उठा रही है।

इस नीति के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि मान लो, किसानों को हुंडावन के ऊँचे होने से हानि उठानी पड़ती है ; परंतु इससे भोक्ता (Consumers) लोगों को भी तो लाभ मिलता है। एक की जितनी हानि है, उतना ही दूसरे को लाभ मिल जाता है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि ये भोक्ता लोग भी क्या हमारे वे किसान ही हैं ? यदि नहीं, तो किसानों की हानि करके किसको लाभ पहुँचाया जा रहा है ? यह लाभ, जैसा हम आरंभ ही में कह चुके हैं, विदेशी माल को लाकर सस्ता बेचने के ज़रिए पहुँचाया जाता है। अस्तु, लाभ के पानेवाले विदेशी माल के भोक्ता ही हैं। आधे पेट खाकर भूखे रहनेवाले किसानों को ये विदेशी ऐश-इशरत की चीज़ें मयस्सर ही कब हो सकती हैं ? सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने व्यवस्थापिका सभा के मार्चवाले अधिवेशन में इस विषय पर कहा था—

"कुल आयात का ४० प्रतिशत ही अधिक नहीं, और वह भी तब, जब कि हम उदार दृष्टि से इसका विचार करें, उन देशवासियों के उपयोग में आता है, जो खेती पर बसर करते हैं। लगभग १२॥ प्रतिशत के निर्यात की हानि के सामने उपर्युक्त अनुमान के अनुसार ४० प्रतिशत आयात का मुनाफ़ा क़रीब-क़रीब ३ प्रतिशत ही पड़ता है, जिसके लिये कहा यह जाता है कि किसान लोग प्राप्त करते हैं।"

श्रीयुत बी० एफ़० मादन का तो यहाँ तक कहना है कि "सरकार को तो हुंडी का यह ऊँचा भाव क़ायम रखने में केवल १२॥ करोड़ रुपए सालाना ही का लाभ है, परंतु किसानों को तो लगभग १२० करोड़ रुपयों की हानि उठानी पड़ती है ; क्योंकि भारतवर्ष का सन् १९२३-२४ का कुल निर्यात-व्यापार ३६० करोड़ रुपयों का था। १५ रुपए के पौंड के हिसाब से इसके लगभग २४ करोड़ पौंड होते हैं, याने भारतवर्ष को अपने ३६० करोड़ के निर्यात के कुल २४ करोड़ पौंड मिलने चाहिए थे। अब यदि हुंडी २ शिलिंग पर क़ायम कर दी जाय, तो इन २४ करोड़ पौंड के हमें २४० करोड़ रुपए ही मिल सकेंगे। इस प्रकार रुपए के मूल्य परिवर्द्धन के कारण हमारी हानि १२० करोड़ प्रतिवर्ष की होगी।"

इस हानि का लाभ उन्हीं लोगों को मिल पावेगा, जिन्हें धन विदेश भेजना होगा। इसमें भी हमारी सरकार का सबसे पहला नंबर है। इसके बाद रेल और अन्य विदेशी कंपनियाँ, बैंक, सिविल सरवेंट तथा विदेशी माल मँगानेवाले आदि हैं।

हमारे अर्थ-सचिव ने गत वर्ष ही बजटवाले भाषण में सरकार की हुंडावन-नीति का समर्थन और व्यापारियों

के विरोध का खंडन करते हुए कहा था—"भारतीय किसानों को हानि पहुँचाते हुए हुंडी का ऊँचा भाव विदेशी माल के आयात करनेवालों को फ़ायदा नहीं पहुँचाता; और यदि इसका कोई भी असर पड़ता है, तो वह केवल अस्थिर है।"

एक बात और है। जब से हमारे रुपए की सोने में क़ीमत १ शि० ४ पेनी से बढ़ाकर २ शि० कर दी गई है, तब से हुंडी का बाज़ार-भाव लगातार नीचे ही जा रहा है, यहाँ तक कि यह एक बार १ शि० ३।।।=) पेनी तक हो गया था। सरकार बाज़ार-भाव को आईन के भाव के अनक़रीब पहुँचाने के लिये अध्यापक जेवंस साहब के बताए हुए तरीक़ों को आज तक बराबर अमल में ला रही है, तो भी वह इसे ऊँचे भाव पर स्थिर नहीं कर सकी है। ज्यों ही सरकार सहारा हटा लेती है, हुंडी अपनी स्वाभाविक १ शि० ४ पेनी की स्थिति को आने लगती है। इसीलिये हमारे व्यापारी, और ख़ासकर बंबई की इंडियन मर्चेंट्स-चेंबर, सरकार से आज चार वर्षों से लगातार प्रार्थना कर रहे हैं कि जल्दी में की हुई भूल का पूर्ण ग्रास इस देश को न बनने दिया जाय, और इसमें शीघ्र सुधार कर दिया जाय। परंतु सरकार अपने पक्ष पर बेतरह डटी हुई है। प्रतिवर्ष बजट के भाषण में इस नीति के समर्थन में एक-न-एक नई युक्ति पेश कर दी जाती है। इसके अलावा भी जब अर्थ-सचिव को कहीं बोलने का मौक़ा आता है, तो इसी की पुष्टि करना वे अपना प्रधान कर्तव्य समझते हैं। शोक की बात तो यह है कि जिन युक्तियों से हमें समझाया जाता है, वे ही युक्तियाँ इंगलैंड में ठीक विपरीत रूप से अमल में लाई जाती हैं। उदाहरणार्थ हमारे अर्थ-सचिव ने अपने गत मार्च के भाषण में ही यह कहा है कि "प्रत्येक देश तो यही चाहता है कि संपूर्ण रूप से आर्थिक स्थिरता स्थापित हो जाय; यह स्थिरता देशांतर्गत वस्तुओं के मूल्य में सर्वप्रथम और परमावश्यक है। इसके बाद हुंडी की स्थिरता प्रयोजनीय है; और कुछ अर्से के बाद क्या निर्यात (Exporter) और क्या आयात (Importer) करनेवालों की, और क्या किसान और क्या भोक्ता (Consumer) की दृष्टि से इस बात में कुछ भी अंतर नहीं रह जायगा कि हुंडी किस भाव पर स्थिर रहने की चेष्टा करती है। हाँ, यह ज़रूरी है कि हुंडी भविष्य में इस नवीन भाव पर काफ़ी समय तक स्थिर रहना चाहिए।" ऐसी ही और भी कई दलीलें हमारे अर्थ-सचिव ने पेश की हैं।

यहाँ पर अर्थ-सचिव की उस दलील पर कि "इस हुंडी के ऊँचे भाव से किसानों को हानि पहुँचते हुए भी किसी को फ़ायदा नहीं पहुँचता" हम विचार कर इस लेख को समाप्त करेंगे। इस दलील के पक्ष में कहा यह जाता है कि आज संसार में युद्ध के पहले के भाव से वस्तुओं के भाव दुगने और तिगने से भी ज़्यादा महँगे हैं। यही नहीं, इनके गिरने तक की अभी कोई उम्मीद एवं आशा नहीं है। फलतः किसानों को यहाँ आकर अपने माल के, हुंडी के ऊँचे रहते हुए भी, उतने ही रुपए मिला करेंगे, जितने वे युद्ध के पूर्व के भाव पर माल बेचकर पाते थे। इस दलील में मुख्य दो बातों पर ज़ोर दिया गया है—एक तो वस्तुओं के भाव महँगे हैं, और अभी रहेंगे; दूसरे, किसानों के माल के मिलनेवाले रुपयों की तादाद में कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता।

वस्तुओं के भाव के संबंध में तो हरएक आदमी कह सकता है कि सन् १६२० से बाज़ार-भाव इस बुरी तरह से गिर गया है कि व्यापार करना ही भारी हो रहा है। परंतु फिर भी यदि उक्त दलील को हम सत्य मान लें, तो क्या यह बात भी सत्य नहीं है कि इस देश में भी वस्तुओं के भाव युद्ध के पूर्व से बेतरह बढ़े हुए हैं। सरकार अपनी टैक्स की माँग हर वर्ष बढ़ाती ही आई है। मज़दूरी भी आज युद्ध के पहले से दुगनी से अधिक है। संक्षेप में किसान का ख़र्च आज वस्तुओं की महँगी के साथ-ही-साथ बहुत बढ़ गया है। परंतु हमारी सरकार की नीति से उसे अपने माल के रुपए, जिसके ऊपर ही उसके ख़र्च एवं निर्वाह का दारोमदार है, वे ही युद्ध के पूर्व के बराबर मिलते हैं। क्या अब भी कोई समझदार यह कह सकता है कि किसान की हुंडी के ऊँचे भाव से कोई हानि नहीं होती है?

दूसरी बात यह है कि वस्तुओं की महँगी से किसान को मिलनेवाला लाभ छीनकर हमें उसे दूसरों को देना कहाँ तक उचित है। सर पुरुषोत्तमदास-ठाकुरदास ने ठीक ही तो कहा है कि "हमारे किसानों का दुष्काल में, बाढ़ में और अन्यान्य दैवी आपदाओं में (जो आए दिन हमारे यहाँ आया ही करती हैं) एक-मात्र आधार वही

छोटी-सी रक़म हुआ करती है, जिसे वे सुकाल में बचाकर रख सकते अथवा जिससे वे साहूकार का ऋण भर सकते हैं। जब संसार में वस्तुओं के भाव बढ़े, और हमारे किसानों को इससे लाभ उठाने का मौक़ा मिला—बड़े ही दुःख के साथ यह कहना पड़ता है—तभी हमारी सरकार ने मुस्तैदी के साथ उन्हें इस वाजिब मुनाफ़े से वंचित कर दिया! परंतु जब संसार में वस्तुओं के भाव गिर जायँगे (जैसा कि अभी हो रहा है), तब क्या हमारी सरकार और माननीय अर्थ-सचिव उनकी सहायता के लिये अग्रसर रहेंगे? क्या तब इस समय की सारी-की-सारी बचत उन्हें बाँट दी जायगी, और क्या उनकी हानि की रक्षा के लिये हुंडी का भाव घटा देने और चीज़ों के भाव स्थिर रखने की प्रतिज्ञा का पालन किया जायगा?

सच बात यह है कि सरकार के बढ़े हुए ख़र्च के जुटाने का यह सबसे घृणास्पद तरीक़ा है। यह ख़र्च सरकार जनता पर प्रत्यक्ष और परोक्ष-कर (Direct and Indirect Taxes) लगाकर पूरा किया करती है, और ये कर जनता की जानकारी में ही लगाए जाते हैं। पक्षांतर में हुंडी बढ़ाकर किसानों से ऐसा कर वसूल किया जा रहा है, जिसके विषय में उन्होंने अपनी अनुमति नहीं दी है—इतना ही नहीं, वरन् जानते तक नहीं हैं। सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि सरकार को तो इससे केवल १२॥ करोड़ ही का लाभ मिल सकता है; परंतु किसानों को १२० करोड़ तक की हानि पहुँच सकती है। सरकार ने स्वयं गत वर्ष का बजट, १ शि० ६ पेनी के भाव की हुंडी मानकर ही बनाया है। वह स्वयं २ शि० के भाव को अकार्यकर मानती और कहती भी है; परंतु आईन में से उसे हटा देने को फिर भी तैयार नहीं है। यह हठ संदेह पैदा करता है, और सरकार की नीति पर से हमारे विश्वास को उत्तरोत्तर उठाता जा रहा है।

कस्तूरमल बाँठिया

गज्जू का चबूतरा

(१)



साँगपुर के ठाकुर हीरासिंह बड़े ही देवभक्त थे। आप राजपूत-ठाकुर नहीं, गोंड-ठाकुर थे। आपके पूर्वजों ने खेत के किनारे, एक सुंदर आम के पेड़ के नीचे गोल चबूतरे पर इष्टदेव की स्थापना की थी; किंतु तब से किसी ने उसके जीर्णोद्धार की ओर ध्यान नहीं दिया था। अस्तु, वहाँ बड़े-बड़े बिल बन गए थे। छोटी-छोटी झाड़ियों ने चारों ओर फैलकर वहाँ की शोभा-श्री बिलकुल ही नष्ट-भ्रष्ट कर दी थी। सुनते हैं, वर्ष में एक दिन अर्थात् विजया-दशमी को छोड़, कभी कोई वहाँ दर्शन करने नहीं गया। बलि-पशु द्वारा देवता को साल में एक बार संतुष्ट करके लोग वर्ष-भर के लिये निश्चित हो जाते थे। किंतु ठाकुर हीरासिंह के मन में भक्ति-भाव एवं श्रद्धा पूर्ण रूप से विद्यमान थी। आप अपने पूर्वजों-जैसे नेग चुकानेवाले ढोंगी धार्मिक न थे। आपने यथासंभव उस स्थान को रमणीय बनाकर इधर-उधर छोटे-छोटे फूलों के पौदे भी लगवा दिए। झाड़ने-बुहारने तथा पानी देने के लिये एक आदमी अलग नियुक्त कर दिया। वही इष्ट देव की पूजा भी किया करता था; शाम को मिट्टी के सकोरे में मीठे तेल का टिमटिमाता हुआ दीपक जला देता और घंटा-घड़ियाल बजाने और देवता को कुछ भजन सुनाने के उपरांत दैनिक कार्य से छुट्टी पाता था। पूजा-अर्चा में जो ख़र्च होता था, वह ठाकुर साहब ही अपने पास से देते थे।

(२)

जो आदमी इस काम पर नौकर था, उसका नाम गजाधर था; पर लोग उसे गज्जू कहकर पुकारते थे। शरीर का ठिंगना, पर बलिष्ठ था। परिश्रमी भी बड़ा था। सुबह से शाम तक वह उस स्थान की देख-भाल रखता और अपने हाथ से कूड़ा-कर्कट साफ़ करता था। चूहे बिल और पक्षी घोंसले बनाकर दीवारें पोली कर देते थे। गज्जू जहाँ छेद देख पाता, वहीं मिट्टी सानकर भर देता था। देवता की पूजा भी बड़ी धूम-धाम से करता, लोगों को प्रसाद बाँटता और बालकों को 'खीर' खिलाता था;

फ़सल पर आमों की रखवाली भी वही करता था। गुफने से पक्षियों को उड़ाता और गाँव-भर के बालकों को बुलाकर आम का रस पिलाता था। ठाकुर साहब का लड़का रूपसिंह उससे बहुत हिल गया था। वह दिन-भर गज्जू के साथ खेला करता था। गज्जू एक मज़बूत रस्से का झूला डालकर उस पर उसे झुलाता रहता था। बालकों को जमा कर दूर जंगल में ले जाता और उनके साथ आप भी आँख-मिचौनी खेलता था। जब किसी बीहड़ स्थान में छिप जाता, तो बालक लाख सिर पटकने पर भी उसका पता न पाते। किंतु जब कभी वे ढूँढ़ निकालते, तब घोर कोलाहल करते हुए उस पर टूट पड़ते थे। वह भी अट्टहास करके चारों ओर वन-प्रांत को गुँजा देता था। रूपसिंह को उसके कंधे पर बैठकर वन की सैर करना बहुत पसंद था। गज्जू उसे कंधे पर बिठा हनुमान्-सरीखी छलाँगें मारता दूर तक चला जाता था, और जब भयभीत हो रूपसिंह लौटने को कहता, तब कहीं लौटता था। रहने के लिये एक छोटा-सा झोपड़ा बनवा लिया था। वहीं रहकर वह चक्रवर्ती नरेश की तरह सुख से दिन बिताता था। संसार में उसका अपना सगा कोई न था। किंतु वह अकेला भी न था। स्वेच्छाचारी, वनविहारी बालकों के आनंद-कोलाहल से उसकी कुटी गूँजती ही रहती थी। उनके साथ वह जितना सुखी था, उतना संसार में शायद कोई बड़-से-बड़ा धन-कुबेर भी न होगा।

(३)

उन दिनों गेहूँ का भाव २२½ सेर का था। गज्जू को इसी हिसाब से ४५ सेर गेहूँ मिलते थे। बस, यही उसकी मासिक वृत्ति थी। इतने ही में वह अपना पेट पालता था। इसी से कुछ बचाकर पर्व-त्योहारों पर बालकों को खिला भी देता था। वह कुश्ती के दाँव-पेच खूब जानता था। कई बालक उसके शागिर्द बनकर कुश्ती लड़ना सीखते थे; पर वह इसकी दक्षिणा कुछ न लेता था। था तो निरक्षर; पर ब्रह्मचर्य के नियमों का पूरा पालन करता था। बालकों को कसरत और दाँव-पेच सिखाने में उसका अभ्यास भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता था। धीरे-धीरे वह नामी पहलवान हो गया। लोग दूर-दूर से आकर उसकी कुश्ती देखते और सराहना करते थे। उन दिनों दानवीरता में 'रेहू' के ठाकुरों का अच्छा नाम था। वे गुण का आदर करना जानते थे। इसी से दूर-दूर के पंडित, ज्योतिषी, वैद्य, गवैए, कवि इत्यादि उनके यहाँ बने ही रहते थे। एक पहलवान भी था, जिसका रोज़ाना रातिब डेढ़ सेर हलुआ और सवा सेर दूध बँधा था। झाँसी, ग्वालियर, भेलसा इत्यादि स्थानों में जाकर उसने पहलवान पछाड़े थे। पहलवान उसके नाम से दहलते और उसके साथ कुश्ती लड़ने में हिचकते थे। कई स्वर्ण और रौप्य-पदक भी उसके पास थे। बड़ा ही अक्खड़ और मनमौजी था। एक दिन जी में आया—अब की कुश्ती गज्जू से लड़ी जाय। बस, देर ही क्या थी; चट ठाकुरों को जा सुनाया। वे हँसकर बोले—"बादल, गज्जू क्या लाकर तुमसे कुश्ती लड़ेगा? बेचारा भूका-टूटा ग़रीब आदमी किस बिरते पर तुम्हारा सामना करेगा? और उससे लड़ने में तुम्हारा नाम ही क्या होगा?"

पहलवान ने हठ पकड़ लिया। उसने एक ही उत्तर दिया—"इस बार गज्जू से मेरी कुश्ती अवश्य हो।"

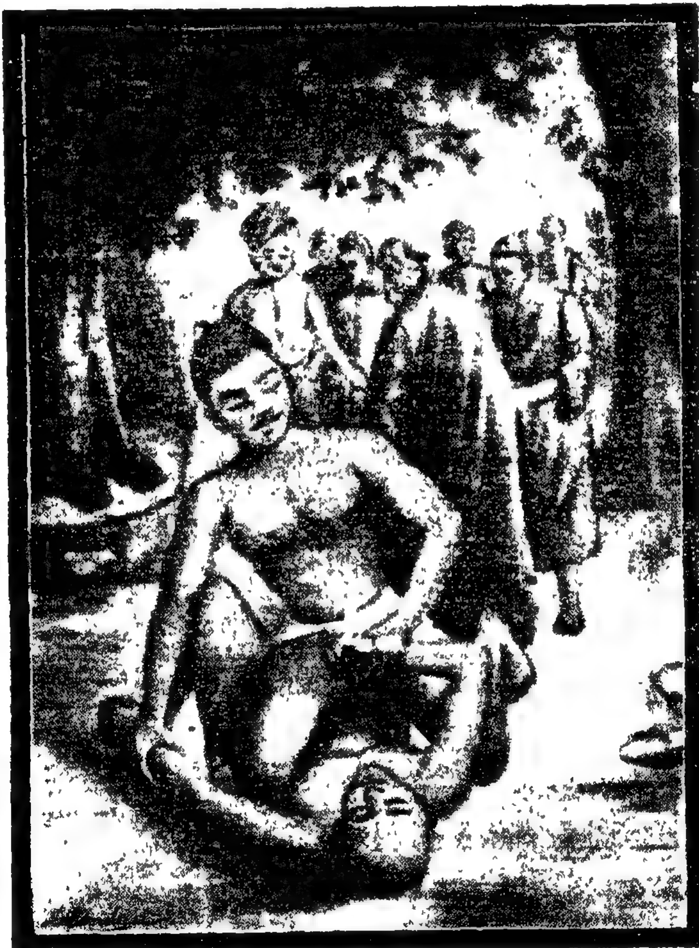
सुनकर ठाकुर साहब सन्न हो गए!

(४)

आगामी नाग-पंचमी (गुड़ियों) को रेहू के बादलख़ाँ और गज्जू की कुश्ती होना निश्चित हो गया। दोनों शेर मल्ल-युद्ध में विजय की आशा से उत्फुल्ल हो उठे। दुगने उत्साह से कसरत और ज़ोर करने लगे। बादल की ख़ुराक बढ़ा दी गई; किंतु बेचारे गज्जू के भाग्य में वही डेढ़ सेर गेहूँ लिखे थे। रेहू के ठाकुर साहब ज़रा शौक़ीन-मिज़ाज थे। हीरासिंह में यह बात न थी। वह पुराने ढर्रे के आदमी थे, इन बातों को कब पसंद करने लगे? उन्हें तो विवश होकर ठाकुर साहब का प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा था, स्वेच्छा से नहीं। सोचते थे, बादल जीतेगा ही; फिर इस व्यर्थ की खटखट में पड़कर अपना पैसा क्यों बहाऊँ? जिसको वाहवाही लूटनी हो, वही पैसा ख़र्च करे।

धीरे-धीरे नाग-पंचमी आ गई। दर्शकों की तैयारियाँ होने लगीं। लोग आसपास के गाँवों से एक दिन पहले ही आ-आकर डट गए। बादल के जीतने में किसी को संदेह न था; किंतु गज्जू के चेले-चापड़ अपनी ही बेतुकी हाँक रहे थे। गुड़ियों के दिन सबेरे ठीक दस बजे बादलख़ाँ का दल डंके पर चोट देता, झंडा फहराता आ पहुँचा। सबके आगे लँगोट-बंद पहलवान बादलख़ाँ अकड़ते आ रहे थे। ठाकुर साहब भी

हाथी पर सवार, अपने मुसाहबों के साथ, पीछे आ रहे थे। हीरासिंह ने उनका उचित सत्कार किया; खान-पान और आदर-सत्कार में किसी प्रकार की त्रुटि न होने दी। ठीक दो बजे "जय बजरंगबली की" पुकारते हुए बादल के दल ने अखाड़े की ओर प्रस्थान किया। सब लोग यथास्थान आ डटे। दर्शकगण पहले ही से चातक की तरह बादल पर दृष्टि लगाए बैठे थे। असंख्य नेत्रों ने एक-साथ बादल पर आदर, प्रेम और सहानुभूति की वर्षा की। इधर बादल ने गज्जू को और गज्जू ने बादल को देखा। दोनों का सामना होते ही लोग गज्जू के गंभीर मुँह को करुण दृष्टि से देखने लगे। गज्जू ने किसी की ओर न देखा; चुपचाप देवता के निकट प्रणाम किया, थोड़ी-सी भभूत माथे पर चढ़ाई, और मुसकिराता हुआ अखाड़े में आ खड़ा हुआ। लोगों के मुँह से एक अस्फुट ध्वनि निकलकर वायु-मंडल में विलीन हो गई। बादल ने उठकर ताल ठोंकी। डंके के गगनभेदी निनाद ने उसका स्वागत किया; वीर हृदय उछलकर आसमान पर जा चढ़े।



गज्जू ने उछलकर बादल को पछाड़ ही तो दिया।

हीरासिंह वीर-रस की नई उमंग में बोल उठे—"ले गज्जू, बादल को।" हीरासिंह के इस एक ही वाक्य ने गज्जू को गजेंद्र बना दिया—शरीर फूलकर चौगुना हो गया। उसे ऐसा मालूम हुआ, मानो वह बढ़कर आसमान से जा लगा हो। लोगों ने देखा, गज्जू अब वह गज्जू नहीं, वरन् साक्षात् इंद्र भगवान् का मस्त गजराज है। लोगों ने हर्ष-ध्वनि की, और गज्जू ने उछलकर बादल को पछाड़ ही तो दिया। दर्शकों की घोर कोलाहल-पूर्ण हर्ष-ध्वनि और करतल ध्वनि से दसों दिशाएँ गूँज उठीं। हीरासिंह ने उठकर गज्जू की पीठ ठोंकी। रेहू के ठाकुर साहब ने तीव्र दृष्टि से गज्जू की ओर देखा, और शरमाते-शरमाते अपनी सोने की अँगूठी निकालकर उसकी उँगली में पहना दी।

(२)

बादल फिर लौटकर रेहू नहीं गया। उसके बिना ठाकुर साहब को अपना दरबार सूना जान पड़ने लगा। उन्होंने गज्जू को बुलवाया, खाने-पीने और ओढ़ने-पहनने का प्रलोभन दिया; किंतु वह राज़ी न हुआ। ठाकुर ने इससे अपना अपमान समझा, और वह गज्जू से बदला लेने का अवसर ढूँढ़ने लगे। शाहखर्चों में प्रतिहिंसा-प्रवृत्ति की अधिक मात्रा रहती है, और वह समय पर अपनी करतूत भी दिखलाती

है । अस्तु, गज्जू को मुट्ठी में करने के लिये षड्यंत्र रचे जाने लगे । किंतु गज्जू ग़ज़ब का गुरुघंटाल निकला । चालाकों की कोई भी चाल न चल पाई ।

इसी गाँव में मौलवी फ़ैज़बख़्श नाम के एक माफ़ीदार रहते थे । बड़े चतुर और दूरदर्शी थे । ठाकुर साहब ने इन्हें बुलवाकर कहा—"मौलाना साहब, आप भी कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिसमें गज्जू या तो अपने यहाँ आ जाय, या वहाँ से भी चला जाय ।" मौलाना साहब अपनी लंबी, सफ़ेद दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोले—"राजा साहब, तदबीर तो बड़ी आसान है; ख़ाली रुपए का ख़र्च है । आप राज़ी हों, तो अर्ज़ करूँ ।

ठाकुर साहब ने सिर हिलाकर कहा—"हाँ-हाँ, कहिए; रुपए जितने लगें, मुझसे लीजिए ।" फ़ैज़बख़्श बोले—"आप ठाकुर हीरासिंह से वह ज़मीन, जहाँ चबूतरा और आम का दरख़्त है, ख़रीद लीजिए । फिर सब काम मैं कर लूँगा । मुझे यक़ीन है कि दुगना-तिगना रुपया पा जाने से वह ज़मीन ज़रूर आपको दे देंगे ।" ठाकुर साहब को भी बात जँच गई; बोले—"आप ही न जाकर तय कर आइए ।"

मौलाना साहब सारँगपुर पहुँचे । ठाकुर साहब को बहुत आगा-पीछा सुझाया, हिलाया-झुलाया, हिताहित का ज्ञान कराया; किंतु धर्मभीरु ठाकुर टस-से-मस न हुए । तब मौलाना साहब धर्म ही का सहारा ले अपना मतलब गाँठने लगे; बोले—"जनाब, यह सब तो आपको आज़माने के लिये कहा गया है । असल बात तो यह है कि ग़रीब मुसाफ़िरों को तकलीफ़ से बचाने के लिये यह तदबीर सोची गई है । इलाक़े-भर में कोई नदी या तालाब नहीं है । लोग मालगुज़ार-ज़मींदारों की शिकायत कर रहे हैं । तालाब खुद जाने पर ग़रीब मुसाफ़िरों को बड़ा आराम हो जायगा । मौक़े की ज़मीन देखकर ही आपको तकलीफ़ दी गई है । उम्मीद है, आप इस सबाब के काम से मुँह न मोड़ेंगे ।"

ठाकुर साहब कुछ देर रुककर बोले—"यही बात है? अच्छा तो मुझसे दूसरी ज़मीन ले लीजिए ।"

मौलाना—दूसरी ज़मीन की ज़रूरत होती, तो बंदा यहाँ आकर आपका वक़्त क्यों ख़राब करता?

हीरा०—पर वह तो देवता की जगह है । वहाँ कोई दूसरा काम हो कैसे सकता है?

मौलाना—अजी, यह तो महज़ नादानी का सवाल है। जाहिल ही ऐसा कहा करते हैं । भला देवता की भी कोई जगह होती है? दुनिया में दूसरों को जिससे फ़ायदा पहुँचे, वही सच्चा देवता है ठाकुर साहब । हमारे फ़रिश्ते और नबी का यही फ़रमान है । आपने भी तो शास्तर में सुना होगा न?

सुनकर ठाकुर साहब चुप हो रहे । उन्हें इधर-उधर करते देख मौलाना साहब फिर बोले—"क्या देवता के लिये कोई जगह मुक़र्रर रहती है? यहाँ अपने घर में बुला लीजिए—यहीं पूजा कीजिए । सबाब का काम है; देवता देखकर ख़ुश ही होंगे ।"

मौलाना साहब इस विषय पर बहुत देर तक बहस करते रहे । अंत को जब हीरासिंह ने देखा कि मौलाना साहब के कौशल-जाल से छूटना असंभव है, तो कहने लगे—"अच्छा, दो दिन में सोच-समझकर जवाब देंगे मौलाना साहब ।"

मौलाना साहब समझ गए—काम फ़ते है; ज़रा-सा लालच दिखलाने से रास्ता साफ़ है ।

(६)

संसार में धन ही सब कुछ है । धन ही से धर्म होता, धन ही से आदर मिलता और धन ही से गुण की पहचान होती है । अथवा यों कहना चाहिए कि धन ही मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ गुण है । धन ही स्वर्ग, और धन ही देवता है । सच है—"सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ।" यज्ञ, होम, पूजा-पाठ, दान-धर्म और व्रत, सभी धन के करश्मे हैं । संसार इन्हें जिस दृष्टि से देखता है, वह अभ्रांत नहीं, भ्रम-पूर्ण—सदोष है । तभी तो परीक्षा लेने के लिये भगवान् को भी निष्ठुर नीति का अवलंबन करना पड़ता है !

पहले तो ठाकुर साहब ने ज़मीन देने में हीला-हवाला किया; किंतु जब मूल्य की रक़म २,०००) से ४,०००) तक पहुँची, तब तो धार्मिकता की नक़ली नक़ाब खिसक गई । मौलाना साहब को एकांत में बुलाकर बैनामा लिख दिया । घर में एक सुंदर वेदी पर इष्टदेव की स्थापना की, और लोकोपकार का ढोंग फैलाकर खुले-मैदान लोगों की आँखों में धूल झोंक दी । मूर्ख सजातीय और ग्रामवासी चुप हो रहे । ठाकुर साहब ने लंबी तानी । गज्जू को मालिक की इस स्वार्थपरता पर

बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने उन्हें समझा-बुझाकर ठीक रास्ते पर लाने का विचार किया ; किंतु जब सुना कि बनामा लिखा जा चुका, तो उसे लाचार हो अन्य मार्ग का सहारा लेना पड़ा।

इसके सारँगपुर त्यागकर अन्यत्र जाने की बात रेहू के ठाकुरों को मालूम हो गई। उन्होंने कहला भेजा कि २०) मासिक पर हमारे यहाँ रहना चाहो, तो चले आओ। किंतु गज्जू ने स्पष्ट कह दिया—रुपया मनुष्य को नहीं ख़रीद सकता।

रूपसिंह को गज्जू ने लुटपन से पाला था ; उस पर उसका असीम स्नेह था। वह सारँगपुर से जाने के दिन रूपसिंह को गोद में ले बड़ी देर तक न-जाने क्या-क्या सोचता रहा। हृदय में अतीत स्मृतियाँ जाग्रत् हो आईं। क्षण-भर के लिये वह ज्ञान-शून्य हो गया। किंतु शीघ्र ही सँभलकर समयोचित कर्तव्य-पालन में लग गया। रूपसिंह को कंधे पर बिठाकर बड़ी देर तक जंगल में घूमता रहा ; फल-फूल तोड़कर खाता-खिलाता और अपने आमोद-स्थलों से विदा लेता हुआ वह दोपहर को कुटी में आया। वहाँ गाँव-भर के बालकों को बुला उन्हें विदाई का भोजन कराया : सिर पर हाथ रख-रखकर आशीर्वाद दिया। रूपसिंह को गले लगा प्रेम-पूर्वक मुख-चुंबन किया। थोड़ी-सी भभूत उठाकर ललाट पर लगाई, और एक बार सबकी ओर स्नेह-दृष्टि से देखा—चबूतरे को अंतिम प्रणाम कर चुपचाप वहाँ से चल दिया। संकोच में पड़ने के भय से उसने अपने चेलों को इसकी सूचना भी नहीं दी।

(७)

तालाब तैयार हो गया। गाँव के बालक नित्य उठकर उसमें क्रीड़ा करते थे। आम का वृक्ष उनके इस कार्य में सहायक था। वे उसकी नीचे झुकी हुई डालियों पर चढ़ते, झूला झूलते और तालाब मे कूद पड़ते थे—पन-डुब्बियों की तरह तैरते और ग़ोते लगाते थे ; ग्रीष्म के सुखद मध्याह्न में कोयल की नक़ल पर उसके साथ कूक-कूककर पथिकों को पुलकित करते और शीतल छाया में बैठकर छोटे बालकों को गज्जू की पुण्य-कथा सुनाते थे। रूपसिंह नेत्रों में जल भरकर निर्जन वन में गज्जू को पुकारता और उसके अड्डों में जाकर पागलों की तरह प्रलाप करता था, मानो गज्जू उसके साथ है, और वह गज्जू से प्रेम-संभाषण कर रहा है। किसी भील ने एक दिन 'गज्जू की माला' कहकर उसे एक फूलों की माला पहना दी थी। मूर्ख बालक उसे अपने ही गज्जू का वात्सल्य-निदर्शन मानकर बड़े प्रेम से पहने था। पुष्प सूखकर झड़ गए ; किंतु डोरा गले में पड़ा ही था।

एक दिन बालकों में झगड़ा हो गया। रूपसिंह के चपत जमाकर एक सयाना लड़का तालाब में कूद पड़ा। रूपसिंह को क्रोध आ गया। वह भली भाँति तैरना न जानने पर भी धड़ाम से तालाब में कूद पड़ा। जो लड़के साथ आए थे, वे चिल्लाने और दौड़-धूप करने लगे। एक ही मिनट बाद एक और बड़े ज़ोर का धमाका हुआ। कौन गिरा, यह कोई न जान सका। दो ही-तीन मिनट में, भील के वेष में, एक मनुष्य "जय बजरंग की" कहकर तालाब से बाहर निकला। मृतप्राय बालक रूपसिंह उसके हाथों में था। जल से निकलते ही भील ने रूपसिंह को उलटाकर पहले पेट का पानी निकाला। अनंतर कुटी के अंदर ले जाकर, धोती का टुकड़ा फाड़कर उसमें रूपसिंह को लपेटकर सुला दिया। थोड़ी देर बाद बालक होश में आया, और उठकर बैठ गया। अब भील को अपनी चोट का ख़याल आया। तालाब में कूदते समय कहीं जल-मग्न आम की जड़ से टकराकर उसका सिर फट गया था। उससे अविराम रक्त-धारा बह रही थी। साहसी भील ने रक्त धो-धाकर घाव को बाँधा, और लड़खड़ाता हुआ वन की ओर चला गया।

हीरासिंह को जब यह समाचार मिला, तो वह भी दौड़े हुए आए। प्राणाधिक बालक के जीवनदाता उस भील को उन्होंने बहुत ढुँढ़वाया ; किंतु कुछ पता न चला। दूसरे दिन तालाब से थोड़ी दूर पर, एक घाटी के नीचे, उसी भील का मृत शरीर पाया गया। पास ही २-३ भील खड़े बिलख रहे थे। हीरासिंह स्वयं आकर उसका शव उठवा लाए। लोगों ने भी उसे पहचान लिया। वह गज्जू का शव था। भीलों ने यह भी कहा कि वह उनके साथ पर्वतों के अज्ञात स्थान में रहकर दिन बिताया करता था ; किंतु सदा गुप्त वेष में रूपसिंह के पीछे छाया की नाईं घूमता रहता था। गज्जू की अचल स्वामिनिष्ठा हीरासिंह पर बड़ा गहरा असर कर गई। वह उसके लिये कई दिन तक पछता-पछताकर आँसू बहाते रहे। जिस जगह के ७,०००) लेकर उन्होंने देवालय तक मिटवाने में संकोच न किया था, उसी के उन्होंने ८,०००)



मृतप्राय बालक रूपसिंह उनके हाथों में था।

दिए, और व्यथितहृदय को सांत्वना देने के लिये, ठीक उसी जगह 'गज्जू का चबूतरा' बनवा दिया। गाँव के लड़के जिस प्रकार पहले गज्जू के साथ खेला करते थे, उसी प्रकार अब उसके चबूतरे पर खेलते हैं—कुटी के खँडहर में नाचते-कूदते और गज्जू की बातें किया करते हैं।

आत्माराम देवकर

अरण्य-बाला

यक्ष हाट में प्रथम-प्रथम तुम बेध हृदय विरही के हाथ ;
उतर पड़ी हो विजन विपिन पर श्यामा मेघ-परी के साथ।
पहन कंठ में कुंद-माल तुम फूली नहीं समाती हो ;
वृंदावन की विनोदिनी-सी मधुर-मधुर मुसकाती हो।
मल देती हो, साँझसमय, गो-धूलि गाल पर नर्म गुलाल ;
विटप-ओट में छिप जाती हो, छोड़ रूप छाया तत्काल।
चुपके से निहार यौवन-सुख सोच वासना-अभिलाषा ;
प्राणों-बीच दबा लेती हो, भोग-विलास-भरी भाषा।
कुंचित केश-कलाप बीच तुम साज सेवती-दल सुकुमार,
नील-पीत-उज्ज्वल फूलों को गूँथ रही हो बारबार।
विभावरी में, तम-छाया में, जाती चमक रूप-चपला ;
भोजपत्र पर क्या लिखती हो—कालिदास की शकुंतला ?
बेलि-गृहांगण-मध्य मूर्ति-सी करती हो क्या सोच-विचार ?

रंग-बिरंगे वसन पहनकर तुम्हें बुलाते सुमन-कुमार।
कोई चिबुक चूमते हैं, तो कोई सुहलाते काया ;
मलयानिल में झूल-झूलकर कोई छूते हैं छाया।
कभी राग में भर जाती हो, खींच रूप-गर्विता हिलोर ;
चंद्र-किरण-सी बिखर विश्व में सुधा सींचती हो सब ओर।
फैल-फैल तरु-शाखाओं पर बेलें शीश झुकाती हैं :
मृत्यु-मुखी कलियाँ तुमको पा नवजीवन-बल पाती हैं।
मधुप-मंडली इधर-उधर उड़, तुम्हें छेड़ती है दिन-रात ;
पिछला ऋण क्या भूल गई हो, अयि वासनामयी विख्यात ?
नंदन-कानन-इंद्र-झील की मधुर-कणोरा-कंटकिनी !
अकस्मात् क्यों यहाँ खिली हो, भोर-स्वप्न भी सरोजिनी !
श्वेत शिलापट पर बैठी हो, बनकर चपल चाँदनी रात ;
किस व्याकुल से यहाँ अकेली करती हो आँखों से बात ?
फर-फर उड़ा हवा में आँचल, इंद्र-धनुष दिखलाती हो ;
इंद्र-जाल रचकर पगली-सी, पागल किसे बनाती हो ?
प्रेम-सोम-रस तुम पीती हो, नवखंजन-गति-गंजन कर :
रति-सी अर्द्ध-नग्न सोती हो, मदन-राज-मन-मंथन कर।
दक्षिण पवन चूम कोमल मुख, पश्चिम को उड़ जाता है ;
अयि वल्कलधारिणी ! पपीहा, पिए प्राण, इठलाता है।
कभी-कभी अज्ञातयौवना-सी हँसती हो बारंबार,
कभी स्वयं वैराग्य-वेष से, खेला करती हो अभिसार।
प्रकृति-रंगिनी, दुख में, सुख में, चिरसंगिनी तुम्हारी है ;
हास्यमयी हो, प्रलय पियासी ! बलिहारी—बलिहारी है।
मृणालिनी या कंटकिनी हो, कुल-कलंकिनी, करुणा-कोर ?
या विधुरा व्रजांगना हो तुम, उन्मर्दनी समुद्र-हिलोर ?
पंचवटी की जनकनंदिनी, शैव्या, तरुणी-तपस्विनी—
सत्यवान की सावित्री या काल-विजयिनी सुहागिनी।]
विटपों पर, सर-सोपानों पर, पथ पर, पुरइनि-पत्रों पर—
जहाँ-तहाँ तुम लिख आई हो, विरह-काव्य अतिशय सुंदर।
पढ़कर पथिक भूल जाता है—सजनी री ! चिल्लाता है ;
भिक्षुक-सा बन ग्राम-ग्राम की धूल छानता—गाता है।
कर्णपात कर तुम बधिरा-सी, सुनती हो अशांति-संगीत ;
उसे चिढ़ाकर चल देती हो—करती हो अभिनय अभिनीत।
ग्रीष्म-काल में ही वसंत आ, तुमको गले लगाता है ;
चुंबन कर नवमुकुल-मंजरी सादर तुम्हें पिन्हाता है ?
कस कंचुकी लज्जिता-सी तुम, खींच भूमि पर वक्र लकीर ?
सूर्य-मुकुट धारण कर, किस पर रीझ रही हो आज अधीर ?
आशीर्वाद भाग्य की तुम हो, केशव की कविता-बाला ;
वर्तमान ऋषि-संन्यासी-दल, आज बना है मतवाला !
अनाघ्रात-कलिका अलबेली, अनख-छिन्न नवपल्लव-सी ;
उपासिनी, अविद्ध मोती-सी, नग्न कांति शरदुत्सव-सी।
अनघ-भोग के लिये तुम्हारा यहाँ कौन अधिकारी है ?
विधि की चतुर चित्रकारी है—कश्मीरी फुलवारी है !!]
मुक्तधार से झर-झर-झर-झर, झरना झरता जहाँ प्रमत्त ;
कनक-वर्णा-सी, वहाँ ले चलो, खींच हमारा उर उन्मत्त।
जीवन-अग्निहोत्र में कवि की कविता फूँकी जाती है ;
मिलन स्वप्न है, किंतु मिलन की छाया हमें सताती है।"

"गुलाब"

बेगार

[चित्रकार—श्रीयुत मोहनलाल महत्तो]





[शब्दकार और स्वरकार—स्वर्गीय प्रोफेसर विश्वंभरसहाय "व्याकुल"]

खमाच-झपताल

गीत

चलो री वाहू गाम :
ढूँढ़ो री काहू धाम ।
कुंज-गलिन-बीच :
मिलिहैं घनश्याम ।
हुए हैं जमुना-तीर :
व्याकुल के प्रभु बीर ।
मिलिहैं सहज नाहि :
जिनको कृष्ण नाम ।

स्थायी

×		२			०		३		
सा	सा	गा	—	गा	म	प	म	रे	ग
च	लो	री	—	वा	हू	—	गा	—	म
प	प	री	ध	म	प	ध	प	म	ग
ढूँ	ढ़ो	री	—	का	हू	—	धा	—	म
नी	—	नी	—	नी	सां	रें	नी	ध	प
कुं	—	ज	—	ग	लि	न	बी	—	च
सां	नी	ध	प	म	प	ध	प	म	ग
मि	लि	हैं	—	घ	न	—	श्या	—	म

अंतरा

×		२			०		३		
म	म	नी	ध	नी	प	ध	नी	सां	सां
हु	ए	हैं	ज	मु	ना	—	ती	—	र
नी	सां	रें	गं	रें	सां	रें	नी	—	ध
व्या	—	कु	ल	के	प्र	भु	बी	—	र
प	ध	प	म	ग	रे	ग	म	प	प
मि	लि	हैं	—	स	ह	ज	ना	—	हिं
सां	नी	ध	प	म	ध	प	म	ग	ग
जि	न	को	—	कृ	—	ष्ण	ना	—	म



१. राव सुरजन और अकबर



''माधुरी'' की पूर्ण संख्या ३७ के ''त्रिविध विषय'' में उक्त शीर्षक का एक नोट दिया गया है। उसमें बूँदी-दरबार का आह्वान करने के साथ-साथ मुझसे भी 'राव सुरजन और बादशाह अकबर' की संधि का फ़ोटो माँगा गया है। लगभग दो ढाई वर्ष पूर्व जोशीजी महाराज ने 'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका' में भी इसी विषय पर बहुत विस्तार से लिखा था। मेरी इच्छा हुई थी कि मैं अपने विचार प्रकट कर जोशीजी महाराज का भ्रम दूर करने का प्रयत्न करूँ। इस सवाल को हल करने के लिये मेरी श्रद्धेय ओझाजी से लिखा-पढ़ी भी बहुत हुई। मैंने चाहा कि जोशीजी के प्रश्नों का उत्तर उसी पत्रिका में दूँ; किंतु समाचारपत्रों में किसी बात का खंडन-मंडन करना एक झगड़ा ही मोल लेना रहता है। संभव है, 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार' के संपादन-काल में मैंने ही ऐसे-ऐसे अनेक झगड़े मोल ले लिए होंगे, चाहे मैं उस ज़माने में प्रसिद्ध झगड़ालू गिना जाता रहा होऊँ; परंतु शरीर की अस्वस्थता से इस बार खड़े होने का मेरा साहस नहीं हुआ। यही कारण है कि अपने मित्रों का अनुरोध स्वीकार करने में मुझे आना-कानी होती है। किंतु इतना अवश्य है कि अब मुझे यह प्रश्न ऐसा स्वरूप पकड़ते दिखलाई देता है, जिसमें जोशीजी महाराज के न्यायालय से बूँदी का इतिहास बिलकुल झूठा अथवा भाटों की कहानी ठहरा दिया जाय। बस, इसी विचार से मेरे लिये यह आवश्यक है कि मैं इसका स्पष्टीकरण कर दूँ।

जोशीजी महाराज कितने ही इतिहासज्ञों का हवाला देकर राव सुरजन पर विश्वासघातकता का अभियोग लगाते हैं। वह लगाते हैं, तो लगाने दीजिए। किंतु जिस ज़माने की ये बातें हैं, उस वक़्त ही राजपूत-रजवाड़ों में परस्पर की ईर्षा, अपनी प्रशंसा कराकर दूसरों को नीचा दिखाने की उत्कट इच्छा और ऐसे ही अनेक दुर्गुणों से भारतवर्ष की इतनी दुर्दशा होकर हिंदू-साम्राज्य के मटिया-मेट होने का अवसर आया है। यदि ऐसा न होता, तो जयपुर में धोला-जैसी मंगन-जाति को राणा और जोधपुर में खवासीनों को रावराजा न कहा जाता। एक मेवाड़ पर आक्रमण है, और दूसरा बूँदी पर; क्योंकि मेवाड़वाले राणा कहलाते हैं, और बूँदीवाले रावराजा की पदवी से अलंकृत हैं। ऐसी दशा में कोई कारण नहीं दिखलाई देता, जिससे नैणसी की ख्यात को वेद-वाक्य मानकर बूँदी का इतिहास झूठा ठहरा दिया जाय। माधुरी के नोट में नैणसी को राजपूत-चारण स्वीकार किया गया है; किंतु यदि वह राजपूत था, तो चारण नहीं; और चारण था, तो राजपूत नहीं; क्योंकि दोनों जातियाँ अलग-अलग हैं। किंतु चारण नैणसी सच्चा था, तो चारण कवि राजा सूर्यमल्लजी झूठे क्योंकर साबित हुए, जिन्होंने बूँदी का इति-

हास 'वंश-भास्कर' लिखते समय समय-समय पर बूँदी-नरेशों को बहुत बुरी तरह फटकारा है।

हर्ष की बात है कि नैणसी की ख्यात के आधार पर जोशीजी महाराज ने अकबर और राव सुरजन का मिलना और अकबर से यह प्रतिज्ञा करा लेना कि "मैंने उनका नमक खा लिया है, इसलिये मैं महाराणा से लड़ने न भेजा जाऊँगा", मान लिया है। मुझे जहाँ तक स्मरण है, उन्होंने 'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका' में इस बात का उल्लेख तक नहीं किया था। अस्तु, जोशीजी महाराज कतिपय मुसलमान-इतिहासलेखकों के ग्रंथों के आधार पर फ़ैसला कर चुके हैं कि अकबर और सुरजन के बीच में कोई संधि नहीं हुई। उनके ख़याल से बूँदी के सुप्रसिद्ध इतिहासलेखक कवि राजा सूर्यमल्लजी, कर्नल जेम्स टॉड महोदय और मिस्टर विंसेंट स्मिथ आदि, सब मिथ्या-वादी हैं। शायद वह यह मानने को भी तैयार होंगे कि मुसलमान-इतिहासलेखकों ने मुसलमान-सम्राट् अकबर का पक्षपात नहीं किया। उनकी दृष्टि में यदि ऐसा ही न्याय उचित दिखलाई देता है, तो उनको एक दृष्टि से उसी ज़माने का निर्मित 'सुरजन-चरित्र', जो संस्कृत में है, और बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी की खोज से मिला है, देख लेना चाहिए।

मैं अवश्य इस बात को स्वीकार करता हूँ कि यदि उक्त संधि की असल प्रति हो, और उसका छाया-चित्र प्रकाश में ले आया जाय, तो यह प्रश्न सहज में हल हो सकता है। जोशीजी महाराज उक्त संधि का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करते, और मुझे ऐसी संधि होने में संदेह नहीं है। संधि अवश्य हुई थी, और उस ज़माने तक मौजूद थी, जब बूँदी-नरेश स्वर्गीय महारावराजा श्रीबुधसिंहजी से राज्य न छूटा था। उनके हाथ से यह राज्य निकल जाने और स्वर्गीय महारावराजा श्रीउम्मेद-सिंहजी के साम, दाम, दंड, भेद द्वारा अपने बाहुबल से वर्षों तक सतत उद्योग करके, अपनी ज़िंदगी की कुछ पर्वा न करके, फिर से राज्य पा लेने के ज़माने तक के अनेक वर्षों में, जब इनकी तलवार, इनका इष्टदेव, इनका धर्म ही केवल इनके शरीर की रक्षा करनेवाला था, यह कब संभव था कि उक्त संधि-पत्र को तावीज़ में मढ़वाकर यह अपने गले में लटकाए फिरते, और वह भी केवल जोशीजी के न्यायालय में इस संधि की सत्यता सिद्ध करने के लिये! बूँदी के इतिहास 'वंश-भास्कर' को देखने से विदित होता है कि वह संधि अन्यान्य अनेक ऐतिहासिक वस्तुओं के साथ कोटेवालों के पास चली गई। तलाश करने पर उत्तर मिला है कि कोटेवाले इसको स्वीकार नहीं करते। कुछ भी हो, उस ज़माने में कभी जयपुर का और कभी कोटे का बूँदी पर अवश्य अधिकार रहा है, जिस ज़माने में इनका राज्य छूटकर इनके वन-वन भटकने और झड़-बेरी के फलों से पेट भरने का अवसर आया था। ऐसी दशा में यदि उक्त संधि के फ़ोटो न प्रकाशित किए जा सकें, तो जोशीजी महाराज को बूँदी पर डिग्री न कर देना चाहिए। केवल मुसलमान-इतिहासलेखकों का पक्षपात वैसा ही सच्चा है, जैसे उनके ख़याल से चारणों की रचना पर मिथ्या प्रशंसा का कलंक लगाया जा रहा है। उनको अधिकार है—उन-जैसे इतिहास-खोजी का कर्तव्य है कि इस संधि को सत्य मानकर फिर उसकी तलाश करें; क्योंकि मंडन के लिये खोज करने की प्रवृत्ति और खंडन के उद्योग में आकाश-पाताल का-सा अंतर हुआ करता है।

इतिहास-लेखन में पाँचवाँ सवार बनकर मेरा ही कर्तव्य था कि इसके लिये परिश्रम करने को तैयार हो जाता। किंतु खेद है, अब बासी कढ़ी में उबाल आने की आशा नहीं रही।

लज्जाराम शर्मा

× × ×

२. ज्ञानोन्मेष

जाने किस अव्यक्त शक्ति ने आ, मेरे अंतर-पट खोल;
मुझे दिखाया पूर्वराग का वह अभिनय अभिराम अमोल।
था मैं कहाँ? दशा थी कैसी? इसका कुछ न मुझे था ज्ञान;
निविड़ अधतम से प्रकाश में लाया मुझे कौन भगवान?
मैं अस्तित्व हीन-सा जग में, पड़ा हुआ था लुप्त-समान;
मग्न दुःख-सुख में था, मन के देख स्वप्न के पतनोत्थान।
किंतु हुआ यह लव-निमेष में क्या अद्भुत जादू का खेल?
तड़िदाम-सा अंतरिक्ष में, हुआ दृष्टि-दर्शन का मेल!
कैसे कहूँ कि मैं सोता था—जाग्रत् भी था नहीं परंतु;
बाँधे हुए दृगंचल मेरे थे सजाल माया के तंतु।
पंच विकारों से सब ही विधि करके थका तुमुल संग्राम;
सभी प्रयास त्रास-मूलक थे, पतनोन्मुख था मैं अविराम।

शांति ? शांति का पता नहीं था, भरी हुई थी मन में भ्रांति ;
क्षण-भर में कर गई अचंभा, वह प्रिय मुनमनमोहिनी कांति।
सुखद सहोदर सभी हो गए, मैं बन गया सौम्य सुर-मूर्ति;
प्रेम, शांति, आनंद साथ आ मिली स्वतः स्वर्गीय स्फूर्ति।

रामनारायण मिश्र

× × ×

१. हूर, गिलमा और हफ्त अकलीम

मसल मशहूर है कि बहिश्त में हूर और गिलमा मिलते हैं। यदि इस मर्म को कोई जानना चाहे, तो वह ईरान के वैकुंठ में जाये। वहाँ उसे हूर (असुर) और गिलमा (बेबिलोनिया के निवासी), दोनों मिलेंगे। हूर नाम असुरों का है,[२] और गिलमा बेबिलोनिया के निवासी दानव हैं[३]। स्याम (Syria), ईलाम (Elam) और असुर (Assurh Arphaxad Land & Aram) में असुर और गिलमा (दानव) रहते थे।

इन गिलमाओं का एक प्रख्यात एवं प्राचीन युद्ध "The Bull & the Lion" से हुआ था (H. P. Vol 1, p. 53.)। The Bull का नाम खमबाबा (Khumbaba) "The King of Elam" था। गिलग भी निमरोद का नाम था, जो असुर थे। इनका राज्य बेबिलोनिया में था (H.P Vol. 1, p. 62 ; Book of Genesis)। खमबाबा वृषारूढ़ थे। एक वृषारूढ़ बाबा ग्रीस के "Minotaur" और एशिया-माइनर के टारस भी थे। मिनोटार मनु (Menes) के अवतार वृष रूढ़ (Half man & Half Bull) थे। Taureis भी वृषारूढ़ The Bull थे[४]। इस "बुल" और (Lion) (नृसिंह) सिंह ने स्याम, एशिया-माइनर और स्पार्टा आदि से युद्ध किया था। एक वृषारूढ़ भारतवर्ष के प्रख्यात सूर्यवंशी नरेश विकुक्षिः शशाद के पुत्र रिपुंजय थे, जो बैल पर चढ़कर इंद्र की सहायतार्थ असुरों से लड़ने गए थे।

विष्णुपुराण में सूर्यवंशी वैवस्वत मनु की कथा में इनका वृत्तांत सविस्तर दिया है। वृषारूढ़ होने से इनका दूसरा नाम कुकुत्स्थ भी पड़ा था। कुकुत्स्थ-गोत्राचार्य और वैवस्वत-मनु के वंशजों में बड़े प्रख्यात नरेश थे। रिपुंजय के पिता शशाद, शश (सूसा) ईलाम की राजधानी के राजा थे। शशाद मनुवंशी भी थे, अतएव ईरान, ग्रीस और एशिया-माइनर के वृषारूढ़ खमबाबा, मिनोटार और टारस कदाचित् शशाद के पुत्र महाराज रिपुंजय ही थे।

ईरान के हफ्त अकलीम प्रख्यात हैं। ये हफ्त अकलीम ईरानी स्वर्ग अथवा ईरान के सात खंड थे। यथा—

Later, the chronicle divided the Kingdom into two groups, namely, (1) Arah Vaite (Arachasia) and (2) Haetumant, The Helmand (मित्र-मर्दन) Hapta-Hindu (हफ्त-हिंद) and The Panjabe to the East, and (4) Urva (Tus) (5) Vehr-Kana (the Gurgan) (6) Ragha (Ree) and (7) Varena (Gilan) to the West

(History of Persia, Vol 1, p. 101).

इसी विभाग की पौराणिक कथा इंद्र और दिति के गर्भ खंडों की है। दिति ने मित्र (इंद्र) के मारने के लिये एक पुत्र की आकांक्षा से गर्भ धारण किया। मित्र ने गर्भ के ७ टुकड़े कर डाले। दिति और मित्र ने इन गर्भ-खंडों को मरुत् बना दिया। इस रूपक-कथा का ऐतिहासिक भाग यह है कि दिति के वंशज असुरों का बल बढ़ते देख इंद्र ने उनके संयुक्त-राज्य (ईरान) के ७ टुकड़े करके असुरों के संयुक्त बल को ७ प्रदेशों में विभाजित कर दिया था।

मरुद्गणों की सविस्तर कथा "The winds of Persia" अध्याय में है। मरुद्गणों की उत्पत्ति की कथा वाल्मीकीय रामायण में दी है। इन्हीं ७ खंडों के प्राचीन नाम (१) आर्या नाम वायजो (स्वर्ग भूमि), (२) सुगदा, (३) मरु (मर्व), (४) बखधी (बलख), (५) निशा (दरागज), (६) हरयू (हिरात) और (७) वकित (काबुल) है।

When cold compelled the Aryans to leave the terrestorial paradise, Aryanem Valgo, they moved to Sugda and Muru (the Classical

१. The Iranian Paradise, H. P. Vol 1, P. 117.

२ Sanskrit Assura—A Vesta Ahura.
History of Persia, Vol. 1, P. 107.

३. Gilgames of Babylonia
History of Persia, Vol. 1, P. 107.

४. Dictionary—See Minotaur, Menes and Taurus.

Sogdiana and Margiana). Locusts drove them to Bukhdhi (Balakh). From Balkh they proceeded to Nisha (Darragaz). Haroyu (Herat) and Vaikereta (Kabul), "the land of noxious shadows" were reached in the later stages of the migration.

ईरान के सात खंडों में विभाजित होने की कथा वाल्मीकीय रामायण की इंद्र, दिति और मरुद्गणों की कथा के समान है। इसमें आर्यों के आदि-आगमन की कथा नहीं है। यह घटना तो आर्यों के भारतवर्ष में आ जाने के बहुत पीछे की है।

चौधरी धनराजसिंह

× × ×

४. भक्त की भावना

प्रभु हैं शरद-मयंक दयामय, मैं चकोर हूँ ;
जीवन धन घन श्याम आप, मैं दीन मोर हूँ।
विकच नील अरविंद आप, मैं भी मधुकर हूँ ;
हैं गुण-गण-आधार आप, मैं दोषाकर हूँ।
मैं हूँ जल-कण क्षुद्र, प्रभो, वारीश आप हैं ;
मैं हूँ अनुचर तुच्छ, और जगदीश आप हैं।
मलयानिल हैं प्रभो, और मैं सुमन-कली हूँ :
निश्छल हो तुम नाथ, किंतु मैं धूर्त—छली हूँ।
मैं हूँ तारा एक, आप विस्तीर्ण गगन हैं ;
मैं हूँ एक विहंग, आप प्रभु नंदन-वन हैं।
शरणागत-प्रतिपाल आप, मैं शरण पड़ा हूँ ;
करिए मम उद्धार नाथ, पापिष्ठ बड़ा हूँ।
बिना आपके नहीं कहीं निस्तार हमारा ;
रह सकता क्या कभी वनज वन से भी न्यारा ?
हैं चिंतामणि चारु आप, मैं दीन अकिंचन ;
मुझ निर्धन के लिये आप ही हैं केवल धन।
निज भक्तों के लिये आप प्रभु परम सहायक ;
हैं करुणा की मूर्ति और चारों फलदायक।
नित्य निरंतर रहे हृदय में वास आपका ;
कभी कुपथ पर धरे न पग यह दास आपका।

मणिराम गुप्त "ध्रुव"

× × ×

५. प्रयाग के क़िले की 'लाट' के शिला-लेख के अनुवाद में त्रुटियाँ

माधुरी की पूर्व संख्या २५ में "प्रयाग के क़िले की लाट का शिला-लेख"-नामक एक लेख छपा था। उसमें शिला-लेख की नक़ल नागराक्षरों में सानुवाद दी गई है। उस नक़ल के एक अंश-विशेष पर हमारा नम्र निवेदन है। वह अंश यों है—

कौसल्यकमहेन्द्रमाहाकान्तारकव्याघ्रराजकौरालकमन्त्रराजपैष्ठपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तएरंडपल्लकदमनकाञ्चकेयविष्णुगोपालमुक्तकनीलराजवैंगेयकहस्तिवर्म्मपालक्ककोग्रसेनदैवराष्ट्रककुबेरकौस्थलपुरकधनंजयप्रभृतिसर्व्वदाक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमाहाभाग्यम् (मूल लेख की पंक्तियाँ १९-२०)

इन पंक्तियों का जो भाषानुवाद उक्त लेख में दिया गया है, उसे भी हम उद्धृत किए देते हैं—

और जिसका महाभाग्य कोशलक, महेंद्र महाकांतारक, व्याघ्रराज, मंत्रराज पैष्ठपुरक, महेंद्रगिरि, कौट्टूरक, स्वामिदत्त, एरंडपल्लक, दमनकांचयक, विष्णुगोप और मक्कक, नीलराज, वैंगेयक हस्तिवर्म, पालक्कक, उग्रसेन, दैवराष्ट्रक कुबेर, कौस्थलपुरक, धनंजय आदि सारे दक्षिण के राजों के राज्य-ग्रहण और मोक्ष के अनुग्रह से उत्पन्न हुए प्रताप के साथ मिला हुआ था।

इस अंश का संबंध 'दक्षिण भारत' से है और 'दक्षिणापथ' के देशों या राज्यों और वहाँ के राजों के नामोल्लेख से इसका ऐतिहासिक महत्त्व और भी बढ़ गया है। हम नीचे उन देशों के नाम क्रमानुसार लिखते हैं—

१. कोसलयक	(कोसल-देश के राजा)	महेंद्र कोसल, दक्षिण-कोसल या महाकोसल (वर्तमान नाम छत्तीसगढ़)
२. महाकांतारक	(महाकांतार के राजा)	व्याघ्रराज; महाकांतार
३. कौरलक	(कोरल ,, ,,)	मंत्रराज
४. पैष्ठपुरक	(पिष्ठपुर ,, ,,)	महेंद्र
५. गिरिकौट्टूरक	(गिरिकोट्टूर ,, ,,)	स्वामिदत्त
६. एरंडपल्लक	(एरंडपल्ल ,, ,,)	दमन
७. कांचकेय	(कांची ,, ,,)	विष्णुगोप
८. अवमुक्तक *	(अवमुक्त ,, ,,)	नीलराज
९ वैंगेयक	(वेंगी ,, ,,)	हस्तिवर्म

* माधुरी, पृष्ठ ३२२ (पूर्व संख्या २७) में 'अवमुक्त'-देश का नाम ही नहीं दिया गया।—लेखक

१०. पालक (पालक देश के राजा) उग्रसेन
११. दैवराष्ट्रक (देवराष्ट्र ,, ,,) कुबेर
१२. कौस्थलपुरक (कुस्थलपुर ,, ,,) धनंजय

इनमें से "पैष्टपुरक-महेंद्रगिरि-कौट्टूरक-स्वामिदत्त" का अर्थ करने में 'शिला-लेख' विषयक आदि-लेखक की त्रुटि पर किसी का ध्यान गया न था, ऐसा जान पड़ता है। हम कह सकते हैं कि यदि मूल-लेख के पाठ पर समुचित विचार किया गया होता, तो अर्थ-विषयक यह त्रुटि न रह पाती।

प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ श्रीमान् राखालदास बनर्जी एम्०ए० अपने 'प्राचीन मुद्रा*'-नामक बँगला-ग्रंथ में लिखते हैं—

"तिनि (समुद्रगुप्त) ताँहार राजधानी पाटलिपुत्र हइते यात्रा करिया मगध ओ ओड़िष्यार मध्यवर्ती वनमय प्रदेशेर दुई जन राजा के पराजित करियाछिलेन। एइ दुई जनेर मध्ये प्रथम दक्षिण कोशलराज महेंद्र ओ द्वितीय महाकांतार वा भीषण वनेर अधिपति व्याघ्रराज, इहार परे तिनि कौरल देशेर अधिपति मैंठ राजा के पराजित करिया कलिंगदेशेर पुरातन राजधानी पिष्टपुर (आधुनिक पिट्टपुरम्) महेंद्रगिरि ओ कोट्टर-दुर्ग अधिकार करियाछिलेन। कोट्टूर ओ पिष्टपुरेर अधिपति स्वामिदत्त, एरंडपल्लराज, दमन, कांचि-नगराधिपति विष्णुगोप, अवमुक्तराज नीलराज, वेंगि-नगराधिपति हस्तिवर्मा, पलकराज उग्रसेन, देवराष्ट्रेर अधिपति कुबेर एवं कुस्थलपुरराज धनंजय प्रभृति दक्षिणापथेर राजगण समुद्रगुप्तकर्तृक पराजित हइयाछिलेन।"

राखाल बाबू के लेख से जान पड़ता है कि कोट्टूर और पिष्टपुर के अधिपति स्वामिदत्त थे। हिंदी-अनुवाद तथा बँगला-लेखांश में दोनों जगह एक ही प्रकार की त्रुटि है। एक मित्र से हमने इसकी चर्चा की, तो उन्होंने कहा—

"This mistake is perhaps due to depending upon translations, and not referring to the original text."

मालूम पड़ता है, डॉक्टर जे० एफ़० फ़्लीट-कृत "Gupta Inscriptions"-नामक पुस्तक पर अवलंबित रहने से ही ये त्रुटियाँ परवर्ती लेखकों के लेखों में रह गई हैं।

शिला-लेखों के संबंध में एक संग्रह की सामग्री एकत्र करते समय मेरा ध्यान "पैष्टपुरकमहेंद्र" और "गिरिकौट्टूरक स्वामिदत्त" की ओर गया था, और मैंने अपनी अल्प मति के अनुसार उसका संशोधन ऊपर लिखे ढंग से किया था। अभी हाल में मुझे एक फ़्रेंच विद्वान् की लिखी हुई पुस्तक का अँगरेज़ी-अनुवाद पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। एक स्थान पर वह लिखते हैं—

"Certain authors affirm that the hill *Mahendragiri* is mentioned in the inscription. However the passage, "Paishtapuraka Mahendragiri Kauttuiaka Swamidutta" means Mahendra of Paishtapura and Swamidutt of Giri Kauttura, that is to say, the fort of *Kottura*, which is on the hill. There is therefore no reference in the inscription to the hill named *Mahendra Giri*."

(P. 59 "Ancient History of the Deccan" by G. Joavean—Dubreuil.)

माधुरी के लेख में 'विष्णुगोपाल मुक्तक नीलराज' छपा है; पर अनुवाद में है "विष्णुगोप और मुक्तक नीलराज।" यह त्रुटि कंपोज़ीटरों की असावधानी से रह गई होगी। विष्णुगोप तथा अवमुक्तकनीलराज, यही शुद्ध पाठ ज्ञात होता है।

हिंदी-अनुवाद में मंत्रराज (या बँगला मेंठराज) के आगे "कौरलक"-शब्द छूट गया है।

अनेक इतिहासज्ञों का मत है कि समुद्रगुप्त ने आर्यावर्त या उत्तरापथ के राजों पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् 'दक्षिणापथ' के राजों पर चढ़ाई की। यही मत राखाल बाबू ने अपने 'प्राचीन मुद्रा'-नामक ग्रंथ में प्रकट किया है। पर फ़्रेंच विद्वान् का कहना है कि समुद्रगुप्त के प्रयाग-वाले शिला-लेख के वर्णन-क्रम पर ध्यान देने से यह जान पड़ता है कि दक्षिणापथ पर समुद्रगुप्त की चढ़ाई पहले हुई थी—

'Mr. Vincent A. Smith believes that Samudra Gupta carried on his campaign in the valley of the Ganges before making that of the Deccan, and that the latter ended about 350 A. D. However, the author of the inscription speaks of the expedition against

* इस ग्रंथ के हिंदी-अनुवाद में भी वे ही दोष हैं, जो मूल में हैं।

the Kings of Dakshinapath before speaking of the expedition against the Kings of Aryavarta. I cannot but think that he has followed the chronological order. I am therefore of opinion that the expedition to the South took place at the beginning of the reign, about 335 or 340 A. D."

शिला-लेख में वर्णित नीचे लिखे देशों के स्थिति-निर्णय में भी नवीन शोध से परिवर्तन किया गया है। यथा—

कोट्टूर देश (ज़िला कोयंबटूर का) पोल्लाची, और पलक देश पालघाट माने गए थे। पर ये सब-के-सब देश उड़ीसा और गंजाम के आसपास ही थे; एरंडपल्ल गंजाम-ज़िले में है, और देवराष्ट्र विज़गापटम्-ज़िले में। कोट्टूर गंजाम-ज़िले का कोथूर या कोठूर है, और पलक-देश कृष्णा-नदी के दक्षिण में था, जिसका उल्लेख पल्लव-ताम्रपत्र (J. R. A. S. 1905, P. 29) में है।

इस संबंध में श्रीयुत G. Jouvean-Dubreuil लिखते हैं—

"The Allahabad inscription does not at all speak of Kerala, Pottachi, Palghat, Mahendra-Giri, Colair lake, Erandol in Khandesh and Maharashtra. All the Kingdoms mentioned in the inscription are situated on the East Coast of the Deccan. The expedition was solely confined to this (East) Coast."

एक इतिहास-प्रेमी

× × ×

६. जापान में शिक्षा

जापान में निम्न लिखित प्रकार की पाठशालाएँ तथा स्कूल हैं—

प्राइमरी स्कूल, मिडिल स्कूल, हाई गर्ल-स्कूल, कमर्शियल स्कूल, सप्लीमेंटरी कमर्शियल स्कूल, हाई स्कूल, युनिवर्सिटी, एकाडेमीज़, कमर्शियल कॉलेज, नार्मल स्कूल, हाई नार्मल स्कूल, गर्ल-नार्मल स्कूल, ट्रेनिंग-स्कूल, कमर्शियल ट्रेनिंग टीचर्स-स्कूल, टीचर्स-ट्रेनिंग-स्कूल और किंडर्गार्टेन, अंधों के स्कूल, गूँगों और बहरों के स्कूल तथा दूसरे प्रकार के अन्यान्य स्कूल, जो विशेष प्रकार की शिक्षा के लिये हैं।

जापान की शिक्षा-संबंधी सूची मार्च, सन् १९२२ ईसवी में इस प्रकार थी—

स्कूल	संख्या	विद्यार्थी
प्राइमरी स्कूल	२५,५६२	८८,७२,००६
मिडिल स्कूल	३८५	१,९४,४४३
हाई गर्ल स्कूल	५८०	१,७६,७५४
कमर्शियल स्कूल	६९२	१,४६,९७०
सप्लीमेंटरी कमर्शियल स्कूल	१४,८३९	९,९५,५३२
हाई स्कूल	१७	१०,५१२
युनिवर्सिटी	१८	२६,२०८
एकाडेमीज़	७७	४१,७४२
कमर्शियल कॉलेज	३१	१०,४६१
नार्मल स्कूल	९४	२८,९९२
हायर नार्मल स्कूल	२	१,३७५
गर्ल-हायर नार्मल स्कूल	२	८०१
स्पेशल टीचर्स-ट्रेनिंग स्कूल	१	२००
कमर्शियल टीचर्स-ट्रेनिंग स्कूल	४	२६८
सप्लीमेंटरी कमर्शियल टीचर्स-ट्रेनिंग	१८	४२१
अंधे, गूँगे और बहरों के स्कूल	७४	४,१४८
अन्य स्कूल	१,९०६	२,२४ ४४९
जोड़	४४,३०२	१,०७,३८,२५७

उपर्युक्त सूची में किंडर्गार्टेन की सूची नहीं दी गई। अन्य स्कूलों का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के स्कूलों से है, जिनमें सरकारी नियमोपनियमों का पालन नहीं किया जाता।

वहाँ क़ानूनों में अनेक बार उलट-फेर हुए। अंत में अनिवार्य-शिक्षा का नियम बना। इस नियम को लक्ष्य में रखकर ६ से १४ वर्ष तक के लड़के स्कूल के योग्य समझे जाने लगे, और उनके मा-बापों या अभिभावकों का यह प्रधान कर्तव्य हो गया कि वे अपने लड़कों को म्युनिसिपल, टाउन या ग्राम्य पाठशाला तथा और किसी स्कूल में अवश्य भेजें, एवं तब तक उन्हें स्कूल से न हटावें, जब तक वे बी० ए० पास न कर लें। हाँ, जिन लड़कों का स्वास्थ्य बिलकुल अच्छा न हो, या जिनके अभिभावक किसी विशेष कारण-वश अपने लड़कों को स्कूल न भेज सकते हों, उन्हें रिहाई भी मिल जाने लगी।

उसी क़ानून की एक शाखा यह भी है कि अभिभावकों का बिना पूरा प्रमाणपत्र दिखाए लड़के पढ़ने से

सन्	स्कूल में प्रवेश योग्य लड़कों की संख्या	स्कूल में भेजे गए लड़के	स्कूल नहीं भेजे गए	कुल लड़कों में स्कूल भेजे जानेवाले लड़कों की औसत संख्या
१९२२	१०,८३,४७७	१०,०८,०३९	७५,४३८	९९,०१७

अलग नहीं रक्खे जा सकते। हाल में जो क़ानून बना है, उसके अनुसार स्कूल में प्रवेश-योग्य अवस्था के लड़कों को किसी कारख़ाने में काम भी नहीं मिल सकता।

स्कूल में पढ़ने योग्य उम्र के लड़कों की उपस्थिति इस समय प्रतिशत ९९ रहने लगी है, जैसा इस सूची से भली भाँति मालूम होगा—

इन लड़के तथा लड़कियों की औसत संख्या, जो स्कूल में भेजे गए, निम्न-लिखित है—

सन्	लड़के	लड़कियाँ
१९२२	९९.३प्रतिशत	९९.०३प्रतिशत

ऊपर की सूची से स्पष्ट विदित होता है कि स्कूल भेजे जानेवाले लड़के तथा लड़कियों की संख्या में नाम-मात्र का अंतर है। लड़कों की संख्या लड़कियों से कुछ ही अधिक है। थोड़े दिन पहले पूर्वी देशों में स्त्री-शिक्षा के विरोधियों की कमी न थी; किंतु अब धीरे-धीरे स्त्री-शिक्षा को देश के उद्धार, जाति के उत्थान तथा समाज के कल्याण का हेतु समझकर अधिकाधिक महत्त्व दिया जाने लगा है।

गोपीनाथ वर्मा

× × ×

७. प्रेम

रूप-रस की वीणा के तार,
लाज की नौका के पतवार;
दीन-दुखियों के प्राणाधार,
व्यथित के एक-मात्र आधार।
पुष्प के सौरभ-घन की जोत,
और करुणा के जीवन-स्रोत;
मुदित हो गाते क्वार-कपोत,
चमकता है तुमसे खद्योत।
कृष्ण की वंशी की प्रिय तान,
और उनके वे प्यारे गान;
प्रकृति के सौरभमय उद्यान,
तुम्हीं से पाते छटा महान।
मुदित विद्युत् के प्यारे हास,
त्रसित चातक के हे उल्लास!
सत्य के एक-मात्र विश्वास,
तुम्हारी ही तो है आभास।
योग की युक्ति, मुक्ति के द्वार,
पुण्य-फल के हे प्राकृत हार;
सोम की सुधा—सुधा की धार,
रात्रि के अंधकार-आधार।
दया के सिंधु, दीन की आह,
तुम्हीं हो प्रिय चकोर की चाह;
दिखाते विक्षिप्ता को राह,
तुम्हीं करते उनका निर्वाह।
मयूरों के प्यारे घनश्याम,
विरह की क्रीड़ा के उपशाम;
तुम्हारा है दिगंत में नाम,
कहाँ लेते हो तुम विश्राम?
इधर कर दो करुणा की कोर,
पड़ी है ढीली मेरी डोर;
इसे भी ला बंधन में जोर,
चला आऊँ अनंत की ओर।

राममनोहर बिचपुरिया "सम्राट्"

× × ×

८. सुलेमान के वचनामृत

१—ऐ मेरे बेटे, मेरी बातों को याद रख, और मेरे उपदेशों को हृदय में स्थान दे। मेरे विचारों को आँख की पुतली बना, उनको अपनी उँगलियों पर बाँध, और हृदय-पट पर लिख। दानाई से कह—तू मेरी बहन है; और न्याय को जान से प्यारा समझ। इसी में तेरा भला है।

२—परमात्मा का भय बुद्धिमत्ता का श्रीगणेश है, परंतु जो मूर्ख हैं, वे बुद्धि को तुच्छ समझते हैं।

३—अपने समस्त हृदय से अपने परमात्मा पर विश्वास रख, और अपने बल पर अभिमान न कर। अपने पथ में प्रभु को याद रख, और उसकी नेकी से पैर न हटा।

४—शठों के घर पर परमात्मा का क्रोध मँडलाता है; पर जो सज्जन हैं, उनकी पीठ पर वह दया का हाथ रखता है।

५—जो दिल के खोटे हैं, उनकी संगति से बच; क्योंकि वे पाप का भोजन पाते और अँधेर की मदिरा पीते हैं। पर जो सत्पुरुष हैं, उनका मार्ग सूर्य के समान प्रकाशमान है।

६—पापी के पाप ही उसे पकड़ लेंगे, और वह अपनी ही रस्सियों से जकड़ा जायगा। वह दुःख की मौत मरेगा, और अविद्या के घोर अँधेरे में भटकता फिरेगा।

७—ऐ सुस्त आदमी, चींटी के पास जा—उसकी गति देख, और अपनी आँखें खोल। उसका कोई राजा नहीं; पर फिर भी वह अपने लिये ज़ख़ीरा एकत्र करती है, कुसमय के संकट के लिये पहले से प्रबंध करती है। होश में आ, और परिश्रम एवं पुरुषार्थ के क्षेत्र में आगे पैर बढ़ा; नहीं तो तेरी तंगदस्ती रात के यात्री के समान आ पहुँचेगी, और तेरा दुःख तुझ पर भयानक रोग की तरह धावा बोल देगा।

८—ऊँची आँखों से, झूठी जीभ से, उन हाथों से, जो पाप करते हैं, उन दिलों से, जिनमें बुरे विचार बसते हैं, और उन पैरों से, जो पाप के पथ पर दौड़ते हैं, परमात्मा घृणा करता है।

९—सुपुत्र अपने पिता के हृदय की प्रसन्नता है; परंतु कुपुत्र अपने परिवार की कालिमा!

१०—जब अभिमान आता है, तो संकट को भी अपने साथ लाता है।

११—जहाँ नीति का अभाव है, वहाँ धन, संपत्ति और अमन कभी नहीं आते।

१२—पराई ज़मानत देना और अपने को मूर्ख मानना, दोनों बराबर हैं।

१३—नेक औरत अपने पति के लिये स्वर्ण-मुकुट है, पर कुटिला भयंकर विषधर से भी भयानक है।

१४—मूर्ख का क्रोध एकदम प्रकट हो जाता है। बुद्धिमान् वह है, जो समय की चाल देखे, और अपने भाव को छिपा सके।

१५—मूर्ख का हृदय उसकी जीभ पर होता है; पर बुद्धिमान् की जीभ उसके हृदय में रहती है।

१६—जो अपनी संतान को ताड़ना नहीं देता, वह उसके भविष्य को ख़राब करता है।

१७—राजा की इच्छा परमात्मा के हाथ में है—वह जिधर चाहता है, झुका देता है।

१८—कल का घमंड न कर। कौन जानता है, कल क्या हो जायगा?

१९—पाषाण भी भारी है, और रेत भी; परंतु मूर्ख का निष्फल क्रोध इन दोनों से भी भारी है।

२०—वह भरमी, जो प्रकट हो जाय, उस प्रीति से अच्छी है, जो हृदय के तले रहे।

२१—तीन वस्तुओं से पृथ्वी काँप उठती है—दास के शासन से, मूर्ख की संपत्ति से और कुलक्षणा नारी के विवाह से।

२२—संसार में चार तुच्छ जीव हैं, जो बड़े सयाने हैं—एक तो चींटे, जो छोटे हैं; पर कुसमय का ध्यान रखते हैं। दूसरे ख़रगोश, जो असहाय हैं; पर पत्थरों में अपना घर बनाते हैं। तीसरे टिड्डे, जिनका कोई राजा नहीं; पर सीधे चलते हैं। चौथी मकड़ी, जो निर्बल है, मगर अपने हाथ से किसी वस्तु को पकड़ती है।

२३—तीन वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनकी क्षुधा कभी शांत नहीं होती; प्रत्युत चार हैं, जो कभी 'बस' नहीं कहती—एक श्मशान-भूमि, दूसरी बाँझ स्त्री, तीसरा समुद्र और चौथी आग।

२४—बड़ा बनने की अभिलाषा है, तो अपने आपको छोटा जान।

२५—यौवन धोखा है, और सौंदर्य मर जानेवाला है; परंतु सतीत्व एक ऐसी वस्तु है, जो कभी नष्ट नहीं होती।

२६—जो आदमी किसी मूर्ख के हाथ सँदेसा भेजता है, वह अपने घर से धन देकर अपनी ही हानि ख़रीदता है।

२७—नेकी करने से पहले एक बार भी न सोच; पर बुराई करने से पहले सौ बार सोच। नेकी का अवसर कभी-कभी आता है, लेकिन बुराई करना हर समय तेरे हाथ में है।

२८—मीठा खाना अच्छा है। इससे मुँह मीठा होता है। परंतु अपने मुँह को मीठा बनाना उससे भी अच्छा है; क्योंकि इससे दूसरों को अंबु मिलता है।

२९—संग्राम के लिये घोड़ा तैयार करना हमारे वश में है; परंतु विजय-पराजय को परमात्मा ने अपने अधीन रक्खा है।

३०—कलह का प्रारंभ पानी का बाँध टूटने के सदृश

है। इसे पहले रोक ले, तो रुक जायगा ; फिर बाद में हाथ न आवेगा।

३१—वह आदमी कैसा सौभाग्यशाली है, जिसने बुद्धि प्राप्त कर ली है। उसका व्यवहार सोने-चाँदी के व्यवहार से कहीं बढ़कर है। जिन पदार्थों की मनुष्य इच्छा कर सकता है, वे उसे प्राप्त हो जाते हैं। उसके एक हाथ में दीर्घायु रहती है, दूसरे हाथ में मान-मर्यादा। उसकी राहें प्रेम, आनंद और प्रसन्नता की राहें बन जाती हैं, और सफलता देवी उसे विजय के पुष्प-हार पहनाती है।

३२—संसार में कोई वस्तु नवीन नहीं।

३३—मैंने न्यायालय में अन्याय और देव-मंदिरों में असत्य देखा ; और मुझे विश्वास हो गया कि किसी पर विश्वास करना बड़े साहस का काम है।

३४—जिस आदमी की इंद्रियाँ वश में नहीं, वह ऐसा मकान है, जिसकी दीवालें गिर चुकी हैं।

३५—एक हृदयद्रावक दृश्य मैंने जगत् में यह देखा है कि पाप तो राजसिंहासन पर बैठकर शासन करता है, और पुण्य उसके सम्मुख सिर झुकाता है!

३६—दुराचारिणी स्त्री का सौंदर्य ऐसा ही है, जैसे अपवित्र कुतिया को कोई अमूल्य आभूषण पहना दे।

३७—संकट के दिनों में अपने मिलनेवालों से दूर रह। उस समय वे तुझे कदापि न पहचानेंगे।

३८—सच्चा मित्र मिल जाना परम सौभाग्य है।

३९—जिस समय तू हाकिम के साथ भोजन करने लगे, उस समय यह बात दिल से न भुला कि तू किसके साथ बैठा है।

४०—बहुत पढ़ना मनुष्य को थका देता है। आओ, सब की बात कहें—परमात्मा से डरो, और जीवित रहो।

सुदर्शन

× × ×

९. अलाव

(१)

देखो बहू, मेरी बात मानो। आज मुहर्रम का आख़री दिन है। चलकर एक बार तो वली साहब से दुआ ले लो। उनका अगर हुक्म हो गया, तो ज़रूर तुम्हारी मुराद पूरी होगी। वह बड़े भारी औलिया हैं। इसी मौक़े पर पिछले साल कितने ही लोग उनके पास गए, और जिन्होंने सच्चे दिल से आरज़ू की। जिनको दुआ मिल गई, उनकी मुराद पूरी हो गई।

रामकली ने उदास होकर उत्तर दिया—तुम्हारे दादाजी मानें, तब न। वह तो ताज़िया, वली या परचरम की बात सुनकर आग-बबूला हो जाते हैं। कहते हैं, परमेश्वर में मन लगाओ ; वही सबका जन्मदाता है। इन वाहियात बातों से कुछ होता-जाता नहीं।

गुलशन ने कानों पर हाथ रखकर कहा—या अल्लाह! दादा के ऐसे ख़याल? वली साहब की करामात को कौन नहीं जानता? बड़े-बड़े सेठ-साहूकार उनकी सवारी के साथ दौड़े-दौड़े फिरते और इबादत करते-करते हैरान हो जाते हैं। तब कहीं उनकी मेहर की नज़र हो गई, तो हो गई ; नहीं तो सैकड़ों दूर-दूर से आते और धक्के खाया करते हैं।

रामकली—अच्छा गुलशन, मैंने सुना है कि जिस सवारी में कुछ भी वली साहब का अंश आ जाता है, वह सवारी और उसके साथ के लोग तेज़-से-तेज़ जलती हुई आँच से निकल जाते हैं—उनको ज़रा भी आँच नहीं लगती। ऐसा मालूम पड़ता है, मानो बर्फ़ का फ़र्श बिछा हो। क्या यह दरअसल सच है?

गुलशन—सच क्यों नहीं है! अभी मैं ही पिछले साल कोल्हापुर में अपनी आँखों देख आई हूँ। और, मैंने ही क्यों, हज़ारों ने देखा है। उस साल काशी की अम्मा जब तीरथ करने गईं, तो मुझे भी अपने साथ ले गई थीं। वहाँ रास्ते में मुहर्रम पड़ा था। तब सब लोगों ने सवारी को जलती आग में से निकलने की कौन कहे, घंटों उसमें आराम से लेटे देखा था। आज तुम भी चलो। तुम्हारी गोद सूनी देखकर मेरा कलेजा फटा जा रहा है! अभी परसों-नरसों की तो बात है। ख़ाँ साहब (गुलशन के शौहर) कहते थे—आठ-दस साल हुए, एक आदमी बीमार था। उसके घरवाले उसे मर गया समझकर रो-धो रहे थे। इतने में वली साहब की सवारी उधर से निकली। लोगों का रोना-धोना सुनकर वली साहब की सवारी वहीं रुक गई। उन्होंने लोगों से पूछा, क्यों रोते हैं? लोगों के सब हाल कहने पर वली साहब उस मुर्दे को देखने गए, और देखकर उन्होंने जो यह कहकर कि अबे उठ, अभी तक पड़ा है, एक लात उसके मारी कि वह चट उठ बैठा। बहूजी, आज तुम ज़रूर चलो।

रामकली ठंडी साँस भरकर बोली—अरे, मेरे ऐसे भाग कहाँ ! मैं हज़ार कहूँगी, वह एक न मानेंगे, और न जाने देंगे ।

गुलशन ने अपने कंठ स्वर को कुछ धीमा करके कहा—दादा से पूछने की क्या ज़रूरत है ? जब वह मिल देखने चले जायँ, तो चुपके से मेरे साथ चली चलना । चोरी करने थोड़े जाती हो, जो इतना डरती हो ।

रामकली—बिना पूछे कैसे जाऊँगी ! सुन लेंगे, तो क्या कहेंगे ?

गुलशन—अजी बहूजी, तुम भी अजीब औरत हो । उनसे कहने कौन जाता है, जो सुन लेंगे । कहीं इतना डरने से भी काम चला है । ख़ाँ साहब के बाप जब ज़िंदा थे, तो वह मुझे घर से बाहर क़दम न रखने देते थे । पर मैं उनकी आँख बचाकर सब काम कर लिया करती थी । कोई ऐसा मेला-तमाशा न होता, जहाँ मैं न जाती ; पर क्या मजाल, जो उनको कानोंकान ख़बर हो जाय । परबतिया तो मुझसे भी दो हाथ आगे बढ़ गई ! राम जानते हैं, मेरी जोरुवा घर से बाहर नहीं होती ; पर वह इतनी-सी छोटी उमर में ही सब देख-सुन चुकी ।

रामकली बड़ी सुशीला और अपने पति की आज्ञाकारिणी थी । ईश्वर ने रूप और गुण, दोनों उसे दिए थे । ऐसी पत्नी पाकर शारदादयाल अपने को परम भाग्यशाली समझते थे । रामकली उनकी चोरी से कोई काम करने की कल्पना तक न कर सकती थी । इसलिये वह गुलशन की बात सुनकर कुछ सहम तो गई ; परंतु पुत्र-प्राप्ति की आशा से पति से चुराकर उसके साथ वली साहब के दर्शनों के लिये तैयार हो गई ।

शहर में ज़ोरों की चर्चा है कि आज अलाव खोदा जायगा, और उसमें आग जलाई जायगी । वली साहब की सवारी उसमें कूदेगी ; पर न वह जलेंगे, और न उनके साथवाले । बड़े-बड़े लोगों का कहना है कि सवारी ज़रूर बेदाग़ निकल जायगी । उनमें विलक्षण शक्ति है । वह सबकी मनोकामना पूरी करते हैं । यह चर्चा सुन-सुन क्या बुड्ढे, क्या जवान, सब-के-सब उसी ओर दौड़े चले जाते हैं, जहाँ पर अलाव बनाया जायगा ।

अलाव इसलिये लगाया गया है कि आजकल के अँगरेज़ी पढ़े-लिखे हिंदू-मुसलमान, सब—जिनकी धर्म पर से आस्था उठी जाती है, न कोई वली साहब को मानता है, न कोई मसजिद जाता है, न कोई देवी-देवता को मानता और न कोई व्रत-उपवास करता है—आकर देख लें कि यह कोई कोरी कल्पना नहीं, किंतु सत्य है ।

अगर कोई देखने नहीं गया, तो वह बाबू शारदादयाल थे । उन्होंने यद्यपि आजकल की शिक्षा पाई थी, पर उसमें पूर्ण रूप से रँग नहीं गए थे । कारण, अप-टु-डेट होकर भी आप सच्चे हिंदू की भाँति मूर्ति पूजते, पितृ-श्राद्ध, व्रत, उपवास आदि करते और भगवान् के अवतारों का जन्मदिवस मनाते हैं । धर्म पर आपकी असीम आस्था है । आप हिंदू-धर्म की उदारता और सम-दर्शिता के भी ख़ूब क़ायल हैं । आपका कहना है कि यदि पुरोहितों और साधुओं का सुधार कर दिया जाय, तो हिंदू-धर्म की सारी कुरीतियाँ आप दूर हो जायँ । इसीलिये आप ऐसे कामों में दिल खोलकर ख़र्च भी करते हैं । तारकेश्वर के ही सत्याग्रह में क्या आपने कम मदद की है ? साथ-ही-साथ धर्म की ओट में दुराचार फैलानेवालों के भी आप कट्टर विरोधी हैं । ढोंगियों की सूरत देखकर उनका शरीर क्रोध से जलने लगता है । ऐसे पापियों को क्षमा करना आप महापाप समझते हैं । इसीलिये आप इसको ढोंग समझकर, अलाव देखने न जाकर अपनी मिल का काम-काज देखने चले गए ।

जाने को तो बाबू शारदादयाल चले गए, लेकिन थोड़ा ही काम अभी आप देख पाए थे कि अनायास आपकी तबियत उचट गई । सहसा दोपहर की बात का स्मरण हो आया, जब रामकली ने पुत्रवती होने की अभिलाषा से वली साहब का आशीर्वाद लेने जाने की आज्ञा माँगी थी ।

बड़ी देर तक इस तरह तर्क-वितर्क करते रहने पर भी आपको तबियत उचटने का कोई कारण न मालूम हो सका । किंतु हृदय का उद्वेग बढ़ता ही गया । और लाचार होकर आपने घर जाने के लिये कोचवान को गाड़ी तैयार करने का हुक्म दिया । रास्ते-भर सोचते रहे, लेकिन कुछ निश्चय न कर सके थे कि घर आ गया । गाड़ी से उतरकर आप हमेशा की तरह सीधे रामकली के कमरे में गए; किंतु वहाँ उसे न पाकर ठिठक रहे । इतने में सामने से हिरिया दासी आती हुई दिखलाई पड़ी । बाबू शारदा-

दयाल ने उसे बुलाकर पूछा—हिरिया, बहूजी कहाँ हैं ?

हिरिया ने सकुचते हुए कहा—ब...ब...बहूजी न... न...नहीं हैं।

बाबू—क्या कहा ?—बहूजी नहीं हैं ? नैहर गईं ?

हिरिया—जी नहीं, गुलशन के साथ वली साहब से प्रार्थना करने गई हैं।

इतना सुनते ही मानो बाबू साहब के पैर के नीचे की ज़मीन खिसक गई। तिलमिलाकर बैठ गए। बैठे-बैठे न-मालूम क्या सूझी कि बाहर आ, गाड़ी मँगाकर, जहाँ वली साहब अलाव में कूदनेवाले थे, उधर ही चल पड़े। आपकी गाड़ी वहाँ पहुँची ही थी कि एकदम बड़े ज़ोर का कोलाहल हुआ, और देखते-देखते भगदड़ मच गई। इस भगदड़ के बीच में गाड़ी पड़ जाने से बाबू शारदादयाल उसकी छत पर से इधर-उधर देखने लगे। इतने में आपकी दृष्टि एक कोने पर जाकर अटक रही, जहाँ पर रामकली गुलशन के साथ एक कोने में प्राण बचाए खड़ी थी। बड़ी मुश्किलों से आदमियों को बचाते हुए कोचवान वहाँ गाड़ी पहुँचा सका। स्त्री को आपने गाड़ी पर बिठाकर रास्ता मिलते ही कोचवान को गाड़ी घर ले चलने का हुक्म दिया; गाड़ी चल दी। पर इधर आपने इस भगदड़ का कारण पूछा, मालूम हुआ—अलाव में वली साहब और उनके चेले कूदे थे, जिनमें प्रायः सभी थोड़ा-बहुत जल गए हैं। लोग दवा के लिये यहाँ-वहाँ दौड़ रहे हैं।

* * *

घर पहुँचकर बाबू साहब ने रामकली से कहा—दवा आते-आते अलाव में कूदनेवालों में ४ मर गए। सुना ही होगा। रामकली की आँखों में आँसू छलछला आए, मानो वे कह रहे थे—अब अधिक लज्जित न करो; सब पाखंड है।

त्रिवेणीप्रसाद अग्रवाल

× × ×

१०. परिवर्तन

तुमने समझ अन्य कुसुमों से बढ़कर मुझे सुगंध-निधान ;
तोड़ वृक्ष से, ले निज कर में, दिया प्रेम का दुर्लभ दान।
फिर जब तुमने बड़े हर्ष से सूँघा मुझे चकित चितचोर ;
तब मैंने सगर्व नयनों से देखा उन कुसुमों की ओर।

* * *

किंतु देखना पड़ा उसी क्षण उस महान सुख का अवसान ;
स्वार्थ सिद्ध कर तुमने मुझको फेंका—किया घोर अपमान।
जब मैं गिरा भूमि पर, छाई मेरे कोमल तन पर धूल ;
अट्टहास तब घृणा-पूर्ण कर उठे सभी उस तरु के फूल।

जगन्नाथप्रसाद खत्री "मिलिंद"

× × ×

११. "बस्ती-जिले के कुछ कवि"

(प्रतिवाद)

"बस्ती-ज़िले के कुछ कवि"-शीर्षक एक लेख गत भाद्रपद की माधुरी में श्रीयुत पं० रामाज्ञा द्विवेदी एम्० ए० का निकला है। उसे पढ़कर शोक हुआ। लेखक ने कहीं-कहीं अपनी अक्षम्य अनभिज्ञता और नैराश्य-पूर्ण अक्षमता का परिचय दिया है। आरंभ में 'चतुर्भुजी देवी' और 'वाराहक्षेत्र' का उल्लेख किया गया है। मैं नहीं जानता कि द्विवेदीजी ने "चतुर्भुजी देवी" लिखकर देवता के साथ कितना अन्याय किया है। जो बात जिसे अच्छी तरह न मालूम हो, उसके लिखने का साहस उसे न करना चाहिए। क्यों, ठीक है न द्विवेदीजी ? भला 'चतुर्भुजी देवी' आपने कैसे लिख मारा ? उस स्थान पर आप कभी गए भी हैं या यों ही देहातियों के मुँह से सुनकर किसी देव को देवी बना डाला ? आप जानते हैं, साधारण जनता के कथन में सत्य और असत्य का जटिल सम्मिश्रण रहता है। उससे असत्य को निकाल बाहर करना कोई खेल नहीं, परिश्रम का काम है। महाशयजी, जिन देवता का आपने उल्लेख किया है, वह देव हैं, देवी नहीं। शुद्ध नाम "चतुर्भुजी" (देव) या "चतुर्भुज" (देव) है ? आप शायद कह उठें—"चतुर्भुज नाम तो देव के लिये ठीक जँचता है : क्योंकि चत्वारः भुजाः यस्य सः चतुर्भुजः विष्णुः ; परंतु 'चतुर्भुजी' कैसे पुंलिंग हो सकता है ?' जनाब, यह शब्द भी पुंलिंग है, और "चतुर्भुजिन्" की प्रथमा का एकवचन है—चत्वारः भुजाः अस्य सः 'चतुर्भुजी' विष्णुः। इसी प्रकार के और भी पुंलिंग शब्द 'दंडिन्', 'गृहिन्' इत्यादि हैं। द्विवेदीजी, ज़रा व्याकरण शास्त्र के भीतर भी पैठिए ; ऊपर-ही-ऊपर की नोच-खसोट से काम न चलेगा। दूसरे आपने 'चतुर्भुजी देवी' लिखकर, स्वयं सुवंशोद्भव ब्राह्मण होते हुए भी हिंदू-सनातनधर्म की मोटी-मोटी बातों से भी अनभिज्ञता प्रकट की है। हमारे धर्मानुसार भी किसी

देवी के चार हाथ नहीं हैं। हाँ, 'अष्टभुजी' देवी अवश्य हैं। यह तो एक साधारण-सी बात है ; पर द्विवेदीजी की तीव्र बुद्धि में छोटी-छोटी बातें कहाँ स्थान पा सकती हैं ? क्यों द्विवेदीजी ? 'वाराहक्षेत्र' गोंडा-ज़िले में है या बस्ती में ?

तदनंतर आपने बस्ती-ज़िले का एक प्रकार से भौगोलिक वर्णन भी किया है। माना कि देश-स्थिति पर कविता बहुत कुछ अवलंबित है—रम्य उपवन और लहराती, कमल से जगमगाती हुई सरिता हममें स्वभाव ही से कुछ कवित्व-शक्ति का संचार करती है। पर बस्ती में तो कोई ऐसा स्थान नहीं, जो ऐसा प्रभावोत्पादक हो। फिर ऐसा वर्णन 'कुछ कवियों' के संबंध में क्यों ? बहला, भुइला, चंदो, भारतभारी आदि तालों के नाम गिनाने से क्या ? यहाँ दर्जा ३ के लड़कों को भूगोल तो पढ़ाया नहीं जा रहा है। श्रीद्विवेदीजी का मकान मेरे ही मकान के पास है। मैंने तो कभी नहीं सुना कि 'थारुओं' ने उनके गाँव में कभी खुदाई की, और कुछ रुपए ले गए। ख़ैर, यदि बात सच भी हो, तो इससे और 'कुछ कवियों' से क्या संबंध ? द्विवेदीजी अपनी सर्वप्रिय बूटी 'ब्राह्मी' का भी वर्णन लाए बिना कैसे रह सकते थे ? उनका कहना है कि ब्राह्मी खाने से दिमाग़ बढ़ता है। शायद ब्राह्मी ही के कारण आप पढ़ने के समय प्रत्येक कक्षा में सर्वोच्च पद पाते गए ! विद्यार्थियों में इस समय दिमाग़ के ख़राब होने की बड़ी शिकायत है। अरे भई, अब डर किस बात का ? दो पैसे का एक पोस्टकार्ड लिखकर द्विवेदीजी से गरमी की छुट्टी में उनके पते—सोमाँ, कैप्टेनगंज, बस्ती—से 'ब्राह्मी'-बूटी का पार्सल मँगा लो। द्विवेदीजी उदार पुरुष हैं, कुछ मूल्य न माँगेंगे ; क्योंकि "मछोई" नदी तैयार है।

आगे कवियों की गणना में आपने पं० रामचंद्र शुक्ल और बाबू जगन्मोहन वर्मा के नाम सर्वप्रथम रक्खे हैं। बाबू जगन्मोहन वर्मा से तो नहीं, पर पं० रामचंद्र शुक्ल से मेरा अच्छा परिचय है। उनका जन्म बस्ती-ज़िले का अवश्य है ; पर वहाँ केवल पैदा होने से शुक्लजी वहाँ के कवि नहीं हो सकते। वहाँ के बालक अलबत्ता वह कहे जा सकते हैं। फिर वह अधिक कविता करते ही नहीं। वह तो केवल उत्कट गूढ़-विषयक गद्यलेखक हैं ; और जो थोड़ी-बहुत कविता करते भी हैं, उ का विकास बस्ती में नहीं हुआ। शुक्लजी अधिकतर नारस में, और कभी-कभी मिर्ज़ापुर में, रहा करते हैं। बस्ती में तो कभी-कभी आ गए, तो आ गए। अस्तु, अभिप्राय यह कि शुक्लजी यदि कवि हैं, तो बनारस के हैं, बस्ती के नहीं। शायद ऐसी ही बात बाबू जगन्मोहन वर्मा के विषय में भी सच हो। मैं जहाँ तक जानता हूँ, वह गद्यलेखक थे, कवि नहीं। क्या इन लोगों के नामों का लेख में समावेश करने का अभिप्राय यह नहीं कि हिंदी-संसार के कुछ बड़े-बड़े लोगों की चर्चा भी हो जाय ?

आगे आपने ज़िले के कुछ कवियों का तहसीलवार ब्योरा देते हुए ऐसे-ऐसे लोगों को कवि बना डाला है, जो न कभी कवि थे, और न जिनके होने की आशा ही है। दुनियाराम चौबे की कोई संस्कृत-कविता द्विवेदीजी बता सकते हैं ? चौबेजी ने हिंदी में भी शायद ही कविता की हो। हाँ, यों चौबोला आदि तो एक लंठ-से-लंठ देहाती भी बना लेता है। इसी प्रकार और भी नितांत अप्रसिद्ध नामों की सूची गिनाई गई है, जैसे गदाधरसिंह त्रिपाठी, द्वारकानाथ त्रिपाठी इत्यादि। द्विवेदीजी को द्वारकानाथ त्रिपाठी की कविता ऐसी उच्च कोटि की जँची कि उसे पढ़कर उन्हें सूर के पद याद आ गए ! धन्य हो महाराज ! अच्छी तुलना की। यह मेरे कहने का तात्पर्य नहीं कि ये लोग किसी प्रकार की कविता करते ही नहीं थे। अभिप्राय केवल यह है कि इनकी रचना केवल तुकबंदी है, कविता नहीं। अतः इनकी गणना कवियों में करना नितांत भूल है।

इसके अतिरिक्त, आगे चलकर, आपने कुछ ऐसे कवियों के नाम गिनाए हैं, जो मेरे अधिक परिचित हैं। मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरे ये मित्र कवि कब से हो गए। सच-मुच यह मेरा पहला ही सौभाग्य है कि मेरे इतने मित्र द्विवेदीजी द्वारा कवि-पद पर आरूढ़ किए गए ! द्विवेदीजी को इसके लिये धन्यवाद ! कोटिशः धन्यवाद ! ! इन मित्रों में लक्षपति उपाध्याय, रामलाल शुक्ल, रामलखन शुक्ल, रामचरित्र पांडेय, बुद्धिसागर इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये लोग कवि कब हुए, यह द्विवेदीजी ही जानें। यहाँ फिर भी मैं कह देना चाहता हूँ कि ऐसा नहीं कि ये लोग पद्य-रचना करते ही नहीं ; करते अवश्य हैं, पर वह तुकबंदी के स्थान से ऊँचा कोई स्थान नहीं पा सकती। भला इस प्रकार के भ्रांत लेख से क्या लाभ ?

मुझे तो यह भी डर है कि ऐसे लोगों को कवि बनाने से कहीं इनके विषय में भी यह दोहार्द्ध चरितार्थ न हो जाय—

"प्यादा तें फर्जी भयो, टेढ़ो-टेढ़ो जाय ।"

द्विवेदीजी ने सबसे बड़ी ग़लत बात यह लिखी है कि पं० महेशजी की कुछ भी कविता अब अविकल रूप से नहीं मिलती । न-जाने ऐसी बातें लिखने में द्विवेदीजी को क्या मज़ा आता है । पं० महेशजी मेरे गाँव के रहनेवाले थे, और मेरे यहाँ द्विवेदीजी भी अधिकतर आया करते हैं । इतने पर भी पं० महेश के विषय में ऐसी अनभिज्ञता ! मैंने दो-एक बार द्विवेदीजी से इस विषय में बातचीत भी की है । महेशजी के कवित्त-सवैए तो अवश्य इस समय एक तरह से अप्राप्य हैं ; पर उनके १०० होरी-पद मेरे ही यहाँ रक्खे हैं । पद बड़े सुंदर हैं । इसकी चर्चा द्विवेदीजी से शायद मैंने ही की है । पं० महेश का तो उल्लेख हो, और इन पदों का कहीं ज़िक्र नहीं !

अंत में मेरा केवल इतना ही कहना है कि कमज़ोर नींव पर एक सुंदर सुविशाल प्रासाद बनाने का प्रयत्न न करना चाहिए; क्योंकि ऐसा प्रयत्न व्यर्थ है । द्विवेदीजी के प्रति मेरी यह व्यक्तिगत धारणा है कि वह किसी विषय पर कुछ लिखने के पहले उस विषय का भली भाँति अध्ययन करने से बहुत घबड़ाते हैं, और थोड़ी इधर-उधर की बातें जानकर, उन्हीं के आधार पर, एक सुंदर, सुविस्तृत लेख लिख डालते हैं । दूसरे, लेख को केवल विस्तार देने के लिये ही उसमें खुराफ़ात भर देते हैं ।

आशा है, एक अच्छे गुणज्ञ विद्वान् होकर द्विवेदीजी मेरे इस सत्य-कथन की पूर्ण रीति से मीमांसा करने के बाद अपने विचार सुदृढ़ और स्थायी करेंगे ।

शिवमंगल पांडेय

× × ×

१२. रायबहादुर डॉक्टर सरयूप्रसाद

मध्य-भारत के हिंदी-सेवकों में श्री० डॉक्टर सरयूप्रसादजी तिवारी का नाम विशेष उल्लेखनीय है । आप नदौली-ग्राम, सरयू-पार, के रहनेवाले हैं । आपके पिता श्री० सुकुरूराम बड़े ही सज्जन एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति थे । वह नौकरी तथा गाँवों का देन-लेन किया करते थे । डॉक्टर सरयूप्रसादजी का जन्म माघ-कृष्ण १, सं० १९२१ में, रीवाँ में हुआ, और वहीं पर आपको अक्षरारंभ कराया



रायबहादुर डॉक्टर सरयूप्रसाद

गया । तत्पश्चात् इंदौर के मेडिकल स्कूल में आकर आपने डॉक्टरी सीखी । सन् १८८७ ई० में ३५) मासिक पर आपने इंदौर में ही नौकरी भी कर ली । आपने आज तक १२ वर्ष रीवाँ-स्टेट में, और २४ वर्ष इंदौर में, ब्रिटिश-गवर्नमेंट की नौकरी की है । अब आप लगभग ४ वर्ष से इंदौर-स्टेट में स्टेट-सर्जन के पद पर ४५०) मासिक पा रहे हैं । इसके अतिरिक्त अँगरेज़-सरकार की ओर से पेंशन भी मिलती है ।

आपकी सेवाओं से प्रसन्न तथा गुणों पर मुग्ध होकर ब्रिटिश-गवर्नमेंट ने पहले रायसाहब, और पीछे राय बहादुर की उपाधि से आपको सम्मानित किया है । होलकर-सरकार ने अपनी वर्ष गाँठ की खुशी में आपको 'मुंतज़िमख़ास-बहादुर' की पदवी देकर सत्कृत किया है ।

डॉक्टर साहब का विवाह सं० १९४५ में, २४ वर्ष की अवस्था में, पूर्ण-वयस्क होने पर, हुआ था । आपके एक पुत्र और दो पुत्रियाँ हैं । डॉक्टर और वैद्यों में आपका नाम बड़े आदर से लिया जाता है । आपके पास डॉक्टरी

सीखे हुए सैकड़ों डॉक्टर मौजूद हैं। आप बड़े ही शांत, उदार और गंभीर स्वभाव के हैं। परोपकार में आपकी बुद्धि सदा लगी रहती है। आप इंदौर-राज्य में ही नहीं, दूर-दूर तक प्रसिद्ध हैं। इंदौर-नरेश से लगाकर इंदौर-राज्य का एक साधारण निवासी तक आपको अत्यंत सम्मान की दृष्टि से देखता है। इतना होने पर भी अहंकार आपको छू तक नहीं गया। इंदौर के साहूकारों में आपका विशेष आदर है।

आप हिंदी के अनन्य भक्त हैं। इंदौर में, या यों कहिए, मध्य-भारत में, जो कुछ भी हिंदी का प्रचार हुआ है, उसके मूल-कारण आप ही हैं। आपके महान् उद्योग से ता० १२ नवंबर, सन् १९१४ को इंदौर में 'मध्य-भारत-हिंदी-साहित्य-समिति' की स्थापना हुई थी। यह समिति अब तक कार्य कर रही है। समिति के पास कई हज़ार की संपत्ति है। समिति एक उत्तम उपयोगी ग्रंथमाला प्रकाशित कर रही है, जिसमें अभी तक २४-२५ ग्रंथ गुंफित हो चुके हैं। सन् १९१८ में अष्टम हिंदी-साहित्य सम्मेलन आपके ही उद्योग से सफल हुआ था। यह सम्मेलन समिति की ओर से किया गया था, जिसके सभापति प्रातःस्मरणीय महात्मा गांधी बने थे। सम्मेलन ने जैसी सफलता इंदौर में पाई, वैसी उसे अभी तक कहीं भी नहीं मिली, ऐसा लोग कहते हैं। हिंदी को यहीं से राष्ट्र-भाषा का रूप प्राप्त हुआ। इंदौर का सम्मेलन कोई साधारण सम्मेलन नहीं था। इसी के बाद मदरास में हिंदी का प्रचार आरंभ हुआ है।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो केवल ज़बानी जमा-ख़र्च करके ही हिंदी-सेवा करते रहते हैं। परंतु यहाँ यह बात नहीं है। डॉक्टर साहब ने स्वयं अपनी लेखनी से पुस्तकें लिखी हैं। अभी तक आपकी लिखी हुई ६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। सभी एक-से-एक उत्तम हैं—

१. इंदौर-राज्य का इतिहास
२. स्वास्थ्य
३. आरोग्य-प्रदीप
४. स्वास्थ्य विज्ञान
५. स्वस्थ शरीर (प्रथम खंड)
६. स्वस्थ शरीर (द्वितीय खंड)

पिछली दो पुस्तकों ने हिंदी-साहित्य के एक बड़े आवश्यक अंग की पूर्ति की है। ये स्वास्थ्य-संबंधी पुस्तकें एक अधिकारी द्वारा लिखी होने के कारण अत्यंत उपयोगी प्रमाणित हुई हैं।

समिति के अंतर्गत एक 'होलकर-हिंदी-कमेटी'-नामक संस्था है, जो प्रतिवर्ष अच्छी और उपयोगी पुस्तकों पर लेखकों को पुरस्कार दिया करती है। यह सब कुछ डॉक्टर साहब की ही बदौलत है। समिति की ओर से एक पुस्तकालय भी चलता है, जिसमें बहुत-सी पुस्तकें, मासिक पत्र और समाचारपत्र आते हैं। यथासमय अपने पास से भी डॉक्टर साहब समिति को द्रव्य आदि की सहायता करते रहते हैं। समिति का भवन बनाने के लिये भी डॉक्टर साहब विचार कर रहे हैं। भवन की नींव महात्मा गांधी के कर-कमलों द्वारा अष्टम हिंदी साहित्य-सम्मेलन के समय रक्खी जा चुकी है। भवन-निर्माण के कोष में लगभग २०-२५ हज़ार रुपए भी जमा हैं; किंतु अभी २०-२५ हज़ार की और ज़रूरत है। डॉक्टर साहब चाहेंगे, तो अल्प समय में ही इतनी रक़म जमा हो जायगी। अब उस भवन के निर्माण में थोड़ी ही देर समझनी चाहिए।

डॉक्टर साहब इस समिति के प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त आप नागरीप्रचारिणी-सभा के सभासद् तथा अपनी सरयूपारीण जातीय सभा के प्रमुख कार्यकर्ता और डॉक्टरों की कान्फ्रेंस के सेक्रेटरी भी हैं। सारांश यह कि आप राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा के एक बड़े ही भक्त हैं। आप ही के कारण मध्य-भारत में हिंदी का क्षेत्र आलोकित है। ईश्वर आपको दीर्घायु प्रदान करे, यही प्रार्थना है।

गणेशदत्त शर्मा गौड़ "इंद्र"



१. एक बालक की कीर्ति

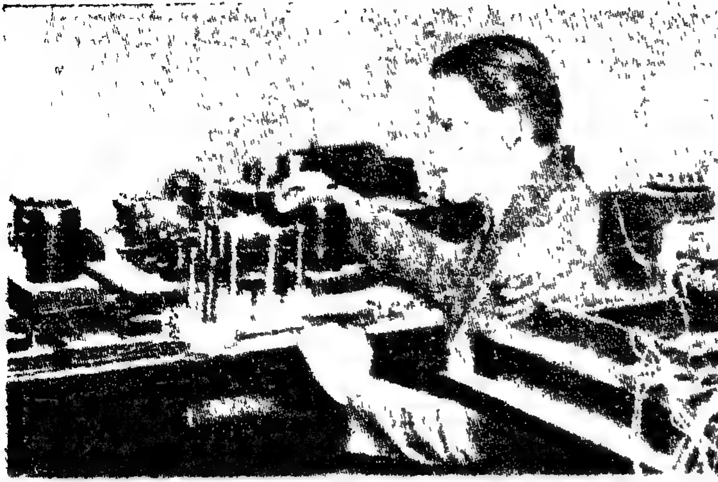
हवाई द्वीप-पुंज में एक १८ वर्ष का बालक है। चार वर्ष पहले वह एक ऑफ़िस में पत्रवाहक का काम करता था, पर आज रेडियो का विशेषज्ञ बन गया है। इसके बेतार के स्थान को देखने के लिये बहुत-से बड़े बड़े लोग दूर-दूर से गए थे। वह समुद्र पार ५,००० मील तक रेडियो द्वारा फ़ोटो भेजता और उम्र में अपने से बड़े लोगों को रेडियो की शिक्षा दिया करता है। लड़कपन में लड़के जिस अदम्य उत्साह से उत्साहित रहते हैं, उसकी अल्फ्रेड जे० कोनिंग में कमी न थी। लड़कपन में इसने अपने घर में रेडियो का एक स्टेशन क़ायम किया, और Amateur Radio Ralay League में भर्ती हो गया। शाम को यह मार्कोनी इंस्टीट्यूट में रेडियो की शिक्षा प्राप्त करने जाया करता था। पंद्रह वर्ष की उम्र में इसने रेडियो की पहली परीक्षा पास की। इसके बाद यह अमेरिका



रात को दिन बनानेवाले प्रकाश की सहायता से वायुयानों से आत्मरक्षा की जा सकती है, तथा आक्रमण में भी सुबीता होता है



इस तोप द्वारा २० मन का गोला २३ मील फेंका जा सकता है



अल्फ़्रेड जे० कोनिग हवाई-द्वीप से चित्र भेज रहा है

के रेडियो-कारपोरेशन के ऑफ़िस में काम करने लगा। कैप्टेन रिचर्ड एच० रेंजर ने इसे ऑफ़िस में देखा, और मेधावी तथा काम सीखने के लिये उत्सुक जानकर इंजीनियरिंग-विभाग में ले लिया। उस विभाग में यह कुछ दिन काम करता हुआ रेडियो द्वारा फ़ोटो भेजने के काम में रेंजर की मदद करने लगा। न्यूयार्क से लंदन को जो फ़ोटो पहलेपहल भेजा गया, उसमें कोनिग की काफ़ी मदद थी।

दूसरी बार रेडियो द्वारा फ़ोटो भेजने की परीक्षा करने का निश्चय हुआ। इस बार अटलांटिक-पार हवाई-द्वीप से न्यूयार्क को (५,००० मील) फ़ोटो भेजा जानेवाला था : किंतु हवाई-द्वीप से फ़ोटो भेजता कौन ? मशीन आदि किसकी देख-रेख में भेजी जातीं ? यदि वे बिगड़ जायँ, तो कौन उनकी मरम्मत करता ? विशेषज्ञों ने सोच-समझकर कोनिग को ही भेजा। उसने हवाई से जाकर सब यंत्रों को दुरुस्त किया, और वहाँ से केवल २० मिनट में रेडियो द्वारा उनके फ़ोटो भेजे।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि रेडियो द्वारा फ़ोटो भेजने में क्या लाभ ? एक लाभ तो यह है कि पेज-के-पेज छपे या लिखे हुए मैटर का फ़ोटो जितने कम समय में भेजा जा सकेगा, उतने कम समय में उसके शब्द 'डाट' और 'डैश' से नहीं भेजे जा सकते। इसके अतिरिक्त पिछली रीति से समाचार भेजने में बहुत-से शब्द ठीक-ठीक सुन नहीं पड़ते ; बहुत ग़लत सुन पड़ते हैं। किंतु फ़ोटो भेजने में ऐसा न होगा। किसी भी प्रकार के शब्दों के छोटे-बड़े चित्र साफ़-साफ़ ५,१३६ मील दूर केवल १०-२० मिनट में ही भेजे जा सकते हैं।

× × ×

२. आकाश के छोटे ग्रह

प्रो० वाट्सन ने आकाश में २१ छोटे छोटे ग्रहों का पता लगाया था। उन्हें इस बात का डर था कि उनकी मृत्यु के बाद उनमें से कोई ग्रह खो न जाय ; क्योंकि उनका आकार बहुत ही छोटा था। उन्होंने कुछ रुपए नेशनल एकाडेमी ऑफ़ साइंस (यूनाइटेड स्टेट्स, अमेरिका) को इसलिये दिए कि उनके सूद से उन छोटे छोटे ग्रहों की रक्षा हो। ये ही केवल ऐसे ग्रह हैं, जिनकी रक्षा के लिये कुछ रुपए जमा कर दिए गए हैं।

गत वर्ष पत्रों में यह विज्ञापन छपा था कि वाट्सन का एक ग्रह खो गया है ; ढूँढ़ निकालनेवाले को ख़ासा इनाम मिलेगा। उस ग्रह को किसी ने चुराया न था ; वह केवल लोगों की दृष्टि से ओझल हो गया था। अलजीरस के जेकोवस्की-नामक व्यक्ति ने उसे खोज निकाला, और ठीक स्थान पर आकाश में दिखा दिया। इसके लिये उसे उक्त इनाम भी मिला। इस छोटे ग्रह का वर्णन चित्ताकर्षक है।

इसका नाम १३२-'एथरा' है। इसका व्यास १२ मील और क्षेत्र ५०० घन-मील के भीतर है। छोटे ग्रहों के जितने पुंज हैं, उनमें सबसे बड़ा 'वेस्टा' है, जिसका व्यास २१४ मील और सतह १,४३,२०० वर्ग-मील है। इसके बाद सीरस का स्थान है। इसका व्यास १६६ मील है। पालर का व्यास ११७, जुनो का १२४ और हिजिआ का १०३ मील है। ये तो छोटे ग्रहों में बड़े हुए। अब छोटों को लीजिए— इनमें सीरो २६, वर्जिनिया और हेस्टिया प्रत्येक २५-२५, एशिया २०, अटलांटा १८ और एको १७ मील से कम व्यास का है। कितने ही ग्रह इतने छोटे हैं कि उन्हें नापना असंभव है। उनके घेरे महादेशों के घेरों से बड़े नहीं हैं। किसी-किसी के घेरे तो एक बड़े खलिहान के बराबर ही होंगे। इनमें कुछ झुंड बनाकर रहते तथा चलते-फिरते भी हैं। 'इरोस' दो छोटे ग्रहों से बना है। उनमें



पृथ्वी पर १५० पौंड जिसका वज़न है, वह वेस्टा पर केवल १५ पौंड का उतरेगा और वहाँ वह ५०० पौंड का बोझ उठा सकेगा

से हरएक एक मध्य-गुरुत्वाकर्षण के चारों ओर घूमता है। इस ग्रह का आविष्कार सन् १८६८ ईसवी में हुआ था।

'इरोस' कभी-कभी पृथ्वी के बहुत नज़दीक आ जाता है। गत वर्ष ये छोटे ग्रह पृथ्वी से केवल १,५०,००,००० मील की दूरी पर आ गए थे। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ये ग्रह क्या चीज़ हैं? कहाँ से आते हैं? इनसे हमें क्या लाभ है? क्या इनमें मनुष्य या अन्य प्राणी अथवा पौदे हैं? इन प्रश्नों का उत्तर देना अभी संभव नहीं।

ग्रह और नक्षत्र सभी आकारों के हैं। बेटेलगुइस आदि बड़े नक्षत्रों के सामने सूर्य की कुछ भी बिसात नहीं है। जुपिटर की तुलना में हमारी पृथ्वी बहुत छोटी, अर्थात् उसका केवल १,३००वाँ भाग, है। यदि किसी कारणवश आकाश से सूर्य लोप हो जाय, तो पृथ्वी जुपिटर का एक ग्रह बनकर उसके चारों ओर चक्कर लगावेगी। ये ठंडे और अंधकारमय ग्रह हैं। इनका पता हमें केवल उसी समय लगता है, जब ये सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर हमारी दूरबीनों के लक्ष्य-पथ में आ पड़ते हैं। एक बार पकड़ लिए जाने पर फिर ये भाग नहीं सकते। और हम इन्हें भागने ही क्यों देंगे? इनमें से कई वर्षों के परिश्रम के बाद पकड़े गए हैं। उन्हें खो देने या छोड़ देने पर वैज्ञानिकों का श्रम व्यर्थ जायगा।

इनमें कोई मनुष्य नहीं रहता। 'वेस्टा' ही को लीजिए। यह इनमें सबसे बड़ा है। हम लोग सूर्य से जितनी दूरी पर हैं, उससे इसकी दूरी २$\frac{२}{३}$ गुनी अधिक है। इसलिये हमें सूर्य से जितनी गरमी और प्रकाश मिलता है, उसके $\frac{१}{५}$वें भाग से भी कम प्रकाश तथा गरमी वह पाता है। इसका आकार बहुत छोटा होने के कारण वायुमंडल की गैसों को खींच रखने की शक्ति इसमें नहीं है। इसकी सतह पर पानी भी नहीं है। हवा और पानी के अभाव में उस पर किसी प्राणी का रहना संभव नहीं। अनुमान किया जाता है कि छोटे ग्रहों में केवल मरुभूमि तथा पहाड़ों की चट्टानें ही हैं।

'वेस्टा' में गुरुत्वाकर्षण इतना कम है कि पृथ्वी का १५० पौंड का मनुष्य वहां वज़न में केवल १५ पौंड का उतरेगा। वह वहाँ ५०० पौंड का एक बोझ उतनी ही आसानी से उठा सकता है, जितनी आसानी से पृथ्वी पर ५० पौंड का बोझ। पृथ्वी पर वह जितना उछल सकता है, उससे दसगुना अधिक वहां उछलेगा। यदि वेस्टा पर वायुमंडल और मनुष्यों के पंख होते, तो वहाँ मनुष्य अवश्य ही उड़ सकते।

छोटे ग्रहों में से कितनों ही का व्यास ५ मील से भी कम है। ऐसे ग्रहों पर २०० पौंड का मनुष्य केवल २ औंस वज़न का हो जायगा। वह एक टन वज़न को सहज ही उठाकर इतने ज़ोर से फेंक सकता है कि वह लौटकर उस ग्रह पर फिर न गिरेगा।

रॉयल आस्ट्रोनोमिकल सोसाइटी में वक्तृता देते हुए एक हास्य-प्रिय वैज्ञानिक ने कहा था—"अब से छोटे ग्रहों का पता लगानेवाले मनुष्यों को जेल या जुर्माने का दंड देना उचित है : क्योंकि ये हमारे लिये एक प्रकार से बोझ हो रहे हैं। उन पर बराबर नज़र रखना बड़ा कठिन काम है। जहां तक मेरा विश्वास है, ये छोटे ग्रह हमें कोई लाभ नहीं पहुंचा सकते।"

विद्वान् वैज्ञानिक ने उपर्युक्त बातें कहते हुए एक बात पर ध्यान नहीं दिया। ये छोटे ग्रह बड़े-बड़े ग्रहों को तोलने, उनकी दूरी नापने तथा उनके गुरुत्वाकर्षण का पता लगाने में सहायक होते हैं। अतः व्यर्थ कहकर इनकी उपेक्षा करना ठीक नहीं। किन्तु यह बात अवश्य

है कि इनकी देख-रेख में जितना समय लगता है, उसमें हम कोई और अधिक महत्त्व का कार्य कर सकते हैं।

× × ×

२. संसार की कुछ विचित्र वस्तुएँ

(क) साठ फ़ीट लंबी रोटी

मिनीपोलिस में साठ फ़ीट की लंबी एक डबल-रोटी पकाई गई है। उसमें ९ मन आटा लगा है। इतनी बड़ी एक ही रोटी इसके पहले नहीं पकी थी। चित्र में पकानेवाले उसे चूल्हे से निकाल रहे हैं।

(ख) संसार का सबसे छोटा और बड़ा फ़ौंटेन-पेन

संसार का सबसे छोटा फ़ौंटेन-पेन केवल तीन सौ शब्द लिख सकता है, और उसमें सिर्फ़ एक बूँद स्याही भरी जाती है। सबसे बड़े पेन में १२० बूँद स्याही आती है, और उससे १६ हज़ार शब्द लिखे जाते हैं। दोनों पास-पास दिखलाए गए हैं।



(१) ६० फ़ीट लंबी रोटी, (२) सबसे छोटा और बड़ा फ़ौंटेन-पेन

(ग) संसार की सबसे मोटी पुस्तक

चेंबर आफ़् कॉमर्स की रजिस्ट्री करनेवाली यह किताब संसार की सबसे मोटी पुस्तक बतलाई जाती है। इसमें हैं तो केवल चार ही हज़ार पृष्ठ, किंतु इसका वज़न सवा चार मन है। चित्र में एक स्त्री उस पर बैठी हुई दिखलाई गई है।



संसार की सबसे मोटी पुस्तक

(घ) ७५ फलोंवाला चाक़ू

शेफ़ील्ड की एक चम्मच-काटा बनानेवाली कंपनी के सदस्य विलियम वॉमफ़ाथ ने ७५ फलोंवाला एक चाक़ू बनाया है। इसके प्रत्येक फल पर भिन्न-भिन्न प्रकार की चित्रकारी की गई है। समूचा चाक़ू एक 'स्टैंड' (बैठक) पर बना है।



(१) ७५ फलोंवाला चाक़ू। (२) सबसे छोटा वायुयान

(ङ) संसार का सबसे छोटा वायुयान

रोम में M. R.-नामक एक वायुयान बना है, जिसकी लंबाई केवल १०५ फ़ीट है। अब तक इस प्रकार के वायुयान ६६३ फ़ीट से छोटे नहीं बने थे। यह छोटा वायुयान ४० मील प्रति घंटे के हिसाब से चलेगा।

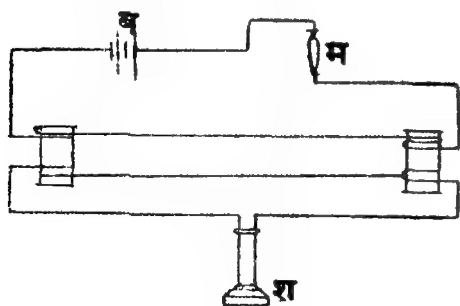
रमेशप्रसाद

× × ×

४. उत्पादक तुला

शूग साहब ने टेलीफ़ोन-यंत्रों का उपयोग करके एक ऐसे यंत्र की रचना की है, जिसकी सहायता से भूगर्भ-स्थित धन, कोई धातु या किसी धातु की खान का ठीक-ठीक पता बड़ी सरलता से मालूम किया जा सकता है। यही यंत्र युद्ध के वीरों के शरीर में घुसी हुई बंदूक़ की गोलियों की ठीक-ठीक स्थिति भी बतला देता है, अर्थात् इससे यह मालूम हो जाता है कि शरीर में गोली घुसी हुई है अथवा नहीं; और यदि है भी, तो किसी विशेष स्थान से कितनी नीचे। इसी प्रकार के एक और यंत्र की सहायता से समुद्र-मग्न टारपीडो, लंगर और बड़े-बड़े जहाज़ों का पता भी मालूम हो जाता है। जिस सिद्धांत के आधार पर इन यंत्रों की रचना की जाती है, उसका वर्णन यहाँ दिया जाता है—

उक्त यंत्र में १½ इंच व्यास और ४ इंच ऊँचाई की एबोनाइट की दो रीलें लगाई जाती हैं, जिनमें से प्रत्येक पर रेशम-मढ़े ताँबे के तार की १५० लपेटनों की एक-एक सर्पिल लपेटी रहती है। प्रत्येक रील की दोनों सर्पिलों के बीच ½ इंच की निश्चित दूरी सदैव रक्खी जाती है। यहाँ सर्पिलों के साथ विद्युत्-संबंध किया जाता है। अर्थात् ऊपरवाला यानी मुख्य कुंडलिका की सर्पिलें तथा अक्षर द्वारा सूचित विद्युत् घटमाला और एक सूक्ष्म स्वर-संचारक यंत्र (Microphone) 'म' से और गौण



कुंडलिका (Secondary Coil) की अर्थात् नीचे की सर्पिलें एक शब्दग्राहक-यंत्र (Receivers) 'श' से जोड़ दी जाती हैं। नीचे की सर्पिलें मुख्य कुंडलिका की सर्पिलों (Coils) से उलटा और लपेटी जाती हैं, जिससे उनमें उत्पन्न विद्युत्-धाराएँ मुख्य कुंडलिका की उत्पादक धारा के प्रभाव को बिलकुल नष्ट कर दें। पर यह तभी हो सकता है, जब उत्पन्न विद्युत्-धारा की शक्ति उत्पादक विद्युत् धारा की शक्ति के समान ही हो। इस प्रकार से बने हुए यंत्र के सूक्ष्म स्वर-संचारक यंत्र 'म' के सम्मुख यदि किसी प्रकार की ध्वनि की जाय, तो मुख्य कुंडलिका में प्रवाहित विद्युत् धारा की मात्रा में, बाधा की न्यूनाधिकता के कारण, तत्संबंधी वैषम्य उत्पन्न हो जायगा, जिससे उसके पास लगी हुई गौण कुंडलिका में भी ठीक वैसी ही धाराएँ प्रवाहित होने लगेंगी। किंतु सर्पिलों की लपेटनों की दिशाएँ एक दूसरे से विपरीत होने के कारण उत्पादक और उत्पन्न विद्युत्-धाराएँ एक दूसरे का प्रभाव नष्ट कर देंगी। इसलिये ऐसी अवस्था में शब्दग्राहक यंत्र 'श' में कोई भी शब्द सुनाई न देगा। किंतु यदि मुख्य और गौण कुंडलिकाओं के बीच में किसी धातु का एक टुकड़ा या कोई सिक्का रख दिया जायगा, तो उत्पन्न और उत्पादक, दोनो विद्युत्-धाराओं की मात्राओं में विषमता आ जायगी, और उस शब्दग्राहक-यंत्र में शब्द सुनाई पड़ने लगेंगे। मतलब यह कि यंत्र के नीचे किसी धातु के आते ही शब्द सुनाई पड़ने लगेंगे। इस प्रकार गड़ा हुआ धन सरलता से मालूम करके निकाल लिया जा सकता है।

ठाकुरप्रसाद शर्मा

× × ×

५. कब्ज़ या बदहज़मी ?

"तुम्हारा हाज़मा ठीक नहीं", ये ऐसे मामूली शब्द हैं, जिनको आम तौर पर वैद्य, हकीम और डॉक्टर भी वर्षों से, बिना कुछ अधिक विचार किए ही, कहते चले आते हैं। यही नहीं, थोड़ा ग़ौर करने से साफ़ मालूम हो जायगा कि बच्चों से लेकर बूढ़ों तक के दिलों में यह बात जम गई है कि हमारा हाज़मा ख़राब है। इसलिये वे चूरन-चटनी चाटने में ज़रा भी देर नहीं लगाते—सोचते ही नहीं कि इसका क्या नतीजा होगा। "लो बेटा, ज़रा-सा तुम भी चाट लो।" कहने में ज़रा भी आनाकानी नहीं करते।

पर थोड़ा विचार करने पर साफ़ मालूम हो जायगा कि हमारे देश के नौजवानों के ही नहीं, बच्चे और बूढ़े आदि सभी के शारीरिक नाश का एक बहुत बड़ा कारण यही भूल है। जिधर नज़र डालिए, उधर ही ऊपरी टीम-टाम नज़र आती है। लेकिन वास्तव में आँखों के गढ़े और पीले चेहरे अपना जलवा दिखाने से बाज़ नहीं

जाते। मैं समझता हूँ, आज विज्ञापन द्वारा हाज़मे और ताक़त की दवाओं ने धूर्त लोगों को जितना मालदार बना दिया है, उतना शायद ही किसी और दवा ने बनाया हो।

किसी विचारशील मनुष्य को यह देखकर ताज्जुब होगा कि एक मनुष्य दिन-भर में सेर-भर से भी अधिक भोजन कर जाने पर यही कहता है कि मेरा हाज़मा ख़राब है। परंतु यह कहने के लिये कि "मेरा हाज़मा ख़राब है", ज़्यादातर लोग केवल रोटी को छोड़ और किसी चीज़ को खाने में शुमार ही नहीं करते। वे रोटी के साथ दाल, तरकारी और दूसरे पदार्थ खाते हुए, दिन-भर पान और चाट उड़ाते हुए, मिठाइयाँ खाते तथा रात को दूध पीते हुए भी केवल यह बात कहने के लिये कि "हमारा हाज़मा ठीक नहीं; भूख लगती ही नहीं", वे कह डालते हैं कि "दो रोटियाँ भी मुश्किल से खाते हैं।"

परंतु हमारे लिखने का तात्पर्य यह नहीं कि हाज़मा ख़राब होता ही नहीं, बदहज़मी होती ही नहीं। हमारा कहना यही है कि बदहज़मी होने अथवा न होने का पूरी तौर से निश्चय कर लेने पर फिर कोई औषध व्यवहार में लानी चाहिए।

अब हमको इस पर विचार करना है कि वास्तव में होता क्या है। शुरू से ही हमारे बच्चे मा-बाप की बदएहतियाती और ठीक तौर से देख-रेख न होने के कारण चटोरे बन जाते हैं। मैदे की कचौड़ी, मठरी और जलेबी आदि सब चीज़ें मेदे में पहुँचकर चिकना रूप रखकर अँतड़ियों में उतरती हैं, और तरह-तरह के गरम मसालों की वजह से गरमी तथा ख़ुश्की पाकर अँतड़ियों ही में थोड़ा-बहुत निकलकर रुक जाती है। इसी को क़ब्ज़ कहते हैं।

यह रुका हुआ मल एक प्रकार की दुर्गंध पैदा करता है, उसमें से गरम अबख़रात उठते हैं। ये अबख़रात जिगर, दिल और दिमाग़ पर बुरा असर करते हैं, जिससे हाज़मा, ख़ून और सब धातुएँ बिगड़ती जाती हैं। अब ज्यों-ज्यों पौष्टिक पदार्थ—मिठाई या गरम पदार्थ चाट चटनी-चूरन वग़ैरह—पेट में पहुँचते हैं, त्यों-त्यों इस बिगाड़ को मदद देते चले जाते हैं। जब मेदा और जिगर बिगड़ जाता है, तो ख़ून भी ठीक तरह नहीं बनता, और बेचारे मनुष्य नौजवानी में ही पीले पड़ जाते हैं। उधर गरमी के कारण वीर्य पतला हो जाता है, जिससे लोगों को ऐसे-ऐसे ख़ौफ़नाक काम करते देखा गया है कि सुनकर बड़ा दुःख होता है। धातुक्षीणता, वीर्य-स्राव, नपुंसकता इत्यादि तरह-तरह के रोगों से ग्रस्त मनुष्य नीमहकीमों के पंजे पड़कर अपनी और अपनी पत्नी का भी ज़िंदगी बर्बाद कर डालते हैं। सुंदर जीवन जान का जंजाल हो जाता है। साथ ही मानसिक शक्तियों की भी बर्बादी शुरू हो जाती है। विचार चंचल हो जाते हैं, जिनकी वजह से मनुष्य में तरह-तरह की कुटेवें पड़ जाती हैं। नतीजा यह होता है कि वे अपनी इच्छाओं को पूर्ण नहीं कर सकते—दावे से पहले ही डिग्री हासिल कर लेते हैं। यही वजह है कि दुनिया में ख़ुदापरस्ती की जगह शहवतपरस्ती का प्रचार हो रहा है। क्या स्त्री और क्या पुरुष, अपने नापाक विचारों की लहरों में बहते हुए, अपने मुँह पर कालिख लगाते हुए संसार-रूपी समुद्र में अपने लोक-परलोक को बिगाड़ते और डूबे जा रहे हैं।

अब मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि हम क़ब्ज़ को किस तरह रोक सकते हैं, अथवा होने पर किस प्रकार दूर कर सकते हैं।

इसके लिये हमको इन बातों की आवश्यकता है—(१) मल को ढीला करना, (२) आँतों को ताक़त पहुँचाना, (३) आँतों को हरकत देना, (४) भोजन-विचार। ये सब इस प्रकार होंगे—

सुबह, सूर्योदय से पहले, उठकर ५ मिनट टहलो। फिर धीरे-धीरे क़रीब आध सेर-तीन पाव पानी पी जाओ। फिर ५ मिनट घूमकर शौच जाना चाहिए। ख़ुराक मुलायम और समय पर खानी चाहिए। इसी प्रकार रात को सोते समय थोड़ा पानी पीकर सोना चाहिए। बस, क़ब्ज़ कभी न होगा। क़ब्ज़ हो जाने पर यह चूर्ण २½ माशे से ८ माशे तक गरम जल के साथ सोते समय फाँक लेने से वह पेट को साफ़ कर देगा। इससे एक-दो दस्त होंगे, और कमज़ोरी भी न होगी। इसका नुस्ख़ा यह है—

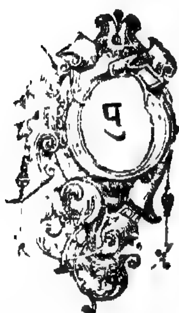
(१) कालादाना (घी में भूनकर) ३ तोले
(२) सनाय ... ... ३ तोले
(३) काला नमक ... ... ६ माशे

सबको बारीक कूट-छानकर शीशी में भरकर रख दो, वक़्त पर काम लो। परमात्मा आपकी तंदुरुस्ती ठीक रक्खेगा।

सियावरशरण शर्मा उपाध्याय



१. स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता



पुरुषों के लिये तो हम लोग एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि पर-मुखापेक्षित होना उनके मनुष्यत्व में बट्टा लगाता है, तथा स्वावलंबी होकर वे अपने चरित्र के उत्कर्ष में अधिकतर उन्नति कर सकते हैं; किंतु स्त्रियों के बारे में यही बात स्वीकार करने में सभी आगा-पीछा करने लगते हैं, और कर रहे हैं। यह ध्रुव सत्य है कि स्वावलंबन स्त्रियों के लिये भी शुभ फलदायक है। बचपन से लेकर वृद्धावस्था एवं मृत्युपर्यंत स्त्रियों को परमुखापेक्षी रहना पड़ता है, यह अच्छा नहीं। यह भी सत्य है कि आदर्श पिता, पति, भाई और पुत्र अपने मन में कभी यह ख़याल नहीं लाते कि अपनी कन्या, पत्नी, बहन और माता का भरण-पोषण कर वे उनके प्रति कोई एहसान करते या दया दिखलाते हैं, बल्कि ऐसा करना वे अपना प्रधान कर्तव्य समझते हैं। किंतु यह भी मानना पड़ेगा कि सभी पिता, पति, भाई और पुत्र आदर्श नहीं होते, और न सभी स्त्रियों के सब समय निकट-संबंधी ही रह सकते हैं। स्त्रियाँ जब स्वावलंबिनी होंगी, तभी वे पिता के स्नेह, पति के प्रेम, भाई की प्रीति तथा पुत्र की भक्ति से सम्मानित होंगी। अस्तु, स्त्रियों को स्वावलंबिनी बनने के लिये उनको उपयुक्त उपार्जन का क्षेत्र मिलना उचित है। परिवार के साथ रहते हुए उपार्जन करना स्त्री और पुरुष, दोनो के हक़ में और भी श्रेयस्कर है।

× × ×

२. तीर-धनुष चलाना

युद्ध असभ्यता का चिह्न है। बल्कि यदि इसे विनाश का चिह्न कहें, तो भी अनुचित न होगा। पुरुषों के और-और अन्य अनेक कार्य-क्षेत्रों में स्त्रियों का प्रवेश आवश्यक है या नहीं, इसकी समालोचना की जा सकती है; किंतु युद्ध करना महिलाओं का काम नहीं, इसमें संदेह की गुंजायश नहीं। जब पुरुष भी युद्ध से हाथ खींच लेंगे, तब समझा जायगा कि सभ्यता की क़दर संसार करने लगा है। पर नहीं, बात बिलकुल विपरीत देखी जाती है।

शताब्दियों पहले सभ्य जातियाँ भी युद्ध में तीर-धनुष का व्यवहार करती थीं। इस समय कोई सभ्य जाति युद्ध के लिये कौन कहे, शिकार में भी तीर-धनुष का व्यवहार नहीं करती। किंतु व्यायाम, लक्ष्यभेद-शिक्षा तथा और-और अनेक प्रकार के खेलों के लिये अनेक पाश्चात्य देशों और जापान में भी तीर-धनुष का व्यवहार देखने में आता है। किसी-किसी देश में स्त्रियाँ भी उपर्युक्त उद्देश्यों के लिये तीर-धनुष का व्यव-

हार करती हैं। आवश्यकतानुसार मन की चंचलता को दूर कर एकाग्रता प्राप्त करने से यह खेल आसानी से खेला जाता है।



श्रीमती सिम्न ब्रान तीर चला रही है

हम लोग अनेक कामों को बिना सोचेविचारे केवल पुरुषोचित बता दिया करते हैं, जैसे अश्वारोहण। दूसरे देशों की बात छोड़कर भारतवर्ष को ही लीजिए। महाराष्ट्र में बड़े-बड़े ऊँचे घराने की महिलाएँ अश्वारोहण में निपुण थीं। इसका उदाहरण फ़ानी पार्क्स की 'भारत-भ्रमण'-पुस्तक में पाया जाता है। आधुनिक समय में भी महाराष्ट्र और अनेक दूसरे-दूसरे प्रांतों में स्त्रियाँ घोड़े पर चढ़ती हैं। यहाँ जो चित्र दिया जाता है, वह एक फ़्रांसीसी महिला का है। हफ़्ते-भर टाइपिस्ट का काम करके यह तीर चलाने का आनंद लिया करती हैं।

गोपीनाथ वर्मा

× × ×

३. शस्त्र-शिक्षा

पश्चिम के देश शिक्षा-क्षेत्र में जितने बढ़े हुए थे, अब उससे भी आगे क़दम बढ़ा रहे हैं। एक ओर निरस्त्रीकरण-कानफ़्रेंस का ढिंढोरा पीटा जा रहा है, शांति-स्थापन करने के लिये कानफ़्रेंस बैठ रही है, और दूसरी ओर अमेरिका-जैसे देश स्त्रियों को भी बंदूक़ चलाने की शिक्षा दे रहे हैं। अवश्य ही यह विरोधाभास विचारणीय है। यद्यपि संसार की आज की परिस्थिति देखने से ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य को अपनी रक्षा के सभी आयोजनों से सुसज्जित होना चाहिए, तथापि यदि पाश्चात्य जगत् की शस्त्र-शिक्षा का यही उद्देश्य हो, तो वह श्लाघ्य है। भारत-सरीखे पराधीन देश में तो बालकों को भी विश्वविद्यालयों में शस्त्र-शिक्षा नहीं दी जाती!

जब हम प्राचीनकालीन भारत पर दृष्टिपात करते हैं, तो जान पड़ता है कि यहाँ भी वीरांगनाएँ शस्त्र-क्रिया में कुशल थीं। वे केवल 'जौहर' ही करना नहीं जानती थीं, प्रत्युत सुसज्जित होकर रण-क्षेत्र में शत्रु के दाँत भी खट्टे करती थीं। भारतवर्ष की वीर नारियों के चरित्र इस बात के जीते-जागते प्रमाण हैं। शायद उसी का अनुकरण अब अमेरिका में किया जा रहा है। किंतु यह एकांगीन है, संपूर्ण नहीं।

जो हो, पर है यह अत्यंत आवश्यक बात कि समाज के प्रत्येक सदस्य को अपनी रक्षा के आयोजन प्राप्त हों—समय आने पर वह अपनी रक्षा आप कर सके। नागरिक जीवन का यह एक मुख्य उद्देश्य है, और इस उद्देश्य से यदि



स्त्रियों की ड्रिल

अमेरिका में स्त्रियों को शस्त्र-शिक्षा दी जाती है, तो वह भारतवर्ष में भी क्यों नहीं दी जा सकती? पर यहाँ और वहाँ की सभ्यता में अंतर है। भारतवर्ष में स्त्रियों का अस्तित्व गार्हस्थ्य-जीवन का केंद्र है, पर अन्य देशों में वह वैयक्तिक है। इसलिये यदि अनिवार्य आवश्यकता-वश स्त्रियों को भारतवर्ष में शस्त्र-ग्रहण करना पड़ा हो, तो अमेरिका में उसे रक्षा का आयोजन समझकर स्त्रियों को शस्त्र-शिक्षा दी जा रही है, और यह सिद्ध करने की चेष्टा की जा रही है कि स्त्रियाँ हर बात में पुरुषों के समान हैं। सभ्यता के वर्तमान युग का यह भी एक उदाहरण है।

जनकदुलारी पांडेय

× × ×

४. मिसर का महिला-समुदाय

वर्तमान काल में बहुधा देखा जाता है कि अखिल विश्व के उन्नति-पथ पर पिछड़े हुए समस्त प्रदेशों में पुरुषों के साथ-ही-साथ स्त्रियाँ भी अग्रसर होने का प्रयत्न कर रही हैं। मुसलमानों का मिसरनिवासी स्त्री-समुदाय संसार-भर के मुसलमानी-स्त्री-समुदाय से अत्यधिक आगे बढ़ा हुआ है। सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के लिये स्त्रियाँ अपनी माँगों को औरों की अपेक्षा अधिक उत्साह से आगे रख रही हैं। थोड़े ही दिनों की बात है, उन महिलाओं ने एक प्रतिनिधि-सभा श्रीमती मिले हुदा शारावी (Mile Huda Sharavi) की अध्यक्षता में इस आशय से की थी कि देश के कार्य-कर्ताओं को वे देश-प्रेम और सच्चे जोश से खूब भर दें, जिससे वे देश में दस्तकारी आदि का प्रचार बढ़ावें, सर्व-साधारण के हित के कार्यों में तन-मन-धन से संलग्न हो जायँ, तथा राजनीतिक विभाग में उचित परिशोधन करें।

श्रीमती मिले हुदा शारावी ने, जो अभी एक अल्प-वयस्क युवती ही हैं, अपने देश की स्त्रियों की उन्नति के लिये उल्लेखनीय कार्य किया है, एवं इसी से इस समय वह एक विश्वासपात्र नेत्री की निगाह से देखी जाती हैं। हाल ही में आपने मिसर की पार्लियामेंट में "दि वीमेंस सेंट्रल कमेटी" और "दि लेडीज़ एसोसिएशन ऑफ़ यूनिटी" के प्रतिनिधि की हैसियत से अपनी माँगों का एक विवरण-पत्र पेश किया है। उक्त पत्र में आपने मिसर की महिलाओं के उन अधिकारों की ओर—जो अन्यान्य देशों में स्त्रियों को प्राप्त हैं, और जिसमें पार्लियामेंट में स्थान प्राप्त करना और न्याय-विभाग में भाग लेना भी सम्मिश्रित है—पूर्ण रूप से पार्लियामेंट का ध्यान आकर्षित किया है। क्रमशः उसमें स्त्रियों की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नतिवर्द्धक ऐसी प्रायः २० माँगें हैं। माँगों में धार्मिक और आत्मिक शिक्षा का संशोधन, भावी योग्य छात्रों को विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त जाने में सहायता प्रदान कर उत्साहित करना, देशी व्यापार के लिये विशेष सुविधा देना, विवाह-संबंधी नियम आदि का संगठन, अस्पतालों की सुव्यवस्था, मादक-द्रव्य-विक्रय-संबंधी नियमों का संशोधन, व्यभिचार बंद करना, स्त्री-शिक्षा के लिये एक दूसरा ही विभाग एक-मात्र स्त्रियों ही की देख-रेख में खोलना एवं कारागार और अभियोग-संबंधी कई राजनीतिक और सामाजिक लाभ-प्रद बातें भी सम्मिलित हैं।

अस्तु, ऊपर लिखे माँग-संबंधी विवरण को पढ़कर यह पता चलता है कि वहाँ का महिला-समुदाय कहाँ तक उन्नति-पथ पर बढ़ चुका है। किसी सभ्य देश

में भी आज तक न किसी ने इस प्रकार की एक भी माँग पेश की है, और न वहाँ ऐसा कोई आयोजन ही हुआ है। आशा है, हमारी भारतीय महिलाएँ भी इस समस्या पर विचार करेंगी।

नंदकिशोर अग्रवाल 'चौधरी'

× × ×

५. वैधव्य और समाज

भारतीय समाज में वैधव्य से बढ़कर स्त्रियों के लिये दूसरी कोई दैवी आपत्ति नहीं है। एक बार इस फेर में पड़ने के बाद उससे मुक्त होने का उनके पास दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। पति का वियोग होने के साथ-साथ उनके लिये यह संसार नरक-तुल्य हो जाता है। विधवाओं के लिये सब सांसारिक आनंद लुप्त-से हो जाते हैं। सूर्य और चंद्र का प्रकाश रहने पर भी उनके लिये सब दिशाएँ शून्य एवं अंधकारमय हो जाती हैं, जीवन भार-रूप हो जाता है, संसार में सबसे संबंध टूट-सा जाता है। प्रातःकाल की समीर, मध्याह्न का प्रकाश और सायंकाल का कलरव, सब क्रमानुसार आते और चले जाते हैं। शरद् की अमृतमयी चाँदनी, वसंत की त्रिविध समीर और वर्षा की सुहावनी रात्रियाँ आती हैं, और उनके आँसुओं के साथ बह जाती हैं। कितने दुःख की बात है कि हिंदू-समाज इन विधवाओं की स्थिति पर ज़रा भी ध्यान नहीं दे रहा है। समाज ने एक प्रकार से इनका बहिष्कार कर दिया है। समाज के मांगलिक अवसरों पर तो इनके लिये स्थान ही नहीं है। समाज की यह निंदनीय उपेक्षा इन विधवाओं के वेदना-पूर्ण जीवन को और भी दर्दनाक बना रही है। क्या विधवाएँ समाज में नहीं हैं? यदि वे समाज का अंग हैं, तो समाज का क्या यह कर्तव्य नहीं कि उनके दर्द में शरीक होकर वेदनाओं को कुछ कम करने का प्रयत्न करे? समाज के लोग भले ही इनकी ओर ध्यान न दें; पर यदि सत्य कोई चीज़ और न्याय कोई सिद्धांत है, तो समाज के नियंता, नेता, संचालक तथा सभ्य, सबको इस अनुचित उपेक्षा और कठोर अवहेलना के लिये उत्तरदायी होना पड़ेगा।

जो समाज अज्ञान, अंधकार, अहंकार अथवा प्रमाद के वश होकर आदरणीय वस्तुओं का भी निरादर करता है, उसका अधःपतन शीघ्र होता है। यह सनातन नियम है—सृष्टि के प्रारंभिक काल से आज तक बराबर यही नियम चला आ रहा है। हिंदू-समाज ने जब से अपना ध्यान इस नियम की ओर से हटा लिया, तभी से उसका अधःपतन भी शुरू हो गया है। मनु-वंश की चार जातियों की चौरासी हुईं, और अब चौरासी की भी छोटी-छोटी टुकड़ियाँ हो गईं। वे पारस्परिक सहायता और सेवा-धर्म को भूलकर सांप्रदायिक झगड़े में फँस गई हैं। संप्रदाय के नेता भी ऐसे-ऐसे निकले कि उन्होंने ऐक्य की महत्ता को एकदम तिलांजलि दे दी। राष्ट्र, समाज और जातियों की विच्छिन्नता उनको सूझ ही न पड़ी। वेद-शास्त्र को छोड़ उनके आदर्श ग्रंथ ही विभिन्न हो गए।

सृष्टि के नियंता ने स्त्री और पुरुष से सृष्टि-क्रम शुरू किया था। इस प्रकार सृष्टि-क्रम शुरू करने का मुख्य हेतु यही था कि वे एक दूसरे को सांसारिक जीवन में सहायता दें। उन्होंने दोनो में भिन्न-भिन्न गुणों का संचार किया कि वे दोनों संयुक्त होकर आदर्श जीवन व्यतीत करें। ईश्वर की इस आज्ञा का ऋषि-मुनियों ने पूरी तरह पालन किया। उन्होंने स्त्री-समाज के प्रति पूज्य भाव रक्खा, स्त्रियों की योग्यता बढ़ाई। पर समय के फेर से इस उच्च आदर्श का ह्रास भी शुरू हो गया। समाज में धीरे-धीरे प्रमाद और अज्ञान ने जड़ जमाई। उसी के आवेश में आकर समाज ने स्त्रियों का निरादर करना शुरू कर दिया। जो उनसे उच्च और ऊँची योग्यतावाले थे, उन्हें पैरों-तले कुचला—गृह-लक्ष्मी को साधारण दासियों का अधिकार दिया। जहाँ राजनीति-जैसे गहन विषयों में उनकी राय ली जाती थी, वहाँ साधारण-से-साधारण बातों से भी उन्हें वंचित रक्खा जाने लगा।

इस प्रकार शनैः-शनैः इस देश की स्त्रियों के उच्च आदर्श और उज्ज्वल गौरव का ही लोप होने लगा। जिस विमल कांति से वे सदा सौंदर्यमयी रहती थीं, जो प्रभा उन्हें प्रभावशाली बना रही थी, वह सब पुरुषों के इस प्रकार के निरादर से लोप हो गई। उनका सच्चा सतीत्व, सच्ची सामर्थ्य नष्ट हो गई। वे पुरुषों की केवल विलास-सामग्री रह गईं। पुरुषों ने उन्हें परदों के भीतर क़ैदी बना दिया। उन्हें विद्या से विमुख किया, उनका क्रय-विक्रय किया, यहाँ तक कि उन्हें अकाल-मृत्यु का ग्रास बनाया, विधवा होने के साथ-साथ फिर उनकी अवहेलना की—मादान

विधवाओं के साथ गुप्त व्यभिचार किया, उससे हज़ारों भ्रूण-हत्या और बाल-हत्याएँ कराईं। हज़ारों छोटे-छोटे तुरंत के जन्मे बालक नालों और पनालों में ठूँस दिए गए। हज़ारों के हक़, धन, धरती छिन गई, हज़ारों से भीख मँगवाई। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ गई कि बंगाल-जैसे सुसभ्य माने जानेवाले प्रांत में लोगों ने केवल अपनी श्वान-वृत्ति की प्राप्ति के लिये चार लाख वेश्याएँ तैयार कर दीं। स्त्रियों के सतीत्व की क्या यह कम क्षति है? ऐसे संयोगों में यदि लकड़े-पीछे दो-चार सुखी भी हों, तो विद्यार्जन करें या स्वतंत्र हों, तो यह सागर में एक बूँद के समान है।

स्त्रियों में तो विधवाओं की दुःखी दशा पर कुछ तरस अवश्य है; पर समाज में वे एकदम अमंगल की मूर्ति ही देखी जाती हैं, उनके अपमान और अनादर की सीमा नहीं है। लौकिक सुखों को तिलांजलि देने में जितनी कठिनता उन्हें न होती होगी, उससे कहीं अधिक उन्हें अपने निरादर और अपमान से होती है। प्रातःकाल कोई उठने के साथ ही विधवा का मुँह देख ले, तो वह तुरंत अपने मन में अमंगल की कल्पना से सशंक हो जाता है। विवाह, नववधू-गृह-प्रवेश आदि शुभ अवसरों पर तो ऐसी विधवाओं को एक कोने में अलग बैठाया जाता है। परदेश जाते समय यदि ऐसी कोई आगे मिल जाती है, तो तुरंत अपना अशुभ विचार लिया जाता है। ऐसे भयंकर अपमान क्या विधवाओं के लिये हृदयविदारक नहीं हैं।

ऐसी नज़रों से, ऐसे अपमान और निरादर से, विधवाओं का हृदय भयंकर चीत्कार करने लगता है। उनकी अंतरात्मा प्राकृतिक नियमानुसार आहें भरती है। ऐसी लाखों आहें नित्य समाज को लग रही हैं, और उसके फल अपराधियों के साथ-साथ निरपराधियों को भी भुगतने पड़ रहे हैं। यदि वैधव्य को परिचालित ही रखना है, तो समाज को उसे तप का रूप देना चाहिए। वैधव्य दुःख की अवस्था है, उसमें वेदना होती है। तप स्वेच्छा से होता है। इससे उसमें कुछ संतोष का अनुभव होता है। इस कारण वैधव्य-दुःख को यदि साधना में परिणत कर दिया जाय, तो विधवाओं का जीवन कुछ सुखी हो सकता है। वे वैधव्य को संन्यास के रूप में समझ सकें, ऐसा उपाय करना चाहिए। पर समाज को विधवाओं के जीवन को संन्यास या तप का रूप समझने के पूर्व चारों तरफ़ की वायु को शुद्ध करना चाहिए। उस अवस्था में उन्हें ऐसी स्थिति में रखना होगा कि उनके विदग्ध हृदय में किसी प्रकार के विचार भयंकर विकार उत्पन्न न कर सकें। उनके प्रति घर के छोटे-बड़े सभी को सम्मान-पूर्वक बर्ताव करना चाहिए। घर की सौभाग्यवती स्त्रियाँ और नववधुएँ उन्हें पूज्य भाव से देखें। वैधव्य को धिक्कार, अपमान और द्वेष की नज़र से देखना बंद हो जाय। समाज के सभी लोग वैधव्य से नारीत्व का नाश होना न समझें। घर के सारे काम-काज की बागडोर इन्हीं विधवाओं के हाथ में सौंप दें, और घर के सब काम में उनकी भी राय ली जाय। वैधव्य को ऐसा माना जाय कि ईश्वर की ओर से मिला हुआ ऐसा अवसर है कि जिसे पाकर नारी निष्काम कर्मयोग के साथ समाज, देश, जाति और राष्ट्र की सेवा कर सकती है। जब इस प्रकार का बर्ताव होगा, तभी विधवाओं के जीवन को कुछ शांति मिल सकती है।

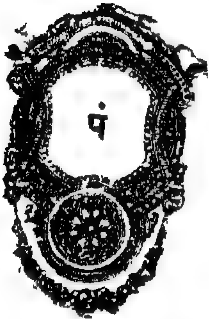
यदि किसी को उपर्युक्त कथन से विरोध हो, तो वे बाल और युवा विधवाओं का पुनर्विवाह भी कर सकते हैं। पर ऐसा करने के पूर्व उन बेचारी विधवाओं के आचरण पर विचार कर लेना चाहिए, उनकी सम्मति भी ले लेनी चाहिए। विधवा यदि कुछ दैहिक कष्ट स्वीकार करके चिरवैधव्य का पालन करके अधिकतर अपनी आत्मा की उन्नति और पराया हित करने में समर्थ हो, तो उसका वह कष्ट कष्ट न होगा; और जो उन्हें ऐसा करने से रोकते हैं, वे उनके शत्रु हैं।

उमाशंकर मेहता

कवि-चर्चा



पं० अयोध्याप्रसाद वाजपेयी 'औध'



पंडित अयोध्याप्रसादजी वाजपेयी 'औध' के ग्रंथों और अन्य ग्रंथों में संग्रह किए गए उनके छंदों के विषय में पत्रिकाओं में लिखा जा चुका है। यहाँ मैं उक्त कविवर औधजी के जीवन-संबंधी कुछ प्रसंगों का वर्णन करूँगा, और साथ ही कुछ छंद, जो मेरी नोट-बुक में हैं, दूँगा। मैंने ये छंद वाजपेयीजी के वंशजों से तथा और दूसरे लोगों की ज़बानी सुनकर लिखे हैं। इनके लिखने में मुझे बहुत कुछ सहायता अपने पितामह स्वर्गीय डॉक्टर शीतलादीनजी मिश्र 'द्विजचंद्र' और अपने नाना पं० गंगासहायजी तिवारी रिटायर्ड पुलीस-सब-इंस्पेक्टर से मिली है। उक्त वाजपेयीजी इन उपर्युक्त सज्जनों के यहाँ प्रायः जाया करते थे, और कभी-कभी अर्से तक ठहरते भी थे। औधजी के सगे पौत्र पं० शिवनारायण-जी वाजपेयी स्थान पंडितपुरवा मज़रे मासाडीह, डाकघर महसी, ज़िला बहराइच में अभी तक रहते हैं, और ठेकेदारी तथा एक बड़ी सीर से गुज़र-बसर करते हैं। आशा है, इनके पास औधजी की और बहुत-सी रचनाएँ मिलेंगी।

औधजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण लखनऊ के रहनेवाले वाजपेयी थे। इसी कारण प्रायः लक्ष्मणजी की स्तुति किया करते थे। अपने 'औध-सिकार' में भी श्रीलखन-लालजी की विशेष-रूप से उन्होंने वंदना की है। वह कभी-कभी कहा करते थे—

> लखनऊ का वाजपेयी हूँ ;
> कदीमी कदम-सेई हूँ।
> भरत से भी तवक्का है ;
> वली उस्ताद पक्का है।

जिस किसी कारण से भी हो, वह दशरथजी के चारों पुत्रों में लक्ष्मण और भरत को विशेषता देते हुए कभी-कभी सुने गए हैं।

औधजी की कविता में विशेष बात उल्लेखनीय यह है कि वह उत्तम अनुप्रास एवं शब्दालंकार का बहुत ध्यान रखते थे ; और विशेषकर जब से पद्माकरजी से उनकी मुलाक़ात* हुई, तब से मानो पद्माकरजी की

---

* औधजी एक बार अपनी ससुराल कन्नौज गए थे। उस समय उन्हें पता लगा कि सुप्रसिद्ध कविवर पद्माकरजी इस समय कुष्ठ-रोग-ग्रस्त होकर गंगा-सेवन के लिये सोरों में वास कर रहे हैं। वाजपेयीजी उनके दर्शनार्थ सोरों गए, और उन्हें स्व-रचित 'औध-सिकार' के सुंदर त्रिभंगी छंद सुनाए। उस समय पद्माकरजी अपनी 'गंगालहरी' बना रहे थे, और अपने 'दगादार पातक अपार' को 'गंग की कछार' में पछारकर 'छार' कर रहे थे। औधजी की रचना सुनकर पद्माकरजी इतने प्रसन्न हुए कि उनके मस्तक में अपना मस्तक रगड़कर उन्हें यह आशीर्वाद दिया, "तुम सुकवि होगे।"—लेखक

शैली की छाप ही उनकी छंद-रचना-शैली पर पड़ गई। औधजी की अनुप्रास-प्रियता का नमूना नीचे लिखे उनके एक स्फुट छंद से मिल जायगा। पद-पद पर अनुप्रास की छटा भरी पड़ी है—

खाती, हरखाती, रसमाती, मदमाती हिय,
कातीं-सी लगाती टेर बिरही बिघाती की ;
जाती लै किराती, मत आती, न दयाती,
न चुपाती, ताल गाती, न पिराती उतपाती की।
पाती केहु भाँती जौ बिसाती सो पोसाती 'औध'
राती सियराती, जो बिथा थी ताती छाती की ;
न्हाती छत जाती औ नोचाती रोमपाँती काढ़ि,
बाती लै जलाती जौमि कैलिया कुजाती की।

कोयल की कुहू-कुहू से चिढ़ी हुई एक विरहिणी का कोपोद्गार कितनी सरस भाषा में प्रकट किया गया है, यह देखते ही बनता है।

औधजी के अनुप्रास-बाहुल्य का एक और नमूना लीजिए। इसमें राधिका के लोल विलोचनों की प्रशंसा हो रही है—

कारन कला के, करुना के धाम, धाके भए,
पूरन प्रभा के औ दया के औ मया के हैं ;
हांके हरना के, अबला के, मेनका के, रूप-
रूप सुषमा के औ उमा के चारुता के हैं।
झाँके सों झमाके, 'औध' जाकी ओर ताके,
× × × पड़े छाके सो लड़ाके हैं ;
छाके-सी छमा के जछुदा के छोहरा के चारु,
चंचल चलाके, नैन बाँके राधिका के हैं।

अवध के रजवाड़ों और तअल्लुक़दारों में औधजी की ख़ूब इज़्ज़त थी। कई जगहों से इन्हें सालाने मिलते थे। सच पूछिए, तो औधजी का स्वभाव ही ऐसा हृदयग्राही था कि स्वभावतः सभी लोग उनकी बातों से आकर्षित होते थे। जब कभी दिल रंगत पर होता, तो बात-बात में पुरमज़ाक़ कविताएँ सुनाने लगते थे, और वह भी ऐसे ढंग से कि सुननेवालों में से शायद ही कोई हो, जिसके मुँह से वाह-वाह की निर्झरिणी न झरने लगे। परंतु कभी-कभी यथोचित आदर न पाने अथवा सम्मान में कोई त्रुटि रह जाने पर वह चिढ़ भी जाया करते थे, और ज़रा भी रू-रियायत न करके फबतियाँ छोड़ ही देते थे।

एक बार वह बलरामपुर-राज्य (ज़िला गोंडा) गए। वहाँ के तत्कालीन राजा दिग्विजयसिंह-सरीखे गुणग्राहक के यहाँ भी, जहाँ गोकुलप्रसादजी 'ब्रज'-जैसे सुकवि रहते थे, किसी प्रकार औधजी की ख़ातिरदारी में कोई कसर रह गई। फिर क्या था, दूसरे ही दिन ऊख को लक्ष्य करके एक अन्योक्ति बनाकर झाड़ ही तो दिया। सुनिए—

पात लगे छत गात लखात, न फूले-फले मुख फीक कठोरे ;
वश-स्वभाव सगाँठि, सखा रेंड़का जिय जानि गुमान भरो रे
है रस एक सो आपसों देत न ऊख सहे बिनु जंत्र-दरोरे ;
'औध' कही सो सही उपमान कि नाम बड़ो पै दिखात हैं थोरे।

इसी प्रकार औधजी के अन्य कई छंदों के अंतिम चरणों में लोकोक्तियाँ आ गई हैं। एक बार और किसी दूसरे राजा के यहाँ इनको यथोचित आदर न दिया गया। औधजी ने आख़िर आम को लक्ष्य करके एक छंद बना ही दिया। देखिए तो सही, कैसा मज़ेदार है—

छाँह सुहावनी बारह मास, सु-मर्कत-जीत पुनीत पतौआ ;
सोन-सुगंध-सो बौर बसंत को, मौरन के मिस 'औध' बोलौआ।
स्वाद सुरंग अनेक भरे फल एक ही सेक ते होत हँसौआ ;
बैठन देत बराबर आम जू नेक विवेक न कोयल-कौआ।

उपर्युक्त छंद पूर्णोपमालंकार का एक सुंदर उदाहरण है; व्यंग्य ज़रा हल्का और शील-युक्त है। मालूम होता है, इस बार औधजी को सामान्य श्रेणी के लोगों के साथ उन्हीं के सरीखा आदर दिया गया था। ऐसी ही झलक इस अन्योक्ति में मिलती है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि वाजपेयीजी लोकोक्तियों को अपने छंदों के अंत में लाने की भी कोशिश कभी-कभी किया करते थे। दो-एक नमूने और लीजिए—

गोकुलचद सों 'औध' कह्यो कहा खायकै कद हो खारी को चीखत ;
आप वकील बने परमान के कूबरी की परवानगी लीखत।
बावरे-से बको जोग तियान पै रावरे ऊधो स्वभाव को भाखत ;
दीन्ह्यो है काहू को और कहूँ, किधौं 'कोरी की दाढ़ी पे नावई सीखत।'

यह फटकार ऊधो को ब्रजांगनाओं द्वारा बताई गई है, और देखिए तो सही, अंतिम चरण में वर्णित लोकोक्ति कितनी फबती हुई है। इसी संबंध में और सुनिए—

चदन चीन्हिकै त्यागि हमैं दियो आदर कूबरी कूर को काठक ;
ऐसी अनीति सही न परे या बियोग में जोग कह्यो अँग आठक।

चाहिए ऐसी न 'औध' उन्हें हम हूँ सुनि आपन औसर गाठक ;
नदलवै तो भलै मसलै कियो —'डोम को डोली, औ पैदर पाठक।'

जब यह कहावत बनी थी, तब शायद आजकल के साम्यवाद और अछूतोद्धार का कोई स्वप्न भी न देखता होगा। जो हो, फिर भी यह उक्ति ठीक स्थान पर ही जड़ी गई है। पर क्या? कृष्णजी तो पतितोद्धारक थे ही।

एक ऐसी ही कविता और लीजिए—

हमैं तो कहैं आकि आखल तीब भला अपना केहि नात महोंद ;
बजाज की गाँठ भिली कहै मोर कपार की चोट को सेंकत पोंद।
असगति ऐसी अहीरन की, घर आपन पौ अपने कर खोद ;
सुनी उपखान सो'औध'प्रधान कि 'काका की भैंसी,भतीजे की लोंदा'

यदि आप ऊब न गए हों, तो इसी प्रकार का एक छंद औधजी का बनाया हुआ और सुनिए—

क्रूर अक्रूर के साथ गए, मथुरा के नहीं अब फूले समाते ;
पाछिली 'औध' सबै बिसराए, जियाए हमारे ही दूध औ माते।
आप प्रमानिक, कूबरी कानिक, पाय बने, हमै जोग सिखाते ;
मौन गहौ जनि ऊधो, कहौ अब, 'नाना के आगे नेनौरे की बातें।'

इसी प्रकार के अनेक छंद औधजी के रायबरेली, बहराइच, गोंडा, लखनऊ आदि ज़िलों के देहातों में प्रचलित हैं—

औधजी अन्य भाषाओं में छंद-रचना करते थे। फ़ारसी की एक कुंडलिया-सरीखा छंद सुनिए।

चंद बार गुफ्तम तुरा, दिलाविशो हुशियार ;
ग़ाददार क़ालू बला, अनाश्रत बुगुज़ार।
अनाश्रत बुगुज़ार, तुरा ताशिर्क न आयद ;
शाकिर, क़ादिर बाश, दरे जिन्नत कुशायद।
अज़ वाहिद मशगूल शो, दीगर ख्याल मुबद ;
तर्स क़यामत रोज़ कुन्, दुनिया रोज़े चंद।

पंजाबी भाषा में, शिवजी का रूप-वर्णन पढ़िए—

कानों बिच कुंडला, गलाँ मुंडों दे माले ;
खेहाँ देहाँ खूब, आतिशाँ अक्खू नाले।
अक्खू-बक्खू माह तड़ादी लक्खू चक्खे ;
उड्ढे-कुड्ढे तुक फलादी लक्खूँ दक्खे।

इससे ज्ञात होता है कि औधजी संस्कृत, फ़ारसी, पंजाबी, पुरबी आदि भाषाओं के भी ज्ञाता थे। इनका बनाया एक सवैया-छंद, संस्कृत में, मैंने अपने लड़कपन में औधजी के पौत्र स्वर्गीय पं० रामशंकर वाजपेयी के मुँह से सुना था ; पर वह इस समय मुझे याद नहीं है। यदि और छंदों के साथ कभी मिल गया, तो फिर हाज़िर करूँगा।

कदाचित् औधजी का भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी से परिचय हो गया था। उन्होंने बाबू साहब की मृत्यु पर एक कविता लिखी थी। उसका अंतिम चरण इस तरह है—

बाँधि जवाहिर की गठरी, हरिचंद जू हाय हेराय गयो।

एक बार औधजी बहराइच गए। वहाँ मुहर्रम के अवसर पर हिंदू-मुसलमानों में झगड़ा था। वहाँ के प्रसिद्ध लाला शालग्रामजी, जो वहाँ रामलीला करवाते थे, औधजी के परिचित मित्रों में से थे। उनके आग्रह से औधजी ने एक छंद बहुत अच्छा लिखा था। वह मेरे पास किंचित् अपूर्ण अवस्था में है ; पर उसका यहाँ देना किसी कारण-वश मैं ठीक नहीं समझता। सिपाही-विद्रोह के पूर्व बौंडी के राजा सवाई हरदत्तसिंह के पास औधजी अक्सर आया करते थे। इन्होंने उन्हें कुछ छंद-ग्रंथ भी पढ़ाए थे।

औधजी के जन्म और देहावसान-काल तथा जन्म-स्थान के विषय में लिखना व्यर्थ है ; क्योंकि यह एकआध बार पहले लिखा जा चुका है।

मरने के पहले नियमानुसार औधजी के कुटुंबी जन उन्हें डलमऊ (ज़िला रायबरेली) गंगा-किनारे ले गए। वहाँ बीस दिन तक प्रतीक्षा के बाद भी औधजी का गोलोक-गमन न हुआ। तब गंगाजी पर कुपित होकर उन्होंने यह छंद बनाया—

देव धूनी ढगा, 'औध' अद्भुत रगा,
हेरि हँसैं हुरदंगा ऐसो पुरुष-प्रसंगा को ;
ठौर-ठौर दगा, भूत भावत भकंगा,
घन घोर अरधगा औ कहावै सिखमगा को।

× × × × ×

× × × × ×

छाँड़ि जग-सगा, तोय-मोय उत्तमंगा तामें,
गगा, भलाचगा होय अगा धोय नगा को?

गंगाजी पर इस प्रकार कटाक्ष करके आप कुटुंबियों सहित अयोध्याजी चले आए। यहाँ इनको शरीरांत शीघ्र होने की आशा होने लगी। तब प्रसन्न होकर इन्होंने लक्ष्मणजी की वंदना इस प्रकार की—

बन-चित्र, मस-मित्र, आहूत-तिरहूत,
आसित जलसित, अवलिप्त भृगुनंद ;
उर्मिला-प्रियप्राण, श्रुति-शास्त्र, तन-त्राण,
कल्यादि-कुल-काल, जन-कुमुद मुद-चंद ।
महि-माथ तृण-तूल, रघुवंश-शार्दूल,
सियराम अनुकूल, सौमित्र-सुखकंद :
* सबध लखनऊ, अभिलाष-मन मऊ,
श्रीलक्ष्मण-मौज, अवधेश-आनंद ।

कदाचित् यही अंतिम छंद वाजपेयीजी का है । अयोध्या के ही प्रसाद-रूप जन्म पाकर औधजी का अंत भी अयोध्या-नगरी में सरयू-किनारे हुआ । लेख इस स्थान पर समाप्त करने के पहले मैं कुछ और फुटकल छंद पाठकों के विनोदार्थ यहाँ रखना चाहता हूँ ।

व्रजांगनाओं और ऊधो की बातचीत-संबंधी कविताएँ जिस तरह अन्य कवियों ने लिखी हैं, औधजी ने भी बहुत-सी लिखी हैं । दो-चार नमूने के लिये देता हूँ । सुनिए—

कूबरी की यारी को न सोच हमें भारी ऊधो,
याही अफसोस साँवरे की निठुरान को ;
जोग जो लै आए, सो हमारे सिर-आँखिन पै,
राखन को ठौर तन—तनको न थान को ।
अंग-अंग मढ़ी है वियोग व्रजचंदजी के,
'औध' हिए तान वा रसीली मुसकान को ;
आँखैं अँसुआन को, करेजो मैन-बान को,
ज़बान गुन-गान को औ कान बंसी-तान को ।

ठीक ही तो है । अष्टांग-योगाभ्यास किन अंगों से किया जाय ? देखिए न, सभी मुख्य अवयव तो फँसे हुए हैं ।

एक जगह पर तो कमाल ही कर दिया है । निस्संदेह कृष्ण के प्रति गोपियों की सद्भावनाएँ स्तुत्य हैं । छंद मुझे अपूर्ण आता है ; पर वह इस प्रकार है—

लानत गाज परी यहि रीझि पै, न्यामति छाँड़िकै बाँधी मलामति ;
क्या जवाँ शीरीं फ़क़ीरी कहैं 'औध' आखिर ऊधो जले पै जलामति ।
× × × × ×
थूक-थुआ हुआ तो हुआ, पै दुआ करैं, कूबरी-कान्ह की जोड़ी सलामति ।

व्यंग्य के साथ ही गोपिकाओं के सहज कोमल हृदय की, विरहावस्था में भी, अलौकिक विशालता का परिचय कैसा सुंदर है ?

कहा जाता है, पं० अयोध्याप्रसाद वाजपेयीजी की माता कई पुत्रों के लगातार मर जाने पर अयोध्याजी के जन्मस्थान-नामक मकान के चबूतरे से एक ईंट ले आई थीं । उन्होंने कई मनौतियाँ भी मानी थीं । उसके बाद जो पुत्र हुआ, वह व्याधियों से बच गया । उसी का नाम माता ने अयोध्याप्रसाद रक्खा । यह तो है औधजी के नामकरण की कथा, जिसका उल्लेख करते हुए औधजी ने श्रीरामचंद्र की वंदना में कभी कहा था—

म्हारी मातु का वसीला थारी मातु कौसीला है ।

औधजी की शिक्षा अधिकतर मकान पर तथा इकौर-नामक स्थान में हुई । काव्य इन्होंने हसनपुर (ज़िला रायबरेली) के कविवर गदाधरजी से सीखा था । गदाधर-जी का नाम सुनकर ही यह हसनपुर आए थे । गदाधरजी शौच गए थे । वापस आकर ज्यों ही लोटा पृथ्वी पर रक्खा, त्यों ही वाजपेयीजी ने उसे मिट्टी से माँज डाला । गदाधरजी ने कहा—"को आहिउ भाई, मोहि का नरक माँ काहे डारत हौ ।" तब वाजपेयीजी ने अपना परिचय दे अभीष्ट कहा । गदाधरजी ने तत्काल प्रतिज्ञा-पूर्वक आशीर्वाद देकर काव्य-शास्त्र की शिक्षा देना शुरू कर दिया । कहते हैं, काव्य-विषयक कुछ शिक्षा इन्होंने लखेथू के कविवर जवाहिरजी से भी ली थी : पर इस संबंध में निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता ।

औधजी ने यात्रा दूर-दूर तक की है । इस संबंध में भी लेखक का ज्ञान परिमित ही है । यदि हो सका, तो फिर कभी औधजी की और फुटकल कविताएँ सुनाऊँगा ।

रामनारायण मिश्र

---

* वह लखनऊ के वाजपेयी थे ; और, लखनऊ (लक्ष्मणपुर) लक्ष्मणजी का बसाया हुआ है, इसी नाते से औधजी अपने को लक्ष्मणजी का प्रजा समझते थे ।



१. साहित्य

कविता-कौमुदी (तीसरा भाग—संस्कृत)—संपादक और प्रकाशक, पं० रामनरेश त्रिपाठी, हिंदी-मंदिर, प्रयाग।

गत वैशाख की माधुरी में, 'कविता की कसौटी'-शीर्षक नोट में, कविता-कौमुदी के प्रथम दो भागों का थोड़ा-सा ज़िक्र है। यहाँ मुझे उसी के तीसरे भाग के संबंध में कुछ निवेदन करना है। संस्कृत के कवियों का परिचय तथा उनकी कविताओं के नमूने एक ही ग्रंथ में प्रकाशित कर प्रकाशक ने सचमुच सराहनीय कार्य किया है। पर मेरा ख़याल है कि पुस्तक इससे अच्छी बन सकती थी। इसमें अभी कुछ ऐसी बातें हैं, जो पाठकों को बिना खटके नहीं रह सकतीं।

शूद्रक कवि संस्कृत के एक बड़े ज़बरदस्त नाटककार हुए हैं। उनकी कृति 'मृच्छकटिक' संस्कृत-साहित्य में बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती है। अनेक देशी और योरपियन भाषाओं में उसके गद्य पद्यमय अनुवाद हो चुके हैं। मैंने भी शूद्रक का विशेष रूप से अध्ययन किया है। इससे पुस्तक के हाथ में आते ही पहले मेरे मन में यही इच्छा हुई कि देखें, शूद्रक के संबंध में इसमें क्या लिखा है। पर मुझे संतोष न हुआ। आश्चर्य है कि पुस्तक-भर में कहीं भी शूद्रक का ज़िक्र तक नहीं है! तब मैंने सोचा कि इस पुस्तक में शूद्रक को शामिल न करने का शायद कोई विशेष कारण हो, और शायद उसका ज़िक्र संग्रहकर्ता ने भूमिका में कर दिया हो। किंतु मालूम यह हुआ कि "कविता-कौमुदी का विषय केवल साहित्यिक है। साहित्य में भी श्रव्य-काव्यों की ही चर्चा इसमें की गई है, और उन्हीं में से उदाहरण उद्धृत किए गए हैं।"

बात मेरी समझ में आ गई। मैं समझ गया, पुस्तक में नाटककारों और उनकी कृतियों की चर्चा नहीं की गई। ऐसी हालत में शूद्रक का ज़िक्र न होना स्वाभाविक ही था। ग्रंथ में एक प्रधान अंग की अवहेलना की गई है, इस ख़याल से दिल को ज़रा धक्का तो ज़रूर लगा; पर यह सोचकर कि यह तो अपनी-अपनी रुचि है, मैंने संतोष किया।

ख़ैर, आगे बढ़ा; कृष्णमिश्रपति का हाल पढ़ा। मालूम हुआ कि 'प्रबोध-चंद्रोदय'-नाटक की आपने रचना की है। मैंने सोचा, इन्होंने शायद किसी अन्य काव्य की भी रचना की होगी। इससे इनके परिचय को कई बार ध्यान-पूर्वक पढ़ा; पर 'प्रबोध-चंद्रोदय'-नाटक के अतिरिक्त इनके और किसी ग्रंथ का परिचय न मिला। नमूने के श्लोक भी 'प्रबोध-चंद्रोदय' के ही मालूम पड़ते थे। मैंने उलटकर फिर भूमिका पढ़ी। वहाँ साफ़ लिखा हुआ है—"श्रव्य-काव्यों की ही चर्चा इसमें की गई है, और उन्हीं में से उदाहरण उद्धृत किए गए हैं।"

बात कुछ समझ में न आई। क्या 'प्रबोध-चंद्रोदय'-नाटक श्रव्य-काव्य है? शायद धार्मिक नाटक श्रव्य-काव्य ही कहलाते हों! मुझे अपनी संस्कृत की लियाक़त पर तरस आने लगा।

और आगे बढ़ा; देखा, भट्टनारायण डटे हुए हैं। मालूम हुआ, 'वेणी-संहार' के अतिरिक्त 'प्रयोगरत्न'-नामक एक धर्मशास्त्र का भी ग्रंथ इन्होंने बनाया है। तभी तो इन्हें भी इस कवि-समाज में स्थान मिला—'वेणी-संहार' की बदौलत न सही, 'प्रयोगरत्न' की ही बदौलत। धर्मशास्त्र के ग्रंथ अगर श्रव्य-काव्य नहीं हो सकते, तो फिर कौन-से हो सकते हैं? वे सुने ही तो जाते हैं; उनका अभिनय तो होता नहीं। पर फिर भी एक अड़चन बनी ही रही। कविता के नमूनों में 'वेणी-संहार' के श्लोक क्यों उद्धृत किए गए? होगा कोई राज़; कौन जाने?

पर आगे चलकर तो मेरी रही-सही बुद्धि भी चकर खाने लगी। देखता क्या हूँ कि इस श्रव्य-काव्य के ऊँचे मंच पर भवभूति, भास, मुरारि, राजशेखर इत्यादि अनेक दृश्य-काव्यवाले बड़ी शान से डटे हुए हैं, और उनकी कविताओं के नमूने 'उत्तर-रामचरित', 'मालती-माधव', 'अभिज्ञान-शाकुंतल' इत्यादि शीर्षकों के नीचे शोभा दे रहे हैं। इन सब कवियों को यह आदर प्राप्त होने के लिये मैंने मन-ही-मन बधाई दी; पर बेचारे शूद्रक की हालत पर बड़ा तरस आया। आश्चर्य तो इस बात का हुआ कि जब उत्तर-रामचरित, मालती-माधव इत्यादि श्रव्य-काव्य हो सकते हैं, तो मृच्छकटिक भी श्रव्य-काव्य क्यों नहीं हो सकता? और, जो यह कहा जाय कि दृश्य-काव्य और उनके रचयिताओं का ज़िक्र भी पुस्तक में जहाँ-तहाँ आ गया है, तो यह कैसे संभव है, जब कि उसकी भूमिका में साफ़-साफ़ लिखा है कि "श्रव्य-काव्यों की ही चर्चा इसमें की गई है, और उन्हीं में से उदाहरण उद्धृत किए गए हैं।"

यह हुई एक बात। दूसरी बात है अनुवाद की। अनुवाद आम तौर से बुरा नहीं है; पर कहीं-कहीं बहुत भौंडा हो गया है। देखिए—

> यदभावि न तद्भावि यद्भावि न तदन्यथा ;
> इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ।

कैसा सीधा-सादा श्लोक है। इसका अनुवाद एक 'साहित्याचार्य' महाशय ने इस भाँति किया है—

"जो नहीं होनेवाला है, वह न होगा; इस कारण क्या औषधि नहीं पी जाती?"　　(पृष्ठ ३१६)

*　　*　　*

> भीरुः पलायमानोऽपि नान्वेष्टव्यो बलीयसा ;
> कदाचिच्छूरतामेति मरणे कृतनिश्चयः ।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति का अनुवाद इस प्रकार है—"क्योंकि संभव है, वह अपनी मृत्यु निश्चित जानकर वैरी बन जाय।"　　(पृष्ठ ३१४)

*　　*　　*

> रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेशम् ;
> न कुरु नितम्बिनि गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ।

अर्थ सुनिए—"अभिसार के लिये मदन का मनोहर वेश प्राप्त हुआ है; चलने में विलंब मत करो, हृदयेश का स्मरण करो।"　　(पृष्ठ ११३)

वाह, क्या आला दर्जे का अनुवाद है!

*　　*　　*

> कुरु मम वचनं सत्वररचनं पूरय मधुरिपुकामम् ,

"मेरी बात मानो, कृष्ण का मनोरथ पूरा करो।"
(पृष्ठ ११४)

बेचारा "सत्वररचनं" न-जाने कहाँ चल बसा?

*　　*　　*

> राधामुग्धमुखारविन्दमधुपस्त्रैलोक्यमौलिस्थली-
> नेपथ्योचितनीलरत्नमवनीभारावतारान्तकः ;
> स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीजनमनस्तोषप्रदोषश्चिरं,
> कंसध्वंसनधूमकेतुरवतु त्वा देवकीनन्दनः ।

"राधा के सुंदर मुख-कमल के भ्रमर, त्रिलोक के शिरोमणि, आभूषण योग्य नीला रत्न, पृथिवी का भार उतारनेवाले, व्रजनारियों के मन को संतुष्ट करनेवाले, कंस के नाश के चिह्न देवकीनंदन तुम्हारी रक्षा करें।"
(पृष्ठ ११६)

*　　*　　*

> अश्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे ।

"उस समय आँसुओं से आँखें भर जाती हैं। (पृष्ठ ६४)

*　　*　　*

> पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ।

"सदा आपत्तियों से घिरे हुओं से पहले यही पूछना चाहिए।"　　(पृष्ठ ६३)

*　　*　　*

आपातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ।

"उसकी गहराई का पता मंथाचल ही को है।" (पृष्ठ २४७)

कैसा कमज़ोर अनुवाद है!

* * *

शिखिनां बर्हभारेषु—"मयरों की चोटी में" (पृष्ठ ६३)

प्रतनुषु नदीवीचिषु—"पतली नदी की तरंगों में" (पृष्ठ ६३)

ररास—"बोल रही है।" (पृष्ठ २३६)

* * *

पूगनीगलताश्रितैः

"लताश्रित सुपारी के वृक्षों के द्वारा" (पृष्ठ २६३)

* * *

जीवन्नप्यविनीतोसौ मृत एव न संशयः ।

"वह अशिक्षित पुत्र जीवन्मृत के समान है।" (पृष्ठ ३२४)

* * *

कार्यमालोचितापाय मतिमद्भिर्विवेचितम् ;

न केवलं हि सम्पत्तौ विपत्तावपि शोभते ।

"जिस कार्य की बुराइयाँ मालूम हो चुकी हैं...वह कार्य अच्छे समयों में ही नहीं, किंतु विपत्ति के समय भी लाभदायक होता है।" (पृष्ठ ३२७)

* * *

दोषा अपि हि साधूनामसतां च गुणैः समाः ।

"क्योंकि धर्मात्मा के दुर्गुण भी दुर्जनों के गुणों से बढ़कर होते हैं।" (पृष्ठ ३२८)

* * *

शिरोरुहा —"माथे के बार" (पृष्ठ ३३१)

ये ऐसी अशुद्धियाँ हैं, जो पुस्तक को जहाँ-तहाँ सरसरी निगाह से पढ़ते समय मुझे मिलीं। यदि संपूर्ण पुस्तक, और वह भी अशुद्धियाँ निकालने की ग़रज़ से, पढ़ी जाती, तो शायद मामला बहुत बढ़ जाता।

तीसरी बात यह है—"संपादक महाशय ने इस पुस्तक के लिखने में बहुत परिश्रम किया है।... कवियों के समय-निरूपण में बड़ा मतभेद है। प्रस्तुत पुस्तक के संपादक ने अपनी स्वतंत्र सम्मति प्रकट की है।"

इस 'स्वतंत्र सम्मति' का क्या अर्थ है? क्या इसका यह अर्थ है कि एक 'साहित्याचार्य' महाशय ने जिन ५७ कवियों का हाल लिखा है, उनमें से प्रत्येक का समय अपने स्वतंत्र अनुसंधानों द्वारा मालूम किया है? स्वतंत्र सम्मति का अर्थ इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? यदि ऐसा है, तब तो साहित्याचार्यजी ने वह काम किया, जो आज तक कोई नहीं कर सका। इतना बड़ा काम करने के लिये साहित्याचार्य महाशय को अनेक बार बधाई। पर ऐसी हालत में साहित्याचार्यजी को चाहिए था कि प्रत्येक स्थान पर अपने निर्णयों के साथ-साथ वे सब प्रमाण भी दे देते, जिनके आधार पर आप उन निर्णयों पर पहुँचे हैं। कुछ स्थलों पर आपने केवल तारीख़ों का ही लिख देना पर्याप्त समझा है, और अपने पाठकों को उस परिश्रम की सूचना तक नहीं दी, जो आपको इनके अनुसंधान में उठाना पड़ा होगा। यदि आपने अपने प्रमाणों को भी लिख दिया होता, तो उस हालत में पाठकों को यह सुबीता रहता कि वे स्वयं अपनी आँखों से देख लेते कि आपके प्रमाण निराधार तो नहीं हैं, और उन प्रमाणों से केवल वे ही निष्कर्ष निकल सकते हैं, जो आपने निकाले हैं। पर आपने उन्हें ऐसा करने का मौक़ा ही नहीं दिया।

देखिए—

अकालजलद—"यह नवीं सदी में उत्पन्न हुए थे।" (पृष्ठ १)

पद्मगुप्त—"यह ११वीं सदी में उत्पन्न हुए थे।" (पृष्ठ १४०)

भोजदेव—"ईसवी सन् की ११वीं सदी इनका समय है।" (पृष्ठ २२०)

ख़ैर, प्रमाण नहीं दिए, तो न सही; अब साहित्याचार्यजी कहते हैं, तो ठीक ही कहते होंगे।

पर अनेक कवियों के समय की बाबत साहित्याचार्यजी एकदम चुप्पी साध गए हैं। पुस्तक में निम्न-लिखित कवियों के समय का ज़िक्र तक नहीं है—

कुमारदास, जल्हण, भट्ट त्रिविक्रम, दिवाकर, पंडित याजक, पाणिनि, प्रकाशवर्ष, भास, भिक्षाटन, माघ, मुरारि, मोरिका, लीलाशुक, वाल्मीकि, विकटनितंबा और विज्जका।

"स्वतंत्र सम्मति" के कुछ और भी उदाहरण लीजिए—

क्षेमेंद्र—"यह दसवीं सदी के समझे जाते हैं।" (पृष्ठ ७१)

जगद्धर—"पं० रामकृष्ण भांडारकर कहते हैं कि जगद्धर का समय १४वीं सदी के पहले नहीं हो सकता।" (पृष्ठ ६५)

जयदेव (२)—"इनके निश्चित समय का अभी तक पता नहीं लगता; पर १२वीं शताब्दी में इनका होना अनुमान किया जाता है।" (पृष्ठ ११७)

धनंजय—"इनका समय नवीं सदी बतलाया जाता है।" (पृष्ठ १३६)

विद्यारण्य—"यह तेरहवीं सदी में माने जाते हैं।" (पृष्ठ ३०१)

व्यासदेव—इनका समय ई० सदी से १२६३ वर्ष पूर्व बतलाया जाता है।" (पृष्ठ ३११)

क्या पराई सम्मतियों का उल्लेख करके ही संतोष कर लेना—और अपनी ओर से कुछ भी न लिखना—ही "स्वतंत्र सम्मति" कहलाता है?

अश्वघोष का समय-निरूपण बड़ा ही विचित्र हुआ है। साहित्याचार्यजी फ़रमाते हैं—"...इस बात के मानने के लिये विवश होना पड़ता है कि यह महाकवि कालिदास के पहले या पीछे उत्पन्न हुआ था।" (पृष्ठ २५)

क्या खूब! 'कितने पहले' या 'कितने बाद' की कोई आवश्यकता नहीं!!

भारवि के संबंध में आप फ़रमाते हैं—"...भारवि सातवीं सदी में उत्पन्न हुए थे। यह बात एक शिला-लेख के नीचे लिखे श्लोक से प्रमाणित होती है—

येनायोजि न वेश्म
स्थिरमर्थविधौ विवेकिनाजिनवेश्म,
स विजयतां रविकीर्ति-
कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।"

(पृ० २०४-५)

इस श्लोक से क्या भारवि का सातवीं सदी में होना प्रमाणित होता है? होता होगा, पर कैसे? यह भी तो बतलाना चाहिए था।

एक स्थल पर तो बड़ा मज़ा आता है। "...राजशेखर का समय नवीं सदी का प्रारंभ समझना चाहिए।" (पृ० २६२)

यह साहित्याचार्यजी की राय है। इन्हीं राजशेखर के पितामह अकालजलद की बाबत आप फ़रमाते हैं कि "यह नवीं सदी में उत्पन्न हुए थे।" (पृष्ठ १) क्या खूब! पोता तो मौजूद था नवीं सदी के प्रारंभ में और बाबा पैदा हुए नवीं सदी में—शायद नवीं सदी के मध्य में! इस असावधानी का भी कोई हद है!

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। साहित्याचार्यजी की स्वतंत्र सम्मतियाँ बहुत स्थलों पर प्राच्य विद्याविशारदों की पूर्व-निश्चित सम्मतियों से बिलकुल मिल जाती हैं। यह ठीक ही है। दो बड़े दिमाग़ प्रायः एक ही स्थल पर पहुँच जाया करते हैं!

बस, दो-एक बातें और कहकर मैं इस परिचय को समाप्त करूँगा। भूमिका में लिखा है—"खेद है कि प्रूफ़ की कुछ अशुद्धियाँ ज्यों-की-त्यों रह गई हैं।" इसमें 'कुछ'-शब्द ध्यान देने योग्य है। जो पुस्तक आदि से अंत तक प्रूफ़ की अशुद्धियों से ओतप्रोत हो, जिसमें शायद ही कोई एक ऐसा पृष्ठ निकले, जो प्रूफ़ की अशुद्धियों से ख़ाली हो, उसकी बाबत यह कहना कि "प्रूफ़ की कुछ अशुद्धियाँ ज्यों-की-त्यों रह गई हैं", एक बड़ी बात को छोटा कर दिखलाना है। 'कुछ' के स्थान में यदि 'बहुत', 'अनेक' या 'हज़ारों'-शब्द होता, तो अधिक ठीक होता। कविता कौमुदी-जैसी प्रसिद्ध पुस्तक में इस प्रकार की प्रूफ़ की अशुद्धियाँ भी शोभा नहीं देतीं। खेद प्रकाश करने से अशुद्धियाँ शुद्धियाँ नहीं बन सकतीं, यह प्रकाशकों को समझ लेना चाहिए।

अब एक आश्चर्य की बात सुनिए। यदि मैं भूलता नहीं, तो हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की पिछली रिपोर्ट में गत वर्ष की छपी जो थोड़ी सी पुस्तकें अच्छी बतलाई गई हैं, उनमें इस पुस्तक का भी नाम है। है न आश्चर्य की बात! साहित्य सम्मेलन-सरीखी ज़िम्मेदार संस्था भी जब बिना सोचे विचारे पुस्तकों की इस प्रकार प्रशंसा करेगी, तब तो सत्साहित्य की खूब वृद्धि होगी। प्रशंसा करने से कोई बुरी वस्तु अच्छी नहीं बन सकती, बल्कि उलटे प्रशंसा करनेवाला ही उपहास का भाजन बनता है।

भूपनारायण दीक्षित

× × ×

अंडमान की गूँज—अनुवादक, सिद्धनाथ-माधव लोंढे; प्रकाशक, प्रणवीर-पुस्तकमाला-कार्यालय, धनतोली, नागपुर; मूल्य डाक-व्यय-सहित ॥-); पृष्ठ-संख्या १०८ ; प्रणवीर-पुस्तकमाला की चौथी पुस्तक।

माधुरी की कार्तिक-संख्या में उपर्युक्त अनुवादक की 'देशभक्त सावरकर'-नामक पुस्तक का परिचय हम दे चुके हैं। यह उन्हीं सावरकर महाशय की अंडमान-यात्रा की जीवनी है, जिस पर पिछले बार कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। नागपुर के श्रीयुत विश्वनाथ-विनायक केलकर ने "एन इको फ्रॉम एंडमंस" नाम की जो पुस्तक लिखी है, उसी का यह अनुवाद है। जैसा अनुवादक महाशय लिखते हैं, सचमुच यह पुस्तक श्रीविनायकराव के कोरे घरू पत्र-व्यवहार से नहीं भरी गई है, प्रत्युत उनके पत्रों में विदेशी और देशी राज्य-शासन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इँगलैंड में, और बहुत समय तक भारत में, हिरासत में रहने के बाद देशभक्त सावरकर विनायकराव को सन् १६०१ के जून-महीने में आजन्म-कालेपानी का कठोर दंड दिया गया था। वहाँ उन्हें वर्ष-भर में एक दिन केवल एक चिट्ठी लिखने के लिये मिलता था। इस प्रकार उन्हें कुल १२ पत्र लिखने का अवसर मिला। इन्हीं पत्रों का संग्रह यह पुस्तक है। राजकीय उदारता के कारण बहुत-से क़ैदियों को छुटकारा भी बीच में दे दिया गया था; किंतु विनायकराव का अपराध सरकार की नज़रों में इतना भयंकर था कि उस राजकीय उदारता का उपभोग भी उन्हें नहीं करने दिया गया था। अंत को जब वह मरण-शय्या पर ही आ गए, तब कहीं रिहाई मिली थी। इस प्रकार आजन्म-कालेपानी की सज़ा से उनका छुटकारा हुआ था।

श्रीविनायकराव के पत्रों में जहाँ निःस्वार्थ देश-भक्ति, अटूट प्रेम एवं मनुष्य के हृदय की विशालता का परिचय मिलता है, वहीं वर्तमान सरकार के निर्दय, पक्षपात-पूर्ण एवं कठोर शासन का रहस्योद्घाटन भी होता है। इन पत्रों से देश की राजनीतिक परिस्थिति पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। साथ ही यह भी मालूम होता है कि श्रीसावरकर विनायकराव सरकार के साथ सहयोग करने के लिये भी कितने तत्पर थे। मतलब यह कि वर्तमान शासन की सच्ची समालोचना करनेवाले हृदय के विचारों का यह एक ऐसा संग्रह है, जिसे पढ़कर पाठकों को बहुत-सी बातें मालूम हो सकती हैं।

पर उनके सब पत्रों में सबसे अधिक हृदयविदारक पत्र वह है, जिसे उन्होंने मृत्यु-शय्या पर लिखा था। यह पत्र एक प्रकार का गद्य-काव्य है, जिसमें मानव-हृदय को हिला देनेवाली शक्ति विनायकराव ने भर दी है। कर्म-योग की अद्भुत विभूति का परिचय इसमें दिया गया है। एक स्थान पर वह मृत्यु को संबोधन करके लिखते हैं—

"तू यदि आँखों को बंद करना चाहे, तो कर; पर आँखों ने बहुत कम देखा है। प्रीति के मधुर रस का मैं आस्वादन करने ही वाला था कि सदा के लिये मेरा वियोग हो गया।"

विनायकराव को भरी-जवानी में कालेपानी की सज़ा मिली थी। इसके पूर्व भी इँगलैंड में रहने के कारण वह गृहस्थ-धर्म का सुख-भोग कुछ नहीं कर सके थे। आगे इसी के साथ-साथ वह लिखते हैं—

"और इस तरुणावस्था में जिस धुरे को प्रौढ़ वृषभ भी नहीं उठा सकता, वह मुझे भरी-दुपहरी में उठाना पड़ा है। इसलिये आयु की चाँदनी में खेलने की इच्छा अभी पूरी नहीं हुई है। मैं जानता हूँ कि ययाति राजा ने अपनी समस्त आयु-भर खेल किया, किंतु उनकी लालसा तृप्त नहीं हुई। मैं देखता हूँ, इच्छा के बीज से भोग का फल पैदा होता है; पर उसमें भी फिर इच्छा का ही बीज फलता है। मैं इस बात का भी अनुभव करता हूँ कि एक भोजन से एक भूख की जो तृप्ति होती है, वही हज़ारवें भोजन से हज़ारवीं भूख की भी होती है। अस्तु, मेरे जीवन-ग्रंथ के भविष्य के पृष्ठ यदि पिछले पृष्ठों की पुनरावृत्ति से ही भरने हैं, तो मैं तुझसे स्वयं ही कहूँगा कि इस जीवन-लेख को यहीं—इसी पृष्ठ पर—समाप्त कर दे। मैंने दिन वृथा नहीं नष्ट किया है। इसलिये मुझे दिन के डूबने का भी दुःख नहीं है।

जीवन की एक अज्ञात पहेली इस पत्र के अंदर मौजूद है। जीवन के समस्त सुखों का मूल्य मृत्यु की यातनाएँ हुआ करती हैं—यही उनका दृढ़ विश्वास है। यही कारण है कि उनके जीवन में आत्मत्याग और निर्मोहिता का स्थल-स्थल पर प्रतिबिंब दिखलाई देता है। अन्य क़ैदियों की रिहाई हो जाने पर भी जब विनायकराव की रिहाई न हुई, तो उन्हें इस पर रंज नहीं

हुआ। उन्होंने इस पर प्रसन्नता ही प्रकट की थी। साथ ही एक पत्र में आंदोलन को जारी रखने के लिये भी संकेत किया था।

बंग-भंग और स्वदेशी आंदोलन के समय बंगालियों में प्रांतिकता के भाव बहुत ज़्यादा भर गए थे। विनायकराव को इसका कटु अनुभव था। इसी ओर लक्ष्य करके उन्होंने एक पत्र में लिखा था—

"परंतु यदि राष्ट्र ज़िंदा न रहेगा, तो प्रांत किस प्रकार ज़िंदा रह सकेंगे? सभी प्रांत—महाराष्ट्र, बंगाल, मदरास—बचे और दीर्घजीवी रहेंगे, परंतु भारत-भूमि के दीर्घ जीवन से। इसलिये हमें चाहिए कि भारतमाता की जय कहें। हमें 'वंग आमार' न कहकर 'हिंद आमार', यह संगीत गाना चाहिए। सभी प्रांतों और छोटी-छोटी भाषाओं को जुदा-जुदा होने के बजाय एक हो जाना चाहिए; वर्तमान हदबंदी को तोड़ देना चाहिए।"

कितने ऊँचे विचार हैं, और ये हैं उस समय के, जब देश में जागृति का केवल नामोनिशान-भर था। इसी प्रकार की देशभक्ति, राजभक्ति और मनुष्य-मात्र की भक्ति एवं वेदना से उनके पत्र ओतप्रोत हैं। हमको विश्वास है कि यदि देश के लोगों में त्याग का कोई आदर्श है, तो विनायकराव की देशभक्ति—उनका आत्म-बलिदान—भारतवासियों के हृदयों में आत्मसम्मान और त्यागी तपस्वियों के प्रति उच्च-से-उच्च सम्मान की भावना उत्पन्न करेगी। तभी उनके पत्र अधिक सार्थक होंगे।

मातादीन शुक्ल

× × ×

भक्ति-चिंतामणि—रचयिता, कविवर श्रीगोपाल मिश्र; प्रकाशक, श्रीप० गौरीशंकर शुक्ल; रॉयल आकार (२०×२६ अठपेजी); पृ० सं० २४१; चिकना कागज़; छपाई साधारण और अशुद्धि बहुत; मूल्य २); रेजा-प्रेस, नरसिंहपुर से प्राप्त।

कविवर श्रीगोपाल मिश्रजी भक्त कवि थे। आपने भागवत के दशम स्कंध की कथा प्राचीन हिंदी में पद्य-बद्ध की है। कविता सरस और भाव-पूर्ण है। कहीं-कहीं संस्कृत में कविता करने की भी चेष्टा की गई है। भागवत के भक्तों और ब्रजभाषा के प्रेमियों को अवश्य पढ़ना चाहिए।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

७. अर्थ-शास्त्र

भारतीय अर्थ-शास्त्र (प्रथम भाग)—लेखक, श्रीयुत भगवानदास केला, भूतपूर्व संपादक 'प्रेम' तथा प्रेम-महाविद्यालय के वर्तमान अर्थ-शास्त्र-अध्यापक; संपादक, श्रीदुलारेलाल भार्गव; गंगा-पुस्तकमाला का छियालीसवाँ पुष्प; छपाई इत्यादि के विषय में कुछ कहना अनावश्यक।

हिंदी में अर्थ-शास्त्र-संबंधी पुस्तकों की संख्या नहीं के बराबर है। केवल दो-चार लेखकों के अतिरिक्त किसी ने इस विषय पर लिखने का प्रयत्न नहीं किया। ऐसी परिस्थिति में केलाजी का उत्साह सराहनीय है। पुस्तक में भारतवर्ष-संबंधी सभी उपयोगी बातों का समावेश है। परंतु भारतीय अर्थ-शास्त्र इतना विस्तृत विषय है कि वह इतनी छोटी पुस्तक में सरलता-पूर्वक लिखा ही नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, केलाजी यदि चाहते, तो भारतीय जनता या श्रम, भारतीय उद्योग-धंधे, पूँजी, मुद्रा और बैंक-संबंधी बातों पर विशेष प्रकाश डाल सकते थे। पुस्तक के उपयोगी होने पर भी यदि कोई ऐसा मनुष्य इसे पढ़ने की चेष्टा करे, जो अर्थ-शास्त्र से नितांत अनभिज्ञ हो, तो वह पुस्तक के अधिकांश भाग को कठिनता से समझ सकेगा। कहीं-कहीं ऐसे-ऐसे शब्द प्रयोग में लाए गए हैं, जो साधारण भाषा में प्रचलित नहीं हैं। ऐसे शब्दों की व्याख्या यदि एक परिशिष्ट * में कर दी जाती, तो समझने में सुविधा होती। कुछ ऐसे विषयों पर, जिनमें विद्वानों का मतभेद है, और जो दुरूह भी हैं, केलाजी ने बहुत सूक्ष्म विवेचना किए बिना ही अपना मत प्रकट कर दिया है। इससे भ्रम होने की संभावना है। आपने अनुत्पादक श्रम के विषय पर लिखते हुए कहा है—"जिस श्रम से ऐसा पदार्थ बनाया जाय, जो अनुपयोगी हो, अथवा अपेक्षाकृत बहुत कम समय तक उपयोगी रहे, उसे अनुत्पादक श्रम कहते हैं। उदाहरणार्थ, एक आतशबाज़ १०) की पूँजी से आतशबाज़ी बनाकर बीस रुपए में बेचता है, जो क्षणिक मनोरंजन के बाद नष्ट हो जाती है। इससे आतशबाज़ के पास तो १०) के बजाय २०) हो गए, परंतु देश के ३०) नष्ट हो गए—१०) आतशबाज़ की पूँजी, और २०) ख़रीदनेवाले के। इस प्रकार हिसाब लगाकर देखने से देश को १०) का

* यह परिशिष्ट दूसरे भाग में दिया जायगा।—संपादक

नुक़सान है। इसलिये आतशबाज़ का श्रम अनुत्पादक है। इसी तरह खेल-कूद, झाड़-फ़ानूस, अन्य विलास-सामग्री या क़िस्से-कहानी आदि क्षणिक मनोरंजन करनेवाली चीज़ों का उदाहरण दिया जा सकता है। शराब आदि चीज़ें एक ख़ास सीमा तक उपयोगी हैं—वहीं तक उनके बनानेवालों का श्रम उत्पादक समझा जाना चाहिए।" केलाजी की इस राय के संबंध में वर्तमान अर्थ-शास्त्रवेत्ता भिन्न-भिन्न मत प्रकट करेंगे। उन लोगों की राय में जो वस्तु मनुष्य की इच्छा की तृप्ति (Satisfaction of want) करती है (चाहे उसका फल हानिकारक या लाभदायक हो, इससे अर्थ-शास्त्र को कोई प्रयोजन नहीं), उसके बनाने का श्रम उत्पादक श्रम कहा जायगा। ऊपर लिखे केलाजी के उदाहरण में आतशबाज़ का श्रम उत्पादक होगा, न कि अनुत्पादक, चाहे हम लोग आतशबाज़ी को व्यर्थ ही की वस्तु क्यों न समझें। ऐसे ही "समस्या हल कैसे हो ?"-शीर्षक में लिखते हुए आपने जो विचार "मशीनों के प्रयोग तथा संरक्षण" पर प्रकट किए हैं, उन पर भी संसार के विद्वानों में बहुत मतभेद है। यदि केलाजी ने मुद्रा-ढलाई-लाभ-कोष, करेंसी-कमेटी तथा पेपर-करेंसी-रिज़र्व पर कुछ विस्तार-पूर्वक लिखा होता, तो पुस्तक की उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ जाती। इन कतिपय दोषों के रहते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि पुस्तक उपयोगी तथा परिश्रम के साथ लिखी गई है। इसमें भारत की कृषि, जन-संख्या तथा पारिवारिक आय-व्यय का बहुत सुंदर दिग्दर्शन कराया गया है। हिंदी में अभी अर्थ-शास्त्र की अधिक पुस्तकें न होने के कारण तत्संबंधी शब्दों का मिलना बहुत कठिन हो जाता है। यह पुस्तक बहुत उपयोगी है, तथा प्रत्येक हिंदी जाननेवाले को अवश्य पढ़नी चाहिए।

शंकरप्रसाद भार्गव

× × ×

३. नाटक

किसकी भूल (उर्दू से रूपांतरित)—लेखक, मुंशी अब्बासअली ; प्रकाशक, दक्षिणी सुबोध-नाटक-मंडली, अकोला (सी० पी०) ; मूल्य ॥=)

नए-नए नाटकों की नित्यप्रति रचना, नाटक-कंपनियों का संगठन और पेशेवर नाटककारों की स्थिति ही यह बतलाती है कि देशोन्नति एवं समाज के विकास में ललित कला कितना महत्त्व-पूर्ण साधन है, इस बात को लोग अच्छी तरह समझने लगे हैं। पश्चिम के देशों में तो वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ इस कला में भी यहाँ तक विकास हुआ है कि नित्य नवीन नाटक रंगमंच पर खेले जाते हैं। उन्नति इस कला में यहाँ तक हुई है कि अब तो बोलते हुए बायस्कोप देखे जायँगे। भारतवर्ष में इस कला की प्राचीनता तो नाटकाचार्य भरत मुनि के समय से प्रसिद्ध है, और अब पश्चिम के संसर्ग से यहाँ भी इस कला में उन्नति होती जाती है। पारसी-कंपनियाँ एलफ़्रेड-कंपनी तथा सूर्यविजय नाटक-मंडली की तरह सुबोध-नाटक-मंडली भी महाराष्ट्र-प्रांत में अच्छा नाम कर रही है। समालोच्य नाटक उसी का है, और कई बार खेला जा चुका है।

यह एक ऐतिहासिक नाटक है। लेखक ने तो इस बात को नहीं बतलाया है, पर हम समझते हैं कि शेक्सपियर के एक नाटक के आधार पर इसका ढाँचा बनाया गया है। फिर भी यह एक मौलिक एवं ऐतिहासिक नाटक है, और इसलिये कि एक नाटक-कंपनी का इस पर सर्वाधिकार सुरक्षित है, तथा वह रंगमंच पर इसे खेलती है, यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं होती कि नाटक चल निकला है।

नाटक का ऐतिहासिक आधार ईस्ट-इंडिया-कंपनी के समय की एक घटना है। हरवंशसिंह भरतपुर के, और बालराज बाँकीपुर के देशी राजे थे। कंपनी की सहायता से बालराज ने हरवंशसिंह को पराजित किया, और वह अपनी राजधानी छोड़कर भाग गया। इसके एक लड़का था। कंपनी के तत्कालीन संचालक जेनरल फ़्लीट ने उसका पालन-पोषण किया, इँगलैंड भेजकर उसको शिक्षा दिलवाई, और लौटने पर कंपनी के सेना-विभाग में उसे कैप्टन बनवा दिया। अब इस समय बालक का नाम हेनरी पड़ गया ; किंतु वह अपनी असलियत नहीं जानता था। बालराज के एक कन्या थी सरस्वती; हेनरी उसको प्राइवेट तौर से पढ़ाया भी करता था।

इधर पराजित हरवंश ने बालराज से बदला लेने की ठानी। उसने डाकुओं का एक दल संगठित किया। एक दिन इस दल ने सरस्वती को मंदिर जाते हुए रास्ते में गिरफ़्तार कर लिया, और तब तक क़ैद रखने

को कहा, जब तक वह हरवंशसिंह के लड़के का पूरा पता न बतलावे। ख़ैर, हेनरी (हरवंश का पुत्र, जिसका नाम असल में नरहरि था) ने उसकी रक्षा की। अब हरवंश साधु का वेष बनाकर बालराज के यहाँ पहुँचते हैं, और रनिवास में अपने प्रति श्रद्धा उत्पन्न करके हेनरी और सरस्वती में किसी प्रकार का संदेह डालकर सरस्वती को निर्वासित करा देते हैं। सरस्वती बाँकीपुर के अस्पताल में पहुँचती है, जहाँ की मिस लौटी को हज़रत बालराज चाहने लगते हैं, और अपने एक मुसाहिब चटर्जी के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं। चटर्जी एक साहसहीन धूर्त व्यक्ति है, ख़ुशामदी है: बालराज से रोज़ नई-नई बातें भिड़ाकर ख़ूब खाता है। अस्पताल में ही निर्वासित सरस्वती और उसकी मा की भेंट मिस लौटी के द्वारा होती है, और वह भी इँगलैंड पढ़ने के लिये भेज दी जाती है। इधर बालराज को अपनी चालों में फँसाकर साधु-वेषधारी हरवंश गिरफ़्तार करवा देता है, चटर्जी को रिजेंसी से हटाकर रंभा (बालराज की रानी) को बालराज के छुड़ाने के लिये सहायता देता है। अब हरवंशसिंह अपना असली रूप दिखलाते हैं, और क़ैद का डर दिखलाकर बालराज और रंभा से अपने पुत्र का पता पूछते हैं। तसलीम मिरज़ा, हरवंश के एक मुसाहिब, को भी यह भेद मालूम था; पर वह इँगलैंड में था, और गिरफ़्तार कर लिया गया था; क्योंकि जेनरल फ़्लीट की जायदाद पर उसकी भतीजी सोफ़िया हक़ जमाना चाहती थी; और चूँकि तसलीम मिरज़ा को यह सब मालूम था, और समय पर वह विपक्ष में गवाही देते, इसलिये उसने गिरफ़्तार करवाना ठीक समझा था। अंत में अदालत से सरस्वती और हेनरी की जीत होती है। हेनरी और सरस्वती की शादी हो जाती है। वह कैप्टन का पद छोड़ देता है, और तसलीम तथा सरस्वती के साथ हिंदुस्तान लौट आता है। हेनरी और हरवंशसिंह में भी प्रसंग-वश युद्ध होता है, और हरवंश पराजित होता है। इसी अवसर पर तसलीम मिरज़ा सब रहस्य बतला देते हैं। बिछुड़े हुए पिता-पुत्र मिलते हैं। बालराज अपनी सल्तनत नरहरि को दे देता है। इत्यादि।

इस प्रकार की यह भूलभुलैयाँ है, जिसका असली रहस्य अंत में प्रकट होता है। हरवंश की राजनीतिज्ञता, बालराज का भोंदूपन, नरहरि की वीरता, तसलीम की ईमानदारी और सरस्वती की सचाई का रहस्योद्घाटन इस नाटक का सार है। नाटक सुखांत है। लिखते समय लेखक के हृदय में चाहे जो भाव रहे हों; पर नाटक में वे नहीं आ सके। यह नाटक एक प्रकार से शृंगार-विहीन है। भाषा भावों का शृंगार होती है। इसकी इसमें सोलहोआने कमी है। उर्दू में भले ही यह एक अच्छा नाटक होगा; पर हिंदी-रूपांतर बहुत ही भद्दा हुआ है। चरित्र-चित्रण भी उच्च श्रेणी का नहीं है। उदाहरणार्थ, सरस्वती का चित्रण बहुत उच्च कोटि का होना चाहिए था; पर वह बिलकुल निष्प्राण हुआ है। सजीवता का इसमें अभाव है। मनुष्य के चरित्र का भी कोई उत्कृष्ट आदर्श इसमें नहीं मिलता। हाँ, भूल-भुलैयाँ में दर्शक अथवा पाठक का चित्त भले ही फँसा रह सकता है। अच्छा हो, यह नाटक-मंडली महाराष्ट्र के गौरव-पूर्ण इतिहास से नाटकों के प्लाट लेकर रचना करा ले। ऐसे नाटकों से वह अपना यथेच्छ गौरव नहीं बढ़ा सकती। महाराष्ट्र मंडलियों द्वारा दर्शक महाराष्ट्र उत्कर्ष को रंगमंच पर देखना चाहते हैं।

× × ×

नई ज़िंदगी (उर्दू में रूपांतरित)— मुसन्निफ़, मुंशी अब्बासअली; प्रकाशक, दक्षिणी सुबोध-नाटक-मंडली; मूल्य ॥)

यह भी इसी कंपनी का एक नाटक है। भूमिका-लेखक ठाकुर सूर्यकुमार वर्मा के शब्दों में इस नाटक में यही बतलाया गया है कि "राजा अथवा नवाब, राज्याधिकारी दीवान आदि कर्मचारियों के हाथों में पड़कर प्रजा को किस प्रकार कष्ट पहुँचाते हैं। अकाल से रियाया भूखों मर रही है; परंतु दीवान को कुछ चिंता नहीं। दीवान राजा और नवाबों को पुरानी गप्त बातों का स्मरण दिलाकर नेक काम करने से उन्हें कैसे रोकते हैं।" इत्यादि। इस प्रकार इस नाटक में उन राजा-नवाबों का चित्र खींचा गया है, जो मुँहलग कर्मचारियों की कठपुतली बने रहते और उनके इशारे पर, अपनी विवेक-बुद्धि को तिलांजलि देकर, शासन करते हैं। ऐसे कर्मचारी अपने मालिकों से हर तरह का अत्याचार करा सकते हैं, यह इसमें बहुत अच्छी तरह बतलाया गया है। लियाक़तख़ाँ और केशवचंद-सरीखे समाजसेवकों तथा सेनापति-जैसे विशाल-हृदय राजभक्त कर्मचारी के

चरित्र का चित्रण इसमें अच्छा किया गया है। अवश्य ही इस नाटक का शिक्षाप्रद अंग यह है कि "जो शाही नौकर प्रजा की भलाई का ध्यान रखते हैं, उनकी रक्षा प्रजा अपनी जान देकर भी करती है।"

आगे चलकर विनोद का जो भाग इस नाटक में जोड़ा गया है, वह भी अच्छा एवं शिक्षाप्रद है। समाज की वर्तमान दशा का भी ख़ासा चित्रण किया गया है—जवान लड़की तो ब्याह के लिये बैठी है, पर ७० वर्ष के सेठजी आठ वर्ष की कन्या के साथ अपना विवाह करने का निश्चय कर चुके हैं! यह भी एक सुखांत नाटक है। रचयिता ने प्रयत्न किया है कि घटनाओं को संबद्ध रक्खें, और इसमें वह सफल हुए हैं। 'किसकी भूल' की अपेक्षा मंडली का यह नाटक कहीं अच्छा है। अच्छा हो, इस नाटक का अधिक प्रचार राजपूताना और अन्य देशी राज्यों में किया जाय। जहाँ एकतंत्र शासन है, वहाँ के लोग इसे देखकर कुछ विशेष शिक्षा ले सकते हैं; क्योंकि कठपुतली बने हुए बड़े आदमियों, नवाबों और राजों की मनोवृत्तियाँ किस प्रकार बदलती हैं, इसका ख़ासा दृश्य इस नाटक में अंकित है। पर भाषा-संबंधी बात इसमें भी वैसी ही है, जैसी पहले नाटक में। मंडली से हमारा अनुरोध है कि वह हिंदी-भाषाभिज्ञों की सहायता इस कार्य में ले। तब शायद वह अधिक सफलता प्राप्त कर सकेगी। इस नाटक में जो रस है, वह अच्छे भाषाभिज्ञ के हाथ में पड़कर अधिक उत्कृष्ट, जानदार और मर्मस्पर्शी हो सकता था।

मातादीन शुक्ल

× × ×

४. शिक्षा-शास्त्र

शिक्षा-मीमांसा—लेखक, पंडित गोपाल दामोदर तामस्कर एम्० ए० एल्० टी० लेक्चरर, स्पेंस ट्रेनिंग-कॉलेज, जबलपुर; प्रकाशक, राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर, जबलपुर; आकार डबल क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या २६८+१२; काग़ज़ साधारण; छपाई साफ़ तथा शुद्ध; मूल्य सादी जिल्द का १॥), कपड़े की जिल्द का १॥।)

शिक्षा-शास्त्र पर आज तक अँगरेज़ी में हज़ारों पुस्तकें बन गई हैं, और नित्य नई बनती जाती हैं। इसलिये जिन अँगरेज़ीदाँ सज्जनों की इस विषय में रुचि रहती है, उनको पढ़ने के लिये पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। परंतु केवल हिंदी जाननेवाले अध्यापकों तथा अन्य महाशयों को उसके विस्तृत साहित्य से लाभ उठाने का कोई अवसर नहीं मिलता। कुछ पुस्तकें बनी हैं अवश्य; परंतु उनसे ज्ञान-पिपासा की निवृत्ति नहीं होती। अब लेखकों को यह बात मालूम हो गई है। अतः कुछ दिनों से इस विषय पर हिंदी में भी ग्रंथ निकलने लगे हैं। प्रस्तुत पुस्तक एक विशेष प्रकार की कमी को पूर्ण करती है।

इस पुस्तक का कुछ विषय तो ऐसा है, जो अन्य स्थानों से लिया गया है। लेखक ने स्वयं ही अँगरेज़ी की १६ पुस्तकों के नाम देकर यह बात स्वीकार कर ली है। यहाँ मेरा अभिप्राय ऐसे विषयों से है, जैसे शिक्षा का अंतिम उद्देश्य, शिक्षा का मुख्य कार्य, शिशु-विकास, ज्ञान का प्रथमांकुर, ज्ञान का विकास, कल्पना, भावना, तर्कना, निर्णय-शक्ति, अभिरुचि, अवधान, स्मरण-शक्ति, बालक की अंतःप्रवृत्तियाँ, आदतें, संकल्प-शक्ति, क्रमातीत बालक। परंतु पुस्तक पढ़ने पर जहाँ तक मुझे पता चला है, यही मालूम हुआ है कि इन विषयों के लिखने में भी लेखक महोदय ने बड़ी चतुरता से काम लिया है। उन्होंने विषय का प्रतिपादन भारतीय आवश्यकताओं के अनुसार—भारतीय उदाहरणों के द्वारा—किया है।

कुछ विषय ऐसा भी है, जिसके लिखने में लेखक को संभवतः कहीं-न-कहीं से सहायता मिली होगी; परंतु उसका प्रधान तत्त्व लेखक के मस्तिष्क से ही निकला प्रतीत होता है, और इस अंश के लिये हम लेखक महोदय को साधुवाद दिए बिना नहीं रह सकते। ऐसे विषय के उदाहरण हैं नैतिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, बालक की स्वास्थ्य-रक्षा, शारीरिक शिक्षा, फ़ुरसत का उपयोग। यह बात नहीं कि इन विषयों का वर्णन अँगरेज़ी-पुस्तकों में है ही नहीं। है अवश्य; परंतु ऐसा नहीं, जिसे तामस्करजी हिंदी में उलथा करके रख लेते। उन्होंने प्रस्तुत पुस्तक में जो कुछ लिखा है, वह इँगलैंड या अमेरिका के स्कूलों के लिये नहीं, किंतु भारतीय स्कूलों के लिये है।

सारांश यह कि शिक्षा-शास्त्र इतना विस्तृत तथा गहन है कि जब चार हज़ार पन्ने की पुस्तक में भी सब अंगों का यथावत् समावेश नहीं हो सकता, तो फिर डेढ़ सौ सफ़्रों में कितना विषय कोई भर सकता है; तथापि तामस्करजी ने अपनी इस पुस्तक में जो कुछ भी लिखा है,

सो समयानुकूल सोच-विचार कर ही। अध्यापकों को उससे लाभ पहुँचने की बहुत कुछ आशा है।

यदि पुस्तक के अंत में एक तालिका ऐसी होती, जिसमें पारिभाषिक हिंदी-शब्दों के अँगरेज़ी-पर्यायवाचक शब्द दिए होते, तो पुस्तक की उपयोगिता और भी अधिक हो जाती।

चंद्रमौलि सुकुल

× × ×

५. जैन-साहित्य

श्रीप्रवचनसार-टीका (दूसरा खंड—ज्ञेय तत्त्व-दीपिका)—संपादक, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद; प्रकाशक, श्रीमूलचंद-किसनदास कापड़िया, दिगंबर जैन-पुस्तकालय, चंदावाड़ी, सूरत; पृष्ठ-संख्या ३१६; मूल्य १॥)

मूल-ग्रंथ श्रीप्रवचनसार, श्रीस्वामी कुंदकुंदाचार्य द्वारा विक्रम-संवत् ४९ में प्राकृत गाथा-रूप में रचा गया, जिसको क़रीब दो हज़ार वर्ष हो गए। इस ग्रंथ के तीन अधिकारों में से "ज्ञान-तत्त्व-दीपिका" गत वर्ष प्रकाशित हो चुकी है; दूसरा अधिकार "ज्ञेय तत्त्व-दीपिका" हमारे सामने है; और तीसरा अधिकार "चारित्र-तत्त्व-दीपिका" भी शीघ्र प्रकाशित होनेवाला है।

जीव और अजीव सात तत्त्वों और षट् द्रव्यों में प्रधान है, तथा ज्ञान का विषय होने से ज्ञेय कहलाते हैं। जीव का स्वरूप, उसके स्वाभाविक गुण और अजीव-रूप कर्म के संबंध से उस जीव की जो अनंत पर्याय होती हैं, उनको इस अधिकार में भली भाँति विस्तार-पूर्वक दरशाया है: और धर्म, अधर्म, आकाश, काल, नाम के शेष चार द्रव्यों का कथन भी स्पष्टता और विस्तार के साथ किया है। ११३ मूल-गाथा हैं, जो १० पृष्ठ में छापी जा सकती थीं। उनकी संस्कृत-छाया, अन्वय-सहित सामान्य अर्थ, विशेष अर्थ और भावार्थ देकर ब्रह्मचारीजी ने द्रव्यानुयोग की गूढ़ चर्चा को साधारण बुद्धि की जनता की समझ में आने लायक़ बनाकर बड़ा उपकार किया है। मूल-ग्रंथ की संस्कृत-वृत्ति दसवीं शताब्दी में परम अनुभवी श्रीजयसेनाचार्यजी ने रची; किंतु उसकी भाषा-टीका किसी विद्वान् ने अब तक नहीं की थी।

जैन-धर्म के शास्त्र छपकर प्रकाशित तो होने लगे हैं; किंतु विशेषकर प्रथमानुयोग के ग्रंथ प्रकाशित होते हैं या [पूजा-स्तोत्र आदि पाठ। वास्तविक प्रभावना आध्यात्मिक ग्रंथों के ही प्रकाशित करने से हो सकती है। शास्त्र-प्रेमियों को तो यह प्रामाणिक ग्रंथ स्वाध्याय और शास्त्र-सभा में रखना चाहिए।

× × ×

स्वामी दयानंद और जैन-धर्म—रचयिता और प्रकाशक, पंडित हंसराज शास्त्री, जमादार-बाज़ार, अमृतसर; मूल्य ।॥); मध्यस्थवाद-ग्रंथमाला का प्रथम पुष्प।

वास्तव में शुरू से आख़िर तक इसमें जो कुछ लिखा गया है, मध्यस्थवाद-रूप है; राग-द्वेष का भाव या पक्षपात की गंध कहीं भी नहीं है। लेखक महाशय ने पहले "सत्यार्थप्रकाश" के वाक्य उद्धृत किए हैं, और फिर उन वाक्यों की समालोचना करते हुए जैन-धर्म के सिद्धांत को दिखलाया तथा समझाया है। यह पुस्तक दयानंद-शताब्दी के मथुरावाले महोत्सव के समय प्रकाशित हुई थी। यदि आर्यसमाजी इस पुस्तक का अध्ययन मध्यस्थभाव से विचार-पूर्वक करेंगे, तो इसमें संदेह नहीं कि "आर्यसमाज" सर्व-सम्मति से यह प्रस्ताव करेगा कि 'सत्यार्थप्रकाश' का बारहवाँ समुल्लास या तो बिलकुल निकाल दिया जाय या फिर से लिखा जाय, और ऐसा निश्चय करके अपने आत्मगौरव और स्वामी दयानंद की महिमा को बढ़ावेगा।

× × ×

सत्यार्थ दर्पण—लेखक, श्रीअजितकुमार शास्त्री; लाला देवीसहायजी रईस, फ़ीरोज़पुर, के प्रदत्त द्रव्य से जैन-सिद्धांत-प्रकाशक प्रेस, कलकत्ता, में छपी।

यह पुस्तक दयानंद-शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित की गई थी। इसमें मुख्य-मुख्य विषयों को लेकर उन्हीं की चर्चा की गई है। "जैन-धर्म को नास्तिक कहना महान् भूल है", "ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं है", "क्या ईश्वर कर्मफल देता है?", "प्रलय पर प्रकाश", "जैन-धर्म का कर्म-सिद्धांत" आदि विषयों का भली भाँति विवेचन किया गया है। किंतु "जैन-सिद्धांत-प्रकाशक" प्रेस ने इस पुस्तक में प्रकाशित जैन-सिद्धांत के वाक्यों पर काग़ज़ की चिट लगाकर केवल पुस्तक को ही कुरूप नहीं कर दिया है, बल्कि जैनाचार्यों के पवित्र परमोपयोगी वाक्यों को छिपाने का पाप करके अपने नाम पर पानी फेरा और जैन-समाज को लज्जित किया है।

अजितप्रसाद



इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुभीते के लिये प्रति मास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास नीचे-लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई—

(१) "दुर्गावती", सचित्र नाटक। लेखक, लखनऊ-युनिवर्सिटी के हिंदी-लेक्चरार पं० बदरीनाथ भट्ट बी० ए०। संपादक, श्रीदुलारेलाल भार्गव। मूल्य १), सुंदर रेशमी जिल्द १॥)

(२) "कमला-कुसुम", सचित्र। स्त्रियों के लिये उपयोगी कहानी। लेखिका, श्रीमती गिरिजादेवी। संपादिका, श्रीमती कृष्णाकुमारी। मूल्य १)

(३) "जीवन का सद्व्यय", नवयुवकोपयोगी। लेखक, पं० हरिभाऊ उपाध्याय। संपादक, श्रीदुलारेलाल भार्गव। मूल्य १), सुंदर रेशमी जिल्द १॥)

(४) "संक्षिप्त स्वास्थ्य-रक्षा", लेखिका, श्रीमती हेमंतकुमारी देवी भट्टाचार्य। संपादक, श्रीदुलारेलाल भार्गव। मूल्य ॥≤)

(५) "भारत के सपूत", बालकोपयोगी। लेखक, श्रीब्रह्मस्वरूप। संपादक, श्रीप्रेमचंद। मूल्य ॥=)

(६) "ईश्वरीय न्याय", नाटक। लेखक, श्रीरामदास गौड़ एम्० ए०। मूल्य ॥)

(७) "महिला-मोद", स्त्रियों के लिये उपयोगी। लेखक, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी। मूल्य ॥)

(८) "खेल-पचीसी", बालकोपयोगी। लेखक, श्रीप्रतिपालसिंहजी। संपादक, श्रीप्रेमचंद। मूल्य ।=)

(९) "शिशु-पालन", लेखक, श्रीमुकुंदस्वरूप वर्मा। मूल्य १)

(१०) "प्रकृति की नीति", अनुवादक, लाला सीताराम। मूल्य ॥)

(११) "प्राकृतिकी", विज्ञान-संबंधी। अनुवादक, डॉक्टर नंदकिशोर। मूल्य २॥)

(१२) "बड़ी दीदी", उपन्यास। अनुवादक, पंडित रूपनारायण पांडेय। मूल्य १)

(१३) "विष वृक्ष", स्वर्गीय श्रीबंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास का अनुवाद। अनुवादक, पंडित जनार्दन झा। मूल्य १)

(१४) "विनोद-रत्नाकर", संग्रहकर्ता, श्रीश्यामसुंदर चतुर्वेदी। मूल्य ॥)

(१५) "भारतीय सभ्यता और उसका विश्वव्यापी प्रभाव", लेखक, श्रीसुखसंपत्तिराय भंडारी। मूल्य १)



१. वृंदावन-सम्मेलन



जिस वृंदावन-साहित्य-सम्मेलन की इतने दिनों से धूम थी, वह समाप्त हो गया। हिंदी-साहित्य में कविता-विभाग का प्राधान्य है, और उसमें भी व्रजभाषा का। व्रजभाषा का प्रधान दुर्ग वृंदावन है। इसी वृंदावन में पहलेपहल साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन होने को था। इसी से सारे हिंदी-संसार की दृष्टि वृंदावन पर लगी हुई थी। इसीलिये वृंदावन-साहित्य-सम्मेलन को इतना अधिक महत्त्व दिया जाता था। लखनऊ, इंदौर, भागलपुर, अथवा कानपूर के सम्मेलनों से जो आशा नहीं की जा सकती थी, वही आशा वृंदावन से थी। ७,८,९ और १० नवबर को वृंदावन-सम्मेलन हो गया, और उसने जो कुछ किया, उसे हम जान भी चुके। इसलिये हम यहाँ पर उसी के संबंध में विचार करते हैं। जहाँ तक हम समझते हैं, प्रतिवर्ष किसी स्थान-विशेष पर सम्मेलन करने का अभिप्राय यह है कि उस स्थान-विशेष में हिंदी-साहित्य के संबंध में प्रचार और प्रदर्शन का काम अधिकता से हो। वहाँवाले आगत प्रतिनिधियों के स्वागत का प्रबंध करते हुए उत्तरदायित्व और आतिथ्य-सत्कार के भावों को योग्यता-पूर्वक अपनावें, आगत हिंदी-प्रेमियों के साथ बैठकर भविष्य में हिंदी के हित-चिंतन के विषय में विचार करें, और साहित्यसेवियों की साहित्य-चर्चा को मनन करके अपने साहित्य-ज्ञान की परिधि को विस्तृत करें। हमारे विचार से जिस स्थान-विशेष में साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन होता है, अधिकांश में वहीं के लोगों को अधिक लाभ होता है। हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि इस कसौटी पर कसने से, हमारी राय में, यह सम्मेलन सफल नहीं हुआ। ख़ास वृंदावन में हमें हिंदी-साहित्य के संबंध में विशेष जागृति का परिचय नहीं मिला। यहाँ तक कि उक्त नगर के निवासी पर्याप्त संख्या में सम्मेलन में पधारते तक न थे। प्रदर्शन का काम और भी फीका था। यहाँ तक कि जो नितांत साधारण पंडाल बनाया गया था, वह भी ७ नवंबर को १२ बजे तक मुकम्मिल न था। आतिथ्य-सत्कार का प्रबंध था; पर वैसा नहीं, जैसा कानपूर, लखनऊ या देहरादून में। उत्तरदायित्व की यह दशा थी कि पं० छबीलेलाल-जैसे प्रधान मंत्री ने सम्मेलन के १० या १२ दिन पूर्व अपने काम से इस्तीफ़ा दे दिया था, और यदि पं० नरदेव शास्त्री-जैसे बाहरी आदमी अथक परिश्रम न करते, तो सम्मेलन का अधिवेशन हो सकता या नहीं, इसमें भी संदेह है। कुछ आवश्यक प्रस्ताव

अवश्य स्वीकृत हुए, पर जिन निबंधों के पढ़े जाने के लिये सम्मेलन ने ३ के स्थान में ४ दिन अधिवेशन की व्यवस्था की थी, वे फिर भी न पढ़े गए। यद्यपि कई लेखक महोदय अपने निबंधों को पढ़ने के लिये बहुत आतुर रहे। स्वागताध्यक्ष का भाषण सर्वथा एकांगी था। उसे यदि वृंदावन-महिमा-विवेचन कहें, तो अत्युक्ति न होगी। सभापति पं० अमृतलाल का भाषण अच्छा था। उसमें कई मतलब की बातें थीं। पर वह बहुत लंबा था। वृद्ध सभापति उसे आधा ही पढ़ पाए थे कि पसीने-पसीने हो गए। श्रोता लोग भी उसे सुनते-सुनते ऊकता गए थे। प्रस्तावों के समर्थन में जो भाषण हुए, उनमें श्रीमधुसूदन गोस्वामी का भाषण पांडित्य-पूर्ण था। पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'व्रजभाषा-विद्यालय' के पक्ष में बोलते हुए, खड़ी बोली और उसके कवियों पर जो आक्षेप किए, वे बिलकुल अनावश्यक थे। शेष भाषण साधारण थे। वृंदावन-सम्मेलन का अधिवेशन उत्साह-पूर्ण नहीं था। इसमें व्यवस्था का अभाव था। खेद है, वृंदावन से हमें जो आशा थी, वह पूरी नहीं हुई।

× × ×

२. पं० अमृतलाल चक्रवर्ती का भाषण

पं० अमृतलालजी चक्रवर्ती ने हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से वृंदावन में जो भाषण दिया है, उसमें कई बातें मनन और ध्यान करने के योग्य हैं। संपूर्ण भाषण २७ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। प्रारंभ में आपने देश के नेताओं से प्रार्थना की गई है कि वे हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने में सहायता करें। फिर आपने यह इच्छा प्रकट की है कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर भारतवर्ष-भर के विद्वान् निमंत्रित किए जाया करें, और हिंदी के प्रति अधिकाधिक लोगों की सहानुभूति प्राप्त की जाय। आपने यह भी सलाह दी है कि ऐसा कुछ प्रबंध किया जाय कि भिन्न-भिन्न प्रांतों में बालकों को शैशव-काल से ही हिंदी सुनने और याद करने का अवसर मिले। इसके बाद आपने मुसलमान-नेताओं से विशेष रूप से अपील की है कि जैसे बंगाल के मुसलमानों ने बँगला को अपनाकर अपना और देश का कल्याण किया है, वैसे ही अन्य प्रांतों के मुसलमानों को हिंदी अपनाने में संकोच न करना चाहिए। आपने हिंदी और उर्दू को भिन्न नहीं माना, केवल लिपि के भेद को स्वीकार किया है। आप नागरी-लिपि को सहज मानते हैं। इसी से उसे फ़ारसी-लिपि से अच्छी समझते हैं। इसके आगे चक्रवर्तीजी ने शिक्षित लोगों की उस प्रवृत्ति का वर्णन किया है, जिसके वशीभूत होकर लोग हिंदी के ज्ञाता समझे जाने में अपना अपमान समझते थे। आपने बतलाया है कि पं० मदनमोहनजी मालवीय ने हिंदी के 'हिंदोस्थान' का संपादन स्वीकार करके उस समय के शिक्षितों का दृष्टि-कोण बदल दिया था, और लोग हिंदी के लेखक या ज्ञाता होने में अपमान समझने की बात भूल गए थे। आपकी राय में अँगरेज़ी के समान प्रौढ़ता अभी न तो हिंदी में है, न बँगला में। हाँ, भाषा-संबंधी मिठास में बँगला और हिंदी इस समय अँगरेज़ी से कुछ भी न्यून नहीं है। आपका विचार है कि वर्तमान बँगला संस्कृत-शब्दावली का अवलंबन लेकर जिस समास-व्यापिनी गंभीर भाषा का दृश्य दिखलाती है, उससे हिंदी सरल है। आपने ज्ञान के प्रचार के लिये हिंदी की उन्नति की आवश्यकता स्वीकार की है। चक्रवर्तीजी का कहना है कि बंगाली, मराठे और गुजराती अपनी भाषाओं में प्रकाशित समाचारपत्रों को जिस भाव से अपनाते हैं, उस प्रकार से अभी हिंदी-भाषाभाषी नहीं। यही कारण है कि अभी किसी भी हिंदी-पत्र के २० हज़ार से अधिक ग्राहक नहीं हैं। हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों में हिंदी-प्रचार के लिये आपने उपदेशक-मंडल, पौराणिक कथाओं के पाठ का प्रबंध, इंद्रसभा-जैसे खेलों का पुनरुद्धार तथा नाटकों की योजना की आवश्यकता बतलाई है। लेखकों और प्रकाशकों के संबंध में चक्रवर्तीजी ने विस्तार के साथ विचार किया है। आपकी धारणा है कि समाज के निर्धन, पर उच्च शिक्षा-प्राप्त, शिक्षित युवकों द्वारा ही साहित्य का विस्तार और वृद्धि हो सकती है। इन निर्धन युवकों की जीविका का प्रबंध साहित्य-सेवा के साथ-ही-साथ होना चाहिए। प्रकाशकों को आपने सलाह दी है कि वे लेखकों का आदर किया करें, और ग्रंथ के प्रकाशन में जो लाभ हो, उसका एक निर्दिष्ट अंश लेखक को दे दिया करें। इससे लेखक का काम भी चलेगा, और वह असंतुष्ट भी न रहेगा। आपने एक ऐसी नियमावली के बनाने की भी उपयोगिता स्वीकार की है, जिसके अनुसार लेखकों के पारिश्रमिक का निश्चय किया जा सके। आप समालोचना के पक्षपाती हैं; पर

उसे द्वेष-शून्य चाहते हैं। अनुवाद-ग्रंथों के प्रकाशन के भी आप पक्षपाती हैं। आपकी यह हार्दिक इच्छा है कि साहित्य-निर्माण के लिये १ करोड़ की पूँजी एकत्र की जाय, तथा उपयुक्त शिक्षा-प्राप्त २०० युवक ग्रंथ-निर्माण के काम में लगाए जायँ; इनमें से १०० तो मौलिक रचनाएँ करें, और १०० अनुवाद करके भाषा-भंडार भरें। आपका ख़याल है कि इस व्यवस्था से हिंदी का साहित्य अल्प काल में सर्वांग-पूर्ण हो सकता है। संक्षेप में, पं० अमृतलालजी चक्रवर्ती के भाषण का यही सारांश है। चक्रवर्तीजी के विचारों के संबंध में तो हमें यहाँ कुछ भी नहीं कहना। वे सर्वथा प्रशंसनीय हैं। पर इतना कहने में हमें कुछ भी संकोच नहीं कि उन्होंने अपने भाषण में जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह कहीं-कहीं दुरूह, जटिल और उच्छृंखल अवश्य है।

× × ×

२. कवि-सम्मेलन

वृंदावन में साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर कवि-सम्मेलन भी हुआ था। इसके सभापति श्रीगोपाल-शरणसिंहजी थे। यह कवि-सम्मेलन दो दिन हुआ। सभापति महोदय का भाषण निष्पक्ष और उत्तम था। सम्मेलन में कई उत्तम कविताएँ पढ़ी गईं। पं० रामनरेश त्रिपाठी की कविता को कुछ लोगों ने अधिक पसंद किया। ब्रजभाषा की भी कई अच्छी कविताएँ पढ़ी गईं। इनमें एकआध में राष्ट्रीय भावों का सुंदर चमत्कार था। ब्रजभाषा की शेष कविताओं में वही शृंगार-रस और पुराने भाव थे, जिनको सुनते-सुनते चित्त ऊब गया है। खेद है, सभापति के सौजन्य से कवि कहलानेवाले महापुरुष अनुचित लाभ उठा रहे थे। कवि-सम्मेलन में, बहुत अंशों में, व्यवस्था का अभाव था, और कुछ लोग तो उसमें खिलवाड़ का प्रतिबिंब देखकर उसे कोरी विनोद की सामग्री समझ रहे थे। अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन में जो गंभीरता और नियंत्रण होना चाहिए, उसका वहाँ कहीं पता न था। जान पड़ता है, सम्मेलन में जो कविताएँ पढ़ी गई थीं, वे पहले से देख नहीं ली गई थीं, और यदि देखी भी गई थीं, तो पूर्ण असावधानी के साथ; क्योंकि बहुतेरी ऐसी कविताएँ भी पढ़ी गईं, जो अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन में तो क्या, किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र कवि-सम्मेलन में भी न पढ़ी जानी चाहिए थीं। खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा की कविताएँ अधिक थीं; पर इन्हीं में दोषों की भरमार भी। कोई कवि महोदय पुराने कवियों के भावों को ज्यों-का-त्यों लेकर और थोड़ा-सा परिवर्तन करके अपना बतला रहे थे, और तालियाँ पिटवा रहे थे; कोई सज्जन 'खंजन-सी चाल' की नई उपमा सुना रहे थे, और कोई साहब अपने अलंकार-ज्ञान की डौंडी पीटते हुए उपमेयोपमा को अनन्वय बतला रहे थे। पूर्वजों के बतलाए 'रबड़ और केचुआ'-छंदों की भी कमी न थी। एक और भी मज़ेदार दृश्य था। जो तुकबंद अच्छे स्वर में, और विशेष कड़क के साथ, अपनी रचनाएँ पढ़ते थे, उनका सम्मान ताली पीटकर विशेष रूप से किया जाता था, चाहे उनकी रचना बिलकुल ही निकृष्ट क्यों न हो। वृंदावन के कवि-सम्मेलन में कविता की ऐसी छीछालेदर देखकर बड़ा दुःख होता था। एकआध सज्जन ने तो अनधिकारियों द्वारा ऐसी अनियंत्रित साहित्य-हत्या होती देखकर उस संबंध में कुछ जिज्ञासा भी करनी चाही; पर उनका वह प्रयत्न अरण्य-रोदन के समान हुआ, और उनको कुछ कहने का अवसर ही न दिया गया। इस कवि-सम्मेलन में एक और भी अप्रिय घटना हो गई। कविताएँ सुनने को कई महिलाएँ भी उपस्थित थीं। कनपुरिया साहित्य-मंडल के एक कवि ने अपनी शृंगार-पूर्ण रचना पढ़ी। इसमें उरोजों का भी वर्णन था। कुछ लोगों ने आपत्ति की कि स्त्रियों के समक्ष ऐसे वर्णन न पढ़े जाने चाहिए। कवि महोदय ने इसका जो उत्तर दिया, उसे असंतोषजनक मानकर स्त्रियाँ उठकर छोड़कर चली गईं। उनको फिर बुला लाने का उद्योग किया गया; पर वह व्यर्थ हुआ। महिलाओं का इस प्रकार रूठ जाना कई सज्जनों को बहुत बुरा लगा, और उन्होंने उस परिस्थिति का तीव्र प्रतिवाद किया, जिसके कारण ऐसी घटना घटी थी। निदान वृंदावन-सम्मेलन में अच्छी कविताएँ तो बहुत थोड़ी पढ़ी गईं, और कुत्सित तुकबंदियाँ बहुत अधिक। इसके अतिरिक्त गंभीरता और नियंत्रण के अभाव तथा अव्यवस्था के प्राधान्य के कारण सम्मेलन द्वारा जो थोड़ा-सा कविता का हित हुआ भी, वह इतना प्रच्छन्न था कि उससे बहुत कम लोग लाभ उठा सकेंगे। संक्षेप में, हमारी राय में, वृंदावन का कवि-सम्मेलन उचित सफलता नहीं प्राप्त कर सका।

× × ×

४. लेखक-मंडल

आजकल धीरे-धीरे हिंदी के लेखकों की संख्या बढ़ रही है। इनमें से बहुतेरे ऐसे भी हैं, जो अपनी जीवन-यात्रा भी इसी लेखन-व्यवसाय पर चला रहे हैं। यह सब संतोष की बात है। परंतु यह बात निस्संकोच रूप से कही जा सकती है कि हिंदी के उन लेखकों की आर्थिक स्थिति अब भी बहुत ख़राब है, जो अपनी रोटी का प्रश्न केवल लेखन-व्यवसाय द्वारा हल करना चाहते हैं। लेखन-व्यवसाय द्वारा योरप और अमेरिका में भी आर्थिक लाभ बहुत कम होता है। फिर भारत में तो अभी यह व्यवसाय बिलकुल नया है। और, हिंदी में तो उसकी अवस्था बिलकुल प्रारंभिक है। ऐसी दशा में, आर्थिक लाभ की परवा न करके, जो लेखकगण हिंदी की सेवा करने में बद्ध-परिकर हैं, उनके साहस और सदनुष्ठान की भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है। इधर साल-डेढ़ साल के भीतर लेखकों के आर्थिक कष्ट की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में भी इस संबंध में कभी-कभी लेख आदि निकलते रहते हैं। प्रयाग में एक लेखक-मंडल भी स्थापित हुआ है। इस मंडल का उद्देश्य यह है कि वह लेखकों को इस प्रकार से संगठित करे, जिससे उनकी वर्तमान असुविधाएँ दूर हो जायँ, और वे पराधीनता के अपमान और अर्थाभाव के दुःख से मुक्त रहकर स्वच्छंदता-पूर्वक साहित्य-सेवा कर सकें। लेखक-मंडल का उद्देश्य परम प्रशंसनीय है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। परंतु प्रश्न यह है कि क्या मंडल का उद्देश्य व्यवहार्य है ? वृंदावन-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर इस लेखक-संगठन की भी चर्चा हुई थी। प्रयाग के एक नवयुवक लेखक ने साहित्य-सम्मेलन में इस आशय का एक प्रस्ताव भी उपस्थित किया था। वहीं एक दिन साहित्य-सम्मेलन के दिनों में, प्रायः २५ मिनट के लिये, लेखक-मंडल का एक पृथक् अधिवेशन भी हुआ। उसमें भी उन्हीं प्रयागी नवयुवक ने मंडल की उपयोगिता के संबंध में अपने विचार प्रकट किए थे। खेद है कि लेखक-मंडल ने अब तक कोई ऐसी स्कीम नहीं पेश की, जिससे इस बात का आभास मिलता हो कि मंडल अपने उद्देश्य को आंशिक रूप में भी सफल बना सकेगा। एक बात और है। उक्त प्रयागी नवयुवक लेखक के कथन में प्रकाशकों के प्रति जो भाव प्रकट किए गए थे, वे कदाचित् लेखकों और प्रकाशकों के सहयोग को कम करनेवाले हैं, बढ़ानेवाले नहीं। हम लेखकों के सम्मान के सोलहो-आने समर्थक हैं। हम नहीं चाहते कि प्रकाशक उनका अपमान करें। पर हमारे ख़याल से अपनी सम्मान-रक्षा लेखक स्वयं कर सकते हैं। आज भी बीसों ऐसे लेखक हैं, जो अपनी शर्तों पर ही प्रकाशकों से सहयोग करते हैं। लेखकों की अवज्ञा का कारण वास्तव में उनकी दरिद्रता है। यदि किसी प्रकाशक को ४) फ़ार्म के हिसाब से बँगला-पुस्तकों के हिंदी-अनुवाद सुलभ हैं, तो कोई कारण नहीं जान पड़ता कि वह इतनी मूर्खता करे कि जान-बूझकर उनके लिये ३२) प्रतिफ़ार्म व्यय करे। यह तो व्यवसाय की बात है। लेखक सदा महँगे दामों में अपनी कृति के बेचने का उद्योग करेगा, और प्रकाशक सदा उसे सस्ते दामों में ख़रीदना चाहेगा। जिसकी आवश्यकता अनिवार्य होगी, उसी को दबना पड़ेगा। जो लेखक प्रकाशकों के यहाँ नौकर हैं, उनके विषय में भी यही बात कही जा सकती है। यदि लेखक-मंडल लेखकों की आर्थिक कठिनाइयों को दूर कर सके, तो हम बड़े प्रसन्न होंगे। पर हमें विश्वास नहीं कि जो लेखक छोटी-छोटी बातों को लेकर आपस में कलह और द्वेष का आश्रय लिया करते हैं, वे इतने संगठित हो जायँगे कि लेखक-मंडल के उद्देश्य की पूर्ति कर सकें।

× × ×

५. व्रजभाषा-विद्यालय

वृंदावन-साहित्य-सम्मेलन ने एक प्रस्ताव इस आशय का पास किया है कि वृंदावन में एक ऐसा विद्यालय स्थापित किया जाय, जिसमें व्रजभाषा-कविता की शिक्षा की व्यवस्था रहे। यदि यह प्रस्ताव कार्य-रूप में परिणत किया जा सके, और शिक्षा की सुव्यवस्था हो सके, तो हमारी राय में इससे हिंदी के प्राचीन साहित्य का बड़ा उपकार होगा। वृंदावन के व्रजभाषा-विद्यालय द्वारा हम प्रधानतः खोज का काम करवाना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि इस विद्यालय के अध्यापक और विद्यार्थी कविता में प्रयुक्त होनेवाले व्रजभाषा के शब्दों के शुद्ध रूप ढूँढ़ें। उसके केंद्र में होने से, उन्हें ऐसी खोज में सरलता भी होगी; क्योंकि सौभाग्य से व्रजमंडल में अब भी व्रजभाषा बोली जाती है। इस विद्यालय के एक विभाग का

काम यह भी होना चाहिए कि वह ब्रज के बाहर रहनेवाले ब्रजभाषा-प्रेमी विद्वानों की, ब्रजभाषा-शब्दों के शुद्ध रूप ढूँढ़ निकालने में, सहायता करे। फिर ब्रजमंडल में अभी सैकड़ों कविता ग्रंथ छिपे पड़े हैं। विद्यालय के संचालकों का कर्तव्य होगा कि वे किसी-न-किसी प्रकार उनका भी उद्धार करें। इस विद्यालय के पुस्तकालय में ब्रजभाषा के सभी ग्रंथों का रहना परमावश्यक होगा। ग्रंथों का संग्रह करने के बाद ब्रजभाषा-विद्यालय को एक 'ब्रजभाषा-व्याकरण' और 'ब्रजभाषा-कोष' बनाने के लिये भी सचेष्ट होना पड़ेगा। ब्रजभाषा-विद्यालय को इस बात के लिये भी तैयार रहना होगा कि यदि काशी, लखनऊ और प्रयाग-विश्वविद्यालयों के रिसर्च-स्कालर ब्रजभाषा-संबंधी खोज के लिये ब्रजमंडल की यात्रा करें, तो वह उनकी प्रत्येक प्रकार से सहायता करे। उक्त विद्यालय में समय-समय पर ब्रजभाषा के प्रकांड पंडितों के व्याख्यानों का भी प्रबंध रहना चाहिए, जिससे ब्रजभाषा का वास्तविक रूप समझने में लोगों को सुविधा हो। एक ओर तो यह सब करने के लिये तैयार रहना होगा, और दूसरी ओर विद्यालय में ब्रजभाषा-कविता पढ़ाने की संपूर्ण व्यवस्था होगी। यदि विद्यालय संपूर्णतः स्वतंत्र रहे, तो क्या कहना है। पर यदि वह ऐसा न कर सके, तो काशी की नागरीप्रचारिणी सभा अथवा प्रयाग के साहित्य-सम्मेलन से संबद्ध रहने में भी हमें कोई हानि नहीं प्रतीत होती। हम तो यह भी चाहेंगे कि विद्यालय सरकार से भी सहायता ले। हमारी राय में विद्यालय के उच्च और विद्वत्ता-पूर्ण उद्देश्य से परिचित होने पर प्रांतीय सरकार उसकी मदद करने में कभी पराङ्मुख न होगी। एक बात और। विद्यालय के संचालकों को भूलकर भी खड़ी बोली अथवा उर्दू के प्रति द्वेष-भाव का परिचय न देना चाहिए। हमारा दृढ़ विश्वास है कि खड़ी बोली के पृष्ठपोषक इस विद्यालय के कदापि विरोधी न होंगे, वरन् इससे सहानुभूति रखते हुए इसकी सहायता भी करने को तैयार रहेंगे। विद्यालय का एक-मात्र उद्देश्य ब्रजभाषा-साहित्य का संरक्षण होना चाहिए; और कुछ नहीं। इसमें किसी को विरोध न होगा। क्या खड़ी बोलीवाले चाहेंगे कि उनके सूर, तुलसी, देव, बिहारी केशव और मतिराम आदि महाकवियों के ग्रंथों का लोप हो जाय? कदापि नहीं। साहित्य-सम्मेलन ने ऐसे उपयोगी विद्यालय की स्थापना के लिये प्रस्ताव पास करके बड़ी बुद्धिमानी का काम किया है। ईश्वर उसका संकल्प शीघ्र पूरा करे।

× × ×

६. साँप के काटे का इलाज

हमारे यहाँ हर साल साँप के काटने से मनुष्यों और पशुओं की कितनी बड़ी संख्या अकाल-मृत्यु का ग्रास बनती है, यह सरकारी रिपोर्ट देखने से मालूम किया जा सकता है। अभी तक साँप के विष की कोई अव्यर्थ ओषधि नहीं निकली, यही यहाँ के लोगों का विश्वास है। किंतु आफ्रिका में जर्मन डॉक्टरों ने सर्प-विष-चिकित्सा में बहुत अधिक सफलता प्राप्त की है। आफ्रिका में बड़े-बड़े विषधर नाग रहते और वे प्राणियों के प्राणांत का कारण बनते हैं। आफ्रिका के ब्लैकमंबा (यहाँ के असल काले की जाति का), नाजा, टाई-युडियानस वगैरह जातियों के साँपों का विष बड़ा ही तीव्र होता है। मगर जर्मन-डॉक्टर इनके विष की चिकित्सा में भी संपूर्ण रूप से कृतकार्य हुए हैं। कैल्शियम क्लोराइड और पोटैशियम परमैंगनेट, ये दोनों पदार्थ सर्प-विष के अत्युत्तम प्रतिषेधक सिद्ध हुए हैं। वियाना-प्रदेश के डॉक्टर रुडल्फ की राय में कैल्शियम १ भाग और जल १२ भाग मिलाकर उस द्रव की १० से २० ग्राम तक की मात्रा काटने की जगह अथवा उसके चारों ओर की खाल के नीचे इंजेक्शन द्वारा पहुँचा देने से विष का फैलना फ़ौरन् बंद हो जाता है। इस प्रकार की चिकित्सा से सभी तरह के तीव्र-से-तीव्र विषों में आशानुरूप फल प्राप्त होते देखा गया है। दो घंटे में ही मार डालनेवाले अत्यंत तीव्र विष को काफ़ी मात्रा में, किसी प्राणी के शरीर में, प्रविष्ट कराया और साथ ही कैल्शियम क्लोराइड का इंजेक्शन (टीका) दिया गया, तो वह प्राणी नहीं मरा। किंतु यह परीक्षा करनेवाले डॉक्टरों का कहना है कि साँप के काटने पर जितनी ही जल्दी इसका इंजेक्शन दिया जाय, उतना ही अच्छा। इस सहज चिकित्सा से सब लोग आप ही आसानी से लाभ उठा सकें, इसके लिये डॉक्टरों ने ऐसे-ऐसे छोटे-छोटे, जेब में रखने लायक़, बक्स बना दिए हैं, जिनमें एक रबर-सिरिंज, दो इंजेक्शन करने की सुइयाँ और १-१ ग्राम की कैल्शियम क्लोराइड की टिकियों से भरी एक छोटी शीशी रहती है। अपने पास यह सब सामान रखने-

वाला बहुत शीघ्र आसानी से प्राण-रक्षा कर सकता है। कैल्शियम क्लोराइड का इंजेक्शन देकर उसके साथ पोटैशियम परमैंगनेट से भी चिकित्सा की जा सकती है। इसका तरीक़ा यह है कि पहले काटने की जगह के ऊपर कसकर बाँध दे, और फिर घाव को तेज़ छुरी से ख़ूब काटकर साफ़ कर डाले, जिसमें ज़हर-मिला ख़ून सहज में अच्छी तरह निकल जा सके। उसके बाद पोटैशियम परमैंगनेट के १५ से २० तक दाने १ लीटर पानी में (पाव-भर से कुछ कम) घोलकर, घाव पर अच्छी तरह से उसकी मालिश करे। काटने के बाद १०-१५ मिनट के अंदर ही यह चिकित्सा शुरू कर देनी चाहिए।

लिली-प्रदेश के पास्टर इंस्टीट्यूट के डाइरेक्टर डॉक्टर पामेट भी सर्प-विष के रासायनिक विश्लेषण के एक विशेषज्ञ माने जाते हैं। उन्होंने भी ख़ूब खोज करके सर्प-विष का प्रतिषेधक एक टीका निकाला है। उनकी चिकित्सा ने भी बड़ी सफलता पाई है। उन्होंने एक घोड़े के शरीर में, कई महीने तक क्रमशः अधिकाधिक मात्रा में, सर्प-विष का इंजेक्शन देकर यह अनुभव किया कि वह घोड़ा पहले दिन की मात्रा से ८०गुनी मात्रा तक विष पचा गया। इस घोड़े के ख़ून का जल का हिस्सा लेकर साँप के काटे आदमी के इंजेक्शन दिया गया, तो वह विष का प्रतिषेधक सिद्ध हुआ, अर्थात् फिर विष नहीं फैला, और न हानि ही पहुँचा सका। वास्तव में पहले काले साँप के विष से बने 'सिराम' का वाइपर-जाति के विषधर सर्प के विष पर प्रयोग होते सुना गया था। किंतु अब डॉक्टर पामेट द्वारा ईजाद किया गया सिराम ही सबसे बढ़कर विषनाशक सिद्ध हुआ है। इसके बनाने की प्रक्रिया ऊपर बताई ही जा चुकी है। उक्त डॉक्टर का तो यह कहना है कि साँप के काटने के १½ घंटे बाद भी अगर रोगी के शरीर में इस सिराम का इंजेक्शन किया जायगा, तो अवश्य ही उसके प्राण बच जायँगे। साँप का विष जैसे मनुष्य आदि प्राणियों के प्राणों का शत्रु होता है, वैसे ही दवा के रूप में उसका प्रयोग प्राणरक्षक भी सदा से प्रसिद्ध है। रैटल-जाति के सर्प का विष इपिलेप्टिक-रोग को नष्ट कर देता है। योरप में दवाओं के लिये सर्प-विष की बड़ी क़द्र है। कोई उद्योगी भारतवासी अगर भारत से काले साँपों का विष योरप भेजने का धंधा शुरू कर दे, तो उसे इस व्यवसाय में शीघ्र ही अच्छा लाभ होने की संभावना है। हमने ऊपर सर्प-विष की जो दो-तीन चिकित्साएँ सर्व-साधारण के लाभ के लिये प्रकाशित कर दी हैं, उनसे लोगों को ऐसी विपत्ति के अवसर पर अवश्य ही लाभ उठाना चाहिए।

× × ×

७. प्रवासी भारतवासियों के अभाव-अभियोग

हमारे लाखों भाई भूख की ज्वाला मिटाने के लिये जन्मभूमि-जननी की गोद छोड़कर बाहर विदेशी उपनिवेशों में, बुरी दशा में, रहने के लिये विवश हैं। परंतु अब तो वे इस दशा में भी वहाँ न रहने पावें, इसका ही पूरा प्रबंध किया जा रहा है। उनकी परिस्थिति का ज्ञान थोड़ा-बहुत होने पर भी हममें से कितने ऐसे भ्रातृवत्सल भारतीय हैं, जो उनके लिये कुछ सच्चा और ठोस काम करना अपना कर्तव्य समझते हैं? अभी हाल में पंजाब-केसरी पूज्य लाला लाजपतरायजी के 'पीपुल'-पत्र में एच्० एस्० पोलक महाशय का एक छोटा-सा लेख इसी संबंध में प्रकाशित हुआ था। उसका सारांश यह है—

भारत के बाहर पंद्रह लाख के लगभग भारतवासी स्थायी रूप से निवास करते हैं, इसकी शायद बहुतों को ख़बर ही नहीं है। इन १५ लाख में अधिकांश ऐसे हैं, जिनका जन्म उन्हीं उपनिवेशों में हुआ है। दक्षिण आफ़्रिका-प्रवासी भारतवासियों में दो-तिहाई ऐसे हैं, जो वहीं पैदा हुए हैं। फ़िजी में ऐसे लोगों की संख्या फ़ी सदी ४३ है। मारिशस, ब्रिटिश-गायना और ट्रिनीडाड में इन प्रवासी भारतवासियों की संख्या और भी अधिक होने की संभावना है। यह संख्या दिन-दिन बढ़ती ही जायगी (अगर दक्षिण-आफ़्रिका की तरह भारतीयों को निकाल बाहर करने की चेष्टा सर्वत्र न की गई, तो!)। ये प्रायः श्रमजीवी ही हैं, जो पेट के लिये बाहर जा बसे हैं। जिन लोगों ने इन सब प्रवासी भारतीयों के विषय में सोचा-विचारा है, इस संबंध की प्रकाशित पुस्तकों, पत्रों और रिपोर्टों का अध्ययन एवं अनुशीलन किया है, वे जानते हैं, इनकी सामाजिक अथवा आर्थिक दशा कितनी शोचनीय है! जो लोग भारतीय श्रमजीवियों के बाहर भेजने के विरोधी हैं, उनके विरोध का कारण यही है कि वहाँ गए हुए भारतीयों में न तो किसी प्रकार का संगठन है, और न सहानुभूति की भावना। वे वहाँ अत्यंत असहाय

अवस्था में अत्याचार-अविचार की मार खा रहे हैं। इसके सिवा फ़िज़ी के भारतीय कुलियों का चरित्र नैतिक दृष्टि से भी बहुत हीन हो रहा है। वहाँ औरतों और मर्दों की संख्या में इतना अधिक अंतर है—मर्द इतने अधिक हैं, और औरतें इतनी कम हैं—कि वहाँ के हिंदोस्तानी नर-नारी किसी तरह अपने चरित्र को पवित्र नहीं रख सकते। उनमें शिक्षा का, आचार-विचारों के महत्त्व की जानकारी का पूर्ण अभाव है। साधारणत. भारतीयों की यह विशेषता सर्वत्र देखी जाती है कि वे क़ानून की पाबंदी पूरी-पूरी करते हैं; किंतु फ़िज़ी में फ़ी सदी ७५ मुजरिम प्रवासी भारतीय ही होते हैं। वाई० एम० सी० एसोसिएशन के एक सेक्रेटरी मिस्टर ए० डब्ल्यू० मैकमिलन साहब कुछ दिनों से फ़िज़ी-प्रवासी भारतीयों के बीच प्रचार-कार्य कर रहे हैं। उनकी उन्नति, उद्धार, सुधार और उपकार करनेवाले यह सज्जन वास्तव में धन्यवाद के पात्र हैं। प्रवासी भारतवासियों में शिक्षा का कितना प्रचार है, इसकी जाँच करने के लिये, एक कमीशन बिठाने के वास्ते, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने देशवासियों से अपील और सरकार से प्रार्थना की है। सच तो यह है कि सभी उपनिवेशों में प्रवासी भारतीयों में शिक्षा की बड़ी ही कमी है। फ़िज़ी में २४,००० भारतीय बालक हैं, जिनमें केवल १,५०० ही स्कूलों में पढ़ते हैं। ये थोड़े-से बालक भी कुछ फ़िज़ी-सरकार की कृपा या सहायता से नहीं शिक्षा पाते। यह ईसाई मिशनरियों की ही चेष्टा का फल है। फ़िज़ी तथा अन्य सब उपनिवेशों में शिक्षा-प्रचार का अच्छा और यथेष्ट प्रबंध रहने की बड़ी आवश्यकता है। ऐसी शिक्षा-संस्थाओं की निगरानी के लिये एक हिंदोस्तानी निरीक्षक का रहना भी उतना ही ज़रूरी जान पड़ता है। पूर्व-आफ़्रिका, वेस्ट-इंडीज़, ब्रिटिश-गायना आदि सभी उपनिवेशों में भारतीयों की शिक्षा का यही हाल है। असल में राजनीतिक पराधीनता या अक्षमता के कारण ही यह अव्यवस्था या बुरी अवस्था है। औपनिवेशिक सरकारें भारतीयों में शिक्षा-प्रचार करके उनको राजनीतिक अधिकारों की जानकारी हासिल करने देना नहीं चाहतीं। उनकी ओर से यही उद्योग हो रहा है कि भारतीय राजनीति के ज्ञान से वंचित रहें, और वोट का अधिकार न प्राप्त कर सकें। उपनिवेशों के भारतीयों की सामाजिक, नैतिक या राजनीतिक उन्नति तभी होगी—इनके अभाव-अभियोगों की सुनवाई तभी होगी—इनमें संघ-शक्ति की भक्ति और संगठन की प्रबल उत्कंठा का उन्मेष तभी होगा—जब सबसे पहले शीघ्रातिशीघ्र शिक्षा का प्रचार किया जायगा। साधारण निर्वाचन-सूची के विरुद्ध योरपियन औपनिवेशिकों की आपत्ति यही है कि गोरे वोटर काले वोटरों से हार जायँगे। किंतु इसका उत्तर यह है कि गोरों की असुविधा का ख़याल करके कालों को नागरिक अधिकारों से वंचित रखना न्याय-संगत है? प्रवासी भारतीयों की उन्नति उनके स्वदेशवासी भाइयों की चेष्टा पर ही संपूर्ण रूप से निर्भर है। ईसाई मिशनरी जब स्वयं (चाहे वह अपने धर्म के प्रचार के उद्देश्य से ही क्यों न हो) प्रवृत्त होकर प्रवासी भारतीयों की शिक्षा-विषयक, सामाजिक और नैतिक उन्नति करने में लगे हैं, तब हम भारतवासी क्या चुपके ही बैठे रहेंगे? हम क्या देशवासी भाइयों के उद्धार और सुधार के संबंध में अपने कर्तव्य का पालन न करेंगे? भारतवासी अपने बिछुड़े हुए भाइयों की सहायता करने से मुँह मोड़े रहें, तो यह उनके लिये बड़ी ही लज्जा की बात है। स्वदेश की संतानों के प्रति मनुष्य-मात्र का जो कुछ कर्तव्य होता है, उसी के अनुरोध से यदि हज़ार-दो हज़ार सुशिक्षित, सच्चरित्र, स्वार्थत्यागी, समर्थ नवयुवक चाहें, तो उपनिवेशों में जाकर, कष्ट उठाकर भी, अपने असहाय भाइयों का बहुत कुछ भला कर सकते हैं। केवल एक दिन हड़ताल या विरोध-सूचक सभाएँ करके कुछ नहीं हो सकता। मिस्टर पोलक अंत में लिखते हैं कि भारतीय नवयुवक बंधुओं को मैं यही उपदेश देता हूँ कि वे शिक्षा-प्रचार, समाज-संस्कार, राजनीतिक सुधार आदि किसी काम को अपना लक्ष्य बनाकर, जीवन का कुछ समय प्रवासी भारतीयों की अत्यंत आवश्यक उन्नति करने में लगाकर, अपनी जाति, समाज और देश के प्रति अपने कर्तव्य का यथाशक्ति पालन करें।

हमें आशा है, मि० पोलक की यह मर्मस्पर्शी अपील केवल अरण्य-रोदन ही न सिद्ध होगी। भारत के आशास्थल नवयुवक सहृदयता और सदयता का परिचय देते हुए इसका उचित उत्तर देने में पश्चात्पद न होंगे। तथास्तु।

× × ×

८. नए बड़े लाट

बड़े लाट रीडिंग साहब जा रहे हैं। इसी एप्रिल में चले जायँगे। इनकी जगह पर नए लाट होकर आ रहे हैं राइट ऑनरेबल मि० एडवर्ड एफ़० एल० उड। आप इस वक्त ४४ वर्ष के हैं। सन् १८८१ में आपका जन्म हुआ था। पहले कभी जो सर चार्ल्स उड भारत-मंत्री थे, उन्हीं के आप पोते हैं। अपने बाबा की तरह इन्होंने भी शिक्षा-संबंधी बातों में नाम कमाया है। इनकी-सी हलकी उम्र में शायद कोई भी दूसरा पहले वायसराय होकर नहीं आया। पर यह सिद्धांत अँगरेज़-सिविलियनों के लिये लागू नहीं है। कोई भी हिंदोस्तानी शायद इतनी छोटी उम्र में इस क़ाबिल न समझा जाता कि उसके हाथ में भारत-सरीखे विशाल देश की वायसरॉयल्टी दी जाती। इसी से यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस दल का आज पार्लियामेंट में प्रभुत्व एवं बहुमत है, उसकी नज़रों में मि० उड वायसराय होकर भेजे जाने के लिये इतनी कम उम्र में भी कितने ज़्यादा फ़िट हैं।

पिछले चुनाव के बाद से पार्लियामेंट में कंज़रवेटिव-दल का बहुमत है। मि० उड भी इसी कंज़रवेटिव-दल के हैं। आप अब तक "बोर्ड ऑफ़ एग्रिकल्चर एंड फ़िशरीज़"-विभाग के प्रेसीडेंट रहे हैं। कंज़रवेटिज़्म के संबंध में आपका मत इस प्रकार है—

प्रकृति के शांति-पूर्ण एवं परिपूर्ण विकास-जैसा सामाजिक व्यवस्था का विकास करना ही कंज़रवेटिज़्म है। कंज़रवेटिज़्म एक प्रकार का नैतिक और आध्यात्मिक विकास है। इसके प्रत्येक उद्देश्य का परिणाम मनुष्य की नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रकृति का निर्माण तथा रक्षा है। अस्तु, आपका कंज़रवेटिव-सिद्धांत आगे चलकर व्यापार की उन्नति, राज्य की आमदनी और मनुष्य की वैयक्तिक रक्षा के लिये आवश्यक है; क्योंकि ये दोनों ही मनुष्य की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति अथवा विकास के लिये अनिवार्य हैं।

इससे अनुमान यह किया जा सकता है कि आपके वायसराय होकर यहाँ आने पर लंकाशायर और मैनचेस्टर के व्यापार की रक्षा का विशेष आयोजन होगा। बहुत संभव है, व्यापारिक कंपनियों के ज़ोर डालने पर ही कंज़रवेटिव-सरकार ने मि० उड-सरीखे व्यापार-नीतिवाले सज्जन को भारत का वायसराय बनाकर भेजना ठीक समझा है। युगों में परिवर्तन एवं परिवर्द्धन हो जाने के कारण लंकाशायर और मैनचेस्टर के व्यापार को आए दिन कुछ धक्का पहुँचा है। यदि उनके माल की खपत के लिये मि० उड यहाँ आकर वास्तविक सुबीता कर देंगे, तो इँगलैंड की बेकारी की समस्या हल हो जायगी, और तभी कदाचित् राज्य की आमदनी की रक्षा करने का मि० उड का उद्देश्य भी सफल हो सकेगा। इस समय की अपेक्षा उस समय कदाचित् अधिक संतोष मि० आर्म्स बी० गोर को भी होगा; क्योंकि आप भी मि० उड को हिंदोस्तान के वायसराय के पद पर देखने के लिये उत्सुक थे—अधीर हो रहे थे!

मि० उड की सम्मति में समाज-वाद (सोशियालिज़्म) बहुत पीछे है, और पीछे ही रहेगा; क्योंकि वह व्यक्तित्व, व्यक्तिगत स्वाधीनता और अंतरराष्ट्रीयता की वेदी पर एक राष्ट्र की परंपरा का बलिदान करता है। इससे हम यह समझ सकते हैं कि मि० उड भारत के उन अमीरों की तरह हैं, जो अमीरों के अधिकारों की रक्षा, पूँजीपतियों की सहायता के आयोजन और जनसत्ता के अंतिम उद्देश्य के संहार के समर्थक हैं। सीधन, मि० उड की राजनीतिक दृष्टि में, व्यक्ति और राज्य के मध्य एक अनवरत संघर्ष है। इसलिये एक ऐसा विवेक-पूर्ण राजनीतिक मार्ग यह है कि मनुष्य के व्यक्तिगत और समाज के समष्टि-गत अधिकारों की रक्षा का मध्यस्थ साधन निकाला जाय। व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा और विकास के लिये जब तक राज्य की ओर से साधन न एकत्र किए जायँगे, तब तक राज्य बलिष्ठ एवं पुष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार व्यक्ति भी, जो अपनी स्वाधीनता में राज्य के अधिकारों को बाधक समझता और उनका तिरस्कार करता है, अवश्य ही नैतिक विद्रोही बन जाता है। मि० उड के इस राज्य-संबंधी सिद्धांत को हम मानते हैं, और यहाँ तक समर्थन करते हैं कि ऐसा व्यक्ति दंडनीय भी है। पर ऐसे व्यक्ति की तरह ऐसा राज्य अथवा ऐसी प्रणाली भी बहिष्कार करने योग्य है, जो व्यक्ति के लिये नैतिक विद्रोह के कारण उत्पन्न कर देती है—नहीं, उसे विद्रोही बनने के लिये मजबूर कर देती है। मि० उड अभी सात समुद्र-पार बैठे हुए केवल दूसरे कंज़रवेटिव अथवा अन्य दल के अधिकारियों के कहने तथा सुनने पर

ही ऐसा सिद्धांत बतला रहे हैं। पर वह जब भारतवर्ष आकर देखेंगे, तो उन्हें अपने ही इन शब्दों का मूर्तिमान यह स्वरूप देखने को मिलेगा कि "संसार में मनुष्य लोभी—लाभ चाहनेवाला—हो जाता है, और अपनी ही रोकड़-बाक़ी बढ़ाने पर कटिबद्ध रहता है, समाज की भलाई का ध्यान उसे बिलकुल नहीं रहता।" मनुष्य के अधिकारों की डींग मारनेवाले उनके भूतपूर्व वायसराय लॉर्ड रीडिंग इसी श्रेणी के आदमियों में मिलेंगे।

पर क्या, इससे हमको यह समझना चाहिए कि मि० उड यहाँ औरों की अपेक्षा कुछ अधिक करेंगे? नहीं, यह सर्वथा भ्रम होगा। अभी सर उड की कोई घोषणा भारत के संबंध में प्रकाशित नहीं हुई। फिर भी हमको इससे कुछ अधिक भरोसा न रखना चाहिए कि वह कट्टर कंज़रवेटिव हैं, और लॉर्ड बर्केनहेड के साथ, भारत पहुँचकर, सहयोग करेंगे। आपकी समझ में, भिन्न-भिन्न जातियों के मनमुटाव को दूर करने के लिये, "पार्लियामेंट के होशियारी और चतुराई से बनाए हुए क़ानूनों से भी अधिक आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्र में कंज़रवेटिव-भावना की जागृति की जाय—अर्थात् अधिक-से-अधिक राष्ट्रवादी कंज़रवेटिव हो जायँ।" ऐसी तंद्रा के स्वप्न में जब सर उड को "राष्ट्रीय जीवन में एकता और पारस्परिक सहयोग की भावना, मैत्री और सहकारिता की वास्तविक भावना और अपने को महान् उत्तरदायित्व से बँधे हुए कर्तव्य-पालन करनेवाले राष्ट्र-वादी होने का विश्वास" होता है तो समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति और राज्य—शासित और शासक—के दोनों सिरों को मिलानेवाले मध्यवर्ती मार्ग का पता क्या है। जब मि० रैम्ज़े मैकडॉनल्ड ने ही मज़दूरों का 'राजदंड' हाथ में थामे हुए कहा था कि पार्लियामेंट में बहुमत चाहे जिस दल का हो, पर कोई परंपरागत व्यवस्था के विरुद्ध नहीं जा सकता—अर्थात्, इसका सारांश यह था कि भारतवासियों को मज़दूर-सरकार १६२६ के पहले कोई भी नए अधिकार जैसा कि कहे जाते हैं, नहीं दे सकती, तो मि० उड के इस मध्यवर्ती मार्ग का पता लगाना कौन कठिन बात है।

हमें तो मि० उड एक ढुलमुल-यक़ीन मालूम होते हैं—ढुलमुल-यक़ीन इसी ख़याल से कि वह त्रिगुट के केंद्र हैं; पर केवल कारवाई और व्यवहार-विधान में—हृदय में नहीं। हृदय में तो वह पूँजीवाद के समर्थक हैं। पूँजीवादी समाजवाद, साम्यवाद, बोल्शेविज़्म अथवा कम्यूनिज़्म से डरते ही रहा करते हैं। यह उनका स्वभाव है। इसीलिये एक समय तो वह मि० मांटेगू (लिबरल) के साथ भारत के अंडर-सेक्रेटरी होने जा रहे थे; दूसरे समय जब मज़दूर-सरकार की सत्ता पार्लियामेंट में जमी, उन्होंने उसका समर्थन किया। उस समय सर उड को यही मालूम हुआ कि मि० रैम्ज़े मैकडॉनल्ड से अधिक योग्य व्यक्ति तत्कालीन इँगलैंड की पार्लियामेंट में दूसरा नहीं, जो राजदंड हाथ में थाम सके; और अब कंज़रवेटिव-सरकार के अंग बनकर आप स्वयं आ रहे हैं, तथा कभी पहले मि० चर्चिल के साथ उपनिवेशों के अंडर-सेक्रेटरी भी रह चुके हैं। जैसा कि "स्टेट्स-मैन" का कुशल संवाददाता लिखता है, क़रीब क़रीब वैसा ही हम भी समझते हैं कि "सर उड उपनिवेशों के संबंध में खुली नीति लेकर आ रहे हैं; लेकिन भारतीय औपनिवेशिक प्रश्नों को छोड़कर।" और, इस तरह भारतीय उपनिवेशों के संबंध में लॉर्ड रीडिंग की तरह मि० उड भी अपने भावी ५ वर्षों के कार्य-काल में एक तटस्थ नायक की तरह केनिया प्रभृति देशों के प्रवासी भारतीयों और वहाँ के गोरों का संग्राम केवल देखते-भर रहेंगे। केनिया के संबंध में वह १४ जुलाई, सन् १६२१ को हाउस ऑफ़ कामंस में कह ही चुके हैं कि "जब तक दोनों फ़रीक़ैन निष्कपट और स्वतंत्र विवेक से एक दूसरे के अधिकार न स्वीकार कर लें, तब तक मुझे ठीक समाधान की आशा नहीं। किंतु इँगलैंड की भली-से-भली नीति भी इन प्रदेशों की शिक्षा, चरित्र और अंत में उपनिवेशों के कर्मचारियों पर ही निर्भर है।" इससे यही समझना चाहिए कि मि० उड भी उपनिवेशों के प्रश्नों को लेकर बैरंग ही वापस चले जायँगे।

सर उड की पुरानी कार्य-प्रणाली को देखकर हम तो यही कह सकते हैं कि वह एक प्रकार के वह जंतु हैं, जो दूध पिलाते समय बड़ी आजिज़ी से मुँह खोल देता है, खेलते वक़्त कनफटे के साथ फन खड़ा करके खेलता भी है, और मौक़ा आने पर फुफकारकर काट भी लेता है। "जेनरल कौंसिल ऑफ़ दि लीग ऑफ़ नेशंस" की एक बैठक में, १६ जुलाई, १६२३ को, लंदन में कहे हुए उनके ये शब्द कि "सार्वजनिक जोश को दबाकर रखने से ही शांति-

संबंधी प्रश्न का समाधान हो सकता है'', इस बात के प्रमाण हैं कि वह पूँजीवाद के अटूट भक्त हैं, समर्थक हैं, और उसके लिये वह सार्वजनिक मत का तिरस्कार भी करेंगे।

यही मि० उड् भारत के वायसराय होकर आ रहे हैं, यह सरकारी तार से घोषित किया जा चुका है। सार्वजनिक जीवन में उन्होंने इतना अधिक काम नहीं किया; पिछले १५ वर्षों से पार्लियामेंट के मेंबर हैं। और, हम देखते हैं कि इतना अनुभव एक अँगरेज़ का भारतवर्ष के वायसराय होने के लिये काफ़ी है। सन् १९१० में वह पहलेपहल पार्लियामेंट के मेंबर हुए। इसी बीच में सन् १९२१ में, उपनिवेशों के अंडर-सेक्रेटरी हुए। दूसरे ही वर्ष बोर्ड ऑफ़ एजुकेशन के प्रेसिडेंट, और सन् १९२४ के ऑक्टोबर में ''एग्रिकल्चर तथा फ़िश-रीज़''-विभाग की ज़िम्मेदारी लेकर कंज़रवेटिव-सरकार के मंत्रिमंडल में शामिल हुए; अब प्रधान मंत्री मि० बाल्डविन की सिफ़ारिश पर भारतवर्ष के वायसराय तथा गवर्नर-जेनरल होकर आ रहे हैं। ''टाइम्स'' की सम्मति में ''यद्यपि सर उड् को पूर्व की समस्याओं का अनुभव कम है, तथापि यह आवश्यक नहीं कि कोई पक्का होकर ही भारतीय शासन-प्रणाली में सम्मिलित हो। वह अत्यंत उच्च चरित्र के लोकप्रिय शासक, सैनिक, विद्वान् तथा शरीफ़ आदमी हैं। साहस और सहानुभूति, दोनों उनमें हैं।'' नहीं कह सकते कि ये सब विशेषताएँ उनमें हैं या नहीं; पर वह शिक्षा-नीति अच्छी तरह समझते हैं, इसमें संदेह नहीं।

मि० उड् लंबे क़द के आदमी हैं। लॉर्ड कर्ज़न के विचारों के अनुयायियों की यह धारणा है कि ''पूर्व के लोग पश्चिम के, तथा ग़ैर-क़ौमों के लंबे-चौड़े लोगों को शासक-पद पर देखकर अधिक प्रसन्न होते हैं।'' शायद इसीलिये लंबे क़द के मि० उड् वायसराय बनाकर भेजे जा रहे हैं! आप ६ फ़ीट २ इंच हैं। पर आपके बाईं भुजा नहीं है। लगभग २० वर्ष हुए, आपको यार्कशायर में एक बहुत बड़ी जायदाद अपनी चाची से उत्तराधिकार में मिली थी। आपकी धर्मपत्नी के पास भी अच्छी संपत्ति है। आप अत्यंत धनाढ्य हैं, शिक्षित, संभ्रांत और खुशमिज़ाज हैं। इस वक़्त जिस हिंदोस्तान में वह आ रहे हैं, वह वह नहीं है, जो लॉर्ड रीडिंग की प्रतीक्षा कर रहा था। भारत का वातावरण इस समय प्रायः स्तब्ध है। अभी ऑक्टोबर के पिछले सप्ताह में उन्होंने ''नेशनल यूनियन ऑफ़ फ़ार्मर्स''-संस्था में कहा था कि उनकी नीति यह होगी कि ''उद्योग-धंधों की उन्नति हो, और उन्हें उत्तेजना राज्य की ओर से मिले—राज्य के प्रभुत्व और प्रबंध से नहीं।'' अस्तु, जिस वातावरण में वह आ रहे हैं, उसमें उन्हें, यदि चाहेंगे, उद्योग-धंधों की उन्नति का रास्ता साफ़ मिलेगा। किंतु साथ ही अपने १६ जनवरी, सन् १९२५ के भाषण के अनुसार वह ज़रूर स्वेज़-नहर की रक्षा करेंगे, और सिंगापुर में ऐसे आयोजन एकत्र करेंगे, ''जिससे अँगरेज़ों का साम्राज्य के कोने-कोने में अबाधित विस्तार प्राप्त रहे'', इसमें हमें संदेह न होना चाहिए। श्रीयुत विपिनचंद्रपाल को तो मि० उड् से वैसी ही आशाएँ हैं, जैसी लॉर्ड हार्डिंज से थीं। हो अथवा न हो, यह तो राजनीतिक दृष्टिकोण है। पर सच बात यह है कि इस समय प्रधान कठिनाई यही है कि शासित और शासकों के दृष्टिकोण में अंतर है। आवश्यकता इस समय ऐसे नीतिज्ञ की है, जो भारत की मूक जनता और ब्रिटिश-राज्य तथा साम्राज्य के स्वार्थों का सच्चा मध्यस्थ हो सके। यह हमारा वैयक्तिक मत है। हम उन आशावादियों में नहीं हैं, जो अंधकार से एकदम प्रकाश की दृष्टि रखते हैं; और फिर इँगलैंड के टोरी-दल से! यदि मि० उड् की जगह कर्नेल वेजउड् एवं वेसपूर भी वायसराय होकर आते, तो वह भी मि० मैकडॉनल्ड की तरह हमें कोरा जवाब दे देते; क्योंकि अंत में भारतवर्ष का लाभ इँगलैंड की हानि ही है, इसे कोई भी अँगरेज़ नहीं भुला सकता। भले ही मि० उड् के 'उड्-विंटरटन'-समझौते में जातीय मतभेद की दुर्गंध माडरेटों को न मिले; पर जैसा ऊपर लिख चुके हैं, मि० उड् से अथवा किसी से भी आशा न रखकर हमें अपने ही पर भरोसा रखना होगा। देखना चाहिए कि लॉर्ड हेलिफ़ैक्स के सुपुत्र राइट ऑनरेबल एडवर्ड फ़्रेडरिक लिंडले उड् शासन की कसौटी पर कितने खरे उतरते हैं। हम आपका स्वागत करते हैं।

× × ×

७. स्त्री-जाति के अधिकार

हमारे देश में भी अब यह चेष्टा होने लगी है कि स्त्रियों को उनके उचित अधिकारों से वंचित न रक्खा

जाय । लोगों का ख़याल है कि योरप और अमेरिका की स्त्रियों को संपूर्ण स्वाधीनता प्राप्त है । वे सभी विषयों में पुरुषों की बराबरी कर सकती हैं । पर यह उनका ख़याल ग़लत है । पाश्चात्य लोग इस विषय में हमसे आगे बढ़े हुए अवश्य हैं ; पर वहाँ भी मर्दों की स्त्रियों पर प्रभुत्व दिखाने की आकांक्षा विद्यमान है । इस संबंध में Dieneue Generation नाम के पत्र में M. Vaerting का एक लेख निकला है, उसका सारांश पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ दिया जाता है । प्रायः देखा जाता है, और मनुष्य-गणना के द्वारा भी सिद्ध हो गया है कि जो मर्द साधारण श्रेणी की अपेक्षा उच्च हैं, जो कुछ भी मेधावी हैं, उनके संतान, साधारण श्रेणी के लोगों की अपेक्षा, कम ही होती है । स्त्रियों में भी यही नियम काम करते देखा जाता है । साहित्य, विज्ञान, राजनीति आदि क्षेत्रों में जिन स्त्रियों ने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया और यश प्राप्त किया है, उनमें से अधिकांश को माता होने का गौरव नहीं प्राप्त हो सका । इसका कारण यही है कि इन पुरुषोचित कामों में लगे रहने के कारण उनमें संभोग की कामना कम हो जाती है । शायद उन्हें जान पड़ता है, लड़के-बाले अधिक होने से इन सब कामों में मन लगाने के लिये समय नहीं मिलेगा—क्षमता भी कम हो जायगी । किंतु बात यह है कि जब मर्द लोग अपनी प्रतिभा या असाधारण शक्ति के विकास में लगे रहने के कारण अपने अन्य कर्तव्यों को भूल जाते हैं, उनकी अवहेलना करते हैं, तब उन्हें तो कोई कुछ नहीं कहता । उनके संबंध में यह बात स्वतः सिद्ध ही मान ली जाती है । किंतु स्त्रियाँ जब ऐसा करना या कराना चाहती हैं, तब चारों ओर से आपत्ति होने लगती है, प्रतिवाद किया जाने लगता है । जब किसी शक्तिशालिनी स्त्री ने देश के काम में अपना अधिक समय लगाना चाहा, जब शिक्षा की ओर उसकी विशेष प्रवृत्ति होने लगी, तभी उसने बाधा पाई । प्रतिष्ठित विद्वान् फ़ौरन् उनके काम का प्रतिवाद करने लगते हैं ; कहते हैं, स्त्री के लिये यह अक्षम्य अपराध है ; क्योंकि इससे ईश्वर की सृष्टि नष्ट हो जाने की संभावना है । प्रतिष्ठित लोग स्त्रियों के मन में यह धारणा जमा देना चाहते हैं कि संतान उत्पन्न करना, उनका लालन-पालन या भरण-पोषण करना ही स्त्री-जाति का एक-मात्र कर्तव्य है । माता होने से बढ़कर उनके लिये कोई धर्म ही नहीं है । वे लोग यह भी कहते हैं कि स्त्री अगर मातृत्व के ऊपर अन्य किसी कर्तव्य को स्थान देगी, तो वह जाति के ऊपर एक भारी अन्याय करेगी, यद्यपि बड़े-बड़े गुणों के देखते वह स्त्री शायद किसी पुरुष से निकृष्ट न ठहरेगी । अक्सर स्त्रियों को यह समझाया जाता है कि असाधारण गुणवती स्त्रियों के, साधारण स्त्रियों की अपेक्षा, अधिक संख्या में बाल-बच्चे होना ज़रूरी है । इस पर बहुत ही ज़ोर दिया जाता है कि माता की प्रतिभा का उत्तराधिकारी संतान ही सकती है, या होती है । सेलमियर नाम के एक पंडित कहते हैं कि स्त्री को अन्य सब काम छोड़कर माता बनने की चेष्टा करनी चाहिए । किंतु सुप्रजनन की दृष्टि से देखने से उनके इस आदेश या उपदेश में कुछ सार नहीं नज़र आता । अक्सर देखा जाता है कि स्वामी तो साधारण पुरुषों की श्रेणी का है, और स्त्री उसकी असाधारण प्रतिभा और गुणों की अधिकारिणी है । ऐसी स्थिति में वह स्त्री अगर अपने पति के बाल-बच्चों के लालन-पालन में मन लगाकर अपने स्वाभाविक गुणों का कोई व्यवहार न करे, उन्हें नष्ट कर डाले, तो उससे जाति को कितना लाभ होगा ? समाज की संपत्ति और शिक्षा की दृष्टि से विचार करने पर इसे उनका एक भारी अपव्यय ही मानना पड़ेगा । बड़े प्रतिष्ठित लोगों की जीवनियाँ पढ़ने से भी देख पड़ता है कि जिन असाधारण नारियों ने अपने नारी-धर्म की अवहेला करके जाति को स्वल्प-संख्यक संतानें दी हैं, उन्हें बहुत बातें सुननी पड़ी हैं । किंतु जिस जगह मर्द अपनी प्रसिद्धि-प्रतिष्ठा की चेष्टा में ही सारी आयु लगा देते हैं, वहाँ यह नहीं देखा जाता कि पिता ने अपने धर्म या कर्तव्य का अच्छी तरह पालन किया कि नहीं । ईश्वर की सृष्टि की रक्षा का भार तो केवल स्त्रियों के ही ऊपर नहीं है । उसमें तो पुरुष और स्त्री, दोनो का समान भाग है । स्त्री-जाति पर ही सारी ज़िम्मेदारी लादी जाने का एक-मात्र कारण समाज में पुरुषों की प्रधानता ही जान पड़ती है । जिस राह में चलने में पुरुषों को सुबीता हो, उसी राह पर समाज चलाया जाता है । एरहर्ड रिकी का कहना है कि

केवल नीची श्रेणी की ख़राब औरतें ही वेश्या नहीं होतीं ; बड़े ऊँचे घरानों की स्त्रियाँ भी, जो जाति की उन्नति में सहायता कर सकती हैं, अक्सर इस कुमार्ग पर चलती पाई जाती हैं । कोई यह नहीं सोचता कि इससे भी समाज की उत्पादिका-शक्ति कितनी कम होती है । समाज में हलचल तभी उत्पन्न होती देखी जाती है, जब कोई स्त्री प्रसिद्धि-प्रतिपत्ति की ओर मन लगाकर समाज-धर्म की उपेक्षा करती है । समाज कहने से केवल पुरुषों की ही समष्टि का बोध होता है । अतएव सामाजिक प्रयोजन समझकर व्यभिचार के रोकने की कोई चेष्टा नहीं की जाती ; बल्कि क़ानून बनाकर व्यभिचार को और भी पक्का कर लिया गया है । पुरुषों का यह पक्षपात और अपनी प्रधानता जैसी-की-तैसी बनाए रखने की चेष्टा या इच्छा ही सामाजिक उन्नति में प्रधान बाधा है । इस संबंध में स्त्री और पुरुष, दोनों के लिये एक ही नियम होना चाहिए । वह नियम इस तरह का हो कि उसके द्वारा स्त्री और पुरुष की व्यक्तिगत क्षमता और उत्पादन-शक्ति में एक मेल—एक सामंजस्य का भाव—बना रहे । नहीं तो जाति के प्रसार का भार उन सब स्त्री-पुरुषों के ऊपर आ पड़ेगा, जिनमें और कोई काम करने की क्षमता नहीं है । और, ऐसी स्थिति में किसी तरह सामाजिक सुफल की आशा नहीं की जा सकती । हमारे देश के चिंताशील शिक्षित स्त्री-पुरुषों का ध्यान इन पाश्चात्य विचारों की ओर अवश्य आकृष्ट होना चाहिए । बहुत अंशों में ये हमारे लिये भी उपयोगी हैं ।

× × ×

१०. भूमिकंप के कारण

प्रकृति की लीला अपरंपार है । उसका एक रूप मनोहर, शांत है, तो दूसरा महाभयंकर । वह सर्वदा शांत रूप धारण किए रहती है ; पर जब कभी थोड़े समय के लिये अपना भयंकर रूप प्रकट करके ज्वालामुखी-विस्फोटन, भूकंप आदि के दारुण दृश्य दिखाती है, तब लोग त्राहि-त्राहि पुकारने लगते हैं । अभी जापान में एक के बाद एक करके कई भूकंप आ चुके हैं, जिन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि प्रकृति के आगे विज्ञान की एक नहीं चलती । जब प्रकृति का कोप भूकंप का रूप रखकर मनुष्य की प्रतिभा या उद्भाविनी-शक्ति के श्रेष्ठ निदर्शन बड़ी-बड़ी इमारतों, क़िलों और शहरों को—जो युगयुगांतर तक गर्व के साथ सिर उठाए अपने निर्माताओं की कीर्ति की घोषणा करते रहते—देखते-ही-देखते मिट्टी में मिला देता है, तो बड़े बड़े वैज्ञानिक खड़े-खड़े टुकुर-टुकुर देखते रहने के सिवा और कुछ नहीं कर पाते । इस भूकंप का कारण क्या है ? भूगर्भ में निरंतर परिवर्तन हुआ करते हैं । पंडितों का कहना है कि इन्हीं परिवर्तनों का फल भूकंप है । पृथ्वी के भीतर गली हुई धातुओं की राशि ऊपर के दबाव से जमकर पत्थर का रूप धारण करती है । जिस मिट्टी के ऊपर हम लोग रहते और चलते-फिरते हैं, जिस मिट्टी पर हम खेती करके अन्न उत्पन्न करते हैं, वह मिट्टी भी धरती का एक प्रस्तरमय कठिन आवरण-मात्र है । नीचे दिन-रात पत्थर बनने का काम जारी है, और वही पत्थर मिट्टी को तोड़-फोड़कर ऊपर उठना चाहता है । इसी चेष्टा के फल-स्वरूप नवनिर्मित प्रस्तर-पर्वत जब मिट्टी के आवरण को तोड़कर बाहर निकल पड़ता है, तब उसकी संचित शक्ति की गति का वेग चारों ओर के—आसपास के—पत्थरों को प्रबल रूप से आंदोलित कर देता है । इसी आंदोलन को भूमिकंप कहते हैं । केलीफ़ोर्निया (अमेरिका) के सिएरा नेवाडा-प्रांत में यह नए पर्वतों की सृष्टि का काम बड़ी तेज़ी के साथ जारी है । इसी कारण वहाँ भूकंपों की संख्या भी बहुत अधिक है । सन् १८७२ ईसवी में इस प्रांत की ओवेंस उपत्यका में ज़ोर का भूकंप हुआ । उसके बाद देखा गया, लगभग सौ मील का भूखंड नेवाडा-पर्वत दस से बीस हाथ तक पहले से अधिक ऊँचा हो गया है । अलास्का-प्रदेश में बहुत पर्वत हैं । वहाँ भी अक्सर भूकंप हुआ करते हैं । सन् १७९९ ईसवी में इस प्रदेश के विकुटाट सागर के उपकूल-वर्ती स्थान में प्रबल भूकंप हुआ था । उसके बाद देखने से मालूम हुआ कि वहाँ की पर्वतमाला पहले की अपेक्षा ३०-४० फ़ीट ऊँची हो गई है । जापान और इटली भी ऐसे ही स्थान हैं, और वहाँ भी प्रायः ऐसी ही लीला होती देखी जाती है । पृथ्वी के गर्भ में एक ओर जैसे पर्वतों के संगठन का काम जारी है, वैसे ही दूसरी ओर पत्थरों की तहों में भी परिवर्तन होता रहता है । कहीं आसपास के दबाव से पत्थरों की तहें

टूटती हैं, और कहीं सीधी तहें टेढ़ी हो रही हैं। इस परिवर्तन के कारण भी पृथ्वी काँप उठती है, और भूकंप होते हैं। इस प्रकार के भूकंप के कारण पृथ्वी के ऊपर भी बहुत-से परिवर्तन होते रहते हैं। सन् १८११-१२ ईसवी में मिसीसीपी-उपत्यका में एक भूकंप हुआ था। उसके फल-स्वरूप ओहायो और मिसीसीपी के संगम-स्थल के दक्षिण ओर के भूभाग की मिट्टी धँस गई थी, जिससे कई छोटी-छोटी झीलें बन गईं। भारत में भी इस समय चिलका-झील है, वहाँ एक समय सूखा स्थल था। इसी तरह सहसा धँस जाने से उक्त झील हो गई। भूगर्भस्थ स्तर-विन्यास के परिवर्तन से कच्छ-प्रदेश में भी कोई जगह ऊँची और कोई नीची हो गई है। उल्लिखित पर्वत-सृष्टि के फल से और भूगर्भस्थ स्तर-विन्यास के परिवर्तन द्वारा होनेवाले भूकंप का अँगरेज़ी वैज्ञानिक नाम Tectonic earthquake (सृजन-कंप) है। इसके सिवा और भी एक कारण से—ज्वालामुखी पर्वतों के उत्पात से—भूकंप हुआ करता है। इस प्रकार के भूकंप का वेग पूर्वोक्त प्रकार के भूकंप के समान तीव्र नहीं होता। पृथ्वी पर जिन भूकंपों से जापान की-सी भीषण ध्वंस-लीला के अभिनय हुए हैं, वे सब पहले ही प्रकार के—Tectonic—थे। ज्वालामुखी के आग उगलने के समय जो कंपन होता है, उसका वेग कम होता है। वह बहुत जान भी नहीं पड़ता। सन् १६०२ में पेली-ज्वालामुखी के भड़कने पर जो साधारण कंपन हुआ था, उसका धक्का उसी पर्वत पर केवल जान पड़ा था। आज १८०० वर्ष से वैज्ञानिक लोग विसूवियस-ज्वालामुखी की आलोचना करते आ रहे हैं। वहाँ बहुत वेग से अग्निवर्षण होने के समय भी कंपन का वेग और विस्तार साधारण ही रहता है। एटना-पर्वत पर ज्वालामुखी फूटने के समय भूकंप का धक्का मेसीना-प्रांत को नाँघकर निकटवर्ती कैलिब्रिया-प्रांत तक भी नहीं पहुँचा था। सन् १८६८ की २ एप्रिल को ज्वालामुखी से जो भयानक अग्नि-वर्षा हुई, उससे उत्पन्न भूकंप का धक्का इतना हलका था कि वहाँ से केवल ४५ कोस के फ़ासले पर—होनोलूलू-शहर में—भी वह नहीं पहुँच पाया। पृथ्वी पर सबसे बड़ा और भयानक ज्वालामुखी का विस्फोट सन् १८८३ ईसवी में, सुंडा-प्रणाली के किनारे पर स्थित कार्काटोआ-पहाड़ पर हुआ था। उसका परिणाम यह हुआ कि उक्त पहाड़ चूर-चूर हो गया। जिस जगह पर पहाड़ था, उस जगह गहरा गड्ढा बन गया। इस पर्वत-विदारण के प्रचंड धक्के से समुद्र में ऐसी हलचल मच गई कि पृथ्वी के ज्वार-भाटे को मापनेवाले आधे यंत्र में उसका अस्तित्व अंकित हो गया; और हवा में उससे इतने वेग का संचार हुआ कि वह तीन बार पृथ्वी-प्रदक्षिणा करने के बाद शांत हुआ। यही नहीं, कार्काटोआ के इस प्रलय से चूर्ण हुए पर्वत की धूल इतने ज़ोर से इतनी उड़ी थी कि दो-तीन महीने तक वह हवा में उड़ती ही रही। इतने बड़े भयानक स्फोट से जो भूकंप हुआ था, उसे अत्यंत साधारण ही कहा जा सकता है। घटनास्थल से यवद्वीप की राजधानी बाटाविया सिर्फ़ १० मील के फ़ासले पर थी; किंतु वहाँ भी बहुत ही हलका धक्का पहुँचा। इसलिये यह ठीक है कि आग्नेय गिरियों के विस्फोट के कारण होनेवाले भूकंप की अपेक्षा सृजन भूकंप का वेग, विस्तार और ध्वंस करने की शक्ति कहीं अधिक होती है। एक आश्चर्य यह भी है कि tectonic कारणों से जितने भूकंप पृथ्वी पर अब तक हुए हैं, उनके स्थानों में कोई ज्वालामुखी पहाड़ न था। इन दो प्रकार के भूकंपों के अलावा और एक प्रकार का भूकंप भी होता है। पहाड़ों के भीतर बनी हुई कंदराओं की छत वग़ैरह टूट पड़ने से जो पृथ्वी को धक्का लगता है, उससे भी मामूली भूकंप हुआ करता है। पर उसका विस्तार और वेग बहुत ही थोड़ा—नाम-मात्र को ही—होता है। स्वीज़रलैंड और टाइरल-प्रांत में ऐसे भूकंप अक्सर हुआ करते हैं।

× × ×

११. कानपुर-कांग्रेस

आगामी दिसंबर-मास में कानपुर में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन धूमधाम से होगा। अध्यक्षा का पद श्रीमती सरोजिनी नायडू ग्रहण करेंगी। यह पहली ही भारतीय महिला हैं, जो इस पद को सुशोभित करेंगी। कानपुर-कांग्रेस देश को क्या नया संदेश देगी, इस ओर सबका ध्यान लगा हुआ है। यह सब जानते हैं कि देश की वर्तमान राजनीतिक स्थिति बहुत उलझी हुई है। इस समय भारतीय नेताओं का प्रभाव सरकार पर बहुत कम है। हिंदू और मुसलमानों में तो फूट है ही, साथ ही

लिबरल और स्वतंत्र-दलवाले कांग्रेस से बिलकुल अलग हो रहे हैं। अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी की जो बैठक हाल में, पटने में, हुई थी, उसके निर्णय से बहुत लोग अत्यंत असंतुष्ट हैं। इस निर्णय के अनुसार कांग्रेस बिलकुल स्वराज्य-दलवालों के हाथ में आ गई है। पर उधर स्वराज्य-दल में श्रीतांबे की नियुक्ति को लेकर भारी फूट पड़ गई है। श्रीजयकर और श्रीकेलकर-जैसे उत्तर-दायी स्वराज्य-दलवालों ने प्रकारांतर से श्रीतांबे के कार्य का समर्थन किया है, और स्वराज्य-दल के नेता श्रीनेहरू के वक्तव्य की कड़ी टीका की है। इस प्रकार कांग्रेस के बाहर भी फूट है, और भीतर भी। देखना है कि इस फूट के प्रतीकार के लिये कानपूर की कांग्रेस क्या करती है? अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी ने मेल कराने के लिये आशा दिलाई है। देखें, वह इसमें कहाँ तक सफल होती हैं। हाँ, एक नई घटना ने कानपूर-कांग्रेस के संबंध में कुछ नया कौतूहल पैदा कर दिया है। इस कौतूहल की उत्पत्ति अभी हाल के पं० मोतीलाल नेहरू के एक भाषण से हुई है। उसमें आपने कहा है कि स्वराज्य-दल सहयोग के जितना निकट जा सकता था, उतना गया; अब आगे न जायगा। वरन् वह पुरानी कार्य-प्रणाली को अपनाने के लिये कानपूर की कांग्रेस से आज्ञा लेगा। पं०जी ने यह तो साफ़-साफ़ न बताया कि वह कार्य-प्रणाली क्या होगी, पर यह कह डाला कि वह सहयोग न होगा। श्रीनेहरूजी के इस भाषण से लोग यह अर्थ निकालते हैं कि वह कांग्रेस से भद्र अवज्ञा की फिर इजाज़त लेंगे। नहीं जानते, यह अनुमान कहाँ तक ठीक है; पर इसमें संदेह नहीं कि इस भाषण से कौतूहल ख़ूब बढ़ा है। तो क्या कानपूर की कांग्रेस एकता स्थापित कर सकेगी, और क्या निकट-भविष्य में भारत में भद्र अवज्ञा की चर्चा फिर हो सकेगी? सारा भारत इन दोनों प्रश्नों का उत्तर जानने के लिये अधीर और व्याकुल है।

× × ×

१२. नक़ली घी

भारतवर्ष में इस समय विदेश से आया हुआ नक़ली घी धड़ल्ले के साथ बिक रहा है। इसके संबंध में हम दो बार माधुरी में लिख चुके हैं। प्रत्येक नगर और क़स्बे में इसकी बिक्री का प्रबंध है। कलकत्ता, बंबई, कानपूर तथा लखनऊ में इस घी की बेचनेवाली सैकड़ों एजेंसियाँ हैं। यह नक़ली घी भी कई मेल का है, और भाव भी कई प्रकार के हैं। इसका स्वाद तो असली घी से कम मिलता है, पर स्वरूप और गंध में यह असली घी के बिलकुल अनुरूप है। रसायन-शास्त्र के वेत्ताओं का कहना है कि इसमें ऐसी कोई वस्तु नहीं पड़ी, जो स्वास्थ्य के लिये हानिकर हो। इसकी उत्पत्ति वनस्पतियों से बतलाई जाती है। युक्त-प्रदेश में इस समय असली घी का भाव ८ और ९ छटाँक फ़ी रुपया है; पर नक़ली घी १३ छटाँक तक मिल सकता है। भाव में इस कमी के कारण व्यापारी लोग असली घी में नक़ली घी मिला रहे हैं। हलवाई लोग मिठाइयाँ बनाने में इसी घी का प्रयोग करने लगे हैं। इस प्रकार देश में नक़ली घी की खपत बढ़ रही है। वह समय दूर नहीं, जब इस घी का प्रवेश देहातों में भी हो जायगा। यह स्पष्ट है कि प्रतियोगिता में असली घी नक़ली घी के सामने सफल नहीं हो सकता। तब क्या असली घी का व्यापार देश से उठ जायगा? असली घी का व्यापार करनेवाले सुसंगठित नहीं हैं, उनकी सारी शक्तियाँ बिखरी हुई हैं। एकाएक नक़ली घी की अद्भुत प्रतियोगिता को देखकर वे किंकर्तव्य-विमूढ़ भी हो गए हैं। इस परिस्थिति से लाभ उठाकर नक़ली घी के व्यापारी अपने हाथ-पाँव और भी फैला रहे हैं। नक़ली घी की अल्पमूल्यता उसे लोकप्रिय भी बना रही है। असली घी के व्यापार के लिये यह समय बड़ी चिंता का है। देश का घी का बहुत पुराना व्यापार पदच्युत होने की अवस्था पर पहुँच गया है। अब इस समय तो दो ही उपाय सूझते हैं, जिनका अवलंब लेने से असली घी का व्यापार ठहर सकता है। पहला उपाय तो यह है कि सरकार नक़ली घी पर कर लगाकर असली घी की रक्षा करे; और दूसरा यह कि नक़ली घी के विरुद्ध ज़ोरों के साथ आंदोलन किया जाय। भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध रासायनिकों को इस घी की सूक्ष्म परीक्षा करनी चाहिए। इस परीक्षा में इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि तुलना से नक़ली घी की अपेक्षा असली घी स्वास्थ्य के लिये कितना अधिक लाभदायक है—उसमें शरीर को पुष्ट करने की शक्ति कितनी अधिक है। जिन वनस्पतियों से नक़ली घी निकाला जाता है, उनकी और गाय-भैंस के दूध की, जिससे असली घी निकलता है, भी

भली भाँति तुलना की जानी चाहिए। आर्थिक दृष्टि से भी इस समस्या पर पूर्ण विचार होना चाहिए। देखना चाहिए कि असली घी के व्यापार से देश को कितना लाभ है, और उसके नष्ट हो जाने से उसकी कितनी हानि होगी। बंबई-कारपोरेशन में एक सदस्य ने इस प्रश्न को उठाया है। भविष्य में प्रत्येक म्युनिसिपलिटी में इसकी चर्चा होनी चाहिए; और कौंसिलों में भी इस संबंध में प्रश्न करने चाहिए। देशी समाचारपत्रों को असली घी के पक्ष में तत्काल प्रबल आंदोलन प्रारंभ कर देना चाहिए।

× × ×

१३. निद्रा का बहिष्कार

अमेरिका में एच्० एल्० हालिंग वर्थ नाम के एक डॉक्टर हैं। हाल में निद्रा के संबंध में, आपने कुछ नए विचार प्रकट किए हैं। अब तक डॉक्टरों की यह धारणा थी कि स्वास्थ्य के लिये निद्रा की परमावश्यकता है। उनका कहना था कि अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखने के लिये २४ घंटों में से ७ या ८ घंटे सोना आवश्यक है। पर डॉक्टर हालिंग वर्थ का मत इससे भिन्न है। आपका कहना है कि अच्छे स्वास्थ्य के लिये निद्रा की कुछ भी आवश्यकता नहीं। सोना एक व्यर्थ की आदत है। यदि मनुष्य चाहे, तो धीरे-धीरे एकदम निद्रा का त्याग कर सकता है। ऐसा करने से अपने निर्दिष्ट जीवन-काल में उसे काम करने के लिये दूना समय मिलेगा, और विश्राम भी पहले की अपेक्षा दूना हो सकेगा। डॉक्टर साहब का कहना है कि जैसे पेट में एपेंडिक्स नाम की आँत, आँख के ऊपर की भँवें तथा मुख के कुछ दाँत व्यर्थ हैं—उनका कोई उपयोग नहीं—उसी प्रकार निद्रा की आदत भी फ़िज़ूल है। तो फिर यह आदत पड़ी कैसे ? इस विषय को लेकर डॉक्टर साहब ने बड़ी ही सुंदर विवेचना की है। आपकी दलील का सारांश नीचे दिया जाता है।

सृष्टि के प्रारंभ में जब मनुष्य-जाति में सभ्यता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, वह एक स्थान से दूसरे स्थान में भ्रमण किया करती थी। उस समय रात्रि के अंधकार को दूर करने का कोई उपाय न था। यह अवस्था प्रकाश के आविष्कार के पूर्व की थी। उस समय के मनुष्य दिन में भी भ्रमण करते थे, और रात में भी। रात में भ्रमण करना विपत्ति से ख़ाली न था। मार्ग में भटक जाना और जंगली जानवरों द्वारा मारा जाना इन निशा-पथिकों के लिये साधारण बात थी। पर कभी-कभी शत्रु छिपकर आक्रमण कर बैठते थे, और उससे निशा-पथिकों की बहुत बड़ी हानि होती थी। धीरे-धीरे उस समय के मनुष्य-समाज के ध्यान में यह बात आ गई कि जो जातियाँ रात्रि में भी भ्रमण करती हैं, वे जल्दी-जल्दी नष्ट हो रही हैं, तथा जो केवल दिन में यात्रा करती हैं, वे सुरक्षित रहती हैं। फिर तो मनुष्य-समाज ने रात्रि का भ्रमण बंद कर दिया, और निशा का प्रारंभ होते ही शांति के साथ एक स्थान में चुपचाप पड़ रहने लगे। पर बिना किसी काम-काज के इस प्रकार रात-भर पड़े रहना स्वस्थ मनुष्य के लिये बड़ा कठिन था। फिर भी जाति को सर्वनाश से रक्षा करने के लिये कृत्रिम उपायों का अवलंबन किया गया, और रात-भर एक स्थान में अचेतनवत् पड़े रहने की व्यवस्था की गई। पहलेपहल यह कृत्रिम अचेतनता बहुत अखरी; पर आदत पड़ते ही इसमें सुख मिलने लगा। धीरे-धीरे इसी कृत्रिम अचेतनता से निद्रा का सूत्रपात हुआ। फिर तो निद्रा का प्रभाव वंश-परंपरागत हो गया, और मनुष्यों में उसका आश्रय लेने की स्वतः प्रवृत्ति जाग्रत् होने लगी। इस प्रकार निशा के साथ निद्रा का संबंध दृढ़ हो गया, और स्वास्थ्य के लिये बिलकुल अनुपयोगी होते हुए भी लोग उसके वशीभूत हो गए। डॉक्टर साहब का कहना है कि मनुष्य-जाति में निद्रा का प्रादुर्भाव इसी प्रकार हुआ है। उनकी राय है कि जिस समय सोने की प्रथा का प्रारंभ हुआ, उस समय के समाज को उसकी आवश्यकता अवश्य थी; पर इस बीसवीं शताब्दी के परम प्रौढ़ युग में उसकी बिलकुल आवश्यकता नहीं। आजकल तो बिजली, गैस और तेल आदि के बीसों ऐसे उत्तम साधन हैं, जिनके कारण नैश अंधकार की कोई परवा ही नहीं कर सकता। फिर हम लोग उस असभ्यता के ज़माने की निद्रा-प्रथा का अनुकरण इस समय क्यों करें ? इसलिये आपने मनुष्य-समाज को निद्रा के बहिष्कार की निश्चित सलाह दी है। देखें, डॉक्टर साहब कहाँ तक सफल-मनोरथ होते हैं।

× × ×

१४. श्रीमती सरोजिनी नायडू

इस बार कानपूर कांग्रेस की अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडू हैं। आजकल आप पंजाब में दौरा कर रही हैं। आपके दौरे का उद्देश्य है हिंदू-मुसलमानों के वैमनस्य

को दूर करना। आपने इसे दूर करने का एक बहुत सहज नुस्ख़ा ढूँढ़ निकाला है। बस, आप इसी नुस्ख़े को सुनाती फिरती हैं, और आपको विश्वास है कि इसी से हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य दूर हो जायगा। आप सर्वत्र उपदेश देती हैं कि परस्पर का अविश्वास दूर कर दो; बस, दोनों जातियों में मेल हो जायगा। हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य दूर करने का यही आपका



श्रीमती सरोजिनी नायडू

नुस्ख़ा है। नुस्ख़े में जो बात है, वह तो अमूल्य है, इसमें संदेह नहीं; पर प्रश्न यह है कि अविश्वास दूर कैसे हो? श्रीमती सरोजिनीजी ने पंजाब में एक और लीला दिखलाई है। आपने हिंदू-संगठन और शुद्धि का काम करनेवाले नेताओं की राष्ट्रीयता का ढिंढोरा बतलाया और उनके स्वदेश-प्रेम पर अविश्वास प्रकट किया है। प्रकारांतर से यह आक्षेप श्रद्धेय लाला लाजपतराय, पूज्य मालवीयजी तथा कर्मशील स्वामी श्रद्धानंदजी पर है। लाला लाजपतरायजी ने श्रीमती सरोजिनी नायडू के इन आक्षेपों का मुँहतोड़ जवाब दिया है, और संभवतः प्रांतीय कांग्रेस-कमेटी से अपना संबंध भी तोड़ लिया है। इस प्रकार सरोजिनीजी ने एकता के मार्ग को साफ़ करते हुए लाला लाजपतराय को प्रांतीय कांग्रेस से अलग कर दिया है! यदि श्रीमती नायडूजी इसी प्रकार एकता का मार्ग साफ़ करती रहेंगी, तो शायद कांग्रेस में उनके मुसलमान-मित्रों और कुछ इने गिने हिंदुओं को छोड़कर और कोई न रह जायगा। हमारी राय में कानपूर-कांग्रेस ने श्रीमती सरोजिनी नायडू को अध्यक्षा चुनने में भूल की है। हम यह मानते हैं कि श्रीमती नायडूजी बड़ी रसीली और अलंकार-पूर्ण अँगरेज़ी बोल लेती हैं; हम यह भी समझते हैं कि हमारे मुसलमान-भाइयों को उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं; और सबसे बढ़कर यह बात भी हमारे दृष्टि-पथ के बाहर नहीं है कि महात्मा गांधी सरोजिनीजी के बड़े प्रशंसक हैं। यह सब ठीक; पर केवल इन्हीं कारणों से वह कांग्रेस की अध्यक्षा बनने के योग्य कदापि नहीं हैं। उन्होंने देश की कौन-सी ठोस सेवा की है, देश के लिये उन्होंने कितना कष्ट सहन किया है, और उनके अनुयायियों की संख्या कितनी बड़ी है? इन सब बातों पर भली भाँति विचार किए बिना, हमारी राय में, श्रीमती सरोजिनी नायडू को अध्यक्षा चुनना भारी भूल की बात है। देश के लिये उनसे कहीं अधिक कष्ट सहन करनेवाले और उनसे कहीं अधिक योग्य अनेक नेता मौजूद हैं। फिर उनकी उपेक्षा करके श्रीमती सरोजिनी का ही इतना सम्मान क्यों? हम इन महिला महोदया की दक्षिण आफ़्रिकावाली यात्रा की बात नहीं भूले हैं। वहाँ जाने में उन्होंने जो कष्ट स्वीकार किया, उसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। पर खद्दर के संबंध में उन्होंने वहाँ जो लीपापोती की थी, उसे भी हम नहीं भूल सकते। कानपूर-कांग्रेस में बड़ी-बड़ी जटिल राजनीतिक समस्याएँ उपस्थित होंगी। इसलिये उसका कर्णधार कोई बड़ा गंभीर, कष्ट-सहिष्णु और अनुभवी नेता होना चाहिए था। हमारी राय में सरोजिनी नायडू इस काम को सफलता-पूर्वक संपन्न करने में कभी सफल न होंगी। मुसलमानों का उन पर भले ही विश्वास हो; पर मालवीयजी और लाला लाजपतराय के स्वदेश-प्रेम पर संदेह करनेवाली इस अबला की नेकनीयती पर यदि करोड़ों हिंदुओं का विश्वास न रहे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। हमारी राय में श्रीमती सरोजिनी नायडू को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाना ठीक नहीं।

× × ×

१५. एशियाटिक बिल

शासन करनेवाली जाति जिन पर शासन करना चाहती है, उन्हें सबसे पहले आत्मा की गुलामी से जकड़ती है। आत्मा की गुलामी—मस्तिष्क की गुलामी—भावों की गुलामी, सब एक ही है। आत्मा में ही दासत्व और स्वातंत्र्य का सूत्रपात होता है। आज जो यह पुकार मची हुई है कि दक्षिण-आफ़्रिका की सरकार भारतवासियों को वहाँ से बाहर निकालने पर आमादा है, वह एशियाटिक बिल का आश्रय लेकर न केवल भारतवासियों को, वरन्

कहने के लिये समस्त एशियानिवासियों को अपने अचूक संधान से वहाँ से हटा देना चाहती है। किंतु राज्य-संबंधी सिद्धांतों का जहाँ तक आश्रय लिया जा सकता है, उस दृष्टि से यदि हम देखते हैं, तो हमें यही जान पड़ता है कि भारतवासियों का जब से आफ्रिका से संबंध हुआ, तभी से इसी बात के प्रयत्न होते रहे कि जब तक इनकी स्थिति से अँगरेज़ लाभ उठा सकें, तब तक तो वे अप्रत्यक्ष रूप से भारतीयों को—एशियावासियों को विस्तृत प्रबल बंधनों से जकड़ते जायँ—अपने स्वार्थों की रक्षा करते हुए एशियानिवासियों के स्वार्थों की सीमा को संकुचित करते जायँ। नहीं, इससे भी पहले हमें जान पड़ता है, भारतवासियों का आफ्रिकानिवासी गोरों के साथ, बोअरों और अन्य जातियों के साथ महज़ कुली का-सा संबंध स्थापित करने का तत्कालीन अँगरेज़-सरकार का, नहीं, अँगरेज़-जाति-मात्र का उद्देश्य यह था कि भारतवासी आफ्रिका-जैसे जंगली देश में कुली—गुलाम—क्रीतदास समझे जायँ। यहीं आत्मा की गुलामी का उद्गम-स्थान है। जब मनुष्य में अपनी निम्न स्थिति का ख़याल पैदा होने लगता है, तब वह समाज में, अपनी ही दृष्टि में, नीचा हो जाता है। धीरे-धीरे यही संस्कार बनकर उसे आजीवन आत्मपतन की ओर प्रेरित करता है। एशियाटिक बिल तो आज संसार के सामने है, जब कि दक्षिण-आफ्रिका की गोरी जातियों ने वहाँ के भारतीयों तथा एशियानिवासियों की सामाजिक स्पर्द्धा के कारण उन्हें वहाँ से मजबूरन बाहर निकल भागने के लिये स्थिति पैदा कर रही है। पर हम यह देखते हैं कि जिस दिन से दोनों का संबंध शुरू हुआ, उसी दिन से गोरे सदा इसी फ़िक्र में रहे कि एशिया और भारत के मज़दूर कुलियों से जल्दी-से-जल्दी अपने वैभव का प्रासाद खड़ा कराकर उन्हें निर्वासित कर दिया जाय। इससे भी अधिक भारत-सरकार की वह नीति एशिया और भारत के अपमान का कारण है, जिसका अवलंबन कर उसने नेटाली गोरों की मर्ज़ी के मुताबिक़ भारत से कुली भेजने का रास्ता खोल दिया। आज भी वही अपमानजनक नीति, खेद से कहना पड़ता है, भारत-सरकार की बनी हुई है। प्रवासी भारतीयों की स्थिति की जाँच करने के लिये कमीशन बैठा ले गए, सरकारी और ग़ैरसरकारी लोगों ने मिलकर और अलग-अलग जाँच की; केनिया के संबंध में उड-विंटरटन समझौता हुआ, और ब्रिटिश-पार्लियामेंट के सामने कितनी ही बार गोरों और इतर जाति के लोगों की अपीलें हुईं, गांधी-स्मट्स समझौता हुआ, और वहाँ रंग-भेद के प्रश्न को हल करने के लिये न-जाने अन्य कितनी व्यवस्थाएँ की गईं; पर यह रंग-भेद—यह शासक और शासित का भेद—मिटाए न मिटा। बल्कि यह कहना चाहिए कि जिस भारत-सरकार ने दक्षिण-आफ्रिका और भारतवर्ष के बीच स्वामित्व और दासत्व का भेद स्थापित किया, वही वास्तव में कुछ नहीं कर सकी। इसी से हम कहते हैं कि जिस नीति को ढाल बनाकर यहाँ से कुली-मज़दूर भेजे गए, वही इस समस्त विवाद की जड़ है। अस्तु, एशियाटिक बिल का विरोध करने के लिये हमें सबसे प्रथम उस नीति पर प्रहार करना होगा।

भारतवासियों का दक्षिण-आफ्रिका से लगभग ६५ वर्षों से संबंध है। सन् १८४०-५० के लगभग पहला जहाज़ भारतीय मज़दूरों को लेकर रवाना हुआ था। यद्यपि घोषणाओं द्वारा यह विदित कर दिया गया था कि क़ानूनन् गुलामी की प्रथा उठ चुकी है; किंतु वहाँ के मालिकों के हृदय से गुलामी की प्रथा का समर्थन करने और गुलाम बनाने का लोभ बना ही हुआ था। भारत-सरकार ने अपनी नीति द्वारा इसी का समर्थन किया। सर विलियम विल्सन हंटर ने दोनों स्थितियों की तुलना करते हुए मज़दूरों के संबंध में लिखा था कि यह तो आधी गुलामी ही है। दूसरे वक़्त उन्होंने इन मज़दूरों की स्थिति को प्रायः गुलाम ही की स्थिति बतलाया। किंतु अध्यवसायी भारतीयों ने वहाँ भी अपने करिश्मे दिखलाए, और एक प्रकार से स्वतंत्र व्यापारी बन गए। अपने व्यवहार से उन्होंने बोअरों तथा अन्य लोगों की सहानुभूति भी योरपियनों की अपेक्षा अधिक प्राप्त कर ली। आज वह स्थिति बोअर-युद्ध के बाद यहाँ तक पहुँच चुकी है कि एशियानिवासी लोग अँगरेज़ों की आँख का काँटा बन रहे हैं। कमाई सब कुलियों की है; व्यापार भारतवासियों का है। यही इस नीचता-पूर्ण व्यवहार का कारण है कि एशियाटिक बिल का सहारा लेकर क़ानूनन् उन्हें वहाँ से निर्वासित किया जा रहा है। ऑरेंज फ़्री स्टेट और ट्रांसवाल में भी रुकावटें हैं। पर नेटाल में १,४०,००० भारतवासी हैं। वस्तुतः यह बिल उन्हीं पर वार करने के लिये है। डॉ०

मालकम ने इस बिल को पेश करते हुए परिस्थिति को स्पष्ट भी कर दिया है। अस्तु। अब इसमें संदेह का स्थान नहीं। पहले इस बिल की प्रस्तावना-स्वरूप "क्लास एरिया बिल" पेश किया गया, जिसके पक्ष और विपक्ष में दोनों दलों के अनुयायियों ने अपने मत प्रकट किए। अभी हाल में साउथ आफ़्रिकन इंडियन कांग्रेस में डॉक्टर गोडफ़े ने स्पष्ट रूप से बतलाया है, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, इन बिलों और उससे उत्पन्न होनेवाली परिस्थितियों का कारण व्यापारिक स्पर्द्धा ही है।

इस बिल के अनुसार शहरों और क़स्बों में स्थान निर्दिष्ट कर दिया जायगा, जहाँ भारतवासी ज़मीन ख़रीद-बेच सकेंगे। वहीं पर वे व्यापार कर सकेंगे। पर इन निर्दिष्ट स्थानों के बाहर वे किसी प्रकार का व्यापार न कर सकेंगे। उन स्थानों के बाहर के पट्टे या कारोबार मुद्दत पूरी हो जाने या जिनके नाम पट्टे या कारोबार होंगे, उनके मर जाने के बाद रद हो जायँगे। इससे अब तक जो स्थावर संपत्ति उन्होंने पैदा कर ली है, उसका लाभ वे न उठा सकेंगे। दूसरी मार्के की बात यह है कि समुद्र-तट से ३० मील से अधिक दूरी पर कोई भारतवासी ज़मीन न ख़रीद सकेगा, और न पट्टे ख़रीद सकेगा। हेल्थ-बोर्ड या लोकल बोर्ड की दरख़्वास्त पर इसी ३० मील के घेरे में उनके लिये स्थान निर्दिष्ट कर दिया जायगा। भारतवासी वहीं रहने के लिये बाध्य होंगे। इसके बाद कोई हिंदोस्तानी दूसरे हिंदोस्तानी के हाथ अपना कारोबार या ज़मीन नहीं बेच सकेगा। फल यह होगा कि जब उन्हें ३० मील के बाहर ख़रीद-फ़रोख़्त का मौक़ा नहीं रहेगा, और ३० मील के भीतर भी वे ऐसा कर न सकेंगे, तो उनके व्यापार को धक्का लगेगा। यही इस एशियाटिक बिल का आधार है। किंतु यहीं भारतवासियों के कष्टों का अंत नहीं होता। गवर्नर-जेनरल को यह अधिकार भी रहेगा कि वह पूर्व-घोषणा को रद भी कर सकेंगे। इसलिये भारतवासी किसी भी समय कहीं से भी निकाले जा सकते हैं। एशियाटिक बिल का, जिसमें "क्लास एरिया बिल" की आत्मा का पूर्ण सन्निवेश है, यह पहला अध्याय है। दूसरे अध्याय में गिरमिटियाओं के लिये नियम रक्खे गए हैं। इन नियमों के अनुसार कितने ही वर्षों से रहनेवाला गिरमिटवाला भी, मिनिस्टर या गिरमिट-विभाग के अफ़सर की इच्छा पर ही प्रवेश कर सकता है। अर्थात् इनको निकाल बाहर करना उसके बाएँ हाथ का खेल रहेगा। आजकल नियम यह है कि यदि दक्षिण-आफ़्रिका का भारतवासी ३ वर्ष से अधिक बाहर रह जाय, तो उसे बंदर में प्रवेश करते समय इसका प्रमाण देना चाहिए कि वह यहीं का रहनेवाला है। बाशिंदा होने का सार्टीफ़िकेट ही अकेला काफ़ी नहीं; अब अन्य प्रमाण भी देना होगा। परंतु यदि वह ३१ पौंड जमा कर दे, तो प्रमाण-संग्रह करने का अवसर दिया जाता है। यह रक़म अब ३१ पौंड से बढ़ाकर १०० पौंड कर दी गई है। इसका अर्थ यह है कि वे न १०० पौंड जमा कर सकेंगे, और न उनका प्रवेश होगा। भारतवासियों को वहाँ से हटाने और उनका प्रवेश रोकने का कैसा अच्छा हथकंडा है। पीठ मारने की अपेक्षा पेट मारने की कितनी ऊँची राजनीतिक चाल है!

इसी अध्याय की १६वीं धारा के अनुसार, जहाँ कोयले की खानें हैं, और सैकड़ों भारतवासी जीविका उपार्जन करते हैं, ऐसे दो ज़िले—यूट्रेच और व्राइहीड—ट्रांसवाल में मिला दिए जायँगे। इस प्रकार आगे चलकर इनसे कहा जायगा कि जनाब, तशरीफ़ ले जाइए। इसी धारा के सी० सेक्शन में कहा गया है कि जो नेटाल और केपकालोनी में शिक्षा-परीक्षा के अनुसार प्रविष्ट हुए हैं, वे देशांतरनिवासी माने जायँगे। इस प्रकार वहाँ के गोरे क़ानून की आड़ में भारतवासियों को निकालना चाहते हैं। क्या हम आशा करें कि देश के सब दलों के लोग संयुक्त शक्ति से इसका प्रतिकार (केवल सभाएँ या हड़ताल करके नहीं) करेंगे? अभी समय है। ताज़ा घाव है। समय पर उपचार हो गया, तो ठीक ही है; अन्यथा दासत्व की भावना के लिये फिर केवल पछताते ही रह जाना पड़ेगा। आवश्यकता है कि कांग्रेस के सम्मिलित रंगमंच से विरोध की वह गगनभेदी गूँज उठे कि ब्रिटिश-मंत्रिमंडल का सिंहासन कंपित हो जाय, और ऐक्ट बनने के पहले ही बिल मंसूख़ कर दिया जाय। देखें, देश के नेता अपने इन भूले प्रवासी बंधुओं के दुःख-निवारणार्थ किस पहलू से काम लेते हैं।



श्रीमती सरोजिनी नायडू

(चालीसवीं भारतीय राष्ट्रीय महासभा की सभानेत्री)

N. K. P... ...ucknow



[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ४ खंड १ | पौष-शुक्ल ७, ३०२ तुलसी-संवत् (१९८२ वि०)— २२ दिसंबर, १९२५ ई० | संख्या ६ पूर्ण संख्या ४२

अलौकिक रूप

(१)

शरद-जुन्हाई-सी है गात की गोराई चारु,
आनन अनूप मानो फुल्ल जलजात है ;
किस भाँति कोई कभी यह बतलावे भला,
कब दिन होता और होती कब रात है।
इसमें मिली है प्रभा शशि और सूर्य की भी,
क्या नहीं स्वयं ही सिद्ध होती यह बात है ?
उसकी अपार शोभा क्यों न श्रेष्ठ लेखी जाय,
बार-बार देखी अनदेखी होती ज्ञात है।

(२)

उसको विलोक लोक सुध-बुध खोता सदा,
ध्यान में उसी के लीन होता अनजान है ;
जान पड़ती है नित नूतन उसी की छटा,
देती दिखलाई भिन्न-भिन्न आन-बान है।
ज्यों-ज्यों देखता है कोई उसका अनूप रूप,
त्यों-त्यों वह होता ज्ञात और रूपवान है ;
होता चूर उसकी निराली चारु छवि देख,
लाखों अंशुमाली की प्रभाली का भी मान है।

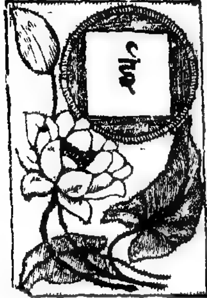
(३)

उसको निहार छवि ने भी हार मान ली है,
कमनीय कंज-कलियाँ हैं कुम्हलाई-सी ;
क्षण-क्षण ज्योति 'क्षण-ज्योति' की थिर न होती,
मानो उसे देख छिपती है शरमाई-सी।
आँख सदा दौड़-दौड़ जाती है उसी के पास,
उसके सुरूप-सुधा-सिंधु में समाई-सी ;
शरद-जुन्हाई क्षीण होती जो कदापि नहीं,
होती तभी वह नेक उसकी लुनाई-सी।

गोपालशरण सिंह

प्राकृत-भाषा

प्राक्कथन



ईसा के पूर्व की पाँचवीं शताब्दी से ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी तक—डेढ़ हज़ार वर्ष का—भारत का इतिहास घोर अंधकाराच्छन्न है। उस समय के सामाजिक नियम, राजनीतिक परिस्थिति, आचार-व्यवहार, रीति-नीति, राज-कीर्ति, लोक-कीर्ति, कवि-कीर्ति, विद्या-चर्चा, धर्म-चर्चा, समर-चर्चा इत्यादि विषयों का अनुसंधान करने के लिये सबसे पहले लुप्तप्राय प्राकृत-ग्रंथों का उद्धार एवं प्रचार अत्यंत आवश्यक है। प्राकृत-भाषा आधुनिक भारतीय भाषाओं की जननी है। अतएव भाषा-तत्त्व की आलोचना के लिये भी प्राकृत का ज्ञान बहुत ही प्रयोजनीय है। फिर भाषा-तत्त्व की आलोचना न करके भी यदि कोई भारत की वर्तमान भाषाओं को सीखना चाहे, तो एक प्राकृत-भाषा के सम्यक् अनुशीलन से ही उसके लिये सभी भाषाएँ सरल हो जायँगी। पुन: संस्कृत-नाटकों के अधिकांश पात्रों की उक्तियाँ प्राकृत-भाषा ही में लिखित हैं। प्राकृत का ज्ञान न रहने से उनका भी मर्म नहीं जाना जा सकता। इसके अतिरिक्त जैनों के सब धर्म-ग्रंथ प्राकृत ही में लिखे गए हैं। अतएव प्राकृत न जानने से जैन-साहित्य की आलोचना भी असंभव है। इसके सिवा प्राचीन शिला-लेख और ताम्र-शासन जिस भाषा में लिखित हैं, उसे भी समझने के लिये प्राकृत का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। अतएव चाहे प्रत्न-तत्त्व-वित् हो, चाहे भाषा-तत्त्वज्ञ, अथवा साहित्यामोदी, सबके लिये प्राकृत मूल्यवान् है।

प्राचीन हिंदी-साहित्य में प्राकृत-शब्दों की भरमार है। नीचे हिंदी-कवियों की रचनाओं से कुछ प्राकृत-शब्दों के उदाहरण दिए जाते हैं—

चंद बरदाई—गद, अभग्ग (अभग्न), हयगय (हय-गज), धुनि (ध्वनि), डमर, लच्छिय (लक्ष्यते), सुघर, मनहुँ, बन्निय (वर्ण्यते), पिन्निय (पीत) बैन (वदन), लुट्टिय (लुण्ठित), घुट्टिय, गयंद (गजेंद्र), हुल्लास (उल्लास), तिय (स्त्री), कीर, अप्प (आत्म), फिरत, मुल्ल, बहुट्टिय, लौं, भवहि (भू), कवन (क: पुन:), सुआ (शुक), बयन (वचन), धुत इत्यादि।

कबीर—बताय, बेलरी (बल्ली), सीस (शीर्ष), पैंडा, सौंप (समर्प), घाव, दीसई (दृश्यते), चकनाचूर, बलिहारी, बूड़त, गागर (गर्गरी), हाले, डोले, बीन, सोहंगम, सुरत, हाड़, लाकड़ी, भूट, गोद (क्रोड़), छिपि, गँवाई, कौड़ा (कपर्दक), फिर, चिड़ियाँ, पछतावा (पश्चात्ताप), पाछे, चुनावे, मेढ़िया, पौने (पादोन), माटी (मृत्तिका), रूँदे, काँचा, बौरी, सँवारी, रैन (रजनी) इत्यादि।

मलिकमहम्मद जायसी—सौंटी बारू (घर), घर, परसा (परिवेशन), भार, नखत (नक्षत्र), उघारी (उद्घाटन), नाहा (नाथ), निरारे, दीठि (दृष्टि), बाजा (वाद्य), भौंवर, अथहि, ऊब, छेका, अखारा, सगरे (सकल), कहानी (कथानक) इत्यादि।

तुलसीदास—होहि (भवन्ति), नेह (स्नेह), जसु (यस्य), हिय (हृदय), दुरावा (दूरायते), लहहि (लभन्ते), गोई (गुप्त), सुहाई (शोभायमान), सकुचानी (संकोच), गरहि (गर्जति), प्रणवों (प्रणमामि), पियार (प्रिय), सराहिय (श्लाघ्यते), उपजहि (उत्पद्यते), माहीं (मध्ये), भल (भद्र), कछु (किंचि), गुणगाहा (गुणग्राहा), पाख (पक्ष), गाहा (गाथा), ढिठाई (धृष्टता), बाढ़ (वृद्धि), थोर (स्तोक), आयसु (आदेश), और (अपर), छोह (क्षोभ) इत्यादि।

सूरदास—अनत (अन्यत्र), उड़ि (उड्डीयते), करील (कटु), पालने (पर्यङ्क), खिलौना (क्रीडनक), पग (पद), काढ़त (कर्षत), गुहत (ग्रथति), नहाना (स्नान), ठाढ़े (स्थित), घुटरू, लट, लटकन, मल्हावे, नन्ही, निछावरि, होड़, उलटि, मुहर (मुखर), चोटी, ओछत, खिझावे, बटैया, धिरयो (धर्षित) इत्यादि।

रहीम—दुरै, सराहि, घटे, भलत, पछितात(पश्चात्ताप), भीजत, ठहराय, उवत (उदेति), उमड़ि, अथवत (अस्तायते), ठेसुआ, ठौर, छुटे, कसौटी, साँचे (सत्य), दीवो (दीप), भीम, जाँचिबे, डारि, सुई (सूचि) इत्यादि।

केशवदास—धीरज (धैर्य), सेइए (सेवस्व), लीवति, उबारक (उद्धार), चितवै, टकटोरी, रहँगी,

चूक, जुन्हाई (ज्योत्स्ना), अन्हाई (स्नाता), बूझति (पृच्छति), निकरति, चहुँ (चतुः), सूम, बखानिए, माँगन (मृग्यते), रीझिय, खीझिय, साखई, डाँड़ (दंड), नीको, भीर, लालच (लालसा), लंक, रंक, मनुहार, उसाँस (श्वास), मोहन, सिगरे, सम्हार, चितानि इत्यादि ।

बिहारीलाल—झाँई, धरयो (ध्वस्त), ड्योढ़ी, लसत, पसीजति (प्रसीदति), ड्योरति, डटि, रोकि, भौर, उघारति (उद्घाटयति), छिपाय, चाह, कोरि, सौंधे, डोरे, ऊगे (उद्गम), चढ़ि, अटावलि, सौंवी, छैल, लोयन (लोचन), बुझाय, मिस, डग कुड़गति, ठठकि, चटक, छुवाय, मैन (मदन), बेसर, निधरक, ठोढ़ी, गाढ़, पून्यो (पूर्णिमा), ओप, उजास (उज्ज्वलता), ऐंड़ी, मींडत (मर्दयति) मावस (अमावास्या), भींजे इत्यादि ।

भूषण—बिललाने, छरीदार, नेकहूँ, ताकि, चाहि, ल्योत, अनखन, पौन (पवन), कूद, घेंघट, पाछे (पश्चात), डारे, चौंकि (चमक), बखान (व्याख्या), डरि, बाट (वर्त्मन), बिलात, कुम्हिलाने, दूजा (द्वितीय), ढंग, धाक, बरजा (वर्जन), ललन, पछाह (पश्चात्), उमेठो, जराई (उज्वलित), अचभो, उबारिबो (उद्धार), झलकत, बलकत, लरिबे को, उछाह (उत्साह), छुलकत, पौढ़े, बैठ, खेर, सोचत (शोच), खरोंक, आँसू (अश्रु), पसीनो (प्रस्वेद), हिंसि, दूलहो (दुर्लभ) इत्यादि ।

देव—ढारी, झँगुला, भारी, बनरावै (स्रवंत), हलावै, जुगनू (ज्योतिरिंगण), पधारिबो (पद-धारन), बेसर, लसत, आज (अद्य), ढरकि, सरकि, टहले, तरकि, दरकि, फरकि, अँध्यारो (अंधकार), गत, बात (वार्ता), अनखात, थकत, सकत (शक्र), अघात, गुदरी, छायो (छादित), सिसिकि, रिसानी (रोष), बिलानो, टेक, टरति, छकी, जकी, टकी, थहरानी, बालम, सौति, सराप (शाप) इत्यादि ।

गिरिधर—साँई (स्वामी), बेटा, बाप, बिगरे, झगरत, लेटा, बाँझ (वंध्या), झँख, फूहर, परसत, झपटि, सोचावे, लरिका, खजुवावै, धेना, लुकाटन, पैवरिया, लोन (लवण), निपंग, सोगध, खटक, पाहुन, ठाकुर इत्यादि ।

पद्माकर—उमहे, भाँति, चौक (चमक), चकचौंधे, चौंधे, नवेली (नव), सहेलिन (सखी), ढेर, चोखी, चौरस, चौकी, चगेरे, चहल, चमीन, फबी, गोल, बैन, लटा, बिज्जु (विद्युत), बटोहिन इत्यादि ।

पद्य के पश्चात् अब व्रजभाषा के गद्य का एक उदाहरण दिया जाता है—

"जब सब व्रजवासीन ने सुनी जो श्रीदेवदमन को गाय बहोत प्रिय है, तब सबनने मिलिके यह बिचार कियौ, जो जाके गाय होय, सब एक-एक तथा दोय-दोय भेट करो : और गिरिराज के आसपास जो चौबीस गाम हैं, तिनके पास सों सब व्रजबासी मिलिके एक-एक दोय-दोय गाइ भेट करवाई, और यह ठहरी जो बांस गाम मे जाके प्रथम गाय ब्यावै, सो बछिया तो देवदमन को भेट करै । ऐसे सहस्र बिधि गाय श्रीजी के भेट भई । तब दूध, दही, माखन और मठा, सब घर की गायन का आरोगे ।"

इसमें सब, सुनी, गाय, बहोत, है, मिलि, यह, कियौ, जो, होय, दोय, भेट, करो, आसपास, चौबीस, तिन, ठहरी, ब्यावै, बछिया, भई, तब, दूध, दही, माखन, और, मठा, घर, आरोगे, ये शब्द प्राकृत है ।

वर्तमान खड़ी बोली में भी कितने ही प्राकृत-शब्द हैं, यह भी देखिए—

"बहन, देखती क्या हो ? हमने सचमुच रुपयों के लिये अपने लड़के और लड़की को बेच डाला । मेरे पति मुझे रानीगंज घसीट ले गए थे । वहाँ उन्हें एक खान का ठेका मिल गया था । वहाँ मेरे दोनों बच्चे बीमार पड़े; न कोई दवा हो सकी, न दारू । कई दिन बाद एक डॉक्टर आया, मगर वह क्या करता ? बहन, सच कहती हूँ, न मैं वहाँ जाती, और न मुझे बच्चों से हाथ धोना पड़ता ।"

(दीनानाथ)

दवा, डॉक्टर, बाद और मगर, इन चार शब्दों के सिवा सब प्राकृत से बने शब्द है ।

एक मारवाड़ी नवल कथा 'कनक-सुंदर' का एक अंश उद्धृत किया जाता है । देखिए, इसमें कितने प्राकृत-शब्द हैं—

"नहीं भाई, भाभी का बोलबा सूं रीसां भरकर घर छोड्यो नहीं, म्हारा मन माँहे परदेश-दिक्खन देखबा की घणा दिनों सूं लाग रही थी । एक-दो बार म्हे थाँके पास बात भी काढ़ी थी । जराँ आप कह्यो थो के अबार नहीं, दीखो जशी । जराँ हूं चुप हो गयो थो । म्हारे तो थे

मायत छो, थाँका बोलवा-चालवा की रीस मानवा को म्हारा धरम नहीं ।"

फिर गुजराती में देखिए। 'करणघेलो' से एक अवतरण नीचे उद्धृत किया जाता है—

"थोड़ी वार पछी राजा हिंडोले थी उठ्यो, अने एक हलका रजपूतनाँ लुगडाँ राखेलाँ हताँ; ते तणे पहेर्यो। तेणे पोतानुं म्हों छुपाववाने बुकानी बाँधी, अने पगे जूना जोड़ा पहेर्यो। पछी एक खवास ने बोलावी हुकम कीधो के आज रात्रे बीर चर्चा एटले नगरचर्चा जोवानो मारो विचार छे। माटे एक लोटामाँ पाणी भरी लई मारी साथे आववुँ। खवास हुकम प्रमाणे जलदी थी तैयार थयो।"

इसमें खवास, हुकम, जलदी और तैयार शब्द के सिवा सभी प्राकृत से उत्पन्न शब्द हैं।

इसी प्रकार पंजाबी, सिंधी, मराठी, बँगला, उड़िया, आसामी, नेपाली, मैथिली, मागधी, भोजपुरी तथा अवधी में भी प्राकृत का समावेश समझ लीजिए। अतएव उत्तर-भारत की वर्तमान आर्य-भाषाओं के सम्यक् ज्ञान के लिये प्राकृत का अनुशीलन अत्यंत आवश्यक है।

आरंभ

ईसवी सन् के कई शताब्दी पहले आदर्श संस्कृत-भाषा का आरंभ हुआ। यह अभी तक पंडितों की भाषा बनी हुई है। इसी आदर्श शैली में अभी तक काव्य-नाटकादि लिखे जा रहे हैं। अभी चालीस वर्ष भी नहीं गुज़रे, बंग-देश के शांतिपुर-निवासी पंडित रामनाथ तर्क-रत्न ने 'वासुदेव-विजय'-नामक महाकाव्य और 'प्रभातस्वप्नम्'-नामक नाटक लिखे हैं, जो कालिदास आदि महाकवियों के काव्य-नाटकादि से किसी प्रकार न्यून नहीं हैं। दार्शनिक शैली—यथा, पर्वतो वह्निमान् धूमात्—भी अभी तक जारी है। सोलहवीं शताब्दी में भी नवद्वीप के नैयायिकों ने इसी शैली पर पुस्तकें लिखीं, और इसी के ढंग में विशिष्टता उत्पन्न की, अर्थात् इसे पहले से भी अधिक कृत्रिम बना दिया। उन्होंने इनके बनाने में अपनी मातृभाषा का व्यवहार नहीं किया। संस्कृत तो तीन हज़ार वर्ष से सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा नहीं है। कोई-कोई कहते हैं कि यह कभी कथित भाषा थी या नहीं, इसमें भी संदेह है; क्योंकि जब से यह पाणिनि के नियमों से शृंखलाबद्ध हुई, तब से पंडितों के सिवा दूसरों के द्वारा बोलचाल में व्यवहृत नहीं होती। अस्तु। अति प्राचीन काल से प्राकृत ही कथित भाषा है। हिंदी, बँगला इत्यादि भी प्राकृत हैं; परंतु अब प्राकृत नहीं कहलातीं। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति के पहले जो-जो आर्य-भाषाएँ उत्तर-भारत में सर्वसाधारण की भाषाएँ थीं, उन्हीं को प्राकृत कहते हैं। प्राकृत-भाषाएँ सजीव भाषाएँ थीं, अतएव उनमें परिवर्तन अवश्य होते थे। भारतवर्ष में आर्यों का विस्तार हुआ। वे विभिन्न प्रदेशों में फैले। उनसे अन्य जातियों का संघर्ष हुआ। परस्पर दूर प्रदेशों में रहने के कारण, भिन्न-भिन्न जातियों के संसर्ग से, भिन्न प्रदेशों के जल वायु इत्यादि नैसर्गिक पदार्थों की भिन्नता के कारण विभिन्न प्रदेशवासियों की ध्वनियों के उच्चारण में विभिन्नता आ गई। भिन्न-भिन्न प्रदेश के आचार व्यवहार की विभिन्नता तथा सभ्यता की असमान वृद्धि के कारण मानसिक भावों में भी विभिन्नता आ गई। अस्तु। नूतन भावों के विकास के साथ-साथ उन्हें प्रकट करने के लिये नए-नए शब्द भी बने। परंतु हरएक उपभाषा की ध्वनियों तथा शब्दों के रूपों का परिवर्तन कुछ ख़ास नियमों से होता है, और भाषा-विज्ञान में इन नियमों की आलोचना होती है। इस प्रकार निर्दिष्ट नियमों से ही वैदिक भाषा से प्राचीन प्राकृत, और निर्दिष्ट नियमों से प्राचीन प्राकृत से पीछे की प्राकृत-भाषाएँ बनीं। इन्हीं निर्दिष्ट नियमों के अनुसार प्राकृतों से उनके अपभ्रंश बने, तथा अपभ्रंशों से आधुनिक उत्तर-भारत की देशी भाषाएँ बनीं।

प्राकृत-भाषाओं में पाली-भाषा का संस्कृत-भाषा से अधिक सादृश्य है। पाली के भी दो रूप हैं—कथित तथा साहित्यिक। पाली में बौद्ध-धर्म की पुस्तकें लिखी गई हैं। बुद्ध-देव ने आज्ञा दी थी कि उस समय की कथित भाषा में ही उनके प्रवर्तित धर्म की पुस्तकें लिखी जायँ। परंतु यह साधारण बात है कि कथित भाषा से साहित्यिक भाषा परिमार्जित होती है। अतएव बौद्ध-ग्रंथ कुछ परिमार्जित भाषा में ही लिखे गए। जब यह भाषा कथित नहीं रही, तब भी इसमें कितने ही बौद्ध-ग्रंथों की रचना हुई। जब शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट आदि की चेष्टा से बौद्ध धर्म भारतवर्ष से निकाला गया, तब इस धर्म ने सिंहल, ब्रह्मदेश, स्याम इत्यादि देशों का आश्रय लिया। पाली-भाषा की पुस्तकों में से अधिकांश इन्हीं देशों में लिखी गई हैं।

इस निबंध में पाली-भाषा को छोड़कर अन्यान्य प्राकृत-भाषाओं की चर्चा होगी। यद्यपि पाली भी एक प्रकार से प्राकृत-भाषा है, तथापि हम प्राकृत-भाषाओं में इसका शुमार नहीं करेंगे। पाली के सिवा अन्यान्य प्राकृत-भाषाओं का ही हम प्राकृत-नाम से उल्लेख करेंगे।

यह कहा जा चुका है कि अति प्राचीन काल से ही लोगों के बोलचाल की भाषा प्राकृत है। हमारे देश के प्रायः सभी पंडितों का मत है कि प्राकृत संस्कृत से उत्पन्न हुई है; परंतु प्रकृति अर्थात् स्वभाव से जो सिद्ध है, वही प्राकृत है—(१) प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धमिति प्राकृतम्। प्राकृत-जनों की जो भाषा है, वही प्राकृत है,(२) प्राकृतजनानां भाषा प्राकृतम्। कवि वाक्पति ने कहा है—"इस प्राकृत भाषा ही में सब भाषाएँ संनिविष्ट हैं, और इसी से सब भाषाएँ निकली हैं।" इससे यह सिद्ध होता है कि पाणिनि द्वारा शासित संस्कृत भाषा भी प्राकृत से निकली है। जब संस्कृत-भाषा अप्रचलित हो गई, तब भी प्राकृत-भाषा जीवित थी। वैदिक युग की बोलचाल की भाषा का नाम था आर्ष अपभ्रंश। साहित्यिक भाषा कभी बोलचाल की भाषा नहीं हो सकती। दोनो में अंतर अवश्य रहता है, और परस्पर का प्रभाव परस्पर पर पड़ता रहता है। यह भाषा के परिवर्तनों का एक कारण है। परंतु परिवर्तन आकस्मिक घटना नहीं है। यह स्वाभाविक नियमों से होता है। वैदिक युग से जो-जो भाषाएँ परंपरा से सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा रहती आई हैं, उन्हीं को प्राकृत कहते हैं। यदि यह मान लें कि वैदिक भाषा किसी समय कथित-भाषा थी, तथा जब से वह साहित्य में व्यवहृत होने लगी, तभी से एक ओर प्राकृत का अंकुर उत्पन्न हुआ, तो वैदिक भाषा ही से इसका भी प्रमाण पाया जाता है।

जब आर्य लोग पहलेपहल इस देश में आए, तब यहाँ उनका विस्तार कम था। वे केवल काबुल और पंजाब के उत्तर-पश्चिम में रहते थे। यही ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों का रचना-काल है। इसके बाद वे सिंधु, पंचनद, सरस्वती, दृशद्वती, गंगा और यमुना तक अर्थात् समग्र आर्यावर्त में फैले। जब तक वे थोड़ी-सी जगह में सीमाबद्ध रहे, तब तक आर्यों की भाषा अर्थात् वैदिक भाषा पर इस देश के आदिम अधिवासियों का प्रभाव अधिक नहीं पड़ा; वेद की भाषा अर्थात् साहित्यिक भाषा ज्यों-की-त्यों रही होगी। परंतु सर्वसाधारण के बोलचाल की भाषा में कुछ परिवर्तन धीरे-धीरे अवश्य ही हुआ, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पर जब वे विभिन्न प्रदेशों में फैले, तब उनकी भाषा में बहुत परिवर्तन हुए। एक-एक प्रदेश में एक-एक प्रकार की प्राकृत उत्पन्न हुई। इस परिवर्तन के तीन मुख्य कारण हैं—

(१) भारतीय अनार्यों के साथ संपर्क।

(२) जल, वायु, आचार और पद्धति की विभिन्नता।

(३) उच्चारण की सहूलियत।

प्राकृत-भाषा, आर्य और अनार्यों की भाषाओं के सम्मिश्रण से तो बनी; पर इसकी प्रकृति आर्य-भाषा ही की रह गई। इसका कारण यह है कि आर्य लोग अनार्यों से सभ्यता में बहुत बढ़े थे। जो अनार्य आर्यों के आधिपत्य में आ गए, उन्होंने आर्यों की भाषा ग्रहण कर ली; पर आर्य-भाषा में भी अनार्यों के कुछ शब्दों का प्रवेश हो गया। दूसरा कारण यह था कि आर्य-भाषा अनार्य-भाषा से अधिक परिपुष्ट एवं भाव-व्यंजक थी। वैदिक भाषा या लौकिक संस्कृत अथवा प्राकृत, कोई भी पहले लिखित-भाषा नहीं थी। बहुत समय से ये मौखिक रूप में थीं, अर्थात् आदमियों की ज़बान ही के ज़रिए चली आती थीं। प्राकृत भी बहुत काल तक साहित्यिक भाषा नहीं थी। बुद्धदेव तथा शेष जैन-तीर्थंकर महावीर के आविर्भाव के पीछे यह साहित्य के लिये व्यवहृत होने लगी।

प्राकृत के कई भेद हैं। जो भाषा बुद्धदेव के समय मगध में प्रचलित थी, वह प्राचीन मागधी कहलाती थी। बुद्ध-देव की मृत्यु के उपरांत उनके उपदेश प्राचीन मागधी-प्राकृत में लिखे गए। प्राचीन मागधी पीछे 'पाली' नाम से प्रसिद्ध हुई। प्राकृत-भाषाओं में पाली ही सबसे प्राचीन है।

यह कहा गया है कि साहित्यिक भाषा बोलचाल की भाषा नहीं हो सकती। परंतु परस्पर का प्रभाव परस्पर पर पड़ता ही है। वेद में भी प्राकृत का प्रभाव दिखलाई देता है, अर्थात् जिस नियम से प्राकृत की ध्वनियों में परिवर्तन होता है, वेद में भी उसी प्रकार के परिवर्तनों के दृष्टांत मिलते हैं। जैसे, शिथिर=शिथिल। शिथिर श्रथ्-धातु से बना है, अतएव श्रिथिर-पद बनना चाहिए। परंतु 'श'

से संयुक्त 'र' का लोप हो गया है। और भी इस प्रकार के बहुत-से उदाहरण पाए जाते हैं।

भाषाएँ दो प्रकार की हैं—(१) संश्लेषक और (२) विश्लेषक। संस्कृत संश्लेषक-भाषा है। प्राकृत भी संश्लेषक-भाषा है। परंतु हिंदी, बँगला इत्यादि विश्लेषक-भाषाएँ हैं। संस्कृत जितनी संश्लेषक है, प्राकृत उतनी नहीं। विश्लेषण के द्वारा भाषा सरल होती है। प्राकृत का विश्लेषण की ओर झुकाव है। वैदिक युग में जो भाषा सर्व-साधारण के बोलचाल के निमित्त व्यवहृत होती थी, उसका नाम आर्ष-अपभ्रंश दिया गया है। इसी आर्ष-अपभ्रंश से प्राकृत-अपभ्रंश की उत्पत्ति हुई है। वैदिक युग के बहुत-से शब्द प्राकृत में पाए जाते हैं; परंतु संस्कृत में उनका व्यवहार नहीं है। यदि संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति होती, तो ये शब्द प्राकृत में कैसे आते? प्राकृत-अपभ्रंश ही मार्जित होकर आगे साहित्यिक प्राकृत हुई है।

वैदिक भाषा के साथ प्राकृत-भाषा का बहुत सादृश्य पाया जाता है—

प्राकृत-भाषा की तरह (१) वैदिक भाषा मे, प्रथमा के एकवचन में, ओकार का प्रयोग। जैसे, संवत्सरो अजायत।

(२) तृतीया के बहुवचन में संस्कृत देवैः के स्थान में वैदिक देवेभिः के सदृश देवेभि। यहाँ विसर्ग-मात्र छोड़ दिया गया है। पीछे देवेभि के स्थान में देवेहि हो गया।

(३) वैदिक भाषा में, पंचमी के एकवचन में, उच्चा, नीचा, पश्चा और प्राकृत में देवा, पच्छा इत्यादि।

(४) वैदिक भाषा में, चतुर्थी के स्थान मे, विकल्प में षष्ठी होती है; परंतु प्राकृत में संप्रदान-कारक के लिये सब जगह षष्ठी का ही व्यवहार होता है।

(५) वैदिक भाषा में द्विवचन के लिये बहुवचन के सदृश पदों का व्यवहार। जैसे मित्रावरुणौ के स्थान में मित्रावरुणा: अश्विनौ के स्थान में अश्विना।

(६) वेद में अंत्य व्यंजन के लोप के उदाहरण पाए जाते हैं। जैसे युष्मान् के स्थान में युष्मा इत्यादि। प्राकृत में सर्वत्र अंत्य व्यंजन का लोप होता है।

(७) वेद में षष्ठी के बहुवचन की विभक्ति कहीं-कहीं णाम् पाई जाती है, जैसे सोमनाम्, देवानाम्, ऋतुनाम् इत्यादि। इसी से प्राकृत में, षष्ठी के बहुवचन में, 'ण' होता है।

संस्कृत-भाषा का व्याकरण जटिल है; किंतु प्राकृत का व्याकरण संस्कृत के व्याकरण से सरल है। संस्कृत में शब्दों तथा धातुओं के जितने रूप हैं, प्राकृत में उतने नहीं। अपभ्रंश में तो और भी कम रूप हैं। अंत में, रूपों की संख्या हिंदी इत्यादि में और भी घट गई है—केवल दो या तीन विभक्तियाँ रह गई हैं। अर्थ-बोध के लिये अव्ययों का व्यवहार ही अधिक होता है।

प्राकृत के व्याकरणों से मालूम होता है कि इस भाषा की चेष्टा विभक्तियों को घटाने की ओर है। यहाँ तक कि शब्दों के अंत में 'क'-प्रत्यय लगाकर उन्हें अकारांत बनाने की चेष्टा की गई थी। संप्रदान की विभक्ति का तो बिलकुल लोप ही हो गया है। कर्ता तथा कर्म-कारक की विभक्तियों को एक-सी करने की ओर झुकाव है। धातु-रूप में सब धातुओं को भ्वादि-गण की धातुओं के नियम से रूप देने की चेष्टा अधिक है। दस 'लकारों' में केवल लट्, लोट् और लृट्, इन्हीं तीन लकारों का प्राधान्य है। अतीत काल-सूचक तीनों (लङ्, लिट्, लुङ्,) लकारों के स्थान में, सब पुरुषों और वचनों में, स्वरांत धातुओं के आगे सी, ही, हीअ, और व्यंजनांत धातुओं के आगे ईअ विभक्ति होती है। जैसे 'कृ'-धातु से कासी, काही, काहीअः 'स्था'-धातु से ठसी, ठाही, ठाहीअ। व्यंजनांत 'ग्रह'-धातु से गण्हीअ पद तीनों लकारों के सब पुरुषों में प्रयुक्त होता है। अतीत काल प्रायः 'क्त'-प्रत्यय से निष्पन्न पदों के द्वारा प्रकट होता है। प्राकृत में द्विवचन का प्रयोग नहीं है। आत्मनेपद भी लुप्तप्राय हो गया है।

इन परिवर्तनों के सिवा ध्वनियों के परिवर्तन विशेष कर हुए। ये आगे दिखलाए जायँगे। ध्वनियों के परिवर्तनों से शब्दों के रूप ऐसे बदल गए हैं कि उनको पहचानना ही मुशकिल है। जैसे कृष्ण से कण्हो, स्पर्श से फरिसो, स्फटिक से फलिहो इत्यादि।

आगे बढ़ने के पहले प्राकृत-भाषाओं का श्रेणी-विभाग करना आवश्यक है। इनको हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(क) प्राचीन प्राकृत, (ख) मध्ययुग की प्राकृत और (ग) शेषयुग की प्राकृत।

(क) प्राचीन प्राकृत के अंतर्गत हैं—

(१) पाली, (२) आर्ष-प्राकृत या जैन-सूत्रों की भाषा, और (३) अश्वघोष-लिखित नाटकों की प्राकृत।

(ख) मध्ययुग की प्राकृत के अंतर्गत हैं—

(१) महाराष्ट्री, जिसमें दक्खिनी गाथाएँ लिखी गई हैं, (२) शौरसेनी-प्राकृत, जिसमें नाटकों का गद्यांश प्रायः लिखा गया है, (३) मागधी-प्राकृत, जिसमें नाटकों के कुछ निम्न-श्रेणी के पात्रों की बातचीत लिखी गई है, (४) पैशाची, जिसमे 'बृहत् कथा' लिखी गई थी, और जिसके कुछ नमूने हेमचंद्र के कुमारपाल-चरित में पाए जाते हैं।

(ग) शेषयुग की प्राकृत अर्थात् शेषयुग की अपभ्रंश।

इसमें बहुत थोड़ा साहित्य लिखा गया था। हेमचंद्र ने इसका कुछ विवरण दिया है।

यहाँ जैन-प्राकृतों का भी कुछ उल्लेख होना चाहिए। जिस भाषा में जैन-सूत्र लिखे गए हैं, उसे अर्द्ध-मागधी कहते हैं। मागधी से इसका बहुत सादृश्य है। यह शूरसेन और मगध के अंतर्वर्ती देशों में बोली जाती थी। श्वेतांबर-संप्रदाय के जैनों के ग्रंथ जैन-महाराष्ट्री में लिखे गए हैं, तथा दिगंबर जैनों के ग्रंथ जैन-शौरसेनी में।

जिस प्रकार की प्राकृतें हम काव्य-नाटकों में पाते हैं, उनके कभी बोलचाल की भाषाएँ होने में बहुत संदेह है। प्राकृत के वैयाकरणों और आलंकारिकों के नियमों से आबद्ध एवं मार्जित होकर वे साहित्य में व्यवहृत हुई। यदि वे किसी समय कथित-भाषा थीं भी, तो जिस समय काव्य-नाटकादि रचे गए, उसके बहुत पहले बोलचाल की भाषा से परिमार्जित हो गईं। आलंकारिकों ने नियम कर दिया था कि पद्य महाराष्ट्री-प्राकृत में, और गद्य शौरसेनी तथा मागधी-प्राकृत में लिखे जायँ; ऊँचे दर्जे के पात्र शौरसेनी में और बहुत निम्न-श्रेणी के पात्र मागधी में बोलें। इससे यह मालूम होता है कि नाटकों की प्राकृत कृत्रिम थी। पद्य में महाराष्ट्री का व्यवहार होने का कारण यह है कि बहुत प्राचीन काल से केवल महाराष्ट्र-देश ही में प्राकृत-काव्य और गाथाएँ बनती आई थीं। हाल की प्राकृत-सप्तशती ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के इधर-उधर संग्रह की गई थी। गुणाढ्य की 'बृहत् कथा' इसी समय पैशाची में लिखी गई।

अब हम प्राकृत के ध्वनि-परिवर्तन की आलोचना करेंगे। इसमें संस्कृत-शब्दों के साथ उनकी तुलना है। नीचे पहले महाराष्ट्री-प्राकृत के ध्वनि-परिवर्तनों के नियम दिए जाते हैं।

असंयुक्त वर्ण

श, ष के स्थान में सर्वत्र स होता है। न के स्थान में सर्वत्र ण होता है; केवल तवर्ग के वर्णों के साथ न संयुक्त पाया जाता है। य के स्थान में सर्वत्र ज होता है। शब्द के आदि-स्थित असंयुक्त व्यंजन का परिवर्तन नहीं होता।

समास-निष्पन्न पदों में जितने शब्द रहते हैं, उनमें से प्रथम को छोड़कर जितने शब्द हैं, सबका आद्य वर्ण मध्यस्थ वर्ण के सदृश समझा जाता है। जैसे अज्जउत्त (आर्यपुत्र)। अव्यय तथा उपसर्गों के आद्य वर्ण मध्यस्थ वर्णों के सदृश समझे जाते हैं। जैसे उण (पुनः), अ (च)। अंत्य व्यंजन का प्रायः लोप होता है। अंत्य मकार और नकार की जगह अनुस्वार होता है। अंत्य वर्ण जब रह जाता है, तब उसमें प्रायः आकार संयुक्त होता है। जैसे पच्छा (पश्चात्), तं (तत्), किं (किम्), भवं (भवान्), दिशा (दिश्)। दो स्वरों के मध्य-स्थित क, ग, च, ज, त और द का प्रायः, पद-मध्यस्थित प, ब, व का कभी-कभी और पद-मध्य-स्थित य का सर्वदा लोप होता है। जैसे, मउलो (मुकुल), साअर (सागर), वअन (वचन), गओ (गज), मओ (मद), कई (कपि), विउह (विबुध), जीअ (जीव), णअणं (नयन) कभी-कभी इन वर्णों का लोप न होकर द्वित्व होता है। जैसे णक्ख (नख), एक्क (एक), जोव्वण (यौवन)। दूसरे वर्णों का भी कभी-कभी द्वित्व होता है। जैसे तेल्ल (तैल), पेम्म (प्रेमन्)। संयुक्त वर्णों के पहले का स्वर ह्रस्व होता है। इस नियम से जोव्वण, तेल्ल और पेम्म के पहले का ओकार तथा एकार ह्रस्व है।

तकार और पकार का लोप न होने से इनके स्थान में दकार और वकार होते हैं। जैसे एदिना (एतेन), किवा (कृपा) इत्यादि। वर्ग के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों का द्वित्व होने का अर्थ है उनके पहले अपने-अपने वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्णों का संयुक्त होना। टकार के स्थान में डकार, ठकार के स्थान में ढकार और रकार तथा डकार के स्थान में कभी-कभी लकार होता है। जैसे मउडो (मुकुट), कढोरं (कठोर), मुहलो (मुखर), दालिम (दाडिम्ब)। दो स्वरों के बीच के ट और ठ, ड तथा ढ

हो जाते हैं। जैसे विडवो (विटप), कढोरं (कठोर)। दंत्य वर्णों के स्थान में कभी-कभी मूर्द्धन्य वर्ण होता है। जैसे पडि (प्रति), पढम (प्रथम), वेडिसो (वेतस), पडाश्रा (पताका)। त के स्थान में कभी-कभी द होता है। जैसे उदू (ऋतु), रश्रद (रजत)।

अनादि अयुक्त ख, घ, थ, ध और भ के स्थान में प्रायः, और फ के स्थान में कभी-कभी ह होता है। जैसे मेहला (मेखला), मेहो (मेघ), गाहा (गाथा), वाहिरो (वाधिर), सहा (सभा), सहर (शफर)। अनादि अयुक्त फ के स्थान में प्रायः भ होता है। जैसे सभरी (सफरी)।

प और ब का जब लोप नहीं होता, तब उनके स्थान में व हो जाता है। जैसे, उवरि (उपरि), कवल (कबल), इसी प्रकार जउणा=यमुना, फलिहो=स्फटिक, णिहसो=निकष, चिहुरो=चिकुर, सीभरो=सीकर, सीहरो=शीकर, चंदिमा=चंद्रिका, वसही=वसति, भरहो=भरत, एरावणो=एरावत, पलित्तं=प्रदीप्त, कलंबो=कदंब, दोहलो=दोहद, गग्गरो=गद्गद, एआरह=एकादश, बारह=द्वादश, तेरह=त्रयोदश, चउद्दह=चतुर्दश, लट्ठी=यष्टि, चिलओ=किरात, खुज्जो=कुब्ज, डोला=दोला, डंडो=दंड, डसणा=दशन, फरिसो=परुष, णाहला=लोहल, मम्महो वा वम्महो=मन्मथ, छट्ठी=षष्ठी, छावओ=शावक, दिअहो=दिवस, णहुसा वा सोण्हा=स्नुषा, तहिम=तस्मिन्=तस्मिन्, इत=इह।

संयुक्त वर्ण

शब्दों के आदि में हमेशा असंयुक्त वर्ण रहता है। जैसे फलिहो (स्फटिक)। इस नियम का व्यतिक्रम भी यह है, जैसे ण्ह = ण्हाण (स्नान); 'म्ह' = म्हवाम्हो (स्मः)। समास-निबद्ध पदों के प्रथम शब्द को छोड़कर अन्य शब्द। जैसे पसुप्पमाणो (प्रसूतिप्रमाणो)। पद के मध्य में दो व्यंजनों से अधिक का संयोग नहीं हो सकता। जैसे सिद्धिए (सिद्ध्या)।

संयुक्त वर्णों की तीन अवस्थाएँ हैं—

(१) द्वित्व। जैसे पक्क।

(२) वर्ग के प्रथम वर्ण के साथ द्वितीय वर्ण का, तृतीय वर्ण के साथ चतुर्थ वर्ण का, सानुनासिक के साथ किसी व्यंजन का संयोग। जैसे हत्थो (हस्त), मज्झो (मध्य), थंभो (स्तंभ), सुंदेरं (सौंदर्य), चिंधं (चिह्न), बम्हा (ब्रह्मा), वण्ही (वह्नि) इत्यादि।

(३) ल के साथ ह का योग। जैसे कल्हादो। अतएव वर्णों का लोप होता है, अथवा स्वर-विभक्ति होती है। जैसे वण्णो (वर्ण), हरिसो (हर्ष)। अनादिभूत शेष तथा आदेश का द्वित्व होता है। लोप के बाद संयुक्त वर्ण जितना बाक़ी रहता है, उसको शेष कहते हैं। र तथा ह का द्वित्व नहीं होता। द्वित्व-प्राप्त वर्गीय युग्म-वर्ण के पूर्व-भाग के स्थान में पूर्व-वर्ण होता है। अर्थात् ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ के पूर्व-भाग के स्थान में क्रम से क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प, ब होते हैं। अनुस्वार के परवर्ती शेष तथा आदेश का भी द्वित्व नहीं होता। वर्ग के प्रथम वर्ण के साथ किसी ऊष्म-वर्ण का योग रहने से ऊष्म-वर्ण का लोप होता और द्वितीय वर्ण महाप्राण हो जाता है। जैसे पुप्फो (पुष्प)।

संयुक्त वर्ण में र, व, श, ष, स रहने से कभी-कभी अनुस्वार का आगम होता है, और वह पहले या पीछे बैठता है। जैसे वंको (वक्र), दंसणं (दर्शन)।

संयुक्त वर्ण में अंतस्थ-वर्ण रहने से पहले उसी का लोप होता है। जैसे मच्छो (मत्स्य)। संयुक्त वर्ण के ऊपर के क, ग, ड, त, द, प, ष, स का लोप होता है। जैसे भत्तं (भक्त), मुद्धो (मुग्ध), खग्गो (खड्ग), उप्पलं (उत्पल), मुग्गरो (मुद्गर), सुत्तो (सुप्त), णिट्ठुरो (निष्ठुर), णोहो (स्नेह)।

संयुक्त वर्ण के नीचे के म, न, य का लोप होता है। जैसे रस्सी (रश्मि), णग्गो (नग्न), जोग्गो (योग्य)। चौर्य, वीर्य, शौर्य इत्यादि के 'र्य' के स्थान में रिअ होता है। जैसे चोरिअ, वीरिअं, सोरिअं। 'र्त' के स्थान में कभी-कभी ट होता है, जैसे केवट्टो (कैवर्त)। त्य, थ्य और द्य के स्थान में क्रम से च्च, च्छ और ज्ज होते हैं। जैसे सच्च (सत्य), मिच्छा (मिथ्या), विज्जा (विद्या)। ध्य, ह्य के स्थान में ज्झ होता है। जैसे मज्झं (मध्य), सज्झ (सह्य)। श्च, त्स, प्स के स्थान में प्रायः च्छ होता है। जैसे, पच्छिमं (पश्चिम), वच्छरो (वत्सर), लिच्छा (लिप्सा)। क्षकार के स्थान में बहुधा च्छ होता है। जैसे अच्छी (अक्षि), लच्छी (लक्ष्मी)।

म्न, ज्ञ के स्थान में, और पञ्चाशत् तथा पञ्चदश के 'ञ्च' के स्थान में ण होता है। जैसे णिण्णं (निम्न), जण्णो (यज्ञ), पण्णरहो (पंचदश), पण्णासा (पंचाशत्)। सर्वज्ञ प्रभृति जिन शब्दों के अंत में ज्ञ है, उनके ज्ञ के ञ का लोप होता है। जैसे सव्वज्जो।

संयुक्त ल का प्रायः लोप होता है। जैसे कप्प (कल्प)। जल्प का जम्प होता है। इसी प्रकार गुम्म (गुल्म), मेच्छो (म्लेच्छ), साराहणीअ (श्लाघनीय) हैं।

नीचे लिखे स्थानों में अनुस्वार होता है—

(१) वर्ग का पंचम वर्ण अपने वर्ग के वर्णों के साथ संयुक्त रहता है; परंतु अन्य वर्ग के साथ अनुस्वार हो जाता है। जैसे दिंमुह (दिङ्मुख), पंति (पंक्ति), विंझ (विंध्य), छंमुह (षण्मुख), उंमुह (उन्मुख)। म, न, ङ के स्थान में, विकल्प में, अनुस्वार और मकार होते हैं। जैसे अंसो या अम्सो (अंश), पंति या पम्ति (पंक्ति)। अत के मकार का अनुस्वार होता है। जैसे धणं (धनम्)। स्वर-वर्ण पीछे रहने से विकल्प में अनुस्वार होता है। मांसादि शब्दों में, विकल्प में, अनुस्वार होता है। जैसे मंसं या मासं, कह या कहं (कथं), णूणं या णूण (नूनम्) ताहिं या ताहि (तस्मिन्)। नीडादि शब्दों के अनादि वर्णों का द्वित्व होता है। जैसे णेड्डं (नीड), पेम्मं (प्रेमन्), वाहित्तं (व्याहृत), उज्जुओ (ऋजु), जणओ (जनक), जोव्वणं (यौवन), मज्झण्हो (मध्याह्न), खोडओ (स्फोटक), कज्ज (कार्य), सेज्जा (शय्या), अहिमज्जू (अभिमन्यु), तूरं (तूर्य), धीरं (धैर्य), सुंदेरं (सौंदर्य), अच्छेरं (आश्चर्य), परंतं (पर्यंत), सूरो या सुज्जो (सूर्य), पट्टणं (पत्तन), गड्डो (गर्त), गद्दहो (गर्दभ), रुक्खो (वृक्ष), पाडिसिद्धि (प्रतिस्पर्द्धिन्), काहावणो (कार्षापण), विच्छुअ (वृश्चिक), उसुओ या ऊसुओ (उत्सुक), उस्सओ या ऊसओ (उत्सव), मम्महो या वम्महो (मन्मथ), वेंट (वृंत), वेब्भलो या वीहलो (विह्वल), अप्पा या अत्ता (आत्मा), रुप्पिणी (रुक्मिणी), णेड्डु (नीड), अंब (आम्र), तंब (ताम्र)।

विप्रकर्ष के उदाहरण—कसणो या कण्हो (कृष्ण), किलिट्ठ (क्लिष्ट), सिलिट्ठं (श्लिष्ट), रअण (रत्न), किरिआ (क्रिया), सारंगो (शार्ङ्ग), सिरी (श्री), हिरा (ह्री), किलितो (क्लीत), किलंता (क्लांत), किलेसो (क्लेश), मिलाणं (म्लान), सिविणो (स्वप्न), हरिसो (हर्ष), फरिसो (स्पर्श), अरिहो (अर्ह), गरिहो (गर्ह), पउमं (पद्म), तणुई (तन्वी), लहुई (लघ्वी), जीआ (ज्या)।

स्वर-वर्ण

प्राकृत में ऋ, ॠ, लृ, ॡ, ऐ और औ, ये स्वर नहीं हैं। आद्य ऋ के स्थान में प्रायः रि होता है। जैसे रिसि (ऋषि)। वृंद के स्थान में वंद या वंद्र होता है। ऋकार के पहले व्यंजन रहने से भी कभी-कभी 'रि' होता है। जैसे केरिस (कीदृश)। आद्य ऋ के स्थान में अ, इ, उ भी होते हैं। जैसे अच्छइ (ऋच्छति), इसि (ऋषि), उजु (ऋजु)।

ऋ = अ, — कअ (कृत)
,, = इ, — दिट्ठि (दृष्टि)
,, = उ, — पुहवी (पृथिवी)

वृ के स्थान में 'रु', जैसे रुक्खो।

ऐ = ए, — केलास (कैलाश)
,, = अइ, — वइर (वैर)
,, = इ, — सिंधव (सैंधव)
,, = ई, — धीरं (धैर्य)
औ = ओ, — कोमुई (कौमुदी)
,, = अउ, — मउलि (मौलि)
,, = उ, — सुंदेर (सौंदर्य)

संयुक्त वर्णों के पहले ए, ओ ह्रस्व स्वर होते हैं। जैसे तेल्ल (तैल), जोव्वण (यौवन)। संयुक्त वर्ण के पहले दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। जैसे मग्ग (मार्ग), दिग्घ (दीर्घ), इस्सरो (ईश्वर), पुव्व (पूर्व)। अतएव दीर्घ स्वर के बाद असंयुक्त वर्ण रहता है। यदि दीर्घ स्वर बना रहा, तो उसके बाद के संयुक्त वर्ण के एक वर्ण का लोप होता है। जैसे ईसरो (ईश्वरो), जीहा (जिह्वा)।

रेफ से संयुक्त व्यंजन वर्ण के पहले, और ऊष्म-वर्ण से संयुक्त य, र, व के पहले ह्रस्व स्वर प्रायः दीर्घ हो जाता है। जैसे कातुं (कर्तुम्), आस (अश्व)। कभी-कभी दीर्घ न होकर ह्रस्व ही रह जाता है; परंतु तब उसके आगे अनुस्वार का आगम होता है। जैसे दंसण (दर्शन), फंस (स्पर्श), अंसु (अश्रु)। जब अनुस्वार नहीं होता, तो र, स, ह के पहले का स्वर दीर्घ होता है। जैसे दाढ़ा (दंष्ट्रा), सीह (सिंह), सारिच्छ (सदृश)।

असंयुक्त व्यंजन के पहले का दीर्घ स्वर कभी-कभी ह्रस्व हो जाता है; परंतु तब उस असंयुक्त व्यंजन का द्वित्व हो जाता है। जैसे एव्वं (एवं), जोव्वण (यौवन), तेल्ल (तैल), पेम्म (प्रेमन्)। अकार के स्थान में

आकार—जैसे पाअड (प्रकट), माणसिणी (मनस्विनी)। अकार के स्थान में एकार—जैसे सेज्जा (शय्या), तेरह (त्रयोदश), अच्छेरं (आश्चर्य), पेरंत (पर्यंत)। अ के स्थान में इ—जैसे पिक्क (पक्व), मज्झिम (मध्यम), कइम (कतम)। अ के स्थान में ओष्ठ वर्णों के साथ उ—जैसे पुलोएति (प्रलोकयति), सव्वण्णु (सर्वज्ञ)। आ के स्थान में इ—जैसे जंपिमो (जल्पिमः)। इ के स्थान में उ, यदि पीछे कोई उ रहे—जैसे उच्छु (इक्षु)। इ के स्थान में द्वित्वीकृत वर्णों के पहले ए—जैसे वेडु (वीड), एत्थ (इत्था), गेज्झ (गृह्य), वेद्दा (निद्रा)। इकार के स्थान में अकार—जैसे पहो (पथिन्), हलद्दा (हरिद्रा), पुहवी (पृथिवी), दोहाइअ, दुहाइअ (द्विधाकृतम्)। ई के स्थान में ए—जैसे एरिसो (ईदृश)। उ (आदि-वर्ण में) के स्थान में अ—यदि उसके ठीक पीछे का वर्ण उ हो—जैसे गरुअ (गुरुक)। उ के स्थान में इ—जैसे पुरिस (पुरुष)। उ के स्थान में ओ (द्वित्वीकृत वर्णों के पहले)—जैसे मोग्गर (मुद्गर), पोत्थक (पुस्तक)। ऊ के स्थान में ओ—जहाँ ऊ के पीछे संयुक्त वर्ण असंयुक्त किया गया हो, वहाँ ओ दीर्घ होता है—जैसे तांबूल से तंबुल, तंबोल, तंबोल। ऊ के स्थान में ए—जैसे णेउर (नूपुर)। ऊ के स्थान में उ—जैसे महुअ (मधूक) ऊ के स्थान में अ—जैसे दुअल्ल (दुकूल)। ए के स्थान में इ—इण (एन), विअणा (वेदना), दिअर (देवर)। ओ के स्थान में उ—अण्णुण्ण (अन्योन्य)।

स्वर-लोप—

आद्यस्वर—रण्ण (अरण्य), पि (अपि), ति (इति), व (इव)।

अंत्य-स्वर—पिउस्सिआ (पितृष्वसृका), खु (खलु), धिया (दुहिता)।

मध्यागम—

पेरंत (पर्यंत), अच्छेर (आश्चर्य)

संकोच—

लोण (लवण), ओहल (उलूखलं), णोमालिया, (नवमल्लिका), बोर (बदर), ओहास (अवहास)।

स्थितिपरिवृत्ति वा वर्ण-विपर्यय—

कणेरू (करेणु), आणालं (आलानम्)।

संधि

प्राकृत में, शब्दों के अंत में, व्यंजन न रहने के कारण संधि की जटिलता कम है; परंतु जिन अंत्य वर्णों का लोप हो गया है, वे पीछे के शब्द के आदि में स्वर-वर्ण रहने से कभी-कभी दिखलाई देते हैं। जैसे एकमेकं (एकैकम्)। समास में प्रायः अंत्य व्यंजन लुप्त रहता है। जैसे दुस्सह (दुःसह)। परंतु कभी रह भी जाते हैं। जैसे, णिक्कलंका (निष्कलंका)। समास में स्वरसंधि प्रायः होती है। जैसे कवींद (कवींद्र), कुंतला-हिअसुअं (कुंतलाधिपसुताम्), राअ+इसि=राएसि (राजर्षि)। कभी-कभी संधि नहीं भी होती। जैसे पूआअरिह (पूजार्ह)।

यदि समास में उत्तर पद के आदि में 'इ' या 'ऊ' हो, और उसके बाद संयुक्त वर्ण, तो पूर्व-पद के अंत्य स्वर के साथ उस इ या ऊ की संधि होती है। कभी-कभी संधि में एक स्वर का लोप भी हो जाता है। यथा पाइक्क= पाअइक्क (पादातिक)। ण (न) के अ के साथ पर-पद के आद्य स्वर की संधि होती है। जैसे णत्थि (नास्ति)।

शब्द-रूप

प्राकृत में द्विवचन नहीं है। शब्दों को नीचे लिखी श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) अकारांत, (२) आकारांत, (३) इकारांत, (४) ईकारांत, (५) उकारांत, (६) ऊकारांत, (७) संस्कृत ऋकारांत शब्द से बने हुए शब्द और (७) सं-स्कृत-व्यंजनांत शब्द ज शब्द। संस्कृत ऋकारांत शब्द प्रायः अंत में 'अर' वा 'आर', युक्त हो जाते हैं। अधिकांश संस्कृत-व्यंजनांत शब्दों के अंत्य व्यंजन का लोप हो जाता है। परंतु किसी-किसी व्यंजन-शब्द के अंत्य व्यंजन के साथ अ या आ का योग भी होता है। जैसे दिशा (दिश्)। व्यंजनादि प्रत्यय परे रहने से उसके पहले एक स्वर का आगम होता है, जैसे राअ+सु=रएसु (राजसु)। परंतु स्वरादि प्रत्यय परे रहने से प्रायः संस्कृत-रूप ही रह जाता है, केवल प्राकृत के नियम के अनुसार ध्वनियों का परिवर्तन होता है। ब्रह्मण्य, विज्ञ, यज्ञ और कन्यका के ण्य, ज्ञ तथा न्य के स्थान में, विकल्प से, ञ्ञ होता है, जैसे बम्हञ्ञं या बम्हण्णं, विञ्ञो या विण्णो, जञ्ञो या जण्णो, कञ्ञका या कण्णका।

शौरसेनी

ऊपर महाराष्ट्री-प्राकृत के ध्वनि-परिवर्तनों के नियम दिखाए गए हैं। अब शौरसेनी के नियम दिए जाते हैं।

शौरसेनी भाषा में अनादि अयुक्त त के स्थान में द तथा थ के स्थान में ध होता है। जैसे गच्छदि (गच्छति), कधेहि (कथय)। क्त्वा प्रत्यय के स्थान में इअ होता है जैसे करिअ (कृत्वा)। कृ तथा गम् धातुओं के उत्तर क्त्वा प्रत्यय के स्थान में दुअ होता है। जैसे कदुअ (कृत्वा), गदुअ (गत्वा)। करिअ, गमिअ भी होते हैं।

क्लीवलिंग जस् तथा शस् विभक्तियों के स्थान में, विकल्प में, णि होता है, और णि होने से पूर्व स्वर दीर्घ हो जाता है। जैसे जलाणि, जलाइं (जलानि)। ब्राह्मण्य, विज्ञ, यज्ञ और कन्यका के ण्य, ज्ञ तथा न्य के स्थान में, विकल्प में, जैसे बह्मञ्ञं वा बह्मणं, विञ्ञो या विण्णो, कञ्ञका या कण्णका होता है, वैसे ही यहाँ भी। तिङन्त-प्रत्यय पीछे रहने से भू-धातु के स्थान में भो आदेश होता है। जैसे भोदि (भवति); लृट् में नहीं होता, जैसे भविस्सदि (भविष्यति)। दा धातु के स्थान में दे आदेश होता है। पर लृट् में नहीं। जैसे देइ (ददाति), दइस्सं (दास्यामि)। कृ का कर, स्था का चिट्ठ, स्मृ का सुमर, दृश् का पेक्ख और अस् का अच्छ आदेश होता है। जैसे करेदि (करोति), चिट्ठदि (तिष्ठति), अच्छदि (अस्ति), सुमरेदि (स्मरति), पेक्खादि। अस्ति के स्थान में अत्थि होता है। लृट् के उत्तम पुरुष के एक वचन में, मिप् के स्थान में, "स्सं" होता है। जैसे गमिस्सं (गमिष्यामि)। एव के स्थान में जेव्व आदेश होता है। इव का विअ हो जाता है। अस्मद्-शब्द की प्रथमा के बहुवचन में, विकल्प में, वअ, अम्हे (वयम्) रूप होते हैं। सर्वनाम-शब्दों की प्रथमा के एकवचन के स्थान में, विकल्प में, "स्सिं" होता है। जैसे सव्वस्सिं, सव्वस्सि (सर्वस्मिन्)।

कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में धातु परस्मैपदी होती है। जैसे करिअदि (क्रियते), गमिअदि (गम्यते)। धातु के उत्तर विकल्प में ए होकर विभक्ति लगती है, जैसे करेदि, करोदि, वावुडो (व्यापृत), पुत्ते या पुत्तो (पुत्र), गिद्धो (गृद्ध), सव्वण्णो (सर्वज्ञ), इंगिदो (इंगित), इत्थी (स्त्री), अच्छरिअ (आश्चर्य)। दोला, दंड तथा दशन अविकृत रहते हैं। इसके सिवा जो कुछ होता है, वह महाराष्ट्री के न्याय से।

अकारांत शब्दों का रूप

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्ता	पुत्तो	पुत्ता
कर्म	पुत्तं	पुत्ता, पुत्ते
करण	पुत्तेण	पुत्तेहिं, पुत्तेहि
संप्रदान	पुत्ताओ, पुत्तण	पुत्ताण, पुत्ताणं
अपादान	पुत्ताओ *	पुत्तेहिंतो, पुत्तेसुंतो
संबंध	पुत्तस्स	पुत्ताहित्तो, पुत्तासुंतो पुत्ताण, पुत्ताणं
अधिकरण	पुत्ते, पुत्तम्मि	पुत्तेसु, पुत्तेसुं
संबोधन	पुत्त	पुत्ता

इकारांत और उकारांत शब्दों के उत्तर शस् के स्थान में णो आदेश होता है। जैसे अग्गिणो, वाउणो। ङस् के स्थान में, विकल्प में, णो होता है। जैसे अग्गिणो। जस् के स्थान में ओकार आदेश होता है; पर इ, उ दीर्घ हो जाते हैं, जैसे अग्गीओ, वाऊओ। विकल्प में णो भी होता है; तब इकार, उकार दीर्घ नहीं होते। टा का णा हो जाता है, जैसे अग्गिणा। सु, भिस और सुप् परे रहने से अंत्य स्वर दीर्घ हो जाता है।

हस्-धातु के लट् में रूप—

	एकवचन	बहुवचन
प्र० पु०	हसइ, हसए, हसेइ	हसन्ति
म० पु०	हससि, हससे	हसह, हसित्था, हसथ
उ० पु०	हसामि, हसेमि	हसामो, हसामु, हसाम, हसिमो, हसिमु, हसिम

भू-धातु के लृट् में रूप

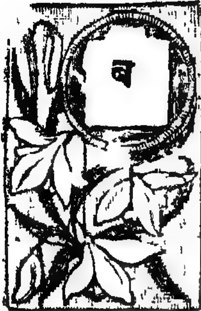
	एकवचन	बहुवचन
प्र० पु०	होहिइ	होहिन्ति
म० पु०	होहिसि	होहिही, होहित्था
उ० पु०	होस्सं, होहामि, होस्सामि, होहिमि	होस्साम, होहामो, होहित्था, होस्सामु, होहामु, होहिमु, होहामो, होहाम, होहिम, होहिस्मो, होस्साम

नलिनीमोहन सान्याल

---

* महाराष्ट्री में पुत्तादो, पुत्तादु, पुत्ताहि और पुत्ता होता है

निर्माण



बरगढ़-स्टेशन से दो मील पर भीमा-नदी के किनारे एक ऊँचा टीला है, जिस पर एक छोटा-सा बँगला बना हुआ है। इस बँगले के हाते में एक छोटा-सा नज़रबाग़ है, जिसकी हरियाली तथा रंग-बिरंगे फूल देखकर चित्त को विचित्र शांति प्राप्त होती है। बँगले के नीचे ही नदी शांतिदायक कलरव करती हुई बहती है। उसके उस पार एक सघन वन दिखाई देता है, जिसमे सागौन, साल, बाँस आदि के बड़े-बड़े पेड़, और उनके नीचे हरी-हरी लताएँ प्राकृतिक शोभा की छटा दिखला रही हैं। बँगले के बरामदे में बैठकर यह कृत्रिम उपवन और स्वाभाविक वन-श्री देखते ही बनती है। घंटों जी नहीं ऊबता।

इस बँगले में आजकल रेलवे-विभाग के असिस्टेंट इंजीनियर मि० बहरामजी और उनकी नववधू रुक्माबाई गृहस्थी का अपूर्व सुख भोगते हैं। दोनो तरुण और शरीर से भी स्वस्थ हैं। इंजीनियर साहब की आमदनी भी अच्छी है; मासिक वेतन के सिवा ठेकेदारों से अच्छा नज़राना भी मिल जाता है। इसके सिवा बहरामजी के पिता आबकारी के ठेकेदार रहकर अच्छी संपत्ति छोड़ मरे हैं। सारांश यह कि बहरामजी को किसी बात की कमी नहीं है, और उनका जीवन परम सुखमय हो सकता है। यदि आपको किसी बात की चिंता है, तो केवल इसकी कि जब आप दौरे पर जाते हैं, तो रुक्माबाई को अकेले ही इस एकांत स्थान में रहना पड़ता है। अभी दोनों का विवाह हुए बहुत दिन नहीं हुए। परस्पर दोनों का प्रेम अगाध है—दोनों को दो शरीर एक प्राण समझिए।

सायंकाल हो गया है। पूर्व दिशा में निशानाथ सोलहों कलाओं सहित मानो संसार की अपूर्णता पर हँस रहे हैं। उनकी किरणें भीमा के वक्षःस्थल का चुंबन कर रही हैं। उस पार वन में सन्नाटा है। कभी-कभी वन्य पशुओं के चलने-फिरने से सूखे पत्ते उनके पैरों के नीचे दबकर चरमर कर उठते हैं। शीत से बरामदे में बैठना कष्टकर हो जाने के कारण दंपति गोल कमरे में जा बैठे हैं। बहरामजी एक लंबी आराम-कुर्सी पर लेटे सिगरेट पीते हुए समाचार-पत्र पढ़ रहे हैं। मालूम होता है, बहुत थके हैं। कभी-कभी आँख मूँद लेते हैं। समीप ही कोच पर रुक्माबाई बैठी गुलूबंद बुन रही हैं।

इस शांति एवं प्रेममय भवन में कहीं भी अशांति या चिंता का कोई चिह्न ऊपर से नहीं दिखाई देता। पर यदि रुक्माबाई का चेहरा ध्यान-पूर्वक देखा जाय, तो कुछ संदेह होता है कि उसके कोमल हृदय में शांति नहीं है, बल्कि किसी-न-किसी प्रकार की चिंता उसे क्षुब्ध किए हुए है। कभी-कभी इस रमणी की उँगलियाँ निःस्तब्ध हो जहाँ-की-तहाँ रह जाती हैं, तथा उनमें कुछ कंपन होने लगता है। ऐसी अवस्था मे वह भाव-पूर्ण नेत्रों से कभी तो अपने पति की ओर देखती है, और कभी घड़ी की ओर। इसी तरह बैठे-बैठे ६ बज गए। घड़ी ने ६ बार टन-टन करके फिर टिक-टिक करना शुरू कर दिया।

६ बजते ही रुक्माबाई के हाथों से अधबुना गुलूबंद कोच पर गिर पड़ा, और वह कनखियों से पति की ओर निहारने लगी। बहरामजी उसी पत्र को हाथ में लिए धुएँ के बादलों का निर्माण कर रहे हैं। आँखें खुली हुई हैं। अभी तक उन्हें बंद किए थे, इससे अपनी पत्नी के चिंता-पूर्ण कटाक्ष नहीं देख सके थे। अब तो रुक्माबाई के चेहरे से भी चिंता की लहर जाती रही, और नेत्रों में एक अलौकिक ज्योति झलकने लगी; अधर-पल्लवों पर भी मृदुलता का आभास दिखाई देने लगा। वे कुछ-कुछ विकसित हो गए, और उनमें से संतोष-प्रदर्शक दीर्घ श्वास निकला। ऐसा प्रतीत होता था कि अब उसकी चिंता का भार हल्का हो गया। वह मन-ही-मन गुनगुनाने लगी—"आह! आज टाल को नहीं। कैसी अपूर्व शांति है।" इस समय युवती के हर्ष का ठिकाना न था।

रुक्मा ने ऊन, सुई आदि सब सामग्री उठाकर एक संदूक में बंद कर दी, और उसे समीप की एक छोटी मेज़ पर रख दिया। इसके बाद उसने पति से मृदु स्वर में कहा—"आपके विनोदार्थ कुछ गाऊँ-बजाऊँ?" बहरामजी इस प्रश्न को सुनकर चौंक पड़े। आराम-कुर्सी पर तनकर बैठ गए, और कहने लगे—"गाऊँ-बजाऊँ!

नहीं, अभी तुम्हारा कंठ इस परिश्रम के योग्य ही कहाँ है। इसके सिवा मुझे बाहर भी तो जाना है।"

पति के इन आधे दर्जन शब्दों से उस युवती की नवांकुरित आशा-लता पर मानो तुषार पड़ गया। तो भी उसने कलेजा मसोसकर कहा—"बाहर जाना है? ऐसे पानी में! आज न जाइए, तो—"

"नहीं-नहीं, पानी क्या करेगा? बरसाती पहन लूँगा। सोने के पहले कुछ टहल आऊँ। हाथ-पैर अकड़-से गए हैं।"

युवती समझ गई कि हाथ-पैर का अकड़-सा जाना निरा बहाना है। जो मनुष्य मोटर-साइकिल पर ४० मील आ-जा चुका है, उसे टहलने की ज़रूरत नहीं। पर विवाद कौन बढ़ावे; कहीं रूठ गए, तो?

रुक्माबाई ने लंबी साँस खींची, संदूक़ खोलकर गुलूबंद निकाला, और नीचा सिर करके बुनने लगी। बहरामजी उसके विशाल ललाट का चुंबन करके चोर की तरह बाहर निकले। उन्हें अपनी प्रेयसी से छल करने के कारण बहुत लज्जा थी। पर करें, तो क्या करें। एक दुर्व्यसन में फँसकर अपनी संकल्पशक्ति तो खो बैठे थे, बुरी टेव ने उन्हें अपना गुलाम बना लिया था। वह जैसा नाच नचाती, वैसा ही नाचना पड़ता था।

इधर चंद्रवदनी रुक्मा का मुखमंडल पीला पड़ गया—कपोलों का गुलाबी रंग फीका पड़ गया। विषाद की रेखाएँ उसके विशद ललाट पर स्पष्ट दिखाई देने लगीं। उसका मन चिंतारूपी सरोवर में मानो डूबने-उतराने लगा। वह मन-ही-मन कहने लगी—"गत सप्ताह में तीन बार, और आज तीन दिन भी नहीं हुए—दो बार! हा विधाता, क्या मेरी सब आशा, मेरा सब प्रेम-पूर्ण प्रयत्न यों ही गया? क्या मेरी सब चेष्टा, मेरे सब उद्योग निष्फल हुए?" ऐसा कह उसने अपनी लंबी भुज-लताओं से अपना मुँह ढक लिया। क्षण-भर के लिये उसका उभरा हुआ वक्षःस्थल उठने-बैठने लगा। वह मन-ही-मन रोने और कहने लगी—"बस, अब हो चुका—सब प्रयत्न व्यर्थ गया! अब यह दिनों-दिन गिरते ही जायँगे। इस शराब-ख़ोरी से सैकड़ों की जो दशा हुई है, इनकी भी वही होगी। हम लोग दर-दर भीख माँगते फिरेंगे। मैंने तो बहुत प्रयत्न किया; यह इतने दिन सम्हले भी रहे; पर मालूम होता है, अब फिर कुसंग में पड़ इनका अधःपतन हो गया। हे अग्निदेव, तुम्हीं अब मुझ-जैसे अशरण की शरण हो।"

रुक्मा को विश्वास हो गया कि बहरामजी घूमने नहीं, कलारी गए हैं, और अपने नीच मित्रों के साथ बैठकर प्याले-पर-प्याले उड़ावेंगे। यह उनकी पुरानी लत है। रुक्मा का पति पर अगाध प्रेम है। विवाह के पहले उसके पिता ने उसे बहुत रोका था कि ऐसे आदमी से संबंध जोड़ने से तू सुखी न रह सकेगी। इसलिये यह विचार छोड़ दे। पर प्रेम ने उसे अंधा कर दिया। बाप ने समझाया कि बहुत-से गुण तो बहराम में अच्छे हैं—पर एक बहुत भारी दोष है; उसका हृदय बहुत निर्बल है, जिससे वह दूसरों के कहने में जल्द आ जाता है। उसकी संगति भी बहुत बुरी है, और वह इस बात को स्वीकार करता है कि मेरे मित्र अच्छे नहीं हैं। पर उसका हृदय इतना कमज़ोर है कि वह न तो इन लोगों से अलग होता और न शराब की मात्रा कम करता है।

पर रुक्मा को अपने रूप, यौवन, सतीत्व और बहरामजी के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का इतना गर्व था कि वह समझती थी कि पति को ठीक मार्ग पर लाना मेरे लिये कठिन न होगा। पिता को वह यही उत्तर देती थी कि बहरामजी को त्यागने से मेरा सारा जीवन व्यर्थ हो जायगा, और इसमें संदेह नहीं कि मेरे ऐसा करने से वह निराश हो और भी शीघ्र बिगड़ जायँगे। जब मैं उनके साथ दिन-रात रहूँगी, और अपने प्रेम से उन्हें बाँध लूँगी, तो वह अपने दुष्ट-मित्रों का फिर नाम भी न लेंगे।

रुक्माबाई ने इसी उच्च उद्देश्य से बहरामजी के ही साथ, पिता की इच्छा के विरुद्ध, विवाह किया था। विवाह हो जाने पर दिन-रात वह यही उद्योग करती थी कि फिर वह कुसंगति में न पड़ने पावें। नव प्रणय-सूत्र से बँधे हुए वह कई महीने तो अपने घर को ही स्वर्ग समझता रहा, और बाहर जाना बंद कर दिया। उसके पुराने मित्र उसे तरह-तरह के ताने देते, और कहते कि बहरामजी तो अब अपनी बीबी के हाथ बिक चुका है। उसकी आज्ञा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। पर बहरामजी उनके ये व्यंग्य सुनकर चुप रह जाता। जब तक पत्नी का आकर्षण प्रबल रहा, तब तक तो उसके मित्रों की एक न चली। पर मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे अच्छी-से-अच्छी वस्तु भी निरंतर के सहवास से नीरस-सी मालूम पड़ने लगती है। वह सुख-सामग्री में भी परिवर्तन चाहता है। उसे स्त्री की संगति भी चाहिए, और समान वय तथा

शीलवाले मित्रों की थी। निदान बहरामजी अपने मित्रों की संगति के लिये तरसने लगा। उसकी इच्छा इतनी प्रबल हो गई कि वह अपनी प्रेममयी पत्नी को भी धोखा देकर घूमने के बहाने शाम को कभी-कभी बाहर जाने लगा।

अभी तक तो रुक्मा को संदेह ही था; पर आज उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि मेरा सब उद्योग निष्फल हुआ। बहरामजी फिर उसी पुराने कंटकमय पथ का पथिक बन गया। वह इसी प्रकार बिसूरती और अपने भाग्य को धिक्कारती रही कि इतने में साढ़े १० बज गए। वह जानती थी, अभी उसके आने में डेढ़-दो घंटे की देर है। इतने में किसी ने खिड़की पर तीन बार खट-खट-खट किया। रुक्मा पति के जल्द आने के लिये अग्निदेव को धन्यवाद देती हुई दरवाज़ा खोलने के लिये दौड़ी। दरवाज़ा खोलकर वह वहीं खड़ी हो गई कि पति की भीगी हुई बरसाती उतारकर जल्द खूँटी पर टाँग दूँगी; किंतु उसे मालूम हुआ कि दरवाज़े से थोड़ी दूरी पर जैसे दो मनुष्य आपस में बातचीत कर रहे हैं। पानी खूब ज़ोर का बरस रहा था। बातचीत साफ़ नहीं सुनाई देती थी। इतने में बातचीत करनेवाले दरवाज़े की ओर आते हुए मालूम पड़े। पति के साथ कोई दूसरा पुरुष है, यह जानकर रुक्मा को बड़ा दुःख हुआ। वह मन मारकर दरवाज़े से हट गई, और भीतर जाकर कमरे में खड़ी हो गई। उसने देखा कि द्वार पर बहरामजी हाथ बढ़ाए खड़ा कह रहा है—"स्वागत! प्रिय मित्र, स्वागत!! आप भीतर चलें। ऐसी वर्षा में मैं आपको अपने दरवाज़े से कैसे लौटने दूँ? नहीं-नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। आपको थोड़ी देर के लिये अवश्य ठहरना होगा।" फिर भीतर की ओर मुँह फेरकर, बहरामजी ने पुकारकर कहा—"प्यारी रुक्मा, यह देखो, मेरे परम मित्र बरजोरजी दरवाज़े पर खड़े हैं, और तुमसे बिना मिले ही जाने को कहते हैं। आकर इनका स्वागत करो, और भीतर ले चलो। मेरी नहीं मानते, पर तुम्हारी ज़रूर सुनेंगे।"

बरजोरजी का नाम सुनते ही रुक्मा की छाती धड़कने लगी। वह जानती थी, बहरामजी को कुपथ में ले जानेवाला यही बरजोरजी है। पर पति के बुलाने पर कैसे इनकार करे। निदान नीचा सिर किए हुए वह दरवाज़े पर आई, और बिना ऊपर की ओर देखे उसने बरजोरजी को प्रणाम किया। बहरामजी बोला—"देखो रुक्मा, यही वह बरजोरजी हैं, जिनके बारे में मैं रोज़ कहा करता था।" और मित्र, "यही मेरी वह रुक्मा है, जो अब मेरे घर की स्वामिनी है।"

इसके बाद रुक्मा लौटकर कमरे में जा बैठी। उसे इतनी रात को बरजोरजी का आना बहुत बुरा लगा; पर करती क्या।

दोनों मित्र भीतर आए। दोनों ने भीगी हुई बरसाती उतारकर खूँटियों पर टाँग दीं। फिर आगे बढ़कर बरजोरजी ने रुक्मा की ओर देखा, और मन-ही-मन उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध होकर बोला—

"श्रीमतीजी, इस बेमौक़े आकर मैंने जो आपको कष्ट दिया है, इसके लिये आप मुझे क्षमा करें। मैं ऐसी धृष्टता कदापि न करता। पर कई महीनों के बाद आज रास्ते पर बहरामजी से मेरी भेंट अकस्मात् हो गई, और वह मुझे यहाँ घसीट लाए। आज ही मैं बहुत दिनों के बाद स्वदेश लौटा हूँ। अपराधी मैं नहीं हूँ, बहरामजी मुझे खींच लाए हैं। आप क्षमा कीजिए।"

बरजोरजी और कुछ कहना ही चाहता था कि बहरामजी ने उसकी बात काटकर कहा—"बस, बहुत हुआ भई। यह सब कहने की ज़रूरत नहीं। रुक्मा आपके आने से बहुत खुश है।" फिर रुक्मा से कहा—"ज़रा अँगीठी तो तैयार कर दो।" और बरजोर, "तुम यहाँ आकर बैठो—लो यह सिगरेट का डिब्बा। भई, हम लोगों ने शराब तो नहीं पी; पर एक तो आप कई महीनों में आए हैं, दूसरे जाड़ा बहुत है। फिर आपको ऐसे पानी में जाना है। इसलिये एक पेग बरांडी का ले ही लीजिए। गृहस्थी में ज़रूरत बनी ही रहती है। एक बोतल रक्खी है।" रुक्मा, "ज़रा उस अलमारी से बरांडी की बोतल तो ला दो। लो, यह चाबी; और हाँ, प्याले भी लिए आना।"

रुक्मा ने बोतल और प्याले लाकर रख दिए।

बरजोरजी—भई बहराम, उनको इतनी तकलीफ़ क्यों दे रहे हो। पीने-पिलाने की बात छोड़ो। मैं भी घर जाता हूँ—तुम लोग आराम से सोओ।

बहरामजी—तकलीफ़! यह कैसे? क्यों रुक्मा, क्या तुमको इनके आने से तकलीफ़ हुई?



"रुक्मा ने बोतल और प्याले लाकर रख दिए"

रुक्मा कोई जवाब न देकर स्टोव पर काफ़ी तैयार करने लगी। चुपचाप वह अपने पति की ओर कनखियों से देखती जाती थी। उसे वह बहुत उत्तेजित-सा मालूम होता था—चुप नहीं बैठ सकता था। साथ ही बरजोरजी का नाम सुनकर उसकी पूर्व-स्मृति जागृत हो उठी। विवाह के पहले उसके पिता ने इसी बरजोरजी के बारे में कहा था कि इसी ने बहरामजी के सदृश सज्जन को कुपथ में डाला है, और वह उसका सर्वनाश किए बिना न रहेगा। जब तक वह इस दुनिया को अपने अपवित्र जीवन से कलुषित करता रहेगा, मुझे शांति न मिलेगी। उसे रुपए की कमी नहीं है, और न उस पर किसी का अंकुश ही है। वह नर-योनि में पूरा राक्षस है। उसने बहरामजी को दो बार पाप के गड्ढे में पटका है, और फिर भी पटकेगा। बहराम के दुर्बल हृदय पर बरजोरजी का दबाव पड़े बिना नहीं रह सकता। रुक्मा ने उस समय तो अपने पिता के इन वचनों पर ध्यान नहीं दिया था ; पर पीछे उसे मालूम हो गया कि वह सच कह रहे थे। बरजोरजी का अद्भुत सौंदर्य स्त्री-पुरुष, दोनों पर जादू का-सा काम करता था, और वह अभी तक न-जाने कितने घर बिगाड़ चुका था। रुक्मा ने काफ़ी का प्याला बरजोरजी के पास रखते हुए एक बार उसके चेहरे की ओर भर-नज़र देखा। देखते ही उसके हृदय में एक विचित्र भाव उत्पन्न हुआ—अपने पति के नाश करने-वाले की ओर जो घृणा होनी चाहिए थी, वह न हुई !

इसी समय साढ़े १२ बजे। बरजोरजी घर जाने को उठ खड़ा हुआ। बहरामजी ने बहुत आग्रह किया कि पानी ज़ोर से बरस रहा है, यहीं सो जाओ; पर उसने स्वीकार न किया, और हँसते-हँसते दोनों से बिदा माँगी। इस वक़्त दोनों मित्र लैंप के सामने खड़े थे। दोनों के चेहरों पर प्रकाश पड़ रहा था। रुक्मा की नज़र दोनों पर पड़ी। उसके मन में आया कि रूप में मेरा पति बरजोरजी के सामने कुछ नहीं है। पर शीघ्र ही वह सँभल गई, और मन-ही-मन अफ़सोस से सोचने लगी, इस दुष्ट की ओर देखने से मेरा हृदय ऐसा क्षुब्ध क्यों हो गया, न-जाने इसकी आँखों में ऐसी आकर्षण-शक्ति कहाँ से आ गई है। अग्निदेव, रक्षा करो।

रुक्मा इस तरह सोच ही रही थी कि बरजोरजी उससे हाथ मिलाकर बाहर चल दिया। बहरामजी भी उसके साथ-साथ पहुँचाने गया। इस वक़्त रुक्मा का हाल विचित्र

हो रहा था। उसे तन-बदन की सुध नहीं थी। बरजोरजी के हस्त-स्पर्श से उसके शरीर में बिजली-सी दौड़ गई थी—रोमांच हो आया था। उसे आश्चर्य यह था कि पर पुरुष के स्पर्श में यह शक्ति कैसी! सत्भावों को नष्ट करनेवाले ये अधम भाव कैसे!! रुक्मा कुछ देर इसी प्रकार विचलित रही, पर पति के लौटते-लौटते उसने अपने को सम्हाल लिया। बहरामजी ने आकर पूछा—क्यों रुक्मा, बरजोरजी कैसा रँगीला जवान है?

रुक्मा—हाँ, चालाक तो पूरा है।

बहराम—यह तो है; पर सौंदर्य की बात क्यों नहीं कहतीं?

रुक्मा—होगा, मुझे इससे क्या?

बहराम—वाह, तुमको क्या हुआ है? क्या उसे देखकर तुमने अपना हृदय नहीं खोया? क्या ऐसा भी कोई रमणी-हृदय है, जो उसे देख मुग्ध न हो जाय? आजकल सभ्य स्त्री-समाज में तो वह कन्हैया समझा जाता है; सभी उसे बरजोर न कहकर चितचोर कहती हैं।

रुक्मा—तुम्हारे इस मित्र को देखकर मैं प्रसन्न नहीं हुई। कारण पूछते हो? मैं कारण नहीं जानती—अपने हृदय के भाव को जानती हूँ।

क्षण भर चकित-सा रहकर बहरामजी बोला—रुक्मा, यह क्या कहती हो? बरजोरजी की भेंट से एक स्त्री का प्रसन्न न होना बड़े अचरज की बात है। अभी तुमने उसे पहचाना नहीं। वह बहुत ही अच्छा आदमी है। उसने मुझे कैसी-कैसी आफ़तों से बचाया है। अभी विलायत से लौटा है, अपने ही पड़ोस में रहेगा।

रुक्मा कुछ न बोली। बहरामजी ने मुँह बनाकर कहा—न-जाने तुम्हें यह मनहूसी कहाँ से आ गई है। क्या बैठे-बैठे थक गई हो? तो चलो, सोओ।

रुक्मा—बरजोरजी को लौटे कितने दिन हुए? क्या तुमसे उसकी भेंट आज ही हुई है?

बहरामजी—डेढ़ महीना हुआ, क्यों?

रुक्मा ने इस 'क्यों' का कोई उत्तर न दिया। बहरामजी ने लैंप की रोशनी कम कर दी थी, नहीं तो रुक्मा की दशा देख उसे बड़ा आश्चर्य होता। रुक्मा को अब पूरा पता लग गया कि बहरामजी शाम को इसी दुष्ट से मिलने जाया करता है, और पुरानी लत फिर पड़ गई है। बरजोरजी अपना सर्वनाश किए बिना न रहेगा। जैसे-तैसे वह पलँग तक पहुँची, और चुपचाप लेट गई। उसकी चिंता और क्षोभ का ठिकाना न था। साथ ही बहरामजी भी बड़ा दुःखी था। वह विवाह के समय अपनी पत्नी से प्रतिज्ञा कर चुका था कि अब कभी शराब न [illegible] और बरजोरजी की अनुपस्थिति में उसने उस [illegible] का पालन भी किया था; पर डेढ़ महीने से वह फिर पीने लगा था। वह बहुत लज्जित था, और बार-बार अपने को धिक्कारता भी था; पर न तो बरजोरजी का साथ छोड़ सकता था, और न शराब।

बहरामजी तो थोड़ी ही देर में सो गया; पर रुक्मा को नींद कहाँ! उसके सामने तो सर्वनाश मूर्तिमान् होकर खड़ा था। इसके बाद दो-ही चार सप्ताहों में रुक्मा ने देखा कि पति पर मेरा प्रभाव घटता और बरजोरजी का बढ़ता जाता है। अभी तक बहरामजी जब अधिक पी जाता, तो घर न आता था; पर उसके चेहरे से, उसकी खुराक के घटने तथा अन्य कई बातों से रुक्मा को मालूम हो गया था कि पीने की मात्रा बढ़ती ही जाती है।

बरजोरजी के पास अपार धन था; लोगों को खूब खिलाता-पिलाता और नाच-रंग में बुलाता था। इसी से सब उसे अच्छा कहते और उसकी बड़ी प्रशंसा करते थे। वह इतना चरित्र-भ्रष्ट था कि ठिकाना नहीं। पर धनी पुरुषों के दोष नहीं देखे जाते!

निदान बहरामजी की मात्रा बहुत बढ़ गई। उससे काम होना भी कठिन हो गया। बरजोरजी ने उससे इस्तीफ़ा दिला दिया, और घर ख़र्च के लिये रुपए देने लगा। अस्तु, बहरामजी उसका क्रीतदास सा बन गया। इससे रुक्मा के हृदय पर बड़ा धक्का लगा, और उसने बरजोरजी से जब बहुत कुछ कहा-सुना, तो उसने बहरामजी को अपने ही यहाँ नौकर रख लिया, तथा उसे दूसरे-दूसरे शहरों में काम के बहाने भेजने और वहाँ बहुत दिनों तक रखने लगा। इस अर्से में वह रुक्मा के घर आता और घंटों बैठता। रुक्मा को तुरंत मालूम हो गया कि इस दुष्ट के हृदय में पाप है। अपनी पापमयी वासना की तृप्ति के लिये ही इसने मेरे पति को अपने चंगुल में फँसाया है। तब तो उस सती की बहुत ही बुरी स्थिति हो गई। यदि बरजोरजी को अप्रसन्न करती है, तो उसके पति पर इस दुष्ट का जो क़र्ज़ है, उसके न दे सकने से वह जेल जाता है; और जो उसे नहीं डाँटती,

तो वह समझेगा कि यह भी मुझे चाहती है। विकट स्थिति आ गई।

धीरे-धीरे बरजोरजी की रुक्मा के साथ छेड़छाड़ होने लगी। बहरामजी के बाहर जाने पर वह इसके पास आता, और बड़ा प्रेम दिखलाता—सैकड़ों तरह के प्रलोभन देता, और बहरामजी की निंदा करता। एक दिन वह रात्रि के समय आ पहुँचा, और रुक्मा को बुरी तरह सताने लगा। बोला—आप अपने भाग्य को क्यों ठुकराती हैं? ऐसे शराबी के पास रहकर आपको क्या सुख मिलेगा! यदि मैं आज ही उसे नौकरी से निकाल दूँ, तो फिर तुम दोनों की क्या गति हो?

रुक्मा—आपको शर्म नहीं आती! बहरामजी आपको भाई समझते हैं, और आप उनके साथ ऐसा विश्वासघात करना चाहते हैं! उनकी जो गति हुई है, वह भी आप ही के कारण है। क्यों, आपने इसी उद्देश्य से यह सब षड्यन्त्र रचा है न?

बरजोरजी—क्या अब भी इसमें कोई संदेह है? यदि यह पाप है, बुरा काम है, विश्वासघात है, तो अब आप ही के यौवन-सौंदर्य का परिणाम है। आपको क्या मेरे ऊपर दया नहीं आती? खैर, मुझ पर न सही; पर अपने तथा अपने पति पर तो आनी ही चाहिए। मुझे निराश करने से क्या होगा—जानती हो? बहरामजी पर मेरा १० हज़ार क़र्ज़ है।

इतना कहकर उसने रुक्मा का हाथ पकड़ना चाहा। उसने घबराकर चीख़ मारी। इतने में खिड़की से कूदकर कोई भीतर आया। बरजोरजी उसे देखते ही बहुत घबराया। रुक्मा उससे लिपट गई, और बार-बार कहने लगी—इस पापी से मुझे बचाओ—बचाओ।

बहरामजी ने जैसे-तैसे उसे शांत किया! फिर बरजोरजी की ओर बड़ी घृणा से देखकर कहा—रे शैतान, तेरे ये मनसूबे? इतने दिन साथ रहकर भी तूने सती को न पहचाना! मैं बड़ी देर से खड़ा-खड़ा तेरे कलुषित प्रस्तावों, प्रलोभनों और डाँट-डपट को सुन रहा था। हाय, क्या ऐसी सती स्त्री को मेरे-सदृश अयोग्य पति मिलना था! पर नहीं, वह मेरा इस पाप के गड्ढे से शीघ्र ही उद्धार करेगी। अब तू मुझे अपना मुँह मत दिखला, यहाँ से चला जा—दूर हो मेरी नज़र से—नहीं तो इस तमंचे से तेरा सिर उड़ा दूँगा।



"नहीं तो इस तमंचे से तेरा सिर उड़ा दूँगा"

बरजोरजी—वाह साहब, दस हज़ार की भी कुछ याद है ?

बहरामजी—हाँ, यह लो अपने १० हज़ार।

ऐसा कहकर बहरामजी ने सौ-सौ के कई नोट टेबिल पर बिछा दिए। बरजोरजी उन्हें लेकर अनाप-शनाप बकता हुआ घर से बाहर हुआ।

रुक्मा को बड़ा आश्चर्य हुआ। ये नोट कहाँ से आए ? वह दिल में बहुत घबराई हुई थी। बहरामजी ने उसकी चेष्टा देखकर हँसकर कहा—रुक्मा, तुम-सरीखी ऐसी निःस्पृह सती का पति चोर नहीं हो सकता। मैं ये नोट चोरी करके नहीं लाया हूँ। देखो, यह बैग ऐसे ही नोटों से भरा है। मेरे मामा जमशेदजी युगांडा रेलवे के ठेकेदार थे। उनको क्या मालूम कि मैं ऐसा अधम, नालायक निकला। विदेश ही में उनकी मृत्यु हो गई। उनके कोई नहीं था—मैं ही उनका वारिस था। मरते वक्त वह मेरे नाम विल कर गए थे। उन्हीं के वकील ने डेढ़ लाख रुपए आज ही भेजे हैं। इतनी संपत्ति पाकर मैं इस पापी का काम छोड़ सीधे घर आया हूँ। पास पहुँचने पर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि भीतर कोई बात कर रहा है। मैं खिड़की के समीप खड़ा-खड़ा सुनता रहा। अब मुझे मालूम हुआ कि तुम कैसी सती हो, और बरजोरजी कैसा पापी है।

अग्निदेव को धन्यवाद दो कि उस दुष्ट का क़र्ज़ अब मेरे सिर से उतर गया। मेरे हृदय में अब अतुल बल आ गया है।

एक धक्का लगने से सचमुच बहरामजी का कायापलट हो गया। उस रुपए से उन्होंने खूब रोज़गार बढ़ाया, और आज बंबई के करोड़पतियों में उनकी गणना है। रुक्मा को अब कोई और काम नहीं है। उसका सारा समय शराब की पिकेटिंग में जाता है। उसने एक मादक-द्रव्य-निवारिणी सभा खोल रक्खी है। इसमें वे ही स्त्रियाँ भरती होती हैं, जो पुरुष जाति का सुधार करने की प्रतिज्ञा करके आती हैं।

रघुवरप्रसाद द्विवेदी

श्रीमती सरोजिनी नायडू

(पूर्वार्द्ध)

[प्रस्तावना]



मती सरोजिनी नायडू का नाम भारत-भर में सुविख्यात है। भारतीय महिलाओं में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति, सराहनीय समाज-सेवा, असीम देश-भक्ति आपके प्रधान गुण हैं। आपकी राजनीतिक कृतियों के कारण ही भारतीय समाज आजकल आपसे विशेष परिचित है। वास्तव में पिछले कई वर्षों से आप राजनीतिक क्षेत्र में अग्रसर हुई हैं, और अपना संपूर्ण समय राजनीतिक कार्यों में ही लगा रही हैं। परंतु यथार्थ में आपकी कीर्ति का मुख्य कारण आपकी कविता ही है, और यह कीर्ति अंत तक प्रधानतः उसी नींव पर स्थित रहेगी। कुछ लोगों का कहना है कि आपने कवि के कल्पना-मंदिर का परित्याग करके जो राजनीति के कुटिल पथ पर पैर रक्खा है, वह आपकी कविता के हक़ में अच्छा नहीं। इस विषय पर सदा दो सम्मतियाँ रहेंगी। कुछ भी हो, आज यह स्त्री-रत्न भारतीय स्वराज्य-युद्ध में तत्पर है। आपके इस रण में भाग लेने से स्वराज्य-आंदोलन को कितना सहारा मिला, यह कहना अनावश्यक है। यह बतलाना भी व्यर्थ है कि आपने अपने व्यक्तिगत प्रभाव के कारण राष्ट्रीय दलों में एकता तथा उत्साह का कितना संचार किया है, और आप पर राष्ट्रीय दलों की कितनी श्रद्धा है ! हाँ, यह बतलाना उचित है कि इस स्वराज्य-युद्ध में जिस पक्ष का ग्रहण श्रीमती सरोजिनी ने किया है, उसमें कुटिल चालों का काम नहीं है। यह तो खुला युद्ध है। इसमें देश-परायणता, स्वार्थ-त्याग और बलिदान की आवश्यकता है। इस युद्ध में भी श्रीमतीजी का एक विशेष कर्तव्य है। एक स्थल पर आपने लिखा है—

"वीर आत्माएँ जहाँ रण में कष्ट ले जाती हैं,
वहाँ मैं अपना गीत-रूपी पताका ले जाती हूँ।"

वास्तव में यही बात है। यह युद्ध केवल अहिंसात्मक युद्ध है। आपके उत्साह-जनक उद्गार केवल कंठोचित नहीं

हैं। आपके भाषण में हमें कविता का ही आनंद आता है। उसका उद्देश्य प्रोत्साहन-मात्र है। तात्पर्य यह कि राज-नीतिक क्षेत्र में भी श्रीमतीजी अपने कवित्व के आदर्श से च्युत नहीं हुई, ऐसी हमारी धारणा है।

सभी देशों के इतिहास में हम एक ऐसी अवस्था की कल्पना कर सकते हैं, जब कि स्वतंत्रता-युद्ध के लिये प्रत्येक प्राणी की आवश्यकता होती है; प्रत्येक व्यक्ति के लिये देश-सेवा अनिवार्य हो जाती है। यदि श्रीमती सरोजिनी ठीक ऐसी ही अवस्था में अपने कविता के व्यसन को स्थगित करके राजनीति के क्षेत्र में आ गई, तो इसमें आश्चर्य ही क्या? आश्चर्य की बात तो तब होती, जब उनकी-सी एक देशाभिमानिनी भी ऐसा न करती। इसके पूर्व, अन्य समयों में, अन्य देशों में, अन्य कवियों ने भी ऐसा ही किया है; और फिर उन्हें जब अपने प्रिय व्यसन में लीन होने का अवसर मिला, तो उनकी कविता ने विशेष चमत्कार प्राप्त किया। अस्तु, मतलब यह कि श्रीमती प्रधानतः कवि हैं; और यद्यपि राज-नीति में भी उनका महत्त्व-पूर्ण भाग है, तथापि उनका निरूपण विशेषतः कवि की भाँति ही होना चाहिए।

(१)

श्रीमती सरोजिनी का जन्म, दक्षिण-भारत की प्रसिद्ध मुसलमानी रियासत हैदराबाद की राजधानी में, १३ फ़रवरी, सन् १८७९ ई० में हुआ। आपके पिता का नाम श्रीअघोरनाथ चट्टोपाध्याय था। इन्होंने ब्राह्मनगरम् के एक प्राचीन तथा कुलीन ब्राह्मण-वंश में जन्म लिया था। इनके पूर्वज समस्त पूर्व-बंगाल में, अपनी संस्कृत-ज्ञता तथा योगाभ्यास के लिये, प्रसिद्ध रह चुके थे। सरो-जिनी के पिता ने स्वयं बड़ी उच्च शिक्षा पाई थी। उन्होंने सन् १८७७ ईसवी में, स्कॉटलैंड के प्रसिद्ध एडिनबरा-विश्वविद्यालय से, विज्ञानाचार्य (डॉक्टर ऑफ़ साइंस) की उपाधि प्राप्त की थी। तदनंतर जर्मनी के प्रसिद्ध विद्या-केंद्र 'बॉन' में भी बड़ी योग्यता से शिक्षा पाई। इस प्रकार योरप से शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर आपने ही हैदराबाद में निज़ाम-कॉलेज की स्थापना की; और जब तक जीवित रहे, शिक्षा के क्षेत्र में ही स्वार्थत्याग के साथ अपना समय व्यतीत करते रहे। श्रीअघोरनाथ चट्टोपाध्याय बड़े प्रतिभाशाली पुरुष थे। परोपकार और विज्ञान, ये ही दो आपके व्यसन थे; इन्हीं में आप अपना धन ख़र्च किया करते थे। आपकी लोक-प्रियता प्रसिद्ध थी। आपका द्वार सदा, सभी के लिये, खुला रहता था। आपके यहाँ सभी धर्मों के विद्वान् जमा हुआ करते थे। राजा से रंक तक, महात्मा से लेकर गुंडों तक, सभी आपके यहाँ समान-रूप से स्वागत पाते थे। आपकी आत्मा महान् थी; सत्य के अनुसंधान में सदा तत्पर रहते थे। उनका जीवन बड़ा पवित्र था। बड़े भारी वैज्ञानिक होकर भी आपने कवि-हृदय पाया था। अस्तु, सरोजिनी ने कवित्व का अंश केवल अपने पिता से ही नहीं प्राप्त किया। इनकी माता श्रीमती वरदासुंदरी देवी भी कवि थीं। अपनी युवावस्था में इन्होंने भी बँगला-भाषा में कुछ अत्यंत सुंदर कवि-ताओं की रचना की।



ऐसे प्रतिभाशाली मा-बाप की संतान सरोजिनी स्वयं कैसे प्रतिभाशालिनी न होती। सरोजिनी तथा उनके भाई-बहनों ने अपने माता-पिता के निरीक्षण में जैसी शिक्षा पाई, वैसी आजकल के ज़माने में बहुत कम लोगों को नसीब होती है। सरोजिनी अपने माता-पिता की पहली संतान हैं। इनके सभी भाई-बहनों को शुरू से ही अँगरेज़ी-

भाषा की शिक्षा दी गई। यह शिक्षा बहुत विधि-पूर्वक दी जाती थी। स्वयं डॉक्टर अघोरनाथ इस ओर ध्यान देते तथा अपनी संतान पर तीव्र निरीक्षण रखते थे। ९ वर्ष की अवस्था में सरोजिनी को केवल अँगरेज़ी में संभाषण न कर सकने के अपराध में दंड मिला था। इसका उल्लेख सरोजिनी ने स्वयं किया है।

श्रीमती सरोजिनी ने अपने कतिपय पत्रों में अपने पिता तथा अपनी बाल्यकाल की शिक्षा का वर्णन किया है। इनके पिता इन्हें गणित-शास्त्र तथा विज्ञान की विदुषी बनाने के उद्योग में लगे थे। परंतु इन विषयों में सरोजिनी की विशेष अभिरुचि न थी। यद्यपि बाल्यावस्था में कविता लिखने की ओर इनका विशेष ध्यान न था, तथापि वह बड़ी कल्पनाशील थीं। आप अपने एक पत्र में लिखती हैं—"एक दिन, जब कि मेरी अवस्था ११ वर्ष की थी, मैं बीज-गणित के एक प्रश्न पर बैठी खीझ रही थी; सवाल ठीक निकलता ही न था। उसके बदले एक पूरी कविता मेरे मन में आ गई, और मैंने उसे लिख डाला।"

बारह वर्ष की अवस्था में सरोजिनी ने मदरास-युनिवर्सिटी की मैट्रिक्युलेशन (प्रवेशिका)-परीक्षा पास कर ली। उस समय भारत में स्त्री-शिक्षा, आजकल के देखने, बहुत पिछड़ी दशा में थी। ऐसी छोटी अवस्था में मैट्रिकुलेशन-परीक्षा ही पास कर लेने से संपूर्ण भारत में आपका नाम हो गया। पर स्वयं सरोजिनी को अपनी इस सफलता पर विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। इँगलिस्तान के प्रसिद्ध साहित्यिक मिस्टर आर्थर साइमंस से, यह प्रसंग आने पर, आपने स्वयं कहा था—"मैं सच कहती हूँ, इससे मुझे प्रसन्नता नहीं हुई। ऐसी बातों से मुझे प्रसन्नता नहीं हो सकती।" बात यह है कि सरोजिनी को कविता की धुन लग चुकी थी; और यद्यपि उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहा करता था, तथापि वह कविता के अध्ययन में ही विशेष लगी रहती थीं।

आपने तेरह वर्ष की अवस्था में, स्कॉट की अँगरेज़ी-कविता 'लेडी ऑफ् दि लेक' के ढंग पर, १,३०० पंक्तियों की एक कविता छः ही दिनों में रच डाली। उसी अवस्था में इन्होंने २,००० पंक्तियों का एक नाटक भी बनाया। उधर डॉक्टर लोग इनका स्वास्थ्य देखकर यह कहते थे कि इन्हें पुस्तक छूने न देनी चाहिए। परंतु सरोजिनी कुछ न मानतीं। यहाँ तक कि उक्त रचना उन्होंने केवल डॉक्टर की आज्ञा की अवहेला-मात्र करने के लिये की थी। वह रचना बड़ी भावमयी हुई। नियमित पाठ-क्रम बंद हो जाने के कारण सरोजिनी ने बाहरी किताबें खूब पढ़ीं। आप लिखती हैं—"अपनी समझ में मैंने १४ और १८ वर्ष की अवस्था के बीच ही विशेष अध्ययन किया है। इसी बीच में मैंने एक उपन्यास भी लिखा। और, रोज़नामचों के तो बड़े-बड़े पोथे ही लिख डाले।"

श्रीमती सरोजिनी का जीवन-संग्राम इसी छोटी अवस्था से ही शुरू हो जाता है। सरोजिनी का प्रेम श्रीगोविंद-राजलु नायडू से हो गया। डॉक्टर गोविंदराजलु नायडू (सरोजिनी के पति) यद्यपि एक प्राचीन तथा कुलीन वंश के हैं, तथापि अब्राह्मण हैं। इससे सरोजिनी का प्रेम हो जाना सरोजिनी के घरवालों को अच्छा नहीं लगा। उधर नायडू के पक्षवाले भी यह संबंध पसंद न करते थे। यद्यपि सरोजिनी के मस्तिष्क में स्वतंत्र विचारों के बीज पड़ चुके थे, तथापि दोनों पक्षवालों के प्रतिरोध के कारण उनका विवाह गोविंदराजलु से उस समय न हो सका। अस्तु, सरोजिनी ने इस प्रणय को स्थगित तो कर दिया; परंतु विवाह का विचार नहीं छोड़ा।

सरोजिनी को हैदराबाद के निज़ाम की ओर से विलायत जाने के लिये एक वज़ीफ़ा मिल गया। सन् १८९५ ईसवी में, अपनी इच्छा के प्रतिकूल, सरोजिनी उच्च शिक्षा-प्राप्ति के लिये इँगलिस्तान भेजी गईं। वहाँ पहले तो इन्होंने लंदन के प्रसिद्ध किंग्स कॉलेज में, और फिर गर्टन में रहकर विद्याध्ययन किया। इँगलिस्तान में वह लगभग तीन वर्षों तक रहीं। इसके बाद वहाँ भी उनका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा, जिसके कारण वह सन् १८९८ ई० में हैदराबाद लौट आईं।

इँगलिस्तान में रहकर श्रीमती ने अपने समय का बहुत अच्छा उपयोग किया। विद्या-लाभ के अतिरिक्त आपने वहाँ के कई बड़े-बड़े साहित्य-सेवियों से परिचय प्राप्त किया। उस छोटी अवस्था में भी अपने उच्च विचारों के कारण तथा व्यक्तिगत प्रभाव द्वारा आपने वहाँ के बहुत-से बड़े लोगों के हृदयों में स्थान प्राप्त कर लिया। इँगलिस्तान में रहते समय आपने इटाली की भी सैर की। इटाली के ऊपर आप जी-जान से मोहित हो गईं। उसके विषय में अपने विचारों को प्रकट करते हुए जो पत्र आपने मिस्टर आर्थर साइमंस के पास भेजे थे, उनसे

इस बात का पता चलता है कि आप पर इटाली का कितना बड़ा प्रभाव पड़ा था। श्रीमती सरोजिनी के ये पत्र अत्यंत उत्कृष्ट तथा सुंदर अँगरेज़ी के नमूने हैं। उनमें प्राच्य की झलक भी स्पष्ट है।



भारत में लौटने के तीसरे ही महीने सरोजिनी ने, १६ वर्ष की अवस्था में, अपने प्रणयपात्र श्रीगोविंद-राजलु नायडू से विवाह कर लिया। यद्यपि इस विषय में, भारत-भर में, नाना प्रकार की टिप्पणियाँ हुईं, तथापि सरोजिनी ने अपने स्वतंत्र विचारों को कार्य-रूप में परिणत करके दिखला दिया। सरोजिनी का वैवाहिक जीवन बड़ा सुखमय रहा है। आपके चार संतानें भी हैं। श्रीमतीजी को कविता के अनुशीलन तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का पूर्ण अवकाश मिलता रहा है।

(२)

हम यह बतला चुके हैं कि सरोजिनी ने ग्यारह वर्ष ही की अवस्था से काव्य-रचना आरंभ कर दी थी। इँगलिस्तान जाने के समय आपकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी। उस समय तक वह बहुत-सी कविताएँ लिख चुकी थीं। सरोजिनी के कवि-जीवन की एक घटना बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। वह हमारे लिये केवल मनोरंजन की ही वस्तु नहीं, शिक्षा-प्रद भी है। इस घटना के लिये हम एक वयोवृद्ध तथा प्रतिष्ठित अँगरेज़ी-साहित्यिक—मिस्टर एडमंड गॉस—के चिरकृतज्ञ रहेंगे। सौभाग्य-वश आप अभी जीवित हैं आपकी अवस्था ७६ वर्ष की है। आप अँगरेज़ी-साहित्य के महारथियों में हैं। आप ही ने एक दूसरी भारतीय स्त्री-कवि—कुमारी तरु-दत्त—की रचनाओं का पाश्चात्य भूखंड में प्रचार किया था।

सौभाग्य-वश, इँगलिस्तान में पहुँचने के थोड़े ही समय बाद सरोजिनी का इनसे परिचय हो गया। सरोजिनी इनके यहाँ आने-जाने लगीं। भला मिस्टर गॉस से यह बात कब छिपी रह सकती थी कि सरोजिनी बड़े उत्साह से कविता लिखा करती हैं, और वह भी अँगरेज़ी-भाषा में! गॉस साहब ने इनकी कविताएँ देखने की इच्छा प्रकट की। सरोजिनी ने अपनी कविताओं का बंडल उन्हें दे दिया। गॉस ने एकांत में इनकी रचनाओं का अध्ययन और मनन किया। सरो-जिनी के लिये ऐसे उत्कट समालोचक को संतुष्ट करना सहज न था। मिस्टर गॉस को ये कविताएँ कृत्रिम और प्रेरणा-विहीन प्रतीत हुईं। उन्हें बड़ी निराशा हुई। ऐसी अवस्था में उन्होंने जो किया, उसके लिये सरोजिनी के पाठक उनके चिरकृतज्ञ रहेंगे। इस घटना का वर्णन उन्होंने स्वयं सरोजिनी की एक पुस्तक की भूमिका में किया है। आप लिखते हैं—"श्रीमती सरोजिनी ने जो पद्य मुझे दिए, वे पिंगल, व्याकरण तथा भावों की दृष्टि से दोष-रहित थे; परंतु उनमें एक बड़ी भारी कमी यह थी कि वे नितांत व्यक्तित्व-शून्य थे। भावों तथा कल्पना की दृष्टि से वे पाश्चात्य के रंग में रँगे हुए थे। उनमें टेनिसन और शेली के रंगों का आभास होता था। यदि मैं भूल नहीं करता, तो उनमें ईसाई-मत का-सा त्याग भी झलकता था। मैंने विषाद-पूर्वक उन्हें उठाकर अलग रख दिया। यह तो अनुकरण करनेवाले पक्षी की बोली थी।"

परंतु फिर मिस्टर गॉस ने लेखिका की अल्पावस्था की ओर ध्यान दिया—उसके उत्साह को तोड़ना उचित न समझा। उन्होंने सरोजिनी को अपनी सच्ची अनुमति देने का निश्चय किया, जिसका तात्पर्य यह था—"झूठे अँगरेज़ी

भावों में डूबी हुई अपनी सब रचनाओं को रद्दी काग़ज़ की टोकरी में डाल दो। एक विचारशील भारतीय युवती से, जिसने हमारी भाषा का ही नहीं, हमारे पिंगल का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है, हम पाश्चात्य भावों तथा कल्पनाओं की प्रतिध्वनि की आशा नहीं करते। हम प्राच्य भावों और कल्पनाओं का परिचय उससे प्राप्त करना चाहते हैं; धर्म के उन प्राचीन मंतव्यों का दिग्दर्शन चाहते हैं, जिनका प्राच्य देशों में उसी समय अनुभव हो चुका था, जब पाश्चात्यों को अपनी आत्मा की स्थिति का ही ज्ञान न था।" उन्होंने यह आशय भी प्रकट किया—"तुम अँगरेज़ी की तरह पक्षियों—रोबिन और लवे—का वर्णन अपनी कविता में करना छोड़ दो। इसी प्रकार हमारे फलों, फूलों, वृक्षों तथा दृश्यों और भूदेशों के वर्णन का भी सदा के लिये परित्याग कर दो; हमारे गिरजाघरों के घंटों को भूल जाओ। अपने देश और अपने प्रांत की नदियों, पर्वतों, मंदिरों, उद्यानों, वनस्पतियों तथा निवासियों का वर्णन करो—इनके सहज प्राकृतिक भावों को व्यक्त करो। सारांश यह कि भारतीयता धारण करो; पाश्चात्य कवियों की नक़ल करने की चेष्टा में अपने व्यक्तित्व का नाश न कर डालो।"

सरोजिनी को यह बात लग गई। उन्होंने धन्यवाद-पूर्वक उस वृद्ध साहित्यिक की सम्मति स्वीकृत कर ली। इसके बाद स्वयं मिस्टर गॉस का यह कहना है—"सन् १८६५ के बाद श्रीमती सरोजिनी ने कोई भी ऐसी रचना नहीं की, जिसमें उनकी भारतीयता स्पष्ट न झलकती हो।" यह घटना, वास्तव में, पाश्चात्य देशों का सभी बातों में अनुकरण करनेवालों के लिये शिक्षा-प्रद है। स्वयं सरोजिनी ने अपनी कृतज्ञता इस प्रकार प्रकाशित की थी—अपनी पहली कविता-पुस्तक 'स्वर्ण-देहली' (The Golden Threshold) मिस्टर गॉस को समर्पित करते हुए लिखा था—"यह पुस्तक मिस्टर एडमंड गॉस को समर्पित है, जिन्होंने सर्वप्रथम मुझे 'स्वर्ण-देहली' का मार्ग दिखाया।"

सरोजिनी की चार कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।* इनमें पहली पुस्तक तो यही 'स्वर्ण-देहली' है। यह



पहले-पहल सन् १९०५ में प्रकाशित हुई थी। इसके कई संस्करण हुए हैं। इस पुस्तक में जो कविताएँ संगृहीत हैं, उनमें से अधिकांश सन् १८९६ और १९०५ के बीच लिखी गई थीं। कुछ पद्य और गीत तो उसी समय के लिखे हुए हैं, जब आप लंदन में थीं। शेष वहाँ से लौटने पर हैदराबाद ही में लिखे गए थे। इस संग्रह में बाल्यावस्था तथा तरुणावस्था के आरंभ में लिखी हुई कविताएँ हैं। इसमें संदेह नहीं कि कविताएँ सभी प्रथम श्रेणी की और चुनी हुई हैं।

* ये सभी पुस्तकें लंदन के प्रसिद्ध प्रकाशक 'विलियम-हैनमन' ने प्रकाशित की हैं।

इसकी भूमिका इँगलिस्तान के प्रसिद्ध साहित्यिक पुरुष मिस्टर आर्थर साइमंस ने लिखी है। इसी पुस्तक द्वारा सरोजिनी की ख्याति की नींव पड़ी। एक भारतीय स्त्री का अँगरेज़ी-भाषा में उत्कृष्ट कविता लिखना ही एक बड़े महत्त्व की बात थी। इनकी कविता का बड़ा आदर हुआ। इँगलिस्तान के प्रायः सभी बड़े पत्रों में प्रशंसात्मक आलोचनाएँ निकलीं। भारतवर्ष में सरोजिनी यों भी अप्रसिद्ध न थीं। विदेशों में इनकी रचना की प्रशंसा सुनकर भारत-वासियों का हृदय खिल उठा। इनकी कीर्ति भारत-भर में और भी फैल गई।

सरोजिनी की दूसरी पुस्तक का शीर्षक था—'जीवन और मृत्यु-विषयक कविताएँ' (Poems of Life and Death)-शीर्षक सार्थक है। आपकी तीसरी पुस्तक—'काल-पक्षी' (The Bird of Time)—तो बहुत ही प्रसिद्ध हुई। यही आपकी सर्वोत्तम पुस्तक है। वह सन् १९१२ में प्रकाशित हुई थी। अतएव इनकी पहली पुस्तक और इस पुस्तक के प्रकाशन में सात वर्षों का अंतर है। इस बीच में आपने सामाजिक तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग लेना आरंभ कर दिया था। मानसिक और शारीरिक श्रम के कारण आपका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रहता था। इन कार्यों में लगे रहने पर भी आपने कविता का व्यसन छोड़ा नहीं था। बीच-बीच में भारतीय तथा विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती ही रहीं। इस पुस्तक में उन्हीं कविताओं का संग्रह है। 'काल-पक्षी' में श्रीमती सरोजिनी की कविता ने और भी प्रौढ़ता प्राप्त कर ली। इनके यश की वृद्धि हुई; पाठकों की संख्या बढ़ी। इनकी ख्याति अँगरेज़ी-भाषाभाषी देशों तक ही नहीं फैली, बल्कि इनकी रचनाओं के अनुवाद फ्रेंच और जर्मन-भाषाओं में भी हुए। इस पुस्तक की भूमिका के लेखक वही महाशय एडमंड गॉस हैं, जिन्होंने सरोजिनी को भारतीय रंग में डूबी हुई कविताएँ करने का परामर्श दिया था। फिर पाँच वर्षों के बाद, सन् १९१७ में, आपकी चौथी पुस्तक—'टूटा हुआ डैना' (The Broken Wing)—प्रकाशित हुई। अब तक प्रकाशित कविता-पुस्तकों में यही आपकी अंतिम पुस्तक है।

सामाजिक तथा सार्वजनिक कार्यों की ओर सरोजिनी की जो प्रवृत्ति आरंभ ही से थी, उसका वर्णन आ चुका है। आपकी यह प्रवृत्ति बढ़ती गई। इसके कारण कविता के व्यसन को भी किंचित् स्थगित करना पड़ा। इस अंतिम पुस्तक में एकत्र की गई अधिकांश कविताएँ सार्वजनिक कार्यों से समय निकालकर, सन् १९१५-१६ में, लिखी गई थीं। ज्यों-ज्यों सरोजिनी सार्वजनिक कार्यों में अधिकाधिक लीन होती गईं, त्यों-त्यों उनके कवित्व में कुछ क्षीणता आती गई। समालोचकों ने उन्हें पहले से ही जता दिया था कि राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण करना आपकी कविता को क्षति पहुँचावेगा। परंतु देश-सेवा के प्रश्न उन्हें महत्तर जान पड़े; और इसमें संदेह नहीं, कविता की ओर उन्होंने समुचित ध्यान नहीं दिया। फल यह हुआ कि आपकी अंतिम पुस्तक कविता की दृष्टि से उतनी उत्कृष्ट नहीं हुई, जितनी कि प्रथम तीन पुस्तकें। यद्यपि इस पुस्तक के कुछ अंश हमें पूर्व-सरो-



जिनों की स्मृति दिखाते हैं, तथापि सब मिलाकर यह पुस्तक पहली पुस्तकों से गिरी हुई है।

समालोचकगण श्रीमती सरोजिनी की राजनीतिक प्रवृत्ति को उनकी कवित्व-शक्ति के ह्रास का कारण बतलाते हैं। पर हमारा उनसे मतभेद है। हम स्वीकार करते हैं कि इन दोनों बातों में पारस्परिक संबंध है। परंतु वह संबंध कैसा है? हमारे विचार में उनकी राजनीतिक प्रवृत्ति उनके कवित्व के ह्रास का कारण नहीं, परिणाम है। हमारा यह अनुमान करना अनुचित है कि सरोजिनी अपने वास्तविक उद्देश्य से विमुख हैं। वास्तव में वह कवि हैं; स्वयं अनेकों बार इस बात पर ज़ोर दे चुकी हैं कि मैं कवि हूँ, राजनीतिज्ञ नहीं। परंतु कविता के लिये प्रेरणा हुआ करती है। उस प्रेरणा को कवि ही समझ सकता है। सरोजिनी की यह प्रेरणा क्षीण हो रही थी। उन्होंने उसे रोकने का प्रयास अपनी अंतिम पुस्तक में किया है। पर वह असफल रहा। वे रचनाएँ अनैसर्गिक प्रतीत हुईं। बिना प्रेरणा के कविता रचना ठीक नहीं कहा जा सकता। प्रेरणा जीवन से संसर्ग प्राप्त होने पर जाग्रत् होती है। हमारी राय में, राजनीति के क्षेत्र में उनका आना अपनी लुप्त प्रेरणा को पुनः प्राप्त कर लेने का साधन होगा। उनके समालोचक भी यह स्वीकार करते हैं कि हम सरोजिनी से भविष्य में आशा रख सकते हैं। वह भविष्य जहाँ तक शीघ्र आवे, अच्छा है। यह निश्चय है कि वह अब जो कविताएँ लिखेंगी, उनमें नया रंग रहेगा। सरोजिनी के जीवन में हमें नित्य-प्रति परित्याग तथा तपश्चर्या की मात्रा अधिकाधिक दिखलाई पड़ती है। हमें आशा है, श्रीमती सरोजिनी की आगामी कविताओं में हम वह रंग पावेंगे, जो उनकी 'स्वर्ण-देहली'-पुस्तक की अंतिम कविता—'पद्मासीन बुद्ध'—में है।

(३)

श्रीमती सरोजिनी की कविता की विशेषताओं की कुछ आलोचना भी आवश्यक है। सरोजिनी का प्रधान गुण उनकी भारतीयता है। यद्यपि श्रीमती की रचनाएँ अँगरेज़ी में होती हैं, और यद्यपि उक्त भाषा की शैली, प्रकृति तथा उसके विचार-केंद्र हमसे सर्वथा पृथक् हैं, तथापि इन रचनाओं में हमें अपने देश के भावों का ही प्रतिबिंब मिलता है। उनमें कहीं भी विदेशीयता की बू नहीं आने पाई। किस प्रकार मिस्टर एडमंड गॉस के उपदेश से सरोजिनी की प्रेरणा स्वदेशी भावों के प्रति जाग्रत् हुई थी, यह हम पहले लिख चुके हैं। कुछ भी हो, इसके अतिरिक्त कि सरोजिनी की रचनाएँ विदेशी भाषा में होती हैं, उनकी कविता में और कोई विदेशीपन नहीं आने पाया। उनकी कविता में सर्वत्र अपने देश के दृश्यों का, फल-फूल-लता-पल्लवों का, पशु-पक्षियों का वर्णन तथा अपने ही देश की जनता के रस्म-रवाज, उत्सवों और त्योहारों का वृत्तांत, अपने देश की ऋतुओं का हाल एवं अपने ही देश की सरिता और पर्वतों से प्रेम पाया जाता है। सारांश यह कि अपने ही देश और समाज के चित्र अंकित हुए हैं। यही नहीं कि विषयों के चुनाव में ही भारतीयता देख पड़ती हो, प्रत्युत उपमाओं और अलंकारों में भी भारतीयता झलकती है। सरोजिनी की रचनाएँ प्रधानतः अँगरेज़ी-पाठकों के निमित्त लिखी गई हैं। और जिस प्रकार हमारे देश के रहन-सहन, आचार-विचार और सभ्यता का दिग्दर्शन कराया गया है, उससे बहुत बड़ा देश-हित का साधन होता है। इससे पूर्व और पश्चिम का संपर्क घनिष्ठ होता है। इनकी कविता की प्रशंसा करते हुए विलायत के एक प्रसिद्ध पत्र ने लिखा था—"इन कविताओं ने एक ऐसा नया द्वार खोल दिया है, जिसके द्वारा यदि पाश्चात्य लोग चाहें, तो पूर्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।" वास्तव में बात भी यही है। श्रीमती सरोजिनी देश-प्रेम में डूबी हुई हैं; परंतु उनका स्वदेश-प्रेम संकुचित नहीं है। यह देश-प्रेम उनकी दृष्टि में उस महान् विश्व-प्रेम का अंग-मात्र है, जिसके लिये समस्त संसार की महान् आत्माएँ प्रयत्नशील हैं। यही कारण है कि उनकी कविता ने केवल भारतवासियों से ही नहीं, विदेशियों से भी प्रशंसा पाई है। उनका प्रेम वर्ग, जाति अथवा संप्रदाय-विशेष तक ही संकुचित नहीं है। उनकी सहानुभूति सर्व-व्यापी है। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन, पारसी आदि के भेदभावों से वह बहुत ऊपर और बहुत पृथक् हैं। सन् १९१५ की कांग्रेस में आपने भारत-माता की वंदना में एक कविता पढ़ी थी। उसके अंतिम अंश का अनुवाद नीचे दिया जाता है। देखिए, किस प्रकार भारत की सभी जातियों के लोग भारत-माता की स्तुति करते हैं—

हिंदू—"माता, हमारी अर्चना के पुष्प तेरे सिर के किरीट बनेंगे!"

पारसी—"माता, हमारी आशा की ज्योति तेरा आवरण बनेगी !"

मुसलमान—"माता, हमारी प्रेम-रूपी तलवारें तेरी रक्षा करेंगी !"

ईसाई—"माता, हमारे धर्म का संगीत तेरी सेवा में रहेगा !"

सभी धर्मावलंबी—"क्या हमारी उत्कट भक्ति द्वारा तेरा कल्याण न हो सकेगा ? हे सम्राज्ञी, हे देवि,सुनो,—हम तुम्हारी वंदना करते हैं।"

कितने संकोच-रहित शब्द हैं !

जिस प्रकार उनकी कविता में जाति-पाँति का भेद नहीं, उसी प्रकार ऊँच-नीच का भी नहीं है। स्वयं श्रीमतीजी ने उच्च कुल में जन्म लिया है, धन की गोद में पली हैं ; परंतु वह प्राणी-मात्र से सम-भाव रखती हैं। हमारे सरल ग्रामीणों के हृदयों में उनकी अच्छी तरह से पैठ है। उन्हें उनके सुख दुःख, राग-रंग और रहन-सहन की केवल जानकारी ही नहीं, उनसे सच्ची सहानुभूति भी है। यही कारण है कि हमारे ग्रामीणों के विषय में वह बड़ी सुंदर कविता कर सकती हैं। उनकी कविताओं में हमें अपने ग्राम्य जीवन का सजीव परिचय प्राप्त होता है।

श्रीमती का यह दृढ़ विश्वास है कि संसार के इतिहास में भारत को एक महान् कार्य का संपादन करना है, और यद्यपि इस समय इसकी अवस्था गिरी हुई है, पर बिना इसके योग के संसार की अशांति और त्रास दूर न हो सकेंगे। आपने अक्सर अपनी कविता में इसी भाव का वर्णन किया है। इसकी पूर्ति के लिये आप सदा अपने देश-वासियों को प्रोत्साहित करती रहती हैं। भारत-माता के सम्मुख जो महान् उद्देश्य है, उसकी किसी भाँति पूर्ति होनी चाहिए। 'भारत-माता के प्रति'-शीर्षक एक पद्य में आप लिखती हैं—

"अंधकार से ग्रस्त, रुदन करती हुई जातियाँ तेरे नेतृत्व की प्रतीक्षा कर रही हैं × × × मा, हे मा, तू सो क्यों रही है ? × × × तेरी प्रतिष्ठा करने के लिये तेरा भविष्य तेरा आवाहन कर रहा है।"

सरोजिनी की कविता में वह आशावाद है, जो पराजित होना नहीं जानता।

उनकी कविता का एक दूसरा प्रधान गुण उसकी संगीतसंगति है। जिस समय सरोजिनी से मिस्टर आर्थर साइमंस ने अपने स्फुट पद्यों को एकत्र करके छपाने का अनुरोध किया था, उस समय आपने अपनी अनिच्छा प्रकट करते हुए लिखा था—"मेरा संगीत पक्षियों के संगीत की भाँति है, उसी प्रकार क्षणिक है × × × क्या यह संभव है कि मैंने सुंदर गीत लिखे हैं, और वे प्रकाशन करने के योग्य हैं ?" इस पर उक्त समालोचक ने यह यथार्थ टिप्पणी की है—"इन पद्यों की विशेषता यही है कि इनमें पक्षियों का-सा संगीत है।" यही सरोजिनी की कविता का वास्तविक तथा प्रधान गुण है। इनकी सभी कविताएँ छोटी हैं ; परंतु उनमें भावों की एकाग्रता और शब्दों का मितव्यय है। अँगरेज़ी में ऐसी कविताओं को 'लिरिक्स' कहते हैं। इसी प्रकार की कविताएँ उनके लिये सहज और उनकी प्रकृति के अनुकूल हैं। मैं यह अनुमान करने का साहस करता हूँ कि बड़ी कविताएँ लिखने में कदाचित वह इतनी सफल न हों। कारण, एकाग्रता और विस्तार, इन दोनों ही में प्रतिद्वंद्विता है ; और इसमें आश्चर्य ही क्या, जो हाथीदाँत के टुकड़ों पर काम करनेवाला नक़्क़ाश नाट्यमंच के बड़े-बड़े परदे बनाने के योग्य न ठहराया जाय। यह बात नहीं कि उनकी कविताओं में चित्रों की विभिन्नता न हो—प्रत्येक पंक्ति एक नया चित्र आँखों के सामने उपस्थित करती है। परंतु हमें केवल एक झलक मिलती है—हमारे नेत्र अतृप्त रह जाते हैं, और सौंदर्य-पिपासा निरंतर बनी ही रहती है। ऐसा प्रभाव केवल अत्यंत उत्कृष्ट श्रेणी की कविता ही हमारे ऊपर डाल सकती है।

अँगरेज़ी पर आपको जो अधिकार प्राप्त है, वह अत्यंत सराहने योग्य है। उस भाषा में आपकी कहाँ तक पहुँच है, इसकी सच्ची विवेचना अँगरेज़ ही कर सकते हैं। महाशय एडमंड गॉस-जैसे सहज में प्रसन्न न होनेवाले विद्वान् और समालोचक की निम्न-लिखित सम्मति इस संबंध में भी बहुत मूल्यवान् है—

"वास्तव में मैं यह विश्वास करने के लिये अप्रस्तुत नहीं हूँ कि आज तक जितने हिंदोस्तानियों ने अँगरेज़ी में रचनाएँ की हैं, उनमें इन(सरोजिनी)की रचनाएँ सबसे चमत्कारिक, सबसे मौलिक तथा सबसे शुद्ध होती हैं।"

समालोचक का तात्पर्य पद्य-रचना से जान पड़ता है। एक दूसरे बड़े अँगरेज़ समालोचक ने इनकी भाषा की

प्रशंसा करते हुए लिखा था—"ये कविताएँ रचना की दृष्टि से तो निर्दोष हैं ही ; पर कवि की पूर्वीयता ने इनमें एक विशेष रंग ला दिया है । इनकी कविताएँ पढ़ने के बाद हमें अपनी मातृ भाषा और भी मधुर प्रतीत होती है।"

आपकी भाषा की इससे अधिक और क्या प्रशंसा हो सकती है ? आप अँगरेज़ी की विदुषी अवश्य हैं ; परंतु आपने अपने पूर्वीय रंग को छोड़ा नहीं, और इस प्रकार आपकी रचनाओं में पूर्व और पश्चिम के सम्मिलन का अच्छा दिग्दर्शन होता है । आपकी भाषा अलंकृत, प्रवाहमयी और सुंदर होती है । आपका गद्य भी अत्यंत सरस होता है । सरलता के भी अनेकों उदाहरण मिलते हैं । परंतु आपकी कविता सरल हो चाहे अलंकृत, सदा उच्च साहित्यिक कोटि की होती है । अँगरेज़ी में आपके प्रवेश और अधिकार का एक यह भी प्रमाण है कि गूढ़-से गूढ़ भावों को आप बहुत थोड़े शब्दों में सरसता-पूर्वक प्रकट कर देती हैं ।

सरोजिनी को केवल अँगरेज़ी पर ही नहीं, बल्कि उसके पिंगल पर भी असाधारण अधिकार है । आपने अनेकों अँगरेज़ी-छंदों में कविता की है, और सभी प्रकार के छंदों में सफलता भी पाई है । आपने छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी पंक्तियों के छंदों का प्रयोग किया है । आपने भारतीय जोगीड़ों पर 'इंडियन डांसर्स'(Indian Dancers)-शीर्षक देकर एक कविता की है । इसमें छंद-रचना-कौशल की पराकाष्ठा दिखला दी है । भाषा, भाव, छंद और शब्द-विन्यास, सभी का अपूर्व सम्मिलन है । पढ़कर जी फड़क उठता है, और उन्हीं जोगीड़ों के साथ नाचने लगता है । खेद है, उसका अनुवाद असंभव है । त्वरित गतिवाले छंद आपको विशेष प्रिय हैं । उक्त कविता की मादकता 'प्रेम-नृत्य' (The Dance of Love)-शीर्षक कविता में भी मिलती है । परंतु वहाँ नर्तकों में उतनी द्रुत गति नहीं है । कारण, इस कविता में रात्रि अधिक बीत चुकी है । इनकी कुछ कविताएँ सुनकर मेरे एक साहित्य-प्रेमी मित्र ने मुझसे कहा था—"सरोजिनी का संगीत कहीं शेली (Shelley) का-सा है, तो कहीं स्विनबर्न (Swinburne) का-सा ।" अँगरेज़ी-साहित्य में, संगीत की दृष्टि से, इन्हीं दो कवियों का स्थान सबसे ऊँचा है । सच बात यह है कि सरोजिनी का अपना रंग निराला ही है । अपने छंदों में सरोजिनी ने कुछ भारतीय छंदों का भी समावेश किया है ; कई कविताएँ उर्दू बह्र में लिखी हैं । 'सुनलिनी के लिये लोरी' (Slumber-song for Sunalini)-शीर्षक कविता बंगाली-लय में अत्यंत सुंदर हुई है । इस प्रकार सरोजिनी ने अपने छंदों में भी पूर्वीयता का परित्याग नहीं किया ।

आगे कह चुके हैं कि अपनी कविताओं के विषय चुनने में सरोजिनी ने अपनी पूर्वीयता, वरन् भारतीयता भली भाँति दिखलाई है । यहाँ पर बहुत-से उदाहरण नहीं दिए जा सकते, और अनुवाद में मूल का स्वाद ही कहाँ तक आ सकता है, विशेष कर जब पद्य का अनुवाद गद्य में हुआ हो—'सती'-शीर्षक एक कविता मूल में अत्यंत हृदय-स्पर्शिनी है—

"हे मेरे जीवन के दीपक, काल के होठों ने तुझे अकस्मात् अपनी श्वास से बुझा दिया है । कुछ भी हो, अब तेरी विगत ज्योति पुनरुज्जीवित नहीं हो सकती × × × हे प्रिय, क्या जीवित अंधकार ही सदा के लिये मेरा आवास होगा ?

"हे मेरे जीवन-तरु, काल के निर्दयी पैरों ने तेरी जड़ तक कुचल डाली है । कोई भी वस्तु अब तुझे तेरा अतीत गौरव प्रदान नहीं कर सकती × × × वृक्ष के शुष्क हो जाने पर कहीं उसके पल्लव जीवित रह सकते हैं ?

"हे मेरे जीवन-प्राण, काल की तीखी तलवार ने हम लोगों को खंडित शब्द की भाँति पृथक् कर दिया है—हमें, जो वास्तव में एक हैं, दो कर दिया है × × × आत्मा के प्रयाण कर जाने पर क्या कभी मांस-पिंड जीवित रह सकता है ?"

कुछ अन्य कविताएँ, जिनकी ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है, निम्न-लिखित हैं—'एक राजपूत प्रेम-संगीत' (A Rajput Love-song), 'राधा का गीत', 'वसंत पंचमी', इंद्र की प्रार्थना (a Hymn to Indra) लक्ष्मी, 'वृद्धा स्त्री' (The old Women) 'पालकी-वाले' (The Palanquin bearers), 'पर्दा-नशीन', 'नल के प्रति दमयंती', 'शाहज़ादी ज़ेबुन्निसा का संगीत', 'इमामबाड़ा' । 'मेंहदी की प्रशंसा में'-शीर्षक कविता भी बड़ी सुंदर है । उसकी अंतिम कुछ पंक्तियों का भाव यह है—

"तिलक (बिंदी) की लालिमा दुलहिन के मस्तक की शोभा के लिये है ;

पान की लालिमा सुंदर होंठों की शोभा के लिये है;
परंतु कमल-जैसे करों की शोभा के लिये
मेंहदी ही की लालिमा है।"

'यौवन के प्रति'-शीर्षक कविता का भाव यह है—

"हे यौवन, प्यारे संगी यौवन, क्या तू चला जायगा? तू और मैं, बहुत दिनों तक एक ही साथ रहे हैं, एक ही साथ देश-देशांतरों में उषा का पान किया और एक ही साथ आकाश के नीचे फल चुने हैं!

"हे चपल मित्र, कल तक तो मैं भविष्य के अविच्छिन्न तथा असीम आह्लाद का स्वप्न देखा करती थी × × ×। तू जो चला जायगा, तो आज से मैं क्या अतीत काल के ही भंगुर सुखों का स्वप्न देखूँगी?

"मैं तुझे तेरी अस्थिर तथा झूठी प्रतिज्ञा से मुक्त करती हूँ। परंतु हे मेरे साथी, विदा होने से पहले मेरे नेत्र-पुटों का तथा भौंहों को एकबार चूम ले। मैंने तेरी मूर्ति को अपने हृदय में स्थापित किया है।"

प्रेम से उपजे हुए 'आह्लाद' का चित्र देखिए—

"मेरे प्रिय, मेरी आँखों को मूँद लो। मेरी आँखें अपार आनंद से उसी प्रकार क्लांत हो रही हैं, जिस प्रकार प्रखर और तीव्र प्रकाश से हो जाती हैं।

"ओह मेरे होंठों को, जो गायन के कारण थक गए हैं, एक चुंबन से मौन कर दो।

"हे मेरे प्रिय, मेरी आत्मा को त्राण दो। मेरी आत्मा प्रेम की वेदना तथा भार से वर्षा के मारे हुए फूल की शोभा की भाँति म्लान है। अब तो दर्शन देकर मेरी आत्मा को त्राण दो।"

इसमें संदेह नहीं, श्रीमती की कविता का एक बड़ा अंश प्रेम और शृंगार-रस में डूबा हुआ है, तथापि और रसों का अभाव नहीं है। 'पद्मासीन बुद्ध' पढ़कर हम शांत-रस में डूब जाते हैं। यथा—

"हे प्रार्थना-मय नेत्रोंवाले, अभय-मुद्रा में स्थित पद्मासीन भगवान् बुद्ध, यह कैसा अक्षुण्ण, अनंत तथा रहस्यमय परमानंद तुम्हें प्राप्त है! तुम्हारी कैसी परम शांति है, जिसका हमारी दृष्टि को आभास नहीं हो सकता, और जो मनुष्य-संसार के लिये दुर्लभ है!

"हमारे कोलाहल-पूर्ण जीवन-पथ में परिवर्तन की वायु सदा चलती रहती है। आनेवाले दिवस की व्यथाएँ बीते हुए दिवस के दुःखों का स्थान ले लेती हैं। एक स्वप्न के बाद दूसरा स्वप्न आता है, एक समस्या के अनंतर दूसरी समस्या उपस्थित होती है; और अंत में काल जीवनरूपी जाल को विच्छिन्न कर देता है।

"हमारे लिये दुःख और यातनाएँ हैं, अपने गर्व के खंडित रहस्य हैं, पराजय के कठिन पाठ हैं। हमारे लिये ऐसे पुष्प हैं, जो दुष्प्राप्य हैं; ऐसे फल हैं, जो वर्जित हैं। हमारे लिये वह परम शांति कहाँ, जिस पर, हे पद्मासीन भगवान् बुद्ध, तुमने अधिकार प्राप्त कर लिया है!

"हम अपनी कष्ट-साध्य अभिलाषाओं की तृप्ति में असफल रहते हैं, उस दैवी उच्च शिखर पर चढ़ते हुए हमारे पैर थक जाते और हमारे विश्वास शिथिल पड़ जाते हैं। परंतु संसार की कोई वस्तु हमारी ईश्वरीय वासना को न रोक सकती और न उस पर विजय प्राप्त कर सकती है।

"अंत-स्थान दूर और अस्पष्ट है; परंतु वह निरंतर हमें अपनी ओर बुला रहा है। हमारे संपूर्ण जीवन के दिवस अनंत के एक क्षण-मात्र हैं। हे पद्मासीन, तुम्हारे निर्वाण-पद को हम कैसे प्राप्त कर सकेंगे?"

सरोजिनी की कविता में स्थान-स्थान पर उनके स्त्रीत्व का परिचय मिलता है। प्रत्येक विषय पर उन्होंने स्त्री के विचार-केंद्र से दृष्टि डाली है, और उसी प्रकार वर्णन भी किया है, जैसा कि उचित है। उनका प्रकृति-वर्णन बहुत सच्चा और सुंदर होता है।

यद्यपि सरोजिनी की सहानुभूति सर्वव्यापी है, यद्यपि उनकी कविता में हिंदू-मुसलमान-पारसी-ईसाई आदि का भेद-भाव नहीं मिलता, तथापि यह कहना यथार्थ ही है कि उस पर हिंदूपन की छाप है; जीवन के प्रश्नों पर अवेक्षण का ढंग सर्वथा हिंदू का ही है।

सरोजिनी कवित्व के महान् आदर्श को भली भाँति समझती हैं। उनका कविता का आदर्श स्वयं बहुत ऊँचा है। अपनी कविता में, और अन्यत्र भी, आपने इस आदर्श के उद्गार भी प्रकट किए हैं। 'इन दि फ़ारेस्ट' (वन में)-शीर्षक पद्य में आप लिखती हैं—

"हे मेरे हृदय, हमें शीघ्र ही उठना होगा, और संसार-युद्ध तथा जन-समूह के कोलाहल में सम्मिलित होना होगा। × × × हे मेरे हृदय, आ, हम उठें और अपने बचे हुए स्वप्नों को एकत्र करें। हम जीवन की वेदना पर संगीत की वेदना से विजय प्राप्त करेंगे।"

सरोजिनी की सदा से यह इच्छा रही है कि वह कवि का वास्तविक उद्गार प्राप्त करें। अपनी कविता के विषय में वह अपने एक पत्र में लिखती हैं—

"यह संभव है कि मैंने सौंदर्य-पूर्ण पद्य लिखे हैं × × × आप जानते हैं, मेरा कला का आदर्श कितना उच्च है, और मेरी दृष्टि में मेरे तुच्छ और स्फुट पद्य मुझे पूर्णरूप से सुंदर नहीं प्रतीत होते। मेरा तात्पर्य उस सनातन सौंदर्य से है, जिसकी मुझे महती अभिलाषा रहती है।"

यद्यपि अपनी कविता के संबंध में सरोजिनी की आशंका निर्मूल है, तथापि इस अवतरण से हमें उनके महान् आदर्श की झलक ज़रूर मिलती है। वास्तविक कवित्व का उद्गार प्राप्त करना श्रीमती के जीवन की प्रधान आराधना है। इसी आराधना में वह अनंत सुख तथा दुःख का अनुभव करती हैं। आपने एक दूसरे पत्र में लिखा है—

"वास्तव में मैं कवि नहीं हूँ। मुझमें कल्पना है, अभिलाषा है; परंतु उद्गार नहीं है। यदि मैं एक भी ऐसी कविता लिख लूँ, जो सौंदर्य तथा उच्च भावों से पूर्ण हो, तो मैं सदा के लिये सुख-पूर्वक मौन हो जाऊँ... ।"

अन्यत्र आप लिखती हैं—

"जब तक जीवित हूँ, मेरी आत्मा की यह असीम अभिलाषा रहेगी कि मैं कविता करूँ—एक ही पद्य, सनातन कविता की एक ही पंक्ति। कदाचित् मैं अपनी इस उत्कट इच्छा की (जो मेरे लिये अत्यंत प्रसन्नता और असीम दुःख, दोनों का कारण है) पूर्ति हुए बिना ही मर जाऊँगी।"

कवित्व ही उनका परम उद्देश्य है, और उसी की पूर्ति की आप याचना करती हैं। 'गर्डन' (पुरस्कार)-शीर्षक पद्य में आपने अपने लिये यह याचना की है—

"धर्माध्यक्ष और महात्मागण अपने-अपने धर्म में प्रसन्न रहें। नृपति अपनी सेनाओं सहित कीर्तिशाली कार्यों का संपादन करें; पराजितों को शांति प्राप्त हो; बलशालियों को आशा-प्रदान हो। × × × परंतु हे मेरे स्वामिन्, मुझे संगीत का आनंद प्राप्त हो।"

यह निर्विवाद है कि सरोजिनी को प्रधानतः कवि का आसन प्राप्त है। हमारे देश के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में भी आपने बहुत उच्च स्थान ग्रहण किया है। परंतु जिस समय हमारी राजनीतिक अशांति दूर हो जायगी, जातिगत वैमनस्य शांत हो जायँगे, तब चिर-रूप से हम सरोजिनी की कविता द्वारा उनकी स्मृति की रक्षा करेंगे।

(४)

समाज-सेवा राष्ट्र-सेवा का एक अंग है, और राजनीति तथा समाज-सेवा में जो घनिष्ठ संबंध है, वह पृथक् नहीं हो सकता। यदि सरोजिनी के समाज-सुधार-संबंधी कार्यों का वर्णन उनकी राजनीतिक कृतियों से विभिन्न किया जाता है, तो केवल इस कारण कि राष्ट्र-हित-साधन के निमित्त उनकी विविध सेवाओं का यथार्थ अनुमान हो सके।

श्रीमती सरोजिनी के समाज-सुधार-संबंधी कार्यों का उनके जीवन की पूर्वावस्था ही में आरंभ हो चुका था। सरोजिनी का सुधार कार्य बहुत व्यावहारिक रहा है। वह उन समाज-सेवकों की भाँति नहीं है, जो सभा-मंच से बड़े-बड़े व्याख्यान तो देते हैं; परंतु उन्हीं मंतव्यों के अनुसार अपने व्यावहारिक जीवन में आचरण नहीं करते। आप अपने विचारों को न केवल स्वतंत्र रूप से प्रकट करती हैं, वरन् उन्हें व्यवहार में भी लाती हैं। अनेकों बाधाएँ उपस्थित होने पर भी आपने जो डॉक्टर नायडू से विवाह कर लिया, वह इसी निर्भीकता का एक उदाहरण है। एक उच्च कुल की ब्राह्मण-रमणी एक अब्राह्मण वंश में विवाह कर ले, इसे समाज बड़ी धृष्टता समझता था; परंतु उसे उन्होंने कर दिखाया। आप जाति-पाँति के भेद-भावों को तुच्छ समझती हैं, और कुलीनता पर किसी जाति-विशेष का अधिकार मानने के लिये प्रस्तुत नहीं हैं। पुराने विचारों के लोग उनकी इस स्वतंत्रता के विषय में चाहे, जो कुछ समझें; परंतु इसमें संदेह नहीं कि भारत की भावी संतानें अधिकाधिक इस प्रवाह में बह रही हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि सरोजिनी इस विषय में उस समय अगुआ बनी थीं, जब हमारी जनता के साधारण विचार आज से कहीं अधिक कट्टर थे।

यह कहना न होगा कि जाति-पाँति के भेद-भावों को निर्मूल समझकर ही श्रीमती सरोजिनी अस्पृश्य तथा पतित जातियों के उद्धार में जी-जान से संलग्न तथा उनके उत्थान के लिये निरंतर प्रयत्नशील रही हैं। सरोजिनी, हमारे देश के सभी विचारशील नेताओं की भाँति, इसे

उन भारतवासियों के लिये घोर पाप-कर्म समझती रही हैं, जो स्वार्थ-वश अपने अन्य भाइयों तथा बहनों को पतितावस्था में रखने के इच्छुक हैं। अपने अस्पृश्य तथा पतित भाई-बहनों के पक्ष में सरोजिनी ने अनेकों बार अपनी आवाज़ बलंद की है, और उनके उद्धार के कार्यों में बराबर सहयोग देती रही हैं। दो वर्ष हुए, बंबई में अस्पृश्य जातियों के साथ एक सहभोज किया गया था। उसमें सभी दलों के प्रधान नेता सम्मिलित थे। उस भोज में आपने एक बड़ी प्रोत्साहन-पूर्ण वक्तृता दी थी। कहा था—"यह बड़े सौभाग्य की बात है कि भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों के नेता इस महान् कार्य में सम्मिलित हैं। यह कार्य दल-विशेष का नहीं, संपूर्ण समाज का है। भारत के लिये यह बड़ी लांछना की बात है कि उसकी संतानों का एक बड़ा भाग पतित अथवा अस्पृश्य समझा जाय। बिना उन्हें साथ लिए हम अपने राजनीतिक मंतव्यों में कदापि सफल नहीं हो सकते।"

अछूतों की समस्या संपूर्ण भारत में, विशेष कर दक्षिण-भारत में, बड़ा उग्र रूप धारण किए हुए है। सरोजिनी अपने दक्षिण-भारत के दौरे में इस प्रश्न पर निरंतर प्रकाश डालती और इसे हल करने में लगी रही हैं। दक्षिण-भारत में अछूत जातियों का पक्ष लेकर इन्होंने कई बड़े मर्मस्पर्शी भाषण दिए हैं। मई, १६२३ में, कानफ्रेंस की सभानेत्री के पद से आपने एक व्याख्यान दिया था। उससे एक अवतरण दिया जाता है। श्रीमती अस्पृश्यों के प्रति केवल मौखिक सहानुभूति से संतुष्ट होनेवाली नहीं हैं। आप व्यावहारिक प्रयत्न चाहती हैं। आपने कहा था—

"मित्रो, कितने सहज कपट से हम अस्पृश्यता को दूर करने के प्रश्न पर अपनी अनुमति दे देते हैं। पर जब व्यवहार का समय आता है, तब अपने घरों में ऐसे सैकड़ों बचाव करने लग जाते हैं, जिसमें हम अपनी जाति से निकाल न दिए जायँ। मैंने इस विषय पर बड़े-बड़े सुधारकों को कहते सुना है कि 'अछूत जातियाँ अपने लिये अवश्य अलग कुएँ बना लें। यदि वे लोग अपने लिये अलग मंदिर बनाते हैं, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।' परंतु मैं कहती हूँ, मित्रो, क्या वे तुम्हारी ही भाँति मनुष्य नहीं हैं? वे उसी मिट्टी के बने नहीं हैं, उसी सुख-दुःख के चक्र में नहीं पड़े हैं? क्या तुम्हारी तरह उनके हृदय में भाव नहीं हैं, तुम्हारी ही तरह वे भोजन नहीं करना जानते, तुम्हारी ही तरह वे साँस नहीं लेते? तुम्हारी तरह वे भी गुलाम हैं, वरन् तुम्हारे ही कारण वे और भी अधिक गुलाम बने हुए हैं। आज, २०वीं शताब्दी में, तुम उन स्वतंत्र जातियों के अधिकार की बराबरी का दावा करते हो, जिन्होंने भेद और अत्याचार को दूर कर दिया है, यह क्या तुम्हारे लिये धृष्टता की बात नहीं है? छूतछात का भाव दूर करना क्या हमारे लिये अपनी ही बेड़ियों का काटना नहीं है? क्या यह हमारा धर्म नहीं है कि अपनी जन्म-भूमि के मस्तक से इस कलंक को दूर करें; क्योंकि हमीं इस कलंक के कारण हैं?"

मदरास में, ऑक्टोबर, १६२२ में, एक सार्वजनिक व्याख्यान में, आपने इसी विषय पर ब्राह्मणों को संबोधन करके कहा था—

"जब तक तुम अछूतों की समस्या को हल नहीं कर लेते, तब तक स्वतंत्रता की बात करने के भी अधिकारी नहीं हो। आख़िर स्वतंत्रता है क्या वस्तु? क्या तुम्हीं दिल्ली और शिमले की व्यवस्थापक-सभाओं में जाओगे, जिनको प्रतिनिधि-रूप में बोलने का कुछ अधिकार नहीं प्राप्त है? तुम व्यवस्थापक-सभाओं में जाकर करोगे क्या? किनके प्रतिनिधि कहलाओगे? सचाई के साथ क्या कह सकते हो कि तुम्हारे हृदयों में देश की भलाई का भाव है? तुम ऐसा कदापि नहीं कह सकते। गलियों के पत्थर तुम्हारे विरुद्ध साक्षी देंगे। जंगलों के वृक्ष तुम्हें धिक्कारेंगे; क्योंकि जंगल और पहाड़ियाँ उन लोगों के संतप्त अश्रुओं को जानते हैं, जिनके सामने आने ही में तुम अपनेको अपवित्र समझने लगते हो।"

ये वाक्य बड़े तीव्र हैं; परंतु जो लोग दक्षिण-भारत की इस समस्या से कुछ भी परिचित हैं, वे बतलावेंगे कि वहाँ अस्पृश्यों की व्यवस्था कितनी दारुण है।

समाज-सुधार सेवा-भाव से करना चाहिए, परोपकार जताने के लिये नहीं। इसी भाव से सरोजिनी सदा प्रेरित रही हैं। समाज-सुधार के आदर्शों पर आपने १६१८ में, दिल्ली में, अखिल भारतवर्षीय सोशल सर्विस कानफ्रेंस की सभानेत्री के पद से जो व्याख्यान दिया था, वह अक्षरशः मनन करने के योग्य है। उसी व्याख्यान में सेवा-भाव का महत्त्व बतलाते हुए आपने कहा था—

"दानशीलता के भाव से प्रेरित होकर ग़रीबों की सहायता करना उनका ऐसा अपमान करना है, जो उनके लिये मृत्यु से भी बुरा है। कारण, धनियों को धन का गुमान है, और रूपवानों को अपने सौंदर्य का। कवियों के पास उनकी प्रतिभा है; परंतु ग़रीबों के पास केवल एक मान है। यदि समाज-सेवा करना चाहते हो, तो विनय-भाव से करो। इसी से तुम्हारी सेवा को दीन, दुखी और मरते हुए लोग स्वीकार करेंगे। इसी कारण ग़रीब तुम्हारे हाथों से वह जल ग्रहण करेंगे, जिससे उनके प्राणों की रक्षा की संभावना है।"

कैसे सुंदर वाक्य हैं! इस अवतरण से सरोजिनी की समाज-सेवा के आदर्शों पर सम्मति जानी जा सकती है।

यों तो समाज-सुधार के सभी अंगों पर सरोजिनी ने ध्यान दिया है, परंतु आपका स्त्रियों के उत्थान-संबंधी कार्य विशेष रूप से गणनीय है। इस संबंध में इनका कार्य बड़ा महत्त्व रखता है। स्वयं स्त्री होने के कारण—और एक अत्यंत विदुषी, समाज-प्रिय तथा चमत्कारिक स्त्री होने के कारण—इनके प्रभाव तथा संपर्क का दायरा बहुत विस्तृत है, और अपनी लोक-प्रियता के कारण इनको स्त्री-सेवा करने के विशेष साधन प्राप्त हैं। इनका संपर्क न केवल परदे के बाहरवाली स्त्रियों से है, वरन् इनकी घनिष्ठता परदे में रहनेवाली कुल-रमणियों से उसी भाँति है, जिस भाँति स्वतंत्र विचारोंवाली तथा राज-नीतिक क्षेत्र में कार्य करनेवाली स्त्रियों से है। चारों ओर भारत में घूम-घूमकर इन्होंने स्त्री-समाज के आगे व्याख्यान दिए हैं। अपने ही नगर हैदराबाद में बड़े-बड़े घरानों की परदानशीन स्त्रियों से इनकी घनिष्ठता है। फिर यह भी है कि आप हिंदू, मुसलमान, पारसी आदि सभी जातियों की स्त्रियों से ख़ूब परिचित हैं। अपने व्यक्तिगत प्रभाव, उदाहरण और उपदेश द्वारा जो उत्तेजना तथा उत्साह यह हमारी स्त्री-जाति को देती रही हैं, वह कदापि साधारण नहीं है। परंतु इनकी स्त्री-समाज की सेवा का यहीं अंत नहीं होता। पुरुष-समाज से स्त्रियों के अधिकारों को स्वीकृत कराने तथा दिलवाने में भी यह बराबर उद्योगशील रही हैं।

सरोजिनी स्वयं परदा नहीं करतीं; परंतु जहाँ तक हम जानते हैं, इन्होंने आज तक परदे की प्रथा के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं कहा। इनका विश्वास है कि परदे के अंदर रहनेवाली रमणियाँ उसी प्रकार शिक्षित हो सकती हैं, जिस प्रकार परदे से बाहर रहनेवाली। सरोजिनी ने 'परदानशीन'-शीर्षक एक सुंदर कविता भी लिखी है। परंतु वह यह अच्छी प्रकार जानती हैं कि परदे की प्रथा बहुत काल तक नहीं चल सकती। आपने एक स्थान पर कहा है—

"इस पुरानी सामाजिक प्रथा की बुराई-भलाई का विवेचन किए बिना ही मैं विश्वास-पूर्वक कह सकती हूँ कि परदे की प्रथा अन्य पुरानी प्रथाओं की भाँति उठ रही है। हमारी जातीय जागृति की आवश्यकताओं के मुक़ाबले में यह अधिक काल तक अक्षुण्ण नहीं रह सकती।"

सरोजिनी का स्त्री-शिक्षा-संबंधी प्रयास बहुत स्तुत्य है। स्त्री-शिक्षा के विषय में यह बहुत समय से प्रयत्न कर रही हैं। इनकी प्रथम सार्वजनिक वक्तृता, जो आपने सन् १९०६ ई० में अपने ही नगर हैदराबाद में, दी थी, इसी स्त्री-शिक्षा के विषय पर थी, और इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं कि आप इतने वर्षों से इस दिशा में निरंतर प्रयत्न करती आ रही हैं। दिसंबर, सन् १९०६ में, कलकत्ते में, अखिल भारतीय जातीय सोशल कानफ़्रेंस में, इन्होंने 'स्त्री-शिक्षा' पर एक ओजस्विनी वक्तृता दी थी। तब से अब तक उनके विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उक्त व्याख्यान से नीचे दिए लंबे अवतरण के लिये पाठक क्षमा करेंगे; क्योंकि इसमें सरोजिनी के विचार-प्रवाह का ठीक परिचय प्राप्त होता है—

"यह मुझे एक विचित्र बात मालूम होती है—और इस विचित्रता में कौतूहल और दुःख, दोनों सम्मिलित हैं—कि आज बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में, भारतवर्ष में, हम सभी जगह अपनी सार्वजनिक सभाओं में स्त्री-शिक्षा-संबंधी प्रस्ताव उपस्थित कर रहे हैं। यह वही भारतवर्ष है, जो पहली शताब्दी के प्रारंभ में भी पूर्ण सभ्य था, और संसार को उन उज्ज्वल स्त्री-रत्नों को आदर्श-स्वरूप अर्पण कर चुका था, जो बुद्धि और विद्या, दोनों ही के ऊँचे शिखर पर पहुँची हुई थीं। परंतु काल की कुटिल गति के कारण इस वैचित्र्य का सामना करना पड़ता है। अब समय आ गया है कि हम इस बात पर विचार करें कि यह आपत्ति हम लोगों के ऊपर से कैसे दूर हो सकती है, और किस प्रकार हम ऐसा कार्य कर सकते हैं कि हमारी सफलता स्त्री-शिक्षा के संबंध में व्यर्थ प्रस्तावों

के पास करने तक ही न रह जाय। इस महत्त्व-पूर्ण काम में, जब कि सभी ओर कठिनाइयाँ हैं, और सभी ओर लोग उद्योग कर रहे हैं, जब कि भारत की सभी जातियाँ एक सर्वोच्च राष्ट्रीय आदर्श की एकता के लिये प्रयत्न कर रही हैं, यह विचारना चाहिए कि सभी प्रश्नों की सफलता उस प्रश्न पर निर्भर है, जिसे लोग स्त्रियों का प्रश्न कहते हैं। राष्ट्रियता का निर्माण आप लोगों के नहीं, हम लोगों के हाथों में है।"



इसी वक्तृता में यह भी कहा था—

"यह ईश्वर का दिया हुआ अधिकार है कि प्रत्येक मनुष्य स्वच्छ वायु का सेवन करे। क्या एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को इस अधिकार से वंचित कर सकता है? यदि नहीं, तो किसी मनुष्य को क्या अधिकार है कि एक दूसरे की आत्मा को अपने जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार से रोके? परंतु वास्तव में, मेरे मित्रो, भारतवर्ष का यही हाल है। भारतीय स्त्रियों के विषय में भारतीय मर्दों ने यही किया है। यही कारण है, भारत के पुरुषो, तुम्हारी आज यह दशा है। तुम्हारे पिताओं ने तुम्हारी माताओं को उनके परंपरागत अधिकार नहीं दिए, और इसी से तुम्हें भी अपने अधिकार नहीं मिले। अतएव मेरी प्रार्थना है कि अपनी स्त्रियों को उनके प्राचीन अधिकार दो; क्यों कि, जैसा कि मैं कह चुकी हूँ, राष्ट्र के सच्चे निर्माता पुरुष ही नहीं हैं, और उन्नति करने में हम लोगों की सहायता पाए बिना तुम्हारी सभाएँ और अधिवेशन व्यर्थ हैं। अपनी स्त्रियों को शिक्षा दो, तभी राष्ट्र का भला होगा। यह बात आज भी सत्य है; सदा सत्य रही है, और सदा सत्य रहेगी कि वे ही हाथ, जो पालनों को झुलाते हैं, संसार पर आधिपत्य करते हैं।"

सन् १९१८ में, बंबई की एक वक्तृता में आपने कहा था—

"हम कोई ऐसी बात नहीं माँग रही हैं, जो हमारे आदर्शों के विपरीत हो। हम उन्हीं पुराने अधिकारों को चाहती हैं, जो हमारी अजर-अमर संपत्ति हैं। हम केवल यही चाहती हैं कि हमें इस बात का अवसर दिया जाय कि हम अपने शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा को बढ़ा सकें—उन्नत कर सकें—उनका ऐसा विकास कर सकें कि हम तुम्हारे आगे एक आदर्श उपस्थित कर सकें। हमारा तात्पर्य कवि की कल्पना के असंभव स्त्रीत्व से नहीं, बल्कि उस स्त्रीत्व से है, जिसके द्वारा हम सफल गृहिणी और पुष्ट माताएँ बन सकती हैं, जिसके द्वारा वीर माताएँ बनकर अपने पुत्रों को जातीय सेवा का प्रथम पाठ पढ़ा सकती हैं। × × × स्त्री जातीयता की मुख्य कसौटी है। जब स्त्री समाज में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण कर लेती है, तभी प्रधान समस्या हल हो जाती है। समाज का आदर्श स्त्रियों पर निर्भर है। भारत में अगर स्त्रियों के हृदय में यह भाव जाग्रत् कर दिया जाय कि उन पर मातृत्व का महत्त्व-पूर्ण उत्तरदायित्व है, तो समस्या सहज में हल हो जाय। राष्ट्र-निर्माण का अर्थ स्त्रियों से शुरू होना चाहिए; भारतीय स्त्रियों को यह खूब समझा देना चाहिए कि वे खिलौना नहीं हैं, दासी नहीं हैं, केवल पुरुषों के आमोद-प्रमोद की सामग्री नहीं हैं—उनका वास्तविक कार्य है आत्मा के लिये उच्चतम प्रेरणा उपस्थित करना।"

श्रीमती का आदर्श यह है कि भारतवर्ष की प्रत्येक स्त्री शिक्षित हो जाय। आप लिखती हैं—

"हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि प्रत्येक स्त्री

शिक्षित हो। यह कोई बड़ी प्रशंसा की बात नहीं कि एक-आध स्त्री बड़ी पंडिता और गुणवती निकल आवे। अवस्था ऐसी होनी चाहिए कि यदि कहीं कोई अशिक्षित-अपढ़ स्त्री मिले, तो मर्द उसे देखकर लज्जा से गड़ जायँ।"

सरोजिनी का यह दृढ़ विश्वास है—

"भारत की आत्मा तभी मुक्त होगी, जब स्त्रियों के बंधन टूटेंगे। स्त्रियाँ, जिन्हें तुम पराधीनता में रक्खे हुए हो, जब स्वाधीनता प्राप्त करेंगी, तो वे ही तुम्हारी मुक्ति का भी कारण बनेंगी।"

सरोजिनी भारत के उद्धार के लिये उसकी नई संतानों, युवकों और युवतियों की ओर आशा की दृष्टि से देखती हैं। इसी कारण वह अक्सर नवयुवकों तथा छात्रों के आगे व्याख्यान देने तथा उनके देश-प्रेम को प्रोत्साहित करने का अवसर नहीं जाने देतीं। वह पूर्ण-रूप से समझती हैं कि किसी राष्ट्र का भविष्य उज्ज्वल बनाने का मुख्य साधन उसकी युवा आत्माएँ ही होती हैं। भारत की नई जनता के प्रति उनका प्रेम बहुत पुराना है।

मदरास में, विद्यार्थियों की एक सभा में, सन् १९१७ में, आपने कहा था—"यदि मुझसे कहा जाय कि भाषा के संपूर्ण भांडार से तुम एक ऐसा वाक्य चुनकर कहो, जो तुम्हारे अंतरतम हृदय में भविष्य की आशा-रूप निगूढ़ हो, और उसके बाद चुप हो जाओ, तो मैं यह वाक्य यही कहूँगी—'तुम्हीं भविष्य की आशा हो'।"

सन् १९२२ में, अहमदाबाद के विद्यार्थियों की एक कानफ्रेंस में, सभानेत्री के पद से आपने यही अंतरतम इच्छा दूसरे शब्दों में इस प्रकार प्रकट की थी—

"मैं अपने जीवन की सर्वोच्च महिमा तथा सिद्धि इसी में समझूँगी कि मेरी समाधि के शिला-लेख पर ये शब्द अंकित किए जायँ—भारत की नई पीढ़ी से इसे प्रेम था; उसी पर इसको विश्वास था; उसी के साथ इसने काम किया, और उसी के सहयोग से इसने भारत की स्वतंत्रता प्राप्त की।"

सरोजिनी की यह प्रबल इच्छा है कि हमारे नवयुवक भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उन्नति प्राप्त कर अपने देश की यशोवृद्धि करें। परंतु सबसे बड़ी बात यही है कि वे देश के प्रति अपने कर्तव्य को क्षण-भर के लिये भी न भूलें। मदरास के छात्रों की एक सभा में आपने कहा था—

"तुमने महत् आदर्शों को पूर्वजों की थाती के रूप में पाया है। तुम पर बड़े-बड़े कर्तव्यों का भार है। तुम्हारा बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। इससे प्रयोजन नहीं कि तुम कहाँ हो, कौन हो, और क्या काम करते हो। गली में झाड़ू देनेवाला भी देश-भक्त हो सकता है। उसमें भी तुम एक ऐसा उत्तेजक भाव पा सकते हो, जिससे तुम्हारे मन को उच्च प्रेरणा प्राप्त हो सके। तुम चाहे जैसे दीन और अकिंचन हो, जो भार तुम्हारे ऊपर है, उसे टाल नहीं सकते। वह भार तुम्हारे ही वहन करने का है, अतएव तुममें से प्रत्येक इसके लिये बाध्य है कि वह अपना जीवन देश-सेवा में लगावे।"

आपके एक दूसरे व्याख्यान में भी यही तात्पर्य प्रकट होता है—

"जीवन में तुम्हारा चाहे जो क्षेत्र हो, तुम चाहे कितने ही दीन और अकिंचन हो, मगर इस बात को स्मरण रक्खो कि उस महान् सामाजिक व्यवस्था के, जिससे एक देश राष्ट्र बनता है, तुम एक अनिवार्य अंग हो। मैं चाहती हूँ, तुम सब यह स्मरण रक्खो कि किसी देश के महत्त्व के 'कारण' या 'आधार' उस देश के बड़े-बड़े लोग ही नहीं, बल्कि वे साधारण मनुष्य भी होते हैं, जो अपने दैनिक जीवन में पवित्रता, सचाई, और साहस के साथ आचरण करते रहते हैं, जो प्रत्येक मनुष्य को, वह चाहे किसी जाति या वर्ग का क्यों न हो, उसके जन्म-सिद्ध अधिकार दिलाने में सहायक होते हैं।"

सरोजिनी युवकों को आदर्शों की कल्पना में रत रहने का उपदेश दिया करती हैं। उनका विश्वास है कि आज देश के नवयुवक जिन आदर्शों की कल्पना करेंगे, वे ही कल फलीभूत होंगे। परंतु साथ ही उनका यह भी उपदेश होता है कि वे कल्पनाएँ युवकों को अपने स्वार्थ-लाभ के लिये नहीं, देश-सेवा और समाज-सेवा के लिये करनी चाहिए।

आप केवल युवक छात्रों को ही महान् आदर्शों के प्रति नहीं प्रेरित करतीं, वरन् उनके प्रौढ़ अध्यापकों को भी प्रेरित करती हैं। श्रीमती को प्रायः नित्य ही शिक्षकों से विचार-विनिमय का अवसर मिलता रहता है। आप अध्यापकों को भी उन्हीं भावों से अनुप्राणित करना चाहती हैं, जो स्वयं उनके हृदय में हैं। मदरास-प्रांत में, सन् १९१७ में, आपने 'गुरु-जीवन के आदर्श'-

विषय पर एक बड़ा ललित और प्रभावशाली व्याख्यान दिया था। आपने इस व्याख्यान में, वर्तमान युग की शिक्षा-प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए, शिक्षकों को भारत के प्राचीन आदर्शों की स्मृति दिलाई थी। आपने कहा था—

"वर्तमान-काल की शिक्षा में, विशेष कर भारतवर्ष में, हम लोग इस बात का ध्यान नहीं रखते कि जिस शिक्षा को अध्यापक पाठ्य पुस्तकों द्वारा देते हैं—जो इतिहास की घटनाएँ तथा भूगोल की बातें बतलाते हैं—उससे कहीं अधिक महत्त्व की शिक्षा वह है, जो विद्यार्थियों को उनके संसर्ग तथा व्यक्तिगत प्रभाव से प्राप्त होती है। यह व्यक्तिगत प्रभाव हमारी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में सर्वत्र शून्य-प्राय है। अपनी भारत की यात्राओं में मैं इस बात का विशेष ध्यान रखती हूँ कि शिक्षा के केंद्रों के संसर्ग में आऊँ, और उनके हाल-चाल जानूँ। मैंने यह अनुभव किया है कि शिक्षकों का सम्मान कम है, और वे स्वयं अपना सम्मान यथोचित नहीं करते। शिक्षक का महत्त्व उस सम्मान से अधिक नहीं जाना जाता, जो कि अन्य लोग उसके प्रति प्रदर्शित करते हैं, वरन् उस आत्म-सम्मान से उसकी माप होती है, जिसे वह अपने उद्देश्य पर लक्ष्य रखते हुए स्वयं अपने हृदय में रखता है।"

फिर कहती हैं—

"शिक्षक का कार्य क्या है? वह स्वयं अपने आसन पर बैठा तो रहता है : परंतु अपने देश की भिन्न-भिन्न प्रकार से सेवा करता है। वह राजनीतिज्ञ, कवि, वैज्ञानिक, और व्यवसायी भी है, जैसा कि स्टिवेसन ने अपने एक संगीत में कहा है—'तलवार का बनानेवाला अपनी भट्ठी के पास बैठा रहता है; परंतु साथ-ही-साथ जहाँ-जहाँ उसकी तलवार जाती है, वहाँ-वहाँ वह यात्रा करता है।' वास्तव में तलवार का बनानेवाला ही युद्ध करता है। इसी प्रकार एक मनुष्य—एक शिक्षक—भिन्न-भिन्न रूप से देश की सेवा करता है, क्योंकि वह देश के लिये सैनिक, राजनीतिज्ञ, विद्वान्, व्यवसायी, वकील तथा अन्य लोगों को तैयार करता है, जो कि विविध क्षेत्रों में देश का कार्य करते हैं। हमारा प्राचीन आदर्श यह था कि गुरु सरस्वती की सेवा में लगे रहकर स्वेच्छा-पूर्वक लक्ष्मी से मुख मोड़ता और स्वयं दारिद्र्य को अपनाता था। इसका भाव क्या था? भाव यही था कि गुरु की आत्मा सांसारिक लोभों से अलिप्त रहकर अपने चेलों के लिये ज्ञान-पीयूष प्राप्त करे। × × × मैं यह भी चाहती हूँ, आप लोग इस पर विचार करें कि गुरु किसी जाति अथवा वर्ग-विशेष के कल्याण के लिये नहीं होता; उसका एक आध्यात्मिक साम्राज्य अलग ही है, और उसका कार्य मानव-मात्र के लिये है।"



१९२४ में श्रीमती सरोजिनी नायडू

राष्ट्रीय शिक्षा के बारे में भी सरोजिनी सचित तथा

सचेष्ट हैं। परंतु राष्ट्रीय शिक्षा की वर्तमान अवस्था पर बहुत दुःखी हैं। वह हमारी राष्ट्रीय शिक्षा को सरकारी स्कूलों तथा कॉलेजों की शिक्षा की त्रुटि-पूर्ण नक़ल नहीं बनाना चाहतीं। उनका उद्देश्य बहुत ऊँचा है। आपने दक्षिण के अपने एक व्याख्यान में, १९२३ में, कहा था—

"भारत में राष्ट्रीय शिक्षा की क्या अवस्था है? मेरी समझ में हमारी राष्ट्रीय शिक्षा अब तक बिलकुल असफल रही। यही नहीं, हमारी अधिकांश जातीय पाठशालाएँ सरकारी पाठशालाओं की अपेक्षा कुछ अधिक गंदी भी रही हैं; उनकी पढ़ाई सरकारी स्कूलों की पढ़ाई की अपेक्षा कुछ गिरी हुई रही है; नियम-पालन की दशा और भी बुरी रही है, और विद्यार्थियों तथा उनके शिक्षकों में उच्छृंखलता की मात्रा अधिक पाई गई है। यह क्यों? उनकी यह धारणा रही है कि अब तो हम स्वराज्य लेने जा रहे हैं; हमें किसी की आज्ञा का पालन करने की आवश्यकता ही क्या? मैं इन बातों की कल्पना नहीं कर रही हूँ। मेरे पैरों में चक्र है, मैंने भारतवर्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण किया है। सर्वत्र यही अवस्था देखकर बहुत दुःख होता है। कारण, इससे यह पता चलता है कि हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अभी अयोग्य हैं।"

सरोजिनी अपनी त्रुटियों की कठोरतम आलोचना करने से नहीं चूकतीं। परंतु उक्त व्याख्यान ही में आपने राष्ट्रीय शिक्षा के वास्तविक आदर्शों को भी हमारे सामने रक्खा है। आप कहती हैं—

'राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य ऐसे भारतीय राष्ट्रवादियों को उत्पन्न करना है, जो भारतीय सभ्यता का पूर्ण ज्ञान रखते हुए हमारे समाज के पथ-प्रदर्शक बनें। हमें अपने इतिहास और अपनी प्राचीन परंपरा का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। परंतु हममें ऐसा भाव न आना चाहिए, जिससे हम आधुनिक संसार की सिद्धियों का परित्याग कर दें। मेरी समझ में तो राष्ट्रीय शिक्षा का तात्पर्य यह होना चाहिए कि वह भारतवासियों को प्रत्येक बात में अंतरजातीय बनने का सुअवसर दे। हमें विदेशी विचारों को ग्रहण करके उन्हें भारतीय आवश्यकताओं के अनुसार उपयोग में लाना चाहिए। वे विचार चाहे समाज-संबंधी हों, चाहे अर्थ-शास्त्र-संबंधी, और चाहे विज्ञान तथा युद्ध-कौशल-संबंधी।"

इससे स्पष्ट हो जायगा कि श्रीमती राष्ट्रीय शिक्षा का संकुचित अर्थ नहीं ग्रहण करतीं, और उनका आदर्श बहुत ऊँचा है।

रामचंद्र टंडन

घृणा

(१)

सुधारक—ठहरो हृदय! क्रांति की यह उपासना
वर्जित है, है विश्व-प्रेम का सदन निरंतर!
घृणा! क्या कहा—घृणा! नरक की विषम-भावना।
पतित हृदय की नीच वासना पातक गुरुतर।
यह नीरस उद्गार, वास्तविकता का यह स्वर,
और प्रकृति के अमिट नियम का रूप भयंकर;
आडंबर से पूर्ण, उपेक्षा से है निंदित;
"घृणा घृणित है!" गूँज रहा है व्यंग्य निरंतर।

(२)

दार्शनिक—यह अप्राकृतिक भाव,
अचल विश्वास—स्वर्ण अक्षर;
विकृत आदर्शवादयुत भ्रांति—
रुदन के शुष्क हास्य का स्वर;
उच्च आकांक्षा का उल्लास?
ढोंग है—है यह आडंबर!
घृणा, तुमको कहते हैं पाप;
विश्व तुमको देता है शाप।
पाप से प्रेम—पाप से घृणा,
एक है पुण्य—दूसरा पाप!
इसी को तो कहते हैं न्याय—
न्यायियों का है यही प्रलाप!

(३)

ऐ समाज की तीव्र गरल-सी समालोचना!
अए धर्म के असहनीय कटु ग्रंथित बंधन!
अए नियम के आलंबन की तुम कठोरता!
ऐ अशांति से पूर्ण नरक-भय के दिग्दर्शन!
प्रेम-भाव से पूर्ण स्वर्ग के तुम गायन हो,
हो निःसीम मुक्ति की गरिमा के मीठे स्वर;
तुम अनंत की व्यापकता की मृदु-प्रतिध्वनि हो,
और "घृणा है पाप!" न्याय यह कैसा सुंदर!

(४)

आह रे न्याय!—आह रे न्याय!!
विश्व की निर्दयता के व्यंग!
पतित दूषित समाज की एक
ढोंग— आडंबर-पूर्ण उमंग।
लोक-प्रियता का क्षणिक उफान,
और समता की तरल तरंग।
दार्शनिक, ये तेरे सिद्धांत—
भ्रांति ही है इनका आधार।
धर्म-भ्रम— अस्वाभाविक भाव,
अंध- विश्वास-पूर्ण अविचार!
"क्या कहा नास्तिक!" कैसा प्रश्न!
उठो अंधे, देखो संसार!

(५)

बिना शोक का हर्ष सदा है निपट निरर्थक;
नीरवता यदि न हो, कौन समझेगा फिर रव?
है विषाद जब, तभी हुआ उल्लास सार्थक;
यदि न घृणा हो, प्रेम-भाव तो हुआ असंभव!
कायरता से वीर, न्याय से अत्याचारी—
सब करते हैं घृणा, पाप से पावन ऋषिवर;
फिर भी ठहरो हृदय! सुनो इन उद्गारों को—
"घृणा घृणित है"—गूँज रहा है व्यंग्य निरंतर।

भगवतीचरण वर्मा

मराठी-साहित्य पर हिंदी का प्रभाव



रतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेश एक दूसरे से कितनी ही असमानता क्यों न रखते हों, पर हिमालय से रामेश्वर तक या द्वारका से कामाक्षा तक की भूमि एक ही धार्मिक परंपरा से संबद्ध है। भगवान् राम, कृष्ण, अर्जुन, बुद्ध, अशोक, शंकराचार्य इत्यादि के विषय में जो आदर-भाव उत्तर में है, वही दक्षिण में भी; इन्हें जो गौरव गुजरात में प्राप्त होता है, वही बंगाल में भी। इस प्रकार का घनिष्ठ संबंध सनातन-काल ही से चला आ रहा है। परंतु जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य के समय में सारे भारतवर्ष में धार्मिक जागृति की जो एक ज़ोर की लहर उठी, उसने एकता के भावों को और भी उत्तेजित कर दिया। श्रीशंकराचार्यजी ने अपने संप्रदाय में ज्ञान और भक्ति का ऐसा कुछ मधुर सामंजस्य कर दिया था, जिससे इस्लाम-धर्म के कठोर आघातों को सहकर भी हिंदू-धर्म में जीवित रहने की शक्ति आ गई। लेकिन स्वयं जगद्गुरु का झुकाव ज्ञान-मार्ग की ओर था। यह सबको विदित है कि सर्व साधारण के लिये ज्ञान-मार्ग सहज नहीं हो सकता। अतः भक्ति-मार्ग ज़ोर पकड़ने लगा, और शीघ्र ही सारे देश को हिला दिया। पहलेपहल तो भागवत-संप्रदायों में केवल उच्च जाति ही के लोगों को प्रवेश मिलता था; परंतु स्वामी रामानंद-जैसे आचार्यों ने रैदास चमार, धना जाट, सेना नाई, कबीर जुलाहे आदि नीच समझी जानेवाली जातियों के भक्तों को अपनाकर भक्ति-धर्म का महत्त्व और भी बढ़ा दिया।

अशिक्षित परंतु सहृदय लोगों के आध्यात्मिक संतोष का ऐसा उत्तम साधन प्राप्त होते ही देश-भर में भक्ति-पूर्ण गीतों की गूँज उठने लगी। उच्च वर्ण के व्यक्तियों के रहते 'भाषा' के संसर्ग से धर्म को अपवित्र करने का दुःसाहस किसी को न होता था; परंतु अब समय ने पलटा खाया, और भारत की वर्तमान भाषाओं का साहित्य निर्माण होने लगा।

हमें यह मानना पड़ेगा कि इस भागवत-धर्म के मूल-प्रवर्तक दक्षिण ही से आए थे। माध्वाचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य प्रभृति दक्षिण-देश ही के निवासी थे। परंतु भारतवर्ष की धार्मिक परंपरा तो सनातन-काल से पवित्र समझी जानेवाली गंगा-यमुना की भूमि ही से संबद्ध थी, और भगवान् कृष्ण तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचंद्रजी के जीवन की लीलाएँ उत्तर ही में हुईं। अतः दक्षिण के ये आचार्य व्रजभूमि या कोशल की ओर खिंच पड़े, और वहाँ उन्होंने अपने मठ स्थापित किए।

अब हम यदि महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति पर विचार करें, तो मालूम होगा कि दक्षिण-उत्तर के इस धार्मिक आदान-प्रदान से यह मध्य-स्थित प्रदेश भी अवश्य प्रभावित हुआ। दक्षिण से तामिल और कानडी तथा

उत्तर से हिंदी एवं गुजराती का संसर्ग होने के कारण यह असंभव था कि महाराष्ट्र इनमें से किसी एक के भी प्रभाव से बच जाता। हमें इन सबसे यहाँ मतलब नहीं। हम तो केवल यही देखेंगे कि मराठी पर हिंदी के संघटन का क्या परिणाम हुआ। एक बात और हम यहाँ बतला देना आवश्यक समझते हैं। हमने अपने लेख की काल-मर्यादा १८९७ विक्रम-संवत् तक ही रक्खी है; क्योंकि इसके बाद से गद्य-काल का आरंभ हो जाता तथा भारतीय भाषाओं के साहित्य को वर्तमान रूप प्राप्त होने लगता है।

संगठित भक्ति-धर्म के भाव भले ही दक्षिण से आए हों, पर उत्तर के लोगों ने उन्हें शीघ्र ही अपना लिया। इतना ही नहीं, यहाँ के हिंदी-भाषी आचार्यों ने उत्तर-भारत के धार्मिक मार्ग-दर्शक बनने का गौरव भी प्राप्त कर लिया। महाराष्ट्र-साहित्य के प्रारंभिक काल में तो हम इसका बिलकुल स्पष्ट प्रमाण पाते हैं।

महाराष्ट्र के सर्वप्रथम कवि हैं श्रीमुकुंदराज स्वामी। आपका समय १२४५ समझा जाता है; परंतु हमें तो यह स्वामी रामानंद के समकालीन जान पड़ते हैं। महाराष्ट्र-साहित्य का कुछ थोड़ा-सा ही अवलोकन करने पर हमें रामानंदजी का समय कुछ पीछे हटाने की आवश्यकता मालूम पड़ने लगी। अस्तु, इन मुकुंदराज स्वामी ने अपनी गुरु-परंपरा का वर्णन इस प्रकार किया है—

"आद्य श्रीगुरुनाथू; तेथोनि श्रीहरिनाथ। तयाचा शिष्य श्रीरघुनाथू; ज्ञान-गुण-समुद्र।"

अब मिश्रबंधुओं ने श्रीरामानंदजी की जो गुरु-परंपरा दी है, उसे भी देखिए।

रामानुजाचार्य—हरिनंद और राघवानंद—रामानंद, दोनों में कितनी आश्चर्य-जनक समता है। हमारा अनुमान है कि मुकुंदराज स्वामी के 'आद्य श्रीगुरुनाथू' रामानुजाचार्य ही थे। इस प्रकार महाराष्ट्र के सर्वप्रथम कवि काशी-निवासी राघवानंद के शिष्य एवं रामानंद के गुरु-भाई थे। मुकुंदराज का 'विवेक-सिंधु'-नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। परंतु वर्तमान ग्रंथ की भाषा बहुत आधुनिक जँचती है। तो भी हम इस ग्रंथ में मराठी-साहित्य पर हिंदी-प्रभाव के चिह्न देख सकते हैं।

"माझें तेज प्रकटेल, तें तुझिया वदनीं प्रवेशेल;
तें शिष्य देहीं संक्रमैल, गुरुवाक्य द्वारें।"

ऐसे रूप पुरानी मराठी में बहुत मिलते हैं।

मुकुंदराज के बाद हम श्रीज्ञानदेव की गुरु-परंपरा में भी उत्तर का प्रभाव पाते हैं। इन्होंने अपने बड़े भाई निवृत्तिनाथजी से दीक्षा ली थी। इनके गुरु थे श्रीगियानीनाथ। यह गियानीनाथ श्रीगोरखनाथजी के चेले थे। गोरखनाथजी के ३७ हिंदी-ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। आपके ९ संस्कृत-ग्रंथ भी उपलब्ध हैं; और जान पड़ता है, आपको मराठी का भी अच्छा ज्ञान था। इनका 'अमरनाथ-संवाद'-नामक एक छोटा-सा मराठी-ग्रंथ भी प्राप्त हुआ है। साथ ही कुछ मराठी-पद भी मिले हैं। इनकी मराठी-कविता का नमूना देखिए—

गंगेचें उदकें; स्नान पैं कीजे।
बाहिर पखालितां; भितर कवि भीजे।
सजिवें तोडुनि बापु; निजिवें पुजिती।
कर्मे करूनि प्राणि; केवि उद्धरती।
येहि विधि हें जग; पडियेलें धादा।
आत्मलिंग हृदयीं; कोई न बुझती ग्रथा।

इन पद्यों में हिंदी का प्रभाव कोई भी देख सकता है। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह भाषा स्वामी ज्ञानदेव से पहले की है।

ज्ञानदेवजी की भाषा अत्यंत शुद्ध है। आगे की साहित्यिक भाषा का विकास इन्हीं की रचना से हुआ है। इनके समय से भाषा में एक प्रकार की स्थिरता आने लगी। अतः इनके विचारों पर गोरखनाथ और गियानीनाथजी जो कुछ प्रभाव डाल गए हों, उतने ही का परोक्ष संबंध हम हिंदी से जोड़ सकते हैं। अन्यथा इनकी रचना बिलकुल ही स्वतंत्र है।

हमें पहले ज्ञात होता था कि अपनी उत्तर-भारत की यात्रा में ज्ञानदेवजी ने भुआल-कवि के गीतानुवाद की बातें सुन ली होंगी, जिससे श्रीमद्भगवद्गीता का अर्थ-ग्रंथ मराठी में भी सुलभ कर देने का उत्साह उन्हें हो आया होगा। परंतु मिश्रबंधुओं ने भुआल-कवि के ग्रंथ से जो अवतरण दिया है, उसे देखकर तो ग्रंथ का समय संवत् १००० मान लेने के लिये बुद्धि सहसा तैयार नहीं होती। हमारा अनुमान है, यह ग्रंथ पंद्रहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं है। अस्तु, मतलब यह कि श्रीज्ञानदेवजी पर किसी प्रकार का बाहरी प्रभाव पड़ा-सा नहीं ज्ञात होता।

गुरु-परंपरा के प्रभाव का तीसरा उदाहरण है महाराष्ट्र-

कवि नाभा-विष्णुदास का। आप प्रसिद्ध भक्त नामदेव से पृथक् व्यक्ति हैं। अभी कुछ दिन पहले तक महाराष्ट्र-साहित्य-विशारद इन दोनों को एक ही समझते थे। किंतु शैली एवं भावों के गंभीर निरीक्षण से अब इनका भिन्न होना प्रमाणित हो गया है। 'महाराष्ट्र-सारस्वत' के रचयिता श्रद्धेय भावेजी इनके गुरु का नाम चिंतामणि बतलाते हैं। प्रमाण-स्वरूप आपने एक अवतरण देकर यह भी लिखा है कि 'चिंतामणि गुरु' का उल्लेख बहुत से पर्वों में पाया जाता है। परंतु हम समझते हैं, इनके गुरु का नाम 'विष्णुदास' ही होना चाहिए। संक्षेप में हमारे प्रमाण ये हैं—

महाराष्ट्र में भक्त कविगण बहुधा अपने नाम के साथ अपने गुरु का भी नाम जोड़ दिया करते हैं। उदाहरणार्थ, अपने गुरु जनार्दन को आदर देने के लिये श्रीएकनाथजी अपने को 'एका-जनार्दन' कहा करते थे। इसी प्रकार और भी कई उदाहरण पाए जाते हैं। इन्होंने अपने को नाभा-विष्णुदास, विष्णुदास-नाभा, नाभा-पाठक या नाभदेव, ये चार उपनाम दिए हैं। अतः स्पष्ट ही है कि इनका नाम तो है नामदेव; परंतु गुरु के कारण इन्होंने अपने को विष्णुदास-नाभा कहा है। फिर हम इनके कई अभंग ऐसे पाते हैं, जिनके अंत में 'नाभा म्हणे विष्णुदासाचा' यह है। इसका अनुवाद हिंदी में होगा—विष्णुदास का नाभा कहता है या विष्णुदासजी के शिष्य नामदेव कहते हैं। अस्तु, इसमें संदेह नहीं रह जाता कि 'विष्णुदास' व्यक्तिवाचक संज्ञा है, परंतु इसी के विरुद्ध चिंतामणि 'गुरु' का विशेषण माना जा सकता है। महाराष्ट्र-संतों ने तो गुरु के लिये इस शब्द का प्रयोग बहुत बार किया है। महाराष्ट्र-संतों की माला में 'विष्णुदास'-नाम हमने नहीं देखा। परंतु इसी समय हम ग्वालियर में भी कोई विष्णुदासजी का उल्लेख पाते हैं। हमारे विचार में यही नाभा-पाठक के गुरु थे। यह कोरा अनुमान है। इस प्रकार के संदेह का कारण यही है कि उपर्युक्त विष्णुदासजी के जो ग्रंथ प्राप्त हुए हैं, उनमें और नामदेवजी के ग्रंथ में आश्चर्य-जनक नाम-सादृश्य है। दोनों ने महाभारत का अनुवाद किया है; दोनों ने स्वर्गारोहण-पर्व स्वतंत्र लिखा है। इस प्रकार ग्रंथों के नाम एवं गुरु के अभिधान को अपने नाम में मिला लेना, दोनों हमारे कथन का समर्थन करते हैं।

नामदेवजी पर हिंदी का प्रभाव पड़ा है, इसका एक और प्रमाण हम देंगे। इन्होंने एक 'बुधबावनी' लिखी है। इसमें 'अ' से लेकर 'ज्ञ' तक सभी अक्षरों से आरंभ होनेवाले पद्यों का क्रमबद्ध संग्रह है। इस प्रकार की यह 'बावनी' मराठी में पहली ही है। परंतु हिंदी में इसके बहुत पहले से इस प्रकार के चित्र-काव्यों का प्रचार था। ककहरे, अलिफ़नामे या अखरावट मेरे विचार में हिंदी ही से मराठी में आए हैं। हमें यह ज्ञात नहीं कि ग्वालियर के विष्णुदासजी ने भी कोई ककहरा लिखा है या नहीं। परंतु यदि लिखा हो, तो यह गुरुशिष्य-संबंध और भी दृढ़ता से जोड़ा जा सकेगा। अस्तु, एक और प्रमाण हम पाठकों के सामने रक्खेंगे। इस 'बुधबावनी' के अंत में ग्रंथ के समय का उल्लेख इन शब्दों में है—"स्वस्त १६३३ वरदये माहासुदी १४ लैकु लिषितं।" महाराष्ट्र में विक्रम-संवत् का उपयोग करनेवाले यही एक-मात्र कवि हैं। संवत् का प्रयोग सदा से उत्तर-भारत ही में अधिक रहा है। अतः नामदेवजी का उत्तर से बहुत घनिष्ठ संबंध रहा होगा। फिर 'लिषितं' अपनी कैफ़ियत अलग ही दे रहा है। ग्वालियर की पोशाक भी बेचारा नहीं उतार पाया। इस प्रकार पाठक देखेंगे कि नाभा-पाठक की रचना पर हिंदी का कैसा प्रभाव पड़ा है।

शिष्य-समुदाय पर गुरु के विचारों का कैसा प्रभाव पड़ता है, यह बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी से समता रखता हुआ प्रभाव है संतों का सहवास। हमारे देश में तीर्थ-यात्रा की प्रथा बहुत पुरानी है। परंतु इसे उपर्युक्त धार्मिक जागृति ने और भी उत्तेजित किया। महाराष्ट्र का पंढरपुर, बंगाल की जगन्नाथपुरी, सौराष्ट्र का डाकोर इत्यादि इसी प्रवृत्ति के स्थानिक उदाहरण हैं। परंतु गोकुल-वृंदावन या वाराणसी-जैसे सार्वदेशिक तीर्थस्थानों का पर्यटन कर अपने भक्ति-भावों को दृढ़ करने की महत्त्वाकांक्षा भी बहुत-से कवियों ने पूरी कर ली। इन धार्मिक केंद्रों में आते ही यहाँ के साधु-महंतों तथा उनकी भाषा का कुछ-न-कुछ प्रभाव इन यात्रियों पर अवश्य ही होता था। इस प्रभाव के उदाहरण महाराष्ट्र में अनेक हैं। पहले हम भक्त-श्रेष्ठ नामदेवजी को लेंगे। आप श्रीज्ञानदेव स्वामी के प्रभाव की कक्षा में थे। अतः स्वाभाविक तो यह था कि नामदेवजी की कविताओं

पर इनके विचारों का प्रतिबिंब पड़े ; परंतु इन दोनों की भक्ति में एक अत्यंत स्पष्ट भेद यह है कि ज्ञानदेवजी ने ज्ञान-जन्य भक्तियोग को अधिक महत्त्व दिया है, और श्रीनामदेव की रचना में भाव-युक्त भक्ति का प्राधान्य पाया जाता है। इस पृथक् धारा की व्याख्या करना तब तक असंभव है, जब तक हम नामदेवजी का संबंध इस प्रकार की भक्ति के मूल-अधिष्ठान उत्तर-भारत से नहीं जोड़ देते।

"पृथ्वी चीं तीर्थें करावीं समस्त पाहावे महत साधुजन।"

इस प्रकार ज्ञानदेवजी का आदेश पाने पर नामदेव ने उनके साथ समस्त भारत का पर्यटन किया। फल यह हुआ कि उनकी स्वाभाविक भावोत्कटता ने और भी ज़ोर पकड़ा। आप संस्कृत के पंडित तो थे नहीं ; अतः इस पर्यटन में उनके लिये विचार-विनिमय का एक-मात्र साधन हिंदी ही थी। इनकी भावोत्कटता, विरह-वेदना तथा अत्यंत सरल भाषा की सर्व-परिचित उपमाओं से गंभीर आध्यात्मिक ज्ञान-बोध कराने की शक्ति हम महात्मा कबीर में भी पाते हैं। दोनों समकालीन थे। दोनों पर हमारे विचार में उत्तर के संतों का प्रभाव पड़ा।

इस पर्यटन का दूसरा फल यह हुआ कि महाराष्ट्र-भक्त-कवियों में हिंदी के प्रति प्रेम हो आया। वे हिंदी में भी आत्माभिव्यंजन का परिचय देने लगे। स्वर्गीय श्रीजगन्मोहन वर्माजी ने लिखा है—"मुसलमानों के पीछे अठारहवीं शताब्दी तक एक ऐसा समय था, जब जैसे फ़ारसी पढ़ना शिक्षित समुदाय के लिये ज़रूरी हो गया था, वैसे ही हिंदी-भाषा में कविता करना कवि होने का प्रधान चिह्न समझा जाता था।" हमें इस कथन के मान लेने में केवल एक ही आपत्ति है, और वह यही कि किसी भी सच्चे भक्त के मुँह से हृदय के उद्‌गार यदि निकल पड़ते हैं, तो 'कवि' की उपाधि से विभूषित होने की इच्छा से नहीं, प्रत्युत इसीलिये कि वे हृदय में रह नहीं सकते। मनुष्य की रागात्मकता इतनी प्रबल होती है कि वह अधिक-से-अधिक व्यक्तियों से एकरूप होना चाहता है। हमारे विचार में आत्माभिव्यंजन की उत्कटता ही ने भक्तजनों को हिंदी में कविता करने के लिये बाध्य किया। हाँ, जब लोगों के चित्त भक्ति-भाव से रिक्त हो गए या जब इन भावों की प्रबलता कम हो गई, तब भले ही लोग कवि कहलाने की लालसा से हिंदी में पद्य-रचना करने लगे हों। अस्तु, कहने का अभिप्राय यह कि श्रीनामदेवजी ने महाराष्ट्र में एक नई प्रथा-सी प्रचलित कर दी। उन्होंने स्वयं हिंदी में कविताएँ की हैं, जिनका एक संग्रह सिक्खों के आदि-ग्रंथ में पाया जाता है—

अभिअंतर काला रहै, बाहेर करै उजास ;
'नाम' कहै हरि-भगति बिनु, निहचै नरक-निवास।
अभिअंतर राता रहै, बाहेर रहै उदास ;
'नाम' कहै मैं पाइया, भाव-भगति-बिसवास।
का ले आरति दास करै, तीनि लोक जाकी जोति भरै।
कोटि भानु जाके नख की सोभा, कहा भयो कर दीप फिरै।
सात समुद जाके चरन निवासा, कहा भयो जल-कुंभ भरै।

इनके अनंतर श्रीएकनाथजी का समय आता है। आपने भी बहुत दिनों तक काशी में निवास किया ; परंतु संस्कृत के अच्छे ज्ञाता होने के कारण इनकी रचना पर हिंदी का कोई प्रभाव पड़ा-सा नहीं दिखलाई देता। हाँ, आपने हिंदी में कविताएँ अवश्य की हैं। खेद है, हम उन पद्यों का नमूना नहीं देख सके। श्रीमहीपतिजी ने अपने 'भक्त-विजय'-ग्रंथ में एकनाथजी का चरित्र लिखा है। उसमें एक प्रसंग यों है—एकनाथजी जब अपने गुरु की शरण में गए, तो कुछ ही दिनों में उन्होंने जनार्दन स्वामी को प्रसन्न कर लिया, यहाँ तक कि उपास्य देवता श्रीदत्तात्रेय के दर्शन कराने का अभिवचन भी एकनाथजी को मिल गया। दोनों अरण्य में गए। वहाँ अकस्मात् अनसूया-सुत श्रीदत्तात्रेयजी प्रकट हुए। श्री-जनार्दन स्वामी ने उन्हें प्रणाम किया। फिर—

"यवन-भाषेनें अनसूया-सुत ; जनार्दनाशीं गोष्ठी बोलत।
हे दृष्टीं सी देखता एकनाथ ; आश्चर्य करिता यानसी।"

अब यदि यह देखा जाय कि 'यवन-भाषा' से किस भाषा का अभिप्राय हो सकता है, तो हमें ज्ञात होगा कि हिंदी के अतिरिक्त उस समय की दूसरी कोई भाषा यवन-भाषा नहीं हो सकती। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि इसके बाद एकनाथजी ने हिंदी का अध्ययन अवश्य किया होगा। इस प्रकार इस उत्तरीय या यवन-भाषा की ओर एकनाथजी बहुत पहले से आकृष्ट हुए जान पड़ते हैं।

पर्यटन के कारण हिंदी की ओर आकृष्ट हुए कवियों में एक मुकुंद भी हैं। इनका संवत् १७९८ में गुरुमंत्र लेना पाया जाता है। 'मिश्रबंधु-विनोद' में भी एक मुकुंद कवि का उल्लेख है। उसमें इनका जन्म १७०९, तथा

कविता-काल १७३० दिया है। दोनों का एक ही व्यक्ति होना असंभव नहीं। महाराष्ट्रीय मुकुंद औरंगज़ेब के शाहज़ादे मुअज़्ज़म के यहाँ नौकर थे। यहाँ कुछ धन जोड़कर आपने तीर्थ-यात्रा की। इस तीर्थ-यात्रा का वर्णन आपने मराठी में कविता-बद्ध भी किया है। सुना है, इन्होंने मिमाड़ी, गुजराती, मारवाड़ी, व्रजभाषा इत्यादि में भी कविताएँ की हैं।

एक बार हिंदी-पद्य-रचना की प्रथा चल पड़ने पर महाराष्ट्र के बाहर न जानेवाले कवियों ने भी हिंदी-प्रेम का परिचय दिया है। इनमें हम प्रसिद्ध संत तुकाराम की गणना करते हैं। आप महाराष्ट्र-इतिहास के ऐसे काल में रहे हैं, जब इस देश में स्वाभिमान की मात्रा खूब ही बढ़ी हुई थी। समर्थ श्रीरामदास स्वामी तथा स्वराज्य-संस्थापक श्रीशिवाजी भी इसी समय हुए हैं। इस समय महाराष्ट्र में व्यापकता के स्थान पर घनिष्ठता आ गई थी। तो भी संत तुकाराम का झुकाव आध्यात्मिक विषयों ही की ओर होने के कारण उन्होंने दो-पद-रचना की है।

समर्थ श्रीरामदास स्वामी ने हिंदी में कोई पद्य-रचना की है या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता* ; परंतु इनका शिष्य-संप्रदाय शीघ्र ही हिंदी की ओर झुकने लगा। संप्रदाय में स्त्रियों का भी प्रवेश हो गया था। अनेक विदुषी इनके विद्यापीठ में निवास करके ज्ञान प्राप्त करती थीं। इन्हीं में हम एक बयाबाई का वर्णन पाते हैं। बयाबाई ने हिंदी में बहुत ही मनोहर कविता की है। एक उदाहरण देखिए—

नाग रँगीली महल बना है;
महल के बीच में झुलना खुला है।
इस झुलने पर झूलो रे माई;
जनम-मरन की भूल न आई।
'दास बया' कहे गुरु मैया ने,
मुझको झुलाया सोहि झुलाने।

इसे देखकर हिंदी के व्यापक प्रभाव का गर्व होने लगता है।

श्रीएकनाथजी के समकालीन जनी-जनार्दन का विवरण तो इनके पहले ही आ जाना चाहिए था। इनकी हिंदी-कविता का नमूना देखिए—

जब तूँ आया ; तब क्या लाया ?
क्या लिजावेगा ; किने भुलाया ?
झूठा धदा पडिया फंदा ; देखत क्यौं हो अंधा ?
कहत जनार्दन, सुन अरे मन ;
न भूल, न छोड़ रे, उस साँई के चरन।

स्वभावतः ही भाषा पुरानी है ; क्योंकि जनी-जनार्दन का समय संवत् १६५८ तक है। उपर्युक्त पद्य का तीसरा चरण हमें श्रीगोरखनाथजी के इस पद्य का स्मरण दिलाता है—

येहि विधि है जग, पडिए ले धादा ;
आतमलिंग हृदयीं, कोई न बूझती अंधा।

अमृतराय कवि भी इसी श्रेणी में आ सकते हैं। आपका जन्म संवत् १७५५ में हुआ था। आपके काव्य एक प्रकार के शब्दालंकार युक्त चित्र ही हुआ करते थे। आपका 'हरिकथा-संकीर्तन' बहुत ही चित्ताकर्षक हुआ करता था। कीर्तन में आप स्वयं अपनी रचना का भी उपयोग किया करते थे। इनका एक आशीर्वादात्मक हिंदी-पद हम नमूने के तौर पर देते हैं—

तुम चिरजीव कल्याण रहो, हरिकथा सुरस पीवो ;
हरिकीर्तन के साथी सज्जन, बहुत बरस जीवो।
ऊँचा मंदिर मेहेल सुनेरी, महल मुलुख बस्ती ;
पुत्र-पौत्र, धन, सुंदर कामिनि, सुगुण-रूप हस्ती।
सस्ता दाना, पाणी निर्मल, गंगाजल गेहरा ;
रंग-राग, घर, बाग-बगीचे, रुपए हुन मोहरा।
'अमृतराय' के अमृत बचन—तुम सदा सुखी रहियो ;
सबल, पुष्ट, आरोग्य, अनामय, आनंद में रहियो।

अभी तक हमने गुरु-परंपरा, पर्यटन तथा इस पर्यटन-जनित हिंदी-प्रेम के कारण पड़ी हुई प्रथा के प्रभाव का वर्णन किया है। अब हम हिंदी साहित्य-ग्रंथों के अप्रत्यक्ष परिणाम का विचार करेंगे। तुलसीदासजी का 'रामचरित-मानस' तथा नाभादासजी का 'भक्तमाल', इन दो ग्रंथों का प्रभाव हम मराठी-साहित्य पर देख सकते हैं। हमारा अनुमान है कि रामचरित-मानस की रचना मूल-भक्तमाल से पहले हुई। प्रियादास की टीका तो अवश्य ही रामायण के बाद बनी। अतः पहले हम इसी का विचार करेंगे।

रामदास स्वामी की शिष्य-परंपरा में एक गिरिधर

* श्रीआठले-कृत "समर्थाचे सामर्थ्य"-नामक पुस्तक के अंत में श्रीरामदास स्वामी का एक हिंदी-कवित्त दिया है।

स्वामी हो गए हैं। इनका रचना-काल संवत् १७७६ है। यह किसी बाइयाबाई के शिष्य थे। शायद यह 'बाइयाबाई' वही बयाबाई हों, जिनकी कविता का नमूना हम ऊपर दे आए हैं। यदि यह ठीक है, तो बहुत संभव है, अपने गुरु का हिंदी-प्रेम इनमें भी आ गया हो। परंतु इस हिंदी-प्रेम ने एक नया ही रूप धारण किया। जहाँ तक हमें मालूम है, इन्होंने हिंदी में कोई पद्य-रचना नहीं की ; हाँ, रामभक्त होने के कारण अपने उपास्य देवता के चरित्र पर पाँच ग्रंथ अवश्य लिखे हैं। हमें इन सबसे यहाँ कोई प्रयोजन नहीं ; केवल 'सुंदर-रामायण' ही हमारे लिये अधिक महत्त्व रखती है। यह ग्रंथ दोधक-छंद की ७४१ चौपाइयों में लिखा गया है। पर श्रीआजगावकर ने अपने "महाराष्ट्र-कवि चरित्र" में जो उदाहरण दिए हैं, वे सब अभंग वृत्त में हैं। हमको स्वयं 'सुंदर-रामायण' देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ ; पर मराठी-साहित्य-भर में हमें चौपाई-छंद का कोई ग्रंथ नहीं मिला, और न ऐसे किसी ग्रंथ का वर्णन ही हमने सुना है। गिरिधर स्वामी का समय तुलसीदासजी से १०० वर्ष बाद है। इस समय तक गोस्वामीजी की रामायण भारतवर्ष-भर में प्रसिद्ध हो गई थी। हिंदी से चिर-संबद्ध महाराष्ट्र में भी अवश्य ही उसका पठन बहुत जगह होता रहा होगा, और गिरिधर स्वामी-जैसे रामभक्त ने तो उसे अवश्य ही सुना होगा। हमारी दृढ़ धारणा है कि राम-भक्ति की ओर प्रबल प्रवृत्ति संभवतः गुरु का हिंदी-प्रेम तथा गोस्वामीजी की चौपाइयों का श्रुतिमाधुर्य, इन सभी ने गिरिधर स्वामी को अपनी 'सुंदर-रामायण' को उसी छंद में रचने के लिये प्रेरित किया होगा। गिरिधर स्वामी इस वृत्त के माधुर्य पर मुग्ध हो गए थे, इसका एक अप्रत्यक्ष प्रमाण हम ग्रंथ के नामकरण ही में पाते हैं। आपने शायद दोधक-वृत्त की सुंदरता ही के कारण इसे 'सुंदर-रामायण' कहा है। कवि ने यह कल्पना करके ग्रंथ का प्रारंभ किया है, मानो लव-कुश अपने अपूर्व स्वर में यह रामचरित गा रहे हैं—

राम-कथा हे लव-कुश गाती ; सुर-मुनि चकित ते परिसाती।
रामरूपें स्वरूपें दिसताती ; कोण कुमार प्रभू म्हणताती।
काय अपूर्व हें गायन यांचें ; रामरूपें चि स्वरूप जयांचें।
कोण जनक निज स्थान तयाचें ; उत्कट तप वाल्मिक सखयाचें।

मराठी से बिलकुल अनभिज्ञ पाठक भी इसे गा सकते हैं।

दूसरा ग्रंथ है नाभाजी का भक्तमाल। यह ग्रंथ संवत् १६७० के लगभग लिखा गया। संवत् १७६६ में प्रियादासजी ने इस पर एक विषम टीका लिखी। शीघ्र ही यह भारत के सारे भक्त-समाज में प्रसिद्ध हो गया। कुछ ही वर्षों में बंगाल के प्रसिद्ध श्रीनिवासाचार्यजी के शिष्य कृष्णदास-बाबाजी ने इसका बँगला छायानुवाद कर डाला। महाराष्ट्र में भी इसके आधार पर कई संत-चरित्र लिखे गए। यहाँ के 'मार्तंडबुवा'जी ने कुछ साल बाद 'भक्ति-प्रेमामृत'-नामक टीका लिखी। दासोदिगंबर ने भी मराठी में जो 'संत-विजय'-नामक ग्रंथ लिखा है, उसमें नाभाजी का उल्लेख किया गया है।

परंतु महाराष्ट्र में श्रीमहीपति के ही भक्त-चरित्र अत्यंत प्रिय हैं। इनका समय है संवत् १७७२ से १८४७ तक। इन्होंने तीन पूर्ण ग्रंथों में भक्त-चरित्रों का वर्णन और नाभाजी का उल्लेख भी बड़े आदर के साथ किया है। ये ग्रंथ निरे अनुवाद नहीं हैं। कवि ने इतिहास-संशोधक की पद्धति पर ज्ञातव्य बातें एकत्र की हैं, बहुत-से संतों के वंशजों के घर जाकर उनसे बहुत-सी बातें पहले जान ली हैं। नाभाजी या प्रियादास ने गोस्वामी तुलसीदासजी के माता-पिता का नाम नहीं दिया ; परंतु इनके 'चरित्र' में पिता का नाम पाया जाता है। महाराष्ट्र-संतों की जीवनी अत्यंत परिपूर्ण है। इतना ही नहीं, गुजरात के भक्त-श्रेष्ठ नरसी मेहता का जीवन-चरित भी अधिक विस्तृत है।

पर मालूम पड़ता है, कवि ने नाभाजी का ग्रंथ अच्छी तरह नहीं पढ़ा ; क्योंकि इसमें इनका चरित्र भक्तमाल से कई जगह भिन्न है। स्वयं महीपति ने एक स्थान पर कहा है—

त्याचीं पदें ऐकोनि कानीं ;
ग्रंथ लिहिला महाराष्ट्र-वाणीं।

अर्थात् उसके पद कान से सुनकर यह ग्रंथ मराठी-भाषा में लिखा है।

हमने भी इनका 'भक्त-विजय'-ग्रंथ पढ़ा है। उससे तो यही ज्ञात होता है कि इन्होंने हिंदी-ग्रंथ प्रत्यक्ष शायद ही देखा हो ; क्योंकि आप लिखते हैं, मूल ग्रंथ प्रियादासजी ने संस्कृत में लिखा, और उसके आधार पर नाभाजी ने उसे 'ग्वालेर-भाषा' में परिणत किया।

भक्तमाल-ग्रंथ को बिलकुल सरसरी तौर से भी देखनेवाला इस प्रकार न लिखेगा। अस्तु, हम इस मराठी-ग्रंथ में एक ऐसा उल्लेख पाते हैं, जिससे ग्रंथ का तुलसीदास के जीवन-काल ही में पूर्ण हो जाना सिद्ध होता है। बाबू राधाकृष्णदासजी ने 'तुलसीदास-संबंधी वर्तमान काल के कथन से' प्रमाणित किया है कि भक्तमाल १६८० के अनंतर न बनी होगी। 'भक्त-विजय' में श्रीमहीपति भी लिखते हैं कि अकबर बादशाह की शरण आने पर तुलसीदासजी श्रीकृष्ण-दर्शन के लिये मथुरा आने के लिये निकले। गोकुल-वृंदावन होते हुए वह मथुरा पहुँचे। इन तीर्थ-स्थानों के भ्रमण में उन्हें प्रियादासजी के दर्शन हुए। प्रियादास के लिखे 'संत-चरित्र'-ग्रंथ की सूचना उन्हें पहले ही मिल गई थी, अतः उसे सुनने की इच्छा प्रकट की। प्रियादास मन में सहम गए; सोचने लगे, चारों युगों के भक्तजनों के चरित्र तो वर्णन किए हैं, कलियुग के समस्त वैष्णव भक्तों की जीवनी भी लिखी है; परंतु तुलसीदासजी की जीवनी नहीं लिखी। इस प्रकार विचार कर ही रहे थे कि एक आश्चर्य-घटना हो गई। प्रियादास को नहीं मालूम हुआ, और श्रीरामचंद्रजी ने स्वयं तुलसीदासजी का जीवन-चरित्र लिखकर ग्रंथ में समाविष्ट कर दिया। फिर प्रियादासजी ने वह ग्रंथ सब वैष्णवों को सुनाया, और सबने उस पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

इस किंवदंती में और बातें सत्य हों या असत्य, किंतु इतना अवश्य विदित होता है कि तुलसीदासजी का जीवन-चरित्र शायद पहले नहीं लिखा गया था। परंतु उसके बाद शीघ्र ही नाभाजी ने उसे छंदोबद्ध कर भक्तमाल में गूँथ दिया। तात्पर्य यह कि मूल-भक्तमाल कुछ पहले ही लिखा जा चुका था, तो भी श्रीतुलसीदासजी की कथा नाभाजी ने शीघ्र उसमें मिला दी। हमारा अनुमान है, भक्तमाल की रचना १६६०-१६७० के बीच ही में हुई होगी।

भक्ति-धर्म ही से संबंध रखनेवाले सैन नाई का भी हम वर्णन करना चाहते हैं। इनकी चर्चा स्वतंत्र रीति से करने का कारण यह है कि इनका निवास-स्थान हम निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते। परंतु इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि यह किसी मुसलमान बादशाह या नवाब के यहाँ नौकर थे। 'भक्त-विजय' में इनके स्वामी को 'यवन' कहा है, और मराठी में 'यवन' मुसलमान ही के अर्थ में प्रयुक्त होता था। स्वयं इनके एक अभंग में हम यों लिखा पाते हैं—

"बादशहाचे द्वारीं, सेना न्हावी काम करी।"

मिश्रबंधु इन्हें रीवाँ-निवासी मानते हैं। कुछ भी हो, इन्होंने जिस प्रकार हिंदी में रचना की है, उसी प्रकार मराठी में भी। कहा जाता है, मराठी में इन्होंने एक ग्रंथ भी लिखा है; परंतु उसका कुछ पता अभी तक नहीं लगा। सैन नाई काशी के प्रसिद्ध रामानंदजी के शिष्य थे। अतः इनकी रचना पर हिंदी का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। हमें इनका केवल एक ही अभंग देखने को मिल सका।

अब हम धर्म-जन्य प्रभावों को छोड़कर राजनीतिक प्रभावों का विचार करेंगे। शिवाजी के समय से मराठी-साहित्य में एक नए अंग का प्रवेश हुआ। यह था शाहीरों या भाटों का गान। मराठी में सबसे पुराना 'पोवाड़ा' (पँवारा?) या वीर-रसात्मक चारण-काव्य १७२० में लिखा गया। परंतु इसके पहले ही शिवाजी के पिता शहाजी के आश्रय में बहुत-से अनेक भाषा-कोविद कवि रहा करते थे। हिंदी-काव्य का तो आरंभ ही चंदबरदाई के 'पृथ्वीराज-रासो' से हुआ है। इतने दिनों तक महाराष्ट्र में स्वतंत्रता का अभाव होने के कारण साहित्य का यह अंग सूना पड़ा था। परिस्थिति अनुकूल होते ही, शहाजी ही के समय से, महाराष्ट्र ने यह वीर-रसात्मक चारण-काव्य अपनाया। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि यद्यपि भारतवर्ष के किसी भी भाग में चारणों का गायन, संस्कृत-साहित्य की कृपा से, उस समय भी अपरिचित न था, तथापि इस प्रकार के काव्य को सामयिक उत्तेजना हिंदी-चारणों के गानों ही से मिली। शहाजी के अनंतर उनके पुत्र शिवाजी के दरबार में भूषण का जो उदार सम्मान हुआ, वह किसी से छिपा नहीं है। आजकल कुछ सज्जन यह प्रमाणित करने की चेष्टा कर रहे हैं कि भूषण शिवाजी के समय में महाराष्ट्र में आए ही नहीं। परंतु हमारी समझ में यह चेष्टा व्यर्थ है। शिवाजी को लिखे हुए संत तुकाराम ही के पत्र में भूषण-कवि का उल्लेख है। अप्रासंगिक होने के भय से हम इस विषय पर अपने अन्य प्रमाण यहाँ नहीं देना चाहते। अस्तु, इन मराठी-'पोवाड़ों' में भी कहीं-कहीं हिंदी-पद आ गए हैं। ऊपर हमने जिस पोवाड़े का उल्लेख किया है, उसमें निम्न-लिखित हिंदी-पद पाए जाते हैं।

तूरे कुनबी का छोरा खेतबाड़ी कर-कर मरना,
दिवाण का सारा।
अब्दुल्ला जाति का भटारी; मिथ्या करता दुकानदारी।
बिजापुर में दुकान तेरा; लड्डू जिलबी बेचहारा।
तूरे भटारनी का छोरा; हम राजा परलिया तोरा।

कहा जाता है, शिवाजी ने स्वयं कुछ पद-रचना की है। इनके माने हुए मराठी पद्यों में बहुत-से उत्तर के शब्द भी आए हैं। मालूम नहीं, आपने हिंदी में भी कुछ रचना की है या नहीं।

इस प्रकार हम देख चुके कि हिंदी का मराठी पर कैसा और कितने अंशों में प्रभाव पड़ा है। परंतु आदान-प्रदान चाहे व्यावहारिक हो या साहित्यिक, एक ही पक्ष से संबंध नहीं रखता। जिस प्रकार हिंदी का मराठी-साहित्य पर प्रभाव पड़ा है, उसी प्रकार मराठी ने भी हिंदी-साहित्य को उपकृत किया है। इस लेख में केवल हिंदी का मराठी पर प्रभाव दिखलाया गया है। मराठी का हिंदी पर क्या प्रभाव पड़ा, इस पर फिर कभी लिखा जायगा।

गोविंद-रामचंद्र मोंदे

संसार के तत्त्व

प्राक्कथन



संसार के अत्यंत प्राचीन-काल ही से लोगों के मन में ये प्रश्न उठते रहे कि संसार क्या है, संसार कैसे बना, संसार के मूल-कारण क्या हैं, और संसार में कितने तत्त्व हैं? हम यह किसी लेख में बतला चुके हैं कि मनुष्य में स्वाभाविक उत्सुकता है। यही उत्सुकता सब विज्ञान, शास्त्र और दर्शनों की जड़ है। किसी बालक के काम देखिए। उसके प्रत्येक काम में उत्सुकता है। पर क्रमशः उत्सुकता की मात्रा दिन-दिन घटती जाती है। शिक्षा का काम इस उत्सुकता को सजग रखना है। बालकों की एक और प्रकृति है। मनोवैज्ञानिक उसे स्वकीयता कहते हैं। बालक सबको अपना बनाना चाहता है। किसी बच्चे को कुछ दीजिए, वह झट उसे मुँह में रख लेता है। मैंने अपने बच्चे को एक गेंद दिया; देखा कि वह उसे भी मुँह में रखना चाहता है। जब मनुष्य की यही दो प्रकृतियाँ संसार के तत्त्व की जिज्ञासा में सहायक हुई। आदि-काल में मनुष्य बड़ी कठिनाई से रहते थे। उनमें कला का इतना विकास नहीं था। उन लोगों ने अपने को प्रकृति की गोद में पाया। चारों ओर प्रकृति-ही-प्रकृति थी। अस्तु, प्रकृति के बीच में रहने के लिये यह अत्यंत आवश्यक था कि उसका उन्हें ज्ञान हो, जिससे वे प्रकृति पर अधिकार पावें। संसार के विषय में अनेक प्रश्न उठे—संसार क्या है, कहाँ से निकला है, कहाँ जायगा, संसार के तत्त्व क्या और कितने हैं? हम यहाँ इन सब प्रश्नों का एकसाथ इस छोटे-से लेख में समाधान नहीं कर सकते। इस पर तो पोथे-के-पोथे लिखे जा सकते हैं। इस छोटे-से लेख में हमारा उद्देश्य अंतिम प्रश्न का समाधान करना है।

पहला प्रश्न यहाँ यह है कि संसार में तत्त्व कितने हैं—एक, दो या अनेक? ये तीनों मत समय-समय पर प्रचलित हुए। दर्शन-शास्त्र की इस समस्या को हम और आप 'संख्या-समस्या' के नाम से पुकार सकते हैं। दूसरा प्रश्न है—इन तत्त्वों का संगठन कैसा है, अथवा दूसरे शब्दों में ये तत्त्व क्या हैं? क्रमशः हम इन दोनों समस्याओं के विषय में लिखेंगे। हमारा दृष्टिकोण ऐतिहासिक दार्शनिक का रहेगा।

संख्या-समस्या

प्रश्न है कि संसार के तत्त्वों की संख्या कितनी है? अब देखना है कि यह समस्या लोगों के मन में कैसे और क्यों उठी? आदि-काल में लोगों ने देखा कि समुद्र का पानी गरम होकर वाष्प-रूप में परिणत हो जाता है। फिर वाष्प शीतल वायु के संपर्क से मेघ बनती है। अंत में यही मेघ पानी होकर बरसता है। गऊ घास खाती है, घास खाने से दूध बनता है, दूध पीने से मनुष्यों में शक्ति का आधिक्य होता है। फिर शुक्र के, संभोग-काल में, रज से मिलने पर बच्चा बनता है। फिर वह बच्चा युवा होकर आप भी और बच्चे पैदा करता है। परमात्मा की कैसी लीला है! ये सब घटनाएँ आदिकालीन पुरुषों की आँखों के समक्ष थीं। अतएव स्वभावतः उनके मन में यह प्रश्न उठा कि संसार में कितने तत्त्व हैं? कुछ लोगों का कहना है कि संसार में बस, एक ही तत्त्व है। हम जितनी चीज़ें देखते हैं, वे सब-की-सब

इसी के परिवर्तन-मात्र हैं। दूसरे लोग कहते हैं कि संसार में दोनों हैं, और इन्हीं दोनों से संसार बना है। तीसरे मतवालों का कहना है कि संसार में जितने पदार्थ हैं, उतने ही तत्त्व भी। इन तीनों मतों को क्रमशः अद्वैतवाद, द्वैतवाद तथा अनेकवाद के नाम से हम पुकारेंगे। कारण, इनसे हमारा आशय साफ़-साफ़ झलकता है।

अद्वैतवाद अथवा एकतत्त्ववाद

इस पर कुछ लिखने के पहले हम यह कह देना उचित समझते हैं कि यह अद्वैतवाद वेदांत का अद्वैतवाद नहीं है। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि संसार का यह एकतत्त्व है। यह एकतत्त्ववाद पाश्चात्य दर्शन में अत्यंत प्राचीनतम काल से है। यूनान के दर्शन-शास्त्र ही से इसका प्रारंभ होता है। उस समय प्रकृति की महत्ता के कारण लोग चकाचौंध हो गए थे। अतएव उस काल का दर्शन-शास्त्र भी प्रकृति-विषयक था। जिस प्रकार बच्चे को शैशव में आत्मा और अनात्मा का भेद नहीं मालूम रहता, ठीक उसी प्रकार आदि-काल में मनुष्यों को आत्मा और प्रकृति का भेद नहीं ज्ञात था। अतएव प्रकृति को आत्मा की जड़ भी मानते थे। इस प्रकार उनके तत्त्व भी प्राकृतिक ही होते थे।

ग्रीस-देश में सबसे पहला दार्शनिक थेलिस हुआ। थेलिस ने देखा कि पानी कभी तो भाप हो जाता है, कभी तरल रहता है और कभी ठोस हो जाता है। अतएव यह तीनों ही अवस्था में रह सकता है, और इसलिये यही संसार की जड़ है। हमारे यहाँ भी लिखा हुआ है—"अपेव ससर्जादौ", अर्थात् सबसे पहले केवल पानी ही था। उसके उपरांत और-और चीज़ों की सृष्टि हुई। यह बात हमारे यहाँ के दशावतारों से और भी पुष्ट हो जाती है। इसी प्रकार अनैक्सिमेंडर ने असीम को और अनैक्सिमिनस ने वायु को तत्त्व माना। फिर हिरैक्लिटस ने अग्नि को और पॉइथागोरस ने संख्या को तत्त्व माना। परंतु यह एकतत्त्ववाद चेतन नहीं था। संसार का तत्त्व केवल एक माना जाता था सही; पर सभी में एकता नहीं मानी जाती थी, और न एकता की चेतनता ही लोगों में थी। इस युग में एकता पदार्थों को आवश्यक संगति नहीं रही।

यह एकता की चेतना ज़ेनोफ़ोन, पारामिनाइडिस, ज़ेनो, मिलिसस इत्यादि एलिएटिक लोगों के समय में उठी है। इन लोगों के मत में स्थिति के लिये एकता अनिवार्य और आवश्यक है। यही एकता सत्य और असत्य, तथ्य और अतथ्य, सत्त्व और भ्रम का भेद है। और भी परिवर्तन और अनेकता अनुभवाधीन हैं। हम अनेक पदार्थ देखते हैं। कोठरी में लेख लिख रहे हैं; एक ओर जँगला है, दूसरी ओर किवाड़े, कुर्सी, टेबिल, रैकेट, आलमारी, किताब, काग़ज़, तेल की शीशियाँ, आइना, कंघी, दावात, क़लम, ताला कुंजी, लालटेन, चौकी आदि अनेक पदार्थ हैं। अब किसी एक पदार्थ को ले लेते हैं। मान लीजिए, कुर्सी। आप बतला सकते हैं, कुर्सी कैसे बनी—वृक्ष लगे थे, लकड़ी काटी गई, तख़्ते निकाले गए, और कुर्सी बनाई गई। पर यह वृक्ष कहाँ से आया? बीज से, और यह बीज दूसरे वृक्ष से। इसी भाँति अनेक परिवर्तन होते गए। ये परिवर्तन, अधीनता और अनेकता हम अपनी आँखों से देखते हैं, अथवा दूसरे शब्दों में ये दोनों अनुभव के ही अधीन हैं। अतएव अनुभव से हम लोग केवल भ्रम को ही जानते हैं। तत्त्व के लिये तो अनुभव के परे ज्ञान तक जाना होगा। ज्ञान ही से हम सत्य तक पहुँच सकते हैं। अफ़लातून में अनेकतत्त्ववाद की अपेक्षा एकतत्त्ववाद कहीं अधिक है। आपके मत में 'मंगल' का संवित् ही सब घटनाओं तथा सब पदार्थों का मुख्य तत्त्व है। अर्थात् जितने पदार्थ हैं, सब 'मंगल-संवित्' से प्रेरित हैं। जितनी घटनाएँ हैं, सब उसी के कारण होती हैं। वही एक मुख्य तत्त्व है, जिससे सारा संसार अपने अन्य तत्त्वों के साथ निकला है। अरस्तू अधिकतर अनेकतत्त्ववादी हैं। उनके मत में 'शुद्ध-संवित्' केवल आदि-प्रवर्तक है, और इसलिये कोई-न-कोई पदार्थ अवश्य ही है, जिसका यह संवित् प्रवर्तक है। अब ये पदार्थ अनेक हैं। अतएव सिद्ध हुआ कि अरस्तू साहब का झुकाव अनेकवाद की ओर है। इस तरह हम यह देख चुके कि अफ़लातून और अरस्तू के मतों में दोनों सिद्धांत हैं।

मध्यकालीन दार्शनिकों का भी मत कभी तो एकतत्त्ववाद की ओर झुकता रहा, और कभी अनेकतत्त्ववाद की ओर। किसी के मत में ईश्वर और किसी के मत से मनुष्यों में तथ्य रहा। परंतु मध्यकाल का अधिक झुकाव अफ़लातून की ओर अर्थात् एकतत्त्ववाद की ओर ही

था। आधुनिक काल में भी दोनों मतों का तारतम्य रहा। यद्यपि डेकार्ट महाशय ने 'मूर्त' और 'आत्मा' नाम के दो तत्त्व माने, तथापि उनको भी हम एकतत्त्ववादी किसी अर्थ में कह सकते हैं। आपके मत में मूर्त और अमूर्त अथवा आत्मा की स्थिति ब्रह्म ही पर है। ब्रह्म एक मुख्य तत्त्व है, जिससे मूर्त और अमूर्त, ये दो गौण तत्त्व निकले हैं। 'पारमार्थिक सत्ता' केवल ब्रह्म ही में है, तथा मूर्त और अमूर्त में केवल व्यावहारिक सत्ता है। स्पाइनोजा के मत में मूर्त और अमूर्त, ब्रह्म के अनेक गुणों में से दो हैं। हम केवल इन्हीं दो गुणों को देख सकते हैं। अन्य गुण हमारे ज्ञान के परे हैं। यह मत हमारे यहाँ परमात्मा के विराट् स्वरूप से मिलता-जुलता है। यथा—

नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे ;
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः ।

कैंट फ़िक्ट, शिलिंग तथा हिगल साहब एकतत्त्ववादी हैं। कोई मुख्य तत्त्व को आत्मा का कार्य, कोई पारमार्थिक अभेद और कोई परम स्थिति को संसार का मुख्य तत्त्व मानते हैं। शापेनहार भी एकतत्त्ववादी हैं। आपके मत से संसार का मुख्य तत्त्व इच्छा है। इसी से सारे संसार का प्रादुर्भाव है। संसार दुःखमय है, और इच्छा संसार की जड़ है। अतएव इच्छा दुःख की जड़ है। इसलिये इससे जहाँ तक बन पड़े, बचे ही रहना चाहिए। आपका मत हमारे यहाँ के बौद्धमत से मिलता-जुलता है। वर्तमान काल के दार्शनिकों में लोट्ज़, वान-हार्टमैन, फेक्नर, डूहरिंग आदिकों को एकतत्त्ववादी कह सकते हैं।

एकतत्त्ववादी अपने मत के समर्थन में तर्क उपस्थित करते हैं; पर अनेकतत्त्ववादी साधारणतः कोई तर्क नहीं करते। उनके तर्क चार प्रकार के हैं। यहाँ पर क्रमशः उन तर्कों का दिग्दर्शन-मात्र करा देंगे—

(१) फ़िक्ट, शिलिंग तथा हिगल का कहना है कि जो तर्क के सामने सबसे अधिक साधारण है, सबसे अधिक सार्वजनीन है, सबसे अधिक लोकगत है, जिसमें कुछ भी व्यक्तिगत नहीं है, वह अवश्य ही एक है। इसमें किंचित् संदेह नहीं है। जितने व्यक्तिगत संवित् हैं, सब उसी प्रधान संवित् से निकले हैं। प्रत्येक विशेष प्रतिज्ञा साधारण प्रतिज्ञा से निकली है। अस्तु, संवित् और सत्ता में अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। हम देख चुके हैं कि 'संवित्' प्रधान संवित् से निकले हैं। अतएव यह भी सिद्ध हुआ कि प्रधान संवित् सभी सत्ताओं की जड़ है। अतएव 'प्रधान संवित्' ही एकतत्त्व है, और इसी एक-तत्त्व से शेष सब तत्त्व निकले हैं।

(२) प्लेटो, अफ़लातून, लोट्ज़, वान-हार्टमैन इत्यादि का कहना है कि जो सबसे आदिम है, वह अवश्य ही एक है—अनेक नहीं हो सकता। कार्य-कारण की परंपरा अवश्य ही एक कारण की ओर खींचकर ले जायगी। अब मनुष्य के मन की प्रकृति है कारण-कार्य-परंपरा का पता लगाना। बच्चे को जब से चेतना आती है, तब से वह जो कुछ देखता है, उसका कारण जानना चाहता है। बच्चे को आम खाने को मिला। वह आम खाने लगा। अपनी मा से पूछा, यह आम कहाँ से आया—वृक्ष कैसे हुआ—बीज कहाँ से आया?

(३) एलिएटिक दार्शनिकों का कहना है कि जो चीज़ है, वह अवश्य ही एक होगी! डूहरिंग साहब का मत भी ऐसा ही है। आपका कहना है कि सर्वव्यापी पदार्थ अवश्य ही एक है।

(४) अफ़लातून प्रभृति का कहना है कि जो अत्यंत उत्तम और सुंदर है, वह अवश्य ही एक है।

द्वैतवाद तथा अनेकतत्त्ववाद

इस मत के अनुसार संसार के दो या दो से अधिक तत्त्व हैं। संसार में इतने भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं कि सबको एक करना अत्यंत असंभव है। एमपिडोक्लस साहब की राय में संसार के चार तत्त्व हैं—अग्नि, अप्, क्षिति तथा मरुत्। हमारे यहाँ के पाँच तत्त्वों में से उनके मत में केवल 'व्योम'-नामक तत्त्व का अभाव है। यह मत चार्वाक-मत से मिलता-जुलता है। 'प्रेम' और 'द्वेष'-नामक दो शक्तियाँ हैं। इन्हीं के कारण उनके चार तत्त्वों से संसार के भिन्न-भिन्न पदार्थों का प्रादुर्भाव हुआ है। सम में प्रेम और विषम में द्वेष होता है। बहुतों के मत से संसार के तत्त्व परमाणु हैं। ये अनेक हैं। इन्हीं अनेक परमाणुओं से यह संसार बना है। अनैक्सैगोरस साहब के मत से आत्मा और प्रकृति-नामक दो तत्त्व हैं। प्रकृति में भिन्नता और आत्मा में एकता है। अफ़लातून और अरस्तू के विषय में हम यह बतला ही चुके हैं कि इनके मत में दोनों मतों का समीकरण है। मध्यकालीन दर्शन में भी कहीं-कहीं अनेकवाद की चर्चा मिलती है। डेकार्ट के मत से शरीर और आत्मा नाम के दो तत्त्व हैं। लेबनिज़

भी अनेकवादी ही हैं। आपके मत से संसार के अनेक तत्त्व हैं। हर्बर्ट साहब भी अनेकवादी हैं। आजकल के दार्शनिकों में डंट साहब को अनेकतत्त्ववादी कह सकते हैं। यहाँ पर यह बात बड़े मार्के की है कि अनेकतत्त्ववाद अपने समर्थन में कभी तर्क उपस्थित नहीं करता, जैसा पहले लिख चुके हैं। इसी बात से दोनों मतों के दृष्टिकोण की भिन्नता स्पष्ट झलक जाती है।

"बाण"

भारत में सहकार



किसानों की दशा सुधारने का काम भारत के लिये एक जटिल समस्या है; क्योंकि भारत के किसान क़र्ज़ के बहुत भारी बोझ से दबे हुए हैं। अवर्षण, वर्षा की कमी, टिड्डी-दल या अतिवर्षा से फ़सलों के नष्ट हो जाने या पैदावार कम होने पर अधिकांश किसानों को आधे-पेट रहना पड़ता है, और बहुत-से भूख से तड़प-तड़पकर मर जाते हैं। सहकार का आश्रय लेने से यह दशा बहुत कुछ सुधर सकती है। इसी उद्देश्य से जर्मनी के प्रजाकीय बैंकों की सफलता देखकर पूना के तत्कालीन ज़िला-जज मि० वेडरबर्न और महामना रानाडे आदि कुछ सज्जनों ने एक स्कीम बनाकर भारत-सरकार की सेवा में पेश की। किंतु वर्षों के बाद भारत-मंत्री ने उसको नामंजूर कर दिया। सबसे पहले मदरास-प्रांत ने यह काम हाथ में लिया। सन् १८९२ में सर फ़्रेडरिक निकल्सन कृषि-सहयोग-समितियों और बैंकों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये योरप भेजे गए। वहाँ से लौट आने पर आपने सरकार को अपनी एक रिपोर्ट दी। इस रिपोर्ट में आपने यह बात साफ़ शब्दों में लिखी है कि सहयोग-प्रवृत्ति के प्रचार के प्रारंभ में योरप के देशों की जैसी दशा थी, उससे कहीं अच्छी दशा इस वक़्त मदरास-प्रांत की है। आपने ज़ोरदार शब्दों में सरकार से सिफ़ारिश की है कि क़ानून आदि सभी आवश्यक साधनों द्वारा सहयोग-प्रवृत्ति के प्रचार-कार्य में मदद दी जानी चाहिए। इसी रिपोर्ट में शिक्षित भारतवासियों को लक्ष्य कर एक स्थान में लिखा है—

भारतवर्ष के गाँवों में वैसी ही बुद्धिमत्ता और सामाजिक स्थिति के लोग मौजूद हैं, जैसी बुद्धि और सामाजिक अवस्था के लोग इस वक़्त योरप में सहकारी-संस्थाओं का संचालन और पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। वास्तव में उत्साही और परिश्रमी लोगों की ही ज़रूरत है। जन-सेवा के पवित्र उद्देश्य से काम करनेवाले सज्जन ही इस काम को हाथ में लेकर देश का बड़ा उपकार कर सकते हैं।

यही लेखक एक दूसरे स्थान पर लिखते हैं—

देहात की साखवाली संस्थाओं का भविष्य उन लोगों पर निर्भर है, जो जन-साधारण के साथ रहते और साधारण जनता में गिने भी जाते हैं, तथा जो अपनी बुद्धि, दूरदर्शिता और कार्य-शक्ति के कारण साधारण जनता से कुछ ऊँचे दरजे के माने जाते हैं। जर्मनी और इटाली में साखवाली सहयोग-संस्थाओं की स्थापना करनेवाले सज्जन इसी दरजे के आदमी थे। यदि 'रेफ़िसन'-शब्द से किसी ख़ास व्यक्ति या पद्धति का नाम निर्देश करने पर भी उस महान् आत्मा की शक्ति, धैर्य, अविचल भक्ति आदि गुणों के साथ-ही-साथ सहकारिता के किफ़ायतशारी, पारस्परिक सहायता, आत्मविश्वास आदि गुणों का अनुकरण किया जाय, तो इस रिपोर्ट का सारांश दो शब्द में बताया जा सकता है, और वह यह है—रेफ़िसन को अपनाओ।

पर मदरास-सरकार ने इस रिपोर्ट पर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया। बाद को यह रिपोर्ट लॉर्ड कर्ज़न के हाथ में पड़ गई। उन्होंने इसकी एक-एक प्रति प्रांतिक सरकारों को भेजकर उनकी सम्मति मँगवाई। इसी बीच में संयुक्त-प्रांत, पंजाब और बंगाल में सहकारी-सभाओं की स्थापना के लिये स्वतंत्र प्रयत्न होने लगे, और कुछ सभाएँ स्थापित भी की गईं। इन सभाओं को अच्छी सफलता मिली।

सन् १९०४ में 'कोऑपरेटिव क्रेडिट-सोसाइटीज़'-नामक क़ानून बनाया गया। इस क़ानून के नाम से ही यह बात प्रकट होती है कि साखवाली सहकारी सभाओं के लिये ही इसकी सृष्टि की गई थी। कृषक, छोटे-छोटे कारीगर आदि थोड़ी पूँजीवाले लोगों के हित-साधन के लिये ही यह क़ानून बनाया गया था। सोचा यह जाता था कि सरकारी नियंत्रण और स्वीकृति के बिना इन संस्थाओं का कार्य चल नहीं सकेगा।

'इंडियन कंपनीज़ ऐक्ट' की कोई भी धारा इन समितियों की रजिस्ट्री कराने के लिये उपयुक्त न थी, अतएव एक दूसरे क़ानून का बनाया जाना अनिवार्य हो गया। प्रांतिक सरकारों को रजिस्ट्रार की नियुक्ति करने का अधिकार दे दिया गया। सहकारी-सभाओं का संगठन करना, उनकी रजिस्ट्री करना, सभाओं के हिसाब की जाँच करना, उनकी देख-रेख और नियंत्रण करना तथा योग्य सलाह देना आदि काम का भार रजिस्ट्रार पर रक्खा गया। अठारह वर्ष या इससे अधिक अवस्था के व्यक्ति को सभा का सभ्य बनने का अधिकार दिया गया है। किसी भी गाँव, जाति या धंधे के दस या उससे अधिक व्यक्ति मिलकर सभा क़ायम कर सकते हैं। ८० प्रतिशत सभासद् किसान हों, तो उसे देहाती-सभा कहते हैं; और इसी परिमाण में अन्य लोग हों, तो उसे नागरिक-समिति कहते हैं। देहाती-सभा की ज़िम्मेदारी अमर्यादित रक्खी गई, और नागरिक-समितियों को अपनी ज़िम्मेदारी मर्यादित या अमर्यादित रखने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी गई। यह नियम रक्खा गया कि देहाती-सभा का सब-का-सब मुनाफ़ा, सरकार का दूसरा हुक्म होने तक, स्थायी कोष में जमा किया जाया करे, और नागरिक-समितियाँ अपने मुनाफ़े का कम-से-कम ¼ भाग स्थायी कोष में जमा करें। प्रत्येक सभा अपने सभ्यों को रक़म उधार दे सकती है; किंतु रजिस्ट्रार की आज्ञा के बिना दूसरी सभा को क़र्ज़ देने का अधिकार उनको नहीं दिया गया। किसी सभासद् को एक हज़ार से ज़्यादा रुपए की क़ीमत के हिस्से ख़रीदने का अधिकार नहीं है। इन सभाओं के हिस्से कोर्टों द्वारा न तो नीलाम ही किए जा सकते हैं, और न ज़ब्त ही हो सकते हैं। मालगुज़ारी और ज़मीन का लगान चुका देने के बाद सभा से क़र्ज़ लेकर ख़रीदा हुआ सामान और खेती की पैदावार पर सभा का ही हक़ रहता है। सभा का क़र्ज़ चुका देने के बाद ही दूसरे लोग अपने क़र्ज़ में इन चीज़ों को ज़ब्त करा सकते हैं। बिना फ़ीस लिए हरएक सभा का हिसाब सरकार की तरफ़ से जाँचा जाता है, और सभाएँ आय-कर, स्टांप-ड्यूटी और रजिस्ट्रेशन की फ़ीस से भी मुक्त कर दी गई हैं।

शीघ्र ही सारे देश में अनेकों ऐसी सभाएँ स्थापित हो गईं। किसी देश में, इतने थोड़े समय में इतनी ज़्यादा संख्या में, सभाएँ स्थापित न हुई होंगी। बड़ौदा, ट्रावनकोर, मैसूर, हैदराबाद, इंदौर आदि कई देशी-राज्यों में भी सहकारी-महकमे क़ायम किए गए, और ये बड़ी शीघ्रता से उन्नति करते आ रहे हैं। मैसूर-राज्य में तो इन सभाओं ने ग़ज़ब की उन्नति की है।

सन् १६०४ में जो क़ानून बना, वह कई अंशों में असंतोष-प्रद था। अतएव सन् १६१२ में दूसरा क़ानून बनाया गया। इस क़ानून की रू से सभाओं के हिसाब-किताब की जाँच, उनका प्रबंध तथा रजिस्ट्रेशन आदि-संबंधी कुछ सुधार किए गए। इस क़ानून की रू से जिन सभाओं की रजिस्ट्री न कराई गई थी, उनको अपने नाम के साथ सहयोग या सहकारी-शब्द का उपयोग करने की मनाही कर दी गई। मुनाफ़े की १० सैकड़ा तक की रक़म को शिक्षा आदि सार्वजनिक कामों में व्यय करने का अधिकार दिया गया। किंतु बिना फ़ीस लिए हिसाब-किताब जाँचने का नियम रद कर दिया गया, और अमर्यादित ज़िम्मेदारीवाली सभाओं को मुनाफ़े में से हिस्से की रक़म पर ब्याज देने की भी इजाज़त दे दी गई।

सन् १६१४ में सहकारी-सभाओं की वर्तमान अवस्था की जाँच करने के लिये एक कमेटी मुक़र्रर की गई। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कई सिफ़ारिशें कीं। स्थानाभाव के कारण उन पर यहाँ कुछ नहीं लिखा जा सकता। इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में भारतवर्ष की सहयोग-प्रवृत्ति के भावी उत्कर्ष के संबंध में ज़बरदस्त आशंका प्रकट की है। इन सभाओं के कारण किसान आदि कम पूँजीवाली जनता एक बड़े समुदाय में संगठित हो जायगी। संभव है, यह संगठित समुदाय आगे चलकर कोई बुरा मार्ग स्वीकार कर ले। फिर भी कमेटी ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि यद्यपि इस आशंका के उत्पन्न होने के कारण अभी तक नज़र नहीं आए हैं, तथापि दूरदर्शिता से काम करना ही अच्छा है। सहयोग-सिद्धांतों के असली रूप के अभाव के कारण भी कुछ भय उत्पन्न हो गया है, और इन दोनों ही प्रकार की शंकाओं से सुरक्षित रहने के लिये कमेटी ने कई सिफ़ारिशें की हैं, जिनके कारण गोरे कर्मचारियों के पेट-पालन और शिमला-शैल-पर्यटन का सुप्रबंध हो गया है। किंतु संतोष की बात है, ये सिफ़ारिशें रिपोर्ट में ही रह गईं।

कुछ लोग भारत की सहयोग-प्रवृत्ति में अनेकों दोष

दिखा रहे हैं; किंतु दोष दिखानेवाले प्रकृति का यह अटल नियम भूल जाते हैं कि संसार में कोई पदार्थ निर्दोष नहीं। कुछ दोष संगठन की त्रुटियों, सर्वसाधारण की निरक्षरता और अज्ञान एवं सार्वजनिक हित के कामों के प्रति जनता की उदासीनता के ही कारण पैदा हो गए हैं। ये दोष ऐसे नहीं हैं, जो मिटाए न जा सकेंगे। शिक्षा के प्रचार और सहयोग-सिद्धांतों के प्रसार के साथ-साथ ये दोष क्रमशः आप-ही-आप मिटते जायँगे। भारत की वर्तमान अवस्था को देखते हुए निराश होने का कोई कारण नहीं जान पड़ता।

बहुधा पूछा जाता है कि सहकारी-सभाओं से देश की नैतिक और सांपत्तिक अवस्था में कहाँ तक सुधार हुए हैं? इस प्रश्न का उत्तर देना कम-से-कम इस समय तो असंभव ही है। कारण, इन संस्थाओं का जन्म हुए अभी बहुत थोड़ा समय हुआ है। अभी तो ९९ प्रतिशत भारतीय जनता सहयोग-संस्थाओं के लाभों से एकदम अपरिचित एवं वंचित है। फिर भी देश के सभी प्रांतों में इनकी दशा विशेष संतोष-प्रद है। जिन प्रांतों में इन सभाओं की संख्या अधिक है, वहाँ सूद की दर अवश्य ही बहुत घट गई है। कई स्थानों में ज़मीन के अंदर का गड़ा हुआ धन सहकारी-सभाओं के कोष में जमा होने लगा है, और इसका उपयोग उत्पादक कार्यों में किया जाने लगा है। शादी, मृत्यु-कार्य आदि अनुत्पादक कामों में किया जानेवाला ख़र्च भी सहकारी-सभाओं के प्रभाव से घट चला है। इन्हीं सभाओं की बदौलत दलालों और मध्यस्थों की जेब में जानेवाला लाभ किसानों और थोड़ी पूँजीवाले लोगों के घरों में रहने लगा है, जिससे इनकी सांपत्तिक अवस्था में सुधार भी होने लगा है। कुछ प्रांतों में दीवानी मुक़दमों की संख्या घट गई है, और बड़े-बड़े न्यायाधीशों ने इसका सारा श्रेय इन्हीं संस्थाओं को प्रदान किया है। बंगाल-प्रांत में आपसी झगड़े इन्हीं संस्थाओं की पंचायतों द्वारा तय होते हैं। शिक्षा-प्रचार में भी इन संस्थाओं ने अच्छी सहायता प्रदान की है। कई सभाएँ स्कूल चला रही हैं। कुछ सभाओं ने ज़्यादा उम्र के लोगों के पढ़ाने का काम हाथ में लिया है। बिहार में इन सभाओं ने औषधालय खोले हैं। मदरास में कुछ सभाएँ सफ़ाई के महकमे का काम चला रही हैं। ये सभाएँ अपना काम विशेष दक्षता, मितव्यय और उत्साह-पूर्वक कर रही हैं। इन सब बातों पर विचार करके कहना पड़ता है कि भारतवर्ष में सहयोग-प्रवृत्ति का भविष्य बहुत ही उज्ज्वल और आशाजनक प्रतीत होता है।

शंकरराव जोशी

सलोनी सुषमा

बारन पै बार-बार मरकत-तार वारौं,
तिमिर अपार वारौं वाके केस-पास पर;
नैनन पै मीन वारौं, बैनन पै बीन वारौं,
काम की कमान वारौं भृकुटी-बिलास पर।
फूले अरविंद वारौं, पूरे पूनो-चंद वारौं,
हीरन के बृंद वारौं आनन उजास पर;
किरन-बिकास वारौं, बिद्युत-प्रकास वारौं,
चंद्र-हास-त्रास वारौं मृदु मंद हास पर।
दसन की पाँति पर मोती भाँति-भाँति वारौं,
पल्लव प्रवाल लाल-लाल अधरान पर;
कलित कपोलन पै पाँखुरी गुलाब वारौं,
नील नग वारौं ठोढ़ी तिल के निसान पर।
भुजन पै सुंडादंड, कुचन पै हेम-कुंभ,
साही सान वारौं कवि "नूतन" गुमान पर;
चाल पै मराल, बेंदी-भाल पर बालरवि,
तन-मन वारौं वाकी मंद मुसुकान पर।
सुरपुर वारौं मंजु मानिक महल पर,
इंद्र को समाज वारौं वाके सुख-साज पर;
आसमानी चीर पर रेसमी दुकूल वारौं,
वारौं भूरि भूषन अमोल वाकी लाज पर।
अंग-अंग कोटिन अनंग-सुघराई वारौं,
सुकुमारता हू वाके नाजुक मिजाज पर;
प्रीति वारौं रति की, सुमति भारती की वारौं,
साहबी सची की वारौं वाके बाँके नाज पर।

शिवदुलारे त्रिपाठी "नूतन"

लखनऊ की सड़कें





मत्स्यावतार

[चित्रकार—श्रीयुत काशिनाथ-गणेश कातू]

N K. Press, Lucknow.

छत्तीसगढ़ में रावण की लंका



दौर-दरबार के सरदारबहादुर कीबे महोदय मध्यभारत में "रावण की लंका" का पता लगाने में आकाश-पाताल एक कर रहे हैं, और उनके प्रयत्न से प्रसन्न हो पुरातत्त्व के प्रधान पंडित राय-बहादुर हीरालाल 'अर्पा'-नदी को पंपा, गोंड़-जाति के अंतर्गत 'रावण-वंशी' गोंड़ों को लंकेश्वर के वंशज तथा रतनपुर में १,४०० तालाबों के होने और मध्य-प्रदेश में एक बड़े-से तालाब के कारण सागर-नामक नगर का नाम पड़ जाने से यह सिद्ध करने के लिये आतुर हो रहे हैं कि 'अमरकंटक' के चारों ओर बड़े बड़े सरोवर रहे होंगे, जो सागर कहलाते रहे होंगे, और 'अमरकंटक'-द्वीप ही (स्थलद्वीप ही सही!) त्रिकूट-पर्वत, आम्रकूट, मधुकूट और सालकूट था। जिस पहाड़ पर आम्र, मधूक और साल के विशाल तरुवर हों, उसे 'त्रिकूट' न कहेंगे, तो भला क्या कहेंगे! एक बात हीरालाल साहब लिखना भूल गए। छत्तीसगढ़ में यह प्रवाद प्रचलित है—"लंका में सोन के भूती *।" छत्तीसगढ़ से लंका यदि सात समुद्र पार होती, तो यह 'प्रवाद' क्यों प्रचलित होता? ख़ैर, हम भी एक दोहा फटकारे देते हैं—

अर्पा पपा हो रही, रावण-वंशी गोंड़;
अमरकूट लंका बना, शंका का मुख मोड़।

समुद्र-तट से लंका सौ योजन की दूरी पर थी, और वह लंकापुरी एक द्वीप में थी, यह बात तो महर्षि वाल्मीकिजी के ही लेख से प्रकट है। रायबहादुर हीरा-लाल के माधुरी (वर्ष ३, खंड १, संख्या २) में प्रकाशित लेख में रामायण का एक श्लोक दिया है। वह नीचे उद्धृत किया जाता है—

इतो द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णे शतयोजने;
तस्मिन् लङ्कापुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा।

कीबे महोदय किन-किन ग्रंथों को प्रमाण मानते हैं, तथा किन ग्रंथों के किन-किन खंडों को प्रक्षिप्त बतलाते हैं, यह तो हम नहीं जानते। पर सुप्रसिद्ध 'अध्यात्म-रामायण' में ऐसा लिखा है—

शतयोजनविस्तीर्णं समुद्रं मकरालयम्,
लिलङ्घयिषुरानन्दसन्दोहो मारुतात्मजः;
ध्यात्वा रामं परात्मानमिदं वचनमब्रवीत्।

यह सुंदर-कांड का आदि-श्लोक है।

इस शत-योजन-विस्तीर्ण समुद्र के लाँघने का परामर्श जब सुग्रीव के दूत कर रहे थे, तब भी उन्होंने 'सौ योजन' की बात नहीं भुलाई थी।

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा प्रोचुर्वीराः बलं पृथक्;
योजनानां दशारभ्य दशोत्तरगुणं जगुः।
शतादर्वाग्जाम्बवांस्तु प्राह मध्ये वनौकसाम्;
पुरा त्रिविक्रमे देवे पादं भूमानलक्षणम्।
त्रिसप्तकृत्वोऽहमगां प्रदक्षिणविधानतः;
इदानीं वार्द्धकग्रस्तो न शक्नोमि विलङ्घितुम्।
अङ्गदोऽप्याह मे गन्तुं शक्यं पारं महोदधेः;
पुनर्लङ्घनसामर्थ्यं न जानाम्यस्ति वा न वा।

अर्थ—अंगद के वचन सुनकर उनके साथवाले वीर दस योजन से लेकर द्विगुण, त्रिगुण योजन जाने की शक्ति बतलाने लगे। वानरों के बीच में सौ के भीतर अर्थात् नब्बे योजन जाने को जांबवंत ने कहा। वह पुनः कहने लगे कि जब वामन-अवतार धारण करके भगवान् ने बलि से तीन पाद भूमि माँगकर अपने पैर बढ़ाए, तब यह सारी पृथ्वी उनके एक पाद-प्रमाण में आ गई। उस समय पृथ्वी की प्रदक्षिण-विधान से मैंने इक्कीस बार प्रदक्षिणा की। तब मेरी युवावस्था थी। अब वृद्ध हो गया हूँ, इससे समुद्र को लाँघने की शक्ति नहीं रही। अंगद ने कहा—मैं समुद्र को लाँघकर उस पार तो जा सकूँगा; पर पुनः लाँघकर लौटने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।

हनुमान् को कुछ न बोलते हुए देखकर जांबवंत ने उनसे पूछा—

हनुमन्किं रहस्तूष्णीं स्थीयते कार्यगौरवे।

इस पर हनुमान्‌जी बड़े प्रसन्न होकर सिंहनाद करके 'त्रिविक्रम' (भूमि नापते हुए वामन भगवान्) का-सा विशाल रूप धारण करते हुए बोले—

लङ्घयित्वा जलनिधिं कृत्वा लङ्कां च भस्मसात्;
रावणं सकुलं हत्वाऽऽनेष्ये जनकनन्दिनीम्।

* * *

---

* मजदूरी।

लङ्कां सपर्वतां धृत्वा रामस्याग्रे क्षिपाम्यहम् ।

फिर वह महेंद्र-पर्वत के शिखर पर चढ़कर अद्भुत रूप में प्रकट हुए—

महेन्द्राद्रिशिरो गत्वा बभूवाद्भुतदर्शनः ।

अध्यात्म-रामायण के कई स्थलों में 'शतयोजन' का उल्लेख है। संपाति वानरों से कह रहा है—

सम्पातिः कथयामास वानरान्परिहर्षयन् ;
लङ्कानामनगर्यास्ते त्रिकूटगिरिमूर्द्धनि ।
तत्राशोकवने सीता राक्षसीभिः सुरक्षिता ;
समुद्रमध्ये सा लङ्का शतयोजनदूरतः ।
दृश्यते मे न संदेहः सीता च परिदृश्यते ;
गृध्रत्वाद्दूरदृष्टिर्मे नात्र संशयितुं क्षमम् ।

ऊपर के इन श्लोकों में चौथी पंक्ति ध्यान देने योग्य है। आगे और श्लोक सुनिए—

शतयोजनविस्तीर्णं समुद्रं यस्तु लङ्घयेत् ;
स एव जानकीं दृष्ट्वा पुनरायास्यति ध्रुवम् *।

* * *

उल्लङ्घ्य सिन्धुं शतयोजनायतं ,
लङ्कां प्रविश्याथ विदेहकन्यकाम् ;
दृष्ट्वा समाभाष्य च वारिधिं पुनः ,
तर्तुं समर्थः कतमो विचार्यताम् ।

* * *

यतध्वमिति यत्नेन लङ्घितुं सरितां पतिम् ;
ततो हन्ता रघुश्रेष्ठो रावणं रक्षसाधिपम् ।
(किष्किंधाकांड)

स्वस्ति वोस्तु गमिष्यामि सीतां द्रक्ष्यथ निश्चयम् ;
यत्नं कुरुध्वं दुर्लङ्घ्यसमुद्रस्यापि लङ्घने ।
(किष्किंधाकांड सर्ग ८, श्लोक ५४)

ऊपर दिए गए श्लोकों से पाठकों को विदित हो जायगा कि 'शतयोजन' और 'समुद्रमध्ये सा लंका' आदि बार-बार कहे गए हैं, याने 'श्रीअध्यात्म-रामायण'-कार ने जान-बूझकर 'शतयोजन' और 'सरितां पतिम्' का प्रयोग किया है। उस समय, तथा श्रीअध्यात्म-रामायण-कार की निज धारणा में लंका-विषयक जो प्रवाद और प्रमाण था, उसका सार इन श्लोकों में वर्णित है।

आगे चलकर जब समुद्र में सेतु बाँधा गया, तब भी सौ योजन के हिसाब का ध्यान रक्खा गया था। यथा—

इस महोदधि पर पाँच दिन में नल ने सेतु बाँधा था*—

पहले दिन	१४	योजन
२रे ,,	२०	,,
३रे ,,	२१	,,
चौथे ,,	२२	,,
५वें ,,	२३	,,
	१००	

कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश ;
द्वितीयेन तथा चाह्ना योजनानि तु विंशतिः ।
तृतीयेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरिति स्मृतम् ;
पञ्चमेन त्रयोविंशद्योजनानि समन्ततः ;
बबन्ध सागरे सेतुं नलो वानरसत्तमः ।
(अध्यात्म-रामायण)

वाल्मीकीय रामायण में लिखा है—

योजनानां शतं श्रीमांस्तीर्त्वाप्युत्तमविक्रमः ;
अनिश्वसन्कपिस्तत्र न ग्लानिमधिगच्छति ।
शतान्यहं योजनानां क्रमेयं सुबहून्यपि ;
किम्पुनः सागरस्यान्तं संख्यातं शतयोजनम् ।
(सु० कां०, सर्ग २-३-४)

महाभारत, वनपर्व के २८२वें श्लोक में भी लिखा है कि श्रीरामजी ने नल के द्वारा सागर में दस योजन चौड़ा और सौ योजन लंबा सेतु बँधवाया, जो नल-सेतु के नाम से प्रसिद्ध है—

तेनोपायेन काकुत्स्थः सेतुबन्धमकारयत् ;
दशयोजनविस्तारमायतं शतयोजनम् ।
नलसेतुरितिख्यातो योऽद्यापि प्रथितो भुवि ।

इन सब प्रमाणों से यह बात निश्चित होती है कि भारतवर्ष और लंका का अंतर चाहे अधिक हो, पर सौ योजन से कम नहीं है। महाभारत के रचना-काल में सेतु का नाम 'नल-सेतु' प्रसिद्ध था। तो क्या दो-तीन मील के दल-दल के ऊपर के सेतु को यह गौरव मिलेगा? अध्यात्म-रामायण, वाल्मीकि-रामायण, महाभारत—इतने प्रमाणों के रहते भी भला कीबे साहब या हीरालाल साहब के कथन को कोई क्योंकर भ्रांति-रहित मान ले?

* जो लाँघइ सतजोजन सागर ;
करइ सो राम-काज मतिआगर ।— तुलसी-कृत रामायण।

* "इंदु"-पत्र (काशी) से ।

'लंका'-द्वीप वर्तमान लंका को मानना चाहिए या नहीं, यह तो दूसरी बात है। किष्किंधा की स्थिति का प्रश्न अभी हम छोड़े देते हैं। अमरकंटक के निकट दलदलों से घिरा हुआ जो गढ़ है, उसी को कीबे महाशय लंकागढ़ मानते हैं। उनका अनुमान है कि रावण के समय में, इस दलदल में, कदाचित् एक-दो मील तक पानी भरा रहा होगा।

कीबे महाशय की इस 'थ्योरी' पर हीरालाल साहब का यह भाष्य है—

"बड़े-बड़े जलाशयों को सागर कहने की पुरानी प्रथा है। इसलिये इसको सागर की संज्ञा देना अनुचित नहीं कहा जा सकता।" ख़ैर।

"जटायु का भाई संपाति आया, और उसने सीताजी की ख़बर दी; कहा—

इत.स्थोह प्रपश्यामि रावणं जानकीं तथा।

अर्थात् यहाँ से मैं रावण और जानकी को भी देख रहा हूँ। इससे जान पड़ता है कि जहाँ पर ये लोग बातें करते थे, वहाँ से लंका बहुत निकट थी, न कि सैकड़ों मील दूर।"

ऊपर के आक्षेप पर नम्र निवेदन है कि गृध्रराज ने इतने दूर के दृश्य देखने का कारण स्वयं बतला दिया है—

गृध्रत्वाद्दूरदृष्टिर्मे नात्र संशयितुं क्षमम्।

"इतने हु पै करिहहिं जे लंका", उसके विषय में हम क्या कहें। एक वैज्ञानिक आई० सी० एस्० का कथन है कि २०० या ३०० वर्ष के बाद विज्ञान में इतनी उन्नति हो जायगी कि भारतवर्ष का एक वैज्ञानिक अमेरिका के किसी वैज्ञानिक मित्र को चर्म-चक्षुओं से देख सकेगा। कौन कह सकता है कि जिस रावण के स्थिति-काल में वायुयान और नाना प्रकार के व्योमास्त्र-शस्त्र थे, उसके समय में विज्ञान की ऐसी उन्नति न थी। तब प्रश्न यह होगा कि बंदरों ने क्यों न देखा—केवल संपाति ने क्यों देखा? उसका उत्तर यह है कि चक्षुविप्सा में उसका नैपुण्य रहा होगा; और 'गृद्ध-दृष्टि' की प्रखरता भी तो प्रसिद्ध है।

भारत की एक अन्य भाषा की रामायण से पता लगता है कि संपाति जब छिन्नपक्ष होकर असहायावस्था में था, तब उसका पुत्र सुपार्श्व, जो हिमालय में रहा करता था, नित्य उसके लिये भोजन ला दिया करता था *। जब वानरों ने संपाति से पूछा कि तुम वयोवृद्ध हो, और बहुत काल से यहाँ रहा करते हो, बतलाओ तो सही, समुद्र के किस प्रकार पार उतरा जाय?, तब संपाति ने कहा—"थोड़ी देर में मेरा पुत्र हिमालय से आवेगा। तुम लोग उसकी पीठ पर सवार होकर अनायास समुद्र पार कर सकते हो। मैं अपने पुत्र से कह दूँगा कि वह तुम लोगों को समुद्र पार करने में सहायता दे। मेरा पुत्र इस सागर के $\frac{3}{4}$ भाग तक तुम्हें पहुँचा देगा। शेष $\frac{1}{4}$ भाग तुम लाँघ सकोगे।"

ऊपर लिखी कथा से इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि संपाति के पुत्र सुपार्श्व के पास वायुयान था, और वह उसके चालन में निपुण था: संपाति और उसके पुत्र का वैज्ञानिक ज्ञान और शक्ति अत्यंत उच्च कोटि की रही होगी, जिससे वे 'देश और काल' की बाधा के अतिक्रमण में समर्थ थे।

कीबे महाशय एक छोटी गोदावरी की कल्पना करते और उसे चित्रकूट-पर्वत से निकली हुई मानते हैं। जब ऐसी 'मनगढ़ंत' बातों को लेकर 'छत्तीसगढ़ में लंका' मान लेने का प्रयत्न—'ठोक-पीटकर वैद्यराज' बनाने के समान—किया जा रहा है, तो उसके संबंध में कुछ लिखना व्यर्थ नहीं, तो और क्या है? ऐसी दशा में तो फिर राजपूताने में कहीं 'लंका' मान लेना और भी ठीक होगा। राजस्थान की मरुभूमि रावण के समय में समुद्र थी—महोदधि थी। उसी के बीच में एक जगह लंका-नगरी थी। उसकी उत्तर-दिशा में रामायण-वर्णित गिरि, नदी, सर, सरोवर, सभी क्यों न मान लिए जायँ? प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मुंशी देवीप्रसादजी का एक लेख इस विषय में कई वर्ष पूर्व एक हिंदी-पत्र में छपा ही था कि राजपूताने में पौलस्त्य या रावण-वंशी ब्राह्मण भी होते हैं।

एक अन्य पुरातत्त्व-विशारद ने सरगुजा-राज्य के रामगढ़-पर्वतों की गुफाओं को लंका प्रमाणित करने की चेष्टा की थी। ऐसे प्रत्येक प्रयत्न में लाभ अवश्य है। कौतूहल और मनोरंजन भी यथेष्ट हुआ करता है। भगवान् करें, यह प्रयत्न बराबर जारी रहे।

* यह कथा वाल्मीकि-कृत 'रामायण' में भी है।

छत्तीसगढ़ के गोंड़-जाति के लोगों के प्रति सहृदय विद्वानों की सहानुभूति होनी ही चाहिए; क्योंकि वे अपने को 'रावण-वंशी' कहते हैं। क्या किसी भी देश या भू-खंड में किसी प्रसिद्ध वंश के लोग पाए जायँ, तो वहीं उनका 'आदि-निवासस्थान' मान लिया जाय? जावा या सुमात्रा में यदि आर्य लोगों के वंशज रहते हों, तो क्या जावा और सुमात्रा आर्य-देश कहलावेंगे? त्रिशिरा, खर-दूषण आदि का उपनिवेश दंडकारण्य में रहा होगा, और इसी से वे तपस्वी ऋषि-मुनियों को खूब तंग किया करते थे। क्या इनके वंशज भी रावण-वंशी नहीं कहला सकते? फिर लंका की स्थिति का उपनिवेश में होना अनिवार्य भी न था। रावण का राज्य जहाँ था, वहाँ लंकापुरी थी, यह बात नहीं। एक अन्य रामायण में लिखा है कि कई रावण और कई लंकाएँ थीं। सुग्रीव से रामचंद्रजी कह रहे हैं—

"उस रावण का घर किस ओर है? लंका नाम के कई नगर हैं; रावण नाम के कई राजा हैं। सीता को चुराकर ले जानेवाला रावण कौन है?" एक पश्चिम लंका का उल्लेख तो शिला-लेखों तक में पाया जाता है। यथा—

A copper-plate grant of the time of one Kumar Someswara Deva of Sonepur discloses that one Udyota Kesari, who claimed decent from Matrabhava Gupta Deva, granted the State of Sonepur to one Abhimanyu Deva. Abhimanyu * * * * made himself "Pashcim Lankadhipati" पश्चिम लंकाधिपति Why the,State of Sonepur was once called पश्चिम लंका can not be known * * * * Jogeshwara Deva Varman of the campamalla copper-plates has mentioned it, that when the grant under the plates was made, he was at Sonepur, and that his palace was on the bank of the Mahanadi close to the rock called Lankeswari or Lankavarttaka.

अर्थात् सोनपुर के सोमेश्वरदेव के ताम्र-शासन से पता लगता है कि महाभवगुप्त केसरी के वंशोद्भव किसी उद्योत-नामक राजा ने अभिमन्यु-नामक व्यक्ति को 'सोनपुर' का राज्य प्रदान कर दिया था। अभिमन्यु काल पाकर 'पश्चिम लंकाधिपति' बन बैठे। सोनपुर-राज्य 'पश्चिम लंका' क्यों कहलाता था, यह बात नहीं जानी जाती। योगेश्वर वर्मा के ताम्र-पत्र से ज्ञात होता है कि महानदी के तट पर एक चट्टान है, जिसका नाम 'लंकेश्वरी' या लंकावर्तक है।

कीबे महाशय छोड़ दें 'अमरकंटक' को त्रिकूट मानने का अपना विचार। यहाँ तो 'पश्चिम लंका' और उसकी राजधानी 'स्वर्णपुर' (सोनपुर) तथा लंकेश्वरी, सब-के-सब मौजूद हैं। महानदी भी बहती है। वह "सागरोऽयं महोदधिः" का काम देगी। फिर क्या? छत्तीसगढ़ में न सही, उड़ीसा में 'लंका' का आविष्कार हो। पर सोनपुर तो दक्षिण या महाकोशल के अंतर्गत १२वीं-१३वीं सदी में था। उसे छत्तीसगढ़ के भीतर ही मान लेना होगा।

सोनपुर-राज्य के विषय में कुछ लिखना यहाँ अप्रासंगिक न होगा। सोनपुर या सुवर्णपुर नाम के संबंध में कई किंवदंतियाँ हैं। वहाँ एक सुवर्णमेरु-महादेव हैं। कहा जाता है, जो धनापति या पुजारी इस शिव-मंदिर तथा अन्यान्य शिव-मंदिरों मे पूजा करते हैं, वे माली या गंधमाली-जाति के हैं। सुवर्णमेरु-महादेव की दया से एक बार वहाँ स्वर्ण की वृष्टि हुई थी। उस स्वर्ण-वृष्टि के स्वर्ण-बिंदु महानदी के गर्भ-देश में प्राप्त हुए थे। तब से उन महादेव का नाम 'सुवर्ण-मेरु' पड़ गया। 'स्वर्णपुर' के संबंध में एक प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ ने लिखा है—

Unlike the Geographical names of other States in the Sambalpur tract, the Hindu name *Suvarnapur* or Sonepur seems to have been in existence even before the time of *Mahabhava Gupta I; for in the copper-plate grants of this Raja the name Suvarnapur occurs But I have not been able to trace any Hindu History in Sonepur previous to the time of Mahabhava Gupta I

A small hill, which bears an inscription and is situated in the bed of the Mahanadi, not far off from the palace of the Maharaja of Sonepur, is called Lankeshwari, and is worshipped by the boatmen when passing through the river This Lankeshwari hill has been mentioned in the

* Janamejaya Mahabhava Gupta I. This King and his son Yayati and grandson Bhumrath were lords of the Sambalpur tract during the 10th and 11th centuries.

campamalla plate of Jogeshwar Deva Varman. The charter of Kumar Someshwar Deva discloses the fact that the state of Sanepur was also once called "*Pashcim Lanka*." When these names came into existence, can not be determined. But it become partly certain that open country of Sonepur was colonised earlier than the other parts of the Sambalpur tract.

अर्थात् ईसवी सन् की दसवीं-ग्यारहवीं सदी में, राजा जनमेजय महाभवगुप्त के राज्यकाल में, सुवर्णपुर या सोनपुर नाम प्रचलित था ; क्योंकि उक्त राजा के एक ताम्र-शासन में 'सुवर्णपुर' का नाम पाया जाता है। परंतु जनमेजय राजा के पहले वहाँ हिंदू-राजतंत्र था या नहीं, इसके इतिहास का पता नहीं लगा।

एक छोटी-सी पहाड़ी महानदी के गर्भ-प्रदेश में है। वह वर्तमान महाराज के राजभवन के निकट है। उस पहाड़ी में एक शिला-लेख है, जिससे पता लगता है कि उस पहाड़ी का नाम 'लंकेश्वरी' था। केवट लोग नाव खाते-के जाते समय उसकी पूजा किया करते हैं। योगेश्वरदेव वर्मा के कंपामल्ल में प्राप्त ताम्रपत्र में लंकेश्वरी का नामोल्लेख है। कुमार सोमेश्वरदेव के ताम्रपत्र से यह बात विदित होती है कि सोनपुर-राज्य का नाम उस समय 'पश्चिम लंका' था। कब से यह नाम पड़ा, यह निश्चित नहीं किया जा सकता ; पर यह निश्चित है कि सोनपुर संबलपुर के अन्यान्य भू-खंडों से पहले उपनिवेश बनाया गया था।

खरौद (ज़िला बिलासपुर), जो महानदी से केवल दो मील पर शवरी-नारायणक्षेत्र के पास है, और जहाँ खर-दूषण के निवास की जनश्रुति है, अपने लक्ष्मणेश्वर-शिवमंदिर के लिये प्रख्यात है। उस मंदिर में एक शिला-लेख है। इसका समय सं० ९३३ (चेदि-संवत्) है। इसमें सुवर्णपुर और उसके राजा भुजबल का नाम एक श्लोक में आया है—

तुम्माणाधिपतिः सुतोऽस्य कमलः श्रीरत्नराजस्ततः
पृथ्वीदेवनरेश्वरोऽतिविदनः क्षोणीशचूडामणिः ।
तत्तनयो नृपति (जाजल्ल देवो) रभूत सुवर्णपुरनाथम्;
भुजबलमवशं चक्रे निज भुजबलतः समीके यः ।

इतना तो लिखा गया पश्चिम लंका के संबंध में। पर जब राम-रावण के युद्ध के पश्चात् लंका का नाम साहित्य में सुविदित हो गया था, तो भारतीय ग्रंथकारों ने दक्षिणापथ के देशों या राज्यों में इसकी गणना करने में इतनी उपेक्षा और भूल क्यों की? विदर्भ, माहिष्मत, दक्षिण-कोशल या महाकोशल, त्रिपुरी, चेदि, वत्स, कलिंग, स्त्रीराज्य, मूषिक-देश आदि के मध्य में अवस्थित 'लंका' के समान ऐतिहासिक और आर्य-विजय के स्मारक-स्वरूप 'लंका' (अमरकंटक) को वे लोग एकदम भूल जाते, यह असंभव जान पड़ता है। जब सोनपुर का राज्य 'पश्चिम लंका' कहलाता है, तो प्रकृत लंका अवश्य ही वहाँ से पूर्व दिशा की ओर पूर्व-समुद्र में रही होगी। काशी और 'उत्तर काशी' के सदृश लंका और पश्चिम लंका को भी समझना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि सरदार कीबे साहब को 'लंका के आविष्कार' का सुयश देने के लिये प्राचीन ग्रंथकारों ने उसका नाम नहीं लिया, तो बात ही दूसरी है।

कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास अपने भौगोलिक ज्ञान के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने 'मेघदूत' तथा 'रघुवंश' में मेघ को मार्ग प्रदर्शित करते हुए, तथा रघु राजा के दिग्विजय में देशों का वर्णन करते हुए, भारत-भूमि के तात्कालिक भूगोल के ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। हम उन्हें लंका की स्थिति विषयक ज्ञान से अनभिज्ञ नहीं मान सकते। यदि उनके समय में रावण की लंका के मध्यभारत या अमरकंटक में होने का प्रवाद प्रचलित रहता, तो वह मेघदूत या अपने अन्य काव्य में "समुद्रमध्ये सा लङ्का" के अनुसार पुरानी लकीर के फ़क़ीर न बनकर कुछ तो ज़रूर लिखते। 'रघुवंश' में वह लिखते हैं—

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः संपातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥
(सर्ग १२, श्लोक ६०)

श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः ।
महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥
(सर्ग १२, श्लोक ६६)

त्रयोदश सर्ग में महाकवि कालिदास के ये श्लोक भी ध्यान देने-योग्य हैं—

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं
मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्न-
माकाशमाविष्कृतचारुतारम् ।

एते वय सैकतभिन्नशुक्ति-
पर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्
कूलं फलावर्जितपूगमालम् ।

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि महाकवि कालिदास के समय में, भारत के सुप्रसिद्ध विद्याविशारदों में, रावण-पालित लंकापुरी के समुद्र-मध्य में होने के विषय में किंचित् भी शंका न थी। महाभारत-काल में रामचंद्र-जी द्वारा निर्मित सेतु का नाम नल-सेतु था, यह बात हम आगे लिख ही आए हैं।

ब्रह्मांड-पुराण के मत से यवद्वीप के अनंतर मलयद्वीप है। इसी मलय-द्वीप के अंतर्गत पर्वत के सानु-देश में लंकापुरी अवस्थित थी। यथा—

तथा च मलयद्वीप मेरुमेव सुसस्कृतम् ;
मणिरत्नाकर स्फीतमाकरः कमलस्य च ।
अनेकयोजनाविष्टे चित्रसानुदरीगृहे ;
तस्य कूटतटे रम्ये हेमप्राकारतोरणे ।
निर्व्यूहबहुवैचित्र्या हर्म्यप्रासादमालिनी ;
शतयोजनविस्तीर्णा त्रिंशद्योजनमायता ;
नित्यप्रमुदिता स्फीता लङ्कानाम महापुरी ।
सा कामरूपिणां स्थान राक्षसानां महात्मनाम् ;
आवासो बलदृप्ताना तद्विद्यादेवविद्विषाम् ।

(ब्रह्माण्ड-पुराण, अनुषगपाद, ५७ अध्याय)

वाल्मीकिजी किष्किंधाकांड के ४१वें अध्याय में लिखते हैं—

तथा मत्स्यकालिंगांश्च कौशिकांश्च समततः ;
अन्वीक्ष्य दण्डकारण्य सपर्वतनदीगुहम् ।
नदीं गोदावरी चैव सर्वमवानुपश्यत ;
तथैवान्ध्रांश्च पुण्ड्रांश्च चोलान् पाण्ड्याश्च केरलान् ।
अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः ;
विचित्रशिखरः श्रीमान् चित्रपुष्पितकाननः ।

* * *

ताम्रपर्णी ग्राहजुष्टा तरिष्यथ महानदीम् ;
सा चन्दनवनैश्चित्रैः प्रच्छन्नद्वीपवारिणी ।
कान्तेव युवती कान्तं समुद्रमवगाहते ;
ततो हेममय दिव्यं मुक्तामणिविभूषितम् ।
युक्त कवाटपाण्ड्यानां ततोद्रक्ष्यथ वानराः ;
ततः समुद्रमासाद्य संप्रधार्यार्थनिश्चयम् ।
अगस्त्येनान्तरे तत्र सागरे विनिवेशितः ;
चित्रसानुनगः श्रीमान्महेंद्रः पर्वतोत्तमः ।
जातरूपमयः श्रीमानवगाढो महार्णवम् ;
नानाविधैर्नगैः फुल्लैर्लताभिश्चोपशोभितम् ।
देवर्षियक्षप्रवरैरप्सरोभिश्च शोभितम् ;
सिद्धचारणसंघैश्च प्रकीर्णं सुमनोरमम् ।
तमुपैति सहस्राक्षः सदा पर्वसु पर्वसु ;
द्वीपस्तस्य परे पारे शतयोजनविस्तृतः ।
अगम्यो मानुषैर्दीप्तस्त मार्गेत्व समंततः ;
तत्र सर्वात्मना सीता मार्गितव्या विशेषतः ।
स हि देशस्तु वध्यस्य रावणस्य दुरात्मनः ;
राक्षसाधिपतेर्वासः सहस्राक्षसमद्युतेः ।
दक्षिणस्य समुद्रस्य मध्ये × × × ।

इत्यादि ।

महाकवि कालिदास के दक्षिण के देशों के वर्णन से ऊपर लिखे श्लोक अनेकांश में मिलते हैं। यथा—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ;
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रताप न विषेहिरे ।
ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ;
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सचितम् ।
स निविश्य यथाकाम तटेष्वालीनचन्दनौ ;
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलो मलयदर्दुरौ ।
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ;
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ।

(रघुवंश, सर्ग ४)

समुद्र के निकट रघु को पहुँचाकर महाकवि कालिदास एक श्लोक में 'त्रिकूट' का नामोल्लेख करते हैं, जिससे अमरकंटक का 'त्रिकूट' होना असिद्ध होता है—

मत्तेभरदनोत्कीर्ण व्यक्तविक्रमलक्षणम् ;
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भ चकार सः ।

(रघुवंश, सर्ग ४)

अमरकंटक भौगोलिक विभाग के अनुसार या तो महा-कोशल के अंतर्गत रहा होगा, अथवा चेदि-देश (प्राचीन जबलपुर) या माहिष्मती-नगराधिप के राज्य में। फिर उसे लंका-द्वीप, लंकादेश या जनपद कैसे कह सकते हैं ? फिर तो वह दक्षिण देश में नहीं है, जैसा कि आगे हम दिखलावेंगे ।

वाल्मीकीय रामायण के बाल-कांड में महाकोशल या दक्षिण-कोशल का नामोल्लेख कोशल के नाम से मिलता है—

पंचम सर्ग—

कोशलो नाम मुदित-स्फीतो जनपदो महान् ;
निविष्ट. सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ।
अयोध्यानाम नगरी तत्रासीलोकविश्रुता ;
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ।

यह तो उत्तर-कोशल का वर्णन हुआ । पुत्रेष्टि-यज्ञ के लिये जिन-जिन राजों को निमंत्रण दिया गया था, उनमें कोशल-देश के राजा भानुमान् भी थे । यथा—

अङ्गेश्वरं महेष्वास रोमपाद सुसत्कृतम् ;
वयस्य राजसिंहस्य सपुत्र तमिहानय ।
तथा कोशलराजान भानुमन्त सुसत्कृतम् ;
मगधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम् ।

You must also bring Dashrath's friend, Rompad, the King of Ang. You yourself invite Bhanuman, the King of Kosal and the learned and valliant King of Magadh —

यह भानुमान् का कोशल दक्षिण-कोशल था ।*

सुग्रीव वानरों को पूर्व-दिशा की ओर भेजते हुए कह रहे हैं—

अभिगच्छ दिशं पूर्वां सशैलवनकाननाम ।

और पूर्व-दिशा के देशों में 'कोशल' का भी उल्लेख है—

महीं कालमहीं चापि शैलकाननशोभिताम् ,
ब्रह्ममालान्विदेहांश्च मालवान्काशिकोशलान् ।

राजशेखर कवि अपनी 'काव्यमीमांसा' में 'कोसल'-(दक्षिण-कोशल)-देश को पूर्व दिशा में स्थित मानते हैं—

Raj Shekhar divides आर्यावर्त into five parts (१) पूर्वदेशः (२) दक्षिणापथः (३) पश्चाद्देशः (४) उत्तरापथः (५) मध्यदेशः ।

पूर्वदेश is the part lying east of Benares. It contains the following:—

Countries.	Mountains.	Rivers.	Products.
अंग	बृहद्गृह	शोण	लवली
कलिंग	लोहितगिरि	लौहित्य	ग्रंथिपर्णक
कोशल	चकोर	गंग	अगरु
तोसल	दर्दुर	करतोया	द्राक्षा
उत्कल	नेपाल	कपिदग	कस्तूरिका
मगध	कामरूप	इत्यादि	
मुद्गर	इत्यादि		
विदेह			
नेपाल			
पुंड्र			
प्राग्ज्योतिष			
ताम्रलिप्तक			
मलद			
मल्लवर्तक			
सुह्म			
ब्रह्मोत्तर			
इत्यादि			

यदि कोसल या कोशल-देश पूर्व-देश की सीमा में था, तो फिर उसे 'दक्षिणापथ' में मानना ठीक नहीं है। 'अमरकंटक' कोशल-देश के इतने निकट और कोशल-राज्य से उत्तरकी ओर होकर भी क्योंकर 'दक्षिण-समुद्र' के तीरवर्ती हो सकेगा, यह हम नहीं समझ सकते ।

इन सब बातों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि अमरकंटक 'त्रिकूट'-गिरि नहीं हो सकता, और न वहाँ रावण-पालित लंकापुरी की ही स्थिति मानी जा सकती है ।

'स्वर्णमयी लंकापुरी'—यह भारत के बच्चे-बच्चे के मुँह से निकलता है। छत्तीसगढ़ में तो यह कहावत ही है—

"सोन के लंका माटी होगे", अर्थात् 'स्वर्ण-लंका-' शब्द का प्रभाव और प्रचार भारत के ग्राम-ग्राम और कुटी-कुटी में है । किष्किंधाकांड में एक श्लोक है—

* दक्षिण-कोशल का उल्लेख न तो समुद्रगुप्त की प्रयागवाली लाट के लेख में है, और न तीवरदेव महाराज के दानपत्रों में । उनमें केवल 'कोशल' नाम ही है ।

यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम् ;
सुवर्णरूप्यकद्वीपं सुवर्णकरमंडितम् ।
(४०।३०)

यदि इस स्वर्ण-लंका का आविष्कार छत्तीसगढ़ में हो ही रहा है, तो भय का कोई कारण नहीं । छत्तीसगढ़ का 'स्वर्ण-भांडार' तो 'उत्तर-कोशल'(युक्तप्रांत)-वासी तथा बिहार के बंदरों के व्यूह आर्य-समुदाय के लिये मुक्त द्वार हैं ही । लूटते रहें न जन्म-भर । विभीषण को तो अमरता मिल ही चुकी है । वह तो उनके "दासस्य दासस्य च दासदासः" है ही । उससे 'भेद' का काम लेते हुए नित्य विजयोत्सव में रत रहें । रावणवंशी गोंड़ भी अब 'गँवारों के सरदार' बन चुके हैं । समुद्र का जल भी सूख गया है । रत्न-राशि बटोरने में कोई कष्ट ही नहीं रहा ।

पुरातत्त्वज्ञों का एक प्रशंसक

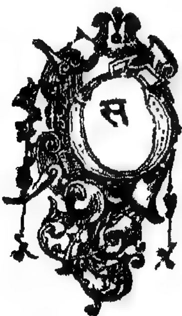
ईश्वर का बहिष्कार

(२)

(क्या ईश्वर है ?)

Ideal is but a flower, whose root lies in the material conditions of existence.

Proudhow·



च है, आदर्श कल्पना एक पुष्प है, जिसकी जड़ जीवन की प्राकृत स्थिति में रहती है । यह नहीं कि बिना सिर-पैर की अनहोनी कल्पना हो । भला प्रत्यक्ष जगत् सत्य है, या केवल-मात्र कल्पना में रहनेवाला निराधार ईश्वर ? कोई भी व्यक्ति, जिसका मस्तिष्क विकृत नहीं हुआ है, प्रकृति को ही सत्य कहेगा । प्रकृति को असत्य, और काल्पनिक ईश्वर को सत्य कहनेवाला निस्संदेह पागल है । आँखों का अविश्वास करके कानों का विश्वास करना बुद्धिमानों का काम नहीं है । मनुष्य-जाति का सारा इतिहास—चाहे किसी भी विषय का क्यों न हो—प्रकृति से ही संबंध रखनेवाला मिलता है ; सबका प्रकृति से ही संबंध है । गपोड़ कथाओं की बात दूसरी है । प्राणों के उद्गम और विकास का आधार तथा जीवत्व के सर्वश्रेष्ठ प्रकट प्रकाश का मूल प्रकृति है । निष्पक्ष विज्ञान इस बात की गवाही देता है ।

वस्तु के विकास में, प्राणियों की उन्नति में, हम देखते हैं, पिछला रूप मिट जाता और अभिनव विकसित उन्नत रूप उसके स्थानापन्न हो जाता है । मनुष्यता में (सज्ञान पशुपन में) केवल पशुता के बल का दिन-दिन ह्रास होता जाता है, और ज्ञान का विकास । यह क्रिया नैसर्गिक है । इसी ज्ञान-वृद्धि के कारण प्रकृति के गुप्त रहस्य मनुष्य को मालूम होते जाते हैं । इस विकास-काल में, विज्ञान के प्रचंड मार्तंड के प्रकाश में, सिवा विक्षिप्तों के और कौन ऐसा हो सकता है, जो अंधकार के समय के कल्पित ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करेगा ? किसी फ़ारसी-कवि ने क्या ही ख़ूब कहा है—

"ख़याले हर दो आलम राज़ लोहे दिल चुना शुस्तम ;
कि शुद बर तख़्तए हस्ती जेयक नुक़ता, दो ख़त पैदा ।"

जन्म के पूर्व और मृत्यु के बाद के संसार को दिल से ऐसा हटाया कि वर्तमान काल में प्राकृत जीवन के आधार पर एक प्रत्यक्ष के विचार के कारण एक बिंदु से दो रेखाएँ उत्पन्न हो गईं । आदम-हौआ के जंगलीपन का ज़माना गया ; ख़ुदा की शरारत और शैतान की मेहरबानी की अब ज़रूरत नहीं । यह बीसवीं सदी का विज्ञानकाल है ।

अब हममें सत्यासत्य के विवेक की बुद्धि बढ़ गई है, और मिथ्या बातों को मार भगाने की इच्छा तथा शक्ति उत्पन्न हो गई है । आजकल का पंडित कहता है—"गुस्ताख़िए फ़रिश्ता मुआफ़ हमारे जवाब में नहीं ।" आज हमें अवतारों, ख़ुदा और रसूलों की ज़रूरत नहीं है, और न हम शून्य से संसार की उत्पत्ति मानने की मूर्खता करने को तैयार हैं । स्वार्थवश मनुष्यों को गुलामी के गर्त में रखनेवाले सुर और स्वतंत्रता के लिये संग्राम करनेवाले असुरों की सारी कैफ़ियत हमें मालूम हो चुकी है । हम सुरों के राजा ईश्वर की उस्तादियों और करामातों को ख़ूब जान चुके । हम समझ चुके कि हमारा कल्याण अगर हो सकता है, तो असुरों के द्वारा ।

सुर बननेवाले धर्मयाजकों, राजवर्गियों और धनवानों का विचार मेरे दिल में आ गया । इसलिये आवेश में आकर मैंने विषय से कुछ असंगत बातें कह डालीं । लेकिन यह ज़रूर है कि यदि सुर आजकल के उच्च, सर्व-

श्रेष्ठ बननेवाले हिंदुओं की तरह होते हैं, और असुर ग़रीब, मेहनत की कमाई खानेवाले, छोटे कहलानेवाले किसान, मेहतर, धोबी, चमार, लोहार, बढ़ई हैं, तो मैं असुरों को अवश्य ही सुरों की अपेक्षा बड़प्पन दूँगा। ईश्वर यदि ऐसा ही है, जैसा बाइबिल और कुरान का ईश्वर तो इन्हीं पुस्तकों के शैतान की उपासना को खुदा की उपासना से लाख बार अच्छी समझूँगा।

हम देखते हैं, संसार का विकास क्रमशः नीचे से ऊपर को हुआ है। मानव-जगत् दिन-पर-दिन ज्ञान की वृद्धि करता जा रहा है। जो विज्ञान, जो कला-कौशल १९ शताब्दियों तक न थे, वे आज क्रमशः उन्नत होकर बीसवीं शताब्दी में हमारी आँखों के सामने हाज़िर हैं। लेकिन ईश्वर-वादी आँखें बंद करके उलटा मार्ग लेते हैं। ये सर्वगुण-ज्ञान-गरिमा-संपन्न एक ईश्वर को तो पहले ही मान लेते और फिर उससे अज्ञान-आच्छादित जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। यह कैसी विचित्र बात है! ईश्वर भी कोई व्यक्ति होगा या होगी, तो उसका उन गुणों से विभूषित होना, जिनसे उसे विशिष्ट किया जाता है, सर्वथा असंभव है। इस प्रत्यक्ष बात के जानने के लिये किसी चालबाज़ी की ज़रूरत नहीं। इसके लिये व्यक्त परमात्मा के माननेवालों को कुछ कहने की ज़रूरत ही नहीं।

कुछ लोग कहते हैं, ईश्वर एक सर्व-व्यापक आत्मा है, जो आकाशवत् या सूर्य के प्रकाशवत् सर्वत्र व्याप्त है; वही संसार का निर्माता, संचालक और प्रबंधक है। किंतु यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि जिस ईश्वर को ज्ञान का भांडार, शक्ति का ख़ज़ाना, पांडित्य का सागर, दयालुता और न्याय की खानि और सारे गुणों का 'आर्टिज़न वेल' (पातालतोड़ कूप) माना जाता है, उसकी कार्यवाही में तो ये सब बातें हम नहीं देखते। जिसे लोक-दिक्-काल के परे खोजने जाकर बड़े-बड़े दार्शनिकों ने ज़मीन और आस्मान के कुलाबे मिलाए हैं, उसकी सत्ता को गौतम, कणाद, कपिल, वाचस्पति मिश्र, शंकर आदि भारतीय, और प्लेटो, डिकार्टे, स्पीनोज़ा, कांट और हीगल प्रभृति योरप के दर्शनकार भी न तो सिद्ध कर पाए, और न उसकी संतोषजनक व्याख्या ही कर सके। अंत में बड़े-बड़े ऋषियों, अवतारों, नबियों और वलियों ने भी न की। जिस पहेली के बूझने में अपनी असमर्थता और बुद्धि-विहीनता को ही स्वीकार करके वेद-शास्त्र केवल "नेति-नेति" कहकर रह गए, उसे कोई कैसे मान सकता है। सच तो यह है कि असत् को सत् सिद्ध करना संभव नहीं। आँखें बंद करके बेहूदा बातों पर विश्वास कर लेना दूसरी बात है। पर प्राकृत नियमों के विरुद्ध कोई हस्ती नहीं हो सकती, न इसके वि[illegible] कोई शक्ति। इससे भिन्न कोई वैज्ञानिक केवल कल्पना ही कर सकता है। वनस्पति से प्राणी, प्राणी से मनुष्य, इसी प्रकार उत्तरोत्तर एक प्राकृतिक नियम के अनुसार संसार का विकास हुआ है। तब यह अनहोना ईश्वर कहाँ से कूद पड़ेगा, जो प्रकृति से भिन्न हो, और आरंभ में ही सब गुणों की खान भी। आँखें बंद करके किसी बात की कल्पना कर लेना दूसरी बात है। और, विश्वास में यही तो एक मूर्खता है कि इसके आँखें नहीं होतीं। यह चिड़िया के दूध की कल्पना करता है, और उसका अस्तित्व मानकर बैठ जाता है। इसी अंधे विश्वास से उत्पन्न हुआ ईश्वर समस्त संसार के धर्म-ग्रंथों, दर्शनों और चालबाज़ों की पुस्तकों का प्रधान चरित्र-नायक है, जिससे संसार की सारी बुराइयाँ, बदमाशियाँ, अत्याचार तथा कमज़ोरियाँ पैदा हुईं, और मनुष्य-जाति नीच तथा निकम्मी हो गई।

जहाँ शारीरिक हानि पहुँचाने के लिये अनेक नशेबाज़ी और दुराचार के अड्डे होते हैं, वहाँ मनुष्य को मानसिक हानि पहुँचाने और निकम्मा बनाने के लिये धार्मिक अड्डे—गिरजे, मंदिर और मस्जिदें—भी हैं। यह सब क़ायदा शासन और शासक-मंडल के लिये उनके दलालों अर्थात् पुरोहितों द्वारा, सरकार की छत्रच्छाया में बसनेवाले ग़रीबों को लूटनेवाले अमीरों की मदद से हुआ करता है। मूर्ख ग्रामीणों के दिमाग़ में जहाँ एक बार कोई बेवकूफ़ी घर कर गई, फिर मुश्किल से निकलती है। इन बेचारों में ज्ञान नहीं, विवेक नहीं, समझ नहीं, विद्या नहीं, खाने को अन्न और पहनने को वस्त्र तक इनके पास नहीं। जो चाहे, इन्हें पंडित, मौलवी या पादरी बनकर, ठग सकता है, धोखे में डाल सकता और अपनी अर्थ-सिद्धि का साधन बना सकता है। पीढ़ियों से इन बेचारों का यही हाल है। सिखानेवाले धनिक, पुरोहित और राजकर्मचारियों में कोई भी ईश्वर को नहीं मानता; पर हरएक ईश्वर को मानने का ढोंग रचता है। मैं पूछता हूँ, कौन पंडित, मौलवी, पादरी, राजा-रईस और

सेठ-साहूकार ऐसा है, जो झूठ नहीं बोलता, फ़रेब नहीं करता और तमाम दुनिया की बदनामियों से पाक है ; इस हालत में कोई चतुर मनुष्य कैसे यह मान सकता है कि लोग ईश्वर की हस्ती के क़ायल हैं, परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं । इसलिये ईश्वर कोई चीज़ नहीं है, सिवा इसके कि भोलों के ठगने को ठगी का एक जाल है। यह जाल जितनी जल्दी तोड़ दिया जाय, उतना ही अच्छा । जुसेपमटज़ीनी और टॉमस पेन के सदृश मनुष्य-भक्तों ने भी इस मिथ्या कल्पना में पड़कर ठोकरें खाईं, तो दूसरे की क्या गिनती ।

लेकिन दुःख तो इस बात का है कि इन देश और मनुष्य के भक्तों ने भी कोई ऐसा तर्क और युक्ति-युक्त ऐसा प्रमाण न दिया कि ईश्वर का अस्तित्व निर्विवाद-रूप से सिद्ध हो जाता । प्रो० फ़्लिंट ने अपनी 'एंटी इथिस्टिक-थ्योरीज़' नाम की एक पुस्तक में नए-पुराने, सभी अनीश्वरवादियों के तर्कों का उत्तर देने की कोशिश की है ; लेकिन ईश्वर का अस्तित्व नहीं सिद्ध कर सके। मुझे दुःख है, न तो इस छोटे-से लेख में पेन और फ़्लिंट के लेखों को उद्धृत करके उत्तर देने का स्थान और समय है, और न पुस्तकें मेरे पास प्रस्तुत हैं । तो भी जो इस विषय में विवाद उठेगा, तो मैं दूसरी पुस्तक छपाकर अनेक प्रमाणों को संग्रह करने का प्रयत्न करूँगा ।

इतना अवश्य कहूँगा कि ज्योतिष-शास्त्र का सविस्तर वर्णन करके यह कह देना कि यह सब ईश्वरीय चातुर्य का फल है, जैसा कि टॉमसपेन ने किया है, कोई तर्क नहीं । जो भद्र पुरुष ईश्वरीय पुस्तकों का अपौरुषेय ग्रंथ होना अस्वीकार करता हो, और उनके खंडन में तर्क और इतिहास से काम लेता हो, वही एक कल्पना-मात्र के आधार पर अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि मान ले, यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है । इसी तरह महात्मा मटज़ीनी ने भी अपने समय के एक अद्वितीय दार्शनिक होकर ईश्वर को सिद्ध करने में जो तर्क सामने रक्खा है, वह बहुत हास्यास्पद है । आप कहते हैं—"सार्वभौम और आदिम विचार, जिनका ग्रहण करना सदा शाश्वत समझा जाता है, सारे संसार के भाव और विश्वास मिथ्या एवं भ्रममूलक नहीं हो सकते ।" यह तर्क अनेक प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने मेरे सामने पेश किया, लेकिन जो इसी का नाम तर्क और लॉजिक है, तो मैं कहूँगा, संसार में तर्क-शास्त्र का होना ही व्यर्थ है ।

बेकुकिन ने ठीक ही कहा है कि जो तर्क की यही दशा है कि जो बात भूत और वर्तमान के सब लोगों ने ठीक मान ली है, और मानते हैं, उसे तुम भी मान लो, और कह दो कि 'ख़ुदा' है, और जो तुम नहीं मानते—'किम्, कस्मात् कारणात्' से काम लेते हो—ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करते हो—तो तुम्हारा तर्क गया भाड़ में, तुम प्रत्यक्ष राक्षस हो, तो हमें भी मूर्खों की तरह बुद्धि को बिदाई देकर ठकुरसुहाती कहनी पड़ेगी । लेकिन कोई जवाँमर्द अपनी आत्मा के विरुद्ध किसी के भय से भद्दी बात को ठीक नहीं मान सकता । हाँ, हम यह ज़रूर मान लेंगे कि जो बातें अनंत काल से सबने मान रक्खी हैं, वे तर्क और विज्ञान-विरुद्ध कल्पनाएँ हैं । ऐसी भद्दी कल्पनाओं की जाँच-पड़ताल करना प्रत्येक नवयुवक का धर्म है । अंधों के अनुगतों का कल्याण इस संसार में असंभव है ।

बहुत काल तक संसार पृथ्वी को चपटी मानता था, तो क्या हम आज भी उसे चपटी मान लेंगे ? इसी तरह की हज़ारों बातें हैं, जिनको संसार अनादि काल से एक तरह पर मानता चला आता था । विज्ञान ने उन्हें झूठा सिद्ध कर दिया, और सचाई सामने रख दी, तो हमें सत्य को मानना ही पड़ा ।

लोग पहले पानी को एक तत्त्व समझते थे, पर आज यह मानने को तैयार नहीं ; क्योंकि हम जान गए हैं कि आक्सिजन और हाइड्रोजन नाम के दो वायव्य पदार्थों के योग से जल बना है । यदि हम आज समझ गए कि 'ख़ुदा' नाम का कोई पदार्थ न तो है, और न हो सकता है, तो हमारा काम है कि हम इस शब्द को अपने कोषों में से निकाल डालें, और धर्म की बेहूदगी से अपना पल्ला पाक करें । संसार में बेहूदगी, अन्याय और अत्याचार से ज़्यादा पुरानी चीज़ें और कोई भी नहीं । पहले लोग स्त्रियों को उनके पिता से छीनकर ले आते थे। इस रीति का प्रमाण आज भी ब्याहों में पाया जाता है । लेकिन क्या आज भी कोई इस बात को पसंद करेगा ? फिर ईश्वर को फ़िज़ूल पकड़कर बैठना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ?

बहुतेरे लोग कहते हैं—"प्रकृति और पुरुष भिन्न नहीं,

एक ही हैं। जैसे द्रव्य में शक्ति, मेंहदी के पत्ते में सुर्ख़ी। इसलिये ईश्वर है, और सर्वव्यापी है।" हज़रात, बिना गुलाब के गुलाबी रंगत कहाँ? जो यह कहें कि गुलाब भी है, और गुलाबीपन भी, इसी तरह ईश्वर भी है, और प्रकृति भी; प्रकृति जो शक्ति है, वही ईश्वर है, तो मैं कहूँगा—'ईश्वर' द्रव्यगत शक्ति का नाम है; वह पृथक् पूज्य पदार्थ नहीं, न वह न्यायशील ज्ञान का इतना गहरा गढ़ा है, जिसे हम नाप न सकें। ईश्वर यदि केवल गति, शक्ति, फ़ोर्स का एक पर्याय-मात्र है, तो रहने दो। इसके लिये लंबी-लंबी नमाज़ों और बड़ी-बड़ी उपासनाओं की क्या ज़रूरत है। बड़े-बड़े पोथों के पाठ, मंत्रों के जप, तिलक-माला और गप्प कथाओं से क्या लाभ? विज्ञान पढ़ो, द्रव्य-गत ईश्वर की उपासना से नए-नए आविष्कारों में लग जाओ। बड़े-बड़े आविष्कर्ताओं को ही अवतार, नबी और वली समझो, उन्हीं की खोज की पुस्तकों को धर्म-पुस्तक मानो। संसार को अकारण धोखा देने से क्या लाभ?

"प्रत्यक्षवादी"

सामाजिक संगठन का भारतीय आदर्श



रस भूमि भारत की सभ्यता ने सामाजिक संगठन की उन्नति के उन्नतम शिखर पर अपनी विजय-वैजयंती चिरकाल तक फहराई। उस समय भूमंडल में सामाजिक संगठन के वैदिक आदर्श की दुंदुभी का निनाद समाज का पथ-प्रदर्शक होकर समस्त संसार के कर्ण-कुहरों को पवित्र करता था। परंतु जब समाज ने वैदिक आदर्श को स्वार्थ की गहरी खाई में डाल दिया, तब विश्व के व्योम-मंडल में जगह-जगह मानव-जाति के कंठ से आर्तनाद सुनाई देने लगा, और संपूर्ण भूमंडल में डार्विन के सिद्धांत "जिसकी लाठी उसकी भैंस" या "शक्ति ही स्वत्व है" के समवेदना-जनक सिद्धांतों का बोलबाला हो चला। पश्चिम में भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेक महात्माओं ने समाज की [illegible] को हल करने का प्रयत्न किया; परंतु वैदिक [illegible] से च्युत होने के कारण उनकी तेजोमय जीवन-ज्योति भी व्यभिचार के उमड़ते हुए मेघों में [illegible] अपनी चमक दिखलाकर निस्तेज हो गई। अशांति [illegible] असंतोष का साम्राज्य जारी रहा। प्रति दिन नए-नए आंदोलनों का जन्म होने लगा।

पश्चिम में राज्यक्रांतियों और सामाजिक विप्लवों की

> पश्चिम की सामाजिक क्रांति

भरमार हुई; श्रमजीवियों और पूँजी-पतियों में मानसिक ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि भड़क उठी; "जीवो जीवस्य जीवनम्" का सिद्धांत कार्य-रूप में परिणत किया जाने लगा। सबल दुर्बलों पर अत्याचार करने लगे। आधुनिक [illegible] ने इस अशांति में और भी हाथ बटाया। हस्त-[illegible] पदार्थों और गृह-शिल्प से लोग घृणा करने लगे। [illegible] के महत्त्व को ताक में रखकर यंत्रों से ही प्रत्येक कार्य किया जाने लगा। श्रमजीवी लोग भी मशीनों ही के द्वारा अपनी जीविका चलाने लगे। तब श्रमजीवियों के परिश्रम ने पूँजीपतियों की पूँजी में सम्मिलित होकर सोने में सुगंध का काम किया, और पूँजीपतियों की पूँजी को कई गुना बढ़ाकर उनको सब प्रकार ऐश्वर्य-शाली बना दिया। पर बेचारे ग़रीब श्रमजीवियों को पेट भर भोजन भी न मिला। यह देखकर उन्होंने भी अपने-अपने संघ स्थापित किए, और उनके द्वारा नवीन-नवीन उपायों का तत्त्वान्वेषण किया जाने लगा। उन्नति की ओर उनका पग बढ़ा; परंतु दूसरी ओर पूँजीपति भी मौन-व्रत ही धारण किए नहीं बैठे रहे। उन्होंने भी श्रमजीवी-दल के संगठन को अपने संघों द्वारा नियम-विरुद्ध प्रमाणित कर दिया। इस कार्य ने फूस में चिनगारी का काम किया। दोनों दलों में परस्पर ईर्ष्या-द्वेष की अग्नि भड़क उठी। योरप के गगन-मंडल में घनघोर अशांति के बादलों ने उमड़-उमड़कर जगह-जगह पर बिजली गिराना शुरू कर दिया। इसी अशांति के युग में योरप के महायुद्ध ने पूँजीपतियों की पूँजी का दिवाला निकाल दिया, और बेचारे श्रमजीवियों को तो उस समय रोटी का एक टुकड़ा तक भी नसीब न हुआ। पूँजीपतियों के अत्याचार से दुखी होकर श्रमजीवी-संसार

ने स्पष्ट रूप से पूँजीपतियों पर आक्रमण करने प्रारंभ किए। उन्होंने रूस में ज़ारशाही का अंत कर, पूँजीपतियों को ... कर, सारा राज-काज अपने हाथ में ले लिया। इसी प्रकार पश्चिम के अन्य देशों में भी प्रतिदिन दंगों और हड़तालों की आवाज़ें कानों में गूँजने लगीं। चारों ओर अशांति-ही-अशांति दिखलाई पड़ने लगी। बलवान् दुर्बलों को सताने लगे। योरप में अंतरराष्ट्रीय अथवा भिन्न-भिन्न देशों की आंतरिक अशांति का मुख्य कारण यही है कि सबलों के अत्याचार दुर्बलों को सता रहे हैं। हर व्यक्ति में, हर समाज में अपनेको अधिक संपत्तिशाली एवं उच्च बनाने की अभिलाषा है। कुछ साम्य के अभिलाषियों ने हेग में शांति-परिषद् की स्थापना की। दुर्बल राष्ट्रों ने समझा, अब शक्तिशाली राष्ट्र स्वेच्छाचार न कर सकेंगे। आशा की इस उमंग में प्रसन्न होकर पाश्चात्य समाज के दुर्बल राष्ट्रों ने इस परिषद् में अपार उत्साह और घोर परिश्रम से कार्य किया। परंतु सब प्रयत्न विफल हुआ। योरप के गत महायुद्ध में सभी राष्ट्र इस परिषद् के सब मंतव्यों को एक ओर रखकर युद्ध में लग गए, और अंतर-जातीय नियमों का उल्लंघन कर चारों ओर से, प्रायः सब बड़े-बड़े राष्ट्रों ने मिलकर, रक्त की नदियाँ बहा दीं। निरीह राष्ट्रों को भी सम्मिलित कर लिया गया।

युद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ का शिलान्यास हुआ। योरप के दुर्बल राष्ट्र भी नवजीवन का अनुभव करने लगे। पराधीन राष्ट्र समझने लगे कि अब तो स्वाधीनता की दुंदुभी बजेगी—दुर्बलों के दुःख दूर होंगे। परंतु यह सब निराशा और अनुत्साह में परिणत हो गया। दुर्बलों की दशा में परिवर्तन होने के बदले राष्ट्रसंघ के परदे के भीतर शक्तिशाली राष्ट्रों ने अन्याय करना आरंभ कर दिया। उन्होंने ऐसी गाँठें लगा दी हैं, जिनका दो-एक शताब्दी तक खुलना कठिन ही नहीं, असंभव है। देशों के मानचित्रों का अनुशीलन करने से भी आभ्यंतरिक अशांति की यही दशा प्रतीत होती है। वर्तमान मिसर का उदाहरण अन्याय का प्रत्यक्ष निदर्शन है। राष्ट्रसंघ के कानों पर मिसर के लिये जूँ नहीं रेंगी। बलवान् निर्बलों पर मनमाना अत्याचार करते ही आ रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपनी उन्नति करने का भी अधिकार नहीं है। पश्चिम की अशांति का मूल कारण यही है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि कोई भी मनुष्य योरप और पश्चिम के अन्य देशों में सच्ची शांति का अनुभव नहीं कर रहा है।

राष्ट्रसंघ के परिणाम

प्रजा-तंत्र शासनवाले तथा प्रतिनिधि-प्रथा के अनन्य भक्त देशों की भी यही दशा है। पश्चिम के समाज-शास्त्री आभ्यंतरिक असंतोष और अंतरराष्ट्रीय अशांति, इन दो समस्याओं के हल करने की चिंता में चूर हैं। इन्हीं को दूर करने के लिये अनेक आंदोलनों का जन्म हुआ है।

बोलशेविज़्म और साम्यवाद

बोलशेविज़्म और साम्यवाद का प्रादुर्भाव भी इसीलिये हुआ; हेग की परिषद् और राष्ट्रसंघ का भी जन्म इसीलिये हुआ। परंतु सफलता की ध्वनि कहीं से भी नहीं सुनाई देती। चारों ओर अशांति की ही गूँज है। साम्यवाद का आंदोलन भी असफलता के गहरे कूप में ग़ोता लगाता प्रतीत होता है। कारण स्पष्ट है। मनुष्य का स्वभाव ही प्राकृतिक असमानता पर निर्धारित है। मनुष्य जब सुख एवं संपत्ति का अनुभव करने लगता है, तब उसके अंदर स्वार्थ की मात्रा अधिक हो जाती है। इस प्रकार साम्यवादी भी धनियों की कोटि में प्रविष्ट होते और न्याय के सिद्धांतों का विरोध करते देखे जाते हैं। मि० मैकडानेल्ड का मंत्रिमंडल इसका उदाहरण है। भारत के लिये इँगलैंड का प्रत्येक दल बराबर है। हाँ, साम्य-वाद के सिद्धांत समाज-सुधार में कुछ सहायक कहे जा सकते हैं; पर मानव-जीवन को स्वर्ग बनाने की शक्ति नहीं रखते। उनसे राम-राज्य स्थापित होने की आशा रखना व्यर्थ ही है। बोलशेविज़्म की भी यही दशा है। वह भी पूर्णरूप से अशांति मिटाने में सर्वथा असमर्थ है। अस्तु, योरप के समाज-शास्त्री इन सब समस्याओं को हल करने के लिये चिंतित हो रहे हैं। समता एवं न्याय-पूर्वक शांति का राज्य स्थापन करने और श्रम तथा पूँजी की कलहाग्नि को शांत करने के अनेक उपाय किए जाते हैं। अब हम यह बतलाते हैं कि अंतरराष्ट्रीय अशांति तथा आभ्यंतरिक असंतोष दूर करके किस तरह रक्त की नदियों का बहना बंद किया जा सकता है।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था

यदि इन सब समस्याओं को कोई हल कर सकता है, तो भारत की प्राचीन सभ्यता और वैदिक वर्ण-व्यवस्था ही। अंतरराष्ट्रीय अशांति तथा आभ्यंतरिक असंतोष की समस्याओं का हल

नहीं मिल सकता है। सबसे प्रथम वर्ण-व्यवस्था की यह सबसे बड़ी उपयोगिता है कि उसके प्रत्येक अंग में सहयोग हो—सबसे परस्पर संबंध रखते हुए भी अपने-अपने कर्तव्य पालन करने में स्वतंत्रता हो। व्यक्ति की तरह समाज में भी उन-उन गुणों की आवश्यकता है, जिनसे व्यक्ति का जीवन आदर्श कहलाता है। यही वेद का आदेश है। वेद का एक मंत्र है—

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ;
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।"

अर्थात् व्यक्ति की तरह समाज में भी ज्ञानमयी व्यवस्थापक शक्ति, बलवती रक्षक शक्ति, संपत्तिशालिनी धनाढ्य पोषक शक्ति और सेवा करने के लिये पाद-रूप सेवक-शक्ति की आवश्यकता है। इसी प्रकार से समाज सुनियमित एवं सुसंगठित हो सकता है। समाज में भी प्रत्येक अवयव का निर्माण इसी प्रकार होना चाहिए, जैसे मानव-शरीर में शरीर के लिये भिन्न-भिन्न अंग उपयोगी होते हैं। तभी समाज का प्रत्येक अंग कार्योपयोगी होकर परस्पर संगठन में तत्पर रहेगा। इस प्रकार जो समाज का संगठन होगा, वही आदर्श कहा जा सकता है। और, वह वैदिक वर्ण-व्यवस्था के सिवा और कुछ नहीं है। जो वर्ण-शब्द स्वीकार करने के अर्थ में बना है, उसी से स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कर्मों को स्वीकार करे। समाज के इस संगठन में किसी प्रकार श्रम-विभाग में झगड़ा नहीं हो सकता। परंतु वह संगठन जन्म से जाति के स्थान पर गुण तथा कर्म पर निर्धारित होना चाहिए।

ब्राह्मण के कर्तव्य

इनमें सबसे पहला वर्ण ब्राह्मण है, जिसका कर्तव्य मनु भगवान् के शब्दों में इस प्रकार है—

"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ;
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्।"

अर्थात् ब्राह्मण शिक्षक के रूप में समाज की सेवा करता है। उसी का दूसरा समूह व्यवस्थापक व न्यायाधीश के रूप में समाज की सेवा करता देखा जाता है, जैसा कि मनु० अध्याय ८, श्लोक ६-१० से स्पष्ट है। उसमें लिखा है कि "राजा एक ब्राह्मण को अन्य तीन ब्राह्मणों के साथ अभियोगों के देखने के लिये नियुक्त करे।" यह सभा ब्रह्मा की सभा कहलाती थी। इस प्रकार ब्राह्मण लोग व्यवस्थापक का काम करते थे। याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों के अनुशीलन से पता चलता है कि "जिन अभियोगों का निपटारा न होता हो, उनका ब्राह्मण-सभा की सम्मत्यनुसार न्याय कर देना चाहिए।" परंतु उनके इतने उच्च श्रेणी के होने पर भी यह आवश्यक था कि वे लोकैषणा, वित्तैषणा आदि से रहित होकर संचित ज्ञान के शिक्षक और राज्य के व्यवस्थापक होकर समाज की सेवा करें, जैसा कि मनु का आदेश है—

"प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ;
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति।"

धन की इच्छा करने से ब्राह्मण का तेज नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण-वर्ण सबसे बड़ा होकर भी शारीरिक शक्ति और धन, दोनों से रहित, अर्थात् भोगमय जीवन से कोसों दूर, है। ब्राह्मण चाणक्य इतने बड़े राज्य का व्यवस्थापक था; फिर भी उसके गृह का वर्णन महाकवि विशाखदत्त ने कैसा किया है—

"उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः ;
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्।"

अर्थात् एक ओर गोबर के कंडे फोड़ने का पत्थर पड़ा है, दूसरी तरफ़ कुशाओं का समूह है, तथा एक ओर कुटी की झुकी हुई छत पर लकड़ियाँ सूख रही हैं। यही चंद्रगुप्त को राज-सिंहासन पर बिठानेवाले ब्राह्मण चाणक्य की विभूति है।

क्षत्रिय के कर्तव्य

इसी प्रकार द्वितीय वर्ण क्षत्रिय है। यह वर्ण समाज को बाह्य व आभ्यंतरिक विप्लवों से बचाता हुआ प्रबंध का अधिकारी एवं समाज का बाहु-स्थानीय था। वशिष्ठ-स्मृति के अनुसार इसका भी नियंत्रण ब्राह्मणों के अधीन था, अर्थात् व्यवस्थापक-विभाग का काम ब्राह्मणों का, और कार्यकारिणी विभाग का काम क्षत्रिय का था। ब्राह्मण नियमों के निर्माता और क्षत्रिय उनका पालन करानेवाले थे। तब तो शासक-वर्ग अपनी इच्छा के अनुकूल कुछ भी न कर सकता था; क्योंकि वह न्याय और व्यवस्था के अधिकारों से वंचित था। इसीलिये देश में अशांति भी देखने को न मिलती थी।

तीसरा वर्ण वैश्य था, जिसका कर्तव्य था—

"पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ;
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।"

अर्थात् कृषक के रूप में भूमि से, पशुपालक के रूप में पशुओं से तथा वणिक् के रूप में वाणिज्य और ब्याज से संपत्ति को उत्पन्न करना, ये वैश्य के कर्म हैं। परंतु वह संपत्ति केवल उसी की न थी ; मनु भगवान् के

वैश्य के कर्तव्य

"दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेवप्रयत्नतः !"

इस कथन के अनुसार संपूर्ण समाज की थी। वह उसे सबमें विभक्त करता था। इस प्रकार उसकी संपत्ति जातीय थी। अयोग्यों को उससे छीनने का अधिकार न था। जिस प्रकार उदर का अंश भिन्न-भिन्न विभागों में जाकर शरीर का पोषण करता है, उसी प्रकार यह वर्ण समाज के भिन्न-भिन्न विभागों को संपत्ति देकर सबका पोषण करता था।

चौथा वर्ण शूद्र था, जो समाज में ज्ञान, बल, और धर्म न प्राप्त कर सकने के कारण उक्त तीनों वर्णों का सेवक ही था। इस प्रकार भारत में, प्राचीन काल में, वैदिक आदर्श के सामाजिक संगठन से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती थी। समाज सुख-शांति से ऐश्वर्य का उपभोग करता था। परंतु उस समय भारत, योरप की तरह, प्रकृतिवाद के आधिक्य और धन के गर्व से परिपूर्ण नहीं था। सर्वत्र भर्तृहरि महाराज की यह उक्ति चरितार्थ होती थी—

शूद्र के कर्तव्य

"अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्थाः
तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान् संरुणद्धि ;
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलाना
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ।"

परंतु अब संपूर्ण व्यवस्था के बिगड़ जाने से वर्तमान काल में भारत की बड़ी बुरी दशा है। जो पुष्प विकसित होते समय जितना सौरभमय तथा सौंदर्य-संपन्न होता है, वह सड़ने पर उतना ही दुर्गंधि एवं कुरूप हो जाता है। प्राचीन काल में योरप के सभ्य देशों में भी इस संगठन की हवा पहुँच चुकी थी।

भारत में जिस प्रकार वैदिक काल का आदर्श संगठन था, उसी प्रकार यूनान में, प्राचीन काल में, प्लेटो ने भी आदर्श संगठन के लिये उपदेश दिया है, जैसा उसके विरचित 'प्रजातंत्र' से विदित होता है। सामाजिक संगठन को उत्तम बनाने के लिये उसने समाज को तीन भागों में विभक्त किया है—(१) शासक-वर्ग, (२) योद्धृ-वर्ग और (३) उत्पादक-वर्ग। शासक-वर्ग का कार्य उसने यह बतलाया है कि वह प्रजा के लिये नियमों की व्यवस्था करे, तथा उन नियमों का पालन दूसरा वर्ग करावे। यही व्यवस्था भारत में ब्राह्मण के लिये भी निर्द्धारित है। दूसरा योद्धृ-वर्ग समाज के अंदर बुरे व्यसन और दुष्ट कर्म करनेवालों को दंड देकर बाहरी आक्रमणों से समाज की रक्षा करे। यही कार्य भारत में क्षत्रियों का है। तीसरा उत्पादक-वर्ग है, जो समाज के लिये संपत्ति उत्पन्न करके कृषि आदि के द्वारा समाज में सुख एवं शांति का साम्राज्य स्थापित करे। इस प्रकार प्लेटो ने भी भारत ही की तरह आदर्श श्रम-विभाग किया था। उसकी व्यवस्था का आधार भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था है। भारत में इस संगठन की नींव प्राचीन आश्रम-मर्यादा पर निर्द्धारित की गई थी। व्यक्तियों के आरंभिक जीवन से ही इसका अभ्यास कराया जाता था, समता के भाव उनके अंदर कूट-कूटकर भर दिए जाते थे। योरप और अमेरिका के संगठनों की असफलता का मुख्य कारण यही है कि उनका आधार उत्तम नहीं है। भारत में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का स्थान सर्वोच्च था। गुरुकुलों में राजा-रंक, धनी-निर्द्धन, सबके पुत्रों के साथ समान व्यवहार किया जाता था। अमीर-ग़रीब के भाव उनके अंदर पैदा ही न हो पाते थे। इस प्रकार कर्म-क्षेत्र में भी कोई किसी को ऊँच-नीच नहीं समझता था। ये वे भाव थे, जो न तो अंतरराष्ट्रीय नियमों से और न राजसभाओं से पैदा हो सकते हैं और न धन के गर्व में मस्त होने पर मिट ही सकते हैं। इसके लिये सुदामा और श्रीकृष्ण का उदाहरण प्रत्यक्ष है। इन्हीं सिद्धांतों पर पश्चिम की सब समस्याएँ हल हो सकती हैं। यह संगठन इतना आदर्श एवं वैज्ञानिक है कि इसमें अशांति या असंतोष का लेश भी इसमें नहीं।

प्लेटो की सामाजिक व्यवस्था

इस परिवर्तन के युग में पश्चिम में अशांति के साम्राज्य से सब ऊब गए हैं। चारों ओर सामाजिक संगठन की समस्याओं को हल करने के लिये भिन्न-भिन्न उपायों का अवलंबन किया जा रहा है। पश्चिम के समाज-शास्त्रियों में सतत परिश्रम की शक्ति तथा अपार उत्साह होने पर भी सफलता की झलक और

उपसंहार

आशा का संचार कहीं नहीं दिखलाई देता। जाति-जाति में, देश-देश में कलहाग्नि की जलती हुई ज्वाला अपनी प्रखर उष्णता से मानव-हृदयों को जला रही है। बेचारे ग़रीबों की करुणा-जनक आहें पश्चिम के गगन मंडल को गुँजा रही हैं। त्राहि-त्राहि की आर्त-ध्वनि कर्णकुहरों को विदीर्ण कर रही है। श्वास-कास के निनादों का नाद हो रहा है। नृत्य है दरिद्रों की तड़फड़ाहट का, और हास्य है अमीरों की शान का। युद्ध है समाज का, धन का, मान का, धनियों और निर्धनों का। जिधर देखिए, उन्नति की मूल में, सभ्यता के आवरण में, विज्ञान की कुंजी में, सर्वत्र श्रमजीवियों का रक्त देख पड़ता है। सब समाज-शास्त्री अशांति की ज्वाला बुझाने के लिये आदर्श सामाजिक संगठन की चिंता में व्यग्र हैं। पर प्रकृतिवाद के मद में मस्त योरप को उस आदर्श संगठन का पाठ आध्यात्मिकतावाद के गुरु भारत से पढ़ना होगा। अंत में मनु भगवान् की—

"एतद्देशप्रसूतस्य　　सकाशादग्रजन्मनः ;
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।"

यही उक्ति चरितार्थ होगी, और प्राचीन भारत की सभ्यता का अखिल भू-मंडल में राज्य होगा।

बलवीर

"पृथिवी-प्रदक्षिणा"

(समालोचना)



मनुष्य एक प्रकार की विशेष चेतना से युक्त है, जिसके कारण वह इतर प्राणियों से भिन्न है। प्राणि-मात्र एक स्थान पर स्थिर रहना नहीं चाहते। यह स्वाभाविक है। स्वतंत्र पशु-पक्षी भी स्थान परिवर्तन करते हैं। पर उनमें उस शक्ति का अभाव है, जो अनुभव को दूसरों के समक्ष रखती है। किंतु जिज्ञासा उनमें भी है, यह सिद्धांत बिलकुल मनोविज्ञानिक है। और, मनुष्य-प्राणी इसीलिये इतर समस्त प्राणियों से श्रेष्ठ है कि उसमें जिज्ञासा है, चेतना है, एवं उसे वे साधन भी प्राप्त हैं, अथवा यों कहा जाय कि उसने अपने लिये वे साधन उत्पन्न कर लिए हैं, जिनके द्वारा वह न केवल अपने अनुभव को, प्रत्युत दूसरों के अनुभवों को भी लोक-हित के लिये छोड़ जाता है। यात्रा का तत्त्व भी मनुष्य के समाज-प्रिय होने, जिज्ञासा और चेतना-शक्ति से संयुक्त होने में अंतर्निहित है। उदाहरणार्थ उस बालक को लीजिए, जो घुटनों के बल रेंग सकता हो। वह जब थोड़ी दूर पर कोई ऐसा पदार्थ देखता है, जिसकी ओर उसकी चेतना उसे आकृष्ट करती है, तो वह उसी ओर लपकता है। उसके उस समय यह ज्ञान नहीं रहता कि अपने अनुभव को दूसरों को बतला सके; अन्यथा हमें यह भी देखने और सुनने, तथा उसी की पुस्तकों में पढ़ने को मिल जाता कि वह अपने सम-वयस्क शिशुओं को अपने अनुभव बतलाता है। मनुष्य के प्रौढ़ होने के साथ-साथ यह भावना भी उसके प्रौढ़त्व को प्राप्त होती गई, और यही आगे चलकर विचरण, यात्रा और प्रदक्षिणा के रूप में परिवर्तित हो गई। अपनी बुद्धि के अनुसार मनुष्य-समाज के हितचिंतकों ने इन यात्राओं, विचरणों और प्रदक्षिणाओं के सुलभ साधन तैयार कर लिए। उसने इन साधनों के अतिरिक्त वे साधन भी उपलब्ध किए, जिनके द्वारा वह अपने इन दिशाओं के अनुभवों को समाज के सामने रख सके। यात्रा का मनोविज्ञानिक विश्लेषण इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। उसका महत्त्व तो उसकी जन्म-दात्री भावना के साथ ही उत्पन्न हुआ है। आज यात्रा का महत्त्व इस कोटि तक पहुँच चुका है, अथवा माना जा रहा है कि पाश्चात्य देशों के जिज्ञासु पैदल और बाइसिकिल पर संसार की प्रदक्षिणा करते हैं।

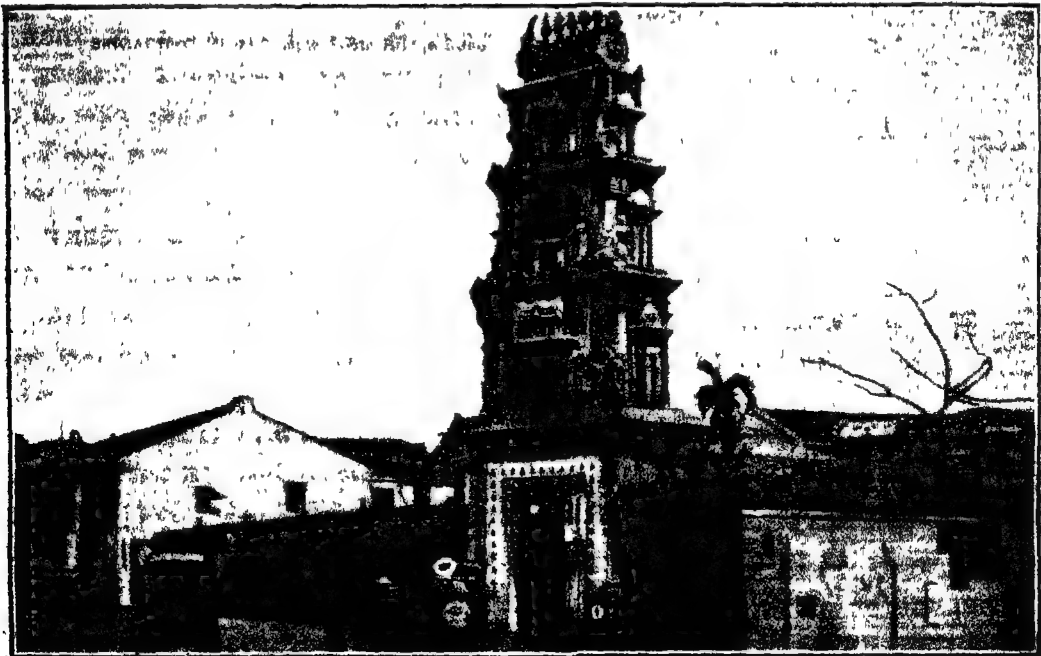
पौराणिक इतिहास देखने से जान पड़ता है कि हिंदू एवं बौद्ध यात्री-संन्यासी पैदल परिभ्रमण करते थे, एवं राजे-महाराजे दिग्विजय के बहाने पृथ्वी की प्रदक्षिणा किया करते थे। अंतर अब दोनों में केवल यह है कि उस समय यात्रा के कुछ दूसरे साधन थे, और इस समय कुछ दूसरे हैं। किंतु उद्देश्य दोनों का एक है, अर्थात् जिज्ञासा की पूर्ति। और, चाहे कारणों में अंतर भी रहता आया हो; पर उद्देश्य में कदापि अंतर नहीं रहा। जिन जिज्ञासुओं में लोक-हित की कुछ भावना थी, उन्होंने साधनों के अनुसार अपनी यात्राओं का वर्णन भी समय-समय पर कर दिया। हमें आज भी बहुत-से ऐसे प्राचीन

शिला-लेख और स्तंभ मिलते हैं, जिनके संबंध में पुरातत्त्ववेत्ता यह कहते हैं कि अमुक राजा की अपनी यात्रा अथवा दिग्विजय के समय वह खुदवाया गया था। अस्तु, यह सब एक प्राचीन परंपरा को जीवित रखने के उद्देश्य से किया जाता था। इतिहास का क्रमागत गौरव इस बात का साक्षी है। संसार का अस्तित्व जब तक रहेगा, मनुष्य-जाति में जब तक यह क्षमता रहेगी कि वह अपने पूर्ववर्ती लोगों के अनुभवों के ज्ञान का लाभ उठा सके, एवं परवर्ती समाज को लाभ पहुँचा सके, तब तक यात्रा-विवरणों का विशेष महत्त्व रहेगा।

प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूप हैं—जो बात हमें भारतवर्ष में देखने में नहीं आती, वह अमेरिका में मौजूद है। जो अमेरिका में नहीं, वह आस्ट्रेलिया में है, और जो आस्ट्रेलिया में भी नहीं, वह भारतवर्ष ही में मौजूद है। उसकी लीला अनंत है। जो पशु-पक्षी भारत में किसी एक रूप-रंग, आकार-परिमाण के देखने में आते हैं, वे ही अन्य देशों में दूसरे रूप-रंग, एवं आकार-परिमाण के। इसी प्रकार और भी प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक रचनाएँ हैं। आखिर इन सबका ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा जिनमें हो, वे उसकी पूर्ति किस प्रकार करें? यदि वे द्रव्य-विहीन हैं—अन्य साधनों से भी वंचित हैं, तो और भी कठिनाई है। ऐसे लोगों के लिये भिन्न-भिन्न देश, समाज, जल-वायु, सभ्यता, प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक शोभा एवं अन्य कौतूहलप्रद बातों का परिचय देने में यात्रा-विवरण बहुत सहायक होते हैं।

सुदूर देशों की बात तो दूर रही, किसी देश-विशेष के दूरवर्ती प्रांतों के ही निवासियों की सभ्यता, रहन-सहन सामाजिक व्यवहार, यहाँ तक कि बोली और भाषा तक में अंतर आ जाता है। क्या यह आवश्यक नहीं कि भारत के निवासी भी यथासाध्य मनुष्य-समाज का परिचय प्राप्त करें? पारस्परिक परिचय से मनुष्य-जीवन में कुछ सहायता मिलती है, और उसे प्राप्त करना मानव-धर्म नहीं, समाज-धर्म है। यही मत, सारांश में, "पृथिवी-प्रदक्षिणा" के लेखक का भी है। पुस्तक के लेखक का मत और उसकी हार्दिक इच्छा निम्न-लिखित शब्दों में इस प्रकार है—

"प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों के दर्शन से मनोविकास



सिंगापुर में हिंदू-मंदिर

में कितनी सहायता मिलती है, कहना दुस्तर है। पाश्चात्य सभ्यता व गौरव में यह देश विदेश-भ्रमण बहुत सहायक हुआ है। मेरी यह बड़ी इच्छा है कि पूर्वी देश-निवासी भी दिन-प्रतिदिन अधिक-अधिक संख्या में देश-विदेश की यात्रा करने निकलें। हिंदुओं के जीवन में देशाटन का बड़ा भाग है, और वह कर्तव्य भी समझा जाता है। यदि यही भाव भारत की चहारदीवारी के बाहर भी भारतवासियों को ले जावे, तो क्या ही अच्छा हो।"



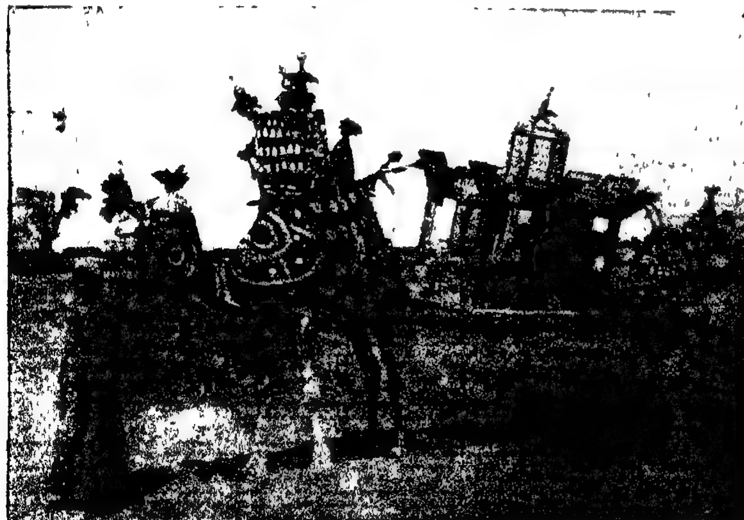
चौक में (मिश्र) पानी पिलानेवाला

यह यथार्थ बात है कि हिंदुओं के जीवन में देशाटन का बड़ा भाग रहा है, और वह कर्तव्य भी समझा जाता रहा है। यदि ऐसा न होता, तो संस्कृत के नीतिसंग्रहों में "देशाटनं पंडितमित्रता च वारांगनाराजसभाप्रवेशः" इत्यादि वाक्य देखने में न आते। आख़िर साहित्य समाज का ही प्रतिबिंब तो है। इससे यह जान पड़ता है कि हिंदुओं की सभ्यता में देशाटन को विशेष महत्त्व दिया गया है। किंतु इससे भी अधिक हिंदुओं की जीवन-चर्या इस मत का समर्थन करती है। 'संन्यासी'-शब्द और संन्यास-आश्रम से ही इसकी पुष्टि हो जाती है। इनका यह कर्तव्य था कि ये एक स्थान पर न रहें, अर्थात् विचरते रहें। किंतु लेखक के उपर्युक्त उद्धृत मत के अंतिम वाक्य से हम सहमत नहीं। हमारा विश्वास है कि प्राचीन काल में भी भारतवासी विदेशों का भ्रमण करते थे। पौराणिक राजों के दिग्विजय तथा व्यापार-विनिमय की योजना इसका प्रमाण है। व्यापारिक क्रांतियों के इतिहास हमें बतलाते हैं कि भारत के व्यापारी सुदूर देशों में आया-जाया करते थे। महाभारत के समय विडालाक्ष आदि राजों का युद्ध में भाग लेने के लिये आना भी इसका प्रमाण है कि उस समय भारतवर्ष और अन्य देशों में परस्पर मैत्री, सहानुभूति एवं रोटी-बेटी का संबंध भी था। हाँ, यह संभव है कि उस समय उनके पास अपने विवरणों को विस्तृत रूप में उपस्थित करने के साधन न रहे हों। इसलिये, अथवा उस समय अन्य किसी कारण-वश, उन्होंने अपने यात्रा-विवरण नहीं दिए। पर उस समय की और आज की परिस्थिति एवं सभ्यता में भी तो अंतर है। इसीलिये कदाचित् गुप्तजी ने भारतवासियों के भारत की चहारदीवारी के बाहर जाने की इच्छा प्रकट की है।

लगभग दस वर्ष पूर्व, जब 'मर्यादा' पत्रिका प्रयाग से निकलती थी, गुप्तजी के कुछ लेख विदेशों के संबंध में निकले थे। हमारे लेख भी उन दिनों उसी में निकले, और लेखक की हैसियत से हम एक दूसरे से परिचित हुए थे। हमारे चित्त में तभी यह इच्छा उत्पन्न हुई थी कि गुप्तजी की यात्रा का विवरण यदि पुस्तका-

कार निकले, तो बड़ा अच्छा हो। हर्ष की बात है कि हमारी उस समय की कल्पना से भी अधिक सुंदर संस्करण उनकी यात्रा का निकला। हिंदी-संसार के लिये तो वास्तव में यह अनूठी चीज़ है। अब तक कोई पुस्तक इस कोटि की, इस श्रेणी की, हिंदी-संसार में नहीं थी। गुप्तजी ने बहुत अच्छी पुस्तक हिंदी-संसार को भेंट की है। हिंदी में श्रीयुत साधुचरणप्रसाद के 'भारत-भ्रमण' के ५ भाग मौजूद हैं, तथा 'दुनिया की सैर' एवं स्वामी सत्यदेवजी की भ्रमण-संबंधी पुस्तकें आदि और भी दो-एक पुस्तकें हैं, जो मौलिक कही जा सकती हैं। पर गुप्तजी की 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' और इनमें बहुत अंतर है। एक तो यह कि वे एकांगी हैं; दूसरे यह कि वे केवल चित्र-विहीन वर्णन हैं। गुप्तजी की पुस्तक चित्रों और सर्वांगीणता की दृष्टि से उनसे कहीं अच्छी है। सामयिकता का भी इसमें काफ़ी समावेश है। हमारी धारणा है कि यात्रा-विवरण यदि सचित्र न हों, तो वे अधूरे रह जाते हैं। किंतु इसके साथ-साथ हमें यह भी कहना पड़ता है कि विषय की दृष्टि से जिस खोज एवं रोचकता के साथ भारत-भ्रमण लिखा गया है, उसका पृथिवी-प्रदक्षिणा में अभाव है। पृथिवी-प्रदक्षिणा में जो कुछ रोचकता है, वह उसके विदेश-वर्णन के कारण, वर्णन-शैली के कारण नहीं; और नवीनता में रोचकता का होना स्वाभाविक ही है। फिर भी हम यही कहेंगे कि विवरण की अपेक्षा चित्र ही 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' के गौरव को बढ़ाते हैं। इस पुस्तक में मानचित्र, रंगीन तथा सादे, सब मिलाकर २६४ चित्र हैं। इतने अधिक चित्रों से सुसज्जित, दूसरी कोई भी पुस्तक आज तक हिंदी में नहीं निकली। चित्र भी आकर्षक एवं कौतूहलवर्द्धक हैं; किंतु शोक है कि उनमें ऐतिहासिक खोज का अभाव है। यदि पर्याप्त ऐतिहासिक खोज के साथ कोई चित्र सामने आता है, तो पाठक पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है, और वह आवश्यक एवं अपेक्षित भी तो है।

पुस्तक में सब मिलाकर, अलग छपे हुए चित्रों और मानचित्रों को छोड़कर, ४१० पृष्ठ हैं। बड़े, अच्छे, चिकने और मोटे काग़ज़ पर छपी है। छपाई तथा प्रूफ़ के ख़याल से भी सुंदर एवं शुद्ध है। काशी के ज्ञानमंडल-कार्यालय द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि इतनी सामग्री होते हुए भी यह एक प्रकार से सस्ती है। सस्ती इसलिये कि एक तो यह स्थायी साहित्य में अपना ख़ास स्थान रखती है, दूसरे १२) में पृथ्वी की पूरी, सरसरी और नक़ली ही सही, सैर करा देती है। इससे कम ख़र्च में कदाचित् ही कोई और पृथिवी की प्रदक्षिणा कर लेने का उपाय हो। पर हमारी समझ में पुस्तक इससे भी अधिक सस्ती बनाई जा सकती थी। संभव है, सस्ती होने से पुस्तक का प्रचार भी अधिक होता, और गुप्तजी के उद्देश्य की पूर्ति होती—उनका 'भारत की चहारदीवारी' से बाहर जाने का संदेश दूर-दूर तक पहुँचता, जो समयानुसार पाठकों में उनकी मनोनीत आकांक्षा को उत्पन्न करता।



बारात के समय की मिश्री पालकी

बाबू शिवप्रसाद गुप्त के द्वारा हिंदी माता की अच्छी एवं प्रशंसनीय सेवा हो रही है। वह देश के उन इने-गिने धनी-मानी सपूतों में हैं, जिनके द्रव्य का सदुपयोग भूखे समाज, देश और साहित्य के लिये होता है, जिनका पैसा

व्यभिचार और कुमार्ग में नहीं जाता। हमें उन पर गर्व है। गुप्तजी ने हज़ारों रुपए देश के लिये ख़र्च किए होंगे, हज़ारों अपने विदेश-प्रवास में ख़र्च किए होंगे। फिर क्या थोड़ी-सी और उदारता इस पुस्तक के प्रति, जिसको उन्होंने अपनी 'सांसारिक यात्रा की सहचरी' को सस्नेह भेंट किया है, नहीं दिखाई जा सकती थी! गुप्तजी कृपा कर इसका कुछ दूसरा अर्थ न समझें। फिर मानचित्र और तसवीरें भी तो, जिनके लिये ४५००) ख़र्च करने पड़े हैं, अंत को उनकी ही संपत्ति है, जो दूसरे संस्करण में भी काम में लाई जा सकती है। ऐसे उत्तम और कौतूहल-वर्द्धक साहित्य को सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर देना हमारी दृष्टि में कला, अर्थ-शास्त्र, व्यापार, साहित्य तथा समाज, सभी दृष्टियों से अच्छा होता है। इस पुस्तक की एक हज़ार प्रतियों के प्रकाशन में केवल १००) संशोधन और संपादन-व्यय के निमित्त लिया गया है! अवश्य ही यह एक मार्के की बात है, और उस समय हिंदी-संसार की मनोवृत्ति का अच्छा ख़ाका खींचती है, जब जबलपुर की 'शारदा-पुस्तकमाला' की शुरू की कुछ पुस्तकों पर किए गए ख़र्च की इससे तुलना की जाती है। शारदा-पुस्तक-माला की कुछ पुस्तकों में कर्मचारियों का वेतन इतना अधिक था कि उतना कदाचित् लेखकों के पुरस्कार और छपाई आदि में भी ख़र्च न होता था! हमारा अनुमान है कि पृथिवी-प्रदक्षिणा के दूसरे संस्करण में एक तो यों ही पुस्तक का मूल्य कम हो जायगा; दूसरे गुप्तजी उसका मूल्य अधिक-से-अधिक कम करने का ख़याल रक्खेंगे। सस्ता साहित्य देना और लेखक और कवियों के लिये यथासाध्य सुविधाएँ करना ही वास्तव में साहित्य द्वारा समाज की सेवा करने का मुख्य मार्ग है।

अब हम पुस्तक के अंतरंग में प्रवेश करते हैं—नहीं, पुस्तक की भूमिका के लेखक श्रद्धेय बाबू भगवान्‌दासजी के शब्दों में "इस पुस्तक-रूपी रथ पर सवार होकर शिवप्रसादजी के साथ-साथ पृथिवी-प्रदक्षिणा प्रारंभ करते हैं।" इच्छा होती है कि "वर्तमान पृथ्वी-मंडल के मुख्य-मुख्य देशों के प्राकृतिक दृश्यों, वहाँ के मनुष्यों के रहन-सहन के प्रकारों तथा शिक्षा, रक्षा एवं जीविका-संबंधी संस्थाओं एवं व्यवस्थाओं के गुण-दोषों का ज्ञान", स्वयं प्राप्त कर, और पाठकों को भी हमारे द्वारा उसका आभास मिल जाय; किंतु कुछ भय लगता है। भारतवासी भी राबिंसन क्रूसो की तरह जिज्ञासु और कोलंबस की तरह खोजी हैं, इसलिये हमारे भय का कारण यह न समझना चाहिए कि नवीन वस्तुओं को देखकर परिवर्तन के भय से हम शंकित हैं। बात यह है कि जिस पृथिवी की प्रदक्षिणा



मिश्र का पाषाण स्तूप (Pyraund)

गुप्तजी ने सब साधनों से युक्त होकर २१ महीने में की, और संवत् १९७१-७२ के पश्चात् जिसका विवरण छपने में १० वर्ष लग गए, उसे हम कुछ ही घंटों में समाप्त कर डालना चाहते हैं। यही हमारे संकोच का कारण है। फिर, जैसा कि भूमिका-लेखक लिखते हैं, पुस्तक में सचमुच कई जगह कमी रह गई है। अतएव प्रदक्षिणा का विवरण अधूरा है। फिर भी "जितना हमको मिलता है", इसी का सधन्यवाद आनंद लेने में हमारी कोई हानि नहीं।

गुप्तजी की प्रदक्षिणा पढ़ते समय प्रसंगवश हमें सहसा कुछ प्राचीन भ्रमण करनेवालों का भी स्मरण हो आता है। बर्नियर और ट्रेवर्नियर जिस समय भारतवर्ष आए थे, उस समय भारत की कुछ दूसरी ही दशा थी। उस समय भारतवर्ष के रंगमंच पर मुसलमानी शासन का अभिनय हो रहा था। किंतु आज यदि फ्रांस के यात्री आकर यहाँ का दृश्य देखें, तो उन्हें उन यात्रियों के समय की छाया ज़रूर मिलेगी; पर काल की चपेटों के बहुतेरे नए दृश्य भी देखने को मिलेंगे। इसी प्रकार मेगस्थनीज़, फ़ाहियान और हुएनसांग के भ्रमण-वृत्तांतों में भारत की प्राचीन सभ्यता का जो परिचय मिलता है, वह आज के चीनी यात्री को न मिलेगा। उन्हें आज प्राचीन हिंदू राजों के वैभव के ध्वंसावशेष का पता भी न लगेगा। कारण स्पष्ट है। पर यह पुस्तक अभी ताज़ी है, और गुप्तजी ने १० वर्ष पूर्व भिन्न-भिन्न देशों में जो कुछ देखा था, उसमें बहुत अंतर तो क्या, कदाचित् कुछ भी उल्लेखनीय अंतर नहीं पड़ा होगा। हाँ, संवत् १९७१-७२ से संवत् १९८१-८२ तक के बीच में जो योरप का महायुद्ध हुआ है, उसके कारण कुछ देशों की राजनीतिक अवस्था में, और कुछ की आर्थिक स्थिति में तब की अपेक्षा आज अवश्य अंतर मिलता है। गुप्तजी की यात्रा के समय का सिंगापुर आज कुछ अधिक शक्तिशाली है। आज ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को सिंगापुर के भौगोलिक महत्त्व का कुछ अधिक ज्ञान हो गया है, और इस ताले की कुंजी को अधिक सुरक्षित रखने के लिये वे नए-नए आयोजन कर रहे हैं। पर सिंगापुर का जो अनुभव गुप्तजी को हुआ था, हमारी समझ में, वही अनुभव आज भी किसी परतंत्र भारत-वासी को हो सकता है। जिस प्रकार आप कालकोठरी में कारागार-वास का आनंद ले चुके हैं, इसी प्रकार उन्हीं



मिश्र देश की तुर्की महिला

की तरह का कोई भी प्रतिष्ठित-से-प्रतिष्ठित भारतवासी संदेह पर—केवल-मात्र संदेह पर—आज भी वहाँ क़ैद किया जा सकता है। परतंत्रता का इससे अधिक अमानुषिक अनुभव भारतवर्ष के गुलामों के लिये और क्या हो सकता है! हाँ, पराधीनता और स्वाधीनता की तुलना वे बाहर कई अंशों में कर सकते हैं।

फिर भी हमारे देश के निवासी गुलामी के छुटकारे के साधनों का उपयोग करना नहीं चाहते। गुलामी का बंधन संसार-भर में आज आर्थिक दासत्व है। यह बंधन उद्योग और शिक्षा की उन्नति से खोला जा सकता है। गुप्तजी ने कुछ देशों के शिक्षा-क्रम और उद्योग-धंधों का वर्णन किया है। हमारे देश के लोगों को उनके अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए। यात्रा के अनुभवों से होनेवाले

खाओं को लक्ष्य करके अँगरेज़-लेखक बेकन ने तो यहाँ तक लिख डाला है कि जिज्ञासु यात्री को एक शहर के ही किसी ख़ास मुहल्ले में निरंतर न रहना चाहिए, सदैव स्थान बदलते रहना चाहिए ; क्योंकि जो बात एक स्थान में दृष्टिगोचर नहीं होती, वह, संभव है, अन्यत्र मिल जाय।

अपनी यात्रा के अनुभव को अंकित करते हुए गुप्तजी ने भिन्न-भिन्न देशों के शिक्षाक्रम के अलावा कृपशाला, वेधशाला तथा वैज्ञानिक उन्नति का भी यथावकाश वर्णन किया है। इन उन्नतिशील पाश्चात्य एवं जापान के सदृश पूर्व के सभ्य देशों से जब हम किसी विषय में अपने देश की तुलना करते हैं, तो आकाश-पाताल का अंतर दिखलाई देता है। उदाहरणार्थ 'टस्केजी-विश्वविद्यालय"-शीर्षक परिच्छेद से हम कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं। इससे उक्त विश्वविद्यालय के शिक्षा-क्रम एवं शिक्षण-शैली का भी ख़ासा दिग्दर्शन होगा, जो इस देश के लिये सर्वथा लाभप्रद है—

"यह संस्था जहाँ पर स्थापित है, उस स्थान को एक छोटा-सा क़सबा कहना उचित है। छोटे-बड़े सब मिलाकर १०० मकान वहाँ हैं, जिनमें शिक्षालय के भिन्न-भिन्न विभाग, छात्रालय तथा शिक्षकों के रहने के स्थान हैं। सब मिलाकर ४० व्यावसायिक विषयों की शिक्षा यहाँ दी जाती है, जिनका प्रबंध केवल ५० लाख रुपए में हो गया है।—रात को हमने साधारण शिक्षा की रीति देखी। जिस कक्षा को हम देख रहे थे, वह सातवीं कक्षा थी। विषय लीवर था। हमारे यहाँ तो काले तख़्ते पर रेखाएँ खींचकर यह विषय समझा दिया जाता है, चाहे विद्यार्थी की समझ में आवे या नहीं ; किंतु यहाँ की रीति दूसरी ही है। यहाँ पर इस विषय के पाठ के लिये एक दो पहियों की बोझ ढोने की गाड़ी थी, कुछ ईंटें और एक तराज़ू था। एक बालक गाड़ी का कंपासबॉक्स उठाए हुए था। काले तख़्ते पर गाड़ी का बोझ तौलकर लिखा हुआ था। ईंटों का बोझ भी लिखा हुआ था। आदमी को कंपास उठाने में जितना बल लगाना पड़ेगा, इसी के जानने की आवश्यकता थी। पहले गणित की रीति से वह निकाला गया। फिर आदमी के हाथों को हटा वहाँ कमानीदार तराज़ू लगाकर वही ज्यों-का-त्यों दिखा दिया गया। लड़कों की समझ में गणित भी आ गया और लीवर का वास्तविक उपयोग भी। यह तीसरे प्रकार के लीवर का उपयोग था।

"क़वायद का दृश्य बड़ा ही उत्साह-जनक था। सब बालक झूठी बंदूक़ें लिए फ़ौजी बाजे के साथ ठीक फ़ौजी ढंग से क़वायद कर रहे थे।"

जब हम इस विषय को लक्ष्य में रखकर भारतीय विश्वविद्यालयों के क़वायद के सिलसिले का स्मरण करते हैं, तो हमें स्वयं विदित हो जाता है कि स्वतंत्र और परतंत्र देश में कितना और क्या अंतर होता है। क्या भारत के विश्वविद्यालयों में सैनिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं है? भारतवर्ष को अपनी अंतरंग और बहिरंग रक्षा के लिये कब तक दूसरों का मुँह ताकना पड़ेगा? कलकत्ता-विश्वविद्यालय इस दिशा में कुछ दिनों से अग्रगामी हो रहा है। दूसरे विश्वविद्यालय कब तक इधर चलने की सोचेंगे—यही देखना है। बालकों की तो बात ही दूसरी है, वहाँ लड़कियों को भी बंदूक़ लेकर ड्रिल करना सिखाया जाता है। पर हमारे देश में तो बंदूक़ का छूना ही पाप समझा जाता है, बंदूक़ चलाना सिखाना कैसा!

गुप्तजी आगे चलकर इसी प्रसंग में लिखते हैं—

"शिक्षा बालकों और बालिकाओं की कुछ विभिन्न प्रकार की है। गौण रूप से यहाँ पर लोहारी, बढ़ईगीरी, जूते बनाने, कपड़े सीने, सींक की वस्तुएँ बनाने, टोपी बनाने, कपड़े साफ़ करने, भोजन बनाने, विद्युत्-शक्ति को प्रयोग में लाने, मशीन चलाने, बुनने, मक्खन निकालने तथा भिन्न-भिन्न कृषि की देखभाल करने के काम भी विद्यार्थियों को सिखाए जाते हैं। विद्यार्थी ही सब काम करते हैं। ये कार्य वास्तविक उपयोगिता की दृष्टि से भी कराए जाते हैं; जिससे विद्यार्थियों को मज़ूरी भी मिलती है। इस तरह वे व्यवसाय सीखते हैं, और पढ़ने का व्यय भी निकाल लेते हैं। दोपहर को सब विद्यार्थी—पुरुष और स्त्री—फ़ौजी बाजे व अमेरिकन झंडे के साथ मार्च करके भोजन करने जाते हैं।"

अमेरिका और भारतवर्ष के शिक्षा-क्रम में कितना अंतर है! यदि उन विद्यार्थियों की तरह इस देश के बालक-बालिकाओं को भी सुविधाएँ दी जायँ, तो क्या संभव नहीं कि उनमें भी स्वावलंबन और राष्ट्रीयता के भावों का उदय हो? पर अर्थकरी और राष्ट्र-

भाव-पूर्ण शिक्षा मिले कहाँ से ? भारतवर्ष के लोग तो लकड़ी चीरने और पानी ढोने के लिये पैदा हुए हैं। राज-शक्तियाँ इनके लिये नहीं हैं। यही कारण है कि न तो यहाँ के बालकों को अर्थकरी शिक्षा ही पूर्ण मिल पाती है, और न शिक्षा का खर्च बालकों के ऊपर से कम होता है।

भारत-सरीखे धनहीन देश के लिये तो स्वावलंबन की शिक्षा ही अपेक्षित है। पर यहाँ के स्कूलों में तो चर्खे तक चलवाए नहीं जा सकते, अन्य प्रकार की व्याव-सायिक एवं अर्थकरी शिक्षा का दिया जाना तो बहुत दूर की बात है। शिक्षा में यहाँ दूसरी वास्तविक कठिनाई यह है कि शिक्षक लोग किसी भी विषय को पढ़ाते समय रोचकता एवं कौतूहल नहीं उत्पन्न कर सकते। जो इने-गिने शिक्षक ऐसा कर भी सकते हैं, वे एक तो शिक्षा-विभाग में आदर नहीं पाते, दूसरे उन्हें ऐसे साधन भी अप्राप्य हैं। भारतवर्ष के शिक्षा-क्रम में जब तक अर्थकरी शिक्षा का समावेश न होगा, तब तक इस देश के बालकों में स्वावलंबन की स्फूर्ति उत्पन्न करने के लिये विदेशों का उदाहरण लेना अनिवार्य है।

टस्केजी विश्वविद्यालय के अंतर्गत गोशाला एवं कृषिशाला भी है। गुप्तजी उसका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"गोशाला में बच्चे नहीं हैं। वे जनमते ही अलग कर दिए जाते हैं; किंतु गाएँ बराबर दूध देती हैं। यहाँ कलकत्ते की भाँति फूका नहीं लगाया जाता; केवल हाथों से स्तनों को सुहलाने से गौ दूध देती है। गोशाला बड़ी ही साफ़ एवं सुथरी थी, दुहनेवाले विद्यार्थी भी साफ़ थे। दुहने के पूर्व स्तन धो लिए जाते हैं, दुहने का पात्र बंद रहता है। एक महीन कपड़े की छाप होती है, जिस पर साफ़-सफ़ेद कपड़ा पड़ा रहता है। दूध कपड़े में गिरता और भीतर दोहनी में चला जाता है। दूध यहाँ से दूध-घर को भेजा जाता है। यह घर बड़ा ही साफ़ था, सब ज़मीन धो-धाकर स्वच्छ की गई थी। पहले दूध भाप द्वारा गरम किया जाता है, जिससे रोग के जंतु उसमें हों, तो मर जावें। फिर ठंडा करके बोतल में बंद कर दिया जाता है। यही क्रम यहाँ सारे देश में है।"



सर्पोरी पशुशाला

उसी विश्वविद्यालय की अंतर्गत कृषिशाला का वर्णन लीजिए। गुप्तजी ने यहाँ एक मज़दूर को देखा, जिससे हमारे देश के बाबू लोग बात भी न करेंगे; किंतु वह मज़दूरी ही करते-करते ऐसे आविष्कार कर रहा है, जिन-से थोड़े ही दिनों में संसार को चकित होना पड़ेगा। वह व्यक्ति यहाँ मिट्टी से रंग निकालने के काम में तन-मन से लगा था। इसने प्रायः सभी रंग मिट्टी से निकाले हैं। "संक्षेप में यहाँ की शिक्षा विद्यार्थियों को व्याव-सायिक कामों में निपुण बना देती है। उच्च शिक्षा, जिसे कालेज की शिक्षा कहते हैं, यहाँ नहीं दी जाती। यहाँ मनुष्य के हाथ और मन, दोनों को ट्रेनिंग दिया जाता है। यहाँ की सभी इमारतें विद्यार्थियों ने बनाई हैं। विद्यालय के लिये अन्न, शाक-पात, फल-फूल, सब कुछ विद्यार्थी ही इसी भूमि पर उपजाते हैं। इससे स्वतंत्र बनने की भारी शिक्षा यहाँ मिलती है।"

ठीक ही है। स्वतंत्र देश के बालक ही स्वतंत्र होने की शिक्षा प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत परतंत्र देशों में क्लर्क और दिमाग़ी गुलाम तैयार किए जाते हैं।

कितना महान् अंतर है ! अभी हाल में कहने-सुनने पर यहाँ के एक शिक्षा-विभाग ने हस्त-शिक्षण का काम, और वह भी अनुभव के तौर पर, शुरू किया है। क्या इस देश के विश्वविद्यालय हस्त-शिक्षण का भी महत्त्व नहीं समझते कि इस विषय को अनिवार्य रूप से जारी कर सकें। शिक्षा का मूल मंत्र मानव-कल्याण है और इसके लिये नैतिक, मानसिक एवं शारीरिक, तीनों प्रकार की शिक्षा आवश्यक है । अमेरिका-जैसे देश में इसी प्रकार की सर्व-गुण-संपन्न शिक्षा दी जाती है। हमारा देश उससे वंचित है, इसीलिये वह गुलाम है। एक और विशेष बात, जो शिक्षा के लिये आवश्यक है, और जो विदेशों में पाई जाती है, यह है कि बालक को उसकी रुचि के अनुकूल शिक्षा दी जाती है। इस देश के बालक इस इच्छा-स्वातंत्र्य से वंचित हैं । इसी कारण उनका विकास नहीं हो पाता। कहने का तात्पर्य यह कि विदेशों ने तो हमारे देश की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के ढंग को भी अपना लिया, किंतु हम उलटे उसे भूल गए। हमारा विश्वास है कि जब तक शिक्षक विद्यार्थियों की अंतरंग आत्मा में प्रवेश न करेगा, तब तक न तो वह उपयुक्त शिक्षा दे सकता है, और न उसकी शिक्षा लाभ-प्रद हो सकती है । टस्केजी-विश्वविद्यालय में १०० विद्यार्थियों को छोड़कर प्रायः सब विद्यार्थी छात्रशाला में निवास करते हैं, और वहीं भोजन पाते हैं । शिक्षकों के सहवास में ही उनका सारा समय बीतता है। स्त्रियों को उनके अनुकूल शिक्षा दी जाती है ।

गुप्तजी ने इसी परिच्छेद के भीतर एक स्थान पर शिक्षकों की ट्रेनिंग की भी चर्चा कर दी है। हमारे यहाँ प्रांत-प्रांत में रेगुलर ट्रेनिंग कॉलेज हैं, जिनमें न-जाने कितना द्रव्य ख़र्च हो चुका, और आगे कितना होगा। यहाँ के शिक्षकों को एक काफ़ी समय तक ट्रेनिंग दी जाती है। पर उक्त विश्वविद्यालय में ट्रेनिंग क्लास साल में केवल ४ सप्ताह के लिये, वह भी केवल गर्मियों में, लगती है। उसमें दक्षिणी तथा उत्तरीय प्रांतों के सब मिलकर ३०० शिक्षक आ जाते हैं। एक बार ट्रेनिंग से निकल जाने पर वहाँ यह आवश्यक नहीं कि शिक्षक उस्ताद हो चुका— अब सीखने की ज़रूरत नहीं रही, यह मान लिया जाय । बात यह है कि अमेरिकन शिक्षा का सिद्धांत यह है कि मनुष्य जन्म-भर कुछ-न-कुछ सीखने के लिये है । इसीलिये वहाँ इतनी उन्नति है कि मामूली दर्ज़ी भी फ़ुरसत के समय का उपयोग कर मशीनें और ऐसे यंत्र आदि बनाते हैं, जिन्हें हमारे यहाँ के कारीगर स्वप्न में भी नहीं सोच सकते। गुप्तजी बहुत सत्य लिखते हैं—"हमें इस समय जितनी आवश्यकता निपुण लोहार, दर्ज़ी, मेमार, व्यवसायी तथा भिन्न-भिन्न यंत्रकारों और कृषकों की है, उतनी दूसरों का धन सत्यानाश करनेवाले वकीलों तथा सफ़ेदपोश बाबुओं की नहीं।" देश के विश्व-विद्यालयों को इस ओर ज़रा ध्यान देना चाहिए।

यह तो हुई अमेरिका की बात। अब हम जापान के शिक्षा-क्रम पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं। अमेरिका के शिक्षा-क्रम और पाठ्य-प्रणाली में हमने वस्तुतः बालकों की शिक्षा का ही उल्लेख किया है ।



पानी निकालने की ढेकुली

पर यह जापान का महिला-विश्वविद्यालय है। इस महिला-विश्वविद्यालय का निम्नलिखित कल्पनाओं के आधार पर निर्माण हुआ था—

(१) स्त्रियाँ गाय, बकरी या यंत्र नहीं, मनुष्य हैं। उनकी शिक्षा भी ऐसी होनी चाहिए, जो मनुष्यों के लिये उपयोगी हो।

(२) स्त्रियाँ पुरुषों की दासियाँ नहीं हैं। इसलिये उनकी शिक्षा में इसका विचार करना उचित नहीं कि वे पुरुषों की गुलाम बनाई जायँ। उनकी शिक्षा का सिद्धांत यह है कि वे स्वतंत्र जीवन-संग्राम के लिये कटिबद्ध हों।

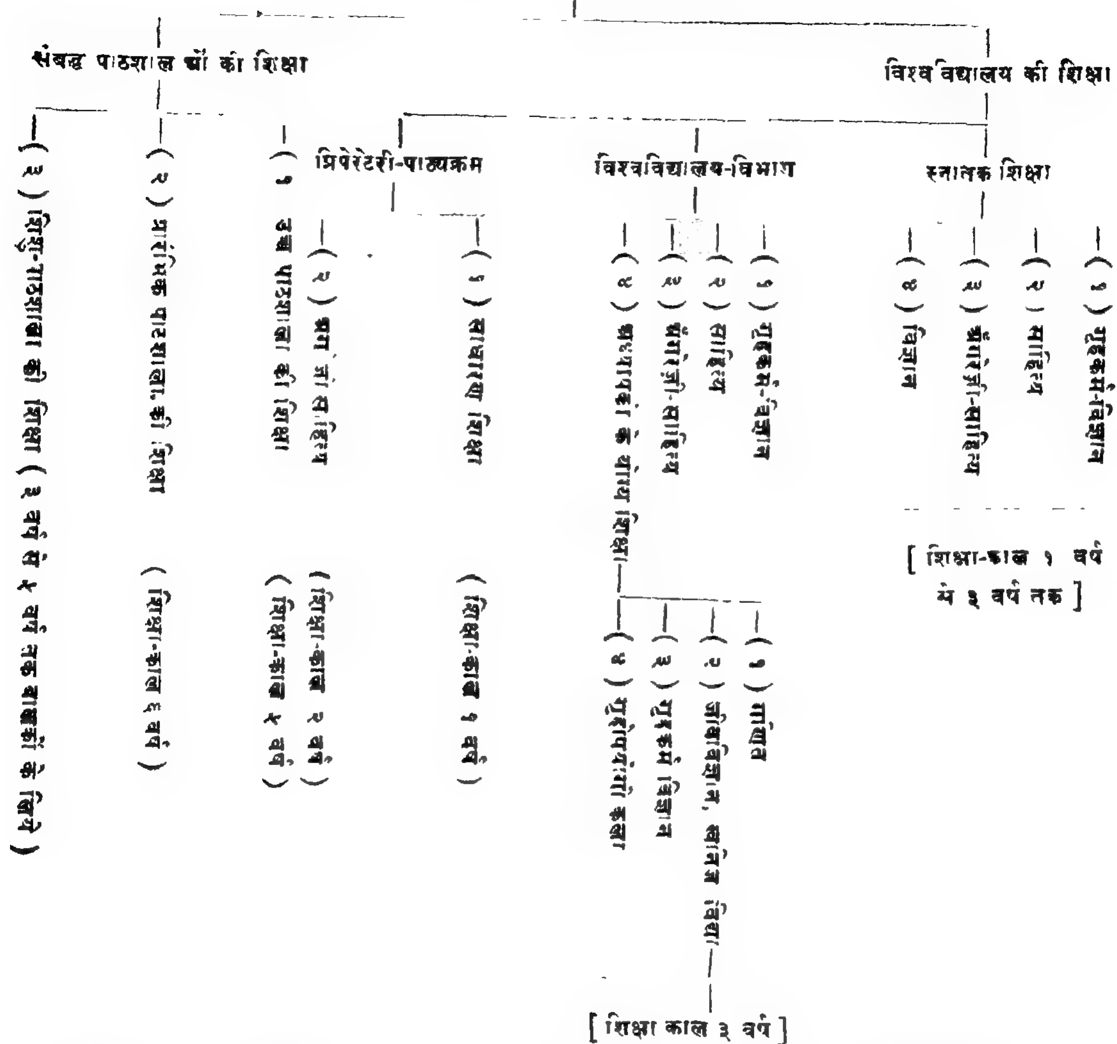
(३) स्त्रियाँ मानव-समाज का अंग हैं। इसलिये उनकी शिक्षा का विचार उस सिद्धांत से होगा, जिससे मानव-समाज की जीवन-यात्रा में सुख की वृद्धि हो।

जापान में इन्हीं सिद्धांतों पर स्त्री-शिक्षा का प्रचार हुआ, और इनको सफलीभूत देखने के लिये उनके अनुकूल ही पाठ्य-क्रम निर्द्धारित हुआ। गुप्तजी की यात्रा के समय इस विश्वविद्यालय का पाठ्य-क्रम जिस प्रकार का था, उसे हम उन्हीं की पुस्तक से देते हैं—"यहाँ शिक्षा के कुल चार विभाग किए गए हैं। इन चारों विभागों में नीचे जिन-जिन विषयों की चर्चा की गई है, उनमें भी उन्हीं विषयों से संबद्ध विषय पढ़ाए जाते हैं। किंतु चारों विभागों में कुछ विषय ऐसे भी रक्खे गए हैं, जो अनिवार्य हैं। प्रत्येक विभाग की बालिका को ये विषय जानने, पढ़ने एवं अनुभव करने पड़ते हैं। यथा—

१—सदाचार या नीति विषयक शिक्षा, २—साधारण सदाचार, ३—आत्म-तत्त्वज्ञान, ४—अध्यापकों के योग्य शिक्षा, ५—अँगरेज़ी, ६—व्यायाम। अस्तु, इन अनिवार्य विषयों के साथ-साथ बालिकाओं को भिन्न-भिन्न श्रेणी में भिन्न-भिन्न कार्य-क्रम के अनुसार शिक्षा दी जाती है।" क्या जालंधर का कन्या-महाविद्यालय और कर्वे महाशय का विद्यापीठ इस ओर ध्यान देगा?



सहस्त्र बाहु कानन की मूर्ति



यहाँ तक तो हमने शिक्षा-क्रम और डेयरी-कार्यक्रम का उल्लेख किया है। हमारे देश के लिये ये बहुत आवश्यक बातें हैं। जीवन-मरण का प्रश्न, आत्मरक्षा और आत्माभिमान की समस्या एवं सामाजिक विकास की पहेली इन्हीं के अंदर है। अब हम एक अर्थशास्त्र के प्रश्न को लेते हैं। वह है पशु-हत्या। विदेशों में पशुओं की रक्षा इसीलिये होती है कि वे उपयोगी समझे जाते हैं—नहीं, उनसे लाभ उठाया जाता है। यदि हमारे देश के लोग भी पशुओं को उपयोगी—आमरण उपयोगी—बना लें, तो पशु हत्या के साथ-साथ, बल्कि उससे पहले ही, गो-हत्या मिट सकती है—अधिकांश में दूर हो सकती है। संसार का यह नियम है कि वह बेकार वस्तु की उपेक्षा करता है। किसी वस्तु के निष्प्रयोजन होने से उसका नाश भी अवश्य एवं शीघ्र ही होता है। उपयोग में लाई जानेवाली तलवार हमेशा चमकती रहती है। इसके विपरीत उससे काम न लिया जाय, तो उस पर जंग चढ़ जाता है। धीरे-धीरे तत्त्व भी तत्त्वों में मिलने लगते हैं। विदेशी वैज्ञानिक अब तक कुल चार ही तत्त्व खोज सके हैं, पर हमारे शास्त्रकारों ने पाँच तत्त्व दिखाकर इसे एक अर्थशास्त्र का विषय बना दिया है। अस्तु, बेकार गउओं का अर्थशास्त्र की दृष्टि से—धर्म की दृष्टि से नहीं—फिर क्या उपयोग हो सकता है? यही कि उनका वध



जापान के पहलवान

हैं, और वे ही अंत को पाप के भागी होंगे। एक नियम है कि समाज पूत ही सपूत होता है। हिंदू-समाज आज दरिद्र है। दानशीलता की भावना यद्यपि हिंदुओं में जीवित है, तथापि दरिद्रता आड़े आती है। अज्ञान भी इतना ज़बर्दस्त घुसा हुआ है कि "लाला-जी ज़िंदगी-भर पाप करके मरते वक़्त गाय की पूँछ पकड़कर वैतरणी पार करना चाहते हैं।" अरे हो न? हिंदू-समाज और हिंदू-धर्म आज इतने निर्बल हो गए हैं कि अपनी ही रक्षा नहीं कर सकते, पशुओं की रक्षा तो दूर है। गत वर्ष कटनी (सी०पी०)-गोशाला के वार्षिक अधिवेशन में हमने गउओं की रक्षा पर बोलते हुए कहा था कि बाँझ आदि गउओं से बैलों का काम लिया जाय। जिस प्रकार बैलों को हल और गाड़ी में जोतते हैं, उसी प्रकार इनका भी उपयोग हो। जिन देशों को अर्थ-शास्त्र का ज्ञान है, उनमें बेकार वस्तु को काम की बनाकर उसका उपयोग किया जाता है। गुप्तजी की भी सम्मति यही है। वह लिखते हैं—"यदि घोड़ी, ऊँटनी, हथनी, बकरी या स्त्री वे सब कार्य कर सकती है, जो घोड़े, ऊँट, हाथी, बकरे या पुरुष कर सकते हैं, तो मैं नहीं समझता कि गौ वह काम क्यों नहीं कर सकती, जो बैल कर सकता है। मैं इसे आर्थिक प्रश्न समझता हूँ, धार्मिक नहीं; क्योंकि गो-संतान पर हमारी खेती निर्भर है, और खेती पर हमारा जीवन तथा देश को भविष्य आशा। गो-संतान गोमाता पर निर्भर है।"

यह प्रत्यक्ष है कि जिन बेकार बूढ़ी गउओं को समृद्धि-शाली धनी मनुष्य पालकर नहीं खिला सकते, उन्हें दरिद्रों को दान देकर वे कैसे यह आशा कर सकते हैं कि गो-रक्षा हो सकेगी? 'मरी बछिया बाम्हन के नाँव' की जनश्रुति को चरितार्थ करनेवाले लोगों को यह स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकार वे स्वयं अपने कार्य से गोहत्या में योग देते भई, उसे तो अपनी ही देह भारू है, तुम्हारे पापों का बोझ वह कैसे उठा सकती है? इसलिये यदि गउओं को उपयोगी बना दिया जाय, तो लालाजी भूसा डालने की बला से बच जायँ, और गो-हत्या भी किसी अंश में कम हो जाय। गउओं का उपयोग अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से ही इस समय करना श्रेयस्कर है। समय ने धर्म की मर्यादा को तोड़ दिया है। उसकी रक्षा के लिये हिंदुओं को चाहिए कि अर्थ-शास्त्र की ढाल उठावें; नहीं तो गो-रक्षा के प्रयत्न में वे कृतकार्य नहीं हो सकते। आख़िर बंध्या हुओं को कोई कब तक श्रद्धा से खिलाता-पिलाता रहेगा? मुसलमानों और अँगरेज़ों से इसकी आशा करना व्यर्थ है।

गुप्तजी ने जहाज़ पर जो पशु-हत्या देखी थी, उसे देखकर उन्हें गो-हत्या का स्मरण हो आया। उनकी समझ में हिंदुओं के गो-हत्या बंद करने में सफल न होने के तीन कारण हैं। वह लिखते हैं—

"(१) एक मोटा कारण है देश की दरिद्रता। खेती दिनो-दिन बढ़ती जाती है, किंतु उसका पूरा लाभ हम नहीं उठा पाते। हमारे पसीने से उत्पन्न किया हुआ अन्न हमसे छीनकर विदेशों को भेज दिया जाता है। यदि तृण की कमी होगी, तो पशु क्या खाकर रहेंगे? इत्यादि।

"(२) मांस-भक्षियों की गो-मांस पर रुचि है।



कच्छप की पीठ पर शिला-लेख (जापान)

"(३) सबसे दुःखदायी कारण यह है कि गौ का मूल्य कम है । ठाँट किसी काम की न होने के कारण बहुत सस्ती बिकती है । भारतवर्ष के कृषि-प्रधान देश होने के कारण बैलों की माँग अधिक है । निदान बैलों का मूल्य गौओं की अपेक्षा दुगना-तिगना है । गौ केवल उसी समय तक उपयोगी समझी जाती है, जब तक दूध देती है । वह ठाँट हुई, और उसकी उपयोगिता घटी । बड़ी-बड़ी गौएँ एक-दो बियान के बाद ठाँट हो जाती हैं । कारण यह है कि उन्हें चलने-फिरने का कम अवकाश मिलता है । उन पर चर्बी चढ़ जाती है, और वे बच्चा नहीं देतीं । दूसरे, बैल की अधिक माँग होने से अच्छे साँड़ों की भी बहुत कमी है । ठीक जोड़ के साँड़ न मिलने से गौओं के बछड़े जनमते ही मर जाते हैं, और बहुत-सी अवस्थाओं में बरधाने के बाद गौएँ उलट देती हैं । इन्हीं उपर्युक्त कारणों से अच्छी, मोटी, भारी गौओं में भी बहुत ठाँट पाई जाती हैं । फिर हिंदू लोग धर्म के ख़याल से इनसे और कोई कार्य नहीं लेते और पास रखने की सामर्थ्य न होने के कारण ब्राह्मण को दान कर देते हैं । परिणाम यह होता है कि क़साइयों के हाथ से उनकी जान जाती है । हमें विश्वास है कि गो-भक्त हिंदू और राष्ट्र के नेता गो-वध की पहेली पर नए सिरे से विचार करेंगे । आख़िर कब तक गो-वध होता रहेगा, और कब तक इस देश के बच्चे चुल्लू-चुल्लू-भर दूध के लिये तरसते रहेंगे ?"

है तो यह 'पृथिवी-प्रदक्षिणा'; पर इसे एक प्रकार की वैसी ही परिक्रमा समझिए, जैसी विंध्यादेवी या चित्रकूट के यात्री करते हैं । उतावला पाठक हमारी तरह यही समझेगा कि इसमें पृथ्वी-मात्र का वर्णन मिलेगा । किंतु हमारी ही तरह उसे भी निराश होना पड़ेगा । वास्तव में, जैसा कि हम पहले कहीं लिख चुके हैं, यह अधूरा वर्णन है । पर यही क्या कम है ? जितना कुछ है, उतना ही अच्छा है । संसार की प्रत्येक वस्तु से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना हमारा कर्तव्य है । इस पुस्तक में अमेरिका, जापान और योरप का ही वर्णन मिलता है । आफ़्रिका, आस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपों अथवा अन्य द्वीप-पुंजों का नहीं । मिसर, चीन आदि जो देश यात्रा के प्रसंग में आ गए, उनका भी उल्लेख है । फिर भी २१ महीने की यात्रा का जितना और जैसा कुछ वर्णन है, वह हम लोगों के समझने के लिये एक प्रकार से पर्याप्त नहीं, तो अपर्याप्त भी नहीं है ।

संसार के प्रायः सभी देशों में अन्य देशों के निवासी भी पाए जाते हैं । जिस तरह भारतवर्ष में अँगरेज़, यहूदी, चीनी और जापानी आदि विदेशी हैं, उसी प्रकार किसी



'कुआन-सिआंग-ताई' नाम की वेधशाला (चीन)

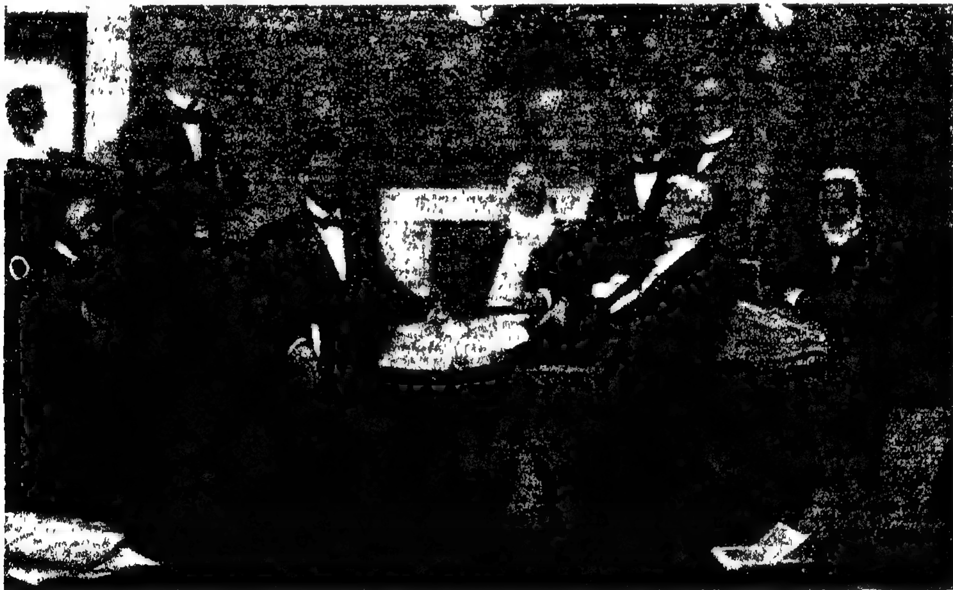
सामाजिक विनिमय के लिये अमेरिका आदि देशों में भी दूसरे देशवालों की बस्तियाँ हैं। गुप्तजी के साथ हम अमेरिका की एक चीनी बस्ती देखने चलते हैं। अमेरिका के प्रधान-प्रधान शहरों में 'चाइना-टाउन' नाम की एक-एक बस्ती या मुहल्ला है। इसे ही चीनी बस्ती कहते हैं। यहाँ चकले दिखलाई देते हैं, जहाँ वेश्याएँ बैठी रहती हैं। "सारे अमेरिका में वेश्याओं या व्यभिचार की कमी नहीं है, प्रत्युत अधिकता ही है। यद्यपि इँगलैंड और अमेरिका में चकले एवं वेश्याएँ नहीं हैं, पर व्यभिचार होता बहुत काफ़ी मात्रा में है, और इसके लिये दूसरी व्यवस्था है। अमेरिका के नगरों में सैलून या शराब पीने की जगहों में यह कार्य होता है। स्त्री-पुरुष वहीं चले जाते हैं। शराब बेचनेवाले से कह देने से ही काम चल जाता है। इन्हीं दूकानों के पास बहुत-से छोटे-छोटे होटल रहते हैं, जिन्हें चकला या अड्डा कहना चाहिए। इँगलैंड में हज्जामों की दूकानों पर नाखून काटने के लिये जो लड़कियाँ रहती हैं, वे इसी काम के लिये रक्खी जाती हैं। लंदन तथा न्यूयार्क में नाखून काटने तथा मालिश करने की हज़ारों दूकानें हैं। इन सबको इसी प्रकार के अड्डे समझना चाहिए। पर उन्हें कोई बुरा नहीं कहता, और न ऐसी स्त्रियाँ समाज में ही वैसी बुरी समझी जाती हैं, जैसी हमारे देश में वेश्याएँ समझी जाती हैं।"

इस वृत्तांत से हम गुप्तजी की अपेक्षा कुछ अधिक अनुमान करते हैं। भारत में यदि इसी दृष्टि से विचार किया जाय, तो कदाचित् इतना ही व्यभिचार मिलेगा। वेश्याओं का होना तो यहाँ अतिरिक्त व्यभिचार है। दक्षिण-भारत के प्रांतों में जाइए, आपको पान की दूकानों पर बहुधा स्त्रियाँ ही मिलेंगी। इनकी तुलना आप नाखून काटनेवाली योरप की औरतों से कर लीजिए। योरप में भी किसी समय इससे भी अधिक खुल्लमखुल्ला व्यभिचार होता था। मालूम नहीं, अब यह बात ऐसी है या नहीं; पर उन दिनों लंदन और योरप के अच्छे-अच्छे बड़े नगरों में जगह-जगह व्यभिचार के अड्डे थे। वहाँ यह भी नियम था कि ऐसी स्त्रियों के जब बच्चा होता था, तो वे उसे एक ख़ास जगह पर पहुँचा देती थीं, और आप फिर ज्यों-की-त्यों अछूती निकल आती थीं। इन बच्चों की रक्षा स्टेट की ओर से होती थी। प्रसिद्ध औपन्यासिक रेनाल्ड ने अपने उपन्यासों में उस समय के व्यभिचार का ख़ासा चित्र खींचा है। हमारे एक अनुभवी मित्र का कहना है कि बहुतेरे अँगरेज़ सैनिक आज इसी वंशपरंपरा के देखे जाते हैं। चाहे जो हो, तब से आज की स्थिति में अंतर ज़रूर है। विदेशों ने अपने यहाँ सुधार कर लिया है। उन्होंने किया क्या है कि मानवी दुष्प्रवृत्ति को न रोककर उसे परदे की आड़ में कर दिया है। इसके विपरीत हमारे यहाँ दिन-पर-दिन उसका परदा फ़ाश होता जाता है। ऐयाश मुसलमानों के राज्यों के साथ-साथ हिंदुओं का भी नैतिक पतन हो गया। आज भारतवर्ष का यह हाल है कि माता-पिता तो ठेकेदार हैं, और उन्हीं की पुत्रियाँ उनकी रोटी का

ज़रिया। अँगरेज़ी-राज्य की शोषण-नीति ने इस आग में आहुति का काम किया है। ऐसे आत्माभिमान-रहित एवं मनुष्यत्व-हीन माता-पिताओं में मुसलमानों की संख्या बहुत अधिक है। मानवी प्रवृत्ति की दुर्द्धर्षता के साथ-साथ भारत की दरिद्रता भी इसका प्रधान कारण बनी हुई है। हाँ, प्रवृत्ति का रोकना तो ज़रा मुशकिल है; पर दरिद्रता दूर होने से कुछ-न-कुछ सुधार ज़रूर हो सकता है। पराधीन जगत् में दरिद्रता-जनित व्यभिचार अधिक मिलता है; जो स्वेच्छा अथवा मानव-प्रकृति से नहीं, धन के लिये होता है। फिर धीरे-धीरे वही स्वभाव बन जाता है। इसके विपरीत जहाँ दरिद्रता नहीं है, वहाँ व्यभिचार मदोन्मत्त प्रवृत्ति का परिणाम है। विदेशों में मदोन्मत्त प्रवृत्ति का ही व्यभिचार प्रायः देखने में आता है।

आता है कि पति का ही धर्म नारी-धर्म है। अस्तु, इस प्रकार धर्म केवल पुरुषों का रह गया; स्त्रियाँ तो उनके ही धर्म की माननेवाली हैं। क्या ही अच्छा हो कि पुरुषों का यह धर्म भारत में राष्ट्र धर्म और संसार में विश्व-धर्म बन जाय। क्या कल्कि-अवतार का यह उद्देश्य असंभाव्य है, जिस दिन समस्त मानव-जगत् शुद्ध हो जायगा।

हमारे देशवासियों में एक भारी त्रुटि यह है कि वे जाते तो विदेशों से कुछ सीखने के लिये हैं, पर अधिकांश वहाँ से केवल उनके वैभव का दृश्य ही साथ लेकर लौटते हैं। ख़ैर, गुप्तजी तो केवल प्रदक्षिणार्थ ही गए थे। हम मानते हैं कि इससे भी कुछ लाभ होता है; पर यह कोरा वैभव वास्तव में उपयोगी नहीं, जब तक इसके आधिपत्य की कुंजी न प्राप्त कर ली जाय। इस कुंजी



स्वाधीनता की घोषणा (अमेरिका)

कदाचित् इसी मानवी प्रवृत्ति की प्रचंडता को देखकर जापान ने अपने सामाजिक जीवन में कुछ विशेष सुधार किए हैं। जापान है तो प्राच्य-धर्मावलंबी, पर वहाँ भिन्न-भिन्न धर्मावलंबियों में विवाह होने की प्रथा का जारी होना कुछ सामाजिक रहस्य प्रकट करता है। इतना ज़रूर है कि पत्नी को पति का धर्म स्वीकार कर लेना पड़ता है। यदि जापान के इस दृष्टांत और अन्य देशों के दृष्टांतों को लेकर विचार करें, तो सर्वत्र यही देखने में

को बहुत कम लोग साथ लेकर लौटे हैं। जापान के राजा मिकाडो जिस समय योरप का भ्रमण करने गए थे, तो अपने साथ योरप का वैभव लाए थे—नहीं, जापान का ही वैभव वास्तव में लेकर लौटे थे। पत्र-पत्रिकाओं में भी यही बात अक्सर देखने में आती है कि अमुक प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति अमेरिका अथवा योरप में हुई। पर उसकी कुंजी निकालकर देने में जितना लाभ है, उतना उसका वैभव बतलाने में नहीं। दफ़्तर के

बालू की तरह लाखों का टीटल लगा देने में वह मज़ा नहीं, जो गिनकर उन्हें सहेजने में है। यही अंतर दोनों में है। 'हमारे दादा ने घी खाया था, हमारी मूँछें सूँघ लो'—तर्क आज भौतिक उन्नति के लिये यह कोई नहीं रहा। हमें शोक से लिखना पड़ता है कि गुप्तजी के पर्यटन-विवरण भी अधिकांश में केवल-मात्र विदेशों के वैभव का दिग्दर्शन-मात्र है। कुछ थोड़े-से जापानी उद्योग-धंधों का वर्णन गुप्तजी ने ज़रूर किया है; पर उससे नाम-मात्र को ही लाभ उठाया जा सकता है। अच्छा हो कि हमारे प्रवासी भारतीय बंधु अपने साथ कुछ व्यावहारिक ज्ञान लेकर लौटा करें। मनोरंजन केवल कला का पोषक है; पेट भरने के बाद ही वह पालन-योग्य है, अन्यथा नहीं।

संसार का वैभव देखते-देखते तो ग़रीब लोग ऊब उठे। रूस ने राज-शासन को उलट दिया, ज़ार-वंश के वैभव को धराशायी कर दिया। संसार में सोशियालिज़्म और कम्यूनिज़्म फैल रहे हैं। इसलिये ज़रा ग़रीबों की दुनिया के अंदर क़दमरंजा फ़रमाइए। कोरिया की ओर देखिए। यह जापान नहीं, ग़रीब कोरिया है, जो धन-सत्ता के आघातों से पड़ा कराह रहा है। कोरिया का ऐतिहासिक वैभव औरों की तरह शानदार है; पर वह आज साम्राज्यवाद के चंगुल में है। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने यहाँ भी वैसा ही जाल बिछा रक्खा है, जैसा भारतवर्ष में। दरिद्र देशों की दरिद्रता से लाभ उठाने का आयोजन कहाँ नहीं देखने में आता? गुप्तजी ने अपनी पुस्तक में प्रायः सर्वत्र सामाजिक आचार-विचारों पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसी कोरिया के निवासियों के भोजन आदि का वर्णन करते हुए गुप्तजी लिखते हैं—

"यहाँ के लोग दिन-रात में तीन बार भोजन करते हैं—प्रातःकाल कलेवा, दोपहर में रसोई और रात्रि में ब्यालू। खुशहाल लोग चाँवल का अधिक प्रयोग करते है; किंतु निर्धन जन ज्वार-बाजरे के भात से ही काम चलाते हैं। ये लोग दाल हमारी भाँति नहीं खाते, किंतु उसकी पीठी बनाकर भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ बनाते हैं। भात के अतिरिक्त नाना प्रकार की भाजी और सूखी मछली इनका प्रधान खाद्य पदार्थ है। इनके अतिरिक्त हर प्रकार के जलचर, भूचर, नभचर जीव-जंतुओं का मांस भी ये लोग प्राप्त होने से खा लेते हैं। पशुओं के आंतरिक यंत्र—यकृत्, प्लीहा इत्यादि—यहाँ असाधारण उत्तम खाद्य पदार्थ समझे जाते हैं। यहाँ नोन-मिर्चा पर अधिक रुचि है। पियाज़ भी व्यवहार में आता है। तिल का तेल भी खाया जाता है। गाय-बकरियों के रहते हुए भी यहाँ दूध-घी का व्यवहार बहुत कम है।"



चीन की राज्यक्रांति का दृश्य (१)

कोरिया की सभ्यता का अंदाज़ा इससे सहज ही लगाया जा सकता है। हमारी धारणा है कि खान-पान और आचार-विचार से किसी देश की सभ्यता का पता तो चलता है, पर यह सब अधिकांश में स्थान-विशेष के जल-वायु पर निर्भर है। प्रकृति ने स्वयं सब साधन एकत्र कर दिए हैं। संसार के भिन्न-भिन्न देशों में इस तरह के अनेक परिवर्तन दिखलाई देते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यहाँ से अब गुप्तजी एशिया के प्रथम प्रजा-तांत्रिक देश में प्रवेश करते हैं। आइए, हम और आप भी चलकर देखें। यह देश चीन है। इस प्रकरण में गुप्तजी ने शासन-संबंधी कुछ तथ्य की बातें बतलाई हैं, जिन्हें हम आवश्यक समझकर उद्धृत करते हैं। भारत की वर्तमान राजनीतिक उथल-पुथल के समय इनसे कुछ लाभ उठाया जा सकता है।

इसके विपरीत है। राज काज का काम ऐसा-वैसा नहीं है, जिसमें किसी को देश के सभी स्त्री-पुरुष सम्मिलित हो सकें, अथवा उसका संचालन कर सकें। यद्यपि स्वराज्य का अर्थ इतने दिनों में बहुत कुछ लोगों की समझ में आ गया होगा; तो भी उसके संबंध में गुप्तजी के प्रौढ़ विचारों को यहाँ देना हितकर ही होगा। वह लिखते हैं—

"स्वराज्य एक विलक्षण प्रकार की परतंत्रता का नाम है। उसमें एक विशेष प्रकार के दायित्व के भाव से प्रत्येक मनुष्य को बँधना पड़ता है। स्वराज्य में निज के बहुत-से स्वार्थों का त्याग आवश्यक रहता है, साथ ही जनता के सामूहिक स्वार्थ का प्राधान्य भी मानना होता है। वह एक प्रकार का नियमित जीवन है, जिसकी अधीनता में आकर प्रत्येक मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता छोड़नी पड़ती है।

"मोटी निगाह से यह एक उलटी बात मालूम पड़ेगी,



चीन की राज्यक्रांति का दृश्य (२)

पाठक यदि ३-४ वर्ष पूर्व के वायुमंडल में अपनी स्मृति का प्रवेश होने दें, तो उन्हें स्मरण आ जायगा कि जिन दिनों स्वराज्य और असहयोग की चर्चा ज़ोरों पर थी, सबके मन में एक अजीब जोश था। प्रायः लोग यही समझने लगे थे कि स्वराज्य में उन्हें कुछ काम-धाम नहीं करना पड़ेगा। बहुतों के मन में तो अपने शत्रुओं से बदला लेने की कल्पनाएँ भी उठी होंगी। पर बात बिलकुल

किंतु ज़रा ध्यान करने से इसका यथार्थ तत्त्व, इसकी वास्तविकता भली भाँति मालूम हो जायगी। इससे यह विचार कि स्वराज्य-प्राप्ति से हमें स्वतंत्रता मिल जावेगी, हम जो चाहें सो करेंगे, हम पर किसी प्रकार का अंकुश बाक़ी न रह जावेगा, नितांत भ्रम-मूलक है; और यह भाव जहाँ है, वहाँ की जनता स्वराज्य के लिये नहीं, बल्कि अराजकता के लिये ही तैयार है। ऐसे समाजों में

स्वराज्य से न तो सुराज्य व सुख की प्राप्ति होगी, और न दैन्य-अज्ञान का ह्रास ही होगा, वरन् कुराज्य, दुःख-दैन्य तथा अज्ञान की वृद्धि ही अधिकाधिक होती जायगी।"

राजनीतिक दृष्टि से गुप्तजी के विचार बहुत प्रौढ़ एवं मान्य हैं। सचमुच स्वराज्य अथवा प्रजा-तंत्र का अर्थ यह नहीं होता कि शासन-सूत्र ढीला कर दिया जाय, जिधर जिसका जी चाहे, चला जाय। नहीं, स्वराज्य के प्रारंभिक काल में भी कुछ नियमों की आवश्यकता रहती है, जो प्रजा को ज़बरदस्ती रास्ते पर ले आते हैं। यदि इन नियमों का पालन करानेवालों में दृढ़ता न हुई, फ़ौजी प्रभुत्व उनके हाथ में न हुआ, तो स्वराज्य की जगह कुराज्य और आगे चलकर सचमुच अराजकता उत्पन्न हो जाती है। ऐसे ही निर्बल प्रजातंत्र शासन में गृह-युद्ध भी होते हैं, जो सर्वसाधारण को अंत में विनाश की ही ओर ले जाते हैं।—"सभी तंत्रों में स्वराज्य एवं कुराज्य की संभावना है। स्वराज्य की दृढ़ता एवं सफलता मनुष्यों के चरित्र पर निर्भर है। वह उसी समय प्राप्त होता है, जब प्रबंध की बागडोर निःस्वार्थ व्यक्ति या व्यक्तियों के हाथ में हो, चाहे वह राजा हो या विलक्षण सचिव एवं समाज और प्रजा के प्रतिनिधि।"

पर शासन कुछ और ही बात है, और प्रजा का सुखी होना कुछ और। प्रजा के सुखी होने का कारण उसकी स्वतंत्र औद्योगिक एवं कृषि-संबंधी उन्नति है, और शासन की योग्यता न्याय, नीति, समता तथा प्रजा के सुखी रखने की भावना में है। शासन का ध्येय है प्रजा की उन्नति एवं विकास के साधनों का आयोजन और उनकी रक्षा। प्राचीन काल में इसीलिये, इस कार्य के लिये, उत्तम राज्य-प्रबंध में स्वार्थ-त्यागी, ज्ञानी, विवेकी एवं विचक्षण ब्राह्मण रक्खे जाते थे। शासन-प्रणाली में रुचि तथा मनुष्य-समाज को सुखी बनाने की आकांक्षा रखनेवालों को इन बातों का स्मरण रखना चाहिए। वह समय आनेवाला है, जब हमें भी दूसरे देशों के अनुभव, सफलता एवं विफलता से लाभ उठाने का अवसर मिलेगा।

गुप्तजी आगे चलकर चीन के सामाजिक आचार विचारों पर प्रकाश डालते हैं। हमारे यहाँ जैसी प्रथा है कि अभ्यागत के आने पर गृहस्थ शर्बत-पानी कराता है, ठीक वैसी ही प्रथा चीन में भी है।—"जापान और चीन में गरम पानी से भिगोया हुआ कपड़ा अभ्यागत के हाथ-पाँव धोने या साफ़ करने के लिये दिया जाता है। यहाँ तरबूज़ व कुम्हड़े के बीज (बिना छिले), कच्चे सिंघाड़े और उबाले हुए कमलगट्टे खाने का रिवाज है।"



चीन में मुर्दे की बारात

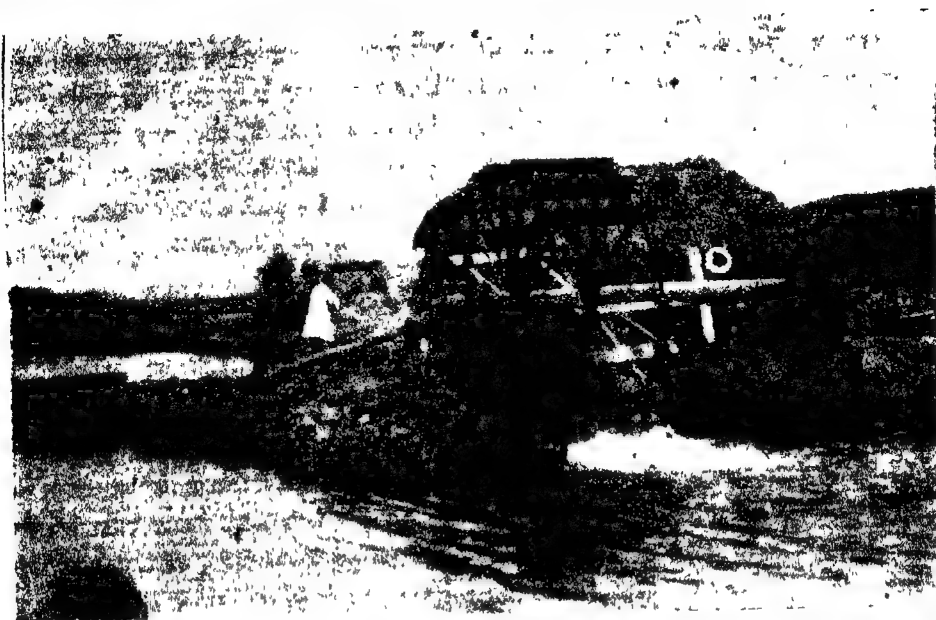
चीन में महात्मा कनफ़्यूशियस की बड़ी प्रतिष्ठा है। इनको आचार-धर्म का प्रवर्तक समझना चाहिए। बहुत-से लोग कनफ़्यूशियस को किसी विशेष धर्म का प्रवर्तक समझते हैं। पर यह भूल है। इन्होंने आचार-धर्म के लिये कुछ सिद्धांत स्थिर कर दिए हैं; जैसे हमारे यहाँ मनु महाराज ने। धर्म तो चीन में भगवान् बुद्ध का ही माना जाता है। जिस प्रकार महाराष्ट्र-प्रांत में महात्मा रामदास के विचारों का प्रभाव है, और वह आचार-धर्म के किसी अंश में प्रवर्तक है, ठीक उसी प्रकार चीन में कनफ़्यूशियस और उनके सिद्धांत हैं। कनफ़्यूशियस ने व्यक्ति और समाज-धर्म के भीतर आनेवाली प्रायः प्रत्येक समस्या की व्याख्या, समाधान एवं स्पष्टीकरण किया है। गुप्तजी की पुस्तक से इस पर थोड़ा, किंतु स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

बहुतेरे लोगों को कदाचित् यह जानकर आश्चर्य हो कि चीन में मुर्दे की भी बारात निकलती है। मुर्दा ही एक अपशकुन माना जाता है, फिर उसकी बारात कैसी? पर इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। गुप्तजी ने पुस्तक

में 'पछाहीं क्षत्री भाइयों के हाँसा समासा' का उल्लेख इसे स्पष्ट करने के लिये कर दिया है। हमने भी कुछ देखा है। मुर्दा सदैव अपशकुन ही नहीं माना जाता। सधवा स्त्रियों के शव पर तो बुंदेलखंड में लाल वस्त्र डालते हैं, और विधवा स्त्रियों के शव पर सफ़ेद वस्त्र डालकर उसे श्मशान ले जाते हैं। पुरुषों के शव पर किस रंग का कपड़ा डाला जाय, इसका कोई ख़याल नहीं किया जाता। पर लाल वस्त्र से ढका हुआ शव शुभ माना जाता है, ख़ासकर यदि वह यात्रा के प्रसंग में मिले। हाँसा-समासा तो मध्यप्रांत में भी देखने में आता है। छत्तीसगढ़ में इस प्रथा को बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। इससे भारतवर्ष और चीन, दोनों की उच्च अथवा बर्बर सभ्यता का मिलान किया जा सकता है। इससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इस प्रथा का आविर्भाव बिहार अथवा बौद्ध-कालीन मगध के दक्षिण, उड़ीसा के उत्तर और छत्तीसगढ़ से संयुक्त प्रदेशों में कभी हुआ होगा, जहाँ बौद्ध-धर्म का आदि प्रचार हुआ था। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ यह प्रथा भी भारतवर्ष से चीन में पहुँच गई होगी। हमारे ऐसा कहने का एक कारण यह भी है कि चीन में विवाह-पद्धति भी बिलकुल वैसी ही है, जैसी कि भारतवर्ष में। गुप्तजी स्वयं लिखते हैं—"टीपना मिलाने की प्रथा न होने पर भी चीन के ज्योतिषी वर-कन्या के भविष्य के सुख-दुःख एवं मेल-मिलाप की गुण-गणना करते हैं।" अंतर केवल इतना है कि हमारे यहाँ 'वरिच्छा' से विवाह पक्का समझा जाता है, और चीन में उस समय, जब लड़केवाला लड़की के लिये वस्त्र या सिर के आभूषण भिजवा देता है। हमारे यहाँ की चढ़ावा चढ़ाने की रीति से इसकी तुलना की जा सकती है। इसी प्रकार जन्म से लेकर मरण तक के सभी भारतीय संस्कार प्रायः सभी देशों में कुछ हेर-फेर के साथ स्वीकृत कर लिए गए हैं। अंतर केवल समय, परिस्थिति एवं सामाजिक विकास के कारण हो गया है। उदाहरण-स्वरूप मुसलमानों के ख़तने को ही लीजिए। पंडित कालीचरण शर्मा ने अपनी एक पुस्तक में मुसलमानों के रस्म-रिवाजों के भारतीयता के आधार पर बनाए जाने पर अच्छा प्रकाश डाला है। स्थानाभाव के कारण हम उसका विशेष वर्णन यहाँ नहीं देते। इसी प्रकार ईसाइयों की बपतिस्मा है। हमने स्वयं देखा है कि ईसाई लोग उस समय मूँज की मेखला और मृगचर्म की पट्टी का प्रयोग करते हैं। गंगाजल की जगह वे जार्डन-नदी के जल से काम लेते हैं। इससे जान पड़ता है कि भारतीय सभ्यता के आधार पर ही चीन आदि देशों की सभ्यता का निर्माण हुआ है।



कोरिया का मजदूर (क्षणिक विश्राम की अवस्था में)



जल खींचने का यंत्र (कोरिया)

इसी प्रकार बलिदान आदि की प्रथा है, जिसका उल्लेख गुप्तजी ने पृथिवी-प्रदक्षिणा में किया है। इससे अनुमान यही होता है कि विदेशों की सभ्यता में भारतीय सभ्यता के ही तत्त्व व्याप्त हैं। अवश्य ही बलिदान की परिभाषा ही प्राचीन है; अन्यथा पश्चिमी देशों में बलिदान की क्या आवश्यकता है? वहाँ तो हत्या होती है, बलिदान नहीं। बलिप्रदान में एक प्रकार की वह शक्ति है, जो ठीक उसी प्रकार चतुर्दिक् को कंपित कर देती है, जिस प्रकार ॐ का उच्चारण। अवश्य ही विदेशों ने भारतवर्ष की सभ्यता को उधार लेकर अपना लिया है, इससे तो यही विदित होता है।

भारतीय ऋषियों की बनाई, चलाई एवं अपने द्वारा अपनाई हुई प्रथाओं को भारतवर्ष से गए हुए प्राचीन आर्यों के निर्बल वंशजों ने क़ायम तो रक्खा, पर उनका उद्देश्य न समझकर उनको एक परंपरा का रूप दे डाला। कालांतर में उनके स्वरूपों में विकार उत्पन्न होना स्वाभाविक है, जैसे कि प्राचीन मिसर, यूनान और इटली के त्योहारों में आज प्राचीनता के विकृत रूप देखे जाते हैं। इसी प्रकार क्रमशः बलिदान-सरीखी महत्त्व-पूर्ण प्रथा अंत में हत्या-मात्र रह गई। बलिदान का वास्तविक अर्थ पहले किसी सिद्धि के लिये साधक का स्वयं बलिदान था। बाद को वह पशुओं के बलिदान में बदल गया किंतु यहाँ तक भी उसमें प्रथा की असली आत्मा का प्रवेश बना रहा। पर मनुष्य की निर्बलता ने आगे चलकर उससे आत्मा को भी निकाल फेंका, और उसका रूप शुष्क पशुहत्या-मात्र रह गया। रूपांतर तो यहाँ तक हुआ है कि आज भी भारत के वैश्य-समाज में, किसी त्योहार के अवसर पर बेसन का पशु बनाकर उसका सिर काट दिया जाता है। भारतीय सभ्यता के इसी प्रकार के परिवर्तन और रूपांतर प्रायः संसार-भर में किसी-न-किसी रूप में मिल सकते हैं। थोड़ा समझने और ध्यान देने की ज़रूरत है।

उपसंहार

यह पृथिवी-प्रदक्षिणा का वर्णन आज का है। समय ने परिवर्तन-चक्र में पड़कर कौन-सा रूप धारण कर लिया है, उसी का यह दिग्दर्शन है। अस्तु, उपसंहार-स्वरूप हम यह बतलाते हैं कि इस पुस्तक का पारायण करने से क्या जाना जाता है—

(१) संसार के आज के वैभव के सूत्रधार विदेशी हैं।

(२) व्यापार की कुंजी विदेशियों के हाथ में है।

(३) समुद्र पर आज विदेशियों—विशेष कर यारपियनों—का ही आधिपत्य है। इस आधिपत्य के जितने उपकरण हो सकते हैं, उनमें से एक भी भारतीयों के हाथ में नहीं है।

(४) भारतवर्ष की नहीं, आर्यों की प्राचीन सभ्यता को विदेशों ने इस प्रकार अपनाया है कि उसे अपने ढाँचे में डालकर उसका रूपांतर ही कर दिया है।

(५) गुलाम और स्वतंत्र देशों में कितना अंतर है, तथा स्वतंत्र देशों की दृष्टि में उनकी कितनी क़दर है, उनका इन पर कितना अधिक नियंत्रण है, हमारा ह्रास कहाँ तक हो चुका है, इसे हम विदेशों में ही देख सकते हैं।

(६) सभ्यता के आदि-सूत्रधार एशिया-निवासियों को समाज के सामने पतित करने की कितनी ही कोशिशें विदेशियों द्वारा की जाती हैं।

(७) भारतवर्ष के दरिद्र एवं पराधीन बने रहने के कारण क्या हैं, और वे किस प्रकार कहाँ तक दूर किए जा सकते हैं।

(८) पाश्चात्य देश इतने सुखी हैं कि उनका जीवन सदैव हास-विलास में बीतता है। इसके विपरीत पूर्वी देश पेट की आग बुझाने से ही अवकाश नहीं पाते।

(९) प्राचीन भारत का व्यापार, कला कौशल एवं कारीगरी कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, और आज उसका स्थान संसार के दरबार में कितना नीचे है।

(१०) गोरी जातियों के राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक एवं धार्मिक अत्याचार भी काली जातियों पर होते हैं। रंग-भेद की विकट पहेली संसार में सर्वत्र व्याप्त है।

(११) आर्य-धर्म के रूपांतरित धर्म।

(१२) बौद्धों के प्रति इतर-धर्मावलंबियों के विदेशों में उपहास-पूर्ण भाव।

(१३) विदेशों से सीखने योग्य बातें।

(१४) कुछ अपूर्णताएँ।

मतलब यह कि इन सभी बातों पर इस पुस्तक के सुयोग्य लेखक ने प्रसंगानुसार प्रकाश डाला है, जिनको योग्य पाठक पुस्तक पढ़ने के बाद कुछ विस्तृत रूप में जान सकते हैं। लेख बहुत अधिक बढ़ जाने के भय से हमने सब बातों का उल्लेख केवल संकेत-रूप में ही किया है।

अंत में हमारा कहना यही है कि पुस्तक बहुत अच्छी है। उसका अंतरंग और बहिरंग, दोनों सुंदर हैं। यदि द्वितीय संस्करण कुछ सस्ता कर दिया जाय, या इसी संस्करण के मूल्य में (अगर गुंजाइश हो) यथासंभव कमी कर दी जाय, तो बहुत अच्छा हो। इससे इसका अधिकाधिक प्रचार होगा। हम हिंदी-भाषा के प्रेमियों से अनुरोध करते हैं कि वे दस-बीस पुस्तकें न मँगाकर केवल यही एक पुस्तक मँगावें। उनको पछताना नहीं पड़ेगा। उनका अर्थ-व्यय सार्थक होगा।

मातादीन शुक्ल

सूक्ति-सुधा

एक दिन मोहन प्रभात ही पधारे, उन्हें
देख फूल उठे हाथ-पाँव उपवन के;
खोल-खोल द्वार फूल घर से निकल आए,
देखके लुटाए निज कोष सुवरन के।
वैसी छवि और कहीं खोजने सुगंध उड़ी,
पाई न, लजाके रही बाहर भवन के;
मारे अचरज के खुले थे, सो खुले ही रहे,
तब से मुँदे न मुख चकित सुमन के।

रामनरेश त्रिपाठी

ललाट-सौंदर्य

गोल, अनमोल, अति स्वच्छ अच्छ मानो बन्यो,
शोभा-सर दीठि[1] अवगाहिबो[2] को घाट है;
समता-उचाँट[3] लह्यौ, चंद थकि आधो रह्यो,
तौहूँ पर्‍यो मंद, लखि याको ठाठ-बाट[4] है।
अलक-अलक—अहि-शिशु[5] अनु सरकत—
अमी की-सी टी[6] की नीकी चाटिबे की चाट[7] है;
रति-पति[8]-पाट है, वा प्रेम की सुबाट[9] यह,
रूप-भरी हाट[10], तेरो सुघर ललाट है।

रामशरण गुप्त "शरण"

---

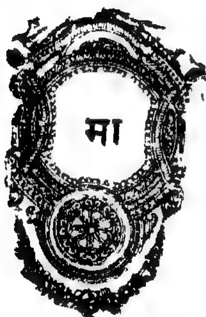
१. दृष्टि। २. न्हाने का। ३. शौक़। ४. रौनक। ५. अमृत। ६. गुलाल की बूँद। ७. इच्छा। ८. कामदेव का सिंहासन। ९. मार्ग। १०. दूकान, बाज़ार।

स्वराज्य





१. क्या राजापुर का रामचरितमानस तुलसीदास के हाथ का लिखा है ?



धुरी के वर्ष ८, खंड १, संख्या १ में ऊपर लिखे विषय पर हमारे मित्रवर पंडित रामनरेश त्रिपाठी का एक विचार-पूर्ण लेख छपा है, जिसमें पंडितजी ने राजापुर-वाली पोथी में कुछ त्रुटियाँ दिखाकर यह सिद्ध करना चाहा है कि यह प्रति गोस्वामीजी के हाथ की लिखी नहीं है, कदाचित् रघुवर तिवारी के हाथ की लिखी हो। इस लेख में उसी लेख की दो-एक बातों पर समाधान करने का प्रयत्न किया जाता है।

मैंने सबसे पहले ईसवी सन् १८८७ में इस पोथी के दर्शन किए, जब मैं इलाहाबाद डिवीज़न के स्कूलों का असिस्टेंट इंस्पेक्टर था, और दौरे में राजापुर गया था, उससे कुछ ही पहले मिस्टर पोर्टर ने, जो उस समय कर्वी के ज्वाइंट मैजिस्ट्रेट थे, और बाद को सर लेसली सर्जाम पोर्टर के नाम से संयुक्त-प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर हुए, हिंदी-भाषा के परम प्रेमी सर जॉर्ज ग्रियर्सन के लिये इस पोथी की शुद्ध नक़ल कराई थी, जिसके प्रत्येक पृष्ठ पर नक़ल करनेवाले के हस्ताक्षर हैं। यह प्रति सर जॉर्ज ग्रियर्सन के पास है। इस अपूर्व पोथी में १७० पन्ने अथवा ३३९ पृष्ठ हैं। पृष्ठों की लंबाई १२ इंच, और चौड़ाई ५$\frac{1}{4}$ इंच है। प्रत्येक पृष्ठ में ३२ अक्षरों और ४० मात्राओं की सात-सात पंक्तियाँ हैं, जिनमें लगभग सात चौपाइयाँ और एक दोहा रहा है। इसी के साथ एक पन्ना और बँधा है, जिस पर हनुमान्‌जी की स्तुति और कुछ और भी लिखा है, तथा किसी भक्त कायस्थ का लिखा और रक्खा हुआ है। यह पोथी दर्शन करनेवाले भक्तों के चढ़ाए अनेक प्रकार के बेठनों में बँधी रहती है। जीर्ण होने के कारण आजकल पन्नों के किनारे-किनारे खाली जगह पर चिटें चिपका दी गई हैं, और पोथी एक लोहे की संदूक में रक्खी है, जिसके ऊपर श्रीहनुमान्‌जी का चित्र भी बना है।

इस पोथी में एक विशेष बात यह है कि यह हरताल से शुद्ध की गई है। फिर भी कहीं-कहीं कुछ अक्षर छूट गए हैं, जो हमने अपने संपादित ग्रंथ में, कोष्ठ में, लिख दिए हैं। मिस्टर पोर्टर ही के प्रयत्न से, उसी समय, इस पोथी के दस पृष्ठ का छाया-चित्र लिया गया था, जिसे सर जॉर्ज ग्रियर्सन ही ने विलायत से छपाकर भेजा था, और जो मेरे संपादित अयोध्याकांड में लगा है। यही चित्र कुछ बड़े आकार में सर जॉर्ज की 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ़ हिंदुस्तान'-नामक पुस्तक में लगा है।

जब से मैंने राजापुर की पोथी देखी, तब से मेरे मन में प्रबल इच्छा हुई कि इसकी शुद्ध प्रतिलिपि छपा दी जाय। मैंने परम श्रद्धास्पद स्वर्गवासी मुंशी नवलकिशोर और तत्कालीन अयोध्यानरेशजी से भी कहा। पर जब सफलता की कोई

आशा न रही, तो सन् १८०१ में संयुक्तप्रांत के शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर साहब को एक प्रार्थना-पत्र भेजा कि वह लोकल गवर्नमेंट से फ़ोटो ज़िंको प्रोसेस से इसके छपाने का प्रबंध करने की सिफ़ारिश करें। यह पत्र दो-तीन वर्ष तक डाइरेक्टर साहब के दफ़्तर में पलटे खाता रहा, और अंत को दाख़िल-दफ़्तर कर दिया गया। आख़िर यही निश्चय किया गया कि आप ही इसके छपाने का प्रबंध किया जाय। पोथी के छापा-चित्रों के अतिरिक्त गोस्वामीजी का चित्र, उनकी कुटी, असी-घाट पर उनका मंदिर, अयोध्या का कनकभवन, पर्णकुटी, राघव-प्रयाग, चित्रकूट आदि के फ़ोटो-चित्र भी सर जॉर्ज ही की निगरानी में विलायत से छपकर आए। चार वर्ष हुए, सर्वांग-सुंदर रूप से पोथी छप गई, तथा शिक्षा-विभाग की कृपा से स्कूलों और पुस्तकालयों में पहुँच गई। अब उसकी कोई प्रति बिक्री के लिये नहीं है। इसका चित्र मेरे संपादित ग्रंथ में लगा है। उस जगह को अब यमुना ने काट दिया है, और इससे कुछ दूर हटकर मंदिर बनाया गया है।

राजापुर की प्रति के प्राचीन होने में संदेह नहीं। इसके शुद्ध होने में भी संदेह नहीं। पोथी आद्योपांत हरताल से शुद्ध की गई है, और परंपरा से गोस्वामीजी के हाथ की लिखी मानी तथा पूजी जाती है। उनके हाथ की लिखी होने का सबसे बड़ा प्रमाण एक और है। उनके हाथ का लिखा पंचनामा अब तक महाराज काशी-नरेश के दरबार में रक्खा है। उसके ऊपर की ६ पंक्तियाँ उन्हीं के हाथ की लिखी कही जाती हैं। इन पंक्तियों के अक्षर राजापुर की पोथी के अक्षरों से मिलते-जुलते हैं। पोथी जिनके अधिकार में है, उनके पास सम्राट् अकबर की दी हुई, गोस्वामीजी की कुटी के नीचे, यमुना के घाट उतारे की माफ़ी है, जिसको ब्रिटिश-सरकार ने ज़ब्त नहीं किया, और, जैसा मैंने अपने ग्रंथ की भूमिका में लिख दिया है, आपस के झगड़ों के कारण उसका प्रबंध अपने हाथ में ले लिया है। उसके ६८४) वार्षिक गणपतिजी के वंशजों को अब तक दिया जाता है। यह भी उस पोथी की विशिष्टता का एक प्रमाण ही है। इन प्रमाणों के होते हुए पोथी पर संदेह करने के लिये बहुत ही पुष्ट प्रमाण चाहिए। यहाँ पहले हम छोटी शंका पर विचार करते हैं। पंडितजी ने यह भी सुना है कि राजापुरवाली प्रति तुलसीदास के साथियों में से एक रघुबर तिवारी के हाथ की लिखी हुई है। आजकल रघुबर तिवारी का नाम सुनकर लोग चौंक पड़ेंगे; परंतु रघुबर तिवारी के हाथ की वि० १७०४ (गोस्वामीजी के परम पद पाने से २४ ही वर्ष पीछे) की लिखी पोथी के ३ पृष्ठों का फ़ोटो-चित्र मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ़ हिंदोस्तान में दिया हुआ है, और उसके एक-एक पृष्ठ का अँगरेज़ी रूपांतर भी छपा है। पहला पृष्ठ बालकांड का है, दूसरा किष्किंधा और तीसरा लंका का। पहले में लेखक का नाम नहीं है। इससे वह अनुपयोगी समझकर छोड़ दिया जाता है। दूसरे और तीसरे पृष्ठों की नक़ल नीचे दी जाती है—

२. (स) सुभगत परम पद पावई।
रघुबीर पद पाथोज मधुकर दास तुलसी गावई॥
दोहा—भवभेषज रघुनाथ जसु, सुनहिं जे नर अरु नारि।
तिन्ह कर सकल मनोरथ, सिद्ध करहिं त्रिसिरारि॥
सोरठा—नीलोत्पल तन स्याम, काम कोटि सोभा अधिक।
सुनिय तासु गुन-ग्राम, जासु नाम अघखग बधिक॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विसुद्ध संतोष संपादिनो नाम चतुर्थसोपानः समाप्तः। शुभमस्तु संवत १७०४ समए पौष शुदि द्वादसि लिषीतं रघु तिवारी कास्यां।

३. (लंकाकांड का अंत)
... ...दास मैं प्रभु मोह बस बिसराइयो॥
यह रावनारिचरित्र पावन रामपदरतिप्रद सदा।
कामादिहर बिज्ञानकर सुर सिद्ध मुनि गावहि मुदा।
दोहा—समर बिजय रघुपतिचरित सुनहिं जे सदा सुजान।
बिजय बिबेक बिभूति नित तिनहि देहिं भगवान॥
यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनायक नामु तजि नहिं कछु आन अधार॥

इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमल बिराग सपादिनो नाम षष्ठः सोपानः समाप्तः। शुभमस्तु संवत १७०४ समए। माघसुदि प्रतिपद लिषीतं रघु तीवारी कास्यां लोलार्क समीपे। श्रीरामोजयति। श्री-विश्वनाथाय नमः। श्रीबिंदुमाधवाय नमः।

राजापुर की पोथी पर लेखक के हस्ताक्षर नहीं हैं। इस प्रति में प्रत्येक कांड के अंत में लेखक का नाम दिया हुआ है। कहीं रघु तिवारी है, कहीं रघु तीवारी। दोनों के अक्षरों में आकाश-पाताल का अंतर है। राजापुर की पोथी बुँदेल-खंडी लिपि में है, जैसी कि आजकल प्रचलित है। राजापुर

की पोथी में 'र' का रूप सदा न है। रघु ने र और न, दोनों रूप लिखे हैं। इससे सिद्ध है कि राजापुर की पोथी रघु (वर) तिवारी की लिखी नहीं हो सकती। रघु तिवारी काशी के रहनेवाले संस्कृत से अनभिज्ञ लेखक-मात्र थे।

त्रिपाठीजी की दूसरी शंका यह है—"राजापुर की प्रति में छः चौपाइयों के बाद दोहा है, सभा की प्रति में आठ चौपाइयों के बाद। तुलसीदास ने अयोध्याकांड में प्रायः आठ चौपाइयों के बाद एक दोहा रखने का नियम रक्खा है; पर राजापुर की प्रति में उपर्युक्त स्थान पर यह क्रम नहीं है।"

कुछ चौपाइयों के पीछे एक दोहा लिखकर उपाख्यान लिखने का इतिहास हमारे फ़ैज़ाबाद-कॉलेज के शिष्यवर स्वर्गवासी बाबू जगन्मोहन वर्मा ने चित्रावली की भूमिका में लिखा है। उसे सहृदय पाठक देख लें, यहाँ उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं। वर्माजी का सिद्धांत यह है कि यह प्रणाली मुसलमान हिंदी-कवियों की निकाली हुई है। पहले पाँच चौपाई के पीछे एक दोहा लिखा गया। कुछ दिन पीछे मलिक मोहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' में सात चौपाई के पीछे एक दोहा लिखा। चौपाई संस्कृत-शब्द चतुष्पदी का अपभ्रंश है। इसमें चार पद होने चाहिएँ*। पाँच और सात चौपाई देखकर वर्माजी यह अनुमान करते हैं कि "मुसलमान कवि संस्कृत न जानते थे। गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ थे, इसलिये उन्होंने आठ (वास्तव में चार ही) चौपाई पीछे एक दोहा रक्खा।" (परंतु विशेष कर अयोध्याकांड ही में और बालकांड के सीता-स्वयंवर में) हमको यह ठीक नहीं जचता। गोस्वामीजी ने यह परिपाटी निकाली होगी +; परंतु आप ही इसके पाबंद न रहे। अयोध्याकांड ही में एक स्थान पर ६ चौपाइयों पर एक दोहा है, लंकाकांड (इंडियन-प्रेस की छपी पोथी) के पृष्ठ ५०१ में १५ चौपाइयों के पीछे, पृष्ठ ५०२ में १३ चौपाइयों के पीछे तथा पृष्ठ ५०३ में ११ चौपाइयों के पीछे एक दोहा है।

* गुजराती भाषा में इसे जपई कहते हैं, और इसमें चार चरण होते हैं। कृथा खंड तग्ग आरभ, बोलई पद्मनाम कवि बभ; संतोखियां सजन संजोग, तू पातसाह थिउ आंराग।

\+ गोस्वामीजी के पीछे के कवियों ने किसी नियम का प्रतिपालन नहीं किया। चित्रावली (वि० १६७०) का उसमान जायसी का अनुयायी है, और सात चौपाई के पीछे एक दोहा लिखता है। भूपति (वि० १७४४) दशम स्कंध (भागवत) के अनुवाद में गोस्वामीजी का अनुकरण करता है। सबलसिंह चौहान ने (वि० १७१८-८१) दस चौपाई का एक दोहा लिखा है, और व्रजविलास के व्रजवासीदास (वि० १८२७) ने बारह चौपाइयों पर एक दोहा और एक सोरठा लिखना उचित माना है।

रामायण के प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकार मुंशी सुखदेवलालजी कहते हैं, गोस्वामीजी ने यह कांड सबसे पहले लिखा था, पीछे और कांड समय-समय पर रचकर ग्रंथ को पूरा कर दिया। हमको भी कुछ ऐसा ही प्रतीत होता है। इसके कुछ प्रमाण ये हैं—

१. इसके आदि में प्रधान रूप से शिव की वंदना है।

२. इसका पहला दोहा इस बात का सूचक है कि ग्रंथकार ने श्रीरघुनाथजी का यश वर्णन करने का आरंभ यहीं से किया।

३. इसमें शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भारद्वाज और गरुड़-काकभुशुंड का संवाद नहीं है।

४. यह कांड साहित्य के विचार से सभी कांडों की अपेक्षा सर्वांग सुंदर है, अलंकारों से परिपूर्ण है, और इसमें कवि ने भरत-भक्ति के अतिरिक्त अपनी उत्कृष्ट कविता-शक्ति दिखलाने का भरपूर उद्योग किया है।

५. इसमें साधारणतः आठ चौपाइयों के पीछे एक दोहा तथा पचीसवें दोहे की जगह एक छंद, और एक सोरठा है। कई जगह सात ही चौपाइयों पर और एक जगह छः-छः ही चौपाइयों पर दोहे हैं।

गोस्वामीजी ने पहले-पहल आठ चौपाइयों पर एक दोहा लिखने की रीति भले ही निकाली हो, परंतु अवसर पड़ने पर उसे छोड़ भी दिया। अयोध्याकांड ही में तापस का प्रसंग आ जाने से १६वें के बदले २६वें दोहे की जगह छंद पड़ गया है।

इससे यह मानना कि जिसमें आठ से कम चौपाइयाँ हों, वह शुद्ध प्रति नहीं है, न्याय-संगत नहीं। कमी पूरी करने का उद्योग ऐसा ही है, जैसे

गाधि-सुवन सब कथा सुनाई।
जेहि प्रकार सुरसरि महि आई।

के पीछे गंगावतरण की कथा का जोड़ देना। गोस्वामीजी से पहले जायसी ने सात ही चौपाइयों के पीछे एक दोहा

लिखा है। यदि गोस्वामीजी ने कहीं-कहीं वही बात रक्खी, तो कौन-सा पाप किया ?

श्रीअवधवासी सीताराम

× × ×

२. प्रेमिक का प्रलाप

हृदयेश्वर !

जिस प्रकार कृपण अपने निष्ठुर करों से अपने धन की रक्षा करता है, उसी प्रकार हे हृदय-धन ! मैंने तुझे अपने मानस-पटल पर अंकित कर रक्खा है।

जिस प्रकार एक भक्त इष्टदेव की साधना में तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार मैं तेरा अधरामृत पान करते समय तुझी में लीन हो जाता हूँ।

तेरे अधर मेरे प्रार्थना के श्लोक हैं।

तेरे नेत्र मेरे प्रकाश के देवालय हैं।

मैं तेरी कोमल उँगलियों का चुंबन करता हूँ। वे भजन की माला हैं। तेरी हाथ की हथेलियाँ मेरी प्रार्थना की पुस्तक के पृष्ठ हैं। तेरे शब्द मेरे लिये धर्मशास्त्र हैं। तेरी शुद्धता मेरा वैभव है। तेरी मधुरता मेरे लिये आशीर्वाद है। तेरा परमात्मा मेरा इष्टदेव है। तुझ पर परमात्मा की दया का आविर्भाव हुआ है। तू मेरा अनन्यतम आनंद है।

सुगंधित-सुमनों की सुरभि-सागर का क्रंदन तेरे शब्द हैं। तेरे केश स्वर्णरंजित ताज हैं।

कांचन के दीपाधार में प्रज्वलित दीप-शिखा की भाँति तेरी आत्मा तेरे शरीर में है। तेरे ही द्वारा सत्य, प्रेम, और शांति का प्रकाश हुआ है।

आकाशमंडल, नक्षत्र, सूर्य और चंद्र मुझे प्रेम में पागल बनानेवाले तेरे आगे कुछ नहीं के बराबर हैं।

हेमचंद्र जोशी

× × ×

३. आश्रय-दान

कंटक-कर्दम-पूरित मग है, छाया घोर अँधेरा ;
वृक्ष विशालों की शाखाओं पर, लेते विहग बसेरा।
प्रेम-पथ पर हृदय-बटोही, चलता धीरे-धीरे ;
आया कठिन परीक्षा-नद के, नीरव निर्जन तीरे।
उसने सोचा, श्रांत-क्लांत हूँ—कैसे पार करूँगा ?
नहीं एक भी नौका, नाविक, आगे कहीं तक हूँगा ;
देख रहा था अंतरिक्ष में, मिलकर चतुर चितेरा।
कहा बटोही से—"आ जा, यह खुला द्वार है मेरा!"

जगन्नाथ मिश्र "कमल"

× × ×

४. एक शंका

गत आश्विन-मास की माधुरी में अवधवासी श्रीसीतारामजी का 'अहल्या का आश्रम'-शीर्षक एक निबंध छपा है। उसके आरंभ ही में आपने लिखा है—"महर्षि वाल्मीकि के आश्रम के संबंध में हमारा एक लेख अन्यत्र छपा था। उसमें हमने लिखा है कि अहल्या के आश्रम दो हैं—एक विशाला (या वैशाली ?)* से जनकपुर जाते हुए रास्ते में, जो अब अहियारी के नाम से प्रसिद्ध है ; और दूसरा बक्सर से एक मील पूर्व गंगा-तट पर अहिरौली-गाँव में †।"

मगर मैं समझता हूँ, आपने यहाँ कुछ गोलमाल-सा कर दिया है, और वह इस तरह कि "और दूसरा (आश्रम) बक्सर से एक मील पूर्व गंगा-तट पर अहिरौली-गाँव में है" लिखकर अहिरौली-गाँव का परिचय आपने फुटनोट में इस तरह दिया है—"जहाँ राजा जनक वैदिक यज्ञ कर रहे थे। यह स्थान जनकपुर से सात कोस पर नेपाल-राज्य में सप्तरी-परगने के एक वन में है।"

मगर यह कैसे संभव है ? कहाँ बक्सर से एक मील पूर्व गंगा-तट और कहाँ जनकपुर से सात कोस पर नेपाल-राज्य का एक वन ! दोनों का एक होना असंभव है।

अतएव क्या आशा की जाय कि किसी अगली संख्या में श्रद्धेय श्रीसीतारामजी उपर्युक्त शंका का समाधान कर बहुतों का असमंजस दूर करेंगे ?

श्रीनागेंद्रनारायणसिंह

× × ×

५. नायिका और प्याला

प्याले रे, ढ़ढता महा यह नहीं तेरी क्षमा-योग्य है ;
पीने को मधुरा सुधा अधर की प्राणेश ही योग्य है।

---

* मुजफ्फरपुर-जिला का बिसाढ़ (या बसाढ़ ?)

† जहाँ राजा जनक वैदिक यज्ञ कर रहे थे। यह स्थान जनकपुर से सात कोस पर नेपाल-राज्य में सप्तरी-परगने के एक वन में है। इसको धनुसा कहते हैं। यहाँ अब भी एक बड़ा धनुष-खंड पड़ा है।

जो संलग्न किया तुझे शठ, यही मेरा बड़ा दोष है ;
तोड़ूँगी तुझको इसी क्षण, यहीं, तू दंड के योग्य है ।

व्याख्या—

तोड़ो क्यों मुझको, सुनो सुनयने, पाए महा दुःख हैं :
झेले लोह-प्रहार—पाद कितने, घूँसे घने घोर हैं ।
तप्तागार तपे पड़े हम रहे, लोपे हुए धूल से ;
लाए हैं जब आपको, मुदित हो, क्या दंड के योग्य हैं ?

अनंतराम त्रिपाठी

× × ×

६. योरप के देशों में कुत्ते

योरप के देशों ने उन्नति के पथ का अनुसरण कर प्रायः सभी आवश्यक अंगों की पूर्ति की चेष्टा की है। प्रत्येक वस्तु द्वारा लाभ और हानि का विधान निकाल-कर लाभदायक पदार्थ को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा देना योरपियनों के चरित्र की एक विशे-षता है। इसी स्वावलंब और चारित्रिक बल ही के आधार पर आज योरपियन लोग संसार के सब महादेशों के निवासियों से संख्या में इतने कम होते हुए भी सबसे अधिक धनी, सबसे बड़े व्यवसायी और पृथ्वी के बलिष्ठतम राष्ट्रों में गिने जाते हैं। सच पूछो, तो यह उनके प्रबल अध्यवसाय का ही फल है। योरप के देशों में कुत्तों का क्या स्थान है, उनसे कैसे बड़े-बड़े काम लिए जाते हैं, यहाँ पर यही बतलाना है। हमारे यहाँ सनातनधर्मी हिंदुओं में कुत्ता 'अछूत' माना जाता है। कुत्ते का स्पर्श-मात्र, दिग्गज पंडितों का कथन है, स्नान कर डालने के लिये काफ़ी है। कुत्ता ऐसा भ्रष्ट जीव है ! एक ओर तो उसमें यह 'अछूत-पन' है, और दूसरी ओर ऐसा सुन पड़ता है कि कुत्ता तो श्रीभैरवजी का वाहन है—दत्तात्रेय महाराज का गुरु है। बातें दोनों ही ठीक हैं, पर अमल में लाई जानेवाली बात वही है, जो पहले कह चुका हूँ अर्थात् कुत्ता अस्पृश्य माना जाता है ! क्यों ? कारण यही कि पंडित



भिन्न-भिन्न जातियों के कुत्ते

लोग ऐसा समझते हैं, अतएव उनके आज्ञा-पालक शिष्य एक स्वर से बिना विचार किए उसकी पुष्टि कर रहे हैं। पर ऐसा करना कहाँ तक उचित है, यह जानने के लिये पहले लाभ और हानि हमको समझ लेनी चाहिए।

योरपवाले कुत्तों को केवल फ़ैशन की वस्तु नहीं, जीवन की लाभदायक तथा आवश्यक सामग्री समझते हैं। जिस प्रकार योरप के गौरांगों ने अपनी जाति की उन्नति, शिक्षा, व्यवस्था इत्यादि की ओर ध्यान देकर अपनेको इतना उन्नतिशील बना लिया है, वैसे ही उन्होंने अपने देश के पशुओं की दशा सुधारने, उनकी नस्ल अच्छी करने और रक्षा करने की भी पूरी-पूरी व्यवस्था की है। समय-समय पर योरप होकर लौटनेवाले भारतीय वहाँ के हृष्ट-पुष्ट, सुंदर-सुडौल जानवरों का वर्णन कर सच्ची दशा का दिग्दर्शन करा चुके हैं! कुत्ता और गऊ तो योरपियनों की विशेष सावधानी की चीज़ें हैं! गऊ से दूध और मक्खन मिलता है, जिससे वे और उनके बच्चे हृष्ट-पुष्ट तथा सबल होते हैं। कुत्ता अपना प्रतिपालन करनेवाले स्वामी का बड़ा ख़ैरख़्वाह होता और उसकी रक्षा करता है। इँगलैंड, फ़्रांस, रूस, जर्मनी इत्यादि देशों में कुत्ते रखना एक आवश्यक बात है। कुत्ता आपत्ति के समय, हमला किए जाने के समय, अपने मालिक के शत्रु की जान ही ले लेता है। कुत्ता बड़े-बड़े ख़ज़ानों की रक्षा करता है। योरप के चोरों को चोरी करते समय जितना डर 'ब्लड-हाउंड' कुत्ते से रहता है, उतना शायद तोप के गोले और विकट संतरियों के पहरे से भी नहीं। ब्लड-हाउंड कुत्ता, जिसका चित्र कुत्तों के चित्र नं० २ में पाठक देख सकते हैं, एक भयानक आकार का जीव है। एक तो इसकी भयंकरता ही भय का संचार करती है; दूसरे इसकी घ्राण-शक्ति भी बड़ी तीव्र होती है। आप लखनऊ से कानपुर चले आइए, अपना एक रूमाल वहाँ छोड़े आइए। बस, उसी रूमाल को सूँघकर ब्लड-हाउंड आपकी खोज करता हुआ कानपुर तक चला आवेगा। इसीलिये चोरों को इस कुत्ते से बड़ा भय रहता है। मि० ब्लैक के जासूसी उपन्यासों में पाठकों ने उनके ब्लड-हाउंड कुत्ते का वृत्तांत पढ़ा होगा। उस ब्लड-हाउंड ने पचासों चोरियाँ पकड़ीं, कई बार मि० ब्लैक के शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिए। सैकड़ों बदमाशों और दुर्दमनीय डाकुओं को मि० ब्लैक ने उस कुत्ते की सहायता से गिरफ़्तार कर सुयश कमाया। कुत्ते की स्वामिभक्ति का यह अच्छा परिचय है।

चित्र में कुल १८ प्रकार के कुत्तों के चित्र दिए हुए हैं। ये कुत्ते भिन्न-भिन्न योरप के देशों में पाए जाते हैं! इनमें मुख्य दो जाति के कुत्ते हैं—एक तो, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, 'ब्लड-हाउंड', और दूसरा नं० ७ का 'रशियन कुत्ता'। यह रशियन कुत्ता हिंदुस्तानी गधे के बराबर ऊँचा, और हाथी के समान ताक़तवर होता है। जिन्होंने रशिया का इतिहास थोड़ा भी पढ़ा है, वे जानते हैं, उस देश में कैसे बीहड़ जंगल हैं, और उन जंगलों में वहाँ के भेड़िए कैसा उपद्रव मचाए रहते हैं। ये भेड़िए—संसार-प्रसिद्ध सफ़ेद रूसी भेड़िए—मनुष्य को—मनुष्यों के झुंड-के-झुंड को—सफ़ाचट कर जाने की ताक़त रखते हैं! यह रूसी कुत्ते ही का दम है कि वह सावधानी के साथ उन दुर्दांत भेड़ियों से अपने मालिक की रक्षा करता है! कुत्तों ही के बल पर रूसी लोग अपने उस विस्तृत बीहड़ देश में तिजारत करते फिरते हैं! ये कुत्ते केवल भेड़ियों से रक्षा ही नहीं करते, गाड़ियों में जोते जाकर सवारी को बर्फ़ की चट्टानों के आर-पार भी ले जाते हैं! रूसी कुत्ता रूसवालों के लिये प्राणों के समान है।

अब रहे अन्यान्य जाति के कुत्ते, जिनके बहुत से चित्र यहाँ दिए गए हैं। ये सभी प्रायः उपयोगी और आवश्यक सिद्ध हो चुके हैं। इनमें कुछ तो महज़ दिखाऊ हैं, जिन्हें योरप की फ़ैशनेबिल स्त्रियाँ और मनचले लोग अपने साथ दिखावे के लिये रखते हैं। १०, ११, १३, १४, १७ और १८ नंबर के कुत्ते ऐसे ही हैं। कुत्तों की नस्ल दिन-पर-दिन सुधारने की चेष्टा की जा रही है; क्योंकि कुत्ता एक समझदार जानवर है, तथा उससे और भी बहुत-से उपयोगी कार्य निकाले जा सकते हैं।

शिवनारायण टंडन

× × ×

७- सेठ मांचेस्टरदास

पाँच सौ गाँठ विलायत से जो मँगाता हूँ;
कौन सा पाप कहो, इसमें मैं कमाता हूँ?
लोग कहते हैं कि गाढ़े को ख़रीदो—बेचो,
मांचेस्टर का मगर नाम मैं बचाता हूँ।

थान पीछे है दुहाई जो कमाई मैंने ;
जबपती उसकी बदौलत ही मैं कहाता हूँ ।
देश जाता है रसातल को, चला जाने दो ;
मैं तो अपनी ही राह अब भी चला जाता हूँ ।
देश का, लोग, बला से मुझे दुश्मन समझें ;
'धरना'वालों को हवा जेल की खिलाता हूँ ।
कैसा सोराज ? बायकाट कहाँ का 'गुलज़ार' ?
ग़ैर की तुम बनाओ, अपनी मैं बनाता हूँ ।

देवीप्रसाद गुप्त

× × ×

८. सीता-परित्याग

जून, १९२३ की 'सरस्वती' में "सीता-परित्याग पर कालिदास"-शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ था । उस पर श्रीवियोगीहरिजी ने कुछ आपत्तियाँ उठाईं । उनका संतोष-जनक समाधान श्रीमिश्रबंधु महोदयों ने किया । इसके अनंतर 'सरस्वती' के संपादक महोदय ने "विमर्श-विचार"-लेख में, फिर वियोगीहरिजी के आक्षेपों के अवतरण देकर, मुझ पर उन्हीं दोषों का आरोप स्वयं किया ।

मुझ पर संक्षेप में ये दोषारोप किए गए—

१. मैंने श्रीरामचंद्रजी को देवतुल्य नहीं माना, पुरुषोत्तम-मात्र माना है ।

२. मैंने श्रीरामचंद्रजी और श्रीजगज्जननी सीताजी को 'श्री' और 'जी' की पदवी-माला लगाकर बहुत-से स्थलों पर याद नहीं किया ।

ये दोनों कार्य मैंने किए हैं, इसमें संदेह नहीं । परंतु इससे मैं साहित्य-क्षेत्र में अपराधी सिद्ध होता हूँ या नहीं, यह विचार करना है ।

वियोगीहरिजी से मेरा निवेदन है कि वह साहित्य-क्षेत्र में उतर आवें, और यह सिद्ध कर दिखा दें कि वाल्मीकि तथा कालिदास आदि कवियों ने श्रीराम को अपने काव्य का नायक बनाकर, उनको नर-सीमा में न रखकर, देव-सीमा में ही रक्खा है । इसके लिये श्रीवियोगीहरि पर्याप्त प्रमाण दें, तभी वह मेरी बात को काट सकते हैं, अन्यथा उनकी निराधार वाग्जाल-रचना किसी प्रयोजन की नहीं ।

दूसरे मैं लिखने बैठा था "सीता-परित्याग पर कालिदास" न कि "सीता-परित्याग पर हरि" या "सीता-परित्याग पर जयदेव शर्मा" ।

इस कारण लेख लिखते समय मुझे वही ध्वनि रखनी आवश्यक थी, जो कालिदास ने अपने काव्य में रक्खी है । तभी उसका वास्तविक रहस्य पाठक जान सकते हैं । उसका रंग बदल जाने से रस में भंग होता हुआ जान पड़ता है । मुझे कोई श्रीरघुपति, राजा रामचंद्रजी तथा श्रीमती जगदंबा सीता-देवी से विद्वेष या उनके प्रति अनादर-भाव नहीं है । यह बात मेरे लेख को पढ़ने से ही प्रतीत हो सकती है । मेरी अपनी सम्मति लेख के आदि-वाक्य से ही पाठकों को मालूम हो जायगी ।

क्या वियोगीहरिजी बतलावेंगे कि वाल्मीकि और कालिदास आदि ने 'राम' और 'सीता' आदि नामों को कितनी बार 'श्री', 'जी', और बहुवचनांत पदों से याद किया है ? पिता और गुरु-शब्द से आदर के अर्थ में, संस्कृत में, चरण-पाद आदि शब्द लगाए जाते हैं, जैसे श्रीतात-चरण । हिंदी में वैसे ही 'जी'-शब्द का प्रयोग किया जाता है । आदि कवियों ने कहीं भी चरण-पाद आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया । क्यों नहीं किया ? क्या वे अपने आदर्श पुरुषोत्तम नायकों को आदर-दृष्टि से न देखते थे ? देखते थे अवश्य, तो भी वे अपने नायकों को अनावश्यक शब्दों से लपेटकर सजी गुड़िया नहीं बनाना चाहते थे । वे अपने नायकों के नामों को अपनी कथा में ऐसे ढंग से जड़ते थे, जिससे सारी कथा की वाक्य-श्रृंखला को जोड़ने में ये विशुद्ध नाम ही हीरे की कनी के समान शोभा दें ।

मैं भी उन नामों को उसी दृष्टि से देखता हूँ, और अपनी आलोचना में उसी भाव से कथा तथा आलोच्य विषय के भावों की रक्षा करते हुए मैंने विशुद्ध नामों का प्रयोग किया है । मैं पाठकों से निवेदन करूँगा कि वे मेरे लेख में मेरे व्यक्तिगत भाव से लिखे वाक्यों तथा प्राचीन कवियों का भाव-विन्यास करते समय उनके प्रवाह में बहे हुए आलोचक-रूप से लिखे वाक्यों को विवेक से देखें, तब वियोगीहरिजी के आक्षेपों की सचाई की परख करें ।

एक आक्षेप आपने यह किया है कि मैंने अग्नि-परीक्षा को रजोदर्शन-मात्र माना है । इसमें अश्लीलता का अपराध मुझ पर लगाया गया है । ठीक है ।

वियोगीहरिजी से निवेदन है कि मैं काव्य नहीं लिख रहा । घटनाओं की आलोचना कर रहा हूँ । मैं लोक-दृष्टि की सत्यता को वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से

देख रहा हूँ। क्या आपको मेरे भाव में कोई असंभावित असत्यता दिखाई दी है?

यदि आपका हृदय इतना कोमल है कि मेरी आलोचना से आपके धर्म और श्रद्धा के भावों पर वज्राघात-सा हुआ है, तो उसका प्रतिकार आप संपादक महोदयों के गले दबाकर या लेखकों की स्वतंत्र विचार-परिपाटी पर नौकर-शाही क़ानून लगाकर नहीं कर सकते। आप भी अपनी स्वतंत्रता का पूरा सदुपयोग कीजिए।

जयदेव शर्मा

× × ×

९. पतित-पावन

पतितहिं पावन कौ पावनो सुहावन है,
पावनै हू पावन पतित ही को चाहि है;
पतित औ पावन दुहूँन सेज पावनती,
पावन-पतित नाम नेम कौ निवाहि है।
मेरो शब्द पतित तिहारे शब्द पावन को,
पैहैं ना तो पूरो नाम को "द्विजेस" कहि है;
कहै तो आओ जो निरर्थ असमर्थ जामें,
पावन ही पावन कहावन कौं रहि है।
आपी आप आपनो के पावन-पतित नाम,
कोऊ ना कह्यो की तुम्हें नाम ऐसो चहि है;
ना तो भक्त पावन, न जात भक्त पावन,
न पावन विरक्तहू, जो वेद-शास्त्र लहि है।
केवल पतित ही के पावन कहावत हौ,
सोई गुन गुनि के "द्विजेस" ऐसो कहि है:
मेरो-सो पतित जो पै पाइ है न पावन, तो
पावन ही पावन कहावन को रहि है।

बलरामप्रसाद मिश्र "द्विजेश"

× × ×

१०. हिंदू-संगठन

हम आज आपके सामने हिंदू-जाति की वर्तमान दशा का रोना रोने नहीं बैठे, और न आप—विश्वास है—उससे अनभिज्ञ ही हैं। हमारे और आपके सामने इस समय तो केवल एक, और केवल एक ही प्रश्न है, और वह यह कि हमारे जीवित रहने का उपाय क्या है? हम भी संसार में सुख और शांति से कैसे निवास कर सकते हैं, और उसके लिये हम अब क्या करें? हमारा कर्तव्य क्या है?

अन्य देशों के इतिहास देखने से पता चलता है कि जब कोई देश उन्नति के शिखर पर पहुँचा है, तब उसमें पहले एक धार्मिक या सामाजिक क्रांति हुई है। योरप तभी उन्नति कर सका, जब वहाँ एक ज़बर्दस्त धार्मिक क्रांति हुई, और उसका 'पोप' से पिंड छूटा। ठीक यही बात हिंदू-जाति के लिये भी कही जा सकती है। राजनीतिक क्रांति तो सामाजिक क्रांति के हुए बिना कभी सफल हो ही नहीं सकती। हिंदू-जाति, हिंदू-सभ्यता और हिंदू-धर्म की उन्नति केवल एक इसी बात की अपेक्षा करती है। इस समय तो इन तीनों की ही रक्षा के लिये, यदि हम इसके इच्छुक हैं, हमें एक ज़बर्दस्त सामाजिक क्रांति करनी होगी, और इसी में हमारा कल्याण भी है।

सामाजिक क्रांति की पहली सीढ़ी है हिंदू-संगठन और शुद्धि। इसी में हमको जुट जाना चाहिए। बिना संगठन के हिंदू-जाति की रक्षा असंभव है। जिस समय हिंदू संगठित हो जायँगे, तब वे महाराज युधिष्ठिर की इस बात को कि "अपने में हम १०० और ५ हैं, पर दूसरे के लिये हम १०५ हैं" भूल न जायँगे, धार्मिक प्रश्न पर मुसलमानों की तरह जब वे राजा से रंक तक एक ज़बान से बोलना सीख जायँगे, उन्हें कोई उँगली दिखाने का भी साहस नहीं कर सकेगा। इसी समय हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की नींव भी पक्की हो जायगी, और किसी के हिलाने से भी न हिलेगी। मुसलमान भी जब यह देख लेंगे कि इनको छेड़ना बरों का छत्ता खोदना है, जब वे देखेंगे कि भाई इन्हें एक तमाचा मारने पर पचीसों तमाचे खाने पड़ते हैं, तब वे भी आप ही मित्रता के लिये हाथ फैलावेंगे। निर्बल और सबल की एकता उसी तरह असंभव है, जिस तरह शेर और बकरी की, मोर और सर्प की तथा बिल्ली और चूहे की। हिंदुओं को इस समय "जैसे को तैसा"-वाली नीति का पालन करना होगा। उन्हें "कर मिट या मर मिट" को अपना ध्येय बनाना होगा। तभी वे ज़िंदों की भाँति संसार में ज़िंदा रह सकेंगे।

समय आज हमारे साथ है। लोहा गरम है, और इसी समय वह अपनी इच्छा के अनुसार ठोक-पीटकर ठीक किया जा सकता है। फिर वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करेगा। इसलिये नवयुवकों को अब आगे बढ़ना

चाहिए। उन्हें मालवीयजी और लालाजी-सरीखे पथ-प्रदर्शक भी इस समय मिल रहे हैं। ऐसे समय को खोना मूर्खता होगी। मौक़े का एक टाँका बेमौक़े के नव टाँकों से अच्छा है; क्योंकि—"अब की चढ़ी कमान, को जाने अब कब चढ़े।"

पद्मकांत मालवीय

× × ×

११. प्रतीक्षा

खोलकर पावन हृदय-द्वार,
प्रतीक्षा करती निश-दिन खड़ी;
कामना पूरी होगी कभी—
इसी पर चंचल पलकें अड़ी।
बना चातक-सा भोला हृदय,
समझकर कष्टों को फुलझड़ी;
ध्येय-पथ पर हैं रक्खे पैर,
परीक्षाएँ होने दो कड़ी।
उसी पर होना है बलिदान,
नहीं काया की माया पड़ी;
विघ्न-बादल का डर भी नहीं,
लगे, लगने दो उनकी झड़ी।
तुम्हारी हूँ मैं तेरे लिये,
रहूँगी निर्भय होकर खड़ी;
कभी जब आवेगी यह याद,
दौड़ते आओगे उस घड़ी।
प्राणपति, प्रियतम, प्राणाधार,
तुम्हारी पावन प्रतिमा-जड़ी;
कभी क्या भूलूँगी हे नाथ,
रहेगी हृन्मंदिर में जड़ी।

"विमल"

× × ×

१२. एक डूबा हुआ नगर

अभी हाल ही में एक ग़ोताख़ोर ने एक सनसनी फैलानेवाली खोज की है, जो पुरातत्व के इतिहास पर बड़ा प्रभावोत्पादक प्रकाश डालेगी।

कमर के निचले भाग में ब्रीच-क्लाउट (ग़ोता लगाने के समय पहनने का वस्त्र) पहने, एक हाथ में अपने को पानी के भीतर दबा रखने के लिये एक भारी पत्थर और दूसरे हाथ में स्पंज को काटकर ढीला करने के लिये एक चाक़ू लिए हुए एक ग़ोताख़ोर ट्यूनिस के किनारे से दूर भूमध्य-सागर में ग़ोता लगा रहा था। ऐसे ग़ोता लगानेवाले पानी के भीतर आँखें खोले रहते और साँस रोककर मिनटों अंदर डूबे रह सकते हैं। सतह से तीस फ़ीट नीचे उसने भीतर ऐसा दृश्य देखा, जिससे वह भयभीत हो गया, और उसकी अक़्ल मारी-सी गई। एक सुंदर स्त्री सामुद्रिक नरकुलों में से निकलकर तनी हुई नंगी उसके सामने खड़ी थी। हरे, साफ़ पानी में वह भली भाँति दृष्टिगोचर हो रही थी। ग़ोताख़ोर को यह ज्ञान न हुआ कि यह स्त्री परी है या राक्षसी, अथवा मानव-सृष्टि की एक स्त्री, जो अभी हाल ही में डूब गई है, और अब तक जीवित है। उसने पूरा पता लगाने की प्रतीक्षा न की। क्या करे, बेचारा डर गया था! भयभीत होकर दो-तीन बार ज़ोर से उछलकर सतह पर पहुँच गया, और नाव पर आकर आश्चर्यमयी घटना कह सुनाई। समुद्र के ऊपर दिन के प्रकाश में कोई भी भय अनुभूत न हुआ, और तुरंत ही बहुतेरे लोगों ने फिर साथ ही ग़ोता लगाया।

'थाइंस शिफ़्टिंग्स' नामका एक लेखक लिखता है कि वहाँ अंदर इन लोगों को वीनस (Venus) देवी की एक अपूर्व सुंदर मूर्ति मिली, जो सहस्रों वर्ष पहले डूब गई थी। ऐसी मूर्ति को ईसवी सन् से बहुत पहले से ही किसी ने नहीं देखा।

गोताख़ोरों में वैज्ञानिक अनुराग या पुरातत्व विषयक जिज्ञासा तो थी नहीं, पर उन्होंने अधिक खोज करने का प्रयत्न किया। यह केवल मानवी जिज्ञासा थी। परंतु उनके जो अन्वेषण हुए हैं, वे समस्त संसार को चकित कर देंगे।

उन लोगों को तली की लहरों के ३० फ़ीट नीचे एक पूरा डूबा हुआ नगर मिला, जिसमें अनेक मंदिर, महल और मकान अब तक खड़े हैं। नगर की सड़कों पर रंगीन मछलियाँ तैरती रहती और टूटी हुई खिड़कियों तथा दरवाज़ों से भीतर-बाहर आया जाया करती हैं। ग़ोताख़ोरों ने इस खोज की ख़बर जर्बा-द्वीप (Djerba Island) के फ़्रांसीसी गवर्नर को दी। इसी द्वीप और ट्यूनिस के किनारे (अफ़्रिका से दूर) के बीच में यह डूबा हुआ नगर स्थित है। गवर्नर ने संपूर्ण विवरण की रिपोर्ट कार्थेज के बड़े उत्साही नवयुवक खोदनेवाले

काउंट बाइरन कुन डी प्रोरोक और उनकी स्त्री काउंटेस डी प्रोरोक को दी। इस दंपति ने साथ-साथ खुदाई करके बड़े-बड़े अन्वेषण किए हैं। अब कोर्ट की ओर से यात्रा की तैयारी हो रही है। इस भग्न नगर के रहस्य का पता लगाने का प्रयत्न किया जायगा।

अन्वेषण की सबसे मनोरंजक बात यह है कि यह नगर भूमध्य-सागर के ठीक उसी भाग में है, जिसे सिर्शियन सागर कहते हैं, और जो वर्जिल की ईनियड में इनहारिपटा सिर्टी कहा गया है। बिलकुल इसके समीप जर्बा-द्वीप (आइल ऑफ़ दि लोटस ईटर्स) है, जिसका होमर ने अपनी ओडेसी में वर्णन किया है। डूबी हुई वीनस देवी का डूबा हुआ नगर सचमुच किसी समय इसी द्वीप के किनारे पर था। धीरे-धीरे वह लहरों के नीचे डूब गया।

इसी नगर में या इसके आस-पास होमर की ओडेसी का प्रसिद्ध वीर यूलीसस और उसके साथी यात्री लोगों ने कमल-भक्षकों के साथ बड़े साहस-पूर्ण कार्य किए थे, जिनका उल्लेख होमर ने ओडेसी में किया है। ये कमल-भक्षक लोग मनुष्य को सुअर बना लेते थे। बात इस अन्वेषण के संबंध में दूसरी मुख्य यह है कि इससे और अधिक भग्न वस्तुओं का शायद पता चले, जो इस प्रश्न पर प्रकाश डालेंगी कि यूलीसस की साहस-पूर्ण यात्रा ऐतिहासिक घटना पर अवलंबित है या उसका आधार केवल कवि-कल्पना ही है।

बहुत समय तक इतिहासकारों का विश्वास था कि ट्राय का घेरा और हीलन की कथा केवल कवि-कल्पित है। बाद को उन्होंने एशिया-माइनर में ट्राय-नगर का पता लगाया, और इस बात पर प्रकाश डाला कि कथा-नक सच्चा है। बस, ठीक इसी तरह अब भी यूलीसस के विषय में कोई ऐसी ही बात मालूम हो सकती है, यद्यपि डूबी हुई वीनस-देवी और नगर, जिसके रहस्य की वह देख-भाल करती है, दोनों ट्राय की घटना के बहुत बाद के हैं। शायद ये दोनों प्राचीन कार्थेज के समकालीन हों। आफ़्रिका की भूमि पर कार्थेज के कुछ भग्नावशेष समुद्र में धँस गए हैं। हवाई जहाज़ के ऊपर से इनका फ़ोटो लेने से पता चला है कि वर्तमान किनारे पर समुद्र की तली में ये भग्नावशेष स्थित हैं। जर्बा-द्वीप के पास भी, जो किनारे से बहुत दूर है, एक दूसरा गड़ा हुआ नगर है, जिसकी लंबाई क़रीब ३ मील है।

स्पष्ट-रूप से इस स्थान पर नागरिक सभ्यता आरंभ होने के बाद पृथ्वी की गति में घोर परिवर्तन हुआ है। या तो समुद्र ऊपर उठा या ज़मीन नीचे धँसी; परंतु ऐसा परिवर्तन हर हालत में उत्तरोत्तर था। इतिहास ऐसे रद्दोबदल के बारे में बिलकुल चुप है। भग्नाव-शेष भूकंप के कारण नहीं उत्पन्न हुए हैं; क्योंकि बहुत-से डूबे हुए नगरों का पता चलता है। यह संभव है कि यह समस्त भाग, जो आज पानी के अंदर है, किसी समय सभ्यता का केंद्र रहा हो। ऐसा स्थान ईसा के पहले ६ ठी या ८वीं शताब्दी में रहा होगा, और उस समय तक डूब गया अथवा भूल गया होगा, जब कि रोम और कार्थेज अपनी-अपनी कीर्ति-पताकाएँ बड़ी शान से उड़ा रहे थे।

शिवमंगल पांडेय

× × ×

१३. क्या है ?

वह समस्त भूमंडल क्या है ?
जल-थल-नभ-अनिलानल क्या है ?
सृष्टिस्थिति भी प्रलय-कार्य का आदि मूल-कारण, फल क्या है ?
भूचर, खचर, वारिचर, नभचर,
भिन्न-भिन्न गुण-रूप कलेवर;
उक्त कुतूहल-पूर्ण विश्व में, निहित शक्ति वह अविकल क्या है ?
परिवर्तनशीलता प्रकृति की,
सार-भेद जगती की गति की;
निरुपमेय चांचल्य चारु में, नियम एक वह अविचल क्या है ?
पतनोत्थान, ऊर्मि-कुल-संकुल,
प्रबल प्रवाह-पुंज, भ्रमाकुल;
आवर्तायत संसृताब्धि के वह उस पार तट-स्थल क्या है ?
बहती ज्योतिर्धार जहाँ है,
रवि जिसका लघु बिंदु यहाँ है;
धी, इंद्रिय, मन परे अगोचर, उस पुर का पथ-अंचल क्या है ?
हुए वेद-पारंगत पंडित,
तपोधनी ज्ञानी गुण-मंडित;
सारी आयु खोज में खोई, लख न सके अंतस्तल क्या है ?
विचलित, मलिन हुआ मन-दर्पण,
हुआ अलक्ष्य लक्ष्य का दर्शन;





छुट्टी का दिन

[चित्रकार—श्रीयुत अखिलकुमार हलदार]

N. K. Press, Lucknow

बोगों की इति हुई, न पाया, औषध सिद्ध अनिष्फल क्या है?
रसना हो निराश, रट रोई,
कहकर 'नेति'-मात्र सब कोई;
मौन हो रहे, पूछूँ किससे आत्म-समस्या का हल क्या है?

रामनारायण मिश्र

× × ×

१४. राठोर-वीर दुर्गादास के नाम एक बादशाही फ़रमान

मारवाड़ की ख्यातों में लिखा है कि जब शाहज़ादा मोहम्मद अकबर दक्षिण की तरफ़ होता हुआ ईरान की तरफ़ भागा, तब वह अपने कुटुंब को दुर्गादास की संरक्षा में छोड़ गया था। इसी से विक्रम-संवत् १७५४ में बादशाह औरंगज़ेब ने दुर्गादास को शाही मनसब देकर अकबर की स्त्री, पुत्र और कन्या आदि को अपने पास बुलवा लिया। इसके कुछ समय बाद बादशाह ने दुर्गादास के नाम एक फ़रमान भेजकर उन्हें सिंध में जाकर अकबर को ले आने की आज्ञा दी।

यद्यपि इस घटना का उल्लेख 'मआसिर आलमगीरी' आदि ऐतिहासिक ग्रंथों में नहीं है, तथापि आगे जिस फ़रमान की नक़ल दी जाती है, उससे उक्त बात की पुष्टि होती है—

फ़रमान की नक़ल

"भाइयों और पास रहनेवालों में मुख्य इसलाम का ताबेदार दुर्गादास बादशाही बख़्शिश का उम्मेदवार होकर जाने कि इन फ़तह के दिनों में मोहम्मद अकबर के निशाने[1] से जो उसने अमीरख़ाँ के बेटे मीरख़ाँ नाम लिखा था, और उसने हुज़ूर में भेजा था, मालूम हुआ कि जो प्यारा बेटा[2] काबुल में है, इसलिये वह काबुल के रास्ते से नहीं आ सकता है, और फिर प्यारे बेटे के नामदार बेटे[3] के मुलतान में होने की ख़बर पाकर उस रास्ते से भी नहीं आ सकता। शुजाअतख़ाँ के लिखने से पाया जाता है कि मोहम्मद अकबर ने दरगाह में हाज़िर होने का पक्का इरादा कर लिया है। इस वास्ते मोहम्मद अकबर को हुक्म लिखा गया है कि कंधार के इलाक़े कौसंज में आवे। पहले आने के वास्ते वह रास्ता बताया गया था, मगर (अब) सेवी कंजावे के रास्ते से, जो बख़्तावरख़ाँ का वतन है, सेवस्तान में आकर गुजरात में आ जाय, और वहाँ से इस बड़ी चौखट के चूमने को रवाना हो जाय। इसलिये यह फ़रमान भेजा जाता है। चाहिए कि इसके पहुँचते ही जल्दी से सेवस्तान में आकर जैसलमेर या जिस रास्ते से मुनासिब जानो, उसको अहमदाबाद में लाओ, और वहाँ से उसके और शुजाअतख़ाँ[1] के साथ इस बड़ी दरगाह में आओ। तारीख़ १० रजब, सन् ४२ जलूसे[2] को लिखा गया।"

इसी तारीख़ को एक फ़रमान[3] पीर नज़रअली शाह के नाम भी लिखा गया था। उसमें लिखा था कि तुम दुर्गादास के साथ जाकर मोहम्मद अकबर को कौसंज, इलाक़े कंधार, सेवी, सेवस्तान और जैसलमेर के रास्ते से अहमदाबाद में शुजाअतख़ाँ के पास ले आओ। इससे भी उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है।

इस फ़रमान के लिखने के एक वर्ष बाद अर्थात् औरंगज़ेब के सन् जलूस ४३ का हाल लिखते हुए 'मआसिर आलमगीरी' के रचयिता ने शाहज़ादा अकबर के विषय में लिखा है—

"सन् जलूस ४३ के जमादि अव्वल में अकबर के दो नौकर उसकी अरज़ी कुसूर मुआफ़ करने के लिये अतर के एक संदूकचे के साथ दरगाह में लाए। उनके हाथ ख़िलअत और मेहरबानी का फ़रमान भेजा गया, और लिखा गया कि जब तक सरहद पर नहीं आयगा, कुसूरों की माफ़ी नहीं होगी। पर जब बादशाही मुल्क में आ जायगा, तो बंगाल की सूबेदारी और दूसरी बख़्शिशों का फ़रमान उसके नाम भेजा जायगा।"

इसके बाद के क़रीब ४ वर्षों का कुछ भी हाल नहीं मिलता। परंतु हिजरी सन् ११११ के शाबान महीने के हाल में लिखा है—

"शाबान में ईरान की सरहदों के ख़बर लिखनेवालों की अर्ज़ियों से अकबर के ईरान में मरने की और मशहद में दफ़न होने की ख़बर मिली, जिसको सुनकर बादशाह ने कहा कि हिंदुस्तान का बहुत बड़ा फ़ितना बैठ गया।"

---

१. शाहज़ादे का फ़रमान
२. मोहम्मद मुअज़्ज़म (बहादुरशाह)
३. मोहम्मद मुइज़्ज़ुद्दीन (मुअज़्ज़म का बेटा)

१. गुजरात का सूबेदार
२. विक्रम-संवत् १७५५की पौष-सुदी १३=ईसवी सन् १६९९ की ३ जनवरी=हिजरी सन् १११०, बुधवार
३. यह फ़रमान पीर नज़रअली के आठवें पोते साँई चाँदशाह के पास जोधपुर में मौजूद है

यह ख़बर नव्वाब ज़ीनतुलनिसा बेगम (अकबर की सगी बहन) को भेजकर अकबर के बेटे सुलतान बुलंद अख़्तर को मातमी का तोरा (जोड़ा) भेजा, और बड़े बेटे सुलतान निकोसियर के वास्ते आगरे के क़िले में रज़िया बेगम-महल, शाहज़ादे रफ़ीउल क़दर और ज़किया बेगम महल, शाहज़ादे ख़ुजस्तह अख़्तर के वास्ते भी तोरे भेजे गए।"

ये मोहम्मद अकबर की बेटियाँ थीं, तथा रफ़ीउल क़दर और ख़ुजस्तह अख़्तर बड़े शाहज़ादे मोहम्मद मुअज़्ज़म (बहादुरशाह) के पुत्र थे।

शाहज़ादे अकबर का बड़ा भाई मोहम्मद सुलतान भी बाग़ी हो गया था। इसके बाद जब वह लौटकर आया, तब औरंगज़ेब ने उसे क़ैद कर लिया, और वह मृत्यु-पर्यंत कारागार मे ही सड़ता रहा। इसी डर से शायद औरंगज़ेब के बुलाने और आश्वासन देने पर भी मोहम्मद अकबर का ईरान से लौट आने का साहस न हुआ हो।

राठोर वीर दुर्गादास के वंशजों में इस समय बाघावास के ठाकुर मुख्य हैं, और इन्हीं के पास दुर्गादास के नाम के २ बादशाही फ़रमान मौजूद हैं। संभव हुआ, तो शीघ्र ही उन फ़रमानों का सचित्र विवरण सेवा में उपस्थित किया जायगा।

विश्वेश्वरनाथ रेऊ

× × ×

१५. तुम्हारी कविता

प्रकृति-प्रगति की नीरवता में,
विश्व छंद की मौलिकता में,
मुद्रित मायामय भाषा में व्यापी सकल-दिगंत;
तुम्हारी कविता अतुल, अनंत।
संतत सिद्ध, प्रबुद्ध प्रवर भी,
मरकर कोटि जन्म जीकर भी,
भाव-भरी तेरी कविता का कभी न पाते अंत;
तुम्हारी कविता अतुल, अनंत।
कवितामय मेरा यह जीवन,
किंकर्तव्य-विमूढ़ बना मन;
महाकवे! तेरी कविता का क्या स्वरूप आकार?
क्या रस है, क्या अलंकार है?
क्या कविता का भाव-सार है?
सुलझा जा भावों की उलझन हे कविता-करतार!
तुम्हें अर्पण जीवन-पर्यंत;
तुम्हारी कविता अतुल—अनंत।

"सहिष्णु"

× × ×

१६. चींटियों की भाषा

चींटियों के विषय की बहुत-सी बातें मेरे परम हितैषी श्रद्धास्पद माधुरी के पाठकों के सुपरिचित श्रीयुत बा० रमेशप्रसादजी बी० एस्‌ सी० ने समय-समय पर विज्ञान-वाटिका-स्तंभ में लिखी हैं, जिनसे उनका बहुधा मनोरंजन होता रहा है। आज मैं चींटियों की भाषा के विषय में अमेरिका के एक प्रसिद्ध विद्वान्‌ अध्यापक वान एच्० आइडमैन के एक लेख के आधार पर कुछ लिखने का साहस करता हूँ। अध्यापक महोदय ने अनेक दिनों तक चींटियों के पारस्परिक भाव तथा आदान-प्रदान आदि विषयों की बहुत-सी बातों का स्वयं अध्ययन किया है, और अपने अनुभव को स्पष्ट-रूप से संसार के सामने रक्खा है। चींटियाँ किस प्रकार आहार खोजती तथा पता पा जाने पर किस प्रकार अपने दल के और सब चींटियों को ख़बर पहुँचाती हैं, यही बातें दिखलाई जायँगी।

एक चींटी ने खाद्य-पदार्थ का एक बड़ा-सा टुकड़ा देखा, और देखते ही उसे अकेले अपने स्थान पर ले जाने के लिये व्यग्र-सी हो उठी। अनेक चेष्टा करने पर भी जब वह सफल न हुई, तो सीधे अपने दल के और-और साथियों को जाकर सूचना दी। चींटियों के वास-स्थान पर बराबर कड़ा पहरा रहता है। वास-स्थान के द्वार पर ही एक पहरे का घर रहता है। इस घर में सहायता देनेवाली चींटियाँ बराबर तैनात रहती हैं। सहायता की पुकार सुनते ही वे बाहर निकल पड़ती हैं। खाद्य-आविष्कारक चींटी अपने वास-स्थान में घुसकर सबसे मुख मिला-मिलाकर, खाद्य-द्रव्य पाने का सुसंवाद सुनाने लगती है। ख़बर पाते ही झुंड-की-झुंड चींटियाँ अपने घर से निकलकर प्राप्त आहार की ओर चल पड़ती हैं। सूचना देनेवाली चींटी सबके आगे रास्ता बताती चलती और झुंड उसके पीछे-पीछे जाता है। खाद्य-पदार्थ के निकट पहुँचकर सभी उस टुकड़े को छोटे छोटे टुकड़ों में तोड़कर एक एक टुकड़ा लेकर अपने घर की ओर चलती हैं। इस प्रकार ये छोटे छोटे सभी टुकड़े चींटियों के खाद्य-

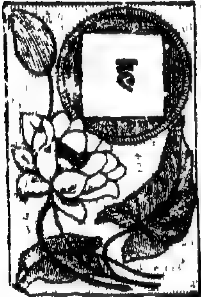
भांडार में जमा होते हैं। बहुत बार ऐसा देखा गया है कि खाद्य-पदार्थ की ओर जाते हुए चींटी-दल के रास्ते में यदि एक सफ़ेद काग़ज़ का टुकड़ा रख दिया जाय, तो चींटियों को दिशा का भ्रम हो जाता है। ऐसा क्यों होता है, ठीक मालूम नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी प्रकार की गंध-विशेष के कारण इन्हें दिशा का ज्ञान होता है या नहीं। अध्यापक आइडमैन ने चींटियों के अनेक आश्चर्यजनक अच्छे-अच्छे गुणों का पता लगाया है। चींटियाँ जिस भार को स्वयं वहन कर सकती हैं, उसके लिये दूसरे की सहायता कभी नहीं चाहतीं।

कितनी ही बार कुछ मिष्टान्नों के छोटे-छोटे टुकड़ों को एक चींटी के आगे डालकर देखा गया है कि बारी-बारी से वही एक चींटी सभी टुकड़ों को अकेले अपने वासस्थान को ले गई। चींटियों का कर्तव्य-ज्ञान प्रशंसनीय होता है। जब वे किसी स्थान में खाद्य-विशेष की खोज पा लेती हैं, तब यदि आप उनके आगे कुछ रख भी दें, तो वे अपने पाए हुए खाद्य के आगे उसे नहीं पूछेंगी, चाहे पूर्व-प्राप्त खाद्य की अपेक्षा अच्छी चीज़ भी क्यों न दी गई हो। संभव है, मनुष्य या और जीवों की तरह भला-बुरा परखने की मानसिक शक्ति चींटियों में न हो, अथवा जो पहले पाया है, उसे पहले लेना धर्म है, इस प्रकार के कर्तव्य-ज्ञान से प्रेरित होकर ही वे ऐसा करती हों। ऐसा मालूम होता है कि चींटियों की स्मरण-शक्ति अल्पकाल-स्थायी होती है; किंतु ऐसा भी देखा गया है कि किसी विशेष स्थान से एक बार खाद्य-द्रव्य ढो-ढोकर ले जाने के बाद भी उस स्थान पर बहुधा वे फेरी लगाया करती हैं।

गोपीनाथ वर्मा



१. क्या निद्रा अनावश्यक है ?



हम बहुत दिनों से सुनते आ रहे हैं कि निद्रा में समय लगाना समय व्यर्थ खोना है। जीवन का प्रायः एक-तिहाई भाग मनुष्य सोने में गँवा देता है। किंतु सोने से हमें क्या फ़ायदा है ? क्या सोकर हम लोग अपनी खोई हुई शक्ति को पा लेते या अपने थके हुए शरीर और मस्तिष्क को आराम पहुँचाते हैं ? यह कुछ नहीं, केवल सिद्धांत-ही-सिद्धांत है। इस सिद्धांत की जड़ अनुमान ही है। डॉ० एच्० एल्० हार्लिंगवर्थ का कहना है कि यह सिद्धांत बहुत-सी जानी हुई बातों का विरोधी है। डॉक्टर साहब निद्रा पर एक दूसरे ही पहलू से विचार करते हैं। उनका कहना है कि सोना एक बुरी आदत है। परंपरा से मनुष्य इस आदत का आदी हो गया है। यदि वह चाहे, तो अपने सोने के समय को क्रमशः थोड़ा-थोड़ा कम करके सर्वथा त्याग सकता है। आदत पड़ जाने पर बिना सोए ही हम लोग अपना सब काम सुचारु रूप से करने लगेंगे।

वह एक न सोनेवाली जाति का स्वप्न देख रहे हैं। इस जाति के मनुष्यों को काम करने के लिये वह समय भी मिल जायगा, जिसे इस समय के लोग निद्रा में व्यतीत करते हैं। डॉ० हार्लिंगवर्थ का सिद्धांत बड़ा सीधा-सादा है। वह हमें उस समय की याद दिलाते हैं, जब हमारे पूर्वज घरों में न रहकर पहाड़ों या जंगलों में निवास करते थे। रात के समय अँधेरे में काम करने के साधन—दीप या इलेक्ट्रिक लाइट—उनके पास नहीं थे। यदि कोई मनुष्य रात को शिकार करने के लिये निकलता, तो वह स्वयं पशुओं का शिकार बन जाता था। इसके अतिरिक्त रात को रास्ता भूल जाने का भी डर बना रहता था। रास्ता दिखलाई न पड़ने के कारण प्रत्येक पग पर गिरने तथा ठोकर खाने का भय था। इसलिये वे सोकर ही रात बिताया करते थे। जिस बात की आदत उन्होंने उस समय डाली, वही उनकी संतानों में आज भी पाई जाती है। निद्रा का यही कारण है।

सोने की आदत को बेकार जानते हुए भी हम लोग उसे अपनाए हुए हैं। अब इस आदत से हमें कुछ भी फ़ायदा नहीं देख पड़ता; क्योंकि हम लोग रात को विद्युत्-प्रकाश द्वारा दिन में परिणत कर सकते हैं। हमें अब अंधकार का भय नहीं रहा। तब क्यों न इस आदत को छोड़ दें ? कोई-कोई कह सकते हैं कि सोना नवजात शिशुओं की प्रकृति है, इसलिये यह मनुष्य के लिये आवश्यक है। किंतु यह दलील बेबुनियाद है; क्योंकि मनुष्य में कुछ ऐसी स्वाभाविक बातें हैं, जिनका कोई कारण नहीं दिया जा सकता।

किसी शिशु को एक डंडा पकड़ाइए, वह पकड़ लेगा, और इतने ज़ोरों से पकड़ेगा कि अपना भार सँभाल सके। आपके हाथ में यदि कोई गरम वस्तु पकड़ाई जाय, तो आप उसे तुरत फेंक देंगे। यह स्वाभाविक है। इसी प्रकार लड़कों का सोना भी स्वाभाविक है।

कुछ लोग निद्रा को शरीर की खोई हुई शक्ति लौटाने का साधन बतलाते हैं। उनका कहना है कि दिन में जब हम काम करते हैं, तो कोषों के नष्ट होने से शरीर में विष पैदा होता रहता है। निद्रा-काल में ये कोष पुनः गठित होते और हमारे शरीर को शक्ति देते हैं। इस पर भी विचार करना आवश्यक है। रात को जब हम सोते हैं, तब हमारा सारा शरीर पूर्ण विश्राम नहीं करता। हृदय धड़कता रहता है, नाड़ियाँ चलती रहती हैं, अचेतन मस्तिष्क जागता रहता है, जिस करवँट हम लोग सोते हैं, उधर की पेशियाँ काम करती रहती हैं। तब भला कैसे कहा जा सकता है कि हमारा सारा शरीर पूर्ण विश्राम करता है? क्या उस समय विष नहीं पैदा होता? क्या उस समय कोष नष्ट नहीं होते? जब शरीर के ये प्रधान अंग नहीं सोते, तो अन्य अंगों का सोना ठीक-ठीक समझ में नहीं आता।

निद्रा-संबंधी इतनी खोज हुई है; किंतु अब तक इस बात को किसी ने भी प्रमाणित करने की चेष्टा नहीं की कि निद्रा हमारे लिये आवश्यक है या नहीं। हाँ, ऐसी बहुत-सी परीक्षाएँ हुई थीं, जिनमें मनुष्यों को सौ-सौ घंटे तक जगाए रहने के बाद उनके कार्यों को देखा गया था; किंतु ऐसी एक भी परीक्षा नहीं हुई, जिसमें किसी मनुष्य ने अपने सोने के समय को क्रमशः कम किया हो, और उसका कोई फल निकलता देखा गया हो। यदि आप लगातार दो महीने तक अपने सोने के समय में केवल १ मिनट की कमी करें, तो सोलह वर्ष के बाद (यदि आपके सोने का समय ८ घंटे हो) आप एक मिनट भी न सोवेंगे। सोने के समय में एकाएक कमी कर देने से फ़ायदा न होगा, और परीक्षा असफल रहेगी।

डॉक्टर मेथेनील क्लिटमैन ने कुछ विद्यार्थियों की, ११५ घंटे तक जगाए रहने के बाद, परीक्षा की। फल यह निकला कि ये विद्यार्थी ज्यों ही अपने अंगों को ढीला कर देते थे, निद्रा उन्हें आ दबाती थी; किंतु जब तक उनके अंग तने रहते थे, तब तक वे जागते रहते थे। जितना अधिक वे जागे, उतना ही उनका शरीर विवश होता गया। दिन-रात दो दिन तक जागने के बाद वे साफ़-साफ़ नहीं लिख सकते थे। रंगों को उस समय भी वे पहचान सकते थे; किंतु देर तक इसी काम में लगे रहने पर उनकी बुद्धि जवाब दे देती थी। जाग्रत्-अवस्था ही में वे स्वप्न देखने लगे थे। केवल मालूम यह हुआ कि इतने दिन जागते रहने पर भी उनकी मानसिक शक्ति का नाश नहीं हुआ था। ये परीक्षाएँ यह देखने के लिये हुई थीं कि यदि निद्रा की आदत को एकाएक छोड़ दिया जाय, तो क्या फल होगा। इसका फल आशाजनक न होने के कारण ही डॉक्टर हार्लिगवर्थ ने इस आदत को धीरे-धीरे छोड़ने की सलाह दी है।

× × ×

७. लड़ाई के घोड़े

संयुक्त-राज्य की सेना का केमिकल वारफ़ेयर-विभाग युद्ध में व्यवहृत गैसों से रक्षा पाने के साधनों की तलाश कर रहा है। गत महायुद्ध में जो ज़हरीली गैसें व्यवहृत हुई थीं, उनसे मनुष्यों की रक्षा करने के लिये एक प्रकार का टोप बना था। इस टोप में हवा आने-जाने के लिये जो छिद्र बने थे, वे दवा मिली हुई रुई से रक्षित थे। इस कारण किसी प्रकार की विषैली गैस मनुष्य के शरीर में नाक या मुँह के रास्ते नहीं प्रवेश कर सकती थी। किंतु लड़ाइयों में मनुष्यों के सिवा पशु भी काम में आते हैं। लड़ाई के मैदान में घोड़ों, कुत्तों और कबूतरों से भी काम लिया जाता है। ये प्राणी भी विषैली गैसों से मूर्छित होते या मृत्यु के मुँह में चले जाते हैं। अस्तु, मनुष्यों की रक्षा के साथ-साथ इनकी रक्षा भी अत्यंत आवश्यक है।

प्रकृति घोड़े की एक विचित्र प्रकार से रक्षा करती है। उसकी आँखें युद्ध में व्यवहृत होनेवाली साधारण गैसों से नष्ट नहीं होतीं; ये कभी मुँह से साँस नहीं लेते। इसलिये केवल उनकी नाक की रक्षा करनी पड़ती है। इनके लिये एक ऐसा तोबड़ा बना है, जो सभी विषैली गैसों को सोख लेता है, और केवल शुद्ध वायु घोड़े की साँस के साथ जाने पाती है। यदि कदाचित् भविष्य में ऐसी कोई गैस आविष्कृत हो, जिसका

अगर घोड़े की आँखों पर भी पड़े, तो उससे भी रक्षा के लिये साधन बनाकर तैयार कर दिया गया है। किंतु घोड़ों के खुर विषैली गैसों से नहीं बच सकते थे। अस्तु, उनके बचाव के लिये चमड़े के जूते बने हैं, जो घोड़े के खुरों को अच्छी तरह ढके रहते हैं।



घोड़े का टोप



लड़ाई का घोड़ा

मनुष्यों और कुत्तों पर विषैली गैसों का प्रायः एक-सा प्रभाव पड़ता है। कुत्तों की आँखें और कान इसके द्वारा नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि वे मुँह से भी साँस लेते हैं। इसलिये कुत्तों को ऐसे ढकन की आवश्यकता होती है, जिससे उनका पूरा सिर ढक जाय। कबूतरों को अलग-अलग रक्षा-टोप पहनाना व्यर्थ सिद्ध हुआ है। इसलिये उन्हें एक पिंजड़े में, जो चारों तरफ़ से रक्षित रहता है, बंद करके लड़ाई के मैदान में ले जाते हैं। पिंजड़े का ढकन विशुद्ध हवा तो पिंजड़े में आने देता है, किंतु विषैली गैस को बाहर ही रोक रखता है। आवश्यकता पड़ने पर कबूतर को जल्दी से पिंजड़े से निकालकर ज़ोर से ऊपर फेंक भी सकते हैं जिससे वह तुरंत ही विषैली वायु की



कुत्ते को टोप पहनाया जा रहा है

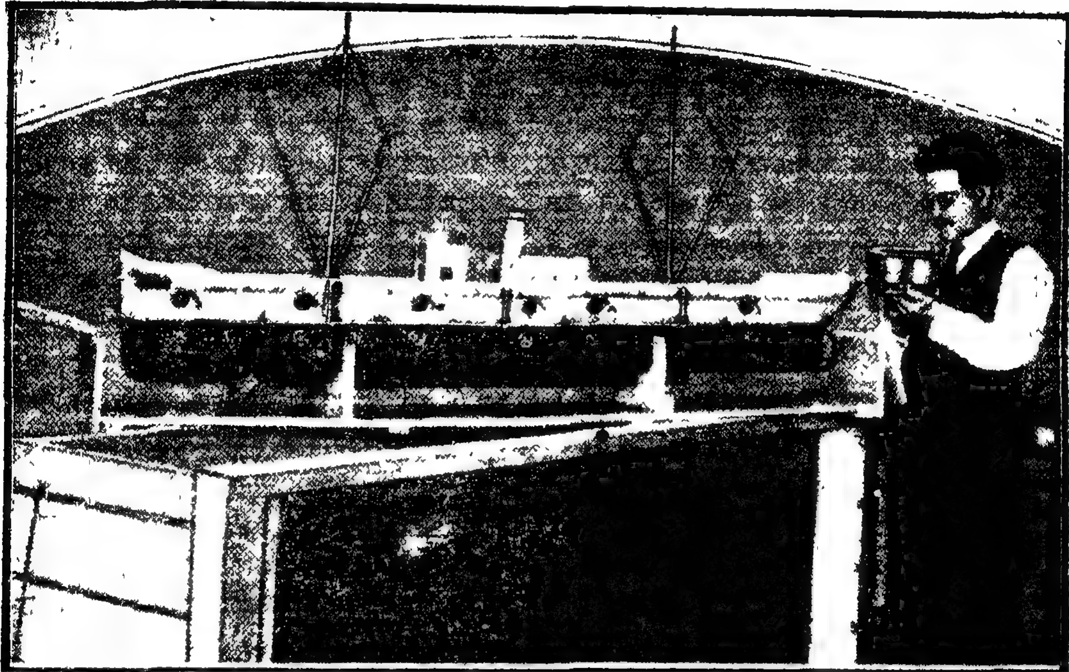
सतह से ऊपर चला जाता है, और उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचने पाती।

× × ×

३. न डूबनेवाला जहाज़

जहाज़ों में अब तक चाहे जितनी उन्नति हुई हो, किंतु उनमें एक बड़ा दोष रह ही गया है; अर्थात् पानी में डूबने से उन्हें कोई नहीं बचा सकता। अब तक करोड़ों टन वज़न के जहाज़ समुद्र-तल में चले गए हैं, और अभी न-मालूम कितने जहाज़ डूबेंगे। जहाज़ों के साथ ही अन्य बहुमूल्य पदार्थ भी, जो उनमें रहते हैं, समुद्र गर्भ में समा जाते हैं। कितने ही मनुष्य प्राण गँवाते हैं, और अनेक प्रकार की क्षति दूसरों को भी उठानी पड़ती है। बहुत दिनों से वैज्ञानिक एक ऐसा जहाज़ बनाने की फ़िक्र में हैं, जो नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर भी पानी में न डूब सके। अभी हाल में नोवा स्कॉटिया के पास एक जापानी जहाज़ डूब गया, और उसके साथ ही

४० मनुष्यों ने अपने प्राण गँवाए। इस घटना से दुःखित होकर न्यू-आइटन के ऐडम टी० ड्रेकोलियस नाम के सज्जन एक ऐसा जहाज़ बनाने पर उतारू हो गए हैं, जो कदापि डूब न सके। वह प्रत्येक जहाज़ के पेंदे में एक सिकुड़ जानेवाली वायु की कोठरी लगाना चाहते हैं। जब कभी जहाज़ पर विपत्ति आवे, तब उस कोठरी में हवा भर देंगे, इससे पूरा जहाज़ वायु के दबाव के कारण पानी के ऊपर ही तैरता रहेगा। यदि उसमें पानी भी भर जाय, तो उसका तख़्ता पानी के ऊपर ही रहेगा, जहाँ जहाज़ के मनुष्य आश्रय ले सकेंगे।



न डूबनेवाला जहाज़

आजकल के जहाज़ों में जो हिस्सा व्यर्थ की सामग्री रखने के लिये काम आता है, वहीं पर यह हवा की कोठरी बनाई जा सकती है। इस कोठरी से और भी बहुत-से काम लिए जा सकते हैं। यही अग्निनिवारक का भी काम दे सकता है। जहाज़ में आग लगने पर हम इसी की सहायता से उसे बुझा भी सकेंगे। इसके द्वारा जहाज़ का कप्तान जहाज़ के बैलेंस को अपनी इच्छा के अधीन रख सकेगा। उसकी इच्छा के अनुसार ही जहाज़ का कोई हिस्सा पानी में डूबा रह सकेगा, या पानी के ऊपर तैरता रहेगा। इस प्रकार जंगी जहाज़ों को पानी में यहाँ तक डुबा दे सकेंगे कि वह पूरा तो डूब जाय, किंतु केवल तोप के मुँह पानी के ऊपर रह सकें। उन्होंने नमूने के जहाज़ों द्वारा प्रायः ७०० परीक्षाओं के बाद यह सफलता पाई है। उनका यह आविष्कार आर्कीमेडिज़ के सिद्धांत पर अवलंबित है।

× × ×

४. वायुयान द्वारा लिखना

महायुद्ध के बाद वायुयानों में बड़ी शीघ्रता से उन्नति हो रही है। उनके द्वारा भिन्न-भिन्न परीक्षाएँ या खेल हो रहे हैं। उन्होंने धुएँ की सहायता से आकाश में विज्ञापन लिखकर वाणिज्य-जगत् को बड़ी सहायता पहुँचाई है। ज़मीन से दो मील की ऊँचाई पर यदि कुछ लिखा जाय, तो वह १२० वर्गमील तक दिखलाई पड़ेगा। मेजर जॉन सी० सैमेज-नामक एक सैनिक ने इस कल्पना को सर्वप्रथम कार्य में परिणत किया था। कप्तान सिरिल टर्नर ने २४ नवंबर को प्रथम वायुयान द्वारा आकाश में धुएँ की सहायता से "Hallo U. S. A." लिखा।

आकाश में लिखने के काम में व्यवहार में आने के लिये अलग ही वायुयान बने हैं। इनकी चाल प्रति मिनट दो मील से कुछ अधिक है। इस काम में जो वायुयान आते हैं, उनकी चाल तेज़ न होनी चाहिए, और उनके कब्ज़े इस प्रकार के होने चाहिए कि दस हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर भी उन्हें घुमा-फिरा सकें। ऐसे वायुयान साधारण वायुयानों से अठगुने मज़बूत बनते हैं; क्योंकि इनमें विपत्ति की अधिक संभावना रहती है। ज़मीन से जब तक ये दस हज़ार फ़ीट ऊँचे नहीं जाते, तब तक लिखने की चेष्टा नहीं की जाती। जितना ही ऊँचे पर वे जायँगे, उतनी ही स्थिर हवा मिलेगी। हवा स्थिर होने से अक्षर स्थायी होंगे।



वायुयान द्वारा आकाश में लिखना

एक बार लिखना आरंभ करने के बाद फिर उसमें किसी प्रकार की भूल न होनी चाहिए। अक्षर उलटी तरफ़ से लिखे जाते हैं। ऐसा न करने से ज़मीन के ऊपर के लोग उन्हें ठीक नहीं पढ़ सकते। यदि लिखते समय किसी प्रकार की भूल हो जाय, तो उसे सुधार भी नहीं सकते। इसलिये वायुयान से लिखनेवालों को बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। प्रति मिनट दो मील के हिसाब से जब वायुयान धुआँ छोड़ता हुआ जाता है, तो धुएँ का परिमाण प्रति सेकेंड २,२०,००० वर्गफ़ीट होता है। दो मील में, अर्थात् एक मिनट में, वह १,२०,००,००० वर्गफ़ीट धुआँ छोड़ता है। शीघ्र ही तीन-चार वायुयानों द्वारा रंगीन विज्ञापन देने की भी चेष्टा की जायगी।

इस काम को करने के लिये बड़े चतुर तथा दक्ष व्यक्ति रहते हैं। गत महायुद्ध में जिन लोगों ने वायुयानों द्वारा बहुत साहस के काम करके नाम पैदा कर लिया है, वे ही इस काम में नियुक्त किए जाते हैं।

× × ×

५. विज्ञापन की एक नई प्रथा

किसी सभा, सोसाइटी, बायस्कोप, थिएटर आदि में जब कोई जाता है, तो उसे बैठने के निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचाने के लिये एक मनुष्य नियुक्त रहता है। इन पथप्रदर्शकों की पीठ अब तक ख़ाली रहती थी, अर्थात् वहाँ कोई विज्ञापन नहीं रहता था। किंतु कैलिफ़ोर्निया की एक बायस्कोप-कंपनी ने इन पथप्रदर्शकों की पीठ पर भी विज्ञापन छापना अब शुरू कर दिया है। दर्शक जब उनके पीछे-पीछे जाते हैं, तब उन्हें दूसरे दिन या अगले हफ़्ते के 'प्रोग्राम' का विज्ञापन पथप्रदर्शक की पीठ पर लिखा हुआ दृष्टिगोचर होता है। विज्ञापन की यह नई प्रथा लोगों का ध्यान अपनी ओर अवश्य आकर्षित कर लेती है। यदि बायस्कोप-भवन में अँधेरा हुआ, तो पथ-प्रदर्शक एक बटन दबाकर एक छोटी-सी बिजली की बत्ती जला देता है, जिसके प्रकाश में उसकी पीठ का विज्ञापन अँधेरे में भी दिखाई देता है।

× × ×

६. काग़ज़ी नींबू का व्यवहार

साधारणतः यह बात सभी जानते हैं कि निचोड़ने के पहले यदि काग़ज़ी नींबू को थोड़ा-सा गरम कर लें, तो उससे दुगना रस निकलता है। यदि नींबू को तुरत व्यवहार में न लाना हो, तो उसे पानी में डुबाकर रख देना चाहिए। इससे वे सूखते नहीं, और बहुत दिनों तक ताज़े बने रहते हैं। गले में यदि किसी प्रकार की तकलीफ़ हो, तो एक चम्मच काग़ज़ी नींबू का रस और उतना ही शहद मिलाकर चाटने से आराम मिलता है। नींबू के रस का व्यवहार करने से भाषण देनेवालों के गले में किसी प्रकार की बीमारी नहीं होती। यदि सिर में दर्द हो, तो गरम चाय में शक्कर के बदले नींबू का अर्क़ डालकर पीने से बहुधा फ़ायदा होते देखा गया है। यदि दूध पीने से किसी को बाई होती हो, और पेट गड़-गड़ करता हो, तो दूध औटने के समय उसमें नींबू के दो टुकड़े डाल देना चाहिए। ऐसा दूध शीघ्र पच जाता है। यदि किसी कपड़े पर स्याही गिर गई हो, तो उस पर नमक का पर्त देकर नींबू निचोड़ दो। रोशनाई का दाग़ जाता रहेगा। यदि एक बार में दाग़ न छूटे, तो दो-तीन बार में अवश्य छूट जायगा। संगमरमर साफ़ करने के लिये काग़ज़ी नींबू के रस का व्यवहार करो। मुँह के मुहाँसे या झुर्रियाँ

मिटाने के लिये काग़ज़ी नींबू का एक ऐसा टुकड़ा 'स्पंज'-जैसा व्यवहार में लाओ, जिसका प्रायः सारा रस निचोड़ लिया गया हो।

× × ×

७. पशुओं की सफ़ाई

पशुओं की सफ़ाई के विषय में दो मत नहीं हो सकते। इस देश के अशिक्षित मनुष्य भी पशुओं की सफ़ाई की ओर काफ़ी ध्यान देते हैं। घोड़ों की सफ़ाई तो प्रायः प्रतिदिन खरहरे से की जाती है। किंतु गऊ, बैल, भैंस आदि पशु भी कभी-कभी पानी से धो दिए जाते हैं। जो गाँव किसी नदी के पास बसा है, वहाँ पशुओं के नहलाने की विशेष सुविधा है। जहाँ नदी नहीं, वहाँ तालाब से



पशुओं की सफ़ाई

यह काम निकाला जाता है। किंतु ऐसे भी बहुत-से स्थान हैं, जहाँ न तो नदी है, और न तालाब। इन स्थानों के पशुओं को अस्वच्छता के कारण बड़ी तकलीफ़ उठानी पड़ती है। आयोवा (Iowa) के एक पशुपालक ने पशुओं की सफ़ाई का एक वैज्ञानिक ढंग निकाला है। वह Vacuum Cleaner द्वारा पशु के शरीर की सारी धूल, मैल आदि निकाल डालता है। इस प्रकार साफ़ किए हुए पशु को न नहलाने की ज़रूरत होती है, न खरहरे की।

× × ×

८. धूल-कणों की गणना

लंदन में रहनेवाले मनुष्य प्रतिदिन ६०० अरब धूल के कण साँस के द्वारा अपने शरीर में ले जाते हैं। यदि ये सब कण एक लाइन में रक्खे जायँ, तो २१० मील तक लंबे पहुँचें। लंदन के हरएक घन-सेंटिमिटर हवा में २०,००० से ६०,००० तक धूल-कण रहते हैं। इसका पता हाल की परीक्षाओं से लगा है। जिस यंत्र द्वारा धूल-कण इकट्ठे किए जाते हैं, उसका एक चित्र अगले पृष्ठ में दिया जाता है। यंत्र का ऊपरी हिस्सा टोकरी के सदृश है। इसी में कुहासा जमा होता है (लंदन की हवा कुहासे से भरी रहती है), और वहाँ से कुहासे का पानी नीचे रक्खी हुई बोतल में गिर जाता है। धूल-कण लूल के ऊपर ही रह जाते हैं। इन्हें सुखाकर फिर तौलते हैं। तब कणों को एक दूसरे यंत्र में डालकर गिनते हैं। इस यंत्र को धूल-प्रतिरोधक (Dust Counter) कहते हैं। संसार के प्रधान-प्रधान शहरों में यह यंत्र है। इसमें एक सुराख़



कुहासा जमा करने का यंत्र

द्वारा कुछ हवा का प्रवेश कराते हैं। उसके धूल-कण यंत्र के शीशे पर सट जाते हैं, जिन्हें अणुवीक्षण-यंत्र द्वारा उन्हें गिन लेते हैं। इस प्रकार यह पता लग जाता है कि हवा में कितने धूल-कण हैं।

× × ×

९. एक इंच लंबा कोष

संसार का सबसे छोटा कोष क्लीवलैंड के पीटर जेन-किन के पास है। यह उन्हें इटली के पंपियाई-नगर में मिला था। कोष केवल एक इंच लंबा, पौन इंच चौड़ा और पाव इंच मोटा है।



इंच-भर का लंबा कोष

श्रीरमेशप्रसाद



१. लखनऊ का इसाबेला-थोबर्न कॉलेज



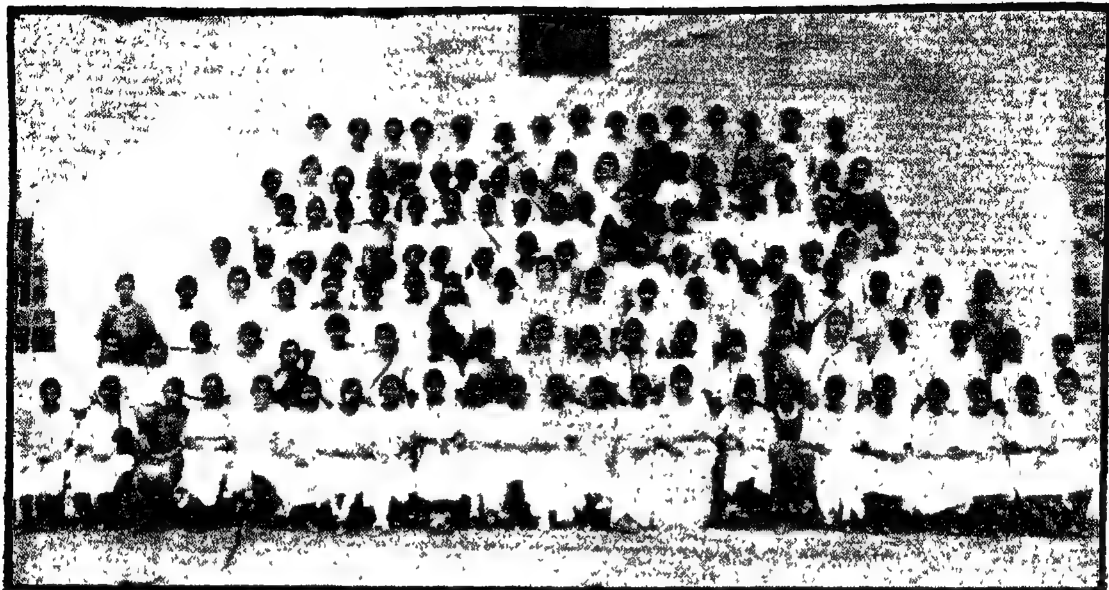
आज से कई वर्ष पहले यह कॉलेज छोटे-से प्राइमरी स्कूल के रूप में इसाबेला नाम की एक महिला ने अमीनाबाद, लखनऊ में खोला था। श्रीमती इसाबेला के दृढ़ निश्चय तथा लगातार परिश्रम से यह उसी छोटे रूप में कुछ दिनों तक चलता रहा। उस समय एक विदेशी महिला के लिये इस छोटे-से स्कूल का चलाना भी हमारे देश में असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य था। स्कूल अमीनाबाद से उठाकर लालबाग़-नामक स्थान में लाया गया। अब यह पहले की अपेक्षा बहुत उन्नति कर चुका था। श्रीमती इसाबेला अच्छे शील-स्वभाव की तथा मधुरभाषिणी थीं। उनके फ़ोटो से तेज और हास्य-रस टपकता है, जिसे देखकर पता लगता है कि वह एक प्रभावशाली महिला रही होंगी।

जब स्कूल लालबाग़ में दिनोदिन उन्नति करने लगा, तो मिशनरियों की कृपा से श्रीमती इसाबेला को, अमेरिका से, स्कूल की सहायतार्थ कुछ धन मिला। रुपए के लिये स्कूलवालों को सदा ही कष्ट रहा, और आजकल भी कॉलेज के ऊपर पाँच लाख क़र्ज़ है।

स्कूल तो अब भी लालबाग़ में है। एक सुंदर इमारत है; चारों ओर सुहावने वृक्ष हैं। पहले कॉलेज भी यहीं लगा करता था; परंतु दो साल से नवीं-दसवीं या और कॉलेज की कक्षाएँ अब चाँदबाग़ की नई इमारत में लगती हैं। यह स्थान शहर से बिलकुल बाहर है। वास्तव में यहाँ कोई ख़ास बाग़ नहीं है; तो भी यह जगह चाँदबाग़ कहलाती है। कॉलेज बनाने के लिये यह जगह बहुत ही होशियारी से चुनी गई है। चाँदबाग़ का कॉलेज क्या है, वास्तव में एक अद्भुत वस्तु है। यह नहीं कि इसकी इमारत बहुत अजीब है; बल्कि जिन आत्माओं के उद्योग से यह चाँदबाग़ का कॉलेज बना है, उनके निस्स्वार्थ, कठिन परिश्रम का यह चिह्न है। लड़कियाँ चाँदबाग़ को अपने घर की तरह स्नेह-दृष्टि से देखती हैं। चाँदबाग़ को छोड़ते समय उनके आँसू निकल पड़ते हैं।

चाँदबाग़-कॉलेज की इमारत बहुत बड़ी और बिलकुल सफ़ेद है। दूध के समान उजली दीवालों पर पूर्णिमा का चंद्रमा अपनी निराली ही छटा दिखलाता है। कमरों के भीतर विद्युत् का प्रकाश अलग ही अपना रूप दिखाकर मन को खींच लेता है।

यहाँ तीन तरह का खाना मिल सकता है, और फ़ीस भी अलग-अलग है। हिंदू-बालिकाओं के लिये एक अलग ही पाकशाला, अलग नौकर, अलग ही मेज़, सब



इसाबेला-थोबर्न-कॉलेज का एक फ़ोटो-ग्रूप



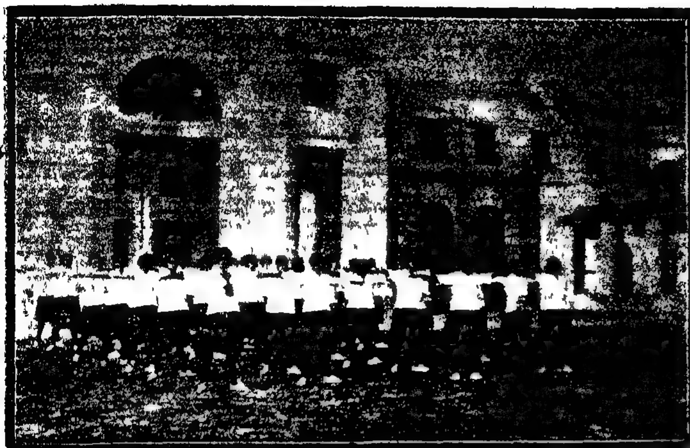
चाँदबाग़-कॉलेज की फ़िलॉसफ़ी की कक्षा

कुछ अलग है। हिंदू-लड़कियों को हर तरह का सुबीता है। सबेरे पराँठे और चाय मिलती है; बाक़ी लड़कियों को मक्खन, डबल-रोटी और चाय।

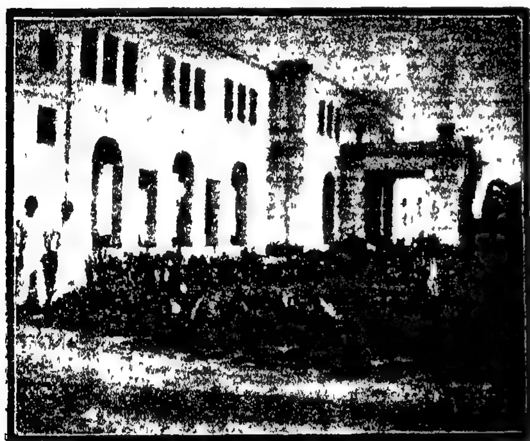
शनिवार के रोज़ कॉलेज के बरामदे में छोटा-सा बाज़ार भी लगता है, जिसमें लड़कियों को हर तरह की चीज़ें वहीं बाज़ार-भाव पर मिल जाती हैं, और बाहर से चीज़ें ख़रीदने की तकलीफ़ नहीं होती।

चाँदबाग़ में चार बड़ी इमारतें हैं—एक युनिवर्सिटी की लड़कियों के लिये, जिसका नाम मैत्री-भवन है। दूसरी इंटर-मीडियट-कक्षाओं के लिये, जिसका नाम नौनिहाल-मंज़िल है। तीसरी इमारत में दिन-भर कक्षाएँ लगती हैं, और प्रोफ़ेसरों के लिये एक अलग बड़ी भारी कोठी है। नौनिहाल-मंज़िल के साथ ही सटा हुआ खाने का कमरा है। आगे थोड़ी दूर पर अस्पताल भी है।

चाँदबाग़ के होस्टल दुमंज़िले हैं। प्रत्येक कमरे में स्वच्छ निर्मल वायु का सदा ही प्रवाह रहता है, तथा दिन को सूर्यदेव भी अपने दर्शन अवश्य ही किसी-न-किसी समय देते हैं। चाँदबाग़ में रहनेवाली लड़कियाँ यह गर्व कर सकती हैं कि वे महलों में रहती हैं; किंतु फ़र्क़ इतना ही है कि यहाँ रहनेवाली आगे जाकर दूसरों की ज़िंदगी का महल बनाती हैं,



नौनिहाल-मंजिल के सामने लड़कियाँ कसरत कर रही हैं



टीचरों की कोठी

और महलों में रहनेवाले दूसरों की हड्डियों पर अपने महल बनाकर रहते हैं। चाँदबाग़ के चारों ओर खेत तथा गुलाब और चमेली के छोटे-छोटे बग़ीचे बड़े ही सुहावने लगते हैं।

मिस निख़ल्स ने यह चाँदबाग़ की इमारत बनवाई थी। अभी इस इमारत को बने कुछ दो ही वर्ष हुए हैं, इससे बहुत ही सुंदर लगती है। मिस निख़ल्स को इसके बनवाने में बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी। पर दृढ़ निश्चय सदा पूरा होकर ही रहता है। धन्य हैं वे कुमारियाँ, जो अपना जीवन अपने धर्म तथा मनुष्य-मात्र की सेवा के लिये अर्पण कर देती हैं। ये हैं असल मेमें, जो सुबह से शाम तक कड़ा परिश्रम करती हैं—धूप की परवा नहीं, पानी की फ़िक्र नहीं—अपने जीवन को सफल करने में हमेशा लगी रहती हैं। हिंदू-जाति जिन मनुष्यों को पद-दलित कर, अछूत के नाम से, सांसारिक सुखों से वंचित रखती है, उन्हीं को ये जीवन, विद्या तथा प्रत्येक वस्तु का दान देती हैं। हिंदू-जाति यह मानते हुए भी कि संसार ही ब्रह्म रूप है, इन बातों को अलग रहने देती है, और न-मालूम, किस गूढ़ विचार में निमग्न हो प्रतिदिन अपना विनाश करती चली जा रही है।

जिस दिन मिस निख़ल्स ने प्रिंसिपल के पद का त्याग किया, उसी दिन सब प्रोफ़ेसरों ने मिलकर इस कॉलेज का नाम फ़्लॉरेंस-निख़ल्स-हाल रक्खा। मनुष्य इन विदेशी रमणियों के स्वार्थ-त्याग को देखकर स्तंभित रह जाता है। क्या भारत की देवियाँ भी कभी वह शक्ति दिखावेंगी, जिससे भारत का नाम उज्ज्वल हो उठे?

मिस निख़ल्स ने जब इस कॉलेज की इमारत बनवानी चाही, तो सब लोग, क्या अमेरिका और क्या हिंदुस्तान में, इसके बनवाने के विरुद्ध थे। परंतु उनके दृढ़ निश्चय के आगे कोई भी बाधा खड़ी न रह सकी, और लड़कियों के सुख, आराम तथा विद्याध्ययन के लिये यह चाँदबाग़ की इमारत बनकर खड़ी ही हो गई। इस कॉलेज में हिंदू, ईसाई, मुसलमान आदि सभी धर्मों की लड़कियाँ पढ़ती हैं। लड़कियाँ व्यवहार में बहुत सुशील एवं सौम्य हैं। उनकी देख-रेख यहाँ बहुत अच्छी होती है।

कसरत के लिये बड़ा अच्छा इंतज़ाम है। एक ख़ास प्रोफ़ेसर, जिन्हें कसरत की शिक्षा अमेरिका में मिली है, लड़कियों को हाईजीन पढ़ाने तथा कसरत और खेल सिखाने के लिये हैं। यदि आप त्रुटि ढूँढ़ने लगें, तो आपको इस कॉलेज में शायद ही कोई मिलेगी। लड़कियाँ ख़ूब बैड-मिंटन, टेनिस, बास्केट-बॉल, वालीबॉल और तरह-तरह के खेल खेलकर अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाती हैं। भारत को वास्तव में स्वस्थ माताओं की बड़ी आवश्यकता है। गरमियों में कसरत एक बड़े कमरे में होती है। ग्रामोफ़ोन पर रिकार्ड चढ़ा रहता है, और उसी गाने

की ताल पर लड़कियाँ कसरत करती हैं। खेल-का-खेल, व्यायाम-का-व्यायाम और दिलचस्पी-की-दिलचस्पी, सभी बातें एकसाथ होती हैं।

गरमियों में डेढ़ बजे से ढाई बजे तक सब होस्टलों में सन्नाटा रहता है। यह विश्राम का समय होता है। सप्ताह में तीन दिन लड़कियों के बाहर घूमने जाने के लिये निश्चित रहते हैं। प्रायः सातवें दिन पियानो के बजने की ध्वनि आती रहती है। कॉलेज में सात पियानो हैं। कॉलेज की इमारत सड़क से काफ़ी दूर है। इसका फाटक ग्रीस की इमारतों के ढंग का है। जो लड़कियाँ ग्रीस का इतिहास पढ़ती हैं, उन्हें यह विशेष रूप से रुचिकर लगता है। यह बहुत बड़ा है। गरमियों में इतवार के रोज़ यहीं बैठकर रात को भजन होते हैं।

यहाँ पर ट्रेनिंग-कक्षाएँ तथा बी० टी० भी है। जो लड़कियाँ मैट्रिक पास करके ट्रेनिंग करती हैं, उन्हें २०) रु० वज़ीफ़ा मिलता है। यहाँ की बहुत-सी लड़कियाँ मिशन से वज़ीफ़ा लेकर पढ़ती हैं, और बाद को इन्हीं मिशनरी स्कूलों में शिक्षक का काम करके वह रुपया (जो असल का आधा देना पड़ता है) वापस दे देती हैं। इस तरह वे अपने सिर अपनी पढ़ाई का भार लेती हैं। जिनके माता-पिताओं में इतना ख़र्च करने की शक्ति नहीं है, वे भी शिक्षित होकर माता-पिता का बुढ़ापे में पालन-पोषण करती हैं। हिंदू-लड़कियों की तरह ये उलटे माता-पिता के सिर का बोझ नहीं होतीं। ये भी वही शिक्षा प्राप्त करती हैं, जो हिंदू-घरानों में सिर्फ़ अमीरों की लड़कियों को मिल सकती है। क्या हिंदू-जाति भी कभी जगकर कर्म-मार्ग का अवलंबन करेगी, और श्रीकृष्ण महाराज का अपने आपको सच्चा भक्त कहाने-योग्य बनेगी? क्या ऐसा दिन हिंदू-जाति के लिये कभी आवेगा, जब वास्तव में गीता का उपदेश मानकर उसके अनुसार कर दिखाने-वाले मनुष्य हिंदू-जाति में भी पैदा होंगे?

कौशल्यादेवी

कवि-चर्चा



१० कृष्ण कवि



श्रबंधु-विनोद में अनेकों त्रुटियाँ हैं। माधुरी में प्रकाशित याज्ञिक-बंधुओं के लेखों में कुछ पर प्रकाश डाला जा चुका है। पर कृष्ण कवि के ग्रंथों का ठीक ठीक पता दोनों में से किसी भी बंधु-वर्ग को नहीं है, तथा जो ग्रंथ उन्हें प्राप्त हुए हैं, उनके रचना-काल के विषय में अनुमान से ही काम लिया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि दोनों में से किसी को कोई ऐसा ग्रंथ दृष्टिगोचर नहीं हुआ, जिसमें कवि ने रचना-काल लिखा हो; अन्यथा मिश्रबंधु यह कभी न लिखते कि "कृष्ण कवि ने अपनी रचना का समय तक नहीं लिखा।"

मिश्रबंधुओं ने राधाकृष्ण चौबे और कृष्ण कवि को पृथक्-पृथक् कवि माना है। इसका संशोधन करते हुए याज्ञिक-बंधुओं ने "मिश्रबंधु-विनोद"-शीर्षक लेख में, वर्ष ३, खंड १, संख्या ५, मार्गशीर्ष, ३०१ तुलसी-संवत् की माधुरी में, लिखा है कि यदि राधाकृष्ण चौबे ने भी बिहारी-सतसई पर टीका की है, तो कृष्ण कवि और राधाकृष्ण चौबे, दोनों एक ही पुरुष हैं, दो नहीं, जैसा कि काशी-नागरी-प्रचारिणी की खोज की रिपोर्ट में दोनों के अवतरणों के देखने से स्पष्ट हो जाता है।

अस्तु, यदि हम मिश्रबंधुओं के अनुसार कृष्ण कवि को राधाकृष्ण चौबे से पृथक् मानें, तो उनकी बनाई केवल 'बिहारी-सतसई की टीका' ही हिंदी-संसार को विदित है—यदि याज्ञिक-बंधुओं के अनुसार दोनों कवियों को एक ही माना जाय, तो उनकी बनाई दो पुस्तकें, 'कृष्ण-चंद्रिका' तथा 'बिहारी-सतसई की टीका', विदित हैं। किंतु मेरे पास कृष्ण-कवि-निर्मित एक और ग्रंथ है, जिसका नाम है 'बिदुर-प्रजागर'।

इसकी रचना का समय कवि ने अंत में स्पष्ट-रूप से गुरुवार, कार्त्तिक-शुक्ल पंचमी, संवत् १७९२ दिया है, और यह भी लिख दिया है कि यह ग्रंथ राजा आपामल्ल की आज्ञा से लिखा। यथा—

राजा आपामल्ल की, आग्या अति हित जानि;
बिदुर-प्रजागर कृष्ण कबि भाषा कह्यो बखानि।
मैं अति ही ढीठो करी कबि-कुल सरल सुभाइ;
भूल-चूक कछु होइ तौ लीजौ समुझि बनाइ।

सत्रह सै अरु बानबे, संबत कातिक मास;
सुकल पच्छ पाँचैं गुरौ, कीनौ ग्रंथ प्रकास।

यह ग्रंथ ६ अध्यायों में लिखा गया है। इसमें विविध छंदों द्वारा बिदुर और धृतराष्ट्र का धर्म-संवाद वर्णन किया गया है, जैसा कि आरंभ में स्वयं कवि ने भी कहा है—

धितराष्ट्र सों बिदुर नै, कियौ धर्म-संबाद;
कहत कृष्ण भाषा बरनि, सुनत बिलाइ बिषाद।

पाठकों के अवलोकनार्थ मैं यहाँ 'विदुर-प्रजागर' से कुछ छंद उद्धृत किए देता हूँ—

सब नीतिन की नीति यह, राज रंक जो कोइ ;
समौ देखि के अनुसरै, अंत सुखी वहु होइ ।
रची अपनी मय माया उपाय, सभा की प्रभा न कही कछु जाय ;
अनेक बने बहु अद्भुत भाय, रही तिहुँ लोकनि में छबि छाय ।
सबै ब्रह्मंड तहाँ दरसाय, हिये भ्रम कौन के होत न आय ;
बिलोकत लोचन लेत लुभाय, बढ़े छुषपुज मनो बच-काय ।
मदिरा ते ऐश्वर्य मद दारुन अधिक लखाय ;
वह उतरै अपने समै, यह बिन बिपाति न जाय ।
रथ सरीर या पुरुष को ताकैं इंद्री बाज ;
रथी बिराजत आतमा, चक्र-मनोरथ साज ।
चक्र-मनोरथ साज, बाज अति चंचल आही ;
जित ही कौं मुँह परै, खैंचि तिनकौं लै जाही ।
ज्ञान-रज्जु सों बाँधि धीर जो करत आप हथ ;
कठिन पथ-ससार भले निबहत ताकौ रथ ।
जैसी गति बीतत दुहागिनि तिया को राति,
जैसी गति बीतत है जुआ धन हारे ते ;
तैसी गति बीतै बहु बैरिन के बस परे,
जैसी गति बीतै सिर धरै भार भारे ते ।
नगर मे घिरयो होय, बाहर कलत्रगत,
खैबे को न पावे कछु बहु न बिचारे ते ;
कहै कबि कृष्ण होत एतिन कौं जैसी गति,
तैसी गति होत जिय जानि मौन धारे ते ।

सत्येंद्र कुलश्रेष्ठ

× × ×

२. बिहारी और केशव

विद्वद्वर श्रीयुत पं० पद्मसिंहजी ने अपने 'संजीवन-भाष्य' में बिहारी की कविता की संस्कृत तथा हिंदी के अन्य कवियों की कविताओं से तुलना की है, और स्पष्ट-रूप से इस बात को प्रमाणित भी कर दिया है कि बिहारी के छोटे-छोटे दोहे अन्य कवियों के बड़े-बड़े श्लोकों और कवित्तों से अधिक सरस और भाव में बढ़े-चढ़े हैं। सचमुच साहित्य की दृष्टि से बिहारी-सतसई हिंदी-साहित्य में एक अनुपम ग्रंथ-रत्न है।

पंडितजी ने अपने 'भाष्य' में, "बिहारी और हिंदी-कवि"-नामक शीर्षक में, पहले ही बिहारी और केशव की कविताओं की तुलनात्मक दृष्टि से समालोचना की है। इसी प्रकरण में बिहारी के—

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ;
को घटि, ये बृषभानुजा, वे हलधर के बीर ।

इस दोहे का मुक़ाबला केशव के निम्न-लिखित कवित्त से किया है—

अनगने औठपाय रावरे गने न जाहिं,
वेऊ आहिं तमक करैया अति मान की ;
तुम जोई-सोई कहौ, वेऊ जोई-सोई सुनैं,
तुम जीभ-पातरे, वे पातरी हैं कान की ।
कैसे "केसौराय" काहि बरजौं, मनाऊं काहि,
आपने सयाँ धौं कौन सुनत सयान की ;
कोऊ बड़वानल की ह्वैहे, सोई ऐहै बीच,
तुम बासुदेव, वे हैं बेटी बृषभान की ।

पंडितजी के कथनानुसार "बिहारी की सखी का परिहास बड़ा ही लाजवाब है। रसिकमोहन सुनकर फड़क गए होंगे ; और इससे अच्छा, साफ़, सच्चा, सीधा और दिल में गुदगुदी पैदा करनेवाला मीठा मज़ाक़ साहित्य-संसार में शायद ही हो।"

अस्तु, यदि बिहारी की सखी का परिहास लाजवाब हो सकता है, तो इसमें संदेह नहीं कि केशव की सखी भी कम पुर-मज़ाक़ न थी। यदि रसिकमोहन बिहारी की सखी की उक्ति सुनकर फड़क सकते हैं, तो केशव की सखी के वाद-विनोद को सुनकर भी आनंद मग्न हो जायँगे। यदि केशव का तात्पर्य केवल "कान की कच्ची और जीभ की पतली से ही होता" (जैसा कि पंडितजी लिखते हैं), और इतने बड़े कवित्त में सिर्फ़ दोनों की 'बुद्धिमत्ता' ही दिखलानी होती—"दोनों ही बड़े बाप की औलाद हैं, बराबर का जोड़ है"—केवल इतना ही अभिप्राय बतलाना होता, तो कवित्त के चौथे चरण में "कोऊ बड़वानल की ह्वैहै सोई ऐहै बीच", यह वाक्य बिलकुल निष्प्रयोजन था, और बड़वानलवाली की कोई ज़रूरत न थी !

हाँ, यह मानने को हम प्रस्तुत हैं कि केशव के श्लेष में "कुछ-न कुछ खींचतान" अवश्य है, अर्थ निकालने में बुद्धि को कष्ट अवश्य देना पड़ता है; परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि खींचतान और कष्ट के डर के मारे कवि के वास्तविक अभिप्राय को ही छोड़ दिया जाय।

जिन साहित्य-प्रेमियों ने केशव के ग्रंथों का ध्यान-पूर्वक मनन किया है, उन्हें यह बात पूर्ण रूप से ज्ञात

है कि केशव को 'श्लेष' कहने में विशेष आनंद प्राप्त होता था। रामचंद्रिका, कवि-प्रिया और रसिक-प्रिया इत्यादि प्रत्येक ग्रंथ देख डालिए, अधिकतर आपको श्लेषों की भरमार मिलेगी। जहाँ तुलसीदासजी ने रामचरित को सिर्फ़ सीधी-सादी चौपाइयों और दोहों में वर्णन किया है, वहाँ केशव ने रामचंद्रिका में ७५ फ़ी सदी श्लेषोक्तियाँ कही हैं। इसी कारण हिंदी-संसार में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है—"दीबो न चाहै बिदा ईं नरेश तो पूछत केशव की कबिताई।"

अस्तु, वासुदेव का अर्थ केवल 'बड़े बाप', वसुदेव के पुत्र वासुदेव, अर्थात् कृष्णजी से ही नहीं है, बल्कि श्लेषार्थ वासुदेव अर्थात् सूर्य के पुत्र, यों किया जाना चाहिए; क्योंकि "वसुरत्ने ऽग्नौ देवभेदे नृपे रश्मौ" इति मेदिनी।

अमर-कोष में भी "देवभेदेऽनले रश्मौ वसु रत्ने धने वसु" के अनुसार वसु-शब्द का अर्थ रश्मि (किरणें) अग्नि है। इस प्रकार वसुदेव हुए सूर्य और उनकी अपत्य हुई वासुदेव।

मतलब यह हुआ कि यह तो हैं सूर्य के पुत्र, और वह है वृष के सूर्य की पुत्री। पाठकों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि वृष के भानु, ज्योतिष-मतानुसार, वैशाख या ज्येष्ठ में अर्थात् गरमी के दिनों में पड़ते हैं, जो सूर्य की अत्युष्णता को प्रकट करते हैं। इससे समझ सकते हैं कि मानिनी राधा के लिये वृषभानुजा कैसा उपयुक्त शब्द है।

अब रही बड़वानल की बात। मनुष्य जब सूर्य की तीक्ष्ण रश्मियों के ताप से अत्यंत व्याकुल हो जाता है, तो शीतल होने का सबसे अच्छा उपाय है जल। परंतु बड़वानल इस जल का भी शोषण कर लेता है। इस कारण इन सूर्य के लड़के और लड़की के बीच में जाने की किसी बड़वानलवाली की ही हिम्मत हो सकती है; वही इनको समझा सकती है।

बैल के भाई-बहन और सूर्य के लड़का-लड़की, इनमें कौन-सा परिहास अच्छा है, इसका निर्णय हम पाठकों के ऊपर ही छोड़ते हैं।

लक्ष्मीनारायण पांडेय

× × ×

२. गोस्वामीजी पर मिथ्या दोषारोपण

आधुनिक हिंदी-संसार में लोग प्रायः गोस्वामी तुलसीदासजी से भी उलझ बैठते हैं। अक्सर तो वर्ण-ज्ञान प्राप्त करते ही लोग उन्हीं से मैदान जीतने को खड़े हो जाते हैं। मात्रा गिननेवाले, कवि-नामधारी व्यक्ति तो बहुधा उन्हीं से लोहा लिया करते हैं। लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक भी उनकी कविता का मन-माना अर्थ करके उस पर क़लम-कुल्हाड़ा चला बैठते हैं। इस नवीन सभ्यता के युग में यह प्रथा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है।

कुछ दिन हुए, "फूलै फलै न बेत, यदपि सुधा बरसहिं जलद" इस आधे सोरठे को लेकर, तुलसीदासजी की उक्तियों में प्रकृति-पर्यवेक्षण की प्रतिकूलता पर विवाद चल रहा था। गोस्वामीजी के मुद्दई हैं सुप्रसिद्ध काव्य-मर्मज्ञ बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०। 'साहित्यालोचन' में बाबू साहब ही ने उन्हें दोषी बनाकर संसार के सामने उपस्थित किया है। गोस्वामीजी के भक्तों ने संपादकों के इजलास में अपील करके सारा दोष शेख़ सादी और प्रकृति-सुंदरी के सिर मढ़ने की चेष्टा की है। बाबू साहब ने तो केवल अर्थ की हत्या की है; किंतु गोस्वामीजी के अक्षांध भक्तों ने न्याय की भी दुर्गति कर डाली है। वास्तव में तुलसीदासजी जो बेत का फूलना-फलना न मानते, तो इसके लिये प्रकृति-सुंदरी नहीं, शेख़ सादी के सदृश वही दोषी कहे जाते। परंतु असल में यह बात नहीं। लोग व्यर्थ उनकी निर्दोष कविता-कामिनी के माथे कलंक का टीका लगा रहे हैं।

इस सोरठे में गोस्वामीजी ने 'बेत'-शब्द का प्रयोग, वेत्र के लिये नहीं, पान (नागवल्ली) के लिये किया है। बघेलखंडी हिंदी में पान को भी 'बेत' कहते हैं। पान फूलता-फलता भी नहीं है।

'रामचरित-मानस' में अवधी भाषा का प्राधान्य है, और अवधी तथा बघेलखंडी हिंदी में बहुत थोड़ा अंतर है। आश्चर्य नहीं कि अवध-प्रांत में 'बेत' और 'पान' पर्यायवाची शब्द माने जाते हों, अथवा गोस्वामीजी के समय माने जाते रहे हों। प्रमाण में ग्रामीण पंडित लोग निम्न-लिखित दोहे उपस्थित करते हैं—

प्रथम खरीते सींचियतु, चंद्र-सूर्य नहिं हेत;
'तुलसी' खल-संगति बसे, फूलै-फलै न बेत।
बेत कहत आकाश को, बेत कहत पाखान;
बेत बैन को कहत हैं, कहत बेत को पान।

हम नहीं कह सकते कि इन दोहों की उत्पत्ति तुलसीदासजी ही की पवित्र लेखनी से हुई है या नहीं।

हम इनकी खोज कर रहे हैं। पता लगने पर यथार्थ बात पाठकों के सामने उपस्थित करेंगे।

हम भी स्वीकार करते हैं कि गोस्वामीजी यह सोरठा लिखने के प्रथम ही शेख़ सादी का पद्य देख चुके थे। यही कारण है कि उन्होंने 'पान' के अन्य पर्यायवाची शब्दों को छोड़कर 'बेत'-शब्द को ही पसंद किया। शेख़ सादी-जैसे महाकवि को प्रकृति-सुंदरी से पराजित होते देखकर भी गोस्वामीजी ने, उन्हीं के भावों में 'बेत'-शब्द का समुचित प्रयोग करके, वास्तव में कमाल किया है। उन्होंने इस अनोखे ढंग से शेख़ सादी के पद्य पर प्रकाश डालकर हिंदी के अलौकिक शब्दार्थ-शक्ति-चमत्कार को अभिव्यंजित किया है। यदि वह बेत के स्थान पर पान अथवा उसके किसी अन्य पर्यायवाची शब्द का प्रयोग करते, तो शेख़ सादी के पद्य से सोरठे का सामना होने पर उनका यह काव्य-चातुर्य प्रकट न होता। 'बेत'-शब्द गोस्वामीजी की प्रखर प्रतिभा तथा प्रकृति-परिचय का परिचायक है।

वाक्य-विलास की सामग्री समझकर छिद्रान्वेषण के लिये ही गोस्वामीजी की कविता पढ़ने से उनकी भावुकता और काव्य-मार्मिकता का पता नहीं चल सकता। उनके काव्य का रसास्वादन करने के लिये हृदय भी होना चाहिए।

शत्रुसूदनसिंह कर्चुली



१. साहित्य

संक्षिप्त राम-स्वयंवर—रचयिता, स्वर्गवासी महाराज रघुराजसिंह, रीवाँ-नरेश ; संपादक तथा संक्षिप्त रूप में प्रकट करनेवाले बाबू व्रजरत्नदासजी; प्रकाशक, काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा ; मनोरंजन-पुस्तकमाला का ४२वाँ ग्रंथ । छपाई और कागज़ साधारण । पृष्ठ-संख्या २७३ ; मूल्य १)

रीवाँ-नरेश स्वर्गवासी महाराज रघुराजसिंहजी ने 'राम-स्वयंवर' नाम की एक बहुत बड़ी पुस्तक लिखी है। आकार में बड़ी होने के कारण मूल्य अधिक है। सर्व-साधारण में उसका प्रचार नहीं है। फिर भी वह एक अच्छी पुस्तक है, और इस बात की आवश्यकता थी कि स्वर्गीय महाराज की कविताओं के प्रचार का उद्योग किया जाय, तथा विस्मृति के गर्त में पड़ने से उनकी रक्षा भी। हर्ष की बात है कि बाबू व्रजरत्नदासजी ने इस ओर सबसे पहले ध्यान दिया है, जिसका फल यह समालोच्य-पुस्तक 'संक्षिप्त राम-स्वयंवर' है। इसके आदि में १२ पृष्ठों की एक छोटी, परंतु अच्छी भूमिका है। फिर ३ पृष्ठों में अनुक्रमणिका है, और उसके बाद २७ विषयों में विभक्त २७३ पृष्ठव्यापी मूल-ग्रंथ। मूल-कविता के कठिन स्थल समझाने के लिये न तो फुटनोट हैं, और न पुस्तकांत में ही किसी प्रकार के नोट। इस कारण पुस्तक की अर्थ-संबंधी कठिनाइयों को यह संस्करण दूर नहीं कर सकता। यह खेद की बात है। आशा है, अगले संस्करण में यह त्रुटि दूर कर दी जायगी। स्वर्गीय महाराजा रघुराजसिंहजी की कविता के संबंध में विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। सभी लोग उसका आदर करते हैं, और वह है भी प्रशंसनीय। 'राम-स्वयंवर' में सत्काव्य के सभी लक्षण हैं। हाँ, दो-एक बातें खटकनेवाली भी हैं। कहीं-कहीं पर महाराज ने कृत्रिमता का आश्रय आवश्यकता से अधिक लिया है, और कहीं-कहीं पर अप्रचलित शब्दों का व्यवहार भी पाया जाता है। कथा-प्रसंग में भी कहीं-कहीं पर किसी साधारण घटना का आवश्यकता से अधिक वर्णन है, और कहीं पर मुख्य घटना का वर्णन अत्यंत संक्षिप्त। बाबू व्रजरत्नदासजी ने इस संक्षिप्त संस्करण में इस त्रुटि को दूर करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है।

× × ×

भारतीय आत्मत्याग—लेखक, कुमार नारायणसिंह बी० ए० ; प्रकाशक, साहित्य-परिषद्, करौली (राजपूताना)। पृष्ठ-संख्या २५२ ; कागज़ और छपाई साधारण ; सुंदर जिल्द से विभूषित ; मूल्य १।।)

अँगरेज़ी में 'गोल्डेन डीड्स' नाम की एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इसमें सच्ची शूरता का परिचय देनेवाले वीरों के पुण्य-चरित वर्णित हैं। अँगरेज़ी-साहित्य में इस पुस्तक का बड़ा आदर है। खेद है कि उक्त पुस्तक में भारतीय वीरों की चरितावली नहीं है। कुमार नारायण-

सिंहजी ने 'भारतीय आत्मत्याग'-पुस्तक उपर्युक्त 'गोल्डेन डीड्स' के आदर्श पर हिंदी में लिखा है, और इसमें भारतीय वीर-चरितावली का समावेश किया है। पुस्तक-रचना का यह उद्देश्य परम प्रशंसनीय है। कुँअर साहब की पुस्तक लोकप्रिय हुई है; क्योंकि हमारे सामने जो समालोच्य प्रति है, वह दूसरे संस्करण की। इस पुस्तक में जिन वीरों और वीरांगनाओं का वर्णन हुआ है, उनमें से बहुतों के चित्र भी कदाचित् प्राप्त हो सकें। यदि आगामी संस्करण में पुस्तक सचित्र कर दी जाय, तो और भी अच्छा हो। 'भारतीय आत्मत्याग' की भाषा में भी कहीं-कहीं संशोधन की आवश्यकता समझ पड़ती है। वीरों और वीरांगनाओं के चुनाव में सदा मतभेद हो सकता है, इसलिये उस विषय में हम कुछ नहीं कहना चाहते। हमें हर्ष है कि शिक्षित राजपूत युवकों का ध्यान हिंदी-साहित्य-सेवा की ओर आकृष्ट हुआ है। हमारा विश्वास है कि हिंदी-संसार इस पुस्तक का आदर करके कुमार नारायणसिंहजी को और पुस्तकें लिखने के लिये प्रोत्साहित करेगा। इस पुस्तक में चरित्रों की संख्या सब मिलाकर ५१ है। प्रारंभ में विषय-सूची का अभाव बहुत खटकता है। हम इस पुस्तक का प्रचार चाहते हैं।

कृष्णविहारी मिश्र

× × ×

साहित्य-हृदय—लेखक, उपाध्याय हरिश्चंद्र शर्मा; प्रकाशक, नर्मदेश्वर उपाध्याय एम्० ए०, एल्-एल्० बी०। पृष्ठ-संख्या २१०; मूल्य जिल्ददार का १।=); कागज साधारण; छपाई-सफ़ाई मामूली।

जिस समय हमारे हाथ में यह पुस्तक आई, इसकी बढ़िया जिल्द और उस पर छपे हुए सुनहले अक्षर तथा एक विद्वान् प्रकाशक का नाम देखकर हमारे चित्त में आकर्षण उत्पन्न हुआ। हमने समझा, इस हृदय के भीतर कुछ ऐसी तंत्रियाँ ज़रूर होंगी, जो सचमुच हृदय को हिला देंगी। ख़ैर, आगे चलकर कुछ अधिक आशा हुई, जब संपादक के वक्तव्य से यह मालूम हुआ कि इस पुस्तक के भिन्न-भिन्न लेखों के लेखक उपाध्यायजी बाणभट्ट की शैली को अपनाकर भी उससे अधिक मौलिक एवं अँगरेज़ी कवि काउपर से भी अधिक ज्ञान-संपन्न हैं, तथा यदि पाठक इन लेखों को पढ़कर प्रसन्न हो जायँ, तो उन्हें लेखक को नहीं, बल्कि उन रसज्ञों को धन्यवाद देने की ज़रूरत है, जो लेखों की बहुमूल्यता का (अनुभव नहीं) निर्णय कर उन्हें उपस्थित कर रहे हैं। किंतु बहुत समय तक विचार करने के बाद हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि लेखों का यह संग्रह उपस्थित करनेवाले 'रसज्ञ' अधिक धन्यवाद के पात्र नहीं हैं। हम इन संग्रहकर्ता रसज्ञों की हक़तलफ़ी नहीं करते, बल्कि 'साहित्य-हृदय' की सामग्री ही उनके अधिक धन्यवाद पाने के मार्ग में खड़ी हो जाती है।

संस्कृत-गद्य में बाणभट्ट की शैली सचमुच अद्वितीय कही जाती है। इसका चमत्कार उसने 'कादंबरी', 'हर्ष-चरित' में बिलकुल स्पष्ट दिखला दिया है। दंडी का पद-लालित्य प्रसिद्ध है; पर विरोधालंकार और विशेष वर्णों की विशेषता तथा प्रचुरता होने पर भी बाण की शैली में कुछ ऐसा प्रवाह है, जो पाठक को स्थिर नहीं होने देता। किंतु प्रस्तुत पुस्तक में इसकी बिलकुल कमी है। बाणभट्ट की सरसता का स्थान यहाँ शर्माजी की नीरसता ने ले लिया है। बाणभट्ट की शैली हमें हठात् श्रीहर्ष का स्मरण दिलाती है, तथा उसमें हम प्रत्यक्ष भवभूति की सरसता एवं लालित्य का स्रोत प्रवाहित पाते हैं। इस पुस्तक में उसका सर्वथा अभाव है। संभव है, "वेदांत या अध्यात्म" की छाया के कारण ऐसा हो गया हो। पर फिर भी इसे हम बाणभट्ट पर साहित्यिक प्रहार समझते हैं। अवश्य ही यह अनधिकार सीमोल्लंघन साहित्यिक हीनता का द्योतक है। हाँ, इसके कुछ लेख काउपर के लेखों की श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं, संपादक के इस कथन से हम ज़रूर सहमत हैं। मतभेद केवल इतना है कि काउपर ने काव्य की सीमा का उल्लंघन नहीं किया; पर हमारे शर्माजी उसका उल्लंघन करने में एकदम वज्रांग बन गए हैं। पुनः इस कथन से भी हम सहमत हैं कि साहित्य-हृदय कदाचित् साहित्य-मर्मज्ञों के ही लिये लिखा गई है। छायावाद की कुछ ऐसी दुर्बोध पहेली इसके अंदर है, जो छायावाद भी पूर्णतः नहीं है, और इसीलिये जिसे सुलझाना साधारण पाठक के लिये कठिन हो जाता है। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि बायरन ने किसी के द्वारा अपनी ही कविता का अर्थ पूछे जाने पर एक समय कहा था—"क्या जानें कौन-सी रचना किस विशेष परिस्थिति में की गई है।" इसी प्रकार की

दुर्बोधता से यह पुस्तक यत्र-तत्र भरी पड़ी है। दूसरी बात, जिसके कारण यह साहित्य-मर्मज्ञों के लिये कही गई है, शायद यह है कि साहित्य-मर्मज्ञ ही इसका उचित संशोधन कर पारायण कर सकते हैं। भाषा-संबंधी विशेषता की दृष्टि से इसमें मुहावरों का कहीं पता नहीं; व्याकरण की दृष्टि से सर्वनाम और लिंगों की भूलें विद्यमान हैं, और प्रूफ़ (जिसके लिये धन्यवाद भी दिया गया है) तथा विराम-संबंधी भूलों से भी यह वंचित नहीं रही। यह लेखक का नहीं, बल्कि संपादक का दृष्टिकोण है कि लेखक की शैली की रक्षा करते हुए भाषा तथा विराम चिह्नों की शुद्धता से लेखक के भावों को अधिक स्पष्ट रूप से सामने आने दे। फिर ऐसी पुस्तक में, जहाँ वर्णन-क्रम के साथ-साथ कल्पना अपने खेल करती हुई आती देख पड़ती है, स्पष्टता का न होना पुस्तक की महनीयता को कम कर देता है।

"अँगरेज़ी के प्रकृति-भक्त कवि वर्ड्सवर्थ की प्रकृति-उपासना ने इन (लेखक) के चित्त को मोह लिया था; इससे यह भी प्रकृति के बड़े उपासक हैं।" ऐसे अनन्य उपासक की उपासना बिलकुल विशुद्ध एवं निर्लेप होनी चाहिए थी। खेद है, यह उपासना हमको इस पुस्तक में आडंबरयुक्त देख पड़ती है। प्रकृति आडंबरों से रहित है, यह प्रसिद्ध है; प्रकृति और कृत्रिमता में फिर भेद ही क्या? प्रकृति की उपासना का जितना अंश, जितना वर्णन और जितना चित्रण इस पुस्तक में आया है, वह सब आडंबर-विहीन नहीं है, प्रत्युत रंगामेज़ी से भड़कीला बना दिया गया है। जिस प्रकार कोई बिसाती किसी टूटी-फूटी वस्तु को झाड़-पोंछकर क़रीने से रख देता है, ठीक उसी प्रकार इस पुस्तक की सामग्री रख दी गई है। कल्पना है अवश्य; पर वह बिना साज की है, और जहाँ प्रकृति-चित्रण में साज की ज़रूरत नहीं, वहाँ वह अच्छी तरह पहनावे के साथ खड़ी कर दी गई है, जिसका परिचय हमें कविता, प्रेम, क्षमा और आनंद-शीर्षक लेखों में मिलता है। यही इस पुस्तक के लेखक की प्राकृतिक उपासना का स्वरूप है; पर वह ऐसा नहीं है, जिसके बारे में कहा जाय—

'नहीं मुहताज ज़ेवर का जिसे ख़ूबी ख़ुदा ने दी।'

इस २१० पृष्ठों की पुस्तक में उपाध्यायजी के १८ स्फुट लेखों का संग्रह है, जिनमें से बहुत-से कदाचित् 'कादंबिनी' मासिक पत्रिका में निकल चुके हैं। निम्न-लिखित विषयों पर ये लेख हैं—मित्र, पुस्तकों की महिमा, कविता, लक्ष्मी, प्रेम, विवाह, आषाढ़ का आरंभ, फाल्गुन, संतोष, जन्मभूमि, क्षमा, श्रीशीतलगंज की अष्टमी, हमारी मसहरी, हमारी दिनचर्या, आनंद, श्रीशीतलगंज की द्वितीय अष्टमी, लखनऊ और शरद्।

यह सब पढ़कर कदाचित् पाठकों को यह ख़याल हो रहा हो कि तब तो पुस्तक में कुछ नहीं है। ऐसा सोचना भूल होगी। पुस्तक में एक बड़ी भारी चीज़ है, और वह है आशा। इस साहित्य हृदय के भीतर से एक आशा फूट रही है कि हिंदी-भाषा का क्षेत्र बहुत शीघ्र लहलहानेवाला है। 'साहित्य-हृदय' में भले ही साहित्य न मिला हो, अथवा दिग्भ्रम के कारण हमें ही ढूँढ़ निकालने में निराशा हुई हो, जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं, पर उपाध्यायजी के हृदय में साहित्य का वास ज़रूर है—निस्संदेह है। इसका प्रतिबिंब हमें साहित्य-हृदय में ही मिलता है। ईश्वर उन्हें दीर्घायु करे। हमको विश्वास हो रहा है कि यदि यही लगन बनी रही, तो उनका विशाल हृदय वास्तव में कुछ अमर साहित्य छोड़ जायगा।

मातादीन शुक्ल

× × ×

२. इतिहास

भारत-इतिहास—लेखक, रायसाहब प० रघुवरप्रसाद द्विवेदी बी० ए०, साहित्य-रत्न, हितकारिणी-सभा हाई स्कूल (जबलपुर) के प्रिंसिपल और 'हितकारिणी' मासिक पत्रिका के संपादक, प्रकाशक, मिश्रबंधु-कार्यालय, जबलपुर; मूल्य ३); पृष्ठ-संख्या ६८६; कागज़ चिकना; छपाई-सफ़ाई सुंदर; चित्र-संख्या ४२; मान-चित्र ७।

हिंदी में अच्छे और ऐसे इतिहास-ग्रंथों की बहुत ही कमी है, जो आलोचनात्मक दृष्टि से लिखे गए हों। फिर यह विषय प्रायः बहुतों के लिये रूखा होता है, और ख़ासकर चंचल मनवाले विद्यार्थियों के लिये। ऐसे नीरस विषय को ही रोचक बनाना पहले तो कठिन कार्य है। फिर विद्यार्थियों की दृष्टि से उसे रुचिकर बनाना तो और भी अधिक कष्टसाध्य है। भारतवर्ष के जो इतिहास वर्तमान हैं, उनमें सबसे अच्छा लाला लाजपतराय का है। पर वह परीक्षार्थी—ख़ासकर माध्यमिक

शिक्षा के विद्यार्थियों—के काम का नहीं। पं० श्यामविहारी तथा शुकदेवविहारी मिश्र एवं श्रीयुत प्राणनाथ विद्यालंकार के इतिहास-ग्रंथ भी हैं, 'शालोपयोगी भारतवर्ष' आदि ग्रंथ भी हैं; पर भारतवर्ष पर प्रकाश डालनेवाले इतिहास-ग्रंथों की संख्या अंत में उँगलियों पर गिनी जा सकती है। हमारा मतलब ऐसे ग्रंथों से है, जिन्हें सचमुच ग्रंथों की श्रेणी में रख सकते हैं। इसीलिये प्रायः बहुत समय तक मार्सडन साहब के अँगरेज़ी-इतिहास का अनुवाद ही स्कूलों में पढ़ाया जाता रहा। अच्छे ग्रंथ न होने पर जो कुछ था, उसी से लाभ उठाया जाता रहा। राजा शिवप्रसाद के 'इतिहास-तिमिर-नाशक' से लेकर हंटर साहब के अनुवादित 'भारतवर्ष का इतिहास' तक एक भी पुस्तक ऐसी नहीं, जिसे भारतवर्ष का इतिहास कह सकें। प्रयाग के म्योर सेंट्रल कॉलेज के श्रीयुत ईश्वरीप्रसाद एम्० ए०, एल्-एल्० बी० का हाल ही में निकला हुआ भारतवर्ष का इतिहास भी इस कोटि का नहीं, जिसे वास्तव में हम हिंदी में भारतवर्ष का इतिहास कह सकें। अस्तु, इस परिस्थिति में यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि विद्वद्वर रायसाहब द्विवेदीजी के राष्ट्रीय दृष्टि से लिखे हुए छात्रोपयोगी इस 'भारत-इतिहास' ने हिंदी-साहित्य के एक अत्यंत महत्त्व-पूर्ण अंग के अभाव की पूर्ति कर दी है।

द्विवेदीजी के प्रिय विषय साहित्य और इतिहास ही हैं। 'भारत-इतिहास' की लेखन-शैली, आलोचनात्मक दृष्टि, क्रमबद्ध वर्णन और घटनावली का ऐतिहासिक सिंहावलोकन देखकर सहसा लेखक की लेखनी चूम लेने की इच्छा होती है। द्विवेदीजी सचमुच इतिहास के पंडित हैं। हम अच्छी तरह जानते हैं कि जिस समय वह क्लास में इतिहास पढ़ाया करते थे, मि० केडक-सरीखे स्कूल-इंस्पेक्टर उनसे ऐतिहासिक ज्ञान प्राप्त करने और इतिहास पढ़ाने की शैली के सीखने की इच्छा से घंटों विद्यार्थियों के साथ बैठे रहा करते थे। 'भारत इतिहास' के देखने से भी यही प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि द्विवेदीजी ने अपने अध्यापक-जीवन का महत्त्व-पूर्ण अनुभव हिंदी-संसार के सामने रख दिया है। भारतवर्ष के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली हिंदी में मौलिक तथा आलोचनात्मक दृष्टि से लिखी हुई इतनी अच्छी छात्रोपयोगी पुस्तक हमने तो आज तक नहीं देखी। हमारा दृढ़ विश्वास है कि जिन विद्वानों एवं इतिहासप्रेमियों के हाथ में यह पुस्तक पहुँचेगी, वे भी अध्ययन के उपरांत हमारे उपर्युक्त मत का समर्थन करेंगे।

द्विवेदीजी आदि के ही उद्योग से मध्यप्रांतीय शिक्षा-विभाग तथा नागपुर-विश्वविद्यालय ने जो हिंदी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया है, उसी को सफलता-पूर्वक चलाने के लिये हिंदी में पाठ्य पुस्तकों की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। यही इस ग्रंथ के निर्माण का आधार है। उसी के अभाव की पूर्ति के लिये द्विवेदीजी ने अपने ४० वर्ष के शिक्षक-पद का अनुभव—३०-३५ वर्ष तक के मैट्रिक-क्लास को पढ़ानेवाले इतिहास के अध्यापक का अनुभव—इस भारत-इतिहास में भर दिया है। इसी से इसका अंदाज़ लगाया जा सकता है कि द्विवेदीजी ने अपने ग्रंथ में इतिहास-संबंधी खोज एवं अध्ययन का कितना अच्छा मसाला भरा होगा। विंसेंट स्मिथ, टामसन, प्रथरो, वाडिया, शास्त्री, हंटर, फ्रेज़र, मार्शमैन, ह्वीलर प्रभृति अँगरेज़ी-इतिहासलेखकों के ग्रंथों से सामग्री जुटाकर तथा उसके बाद शिक्षकों और छात्रों की कठिनाइयों का अनुभव कर तब कहीं द्विवेदीजी ने यह ग्रंथ लिखा है; और चूँकि ग्रंथ अपने असली स्वरूप में हमारे सामने है, इसलिये हमें यह कहने का साहस होता है कि जिस समय निकट-भविष्य में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक इतिहास-ग्रंथों पर दिया जायगा, उस समय 'भारत-इतिहास' का भी गौरव के साथ स्मरण किया जायगा। राजपूताने के इतिहास पर रायबहादुर गौरीशंकर-हीराचंद ओझा-सरीखे विद्वान् प्रकाश डाल रहे हैं सही; पर वह इतिहास केवल एकांगीन होगा। भले ही राजपूताने के इतिहास में खोज का अच्छा क्रम मिलेगा; क्योंकि ओझाजी पुरातत्त्व के विशेषज्ञ हैं। पर हमारी दृष्टि में एकांगीन इतिहास की अपेक्षा एक सर्वांगीण इतिहास पर प्रकाश डालना, और वह भी सत्य की रक्षा करते हुए आलोचनात्मक ढंग से, कुछ कठिन नहीं, तो विशेष सरल बात भी नहीं है।

नागपुर-विश्वविद्यालय की 'करिक्युला-कमेटी' की रिपोर्ट में भारत का इतिहास राष्ट्रीय दृष्टि से पढ़ाने का नियम रक्खा गया है। इसलिये द्विवेदीजी ने "हिंदू-काल में पाश्चात्य इतिहास-लेखकों के मत के साथ-साथ

हिंदुओं का क्या मत है", यह भी स्पष्ट दिखला दिया है। इसके सिवा हिंदू और मुसलमान-जातियों में कौन-कौन-से प्रशंसनीय गुण थे, अथवा कौन-कौन-से दोष थे, जिनके कारण उनका पतन हुआ, यह भी सम्यक् प्रकार से इसमें दिखलाया गया है। फिर भी यह सत्य है कि लेखक ने इसे पाठ्य पुस्तक की सीमा का उल्लंघन नहीं करने दिया। लेखक ने अपना एक स्थिर मत पाठकों के लिये रख दिया है। मध्य-प्रांत, पंजाब, और बिहार के शिक्षा-विभागों द्वारा यह ग्रंथ पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकार कर लिया गया है, यह भी इसकी उत्कृष्टता का एक ख़ासा सर्टिफ़िकेट है।

प्रस्तुत ग्रंथ कुल १०५ अध्यायों में विभक्त है। ये मुख्य हैं। इनमें बहुतों के अंतर्गत कई-कई उप अध्याय भी हैं, जिनमें अध्याय की ख़ासी व्याख्या की गई है। पर हम सहूलियत के लिये इसे तीन ही विभागों में विभाजित करते हैं—(१) प्राचीनकालीन भारत, (२) मध्यकालीन, और (३) वर्तमान भारत। प्रथम भाग में पाषाण-युग, आर्यों और अनार्यों का सम्मिलन, विदेशी जातियों का मिश्रण, आर्यों की सभ्यता, जैन और बौद्ध-कालीन सभ्यता, हिंदू-सभ्यता तथा उसका वैभव और विस्तार दिया हुआ है। द्वितीय भाग को हम मध्यकालीन इतिहास के नाम से पुकारते हैं। इस भाग में मुसलमान-राजवंशों का स्थापन, वैभव-विकास तथा पतन है। लेनपूल ने जैसा अपनी 'मेडीवल इंडिया' में मुसलमानकालीन भारत का वर्णन किया है, यद्यपि वैसा विशद यह नहीं है, तथापि प्रामाणिकता की दृष्टि से कम भी नहीं है। प्रत्येक मुसलमान-राजवंश का संक्षेप में अच्छा वर्णन दिया गया है। गज़ेटियरों और 'रूलर्स ऑफ़ इंडिया'-सिरीज़ का निचोड़ इसमें आ गया है। तृतीय भाग वह है, जिसमें वर्तमान अँगरेज़ी-सभ्यता का संपर्क जब से शुरू होता है, तब से उसका वर्णन है। हिंदूकालीन सभ्यता के विकास को कुछ मानचित्रों और मुद्राओं के चित्र देकर जहाँ अधिक स्पष्ट कर दिया गया है, वहीं राजनीतिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिये राज्य संबंधी मानचित्र भी दिए गए हैं। यह प्रायः अप-टु-डेट इतिहास है। यदि तृतीय विभाग में वर्तमान ब्रिटिश-शासनांतर्गत भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक मताधिकार का विश्लेषण है, तो हिंदूकालीन सभ्यता में तत्कालीन साहित्यिक एवं सामाजिक विकास का अच्छा दिग्दर्शन पहले ही हो जाता है। इसका प्रमाण 'ग्राम्य-स्वराज्य' के वर्णन में मिलता है। संपूर्ण इतिहास को पढ़ जानेवाला पाठक अच्छी तरह यह जान सकता है कि हिंदुओं की प्राचीन सभ्यता के ज़माने में, जिसे आधुनिक पाश्चात्य-इतिहासकार अंधकार-युग समझते हैं, शासन की दृष्टि से, हिंदुओं की सामाजिक स्थिति आज के ब्रिटिश-साम्राज्यांतर्गत भारत की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत थी। उन्हें प्रतिनिधित्व के समस्त सामाजिक अधिकार प्राप्त थे। पर लेखक ने आर्यों के आगमन के संबंध में जो विचार प्रकट किए हैं, उनसे हम सहमत नहीं हैं। एक तो उन्होंने अपना कोई स्थिर विचार वहाँ नहीं प्रकट किया; दूसरे जैसा वह लिखते हैं, लोकमान्य तिलक ने आर्यों का आदि स्थान उत्तरीध्रुव स्थिर किया है सही; पर उनका विस्तार भारतवर्ष से अन्य देशों में किस प्रकार हुआ, इस पर भी कुछ प्रकाश पड़ना चाहिए था। पर्शिया के इतिहास, हेरोडोटस के इतिहास तथा पुराणों में भी इसका अच्छा उल्लेख पाया जाता है। हिंदूकालीन सभ्यता पर जितना प्रकाश इस समय इस पुस्तक द्वारा पड़ता है, उससे कहीं अधिक प्रकाश उस समय पड़ता। दूसरी प्रधान बात प्राचीन इतिहास के संबंध में यह है कि इसमें व्यापारिक क्रांति का उल्लेख नहीं है। यदि हम वर्तमान ब्रिटिश-शासन की बुनियाद का पता लगावें, तो हमें इसका समस्त आधार व्यापारिक विकास जान पड़ेगा। इस उद्देश्य से वर्तमान भारत का आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करनेवाला पाठक जब प्राचीनकालीन भारत में प्रवेश करता है, तो उसे अपनी हीनता पर कुछ निराशा हो जाती है। इतिहास राजनीतिक विकास का साधन है, इसलिये इसकी बड़ी आवश्यकता थी; क्योंकि यह राजनीतिक विकास आज व्यापारिक क्रांति पर ही अवलंबित है। हाँ, इस पुस्तक में यह ज़रूर दिखाया गया है कि प्राचीन आर्य-सभ्यता में कला-कौशल और साहित्य एक उच्च सीमा पर थे। पर इससे सर्वथा उस कमी की पूर्ति नहीं हो जाती। पुनः जिस प्रकार २१वें अध्याय में "बौद्ध-काल का सिंहावलोकन", "हिंदू-भारत या राजपूत-काल का सिंहावलोकन" २८वें अध्याय में और ३८वें अध्याय में "दिल्ली के सुलतानों के काल का सिंहावलोकन" दिया गया है, उसी प्रकार कुछ अधिक सिंहावलोकन देने की भी ज़रूरत थी।

"मुग़ल-साम्राज्य का पतन और मरहठा-राजमंडल का उदय" जिस तरह २४वें अध्याय में दिया गया है, उसी प्रकार यदि प्रत्येक हिंदू अथवा मुसलमान-राजवंश के उत्थान और पतन का सिंहावलोकन उपसंहार-रूप में दिया जाता, तो पाठक को कुछ अधिक सुविधा होती। इसी प्रकार युद्धों से होनेवाली राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थिति के यथार्थ वर्णन का अभाव भी कुछ खटकता है। अच्छा हो, यदि हमारे विचार लेखक महोदय को पसंद हों, तो उनका समावेश अगले संस्करण में कर दिया जाय।

पर इन अभावों का यह अर्थ नहीं कि पुस्तक की उपादेयता, उत्कृष्टता अथवा ऐतिहासिक परिशीलन में इनके कारण कोई त्रुटि आ गई है। ये तो सोने में सुगंध का काम करतीं। खरे सोने को आँच में तपाकर परखनेवाला खोटा कहीं कहा सकता है। कहना तो यहाँ तक चाहिए कि भारतीय विश्वविद्यालयों के संचालक जो यह कह दिया करते हैं कि हिंदी माध्यम स्वीकार करने के लिये हिंदी में पुस्तकें है ही कहाँ, उनके लिये यह पुस्तक मुँहतोड़ जवाब है। इसके लिये हम नागपुर-विश्वविद्यालय और मध्यप्रांतीय शिक्षा-विभाग को ही वास्तव में धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने द्विवेदीजी की लेखनी द्वारा एक ऐसे उच्च कोटि के ग्रंथ के निर्माण का अवसर दिया, जिसकी बदौलत आज हिंदी दूसरी किसी भी भाषा के सामने गर्व से अपना मस्तक ऊपर उठा सकती है।

मातादीन शुक्ल

× × ×

३. गणित

वृत्तच्छेद—लेखक, श्रीअवध उपाध्याय, रिसर्चस्कॉलर, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

यह लेख पहले 'विज्ञान' में प्रकाशित हो चुका है, और अब पुस्तकाकार। गणित जाननेवालों के लिये तो यह लेख अति उत्तम है; परंतु जो गणित से अनभिज्ञ हैं, उनके लिये तो इस लेख का पढ़ना भी 'टेढ़ी खीर' है। अभी भाषा में लोकप्रिय पुस्तकों की ज़्यादा ज़रूरत है। कालांतर में जब कॉलेज में गणित-शिक्षा भाषा द्वारा दी जाने लगेगी, तब ऐसी पुस्तकों की आवश्यकता पड़ेगी।

श्यामाचरण

× × ×

४. संस्कृत

श्रीमद्भगवद्गीता (खंड १; अध्याय १, २, ३)—लेखक और प्रकाशक श्रीहृषीकेश चतुर्वेदी, जंजीरीकटरा, किनारी बाज़ार, आगरा; आकार रायल, कागज़ उत्तम, छपाई साफ़; पृष्ठ-संख्या २६; मूल्य ≡)

गीता की ज्ञान-गंभीरता जगत्-प्रसिद्ध है। उसके एक-एक वाक्य की व्याख्या बड़े-बड़े धुरंधर आचार्यों ने कई-कई पन्नों में की है। लेखक ने पं० राधेश्यामजी के ढंग की कविता में इसका पद्य-बद्ध अनुवाद करने की चेष्टा की है। भाषा आपकी खिचड़ी है—कहीं खड़ी बोली, कहीं पकी बोली। जहाँ भावों की जटिलता दिखलाई दी, वहाँ आपने संस्कृत के वे ही पद उठाकर रख दिए हैं, और वह भी बेढंगेपन से। छंद भी आपके शुद्ध नहीं हैं। हिंदी जाननेवालों को इससे गीता के भावों का ज्ञान होगा, इसकी आशा हमें नहीं है। नमूना देखिए—

फल-श्रुति में रति रखनेवाले स्वर्गहि सर्वोच्च बताते हैं;
अविवेकी भोगैश्वर्य-हेतु वे पुष्पित बात बनाते हैं।
उस जन्म-कर्म-फल-प्रदा क्रियावार्ता से जो चित हरे हुए;
नहिं निश्चय बुधि उर में धरते वे भोग-विभव में पड़े हुए।

पद्यों पर आपने टिप्पणी भी की है। 'फल-श्रुति' का अर्थ लिखा है—फल को चाहनेवाले! हमारी सम्मति में अनुवाद करने के पहले आपको गीता का अर्थ समझने की कोशिश करनी चाहिए थी।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

५. महिला-साहित्य

पत्रांजलि—रूपांतरकार, श्रीयुत पं० कात्यायनीदत्त त्रिवेदी; संपादिका, श्रीमती कृष्णकुमारी; प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, २६-३०, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या ८०; मूल्य ॥); कागज़, छपाई-सफ़ाई उत्कृष्ट।

हिंदी में महिला-साहित्य की बड़ी ही कमी है। उसी की पूर्ति के लिये लखनऊ की गंगा-पुस्तकमाला के उत्साही संचालकों ने 'महिला-माला' का प्रकाशन शुरू किया है। पत्रांजलि उसी की पहली मणि है। यह मणि वास्तव में दिव्य, उपयोगी और मूल्यवान् है। श्रीसतीश-चंद्र चक्रवर्ती महाशय ने बँगला में 'स्वामी-स्त्री-पत्र' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है। बँगला में तो अब तक उसके कई संस्करण हो चुके और हज़ारों प्रतियाँ

बिक चुकी हैं। 'पत्रांजलि' उसी उपयोगी पुस्तक का रूपांतर है। हिंदी में भी इसकी यह तृतीय आवृत्ति है। इससे जान पड़ता है, पुस्तक महिलाओं को बहुत पसंद आई है। रूपांतर कैसा हुआ है, इसके विषय में तो हम कुछ नहीं कह सकते ; पर जो सामग्री हमारे सामने है, वह अवश्य ही सुंदर है—उसकी उपयोगिता में संदेह नहीं किया जा सकता। पुस्तक की भाषा रुचिकर एवं विनोद-पूर्ण है, साथ ही आसानी से महिलाओं की समझ में आने लायक़ भी। पत्रों में व्याज-रूप से महिलाओं को जो सम्मतियाँ दी गई हैं, वे अवश्य ही उनके जीवन को उन्नत करनेवाली हैं। इस पुस्तक के पाठ से पति-पत्नियों को एक बड़ा लाभ यह भी हो सकता है कि पति पत्नी को एवं पत्नी पति को सुंदर पत्र लिखना सीख सकती है। गंगा-पुस्तक-माला विशुद्ध छपाई के लिये प्रसिद्ध है ; परंतु इस पुस्तक में छपाई की कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। कई स्थानों में तो मात्राएँ हवा हो गई हैं। यह छोटी-सी त्रुटि पुस्तक के गौरव को कम करनेवाली है*। कवर पर पुस्तक के नामानुकूल एक बहु-वर्ण सुंदर एवं भाव-पूर्ण चित्र भी दिया है, जिससे पुस्तक की शोभा बहुत अधिक बढ़ गई है। आशा है, हिंदी की पाठिकाएँ इस उपयोगी पुस्तक से अवश्य लाभ उठावेंगी।

× × ×

नारी-उपदेश—लेखक, स्वर्गीय श्रीयुत गिरिजाकुमार घोष ; संपादिका श्रीमती कृष्णकुमारी ; प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, २९-३०, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ ; पृष्ठ-संख्या लगभग १०० ; मूल्य ।।), काग़ज़, छपाई-सफ़ाई उत्कृष्ट।

यह पुस्तक गंगा-पुस्तकमाला से प्रकाशित होनेवाली 'महिला-माला' की तीसरी मणि है। विषय नाम से ही प्रकट है। हिंदी में 'नारी-उपदेश' से संबंध रखनेवाली जितनी पुस्तकें हमने देखी हैं, उनमें इसका विशेष स्थान होना चाहिए। इसमें प्रामाणिक ग्रंथों और शास्त्र-पुराणों से स्त्रियों के योग्य उपदेश संग्रह किए गए हैं। इसके अलावा प्रवीण लेखक ने अपनी ओर से भी कई सुंदर लेख लिखे हैं, जिनमें स्त्रियों के लिये उपयोगी बहुत-सी बातों का समावेश हो गया है। उपदेश-संबंधी पुस्तकें प्रायः शुष्क एवं अरोचक होती हैं ; पर यह पुस्तक वैसी नहीं है। इसका कारण यह है कि एक तो पुस्तक की भाषा अत्यंत सरल, रोचक और विनोद-पूर्ण है; दूसरे, कुशल लेखक ने उपदेशों को कथा का रूप देकर अत्यंत हृदयग्राही बना दिया है, और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। उनका उद्देश्य आदर्श उपस्थित करने की ओर ही विशेष रहा है, कोरे उपदेश ही नहीं। कुशल लेखक का कर्तव्य भी यही होना चाहिए। पुस्तक का कोई अंश निरुपयोगी और अरोचक नहीं रहा। "अरी नारी" के पढ़ने से तो कविता-जैसा आनंद प्राप्त होता है। "नारी-पूजा" और "नारी का महत्त्व" लेख भी बहुत बढ़िया हैं। "तीन गृहस्थ" ने स्त्रियों के समक्ष गृह-संबंधी उत्तम आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। "पति-पत्नी की लड़ाई"-शीर्षक लेख इतनी उत्तमता से लिखा गया है कि लेखक की क़लम चूम लेने को जी चाहता है। उसमें जो बातें लिखी गई है, वे अनुभव-पूर्ण हैं—अक्षरशः सत्य हैं। "गहनों की पिटारी", "भूषण-भावना" और "आभूषण-प्रेम" लेख ऐसे हैं, जिनसे स्त्रियों की सामाजिक अवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है, और ये स्त्रियों को बड़े लाभप्रद हो सकते हैं। पुस्तक की भाषा के संबंध में हम पहले जो कुछ लिख चुके हैं, उसके सिवा इतना और कहना चाहते हैं कि इसकी भाषा सरल है ; पर कहीं-कहीं कठिन भी हो गई है। ऐसी पुस्तकों की भाषा जहाँ तक सरल हो, उतना ही अच्छा। पृष्ठ ५५ में एक वाक्य आया है—"परंतु योरप की दानवी जब तक लंबी नहीं होती, तब तक वह सुंदरी ही नहीं समझी जाती।" यह वाक्य हमें बहुत खटका। लेखक महाशय खुद ही कुबूल करते हैं—देखिए, दोनों देशों की रुचि में कितनी भिन्नता है ! फिर योरप की रमणी 'दानवी' क्यों ? आशा है, अगले संस्करण में यह महत्ता-

* यदि इस पुस्तक में कहीं कोई छपाई की अशुद्धि रह गई है, तो उसका एक-मात्र कारण हिंदी में अच्छे और स्टैंडर्ड प्रेस का एकदम अभाव ही है। यह पुस्तक साहित्य-प्रेस (चिरगाँव) में छपी है। अभी तक भरसक प्रयत्न करने पर भी हम केवल नवलकिशोर-प्रेस के ही आदमियों को कुछ तैयार कर सके हैं। यदि अन्य प्रकाशक भी इस ओर समुचित ध्यान दें, तो कुछ प्रेस ऐसे तैयार हो सकते हैं, जो बिलकुल शुद्ध पुस्तकें छाप सकें। हिंदी में मात्राएँ बहुधा उड़ जाया करती हैं। भविष्य में इस त्रुटि को भी दूर करने का हम पूर्ण उद्योग कर रहे हैं।—प्रकाशक

हीन 'ग़ामदी' दूर कर दी जायगी। कवर-पेज पर 'माधुरी' के प्रसिद्ध चित्रकार लाल् महाशय द्वारा अंकित त्रिवर्ण चित्र दे देने से पुस्तक बहुत ही दिव्य हो गई है। हम इस उपयोगी पुस्तक का प्रचार घर-घर में देखने के इच्छुक हैं।

ज़हूरबख़्श

× × ×

६. बाल-साहित्य

प्रयाग के श्रीयुत रामनरायनलाल बुकसेलर ने भी बाल-साहित्य के अभाव का अनुभव करके 'बालमित्र मासिक ग्रंथमाला' का प्रकाशन प्रारंभ किया है। अब तक इस माला में सोलह पुस्तकें निकल चुकी हैं। प्रत्येक पुस्तक लगभग ६४ पृष्ठों की रहती है; काग़ज़ अच्छा तथा छपाई आदि भी अच्छी होती है। मूल्य रहता है प्रति पुस्तक पाँच आने। इस माला के लेखक और संपादक हैं हिंदी के प्रसिद्ध लेखक पं० रामदहिन मिश्र काव्य-तीर्थ। माला की दो पुस्तकों का कुछ परिचय यहाँ दिया जाता है—

ईसब्नीति-कथा (दो भाग)—योरप में ईसप नाम का एक अच्छा लेखक हो गया है। उसने बालकों के लिये बड़ी ही उपदेशप्रद एवं मनोरंजक कहानियाँ लिखी हैं। उनका अनुवाद दुनिया की सभी भाषाओं में हो गया है। हिंदी में भी उसके दो-एक अनुवाद हो चुके हैं। परंतु इस पुस्तक में एक विशेषता है, और विशेषता न हुई, तो लिखने से लाभ ही क्या? अच्छा, वह विशेषता भी सुनिए। पुस्तक की कहानियाँ अविकल अनुवाद नहीं हैं—विशेष रोचक और उपयोगी बनाने के ख़याल से घटा-बढ़ाकर लिखी गई हैं। कहिए, है न ठीक। पुस्तक में "कहानियाँ भी ऐसी चुनी गई हैं, जो मनोरंजन के साथ ही बहुत ही उपदेश देनेवाली हैं; और कुछ ऐसी भी हैं, जो अब तक हिंदी में लिखी नहीं गई हैं। कहानियों का उपदेश 'सार-मर्म'-शीर्षक के रूप में दे दिया गया है, और नीचे भी उसका खुलासा लिख दिया गया है।" यह बहुत अच्छा हुआ है। आशा है, लेखक का यह प्रयत्न लड़कों को लाभ पहुँचाने में समर्थ होगा। मिश्रजी, वाक़ई आपका यह प्रयत्न लड़कों को लाभ पहुँचाने में समर्थ हुआ है। लड़के कहते हैं—

रमज़ानख़ाँ—"उम्दा कहानियाँ हैं; मैंने मन लगाकर पढ़ी हैं।"

सदाशिवराव—"मैं तो दिन-भर पढ़ता रहा।"

बालमुकुंद—"दिन-भर पढ़ता रहा—खेलने भी नहीं गया।"

सीताराम—"ख़ूब उपदेश मिलता है।"

बस, और क्या चाहते हैं?

× × ×

विज्ञान की सरल बातें—पहले लड़कों की राय सुनिए—

भोलाशंकर—"क्या ही अच्छा होता कि मैं भी ऐसी अच्छी चीज़ें बना सकता!"

रामगोपाल—"पढ़कर बड़ा अचरज हुआ। क्या ये सब बातें सच हैं?"

सखाराम—"कई बातें नई मालूम हुईं; मज़ा भी आया। कल हम लोगों ने भी तार का खेल किया था।"

इस तरह मिश्रजी का परिश्रम भी सार्थक हुआ, आशा भी सफल हुई। पुस्तक में, चलने-फिरने में तरक़्क़ी, रेलगाड़ी, बिजली, बिजली के खेल, हवा में उड़ना, गुब्बारा, हवाई जहाज़, तार आदि विषयों पर मनोहर लेख लिखे गए हैं। बड़ी अच्छी किताब है। ऐसी किताबें जितनी लिखी जायँ, अच्छा है।

खेद की बात है कि इन पुस्तकों में चित्र नहीं दिए गए। प्रकाशक महाशय को जानना चाहिए कि बालकों को आकृष्ट करने के लिये चित्र बड़े ही उत्तम साधन हैं। इन पुस्तकों में विषय-सूची का भी अभाव खटकता है। आशा है, प्रकाशक इस ओर ध्यान देंगे। लेखक महाशय को गदहा, रोआँ, मौतःविक आदि शब्दों पर विचार करना चाहिए। हम समझते हैं, वह अखंडित, श्रेष्ठ, तुच्छ, अन्य आदि शब्दों के बदले और सरल शब्द लिखते, तो उनकी सरल भाषा और भी सरल हो जाती। आशा है, इन पुस्तकों का भी अच्छा प्रचार होगा।

ज़हूरबख़्श

× × ×

अद्भुत कहानियाँ—लेखक, श्रीयुत बाबू ज्ञानेंद्रमोहनदास; अनुवादक, पं० जनार्दन झा; प्रकाशक, हिंदी-पुस्तक-एजेंसी, १२६, हरिसन-रोड, कलकत्ता; मूल्य ॥); आकार डबल क्राउन; पृष्ठ-संख्या ६०; काग़ज़ चिकना; छपाई-सफ़ाई सुंदर; सचित्र।

कलकत्ते की हिंदी-पुस्तक-एजेंसी हिंदी-साहित्य की वर्तमान प्रगति में अपना विशेष स्थान रखती है। कितनी ही अच्छी-अच्छी पुस्तकें, जो हिंदी-साहित्य का शृंगार कही जा सकती हैं, वहाँ से प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रस्तुत पुस्तक उक्त एजेंसी की 'बाल-विनोद-पुस्तकमाला' की तीसरी पुस्तक है, जो बालकों के ही योग्य मोटे अक्षरों और सुबोध भाषा में है। मूल-लेखक ने २६ सच्ची और अनूठी कहानियों का संग्रह बँगला में किया है। उसी का यह हिंदी-रूपांतर है। कहानियों के पढ़ने से जान पड़ता है, विद्वान् लेखक ने पशु-स्वभाव का अच्छा अध्ययन किया है। इन कहानियों में पालतू और जंगली पशु-पक्षियों के हृदय का विश्लेषण है। लेखक ने अनुभवों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पशुओं में भी सब गुण—दया, सहानुभूति, करुणा, सहृदयता, प्राणोत्सर्ग, सद्भाव, बंधु-स्नेह आदि—तथा हठधर्मी आदि दुर्गुण पाए जाते हैं। बाल-साहित्य की वास्तव में यह एक अच्छी पुस्तक है। बालकों के उज्ज्वल चरित्र-निर्माण में, पशुओं से तुलना करके मनुष्योचित गुणों के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न करने में, यह पुस्तक अच्छी सहायता कर सकती है। प्रत्येक माता-पिता को चाहिए, इस पुस्तक के द्वारा अपने बालकों को प्राणियों के हृदय की बात जानने का अवसर दे।

मातादीन शुक्ल



इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुबीते के लिये प्रति मास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास नीचे-लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

(१) "लज्जा", स्त्रियों के लिये उपयोगी। लेखक, कविराज श्रीप्रतापसिंह। संपादिका, श्रीमती कृष्णकुमारी। मूल्य ।।।=)

(२) "इतिहास की कहानियाँ", बालोपयोगी। लेखक, श्रीयुत ज़हूरबख़्श। संपादक, श्रीप्रेमचंद। मूल्य ॥०)

(३) "स्वास्थ्य-साधन", स्वास्थ्य-संबंधी। लेखक, श्रीरामदास गौड़। मूल्य ३), सजिल्द ३॥)

(४) "गीता रत्नमाला", श्रीमद्भगवद्गीता का पद्यानुवाद। लेखक, श्रीवासुदेव कवि। मूल्य १॥)

(५) "बिहारी की सतसई", तृतीय परिवर्द्धित संस्करण—भाग १। लेखक, श्रीपद्मसिंह शर्मा। मूल्य २)

(६) "हिंदू-धर्मप्रवेशिका", हिंदी-पुस्तक-एजेंसी से प्रकाशित। मूल्य ।)

(७) "आकाश की सैर", ज्योतिष-शास्त्र। लेखक, श्रीदुर्गाप्रसाद खेतान। मूल्य ॥)

(८) "प्रवेशिका पद्यावली", पहला भाग। नागरीप्रचारिणी-सभा से प्रकाशित। मूल्य ॥)

(९) "परम भक्त प्रह्लाद", नाटक। लेखक, श्रीराधेश्याम कथावाचक। मूल्य १)

(१०) "रुई और उसका मिश्रण", अनुवादक, श्रीकस्तूरमल बाँठिया। मूल्य १॥)

(११) "संदेह", उपन्यास। लेखक, श्रीगिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'। मूल्य १)

(१२) "रामचरितमानस की भूमिका", लेखक, श्रीरामदास गौड़। मूल्य ३), सजिल्द ३॥)

(१३) "विनोदरत्नाकर", मनोरंजन। संग्रहकर्ता, श्रीश्यामसुंदर चतुर्वेदी। मूल्य ॥)

(१४) "खेल-खिलौना", बालोपयोगी। लेखक, श्रीव्रजभूषणप्रसाद। मूल्य ।=)

(१५) "विराट्रूप-दर्शन", लेखक, श्रीरामनारायण पाठक। मूल्य =)



१. सम्मेलन में साहित्य का प्राधान्य कैसे हो ?



दावन-साहित्य-सम्मेलन के संबंध में हमें जो कुछ निवेदन करना था, वह हम माधुरी की पिछली संख्या में कर चुके। हम अब भी यही कहते हैं कि हमें वृंदावन से जो आशा थी, वह पूरी नहीं हुई। पर अब बीती हुई बात को बार-बार दोहराने से क्या फ़ायदा? अब तो इस बात की आवश्यकता है कि आगामी वर्ष भरतपुर में जो साहित्य-सम्मेलन होने जा रहा है, उसके संबंध में विचार किया जाय, और यह सोचा जाय कि साहित्यिक दृष्टि से वह कैसे सफल बनाया जा सकता है। साहित्य-सम्मेलन की स्थायी समिति की बैठकों में यथारुचि प्रस्ताव पास किए जा सकते हैं, और उनके अनुसार काम किया जा सकता है। ऐसी दशा में सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन को प्रस्ताव पास कराने का दंगल न बनाना चाहिए, और न उसके द्वारा एक-मात्र प्रदर्शन का काम लेना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि यह काम वार्षिक सम्मेलन से बिलकुल उड़ा दिया जाय। यह काम भी हो; पर अधिक महत्त्व साहित्यिक प्रगति को मिलना चाहिए। अच्छा, तो सम्मेलन अधिक साहित्यिक कैसे बनाया जा सकता है? सम्मेलन को अधिक साहित्यिक बनाने के लिये यह परमावश्यक है कि वह कई विभागों में विभक्त कर दिया जाय, और प्रत्येक विभाग के सभापति अलग चुने जायँ। स्थूल-रूप से अभी विज्ञान, काव्य, नाटक-उपन्यास और इतिहास, इन चार विभागों को लेकर काम का प्रारंभ किया जाय। फिर जैसे-जैसे आवश्यकता बढ़ती जाय, वैसे-ही-वैसे विभाग भी अधिक कर लिए जायँ। सम्मेलन के अवसर पर प्रत्येक विभाग के विषयों पर निबंध पढ़े जायँ, और व्याख्यान भी हों। विज्ञान विषय पर मैजिक लैंटर्न की सहायता से चित्र दिखलाते हुए व्याख्यान देना परम उपयोगी होगा। काव्य-सम्मेलन में नवीन रचनाओं का पाठ, पुरानी रचनाओं पर समालोचनात्मक निबंध, और खोज से संबंध रखनेवाले लेख पढ़े जायँ। नाटक और उपन्यास-विभाग में कोई उत्कृष्ट नाटक खेला जाय, दो-चार छोटी-छोटी कहानियाँ सुनाई जायें, और आलोचनात्मक निबंधों द्वारा नाटक-उपन्यास के साहित्य पर प्रकाश डाला जाय। इसी प्रकार इतिहास-विभाग भी अपने कर्तव्य का पालन करे। प्रत्येक विभाग के सभापतियों का चुनाव कम-से-कम सम्मेलन होने के चार महीने पहले कर दिया जाय, जिसमें सभापतियों को अपने भाषण तैयार करने का पर्याप्त समय मिले। इन चार विभागों के अतिरिक्त अब के समान सम्मेलन का एक

प्रधान सभापति भी चुना जाय। उसके सभापतित्व में अब के समान प्रदर्शन, प्रचार और प्रस्तावों के पास करने की व्यवस्था रहे। यही सभापति प्रचलित नियम के अनुसार साल-भर तक सम्मेलन का सभापति माना जाय। सम्मेलन के अवसर पर जो पुस्तकों आदि की प्रदर्शिनी की जाय, उसमें केवल ऐसी ही चीज़ें रक्खी जायँ, जो बहुमूल्य हों, और सर्वसाधारण को सुलभ न हों। वृंदावन की प्रदर्शिनी के समान यह न किया जाय कि चार-चार आने में मिल सकनेवाली पुस्तकें भी रक्खी जायँ। हाँ, यदि ऐसी प्रदर्शिनी की जा सके, जिसमें कम-से-कम ८० प्रतिशत प्राप्त पुस्तकें संगृहीत हों, तो उसमें चार-चार आने की पुस्तकें भी स्थान पा सकती हैं। यदि भरतपुर के साहित्य-प्रेमी हमारे इन विचारों में कोई सार वस्तु पावें, तो उसका उपयोग करें, अन्यथा जाने दें।

× × ×

२. संपादक-सम्मेलन के सभापति का भाषण

वृंदावन में 'आज'-पत्र के संपादक श्रीबाबूरावजी विष्णु पराड़कर के सभापतित्व में अखिल भारत-वर्षीय प्रथम संपादक-सम्मेलन का भी अधिवेशन सानंद समाप्त हो गया। पराड़करजी हिंदी के एक अनुभवी संपादक हैं। समय-समय पर आपने हिंदी के कई पत्रों का संपादन किया है, और इस समय आप 'आज'-पत्र को जिस गंभीरता से चला रहे हैं, वह हिंदी-साहित्य-संसार पर भली भाँति प्रकट है। सभापति की हैसियत से पराड़करजी ने जो भाषण किया था, उसमें कई महत्त्व-पूर्ण बातों का समावेश है। आपकी राय है कि हिंदी-पत्रों का अधिक प्रचार न होने के तीन प्रधान कारण हैं। यथा—(१) पत्रों के समाज का प्रतिबिंब न होना, (२) धनाभाव और (३) हिंदी-भाषी जनता में साक्षरता का अल्प प्रचार। इन तीनों कारणों पर आपने काफ़ी प्रकाश डाला है। आगे चलकर आप कहते हैं कि हिंदी और अँगरेज़ी, इन दोनों भाषाओं का अच्छा ज्ञाता हुए बिना हिंदी के पत्रों का संपादक-उपसंपादक तो क्या, संवाददाता होना भी कठिन है। आपकी सलाह है कि हिंदी-समाचार-पत्रों को समाज के भीतर घुसने का प्रयत्न करना चाहिए। आपका विचार है कि सनसनी पैदा करनेवाले समाचारों के चित्र-विचित्र आविष्कारों तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाले बड़े-बड़े शीर्षकों से अब समाचार-पत्रों को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। पराड़करजी चाहते हैं कि अमेरिका और इँगलिस्तान के पत्रों के समान ही हिंदी के पत्र भी निकाले जायँ, जिनमें प्रत्येक श्रेणी और हरएक पेशे के स्त्री-पुरुषों के काम की और मनोरंजन की बातों का समावेश रहे। आपका यह भी ख़याल है कि प्रत्येक ज़िले से एक साप्ताहिक पत्र निकाला जाय। उस पत्र में उस ख़ास ज़िले के लोगों की रुचि के अनुकूल, और अधिकांश में स्थानीय, समाचारों का संग्रह रहे। संक्षेप में संसार के समाचारों का भी परिचय दिया जाय, और इस पत्र को ग्राम-ग्राम में पहुँचाने का उद्योग किया जाय। ऐसा पत्र एक सच्चे समाचार-पत्र का काम देगा, और पत्र निकालनेवालों को लाभ भी भरपूर होगा। पराड़करजी का विचार है कि पत्रों पर धनिकों का आधिपत्य होना स्वाभाविक है। अभी तक धनिक लोग स्वदेश-प्रेम के भावों से प्रेरित होकर ही समाचार-पत्रों में अपनी पूँजी लगाते हैं; पर जब समाचार-पत्रों का प्रभाव बढ़ेगा, तो व्यापार-दृष्टि से भी धनी लोग पत्रों को अपने हाथ में लेने का उद्योग करेंगे। भविष्य में समाचार-पत्र लागत-मूल्य से भी कम पर बिकेंगे, और उनको अपनी यह घटी विज्ञापनों की आय से पूरी करनी पड़ेगी। यह विज्ञापन-निर्भरता जितनी ही बढ़ेगी, उतनी ही संपादक की स्वतंत्रता घटेगी, और कार्य-कुशल व्यवस्थापक की बढ़ेगी। आपका कहना है कि संपादक का सच्चा धर्म लोक-शिक्षण है, और उसे अपने पत्र में सदा उच्च आदर्श को स्थान देना चाहिए। अश्लील समाचारों और अपराध-मूलक दुराचारों के अतिरंजित वर्णनों को प्रधानता देकर कुछ ग्राहक बटोरने का प्रयत्न परम निंदनीय है। संपादकों को चाहिए कि परमेश्वर ने उनको जो बड़ा पद दिया है, उसका सदुपयोग करें, और समाज को सदा उन्नत करते रहना अपना धर्म समझें। संपादक में साहित्य और भाषा-ज्ञान के अतिरिक्त भारत के इतिहास का सूक्ष्म और संसार के इतिहास का साधारण ज्ञान तथा समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र और अंतरराष्ट्रीय विधानों का साधारण ज्ञान होना आवश्यक है। अंत में पराड़करजी ने संपादक-समिति

के संगठन पर ज़ोर देते हुए कहा है कि ऐसे संगठन से संपादकों के स्वत्वों की रक्षा, आपस के झगड़ों का निपटारा, विपत्ति में संपादक की सहायता तथा डाक और तार की सुविधाओं में वृद्धि हो सकेगी। संक्षेप में पराड़करजी का भाषण ऐसी ही सुंदर सलाहों से भरा पड़ा है। हम चाहते हैं, हिंदी-पत्रों के संपादक इससे लाभ उठावें। तथास्तु।

× × ×

३. उरोज-शब्द और अश्लीलता-दोष

वृंदावन में कवि-सम्मेलन के अवसर पर, महिलाओं की उपस्थिति में, एक कवि महाशय ने एक कविता पढ़ी थी। इस कविता में स्त्रियों के एक अंग-विशेष का भी उल्लेख था। कुछ लोगों ने यह आपत्ति की कि जिन रचनाओं में ऐसे अंगों का उल्लेख हो, वे स्त्रियों के समक्ष न पढ़ी जायँ। कविजी ने कविता पढ़ने के लिये आग्रह किया, और ऐसी कविता पढ़ने में कोई हानि नहीं बतलाई। सभापति महोदय ने कविजी को कविता पढ़ने की आज्ञा दे दी। इस पर अधिकांश महिलाएँ उस स्थान से उठकर चली गईं। इस घटना का उल्लेख पिछले मास की माधुरी में हो चुका है। इधर इस विषय को लेकर हिंदी के समाचार-पत्रों में कुछ विवाद चल पड़ा है। सहयोगी 'प्रताप' में कवि-सम्मेलन के सभापति ठाकुर गोपालशरणसिंहजी ने एक पत्र छपवाकर इस घटना का स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि मेरी दृष्टि से कविता अश्लील नहीं है। इस पर प्रताप-संपादक ने टिप्पणी करके उक्त कविता को अश्लील ही बतलाया है। कविता को ठाकुर गोपालशरणसिंहजी अश्लील नहीं मानते, और प्रताप-संपादक मानते हैं। किसकी बात ठीक है, यह कहना बड़ा कठिन है। यदि वह संपूर्ण कविता हमारे सामने होती, तो हम उस पर अपनी सम्मति देने में समर्थ होते, और अन्य विद्वानों की राय जानने का भी हमें अवसर प्राप्त होता। पर प्रताप-संपादक को कविता इतनी अश्लील जची कि उन्होंने उसे प्रताप में प्रकाशित करना भी ठीक न समझा। तब हम केवल सुनी-सुनाई बातों के सहारे ही कुछ लिखेंगे। हमने सुना है कि विवाद-ग्रस्त कविता में स्त्रियों के जिस अंग-विशेष का उल्लेख हुआ है, वह अंग 'उरोज' हैं। यदि हमारी सुनी हुई बात ठीक है, तो प्रश्न यह उठता है कि क्या 'उरोज'-शब्द अश्लील है? हमारी राय में उरोज-शब्द स्वयं अश्लील नहीं है; पर स्थान-विशेष पर इसका प्रयोग अश्लील भी हो सकता है। आदि-कवि वाल्मीकि की रचनाओं में 'उरोज' का प्रयोग निर्दोष रूप में हुआ है। महाकवि तुलसीदास ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है, और अश्लीलता-दोष से बचे रहे हैं। यदि स्मरण-शक्ति धोखा नहीं देती, तो पंडित महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने एक कान्यकुब्ज-सभा में कुमारी कान्यकुब्ज-कन्याओं का वर्णन करते हुए उनके पीन पयोधरों का भी उल्लेख किया है। हाल में 'पंचवटी'-नामक पुस्तक में श्रीयुत मैथिलीशरणजी गुप्त भी उरोजों का वर्णन करने से नहीं चूके। हमारी राय में, किसी युवती का वर्णन करनेवाला कवि या लेखक उसके प्रधान यौवन-चिह्न उरोज का वर्णन बहुत करके कर ही जायगा। उदाहरण देने की ज़रूरत नहीं, संसार की प्रत्येक भाषा के काव्य-साहित्य में इस अंग-विशेष का उल्लेख मिलेगा। तब अकेले 'उरोज'-शब्द के प्रयोग-मात्र से ही हम किसी कविता को अश्लील नहीं मान सकते। हाँ, यदि संबंध से कोई और भी अनौचित्य हो, तो उसके विषय में हम कुछ नहीं कहना चाहते। अब रहा इस बात पर विचार करना कि महिलाओं के समक्ष ऐसे शब्दों का पढ़ना ठीक है या नहीं? सो हमारी तो यह राय है कि हाँ, स्त्रियों के समक्ष ऐसे शब्दों का न कहना ही श्रेयस्कर है। सारांश यह कि केवल उरोज-शब्द के प्रयोग से कोई कविता अश्लील नहीं हो सकती। पर ऐसे शब्द यदि स्त्रियों के सामने न कहे जायँ, तो ठीक होगा। हम चाहते हैं कि शृंगार-पूर्ण कविताओं का प्रचार कम कराने के लिये महिलागण जान-बूझकर कवि-सम्मेलनों में अधिक संख्या में उपस्थित हुआ करें।

× × ×

४. पद्य-सम्मेलनों का सुधार

संयुक्त-प्रदेश में इस समय कवि-सम्मेलनों की बाढ़ बड़े ज़ोरों पर है। इसका वेग इतना प्रबल है कि भय होता है, कहीं वह कविता-क्षेत्र को संपूर्ण आप्लावित करके उसमें खड़े हरे-भरे कविता-तरुवरों को भी नष्ट-भ्रष्ट न कर दे। किसी भी चीज़ की 'अति' अच्छी नहीं होती। कवि-सम्मेलनों का भी यही हाल है। यह तो सभी जानते हैं कि हिंदी में सुकवियों की संख्या न्यून है। फिर इन कवि-सम्मेलनों में ये सैकड़ों कवि कहाँ से

टपक पड़ते हैं ? जिस संख्या में हम कवि-सम्मेलनों में कवियों को देखते हैं, वह संख्या यदि सचमुच ठीक है, तो फिर यह कहना ग़लत है कि हिंदी में कवियों की कमी है। पर वास्तव बात क्या है, यह किसी भी विद्वान् से छिपा नहीं है। हमें यह बात विश्वस्त सूत्र से मालूम है कि अनेक अच्छे कवि इन अनियंत्रित कवि-सम्मेलनों में कविता पढ़ना अनुचित समझने लगे हैं। हमारी राय में उनका ऐसा समझना बेजा भी नहीं। जहाँ सभी धान बाईस पंसेरी हों, वहाँ कपूर और कपास में क्या भेद-भाव किया जायगा। अच्छा, तो इन कवि-सम्मेलनों का सुधार कैसे किया जाय ? हमें इस संबंध में दो-चार बातें निवेदन करनी है। हमारी राय में इस समय जो सम्मेलन 'कवि-सम्मेलन' के नाम से पुकारे जाते हैं, उनमें से या तो कोरे तुकड़ पद्य-रचयिताओं का बहिष्कार होना चाहिए, या उनका नाम 'पद्य-सम्मेलन' रखना चाहिए, 'कवि-सम्मेलन' नहीं। कविता करने और पद्य-रचना में काफ़ी फ़र्क़ है। हमें 'कवि'-नाम की सम्मान-रक्षा अवश्य करनी चाहिए। प्रत्येक पद्य-सम्मेलन के लिये यह आवश्यक नियम बना दिया जाना चाहिए कि जब तक पद्य-सम्मेलन की व्यवस्था न की जाय, जब तक उसका सूत्रधार कोई जानकार कवि न हो। इन सम्मेलनों में पढ़े जाने के लिये आनेवाले सब पद्य १५ दिन पहले ही संगृहीत कर लेना चाहिए। फिर उन सब पर विचार करके जितने पढ़ने के योग्य समझे जायँ, वे अलग छाँट लिए जायँ, और शेष या तो वापस कर दिए जायँ, या भस्मसात्। कौन पद्य-रचयिता अपनी रचना पहले सुनावेगा, और कौन बाद को, इस बात को लेकर हमने अनेक तुकड़ों को झगड़ते देखा है। इसमें व्यर्थ का बहुत-सा समय निकल जाता है। हमारी राय में पद्य-रचयिताओं के नामों की गोलियाँ बनाकर एक पात्र में रख लेनी चाहिए, और सम्मेलन के समय किसी बालक से गोलियाँ निकलवाई जायँ और जिस क्रम से जिसका नाम निकलता जाय, उसी क्रम से उससे पढ़ने को कहा जाय। यदि रचनाओं पर पुरस्कार देने का विचार हो, तो उसके लिये कम-से-कम तीन कविता-मर्मज्ञों की समिति बनानी चाहिए। इस बात पर पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि इस समिति के सदस्य पक्षपात-रहित हों, तथा उनमें एक पद्य-सम्मेलन का सभापति भी हो। विद्यार्थियों के सम्मेलनों में कुरुचि-भाव-पूर्ण रचनाओं को पढ़ने का अवसर न मिलना चाहिए। जिस सम्मेलन में महिलाएँ भी उपस्थित हों, उनमें अश्लील भाव-वाली कविताएँ कदापि न पढ़ी जानी चाहिए। प्रयाग-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन अथवा काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा की ओर से कभी-कभी 'आदर्श कवि-सम्मेलनों' की योजना की जानी चाहिए। इन आदर्श सम्मेलनों में १० या २५ चुने हुए कवियों की रचनाएँ पढ़ी जानी चाहिए। समस्या-पूर्तियों की अपेक्षा निर्दिष्ट विषय बतलाकर उन पर कविताएँ लिखवाना कहीं अधिक अच्छा होगा। इस बात पर भी ज़ोर देने की ज़रूरत है कि कोरे शृंगार की अपेक्षा देश और काल से संबंध रखने-वाली कविताएँ अधिक हों। क्या संचालकगण इधर ध्यान देंगे ?

× × ×

५. क्या केशव हृदय-हीन थे ?

एक प्रतिष्ठित समालोचक की राय है कि "केशव में हृदय का तो कहीं पता ही नहीं है।" पर हृदय के बिना कविता हो नहीं सकती। ऐसी दशा में समालोचक की इस उक्ति का अर्थ इसके सिवा और कुछ नहीं हो सकता कि केशव कवि न थे। केशवदास पर यह बहुत बड़ा अभियोग है। कविता-संसार में उनका जो स्थान है, उससे तो वह च्युत होते ही हैं, साथ ही जो लोग अब तक उनको कवि मानते आए हैं, उनकी बुद्धि की भी उपर्युक्त वाक्य से पूर्ण निंदा हो जाती है। तो क्या सचमुच अब तक हिंदी-साहित्य-संसार घोर भ्रम में पड़ा हुआ था ? यदि अभियोग सच्चा है, तो अभियोग लगानेवाले का सम्मान होना चाहिए, और यदि झूठा, तो उसके कथन का प्रतिवाद। हम नहीं जानते कि समालोचक महोदय का हृदय से क्या प्रयोजन है। इसलिये यदि वह हृदय की पूर्ण व्याख्या कर दें, तो बड़ा उपकार हो। साधारण रीति से तो कविता का हृदय से और बुद्धि का विज्ञान से संबंध माना गया है। हृदय-प्रसूत विचार भावमय, कल्पना-पूर्ण और स्वाभाविकतामय होते हैं। उनमें एक सहज आकर्षण होता है। वे दूसरे के हृदय पर तुरंत प्रभाव डाल देते हैं। केशवदास की रचनाओं में ऐसे हृदय-प्रसूत विचारों का अभाव मानने को कम-से-कम हम तो तैयार नहीं हैं। हाँ, संभव है, समालोचक महोदय ने

अपने कथन में जिस 'हृदय' का उल्लेख किया है, उसे हम जानते ही न हों। इसीलिये हमने उस हृदय के यथार्थ रहस्य को जानने की इच्छा प्रकट की है। एकआध समालोचक का कहना है कि केशवदास जिस विषय पर रचना करने बैठते थे, उसमें संपूर्ण तल्लीन नहीं हो जाते थे। यदि इस असंपूर्ण तल्लीनता को ही हृदय-हीनता भी कहते हों, तो समालोचक के आक्षेप से हम बहुत कुछ सहमत हो सकते हैं। पर हमारी राय में हृदय-हीनता दूसरी ही चीज़ है। हृदय-हीन मनुष्य कविता की एक पंक्ति भी नहीं लिख सकता। लिखेगा कैसे? कविता के लिये आवश्यक हृदय तो उसके पास है ही नहीं। हम नीचे केशवदास के दो छंद देते हैं। हमारी जिज्ञासा है कि इनमें हृदय का पता है या नहीं? यदि है, तो केशव के ऊपर जो अभियोग लगाया गया है, वह मिथ्या है; और यदि नहीं, तो हम सहृदय कवियों की उन रचनाओं के नमूने देखना चाहते हैं, जिनमें हृदय का परिचय मौजूद हो। दोनों छंद ये हैं—

(१)

नीके के कॅवार देहौं द्वार-द्वार 'केसौदास'
मेरे घर आस-पास सूरजौ न छावैगो;
छिन मैं छवाय लैहौं ऊपर अटान आज,
आँगन पटाय लैहौं जैसो मोहिं भावैगो।
न्यारे-न्यारे नापदान मूँदिहौं झरोखा-जाल
पाइहै न पथ पौन आवन न पावैगो;
माधव, तिहारे पाछे मोपर मरन मूढ़
आवन कहत, सु तौ कौन पैडे आवैगो?

(२)

सौंह दिवाय सखी इकबारक कानन-कानन आनि बसाए;
जानै को 'केसव' कानन तें कित ह्वै कब नैनन माहिं सिधाए।
लाज के साज धरेई रहे सब नैनन लै मन को सु मिलाए;
कैसी करौं, अब क्यों निकसै, यों हरे-ई-हरे हियरे हरि आए।

× × ×

६. भूषण और शिवाजी

महाकवि भूषण महाराज छत्रपति शिवाजी के आश्रित कवि थे या नहीं, इस विषय को लेकर हिंदी-संसार में बहुत दिनों से विवाद चल रहा है। माधुरी में भी इस संबंध में कई नोट निकल चुके हैं। जिस समय वे नोट प्रकाशित किए गए थे, उसके बाद भूषण के समय के संबंध में कई नई बातें विदित हुई हैं। यह बात अब निश्चित-सी जान पड़ती है कि जयपुर के महाराज रामसिंह का देहांत संवत् १७४६ में हुआ था। यह बात भी निश्चित है कि इन्हीं महाराज रामसिंह की प्रशंसा में भूषण ने एक छंद की रचना की थी, जो याज्ञिक-बंधु के लेख में, माधुरी में, छप चुका है। उस छंद की भाषा इतनी स्वच्छ और मँजी हुई है कि कोई नहीं कह सकता, यह किसी नौसिखुए या बाल-कवि की रचना है। इस किंवदंती के विरुद्ध भी अभी तक कोई सबूत नहीं मिला कि भूषण ने प्रौढ़-वयस्क होकर ही कविता का प्रारंभ किया था। ऐसी दशा में यह अनुमान नितांत स्वाभाविक है कि महाराजा रामसिंह की प्रशंसावाला भूषण-कृत छंद उस समय बना होगा, जब उनकी अवस्था कम-से-कम ४० वर्ष के लगभग होगी। यदि यह मान लें कि भूषण ने महाराजा रामसिंह की प्रशंसावाला छंद संवत् १७४२ के इधर-उधर बनाया, तो भूषण का जन्म-काल संवत् १७०० के आस-पास पड़ता है। इस अनुमान में दस-पाँच बरस का फ़र्क़ पड़ सकता है, अधिक नहीं। इसलिये स्वर्गीय शिवसिंहजी का भूषण का जन्म-संवत् १७३८ मानना नितांत अशुद्ध है। अब दूसरी बात पर विचार करना है। भूषणजी यदि शिवाजी के आश्रित कवि थे, तो उनके किसी समसामयिक कवि या लेखक की रचना में इसका उल्लेख होना चाहिए। माधुरी के एक नोट में ऐसा प्रमाण भी दिया जा चुका है। कविवर लोकनाथ चौबे बूँदी-नरेश रावराजा बुधसिंह के आश्रित कवि थे। महाकवि भूषण भी इन्हीं बुधसिंह के दरबार में उपस्थित हुए थे। लोकनाथजी भूषण के समसामयिक ही नहीं, एक ही राजा के आश्रित भी थे। इन्हीं लोकनाथजी ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि भूषण को शिवाजी महाराज ने पुरस्कृत किया। कोई कारण नहीं जान पड़ता कि लोकनाथ के छंद पर क्यों अविश्वास किया जाय। हिंदी के और भी कई कवियों ने शिवाजी और भूषण के संबंध की बात सकारी है। फ़ारसी के एक प्रतिष्ठित तज़किरे में भी, जो भूषण की मृत्यु के थोड़े समय बाद बना, इस बात का ज़िक है। मराठी के 'बखर' में भी भूषण और शिवाजी में आश्रित और आश्रयदाता का संबंध पाया जाता है। स्वयं भूषण की कविता पुकार-पुकारकर कह रही है कि मैं

शिवाजी के जीवन-काल ही में बनी हूँ। कवि यहाँ तक कह जाता है कि मैं शिवाजी का यश सुनकर उनके दरबार में उपस्थित हुआ, इत्यादि। भगवंतराय और बाजीराव की प्रशंसा में भूषण के बनाए जो छंद बतलाए जाते हैं, वे संपूर्ण संदिग्ध हैं। उनमें पाठभेद है, और यह भी प्रमाणित होता है कि वे दूसरे कवियों की रचना हैं। चिंतामणि और भूषण को भाई न ई मानने में कोई भी पक्ष आपत्ति नहीं कर रहा है। यह भी निर्विवाद है कि चिंतामणि 'मणि'-उपनाम से कविता करते थे। औरंगज़ेब के भाई शाह शुजा की प्रशंसा में चिंतामणि के बनाए छंद मिलते हैं। चिंतामणि नाम का दूसरा और कोई कवि था भी नहीं। फिर जब चिंतामणि शुजा का समसामयिक था, तो उसी का भाई भूषण शिवाजी का समसामयिक क्यों नहीं था? मामला बहुत साफ़ है। स्वयं उलझनें पैदा करना दूसरी बात है; पर ऊपर जिस विचार-सरणि का आभास दिया गया है, उस पर पक्षपात छोड़कर विचार करने से जान पड़ता है, महाकवि भूषण छत्रपति महाराज शिवाजी के आश्रित कवि अवश्य थे।

× × ×

७. हिंदी-हितचिंतकों से निवेदन

हिंदीलेखकों के अदम्य उत्साह और अथक परिश्रम के फल-स्वरूप हिंदी-साहित्य की दिन-दूनी, रात-चौगुनी उन्नति हो रही है। यह बड़ी ही प्रसन्नता और संतोष की बात है। परंतु काम जिस गति से हो रहा है, वह प्रशंसनीय होने पर भी अभी बहुत कुछ सुस्त है। उन्नति की गति अभी कईगुना बढ़ानी पड़ेगी, तब कहीं हम राष्ट्र-भाषा के प्रति अपने ऋण का आंशिक परिशोध कर पावेंगे। उन्नति हो रही है, इस बात से हममें अभिमान का प्रादुर्भाव न होना चाहिए। वरन् जितना ही हम आगे बढ़ते जावें, उतना ही हमें नम्रता का आश्रय लेना चाहिए। जो वृक्ष बिना फलों के होते हैं, वे कैसे तने खड़े रहते हैं। पर जैसे ही उनमें फल आए कि उन्होंने अपनी डालों को नीचे झुकाकर नम्रता का परिचय दिया। यही हाल हमारा होना चाहिए। हिंदी का काम करनेवालों में आपस का सौहार्द भी परमावश्यक है। हिंदी के प्रत्येक हितचिंतक को यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिए कि वह हिंदी-हितचिंतक संस्था का एक सदस्य है, तथा अन्य प्रत्येक हिंदी-हितचिंतक उसका सहयोगी और भाई। प्रत्येक सदस्य का एक ही लक्ष्य है, और वह है हिंदी की उन्नति। जब लक्ष्य एक है, तब उसी लक्ष्य के उपासकों में परस्पर का विरोध कैसा? नेकनीयती के मत-भेद और स्वार्थ-पूर्ण अहम्मन्यतामय व्यक्तिगत विरोध में बड़ा अंतर है। नेकनीयती के मतभेद से लक्ष्य को हानि नहीं पहुँच सकती, वरन् कभी-कभी बड़ा लाभ होता है। पर स्वार्थ-पूर्ण अहम्मन्यतामय व्यक्तिगत विरोध बड़ी ही बुरी वस्तु है। इससे बड़ी-बड़ी हानियाँ होती हैं। हिंदी का हित चाहनेवालों को ऐसे दूषित विरोध से बहुत सावधान रहना चाहिए। इसकी बदौलत कटुता, ईर्ष्या, विद्वेष और कलह की ऐसी भयंकर सृष्टि होती, जो हमें बिलकुल लक्ष्य-भ्रष्ट कर सकती है। इस समय, थोड़ी मात्रा में, हमें हिंदी के कुछ प्रचारकों में ऐसे विरोध-राक्षस का दर्शन हो रहा है। इससे हम बहुत भय-भीत हैं। यदि यह विरोध-राक्षस हमारे बीच में थोड़े समय के लिये भी ठहर गया, तो हमारे बने-बनाए खेल को बिगाड़ देगा। हमारा अब तक का सारा उद्योग नष्ट हो जायगा। हम इस नोट में जान-बूझकर न तो निर्दिष्ट विरोध-राक्षस के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करेंगे, और न उन प्रचारकों का नाम लेंगे, जो इस राक्षस को कटुवाद-रूप भोजन देकर पुष्ट कर रहे हैं। हाँ, इतना अवश्य कह देंगे कि जिस साँप को दूध पिलाया जा रहा है, वह दूध पिलानेवालों को ही पहले डसेगा। कहने का प्रयोजन यह कि इस अनुचित विरोध का हनन किए बिना उन्नति का मार्ग अवरुद्ध रहेगा। हिंदी के हितचिंतकों में हम विवेक बुद्धि की भी बड़ी भारी आवश्यकता का अनुभव करते हैं। हममें उत्साह है। इसकी बदौलत हम बहुत बड़े-बड़े काम कर सकते हैं। पर यदि हममें विवेक न हो, तो हमारे उत्साह का बहुत बड़ा अंश व्यर्थ बरबाद हो सकता है। उससे हम उतना लाभ न उठा पावेंगे, जितना उठा सकते हैं। विवेक की बदौलत अल्प उत्साह से भी हम बहुत बड़े-बड़े काम कर सकते हैं। ऐसी दशा में जहाँ हमें अपने नवयुवक कार्यकर्ताओं का उत्साह चाहिए, वहाँ हमें अनुभवी और विवेकशील वृद्ध हिंदीसेवकों की सलाह का भी आदर करना चाहिए। अभिमान और अनुचित विरोध के त्याग के साथ-साथ यदि हम विवेक को अपनाकर उत्साह-पूर्वक काम करते

रहें, तो अल्प काल में हिंदी का अभूतपूर्व हित-साधन हो सकता है। क्या हमारे सहयोगी और भाई हिंदी-हित-चिंतक हमारे इस नम्र निवेदन पर ध्यान देंगे ? हमारा विश्वास है कि हमारी विनय व्यर्थ न जायगी।

× × ×

८. लाला लाजपतराय का भाषण

हाल ही में, बंबई में, हिंदू-सभा का एक अधिवेशन हुआ था। इस अधिवेशन के सभापति लाला लाजपतरायजी थे। आपने सभापति की हैसियत से जो भाषण दिया था, वह प्रत्येक विचारशील हिंदू के पढ़ने और मनन करने-योग्य है। सबसे प्रारंभ में आपने हिंदू-महासभा के उद्देशों का स्पष्ट उल्लेख किया, और बतलाया कि इस संस्था का उद्देश फूट पैदा करना नहीं है। यह एकता उत्पन्न करनेवाला वातावरण निर्माण करना चाहती है। इस समय मुसलमान लोग विशेषाधिकारों के लिये ज़िद कर रहे हैं। निर्वाचन में विशेषाधिकारों का फल बड़ा ही हानिकारक होता है। इस अनिष्ट के रोकने का एक-मात्र उपाय यह है कि हिंदू अपना संगठन और अपने स्वत्वों की रक्षा करें। एक छोटी संगठित जाति एक बड़ी असंगठित जाति को हरा सकती है। अँगरेज़ लोग इसके उदाहरण हैं। मुसलमान भी विशेषाधिकार और संगठन के ज़ोर से हिंदुओं के हितों को कुचल सकते हैं। हिंदुओं को संगठन करना चाहिए। लाला लाजपतरायजी की राय है कि जो जातियाँ जातिगत विशेषाधिकारों के पक्ष में नहीं हैं, उनके साथ हिंदुओं को नवीन मैत्री और सद्भाव स्थापित करना चाहिए। ईसाई और पारसियों के साथ हिंदुओं का व्यवहार अत्यंत प्रेम-पूर्ण रहना चाहिए। पारसियों और हिंदुओं की संस्कृति में बहुत कुछ समता है। इसलिये इन दोनों जातियों में खूब मेल-जोल बढ़ना चाहिए। स्वयं हिंदू जाति के अंतर्गत जो बहुत-से भेद-भेदांतर हैं, उनको भी दूर करने का पूर्ण उद्योग होना चाहिए। आपने दाक्षिणात्य और पाश्चात्य भारत के हिंदुओं को यह सलाह दी कि वहाँ के अब्राह्मणों को द्विजाति के अधिकार तुरंत दे देना चाहिए। उत्तर-भारत में ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय और वैश्य भी द्विजातियों में गिने जाते हैं। उनको वेद और गायत्री पढ़ने का अधिकार प्राप्त है। इसीलिये वहाँ ब्राह्मणों और अब्राह्मणों में विरोध नहीं है। हिंदू-धर्मशास्त्र में ब्राह्मणेतर वैश्य और क्षत्रिय को ये अधिकार प्राप्त हैं, तब दक्षिण और पश्चिम के कट्टर ब्राह्मण शास्त्र की आज्ञा कार्यरूप में परिणत करके विरोध के एक प्रधान भाव को क्यों नहीं दूर कर डालते ? वर्णाश्रम-धर्म की ज़ोरों के साथ दुहाई दी जा रही है। पर उसका पालन कौन करता है ? क्या बारह वर्ष के लड़के का विवाह करना आश्रम-धर्म के अनुकूल है ? क्या आजकल के हिंदू ६० वर्ष की अवस्था होने पर गृहस्थाश्रम छोड़कर उचित आश्रम का आश्रय लेते हैं ? यदि नहीं, तो फिर शास्त्र-सम्मत, देश और काल के अनुकूल, धर्म को हम क्यों नहीं अपनाते ? हिंदुओं में अस्पृश्यता की प्रथा भी फूट पैदा करनेवाली है। इसका भी अति शीघ्र बहिष्कार होना चाहिए। लालाजी ने कट्टर हिंदुओं से विशेष रूप से प्रार्थना की कि वे किसी के बहकावे में आकर राष्ट्रीय भाव रखनेवाले हिंदुओं को अपना शत्रु न समझें, और देश-काल की दशा देखते हुए अपने लोकाचारों में परिवर्तन करने को तैयार हो जायँ। भाषण के अंतिम भाग में लालाजी ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया कि हिंदुओं को अपनी माताओं की रक्षा में प्राणपण से लग जाना चाहिए। उनकी शारीरिक निर्बलता, मानसिक हीनता, मिथ्या विचार-प्रियता, बेपरवाही आदि को दूर करने का पूर्ण प्रयत्न होना चाहिए। हिंदू-स्त्रियों में कायरता और पराश्रय-प्रियता के भाव अत्यधिक हैं। वे अपने भोजन आदि के मामलों में बहुत ही उदासीन भाव रखती हैं। प्रतियोगिता के साथ काम करने की शक्ति उनमें कम पाई जाती है। उनमें उत्साह और ओज का अभाव दिखलाई पड़ता है। इन सब कमियों को दूर करने की आवश्यकता है। बिना उत्कृष्ट माताओं के अच्छी संतान नहीं उत्पन्न हो सकती। इसलिये हमें उनकी रक्षा और शिक्षा का प्रबंध करना ही होगा। संक्षेप में लालाजी के भाषण का यही सारांश है। हम चाहते हैं, जो लोग पढ़ सकते हैं, उन्हें यह भाषण अवश्य पढ़ना चाहिए। समग्र हिंदू-जाति लालाजी के इन अमूल्य उपदेशों के लिये उनकी कृतज्ञ है। हमें यथासाध्य लालाजी की इच्छा पूर्ण करनी चाहिए।

× × ×

९. स्वराज्य-दल

देश में इस समय राजनीतिक आंदोलन के संबंध में

काम करनेवाले दलों में स्वराज्य-दल का एक विशेष स्थान है। इस दल की संगठन-शक्ति और सब दलों के संगठन से दृढ़ समझी जाती थी। इसके नेता स्वर्गीय दास और वर्तमान पं० मोतीलाल नेहरूजी-सदृश त्यागी महानुभाव थे। दो-तीन साल के अंदर इसने अद्भुत उन्नति की। यहाँ तक कि कांग्रेस में भी इसी की तूती बोलने लगी। कौंसिलों में इसने सरकार को बहुत तंग किया। पर अब इतने दिनों के बाद इसका संगठन डग-मगा उठा है। हम माधुरी के एक नोट में दिखला चुके हैं कि स्वराज्य-दल की अड़ंगा की नीति धीरे-धीरे सह-योग के समीप पहुँच गई है। स्कीन-कमेटी की मेंबरी और कौंसिल की प्रेसिडेंटी अड़ंगा-नीति के प्रभाव को बढ़ानेवाली नहीं, बल्कि घटानेवाली है। ख़ैर, यह सब हो ही रहा था कि मध्य-प्रदेश के प्रसिद्ध स्वराजी नेता श्रीयुक्त तांबे ने उक्त प्रदेश की कार्यकारिणी-समिति की सदस्यता स्वीकार कर ली। यह काम उन्होंने अपने दल की सम्मति लिए बिना ही किया। जब उनका यह कृत्य सर्वसाधारण पर प्रकट हुआ, तो स्वराज्य-दल के नेता पं० मोतीलालजी ने उनके इस काम की घोर निंदा की। पर बात यहीं तक नहीं रह गई। श्रीतांबे की नियुक्ति पर पूने के प्रसिद्ध स्वराजी नेता श्रीयुत केलकर ने उनको एक बधाई का तार भेजा, और श्रीजयकर ने भी तांबे के कौंसिल में पहुँचने की बात को लेकर प्रसन्नता प्रकट की। इतना ही नहीं, इन दोनों सज्जनों ने यह वक्तव्य भी प्रकाशित किया कि अब समय आ गया है कि देश में प्रतियोगी-सहयोग का प्रारंभ किया जाय। इस प्रकार एक ओर स्वराज्य-दल के नेता ने तांबे के कार्य की निंदा की, और दूसरी ओर श्रीकेलकर और जयकर ने उनके काम को सराहा। इस परस्पर विरोध से श्रीनेहरू, केलकर और जयकर में वाग्युद्ध आरंभ हो गया। श्री-केलकर और जयकर ने महाराष्ट्र में स्वर्गीय लोकमान्य तिलक का नाम लेकर प्रतियोगी-सहयोग का झंडा उठा किया, और खुल्लमखुल्ला नेहरूजी की अड़ंगा-नीति का विरोध आरंभ किया। प्रायः एक महीने तक तो यह दशा रही कि जान पड़ता था, स्वराज्य-दल का अंत आ गया। पर एक बार पंडित मोतीलालजी ने फिर बुद्धिमानी का परिचय दिया, श्रीकेलकर और जयकर से मिल-कर बातचीत करने के लिये बंबई में एक कानफ्रेंस की व्यवस्था की। इस कानफ्रेंस में यह तय पाया कि कानपूर-कांग्रेस तक न तो नेहरू-दल प्रतियोगी-सहयोग के विरुद्ध प्रचार-कार्य करे, और न केलकर-दल कट्टर स्वराज्य-दल के कार्य-क्रम के विरुद्ध। इस प्रकार कुछ समय के लिये स्वराज्य-दल की बढ़ती हुई फूट में कुछ रुकावट पड़ गई है। पर आगे क्या होगा, इसकी बाबत कोई कुछ नहीं कह सकता। इतना स्पष्ट है कि स्वराज्य-दल का संगठन अब पहले के समान दृढ़ नहीं है। मान्यवर लाला लाजपतरायजी ने स्वराजियों की इस आपस की लड़ाई को देखकर ठीक ही कहा है कि यह लड़ाई केवल नाम के संबंध में है, इसमें और कुछ सार नहीं। एक दल आधे दर्जन को ६ न कहकर आधा दर्जन कहने की ज़िद कर रहा है, तो दूसरा दल ६ कहने पर ही डटा है, वह ६ को आधा दर्जन नहीं कहना चाहता। हमारी राय में श्रीकेलकर और जयकर का यह कहना ठीक जचता है कि स्वराज्य-दल अब भी प्रतियोगी-सहयोग की नीति बरत रहा है, पर साथ ही इन दोनों सज्जनों ने कट्टर स्वराज्य-दल का जिस रीति से विरोध किया है, वह अत्यंत आपत्तिजनक है।

× × ×

१०. रुई का कर

भारत में बननेवाले देशी कपड़े पर एक कर लगाया जाता था। इसी को 'काटन इक्साइज़' या 'रुई का कर' कहते थे। इस कर की बदौलत भारतवर्ष में कपड़ा तैयार करनेवाली मिलें विदेशी मिलों का मुक़ाबला नहीं कर पाती थीं। इस कर को उठा देने के विरुद्ध बरसों से आंदोलन जारी था; पर सरकार ने प्रजा की पुकार की कभी परवा नहीं की। व्यवस्थापिका सभा के गत अधिवेशन में इस कर को उठा देने के पक्ष में एक बार फिर प्रस्ताव उपस्थित किया गया, और वह एक-स्वर से पास भी हो गया। पर उस समय भी सरकार यह कहकर टाल गई कि अब वर्ष के बीच में कुछ नहीं किया जा सकता। मार्च में बजट के समय विचार किया जायगा। उस समय बात यहीं तक होकर रह गई, पर बाद को मिलों में असंतोष ने ज़ोर पकड़ा। मिल-मालिकों का माल तो बिक नहीं रहा था, और उधर उनको कुलियों को पूरी मज़दूरी देनी पड़ती थी। आख़िर मिलों के मालिक अधिक समय तक इस भार को उठा

न सके। उन्होंने कुलियों की मज़दूरी में कमी करने का निश्चय किया। इससे असंतोष और बढ़ा। कुलियों ने कम मज़दूरी लेने से इनकार कर दिया, और हड़ताल का आयोजन किया। धीरे-धीरे बंबई की सभी मिलें बंद हो गईं, और दो लाख के लगभग मज़दूर बेकार हो गए। विचार करने की बात है कि जिन बेचारे मज़दूरों का भोजन नित्य की उपार्जित मज़दूरी पर निर्भर था, उनकी कितनी बुरी दशा हुई होगी। फिर भी मज़दूरों ने अद्भुत शांति के साथ हड़ताल जारी रक्खी। मालिक लोग भी टस से मस नहीं हुए। इस भीषण स्थिति का परिचय दिखाते हुए नेताओं ने एक बार सरकार से फिर प्रार्थना की कि रुई का कर उठा दिया जाय। पर फिर भी सरकार ने सुनवाई न की। रुई के कर के विषय में नियम यह है कि जितना कपड़ा बनेगा, उतने पर ही सरकार कर लगा सकेगी। सो मिलों के बंद हो जाने से यह कर आप-ही-आप स्थगित था। दो महीने तक सरकार को कुछ भी प्राप्त न हुआ। तब सरकार की भी आँखें खुलीं। उसने सोचा कि अब सेंत-मेंत का यश लूटना चाहिए। अस्तु, लॉर्ड रीडिंग ने एक आज्ञा निकालकर मार्च, सन् १९२६ तक के लिये यह कर माफ़ कर दिया है, और यह भी वक्तव्य प्रकाशित किया है कि मार्च के बाद इस कर को सदा के लिये उठा देने की भी व्यवस्था की जायगी। इस भाँति से इस कर का अंत हुआ। हमारे देश के लिबरल राजनीतिज्ञ बड़े ही चतुर हैं। जैसे ही यह कर स्थगित हुआ कि उन्होंने यह चिल्लाहट मचाई कि रुई-कर का स्थगित होना वैध आंदोलन की विजय है। इन देशभक्तों की राय में देश के लिये सरकार द्वारा जो कोई भी उपकार होता है, वह वैध आंदोलन की ही बदौलत; मानो भारत के हित का ठेका इस वैध आंदोलन ने ही ले रक्खा है। हम वैध आंदोलन के इस भ्रामक प्रभाव का तीव्र प्रतिवाद करते हैं। हमारी राय में इस कर के स्थगित होने में वैध आंदोलन की करतूत कुछ भी नहीं है। वरन् जो कुछ हुआ है, वह खुली मुठभेड़ (direct action) की बदौलत हुआ है। न मज़दूर लोग हड़ताल करके आप-ही-आप कर को स्थगित कराते और न सरकार का ध्यान इधर जाता। एक बात और है, जापान के बढ़ते व्यापारिक प्रभाव का नियंत्रण करने के लिये भी भारतीय रुई का कर स्थगित किया जा सकता है। कारण कोई भी हो, जब सरकार द्वारा एक ऐसा कार्य हो गया है, जिससे भारत के कपड़े के व्यापार को लाभ पहुँचने की संभावना है, तब हमें सरकार के प्रति कृतज्ञता ही प्रकट करनी चाहिए। हम आशा करते हैं, इस परिवर्तन से मिल के मालिक लाभ उठावेंगे। अंत में हम मिल-मज़दूरों को उनके साहस, संगठन और सफलता पर बधाई देते हैं।

× × ×

११. सभ्यता का स्रष्टा

हाल में लखनऊ-युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर राधाकमल मुखर्जी ने Ground-Work of Economics नाम की एक किताब लिखी है। इसमें मनुष्य के वैषयिक जीवन की जन्म-कथा का वर्णन है। सहयोगिनी ऊषरा में इस संबंध में एक सुंदर नोट निकला है। उसी का रूपांतर पाठकों के लाभार्थ हम यहाँ किए देते हैं— साधारणतः हम लोग समझते हैं कि वैषयिक उन्नति के साधन और सभ्यता के प्रचार में नारी-जाति का विशेष भाव से कुछ हाथ नहीं है, जगत् में जो कुछ उन्नति हुई है, वह पुरुषों ही के द्वारा। इसी तरह की धारणा बद्धमूल हो रही है। किंतु अच्छी तरह विश्लेषण करके देखने से खूब अच्छी तरह यह समझ में आ जाता है कि सामाजिक सुख और स्वच्छंदता के विधान में स्त्री-जाति की सहायता ही अधिक है, और अगर यह कहा जाय कि सभ्यता की सृष्टि वास्तव में स्त्रियों ही के द्वारा हुई है, तो शायद कुछ अत्युक्ति न होगी। सभ्यता के आदिम युग में मर्द लोग बाघ, भालू, सुअर, मृग आदि का शिकार करते फिरते थे, और इसी में उनका अधिकांश समय बीतता था। उनमें शारीरिक शक्ति अधिक थी, इस कारण जिन कामों में शारीरिक शक्ति का प्रयोजन होता था, उन्हें वे अच्छी तरह कर सकते थे, वैसे ही कामों में उनका अधिक समय बीतता था, और उन्हें आनंद भी अपेक्षाकृत अधिक मिलता था। अतएव ऐसे कामों के अतिरिक्त दुनिया के और कामों में वे उतना मन नहीं लगा सकते थे। गिरस्ती के कामों का भार स्त्रियों के ही ऊपर था। उनकी मा-बहनें और स्त्रियाँ दिन-भर बड़े धैर्य के साथ गिरस्ती के छोटे-बड़े सब कामों को सुश्रृंखला और सहूलियत के साथ करती

रहती थीं। मर्द लोग शिकार करके थके हुए जब घर लौटते थे, तब उस शिकार में मिले हुए मांस आदि को पकाकर स्त्रियाँ उनके आगे उपस्थित करती थीं। पुरुषों के शिकार और युद्ध के शस्त्रों को साफ़ करना, ईंधन चुन लाना आदि सब काम स्त्रियों को ही करने पड़ते थे। आजकल मर्द लोग ही घर वग़ैरह बनाते हैं, किंतु शुरू में यह शिक्षा उन्हें औरतों से ही मिली है। आदिम काल में गृह-निर्माण स्त्रियाँ ही करती थीं, पुरुष नहीं। चित्र अंकित करना, कपड़े बुनना, मिट्टी के बर्तन बनाना वग़ैरह काम पहले औरतों ने ही शुरू किए थे। घर के फ़र्श पर नाना प्रकार की फूल-पत्तियों और बेलों के आकार बनाकर वे घर को यथाशक्ति सुंदर रूप से सजाने की चेष्टा करती थीं। इस समय भी गृह-सज्जा का काम अधिकतर औरतें ही करती हैं। इस मामले में मर्दों की अपेक्षा स्त्रियों की ही रुचि अच्छी पाई जाती है। उन्हीं को इसकी धुन भी ज़्यादा होती है। हमारे देश की निरक्षर नारियाँ भी, जिन्हें कोई आदमी ही नहीं गिनता, इस विषय में पुरुषों से अधिक निपुणता दिखलाती हैं। देहात के किसी किसान के घर जाने पर भी देख पड़ता है, घर की औरतों ने बड़ी सफ़ाई के साथ गोबर-मिट्टी वग़ैरह से सारा घर लीप-पोत करके झक कर रक्खा है, रविवर्मा के चित्रों, बज़ाज़ के घर से कपड़ों के साथ आनेवाली सस्ती तसवीरों और अनेक प्रकार के खिलौनों के द्वारा सोने या बैठने-उठने के स्थान को मनोहर बना डाला है, अलगनी बाँधकर उन पर धोतियाँ वग़ैरह चुनकर रख छोड़ी हैं। तरह-तरह के सूक्ष्म गृह-शिल्पों की सृष्टि भी स्त्रियों के ही हाथों हुई है। काश्मीरी शालों पर सुई का काम वहाँ की अपढ़ अशिक्षित स्त्रियाँ ही करती हैं। ढाके की विश्वविख्यात महीन मसलिन का सूत वहाँ की स्त्रियाँ ही काता करती थीं। कपड़ा बुनना भी, जान पड़ता है, सबसे पहले औरतों ने ही शुरू किया था। खेत का सब काम पहले ज़माने में स्त्रियों को ही करना पड़ता था। इस ज़माने में भी बहुत-सा खेती का काम औरतें ही करती हैं। जब 'हल' का आविष्कार नहीं हुआ था, उस समय पहले की औरतें ही वृक्ष की नुकीली डालियों की सहायता से खेत जोतती थीं। कुमायूँ-गढ़वाल की तरफ़ और यू० पी० में भी स्त्रियाँ ही अधिकतर खेतों में खाद डालती, बीज बोती और खेतों की सफ़ाई करती रहती हैं। फ़सल पक आने पर खेत भी वे ही काटती हैं। वे ही धान कूटती हैं, वे ही गेहूँ वग़ैरह का आटा पीसती हैं। मर्द लोग केवल धरती में हल चलाकर ही छुट्टी पा जाते हैं। नारी-जाति को यदि हम उसके इन सब कामों का यथोचित पारिश्रमिक देना चाहें, तो हमें निःसंकोच होकर यह स्वीकार करना होगा कि स्त्री-जाति ने ही पुरुष-जाति को सभ्य बनाया है—सामाजिक उन्नति का अधिक अंश नारी-जाति ही के हाथों सुसंपन्न हुआ है, और इस प्रकार सभ्यता का स्रष्टा अगर कोई है, तो नारी ही।

× × ×

१२. लेखकों को टाल्सटाय के तीन उपदेश

काउंट लियो टाल्सटाय को ऐसा कौन पढ़ा-लिखा आदमी है, जो न जानता हो? आप रशिया के ही नहीं, सारे संसार के लिये गौरव और गर्व की वस्तु थे। आपकी गणना इस युग के ऋषियों-महर्षियों में होती है। टाल्सटाय के उपन्यास परम प्रसिद्ध हैं। आपकी एक किताब है What is art? (आर्ट क्या है?)। छपी हुई प्रतियाँ चुक जाने के कारण यह ग्रंथ बहुत दिनों से अप्राप्य हो रहा था। टाल्सटाय की रचनाओं का अँगरेज़ी-अनुवाद करनेवाले आलमर माड (Aylmer Maude) साहब ने हाल में उक्त पुस्तक का नवीन संस्करण प्रकाशित कर दिया है। इस पुस्तक के साथ ही टाल्सटाय की और भी कई रचनाएँ छापी गई हैं। ये सब रचनाएँ टाल्सटाय की प्रौढ़ावस्था की हैं, और इनका विषय है शेक्सपियर तथा मोपासाँ के ग्रंथों की समालोचना। यह पुस्तक अँगरेज़ी जाननेवाले पाठकों के पढ़ने-योग्य है। इस किताब में टाल्सटाय ने तीन बहुमूल्य उपदेश दिए हैं, और वे ये हैं—१—जिस विषय पर लिखा जाय, वह मनुष्यों के प्रयोजन का होना चाहिए; २—उस विषय को ऐसे विशद और स्पष्ट भाव से प्रकट किया जाय कि लोग अनायास ही सहज में समझ लें; ३—लेखक जब कुछ लिखने बैठे, तब वह पहले यह देख ले कि उसका हृदय उस विषय पर लिखने की आवश्यकता का अनुभव करता है या नहीं। बाहर का कोई प्रलोभन लेखक को इस ओर झुकाने न पावे, इस पर विशेष ध्यान रहना चाहिए। महर्षि टाल्सटाय के

ये तीनों उपदेश आधुनिक लेखकों को अपने हृदय में अंकित कर लेने चाहिए।

× × ×

११. दक्षिण-आफ़्रिका-प्रवासी भारतीय और डॉक्टर फ़िशर

बिशप फ्रेडरिक फ़िशर एक उदाराशय अमेरिकन सज्जन हैं। आप मेथोडिस्ट मिशन की ओर से कलकत्ते में रहकर बिशप (पादरी) का कार्य करते हैं। आप दक्षिण-आफ़्रिका घूमकर अभी हाल में भारत आए हैं। बंबई में वहाँ के इंडियन डेलीमेल-नामक अँगरेज़ी पत्र के एक प्रतिनिधि ने आपसे मिलकर दक्षिण-आफ़्रिका के संबंध में पूछ-ताछ की थी। आपके साथ उक्त प्रतिनिधि का जो वार्तालाप हुआ था, उसमें दक्षिण-आफ़्रिका-प्रवासी भारतीयों की दशा के संबंध में आपने जो कहा, उसका अनुवाद हम यहाँ पर इसलिये देते हैं कि हमारे पाठक एक निष्पक्ष श्वेतांग के मुख से अपने प्रवासी भाइयों की दुरवस्था का परिचय प्राप्त कर अवश्य ही अपेक्षाकृत अधिक प्रभावान्वित होंगे। बिशप महाशय ने बतलाया—

"मैं दो महीने तक आफ़्रिका में रहा। इस समय में मैंने रोडेशिया और पुर्तगीज़ों के अधिकृत स्थान आदि आफ़्रिका के सभी प्रदेशों में भ्रमण कर डाला। हर केंद्र में भारतीयों की जो समितियाँ हैं, उन्हें भी मैंने देखा है। प्रत्येक नगर के मेयर से भेंट की है, और बहुत-से कौंसिलरों, पार्लियामेंट के सदस्यों और कैबिनेट के मंत्री से परिचय का सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हुआ है। मैंने निरपेक्ष भाव से फ़्रेंच, अँगरेज़, पुर्तगीज़, हिंदोस्तानी और आदिम आफ़्रिकावासी आदि सभी के मनोभाव को जानने की चेष्टा की है। मैंने जो जाना है, उससे मुझे यही समझ पड़ा कि यहाँ की समस्या बड़ी जटिल है। आफ़्रिका में वर्ण-विद्वेष इतना ज़बरदस्त है कि दुनिया-भर में और कहीं वैसा नहीं देखा जाता। उदाहरण के तौर पर ट्रांसवाल की बात कही जा सकती है। उस देश में कोई भी भारतीय बिना लाइसेंस के रोज़गार-धंधा नहीं कर सकता, और वह लाइसेंस देना भी एक श्वेतांग के हाथ में है। किसी जगह पर किसी भारतीय की कोई दूकान हो, और वह गोरा-कर्मचारी चाहे, तो उसे अनायास ही दूसरी जगह उठा दे सकता है। भारतीयों को कोई स्थायी भू-संपत्ति नहीं दी जाती, जिससे उन्हें विशेष असुविधा होती है। वे किसी एक निर्दिष्ट स्थान में वास नहीं कर सकते, और चाहे जिस घड़ी उनके पास वहाँ से उठ जाने की आज्ञा सरकार की ओर से आ सकती है। पहले रूस में जैसा व्यवहार यहूदी बाशिंदों के साथ किया जाता था, ट्रांसवाल के भारतीयों के साथ भी आजकल कार्यतः वैसा ही व्यवहार किया जाता है। जिस समय यहूदी सताए जाते थे, उस समय कितने ही सहृदय व्यक्तियों ने इँगलैंड के अख़बारों और मासिक पत्रों में उन सब अत्याचारों का हाल लिखकर यहूदियों के ऊपर संसार की सहानुभूति और रूसी सरकार के प्रति घृणा और विद्वेष के भाव जगाने की चेष्टा की थी। किंतु बड़े ही आश्चर्य की बात है कि वे सब उदार विश्वहितैषी (जो अब तक जीवित हैं) अथवा उनके उत्तराधिकारी परवर्ती लेखक लोग इस समय इन सब असहाय दुर्बल भारतीयों के ऊपर होनेवाले निष्ठुर अमानुषिक अत्याचारों का वृत्तांत किसी प्रकार किंचिन्मात्र प्रकाशित नहीं करते, या यों कहिए कि उस अत्याचार और उत्पीड़न के प्रतिकार के लिये लेश-मात्र प्रतिवाद की आवाज़ ऊँची नहीं करते! यह देखकर क्या समझ पड़ता है? इससे क्या यह नहीं ख़याल होता कि वर्तमान युग के अधिकांश श्वेतांगों का मानव-प्रेम या मानव-हितैषणा उनकी स्वार्थ-सिद्धि की अभिसंधि अथवा चेष्टा के मुक़ाबले में बिलकुल मामूली बात है? क्या यह अनुमान नहीं होता कि उनका विश्व-प्रेम कोरा ज़बानी जमा-ख़र्च है, उनका हृदय इसके साथ नहीं है? एशियाइयों—ख़ासकर भारतीयों—के ऊपर दक्षिण-आफ़्रिका के गोरों का यह विद्वेष क्यों है? इस निष्ठुरता का क्या कारण है? इसके पहले वे कहते थे कि भारतीय मनुष्य बेहद गंदे होते हैं, और सुसभ्य गोरे योरपियन लोग उनके साथ एकत्र किसी तरह नहीं रह सकते। किंतु इस कथन की झुठाई अनेक बार प्रमाणित हो चुकी है। वास्तव में दक्षिण-आफ़्रिका के सभी भारतीयों को हैरान-परेशान करके भगाने के लिये लाचार करना ही आफ़्रिकावासी गोरों की सारी कोशिशों का प्रधान उद्देश्य या लक्ष्य है? आफ़्रिका के गोरे जिन-जिन कारणों से भारतीयों के साथ प्रतियोगिता नहीं कर पाते, उनमें, उन्हीं के कथनानुसार, एक कारण तो यह है कि भारतीय लोग वहाँ के गोरों से अधिक बुद्धिमान् हैं। और, दूसरा कारण यह है कि भारतीय लोग गोरों की अपेक्षा कम ख़र्च में ही अपना गुज़र कर

सकते और कर भी रहे हैं। इस उपनिवेश के गोरे-कालों के आगे प्रतियोगिता में न टिक सककर आईन के सहारे स्वार्थ-साधन का प्रयास कर रहे हैं। वे दक्षिण-आफ़्रिका को केवल अपना ही देश समझते हैं, और वहाँ अपनी ही प्रधानता अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते हैं। बुद्धिशाली और अपने प्रतियोगी भारतीयों का दर्प किसी तरह चूर्ण किया जाय, यही वहाँ के गोरों की ज़िद हो गई है। इसी कारण दक्षिण-आफ़्रिका के गोरों ने एशियाइयों की जड़ उखाड़ने के विचार से आईन का एक मसविदा बनाकर वहाँ की व्यवस्थापक-सभा में पेश किया है। यह बिल जब आईन बन जायगा, तब दक्षिण-आफ़्रिका-भर में कहीं भारतीयों के लिये जगह नहीं रहेगी। गोरों के प्रति दक्षिण-आफ़्रिका के आदिम अधिवासियों के मन का भाव भी संतोषजनक नहीं है। तथापि केवल भारतीय ही क्यों गोरों की आँखों में खटकते हैं, इस प्रश्न का उत्तर यही है कि भारतीय लोग अधिक बुद्धिमान् हैं, और इसलिये उन्हीं से उनको अधिक खटका है। भारतीयों की प्रतियोगिता में ही गोरों का टिकना मुश्किल है, आदिम अधिवासियों का नहीं। इसी से भारतीयों को विरोध में बोलने के अधिकार से वंचित करने की चेष्टा हो रही है। इँगलैंड और भारत की सरकारें अगर इस मामले में हस्तक्षेप करें, तो इसका आपस में संतोषजनक फ़ैसला हो सकता है। नहीं तो दक्षिण-आफ़्रिका के भारतीयों को हमेशा गोरों से दबकर रहना पड़ेगा। दक्षिण-आफ़्रिका के ईसाइयों अथवा अन्य धार्मिक संस्थाओं से किसी तरह की सहायता पाने की आशा करना व्यर्थ है। सबसे बढ़कर दुःख की बात तो यह है कि इस मामले में वहाँ के भारतीय एकमत नहीं हैं, उनमें एकता का अत्यंत अभाव है। दक्षिण-आफ़्रिका में जैसा सर्वनाशकर आईन बनने जा रहा है, उसे देखकर सभी श्रेणियों के भारतीयों को मिलकर एकसाथ उसका प्रतिवाद करना चाहिए।"

बिशप महोदय के उद्धृत वाक्यों को पढ़कर भी जिस भारतीय की आँखों में अपने विपन्न भाइयों के लिये आँसू न निकल आवें, भारत के अपमान का ख़याल करके जिसका ख़ून न खौल उठे, वह भारतीय ही नहीं है। इससे बढ़कर भारत का अपमान और क्या होगा? मि० फ़िशर ने प्रतिनिधि से यह भी कहा है कि दक्षिण-आफ़्रिका में सभी भारतीय—चाहे वे शिक्षित हों चाहे अशिक्षित, चाहे धनी हों चाहे निर्धन—कुली कहलाते हैं। गोरों के लड़का-लड़के स्कूलों में जिन किताबों को पढ़ते हैं, उनमें भी यही लिखा है कि भारतीय सभी कुली की जाति हैं। वहाँ के किसी भी होटल में भारतीय के लिये स्थान नहीं है। केवल कुली या नौकर के ही रूप में वह वहाँ प्रवेश कर सकता है। ब्रिटिश और भारतीय विश्वविद्यालयों की उपाधि पाए हुए भारतीयों के साथ मि० फ़िशर को होटल के बरामदे में खड़े होकर बातचीत करनी पड़ी थी। इस अत्याचार और अन्याय का भी कोई ठिकाना है! क्या भारतवासी लोग अपने भाइयों को इस अपमान से मुक्त करने के लिये, उनका उनके अधिकार दिलाने के लिये कठिन-से-कठिन कष्ट उठाने और स्वार्थत्याग करने को तैयार न होंगे?

× × ×

१४. प्रतिभा की जननी

प्रोफ़ेसर गिडिंग्स का कहना है कि प्रतिभा का जन्म-स्थान देहात में—नगरों और शहरों के बाहर—है। बड़े-बड़े शहरों में लोक-संख्या की वृद्धि होती है—बहुत-से भावों का आदान-प्रदान होता है—कार्यकरी क्षमता की सृष्टि और पसार होता है। प्रतिभाशाली व्यक्तियों के कार्य-क्षेत्र बड़े-बड़े शहर ही होते हैं; किंतु उनकी जन्म-भूमि होने का गौरव बहुधा देहातों को ही प्राप्त होता है। जगत् के प्रधान मतों या धर्मों का अंकुर मरुभूमि या पर्वत के शिखर में ही निकला है। महम्मद साहब अरब के रेगिस्तान में उत्पन्न हुए थे। ईसामसीह ने सीरिया के एक जंगल में जन्म लिया था। बड़े-बड़े आविष्कार करनेवालों में से किसी ने जन्म लिया है प्रकृति की गोद में, किसी ने साधारण मनुष्यों के बीच। हमारे देश भारत के अनेक शक्तिशाली पुरुषों ने भी देहातों में ही जन्म लिया है।

× × ×

१५. राजमाता अलेक्ज़ैंड्रा का स्वर्गवास

हमारे सम्राट् पंचम जॉर्ज की माता महारानी अलेक्ज़ैंड्रा अब इस संसार में नहीं हैं। आप एक रमणी-रत्न थीं। स्वामी की मृत्यु के उपरांत आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था, और आप एक प्रकार से एकांत-वास ही किया करती थीं। गत २० नवंबर को एका-



स्वर्गीया महारानी राजमाता अलेक्ज़ैंड्रा

अपार दया और सहानुभूति भरी थी। आप दान देने में भी मुक्त-हस्त थीं। कोई भी दीन-दुखी आपके आगे हाथ पसारकर ख़ाली नहीं लौटता था। ग़रीबों और रोगियों के उपकार के कामों में आप सदा आगे रहती थीं। इन्हीं गुणों के कारण आप लोकप्रिय बनी रहीं। आपके तीन लड़के और तीन लड़कियाँ पैदा हुईं आपका परिवार बड़ा है, और परपोते-परपोतियों तक का मुख देखकर आप मरी हैं। सन् १९०२ में आप पति के साथ राजपद पर सुशोभित हुई थीं, और नव वर्ष तक बनी रहीं। विधवा होने के बाद से आपका अधिकांश समय रोगियों और दरिद्रों की सेवा में ही बीतता रहा। ऐसी आदर्श नारी, आदर्श माता और आदर्श महारानी की मृत्यु पर सारे साम्राज्य में शोक मनाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। हम अपने महामान्य सम्राट् और महारानी के समस्त शोकाकुल परिवार के साथ हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हैं। ईश्वर से हमारी यही प्रार्थना है कि वह महारानी की आत्मा को परलोक में शांति-प्रदान करें।

एक आपकी तबीयत बहुत ख़राब हो गई, और २१ तारीख़ को आपका कष्ट इतना बढ़ गया कि तीसरे पहर आप इस लोक से चल बसीं। यह डेनमार्क के राजा की बेटी थीं। इनका जन्म सन् १८४४ में, १ दिसंबर के दिन, हुआ था। इस समय अवस्था ८१ वर्ष की थी। इनका विवाह सन् १८६३ में सम्राट् सप्तम एडवर्ड (उस समय युवराज) के साथ हुआ था। आप परम सुंदरी थीं। डीन स्टैनले ने इनके रूप पर मुग्ध होकर युवराज को ये शब्द लिखे थे—"I can truly say that she is as charming and beautiful a creature as ever passed through a fairy tale."

आपके रूप पर सारा देश मुग्ध था, और उन्हें अपने लिये गौरव की वस्तु समझता था। आपने विवाह के उप-रांत इँगलैंड की जनता को अपने व्यवहार और आचार-विचार से संतुष्ट करना अपना प्रधान कर्तव्य समझ लिया था। आप एक आदर्श महिला थीं। आपके हृदय में

× × ×

१६. भू-प्रदक्षिणा के शौक़ीन अमेरिकन

अमेरिका धनी देश है। पर वहाँ के धनी हमारे देश के धनी-नामधारी जीवों की तरह अपने धन का दुरुप-योग दुर्व्यसनों में नहीं करते। वे धन कमाना अगर जानते हैं, तो उसका सदुपयोग भी कर सकते हैं। प्रति-वर्ष प्रायः सैकड़ों ही अमेरिकन पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने निकलते हैं। अभी हाल में दि बेलेजनलैंड-नामक रेडस्टार-लाइन का बड़ा जहाज़ ४०० से भी अधिक अमेरिकन यात्रियों को लेकर पृथ्वी-प्रदक्षिणा के लिये दुबारा आने-वाला है। यह जहाज़ २७,००० टन का है, और पृथ्वी-भर में बड़े आकार के जो जहाज़ हैं, उनमें इसका नवाँ नंबर

है। इसके सिवा और कोई इतना बड़ा जहाज़ पृथ्वी-प्रदक्षिणा के लिये आज तक नहीं निकला। गत वर्ष इसने प्रथम यात्रा की थी। इस बार भी गत वर्ष की तरह अमेरिकन एक्सप्रेस-कंपनी के साथ मिलकर रेडस्टार-लाइन ने इस जहाज़ को चलाने की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली है। यह जहाज़ १२ फ़रवरी को डायमंड-हारबर में पहुँचकर १६ तारीख़ तक वहाँ ठहरेगा। इस बीच में यात्री लोग इच्छानुसार कलकत्ता, दार्जिलिंग, लखनऊ, दिल्ली, आगरा, जयपुर आदि दर्शनीय स्थानों की सैर कर सकेंगे। जहाज़ १६ को डायमंड-हारबर से चलकर २० को कोलंबो पहुँचेगा, और २३ को वहाँ से चलकर २६ को बंबई पहुँच जायगा। वहाँ पर लुरकी से दिल्ली, लखनऊ आदि की यात्रा करनेवाले मुसाफ़िर आकर अपने साथियों से मिल जायँगे। बंबई से ४ मार्च को मिसर की ओर जहाज़ चल देगा। वहाँ भूमध्य-सागर के किनारे के बंदरगाह वग़ैरह देखने-योग्य स्थानों की सैर करके ये लोग न्यूयार्क लौट जायँगे। इस भ्रमण के लिये एक टिकट के १५,००० डालर (अमेरिका का सिक्का) देने पड़ेंगे। इसी से यह अनुमान किया जा सकता है कि इसमें धनी लोगों के सिवा औरों के लिये स्थान होना कठिन है। गत वर्ष इस जहाज़ में सवार होकर ४७५ यात्रियों ने यात्रा की थी। यह जहाज़ लंबाई में ६६७ फ़ीट और चौड़ाई में ७८ फ़ीट है। यह गरमियों में अमेरिका से इँगलैंड तक की यात्रा किया करता है। यह जहाज़ सन् १९२३ में आयर्लैंड के बेलफ़ास्ट शहर में बनाया गया था। इंटरनैशनल मर्कैंटाइल मेरीन कंपनी के अमेरिका के हिस्सेदार इसके मालिक हैं, और रेडस्टार-लाइन संचालक। इसको इंटरनैशनल जहाज़ कह सकते हैं। इस जहाज़ का होमपोर्ट एंटवर्प होने पर भी यह अमेरिका से परिचालित होता है, और इसके मस्तूल पर ब्रिटेन का झंडा फहराता है। इस जहाज़ के कप्तान जॉन ग्राहम अमेरिकन हैं। इसके अफ़िसर सब प्रायः अँगरेज़ ही हैं। ख़ानसामा, ख़लासी वग़ैरह अधिकांश बेलजियन अथवा अँगरेज़ ही हैं। जहाज़ में ६०१ माँझी हैं, जिनमें ४० औरतें भी हैं। रसोईघर और भोजनशाला के काम में ३२५ आदमी लगे रहते हैं। इसमें दो सर्जन, एक दाँतों का डॉक्टर, एक व्यायाम-शिक्षक, एक शिक्षा-विषय का डाइरेक्टर, एक जहाज़ के दैनिक पत्र का संपादक, तीन छापनेवाले, एक पादरी तथा और भी बहुत-से कर्मचारी रहेंगे।

× ×

१७. दामस्कस या दमिश्क

समाचार-पत्रों के पाठक जानते हैं, फ्रेंच जेनरल सराइल ने सीरिया में विद्रोही कहकर सीरियनों पर घोर अत्याचार किए हैं। इस निष्ठुर सैनिक ने आज वहाँ हाहाकार मचवा दिया है। अरबों की ऐतिहासिक अति प्राचीन नगरी दमिश्क का विध्वंस करके इस मनुष्य ने घोर बर्बरता का परिचय दिया है, इसमें कोई संदेह नहीं। यह नगरी सौंदर्य और ऐश्वर्य में अद्भुत थी। इसके पत्थर-पत्थर में हर्ष और शोक की गाथाएँ अंकित हैं। यह नगरी अनेक बार विध्वंस के दृश्य इसी प्रकार देख चुकी है। इतिहास में प्रसिद्ध राजा डेविड ने जब दमिश्क पर अधिकार स्थापित किया था, तब इस नगरी की बाहरी चहारदीवारी पर २०,००० सीरियावासियों के सिर काटकर चुन दिए गए थे, और यह कहकर उन्हें निश्चिंत किया गया था कि अब सीरियन लोग सहज में विद्रोही होने का साहस नहीं करेंगे (आज का क़त्लेआम और अग्निकांड भी सराइल ने इसी विश्वास पर कराया है कि इससे विद्रोहियों को काफ़ी शिक्षा मिल जायगी, और वे फ़्रांस के विरुद्ध सिर नहीं उठावेंगे)। ख़ैर, डेविड के बाद ईसा के सन् से सात सौ साल पहले टिगलात पेलेशर ने इस नगरी को अपने अधीन करके वहाँ अपना शासन स्थापित किया। इसके बाद ७०० वर्षों तक दमिश्क में वैसी कोई उल्लेख-योग्य घटना नहीं हुई। अस्तु, इन सात सौ वर्षों के बाद रोम-राज्य की विश्वग्रासी राज्य-लिप्सा ने दमिश्क पर हाथ साफ़ किया। इसलाम की क्रोध की आग ने सुलग-सुलगकर सन् ६३५ ईसवी में रोम की पराधीनता के बंधन को जलाकर ख़ाक कर दिया। उसके बाद इतने बड़े क्रूसेड-वार में भी दमिश्क की स्वतंत्रता नष्ट नहीं हुई। इस समय सेंट पाल बहुत ही विपत्ति में पड़ गए थे। बेचारे फलों की पेटी के भीतर बैठकर सालादीन के क़िले से निकल भागे, और रोम के प्रतिनिधि के डेरे में पहुँचकर अपनी जान बचाई। सन् १२६० में मुग़लों ने सीरियनों के हाथ से दमिश्क छीन लेने के लिये बहुत घोर युद्ध किया, जिसके फल-

स्वरूप इसका कुछ हिस्सा सीरियनों के हाथ से निकल गया। फिर मुसलमानों का सांप्रदायिक विरोध बढ़ने पर, मौक़ा देखकर, फ्रांस ने दमिश्क को अपने राज्य में मिला लिया। किंतु सीरियनों के पहाड़ी क़िले अमराहट से शत्रुओं पर अग्निवर्षा बराबर होती ही रही। सीरियनों के रक्त में स्वाधीनता की बू बसी हुई है। इसके उपरांत तुर्कों की शक्ति का अभ्युत्थान हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के घटना-चक्र को देखकर इब्राहीम पाशा ने फिर दमिश्क पर अधिकार करने की कोशिश की। इसी समय से योरप की सम्मिलित विभिन्न शक्तियाँ श्येन-दृष्टि से एशिया की इस उर्वर भूमि को ताकने लगीं। किसी तरह कोई बहाना मिल जाय, और हम एशिया के इस रत्न को बाँट लें, यही उनका विचार बना रहा। इब्राहीम पाशा का हठ पाश्चात्य शक्तियों को असह्य मालूम हुआ। उनकी आँख टेढ़ी देखकर, गड़बड़ होते समझकर, इब्राहीम पाशा हाथ समेटकर अलग खड़े हो गए। सीरिया का आंतरिक विरोध ज़ोर पकड़ने लगा। कभी मुसलमानी और कभी ईसाई शक्ति के हाथ में आने-जाने से दमिश्क में ईसाई-जातियों की संख्या भी बढ़ गई थी। सन् १८६० ईसवी में, सेंट बेथलियम की जन्म-तिथि के उत्सव को लेकर, ईसाइयों और मुसलमानों में भारी विरोध उठ खड़ा हुआ। प्राय: ३,००० आदमियों के सिर कटकर गली-गली ठुकराए जाने लगे। इस अशांति की आग प्राय: पचास वर्ष तक जलती ही रही। सन् १९१८ ईसवी में, महायुद्ध के समय, जेनरल अलेनबी की सहायता से तुर्कों को भगाकर शांति-रक्षा की ठेकेदार अँगरेज़-जाति ने दमिश्क में शांति की स्थापना की। युद्ध समाप्त होने पर, राष्ट्रसंघ की राय के माफ़िक़, सीरियावासी ईसाइयों की सम्मति के अनुसार, दमिश्क फिर फ्रांस को सौंप दिया गया। तभी से ईसाइयों और मुसलमानों का विरोध शांत नहीं होने आता। फ्रांस के नाक में दम है। इधर फ्रांस को अब्दुलकरीम के साथ उलझा हुआ पाकर सीरिया के ड्रूज़ों ने फिर सिर उठाया। जेनरल सराइल के पहले और भी दो फ्रेंच जेनरल दमिश्क में शांति-स्थापना के लिये कोशिश करके हार गए थे। इन जेनरलों की सहानुभूति वहाँ के ईसाई-अधिवासियों के साथ ही होना बहुत स्वाभाविक था, और यही कारण है कि वहाँ की मुसलमान-प्रजा फ्रांस के विरुद्ध होने लगी। फ्रांस के प्रधान मंत्री हेरियट ने सुयोग्य समझकर जेनरल सराइल को सीरिया में सुव्यवस्था और सुश्रृंखला के साथ शांति स्थापित करने को भेजा था। उन्होंने एकदम गोलाबारी और बम-वर्षा करके सीरियन उपद्रवियों का ख़ातमा ही कर डालना बुद्धिमानी का काम समझा। अपने विचार के अनुसार नृशंस हत्याकांड करके आपने फ्रांस को ख़बर भेज दी कि दमिश्क में विद्रोहियों का विध्वंस करके सीरियनों को एकदम शांत कर दिया। फ्रांस के मंत्री ने सारा हाल सुनकर आपको वहाँ से बुला लिया। इस २०,००० प्राणों को मिट्टी में मिला देनेवाले भयानक-प्रकृति के क्रूर मनुष्य को सिवा परमेश्वर के और कोई दंड देनेवाला नहीं देख पड़ता।

× × ×

१८. बाइबिल का प्रचार

संसार-भर की धर्म-पुस्तकों में सबसे अधिक प्रचार बाइबिल का ही माना जाता है। इँगलैंड की बाइबिल-सोसाइटी ने अब तक दुनिया की ५७२ भाषाओं में उसके अनुवाद प्रकाशित कर दिए हैं। गत वर्ष बाइबिल की १ करोड़ प्रतियाँ भिन्न-भिन्न भाषाओं में छापी और बाँटी गई थीं। मुसलमानों के तीर्थ-स्थान मक्के और मदीने में ईसाई मिशनरी जाने नहीं पाते। भारत की प्राय: सभी भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद हो चुके हैं, और प्राय: सभी प्रांतों और छोटे-से-छोटे स्थानों में बाइबिल का प्रचार किया जा रहा है। बोलशेविक रूस में बाइबिल का भेजना बंद कर दिया गया है, यद्यपि वहाँ के लोग ईसाई ही हैं। गत दस वर्षों में हर डेढ़ महीने एक भाषा में नया अनुवाद करके छापा गया है! इस तत्परता का कुछ ठिकाना है! थाडोकूकी सिर्फ़ आसाम के कई हज़ार पहाड़ियों की भाषा है; पर इसमें भी बाइबिल का अनुवाद करके छाप डाला गया है। माडागास्कर-द्वीप में एक भाषा है, जिसका व्यवहार करनेवाले केवल १६,००० आदमी ही हैं। पर इस भाषा में भी बाइबिल छप गई है। भारत में ईसाई अक्सर हिंदू ही होते हैं, मुसलमान नहीं। छोटा नागपुर, आसाम और दक्षिण में हज़ारों हिंदू धर्म-भ्रष्ट हो रहे हैं। उनमें अपने धर्म-ग्रंथ बाँटनेवाली क्या कोई हिंदू-संस्था भी कभी देख पड़ेगी?

× × ×

१९. सबसे निरापद संदूक

आजकल, ख़ासकर विलायत में, संदूक़ का ताला तोड़ डालनेवाले ऐसे-ऐसे उस्ताद वैज्ञानिक चोर पैदा हो गए हैं कि मज़बूत-से-मज़बूत संदूक़ भी निरापद नहीं कही जा सकती। सिर्फ़ बैंक ऑफ़ इँगलैंड के ख़ज़ाने की संदूक़ ही ऐसी है, जिसमें किसी की कोई चालाकी काम नहीं कर सकती। टेम्स-नदी के नीचे की सतह से भी नीचे भूगर्भ में यह संदूक़ रहती है। पका उस्ताद यद्यपि यह जान ले सकता है कि इस संदूक़ के क़ब्ज़े का जोड़ कहाँ पर है, तथापि उसमें हाथ लगाने का साहस कोई भी नहीं कर सकता। कारण, यदि तनिक भी ग़लती हुई, तो एक ऐसी कल अपना काम करने लगती है, जिसके ज़रिए बात-की-बात में उस जगह दस फ़ीट पानी भर जायगा, और चोर की जान के लाले पड़ जायँगे। कुछ दिन हुए, न्यूयार्क के एक बैंक ने एक कंपनी को एक बहुत मज़बूत संदूक़ तैयार करने का ऑर्डर दिया था। संदूक़ तैयार होने में दो साल लगे। संदूक़ बन जाने पर उसकी जाँच करने के लिये बैंक के डाइरेक्टरों ने पुलीस के बड़े ऑफ़िसर को बुलाकर उससे कहा—अगर कोई ऐसा आदमी हो, जो इस संदूक़ को खोल सके, तो उसे हम १०,०००) इनाम में देंगे। एक टुकड़े तार की सहायता से ९ मिनट से कम समय में ही किसी उस्ताद ने यह बक्स खोलकर रख दिया था। दरवाज़े के किनारे और संदूक़ की बग़ल के बीच में अगर एक इंच के २०० भाग के एक हिस्से के बराबर भी फाँक हो, तो उसके ज़रिए पक्के चोर का संदूक़ को खोल डालना कोई आश्चर्य की बात नहीं समझी जाती। आजकल के उस्ताद चोर कल-क़ब्ज़े वग़ैरह में सिरमग़ज़ी नहीं करते। वे एक तरह का विस्फोटक चूर्ण उतनी-सी फाँक में रखकर ज़रा अग्नि का स्पर्श करा देते हैं। बस, वैसे ही संदूक़ का ताला मय दरवाज़े के उड़ जाता है। शब्द भी बहुत ही मामूली होता है। एक या दो मिनट में सब काम ख़तम हो जाता है, जैसा कि ऊपर अमेरिका के संदूक़ के बारे में लिखा जा चुका है।

× × ×

२०. दाँतों की सफ़ाई

शरीर में अनेक प्रकार के रोग जो होते हैं, उनमें बहुत-से दाँतों की सफ़ाई न होने के कारण ही होते हैं, यह बात सुनने में अवश्य ही आश्चर्यजनक प्रतीत होगी। किंतु अभी कई वर्ष पहले यह तथ्य जाना जा सका है, और इसमें अब संदेह नहीं रहा कि यह सिद्धांत बिलकुल ठीक है। इस बात को शायद बहुत लोग जानते होंगे कि दाँतों के चारों ओर या बीच में विष पैदा होने से शरीर का रक्त उसे सोखता है, और उसी के कारण बाई, संधिवात, स्नायु-दौर्बल्य, चक्षु-रोग, यहाँ तक कि हृदय के रोग तक पैदा हो जाते हैं। डॉक्टरों की राय है कि दाँतों की ठीक तौर से सफ़ाई और देख-रेख रखने से अक्सर कैंसर-रोग भी अच्छा किया जा सकता है। मुँह और दाँत साफ़ रखने से दाँतों में कोई रोग नहीं होता। साल में कम-से-कम दो दफ़े दाँतों के डॉक्टर को दाँत दिखा देने चाहिए। दाँतों के मसूड़े फूल जाना ही पाइरिया-रोग का पूर्व-लक्षण समझा जाता है। डॉक्टरों का कहना है कि बच्चा जब दो साल का हो (और जब उसके दूध के दाँत अधिकांश बाहर निकल आते हैं), तभी से बाक़ायदे उसके दाँतों की परीक्षा कराना शुरू कर देना चाहिए। दूध के दाँत अच्छी हालत में बनाए रहने से दुबारा दाँत निकलने में कोई विशेष कष्ट नहीं होता। ऊपर और नीचे के दाँत समान भाव से अगर रगड़ नहीं खाते रहते, दाँतों के बीच में गढ़े पड़ जाते हैं, और उन गढ़ों में जूठन-भर रहती है, तो संक्रामक-रोगों के कीटाणु इन गढ़ों में रहकर स्वास्थ्य और शक्ति को नष्ट करते हैं। स्कूली लड़कों के दाँतों की जाँच करके देखा गया है, दाँतों का कोई रोग रहने से उनमें मानसिक शक्ति का अभाव होता है। लिखने-पढ़ने में जिन सब बालक-बालिकाओं ने अपेक्षाकृत कम उन्नति की है, उनमें दंत-रोग बहुत अधिक देखे गए हैं। प्रौढ़ मनुष्य अक्सर दाँतों के विष को अपने शरीर में फैलने देकर अपनी जीवनी-शक्ति और मानसिक शक्ति को नष्ट करते हैं। दाँतों का क्षय-रोग धीरे-धीरे दाँतों को नष्ट कर देता है, और पाइरिया-रोग मसूढ़ों के मांस को ग़ायब कर दिया करता है। दाँतों का क्षय-रोग शुरू की हालत में जान नहीं पड़ता। जब जान पड़ता है, तब दाँतों की बहुत कुछ हानि हो चुकती है। दाँतों के ऊपर का आवरण अगर दूध के रंग की सफ़ेदी लिए देख पड़े, तो जान लेना चाहिए, दाँतों का क्षय-रोग शुरू हो गया। इसी तरह दाँतों में गढ़ा गहरा होने की पहचान यह है कि शक्कर, मिठाई,

नमक, फल, खटाई और जलन पैदा करनेवाली कोई चीज़ खाने से दर्द पैदा हो जाता है। जो दाँतों को साफ़ नहीं रखता, उसका दाँतों का डॉक्टर को दिखाना अथवा उसकी राय लेना बिलकुल बेकार है। मसूढ़ों में जब थोड़ा-थोड़ा दर्द हो, मसूढ़े लाल पड़ जायँ, या दबाने से नरम जान पड़ें, तो फ़ौरन् दाँत के डॉक्टर के पास जाना चाहिए। ऐसे समय डॉक्टर की राय लेकर दाँतों की सफ़ाई कर डालना ही श्रेयस्कर है। बहुत लोगों के दाँत माँजने या साफ़ करने के समय दाँतों से ख़ून निकलता है। ख़ून गिरने से बहुत लोग डरते हैं; किंतु डरने की कोई बात नहीं है। एक विशेषज्ञ डॉक्टर की यह राय है कि ख़ून गिरने से पाइरिया-रोग का विष धो जाता है। अच्छी तरह दाँत साफ़ करके और उनके भीतर के जीवाणुओं को नष्ट करके मुँह धोने से दाँतों का क्षय-रोग नष्ट होता है, और पाइरिया-रोग के आक्रमण की आशंका बहुत कम रह जाती है। उँगली या ब्रुश से दाँत माँजने से केवल दाँत ही नहीं साफ़ होते, किंतु मसूढ़ों में ख़ून का दौरा भी बढ़ जाता है। मगर दो दाँतों के बीच का हिस्सा उँगली या ब्रुश से साफ़ नहीं किया जा सकता। वह स्थान रेशम के धागे से घिसकर साफ़ करना चाहिए। दाँतों में जो जूठन भर जाती है, उसे अच्छी तरह बिलकुल साफ़ कर डालना उचित है। जो लोग ब्रुश से काम लेते हैं, उन्हें दो ब्रुश रखने चाहिए। एक दिन एक से काम लेकर उसे धूप में रख देना चाहिए, और दूसरे दिन दूसरे ब्रुश से काम लेना चाहिए। ब्रुश का प्रयोग करनेवालों को उचित है कि दाहनी व बाईं ओर दाँतों को दबाकर ऊपर-नीचे ब्रुश चलाकर सफ़ाई करें; केवल सामने और पीछे के ओर गोलाकार ब्रुश घुमाकर साफ़ करें। इस तरह ख़ूब सफ़ाई होती है। दाँतों के बाहर ही नहीं, भीतर और तालू में भी ब्रुश से घिसना चाहिए। बहुत देर तक ब्रुश चलाकर घिसने से ख़ूब सफ़ाई और ख़ून की चाल तेज़ होती है। दाँतों के जिस अंश से खाने की चीज़ चबाई जाती है, वहाँ अच्छी तरह माँजना चाहिए। वहीं अक्सर अधिक जूठन जम जाती है। दिन-भर में चार दफ़े दाँत साफ़ करने की ज़रूरत है। सबेरे उठकर और दो बार भोजन करने के उपरांत तथा चौथी बार सोते समय दाँतों की सफ़ाई आवश्यक होती है। सोते समय जूठन लगी रहने से वह सड़कर दाँतों की बड़ी हानि करती है। प्रत्येक बार कम-से-कम दो मिनट तक दाँत माँजने चाहिए। हमारी राय में ब्रुश की अपेक्षा देसी ढंग से नरम दतून की कूची से दाँत साफ़ करना बहुत अच्छा है। दाँतों की सफ़ाई को मामूली बात समझकर उसकी उपेक्षा करने से पीछे पछताना पड़ता है।

× × ×

२१. जानने-योग्य बातें

१—स्पेन के अंतर्गत वालाडालिड नाम के स्थान में लोरेंजा नाम की एक स्त्री है, जिसके ६८ वर्ष की अवस्था में एक पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह पुत्र उसकी उन्नीसवीं संतान है। मज़ा यह कि इसके लड़की एक भी नहीं पैदा हुई! विशेषज्ञ लोगों का कहना है कि स्त्रियों के साधारणतः ५० वर्ष की अवस्था के उपरांत लड़का-बाला नहीं होता। ३,००० स्त्रियों में कहीं एक स्त्री के ५० वर्ष की अवस्था के बाद बच्चा होता है। इसके अतिरिक्त एक मर्द का हाल भी सुनिए। आयर्लैंड के टामस बी० आटी नाम के एक व्यक्ति के १०२ वर्ष की अवस्था में एक पुत्र पैदा हुआ है। उस समय इसकी स्त्री की अवस्था कितनी थी, यह नहीं मालूम हुआ।

२—जेनेवा-शहर के निकटवर्ती सलेवा-पर्वत के ऊपर हाल में एक नया मान-मंदिर बन रहा है। इसका बनना गत २६ जुलाई से शुरू हुआ है। इसके बनने में कुल मिलाकर १२ लाख ५० हज़ार पाउंड ख़र्च होने का तख़मीना लगाया गया है। मिस्टर दीना नाम के एक हिंदू और उनकी अमेरिकन स्त्री मेरी वालेस ने यह मान-मंदिर बनवाकर फ्रेंच-सरकार को उपहार में देने का विचार कर रक्खा है। इस मान-मंदिर में एक १०५ इंच के घेरे की दूरबीन रहेगी। पृथ्वी-भर पर और कहीं इतनी बड़ी दूरबीन नहीं है। इसके सिवा और भी अनेक छोटी-मोटी दूरबीनें और मशीनें वहाँ रक्खी रहेंगी। मान-मंदिर जिस जगह पर बनेगा, वह ४,५०० फ़ीट ऊँची है। मिस्टर दीना एक बड़े भारी इंजीनियर हैं, और अपनी ही देख-रेख में इस इमारत को बनवा रहे हैं।

३—मिस्टर फ़्रांक आलाडिन ने एशियाटिक रिव्यू में एक लेख लिखकर यह सूचित किया है कि एक प्रकार के तेल का इंजेक्शन करके कुष्ठ-रोग में अद्भुत सफलता पाई गई है। उन्हें जान पड़ता है कि इस ओषधि के

द्वारा शीघ्र ही पृथ्वी पर से इस दारुण व्याधि का नामो-निशान मिटा दिया जा सकेगा। छः से लेकर नव महीने तक चिकित्सा करने पर देखा जाता है कि रोगी के शरीर से इस व्याधि के सब लक्षण दूर हो गए। शिशु और युवक रोगियों की चिकित्सा अगर आरंभिक अवस्था में इस विधि से की जाय, तो शायद वह कभी निष्फल ही नहीं होती। फ़िलिपाइन द्वीप-पुंज, हवाई द्वीप, जापान, कोरिया, स्याम आदि देशों में हज़ारों कोढ़ी इस चिकित्सा से आराम हो चुके हैं।

४—बर्लिन से यह ख़बर आई है कि प्रुशिया के अर्थ-सचिव ने अपने साथियों का सलाह लेकर क्षति-पूर्ति के तौर पर भूतपूर्व कैसर को इतना धन और संपत्ति देना स्वीकार किया है—नक़द ३ करोड़ मार्क, खेती के लायक़ १ लाख ८० हज़ार एकड़ भूमि, ३ राजमहल और बर्लिन में स्थित कैसर के कईएक घर। प्रुशिया की गवर्नमेंट ने कैसर की निम्न-लिखित संपत्ति ले ली है—सब राजदुर्ग, बर्लिन का अजायबघर, सेकगैलरी की सब शिल्प-कला की सामग्री, म्यूनिच के सब राजकीय मणि-मुक्ता-रत्न आदि, होहेनज़ालर्न का अजायबघर और पुस्तकालय, राजकीय थिएटर और उसमें शामिल ७२ हज़ार एकड़ भूमि तथा जंगलात, बर्लिन के कई राजभवन और राजा की ज़मींदारी का स्वत्व। पूर्वोक्त संपत्ति कैसर के दावा करने पर देना तय पाया है।

५—चाँदी के बर्तन वग़ैरह कुछ दिनों के लिये उठाकर बक्स वग़ैरह में रख दीजिए, और फिर कभी निकालिए, तो वे बदरंग हो जाते हैं। अगर उस बक्स में बर्तनों के बीच कपूर के कुछ टुकड़े रख दीजिए, तो उनकी चमक नष्ट नहीं होती। ऊनी वस्त्रों की तह में कपूर रख देने से उनमें कीड़े सहज में नहीं लगते। क्रोधी और चंचल प्रकृति के लोगों को कपूर का सेवन कराने से उनकी प्रकृति शांत रहती है।

६—अन्य देशों के मुक़ाबले हिंदुस्तान में शिक्षितों की संख्या कितनी कम है, यह नीचे दिखाया जाता है—

देश	सन् १८९१	१९०१	१९११	१९२१
	शिक्षितों की संख्या प्रतिशत			
हॉलैंड	८१	८६	९४·५	१००
नार्वे	८२	८७	९५	१००
जर्मनी	८३	८८	९६	१००
फ़्रांस	८४	८८	९२	९४
अमेरिका	८५	८६	९९	९५·४
इँगलैंड	८१	८६	९७	९३·५
जापान	६५	८०	९५	९७·८
फ़िलीपाइन	२९	४७	५८	७०·५
ब्रिटिश भारत	३	३·८	४·५	५·२
ट्रावनकोर		११	१९	२८·२
बरोदा	४.२	६·६	१३	२१·५
निज़ाम		५·५	९·७	१५·७

७—आसाम में ईसाइयों और मुसलमानों की धार्मिक लूट ज़ोरों से जारी है। देखिए, सन् १९११ में वहाँ ४३ लाख ६२ हज़ार ५७१ हिंदू थे; पर सन् १९२१ में घटकर २५ लाख ४१ हज़ार २६७ ही रह गए! इस समय आसाम में १, ५९, ११९ ब्राह्मण, २,६८,५८२ राजवंशी, ८२,१८९ नमःशूद्र, १,६०,३०८ पाटनी, ४५,९९४ जोगी,१,५९,४०८ शूद्र, १,६२,५७० मेघ, ६७,०९९ गोरा, ११,४०३ कातीरा, १,४९,१९० खेवट, ९३,९२६ अहोम, २,००,४९० काछी, ६३,२८२ कछुरी, १,२९,९२७ कोच, २,२३०,३१ मिकिर, १,०६,७५३ नागा, २,१५, १९३ चुटिया ८८,४२२ नाडियल, १४,३५५ खसी, १,१५, ६४० लुशाई, २४,९३४ जैन-सिख आदि।

८—अमेरिका में सभ्यता और धन की बढ़ती के साथ-साथ आत्महत्या का रवाज भी बढ़ता जा रहा है। गत वर्ष केवल न्यूयार्क में ही १,२०,००० आत्महत्याएँ हुईं। इनमें ८९ करोड़-पती, ४६ धनी औरतें, ८८ महाजन, ३८ विद्यार्थी, ५० शिक्षक, १९ धर्मप्रचारक, ५२ वकील और विचारक, और १०० सौदागर थे। इन मनुष्यों में स्त्रियों की संख्या ४०,००० थी। इन आत्महत्या करनेवालों में सबसे बड़े की आयु १०० वर्ष की और सबसे छोटे की ५ वर्ष की थी! एक मनुष्य ऐसा था, जो १० दफ़े आत्महत्या की चेष्टा कर चुका था। ये आत्महत्याएँ ऐसे साधारण कारणों से होती हैं कि सुनकर आश्चर्य होता है। एक लड़की के बाल कुछ बेडौल थे, बस, उसने आत्महत्या कर ली! एक स्त्री को गल्फ़ नाम का खेल खेलने को नहीं मिला, इसलिये उसने दो बार गाड़ी से कूदकर जान दे देनी चाही।

९—सीमा-प्रांत के डेराइस्माइलख़ाँ, बन्नू, कोहाट और पेशावर में सरहद्दियों के छापा मारने, लूट-मार करने और आदमियों को उठाकर ले जाने की वारदातें अक्सर सुनाई

पड़ा करती हैं। इसका एक लेखा सरकार ने प्रकाशित किया है। उसके अनुसार सन् १९२४-२५ में कुल ५४ वारदातें ऐसी हुईं। इतनी वारदातों की रिपोर्ट हुई। हुईं तो शायद इससे अधिक ही होंगी। सन् १९१९ में २१ लाख से अधिक की रक़म लुटी थी। इस साल १५,५५७) का माल ही लुटेरे ले गए। इस साल कुल २३ आदमी ही लुटेरों के हाथों मारे गए। सन् १९२१-२२ में ८० मरे थे, और उसके पहले साल १९२। इस साल २७ आदमी घायल हुए। पहले साल घायलों की संख्या १५७ थी। सन् १९१९-२० में ४६३ आदमियों को डाकू उठा ले गए थे। गत वर्ष केवल ३० प्रमाणों की ही यह गति हुई।

१०—भारत की खानों के चीफ़ इंस्पेक्टर की रिपोर्ट के अनुसार सन् १९२४ में २,५८,२१७ मनुष्य खानों में काम करते थे, जिनमें १,६७,७१९ भीतर रहते थे, और ९०,४९८ बाहर। इनमें मर्द १,६४,४०२ थे, और स्त्रियों की संख्या २७,४३४ थी। कोयला खानों से २,०२,५६,००० टन निकला। कोयले की खानों में १,८७,१८८ आदमी काम करते थे। कोयले की खानों के नीचे काम करनेवाली औरतों की संख्या अब ३५,००० हो गई है। कोयला काटने की मशीन का प्रयोग भी दिनोंदिन बढ़ता जाता है। इस साल लोहे की खुदाई में ४८ फ़ी सदी, माइका में २८ फ़ी सदी और मेगानीज़ की निकासी में २२ फ़ी सदी बढ़ती हुई है। सन् १९२४ में खानों में २३३ दुर्घटनाएँ हुईं। २८१ जानों पर बीती। ३७ स्त्रियाँ भी इनमें थीं। १८६ दुर्घटनाएँ केवल कोयले की खानों में हुईं।

× × ×

२२. दानवी लीला का प्रतिवाद

भाद्र-मास की माधुरी के विविध विषय में दानवी लीला-नामक एक नोट लिखा गया था। नोट में जिस घटना की सूचना थी, वह अँगरेज़ी के भी बड़े-बड़े प्रतिष्ठित पत्रों में छपी थी, और हिंदी के तो प्रायः सभी समाचार-पत्रों ने उसे प्रकाशित किया था। माधुरी के उस नोट को पढ़कर खाम-गाँव, बरार के रहनेवाले श्रीयुत विहारीलाल-रामगोपालजी राठी ने श्रीवार्की को पत्र भेजकर घटना की सत्यता के संबंध में पूछ-ताछ की। वार्की महोदय ने राठीजी को पत्र के उत्तर में लिख भेजा कि समाचार बिलकुल झूठ और बेबुनियाद है। एक विद्यार्थी ने क़िस्सा गढ़कर द्वेष भाव से वार्कीजी को बदनाम करने के लिये छपवा दिया था। वार्कीजी ने राठीजी को यह भी लिखा है कि माधुरी-संपादक को मेरा पत्र दिखला दो, और उनसे कहो कि घटना के असत्य होने का समाचार माधुरी में प्रकाशित कर दें। राठीजी ने वार्कीजी के उक्त पत्र की नक़ल और अपना पत्र हमारे पास भेजा है। तदनुसार इस नोट द्वारा हम दानवी लीला के असत्य होने की सूचना सहर्ष प्रकाशित करते हैं। हम जानना चाहते हैं कि क्या वार्कीजी को इस घटना के गढ़नेवाले विद्यार्थी का पूरा पता लग गया है, और अगर लग गया है, तो उन्होंने उसको दंड दिलाने का क्या प्रबंध किया? ऐसे उद्दंड विद्यार्थी को दंड दिलाने की अवश्य व्यवस्था होनी चाहिए।

× × ×

२३. कानपुर में एक ही अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन

इधर अर्से से कानपूर का साहित्यिक वातावरण गंदा हो रहा था। कवियों की दो पार्टियाँ बन गई थीं, और दोनों में मनोमालिन्य और स्पर्द्धा के भाव इतने प्रबल हो उठे थे कि एक ही नगर में, एक ही समय, एक ही उद्देश से दो कवि-सम्मेलन—और दोनों ही अखिल-भारतवर्षीय—होने का आयोजन किया जा रहा था। हमारे मित्र और परिचित दोनों ही पार्टियों में सम्मिलित थे। हम नहीं चाहते थे कि यह धड़ेबंदी की गंदी पाबंदी काव्य-क्षेत्र में अपना स्थायी स्थान बना ले। साहित्य-परिषद् के मनोनीत सभापति बाबू जगन्नाथदासजी बी० ए० "रत्नाकर" को इससे बड़ा खेद था, और उन्होंने यहाँ तक कह दिया था कि अगर दोनों दल मिलकर एक ही सम्मेलन नहीं करते, तो मैं सभापति का पद कभी नहीं स्वीकार करूँगा। अस्तु, रत्नाकरजी के साथ पं० दुलारेलाल भार्गव ने कानपूर आकर दोनों पार्टियों के मुखियों को जमा किया, और मेल कराने की चेष्टा की। हर्ष की बात है, भार्गवजी और रत्नाकरजी को अपने उद्योग में पूर्ण सफलता मिली। दोनों दलों के ज़िम्मेदार व्यक्तियों ने परस्पर मिल जाने की प्रतिज्ञा काग़ज़ पर लिखकर उस पर हस्ताक्षर भी कर दिए हैं। हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि यह मेल सदैव स्थायी रहे, और दोनों पार्टियों के कवि-गण मिल-जुलकर इस क्षेत्र में स्मरणीय, आदरणीय कार्य

कर दिखावें। आशा है, अब यह कानपूर का कवि-सम्मेलन अभूतपूर्व सफलता से संपन्न होगा। तथास्तु। इस सम्मेलन में भारत की भिन्न भिन्न भाषाओं के सभी प्रसिद्ध कवियों को निमंत्रण दिया गया है, और कांग्रेस का समय होने के कारण अधिकांश के उपस्थित होने की भी पूरी आशा है। कवींद्र रवींद्रनाथ ठाकुर को सभापति-पद स्वीकार करने के लिये लिखा गया था। परंतु अस्वस्थता के कारण आपने उक्त पद स्वीकार करने में असमर्थता प्रकट की है। साथ ही सफलता का आशीर्वाद और सहानुभूति का संदेश भेज दिया है। कवियों को इस कवि-सम्मेलन के उत्सव में यथेष्ट संख्या में उपस्थित होकर प्रत्येक प्रांत के सहृदय कवियों के दर्शन और परिचय का सौभाग्य अवश्य प्राप्त करना चाहिए। ऐसे अवसर सर्वदा नहीं प्राप्त होते रहते।

× × ×

२४. पं० राधाचरणजी गोस्वामी का गोलोक-वास

हिंदी-जगत् में यह समाचार बड़े दुःख के साथ सुना जायगा कि भारतेंदु के समकालीन और अस्तंगत भारतेंदु मासिक पत्र के संपादक, षोडश हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष, वयोवृद्ध पं० राधाचरणजी गोस्वामी अब इस संसार में नहीं रहे। अभी वृंदावन के सम्मेलन में जिन लोगों ने आपके दर्शन किए थे, आपके युवकोचित परिश्रम और उत्साह को जिन्होंने देखा था, उन्होंने स्वप्न में भी यह न सोचा होगा कि आप इतनी जल्दी हिंदी-संसार को सूना करके सुरधाम की यात्रा कर देंगे। गोस्वामीजी की मृत्यु गत १२ दिसंबर, रविवार को हुई।

आप बड़े ही मिलनसार, विद्याव्यसनी, निरभिमान, सरल और सज्जन थे। यद्यपि इधर आप अनेक आपत्तियों से हतोत्साह होकर लेखनी को विश्राम दे चुके थे, तथापि समय-समय पर अब भी कुछ-न-कुछ लिख ही डालते थे। अपनी युवावस्था में तो आपने हिंदी की यथेष्ट सेवा की थी। आपकी कृपा माधुरी पर शुरू से ही रही, और आप हमें केवल शाब्दिक उत्साह ही नहीं देते रहे, बल्कि समय समय पर छोटे-मोटे नोट आदि लिखकर भेजने की कृपा भी करते रहे। वृंदावन के साहित्य-सम्मेलन की सफलता



स्वर्गीय पं० राधाचरणजी गोस्वामी

का श्रेय बहुत कुछ आप ही को प्राप्त हुआ। आप वृद्ध होकर भी युवकों का-सा उत्साह रखते थे। आपका पद्यबद्ध अभिभाषण ही आपकी अंतिम रचना है।

खेद है कि हिंदी-जगत् ने पं० बालकृष्णजी भट्ट की तरह आपको भी साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनाने में देर करके अपनी असावधानता का परिचय दिया। आपका उत्तराधिकारी ११ वर्ष का एक पौत्र है। ईश्वर उसे अपने पितामह के पदांक का अनुसरण करने की शक्ति देकर चिरजीवी करें। हमें गोस्वामीजी की इस अप्रत्याशित मृत्यु का हार्दिक दुःख है। हम गोस्वामीजी के शोक-तप्त परिवार के प्रति समवेदना प्रकट करते हुए गोस्वामीजी की आत्मा की शांति के लिये गोलोकविहारी कृष्णचंद्र के चरणों में प्रार्थना करते हैं।

॥ श्रीः ॥

माधुरी

विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र

मासिक पत्रिका

वर्ष ४, खंड २

माघ-आषाढ़, ३०२ तुलसी-संवत् (१९८२-८३ वि०)

जनवरी-जुलाई, १९२६ ई०

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

श्रीरूपनारायण पांडेय

प्रकाशक

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

वार्षिक मूल्य ७॥)]   [छमाही मूल्य ४)

मुद्रक तथा प्रकाशक—
केसरीदास सेठ, सुपरिंटेंडेंट
नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

लेख-सूची

१—पद्य

२—गद्य

चित्र-सूची

क—रंगीन



खैरीगढ़ाधीश्वरी, भारत-धर्म-लक्ष्मी
महारानी सुरथकुँवरिदेवी ओ० बी० ई०



[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका।]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ४ खंड २ } माघ-शुक्ल ७, ३०२ तुलसी-संवत् (१९८२ वि०)— २० जनवरी, १९२६ ई० { संख्या १ पूर्ण संख्या ४३

नम्र निवेदन

(चतुर्दशपदी)

भाइयो, भव्य भाव भर लो :
कर में कर वर कीर्ति-वधू-कर, वर बनकर वर लो।
फूट फूट-फल फटने दो,
घन घमंड-घन घटने दो,
छल-छिद्रों को छटने दो,
कलह-कालिमा कटने दो,
ऐक्य-सूत्र ऐंठ, स्नेह-मंत्र रट, झट हृद-पट खोलो;
बंधु-भाव की बेलि बढ़ाओ, वर वाणी बोलो।
हसद हृदय से हटने दो
नति-निर्वास निबटने दो,
पुनः प्रतीति पलटने दो,
सौख्य शांति से सटने दो,
धरा, धाम, धन धरा रहेगा, निधन-ध्यान धर लो;
जीर्ण आर्त्ति-जननी-जागृति में जीवन, जी, भर दो।

दुलारेलाल भार्गव

अपरिचित

(चतुर्दशपदी)

निर्जन गोधूली-प्रांतर में खोले पर्ण-कुटी के द्वार ;
दीप जलाए बैठे थे तुम, किए प्रतीक्षा पर अधिकार।
बटपारों से ठगे हुए की, ठुकराए की लाखों से ;
किसी पथिक की राह देखते, अलस अकंपित आँखों से।
पलकें पड़ी यवनिका-सी थीं, मन के नीरव अभिनय में ;
इधर वेदना, श्रम-सीकर, आँसू की बूँदें परिचय में।
फिर भी परिचय प्रश्न ! किसे ? मैं विकल विश्व में कैसे हूँ ;
चिनगारी श्वासों में उड़तीं : रो लूँ, ठहरो, दम ले लूँ।
निर्जन कर दो क्षण भर कोने में—उस शीतल कोने में ;
यह विश्राम समझ जाएगा सजग व्यथा में, सोने में।
'एक अपरिचित हूँ', क्या इतना परिचय है पर्याप्त नहीं ?
निष्प्रभ नक्षत्रों का परिचय गोधूली को प्राप्त नहीं।
काली बला, नील गगन, तम, छिन्न वल्लकी, मूलाधार :
क्षपा-सदृश छिप जाऊँगा, फिर परिचय होगा आत्म-द्वार।

जयशंकर "प्रसाद"

भाषण *

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता,
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ;
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता,
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ।

कवित्त

आवति गिरा है 'रतनाकर'-निवाजन को
आनँद-तरंग अंग थहरात आवै है ;
हिय-तमहाई सुभसरद-जुन्हाई-सम
गहब गुराई गात गहराति आवै है ।
बर बरदाननि के, बिबिध बिधाननि के
दान की उमंग-भुजा फहराति आवै है ;
लहराति आवै दृग-कोरनि कृपा की कानि
मंद मुसकानि छटा छहराति आवै है ।

साहित्य-सेवी सज्जनो तथा देवियो !



आप लोगों ने जो हमें इस बृहत् तथा महत्त्व-पूर्ण सम्मेलन का सभापति निर्वाचित किया है, यह आपकी अकारण कृपा-मात्र है । जहाँ भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न भाषाओं के कविकोविद उपस्थित हैं, वहाँ हमारा इस आसन को ग्रहण करना सूर्य के सामने दीपक का टिमटिमाना और अपना उपहास कराना-मात्र है । पर यह समझकर कि सूर्य-पूजन में भी दीपक काम में लाया जाता है, और यह भी विचारकर कि आती हुई प्रतिष्ठा-लक्ष्मी से मुख मोड़ना उचित नहीं, हम आप लोगों की आज्ञा का सहर्ष पालन करते और इस सम्मान-प्रदान के निमित्त आपको हार्दिक धन्यवाद देते हैं ।

इस महान् सम्मेलन का, जिसमें आप लोगों ने दूर-दूर से पधारने का कष्ट उठाया है, उद्देश्य यह है, और हमारी समझ में होना भी चाहिए कि कविता की उन्नति एक सशृंखल-रूप में की जाय, और इसमें जो मनमानेपन की वृद्धि हो रही है, उसे रोककर वह सुष्ठु तथा मनोहारिणी बनाई जाय । इसी उद्देश्य-साधन के निमित्त भारतवर्ष में पहले भी कवियों का सम्मेलन महानुभाव राजा, बादशाह इत्यादि करते थे । मुग़ल-सम्राट् अकबर के समय में एक बृहत् कवि-सम्मेलन दिल्ली में हुआ था । उसका विशेष वृत्तांत तो ज्ञात नहीं, पर इतना सुना गया है कि उसमें एक समस्या 'करौ मिलि आस अकब्बर की' पूर्ति के निमित्त दी गई थी । इस समस्या पर अनेक कवियों ने, अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार, पूर्तियाँ पढ़ी थीं । उन कवियों में एक कवि श्रीपतिजी भी थे । उन्होंने बड़ी निर्भीकता तथा निःस्पृहता से उसकी पूर्ति करके अपनी दृढ़ ईश्वराश्रयता का परिचय दिया था—

अब कै सुलतान...समान हैं, बाँधत पाग अटब्बर की ;
तजि एक को दूजे भजै जो कोऊ, तब जीभ कटै उहि लब्बर की ।
सरनागत 'श्रीपति' श्रीपति की, नहिं त्रास जरा कोउ जब्बर की ;
जिनकै नहिं आस कछू हरि की, सु करौ मिलि आस अकब्बर की ।

उसके पश्चात् एक कवि-सम्मेलन आगरे में, सं० १७९४ के पूर्व, हुआ । उसमें भी अनेक प्रदेशों के कविगण उपस्थित हुए, जिनमें सूरति मिश्र प्रधान थे । उनके 'सरस रस'-नामक ग्रंथ से उसका यह वृत्तांत विदित होता है—

कारन कहत जु ग्रंथ कौ, सो सुनियै चित लाइ ;
जिहिं बिधि भेद नबीन ये, कहे सुमति उपजाइ ।
फुटकर सुने कबित्त बहु, धुरपद कबिन प्रबीन ;
जिहिं मधि नाइक-नाइका-भेद कहे सु नबीन ।
जो नाइक अरु नाइका कहे सुग्रथनि माहिं ;
हेरि रहे तह भेद नव, परे दृष्टि कहुं नाहिं ।
एक समय मधि आगरे, कबि-समाज को जोग ;
मिल्यौ आइ सुखदाइ हिय, जिनकी कबिता जोग ।

* यह भाषण रत्नाकरजी ने कानपुर में, प्रथम भारतीय हिंदी-कवि-सम्मेलन के प्रधान सभापति के पद से, दिया था ।—माधुरी-संपादक

तब सब ही मिलि मत्र यह, कियौ कबिनि बहु जानि;
रचौं सु ग्रंथ नबीन इक, नए भेद-रस ठानि।
जिहि बिधि कबि मिलिकै कही, जथाजोग लहि रीति;
उनहीं मे सब सर्सबे, कहे भेद जुत प्रीति।
अपनी मति-परमान सौं, कहे भेद बिस्तारि;
लखो सु यामैं न्यूनता, सो कबि लेहु सुधारि।
कबि अनेक मति मे हुते, पै मुख कबि परवीन;
जाकी सम्मति सौं भयौ, पूरन ग्रंथ नबीन।

× × ×

सत्रह से चौरानबे, सबत सुभ बैसाख;
भयौ ग्रंथ पूरन सु यह, ससि पुष्य आठि सित पाख।

इन दोहो से विदित होता है कि विक्रम की १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे कविता की दशा कुछ अव्यवस्थित तथा पूर्व परिपाटी से विचलित हो गई थी। उसी को सुधारने के निमित्त उक्त सम्मेलन हुआ था, जिसके अनुरोध से सूरति मिश्र ने, कई मुख्य-मुख्य कवियो की सहायता से, प्राचीन तथा नवीन भेद-भेदांतरों को नियत एवं शृंखला-बद्ध करने के निमित्त 'सरस रस'-नामक ग्रंथ का निर्माण किया।

कविता के सबंध मे इस समय भी कुछ वैसी ही आवश्यकताएँ लोगो को प्रतीत हो रही है, अतः उन्हे पूर्ण करने के साधनो पर विचार करके, उसकी उन्नति करने के अभिप्राय से, यह सम्मेलन किया गया है। कविता के सुधार तथा उन्नति के साधनो पर विचार करने के पूर्व इस बात को निर्द्धारित कर लेना चाहिए कि कविता वस्तु क्या है, और उसका उद्देश्य क्या है?

यह बात तो सर्वमान्य तथा युक्ति-युक्त ही है कि काव्य एक प्रकार का वाक्य है, अतः इस विषय मे विशेष कहना अनावश्यक है। अब अन्य वाक्य तथा काव्य-वाक्य मे क्या भेद है, यह बतलाया जाता है। काव्यातिरिक्त वाक्य का उद्देश्य श्रोता को किसी वस्तु, घटना अथवा वृत्तांत इत्यादि का बोध करा देना-मात्र होता है। उस वाक्य से यदि श्रोता को किसी प्रकार का हर्ष अथवा विषाद होता है, तो वह वर्ण्य विषय के उसे प्रिय अथवा अप्रिय होने के कारण ही। यह हर्ष अथवा विषाद लौकिक, अर्थात् श्रोता अथवा उसके पक्ष के लोगों को लौकिक तथा व्यक्तिगत इष्टानिष्ट-संबंध के कारण, होता है। जैसे "रावण मारा गया", इस वाक्य से राम के पक्षवालों को हर्ष तथा मंदोदरी इत्यादि को विषाद होना संभव है। काव्य-वाक्य का उद्देश्य वर्णन-वैदग्ध्य तथा वाक्पटुता के द्वारा श्रोता के हृदय मे एक विशेष प्रकार का आनंदोत्पादन होना है। वह आनंद वर्णित विषय-जनित हर्ष-विषाद से कुछ पृथक् ही है। उसको साहित्यकारो ने अलौकिक माना है, अर्थात् वह वर्णित विषय से श्रोता के इष्टानिष्ट-संबंध के कारण नहीं होता। वह सहृदय श्रोताओ के हृदय मे कवि के द्वारा किसी विषय को एक विशेष प्रकार से वर्णन किए जाने के कारण उत्पन्न होता है।

इसी अलौकिक आह्लाद-जनक ज्ञानगोचरता को श्रीपंडितराज जगन्नाथजी ने रमणीयता कहा है। अतः हमारी समझ मे काव्य का लक्षण रमणीय वाक्य कहना ही समीचीन है। रमणीयता लाने के अनेक साधन हो सकते है। उनमे से साहित्यकारों ने विशेष-विशेष कारणो को लक्षित करके अपने-अपने ग्रंथो मे बतलाया है। किसी ने रीति, किसी ने रस, किसी ने अलंकार, किसी ने वक्रोक्ति तथा किसी ने ध्वनि को काव्यत्व का मुख्य साधन माना है। हमारी समझ मे ये सब अलग-अलग अथवा मिल-जुलकर रमणीयता-उत्पादन की सामग्री-मात्र है, अतः इनका कथन काव्य के लक्षण में अप्रयोजनीय है। काव्य का मुख्य उद्देश्य जो रमणीयता है, उसी का कथन उसके लक्षण युक्त है।

कविजन अपनी-अपनी रचनाओं में अपनी-अपनी शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास के अनुसार, अनेकानेक साधनों द्वारा, रमणीयता लाने का प्रयत्न करते हैं, और उक्त साधनों से जो जितनी ही उत्तमता-पूर्वक का‍म लेने में समर्थ होता है, उसकी कविता उतनी ही मनोहारिणी तथा लोक-प्रिय होती है। रमणीयता-सामग्रियों की कोई सम्यक् सूची नहीं बनाई जा सकती, और न निश्चय-पूर्वक यही बतलाया जा सकता है कि निर्दिष्ट सामग्रियों में से किस-किसके कितने-कितने परिमाण में मिलने से किस-किस श्रेणी की रमणीयता काव्य में आ सकती है। जिस प्रकार रमणीयता एक लोकोत्तर पदार्थ है, उसी प्रकार वह अनिर्वचनीय भी है। किसी सुंदर मनुष्य के विषय में यह निर्णय करना कि उसकी सुंदरता किन-किन अवयवों की विशेषता पर निर्भर है, बड़ा ही दुस्तर कार्य है। सौंदर्य किसी अवयव-विशेष की छुटाई, बड़ाई, वर्ण, आकृति इत्यादि पर निर्भर नहीं होता। वह सब अवयवों के एक विशेष प्रकार के मेल-मिलाप का प्रभाव है। इसी प्रकार काव्य-रमणीयता के विषय में भी समझना चाहिए।

साहित्य-दर्पण में काव्य-फल-स्तुति का जो यह श्लोक लिखा है—

> चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ;
> काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते।

उसका भी भाव यही है कि काव्य में जो विषय कहा जाता है, वह कठिन तथा नीरस होने पर भी, काव्यानंद से मिलकर, हृदय के लिये विशेष प्रभावशाली तथा ग्राह्य हो जाता है। इस भाव से भी काव्य की मुख्य अवच्छेदकता उसकी आनंदोत्पादकता ही सिद्ध होती है।

काव्य की आनंदोत्पादकता उसके सब देशों तथा समाजों में आदर पाने से भी प्रमाणित होती है, क्योंकि किसी विषय का प्रचार उसकी रोचकता तथा उपयोग के अनुसार ही होता है। भारतवर्ष में तो कविता-प्रेम बहुत प्राचीन काल से चला आता है, यहाँ तक कि वेदों में भी, जो अपौरुषेय तथा अनादि माने जाते हैं, कविता को प्रतिष्ठा प्रदान की गई है, और मानुषी कृतियों में प्राचीन-से-प्राचीन ग्रंथ कविता ही के रूप में प्राप्त होते हैं, जैसे रामायण, महाभारत, पुराण इत्यादि। संस्कृत तथा प्राकृत के पूर्वापर-संबंध के विषय में यद्यपि विद्वानों में मतभेद है, तथापि यह बात निश्चित है कि प्राकृत-साहित्य में भी उत्तमोत्तम ग्रंथ कविता-रूप ही में हैं, जैसे सेतुबंध, गौड़बहो इत्यादि। प्राकृत के पश्चात् जब अपभ्रंश का समय आया, तो उसमें भी ग्रंथ विशेषतः कविता ही में बनाए गए, जैसे धनपाल-कृत भविसयत्तकहा इत्यादि। फिर जब साहित्यिक भाषा ने अपभ्रंश से भी पलटा खाकर षड्भाषा का रूप धारण किया, तो उसमें भी काव्यात्मक रचनाएँ ही अधिकता से हुईं। उक्त भाषा का 'पृथ्वीराजरासौ'-नामक जो ग्रंथ प्राप्य है, वह काव्य ही है। चंद के पश्चात् का कोई ग्रंथ षड्भाषा का नहीं मिलता। पर एशियाटिक सोसाइटी के कार्यक्रम-वर्णन के प्रथम भाग के १४३वें पृष्ठ पर चंद के किसी पौत्र द्वारा एक 'कार्य'-नामक हम्मीर-विषयक ग्रंथ का रचा जाना बतलाया गया है। उसके कुछ छंद 'प्राकृत-पिंगलसूत्र'-ग्रंथ में, कई छंदों के उदाहरणों में, दिए हुए हैं। उनमें से दो छंद निदर्शनार्थ नीचे दिए जाते हैं—

> पअभरदरमरुधरणितरणिरह धुल्लिअ झंपिअ ;
> कमठ-पिट्ठटरपरिथ मेरुमंदरसिर कंपिअ।

काहे चलिअ हम्मीरबीरगअजुहसजुत्ते ;
कियउ कट्ठ हाकंद मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते ।
पिधउ दिढ़सरणाह बाह उप्पइ पक्खर दइ ;
बंधु समदि रण धसउ साहि हम्मीर-बअण लइ ।
उड्डुउ णहपह भमउ खग्ग रिपु-सीसहि भलउ ;
पक्खर पक्खर ठल्लि-पेल्लि पब्बअ अप्फालउ ।
हम्मीर-कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल महँ मइ जलउ ;
सुलितानसीस करबाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलउ ।

ज्ञात होता है कि अपभ्रंश के प्रचार के समय तक, अर्थात् विक्रम की १०वीं शताब्दी के आसपास तक, उत्तरीय भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों की साहित्यिक भाषाओं में विशेष अंतर नहीं था। हेमचंद्रीय अपभ्रंश-भाषा ही कुछ सामान्य प्रादेशिक हेरफेर के साथ काम में आती थी, जैसा बँगला के 'बौद्धगान' तथा धनपाल के 'भविसयत्तकहा' की भाषाओं के मिलान से प्रतीत होता है। पर अपभ्रंश के पश्चात् जो साहित्यिक भाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित हुई, वे भिन्न-भिन्न रूपों की हो गईं। आदि में तो ये भिन्नताएँ सामान्य ही रही होंगी, पर शनैः-शनैः उनके रूपों में अधिकाधिक अंतर पड़ता गया, यहाँ तक कि अब भिन्न-भिन्न प्रदेशों की साहित्यिक भाषाएँ पृथक् पृथक् हो गई हैं, जैसे उड़िया, बँगला, मैथिली, व्रजभाषा, गुजराती, मराठी इत्यादि। इन सभी भाषाओं में कविता का आदर होता आया है।

कविता की उपयोगिता, आनंद के अतिरिक्त, उसके द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक सदुपदेशों के, सुख तथा प्रभाव-पूर्वक, देने तथा पाने में है, जैसा पूर्व-कथित साहित्य-दर्पण के श्लोक में भी कहा है। मानुषी चित्तवृत्ति पर कविता में कही हुई बातों का प्रभाव कुछ स्वभावतः ही बड़ा प्रबल पड़ता है। भोज के—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः;
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते !
नैकेनापि समं गता वसुमती मन्ये त्वया यास्यति ?

इस श्लोक का जो प्रभाव महाराज मुंज पर पड़ा, वह संस्कृत-साहित्य में सुविख्यात है, और बिहारी के—

नहिं परागु, नहिं मधुरमधु, नहिं बिकासु इहिं काल ;
अली, कली ही सौं बँध्यौ, आगैं कौन हवाल ।

इस दोहे के वृत्तांत से व्रजभाषा-प्रेमी भली भाँति परिचित हैं। ऐसे-ऐसे कितने ही उदाहरण प्रत्येक भाषा की कविता में विद्यमान हैं।

इस भाषण में, अति प्रसंग होने तथा विषय के बहुत बढ़ जाने के भय से, सब भाषाओं के विषय में पृथक्-पृथक् कुछ नहीं कहा जा सकता। संक्षेप में इतना ही वक्तव्य है कि इन सबमें आरंभ ही से कविता का सम्मान होता आया है। यह प्रथम अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन युक्तप्रदेश के एक प्रधान तथा मध्यस्थ नगर, अर्थात् कानपुर, में हो रहा है, जहाँ की साहित्यिक भाषा इस समय खड़ी बोली है, और पहले व्रजभाषा थी; और जहाँ इन्हीं दोनों भाषाओं के कविजन भी विशेषतः विद्यमान हैं। अतः हम व्रजभाषा तथा खड़ी बोली के संबंध में अपने विचार कुछ विशेष रूप से निवेदन करते हैं।

षड्भाषा को यद्यपि वह विस्तृत व्याप्ति तो नहीं प्राप्त हुई, जो उसकी पूर्ववर्तिनी राष्ट्रीय अपभ्रंश को मिली थी, तथापि वह उत्तरीय भारत के एक बहुत बड़े भाग में बोली जाती थी। शौरसेन-प्रदेश-भर में तो वह सामान्यतः साहित्यिक अथवा काव्य की भाषा हो ही गई थी। पर मगध तथा पंजाब के भी विस्तृत भागों तक उसका प्रचार था, और दूर-दूर के लोगों की कविता में भी वह अपना प्रभाव कुछ-न-कुछ झलका देती थी, जैसे श्रीयुत विद्यापति ठाकुर तथा श्रीगुरुनानकजी के पदों में। षड्भाषा का

प्रचार-क्षेत्र इतना विस्तृत था कि उसका भिन्न-भिन्न प्रांतों में एक ही रूप धारण किए रहना कठिन हो गया। अतः उसके रचयिता जिस प्रांत के निवासी होते थे, उस प्रांत की भाषाओं तथा बोलियों का रंग-ढग उनकी रचना में अधिक झलक जाता था। शौरसेन-प्रदेश मे इस प्रकार की रचनाएँ बहुत अधिकता से हुईं। अतः षड्भाषा ने शनैः-शनैः साहित्यिक शौरसेनी का रूप धारण कर लिया। उक्त भाषा मे शौरसेन-प्रदेश की बोलियो के शब्द तथा रूप अधिकता से बढ़ते जाते थे; पर कितने ही शब्द अन्य प्रदेशों की बोलियो के भी मिश्रित हो गए थे।

शौरसेन-प्रदेश के भिन्न-भिन्न प्रांतो की बोलियो के प्राचीन रूप तो ज्ञात नहीं; पर उनके लिखने-पढ़ने की भाषाओं के पुराने रूप तत्तत्प्रांतीय उपलब्ध ग्रंथो से विदित हो सकते है, जैसे सूरसागर, रामायण, पद्मावत इत्यादि से। कुछ काल के अनंतर शौरसेन-प्रांतो मे से भी व्रज-प्रांत मे कविता का प्रचार अधिक हुआ। अतः शौरसेनी मे व्रजप्रांतीय शब्दो तथा रूपो का प्रयोग बहुत अधिकता से होने लगा, यद्यपि अन्य प्रांतीय शब्द तथा रूप भी उसमे कुछ-कुछ मिश्रित रहे। अब यही साहित्यिक भाषा, जिसको साहित्यिक व्रजभाषा कहना चाहिए, मुख्य साहित्यिक शौरसेनी-भाषा हो गई, और उसका संबंध अन्य प्रांतीय साहित्यिक भाषाओं से, जो तत्तत्प्रांतों मे बन गई थी, वही हो गया, जो राष्ट्रीय प्राकृत का शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची से था। इसी प्रकार मगध-प्रांत मे बँगला, और महाराष्ट्र तथा गुजरात-प्रांतो में मराठी (महाराष्ट्री) तथा गुजराती भाषाओं ने प्रधानता प्राप्त की।

सूरदासजी का समय कविता के लिये कुछ ऐसा अनुकूल था कि उस समय केवल व्रजभाषा ही में नही, प्रत्युत फ़ारसी, अँगरेज़ी इत्यादि भाषाओं मे भी अच्छे-अच्छे कवि हुए। उस समय से लेकर कविवर पद्माकरजी के समय तक, अर्थात् विक्रम की १६वीं शताब्दी के मध्य-भाग से १९वीं शताब्दी के अंतिम भाग तक, कविता की चर्चा उत्तरीय भारत के शौरसेन-प्रदेश मे बड़ी धूमधाम से रही। और सूरदास, नंददास, तुलसीदास, केशवदास, बिहारी, सेनापति, मतिराम, भूषण, देव, घनानंद, पद्माकर इत्यादि परम प्रसिद्ध कवि हुए। पर पद्माकरजी के पश्चात् उसका ह्रास होने लगा, और शनैः-शनैः २०वीं शताब्दी के मध्य-भाग तक उसमे गिनती के गणना के योग्य कवि रह गए। इनमें भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी सर्वश्रेष्ठ माने जाते है।

जिस समय षडभाषा से शौरसेनी साहित्यिक भाषा का, तथा उससे व्रजभाषा का विकास हो रहा था, उसी समय शौरसेनी तथा पंजाबी भाषाओं के मेल से एक अन्य भाषा भी बन रही थी। यह वह भाषा थी, जिसे मुसलमान बादशाहो के दरबारी, कर्मचारी, सैनिक इत्यादि आपस की बोलचाल के काम मे लाते थे। मुसलमानो के, भारतवर्ष मे आने के समय, पहले पंजाब ही मे कुछ दिन व्यतीत होते थे, अतः उनको शौरसेन-प्रदेश मे प्रविष्ट होने के पूर्व ही पंजाबी के कारको तथा क्रियाओं इत्यादि के रूपो का कुछ अभ्यास पड़ जाता था, जिसके कारण, उनके शौरसेन-प्रदेश मे रहने पर, उनकी भाषा पंजाबी तथा शौरसेनी भाषाओं का एक मिश्रण हो जाती थी। इसके अतिरिक्त उनकी बोलचाल में उनकी निज भाषाओं—फ़ारसी, अरबी आदि—के शब्द भी मिले रहते थे। शनैः-शनैः वह भाषा लिखने-पढ़ने के काम में भी आने लगी, और

उसमें कविता भी होने लगी। उक्त भाषा रेखता तथा उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हुई, और उसके लिखने-पढ़ने के लिये फारसी की वर्णमाला काम में आई। उस भाषा मे पहले विशेषतः मुसलमान ही कविता करते थे, जिनको फारसी-भाषा के प्रचलित छंदों ही का अधिक अभ्यास था। अतः उक्त भाषा की काव्य-रचना विशेषतः फ़ारसी-छंदों ही मे होती थी, और शेर, रुबाई, ग़ज़ल इत्यादि कहलाती थी। उक्त भाषा के प्रथम कवि अमीर खुसरो माने जाते है। कबीरदास ने भी उस भाषा मे कुछ कविता की है। उक्त भाषा की कविता में शनैः-शनैः बहुत उन्नति होती गई, और वह अति सशृंखल तथा परिमार्जित भाषा बन गई। उसके कवियों मे वली, फुगाँ, सौदा, दर्द, इंशा, मसहफ़ी, हसन, जौक़, ग़ालिब, आतिश, नासिख, वज़ीर, अमीर, अनीस, दबीर, नसीम आदि बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं। यद्यपि २०वीं शताब्दी के मध्य-भाग के पश्चात् उर्दू-शायरी का भी ह्रास होने लगा; पर उतना नहीं, जितना व्रजभाषा-कविता का। उर्दू मे, उस समय के पश्चात् भी, अच्छे-अच्छे शायर हुए, और हैं; जैसे दाग़, हाली, अकबर, चकबस्त इत्यादि।

जो भाषा आजकल खड़ी बोली के नाम से कही जाती है, वह हमारी समझ मे उर्दू ही का एक रूपांतर है। आरंभ मे तो वह उर्दू-भाषा में से फ़ारसी तथा अरबी के शब्द निकालकर, और उनके स्थानों पर स्वदेशी भाषा के प्रचलित शब्द रखकर बनाई गई; और फिर शनैः-शनैः उसमे संस्कृत के शब्द मिलाए जाने लगे, यहाँ तक कि अनेक शब्दों के देशी रूपों के उपस्थित रहते हुए भी उसमें उनके संस्कृत-रूप प्रयुक्त किए जाने लगे; जैसे 'माथा' शब्द के स्थान पर 'मस्तक', 'हाथ' के स्थान पर 'हस्त', 'पोथी' के स्थान पर 'पुस्तक' इत्यादि। कारकों तथा क्रियाओं इत्यादि के रूप खड़ी बोली मे भी वही रक्खे गए, जो उर्दू मे थे; और व्रजभाषा के ऐसे शब्द, जो उर्दू मे त्याग दिए गए थे, प्रायः खड़ी बोली मे भी नहीं लिए गए, जैसे नैक, नीठि इत्यादि। यद्यपि ऐसी भाषा मे कुछ गद्य-पद्य-रचना पहले भी होती थी, जैसा सीतल इत्यादि के छंदों तथा इंशाअल्लाखाँ की ठेठ बोली की कहानियों से विदित होता है, तथापि हिंदी के विद्वान् लल्लूजीलाल गुजराती ही को उसका जन्मदाता मानते हैं। उसका विशेष प्रचार तथा सुधार भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी के समय से होने लगा, और इस समय तो वह बहुत सुंदर तथा साधु भाषा कहलाने की अधिकारिणी बन गई है।

व्रजभाषा-कविता का ह्रास होने पर, और खड़ी बोली में कविता की जाने की आवश्यकता समझकर कुछ लोगों ने उसमे भी अपनी प्रतिभा का परिचय देना आरंभ किया। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी ने भी कुछ छंद उक्त भाषा मे लावनी के नाम से लिखे थे। उनके ऐसे छंद 'फूलों का गुच्छा' तथा 'विनय-प्रेम-पचासा'-नामक ग्रंथों मे पाए जाते है। आरंभिक दशा मे, ऐसी रचनाओं में, उर्दू की झलक विशेष रहती थी; पर ज्यों-ज्यों खड़ी बोली के गद्य मे संस्कृत-शब्दों का अधिकाधिक समावेश होने लगा, त्यों-त्यों उसके पद्य का भी रंग बदलने लगा। संप्रति उसके गद्य तथा पद्य मे बहुत ही न्यून भाषांतर दिखाई देता है। पर खेद का विषय है कि खड़ी बोली मे कविता करने के नवीन उत्साहियों ने व्रजभाषा मे कविता करना ही नहीं, प्रत्युत उसके ग्रंथों का पठन-पाठन भी त्याग दिया। फल यह

हुआ कि वे उस साहित्यिक सामग्री से, जिसे प्राचीन कवियों ने बड़े श्रम से उसमें संचित किया है, वंचित रहे। जो हो, यह कम हर्ष की बात नहीं कि खड़ी बोली के आरंभिक कवियों ने उसकी एक नई ही प्रणाली स्थापित करके उसमें, थोड़े ही दिनों में, इतनी उन्नति कर दिखलाई। इसका मुख्य कारण यह है कि उसकी ओर कॉलेजों में शिक्षा-प्राप्त लब्ध-प्रतिष्ठ सज्जनों का भी ध्यान आकर्षित हुआ, जिनमें शिक्षा तथा अभ्यास ही से औचित्य-विचार की शक्ति विकसित हो जाती है। इस विचारशीलता ही का यह परिणाम हुआ कि कुछ दिनों से जब उनका ध्यान व्रजभाषा की माधुरी, साहित्य-संपन्नता तथा काव्योत्कर्षता की ओर आकर्षित किया गया, तो वे उसके पठन-पाठन की ओर ध्यान देने लगे; और अनेक हिंदी-साहित्य-सम्मेलनों के साथ तथा विद्यालयों में प्रतिवर्ष जो कवि-सम्मेलन होने लगे, उनमें व्रजभाषा की कविता को भी प्रतिष्ठा प्रदान की जाने लगी, जिससे उसके फिर जीवित-जागृत रहने की आशा हो गई है।

व्रजभाषा तथा खड़ी बोली के पारस्परिक संबंध तथा श्रेष्ठता के तारतम्य की मीमांसा की इस भाषण में गुंजाइश नहीं। पर इतना यहाँ संक्षेप में कह देना अनुपयुक्त न होगा कि व्रजभाषा की माधुरी सर्वथा निर्विवाद एवं चिर-स्वीकृत है, और उसका साहित्य-भंडार अति विस्तृत तथा पर्याप्त है। उसकी माधुरी के विषय में तो सैकड़ों वर्ष हुए, जब भाषाओं के तारतम्य में कोई विवाद उपस्थित नहीं था, दक्षिण के एक महान् विद्वान् तथा अनुभवशाली श्रीवेंकटाध्वरिजी ने, जिनको, इतर प्रांतीय होने के कारण, व्रज-भाषा का पक्षपाती नहीं कहा जा सकता, अपने 'विश्वगुणादर्श'-नामक ग्रंथ में, अनेक प्रदेशों की सुंदर वस्तुओं का वर्णन करते हुए, एक श्लोक में यों कहा है—

> वाचि श्रीमाधुरीणां जनकजनपदस्थायिनीनां कटाक्षे,
> दन्ते गौडाङ्गनानां सुललितजघने चोत्कलप्रेयसीनां ;
> माहाराष्ट्रीनितम्बे मजलवनरुचां केरलीकेशपाशे ,
> कार्णाटीनां कटौ च स्फुरति रतिपतिर्गुर्जरीणां स्तनेषु ।

व्रजभाषा-साहित्य के भंडार का भरपूर होना काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-संबंधी रिपोर्टों से भली भाँति प्रमाणित है।

अब हम व्रजभाषा तथा खड़ी बोली, दोनों के कविजनों से कुछ सानुनय निवेदन करते हैं। आशा है, वे उस पर विचार करेंगे; और उसमें यदि कुछ सार पावेंगे, तो स्वीकृत करेंगे। व्रजभाषा के कवियों का कर्तव्य है कि वे अपनी कविता के रंग-ढंग तथा रचना-प्रणाली में, समय की आवश्यकता तथा समाज की रुचि के अनुसार, कुछ परिवर्तन आरंभ करें; और केवल नायिका-भेद-वर्णन तथा पुरानी बातों का पिष्टपेषण न करके राष्ट्रीय एवं सामाजिक दृष्टि से उपयोगी विषयों की ओर भी ध्यान दें, जिससे सर्व-साधारण का मनोरंजन ही नहीं, प्रत्युत उपकार भी हो। व्रजभाषा की कविता पर यह एक मुख्य लांछन लगाया जाता है कि उसकी भाषा सर्वथा मनमानी तथा उच्छृंखल होती है। विचार-पूर्वक देखने से, किसी अंश तक, यह लांछन निर्मूल भी नहीं ज्ञात होता। इसका कारण यह है कि व्रजभाषा का अभी कोई उत्तम व्याकरण नहीं मिलता, और न उसके अधिकांश कवि, जो व्रजवासी नहीं हैं, व्रज में जाकर उसके सीखने ही का प्रयत्न करते हैं। अतः उसके कवियों को केवल पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों ही से उसका स्वरूप-ज्ञान संचित करना पड़ता है; और पूर्ववर्ती कवियों में भी प्रयोग-वैषम्य होने के

कारण उनको एक निश्चित परिपाटी के स्थिर करने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। हमारी समझ में व्रजभाषा के कवियों में कविवर बिहारीलालजी की भाषा परम परिमार्जित, सश्रृंखल तथा प्रयोगसाम्य-संपन्न है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उन्होंने कोई-कोई रूप शुद्ध व्रजभाषा के न स्वीकृत करके बुंदेलखंडी आदि ग्रहण कर लिए हैं। पर ये रूप भी साहित्यिक व्रजभाषा के प्रयुक्त रूप हैं, और उन्होंने उन्हीं रूपों का निर्वाह सतसई-भर में किया है। व्रजभाषा के कवियों को उनकी भाषा के नियमों पर भली भाँति ध्यान देना चाहिए। यदि किसी कारण, अथवा स्वरुचिवश, वे बिहारी के किसी रूप से भिन्न रूप का प्रयोग करना उचित समझें, तो उक्त अन्य रूप के साहित्यिक भाषा में प्रचुर तथा शिष्ट प्रयुक्त होने का प्रमाण व्रजभाषा के उत्तमोत्तम कवियों की रचनाओं में प्राप्त कर लें। इसके अतिरिक्त अपनी रचना में कारकों, क्रियाओं इत्यादि के रूपों के प्रयोग-साम्य का पूर्णतः ध्यान रक्खें।

खड़ी बोली के कवियों से यह प्रार्थना है कि वे व्रजभाषा के उपलब्ध तथा उपयोगी ग्रंथों से काव्य-रीति सीखने तथा रचना-प्रणाली में सहायता लेने से घृणा न करें, और अपने काव्य को शनैः शनैः अधिकाधिक सश्रृंखल एवं हृदयग्राही बनाने का प्रयत्न करें।

खड़ी बोली की कविता के विषय में एक विशेष बात और भी कथनीय है। वह यह कि उर्दू के छंदों में जो उसकी रचनाएँ होती हैं, उनमें कभी-कभी छंदोभंग हो जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उर्दू के छंद प्रायः सभी वर्णिक होते हैं, अर्थात् उनमें लघु-गुरु वर्णों का एक विशेष क्रमानुसार पड़ने का नियम रहता है, जैसे—

न सुध् बुध् को ली औ' न मंगल् की ली;
निकल् घर से बस् राह जंगल् की ली।

इस छंद में लघु-गुरु पड़ने का नियम इस प्रकार है—

। S S । S S । S S । S

पर स्थूल दृष्टि से देखने से इस शेर से यह ज्ञात होता है कि इसके एक गुरु के स्थान पर दो लघु आ सकते हैं; क्योंकि इसके सुध्, बुध्, औ' मंगल्, निकल्, घर्, बस् तथा जंगल् शब्दों के ध्, ध्, र्, ल्, ल्, र्, स् तथा ल् लघु भासित तो होते हैं; पर वस्तुतः वे लघु नहीं, हलन्त हैं। फ़ारसी-शब्दों में, कतिपय विशेष अवस्थाओं के अतिरिक्त, प्रायः दो लघु वर्ण एकसाथ नहीं पड़ते। इसीलिये उर्दू-छंद में हिंदी के किसी शब्द के दो लघु वर्ण जब एक-साथ आते हैं, तो उनमें से अंत लघु का हलंवत् उच्चारण होता है, जिससे उसके पूर्व का लघु वर्ण गुरु हो जाता है। इसी परिपाटी के अनुसार सुध् का सु, बुध् का बु इत्यादि गुरु हो गए हैं, जिससे छंद का नियम भंग नहीं होता। पर हिंदी में उक्त शब्द हलंत नहीं हैं। अतः यदि यह शेर खड़ी बोली का माना जाय, तो उसके पूर्वार्द्ध में पहले, दूसरे, चौथे तथा छठे एवं उत्तरार्द्ध में पहले, दूसरे, तीसरे तथा छठे गुरुओं के स्थानों पर दो-दो लघु हो जाते हैं। यह बात इस उर्दू-छंद के नियम के विरुद्ध है, और इसकी लय को बिगाड़ देती है। यह बिगाड़ इस शेर में तो विशेष लक्षित नहीं होता, क्योंकि 'सुधि'-शब्द को छोड़कर शेष बुध, मंगल इत्यादि खड़ी बोली में अकारांत हैं, और अकारांत शब्दों का उच्चारण बहुधा हलंवत् कर लिया जाता है। पर जब लोग, यह समझकर कि उर्दू-छंदों के किसी गुरु के स्थान पर दो लघु लाने में कोई हानि नहीं है, इसी प्रकार

इकारांत अथवा उकारांत शब्द भी ऐसे छंदों में लाने लगते हैं, तो उनकी गति का बिगाड़ बढ़कर लक्षित होने लगता है। इसी शेर में यदि सुध, बुध इत्यादि शब्द इकारांत अथवा उकारांत पढ़े जायँ, तो गति का बिगाड़ बहुत खटकने लगेगा, जैसे—

'न सुधि बुधु की लो आरि न मगलि की लो।'

यद्यपि उर्दू के किसी-किसी छंद में एक गुरु के स्थान पर दो लघु अथवा दो लघुओं के स्थान पर एक गुरु रख देने से उसकी लय में कोई त्रुटि लक्षित नहीं होती, जैसे उस छंद में, जो हरिगीतिका से मिलता है। पर अधिकांश छंदों में ऐसा लघु-गुरु का परिवर्तन छंद की गति को बिगाड़ देता है।

दो लघुओं के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसके कारण, द्विलघ्वंत अकारांत शब्दों के अतिरिक्त, जिनका हिंदी में भी हलंत की भाँति उच्चारण होता है, इकारांत तथा उकारांत शब्द भी, जैसे मुनि, गुरु इत्यादि, जिनका हिंदी में हलंत की तरह उच्चारण नहीं किया जाता, उर्दू में अकारांत होकर हलंत हो जाते हैं; जैसे मुन्, गुर् इत्यादि। इसी उच्चारण-परिवर्तन के कारण ऊपर लिखे हुए शेर में 'सुधि'-शब्द का 'सुध्' हो गया है। पर खड़ी बोली में इस प्रकार का स्वर-संकोच उचित न समझा जायगा; और यदि समझा जायगा, तो खड़ी बोली को अपने इस गर्व से हाथ धोना पड़ेगा कि उसके पद्य में शब्दों का रूप बिगाड़ा नहीं जाता। अतः उर्दू-छंदों में खड़ी बोली की कविता करनेवालों को चाहिए कि पहले उर्दू-छंदों के नियम भली भाँति समझ ले, और फिर उन्हीं के अनुसार उनमें लघु-गुरु स्थापित करें।

व्रजभाषा तथा खड़ी बोली के विषय में अपने विशेष वक्तव्य को हम यहीं समाप्त करते हैं; क्योंकि यद्यपि यह विषय बहुत बड़ा और महत्त्व का है, तथापि इस भाषण में उस पर विस्तृत रूप से विवेचना करने की गुंजाइश नहीं है। अब हम फिर उस उद्देश्य की ओर आप लोगों का ध्यान दिलाते हैं, जिसकी पूर्ति के निमित्त यह बृहत्सम्मेलन किया गया है। हमारा उद्देश्य है कविता की उन्नति करना। यह काम, हमारी समझ में, बड़े गौरव तथा सूक्ष्म विचार का है, विशेषतः ऐसी दशा में, जब इसका संबंध अखिल भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं से है। इसके लिये प्रथम तो एक मुख्य सभा स्थापित होनी चाहिए, जिसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं के विद्वान् कवि और काव्य-मर्मज्ञ सम्मिलित हों। इस मुख्य सभा के द्वारा कविता के सामान्य गुण-दोष निर्धारित किए जायँ जो सब भाषाओं की कविता पर लागू हो सकें। फिर प्रत्येक भाषा के विचारशील विद्वानों की पृथक्-पृथक् समितियाँ बनाई जायँ, जो अपनी-अपनी भाषा के विशेष गुण-दोष तथा आवश्यकताओं पर विचार करके मुख्य सभा में अपनी-अपनी रिपोर्टें उपस्थित करें। इसके पश्चात् मुख्य सभा अपने तथा भिन्न-भिन्न समितियों के विचारों की विवेचना करके एक बृहद् ग्रंथ तैयार करे। पर यह कार्य बड़ा दुस्तर तथा समय-साध्य है। अतः इसका अनुष्ठान शनैः-शनैः यथासाध्य, पर, निरंतर होता रहना चाहिए।

भाषण समाप्त करने के पूर्व यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि आज हमें तथा, आशा है, अन्य काव्यानुरागियों एवं स्वदेश के सभी शारदा-सेवियों को इस विशद वितान के नीचे एकत्र देखकर बड़ा हर्ष तथा उत्साह हो रहा है। भगवती भागीरथी के परम पावन पुलिन पर स्थित यह वही सुप्रसिद्ध स्थान है, जहाँ सर्वलोक-पितामह ब्रह्मदेव ने सृष्टि-निर्माण में सफलता-प्राप्ति की कामना से यज्ञानु-

ष्ठान ठाना था, अतः भगवती भारती के वाङ्मय सृष्टि-संबंधी अनुष्ठान के प्रारंभ के निमित्त भी यह परम उपयुक्त है। कानपुर के लिये यह एक बड़े गौरव की बात है, जो साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखी रहेगी कि साहित्य-सम्मेलन के साथ-साथ ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के मिश्रित कवि-सम्मेलन का नियमित रूप से होना यहीं से आरंभ हुआ; और फिर इस अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन की नींव भी यहीं पड़ी, जो, आशा है, प्रतिवर्ष स्थान-स्थान पर होता तथा कविता की उन्नति करता रहेगा। इससे कविता की उन्नति ही नहीं, प्रत्युत दूर-दूर के कवि-कोविदों के पारस्परिक दर्शनों तथा काव्यामृतास्वादन के आनंद का मिलना भी संभव है।

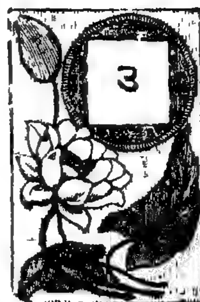
अंत में स्वागतकारिणी सभा के सभापतियों तथा सभासदों एवं समुपस्थित सज्जनों को हार्दिक धन्यवाद देकर, और अपने इस भाषण की भूल-चूकों के लिये क्षमा-प्रार्थना करके अपनी तथा आपकी ओर से श्रीभगवती भारती से यह प्रार्थना करते हुए हम अपना भाषण समाप्त करते हैं—

सुनि-सुनि भारती तिहारे सुगना के बोल,
किन्नरि-कलोल लोल-चित ह्वै लुभाए हैं;
कहै 'रतनाकर' मृदुल माधुरी सौं मोहि,
वैसे ही कबित्त कहिबे कौं हुलसाए हैं।
अब तौ हमारौ मन राखवै बनैगौ तोहिं,
भावतं बनैगौ बर, जापे मचलाए हैं;
जो पै हैं सपूत, तौ तिहारे ही बनाए मातु,
जो पै हैं कपूत, तौ तिहारे ही लड़ाए हैं।

कानपुर :
२६–१२–२५

जगन्नाथदास "रत्नाकर"

चार प्रश्न



उस दिन संध्या-समय आकाश काले, घने मेघों से आच्छादित था। गगनचारी देव-गण भी झटपट अपने घरों में जाकर चुपचाप बैठ गए। एक पत्ते की भी खड़खड़ाहट का शब्द नहीं। चारों दिशाओं में घोर अंधकार छाया हुआ था। एकाएक कहीं से पानी की एक बड़ी बूँद गिरी, और उससे मेरी नाक का तिलक कट गया। मैंने उस दिन संध्या के पहले अफीम की मात्रा भी कुछ बढ़ा दी थी। अभी-अभी मैंने रसिकता के आवेश में खिड़की बंद की ही थी कि झमाझम वृष्टि होने लगी।

एक तो कोई काम-काज न था, दूसरे श्रीमती-जी भी अपने मायके चली गई थीं। अतएव धर्म-चर्चा का यह उपयुक्त समय समझ मैंने बत्ती थोड़ी बढ़ा दी; और सामने पड़ी हुई 'महाभारत' को अपनी ओर खींच लिया।

पुस्तक खोलकर देखा, वनपर्व के बीच महाराज युधिष्ठिर बड़ी विपत्ति में पड़े हैं—यक्ष का रूप धारण किए हुए धर्मराज ने प्रश्न-पर-प्रश्न पूछकर बेचारे को तंग और आजिज कर दिया है। प्यास के मारे युधिष्ठिर का गला सूख रहा है। अस्तु, शास्त्र-चर्चा करने लायक मिज़ाज बिलकुल नहीं है। लेकिन बेचारे करें क्या? सरोवर के किनारे जो देखा, तो आँखें ठगी-सी रह गईं। जिस वृकोदर के हुंकार से पहाड़ थर्रा उठते थे, वह मुँह से चूँ भी नहीं करता। मूछों में कीचड़ लपेटे तालाब के किनारे मुँह बाए हुए पड़ा है। सव्यसाची अर्जुन

के हाथ से छूटकर गांडीव दूसरी तरफ़ पड़ा हुआ है। तूण-भ्रष्ट पाशुपत-अस्त्र के ऊपर एक मेढक खूब आराम से बैठकर, आँखें फाड़-फाड़कर मानो संगीत अलाप रहा है। नकुल और सहदेव के मुँह पेड़ से गिरे हुए फूल की तरह सूख गए हैं। भ्रातृ-स्नेह से विह्वल युधिष्ठिर के प्राण तिलमिला उठे। परीक्षा में फ़ेल हो जाने से ही ऐसे शूरवीर भाइयों के प्राण ले लेना क्या धर्मराज के लिये उचित था?

महानुभूति से मेरा हृदय भर आया। मैंने एक दीर्घ निःश्वास ली, साथ ही बत्ती भी बुझ गई। खाली बिछौने पर सो जाने का कोई विशेष प्रलोभन तो था ही नहीं। मन धर्मराज के अविचार पर पहले से ही कुढ़ रहा था। अतः मैं चुपचाप उसी जगह बैठा रहा। सहसा मालूम हुआ कि मेरी पीठ पर 'सप' करके बड़े ज़ोर से चाबुक पड़ा, और कोई मेरी चुटिया को ज़ोर से पकड़कर खींचता और मेरे शरीर से प्राणों को बाहर निकालने की कोशिश कर रहा है। मैंने चीख़ मारकर चिल्लाना चाहा। लेकिन मुँह से कोई शब्द ही न निकला। भय से अंग-प्रत्यंग थर-थर काँपने लगे। मन-ही-मन सोचा—आज यह किसके पाले पड़ा! इसी समय एक शब्द हुआ—डर नहीं—डर नहीं। तू मेरी बात सोच रहा था, इसीलिये मैं तुझसे मिलने आया हूँ। तू युधिष्ठिर के भाइयों की दशा सोचकर चिंता के मारे मरा जाता था, लेकिन मैंने तो वे प्रश्न कितनों ही से पूछे हैं। जो उन प्रश्नों का ठीक उत्तर न दे सके, उन सबकी यही दशा हुई।

तब मुझे होश हुआ—समझ गया, यही धर्मराज हैं। साहस करके पूछा—किंतु धर्मराज, शास्त्र में तो यह बात कहीं लिखी नहीं। धर्मराज मुस-



"कोई मेरी चुटिया को ज़ोर से पकड़कर खींचता और मेरे शरीर से प्राणों को बाहर निकालने की कोशिश कर रहा है।"

छिपाकर बोले—लिखी क्यो नहीं है ? हाँ, वे सब शास्त्र संस्कृत मे नहीं लिखे गए । इससे तुम उन्हे मानते नहीं । मै सस्कृत के अलावा और भी सब भाषाएँ जानता हूँ । यह स्वीकार करने से उन शास्त्र-व्यवसायियों का व्यवसाय बंद हो जायगा । और सुनो, इसके अलावा एक और बात यह है कि मै बहुरूपिया हूँ. इससे सब कोई, सब समय, मुझे पहचान नहीं पाते ।

मैंने कहा—ओह, यह बात है ? मै अब समझा। तो आप ही बैल के रूप मे बूढे शिव को लिए-लिए घूमते-फिरते हैं, और कभी बगले का रूप रखकर पोखर के किनारे एक पाँव पर खड़े होकर ध्यान करते है ।

धर्मराज मेरी चुटिया जोर से झकझोरकर बोले—ऐसी बुद्धि होने से तुम्हारा सर्वनाश क्यो न होगा ? अभी उस दिन शूद्र का रूप रखकर रूस के जार से मैंने ये ही प्रश्न पूछे थे । मालूम होता है, तुम लोग वह नहीं समझ सके ।

डर के मारे मैंने 'हाँ' तो कर दिया, लेकिन धर्मराज वृद्धावस्था मे बोलशेविक होकर देश-देश मे रक्त गंगा बहावेंगे—आप ही कहे—एक सनातनधर्मी होकर मै इस बात पर कैसे विश्वास करता ? लेकिन मुँह से कुछ बोलने का साहस नहीं हुआ ; क्योंकि अभी तक मेरी चोटी उनके हाथ मे थी । पर धर्मराज ठहरे अंतर्यामी, चट मेरे मन का भाव समझकर बोले—सुन रे कूपमडूक, सुन । मै बोलशेविक-ओलशेविक कुछ नहीं हुआ । यह तो मेरा, योरप मे, इस युग का एक रूप-मात्र है । वह दिन भी आवेगा जब मै स्वय बोलशेविकों से ही ये प्रश्न पूछूँगा ।

धर्मराज का प्रोग्राम मै ठीक समझ न सका । बोलशेविकों की बात सोचकर मेरा कलेजा धक्-से हो उठता था । शांत-दांत, सात्विक भारत मे यह कैसा कांड ! मैने सविनय निवेदन किया—किंतु महाराज ! आपकी पूजा के लिये ऐसी भीषण रक्त की धारा का बह जाना क्या अच्छा हुआ ?

धर्मराज मेरी चोटिया फिर जोर से खीचकर बोले—बाबा ! तुम्हारे देश के बर्फी-पेड़े के नैवेद्य पर ही यदि मेरा अस्तित्व निर्भर होता, तो भगवान् द्वारा मेरी अमर सृष्टि होने पर भी मुझे कभी का मरकर भूत हो जाना पड़ता । तुम लोगों ने मेरे 'बक'-रूप को ही पहचाना है । समझते हो, सभी बगले धार्मिक है । इसी से तो धूप-दीप के ऊपर दो फूल फेककर ही अपना काम चला लेना चाहते हो । लेकिन मै अपना लेना-पावना सूद-ब्याज-सहित वसूल करने मे भी कभी नहीं चूकता । तुम मरने से डरते हो, इसी से मै तुम्हे मारने में जरा नही हिचकता । इनफ्लुएजा, मलेरिया, हैजा, प्लेग, इन्हीं से तो मेरा काम चलता है ।

बहुत सोचा, पर मुझे इस बात का ठीक जवाब न मिला । इसलिये डरते-डरते हिचककर मैने धर्मराज से कहा—हाँ, मै भूल गया था कि देवतो मे आप विचारपति भी हैं, और फाँसी देनेवाले भी ।

किंतु धर्मराज इससे लज्जित होनेवाले न थे। वह अम्लान-वदन हो बोले—देखो, यह व्यवस्था बिलकुल खराब नहीं है । तुम्हारे देश मे यदि जज साहबों को फाँसी पर चढाने का भी काम करना पड़ता, तो आजकल वे जैसा न्याय करते है, उससे कही अच्छा न्याय करते ।

शासन-विभाग (Executive) और विचार-विभाग (Judicial) के गोलमाल के भीतर जाने मे कुछ विशेष लाभ न देखकर मैने बात ही बदल

दी ; पूछा—प्रभो ! महाराज युधिष्ठिर से साक्षात् करने के बाद क्या आप हमारे देश मे फिर कभी नहीं आए ?

धर्मराज बोले—देखो, कृष्णावतार में जब भगवान् ने क्षत्रिय-कुल को एकदम निर्मूल कर दिया था, उस समय 'वज्रादपि कठोर' यह मेरा हृदय भी द्रवित हो गया था। कुरुकुल तथा यदुकुल कितने ही पाजी क्यो न रहे हों, वे तुम्हारी तरह अयोग्य और निकम्मे नही थे। वे भाँग आदि थोड़ा नशा खाते-पीते थे, तो क्या हुआ। उनके लीवर, टीवर, पसली, पिलही इतनी जल्दी सड़-गलकर बेकाम नही हो जाते थे। फिर उन्हें स्वय भगवान् ने ही अपने हाथों मारा। तब उनके बारे में क्या पूछना !

यह कहकर धर्मराज ने एक दीर्घ नि:श्वास ली। थोड़ी देर चुप खड़े रहकर फिर बोले—सुनो, इसी मानसिक दु:ख के कारण उसके बाद बहुत दिनो तक मै फिर भारत मे नही आया। जब आया, तो वह राम भी नहीं थे, वह अयोध्या भी नही थी। महानंद नाम का एक बूढ़ा असयत राजा मगध के सिहासन पर बैठा अफ़ीम खाए झूमता रहता था। राजप्रसाद-सेवी ब्राह्मण खूब चुटिया हिला-हिलाकर यज्ञ के भस्म में घी डालते और महाराज की स्तुति करते थे। सबकी चुटिया खींच-खींचकर देखा। नक़ली चुटियों की भरमार थी, खीचते ही अलग हो जाती थीं। केवल एक चुटिया देखी, असली थी—सीधे मग़ज़ से निकली थी। यह चुटियावाले कौन हैं, यह जानने के लिये मैंने पूछा—पंडितजी, आपका नाम? ब्राह्मण मुझे तीव्र दृष्टि से देखकर बोला—कौटिल्य।

वैसी तीक्ष्ण दृष्टि फिर भारतवर्ष में और भी कभी नहीं देखी। हाँ, वह एक मनुष्य—ठीक मनुष्य की तरह—था। मैंने नमस्कार करके उससे पूछा—क्यो पडितजी, बात क्या है ?

कौटिल्य बोले—जो क्षत्रियत्व खोकर भी क्षत्रिय कहकर अपना परिचय देते है, वे ही है इस समय भारत के राजा। यही तो बात है।

मैंने कहा—होंगे। अच्छा, अब बतलाइए, आश्चर्य क्या है ?

कौटिल्य बड़े चालाक थे, मुझे पहचान गए ; बोले—आश्चर्य क्या है ? जिनके चारों तरफ़ आग जल उठी है, जिनका सिंहासन डिग गया है, वे भी सोचते हैं कि अभी बहुत दिनो तक राज्य करेंगे। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा ?

मैंने बढ़कर पूछा—तो फिर इस राज्य में सुखी कौन है ?

कौटिल्य ने किंचित् हँसकर उत्तर दिया—जो दूसरे की कृपा पर निर्भर न रहकर अपने हाथ से ही सब कार्यों का संगठन कर सकते है, वे ही सुखी है।

मैंने अब की बार अंतिम प्रश्न पूछा—उनका मार्ग क्या है ?

कौटिल्य भी इस बार कुछ सोचने लगे। थोड़ी देर बाद गभीर स्वर से बोले—देखिए, मैंने बहुत विचार कर यह जाना है। छोटे-मोटे राजे-रजवाड़ो से भी यह काम नहीं बनेगा। जिसको शूद्र कहकर, राजा लोगों ने हेय करके रक्खा है, जिसकी परछाईं से भी ब्राह्मण लोग कोसों दूर भागते हैं, उसी शूद्र को मैं राजा बनाऊँगा—क्षत्रिय के सिंहासन पर बिठाऊँगा। देश के उत्थान के लिये यही एक मार्ग है। उस दिन देवतागण भी यह बात सुनकर बोले—धन्य कौटिल्य, धन्य !

कौटिल्य को आशीर्वाद देकर मै लौट गया ;

देखा, उस समय भी भारत मे ब्राह्मण का बिलकुल अभाव नहीं हुआ था।

इसके बहुत दिनों बाद फिर जब चरण-चिह्न छोड़ने आया, तो क्या देखा कि मुहम्मद गोरी डेढ़ हाथ लंबी दाढ़ी लिए भारत के दरवाजे पर धक्के-पर-धक्के मार रहा है। इस तरफ़ आकर देखा, राजपूत लोग खूब लंबी-लंबी पगड़ी बाँधे, कपाल पर रक्त-तिलक लगाए, खूब धूम-धड़ाके से हल्ला-गुल्ला करते हुए घूम रहे हैं। मैने सोचा, शायद युद्ध का आयोजन हो रहा है। जयचंद की सभा मे आकर पूछा—क्यो महाराज, बात क्या है? जयचद बोले—हमारी बेटी स्वयंवरा होगी।

मैने कहा—वाह! वाह!! क्या कहना। भला आपके समान सुखी और कौन है?

जयचद बोले—जी हाँ! ठीक कहा, सो भी विशेष करके पृथ्वीराज का जो इस तरह अपमान कर सका हूँ, इससे मै और भी सुखी हूं।

"अपमान करने का ढग क्या?"

"यह देखिए न, पृथ्वीराज की एक मूर्ति क़िले के फाटक पर, दरबान बनाकर, रख दी है।"

खूब अच्छी तरह देखा कि भारत का भाग्याकाश घने अंधकार से आच्छन्न है। लोग मुझे निर्मम, निर्द्वंद्व कहते हैं; किंतु इस भ्रातृद्रोह का भविष्यत् फल सोचकर उस दिन मेरी भी आँखों मे पानी आ गया था।

धर्मराज अभी तक एक सड़ाका बकते ही जा रहे थे। इस बार ज़रा मौक़ा पाकर मैने पूछा—प्रभो, चौथा प्रश्न तो आपने पूछा ही नहीं?

धर्मराज बोले—सो अब और पूछना ही क्यों होगा? भगवान् जिसको मारते हैं, उसको किस तरह अंधा कर देते है, यह मैने स्पष्ट देखा। अब इससे बढ़कर और आश्चर्य ही क्या होगा?

"मुग़ल-बादशाहों की अमलदारी में कभी आए थे?"

"हाँ, एक बार आया था। उस समय औरंगज़ेब बूढ़े बाप की मृत्यु-कामना करता हुआ दक्षिण से दिल्ली की ओर आ रहा था। 'हज़रत' किस प्रकार के प्रचंड धार्मिक है, और उससे मुग़ल-बादशाहत के तख़्त मे किस तरह घुन लग रहा है, यह समझने मे मुझे कुछ भी देर न लगी। उससे और कोई प्रश्न पूछने की आवश्यकता ही मुझे नहीं मालूम हुई। उस समय मुग़ल-दरबार मे एक मरहटा युवक की बात कुछ विस्तार से सुनाई पड़ रही थी। मेरे मन मे आया—चलो, इस आदमी को देख तो आवे। सह्याद्रि के पद-प्रदेश मे आकर देखा—एक दीर्घकाय, वीर-लक्षण-युक्त, उन्नत-ललाट, गौरवर्ण पुरुष ने भविष्य के भारत की एक काल्पनिक सृष्टि कर डाली है। महाशक्ति ने भी उसका आश्रय पाकर समग्र महाराष्ट्र मे जीवन फूक दिया है।

समझ गया कि यही है शिवाजी। बहुत दिनों के बाद एक विशुद्ध मनुष्य को देखकर मुझे भी बड़ा उल्लास हुआ। मैने आशीर्वाद देकर उससे अपने चारो प्रश्न पूछे। शिवाजी बोले—महाराज मुट्ठी-भर यवनो ने यहाँ आकर भारत की क्षत्रिय-शक्ति को पद-दलित कर रक्खा है, **यही तो बात है**। जिनके ज़ोर से तुर्क सिंहासन पर बैठे है, वे स्वप्न मे भी नहीं सोचते कि संघबद्ध होने से वे भी देश के अधीश्वर हो सकते है, **यह है महान् आश्चर्य**। यह मोह जो तोड़ सकता है, **वही है सुखी**। मै समस्त भारत का स्वामित्व प्राप्त करने के लिये महाराष्ट्र की शक्ति को जागृत करूँगा, **यही है मेरा मार्ग**।

यह बात कहकर धर्मराज बहुत देर तक चुप खड़े रहे। अंत को मैंने पूछा—शिवाजी के साथ और कोई बात नहीं हुई?

धर्मराज बोले—नहीं, मैंने जो आशंका की थी, वही हुआ। मार्ग की बात सुनते ही मेरे मन में खटका हुआ था कि मरहटा-राज्य की प्रतिष्ठा तो होगी, लेकिन वह टिकेगा नहीं। बर्गी की तलवार एक बार बिजली की तरह चमककर फिर अंधकार में विलीन हो जायगी। देखा नहीं, अभी आज तक समस्त भारत का प्रभुत्व प्राप्त करने का लोभ मरहटों के मन से नहीं गया।

"उसके बाद फिर इस देश में आप नहीं आए?"

"नहीं, अभी भी न आता। लेकिन चित्रगुप्त खाता-बही देखकर, हिसाब करके बोले कि भारत के प्रायश्चित्त का दिन शेष होने आ गया। इसी से एक बार तुम लोगों को देख-सुन लेने के लिये चला आया। अच्छा, ज़रा देखें, तुम्हीं हमारे प्रश्न का उत्तर दो। बोलो—इस समय बात क्या है?"

डर के मारे मेरे हाथ-पैर फूल गए। मैं बोला—दोहाई धर्मराज की। मैं राजा-वाजा नहीं हूँ, और रिफार्म-बिल की कृपा से मेरे राजमंत्री होने की भी संभावना नहीं। मैं तो एक हताश निरीह व्यक्ति हूँ। फिर आपकी परीक्षा में फेल होकर क्या बेचारी भोली युवती बालिका को अनाथ करूँ!

धर्मराज हँसकर बोले—तुम क्या अभी जीते हो, जो तुम्हें मारूँगा?

अब कुछ साहस करके मैं बोला—हाँ, सो तो ठीक है; और जब आप मुझे छोड़ेंगे ही नहीं, तो फिर हमारी विद्या ही सुन लीजिए। बड़े-बड़े लोग कहते हैं कि सभास्थल में खड़े होकर अँगरेज़ी में अच्छे-अच्छे व्याख्यान देने ही से चावल और कपड़े की दर एकदम गिर जायगी, बालकों के पेट की पिलही अच्छी हो जायगी, और काले-गोरे गले से गला मिलाकर नाचने लगेंगे। यही नहीं, मलेरिया, इनफ्लुएंज़ा, प्लेग आदि सब आधि-व्याधि दूर हो जायँगी, और सौ बात की एक बात यह कि भारत में फिर से सतयुग उपस्थित हो जायगा—यही तो बात है।

धर्मराज बड़े प्रसन्न होकर बोले—खूब! खूब!! अब दूसरे प्रश्न का उत्तर दो—सुखी कौन है?

मैं बोला—महाराज इस बात का तो बड़ा ही सहल जवाब है—इस देश में सुखी हैं सिर्फ़ मास्टर, माडरेट और महंत।

तब तीसरा प्रश्न बताओ—आश्चर्य क्या है?

"हम ऐसी सूक्ष्म बुद्धि लिए अभी तक बचे हुए हैं, यही है हमारे लिये सबसे बड़ा आश्चर्य।"

धर्मराज पूर्ण सम्मति प्रकट करते हुए, सिर हिलाकर बोले—अच्छा, इस समय मार्ग क्या है?

मैं धर्मराज के दोनो पैर पकड़कर बोला—महाराज, इस प्रश्न के लिये मुझे माफ़ करें। मार्ग बतलाने में क्या बोलना हो, क्या बोल पड़ूँ—कुछ ठीक नहीं। और, अब मैं इस दशा में और धक्का तथा मार न सह सकूँगा। राम ने मारा, तो मैं मरा; रावण ने मारा, तो मैं मरा। उत्तर न देने में आपके हाथों मरना पड़ेगा, और उत्तर देने से कल ही मुझको·······।

हो-हो-हो-हो करके, ठहाका मारकर, धर्मराज ने हँसते हुए अपने हाथ से मेरी चुटिया का गुच्छा एकाएक छोड़ दिया। छूटते ही मेरा सिर ठक-से टेबल से जाकर टकराया।

हो-हो-हो—

जागते ही देखा, सामने छोटा भाई हो-हो कर हँस रहा है।



"जिस रस्सी पर गृहिणी ने गमछा लटका रक्खा था, वह दीवाल के पास झूल रही है।"

"इसके भीतर ही बैठे-बैठे सो रहे हो, भोजन न करोगे?"

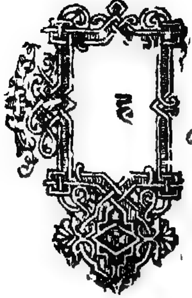
"भोजन कैसा रे? धर्मराज चले गए।"

"वह कौन, भैया?"

"वही, जो अभी तक हमारी चुटिया पकड़े बैठे थे" कहते हुए उठने लगा, तो देखा कि जिस रस्सी पर गृहिणी ने गमछा लटका रक्खा था, वह दीवाल के पास झूल रही है, और उसका एक छोर मेरी चुटिया से उलझकर फँस गया है।

प्रमथनाथ सरकार

पद्मावती



हमारे देश के जो अनेक वैभवशाली प्राचीन नगर किसी समय कला-कौशल और विद्या के लिये प्रसिद्ध थे, अब उनके खँडहरों तक का पता लगाने में हमें कठिनाई पड़ रही है। यदि पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान हमारे इन प्राचीन नगरों की खोज की ओर आकर्षित न हुआ होता, तो शायद आज हमारा ध्यान भी इस ओर न जाता। भारत-सरकार के पुरातत्त्व विभाग के कर्मचारियों ने इस संबंध में बहुत कुछ काम किया है। संभव है, बहुत-से प्राचीन स्थानों की खोज में उन्हें ख़ास स्थलों का पता न लगा हो—इधर-उधर वे भटक गए हों; परंतु उनका उद्योग प्रशंसनीय एवं स्तुत्य अवश्य है। विष्णुपुराण में जिस पद्मावती-नगरी का उल्लेख आया है, और जिसका वर्णन प्रसिद्ध कवि भवभूति ने अपने संस्कृत-नाटक 'मालती-माधव' में भी किया है, वह कहाँ पर है, उसी का परिचय कराना इस लेख का उद्देश्य है।

नागराजों की राजधानी कांतिपुरी और मथुरा के समान पद्मावती भी, उस समय, एक विशाल नगरी थी। मालती-माधव नाटक के कथानक में पद्मावती का भी नाम आया है, और वह इस प्रकार है—"नाटक के नायक माधव को उसके पिता ने विदर्भ-देश के कुंडिनपुर से, जहाँ वह राजा का प्रधान था, विद्या सीखने के लिये पद्मावती भेजा था। वहाँ जाकर वह पद्मावती के राजा (जिसके नाम का उल्लेख नाटक में नहीं है) के मंत्री भूरिवसु की कन्या मालती के प्रेम में फँस गया।"

इस कथानक से इस बात का पता चलता है कि भवभूति के समय में पद्मावती एक राज्य की राजधानी थी, और विद्या तथा कला-कौशल के लिये प्रसिद्ध थी। वहाँ दूर-दूर देशों से लोग विद्या-प्राप्ति के हेतु आते थे। भवभूति का होना आठवीं शताब्दी के आरंभ में कहा जाता है। इसलिये यह मान लेने में कुछ हर्ज नहीं कि आठवीं शताब्दी के आरंभ में पद्मावती-नगरी पूर्ण वैभवशाली थी।

इस नगरी का पता लगाने का सबसे पहले एच्० एच्० विल्सन ने प्रयत्न किया। उन्होंने अनुमान किया कि उज्जैन के आसपास, कहीं पर, यह आबाद रही होगी। परंतु थोड़े समय के पश्चात् ही उन्हीं ने अपनी यह पहली राय बदल दी। दूसरी राय उन्होंने यह क़ायम की कि पद्मावती-नगरी वर्तमान औरंगाबाद या बरार में कहीं थी। उनका यह दूसरा अनुमान अर्थात् उनकी यह बदली हुई राय भवभूति के जन्म-स्थान पद्मपुर, जो विदर्भ में है, के आधार पर पाई जाती है। परंतु नाम में थोड़ी-सी समानता का होना दोनों स्थानों के एक ही होने का कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। इसके बाद, विशेष खोज करने पर, विल्सन साहब अपनी दूसरी राय पर भी क़ायम न रह सके, और उनका अंतिम निर्णय यह हुआ कि पद्मावती-नगर वर्तमान भागलपुर के पास, गंगाजी के किनारे, कहीं बसा रहा होगा।

विष्णुपुराण में नाग-राज्य की तीन राजधानियों—पद्मावती, कांतिपुरी और मथुरा—का उल्लेख है। इसी बात को ध्यान में रखकर शायद कनिंघम साहब ने यह अनुमान किया था कि वर्तमान मथुरा के आसपास कहीं पर पद्मावती-नगर मौजूद होगा। अतएव विल्सन के बताए हुए स्थानों का इस युक्ति से उन्होंने खंडन कर दिया। परंतु वह भी अपनी इस बात पर बहुत दिनों तक क़ायम न रह सके, और पहली राय बदलकर पद्मावती का कहीं नरवर के पास होना निश्चय किया, जो मथुरा से दक्षिण, १५० मील की दूरी पर, ग्वालियर-राज्य में है। उनका यह अनुमान उन सिक्कों के आधार पर था, जो नागवंशीय राजों के राजत्व-काल में नरवर के समीप पाए गए। परंतु किसी स्थान-विशेष पर किसी राजा के समय के सिक्कों का पाया जाना भी इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि वहाँ उस राजा की राजधानी थी ही। हाँ, इतना हो सकता है कि वह स्थान भी उसके राज्य के अंतर्गत रहा हो।

परंतु भवभूति ने अपने नाटक 'मालती-माधव' में पद्मावती का जो भौगोलिक परिचय दिया है, उसका पता न तो विल्सन साहब की बतलाई हुई जगहों में पाया जाता है, और न कनिंघम साहब की ही बतलाई जगहों में। ग्वालियर-राज्य के भूतपूर्व सूबा श्रीयुत पंडित माधवराव-वेंकटेश लेले ने, जिनका पुरातत्त्व-विषयक कार्यों

पद्मावतीका स्थान.

मान-चित्र

से अनुराग है, और जो संस्कृत के भी विद्वान् पंडित है, सबसे पहले, 'मालती-माधव' के भौगोलिक परिचय के आधार पर यह निश्चय किया कि ग्वालियर-राज्य के अंतर्गत "पवाया"-गाँव ही पद्मावती-नगरी है। यह स्थान जी० आई० पी०-रेलवे के डबरा-स्टेशन से १२ मील दूर है, और डबरा-स्टेशन ग्वालियर और झाँसी के बीच में है। मालती-माधव मे जिस स्थल का उल्लेख हुआ है, वह इस प्रकार है—

मकरन्द—(माधवं प्रति) तदुत्तिष्ठ पारासिन्धुसम्भेदमवगाह्य नगरीमेव प्रविशाव।

यह वाक्य 'मालती माधव' के चौथे अंक के अंत में आया है, जिसका अर्थ यह है—"हे माधव, उठो; पारा और सिंधु नदी के संगम मे स्नान करके हम दोनों नगरी मे प्रवेश करें।" परंतु इसी के आगे, नवें अंक में, नगरी का नाम बतलाकर उस स्थल को और भी अधिक इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है—

सौदामिनी—एवास्मि सौदामिनी, भगवतः श्रीपर्वतादुपेत्य पद्मावतीमुपसृत्य मालतीविरहिणः सस्तुतप्रदेशदर्शनासहिष्णोः स्थानं परित्यज्य, सह सुहृद्वर्गेण बृहद्रोणीशैलकान्तारप्रवेशे परिभ्रमतो माधवस्याधुनान्तिकमुपयामीति। भोस्तथाहमुत्पतिता यथा सकल एष गिरिनगरग्रामसरिदरण्यव्यतिकरश्चाक्षुषा परिक्षिप्यते। साधु, साधु।

पद्मावतीविमलवारिविशालसिन्धु-
　　पारासरित्परिकरच्छलतो बिभर्ति;
उत्तुङ्गसौधसुरमन्दिरगोपुराट्ट-
　　संघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरिक्षम्।

अपि च—

सैषा विभाति लवणा ललितोर्मिपंक्ति-
　　रश्रागमे जनपदप्रमदाय यस्याः;
गोगर्भिणीप्रियनवोलपमालभारि-
　　सेव्योपकण्ठविपिना वलयो बिभान्ति।

(अन्यतोऽवलोक्य) **अयमसौ भगवत्याः सिन्धोर्दारितरसातलप्रायस्तटप्रपातः।**



सिंधु-नदी के जल-प्रपात का दृश्य, जो धूमेश्वर के मंदिर के पास है

> यत्रैष एष तुमुलो ध्वनिरम्बुगर्भ-
> गम्भीरनूतनघनस्तनितप्रचण्डः ;
> पर्यन्तभूधरनिकुञ्जविजृम्भमाण-
> हेरम्बकण्ठरसितप्रतिमानमेति ।

एताश्चन्दनश्वकर्णसरलपाटलप्रायतरुगहना परिणत-मालूरसुरभयोऽरण्यगिरिभूमयः स्मारयन्ति खलु तरुण-कदम्बजम्बूवनावनद्धान्धकारगुहानिकुञ्जगम्भीरगह्वरोद्गारगो-दावरीरवमुखरितविशालमेखलाभुवो दक्षिणारण्यभूधरान् , अयञ्च मधुमतीसिन्धुसम्भेदपावनो भगवान् भ-वानीपतिरपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्णबिन्दुरित्याख्यायते।

मालती-माधव से जो वाक्य ऊपर उद्धृत किए गए हैं, उनसे पता लगता है कि पद्मावती-नगरी को पारा और सिंधु-नदी घेरे हुए हैं, और इन दोनों नदियों के संगम पर मकरंद और माधव ने स्नान किया था । उसी के पास सिंधु-नदी का प्रपात है, जिसकी गंभीर ध्वनि से आसपास का वन गूँज उठता था, और लवण-नदी भी वहीं पास होकर बही है । मधुमती और सिंधु के संगम पर सुवर्ण-बिंदु महादेव विराजमान हैं ।

अब मालती-माधव में वर्णित स्थल और पवाया-मौज़े की मौजूदा जगह का मिलान किया जाय, तो पता चलता है कि यह गाँव पार्वती और सिंधु के संगम पर बसा हुआ है । गाँव से दक्षिण-पश्चिम दो मील की दूरी पर सिंधु-नदी का जल-प्रपात भी है । पवाया के नीचे दो मील पर महुअर-नदी सिंधु-नदी से आकर मिली है, और वहीं संगम के ऊपर शिवजी का प्राचीन लिंग स्थापित है, जो प्राचीन समय का ही प्रतीत होता है । नोन-नदी भी पवाया के उत्तर चार-पाँच मील से अधिक दूरी पर नहीं है । मालती-माधव में वर्णित पारा, सिंधु, मधुमती और लवण-नदियों के वर्तमान नाम पार्वती, सिंधु, महुअर और नोन अपभ्रंश-नाम ही समझे जाने चाहिए; क्योंकि दोनों प्रकार के नामों में बहुत कुछ साम्य है । यद्यपि नगरी के नाम पवाया और पद्मावती

में नदियों के नाम की अपेक्षा फेरफार अधिक है, तथापि ऐसे प्राचीन नगरों के नामांतर इतिहास में अनेक पाए जाते हैं। यथार्थ में तो देखना यह है कि जिस भौगोलिक स्थल का वर्णन भवभूति ने अपने नाटक में किया है, वैसा ही हूबहू स्थल पवाया है या नहीं। पवाए में दो समान नामवाली नदियों का संगम भी है, जल-प्रपात भी है, और महादेवजी का प्राचीन लिंग भी स्थापित है।

स्थल के साम्य से जब पंडित माधवराव-वेंकटेश लेले का अनुमान अधिक प्रौढ़ जान पड़ा, तो ग्वालियर-राज्य के आर्केआलॉजी-डिपार्टमेंट के सुपरिंटेंडेंट श्रीयुत मोरेश्वर-बलवंत गर्दे ने इस विषय में अधिक अनुसंधान किया, और उनको वहाँ के खँडहरों तथा ज़मीन को खोदने में जो अनेक सिक्के, मूर्तियाँ और शिला-लेख प्राप्त हुए, उनके देखने से यह निश्चय हुआ कि वहाँ पर पहली और दूसरी शताब्दी के बीच में कोई विशाल नगर ज़रूर रहा होगा, तथा वह नगर मध्यकालीन युग में बहुत कुछ उन्नत एवं समृद्धिशाली भी होगा। पवाया का भग्नावशेष देखकर और कनिंघम साहब के अनुमान के अनुसार नरवर का निरीक्षण करके, यह निःसंकोच कह सकते हैं कि नरवर या नरवर के आसपास न तो मालती-माधव में बताए हुए भौगोलिक स्थल का पता है, और न वहाँ की किसी प्राचीन इमारत या खँडहरों को देखकर यह अनुमान ही किया जा सकता है कि पद्मावती कहीं नरवर के समीप रही है। नरवर की अपेक्षा पवाया में, साहित्यिक प्रमाण के अलावा खँडहरों, मूर्तियों और सिक्कों से, बहुत प्रबल प्रमाण इस बात का मिलता है कि आधुनिक पवाया-गाँव किसी समय में विशाल नगर रहा होगा।

अब जन-श्रुति के प्रमाणों से भी पवाया की परीक्षा कीजिए। पवायानिवासी लोगों का विश्वास है कि प्राचीन काल में हमारा गाँव एक बहुत बड़े राज्य की राजधानी था। वे लोग वहाँ के दो राजों—धन्यपाल और पुण्यपाल—के नाम लेते हैं, और कहते हैं कि ये चक्रवर्ती राजा थे। कहा जाता है कि एक समय, ग्रीष्म-ऋतु में, सूर्य की प्रचंड उष्णता से व्याकुल होकर राजा ने अपने सेवकों को सूर्य को दंड देने की आज्ञा की। परंतु इस आज्ञा से अप्रसन्न होकर नगररक्षक देवी 'बजाग' ने नगर के नाश हो जाने का शाप दिया। उसी समय से इस नगर का दुर्दशा-ग्रस्त होना शुरू हुआ है। परंतु धन्यपाल किस राजवंश का राजा था, इसका कुछ पता वहाँ के लोग नहीं बतला सकते, और न इतिहास से ही इसका कुछ पता चलता है। कुछ लोगों का यह अनुमान है कि यह ग्वालियर के तँवरवंशीय राजा मानसिंह के भांजे थे। वह नित्य सिंधु-नदी में प्रातःकाल स्नान करके, अपने घोड़े पर सवार होकर, ग्वालियर-दरबार में जाते और संध्या के समय वापस जाकर पुनः सिंधु में स्नान करते थे। परंतु इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। पुण्यपाल नाम का एक प्रतापी राजा परमार-वंश में अवश्य हुआ है। अतएव बहुत संभव है, पवाया में क़िले का जो वर्तमान भग्नावशेष भाग और घाट दृष्टिगोचर होता है, उस क़िले और घाट का परमार-राजा पुण्यपाल के राजत्व-काल में ही निर्माण हुआ हो। ये सब जन-श्रुतियाँ कहाँ तक सत्य हैं, यह कहना तो कठिन है; परंतु यह बात तो निश्चय है कि वर्तमान पवाया, एक प्राचीन राज्य की राजधानी पद्मावती का अवशिष्टांश अवश्य है।

अब पवाया की भूमि की परीक्षा कीजिए। वर्षा-ऋतु में, पानी बरसने से ज़मीन के धुल जाने पर, बहुत-से सिक्के भी वहाँ पाए गए हैं। इन सिक्कों को गर्दे साहब ने साफ़ किया, और कनिंघम साहब की प्रसिद्ध पुस्तक 'मध्यकालीन भारत के सिक्के' में दिए हुए चित्रों से इनका मिलान किया, तो पता चला कि ये सिक्के नाग-वंशीय राजों के समय के हैं। कुल ३० सिक्कों की गर्दे साहब ने परीक्षा की, जिनमें से २० तो गणेंद्र तथा ६ देव या देवेंद्र के समय के पाए गए, और १ स्कंद के समय का। बाक़ी ३ इतने ख़राब थे कि उनके ऊपर लिखे हुए अक्षर पढ़े नहीं जा सके। प्रयाग के क़िले में जो शिला-लेख समुद्रगुप्त के समय का मौजूद है, उसमें गणेंद्रनाग का उल्लेख है। इससे यह कह सकते हैं कि यह नगर उसी समय का है, अर्थात् चौथी शताब्दी में यह विद्यमान था।

इनके अलावा जो मूर्तियाँ वहाँ पाई गई हैं, उनसे भी पता चलता है कि वे पहली अथवा दूसरी शताब्दी की ही हैं। क़िले के फाटक से कुछ ही दूर पर एक मूर्ति यक्ष मणिभद्र की पड़ी मिली है। यह मूर्ति सफ़ेद पत्थर की है, और इसकी ऊँचाई गर्दन से पैर तक ४ फुट १० इंच है। सिर इसका खंडित है। दाहना हाथ भी खंडित हो



यक्ष मणिभद्र की मूर्ति

गया है, और बाएँ हाथ का भी कुछ भाग टूटा है। इस मूर्ति के यज्ञोपवीत पड़ा हुआ है। मूर्ति को पीठ की ओर से देखने से जान पड़ता है कि उसके गले में कुछ आभूषण भी हैं। जिस पत्थर पर मूर्ति खड़ी है, उस पर एक लेख भी खुदा है। यह लेख संस्कृत-गद्य में है, और उसमें छः पंक्तियाँ हैं। लेख की शैली से विदित होता है कि वह पहली अथवा दूसरी शताब्दी में खोदा गया था। उससे यह भी मालूम होता है कि इस मूर्ति की स्थापना राजा शिवनंद के राजत्व-काल के चौथे वर्ष, ग्रीष्म-ऋतु के दूसरे पक्ष के बारहवें दिन हुई। जो लेख मूर्ति के नीचेवाले पत्थर पर अंकित है, वह इस प्रकार है—

१. राज्ञः स्वामिशिवनंदिस्य संवत्सरे चतुर्थे ग्रीष्मपक्षे द्वितीये २ दिवसे

२. द्वादशे १०२ एतस्य पूर्वाये गोष्ठ्या मणि-भद्रभक्ता गर्भसुखिताः भगवतो

३. मणिभद्रस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापयन्ति गोष्ठर्य भगवा आयु बल वाच्य कल्याणभ्यु-

४. दय च प्रीतो दिशतु ब्राह्मणस्य गोतमस्य कुमारस्य ब्राह्मणस्य रुद्रदासस्य, शिवत्तदाये

५. समभूतिस्य जीवस्य खजवलस्य शिवनेमिस्य शिवभद्रस्य कमकस्यधतदे-

६. वस्यदा।

जिन राजा शिवनंद के राजत्व-काल में यह लेख लिखा गया, उनका पता अभी तक किसी इतिहास में पाया नहीं जाता। अतएव राजा शिवनंद का ठीक-ठीक काल-निर्णय होने में कठि-नाई अवश्य है।

एक दूसरी मूर्ति भी ताड़-वृक्ष के आकार की, पवाया-गाँव से उत्तर-पश्चिम एक मील की दूरी पर, एक खेत में, पार्वती-नदी के उत्तरीय किनारे पर पाई गई है। यह मूर्ति भी सफ़ेद पत्थर की है, और बड़ी सुंदर है। मूर्ति में पत्तों की तीन पंक्तियाँ हैं। नीचे की पंक्ति बिलकुल खिलकर नीचे की ओर ही लटक रही है। बीच की पंक्ति आधी खिली है, और ऊपर की पंक्ति कली के आकार में खड़ी हुई है। पत्तों के बीच में कुछ फूलों के गुच्छे लगे हैं, और एक पत्ते पर एक सिंह की मूर्ति भी विराजमान है।

इसी मूर्ति के पास एक टीला पाया गया है, जिसकी खुदाई का काम गर्दे साहब ने अभी हाथ में लिया है। जितना भाग खोदा जा चुका है, उससे पता लगता है कि यह टीला एक बड़े भारी प्राचीन मंदिर के गिर जाने से बना है। उस स्थान के खोदे जाने पर भू-गर्भ से ईंटों और पत्थरों की अनेक मूर्तियाँ देवता, पशु और पक्षियों की पाई गई हैं। टीले का अभी एक ही भाग खोदा गया है। अन्य भागों के खोदे जाने पर, आगे चलकर बहुत



ताड़-वृक्ष की मूर्ति, जो मौज़ा पवाया के पास एक खेत मे मिली

संभव है, उसमें से और भी पुरातत्त्व की उपयोगी सामग्री प्राप्त हो, जिससे उस स्थान-संबंधी बातों पर कुछ विशेष प्रकाश पड़े।

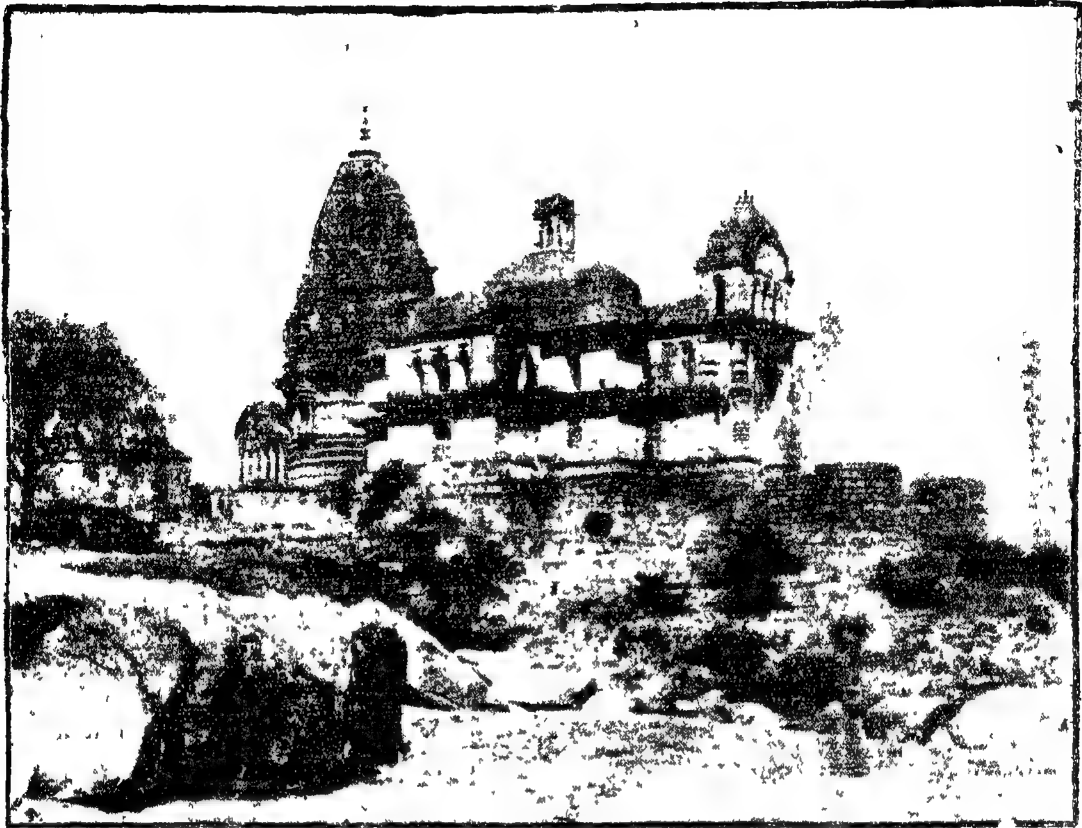
इनके अलावा और भी कई मूर्तियाँ यहाँ पाई गई हैं, जो पहली अथवा दूसरी शताब्दी से लेकर सातवीं या आठवीं शताब्दी के बीच की, गुप्त-राज्यकाल की, प्रतीत होती हैं। जो इमारतें वहाँ पर हैं, वे उसके बाद की जान पड़ती हैं। स्थानीय दशा को देखकर कहना पड़ता है कि क़िले की बुनियाद परमार-राजा पुण्यपाल के राज्य-काल मे पड़ी होगी; परंतु बाद को नरवर के कछवाहों ने उसे और दृढ़ किया होगा। मौजूदा क़िले के खँडहर ४० एकड़ भूमि में हैं। महलात सब गिर गए हैं, और इस समय क़िले के आसपास बहुत घना जंगल है।

यह स्थान मुसलमानों के अधिकार में भी रहा होगा; क्योंकि पवाया में इस समय पाँच मक़बरे और एक मसजिद भी है। यह मसजिद और मक़बरे गाँव से क़रीब एक मील की दूरी पर है। इनकी बनावट मुग़ल राज्य के आरंभिक काल की जान पड़ती है।

पवाया-गाँव से दक्षिण पश्चिम दो मील पर धूमेश्वर-महादेव का मंदिर सिंधु-नदी के जल-प्रपात के निकट है। इस मंदिर की बनावट सत्रहवीं शताब्दी की प्रतीत होती है। कहा जाता है कि बादशाह शाहजहाँ के राजत्व-काल मे ओरछा के राजा वीरसिंहदेव ने इसे बनवाया था।

सिंधु और महुअर-नदी के संगम पर, पवाया से दो मील पूर्व, एक चबूतरे पर महादेव का एक लिंग स्थापित है। बहुत संभव है, 'मालती-माधव' मे भवभूति ने जिन "स्वर्ण-बिंदु"-महादेव का उल्लेख किया है, वह यही स्थल हो। वहाँ की वर्तमान स्थिति को देखकर यह निश्चय-रूप से कह सकते है कि लिंग तो अवश्य प्राचीन है; परंतु चबूतरा आधुनिक काल का है। बहुत संभव है, प्राचीन स्थान का किसी ने जीर्णोद्धार कराया हो।

ऊपर जो प्रमाण दिए गए हैं, उनके आधार पर यह कह सकते हैं कि जिस स्थान का वर्णन भवभूति ने आठवीं शताब्दी में, अपने नाटक 'मालती-माधव' मे किया, वह पद्मावती-नगरी यही है। यहा के खँडहर और मूर्तियों को देखकर यह भी कहा जा सकता है कि इस स्थान पर, पहली या दूसरी शताब्दी से गुप्त-राजत्व-काल के अंतिम समय तक, एक विशाल नगर आबाद था, और बहुत अच्छी दशा में था। नाग-राज्य के समय के सिक्कों से इस बात का भी पता लगता है कि यह स्थान नाग-राजों की राजधानी रहा है। आख्यायिकाओं से भी यह अनुमान किया जाता है कि परमार और कछवाहों ने भी यहां राज्य किया होगा; और मक़बरे तथा मसजिदों के आधार पर यह कहना भी कुछ असंगत न होगा कि पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी मे यह नगर मुसलमानों के भी अधिकार मे था।



धूमेश्वर-महादेव का मंदिर

गर्दे महोदय इस स्थान के खुदवाने के प्रयत्न में हैं। यदि ग्वालियर-सरकार ने इसके खोदे जाने की स्वीकृति दे दी, तो नागवंशीय राजों के इतिहास की बहुत-सी सामग्री प्राप्त हो जाने की संभावना है।

यह लेख श्रीयुत गर्दे महाशय के लिखे हुए एक नोट एवं स्वयं उनकी बतलाई हुई अनेक बातों के आधार पर लिखा गया है। अतएव हम गर्दे महोदय के बहुत कृतज्ञ हैं।

सूर्यकुमार वर्मा

निर्वेद

मिलि जैहैं धूरि मैं धराधर धरातल हूँ,
काल-कूट सागर-सलिल को उलीचिहै ;
बड़े-बड़े लोक-पाल, विपुल विभवबारे,
पल मैं बिलैहैं, ज्यों बिलाती बारि-बीचि है।
"हरिऔध" बात कहा तुच्छ-तनधारिन की,
कबों मेदिनी हूँ मीच-भय ते आँख मीचिहै ;
सरस बसंत ह्वै बिरस सरसैहै नाहिं,
बरस सुधा-रस सुधाकर न सींचिहै।
सारे लोक लोकपाल-सहित बिलोप ह्वैहैं,
कुल-कलानिधि काल-गाल मैं समावैगे,
तारकता तजि तजि तारक तिरोहित ह्वै,
प्रलय-पयोधि मैं बबूले पद पावैगे।
"हरिऔध" देव, देव-लोक हूँ दुरैंगे कहूँ,
दिवि मैं दिवापति न दिपति दिखावैगे ;
मिलि जैहैं सारे भूत-हीन पंचभूत माँहि,
एक दिन पंचभूत भूत बन जावैगे।
बासर बड़े हैं, पै अबासर बनेंगे बिधि,
लोमसता आव की लौं लोमस दिखावैगे।

चिरजीवी जेते हैं, न तेऊ चिरजीवी रहैं,
कैसे चिरजीवन जगत जीव पावैंगे।
"हरिऔध" अमरावती न अमरावती है,
सारे लोक काल के उदर में समावैंगे;
कौन है अमर? है अमरता-निवास कहाँ?
एक दिन अमर अमर मर जावैंगे।
चल-फिर तक न सकैं हैं परे हैं फेर माँहिं तऊ,
बार-बार फेरे पाप-पथ ते फिरें नहीं;
घरी-घरी घर के घनेरे दुख घेरे रहैं,
तब हूँ रुचिर राग घेरे ते घिरे नहीं।
"हरिऔध" आयु-भोग-भाजन भरत जात,
चित भीरुता ते तऊ उमरि भिरे नहीं;
गई आँखि, तऊ आँखि होति आँखिवारन की,
गिरे दाँत, तऊ दाँत विष के गिरे नहीं।
ऐसी ही लसैगी हरिआरी हरे रूखन मैं,
ऐसी ही ललामता ललित लता लहिहै।
ऐसोई करैंगे कूजि कूजि कल गान खग,
सुमन-सुरभि लै समीर मंजु बहिहै।
"हरिऔध" एक दिन तू हूँ आँखि मूँदि लैहै,
ऐसी ही रहैगी मोदमयी जैसी महि है;
ऐसी ही चमकि चारु चाँदनी चुरैहै चित,
ऐसोई हँसत मंद-मंद चंद रहिहै।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

धर्म



र्म में बिजली की शक्ति है। इसके नाम पर करोड़ों मर मिटे हैं, और न-जाने कितने मर मिटेंगे धर्म के नाम पर खून की नदियाँ बह चुकी हैं, और बड़े-बड़े शहर उजड़ गए हैं। संसार में जितनी बड़ी-बड़ी जातियाँ हैं, उनमें हिंदू-जाति का खासकर यह दावा है कि वह धर्मप्राण है; परंतु हिंदू-जाति की इस समय अवनति हो रही है—वह घट रही है, और सभी प्रकार से दुःखी, दरिद्र तथा नष्ट हो रही है। तब प्रश्न यह उठता है कि धर्म से ही पतन और दुःख उत्पन्न होता है या किसी दूसरे कारण से? आजकल धर्मात्मा दुःखी और अधर्मी सुखी दिखलाई पड़ते हैं। तो क्या दुःखों का कारण धर्म ही है या उसका अज्ञान? यदि हम उसका ठीक ठीक अर्थ समझने लगें—उसके रूप का ज्ञान प्राप्त कर लें—तो सब दुःखों से सरलता-पूर्वक बच सकते हैं। इस लेख में धर्म के कुछ विशेष अंगों की चर्चा करके, 'गीता-रहस्य' की सहायता लेकर, यह बतलाने का प्रयत्न किया जायगा कि धर्म यथार्थ में क्या है, और उससे स्वार्थ और परमार्थ, दोनों की सिद्धि कैसे हो सकती है।

धर्म की व्याख्या कई तरह से की गई है—(१) "धारणाद्धर्ममित्याहुः"—जिससे (प्रजा का) धारण होता है, वही धर्म है, (२) अधिकारी पुरुषों के द्वारा किसी काम को करने और न करने की प्रेरणा की आज्ञा भी धर्म का स्वरूप है—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, (३) "परोक्षार्थस्य दर्शकम्" अर्थात् धर्म-अधर्म का संदेह होने पर अदृष्ट तथा भविष्य की बातों को जो आँखों के सम्मुख खड़ा कर दे, वही धर्म है। इससे मालूम हो सकता है कि जो धर्म पतित का उद्धार न कर सके, बिगड़े का सुधार न कर सके, निर्बल को आश्रय न दे सके, अनुताप करनेवाले दुराचारी को अभय-दान न दे सके, निराशा और आलस्य को दूर कर उत्साह और कर्मण्यता न सिखा सके, और अंधकार से प्रकाश में न ले जावे, वह धर्म नहीं है। धर्म का उपयोग केवल दो कामों के लिये होता है—एक तो मोक्ष के लिये, और दूसरा सर्वभूत-हित अथवा समाज-धारण के लिये। इन दोनों में से जो धर्म एक भी काम न कर सके, वह धर्म नहीं हो सकता। ढकोसले का नाम धर्म नहीं है, और सनातन-धर्म का भी अर्थ अंधपरंपरा अथवा "बाबावाक्यं प्रमाणम्" नहीं है। जो त्रिकाल सत्य है, वही सनातनधर्म है।

धर्म दो प्रकार का होता है—एक पारलौकिक अथवा मोक्ष-धर्म, और दूसरा सांसारिक अथवा व्यवहार-धर्म। वैदिक अथवा सनातनधर्म हिंदुओं का, ईसाई धर्म ईसाइयों का, पारसी मत पारसियों का और मुहम्मदी मत मुसलमानों का मोक्ष-धर्म है। मित्र के साथ खास तरीक़े से बर्ताव करना, जाति-कुटुंब में विशेष प्रकार का व्यवहार रखना, राजा से विशिष्ट रूप का संबंध रखना आदि लौकिक या व्यावहारिक धर्म है। सारांश यह कि धर्म-शब्द में दो प्रधान बातों का समावेश किया

गया है। मनुष्य को दोनों प्रकार के धर्म—आत्मकल्याण और प्रपंच-साधन—की आवश्यकता है। एक से उसका आत्मकल्याण सिद्ध होता है, और दूसरे से आत्मकल्याण सिद्ध करने का साधन सुलभ होता है।

धर्म के तत्त्वों के दो विभाग होते हैं—एक विशेष आदर्श अथवा देव-धर्म, और दूसरा साधारण, व्यावहारिक, बहुजन-साध्य या मनुष्य-धर्म। आदर्श धर्म सिखलाता है, हमें क्या होना चाहिए; और व्यावहारिक धर्म बतलाता है, हम क्या हो सकते हैं। आदर्श धर्म-पालन से समर्थ परशुराम माता की हत्या कर पापी नहीं हो सकते; परंतु साधारण मनुष्य अपनी माता की हत्या करने से पापी हो जाता है। राजा हरिश्चंद्र और बलि अपने राज-पाट का दान कर सकते हैं; परंतु प्रत्येक व्यक्ति घर लुटा दे, तो यह मूर्खता होगी। सामान्य धर्म गुरु-भक्ति और माता-पिता की सेवा सिखलाता है; परंतु प्रह्लाद के लिये गुरु-भक्ति और माता-पिता की सेवा धर्म नहीं। यदि प्रत्येक साधारण मनुष्य हँसते-खेलते आदर्श धर्म को सिद्ध कर ले, तो उस आदर्श की कल्पना करनेवाली बुद्धि की हीनता मालूम होती है। इसीलिये परम बुद्धिमान् शास्त्रकारों ने कथा, उदाहरण और नियमों के द्वारा जो आदर्श बनाए हैं, वे अगम्य भी हैं।

धर्म के दस लक्षण बतलाए गए हैं—संतोष, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इंद्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। महाभारत के वनपर्व में धर्म आठ प्रकार का बतलाया गया है—कर्ममार्ग—यज्ञ, वेदाध्ययन, दान और तप; नीतिमार्ग—सत्य, क्षमा, इंद्रियदमन और निर्लोभ। पहला मार्ग कम श्रेष्ठ है, दूसरा अधिक; क्योंकि अधार्मिक मनुष्य भी दंभ के लिये यज्ञ, वेदपाठ, दान, तप कर सकता है; परंतु सत्य, क्षमा, दम और निर्लोभ ढोंग से नहीं आ सकते। इन पर आगे चलकर कुछ विस्तार-पूर्वक विचार किया जायगा। विवाद-ग्रस्त प्रसंगों पर तर्क और बुद्धि तब तक काम नहीं देती, जब तक आत्मा और विवेक-शक्ति अत्यंत निर्मल न हो जायँ। पर मनुष्य की आत्मा साधारण धर्म और अधर्म को पहचान सकती है। चोरी और हत्या करते समय उसके मन में दूसरे भाव उत्पन्न होते हैं, और दान या प्राण-रक्षा करते समय दूसरे।

धर्म और पाप की जाँच अथवा निर्णय करने के लिये बहुत-से साधारण नियम बना दिए गए हैं। इसलिये अनेक अंशों तक सामान्य बुद्धिवाले मनुष्य भी तर्क से धर्म और अधर्म को पहचान सकते हैं। नियम ये हैं—(१) आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च—आचार और साधुओं के मन को संतोष देना धर्म है (मनु)। (२) मनःपूतं समाचरेत्—मन को (और सात्त्विक बुद्धि को) जो पवित्र और अच्छा मालूम हो, वही कार्य करना चाहिए। (३) वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः—वेद, स्मृति, शिष्टाचार और अपनी आत्मा को प्रिय मालूम होना, ये धर्म के चार मूल तत्त्व हैं। (४) सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः—सत्पुरुष लोग अपने अंतःकरण ही की गवाही को प्रमाण मानते हैं। (५) यदन्येषां हितं न स्यात् आत्मनः कर्मपौरुषम्; अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात् कथंचन—हमारे जिस कर्म से लोगों का हित नहीं हो सकता, अथवा जिसके करने में स्वयं अपने ही को लज्जा मालूम होती है, उसे कभी न करना चाहिए। (६) धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च—जिसका परिणाम दुःखकारक होता है, उस धर्म को छोड़ देना चाहिए।

धर्म का आचरण दो विभागों में बाँट दिया गया है—एक विधि-धर्म, और दूसरा निषेधात्मक धर्म। धन संग्रह करना चाहिए, यह विधि-धर्म है; चोरी से धन संग्रह न करना चाहिए, यह निषेधात्मक धर्म है। इसी कारण धर्माचरण के दो मार्ग भी बन गए हैं—एक प्रवृत्ति-प्रधान और दूसरा निवृत्ति-प्रधान। गृहस्थाश्रम में रहकर संसार में परम कल्याण सिद्ध करना प्रवृत्ति-प्रधान धर्म है, और सांसारिक कर्मों को बिलकुल छोड़कर आत्मकल्याण साधन करना निवृत्ति-प्रधान धर्म है। प्रवृत्ति से सृष्टि की उत्पत्ति और रक्षा, तथा निवृत्ति से विश्व का क्षय होता है। उदासीनता, वैराग्य और कर्मत्याग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग का महत्त्व अधिक है। प्रपंच पर विजय प्राप्त करना अधिक वीरता का द्योतक है; उससे दूर रहना केवल अपना स्वार्थ-साधन है। ईश्वर के जितने अवतार हुए हैं, उनका उद्देश्य जंगलों में जाकर जप-तप करना नहीं था, बल्कि संसार में साधारण मनुष्यों की तरह रहकर जन-साधारण का हित-साधन करना, कर्म

का मार्ग बतलाना और अपनी लीला से धर्म का मर्म समझाना था।

धर्म और अधर्म के आचरण का परिणाम क्रमशः सुख और दुःख अवश्य होता है। आस्तिक लोग इसे ईश्वर का दंड समझते हैं, और नास्तिक इसे नैसर्गिक नियमों के उल्लंघन का फल। कोई कुछ भी समझे; परंतु दुष्कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। यदि किसी देश में व्यभिचार अनुचित समझा जाता है, तो वहाँ का व्यभिचारी समाज से दंड पाता है ; यदि किसी देश में व्यभिचार अनुचित नहीं समझा जाता, तो भी वहाँ का व्यभिचारी दंड से बच नहीं सकता। उसे भी भयंकर बीमारियों की पीड़ा सहनी पड़ती है। ईश्वर और प्रकृति के नियम में कोई भेद नहीं।

युग-धर्म का महत्त्व बहुत अधिक है। सतयुग में मनुष्य की आयु बड़ी होती थी; वे सैकड़ों और हज़ारों वर्ष तक जीते थे। त्रेता और द्वापर में आयु और शक्ति क्षीण होती गई। इसलिये क्रमशः चारों युगों के लिये धर्म के चतुष्पाद—तप, ज्ञान, यज्ञ और दान—की कल्पना की गई थी। प्रत्येक युग के लिये भिन्न-भिन्न धर्मों की विशेषता बतलाकर शास्त्रों में कहा गया है कि सब शुभ कर्म सभी युगों में करने-योग्य हैं—पुरुषार्थी जीव के लिये न कलियुग होता है, न सतयुग। परंतु शास्त्रों के अनुसार इस युग में मनुष्य की शक्ति और आयु की मर्यादा बहुत कम है। इसकी सत्यता प्रत्यक्ष भी है। अतएव कोई कार्य करते समय कार्य-शक्ति और आयु पर ध्यान रखना चाहिए। पुरुषार्थ इसी में है कि आधा-पूर्ण आयु तथा परिमित शक्ति के द्वारा भी हित-साधन कर लिया जाय। यदि ग्रीष्म ऋतु में वर्षा-ऋतु के कार्य किए जायँ या शिशिर में ग्रीष्म के, तो सफलता की आशा नहीं। युग-धर्म के प्रभाव और महत्त्व को सदा ध्यान में रखना चाहिए। धर्म-प्राण हिंदू-जाति पतित हो गई है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि वह सच्चे धर्म को ही भूल रही है। धर्म के तत्त्व कभी नहीं बदलते; परंतु रूढ़ियाँ सदैव बदलती रहती हैं। जब लोग रूढ़ियों को ही धर्म मान बैठते हैं, और समयानुसार उनमें परिवर्तन नहीं कर सकते, तो पतन होना अनिवार्य हो जाता है। जीवन और गति का ही नाम धर्म है, मृत्यु और स्थिरता का नहीं।

आपत्ति-धर्म को भूल जाने से मनुष्य अपनी मनुष्यता खोकर काल का ग्रास बन जाता है। साधारण अवसरों के लिये जो धर्म है, वह कठिन तथा विशेष प्रसंगों में लागू नहीं हो सकता। ब्राह्मणों के लिये सेवा-वृत्ति वर्जित है; परंतु विपत्ति के समय नौकरी और जीविका के निकृष्ट मार्ग भी उनके लिये बतलाए गए हैं। विश्वामित्र और वामदेव ऋषि ने कुत्ते का मांस खाकर अपनी रक्षा की थी। प्राण के न रहने पर धर्माचरण का साधन ही नष्ट हो जाता है।

अति-धर्म में दोष रहता है। वह साधारण मनुष्य के लिये नहीं है। राजा बलि का दान, राजा हरिश्चंद्र का सत्य-प्रेम, राजा दशरथ का प्रतिज्ञा-पालन इत्यादि धर्म की आदर्श कल्पना की सीमा है। अत्यंत अधिक सद्‌गुण से संसार का नित्य-कार्य बिगड़ जाता है। धर्म सभी परिस्थितियों में क्षमा, दान, सत्य-प्रेम और अहिंसा कदापि नहीं सिखलाता। अधर्मी को दंड देना ही सच्चा धर्म है। इस बात को रामचंद्रजी जानते थे कि अहिंसा परम धर्म है, क्षमा के समान दूसरा तप नहीं है, और शरणागत को उदारता-पूर्वक अभय-दान देना चाहिए ; परंतु उन्होंने जयंत की आँख फोड़ ही दी, और ताड़का—एक स्त्री—की हत्या कर डाली। क्यों ? केवल इसलिये कि वह यह भी जानते थे कि आततायी और बदमाश को दंड देना भी धर्म है—इनको क्षमा-प्रदान करने से लोक-मर्यादा नष्ट होती है। धर्म और अधर्म का निर्णय, नियमों की कसौटी की अपेक्षा, कर्ता की बुद्धि और कर्म के परिणाम से अधिक उत्तमता से हो सकता है। प्रसंगानुसार झूठ बोलना, क्रोध करना, बदला लेना तथा अन्य बुरे काम करना भी धर्म बन जाता है। अति-धर्म और देव-धर्म जन-साधारण के लिये वर्जित है।

मुख्य धर्म आचार ही है। आचार और कर्म तीन प्रकार के होते हैं—मानसिक, वाचिक और कायिक। सिद्धांतों की उत्पत्ति विचार से, प्रचार कथन से और सार्थकता कार्य-रूप में परिणत करने से होती है। इसीलिये "आचारः परमो धर्मः" (मनु) और "आचारप्रभवो धर्मः" (महाभारत) कहा गया है। मुक्ति के लिये अनेक सिद्धांत हैं ; जैसे कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, संन्यासयोग, सगुण ब्रह्म-उपासना, निर्गुण ब्रह्म-उपासना इत्यादि। परंतु इनमें से जिस मनुष्य को जो सिद्धांत प्रिय हो, उसके अनुसार कार्य किए बिना

इसकी मुक्ति नहीं हो सकता। जब तक सिद्धांत केवल शब्दों में रहते हैं, तब तक उनसे कोई लाभ नहीं हो सकता। इसलिये धर्म का सच्चा अर्थ समझनेवाले पुरुष अपनी रुचि, योग्यता, अवस्था और परिस्थिति के अनुकूल बातों के साथ कुछ काम भी किया करते हैं। इसीलिये गोसाईंजी ने कहा है—"पर उपदेश कुशल बहुतेरे ; जे आचरहिं ते नर न घनेरे।" मनुष्य-मात्र के लिये धर्म एक ही है। कबीरदास-जी कहते हैं—आए एकहि ठौर ते, उतरे एकहि घाट ; अपनी-अपनी बुद्धि से, हो गए बारहबाट। हिंदू, मुसल-मान, ईसाई, पारसी, जैन आदि भिन्न-भिन्न संप्र-दायों में धर्म के उदात्त तत्वों की एकता पाई जाती है। चोरी, असत्य-भाषण और हत्या को कोई संप्रदाय धर्म नहीं कहता। धार्मिक खींचातानी तो धर्म-द्वेष, कट्ट-रता और संकीर्णता के कारण होती है। धर्म के मूल तत्व सभी संप्रदायों में एक हैं; परंतु स्वधर्म सब धर्मों से बढ़कर है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अपने धर्म के लिये मर जाना श्रेयस्कर है; पराया धर्म भया-नक होता है। मनु महाराज ने भी कहा है कि स्वधर्म बिगड़ा हुआ भी हो, तो भी पालन करने के योग्य है; और पराया धर्म संपूर्ण भी हो, तो भी उसका पालन करना उचित नहीं। रावण ने सच्ची शत्रुता का, अर्जुन ने मित्रता का, तुलसीदास ने भक्ति का, शुकदेव ने ज्ञान का, हनुमान् ने अनन्यता का, ध्रुव ने निश्चय का, नारद ने भजन का, मीराबाई ने सेवा का और राजा जनक ने कर्मयोग का मार्ग पकड़ लिया था। किसी भी एक मार्ग पर विश्वास-पूर्वक चलने से मनुष्य मुक़ाम तक पहुँच जाता है। यदि वह प्रतिदिन मार्ग बदलता रहे, तो रवाना होने की जगह पर ही सदैव भटकता रहेगा। सब धर्मों का लक्ष्य एक है—चाहे उसे आप मोक्ष और मुक्ति कहें, शांति और निर्वाण कहें, आत्म-ज्ञान और सिद्धावस्था कहें या और कुछ। परंतु अभीष्ट स्थान पर जाने के लिये कई मार्ग हैं—कोई पूर्व से, कोई पश्चिम और कोई अन्य दिशाओं से। भिन्न-भिन्न मत एक ही मुक़ाम पर पहुँचने के अनेक मार्ग तो हैं ; परंतु सभी मार्गों में जाने के बदले किसी भी एक मार्ग से लक्ष्य-स्थान तक पहुँचने में सुबीता होता है। इसीलिये स्वधर्म का—अपने मार्ग का—बड़ा महत्त्व है।

धर्म का आचरण क्यों करना चाहिए? जब हमें चोरी करने से धन मिल सकता है, तो हम उचित उपायों से धन क्यों कमावें? जब हम झूठी गवाहियों के द्वारा अप-राध से मुक्त हो सकते हैं, तो अपने सुख और स्वार्थ-सा-धन के लिये अपराध करने से क्यों चूकें? इसका उत्तर यही है कि अधर्म से नाश होता है, हानि और मृत्यु होती तथा दंड और पीड़ा की यंत्रणा सहनी पड़ती है। बुरे और अच्छे कर्म का फल एक नहीं हो सकता। यदि बुरे कर्मों से कोई धनवान् बन गया हो या सुखी दिखाई पड़ता हो, तो इसका अर्थ यह नहीं कि दुष्कर्म से धन, यश और सुख मिलता है। इसका रहस्य केवल इतना ही है कि पाप का घड़ा पूरा भरे बिना नहीं छलकता। जब उसके छलकने का समय आ जाता है, तब वह बड़े-से-बड़े शक्तिशाली को भी अपने साथ बहाकर ले जाता है। धर्मात्मा दुःखी दिखलाई पड़ते हैं, इसका कारण भी यही है कि परीक्षा में सच्चे उतरे बिना उनकी सचाई मालूम नहीं होती। जब कसौटी में कसे जाने पर भी वे अपने मत से नहीं डिगते, तब उनका धर्म-प्रेम यथार्थ और फल-दायक हो सकता है। जिसकी रक्षा धर्म करता है, उसे कोई मार नहीं सकता ; और जिस पर धर्म रूठ जाता है, उसे कोई आज तक बचा नहीं सका।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ;
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्। (मनु)

फल की आशा रखकर धर्म करना बुरी बात नहीं। स्वार्थ के बंधन में सारा संसार बँधा है। सुर-नर-मुनि में भी किसी-न-किसी दर्जे का स्वार्थ पाया जाता है। परंतु फल की आशा छोड़कर धर्म करना सीख जाने पर नीच-से-नीच और छोटे-से-छोटा प्रपंची मनुष्य भी महा-पुरुष एवं जीवन्मुक्त बन जाता है। द्रौपदी ने युधिष्ठिर से कहा था—"तुम धर्म ही को लेकर बैठे हो, जंगल में कष्ट उठा रहे हो ; और दुष्ट दुर्योधन वैभवशाली सम्राट् बना हुआ आनंद कर रहा है"। इसे सुनकर युधिष्ठिर ने एक मार्मिक उत्तर देते हुए कहा था—"हे सुंदरी, मैं जो धर्म का आचरण करता हूँ, सो धर्म-फल पर अर्थात् उससे होनेवाले सुख की प्राप्ति पर ध्यान देकर नहीं करता ; किंतु इस दृढ़ निश्चय के साथ करता हूँ कि धर्म, चूँकि वह धर्म है, इसलिये, सेवन करने-योग्य है। जो मनुष्य धर्म को एक प्रकार का व्यापार समझता है, वह हीन है ;

धर्म को माननेवाले लोगों में वह बिलकुल नीचे दर्जे का है।"

धर्म चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ;
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम्।

कर्तव्य की महत्ता का ज्ञान रखकर कर्तव्य-पालन करना सभी नैतिक आचरणों का सार है। किंतु अपने पर दृढ़ अधिकार रक्खे बिना यह नहीं हो सकता। सच्ची व्यवहार-निपुणता भी यही है—सत्कर्मों से मनुष्य को दूर न करे। अच्छे और बुरे कर्मों का फल तत्काल भले ही न मिले ; पर आगे चलकर कभी-न-कभी सबको अवश्य मिलता है। अस्तु।

मुक्ति के लिये जो भक्ति, ज्ञान, योग, कर्म आदि मार्ग बतलाए गए हैं, उन सबमें कर्मयोग का मार्ग सबसे कठिन तथा सब मार्गों से श्रेष्ठ है। तब मन में यह शंका होना स्वाभाविक है कि हम अन्य सरल मार्गों से क्यों न जायँ? इस शंका का उत्तर यही है कि यह संसार ही नहीं, अखिल ब्रह्मांड भी कर्ममार्ग के बल पर टिका हुआ है। यदि सूर्य और चंद्रमा दस-पाँच वर्षों के लिये अपना काम छोड़कर वैराग्य ले लें, तो क्या दशा होगी? यदि पृथ्वी को धारण करनेवाले भगवान् शेष अपना कर्म छोड़कर जप-तप करने कहीं अन्यत्र जाना चाहें, तो महाप्रलय होने में कितनी देर लगेगी? यदि सर्वभक्षी अग्निदेव अपना कर्म छोड़ दें, तो क्या दशा होगी? हमारे परमात्मा बैकुंठ-सरीखे परम पवित्र स्थान को छोड़कर बार-बार मनुष्य-अवतार क्यों धारण करते हैं? क्या उन्हें भी नौकरी-चाकरी और बड़ाई की लालसा रहती है? मतलब यह कि कर्म न तो छोड़ने की वस्तु है, और न किसी से वह छूट ही सकता है। कर्म से ईश्वर तक मुक्त नहीं है, फिर मनुष्य, साधु, योगी आदि का क्या कहना? "कर्म प्रधान विश्व करि राखा।" साधारण मनुष्य की कौन कहे, योगी और बड़े-बड़े ऋषीश्वर भी कर्म को छोड़ नहीं सकते। वे साँस लेते हैं, यह भी एक कर्म है ; वे जीते हैं, यह भी एक कर्म है ; वे संसार का उपकार करते हैं, यह भी एक कर्म ही है। कर्म-शून्यता भी तो एक कर्म है। इसलिये कर्मत्याग का ढोंग व्यर्थ है। त्याग करने की चीज़ तो कर्म का बंधन है। योगिराज भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से ही नहीं, बल्कि हिंदुओं और सारे संसार से कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ;
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।

अर्थात् "तेरा अधिकार कर्म करने-भर का है; फल (का मिलना या न मिलना) तेरे अधिकार में कभी भी नहीं; (इसलिये कर्म का) अमुक फल मिले, यह हेतु (मन में) रखकर काम न कर; और न तू कर्म न करने का आग्रह कर।"

पर जब कर्म किसी से छूट नहीं सकता, तब संन्यास का क्या अर्थ है? संन्यास का अर्थ है मनोविकारों का दमन करना, कर्म करते हुए भी उनमें आसक्ति न रखना, फल की आशा में लिप्त न रहना और सुख-दुःख, मानापमान, हानि-लाभ, स्त्री-पुरुष, जड़-चेतन आदि द्वंद्व-भावों में सम-बुद्धि रखना। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, अमीर-ग़रीब, छोटा-बड़ा, इस द्वंद्व-भाव का नाम ही संसार है। इस द्वंद्व-युक्त रचना में जो एकरूप परब्रह्म को देख सकता है, जो तराज़ू के पलड़ों की तरह समबुद्धि रख सकता है, वही संन्यासी है। इसी अवस्था का नाम सिद्ध-अवस्था है। इस अवस्था में जो व्यवहार होते हैं, उनमें "मैं अरु मोर तोर तैं माया" का भाव नहीं रह जाता। बस, यही जीवन-मुक्ति है। शास्त्रों ने सांसारिक कर्मों का त्याग कर मुक्ति प्राप्त करने की आज्ञा भी दी है; परंतु संन्यास लेने का अधिकार सबको नहीं है। जिसने अपने ऋणों की भराई नहीं की है, वह संन्यासी नहीं हो सकता।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ;
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः।

अर्थात् देव-ऋण, पितृ-ऋण और ऋषि-ऋण में से एक भी ऋण बाक़ी रह जाने पर जो मोक्ष के लिये संन्यास लेता है, वह नरक में जाता है ; और यदि तीनों ऋणों को चुका देने पर कोई संन्यासी हो ही जाय, तो वह क्या करे? सुनिए—

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्। (मनु)

अर्थात् सत्य और पवित्र वाणी बोले, निषिद्ध संकल्पों से मन को दूर रक्खे और परम पवित्र कार्यों में लगा रहे। भर्तृहरि ने भी कहा है—

"सेवाधर्मो परमगहनो योगिनामप्यगम्य"

अर्थात् लोक-सेवा करने का धर्म अपना कल्याण-साधन करनेवाले योगियों के लिये भी अत्यंत कठिन है। परार्थ ही जिनका स्वार्थ हो जाता है, वे योगी और साधु-संत सचमुच धन्य हैं।

उपर्युक्त बातों से सिद्ध हो गया कि संन्यास-मार्ग और कर्म-मार्ग, दोनों मोक्ष के दाता हैं ; परंतु लोक-संग्रह, प्रजा-धारण और सृष्टि-रक्षा के कारण संन्यास-मार्ग से कर्म-मार्ग श्रेष्ठ है। गृहस्थ आश्रम भिक्षा और दान देकर अन्य तीनों आश्रमों का पालन करता है, अतएव गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ आश्रम है। मनु महाराज ने कहा है—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ;
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि।

ऐसे महत्त्व-पूर्ण गृहस्थाश्रम के लिये जंगल में भाग जानेवाले जीव की अपेक्षा अपना कर्म करनेवाला मेहतर भी सफ़ाई, स्वास्थ्य-रक्षा और सेवा की दृष्टि से अधिक उपयोगी है।

पर कर्मयोग के मार्ग में कोल्हू के बैल की तरह आँखें मूँदकर कर्म ही नहीं करना है। इसमें ज्ञान, भक्ति और ईश्वरार्पण-बुद्धि की भी आवश्यकता है। कर्मयोग-मार्ग का प्राण विवेक-पूर्ण समबुद्धि है। हानि और लाभ होने पर दुःख और सुख, कुछ भी न होना चाहिए। विषय-वासना और प्रपंच का साधन करते हुए भी इनमें लिप्त न हो जाना चाहिए। कर्तव्य के आगे संकुचित स्वार्थ का बलिदान कर देना चाहिए। इसीलिये कर्म को कवियों ने कुटिल, कठोर और निर्दय कहा है। यदि किसी कर्मभार्गी नेता का पुत्र मृत्यु-शय्या पर पड़ा है, और उसे पूर्व निश्चय के कारण आज दूसरे स्थान में जाना है, तो वह नेता लड़के की बीमारी के कारण प्रवास को टाल नहीं सकता। परोपकारी लोग धर्मशाला अपने पैसे से बनवाकर लिख देते हैं "कृष्ण-हेतु।" इसका मतलब यही है कि अपने किए सत्कर्म को वे ईश्वर के नाम समर्पण कर देते हैं। लोगों को आश्चर्य मालूम होगा कि लड़का पैदा होने और उसके मर जाने अथवा महल बनकर तैयार होने और उसमें आग लग जाने में समबुद्धि कैसे रक्खी जा सकती है। हानि में दुःख और लाभ में सुख तो सबको ही होता है। अस्तु, समबुद्धि का मतलब यह नहीं है कि हर्ष या विषाद बिलकुल होवे ही नहीं। उसका आशय केवल इतना ही है कि हर्ष या विषाद में हम बिलकुल लिप्त न हो जायँ। कर्मयोग मार्ग के आचार्य परम योगी राजा जनक को भी क्षण भर के लिये, सीता की बिदा करते समय, दुःख मालूम हुआ था। वासनाओं का बिलकुल गुलाम बनना ही अवांछनीय है। अभ्यास से बुद्धि में अधिकाधिक समता धीरे-धीरे आ जाती है।

पर जिस हिंदू-जाति के पास ऊपर दिए हुए विचार-रत्नों का ख़ज़ाना है, वही रसातल की ओर जा रही है। कारण यह है कि मोक्ष-धर्म अथवा पारलौकिक धर्म की ओर तो अत्यधिक ध्यान दिया जाता है ; परंतु सांसारिक अथवा व्यवहार-धर्म पर दुर्लक्ष्य किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्राचीन हिंदू-जाति में अभी जीवित रहने की शक्ति बनी हुई है ; परंतु हम हिंदुओं के आगे इस समय जीवन-संबंधी बड़े-बड़े प्रश्न उपस्थित हो गए हैं। काल-चक्र तो अपने कठोर नियमों का पालन सदैव करता जायगा। पर यदि हम लोग यह समझ सकें कि धर्म मरने पर भी मित्र और साथी है, अतएव मनुष्य की जीवित अवस्था में वह शत्रु नहीं हो सकता ; मोक्ष जंगल में गए बिना भी मिल सकती है ; अकर्मण्यता और वैराग्य में बड़ा अंतर है ; संसार केवल असार नहीं है ; शरीर फेंक देने-योग्य मिट्टी का पुतला ही नहीं है ; केवल कर्म-त्याग और निवृत्ति ही धर्म नहीं है ; उत्तरदायित्व से भागना धर्म नहीं है, तथा पुरुषार्थी जीव को समय पर काम, क्रोध, हिंसा और असत्य की भी आवश्यकता रहती है, तो इसमें संदेह नहीं कि हम सच्चे धर्म का पालन कर सकते हैं, और सांसारिक प्रपंचों का साधन करते हुए अपनी मुक्ति को घर बैठे बुला सकते हैं। अस्तु, पारलौकिक धर्म के साथ लौकिक धर्म भी बड़ी महत्त्व-पूर्ण वस्तु है। हमारे पतन के जो थोड़े-से प्रधान कारण हैं, उनमें सबसे मुख्य कारण लौकिक धर्म और सांसारिक कर्म को घृणा की दृष्टि से देखना ही है।

अब हम धर्म के पहलुओं पर सांसारिक दृष्टि से विचार करेंगे, क्योंकि ऊपर के आदर्श तत्त्वों के साथ नीचे दी हुई बातों को मिलाकर देखे बिना धर्म के रूप का सच्चा दर्शन न होगा।

सभी अवसरों पर सत्य बोलना पाप और मूर्खता है। जिससे सभी की हानि हो, वह सत्य नहीं है। नारद-जी कहते हैं—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ;
यद् भूतहितमत्यन्त एतत्सत्यं मतं मम।

अर्थात् सच बोलना अच्छा है, परंतु सत्य से भी अधिक ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियों का हित हो ; क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यंत हित होता है, वही हमारे मत से सत्य है। निरपराधों की

जान बचाने के लिये झूठ बोलना उतना ही बड़ा धर्म है, जितना बड़ा पाप खूनी की प्राण-रक्षा के लिये झूठ बोलना है। जब चोर कटार लेकर छाती पर चढ़ बैठे, और पूछे कि तुम्हारा धन कहाँ है, तब सच बोलना ही पाप है। छोटे लड़के, पागल और बीमार आदमी, वकील, रोज़गारी, जासूस, मंत्री आदि सदैव सच नहीं बोल सकते। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन्हें सभी हालतों में झूठ बोलने का अधिकार है। शास्त्रकारों ने भी कहा है—

न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले ;
प्राणात्यये सर्वधनापहारे पञ्चानृतान्याहुरपातकानि ।

अर्थात् हँसी-दिल्लगी में, स्त्रियों के साथ, विवाह के समय, प्राण-संकट आने पर और संपत्ति की रक्षा के लिये झूठ बोलना पाप नहीं है।

क्रोध पाप का मूल है ; परंतु कर्तव्य और अकर्तव्य का भी विचार करना पड़ता है। महात्माओं और साधु-पुरुषों को भी क्रुद्ध होना पड़ता है, तथा द्वेष और प्रतिहिंसा का भी आश्रय लेना पड़ता है। कहा है—

अमर्षशून्येन जनेन जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः ।

अर्थात् जिस मनुष्य को, अपमानित होने पर भी क्रोध नहीं आता, उसकी मित्रता और द्वेष, दोनों बराबर है। जिस मनुष्य को अन्याय पर क्रोध नहीं आता, और जो अपमान को सह सकता है, वह पुरुष नहीं है—वह पुंस्त्व-हीन है। यथा—

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी ;
क्षमावान्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान् ।

संसार के काम सदा क्रोध आने और सदा क्षमा क्षमा चिल्लाने से नहीं चलते। अपमानित होने पर बदले का भाव आना पुरुषार्थ है।

अहिंसा परम धर्म है। किसी सचेतन-प्राणी को किसी प्रकार का दुःख न देना अहिंसा है। परंतु कोई रक्षक पास में न होने पर यदि कोई हमारी बहन-बेटी और स्त्री पर बलात्कार करना चाहे, हमारे घर में आग लगाने लगे, धन को लूटने लगे, और समझाने पर न माने, तो क्या करना चाहिए? अहिंसा का जप करना चाहिए, या मूसल और कुल्हाड़ी लेकर भिड़ जाना चाहिए? मनु महाराज कहते हैं—

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ;
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।

"ऐसे आततायी एवं दुष्ट मनुष्य को अवश्य मार डाले ; यह विचार न करे कि वह गुरु है, बूढ़ा है, बालक है या विद्वान् ब्राह्मण है।" ऐसी हत्या का पाप नहीं लगता; क्योंकि इस अवस्था में दुष्ट आदमी अपने अधर्म से ही मारा जाता है। कुछ अंशों तक ब्रिटिश न्याय-शासन में भी आत्मरक्षा का यह अधिकार स्वीकृत कर लिया गया है ; क्योंकि ऐसे प्रसंगों पर अहिंसा की अपेक्षा आत्मरक्षा का मूल्य अधिक होता है। धर्मशास्त्र से क़ानून भी अपने को अलग नहीं कर सकता।

काम, क्रोध, लोभ मनुष्य के शत्रु हैं, इन तीनों को नरक का द्वार कहा है। परंतु यदि प्राणिमात्र सौ-पचास वर्षों के लिये मृत्यु तक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर लें, तो सारी सजीव सृष्टि ही का अंत हो जाय। इसीलिये भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ—" अर्थात् हे अर्जुन, प्राणिमात्र में जो 'काम' धर्म के अनुकूल है, वही मैं हूँ। सृष्टि-क्रम की रक्षा करने के लिये तो स्वयं परमात्मा बार-बार अवतार धारण करते हैं। अतएव उचित सीमा के भीतर काम और क्रोध की बड़ी आवश्यकता है। शास्त्र इनका नाश नहीं करा डालना चाहते ; इनका दमन करना ही शास्त्रों का उद्देश्य है।

क्षमा के बराबर दूसरा तप नहीं है, और दया-हीन धर्म धर्म नहीं है। परंतु ये भी ऐसे गुण हैं, जिनका आचरण सदैव नहीं किया जा सकता। जहाँ न्याय की भीषण हत्या होती हो, समाज की मर्यादा का नाश होता हो, और लौकिक व्यवस्थाओं का उल्लंघन होता हो, वहाँ क्षमा और दया से काम नहीं चलता। भगवान् रामचंद्र ने जयंत को, अर्जुन ने अश्वत्थामा को और यमराज ने धर्मराज युधिष्ठिर को थोड़ा बहुत दंड दिया था। इसी तरह दुर्भिक्ष के समय, प्राण-रक्षा के लिये, विश्वामित्र का अभक्ष्य भोजन करना भी पाप का अपवाद है। प्रतिज्ञा-पालन के संबंध में महारथी अर्जुन की एक कथा है। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि जो कोई उन्हें उनका गांडीव धनुष त्याग करने को कहेगा, उसका सिर वह तुरंत काट डालेंगे। कर्ण से हार जाने पर युधिष्ठिर ने निराशा से अर्जुन से कहा—"तेरा गांडीव किसी

काम का नहीं; तू उसे छोड़ दे।" इसे सुनकर अर्जुन तलवार लेकर युधिष्ठिर को मारने के लिये दौड़ पड़े। तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को मूर्ख कहकर समझाया— "बड़ों की निंदा ही मृत्यु है, इसलिये तू सिर न काटकर युधिष्ठिर की भर्त्सना कर।" सारांश यह कि यहाँ ज्येष्ठ बंधु की रक्षा के सामने अक्षरशः प्रतिज्ञा-पालन करने का कोई मूल्य नहीं। एक बात और है। जिसमें शक्ति नहीं, उसकी क्षमावृत्ति कायरता है। जब सबल निर्बल को क्षमा-प्रदान करे, तभी क्षमा की शोभा है। "वृद्धा नारी पतिव्रता" के उदाहरण तो बहुत दिखलाई पड़ते हैं।

व्यवहार में 'जैसे के साथ तैसा' बर्ताव करना चाणक्य की ही नहीं, महाभारत और गीता की भी नीति है। शठ के साथ शठता किए बिना सभी हालतों में काम नहीं चलता। भीष्मपितामह कहते हैं—

यो यथा वर्तते यस्मिन् तस्मिन्नेव प्रवर्तयन् ;
ना धर्म समवाप्नोति न चाश्रेयश्च विन्दति।

"अपने साथ जो जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करने से न तो अधर्म होता है, और न अकल्याण।" गीता में भी कहा है—"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्", अर्थात् जो मुझे जैसा भजते हैं, उन्हें मैं वैसा ही फल देता हूँ। प्रतिकार न करना संन्यास-मार्ग है; परंतु वैर-भाव न रखकर कर्तव्य को समबुद्धि से करना कर्म-मार्ग की विशेषता है। दुष्ट के साथ हमें भी दुष्ट तथा नीच न हो जाना चाहिए। क्रोध को शांति से, वैर-भाव को प्रेम से और दुष्ट को साधुता से जीतना श्रेयस्कर है; परंतु अनिवार्य हो जाने पर साधुता और प्रेम का त्याग करना भी आवश्यक है।

ऊपर दिए हुए अपवादों से मालूम हो सकता है कि जो कार्य एक समय धर्म होता है, वह दूसरे समय अधर्म हो जाता है। प्रसंग के महत्त्व, परिस्थिति के मूल्य, कार्य के परिणाम, कर्ता के हेतु तथा समबुद्धि इत्यादि का धर्म और अधर्म-निर्णय करते समय पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। धर्म ज़िंदा करता है, मारता नहीं। धर्म की रूढ़ियों और बाह्य आचारों को आवश्यकतानुसार बदल देना पाप नहीं है। हिंदुओं का शुद्ध सनातनधर्म त्रिकाल अबाधित तत्त्वों के आधार पर बना है। इसीलिये उसका नाम भी सनातनधर्म है। हम लोग धर्म के नाम पर आडंबर, अज्ञान, अनर्थ और अत्याचार कर रहे हैं। समानता का सिंहनाद कर हम जाति-पाँति के भेद-भावों का समर्थन भी आवश्यकता से अधिक करते हैं, सामाजिक प्रायश्चित्त का उपयोग बदला निकालने में करते हैं। एक ओर शक्ति-पूजा का आदर्श है, दूसरी ओर भारतीय स्त्री-समुदाय का दयनीय चित्र है। धार्मिक रूढ़ियों और त्योहारों में हिंदुओं के आत्मारहित अस्थि-पंजर का दृश्य भी दिखलाई पड़ता है। सांसारिक समस्याओं को सरलता-पूर्वक सुलझा देनेवाली वर्णाश्रम-व्यवस्था आक्रमणों, आक्षेपों और अंधपरंपरा से जर्जर हो गई है। विवाह के पवित्र क्षेत्र में रोज़गार और दलाली का राज्य हो रहा है। तीर्थ-स्थानों और मंदिरों की दशा लज्जाजनक हो गई है। अस्तु, संगठन और समयानुसार परिवर्तन ही व्यक्तिगत और जातीय जीवन का अस्तित्व है। या तो हम आगे बढ़ें या पतित होकर नष्ट हो जायँ— एक ही स्थान में ज्यों-के-त्यों स्थिर नहीं रह सकते।

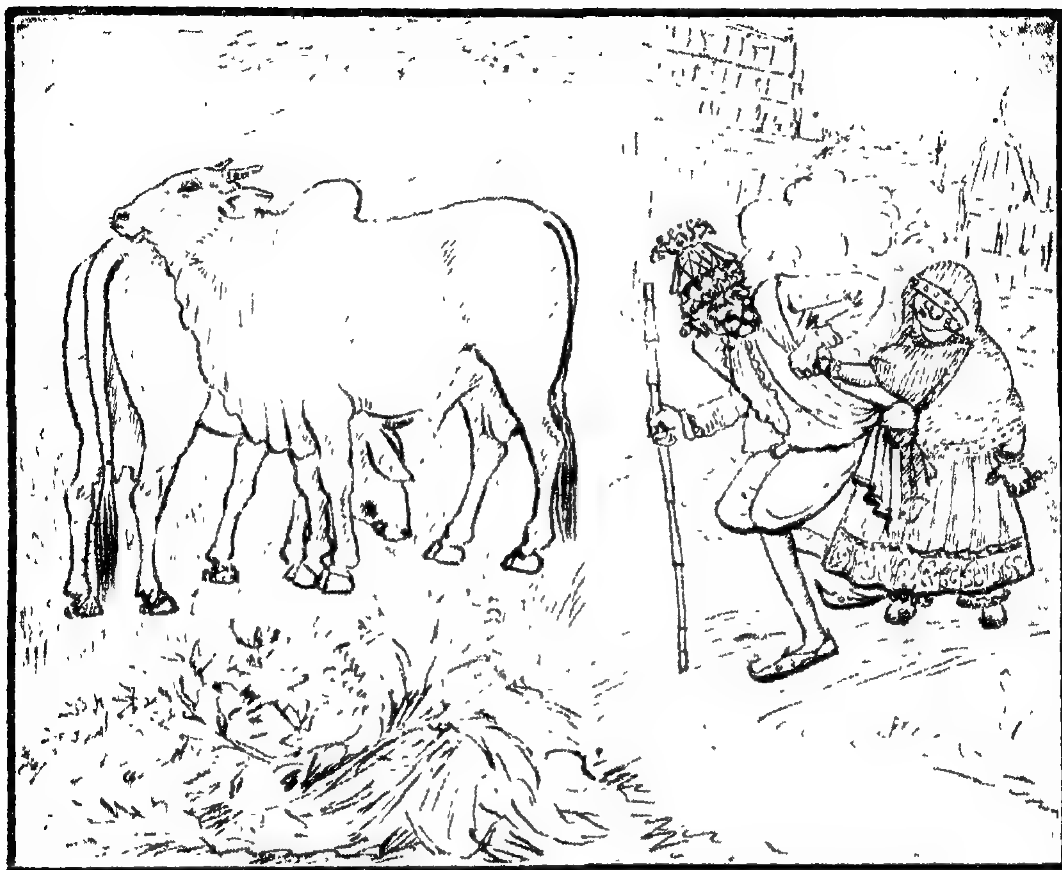
लेख समाप्त करने के पूर्व अब केवल एक बात पर विचार करना है, और वह यह कि मुक्त कौन हो सकता है? आत्मसाक्षात्कार का अधिकारी कौन है? शास्त्रकारों ने बतलाया है—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

अर्थात् (आत्मा और परमात्मा का रूप एक ही है) आत्मरूप का दर्शन प्रवचन और व्याख्यान से नहीं होता; बलहीन मनुष्य आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मदर्शन, आत्मसाक्षात्कार अथवा मुक्ति के लिये बल का होना आवश्यक है। अस्तु, ऊपर के श्लोकार्द्ध का अर्थ यदि सामयिकता की दृष्टि से किया जाय, तो कह सकते हैं कि कोरी व्याख्यानबाज़ी के द्वारा स्वराज्य न मिलेगा; और जब तक हिंदूसगठन-आंदोलन के द्वारा हिंदू-जाति में नए बल का संचार न होगा, तब तक दूसरी जातियाँ उसका गला घोंटने से बाज़ न आवेंगी। आत्मदर्शन, मुक्ति, धर्माचरण, स्वतंत्रता, गुलामी से उद्धार आदि बलवान् व्यक्तियों और समर्थ जातियों के हिस्से की चीज़ें हैं। बस, मुक्ति के संबंध में प्राचीन हिंदू-धर्म की फ़िलासफ़ी का यही सिद्धांत है कि जो बलहीन हैं, उन्हें मुक्ति पाने का कोई हक़ नहीं।

माधवप्रसाद श्रीवास्तव

पशु और नर-पशु



श्रीमती सरोजिनी नायडू

(उत्तरार्द्ध)

(२)



इस बात का संकेत कर चुके हैं कि श्रीमती सरोजिनी अपना समय अधिकाधिक राजनीतिक कार्यों में लगाती आई है, यहाँ तक कि आजकल उनका जीवन प्रायः संपूर्णतः राजनीतिक समस्याओं के निमित्त अर्पित है। हाँ, उनके व्याख्यानों का मनोहारिणी और अलंकृत भाषा तथा स्वयं उनका कथन, उनके राजनीतिक जीवन के मध्य में भी, हमें इस बात की याद दिला देता है कि श्रीमतीजी वास्तव में कवि है। यथार्थ में वह कवि-जीवन की कल्पनाओं को कार्य-रूप में परिणत करने का उद्योग करती हैं। कवि का उद्देश्य संसार को आदर्शों की शिक्षा देना है। श्रीमती सरोजिनी भारतीय जनता के सम्मुख उन महान् आदर्शों को प्रस्तुत करती हैं, जो सनातन हैं और जो केवल भारत के लिये ही नहीं, वरन् संसार-मात्र के लिये कल्याणकर हैं; और इसी कारण से कि आदर्शों की शिक्षा उनका ध्येय है, उन्होंने अपने को राजनीति की सूक्ष्मताओं में नहीं लिप्त होने दिया है। यह धारणा कि कवि के महान् कर्तव्य का परित्याग करके श्रीमती सरोजिनी ने अपने को राजनीति के पंक में डाला है, तुच्छ है। श्रीमतीजी अपने उद्देश्य से किसी भाँति च्युत नहीं हुई हैं; वह केवल कल्पना-क्षेत्र से कार्य-क्षेत्र में आ गई हैं। कोरी कल्पना से उनकी आत्मा को शांति नहीं मिली।

श्रीमती सरोजिनी ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करने का स्वयं कई बार प्रयत्न किया है। आपने अपने प्रयागवाले एक व्याख्यान में कहा था—

"मैं इस बात को बार-बार दुहराती हूँ कि मेरी स्त्री की बुद्धि राजनीति की गहन सूक्ष्मताओं को अवगत नहीं कर सकती। मैं तो केवल देश-प्रेम के उन महान् और सनातन सिद्धांतों को समझती हूँ, जिनसे प्रेरित होकर प्रत्येक नई पीढ़ी अपनी सेवा भारत-माता के चरणों पर अर्पित करती है, तथा उसके सम्मान को स्थायी रखने और उसके सुख की वृद्धि करने के लिये यत्नशील रहती है।"

मदरास के एक व्याख्यान में श्रीमतीजी ने इस बात को और भी स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा था—

"मुझसे लोग बार-बार पूछते हैं कि तुम कल्पना के हाथीदाँत के गुंबद से उतरकर बाज़ार में क्यों आ गई हो? तुमने कवि की वीणा और वंशी का परित्याग करके देश को स्वतंत्रता के युद्ध के लिये उत्तेजित करनेवाला बिगुल क्यों धारण कर लिया है? इसीलिये कि कवि का कर्तव्य गुलाब के बाग़ में, स्वप्न के मंदिर में, एकांत निवास करना नहीं है, उसे जनता के साथ रहना चाहिए—युद्ध की कठिनाइयों के बीच में रहना चाहिए।"

इसी से श्रीमतीजी निर्भीकता-पूर्वक राजनीति के क्षेत्र में उपस्थित हैं। राजनीतिक क्षेत्र में श्रीमती सरोजिनी की कृतियाँ भिन्नमुखी हैं, और हमारी नित्य-प्रति की जानकारी की वस्तु हैं। अतएव उनका सविस्तर वर्णन आवश्यक नहीं है। मदरास के उद्यमी प्रकाशक श्रीयुत जी० ए० नटेसन ने श्रीमतीजी के लेखों तथा व्याख्यानों का एक छोटा-सा संग्रह प्रकाशित किया है। यह संग्रह पूर्ण नहीं है, और न उनके सभी सर्वोत्तम व्याख्यानों का इसमें समावेश है, तथापि उसे देखने से इस बात का संकेत मिल जायगा कि अमुक विषयों में श्रीमतीजी की विशेष अभिरुचि है।

हिंदू-मुस्लिम एकता की आप बहुत बड़ी समर्थक हैं। यह एक ऐसा विषय है, जिस पर ज़ोर देने में आप कभी थकती नहीं; और कोई भी अवसर, जो इस एकता की पुष्टि के लिये उपयुक्त हो, वह हाथ से जाने नहीं देतीं। अपने निजी जीवन में मुसलमानों से जो आपने बहुत मेल-जोल बढ़ा रक्खा है, उसके कारण मूर्खों और कभी-कभी पढ़े-लिखे लोगों द्वारा भी आपको लांछना प्राप्त होती है; परंतु इस एकता में उनका विश्वास अटल है। हिंदुत्व का गर्व छोड़ने का वह कदापि परामर्श नहीं देतीं; साथ ही वह मुसलमानों से भेद-भाव बनाए रखने के विरुद्ध हैं। उनका यह उद्योग केवल भारतीय राजनीतिक आवश्यकता की दृष्टि से नहीं है, वरन् मनुष्य-मात्र के प्रति भ्रातृभाव के आदर्श के अनुशीलन का अंश है। मुसलमानों के प्रति उनका प्रेम, उनके धर्मग्रंथों का, उनके साहित्य और इतिहास तथा उनकी सभ्यता

का मनन करने का फल है। मुसलमानों के प्रति उनका अंध मोह नहीं है। मुसलमानों का प्रजा-सत्तात्मक प्रवृत्तियों को वह बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखती हैं, और अनेकों बार उन्होंने इस्लाम के आदर्शों की प्रशंसा की है। मुसलमानों से आपकी सच्ची प्रीति है। आप स्वयं इसका कारण बतलाती हैं—"मैंने भारत के खास मुसलमानी शहर में जन्म लिया है। मुसलमान धात्री की गोद में मेरा पालन हुआ है, जीवन में प्रथम शब्द, जो मेरे कानों में पड़े हैं, अमीर खुसरू की भाषा के थे......मेरी बाल्यावस्था के सभी साथी मुसलमान बालक-बालिकाएँ थीं।"

कुछ लोगों का ख़याल है कि श्रीमती सरोजिनी हिंदुत्व से गिर गई हैं। यह विचार तुच्छ है। जहाँ उनके हृदय में कुछ मुसलमानी बातों के प्रति सम्मान है, वहाँ अपने धर्म, सभ्यता, साहित्य एवं इतिहास के लिये भी महान् श्रद्धा और गर्व है। स्वर्गीय गोखले ने इसे स्वयं स्वीकार किया था—"सब कुछ होने पर भी तुम भाव में पक्की हिंदू हो।" इधर हाल में कुछ दुष्टों ने यह झूठी ख़बर उड़ा दी थी कि श्रीमती सरोजिनी के पुत्र ने, उनकी अनुमति से, इस्लाम-धर्म कुबूल कर लिया है। इस झूठे समाचार का अपवाद करते हुए श्रीमतीजी ने बड़े ओजस्वी शब्दों में अपनी धार्मिक दृढ़ता बतलाई है। साथ-ही-साथ उन्होंने यह भी प्रकट किया है कि धार्मिक स्वतंत्रता किसी के हस्तक्षेप का विषय नहीं है।

हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य के लिये श्रीमतीजी बहुत समय से प्रयत्नशील हैं। एक बार, सन् १९११ में, स्वर्गीय महात्मा गोखले से इनकी भारत की राजनीतिक अवस्था पर बातचीत हो रही थी। उस समय इन्होंने बहुत आशा-पूर्ण स्थिति बतलाई थी। गोखले ने पूछा था—"भविष्य के विषय में तुम्हारी क्या कल्पना है?" इसका उत्तर श्रीमतीजी ने दिया था—"हिंदू-मुस्लिम-एकता का ५ वर्षों के भीतर प्रतिपादन!" गोखले ने फिर कहा था—"तुम बच्ची हो, कवि हो, बहुत बड़ी आशा करती हो। यह एकता हमारे-तुम्हारे जीवन में प्रतिपादित नहीं हो सकती। परंतु इसमें विश्वास बनाए रक्खो, और यथाशक्ति इसके लिये प्रयत्न करती जाओ।" अस्तु, काल ने उस सूक्ष्मदर्शी राजर्षि की उक्ति को प्रमाणित कर दिया है। श्रीमतीजी यद्यपि अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकी हैं, तथापि अपने स्वर्गीय गुरु के आदेशानुसार कार्य करती जा रही हैं। सिद्धि कितनी दूर है, कहा नहीं जा सकता।

श्रीमती सरोजिनी हिंदू-मुस्लिम-एकता के पक्ष में अवश्य हैं; परंतु वह मुसलमानों के उचित-अनुचित, सभी प्रस्तावों को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं। उदाहरणार्थ वह यह नहीं चाहतीं कि मुसलमानों को सार्वजनिक चुनावों में अपने पृथक् प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्राप्त हो। इसमें राष्ट्रीय हित का साधन होना तो दूर रहा, उसके हनन होने की भारी आशंका है। वह इसका अच्छी तरह अनुभव करने लगी हैं कि इस प्रकार के विशेष अधिकार की इच्छा रखना मुसलमानों की ज्यादती है, इसीलिये वह मुसलमानों को भर्त्सना देने के लिये भी तैयार हैं। अभी इसी वर्ष, पंजाब-प्रांतीय कानफ्रेंस के व्याख्यान में, आपने यह आशय प्रकट किया था—

"पृथक् जातीय प्रतिनिधित्व का उसूल बड़ा दोष-पूर्ण उसूल है—यह एकजातीयता के भाव का ही घातक है। जब तक आपस में एक दूसरे पर विश्वास न होगा, एक दूसरे में अन्योन्य-आश्रय-भाव न होगा, तब तक हम स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सकते। क्या हम ऐसी नींव पर स्वराज्य खड़ा कर सकते हैं, जिसमें दरार हो? जो स्वराज्य एकता की दृढ़ चट्टान पर आश्रित न रहे, उलटे पृथक् जातीय विचारों पर स्थित रहे, उस स्वराज्य को बालू की नींव पर आश्रित समझना चाहिए। जो जातियाँ पृथक् प्रतिनिधि चाहती हैं, उनका यह कहना कि वे अपनी राजनीतिक स्थिति क़ायम रखने के लिये ऐसा चाहती हैं, एक बड़े कलंक की बात है। किसी जाति का बल उस जाति की जन-संख्या पर नहीं, वरन् उस जाति के नैतिक बल पर आश्रित है। महात्मा गांधी के शरीर में एक बच्चे का बल भी न होगा; परंतु उन्होंने एक महान् शासन की जड़ हिला दी।......हमें जन-संख्या का ध्यान छोड़ देना चाहिए। श्रीकृष्ण, ईसा, मुहम्मद, इन सभी धर्माचार्यों की यही शिक्षा है कि धर्म-पथ पर दृढ़ रहते हुए अपने साथियों की संख्या की परवा न करें।"

श्रीमती सरोजिनी हमारे प्रवासी बंधुओं के लिये निरंतर चिंतित रहती हैं, और उनकी सहायता के साधन ढूँढ़ा करती हैं। उनके मानापमान को वह निजी मानापमान समझती हैं। प्रतिज्ञा-बद्ध कुली-प्रथा की आप घोर विरोधिनी हैं। सन् १९१६ की लखनऊ-कांग्रेस के बाद इन्होंने भारत-भर में, भिन्न-भिन्न विषयों पर व्याख्यान देते हुए, भ्रमण

किया था। उनमें से एक ख़ास विषय कुली-प्रथा का विरोधी था। उस समय हमारे देशी भाइयों तथा बहनों पर जो पाशविक अत्याचार फ़िजी, मारिशस, ट्रिनिडाड आदि टापुओं में होते थे, उनकी करुण कथाओं से हमारा राजनीतिक आकाश गूँज रहा था। श्रीमती सरोजिनी ने जनवरी, १९१७ में, कुछ बड़े ज़ोरदार संभाषण किए थे, और कुली-प्रथा के विरुद्ध अपने श्रोताओं के हृदयों में ज्वाला उत्पन्न कर दी थी। प्रयाग में आपने कहा था—

"तुम लोग जो स्वराज्य के लिये आंदोलन कर रहे हो, तुम लोग जो मौखिक देशभक्ति के स्वप्न देख रहे हो, यदि तुम समुद्र-पार से रात-दिन सुनाई देनेवाली वेदना को रोक नहीं सकते, तो तुम क्या देशभक्त कहलाने के योग्य हो? यह वेदना उन देशभाइयों की है, जिनकी दशा कुत्ते की दशा से भी अच्छी नहीं है—उन बहनों की है, जिनके साथ पशुओं का-सा व्यवहार होता है। स्वराज्य आख़िर किसके लिये चाहते हो? क्यों चाहते हो? उन लोगों के लिये चाहते हो, जो अपनी स्त्रियों के क्रंदन को सुनकर भी हाथ बाँधे हुए हैं, जो घोरतम अपमान सहन करते हुए भी मौन हैं? धन—हमारे लिये धन क्या वस्तु है? बल लेकर हम क्या करेंगे? महिमा से हमें क्या लाभ होगा? और फिर, जब अपनी स्त्रियों के सतीत्व तक की रक्षा नहीं कर सकते, तो ऐसे धन, बल, महिमा से क्या फ़ायदा? ......आज मैं अपने अंदर उस यातना का अनुभव कर रही हूँ, जिसे वर्षों से वे बहनें सहन कर रही हैं, जिनको अब मृत्यु से ही शांति मिल सकती है—मैं उस अकथनीय लज्जा और ग्लानि का अनुभव कर रही हूँ, जो कुली-प्रथा से अभिन्न है।"

इधर बहुत दिनों से श्रीमती सरोजिनी, स्वराज्य के लिये जो देश में राजनीतिक आंदोलन हो रहा है, उसमें तन-मन से संलग्न हैं। सन् १९१५ में, बंबई की कांग्रेस में, 'स्वराज्य' के प्रस्ताव का समर्थन करने का भार आप पर रक्खा गया था। कहना न होगा कि यह कर्तव्य आपने बड़ी कुशलता से संपादन किया। प्रायः इसी समय से यह अधिकाधिक राजनीतिक क्षेत्र में प्रयत्न करती तथा महत्त्व प्राप्त करती रहीं। सन् १९१६ में, लखनऊ-कांग्रेस में, तथा सन् १९१७ में कलकत्ता-कांग्रेस में पुनः-पुनः आपको ही 'स्वराज्य' के प्रस्ताव का समर्थन करने का कार्य मिला। इन वर्षों में आप देश-व्यापी भ्रमण करती रहीं, अनेक स्थान-स्थान पर व्याख्यान देती रहीं, राजनीति-परायणता के पाठ सिखाती रहीं, और यद्यपि बीच-बीच में आपका कोमल शरीर बहुत दिनों तक क्लेशित रहा, तथापि देश-सेवा के परिश्रम से आपने कभी मुँह न मोड़ा। इसके अनंतर कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनसे हमारे राजनीतिक आंदोलन की प्रणाली में महान् परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई। ये सब वर्तमान स्मृति की बातें हैं। खेद है, उनकी संक्षिप्त आवृत्ति भी इस छोटे-से निबंध में नहीं हो सकती। इतना बतलाना पर्याप्त होगा कि जिस समय प्रतिवर्ष ये स्वराज्य-संबंधी प्रस्ताव कांग्रेस के मंच से पास हो रहे थे, उस समय योरपीय महायुद्ध जारी था। इँगलिस्तान की ओर से हमें बराबर आश्वासन मिल रहा था कि युद्ध समाप्त होते ही इँगलैंड भारत की मनोवांछा पूरी करेगा। परंतु वस्तुतः भारत के प्रति इँगलिस्तान के विचार-केंद्र में कोई परिवर्तन के लक्षण नहीं दिखाई देते थे। हाँ, हमारे बड़े-बड़े देशभक्त इँगलैंड को धन-जन से सहायता पहुँचाने में प्रयत्नशील थे। इसी बीच में श्रीमती एनी बीसेंट ने इँगलिस्तान की नीयत पर संदेह किया, और यह आशय प्रकट किया कि यदि वास्तव में इँगलैंड भारत को धोका नहीं देना चाहता, तो हमारे सम्मुख स्वराज्य (होमरूल) का कुछ पूर्व रूप, युद्ध के समाप्त होने के पहले ही, प्रस्तुत करे। इँगलैंड के कान खड़े हो गए। भारतीय नेताओं ने भी श्रीमती एनी बीसेंट की इस माँग में सहयोग दिया। उस समय के भारत-सचिव स्वर्गीय मिस्टर मांटेगू भारत में आए, और सुधार की चर्चा छिड़ गई। भारतीय राजनीतिज्ञों का ध्यान बँट गया, और सुधार-स्कीम पर लंबी-चौड़ी आलोचनाएँ होने लगीं। ये सुधार-संबंधी प्रस्ताव, ऐक्ट रूप में, आने न पाए थे; परंतु भारतीय राजनीतिज्ञों को एक धंधा मिल गया था। इसी बीच में युद्ध समाप्त हो गया। भारत-सरकार ने भारत की राजभक्ति तथा सहायता का (जिसकी प्रशंसा स्वयं हमारे सम्राट् कर चुके थे) पहला पुरस्कार 'रौलेट-ऐक्ट' के रूप में दिया। बस, फिर क्या था, देश-भर में आग लग गई। रौलेट-ऐक्ट 'काला क़ानून' कहकर प्रसिद्ध हुआ। व्यवस्थापक-सभा के समस्त भारतीय प्रतिनिधियों के सम्मिलित प्रतिरोध करने पर भी भारत-सरकार ने, सरकारी मेंबरों के बहुमत से, यह

क़ानून पास किया था। इसी क़ानून को लेकर महात्मा गांधी ने सत्याग्रह ठान दिया। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रतिरोध की आग जलने लगी। श्रीमती सरोजिनी ने महात्मा गांधी की अधीनता में कार्य करने के लिये अपने को प्रतिज्ञा-बद्ध कर लिया, और उन्हें खुले तौर से अपना राजनीतिक गुरु स्वीकार करने लगीं; नगर-नगर में घूम-घूमकर रौलेट-क़ानून के विरुद्ध व्याख्यान देती रहीं, और सत्याग्रह के लिये देश को तैयार करती रहीं। अहमदाबाद (मार्च २९, १९१९) के एक व्याख्यान में आपने यह मत प्रकट किया था—

"उन मांटेगू-चेम्सफोर्ड-सुधार-प्रस्तावों का, जिनका बड़ा शोर सुनते थे, क्या हुआ? वह पीछे पड़ गए हैं, और उनका स्थान रौलट-क़ानून ने ले लिया—वही रौलेट-क़ानून, जो अब 'काला क़ानून' कहकर प्रसिद्ध हुआ है। हमें आशा थी कि युद्ध के अनंतर हमें उत्तरदायित्व के पद प्राप्त होंगे; क्योंकि हमने न केवल हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य का परिचय दिया है, वरन् युद्ध-काल में भी अपनी योग्यता प्रदर्शित की है। मिस्टर मांटेगू का भारत में आना, उनका लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड के साथ-साथ भारत के प्रति प्रीति प्रदर्शित करते हुए देश-भर में भ्रमण करना, यह सब निष्फल प्रमाणित हुए; क्योंकि उनके एक हाथ में तलवार थी, और दूसरे हाथ में विष का प्याला......इस विष के लिये अथवा पाशविक बल के लिये केवल एक उपाय है, और वह है—सत्याग्रह।"

पहलेपहल ६ एप्रिल को जब देश-भर में हड़ताल मनाई गई, श्रीमती सरोजिनी ने बंबई में हड़ताल के सफल करने में बड़ी सहायता दी। उस समय महात्माजी के कुछ लेख सरकार द्वारा ज़ब्त कर लिए गए थे। श्रीमती-जी ने उन्हें अपने हाथों से लिख-लिखकर बंबई की बाज़ार में बेचा था, और उसके द्वारा प्राप्त हुए धन को देश-सेवा के लिये अर्पित किया था।

सन् १९१९ के जुलाई-महीने में, श्रीमती सरोजिनी को अखिल भारतवर्षीय होमरूल-लीग के सदस्य-रूप में विलायत जाना पड़ा। इस समय भारतीय सुधार के प्रश्नों पर विचार करने के लिये, इँगलैंड में, पार्लियामेंट द्वारा निर्वाचित एक कमेटी की बैठक हो रही थी। इस डेपुटे-शन का ध्येय विलायत की प्रजा तथा इस पार्लियामेंट की कमेटी को भारतीय प्रश्नों पर सचेत करना था। इस अवसर पर श्रीमती सरोजिनी ने अपनी कार्यवाही केवल भारतीय स्त्रियों के पक्ष को प्रस्तुत करने तथा उन्हें समान अधिकार दिलाने के लिये प्रयत्न करने तक संकीर्ण रक्खी। इसी उद्देश्य से आप एक डेपुटेशन भारत-सचिव के पास ले जाने का प्रयत्न कर रही थीं; परंतु इसी बीच इस पार्लियामेंट की कमेटी के सम्मुख अपनी सम्मति प्रकट करने का आपको निमंत्रण मिला। इस कमेटी के सम्मुख आपने पहले अपना लिखित बयान पेश किया; फिर ७ अगस्त को अपना इज़हार देने के लिये उपस्थित हुईं। आपने भारतीय स्त्रियों को समान अधिकार दिलाने के पक्ष में ज़ोरदार तर्क पेश किए। आपके बयान का उक्त कमेटी पर बहुत असर पड़ा। इस कमेटी के सभापति ने आपको धन्यवाद देते हुए कहा था—"यदि अनुचित न समझा जाय, तो मैं यह कहूँगा कि आपके भाग लेने से हमारे नीरस साहित्य में कविता की एक रेखा पड़ गई है। जो लिखा हुआ बयान आपने पेश किया है, और अन्य गवाहों ने जो बयान दिया है, उस सबको मिलाकर भारतीय स्त्रियों के पक्ष को विचार करने-योग्य हमारे पास पूरी सामग्री हो गई है।" स्त्रियों को वोट-संबंधी अधिकार देने के संबंध में, भारत-सुधार-योजना में, प्रांतीय शासनों को जो स्वायत्त प्राप्त हुआ है, उसका श्रेय यदि श्रीमती सरोजिनी को दिया जाय, तो अनुचित न होगा।

श्रीमती सरोजिनी कुछ समय इँगलिस्तान में रहकर, और विशेषकर भारतीय स्त्रियों के पक्ष में कार्य करके, हिंदोस्तान में वापस आईं। विलायत से लौटने पर श्रीमती सरोजिनी ने पूर्ण रूप से महात्मा गांधी का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। देश में तथा देश के बाहर कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं, जिन्होंने भारतीय आंदोलन को और भी तीव्र कर दिया। पंजाब में जलियाँवाला बाग की भयानक हत्या, योरप में भारतीय मुसलमानों की राय के विरुद्ध ख़िलाफ़त के प्रश्न का तय होना—ये दोनो बातें स्वराज्य-प्रश्न में सम्मि-लित की गईं। तीनो प्रश्नों को लेकर महात्मा गांधी देश-व्यापी आंदोलन करने लगे। श्रीमती सरोजिनी ने महात्माजी का बराबर साथ दिया; भारत में घूम-घूमकर व्याख्यान देती रहीं। परंतु देश-सेवा के कार्यों में तत्पर रहने के कारण आपका स्वास्थ्य फिर बिगड़ गया, और डॉक्टरों की सलाह से स्वास्थ्य-लाभ के लिये आपको एप्रिल, १९२० में फिर विलायत जाना पड़ा।

परंतु श्रीमती सरोजिनी वहाँ भी राजनीतिक कार्य करती रहीं—वही तीन प्रश्न आपके संपूर्ण ध्यान को आकर्षित करते रहे। मौलाना मुहम्मदअली के नेतृत्व में, उस समय विलायत में, एक ख़िलाफ़त-डेपुटेशन गया था। श्रीमतीजी ने इस डेपुटेशन को बड़ी सहायता पहुँचाई, और लंदन तथा अन्य स्थानों पर आपने व्याख्यान दिए, तथा अँगरेज़-जनता को यह बतला दिया कि भारत ख़िलाफ़त का साथ देने के लिये कटिबद्ध है, और इस विषय में भारत के हिंदू-मुसलमानों में कोई भेद नहीं है।

परंतु इसी समय श्रीमती सरोजिनी ने जो व्याख्यान पंजाब के हत्याकांड के संबंध में दिए, उनसे तो अँगरेज़ी राजनीतिक दलों में सनसनी फैल गई।

पार्लियामेंट में प्रश्न हुए, और स्वयं भारत-सचिव मिस्टर मांटेगू से बहुत कुछ लिखा-पढ़ी होती रही। श्रीमतीजी ने कहा था कि पंजाब में हमारी बहनें नंगी की गई हैं; उन्हें कोड़े लगाए गए हैं, और उनका धर्म भ्रष्ट किया गया है। मांटेगू साहब ने आपको लिखा कि ये सब बातें कांग्रेस-कमेटी की रिपोर्ट में नहीं हैं, अतएव अपने कथन को वापस लीजिए। श्रीमती सरोजिनी ने कांग्रेस-रिपोर्ट का हवाला देते हुए मांटेगू साहब को ऐसा मुँह-तोड़ जवाब दिया कि उन्हें मौन रह जाना पड़ा। पंजाब के अत्याचारों के विषय में जो ढंग पार्लियामेंट तथा सरकार अख़्तियार कर रही थी, उसे देखकर श्रीमतीजी बहुत खिन्न हो गईं, और अँगरेज़-सरकार के प्रति उनका विरोध बढ़ता गया। जुलाई, सन् १९२० में आपने महात्मा गांधी को विलायत से एक पत्र भेजा था। उसका भाव यह है—

"मेरा स्वास्थ्य बहुत ख़राब है; परंतु पंजाब और ख़िलाफ़त के युगल प्रश्नों पर मैं संपूर्ण ध्यान दे रही हूँ, और उन्हीं के लिये कार्य कर रही हूँ। किंतु ऐसी जाति से, जो बल के मद से चूर और अंधी हो रही है, जिसमें जाति, धर्म, वर्ण-संबंधी तीक्ष्णतर पक्षपात भरा हुआ है, जो भारतीय दशा, विचार और आकांक्षाओं का कुछ भी ज्ञान नहीं रखती, किसी प्रकार की आशा रखना व्यर्थ है। अँगरेज़ी न्याय और सहानुभूति में जो कुछ विश्वास शेष रह गया था, उसे पार्लियामेंट में होनेवाले पंजाब-संबंधी वाद-विवाद ने बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। हमारे मित्रों ने इस विवाद में अज्ञान प्रदर्शित किया, और हमारे वैरियों ने धृष्टता—दोनों का सम्मिलन हृदय विदीर्ण करनेवाली अवस्था उपस्थित करता है। मिस्टर मांटेगू फटी हुई डफली प्रमाणित हुए।"

प्रायः इसी समय आप जिनेवा में होनेवाले अंतर्जातीय महिला-सम्मेलन में भारत की प्रतिनिधि-रूप भाग लेने के लिये गईं। आपके इस सम्मेलन में भाग लेने से भारतीय महिलाओं का, अंतर्जातीय महिलाओं की दृष्टि में, बहुत गौरव बढ़ा।

जिस समय वह भारत में लौटीं, असहयोग की धूम थी। आते ही महात्मा गांधी के आश्रय में देश-सेवा के कार्य करने लगीं। उन्होंने यह घोषित किया कि मेरा कार्य महात्मा गांधी के संदेश का देश-भर में प्रचार करना है; और यही कार्य वह करती भी रहीं।

भारत में आने से पूर्व ही, योरप से लौटते हुए ख़िलाफ़त-डेपुटेशन के हाथ, आपने भारत-सरकार को अपना कैसरे हिंद-पदक वापस कर दिया था। यह पदक लौटाते हुए आपने भारत-सरकार के अत्याचारों की तीव्र आलोचना लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड के नाम एक पत्र में की थी। उस पत्र का कुछ अंश नीचे दिया जाता है। यह पत्र ३१ अगस्त, १९२० को लंदन से लिखा गया था—

"हाल में कई वर्षों से एक असहाय जाति अनेकों प्रकार से अपमानित हो रही है, उसका घोर दमन हो रहा है, उसके प्रति जो प्रतिज्ञाएँ की गई थीं, वे भंग की जा रही हैं, और इन सब बातों के अतिरिक्त दो बड़े पाप हुए हैं—एक तो मुसलमानों को दी हुई प्रतिज्ञा का निरादर, और दूसरे पंजाब का हत्याकांड। यह मेरे सम्मान और मानुषिक विचारों के प्रतिकूल है कि मैं इन अत्याचारों को देख सकूँ, और उस सरकार से, जिसने ब्रिटिश-न्याय का तिरस्कार किया है, सहमत हो सकूँ।"

अत्याचारों का विरोध करना सदैव श्रीमती सरोजिनी के जीवन की महान् अभिलाषा रही है। मोपला-विद्रोह के समय सरकारी सिपाहियों के जो अत्याचार हुए थे, उन्हें प्रकट करते हुए कालीकट में (मार्च, सन् १९२२) श्रीमतीजी ने तीव्र आलोचना की थी। मदरास-सरकार को यह आलोचना बहुत अप्रिय मालूम हुई, और उसने श्रीमतीजी को माफ़ी माँगने के लिये कहा, तथा धमकाया कि वह यदि ऐसा न करेंगी, तो उन पर मुक़दमा चलाया जायगा। श्रीमती सरोजिनी इससे कब भयभीत होनेवाली

थीं। श्रीयुत देशभक्त एंड्र्यूज़, डॉक्टर हार्डीकर तथा अन्य सज्जनों ने भी श्रीमतीजी के कथन का समर्थन किया। स्वयं श्रीमती सरोजिनी ने फिर अपनी कही हुई बातें दुहराईं, और मदरास-सरकार से कहा कि वह या तो इन बातों का खंडन करे, या अपनी धमकी के मुताबिक़ कार्रवाई करे, अर्थात् उन पर मुक़दमा चलावे। परंतु मदरास-सरकार सोच-समझकर चुप ही रही।

महात्मा गांधी ने भारत-भर में जो क्रांति फैला दी, उसे रोकने का जब कोई और उपाय न रहा, तो सरकार ने अपनी रक्षा के निमित्त महात्मा गांधी की स्वतंत्रता का अपहरण करना आवश्यक समझा। ११ मार्च, सन् १९२२ को महात्मा गांधी क़ैद कर लिए गए। श्रीमती सरोजिनी उनके ऊपर चलाए गए मुक़दमे को देखने के लिये अहमदाबाद में, १८ मार्च को, उपस्थित थीं। उसकी कार्यवाही का जैसा मर्मस्पर्शी वर्णन श्रीमतीजी ने किया है, वैसा अन्यत्र कहीं न मिलेगा। महात्माजी को सज़ा मिल गई। कहना न होगा कि श्रीमतीजी को इससे बहुत आघात पहुँचा। परंतु उन्होंने महात्माजी के कार्य को निरंतर जारी रखने का प्रण किया, और उन्हीं के संदेश को देश-भर में फैलाने में लगी रहीं। श्रमण का आपके स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ा। अपने भ्रमण से थककर कुछ विश्राम लेने के लिये वह अक्टोबर, १९२२ में, लंका चली गईं। परंतु यहाँ भी इन्हें शांति न मिली। इनको देखने तथा इनके उपदेशों को सुनने की लालसा से लंका की जनता, बड़ी संख्या में, उपस्थित होने लगी। आपको सार्वजनिक सभाओं में भाग लेना ही पड़ा। यहाँ भी इनका मुख्य कार्य महात्मा गांधी के संदेश का प्रचार करना ही रहा; हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य, अछूतोद्धार, खादी तथा स्वराज्य-विषयों पर ज़ोर देती रहीं। वहाँ से लौटकर दक्षिण-भारत में एक दौरा किया, और इन्हीं उपर्युक्त विषयों की चर्चा में निरंतर रत रहीं। महात्माजी के क़ैद हो जाने के कारण देश की राजनीतिक प्रगति स्थगित हो गई थी। भारतीय राजनीतिज्ञ किंकर्तव्य-विमूढ़-से हो रहे थे। ऐसी अवस्था पर विचार करने के लिये कांग्रेस की एक कमेटी बैठी। महाराष्ट्र के कुछ राजनीतिज्ञों की ओर से प्रस्ताव उठा था कि कौंसिलों अर्थात् राजकीय सभाओं के भीतर जाकर, वहाँ से असहयोग करना चाहिए। धीरे-धीरे यह विचार दृढ़ होता गया। कांग्रेस की इस कमेटी में—जो सिविल डिसोबिडियंस-कमेटी कहलाई—छः सदस्य थे। उनमें से तीन ने कौंसिलों में प्रवेश करने के पक्ष में मत प्रकट किया। श्रीमती सरोजिनी यदि बीमार न रही होतीं, तो वह भी इस कमेटी में होतीं। परंतु उनकी राय राजकीय सभाओं में प्रवेश होने के ख़िलाफ़ थी। इस कमेटी की रिपोर्ट पर मत प्रकट करते हुए श्रीमती सरोजिनी ने कहा था—"मैं राजसभाओं के बहिष्कार को उठा देने का घोर प्रतिरोध करती हूँ; क्योंकि मेरा विश्वास है कि यही हमारे असहयोग की मुख्य बात है।" यह रिपोर्ट नवंबर, १९२२ के आरंभ में निकली थी। इस मास के अंत में, कलकत्ता की ऑल इंडिया-कांग्रेस-कमेटी की बैठक में, श्रीमतीजी ने अपने मत को दुहराया, और पं० मोतीलाल नेहरू प्रभृति कौंसिल के समर्थकों का विरोध किया। सन् १९२२ की गया-कांग्रेस में जब यह प्रश्न पेश हुआ, तो श्रीमतीजी ही के पक्ष में बहुमत रहा। श्रीमती सरोजिनी महात्माजी की आज्ञाओं को अक्षरशः शिरोधार्य मानती रहीं; परंतु बाद में उन्होंने अपने मत में भी परिवर्तन किया। बंबई की १९२३ के आरंभ में होनेवाली कांग्रेस-कमेटी की बैठक में यह निश्चय हुआ कि जो लोग राजसभाओं में प्रवेश करना चाहें, उन्हें रोका न जाय। यद्यपि श्रीमतीजी अब भी कौंसिलों में प्रवेश करने के विरुद्ध थीं, तथापि उन्होंने इस समझौते को स्वीकार कर लिया। इधर आपके विचारों में कुछ और परिवर्तन हो गया है, और आप बहुत अंश में स्वराज्य-दल से सहमत हैं, जो खुले तरीक़े से कौंसिलों में जाने के पक्ष में है।

कांग्रेस ही को वह देश की सबसे बड़ी और सच्ची राजनीतिक संस्था मानती आई हैं, और उसमें बराबर सम्मिलित होती रही हैं। आप १९२४ के आरंभ में होनेवाली पूर्वी आफ़्रिका की भारतीय कांग्रेस की सभानेत्री चुनी गईं। सन् १९२३ की कोकोनाडा की कांग्रेस के बाद ही आप भारतवर्ष की तथा कांग्रेस की शुभकामना प्राप्त करके केनिया (पूर्वी आफ़्रिका) के लिये रवाना हुईं, और वहाँ पहुँचकर मोंबासा-नगर में आपने उक्त कांग्रेस की सभानेत्री की हैसियत से बड़ा प्रभावशाली व्याख्यान दिया। पूर्वी आफ़्रिका में सर्वत्र बड़े समारोह के साथ आपका स्वागत हुआ। आपकी उपस्थिति के कारण भारतीय कार्यकर्ताओं को बड़ी सहायता मिली, और उनके पक्ष की बहुत पुष्टि हो गई।

दक्षिण और पूर्व-आफ्रिका में प्रवासी भारतवासियों का अपने अधिकारों के पाने के लिये युद्ध करने का अपना निजी इतिहास है, जिसका वर्णन यहाँ नहीं किया जा सकता। इतना कहना पर्याप्त है कि इस युद्ध के आरंभ मे महात्मा गांधी स्वयं इसमें भाग ले रहे थे, और उन्हें किसी दर्जे तक सफलता भी प्राप्त हुई थी। अंत में महात्मा गांधी ने यह निश्चय किया कि जब तक भारत स्वयं स्वतंत्र नहीं हो जाता, तब तक वह अपने प्रवासी भाइयों की मान-मर्यादा की रक्षा करने में असमर्थ रहेगा। यही विचार कर उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र आफ्रिका से भारत को बनाया। उनके भारत में चले आने के बाद आफ्रिका के प्रवासी भारतवासियों के अधिकारों को हनन करनेवाले अन्य क़ानूनों का निर्माण भी हुआ। वहाँ के भारतवासी महात्माजी के चले आने पर एक प्रकार से नेता-विहीन हो गए। यह भी मानना पड़ेगा कि वहाँ के भारतवासी इस दशा में भी यथाशक्ति कार्य कर रहे हैं, और पूर्ण रूप से जाग्रत हैं। श्रीमती सरोजिनी के वहाँ पहुँचने से इन प्रवासी भाइयों को जो उत्साह प्राप्त हुआ, तथा उनके सामर्थ्य में जो वृद्धि हुई है, उसका अनुमान ही किया जा सकता है। पूर्वी आफ्रिका के भारतवासियों को उत्साह दिलाते हुए आपने कहा था—

"आप लोग एकस्वर से सरकार से कह दें कि यद्यपि प्राकृतिक नियम से नदियाँ उलटी नहीं बहा करतीं; परंतु हम लोग आपके फ़ैसलों की धारा को उलटी बहावेंगे। यद्यपि हम लोग दीन और दरिद्र हैं, और यद्यपि आप हमसे हमारे स्वाभाविक अधिकारों के छीनने की चेष्टा कर रहे हैं, तो भी आप यह न समझें कि जब तक एक भी भारत का बच्चा जीवित है, आप अपने उद्देश्य में सफल हो सकेंगे।"

प्रिटोरिया, डरबन, जोहांसबर्ग, जहाँ-जहाँ श्रीमतीजी पधारीं, उनका बड़े समारोह के साथ सार्वजनिक स्वागत हुआ। आपने बराबर अपने अधिकारों के लिये युद्ध करते रहने का भारतवासियों से अनुरोध किया, और इस बात का उन्हें विश्वास दिलाया कि भारत उनकी मदद के लिये तैयार है। जोहांसबर्ग में आपने कहा था—

"मैं आप लोगों के सामने भारतीय राष्ट्र का संदेश लेकर आई हूँ—एक ऐसे राष्ट्र का संदेश ले आई हूँ, जो अब निद्रा त्याग चुका है, जिसने फूट का त्याग कर दिया है और जो अब किंकर्तव्य-विमूढ़ नहीं है। मैं अपने राष्ट्र की ओर से आपको विश्वास दिलाती हूँ कि कोई दूसरा राष्ट्र—वह चाहे जितना प्रबल हो—निर्भयता के साथ आपके स्वाभाविक अधिकारों का दमन नहीं कर सकता।"

आपने भारत का संदेश, सूत्र-रूप में, प्रिटोरिया में इस प्रकार कहा था—

"हम साम्राज्य के भीतर, जहाँ तक संभव होगा, रहेंगे। यदि आवश्यक हुआ, तो साम्राज्य के बाहर भी रहकर अपने अधिकारों की रक्षा करेंगे। दक्षिण आफ्रिका का प्रश्न ही इस समस्या का निर्णय कर देगा।"

पूर्व और दक्षिण-आफ्रिका में श्रीमती सरोजिनी की कार्यवाही केवल सार्वजनिक व्याख्यानों तक ही नहीं संकुचित रही। भारतवासियों की सहायता के लिये जो-जो अन्य साधन उनके लिये खुले थे, उन्होंने उनका उपयोग किया। वहाँ के बड़े-बड़े योरपियों तथा पदाधिकारियों से भेंट की, और उनके समक्ष भारतीयों का प्रश्न बड़ी कुशलता से पेश किया। न-मालूम कितने योरपियन और अधिकारीवर्ग आपके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए। स्वयं जनरल स्मट्स, जनरल हर्टज़ो, कर्नल क्रेस्वेल इत्यादि लोगों पर जो प्रभाव आपका पड़ा, वह थोड़ा नहीं था। कितने योरपियन और योरपियन पत्रों के संवाददातागण आपको घेरे ही रहते थे। अकसर आपके व्याख्यानों के समय बड़े-बड़े पदाधिकारी सभापति का आसन ग्रहण करते थे। सारांश यह कि कोई अवसर, जिसका आप प्रवासी भारतवासियों की सहायता के लिये उपयोग कर सकती थीं, आपने व्यर्थ नहीं जाने दिया। आप दक्षिण-आफ्रिका से रोडेशिया भी गईं, और वहाँ के वज़ीर से मिलीं। वहाँ भी प्रवासी भारतवासियों की आपने बहुत सहायता की। कहना न होगा कि आपने प्रायः छः महीने के भीतर वहाँ के पदाधिकारियों और बड़े बड़े लोगों के विचारों में, भारतवासियों के पक्ष में, बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया।

आफ्रिका में रहते हुए वह बराबर महात्माजी से लिखा-पढ़ी करती रहीं, और उनकी परिपक्व सम्मति से लाभ उठाती रहीं। स्वयं महात्मा गांधी ने उनके आफ्रिका के कार्य की बड़ी प्रशंसा की है। आप जुलाई, १९२४ में दक्षिण-आफ्रिका से वापस आईं। १९२४ की बलगाव-

कांग्रेस की सभानेत्री बनाए जाने का आपके लिये प्रस्ताव हुआ था। स्वयं महात्मा गांधी ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया था, और वास्तव में यदि इस पद के लिये श्रीमती सरोजिनी से अधिक अधिकारी कोई व्यक्ति था, तो वह महात्मा गांधी ही थे।

सन् १९२४ की कांग्रेस में प्रवासी भारतवासियों के संबंध में जो प्रस्ताव था, उसे पेश करने का भार श्रीमती सरोजिनी ही को दिया गया था। बेलगाँव-कांग्रेस ने भी एक प्रस्ताव श्रीमती सरोजिनी की आफ़्रिका की कृतियों की प्रशंसा करते हुए पास किया था। सन् १९२४ की कांग्रेस के अनंतर वह बराबर देश में दौरा करती रहीं, और कई प्रांतों में कांग्रेस का ही काम करती रही हैं। इस वर्ष की कांग्रेस की सभानेत्री भी आप ही चुनी गईं, जो सर्वथा उपयुक्त था।

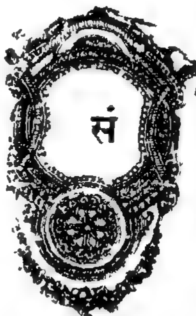
खेद का विषय है कि इधर थोड़े समय से हिंदू-जनता में श्रीमतीजी कुछ अप्रिय हो गई हैं। इसका कारण मैं आपस की नासमझी ही कहूँगा। कुछ महीने हुए, श्रीमतीजी देश-कार्य ही से पंजाब में दौरा कर रही थीं। वहाँ पर उन्होंने हिंदू-संगठन के विरोध में कुछ व्याख्यान दिए थे, जिनका कुछ लोगों ने यह मिथ्या आशय लगाया कि वह देश-पूज्य लाला लाजपतराय, पंडित मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानंद प्रभृति महानुभावों पर आक्षेप करती हैं। यह ग़लत बात थी। इन देश-पूज्य व्यक्तियों के प्रति श्रीमती सरोजिनी की बड़ी श्रद्धा है। उन्होंने स्वयं इसे स्पष्ट किया है। परंतु कानपुर के कुछ लोगों ने इसी बात को उठाकर श्रीमतीजी का निरादर करने का विचार किया, और यह प्रकाशित किया कि हम सरोजिनी के स्वागत का विरोध करेंगे। इससे अनुचित बात कांग्रेस के इतिहास में कदाचित् दूसरी न होती। हर्ष की बात है कि समय पर महात्माजी तथा उपर्युक्त नेताओं ने इन विरोधियों के कार्य का घोर प्रतिवाद किया, जिससे कानपुर का शुभ नाम कलंकित होने से बच गया। २३ दिसंबर को श्रीमतीजी का कानपुर में यथायोग्य बड़ी धूम से स्वागत हुआ, और उसमें देश के बड़े-बड़े नेतागण सम्मिलित थे।

उपसंहार

देश की राजनीतिक दशा इस समय डाँवाडोल है। उसे ठीक मार्ग पर ले आने का कार्य बड़ा गहन तथा उत्तरदायित्व-पूर्ण है। इस समय संपूर्ण देश की आँखें श्रीमती सरोजिनी की ओर हैं। श्रीमतीजी ने अपना कार्यक्रम देश के बड़े-बड़े नेताओं से परामर्श करके निश्चित किया है। उनका आसन बड़े उत्तरदायित्व का है। एक वर्ष तक कांग्रेस का नेतृत्व आप पर ही निर्भर है। हमारी यही प्रार्थना है कि जो महान् कार्य आपको सौंपा गया है, उसके लिये वह सर्वथा योग्य प्रमाणित हों।

रामचंद्र टंडन

सैंडो



सार के प्राचीन सभ्य देशों के इतिहास में अनेक बड़े-बड़े शक्तिशाली पुरुषों की कथाएँ पाई जाती हैं। इटली, मिसर, यूनान, अरब और फ़ारस के इतिहास भी ऐसी कथाओं से ख़ाली नहीं। हरक्यूलीज़ और रुस्तम का नाम कौन नहीं जानता? हरक्यूलीज़ तो यूनान में 'शक्ति का देवता' माना जाता है, और रुस्तम का तो नाम ही मल्ल-अर्थबोधक हो गया, जैसे हिंदी में सूरदास का नाम अंधों के लिये पेटेंट है! रुस्तम ही की तरह भीम का नाम भी इस देश में मल्ल-अर्थबोधक प्रसिद्ध है। जैसे 'रुस्तमेहिंद', वैसे ही 'भारतीय भीम' पहलवानों की एक परंपरागत उपाधि बन गई है। भारत के प्राचीन मल्लों में रावण, हनुमान्, बलराम, बाणासुर, भीम, जरासंध, कंस, चाणूर और मुष्टिक आदि के नाम पाए जाते हैं। आधुनिक भारत के राममूर्ति, कल्लू, गामा और भीमभवानी आदि भी विश्व-विख्यात मल्ल हैं।

प्रोफ़ेसर राममूर्ति 'भारतीय भीम' अथवा 'कलियुगी भीम' के नाम से काफ़ी प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपनी अद्भुत करामात दिखलाकर सारे संसार में प्राणायाम की शक्ति का सिक्का जमा दिया है।

कल्लू भी बड़ा नामी पट्ठा था। कक्कड़सिंह के मर जाने के बाद तो उसकी टक्कर का कोई पहलवान ही न रह गया था। उसने अखिल भारतवर्षीय मल्ल-प्रतियोगिता में 'रज़ब'-नामक उद्भट पहलवान को पछाड़कर बड़ी प्रसिद्धि पाई थी।

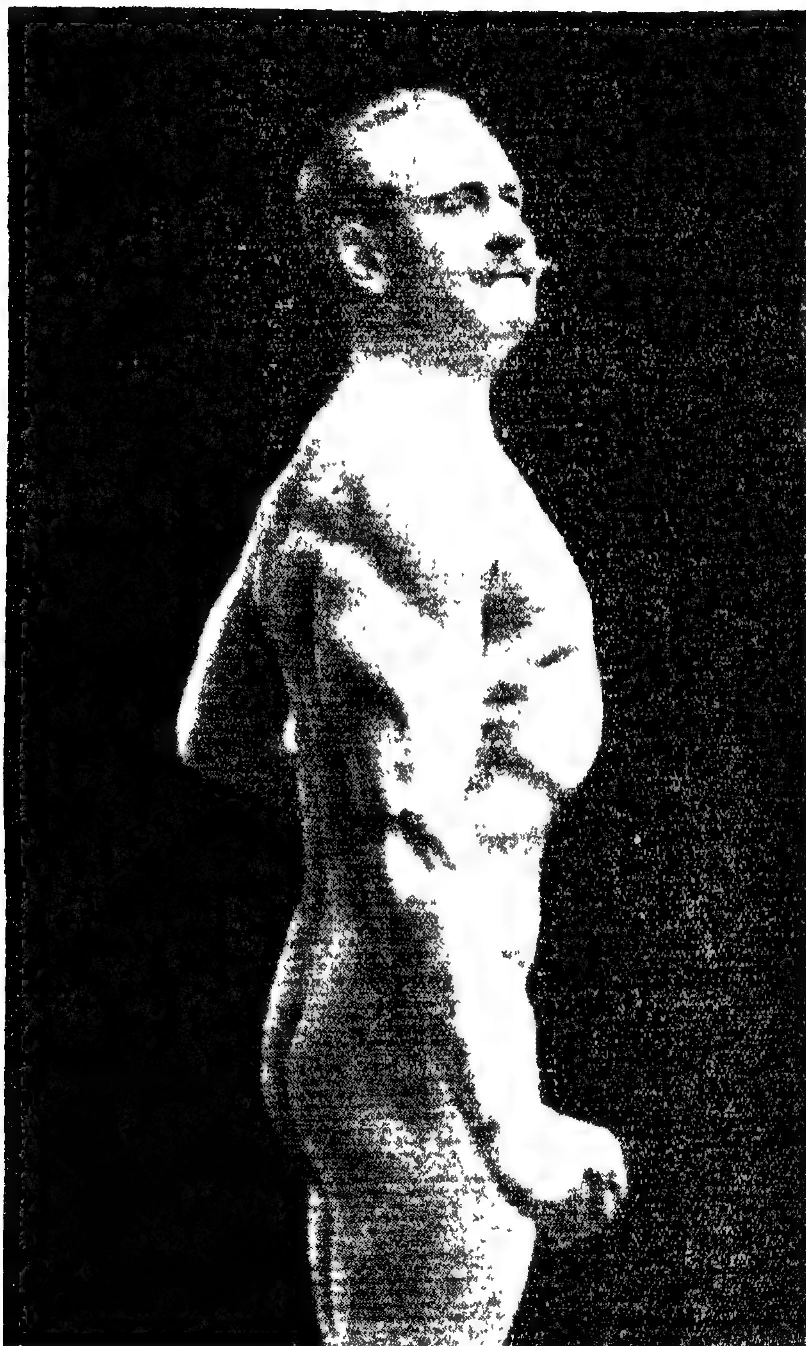
गामा ने तो सारे भू-मंडल में भारत का डंका ही बजा दिया। इस पंजाबी पहलवान ने देश-विदेश में भ्रमण कर

अनेक यशस्वी मल्लों को ज़मीन दिखाई थी ; १९०९-१० में, अमेरिका के प्रसिद्ध पहलवान डॉक्टर रॉलर को पछाड़ा था । जब यह इँगलैंड गया, तो विश्वविजयी पहलवान हेकेन स्मिथ बहुत अनुरोध करने पर भी इससे भिड़ने की हिम्मत नहीं कर सका । इसी ने आस्ट्रिया के ज़बरदस्त पहलवान बिस्को को, २ घंटे ४५ मिनट की करारी कुश्ती के बाद, पछाड़ा था । इसके भाई इमाम-बख्श ने भी स्विज़रलैंड के नामी-गरामी पहलवान जॉन लेम को पछाड़ा था । इस (गामा) का गला १८ इंच, छाती ४८ इंच, भुजा १८ इंच और जाँघ २९ इंच मोटी थी । कहते हैं, विलायत में यह रूस के सुप्रसिद्ध पहलवान हाकेन स्मिट को भी नीचा दिखा चुका था ।

गामा ही की तरह बंगाल के दो पहलवान भी संसार में अपनी विजय-दुंदुभी बजा आए । गोबर और भीम भवानी ने संसार को यह दिखला दिया कि भारत के सबसे कमज़ोर प्रांत बंगाल में भी संसार को नीचा दिखलाने की यथेष्ट शारीरिक शक्ति है । गोबर अमेरिका के सुविख्यात मल्ल 'गच' के साथ लड़ने के लिये वहाँ गया था; पर गच राज़ी न हुआ ।

भीम-भवानी ने भी कितने ही विदेशी पहलवानों को ज़मीन दिखाकर बंगाल की शारीरिक दुर्बलता का कलंक-मोचन किया था । पहलेपहल प्रोफ़ेसर राममूर्ति जिस समय कलकत्ते में आए थे, उस समय भवानी १९ वर्ष का छोकरा था । पर इसकी देह की गठन देखकर राम-मूर्ति ऐसे मुग्ध हुए कि अपने साथ इसे रंगून लेते गए । वहाँ से यह उन्हीं के साथ सिंगापुर और जावा-द्वीप चला गया । जावा में इसने एक महाबलिष्ठ डच पहलवान को पछाड़ा, और शंघाई में एक अमेरिकन पहलवान को पछाड़कर १०० डॉलर की बाज़ी मारी । उसी पहलवान की चलती हुई मोटर रोककर इनाम में इसने वही मोटर प्राप्त कर ली । फिर जापान-सम्राट् को अपने कौशल से प्रसन्न करके स्वर्णपदक और ७२०) का पुरस्कार प्राप्त किया । इसी प्रकार एशिया के भिन्न-भिन्न देशों में हिप्पो-ड्रोम-सरकस के साथ भ्रमण करके, दोनो हाथों से दो मोटर-गाड़ियों को पकड़कर रोक देना, पाँच छः मन के लोहे के बंदों को उठाकर लड़कों के खिलौने की तरह अपने हाथों पर उछालना, अपनी छाती पर ४० मन का पत्थर रख-कर उस पर चुने हुए २० आदमियों को बैठा लेना, छः मज़बूत आदमियों से भरे हुए एक पात्र को दाँतों से पकड़कर उठा लेना आदि तमाशे दिखलाए । एक बार इसने स्वयं भरतपुर-नरेश द्वारा खूब ज़ोर से चलाई गई तीन मोटरों को एक ही रस्सी में बाँधकर रोक लिया था, और मुर्शिदाबाद के नवाब के एक मदोन्मत्त हाथी को भी अपनी छाती पर चढ़ाकर सबको चकित कर दिया था । लोहे की कड़ियों को धड़ाधड़ तोड़ देना, कंधे पर रखकर लोहे की मोटी छड़ को मोड़ देना और पचास जवानों से भरी हुई गाड़ी को अपने ऊपर से खिंचवाना आदि तो इसके बाएँ हाथ के खेल थे । यह राममूर्ति का पक्का चेला—सुयोग्य गुरु का सुयोग्य चेला निकला । गत संवत् १९७९ के कार्तिक-मास में, कलकत्ते में, इसका देहांत हुआ था ।

इसी प्रकार भारत में अनेक पहलवान हुए, और हैं भी ; पर व्यक्तिगत-रूप से यश प्राप्त करने के सिवा संभवतः किसी ने स्वदेश का स्थायी उपकार नहीं किया । संस्था के रूप में शायद किसी का ऐसा कोई यश-स्तंभ देश में विद्यमान नहीं, जिससे कुछ लोकोपकार हो सके । आज यहाँ हम एक ऐसे विलायती पहलवान का परिचय देंगे, जिसने व्यक्तिगत यश प्राप्त करने के साथ-ही-साथ अपने देश का भी बहुत कुछ उपकार किया है । मालूम नहीं, प्रोफ़ेसर राममूर्ति की कोई संस्था इस देश में कुछ काम करती है या नहीं । पर सुनने में आता है कि बड़ौदा का 'जुम्मादादा-व्यायाम-मंदिर' लगातार २५ वर्षों से मल्ल-विद्या का प्रचार कर रहा है । प्रो० राममूर्ति ने धन तो बहुत कमाया है ; और वह चाहते, तो भारतीय नवयुवकों की शारीरिक उन्नति के लिये एक मल्ल-विश्व-विद्यालय स्थापित कर सकते थे । पर उनका कोई ऐसा देश-हितकर स्थायी कार्य अभी तक सुनने में नहीं आया, यहाँ तक कि मल्ल-विद्या का साहित्य भी उनके द्वारा संपन्न नहीं हो सका । हमारे देश के गुणी लोगों में संगठन और संस्था-संचालन की क्षमता बहुत कम देखी जाती है । किंतु यहाँ जिस विलायती पहलवान का परिचय दिया जा रहा है, उसने केवल सुसंचालित संस्था ही नहीं खोली, वरन् साहित्य-भांडार में भी बहुत कुछ रत्न-संचय किया है । उसका नाम है युजेन सैंडो, जो अभी हाल में, गत ता० १४ अॉक्टोबर, १९२५ को, ६१ वर्ष की अवस्था में, स्वर्गवासी हुआ है ।



मरने के साल (१९२५ मे) सैडो की शारीरिक अवस्था

सैंडो जर्मनी का निवासी था। कॉनिग्ज़बर्ग-नामक स्थान में उसका जन्म हुआ था ; किंतु युवावस्था से ही वह इँगलैंड में रहा। लड़कपन में वह बहुत कमज़ोर था, इतना कमज़ोर कि कभी-कभी जीवन की आशा भी छोड़ देनी

पड़ती थी। दस वर्ष की अवस्था में वह एक बार अपने पिता के साथ इटली गया। वहाँ उसने रोम और फ़्लॉरेंस की गैलरियों में पत्थर और धातु की सुदृढ़ मूर्तियाँ देखीं। उनकी सुगठित आकृति देखकर उसने अपने पिता से पूछा कि अब आजकल ऐसे हृष्ट-पुष्ट मनुष्य हैं या नहीं? इसके उत्तर में उसके पिता ने बतलाया था कि गैलरी की ये मूर्तियाँ उस समय की हैं, जब शक्ति ही सब कुछ थी—मनुष्य के अंग-प्रत्यंग ही उसके शस्त्र थे, और शारीरिक शक्ति पर ही जीवन निर्भर था।

पिता के इस संकेत ने उसके कोमल हृदय पर जादू का-सा असर किया। वह उन्हीं मूर्तियों की तरह स्वस्थ एवं सुपुष्ट होने की चिंता करने लगा। कसरत करना भी शुरू कर दिया; पर १८ वर्ष की अवस्था तक कुछ विशेष लाभ न हुआ। तब व्यवच्छेद-विद्या (An tomy) का अभ्यास आरंभ किया। इससे मांस-पेशियाँ विशेष वृद्धिंगत होने लगीं। २१ वर्ष की अवस्था तक शरीर यथेष्ट प्रौढ़ हो गया।

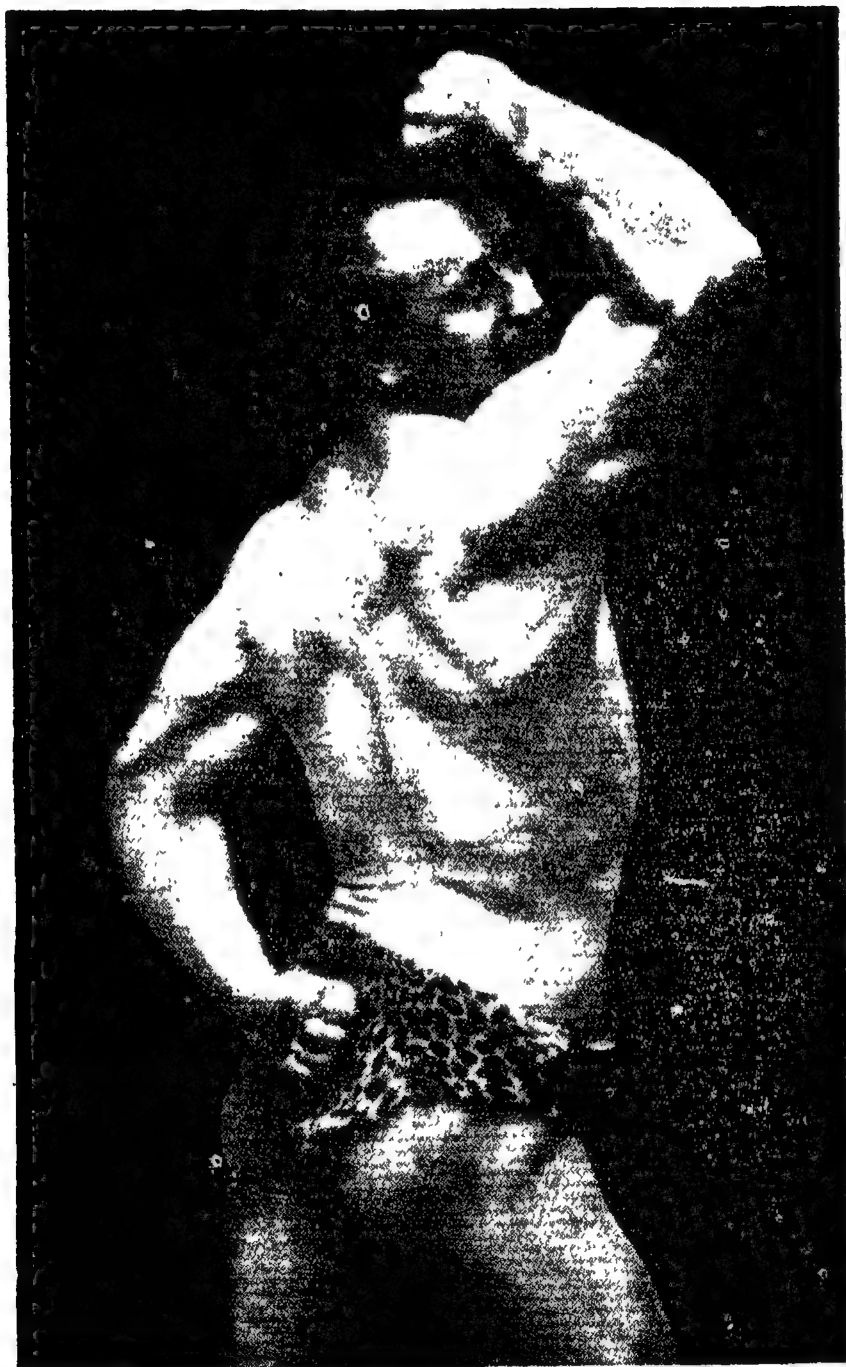


सैंडो के शरीर की उभरी हुई पुष्ट नसें

सन् १८८६ में सैमसन-नामक पहलवान ने लंदन में एक घोषणा प्रकाशित की थी कि जो कोई उसे पछाड़ेगा, वह एक हज़ार पौंड, और उसके चेले



सैंडो (४० वर्ष की अवस्था मे) कसरत कर रहे हैं



सैंडो (४२ वर्ष की अवस्था) के पृष्ठ-भाग की पुष्ट मांस-पेशियाँ

साइक्लोप्स को जो पछाड़ेगा, वह एक सौ पौंड इनाम पावेगा। इस घोषणा को सुनकर सैंडो वेनिस-नगर से लंदन पहुँचा। वहाँ पहुँचकर सैमसन का चैलेंज स्वीकार कर लिया। साइक्लोप्स ने २४० पौं० का लोहे का बंद

दोनो हाथों से अपने सिर से ऊँचा उठाया, सैंडो ने एक ही हाथ से यह करामात कर दिखलाई। २१० पौंड के 'डंब-बेल' की कसरत में भी सैंडो ख़ूब सफल हुआ। साइक्लोप्स २४० पौंड का वज़नी बोझ, जिस पर दो आदमी भी लदे थे अपनी पीठ पर लेकर खड़ा हो गया। सैंडो ने भी ऐसा ही कर दिखलाया। इस प्रकार उसने सौ पौंड का पुरस्कार प्राप्त किया। फिर लोह का मोटा छड़ और सीकड़ तोड़ने तथा २८० पौंड का 'डंब-बेल' भाँजने में सैमसन को भी परास्त कर दिया। किंतु सैमसन साफ़ बेईमानी कर गया—दूसरे दिन सुबह १,००० पौंड इनाम की रक़म देने का वायदा करके टाल दिया। आख़िर वह रक़म सैंडो को नहीं मिली।

इस विजय से सैंडो बहुत लोकप्रिय हो गए। जनता ने ख़ूब बधाइयाँ दीं—ख़ूब स्वागत किया। पत्रों के झुंड-के-झुंड संवाददाता आने लगे। लोगों के बहुत अनुरोध करने पर सैंडो ने १५० पौंड साप्ताहिक पारिश्रमिक लेकर अलहंबरा-नामक स्थान में तीन महीने तक खेल दिखलाए। इसके बाद सैर करने के लिये वह एक बार जर्मनी गया। वहाँ गोलियथ-नामक एक प्रकांड मनुष्य से भेंट हुई। वह पत्थर की खान में काम करता था; बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े बड़ी आसानी से उठाकर गाड़ियों पर लाद देता था। उसका आकार-प्रकार ऐसा विशाल एवं विकराल था कि सैंडो का घोड़ा उसे देखकर भय से भड़क उठा। वह छः फ़ीट आठ इंच ऊँचा था। उसकी छाती ८० इंच चौड़ी थी। उसके शरीर का वज़न ४०० पौंड था! उसके बूट-जूते इतने बड़े थे कि एक ही में सैंडो के दोनो पैर आ जाते थे—सिर्फ़ आते ही न थे, भीतर-ही-भीतर भली भाँति घुमाए जा सकते थे! उसका असली नाम कार्ल वेस्टफाल था। खान में वह प्रतिदिन ५ मार्क (जर्मन-सिक्का) मज़दूरी पाता था। सैंडो ने प्रतिदिन २० मार्क देने का वायदा कर उसे अपने साथ रख लिया।



सैंडो मोटर खींचने का अभ्यास कर रहे हैं

किंतु सात-आठ सप्ताह लगातार शिक्षा देने के बाद सैंडो ने देखा कि वह भारी-से-भारी बोझ उठाने के सिवा और किसी काम का नहीं है। उसे कुछ दिन अपने साथ रक्खा। एक बार वह सैंडो से कुश्ती भी लड़ा। लेकिन फिर उसका कुछ पता न लगा कि कहाँ गया।

फ़्रांस की राजधानी पेरिस में एक बार एक फ़्रांसीसी ने सैंडो को लड़ने के लिये ललकारा। साथ ही, सैंडो की नाक पर कसकर एक मुक्का भी जमा दिया। क्षण-भर के लिये सैंडो विचलित तो अवश्य हो गया, पर धीरे से आगे बढ़ उसकी गर्दन और घुटने पकड़कर उठा लिया। फिर गर्दन और घुटने जुटाकर ज़ोर से मेज़ पर दे पटका। मेज़ टूट गई। वह धम्-से ज़मीन पर आ गिरा। उसके साथी-संगी मुँह बाकर स्तंभित रह गए! वह डेढ़ दिन तक अस्पताल में बेहोश पड़ा रहा। उसे देखने के लिये सैंडो स्वयं अस्पताल में पहुँचा; पर उसने मुलाक़ात करने से इनकार कर दिया। लेकिन जब उसे मालूम हुआ कि सैंडो के साथ मुठभेड़ हो गई थी, तब लंदन जाकर सैंडो से क्षमा माँगी।

ग्रेट ब्रिटेन में डंका पीटकर सैंडो अमेरिका चला गया। वहाँ न्यूयार्क के एक होटल में, सोलहवें तल्ले पर,



श्रीमती सैंडो



अमेरिका की पोशाक में सैंडो

एक बलवान् नवयुवक ने उसका तिरस्कार किया, यहाँ तक कि लड़ने पर आमादा हो गया। सैंडो ने उसे चील के चंगुल में मांस की तरह उठाकर सोलहवें तल्ले के ऊपर से नीचे गिराना चाहा। उसकी चिल्लाहट सुनकर होटल के मैनेजर आदि यदि न आ जाते, तो उसकी हड्डियाँ ज़मीन पर बिखर जातीं!

न्यूयार्क में सैंडो के कई व्याख्यान भी हुए, जिनमें अपार भीड़ होती, और अमेरिका के बड़े-बड़े आदमी बड़े

शौक़ से आते थे। न्यूयार्क से बोस्टन होता हुआ वह शिकागो पहुँचा। वहाँ उन दिनों एक बहुत बड़ी प्रदर्शिनी हो रही थी। सैंडो ने उसमें अपने भव्य बल-प्रदर्शन द्वारा प्रचुर धन उपार्जन किया। शिकागो की जिस रंगशाला में सैंडो के खेल होते थे, उसमें छः हज़ार आदमियों के बैठने की जगह थी, और हर खेल में रंगशाला भरी ही रहती थी।



सैंडो-प्रणाली से कसरत करनेवाली एक स्त्री का शारीरिक सौंदर्य

शिकागो से चलकर सैंडो सेंटलुई पहुँचा, और वहाँ अपने खेलों को दुहरानेवाले के लिये दस हज़ार डॉलर का पारितोषिक घोषित किया। एक नौजवान ने यह चैलेंज स्वीकार कर लिया; पर उसने सैंडो के सभी खेलों को दुहराकर दिखलाने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब सैंडो ने कहा कि कोई एक खेल भी दिखा देने से—केवल ३०० पौंड का डंब-बेल उठा लेने से—पारितोषिक दिया जा सकता है। किंतु वह इस पर भी तैयार नहीं हुआ।

सेंटलुई से सैंडो सैनफ्रांसिस्को पहुँचा; वहाँ शेर और भालू की लड़ाई का विज्ञापन निकाला। २० हज़ार दर्शकों के योग्य एक सुविस्तृत रंगशाला बनाई गई। किंतु पुलीस ने तमाशा रोक दिया। तब सैंडो ने भालू की जगह खुद ही शेर से लड़ने का इरादा किया। अपने मित्रों के मना



सैंडो-प्रणाली से अनभिज्ञ एक अस्वस्थ छात्र

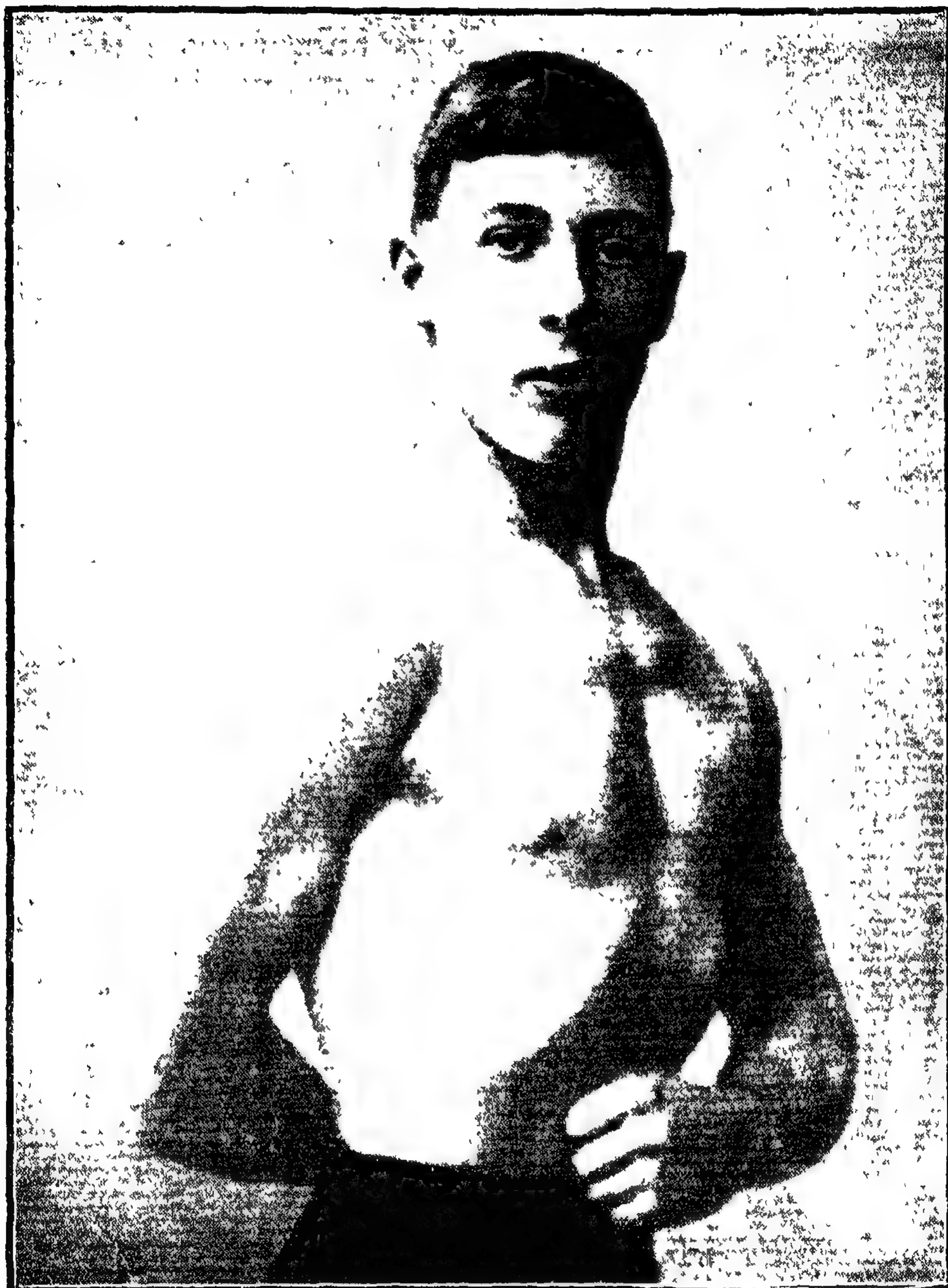
करने पर भी वह किंचित् विचलित न हुआ। फलतः धूमधाम से विज्ञापन प्रकाशित किया गया। जिस शेर के साथ लड़ाई होनेवाली थी, वह बड़ा ही ज़बरदस्त और भयंकर था। सैंडो ने अपने जीवन में कहीं भी वैसा खूँख़्वार शेर नहीं देखा था। सैंडो उसके साथ अखाड़े में दंगल के लिये उतरा ही था कि वह गरजकर टूट पड़ा। सैंडो ने पैंतरे से उसका निशाना बचाकर बड़ी फुर्ती से उसे पकड़ लिया—बाएँ हाथ से गर्दन और दाहने से कमर! सिर्फ़ पकड़ा ही नहीं, ५३० पौंड वज़न के उस पशु-सम्राट् को सिर तक ऊँचा



लव कुश

[चित्रकार--श्रीयुत पूर्णचंद्र]

N. K. Press, Lucknow



सैंडो-प्रणाली से अभ्यास करके स्वस्थ हुआ वही छात्र

उठाकर ज़ोर से ज़मीन पर पटक दिया। शेर क्रोधांध होकर फिर उछला, तो सैंडो ने उसे अपनी पीठ पर ले लिया, और पीछे हाथ करके बड़े ज़ोर से उसका गला पकड़कर अपने सामने फेंक दिया । शेर चारो खाने चित हो गया !

इस प्रकार शेर पर अपने प्रचंड बल का आतंक जमा-कर सैंडो ने वहाँ बड़ी कीर्ति और संपत्ति कमाई ।

दूसरे दिन फिर दंगल निश्चित हुआ, यद्यपि सैंडो के शरीर में शेर ने कई जगह घाव कर दिए थे । आज के



सैंडो-प्रणाली से स्वस्थ हुआ क्षय-रोग का एक रोगी



सैंडो-प्रणाली से स्वस्थ हुआ हृद्रोग का एक रोगी

दंगल में भीड़ का कुछ ठिकाना न था। सैकड़ों फ़ोटोग्राफ़र चारों ओर कैमरा लिए बैठे थे। सैंडो ज्यों ही अखाड़े में उतरा, आँखें बराबर होते ही शेर स्तब्ध हो गया। वह अपने विजेता को पहचान गया। किंतु दर्शकों की उत्कंठा शांत करने के लिये सैंडो ने शेर को शांत न रहने दिया, उसकी पूँछ पकड़कर ऐंठने लगा। इस पर शेर बिगड़कर टूट पड़ा। किंतु सैंडो के उद्दंड भुजदंडों के सामने उसकी एक न चली। पहले दिन की तरह वह आज भी पछाड़ा गया। फिर तो ऐसा ठंडा पड़ गया कि सैंडो उसे अपने कंधे पर लेकर अखाड़े में टहलने लग गया। घनघोर करतल-ध्वनि से रंगशाला गूँज उठी।

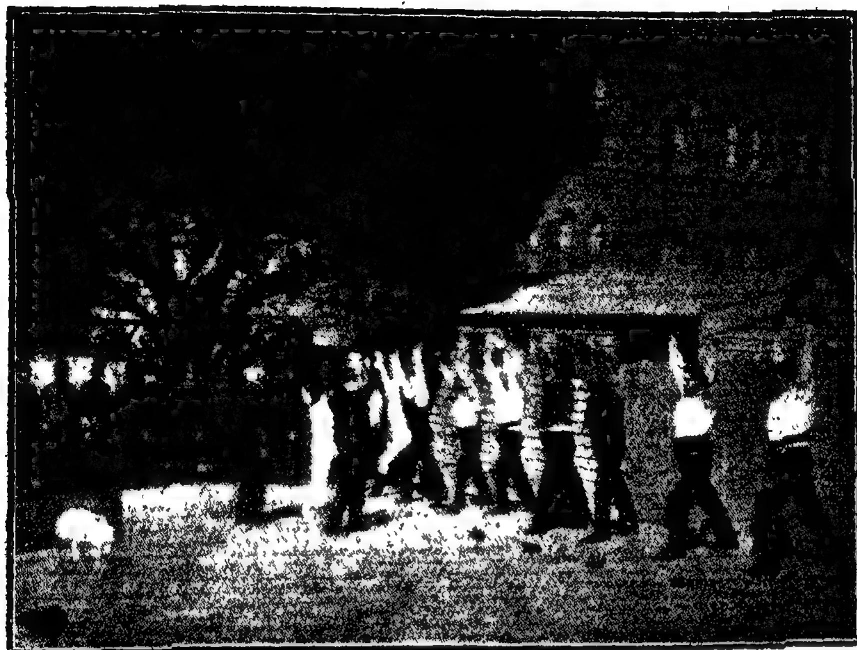
इसी तरह अपनी अद्भुत शारीरिक शक्ति का परिचय देते हुए सैंडो ने आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड की भी सैर की। इन देशों में भी उसका बड़ा सम्मान हुआ। कई बड़े शहरों में उसने अपनी व्यायाम-प्रणाली के प्रचारार्थ संस्थाएँ भी स्थापित कीं। किंतु भारत में उसकी प्रणाली की दाल न गली, यद्यपि वह आज से २५ वर्ष पहले यहाँ भी आया था।



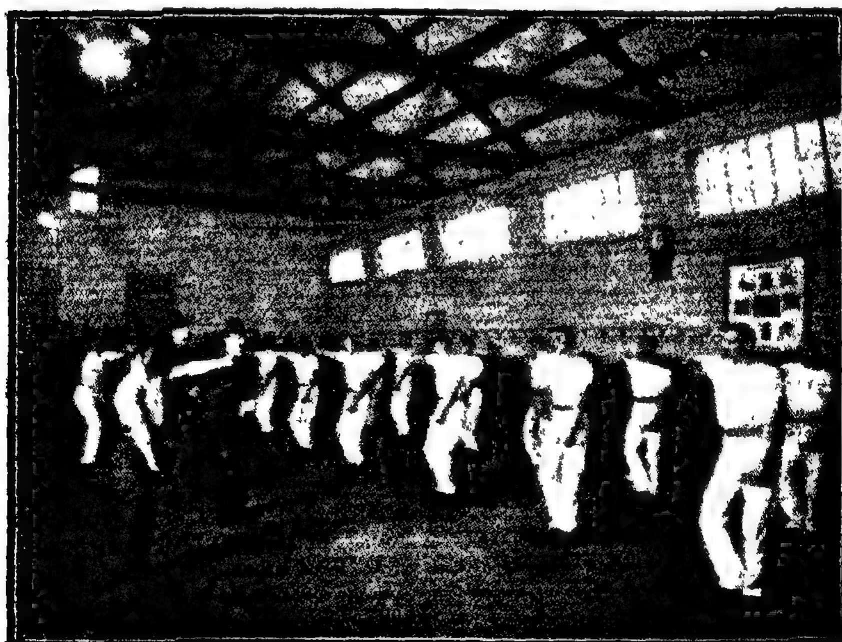
सैंडो-इंस्टीटयूट में स्त्रियों की व्यायामशाला



सैंडो-इंस्टीटयूट (३२, सेंट जेम्स-स्ट्रीट, लंदन एस्० डब्ल्यू०)



सैंडो पुलीस के जवानों को कसरत सिखा रहे हैं



सैंडो शाही फ़ौज को अपनी प्रणाली से 'डंब-बेल' सिखा रहे हैं

अतुल शक्तिशाली होने के साथ ही सैंडो विद्वान् भी था। उसकी लिखी हुई बीस सचित्र पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनसे योरप में उसकी प्रणाली का ख़ासा प्रचार हो गया है। सैंडो-इंस्टीट्यूट द्वारा बहुत-सी अन्यान्य छोटी-मोटी पुस्तिकाएँ भी निकली हैं, जिन्हें पढ़कर सुदूर देशांतर में रहनेवाला मनुष्य भी सैंडो-प्रणाली से लाभ उठा सकता है। स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध, सभी उपकृत हो सकते हैं। लंदन में सैंडो-प्रणाली का इतना आदर है कि सेना और पुलीस-विभाग के सिवा स्वयं सम्राट् भी उसका अभ्यास करते हैं। इसीलिये उन्होंने सैंडो को अपना राजकीय व्यायाम शिक्षक नियुक्त किया था। ऐसे सम्मान्य पद पर वर्तमान संसार का कोई पहलवान अभी तक नहीं पहुँचा। सैंडो की मृत्यु से पाश्चात्य संसार का एक सुप्रतिष्ठित यशस्वी पुरुष-सिंह उठ गया! *

शिवपूजनसहाय

तरंगिणी

छेद वज्र-गिरि-गात अश्रु-सी मैं झरती हूँ झर-झर-झर;
करती हूँ अनंत-पथ यात्रा फैला फेनिल लोल लहर।
शिष्य बनाती नद-नालों को कलंकिनी-सी कल-कल कर;
खंड-खंड कर शिलाखंड मैं हँसती वसुंधरा-उर पर।
कुसुम-सुरभि उड़-उड़ आती है, मथ मथ मृदु नंदन-कानन;
कुद-कुद गूँज रहा मधुकर-दल, मस्त हो रहा नव यौवन।
सुरा पी रही मृदुल मल्लिका, झूम रही नलिनी महफ़िल;
फूल रही केसकी कमल-सी, झरती जुही कली खिल खिल।
सूर्यमुखी चरणों पर झुकी चढ़ी जा रही स-दल चंचल;
फूलझड़ी-सी नाच रही हूँ, मैं नटिनी-सी मचल-मचल।
चंद्र-किरण के वस्त्र ओढ़कर, झलक-झलक झलमल-झलमल;
छिछले, कँकरीले पथ पर मैं, बल खाती हूँ उछल-उछल।
ताथेई-ताथेई सुख से नाच रही हूँ मरघट पर;
मैं अज्ञात-यौवना बनकर मौन पड़ी हूँ पनघट पर।
सोती सुमुखी सखी श्यामता रेत लपेट मग्न तट पर;
करती लघु अभिसार अकेली अलबेली कंचन-घट भर।
चमक रहा नव कोहनूर-सा आस-पास जुगनू-मंडल;
तैर-तैर कुछ खेल रहा है, हंसकुमार अबोध सरल।
जल पीती है हिरन-किशोरी, कुहू-कुहू करती कोयल;
तरु-छाया सोती छाती पर, मैं गाती रसमयी ग़ज़ल।
फूल-फूल मृदु फेन-कुंडली करती शुचि-परिहास तुमुल;
ढाँक तमिस्रा अंचल में मुख, विभावरी हँसती मंजुल।
हवा झुलाती स्वर-झूले में, मैं उजाड़ती पथ-जंगल—
बढ़ी जा रही, मार्ग दिखाता दीप सुनहला उच्छृंखल।
बज उठती उस पार बाँसुरी, मैं करती छम-छम नर्तन,
ध्यान तोड़ती मुनि-मंडल का अट्टहासमय कर गर्जन।
छोड़ योग मठ ताक रही हूँ सुंदर वाराणसी-नगर;
फुफकारते भुजंग अंग पर, बजा रहे डमरू शंकर।
परी-सरीखी सजी हुई, मैं पापनाशिनी अति निर्मल;
मदमाती हूँ, अनल-गर्भ में मुद्रित पड़े श्याम बादल।
उठा-उठा तर्जनी चिढ़ाते मुझे लोग पगली कहकर;
बनी विरहिणी ढूँढ़ रही हूँ, अपना प्रथम मिलन सुंदर।
आज लाज पर गिरी गाज है, मैं अंधी हूँ प्रेम-विकल;
जिस धुन में हूँ, वही सुहाती—क्या समझे दुनिया पागल।
धन बटोर धनवान-सरीखा खड़ा सामने सिंधु-मदन;
डमक-डमक मैं रति-बाला-सी, अभी करूँगी आलिंगन।

"गुलाब"

---

* इस सचित्र लेख के लिये सैंडो-लिखित 'Strength and How to obtain it'-नामक सचित्र अँगरेज़ी-पुस्तक और श्रीपूर्णचंद्रराय एम्० ए०, बी० एल्०-प्रणीत सचित्र 'स्वास्थ्य और शक्ति'-नामक बँगला-पुस्तक से चित्र और सामग्री प्राप्त हुई है। इनके सिवा सैंडो-इंस्टीट्यूट (लंदन) द्वारा प्रकाशित चार पुस्तिकाओं से भी चित्र-चरित्र-संबंधी सहायता ली गई है। —लेखक

"इँगलैंड का इतिहास" *

[समालोचना]



शिक्षा-क्रम में इतिहास का क्या महत्त्व है, यह किसी शिक्षा-प्रेमी से छिपा नहीं। वर्तमान को समझने के लिये भूतकाल के अध्ययन की नितांत आवश्यकता होती है; और भविष्य के सुधारने की कार्य-योजना तब तक नहीं बनाई जा सकती, जब तक हम वर्तमान परिस्थिति को भली भाँति हृदयंगत न कर लें। हमारी स्मरण-शक्ति, कल्पना-शक्ति एवं तर्क-वितर्क आदि की शक्तियों का विकास होकर, हमारे मस्तिष्क को इतिहास के अध्ययन से जो लाभ होता है, जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में उसकी अपेक्षा कुछ कम लाभ नहीं होता। फिर जो देश जितना ही उन्नत होगा, और संसार के राष्ट्रों में जिसका जितना ही ऊँचा स्थान होगा, उस देश के इतिहास का भी उतना ही अधिक शिक्षाप्रद तथा दूसरों के लिये लाभप्रद होना संभव है। पाश्चात्य देशों में मॉमसन, गिबन, वॉन रैंके, स्टब्स, फ्रीमैन, ग्रीन प्रभृति विद्वानों ने ऐतिहासिक क्षेत्र में विशेष प्रशंसनीय कार्य किया है। कुछ समय पहले तक हमारे देश के विद्वानों का ध्यान इस ओर नहीं गया था। जिन्होंने इस दिशा में कुछ उल्लेखनीय कार्य किया भी, तो वह अँगरेज़ी में! यह बात नहीं है कि हिंदी में इतिहास के ग्रंथ लिखे ही नहीं गए। लिखे अवश्य गए, पर उनकी संख्या नगण्य ही रही; उनकी मात्रा दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। अतएव अपने यहाँ इस विषय के जितने अधिक ग्रंथ निकलें, उतना ही अच्छा। हमारे देशवासियों के लिये इँगलैंड के इतिहास का अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। उससे हमें अनेक ज्ञातव्य बातें मालूम हो सकती हैं। हर्ष का विषय है कि गंगा-पुस्तकमाला के उत्साही संचालकों ने डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार-सदृश सुशिक्षित, बहुश्रुत एवं बहुविश्रुत लेखक से प्रस्तुत पुस्तक लिखाकर प्रकाशित की है।

प्रथम भाग में पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय कई परिच्छेदों में विभक्त है। अनैतिहासिक काल और ब्रिटिश-द्वीपों के अत्यंत प्राचीन निवासी 'इबेरियंज़' का उल्लेख करने के बाद पुस्तक में 'सेल्ट'-जाति का वर्णन है। इसी जाति ने ब्रिटेन में सबसे पहले सभ्यता की ओर क़दम बढ़ाया था। पर रोमन लोगों के आने से इस जाति को बड़ा धक्का पहुँचा। जगत्-प्रसिद्ध जूलियस सीज़र ने ईसवी सन् के ५५ वर्ष पूर्व ब्रिटन में रोमन-सत्ता का सूत्रपात किया था, और उसके पश्चात् ऑलस प्लॉटियस, स्यूटोनियस, ज्यूलियस एग्रीकोला आदि ने उस शासन की नींव को सुदृढ़ कर रोमन-सत्ता स्थापित की थी। रोमन लोगों की सत्ता ४०० वर्ष तक, अर्थात् ४१० ईसवी तक, ब्रिटेन में रही। ब्रिटेन को अपने अधिकार में लाकर रोम ने उसे सभ्य बनाने का प्रयत्न किया। बड़ी-बड़ी पक्की सड़कें बनाई गईं; उन सड़कों के किनारे बड़े बड़े नगर बसाए गए। खेती और व्यापार की उन्नति हुई। स्थान-स्थान पर दुर्ग बनाए गए। लैटिन-भाषा का प्रचार हुआ। यह सब कुछ तो हुआ; पर रोमन लोगों ने इस द्वीप के निवासियों को आत्मरक्षा करना नहीं सिखलाया; उन्हें अपने ऊपर ही निर्भर रक्खा। इसका परिणाम बड़ा भयंकर हुआ। ब्रिटिश-जाति का पौरुष जाता रहा। रोम-साम्राज्य पर आपत्ति आने के कारण जब रोमन सेना ब्रिटेन से हटा ली गई, तो ब्रिटेन-निवासी अपनी रक्षा स्वयं न कर सके, और दूसरी जातियों के शिकार बन गए। ये ऐँग्ल-जातियाँ 'ज्यूट्स', 'सैक्सन' और 'ऐंग्लस' थीं, जो जर्मनी के उत्तर-भाग से ब्रिटेन में आईं। प्रस्तुत पुस्तक में इनकी रीति-नीति तथा राजनीतिक संस्थाओं का वर्णन विस्तार से किया गया है, और यह उचित ही है; क्योंकि अँगरेज़ों की वर्तमान शासन-प्रणाली को समझने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। इन ऐँग्ल-जातियों के बस जाने पर लेखक ने ब्रिटेन के चिरकाल तक सात राज्यों में बँटे रहने का उल्लेख किया है। पर

* इँगलैंड का इतिहास (दो भाग)—लेखक, डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार; संपादक, श्रीदुलारेलाल भार्गव; प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ; प्रथम भाग, पृष्ठ-संख्या ३६५; द्वितीय भाग, २४०; मूल्य सादी जिल्द प्रथम और द्वितीय भाग क्रमशः २) और १॥); सजिल्द २॥) और ३)

उन्होंने यह नहीं बतलाया कि इन सात राज्यों के अतिरिक्त ब्रिटेन में और भी कोई राज्य थे या नहीं। इतिहास-विशारद प्रोफ़ेसर फ़ीमेन इस संबंध में लिखते हैं—

The old dream of a regular Heptarchy has long been exploded; but it is certain that among a crowd of smaller states seven or eight stand out as conspicuous among the rest and having something like a continuous history."

छठी शताब्दी में इन आँग्ल-जातियों ने ईसाई-धर्म ग्रहण किया, और तभी से इनमें एकता का भाव बढ़ा।

१०६६ ई० में नार्मंडी के विलियम ने इँगलैंड में पदार्पण किया। उसी वर्ष उसका राज्याभिषेक भी हो गया। इसके पश्चात उसके विरुद्ध जो विद्रोह हुए, और उनका दमन उसने किस प्रकार किया, पुस्तक में इसका स्पष्ट उल्लेख है। उससे यह बात स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है कि एकता के अभाव तथा संघ-शक्ति के न होने से ही आँग्ल-शासकों को नीचा देखना पड़ा। विलियम के आगमन का राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में इँगलैंड पर बड़ा प्रभाव पड़ा। शताब्दियों का सोया हुआ इँगलैंड सहसा चौंक पड़ा। कोने में पड़े हुए एक छोटे-से द्वीप-समुदाय का, जो अब तक धीमी चाल से चल रहा था, विलियम द्वारा योरप से संबंध हो जाने पर, उसमें एक नई स्फूर्ति आ गई—एक नए जीवन का संचार हुआ। लेखक ने द्वितीय अध्याय के सप्तम परिच्छेद में इन सब परिवर्तनों का सविस्तर वर्णन किया है। १०८६ ई० में, विलियम ने सैल्सबरी में एक दरबार किया। कई लेखकों के अनुसार इसमें छोटे-बड़े, सभी भूमिपतियों के आने और विलियम के प्रति राजभक्ति की शपथ लेने का उल्लेख है। किंतु 'नार्मन और एंजेविन'-काल के विशेषज्ञ मि० एच्०सी० डेविस ने इस संबंध में प्राप्त सब मौलिक सामग्री का अध्ययन कर यह निश्चय किया है कि इस दरबार में भूमिपति सम्मिलित नहीं थे, और इस दरबार का कोई स्थायी महत्त्व न होकर, डेनमार्क के राजा नट के आक्रमण को रोकने के लिये ही शीघ्रता में इसका प्रबंध किया गया था। अस्तु। प्रथम विलियम के वंशजों में द्वितीय हेनरी विशेष उल्लेखनीय है। इँगलैंड की क़ानूनी प्रणाली का आरंभ मुख्यतः इसी के समय में हुआ। आगे चलकर राजा जॉन के द्वारा 'महास्वतंत्रता-पत्र' (Magna Carta) के प्राप्त होने का वर्णन है। यह पत्र ब्रिटिश-स्वातंत्र्य-भवन का शिला-न्यास समझा जाता है। इसके एवं इसके पुत्र तृतीय हेनरी के शासन-काल से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अत्याचारी और अयोग्य शासकों से अपने अधिकार प्राप्त करने में जनता को कैसे-कैसे उपायों का अवलंबन करना पड़ता है, और उसमें कहाँ तक सफलता मिलती है। राजा द्वारा प्राप्त हुए अधिकार विशेषतः सरदारों को ही मिले; पर यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि जनता ने उसका पूरा-पूरा साथ दिया था। तृतीय हेनरी की क्षणिक बुद्धि, अयोग्यता और प्रजा-पीडन तथा उसके समय में इँगलैंड में होने-वाली हलचल आदि का इस पुस्तक में चित्ताकर्षक वर्णन है। डॉक्टर हैलम ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'Europe during the Middle Ages' में इसी हेनरी को मोम-निर्मित (King of Wax) कहा है, और प्रोफ़ेसर टाउट ने (Historians' History of the World) में इसी शताब्दी को उन्नति का 'महान् काल' नाम दिया है। तृतीय हेनरी के बाद एडवर्ड नाम के तीन राजा इँगलैंड के तख़्त पर बैठे। प्रथम एडवर्ड ने द्वितीय हेनरी के राज्य-नियमों की किस प्रकार पूर्ति की, इसका विस्तार-पूर्वक वर्णन है। इँगलैंड के राजकुमार का 'प्रिंस ऑफ़ वेल्स' नियुक्त होना तथा कर्मवीर राबर्ट ब्रूस-संबंधी घटनाएँ इसी समय की हैं। इस काल में आँग्लों में जातीयता का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म, साहित्य तथा व्यापार-व्यवसाय में भी क्रमशः उन्नति होने लगी। पार्लियामेंट की शक्ति का भी इसी काल में विकास हुआ। लंकास्टर-वंश के समय में तो पार्लियामेंट ने बहुत अधिक शक्ति प्राप्त कर ली। सन् १३९९ में जब पार्लियामेंट ने चौथे हेनरी को आँग्ल-राजा उद्घोषित किया, तभी से विशेष-रूप से यह शक्ति बढ़ी। उसके जो उत्तराधिकारी हुए, उन्होंने भी इस सत्ता को माना। किंतु पार्लियामेंट की यह दिन-दूनी बढ़ती हुई शक्ति यार्कवंशीय चतुर्थ एडवर्ड के सिंहासनारोहण से सहसा रुक गई, जिसे, प्रथम चार्ल्स की फाँसी के बाद कहीं सत्रहवीं शताब्दी में, उन्नति करने का पुनः अवसर मिला। बीच में राजा की सत्ता का नए ढंग से जो ज़ोर रहा, उसे ग्रीन साहब ने अपने 'अँगरेज़-जाति के इतिहास में' (New Monarhcy) नया राजत्वकाल कहा है।

सातवें हेनरी का समय इँगलैंड में आधुनिक काल समझा जाता है। पुस्तक में इसका विशद वर्णन दिया है। सन् १४५३ में तुर्कों द्वारा कांस्टैंटिनोपल पर आक्रमण, वहाँ से यूनानी विद्वानों का इटली तथा संपूर्ण योरप में फैल जाना, छापे की कला का आविष्कार, विद्या का पुनरुत्थान, अमेरिका की खोज तथा इस नवीन जागृति का इँगलैंड पर प्रभाव—यह सब हृदयग्राही भाषा में अंकित है। जर्मनी के मार्टिन लूथर की सत्यनिष्ठा, पोप के परंपरागत अनुचित अधिकारों के प्रति उसका आंदोलन, इँगलैंड में आठवें हेनरी के शासन-काल का धार्मिक परिवर्तन, उसकी स्वेच्छाचारिता और टॉमस मोर-सदृश उत्कट विद्वानों को प्राणदंड दिया जाना भी इसी के बाद की घटनाएँ हैं। हेनरी ने किसी सिद्धांत के कारण धार्मिक परिवर्तन नहीं किया। वास्तव में वह प्रोटेस्टेंट नहीं था, केवल स्वार्थवश उसने पोप की सत्ता को हटाया था। शक्ति समीकरण Balance of power की नीति भी हेनरी के समय में ही आरंभ हुई। कोई भी देश योरप में इतना बलवान् न हो जाय कि वह अन्य योरपीय देशों के संदेह का कारण हो; और यदि कोई ऐसा देश हो, तो उस देश के विरोधी देशों का एक दल बनाकर उसकी शक्ति को कम किया जाय—यही इस नीति का मुख्य आशय है। इसी नीति का सहारा लेकर गत चार सौ वर्षों में योरप में कई युद्ध हुए हैं। हेनरी के पश्चात्, छठे एडवर्ड के समय के धार्मिक सुधारों और मेरी के समय के धार्मिक अत्याचारों का वर्णन है। मेरी ने अपने पाँच वर्ष के शासन में प्रायः तीन सौ मनुष्यों को प्राण-दंड दिया, तथा रिडले, लैटिमर एवं क्रेमर-सदृश विद्वानों को जीते-जी जलवा दिया! आगे चलकर एलिज़बेथ ने किस प्रकार चर्च ऑफ इँगलैंड की स्थापना की, यह बतलाकर उस काल की सर्वांगीण उन्नति (अर्थात् राज-नैतिक, धार्मिक, आर्थिक, नाविक तथा साहित्यिक) पर पाठकों का विशेष ध्यान दिलाया गया है। एडमंड स्पेंसर, शेक्सपियर, सर फ्रांसिस आदि जगत्-प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों ने इसी काल की शोभा बढ़ाई थी। इससे यह बात भी समझ में आ जाती है कि राष्ट्रीय उन्नति और साहित्य-निर्माण का पारस्परिक कितना घनिष्ठ संबंध है। लॉर्ड एक्टन और बिशप स्टब्स ने स्व-रचित इतिहास-ग्रंथों में इस पारस्परिक संबंध पर विशेष ज़ोर दिया है। राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों पर प्रकाश डालकर लेखक ने उस समय के समाज का वास्तविक चित्र खींचा है। इसके बिना इतिहास वस्तुतः इतिहास कहा नहीं जा सकता। एक प्रसिद्ध अँगरेज़ लेखक ने इस संबंध में ठीक ही लिखा है—

"No presentation of history can be adequate which neglects the growths of the religious consciousness, of literature, of the moral and physical science, of art, of scholarship, of social life."

द्वितीय भाग में स्टुअर्ट वंश के आरंभ से महारानी विक्टोरिया के स्वर्गवास तक का वर्णन है। आरंभ में ही प्रथम जेम्स के दैवी अधिकार का उल्लेख है। अँगरेज़-जाति इस अधिकार को मानने के लिये तैयार नहीं थी। फलतः पार्लियामेंट में और इँगलैंड के राजा में, इस मामले में, मुठभेड़ आरंभ हो गई। इनसे मिलते-जुलते और भी कई कारण थे। जेम्स की वैदेशिक नीति के कारण प्यूरिटन नियम और कर-संबंधी विरोध किस प्रकार बढ़ा, इसको स्पष्ट करने के लिये लेखक ने उस समय की योरपीय अंतरराष्ट्रीय अवस्था का भी दिग्दर्शन करा दिया है। जेम्स का कृपापात्र जॉर्ज विलियर्स भी लोगों की दृष्टि में बहुत खटकता था। इस समय की प्रत्येक पार्लियामेंट की बैठक और तत्संबंधी संक्षिप्त कार्य-विवरण भी लेखक ने दे दिया है, जिससे इन घटनाओं का तारतम्य समझने में बड़ी सुविधा हो जाती है। चार्ल्स के शासन-काल के आरंभ ही में बकिंघम पर दोषारोपण होता है। इसका प्रमुख नेता जॉन इलियट था। इलियट ने इस सिद्धांत पर ज़ोर दिया कि राजा ऐसों को ही मंत्री चुने, जिनमें पार्लियामेंट का विश्वास हो। चार्ल्स ने इसका विरोध करने के लिये किन-किन उपायों का अवलंबन किया, और फिर उसे किस प्रकार मुँह की खानी पड़ी, यह सब पुस्तक में अच्छी भाँति बतलाया गया है। कर देने की पूरी पूरी क्षमता होने पर भी, हेंपडन ने अनुचित रीति से राजा के कर वसूल करने का व्यावहारिक रूप से घोर विरोध किया। उन निर्बल आत्माओं ने, जिनमें इतना साहस न था, परोक्ष भाव से उसकी सहायता की, और उससे अपनी सहानुभूति बतलाई। इँगलैंड के इतिहास में ये घटनाएँ बहुत ही महत्त्व-पूर्ण हैं। भविष्य में इँगलैंड में ही नहीं, अमेरिका के उप-निवेशों तथा संसार के अन्यान्य देशों पर भी इन घटनाओं

का प्रभाव पड़ा है । राजा ने यदि व्यवस्था और क़ानून की रक्षा करने में सीमोल्लंघन कर प्रजा को सताया, तो प्रजा ने भी स्वाधीनता की दुहाई दे-देकर उसे उच्छृंखलता में परिणत कर दिया, यहाँ तक कि राजा का वध ही कर डाला ! सभ्यता के प्रसार के लिये उचित परिमाण में व्यवस्था और स्वाधीनता, दोनों की आवश्यकता है ; पर अपनी सीमा से बढ़ जाने पर इनका प्रभाव उलटा पड़ता है । इसके पश्चात् क्रॉमवेल के प्रजातंत्र तथा संरक्षित राज्य और द्वितीय चार्ल्स के शासनकाल का उल्लेख है । इसके पढ़ने से यह प्रत्यक्ष मालूम होता है कि समय-विशेष की परिस्थिति के अनुरूप ही महापुरुषों का जन्म होता है; और फिर वे उस परिस्थिति को अपने अनुरूप बनाते हैं । पर साथ-ही-साथ उससे यह भी स्पष्ट मालूम हो जाता है कि किसी शासन-प्रणाली को नष्ट-भ्रष्ट करने के बाद उसके स्थान में नवीन शासन-प्रणाली की आयोजना करना एक अत्यंत कठिन कार्य है । क्रॉमवेल-जैसे योग्य, प्रभावशाली एवं पुरुष-सिंह को भी इसमें सफलता नहीं मिली । शासन का नया ढंग और विशेषतः सेना का आधिपत्य अँगरेज़ों को सह्य न हुआ, और प्राचीन शासन-पद्धति प्रायः फिर आरंभ हो गई । इन घटनाओं से यह शिक्षा मिलती है कि किसी देश के लिये नया संगठन संघटित करने के हेतु उसकी नींव उसी देश की प्राचीन संस्थाओं पर किसी-न-किसी रूप में रखना चाहिए । देश-विशेष की संस्कृति,सामाजिक स्थिति एवं इतिहास के अनुकूल होने से ही सफलता मिलती है, अन्यथा नहीं । इतिहास के प्रवाह की तुलना एक नदी के प्रवाह से की जा सकती है, जो कहीं गहरी है, कहीं उथली । चाहे उसकी दिशा कुछ बदल जाय, चाहे उससे दूसरी नदी का संगम हो जाय; पर उसका मौलिक स्वरूप किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहना चाहिए । इन पर अधिक ज़ोर देने का कारण यह है कि अपने देश की इस समय की परिस्थिति में इनका विशेष संबंध है । दूसरे जेम्स की अवैध कृतियों का विरोध इस बार पार्लियामेंट ने प्राणदंड के रूप में न कर ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि उसे स्वयं देश से निर्वासित होना पड़ा । अतएव 'गौरव-पूर्ण क्रांति' होकर पार्लियामेंट की सत्ता बढ़ गई, और दैवी अधिकार कपूर की भाँति उड़ गया । इँगलैंड के इतिहास में एक महत्त्व-पूर्ण पटाक्षेप हुआ, तथा वैध शासन-प्रणाली के आरंभ होने से अब केवल वैध आंदोलन रह गया । इसके पूर्व वहाँ वैध आंदोलन के साथ ही क्रियात्मक आंदोलन का बड़ा ज़ोर था । प्रत्येक शस्त्र की आवश्यकता वातावरण-विशेष के अनुसार ही होती है । तीसरे विलियम के आगमन से एक नया युग आरंभ होता है । उसके पश्चात् रानी एन का राजत्वकाल आता है । सभी स्थलों में, पुस्तक में, 'एन' न लिखकर 'एनी' लिखा गया है । यह उच्चारण शुद्ध नहीं समझा जाता ।

द्वितीय भाग के द्वितीय अध्याय में हनोवर-वंश तथा कुलीन-तंत्र राज्य के विषय में लिखा गया है । वालपोल के प्रधान मंत्रित्व, और उस समय की पार्लियामेंट की स्थिति एवं रिश्वतख़ोरी आदि जिन अनुचित साधनों का अवलंबन उन दिनों किया जाता था, उन सबका लेखक ने बहुत अच्छा वर्णन किया है । विदेशी होने तथा अँगरेज़ी-भाषा और अँगरेज़ी रीति-नीति से अनभिज्ञ होने के कारण प्रथम और द्वितीय जॉर्ज मंत्रियों की इच्छा के अनुसार ही चलते थे । तीसरे जॉर्ज ने 'राज-मित्र' (King's friends) तैयार किए, और मंत्रियों के ऊपर अपना प्रभाव जमाया । विशेषतः लॉर्ड नॉर्थ के मंत्रित्व-काल में तो समस्त शासन की बागडोर उसी के हाथ में थी । नॉक्स ने अपने स्मरण-पत्रक (Memorandam)में राजा द्वारा आमंत्रित दो समितियों का उल्लेख किया है, जिन्हें नॉर्थ के मंत्रित्व काल में तृतीय जॉर्ज ने अपने वाचनालय में बुलवाई थी, और जिनमें सब मंत्री उपस्थित थे, एवं राजा ने जिनमें सभापति का आसन ग्रहण किया था । इतिहासज्ञों का अनुमान है कि ये मंत्रि-मंडल (Cabinet) की ही बैठकें थीं । अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध का पुस्तक में बहुत ही प्रभावशाली वर्णन है, और इस युद्ध के संबंध में लेखक ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे मनन करने-योग्य हैं । संसार के इतिहास में इस युद्ध का क्या महत्त्व है, यह सब जानते हैं । चैथम-सरीखे देशभक्त की अवहेलना करने का फल इँगलैंड ने भोगा । चैथम, पिट और इसके पुत्र छोटे पिट के कार्यों की लेखक ने अच्छी विवेचना की है, और यह बतलाया है कि पार्लियामेंट के कर्णधारों की घृणास्पद काररवाइयों को इन्होंने किस प्रकार मिटाने का प्रयत्न किया । इँगलैंड की व्यावसायिक क्रांति तथा फ्रांस की राज्यक्रांति पर भी लेखक ने विशेष-रूप से प्रकाश डाला है ।

पुस्तक के अंतिम अध्याय में, नेपोलियन-युद्ध के बाद चौथे जॉर्ज से लेकर महारानी विक्टोरिया की मृत्यु तक का वर्णन है। सन् १८३२, १८६७ और १८८४ के सुधार-विधान ही इस काल की विशेष घटनाएँ हैं। ग्लैडस्टन के मंत्रित्व-काल तथा आयर्लैंड के होमरूल-आंदोलन का भी विशद वर्णन है। स्वराज्य तथा साम्राज्य पर लिखते हुए वैदेशिक नीति पर जो कुछ लिखा गया है, वह विशेष-रूप से उल्लेखनीय है। सन् १८८७ की डायमंड जुबिली के पश्चात् महारानी विक्टोरिया के देहावसान और सातवें एडवर्ड के राज्यारोहण का उल्लेख कर लेखक ने इस अत्यंत उपयोगी पुस्तक की समाप्ति की है। पुस्तक की लेखन-शैली सुबोध एवं मनोरंजक है। प्रत्येक परिच्छेद के अंत में मुख्य-मुख्य घटनाएँ तारीख़वार दे दी गई हैं, और प्रत्येक काल का अध्ययन करने के पश्चात् उस काल की सारभूत, सर्वांग-पूर्ण समालोचना भी की गई है, जिससे भिन्न-भिन्न घटनाओं का एक सूत्र में पारस्परिक संबंध चित्रवत् हृदय-पट पर स्पष्ट खिंच जाता है। साथ ही जो वंश-वृक्ष दिए गए हैं, वे भी बहुत उपयोगी हैं। इँगलैंड के इतिहास की घटनाओं को स्पष्ट करने में, विषयांतर में, योरपीय घटनाओं का जो दिग्दर्शन कराया गया है, उससे योरप के संबंध की भी महत्त्व-पूर्ण ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं। पुस्तक में यत्र-तत्र कुछ छोटी-मोटी त्रुटियाँ रह गई हैं, जिनका संपादक महोदय ने, भूमिका में, स्वयं ही उल्लेख कर दिया है; पर वे नगण्य हैं। पुस्तक में, विशेषतः प्रथम भाग में, कई स्थानों पर नामों में 'ब' के स्थान में जो 'व' छप गया है, वह विशेष खटकता है। यदि भविष्य में, स्थानों को स्पष्ट करने के लिये, कुछ मानचित्र दे दिए जायँ, तो पुस्तक की उपादेयता बहुत बढ़ जाय, और हाई स्कूल तथा कॉलेज के जो विद्यार्थी इस पुस्तक का अध्ययन पाठ्य ग्रंथ समझकर करें, उन्हें अधिक सुविधा हो जाय। अंत में हम गंगा-पुस्तकमाला के संचालकों को हिंदी-साहित्य के ऐतिहासिक क्षेत्र की इस आंशिक पूर्ति करने के श्लाघनीय प्रयत्न पर बधाई देते हैं, और आशा करते हैं कि पुस्तकमाला के संचालकगण हिंदी की इस त्रुटि को दूर करने का अधिक प्रयत्न करेंगे।

भारत-इतिहास पर तो छोटे-बड़े अनेक ग्रंथ होने ही चाहिए; और वे ऐसे हों, जिनके पठन-पाठन से हमारे देश-बांधवों को भली भाँति विदित हो जाय कि इस देश ने भी बहुत कुछ किया है, तथा इसकी दशा सदा ऐसी ही नहीं रही, जैसी आज देखने में आती है। यहाँ की सभ्यता, शासन-प्रणाली, विज्ञान, दर्शन, कला-कौशल आदि सभी बातें बढ़-चढ़कर थीं। पाश्चात्य देश जो अपनी सभ्यता के सामने किसी दूसरे देश की सभ्यता को पासंग-बराबर भी नहीं समझते, कई बातों में इसी बूढ़े भारत के ऋणी हैं। भारत-इतिहास में ऐसी कई बातें हैं, जिनके संबंध में मतभेद है। इन्हें दूर करना भारतीय सपूतों का काम है।

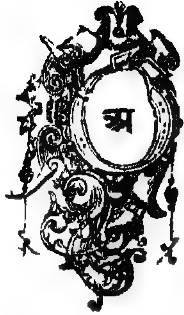
साथ ही हमारे लिये पाश्चात्य देशों के इतिहास का, और ख़ासकर इँगलैंड के इतिहास का, परिशीलन अत्यंत आवश्यक है। इस इतिहास में राजनीतिक उन्नति के तत्त्व भरे पड़े हैं, वर्तमान सभ्यता का अच्छा ख़ाका है। यदि हम अपने देश की समुन्नति चाहते हैं, तो हमें देखना पड़ेगा कि अन्य देशों ने अपनी उन्नति किस प्रकार की है। साथ ही, हमें यह भी देखना होगा कि इन देशों की उन्नति में कौन-कौन-सी त्रुटियाँ हैं, और इनके ध्येय कहाँ तक ग्राह्य हैं। सभ्यता की घुड़दौड़ में इन देशों ने किन-किन बुराइयों को आश्रय दिया है, जिनके कारण शांति के बदले ये दिन-रात युद्ध के भय से त्रस्त रहते और दीन जनता का धन उसकी उन्नति में नहीं, युद्ध-सामग्री के संचय करने में नष्ट करते हैं।

यदि कुछ वर्ष शांति भी रहती है, तो भी इन देशों में पूँजीपतियों तथा श्रमजीवियों के बीच में उपद्रव होते ही रहते हैं, जिनके कारण सर्वसाधारण को व्यर्थ का कष्ट उठाना पड़ता है। जो लोग बिलकुल योरपीय सभ्यता को ग्रहण करना चाहते और भारत को भी इँगलैंड के समान समृद्धिशाली बनाना चाहते हैं, वे देखें कि इन बुराइयों को आने देना क्या हमारे सुख के लिये अपेक्षित है? थोड़े-से शिक्षित नेताओं को छोड़कर मतदाताओं में से कितने लोग इन विषयों को समझते हैं? हमारा कर्तव्य है कि मातृभाषा में ऐसे ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे जायँ, जिनको पढ़कर अधिकांश जनता इन बातों को समझने लगे। इँगलैंड का ऐसा इतिहास लिखाकर श्रीगंगा-पुस्तकमाला के संचालकों ने एक अच्छे कार्य की नींव डाली है।

रघुवरप्रसाद द्विवेदी
रामचंद्र संघी

ईश्वर का बहिष्कार

(३)



अब हम ज़रा अल्लाह मियाँ की पैदाइश की तरफ़ ध्यान देना चाहते हैं। क्यों अजन्मा, अविकार आदि नामों से लोग उसे पुकारा करते हैं? जब मेरा मूल मंतव्य यही है कि ईश्वर को हमेशा के लिये जनता के हृदय-पटल से उड़ा दिया जाय, तो जैसे कुश की जड़ खोदकर मट्ठा डाला जाता है, उसी तरह ईश्वर की भी जड़ खोदकर उसमें केरोसिन तेल डालना पड़ेगा। इसलिये ईश्वर की जड़ तलाशकर उसका नाश करना मेरे लिये अत्यंत आवश्यक काम हो गया। यदि हमने तर्क से लोगों के ऊपरी साधारण विचारों को पलट भी दिया, तो क्या फिर लोग दूसरे नाम और रूप से एक नई कल्पना खड़ी न कर लेंगे? जैसे मूर्ति-पूजन छोड़ने पर भी मुसलमान संग-असवद को बोसा देने लगे, मुहम्मद की क़ब्र की ज़ियारत और क़ाबे की मसजिद को सिजदा करने पर उतर पड़े, कुछ लोग ताज़िए बनाने लगे, कितने हर किसी क़ब्र पर फूल-चद्दर चढ़ाना और फ़ातिहा पढ़ना सीख गए, यही हाल हिंदुओं, ईसाइयों और जैनों का भी है। इसलिये जड़ से ही ख़ुदापरस्ती का कल्ला कमा हो, तभी कुछ काम हो सकता है। अस्तु, हम ईश्वर की पैदाइश की खोज करके अपने ज्ञानवान्, विचारशील, धीर-वीर पाठकों को बतलाते हैं। हमारे परिश्रम से ईश्वर का नामनिशान ऐसा मिटे कि उसका कोई नाम लेने और पानी देनेवाला बाक़ी न रहे, तो समझिए कि मिहनत सफल हुई। अगर ज़रा भी चिह्न बाक़ी रहा, तो वट-वृक्ष की तरह फिर ईश्वर नए अंकुर फोड़ने लगेगा, और संसार के सामने एक नई जह-मत खड़ी दिखलाई देगी। आओ भई, प्रतिक्रांति से प्रेम करो—अपने बुद्धिदाता शैतान को सिंहासनासीन करने के लिये अपने शत्रु ख़ुदा को गद्दी से उतारो। इसी में हमारा-तुम्हारा, सबका कल्याण है। जब से ग्रेट ब्रिटेन ने ख़ुदा को हटाकर शैतान को सिंहासनारूढ़ किया, तभी से उसका सारे संसार में बोलबाला है। अब बाक़ी योरप में ख़ुदा इधर-उधर छिपकर दिन काट रहा है, मगर अभागे एशिया-देश में उसकी डकैती बराबर जारी है। इस-लिये एशिया के प्रधान ज्ञान-क्षेत्र भारत से ईश्वर को सबसे पहले देशनिकाला देना हम भारतवासियों का प्रधान कर्तव्य है। अगर हम सब नौजवान कमर कस लें, तो म० गांधी-सदृश दस-पाँच आदमियों की मदद से वह कभी स्थिर नहीं रह सकता। आओ, इसकी जड़ का पता लगावें।

धर्म के भ्रम और ईश्वर की मिथ्या कल्पना के कारण, जो लोग 'वालटेअर' की तरह इस बुराई के समर्थक हैं, प्रजा में भय उत्पन्न करने की ज़रूरत बतलाते हैं। यदि ज़रूरत के कारण ही ईश्वर और धर्म को माना जाय, तो वह चिड़ियों को डरानेवाले, खेत में खड़े काठ के पुतले के सिवा और कुछ नहीं रह जाता। जिस तरह प्राचीन एवं सार्वभौम कल्पना के आधार पर ईश्वर या धर्म का मानना विज्ञान और तर्क-शास्त्र के प्रतिकूल है, वैसा ही मूर्खों को डराने के लिये भी यह कल्पना बुरी और अमान्य है। जिनकी अंतरात्माएँ दृढ़ हैं, जो सत्य के अनन्य भक्त हैं, जो मनुष्य के ज्ञान और उसके तर्क को प्रतिष्ठा देते हैं, वे इस प्रकार की कल्पना करने में सर्वथा असमर्थ रहे हैं, और रहेंगे।

मनुष्य जो धार्मिक विश्वास और ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किए बैठा है, उसका बेसमझी और अविचार इतना कारण नहीं है, जितना दुःख और हार्दिक असंतोष। ग़रीब बेपढ़े लोगों का जीवन इतना बुरा है, उनको खाने-पहनने आदि की इतनी तकलीफ़ है कि जब वे कुढ़-कुढ़ाते और जलते हैं, तो सारा दोष किसी ऐसी शक्ति के मत्थे मढ़ देते हैं, जो उनसे भिन्न है। यदि वे ईश्वर के बदले अपने कष्टों का दायित्व ज़बरदस्त, सतानेवाले और अधिकार प्राप्त लोगों पर डालें, तथा सामाजिक प्रतिक्रांति के लिये तैयार हों, तो ज़्यादा अच्छा हो। इनका दुःख दूर हो जाय। ईश्वर को मान लेने से, दुःखों से छुटकारा मिलते नहीं देखा जाता। यदि मिलता, तो पत्थर को रोटी मान लेने से भी काम चल जाता। सारांश यह कि ईश्वर का जन्म मूर्खता से हुआ, और भय, छल तथा असंतोष ने इसकी यथावसर पुष्टि की।

सृष्टि की प्रारंभिक अवस्था में मनुष्य का ज्ञान इतना समृद्धिशाली न था, जैसा अब है। उनकी योग्यता कम थी; उनके मनोवेग यथार्थ काम न दे सकते, जैसे बालक

का हाल है। इसलिये उसने देवी, देव, नबी, रसूल, अवतार—जो भी किसी ने कहा, मान लिया। यह सब मनुष्य की ही कल्पना है, वास्तविकता कुछ नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि मनुष्य ने जो कल्पना की, अपने ही रूप के अनुरूप की। राजदरबार, ज़बरदस्तों की तलवार, धनवानों का सुखमय आगार देखकर हमने भी ईश्वर के दूत, जेल के बदले नरक, भोग-विलास के स्थान में स्वर्ग आदि की कल्पना कर ली। पुराण, बाइबिल, कुरान की गाथाओं को देखकर इस कल्पना की निःसारता सहज ही समझ में आ जाती है।

जिस तरह बच्चे अपनी मातामही, पितामही से झूठी लंबी-चौड़ी कथाएँ सुनकर कल्पना किया करते हैं, मनुष्यों ने भी अपने स्वार्थी भाइयों से, जो अधिक चतुर थे, कथाएँ सुनीं, और धर्म के नाम से, भोलेपन के कारण, सत्य मान बैठे। इस गप को लोग न मानते, तो पोप, ख़लीफ़ा, गोस्वामी, पंडित-पंडे, पुजारी प्रभृति लोग जनता के धन से मोटे बनकर न बैठ सकते। एक बार कल्पित ईश्वर को गद्दी पर बिठाकर, जैसे मंदिर में मूर्ति स्थापित करके लोग संसार को ठगने लगते हैं, उसी तरह विद्वानों और बात बनानेवाले लोगों ने यह कहकर ठगना आरंभ किया कि 'वह बड़ा दयालु, न्याय-कारी, सारे जगत् का नियंता, विनाशक और बनाने-वाला है', इत्यादि। इस तरह कल्पित ईश्वर की वेदी पर भोले-भाले लोगों का बलिदान प्रारंभ हो गया, और हो रहा है।

ईश्वर को स्वामी और मनुष्य को दास मानने से ही संसार में गुलाम और स्वामी की सृष्टि हुई। इस विश्वास को लोगों ने अवतार, नबी आदि बनकर फैलाया, और पुजे। जब तक ईश्वर सबका स्वामी है, मनुष्य दास है। जहाँ ईश्वर का स्वामित्व मिटा कि मनुष्य की दासता का भी अंत हुआ समझो। इसलिये ईश्वर को मिटाना, मनुष्य की दासता को हटाना तथा मनुष्यों में समता और न्याय का प्रचार करना है। ईश्वर को मानना बुद्धि और न्याय को एकदम तिलांजलि देना है—मनुष्य की प्राकृत स्वतंत्रता का निश्चय नष्ट करना है। इसलिये यदि हम मनुष्य-जाति का कल्याण चाहते हैं, तो सबसे पहले हमें धर्म और ईश्वर को गद्दी से उतारना चाहिए। आँखों से दिखलाई देनेवाले और बुद्धि-ग्राह्य जगत् को मिथ्या मान-कर एक निर्मूल पदार्थ को सर्वश्रेष्ठ मान बैठने से बड़ी और क्या नादानी हो सकती है?

धर्म ने मनुष्य को कितना नीचे गिराया, कितना कुकर्मी बनाया, इसको हम स्वयं सोचकर देखें। ईश्वर का मानना सबसे पहले बुद्धि को सलाम करना है। जैसे शराबी पहला प्याला पीने के समय बुद्धि की बिदाई का सलाम करते हैं, वैसे ही ख़ुदा के माननेवाले भी बुद्धि से बिदा हो लेते हैं। ईश्वर की कल्पना मनुष्य को निर्बल, निकम्मा, परमुखापेक्षी एवं गुलाम बना डालती है। धर्म ही हत्या की जड़ है। कितने पशु धर्म के नाम पर रक्त के प्यासे ईश्वर के लिये संसार में काटे जाते हैं, इसका पता लगाकर पाठक स्वयं देख लें।

कितने झगड़े ईश्वर और धर्म के नाम पर होते हैं! आज हिंदू-मुसलमानों के बीच भारत में जो परिस्थिति है, इसकी ज़िम्मेदारी धर्म ही पर है। आज कुरान को हटा दिया जाय, तो आज ही भारत में सुख-शांति आ सकती है। हिंदुओं में भी वही दोष है, जो मुसलमानों में; किंतु बहुत कम दर्जे में। दोनों में राई और पर्वत का अंतर है। फिर भी दोनों ही ग़लती पर हैं। जितने पादरी, मौलवी, पंडित, पुजारी और पंडे धर्म का दम भरते हैं, ऊपर से बड़े भद्र होते हैं; पर इनके दिल बहुत काले होते हैं। इनकी नीयत रहती है कि ईश्वर और धर्म के नाम पर हम ठगें, लोग ठगे जायँ, और हमारे पीछे पागल की तरह फिरें।

आज हमारे देश के बड़े-बड़े विद्वान् यदि ब्रिटिश गवर्न-मेंट को निकालने के पहले ईश्वर को निकाल देते, धर्म की फाँसी अपने गले से निकाल फेंकते, तो उनमें कभी का इतना बल आ जाता कि अपने देश का शासन आप करते। ज्यों-ज्यों दुनिया में बुद्धि का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों ईश्वर की थोथी कल्पना मिटती जाती है। समय आवेगा कि धर्म की बेहूदगी से संसार छुटकारा पाकर सुखी होगा, और आपस की कलह मिट जायगी। ख़ुदा है क्या वस्तु? कोई वस्तु? कोई व्यक्ति? कोई मनोगत भाव? कुछ नहीं—एक-मात्र निर्मूल कल्पना, एक कुविचार-जन्य शब्द। मनुष्य से अधिक सुंदर, चतुर, शक्तिशाली, ज्ञानवान्, भद्र, परोपकारी, न्याय और दया को समझने-वाला न तो कुछ है, न हो सकता है। लेकिन जब कुछ मनुष्य दूसरों को सतानेवाले देखे जाते हैं, तो लोग एक सर्व-श्रेष्ठ की कल्पना करते हैं। यह नहीं समझते कि मनुष्यों

में ही भले और बुरे, दोनों की पराकाष्ठा के नमूने हैं। इसी को देखकर ईश्वर में क्रोध, बदला, नाशकारी शक्ति का आरोप किया गया है। मनुष्य का ही मनन करो, प्रकृति का पाठ पढ़ो, इसी में हमारा कल्याण है। एक अत्याचारी, एक मूर्ख शासक, खुदमुख्तार एवं ज़िद्दी ईश्वर की कल्पना करना मानो स्वतंत्रता, न्याय और मानव-धर्म को तिरस्कार करके दूर फेंक देना है। यदि आप चाहें कि ईश्वर आपका भला करे, तो उसका नाम एकदम भुला दें। फिर संसार मंगलमय हो जायगा।

मनुष्य के सरल, साधारण नैसर्गिक ज्ञान के हथौड़े से ही ईश्वर की कल्पना को टुकड़े-टुकड़े कर सकते हैं। लेकिन देखा जाता है कि आध्यात्मिकता के नए-नए जाल मनुष्य-जाति के गले की फाँसी को सुदृढ़ करने के लिये गढ़े जा रहे हैं। साधारण जनसमूह का कल्याण और हमारी मानसिक भलाई इसी में है कि हम ईश्वर की ऐतिहासिक उत्पत्ति को मनोयोग के साथ समझें ; वे कौन-से लगातार ऐसे कारण हुए, जिनसे मनुष्य ने अपने मन में ईश्वर की कल्पना की—इसका विचार करें। यदि हम पढ़े-लिखे, विचारशील पुरुष अच्छी तरह ध्यान न देंगे, तो निःसंदेह हम थोड़ा-बहुत उस सार्वभौम अंतरात्मा की पुकार से, जिसका भेद हमने अच्छी तरह प्रकट नहीं किया, दब ही जायँगे। कड़े-से-कड़े दिल के आदमी में एक स्वाभाविक निर्बलता देखी जाती है। वह यह कि सामाजिक बंधन के दबाव में मनुष्य आ ही जाता है, और किसी-न-किसी प्रकार उसे धार्मिक बेहूदगी के गड्ढे में गिरना पड़ता है। टामसपेन-सदृश विद्वान् ने भी ऐसी ठोकर खाई है। धर्म की पकड़ साधारण जनसमूह या समुदाय में इतनी ज़बरदस्त क्यों देखी जाती है? इसका यह अर्थ नहीं है कि ये सब पागल हैं। लेकिन इस अबूझ पहेली में फँसने का कारण उनकी मानसिक चिंता और हार्दिक असंतोष है। इस असंतोष का निराकरण ईश्वर की कल्पना से नहीं हो सका, तो अब सामाजिक क्रांतिकांति ही इसका अंत करेगी। इसलिये क्रांतिकांति की बड़ी ही आवश्यकता है।

जर्मनी के एक राजसत्तापोषक (Imperialist) ने एक बार कहा था—We do not only need the soldiers legs but also their brains and their hearts.—केवल सिपाहियों के हाथ-पैरों की ही ज़रूरत नहीं है, उनके दिल और दिमाग़ की भी ज़रूरत है। अर्थात्, ग़रीबों के दिल और दिमाग़, इनकी मानसिक वृत्ति और हृदय, ऐसे बनाए जायँ कि वे खुशी से, पशुओं की तरह, धनिकों, अधिकार प्राप्तों की गुलामी यावज्जीवन करते रहें। यही तो मनु ने भी किया, जो उसने शूद्रों के कर्तव्य में यह लिखा—"एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ; एतेषां त्रयवर्णानां शुश्रूषामनसूयया।" यह तो ग़रीबों के लूटने का एक साधन है कि उन्हें धर्म-याजकों द्वारा ईश्वर या धर्म का भय दिखाया जाता रहता है। क्या कोई पंडित, मौलवी, धर्मयाजक या राजा-रईस और धनिक ईश्वर को मानता है—उससे डरता है? कभी नहीं ; क्योंकि वे जानते हैं कि ईश्वर-मात्र हमारे स्वार्थ-सिद्धि का एक जाल-मात्र है। स्कूल, देवालय, राजसत्ता और छापेख़ाने, सभी कुछ ग़रीबों को अंधकार में डालने के लिये धनवान् और ज़बरदस्त लोगों ने मिलकर बनाया है। स्कूल भी शुद्ध बुद्धि से प्रजा के हित के लिये नहीं बनते। देवालय और ईश्वर तो प्रत्यक्ष ठगी के जाल ही हैं। एक स्थान पर पंडित-शिरोमणि बुहारिन ने स्पष्ट बतलाया है कि ग़रीबों के छलने के लिये धर्म (Church) के द्वारा क्या-क्या शरारतें की जाती हैं। हम यहाँ विषयांतर होने के भय से इस पंडित की विवेचना को स्थान नहीं दे सकते। अन्य पुस्तक में हम शीघ्र इस प्रकार के विषयों पर अलग विचार करने की इच्छा रखते हैं, यदि समय और शरीर साथ दें। अब मैं ईश्वर का भ्रम मनुष्यों में कैसे उत्पन्न किया गया, इसी पर थोड़ा-सा विचार और करके इस लेख को समाप्त करना चाहता हूँ।

वेद, पुराण, कुरान, इंजील आदि सभी धर्म-पुस्तकों के देखने से प्रकट है कि सारी गाथाएँ वैसी ही कहानियाँ हैं, जैसी कुछ बूढ़ी दादी-नानी अपने बच्चों को सुनाया करती हैं। गीदड़, चिड़िया और राक्षस की जो कहानियाँ मैंने अपनी दादी से सुनी थीं, मुझे आज तक याद हैं, और धर्म-ग्रंथों की बातें इससे कहीं-कहीं बेहूदगी में बहुत आगे बढ़ जाती हैं। इसका कारण मानव-बुद्धि का अपूर्ण विकास, बाल्यावस्था का मूढ़-विश्वास ही हो सकता है, न कि और कुछ। ईश्वर, देवता, नबी, वली वग़ैरह वग़ैरह की बुद्धि-विरुद्ध कल्पनाएँ मूर्खों के ही सिर में पैदा हो सकती हैं, और

उन्हीं के भाई-बंद उनको सुनकर उन पर विश्वास कर सकते हैं। बिना देखे, सुने, अनहोने, लापता ईश्वर या ख़ुदा के नाम पर अपने देश को, जाति को, व्यक्तित्व और धन-संपत्ति को नष्ट कर डालना एक ऐसी बड़ी मूर्खता है, जिसकी उपमा नहीं मिल सकती। हमारे देश में करोड़ों हरामख़ोर इसी बेहूदा कल्पना की बदौलत मज़े उड़ाते हैं, और रात-दिन श्रम करनेवालों को एक टुकड़ा रोटी भी यथासमय नहीं मिलती।

वह बुद्धि-विहीन मस्तक कैसा विचित्र होगा, जिसने 'कुछ नहीं' को सत्य, न्याय, सौंदर्य, बल, धन, जन से संपन्न, और मनुष्य को नीच, हेय, पतित, निर्बल, निकम्मा, पापी माना तथा मनवाया होगा। आओ, आज हम इस बेहूदगी का परदा फाड़कर संसार को सुखी बनाने के लिये, उसके गले से गुलामी का तौक उतारने के लिये, घोषणा करें कि 'ईश्वर' नाम का कोई पदार्थ नहीं है—मनुष्य बुद्धि की विडंबना-मात्र है। जब तक यह कल्पित स्वामी—ईश्वर—हमारे सिर पर रहेगा, हमारी गुलामी का अंत न होगा। ईश्वर गया, और गुलामी भी गई। ईश्वर ही सब पापों की जड़ है, सब फ़सादों का आदि कारण है; इस नाम के भूल जाने में ही हमारा कल्याण है। प्रह्लाद के पिता के चातुर्य और प्रह्लाद की अदूरदर्शिता का पता उन विचारशीलों को लगेगा, जो बात की तह में गहरे घुसकर देखेंगे। ख़ुदा यदि हमारे कल्याण का हेतु हो सकता है, तो सिर्फ़ इसी तरह कि वह हमारे बीच से सदा के लिये अपना-सा मुँह लेकर चला जाय। सच तो यह है कि संसार ख़ुदा से तंग आ चुका है।

हमें दुःख है कि आज भी हमारे देश के बड़े विद्वान् यथा महात्मा गांधी, टी० एल० वासवानी, डॉक्टर संजीवी, दार्शनिक अग्रगण्य श्रीयुक्त भगवानदास इत्यादि-इत्यादि उसी भूल को पद-पद पर दृढ़ करने में लगे हुए हैं, जिसे, हमें चाहिए था, संसार के सामने प्रकट करके सदा-सर्वदा के लिये उठा देते, हटा देते, मिटा देते—अशुद्ध अक्षर की भाँति हरताल से छिपा देते।

हमारे कुछ दोस्तों ने प्रकृति की आंतरिक, अविच्छिन्न शक्ति को (Inherent Force in Matter) ही ईश्वर मानकर प्रार्थना की है कि ईश्वर को इस काम से अलग पड़ा रहने दीजिए। लेकिन मैं कहता हूँ कि इस प्रकृति-शक्ति के लिये 'प्रकृति' काफ़ी है। अधिक विचार के लिये आप चाहें, तो दूसरा नाम रख सकते हैं; लेकिन मैं अपने वश चलते 'राजा और ईश्वर'-शब्दों से संसार के किसी भी कोष को कलंकित नहीं देखना चाहता। ईश्वर ही की कल्पना, राजा की कल्पना, गुरुओं और महंतों की कल्पना का प्रधान कारण है। इसलिये संसार की बुराइयों पर कुठाराघात करने के लिये ईश्वर की जड़ का काटना सबसे पहले ज़रूरी जान पड़ता है। आशा है, हमारे नवयुवक इस बात पर गहरी, गंभीर और धीरता-वीरता-पूर्ण दृष्टि डालकर शीघ्र ईश्वर को निकालने का प्रयत्न करेंगे।

"प्रत्यक्षवादी"

समाज में स्त्रियों का स्थान



इस लेख का शीर्षक पढ़कर पाठक कहेंगे, यह तो बहुत पुराना विषय है; इस पर अब तक यथेष्ट लिखा जा चुका है, अब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। अब इस पर अधिक लिखना केवल चर्वित-चर्वण या पिष्टपेषण-मात्र है। हाँ, इस विषय पर यथेष्ट लिखा जा चुका है, और वास्तव में इस पर अधिक लिखना चर्वित-चर्वण या पिष्टपेषण भी हो सकता है। पर समयानुसार भी विषय का महत्त्व होता है। गत दो-तीन वर्षों से, हिंदोस्तान में, एक आंदोलन ज़ोर पकड़ रहा है। कुछ स्त्रियाँ इस बात की माँग पेश कर रही हैं कि सब व्यवस्थापक-सभाओं में उन्हें भी पुरुषों के समान सदस्य होने तथा सदस्य चुनने का अधिकार मिलना चाहिए। कहीं-कहीं पुरुष भी इस बात पर ज़ोर देने लग गए हैं। इसीलिये इस विषय पर फिर गंभीरता के साथ विचार करने की आवश्यकता है।

व्यवस्थापक-सभाओं के सदस्य होने या सदस्य चुनने का अधिकार माँगने का कारण यह है कि लोग समझते हैं कि राजकीय सभा-समितियों में भाग लेना सबसे अधिक महत्त्व का काम है। जो मनुष्य इनमें भाग नहीं लेते, अथवा जिन्हें इनमें भाग लेने का अधिकार नहीं है, उनका दर्जा समाज में छोटा है। इससे स्त्रियाँ भी यह अनुमान करती हैं कि उन्हें यदि इनमें भाग लेने का अधि-

कार न रहा, तो उनका दर्जा पुरुषों से हीन रहेगा। फिर मनुष्य तो संसार में सब बराबर हैं, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, धनी हो या ग़रीब। पुरुष या स्त्री होने से, *धनी या ग़रीब होने से, किसी के मनुष्यत्व में अंतर नहीं आता।* इसलिये किसी को एक विषय का अधिकार देना और किसी को न देना न्याय-सम्मत नहीं कहा जा सकता। इसी न्याय को मानकर संसार के कई देशों में स्त्रियों को भी पुरुषों-जैसे सारे सामाजिक अधिकार दिए गए हैं। फिर क्या कारण है, जो भारतीय महिलाओं को इन अधिकारों से वंचित रक्खा है, और रखने का प्रयत्न किया जा रहा है?

यह विचारमाला देखने में तो ठीक जान पड़ती है; परंतु उसमें केवल एक ही दोष है। वह दोष यह कि स्त्रियाँ मनुष्य होने से ही सब बातों में पुरुषों-जैसी नहीं हो सकतीं। सृष्टि ने स्त्री-पुरुष का जो भेद पैदा किया है, उसमें कुछ अर्थ है, और इस भेद के कारण स्त्रियों और पुरुषों के सांसारिक कर्तव्यों में बहुत अंतर पड़ जाता है। इस विषय में तो कोई नाहीं नहीं कर सकता कि स्त्रियों को संतति-जनन और पालन-पोषण का काम करना पड़ता है, और ये काम किसी प्रकार पुरुषों से नहीं हो सकते। हम कहेंगे, केवल इन्हीं दो कारणों से—संतति के जनन और पालन-पोषण की आवश्यकता से—स्त्रियों और पुरुषों के बहुत-से कर्तव्यों में भेद हो जाते हैं। मनुष्य-प्राणी और इतर प्राणियों में जो अनेक भेद हैं, उनमें एक यह भी है कि मनुष्य का बच्चा निपट परावलंबी होता है; कुछ वर्षों तक दूसरों के द्वारा उसका पालन-पोषण होना अत्यंत आवश्यक है। इसी से माता, पिता और बच्चों का एकत्र रहना अत्यंत आवश्यक है। यदि माता बच्चों के पालन-पोषण में लगे, तो पिता का कर्तव्य होता है कि इस पालन-पोषण के लिये जो सामग्री ज़रूरी हो, उसे कमाकर लावे, और स्त्री तथा बच्चों की सब तरह के शत्रुओं से रक्षा करे। यह केवल कार्य-विभाग है। स्त्री पर एक प्रकार का कार्य-भार लद जाने से, दूसरे प्रकार का कार्य पुरुष को ही करना होगा; स्त्री स्वयं सारा काम उतनी उत्तमता से न कर सकेगी, जितनी उत्तमता से वह दोनों की सहकारिता से संपन्न होगा। कार्य-विभाजन का यह सिद्धांत समाज में ही नहीं, गृह में भी लागू होता है। वास्तव में देखा जाय, तो गृह के अस्तित्व से ही समाज का अस्तित्व होता है। किंतु समाज केवल कुछ अनेक साधारण स्त्री-पुरुष और बच्चों का जत्था ही नहीं है। मनुष्य-प्राणी के समाज की रचना और इतर प्राणियों के समाज की रचना में यह एक बड़ा भारी अंतर है। इतर प्राणियों के समाज में गैहिक व्यवस्था न होने के कारण, उनके समाजों को व्यक्तियों का समूह कह सकते हैं; परंतु मनुष्य-प्राणी के समाज का मुख्य अंग व्यक्ति न होकर गृह-व्यवस्था (कुटुंब) है। बहुत लोग इस बात को भूल जाते हैं, और इसी कारण अपने विचारों में अनेक भूलें कर बैठते हैं। वे व्यक्ति का महत्व इतना बढ़ा देते हैं कि गृह-व्यवस्था को क़रीब-क़रीब भुला ही देते हैं; और फिर समाज को केवल व्यक्तियों का समष्टि समझकर अनुमानों की इमारत खड़ी करते जाते हैं। तब कोई आश्चर्य नहीं, जो इन अनुमानों में इस कारण अनेक ऐसी भूलें घुस पड़ती हैं, जिनको पकड़ लेना कभी-कभी अच्छे-अच्छे विद्वानों के लिये भी असंभव हो जाता है। इसलिये हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि मनुष्य-समाज केवल व्यक्तियों का समूह ही नहीं है। वह है अनेक परस्परावलंबी कुटुंबों का समुदाय। व्यक्ति पहले तो कुटुंब का अंग है; और फिर उसके द्वारा समाज का अंग बनता है। जब तक मनुष्य के बच्चे परावलंबी बने रहेंगे, तब तक कुटुंब की थोड़ी बहुत आवश्यकता बनी ही रहेगी। और, जब तक कुटुंब की आवश्यकता रहेगी, तब तक कुटुंब के दो अंगों (स्त्री और पुरुष) के कार्यों में भेद भी बना रहेगा।

परंतु कुटुंब की आवश्यकता केवल बालक की परावलंबितता के कारण ही नहीं उत्पन्न होती। मनुष्य-प्राणी के मन की रचना इतर प्राणियों के मन की रचना से बहुत भिन्न है। मनुष्य में बुद्धि है, और स्थायी अनुराग भी। इन दो कारणों से मनुष्य इतर प्राणियों से अत्यंत भिन्न हो जाता है। स्थायी अनुराग के कारण मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि जन्म के कारण जिन-जिन व्यक्तियों से संबंध रहता है, वे हेल-मेल से रहें, परस्पर की सहायता लें; और हो सके, तो एकत्र, एक ही घर में, रहें। कम-से-कम जिन-जिनसे प्रत्यक्ष संबंध होता है, वे तो अवश्य बहुत कुछ स्थायी रीति से एकत्र रहें। परावलंबी होने के कारण कुटुंब की आवश्यकता है ही; परंतु परस्परानुराग के कारण भी माता, पिता और संतति के एकत्र रहने की

आवश्यकता प्रतीत होती है। इससे कुटुंब की आवश्यकता अधिक स्थायी हो जाती है। बुद्धि तो उसको और भी स्थायी बना देती है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसे इस बात का ख़याल रहता है कि जिन-जिन लोगों ने हमारे लिये, हमारी बाल्यावस्था में, कष्ट सहे हैं, उन्हें उनकी वृद्धावस्था में सहायता देना, उनकी सेवा करना, उनकी रक्षा तथा पालन-पोषण करना, हमारे प्रौढ़ होने पर, हमारा कर्तव्य है। इस विचार में अनुराग के साथ बुद्धि भी है। यह अनुराग कुछ अंश में बुद्धि-मूलक है। फिर इस बुद्धि का एक दूसरा भी स्वरूप है। वह इस सृष्टि की बातों को जान और सोच सकता है, और उनका, अपने मानसिक और शारीरिक सुख के लिये, उपयोग भी कर सकता है। सारी भौतिक सभ्यता इसी के कारण संभव हुई है, और सुख की लालसा ने उसे बढ़ाया है। मनुष्य अपने लिये तो सुख चाहता ही है; परंतु अपने संबंधियों के लिये भी चाहता है। इस कारण भी कुटुंब की चिरस्थायी व्यवस्था आवश्यक है। सारांश यह कि परावलंबन, अनुराग, बुद्धि और सुख-लालसा के कारण कुटुंब व्यवस्था की आवश्यकता सदा से बनी रही है। उसके बिना नाना प्रकार की सभ्यताओं की संभावना नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, ऐसी अवस्था में मनुष्य का अस्तित्व ही मिट जाने का भय है। और, यदि वह बना ही रहा, तो पशु और मनुष्य में बहुत कम भेद रहेगा—दोनों की अवस्था एक-सी ही देख पड़ेगी।

अब तक हमने यह देखा है कि मनुष्य को बालक के पालन-पोषण और फिर वृद्धों के पालन-पोषण के लिये, मनोऽनुराग की पूर्ति के लिये, तथा सभ्यता की वृद्धि के लिये कुटुंब की व्यवस्था अत्यंत आवश्यक है। साथ ही हमने यह भी बतलाया कि कुटुंब के जो दो मुख्य कार्य हैं, उनका स्त्री और पुरुष में विभाजन होना अत्यंत आवश्यक है।

अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि मनुष्य के इतिहास में कर्तव्य और अधिकार का परस्पर संबंध है। इतना ही नहीं, कर्तव्य के कारण ही अधिकार उत्पन्न हुए हैं। यदि कर्तव्य न रहें, तो अधिकार भी न रहेंगे। कर्तव्यों के बिना अधिकारों की कल्पना ही नहीं हो सकती। यदि स्थायी रीति से बच्चों का पालन-पोषण स्त्री का कर्तव्य हुआ, और इस कारण उसका घर पर रहना आवश्यक हुआ, तो बाहरी काम-काज देखना-भालना और धन कमाना आदि मुख्य रूप से पुरुष का हुआ। इसलिये गृह-राज्य का शासक स्त्री हुई, और बाहरी राज्य का शासक पुरुष। इस विभाजन के बिना कोई भी काम ठीक न होगा। श्रम-विभाजन के तत्त्व से ही हमारे कार्य उत्तमता के साथ संपन्न होते हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक काम करने लग जाय, तो हम बहुत कम कामों को अच्छी तरह कर सकेंगे। इतना ही नहीं, हमसे बहुत कम काम बन पड़ेंगे। फिर मानसिक और मौलिक उन्नति भी रुक जायगी। इसलिये श्रम-विभाजन का तत्त्व समाज के लिये ही नहीं, व्यक्ति के लिये भी आवश्यक है। इसी कारण सैकड़ों वर्षों से सारे देशों में स्त्री-पुरुषों के कर्तव्य और अधिकार भिन्न-भिन्न बने रहे, और यह नितांत स्वाभाविक बात है।

परंतु झूठे विचारों ने यह कल्पना फैला दी कि एक तरह के कार्य ऊँचे दर्जे के हैं, और दूसरी तरह के नीचे दर्जे के। इस कल्पना के कारण यह झगड़ा पैदा हो गया है कि पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी सब सभा-समाजों की, पुरुषों के ही समान, सदस्यता ग्रहण करें, और पुरुषों के ही सारे काम करें। कोई एक काम करता है, कोई दूसरा। इस कारण एक काम ऊँचा और दूसरा नीचा नहीं होता। वास्तव में स्त्री के कार्य इतने महत्त्व-पूर्ण हैं कि उन्हीं पर कुटुंब की, समाज की, राष्ट्र की भलाई और उन्नति का सारा दारमदार है। उन्हीं कार्यों से मनुष्य-समाज का अस्तित्व है, उसे सुख मिलता है, और सभ्यता की वृद्धि भी हो सकती है। उनको हीन समझना बिलकुल भूल तथा मूर्खता है। उन्हीं की संभावना के लिये सारे नियम बने हैं। यदि उन कार्यों की आवश्यकता न रहे, तो इतने झगड़ों-झमेलों की आवश्यकता ही क्या रहेगी? घर-गिरस्ती के काम ठीक-ठीक चलने के लिये ही तो पुलिस और सेना, सरकार और सरकारी नौकर, क़ानून-सभा और क़ानून, न्यायालय और दंड आदि की आवश्यकता है। "आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्" तथैव "सर्वकार्यसमुद्देशः कुटुंबं प्रति गच्छति।"

इस पर कहा जा सकता है कि यह तो केवल फुसलाना है, चापलूसी है, मीठे शब्दों में धोखा देना है। स्त्रियों को इतने कष्ट उठाने पड़ते हैं, पुरुष उन्हें गुलामों की तरह रखते हैं, उनकी ज़िंदगी तकलीफ़ों से इतनी भरी रहती है कि उन्हें सुख नाम को नहीं मिलता।

संसार-सुख की भलाई पुरुषों को मिलती है, और मट्टा स्त्रियों को। ऐसा होने ही से तो स्त्रियाँ अब अपने अधिकारों का दावा करने लगी हैं। पहले इन आक्षेपों का उत्तर दे लो, फिर आगे बात करो।

इस विषय में हमारा यह कहना है—हम किसी प्रकार की चापलूसी नहीं करते, हम मीठे शब्दों में धोका नहीं देते। आप मान लीजिए कि मनुष्य की स्थिति ठीक पशु की-सी है। बच्चा वर्ष-दो वर्ष माता का दूध ही पीकर बड़ा हो सकता है, सृष्टि में जो पदार्थ स्वभावतः उत्पन्न हों, उन्हें खाकर रह सकता है; और उसे उस उमर में कपड़ो-लत्तों की आवश्यकता तो है ही नहीं। फिर आप बतलाइए कि कुटुंब-व्यवस्था की आवश्यकता ही कहाँ है? और, यदि कुटुंब-व्यवस्था की आवश्यकता न रही, तो मनुष्य जिस प्रकार का समाज बाँधता और उसके लिये सैकड़ों-हज़ारों तरह की व्यवस्था करता है, उसकी आवश्यकता ही क्या है? अतएव यदि इन बातों की आवश्यकता ही नहीं रही, तो फिर राजकीय अधिकारों के पाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? जिसका अस्तित्व ही नहीं, उसके बारे में प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? कुटुंब के होने से ही तो इतने झगड़े-झमेले पैदा हुए हैं, इसी के लिये तो राज्य-प्रबंध और उसके अनेक प्रश्न उत्पन्न हुए हैं, इसी के लिये तो ये सारी व्यवस्थाएँ हैं। और, कुटुंब का एक अंग स्त्री है, तो दूसरा पुरुष; दोनों मिलकर ही इस संसार-रथ को खींचते हैं। इसके खींचने में दो भिन्न-भिन्न, परंतु परस्पर-परिपोषक कार्य-कलापों को संपन्न करना होता है। एक वर्ग के कार्यों को नीच और दूसरे वर्ग के कार्यों को उच्च कहने से झगड़े उत्पन्न होंगे, और एक भी ठीक-ठीक संपन्न न होगा। इसके लिये कार्य-विभाग अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य के पास न तो इतना समय है, और न इतनी शक्ति कि वह दोनों प्रकार के कामों को अच्छी तरह संपन्न कर सके। एक प्रकार के कार्य करने में अधिकारों का दिखावा खूब होता है, खूब ढोल पीटी जाती है, इस कारण ऐसा जान पड़ता है कि वह ऊँचे दर्जे का है; और इसके विपरीत होने से दूसरा नीचे दर्जे का। इस प्रकार की विचार-शैली से, आगे चलकर, मनुष्य-समाज में भारी अनर्थ ही होने की संभावना अधिक है, लाभ की आशा बहुत कम। स्त्री के कार्य जितने महत्त्व के हैं, उतने शायद पुरुषों के नहीं। जब तक मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक रचना में परिवर्तन नहीं होता, तब तक स्त्री के कार्यों के महत्त्व से पुरुषों के कार्यों का महत्त्व कम ही रहेगा। यदि दोनों का संबंध देखा जाय, तो पुरुष के कार्य साधन हैं, और स्त्री के कार्य साध्य। साध्य और साधन में साधन सदैव गौण होता है, तथा साध्य प्रधान। इसलिये हमारे कथन में किसी प्रकार की चापलूसी या धोकेबाज़ी ढूँढ़ना उचित नहीं।

अब रही कष्टों की बात। सो अगर वास्तव में देखा जाय, तो कष्ट स्त्री और पुरुष, दोनों को होते हैं, एक ही को नहीं। द्रव्योपार्जन की ज़िम्मेदारी मामूली बात नहीं है। जिसे पैसा कमाना पड़ता है, उसे मालूम है कि इसके लिये कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। शारीरिक और मानसिक कष्टों की कोई सीमा नहीं रहती। जो काम अत्यंत नीच होते हैं, जिन्हें यदि द्रव्य की आवश्यकता न हो, तो कभी कोई न करे, वे सब करने पड़ते हैं। मूर्खों, दुष्टों और नीचों तक की खुशामद-दरामद करनी होती है। कभी-कभी बहुतों को उनके पैरों पर भी गिरना पड़ता है। धन कमाना वास्तव में कठिनतम कामों में एक है। इसके अलावा गृह की रक्षा की ज़िम्मेदारी पुरुष अपने सिर लेता है। इसके लिये भी, बहुत ही अच्छा शासन-प्रबंध होने पर भी, कुछ कम कष्ट नहीं भोगने पड़ते। फिर बच्चों की शिक्षा तथा पालन-पोषण आदि का भार भी उसी पर रहता है। ऐसी दशा में यह कहना कि कष्ट के सारे काम स्त्रियों को ही करने पड़ते हैं, पुरुषों को नहीं, केवल पक्षपात है। वास्तव में, कुटुंब का काम चलाने और बच्चों का पालन-पोषण करने में दोनों को कुछ तो एक-से, और कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार के होने पर भी समान श्रेणी के कष्ट उठाने पड़ते हैं। कोई स्त्री या पुरुष अपने कर्तव्य को न करे, तो दूसरी बात है। इससे मूल-स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता। संसार ही कष्टमय है। उसका समान भार उसके दोनों पहियों (स्त्री और पुरुष) पर है। मुझे कष्ट अधिक है, और तुम्हें कम—यह कहने में कोई लाभ नहीं। अपना-अपना भार प्रत्येक को वहन करना होगा। तभी कुटुंब और समाज की गाड़ी ठीक-ठीक चलेगी, अन्यथा नहीं।

परंतु हम यह मानने को तैयार हैं कि व्यवहार में, कुछ अंशों में, शासक के नाते पुरुष का अधिकार स्त्री से

अधिक है ; परंतु वह बहुधा एक ही बात में, यानी द्रव्य के उपयोग की योजना ही में, होता है। इसका कारण बहुधा यह रहता है कि पुरुष स्त्री की अपेक्षा अपने शिक्षा-जनित अधिक अनुभव तथा दूरदर्शिता के कारण इस पर सदैव ध्यान दिया करता है कि द्रव्य का उपयोग उचित रीति से, ठीक ढंग से, हो रहा है या नहीं। स्त्री को यह मालूम नहीं कि धन कितनी कठिनाई से आता है, संसार में क्या-क्या कठिनाइयाँ उपस्थित हो सकती हैं, और उस समय के लिये कुछ धन बचाकर रख छोड़ना कितना आवश्यक होता है। स्त्री के अशिक्षित या अल्पशिक्षित होने का दोष यदि पुरुषों के माथे मढ़ना हो, तो शायद वह उचित जान पड़े। जब तक कोई स्त्री दूरदर्शी एवं मितव्ययी अर्थ-सचिव की योग्यता नहीं रखती, तब तक अर्थ के उपयोग के समस्त अधिकार उसके हाथ में देना ग़लती का काम होगा। शेष बातों के बारे में हमारी राय है कि जहाँ तक बने, दोनों की सलाह से काम हो। परंतु यदि मत-भेद ही हो, तो उस प्रश्न के अनुसार, और बुद्धिमत्ता से कार्य होने की संभावना के अनुसार, स्त्री या पुरुष की प्रधानता रहेगी ही। मतभेद की अवस्था में और कोई उपाय नहीं है। न सभी बातों में स्त्री की ही प्रधानता हो सकती है, और न पुरुष ही की। कभी एक का मत माना जायगा, तो कभी दूसरे का। इस पर अगर कोई कहे कि सब बातों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि घर में भी पुरुष ही प्रधान होता है, और स्त्री केवल उसकी बातों पर अमल करने की अधिकारिणी है, तो कुछ अंशों में यह बात ठीक है। पर उसके कुछ कारण है। एक कारण तो ऊपर अभी बतला चुके हैं कि जिस पर जिस बात की ज़िम्मेदारी है, उसमें उसकी प्रधानता रहना अत्यंत आवश्यक है। मतभेद की अवस्था में उसी का मत मानना उचित है। दूसरे कारण ये हैं कि पुरुष अपने कामों के कारण कुछ विशेष शिक्षा और अनुभव प्राप्त कर लेता है; स्त्री उतनी शिक्षा और अनुभव प्राप्त नहीं कर सकती। जिसकी बुद्धि विकसित हो चुकी है, जो जगत् के अनुभवों को प्राप्त कर चुका है, साथ ही अपने निजी अनुभव भी पा चुका है, उसकी थोड़ी बहुत प्रधानता रहना स्वाभाविक तो है ही, उचित भी है। अन्यथा बुद्धि, विद्या और अनुभव आदि से कुछ लाभ ही न होगा। और, हम नहीं समझते कि इनसे लाभ न उठाने के लिये कहने को कोई समझदार आदमी तैयार होगा—वह चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष। अतएव जब तक यही अवस्था रहेगी, तब तक पुरुष की थोड़ी बहुत प्रधानता बना रहना स्वाभाविक है।

इस पर कहा जा सकता है कि महाशय, यह तो "अबरा मारे, रोन न दे" के समान है। पहले तो स्त्रियों को पूरी शिक्षा न पाने दो, अनुभव के मौक़े न मिलने दो, उनकी बुद्धि को विकसित न करो; और फिर कहो कि स्त्री में ये बातें हैं नहीं, इसलिये घर पर उसकी पूर्ण प्रधानता नहीं हो सकती। हाँ, इस कथन में थोड़ा-सा सत्य का अंश अवश्य है। भारतवर्ष में, किसी भी कारण से हो, स्त्री-शिक्षा का प्रचलन समाज से उठ गया; स्त्री-जाति को जो कुछ शिक्षा मिल सकी, वह घर पर ही; विहित शिक्षा से उसे वंचित किया गया, यह सही है। और, ऐसी स्त्रियों से जो भूलें हुईं, उनके कारण स्त्रियों के बारे में, आधुनिक भारत के लोगों में और साहित्य में वंशपरंपरा से मनमाने विचार चले आ रहे हैं। पर यह कुछ ही अंश में सत्य है। स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता को पूर्ण रूप से मानते हुए भी हम यह ज़रूर कहेंगे कि सारे स्त्री-समाज का विचार करते हुए कोई यह नहीं कह सकता कि वे उतनी और वैसी ही शिक्षा प्राप्त कर सकती या प्राप्त करने का अधिकार अथवा पात्रता रखती हैं, जितनी पुरुष। इसके लिये यदि कोई दोषी है, तो वह प्रकृति, सृष्टि या ईश्वर है। ईश्वर ने स्त्री को ऐसा बनाया है कि अवस्था की दृष्टि से वह, पुरुष के बहुत पहले ही, समाज का अंग बनने-योग्य हो जाती है। यदि भारत का ही विचार किया जाय, तो यह कहना बहुत कुछ ठीक होगा कि स्त्री सोलह-सत्रह वर्ष की, और पुरुष तेईस-चौबीस वर्ष की अवस्था में संसार-क्षेत्र के भीतर प्रवेश करने के योग्य हो जाते हैं। पुरुष को छः-सात वर्ष का समय अधिक मिलता है। उसमें वह स्त्री से बहुत अधिक विद्या प्राप्त कर सकता है। वास्तव में उच्च कोटि का विद्या प्राप्त करने का काल, सारे देशों और समस्त समयों में, यही (यानी सोलह-सत्रह से चौबीस-पचीस वर्ष की अवस्था) रहा है। ऐसी दशा में, यदि शिक्षा में स्त्री पुरुष की बराबरी न कर सके, तो कोई आश्चर्य नहीं। इसमें किसी का दोष नहीं। यदि कोई कहे कि स्त्री के संसार-प्रवेश का काल ही क्यों न बढ़ा दिया जाय, जिसमें वह भी आव-

श्यक विद्या से लाभ उठा सके, तो इसका उत्तर यह है कि कुछ स्त्रियों को मान लेना और बात है। परंतु सारी स्त्रियों के बारे में यही बात कहना उचित न होगा। उचित वय में संसार-प्रवेश न करने से, और भारत-जैसे गर्म देश में यह अच्छा समय विद्या की प्राप्ति में बिताने से, समाज और कुटुंब की बड़ी हानि होगी ; क्योंकि इसका परिणाम संतति के लिये हानिकर होगा। और, यदि संतति ठीक न हुई, तो जिनके लिये सारे झगड़े हैं, वे उद्देश्य मिट्टी में मिल जा सकते हैं। गृहस्थाश्रम में प्रवेश की मर्यादा जल-वायु के अनुसार थोड़ी बहुत भिन्न-भिन्न हो सकती है ; परंतु उसके अनुसार जो उचित समय जान पड़े, उस समय यदि स्त्री गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करे, तो संतति ठीक न होगी। संतति के विचार से यही उचित होगा कि उचित समय पर उसका उपयुक्त पति से विवाह हो। स्मरण रहे, हम अपवादों का विचार नहीं करते—समष्टि की दृष्टि से विचार कर रहे हैं। दस-पाँच अपवादों से सर्वसामान्य नियम नहीं टूटता।

हम ऊपर अप्रत्यक्ष रीति से यह मान ही चुके हैं कि विवाह की अवस्था तक स्त्री को भी शिक्षा दी जाय। परंतु उसके साथ ही हम यह भी कह देना चाहते हैं कि थोड़ी बहुत सामान्य शिक्षा के साथ थोड़ी बहुत ऐसी भी शिक्षा दी जाय, जो उसे आगे के कर्तव्यों में सहायक हो। स्त्री-पुरुष की शिक्षा सब बातों में एक नहीं हो सकती। स्त्री की शिक्षा को उसके कार्यों के उचित करने की आवश्यकता इसलिये भी है कि निज अनुभव की शिक्षा उसके लिये बहुत महँगी और कष्टकारक होती है—कभी-कभी तो निज के, बच्चे के अथवा पति के प्राणों पर भी आपत्ति आने का अवसर आ पड़ता है। इस कारण उसे अपने कार्यों के लिये थोड़ा बहुत तैयार करना आवश्यक है। आज की भारत की शिक्षा-प्रणाली में यह दोष बहुत गहरा घुस गया है। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ स्त्रियों के भी बी० ए०, एम्० ए० की परीक्षा पास करने में ही उनका बड़प्पन है। ये भ्रांत विचार सामाजिक और कौटुंबिक कर्तव्य के अज्ञान के कारण समाज में प्रचलित हो गए हैं। पर सारा बड़प्पन पुस्तक-गत विद्या के उपार्जन में, बड़ी-बड़ी पदवियाँ पाने में, अथवा सभा-समितियों में भाग लेने में ही नहीं रक्खा है। बड़प्पन है समाज के महत्त्व-पूर्ण कार्यों को संपन्न करने में। यदि समाज इन्हें बड़ा नहीं कहता, तो उसकी भूल है, और इस बात में समाज को सचेत करना आवश्यक है। प्राचीन भारत के साहित्य पर दृष्टि डाली जाय, तो यह स्पष्ट विदित होगा कि उस समय स्त्री के कार्यों का महत्त्व यथेष्ट माना जाता था, स्त्री का दर्जा पुरुष के बराबर—नहीं, कहीं-कहीं तो उससे भी ऊँचा—था (और जिस किसी भाग में प्राचीन विद्या के संस्कार बने हुए हैं, वहाँ अब भी यही स्थिति है), और स्त्री कभी हीन नहीं समझी जाती थी। इतना ही नहीं, विद्या की आवश्यकता उसके लिये भी समझी जाती थी ; परंतु वह बहुधा उसके कार्यों के अनुकूल होती थी।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या वास्तविक स्थिति ऐसी ही है या हो सकती है ? यह सभी जानते हैं कि वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। इसका कारण अज्ञान, भ्रांत विचारों का प्रचार और झूठे आदर्श आदि हैं। समाज क्या वस्तु है, उसके कौन-कौन-से अंग हैं, प्रत्येक अंग का क्या कर्तव्य है, इत्यादि बातों का ज्ञान प्रत्येक स्त्री-पुरुष को हो जाने पर ही यह दुरवस्था बहुत कुछ दूर हो सकती है। व्यक्ति-दोष के कारण जो बुराइयाँ यहाँ-वहाँ देख पड़ेंगी, उनके लिये कोई दूसरा उत्तरदाता नहीं है। उस व्यक्ति को ही दोषी समझना ठीक होगा। प्रत्येक को अपने कर्तव्यों के साथ ही दूसरे के भी कर्तव्य और आवश्यकता का ज्ञान होने पर स्त्री की यह दुरवस्था बहुत कुछ दूर हो जायगी।

अब रहा यह प्रश्न कि ऐसी स्थिति सदैव बनी रहेगी या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य की कोई स्थिति सदैव एक-सी नहीं रहती। इस सृष्टि की सारी बातों का बनना-बिगड़ना जारी है। सुधार की आवश्यकता सारे देशों में, समस्त कामों में, किसी न किसी बात में मनुष्य के बनी ही रहती है। किसी बात के लिये एक बार आदर्श व्यवस्था कर देने पर मनुष्य कान में तेल डालकर सो नहीं सकता ; उसे सदैव जाग्रत् रहना पड़ता है। परिस्थिति बदलने के कारण, उद्देश्य में भूल हो जाने के कारण, विद्या का नाश होने के कारण, सांपत्तिक अथवा राजकीय स्थिति बिगड़ने के कारण, अथवा अन्य किसी कारण से मनुष्य की व्यवस्थाओं का बदलना स्वाभाविक है। उसके लिये मनुष्य पूर्णतः ज़िम्मेदार नहीं है। वह जाग्रत् रहकर बिगाड़ को रोकने का प्रयत्न अवश्य कर सकता है ; परंतु उसमें पूर्ण

सफल होना उसके हाथ की बात नहीं। सुधार (अथवा यों कहो कि पुनरुज्जीवन) की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी। परंतु उसके लिये व्यवस्था को ही सदा के लिये बदल देना आवश्यक नहीं, और न यह बुद्धिमानी का ही काम होगा। शिक्षा से, उचित विचारों के प्रचार से, बुराइयाँ दूर हो सकती हैं। उसके लिये स्त्री-पुरुषों के कर्तव्यों में परिवर्तन करना ठीक न होगा। दोनों का दर्जा बराबरी का है, और रहेगा; परंतु कार्य भिन्न है, और उनसे प्राप्त होनेवाले अधिकार भी। सब बातों में सबका दख़ल देना दोनों पक्षों को, और साथ ही समाज को भी, हानिकारक होगा। स्त्रियाँ अपनी आवश्यकताएँ पुरुषों के आगे प्रकट कर सकती हैं, और पुरुषों का कर्तव्य है कि वे उन पर विचार करें, तथा उचित जान पड़े, तो उन पर अमल भी करें। हमने यह कभी नहीं कहा कि स्त्रियाँ किसी प्रकार की सभा-समितियाँ न करें, या मामूली सभा-समितियों में भाग न लें। हमारा यही कहना है कि तत्त्व-दृष्टि से स्त्रियों का द्रव्यार्जन के काम में लगना, शासन-संबंधी सभा-समितियों में भाग लेना अथवा सेना में नौकरी करना समाज के, कुटुंब के, और स्वयं स्त्रियों के लिये भी, हानिकारक है।

इस पर कहा जा सकता है कि संसार में बहुत-सी स्त्रियाँ द्रव्योपार्जन करती हैं, और कहीं-कहीं उन्होंने अपने को सैनिक कार्य के लिये भी योग्य सिद्ध कर दिखलाया है। इतना ही नहीं, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, चाँद-बीबी, रज़िया बेग़म-जैसी महिलाएँ इसी भारत में हो गई हैं, जिन्होंने सेनापति और शासक का काम बड़ी योग्यता के साथ उत्तमता से किया है। हाँ, ये दोनों बातें सत्य हैं, और उनका उत्तर देना आवश्यक है।

पहली बात का उत्तर यह है कि स्त्रियाँ जो द्रव्योपार्जन करती हैं, वे केवल आवश्यकता के कारण—उसे अपना कर्तव्य समझकर नहीं करतीं। द्रव्य कमाने की असली ज़िम्मेदारी सदैव पुरुष की ही रहती है; और जब पुरुष की आमदनी से कुटुंब का ख़र्च पूरा नहीं होता, तब तक ही स्त्री यह काम करती है। पुरुष की आमदनी काफ़ी होते ही वह अपना काम छोड़कर घर के कामों की ओर भरपूर ध्यान देती है। दूसरे, स्त्री के द्रव्योपार्जन में लग जाने के कारण बाल-बच्चों और घर के दूसरे कामों की जो दुरवस्था होती है, वह सब पर प्रकट ही है। बच्चों को अफ़ीम-जैसे मादक पदार्थ खिला-कर, घर में बंद करके, छोड़ देना, अथवा उनको कुछ ही बड़े भाई-बहनों के सिपुर्द कर देना, उनका भूखे-प्यासे घर में पड़े रहना, अथवा साथ ले जाने पर धूप, पानी, ठंड के कष्ट सहते रहना और भूखे पड़े-पड़े चिल्लाना तथा बड़े भी हुए, तो उनको मा-बाप से मिल सकने लायक़ भरपूर शिक्षा न मिलना और उनका गाँव में बेकार घूमते रहना स्त्री के द्रव्योपार्जन में लगने के ही बुरे नतीजे होते हैं। इन्हें कोई अच्छा नहीं कह सकता। इस अवस्था में जीवन किसी प्रकार से उच्च नहीं हो सकता। आज की औद्योगिक व्यवस्था से ये बुराइयाँ बहुत बढ़ गई हैं, और मनुष्य जाति के सामने यह प्रश्न है कि इन्हें किस प्रकार दूर किया जाय।

स्त्रियों की सैनिक योग्यता के विषय में हमें यही कहना है कि यह कार्य सदैव उनसे न हो सकेगा। जिन्हें संतति के जनन और पालन-पोषण का कार्य करना है, उनसे यह कहना कि तुम सेना में जाकर राष्ट्र की सेवा करो, अत्यंत अनुचित होगा। समय पड़ने पर, कुछ काल के लिये, किसी प्रकार की सैनिक सेवा करना और बात है, और हमेशा के लिये उस कार्य को अपना लेना और बात। जो स्त्रियाँ मज़दूरी या नौकरी करती हैं, उन्हें भी गर्भावस्था के समय, और कुछ काल तदनंतर, अपने काम से दूर होना पड़ता है। जहाँ उन्होंने अपनी इच्छा से अपने ऊपर साधारण नौकरी या मज़दूरी का भार ले लिया है, वहाँ उनका ऐसा करना अनुचित न होगा, और न उस कार्य में बहुत अधिक हानि होगी। परंतु सैनिक कार्य अत्यंत श्रम और जोखिम का है, उसमें यदि स्त्री-समाज का काफ़ी हिस्सा लग जाय, तो उन्हें पुरुष-समागम से सर्वथा दूर रहना होगा। और, मनुष्य जैसा बना है, वैसा जब तक वह रहेगा, तब तक मनुष्य-समाज के एक बड़े भाग से पूर्ण मनःसंयम की आशा करना 'लभेत सिकतासु तैल-मपि यत्नतः पीडयन्' के बराबर ही है। दो-चार थोड़े वर्षों के अपवादों से हमारा अनुमान झूठा नहीं हो सकता, और हम समझते हैं कि न स्त्रियाँ ही यह चाहेंगी कि शत्रुओं के हाथ से (जो पुरुष भी रहेंगे) स्त्रियों का शरीर छिन्न-भिन्न होकर उसकी दुर्दशा और अपमान हो। शत्रु से दया, शांति आदि की आशा करना कितना वृथा है, यह गत योरपीय महासमर से ज्ञात हो गया है।

इस बात में सभ्यता-असभ्यता की डींग मारना वृथा है। सारांश, सैनिक कार्य स्त्रियों पर लादना समाज, कुटुंब और स्वयं स्त्रियों की दृष्टि से अनुचित है। परमेश्वर ने जो कार्य उनके अधीन किया है, उसे ही कौशल-पूर्वक संपन्न करना उन्हें अपना कर्तव्य समझना चाहिए। वे पुरुषों से, समाज से आदर-सत्कार माँग सकती हैं, अच्छा बर्ताव करवा सकती हैं, सारे सुखों में वे भाग ले सकती हैं; पर कर्तव्य को नहीं बदल सकतीं। उनके निजी कर्तव्य उन्हें ही करने होंगे। इसी में उनकी और सारे समाज की भलाई है।

परंतु इतने विवेचन के बाद भी यदि कोई कहे कि शासन-संबंधी कार्यों में उनका भी भाग लेना आवश्यक है, तो हम उसके लिये कुछ ऐसे उपाय सुझा सकते हैं, जिससे समाज की, कुटुंब की और खुद उनकी बहुत कम हानि हो, और उनके भाग लेने से जिस लाभ की आशा है, वह भी हो सके।

पहली मर्यादा हम यह बतलावेंगे कि कोई भी सधवा स्त्री पचास वर्ष से पूर्व किसी भी शासन-संस्था में भाग न ले। पचास वर्ष की अवस्था तक स्त्री के बहुतेरे ऊपर लिखे कार्य समाप्त हो जाते हैं, और उसे अन्य बातों की ओर ध्यान देने का अवसर मिल सकता है। इस कारण कौटुंबिक कार्यों में हानि पहुँचने की संभावना बहुत कम होगी। इस अवस्था तक उसका ज्ञान भी बढ़ जा सकता है, और मन परिपक्व हो सकता है। विधवा स्त्री को यही अधिकार ४० वर्ष की अवस्था में (यदि वह पुनर्विवाह न करे तो) दिया जा सकता है। हमारी समझ में तो पुरुषों को भी किसी भी शासन-संस्था में तीस वर्ष के पहले भाग लेने का अधिकार न होना चाहिए, तथा प्रांतीय शासन-संस्थाओं के सदस्य होने का अधिकार ४० वर्ष की अवस्था के पहले किसी को न दिया जाय। और, अखिल देशीय शासन-संस्थाओं के सदस्य होने का अधिकार ५० वर्ष की अवस्था के बाद ही प्राप्त हो। कम उमर के लोगों को अधिकार देने से अनेक हानियाँ होती हैं। परंतु इस विषय पर हम यहाँ अधिक नहीं लिखना चाहते। वोट देने का अधिकार स्त्रियों को तीस वर्ष की अवस्था के बाद देना अनुचित न होगा। शासन-संबंधी संस्थाओं में स्त्रियों को इससे अधिक अधिकार देने से सबका—समाज, कुटुंब तथा स्वयं स्त्रियों का—नुक़सान होने की संभावना है।

इससे यह ज़रूर देख पड़ता है कि समाज के काम-काजों में पुरुष की प्रधानता बहुत अधिक बनी रहेगी, और हम यह मानते हैं कि ऐसा होगा। परंतु ऊपर हम यह बतला चुके हैं कि मानव जीवन के अनेक कार्यों के मुख्यतः दो भेद होते हैं, उनमें से एक को संपन्न करने की ज़िम्मेदारी पुरुष पर है, तो दूसरे को ठीक-ठीक करने की जवाबदेही स्त्रियों पर। प्रकृति ने यदि एक प्रकार के कार्य स्त्री के सिपुर्द कर दिए हैं, तो दूसरे प्रकार के कार्यों का भार पुरुषों पर है। हम यह भी कह चुके हैं कि अधिकार, कार्यों का—कर्तव्यों का केवल दूसरा स्वरूप है। केवल अधिकारों का अधिक ख़याल रखने के कारण ऊँच-नीच के भाव समाज में पैदा हो गए हैं, और इस भाव ने समान अधिकार के झगड़े पैदा कर दिए हैं। यदि तमाम कामों के वास्तविक स्वरूप पर ध्यान दिया जाय, और फिर देखा जाय कि कौन कार्य किसे करना चाहिए, तो समान अधिकार का झगड़ा दूर हो जायगा। जो कुछ बुराइयाँ समाज में घुसी हैं, वे उचित शिक्षा और ज्ञान के प्रसार से दूर हो जायँगी।

इन झगड़ों का, और इन बुराइयों के बढ़ने का एक कारण और है, जिसका हमने अब तक विचार नहीं किया। आजकल भौतिकता इतनी बढ़ गई है कि मनुष्य-समाज से आध्यात्मिकता और तदनुषंगी स्वार्थ-त्याग, भूतदया, सहानुभूति, भक्ति-भाव आदि दूर हो गए हैं। अब मनुष्य इंद्रियों के सुख की पूर्ति में इतना संलग्न होने लगा है कि मनुष्य जीवन क्या चीज़ है, उसके क्या उद्देश्य हो सकते हैं, प्रचलित समाज-व्यवस्था से उनकी कहाँ तक पूर्ति होती है, भौतिक वस्तुओं और मानव-जीवन के उद्देश्यों का क्या संबंध है, इत्यादि बातों की ओर लोग बहुत ही कम ध्यान देते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्त्री और पुरुष, दोनों इंद्रिय-सुख की पूर्ति में अधिकाधिक लग रहे हैं। आगे चलकर इसका परिणाम यह हो रहा है कि जिस किसी को इस प्रकार के सुख (फिर वे मानसिक हों या शारीरिक) कम प्राप्त होते हैं, वह असंतुष्ट होकर झगड़े-झमेले पैदा करता है। हमारा यह कहना नहीं है कि सभी झगड़े-झमेले झूठ हैं। बहुत-से सच हैं, और कुछ अंश तक स्वयं आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी शारीरिक एवं मानसिक सुख की प्राप्ति आवश्यक है। परंतु अपने

कार्यों से दूसरे के कार्यों का क्या संबंध है, हमारे उद्देश्य क्या हैं, उनकी किन-किन मार्गों से किस-किस प्रकार पूर्ति हो सकती है इत्यादि बातों को भूलकर प्रत्येक बात में प्रत्येक का दख़ल देना सब तरह से हानिकारक ही होगा। आत्मिक विकास के लिये जिन-जिन साधनों की आवश्यकता है, उन्हें प्राप्त करने का अवसर सबको मिलना चाहिए; कोई इन अवसरों से वंचित न रक्खा जाय। परंतु अपने-अपने कार्यों को कर्तव्य समझकर प्रत्येक को करना ही होगा, और दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप करने से दूर रहना होगा। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये भिन्न भिन्न गुणों की आवश्यकता होती है। यह कोई न कहेगा कि चाहे जो कार्य चाहे जो पुरुष या स्त्री कर सकती है। उन कार्यों के लिये आवश्यक गुण प्राप्त करने होंगे। यदि कुछ स्वाभाविक दोष हों, तो उन्हें दूर करना होगा, या उनके दूर होने तक राह देखनी होगी; और फिर उन कार्यों को कर्तव्य समझकर करना होगा। इसके बिना समाज की गति ठीक न होगी, और न उसकी बुराइयाँ दूर होंगी। पर सब व्यवस्था सोच-समझकर कर लेने पर भी एक बात की आवश्यकता सदैव बनी रहेगी। उठाए हुए कार्यों को अच्छी भावना से पूर्ण करना होगा। उचित भावना के बिना अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था बेकाम हो जाती है। आत्मा यदि बिगड़ी हुई हो, तो शरीर के सुंदर होने से क्या लाभ? शरीर के द्वारा अच्छे कार्य न बन पड़ेंगे, और कुछ समय के बाद स्वयं शरीर भी बिगड़े बिना न रहेगा। आत्मा को ठीक शिक्षा देने से, अच्छी व्यवस्था करने से, और फिर प्रत्येक अंग के द्वारा उसी का कार्य करवाने से उस व्यवस्था के मूल उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। भिन्न-भिन्न अंगों को भिन्न-भिन्न ही कार्य करने होंगे। इसी तरह मुख्य उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। प्रत्येक अंग को प्रत्येक कार्य करने दिया गया, तो एक भी ठीक न होगा। उनका स्वभाव दिनोदिन बदलता जायगा, और कुछ दिन की दिखाऊ उन्नति के बाद अधोगति—नाशकारक अधोगति—आए बिना न रहेगी।

गोपालदामोदर तामस्कर

दर्शनोल्लास

ठुमुक-ठुमुक पग,
कुसुम-कुंज-मग,
चपल चरण हरि आए;
हो-हो, चपल चरण हरि आए।
मेरे प्राण-भुलावन आए;
मेरे नयन-लुभावन आए।
रिमिक-झिमिक-झिम,
रिमिक-झिमिक-झिम,
नर्तन-पद-व्रज आए;
हो-हो, नर्तन-पद-व्रज आए।
मेरे प्राण-भुलावन आए;
मेरे नयन-लुभावन आए।
अरुण करुण सम,
छिन्न—भिन्न तम
करन बाल-रवि आए;
हो-हो, करन बाल-रवि आए।
मेरे प्राण-भुलावन आए;
मेरे नयन-लुभावन आए।
अमल कमल-कर,
मुरलि मधुर धर,
बंशी बजावन आए;
हो-हो, बंशी बजावन आए।
मेरे प्राण-भुलावन आए;
मेरे नयन-लुभावन आए।
पुंज-पुंज हर,
कुंज गुंज भर,
भृंग-रंग हरि आए;
हो-हो, भृंग-रंग हरि आए।
मेरे प्राण-भुलावन आए;
मेरे नयन-लुभावन आए।
झुन-झुन, दुल-दुल,
मंजुल बुल-बुल,
फुल्ल मुकुल हरि आए;
हो-हो, फुल्ल मुकुल हरि आए।
मेरे प्राण-भुलावन आए;
मेरे नयन-लुभावन आए।

क़ाज़ी अशरफ़ महमूद

पथ-निर्देश

(१)



दो पहर का समय है। कॉलेज में इंटरवल हुआ है। वहीं कंपाउंड में, एक वृक्ष की छाया में, दो लड़के घास पर बैठे हैं। दोनों समवयस्क हैं; दोनों की उमर क़रीब २०-२ वर्ष की होगी। दोनों परस्पर बातें कर रहे हैं। एक कह रहा था—भई, मेरा तो यह अंतिम वर्ष है; यदि इस वर्ष पास हो गया, तो पढ़ना छोड़ दूँगा, और चार पैसे कमाने का उद्योग करूँगा।

दूसरा बोला—बस, केवल बी० ए० ही पास करके छोड़ दोगे—एम्० ए० न करोगे?

पहले ने उत्तर दिया—बस, इतना ही काफ़ी है।

दूसरा—कम-से-कम एम्० ए० तो पास कर लो।

पहला—एम्० ए० की गुंजाइश नहीं। वृद्ध माता-पिता यह आशा लगाए बैठे हैं कि लड़का पढ़-लिख ले, तो कुछ कमाई करे, घर की दारिद्रावस्था दूर हो। और, तुम सोचते हो कि पढ़ते-पढ़ते बुड्ढे हो जायँ।

दूसरा—अच्छा घनश्याम, एक बात पूछता हूँ, ठीक-ठीक उत्तर देना।

घन०—पूछो, यथाशक्ति और यथाबुद्धि ठीक ही उत्तर दूँगा।

दूसरा—तुम्हारे जीवन का लक्ष्य क्या है?

घन०—प्रश्न तो बड़ा बेढब है।

दूसरा—कोई साधारण प्रश्न नहीं है घनश्याम। ख़ूब सोच-समझकर उत्तर देना।

घन०—मेरे जीवन का लक्ष्य यही है कि ईश्वर सुख-शांति के साथ खाने-पहनने-भर को देता जाय—बस।

दूसरा—यह तो कोई अच्छा उत्तर नहीं। इस उत्तर से तो यही ज्ञात होता है कि तुम्हारे जीवन का कोई विशेष लक्ष्य नहीं है। क्यों न?

घन०—तुम क्या इसे साधारण लक्ष्य समझते हो? सुख-शांति के साथ पेट भरने को भोजन, और तन ढकने को वस्त्र मिलते जाना क्या कोई साधारण बात है?

दूसरा—अरे यार, बस, रहने दो। पेट-भर भोजन और वस्त्र तो संसार में सभी को मिल जाता है, इसमें ख़ास बात कौन-सी है?

घन०—मैंने जो बात कही है, उसे पहले समझ लो, फिर कोई राय क़ायम करो। मेरा मतलब यह है कि भोजन और वस्त्र तो मिल ही जाता है; परंतु सुख-शांति तो बड़े भाग्यवान् ही पाते हैं।

दूसरा—तुम्हारी यह बात कुछ जची नहीं।

घन०—तुम्हें न जचे; पर है यह तथ्य की बात। जब इस पर विचार करोगे, तब इसकी गंभीरता और महत्त्व समझोगे। यह बात बहुत दूर तक जाती है।

दूसरा—पत्थर दूर तक जाती है! परंतु इसमें तुम्हारा दोष नहीं। जितनी तुम्हारी हैसियत है, उसी के अनुसार तुम्हारा हृदय है; और जितना हृदय है, उतनी ही बात कहोगे। तुम सुख-शांति से रोटी-कपड़ा मिलने को ही बहुत बड़ी बात समझ रहे हो।

घन०—निस्संदेह, मैं तो इतने ही को ईश्वर की सबसे बड़ी देनगी समझता हूँ।

दूसरा—यह तो वही कहावत हुई कि एक भूके से किसी ने प्रश्न किया, दो और दो कितने होते हैं? भूके ने तुरंत उत्तर दिया—चार रोटियाँ! वैसी ही बात तुमने कही।

घन०—ख़ैर भई, जो तुम समझो, वही सही। अच्छा बतलाओ, तुम्हारा क्या लक्ष्य है?

दूसरा—मेरा लक्ष्य? मेरा लक्ष्य है रुपए कमाना; और मामूली रुपए नहीं, बहुत-से रुपए—लाखों। मेरे जीवन का पहला लक्ष्य यह है कि मैं लक्षाधीश बनूँ। लक्ष्य के लिये लक्षाधीश कितना सुंदर आया है—न कहोगे?

घन०—क्या बात है आपकी! आख़िर कवि ही तो ठहरे।

दूसरा—यदि मैंने अपने जीवन में दस-पाँच लाख रुपए न पैदा किए, तो समझूँगा, मेरा जीवन व्यर्थ गया।

घन०—दस-पाँच लाख कमाने से तुम सुखी हो जाओगे?

दूसरा—यार, तुम पूरे पोच ही रहे! जिसके पास दस लाख होंगे, वह सुखी न होगा, तो फिर कौन होगा? सारे सुखों की खान रुपया ही है। जिसके पास रुपया है, उसके सामने सब प्रकार के सुख हाथ जोड़े खड़े रहते हैं।

घन०—संभव है, तुम्हारा विचार ठीक हो ; परंतु मुझे तो इसमें संदेह है।

दूसरा—संदेह हुआ ही चाहे। कभी इतना रुपया आँखों से तो देखा न होगा, फिर उसके सुख की कल्पना कैसे कर सकते हो?

घन०—यार विश्वेश्वरनाथ, तुम भी कभी-कभी बच्चों की-सी बातें करने लगते हो। क्या अब मुझमें इतनी बुद्धि भी नहीं कि मैं यह भी कल्पना न कर सकूँ कि धन से मनुष्य को क्या-क्या सुख प्राप्त हो सकते हैं? कवि बायरन ने, जो कभी भी जेलख़ाने नहीं गया था, 'प्रिज़नर ऑफ़ शेलान'-काव्य में एक क़ैदी की मानसिक अवस्था का कितना सुंदर और सच्चा चित्र खींचा है। उसे पढ़कर तो सहसा यह विश्वास नहीं होता कि यह ऐसे व्यक्ति का लिखा हुआ है, जो कभी जेलख़ाने में नहीं रहा। कल्पना में बड़ी शक्ति है। विश्वेश्वर, इसी कल्पना के बल पर कवि लोग बड़ी-बड़ी अद्भुत बातें सोच डालते हैं—"जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।"

विश्वेश्वर—तो यह कहिए, आप कवि हैं! यह तो मुझे आज मालूम हुआ।

घन०—केवल तुकें भिड़ानेवाले कवि नहीं कहलाते, और न पद्य बनानेवाले ही कवि कहलाने के अधिकारी हैं। जो व्यक्ति संसार को, संसार के चित्र को, अपनी कल्पना-शक्ति से, अपनी कुशाग्र बुद्धि से शब्दों का ऐसा सुंदर और आकर्षक जामा पहनाता है कि जो उसे देखता है, मुग्ध हो जाता है, वही सच्चा कवि है—फिर वह चाहे गद्यलेखक हो या पद्यलेखक।

विश्वेश्वर—केवल शब्दाडंबर का नाम कविता नहीं है। कवि वह है, जो संसार के सम्मुख कोई आदर्श उपस्थित करे—कोई नई बात रक्खे।

घन०—नया आदर्श और नई बात बहुत-से आदमी रखते हैं। महात्मा, नेता, दार्शनिक, आविष्कारक, चित्रकार इत्यादि भी नए आदर्श, नए सिद्धांत और नई बात लोगों के सामने रखते ही हैं; पर वे कवि नहीं कहे जा सकते। कवि तो वही है, जिसकी शब्द-योजना में आकर्षण हो—जादू हो, जो साधारण से-साधारण बात भी इस ढंग से कहे कि सुननेवाले मुग्ध हो जायँ।

उसी समय सहसा कॉलेज की घंटी बजी। दोनों चौंक पड़े। घनश्याम बोला—बातों-बातों में वक़्त हो गया—कुछ मालूम न हुआ। (उठकर) चलो, चलें।

दोनों बातें करते हुए धीरे-धीरे चल दिए।

(२)

उपर्युक्त घटना को हुए दस वर्ष व्यतीत हो गए। इस बीच में संसार में न-जाने कितने परिवर्तन हो गए—न-जाने कितने पैदा हुए, कितने मरे, कितने बने और कितने बिगड़े। विश्वेश्वरनाथ इतने समय में विलायत से बैरिस्टरी पास करके लौट आए, प्रैक्टिस आरंभ कर दी, और वह चलने भी लगी। इधर घनश्यामदास ने बी० ए० पास करने के बाद एल्० टी० की परीक्षा भी पास कर ली। दो-तीन वर्षों तक तो वह इधर-उधर अध्यापक रहे; परंतु एक वर्ष से अपने ही नगर के गवर्नमेंट-स्कूल में सेकेंड मास्टर हैं। वेतन १२०) रुपए मासिक मिलता है। घर में वृद्ध माता-पिता के अतिरिक्त उनकी पत्नी है, और दो संतानें—एक तीन वर्ष का पुत्र, और एक डेढ़ वर्ष की कन्या। सहपाठी होने के कारण घनश्यामदास और विश्वेश्वरनाथ में बड़ी मित्रता है। घनश्यामदास बहुधा शाम को विश्वेश्वरनाथ की कोठी पर जाया करते हैं।

एक दिन नियमानुसार संध्या-समय घनश्यामदास बैरिस्टर साहब की कोठी पर पहुँचे। उस वक़्त विश्वेश्वरनाथ अपने मित्रों के साथ टेनिस खेल रहे थे। घनश्यामदास टेनिस-लॉन के किनारे पड़ी हुई एक कुर्सी पर बैठ गए, और खेल देखने लगे। एक घंटे के बाद खेल ख़त्म हुआ, और विश्वेश्वरनाथ रैकेट हाथ में लिए हुए लॉन के बाहर आए। घनश्यामदास को बैठे देखकर बोल उठे—हलो घनश्याम, तुम कितनी देर से बैठे हो?

घनश्याम ने मुसकिराकर उत्तर दिया—केवल एक घंटे से।

विश्वेश्वरनाथ ने हँसकर कहा—केवल एक घंटा! तो अधिक समय नहीं हुआ। यह कहकर विश्वेश्वरनाथ भी पास ही एक कुर्सी पर बैठ गए। उनके अन्य तीन मित्र भी आकर कुर्सियों पर बैठ गए। कुछ देर के बाद अन्य तीन मित्र तो चले गए, केवल घनश्यामदास और बैरिस्टर साहब बैठे रहे।

बैरिस्टर साहब ने अँगड़ाई लेकर कहा—कहो यार, कैसी कटती है आजकल?

घनश्यामदास ने कहा—यहाँ तो "वही रफ़्तार बेढंगी, जो पहले थी, सो अब भी है"—न सावन हरे, न भादों

सुख । गिनी रोटी, और नापा शोरबा । आप अपनी कहिए ?

विश्वेश्वर—यहाँ तो जनाब, बस, रात-दिन कमाने की फ़िक्र रहती है । इन दिनों आमदनी कुछ कम रही, इसलिये मज़ा ज़रा किरकिरा रहा ।

घन०—इस महीने में एक हज़ार तो केवल एक ही केस में मिल गए—और चाहते ही क्या हैं ?

विश्वेश्वर—एक हज़ार में यहाँ क्या होता है यार । जब तक महीने में ४-६ हज़ार न मिलें, तब तक यहाँ पूरा नहीं पड़ता ।

घनश्याम—४-६ हज़ार ! आपका माहवार ख़र्च तो मेरी समझ में ज़्यादा-से-ज़्यादा एक हज़ार होगा ।

विश्वेश्वर—अब आप यह समझ लीजिए—दो सौ रुपए माहवार तो सवारियों का ख़र्च है—एक मोटर और एक घोड़ागाड़ी ; सवा सौ रुपए नौकरों की तनख़्वाह—पाँच मर्द हैं, और दो स्त्रियाँ । १००) माहवार चाय-सिगरेट में ख़र्च हो जाता है ।

घनश्याम—चाय-सिगरेट में १००) रुपए माहवार !

विश्वेश्वर—क्यों, क्या बहुत है ? आप इतने ही में घबरा गए । लंदन में धनी लोग दो-दो, तीन-तीन हज़ार रुपए माहवार तक सिर्फ़ चाय-सिगरेट में ख़र्च कर डालते हैं । आप तो १००) ही रुपए सुनकर घबरा गए !

घनश्याम—मेरी समझ में नहीं आता कि लोग कैसे तीन-तीन हज़ार रुपए चाय-सिगरेट में उड़ा देते हैं ?

विश्वेश्वर—क्यों भई, वह आपकी कल्पना-शक्ति कहाँ गई ? याद है, जब हम-तुम फ़ोर्थ ईयर (बी० ए०-क्लास) में पढ़ते थे, तब तुमने कहा था कि कल्पना से मनुष्य सब कुछ जान सकता है ।

घनश्याम—नहीं, मैंने यह तो नहीं कहा था कि सब कुछ जान सकता है । हाँ, यह अवश्य कहा था कि कल्पना से कभी-कभी वे बातें भी जानी जा सकती हैं, जिनका मनुष्य को कभी अनुभव नहीं होता । यह बात तो कभी संभव नहीं कि कल्पना से मनुष्य प्रत्येक बात को जान ले ।

विश्वेश्वर—ख़ैर, ग़नीमत है । आपने यह तो माना कि प्रत्येक बात कल्पना से नहीं जानी जा सकती ।

घनश्याम—यार, यह तुम्हारी हठधर्मी है । मैंने यह कभी नहीं कहा था ।

विश्वेश्वर—(हँसकर) ख़ैर, उस बात को जाने दो । हाँ, तो लंदन में धनी लोग ऐसे-ऐसे सिगार पीते हैं, जिनका मूल्य प्रति सिगार एक रुपया होता है । अब दिन-भर में १५-२० सिगार फुक जाना तो साधारण-सी बात है ।

घनश्याम—दिन-भर में एक आदमी कितने सिगार पी सकता है ?

विश्वेश्वर—वैसे पूरा सिगार पिए, तो एक आदमी दिन-भर में छः सात से ज़्यादा नहीं पी सकता । परंतु धनी आदमी ऐसा नहीं करते । उन्होंने तो सिगार सुलगाया, दस-पाँच मिनट पिया, और फेंक दिया । इस प्रकार आधे से अधिक सिगार बिलकुल बेकार जाता है । यह समझ लीजिए कि एक रुपए का सिगार है, तो चार-छः आने का तो पी लिया, और बाक़ी दस-बारह आने का फेंक दिया । जो मितव्ययी होते हैं, वे उस सिगार को बुझाकर रख लेते हैं, फेंकते नहीं । इस तरह वह दूसरी-तीसरी बार भी काम दे जाता है । परंतु उदार धनी लोग ऐसा नहीं करते । वे सिगार बुझाकर रखना टुच्चापन समझते हैं । ऐसे ही दिन-भर में दस-बारह सिगार तो वे स्वयं ख़राब कर डालते हैं, और दस-बारह मित्रों की ख़ातिर-तवाज़े में जाते हैं । अगर आठ आने का भी एक सिगार हुआ, तो दस बारह रुपए रोज़ के सिगार समझो । औरतें सिगार नहीं, केवल सिगरेट पीती हैं । अतएव दिन-भर में दो-चार रुपए की सिगरेटें वे भी फूँक डालती हैं । अब चाय का ख़र्च लीजिए । बड़े आदमी कभी अकेले चाय नहीं पीते—जब पिएँगे, तो चार-छः आदमियों को साथ लेकर । दिन भर में दस-बारह दफ़े चाय पीते हैं । इसमें भी चार-छः रुपए रोज़ का ख़र्च है, और महीने में आठ-दस बार 'टी-पार्टी' भी दी जाती है । एक-एक टी-पार्टी में बड़े आदमी चार-चार सौ, पाँच-पाँच सौ रुपए ख़र्च कर देते हैं !

घनश्याम—चाय में भला चार-पाँच सौ का क्या ख़र्च है ? क्या पार्टी में सैकड़ों आदमी सम्मिलित होते हैं ?

विश्वेश्वर—कभी नहीं, बीस-पचीस आदमी से ज़्यादा नहीं ।

घनश्याम—तो फिर इतना ख़र्च कैसे हो जाता है ?

विश्वेश्वर—नाम टी-पार्टी का होता है ; पर उसमें

फल-फलहरी, मिठाई भी होती है, शराब भी उड़ती है। इसी से इतना ख़र्च बढ़ जाता है।

घनश्याम—ये सब रुपए के चोचले हैं। ख़ैर, लंदन की बात छोड़िए। आप अपनी कहिए, आप कितने की सिगरेट पी जाते हैं?

विश्वेश्वर—एक रुपए रोज़ की सिगरेटें तो मैं अकेले फूँक देता हूँ, और एक रुपए रोज़ की मित्रों की ख़ातिर-तवाज़े में ख़र्च हो जाती है। यह उस दशा में, जब बड़ी किफ़ायतशारी से काम लेता हूँ।

घनश्याम—लंदन में रहे हो—उसका कुछ तो असर आना ही चाहिए।

विश्वेश्वर—बिलकुल यही बात है—सिगरेट और चाय का व्यसन तो वहीं का प्रसाद है।

घनश्याम—और शराब? शराब तो वहाँ ख़ूब पी जाती है?

विश्वेश्वर—ख़ूब से अगर आपका मतलब ज़्यादा से है, तो यह आपका ख़याल ग़लत है। वहाँ बड़े आदमी शराब ज़्यादा नहीं पीते। फिर भी बड़े आदमियों को एक दिन में मैंने ४०-५०) की शराब पी जाते देखा है, और यह रोज़ का ख़र्च है।

घनश्याम—जब ज़्यादा नहीं पीते, तो इतना ख़र्च क्यों पड़ता है?

विश्वेश्वर—ज़्यादा नहीं पीते, पर क़ीमती शराब पीते हैं—'शैंपियन', 'कागनेक', 'क्लेरेट', 'शेरी' इत्यादि ही पीते हैं। ये सब बड़ी क़ीमती होती हैं, दस-बारह रुपए बोतल से कम की कोई नहीं होती। एक बार में पीते बहुत थोड़ी हैं—दो पेग से ज़्यादा नहीं; पर दिन-भर में कई बार पीते हैं। जब प्यास लगती है, शराब ही पीते हैं। सादा पानी पीना तो वहाँ कोई जानता ही नहीं। ग़रीब लोग भी प्यास लगने पर शराब ही पीने की चेष्टा करते हैं—चाहे 'बियर' और 'जिन' ही पिएँ।

घनश्याम—हाँ, तो आप कितने की शराब पी जाते हैं?

विश्वेश्वर—मैं तो शाम को, खाना खाने के वक़्त, थोड़ी-सी पी लेता हूँ—बस।

घनश्याम—तो इसमें तो ज़्यादा ख़र्च न पड़ता होगा?

विश्वेश्वर—अगर मैं अकेला पिऊँ, तो एक बोतल चार दिन के लिये काफ़ी हो जाय—एक बोतल छः-सात रुपए की हुई। इस तरह ३० रुपए में महीना पार हो जाय। मगर यार दोस्तों को भी कभी-कभी पिलानी पड़ती है, इसलिये महीने में आठ-दस बोतलें ख़र्च हो जाती हैं। ५०-६० रुपए इसमें भी ख़र्च हो जाते हैं।

घनश्याम—पाँच सौ रुपए मासिक के लगभग तो यहीं हो गया।

विश्वेश्वर—जी, और खाना, कपड़ा-लत्ता तथा और फुटकल ख़र्च। आम तौर से सब मिलाकर एक हज़ार माहवार से कुछ ज़्यादा ही बैठ जाता है। अगर किसी महीने मेहमान आ गए, या कहीं रिश्तेदारों में ब्याह शादी हुई, तो डेढ़-दो हज़ार तक की नौबत पहुँच जाती है।

घनश्याम—जिस आसानी से आता है, उसी आसानी से जाता भी है! "जैसी करनी, वैसी भरनी"—बस, यही बात है।

विश्वेश्वर—यह बात नहीं। मैं कोई फ़िज़ूलख़र्ची तो करता नहीं। जितने ख़र्च मैंने आपको बताए हैं, उनमें भला फ़िज़ूल कौन-सा है?

घनश्याम—आमदनी है, इसलिये फ़िज़ूल नहीं मालूम होते। आमदनी न हो, तब फ़िज़ूल ख़र्च का पता चले। मुझे तो सिगरेट और शराब का ख़र्च बिलकुल फ़िज़ूल दिखलाई पड़ता है। आपके लिये वह आवश्यक है, और वह भी इसलिये कि आपकी आमदनी है। ईश्वर न करे, कहीं आमदनी कम हो जाय, तो आपको भी ये ख़र्च फ़िज़ूल ही दिखलाई पड़ें। ख़ैर, अब यह बतलाओ कि कुछ बचाते भी हो, या सब चट ही कर जाते हो?

विश्वेश्वर—इधर डेढ़ साल से आमदनी बढ़ी है, नहीं तो इसके पहले तो हज़ार-आठ सौ रुपए माहवार से अधिक नहीं मिलता था। इस डेढ़ साल में कठिनाई से दस-बारह हज़ार रुपए बचाए हैं।

यह कहकर विश्वेश्वर उठ खड़े हुए, और बोले—चलो, अंदर बैठें।

(२)

बैरिस्टर साहब अर्थात् विश्वेश्वरनाथ करते तो थे डेढ़-दो हज़ार रुपए माहवार पैदा; पर तब भी उनकी धन-लिप्सा कम न हुई थी, वरन् प्रतिदिन बढ़ती ही जाती थी। यद्यपि उन्हें एक प्रकार से सब तरह का सुख था—नौकर-चाकर, सवारी, बँगला इत्यादि कोई वस्तु ऐसी न थी, जो उन्हें प्राप्त न हो; परंतु फिर भी वह सुखी

न थे। सदैव यही चिंता रहती थी कि किसी प्रकार उनकी आमदनी बढ़े। घर में केवल चार जीव थे—एक वह स्वयं, दूसरी उनकी पत्नी, तीसरा उनका पुत्र, जिसकी उमर दो वर्ष के लगभग थी, और चौथे उनके वृद्ध पिता। केवल चार प्राणियों के लिये भी, बैरिस्टर साहब की दृष्टि में, दो सहस्र रुपए मासिक कम थे! नगर में अन्य बैरिस्टर भी थे। उनमें कुछ ऐसे थे, जिनकी आय पाँच-छः सहस्र रुपए मासिक तक थी। इसका कारण यह था कि वे पुराने थे—उनकी धाक खूब जमी हुई थी। बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ भी रात-दिन इसी चिंता में रहते थे कि किसी प्रकार उनकी भी आमदनी पाँच-छः सहस्र या इससे भी अधिक हो जाय।

रात का समय था। पति-पत्नी एक बिजली की रोशनी से जगमगाते हुए कमरे में सुंदर तथा कोमल शय्या पर लेटे हुए बातें कर रहे थे। बैरिस्टर साहब बोल उठे—क्या कहें, परसों एक ऐसा अच्छा बाग़ बिक गया—साठ हज़ार में बिका!

पत्नी ने पूछा—किसका था?

बैरि०—एक सेठ का था। बड़ा सुंदर बाग़ है—बीच में एक छोटी-सी कोठी भी है।

पत्नी—किसने लिया?

बैरि०—टॉमसन साहब बैरिस्टर ने। सच पूछो, तो साठ हज़ार में भी सस्ता मिला। एक लाख से कम का नहीं है (ठंडी साँस लेकर) रुपया नहीं था, नहीं तो × × ×

पत्नी—रुपया हो कैसे? जो कुछ आता है, सब ख़र्च हो जाता है। किसी महीने में दो सौ बच गए, किसी में चार सौ। किसी महीने में तो एक पैसा भी नहीं बचता!

बैरि०—यही तो मुशकिल है। इतना हाथ रोककर ख़र्च करते हैं, फिर भी कुछ नहीं बचता। ख़र्च सब बंध-टँके हैं—कोई फ़िज़ूल ख़र्च नहीं होता। एक बढ़िया कार (मोटर) लेने का इरादा न-जाने कितने दिनों से है; पर इसी मारे नहीं लेते कि मुफ़्त में छः-सात हज़ार निकल जायँगे।

पत्नी—यह गाड़ी क्या कुछ ख़राब है? अभी बिलकुल नई तो है।

बैरि०—नई-पुरानी पर बात नहीं है। यह गाड़ी ओवर-लैंड है—ओवर-लैंड गाड़ी भी कोई गाड़ी में गाड़ी है। आजकल साधारण आदमियों के पास भी ओवर-लैंड रहती है। गाड़ियाँ हैं हडसन, डॉज। हडसन-गाड़ी सात-आठ हज़ार से कम में नहीं आती। इस समय यहाँ कोई ऐसा बैरिस्टर नहीं, जो ओवर-लैंड पर चलता हो। मैं जब उस पर निकलता हूँ, तो शर्म मालूम होती है।

पत्नी—इस डॉज-फ़ाज के फेर में तो पड़ो नहीं। सबसे पहले एक कोठी ख़रीदनी चाहिए—किराए के बँगले में रहते अच्छा नहीं लगता। वह भी कोई आदमी है, जिसका घर का घर न हो। अपनी निज की झोपड़ी अच्छी; पर किराए का महल भी अच्छा नहीं।

बैरि०—अच्छी कोठी ७०-८० हज़ार से कम की नहीं मिलेगी, और पल्ले इस वक़्त २० ही हज़ार हैं। बतलाओ, इतने में क्या-क्या करें। वही कहावत है—"एक टका मेरी आँटी; नथ गढ़ाऊँ कि बाटी।" कुल बीस हज़ार रुपल्ली—उसमें मोटर भी हो, कोठी भी हो, बाग़ भी हो।

पत्नी—इस हिसाब से तो अभी ५०-६० हज़ार की कमी है।

बैरि०—अरे सब कमी-ही-कमी तो है—अभी है ही क्या? अगर पाँच-छः हज़ार माहवार मिलने लगें, तब तो मज़ा आ जाय। कम-से-कम चार हज़ार माहवार बचे—एक ही साल में ५० हज़ार बच जायँ। बड़े-बड़े मुक़दमे तो—जिनमें तीन-तीन, चार-चार सौ फ़ी पेशी मिहनताना होता है—जो हमसे पुराने हैं, वे मार ले जाते हैं। हमें तो बस, यही पचास से लेकर सौ-डेढ़ सौ—हद दो सौ—तक के मुक़दमे मिलते हैं।

पत्नी—वे तुमसे अच्छा काम करते होंगे, तभी तो उनको इतना मिलता है?

बैरि०—अच्छे-बुरे की बात नहीं, बात केवल धाक की है। उनकी धाक जमी हुई है, इस कारण लोग पहले उन्हीं को पूछते हैं। हम चाहे उनसे अधिक परिश्रम करें; पर हमें कोई नहीं पतियाता। नाम निकल जाने की बात है। उनका नाम हो गया है, इसलिये लोग उन्हीं की तरफ़ दौड़ते हैं।

पत्नी—तुम जब पुराने हो जाओगे, तब तुम्हें भी उतना मिलने लगेगा।

बैरि०—तब तो मिलेगा ही। परंतु बुढ़ापे में धन आया, तो किस काम का। खाने-ख़र्चने के दिन तो यही हैं। अभी मिलता, तो आनंद था।

इसी प्रकार बैरिस्टर साहब रात के बारह बजे तक भींकते रहे। जब घड़ी ने टनाटन बारह बजाए, तब वह चौंककर बोले— ओफ़ ओह! बारह बज गए। अब सोना चाहिए। यह दुखड़ा तो नित्य का है।

(४)

इधर बैरिस्टर साहब दो सहस्र मासिक की आय होने पर भी रात-दिन 'हाय रुपया—हाय रुपया' ही चिल्लाते रहते थे। कोई दिन ऐसा न जाता, जिस दिन वह निश्चिंत होकर सुख-शांति के साथ भोजन करते हों। उठते-बैठते, खाते-पीते, हमेशा यही चिंता कि रुपए हों, तो यह कोठी ख़रीदें, वह बाग़ ले लें, इस तरह की गाड़ी मँगावें। अच्छे-से-अच्छा खाते-पहनते थे; पर सुख-शांति का अभाव था। हाय री राक्षसी तृष्णा! बाहर से तो जो बैरिस्टर साहब को देखता था, वह समझता था कि वह बड़े सुखी हैं—ईश्वर का दिया सब कुछ है। परंतु बैरिस्टर साहब की नीयत का हाल किसी को क्या मालूम? उनकी नीयत का हाल यह था कि जहाँ किसी को बढ़िया गाड़ी पर निकलते देखते, वहीं ठंडी साँसें भरकर आह मारते। जब किसी की बढ़िया कोठी पर दृष्टि पड़ती, कलेजे पर साँप लोट जाता कि हाय, यह कोठी हमारे पास क्यों न हुई! रुपए हों, तो हम भी ऐसी ही कोठी बनवावें। जहाँ तक मानसिक चिंता, मानसिक क्लेश और धन-लोलुपता का संबंध है, वहाँ तक बैरिस्टर साहब और एक ऐसे दरिद्र में, जिसे केवल भोजन और वस्त्र की सदा चिंता रहती है, कोई अंतर न था। एक दरिद्र आदमी दिन-भर इसी चिंता में अपना ख़ून सुखाया करता है कि शाम तक उसको और उसके बाल-बच्चों को पेट-भर भोजन तो मिल जाय—तन ढकने को वस्त्र मिल जाय। रात में भी उस बेचारे को इसी चिंता के मारे नींद नहीं आती। बैरिस्टर साहब भी दिन-भर इसी चिंता में रक्त सुखाया करते कि किसी प्रकार ख़ूब रुपए मिलें, कोठी ख़रीदें, बाग़ लें, बढ़िया-बढ़िया गाड़ियाँ रक्खें—ख़ूब ठाट-बाट बनावें। रात में भी बेचारे को इसी चिंता के मारे नींद हराम हो गई थी। दो हज़ार माहवार कमानेवाले इन बैरिस्टर साहब में और एक दरिद्र में कोई अंतर नहीं? जितनी चिंता उसे रहती है, उससे कम इन्हें नहीं। जितना मानसिक क्लेश उसे रहता है, उतना ही इन्हें भी। खाते-पीते लोगों के सामने वह दरिद्र जितनी अपनी लघुता अनुभव करता है, उतनी ही बैरिस्टर साहब उन लोगों के सामने महसूस करते हैं, जिनके पास उनसे अधिक धन है, उनसे अधिक बढ़िया बाग़, कोठी तथा अन्य सामान हैं। जो वस्तु मनुष्य को प्राप्त हो जाती है, उसका मूल्य—उसका महत्त्व, उसकी दृष्टि में, कुछ नहीं रहता—फिर वह चाहे जितनी मूल्यवान् क्यों न हो, चाहे जितनी दुष्प्राप्य हो। मनुष्य सदैव उसी वस्तु की अभिलाषा में ठंडी साँसें भरता है, जो उसे प्राप्त नहीं, जो उसे नसीब नहीं—वह चाहे जितनी साधारण हो, चाहे जितनी मामूली हो। एक लखपती मनुष्य के लिये हज़ार-दो हज़ार रुपए कोई चीज़ नहीं। क्यों? इसलिये कि रुपए उसके पास हैं, उसे प्राप्त हैं। परंतु जिसके पास सौ रुपए भी नहीं, उसके लिये दो हज़ार न्यामत हैं; क्योंकि उसके लिये दुष्प्राप्य हैं। संसार का यही नियम है, यही चलन है। एक राजा और एक भिखारी के हृदय में उस समय तक कोई अंतर नहीं, जब तक कि दोनों में तृष्णा, आकांक्षा तथा अभिलाषा भरी हुई है। बाहर से देखने में यदि एक शाल-दुशाले लपेटे हुए है, और दूसरा टाट और गूदड़, तो इससे क्या होता है। आग का काम जलाने का है—उसे मख़मल में लपेटो, उसे भी वह जला देगी; और टाट में लपेटो, तो उसे भी न छोड़ेगी।

एक दिन घनश्यामदास ने बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ की अपने यहाँ दावत की। घनश्यामदास स्वयं नियत समय पर बैरिस्टर साहब के यहाँ पहुँचे, और बोले—चलिए।

विश्वेश्वरनाथ ने मुसकिराकर कहा—यह तो बतलाओ, क्या-क्या खिलाओगे?

घनश्याम—जो दाल-दलिया ग़रीब के यहाँ है, वही खिलाऊँगा।

विश्वेश्वर—कुछ उसका भी डौल है?

घनश्याम—बिलकुल नहीं; न बंदा ख़ुद पिए, न किसी को पिलावे।

विश्वेश्वर—यह तो घाटे की बात है यार। बिना सुरूर गठे तो यार लोगों से लुक़मा न उठाया जायगा।

घनश्याम—यदि यह बात है, तो आप यहीं से पीते चलिए। वहाँ पहुँचते ही तुरंत खाना मिल जायगा।

विश्वेश्वर—ख़ैर, यों ही सही; पर इस वक़्त जितनी पिऊँगा, उसका बिल तुम्हारे पास भेजूँगा।

यह कहकर विश्वेश्वरनाथ मुसकिराते हुए अंदर चले गए। आध घंटे के बाद निकले। इस वक़्त वह ठेठ हिंदू बने हुए थे—धोती, कोट, फ़ेल्ट टोपी इत्यादि से सुसज्जित थे। दोनों व्यक्ति मोटर में बैठकर घनश्यामदास के यहाँ पहुँचे।

घनश्यामदास का मकान साधारण था, गुज़र के लिये काफ़ी था। बाहर एक छोटी-सी बैठक में सफ़ेद फ़र्श बिछा हुआ था, जिस पर एक गाव-तकिया भी रक्खा था। विश्वेश्वरनाथ गाव-तकिए के सहारे बैठ गए; फिर वह मकान की ओर देखकर मन में सोचने लगे—ये लोग इतने छोटे मकानों में कैसे रहते हैं; हमसे तो यहाँ एक दिन भी न रहा जाय!

घनश्यामदास ने पूछा—आप मकान को बड़े ग़ौर से देख रहे हैं?

विश्वेश्वर—मकान है तो साफ़-सुथरा; लेकिन कुछ छोटा है। जिस मकान में तुम पहले रहते थे, उससे तो अच्छा ही है।

घनश्याम—जैसा कुछ भी है, हमारे लिये काफ़ी है।



"हमसे तो यहाँ एक दिन भी न रहा जाय"

यह कहकर घनश्यामदास अंदर चले गए, और थोड़ी देर के बाद लौटकर बोले—चलिए, खाना खा लीजिए।

विश्वेश्वरनाथ ने अंदर जाकर भोजन किया। तत्पश्चात् पुनः बाहर कमरे में आ गए। घनश्याम ने पान-इलायची तथा सिगरेट सामने रख दिया। विश्वेश्वरनाथ ने पान तो खाए नहीं, केवल इलायची ले ली, और सिगरेट पीने लगे।

विश्वेश्वरनाथ ने पूछा—कहो, आजकल कैसी कटती है?

घनश्याम—बड़े आनंद में। डेढ़ सौ महीना मिलता है। आनंद से खाते-पीते हैं—न ऊधो का लेना, न माधौ का देना।

विश्वेश्वर—पता नहीं, तुम इतने ही में कैसे संतुष्ट रहते हो। यहाँ तो दो हज़ार माहवार पैदा करते हैं, फिर भी फ़िक्रों के मारे रात को नींद नहीं आती।

घनश्यामदास हँसकर बोले—आपके हृदय में महत्त्वाकांक्षाएँ भरी पड़ी हैं, और यहाँ उनसे कोसों भागते हैं।

विश्वेश्वर—हिंदुस्तानियों में यही तो दोष है कि ये लोग बहुत थोड़े ही में संतुष्ट हो जाते हैं, अतएव उन्नति नहीं कर पाते। जहाँ महत्त्वाकांक्षा नहीं, वहाँ उन्नति भी नहीं।

घनश्याम—ऐसी महत्त्वाकांक्षा को, जिसकी चिंता में खाया-पिया न पचे—रात को नींद न आवे, दूर ही से प्रणाम है।

विश्वेश्वर—तो ऐसे आदमी उन्नति भी नहीं कर सकते।

घनश्याम—इस बात को मैं नहीं मानता। उन्नति कर्तव्य-पालन की चेष्टा से होती है, व्यर्थ चिंता करने से नहीं। जो वर्तमान स्थिति हो, उस पर संतोष रखिए, चिंताओं को पास न फटकने दीजिए, अपना कर्तव्य पालन करते रहिए। उन्नति होनी होगा, अपनेआप हो जायगी।

विश्वेश्वर—कोई लक्ष्य भी तो सामने होना चाहिए। बिना किसी प्रकार की महत्त्वाकांक्षा सामने रक्खे चेष्टा भी तो नहीं होती। आख़िर किसके लिये चेष्टा करे?

घनश्याम—महत्त्वाकांक्षा की भी कोई सीमा होती है। आप यदि यह महत्त्वाकांक्षा रक्खें कि कहीं के राजा हो जायँ, तो यह निरा पागलपन है। यदि मैं यह महत्त्वाकांक्षा करूँ कि इस सूबे का गवर्नर हो जाऊँ, तो यह ख़ब्त नहीं, तो क्या है?

विश्वेश्वर—जो जिस लाइन में है, वह उसी के संबंध की महत्त्वाकांक्षा कर सकता है।

घनश्याम—ठीक है। मैं यह महत्त्वाकांक्षा कर सकता हूँ कि अपने स्कूल का हेड मास्टर हो जाऊँ। तो इसके लिये चिंता करना और खाना-पीना त्याग देना तो महामूर्खता है। मैं अपना कर्तव्य पालन कर रहा हूँ, अपना कार्य भली भाँति करता हूँ। कभी अवसर आवेगा, तो हो जाऊँगा। पर यदि अवसर न आवे, तो हर-इच्छा। मैं ख़्वाहमख़्वाह क्यों जलूँ-भुनूँ, और जो ईश्वर ने दिया है, उसका उपभोग आनंद से न करूँ? ऐसी महत्त्वाकांक्षा, जिससे शरीर का ख़ून सूखे, किस काम की है। ऐसी महत्त्वाकांक्षा तो ईश्वर की मार है—अभिशाप ही है।

विश्वेश्वर—तुम तो उन आदमियों में हो, जो रोटी-कपड़ा मिलने ही को सुख समझते हैं!

घनश्याम—न समझें, तो करें क्या—प्राण दे दें? जब हमें मालूम है कि हम इस जन्म में, लाख चेष्टा करने पर भी, संपत्तिशाली नहीं हो सकते, तो व्यर्थ चिंता और कष्ट उठाने से लाभ?

विश्वेश्वर—उद्योग और प्रयत्न करने से सब कुछ हो सकता है—चेष्टा करने से ईश्वर तक प्राप्त हो सकता है।

घनश्याम—क्षमा कीजिए, उसका नाम उद्योग और प्रयत्न नहीं है। उसका नाम तपस्या है। तपस्या और प्रयत्न तथा उद्योग में आकाश-पाताल का अंतर है। तपस्या बात ही दूसरी है। तपस्या में तो मनुष्य को घोर कष्ट भी सहन करने पड़ते हैं। मोटरों में चढ़ घूमने से, सुस्वादु भोजन पाने से, बढ़िया सिगरेट पीने से, रोज़ शाम को शराब उड़ाने से तपस्या नहीं होती। तपस्या में मनुष्य को संसार का, अपने बंधु-बांधवों का, अपने शरीर तक का मोह त्याग देना पड़ता है।

विश्वेश्वरनाथ इसका कुछ उत्तर न देकर बोले—अच्छा, अब आज्ञा दो, चलूँगा।

यह कहकर वह बिदा हुए।

(२)

बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ की धन-लोलुपता प्रतिदिन

बढ़ती ही गई। उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ बहुत बढ़ी-चढ़ी थीं, और उनको प्रत्यक्ष देखने के लिये वह सब कुछ करने पर उद्यत रहते थे। शाम का वक़्त था। विश्वेश्वरनाथ अपनी कोठी के बरामदे में, आरामकुर्सी पर लेटे हुए अख़बार पढ़ रहे थे। उसी समय उनकी कोठी के फाटक पर एक मोटर आकर रुकी। उसमें से एक सज्जन बिलकुल अँगरेज़ी लिबास में उतरे, और सीधे बैरिस्टर साहब के पास चले आए। बैरिस्टर साहब उन्हें देखते ही उठ खड़े हुए, हाथ मिलाया, और पास की कुर्सी पर बैठने के लिये कहा। वह सज्जन बैठ गए। बैरिस्टर साहब ने पूछा—आपका नाम?

वह सज्जन बोले—मेरा नाम अजीतसिंह है, और मैं ...रियासत का दीवान हूँ। मैं एक मुक़दमे के मुतअल्लिक़ आपके पास आया हूँ।

'रियासत के दीवान! और उनका मुक़दमा!!' सुनते ही बैरिस्टर साहब की आँखें खिल गईं। मन की प्रसन्नता को भीतर-ही-भीतर दबाने की कोशिश करते हुए बोले—बड़ी ख़ुशी की बात है। मैं आपकी सेवा के लिये हाज़िर हूँ।

वह सज्जन—एक चार लाख का दस्तावेज़ है। उसकी नालिश करना है।

बैरिस्टर साहब—वह दस्तावेज़ आप लाए हैं?

वह सज्जन—जी हाँ, मगर उसमें एक नुक़्स है। उसके संबंध में आपसे सलाह लेनी है।

यह कहकर उन्होंने जेब से वह दस्तावेज़ निकालकर बैरिस्टर साहब के हाथ में दे दिया।

बैरिस्टर साहब ने दस्तावेज़ को ध्यान-पूर्वक देखा; बाद को बोले—इसको लिखे गए तीन साल हो गए!

वह सज्जन—जी हाँ।

बैरिस्टर०—हाँ, इसमें नुक़्स क्या है?

वह सज्जन—यह रजिस्ट्री-शुदा नहीं है।

बैरिस्टर साहब ने उसे उलटकर देखा, और देखकर बोले—यह तो बड़ा भारी नुक़्स है। इतनी भारी रक़म का दस्तावेज़, और उसकी रजिस्ट्री नहीं कराई गई!

वह सज्जन—क्या कहें, कुछ ऐसे झमेले आ गए कि रजिस्ट्री नहीं हो सकी, और वक़्त निकल गया। दूसरे, कुछ विश्वास भी था, इसलिये अधिक ध्यान नहीं दिया।

बैरिस्टर०—विश्वास था, तो फिर नालिश की नौबत कैसे आई?

वह सज्जन—समय की बात तो है। आजकल जिस पर विश्वास करो, वही विश्वासघात करता है।

बैरिस्टर०—इस दस्तावेज़ पर जिन गवाहों के दस्तख़त हैं, वे तो सब आपकी जानिब से गवाही देंगे न?

वह सज्जन—यही तो ख़राबी है। जिन दो गवाहों के दस्तख़त हैं, वे दोनों ही इन तीन साल के अंदर मर चुके हैं।

बैरिस्टर०—यह तो बड़ी बुरी बात हुई—एक तो रजिस्ट्री नहीं हुई, दूसरे गवाह नदारद! बड़ी कठिन समस्या है।

वह सज्जन—जब आप-ऐसे बैरिस्टर भी इसे कठिन समस्या कहेंगे, तो फिर इसे सुलझावेगा कौन?

बैरिस्टर०—कम-से-कम एक ऐसे गवाह की ज़रूरत है, जो प्रतिष्ठित हो, और जीवित भी हो।

वह सज्जन—परंतु दस्तख़त तो दो ही के हैं, और उनमें से दोनों नहीं हैं। क्या ज़बानी गवाही काम दे सकती है?

बैरिस्टर०—ज़बानी गवाही तो काम नहीं दे सकती।

वह सज्जन—यदि आप इस दस्तावेज़ का रुपया वसूल करा दें, तो पचास हज़ार रुपए आपको भेंट करूँगा।

पचास हज़ार रुपए सुनते ही बैरिस्टर साहब के मुँह में पानी भर आया। सोचा, कुछ और लेना चाहिए। ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा। कम-से-कम एक कोठी ख़रीदने-भर को तो ले लो। फिर देखा जायगा। यह सोचकर बोले—काम बड़ा टेढ़ा है। इसका मिहनताना मैं ८० हज़ार से कम न लूँगा।

वह सज्जन—अस्सी हज़ार तो बहुत हैं!

बैरिस्टर०—काम तो देखिए—आपके चार लाख पर पानी फिरा जाता है!

वह सज्जन—हाँ, यह बात तो ज़रूर है। अच्छा, स्वीकार है। "जाता धन जो देखिए, तो आधा लीजै बाँट।" ऐसा ही सही।

बैरिस्टर०—तो आधा मिहनताना तो पहले रखिए, और इसकी कोर्ट-फ़ीस।

वह सज्जन—कोर्ट-फ़ीस तो दी ही जायगी; परंतु मिहनताना आधा-आधा पहले नहीं। रुपए पाँच हज़ार आप अभी ले लीजिए। मुक़दमा जीत जाने पर बाक़ी सब दे दिया जायगा।

"पाँच हज़ार तो बहुत कम हैं।"

वह सज्जन—तो इससे अधिक की तो गुंजाइश नहीं है। आपको यदि यह ख़याल हो कि हम बेईमानी कर जायँगे, तो हुंडी-रुक़्क़ा—दस्तावेज़, चाहे जो लिखा लीजिए।

बैरिस्टर०—ख़ैर, यह बात तो नहीं है। मुझे आप पर पूरा विश्वास है। मगर—

वह सज्जन—अगर-मगर का अब क्या काम? जब आपको विश्वास है, तो फिर आगे कुछ कहना व्यर्थ है।

उस व्यक्ति ने ऐसी लच्छेदार बातें बनाईं कि बैरिस्टर साहब स्वयं क़ानूनदाँ होकर भी उसकी बातों में आ गए, और मुक़दमे को ले लिया।

उसने पूछा—हाँ, यह बात तो बतलाइए कि आप इस केस को कैसे चलावेंगे?

बैरिस्टर साहब—इस दस्तावेज़ में एक गवाह का स्थान छूटा हुआ है।

वह सज्जन—हाँ, छूटा तो है।

बैरिस्टर०—बस, उस स्थान पर एक गवाही बनवा ली जायगी।

वह सज्जन—बात तो बड़ी आला दर्जे की है; परंतु झूठी गवाही बनाने के लिये तैयार कौन होगा? ऐसे वैसे की गवाही मानी नहीं जायगी, और प्रतिष्ठित आदमी झूठी गवाही क्यों देने लगा?

बैरिस्टर०—आप देखते तो जाइए—इसी बात के तो अपनी हज़ार लूँगा, ख़ाली नालिश करने के थोड़े।

वह सज्जन—ख़ैर, आप जानें, आपका काम जाने? हमें तो रुपए मिलने चाहिए।

बैरिस्टर०—ख़ैर, आप अब आइए, और कल या परसों पाँच हज़ार मेरी फ़ीस के, और इसकी कोर्ट-फ़ीस ले आइए। नालिश दायर कर दी जायगी।

वह सज्जन—कोर्ट-फ़ीस कितनी लगेगी?

बैरिस्टर साहब ने हिसाब लगाकर बतला दिया। वह सज्जन दो रोज़ बाद आने का वायदा करके चले गए।

दो रोज़ बाद वह रुपए लेकर आए, और बोले—लीजिए, ये पाँच हज़ार तो आपके हैं, और ये कोर्ट-फ़ीस के। गिन लीजिए—सौ-सौ के नोट हैं।

बैरिस्टर साहब ने रुपए गिनकर रख लिए।

उन सज्जन ने पूछा—हाँ, तीसरे गवाह की बाबत आपने क्या किया?

बैरिस्टर साहब उन्हें एक निर्जन कमरे में ले गए, और



"देखिए, मैंने क्या कमाल किया है!"

दस्तावेज़ दिखलाकर बोले—देखिए, मैंने क्या कमाल किया है! उन सज्जन ने देखा, दस्तावेज़ पर तीसरे गवाह के स्थान पर स्वयं बैरिस्टर साहब ही के हस्ताक्षर हैं। स्याही भी वैसी ही थी, जैसी कि दस्तावेज़ की।

उन सज्जन ने विस्मित होकर पूछा—आपने स्वयं अपने ही को गवाह बना दिया?

बैरिस्टर०—और फिर किसको बनाता? कौन भला आदमी झूठी गवाही बनाना पसंद करेगा?

वह सज्जन प्रसन्न-मुख होकर बोले—तब तो निश्चय रुपए वसूल हो जायँगे।

बैरिस्टर०—अस्सी हज़ार तैयार रखिएगा।

वह सज्जन—अजी उसी वक़्त लीजिए। इधर डिग्री मिली; उधर आप रुपए ले लें। ऐसी बात थोड़ी ही है।

* * *

ठीक समय पर दस्तावेज़ का मुक़दमा पेश हुआ। जिस पर नालिश हुई थी, वह ताल्लुक़ेदार थे। उनकी ओर से भी दो बैरिस्टर थे। ताल्लुक़ेदार ने दस्तावेज़ को तसलीम नहीं किया, और कहा—"यह दस्तावेज़ जाली है"। इधर गवाहों में स्वयं बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ के हस्ताक्षर विद्यमान थे। ऐसी हालत में दस्तावेज़ का जाली होना सरलता-पूर्वक मान्य नहीं हो सकता था। ताल्लुक़ेदार साहब ने अपने हस्ताक्षरों के संबंध में भी कहा कि वे जाली हैं।

अब विश्वेश्वरनाथ के होश गुम हो गए। उन्हें यह विश्वास नहीं था कि पूरा दस्तावेज़ ही जाली होगा। उन्होंने समझा था कि दस्तावेज़ सही है, केवल एक प्रतिष्ठित गवाह के हस्ताक्षर की आवश्यकता है, और यह भी केवल इसलिये कि जिन दो गवाहों के हस्ताक्षर उस पर थे, वे मृत हो चुके थे। लोभ ने उनकी आँखों पर पट्टी बाँध दी थी, और उन्होंने उस दस्तावेज़ के असली होने के संबंध में यथेष्ट जाँच-पड़ताल नहीं की थी। यदि दस्तावेज़ जाली प्रमाणित हो गया, तो वह भी बाँधे जायँगे; क्योंकि उनकी गवाही उस पर थी। अतएव इसके यह अर्थ हुए कि वह भी उस जाल में सम्मिलित हैं।

वह दस्तावेज़ हस्ताक्षर मिलाने के लिये एक हस्ताक्षर के विशेषज्ञ के पास भेजा गया। पंद्रह दिन के बाद उसने अपनी रिपोर्ट इस प्रकार दी—"दस्तावेज़ निःसंदेह जाली मालूम होता है। मुद्दालेह के असली हस्ताक्षर में, और दस्तावेज़ पर किए गए हस्ताक्षरों में फ़र्क़ है। यद्यपि यह फ़र्क़ बहुत बारीक है; फिर भी एक विशेषज्ञ को भ्रम में नहीं डाल सकता। इसके अतिरिक्त बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ की गवाही अभी हाल ही में की हुई मालूम होती है; क्योंकि जिस स्याही में बैरिस्टर साहब के हस्ताक्षर हैं, वह रंग में तो दस्तावेज़ की स्याही से मिलती है, पर उतनी पुरानी नहीं, जितनी कि दस्तावेज़ की। रासायनिक क्रिया करने से उसका नयापन स्पष्ट प्रकट हो गया।"

यह रिपोर्ट मिलते ही अदालत ने मुद्दई का दावा ख़ारिज कर दिया, और विश्वेश्वरनाथ तथा मुद्दई, दोनों को फ़ौजदारी-सिपुर्द कर दिया।

* * *

कहाँ तो बैरिस्टर साहब इस फेर में थे कि अस्सी हज़ार मिलते ही कोई बढ़िया कोठी ख़रीदेंगे, और कहाँ अब प्राण बचाना कठिन हो गया। उलटी आँतें गले पड़ीं। सोचा, जेलख़ाने अलग जायँगे, और बैरिस्टरी का डिप्लोमा अलग छिन जायगा—कौड़ी के तीन तीन हो जायँगे। परंतु वह स्वयं बैरिस्टर थे, इसलिये बड़े-बड़े बैरिस्टरों पर उनका प्रभाव था। सबने यह निश्चय कर लिया कि विश्वेश्वरनाथ को बचाना ही चाहिए।

विश्वेश्वरनाथ और दीवानजी, दोनों पर मुक़दमा चला। अंत को विश्वेश्वरनाथ तो बच गए; परंतु दीवानजी को सज़ा हो गई। स्याही के नए-पुराने होने की बात को बैरिस्टरों ने बिलकुल उड़ा ही दिया। रही केवल जाली दस्तावेज़ पर हस्ताक्षर करने की बात; सो उसके लिये बैरिस्टरों ने यह कहा कि दीवानजी और बैरिस्टर साहब में मित्रता थी, इसलिये बैरिस्टर साहब ने हस्ताक्षर कर दिए थे, यह सोचकर कि रजिस्ट्री होते समय इस बात की जाँच कर लेंगे कि वास्तव में क़र्ज़ दिया गया है या नहीं। उनकी नीयत में कोई फ़र्क़ न था, और न वह यही जानते थे कि यह सरासर जाल किया जा रहा है। ख़ैरियत यह हुई कि दीवानजी को यद्यपि सज़ा हो गई, तथापि उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि उन्होंने जाली दस्तावेज़ बनाया है—वह अंत तक यही कहते रहे कि दस्तावेज़ सही है।

वह पट्टी भी दीवानजी को बैरिस्टरों ने पढ़ाई थी कि यदि तुम ऐसा कहते रहोगे, तो छूट जाओगे। परंतु इससे उनका असली मतलब विश्वेश्वरनाथ को बचाना था; क्योंकि यदि दीवानजी अपना अपराध स्वीकार कर लेते, तो वह यह भी कह देते कि बैरिस्टर विश्वेश्वरनाथ ने भी जाली हस्ताक्षर बनाए हैं, और अभी हाल ही में। ऐसी हालत में विश्वेश्वरनाथ का छूटना असंभव हो जाता। दीवानजी इतने उदार या इतने उल्लू न थे कि अपना अपराध स्वीकार करके स्वयं तो जेलखाने चले जाते, और विश्वेश्वरनाथ को बचा देते। परंतु इसकी नौबत नहीं आई। बैरिस्टरों ने दीवानजी को धोके में रक्खा, और दीवानजी अंत तक यही कहते रहे कि वह निर्दोष हैं।

* * *

विश्वेश्वरनाथ के बरी होने के दूसरे ही दिन घनश्यामदास उनसे मिले। घनश्यामदास ने पूछा—अरे, यह तुम क्या कर बैठे थे?

विश्वेश्वरनाथ बोले—भई, कुछ न पूछो, इस रुपए-रूपी राक्षस ने आँखों पर पट्टी बाँध दी थी।

घनश्याम—तो कुछ हाथ भी लगा?

विश्वेश्वरनाथ—अरे यार, आबरू बच गई—यही ग़नीमत समझो; मिला कुछ नहीं। पाँच हज़ार मिले थे, वह ख़र्च हो गए। और कुछ अपनी गाँठ से दे बैठा।

घनश्याम—मुझे आश्चर्य है कि दो हज़ार मासिक की आमदनी होने पर भी तुम्हें संतोष न हुआ!

विश्वेश्वरनाथ—क्या कहूँ, अब तोबा करता हूँ कि धन के लोभ में कभी न फँसूँगा। ईश्वर आराम से रोटी-कपड़ा दिए जाय, यही हज़ार न्यामत है।

घनश्याम—ख़ैर, आज आपने यह तो जाना कि आराम से रोटी-कपड़ा मिलना भी एक न्यामत है।

विश्वेश्वरनाथ—है, और अवश्य है। संसार में यह बात बड़े भाग्यवान् ही को नसीब होती है।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक

परमपिता

हम अबोध बालक हैं, हमको बोध तुम्हीं हो देते,
तुम्हीं हमारी जीवन-नौका भव-सागर में खेते;
हम न देखते, किंतु हमारे साथ सदैव विचरते,
देव! हमारी देख-भाल सब काल तुम्हीं हो करते।
संग लगी रहती शरीर के छाया हरदम जैसे,
सदा हमारे साथ घूमतीं विपदाएँ भी वैसे;
उनका तनिक ध्यान आते ही हम भय से कँप जाते,
परमपिता! बस, तुम्हीं हमें हो उनसे सदा बचाते।
जहाँ तुम्हारी दिव्य दृष्टि की ओट तनिक हम होते,
वहाँ शीघ्र निज मार्ग भूलकर हम हैं धीरज खोते;
तब उस नौकारोही-सा है होता हाल हमारा,
जिसे जलधि में देख न पड़ता पथ-दर्शक ध्रुव-तारा।
क्षमाशील करुणामय जो तुम होते कहीं न ऐसे,
तो इस निठुर जगत् में होता गुज़र हमारा कैसे?
पद-पद पर भूलें हम करते, तुम हो उन्हें भुलाते,
बार-बार हम गिरते हैं, पर तुम हो हमें उठाते।
जब हम होकर त्रस्त दुखों से, हैं अतीव घबराते,
तब तुम हमें दया-सागर! क्या दया नहीं दिखलाते?
धूल-धूसरित भी जब हम हैं निकट तुम्हारे आते,
तब भी तुम निज सुखद गोद में हमें समोद बिठाते।
एक दूसरे से आपस में हम सदैव हैं लड़ते,
ज़रा-ज़रा-सी बातों पर ही हम हैं रोज़ झगड़ते;
एक पिता के सभी पुत्र हैं—यह न ध्यान में लाते,
परमपिता! बस, तुम्हीं हमें हो उसकी याद दिलाते।
इधर-उधर की बातों में ही हम सब समय बिताते,
हम ऐसे निर्बोध निपट हैं, तुम्हें भूल-से जाते;
पर होकर जब श्रांत-क्लांत हम शरण तुम्हारी आते,
तब लेकर निज अतुल अंक में हमको तुम्हीं सुलाते।

गोपालशरणसिंह

"आजुकाल्हि के दानि"





१. अमरकोश और उसके कर्ता



आज मुझे एक छात्र से तामिल-भाषा में अमरकोश की एक प्रति मिली। पुस्तक ताड़-पत्र पर है, जिसके अंत का बहुत-सा भाग यहाँ पर नहीं है। पुस्तक देखने से पुरानी मालूम होती है। उसकी उपक्रमणिका में संवत् आदि का कोई भी उल्लेख नहीं है, जिससे यह निश्चय किया जाय कि वह कब लिखी गई होगी। विद्यार्थी से मालूम हुआ कि उनके यहाँ यह पुस्तक दादा-परदादा से ऐसी ही चली आती है। हाँ, भूमिका में बिलुक्कम-ग्राम का उल्लेख ज़रूर आया है, जो अब भी मदरास-प्रांत में है।

इस समय जो अमरकोश प्रचलित है, उससे इसके प्रथम कांड में बहुत कुछ हेरफेर मालूम होता है। इस पुस्तक में, मंगलाचरण करते हुए, ग्रंथकार ने सबसे प्रथम जैनियों के १६वें तीर्थंकर श्रीशांतिनाथ स्वामी को नमस्कार किया है। श्लोक ये हैं—

जिनस्य लोकत्रयवन्दितस्य,
प्रक्षालयत्पादसरोजयुग्मम् ;
नखप्रभादिव्यसरित्प्रवाहैः,
संसारपंकं मयि गाढ़लग्नम् ।
नमः श्रीशान्तिनाथाय कर्मारातिविनाशिने ;
पञ्चमश्चक्रिणां यस्तु कामस्तस्मै जिनेशिने ।

मंगलाचरण से सटे हुए बारह वे ही श्लोक हैं, जो प्रचलित अमरकोश में पाए जाते हैं। अनंतर "सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो" इत्यादि श्लोकों का प्रारंभ होता है। उन श्लोकों में देव, गुरु, शास्त्र, भारती, कुलकर, चक्रधर, नारायण और कामदेव के नाम पाए जाते हैं। बुद्धदेव के पर्यायवाची शब्दों के ज्ञापक श्लोकों में कुछ फ़र्क़ भी है, जैसा नीचे उद्धृत किए गए श्लोकों से पाठक मिलान कर सकेंगे—

क्षणिकः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः ;
मुनीन्द्रश्शोधनश्शास्ता मुनिः शाक्यमुनिस्तु यः ।
स शाक्यसिंहः सर्वार्थसिद्धः शौद्धोदनिश्च सः ;
गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः ।

इन श्लोकों में "समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकगज्जिनः, षडभिज्ञो दशबलो द्वयवादी विनायकः" इन दो चरणों का कोई भी प्रसंग नहीं पाया जाता। अर्थात् लिखित प्रति से मालूम पड़ता है कि समंतभद्र, भगवत, मारजित्, लोकजित्, जिन, षडभिज्ञ, दशबल, द्वयवादिन् और विनायक, ये शब्द बुद्धदेव के पर्यायवाची नहीं हैं। ये दोनों चरण किस कारण से लिखित प्रति में नहीं हैं, इसका कोई निश्चय नहीं। फिर भी बौद्ध क्या, किसी भी ग्रंथ में, बुद्धदेव के लिये, इन शब्दों में उल्लेख नहीं पाया जाता। जहाँ कहीं आता भी है, तो भ्रम से। जैसे नैषधीय-

चरित के नवम सर्ग के ७१वें श्लोक में "जिन"-शब्द का अर्थ टीकाकार ने बुद्धदेव किया है। परंतु मूल-श्लोक से "जिन"-शब्द का अर्थ जिनेंद्रदेव ही होता है; क्योंकि मूल-श्लोक में दिए गए "रत्नत्रितये" (सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः)-पद से रत्नत्रय-रूप जैनियों का ही सिद्धांत मालूम होता है। इसके आगे दोनों प्रतियाँ प्रायः मिलती-जुलती हैं।

लोग पं० अमरसिंह को इस ग्रंथ का कर्ता बतलाते हैं, जैसा कि ग्रंथ के नाम से भी मालूम होता है। परंतु इस ग्रंथ के कर्ता के संबंध में दो कथाएँ सुनने में आती हैं। प्रथम कथा इस प्रकार है—

राजा भोज ने एक दिन यह घोषणा की कि जो पंडित मर्यादित समय के भीतर कोश का अपूर्व ग्रंथ तैयार करके, राजसभा में उपस्थित करेगा, वह सबसे प्रथम पुरस्कार का भागी होगा। इस घोषणा के प्रचारित होने पर धनंजय कवि ने इस कोश की रचना की। किंतु अमरसिंह धनंजय के बहनोई थे। इसलिये किसी कारण-वश, धनंजय के बाहर चले जाने पर, अपनी स्त्री द्वारा उस कोश को धनंजय के मकान पर से मँगवा लिया, और उसमें कुछ हेरफेर कर, राजसभा में उसके बल से प्रथम पुरस्कार के भागी हुए। जब धनंजय को इस चालाकी का पता लगा, तो वह बहुत दुःखी हुए। पर शीघ्र ही २५० श्लोकों का एक छोटा-सा कोश तैयार कर राजा की भेंट किया। यह अब भी "धनंजय-नाममाला" के नाम से पाया जाता है। इस किंवदती में कितना तथ्य है, इसका निर्णय पाठकगण आगे मिलते-जुलते दोनों के पदों से स्वयं कर लेंगे—

स्यादुत्पलं कुवलयमथ नीलाम्बुजन्म च ;
इन्दीवरं च नीलेऽस्मिन् सिते कुमुदकैरवे।

प्र० का०, वारिवर्ग, २१२

'नाममाला' में भी बिलकुल इसी प्रकार का श्लोक है—

उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान्सागरोऽर्णवः।

प्र० कां०, वारिवर्ग, २५४

समुद्रो वारिराशिश्च सरस्वान्सागरोऽर्णवः।

नाममाला, २६

क्रम-भंग को छोड़कर और नाम भी मिलते-जुलते हैं—

मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारिणः करी।

द्वि० कां०, क्षत्रियवर्ग, ८००

गजो मतङ्गजो हस्ती,वारणोऽनेकपः करी।

नाममाला, ८८

मनुष्या मानुषा मर्त्या, मनुजा मानवा नराः।

द्वि० का०, मनुष्यवर्ग, ५६४

मनुष्यो मानुषो मर्त्यो, मनुजो मानवो नरः।

नाममाला

स्त्री योषिदबला योषा,नारी सीमन्तिनी वधूः।

द्वि० कां०, मनुष्यवर्ग, ५६५

ललिता कामिनी योषियोषा सीमन्तिनी वधूः।

नाममाला, ३०

स्रोतस्विनी द्वीपवती स्रवन्ती निम्नगापगा।

प्र० का०, वारिवर्ग, २८५

स्रोतस्विनी धुनी सिन्धु-स्रवन्ती निम्नगापगा।

नाममाला, ७४

ध्वजनी वाहनी सेना पृतनानीकनी चमूः ;
वरूथनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमास्त्रियाम्।

द्वि० कां०, क्षत्रियवर्ग, ८४४

अक्षौहिणी बलानीक, वाहनी साधनं चमूः ;
ध्वजनी पृतना सेना, सैन्यं दण्डो वरूथनी।

नाममाला, ८६

इसी दंतकथा से संबंध रखनेवाला पं० अजितकुमार-जी शास्त्री का एक लेख जैन-अखबार में भी निकला था, जो दक्षिण-प्रांत में उपलब्ध किसी ग्रंथ की उपक्रमणिका के आधार पर लिखा गया था। दूसरी कथा जैन-ग्रंथ 'सुदृष्टि तरंगिणी' के ४१वें तरंग के आधार पर है। उस कथानक में धनंजय कवि ने भोजराज की राजसभा में स्वयं स्वीकार किया है कि मेरी कई रचनाओं को लोगों ने अपनी कृति कहकर प्रख्यात कर रक्खा है, और लोगों में भ्रम होने के लिये, संशयात्मक पदों को हटाकर, स्वनामांकित पदों से ग्रंथ को संगृहीत कर लिया है। यद्यपि इसमें अमरकोश के संबंध में कोई उल्लेख नहीं आया है, तथापि इसके आधार पर अनुमान किया जाता है कि राजसभा में ऐसा कहने से कवि की विवक्षा कदाचित् अमरकोश के संबंध में रही हो, परंतु अमरसिंह से घनिष्ठ संबंध होने के कारण वह उसे स्पष्ट प्रकट न कर सका हो।

कई विद्वान् "अमरा निर्जरा" इत्यादि रचना द्वारा, सामान्य देवों के उल्लेख के अनंतर "सर्वज्ञः सुगतो

बुद्धो" इत्यादि प्रबंध द्वारा, विशेष देवों की नामावली में, सबसे प्रथम बुद्धदेव का नाम होने से, ग्रंथकर्ता के बौद्धमतानुयायी होने का अनुमान करते हैं। परंतु इस उपलब्ध प्रति से तो स्पष्ट मालूम होता है कि इसका कर्ता कोई जैन-मतानुयायी था, बौद्ध नहीं।

फूलचंद्र जैन

× × ×

२. एक ग्राम्य गीत

पिछले आश्विन-मास की 'सरस्वती' में श्रीमान् पंडित रामनरेश त्रिपाठीजी ने कुछ ग्राम्य गीत छपाए हैं। उनमें से एक गीत किसी चमारिन स्त्री का बनाया हुआ कहा जाता है, जिसमें कुचिया-नामक क्षत्रिय-कन्या की सतीत्व-रक्षा का वर्णन है। इसी गीत का बिहारी-रूपांतर हिंदी-भाषा के परम प्रेमी सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने इँगलैंड के स्कूल ऑफ् ओरियंटल स्टडीज़ (School of Oriental Studies) में नवंबर, १९१८ में, एक व्याख्यान में, सुनाया था, जिसका स्वतंत्र अनुवाद कुछ घटा-बढ़ाकर माधुरी की पूर्ण संख्या २४ में छप चुका है। अब हम वह मूल-गीत माधुरी के पाठकों की भेंट करते हैं। यह गीत अँगरेज़ों को ऐसा भाया कि अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि सर एडविन आर्नल्ड ने इसका अँगरेज़ी-पद्य में अनुवाद ही कर डाला। वह अनुवाद भी उसी व्याख्यान के साथ छपा है।

आठहि काठ केरि नैया रे नैया ;
इँगुरे ढरावल चारू मँगिया हू रे जी।
तेहि घाटे उतरेला मिरिजा सहेबवा ;
जेहि घाटे भगवति नहाले हू रे जी।
पनिया भरति पनिभरनि बिटिया ;
केकर बहिनि करे असनानिया हू रे जी।
गाँव केर गँआ होरिलसिंघ रजवा ;
उन्हकर बहिनि करे असननिया हू रे जी।
धाव तुह नौआ, धाव चपरसिया ;
होरिलसिंघ पकड़ि ले आवहु हू रे जी।
पनिया भरति पनिहारिनि बिटिया ;
होरिलसिंघ मकनिया कहाँ बाटे हू रे जी।
उत्तर मुँहे उतराहुत उनका ;
दुआरे चननवा का गछिया हू रे जी।
होरिलसिंघ मुसक चढ़ाव हू रे जी ;
(जब रे) होरिलसिंघ गइले मिरिजा पासवा ;
नइ-नइ करेला सलमिया हू रे जी।
लेहु ना होरिलसिंघ डाल-भर सोनवा ;
भगवति बहिनिया मोहि बकसहु हू रे जी।
आगि लगहु मिरिजा डाल-भर सोनवा ;
मोरा कुले भगवति ना जामले हू रे जी।
घर में से निकसि अँगना ठाढ़ि भइली ;
अँगना ठाढ़िय भौजी रोवेली हू रे जी।
आग लगहु भगवति तोहरि सुरतिया ;
तोहरा कारन स्वामी बान्हल हू रे जी।
लेहु ना भौजी घर गिहिथानवा ;
होरिल छोड़ावन हम जाइब हू रे जी।
जब (ना) भगवति गइलि मिरिजा का पासवा ;
नइ-नइ करलि सलमिया हू रे जी।
जौं तुहूँ मिरिजा हमरा सें लोभिया ;
होरिलसिंघ के मुसुक छोड़ावहु हू रे जी।
जौं तुहूँ मिरिजा हमरा सें लोभिया ;
हमरा जोगे चुनरि रँगावहु हू रे जी।
जौं तुहूँ मिरिजा हमरा सें लोभिया ;
हमरा जोगे गहना गढ़ावहु हू रे जी।
जौं तुहूँ मिरिजा हमरा सें लोभिया ;
हमरा जोगे डँड़िया फनावहु हू रे जी।
हँसि हँसि मिरिजा गहना गढ़ाले ;
रोइ-रोइ पेन्हे बेटी भगवति हू रे जी।
हँसि हँसि मिरिजा चुनरि रँगाले ;
रोइ-रोइ पेन्हे बेटी भगवति हू रे जी।
हँसि-हँसि मिरिजा डँड़िया फनाले ;
रोइ-रोइ फाने बेटी भगवति हू रे जी।
एक कोस गइलि, दूसर कोस गइली ;
लागि गइल मधुरि पियसिया हू रे जी।
गोड़ तोर लागाला अगिला कहरवा ;
बून एक पनिया पियावहु हू रे जी।
मिरिजा गइअवे पनिया पियहू हू रे जी,
तोरा गड़ुए मिरिजा निति उठि पिअबों ;
बाबा के सगरवा दुरलभ भइले हू रे जी।
एक चिरुआ पियलि, दूसर चिरुआ पियलि ;
तिसरे गइलि तरओरवा हू रे जी,
रोवेला मिरिजवा मुँह दे रुमलिया ;

मोरि बुधि करे बेटी भगवति हू रे जी।
रोइ-रोइ मिरिजा रे जलिया लगावेले;
बाझि गइल घोंघवा सेवरवा हू रे जी।
हँसि होरिलसिंघ जलिया लगावेले;
बाझि गइलि भगवति बहिनिया हू रे जी।
हसेला होरिलसिंघ मुँहे खाइ पनवा;
तीन कुल राखे बहिनिया भगवति हू रे जी;

श्रीअवधवासी सीताराम

× × ×

३. प्रभात के प्रति

रवि-रश्मि-कर-किसलय-पुलकित,
प्रभा-परिष्कृत प्रतिभावान;
प्रकृति-सदन-शृंगार मनोहर,
सरस, शांत, सुंदर छविमान;
शीतल, सुखद, सुभग, नव सुषमा,
संचारित करनेवाले!
सकल चराचर के उर में,
उत्साह नवल भरनेवाले!
उदयाचल से झलक दिखा निज,
हृदय-कंज विकसा दो अब;
निद्रा, तंद्रा, जड़ता मन से,
रम्य प्रभात, मिटा दो अब।

"प्रभात"

× × ×

४. संगीत-सम्राट् बालक मनहर बर्वे

स्थान था तामिल-प्रांत में एक बड़े शहर का विशाल नाट्य-भवन। वह भवन लोगों से, जिनमें अच्छे गवैए, संगीत-प्रेमी, संगीत-समालोचक और साधारण मनुष्य भी थे, ठसाठस भरा हुआ था। तत्काल होनेवाले संगीत के जलसे के बारे में सभी की बातचीत उत्सुकता-पूर्वक हो रही थी। एकाएक घंटी बजी, और यवनिका हट गई, तो तेरह वर्ष का एक खूबसूरत लड़का, जिसके माथे पर प्रज्ञता का प्रकाश, आँखों में वशीकरण की झलक और बदन में ताक़त रहने पर भी वह सुंदर शरीर बाँस की तरह हवा के एक हलके झोंके से ही मानो गिर जायगा, नज़र आया। बालक की छाती पर लगभग दो सौ सुवर्ण-पदक, जो सुयोग्य सभा-मंडलियों और प्रतिष्ठित लोगों द्वारा पुरस्कार-रूप में दिए गए हैं, चमकते थे।

रंगमंच के पीछे कम-से-कम तीस तरह के बाजे रक्खे हुए थे। उनमें से कुछ से तो साधारण जन परिचित थे, जैसे हारमोनियम, दिलरुबा और जलतरंग इत्यादि। किंतु बहुत-से ऐसे भी बाजे थे, जिनको साधारण लोग स्वप्न में भी संगीत-साधक बाजे न मानेंगे, जैसे काष्ठ-तरंग, नूपुरमाला (नूपुर बड़े और काँसे के, जो गाय-बैलों के गले में सजावट के लिये बाँधे जाते हैं) और अमेरिकन आरगन बैमस।

इन सभी बाजों पर उस निपुण बालक ने अपनी विद्या-निपुणता दिखलाई। जमे हुए लोग मंत्र-मुग्ध की तरह अचंभे में आकर चुपचाप बैठे रहे। अपनी ख़ुशी ज़ाहिर करने के लिये वे ताली बजाना भी मानो भूल गए थे।

बालक मनहर बर्वे अपना मोहन-मंत्र श्रोतागणों पर फूक रहा था। वह उपस्थित लोगों के मन को आँधी की तरह कहीं उड़ा ले गया था। जहाँ-जहाँ मनहर बर्वे का संगीत हुआ है, सभी जगह लोगों पर ऐसा ही असर हुआ है।

माइदास-नामक काल्पनिक राजा में यह गुण था कि वह जिसको छूता, वही सोना हो जाता। लेकिन उससे उसका नुक़सान ही हुआ। किंतु बालक मनहर जिसे छूता है, वही गंधर्व बनकर गाने लगता है। इसमें तो आनंद-ही-आनंद है।



बालक मनहर बर्वे

यह तेरह वर्ष का महाराष्ट्र-ब्राह्मण-बालक अपनी सात वर्ष की उमर में ही संगीत-शास्त्र-पारंगत समझा गया, और अब ६ वर्षों से लोगों के हृदयों में अपने दिव्य संगीत के बल से प्रतिष्ठा का स्थान पा रहा है।

मनहर के पिता श्रीमान् गोपालराव-गणपतराव बर्वे बंबई की वैज्ञानिक संगीत-शाला के प्रिंसिपल हैं। वह एक असाधारण संगीत-विद्वान् हैं। उन्होंने कई संगीत-साध्य वाद्यों का आविष्कार किया है, जिनका अमृतफल उनका सुपुत्र सबको चखा रहा है। उन्होंने जब देखा कि संगीत की ओर उनके पुत्र की तीव्र प्रवृत्ति है, तो उसे संगीत के नंदनवन में सुदूर ले जा एक अच्छा विद्वान् बना दिया।

संसार में ऐसे बहुत-से मनुष्य हो गए हैं, जो दैवी शक्ति रखते थे, तथा भविष्य में भी कदाचित् उत्पन्न होंगे। आजकल जितने मनुष्य संगीत-शास्त्र में अत्यधिक पांडित्य प्राप्त कर, मानव-समाज में भूरि-भूरि प्रशंसा के साथ सम्मानित हो, लोगों के भक्तिभाजन हुए हैं, उन सभी में एक-न-एक त्रुटि रह गई है। उनका ज्ञान और कौशल थोड़े-से ही वादन-यंत्रों या संगीत-शास्त्र के अंशों में सीमित हो गया है।

इस बालक के विषय में तो यही मालूम होता है कि प्रकृतिदेवी ने अपनी समस्त संगीत-शक्ति इसे बख़्श दी है। संगीत के सभी अंशों में सहज ही इसकी जो विजय-प्राप्ति हुई है, उससे इसका यश दिनोंदिन बढ़ रहा है। इसके बारे में यह कहना सरल नहीं कि यह बाजे बजाने में चतुर है या गाने में। मनहर अपने मधुर कोकिल-कंठ से अनायास ही गाता है, और लगभग तीस बाजों पर तार इसके हाथ लगते ही झनझना उठते हैं। जान पड़ता है, उसके स्पर्श से काठ भी गाना शुरू कर देता है। वायु के चलने से लता-कुंज में जैसी अव्यक्त कलकल ध्वनि होती है, ठीक वैसा ही इसके छूने से नूपुर से भी मधुर संगीत निकलता है। घड़ियाल के समान जो बर्मीज़ गांग, और एक पैसे की जो सहनाई छोटे लड़कों के विनोदार्थ गली में बिकती है, उनसे भी संगीत निकाला जाता है। शंख और "म्यूज़िकल सबमेरीन" से भी, जो गीत के लिये भद्दा समझा जाता है, स्वर-युक्त गायन गाया जाता है। जो बालक "ज़ेलोफ़ोन", ढोरनूपुर और पैसे की सहनाई, इनसे भी गीत निकाल सकता है, उसका वीणा-वेणु, फ़िडिल वग़ैरह बजाना कोई ताज्जुब की बात नहीं। सभी लोग मनहर को संगीत का अवतार ही कहते हैं। उसके संगीत-ज्ञान पर किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। प्रत्येक संगीत-सभा में उसके ज्ञान की परीक्षा ली जाती है, जिससे साधारण लोगों को यह कहने का साहस न हो कि यह सब जादू का काम है, या रटाए हुए तोते के समान सभा में मनहर अपना पाठ सुना देता है। परीक्षार्थ उसको यह काम भी दिया जाता है कि हारमोनियम और तबले में जो राग गाया जाता है उसे स्पष्ट कर समझावे, और वह इन सब परीक्षाओं को बग़ैर दिक़्क़त के पास कर जाता है। बाज़ वक़्त जान-बूझकर ही राग या ताल में ग़लती कर दी जाती है। वहाँ मनहर फ़ौरन् ही भूल बतला देता है। उसे कोई धोखा नहीं दे सकता। इन सब बातों का ख़्याल करते हुए हमें यही कहना पड़ता है कि मनहर को जो पूर्वी उपमा, उपाधि और सम्मान दिए गए हैं, वे सब उसकी हैसियत के भीतर ही हैं।

कितने ही संगीत-समाज, विद्वानों, और संगीत-समालोचकों द्वारा इसको जो पदक, उपाधि एवं सम्मान दिया गया है, उससे अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी इज़्ज़त सीमा से अधिक हो गई है।

मनहर के विषय में आलोचना करते हुए हम उसकी बहन श्रीमती नर्मदाबाई के विषय में भी, जो उमर में मनहर से एक वर्ष बड़ी है, लिखे बिना नहीं रह सकते। वह अपने भाई के साथ कई बाजे ख़ूब अच्छी तरह बजाती है। उसका मधुर गंभीर स्वर मनुष्य के हृदय में छिपे हुए प्रेम और कोमलता को ढूँढ़कर बाहर निकालता है। उसके गीत का स्वर हमेशा कानों में गूँजते हुए मानो दुःखित हृदयों को दिलासा और आशीर्वाद देता है।

ये भाई-बहन, दोनों मिलकर हम लोगों को मानो स्वर्गीय संगीत का ही मज़ा चखाते हैं।

दुनिया की दौड़ में पिछड़े हुए पूर्वी देशों में देशी विद्वानों की महिमा जानकर भी उनका यथोचित सम्मान होना ज़रा कठिन है। कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर की बड़ाई का परिचय तो हमें पाश्चात्य लोगों के द्वारा ही प्राप्त हुआ। लेकिन हाँ, मनहर को तो अभी कुछ समझने लगे हैं। इसमें संदेह नहीं कि यदि मनहर ने योरप या अमेरिका के किसी प्रदेश में जन्म लिया होता, तो अब तक दुनिया-भर में प्रसिद्ध हो गया होता।

अँगरेज़ों में प्रसिद्ध लेखक और समालोचक मिस्टर गार्डिनर महाशय ने नवनगर के जाम साहब के संबंध में लिखते हुए लिखा है कि अपने देशी आंदोलन के प्रति अँगरेज़ों की सहानुभूति प्राप्त करने की चाह रखनेवाले भारत के स्वराजी लोग अगर लंबे-चौड़े व्याख्यान झाड़नेवाले सुरेंद्रनाथ बनर्जी और गोखले-जैसों को विलायत भेजने के बदले नवनगर के जाम साहब-सदृश अच्छे क्रिकेट के खिलाड़ियों को भेजते, तो कहीं अच्छा होता। हमारी राय में तो एक मनहर बर्वे ही भारतवर्ष के यश को उस अच्छे क्रिकेट-खिलाड़ी की अपेक्षा अधिक फैलावेगा, और ब्रिटिश-प्रजा का ध्यान अपनी मातृभूमि के गौरव की ओर आकर्षित करेगा।

लोगों को ताज्जुब होता है कि मनहर का "मनहर" नाम कैसा अन्वर्थ हुआ है। मनहर बर्वे का विचार यूरप और अमेरिका जाने का भी है। हमें यक़ीन है कि वह वहाँ अपनी योग्यता के योग्य ही सम्मान प्राप्त करेगा।

ईश्वर से हमारी प्रार्थना है कि वह सुख-चैन से दीर्घायुष्मान् हो, अपने दिव्य संगीत-कौशल से अपने प्यारे देश की सेवा करता रहे। भगवान् इस दुबले-पतले, सुरीले कंठवाले सुकुमार के हृदय में बल दे।

आर० वीराराघव ऐयंगर

× × ×

५ कवि

जिसकी इच्छा के बल वन में सुंदर सरस फूल फूलें;
क्रोध, हास्य, भय, प्रेम दयादिक मानस-झूले में झूलें।
नंदन-कानन के कुसुमों की मंजु सुरभि जो लाता है;
वही कवीश्वर यश-मंदिर में उज्ज्वल आसन पाता है।
जिसके ध्यान-मात्र से मरु में जल-पूरित नदियाँ बहतीं;
विधि-रमणी रसना-सरसिज पर सदा केलि करती रहतीं।
जो मोहित हो, भाव-विश्व में चक्कर सदा लगाता है;
वही कवीश्वर यश-सागर से मोती लेकर आता है।
जिसके 'मानस' में मराल हो, केलि कल्पना करती है;
चुग-चुगकर सुंदर मुक्ताफल उदर सदा निज भरती है।
जो ऐसे मानस-मराल का प्रभु, पारखी कहाता है;
वही कवीश्वर कीर्ति कमल का मधुर मधुप हो जाता है।
जिसके संकेतों पर मोहित भाषादेवी नृत्य करें;
सृष्टि-सूत्र ला स्वयं स्वयंभू जिसके कर में अहा! धरें।
जो इस सूक्ष्म सूत्र से जग का अजब रूप दिखलाता है;
विधि को वही कवीश चकित कर, यश को नाच नचाता है।
ओज, प्रसाद, मधुरता जिसके बिना बुलाए अतिथि बनें;
आकर सदा रिझाते जिसको नव-रस अलंकार बहनें।
अनुनय-विनय देख छंदों की जो मन में मुसकाता है;
वही कवीश्वर यश-उपवन के मधुर, पके फल खाता है।
देख किसी को दुखी, दुखित हो नरकों की रचना करता;
सुखी किसी को देख, मुग्ध हो स्वर्ग सामने ला रखता।
जो उमंग में आकर जग का भावी चित्र दिखाता है;
वही कवीश्वर यश-नगरी में विजय-ध्वजा फहराता है।
गृह-विहीन के लिये गगन में देता जो प्रासाद बना;
धन-विहीन को ला देता, जो संपति का ऐश्वर्य घना।
जो भक्तों को इष्टदेव का दर्शन दिव्य कराता है;
वही कवीश्वर कीर्ति-गगन में रवि की-सी छवि पाता है।
जो सुधांशु का सुधा-पात्र ला रसिकों के कर में देता;
जो अपार सागर में अपनी डोंगी अंत समय खेता।
जो मृग-तृष्णा के ही जल में मंजुल जलज खिलाता है;
वही कवीश्वर कीर्ति-कामिनी का प्रिय कांत कहाता है।

सुमंगलप्रकाश गुप्त

× × ×

६. भारत की ऐतिहासिक मौनी देवी

पाश्चात्यों का मत है कि भारतीय ऐतिहासिक देवी मौन है, भारतवर्ष में जातीय संगठन का कोई इतिहास नहीं है।

Much disappointment has been felt in Europe at the sterility of the historic muse of Hindustan. It is now generally regarded that India possesses no National History; but a French Orientalist asks whence Abulfazal obtained the materials for his ancient Hindu history. Tod's, Introduction.

फ्रेंच साहित्याचार्य के कथनानुसार अब यह देखना है कि भारतीय ऐतिहासिक सामग्री में ही न्यूनता है, अथवा हमारे दृष्टि-बिंदु अथवा अन्वेषण में त्रुटि है। यदि भारतवर्ष में कोई ऐतिहासिक सामग्री न थी, तो अबुल-फ़ज़ल को हिंदू-इतिहास की सामग्री कहाँ से मिली? पाश्चात्य देशों के प्राचीन इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध या तो भारतवासियों से हुए थे या उनमें भारतवासी भी अवश्य सम्मिलित थे। इसके कुछ ऐतिहासिक प्रमाण ये हैं—

(१) श्रीशालिवाहन शाकारि विक्रमारि यदुपतिराय के पितामह राजा रजि और खुरासान-पति के एक युद्ध का उल्लेख टॉड-राजस्थान की जसलमेरवाली कथा में है। कहा जाता है कि यह युद्ध कुंज-शहर या हरयू (Harreu) में हुआ था, और इस युद्ध में ३० सहस्र दल खुरासान-पति के कटे थे। राजा रजि भी इस युद्ध में मारे गए। टॉड ने कुंज शहर को खुरासान का कुंजरश्क अनुमान किया है; परन्तु हरयू का उनको पता नहीं चला। अतएव इस युद्ध का स्थान अनिश्चित रहा, और ऐतिहासिक देवों का मौन रहना माना गया।

पर्शिया के इतिहास से विदित होता है कि जहाँ कुंजशहर (कुंजरश्क—खुरासान) है, वहीं हरयू (Harreu—हिरात) है। (H. P Vol 1, P. 101.) हरयू हिरात ही का नाम है। हॉकल ने हिरात का नाम हरपुर बतलाया है। इस युद्ध में महाराज रजि ने हरयू और कुंजरश्क को विजित किया था। कदाचित् यह युद्ध ईसवी सन के पूर्व १७६ वर्ष के निकट, चतुर्थ अंतियोक (Antiochus IV Epiphanes) से हुआ होगा, और एपीफ़िनिस इस युद्ध में बैसों से, अपने ही राज्य में, हारे थे। महाराज राज काबुल-नरेश सुभगसेन के दामाद थे। सुभगसेन को ग्रीक Sophagasenus कहते हैं। इनको अंतियोक ने २०६ बी० सी० (ईसवी सन् के पूर्व) में हराया था।

Shortly afterwards (206 B. C.) Antiochos crossed the Hindu-Kush, and compelled an Indian King named Sophagasenus or Subhagasen, who probably ruled in the Kabul valley, to surrender many elepnants and large treasure.

(V. A Smith, P. 223)

इसी हार का बदला महाराज रजि ने अंतियोक से हिरात तथा खुरासान विजित करके लिया था। महाराज रजि की स्त्री का नाम सुभागसुंदरी था।

(Tod's Rajasthan, Jesulmer).

(२) यदुपतिराय, गज़नी और कंधार-नरेश, महाराज शालिवाहन के पिता महाराज गज की ग़ज़नी पर रूमपति तथा खुरासान-अधिपति ने रजि के पश्चात् आक्रमण किया था। गजपति ने रूम (सिरिया और एशिया माइनर) तथा खुरासान-अधिपति को विजित कर अपनी विजय का स्मारक स्वरूप सिरिया में गज़ (Gaza)-नामक नगर बसाया था। इस विजय के संबंध का एक प्रख्यात दोहा यह है—

रूमीपति खुरासानपति, हय गज पाखर पाय ;
चिंता तेरे चित्त लगि, सुनियो यदुपतिराय।

(Tod's Rajasthan, P. 529.)

The King of Khorasan divided his army into five divisions. The Raja formed his into three. A desparate conflict ensued in which the King and the Raja were slain The King's son envaded Gajni and Sahdeo performed the Saka.

(Tods' Rajasthan, P 528.)

(३) अपने पिता गजपति का बदला शकों से लेकर महाराज शालिवाहन ने श्री एवं शाकारि की पदवी पाई थी। रूम के राजा को विजित करके शाकारि शालिवाहन ने शाकारिया (Sakaria)-नगर एशिया माइनर में बसाया, जो अब तक विद्यमान है। शालिवाहन के वंशज बैसों का बसाया नगर वहीं वशपुर भी है। बैस 'वश'-शब्द ही का अपभ्रंश है। इस नगर को अब बासफोरस' कहते हैं।

Afterwards Salivahana defeated the Sakas in a great and decisive battle. So great was the fame of the victory that the conqueror assumed the title of Sakari or "Foe of the Sakas", and received from his subjects the auspicious title of Shri (Cunningham, Vol II, P. 21)

कनिंघम का यह मत कि यह युद्ध कहरोरवाला है, असत्य है। कहरोर का युद्ध ५३३ ई० में हुआ था। इसके विजेता यशोधर्मदेव शाकारि मालवा नरेश थे (Prothero's History)। शालिवाहन १६ ई० के निकट थे (Tod's Rajasthan—Jesulmer), अतएव ५३३ ई० में शालिवाहन नहीं हो सकते।

शालिवाहन ने अपने पिता गजपति का बदला रूम के अधिपति से लिया था, और ग़ज़नी उनसे छीन ली थी। (Tod's Rajasthan)

Salivahana avenged his father's death, and regained possession of Gajni from the King of Room

(Tod's Rajasthan, P. 529.)

(४) चंद्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस को ३०५ बी० सी० में परास्त करके काबुल, हिरात, कंधार और गेड्रासिया के प्रांत उससे छीनकर, भारतीय साम्राज्य में सम्मिलित किए थे। अतएव भारतवर्ष के Scientific Frontier तक भारतीय राज्य का विस्तार करनेवाला एक भारतीय नरेश ही था। न तो मोग़ल, और न अँगरेज़ ही इस सीमा तक पहुँचे हैं। २५०० वर्ष के अंदर सबसे बड़े भारतीय सम्राट् चंद्रगुप्त ही हुए।

The first Indian Emperor, Chandra Gupta Maurya thus entered into possession of that scientific frontier, sighed for in vain by his English successors, and never held in its entirety even by the Moghal Monarchs. He also conquered a large part of Ariana, and ranks amongst the greatest kings known to history.

(V A. Smith, P. 120)

(५) ६४४ ई० में, मकरान (बलिचुस्तान) के राजा सहसराय एक भारतीय शूद्र बौद्ध-धर्मानुयायी थे। इनके पुत्र साहसी थे। इनके पश्चात् ४० वर्ष-पर्यंत यहाँ के नरेश छाछ-नामक ब्राह्मण थे। इनके पुत्र दाहिर को क़ासिम ने ७२१ ई० में विजित करके, बलिचुस्तान को सदैव के लिये मुसलिम-राज्य में मिला लिया।

(V. A Smith, P 355.)

(६) दारा (Darius) के पुत्र खशयर्ष ने ४८१ बी० सी० में ग्रीस पर आक्रमण किया था। थरमापली और एथेंस के युद्धों में भारतीय सेना भी लड़ी थी।

'The Indian with their cotton coats'

(History of Persia, Vol 1, P. 210.)

(७) अरबेला (Arbela) के युद्ध में आलिसुंदर (Alexander) से भारतवर्ष की अश्वारोही सेना लड़ी थी। यह युद्ध ३३१ बी०सी० में ईरान में हुआ था।

History of Persia, Vol. 1, P. 276.

(८) भारत-नरेश राजा रतिबल (Ratbil) ने ६६६ ई० में, शिशतान के आगे, ईरानियों को घेरकर हराया था।

During the course of the compaign beyond Sistan, an Indian King, named Ratbil, had defeated a Moslem force by alluring it into the defiles of Afghanistan.

(History of Persia, Vol. II, P. 52.)

(९) १७०-१३८ बी०सी० के मध्यकाल में बैक्ट्रिया-नरेश युक्रतदास के पुत्र को सारंग-भारतवासियों ने परास्त करके बैक्ट्रिया में ५० वर्ष-पर्यंत राज्य किया था।

An Indo-Bactrian Kingdom is, however, known to have existed on the Southern slopes of the Hindu-Kush for more than ½ a century.

(History of Persia, Vol 1, P. 354.)

(१०) सिंध-सागर-दोआब के जाट, ८०० ई० के निकट अरब पर आक्रमण करके, दजला के निकटवर्ती देश के भूपति बन गए थे, और वाज़िद—ईरानी नरेश—को तंग किया था। टर्की और ख़ानिकिन की सीमा पर ये जाट अब भी बसते हैं। करमान तथा ख़ुरासान में भी जाट (Gypsies) अभी बसते हैं। सिरिया की सीमा के बाहर, तेहरान के निकट भी, जाट अभी बसते हैं। पाश्चात्य देशों में भैंसों का प्रचार जाटों ने किया था। बग़दाद-विजय पर इनकी कविता का अँगरेज़ी-भाषांतर यह है—

Oh! inhabitants of Baghdad die,
May your dismay last long;
It is we who have defeated you
After having forced you to fight
in the open country.
It is we who have driven you in front of us
Like a flock of weaklings.

(History of Persia, Vol II, P 79)

(११) आरमेनिया के राजा वलर्षक (Val-Arsaces) के समय में (१५० बी० सी०) भारतवर्ष के दो नरेश Kishane(कृष्ण और Demeter (द्रमित्र—विष्णु) अपने राजा दिनसाखे (Din Sakhe) से रुष्ट होकर, आरमेनिया गए थे। आरमेनिया का बिशप-नगर इन्हीं का बसाया हुआ है। इन्हीं का बसाया डेमीट्रियस-नगर भी मैगनेशिया में है। अष्टशट-नामक नगर भी इन्हीं का बसाया है। सेंट ग्रेगरी ने इनके वंशजों को ज़बरदस्ती ईसाई बना डाला। इनमें से ५०० के लगभग बचकर काश्यप-प्रदेश में बस गए। कुशान (Kushan) और हूदी (Hodian) इन्हीं के वंशज थे। इन्हीं के वंशज Demetrius और Kunwar Meghtes (कुं० मेघतेस) थे। कदाचित् मेघतेस के वंशज मेघस्थनीज़ थे। Demetrius हूदी तथा कुशान पंजाब के भी राजा थे।

रोमन इन्हीं कृष्ण के वंशजों का नाम कुशान बतलाते हैं। इन्हीं के आक्रमणों को पाश्चात्य, भारतवर्ष पर इंडो सिदियन आक्रमण कहते हैं। इन्हीं के वंशज कनिष्क, हुविष्क आदि थे, जो भारतवासियों में मिल गए। इनका गोत्र भरद्वाज है। ये शालिवाहन के वंशज या संबंधी थे। आरमेनिया में भी हिंदू-क्षत्रिय थे। वे लौटकर भारतवर्ष में हिंदू-क्षत्रियों से मिल गए। इसमें क्या दोष?

(History of Zenab, I.R A.S of Bengal, P. 1904.)

(१२) ईरानी नरेश द्वितीय शापुर ने ३६० ई० में आमिदा (Amida) पर आक्रमण किया था, और रोमन लोगों को परास्त किया था। इस युद्ध में भी भारतवासी गजारोही सम्मिलित थे। कुशान सासन-वंश के संबंधी थे। ईरान के सासनवंशी (दीर्घबाहुवंशी) सूर्यवंशी राजा थे। कुशान चंद्रवंशी भरद्वाज-गोत्री थे। इनके वंशज पंजाब के 'शाही' में अभी तक हैं। काश्मीर-नरेशों से इनके संबंध थे।

(१३) सिल्यूकस चंद्रगुप्त के ससुर थे। यह भी भारतवासी क्षत्रियों के वंशज थे। यदि वह क्षत्रिय न होते, तो चंद्रगुप्त-सरीखा सम्राट् क्यों उनकी कन्या से अपना विवाह स्वीकार करता? पंजाब, सिंध तथा काबुल के विजेता दमित्र अर्थात् Enthydemas के पुत्र एवं अंतियोक के जामाता भी भारतवासी थे। इनका समय ईसा के १६० वर्ष पहले है। यवन-नरेश अंतियोक, सिल्यूकस के वंशज भारतीय क्षत्रियों के वंशज थे। यवन-देश का राजा होने से इनकी जाति नहीं बदली। शापुर और हुरमुज आदि सासन-वंशी ईरानी नरेश, भारतवर्ष के सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। होदी, जो पंजाब के इंडो सिदियन राजा कहे जाते हैं दमित्र के वंशज भारतीय क्षत्रिय थे। इन सबका इतिहास भी तो भारतीय इतिहास का ही अंग है। फिर भी क्या भारतीय ऐतिहासिक देवी मौन है?

चौधरी धनराजसिंह

× × ×

७. चूरू के सुराणा-पुस्तकालय में श्रीमद्भागवत का एक हिंदी-अनुवाद

हिंदी-साहित्य के ऐसे कई ग्रंथ-रत्न अब तक अप्रकाशित पड़े हैं, जिनका प्रकाशन नितांत आवश्यक है। प्राचीन कवियों की कृतियाँ ऐसे-ऐसे लोगों के पास मिल सकती हैं, जिनका हमें स्वप्न में भी ख़याल नहीं आता। हिंदी के सौभाग्य से इन ग्रंथों की खोज का कुछ कार्य आरंभ हुआ है। पर यह कार्य अभी 'कुछ' ही है। यदि थोड़ा बहुत और प्रयत्न किया जाय, तो न-जाने कितनी अधिक सफलता प्राप्त हो।

राजपूताना चारण-कवियों का घर रहा है। इन चारणों के पास स्वरचित तथा अपने पूर्वजों के रचित ग्रंथ ही नहीं मिल सकते; पर अन्य कवियों के लिखे हुए भी अनेक काव्य-ग्रंथ प्राप्त हो सकते हैं। वे ग्रंथ आजकल बिगड़ी अवस्था में पड़े हैं। उनके मालिक न तो उन्हें अच्छी हालत में रखने के लिये दूसरों को देने को ही तैयार हैं, और न स्वयं उसकी कोई व्यवस्था करने के लिये ही प्रयत्नशील हैं। हाँ, वे लोग स्वेच्छा-पूर्वक किसी देखनेवाले को अपनी पुस्तकें दिखला देते हैं, और नक़ल करनेवालों को भी अपने घर पर बैठकर ऐसा करने की आज्ञा दे देते हैं।

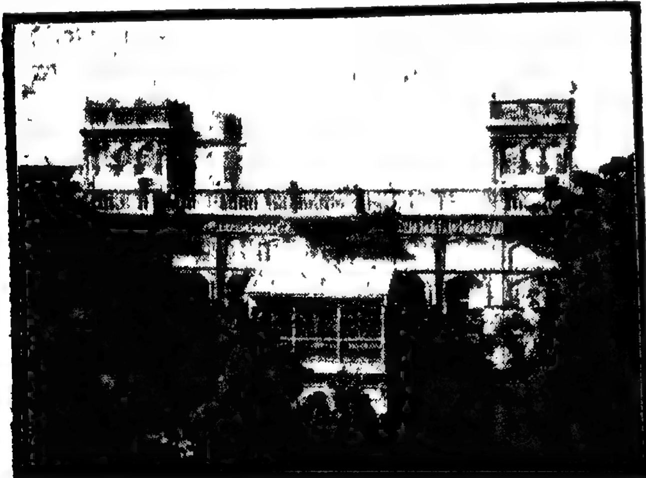
प्राचीन ग्रंथों के ऐसे संग्रह तो छिपे हुए हैं ही; पर आज हम एक ऐसे संग्रह का, तथा उस संग्रहालय की एक पुस्तक का परिचय पाठकों को कराना चाहते हैं, जो आधुनिक ढंग से सुव्यवस्थित पुस्तकालय में है। तो भी लोग उससे जितना लाभ उठाना चाहिए, उतना नहीं उठाते। इस पुस्तकालय का अवलोकन करने के लिये हमारे पास अधिक समय न था। जल्दी में हम जो कुछ देख पाए हैं, उसी का संक्षिप्त परिचय देते हैं। साथ ही श्रीमद्भागवत के एक हस्त-लिखित हिंदी-अनुवाद का परिचय भी पाठकों को दे रहे हैं; क्योंकि इसी के देखने में हमारा समय वहाँ लगा था।

कुछ दिन पूर्व पूज्यवर श्रीजमनालालजी बजाज राजपूताने में खादी-प्रचार के लिये दौरा कर रहे थे। वह बीकानेर-महाराज से मिलकर उनके राज्य के चूरू-शहर में भी आए। मैं भी वहाँ उनके साथ था। मैं पहले भी कई बार चूरू गया था; पर सुराणा-पुस्तकालय से इसी बार परिचय हुआ। सुराणा-पुस्तकालय के मालिक श्रीतोलारामजी सुराणा ने हमें अपना पुस्तकालय देखने के लिये आमंत्रित किया।

सबसे प्रथम हमें सुराणाजी से उनके घर पर ही मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आप अत्यंत मिलनसार, विद्या-प्रेमी, धनी वृद्ध सज्जन हैं। हमें यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि पुस्तकालय का संग्रह सेठजी ने अपने हाथों



सेठ तोलारामजी सुराणा
(बीकानेर-स्टेट-कौंसिल के मेंबर)



चूरू का सुराणा-पुस्तकालय

किया है। धनी लोगों में, और विशेषकर राजपूताना-जैसे शिक्षा में पिछड़े हुए प्रांत में, ऐसे उत्साही सज्जन का मिलना कितना आनंदोत्पादक था, यह पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

सेठजी ने स्वयं सारा पुस्तकालय दिखलाया। पुस्तकालय का भवन विशाल है। बनावट भी अत्यंत सुंदर है। ऐसे संग्रह-स्थान के लिये ऐसा भवन होना ही चाहिए। पुस्तकालय में प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों का बहुत अच्छा संग्रह है। ताड़ और भोजपत्र पर भी लिखे हुए कुछ ग्रंथ हैं। किसी ग्रंथ में कुछ विशेषता है, किसी में कुछ। उन सबका वर्णन यहाँ नहीं हो सकता, और न हमीं उन विशेषताओं का अध्ययन, अवकाशाभाव के कारण, कर सके।

हस्त-लिखित पुस्तकों की संख्या लगभग २,५०० है, जिनमें संस्कृत, पाली, प्राकृत, हिंदी, मारवाड़ी-भाषा के ग्रंथ हैं। कुछ अन्य भाषाओं के भी ग्रंथ हैं। पुस्तकालय के मालिक श्रीतोलारामजी सुराणा जैन-धर्मावलंबी हैं, अतएव जैन-धर्म-ग्रंथों का यहाँ बाहुल्य है; पर उनके अतिरिक्त अन्य विषयों के ग्रंथ भी हैं। मारवाड़ी-भाषा में लिखित जैन यतियों के कई ग्रंथ हैं, जो अमूल्य हैं। हिंदी की भी लगभग ३०० हस्त-लिखित पुस्तकें हैं। हस्त-लिखित पुस्तकों की सूची के क्रमबद्ध न होने के कारण हम यह नहीं मालूम कर सके कि किसी प्राचीन कवि की कोई कमनीय कृति भी यहाँ है या नहीं। हाँ, हमने कुछ पुस्तकें इधर-उधर से देखीं, जिससे मालूम हुआ कि इन हस्त-लिखित पुस्तकों को ध्यान से देखने से कई अच्छी पुस्तकें मिल सकती हैं। देखते-देखते एक जगह बिहारी सतसई की संस्कृत-टीका भी मिली। हमने इसके कुछ पृष्ठ इधर-उधर देखे भी; पर उसमें टीकाकार का नाम हमें नहीं मिला। टीका पूरी भी नहीं है, बीच में ही छूट गई है। अंतिम वाक्य पूरा नहीं। जहाँ तक हमारा अनुमान है, हिंदी-संसार इस टीका से परिचित न होगा। यदि कोई विद्वान् संस्कृतज्ञ अपना समय इस टीका के अध्ययन के लिये दे सकें, तो बहुत कुछ संभव है, हिंदी-संसार के सम्मुख एक अपूर्व चीज़ रख सकें। इसी प्रकार और कई ग्रंथ-रत्न यहाँ मिल सकते हैं।

अब हम इस पुस्तक जय के श्रीमद्भागवत के हिंदी-अनुवाद की एक हस्त-लिखित प्रति का परिचय देते हैं। यह प्रति नारनौल (जोधपुर) में तीन वर्ष पहले मिली थी। पुस्तक के आरंभ में 'श्रीरामाय नमः', 'श्रीबिट्ठलदासो जयति' लिखा है। अनुवाद श्रीहरिवल्लभ-कृत है। आरंभ में, ग्रंथ के परिचय में लिखा है—

"आईसु दियौ किसोरजु कारज भाषा में रची ;
सुहरि-जस गावन काजु मो मति है लची।
प्रभु को करि प्रनाम भगति तामें पची ;
भव दुरन के काज जुगल भयो रची।
प्रथमहि प्रथम सकंद जू मन में आनि कै ;
श्लोक समानि जु अर्थ कीयौ मैं बानि के।
रह सेत बह किसोर भलो बहु गानि कै ;
'हरिवलभ' भो मीत मनायो आनि कै।
येम्रत समान जु भक्ति-रस 'बलभ' कीन्हौ बानि ;
हरषे सुनि जु किसोर जू लीन्हौ बहु सुख मानि।,,

ग्रंथ के अंत में लिखा है—

"इति श्रीभागवते महापुराणे एकादशस्कंधे श्रीधर-समो उक्तिभाषा-टीका संपूर्ण समाप्तम्। संवत्१८८३ रा वर्षे मीती आष ढमासे कृष्णपक्षे तिथौ षष्टम्यां। आदित्यवारे नागपुरमध्ये लाख्यतं व्यास जी-कीसन पोकरणा शुभं भवतु पठनार्थं बिसनोईलाध गंगाराम तातेजी का लिख्य।"

ऊपर के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि इस अनुवाद के रचयिता हरिवल्लभ हैं। वह अपना उपनाम 'बलभ' लिखते थे। उनके आश्रयदाता श्री "किसोरजु" (किशोर-जी)-नामक कोई महाशय थे। यह कौन थे, इसका पता लगाना इतिहासज्ञों का काम है। नारनौल, जोधपुर राज्य में है, इससे भी इस विषय में कुछ सहायता मिल सकती है; क्योंकि यह पुस्तक वहीं मिली है। अंत में जो परिचय लिखा है, उससे मालूम होता है कि यह पुस्तक मूल नहीं, पर नागपुर में, संवत् १८८३ रा में, की गई मूल की या किसी नक़ल की नक़ल है। संवत् के आगे 'रा' लिखने का भी तात्पर्य ध्यान देने-योग्य है। ग्रंथ का हम एक पद्य यहाँ देते हैं। इसमें एक जगह 'कपड्यौ'-शब्द आया है, जो बीकानेरी भाषा का है, और जिसका अर्थ पकड़ना है। इससे कवि का बीकानेरी भाषा से संपर्क सिद्ध होता है। पूरा ग्रंथ देखने पर ऐसे या इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी मिल सकते हैं—

"श्रीजगजनमादि जातें ज्ञान परकासमय,
कारज मैं मिल्यो सु अकारज ते परे हैं ;
तेज मैं ज्यौं जलबुधि काच हू माधि नीर भ्रम,
तैसे गुन सृष्टि जामैं झूठ अनुसरे हैं।
नित-नित धाम करि कपड्यो कपट जिनि,
ऐसे सत्य ईसुर को ध्यान हम धरे हैं।"

× × ×

अब हम ग्रंथ के वे पद्य, जिन्हें हमने इधर-उधर से लिख लिए थे, यहाँ उद्धृत करते हैं—

जामैं बिना कपट साधुनिको परम धरमु कहि दीनौ ;
जानन-जोग वस्तु सुभई दाई कताए बिनासन तीनौ।
जाते हिए बेग हरि आवहिं व्यास भागवत कीनौं ;
और पुरान कहा ले कीजे जोग बिश्रम भीनौ।

× × ×

त्रिभुवन राज असुर के आयो ;
अति अनाथ बहुत दुख पायो।
ताके अह कीस पुपद* धारे ;
बहु दिन भए समाधि सम्हारे।

८वाँ स्कंध, १६ अ०

× × ×

नारद गुरुह मुनि सौर हस-हस नेतीय,
ब्याही है जु मुनि देखिबे को आए हैं ;
द्वारावति सो मामाई उपवन देख्यो आई,
रुखे फूले फल छाई भौर लपटाए हैं।
सर आछे बने तामें, कमलउ फूले जामें,
सोहत मराल तामें अति मन भाए हैं ;
रहस्यो सुदेखि चित बिरम्यो सुन्यो कहीतीतिः,
प्रेम उमग्यो जु हित मोद उपजाए हैं।

१०वाँ स्कंध

× × ×

स्वायंभुव मनु पहुमी पाय ; करे सृष्टि को कौन उपाय।
बिदुर महाभागवत प्रवीन ; जिन छोड्यो निज भ्रात दीन ॥
अनुज व्यास को हरि को दास ; करे सदा सुभ बिष्णु उपास।
पुनि मैत्रेयहि पूछ्यो कहा ; मिलि कै तीर्थ पावन महा ॥"

स्कंध ३, अ० ११

× × ×

* केवल 'पु' के स्थान में शायद "रिपु" चाहिए था। संभव है, यह नक़ल करनेवाले की भूल हो। लेखक—

इन उद्धरणों के देने का तात्पर्य यही है कि पाठक यह समझ सकें कि हरिवल्लभजी की कविता कैसी है। संभव है, उपर्युक्त पद्य उनकी कविता के असली रूप को प्रत्यक्ष न कर सकें; पर हमने इधर-उधर से जल्दी में कुछ पद्य लिख लिए थे, उन्हें ही यहाँ उपस्थित कर सके हैं।

ग्रंथ के अंत के भी कुछ पद्य यहाँ लिख देना आवश्यक ज्ञान पड़ता है—

जहाँ अनिन भक्ति निहकामता,
अरु तत्र गुण सरित बहायतास चर्षा की भूरिस्यों,
जनलालदास नित न्हाय।
अनतानंदि यह सिषवणि दीन्हीं,
रामानंद तें पाय तिनि सिषिलाई गैस ने,
तिनि सत नैं दई बताय।
ता गैस सुत तैं लालदासि पाई बुद्धि उनमान;
तिन भक्त रिझावण कारणैं, ली दीनी भगवान।
गंगा के प्रवाह में सब गंगोदिक व्है जाय;
यौं रसना पावन कारणैं, मैं लहीया महि आय।

इसके आगे

कछु रह्यो कछु कह्यो बधाई; कछु आगे पाछे फेरि कहाई।

इत्यादि लिखकर कवि ने अपनी बुद्धि की लघुता के बारे में शिष्टता-सूचक कुछ पद्य लिखे हैं।

श्रीमद्भागवत से संबंध रखनेवाले ग्रंथ का अंतिम पद्य यह है—

यों हरि औतार मनोहर भाई;
ताके चरित उदार सवाई।
जो आदि-अंत लौं सुनैं सुनावे;
सो दृढ़ भक्ति कृष्ण की पावे।

ऊपर के एक पद्य से कवि के गुरुओं का पता चलता है। कोई विद्वान् इस विषय में पता लगावें, तो उन्हें इस विषय का पता लग सकता है।

यह तो वह वर्णन हुआ, जो हम ग्रंथ से प्राप्त कर सके। अब इस विषय में कुछ और भी सुनिए।

हिंदी-कवियों के संबंध में आजकल हिंदी-साहित्य में, आधुनिक ढंग से लिखे हुए, दो ग्रंथ मान्य हैं—एक मिश्रबंधु-विनोद, दूसरा कविता-कौमुदी। कविता-कौमुदी में केवल प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों का वर्णन होने से हरिवल्लभजी का नाम मिलना संभव नहीं। हाँ, मिश्रबंधु-विनोद में इस नाम के एक कवि का उल्लेख है। 'विनोद' के उत्तरालंकृत विभाग के 'बेनीप्रवीण'-काल में, ६३४ पृष्ठ पर, 'हरिवल्लभ'-नामक कवि का परिचय है। जिन कवि महाशय का विनोद में परिचय है, वह संभव है, भागवत के इस अनुवाद के अनुवादक हों। मिश्रबंधुओं को उनका सं० १८७५ का लिखा हुआ श्रीमद्भगवद्गीता का हिंदी-अनुवाद मिला है। जिस श्रीमद्भागवत के अनुवाद का परिचय हमने ऊपर दिया है, वह भी संवत् १८४३ रा. का है। 'रा' का यहाँ क्या अर्थ है, यह हम नहीं समझ सके। संभव है, दोनों पुस्तकें समकालीन हों। यदि मिश्रबंधु महाशय हरिवल्लभजी के गीता के अनुवाद में, यदि दिया गया हो, नक़ल करनेवाले आदि का नाम देखने का कष्ट उठावें, तो इस विषय में कुछ विदित हो सकता है। यह भी संभव है कि जिस कवि ने गीता का अनुवाद किया हो, वह श्रीभागवत का भी अनुवाद करे। 'विनोद' में गीता-अनुवाद के उदाहरण के जो दोहे दिए गए हैं, उनमें से कुछ हम यहाँ इस हेतु लिख रहे हैं कि पाठक भागवत और गीता के अनुवादों की भाषा का भी मिलान कर लें। संभव है, इससे भी उक्त कथन के संबंध में कुछ निष्कर्ष निकले—

लरत मरे लहि है स्वरग, जीते पुहुमी-भोग;
उठि अर्जुन तू युद्ध करि, यहै जु तोको योग।
बुद्धि जु निश्चयवत कौ, एकै है तू जानि;
जिनके निश्चय नाहिंनै, तिनहि बुद्धि बहु मानि।

× × ×

गीता हरिबल्लभ कियो, भाषा कृष्ण-प्रसाद;
भयो प्रथम अध्याय यह, अर्जुन कियो बिषाद।

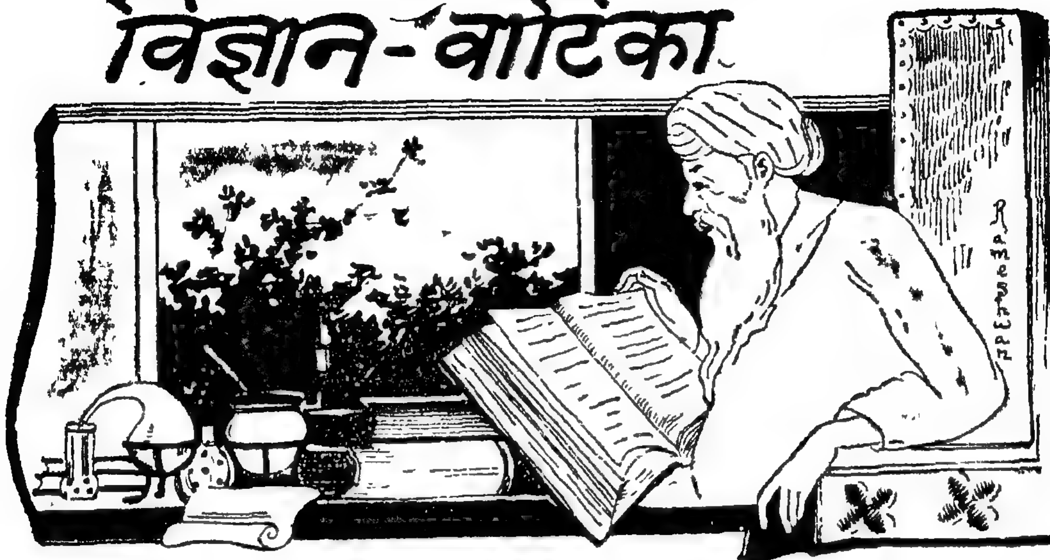
ऊपर भागवत-अनुवाद के उदाहरणों में एक जगह 'पुहुमी'-शब्द आया है। 'जु' अक्षर का प्रयोग दोनों उदाहरणों में बहुतायत से मिलता है। इन बातों पर ध्यान देना चाहिए। भागवत के अनुवाद के उदाहरण में उपनाम 'वल्लभ' का प्रयोग है। गीता-अनुवाद में पूरा नाम 'हरिवल्लभ' है; पर यह कोई बात नहीं। संभव है, भागवत के अनुवाद में भी हरिवल्लभ, इस पूरे नाम का प्रयोग हुआ हो। पर हम ऐसे पद्य नहीं देख सके। इस प्रकार हम इस विषय का विवेचन विद्वान् लोगों पर छोड़ते हैं

श्रीगोपाल नेवटिया



प्यारा पुत्र
[चित्रकार- श्रीयुत काशिनाथ-गणेश खातू]

N K Press, Lucknow



१. सर जे० सी० बसु का आविष्कार



सर जगदीशचंद्र बसु का परिचय देना मानो सूर्य को दीपक दिखलाना है। इस जगत-प्रसिद्ध वैज्ञानिक के हाल के आविष्कार ने समस्त संसार को आश्चर्य सागर में डाल दिया है। उसकी विस्तृत आलोचना कोई विज्ञ वैज्ञानिक अवश्य ही हिंदी-संसार के सम्मुख रक्खेगा; किंतु हम इस छोटी-सी टिप्पणी में उस आविष्कार को इस ढंग से लिखने का प्रयत्न करेंगे, जिससे वह उन व्यक्तियों की समझ में भी आ जाय, जो विज्ञान जानते तक नहीं। आशा है, इनके आविष्कार से लोगों का मनोरंजन और साथ ही ज्ञान-वृद्धि भी होगी।

बहुतेरे लोगों का विश्वास है कि पेड़, पौदे आदि निर्जीव अज्ञान एवं चेतना-रहित है। वे किसी प्रकार की उत्तेजना का अनुभव नहीं करते, और न उन्हें अनुभूति-शक्ति ही प्राप्त है। किंतु सर बसु का कहना है कि पेड़, पौदों के केवल अनुभूति-शक्ति ही नहीं होती, प्रत्युत वे पशुओं की तरह सर्दी, गरमी, दुःख, हर्ष आदि का ज्ञान भी रखते हैं। उनमें प्यार तथा घृणा का भाव भी विद्यमान है। जो मनुष्य उनके साथ अच्छा बर्ताव करते हैं, उन्हें वे चाहते हैं; और जो कुव्यवहार करते हैं, उन्हें वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। उद्भिद् बुद्धिमानी का भी परिचय देते हैं, उनमें त्याग-भाव का होना भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त वे फ़ैशन-पसंद भी होते हैं। तभी तो अपने को सुंदर तथा नेत्ररंजक बनाने के लिये कई रंगों से सुसज्जित होते हैं, और अपना सौरभ फैलाते हैं। इससे पता लगता है कि वे मनुष्य से किसी प्रकार कम नहीं हैं।

जगदीशचंद्र की परीक्षाओं से यह भी पता लगा है कि पेड़ पौदों पर उनके आसपास की वस्तुओं का भी प्रभाव पड़ता है। प्रकाश में थोड़ा-सा अंतर होना, गरमी का अधिक होना, बादल का केवल एक क्षण के लिये सूर्य को ढक लेना आदि छोटी छोटी घटनाओं से भी वे प्रभावान्वित होते हैं। ऐसी ही अन्य परीक्षाओं द्वारा उन्होंने पशु तथा उद्भिद् संसार को अलग करनेवाले पर्दे को दूर कर, दोनों में एकता स्थापित कर दी है। गुलाब का फूल तुरंत बदबू अनुभव कर लेता है, और अपनी पखड़ियों को सिकोड़ लेता है। ज़रा मैले हाथों से कमल को छू दीजिए, वह मुर्झा जायगा।

इन बातों का पता लगाने के लिये डॉ० बसु ने जिस यंत्र का आविष्कार किया है, वह भारतवर्ष की कारीगरी का एक नमूना है। इस यंत्र का संबंध एक इलेक्ट्रिक बैटरी से है। उसमें दो तार लगे हुए हैं, जिनका संबंध परीक्षित विषय के साथ कर दिया जाता है। इस यंत्र में एक ऐनक

स्वतंत्र रूप से लटकता रहता है। इससे प्रकाश-किरण परिवर्तित होकर एक 'चार्ट' पर पड़ती है। इसका थोड़ा-सा आंदोलन भी दस लाख से एक करोड़गुना बढ़कर 'चार्ट' पर दिखलाई देता है।

आप एक गाजर या आलू की परीक्षा करना चाहते हैं, तो उसमें इस यंत्र के तार लगा दीजिए। इसके बाद उसे चिमटी काटिए। सजीव गाजर या आलू के कोषों में अनुभव करने की शक्ति होती ही है। अस्तु, चिमटी काटने से यंत्र में एक विद्युत्-धारा प्रवाहित होगी और दर्पण किसी एक दिशा में झुक जायगा। उसका यह झुकाव चिमटी काटने के दबाव पर अवलंबित है। यदि उस यंत्र का किसी मनुष्य के शरीर से संबंध कर दिया जाय, तो उसके शरीर में चिमटी काटने से भी दर्पण उसी प्रकार झुक जायगा। किंतु मनुष्य-शरीर में चिमटी काटने से पीड़ा ज्ञात पड़ती है। इससे अनुमान किया जाता है कि गाजर या आलू भी पीड़ा का अनुभव करते हैं।

पौदे केवल पीड़ा ही का अनुभव नहीं करते, वरन् एक दूसरे यंत्र द्वारा इसका भी पता लगता है कि वे सर्दी, गरमी भी मानते हैं। विष और उत्तेजक-पदार्थों का भी उन पर प्रभाव पड़ता है। प्राचीन काल के विद्वानों की भी धारणा थी कि पौदे सजीव होते हैं, तभी तो वे उनकी पूजा करते थे। डॉ॰ बसु ने अपनी परीक्षाओं द्वारा इस धारणा को प्रत्यक्ष ही कर दिखलाया है।

कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि बुद्धि पशु और पौदों में एक-सी होती है। बुद्धि के कीड़े जैसे पशु-शरीर में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उद्भिद् के कोषों में भी। किंतु यह बात कहाँ तक सत्य है, नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वैज्ञानिक ढंग से इसका सत्यासत्य-निर्णय अभी तक नहीं हुआ है।

पौदों का बढ़ना कुछ कम कौतूहलवर्द्धक नहीं। बीज बोने पर उससे अंकुर निकलता है। जड़ ज़मीन की ओर और धड़, पृथ्वी के आकर्षण के विपरीत दिशा में, आकाश की ओर, जाता है। पौदों के प्रायः वे सब अनुभव करने की इंद्रियाँ (organs) हैं, जो मनुष्य और पशुओं के होती हैं। प्रो॰ हैरोल्ड वेजर ने पता लगाया है कि उन्हें दर्शन-शक्ति भी प्राप्त है। इसके द्वारा वे प्रकाश, छाया, बादल आदि का पता लगाते हैं। प्रो॰ हैवर्ट लैंड बहुत वर्षों से उद्भिद्-जीवन की खोज में लगे हुए हैं। उनका कहना है कि पेड़ की पत्तियों में कुछ ऐसे कोष रहते हैं, जो दृष्टि का काम करते हैं। वे सूर्य का प्रकाश ग्रहण करने के लिये अपने को इस अवस्था में रखते हैं, जिसमें उन्हें सूर्य की किरणें अधिक-से-अधिक मिल सकें। गरमी या सूर्य का प्रकाश पौदों का प्राण है। इसीलिये संसार के उष्ण-कटिबंध में, जहाँ ज़्यादा गरमी पड़ती है, सब प्रकार के उद्भिद् पाए जाते हैं। कुछ पौदे ऐसे भी हैं, जो सूर्य का प्रकाश काफ़ी मात्रा में न मिलने के कारण स्वयं गरमी उत्पन्न करते और उसी से बढ़ते हैं। अरम (Arum) एक ऐसा ही पौदा है। यह भूमध्य-सागर के निकट पैदा होता है। वहाँ सूर्य का प्रकाश यथेष्ट नहीं पड़ता, इसलिये स्वयं गरमी उत्पन्न कर वह १०० डिग्री (फ़ारेन हीट) तक अपने को गरम रख सकता है। यदि इस प्रकार के ५० पौदे किसी कोठरी में उग सकें, तो जाड़े की रातों में, उस कोठरी में, मनुष्य खुले बदन सो सकता है।

किंतु कोई-कोई पौदे अधिक गरमी-पसंद नहीं। वे सुबह और शाम के वक़्त अपनी पत्तियों को आकाश की ओर उठाकर, सूर्य की किरणें तो ग्रहण करते हैं; किंतु दोपहर के समय उनकी पत्तियाँ झुक जाती तथा कलियाँ बंद हो जाती हैं। प्रायः सारा दिन वे मुर्झाई हुई और मरी हुई ज्ञात पड़ती हैं; किंतु सुबह-शाम और रात में वे फूलती तथा आनंद मनाती हैं। इस तरह के कई प्रकार के पौदे हमारे देखने में भी आते हैं।

पतझड़ में पैदा होनेवाले पौदे अपनी जीवन-रक्षा के सारे पदार्थ अपनी जड़ द्वारा प्राप्त करते हैं। पेड़ और झाड़ियाँ माड (Starch) और क्लोरोफ़िल (हरा रंग) अपनी जड़ से ग्रहण करती हैं, और कुछ पदार्थ हवा से लेती हैं। किसी पौदे के साथ अच्छा बर्ताव कीजिए, वह प्रसन्न होगा; कुव्यवहार करने से वह दुःखी होता है। डॉ॰ बसु ने एक पौदे की एक टहनी काट डाली। उस टहनी के कोष निर्जीव हो गए, और कुछ मर गए। पत्तियों पर जो छोटे-छोटे बाल होते हैं, वे बड़े सुकुमार होते हैं। छूते ही वे सिकुड़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे पत्तियों के मुँह की भी रक्षा करते हैं, जिससे वे साँस लेते हैं।

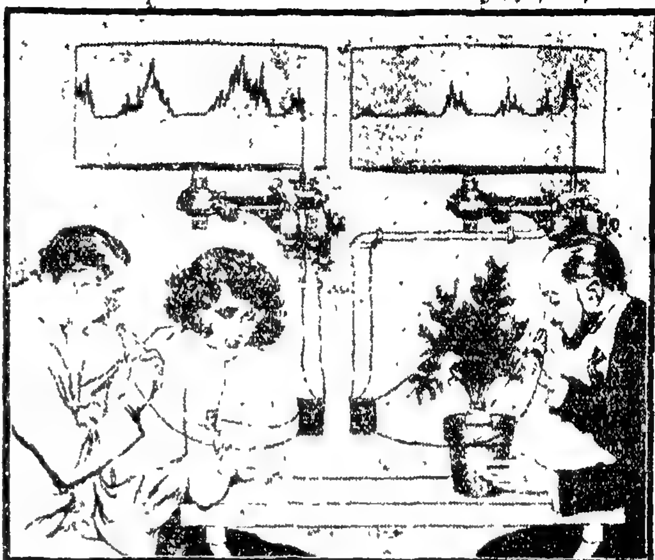
जल-पौदों के मुँह जल के ऊपर रहते हैं। फूल की पंखड़ियों में भी ऐसे मुँह होते हैं। इसका प्रमाण सफ़ेद कमल है। मैले हाथ से छूते ही वह मुर्झा जाता है। इसका कारण उसकी पंखड़ियों के मुँह का बंद हो जाना ही है। पंखड़ियों के मुँह का खुला रहना कमल के साँस लेने के लिये परमावश्यक है, अन्यथा वे मुर्झा जाते हैं।

किसी सुकुमार (Sensitive) पौदे को हाथ से छूने से उसकी पत्तियाँ गिर जाती हैं। आग के पास ले जाने से यह क्रिया दुगनी हो जाती है, अर्थात् पत्तियाँ तो गिर ही जाती है, साथ ही शाखाएँ भी झुक जाती हैं।

पौदे शक्कर बहुत पसंद करते हैं; क्योंकि शक्कर उनकी बाढ़ में बड़ी सहायता करती है। गाजर, बीट (Beet), शकरकंद आदि अपनी जड़ में शक्कर जमा कर रखते हैं। 'बैक्टिरिया' कई प्रकार के नमक को बहुत पसंद करते हैं। यदि पोटैशियम-मिश्रित विष भी हो, तो वे बैक्टिरिया उन पर आक्रमण करने से बाज़ नहीं आते।

डॉ० बसु का एक नाज़ुक यंत्र पत्तियों की धड़कन का भी पता बतला देता है। वह एक पौदे की जड़ में शराब डालते हैं। यह यंत्र तुरंत बतला देता है कि शराब की वजह से पौदा उत्तेजित हो उठता है—उसकी पत्तियों में अधिक धड़कन होने लगती है। वह उसे कार्बन-डायक्साइड देते हैं, और यंत्र से पता लगता है कि पौदा रोग-ग्रस्त हो गया है। रोग की अवस्था में पौदा खिन्नचित्त जान पड़ता है; क्योंकि उसमें बहुत धीरे-धीरे धड़कन होती है। पौदों की श्वास-प्रश्वास-क्रिया द्वारा यह भी जाना गया है कि अधिकांश पौदे रात में सोते रहते हैं, और ६ बजे से ६ बजे तक (सुबह) आलस्य में पड़े रहते हैं। किसी भी पौदे को कार्बन-डायक्साइड हतोत्साहित, और ग्लेसेरिन उत्तेजित कर सकती है। 'ईथर' उसे बेहोश कर देता है, और विष मार डालता है; पौदे भी मनुष्यों की तरह थकावट का अनुभव करते हैं, प्रसन्न होते हैं, हतोत्साहित और उत्तेजित होते हैं। जीवन के आरंभ-काल में, सूर्य की किरणें न मिलने से, बालकों की तरह वे भी 'रिकेटी' (Rickety) होते हैं, और थोड़े ही समय में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं।

इन सबका कारण, डॉक्टर बसु बतलाते हैं, पौदों में स्नायु-शक्ति का होना है। किंतु अन्य वैज्ञानिकों को अभी तक इस स्नायु-शक्ति का पता नहीं लगा है। कौन जानता है, एक दिन कलकत्ते के एक कोने से—बसु-प्रयोगशाला से—यह आवाज़ न निकलेगी कि सर जगदीश ने पौदों की स्नायु-शक्ति को प्रत्यक्ष कर दिखलाया है। ईश्वर सर जगदीश को चिरायु करे।



इस चित्र में दिखलाया गया है कि मनुष्य और पौदों के शरीर में कोई वस्तु चुभोने से एक ही प्रकार की अनुभूति होती है। ऊपर 'चार्ट' पर देखिए

× × ×

२. लंका के अद्भुत हिरन

शायद लंका में जो कोई होते हैं, विचित्र ही होते हैं।



"माउस-डियर" या गटन

लंका में रावण की पुरी सोने की बनी हुई थी; वहाँ के रहनेवाले राक्षस साधारण मनुष्य न होकर अद्भुत सूरत-शक्लवाले होते थे। अब पता लगा है कि वहाँ विचित्र प्रकार के हिरन भी होते हैं। ये संसार के अन्य स्वजातीय पशुओं से संदरता में बढ़े हुए है। इनके पैर चूहे के पैरों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। चेहरा भी चूहे के चेहरे की तरह होता है। इसलिये इन्हें "माउस-डियर" कहते हैं। सिंहली-भाषा में इन्हें "गटन" कहते है।

× × ×

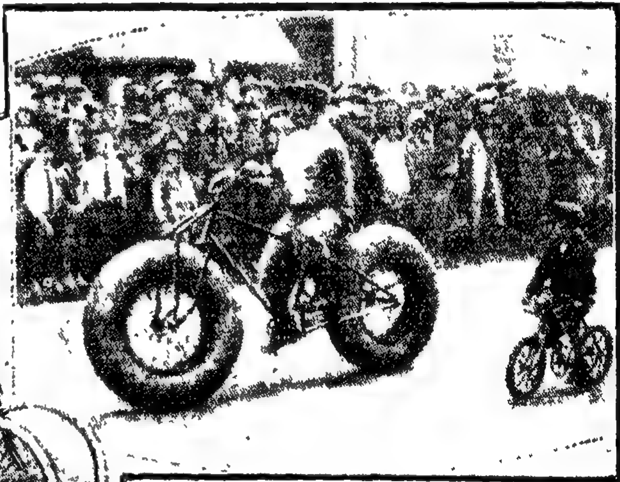
३. नए प्रकार की साइकिलें

अमेरिका के न्यूयार्क-शहर के एक इंजीनियर जॉर्ज स्निडर ने एक चार पहिए की साइकिल, अपने अवकाश के समय में, बनाई है। उसकी चाल प्रतिघंटे तीस मील है। वह चालक के बोझ से ही चलता है। उसमें न मोटर लगा है, और न पैर ही चलाने पड़ते है।

दूसरी साइकिल में 'बैलून' के टायर लगे हुए हैं। शिकागो-शहर के एक 'परेड' में यह साइकिल लाई गई थी। बैलून के टायर बड़े आरामदेह साबित हुए हैं। दोनों प्रकार की साइकिलों के चित्र दिए जाते हैं।



चार पहिए की नई साइकिल घंटे में तीस मील चलती है



बैलून के टायरोवाली साइकिल

× × ×

४. फ़ैशन की हद

फ़ैशन में नित्य वृद्धि ही होती आती है। उसका अंत भी होगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। अभी हाल में, एक विदेशी नाचनेवाली अपने जूते के 'बकलस' में एक घड़ी लगाकर नाचने गई थी। दर्शक उसे देखकर हैरत में पड़ गए। अब तक घड़ियाँ हाथ ही में बाँधी जाती थीं; पर अब पैर में भी नहीं, जूते में लगाई जाने लगीं! देखें, घड़ी लगाने के फ़ैशन का अंत कहाँ जाकर होता है।



जूते के बकलस में घड़ी

× × ×

५. बर्फ़ पर चलनेवाली गाड़ी

बर्फ़ इतनी चिकनी होती है कि उस पर 'स्लेज'-नामक गाड़ी को छोड़कर अन्य कोई गाड़ी नहीं चल सकती। अब फ़िनलैंड में बर्फ़ पर चलनेवाली एक नई गाड़ी बना-

है। उसमें पहिए तो नहीं होते ; किंतु वायु-यान चलानेवाली एक मशीन से वह चलती है। चलती क्या है, बर्फ़ पर फिसलती जाती है। इससे यात्रियों को बड़ा आराम मिलता है। इसके प्रचार की बड़ी संभावना है।



बर्फ़ पर चलनेवाली गाड़ी

× × ×

६. रेडियो-मिश्रित जल

प्रति वर्ष हज़ारों मनुष्य खोया हुआ स्वास्थ्य पाने के लिये, भिन्न भिन्न स्थानों में झरनों के पानी का उपयोग करने के लिये आते हैं। कहा जाता है, झरनों के जल में धातुओं के नमक मिले रहते हैं, और उसमें रोग दूर करने की शक्ति होती है। पर अब भविष्य में दूर-दूर देशों में जाने की आवश्यकता न पड़ेगी; क्योंकि आपके शहर ही में ऐसा जल मिल सकेगा, जिसमें रोगनिवारिणी शक्ति होगी। एक प्रकार का जल पात्र बना है, जिसमें सूराख़दार रेडियम का खनिज (Ore) रहता है। इस पात्र का जल नीचे की ओर से निकाला जाता है। ऊपर से नीचे आने में जल सूराख़दार खनिज से होकर गुज़रता है। इस तरह वह खनिज के रेडियम का कुछ हिस्सा अपने साथ भी ले लेता है, जो मनुष्य-शरीर के लिये बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ है।

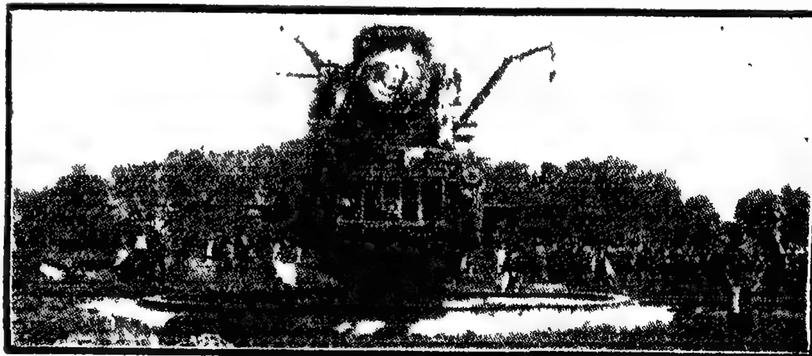


स्वास्थ्य के लिये रेडियो-मिश्रित जल पी रहा है

× × ×

७. विशालकाय तोप

शांति के उपासकों की चिल्लाहट भावी युद्ध के लिये उतावली जातियों के कानों में नहीं पड़ती। मशीन बनाने वाले कारख़ानों की गरगराहट में शांति की पुकार, नक़्क़ारख़ाने में तूती की आवाज़-सी जान पड़ती है। कुछ महीने हुए, एबरडीन में एक विशालकाय तोप की परीक्षा सर्वसाधारण के सामने हुई थी। यह तोप समुद्र-तट की रक्षा के लिये बनी है। मनुष्य की अपेक्षा वह कितनी बड़ी है,



नई विशालकाय तोप

इसका अंदाज़ चित्र के देखने ही से लग जायगा। यह जब अपने मुँह से आग उगलने लगेगी, तो अमेरिका के समुद्र-तट के पास कई मीलों तक कोई विपक्षी जहाज़ फटकने का साहस नहीं करेगा। पाँच ही सात वर्षों में, अर्थात् युद्ध के बाद से युद्ध के लिये जितनी तैयारियाँ हुई हैं, उतनी शायद पहले कभी नहीं हुईं। इन तैयारियों को देखकर कहना पड़ता है कि भविष्य में यदि कोई युद्ध हुआ—और युद्ध होना अनिवार्य है, तो वह युद्ध मनुष्य-समाज के लिये बड़ा ही भयानक होगा।

× × ×

८. बर्फ़ के पक्षी

संसार के कौतूहलोत्पादक पदार्थों की सूची का अंत नहीं हो सकता। लंदन के विक्टोरिया होटेल के निनो आंगोनी बर्फ़ के टुकड़ों से भिन्न भिन्न प्रकार के पक्षी बनाते हैं। ये पक्षी बड़ी-बड़ी दावतों में, मेहमानों के टेबलों पर रक्खे जाते हैं। इनके बनाने में समय तो लगता ही है, किंतु इनका दाम भी साधारण बर्फ़ के टुकड़ों से बहुत अधिक होता है। चित्र में शिल्पकार तथा उनका बनाया हुआ एक बतख़ दिखलाया गया है। इसके बनाने में उन्हें एक घंटा समय लगाना पड़ा। बतख़ का कैसा अच्छा नमूना है!



बर्फ़ का बतख़

× × ×

९. पालतू मगर

मगरों के विषय में हमारी यह धारणा थी कि वे पाले नहीं जाते, किंतु जर्मनी के नाविक-विभाग के कैप्टेन एच० वॉल ने कुछ मगर पाल रक्खे हैं। संसार में यही एक व्यक्ति है, जो मगरों को पालतू बनाने में सफल हुआ है। अब उसने कैप्टेन का पद छोड़कर, सर्कस में अपने मगरों का खेल दिखलाना भी आरंभ कर दिया है।



मगर और उनके पालनेवाले कैप्टेन एच० वॉल

रमेशप्रसाद



१. गृहदेवियों से प्रार्थना



द्यपि पुरुष-समाज स्त्री-समाज के सुधारों के विरुद्ध ही है, और प्रायः रहेगा भी ; फिर भी यदि स्त्री-समाज चाहे, तो वह विरोधियों को परास्त कर सकता है । पर स्त्री-समाज है ही कहाँ ? समाज कहते हैं कुछ मनुष्यों की एकता को । पर यहाँ तो स्त्रियाँ एक दूसरे से फूटी हुई हैं । कोई एक की सौभाग्य-समृद्धि और अपने दुर्भाग्य पर ही रात-दिन कोसती रहती हैं, कोई वंध्या दूसरी पुत्रवती को देखकर जलती है, कोई किसी के धन पर उससे चिढ़ती है, और कोई स्वयं धन के गर्व में सबको तुच्छ समझती है । अस्तु, यही कहना ठीक होगा कि पुरुष-समाज में जितना संगठन है, उसका आठवाँ या उससे भी कम हम लोगों में नहीं । कारण है केवल अशिक्षा । दो पुरुषों में, जिनमें एक घर का धनी हो, और एक ग़रीब, केवल बड़ा आदमी होने या किसी समान पद पर नियुक्त होने के कारण साम्य हो सकता है । पर यदि उन्हीं दो की पत्नियों में देखा जाय, तो उस साम्य का १६वाँ भाग भी नहीं है । पुरुषों में तो परस्पर मित्रता या साम्य है ; पर गृहदेवियों में परस्पर फूट है । एक ईर्ष्या से जलती है, दूसरी गर्व से । पुरुष तो समान स्थिति में होने से, एक काम में किसी-न-किसी कारण से सम्मिलित होंगे ही ; पर स्त्रियाँ धनी ही सम्मिलित होंगी, या पढ़ी-लिखी होने के कारण साधारण ही । दोनों का संयोग बहुत ही कम देखा जाता है । धनी स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी होने पर भी सर्वसाधारण के कामों में बहुत कम भाग लेती हैं । यदि ऐसी स्त्रियाँ, जो 'माधुरी' पढ़कर उसका सारांश समझने की भी योग्यता रखती हों, और धन भी जिनके पास हो (यद्यपि ऐसी स्त्रियाँ बहुत ही कम हैं), सार्वजनिक कामों में सम्मिलित हों, तो बहुत कुछ हो सकता है । पर गर्व के आगे कर्तव्य को पूछता कौन है ? यही बात बी० ए०, एम्० ए० पास स्त्रियों पर भी लागू है । उनको भी केवल मेमों का अवतार बन जाने और कहीं नौकरी करने के सिवा कोई कर्तव्य ही नहीं सूझता । संभव है, वे पुरुषों की तरह स्त्री-समाज के विरुद्ध न रहें, पर उनसे भी सहायता की कोई आशा नहीं, क्योंकि वे तो पर्दा आदि से बिलकुल अलग हैं । "जाके पाँव न फटी बिवाई ; सो का जानै पीर पराई ?" यह कहावत यहाँ अक्षरशः सत्य है । उनको किसी के दुःख-सुख से क्या मतलब ? वे स्वयं तो सुखी हैं, उन्हें दुःखी जनों से क्या प्रयोजन ?

यह तो हुई कई कुटुंबों और बी० ए०, एम्० ए० पास स्त्रियों की बात । पर अभी एक ही कुटुंब और अशिक्षिता स्त्रियों में कितनी फूट, परस्पर ईर्ष्या आदि दोष हैं, यह

तो देखा ही नहीं गया। पहले सास-बहू के ही व्यवहार को लीजिए। यदि बहू ग़रीब घर की हो, तो बेचारी पर आफ़त ही है, चाहे वह कितने ही परिश्रम से, भक्ति से, प्रेम से पति और सास आदि की सेवा करे— घर की दासी की भाँति ही सब काम करे फिर भी संभव है, पति महाशय सौंदर्य या किसी और गुण का आदर भी करें ; पर उस हालत में घर के और लोग तो सीधे मुँह बात भी नहीं करते। यदि वह बेचारी ऐसे कामों में सहायता भी देना चाहे, तो भी क्या यह हो सकता है ? धनी या पढ़ी-लिखी वधुओं की भी यही दशा है। चाहे वे कितनी ही नम्र रहें ; पर उनकी हरएक बात में उनका पितृधन पर या विद्या पर अभिमान ही देख पड़ेगा। वे ही भाई-भाई में, बाप-बेटे में या और किसी में झगड़े की जड़ समझी जायँगी, चाहे सास या जिठानी ही ख़ुद उसकी जड़ क्यों न हों। यदि वे लोग "जनमते लाड़िकवा और आवते बहुरिया, जे जथ लगाई से लागी" इस पुरानी कहावत के अनुसार नव वधू के साथ व्यवहार करें, तो वही घर, जो कुछ दिनों में दो-तीन घरों में विभक्त हो जानेवाला है, सदा एक होकर रह सकता है। पर यहाँ तो जहाँ सास और जिठानी ने धनी घर की लड़की या पढ़ी-लिखी नव वधू को देखा कि बस, उनके हृदय में यह शंका-रूपी पौदा कि 'अब यह घर में फूट डालेगी,' उठ खड़ा हुआ, और अंत में यह सफल वृक्ष होते देखा गया है। ठीक ही है—"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।" बहू के साथ पहले ही से दुर्व्यवहार होने लगते हैं, और अंत में घर भी एक से कई हो जाते हैं। फिर आप ही कहिए, स्त्री-समाज है ही कहाँ ? सब तो अपने-आप में मस्त हैं, परस्पर कोई नाता ही नहीं। फिर किस तरह इन लोगों से किसी बात की आशा की जा सकती है ? पुरुष तो दुनिया की हरएक बात को देखते रहने से परस्पर कुछ संबद्ध रहते भी हैं ; पर स्त्रियाँ तो घर ही देखती रहती हैं, और इसीलिये अलग होने पर दोनों का नाता ही टूट जाता है। इसी कारण जहाँ एक घर से जितनी सहायता मिल सकती थी, अब उसी के चार टुकड़े हो जाने से एक-चतुर्थांश की भी आशा नहीं रही।

अब रही पत्रों के हमारी आवश्यकता के संबंध के नोटों के न छापने की बात। यदि बी० ए०, एम्० ए० पास बहनें अपने अमूल्य समय का कुछ ही भाग ख़र्च कर दें, और धनी बहनें अपने ख़र्च को थोड़ा ही घटा दें, तो हम लोग यह स्वयं ही कर सकती हैं। हमीं लोग एक पत्र निकालें, जो दुनिया की साधारण ख़बरों और स्त्री-विषयक बातों के सिवा किसी विषय से संबंध न रक्खे ; साथ ही मनोरंजक भी हो। और, उस पत्र को निकालनेवाली स्त्रियाँ ही, उस पत्र द्वारा धनोपार्जन की इच्छा न रखकर, चाहे जितने व्यय से जिस तरह हो सके, समस्त भारत में, प्रत्येक घर की औरतों में, उसका प्रचार करें ; गाँवों में, जहाँ स्त्रियाँ प्रायः मूर्ख होती हैं, वहीं की भाषा में, वहाँ की स्त्रियों को एकत्र करके उसका सार समझावें। कुछ महिलाएँ तो अवश्य ही ग्राहिका होंगी ; अपने पैसे ख़र्च करके, नहीं तो चंदे से भी तो ख़रीदेंगी, और सबको उसका सारांश बतलावेंगी। यदि एक भी इसके योग्य न हो, तो वेतन देकर किसी ऐसी बहन को ही रक्खा जाय, जो गाँव की छोटी बच्चियों या जिसकी इच्छा हो, उसे साधारण शिक्षा, जो प्रत्येक गृहिणी के लिये आवश्यक है, दे सके। वही यह काम भी करे। इससे ज्ञान की भी वृद्धि होगी, और हम लोग जो सहायता चाहती हैं, वह भी मिलेगी। सबसे अधिक आवश्यकता तो शिक्षा की ही है, जो इस तरह कुछ हो जायगी।

यदि उन्हें स्त्री-जाति की करुण दशा का ज्ञान कराया जाय, तो पत्थर के समान कठोर हृदयवाली स्त्रियाँ भी अपनी बहनों की दुर्दशा सुनकर द्रवीभूत होंगी, और सहायता करने को तत्पर होंगी। कितनी ही धनी विधवाएँ ऐसी हैं, जो पंडों-पुजारियों को सैकड़ों देती ही रहती हैं। यदि उन्हीं को यह करुण कथा बतलाई जाय, तो वे बहुत कुछ कर सकती हैं। कितनी तो ऐसी भी हैं, जो तन, मन, धन, तीनों से इसमें योग दे सकती हैं। पर इसके लिये पहले उन्हें अभी यह समझाना होगा कि यह भी एक पुण्य है, और उन्हें इसका बदला दूसरे जन्म में मिलेगा ; क्योंकि जितने दान-पुण्य किए जाते हैं, इसी भ्रांत विश्वास पर, जो स्त्री-जाति में पुरुष-जाति की अपेक्षा कहीं अधिक है। यह विश्वास हटाकर सच्चा अहेतुक धर्म कराने के लिये कुछ वाक्पटु स्त्रियों की ज़रूरत है, जो प्रत्येक जगह, जहाँ धन-प्राप्ति की आशा हो, जा-जाकर उन्हें सदुपदेश दें।

इसलिये पहला साधन, जो धन-संग्रह के लिये चाहिए, कुछ ऐसी स्त्रियाँ ही हैं, जो सर्वथा स्वतंत्र हों, अनाथ हों, घर-बार त्याग सकती हों ; क्योंकि बिना कुछ ऐसी स्त्रियों की सहायता के धन-प्राप्ति असंभव है। साथ ही, रानी-महारानियों के पास जाने के लिये उच्च शिक्षिता, साहस-शाली महामना नारियों की भी ज़रूरत है। जब तक ऐसी कुछ देवियाँ उठ न खड़ी होंगी, यह महत्कार्य असंभव है। इसमें बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। मैं स्वयं ऐसे कामों में यथाशक्ति सहायता देने की इच्छा रखती हूँ; पर मैं एक साधारण स्थिति के गृहस्थ की लड़की हूँ, और वैसे ही घर की नव वधू। इसलिये मैं सहायिका होने में कितनी विवश हूँ, यह आप स्वयं ही ख़ूब समझ सकती हैं। पर मैं स्वयं सहायता दे सकूँगी इस कार्य के आरंभ हो जाने पर—उसके विषय में हर एक बात के निश्चय हो जाने पर। पहले कुछ बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों के इस काम के शुरू कर देने पर ही मुझ-जैसी अल्पबुद्धि तथा अल्पवयस्का स्त्रियों का हाथ डालना ठीक होगा। अस्तु, केवल पुरुष-जाति के दोष देखने और कहने से कार्य-सिद्धि नहीं होने की। स्त्रियों को स्वयं कार्य-क्षेत्र में, समाज-सेवा के लिये, उतर आना चाहिए।

इंदुमती शर्मा

× × ×

२. नंद का पत्र

धन्य हो ! छोटी बहू धन्य हो ! ! इसी दिन के लिये पुत्र की कामना करते हैं कि बहू आकर कुत्ते के ठीकरे में पानी पिलावे। भगवान् बनाए रक्खे, एक छोड़ दो-दो बेटों की मा हो। एक दिन तुम्हें भी सास बनना है। भगवान् से डरो; उनका दंड शब्द-हीन है। जैसी तुमने सास की मिट्टी पलीद की, भगवान् वैरी की भी न करे। छोटी बहू, पर-पीड़ित दुखियों की न्याय-प्रार्थना यों ही व्यर्थ नहीं जाती, और फिर मा की ! मेरी आज की बात याद रखना, अम्मा का शाप ऊपर-ही-ऊपर नहीं जायगा—लोक-परलोक, दोनों का नाश हो जायगा। वह निरी सास ही न थीं—थीं तुम्हारे सिर का आँचल, घर की मर्यादा। अम्मा का जीवन ऐसी अनुपम वस्तु थी कि यदि लाख रुपए भी ख़र्च कर डालो, तो भी नहीं मिल सकता। दोनो—पति-पत्नी—सिर पर हाथ रखकर रोओगे, और पछताओगे। सोते-जागते, उठते-बैठते, हर समय और हर घड़ी, वह तुम्हारा और तुम्हारे बालकों का भला चाहती थीं। बीबी, यह केवल मा की ममता का उफान था कि सोमवार की रात को जो थोड़ी मूर्च्छा जगी, तो तुम्हारे लिये ही बिलबिलाकर प्रार्थना की—"भगवान् ! सुबोध और उसके बालकों पर अपनी कृपा-दृष्टि रक्खें।" तुम सदा उन पर निंदा और व्यंग्य के बाण बरसाती रही हो ; किंतु भगवान् साक्षी है, जब कहा, यही कहा—"हे जगदीश्वर ! हरीश की बहू आकर इसी प्रकार ज़बान चलावे, और मेरा बदला चुकावे।"

छोटी बहू, सच पूछो, तो आशीर्वादों का तो द्वार ही बंद हो गया। कुछ भी कर डालो, अब उस हृदय से आशीर्वाद देनेवाला कोई नहीं। तुम मुँह फुलाए रहो, वह हँसती रहें ; तुम कोसो, वह आशीर्वाद दें। केवल इतनी-सी बात पर कि सतीश बासी चावल खा रहा था, उन्होंने कहा—"बेटी, दिन बुरे हैं।" तुम दोनों—स्त्री-पुरुष—उनकी जान पर आ गए ! छोटी बहू, जिस समय तुमने कहा था—"मरती भी तो नहीं," उस समय वह उठकर मेरे पास आ बैठी थीं, और आठ-आठ आँसू रो रही थीं, कह रही थीं—"मैं इसी दिन के लिये इसे लाई थी कि यह मेरा मरना चाहे। मा वह, बालक उसका। दादी के मुँह में ख़ाक। मैं तो वैसे ही श्मशान के ऊपर खड़ी हूँ। प्रत्येक संध्या के उपरांत प्रार्थना करती हूँ कि माता-पिता के जीवन-सहित दोनों भाइयों की जोड़ी बनी रहे। वह मुझे वैरी समझती है। ख़ैर, मैं वैरी ही सही।"

और धन्य है भाई साहब को ! पढ़े लिखे, प्रतिष्ठित पद पर होकर भी मा का कैसा सम्मान करते हैं ! ममता तो सभी को होती है ; किंतु वह तो सचमुच भाई सुबोध के वदन-प्रदीप की पतंग थीं। हर समय कहती थीं—मेरा बालक भगवान् की रक्षा में है। बीबी, मैंने अपनी आँखों देखा, घंटों तुम्हारे सोच में पड़ी रहती थीं। तुम दोनों को तो पत्र लिखने की क़सम थी; दूसरों से ही कुशल-क्षेम पूछती रहती थीं। तनिक भी देर हो जाती, तो पागलों की तरह फिरती थीं। ऐसी माता क्या इसी बात की अधिकारिणी थी कि बेटा भर-मुँह कह दे—"अब तो भगवान् ने चाहा, तो तुम्हारे मरने पर ही आवेंगे।"

इसी दिन के लिये बालकों को पालते हैं, इसी दिन के लिये मानता मानते हैं। अब भी दो-चार पड़ोसिनें उस समय की आँखों देखी बातें कह सकती हैं कि

मरनेवाली ने कैसे परिश्रम और कष्ट केलकर सुबोध बाबू को 'बाबू साहब' बनाया ! परसों ही शांता मौसी कह रही थीं—"इस झगड़े में कि स्वामी ने कभी बात न की, बेटे को इस भाँति पाला-पोसा कि मोहल्ला-भर वाह-वाह करता था। सभी जानते हैं, सुबोध को किसी ने कभी बुरी हालत में नहीं देखा। अपनी साड़ी फटी, कुर्ती मैली रहे; किंतु सुबोध जब बाहर निकला, तो उजले कपड़े पहने, और शान के साथ! पाठशाला से आने में ज़रा देर हो जाती, तो दरवाज़े पर आ खड़ी होतीं, और जो निकलता, उसी से पूछतीं—"क्यों भई, मेरे सुबोध को तो नहीं देखा ?"

छोटी बहू, अम्मा के परिश्रम का अच्छा फल मिला! जिस प्रिय पुत्र के लिये आप धूल में मिल गईं, सारा सुख-भोग छोड़कर जिसे पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया, उसी का जीते-जी तो क्या, उनके मरने पर भी आना न हुआ !

बेटे की कमाई में तो मा के अंश का एक पैसा भी न मिलता था। तुम्हारी दासियाँ तक तो साफ़ कपड़े पहने फिरें, और सास के पास किसी त्योहार पर नया तो क्या, उजला कपड़ा भी न हो। भगवान् जाने, हृदय फटने लगता है, जिस समय ध्यान आता है कि दिन-दिन-भर सूखा तंबाकू फाँका, किंतु बेटे की शिकायत ज़बान पर न आई। कैसी स्वर्गीय देवी थीं ! जब बड़े मामाजी ने पचास रुपए भेजे, तो हँसीं, और कहा—"मेरा बेटा तहसीलदार है। उसको तीन-तीन बेटियों का विवाह करना है। रुपए ले लूँगी, तो उसकी नाक न कट जायगी। भगवान् उसे चिरायु करे। मैं क्या किसी की भिक्षुक हूँ।" कैसी संतोषी आत्मा थी! तंगी-तुर्शी, दरिद्रता-उपवास, हर हालत में खुश—हर बात में राज़ी। मर गईं, और उपवास करते-करते मरीं; किंतु घर की शान न बिगड़ने दी।

सुबोध बाबू से कह देना कि जिस मा की मृत्यु के इच्छुक थे, वही मा ४०००) का मकान छोड़ गई है। तहसीलदारी सदा रहनेवाली नहीं। एक दिन ईश्वर को मुँह दिखाना है। जिस व्यक्ति के दरवाज़े पर आठ-आठ दस-दस आदमी हर समय पड़े रहते हैं, उसी की मा के पास, अंत समय में, मुँह में दो बूँद गंगाजल डालनेवाला भी कोई न रहा ! भई, अम्मा तेरा अत्याचार सहन करने के लिये अधिक दिन जीनेवाली नहीं थीं। वह गईं, और ऐसे स्थान को गईं, जहाँ से फिर आनेवाली नहीं। हाँ, तुम्हें देख लेने की इच्छा हृदय में थी, वही पूरी न हो पाई! यह बड़ा घर, आधी रात का सन्नाटा, मा की मौत, और मैं अकेली!! भगवान् ही रक्षक था। जो सेवा हो सकी, वह की; किंतु हाय सुबोध, तुम्हारा जो कर्तव्य था, उससे तुम उऋण नहीं हो सके!!! किस मन से लिखूँ, और किस मुँह से कहूँ कि अम्मा—हाँ-हाँ, तुम्हारी वही दुष्ट अम्मा—सदा के लिये चली गईं! रात-भर शव को हृदय से लगाए बैठी रही। भगवान् मामाजी का भला करे कि उन्होंने प्रातःकाल पहुँचकर उन्हें उनके अंतिम शयनागार में पहुँचाया, और बस ...।*

आनंदीप्रसाद मिश्र

* राशिद-उल-खैरी के उर्दू पत्र के आधार पर

कवि-चर्चा



१. एक रामायणीय क्षेपक



हिंदी-साहित्य-संसार के लिये अब गो० तुलसीदासजी की रामायण के विषय में कुछ भी कहना कोई नई बात नहीं है। हिंदी ही में क्यों, प्रायः सभी सभ्य भाषाओं में रामायण की चर्चा होती ही रहती है। रामायण के कारण हिंदी-साहित्य को वह गौरव प्राप्त है, जो कभी कम होने का नहीं। इसमें एक बड़ी भारी विचित्रता यह है कि बार-बार पढ़ने पर भी तृप्ति नहीं होती। कुछ दिन पहले तक रामायण के जितने संस्करण निकले थे, प्रायः सभी में क्षेपक-कथाएँ थीं। उस समय यह एक प्रकार की परिपाटी ही बन चुकी थी। इतना ही नहीं, बल्कि कितने ही टीकाकारों की क़लम-कुल्हाड़ी भी रामायण पर चल चुकी थी। सभी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार रामायण की शुद्धि करने लगे थे। पर व्याकरण की अवस्था उस समय से अब कहीं अच्छी है। टीकाकारों को यह एक अच्छा सुयोग हाथ लगा। पर यह दुःसाहस-मात्र था—एक सज्जन की उज्ज्वल कीर्ति में धब्बा लगाकर उसके अस्तित्व का लोप करना था! कितने ही टीकाकार तो टीका लिखते-लिखते कहाँ-से-कहाँ निकल गए। रामायण की रचना जैसी सीधी-सादी समझी जाती है, वास्तव में वह वैसी नहीं है। उसके अर्थ में विचित्र गंभीरता है। न-जाने कितने माथा पचाकर रह गए; पर रामायण की गंभीरता की थाह नहीं पा सके। धन्य है तुलसी-कृत रामायण!

रामायण के पुराने संस्करणों में जगह-जगह दूसरी-दूसरी पुस्तकों के अवतरण उद्धृत कर दिए गए हैं। किष्किंधाकांड में सुग्रीव ने, सीताजी की खोज करने के लिये, वानरों को अनेक देशों का नाम बतलाया था। भारतवर्ष को कूप-मंडूकता की पदवी से विभूषित करनेवालों के लिये यह विशेष-रूप से पठनीय है। यह उनके बड़े काम की चीज़ है। यह क्षेपक 'भारतवर्ष-विचार'-नामक पुस्तक से उद्धृत किया गया है—

सुग्रीव ने वानरों से कहा—

रन बन घन जन सोधि कै, तिया बतायहु राम ;
मास दिवस महँ आतुर, फिरेहु लहेहु विश्राम।

क्षेपक—

आवर्तन इषुजात-देश पुनि रोम पटच्चर ;
इदुद्वीप पशुशील क्राच सैनिक कुक्कुट वर।
अश्वक प्रलियाकुहक-देश तामस अरु मारक ;
आरण्यका तुरुष्क कानिबल बर्बर चारक।

अर्थात्—आवर्तन (ब्रिटेन), इषुजात या अश्वक्रांत (योरप), रोम (रूम), पटच्चर (इटाली), इंदुद्वीप या इद्रद्वीप (इँगलैंड), पशुशील (पोर्चुगाल), क्रांच, क्रमथ, कामल (जर्मनी), सैनिक कुक्कुट (हालैंड, बेल-

ंजियम), अश्वक या अश्वीया (आस्ट्रिया), प्राक्षिया कुहक (फ्रांस), तामस (स्पेन), मारक या माठक (डेनमार्क, स्वीडन), आरण्यक तुरुष्क (योरपियन टर्की), कानिवल (केनिवल), बर्बर (बारबेरा),

रथक्रांत उपद्वीप राक्षसावास विचारो ;
वारुण विष्णुकांत हेल रुष मे पगु धारो ।
शक-तुरुष्क अरु चीन तालतोषक में जाई ;
पार्वत अरु आर्वत-देश पारस्य सुहाई ।

अर्थात्—रथक्रांत या सूर्यारिका (आफ्रिका), उपद्वीप, राक्षसावास, वारुण (आफ्रिका के उपद्वीप), विष्णुक्रांत या असेयेनक (एशिया), हेल (साइबेरिया), रुष (रूस), शक-तुरुष्क (एशियाई टर्की), चीन, पारट, महाचीन (चीन), तालतोषक (तिब्बत), पार्वत (टार्टरी), आर्वत (अरब), पारस्य (ईरान),

देश तुखारा शूद्रयवन पह्नव मन लाई ;
नार्दिनाश गांधार-देश अपवाह सुहाई ।
मलोत्तर उपमल्वक सिंहलद्वीप कुमारी ;
स्वर्णभूमि उत्तर कुमारि दच्छिण पगु धारी ।

अर्थात्—तुखारा (बुखारा), शूद्रयवन (मक्का), पह्नव (काबुल), नार्दिनाश कारस्कर (मदादी या मदीना), गांधार (कंधार), अपवाह या अपक्रांत (मस्कत), मलोत्तर (मल-देश), उपमल्वका (मलक्का), सिंहलद्वीप (सीलोन), कुमारी (कन्याकुमारी या केप-केमोरिन), स्वर्णभूमि या कुमारद्वीप (अमेरिका), उत्तरकुमारी (उत्तरीय अमेरिका), दक्षिण कुमारी (दक्षिणी अमेरिका),

रमणक तलह हिरण्यपूर रमणक लख भाई ;
स्वर्णप्रस्थ अरु दुर्गद्वीप खोजो मन लाई ।
दरद पचनद दरदलिंग काश्मीर सुहावन ;
उत्तर-कोशल इंद्रप्रस्थ कुरु-जांगल पावन ।

अर्थात्—रमणक (आस्ट्रेलिशिया), तलह (ब्राजिल), हिरण्यपूर (पेरु), स्वर्णप्रस्थ (पॉलिनेशिया), दुर्गद्वीप—छोटे-बड़े, दरद (भूटान), पंचनद (पंजाब), दरदालिंग (दार्जिलिंग), काश्मीर और गैरिक काश्मीर, उत्तर-कोशल (अवध), कुरु-जांगल (कुरुक्षेत्र), इंद्रप्रस्थ (दिल्ली),

पुरी अवंती गुर्जराट कांची पुनि काशी ;
केकय महिषक पाड्य-देश उत्कल सुखराशी ।
मिथिला सिंधु सुराष्ट्र महोदय मगध विचारी ;
अंग पाटलीपुत्र पंड्र चंपा लख भारी ।

अर्थात्—अवंतिकापुरी (उज्जैन), गुर्जराट (गुजरात), कांची (कर्णाटक), काशी, बनारस (शिवपुरी), केकय (हिरात), महिषक (मैसूर), पांड्य (मालाबार), उत्कल (उड़ीसा), मिथिला (तिरहुत), सिंधु सौवीर (सिंधुनद के आसपास के देश), सुराष्ट्र (महाराष्ट्र), महोदय (कान्यकुब्ज, क़न्नौज आदि), मगध (कीकट, गया), अंग (बैद्यनाथ, कालगाँव, राजमहल आरा आदि), पाटलिपुत्र (पटना), पंड्र (मेदनीपुर), चंपा (भागलपुर),

मत्स्यदेश अरु बंग गौड़ उपबंग सिधारो ;
प्राग्ज्योतिष अरु शूरसेन किलकिला पधारो ।
किष्किंधा निज देश सकल ढूँढ़ो बसुधातल ;
और बीच के देश ढूँढियो सबही जल-थल ।

अर्थात्—मत्स्य-देश (रंगपुर, दिनाजपुर, राजशाही), बंगगौड़ (बाकरगंज, ढाका, नदिया, शांतिपुर और कृष्णपुर), उपबंग (मैमनसिंह), किलकिला (कलकत्ता), प्राग्ज्योतिष (कामरूप), शूरसेन (मथुरा), किष्किंधा तथा जल-थल और बीच के सब देशों में ढूँढ़ना ।

सुग्रीव के इतना कह चुकने पर रामचंद्रजी ने शंका की—हे मित्र, आपको इन सब देशों का समाचार कैसे मालूम है ? सुग्रीव ने कहा—

बाली-भय भाजत फिरों, सकल देश रघुराज ;
तब यह देखे देश सब, अब आए सब काज ।

हे राम, जब मैं बालि के डर से भागता फिरता था, उसी समय ये देश मैंने देखे थे । आज वह देखना काम आया ।

भारतवर्ष की सभ्यता का इतिहास लिखने में इससे बहुत कुछ सहायता मिल सकती है । क्षेपक के पद्यों में मैंने फेर-फार नहीं किया, ज्यों-का त्यों लिख दिया है ।

लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु'

× × ×

२. गुमानी कवि का समय

मिश्रबंधु-विनोद में, पृष्ठ ७७३ पर, मिश्रबंधुओं ने गुमान मिश्र के विषय में लिखते हुए उनका समय १८०१ (संवत्) निर्धारित किया है, और उनको सर्वसुख मिश्र का शिष्य माना है । परंतु ये दोनों बातें भ्रमात्मक हैं ।

'गुमान' केवल कवि का उपनाम था । इनका पूरा नाम सर्वसुख मिश्र था । आप अपने 'नैषध-काव्य' में लिखते हैं—

मिश्र सर्वसुख सुकविवर, श्री गुरुचरण मनाय ;
बरणि कथा हौं कहत हौं, होइ है वही सहाय ।

इससे स्पष्ट है कि कवि केवल गुरु के चरणों की वंदना ही करता है, उनके नाम का उल्लेख नहीं करता । मिश्र सर्वसुख कवि का अपना नाम है । इस दोहे से 'गुमान' के गुरु का नाम निकालना वैसा ही है, जैसे रामायण के आदि के मंगलाचरण के सोरठे में 'नर-रूप हरि' देखकर तुलसीदास के गुरु का नाम 'नरहरिदास' मानना, या 'केशव केशवराय' से कवि बिहारी के पिता केशवदास का नाम निकालना ।

समय के विषय में गुमान कवि नैषध में इस प्रकार लिखते हैं—

सयुत प्रकृत पुराण से, सवतसर निरदम ;
सुरगुरु सह मित सप्तमी, कियो ग्रंथ प्रारंभ ।

मिश्रबंधुओं ने 'संयुत प्रकृत पुराण' का अर्थ न जाने कैसे १८०१ किया है । वास्तव में इसका अर्थ १८२४ होना चाहिए । कारण, पुराण अट्ठारह (१८) हैं, और सांख्य-मत के अनुसार प्रकृत चौबीस (२४) तत्त्वों की है [देखो 'हिंदी-शब्द-सागर', पृष्ठ २२१२—'प्रकृत'] ।

अतएव 'गुमान'-कृत 'नैषध' का समय १८२४ होता है, न कि १८०१ । आशा है, मिश्रबंधु 'विनोद' के नवीन संस्करण के समय इस पर ध्यान देंगे ।

× × ×

३. जायसी का समय

'मिश्रबंधु-विनोद' में, पृष्ठ २६० पर लिखा है—"पद्मावत ६२७ हिजरी में आरंभ की गई थी, जो संवत् १५७५ में पड़ता है ।" पर यह अशुद्ध है । जायसी ने इसके बीस वर्ष बाद 'पद्मावत' लिखना प्रारंभ किया था, जैसा उसने स्वयं ही 'पद्मावत का काल' अपनी प्रसिद्ध पुस्तक पद्मावत में, निम्न-लिखित चौपाई में, दिया है—

सन् नौ से सैंतालिस अहा ; कथा आरंभ बैन कवि कहा ।

इससे स्पष्ट है कि जायसी ने पद्मावत को ६४७ हिजरी में आरंभ किया था, और सन् ६४७ हिजरी संवत् १५६७ में पड़ता है ।

जायसी के प्रारंभिक वर्णन से ज्ञात होता है कि जब उसने पद्मावत लिखा, उस समय शेरशाह दिल्ली का सुलतान था । इतिहास से मालूम होता है कि शेरशाह संवत् १५६६ में हुमायूँ को हराकर दिल्ली का सुलतान हुआ । बीस वर्ष पूर्व, अर्थात् १५७५ में तो उसको कोई जानता भी न था । संवत् १५८३ से उसकी प्रसिद्धि होने लगी थी । [देखो शेरशाह—इंपीरियल गज़ेटियर, भाग २, पृष्ठ ३६५]

अतः यही मानना पड़ेगा कि 'पद्मावत' का आरंभ ६४७ हिजरी (संवत् १५६७) में हुआ था, न कि ६२७ हिजरी में ।

सत्यजीवन वर्मा

× × ×

४. श्रीकृष्ण-जन्म और उनकी पुरी

हमें मालूम होता है कि निकटवर्ती किसी स्थान में पहले कोई कवि हो चुके हैं । उनके नाम का कुछ पता नहीं लगता । उनके काव्य में 'सूरत' की छाप पड़ी है । उनके काव्य के आज तक कहीं प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । अस्तु, किसी सज्जन के पास कविजी का काव्य-ग्रंथ होना नहीं पाया जाता । हमें इनके कुछ कवित्त-सवैए अपने दफ़्तर की खोज में मिले हैं, जिनमें दो-चार छंद समयानुकूल श्रीकृष्णजन्म-संबंधी हैं । हम उन्हें नीचे देते हैं—

आजु ब्रजपति के बधाई मनभाई आई,
 अधि सुखदाई सबै सुख में पगति हैं ;
जन्म्यो है बालक, अखिल लोक-पालक,
 सु जाके भए दीनानि के दारिद भगत हैं ।
"सूरत" सुदान को प्रमान हौं बखानौं कहा,
 गुनी लैके चले जेती सपति जगत हैं ;
मग में जो और भूप भूपनि के धोखे तें,
 वे नदजू के याचक पै जाचन लगत हैं ।
ब्रज परमानंद को कौन परमानंद है,
 देख परमानद की परम सुहाई है :
"सूरत" सुधन दैके धनदै लजायो कहे,
 धन दे असीस जेती गुनी पाति आई है ।
दीनी वृष-राशि वृषराशि के उदय हित,
 बाढी वृष-राशि लोक-लोकनि में गाई है ;
गोकुल द्विजनि पाई गोकुल गने न जाहीं,
 गोकुल कहे को, आज गोकुल बधाई है ।

अब नीचे कविजी ने जो मथुरा-पुरी की महिमा वर्णन की है, उसके संबंध में सुनिए—

बात के बेग ज्यों मेघ उड़ात है ज्यों मृग-यूथ पै केहरि गाजैं ;
पन्नग ज्यों लखि श्रीहरि-वाहन पर्वत ज्यों मघवा वृध साजैं ।
भाजत हैं भव-जन्मनि के दुख, "सूरत" ज्यों मुख राम बिराजैं ;
सूर उदय अँधियार ज्यों भाजत त्यों मथुरा लखि पातक भाजैं ।

आगे कविजी मथुराजी के माहात्म्य-वर्णन के नीचे, रवितनया श्रीयमुना का कीर्तन करते हैं—

दुरित विदारिनी सकल जगतारिनी,
　　परन प्रतिपारनी हौ प्यारी हरि नाह की ;
वृंदावन रस-केलि-कारिनी, सुधारिनी हौ,
　　हारिनी हौ सबही के तन-मन-दाह की ।
"सूरत" सुकवि रविनंदिनी कृपा कै दीजै,
　　लाड़ली औ लाल की भगति उत्साह की ;
और जेती कामना ते सबै पुरवाय देउ,
　　रहै परवाह एक तेरे परवाह की ।
आपुसों तो तेरे पग तरे आए तिन्हैं तारे,
　　चले पंथ तारे जीव पगन की छारों सों ;
केते तर जात, पट निचुरत बूँदनि सों,
　　अग पौन लागे केते ऊँचे होत तारों सों ।
"सूरत" सुदर्शन हू ते तरिजात भवसागर,
　　हम यों ही जात सजि-सजि हथियारों सों ;
जम के जे दूत जम आगे यों पुकार करैं,
　　हमु नाके आए जमुना के न्हानवारों सों ।

राजा लोकपालसिंह



१. साहित्य

श्रीगौरप्रेमोल्लास-काव्यम्—प्रणेता, महाकवि गोस्वामी श्रीमन्नंदकिशोरचंद्र ; मुंगेर-राज्य (रियासत)-अधिपति श्रीमान् राजा देवकीनंदनप्रसादसिंह की सौभाग्यवती धर्मपत्नी ने पंडितों तथा भक्तों के हितार्थ विना मूल्य (नहीं-नहीं, इसका मूल्य है श्रीगौरभक्ति) वितरण करने के हेतु प्रकाशित कराया; पुस्तक मिलने का पता, गो० पन्नालालजी-यमुनावल्लभशरणजी, श्रीचैतन्य-भवन, विहारीपुरा, वृंदावन (मधुपुरी)।

श्रीमान् गोस्वामी नंदकिशोरचंद्रजी अत्यंत भगवद्भक्त विद्वान् एवं कथावाचक हो गए हैं। उनके कथामृत का रसास्वाद करने के लिये बड़े-बड़े विद्वान् लालायित रहते थे। उन्हीं विद्वद्वरेण्य भक्त-पुंगव गोस्वामीजी ने, श्रीगौरांग महाप्रभु की स्तुति में, इस छोटे-से काव्य की रचना की थी। इसे पढ़ने से इनकी लोकोत्तर प्रतिभा तथा भक्ति का पता चलता है। इसमें अलंकार और रसों का समावेश बड़ी विलक्षण शैली से हुआ है। अनेक प्रकार के छंदों की भी छटा देखने में आती है। ग्रंथ के अंत में, २ पृष्ठ में, संक्षिप्त रूप से टिप्पणियाँ भी दे दी गई हैं, जिनसे काव्य का मर्म समझने में सहायता मिलती है। भारती-भूषण गोस्वामी यमुनावल्लभशरणजी ने ४० श्लोकों में ग्रंथकर्ता का वंश-वर्णन भी इसमें जोड़ दिया है। भगवद्गुनमाली-प्रार्थनाष्टक और श्रीराधिका-प्रार्थनाष्टक भी अंत में दिए गए हैं। वैसे तो सभी लोग, जो काव्य का मर्म समझते हैं, इस काव्य से लोकोत्तर आह्लाद पा सकते हैं; परंतु विशेषकर वैष्णव भगवद्भक्तों को यह छोटा-सा काव्य अवश्य देखना चाहिए।

× × ×

जीवन-ज्योति—लेखक तथा प्रकाशक, गांधी-राष्ट्रीय विद्यालय, जौनपुर, के भूतपूर्व प्रधानाध्यक्ष, भिखारी से भगवान् आदि अनेक पुस्तकों के रचयिता, कुर्री-सुदौली-नरेश के प्राइवेट सेक्रेटरी ठाकुर बाबूनंदनसिंहजी; मूल्य ।॥)

जैसा कि पुस्तक के नाम से प्रकट होता है, इसमें मनुष्य के जीवन को प्रोद्भासित करनेवाले विषयों की विवेचना की गई है। जिन गुणों के द्वारा मनुष्य-जीवन सार्थक होता है, जिनके विना जीवन यथार्थ में जीवन नहीं है, उन्हीं सत्य, प्रेम, सदाचार आदि की मीमांसा प्रस्तुत पुस्तक में बड़े मार्मिक शब्दों में की गई है। कर्मयोग पर विशेष ध्यान दिया गया है, और केवल वाग्आडंबर की निंदा की गई है। लेखक ने स्थान-स्थान पर अपने कथन को पुष्ट करने के लिये प्रमाणभूत वाक्यों का भी अच्छा अवतरण दिया है। पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। प्रत्येक छात्र को अवश्य ही इसे पढ़कर लाभ उठाना चाहिए। वैसे तो सभी लोग इससे समान-रूप से लाभ उठा सकते हैं; परंतु जो अपरिपक्व-बुद्धि हैं, जिन्होंने अपनी जीवन-यात्रा का पथ अभी तक निश्चित नहीं किया है, उन्हें सरल एवं सुगम मार्ग बतलाने में यह

ज्योति बड़ा काम देगी। ठाकुर साहब ने ऐसी सुंदर पुस्तक लिखकर हिंदी-संसार का बड़ा उपकार किया है; और यदि लोग इससे समुचित लाभ न उठावें, तो इसमें काल-गति का ही दोष समझा जायगा। इस ज्योति का जितना अधिक प्रसार हो, उतना ही लाभ होगा।

× × ×

नीति-माला अथवा नीति-सर्वस्व—सकलनकर्ता तथा प्रकाशक, बाबू बटुकप्रसाद खत्री, काशी; मूल्य छपा नहीं।

इस माला में ६ पुष्प गुंफित हैं। विदुर-नीति, चाणक्य-नीति, भर्तृहरि-नीति, कामंदक-नीति, शुक्र-नीति और कणिक-नीति इसमें संगृहीत हैं। इन नीति-निपुण पंडितों के मत से हिंदी-संसार को अपने कर्तव्य-निर्णय में, वर्तमान समय में, अवश्य ही सहायता मिलेगी, इस दृष्टि से पुस्तक उपयोगी है। स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ भी दी गई हैं, जिनसे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। पुस्तक संग्रह करने-योग्य है।

आशादत्त ठाकुर

× × ×

प्रेम-साम्राज्य—लेखक, श्रीसत्यदेवनारायण साही; प्रकाशक, बाबू कृष्णदेवनारायण साही; मूल्य ॥); कबीर-चौरा, बनारस से प्राप्त।

साहीजी ने इस छोटी-सी पुस्तक में प्रेम, सौंदर्य, आनंद, कीर्तन, इन चार विषयों की सरस मीमांसा की है, लेकिन तात्त्विक मीमांसा नहीं, कवित्वमय मीमांसा समझिए। साहीजी मनचले, दिल में तड़प और दर्द रखनेवाले लेखक हैं, और यह पुस्तक उसी तड़प का एक नालए-दर्द है। पढ़ने में गद्य-काव्य का आनंद मिलता है। वास्तविक सौंदर्य क्या है, और वास्तविक सौंदर्योपासना किसे कहते हैं, यह साहीजी के ही शब्दों में सुनिए—

... ... उत्कंठा होती है, लेकिन केवल दर्शन-मात्र की। कभी छूने का साहस नहीं होता। चित्त में चुंबन और आलिंगन की इच्छा तक नहीं आती। यह भी अभिलाषा नहीं कि यह मूर्ति अपनी हो जाय। नशा नहीं है; होश-हवास ठिकाने हैं। भक्त की अधिक विह्वलता देख, आत्मीय मित्र सहानुभूति-पूर्वक यह ख्याल छोड़ देने की सलाह देते हैं; किंतु मजबूरी—

कट गई एहतियाते इश्क़ में उम्र;
मुझसे इज़हारे मुद्दआ न हुआ।

अच्छे-अच्छे अवतरणों और सुभाषितों से पुस्तक की रोचकता और भी बढ़ गई है।

प्रेमचंद

× × ×

बाल विलास—रचयिता, साहित्य-रत्न प० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"; प्रकाशक, हिंदी-पुस्तक भंडार, लहेरियासराय (दरभंगा); पृष्ठ सख्या ४१; आकार छोटा; मूल्य ।); छपाई और कागज उत्तम; प्रकाशक से प्राप्त।

इस छोटी-सी पुस्तक में २१ विषयों को लेकर बालकोपयोगी रचना की गई है। विषय ऐसे चुने गए हैं, जिनके पढ़ने मे बालकों का चित्त लगे। भला गिलहरी, बंदर, कोयल, जुगनू और बूँदियों के विषय में कविता पढ़ने को जिये किस बालक का मन न चाहेगा! बड़े हर्ष की बात है कि धीरे-धीरे हिंदी मे उपयोगी बाल-साहित्य का निर्माण हो रहा है, और यह काम करने के लिये हिंदी के धुरंधर विद्वानों ने अपनी लेखनी उठाई है। हरिऔधजी-रचित इस 'बाल-विलास' मे अत्यंत सरल, पर सरस पद्यों का संग्रह है। हमारा विश्वास है, बालकवृंद इसे बड़े चाव से पढ़ेंगे। कुछ उदाहरण देखिए—

देख-देख तितली की रंगत है अपने तन रंगते;
चिड़ियों के चहचहे सुने है आप चहकने लगते।
तोड़-तोड़ मीठे-मीठे फल, हैं खाते सुख पाते;
फूलों के रच रुचिर खिलौने फूले नहीं समाते।

* * *

नचा-नचाकर लट्टू उस पर हैं लट्टू हो जाते;
फिरकी के समीप फिर-फिर हैं फिरकी से दिखलाते।
बोल-बोलकर वचन रसीले, बड़े अनूठे, तुतले;
हँस-हँस करके खेल रहे हैं हँसी-खेल के पुतले।

कृष्णविहारी मिश्र

× × ×

२. आर्य-साहित्य

Introduction to the Commentary on the Vedas—Translated from the Original Sanskrit by P. Ghasi Ram M. A. LL.B; प्रकाशक, आर्य-प्रतिनिधि-सभा, सयुक्तप्रदेश; मूल्य सादी जिल्द का २), और सजिल्द का २॥); पृष्ठ-संख्या ५०८।

महर्षि दयानंद ने वेद-भाष्य की भूमिका एक स्वतंत्र ग्रंथ में लिखी है। यह उसी पुस्तक का अँगरेज़ी अनुवाद है। महाशय घासीराम संस्कृत के भी पंडित हैं, और अँगरेज़ी लिखने में तो वह कुशल ही हैं। अनुवाद संभवतः अच्छा ही है। वेदों के पढ़ने का सौभाग्य तो बहुत कम आदमियों को मिल सकता है। हाँ, इस भूमिका को पढ़कर हमें कुछ पता चल सकता है कि वेदों में क्या है, क्यों उनका इतना आदर है, क्यों संसार उनके सामने सिर झुकाता है। वेदों की रचना के विषय में जो शंकाएँ साधारणतः लोगों को हुआ करती हैं, उनका यहाँ समाधान हो जायगा। अन्य भाष्यकारों ने वेदों का तत्त्व समझने में जो ठोकरें खाई हैं, उसका भी कुछ अंदाज़ हो जायगा; और यजुर्वेद आदि ग्रंथों के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने जो नई-नई धारणाएँ बना रक्खी है, वे निर्मूल सिद्ध हो जायँगी।

× × ×

दयानंद-दर्शन अर्थात् महर्षि दयानंद के राष्ट्रीय स्वरूप का चित्र—लेखक, श्री प० सत्यदेव विद्यालंकार, संपादक 'मारवाड़ी'। भूमिका-लेखक, श्री स्वा० श्रद्धानंदजी महाराज; प्रकाशक, अलंकार-बंधु, नया बाज़ार, देहली; मूल्य ॥)

इस ग्रंथ में ऋषि दयानंद के राजनीति-संबंधी सब विचारों को एकत्र कर दिया गया है। जिस समय महर्षि ने ये विचार प्रकट किए थे, उस समय के बड़े-बड़े धुरंधर राजनीति के नेता भी कानों पर हाथ रखते थे। पर आज हम उन्हीं विचारों का प्रतिपादन कर रहे हैं। महर्षि के राजनीतिक सिद्धांत प्रजासत्तात्मक थे। राजा का उन्होंने बहिष्कार नहीं किया, पर राजा की नियुक्ति प्रजा के अधीन कर दी है, राजा की स्वेच्छाचारिता को रोकने के लिये सभाओं और मंत्रिमंडलों की क़ैद लगा दी है, यहाँ तक कि राजा के कर्तव्य-विमुख हो जाने पर उसे दंडनीय भी ठहराया है। किताब पढ़ने तथा विचार करने-योग्य है। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि महर्षि के राजनीतिक विचार संसार के किसी बड़े-से-बड़े राजनीति-विशारद के विचारों से कम उन्नत न थे।

× × ×

Glimpses of Daya Nand by Chamupati M. A.—प्रकाशक, आर्य-पुस्तकालय, अनारकली, लाहौर; मूल्य १); पृष्ठ-संख्या १५८।

लेखक महोदय अँगरेज़ी के अच्छे विद्वान् एवं सुलेखक हैं। आपकी लेखन-शैली बड़ी सरस तथा प्रसादमय होती है। लेखक ने महर्षि दयानंद के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं पर छोटे-छोटे निबंध बहुत ही सजीव और ओजस्विनी भाषा में लिखे हैं, जिन्हें पढ़कर चित्त को केवल आनंद ही नहीं मिलता, वरन् मन में सदुत्साह, सेवा, कर्तव्य-बुद्धि और अध्यवसाय-जैसे गुणों का संचार होता है। भाषा इतनी सुंदर और मधुर है कि उसमें काव्य का-सा रस, आदि से अंत तक, विद्यमान है। बारहवें अध्याय में महर्षि के राजनीति-संबंधी विचारों की व्याख्या करते हुए चमूपति महोदय लिखते हैं—

Daya Nand's most pathetic prayers, those that gush from his heart, are the prayers that seek to remedy the ills of his country. The very word 'Swarajya' which to-day is India's watchword, was first used in its present political bearing by Dayananda.

'स्वराज्य' दयानंद के जीवन का सबसे महान् आविष्कार है। उनके पहले और उनके बाद भी, बहुत दिनों तक, इस शब्द का आशय भी ध्यान में न आया था। अब इस शब्द ने हमारे दिलों में कैसा घर कर लिया है। स्वराज्य की कल्पना सबसे पहले दयानंद ने की; और अगर कोई समय ऐसा आया कि हम उनके बतलाए हुए रास्ते पर चलने में समर्थ हुए, तो वह केवल स्वराज्य नहीं, धर्म-राज्य होगा। पुस्तक की जिल्द सुंदर है; और महर्षि का एक हाफ़टोन चित्र भी है। भूमिका प्रोफ़ेसर वास्वानी ने लिखी है।

प्रेमचंद

× × ×

३. इतिहास

भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार—लेखक, प्रोफ़ेसर जयचंद्र विद्यालंकार; प्रकाशक, हिंदी-भवन, लाहौर; मूल्य ॥); डबल क्राउन आकार; पृष्ठ-संख्या ६+१०४+६; काग़ज़, छपाई-सफ़ाई साधारण।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाय, तो प्रत्येक देश का इतिहास उसके भौगोलिक आधार पर ही बनता है। इस सिद्धांत को भारतवर्ष पर लागू करने तथा फिर अन्य देशों के साथ इसकी तुलना करने से स्पष्ट विदित होगा कि देश का जल-वायु तथा प्राकृतिक स्थिति ही

उसके सामाजिक इतिहास का मूलाधार है। अस्तु, "भारत-वर्ष की भौगोलिक रचना, भाषाएँ, जनता, संस्थाएँ, और प्रथाएँ, साहित्य, राज्यसंस्था, धर्म और दर्शन; सभी के छान-बीन किए हुए अथवा न किए हुए पहलुओं को समन्वय की दृष्टि से देखना, भारतीय इतिहास की गति में एक सतत विकास-तंतु को ढूँढ़ निकालना अथवा इनके सामान्य सिद्धांतों को समझ लेना इस पुस्तक के लेखक की ज्ञान-पिपासा का विशेष निश्चित उद्देश्य" दिखलाई दिया है। यह प्रथम में भारतीय इतिहास के भौगोलिक आधार की भूमिका है। इसके दो खंड अभी और निकलेंगे। अतएव इसी से पुस्तक के अच्छे या बुरे होने का अनुमान, हमारी समझ में, नहीं किया जा सकता।

पुस्तक में मनुष्य और प्रकृति, भौतिक परिवर्तन, भारतवर्ष के भाग, उत्तर-भारतीय मैदान, विंध्य-मेखला, दक्षिण-भारत, हिमालय और पश्चिमोत्तर की पर्वतमाला और समुद्र-तट, ऐसे आठ विभाग परिच्छेद रूप में हैं। मि० एडमंड ने जैसा यूनान के इतिहास का आधार उसकी भौगोलिक स्थिति को बतलाने की चेष्टा की है, उसी प्रकार इस पुस्तक के लेखक का भी हमें उद्देश्य जान पड़ता है। पर कितने ही अंशों में हम लेखक के मत से सहमत नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, आप लिखते हैं— "सभ्यता का उन्नतम विकास योरप के ठंडे जल-वायु और विस्तृत पेचीदे समुद्र-तट में ही हो सकता है, तथा भूमध्य-सागर को प्रकृति ने ही सभ्यता का केंद्र बनाया है।" किंतु यह लिखने के पूर्व लेखक को सबसे प्रथम 'सभ्यता' की अपनी परिभाषा भी बतला देनी चाहिए थी। इसी प्रकार के और भी आपके सिद्धांत इस पुस्तक में हैं। इस प्रकार के सिद्धांत प्रोफ़ेसर साहब ने कदाचित् कुछ फ़्रांसीसी और अन्य विदेशी विद्वानों के ही मतों के आधार पर स्थिर कर लिए हैं। वह मत ठीक नहीं है। विस्तार-भय से अन्य उदाहरण नहीं दिए जाते।

अंत में पूरे ६ पृष्ठों का शुद्धिपत्र दिया हुआ है। पुस्तक इतनी अशुद्ध छपी है कि शायद ही कोई पृष्ठ प्रूफ़ की अशुद्धियों से ख़ाली मिले। ऐसी अशुद्ध पुस्तक का प्रकाशन, हमारी दृष्टि में, बहुत हानिकर है। विषय इतना रूखा है कि नवीनता का भाव यदि अलग कर दिया जाय, तो कदाचित् पाठक का चित्त ही पढ़ने को न चाहे। फिर अशुद्धियों ने तो कमाल ही कर दिया है। इस पर भी छपाई का सारा अपराध दूसरे के मत्थे मढ़ दिया गया है। सारांश में, इस खंड के देखने से तो यही जान पड़ता है कि प्रोफ़ेसर साहब अपने उद्देश्य में यथार्थ सफलता नहीं पा सके। भाषा-संबंधी अशुद्धियाँ भी हैं।

आगे के खंडों में वह सफल होंगे या नहीं, यह भगवान् जाने। लेखक महाशय के "लिखे से एक तिल-भर भी इधर-उधर छप जाय, तो खीझ उठते हैं।" हमें दूसरों की खीझ से बड़ा डर लगता है, इसलिये इस बार तो हम क्षमा चाहते हैं। पर आगे के लिये हम लेखक महोदय से प्रार्थना करते हैं कि वह समालोचक को ऐसा मौक़ा ही न दें कि उन्हें खीझना पड़े।

× × ×

केनिया में हिंदुस्थानी—लेखक और प्रकाशक, बाबूराम मिश्र, विशारद, संयुक्त संपादक, 'हिंदू-संसार'; पुस्तक मिलने का पता—साहित्य-निकेतन, इटावा; मूल्य १।]; आकार डबल क्राउन; पृष्ठ-संख्या २८८; छपाई-सफ़ाई अच्छी।

"केनिया की समस्या की गंभीरता और हिंदी में उस विषय की पुस्तक के अभाव" ने लेखक को कुछ सेवा करने का अवसर दिया, और उन्होंने मि० एंड्रयूज़, डॉ० नारमन लीज़ तथा मेजर गार्गन के लेखों एवं सर पुरुषोत्तमदास-ठाकुरदास तथा श्रीश्रीनिवास शास्त्री के व्याख्यानों से सहायता लेकर यह पुस्तक लिख डाली। इस प्रकार हम देखते हैं कि लेखक का अपना अनुभव केनिया के संबंध का तो कुछ नहीं है; पर अनुभवी व्यक्तियों के अनुभवों को उन्होंने अच्छे रूप में रख दिया है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। हिंदी-संसार में जिन्हें लिखने की कुछ रुचि है, उन्हें भगवान् ने ऐसे साधन नहीं दिए हैं कि वे पहले किसी वस्तु-स्थिति का अनुभव स्वयं करें, और तब फिर अपने देशवासियों के सम्मुख उसे रक्खें। हाँ, अनुभवी व्यक्तियों के अनुभव से जहाँ तक लाभ उठाया जा सकता है, उसमें मिश्रजी ने कोई कोर-कसर नहीं रक्खी। इसीलिये वह पुस्तक केनिया का ही एक इतिहास बन गई है। भूमिका-लेखक 'भारतमित्र' के भूतपूर्व और 'श्रीकृष्ण-संदेश' के वर्तमान संपादक पंडित लक्ष्मण-नारायण गर्दे के शब्दों में सचमुच "इस पुस्तक

का अध्याय-क्रम और लेखन-शैली इस प्रकार की है कि पाठक सरलता-पूर्वक संपूर्ण विषय अच्छी तरह जान लें। जो कुछ लिखा गया है, प्रमाण-सहित लिखा गया है।" अब तक केनिया-निवासी भारतीय प्रवासियों का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं था। इस पुस्तक ने उस अभाव की पूर्ति कर दी है।

ब्रिटिश-गायना के अतिरिक्त दक्षिण-आफ्रिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूज़ीलैंड, फ़िज़ी, ब्रिटिश-गायना, मिश्र के टापू और केनिया आदि प्रदेशों मे जो प्रवासी भारतवासी हैं, वे सब ब्रिटिश-सरकार की छत्रच्छाया में हैं। इन्हीं देशों को ब्रिटिश-उपनिवेश कहते हैं। इन उपनिवेशों के भी दो भेद कर दिए गए हैं—एक तो स्वतंत्र उपनिवेश, और दूसरे मातहत उपनिवेश। दक्षिण-आफ्रिका और नेटाल आदि स्वतंत्र उपनिवेश इसलिये कहे जाते हैं कि ब्रिटिश-पार्लियामेंट ने इनका शासन इन्हीं पर छोड़ दिया है; पर मातहत उपनिवेशों का शासन उसी के उपनिवेश विभाग द्वारा किया जाता है। केवल केनिया इसी प्रकार का मातहत प्रदेश है, जहाँ आज ऊँची और नीची ज़मीन का झगड़ा, गोरों और प्रवासी भारतवासियों में मचा हुआ है।

लंका और मलाया के सिवा केनिया ही ऐसा उपनिवेश है, जो हिंदोस्तान से निकट है। यहाँ जाने के लिये मोंबासा-बंदरगाह में उतरना होता है। गर्देजी ने ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह दिखलाया है कि "ज़ंज़ीबार के सुलतान के पूर्वजों के साथ महाराष्ट्र के राजों का बहुत पहले से संबंध था।" उनका व्यापार भारतवर्ष के साथ हुआ करता था। यह व्यापारिक क्रांति के मध्यकाल की बात है। अस्तु, केनिया अँगरेज़ों के हाथ में आ तो गया, पर बीहड़ जंगलों के भय से उनकी वहाँ बसने की हिम्मत न हुई। बस, ब्रिटिश-सरकार को वहाँ भारतवासियों के लिये सुबीता करना ठीक जँच गया! भारतवासियों ने अपना जी होमकर जंगलों के साफ़ करने और मोंबासा से युगांडा तक रेलवे-लाइन बनाने का काम किया। किंतु यह सब, जैसा कि आज जान पड़ता है, अँगरेज़ों के सुबीते के लिये ही कराया गया था; नहीं तो आज जो अत्याचार हम केनिया के भारतीय प्रवासियों पर होता देख रहे हैं, वह भला क्यों होता? इन्हीं बहुत बाद में गए हुए अपने अँगरेज़-जातियों के स्वार्थों के लिये, ब्रिटिश-सरकार उन्हीं की इच्छा के अनुसार भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार करती और नए-नए नियमों से उन्हें जकड़ती जा रही है। खेती करने लायक़ जो ज़मीन है, और जिसे हिंदोस्तानियों ने एड़ी-चोटी का पसीना बहाकर इस योग्य बना पाया है, उसे गोरे हथिया रहे हैं; और ब्रिटिश-सरकार, जैसा वे कहते हैं, उसी इशारे पर ठीक वैसी ही नाचती है, जैसा कि आफ्रिका में वह यूनियन-सरकार के भारतीयों पर किए जानेवाले अत्याचारों का समर्थन करती है। ब्रिटिश-सरकार की नीति केनिया में, अंत में, यह है कि वहाँ गोरों का उच्छृंखल राज्य हो। इसी अभिप्राय से, जैसा कि मि० शास्त्री कहते हैं, सन् १९२१ की साम्राज्य-परिषद् में केनिया को गोरों का उपनिवेश बनाने का संकल्प किया गया, और वह मंतव्य-रूप में लेखबद्ध भी हो गया। कहने का सारांश यह कि जिस तरह दक्षिण-आफ्रिका में एशियाटिक बिल और क्लास-एरिया बिल बनाकर मुद्दत से रहनेवाले प्रवासियों के सामने यह परिस्थिति उत्पन्न की जा रही है कि वे या तो गोरों के स्वार्थों की आहुति बनकर रहें या भाग खड़े हों, ठीक उसी प्रकार केनिया के भारतीयों की परिस्थिति है, और यह अत्याचार सब ब्रिटिश-सरकार स्वयं कर रही है। गोरी-जातियों के इन्हीं ज़ुल्मों की दर्दनाक कहानी लेखक ने इतिहास के रूप में दी है।

पुस्तक में कुल २१ प्रकरण हैं, जिनमें भौगोलिक वर्णन से लेकर आज तक के अँगरेज़ी हथकंडों की खूबी का खासा निदर्शन है। ब्रिटेन के केनिया में अधिकार जमाने में भारतीयों ने कैसा योग दिया, कितने कष्ट सहकर उन्होंने केनिया को रहने-योग्य बनाया, ऊँचे भूमि-खंडों के लिये गोरों की लालसा और उसकी पूर्ति के लिये ब्रिटिश-सरकार का पक्षपात-पूर्ण उद्योग, संरक्षकों के कारनामे, विश्वासघात और भारतीयों का अपमान आदि प्रायः सभी प्रकरणों में लेखक ने अँगरेज़ों की स्वार्थ-परता और अनीति तथा भारतीयों की दासत्व-जनक स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला है। और, सब कुछ लिखकर लेखक ने यही बतलाया है कि "विभिन्न देशों में बसे हुए प्रवासी भारतवासियों की वर्तमान स्थिति में परिवर्तन होने के लिये उनके जन्म-देश को उद्योग करना होगा। यदि किसी प्रकार ब्रिटिश-सरकार को झुका सकें, लोकमत की शक्ति का परिचय दे सकें, तो सब काम बन सकता है।" हम लेखक के इस मत

का समर्थन करते हैं, और इसलिये सिफ़ारिश करते हैं कि हमारे दुखी भाइयों की यह दर्दनाक कहानी अधिक-से-अधिक देशवासियों के कानों तक पहुँचे।

× × ×

दक्षिण-आफ़्रिका का सत्याग्रह (पूर्वार्द्ध)—मूल-लेखक, महात्मा गांधी; अनुवादक, श्रीयुत वैजनाथ जगन्नाथ मोयदे; प्रकाशक, सस्ता साहित्य-प्रकाशक-मंडल, अजमेर; मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।=), सर्वसाधारण से ।।।); पृष्ठ-संख्या २७२; काग़ज़ चिकना, छपाई-सफ़ाई शुद्ध और अच्छी; सस्ता साहित्य-प्रकाशक-मंडल की पहली पुस्तक।

हमारे देश के पुस्तकविक्रेता ग़रीब ही नहीं, धनी भी केवल व्यावसायिक दृष्टि से ही पुस्तक-प्रकाशन का काम करते हैं। इनके सामने एक-मात्र लक्ष्य द्रव्य का उपार्जन रहता है। इससे ऐसे प्रकाशक साहित्य द्वारा देश की यथेष्ट सेवा करने में सदा पीछे रहते हैं। साहित्य द्वारा देश के लिये यदि कुछ करना है, तो वास्तव में सस्ते-से-सस्ते दाम पर ही उसे देना चाहिए। देश की आवश्यकता सर्वप्रथम यह है कि सस्ता साहित्य देकर देश के लोगों में पहले साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न की जाय। माल भी अच्छा हो, और दाम भी कम हों, तो अच्छा काम भी हो सकेगा, और उद्देश्य-सिद्धि भी होगी। इसी उद्देश्य से ज्ञानमंडल के श्रद्धेय संचालक हज़ारों का घाटा प्रतिवर्ष सहकर 'आज' निकाल रहे हैं, और इसी उद्देश्य में सफल न हो सकने के कारण, संचालकों की अयोग्यता से, राष्ट्रीय हिंदी-मंदिर एक प्रकार से बैठ गया। पर ऐसी संस्थाओं को जीवित रखने के लिये हिंदी-पाठक और प्रेमी भी किसी प्रकार के कर्तव्य से बँधे हैं। सस्ता साहित्य देने पर भी यदि ऐसी लोकोपयोगी संस्थाओं का संचालन न हो सके, तो अवश्य ही हिंदी-प्रेमी धनाढ्य और समर्थ, ग़रीबों की अपेक्षा अधिक उपहास के पात्र हैं।

जिस मंडल की ओर से उपर्युक्त पुस्तक प्रकाशित की गई है, उसका उद्देश्य यही है कि उच्च और शुद्ध साहित्य का प्रचार हो। इसकी पूर्ति के लिये यह मंडल विविध विषयों पर सर्वसाधारण और शिक्षित समुदाय, स्त्री और बालक, सबके लिये उपयोगी, अच्छी और सस्ती पुस्तकें प्रकाशित करेगा। मूल्य भी लगभग लागत-मात्र रहेगा। वर्ष-भर में कम-से-कम १६,००० पृष्ठों की पुस्तकें दी जायँगी, और वह १) में २०० से ६०० पृष्ठ तक के हिसाब से। तजवीज़ यह हुई है कि डाक-ख़र्च सहित ७) स्थायी ग्राहकों से लिए जायँ। पर और पुस्तक-प्रकाशकों एवं संस्थाओं की तरह यहाँ किसी प्रकार की प्रवेश-फ़ीस लेने का नियम नहीं रक्खा गया। अवश्य ही इस संस्था के नियम और उद्देश्य, दोनों ही पाठकों की सहूलियत के लिये हैं। समालोच्य-पुस्तक में ही संस्था के सभी उद्देश्यों की पूर्ति दिखलाई देती है। पर संचालकों को आगे चलकर लोक-रुचि को भी देश की दिशा के साथ-साथ जानना होगा, और दोनों को संयुक्त करके, तब सस्ता साहित्य देकर वे अपने उद्देश्य में सफल हो सकेंगे।

यह पुस्तक बड़े अच्छे मौक़े पर निकली है। आज देश के नेताओं, और देशवासियों के प्रति कुछ भी सहानुभूति रखनेवालों के सामने अपने प्रवासी भाइयों की हालत का एक भयंकर रूप उपस्थित है। एशियाटिक बिल पेश है, और वह ऐक्ट का रूप न धारण करने पावे, इसके लिये हमारे देशवासियों को ज़ोरदार आंदोलन करना है। इस पुस्तक से दक्षिण आफ़्रिका की स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसके लेखक महात्मा गांधी हैं, यही पुस्तक की उपयोगिता और यथार्थता का ख़ासा प्रमाण है। हमारी समझ में महात्माजी को दक्षिण-आफ़्रिका का जितना अच्छा अनुभव है, उतना शायद ही किसी को हो। महात्माजी एक उच्च कोटि के शिल्पी हैं, इसीलिये दक्षिण आफ़्रिका के सत्याग्रह का अनुभव और इतिहास इतने सरस, सौष्ठव-पूर्ण एवं आकर्षक ढंग से लिखा गया है कि बस, ख़तम किए बिना जी नहीं मानता। कष्टों की एक शुष्क विभीषिका को महात्माजी की लेखनी ने आर्द्रता से ओत-प्रोत कर दिया है। साथ ही एक ख़ासी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शासन-संबंधी आलोचना भी इस सत्याग्रह के इतिहास में विद्यमान है।

यद्यपि यह सत्याग्रह का इतिहास है, तथापि दक्षिण-आफ़्रिका की भौगोलिक स्थिति एवं इतिहास से लेकर जब से भारतवासियों का संबंध वहाँ से शुरू हुआ, तब से प्रथम सत्याग्रह तक का अनुभव इसमें दिया गया है। प्रवासी भाइयों को भेजने की राजनीतिक चाल, ब्रिटिश सरकार का उनके प्रति कुत्सित व्यवहार, प्रवासियों की दुर्दशा और उस दुर्दशा को दूर करने के लिये जो कष्ट सहन किए

गए, जैसा अत्याचार महात्माजी पर स्वयं तथा अन्य भारतीय अबलाओं और बच्चों पर किया गया, इन सबका एक उत्कृष्ट, पर रोमांचकारी वर्णन है। पुस्तक में कुल २४ अध्याय हैं, और यह भी अभी पूर्वार्द्ध है। उत्तरार्द्ध में, हमारा विश्वास है, महात्माजी दक्षिण आफ्रिका के आज तक के क्रमबद्ध एवं सब प्रकार के सत्याग्रह के स्वरूपों पर, और वहाँ के सत्याग्रह का भारतवर्ष के वर्तमान भारतवासियों और इनकी स्थिति पर कैसा क्या प्रभाव पड़ा तथा पड़ रहा है, इस पर अच्छा प्रकाश डालेंगे। प्रवासी भारतीयों के कष्टों में जो कुछ कमी हुई है, उसका श्रेय महात्माजी को है: उन्हीं की तपस्या, आत्मत्याग और कष्ट-सहन का यह सब परिणाम है कि प्रवासियों के बंधन कुछ ढीले पड़े। पर भविष्य के बंधन किस प्रकार ढीले पड़ेंगे, तथा भारतवासी किस प्रकार स्वतंत्र देशवासियों के समकक्ष अपनी सब प्रकार की उन्नति कर सकेंगे, इसके भी उपाय बतलाने, आयोजन करने और अंत में सफल होने का श्रेय महात्माजी को मिलेगा, ऐसा हमारा विश्वास है: और इसलिये आशा है, अगले भाग में और भी अधिक ऐतिहासिक आलोचना का समावेश होगा।

मूल-पुस्तक के अनुसार ही अनुवाद की भाषा भी सरल, सुबोध एवं सरस है, और मामूली-से-मामूली पढ़े-लिखे आदमी के पढ़ने समझने के योग्य है। प्रवासी भाइयों के प्रति जिसे कुछ भी हमदर्दी हो, उसे चाहिए कि एक बार इस पुस्तक को अवश्य पढ़ जाय, और फिर थोड़ी देर तक शांत होकर अपनी, अपने समाज की और भारतवर्ष की स्थिति पर विचार करे। उसे प्रत्यक्ष ज्ञान पड़ेगा कि आफ्रिका की सरकार, ब्रिटिश-पार्लियामेंट और भारत-सरकार प्रवासियों के कष्टों का अंत नहीं कर सकती, बल्कि उनकी कष्टों और अत्याचारों से मुक्ति तभी होगी, जब भारतवर्ष में स्वराज्य की पताका उड़ने लगेगी।

मातादीन शुक्ल

× × ×

४. उपन्यास

वीर राजपूत—मूल-लेखक, श्रीयुत "नाथ माधव"; अनुवादक, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी; प्रकाशक, केदारनाथ गुप्त, छात्र-हितकारी पुस्तक-माला, दारागंज, इलाहाबाद; मूल्य १।); पृष्ठ-संख्या २३५।

"श्रीनाथ माधव" मराठी के सिद्ध-हस्त उपन्यासकार हैं। आपकी यह रचना भी बहुत ही सुंदर हुई है। उपन्यास रहस्य-पूर्ण है, और बहुत ही चित्ताकर्षक। प्लाट राजपूताना के इतिहास से लिया गया है। यहाँ शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय के मर्मस्पर्शी संकेत और चित्त को मुग्ध करनेवाली आकांक्षा तो नहीं है; पर वीर-रस का अच्छा विकास हुआ है।

× × ×

संसार-चक्र—लेखक, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी; प्रकाशक, भोलानाथ चतुर्वेदी; ६० सीताराम घोष-स्ट्रीट, कलकत्ता; मूल्य १)

यह एक विलक्षण उपन्यास है, और मनोरंजक भी खूब है। इसकी मूल-रचना का श्रेय बाबू प्रफुल्लचंद्र मुकर्जी को है। चतुर्वेदीजी ने इसे 'चुस्त-दुरुस्त' करके, और काट-छाँटकर हिंदी-रसिकों के पढ़ने-योग्य बना दिया है। जिन लोगों को रहस्य-पूर्ण उपन्यासों से प्रेम हो, उन्हें इस पुस्तक में दो-तीन रातें जागने की काफ़ी सामग्री मिलेगी।

× × ×

सुमति—लेखिका, श्रीमती रत्नवती देवी शर्मा; प्रकाशक, श्रीचिरंजीलाल शर्मा, ३३ जॉर्ज टाउन, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ७०; मूल्य ।=)

यह एक छोटा-सा उपन्यास है, जिसमें लेखिका ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि दो सौतें भी कितने प्रेम से निर्बाधित रूप से रह सकती हैं, यदि उनमें सुमति हो, और पति अनुचित पक्षपात न करता हो। जगह-जगह गाने भी दिए गए हैं, जिनमें कविता के दोषों का खूब चमत्कार दिखलाया गया है। पुस्तक की भाषा शिथिल और बेमुहावरा है। हम अपनी महिलाओं को साहित्य-क्षेत्र में देखना तो चाहते हैं, लेकिन नारी-हृदय के उज्ज्वल तत्त्वों को लेकर, ऐसी पुस्तकों से कोई फ़ायदा नहीं।

प्रेमचंद

× × ×

५. संगीत

संगीत-समुच्चय (प्रथम भाग)—संपादक, काशी के प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्रीशिवेंद्रनाथ बसु, तथा संकलनकर्ता, श्रीलक्ष्मणदास या अधिक प्रिय और परिचित शब्द में, "मुनीबजी"; प्रकाशक, भारत-कला-परिषद्, काशी; मूल्य २।); पृष्ठ-संख्या २२+२२६; छपाई-सफाई बहुत सुंदर।

भारतवर्ष का स्वर्गीय संगीत हमें सांसारिक असत्य से हटाकर सत्य की तरफ़ ले जाता था; मन, अंतर्मुख होकर शांत-स्थिर हो जाता था; उसकी वृत्तियाँ शांत-स्थिर हो जाती थीं, और मनुष्य अनंत के मिलन-पथ में अपने को देखता था। ऐसी अमूल्य संपत्ति कुछ तो किसी के शाप के कारण शून्य में मिल गई, कुछ उस्तादों के प्रबल मोह के कारण उन्हीं के साथ चली गई, कुछ को हमारी जड़ता ने "नजरिया, कटरिया, साँवरिया रे," में बदल दिया, और कुछ ही—वे महानुभाव धन्य हैं, जो उस "कुछ" की रक्षा और उद्धार के लिये जी-जान से प्रयत्न कर रहे हैं—शेष है। भारत की भावी संतान इस संपत्ति के लिये उनकी कृतज्ञ रहेगी।

सौंदर्य के कुछ उपासकों ने भारतीय कोमल कलाओं की शिक्षा, रक्षा और वृद्धि के लिये 'भारत-कला-परिषद्'-नामक संस्था काशी में स्थापित कर रक्खी है। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं के परिश्रम का फल है। पुस्तक में हमीर, बहार, दरबारी, मालकोस, बिहाग, भैरव, टोड़ी और आसावरी, इन आठ रागों की क़रीब ८० चीज़ें स्वर-लिपि-बद्ध की गई हैं। स्वर-लिपि की प्रणाली श्रीयुत भातखंडे महोदय की है, जिससे सुंदर, सरल और संपूर्ण प्रणाली भारतवर्ष-भर में दूसरी नहीं है। पर श्रीयुत भातखंडे महोदय ने जो प्राचीन हिंदी-गीतों के कई स्वर-लिपि-बद्ध संग्रह प्रकाशित किए हैं, उनमें कविता-भाग की तरफ़ विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। संगीत-समुच्चय में यह एक विशेषता है कि उसमें स्वर के साथ ही कविता की तरफ़ भी ध्यान दिया गया है। संगीत के उत्कर्ष के लिये इन दोनों का मेल होना भी ज़रूरी है। पुस्तक के गीत स्वर-सौंदर्य की सुमधुर सृष्टि हैं—कहीं स्वरकार की कल्पना बड़े ही सुकुमार पथ से यात्रा करती है, कहीं कवि और स्वरकार की कल्पना के पूर्ण सम्मिलन ने ठीक-ठीक चित्र सामने रख दिया है। प्रत्येक राग के आरंभ में उसका स्वरूप और प्रस्तार भी दिए गए हैं। नए सीखनेवालों के लिये स्वर और ताल के संकेतों का भी स्पष्ट रीति से खुलासा कर दिया गया है। पुस्तक में आए हुए तालों के ठेके भी ताल और मात्राओं सहित दे दिए गए हैं। ऐसी सुंदर पुस्तक निकालकर 'भारत-कला-परिषद्' ने बड़ा उपकार किया है। परिषद् से और भी आशाएँ हैं। परमात्मा करें, वे पूरी हों! पुस्तक संगीतेच्छु और संगीतज्ञ, दोनों के काम की है। यदि हमें संगीत में कुछ भी रस मालूम देता है, तो इस पुस्तक की एक प्रति ख़रीदकर अपनी ज्ञान-वृद्धि और परिषद् की सहायता करना हमारे कर्तव्यों में से एक है।

गोविंदवल्लभ पंत

× × ×

६. ज्योतिष

वर्ष मनोत्सव—रचयिता और संपादक, पं० नारायण-राव ज्योतिषी, (राव कवि) थर्डमास्टर, ए० वी० एम्० स्कूल शिवपुरी, ग्वालियर : प्रकाशक, श्रीकन्हैयालाल-चंद्रशेखर बुकसेलर, शिवपुरी, ग्वालियर।

इस पुस्तक में हिंदी-पद्यों में वर्ष-फल बनाने तथा देखने की विधि का वर्णन है। जिन्हें ज्योतिष से प्रेम है, और जो संस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण मूल-संस्कृत से काम नहीं ले सकते, उनके लिये यह ग्रंथ बड़े काम का है। पद्य की भाषा कहीं-कहीं शिथिल है; पर ग्रंथ के विषय की ओर दृष्टिपात करने से वह दोष छिप जाता है। यदि पुस्तक का समुचित समादर हुआ, तो ग्रंथकर्ता और भी अनेक ग्रंथ इसी प्रकार लिखकर पाठकों का मनोरंजन करेंगे।

आद्यादत्त ठाकुर

× × ×

७. स्वास्थ्य-विज्ञान

स्वास्थ्य-शिक्षा—लेखक, श्रीदयाशंकर पाठक मेडलिस्ट; सारस्वत-ग्रंथमाला, जयपुर (राजपूताना) से प्राप्त; स्कूली साइज़; कागज़, छपाई आदि संतोषजनक; पृ० सं० १११; मूल्य १)

लेखक का कथन है कि "प्रोफ़ेसर राममूर्ति...के स्वास्थ्य-संबंधी उपदेशों को श्रवण कर मेरे हृदय में विचार उत्पन्न हुआ कि यदि मैं भी कोई स्वास्थ्य-संबंधी पुस्तक की रचना करूँ, तो अति उत्तम हो।" इस पुस्तक की भूमिका श्रीराममूर्तिजी की ही लिखी है। इससे मालूम होता है कि पुस्तक-लेखक महाशय ने उन्हीं के नियमों के अनुसार व्यायाम किया है। भारी पत्थर छाती पर रखने, ज़ंजीर तोड़ने, मोटर रोकने आदि का अभ्यास भी आपने किया है। प्रस्तुत पुस्तक में आरोग्यता (?), प्राकृतिक मनुष्य-दिनचर्या (?), स्नान, हवा, निद्रा शरीर-रचना आदि अनेक विषय हैं। इन्हीं में एक

व्यायाम भी है। इस पर १४ पृष्ठों में साधारण बातें लिखी गई हैं, जो बहुत कम हैं।

एक पहलवान की लिखी 'स्वास्थ्य-शिक्षा' में व्यायाम का विचार चित्र सहित होना चाहिए था; तथापि पुस्तक उपादेय है। बहुत-सी बातों का संग्रह उपदेश पूर्ण रीति से किया गया है। भाषा और छापे की अशुद्धियाँ परिमार्जनीय हैं।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

८ उर्दू

हिंदू-त्योहारों की असलियत और उनकी जुगराफ़ियाई कैफ़ियत—रचयिता, मुंशी रामप्रसाद बी० ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट हाई स्कूल, गोंडा; पृष्ठ-संख्या १००; छपाई और कागज उत्तम; मूल्य ।≈); लिपि फ़ारसी, और भाषा उर्दू; रचयिता से प्राप्त।

जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इस पुस्तक में हिंदू-त्योहारों की विवेचना है, और उन पर भौगोलिक दृष्टि से विचार किया गया है। हेडमास्टर साहब ने इस १०० पृष्ठ की किताब में १०१ विषयों का समावेश किया है, अतएव यह स्पष्ट है कि आप प्रत्येक विषय पर अधिक प्रकाश नहीं डाल सके हैं। फिर भी संक्षेप में आपने बहुत-सी जानने-योग्य बातों का संग्रह कर डाला है। मुंशीजी ने इस पुस्तक में कई बातें ऐसी भी लिखी हैं, जिनसे उनके विशेष अध्ययनशील होने का परिचय मिलता है। पुस्तक की भाषा विशुद्ध उर्दू है; पर वह सरल है, कठिन नहीं। अगहन और पूस के महीनों में त्योहार न होने का कारण मुंशीजी के ही शब्दों में सुनिए—

"चूँकि अगहन और पूस में काश्तकारी वग़ैरह से फ़ुर्सत नहीं मिलती है, और अगर लोग अपनी फ़सलें छोड़कर त्योहार मनाएँ, तो जानवर छोटे पौदों को खा जायँ, और फ़सल तबाह कर दें। यही हालत हर मुहिम की है। इसलिये इस ज़माने में न किसी बड़े त्योहार की फ़ुर्सत है, न ज़रूरत।"

कृष्णबिहारी मिश्र

× × ×

९- फुटकल

चिंतामणि—प्रकाशक, हिंदी-मंदिर, प्रयाग; मूल्य ≈) पृ० सं० १६।

इस इतनी-सी छोटी पुस्तिका में तुलसीदास, सूरदास, कबीरदास, रैदास, मीरा, मलूक और पद्माकर के कुछ भक्ति-पूर्ण चमत्कारों का संग्रह है। तीन सज्जनों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल पद्य निकाले हैं, और फिर उनका संग्रह किया गया है।

× × ×

सरल संस्कृत शिक्षक—रचयिता, पं० भगवतीलाल, श्रीदरबार हाई स्कूल, जोधपुर; कदाचित् उन्हीं से प्राप्त; मूल्य ।~)

संस्कृत की कठिनाई और दुर्बोधता को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिये, वास्तव में, पंडितजी ने यह रचना की है। जिस ढंग से यह पुस्तक लिखी गई है, उस तरह पढ़ने से बालकों को जल्दी संस्कृत समझने तथा संस्कृत से अनुवाद करने की क्षमता प्राप्त हो सकती है। यह अभी पहला भाग है। आगे के भाग भी इसी शैली के बनें, तो परिश्रम सफल हो सकेगा।

× × ×

आरोग्य और आनंदमय जीवन बनाने के उपाय—लेखक और प्रकाशक, मुक्ताराम-शिवदत्त शर्मा, उपयोगी पुस्तक-भंडार, उज्जैन; पृष्ठ-संख्या ६०; मूल्य ।≈)

बल का महत्त्व बतलाकर लेखक ने उसे प्राप्त करने के लिये दिनचर्या तथा रात्रिचर्या बतलाई है। कसरत, प्राणायाम तथा श्वास-क्रिया का भी उपयोग ठीक ढंग से, कुछ कम विस्तार के साथ, बतलाया गया है। अंत में गायत्री-मंत्र की महनीयता भी बतलाई गई है। पुस्तक अच्छी है; बालकों और नवयुवकों के काम की है।

× × ×

ऋतु-प्रमोद—रचयिता, लाला कन्हैयालालात्मज बाबू बाँकेबिहारीलाल उपनाम 'बाँके पिया', निदान महल-रोड, लखनऊ; मूल्य प्रेम।

"हरएक मनुष्य इस पुस्तक को शुद्ध छापकर लाभ उठा सकता है", यह कवि महोदय का कथन है। इसमें सब ऋतुओं पर कवित्त दिए गए हैं। साधारण है।

× × ×

श्रीमद्भागवत (दशमचरित्रोपाख्यान-भाषा)—रचयिता, श्रीशिवप्रसाद शर्मा (हेडमास्टर) कटनी; लेखक से प्राप्त; मूल्य ≈); पृष्ठ-संख्या ३०।

लोकोक्तियों के शीर्षक देकर कुंडलिया में यह भावानुवाद पद्य-बद्ध किया गया है। उदाहरण लीजिए—

६१. चार दिना की चाँदनी फेर अँधेरी रात।
फेर अँधेरी रात, ग्रहण कुरुक्षेत्र पधारे;
यादव, पांडव और भूप नंदादिक न्यारे।
सबसों भयो मिलाप, श्याम गोपन सँग खेले;
बहुत दिनन को विरह मिटो, भुज कठिन मेलें।
मेलें पिय ग्वालिन कहै, मिलें आपनी जात;
चार दिना की चाँदनी फेर अँधेरी रात।

× × ×

पद्म-प्रमोद—लेखक, पद्मधर अवस्थी "पद्म"; पद्म-पुस्तकालय, बलदेवनगर, सीतापुर से प्राप्त; मूल्य ।); पृष्ठ-संख्या ३८ : पद्म-पुस्तकमाला का प्रथम पुष्प।

लेखक के कथनानुसार पुस्तक के दो खंड कर दिए गए हैं—नीति-खंड और प्रेम-खंड। नीति-खंड में राष्ट्रीय, सामाजिक एवं हिंदू-संगठन-संबंधी कविताएँ, और प्रेम-खंड में प्रेम-संबंधी भावों का दिग्दर्शन है। परिशिष्ट में प्रेमपचीसी-शीर्षक से २५ सवैए और जोड़ दिए गए हैं। अधिकांश कविताएँ खड़ी बोली की हैं।

अवस्थीजी की कविताएँ देखने से जान पड़ता है कि वह आगे चलकर अच्छे कवि होंगे। भाव और भाषा, दोनो का उन्हें ख़याल रहता है। अनुप्रासों की भी छटा देखने में आती है। नमूने के लिये दो-एक छंद लीजिए। देशबंधु चित्तरंजनदास की मृत्यु पर आप लिखते हैं—

प्रभु हे सदय नहीं, ऐसे असमय कैसे,
ईश की विषम दुर्नीति से दले गए;
हो रहे हताश हैं स्वभाग्यहीन भारतीय,
कुटिल कराल काल-छल से छले गए।
देशहित कामना का ध्यान है महान्,
पर हिम्मत न होती, हाय हौसले मले गए;
बंधुओं को उन्नति की ओर अग्रसर कर,
देशबंधुदास चित्तरंजन चले गए।

"उसकी छवि" देकर आप लिखते हैं—

उस रूप की राशि पै मुग्ध हुआ,
उसके रँग में शराबोर मैं;
उससे कुछ लाग है ऐसी लगी,
वह प्रेम-पतंग, तो डोर हूँ मैं।
तन औ मन जीवन है उसका,
वह है घन, तो बना मोर हूँ मैं;
उसकी सदा चित्त में चाह रहे,
वह चंद्रमा है, तो चकोर मैं।

पद्य अच्छे हैं; पढ़ने-योग्य और उपदेशप्रद भी हैं।

× × ×

बनाम स्वदेश—लेखक, *श्रीचतुरसेन शास्त्री*; प्रकाशक, *मदनसेन वर्मा, संजीवन-ग्रंथमाला, सिकंदराबाद, बुलंदशहर*; मूल्य ।।=); पृष्ठ-संख्या ६६।

भिन्न-भिन्न ७८ शीर्षक देकर इसमें छोटे-छोटे गद्य-पद्य लेखों का संग्रह किया गया है। एक प्रकार का यह मध्यम श्रेणी का साधारण गद्य-काव्य है—ऐसा समझिए। भावुकता की मृगतृष्णा के पीछे लेखक महाशय दौड़े तो हैं; पर सचमुच वह मृगतृष्णा ही रही। उसे वह नहीं पा सके। एक प्रकार की क्षणिक उत्तेजना दिखानेवाली दुर्बोध पुस्तक है। मूल्य भी बहुत ज़्यादा है।

× × ×

वीर अर्जुन—लेखक, पं० शिवकुमार शास्त्री; प्रकाशक, श्रीयुक्त माणिक्यचंद्र गुप्त, पो० मगुआ, ज़िला शाहाबाद; मूल्य डाक-व्यय से अलग ।=); पृष्ठ-संख्या ७०।

यह एक प्रकार का खंड-काव्य है; पाँच सर्गों में विभाजित है। वीर अर्जुन का चरित्र पद्य में दिया गया है। नमूना देख लीजिए। आप स्वयं समझ लेंगे कि कैसी कविता है। यह पुस्तक का पहला छंद है—

नहिं है मुझे आता, कौन विधि प्रभो तव पूजन करूँ,
कौन वस्तु अप्राप्य तोहि जो, लेय ही सम्मुख धरूँ;
सब विविध अर्चन कर रहे हैं, भक्तियुत अधिमास में;
तव योग्य दिव्य पदार्थ तो नहीं दीखता मम पास में।

इसी श्रेणी के पद्यों से यह खंड-काव्य बना दिया गया है। न तो खड़ी बोली है, और न ब्रजभाषा। विचित्र खिचड़ी है, और वह भी स्वादिष्ठ नहीं। फिर भी इसके लेखक एक सांख्योपाध्याय शास्त्री हैं, यह और भी विचित्रता है।

× × ×

घट में राम—लेखक और प्रकाशक, (ज्ञानी) रामचंद्र; पुस्तक मिलने का पता—बाबू हरसहाय वर्मा, जीवन-सुधार लाइब्रेरी, बरेली; मूल्य ।।)

पुस्तक लीथो में छपी है; पहली बात तो यही है। दूसरी बात यह है कि 'ज्ञानीजी' ने कुछ इधर-उधर के विषय लेकर एक पुस्तक बना डाली है। यही यह घट है। राम तो हमें इसमें कहीं नहीं मिले। हमारी दृष्टि में

काग़ज़ और छपाई में पैसे ही ख़राब किए गए हैं। मूल्य कदाचित् 'प्रेम' होता, तब भी महँगा पड़ती।

×　　×　　×

श्रीमित्र-सतसई—लेखक और प्रकाशक, श्रीराम-किशोरदास-देवीप्रसाद खत्री; पुस्तक मिलने का पता—मु० गिरिधरसहाय, अध्यापक, नार्मल स्कूल, लखनऊ; मूल्य ॥)

रूप, शोभा, कर्मज्ञान, शांति, वैराग्य, भक्ति तथा स्फुट उपदेश पर सौ-सौ दोहे दिए गए हैं। इस प्रकार की यह सतसई है। दोहे साधारण हैं। नमूने के लिये दो-चार दिए जाते हैं—

मित्र बाण के घाव से वाक्य-घाव अति कारि ;
या को पूरब कठिन है, वह पूरे दिन चारि ।
बहुतन औरे विग्रह प्रिय, मदप चलत कुढंग ;
राजद्रोही कापिय को, मित्र करिय नहिं संग।

×　　×　　×

कोउ रूप मद मस्त हैं, जग नहिं मोहिं समान ;
निरखत विधुवदनी बदन, कोऊ मूढ़ भुलान।
कोउ हिंसा-रत, मगन है, उदर भरत जिव मारि ;
पर रूपति लूटत कोऊ, निर्भय गरदन मारि।

×　　×　　×

कुसुमावली—लेखक और प्रकाशक, बाबू चंद्रभानसिंह, मुक़ाम रतसड, ज़िला बलिया; पृष्ठ-संख्या ६४ ; मूल्य।=)

लेखक के कथनानुसार "ये भक्ति, प्रेम और करुणा-विषयक कविताएँ हैं। इन अधूरे पद्यों में भावों की ही प्रधानता है, पिंगल की नहीं। हिंदी कविता में व्रजभाषा और खड़ी बोली, दोनों शक्तियों का अनुकरण होना चाहिए। भाषा की भावी उन्नति के लिये दोनों शैलियों का सामंजस्य अत्यावश्यक है। उर्दू-फ़ारसी के सरस-सुबोध शब्द प्रयोग में लाए जा सकते हैं।" इसमें सब मिलाकर ४३ विषयों पर कविताएँ हैं। पद्य अच्छे तथा सचमुच भाव-पूर्ण हैं। प्राकृतिक छटा भी यत्र तत्र देखने में आती है। पुस्तक संग्रह करने-योग्य है। "तारों के प्रति"-शीर्षक कविता से दो पद्य नीचे दिए जाते हैं—

कोई तुम्हें विशाल द्रुमों के, स्वर्णोपम फल कहते हैं ;
कोई कहते कंचन अलिदल, तथा मौन हो रहते हैं।
पट-मंडप की छिद्र-मालिका, कोई तुम्हें बताते हैं ;
कोई तुमको धवल (?) पिपीलिका कहकर ही रह जाते हैं।

×　　×　　×

कितने ही तो ऐसा कहते, श्याम केतु के मणि हो तुम ;
अथवा निशाधिपत्य विनाशक, जलते हुए दीप हो तुम।
नभ के स्वर्ण-तुषार प्रकंपन के सुस्मित कण ही तुम हो ;
सायंकालिक प्रभा कांति के, ज्योति विभावन ही तुम हो।

यति और विराम में कविताएँ दूषित हैं। फिर भी पद्य साधारणतः अच्छे हैं।

×　　×　　×

शिक्षा और देशी भाषाएँ—लेखक, रामचंद्र वर्मा ; प्रकाशक, पं० बालमुकुंद त्रिपाठी, मंत्री, प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, जबलपुर ; मूल्य कुछ छपा नहीं ; पृष्ठ-संख्या ८०।

हमारे देश में शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ नहीं हैं। कहीं-कहीं पर ही इधर कुछ दिनों से विश्वविद्यालयों ने देशी भाषाओं को माध्यम-रूप स्वीकार किया है। इसमें मध्य-प्रदेश में प्रचलित की गई हिंदी-माध्यम की व्यवस्था पर विचार किया गया है। लेखक ने देशी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा की उपयोगिता को सिद्ध करने के लिये देश के नेताओं, शिक्षा-विभाग के कतिपय विद्वानों तथा देश की आवश्यकताओं का प्रौढ़ वर्णन किया है। विचार सर्वथा संयत और तर्क प्रबल हैं। जहाँ शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ नहीं हैं, वहाँ इस पुस्तक का प्रचार करना चाहिए। इसे पढ़कर लोगों में देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा देने-दिलाने की आवश्यकता का अनुभव होगा, और तब वे इस दिशा में काम कर सकेंगे।

×　　×　　×

दासत्व-प्रथा का अंत—प्रकाशक, सुबा प० राममणि एम० ए०, शांतिनिकेतन, काठमांडू (नेपाल), मूल्य कुछ नहीं।

नेपाल में दासत्व-प्रथा का अंत हो चुका है। इस संबंध में 'माधुरी' में दो-एक लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं। यह पुस्तक अँगरेज़ी में है, यह वह अपील है, जो महाराज चंद्रशमशेर जंगबहादुर ने नेपाल की प्रजा के नाम दासत्व-प्रथा के अंत होने के पूर्व की थी। आगे चलकर इसी पुस्तक में दासत्व प्रथा का अंत होने के बाद के होनेवाले लाभ, प्रजा की आर्थिक स्थिति और सुख-वैभव का वर्णन अंक देकर किया गया है। पुस्तक संग्रह करने-योग्य है। जिन-जिन देशों और राज्यों में दासत्व-प्रथा अभी जारी है, वहाँवाले इससे कुछ सीख ले सकते हैं।

×　　×　　×

तिरुप्पति श्रीवेंकटेश्वर बालाजी का इतिहास—अनुवादक, रामकृष्ण शास्त्री ; प्रकाशक, एस्० सुब्बारामय्या एंड ब्रादर्स, ४७, निउ स्ट्रीट, तिरुप्पति (मदरास) ; मूल्य छपा नहीं।

यह हिंदी-पुस्तिका तेलगू से अनुवाद की गई है। बालाजी का मंदिर एक प्रसिद्ध हिंदू-तीर्थ है। रामेश्वर के यात्री बीच में यहीं होकर जाते हैं। उसी तीर्थ-स्थान का यह इतिहास है। हिंदू-भक्तों के जानने की चीज़ है। अपने तीर्थों का इतिहास तो प्रत्येक हिंदू को जानना चाहिए।

× × ×

स्वर्गीय माणिक्यचंद्रजी जैनी—लेखक, श्रीराम-कृष्ण पालीवाल और श्रीआर० सी० जैन ; प्रकाशक, विमल-चंद्र जैन, खंडवा (सी० पी०) ; मूल्य ।) ; पृष्ठ-संख्या ४६।

श्रीयुत माणिक्यचंद्रजी हिंदी के अच्छे लेखक हो गए हैं। हिंदी के प्रति उनका अच्छा अनुराग था, तथा उन्होंने हिंदी-माता की सेवा भी की थी। उन्हीं का यह जीवन-चरित्र है। प्रकाशक ने एक मृत लेखक को इसके द्वारा वर्तमान लेखकों के सामने फिर से खड़ा कर दिया है। जैनीजी का चित्र भी इसमें है।

× × ×

श्रीमद्भगवद्गीता (सटीक)—प्रकाशक, सरस्वती भंडार, मुरादपुर, पटना; मूल्य ।-) ; सरस्वती पुस्तकमाला का बारहवाँ पुष्प।

श्रीगीता की कितनी ही टीकाएँ—संक्षिप्त और विस्तृत—हो चुकी हैं : पर विद्वानों को तृप्ति नहीं। यही कारण श्रीगीता के धड़ाधड़ अनुवादों का है। यह टीका भी अच्छी है। इसमें अक्षरार्थ तो पूर्ण रूप से है ही, कहीं-कहीं भावार्थ भी दे दिया गया है। यह गीता का सटीक पॉकेट-एडीशन है। प्रेमी पाठकों को ज़रूर ख़रीदना चाहिए। सफ़ाई और छपाई, दोनों अच्छी हैं।

× × ×

श्राद्ध-गुणविवरण—अनुवादक, पं० रामचरित उपाध्याय ; प्रकाशक, मंत्री, श्रीआत्मानंद-जैन-ट्रैक्ट-सोसायटी, अंबाला ; मूल्य) ; पृष्ठ-संख्या २८।

इस माला की कुछ पुस्तकों का परिचय माधुरी में दिया जा चुका है। उसी का यह सातवाँ भाग है। विषय नाम से ही स्पष्ट है। अनुवाद सौष्ठव-पूर्ण है।

× × ×

१०. पत्र-पत्रिकाएँ

हिंदू-संसार—संपादक, पंडित झाबरमल्ल शर्मा ; राजेंद्र-प्रिंटिंग-प्रेस, नया बाज़ार, दिल्ली से प्रकाशित।

दैनिक हिंदू-संसार के 'तिलकांक' का परिचय पिछली किसी संख्या में दिया जा चुका है। समालोच्य अंक उसी का दीवाली का विशेषांक है। भिन्न-भिन्न १७ विषयों पर लेख तथा कविताएँ हैं, और १४ चित्र। अंक सुंदर निकला है। हिंदू-संसार से हिंदी और देश की अच्छी सेवा होने की आशा इसके प्रथम वर्ष से ही जान पड़ने लगी है।

× × ×

स्वतंत्र (दीवाली का विशेषांक)—संपादक, पं० अंबिका-प्रसाद वाजपेयी ; प्राप्ति स्थान—१५६ (बी) मछुआबाज़ार-स्ट्रीट, कलकत्ता।

दैनिक स्वतंत्र बहुत समय से देश की सेवा कर रहा है। संपादकजी जानते हैं कि देश को व्यापार-ज्ञान की कितनी अधिक आवश्यकता है। व्यापार-संबंधी जितने लेख इस संख्या में हैं, सब अच्छे हैं। पर अन्य विषयों पर जो लेख छपे हैं, वे भी कम अच्छे नहीं। चित्रों और कविताओं से भी यह अलंकृत है ; पर कविताएँ कुछ अधिक उच्च कोटि की होनी चाहिए थीं। हमारा तो यह कहना है कि कविताओं के कारण इस अंक का महत्त्व कुछ कम हो जाता है। आरंभ में 'आशा' का सुंदर रंगीन चित्र है। मुख-पृष्ठ पर श्रीकृष्ण का सुनहला चित्र है।

× × ×

जयाजी-प्रताप (विशेषांक)—यह ग्वालियर-राज्य का मुख-पत्र है। ग्वालियर को छोड़कर शायद किसी भी देशी राज्य का अपना कोई मुख-पत्र नहीं है। इस हिंदी-सेवा के लिये अवश्य ही ग्वालियर-राजवंश धन्यवाद का पात्र है। यह विशेषांक महाराज जॉर्ज जीवाजीराव सिंदे के राज्यारोहण के उपलक्ष्य में निकाला गया है। पत्र अँगरेज़ी और हिंदी, दोनों में निकलता है, और इस संख्या में, दोनों भाषाओं में सब मिलाकर २६ भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख हैं, जिनका अधिकतर ग्वालियर-राज्य के शासन से संबंध है। महाराजकुमार का रंगीन चित्र दिया गया है। और भी कितने ही इकरंगे चित्र हैं। ग्वालियर-राज्य की वर्तमान स्थिति पर यह अंक अच्छा प्रकाश डालता है। इतना अप-टु-डेट अंक निकालने के लिये संपादक बधाई के पात्र हैं।

× × ×

वर्णाश्रम (विशेषांक)—संपादक, पंडित धर्मदत्त त्रिपाठी ; काशी से प्रकाशित ; वार्षिक मूल्य ३)

कार्तिकीय पूर्णिमा के अवसर पर यह विशेषांक निकाला गया है । अपनी स्थिति के अनुसार अच्छा निकला है । जाति-भेद, धर्म, सनातन-धर्म, वैष्णव-संप्रदाय, मठ तथा मंदिर, वर्णाश्रम-धर्म पर समाजवाद का प्रभाव आदि शीर्षकों से भिन्न-भिन्न विषयों पर लेख लिखे गए हैं । कविताएँ, व्यंग्य-चित्र और विनोद भी हैं । पत्र भविष्य में शायद अच्छा निकलेगा ।

× × ×

दि पीपुल (अँगरेज़ी में)—संपादक, लाला लाजपतराय ; १२ कोर्ट-स्ट्रीट, लाहौर से प्रकाशित ।

इस पत्र की उत्कृष्टता के संबंध में केवल इतना ही कहना काफ़ी है कि इसके संपादक देशपूज्य लालाजी हैं । अन्य पत्र-संपादकों की भाँति लालाजी केवल 'पालिसी' ही नहीं देखते, वरन् स्वयं लिखते भी हैं, और लिखते भी हैं बुढ़ापे की इतनी सख़्त बीमारी की हालत में । संपादक का देश और काल की स्थिति का ज्ञान तथा अनुभव ही पत्र को उच्च बना देता है, ऐसी हमारी धारणा है । इसीलिये 'पीपुल' का सर्वत्र स्वागत हो रहा है । लालाजी के अतिरिक्त समाज-सुधारक मि० एंड्रयूज़, फ्रांस के रोमियाँ रोलैंड और मि० पोलक आदि विद्वानों के लेख भी इसमें प्रायः प्रतिसप्ताह रहते हैं । पीपुल विचार-पत्र है, समाचार-पत्र नहीं । समाचार-पत्रों की अपेक्षा विचार-पत्रों का कुछ अधिक महत्त्व है, और यदि उनके अंतर्गत परिमार्जित, अनुभव-पूर्ण एवं समालोचनात्मक शील-सीमित विचार रहें, तब तो सोने में सुगंध की कहावत चरितार्थ होती है । पीपुल इसी श्रेणी का पत्र है । पहले इसका वार्षिक मूल्य ८) था ; पर अब सर्व-साधारण की सुविधा के लिये ६॥) कर दिया गया है । इसी प्रकार छमाही और तिमाही मूल्य की रक़में भी कम कर दी गई हैं । हमको विश्वास है कि अँगरेज़ी पढ़े-लिखे पाठक 'पीपुल' के ग्राहक बनकर, पूज्य लालाजी तथा अन्य विद्वानों के अनुभव एवं ज्ञान से लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे । हाथ कंगन को आरसी की ज़रूरत नहीं । पीपुल की नीति किसी दल-विशेष की नीति नहीं, बल्कि वह देश की है । उसका लक्ष्य दलबंदी का समर्थन नहीं, वरन् देश का हित है । यही 'पीपुल' की एक बड़ी भारी विशेषता है ।

× × ×

शिक्षा-सेवक (त्रैमासिक)—संपादक, श्रीमहेशचंद्र-प्रसाद बी० ए० और ताराचरण झा काव्य-तीर्थ ; प्रकाशक, रायसाहब रघुवीरप्रसाद बी० ए० : वार्षिक मूल्य २)

यह बिहार-वर्नाक्युलर-टीचर्स-एसोसिएशन का मुख-पत्र है, और पटना से प्रकाशित होता है । दूसरे वर्ष की प्रथम एवं द्वितीय संख्या संयुक्त संख्या में प्रकाशित की गई हैं । त्रैमासिक होने पर भी यह पत्र कुछ आकर्षक नहीं, और न इसमें पठनीय कोई लेख ही है । इस पत्र में अभी सुधार की बहुत आवश्यकता है । बिहार-प्रांत में कुछ ऐसी हवा चलती है कि पत्रों का प्रायः अभाव है, जब तक कोई दूसरा पत्र न निकले, तब तक यही 'एरण्डोऽपि द्रुमायते' है । अच्छा हो, यह पत्र शिक्षा का कोई व्यावहारिक कार्यक्रम स्कूलों में प्रचारित करावे ; और शिक्षा का सबसे आवश्यक अंग अर्थकरी शिक्षा की योजना है । सैद्धांतिक उपदेश का समय अब नहीं रहा ।

× × ×

परवार-बंधु (मासिक)—संपादक, श्रीदरबारीलाल न्याय-तीर्थ, साहित्य-रत्न ; प्रकाशक, मास्टर छोटेलाल जैन ; परवारबंधु-कार्यालय, जबलपुर से प्रकाशित; वार्षिक मूल्य ३)

समालोच्य संख्या तृतीय वर्ष की आठवीं संख्या है, और इस संख्या का मूल्य १) है । इसमें कविता तथा अन्य संपादकीय एवं प्रेषित गद्य-लेखों के कुल मिलाकर ३९ शीर्षक हैं । पत्र अधिकांश में संप्रदाय-विशेष का पत्र है । इस अंक-भर में एक तो 'भावना' और दूसरी 'आभू-षण-भूषिता', कुल दो ही कविताएँ हमें रुचीं । गद्य-लेखों में सबसे टुच्चा लेख 'शिक्षा-समस्या' है । मालूम नहीं, जो विषय-विशेष को समझते तक नहीं, उन्हें लिखने का शौक़ क्यों चर्राता है । ऐसे कई ऊटपटाँग लेखों से यह विशेषांक भरा हुआ है । पर जिस दृष्टि से यह निकाला गया है, उसमें यह अंक सहायक होगा । 'परवार-बंधु' वास्तव में जैन-सिद्धांतों का प्रचारक है । 'जैन-धर्म और हमारा चरित्र'-जैसे विषयों के लेख अधिक उपयोगी हो सकते हैं । पत्र में उन्नति की अभी काफ़ी गुंजाइश है ।

× × ×

आर्य-कुमार (मासिक)—सपादक, डॉ० केशवदेव शास्त्री एम्० डी०; वार्षिक मूल्य ३)

भारतवर्षीय आर्यकुमार-परिषद् का मुख-पत्र है, और चाँदनी-चौक, दिल्ली से निकलता है। डॉ० केशवदेव हिंदी-संसार के सुपरिचित संपादक हैं। समालोच्य संख्या द्वितीय वर्ष की ५-६ठी संख्या संयुक्त संख्या के रूप में प्रकाशित की गई है; पर इस संख्या में लख-सूची का कहीं पता तक नहीं। पत्र साधारण कोटि का है। उन्नति की काफ़ी गुंजाइश है।

× × ×

गृहस्थ (मासिक पत्र)—सपादक, रायसाहब लक्ष्मीनारायणलाल वकील, प्रकाशक, लक्ष्मी-प्रेस, गया; वार्षिक मूल्य १)

इस पत्र के १० भाग निकल चुके। समालोच्य संख्या ११वें भाग की पहली संख्या है। पर गृहस्थ-जीवन-संबंधी कोई ऐसी बात इसमें नहीं है, जो भारतवासियों को सद्गृहस्थ बना सके। हमारी दृष्टि में नाम के अनुसार ही पत्र की पठनीय सामग्री भी अधिक-से-अधिक उच्च कोटि की रहनी चाहिए।

× × ×

११. प्राप्ति-स्वीकार

१. श्रीजीव दया-प्रचारिणी-सभा (आगरा) का सचित्र पंचमवार्षिक विवरण—प्रकाशक, बाबूराम बजाज़, मंत्री।

२. श्रीसनातनधर्म-पुस्तकालय (कन्नौज) का सप्तवार्षिक आय-व्यय का विवरण, निरीक्षणकर्ताओं का नाम वर्ल तथा विषयवार पुस्तकों की सूचीपत्र—श्रीसनातनधर्म-सभा, कन्नौज द्वारा प्रकाशित।

३. कपास की खेती—प्रकाशक, युक्तप्रांतीय खादी-मंडल, जनरलगंज, कानपुर। इसके लेखक श्रीयुत गंगाशंकर पचौली ने कपास की खेती की तरकीबें इसमें बतलाई हैं। सचमुच इन उपायों से खेती की जाय, तो कपास की उपज अच्छी हो सकती है। किसानों और प्रचारकों के काम की चीज़ है।

४. मारवाड़ी-रिलीफ़-सोसायटी (कलकत्ता) की मार्च १९२३ से फ़रवरी १९२४ तक की वार्षिक रिपोर्ट—प्रकाशक, मोतीलाल आजोदिया, अवैतनिक मंत्री, श्रीजगमोहन मल्लिक-लेन, कलकत्ता।

५. निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेदविद्यापीठस्य नियमावली—प्रकाशक, आयुर्वेद-विद्यापीठ-कार्यालय, कानपुर।

६. निखिलभारतवर्षीयआयुर्वेदमहामंडलस्य नियमावली—प्रकाशक, डॉ० प्रसादीलाल झा एल्० एम्० एस्०, प्रधान मंत्री, कानपुर।

७. श्रीविश्वकर्म-वंशीयब्राह्मणमहासभा का वार्षिक विवरण (सन् १९२४)—प्रकाशक, रामलक्ष्मणप्रसाद शर्मा, प्रधान मंत्री।

८. मारवाड़ी-रिलीफ़-सोसायटी के सन् १९२४ के सामयिक सेवाकार्य—प्रकाशक, मोतीलाल आजोदिया, अवैतनिक मंत्री।

९. गायत्री-महिमा—लेखक और प्रकाशक, मुक्तारामात्मज शिवदत्त शर्मा, उपयोगी पुस्तक-भंडार, उज्जैन; मूल्य ।)

१०. संयुक्तप्रांतीय हिंदी-साहित्य सम्मेलन, सीतापुर के सभापति पं० रामजीलाल शर्मा का भाषण

११. ओंकारजपविधिः—लेखक और प्रकाशक, मुक्तारामात्मज शिवदत्त शर्मा, उपयोगी पुस्तक-भंडार, गुदड़ी बाज़ार, उज्जैन; मूल्य ।)



इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुबीते के लिये प्रति मास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास नीचे लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

(१) "प्रेम-प्रसून", गल्पों का संग्रह। श्रीयुत प्रेमचंदजी-लिखित। पं० दुलारेलाल भार्गव द्वारा संपादित पुस्तक का संशोधित द्वितीय-संस्करण। मूल्य १=), सुंदर रेशमी जिल्द १॥=)

(२) "खिलवाड़", बालकोपयोगी। लेखक, पं० भूप-नारायण दीक्षित। श्रीयुत प्रेमचंदजी-संपादित। मूल्य ।)

(३) "तिलक-चित्रावली", चित्र-संग्रह। मूल्य १)

(४) "व्यंग्य-चित्रावली", चित्र-संग्रह। मूल्य ७)

(५) "आदर्श-जीवन", जीवन-चरित्र। लेखक, श्रीयुत कृष्णलाल वर्मा। मूल्य ३॥)

(६) "टॉड-राजस्थान", कर्नल जेम्स टॉड-लिखित इतिहास के प्रथम भाग का दूसरा संस्करण। मूल्य १२)

(७) "पतिव्रता", स्त्रियों के लिये उपयोगी। लेखक, पं० जनार्दन झा। चतुर्थ संस्करण। मूल्य १)

(८) "अनघ", गीति-नाट्य; लेखक, बाबू मैथिली-शरण गुप्त। मूल्य ॥)

(९) "स्वदेश-संगीत", कविताओं का संग्रह। लेखक, बाबू मैथिलीशरण गुप्त। मूल्य ॥)

(१०) "भारत के प्राचीन राजवंश (३ भाग)", राठोरों का इतिहास। लेखक, पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ, साहित्याचार्य। मूल्य ३), ४)

(११) "रवींद्र-कुंज", कविवर रवींद्रनाथ की गल्पों का अनुवाद। मूल्य १)

(१२) "परिणीता", श्रीशरच्चंद्र चट्टोपाध्याय-लिखित उपन्यास। पं० रूपनारायण पांडेय द्वारा अनुवादित। मूल्य १)



१. महारानी खैरीगढ़



ज हम अपने पाठकों को एक ऐसी आदर्श महिला के जीवन का परिचय देते हैं, जिनके समान देवियाँ अगर भारत में थोड़ी-सी भी हो जायँ, तो देश की दशा बहुत कुछ सुधर जाय। यह महिला महोदया श्रीमती सुरथकुँवरि रियासत खैरीगढ़ की महारानी हैं। आप प्रजावत्सला, दयावती, बुद्धिमती, सुशिक्षिता और कर्तव्यपरायणा हैं। श्रीमतीजी का जन्म हिमालय-पर्वत के अंश-विशेष में, एक-मात्र स्वतंत्र हिंदू-राज्य नेपाल के अंतर्गत बझाम नाम से प्रसिद्ध एक छोटी-सी रियासत में, १२ जनवरी, सन् १८६६ ईसवी में, हुआ था। आपकी माता सुशीला और पिताजी बड़े दयालु तथा धर्मनिष्ठ सज्जन थे। जब आपकी अवस्था ६ वर्ष की थी, आपका विवाह रियासत खैरीगढ़ के उत्तराधिकारी महाराज इंद्रविक्रमशाह के साथ हुआ। श्रीमतीजी बाल्यकाल ही से बड़ी धीर, गंभीर और चतुर थीं। आपके दो और सौतें भी थीं, जैसा कि राजों-महाराजों के घर अक्सर हुआ ही करता है। आप पतिव्रताओं के आदर्श पर पति की तन-मन से सेवा करना ही अपना सर्वोपरि धर्म समझती रहीं। पर बहुत दिनों तक कुटिल काल ने आपको पति-सेवा का सुख भोगने नहीं दिया। बीस ही वर्ष की अवस्था में आपके प्रिय पूज्य पतिदेव आपको छोड़कर परमधाम को सिधार गए।

पति के स्वर्गवासी होने से आप पर उदासी छा गई, आप शोक से विह्वल हो उठीं। उस ज़माने में स्त्री-शिक्षा का इतना प्रचार नहीं था। आपको केवल हिंदी ही की शिक्षा प्राप्त हुई थी। राजा साहब के अभाव में राज-काज का सारा भार आप ही के ऊपर आ पड़ा। आपने सबसे पहले अपनी शिक्षा की अत्यंत आवश्यकता समझी, और उसी ओर ध्यान लगाया। आप अँगरेज़ी के साथ-साथ उर्दू भी पढ़ने लगीं। थोड़े ही समय में अपनी प्रखर बुद्धि के कारण आपने दोनों विदेशी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। जब से आपने शासन-सूत्र हाथ में लिया है, तब से आपका विशेष लक्ष्य इसी बात पर रहता है कि प्रजा को कोई कष्ट न मिले—उस पर कोई

किसी प्रकार का अत्याचार न करने पावे। आप प्रजा के अभाव-अभियोगों को सुनने के लिये हर घड़ी तैयार रहती हैं। आप प्रजा को पुत्र-भाव से देखती हैं। यही कारण है कि प्रजा भी आपको सच्ची 'माता' समझकर आप पर अपार श्रद्धा और भक्ति का भाव रखती है। आपका यह गुण बड़े-बड़े राजों के लिये अनुकरणीय है।

एक बार एक महाशय ने महारानीजी से पूछा—महारानीजी, आपके तो कोई पुत्र नहीं है, फिर आप यह सब किसके लिये करती हैं? इसके उत्तर में श्रीमतीजी ने कहा—इस सारी प्रजा को ही मेरे हज़ारों पुत्र समझिए। महारानी साहबा राजनीति में बड़ी प्रवीण हैं, और आपकी धर्म-निष्ठा प्रशंसनीय है। आपने अपने राज्यकाल में अनेक सुधार किए हैं।

आपने विशेष अनुभव प्राप्त करने के लिये यथेष्ट देश-भ्रमण भी किया है। सारे भारत की यात्रा करके ही आपको संतोष नहीं हुआ, आप समस्त योरप की सैर भी कर आई हैं। उस समय तक भारत की सुशिक्षित और विदुषी स्त्रियाँ भी बहुत कम इतनी दूर की यात्रा करने निकलती थीं। विलायत जाकर आपने महामान्य भारत-सम्राट् से भी मिलने का गौरव प्राप्त किया। सम्राट् आपसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए थे। योरप से लौटकर आपने अपनी राजधानी सिंगाही में एक बहुत बड़ा महल बनवाया, जो इस सूबे की इनी-गिनी श्रेष्ठ इमारतों में शुमार किया जाता है। मतलब यह कि श्रीमतीजी एक स्त्री होकर भी सुदक्ष पुरुषों के समकक्ष हैं, और बड़ी ही योग्यता से अपने कर्तव्य का पालन कर रही हैं।

आपने शासन-भार हाथ में लेने के समय से अब तक १० लाख रुपयों से अधिक रक़म दान कर दी है। हिंदू-विश्वविद्यालय, लखनऊ-विश्वविद्यालय, मेडिकल-कॉलेज (लखनऊ), खीमपुर की धर्मसभा, क्रॉसवेट-गर्ल्स-कॉलेज आदि ने आपसे अच्छी आर्थिक सहायता पाई है। इसी प्रकार सैकड़ों सभा-समितियाँ और संस्थाओं के संचालक आपसे सहायता पाते रहते हैं। जो किसी सत्कार्य के लिये सहायता माँगने आता है, वह ख़ाली हाथ नहीं लौटता। सिंगाही में भी आपने एक अनाथालय, एक कन्या-पाठशाला और एक शिशु-सुधारक पाठशाला खोलकर उन्हें पूर्ण सहायता दे रक्खी है।

आपने मंदिर भी कई बनवाए हैं, पर उनमें २ बहुत दर्शनीय हैं। इनमें ३ लाख से भी अधिक रुपए लग गए हैं। शिक्षा-प्रचार की ओर आपका विशेष ध्यान है। स्त्रियों की शिक्षा को आप उतना ही आवश्यक समझती हैं, जितना कि पुरुषों की शिक्षा को। आप भगवान् मनु के इस आदेश की क़ायल हैं कि "कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः", अर्थात् कन्या को भी इसी तरह (लड़के की तरह) अत्यंत यत्न से पालना और शिक्षा देना चाहिए। आपके राज्य में शिक्षा की विशेष उन्नति देख पड़ती है।

आप यथोचित राजभक्ति में भी उतना ही अनुराग रखती हैं, जितना प्रजा-रंजन में। भारत-सरकार को आपने अनेक बार अनेक प्रकार की सहायता दी है। सरकार ने प्रसन्न होकर सन् १९१५ में आपको क़ैसरे-हिंद स्वर्णपदक देकर, और १९१७ में ओ० बी० ई० की उपाधि देकर सम्मानित एवं अलंकृत किया है। गत महायुद्ध के अवसर पर आपने धन-जन से सरकार की यथेष्ट सहायता की थी, जिसके फल-स्वरूप गत वर्ष आप "महारानी" की उपाधि से विभूषित की गई हैं। आपके हृदय में हरदम हिंदी का हित रहता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि अपने राज्य के कार्यालयों में नागरी-लिपि और हिंदी-भाषा के उपयोग की आज्ञा आपने दे दी है, और एक पुस्तकालय भी 'सुरथ-पुस्तकालय' के नाम से स्थापित कर दिया है। आशा है, आपका यह मातृभाषा-प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता रहेगा।

अपनी माता के राज्यशासन से प्रसन्न प्रजा, इसी १६ जनवरी को, बड़े समारोह से उनकी जुबिली का उत्सव मनानेवाली है। हमारी ईश्वर से प्रार्थना है, वह महारानी को चिरायु करे, जिसमें महारानीजी अपनी प्रजा का प्रति-दिन उत्तरोत्तर अधिकाधिक उपकार करने का यथेष्ट अवसर पावें। तथास्तु।

× × ×

२. अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन

कानपुर में कांग्रेस के अवसर पर भिन्न भाषा-भाषियों को हिंदी-कविता की परिपूर्णता, मनोरंजकता और उसके कवियों की प्रतिभा तथा सूझ-बूझ का प्रचुर परिचय देने के उद्देश्य से, कानपुर की प्रायः समग्र साहित्यिक मंडली के उद्योग से—विशेषकर लब्ध-प्रतिष्ठ सहृदय सुकवि

सनेहीजी (पं० गयाप्रसादजी शुक्ल, जिनका दूसरा उपनाम त्रिशूल भी है) की असाधारण चेष्टा से—अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन का अनुष्ठान ठाना गया था। इसके संबंध में पहले ही से पत्रों में पूर्ण प्रचार किया जा चुका था। इसी शहर में, इसी अवसर पर, एक ही उद्देश्य से कतिपय कुपित कवियों की गोष्ठी ने एक दूसरा "अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन" करने की घोषणा कर दी थी। सम्मेलन के निर्वाचित प्रधान सभापति बाबू जगन्नाथदासजी "रत्नाकर" को यह फूट अच्छी नहीं लगी, और वह किस तरह पं० दुलारेलाल भार्गव के साथ कानपुर आकर दोनों दलों में समझौता कराने में सफल हुए, यह पत्रों में पहले ही छप चुका है।

अस्तु। नियत समय पर अर्थात् २६ दिसंबर को केलकर-मैदान में, कांग्रेस-पंडाल के पास ही, सम्मेलन के अधिवेशन का आयोजन किया गया। खड़ी बोली-विभाग के सभापति पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध", ब्रजभाषा-विभाग के सभापति बाबू जगन्नाथप्रसादजी "भानु", संस्कृत-सम्मेलन के सभापति साहित्याचार्य पांडेय रामावतार शर्मा एम्० ए० इत्यादि धुरंधर विद्वान् पहले ही पधार चुके थे। सभापतियों के पधारने पर पहले दिन मंगलाचरण-वंदना के बाद दीनजी का पद्यमय स्वागत-भाषण हुआ। आप पहले दूसरे दल के स्वागत-सभापति निर्वाचित हुए थे। आपके उपरांत सनेहीजी महाराज ने अपना संक्षिप्त अथच ओजस्वी गद्य-भाषण सुनाया। फिर रत्नाकरजी का गवेषणा-पूर्ण भाषण हुआ। यह भाषण इसी संख्या में हम प्रकाशित कर चुके हैं। तदनंतर समस्यापूर्तियाँ पढ़ी गईं। कई युवक कवियों को श्रोताओं ने प्रसन्न होकर स्वर्णपदक और रजतपदक देकर उत्साहित किया।

दूसरे दिन दूसरा दल फिर असंतुष्ट या रुष्ट-सा दिखलाई पड़ा। अंत को निष्कर्ष यह निकला कि उसने शहर में, मेस्टन-रोड पर, आर्यसमाज-भवन में, अपना सम्मेलन अलग किया। सनेहीजी की मंडली को लाचार होकर केलकर-मैदान ही में अलग प्रबंध करना पड़ा। पहले दिन इसी जगह सम्मेलन होने की घोषणा एक तो कर दी गई थी, दूसरे शहर का सारा जन-समूह उस समय तिलक-नगर ही में जमा था। शहर में १००-५० की उपस्थिति भी मुश्किल से हुई होगी। ख़ैर,

दूसरे दिन २०० से अधिक कवियों, लेखकों और संपादकों तथा ७,००० के लगभग श्रोताओं की भीड़ में कार्यारंभ हुआ। मंगलाचरण के पश्चात् हरिऔधजी का उत्कृष्ट भाषण सुनाया गया। यह भाषण भी माधुरी में प्रकाशित होगा। फिर धाराप्रवाह संस्कृत में भाषण करने की शक्ति रखनेवाले प्रसिद्ध पंडित अखिलानंद शर्माजी ने अपना मनोहर व्याख्यान सुनाकर सबको परम परितुष्ट कर दिया। तदनंतर अनेक भाषों के प्रवीण वरपुत्रों ने अपनी रुचिर रचनाओं के बीच कल्पना, अनुभव, प्रतिभा आदि के अनोखे, चोखे चमत्कार दिखलाए। आज तो स्वर्ण और रजत-पदकों की वर्षा ही हो गई। क़रीब १५-१६ पदकों की घोषणा हुई।

तीसरे दिन भी पूर्वोक्त क्रम से कार्य हुआ, और वही शान सम्मेलन की रही। तीनों दिन कानपुर में आए हुए और स्थानीय प्रायः सभी कवि और कविता-प्रेमी उपस्थित होते रहे। उनमें से कुछ विशेष उल्लेख-योग्य नाम ये हैं—बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन, पं० गिरिधर शर्माजी चतुर्वेदी, वियोगीहरिजी, पं० गौरीशंकर भार्गव, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० भीमसेन शर्माजी के सुपुत्र पं० ब्रह्मदत्तशर्माजी, बच्चनेशजी, पं० गणेशबिहारीजी मिश्र, पं० माखनलालजी चतुर्वेदी "एक भारतीय आत्मा," बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त, पं० गोपीवल्लभ उपाध्याय, पं० माधवजी शुक्ल, पं० जगदंबाप्रसाद मिश्र "हितैषी", बाबू रामचंद्र वर्मा, पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी, पं० राधावल्लभ पांडेय 'बंधु", पं० द्विजेश कवि, श्रीयुत लक्ष्मणसिंहजी क्षत्रिय, श्रीलतीफ़ हुसेनजी, 'सरोज', "रमेश", बाबू भगवतीचरण वर्मा, धर्मपालजी, भद्रजी इत्यादि।

चौथे दिन लाला लक्ष्मणदासजी की धर्मशाला में कवियों का एक फ़ोटो लिया गया, जो आगामी संख्या में प्रकाशित किया जायगा। तदनंतर बाबू चंदनलालजी गर्ग के बँगले पर विशेष रूप से काव्य-पाठ हुआ। वहाँ हरिऔधजी ने अपनी अनूठी घनाक्षरी सुनाकर सबको संतुष्ट कर दिया। रत्नाकरजी ने अपने अप्रकाशित नवनिर्मित "गंगावतरण"-काव्य के दो सर्ग ऐसे तल्लीन होकर सुनाए कि सामने चित्र-सा खींच दिया। इसके बाद इस सम्मेलन को स्थायी संस्था का रूप देने पर विचार किया गया, और सर्वसम्मति से "भारतीय हिंदी-कवि-सम्मेलन" के नाम

से स्थापित इस संस्था की एक स्थायी समिति बना दी गई, जिसका दफ़्तर अभी कानपुर ही में रहेगा। पदाधिकारियों का चुनाव इस प्रकार किया गया—सभापति, बाबू जगन्नाथदासजी रत्नाकर; उपसभापति, पं० दुलारेलालजी भार्गव (माधुरी-संपादक), पं० गयाप्रसादजी शुक्ल 'सनेही' और तीसरे और एक स्थानीय सज्जन; मंत्री, पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक और पं० रूपनारायण पांडेय; कोषाध्यक्ष, बाबू चम्पनलालजी; तथा आडिटर, लाला शालग्राम बज़ाज़। समिति के सभ्यों की संख्या १०१ तक रखने का निश्चय किया गया। फ़िलहाल कोई ६०-७० नाम सब प्रांतों से चुने गए हैं। नियम आदि बनाने के लिये ६ आदमियों की एक समिति बना दी गई है।

अगले साल के लिये अर्थात् द्वितीय भारतीय हिंदी-कवि-सम्मेलन के लिये गोरखपुर, लखनऊ और भरतपुर से निमंत्रण आए थे; लेकिन बहुसम्मति से लखनऊ का ही निमंत्रण स्वीकृत हुआ। इस प्रकार यह शुभ अनुष्ठान आशातीत सफलता के साथ सुसंपन्न हुआ। आशा है, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की तरह यह सम्मेलन भी स्थायी रूप पाकर हिंदी के आधुनिक पद्य-विभाग और उसके निर्माता विधाताओं का बहुत अधिक उपकार कर सकेगा। तथास्तु।

× × ×

३. म्युनिसिपल निर्वाचन और स्वराजिस्ट

संयुक्त-प्रदेश में म्युनिसिपलिटियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के निर्वाचन समाप्त हो गए। इस बार सर्वत्र ही स्वराज्य-दल के उम्मेदवारों को असफलता प्राप्त हुई। दो-एक स्थानों में इस दल को आंशिक सफलता अवश्य प्राप्त हुई है; पर साधारण तौर से स्वराज्य-दल के उम्मेदवार हारे, और बहुत बुरी तरह से हारे। लखनऊ का सारा बोर्ड स्वराज्य-दल का अनुयायी था। पर इस बार एक भी हिंदू स्वराजिस्ट सफल न हो सका। हिंदू-सभा के उम्मेदवारों को सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई। लखनऊ के म्युनिसिपल बोर्ड में इस बार जिन हिंदू-सदस्यों का प्रवेश हुआ है, उनमें अधिकांश अनुभव-शून्य और इस काम से अपरिचित हैं। लोगों का ख़याल है कि ऐसा कमज़ोर बोर्ड कभी नहीं बना। बोर्ड के चेयरमैन हैं रायबहादुर श्रीयुत त्रिलोकीनाथजी भार्गव। आपकी नीति लिबरल-दल की नीति है। प्रयाग का सहयोगी लीडर आपकी नियुक्ति से बहुत प्रसन्न है। हम बोर्ड के नए सदस्यों तथा उसके योग्य चेयरमैन को बधाई देते हैं, और आशा करते हैं कि लोगों के अनुमान को भ्रांति-पूर्ण साबित करते हुए नवीन बोर्ड शहर के स्वायत्त-शासन का विधान योग्यता से करेगा, और अभी से अपनी सारी शक्ति इस काम में लगा देगा। हमें पराजित स्वराजिस्टों के साथ सहानुभूति है। हम उनकी पराजय से दुखी हैं। भारती-समाज के मामले में हमारा-उनका मत मिलता हो या नहीं; पर हम मानते हैं कि वे किसी सिद्धांत को लक्ष्य में रखकर काम करते थे। उनकी नीति धींगाधींगी की नहीं थी। म्युनिसिपल बोर्ड की सेवा करने में उन्होंने स्वार्थपरता का परिचय नहीं दिया। स्वराजिस्टों की सत्ता कम-से-कम इस बात का प्रमाण है कि हिंदू-मुसलमानों में विरोध न हो, इस विचार के शिक्षित और देशभक्त नेता मौजूद हैं, और इस मामले में उनकी नीति इतनी बेलौस है कि भविष्य में उनके द्वारा इस प्रश्न के सुलझाने में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी। खेद है कि जनता इस समय स्वराज्य-दलवालों से पूर्णतया असंतुष्ट है। आगामी वर्ष व्यवस्थापिका सभाओं का भी निर्वाचन होनेवाला है। यदि स्वराजिस्टों के प्रति जनता का असंतोष इसी परिमाण में बना रहा, तो हमें भय है कि म्युनिसिपल निर्वाचनों के समान ही व्यवस्थापिक सभाओं से भी उनका बहिष्कार हो जायगा। स्वराज्य-दल के नेता को इन सब बातों पर गंभीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए, और किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचना चाहिए, नहीं तो स्वराज्य-दल का अस्तित्व ही संदिग्ध हो जायगा। इस दल की पिछली सेवाओं का स्मरण करके हम नहीं चाहते हैं कि इसकी असामयिक मृत्यु हो।

× × ×

४. कानपुर की कांग्रेस

कानपुर की कांग्रेस हो गई, और बहुत धूमधाम के साथ हो गई। जहाँ तक प्रदर्शन और प्रचार का संबंध है, वहाँ तक संयुक्त-प्रदेश में इससे बढ़कर और कोई कांग्रेस नहीं हुई। परंतु जब इस बात को सोचते हैं कि वास्तव में इसने राष्ट्र का हित कहाँ तक किया, तो उस समय निश्चय-पूर्वक कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ती। केवल इतना कहकर संतोष करना पड़ता है कि यह बात तो भविष्य ही बतलावेगा। कांग्रेस की

अध्यक्षा श्रीमती सरोजिनी नायडू का भाषण कवितामय होते हुए भी बिलकुल साधारण था । उसमें राष्ट्र की समस्याओं पर गंभीर विवेचन न था । और, सफलता के लिये भविष्य में किन उपायों का अवलंब लेना चाहिए, इस पर तो नाम-मात्र को प्रकाश डाला गया था । हम इस भाषण को पढ़कर आशान्वित नहीं हुए । श्रीमती हिंदू-मुसलमान-एकता की सबसे बड़ी पृष्ठपोषिका हैं; परंतु इस समस्या को हल करने का उन्होंने कोई भी प्रकृत उपाय नहीं बतलाया । कानपुर की कांग्रेस में पं० मोतीलाल नेहरू की व्यक्तिगत विजय हुई है । उनके अनुयायी स्वराज्य-दलवालों ने कांग्रेस को अपने हाथ में कर लिया है । इस विजय से नवीन निर्वाचन में स्वराज्य-दल को बड़ी सुविधा होगी, और बहुत संभव है कि पूर्व निर्वाचन के समान इस बार भी उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हो । कम-से-कम यह निश्चित बात है कि सन् १९२६ में कांग्रेस वही करेगी, जो उससे पं० मोतीलालजी कराना चाहेंगे । इस समय कांग्रेस में पं० मोतीलालजी के अतिरिक्त महात्मा गांधी, लाला लाजपतराय और पं० मदनमोहन मालवीय ही ऐसे तीन व्यक्ति हैं, जिनको विशेष प्रभावशाली नेता कह सकते हैं । सुनते हैं, लालाजी ने स्वराज्य-दल से अपना संबंध जोड़ लिया है, और महात्मा गांधीजी ने यह निश्चय कर लिया है कि वह साल-भर तक सत्याग्रह-आश्रम में आराम करेंगे, राजनीति में भाग न लेंगे—केवल सत्याग्रह-आश्रम का सुधार और स्पिनर्स एसोसिएशन का प्रचार करेंगे । अकेले मालवीयजी ही ऐसे कांग्रेसमैन हैं, जो स्वराज्य-दल का विरोध कर सकते हैं । पर यह स्पष्ट है कि लालाजी और नेहरूजी की संयुक्त शक्ति के सामने उनकी बात न चल सकेगी । इसी से कहना पड़ता है कि सन् १९२६ में कांग्रेस की बागडोर बिलकुल पं० मोतीलालजी नेहरू के हाथ में रहेगी । सन् १९१६ में लखनऊ में जो कांग्रेस हुई थी, उसमें और कानपुर की कांग्रेस में बहुत बड़ा अंतर था । लखनऊ की कांग्रेस मेल की कांग्रेस थी । उसमें हिंदू-मुसलमान और नरम-गरम, सभी दल सम्मिलित थे । जो कुछ काररवाई होती थी, सबकी राय से । पर कानपुर में वह बात न थी । नरम-दल कांग्रेस से कोसों दूर था । मुसलमान भी उँगलियों पर गिनने-भर को थे । अपरिवर्तनवादी दल घोर असंतुष्ट था । स्वयं स्वराज्य दल में फूट थी । श्रीकेलकर, जयकर, मुंजे और अणे-जैसे नेताओं ने सहयोग-प्रतिसहयोग का झंडा खड़ा करके ज़बर्दस्त आंदोलन कर रक्खा था । लखनऊ-कांग्रेस में प्रतिनिधि कम थे, दर्शक भी कम थे; पर जितने थे, सबका ध्येय एक था । कानपुर में दर्शक अधिक थे, प्रतिनिधि भी अधिक थे, तिलकनगर की शोभा भी अनुपम थी; पर हृदयों की एकता न थी । किंतु सबसे अधिक आवश्यकता इसी एकता की थी । ख़ैर, कांग्रेस हो गई, और स्वराज्य-दल ने विजय भी पा ली । अब देखना यह है कि अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वह राष्ट्र हित-साधन में कहाँ तक तत्परता दिखलाता है । स्वराज्य-दल का उत्तरदायित्व बहुत कुछ बढ़ गया है । उसे चाहिए कि कोरे प्रदर्शन को छोड़कर अब कोई ठोस काम करके दिखलावे ।

× × ×

५. मुसलिम-लीग के सभापति का भाषण

इस बार बड़े दिन की छुट्टियों में आल इंडिया मुसलिम-लीग के अधिवेशन अलीगढ़ में हुए । लीग के सभापति सर अब्दुररहीम थे । सभापति की हैसियत से आपने जो भाषण दिया है, उसको पढ़कर देश-भर में हलचल मच गई है । उससे हिंदू-मुसलिम-एकता के भाव को गहरी ठेस लगी है, राजनीतिक प्रगति का कार्य पीछे ढकेला गया है, और मुसलमानों के स्वत्वों के संबंध में अतिशयोक्तियों से काम लिया गया है । स्टेट्समैन-जैसे एँग्लो इंडियन पत्र को भी सर अब्दुररहीम के भाषण पर आपत्ति है, और पायोनियर ने भी आपके विचारों की प्रशंसा नहीं की । प्रयाग के लीडर ने तो एक लंबा अग्रलेख लिखकर लीग के सभापति के भाषण की कड़ी आलोचना की है । हाँ, देश में ऐसे भी पत्र हैं, जो सभापति महोदय के भाषण से प्रसन्न हैं । ऐसे पत्रों में 'मुसलिम आउटलुक' का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है । इस पत्र के विचारों से माधुरी के पाठकों का परिचय कराया जा चुका है । सर अब्दुररहीम ने अपने भाषण में हिंदू-महासभा की घोर निंदा की है । आपकी राय है कि महासभा द्वारा इसलाम-धर्म को चुनौती दी गई है, उसके कारण वह इस समय भयानक ख़तरे में है, तथा मुसलमानों के राजनीतिक स्वत्वों पर भी संकट आ पड़ा है । और, यह सब हिंदू-महासभा के ही कारण हो रहा है । आपने मुसलमानों को सलाह दी है कि वे सब मिलकर

हिंदुओं के संगठन-कार्य का पूर्ण प्रतीकार करें, और निश्चय-पूर्वक उनके इस कार्य को रोकें। सर अब्दुररहीम को इस बात का बड़ा दुःख है कि अँगरेज़ों की संगीनों से शांति की व्यवस्था रहती है, जिसके कारण मुसलमान हिंदुओं की संगठन-संबंधी हरकतों को नहीं रोक पाते। आपने यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट कर दी है कि हिंदू और मुसलमान दो पृथक् जातियाँ हैं, जिनमें समानता बिलकुल नहीं है। आपका कहना है कि जब कोई मुसलमान मध्य-एशिया या आफ्रिका के मुसलमान-देशों में जाता है, तो उसे यह अनुभव होता है कि मानो वह अपने घर पर आपस के लोगों के बीच में ही हो; पर जब कभी वही व्यक्ति हिंदुस्तान में ही किसी शहर के उस महल्ले में चला जाता है, जिसमें हिंदू-ही-हिंदू रहते हैं, तो उसे ऐसा जान पड़ता है कि मानो वह विदेशियों के बीच में आ फँसा है। सर अब्दुररहीम की राय में अभी देश स्वराज्य पाने के योग्य नहीं है। आप मुसलमानों के लिये पृथक् निर्वाचन के पूर्ण समर्थक हैं, और सो भी इस प्रकार कि जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक हो, वहाँ तो उन्हें संख्या के अनुसार निर्वाचन-स्वत्व प्राप्त हो, और जहाँ वे अल्प-संख्यक हों, वहाँ सर्वत्र ही उनको ३३ प्रतिशतक दिलाया जाय। इस प्रकार सर अब्दुररहीम ने अपने हृदय के उद्गारों को बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है। अब यह बात एक प्रकार से निर्विवाद है कि वर्तमान राजनीतिक आंदोलन में मुसलमान हिंदुओं के साथ मिलकर काम नहीं करना चाहते। कानपुर-कांग्रेस में बहुत थोड़े मुसलमान एकत्र हुए थे। हम कई बार लिख चुके हैं कि हिंदुओं को इन सब बातों से यथेष्ट शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, और स्वावलंबी बनकर ही काम करना चाहिए। झूठे मेल के लालच में पड़कर हिंदुओं को इस समय कमज़ोरी नहीं दिखलानी चाहिए। संख्या के विचार से मुसलमानों को निर्वाचन में जितना अधिकार मिलना चाहिए, उससे अधिक देने के लिये हिंदुओं को कदापि तैयार न होना चाहिए।

× × ×

६. मुसलिम-राज्य

अंगोरा में कमालपाशा की शूरता संसार देख चुका। इस वीर पुरुष की बदौलत आज टर्की की साख फिर भी बची हुई है। हेजाज में सुलतान इब्नसऊद का प्रबल पराक्रम भी रंग ला रहा है। ईरान में नए शाह का राज्याभिषेक धूमधाम से हो चुका है। अफ़ग़ानिस्तान के अमीर अमानुल्लाख़ाँ आज बिलकुल स्वतंत्र हैं। अब उनको कोई अँगरेज़ का कर-द नहीं कह सकता। जग-लुलपाशा के अध्यवसाय से मिसर की स्वाधीनता भी सुरक्षित है, और रीफ़ों के अनुपम शौर्य के सामने स्पेन और फ्रांस की संयुक्त शक्ति पेश नहीं पा रही है। इस प्रकार संसार का प्रत्येक प्रतिष्ठित मुसलमान-राज्य नए उत्साह और उमंग के साथ स्वार्थ-रक्षा में तत्पर है। इन सभी राज्यों में स्वतंत्रता की एक नई लहर बह रही है। सुनते हैं, ये सभी मुसलमान-राज्य आपस में समझौता करके और एकता के सूत्र में बँधकर अपने अस्तित्व को और भी सुदृढ़ बनाने का उद्योग कर रहे हैं। एक प्राचीन धर्म को माननेवालों और उस धर्म के अनुयायियों की, जिसका प्रादुर्भाव एशिया में ही हुआ है, ऐसी उन्नति और समृद्धि देखकर किस एशियावासी का हृदय प्रसन्न न होगा? एशियावासी ही क्यों, स्वतंत्रता के प्रत्येक पुजारी को मुसलमानों के इस अभ्युत्थान में आनंद प्राप्त होगा। फिर भला भारत के मुसलमान ऐसे शुभ अवसर पर क्यों न गद्गद हो जायँ? उनमें नए उत्साह का प्रादुर्भाव क्यों न हो? यहाँ तक तो हिंदू भी उनके आनंद में सम्मिलित हैं। भाई के सहधर्मियों की विजय उनको भी अच्छी लगती है। वे भी चाहते हैं कि टर्की, मरक्को, मिसर, अरब, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, टर्की आदि सभी देश स्वतंत्र रहें, और भविष्य में एशिया के स्वतंत्र होने का मार्ग दिखलाते रहें। पर भारत के मुसलमान हिंदुओं से एक बहुत बड़े त्याग की आशा करते हैं। उनका ख़याल है कि समय पाकर भारतवर्ष भी मुसलमानों की अधीनता में आ जायगा, और यहाँ भी एक बार फिर से मुसलमानी हरा झंडा फहराने लगेगा। भारत के मुसलमान चाहते हैं कि हिंदू लोग उनके इस मुसलिम-राज्य के स्वप्न को चरितार्थ करने में मदद करें, और इसी को स्वराज्य भी मान लें। यह एक बहुत बड़ी महत्त्वाकांक्षा है। हिंदू लोग मुसलिम-राज्य को स्वराज्य नहीं मान सकते, यह बात अब मुसलमानों को अच्छी तरह मालूम हो गई है। हिंदू-महासभा, शुद्धि और संगठन के कार्य-कलाप से यह बिलकुल स्पष्ट है कि हिंदू लोग मुसलिम-

राज्य का प्रयोग अपने ऊपर न होने देंगे। एक बार उन पर वही प्रयोग हो चुका है, और अब तक वे उसका परिणाम भोग रहे हैं। यदि कहीं दुबारा वे इसी चक्कर में पड़ गए, तो उनका अस्तित्व भी न रह जायगा। भारतवर्ष के बाहर मुसलमानों के स्वतंत्र और उत्कर्ष से हिंदू प्रसन्न हैं; पर भारत में तो वे स्वराज्य चाहते हैं। वे चाहते हैं कि इस देश के शासन में हिंदू और मुसलमान, सभी सम्मिलित रहें। सभी को धार्मिक स्वतंत्रता रहे, और योग्यता की कसौटी पर सबको उन्नति करने का अवसर मिले। वे न तो मुसलिम राज्य चाहते हैं, और न हिंदू-स्वराज्य। यदि उनकी इस बात से मुसलमान चिढ़ते हैं, तो चिढ़ा करें, मजबूरी है। हिंदू-मुसलमानों का आधिपत्य स्वीकार करके अपनी अत्यंत प्राचीन सभ्यता को नष्ट नहीं करना चाहते। प्रत्येक हिंदू का कर्तव्य है कि वह भारत में मुसलिम-राज्य की विभीषिका न उपस्थित होने दे।

× × ×

७. 'हिंदी-नवरत्न' और उसके समालोचक

मिश्रबंधुओं के 'हिंदी-नवरत्न'-ग्रंथ पर समय-समय पर अनेक समालोचनाएँ निकली हैं। इधर जब से उक्त ग्रंथ का दूसरा संस्करण निकला है, तब से फिर उस पर समालोचनाओं का प्रारंभ हुआ है। किसी भी ग्रंथ की समालोचना का होना बुरा नहीं, परंतु शर्त यह है कि समालोचना वास्तव में समालोचना हो। हम 'हिंदी-नवरत्न' को निर्दोष नहीं कहते। हमारी राय है कि उसमें अब भी अनेक दोष हैं। हम यह भी मानने को तैयार हैं कि कई समालोचकों ने उसमें जो दोष दिखलाए हैं, उनमें से कुछ ठीक भी हैं। पर यह सब होते हुए भी हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि अधिकतर समालोचक नवरत्नकारों के साथ न्याय नहीं कर रहे हैं। 'नवरत्न' नाम को लेकर ही हम देखते हैं कि बहुधा समालोचक आक्रमण कर बैठते हैं। वे कहते हैं कि ग्रंथ में 'रत्न'-शब्द की ऐसी परिभाषा नहीं दी गई है कि जिस कवि में अमुक-अमुक गुण हों, वही रत्न है। हमारी राय में संस्कृत-कोषों के अनुसार भी 'रत्न'-शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है। जहाँ तक हम समझते हैं, मिश्रबंधुओं का 'नवरत्न'-नाम से हिंदी के नव सर्वोत्कृष्ट कवियों से अभिप्राय है। ग्रंथकारों ने ग्रंथ के आवरण-पृष्ठ पर यह बात स्पष्ट भी कर दी है। फिर वे ग्रंथ में 'रत्न' की और क्या परिभाषा देते? दूसरी यह आपत्ति भी प्रायः सुनी जाती है कि आख़िर किस कसौटी पर कसकर मिश्रबंधुओं ने कवियों को उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ठहराया? वह कसौटी वे सर्वसाधारण को क्यों नहीं बतलाते? उनकी उस कसौटी को जाने बिना उनकी बात पर कैसे और क्यों विश्वास किया जाय? इत्यादि। यह आपत्ति भी हमारी राय में ठीक नहीं। जहाँ तक हमें पता चला है, मिश्रबंधुओं के पास कविता कसने की कोई नई कसौटी नहीं है। यदि होती, तो वह एक असाधारण वस्तु होती, और मिश्रबंधु उसका बड़े गर्व के साथ उल्लेख करते। पर हम तो जानते हैं कि उनके पास ध्वनि, रस, अलंकार, पिंगल और लक्षणा आदि से विभूषित कविता-रीति-रूपी वही कसौटी है, जो प्रत्येक साहित्य-मर्मज्ञ के पास रहती है। इसी कसौटी पर कसकर उन्होंने कवियों को उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ठहराया है। कसने का काम कैसे किया गया है, यह भी मिश्रबंधु-विनोद के प्रथम भाग में लिख दिया गया है। उसमें तुलसी, देव तथा बिहारी आदि कई कवियों की कविता अच्छी तरह कसौटी पर कसी गई है। मिश्रबंधु अँगरेज़ी समालोचना-शैली से भी परिचित हैं। इसलिये उन्होंने उस दृष्टि से भी विचार किया है। 'नवरत्न' में उन्होंने बतलाया है कि अमुक कवि का अमुक संदेश है, तथा उसने चरित्र-चित्रण और कथा-विस्तार में कैसे सफलता प्राप्त की है, इत्यादि। 'नवरत्न' की भाषा पर भी बहुत-से आक्षेप किए जाते हैं। यद्यपि इस संबंध में हम अपनी राय नहीं देना चाहते, परंतु यह अवश्य कह सकते हैं कि भाषा के संबंध में मिश्रबंधुओं ने जो सिद्धांत निश्चित कर रक्खे हैं, वे विचार करने-योग्य अवश्य हैं। उनके श्रेणी-विभाग पर भी बहुत-से लोगों को आपत्ति है। पर, जैसा कि माधुरी के किसी एक नोट में दिखलाया जा चुका है, बिना श्रेणी-विभाग का आश्रय लिए कविता का इतिहास लिखना कठिन है। हिंदी के नव सबसे अच्छे कवि कौन हैं, इस विषय में मतभेद की गुंजाइश है; पर केवल इस संभावना के बल पर मिश्रबंधुओं पर भद्दे आक्षेप करना समालोचना की छीछालेदर करना है। इन्हीं सब बातों को देखकर कहना पड़ता है कि 'नवरत्न' के समालोचक नवरत्नकारों के प्रति न्याय-भाव का परिचय नहीं दे रहे हैं।

× × ×

८. हिंदी में समालोचना

अँगरेज़ी में पुस्तकों की जो समालोचनाएँ लिखी जाती हैं, उनकी भाषा खूब संयत और गंभीर होती है। उसमें व्यक्ति-गत आक्षेप नहीं आने पाते। उथली और खूब चटपटी भाषा में लिखी आलोचनाओं को अँगरेज़ी में बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। बात यह है कि समालोचना का काम न्याय का है। समालोचक की हैसियत न्यायाधीश की है। यदि न्यायाधीश में गंभीरता न हो, यदि वह संयत भाषा का प्रयोग न करे, तो उसकी बात कौन सुनेगा? क्या कभी मसख़रे और उथली बातों का आश्रय लेनेवाले न्यायाधीश का प्रभाव हो सकता है? ठीक यही दशा समालोचक की है। उसको भी न्यायाधीश की मुद्रा का अनुकरण करना चाहिए, अन्यथा उसकी बात के न माने जाने का भय है। खेद है, हिंदी में गंभीर और संयत भाषा में लिखी समालोचनाओं की अपेक्षा उथली, मसख़रेपन से भरी और व्यक्ति-गत आक्षेपों से परिपूर्ण तथा खूब चटपटी भाषा में लिखी समालोचनाओं का ही विशेष आदर है। ऐसी समालोचनाओं में जितना ही "वाह-वाह!", "अहाहा", "क्या कहते हैं", "बाज़ी मार ली है" आदि के प्रयोग अधिक दिखलाई पड़ते हैं, उतना ही अर्द्धशिक्षित पाठक उन पर अधिक लट्टू होते दिखलाई पड़ते हैं। इन समालोचनाओं की एक और भी विशेषता बनाई जा रही है। उनमें उर्दू-भाषा के शब्द बेतरह भर दिए जाते हैं, और उसी भाषा के पद्यों की भी भरमार कर दी जाती है। कभी-कभी तो इन समालोचनाओं में ऐसे वर्णन भी पढ़ने को मिलते हैं, जिनको पढ़ते समय यह जान पड़ता है कि किसी नाच-रंग के समाज में कोई विदूषक किसी को बना रहा है। ऐसे वर्णनों का लेखक भी समालोचक की पदवी पा जाय, इसकी संभावना अनियंत्रित हिंदी-साहित्य-संसार में ही है, अन्यत्र नहीं। पं० रामचंद्र शुक्ल का यह कहना बिलकुल यथार्थ है कि "अहाहा" और "वाह-वाह" की वाहवाही आलोचनाओं का समालोचना कहा जाना जितनी जल्द बंद हो जाय, उतना ही हिंदी का कल्याण है। समालोचना और चीज़ है, और मसख़रापन और चीज़। ये दोनों एक नहीं हो सकतीं। हिंदी में समालोचना के साथ मसख़रापन भी जोड़ रक्खा गया है, और जो समालोचक एकआध काम की बात के साथ दस-बीस अंट-संट मसख़रेपन की बातें कह जाय, उसको लोग समालोचक-शिरोमणि मानने लगते हैं। वह भी अपने इस अनुचित सम्मान से फूलकर अपने मसख़रेपन को अत्यंत भद्दे और विकृत भंडपन में परिवर्तित कर देता है। अँगरेज़ी में समालोचना ज्ञान की वृद्धि, सत्साहित्य के प्रोत्साहन और असत्साहित्य के रोकने के लिये होती है। पर हिंदी में उससे अधिकतर कलह-विवाद, एक दूसरे को बनाने तथा ज़लील करने का काम लिया जाता है। हिंदी में समालोचकों और ग्रंथकारों में वैसा सद्भाव नहीं है, जैसा अँगरेज़ी में। हिंदी में तो अभी यह स्थिति है कि यदि समालोचक ने अपने किसी मित्र ग्रंथकार की कृति में कोई उचित दोष भी दिखला दिया, तो मानो उसने अपनी पूर्व मित्रता को तिलांजलि दे दी। कितनी असहिष्णुता है? ईश्वर वह दिन शीघ्र लावे, जब हिंदी में भी सच्चे समालोचक और सहिष्णु ग्रंथकार देखने को मिलें। अभी तो हिंदी में समालोचना का नाम बदनाम किया जा रहा है।

× × ×

९. वृंदावन का कवि-सम्मेलन

वृंदावन के कवि-सम्मेलन के संबंध में माधुरी में एक नोट निकल चुका है। इधर कुछ सज्जनों ने उक्त सम्मेलन के विषय में कुछ और भी बातें प्रकाशित की हैं। एक सज्जन कहते हैं कि कवि-सम्मेलन दो दिन न होकर तीन दिन हुआ था, और स्त्रियाँ अश्लील पद्य पढ़े जाने के कारण नहीं उठ गई थीं, बल्कि अधिक समय हो जाने के कारण ही वे वहाँ अधिक समय तक नहीं ठहरीं। दूसरे सज्जन कहते हैं कि वृंदावन का कवि-सम्मेलन बहुत सफल रहा, और जो लोग उसे असफल बतलाते हैं, वे यथार्थ बात नहीं कहते। इन्हीं सज्जन की यह भी राय है कि जो पद्य अश्लील कहा जा रहा है, वह अश्लील नहीं है; कविता पाठ के समय एक युवक ने जो दो-एक प्रश्न किए थे, वे बिलकुल अनुचित तथा अशुद्ध थे, तथा कवि ने पद्य-विशेष में जो अलंकार बतलाया था, यथार्थ में उसमें वही अलंकार था। इन नवीन बातों के मालूम हो जाने से हम भी इस संबंध में फिर से कुछ निवेदन कर देना चाहते हैं। यदि कवि-सम्मेलन दो के स्थान में तीन दिन हुआ, तो इससे माधुरी में प्रकाशित नोट में कुछ विशेष अंतर नहीं पड़ता। प्रश्न यह है

कि उसमें कितनी अश्लील-पूर्ण कविताएँ पढ़ी गईं ? यदि सम्मेलन केवल एक दिन के लिये हो, और उसमें उत्कृष्ट कविताएँ पढ़ी जायँ, तो वह उस सम्मेलन से कहीं अच्छा होगा, जो कई दिन हो, पर जिसमें कोरी तुकबंदियों को प्रश्रय दिया जाय। ख़ैर, हमें यह मान लेने में कुछ भी आपत्ति नहीं कि सम्मेलन दो के स्थान में तीन दिन हुआ। स्त्रियाँ अश्लील पद्य को सुनकर उठ गईं या यों ही, इस प्रश्न का उत्तर भी बहुत सहज है। जो महिलाएँ सम्मेलन में उपस्थित थीं, वे सभी पढ़ी-लिखी हैं। वे अब भी इस बात को प्रकट कर सकती हैं कि हम अश्लील कविताएँ पढ़ने के कारण नहीं उठ गई थीं। उनके हस्ताक्षरों से युक्त एक पत्र इस विवाद को शांत कर सकता है। जो कविता अश्लील बतलाई जाती है, वह अब छप भी गई है। हमने भी उसे पढ़ लिया है। वह एक साधारण पद्य है। उसमें 'गृहपति'-शब्द द्वारा स्त्रियों की एक विशेष दशा का स्पष्ट उल्लेख है। जो लोग सभा-समाज में स्त्रियों के समक्ष ऐसे पद्यों का पढ़ा जाना शिष्टता-पूर्ण समझते हैं, उनसे हमें कुछ नहीं कहना। पर हम तो उक्त विशेष दशा का वर्णन अश्लील ही समझते हैं। ऐसे वर्णनों में लज्जा और घृणा, इन दोनों ही भावों का समावेश होता है, और इसी से वे असभ्यता-पूर्ण तथा अश्लील माने गए हैं। यह बात साहित्य-शास्त्र से भी सिद्ध है। हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि सभा-समाजों में हम अपनी माताओं और बहनों के सामने उनके...धर्म का वर्णन करने की धृष्टता करें, और फिर उसे उचित भी बतलावें, यह किस युग की सभ्यता का परिचय है। वृंदावन का कवि-सम्मेलन ख़ूब सफल रहा, यह बात भी सहज में ही प्रमाणित की जा सकती है। वहाँ जितने पद्य पढ़े गए थे, वे यदि प्रकाशित कर दिए जायँ, तो मामला सहज में साफ़ हो जाय, लोग यह जान सकें कि सम्मेलन कैसा रहा ? जब तक वे पद्य नहीं छापे जाते, तब तक हम निस्संकोच होकर कवि-सम्मेलन को असफल मानते हैं। सम्मेलन में नवयुवक ने जो प्रश्न किए थे, वे उचित थे या अनुचित, कविजी ने पद्य-विशेष में जो अलंकार बतलाया था, वह ठीक था या नहीं, इस पर विवाद की बहुत कम ज़रूरत है। यदि अधिकारीगण वह पद्य तथा कवि द्वारा बतलाया अलंकार एवं नवयुवक के प्रश्न किसी पत्र में दें, तो साहित्य-शास्त्र के ग्रंथों की बदौलत विद्वान् पाठक सब बात स्वयं समझ लेंगे। सारांश यह कि वृंदावन-कवि-सम्मेलन के संबंध में माधुरी में जो नोट निकला था, और उसमें जो बातें कही गई थीं, उनको हम अब भी प्रायः उसी रूप में दुहराने में कोई हर्ज नहीं समझते।

× × ×

१०. समाचार-प्रकाशन के साधन

प्रेस-एसोसिएशन और रूटर-कंपनी का प्रधान प्रतिद्वंद्वी सेंट्रल-न्यूज़-एजेंसी है। लैफ़नस् सर्विस और एजेंस हवास भी ऐसी ही एजेंसियाँ हैं। ये सब अंतरराष्ट्रीय हैं। ख़ास इँगलैंड में टेलीग्राफ़-कंपनी और लंदन न्यूज़-एजेंसी प्रेस एसोसिएशन का मुक़ाबला करने को बनाई गई हैं। इनके अतिरिक्त ख़ास-ख़ास विषयों से संबंध रखनेवाली भी बहुत-सी कंपनियाँ हैं। अमेरिका और योरप में कुछ कंपनियाँ प्लेट-मेटर का व्यापार करती हैं। इसकी कथा बड़ी ही कुतूहलजनक है। कुछ छोटी कंपनियाँ ऐसी हैं, जो समाचारों का संग्रह करती हैं, संपादन कराती हैं, और एक ख़ास काग़ज़ पर छपा भी लेती हैं। इस प्रकार के सुव्यवस्थित समाचार को प्लेट-मेटर कहते हैं। प्लेट-मेटर बने-बनाए शर्बत के समान है, जिसके पी लेने-भर की देरी है। और, उस पर मज़ा यह कि सस्ता भी ख़ूब बिकता है। ऐसे समाचारों की बिक्री कालम की दर से होती है। ख़बर, कथा, राजनीतिक मत अथवा हँसी-मज़ाक, चाहे जो कुछ हो, सभी का प्लेट-मेटर एक ही भाव से ख़रीद लीजिए। संध्या-समय प्रकाशित होनेवाले अधिकांश पत्रों में प्रधानता खेल-तमाशा और जुआँ तथा शिकार के समाचारों की दी जाती है। अस्तु, इस प्रकार के समाचारों को पहले प्रकाशित करने के बारे में पत्रों में होड़-सी हो पड़ती है। बड़ा ज़बर्दस्त मुक़ाबला होता है। परंतु कल की बदौलत अब इस मामले में भी भिन्न-भिन्न पत्रों में आगे-पीछे का थोड़ा-सा ही भेद पड़ता है। यह होड़ सबसे पहले इँगलैंड के प्रदेशों में प्रचलित हुई थी। जिस कल की सुविधा का ऊपर उल्लेख हुआ है, उसके आविष्कर्ता मैंचेस्टर निवासी मि० मार्क स्मिथ हैं। आपका यह आविष्कार 'लेट-न्यूज़-डिवाइस', 'स्टॉप-प्रेस-बॉक्स' तथा 'फ़ज' नाम से प्रसिद्ध है। मान लीजिए कि चार बजे से कोई फुटबाल-मैच हो रहा है, और संध्या-समय का पत्र छः बजे प्रकाशित होने को है, और ऐसी दशा में यह

निश्चित है कि साढ़े चार-पाँच बजे तक पत्र कंपोज़ होकर ठीक हो जायगा। मान लीजिए, जिस समय पत्र का अंतिम कालम छपकर अलग किया गया, ठीक उसी समय फ़ुटबाल-मैच भी ख़तम होता है, तो अब यह समाचार क्या कल के लिये बाक़ी छोड़ दिया जाय? भारत में चाहे यह संभव हो, पर योरप और अमेरिका के अधिवासी भला ऐसे समाचार को इतनी देर तक कैसे अप्रकाशित रख सकते हैं? अतएव संध्या-समय के पत्रों में स्थान-विशेष कोरा छोड़ दिया जाता है, और समग्र पत्र छप जाने पर अंत में जो समाचार मिलता है, उसको इस छोड़े हुए स्थान में फिर छाप लेते हैं। इसके लिये छापे की मशीन में भी कुछ परिवर्तन करना पड़ता है। ऊपर समाचार-पत्रों में जो स्थान छोड़ देने की बात कही गई है, उसी को स्टॉप-प्रेस-बॉक्स कहते हैं। अब तो प्रायः सभी बड़े पत्रों में इसका प्रबंध रहता है। पहले इस तरकीब का पेटेंट राइट था, पर अब इस मामले में सभी स्वाधीन हैं। पेटेंट-राइट के समय में समाचार-पत्र इस विषय पर ख़ूब मुक़दमेबाज़ी भी करते थे।

× × ×

११. भारतीय नाट्य-शास्त्र

सुप्रसिद्ध जर्मन-पंडित डॉक्टर वेबर ने अपने 'संस्कृत लिटरेचर' ग्रंथ में लिखा है कि नाट्य-कला की प्रथम सृष्टि ग्रीकों ने ही की है। प्रोफ़ेसर मैक्डॉनेल ने अपने बनाए संस्कृत-साहित्य के इतिहास में जो कुछ लिखा है, उसका भाव यह है कि प्राचीन काल में हिंदुओं के यहाँ साधारण नाट्यशाला का अस्तित्व नहीं था। वे साधारणोपयोगी नाट्यशाला-निर्माण की कला जानते ही न थे। उनके नाटक राजों-महाराजों की नृत्यशाला में खेले जाते थे। किंतु इसमें संदेह नहीं कि ये धारणाएँ भित्तिहीन हैं। नाट्यकला की आदि-सृष्टि हिंदुओं के ही पूर्वजों ने की थी। भारत में अतीव प्राचीन काल से सर्वसाधारण के लिये उपयोगी नाट्यशालाओं का अस्तित्व था। उनमें किसी उत्सव या पर्व के अवसर पर नाटकों का अभिनय हुआ करता था। प्राचीन पुराण-इतिहास पढ़नेवाले को इसका स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। प्रोफ़ेसर विल्सन साहब ने भी पूर्वोक्त प्रोफ़ेसरों के मत का खंडन किया है। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि हिंदुओं के नाटक ही आदिम हैं। नाट्यकला या नाट्य-शास्त्र के बारे में हिंदू लोग किसी के ऋणी नहीं हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध पंडित महामहोपाध्याय हरप्रसादजी शास्त्री ने एक सुंदर निबंध अँगरेज़ी में लिखकर छपाया है, उसमें उन्होंने सारगर्भ, सुस्पष्ट, संगत युक्तियों और प्रमाणों से हिंदुओं की नाट्य-कला की उत्पत्ति और प्राचीनता के प्रसंग की आलोचना की है। उसी के आधार पर यह नोट लिखा जाता है। शास्त्रीजी ने लिखा है कि साठ साल से कुछ अधिक समय हुआ, कर्नेल डजले ने सरगुजा-प्रदेश के अंतर्गत रामगढ़-पहाड़ की दो गुफाओं का आविष्कार किया था। उनमें अशोक के समय की लिपि में जो कुछ खोदा गया है, वह नाट्यकला के संबंध में है। कई साल हुए, डॉक्टर ब्लाक इन गुफाओं को देखने गए थे। उन्होंने इन लिपियों को पढ़कर यही सिद्धांत स्थिर किया है। उनका अनुमान है कि ई० पू० तीसरी शताब्दी में यह गुहा-रूपिणी हिंदुओं की विराट् नाट्यशाला तैयार की गई थी। शास्त्रीजी ने यह भी लिखा है कि हिंदू-नाट्य-शास्त्र में 'प्रेक्षागृह' आदि शब्दों के मौजूद रहते मैक्डॉनेल साहब का पूर्वोक्त सिद्धांत कर लेना ठीक नहीं है। नाट्य-शास्त्र के दूसरे अध्याय में प्रेक्षागृह का आकार तीन प्रकार का लिखा है। प्रथम प्रकार के प्रेक्षागृह का नाम है 'विकृष्ट'। यह अंडे के आकार का और लंबाई में १०८ हाथ का होता था। यह नाट्यशाला देवतों की अर्थात् देव-मंदिरों के साथ होती थी। दूसरे प्रकार का गृह भी इसी प्रकार का होता था। यह ६४ हाथ लंबा और ३२ हाथ चौड़ा होता था। यह राजों के लिये होता था। नाट्य-शास्त्र में ऐसा इशारा भी पाया जाता है कि इसी श्रेणी की नाट्यशालाएँ बहुत स्थान में सर्व-साधारण के लिये होती थीं। तीसरे प्रकार की नाट्य-शाला समभुज त्रिकोण आकार की होती थी। इसका प्रत्येक भुज ३२ हाथ का होता था। यह गार्हस्थ्य नाट्यशाला कहलाती थी। उक्त प्रकार की तीनों नाट्य-शालाओं के आधे भाग में दर्शक लोग बैठते थे। भिन्न-भिन्न जातियों के बैठने के लिये जुदे-जुदे स्थान होते थे, और वे विभिन्न वर्णों के खंभों से विभाजित किए जाते थे। आसन एक के पीछे एक सोपानाकार बनते थे। प्रत्येक आसन आगेवाले आसन से एक हाथ ऊँचा होता था। सामने के आसनों में ब्राह्मण लोग बैठते थे, और उनका निर्देश श्वेत वर्ण के खंभों से किया जाता था।

क्षत्रियों के आसन लाल रंग के खंभों से चिह्नित किए जाते थे, और ब्राह्मणों के पीछे होते थे। इनके पीछे उत्तर-पश्चिम में वैश्यों के और उत्तर-पूर्व में शूद्रों के आसन रहते थे। वैश्यों के आसन पीले रंग के और शूद्रों के आसन नीले रंग के खंभों से चिह्नित रहते थे। इनके सिवा अन्य रंगों के कुछ और भी खंभे रहते थे। उनके पास जो आसन होते थे, उनमें वर्णाश्रम के बाहर के लोग बैठते थे। इस नीचे की आसन-श्रेणी के ऊपर एक बरामदा-सा बना रहता था। वहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से चिह्नित और विभक्त आसन रहते थे। नाट्यशाला का दूसरा आधा भाग अभिनेताओं के अधिकार में रहता था। इस भाग के सबसे पिछले अंश को 'रंगशीर्ष' कहते थे। इस अंश में छः खंभे और समस्त स्थान का अष्टमांश स्थान रहता था। नाट्य-वेद के सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और अन्यान्य देवतों की पूजा यहीं पर सबसे पहले की जाती थी। नेपथ्य अथवा सजागृह से इस स्थान में आने के दो दरवाज़े रहते थे। नेपथ्य से रंगमंच में आने के लिये कहीं एक और कहीं दो द्वार होते थे। रंगमंच कभी-कभी दोमंज़िला बनाया जाता था। दूसरे खंड में स्वर्ग के दृश्यों का अभिनय किया जाता था। सारा रंगमंच कपड़े पर अंकित बाग़, अट्टालिका, प्रासाद, मंदिर, नद-नदी, वन, पहाड़, समुद्र आदि के चित्रों से सुशोभित रहता था। इन सब चित्रों से पलटने और हटाने-योग्य दृश्यावली के अभाव की पूर्ति की जाती थी। नाट्यशाला के प्रत्येक अंश के निर्माण के समय भिन्न-भिन्न देवतों की पूजा की व्यवस्था मिलती है। प्रत्येक बार ब्राह्मण भोजन कराने की प्रथा भी थी। हीनांग, विकलांग, कुरूप व्यक्ति को नाट्यशाला-निर्माण का कोई भी काम नहीं सौंपा जाता था। संन्यासी और यति लोग नाट्यशाला की हद के भीतर पैर नहीं रखने पाते थे। जर्जर या इंद्रध्वज की स्थापना ही नाट्यशाला-संबंधी आवश्यक देव कर्मों में प्रधान कर्म समझी जाती थी। उत्सव के पहले दिन संध्याकाल में मंत्र पढ़कर नाट्यशाला में इंद्रध्वज गाड़ा जाता था। ध्वजारोपण के दूसरे दिन सब देवी-देवतों की पूजा के बाद जर्जर की पूजा होती थी। इसके पहले क्रमशः ब्रह्मा, शिव, कार्त्तिकेय और नागर की स्थापना होती थी। ध्वजा के प्रथम खंड में श्वेत वस्त्र, दूसरे में नील वस्त्र, तीसरे में पीत वस्त्र, चौथे में लाल वस्त्र और पाँचवें में विविध वर्णों का वस्त्र लपेटा जाता था। असुर-विजय के उपरांत इंद्र ने ध्वजारोपण किया था, उसके बाद आदिम नाट्य का अभिनय हुआ था, ऐसा शास्त्र में लिखा है। नाट्यशाला की रचना पूर्ण होने पर भरतमुनि ने ब्रह्मा से पूछा कि किस विषय का अभिनय किया जाय? तब ब्रह्मा ने 'अमृत के लिये सागर-मथन' का अभिनय करने की आज्ञा दी। इस अभिनय से देवतों को विशेष आनंद मिला। उसके बाद देवतों ने शिवजी को नाट्याभिनय दिखाकर प्रसन्न करना चाहा। तब हिमालय पर शिव के सामने 'त्रिपुरदहन' का अभिनय किया गया। अभिनय देखकर शिव बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अभिनय के उत्कर्ष के लिये उसमें नृत्य को भी शामिल करने की राय दी। दक्षयज्ञ-विध्वंस के बाद उस दिन संध्या-समय शिवजी ने विचित्र प्रकार से गीत-वाद्य के साथ नृत्य किया था। उस दिन उन्होंने अनेक देवतों के रूप रखकर अनेक प्रकार से नृत्य दिखलाया था। इसी को नाट्य-शास्त्र में 'पिंडीबंध' कहा है। नृत्य के अनेक प्रकार हैं, जिनका उल्लेख नाट्य-शास्त्र में है। नाट्याभिनय के पूर्व निम्न-लिखित १० अनुष्ठान किए जाते थे—वाद्य-यंत्र आदि का आयोजन, अपने दल के बीच वादकों का अवस्थिति-स्थान, संगीत का आरंभ, वाद्य-परीक्षा, कंठ-स्वर के साथ बाजे के स्वर को मिलाना, तंतु-यंत्र (सारंगी) के साथ आवाज़ मिलाना, विविध बाजे बजाना, सब बाजों के स्वर का समन्वय करके एक ताल बजाना, ताल-विधान और ईश्वर की स्तुति। ये सब व्यवस्थाएँ रंग-मंच के बाहर यवनिका की आड़ में की जाती थीं। उसके बाद यवनिका उठाकर सूत्रधार रंग-मंच में प्रवेश करता था। वह दसों दिशाओं में घूम-घूमकर दसों दिक्पालों को प्रणाम करता था। फिर नांदीपाठ किया जाता था, और जर्जर-स्तोत्र के कई श्लोक पढ़े जाते थे। तदनंतर यथार्थ अभिनय का आरंभ होता था। इस नोट का कलेवर बढ़ जाने के कारण इस बार इस विषय में इतना ही लिखा जाता है। प्राचीन नाट्य-शास्त्र के संबंध में अन्य ज्ञातव्य विषयों का दिग्दर्शन फिर किसी संख्या में कराया जायगा।

× × ×

१२. लड़के कैसे ख़राब होते हैं ?

दि सोशियालोजिकल रिव्यू-पत्र में क्लाउड सी० एच्०

विलियमसन साहब ने इस विषय पर बहुत अच्छा लिखा है। उसका सारांश यह है कि ख़राब लड़की-लड़के सभी देशों और सभी समयों में होते हैं। आदिम युग मे भी लड़की-लड़के समाज द्वारा निर्दिष्ट घेरे के भीतर सर्वदा चलना नहीं चाहते थे, अब भी नहीं चाहते। समाज द्वारा निर्दिष्ट नियमों के बाहर जाने की प्रवृत्ति सभ्यता बढ़ने के साथ घटती जाती हो, यह तो नहीं जान पड़ता। अनेक प्रकार के सामाजिक शासन के रहते भी सामाजिक अपराधों की मात्रा मे कुछ भी कमी नहीं नज़र आती। इससे यह जान पड़ता है कि जिस नियम के अनुसार अपराध-निवारण की चेष्टा की जाती है, उसी नियम में कहीं पर कुछ भूल अवश्य है। रोग दूर करने के लिये जैसे सबसे पहले यह जानना बहुत ज़रूरी है कि रोग का मूल क्या और कहाँ है, वैसे ही अपराध को निर्मूल करने के लिये भी यह जान लेना सबसे अधिक आवश्यक है कि अपराध की उत्पत्ति कहाँ से होती है। अमेरिका और योरप में इस प्रकार की शुभ चेष्टा बहुत दिनों से की जा रही है। इस संबंध में अनेक लोगों ने अनेक सिद्धांत स्थिर किए हैं। इन नाना मुनियों के नाना मतों से यही सार-संग्रह किया जा सकता है कि बच्चे साधारणतः कम अवस्था से ही ख़राब होने लगते हैं। लड़के अकसर १३ वर्ष की आयु से और लड़कियाँ १४ वर्ष की आयु से ख़राब होने लगती हैं। इन ख़राब होने की प्रवृत्ति का प्रधान कारण प्रायः आसपास का आदर्श या संग ही हुआ करता है। किंतु बहुधा देखा जाता है कि बाप या मा का दोष प्रायः वंशपरंपरा से संतान में अनुप्रविष्ट होता है। इसमे भी मा के ही दोषों के संतान मे विशेष आने की संभावना है। लेकिन बहुधा यह भी देखा गया है कि बाप या मा में कोई दोष नहीं है, किंतु उनका लड़का या लड़की ख़राब हो गई है। इस विषय में पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि इसके लिये माता का स्वास्थ्य और अवस्था ज़िम्मेदार है। जिन स्त्रियों के यह क्षमता अच्छी तरह प्राप्त करने के पहले ही, अपेक्षाकृत अल्प अवस्था में ही, संतान उत्पन्न हो जाती है, उनके लड़की-लड़के सहज में ही बिगड़ जाते हैं। जो स्त्रियाँ शहरों की गंदी गलियों के भीतर रहती हैं, जो स्त्रियाँ अंधकार-पूर्ण वायुहीन मकानों में काम करने के लिये मजबूर होती हैं, उनमे से अधिकांश का स्वास्थ्य ख़राब होता है। उनकी संतान कभी परिपुष्ट मन और शरीर की अधिकारिणी नहीं हो सकती। अतएव उनकी नैतिक अवनति होने की संभावना बहुत अधिक रहती है। समाज जब तक इन नैतिक अपराधों के कारणों को समूल नष्ट नहीं कर देता, तब तक दंड की कोरी व्यवस्था से कदापि समाज की मर्यादा नष्ट करनेवाले अपराधियों का अभाव नहीं हो सकता। हमारे देश के समाज-सुधारकों को भी इस विषय पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

× × ×

१२. सफलता और स्वास्थ्य

मासाचुसेट्स सोसाइटी फ़ॉर मेंटल हाइजिन के विलियम एच्० बर्नहार साहब ने समाज और स्वास्थ्य के संबंध में एक लेख लिखा है। उसका सारांश यह है कि शरीर को अच्छी हालत मे रखने के लिये जैसे अच्छी हवा और अच्छा भोजन आवश्यक होता है, हाथ-पैरों के नियमित व्यायाम की ज़रूरत होती है, अंत को काफ़ी और अच्छी नींद के बिना काम नहीं चलता, वैसे ही इन सब बातों के साथ-साथ मन को भी हमें सतेज और हरा-भरा रखना पड़ता है। मन तभी सतेज होता है, जब मनुष्य जिस काम को जब शुरू करे, तब उसमें सफलता हो। किसी कार्य में विफल होने से मन अत्यंत दुर्बल हो पड़ता है। और, लगातार विफल होते-होते यह मानसिक दुर्बलता इतनी बढ़ती है कि वह शरीर में एक उत्कट रोग पैदा कर देती है। सफलता के आनंद का हम लोग ख़ूब छोटी अवस्था से ही उपयोग करने लगते हैं। शिशु हिंडोले में लेटे-लेटे हाथ-पैर उछालता है। जब वह जानता है कि उसके अब कोई बंधन नहीं हैं, तब उसके मुख मे विजय के गर्व से जो हँसी फूट उठती है, वह स्वर्गीय हँसी उसके शरीर-संगठन में बड़ी सहायक होती है। बड़े होने के साथ-साथ अपने मानसपटल में कल्पना की कूची से हम अनेक चित्र अंकित करते हैं। वे जब बाहर आकर वास्तव जगत् में मूर्तिमान् होकर विकसित होते हैं, तब हमारे निकट मन का आहार प्रचुर परिमाण में उपस्थित होता है, और उससे हम शारीरिक स्वास्थ्य का यथेष्ट मात्रा में उपयोग करते हैं। किंतु स्वास्थ्य के साथ सफलता या विफलता का इतना घनिष्ठ संबंध रहने पर भी हमारी वर्तमान शिक्षा-संस्थाओं में इस विषय के प्रयोजन का विशेष भाव से अनुभव नहीं किया जाता। अनुप्रेरणा सफलता से ही आती है, और अनु-

मेरचा की ओर बच्चों में ही विशेष झुकाव देखा जाता है। अतएव बच्चों की शिक्षा का उत्तरदायित्व जो लोग लेते हैं, उन्हें यह देखना चाहिए कि छात्र लोग किसी-न-किसी विषय में काम करके सफलता प्राप्त करें, और यदि उस काम का फल न प्राप्त करें, तो जिसमें उसका संतोष-जनक कारण खोज निकालना सीखें, इस बारे में सहायता करना उनके शिक्षकों या अभिभावकों का कर्तव्य होता है। अक्सर सफलता के आनंद से बड़े-बड़े रोग दूर हो जाते देखे गए हैं। चिकित्सक लोग अधिक दवा खिलाने की चेष्टा न करके यदि अपने रोगियों को ऐसे काम सौंपने की व्यवस्था करें, जिसमें सफल होने का सुयोग पाकर मन में आनंद प्राप्त करे, तो बहुत कुछ सफलता की संभावना है। इस तरह काम करने से अपेक्षाकृत अच्छा परिणाम होने की आशा है।

× × ×

१४ सिनेमा का उत्तरदायित्व

दि नेशनल बोर्ड ऑफ़ रिव्यू ऑफ़ मोशन पिक्चर्स की रिपोर्ट में इस संबंध में जो कुछ लिखा है, वह बहुत ही उपादेय है। आजकल बायस्कोप-सिनेमा का युग है। थिएटर का ज़माना चला गया। अनेक कारणों से सिनेमा जनसाधारण को—विशेषकर युवकों को—इतना अधिक प्रिय हो उठा है, उन्होंने सिनेमा में इतनी अधिक संख्या में जाना शुरू कर दिया है कि सभी देशों के चिंताशील व्यक्तियों ने सिनेमा देखने के फल के बारे में गवेषणा शुरू कर दी है। सब अन्य देशों की अपेक्षा अमेरिका में ही सिनेमा का बहुत अधिक चलन है। अतएव वहाँ इस बारे में बाक़ायदा जाँच शुरू हो गई है। कुछ समय हुआ, अमेरिका की नेशनल बोर्ड ऑफ़ रिव्यू पत्रिका में यह प्रश्न किया गया था कि युवकों में सिनेमा देखने का नशा जितना अधिक देखा जाने लगा है, उससे उनके ख़राब हो जाने की संभावना है कि नहीं? सिनेमा देखने से क्या उनकी इतनी अधिक अवनति हो सकती है कि उसके कारण समाज के लिये भय और चिंता की संभावना है? अमेरिकन प्रोबेशन एसोसिएशन नाम की सभा ने इस संबंध में उक्त बोर्ड की सहायता की थी। उक्त सभा ने चिट्ठी द्वारा अच्छी तरह समझाकर अमेरिका के बड़े-बड़े शहरों के प्रधान-प्रधान प्रोबेशन ऑफ़िसरों से उनकी राय माँग भेजी थी। ७२ ऑफ़िसरों ने अपनी राय लिख भेजी थी। उनमें २७ की राय थी कि सिनेमा प्रत्यक्ष रूप से युवकों को नहीं बिगाड़ सकता। १० आदमियों ने स्पष्ट रूप से हाँ या ना कुछ नहीं कहा। बाक़ी ५ आदमियों ने राय दी कि युवकों के बिगड़ने का प्रधान कारण सिनेमा देखना ही है। किंतु इनमें से अधिकांश ने यह स्वीकार किया था कि इस बारे में उन्होंने कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाया, यह राय उन्होंने अपने मन से ही क़ायम की है। अंत को उक्त बोर्ड ने यह सिद्धांत किया कि सिनेमा देखने का फल ख़राब होने पर भी वह युवकों के अधःपतन का प्रथम या प्रधान कारण नहीं है—बहुधा सिनेमा में जो अच्छे इशारे रहते हैं, उनसे अच्छा फल भी होता है।

× × ×

१५. फ्रांस की आधुनिक नैतिक अवनति

जेनरल ऑफ़ एज्युकेशन ऐंड स्कूलवर्ल्ड-नामक पत्र में प्रकाशित हुआ है कि पी० ब्यूरो (P. Bureaw) नाम के एक लेखक ने फ्रांस की आधुनिक नैतिक अवनति के बारे में एक किताब लिखी है। पुस्तक का नाम है Towards moral Bankruptcy, अर्थात् नैतिक अवनति की पराकाष्ठा। इस पुस्तक में लेखक ने फ्रांस के वर्तमान नैतिक अधःपतन का बड़ा भयानक चित्र अंकित किया है। उन्होंने दिखलाया है कि फ्रांस में पैदाइश की संख्या कम करने के उद्देश से वहाँ के समाज ने अपने को शारीरिक तथा सामाजिक अनेक प्रकार के रोगों से किस तरह और कहाँ तक दूषित और कुत्सित कर डाला है। उक्त सज्जन का यह भी कहना है कि नैतिक उन्नति के मार्ग में ले जाना शिक्षकों का काम अवश्य है, किंतु प्रत्यक्ष रूप से इस विषय में उपदेश देने की चेष्टा करना बड़े ही ख़तरे का काम है। इसी से अधिक अकल्याण होता है। साहित्य और कला में आर्ट के नाम की दुहाई देकर फ्रांस का अनुसरण करनेवालों को यह पुस्तक अवश्य देखनी चाहिए।

× × ×

१६. सरकारी सिंचाई-विभाग का कार्य

१९२१ से १९२४ तक की सिंचाई-विभाग की रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। उसे देखने से जान पड़ता है कि इस सिंचाई-विभाग से भारत की खेती को बड़ा लाभ पहुँचा है। १९२२-२३ में सबसे अधिक ज़मीन की सिंचाई हुई थी। ख़र्च के मुक़ाबले आमदनी भी यथेष्ट हुई। पंजाब

में ही नहरें अधिक हैं, और वहीं सिंचाई का काम अधिक हुआ। किसी-किसी प्रदेश में सन् १९२३-२४ में जितनी ज़मीन में खेती हुई, उसके सौ भाग के बारह भाग में गवर्नमेंट के इस इरिगेशन डिपार्ट अथवा सिंचाई-विभाग ने जल पहुँचाया। इस ज़मीन में जल पहुँचाने में जो ख़र्च पड़ा, उससे पैदावार की क़ीमत डेढ़गुनी हो गई। पूर्वोक्त तीन वर्षों में हर साल औसत हिसाब से २७,५०,००,००० एकड़ ज़मीन में सिंचाई-विभाग ने जल दिया। इसके पहले तीन वर्षों में औसत हिसाब से प्रतिवर्ष २,६७,५०,००० एकड़ भूमि में सिंचाई हुई थी। यू० पी० में यथासमय यथेष्ट वर्षा होने से सिंचाई की बहुत कम ज़मीन में ज़रूरत हुई। उक्त तीन वर्षों में पहले के तीन वर्षों की अपेक्षा १० लाख एकड़ अधिक ज़मीन में सिंचाई का काम हुआ। सिंध में ६ लाख एकड़ अधिक ज़मीन में पानी दिया गया और खेती की गई। सिंचाई और नावें चलाने के लिये नहरें खोदने में तथा अन्यान्य मदों में, सन् २३-२४ में सब मिलाकर ८९ करोड़ २५ लाख रुपए ख़र्च हुए। इस साल ९० करोड़ ६५ लाख रुपए कर में मिले, और इन सब स्थानों में काम करने में ५ करोड़ ७७ लाख रुपए ख़र्च हुए। इस प्रकार फ़ी सदी ७१ रुपए का लाभ हुआ। ऊपर सिंचाई के ख़र्च-खाते में जो रक़म दिखाई गई है, उसमें शारदा कनाल, सतलज-वैली और सक्खर-बाँध की स्कीम वग़ैरह का ख़र्च भी जोड़ दिया गया है।

× × ×

१७. उत्तर-मेरु की फिर यात्रा

एक बार उत्तर-मेरु की यात्रा करनेवाले डॉक्टर जॉनसन फिर उत्तर-मेरु की यात्रा के लिये तैयारी कर रहे हैं। इस समय वह जेनेवा में हैं। अगर उनका अतिकाय-हवाई जहाज़ बनकर तैयार हो गया, तो वह अगले ही साल यात्रा कर देंगे; क्योंकि इस बार वह आकाश-मार्ग ही से जानेवाले हैं। इस अतिकाय-विमान के बनाने का ऑर्डर उन्होंने जर्मनी की किसी कंपनी को दिया है। इस विमान के बनने में भिन्न-भिन्न कई शक्तियों की अनुमति लेनी पड़ेगी। कारण, गत महायुद्ध के अंत की संधि के अनुसार जर्मनों को जितने बड़े हवाई जहाज़ बनाने का अधिकार दिया गया है, उससे यह विमान बहुत बड़ा होगा। इस विमान में ४० सवारियाँ अच्छी तरह रह सकेंगी। डॉक्टर जॉनसन मेरु-प्रदेश में उतरेंगे नहीं। वह उत्तर-मेरु के ऊपर होकर अलास्का तक आकाश-मार्ग में भ्रमण करेंगे। असल में उनका उद्देश योरप और अमेरिका के बीच एक सीधे रास्ते को ढूँढ़ निकालना ही है। यह विमान उत्तर-रशिया के ममोस्क-नामक स्थान से अपनी यात्रा शुरू करेगा। गहरा समुद्र कहाँ समाप्त हुआ है, और उत्तर-मेरु प्रदेश कहाँ से शुरू हुआ है, इसी की वह रास्ते में जाँच करेंगे। उत्तर-मेरु के संबंध की अनेक प्रकार की जटिल समस्याओं के समाधान के लिये इस विमान में कई वैज्ञानिक पंडित भी रहेंगे। आकाश ही से समग्र उत्तर-मेरु प्रदेश का फ़ोटो भी लिया जायगा। विमान में बेतार का तार भी रहेगा। पहली यात्रा की तरह की कोई दुर्घटना होने की संभावना इस बार बिलकुल ही नहीं है। डॉक्टर जॉनसन का ऐसा ही अनुमान है। उन्हें आशा है कि इस बार वह अवश्य सफलता प्राप्त करेंगे। वह किसी प्रकार के पुरस्कार के लोभ से यह यात्रा नहीं करते। अज्ञात संसार के समाचार संसार को देने के सदुद्देश्य से ही वह यह दुस्साहस का दुरूह कार्य करने जा रहे हैं। ईश्वर उन्हें कृतकार्य करें; क्योंकि यह यात्रा सफल होने से विज्ञान-जगत् को भी बड़ा लाभ पहुँचेगा, उसकी विशेष उन्नति होगी। नए और पुराने दो महादेशों में आने-जाने में भी बहुत कम समय लगेगा। तथास्तु।

× × ×

१८. अमेरिका के वैज्ञानिकों की चेष्टा

अमेरिका के प्रत्न तत्त्व के पंडितों की मंडली इस समय एशिया-खंड के ऊपर विशेष लक्ष्य रखकर काम कर रही है। आजकल वैज्ञानिकों का एक दल इस आविष्कार की चेष्टा में लगा हुआ है कि गोबी-मरुभूमि की बालू की तह अथवा आल्ताई-पर्वतमाला में किसी आदिम युग के विशालकाय विलुप्त जीव-जंतु या वानर का कंकाल अथवा कोई स्मारक चिह्न छिपा हुआ पड़ा है या नहीं? चैपमैन साहब का नाम इस समय अप्रसिद्ध नहीं है। अमेरिकन वैज्ञानिकों का जो दल गोबी की यात्रा करनेवाला है, उसके नेता यही महाशय होंगे। प्रशांत-महासागर के किनारे से हज़ार माइल की दूरी पर भूस्तर के भीतर पूर्वोक्त काल का कुछ-न-कुछ स्मारक मिलने की आशा करके ही वैज्ञानिक लोग यह यात्रा करनेवाले हैं। सन्

२२-२३ में जब इस गोबी की मरु-भूमि में खनन के बहुत-से अंडे मिले थे, तब उसके साथ ही जगह-जगह पर डाक्टर ग्राजर आदि खोजियों को मानव-इतिहास के नवीन शिलायुग के कुछ निदर्शन भी प्राप्त हुए थे। केवल इतना ही नहीं, ब्लाडीवोस्टक विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर पेट्री बैकाल झील के निकट लगातार नव भूस्तरों में एक विलुप्त सभ्यता की विचित्र वस्तुओं का विन्यास देखकर विशेष विस्मित हुए थे। डॉक्टर शिरोका गायक ने हाल ही में आमू-नदी के किनारे नवशिला-युग की बहुत-सी सामग्री देख पाई है। मंचूरिया में जापान के टोरियाई-नामक वैज्ञानिक ने भी नवशिला-युग के बहुत-से रहस्यों का उद्घाटन किया है। चीन-सरकार के खनिज-तत्त्व के निरीक्षक डॉक्टर एंडर्सन ने उक्त युग के जिन मिट्टी के बने बर्तनों का आविष्कार किया है, उसके ढंग का अनुसरण परवर्ती चीनी कुँभार बराबर करते आ रहे हैं। किंतु आश्चर्य की बात यही है कि आज पश्चिम-एशिया, ईराक और योरप के दक्षिण-पूर्व अंश में जो प्राचीन मिट्टी के बर्तन प्राप्त हुए हैं, उनके साथ भी इनका बहुत सादृश्य देख पड़ता है। यह देखकर जान पड़ता है कि महाचीन की प्राचीन सभ्यता संपूर्ण स्वाधीन भाव से, किसी के साथ कुछ संसर्ग न रखकर, नहीं उपजी हुई। गत वर्ष एक फ्रेंच पंडित ने चीन और मंगोलिया के विलुप्त हुए जीवों के अवशिष्ट अस्थि-पंजरों के पास प्राचीन शिलायुग के अनेक शस्त्र रक्खे देख पाए थे। इसलिये यह आशा होती है कि अमेरिकन पंडितों की यह तीसरी यात्रा व्यर्थ न होगी। यह केवल पुरुष-परंपरा से प्रचलित दंतकथा-मात्र नहीं है कि एशिया ही मानव-सभ्यता की जन्म भूमि—शायद आदिम मनुष्य की उत्पत्ति का स्थान भी—है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों में भी प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त करके यह धारणा बद्धमूल होती जा रही है।

× × ×

१९. चीनी का बहुत बड़ा कारखाना

क्यूबा-द्वीप में ईख की खेती बड़े पैमाने में होती है। वह जैसे पृथ्वी-भर में ईख की खेती का प्रधान स्थान है, वैसे ही वहाँ चीनी का जो केंद्र-कारख़ाना है, वह भी अपना सानी नहीं रखता। इस कारख़ाने में साल में डेढ़ लाख टन (२७३ मन का एक टन) होता है, चीनी तैयार होती है। भारत में इतना बड़ा कारख़ाना खुलने की अब तो सपने में भी संभावना नहीं है, जब कि यहाँ के अनेक छोटे-छोटे कारख़ाने भी बंद हो गए और होते चले जाते हैं। इस समय भारत में विशुद्ध चीनी बनानेवाले कारख़ानों की संख्या कुल मिलाकर केवल १८ है। किंतु इन सब कारख़ानों की साल-भर की बनी चीनी एकत्र करने से भी वह ३७,७३४ टन से अधिक नहीं होती। अतएव देख पड़ता है कि अकेले क्यूबा-द्वीप जितनी चीनी पैदा करता है, उसके सौ भाग का सत्रह भाग भी समग्र भारत नहीं बना सकता! यह बात नहीं है कि क्यूबा के किसान अपने काम में बड़े प्रवीण हों। यहाँ भी साधारण किसान ही इसकी खेती करते हैं। वहाँ काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या भी उतनी अधिक नहीं है। असल बात यह है कि क्यूबा-द्वीप ग्रीष्म-मंडल के अंतर्गत है, वहाँ ईख की उपज स्वतः बहुत अधिक होती है। फ़ी एकड़ २० टन के हिसाब से वहाँ ईख की फ़सल होती है। यह भारत की ठीक दूनी उपज है। वहाँ ईख के एक पेड़ से छः फ़सलें काटी जाती हैं। इन्हीं सब कारणों से वहाँ की ईख बड़ी सस्ती पड़ती है। दूसरे, वहाँ घर में गुड़ बनाने की प्रथा बिलकुल ही नहीं है। सब ईख कारख़ाने में ही चली आती है। अतएव कारख़ाने में कच्चे माल की कमी कभी नहीं होती। ये ही सब ऐसे कारण हैं, जिनसे वहाँ चीनी कम लागत में बन जाती है। एक ही कारख़ाने में पैदावार की मात्रा जितनी अधिक होती है, उतना ही ख़र्च भी कम पड़ता है। हमारे भारत में कारख़ाने की पैदावार की मात्रा कम होने का प्रधान कारण ईख की कमी है। यहाँ हरएक किसान अपने घर पर ईख पेरता और गुड़ बनाता है, जिससे उसका माल भी अधिक छीजता है, और ख़र्च भी अधिक पड़ता है। हमारे यहाँ के छोटे-मोटे कारख़ाने भी काम-भर को ईख नहीं पाते। समय-समय पर कल का काम बंद करवाना पड़ता है। यहाँ गुड़ का चलन अधिक होने के कारण विशुद्ध चीनी बनाने को कारख़ानों में बहुत कम ईख जाना ही कारख़ानों को बंद कर देता है। अतएव जब तक हमारे यहाँ ईख की खेती बढ़ाई न जायगी, या घर पर रस पेरकर गुड़ बनाना बंद न होगा, तब तक हमें शक्कर के लिये दूसरे देशों के कारख़ानों का मुँह ताकना ही पड़ेगा।

× × ×

२०. भविष्य महायुद्ध में हवाई जहाज़ों का स्थान

गत महायुद्ध समाप्त होने के बाद से ही इधर कई वर्षों में योरप के भिन्न-भिन्न देशों के कारीगरों ने राज शक्ति के प्रोत्साहन और सहायता से हवाई जहाज़ बनाने में बड़ी शीघ्रता से उन्नति की है और कर रहे हैं। आगामी महायुद्ध में (जिसके होने में किसी को संदेह नहीं है) हवाई जहाज़ों की शक्ति को अग्रस्थान मिलेगा। हाल में इँगलैंड के विमान-विभाग के भूतपूर्व मंत्री मिस्टर टामसन इसी संबंध में एक सुविस्तृत सचिंतित निबंध लिख रहे हैं। वर्तमान काल में हवाई जहाज़ों की जो उन्नति की गई है, वह अगर सन् १९१४ में हो चुकी होती—सन् १९२४ में फ्रांस की विमान-सेना जिस उच्च कोटि की थी, सन् १९१४ में जर्मनी की आकाश-सेना अगर उतनी उत्कृष्ट होती—तो सन् १९१४ की चौथी अगस्त को ही (जिस दिन युद्ध का आरंभ हुआ था) जर्मनी के विमान इँगलैंड में पहुँचकर लंदन के ऊपर ७० विस्फोटक पदार्थ विभिन्न बड़े-बड़े केंद्रों पर बरसाकर घोर अनर्थ कर डालते। यह आक्रमण बराबर कई दिनों तक जारी रहता, और उसके फलस्वरूप जिस ध्वंसलीला का अभिनय देखने में आता, उसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। भविष्य में अगर योरप के भीतर फिर कोई महायुद्ध छिड़ेगा, तो अनेक राष्ट्रों को इस भयानक विपत्ति का सामना करना पड़ेगा। परस्पर निकटवर्ती किन्हीं भी दो देशों या शत्रु के राज्य में स्वल्प काल ही के बीच इस तरह बम बरसाना और शत्रु को भारी क्षति पहुँचाना सहज होगा। योरप के सभी देशों की भौगोलिक अवस्थिति इस अवस्था और व्यवस्था के अनुकूल है। केवल अमेरिका को यह ख़तरा नहीं है। किंतु जितनी तेज़ी के साथ वायुयानों की उन्नति की जा रही है, उसे देखते अमेरिका की भी ख़ैर नहीं है। वह भी अब और अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रहने का। जान पड़ता है, आगामी युद्ध में युद्ध की घोषणा के दिन से ही आकाश में घमासान घोर संग्राम होने लगेगा। युद्ध में लिप्त प्रत्येक जाति का ही यह उद्देश्य होगा कि शत्रुओं के देश में जो प्रधान कार्य-क्षेत्र हैं, जहाँ युद्ध की सामग्री अथवा रसद रक्खी है, उन्हें नष्ट कर दिया जाय। इसका परिणाम यह होगा कि जनसाधारण पर आतंक छा जाने के कारण सब काम-काज चौपट हो जायँगे, कारख़ाने अलग बंद हो जायँगे, विषम विशृंखला उपस्थित होगी। आफ़िस, अदालत, डाक, रेलवे-स्टेशन तथा आने-जाने के सब साधन नष्ट हो जायँगे। जो हवाई जहाज़ों की सेना बम बरसावेगी, उसके साथ-साथ और एक युद्ध करने में समर्थ आकाश-सेना रहेगी, और वह शत्रु की बाधा देनेवाली आकाश-सेना का विध्वंस करने की चेष्टा करेगी। इसका फल यह होगा कि दोनों ओर से आकाश में घमासान युद्ध होगा। उसी के परिणाम पर भविष्य युद्ध की गति निर्धारित होगी। जब तक एक पक्ष की सेना दूसरे पक्ष को बिलकुल परास्त या पंगु नहीं बना देगी, तभी तक युद्ध चलेगा। ऐसी दशा में जो पक्ष हार जायगा, उसके शहर और बंदरगाह वग़ैरह विजेता के हस्तगत हो जायँगे। उसे बाध्य होकर संधि करनी पड़ेगी। अथवा यह भी हो सकता है कि पराजित पक्ष पुनः अपना बल बढ़ाने की कोशिश करे। किंतु जिस देश में विमान बनाने और चलाने की कला ने विशेष उन्नति कर पाई होगी, उसी के लिये पुनः शक्ति-संचय करना संभव होगा। इस तरह के युद्ध की विशेषता यह होगी कि केवल आकाश-सेना की सहायता से शत्रु-देश के लोगों को भय-विह्वल बनाकर, बंदरगाह वग़ैरह पर बम बरसाकर, नौ-सेना को अपने क़ाबू में लाकर, जल या स्थल की सेना का साहाय्य लिए बिना ही स्वल्प काल में ही विजय प्राप्त की जा सकेगी। इस श्रेणी के युद्ध में उसका एक यह भी फल होगा कि युद्धनिरत राष्ट्र की जल-सेना या स्थल-सेना की तो कुछ विशेष क्षति नहीं होगी, किंतु निर्दोष सर्वसाधारण बेचारे मुफ़्त मारे जायँगे—उनके जीवन और संपत्ति का विनाश होगा। अतएव भविष्य युद्ध के इस फलाफल पर दृष्टि रखकर संसार के राष्ट्रों को अभी से सचेत हो जाना चाहिए।

× × ×

२१. जापानी भाषा में हमारे उपनिषद्

कई वर्ष पहले टोकियो इंपीरियल विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर ताकाकुसु ने ऋग्वेद के २५ मंत्रों का और श्रीमद्-भगवद्गीता का जापानी भाषा में अनुवाद करके एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया था। उसके बाद उन्होंने उक्त विश्वविद्यालय की पचीसवीं वार्षिक जन्म-तिथि के उत्सव के उपलक्ष्य में अपने २७ छात्रों की सहायता लेकर संपूर्ण उपनिषदों का जापानी भाषा में अनुवाद

करना शुरू कर दिया, और दो वर्ष तक लगातार अखंड परिश्रम करके इस कार्य को समाप्त भी कर डाला। उक्त प्रोफ़ेसर की इस ग्रंथावली में १२६ उपनिषदों का संपूर्ण अनुवाद प्रकाशित हुआ है। इसके नव खंड हैं। इसके सिवा २८५ सफ़े की एक निघंट-पुस्तक निकली है। प्रोफ़ेसर ताकाकुसू ने स्वयं बृहदारण्यकोपनिषद् और अन्य ४ उपनिषदों का अनुवाद किया है। उनके शिष्यों में से प्रोफ़ेसर किमुरा ने ६, प्रोफ़ेसर ओई ने ५, प्रोफ़ेसर हिगाता ने ४, प्रोफ़ेसर नागाई ने ४, श्रीयुत यामादा (सिलव्याँलेवी के छात्र) ने ५ और अन्यान्य शिष्यों में से किसी ने २, किसी ने ३ उपनिषदों का जापानी भाषा में अनुवाद किया है। प्रोफ़ेसर इंवी प्रोफ़ेसर भांडारकर के छात्र थे। उन्होंने भी एक उपनिषद् का अनुवाद किया है। श्रीयुत नेकामू इसके पहले ही मनु-संहिता का जापानी भाषा में अनुवाद कर चुके थे। उन्होंने भी एक उपनिषद् का अनुवाद किया है। अनुवाद करने के समय पूर्वोक्त जापानी विद्वानों ने उन-उन स्थलों पर जहाँ-जहाँ अर्थ का स्पष्ट बोध नहीं हुआ, प्रोफ़ेसर मैक्समूलर, पाल डूसेन और प्रोफ़ेसर ह्यूम आदि प्रसिद्ध विद्वानों की लिखी किताबों से सहायता ली है। मतलब यह कि इस उपनिषद्-ग्रंथमाला को सर्वांगसुंदर बनाने में तनिक भी कसर नहीं रक्खी गई है। इस उपनिषद्-ग्रंथावली का जो निघंट तैयार हुआ है, वह बड़ा ही सुंदर है। पृथ्वी की अन्यान्य अनेक भाषाओं में अब से पहले उपनिषदों के अनेक अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं; किंतु समग्र उपनिषदों का अनुवाद जापानी भाषा के सिवा और किसी भाषा में नहीं हुआ।

× × ×

२२. प्राचीन हिंदू-धर्म के मिशनरियों का प्रचार-कार्य

कहा जाता है कि सम्राट् अशोक के समय में ५०,००० बौद्ध-मिशनरी पृथ्वी पर सर्वत्र भारत के धर्म का प्रचार करने के लिये भारत से गए थे। इन प्रचारकों के अदम्य उत्साह का ही फल यह हुआ कि पृथ्वी पर के अनेक दूर देशों में भारत के धर्म का अच्छा प्रभाव पड़ा। चीन, जापान एवं एशिया में भारत के दर्शन-शास्त्रों का पूर्ण प्रभाव देखा जाता है। मध्य-एशिया और बैक्ट्रिया में भी हिंदुओं का अधिकांश प्रभाव है। पैलेस्टाइन के एंटिओ-नामक स्थान में भी अशोक के स्तंभ और शिलालेख मिले हैं। इसके भी अनेक कारण पाए गए हैं कि ईसाई-मत पर हिंदू-धर्म की गहरी छाप पड़ी है। ग्रीकों ने हिंदुओं के संसर्ग में आकर उनके बहुत-से भावों को ग्रहण किया था। यहाँ तक कि प्लेटो का रिपब्लिक भी हिंदुओं के विचारों की छाया से ख़ाली नहीं है। चीन-देश में पिकिन की लाइब्रेरी में सात हज़ार मूल भारतीय ग्रंथ और उनके अनुवाद भी हैं। पृथ्वी भर में सर्वत्र एक समय हिंदू-सभ्यता कुछ-न-कुछ फैल गई थी, इसके अद्भुत प्रमाण इस समय मिल रहे हैं। यह सब पूर्वोक्त प्रचारकों के परिश्रम का ही सुफल है। किंतु इस समय तो दिनों के फेर से भारतीयों को ही उपदेश देने को दूर-दूर के धर्मोपदेशक पधारते हैं!

× × ×

२३. विषय-विशेष से संबंध रखनेवाली पत्र-पत्रिकाएँ

हिंदी में इस समय कई सुंदर पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं। इनमें बहुतेरी सचित्र हैं। इनमें से कितनी ही पत्र-पत्रिकाएँ तो ऐसी हैं कि उनके ग्राहक यथेष्ट हैं। उनका काम मज़े में चल रहा है; पर कुछ ऐसी भी हैं कि उनकी ग्राहक-संख्या उँगलियों पर गिनने-भर को है, और किसी प्रकार से अपना समय व्यतीत कर रही है। हर्ष की बात है कि अब एक ही विषय को लेकर और उसी को प्रधानता देनेवाली पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलने लगी हैं। हिंदी के लिये यह बड़े ही शुभ चिह्न हैं। साहित्य-निर्माण में जैसे-ही-जैसे प्रौढ़ता आती जाती है, वैसे-ही-वैसे एक-एक विषय को लेकर उस पर विवेचना-पूर्ण पत्र निकालने की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है। हर्ष की बात है कि अब हिंदी में अकेले विज्ञान, पुरातत्व, भूगोल, उपन्यास और समालोचना आदि विषयों के अलग-अलग पत्र निकलने लगे हैं। यद्यपि अभी वे पत्र शैशवावस्था में हैं, और उन्नति के लिये अभी इनमें काफ़ी गुंजाइश है, पर यह क्या कम संतोष की बात है कि एक-एक विषय को लेकर हिंदी में पत्रों का निकलना आरंभ तो हो गया। समय पाकर यही पत्र अभीष्ट प्रौढ़ता भी प्राप्त कर लेंगे, इसमें संदेह नहीं। पर इन पत्रों के संचालकों से हमें एक स्पष्ट निवेदन कर देना है, और वह यह है कि केवल एक विषय से संबंध रखनेवाले पत्रों का बहुत प्रचार नहीं हो सकता। उनके पाठकों की संख्या सदैव परिमित रहेगी। अतः एक विषयवाले पत्रों के स्वामियों को अपने पत्रों के

प्रकाशन में लाभ की आशा बहुत कम करनी चाहिए। उनका लक्ष्य साहित्य-सेवा ही रहना चाहिए। विषय-विशेष से संबंध रखनेवाले हिंदी-पत्रों में हमें 'विज्ञान'-पत्र पर विशेष श्रद्धा है। यह पत्र अपने विषय में अद्वितीय है। इसके लेखकगण भी पूर्ण विद्वान् और प्रौढ़ लेखक हैं। यदि इस पत्र में कोई त्रुटि समझ पड़ती है, तो केवल इतनी कि इसकी छपाई और काग़ज़ उतना बढ़िया नहीं रहता। पुरातत्त्व-विषय पर यद्यपि काशी-नागरीप्रचारिणी-पत्रिका में अच्छे लेख निकलते हैं, पर व्यापक इतिहास के विषय पर एक अच्छे पत्र की अब भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। इसी प्रकार केवल संगीत-विषय की आलोचना के लिये भी एक पत्र की बड़ी आवश्यकता है। ज्ञान-मंडल से 'स्वार्थ' नाम का एक पत्र एक-मात्र अर्थ-शास्त्र-संबंधी लेख निकालता था। वह पत्र बड़ी ही उच्च श्रेणी का था। खेद का विषय है कि अब उसका प्रकाशन बंद हो गया है। हमारी राय में यदि 'स्वार्थ' और 'इतिहास'-सदृश पत्रों को काशी और प्रयाग के विश्वविद्यालय निकालें, तो बड़ा उपकार हो। चित्रकला से संबंध रखनेवाले एक पत्र की अत्यधिक आवश्यकता है। इस पत्र को भी कोई शिक्षा-संस्था ही निकाले, तो बड़ा उपकार हो। कम-से-कम संयुक्त-प्रदेश से अब जो पत्र-पत्रिकाएँ निकाली जायँ, उनका उद्देश्य विशुद्ध साहित्य का निर्माण होना चाहिए। अर्द्धशिक्षितों में हिंदी के प्रचार का काम दैनिक और साप्ताहिक पत्र बड़ी सफलता के साथ कर रहे हैं। अब मासिक और त्रैमासिक पत्रों को ख़ूब उच्च कोटि के साहित्य-निर्माण के काम में जुट जाना चाहिए। यदि भिन्न-भिन्न विषय की पत्र-पत्रिकाएँ इस विषय में सचेष्ट हो जायँ, तो बड़ा उपकार हो।

× × ×

२८. प्रेतात्मवाद

प्रेतात्मवाद पर माधुरी में कई नोट निकल चुके हैं। धीरे-धीरे इस गंभीर विषय की ओर संसार के सभी प्रतिष्ठित पुरुषों का ध्यान आकर्षित होता जाता है। कुछ ही मास बीते, जब योरप में प्रेतात्मवादियों का एक बृहत् सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन में संसार के बड़े अनुभवी प्रेतात्मवादी एकत्रित हुए थे। भारत से भी ऋषि महोदय गए थे। विगत मास में कांग्रेस के अवसर पर कानपुर में भारतीय प्रेतात्मवाद-सम्मेलन हुआ था। इसमें ऋषि महोदय ने योरप के बृहत् सम्मेलन में जिन बातों का अनुभव किया था, उनका हाल बतलाया। योरप के अनेक प्रेतात्माओं के छाया-चित्र और उनके हाथ की लिखी लिपि के चित्र प्राप्त किए गए हैं। ऋषि महोदय ऐसे कई चित्र भी लाए हैं। आपने सम्मेलन में ये चित्र भी दिखलाए थे। ऋषि महोदय को प्रेतात्मवाद पर पूरा विश्वास है। उनकी राय में प्रेतात्मवाद में जाल नहीं है। फ़्रांस के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक आर्थर कैनन-डायल की स्त्री पर प्रेतात्माओं की छाया प्रायः आती है। हाल में कई प्रेतात्माओं ने उक्त महिला महोदया के द्वारा इस संसार को सूचना दी है कि सन् १९२७ में इसका घोर अनिष्ट होगा। इस प्रकार से एक ओर जहाँ लोगों का प्रेतात्मवाद पर विश्वास दृढ़ होता जा रहा है, वहाँ वैज्ञानिक लोगों को इसमें सर्वत्र जाल-ही-जाल दिखलाई पड़ रहा है। अभी हाल ही में जगद्विख्यात साइंटिफ़िक अमेरिकन-नामक पत्र में एक बड़ा ही मनोरंजक और महत्त्व-पूर्ण लेख इस संबंध में निकला है। इस लेख में लेखक ने बड़ी ही चतुरता के साथ सिद्ध किया है कि कुशल फ़ोटोग्राफ़र चतुरता से किसी का फ़ोटो उतारते हुए उसी से सटा हुआ अन्य किसी चित्र का भी चित्र ले सकता है। लेखक की दलील है कि अब तक जितनी प्रेतात्माओं के चित्र लिए गए हैं, उन सबके चित्र पहले से मौजूद हैं। एक भी ऐसी आत्मा का चित्र नहीं प्राप्त हुआ है, जिसका चित्र संसार को पहले से सुलभ न हो। इसी प्रकार लेखक का यह भी कहना है कि आत्माओं की जो लिपि दिखलाई गई है, उसमें भी किसी में भी ऐसे शब्द नहीं हैं, जो उसी आत्मा के शरीर-धारण के समय के उसी के लिखे न मौजूद हों। फिर एक यह बात भी विचारणीय है कि जितने शब्द मिलते हैं, वे सब बिलकुल अलग-अलग पाए जाते हैं, एक दूसरे से सटे हुए नहीं मिलते। लेखक का कहना है कि आत्मा ने, जब वह मनुष्य-शरीर में था, जो पत्र लिखे थे, उन्हीं में से ये शब्द काट-काटकर अलग कर लिए जाते हैं, और फिर उन्हीं की सहायता से अभीष्ट वाक्य तैयार किए जाते हैं, और वही आत्मा की लिपि बतलाई जाती है। लेखक ने ऐसी लिपि के सचित्र उदाहरण भी दिए हैं, और सिद्ध किया है कि ऐसी लिपि कदापि विश्वास के योग्य नहीं है। लेखक ने एक और भी बड़े मार्के की बात कही है। उसका

कहना है कि प्रेतात्मवाद के प्रचार के पहले प्रेतात्माओं के चित्र क्यों नहीं उतर आते थे? फ़ोटोग्राफ़ी का प्रचार तो बहुत दिन से है, फिर प्रेतात्माओं ने इधर थोड़े दिनों से ही अपने चित्र उतरवाने क्यों मंज़ूर किए? इसी प्रकार की बहुत-सी बातें लिखकर लेखक ने प्रेतात्मवाद को पुष्ट करनेवाले प्रेतात्माओं के चित्रों और लिपियों की संदिग्धता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। एक ओर एक पक्ष का प्रेतात्मवाद पर दृढ़ विश्वास है, तो दूसरी ओर दूसरे पक्ष को उसके जाली होने का उतना ही आग्रह है। देखें, कौन पक्ष सत्य सिद्ध होता है।

× × ×

२५. देव और बिहारी की तुलना

इधर दो-तीन बरस से हिंदी-साहित्य संसार में महाकवि देव और बिहारी को लेकर खूब समालोचनाएँ लिखी जा रही हैं। इन समालोचनाओं में अधिकतर इन दोनों कवियों की कविता की तुलना की गई है, और दो में से एक कवि श्रेष्ठतर ठहराया गया है। कुछ विद्वानों की राय है कि इस प्रकार देव और बिहारी की कविता की तुलना नहीं होनी चाहिए। उनका कथन है कि देव और बिहारी भिन्न-भिन्न प्रकृति के कवि हैं, इसलिये उनकी तुलना नहीं हो सकती। हम यहाँ पर यह नहीं प्रमाणित करने जा रहे हैं कि देव और बिहारी में श्रेष्ठतर कवि कौन है, पर हमें इस बात पर आश्चर्य अवश्य है कि देव और बिहारी की तुलना क्यों नहीं हो सकती। जब कालिदास और भवभूति की तुलना हो सकती है, व्यास और वाल्मीकि की तुलना हो सकती है, शेक्सपियर और मिल्टन की तुलना हो सकती है, कहाँ तक गिनावें, जब शेक्सपियर और कालिदास की तुलना की जा सकती है, तब देव और बिहारी की तुलना क्यों नहीं हो सकती? देव और बिहारी दोनों ही शृंगारी कवि हैं, दोनों की कविता में कोड़ियों सदृश भाव हैं, दोनों ने ब्रजभाषा में रचना की है, तब उन दोनों की तुलना क्यों नहीं की जा सकती? क्या बिहारी का दोहा-छंद देव की घनाक्षरी अथवा सवैया की तुलना का विरोधी है? देव कवि और आचार्य, दोनों हैं। बिहारी केवल कवि हैं। अतः यह मानने को हम तैयार हैं कि आचार्य देव का कवि बिहारी से मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। पर कवि देव का कवि बिहारी से क्या न मुक़ाबला किया जाय? हमारी राय में देव और बिहारी की तुलना हो सकती है, और बहुत अच्छी तरह से हो सकती है।



श्रीकृष्ण

[श्रीदुलारेलाल भार्गव की चित्रशाला से]

पट, मुरली, माला, मुकट धरि तन, कर, उर, भाल,
मंद-मंद हँसि बसि हियैं नंद-दुलारेलाल।
(कविवर बिहारी के ढंग पर)

N. K. Press, Lucknow



[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ४ खंड २	चैत्र-शुक्ल ७, ३०२ तुलसी-संवत् (१९८३ वि०)— १९ एप्रिल, १९२६ ई०	संख्या ३ पूर्ण संख्या ४५

लेखनी *

(१)

गुननि समेत तीनौ गुन ते परे है रूप,
भूप अरु रंकन मे मानति समान रति ;
सारो सृष्टि-मंडल कमंडल मैं देती घेरि,
तेरे हाथ जग की प्रबंध बिधि बाँधी तति ।
लेखनी, तिहारी पौरि पथिक परे ही रहैं,
करत कवीस सीस 'जोतिसी' तिहारी नति ;
देति है प्रमानै सोधि-सोधि अनुमानै बात,
तैं ही एक जानै वीर बिधि की बिचित्र गति ।

(२)

उलटी सब करतूति, मौन रहति बितरति गुननि ;
मृत जग अमर बिभूति, मुख-मसि कीरति 'जोतिसी' ।

(३)

लेखनि, तेरी ओमि जुग, बरनत बेद-पुरान ;
जुगल रूप जस 'जोतिसी', करिय गान धरि ध्यान ।

(४)

तू भव भव अरु बिभव पराभव भूति-बिधाता ;
प्रति अवलंबित भए 'जोतिसी' कवि जग ज्ञाता ।
तुव प्रताप तिहुँ लोक बदर-कर-सरिस लखत जन ;
हृत ते उत करि देति छनक मे ब्रह्म ज्ञान-घन ।
नृप रंक, रंक नृप करति तैं, अजर-अमर कीरति कलित ;
कुलदेवि लेखनी, भूमि, झुकि, लिखिय राम-लीला ललित ।

रामनाथ ज्यौतिषी

---

* कवि की 'राम-चंद्रोदय'-नामक पुस्तक से, जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली है ।—संपादक

"साहित्यालोचन"

(आलोचना)

"मौलिकता का नाम लेकर आजकल बड़ा अन्याय और अत्याचार हो रहा है। मौलिकता की ध्वनि तो चारों ओर सुन पड़ती है; पर यह समझ में नहीं आता कि मौलिकता से अभिप्राय क्या है?

बाबू श्यामसुंदरदास (साहि०-भूमिका)"



जब गीदड़ की क़ज़ा आती है, तो शहर की तरफ़ भागता है, और जब मेरी क़ज़ा आती है, तो मैं हिंदी के लेखकों की ओर देखने लगता हूँ। तीन साल हुए, मैंने बाबू प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' की, साहित्य-कला की दृष्टि से, समालोचना की थी। वह भी उस समय, जब पुस्तक को निकले साल-डेढ़ साल हो गए थे। मतलब यह कि उसकी यथेष्ट बिक्री और प्रचार हो चुका था। मैंने इस काम से अपने को बहुत रोकने की कोशिश की; पर एक समय ऐसा आया कि बिना कुछ बोले न रहा गया। मेरी साहित्यिक आत्मा ने देखा, कुछ लेखक उक्त पुस्तक को अत्यधिक महत्त्व दे रहे हैं। बस, बक़ौल मैथ्यू आर्नल्ड, हिंदी-पाठकों के सामने उक्त पुस्तक का सत्य स्वरूप रखने की हिम्मत की। देखता क्या हूँ कि उसका स्मरण कर अब तक मेरे हिंदी-भाषाभाषी भाई मुझे कोस रहे हैं। आज फिर क़ज़ा आई है, इसलिये उस साहित्यसेवी के विरुद्ध क़लम चलाने बैठा हूँ, जिसके प्रति स्वयं मेरे हृदय में बड़ी श्रद्धा है। जो मातृभाषा का भक्त जीवन-भर हिंदी-साहित्य की उन्नति में लगा रहा हो, उसके आगे किसका सिर न झुकेगा? मुझे वे दिन याद हैं, जब लखनऊ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ था। कालीचरण-हाई स्कूल के तत्कालीन हेडमास्टर बाबू श्यामसुंदरदास और उनके छात्र ही इस अधिवेशन की सफलता के कारण थे। उस समय मैंने हिंदी के इस अनन्य भक्त के दर्शन किए, और अपने को कृतार्थ समझा। आज उन्हीं के विरुद्ध कुछ लिखने बैठा हूँ। किंतु कोई यह न समझे कि श्रद्धा में कुछ कमी हो गई है।

बाबू साहब की पुस्तक 'साहित्यालोचन' को छपे दो-ढाई साल हो गए। अब तक यह ग्रंथ काफ़ी तादाद में बिक चुका होगा, और इसका प्रचार भी हो चुका होगा। इसलिये अब यदि इस पर कुछ लिखा जाय, तो विशेष हानि की संभावना नहीं। साथ ही हिंदी-जनता साहित्य में इसका स्थान भी समझ लेगी। इसके अतिरिक्त उदार-चरित्र बाबू साहब ने भी भूमिका में लिखा है—"मेरे इस ग्रंथ में मौलिकता कितनी है, तथा दूसरों की प्रतिच्छाया कितनी है, और कहाँ तक मैं अपने उद्योग में सफल हुआ हूँ, इसका निश्चय करना विद्वानों का काम है।" इस वाक्य में आपने विद्वानों को आमंत्रण दिया है कि ग्रंथ पर वे अपना मत दें। मैं विद्वान् नहीं, साहित्य-कला का एक विद्यार्थी हूँ, सरस्वती के मंदिर का एक उपासक हूँ। इसलिये, अपनी अयोग्यता को खूब जानते-बूझते हुए भी, इस डर से कि कहीं 'वीणा-पुस्तकधारिणी, कमल-दलविहारिणी' की झाँकी न बिगड़ जाय, अपने क्षीण, दुर्बल कंठ से प्रतिवाद करता हूँ।

जब से मैंने 'साहित्य-कला और प्रेमाश्रम' लिखा, मेरे मन में विचार उठ रहा है कि हिंदी में साहित्य-कला पर कोई पुस्तक नहीं है, इसलिये इस विषय पर कुछ लिखना चाहिए। मुझमें इस विषय की पूरी योग्यता नहीं है, तो क्या हुआ। जब कोई दूसरा विद्वान् आगे नहीं बढ़ता, तो मैं कम-से-कम संसार के विद्वानों के विचार तो हिंदी-पाठकों के सामने रख दूँ, जिससे उनके पास साहित्यिक परख के लिये एक काम-चलाऊ कसौटी हो जाय। मैंने अपना विचार माधुरी के योग्य संपादकों को बतलाया। उन्होंने प्रोत्साहन दिया; साथ ही एक प्रति 'साहित्यालोचन' की भी भेज दी। यह देखकर बड़ा आनंद हुआ कि मेरी प्यारी भाषा में इस विषय पर भी पुस्तकें निकलने लगीं। किंतु जब पढ़ने लगा, तो पता चला कि उल्लास का कोई कारण नहीं है; क्योंकि इसमें छपाए हुए विचार बाबू साहब के अपने नहीं हैं (यह कोई बड़ा दोष नहीं है, और ग्रंथकर्ता ने भूमिका में इस बात को किसी हद तक स्वीकार भी किया है)। विचार तो इसमें उसके भरे हुए थे, जो साहित्य का बड़ा पंडित होने पर भी साहित्य-रस में डूबा हुआ नहीं है; अर्थात् 'साहित्यालोचन' विलियम हेनरी हडसन की पुस्तक 'An Introduotion to the Study of Literature' का पूरा नहीं, तो अधिकांश अनुवाद है। यह हडसन

साहब लंदन-विश्वविद्यालय के साहित्य-विभाग के एक प्रकार के अध्यापक थे। इसीलिये बाबू श्यामसुंदरदास ने इनकी पुस्तक को महत्त्व दिया होगा। संभव है, आपको साहित्य के विषय में अधिक पुस्तकें न मिली हों। इसके अतिरिक्त हमारे दुर्भाग्य से अँगरेज़ी ही एक ऐसी पश्चिमी भाषा है, जिसके द्वारा हम वर्तमान संसार से संबंध बनाए हुए हैं; और यह ऐसी भाषा है, जिसमें साहित्य-शास्त्र की दुर्गति की गई है। साथ ही हमारे साहित्य-सेवियों को भी धुन लगी है कि वे ऐसी पोथियाँ लिखें, जिनकी सहायता से प्रतिभाशाली लेखक पैदा हों। कोई कवियों को पैदा करने की फ़िक्र में है, तो कोई लेखन-कला का पाठ पढ़ाकर लिक्खाड़ों की फ़ैक्टरी ही तैयार करना चाहता है, और यह सब अमेरिकन तथा अँगरेज़ी की 'Books on the art of writing Essays' या Composition की नक़ल करके। मेरा मतलब स्वामी सत्यदेव की उक्त नाम की पुस्तक से है। मूल-पुस्तकों के लेखकों ने भी इन्हें इस उद्देश्य से नहीं लिखा कि इनसे सींचा जाकर साहित्य का सूखा खेत तुरंत लहलहाने लगेगा। अनुवाद करनेवाले कई स्थानों पर लेखक का तात्पर्य ही नहीं समझे। भला इस बौने की बेल कैसे फूले-फलेगी?

अँगरेज़ी बनियों और स्वार्थी वैज्ञानिकों की भाषा है। स्वार्थी वैज्ञानिक समाज उन बनियों की उच्च श्रेणी है, जो अपने आविष्कारों से मालामाल होने की फ़िक्र में लगे रहते हैं। इनके उदाहरण एडिसन, फ़ोर्ड आदि हैं। हाँ, अब तो मारकोनी ने भी इसी भाषा की शरण ली है—"योग्यं योग्येन योजयेत्।" इसलिये इसमें वे पागल नहीं पैदा हो सके, जिन्हें श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर ने "ओगो पागल! ओगो साधक!" कहा है। इस भाषा ने शेक्सपियर को जन्म दिया, वर्ड्सवर्थ को जन्म दिया; किंतु रूसो को नहीं उत्पन्न कर सकी। रूसो ने भूल की, उसके आचरण और सिद्धांतों में समानता नहीं थी, तथा यह भी मान लें कि उसमें और हज़ारों बुराइयाँ थीं; किंतु उसका एक गुण असंख्य दोषों को दबा देता है। वह गुण है उसकी आत्मा की शुद्धता—सत्यता। वह सर्वदोषापहारी तेज है उसकी धुन—उसका पागलपन। हाँ, वह उस आदर्श का, दृष्टि का साक्षात्कार है, जिसके आगे वह आत्मविस्मृत और समाधिस्थ हो जाता था। यही कारण था कि उसने साहित्य-स्रोत के बहाव को पलट दिया। उसके 'Contract Sociale' की धज्जियाँ भले ही उड़ा दी गई हों; लेकिन थोड़ी देर के लिये उस आत्मा का ध्यान कीजिए, जिसने समस्त मानव जाति का शोक-संताप, नीलकंठ के विष के कटोरे की भाँति, पी लिया था—उस हृदय की थाह ढूँढ़िए, जिसमें विश्व का ज़ोर अन्याय और अमानुषी अत्याचार सिमटकर ऐसा तूफ़ान मचा रहा था, जिसके सामने संसार के महासागर क्या हक़ीक़त रखते हैं। सच है, बक़ौल ग़ालिब रूसो कह सकता था—

> हम वहाँ हैं, जहाँ से हमको भी;
> कुछ हमारी ख़बर नहीं आती।

उसके अपनी क्षुद्र आत्मा की अखंड शक्ति के अचल विश्वास पर तो विचार कीजिए कि उसने भूमंडल के विचारों की गति उलट देनी चाही थी, इस साहस पर, इस उद्दंडता पर या यों कहिए, इस विद्रोह पर लीलामय भी मुसकिराया होगा। तात्पर्य यह कि पगली प्रतिभा, जो साहित्य-कला का प्राण है, इँगलैंड में नहीं पनपने पाई। अँगरेज़ भारत में आने से पहले भी बनिए थे, अब भी बनिए ही हैं (इससे यह न समझना चाहिए कि उनका साहित्य हमारे वर्तमान साहित्य से भी गया-बीता है। वह बहुत उन्नत है। यहाँ योरपियन साहित्य से तुलना की गई है)। जिस प्रकार अमुक मुकर्जी और बनर्जी कोर्स की किताबों पर छोटे-छोटे नोट्स छपाकर स्कूल और कॉलेज के छात्रों के पास कराने की फ़िक्र में रहते हैं, ठीक उसी तरह मूल्टन और हडसन छात्रों की सहायता करते हैं। किंतु Edmond Gosse और Saintsbury भी वह प्राण कहाँ से लावें कि स्यौंत बोएव (Sainte Beuve) की तरह साहित्य-रस के सागर में डूबकर मुक्ति प्राप्त करने का अपार आनंद लूटें। इसीलिये कहना पड़ता है कि जिस विदेशी भाषा में हम लोग विचक्षण बनते हैं, उसमें अधिकांश साहित्य नहीं, पाखंड है। उसी का सार लेकर हम नवीन साहित्य का दर्शन करना चाहते हैं। यही कारण था कि साहित्यालोचन में हडसन की बू (या बदबू) आते ही मेरा प्रारंभिक आनंद धीमा पड़ गया। ईसामसीह ने कहा है—"धनियों के लिये स्वर्ग में प्रवेश करने की उतनी ही संभावना है, जितनी ऊँट के लिये सुई के छेद के भीतर

से पार हो जाने की।" इस वाक्य के अनुसार मुझे यह कहने में संकोच नहीं होता कि हडसन की पुस्तक द्वारा वाणी के मंदिर में प्रवेश करने की भी उतनी ही संभावना है, जितनी उक्त ऊँट के लिये सुई का छेद पार करने की।

अस्तु, आप कहते होंगे, यह कैसा समालोचक है कि बिना यह सिद्ध किए कि साहित्यालोचन अनुवादित ग्रंथ है, और वह अनुवाद हडसन की पुस्तक का है, सरासर अँगरेज़ी-भाषा पर गालियों की बौछार कर रहा है। अच्छा सुनिए, इस पुस्तक में ३६६ पृष्ठ हैं। इनमें १६-२७२ और ३४३ से ३६६ तक के पृष्ठ हडसन की पुस्तक से हैं। इस हिसाब से २८० पेज केवल एक ही अँगरेज़ी-किताब की नक़ल हैं। ३१३ से ३४२ पृष्ठों में शैली के विवेचन का विचार किया गया है। इसमें भी हडसन की ज़बरदस्त छाया पड़ी है। उक्त २८० पृष्ठों को निस्संकोच 'अनुवाद' नाम दिया जा सकता है। कहीं पूरा भाषांतर है, तो कहीं छायानुवाद; और कहीं भावानुवाद, तो कहीं अशुद्ध अनुवाद। शीर्षक तो प्रायः सभी भाषांतरित हैं। दूसरा अध्याय खोलिए—उसका पहला शीर्षक 'काव्य की परिभाषा' या What is literature है। दूसरा है 'काव्य और मानव-जीवन' अर्थात् Literature and Life. इस स्थान पर हडसन के भी एक वाक्य पर बड़ा अत्याचार किया गया है। बाबू साहब ने २३वें पृष्ठ पर लिखा है—'काव्य वास्तव में मानव-जीवन का एक चित्र है।' इसका अँगरेज़ी-मूल-वाक्य यों है—"A great book grows directly out of life." भाषांतर में अर्थ का अनर्थ हो गया है। हडसन ने फ्रेंच-वाक्य का शुद्ध अँगरेज़ी तर्जुमा किया है; किंतु बाबू श्यामसुंदरदास ने उसके तात्पर्य का ही नहीं, बल्कि काव्य या यों कहिए, साहित्य का गला मरोड़ दिया है। एक का अर्थ है साहित्यिक रचना स्वयं जीवन है। दूसरा उसे जीवन का फ़ोटो क़रार देता है। इसी का नाम है ज़िंदे को गाड़ देना। यदि साहित्य जीवन का चित्र है, तो सिनेमा सर्वोत्तम 'काव्य' है। चित्र चल-फिर नहीं सकता; पर फ़िल्म में तो सिर्फ़ बोलने की कसर रह जाती है, और वह भी अब दूर की जा रही है। क्या भविष्य में काव्य का विकसित रूप 'फ़िल्म' हो जायगा? तब तो घूरे के दिन फिरते नज़र आते हैं। चार्ली चैपलिन, हैरॉल्ड लॉयड, मेरी पिकफ़र्ड, डगलस फ़ेयरबैंक, लिया मारा आदि कलियुग के 'मुनिपुंगव नाना' बन जायँगे? नहीं, अभी नहीं। जब तक फ़्रांस, रूस, इटली विद्यमान हैं, वे kind artists केवल नाम के कलावंत रह जायँगे, और धन के पीछे मदोन्मत्त अमेरिका साहित्य-समाज में अछूत-सा ही बना रहेगा। तीसरा शीर्षक 'काव्य और मनोवृत्ति' The Impulses behind literature की हिंदी है। इसका पहला वाक्य है—"मनुष्य स्वभाव ही से यह चाहता है कि मैं अपने भावों और विचारों को दूसरों पर प्रकट करूँ।" हडसन ने यह भाव इन शब्दों में लिखा है—"We are strongly impelled to confide to others what we think and feel". चौथा शीर्षक 'काव्य के विषय' अँगरेज़ी में The Themes of literature है। पाँचवाँ 'काव्य के विभाग' अर्थात् The Classification of literature है। इसमें एक वाक्य—और यह वाक्य बड़ा महत्त्व-पूर्ण है—का अर्थ इतना बिगाड़ दिया गया है कि यदि हमारे भावी लेखक इसको सिद्धांत मानकर क़लम पकड़ेंगे, तो निस्संदेह शारदा को कुष्ठ-रोग हो जायगा। अँगरेज़ी में वह यों है—And when we remember the great principle that a piece of literature appeals to us only *when it calls into activity in us, the same powers of sympathy and imagination as went to its making*, the interest, which such forms have for us, is explained.

अब साहित्यालोचनकार कृत इसका भाषांतर देखिए—"यहाँ पर यह सिद्धांत ध्यान में रख लेना चाहिए कि कवि का काव्य मनुष्य के हृदय को तभी अपनी ओर खींच सकता है, जब उसमें अनुरागजनक और कल्पना की वही सामग्री विद्यमान हो, जो पाठक, श्रोता या द्रष्टा के हृदय में विशेष रूप से जाग्रत् रहती है।" अँगरेज़ी-भाषाभिज्ञ पाठक अँगरेज़ी तथा हिंदी-वाक्यों की तुलना करके देखें। तुरंत मालूम हो जायगा कि गुरु गुड़ ही रह गए, और चेला शक्कर हो गए। हडसन कवि-हृदय की बात करते हैं, पर बाबू श्यामसुंदरदास पाठक, श्रोता या द्रष्टा के हृदय की। अँगरेज़-अध्यापक बतलाता है कि साहित्य का वही ग्रंथ हमारे मन को मुग्ध करता है, जो हमारे हृदय में कवि के हृदय की

समवेदना (और सहानुभूति) तथा कल्पना को सोलहो-आने प्रदीप्त या उत्तेजित कर दे। सारांश यह कि वही विशुद्ध काव्य है, जो पढ़नेवाले को कवि के भावों की बाढ़ में बहा ले जाय। किंतु हिंदू-अध्यापक हिंदू-विश्व-विद्यालय के एम्० ए० के छात्रों को शिक्षा देते हैं कि ग्रंथ में लेखक के भाव उतना महत्त्व नहीं रखते, जितना पाठक के। इसलिये तुम्हें चाहिए कि पाठकों के भावों का ध्यान रखकर साहित्य के बाज़ार में रत्नों की लूट मचा दो। मुझे मालूम पड़ता है, हिंदी की अधिकांश पुस्तकें इसी सिद्धांत पर लिखी गई हैं। सो हमारे साहित्य-रथी बहुत पहले से यह सिद्धांत जानते हैं। यह भी उन अँगरेज़-साहित्यसेवियों का पदानुसरण है, जो हर सीज़न में (साल की दो फ़सलों में) दो-दो पोथे पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर तैयार कर लेते हैं! असल में यह नीति अच्छी है। इसके अनुसार काम करने पर थोड़े समय में ढेर-की-ढेर पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, और लेखक क्षणिक यश और यथेष्ट द्रव्य कमा लेते हैं। फ्रांस में डूमा पिता-पुत्रों ने (Dumas) इस नीति का उपयोग कर लाखों रुपए पैदा कर लिए; किंतु फ्रेंच-साहित्य में उनकी पुस्तकों का अब यही मूल्य है कि बालक उनके द्वारा भाषा सीखते हैं।

इसे क्या समझें ? छापे की भूल यह हो नहीं सकती। यदि यह कहें कि नागरीप्रचारिणी-सभा के जीवन, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष, वर्तमान हिंदी-लेखकों के आदर्श, तुलसी-कृत रामचरित-मानस के टीकाकार और संपादक, हिंदी के अनन्य सेवक तथा साहित्य के आचार्य बाबू श्यामसुंदरदास साहित्य का अर्थ नहीं समझे, उसके मर्म से कोरे रह गए, तो मेरे छोटे मुँह की यह बहुत बड़ी बात है। यदि न कहूँ, तो साहित्य-कला की केवल सूरत ही नहीं बिगड़ती, बल्कि वह वारवधू की श्रेणी में रक्खी जा रही है। दोनों मंगलामुखी हैं; किंतु इनमें उतना ही अंतर है, जितना स्वर्ग और नरक में। हाँ, यदि साहित्य की परख जनता की रुचि पर निर्भर रक्खी जायगी, तो दोनों में कुछ भेद नहीं रहेगा। दोनों का सौंदर्य, ठाट-बाट बाज़ारू हो जायगा। बात यह है कि कवि मर भले ही जायगा, पर दूसरे को प्रसन्न करने के लिये उसके हृदय से भावों की धारा न बह सकेगी। हिंदी साहित्य में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी से अच्छा उदाहरण कहाँ मिलेगा। इस भाव-प्रवाह को न सूखने देने के लिये ही भूषण शिवाजी के पास दौड़े गए थे। यदि वह ऐसा न करते, तो कला मुरझाकर मर जाती। भले ही उनका काव्य 'जीवन का वास्तविक चित्र' होता; पर उसकी गिनती कला की कृतियों में न होती। फ़ोटोग्राफ़र की कृति को, असल का हूबहू प्रतिरूप होने पर भी, यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ कि वह कला में शुमार की जाय।

प्रश्न उठता है, कला क्या है ? मैं कहूँगा, सुकुमार कला सत्य, शिव और सुंदर की झाँकी का प्रत्यक्ष दर्शन, और इस साक्षात्कार से प्राप्त हुई आनंदमय स्थिति का प्रतिभा द्वारा सहज एवं सुचारु उद्गार है। प्रतिभा परवा नहीं करती कि जनता को किसमें मज़ा आता है। अफ़सोस है उस कवि पर, जो स्वर्गीय आनंद में निमग्न कमभोक्ता की तरह 'आत्मानंद' नहीं रह सकता। प्रतिभा के नज़दीक संसार के नीच और पतित धंधों में उलझा हुआ पाठक कौन-सी गिनती में है। सर्वसाधारण, और यह अधिकार रक्खें कि सौंदर्य-कला पर न्यायाधीश की भाँति फ़ैसला दें! इससे बड़ी कमबख़्ती साहित्य के लिये और क्या होगी ? आप आज हिंदी में देखिए—"करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि।" उस रोज़ एक सज्जन रेनॉल्डस और वाल्टर स्कॉट पढ़कर साहित्य के न्यायासन पर बिराज गए। इस स्थिति में उस काव्य का परमात्मा ही रखवाला है, जो इनसे वाहवाही लूटने के लिये लिखा गया हो। जनता की प्रशंसा से घबराकर इटली का सौंदर्यकला-मर्मज्ञ बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce) लिख रहा है—Arte rimane perfetlemante definita, quando semplicemente si definisea come intuzione. अर्थात्, यदि कोई कहे कि कला अंतःकरण के विशुद्ध भाव हैं, तो वह उसकी पूरी परिभाषा दे चुका। फ्रेंच इस भावमय स्थिति को esprit poetique कहते हैं। यह आत्मा साहित्यमय होती है, 'पाठकोचित रुचिमय' नहीं। खेद है, बाबू साहब ने तो उक्त अँगरेज़ी-वाक्य का अर्थ समझने की भी चेष्टा नहीं की। इसमें चेष्टा की भी तो कोई बात नहीं। साफ़ लिखा है—सच्चा कवि पाठकों के हृदय में अपने भाव अविकल रूप में जाग्रत् कर देता है। ऐसा अनर्थकारी अनुवाद करने पर भी कई स्थानों पर आपने (कवि का व्यक्तित्व या कवियों के महत्त्व का आदर्श आदि शीर्षक के नीचे) कवि की

स्वतंत्रता का गुणगान किया है । सच यह है कि जब आदमी दूसरे की नक़ल करने लगता है, तो अपनी बुद्धि से काम नहीं लेता, और परस्पर-विरोधी बातें कह डालता है । यहाँ हडसन का दोष नहीं है । यह अशुद्धि विज्ञ लेखक के अनुवाद में है । पूज्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने इस पुस्तक के पहले चार अध्याय पढ़े थे । संभवतः अस्वस्थता के कारण उनके ध्यान में यह बात न आई हो । अफ़सोस यह है कि बाबू रामचंद्र वर्मा ने भी हस्त-लिपि पढ़ी ; किंतु वह भी इस ग़लती को नोट न कर सके । 'आमदम बरसरे मतलब' । ऐसी भद्दी ग़लतियाँ दूसरे संस्करण में सुधार दी जायँ । एम्० ए० में हिंदी-साहित्य का सार्टिफ़िकेट लेकर जो छात्र यह विचार साथ ले जायगा, वह क्या कर सकेगा ? उसे कहना ही पड़ेगा—"एम्० ए० बनाके क्यों मेरी मिट्टी ख़राब की।"

आगे बढ़िए । छठा शीर्षक है 'काव्य और व्यक्तित्व', जो हडसन साहब के शब्दों में Literature as an Expression of Personality है । सातवाँ है 'ग्रंथ और ग्रंथकर्ता'। यह हडसन साहब का The man in the book है । आठवाँ है 'समयानुक्रम रचना-प्रणाली', अर्थात् The Chronological Method of Studying an Author । नवाँ शीर्षक 'तुलनात्मक प्रणाली' The Comparative Method का शुद्ध अनुवाद है । इसके बाद का विभाग जीवनचरित याने Biography है । ग्यारहवाँ शीर्षक श्रद्धा The Need of Sympathy का ठीक अनुवाद बैठा नहीं । किंतु पहले ही वाक्य में यह गड़बड़ी साफ़ कर दी गई है । वहाँ लिखा है—"श्रद्धा नहीं, तो कम-से-कम सहानुभूति तो अवश्य ही होनी चाहिए।" यह बात अँगरेज़ी में यों लिखी हुई है—"We should cultivate a spirit of Sympathy—at least of provisional sympathy—with our author!" इस पर विशेष क्या लिखा जाय ? अंतिम शीर्षक है 'रचना शैली', जो अँगरेज़ी-पुस्तक के दो शीर्षकों को मिलाकर एक ही में समाप्त कर दिया गया है । इनके नाम हैं Style as an Index of Personality और The Personal Interest of Style । यहाँ साहित्यालोचन का एक परिच्छेद पूरा हो जाता है, और हडसन साहब का भी । यह एक परिच्छेद बतौर नमूने के पेश किया गया है ; दूसरे अध्यायों का भी यही हाल है ।

इस पुस्तक में वाक्य और सिद्धांत आपस में इस प्रकार टकराते और लड़ते हैं कि मालूम पड़ता है, हिंदू और मुसलमान सरफुटौवल में मशग़ूल हैं । एक वाक्य या सिद्धांत इसी ग्रंथ के दूसरे वाक्य या सिद्धांत को ठुकराकर बाहर खदेड़ना चाहता है । पृष्ठ ५५ का अंतिम वाक्य है—"उनकी (कवियों की) कृतियाँ उनके समय का प्रतिबिंब दिखाने में आदर्श का काम देती हैं।" आदर्श का मतलब यहाँ दर्पण अर्थात् आईना है । स्पष्ट है, यदि किसी को कवि के समय की 'प्रकृति' मालूम करनी हो, तो इस आईने में उसका प्रतिबिंब देख ले । अब ५८वाँ पेज खोलिए । वहाँ छपा है—"वह केवल उनसे प्रभावान्वित होनेवाला ही नहीं, उस पर प्रभाव डालनेवाला भी है।" देखिए, पेज ५७ पर लिखा है—"स्मरण रहे कि यद्यपि ये तीनों ही बातें जातीय साहित्य के विकास और ग्रंथकारों के विशेषत्व के उत्पादन में साधारणतः सहायक हो सकती हैं, और होती भी हैं ; पर इसका यह अर्थ नहीं कि सभी ग्रंथकार इन्हीं तीन शक्तियों के अधीन याने उनसे प्रेरित होकर ग्रंथ-रचना करते हैं।" × × × "साधारण लेखकों की अपेक्षा प्रतिभाशाली लेखकों के लेखों में कुछ विशेष प्रकार के गुण पाए जाते हैं । अतएव यदि पूर्व-निर्दिष्ट सिद्धांत सर्वत्र चरितार्थ हो सकेगा, तो महाकवियों और प्रख्यात लेखकों की विशिष्टता ही नष्ट हो जायगी।" अब सवाल उठ खड़ा होता है कि 'आदर्श' और 'विशेषता' की संगति कैसे बैठती है ? आईने के भीतर जो प्रतिबिंब दिखलाई देता है, उसे कुशल-से-कुशल वैज्ञानिक भी retouch नहीं कर सकता । इसलिये समझ में नहीं आता कि उक्त दो सिद्धांतों को किस करवट बिठलाया जाय कि ये भाई-भाई की तरह गले मिलें । यह बात विज्ञ लेखक ही बतला सकते हैं । हडसन को अपनी भाषा का सदा ध्यान रहा है; किंतु बाबू साहब विचारों को व्यक्त करने में 'मौलिकता का ध्यान' रखकर घपले में पड़ जाते हैं । इस स्थान पर हडसन साहब ने फ़्रेंच-लेखक तेन (Taine) का सिद्धांत समझाया है, जिसमें उसने जाति, वातावरण (परिस्थिति—Milieu) और moment (जिसके लिये जर्मन भाषा में सबसे अच्छा शब्द है Zeitgeist, अर्थात् किसी विशेष समय की आत्मा या सार ; उर्दू में ज़माना कह सकते हैं ; मेरे ख़याल में यदि हिंदी में हम 'तत्कालीन मानसिक स्थिति

या सार्वभौम विचार' कहें, तो इसे थोड़ा-बहुत व्यक्त कर सकते हैं) का साहित्य पर प्रभाव बतलाया है। यह समालोचना की वह पद्धति है, जिसे 'वैज्ञानिक' नाम दिया जाता है। अँगरेज़-विद्वानों ने आजकल की साधारण चाल के अनुसार इसका खंडन भी किया है। बाबू साहब ने भी वैसा ही किया है; किंतु विचारों के पूर्वापर तारतम्य पर विचार नहीं किया। अच्छा तो यह होता कि आप तेन का सिद्धांत उसके नाम पर ही समझाते, जैसा अँगरेज़ी पुस्तक में किया गया है। ऐसी बातों से मौलिकता में क्या अंतर आता है?

एक दूसरी जगह तो भाषांतरकार बुरी तरह फिसल पड़े हैं। आप जॉनसन के पास थे; मगर क़लम ऐसी रपटी कि मिल्टन के पास पहुँच गई। खोलिए हडसन का पेज ८२, और बाबू साहब की पुस्तक का ६६। आप लिखते हैं—"जॉनसन का मत है, 'कविता पद्यमय निबंध है।' मिल्टन के अनुसार कविता वह कला है, जिसमें कल्पना-शक्ति विवेक की सहायक होकर सत्य और आनंद का परस्पर सम्मिश्रण करती है?" हडसन लिखता है—"Poetry, says Johnson, is metrical composition[1]". It is the art of writing pleasure with truth by calling imagination to the help of reason,[2]" and its 'essence' is 'invention.[3]" अँगरेज़ी में उक्त सारा वाक्य जॉनसन का बतलाया गया है, उसने अपनी भिन्न तीन पुस्तकों में उक्त मत दिया है। यहाँ गड़बड़ी यह रही कि ऊपर वाक्य में तो जॉनसन का नाम है, और नीचे नोट में life of Milton लिखा हुआ है। इसलिये अनुवादक महोदय ने रास्ता निकाला, और लिख दिया—मिल्टन के अनुसार। किंतु जॉनसन का मत मिल्टन के अनुसार कैसे हो सकता है? मिल्टन के अनुसार तो वही उसका मत होगा, जिसे उसने स्वयं प्रकट किया है। बिहारी के बारे में पं० पद्मसिंह शर्मा जो लिखें, वह उसका मत कैसे होगा? हाँ, अपने दोहों के बारे में बिहारी ने जो मत दिया है, वह उसका है, और उसके अनुसार भी है। बाबू साहब ग्रेजुएट हैं। उनसे यह गलती कैसे हो गई? अच्छा तो यह होता कि आप जैसा और जगहों पर करते रहे हैं, यहाँ भी लिख देते—'कुछ लोगों का यह मत है।' इसी शीर्षक में आपने Metrical शब्द के दो स्थानों पर दो अर्थ किए हैं—(१) पद्यमय, (२) संगीतमय। मैं नहीं जानता, यह अभिधा, लक्षणा या व्यंजना क्या है?

कविता और छंद पर लिखते हुए एक स्थान पर आप फ़रमाते हैं—"कविता और वृत्त या संगीत के संबंध के कारण × × × हमारी कल्पना कवि की कल्पना का अनुसरण करती हुई, जहाँ-जहाँ वह ले जाता है, चली जाती है, और अपनी सत्ता को भूलकर उसकी सत्ता में लीन हो जाती है। अतएव कविता को संगीत या वृत्त से अलग करना उसके एक प्रधान गुण को छोड़ देना है।" यह बड़ा लचर सिद्धांत है। जिसने साहित्य का थोड़ा भी अध्ययन किया हो, वह कदापि ऐसी कच्ची बात न कहेगा। छंद या वृत्त से कविता की मनोहरता बहुत बढ़ जाती है; और जहाँ कविता संगीत में परिणत हो जाती है, उसका प्रभाव कईगुना बढ़ जाता है। लेकिन यह कहना कि संगीत के संबंध के कारण हमारी कल्पना तीव्र हो जाती और कवि की सत्ता में विलीयमान हो जाती है, निरी साहित्यिक अज्ञता है। आप कादंबरी पढ़िए, उसमें वृत्त न होने पर भी आपकी कल्पना कवि की कल्पना का अनुसरण करती है, और साहित्य-प्रेमी अपने को भूल जाते हैं। चेकोफ़ या मोपासाँ की छोटी कहानी संगीत से उतनी ही दूर है, जितनी पानी से आग। किंतु उनका प्रभाव देखिए। लेखक की कल्पना आपकी हो जाती है। और, आपकी क्या सत्ता है, टालस्टाय-जैसे साहित्यकला-विवेचक की सत्ता लेखक की निर्माण-शक्ति में विलीन हो जाती है। यह प्रभाव संगीत का नहीं, रचयिता की कला-निर्माण-शक्ति का है। संगीत मनुष्य के भावों पर अपना जादू दिखलाता है; किंतु कविता तो पद्यमय होती है, संपूर्ण संगीतमय नहीं। सूरदास के पद तभी संगीत हैं, जब गाए जाते हैं, और उनका प्रभाव भी पढ़ने या गाने में भिन्न-भिन्न होता है। तुलसीदासजी का 'रामचरित-मानस' पद्य में है। चौपाइयाँ राम-लीला में गाई भी जाती हैं। किंतु उनमें संगीत का स्वर, लय और तान उस कोटि को नहीं पहुँचती, जिसको सूर के भजन। बिहारी के दोहे तो इतने भी नहीं गाए जा सकते। किंतु जब कल्पना को जाग्रत् करने या तन्मय बना देने का प्रश्न

१. Dictionary, २. Life of Milton, ३. Life of Waller. (ये भी हडसन के नोट हैं—लेखक)

कहता है, तो सबका प्रभाव कविता पढ़ते समय एक-सा, अर्थात् अपनी-अपनी काव्य-निर्माण-शक्ति के अनुपात से, पड़ता है। हाँ, यह ठीक है कि कई नाज़ुक विचार स्वभावतः कविता की धारा के प्रवाह में बहना चाहते हैं। यह बात जर्मन-कवि शिलर ने सबसे अधिक प्रत्यक्ष की है। विहारी के भाव दोहों द्वारा ही क्यों बहे हैं? इसलिये नहीं कि छोटा-सा दोहा सजाना सहज था, बल्कि इसलिये कि सुकुमार भावों ने विहारी को दुबले-पतले दोहों की ओर झुकाया। यह चाहे जो हो; पर संगीत वह काम नहीं करता, जो साहित्यालोचन में उसके माथे मढ़ा गया है। किसी भी गद्यलेखक की प्रतिभा-पूर्ण कृति उक्त असर पैदा करती है। इसलिये उक्त वाक्य संगीत की कुछ भी पुष्टि तो नहीं, घात अवश्य करता है। हडसन ने इस विषय पर अपने The Significance of Rhythm और Rythm—a Natural Vehicle of Poetic feeling-शीर्षकों के नीचे लययुक्त पद्य की जो प्रभावोत्पादक शक्ति बतलाई है, उसमें ऐसी बात नहीं लिखी। उसने ठीक लिखा है कि लययुक्त पद्य के द्वारा सौंदर्यपिपासु आनंद (aesthetic pleasure) की मात्रा बढ़ती है। किंतु इसका और कल्पना के अनुसरण तथा तादात्म्य का क्या संबंध? इससे पाठकों में मति-विभ्रम फैल जायगा। हिंदी में तो अब तक वही समय वर्तमान है कि छपा हुआ वाक्य वेदवाक्य माना जाता है। उस पर बाबू श्यामसुंदरदास की क़लम से निकला हुआ सिद्धांत तो वज्र-लिपि ही बन जायगा। भोले-भाले, सब पर विश्वास कर लेनेवाले पाठकों को क्या ख़बर कि किसी पुस्तक में लेखक जल्दबाज़ी में, अधिक अवकाश न मिलने के कारण, संभव है, हडसन को ठीक न समझने से, भयंकर भूल कर सकते हैं। भगवन्, यह भी भूल है कि साहित्य-कला का सिर मूँड़ते ही ओले बरसने लगे! यही कारण है कि हमारा साहित्यादर्श इतना गिरा हुआ है।

एक स्थान (पेज ८४) पर आप लिखते हैं—"परंतु यह बात न भूलनी चाहिए कि कवि का संबंध वस्तुओं की सुंदरता, उनके भीतरी रहस्य और उनकी मनोमुग्धकारिता से है। इस कारण कवि जो चाहे, लिखने के लिये स्वतंत्र है।" परंतु मूल-ग्रंथकार लिखता है—

"It is not to be assumed that because a poet's principal concern is with the beauty and mystery, the human interest and meaning of the things with which he deals, he is under no restraint or obligation in respect of objective reality......Yet a moment's thought will show *us that it is utterly erroneous*."

इन दो वाक्यों का ठीक अर्थ न समझने के कारण 'स्वतंत्र नहीं है' के स्थान पर आपने 'स्वतंत्र है' कर दिया है। यह सारा पैराग्राफ़ ही अस्पष्ट एवं अशुद्ध है। किंतु एक भारी ग़लती यह है, और यह आगे भी दो-तीन स्थानों पर दुहराई गई है, कि आपने the human interest and meaning of the things का अनुवाद 'मनोमुग्धकारिता' कर दिया है। मान लें कि कोई आदमी the human interest का, द्राविड़ प्राणायाम के न्याय से, यह अर्थ कर दे; किंतु meaning of the things का मतलब इसमें कहाँ आया? यह तो 'गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्' हो गया। पाठक इसे मज़ाक़ न समझें। meaning of the things वह महासागर है, जहाँ से कवि डुबकी मार-मारकर अनमोल रत्न निकाल लाता है। बाबू साहब ने अनुवाद में कुछ कठिनता आ पड़ने से यही ठीक समझा कि इसके भीतर न पैठकर, इसे 'गोष्पद' समझ लाँघ जाओ। विश्व का सारा दर्शन, धर्म और कला इस 'सारतत्त्व' को ही समझने की कोशिशों का फल है। इसकी खोज में बक़ौल नज़ीर 'पड़े भटकते हैं लाखों दाना, हज़ारों पंडित करोड़ों स्याना।' और, इसे ही राक्षस समझ महावीररूपी लेखक ने मच्छड़ बनाकर पीस डाला है। संसार के सब कवियों में यदि कोई विशेषता है, तो यही कि वे अपनी अंतरात्मा से इस सारतत्त्व को नाना दृष्टियों से देखते और आपके सामने उसका जीता-जागता वर्णन रखते हैं। ईश्वर-भक्त, कवि या नास्तिक, जगत् के आनंद में मग्न कवि या असार संसार के विनाश का तांडव-नृत्य देखनेवाला निराशावादी, सब इसी सारतत्त्व, इसी सत्य की खोज में डोलते फिरते हैं। इस meaning of the things का साक्षात्कार कर तुलसीदास कहते हैं—

सिया-राममय सब जग जानी;
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।

—और इटली का कवि लियोपार्डी (Leopardi) विश्वेश का तांडव-नृत्य देख, उसके सार को समझकर गाता है— Due cose bella na it mondo, Amore emorte. अर्थात् मर्त्यलोक में दो पदार्थ सुंदर हैं—प्रेम और मृत्यु। आस्ट्रिया का घोर निराशावादी कवि लेनाउ (Lenau) भूलोक को दुःखालय समझ कहता है—"Brich ihn schnell nicht langsam wreeble" याने मेरे शरीर को झपटकर चूर कर दे, धीरे-धीरे क्यों मारता है ? इसका नाम है कवि की अंतर्दृष्टि। यह है उसकी नवीनता, चमत्कार और अनूठापन। भाषा कोई हो, कवियों में जो सदा अनूठा भाव पाया जाता है, वह इसी एक विशेषता के कारण। इसे अनुवादक उड़ा ही गए। बिना वस्त्र के भी सुंदरी नारी का सौंदर्य रहता है, भले ही विशेष शोभा न हो; किंतु बिना इस अंतर्दृष्टि के कविता का अस्तित्व नहीं रहता। यदि किसी में यह दृष्टि नहीं है, तो उसकी रचना मेरी कविता होगी, याने जन्मते ही मर जायगी। ऐसी मोटी ग़लतियाँ देखकर मुझे तो सहसा कहना पड़ता है—If such be thy gods O Israel! यदि हमारे अध्यापक ऐसा साहित्य पढ़ावेंगे, तो हम रवींद्रनाथ ठाकुर और शरच्चंद्र चटर्जी को परास्त कर चुके। एक तो अनुवाद, उस पर यह दशा ! करेला, और उस पर नीम-चढ़ा !! इस पर आप कहते हैं, गो० तुलसीदासजी ने जो यह सोरठा लिखा है कि—

फूलै-फलै न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद ;
मूरख-हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि बिरंचि-सम।

उसमें अस्वाभाविकता और परतंत्रता है। परतंत्र तो गोसाईंजी हैं ही। उन्होंने आरंभ में ही अपनी निर्बलताएँ स्वीकार कर ली हैं, और यह भी साफ़ कह दिया है कि "नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि," याने कहीं यह भी नहीं कहा कि मैं मौलिक पुस्तक लिख रहा हूँ। किंतु बलिहारी है इस अनुवाद की ! मौलिक काव्यों के कान काट गया है। यह है वह मौलिकता, जिसका बाबू श्यामसुंदरदास ने अपनी भूमिका में ज़िक्र किया है। साहित्य-समालोचन तो हडसन का भ्रष्ट अनुवाद है। तुलसीदासजी के उक्त सोरठे में दोष यह है कि उन्होंने अंध-परंपरा का अनुसरण नहीं, बल्कि 'आम महावरे' का प्रयोग किया। आमफ़हम ग़लती, ग़लती नहीं रहती। वैसे तो न अमृत बरसता है, न ब्रह्मा ही इस कलियुग में गुरु मिलते हैं। भर्तृहरि ने कहा है—"ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रंजयति।" ब्रह्मा की insult याने मान-हानि हुई ही, साथ ही असंभव बात कह डाली। ब्रह्मा इलाज करें, और कारगर न हो ! बोलचाल में लोग कहते हैं, इसका इलाज तो हकीम लुक़मान के पास भी नहीं। यह अंध-परंपरा है। न किसी ने हकीम लुक़मान को देखा, न कोई पूछता है, वह कब और कहाँ हुए थे ? पर कह सब देते हैं। यदि तुलसीदासजी ने बेत नहीं फुलाए-फलाए, तो क्षमा के योग्य हैं। मैं तो ऐसे महात्माओं की ग़लतियाँ नहीं समझ सकता। जिनकी आत्मा उस उच्च शिखर पर पहुँच गई हो, जहाँ 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, वहाँ अशुद्धियाँ नहीं होतीं। न वह परतंत्रता है, न निरंकुशता। यह है 'आर्ष-प्रयोग'। इसलिये शुद्ध है।

'साहित्यालोचन' में गोस्वामीजी पर—याने सच्चे कवि के मूर्तरूप पर—बड़ा अन्याय किया गया है। लेखक इसको बुरा बतलाते हैं कि कोई कवि उपदेश देने की विशेष इच्छा रक्खे। यह है भी ठीक। कवि कोई उपदेशक या धार्मिक गुरु नहीं है, जो नसीहत दे। आजकल तो धार्मिक और नैतिक ही नहीं, सब प्रकार का प्रचार-कार्य पुस्तकों द्वारा किया जाता है। 'प्रेमाश्रम' की सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि लेखक को जो राजनीतिक और नैतिक आदर्श अच्छा लगा, और स्थायी है, उसे वह साहित्य में घोलकर दूसरों को पिलाना चाहता है। इससे कला का उद्देश्य चौपट हो गया है, और पुस्तक का स्वरूप पूर्ण साहित्यिक नहीं रहा। इस नैतिक साहित्य का, जिसे अँगरेज़ी में literature with purpose या propaganda-literature कहते हैं, कोई भी कलाविद् पक्षपाती नहीं हो सकता। इसकी गणना बाल-साहित्य में भले ही की जाय। किंतु बाबू साहब ने जो यह लिखा है कि तुलसीदासजी को भी यह रोग था, और बहुत था, सो सत्य होने पर भी असत्य है। आप यहाँ धोखे में पड़ गए—"जिमि जीवहिं माया लपटानी।" रस्सी को आपने साँप समझ लिया। यह बात आपके उदाहरणों से प्रकट होती है। आपने चार चौपाइयाँ उदाहरण के रूप में उद्धृत की हैं—

दामिनि दमकि रही घन माहीं, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।
छुद्र नदी भरि चलि उतराई, जस थोरे धन खल बौराई।

उदित अगस्त पथ-जल सोखा, जिमि लोभहिं सोखै संतोखा।
बुंद-अघात सहैं गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे।

इन चौपाइयों पर विचार कीजिए। कवि ने अमृत का सागर बहा दिया है। धन्य है वह महान् आत्मा, जिसने असंभव को संभव कर दिखलाया है। संसार के साहित्य में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते कि कोई साहित्य-कला का आचार्य ऐसे दो तत्त्वों को मिला सका हो, जिनमें अमृत और विष की भाँति एक दूसरे को मिटाने का गुण हो। नीति और कला को मैं ऐसा ही समझता हूँ, और बड़े-बड़े साहित्य-मर्मज्ञ भी यही कहते हैं; किंतु उक्त पद्यों में प्रकृति का जो जगमगाता चित्र सामने आता है, उसको नाम-मात्र को भी धुँधला न कर कवि-कुल-गुरु ने वे लाजवाब उपमाएँ दी हैं कि कहना पड़ता है, तुलसी की उपमा तुलसी ही है। ऐसा कलामय प्राण कोई कहाँ से लावे, जो मिट्टी को छूते ही सोना कर दे। चित्रकला में लियोनार्डो द विंची और राफ़ायेल ने यह गुण थोड़ा दिखलाया है। सच तो यह है कि तुलसीदास कह सकते थे—

जिसको दावा है सखुन का, यह सुना दो उसको;
देख, इस तरह कहते हैं सखुनवर फ़िक़रा!

काले बादलों के भीतर दामिनी की दमक देखिए। क्षण-भर चमचमा जाती है, संसार में पल-भर के लिये ज्योति फैल जाती है। फिर घने बादलों का वही अंधकार। कैसा अंधकार? बरसात का, जो दिन को भी सब प्राणियों की आत्मा को दबाए-सा रहता है। बरसात की वह बेचैनी—आत्मा पर लदा हुआ-सा वह बोझ—किसने महसूस न किया होगा? इससे कवि हृदय—थोड़े-बहुत अंश में सब प्राणी कवि हैं—व्याकुल हो जाता है। प्रेमी को यह भार व्याकुल करता है। उसे प्रेयसी की सूझती है, और प्यारी को अपने प्यारे की। दोनों पर बरसात का यह दबाव, यह चाप काम कर रही है। दोनों अनुभव करते हैं कि उनकी मनरूपी घड़ी कुछ धीमी या तेज़ चल रही है। इसलिये समझते हैं कि कोई दूसरा साथ हो, तो भार हलका करे; बेकली कुछ कम हो। सब जीवों की इस मानसिक स्थिति का साक्षात् परिचय गोस्वामीजी को न हो, तो किसे हो? वह meaning of the things समझते थे। उनकी अपूर्व प्रतिभा ने झट सारे संसार को एक हृदय के रूप में देखा। बरसात वह दुष्ट बन गया, जो सांसारिक नहीं, मानसिक व्याकुलता का कारण है। फल यह हुआ कि उन्हें वे उपमाएँ सूझीं, जो 'उपमा कालिदासस्य' का भ्रम पैदा करा देती हैं। वह मिट्टी को उस स्थान से रत्न निकाल लाए, जहाँ बड़े-बड़े कलानिर्माताओं को जाने का साहस न पड़ता था। सच है, कवि क्या नहीं देखते? जिसे असत्य में सत्य और असुंदर में सुंदर देखना हो, वह यहाँ देख ले। उपदेश का तो कहीं नाम ही नहीं है। बिजली कौंदती है, फिर तुरंत वही अँधेरा। भला इसकी क्या ताक़त कि संसार की बेचैनी दूर करे। यह तो खल की प्रीति है। उम्मीद दे-देकर गढ़े में गिरावेगी, रास्ता भुलावेगी, और अगर लक्ष्य तक पहुँचा भी देगी, तो नव दिन में ढाई कोस का मार्ग तय करावेगी। उस समय इन खलों की क्या कमी? हिंदू खल और मुसलमान खल, सर्वत्र राज्य करते थे। चाहे तो मूर्ख भी यह उपमा सहज ही समझ सकता है। जो सहृदय भावुक हैं, वे कला की आत्मा का दर्शन कर आनंद में मग्न हो जाते हैं। यह उपमा है, इसमें क्या उपदेश है? दूसरी चौपाई देखिए। कैसी बेजोड़ उपमा है—बरसात के पानी के घमंड पर नाचनेवाली इन छोटी नदियों और नालों की उपमा! यदि थोड़ा धन पास होने पर संसार को तिनके के बराबर समझनेवालों से यह उपमा देना पाप है, तो वह नरक स्वर्ग है, जहाँ गोसाईंजी होंगे। 'जिमि लोभहि सोखै संतोखा' एक तथ्य है, जिसका उपयोग उचित स्थान पर किया गया है। इसमें नसीहत कहाँ। यह तो वह साँप है, जिसके ज़हरीले दाँत तोड़ सँपेरे अपना जीवन-निर्वाह करते हैं; साथ ही जनता के लिये आमोद-प्रमोद की सामग्री जुटाते हैं, और साँप का भी चारा चलाते हैं। इन नैतिक उपमाओं से वह विष निकाल दिया गया है, जो साहित्य-कला को मार डालता है। अपने हृदय से पूछिए, इसमें मज़ा आता है कि नहीं? फिर इक्सन की ग़लत समझी हुई नक़ल पर क्यों झूठी शिक्षा देते हैं? 'जिमि लोभहि सोखै संतोखा' तो अर्थशास्त्र का सिद्धांत है। संतोष लोभ का—धन-संचय, और उसे बढ़ाते जाने की प्रवृत्ति का—नाश कर देता है। बक़ौल टाउसिग, मार्शल या ज़ीड के संतोष बुरी प्रवृत्ति है, और बक़ौल म० गांधी अच्छी। इस मतभेद पर अर्थशास्त्री लड़ें। साहित्य का इससे क्या संबंध? किंतु सरस्वती के वरपुत्र गोसाईंजी ने एक "वैज्ञानिक—आज़मूदा सत्य का अपने ढंग पर प्रयोग किया है।" (साहित्या-

लोचन, पृ० ९३, पं० ५) इससे क्या शिक्षा मिलती है? यदि कोई कहे—'आग जलाती है', तो इसमें सत्य के सिवा कुछ नहीं। कोई इससे नसीहत लेने लगे, तो इस सत्य पर क्या लांछन लग सकता है? आपकी अंतिम चौपाई है—

बुंद-अघात सहैं गिरि कैसे ;
खल के बचन संत सह जैसे।

इसमें भी कोई उपदेश की प्रवृत्ति नहीं है। खल एक प्रकार के जीव हैं, और संत दूसरी तरह के। ये दो जाति-विशेष के हैं, जिनका रामचरित-मानस के निरीह कवि ने खूब ही निरीक्षण किया। उसे ज्ञात हुआ कि खल-नामधारी प्राणी संतों से एक विशेष प्रकार के वचन कहते हैं। वे यह काम भला करते हैं या बुरा, इस पर युग पानि जोड़कर खलों की बंदना करनेवाले को कुछ नहीं कहना। और, संत उन वचनों को एक विशेष प्रकार से सहते हैं, याने वैज्ञानिक शब्दों में यह action and reaction—क्रिया और प्रतिक्रिया—ख़ास तरह की है। कवि ने इसको देखा, और उपमा की तरह इसे अपने काव्य में स्थान देकर सोने में सुहागे का काम कर दिया। जिस वक़्त बरसात में मूसलधार पानी बरसता है, बूँद वह ज़ोर दिखाती है, गोया अब इनकी शक्ति से पहाड़ गल ही जायगा। किंतु पर्वत न तो हिलते हैं, न डुलते। भैंस के कान में मानो जूँ रेंग रही हो। वर्षा समाप्त हुई। पानी नीचे बह गया। पर्वत ज्यों-का-त्यों डटा हुआ है। ठीक इसी तरह खल अपने दुर्वचनों की बौछार संतों पर करता है; पर असर कुछ नहीं होता। अधिक समता स्पष्ट है। सब वचन सब स्थानों पर एक ही प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करते। म० गांधी के वचन हम जो सहते हैं, उनकी प्रतिक्रिया दूसरी है; संगीत के वचनों की भिन्न, मुसलमानों के अल्लाहोअकबर की दूसरी, और हमारे 'वंदे मातरम्' की जुदा। इसके अतिरिक्त दो खल आपस में जब दुर्वचन कहेंगे, तो न्यारी ही प्रतिक्रिया होगी। अस्तु, उक्त उपमा के लिये उक्त विशेष तथ्य लेना पड़ा, अपने मत या नीति का प्रचार करने के लिये नहीं। इतनी बड़ी बेअदबी गोस्वामीजी की हिम्मत के बाहर थी! अब सुनिए, इस बारे में मूल-ग्रंथकार हडसन क्या लिखता है—

"The widest margin may be allowed to every poet for the play of his imagination as long as his purpose is only to delight by the creation of beauty" (P 113)

अर्थात्, कवि जो चाहे, लिख सकता है, शर्त यह है कि वह 'मुदमंगलमय' सौंदर्य की रचना करे। तुलसीदासजी ने यही किया है। फिर उनकी स्वतंत्रता का हरण क्यों हो रहा है? हिंदी के इस कवि ने असुंदरता को पास नहीं फटकने दिया। असंख्य नर-नारियों ने इसकी स्वर्गीय रचना से आनंद प्राप्त किया है। इस विषय पर हडसन का एक और वाक्य सुनिए—

"But the moment he enters upon the work of a teacher, we demand that his teachership shall satisfy the understanding as well as engage the fancy and touch the heart" (P 114.)

इसका अनुवाद बाबू साहब के शब्दों में यह है—"पर ज्यों ही वह उपदेश देने में प्रवृत्त होता है, त्यों ही हमें इस बात की अपेक्षा होती है कि उसके उपदेश केवल भावना को आकर्षित करनेवाले तथा मन को स्पर्श करनेवाले ही न हों। वे बुद्धि को भी संतुष्ट करें।" (पृ० ९६, पं० १८) इसमें पूछने की बात यह है कि गोसाईंजी के उपदेश क्या किसी की बुद्धि को संतोष नहीं देते? यह संभव है; क्योंकि "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना।" प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि को भगवान् भी संतुष्ट नहीं कर सकता। इस पर मज़ा यह कि उसका भी नाम 'कविर्मनीषी' है।

अब इसका दूसरा पहलू देखिए। आपने पेज १०६ की १४-१५वीं पंक्तियों में कहा है—"कुछ लोग कह बैठते हैं, किसी कला का आदर इसलिये होना चाहिए कि वह एक कला है। ××× ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन तो वे ही लोग करते हैं, जिनमें कला-कौशल का नैपुण्य नाम-मात्र को ही होता है या होता ही नहीं।" इसका अँगरेज़ी-वाक्य हडसन की पुस्तक के १२० पेज की लाइन २४-३० में यों है—

"From time to time we hear more than enough of 'art for art's sake' But this vague and shadowy doctrine is, so far as the art of poetry is concerned, brought into contempt by the rank and standing of those, who inculcate it for it is for the most part associated with minor poets and dilettante critics"

अँगरेज़ी वाक्य इसलिये दिया गया कि पाठक

अनुवाद की दुर्दशा का मिलान कर सकें। पहले तो अँगरेज़ी-वाक्य अपना खंडन स्वयं करता है (begs the question)। उसमें लिखा हुआ है कि इसका प्रतिपादन अधिकांश में (बिलकुल नहीं, जैसा बाबू साहब लिखते हैं) छोटे कवि और शौक़ीन समालोचकों ने किया है। इसका मतलब यह हुआ कि इसका प्रचार करनेवाले कुछ—भले ही उनकी संख्या बहुत कम हो—बड़े कवि भी हुए हैं। यदि उक्त सिद्धांत निर्मूल है, तो ये बड़े कवि कैसे पैदा हो गए? पूर्ण असत्य से सत्य की उत्पत्ति असंभव है। सच तो यह है कि 'l'art pour l'art' का सिद्धांत महत्त्व-पूर्ण है। हडसन इसकी महिमा नहीं समझ सकता; क्योंकि, जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, वह अँगरेज़ है, और इसलिये साहित्य का धुरंधर होने पर भी उसमें जातीय बनियापन अनजान में काम करता रहता है। वह यह नहीं सोच सकता कि ऐसा भी कवि पैदा हो सकता है, जो काव्य-रचना अपना धर्म समझता हो: क्योंकि उसकी दृष्टि में बिना स्वार्थ या 'उदार स्वार्थ' के कोई किसी काम में हाथ नहीं डालता। इसके विपरीत उक्त मत कहता है कि सत्य कला तभी जन्म लेती है, जब "समदुःखसुखौ भूत्वा लाभालाभौ जयाजयौ" की स्थिति में कवि अपने उद्गार निकालता है। इसका दूसरा नाम है निष्काम कलाधर्म। गोस्वामीजी ने अपने रामचरित-मानस के आरंभ में जो 'स्वान्तः-सुखाय' लिखा है, वह इसी सिद्धांत को पुष्ट करता है। कलाविधात्री की यह निराशा और निर्मम स्थिति भारत-संतान तुरंत समझ सकती है। l'art pour la vie-नामक सिद्धांत पूरा असत्य न होने पर भी इससे गिरा हुआ है। इसका मतलब है—वही कला है, जो जीवन के लिये उपयोगी है। कोई हडसन साहब से पूछे कि कवि जब सुंदरता की सृष्टि कर आनंद की वृद्धि करता है, तो यह शंका निवारण कर दीजिए कि आनंद का जीवन के लिये क्या प्रयोजन है? इसका वह वही उत्तर देंगे, जो जर्मन-लड़कियाँ देती हैं। आप इनको किसी सभा-समाज में पहुँचें। आपकी मेज़ पर कोई लड़की भी आ बैठी, और वह अगर हँसे, और आपको भ्रम हो कि शायद मेरी वेष-भूषा उचित नहीं हुई है, कुछ कसर रह गई है। बाअदब आपने कहा—'बीबी, हँसने का क्या कारण है?' अधिकांश लड़कियाँ तुरंत उत्तर देंगी—"lachen ist gesund—हँसना स्वास्थ्यकर है।" कोई इनसे पूछे कि स्वास्थ्य की फ़िक्र क्यों पड़ी है? इसलिये कि दीर्घकाल तक जीवित रहें। किंतु जीवन के उद्देश्य का पता किसी को नहीं। हडसन साहब तो यह कहेंगे कि आनंद से स्वास्थ्य सुधरता है, और आदमी दीर्घजीवी होता तथा अधिक धन कमा सकता है। ये वे लोग हैं, जो गीता की महान् उपयोगिता उसे छापकर पैदा करने में समझते हैं। उसके विचारों से इनका इतना ही संबंध है कि वे जनता को पसंद आवें, जिससे बिक्री ज़्यादा हो। यदि वे भगवान् कृष्ण के स्थान पर होते, तो अर्जुन से कहते—"बेटा, कौरवों को मारो-काटो, उनका राज जीतो। उसके बाद हम और तुम मिलकर मज़ा करेंगे। ज़िंदगी का उद्देश्य Almighty dollar अर्थात् 'सर्वशक्तिमान् डालर' जोड़ना है, जिससे मनुष्य छोटी उमर में भोग-विलास से छक जाय।" शोपनहार और कैंज़रालिङ् के जाति-भाई जर्मन भी जब हमारा दर्शन नहीं समझ सकते, तो अँगरेज़ क्या समझेंगे। फ्रेंच और इटालियन, कला के संबंध में, इसे समझे हैं। हिंदू के लिये इसका समझना बड़ा आसान है। हडसन की तर्कणा और इस सिद्धांत के अर्थ के झंझट में पड़कर बाबू साहब ने ख़याल न किया कि इस वाक्य का अर्थ क्या है। इसीलिये मूल-लेखक से भी कुछ आगे बढ़ गए।

इतनी बात उस सिद्धांत पर लिखी गई है। इससे यह नतीजा निकलता है कि जो कला का आदर कला के लिये करना बुरा समझता है, वह स्वभावतः क्षुद्र नीति का काव्य द्वारा प्रचार करने का पक्षपाती है। यह परिणाम मैंने नहीं निकाला। स्वयं हडसन ने मैथ्यू ऑरनल्ड का निम्न-लिखित वाक्य, इस सिद्धांत पर अपना मत देने के बाद, उद्धृत किया है—"A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life, a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life" (R.R)

आपांतरकार महोदय ने भी उचित स्थान पर इसका अनुवाद यों किया है—"उनका (सदाचार और नीति का) विरोध करना जीवन का विरोध करना है, उनकी उपेक्षा करना जीवन की उपेक्षा करना है।" (पृ० १०७) इतना ही नहीं, अपने अत्युक्ति-प्रिय स्वभाव के कारण आपने इतना और जोड़ दिया है—"और उनके अभाव से संतुष्ट

होना जीवन को नीरस बना देना है" । यह है दूसरा पहलू । अर्थात्, जब सदाचार और नीति की कविता में यह महिमा है, तो फिर तुलसीदासजी ने इसका प्रचार कर (हम यह इस समय तर्क के लिये मान लेते हैं) जीवन का विरोध नहीं किया, या आपके कथनानुसार उसे नीरस न बनाया, तो क्या क़ुसूर किया ? उन्होंने तो आपकी ही शिक्षा मानी ! यह अच्छी कला-मर्मज्ञता है कि एक स्थान पर जिस बात पर ज़ोर दिया जाय, दूसरी जगह उसकी उतने ही ज़ोर से निंदा की जाय ! वह भी एक ही पुस्तक में और एक ही अध्याय में ! अब पाठक समझे होंगे कि इस किताब में एक सिद्धांत दूसरे को कैसा खदेड़ता है। पुस्तक क्या है, पहलवानों का अखाड़ा है, जहाँ कभी एक दूसरे की छाती पर सवार होता, तो तुरंत दूसरा उसकी छाती पर चढ़ बैठता है, और अंत तक फ़ैसला नहीं होता कि कौन हारा या कौन जीता । खेल में इसे 'ड्रॉन मैच' कहते हैं ।

किंतु वास्तव में गोसाईंजी ने प्रतिभा-पूर्ण कविता रची है । सदाचार और नीति का ज़िक्र उनकी पुस्तकों में सुंदरता और कला की सृष्टि का उपादान है; क्योंकि सदाचार और नीति का कला से कोई संबंध नहीं है । आस्कर वाइल्ड ने कहा है—"Books are neither moral nor immoral, they are either good or bad." अर्थात्, पुस्तकें नैतिक या भ्रष्टनैतिक नहीं होतीं, वे अच्छी या बुरी होती हैं । बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto croce) का नाम संसार के साहित्य-कला-मर्मज्ञों में प्रधान है । उसने अपनी Breviario di Estetica पुस्तक में लिखा है—"Una terza negazione i che l'arte sia un atto morale La buona Volorta che constituisce l'onest' uomo non constituisce l "artista" (P 23) अर्थात् "तीसरी ग़लत बात यह है कि कला सदाचार-पूर्ण तथा नैतिक काम है ××× सदिच्छा सज्जन पैदा करती है, कला-मर्मज्ञ नहीं ।" बात समझ में आने की है । आप यह आशा नहीं कर सकते कि कवि धर्माध्यक्ष के आसन पर बैठे । भारत में सूर, तुलसी, कबीर आदि सदाचारी कवियों के उदाहरण मिलते हैं, अन्य देशों में बहुत कम । हिंदी में भी देव, बिहारी आदि कवियों के बारे में कोई नहीं कह सकता कि वे सदाचार और नीति के पुतले थे । इस पर भी प्रतिभा का चमत्कार देखिए—"जेते औगुन ढूँढ़िए, गुनै हाथ परि जाय ।" बिहारी में सदाचार और नीति कितनी है—दाल में नमक के बराबर । किंतु रस देखिए । आनंद की बाढ़ आ जाती है । योरप के कवियों में सदाचार और नीति भारत से भी कम पाई जाती है । गोयटे जर्मनी का सबसे बड़ा कवि है । उसकी काव्य-प्रतिभा का संसार क़ायल है । देखिए, उसकी एक कविता के विषय में एकरमान ने अपनी पुस्तक 'गोयटे के साथ गपशप' (Gespraeche mit Goethe) में क्या लिखा है । मैं यहाँ मूल-जर्मन का अनुवाद दिए देता हूँ—

सोमवार, २७ ऑक्टोबर, १८२३

स्टाडलमान दो मोमबत्तियाँ लाया, जिन्हें उसने गोयटे की लिखने-पढ़ने की मेज़ पर रक्खा । गोयटे ने मुझसे रोशनी में बैठने को कहा ; क्योंकि वह मुझसे कुछ पढ़ाना चाहता था । और, उसने मेरे आगे क्या रक्खा ? अपनी सबसे नई और प्यारी कविता—अपनी 'Elagie von Marienbad.'

मैं यहाँ इस कविता के विषय पर कुछ प्रकाश डालूँगा । इस बार गोयटे के मारीनबाद-नामक स्नान-तीर्थ से वापस आते ही यहाँ (वाइमार में—लेखक) आम अफ़वाह हो गई कि वहाँ उसने एक दर्शनीय तथा बुद्धिमती नवयुवती से दोस्ती पैदा की है, और वह उसके प्रति आसक्त हो गया है । वह उसके पीछे भागा फिरता था । उसके साथ रहने का कोई भी अवसर उसने न जाने दिया । उसने वहाँ आनंद के दिन काटे, यहाँ तक कि इस लड़की का बिछोह उसे दुस्सह हो गया । इस भावोन्मत्त दशा में उसने एक अतीव सुंदर कविता रची, जो उसने देवतों के प्रसाद की तरह छिपाकर रक्खी थी × × × उसने ये पद्य अपने हाथ से लैटिन-अक्षरों में लिखे थे । बढ़िया वेलिन काग़ज़ था । रेशमी फ़ीते से यह लपेटी रक्खी थी, जिस पर सुंदर मोहर थी । सारांश, यह साफ़ झलक रहा था कि इस हस्त-लिपि का मूल्य उसके लिये औरों से अधिक है ।

अधिक अंश देने से कोई लाभ नहीं । इस प्रकार गोयटे बहुधा सुंदर स्त्रियों पर आसक्त हुआ करता था, और यह भी अपनी स्त्री के होते हुए ! किंतु इस नीति-विरुद्ध काम से उसकी कविता में कमनीयता घटती नहीं, बढ़ती थी ।

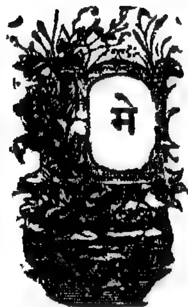
अस्तु, मैं अब इस समालोचनात्मक लेख को यहीं

समाप्त करता हूँ। यह निबंध कुल तीन परिच्छेदों पर है, अधिक लिखने से कोई लाभ नहीं समझता : क्योंकि साहित्य-कला की मुख्य बातें प्रायः सब ऊपर आ गई हैं। मैंने प्रयत्न किया है कि यह लेख रचनात्मक आलोचना का काम करे। बाबू श्यामसुंदरदास से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि मैंने जो कटु वाक्य लिखे हों, उनके लिये क्षमा करें। साहित्य-धर्म के नाते यह उद्धतता है। उनके व्यक्तित्व के प्रति मेरे हृदय में सदा श्रद्धा है। इसे उन्हें "ज्यों बालक कह तोतरि बाता" समझने की कृपा करनी चाहिए। यदि मेरी कोई त्रुटि हो, तो सदा क्षमा माँगने और उसे स्वीकार कर अपना सुधार करने को तत्पर रहूँगा।

बर्लिन } हेमचंद्र जोशी

कज़ाकी

(१)



मेरी बाल-स्मृतियों में 'कज़ाकी' एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुज़र गए, लेकिन कज़ाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आज़मगढ़ की एक तहसील में था। कज़ाकी ज़ात का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही ज़िंदा-दिल। वह रोज़ शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात-भर रहता, और सवेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। मैं दिन-भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता; ज्यों ही चार बजते, व्याकुल होकर, सड़क पर आकर, खड़ा हो जाता, और थोड़ी देर में कज़ाकी कंधे पर बल्लम रक्खे, उसकी झुँझुनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलाई देता। वह साँवले रंग का, गठीला, लंबा जवान था। शरीर साँचे में ऐसा ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता। उसकी छोटी-छोटी मूछें उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थीं। मुझे देखकर वह और तेज़ दौड़ने लगता, उसकी झुँझुनी और ज़ोर से बजने लगती, और मेरे हृदय में और ज़ोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता, और एक क्षण में कज़ाकी का कंधा मेरा सिंहासन बन जाता। वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था। स्वर्ग के निवासियों को भी शायद वह आंदोलित आनंद न मिलता होगा, जो मुझे कज़ाकी के विशाल कंधों पर मिलता था। संसार मेरी आँखों में तुच्छ हो जाता। और, जब कज़ाकी मुझे कंधे पर लिए हुए दौड़ने लगता, तब तो ऐसा मालूम होता, मानो मैं हवा के घोड़े पर उड़ा जा रहा हूँ।

कज़ाकी डाकख़ाने में पहुँचता, तो पसीने से तर रहता। लेकिन आराम करने की उसकी आदत न थी। थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता, और कभी कहानियाँ सुनाता। उसे चोरी और डाके, मार-पीट, भूत-प्रेत की सैकड़ों कहानियाँ याद थीं। मैं ये कहानियाँ सुनकर विस्मय-पूर्ण आनंद में मग्न हो जाता। उसकी कहानियों के चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे, जो अमीरों को लूटकर दीन, दुःखी प्राणियों का पालन करते थे। मुझे उन पर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी।

(२)

एक दिन कज़ाकी को डाक का थैला लेकर आने में देर हो गई। सूर्यास्त हो गया, और वह दिखलाई न दिया। मैं खोया हुआ-सा सड़क पर दूर तक आँखें फाड़-फाड़कर देखता था, पर वह परिचित रेखा न दिखलाई पड़ती थी; कान लगाकर सुनता था, पर "झुन-झुन" की वह आमोद-मय ध्वनि न सुनाई देती थी। प्रकाश के साथ मेरी आशा भी मलिन होती जाती थी। उधर से किसी को आते देखता, तो पूछता—कज़ाकी आता है? पर या तो कोई सुनता ही न था, या केवल सिर हिला देता था।

सहसा "झुन-झुन" की आवाज़ कानों में आई। मुझे अँधेरे में चारों ओर भूत-ही-भूत दिखलाई देते थे, यहाँ तक कि माताजी के कमरे में ताक पर रक्खी हुई मिठाई भी, अँधेरा हो जाने के बाद, मेरे लिये त्याज्य हो जाती थी। लेकिन वह आवाज़ सुनते ही मैं उसकी तरफ़ ज़ोर से दौड़ा। हाँ, वह कज़ाकी ही था। उसे देखते ही मेरी विकलता क्रोध में बदल गई। मैं उसे मारने लगा; फिर मान करके अलग खड़ा हो गया।

कज़ाकी ने हँसकर कहा—मारोगे, तो मैं एक चीज़ लाया हूँ, वह न दूँगा।

मैंने साहस करके कहा—जाओ, मत देना; मैं लूँगा ही नहीं।

कज़ाकी—अभी दिखा दूँ, तो दौड़कर गोद में उठा लोगे।

मैंने पिघलकर कहा—अच्छा, दिखा दो।

कज़ाकी—तो आकर मेरे कंधे पर बैठ जाओ, भाग चलूँ। आज बहुत देर हो गई। बाबूजी बिगड़ रहे होंगे।

मैंने अकड़कर कहा—पहले दिखा दो।

मेरी विजय हुई। अगर कज़ाकी को देर का डर न होता, और वह एक मिनट भी और रुक सकता, तो शायद पाँसा पलट जाता। उसने कोई चीज़ दिखलाई, जिसे वह एक हाथ से छाती से चिपटाए हुए था; लंबा मुँह था, और दो आँखें चमक रही थीं।

मैंने दौड़कर उसे कज़ाकी की गोद से ले लिया। यह हिरन का बच्चा था। आह! मेरी उस ख़ुशी का कौन अनुमान करेगा? तब से कठिन परीक्षाएँ पास कीं, अच्छा पद भी पाया, रायबहादुर भी हुआ; पर वह ख़ुशी फिर न हासिल हुई। मैं उसे गोद में लिए, उसके कोमल स्पर्श का आनंद उठाता घर की ओर दौड़ा। कज़ाकी को आने में क्यों इतनी देर हुई, इसका ख़याल ही न रहा।

मैंने पूछा—यह कहाँ मिला कज़ाकी?

कज़ाकी—भैया, यहाँ से थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा जंगल है। उसमें बहुत-से हिरन हैं। मेरा बहुत जी चाहता था कि कोई बच्चा मिल जाय, तो तुम्हें दूँ। आज यह बच्चा हिरनों के झुंड के साथ दिखलाई दिया। मैं झुंड की ओर दौड़ा, तो सब-के-सब भागे। यह बच्चा भी भागा। लेकिन मैंने पीछा न छोड़ा। और हिरन तो बहुत दूर निकल गए, यही पीछे रह गया। मैंने इसे पकड़ लिया। इसी से तो इतनी देर हुई।

यों बातें करते हम दोनों डाकख़ाने पहुँचे। बाबूजी ने मुझे न देखा, हिरन के बच्चे को भी न देखा, कज़ाकी ही पर उनकी निगाह पड़ी। बिगड़कर बोले—आज इतनी देर कहाँ लगाई? अब थैला लेकर आया है, उसे लेकर क्या करूँ? डाक तो चली गई। बता, तूने इतनी देर कहाँ लगाई?



"यह कहाँ मिला कज़ाकी?"

कजाकी के मुँह से आवाज़ न निकली।

बाबूजी ने कहा—तुझे शायद अब नौकरी नहीं करनी है। नीच है न; पेट भरा, तो मोटा हो गया। जब भूखों मरने लगेगा, तो आँखें खुलेंगी।

कजाकी चुपचाप खड़ा रहा।

बाबूजी का क्रोध और बढ़ा। बोले—अच्छा, थैला रख दे, और अपने घर की राह ले। सुअर, अब डाक लेकर आया है। तेरा क्या बिगड़ेगा। जहाँ चाहेगा, मजूरी कर लेगा। माथे तो मेरे जायगी—जवाब तो मुझसे तलब होगा।

कजाकी ने रुआँसे होकर कहा—सरकार, अब कभी देर न होगी।

बाबूजी—आज क्यों देर की? इसका जवाब दे।

कजाकी के पास इसका कोई जवाब न था। आश्चर्य तो यह था कि मेरी ज़बान भी बंद हो गई। बाबूजी बड़े गुस्सेवर थे। उन्हें काम बहुत करना पड़ता था, इसी से बात-बात पर झुँझला पड़ते थे। मैं तो उनके सामने कभी जाता ही न था। वह भी मुझे कभी प्यार न करते थे। घर में वह केवल दो बार, घंटे-घंटे-भर के लिये, भोजन करने आते थे; बाक़ी सारे दिन दफ़्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार-बार एक सहकारी के लिये अफ़सरों से विनय की थी; पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन भी बाबूजी दफ़्तर ही में रहते थे। केवल माताजी उनका क्रोध शांत करना जानती थीं। पर वह दफ़्तर में कैसे आतीं। बेचारा कजाकी उसी वक़्त मेरे देखते-देखते निकाल दिया गया। उसका बल्लम, चपरास और साफ़ा छीन लिया गया, और उसे डाकख़ाने से निकल जाने का नादिरी हुक्म सुना दिया गया! आह! उस वक़्त मेरा ऐसा जी चाहता था कि मेरे पास सोने की लंका होती, तो कजाकी को दे देता, और बाबूजी को दिखा देता कि आपके निकाल देने से कजाकी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। किसी योद्धा को अपनी तलवार पर जितना घमंड होता है, उतना ही घमंड कजाकी को अपनी चपरास पर था। जब वह चपरास खोलने लगा, तो उसके हाथ काँप रहे थे, और आँखों से आँसू बह रहे थे। और, इस सारे उपद्रव की जड़ वह कोमल वस्तु थी, जो मेरी गोद में मुँह छिपाए ऐसे चैन से बैठी हुई थी, मानो माता की गोद में हो। जब कजाकी चला, तो मैं भी धीरे-धीरे उसके पीछे-पीछे चला। मेरे घर के द्वार पर आकर कजाकी ने कहा—भैया, अब घर जाओ; साँझ हो गई।

मैं चुपचाप खड़ा अपने आँसुओं के वेग को सारी शक्ति से दबा रहा था।

कजाकी फिर बोला—भैया, मैं कहीं बाहर थोड़े ही चला जाऊँगा। फिर आऊँगा, और तुम्हें कंधे पर बैठाकर कुदाऊँगा। बाबूजी ने नौकरी ले ली है, तो क्या इतना भी न करने देंगे। तुमको छोड़कर मैं कहीं न जाऊँगा, भैया। जाकर अम्मा से कह दो, कजाकी जाता है। उसका कहा-सुना माफ़ करें।

मैं दौड़ा हुआ घर गया; लेकिन अम्माजी से कुछ कहने के बदले बिलख-बिलखकर रोने लगा। अम्माजी रसोई से बाहर निकलकर पूछने लगीं—क्या हुआ बेटा? किसने मारा? बाबूजी ने कुछ कहा है? अच्छा, रह तो जाओ, आज घर आते हैं, तो पूछती हूँ। जब देखो, मेरे लड़के को मारा करते हैं। चुप रहो, बेटा; अब तुम उनके पास कभी मत जाना।

मैंने बड़ी मुश्किल से आवाज़ सँभालकर कहा—कजाकी—

अम्मा ने समझा, कजाकी ने मारा है; बोलीं—अच्छा, आने दो कजाकी को। देखो, खड़े-खड़े निकलवा देती हूँ। हरकारा होकर मेरे राजा-बेटा को मारे! आज ही तो साफ़ा, बल्लम, सब छिनवाए लेती हूँ। वाह!

मैंने जल्दी से कहा—नहीं, कजाकी ने नहीं मारा। बाबूजी ने उसे निकाल दिया; उसका साफ़ा, बल्लम छीन लिया—चपरास भी ले ली।

अम्मा—यह तुम्हारे बाबूजी ने बहुत बुरा किया। वह बेचारा अपने काम में इतना चौकस रहता है। फिर उसे क्यों निकाला?

मैंने कहा—आज उसे देर हो गई थी।

यह कहकर मैंने हिरन के बच्चे को गोद से उतार दिया। घर में उसके भाग जाने का भय न था। अब तक अम्माजी की निगाह भी उस पर नहीं पड़ी थी। उसे फुदकते देखकर वह सहसा चौंक पड़ीं, और लपककर मेरा हाथ पकड़ लिया कि कहीं यह भयंकर जीव मुझे काट न खाय! मैं कहाँ तो फूट-फूटकर रो रहा था, और कहाँ अम्माजी की घबराहट देखकर खिलखिलाकर हँस पड़ा।

अम्मा—अरे, यह तो हिरन का बच्चा है। कहाँ मिला?

मैंने हिरन के बच्चे का सारा इतिहास और उसका भीषण परिणाम आदि से अंत तक कह सुनाया—अम्मा, यह इतना तेज़ भागता था कि कोई दूसरा होता, तो पकड़ ही न सकता। सन-सन, हवा की तरह, उड़ता चला जाता था। कजाकी पाँच-छः घंटे तक इसके पीछे दौड़ता रहा। तब कहीं जाकर बच्चा मिले। अम्माजी, कजाकी की तरह कोई दुनिया-भर में नहीं दौड़ सकता। इसी से तो देर हो गई। इसीलिये बाबूजी ने बेचारे को निकाल दिया—चपरास, साफ़ा, बल्लम, सब छीन लिया। अब बेचारा क्या करेगा? भूखों मर जायगा।

अम्मा ने पूछा—कहाँ है कजाकी? ज़रा उसे बुला तो लाओ।

मैंने कहा—बाहर तो खड़ा है। कहता था, अम्माजी से मेरा कहा-सुना माफ़ करवा देना।

अब तक अम्माजी मेरे वृत्तांत को दिल्लगी समझ रही थीं। शायद वह समझती थीं कि बाबूजी ने कजाकी को डाँटा होगा; लेकिन मेरा अंतिम वाक्य सुनकर संशय हुआ कि कहीं सचमुच तो कजाकी बरख़ास्त नहीं कर दिया गया। बाहर आकर "कजाकी! कजाकी!" पुकारने लगीं; पर कजाकी का कहीं पता न था। मैंने बार-बार पुकारा, रो-रोकर पुकारा; लेकिन कजाकी वहाँ न था।

खाना तो मैंने खा लिया—बच्चे शोक में खाना नहीं छोड़ते, ख़ासकर जब रबड़ी भी सामने हो—मगर बड़ी रात तक पड़े-पड़े सोचता रहा—मेरे पास रुपए होते, तो एक लाख रुपए कजाकी को दे देता, और कहता—बाबूजी से कभी मत बोलना। बेचारा भूखों मर जायगा! देखें, कल आता है कि नहीं। अब क्या करेगा आकर? मगर आने को तो कह गया है। मैं कल उसे अपने साथ खाना खिलाऊँगा।

यही हवाई क़िले बनाते-बनाते मुझे नींद आ गई।

(३)

दूसरे दिन मैं दिन-भर अपने हिरन के बच्चे की सेवा-सत्कार में व्यस्त रहा। पहले उसका नामकरण-संस्कार हुआ। 'मुन्नू' नाम रक्खा गया। फिर मैंने उसका अपने सब हमजोलियों और सहपाठियों से परिचय कराया। दिन ही-भर में वह मुझसे इतना हिल गया कि मेरे पीछे-पीछे दौड़ने लगा। इतनी ही देर में मैंने उसे अपने जीवन में एक महत्त्व-पूर्ण स्थान दे दिया। अपने भविष्य में बननेवाले विशाल भवन में उसके लिये एक अलग कमरा बनवाने का भी निश्चय कर लिया; चारपाई, सैर करने की फ़िटन आदि की भी आयोजना कर ली।

लेकिन संध्या होते ही मैं सब कुछ छोड़-छाड़कर सड़क पर जा खड़ा हुआ, और कजाकी की बाट जोहने लगा। जानता था, कजाकी निकाल दिया गया है, अब उसे यहाँ आने की कोई ज़रूरत नहीं रही। फिर भी न-जाने क्यों मुझे यह आशा हो रही थी कि वह आ रहा है। एकाएक मुझे ख़याल आया कि कजाकी भूखों मर रहा होगा। मैं तुरंत घर आया। अम्मा दिया-बत्ती कर रही थीं। मैंने चुपके से एक टोकरी में आटा निकाला, और आटा हाथों में लपेटे, टोकरी से गिरते हुए आटे की एक लकीर बनाता हुआ, भागा। आकर सड़क पर खड़ा हुआ ही था कि कजाकी सामने से आता दिखलाई दिया। उसके पास बल्लम भी था, कमर में चपरास भी थी, सिर पर साफ़ा भी बँधा हुआ था। बल्लम में डाक का थैला भी बँधा हुआ था। मैं दौड़कर उसकी कमर से चिमट गया, और विस्मित होकर बोला—तुम्हें चपरास और यह बल्लम कहाँ से मिल गया, कजाकी?

कजाकी ने मुझे उठाकर कंधे पर बैठालते हुए कहा—वह चपरास किस काम की थी, भैया। वह तो गुलामी की चपरास थी। यह अपनी ख़ुशी की चपरास है। पहले सरकार का नौकर था, अब तुम्हारा नौकर हूँ।

यह कहते-कहते उसकी निगाह टोकरी पर पड़ी, जो वहीं रक्खी थी; बोला—यह आटा कैसा है, भैया?

मैंने सकुचते हुए कहा—तुम्हारे ही लिये तो लाया है। तुम भूखे होगे। आज क्या खाया होगा?

कजाकी की आँखें तो मैं न देख सका, उसके कंधे पर बैठा हुआ था; हाँ, उसकी आवाज़ से मालूम हुआ कि उसका गला भर आया है। बोला—भैया, क्या रूखी रोटियाँ खाऊँगा? दाल, नमक, घी—और तो कुछ नहीं है।

मैं अपनी भूल पर बहुत लज्जित हुआ। सच तो है, बेचारा रूखी रोटियाँ कैसे खायगा? लेकिन नमक, दाल, घी कैसे लाऊँ? अब तो अम्मा चौके में होंगी। आटा लेकर तो किसी तरह भाग आया था (अभी तक मुझे न मालूम था कि मेरी चोरी पकड़ ली गई है; आटे की लकीर ने सुराग़ दे दिया है)। अब ये तीन-तीन चीज़ें कैसे लाऊँगा? अम्मा से माँगूँगा, तो कभी न देंगी।

एक-एक पैसे के लिये तो घंटों रुलाती हैं, इतनी सारी चीज़ें क्यों देने लगी ? एकाएक मुझे एक बात याद आई। मैंने अपनी किताबों के बस्ते में कई आने पैसे रख छोड़े थे। मुझे पैसे जमा करके रखने में बड़ा आनंद आता था। मालूम नहीं, अब वह आदत क्यों बदल गई। अब भी वही आदत होती, तो शायद इतना फ़ाक़ेमस्त न रहता। बाबूजी मुझे प्यार तो कभी न करते थे, पर पैसे ख़ूब देते थे; शायद अपने काम में व्यस्त रहने के कारण, मुझसे पिंड छुड़ाने के लिये, इसी नुस्ख़े को सबसे आसान समझते थे। इनकार करने में मेरे रोने और मचलने का भय था। इस बाधा को वह दूर ही से टाल देते थे। अम्माजी का स्वभाव इसके ठीक प्रतिकूल था। उन्हें मेरे रोने और मचलने से किसी काम में बाधा पड़ने का भय न था। आदमी लेटे-लेटे दिन-भर रोना सुन सकता है; हिसाब लगाते हुए ज़ोर की आवाज़ से भी ध्यान बँट जाता है। अम्मा मुझे प्यार तो बहुत करती थीं, पर पैसे का नाम सुनते ही उनकी त्योरियाँ बदल जाती थीं। मेरे पास किताबें न थीं; हाँ, एक बस्ता था, जिसमें डाकख़ाने के दो-चार फ़ॉर्म तह करके पुस्तक के रूप में रक्खे हुए थे। मैंने सोचा, दाल, नमक और घी के लिये क्या उतने पैसे काफ़ी न होंगे? मेरी तो मुट्ठी में नहीं आते। यह निश्चय करके मैंने कहा— अच्छा, मुझे उतार दो, तो मैं दाल और नमक ला दूँ। मगर रोज़ आया करोगे न ?

कजाकी—भैया, खाने को दोगे, तो क्यों न आऊँगा ?

मैंने कहा—मैं रोज़ खाने को दूँगा।

कजाकी बोला— तो मैं भी रोज़ आऊँगा।

मैं नीचे उतरा, और दौड़कर अपनी सारी पूँजी उठा लाया। कजाकी को रोज़ बुलाने के लिये उस वक़्त मेरे पास यदि कोहनूर हीरा भी होता, तो उसकी भेंट करने में मुझे पसोपेश न होता।

कजाकी ने विस्मित होकर पूछा—ये पैसे कहाँ पाए, भैया ?

मैंने गर्व से कहा—मेरे ही तो हैं।

कजाकी—तुम्हारी अम्माजी तुमको मारेंगी; कहेंगी, कजाकी ने फुसलाकर मँगवा लिए होंगे। भैया, इन पैसों की मिठाई ले लेना, और आटा मटके में रख देना। मैं भूखों नहीं मरता। मेरे दो हाथ हैं। मैं भला भूखों मर सकता हूँ !

मैंने बहुत कहा कि पैसे मेरे हैं, लेकिन कजाकी ने न लिए। उसने बड़ी देर तक इधर-उधर की सैर कराई, गीत सुनाए, और मुझे घर पहुँचाकर चला गया। मेरे द्वार पर आटे की टोकरी भी रख दी।

मैंने घर में क़दम रक्खा ही था कि अम्माजी ने डाँटकर कहा—क्यों रे चोर, तू आटा कहाँ ले गया था? अब चोरी करना सीखता है! बता, किसको आटा दे आया, नहीं तो तेरी खाल उधेड़कर रख दूँगी।

मेरी नानी मर गई। अम्मा क्रोध में सिंहिनी हो जाती थीं। सिटपिटाकर बोला—किसी को तो नहीं दिया।

अम्मा—तूने आटा नहीं निकाला? देख, कितना आटा सारे आँगन में बिखरा पड़ा है ?

मैं चुप खड़ा था। वह कितना ही धमकाती थीं, चुम-कारती थीं; पर मेरी ज़बान न खुलती थी। आनेवाली विपत्ति के भय से प्राण सूख रहे थे। यहाँ तक कहने की हिम्मत न पड़ती थी कि बिगड़ती क्यों हो, आटा तो द्वार पर रक्खा हुआ है। न उठाकर लाते ही बनता था, मानो क्रिया-शक्ति ही लुप्त हो गई हो—मानो पैरों में हिलने की सामर्थ्य ही नहीं।

सहसा कजाकी ने पुकारा—बहूजी, आटा यह द्वार पर रक्खा हुआ है। भैया मुझे देने को ले गए थे।

यह सुनते ही अम्मा द्वार की ओर चली गईं। कजाकी से वह परदा न करती थीं। उन्होंने कजाकी से कोई बात की या नहीं, यह तो मैं नहीं जानता; लेकिन अम्माजी ख़ाली टोकरी लिए हुए घर में आईं। फिर कोठरी में जाकर संदूक़ से कुछ निकाला, और द्वार की ओर गईं। मैंने देखा, उनकी मुट्ठी बंद थी। अब मुझसे वहाँ खड़े न रहा गया।

अम्माजी के पीछे-पीछे मैं भी गया। अम्मा ने द्वार पर कई बार पुकारा; मगर कजाकी चला गया था।

मैंने बड़ी वीरता से कहा—मैं जाकर खोज लाऊँ अम्माजी! अम्माजी ने किवाड़े बंद करते हुए कहा—तुम अँधेरे में कहाँ जाओगे, अभी तो खड़ा था। मैंने कहा, यहीं रहना; मैं आती हूँ। तब तक न-जाने कहाँ खिसक गया। बड़ा संकोची है। आटा तो लेता ही न था। मैंने ज़बरदस्ती उसके अँगोछे में बाँध दिया। मुझे तो बेचारे पर बड़ी दया आती है। न-जाने बेचारे के घर में कुछ खाने को है कि नहीं। रुपए लाई थी कि दे दूँगी; पर न-

जाने कहाँ चला गया। अब तो मुझे भी साहस हुआ। मैंने अपनी चोरी की पूरी कथा कह डाली। बच्चों के साथ समझदार बच्चे बनकर मा-बाप उन पर जितना असर डाल सकते हैं, जितनी शिक्षा दे सकते हैं, उतनी बूढ़े बनकर नहीं।

अम्माजी ने कहा—तुमने मुझसे पूछ क्यों न लिया? क्या मैं कजाकी को थोड़ा-सा आटा न दे देती?

मैंने इसका कोई उत्तर न दिया। दिल में कहा, इस वक़्त तुम्हें कजाकी पर दया आ गई है, जो चाहो दे डालो; लेकिन मैं माँगता, तो मारने दौड़तीं। हाँ, यह सोचकर चित्त प्रसन्न हुआ कि अब कजाकी भूखों न मरेगा। अम्माजी उसे रोज़ खाने को देंगी, और वह रोज़ मुझे कंधे पर बिठाकर सैर करावेगा।

दूसरे दिन मैं दिन-भर मुन्नू के साथ खेलता रहा। शाम को सड़क पर जाकर खड़ा हो गया। मगर अँधेरा हो गया, और कजाकी का कहीं पता नहीं। दिए जल गए, रास्ते में सन्नाटा छा गया, पर कजाकी न आया।

मैं रोता हुआ घर आया। अम्माजी ने पूछा—क्यों रोते हो बेटा? क्या कजाकी नहीं आया?

मैं और ज़ोर से रोने लगा। अम्माजी ने मुझे छाती से लगा लिया। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि उनका कंठ भी गद्गद हो गया है।

उन्होंने कहा—बेटा, चुप हो जाओ। मैं कल किसी हरकारे को भेजकर कजाकी को बुलवाऊँगी।

मैं रोते-ही-रोते सो गया। सबेरे ज्यों ही आँख खुली, मैंने अम्माजी से कहा—कजाकी को बुलवा दो।

अम्मा ने कहा—आदमी गया है बेटा; कजाकी आता होगा। मैं खुश होकर खेलने लगा। मुझे मालूम था कि अम्माजी जो बात कहती हैं, उसे पूरा ज़रूर करती हैं। उन्होंने सबेरे ही एक हरकारे को भेज दिया था। दस बजे जब मैं मुन्नू को लिए हुए घर आया, तो मालूम हुआ कि कजाकी अपने घर पर नहीं मिला। वह रात को भी घर न गया था। उसकी स्त्री रो रही थी कि न-जाने कहाँ चले गए। उसे भय था कि वह कहीं भाग गया है।

बालकों का हृदय कितना कोमल होता है, इसका अनुमान दूसरा नहीं कर सकता। उनमें अपने भावों को व्यक्त करने के लिये शब्द नहीं होते। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं होता कि कौन-सी बात उन्हें विकल कर रही है, कौन-सा काँटा उनके हृदय में खटक रहा है, क्यों बार-बार उन्हें रोना आता है, क्यों वे मन-मारे बैठे रहते हैं, खेलने में जी नहीं लगता। मेरी भी यही दशा थी। कभी घर में आता, कभी बाहर जाता, कभी सड़क पर जा पहुँचता। आँखें कजाकी को ढूँढ़ रही थीं। वह कहाँ चला गया? कहीं भाग तो नहीं गया!

तीसरे पहर को मैं खोया हुआ-सा सड़क पर खड़ा था। सहसा मैंने कजाकी को एक गली में देखा। हाँ, वह कजाकी ही था। मैं उसकी ओर चिल्लाता हुआ दौड़ा। पर गली में उसका पता न था; न-जाने किधर ग़ायब हो गया। मैंने गली के इस सिरे से उस सिरे तक देखा; मगर कहीं कजाकी की गंध तक न मिली।

घर आकर मैंने अम्माजी से यह बात कही। मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह यह बात सुनकर बहुत चिंतित हो गईं।

इसके बाद दो-तीन दिन तक कजाकी न दिखलाई दिया। मैं भी अब उसे कुछ-कुछ भूलने लगा। बच्चे पहले जितना प्रेम करते हैं, बाद को उतने ही निष्ठुर भी हो जाते हैं; जिस खिलौने पर प्राण देते हैं, उसी को दो-चार दिन के बाद पटककर फोड़ भी डालते हैं।

दस-बारह दिन और बीत गए। दोपहर का समय था। बाबूजी खाना खा रहे थे। मैं मुन्नू के पैरों में पीनस की पैजनियाँ बाँध रहा था। एक औरत घूँघट निकाले हुए आई, और आँगन में खड़ी हो गई। उसके कपड़े फटे हुए और मैले थे; पर गोरी, सुंदर स्त्री थी। उसने मुझसे पूछा—भैया, बहूजी कहाँ हैं?

मैंने उसके पास जाकर उसका मुँह देखते हुए कहा—तुम कौन हो—क्या बेचती हो?

औरत—कुछ बेचती नहीं हूँ, तुम्हारे लिये ये कमलगट्टे लाई हूँ भैया। तुम्हें तो कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं न?

मैंने उसके हाथों में लटकती हुई पोटली को उत्सुक नेत्रों से देखकर पूछा—कहाँ से लाई हो? देखें।

औरत—तुम्हारे हरकारे ने भेजा है भैया।

मैंने उछलकर पूछा—कजाकी ने?

औरत ने सिर हिलाकर "हाँ" कहा, और पोटली खोलने लगी। इतने में अम्माजी भी रसोई से निकल आईं। उसने अम्मा के पैरों को स्पर्श किया। अम्मा ने पूछा—तू कजाकी की घरवाली है?

औरत ने सिर झुका लिया।



"तुम्हारे लिये ये कमलगट्टे लाई हूँ भैया।"

मैंने कहा—हाँ, हाँ, मैंने उस दिन तुमसे जो कहा था अम्माजी।

अम्मा—घर में कुछ खाने-पीने को है?

औरत—हाँ बहूजी, तुम्हारे आसिरबाद से खाने-पीने का दुख नहीं है। आज सबेरे उठे, और तालाब की ओर चले गए। बहुत कहती रही, बाहर मत जाओ, हवा लग जायगी; मगर न माना। मारे कमज़ोरी के पैर काँपने लगते हैं। मगर तालाब में घुसकर ये कमलगट्टे तोड़ लाए। तब मुझसे कहा, ले जा, भैया को दे आ। उन्हें कमलगट्टे बहुत अच्छे लगते हैं। कुसल-छेम पूछती आना।

मैंने पोटली से कमलगट्टे निकाल लिए थे, और मज़े से चख रहा था। अम्मा ने बहुत आँखें दिखाईं, मगर यहाँ इतना सब्र कहाँ!

अम्मा ने कहा—कह देना, सब कुशल है।

मैंने कहा—यह भी कह देना कि भैया ने बुलाया है। न जाओगे, तो फिर तुमसे कभी न बोलेंगे, हाँ!

बाबूजी खाना खाकर निकल आए थे। तौलिए से हाथ-मुँह पोछते हुए बोले—और यह भी कह देना कि साहब ने तुमको बहाल कर दिया है। जल्दी आओ, नहीं तो कोई दूसरा आदमी रख लिया जायगा।

औरत ने अपना कपड़ा उठाया, और चली गई। अम्मा ने बहुत पुकारा; पर वह न रुकी। शायद अम्माजी उसे सीधा देना चाहती थीं।

अम्मा ने पूछा—सचमुच बहाल हो गया?

बाबूजी—और क्या झूठे ही बुला रहा हूँ। मैंने तो पाँचवें ही दिन उसकी बहाली की रिपोर्ट की थी।

अम्मा—यह तुमने बहुत अच्छा किया।

बाबूजी—उसकी बीमारी की यही दवा है।

अम्मा—आजकल कज़ाकी क्या करता है?

औरत ने रोकर कहा—बहूजी, जिस दिन से आपके पास से आटा लेकर गए हैं, उसी दिन से बीमार पड़े हैं। बस, भैया-भैया किया करते हैं। भैया ही में उनका मन बसा रहता है। चौंक-चौंककर "भैया! भैया!" कहते हुए द्वार की ओर दौड़ते हैं। न-जाने उन्हें क्या हो गया है बहूजी। एक दिन मुझसे कुछ कहा-न सुना, घर से चल दिए, और एक गली में छिपकर भैया को देखते रहे। जब भैया ने उन्हें देख लिया, तो भागे। तुम्हारे पास आते हुए लजाते हैं।

(४)

प्रातःकाल मैं उठा, तो क्या देखता हूँ कि कजाकी लाठी टेकता हुआ चला आ रहा है। वह बहुत दुबला हो गया था। मालूम होता था, बूढ़ा हो गया है। हरा-भरा पेड़ सूखकर ठूँठ हो गया था। मैं उसकी ओर दौड़ा, और उसकी कमर से चिमट गया। कजाकी ने मेरे गाल चूमे, और मुझे उठाकर कंधे पर बैठालने की चेष्टा करने लगा। पर मैं न उठ सका। तब वह जानवरों की भाँति भूमि पर हाथों और घुटनों के बल खड़ा हो गया, और मैं उसकी पीठ पर सवार होकर डाकख़ाने की ओर चला। मैं उस वक़्त फूला न समाता था, और शायद कजाकी मुझसे भी ज़्यादा ख़ुश था।

बाबूजी ने कहा—कजाकी, तुम बहाल हो गए। अब कभी देर न करना।

कजाकी रोता हुआ पिताजी के पैरों पर गिर पड़ा। मगर शायद मेरे भाग्य में दोनों सुख भोगना न लिखा था—मुन्नू मिला, तो कजाकी छूटा; कजाकी आया, तो मुन्नू हाथ से गया, और ऐसा गया कि आज तक उसके जाने का दुःख है। मुन्नू मेरी ही थाली में खाता था। जब तक मैं खाने न बैठूँ, वह भी कुछ न खाता था। उसे भात से बहुत रुचि थी, लेकिन जब तक ख़ूब घी न पड़ा हो, उसे संतोष न होता था। वह मेरे ही साथ सोता भी था, और मेरे ही साथ उठता भी। सफ़ाई तो उसे इतनी पसंद थी कि मल-मूत्र त्याग करने के लिये घर से बाहर मैदान में निकल जाता था। कुत्तों से उसे चिढ़ थी। कुत्तों को घर में न घुसने देता। कुत्ते को देखते ही थाली से उठ जाता और उसे दौड़ाकर घर से बाहर निकाल देता था।

कजाकी को डाकख़ाने में छोड़कर जब मैं खाना खाने गया, तो मुन्नू भी आ बैठा। अभी दो-चार ही कौर खाए थे कि एक बड़ा-सा झबरा कुत्ता आँगन में दिखाई दिया। मुन्नू उसे देखते ही दौड़ा। दूसरे घर में आकर कुत्ता चूहा हो जाता है। झबरा कुत्ता उसे आते देखकर भागा। मुन्नू को अब लौट आना चाहिए था। मगर वह कुत्ता उसके लिये यमराज का दूत था। मुन्नू को उसे घर से निकालकर ही संतोष न हुआ। वह उसे घर से बाहर मैदान में भी दौड़ाने लगा। मुन्नू को शायद ख़याल न रहा कि यहाँ मेरी अमलदारी नहीं है। वह उस क्षेत्र में पहुँच गया था, जहाँ झबरे का भी उतना ही अधिकार था, जितना मुन्नू का। मुन्नू कुत्तों को भगाते-भगाते कदाचित् अपने बाहुबल पर घमंड करने लगा था। वह यह न समझता था कि घर में उसकी पीठ पर घर के स्वामी का भय काम किया करता है। झबरे ने इस मैदान में आते ही उलटकर मुन्नू की गर्दन दबा दी। बेचारे मुन्नू के मुँह से आवाज़ तक न निकली। जब पड़ोसियों ने शोर मचाया, तो मैं दौड़ा। देखा, तो मुन्नू मरा पड़ा है, और झबरे का कहीं पता नहीं।

प्रेमचंद

विलायती पत्र

लंदन,
२० नवंबर, १०२५

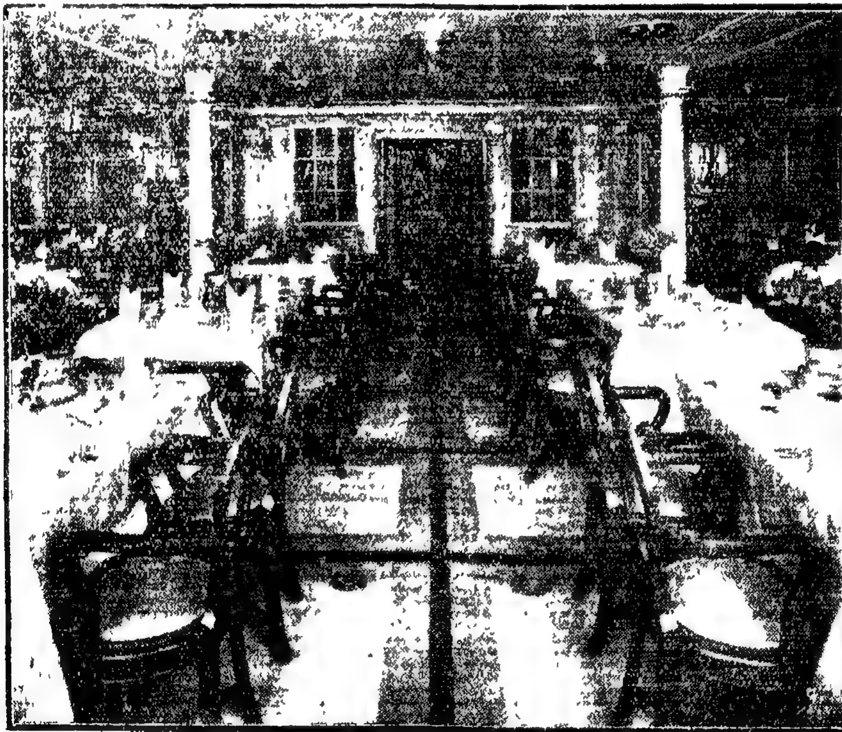


किसी जहाज़ी यात्री ने सच कहा है—"We do not know on board the ship whether sleep is broken by meals, or meals are broken by sleep." तात्पर्य यह कि जहाज़ पर सिवा खाने और सोने के कोई ज़रूरी काम नहीं रहता। सबेरा होते ही—जब शायद बहुत-से यात्री अपनी बर्थ ही में पड़े ख़र्राटे लेते रहते हैं—कैबिन-स्टिवार्ड आकर कैबिन में फल या बिस्कुट और एक प्याला चाय रख जाता है। अधिकांश यात्री दतून-कुल्ला करके नाश्ता करने के नियम के क़ायल नहीं होते। वे फल, बिस्कुट और चाय से जठराग्नि को आहुति देकर, जीवित संसार की सबसे अनिवार्य शक्ति (भूख) की उपासना करके ही मानो परमात्मा का प्रातः-स्मरण करते हैं। फिर नित्यक्रिया (जिसमें हजामत प्राचीन आर्यों की संध्या के समान ही आवश्यक है) और स्नान से निवृत्त होकर लोग सबेरे का सूट पहनते हैं। टाई-कालर आदि से लड़ते-झगड़ते, अंडरवियर, मोज़े आदि पहनते २०-२५ मिनट लग ही जाते हैं। शायद विलायती सभ्यता में सबसे बड़ी गुलामी कपड़ों ही की है! इसके बारे में बहुत कुछ लिखना है। पर फिर कभी।

कपड़े पहनकर कुछ देर डेक पर चहल-क़दमी करने की प्रथा है। थोड़ी ही देर में आठ बजते ही भोजन करने

अर्थात् breakfast करने चले जाते हैं। फिर एक बजे आपको लंच मिलेगी, चार बजे आप चाय पीने जायँगे, और संध्या को सात बजे आप डिनर dinner पर जा धमकेंगे। हर समय आपको भोजनों की घंटी का ध्यान लगा रहेगा। फ़र्स्ट क्लास में तो बिगुल द्वारा भोजनों की तैयारी की शंख-ध्वनि होती है; किंतु सेकंड क्लास में अमीनाबाद के महावीरजी की आरती का घंटा ही बजाया जाता है। इन शंख-घड़ियालों की तुमुल ध्वनि सुनते ही भक्तजनों का समूह प्रसाद पाने के लिये भोजनालयों (Dining Rooms) की ओर उमड़ पड़ता है।

'एटिकेट' चल नहीं सकता। इसलिये फ़र्स्ट क्लास में आधघंटे पहले कपड़ा बदलने के लिये ख़ास बिगुल बजा दिया जाता है। सेकंड क्लास में भी कुछ नए 'धरम' बदले हुए अपने 'एटिकेट' का ज्ञान प्रकाशित करने और अपने को 'एटिकेट'-भक्त प्रमाणित करने के लिये 'ईवनिंग सूट' का प्रहसन किया करते थे। उनके ईवनिंग सूट से डाइनिंग हाल की शोभा ही बढ़ती थी। अस्तु। आप कपड़े पहनकर डाइनिंग हाल में पहुँचे। यह कमरा बहुत बड़ा होता है; ख़ूबसूरत मेज़-कुर्सियों से सजा रहता है। जा-ब-जा गुलदस्ते भी आरास्ता रहते हैं। हरएक कुर्सी



जहाज मे अव्वल दर्जे का भोजनालय

फ़र्स्ट और सेकंड क्लास के भोजनालय अलग-अलग हैं। फ़र्स्ट क्लास में 'एटिकेट' (अर्थात शिष्टता) का अधिक ध्यान रक्खा जाता है, अर्थात् वहाँ संध्या को भोजन करते समय आपको उस समय का ख़ास सूट (Evening Suit) ही पहनना होगा। किंतु सेकंड क्लास में 'नाना वाहन नाना रूपा' होने के कारण वह

के सामने बाएँ हाथ की ओर काँटा, दाहने हाथ की ओर चाकू, छोटे-बड़े चम्मच आदि अस्त्र-शस्त्र और सुंदर शीशियों में (जिन्हें देखकर क़न्नौज और लखनऊ के इत्र-फ़रोशों की शीशियों की याद आ जाती है) सिरका, तेल, पिसा हुआ नमक, पिसी हुई कालीमिर्च, पिसी हुई सरसों आदि मसाले रक्खे रहते हैं। सामने शुभ्र दुग्ध-फेन के

समान सफ़ेद रूमाल तह किया रक्खा रहता है। आपने बैठते ही उसे खोलकर अपनी जाँघों पर डाल लिया, जिससे किसी चीज़ के गिरने से आपके कपड़े ख़राब न हों। फिर आपने सामने छपा हुआ मेनू (MENU) अर्थात् भोजनों की सूची उठाई। जहाज़ पर छापाख़ाना भी रहता है, और प्रत्येक समय का मेनू छपा हुआ प्रत्येक सीट पर रख दिया जाता है। कमर तक का कोट पहने हुए ख़ानसामा या ब्वॉय (boy)—बंबई की ओर के बुड्ढे नौकरों को भी ब्वॉय ही कहते हैं—'अलिफ़लैला'वाले अलादीन के जिन की तरह सामने खड़ा रहता और उसी की तरह "यस् सर" कहकर आपकी आज्ञा का पालन करता है। आपने मेनू देखकर जो चीज़ माँगी, उसने फ़ौरन् लाकर आपको दी। चीनी के 'प्लेटों' (रकाबियों) पर काँटे, चम्मच, छुरी आदि के प्रहारों की कटाकट से भोजनालय में एक प्रकार की बड़ी विचित्र तुमुल ध्वनि उत्पन्न हो जाती है। साथ-ही-साथ भीतर की ओर चकित मृगों की तरह इधर-उधर दौड़ते हुए ख़ानसामों का समावेश किसी फ़ैक्टरी का स्मरण करा देता है। भोजनाओं की सहायता से भोजन करने के बाद रूमाल से मुँह पोंछिए, और धीरे से कुर्सी हटाकर खिसक आइए। न हाथ धोने का झंझट, और न कुल्ला करने का झगड़ा।

आप कहेंगे, सब तो कह गए; पर असली बात तो बतलाई ही नहीं। भोजनों में क्या-क्या होता है ? आप ज़रूर यह प्रश्न करेंगे; क्योंकि मुझे मालूम है, आप भी योरप की हवा खाने की फ़िराक में होंगे। एक बार मेरे एक मित्र से (जो मेरी ही 'जाति' के अर्थात् शाकाहारी herbivorous जंतु हैं) एक मांसभक्षी देवता ने (क्योंकि वेदों में देवता बलिदान ग्रहण किया करते थे, और आज भी कालीघाट और विंध्याचल में देवियाँ उसे ग्रहण करती हैं !) कहा था—"पंडितजी, दुनिया की नियामतें तो आपके भाग्य में बदी ही नहीं। घास-पात के खानेवाले आप भोजनों का आनंद भला क्या जानें ?" पर फिर भी, मैंने या मेरे मित्र ने उनको जानने की कभी इच्छा नहीं की। किंतु जहाज़ पर इस कुतूहल ने—विशेषकर आप लोगों के कुतूहल ने—विवश कर दिया। देखिए, वे 'नियामतें' क्या हैं ? यहाँ पर मैं 'ब्रेकफ़ास्ट', 'लंच' और 'डिनर' के 'मेनू' की प्रतिलिपियाँ देता हूँ—

(नं० १)

Second Saloon
P. & O. R. M. S. "Kaisar-i-Hind"
Second Saloon
Breakfast
—.o.—
Porridge
Grilled Bream
American Hash
Fried Eggs.
Broiled Bacon
Scotch Scones
Stewed Prunes
22nd September, 1925

(नं० २)

Second Saloon
P. & O. R. M. S. "Kaisar-i-Hind"
Luncheon
—.o
Cream of Rice
Irish Stew.
Marcom Curry
Cold Potted Meats
Roast ribs of beef
Roast leg of Pork
Roast Lamb
Savoury Brawn
Salad.
Potatoes Baked and Boiled
Savoy Pudding
Cheese . ... . .Coffee
22nd September, 1925.

(नं० ३)

Second Saloon
P. & O. R. M. S. "Kaisar-i-Hind"
Luncheon
—o:—
Scubrie Soup
Stewed Steak Jardiniere
Dhall Curry
Cold — Potted Meats
Pressed Beef　Roast Lamb
Galantine of Fowl　Leicester Pie

Salad
Potatoes Baked and Mashed
Sweets
Milk Rice Pudding
Short bread
Cheese... .. ..Coffee
12th September, 1925.

(नं० ४)

Second Saloon
P & O R. M. S. "Kaisar-i-Hind"
Dinner

Soup
Consomme Diablotin
Fish
Cold— Mayonnaise of Salmon
Joint
Roast Lamb Mint Sauce
Entrees
Knomeskies au Russe
Cold — Asparagus Vinaigrette
Cold buffet
Leicester Pie
Vegetables
Potatoes Roast and Boiled
French Beans
Sweets
Fruit Jelly
Gateau Moka
Fruit Coffee
18th September, 1925.

इससे आप अनुमान कर लेंगे कि जहाज़ पर खाने के लिये क्या मिलता है। इन सूचियों में मक्खन-रोटी का कहीं नाम नहीं है ; क्योंकि वह तो होती ही है। पर लोग रोटी (पावरोटी) को चटनी की तरह बहुत कम खाते हैं। उनका मुख्य भोजन तो नाना प्रकार के 'सूप', गाय की पसली का गोश्त, सुअर की टाँग, मछली का कबाब, भुना हुआ मेमना आदि नियामतें होती हैं। इन सूचियों में बहुत-सी चीज़ें शायद आपकी समझ में न आवें। आप हताश न हों ; क्योंकि मुझे पर्याप्त करने पर मालूम हुआ कि बहुत-से खानेवालों को भी इनके अर्थ नहीं मालूम। एक बार फ़र्स्ट क्लास के 'मेनू' में एक 'item' खाद्य-पदार्थ का मतलब समझने के लिये मैंने एक महाशय से पूछा। उन्होंने गंभीरता से कहा—"ठीक-ठीक तो समझ में नहीं आता—फ्रेंच है या इटालियन, या लैटिन, क्या है। शायद इसका मतलब है घोड़े का अंडा! पर यह तो बेमतलब है।" तो भला मैं क्या बतला सकता हूँ? हाँ, कभी-कभी पापड़, चावल, 'डाल' (Indian Dhal) तथा पानी में उबाली हुई समूची 'भेंडी' (Bhendis) भी मिल जाया करती थीं। 'डाल' का हाल तो पूछिए नहीं। किसी भी खानेवाले ने यह ठीक तरह से न बतलाया कि उसने किस चीज़ की दाल खाई थी।

खानेवालों का हाल क्या बतलावें। हमारे संसार में तीन तरह के जीव होते हैं—शाकाहारी (Herbivorous), मांसाहारी (Carnivorous) और सर्वभक्षी (Omnivorous)। अब इनकी परिभाषा भी सुन लीजिए। शाकाहारी वे, जो केवल अन्न, फल, शाक और गोरस खाते हैं। विलायती शाकाहारी अंडे को भी शाकाहार में शामिल करते हैं (विश्वमित्र ने अंडों को शाकाहार में शामिल होने का फ़तवा देकर कोई नई ईजाद नहीं की)। इसलिये उनको अपभ्रष्ट शाकाहारी कह सकते हैं। मांसभक्षी वे जीव हैं, जो हिंदू होने पर गो-मांस और मुसलमान होने पर सुअर का मांस नहीं खाते। और मांसों से उन्हें परहेज़ नहीं। और, सर्वभक्षियों में उन समदर्शियों की गणना है, जो गऊ, सुअर, भेड़, बकरी, मुर्ग़ा, मुर्ग़ी, बतख़, मछली, सबको एक ही दृष्टि से देखते हैं, और समदृष्टा होने के साथ-ही-साथ सुरासुरेप्सित सुरा का भी आदर-सत्कार कर लिया करते हैं। हमारे जहाज़ में इन तीनों ही प्रकार के, या यों कहिए कि चारों प्रकार के जीव थे। विलायत में लोग मांस से बच सकते हैं या नहीं, यह तो आगे देखा जायगा ; किंतु जहाज़ पर सवार होते ही लोगों में यह धारणा ज़रूर उत्पन्न हो जाती है कि अब बिना मांस के जीवन नहीं रह सकता, और 'शुभस्य शीघ्रम्' का अनुसरण कर, बंबई के सामने ही 'लंच' का नाकर 'श्रीगणेश', या यों कहिए, 'श्री-नोश' शुरू कर देते हैं। लोगों में एक प्रकार का ऐसा मनोविकार उत्पन्न हो गया है कि विलायत जाना और मांस

खाना एक ही बात है। उनमें इतनी क्षमता नहीं रह जाती कि कुछ दिन ठहरकर ही उसका आरंभ करें।

हमारे साथ सभी तरह के लोग थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि शाकाहारी दस फ़ी सदी भी नहीं थे। मांस खाने में बहादुरी दिखलाना भी जहाज़ पर हिंदोस्तानियों के लिये फ़ैशन है। एक विशेष प्रांत के 'हिंदू'-नामधारी लोग तो सर्वभक्षी होने के लिये विशेष उत्साह दिखला रहे थे। उनमें से एक महाशय तो चिल्ला-चिल्लाकर beef का आवाज़ लगाते थे। एक दिन एक नवयुवक ने ख़ानसामा की लाई हुई गो-मांस की तश्तरी लौटाल दी। इस पर उसकी बग़ल में बैठी हुई एक श्यामा ने अपने सुरीले कोकिल कंठ से कहा—"You see Mr......you should have no objection in taking this beef, which is of English cows. And English cows are not sacred cows." गउओं में भी race problem खड़ा कर दिया जायगा, इसकी मुझे कल्पना भी नहीं थी! जहाज़ पर, संध्या के समय, हम लोगों में बहुधा English cows are not sacred cows. (अँगरेज़ी गाय पवित्र गाय नहीं है), इस फ़तवे को लेकर (भोजन-संबंधी फ़तवा देना विश्वमित्र का ही इजारा (Monopoly) नहीं है) अक्सर मज़ाक़ हुआ करता था। एक दिन भोजनालय में हिंदू-मुस्लिम प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। एक मुसलमान सज्जन बैठे हुए भोजन कर रहे थे। उन्हीं के पास एक हिंदू भी बैठे हुए मटनचॉप उड़ा रहे थे। मुसलमान सज्जन ने ख़ानसामा को हुक्म दिया—"Roast-ribs of beef, please" (कृपा कर गऊ की भुनी हुई पसली का मांस लाओ)। यह सुनकर हिंदू महाशय से न रहा गया। उन्होंने भी अपना स्वर एक सप्तम में ऊँचा उठाकर आज्ञा दी—"Roast leg of pork, please" (अर्थात् सुअर की भुनी हुई टाँग लाओ)। मौलवी साहब को बड़ा बुरा मालूम हुआ। उन्होंने पहले तो तिरछी नज़र से देखा; और फिर बोले—"अजी आप यह क्या करते हैं?" हिंदू मिस्टर ने जवाब दिया—"कुछ नहीं; वही, जो आप करते हैं।" किंतु दोनों ही समझदार थे। अंत में यह समझौता हुआ कि न मौलवी साहब गो-मांस मँगावें, और न हिंदू मिस्टर सुअर की टाँग। मुझे जब यह क़िस्सा मालूम हुआ, तो मैंने उन महाशय से पूछा—"क्या आपने सचमुच खाने के लिये सुअर का मांस मँगाया था?" इस पर उन्होंने जवाब दिया—"अजी पंडितजी, आप भी क्या यही समझते हैं? मैं तो सुअर की टाँग की तश्तरी लेकर अपने और मियाँ साहब के बीच में रख देता।" पर इस घटना को छोड़कर जहाज़ पर और कोई हिंदू-मुस्लिम प्रश्न नहीं उठा, और इसका भी अधिकतर कारण अनुभव-हीनता ही थी। असल बात यह है कि कभी-कभी जहाज़ पर (और इँगलैंड में भी) मांस की परख करना कि यह किसका मांस है, बड़ा कठिन है। एक दिन एक नवयुवक के सामने एक तश्तरी में ख़ानसामा कुछ मांस ले आया। नवयुवक ने कौतूहल से पूछा—"यह क्या है?" उसने उत्तर दिया—"Veal". नवयुवक की समझ में नहीं आया। उसने फिर पूछा, तो ख़ानसामा ने घुटने तक एक हाथ नीचा करके कहा—"a small beef, Sir" अर्थात् छोटा गऊ, हुज़ूर। नवयुवक ने कुछ सकपकाकर कहा—"Take it away", अर्थात् इसे हटाओ।

जहाज़ पर ही नहीं, यहाँ इँगलैंड में भी बाज़ हिंदू और मुसलमान (वे भी जिन्हें मांस खाने से परहेज़ नहीं है) मांस खाना छोड़-सा देते हैं। मेरे एक मुसलमान दोस्त (जो यहीं हैं) ने मुझसे कहा—"अजी पंडितजी, मैं तो गोश्त क़तई नहीं खाता; क्योंकि यहाँ क्या ठिकाना, ये कमबख़्त क्या दे दें।" किसी अंश में यह सच भी है। मैंने भोजनालय के इतने क़िस्से दे दिए हैं कि कहीं आप उकता न जायँ। इससे अब और न लिखूँगा।

आप कहेंगे कि आपने क्या किया? अकेले आप ही नहीं, बहुत से लोग यह प्रश्न करेंगे, और बहुतों ने यही प्रश्न किया भी है। मेरी समझ में नहीं आता कि जब आजकल नित्य ही लोग विलायत आया करते हैं, बड़े-बड़े कट्टर कनौजियों से लेकर वैष्णवी वणिक् तक समुद्र का उल्लंघन किया करते हैं, और कोई समाचार-पत्र उनकी ओर ध्यान नहीं देता, तब मुझमें ऐसी कौन-सी विशेषता है कि हिंदी के इतने समाचार-पत्रों ने मेरे ऊपर अपनी शक्ति लगाकर मुझे विशेष-रूप से सम्मानित किया। कई मित्रों ने मुझे इन समाचार-पत्रों की कृपा का संकेत किया था; किंतु मुझे उनकी 'कटिंग' नहीं भेजी। मालूम नहीं, मुझे 'बहु मान' देने का

कारण क्या है। अस्तु, उसका उत्तर पीछे दिया जायगा। मैं इस भोजन के प्रश्न को अपनी तरह के 'कट्टर' हिंदुओं के लिये हल करना चाहता हूँ ; क्योंकि अब सनातनी हिंदुओं को केवल एक यही प्रश्न विलायत आने से रोकता है। इस पर मुझे बहुत कुछ कहना है 'विश्वामित्र' आदि पत्रों के विनोद के लिये नहीं, किंतु उन लोगों के मनन करने के लिये, जो यह चाहते हैं कि उनके नवयुवक विदेश जाकर अपने नियम से रहें, और रह सकें। लेकिन वह फिर कभी।

हाँ, तो अपनी राम-कहानी सुनाता हूँ। मुझसे लखनऊ और प्रयाग में बहुत लोगों ने अंडा-भोजन आरंभ करने की सम्मति दी थी। जब गंगा-पुस्तकमाला की दूकान पर आया करता था, तब दुलारेलालजी के पिताजी भी पूछा करते थे —"कहिए, अंडा खाना शुरू किया कि नहीं?" कई मित्रों ने मुझसे छुरी-काँटे का प्रयोग सीखने की सलाह दी, और आग्रह भी किया। किंतु मैं बराबर यही कहकर उन्हें टाल दिया करता था— "Never trouble trouble till trouble troubles you," (अर्थात् जब विपत्ति आवेगी, तब भुगत ली जायगी।)

बंबई से जिस दिन चले, उस दिन तो भोजनों की बिलकुल ही इच्छा नहीं हुई। गरमी और किसी भी प्रकार का व्यायाम न करने के कारण दूसरे दिन भी भूख नहीं मालूम हुई। समुद्री बीमारी के डर से उस दिन केवल फलों ही पर गुज़ारा किया। तीसरे दिन जब पूड़ियों का डिब्बा खोला, तो देखा कि समुद्र की नमकीन और नम हवा के कारण कुछ पूड़ियाँ और शाक ख़राब हो गए हैं। अतएव उन्हें समुद्र-देवता के हवाले करना पड़ा। किंतु नमकीन और मगद बिलकुल ही नहीं बिगड़े थे। मेरे प्रिय मित्र और पुराने सहपाठी श्रीयुत मुंशीलालजी भी मूँग के लड्डू और आलरे की दालमोट लाए थे। हम लोगों के पास अचार भी काफ़ी था। इनसे काम चलाया। ये चीज़ें लंदन तक नहीं बिगड़ीं, और इन्होंने बहुत काम दिया। इनके सिवा बंबई का भूँजा (जिसमें भुना हुआ चिउड़ा चना, मूँगफली आदि होती हैं) समुद्री सफ़र में ख़ूब काम देता है। एक महाशय के पास इसका अच्छा संचय था। अतएव मैंने निश्चय कर लिया कि मैं फल और इन चीज़ों तथा Condensed milk पर रहूँगा। मैं बहुधा नवरात्र का व्रत किया करता हूँ, और संयोग से नवरात्र का आरंभ ही होनेवाला था (मैं ठीक दशहरे के दिन लंदन पहुँचा था)। इससे मैंने सोचा कि यह 'रपट जाने की अच्छी हर गंगा' हो जायगी।

किंतु जहाज़ पर काम न होने से दिमाग़ को दूर की सूझती है। मुंशीलालजी और हम थे ही, कईएक और 'शाकाहारी' जीव भी मिल गए। इनमें कलकत्ते की ओर के एक मारवाड़ी महाशय श्रीरामेश्वरलालजी बजाज़ भी थे। आप अपने साथ एक रसोइया भी लाए थे, जो कहीं हलवाई की दूकान किए हुए था। अतएव हम लोगों ने जहाज़ के अधिकारियों से कहकर एक ऐसा स्थान ले लिया, जहाँ हमें भोजन बनाने की आज्ञा मिल गई। यह स्थान जहाज़ की दुम का सबसे अंतिम हिस्सा था। इसके अलावा हम लोगों को अपने योग्य फल, दूध, चीनी, आटा, दाल, चावल, घी, मक्खन, शाक और मसाला तथा कोयला भी मिलने लगा। जहाज़ पर यह सब सामान रहता है। दाल उनके पास केवल मूँग और अरहर की थी ; उर्द की दाल नहीं थी। घी बेसहुआ था, जो हम लोगों को पसंद नहीं आया। किंतु मक्खन गर्म करके हम लोगों ने घी बना लिया। आटा तो उनके पास था नहीं, सफ़ेद मैदा थी ; किंतु उसी से काम निकालने लगे। हमारे साथ मध्यप्रांत के दो नवयुवक विद्यार्थी—श्रीयुत गौड़ और पंडित—भी थे। इन दोनों विद्यार्थियों ने हमें विशेष सहायता दी। हम लोग मिलकर भोजन बनाते थे, और रसोइया अधिकांश ऊपर का काम करता था। हम लोगों के भोजन बनाने का एक कारण यह भी था कि समय काटने के लिये एक सहारा मिल गया। अतएव हम लोगों को पूड़ी, शाक और कभी-कभी चावल-दाल भी मिलने लगा।

अदन पहुँचकर हम लोगों ने बाज़ार से सामान ख़रीदा। अदन आधा हिंदोस्तान ही है। बंदरगाह के पास ही कुछ मारवाड़ियों की दूकानें भी हैं। उनसे उर्द की दाल, मोटा आटा, कोयले की एक अँगीठी और अल्यूमीनियम की एक पतीली ख़रीदी। इससे अदन के बाद भोजनों का कोई कष्ट नहीं रहा। एक प्रकार से हम लोग औरों की अपेक्षा बहुत आनंद में थे ; क्योंकि एक तो

रुचि के अनुसार भोजन मिलता था, दूसरे मेवा और फल हम लोगों को मनमाने मिलते थे। हम लोग मांस इत्यादि तो खाते न थे, इसलिये उसकी कसर फल और मेवा से निकलती थी। यह कहना न होगा कि जहाज़ के अधिकारियों ने सामान देने में हमें बड़ी उदारता दिखलाई। इससे हमारे पास इतना सामान हो जाता था कि बहुधा हम लोग और हिंदोस्तानियों के तीसरे पहर के जल-पान के लिये अक्सर हलुआ और नमकीन आदि बना लेते थे। एक दिन हरे मटर भी मिल गए थे। हमारे साथी हिंदोस्तानी इन वस्तुओं को बहुत पसंद करते थे।

जहाज़ के भोजन के बारे में अधिकांश हिंदोस्तानी शिकायत करते थे; क्योंकि उनको देशी मसालेदार भोजन के न मिलने से बड़ा कष्ट होता था। हम लोगों को यह बात बहुत ख़राब मालूम होती थी कि इतने हिंदोस्तानी यात्रियों के होते हुए भी देशी भोजन न बनाए जाते थे। हमारे मित्र मुंशीलालजी अग्रवाल ने प्रायः ६० यात्रियों से हस्ताक्षर कराकर एक पत्र जहाज़ के कमांडर को देशी भोजन के लिये दिया। उस पर जहाज़ के भोजनालय में खानेवाले शाकाहारियों के लिये एक मेज़ सुरक्षित कर दी गई, जिस पर मांस न आने पाता था। इसके सिवा उनको सब्ज़ी आदि अधिक दी जाने लगी। किंतु जहाज़ के रसोइयों में देशी भोजन बनानेवाला कोई न था। लश्करों में एक मुसलमान बावर्ची था; किंतु वह इस शर्त पर देशी भोजन बनाने को कहता था कि उसे हर-एक आदमी २) दे। इस पर बहुत-से लोगों ने ख़र्च करने की अपेक्षा वही भोजन करना पसंद किया। इसी मामले में नहीं, एक-दो और मामलों में भी हिंदोस्तानी चरित्र की दुर्बलता का अच्छा परिचय मिला। इस अरुचिकर विषय पर अधिक न लिखना ही अच्छा है।

वास्तविक बात यह है कि विलायत यात्रा करनेवाले अधिकांश वे ही लोग होते हैं, जो खाने-पीने के बारे में पूर्णतः स्वतंत्र होते हैं। जो थोड़े बहुत 'दक़ियानूसी' विचार के होते भी हैं, वे कलपरुस्यक होने के कारण, और समझाने-बुझाने से दो चार दिनों के बाद उन्हीं में शामिल हो जाते हैं। इन लोगों का एक बड़ा भारी तर्क यह होता है कि "यहाँ जहाज़ पर ढोंग करने से क्या होता है, विलायत में जाकर तो सब कुछ खाना ही पड़ेगा; क्योंकि वहाँ के जल-वायु में मांस आदि न खाने से क्षय-रोग हो जाता है। और, यदि उसकी परवा न भी की जाय, तो भी वहाँ अपना भोजन मिलना असंभव है।" इसमें अवश्य कुछ सार है; किंतु कितना सार है, इस पर फिर कभी विचार किया जायगा।

मुझसे बहुत-से मित्रों ने कहा था कि पी० ऐंड ओ० की मेल-बोट पर भोजन बनाने की आज्ञा कदापि नहीं मिल सकती। किंतु असली बात यह है कि "तेरा ही दिल न माने, तो बातें हज़ार हैं।' रुपया ख़र्च करने से तो लोग पूरे कनौजियापन से रह सकते हैं। किंतु बिना रुपएवाले साधारण लोग भी—यदि उनमें दृढ़ इच्छा है – अपने ढंग से रह सकते हैं।

यहाँ आकर मैंने पी० ऐंड ओ० कंपनी से इस विषय में बातचीत की, और उनको एक पत्र लिखा था। उनका जो उत्तर आया है, वह मेरे पास मौजूद है। उसका एक अंश मैं नीचे देता हूँ—

"With regard to the concluding part of your letter, there is on board our ships no difficulty regarding the provision of diet congenial to Indians, whether Hindus or Mohamadans, the Company having, of course, been accustomed throughout its history to make suitable provision in this respect."

श्रीनारायण चतुर्वेदी

छल

बजा-बजाकर हृत्तंत्री को, गाकर उस जीवन का गान,
तन, मन से नीरव रजनी में, बिछा पलक करती आह्वान;
थिरक-थिरककर तेरी प्रतिमा, जब आँखों पर आती है,
यही निगोड़े अश्रु नयन में भर आते छिप जाती है।
होती व्यथा कठोर, शोक का सागर ज्यों बढ़ता था नाथ!
इन्हीं आँसुओं से पाती थी शांति, यही बनते थे साथ;
किंतु आज ये सुख के बदले मुझे दुःख दे चले गए,
जो आँखों ही में रहते थे, नयन उन्हीं से छले गए।

श्यामापति पांडेय (श्याम)

संपादकावतार



"आए हैं"

मंजु मुख-चंद देखि मानस बनत सिंधु,
　　सुनि बैन कान रस-पान कै अघाए हैं;
कल-केलि अवलोकि मुदित महान होत,
　　भोरे-भोरे भावन ते भौंर सुख पाए हैं।
"हरिऔध" मोहन मधुर मुसुकान हेरि,
　　उमगि-उमगि सुधा-सर में अन्हाए हैं;
परम सलोने गोरे गातन पै वारि जात,
　　लोने-लोने लालन पै लोचन लुभाए हैं।
जाति-सोचनीय दसा देखि सोच होत नाहिं,
　　लोच-भरी बात पै रहत ललचाए हैं;
हित को अहित औ अहित को कहहिं हित,
　　पंचपाचवारे पंचपाच पै लुभाए हैं।
"हरिऔध" भूल पै है भूल ही करत जात,
　　अजहूँ लिलार-लेख को न भूल पाए हैं;
कोरे बनि करहिं निहोरे, कर जोरे रहैं,
　　भोरे-भोरे भाव भोरे हिंदुन को भाए हैं।
जगत मे जाकी जगमगत सुजोति रही,
　　ताकी जातिवारे नाहिं जगत जगाए हैं;
तेज-हीन भए जात तात तेजवारन के,
　　जीवन विहीन जग-जीवन के जाए हैं।
"हरिऔध" आजु तिल ताल तिनहूँ को भयो,
　　कबहूँ तिलोक के जे तिलक कहाए हैं;
भरत के पूतहूँ उभारे उभरत नाहिं,
　　भीरुता के भाव वीर भारत को भाए हैं।
　　　　अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"

सुदि और वदि



आजकल हिंदी के लेखक 'सुदि' और 'वदि'-शब्दों को एक-सा नहीं लिखते। कोई 'सुदि' और 'वदि' लिखते हैं, तो कोई 'सुदी' और 'बदी'। माधुरी-जैसी उच्च कोटि की पत्रिका में भी ये शब्द दोनों तरह से लिखे हुए देखने में आते हैं। इनमें से कौन-सा रूप शुद्ध है, यह निश्चय करने के लिये इनकी उत्पत्ति का विचार करना आवश्यक है।

'सुदि' और 'वदि' का अर्थ 'शुक्लपक्ष' और 'कृष्णपक्ष' माना जाता है; परंतु वास्तव में देखा जाय, तो इन शब्दों का अर्थ 'शुक्लपक्ष का दिन' और 'कृष्णपक्ष का दिन' है। पीछे से ये दोनों एक शब्द मान लिए गए हैं। परंतु वास्तव में ये शब्द नहीं, दो-दो शब्दों के प्रारंभ के अक्षर-मात्र हैं, जिनको साथ लिखने से इन दोनों शब्दों की सृष्टि हुई है।

प्राचीन शिलालेखादि में संवत्सर (संवत्, वर्ष), ऋतु, पक्ष, और दिन या तिथि एवं अन्य शब्द भी संक्षिप्त रूप में लिखे हुए बहुधा पाए जाते हैं। संवत्सर (वर्ष) को 'संवत्' या 'सं', ग्रीष्म को 'ग्री' या 'गि' (प्राकृत में), वर्षा को 'व', हेमंत को 'हे', बहुलपक्ष को 'बहुल' या 'ब' (व), शुक्लपक्ष को 'शुक्ल' या 'शु', दिवस को 'दि' तिथि को 'ति', और ठक्कुर को 'ठ' आदि लिखा मिलता है। शुक्लपक्ष के 'शु' और दिवस के 'दि' को साथ लिखने से 'शुदि' शब्द बना; परंतु हिंदी आदि प्रचलित भाषाओं में 'श' के स्थान में 'स' का प्रयोग भी होने से, 'शुदि' के स्थान में 'सुदि'-शब्द का प्रचार हुआ है। इसी तरह बहुल (कृष्ण) पक्ष के संक्षिप्त रूप 'ब' और दिवस के 'दि' को साथ लिखने से 'बदि'-शब्द की उत्पत्ति हुई है, जिसके स्थान में 'वदि' ('बवयोरैक्यम्' के अनुसार) भी लिखा जाता है।

पिछले व्याकरण के आचार्यों ने 'सुदि' और 'वदि'-शब्दों की गणना अव्ययों में की है। इस पर कोई भी पाठक यह आपत्ति उपस्थित कर सकता है कि जब सिद्धांतकौमुदी-जैसे ग्रंथ के कर्ता ने 'सुदि' और 'वदि'-शब्दों को अव्यय माना है, तो हम कैसे मान सकते हैं कि ये शब्द 'शुक्लपक्ष' और 'दिवस' तथा 'बहुलपक्ष' और 'दिवस' के साथ लिखे हुए संक्षिप्त रूप हैं। इसके उत्तर में मेरा निवेदन यह है कि पिछले व्याकरण के आचार्यों ने इनकी उत्पत्ति की ओर दृष्टि नहीं दी, और लोक-प्रसिद्ध (भाषा के) इन रूपों में विकार का अभाव देखकर ही उन्होंने इनकी गणना अव्ययों में की है, जो अधिक प्राचीन नहीं है। प्राचीन शिलालेख आदि में ये शब्द विशेष रूप से लिखे हुए मिलते हैं, जिनमें बहुधा 'शुदि'-शब्द का प्रयोग मिलता है, न कि 'सुदि' का। वैयाकरणों ने 'शुदि'-शब्द के लोकप्रसिद्ध रूप 'सुदि' को ही स्थान दिया है, संस्कृत-रूप 'शुदि' को नहीं। ये

शब्द भारत में भी सार्वदेशिक नहीं हैं। बंगाल में सौर-गणना होने के कारण वहाँ तो इन शब्दों का प्रयोग भी नहीं होता। इसी से 'शब्दकल्पद्रुम'-नामक कोष में 'सुदि'-शब्द के विवेचन में लिखा है—"यह अव्यय है, और पश्चिम देश में प्रसिद्ध है।" उसमें 'वदि'-शब्द तो दिया ही नहीं। 'वाचस्पत्य बृहदभिधान'-कोष में 'सुदि' को तो अव्यय मानकर उसे 'शुक्लपक्ष' का सूचक कहा है, पर 'बदि' या 'वदि'-शब्द तो उसमें भी नहीं है। उसमें 'ब(व)हुल'-शब्द अवश्य है, जिसको 'कृष्णपक्ष' का सूचक बतलाया है; और 'शुक्ल' या 'शुद्ध' को 'शुक्लपक्ष' का सूचक लिखा है।

इन शब्दों का ठीक-ठीक निर्णय प्राचीन शिलालेखादि की सहायता से ही हो सकता है।

बयाना (भरतपुर-राज्य) के विजयगढ़-नामक क़िले में खड़े हुए यज्ञस्तंभ के शिलालेख का संवत् नीचे लिखे अनुसार दिया है—

(१) 'चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु ४०० २० ८ (४२८) फाल्गुण(न)बहुलस्य पंचदश्यां' अर्थात् वर्ष (संवत्) ४२८ के फाल्गुन-कृष्णा अमावास्या को (यह यज्ञस्तंभ स्थापित किया गया था)।[1]

(२) मंदसोर से मिले हुए कुमारगुप्त (प्रथम) के समय के शिलालेख में संवत् नीचे लिखे अनुसार है—

मालवाना गणस्थित्या याते शतचतुष्टये ;
त्रिनवत्यधिकेऽब्दाना रि(ऋ)तौ सेव्यघनस्तने।
सहस्य मासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे[2]।

अर्थात्, मालवगण की स्थिति से (मालव-संवत् या विक्रम-संवत् से) ४९३ वर्ष व्यतीत होने पर, पौष-शुक्ल के तेरहवें दिन (यह लेख तैयार किया गया)।

ये उदाहरण वि० सं० ४२८ और ४९३ के शिलालेखों से उद्धृत किए गए हैं, जिनमें 'सुदि', 'वदि' का प्रयोग नहीं, किंतु पूरे शब्द दिए गए हैं। ऐसे पूरे शब्दोंवाले उदाहरण और भी बहुत मिल सकते हैं; परंतु उन्हें उद्धृत कर लेख को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं। अब हम पक्ष और दिन (तिथि) के संक्षेप में लिखे जाने के कुछ उदाहरण उद्धृत करते हैं—

(१) शेरगढ़ (कोटा-राज्य) से मिले हुए सामंत देवदत्त के बौद्ध-लेख में 'संवत् ८४७ माघ-शुदि ६'[1] खुदा है।

(२) ग्वालियर से मिले हुए क़न्नौज के प्रतिहार राजा भोजदेव के शिलालेख में 'संवत्सरशतेषु नवसु त्र-(त्र)यस्त्रिंशदधिकेषु 'माघशुक्लद्वितीयायां' 'सं० ९३३ माघ-शुदि २'[2] मिलता है। इस लेख में पूरे शब्दों और संक्षेप-रूप में भी संवत्, पक्ष, तिथि दिए हैं।

(३) हड्डाला (काठियावाड़) से मिले हुए क़न्नौज के प्रतिहार राजा महीपालदेव के सामंत धरणीवराह के शक-संवत् ८३६ (वि० सं० ९७१) के दानपत्र में 'शक-संवत् ८३६ पौष-सुदि ४ उत्तरायणे'[3] खुदा है, और यह उदाहरण काठियावाड़ का है।

(४) खेड़ा (गुजरात) से मिले हुए गुर्जरवंशी राजा दूसरे दद्द (प्रशांतराग) के कलचुरी-संवत् ३८० (वि० सं० ६८७) कार्त्तिक-सुदि १५ के दानपत्र में 'संवत्सरशतत्रयेऽशीत्यधिके कार्त्तिकशुद्धपंचदश्या.. ......सं० ३०० ८०(३८०) कार्त्तिक-शु० १० ५[4](१५)' खुदा है। इसमें वर्ष और पक्ष पूरे शब्दों में तथा संक्षिप्त रूप से भी दिए हैं। यह उदाहरण गुजरात का है।

(५) सीयडोनी (संयुक्तप्रदेश) से मिले हुए क़न्नौज के प्रतिहारवंशी महाराजाधिराज महेंद्रपाल के शिलालेख में 'संवत्सरशतेषु नवसु षष्ट्यधिकेषु चतुरन्वितेषु मार्ग्गशिरमासबहुलपक्षतृतीयायां संवत् ९६४ मार्ग्ग वदि ३'[5] है। इसमें वर्ष मास, पक्ष और तिथि, चारों पूरे शब्दों में एवं उनके संक्षिप्त रूपों में भी दिए हैं।

(६) लखनऊ म्यूज़ियम में रक्खे हुए क़न्नौज के गाहड़वाल(गहरवार)वंशी महाराजाधिराज गोविंदचंद्र-देव के कमौली-गाँव से मिले हुए दानपत्र में 'षट्सप्तत्य-

---

१. फ्लीट—गुप्त-इन्स्क्रिप्शंस, पृष्ठ २५३, और प्लेट ३६।

२. फ्लीट—गुप्त इन्स्क्रिप्शंस, पृष्ठ ८३ और प्लेट ११।

---

१. इंडियन एंटिक्वेरी, जिल्द १४, पृष्ठ ३५१।

२. एपिग्राफ़िया इंडिका; जिल्द १, पृष्ठ १५६।

३. एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख-संख्या ३५३।

४. एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख-संख्या ३६५।

५. एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख-संख्या २०।

धिकएकादशशतसंवत्सरे ज्येष्ठमासे कृष्णपक्षे पंचदश्यां तिथौ रविदिनेऽङ्कतोपि संवत् ११७६ ज्येष्ठवदि १५ रवौ'[1] खुदा है।

(७) मांधाता (माहेश्वर, इंदौर-राज्य) से मिले हुए मालवा के परमार-राजा महाराजाधिराज जयसिंहदेव के दानपत्र में 'संवत ११११२ आषाढ़-वदि १३'[2] दिया है।

(८) क़न्नौज के प्रतिहारवंशी महाराजाधिराज त्रिलोचनपालदेव के दानपत्र में, जो बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में सुरक्षित है, 'सं० १०८४ श्रावण-वदि ४'[3], लिखा है।

दक्षिण से मिलनेवाले शिलालेखों और ताम्रपत्रों में संवत्सर (वर्ष), मास, पक्ष और तिथि (दिन) पूरे शब्दों में ही दिए हुए मिलते हैं। उनके यहाँ 'शुदि' (सुदि), 'वदि' (वदि) का प्रयोग नहीं मिलता।

ऊपर दिए हुए उदाहरणों से पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि इन शब्दों का प्रयोग संयुक्तप्रदेश, राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़ आदि प्रदेशों में ही होता था। इसी से 'शब्दकल्पद्रुम' में 'सुदि'-शब्द का (बंगाल से) पश्चिम देश में प्रसिद्ध होना लिखा है, जो ठीक ही है।

उक्त उदाहरणों से पाठकों को यह भी विदित हो जायगा कि 'सुदि' और 'वदि' कोई शब्द नहीं, किंतु 'शुक्लपक्ष' या 'बहुल(कृष्ण)पक्ष' और दिवस (तिथि) के प्रारंभिक अक्षरों को साथ लिखने से इन शब्दों की उत्पत्ति हुई है। अतएव 'सुदि' और वदि में 'दी' लिखना सर्वथा अशुद्ध है। ये शब्द भारत में सार्वदेशिक भी नहीं थे, और न अभी हैं।

अपने कथन की पुष्टि में हम यह भी बतलाना चाहते हैं कि जैसे प्राचीन शिलालेखों में 'शुदि' और 'वदि' मिलते हैं, वैसे ही 'शुति' और 'वति' भी मिलते हैं, जिनमें 'शु' और 'व'-अक्षर तो 'शुक्लपक्ष' और 'बहुल(कृष्ण)पक्ष' के, तथा 'ति' तिथि का संक्षिप्त रूप है। इन शब्दों का उल्लेख न तो किसी व्याकरण में मिलता है, और न किसी कोष में। तो भी प्राचीन काल में इनका प्रयोग बहुत होता था, जिसके कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं—

(१) देहली में फ़ीरोज़शाह के कटरे के एक तिमंज़िले मकान के सिर पर खड़े किए हुए अशोक के लेखवाले विशाल स्तंभ पर, जिसको पंजाब के ज़िले अंबाला (सवालक) के गाँव टोपरा से सुल्तान फ़ीरोज़शाह तुग़लक लाया था, अजमेर के चौहान-राजा बीसलदेव (विग्रहराज) के तीन लेख खुदे हुए हैं, जिनमें से एक पर 'संवत १२२० वैशाख-शुति १५' और दूसरे में 'संवत्-श्रीविक्रमादित्ये १२२० वैशाख-शुति १५[1] गुरौ' खुदा है।

(२) सुंगल (चंबा-राज्य) से मिले हुए राजा विदग्ध के दानपत्र में 'प्रवर्धमाण(न)कल्याणविजयराज्यसंवत्सरे चतुर्थे संवत् ४ माघ-शुति प्रतिपद(त्) १'[2] है।

(३) तुरगाँव (चंबा-राज्य) से मिली हुई एक मूर्ति के नीचे के लेख में माघ-शुतिद्वादश्यां भौमवारे प्रतिष्ठितम्'[3] खुदा है।

(४) विएना लाइब्रेरी(आस्ट्रिया)में रक्खी हुई डॉक्टर बूलर-संगृहीत शारदा(काश्मीरी)लिपि की एक हस्तलिखित पुस्तक के अंत में 'श्रीविक्रमादित्यशाका. १७३२ श्रीमच्छालिवाहनशाकाः १५६७ श्रीमदंरगशाहशाका. १८ श्रीसप्तर्षिचारमतेन संवत् ५१ वै शुति १० शनौ' लिखा है। यहाँ 'वै' 'वैशाख' का संक्षिप्त रूप है।

(५) ब्राह्मोर-गाँव (चंबा-राज्य) से मिले हुए राजा युगाकरवर्मन् के दानपत्र में 'संवत् १० वैशाख-वति १०'[5] दिया है।

(६) डडवार (चंबा-राज्य) से मिले हुए एक

१. एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख-संख्या १८।

२. एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख-संख्या ६७।

३. एपिग्राफ़िया इंडिका, जिल्द ५ के परिशिष्ट में लेख-संख्या ६०।

१. इंडियन ऐंटिक्वेरी, पृष्ठ २१८।

२. डॉक्टर फ़ोज़ल—ऐंटिक्विटीज़ ऑफ़ दि चंबा-स्टेट, पृष्ठ २६७।

३. डॉक्टर फ़ोजल—ऐंटिक्विटीज ऑफ़ दि चंबा-स्टेट, पृष्ठ १७३।

४. इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द २०, पृष्ठ १५२, संख्या ७।

५. डॉक्टर फ़ोजल—ऐंटिक्विटीज ऑफ़ दि चंबा-स्टेट, पृष्ठ १६२।

शिलालेख में 'संवत् १७ ज्येष्ठ-वति १२ बुधवासरे रेवती-नक्षत्रे'[1] खुदा है। यह संवत् १७ सप्तर्षि संवत (शाक-संवत्, विक्रम-संवत् १०६८) है।

(७) हरि-पर्वत के एक शिलालेख में 'स० ६० श्रा-वति-प्र शुके महम्मदशाहराज्ये[2]' खुदा है। इस लेख में 'श्रा' 'श्रावण' का, 'वति' 'बहुलतिथि' का और 'प्र' 'प्रतिपदा' का संक्षिप्त रूप है। यह संवत् भी सप्तर्षि-संवत् है, जो विक्रम-संवत् १४४१ होता है।

(८) डॉक्टर सर ऑरल स्टाइन को मिली हुई शारदा-(कश्मीरी) लिपि में लिखी हुई 'रत्नावली नाटिका' के अंत में 'स० ६६ चैत्र-वति एकादश्यां चंद्रवासरे श्रवणनक्षत्रे[3]' लिखा है।

इन उदाहरणों से पाया जाता है कि जैसे संयुक्तप्रदेश, राजपूताना, मालवा, गुजरात, काठियावाड़ आदि में 'शुदि' और 'वदि' का प्रयोग होता था वैसे ही पंजाब और कश्मीरवाले 'शुति' और 'वति' का प्रयोग करते थे।

ऊपर कुछ प्रमाण हमने ऐसे उद्धृत किए हैं, जिनमें पूरे शब्दों में संवत्सर (वर्ष), मास, पक्ष, और तिथि (दिवस) दिए हैं और उनके साथ-साथ वे ही संक्षिप्त-रूप से भी दिए हुए हैं, जिससे निश्चित है कि 'शुदि' (सुदि) और 'बदि' (वदि) ये कोई स्वतंत्र शब्द नहीं, किंतु 'शुक्लपक्ष' और 'दिवस' (तिथि) एवं 'बहुल (कृष्ण)-पक्ष' और 'दिवस' (तिथि) के सूचक शब्दों के प्रारंभ के अक्षर मिला कर लिखने से ये शब्द बने हैं। संस्कृत के 'शुदि'-शब्द का भाषा में 'सुदि'-रूप हुआ है। अतएव 'सुदि' और 'बदि' के स्थान में 'सुदी' तथा 'बदी' लिखना अशुद्ध है। आशा है, हिंदी के लेखक इस विषय पर विचार कर जो पाठ उनको शुद्ध प्रतीत हो, उसी को व्यवहार में लावेंगे।

गौरीशंकर-हीराचंद ओझा

---

१. डॉक्टर फोजल—ऐंटिक्विटीज़ ऑफ् दि चंबा-स्टेट, पृष्ठ १७७।

२. इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द २०, पृष्ठ १५१, संख्या ९।

३. इंडियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द २०, पृष्ठ १५२, संख्या १०।

संयुक्तप्रांतीय कृषि-विभाग की कार्यवाही



सरकारी कृषि-विभाग की गत वर्ष की रिपोर्ट अँगरेज़ी-भाषा में (गवर्नमेंट-प्रेस, इलाहाबाद में) छपी है। इस रिपोर्ट के लेखक जॉर्ज क्लार्क साहब हैं। आप गत दो वर्षों से संयुक्तप्रांतीय सरकारी कृषि-विभाग के डाइरेक्टर हैं। आपने इस थोड़े समय में कृषि-विभाग की कार्यवाही में सराहनीय उन्नति की है, और कृषि में उन्नति करने के लिये ऐसी नवीन बातों का अन्वेषण किया है, जिनसे कृषक-समुदाय को बहुत लाभ हो सकता है। इन सबका उल्लेख उक्त रिपोर्ट में है। किंतु इससे कुछ थोड़े मनुष्य ही, जो अँगरेज़ी पढ़े हुए हैं, लाभ उठा सकते हैं। यहाँ के ज़मींदार तथा कृषकगण अधिकतर अँगरेज़ी-भाषा नहीं जानते, अतएव इस रिपोर्ट से भी अपरिचित हैं। कृषि-व्यवसाय में लगे हुए सर्वसाधारण के लाभार्थ, डाइरेक्टर साहब की अनुमति से, इस रिपोर्ट की उपयोगी बातों का उल्लेख हिंदी-भाषा में किया जाता है। आशा है, कृषक तथा ज़मींदार इसके अनुसार काम करने की चेष्टा करेंगे, और कृषि-कार्य में उन्नति करके लाभ उठावेंगे।

कृषि-विभाग का ध्यान अधिकतर केवल प्रयोग करने की ओर रहा है, खेती के हानि-लाभ से विशेष संबंध नहीं रक्खा गया। ऐसी दशा में हानि के अतिरिक्त और क्या हो सकता था ? क्लार्क साहब ने इस बात की ओर भी विशेष ध्यान दिया है। सन् १९२३ ई० में विभाग की सब प्रकार की खेती से ४०,८४३ रुपए का नुक़सान हुआ था ; १९२४ में २७ रुपए का घाटा रहा। परंतु १९२५ में १३,२०० रुपए का लाभ हुआ। विभाग में कई प्रकार के खेत हैं—एक इंस्ट्रक्शनल फ़ॉर्म्स अथवा शिक्षा-संबंधी खेत, जिनमें छात्रों को शिक्षा दी जाती है ; दूसरे रिसर्च और एक्सपेरिमेंटल फ़ॉर्म्स अथवा प्रयोग-संबंधी खेत,

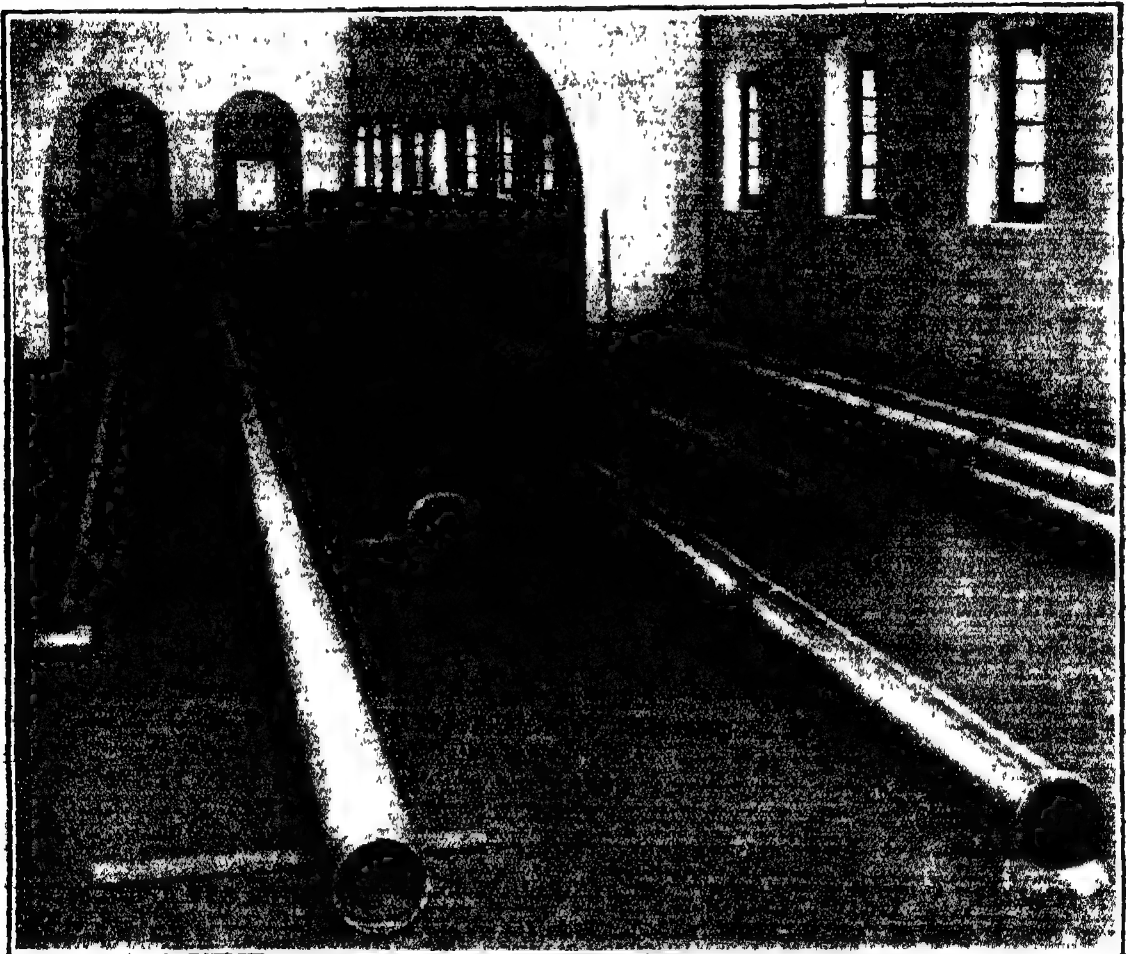
जिनमें तजुर्बे किए जाते हैं ; तीसरे सीड-फ़ार्म अथवा बीज-संबंधी खेत, जिनमें फ़सलों के लिये उत्तम बीज उत्पन्न किए जाते हैं ; चौथे वे खेत, जिनमें अनुभव-युक्त नई-नई विधियों से उत्तम बीजों की खेती की जाती है। और, जिनमें किसानों तथा अन्य मनुष्यों को प्रत्यक्ष अनुभव करा देने के लिये खेती की जाती है, वे डिमांस्ट्रेशन-फ़ार्म अथवा प्रतिपादन-संबंधी खेत कहलाते हैं। प्रथम दो श्रेणियों के खेतों से लाभ की आशा करना व्यर्थ है; किंतु अंतिम दो श्रेणियों के खेतों से अवश्य लाभ होना चाहिए। जब से इन खेतों में उत्तम कार्य तथा अधिक लाभ दिखलाया गया है, तब से संयुक्त-प्रांतों की सरकार ने भिन्न-भिन्न स्थानों में नए फ़ार्म खोलने का विचार किया है, और जनता को भी विभाग की नई-नई विधियों पर विश्वास होने लगा है। जनता के विश्वास जमने का सबूत यह है कि अब ऐसे ज़मींदारों तथा किसानों की संख्या पहले से अधिक हो गई है, जो अपनी भूमि में कृषि-विभाग की विधियों के अनुसार खेती करते हैं। पहले जो सार्वजनिक फ़ार्म-विभाग की अनुमति तथा सहायता से चलते थे, कुल ११ थे; अब ऐसे फ़ार्मों की संख्या २०४ हो गई है। इनमें से अधिकांश फ़ार्मों का क्षेत्रफल ५० एकड़ अथवा इससे भी अधिक है। दिन-पर-दिन विभाग से सलाह और सहायता लेनेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि लोग सहर्ष खेती में धन लगाने के लिये भी अग्रसर हो रहे हैं। इसका कारण केवल सरकारी कृषि-विभाग का उन्नतिशील कार्य-क्रम है।

गत वर्ष विभाग का बीज बाँटने का काम अत्यंत संतोष-जनक रहा। १९२४ में विभाग के उत्तम बीज २६,४८४ मन की मात्रा में कृषकों को बाँटे गए, और १९२५ में ७१,१९९ मन। गत वर्ष बीज बाँटने के लिये, भिन्न-भिन्न स्थानों में, १० भंडार खोले गए थे, और इस साल भी कई और खोले जा रहे हैं। कृषि-विभाग के अन्य किसी भाग से खेतों को इतनी जल्दी लाभ नहीं होता, जितना कि बीज की बँटाई से। भारतवर्ष में इन उत्तम बीजों से जो लाभ हो रहा है, वह भारतीय तथा प्रांतीय कृषि-विभागों के समस्त व्यय से पँचगुना अधिक है। संयुक्तप्रांत इस कार्य में अन्य प्रांतों से आगे है, और इस ओर उन्नति भी अधिक हुई है, जिससे विभाग और कृषकगण, दोनों को लाभ हो रहा है।

प्रत्येक किसान के पास स्वच्छ तथा उत्तम बीज पहुँचाना एक बहुत बड़ा कार्य है। कृषि-विभाग इस महान् कार्य में कुछ थोड़ा-सा ही भाग ले सकता है। बीज उत्पन्न करने के लिये विभाग के पास केवल १,२०१ एकड़ भूमि है। इतनी भूमि से जो कुछ बीज उत्पन्न होता है, वह काश्तकारों को सवाई पर बाँट दिया जाता है। इन काश्तकारों की फ़सल की, जो बाँटे हुए बीजों से तैयार होती है, विभाग देख-भाल किया करता है। जिन काश्तकारों की फ़सल उत्तम और शुद्ध होती है, उनसे विभाग बीज ले लेता है; और फिर वही अन्य काश्तकारों को सवाई पर बाँट दिया जाता है। इस प्रकार प्रबंध करके विभाग ने बीज बाँटने का काम अधिक बढ़ा लिया है। तो भी यह काफ़ी नहीं है। आवश्यकता है कि ज़मींदार और कृषक भी विभाग का इस महान् कार्य में हाथ बँटावें, और अपने को तथा देश को फ़ायदा पहुँचावें। बीज उत्पन्न करने के लिये केंद्र होने चाहिए, जहाँ विभाग की सुधारी हुई फ़सलों के विश्वसनीय स्वच्छ बीज उत्पन्न किए जायँ। गत वर्ष कुछ ज़मींदारों और किसानों ने विभाग के अनुसार बीज बोने और बाँटने का काम किया। १९२५ के एप्रिल में सरकार ने २५,००० रुपए ऐसे प्राइवेट फ़ार्मों की सहायता के लिये निकाले थे, और वे सब स्थानों में बीज बोनेवालों को दिए गए, सिवा एक स्थान के, जहाँ यह प्रबंध किया गया था कि देहातों से दूध इकट्ठा करके शहर में पहुँचाया जाय। चूँकि उत्तम बीजों की माँग बहुत है, और खेती का सुधार करने के लिये सुधारे हुए एवं स्वच्छ बीजों की अत्यंत आवश्यकता है, इसलिये उक्त विधि स्वच्छ तथा सुधारे हुए बीजों को बहुतायत से फैलाने के लिये सबसे अच्छी मालूम होती है।

सरकारी विभाग ने सुधार का सबसे अच्छा तरीक़ा यह रक्खा है कि स्थान-स्थान पर थोड़ी भूमि लेकर खेती की जाय, जहाँ किसान और ज़मींदार आकर इस नए ढंग की खेती को भली भाँति देखें, और जाँच करें। जब उनको पूरा संतोष हो जाय कि ये नई बातें अधिक लाभदायक हैं, तब वे अपने खेतों में उन्हीं का प्रयोग करें; और

यदि अपनी सुविधा के लिये उन बातों में कुछ उलट-फेर चाहें, तो वह भी कर लें। उपर्युक्त विधि के अनुसार कुछ थोड़ा काम किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह काम बढ़ सकता है। जहाँ नहरें नहीं हैं, वहाँ सरकारी कृषि-विभाग ट्यूब (नल) लगाकर खेती की सिंचाई में भी सहायता करता है। जहाँ ट्यूब-वेल बनाए गए हैं, वहाँ उपर्युक्त विधि की अच्छी सफलता हुई है। ट्यूब-वेल एक प्रकार का कुआँ है, जिसमें नल लगाया जाता है, और जिसे सरकारी विभाग बनाता है। ट्यूब वेल और ऊपर पानी चढ़ाने की कलें तभी लाभदायक हो सकती हैं, जब ज़ोरदार खेती की जाती है, अर्थात् जब खाद अच्छी तरह दी जाती है। जहाँ ट्यूब वेल लाभदायक नहीं जँचा, वहाँ पर खोज करने से मालूम हुआ कि खेतों में खाद देने में कोई उन्नति नहीं की गई। अब विभाग जहाँ पर ट्यूब-वेल बनाता है, वहाँ के खेतों में अच्छी तरह खाद देकर ट्यूब-वेल का काम दिखला देता है।



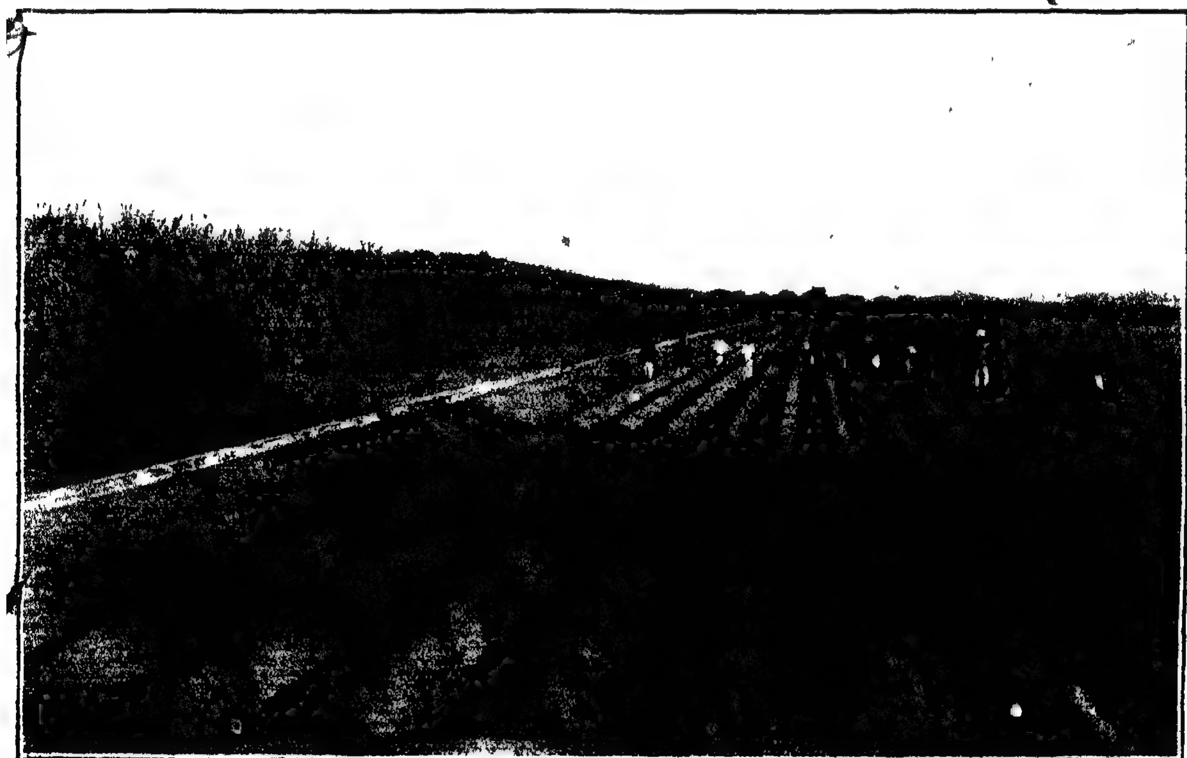
ट्यूब-वेल एकत्र किए जा रहे हैं (एग्रीकल्चरल वर्क-शॉप)

१९१६ में किसरवा-गाँव, ज़िला बदायूँ में एक ट्यूब-वेल विभाग के ख़र्च से बनाया गया, जिससे लगभग २१,००० गैलन पानी एक घंटे में निकलता है। इसके बनाने में १,९७५ रुपए लगे। जब तक इससे साधारण रीति से काश्त की हुई फ़सलों की सिंचाई होती रही तब तक काश्तकारों को कुछ भी लाभ नहीं हुआ; परंतु ज्यों ही विभाग ने, उदाहरण के लिये, एक छोटे खेत में काश्तकारों को खेत की ज़ोरदार काश्त दिखलाई, त्यों ही

उनका विश्वास विभाग की उन्नतिशील रीति पर जम गया, और वे उसके अनुसार अपनी-अपनी भूमि पर खेती करने लगे। विभाग इस किलरवा-गाँव में, उत्तम बीजों का भंडार, बदायूँ-ज़िले के लिये, केंद्र के रूप में, खोल रहा है। ऐसा ही बिजनौर-ज़िले के इस्माइलपुर-गाँव में हुआ।

हरदोई-ज़िले में विभाग को विशेष सफलता प्राप्त हुई। यहाँ के लोगों ने एक सभा खोल रक्खी है, जिसका नाम Agricultural Supply Society है। इसके और डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के रुपए से विभाग ने एक डिमांस्ट्रेशन-फ़ार्म खोल रक्खा है, जिसमें कई वर्षों से फ़ायदे के साथ काम हो रहा है। एग्रीकल्चरल सप्लाई-सोसाइटी का इस फ़ार्म से घनिष्ठ संबंध है, और वह यहाँ के सुधरे हुए बीज, खाद, यंत्र, विधि आदि काश्तकारों में प्रचलित करती है। इस ज़िले की अवस्था ट्यूब-वेल बनाने के लिये भी बहुत उपयुक्त है। यहाँ विभाग ने ११ बड़े-बड़े ट्यूब-वेल बनाए, जो २०,००० से ३०,००० गैलन पानी फ़ी घंटे निकालते हैं। शाहजहाँपुर के रिसर्च-फ़ार्म ने एक नए प्रकार का गन्ना ईजाद किया है, जिसको यहाँ के ज़मींदारों और काश्तकारों ने बहुत पसंद किया है, और विभाग की नई विधियों के अनुसार सुधारे बीजों से खेती करना शुरू कर दिया है। वे पहले की अपेक्षा अब २½ गुना अधिक लाभ उठा रहे हैं।

उपर्युक्त नए प्रकार के गन्ने की पैदावार औसतन् ६०१ मन फ़ी एकड़ हुई; परंतु देशी गन्ने की पैदावार, जिसकी काश्त अभी तक यहाँ प्रचलित थी, केवल ३४२ ही मन होती है। इससे लोगों का यह कहना कि विभाग की काररवाई किसानों के लिये उपयुक्त नहीं, निष्फल हो जाता है। १९२४ में हरदोई-तहसील में ६७८ एकड़, और ज़िले में ८०८ एकड़ भूमि विभाग के सुधारे हुए ढंग के अनुसार जोती-बोई गई थी। हिसाब लगाने से मालूम हुआ कि यदि हरदोई-तहसील में प्राचीन प्रचलित गन्ने की खेती पुराने ढंग से की जाती, तो उससे लगभग १½ लाख रुपए की



गन्ना लगाने के लिये तैयार किया गया एक खेत (हरदोई-प्रयोगशाला)

आमदनी होती; और, इस नए गन्ने की खेती सुधरी हुई रीति से करने पर, लगभग ४ लाख रुपए की आमदनी हुई। इस हिसाब के दिखलाने का तात्पर्य यह है कि सरकारी कृषि-विभाग से कितनी उन्नति हो रही है, यह विदित हो जाय। गेहूँ और गन्ने की उन्नति के साथ-साथ अन्य फ़सलों की भी उन्नति की जा रही है, जिस पर संयुक्तप्रांत की हर प्रकार की उन्नति निर्भर है।

आरंभ में जब हरदोई की सुधारे हुए गन्ने की फ़सल कटने पर आई, तो मालूम हुआ कि बैल के कोल्हुओं से गन्ने उचित समय पर पेरे नहीं जा सकते, और न उनके रस से, प्रचलित कड़ावों से, यथेष्ट राब या गुड़ ही बन सकता है। इस त्रुटि को दूर करने के लिये विभाग के इंजिनियरिंग डिपार्ट ने एक छोटे एंजिन से काम करनेवाला कोल्हू बनाया, और कड़ावों में भी तदनुसार सुधार किया।

इन सब यंत्रों को शाहजहाँपुर के एक खँडसारी ने बड़े शौक़ से ख़रीद लिया, और अब हरदोई में एक छोटा-सा शक्कर बनाने का कारख़ाना फ़ायदे के साथ चला रहा है।

अनेक डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों ने एक छोटी कृषि-समिति बनाई है, जिसका कार्य अपने ज़िले की खेती में उन्नति करना है। इन समितियों ने विभाग के कर्मचारियों की सलाह से कुछ काम करना निश्चय किया। उत्तम बीज, यंत्र अथवा साँड़ों को अन्य स्थानों से मँगवाना, अपने ज़िले के किसानों को उनका प्रयोग और उत्तमता बतलाना और करके दिखलाना आदि कार्यों के लिये धन की आवश्यकता है। इसलिये संयुक्तप्रांतीय कृषि-बोर्ड ने ११ डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों को १२,३६० रुपए दिए।

इस संबंध में मैनपुरी, हरदोई आदि छः ज़िलों ने तो उपयोगी काम किया, परंतु औरों ने या तो कुछ भी नहीं



हरदोई-ज़िले के एक गाँव में जावा के गन्ने का खेत

किया; और यदि किया भी, तो वह उपयोगी कहने-योग्य नहीं। कारण केवल इतना ही है कि इन ज़िलों की कमेटियों के सदस्यों के पास इतना समय नहीं कि वे उन छोटी-छोटी बातों के ऊपर ध्यान दें, जिन पर उत्तम कृषि-विद्या का फ़ैसला निर्भर है। इस काम के लिये कृषि-विभाग के कर्मचारी ही उपयुक्त हैं।

जिस प्रकार शाहजहाँपुर और हरदोई में विशेषकर गन्ने की खेती का काम हो रहा है, उसी प्रकार फ़तेहगढ़ में आलू की खेती की उन्नति करने के लिये एक नया फ़ार्म खोला जा रहा है। यद्यपि यहाँ आलू की खेती उच्च रीति से की जाती है, तथापि भाग्यवश यहाँ आलू एक हो-दो क़िस्म के बोए जाते हैं, और वे भी अब इतने उत्तम नहीं रहे, जैसे पहले थे, क्योंकि इँगलैंड, अमेरिका और जर्मनी में यह बात अनुभव से जानी गई है कि यदि एक प्रकार के आलू के बीज बार-बार एक ही भूमि में बोए जाते हैं, तो उनके फल कुछ समय के बाद उतने अच्छे नहीं रहते, जैसे आरंभ में। इसलिये वहाँ के किसान लगातार नए बीज पैदा करने में लगे रहते हैं। दूसरी त्रुटि यह है कि आलू जब भरे जाते हैं, तब सड़-कर ख़राब होने लगते हैं, जिससे बहुत शीघ्र हानि पहुँ-चती है। इन्हीं त्रुटियों को दूर करने के लिये फ़तेहगढ़ में उपर्युक्त फ़ार्म खोला जा रहा है।

विभाग ने अपने फ़ार्मों की देखभाल केवल अपने ही कर्मचारियों के हाथ मे नहीं रक्खी, बल्कि लगभग प्रत्येक फ़ार्म को सलाह देने के लिये एक-एक समिति बना रक्खी है, जिसके मेंबर ज़मींदार और जनता मे से चुने जाते और वे अपने-अपने फ़ार्मों की काररवाई और ख़र्च की देखभाल किया करते हैं। इनके द्वारा विभाग की कार्यवाही में बहुत कुछ उन्नति हुई है।

काश्तकारी की उन्नति तभी पूरे तौर से हो सकती है, जब उसकी उन्नति के साथ-साथ उसके पशुओं की भी उन्नति होती जाय। विभाग ने कुछ वर्षों से काश्तकारी के पशुओं की उन्नति के लिये माधुरीकुंड, ज़िला मथुरा में, एक फ़ार्म खोला है। इस समय इस फ़ार्म में हिसार के पशु विशेषता से हैं; क्योंकि इतने दिनों में यह साबित हो चुका है कि हिसार के साँड यहाँ की गउओं से अच्छे बच्चे पैदा करते हैं, और वहाँ की गउएँ भी यहाँ की गउओं की अपेक्षा अधिक दूध देती हैं। गत वर्ष पशुओं के लिये जो प्रांतीय कमेटी बैठी थी, उसने कुछ ऐसी बातें निकालीं, जिनके करने से यहाँ के पशुओं की उन्नति अवश्य हो सकती है। उसका पहला विचार यह है कि माधुरीकुंड-फ़ार्म दूना कर दिया जाय। फिर उसमें निम्न-लिखित कार्य किए जायँ—एक तो ऐसी गउओं की उत्पत्ति अधिक करनी चाहिए, जो अधिक दूध दें; दूसरे, वहाँ आदर्श दुग्धशाला खोलनी चाहिए; तीसरे, यह बंदोबस्त होना चाहिए कि गाँवों से दूध इकट्ठा करके शहरों में बेचा जाय; चौथे, चारा पैदा करने के लिये ज़ोरदार खेती की जाय; पाँचवें, खेती के कार्य के लिये अधिक बलिष्ठ बैल पैदा किए जायँ।

उक्त बातों में विभाग ने जो उन्नति की है, उसे प्रद-र्शिनी के रूप में नौचंदी, मेरठ, बटेसर, प्रयाग इत्यादि के बड़े-बड़े मेलों में दिखलाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

दूध में कितना मेल करके लोग शहरों में बेचने आते हैं, यह जग-ज़ाहिर है। इस दुर्व्यवहार को हटाने के लिये न तो कोई क़ानून है, और न म्युनिसिपलिटियाँ ही उसके दूर करने का भार अपने सिर लेती हैं। विभाग ने इस बारे में यह कार्यवाही सोची है कि शहरों में जो लोग दूध ख़रीदते हैं, उनको यदि दूध की स्वच्छता में शंका हो, तो वे बरायनाम फ़ीस देकर विभाग से उसकी वैज्ञानिक जाँच करा लें। फिर उस जाँच के नतीजे को म्युनिसिप-लिटी के पास भेज दें। विभाग ने दूध जाँचने का काम भी लखनऊ और बरेली में दो वर्ष तक किया। यदि दूध जाँचने का काम बड़े शहरों में जारी रहे, तो उपर्युक्त दुर्व्यवहार अवश्य कम हो जाय।

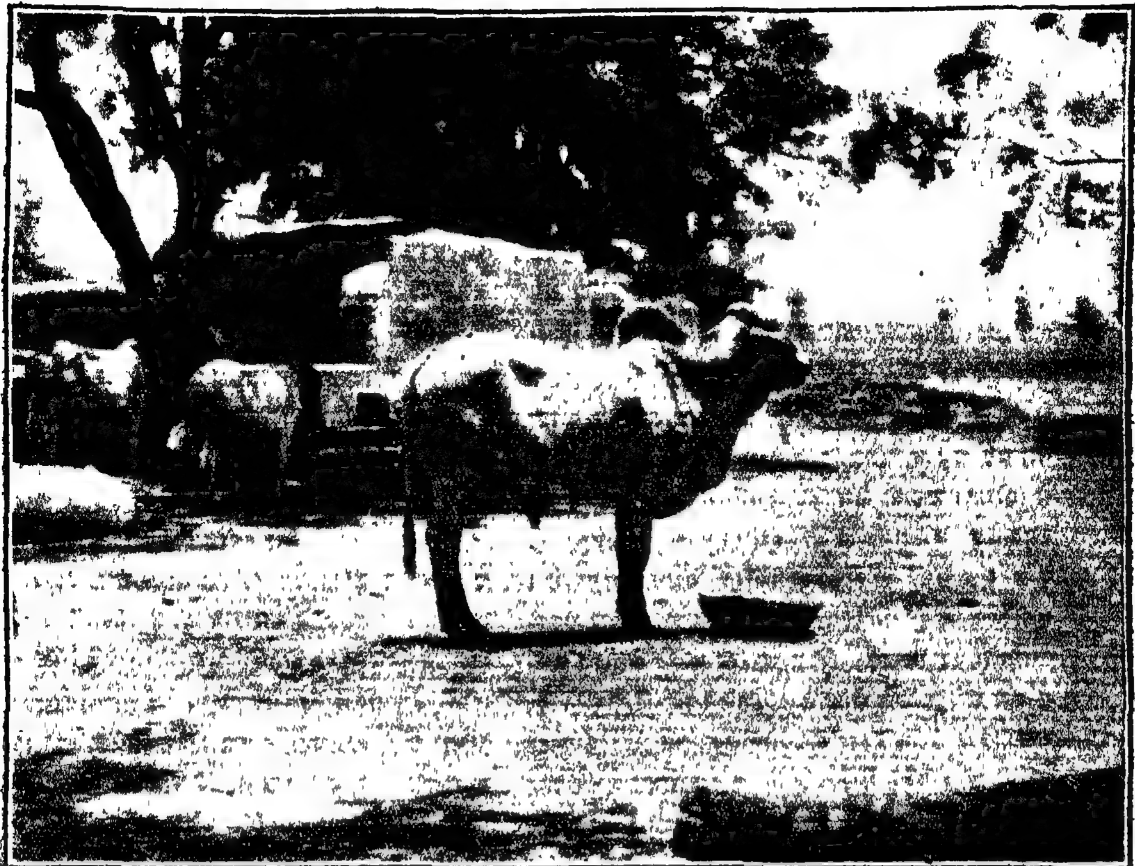
विभाग उत्तम पशु उत्पन्न करने के लिये निम्न-लिखित विधि के अनुसार काम कर रहा है—ऐसे गाँव चुन लिए जाते हैं, जहाँ गउएँ अच्छी होती हैं। फिर वहाँ विभाग के साँड भेजे जाते हैं। गर्भाधान के समय से लेकर जब तक बच्चा मज़बूत नहीं हो जाता, विभाग के कर्मचारी उसकी देखभाल किया करते हैं, और उन्हीं में से कुछ बच्चे मोल लेकर, दूसरे ज़िलों में, उत्तम वीर्य फैलाने के लिये भेजे जाते हैं। यही नहीं, बल्कि विभाग के कर्म-चारी स्थान-स्थान पर किसानों और ज़मींदारों की सभाएँ करके उत्तम दूध और उत्तम पशु पैदा करने और रखने की विधियों तथा विभाग की कार्यवाही पर भी व्याख्यान देते हैं। इस प्रकार काम करने से बड़ी सफलता हुई है।



साँड नं० बी ६ की नस्ल की हुई गउएँ (बारावत-गाँव, ज़िला मेरठ)

विभाग के जानवरों की क़िस्में भी बढ़ गई। हिसार को छोड़कर साहीवाल, खैरीगढ़, कोसी इत्यादि की क़िस्में भी आ गई हैं। किसान आपस में चंदा करके साँडों को अपने गाँवों में मँगाते हैं। खीरी के मँझारा-फ़ार्म में गाय-बैलों के अतिरिक्त भसे-भैंसों की उन्नति की ओर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है। विभाग की यह कार्यवाही धीरे-धीरे बढ़ रही है। इटावा और खीरी-ज़िले में भी पशुओं की उन्नति का काम छेड़ दिया गया है। परंतु यह काम भी उतना ही महत्त्व-पूर्ण है, जितना फ़सल तथा उत्तम बीजों का। इस समय तीन प्रकार के जानवरों की ओर ध्यान दिया जा रहा है—एक तो वे, जो अच्छा दूध दें; दूसरे वे, जो अच्छा काम करें; तीसरे वे, जिनमें दोनों गुण हों।

उत्तम पशुओं के पैदा करने और उनके क़ायम रखने का काम तभी ठीक-ठीक हो सकता है, जब उनके चारे का काफ़ी बंदोबस्त हो। विभाग चारे की ओर भी ध्यान दे रहा है। मनुष्यों की संख्या बढ़ने के कारण चरागाहों के लिये भूमि का बढ़ाना असंभव है। और जो चरागाह हैं, उनमें जानवरों के लिये यथेष्ट भोजन नहीं पैदा होता। इसलिये जो खेत इस समय चरी के लिये हैं, उन्हीं को बढ़ाना चाहिए, और उनमें ऐसी चरी की खेती करनी चाहिए, जो हर प्रकार से लाभ-दायक हो। माधुरीकुंड और मँझारा में इस बात का तजुरबा किया जा रहा है कि चारा रखने से ख़राब न हो, बल्कि अधिक स्वादिष्ट तथा अधिक पचनेवाला हो जाय। इस विधि को अँगरेज़ी में साइलेज (Silage) कहते हैं। जिन चारों की खेती संयुक्तप्रांत में होती है, उनकी पैदावार में तो विभाग उन्नति करने की चेष्टा कर ही रहा है;



साँड नं० बी ६ की नस्ल से पैदा हुए साँड़ः इस साँड से नस्ल पैदा करने का काम लिया जाता है

किंतु साथ-ही-साथ नए-नए चारों का भी अनुभव किया जा रहा है। सूर्यमुखी, सकोलिन (Saccoline), बंबू और किकुआ-घास की खेती की जा रही है, और इस बात की खोज की जा रही है कि इनका मूल्य पशुओं के भोजन के लिये, अन्य चारों के मुक़ाबले, कैसा बैठता है। गत वर्ष के अनुभव से मालूम हुआ है कि सूर्यमुखी जाड़े और गरमी के आरंभिक महीनों में हरे चारे का काम अच्छा देती है। हरी अवस्था में उसे खिलाना चाहिए, अथवा उपर्युक्त साइलेज की विधि से रखना चाहिए। सकोलिन एक प्रकार की मीठी जुआर है, जो न्यू साउथ वेल्स से यहाँ आई है। इसकी पैदावार अच्छी भी होती है, और स्वादिष्ट भी। बंबू मध्यप्रांत से आया है। इसकी खेती मैंझारा में अच्छी हुई; परंतु माधुरीकुंड में पाले के कारण अच्छी नहीं हुई। अकाल के समय के लिये यह अच्छा चारा मालूम होता है। किकुआ-घास गत वर्ष उत्तर पश्चिम-प्रांत से माधुरीकुंड आई थी। यहाँ उसकी खेती अच्छी हुई।

गाँवों से दूध एकत्रित करके शहरों में बेचने का प्रबंध आगरे और अलीगढ़ में किया गया। १९२३ में, आगरा-ज़िले में, इतौरा-दुग्धशाला के बाबू आदित्यराम सिंघाल को इस कार्य में सहायता करने के लिये २,५०० रुपए दिए गए। इस काम में सफलता हुई, और उनका यह व्यापार जम गया। इस वर्ष वह इस काम को अधिक बढ़ा रहे हैं। १९२४ में, हाथरस में, लोहरिया के मंगलदेव शर्मा को १,५०० रुपए, गाँवों से दूध इकट्ठा करके हाथरस में बेचने के लिये, दिए गए। वहाँ भी इस व्यापार में उन्नति हुई। आगरे की सफलता से स्पष्ट जान पड़ता है कि यह व्यापार बहुत कठिन नहीं है, और अवश्य लाभदायक है इसलिये आशा है, यह कार्य शीघ्र ही बढ़ जायगा।

जनता की सहायता

इंजिनियरिंग विभाग ने इस वर्ष २८ ट्यूब-वेल जनता के लिये बनाकर तैयार किए। १०१ स्थानों से लोगों ने ट्यूब-वेल बनवाने के लिये विभाग से सलाह पूछी। इन सब भूमियों की जाँच-पड़ताल की गई, और लागत का हिसाब लगाया गया। जो लोग ट्यूब-वेल बनवाना चाहते हैं, वे या तो सब रुपए अपने पास से लगाते हैं, या सरकार से तक़ावी पर उधार लेते हैं। इस साल तक़ावी लेने की विधि में आवश्यक संशोधन कर दिया गया है। आशा है, जाँच-पड़ताल के समय से तक़ावी मिलने तक जो समय नष्ट हो जाता था, वह अब न होगा, और काम अधिक तथा सुगमता से होगा। तक़ावी लेने की संशोधित विधि यह है कि ट्यूब-वेल बनवानेवाले को एग्रीकल्चरल इंजिनियर के पास एक अर्ज़ी और ज़मानतनामा भेजना पड़ता है। एग्रीकल्चरल इंजिनियर उस अर्ज़ी की नक़ल, और ज़मानतनामा यह लिखकर कि ट्यूब-वेल बनाने के लिये कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने रुपए की ज़रूरत है, उस ज़िले के कलेक्टर के पास भेज देता है। कलेक्टर उसकी जाँच करके देखता है कि वह ज़मानत यथेष्ट और सच्ची है कि नहीं। फिर रुपए उधार देने का प्रबंध करता है। यदि उसके पास उतना रुपया न हुआ, तो प्रांतीय सरकार को लिखता है। इसी बीच में एग्रीकल्चरल इंजिनियर भूमि की जाँच-पड़ताल करके पूरी स्कीम तैयार कर लेते हैं, और कुल व्यय का हिसाब लगा लिया जाता है। फिर जब कलेक्टर को इसकी सूचना मिलती है, तो वह रुपए दे देता है। इस प्रकार काम करने से कार्य में सुगमता होगी, और समय नष्ट न होगा। अभी तक जितने ट्यूब-वेल बने हैं, वे अधिकतर निम्न-लिखित ज़िलों में बनाए गए हैं—हरदोई, गोरखपुर, मेरठ, मुरादाबाद, बरेली, बिजनौर, लखनऊ और गोंडा।

कुछ ज़िले ट्यूब-वेल के लिये अधिक उपयुक्त हैं; परंतु प्रांत का अधिक भाग, जहाँ इस प्रकार की सिंचाई अधिक उपयुक्त है, अभी तक छुआ नहीं गया। इसका कारण यही है कि वहाँ उस प्रकार की खेती का प्रतिपादन (Demonstration) नहीं हुआ, जो ट्यूब-वेल से सींची जाती है।

प्रांत के पूर्वी ज़िले ट्यूब-वेल के बनाने में बहुत पीछे हैं। अब इस ओर भी ध्यान दिया जा रहा है। बस्ती-ज़िले में विभाग ने छः एकड़ भूमि तजुर्बे के लिये पट्टे पर ली है, और वहाँ के लोगों को काश्त की सहायता के लिये कुछ रुपए भी दिए गए हैं। आज़मगढ़ से उन्नति की सूचना आई है। आज़मगढ़ के रायबहादुर बाबू मुकुंदीलाल के लिये एक बड़ा भारी ट्यूब-वेल बनाया गया है। २०० एकड़ का एक फ़ार्म भी खोला गया है; और आशा है, यह उन्नतिशील खेती का प्रतिपादन तथा उत्तम बीज उत्पन्न करने के लिये एक उपयोगी केंद्र हो जायगा। गोरखपुर की अवस्था उन्नति के लिये सराहनीय है, और इसलिये वहाँ काम भी बहुत अच्छा हुआ। वहाँ पानी के स्रोत की सतह १२ और १५ फ़ीट ज़मीन की सतह के नीचे है, जहाँ से पानी आसानी और कम ख़र्च से ऊपर आ सकता है। वहाँ के लोगों के पास काश्त के लिये अच्छी ज़मीन अधिक मात्रा में है। इस ज़िले में बहुत-से शक्कर के कारख़ाने भी हैं, जिनमें अच्छे गन्ने ख़रीदने के लिये मुक़ाबला हुआ करता है। अच्छे गन्ने तभी उग सकते हैं, जब गरमी में सींचने का प्रबंध अच्छा हो। जहाँ-जहाँ ट्यूब-वेल बन गए हैं, वहाँ विभाग के कर्मचारियों ने नए प्रकार के गन्ने की खेती ज़ोरों से कराई है। सरइया के सरदार कृपालसिंह ने जो ट्यूब-वेल बनवाया है, उससे १९२५ में ४६,८०० गैलन पानी प्रति-घंटे निकाला गया। प्रांत-भर में कई वर्षों से लगातार वर्षा होने के कारण पानी के सोतों का तल ऊँचा हो गया है। सीतापुर में, १९१६ में, एक ट्यूब-वेल बनाया गया था। उस समय उसका पानी २५ फ़ीट की गहराई पर था। १९२५ में उसमें फिर छेद किया गया, और पानी १२ फ़ीट की गहराई तक चढ़ आया। १९१४ में कानपुर के कुओं में पानी ३० फ़ीट की गहराई पर था। १९२५ में यह गहराई केवल १७ फ़ीट रह गई है। पानी की सतह ऊपर आ जाने से काश्तकारों के ख़र्च और परिश्रम में कुछ-न-कुछ अवश्य बचत हो गई; क्योंकि पानी की सतह की गहराई के साथ-साथ ख़र्च और परिश्रम भी बढ़ जाता है।

जालौन-ज़िले के सरइयाबुज़ुर्ग-गाँव में अब की साल एक कुआँ छेद करके बनाया गया। जब नल ७० फ़ीट की गहराई पर पहुँचा, तो उससे पानी बहने लगा, यहाँ तक कि कुआँ पानी से बिलकुल भर गया, और पास की ज़मीन पर बहने लगा। इस वर्ष ६५६ कुएँ

छेद करके बनाए गए हैं, उनमें ४४७ ठीक-ठीक चल रहे हैं।

कुआँ बनाने के अतिरिक्त इंजिनियरिंग विभाग के और भी काम बढ़ गए हैं। जब से उन ज़मींदारों की संख्या बढ़ गई है, जो बड़े पैमाने पर काश्तकारी करते हैं, तब से ऐसा मशीनों की भी माँग बढ़ गई है, जो एंजिन से चलाई जाती हैं; क्योंकि बड़े पैमाने पर खेती करने के लिये उन्होंने ट्यूब-वेल बनवाए हैं, जिससे पानी निकालने के लिये इनको एंजिन भी लगवाने पड़े हैं। इन्हीं एंजिनों से अन्य मशीनों को भी चलाते हैं। जैसे, जब गन्ना बड़े पैमाने पर बोया जाता है, तो वह बिना एंजिन द्वारा चलनेवाले कोल्हुओं के पेरा नहीं जा सकता। इस कारण इस वर्ष एंजिन से चलनेवाले कोल्हू बहुत लगाए गए। इनके साथ-साथ सेंट्रिफ्यूगल मशीनें और आटा पीसने की चक्कियाँ भी लगाई गई हैं। सेंट्रिफ्यूगल मशीनों के द्वारा शक्कर शीरे से अलग कर ली जाती है। अब तो काश्तकारी के लिये एंजिन से चलाई जानेवाली कलों की आवश्यकता मालूम पड़ने लगी है। इसलिये इंजिनियरिंग विभाग को अपनी उपयोगी कार्यवाही बढ़ाने का बहुत मौक़ा है। कानपुर-कृषि-कॉलेज के लड़कों को इंजिनियरिंग भी पढ़ाई जाती है। इसका अभ्यास कराने के लिये वे लोग इंजिनियरिंग विभाग के कारख़ाने (Workshop) में काम करने जाते हैं। यद्यपि इस भाग का यह कार्य इतना अनोखा नहीं मालूम होता, तो भी वह कुछ कम उपयोगी नहीं है; क्योंकि जो इंजिनियरिंग का ज्ञान लड़के यहाँ से पाते हैं, वह बाद को उनके लिये अत्यंत उपयोगी होता है।

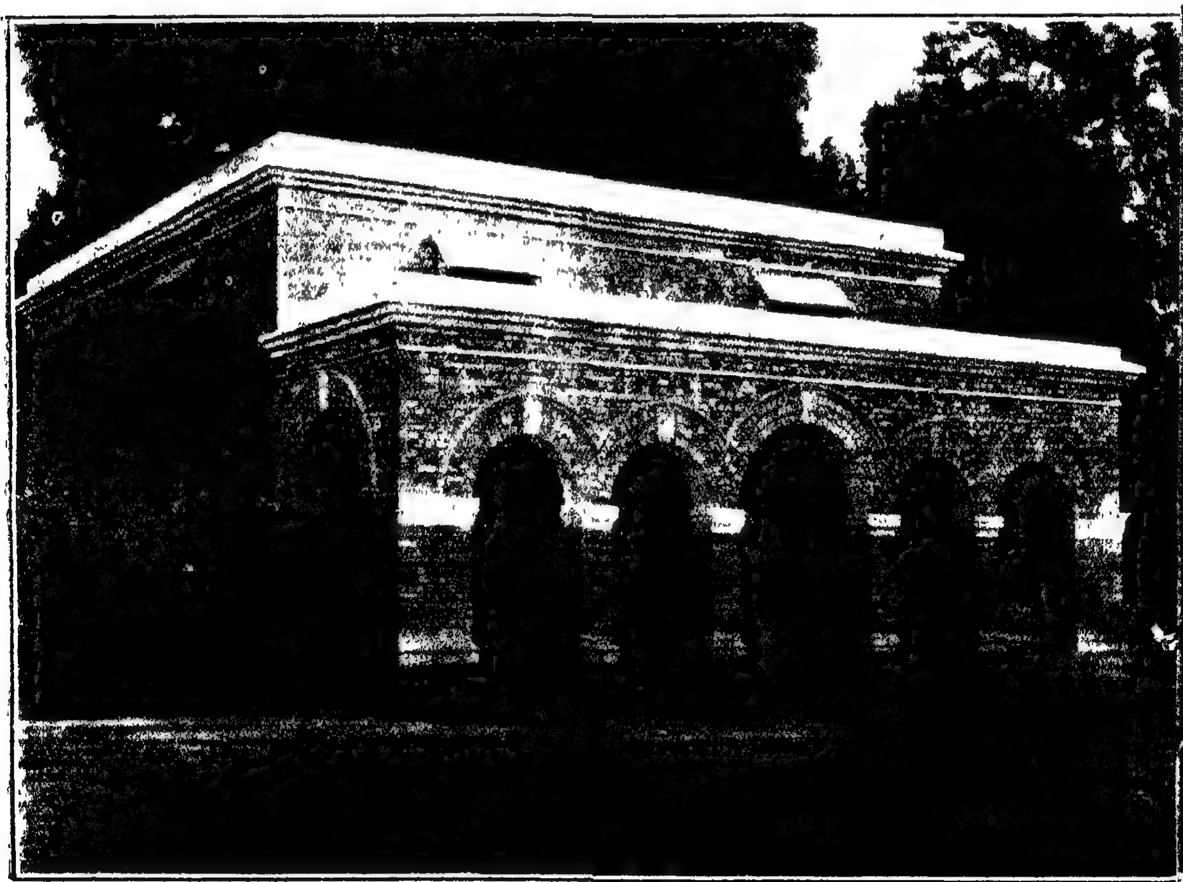
भारतवर्ष के इतिहास में कभी ऐसा नहीं हुआ कि जब यहाँ की काश्तकारी की सादी विधियों की उन्नति करने में जो कठिनाइयाँ हैं, उनकी खोज करने की आवश्यकता हुई हो, अथवा उनके खोज करने का इतना उत्तम फल निकला हो। कृषि विभाग के अनुसंधान के भागों और तजुरबे के फ़ार्मों के पास बहुत बड़ा ज्ञान का भंडार है; परंतु जब तक यह ज्ञान किसानों को किसी सरल रूप में नहीं समझाया जाता, तब तक वह किसानों के फ़ायदे की दृष्टि से निष्फल है। इस कार्य को पूरा करने के लिये कृषि-विभाग लगातार नए प्रयत्न सोचा करता है। यह प्रश्न है तो कठिन, विशेषकर जब यहाँ के कृषकवृंद अपढ़ हैं। अन्य देशों में जिन विधियों द्वारा नए भावों का शीघ्रता और प्रबलता से जनता में प्रचार किया जाता है, वे यहाँ तभी सफल हो सकते हैं, जब यहाँ की भी जनता पढ़ी-लिखी हो। इसलिये यहाँ के ग्रामनिवासियों को प्रारंभिक शिक्षा देनी चाहिए, और जितनी ही शीघ्रता से गाँवों में शिक्षा फैलेगी, उतनी ही जल्दी कृषि की भी उन्नति होगी।

इस वर्ष प्रतिपादन का कार्य जितना बढ़ा है, उसी मात्रा में वह संतोषजनक भी है। सन् १९२४ में प्रतिपादन का कार्य ६६,६१० एकड़ भूमि पर हुआ, १९२५ में ७६,२१८ एकड़ पर। प्रतिपादन के कार्य की विधि हरएक स्थान के लिये समान नहीं, बल्कि अलग-अलग होती है। जैसे गोरखपुर में सबसे अच्छी विधि किसानों पर प्रभाव डालने की यह है कि वहाँ विस्तृत रूप से बड़े-बड़े रक़बों की सीर में खेती की जाय; क्योंकि वहाँ शक्कर के बड़े-बड़े कारख़ाने हैं, जो गन्ने को बड़े परिमाण में ख़रीदते हैं। इसलिये यदि वहाँ गन्ने की खेती बड़े-बड़े रक़बों में की जाय, तो वह अधिक लाभदायक होगी। बहुत-से ज़िलों में एक-एक किसान की ओर ध्यान देने की ज़रूरत है, और प्रत्येक किसान को नूतन यंत्रों का प्रयोग करके दिखलाना पड़ता है। १९२४ में विभाग ने ४,५७० यंत्र किसानों के हाथ बेचे थे, और १९२५ में ७,७०९। यंत्रों की बिक्री अधिकतर छोटे-छोटे किसानों के यहाँ हुई। चूँकि उत्तम हलों और परिश्रम बचानेवाले यंत्रों की माँग अधिक हो गई है, इससे साफ़ मालूम होता है कि कृषि-विभाग की कार्यवाही सफल हो रही है, और किसान उन्नति की ओर अग्रसर हैं।

इस वर्ष प्रत्येक प्रकार के प्रतिपादन के जो कार्य किए गए, उनका यहाँ लिखना असंभव है; किंतु उदाहरणार्थ दो-एक लिखे जाते हैं। बँटाई की विधि के अनुसार प्रतिपादन के जो कार्य किए गए, वे रोचक और उपयोगी मालूम होते हैं। संडीला, ज़िला हरदोई में, पुखरायाँ, ज़िला कानपुर, और इटावा में खेती प्रतिपादन के लिये बँटाई पर की गई। उसमें लगभग १३ एकड़ की खेती में १,६१९ रुपए व्यय हुए, और ५७१ रुपए का लाभ हुआ, जिसमें २८३ रुपए काश्तकारों को दिए गए, और शेष विभाग ने लिए। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जाता है, त्यों-त्यों बँटाई पर प्रतिपादन का कार्य बढ़ता जाता है। शाह-

जहाँपुर में गन्ने की खेती का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया—लगभग छः-छः गाँवों का हल्क़ा बना लिया गया; वहाँ आधे अथवा एक एकड़ भूमि किराए पर फ़सल-भर के लिये ली गई। उस भूमि में गन्ने की खेती विभाग के कर्मचारियों ने की, जिनके रहने का प्रबंध उन्हीं गाँवों में कर दिया गया, और जिनके लिये यंत्र तथा बैल विभाग ने पहुँचा दिए। इस विधि के अनुसार खेती करने से जो फल निकला, वह अत्यंत आशाजनक है। विभाग के खेतों में जो बीज उत्पन्न हुए, उन्हें किसानों ने बड़े चाव से ख़रीदा। १६२३-२४ में उपर्युक्त प्रकार से प्रतिपादन का कार्य आरंभ किया गया। उस समय २६ गाँवों में २८ खेतों की, जिनका रक़बा १५ एकड़ था, काश्त की गई। १६२४-२५ में इन खेतों की संख्या ११८, रक़बा ११६ एकड़ और गाँवों की संख्या ८४ थी। विभाग के ११ कर्मचारी इन गाँवों में सदा के लिये नियुक्त कर दिए गए। विभाग के कृषि-विद्या में सुसंपन्न कर्मचारियों का गाँवों में रहना अति उपयोगी है; क्योंकि वे सदा किसानों को सलाह तथा सहायता दे सकते हैं, और वहाँ की आवश्यकताओं को अच्छी तरह जान लेते हैं। रुहेलखंड में उक्त प्रकार के ६ केंद्र खोले गए हैं, जो बीज बाँटने के भंडार और विभाग की कार्यवाही बढ़ाने के लिये उपयुक्त मालूम होते हैं।

सीतापुर और खीरी-ज़िलों में, परिचय के लिये, सन की काश्त सफलता-पूर्वक हुई। गाँजर की भूमि सन की खेती के लिये उपयुक्त प्रतीत होती है। गत वर्ष दो हज़ार एकड़ भूमि में सन बोया गया, और जो माल पैदा हुआ, वह बाज़ार में आते ही बिक गया; क्योंकि यह सब रस्सी आदि के बनाने के लिये उत्तम है। कानपुर की



प्रधान बीज-भंडार (सीतापुर-ज़िला)

जूट-मिल में यह सन बोरे और किर्मिच बनाने के लिये बहुत अच्छा समझा गया है । आशा की जाती है कि गाँजर में सन की काश्त शीघ्र ही बढ़ जायगी। विभाग की सुधारी हुई कपास के बोने की चाल काश्तकारों में फैलती जा रही है । गत वर्ष ७१,१११ मन बिनौला, विभाग की ओर से, काश्तकारों के हाथ बेचा गया था। १६२४ में ६० बीज के भंडार थे, जो १६२५ में ६८ हो गए। विभाग के बीज के भंडार और प्रतिपादन के फ़ार्मों के अतिरिक्त ज़मींदारों और अन्य काश्तकारों ने भी विभाग के कर्मचारियों की सलाह और सहायता से ५०४ बीज तथा प्रतिपादन के फ़ार्म खोल रक्खे हैं । इस वर्ष लोगों के निजी फ़ार्मों की संख्या प्रांत में हर तरफ़ बढ़ रही है। सबसे अच्छी पैदावारें तीन फ़ार्मों में हुईं, जिनका रक़बा साठ-साठ एकड़ था। हरदोई-ज़िले के दो फ़ार्मों में ६,२४३ और ४,१३५ का, और लखनऊ के एक फ़ार्म में ४,०३७ रुपयों का लाभ हुआ। निजी फ़ार्मों के मालिकों से विभाग अपनी रीति और नियम के अनुसार हिसाब रखने के लिये कहता है; क्योंकि इससे विभाग को सुगमता-पूर्वक ज्ञात हो सकता है कि किन-किन मदों में हानि तथा लाभ हो रहा है, और किन-किन बातों में सुधार हो सकता है ।

विभाग की ओर से एक मासिक पत्र, हिंदी तथा उर्दू में, प्रतापगढ़ से, निकलता है। उसका नाम 'किसानोपकारक' और 'मुफ़ीदुलमज़ारीन' है। इसमें विभाग की नवीन-नवीन कार्यवाही, हिंदी तथा उर्दू में, उन लोगों के लिये छापी जाती है, जो अँगरेज़ी नहीं जानते ।

शिक्षा

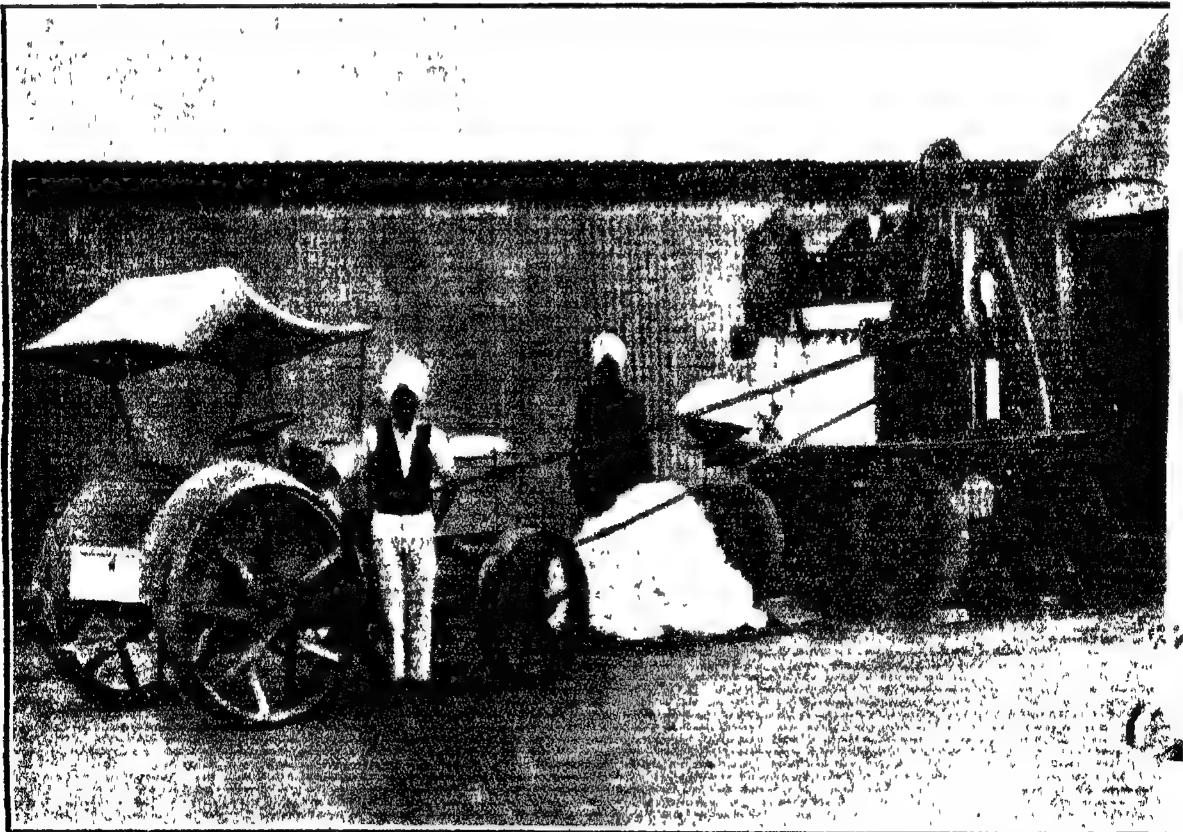
कानपुर के एग्रीकल्चरल-कॉलेज में दो प्रकार के विद्यार्थी



कपास के रोगों की गवेषणा हो रही है (कानपुर)

रहते हैं—एक तो वे, जो मैट्रिकुलेशन पास करके, ४ वर्ष के लिये, पढ़ने आते हैं। इनको अँगरेज़ी में शिक्षा दी जाती है। पास होने पर इन्हें एल्० ए-जी०(L. Ag.) का डिप्लोमा दिया जाता है। दूसरे वे, जिनको हिंदी तथा उर्दू में दो वर्ष तक शिक्षा दी जाती है। गत वर्ष ११६ विद्यार्थी थे; उनमें ६६ डिप्लोमा-कोर्स के और ४७ हिंदी-कोर्स के थे। १६२४ में २२ विद्यार्थी डिप्लोमा-कोर्स में भर्ती किए गए, और २७ हिंदी-कोर्स में। यहाँ के विद्यार्थियों को अंतिम परीक्षा लेने के लिये बाहर से परीक्षक बुलाए जाते हैं, जिनको कॉलेज की शासक-संस्था (Governing Body) नियुक्त करती है। १६२५ में एल्० ए-जी०-परीक्षा में १८ विद्यार्थी बैठे थे; उनमें १६ उत्तीर्ण हुए। दो वर्षवाले कोर्स में १६ बैठे, और १८ उत्तीर्ण हुए। डिप्लोमा-परीक्षा में उत्तीर्ण हुए विद्यार्थियों में एक को सेंट्रल कॉटन-कमेटी ने कृषि-शास्त्र का अध्ययन और खोज करने के लिये पारितोषिक दिया है, और दूसरा पूसा के कृषि-महाविद्यालय (Agricultural Research Institute, Pusa) में वनस्पति-शास्त्र का अध्ययन करने के लिये भर्ती हुआ है।

गत वर्ष हाई स्कूल तथा इंटरमीडियट शिक्षा-संस्था और कॉलेज के कर्मचारियों की एक सम्मिलित सभा हुई। उसकी यह राय हुई कि कृषिविद्या में एक इंटरमीडियट-डिप्लोमा भी खोला जाय। इसके लिये उसने जो नियम बनाए थे, वे स्वीकृत हो गए। कॉलेज के पहले और दूसरे साल की कक्षा में इंटरमीडियट-डिप्लोमा के लिये लड़के तैयार किए जायँगे, जिसकी पहली परीक्षा १६२७ में होगी। तीसरे वर्ष की कक्षा में वे ही विद्यार्थी भर्ती होंगे, जो इसमें उत्तीर्ण हो जायँगे।



बिनौला निकालने की मशीन

(पश्चिमी सर्किल के गाँवों में इससे शुद्ध बीज निकाला जायगा, और वही फिर बाँटा जायगा)

बुलंदशहर-स्कूल में ४५ विद्यार्थी रहते थे। उनमें ३५ ने दो वर्ष का हिंदी-कोर्स लिया; और १० हिंदी और उर्दू के मिडिल स्कूलों के अध्यापक थे, जो यहाँ पर शिक्षा पाकर अपने-अपने स्कूलों के विद्यार्थियों को कृषि-विद्या की शिक्षा देंगे। १९२४ में इस स्कूल के लिये भी एक शासक-संस्था नियुक्त हुई, जिसने यह राय दी है कि बुलंदशहर-एग्रीकल्चरल स्कूल में एक ऐसी कक्षा खोली जाय, जिसमें छः महीने पढ़ने से फ़ील्डमैन (किसान) तैयार हो जायँ। यह राय स्वीकृत हो गई है, और १० विद्यार्थियों के लिये बंदोबस्त भी कर लिया गया है।

इन दिनों अनेक प्रार्थना-पत्र ऐसे आए, जिनमें लोगों ने गन्ने की काश्त, थोड़े समय में, सीखने के लिये इच्छा प्रकट की है। योरप और अमेरिका में किसी विशेष फ़सल की शिक्षा थोड़े समय में लेने की बहुत चाल है। भारतवर्ष में भी ऐसे बहुत-से मनुष्य हैं, जिनको कृषि-विद्या से दिलचस्पी है, और जो उमर तथा अन्य कारणों से दो-चार वर्ष के लिये कॉलेज अथवा स्कूल में नहीं पढ़ सकते। ऐसे मनुष्यों के लिये कृषि-विद्या की शिक्षा थोड़े समय में देना अत्यंत उपयोगी है। गत वर्ष शाहजहाँपुर में तीन विद्यार्थियों को इस प्रकार की शिक्षा दी गई, जिन्होंने अपने निजी फ़ार्म भी खोल दिए। ज़मींदारों के लड़के और नवयुवक ज़मींदार अपने निजी फ़ार्म खोलने और अपनी रियासत में ट्यूब-वेल बनवाने के पहले, शाहजहाँपुर में अभ्यासी कृषि-विद्या थोड़े समय में सीखने के लिये, आना चाहते हैं। परंतु उनके रहने के लिये अभी कोई प्रबंध नहीं है, इसलिये उनका आना रुका है। इस समय वे शहर में रह सकते हैं, जो सरकारी फ़ार्म से लगभग ढाई मील दूर है। १९२६-२७ में ६ विद्यार्थियों के रहने के लिये प्रबंध करने का विचार किया गया है।

खोज तथा मुख्य फ़सलों का कार्य

धान—विभाग के वनस्पति-शास्त्रज्ञ कानपुर में इस फ़सल की खोज और अध्ययन कर रहे हैं। इस पर कुछ तजरबे डोईवाला, ज़िला देहरादून में भी किए जा रहे हैं। प्रांत-भर में खोज करने पर १,२०० प्रकार के धान इकट्ठे किए गए, जिनको बोने से १६३ प्रकार के बीज असली निकले। इन असली बीजों और नई भाँति के २०० धानों को वनस्पति-शास्त्रज्ञ ने छाँट लिया है, और अब उनका अध्ययन कर रहे हैं। बीज के लिये, इन छँटे हुए धानों की माँग, अभी से होने लगी है, और थोड़े पैमाने में बिजनौर, खीरी, जौनपुर, सहारनपुर, फ़तेहपुर, कानपुर और देहरादून आदि ज़िलों में काश्तकारों को बोने के लिये बाँटे भी गए हैं। देहरादून-ज़िले में जिन भूमियों में उत्तम प्रकार के धान होते हैं, विभाग के वनस्पति-शास्त्री और रसायन-शास्त्री उनकी अवस्थाओं का भी अध्ययन कर रहे हैं।

तेलहन—अंडी और लिल के काम में उन्नति हो रही है। कुछ ऐसी क़िस्मों के बीज निकाले गए हैं, जिनमें तेल का अंश औरों की अपेक्षा अधिक है। उनके जोतने-बोने तथा अन्य बातों का अध्ययन हो रहा है। विभाग के वनस्पति-निदान-शास्त्री और दूसरे वनस्पति-शास्त्री अलसी का अध्ययन कर रहे हैं। उन्होंने ९ प्रकार के अलसी के बीज ऐसे चुने हैं, जिनमें गेरुई नहीं लग सकती। इनको गत वर्ष बाँदा, कानपुर और गोरखपुर-ज़िलों में, जहाँ तेलहन अधिक होता है, बुवाया था। इनमें दो ने संतोषजनक फल दिए, अर्थात् उनमें गेरुई नहीं लगी, और उनसे तेल भी अधिक निकला।

आलू—आलू जब भँडसार में रक्खे जाते हैं, तो कुछ समय के बाद सड़ने लगते हैं, जिसके कारण आलू के काश्तकारों और भँडसारियों को अधिक हानि होती है। वनस्पति-निदान-शास्त्री कहते हैं, लगभग ५० लाख मन आलू की हानि हर साल हुआ करती है। इस हानि को दूर करने के लिये निदान-शास्त्री खोज कर रहे हैं। सड़े हुए आलुओं से ऐसी चीज़ें बनाई जा सकती हैं, जिनकी बिक्री अन्य व्यवसायों में हो सकती है।

कृषि-रसायन-विद्या—विभाग के रसायन-शास्त्री ने कई प्रकार की नत्रजनयुक्त खादों के लिये वैज्ञानिक खोज की है। इस विषय पर एक लेख अमेरिका के 'स्वॉयल साइंस' (Soil Science)-नामक मासिक पत्र में छापा गया है। इन्होंने एक और लेख लिखा है, जिसमें यह दिखलाया है कि कितना जल हर साल कानपुर में बरसता है, उसमें से कितना जल भूमि सोखकर नीचे ले जाती है, भूमि से वृक्षों के कितने खाद्य-पदार्थ घुलकर नीचे चले आते हैं, और कितना पानी हवा में उड़ जाता है। इस लेख को सरकारी भारतीय कृषि-

विभाग ने छपवाना स्वीकार कर लिया है। सहकारी कृषि-रसायन-शास्त्री गन्ने की रासायनिक जाँच, उसकी उन्नति करने के लिये, कर रहे हैं।

कपास—विभाग ने दो प्रकार की सुधारी हुई कपास निकाली है। इनमें एक अति उत्तम है, जिसका नाम सी० ४०२ रक्खा गया है। अभी तक जितने प्रकार की कपासें इस प्रांत में बोई जाती हैं, उन सबकी अपेक्षा इस कपास में अधिक रुई उत्पन्न होती है, और इसका सूत भी सबसे बढ़िया होता है। १९२४ से इस कपास की खेती का तजुरबा सहसपुर, ज़िला मुरादाबाद में किया जा रहा है। इसकी पैदावार लगभग १० मन फ़ी एकड़ उन खेतों में हुई, जिनमें सिंचाई की गई थी, और ८ मन प्रति एकड़ बिना सींचे हुए खेतों में। मथुरा, कानपुर और बिजनौर-ज़िलों में इसके बीज पैदा करने का बंदोबस्त हो रहा है।

विभाग के कृषि-शास्त्री कपास की बुड्डियों में जो गुलाबी कीड़े लगते हैं, उनकी भी खोज कर रहे हैं। इस खोज का तात्पर्य एक ऐसी विधि निकालने का है, जिसको अभ्यास में लाने से उन गुलाबी कीड़ों का दमन हो जाय, आर्थिक बचत हो, और फिर अंत में यह विधि उन स्थानों में फैलाई जाय, जहाँ कपास में यह बीमारी फैलती है। इन कीड़ों से हर साल इस प्रांत में कपास की फ़सल को लगभग २० से ४० प्रति सैकड़े तक हानि पहुँचती है। इन कीड़ों से तीन प्रकार की हानि होती है—पहले तो वे कलियों, फूलों और कच्ची बुड्डियों को या तो बिलकुल खा जाते हैं, या उनको इतना कमज़ोर कर देते हैं कि वे गिर जाते हैं। दूसरे, बढ़ती हुई बुड्डियों के बिनौलों को खा लेने से बीज और रेशों की बाढ़ मारी जाती है। ऐसी बुड्डियों की कपास पकने पर बिकने के लायक़ नहीं रहती। तीसरे, यद्यपि ये कीड़े बुड्डी के बिनौलों को समूल नष्ट नहीं कर देते, तो भी रेशों को कमज़ोर और रंगीन कर देते हैं, जिससे कपास का मूल्य घट जाता है। इतने दिनों तक अध्ययन और खोज करके कृषि-शास्त्री ने इन कीड़ों के दमन करने की एक अत्यंत सरल विधि निकाली है। वह यह है कि बिनौलों को बोने के पहले १४० फ़ार्नहीट तक कुछ मिनट के लिये गरम किया जाय। इससे बिनौलों में जो कीड़े होते हैं, वे मर जाते हैं। इन्हीं गरम किए हुए बिनौलों को बोने से बुड्डियों में उपर्युक्त बीमारी नहीं होती। इस विधि के अनुसार १९२४ में कुछ तजुरबे भी किए गए थे। उससे मालूम होता है कि यदि गरम किए हुए बिनौलों से कपास की काश्त की जाय, तो २५ से ६६ फ़ी सैकड़े पैदावार बढ़ सकती है। परंतु अभी यह नहीं कहा जा सकता कि यही सबसे बढ़िया और संतोषजनक विधि है, जब तक कई बार और बड़े पैमाने पर इस विधि की जाँच अच्छी तरह से न कर ली जाय। इसीलिये विभाग ने इस वर्ष, इस विधि की जँच के लिये, ३०० एकड़ भूमि में कपास की खेती कराई है। यदि सफलता हुई, तो कपास से किसानों को अत्यंत लाभ पहुँचेगा।

गन्ना—इस प्रांत की भूमि हर स्थान पर एक-समान नहीं है, बल्कि भिन्न-भिन्न स्थानों की भूमि भिन्न-भिन्न है। गन्ने भी अनेक प्रकार के होते हैं; भेद अधिकतर उनकी जड़ों में होता है। इस प्रांत में गन्ने की काश्त अधिकतर गोरखपुर, मेरठ और रुहेलखंड में होती है, जहाँ की भूमि और गन्नों के गुणों में बड़ा अंतर है। कौन गन्ना किस भूमि में अच्छा होगा, इस कार्य को यह विभाग दस वर्ष से कर रहा है, और कई प्रकार के सुधारे हुए अच्छे गन्ने चुन भी लिए गए हैं। इस वर्ष इन गन्नों का बहुत प्रचार किया गया। शाहजहाँपुर में जो बाहर के गन्ने तैयार किए गए हैं, वे रुहेलखंड और अवध की भूमि के लिये अति उपयुक्त हैं। इसके लिये भूमि को अच्छी तरह से बनाना पड़ता है। परंतु भूमि के बनाने में जो कुछ अधिक परिश्रम करना पड़ता है, उसका बदला अधिक पैदावार से मिल जाता है। प्रांत की जिन भूमियों में नमी ससीम है, वहाँ के लिये कोयंबटूर के गन्ने अच्छे हैं। यद्यपि यह अधिक समय में पकता है, तो भी इसके गुण ऐसे हैं, जो इसको अन्य गन्नों के मुक़ाबले में अधिक लाभदायक प्रमाणित करते हैं। जैसे यह गन्ना अधिक आँधी और पानी से ख़राब नहीं होता, और न इसको सियार-गीदड़ हानि पहुँचाते हैं। इसके साथ ही पैदावार भी अधिक होती है। इसलिये यह गन्ना इस प्रांत की अनेक भूमियों के लिये अत्यंत उपयोगी है।

अन्य देशों के देखते हुए, जहाँ गन्ने की खेती विशेष है—जैसे जावा, मारिशस इत्यादि, भारतवर्ष की भूमि की पैदावार बहुत कम है। इस कमी को पूरा करने के लिये

भारतवर्ष को हर साल करोड़ों रुपए की शक्कर बाहर से मँगानी पड़ती है। यदि भारतवर्ष अपनी एक एकड़ की पैदावार चौगुनी-पँचगुनी बढ़ा ले, तो यहीं खाने-पीने के लिये यथेष्ट शक्कर पैदा होने लगे। इससे इस देश की आर्थिक उन्नति अवश्य होगी। इस कमी को पूरा करने की केवल एक ही विधि है, अर्थात् वैज्ञानिक रीति से शक्तिशाली खेती की जाय। शाहजहाँपुर में इसकी जाँच की जा रही है। अभी तक गन्ने के बीजों और उसकी खेती में जो सुधार किया गया है, वह लाभदायक मालूम होता है; क्योंकि अनेकों ने विभाग की विधि को स्वीकार किया है, और उसके अनुसार हज़ारों एकड़ की खेती करके लाभ उठा रहे हैं।

मनुष्य विज्ञान द्वारा ही हर प्रकार की उन्नति कर सकता है। पाश्चात्य देशों ने जो उन्नति की है, वह विज्ञान ही के द्वारा। भारतवर्ष भी यदि उन्नति करना चाहता है, तो भारतवासियों को उचित है कि विज्ञान की शरण लें। इन दिनों भारतवर्ष के सभी नेता—चाहे वे अँगरेज़ी-दल के हों, चाहे स्वराज्य-दल के, और चाहे स्वतंत्र दल के—इस बात को स्वीकार कर रहे हैं कि भारतवर्ष की उन्नति करने के पहले किसानों की उन्नति होनी चाहिए। और, किसानों की उन्नति तभी हो सकती है, जब यहाँ विज्ञान द्वारा कृषि की उन्नति की जाय। सरकारी कृषि-विभाग इसी कार्य को पूरा कर रहा है; और आशा है, नेता और जनता, दोनों इस कार्य में सहायता करेंगे।

हरनारायण बाथम
श्रीपालसिंह

वर्तमान करेंसी-कमीशन



विलायती हुंडी या एक्सचेंज एक ऐसा विषय है, जिसे बहुत कम भारतीय व्यापारी समझते हैं। परंतु इसको भली भाँति समझना और उसमें सुधार होने के लिये आंदोलन करना प्रत्येक व्यापारी का कर्तव्य है। हमारे अधिकांश व्यापारी अशिक्षित होकर भी तीव्र बुद्धिवाले हैं, और यदि योग्य जानकार सरल भाषा में उन्हें समझाने की चेष्टा करें, तो कोई कारण नहीं कि व्यापारी भाई इस विषय को न समझ सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे इस अज्ञान के कारण देश को लाखों का नहीं, वरन् करोड़ों का नुक़सान होता और विदेशी व्यापारियों को लाभ पहुँचता है।

वर्तमान समय में बंबई के देशी व्यापारियों के घोर एवं लगातार आंदोलन करने पर, बड़ी कठिनाई से, यह कमीशन मिला है। किंतु प्रजा ने तो माँगा था भोजन, और सरकार ने दिया पत्थर। पहली बात यह है कि जो लोग कमीशन में जाँच करने के लिये नियत किए गए हैं, उनमें अँगरेज़ अधिक हैं, और हिंदोस्तानी कम, याने ६ अँगरेज़ और ४ हिंदोस्तानी हैं। इन ४ हिंदोस्तानियों में बंबई के श्रीयुत सर पुरुषोत्तमदास-ठाकुरदास को छोड़कर शेष ३ ऐसे हैं, जिनसे प्रजा का हित होने की विशेष आशा नहीं। केवल सर पुरुषोत्तमदास-ठाकुरदास ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिन पर प्रजा का पूर्ण विश्वास है। सरकार इनको भी शायद कमीशन में न चुनती; किंतु इनको बाहर रखना असंभव-सा था। प्रथम तो यह इंडियन मरचेंट्स चेंबर ऐंड ब्यूरो (अर्थात् बंबई के देशी व्यापारियों की बड़ी संस्था) की ओर से चुने गए मेंबर हैं। बंबई की यह सभा भारतवर्ष के देशी व्यापारियों की सब सभाओं से बड़ी और प्रतिष्ठित मानी जाती है। दूसरी बात यह थी कि इनकी व्यक्तिगत योग्यता भी बड़े ऊँचे दर्जे की है।

अँगरेज़ों की अधिक संख्या रखने के अलावा एक दूसरा अन्याय यह हो रहा है कि कमीशन के सामने जो लोग गवाही दे रहे हैं, उनके जवाब सवाल छापे नहीं जा सकते। समाचार पत्र केवल लिखे हुए बयान छाप सकते हैं। उसमें भी जो बयान इंडियन चेंबर्स ऐंड ब्यूरो की ओर से दिया गया था, उसका कुछ भाग कमीशन ने दिया ही नहीं।

अब ऊपरी बातों का वर्णन न कर यह बतलाने की आवश्यकता है कि भारतवासी चाहते क्या हैं, और भारत का हित किसमें है। इस समय इस विषय के सबसे बड़े पंडित सर दर्शा दलाल, मिस्टर बी० एफ़० मादन और सर पुरुषोत्तमदास-ठाकुरदास समझे जाते हैं, और इस लेख में जो सारांश दिया जाता है, वह उन्हीं के

लेखों और व्याख्यानों के आधार पर। यदि कोई भूल हो, तो वह मेरी है।

इस समय ब्रिटेश-भारत में सोने का सिक्का केवल नाम-मात्र को है। सरकारी काग़ज़ों में उसकी स्थिति मानी तो जाती है, पर वास्तव में वह है नहीं। सरकारी भाव उसका दस रुपए का है, पर सरकार उसको दस रुपए के बदले में देने को तैयार नहीं है। इस हिसाब से हिंदोस्तान में गोल्ड एक्सचेंज स्टैंडर्ड Gold Exchange Standard तो नहीं है; पर कहा ज़रूर जाता है। किंतु हिंदोस्तानियों की माँग यह है कि जैसा दूसरे देशों में गोल्ड-स्टैंडर्ड है, वैसा ही हमारे देश में भी हो: अर्थात् सब चीज़ों का मूल्य, अंत में, किसी सोने के सिक्के के आधार पर हो—जैसे इँगलैंड में सावरेन या पौंड के आधार पर है, और अमेरिका में डालर के आधार पर। इसकी आवश्यकता इसलिये है कि जितना विदेशी व्यापार है, सब सोने के मूल्य से चलता है। एक देश के नोट दूसरे देश में किसी काम के नहीं; पर सोने के सिक्के अपनी असली क़ीमत पर लिए जा सकते हैं। प्रजा-पक्ष का कहना यह है कि देश में असली गोल्ड-स्टैंडर्ड क़ायम किया जाय, सोने के सिक्के बराबर चलने चाहिए, तथा नोट इस प्रकार के होने चाहिए कि जब चाहे उनके बदले में सोने के सिक्के मिल सकें।

प्रायः सभी सभ्य-देशों ने अपने-अपने यहाँ गोल्ड-स्टैंडर्ड क़ायम किया है, जिससे उनकी खेती और वाणिज्य को लाभ पहुँचा है। बैंकिंग, व्यापार तथा उद्योग-धंधों की भी उन्नति हुई है।

गोल्ड-स्टैंडर्ड की एक और विशेष आवश्यकता इस कारण से भी है कि जिन-जिन देशों से हमारा व्यापारिक संबंध है, उन सबके यहाँ सोने के सिक्के ही का चलन है। हमारा सबसे अधिक व्यापार इँगलैंड से है, और इँगलैंड के ही द्वारा अन्य देशों से लेन-देन होता है। इँगलैंड में भी सब चीज़ों का मूल्य, अंत में, सोने के मूल्य पर ही है। लंदन अंतरराष्ट्रीय बाज़ार है। समस्त संसार का लेन-देन लंदन की हुंडी पर चुकाया जाता है। जैसे, मान लीजिए, हिंदोस्तान से रेली-ब्रादर्स ने स्पेन को जूट भेजा, तो स्पेनवाला व्यापारी रेली-ब्रादर्स को लंदन के बैंक पर हुंडी दे देगा, जिसका भुगतान रेली-ब्रादर्स लंदन में करा लेंगे, अथवा अपने हिसाब में जमा करा लेंगे। अब यदि हिंदोस्तान में भी सोने का ही सिक्का है, तो इस रक़म के पाने में या ऐसी ही रक़म के अदा करने में सुबीता होता और अपने को नुक़सान नहीं पड़ता। यदि अपने यहाँ स्वर्णाधार (Gold Standard) न हो, तो अपने यहाँ के चाँदी के सिक्के दूसरे देश के सोने के सिक्के के बदले में किसी एक भाव से बदले जायँगे; और यह स्पष्ट है कि यह भाव तब तक बढ़ता-घटता रहेगा, जब तक कोई ऐसा प्रबंध न किया जाय, जिससे यही भाव स्थिर रहे। अनुभव से देखा गया है कि इसका अनुचित भाव पर स्थिर करना सरकार के भी वश की बात नहीं है। सरकार ने १) का भाव दो शिलिंग स्थिर किया था, किंतु वह थोड़े दिन भी न टिक सका, और इस समय डेढ़ शिलिंग के क़रीब है।

एक देश का प्रधान सिक्का दूसरे देश के प्रधान सिक्के से जिस भाव में बदला जाता है, उसी को एक्सचेंज याने बदला कहते हैं। हमारे लिये इँगलैंड के एक्सचेंज का बढ़ने का अर्थ यह है कि रुपए की क़ीमत पौंड में बढ़ती जाय। जैसे, पहले एक रुपए के बदले एक शिलिंग चार पेंस मिलते थे, और अब एक शिलिंग छः पेंस मिलते हैं। लड़ाई के बाद यह एक्सचेंज बहुत बढ़ गया था, याने एक रुपए के बदले दो शिलिंग ग्यारह पेंस तक मिलने लगे थे। Low Exchange (घटती का एक्सचेंज) यह है कि रुपए की क़ीमत पौंड में कम मिले। जैसे, यदि एक रुपए के एक शिलिंग दो पेंस हो जायँ, तो कहा जायगा कि एक्सचेंज गिर गया या घट गया।

अब यह विचार करने की आवश्यकता है कि हमारे देश के लिये गिरा हुआ एक्सचेंज उपयोगी है, या बढ़ा हुआ एक्सचेंज। इसका विचार लेख के अंत में किया जायगा। यहाँ पर इतना ही कह देना आवश्यक है कि देश का हित चाहनेवाले सभी एकमत से यह प्रतिपादित करते हैं कि हमारे देश के लिये नीचा एक्सचेंज, याने रुपए का भाव १ शिलिंग ४ पेंस होना, लाभकारी है। इससे ऊँचा भाव बहुत हानिकारक है।

सर पुरुषोत्तमदास-ठाकुरदास ने बड़ी व्यवस्थापिका सभा में, १६ मार्च, सन् १९२५ को, भाषण देते हुए कहा था—"The position of the Government in the exchange market in India is like the position of



उमरख़य्याम

[चित्रकार—श्रीयुत रामेश्वरप्रसाद वर्मा]

इस तरु-तले कहीं खाने को रोटी का टुकड़ा हो एक :
पीने को मधु-पात्र पूर्ण हो, करने को हो काव्य-विवेक ।
तिस पर इस सन्नाटे में तुम बैठ बगल में गाती हो :
तो मेरे हित सभी विजन में स्वर्ग-राज्य का हो अभिषेक ।

(मैथिलीशरण गुप्त)

a Raja at a village fair, where, if he likes, he can buy everybody out. This perfectly artificial system the Finance Member has attempted to pass on both as natural and inevitable and as leading to the good of this country." अर्थात्, भारत के विदेशी हुंडी के बाज़ार मे सरकार की परिस्थिति वैसी ही है, जैसे किसी गाँव के मेले में किसी राजा की, याने राजा चाहे, तो बाज़ार-का-बाज़ार ख़रीद सकता है। इसी बनावटी क्रम को (जो सरकार की इच्छानुसार चलता है) अर्थ-सचिव ने स्वभावत. अनिवार्य एवं भारत के लिये हितकर बतलाया है।

ऊपर के उद्धृत वाक्य से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हमारे यहाँ के व्यापारी नेता अच्छी तरह जानते हैं कि सरकार विलायती हुंडी में हथफेर किया करती है, और यह हथफेर देशी व्यापारियों के लिये लाभप्रद नहीं होता। यदि गोल्ड-स्टैंडर्ड याने स्वर्णाधार क़ायम कर दिया जाय, तो सरकार को यह हथफेर करने का अवसर बहुत कम रह जाय।

जैसा ऊपर कहा गया है, वर्तमान क्रम बिलकुल बनावटी है, स्वाभाविक नहीं। इसके कारण होता क्या है कि एक बार तो देश मे करेंसी (नोटो और सिक्को) की बहुतायत हो जाती है, और उसके बाद एकदम उसकी कमी; और फिर वैसा ही होता जाता है। यह देश के लिये बहुत ही हानिकारक है।

भारत को विदेशों से देने के बजाय पावना अधिक रहता है। ऐसी दशा मे उसके लिये यही उचित है कि स्वर्णाधार स्थापित हो। स्वर्णाधार के स्थापित हो जाने पर, जैसा ऊपर बतलाया गया है, इने गिने लोगो को चीज़ों के भावों के बढ़ाने-घटाने का मौक़ा न मिलेगा, और न वे किसी विशेष प्रकार के लोगों को फायदा और दूसरी तरह के लोगो को नुकसान पहुँचा सकेंगे।

जिस समय भारत की ही टकसालों में हर किसी के लिये स्वतंत्रता-पूर्वक सिक्का ढलने लगेगा, और नोटो के बदले जब इच्छा हो, अशर्फ़ियाँ मिलने लग जायँगी, तब लोगों का भी सरकार पर विश्वास हो जायगा। तब जो कुछ भी धन गड़ा हुआ है, वह देश के काम मे आने लगेगा। लोग तब जी खोलकर नोट ले सकेंगे ; क्योंकि उनको पूरा विश्वास होगा कि वे जब चाहें, उसके बदले अशर्फ़ियाँ ले सकते हैं।

इस समय भारत से माल ज़्यादा क़ीमत का बाहर जाता है, और कम मूल्य का यहाँ आता है। बाक़ी की रक़म में से सरकारी देना देकर जो रक़म बचती है, वह स्वर्ण के रूप में आती है। अशर्फ़ियों के खुले तौर पर चल जाने से यह सोना अशर्फ़ी बनाने के काम मे आया करेगा, और सदा करेंसी को बल मिलता रहेगा।

एक्सचेंज का भाव सरकार की ओर से एक रुपए का १ शिलिंग ४ पेंस मुक़र्रर होना चाहिए। यही परिमाण पिछले ३० वर्षों के अनुभव से ठीक सिद्ध हुआ है। और, जब से इसमे फेरफार किया गया, तभी से ख़राबी पैदा होने लगी है।

अब एक्सचेंज के लाभदायक या हानिकर होने पर विचार किया जायगा। एक्सचेंज के बढ़ने या ऊँचा होने का अर्थ यह है कि रुपए का मूल्य पौंड, शिलिंग, पेंस में पहले से अधिक मिले। जैसे, पहले १ शिलिंग ४ पेंस था, और अब १ शिलिंग ६ पेंस है, तो यह कहा जायगा कि एक्सचेंज ऊँचा हो गया। और, यदि १ शिलिंग ३ पेंस या २ पेंस हो जाता, तो कहा जाता कि एक्सचेंज गिर गया। एक्सचेंज के ऊँचा होने का यह असर होता है कि विदेशी माल ख़ूब ज़ोर के साथ आने लगता है, और देशी माल उसके सामने मुक़ाबले मे नहीं ठहर सकता। भारतीय कला-कौशल इस समय बाल्यावस्था में है। अभी यह स्वाभाविक रीति से विदेशी तरुण एवं बलिष्ठ व्यापार का सामना करने में असमर्थ है। और, इस पर यदि विदेशी व्यापार को ऊँचे एक्सचेंज का शस्त्र मिल जाता है, तो देशी व्यापार के उठने की कभी आशा ही नहीं रह जाती। यह तो रही व्यापारियों की हानि, किंतु ऊँचा एक्सचेंज केवल देशी व्यापारियो ही की जेब नहीं ख़ाली करता; उससे ग़रीब भारतीय किसान की अन्न की ढेरी का भी एक अच्छा भाग छिन जाता है। भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। जिस काम से कृषि को हानि पहुँचने की संभावना हो, उससे चाहे दूसरे विभाग को लाभ भी पहुँचे, तो भी वह देश के लिये हानिकारक कहा जायगा ; क्योंकि देश का जीवन तो इस समय कृषि पर ही निर्भर हो रहा है। जो किसान को लाभकारी है, वही देश को भी लाभकारी है। भारत में किसान का स्थान मुख्य है, शेष सबका गौण। सबका हित उसके हित पर ही अवलंबित है और जब

तक हम उसको दृढ़ न कर सकेंगे, देश कभी उन्नति न कर सकेगा। ऊँचे एक्सचेंज से किसान का सबसे अधिक नुक़सान होता है; क्योंकि अन्न, रुई, जूट, तेलहन इत्यादि जो कुछ वह पैदा करके भेजता है, उसका मूल्य एक्सचेंज बढ़ जाने से कम मिलता है। मान लीजिए, एक रुपए के सात सेर गेहूँ बिकते हैं, और गेहूँ विलायत भेजा गया। अब यदि एक्सचेंज का १ शिलिंग ४ पेंस का भाव है, तो किसान को एक रुपया पूरा मिला। पर यदि वहाँ १ शिलिंग ६ पेंस का भाव है, तो पूरा एक रुपया न मिलकर ।।।=) के लगभग मिलेगा। यदि एक्सचेंज का भाव घट जाय, याने रुपए के १ शिलिंग ४ पेंस की जगह १ शिलिंग २ पेंस मिलें, तो उसी सात सेर गेहूँ के दाम एक रुपए की जगह १=) के लगभग मिलने लग जायँगे। इससे स्पष्ट है कि एक्सचेंज का भाव बढ़ जाने से किसान को नुक़सान और घटने से लाभ है।

ऊपर के विचारों पर कोई यह आपत्ति उठा सकता है कि यदि किसान को उसके मन के माफ़िक़ भाव न मिले, तो वह न बेचेगा। वह एक्सचेंज की कसर भाव में निकाल सकता है। उसको हानि उठाने की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में यह कहना पड़ेगा कि भारत के किसान की दशा विशेष शोचनीय है। उसके पास पूँजी का एकदम अभाव है। अपने माल को न बेचकर उसके रख छोड़ने की उसमें बिलकुल सामर्थ्य नहीं। उसको लगान चुकता करने की हद से ज़्यादा जल्दी रहती है। सरकार और ज़मींदारों का दबाव बहुत अधिक रहता है, जिसके कारण उसे फ़सल को आगे से ही बेच देना पड़ता है। इस कारण वह ठीक भाव नहीं पा सकता। दूसरा कारण यह है कि कच्चा माल अकेला हिंदोस्तान ही से नहीं जाता, कई और देशों से भी जाता है। और, इसलिये भाव तो संसार की माँग और पैदावार पर ही निर्भर रहता है। अस्तु, एक्सचेंज से जो घाटा पड़ता है, उसके बदले में किसान भाव नहीं बढ़ा सकता। अकेले जूट और हेसियन के संबंध में यह बात है कि यह माल केवल हिंदोस्तान से ही जाता है। संसार-भर में किसी दूसरी जगह से जूट और हेसियन नहीं जाता। इसलिये हिंदोस्तानियों के लिये इस व्यापार में तो अवश्य यह बात संभव है कि व्यापारिक एक्सचेंज से जो नुक़सान आवे, उसकी कसर भाव में निकाल लें; किंतु और किसी दूसरे व्यापार में यह बात संभव नहीं है।

यहाँ किसान के दृष्टि-कोण से विचार किया गया है। यह प्रधान दृष्टि-कोण है। अब थोड़ा समस्त भारत की दृष्टि से विचार करें, तो यह देखने में आवेगा कि हिंदोस्तान से विदेशों को माल अधिक जाता है, और विदेश से हिंदोस्तान में कम माल आता है। यह ऊपर के दृष्टांतों से सिद्ध हो चुका है कि बाहर जानेवाले माल के व्यापार के लिये ऊँचा एक्सचेंज हानिकर है। अतएव समस्त भारत की दृष्टि से विचार करने पर भी यह कहना पड़ेगा कि ऊँचा एक्सचेंज हानिकर ही है, तथा नीचा एक्सचेंज लाभप्रद।

ऊँचा एक्सचेंज किसको लाभदायक है?

अब प्रश्न यह उठता है कि जब समस्त भारत के लिये ऊँचा एक्सचेंज हानिकर है, और किसान के लिये विशेषकर, तो फिर क्यों ऊँचे एक्सचेंज की दोहाई दी जाती है, क्यों इसको स्थापित करने की चेष्टा की जाती है, क्यों उसके गुणानुवाद समय-असमय हमारे सामने गाए जाते हैं? इसका एक-मात्र कारण यह है कि विदेशी माल को ऊँचे एक्सचेंज से उत्तेजना मिलती है, विदेशी व्यापारी अपने माल को सस्ते में, मुनाफ़े के साथ, बेच सकते हैं, और इस प्रकार देशी व्यापार को फाँसी लगती है। सरकार को भी ऊँचे एक्सचेंज में लाभ रहता है, परदेशी स्टोर किफ़ायत से मिलता है, होमचार्ज के अदा करने में किफ़ायत पड़ती है; सरकारी अफ़सर १) भेजते हैं, तो उनके बाल-बच्चों को १=) मिलता है। हर प्रकार से उनके वर्ग का लाभ ही है।

अतएव इस समय भारतीय व्यापारियों को इस बात का भरपूर प्रयत्न करना चाहिए कि ऊँचा एक्सचेंज याने १ शिलिंग ६ पेंस न मुक़र्रर हो, बल्कि १ शिलिंग ४ पेंस हो, जैसा पहले था। विदेशी व्यापारी और सरकारी अफ़सर तो जी-जान से यही प्रयत्न कर रहे हैं कि ऊँचा एक्सचेंज मुक़र्रर हो; क्योंकि उनका लाभ एक्सचेंज के ऊँचे होने पर ही है।

हरिकृष्ण अग्रवाल

वसंत-समागम

(१)

कुसुम कमान तान मदन महीपति से,
फूल बरसाते लोनी लतिका कुटीर से ;
स्वर, ताल, छंद, रस, रास, रंग कानन में,
हँसी बिखराते मृदु मलय-समीर से।
झूम-झूम, चूम-चूम केतकी कली कपोल,
तैरते, उछालते हिलोर नद-नीर से,
नाच-नाच नटवर! नटिनी छटा के साथ,
चित्रकार उर में बसे हो चित्र चीर-से।

(२)

झर-झर, झर-झर झरना रहा है झर,
मुदिता तरंगिणी बिखेरती तरंग लोल ;
लूट-लूट मधु मित्र कोकिल कदंब पर,
वन उपवन में रहा है मंजु बोल बोल।
चहक चकोरनी चकोर साथ दौड़ती है,
कीर-झुंड उड़ते, कपोत करते कलोल ;
मोहनी वसुंधरा हरी परी बनी नवीन,
यौवन-विलासिनी खड़ी है स्वर्ग-द्वार खोल।

(३)

मल्लिका कतार कमनीय कचनार साथ,
मद में उतावली बहकती है फूल-फूल ;
कमल कलेजे पर मार नैन-सैन-बान,
मालती महकती है डाली पर झूल-झूल।
यूथिका बिहँसती है पत्र अंग में लपेट,
पद्मिनी खिली सुधांशु-डर शूल हूल-हूल :
चचल भ्रमर-भीर ज्ञान हाट-हाट बेच,
पगली पड़ी प्रसून पर देह भूल-भूल।

(४)

सो रही कुरंगिनी कुरंग साथ शांति ढूँढ,
केसरी दहाड़ता, उजाड़ता लता मतंग ;
मार किलकारी कपि कूदता करीर पर,
पारिजात-मंडप में जागता मयूर दंग।
प्रकृति वधूटी-रूप ताक-ताक खंजरीट,
केसरी-चमन पर छोड़ता नवीन रंग ;
उड़ता पराग रवि कंचन किरण पर,
खोजता प्रदीप-ज्योति पागल बना पतंग।

(५)

वृद्ध वट-तरु में उमड़ता नवीन जोश,
दाड़िम रँगीली कलिका को चुमकारता ;
कदली तलाव तीर हिलती हवा के साथ,
छद्मरूप भर देश, वेष को सँवारता।
लेकर प्रसून थाल पूज-पूज संध्या-पद,
चंद्र चंद्रिका-सुहाग विश्व हाथ हारता ;
फागुन-विभावरी में खेल-खेल होली खूब,
भारत-अनाथ हो सनाथ मौज मारता।

(६)

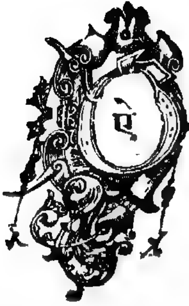
हँसते-हँसाते इठलाते ऋतिराज आज,
तीर्थ-भू तिलोत्तमा समान छवि छा रही ;
साजती कुसुम-हार कंठ में सुरांगना है,
सुंदरी-सुरांगना स्वपति को रिझा रही।
चुनती वरांगना सुघर सेवती-प्रसून,
बालिका शयन भूल शिशु को चिढ़ा रही ;
करती पुजारिनी प्रणाम भक्ति-भाव-युक्त,
वनिता सुहागिनी मराल को चुगा रही।

(७)

कवि की दुलारी आओ झीने पीत पट ओढ़,
फूल-सेज ऊपर पड़ा सुकवि काव्य-लीन ;
हाथ में सुराही मदिरा की भर लाओ, और
अयमाल लाओ, फल लाओ काम के नवीन ;
नाचो और गाओ तुम हूर-सी हृदय हर,
घूँघट उलट शरमाओ रति-छवि छीन ;
भेंट-भेंट, भर-भर रोम-रोम में विनोद,
कामिनी, बजाओ ऋतुराज साथ प्रेम-बीन।

"गुलाब"

"आयुर्वेद-महत्त्व"



ऐहिक तथा पारलौकिक वस्तुओं को जानने के तीन ही उपाय हैं— प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। इन्हें प्रमाण भी कहते हैं। इन्द्रियों से जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। किसी जानी हुई वस्तु के द्वारा, उससे सम्बद्ध अज्ञात वस्तु के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, और इन दोनों प्रमाणों से जिस वस्तु का जानना सम्भव नहीं है, उसे बतानेवाले प्रमाण को आगम कहते हैं। यह तीसरा प्रमाण सबसे अधिक महत्त्व का है। प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा बहुत थोड़ी है, परन्तु आगम-प्रमाण का विस्तार अनन्त है। इसी को शब्द-प्रमाण भी कहते हैं। माता, पिता, गुरु, योगी, ऋषि आदि के उपदेशों से लेकर ईश्वर के वाक्य (वेद)-पर्यन्त समस्त सत्यज्ञान-जनक वाक्य शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत हैं। उन्हीं का कहा हुआ शब्द प्रमाण माना जाता है, जो आप्त हों; और आप्त वे ही हैं, जिन्होंने बोद्धव्य वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया है, और प्राणियों को दया के वश (किसी स्वार्थ-वश नहीं) उस वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान कराना चाहते हैं। जिसको जितना यथार्थ ज्ञान है, वहीं तक उसका शब्द प्रमाण है, आगे नहीं।

यह मनुष्यों की बात हुई। ईश्वर इन सबसे अधिक आप्त है, अतः उसके वाक्य (वेद) सबसे अधिक प्रमाण हैं। परन्तु बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो वेदों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते। अनेक ऐसे भी सज्जन हैं, जिन्हें ईश्वर के मानने से ही इनकार है। वे ईश्वर या ईश्वरीय वाक्य पर क्यों श्रद्धा करेंगे? महर्षि गौतम ने अपने न्यायदर्शन में इसके लिये एक रास्ता बतलाया है। उन्होंने कहा है कि वेद के दो भाग हैं—एक दृष्टार्थ, दूसरा अदृष्टार्थ। दृष्टार्थ वह है, जिसकी सत्यता की परीक्षा प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा यहीं की जा सकती है; और अदृष्टार्थ वह है, जिसका सम्बन्ध स्वर्ग आदि परलोक की बातों से है। जब दृष्टार्थ वेद की बातें परीक्षा में सर्वांश सत्य ठहर जायँ, तो अदृष्टार्थक वेद की सत्यता का अनुमान करना भी सुगम हो जायगा। जब तक उसके विरुद्ध कोई प्रबल प्रमाण न दिया जा सके, तब तक उसकी सत्यता मानने में इनकार न किया जा सकेगा। दृष्टार्थक वेद में मन्त्र और आयुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक बातों का वर्णन है, जो साधारणतः न तो प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं, न अनुमान से समझी जा सकती हैं। परन्तु परीक्षा करने पर वे सर्वांश सत्य सिद्ध होती हैं। कल्पना कीजिए कि एक वेदमन्त्र आपके सामने आया। आपके सामने उसके शब्द हैं, और अर्थ है। आप उससे यह समझ सकते हैं कि इसमें सूर्य की स्तुति है, सूर्य की किरणों का वर्णन है, या ऐसा ही कुछ और वर्णन है। परन्तु उस वेदमन्त्र को विशेष नियम के साथ कुछ दिन जपने और इसके द्वारा नियमित हवन करने से आप उसी वेदमन्त्र को पढ़कर साँप के काटे रोगी को अच्छा कर सकेंगे, या इससे अभिमन्त्रित जल के द्वारा सफ़ेद कोढ़ के दाग़ अच्छे कर सकेंगे। यह बात आपको उस मन्त्र के देखने पर न प्रत्यक्ष में समझ में आ सकेगी, न इसके लिये कोई तर्क किया जा सकेगा। हाँ, उक्त प्रक्रिया के द्वारा आप परीक्षा कर सकते या फिर ऐसे आदमियों का चमत्कार देख सकते हैं, जो आज भी मन्त्रों के द्वारा साँप का विष दूर करते हैं।

यह वैदिक शब्दों की बात हुई। वेदों का अर्थ समझने के लिये वेदार्थ करने की प्रक्रिया का जानना आवश्यक है। सबसे पहली बात यह है कि वेदों में रूढ़ि या योगरूढ़ि आदि शब्द नहीं हैं। जितने शब्द हैं, सब यौगिक हैं। यह एक ऐसी विशेषता है, जो न तो संसार की किसी पुस्तक में है, न हो सकती है। जो शब्द किसी गुण या क्रिया के द्वारा किसी वस्तु का निर्देश करते हैं, और जिनमें प्रकृति, प्रत्यय, समास, विग्रह, व्युत्पत्ति आदि रहते हैं, वे यौगिक कहलाते हैं। निरुक्त में इसी कारण समस्त वैदिक शब्दों के निर्वचन को आवश्यक बतलाया है। इसी निर्वचन के कारण यौगिक शब्द अनेक अर्थों का बोधक होता है। 'पाचक'-शब्द यौगिक है। इसका अर्थ है 'पकानेवाला'। अब जितने आदमी रोटी पकाने का काम करते हैं, सब 'पाचक' कहे जा सकते हैं। मनुष्यों के बालों और शरीरों को पकानेवाला एवं खेती और फलों को पकानेवाला सूर्य भी 'पाचक' है। फोड़ा पकानेवाली

पुल्टिस भी पाचक है, और खाई हुई रोटियाँ पकानेवाली पेट की अग्नि भी। यदि भोजन ठीक न पचे, तो जठराग्नि को दीप्त करने के लिये खाया हुआ चूरन भी पाचक है, और बुख़ार पचानेवाला काढ़ा भी 'पाचक' है। इसी तरह और भी पचासों पाचक हो सकते हैं। जिसमें पकाने का गुण और क्रिया मिलेगी, वही 'पाचक' कहा जायगा। वेदों के समस्त शब्द इसी प्रकार के हैं। इसी कारण एक-एक वेदमन्त्र के अनेक अर्थ होते हैं। वैदिक साहित्य में इसका पूरा दिग्दर्शन मौजूद है। ऐतिहासिक, नैरुक्त और याज्ञिक नाम से वेदों के तीन पक्षों की चर्चा निरुक्त में की है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नाम से एक-एक वेदमन्त्र के तीन-तीन अर्थों की बात भी वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है। आदित्यलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक के भेद से प्रत्येक वेदमन्त्र के तीन-तीन अर्थों की बात भी निरुक्त आदि ग्रन्थों में विद्यमान है। वेद का 'अग्नि'-शब्द जब आदित्यलोक के वर्णन में आता है, तो सूर्य और उसकी किरणों का वर्णन करता है; और अन्तरिक्षलोक में आकर वही बिजली के गुणों का निर्देश करता है, एवं पृथ्वीलोक के वर्णन में वही भौतिक अग्नि की शक्तियों का हाल बताता है। इन नौ पक्षों के अतिरिक्त और भी पक्ष हैं। जैसे, एक मन्त्र का पतञ्जलि ने व्याकरणपरक अर्थ किया है, और यास्क ने उसी को यज्ञपरक लगाया है। एक श्रुति का आध्यात्मिक अर्थ भी स्पष्ट होता है, और उसी से यह भी स्पष्ट होता है कि सूर्य की किरणें दो प्रकार की हैं—एक प्रकाश करती हैं, दूसरी जल को खींचती हैं। आज साइंस से यह बात सिद्ध हो चुकी है। मनुष्य थोड़ी वस्तु का विस्तार कर सकता है; परन्तु थोड़े में बहुत शक्तियों का समावेश कर देना ईश्वर का ही काम है। एक लोटे पानी को गाँव-भर में छिड़क आने का काम तो हरएक मनुष्य कर सकता है, परन्तु एक घड़े-भर पानी को लोटे के अन्दर बन्द कर देना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। नन्हे-से बीज में वट के महावृक्ष को छिपा देना और नीम की एक टहनी से महीनों तक घड़ों पानी (मद) बरसाना ईश्वर का ही काम है। जंगल की एक-एक पत्ती और प्रकृति के एक-एक कण में ईश्वर ने क्या-क्या शक्ति छिपा रक्खी है, इसका जानना भी मनुष्य के लिये दुस्तर है। वैसा पैदा करना तो दूर की बात है। ईश्वर के ऐश्वर्य का जो चमत्कार प्रकृति में देख पड़ता है, वही वेदों में भी मौजूद है। देखनेवाले के आँख होनी चाहिए। फिर जो बात नक़्शे में है, वही जुगराफ़िए में दिखाई पड़ेगी। संसार-रूप नक़्शे का वर्णन वेदों के जुगराफ़िए में देख पड़ेगा, परन्तु तभी, जब आप पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार भारतीय पद्धति से वेदों का मनन करना सीखेंगे। विलायती चश्मा चढ़ाकर पश्चिमी ढंग से यदि वेदों को देखा, तो वहाँ गड़रियों के गीत ही नज़र आवेंगे।

वेद चार भागों में विभक्त हैं—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। इनके चार उपवेद भी हैं, जो आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और अर्थवेद कहाते हैं। छन्दोबद्ध होने और धर्मपुस्तक के रूप में पठन-पाठन की परम्परा बनी रहने के कारण वेद तो अब तक उपलब्ध होते हैं, परन्तु उपवेद सब नष्टप्राय हो गए। चाहे बौद्धों के आक्रमण से, चाहे ज्ञान के शत्रु धर्मांध मुसलमानों की हम्मामी ज्वालाओं से, चाहे हमारे आलस्य और अकर्मण्यता से या किसी अन्य कारण से उपवेदों का आज पता नहीं चलता। ऋषियों की बनाई चरक, सुश्रुत आदि संहिताओं से यह तो पता चलता है कि वेदों की तरह ब्रह्मा ने उपवेद भी बनाए थे; परन्तु वैदिक काल की ऐसी कोई पुस्तक नहीं मिलती, जिसमें इनका यथाक्रम विशद वर्णन हो। तथापि अन्य उपवेदों की-सी दशा आयुर्वेद की नहीं है। वेदों में अब भी इसके सम्बन्ध की अनेक आश्चर्यजनक बातें मिलती हैं। महर्षि गौतम ने इन्हीं आयुर्वेद-सम्बन्धी मन्त्रों के आधार पर समस्त वेदों की सत्यता अनुमान द्वारा सिद्ध करने की युक्ति बतलाई है।

इस आयुर्वेद के आठ अङ्गों का वर्णन ब्रह्मा ने किया था—शल्य, शालाक्य, काय-चिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद-तन्त्र, रसायन-तन्त्र और वाजीकरण-तन्त्र।

१—चीर, फाड़ आदि सर्जरी की समस्त बातें शल्य-तन्त्र में आती हैं।

२—गर्दन से ऊपर के—आँख, कान, नाक आदि के—रोगों की चिकित्सा 'शालाक्य-तन्त्र' से सम्बन्ध रखती है।

३—ज्वर, प्रमेह, संग्रहणी आदि सम्पूर्ण शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले रोगों की बातों का सम्बन्ध 'काय-चिकित्सा' से है।

४—देवता, असुर, गन्धर्व आदि वायवीय शरीरों का

वर्णन, मनुष्यों के साथ उनका सम्बन्ध और मनुष्यों पर होनेवाले उनके प्रभाव तथा उनकी चिकित्सा का सम्बन्ध 'भूतविद्या' से है।

५—गर्भ के दिन से लेकर गर्भ की रक्षा करना, गर्भिणी को किस-किस समय कौन-कौन-सी बीमारी होती हैं, गर्भ के क्या क्या उपद्रव होते हैं, प्रसव का ठीक समय क्या है, प्रसव-प्रक्रिया कैसी होनी चाहिए, इत्यादि बातों का वर्णन, प्रसूता और शिशु की देख-रेख, माता और धाय के दूध की परीक्षा, दूध की बीमारियाँ, उनका इलाज, दूध शुद्ध करने के उपाय, अशुद्ध दूध से उत्पन्न बच्चे की बीमारियों का इलाज इत्यादि, गर्भ, बच्चा, ज़च्चा से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का सम्बन्ध 'कौमारभृत्य' से है।

६—विषों और उपविषों से सम्बन्ध रखनेवाली प्रक्रिया का सम्बन्ध 'अगद तन्त्र' से है। स्थावर तथा जङ्गम विषों और उपविषों का वर्णन, उनकी पहचान और प्रभाव, दो विषों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले परिणाम, एक विष और एक उपविष के संयोग का फल, स्थावर और जङ्गम विष-विशेष के मेल का नतीजा, भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों पर होनेवाले विषों के भिन्न-भिन्न प्रभावों की पहचान, राजा को विष देनेवाले की परीक्षा, राजा के भोजन में विष की परीक्षा, अग्नि और जल के द्वारा विषों की पहचान, दो निर्विष वस्तुओं के मेल से उत्पन्न होनेवाला विषैला प्रभाव, किसी वस्तु के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाला विष (जैसे ताँबे के बर्तन में रक्खी हुई खटाई), विष खाए हुए रोगी की परीक्षा, विष की विशेषता का निर्णय, सब प्रकार के विषों का इलाज, विष दूर करनेवाले मणि, मन्त्र और औषधों का वर्णन, विशेष ग्रह, मुहूर्त, नक्षत्र आदि के कारण होनेवाला विषों का प्रभाव इत्यादि अनेक बातों का ज्ञान 'अगद-तन्त्र' से प्राप्त होता है।

७—'रसायन-तन्त्र' में ऐसे प्रयोगों का वर्णन और विधान है, जिनसे आयु, बल, बुद्धि, स्मृति आदि की वृद्धि हो; और दुर्बलता के कारण आक्रमण करनेवाली अकाल-मृत्यु का भय जाता रहे, एवं अन्त समय तक आदमी की सब इन्द्रियाँ अपना-अपना काम करने-योग्य बनी रहें।

८—'वाजीकरण-तन्त्र' में विशेष रूप से उन पुरुषों की चिकित्सा का विधान है, जिनकी काम-शक्ति क्षीण अथवा नष्ट हो गई हो, या स्वभाव से ही अल्प हो, किंवा दूषित वीर्य होने के कारण सन्तान न होती हो, रोगी सन्तान होती हो, अथवा सन्तान होकर जीती न हो। इस प्रकार अल्पवीर्य, दुष्टवीर्य, क्षीणवीर्य और विशुष्कवीर्यवाले पुरुषों को फिर से यौवन प्राप्त करानेवाला तन्त्र 'अगद-तन्त्र' कहलाता है। दूषित रजवाली, सन्तान के अयोग्य स्त्रियों की चिकित्सा भी इसी तन्त्र से सम्बन्ध रखती है। इन्हीं आठ अङ्गों के कारण आयुर्वेद 'अष्टाङ्ग' कहा जाता है। चरक आदि संहिताओं में लिखा है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने वेदों के साथ-साथ यह अष्टाङ्ग आयुर्वेद कई हज़ार अध्यायों की एक संहिता में बनाया था। परन्तु आगे आनेवाले लोगों की बुद्धि और स्मृति की क्षीणता का ध्यान करके उसे आठ विभागों में विभक्त कर दिया, जिनमें लोग अपनी-अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार निपुणता प्राप्त करने लगे। आरम्भ में ब्रह्मा ने प्रजापति को आयुर्वेद के आठों अङ्गों की शिक्षा दी, उनसे अश्विनीकुमारों ने सीखा, उन्होंने इन्द्र को सिखाया, और इन्द्र ने ऋषियों को पढ़ाया। फिर ऋषियों ने पृथ्वी पर उसका प्रचार किया। आज ऋषियों की बनाई संहिताओं में आयुर्वेद के इन अङ्गों में से किसी का संक्षिप्त, किसी का विस्तृत वर्णन मिलता है। वेदों में भी बहुत कुछ बातें मिलती हैं, परन्तु आयुर्वेद-नामक उपवेद आज नहीं मिलता।

यद्यपि सुश्रुतसंहिता का जन्म 'शल्य-चिकित्सा' के लिये ही हुआ था; परन्तु इस समय वह लुप्तप्राय है। आज ऐसे तो अनेक वैद्य मिल जायँगे, जिन्हें सुश्रुत का बहुत कुछ अंश कण्ठ है। ऐसे भी कई मिल जायँगे, जो सुश्रुत की बातों पर शास्त्रार्थ करने को तैयार हैं; परन्तु जब तक सुश्रुत के अनुसार कोई फोड़ा चीरकर नहीं दिखा सकता, तब तक उसका समस्त शास्त्रार्थ कोरे बकवाद के सिवा और कुछ नहीं। जिसे चरक के श्लोक तो सैकड़ों कण्ठ हैं, परन्तु न उनके अनुसार वह किसी रोगी का निदान कर सकता है, न चिकित्सा कर सकता है, उसे चरक का पण्डित कहना मूर्खता है। किसी समय भारतीय शल्य-चिकित्सा अत्यन्त उत्कृष्ट थी, यह बात भी सुश्रुत से प्रतीत होती है; परन्तु आज शल्य-तन्त्र का क्रियात्मक ज्ञान सिखाने का कोई मार्ग नहीं रहा। इसके कई कारण है। एक तो शल्य-

चिकित्सा विना राज्य की सहायता के कहीं नहीं चल सकती। बड़े-बड़े सर्जन, जो स्वतन्त्र चिकित्सा करने लगते हैं, ऑपरेशन का अवसर न मिलने के कारण सब सीखी-सिखाई सर्जरी भूलने लगते हैं। शल्य-तन्त्र में निपुण वे ही रहते हैं, जिन्हें सरकारी सहायता प्राप्त है, सब प्रकार का सामान सुलभ है, और चीर-फाड़ का नित्य नया अवसर मिलता रहता है। आयुर्वेद के लिये सरकार से कितनी मदद मिलती है या इसके मार्ग में कितने रोड़े अटकाए जाते हैं, यह बात सभी जानते हैं। अनेक विधर्मी विदेशियों के आक्रमण के कारण पुस्तकों का नष्ट होना भी शल्य-चिकित्सा के विलोप का एक कारण है। बौद्ध धर्म और जैन धर्म के अहिंसावाद का बढ़ा हुआ अत्याचार भी इसके ध्वंस का एक प्रधान कारण है, जिसके कारण मांस-रुधिर का देखना तो क्या, उसका नाम लेना भी पाप समझा जाने लगा था। भोजन के समय मांस का नाम ले देने से ही 'धर्मात्मा पुरुष' भोजन छोड़कर उठ खड़े होते थे! स्मृति-ग्रन्थों में चिकित्सावृत्ति की निन्दा के वाक्यों ने भी कम अनर्थ नहीं किया।

वैद्यों का हव्य-कव्य में बहिष्कार एवं 'पूयं चिकित्सकस्यान्नम्' (मनु) की फटकार का यह असर हुआ कि पढ़े-लिखे विद्वानों ने आयुर्वेद की ओर से एकदम मुँह मोड़ लिया, और यह शास्त्र जाति-विशेष या अनन्य-गति मूर्खों की जीविका-मात्र का एक साधन बन गया। तत्त्वज्ञ, मार्मिक विद्वानों से इसका सम्बन्ध छूट गया। परन्तु वैदिक समय में यह बात न थी। जिन स्मृतियों में चिकित्सा की निन्दा की है, वे सब वेद-विरुद्ध हैं। वेदों में स्पष्ट लिखा है कि उत्तम विद्वान् ब्राह्मण को ही चिकित्सा का अधिकार है। आयुर्वेद के प्रथम आचार्य ब्रह्मा थे। उनके बाद प्रजापति, अश्विनीकुमार और इन्द्र हुए। यज्ञों में इन्हीं सबका प्राधान्य है। यदि यज्ञ-क्रिया से इन्हें अलग कर दिया जाय, तो वहाँ 'सफ़ाचट्ट मैदान' हो जाय। सम्पूर्ण वेद इन्द्र और अश्विनीकुमारों के ही गुणगान से भरे हैं, और सम्पूर्ण यज्ञों में इन्हीं का दौरदौरा है। जिन ऋषियों ने आयुर्वेद का प्रचार और विस्तार किया, उन्हें भी किसी ने ब्राह्मणत्व से ख़ारिज नहीं किया। यह वज्रपात केवल आजकल के लोगों पर हुआ। 'दैवो दुर्बल-घातकः।' सारांश यह कि शल्य-चिकित्सा-सम्बन्धी आयुर्वेद का विषय कई कारणों से आज पुस्तकों में ही पड़ा है। उसका प्रक्रियात्मक उपयोग कुछ नहीं है। इधर एलोपैथी ने कई अनुकूल कारण पाकर शल्य-चिकित्सा में आशातीत सफलता प्राप्त की है। कई प्रकार की परीक्षाओं के साधन और रोगी को आराम पहुँचाने का जो सामान एलोपैथी ने ईजाद किया है, वह प्रशंसनीय, अभिनन्दनीय, शिक्षणीय और अनुकरणीय है। आजकल प्रत्येक चिकित्सक को कीटाणु-विद्या, सूक्ष्मवीक्षण, रुधिर-परीक्षा, मल-मूत्र-परीक्षा, एक्सरेज़ आदि का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है। आयुर्वेद के अनुयायियों और प्रेमियों को इन साधनों से अवश्य सहायता लेनी चाहिए।

परन्तु काय-चिकित्सा के मार्ग में आज भी आयुर्वेद के आगे एलोपैथी, होम्योपैथी आदि अन्य चिकित्साओं की वही दशा है, जो एक जवान आदमी के सामने किसी नौ महीने के बच्चे की होती है। वैदिक ऋषियों ने जिन सूक्ष्म तत्त्वों के आधार पर प्रकृति की पर्यालोचना करके जो-जो दृढ़, निश्चल, अपरिवर्तनीय और सर्वदेश-कालोपयोगी सिद्धान्तों की गवेषणा की थी, वे आज न तो एलोपैथी को प्राप्त हैं, न किसी अन्य चिकित्सा-पद्धति को।

वैदिक सिद्धान्त के अनुसार प्राणी के तीन अंश हैं— आत्मा, मन और शरीर। इनमें आत्मा सदा निर्विकार और निर्दोष रहता है। उसको कभी कोई रोग-दोष नहीं होता। रोग के दो ही अधिष्ठान हैं— मन और शरीर। मन में भी जब तक सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, तब तक आनन्द, ज्ञान और शान्ति का साम्राज्य रहता है। रजोगुण या तमोगुण के बढ़ने पर ही मन में काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मान, अहङ्कार आदि बीमारियाँ पैदा होती हैं। चरक में लिखा है कि रजोगुण और तमोगुण मन के दोष हैं, और वात, पित्त, कफ शरीर के। उनके कारण मन में रोग पैदा होता है, और इनसे शरीर में। परन्तु शरीर और मन में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य के शरीर की रचना उसके मन के अनुरूप होती है, और मन शरीर के अनुसार होता है। एक का दूसरे पर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है। जिसके मन में चोरी करने की आदत होती है, उसके शरीर में पिटने की सामर्थ्य भी होती है। जिसके मन में कामुकता की मात्रा अधिक होती है, उसका शरीर भी उसके अनु-

रूप होता है। जिसके मन में वीरता है, उसके शरीर में मरने-मारने का दम भी है। हाँ, चोर की-सी निर्लज्जता वीर पुरुष में नहीं हो सकती। वह तलवार के घाव को सह सकता है, परन्तु बात की चोट नहीं सह सकता। चिकित्सा करने से पहले प्राणी के मन और शरीर, दोनों की परीक्षा करना आवश्यक है। मोटा और मज़बूत शरीर देखकर मन को भी मज़बूत समझ लेना या दुबला शरीर देखकर मानसिक शक्तियों की दुर्बलता का अंदाज़ लगाना बड़ी भारी भूल है। रोगी के बढ़े हुए रोने-चिल्लाने से रोग की अधिकता का अनुमान या उसके चुपचाप पड़े रहने से रोग की कमी का गुमान करना भयानक भूल है। जो चिकित्सा शरीर और मन की प्रकृति के साथ औषध तथा आहार-विहार आदि की प्रकृति का सामञ्जस्य करना नहीं जानती, वह नितान्त अधूरी है। आयुर्वेद में इस विषय की जितनी सूक्ष्म मीमांसा की है, उतनी अब तक किसी चिकित्सा-पद्धति में नहीं हो पाई। चरक ने मनुष्य के अन्तःकरण या मन की परीक्षा के लिये कुछ प्रकार बताए हैं। उन्होंने सत्त्वगुण-प्रधान मन के सात, रजोगुण-प्रधान के छः और तमोगुण-प्रधान के तीन भेद बतलाए हैं, इन सबका अलग-अलग वर्णन किया है। कुछ ऐसे भी हैं, जिनमें मिश्रित लक्षण होते हैं। परन्तु चरक के बताए लक्षणों को ध्यान में रखने से विवेचना करना अति सुगम हो जाता है। हज़ारों लक्षणों के मिश्रित होने पर भी मनुष्य के मन की परीक्षा साफ़-साफ़ की जा सकती है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के खाने-पीने की चीज़ों को देखकर, उसकी रुचि को पहचानकर, उसके कमरे की सजावट पर ध्यान देकर, उसकी ज़रूरत की चीज़ों पर नज़र डालकर, उसके बातचीत करने के ढंग को परखकर भी उसकी मानसिक दशा का पता लगाया जा सकता है। सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी पुरुषों के आहार-विहार एक-से नहीं हो सकते।

शरीर की परीक्षा करने के लिये वैदिक सिद्धान्त की सृष्टि-प्रक्रिया का जानना आवश्यक है। सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति तीन तत्त्वों या गुणों से होती है। इन्हें सत्त्व, रजस् और तमस् कहते हैं। इन्हीं तीनों का नाम प्रकृति है। इनसे परे ईश्वर के सिवा और कुछ नहीं। वेदों में ('अजामेका लोहितशुक्लकृष्णाम्') समस्त संसार को उत्पन्न करनेवाली, तीन गुणों से युक्त इस प्रकृति का उल्लेख है। जब तक ये तीनों गुण पृथक्-पृथक् अविकृत रूप में रहते हैं, तब तक प्रलय की दशा रहती है। सृष्टि का आरम्भ तभी होता है, जब ये तीनों गुण परस्पर मिलते हैं, और इनमें विकार पैदा होता है। इनका पहला परिणाम महत्तत्त्व कहलाता है। इसी को बुद्धि भी कहते हैं। शुद्ध जीवात्मा के साथ इस बुद्धि के चिपकने से ही संसार का आरम्भ होता है। यदि सुख, दुःख और विषय-वासनाओं का अनुभव करानेवाली यह बुद्धि जीव के साथ न रहे, तो वह मुक्त हो जाय। प्रकृति का दूसरा परिणाम अहङ्कार है। यह बुद्धि होने के बाद होता है। 'मैं और मेरा' इस भावना का आरम्भ इसी अहङ्कार से होता है। सांसारिक दुःखों का मूल यही अहङ्कार है। यदि 'मैं और मेरे' की भावना छूट जाय, तो फिर कोई दुःख नहीं। बिल्ली रोज़ घर में चूहे पकड़ती है, किन्तु कोई दुःख नहीं होता। परन्तु यदि किसी दिन आपके पाले हुए तोते को ले जाय, तो बड़ा दुःख होता है; बिल्ली पर खूब क्रोध आता है। क्यों? इसीलिये कि तोते को आपने समझ लिया था कि मेरा है, और चूहे पर यह भावना नहीं की थी। यदि घर का कुत्ता ज़रा भी बीमार हो जाय, तो बड़ी चिन्ता होती है; परन्तु यदि पड़ोसी का हाथी भी मर जाय, तो कुछ ख़याल नहीं होता। क्यों? इसीलिये कि कुत्ते पर आपकी ममता है। उसे आप समझते हैं कि यह मेरा है। पर हाथी पर आपकी ममता नहीं है। यदि उस हाथी पर भी आपकी ममता हो जाय, तो उसके लिये भी दुःख होने लगे। अपने शरीर में काँटा लगने की जो चिन्ता होती है, वह दूसरे के शरीर में तलवार लगने से भी नहीं होती। क्यों? इसीलिये कि अपने शरीर पर आपकी 'अहन्ता' है। शरीर को आप अपना स्वरूप ही मानने लगे हैं। उस पर चोट पड़ने से आप 'हाय, हम मर गए' कहते हैं। शरीर को आप 'हम' (अपना स्वरूप) समझने लगे हैं। दूसरे के शरीर पर आपको यह अहन्ता नहीं है। यहाँ 'अहन्ता, ममता' (मैं और मेरा) सांसारिक दुःखों की जड़ है। इसी का नाम अहङ्कार है। यह प्रकृति का दूसरा परिणाम है। यदि यह छूट जाय, तो बुद्धि शुद्ध हो जाय, और सांसारिक दुःखों से पीछा भी छूट जाय।

प्रकृति का तीसरा परिणाम 'तन्मात्रा' कहलाता है। यह पाँच प्रकार की होती है, अतः इसे 'पञ्च तन्मात्रा' भी

कहते हैं। यह स्थूल जगत् और सूक्ष्म जगत् के बीच की वस्तु है। पञ्च तन्मात्रा के एक ओर प्रकृति, महत्, अहङ्कार आदि सूक्ष्म जगत है, और दूसरी ओर परमाणु द्व्यणुक (Alectrons, Atoms) आदि स्थूल जगत है। सूक्ष्म जगत् में तन्मात्रा के पिता, पितामह आदि रहते हैं, और स्थूल जगत् में उसके पुत्र, पौत्र आदि विहार करते हैं। उसके पूर्व की सृष्टि मे तो इने गिने तत्त्व हैं; परन्तु उसकी सन्तति के भेद अनन्त हैं।

संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो सत्त्व, रजस्, तमस् से बाहर हो। प्रकृति का एक-एक परमाणु इन्हीं से बना है। परन्तु महत्, अहङ्कार आदि सूक्ष्म जगत में इन गुणों का जैसा स्पष्टीकरण होता है, वैसा स्थूल जगत में नहीं हो पाता। स्थूल पदार्थों में इन गुणों का इतना जटिल मिश्रण हुआ है कि उसका समझना ही कठिन है। उसके अनुसार व्यवहार चलाने की तो बात ही क्या।

जब कोई वस्तु अनेक परिणामों में परिणत हो जाती है—खासकर जब किसी दूसरी वस्तु के साथ बराबर मिलती रहती है—तो स्थूल दृष्टि से उसके मूल-तत्त्व का पहचानना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जाता है। पानी की एक दशा बाष्प के रूप में है, और दूसरी बरफ़ के रूप में। एक बच्चा इन दोनों को कभी एक नहीं मान सकता, हालाँकि समझदार आदमी के नज़दीक दोनों एक ही है। यही पानी जब पृथ्वी मे पड गया, और वृक्षों की जड़ों ने खींचकर इसे अपने मे मिला लिया, तो गन्ना, नींबू और नीम के रस के रूप मे आ गया। अब इन तीनों रसो की एकता बुद्धिमान् पुरुषों की दृष्टि मे भी दुर्लभ हो गई। यही नींबू, गन्ना, आम प्रभृति का रस मनुष्य के शरीर मे मिलकर रुधिर आदि के रूप मे परिणत हुआ। अब गङ्गा-जल और मनुष्य के रुधिर का मिलान कीजिए, और गङ्गा-जल पीनेवाले ऋषि तथा नर-रुधिर पीनेवाले राक्षस के अन्तःकरण का भी मिलान कीजिए। आकाश-पाताल का अन्तर है।

एक बात और भी है। सूक्ष्म जगत में सत्त्व और रजस् की प्रधानता रहती है। जो तमोगुण रहता है, वह भी सूक्ष्म-रूप में। फिर वहाँ मूल-तत्त्वों (सत्त्व, रजस्, तमस्) के अधिक व्यवहित न होने के कारण सत्त्व आदि के विकार झट पहचाने जाते हैं। बुद्धि में उत्पन्न हुआ सात्त्विक या राजस भाव तुरन्त पहचाना जा सकता है। जिस गाँव में दो ही-तीन रईस हैं, वहाँ उनके नौकरों का पहचानना कठिन नहीं होता। जिस जगह दस ही-पाँच आदमी रहते हैं, वहाँ अपराधी का पता लगा लेना ख़ुफ़िया पुलीस के लिये उतना कठिन नहीं। परन्तु जहाँ रहनेवालों की संख्या का ठिकाना नहीं, मकानों का अन्त नहीं, आने-जानेवालों का शुमार नहीं, हरएक आदमी दिन में तीन-तीन रूप बदलता है, और बिना परिचय के घर में घुसने की इजाज़त नहीं है, वहाँ किसी को ढूँढ़ निकालना टेढ़ी खीर है। ऐसी जगह बड़े-बड़े उस्तादों के भी पर जलते हैं। छोटे-से गाँव में किसी बच्चे को देखकर हरएक आदमी उसके पिता का पता बता सकता है; परन्तु बड़े शहरों में यह बात नहीं हो सकती। यदि आप तन्मात्राओं से सूक्ष्म जगत् की ओर बढ़िए, तो वहाँ सत्त्व, रजस्, तमस्, महत् और अहङ्कार—बस, यही सामान है। और, स्थूल जगत् की ओर आइए, तो सृष्टि का अन्त नहीं। परन्तु स्थूल जगत की ओर बढ़ने का मूल-स्थान और सूक्ष्म जगत की ओर जाने का मध्य-स्थान यही है। यही वह जंक्शन है, जहाँ से दोनों ओर को गाड़ी छूटती हैं। चाहे कहीं का मुसाफ़िर हो, यहाँ अवश्य आवेगा। यही वह जगह है, जहाँ सब ओर जानेवालों का पता बड़ी सुगमता से लग सकता है। यही कारण है कि वैद्यों और ऋषियों ने इसी जगह प्रकृति के पहचान की छाप लगाना उचित समझा।

उन्होंने तन्मात्राओं के प्रधान-प्रधान गुणों को तीन भागों में बाँट दिया, स्नेह, रूक्षता और तीक्ष्णता को प्रधान मानकर इनके साथी अन्य बीसों गुणों को इनका अङ्ग मान लिया; क्योंकि अन्य अप्रधान गुण इन तीन गुणों के साथ अवश्य मिलते है। इन तीन श्रेणियों का नाम उन्होंने धातु रक्खा। ये तीन धातु तन्मात्रा से बनी समस्त वस्तुओं में पाए जाते है। अतः इनके द्वारा संसार की भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सभी वस्तुओं की परीक्षा सुगमता से हो सकती है। संसार का कोई द्रव्य इन तीन श्रेणियों के गुणों से बाहर नहीं जा सकता।

धातु-शब्द का अर्थ है धारण करनेवाला। जब तक ये तीनों आवश्यक और उचित मात्रा में बने रहते हैं, तब तक शरीर का धारण करते हैं। तभी तक शरीर आरोग्य रहता है। इनमें विषमता आते ही कोई-न-कोई रोग पैदा हो जाता है। उस दशा में इन्हें धातु नहीं,

बहिक दोष या मल कहते हैं। इन्हीं तीन को आयुर्वेद की परिभाषा में वात, पित्त, कफ कहते हैं। ऋग्वेद में इन तीनों धातुओं के सम्बन्ध में लिखा है—

"त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिःपार्थिवानि त्रिरु दत्तमद्भ्यः;
ओमान शंयोर्ममकायसूनवे त्रिधातु शर्म वहत शुभस्पती।"

इस पुस्तक में इस ऋचा के प्रत्येक अङ्ग पर विस्तृत और गम्भीर विचार किया गया है। अश्विनीकुमार कौन हैं? तीन दिव्य औषध क्या हैं? तीन-तीन पार्थिव और जलीय औषध कौन-से हैं? 'ओम्' और 'शम्' क्या वस्तु हैं? एवं तीन धातुओं का कल्याण क्या है? इन सब बातों की इस पुस्तक में सुचारु विवेचना की गई है।

पश्चिम और पूर्व में यही प्रधान भेद है। वैदिक विचार सूक्ष्म से आरम्भ होकर स्थूल जगत् में जाते हैं, और विलायती विचार स्थूल से सूक्ष्म पर पहुँचने की चेष्टा करते हैं। आयुर्वेद में गुणों के द्वारा द्रव्य पहचाने जाते हैं, और एलोपैथी द्रव्यों से गुणों को जानना चाहती है। पश्चिमी साइंस द्रव्यों के द्वारा गुणों की परीक्षा करने के कारण, आए-दिन अपने पिछले सिद्धान्तों को स्वयं झूठा बतलाया करती है। साथ ही वह संसार के समस्त पदार्थों की परीक्षा किसी दिन समाप्त कर पावेगी, इसकी कोई आशा भी नहीं है। इसके अतिरिक्त उसे गुणों के साथ वस्तु के दोषों का पता भी नहीं लगता। फिर वह तो स्थूल वस्तु से आरम्भ करके सूक्ष्म वस्तु पर पहुँचने की चेष्टा करती है, और परमाणुओं पर पहुँचते-पहुँचते उसके सब साधन जवाब दे जाते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा इसके आगे है ही नहीं, और योगज ज्ञान, ऋतम्भरा प्रज्ञा, आर्षदृष्टि तथा शब्द-प्रमाण का साइंस में कोई स्थान नहीं। मेम के गाउन में गङ्गाजल के छींटों का क्या ज़िक्र? फिर संसार में स्थूल पदार्थ अनन्त हैं, अतः उनके द्वारा की हुई परीक्षा कभी परिपूर्ण हो ही नहीं सकती।

'तन्मात्राएँ' पाँच हैं। इनके नाम हैं—रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा। रूपतन्मात्रा से जगत् के रूपवान् अंश की सृष्टि होती है, और रसतन्मात्रा से उसका रस-युक्त अंश बनता है, एवं शेष गुणों की तन्मात्राओं से शेष गुण-युक्त जगत् का आरम्भ होता है। जिस वस्तु में रूप और रस, दोनों हैं, वहाँ दोनों प्रकार की तन्मात्राएँ उसकी आरम्भिक होती हैं, और अधिक गुणों में अधिक तन्मात्रा। स्थूल जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं मिल सकती, जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से शून्य हो। इनमें से कोई-न-कोई गुण उसमें अवश्य होगा।

एक बात और है। स्थूलता या ठोसपन तमोगुण के बिना नहीं हो सकता। सत्व और रज, दोनों सूक्ष्म हैं। जो वस्तु जितनी ठोस है, उसमें उतना ही तमोगुण का भाग अधिक है। प्रकाश सत्व-गुण का, और क्रिया रजोगुण का धर्म है।

तन्मात्राएँ पाँच ही हैं। यदि आपको इनके गुणों का परिचय मिल जाय, तो आप समस्त स्थूल जगत् को पहचान और उसके असर को जान सकेंगे। कल्पना कीजिए, आपने रसतन्मात्रा के गुणों का परिचय प्राप्त किया। रस छः ही हैं। मीठा, खट्टा, नमकीन, चरपरा, कसैला और कड़वा। इन छहों के गुणों और दुर्गुणों से आप परिचित हो चुके। आपको यह मालूम हो गया कि कड़वे रस में इतने गुण हैं, और इतने दुर्गुण। तो अब आप संसार की समस्त कड़वी वस्तुओं के ज्ञाता हो गए। कोई भी कड़वी वस्तु आपके सामने आवे, आप उसके गुणों को भी समझ लेंगे, और उसके दुर्गुणों को भी जान जायँगे। किसी रोगी को वह वस्तु देने से क्या असर होगा, यह आप झट समझ जायँगे। उसका लाभ और हानि, दोनों आपकी आँखों के आगे नाचने लगेंगे। इस प्रकार समस्त कड़वे संसार का ज्ञान आपको प्राप्त हो गया। इसी प्रकार मीठे खट्टे, नमकीन आदि को देख जाइए। छः रसों को समझ लेने के बाद अब आपको समस्त संसार की वस्तुओं से परिचय प्राप्त हो गया। भूत, भविष्यत, वर्तमान, तीनों कालों की और यावत् जगत् की समस्त सरस वस्तुओं का ज्ञान आपको हो चुका। इसी प्रकार रूप, गन्ध, स्पर्श और शब्द को समझ लीजिए। चरक ने इन तन्मात्राओं का जैसा वर्णन किया है, वैसा संसार में शायद ही कहीं हो।

यह तो हुई गुणों के द्वारा द्रव्यों की परीक्षा। परन्तु यदि आप द्रव्यों के द्वारा गुणों की परीक्षा आरम्भ करें, तो न, कभी आपकी परीक्षा समाप्त होगी, और न कभी आपका अज्ञान दूर होगा। आज आप कुनैन को लेकर उसके गुणों की परीक्षा कीजिए, तो कल नीम को टटोलिए। परसों कालमेघ को लीजिए, तो चौथे दिन मेथी को समझिए। आप जीवन-भर परीक्षा करते रहिए, पर कड़वी चीज़ों

का कभी अन्त न होगा। संसार के किस-किस देश में कितनी-कितनी कड़वी वस्तुएँ हैं, इसका पता कौन देगा? फिर आपका जीवन एक दिन समाप्त हो जायगा, और प्रकृति के पेट से नई-नई कड़वी चीज़ें पैदा होती रहेंगी। आपको ही क्या, आपकी तरह द्रव्यों को लेकर गुणों की परीक्षा करनेवाले लाखों आदमियों को भी इस प्रकार कभी प्रकृति के पेट का पार न मिलेगा।

एक कुनैन को ही लीजिए। साइंस यह तो बताता है कि इससे मलेरिया के कीड़े मरते हैं, परन्तु मनुष्य के शरीर में पहुँचकर यह कीड़ों के साथ-साथ और किस-किस को मारती है, इसका पूरा पता साइंस से नहीं चलता। यदि यह मान लिया जाय कि कीड़ों से ज्वर होता है, तो भी कीड़े और ज्वर दो वस्तुएँ हैं। इनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध है। माना कि कीड़े मर जाने से फिर वे आगे ज्वर न पैदा करेंगे, परन्तु मरने से पहले जो ज्वर उन्होंने पैदा कर दिया है, उसे कौन दूर करेगा? जिस वस्तु से कारण का नाश होता है, उसी से कार्य का भी नाश हो जाय, यह तो कोई तर्क नहीं है। जो तलवार लाठी को काट सकती है, वह लाठी से फटे सिर का भी इलाज कर ले, ऐसा तो कोई नियम नहीं है। फिर कीड़े मारने-वाली कुनैन कीड़ों के कार्य का भी नाश करेगी, इसका क्या प्रमाण? अच्छा, कुनैन में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण हैं। कीड़ों को मारने की शक्ति इनमें से किस गुण में है? क्या साइंस इसका कुछ उत्तर दे सकता है? कुनैन से वीर्य-दोष उत्पन्न होता है, इसका कुछ पता साइंस को है? कुनैन से और क्या-क्या दोष उत्पन्न होते हैं, इसका ज्ञान साइंस के किसी यन्त्र से हो सकता है? अनेक प्रकृतियों के भिन्न भिन्न मनुष्यों की मानसिक दशा पर कुनैन के रूप, रस आदि गुणों का क्या-क्या असर होता है, इस बात का पता क्या साइंस का कोई औज़ार दे सकता है?

यदि आप चरक के उस अंश को देखें, जिसका उल्लेख इस पुस्तक में कड़वे रस के गुण-वर्णन में किया गया है, तो आपको ऐसे बहुत-से कुनैन के गुणों का पता चलेगा, जिन्हें अब तक परिश्रमी साइंस ने नहीं खोज पाया। साथ ही कड़वे रस से कीड़े मरते हैं, और ज्वर दूर होता है, यह बात भी आपको वहाँ साफ़ शब्दों में लिखी हुई मिलेगी। इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि कुनैन के अनेक गुणों में से केवल उसके रस में ही कीड़े मारने और ज्वर दूर करने की सामर्थ्य है। यह बात उस समय और भी दृढ़ हो जाती है, जब हम देखते हैं कि मीठी कुनैन में कड़वी की अपेक्षा ज्वर दूर करने और कीड़े मारने की शक्ति कम है।

चरक ने कड़वे रस के गुणों के साथ-साथ उसके दोष भी बतलाए हैं। उनमें आपको साफ़ लिखा मिलेगा कि इस रस के अधिक प्रयोग से चक्कर आने लगता है, वीर्य सूखने लगता है, और अन्य अनेक उपद्रव भी पैदा होते हैं। साथ ही आपको वहाँ यह भी पता चल जायगा कि पूर्वोक्त तीन धातुओं में से कड़वा रस किसकी सन्तान है, इसका वंश-वृक्ष (शजरा) किससे मिलता है। इसका प्रधान फल यह होगा कि आप कुनैन खाकर बिगड़े हुए रोगी की चिकित्सा बड़ी सुगमता से कर सकेंगे। कुनैन के पचास दुर्गुणों में से जिस किसी ने विकार पैदा किया होगा, उस पर आपकी दृष्टि झट पहुँच जायगी, और उसके विरुद्ध गुण का प्रयोग करके आप उसे दबा सकेंगे।

जिन तीन धातुओं की चर्चा ऊपर आई है, संसार की प्रत्येक वस्तु उनसे व्याप्त है। प्रकृति का कोई कण उनसे ख़ाली नहीं है। प्रत्येक ऋतु, प्रत्येक देश, मनुष्य की हरएक अवस्था, खाने-पीने की प्रत्येक वस्तु, रहन-सहन के सब ढंग किस प्रकार इन तीन गुणों से व्याप्त हैं, इस-की मीमांसा आयुर्वेद के ग्रन्थों में की गई है।

प्रत्येक प्राणी जब गर्भ में आता है, तो वहीं उसकी प्रकृति बनती है। इन तीन धातुओं का जैसा प्रभाव उस पर पड़ता है, वैसी ही उसकी प्रकृति बनती है। परीक्षा के प्रकरण में चरक ने लिखा है—"सबसे पहले रोगी की परीक्षा करनी चाहिए। इससे दो बातें मालूम होंगी। एक तो यह कि रोगी जीने-योग्य है या नहीं; दूसरे, रोगी का बल कितना है, और रोग को उत्पन्न करनेवाले दोषों (वात, पित्त, कफ) का बल कितना। रोगी और रोग के अनुसार ही औषध का प्रयोग करना चाहिए। जिस रोगी का बल अल्प है या जिसका रोग अल्प है, उसे यदि तीक्ष्ण औषध पहुँच गई, तो मार ही डालेगी। जिन औषधों में अग्नि, सोम और वायु (वात, पित्त, कफ) के तीक्ष्णतर गुण विद्यमान हैं, वे अल्पप्राण रोगी का शीघ्र ही प्राणान्त

कर देगी। इसलिये हीनबल रोगियों को—ख़ासकर स्त्रियों को—जो स्वभाव से ही कोमलहृदय, सुकुमारी और अबला होती हैं—इस प्रकार की औषध देनी चाहिए, जो मृदुवीर्य हो, वेग में सुकुमार हो, तीक्ष्ण रस न हो, घबराहट न पैदा करे, एवं जिससे किसी अनिष्ट की आशङ्का न हो। रोगी की परीक्षा करने के लिये उसकी प्रकृति, विकृति, सार, संहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्त्व, आहारशक्ति, व्यायामशक्ति, आयु, निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशम और सम्प्राप्ति की जाँच करनी चाहिए।" इनमें से 'प्रकृति-परीक्षा' की बात चलाते हुए चरक ने लिखा है—"जिस समय गर्भ स्थित होता है, तो उसके ऊपर चार प्रकृतियों का प्रभाव पड़ता है। इन चारों में जिस-जिस धातु की प्रधानता होती है, वही धातु या दोष (वात, पित्त, कफ) उस बच्चे के शरीर मे प्रधान रहता है। इनमें सबसे प्रथम 'शुक्र-शोणित-प्रकृति' है। माता-पिता के रज-वीर्य में जिस धातु की प्रधानता है—जिस प्रकार के भोजनादि से वह रज-वीर्य बना है—उसका प्रभाव गर्भस्थ शरीर पर सबसे प्रथम पड़ता है। जिस समय मे वह गर्भ स्थापित हुआ है, और जिस धातु की माता के गर्भाशय में प्रधानता है, उस काल-प्रकृति और गर्भाशय-प्रकृति का भी प्रभाव गर्भ के ऊपर पड़ता है। गर्भ की दशा मे माता जिस प्रकार का आहार-विहार करती है, उसका भी प्रभाव गर्भ पर पड़ता है। जिन पञ्च महाभूतों के विकार से उस गर्भ का आरम्भ और वृद्धि होती है, उनकी प्रकृति का भी प्रभाव उस पर पड़ता है। ये सब प्रकृतियाँ जिस एक या अनेक दोष से अनुस्यूत रहती है, वही उस बच्चे के शरीर मे प्रधान रहता है, और यही उस बच्चे की जन्म-सिद्ध प्रकृति होती है। चिकित्सा के समय इसका प्रधानतया ध्यान रखना चाहिए।" इस पुस्तक में इन प्रकृति, विकृति, सार आदि पर विस्तृत विचार किया गया है, और यह निर्णय किया गया है कि इन परीक्षाओं के द्वारा जितना और जिस प्रकृति का रोग हो, उस पर उतनी और उसी प्रकृति की औषध का प्रयोग करना चाहिए। आयुर्वेद में एक ही रोग पर काढ़ा, चूर्ण, गोली, आसव, अरिष्ट, अवलेह तेल, घी, धातु, उपधातु, रस, उपरस, रत्न तथा मणि आदि की भस्मों का विधान है। एक नरपिशाच के लिये डेढ़ सेर कड़वा काढ़ा और एक कोमलाङ्गी सुकुमारी ललना के लिये मीठे और सुगन्धित शरबत में आधे चावल-भर मोती, पन्ना, हीरे आदि की भस्म आयुर्वेद में मौजूद है। 'जैसी प्रकृति, वैसी दवा' और 'जितना रोग, उतनी दवा' का सामञ्जस्य आयुर्वेद में ही हो सकता है। जिसके पास कुनैन के सिवा मलेरिया की कोई दवा ही नहीं, वह क्या सामञ्जस्य मिलावेगा?

फिर साइंस के साधनों से रोग की इयत्ता का भी तो पता नहीं चलता। कल्पना कीजिए, थर्मामेटर के द्वारा चार आदमियों को १००-१०० डिग्री ज्वर मालूम हुआ। अब जिसके शरीर की असली गरमी ९६ रहा करती है, उसे तो ४ डिग्री बुख़ार हुआ, और जिसे स्वभावतः ९८॥ गरमी रहा करती है, उसे केवल १॥ डिग्री बुख़ार हुआ। अब बतलाइए, डॉक्टर साहब डेढ़ डिग्री ज्वर की दवा देंगे या ४ डिग्री ज्वर की? क्या कोई एलोपैथ इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है? क्या थर्मामेटर के द्वारा किसी भी एलोपैथ को असली ज्वर का पता चलता है? सिवा इसके कि 'छोटे पेट पै छोटी टिक्की, और मोटी तोंद पै मोटी गोली' डॉक्टर साहब दे मारें, और वह क्या कर सकते हैं? 'जितना रोग, उतनी दवा' की बात का उनके यहाँ क्या जवाब है?

कल्पना कीजिए, किसी रोगी को थर्मामेटर से ९७ डिग्री ज्वर मालूम हुआ। अब यदि उसकी असली गरमी ९६ है, तो १ डिग्री ज्वर उसे अवश्य रहता है। परन्तु डॉक्टर साहब ने 'बेलो नार्मल' (Below normal) कहकर उसे टाल दिया।

जब कुछ दिन तक बस जाने के बाद उस प्रच्छन्न राक्षस ने शरीर मे घर कर लिया, और रोग असाध्य हो गया, तो एलोपैथी ने थाइसिस डिक्लेयर कर दिया, और 'नो मेडिसिन' की घोषणा करके रोगी को यमपुर का रास्ता दिखा दिया। जब तक थूक या ख़ून में कीड़े इतने कम रहे कि महीने में एकआध बार ही देख पड़े, तब तक तो साइंस को उनका पता ही न लगा। पता उस समय लगा, जब रोग क़ाबू से बाहर हो गया। उस समय उसने कोरा जवाब दे दिया। यदि किसी के थूक में कीड़े न मिले, तो साइंस उसे रोग न होने का सार्टिफ़िकेट नहीं दे सकता; क्योंकि सम्भव है, जिस नमूने की उसने परीक्षा की है, उसमें कीड़े न आए हों, अन्यत्र मे जूद हो। इससे स्पष्ट है कि जब तक रोग थोड़ा और साध्य रहता है, तब तक साइंटिफ़िक-

चिकित्सा को उसका निश्चय ही नहीं हो पाता। और, जब निश्चय होता है, तब उसके लिए कुछ होता नहीं।

इस पुस्तक में एलोपैथी, होम्योपैथी, यूनानी आदि चिकित्साओं के साथ आयुर्वेद का मुक़ाबला करके तारतम्य परीक्षा की गई है। एलोपैथी की अनेक बातों पर विचार करने के लिये राजयक्ष्मा का उदाहरण चुना गया है। एलोपैथी का ख़याल है कि उसने कीटाणु-सिद्धान्त का आविष्कार किया है। वह यह भी समझती है कि कीड़ों से ही यह रोग उत्पन्न होता है, और उसका यह भी सिद्धान्त है कि संसार में इसकी कोई दवा नहीं। इस पुस्तक में ऋग्वेद और अथर्ववेद के बीसों मन्त्र ऐसे उद्धृत किए गए हैं, जिनमें राजयक्ष्मा का सरल, सुगम, स्पष्ट, विस्तृत और मार्मिक वर्णन है। राजयक्ष्मा किस-किस तरह से मनुष्य के अङ्गों और प्रत्यङ्गों पर आक्रमण करता है, इसका सुन्दर चित्र वेदों में मौजूद है। इसके रोगी के रहन-सहन और आहार-विहार का विशद वर्णन है। अँधेरे घर में, बंद हवा में, तहख़ाने में या गीली पृथ्वी में राजयक्ष्मा के रोगी को न रहना चाहिए। प्रकाश और शुद्ध वायु की उसको विशेष आवश्यकता है। उसके शरीर से रोग कैसे दूर होगा, उसको आश्वासन कैसे दिया जायगा, इन सब बातों का स्पष्ट वर्णन वेदों में मौजूद है। इतना ही नहीं, जिन दवाओं से यह रोग दूर होता है, उनका नाम तक वेदों में विद्यमान है। वैद्य के कर्तव्यों का भी निर्देश मौजूद है। कीड़ों का भी वर्णन है। कीड़ों के अनेक रूपों का भी स्पष्ट उल्लेख है। कीड़े मनुष्य के हरएक अङ्ग पर कैसे आक्रमण करते हैं, इसका भी निर्देश है। कीड़ों के रूप रंग, आकार-प्रकार और उनके एक ही शरीर में स्त्री तथा पुरुष, दोनों के चिह्न होने का भी ज़िक्र है। कीड़े 'अदृष्ट' होते हैं, बिना खुर्दबीन के नहीं देख पड़ते। इसकी भी चर्चा है। सूर्य की किरणों से ये कीड़े नष्ट होते हैं, यह बात भी है। साथ ही यह भी है कि राजयक्ष्मा का कारण कीड़े नहीं, बल्कि एक प्रकार का विष है। कीड़े रोग उत्पन्न होने के बाद आते हैं। यह वर्णन अनेक मन्त्रों में है। आज ऐसे अनेक रोगी मिले हैं, जिनके थूक, खून आदि में मरते समय तक कीड़े नहीं मिले। इससे वैदिक सिद्धान्त का समर्थन होता है, और साइंस की थ्योरी का खण्डन भी। 'आयुर्वेद-महत्त्व' में इन सब मन्त्रों का उल्लेख—व्याख्या-सहित—किया गया है। एक एलोपैथ सज्जन ने जो आयुर्वेद को चैलेञ्ज दिया था, उसकी समालोचना करते हुए ऐसे अनेक रोगियों का उदाहरण दिया गया है, जिन्हें बड़े-बड़े धुरन्धर एलोपैथ डॉक्टरों ने राजयक्ष्मा निश्चित किया था, और लेखक ने आयुर्वेदिक चिकित्सा के द्वारा उन्हें अच्छा किया। और, अब कई वर्षों से वे बिलकुल चंगे हैं।

एलोपैथी-चिकित्सा के साथ आयुर्वेद का मुक़ाबला करते हुए हमने निम्न-लिखित कारणों से, 'काय-चिकित्सा' में, पश्चिमी साइंस को अयोग्य और अनुपयुक्त बतलाया है—

१. पश्चिमी साइंस द्रव्यों की परीक्षा से अपना कार्य आरम्भ करता है। संसार में द्रव्य अनन्त हैं, और उनकी सृष्टि भी बराबर जारी रहेगी। अतः 'साइंटिफ़िक-चिकित्सा' न तो कभी सम्पूर्ण औषधों का निर्णय कर सकेगी, और न कभी समस्त रोगों का पार पा सकेगी।

२. पश्चिमी साइंस प्रत्यक्ष और तर्क, इन दो ही प्रमाणों पर अवलम्बित है। आगम-प्रमाण को इसके यहाँ कोई स्थान नहीं है। 'आगम' के लिये आप्तों की आवश्यकता है, और आप्तत्व परिपूर्ण तभी होता है, जब प्रत्यक्ष और अनुमान से बाहर की वस्तुओं का साक्षात्कार होने लगे। यह बात योगजन्य ज्ञान, आर्ष दृष्टि, ऋतम्भरा प्रज्ञा और ईश्वरीय ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। साइंस के घर में इन बातों को कोई स्थान नहीं, अतः उसका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा को लाँघ नहीं सकता। प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा बहुत संकुचित है, अतः साइंस का ज्ञान भी बहुत परिमित, सीमित और संकुचित ही रहेगा।

३. पश्चिमी साइंस में गुणों के द्वारा द्रव्यों की श्रेणियों के निर्धारण की वह शैली नहीं है, जैसी चरक आदि महर्षियों ने निर्दिष्ट की है। अतः साइंस को संसार के द्रव्यों का पूर्ण ज्ञान होना सम्भव नहीं।

४. पश्चिमी साइंस परमाणुओं के आगे नहीं बढ़ सकता; क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा यहीं समाप्त हो जाती है। अतः साइंस को संसार के मूल-तत्त्वों का पता लगना असम्भव है।

५. साइंटिफ़िक-चिकित्सा में आत्मा और मन का कोई स्थान नहीं है, अतः सम्पूर्णता प्राप्त होना सम्भव नहीं।

६. साइंटिफ़िक-चिकित्सा में देश, काल, बल, प्रकृति,

विकृति आदि की उन दिव्य परीक्षाओं का न कोई प्रकार है, न हो सकता है, जिनका निर्देश चरक ने किया है। अतः सब प्रकार के रोगियों, सब प्रकार के रोगों, सब देशों, सब समयों और सब अवस्थाओं की ठीक-ठीक और अलग-अलग औषध-व्यवस्था करने में वह समर्थ नहीं हो सकता।

७. पश्चिमी साइंस को संसार के निश्चित मूल-तत्त्वों की पूरी पहचान और उनके गुणों का अब तक पता नहीं लग पाया। अतएव समस्त गुण-वर्णन में वह असमर्थ है। इसी कारण पथ्य, अनुपान आदि की रोगानुसारिणी या दोषानुसारिणी व्यवस्था देने में वह असमर्थ है। निदान और चिकित्सा के मार्ग में साइंस अभी अधूरा है, और साइंटिफ़िक-चिकित्सा भी अधूरी ही है।

८. पश्चिमी साइंस जिन साधनों और उपायों से परीक्षा आरम्भ करता है, वे नितान्त अधूरे हैं। अतएव उसे आए-दिन अपने पिछले सिद्धान्तों को स्वयं झूठा कहना पड़ता है। जब तक यह 'ठलमुलयक़ीनी' दूर न हो, तब तक साइंस चिकित्सा के मार्ग में अयोग्य रहेगा। जब तक साइंस अपने सिद्धान्तों की स्थिरता और अपरिवर्तनीयता की घोषणा नहीं कर देता, तब तक उसकी पिछलग्गू 'साइंटिफ़िक-चिकित्सा' (एलोपैथी) को अनिश्चित, अव्यवस्थित और सन्दिग्ध निर्णयों के आधार पर चिकित्सा करके जनता के प्राणों को संकट में डालने का कोई अधिकार नहीं।

९. साइंस ने थर्मामेटर आदि जिन साधनों का आविष्कार किया है, वे सूक्ष्म परीक्षा के उपयुक्त नहीं हैं। थर्मामेटर से ज्वर की असलियत का पता नहीं चलता, और इसके (Below normal) रहनेवाले ज्वर का तो उससे बिलकुल पता नहीं चलता। अतः इस पर विश्वास रखनेवाले सदा धोखा खाते हैं। इस कारण 'साइंटिफ़िक-चिकित्सा' की रोग-परीक्षा, रोगी-परीक्षा आदि अधूरी हैं।

१०. भारत में जितना दूध पैदा होता है, वह यदि प्रति मनुष्य बाँट दिया जाय, तो छोले-माशे का ही औसत पड़ता है। और, १० ग्रेन कुनैन के लिये कम-से-कम एक सेर दूध आवश्यक है। अनेक डॉक्टर ३० से ६० ग्रेन तक कुनैन की मात्राएँ एक दिन में झोंक देते हैं। भारत में इतना दूध नहीं होता कि कुनैन का विष सहन किया जा सके। अस्तु, इस दरिद्र, दुर्बल और दुग्धहीन देश के लिये कुनैन का विष घातक है। यदि कोई चाहे, तो भारत में खपनेवाली कुनैन की तौल के साथ यहाँ होनेवाले दूध की तौल का मिलान कर देखे। जब तक सरकार उतने दूध का प्रबन्ध नहीं करती, तब तक एलोपैथी के द्वारा इस क़दर कुनैन का प्रयोग कराना अन्याय है।

११. ऐसी विशुद्ध आयुर्वेदिक दवाएँ मौजूद हैं, जो कुनैन के दुर्गुणों से रहित हैं, उसके विषैले प्रभाव से वर्जित हैं। उनमें दूध आदि की आवश्यकता नहीं होती, और मलेरिया दूर करने में कुनैन की बराबरी कर सकती हैं। कुनैन के अधिक प्रयोग से जो घातक दोष पैदा होते हैं, वे उनमें बिलकुल नहीं होते। यदि सरकार परीक्षा और प्रयोगों की सुविधा कर दे, तो हम उसका परिणाम दिखलाने को तैयार हैं।

१२. डॉक्टर लोग हरएक चीज़ के लिये विलायत का मुँह ताका करते हैं। इनके लिये छुरी, काँटा, नश्तर, सुई से लेकर तमाम औज़ार, सब दवाएँ, यहाँ तक कि ज़ख़्मों पर बाँधने की पट्टी और रुई तक विलायत से मँगानी पड़ती है। न तो ये कोई दवा बना सकते हैं, न वहाँ से आई हुई किसी दूषित दवा को सँभाल ही सकते हैं। जो चीज़ विलायत से जैसी आई है, उसका उसी रूप में प्रयोग करने, उसे बेच देने या फेंक देने के सिवा ये लोग कुछ नहीं कर सकते। इससे सिद्ध है कि एलोपैथ डॉक्टर विलायती दवाओं के एजेंट-मात्र हैं, जिनका कार्य भारत की आर्थिक दशा के लिये नितान्त घातक है। ये लोग भारतवर्ष-रूपी गऊ को दुहने के लिये बछड़े का काम देते हैं। दो-चार बूँद दूध इनके मुँह में जाता है, और बाक़ी सब, इनकी ओट में, विलायत के व्यापारी उड़ा ले जाते हैं। यदि सरकार की विपुल सहायता न मिले, और विलायती सामान मँगाना बंद कर दिया जाय, तो हिन्दोस्तान के तमाम डॉक्टर किसी दफ़्तर में साधारण क्लर्की करने के सिवा और किसी मसरफ़ के न रहें।

१३. जब तक रोगी की प्रकृति, सात्म्य, बल आदि न देखा जाय, रोग, दोष, दूष्य, देश, काल, अवस्था आदि के बलाबल की विवेचना न की जाय, एवं इन सबके साथ रोगी को दी जानेवाली दवा के प्रत्येक अङ्ग का मिलान करके इन सबका सामञ्जस्य न कर लिया जाय, तब तक किसी को कोई दवा दे बैठना अन्ध-चिकित्सा

है। इसी कारण कोई अच्छा वैद्य या हकीम किसी पेटेंट दवा को नहीं पसन्द करता। जिसने वह पेटेंट दवा चलाई है, वह यदि उसके सब तत्व बतला दे, तब तो हरएक उसे बना ले, और पैसा लूटने के जिस उद्देश्य से उसने वह दवा चलाई है, वह नष्ट हो जाय। अतः वह ऊपरी बातों से तारीफ़ के पुल बाँधता है, और असली रूप को छिपाए रखता है, जिसके जाने विना रोगी, रोग और औषध की प्रकृति का सामञ्जस्य करना असम्भव होता है। इसी कारण कोई अच्छा चिकित्सक पेटेंट दवा देना उचित नहीं समझता। परन्तु आज छोटे से बड़े तक, सभी एलोपैथ डॉक्टर सैकड़ों पेटेंट दवाओं का धड़ाधड़ प्रयोग करते हैं। भारत में ऐसा एक भी एलोपैथ न निकलेगा, जो विलायत की पेटेंट दवाओं का प्रयोग न करता हो। यह एक ही बात एलोपैथी-चिकित्सा की अपूर्णता, हेयता, हीनता और अन्धेपन को सिद्ध करने के लिये काफ़ी है।

१४. चरक ने लिखा है, जो प्राणी जिस देश में उत्पन्न हुआ है, वहीं की जल-वायु में उत्पन्न औषध उसे हितकर होती है। विलायत में भी जल-वायु की अनुकूलता का प्रश्न अक्सर उठता रहता है। इँगलैंड और फ्रांस के बीच केवल २४-२६ मील का अन्तर है। परन्तु अनेक अवसरों पर फ्रांस के डॉक्टर इँगलैंड की बनी दवा को, और इँगलैंड के डॉक्टर फ्रांस की बनी दवा को यह कहकर हटा देते हैं कि उस देश की 'क्लाइमेट' (जल-वायु) यहाँ 'सूट' (अनुकूलता) नहीं करती। परन्तु भारत में यह प्रश्न कभी नहीं उठाया गया। चाहे जर्मनी की बनी दवा हो, चाहे इँगलैंड की, चाहे जापान की या अमेरिका की, हिन्दोस्तानियों के शरीर में सब जगह की 'क्लाइमेट सूट' कर जाती है। इससे स्पष्ट है कि एलोपैथी का प्रचार करने में व्यापारिक दृष्टि के साथ-साथ अर्थ-शोषण की नीति से भी काम लिया जाता है।

१५. साइंस का उच्च कोटि का सामान न तो सब डॉक्टरों के पास रहता है, और न सर्वसाधारण जनता को इससे कोई लाभ होता है। ५ करोड़ की जनता (यू० पी०) में केवल आगरे और लखनऊ के कॉलेजों में यह सामान है। इससे लाभ या तो अँगरेज़ों को होता है, या कुछ उन लोगों को, जो पानी की तरह रुपया बहा सकते हैं। ५) में मूत्र की परीक्षा, १०) में मल की परीक्षा और १०) में रुधिर की परीक्षा होती है! यदि एक बार में काम न चला, तो फिर दिखलाइए। दवा से पहले बीमारी का निश्चय कराने के लिये ही ४० रुपए चाहिए। भारत के आदमियों में—जहाँ आय प्रति मनुष्य ३ पाई है—ऐसे कितने निकलेंगे, जो इतना ख़र्च बर्दाश्त कर सकें? भारत ग्राम-प्रधान देश है। यहाँ फ़ी सदी ८५ आदमी गाँवों में ही रहते हैं, और गाँवों में जो डॉक्टर, सब-असिस्टेंट सर्जन भेजे जाते हैं, वे इन विषयों में एकदम 'निपट अनाड़ी' होते हैं। अतः भारत की सर्वसाधारण जनता को इन सामानों से कोई लाभ नहीं है। उसका जो रुपया इन सामानों के लिये बहाया जाता है, वह एकदम व्यर्थ है। उसके लिये उसके रुपए से देशी औषधों का प्रबन्ध जितना सुगम, सुलभ और हितकर हो सकता है, उतना विलायती सामान कदापि नहीं हो सकता।

१६. साइंसवालों के पास ऐसा कोई सामान नहीं है, जिससे वे आयुर्वेद की तरह भूत, भविष्य, वर्तमान के समस्त रोगों, औषधों और पथ्यों का निर्णय कर सकें। किसी नए रोग के प्रकट होने पर पश्चिमी चिकित्सकों के हाथ-पैर फूलने लगते हैं। उनके पास ऐसा कोई साधन नहीं, जिससे वे जनता को हानि पहुँचाए बिना उस नवीन रोग का प्रतिकार कर सकें। पिछले दिनों इनफ़्लुएंज़ा में यह बात सिद्ध हो चुकी है। इसमें भारत के एक करोड़ के लगभग लोग स्वाहा हो गए; पर एलोपैथी के किए-धरे कुछ न बना! आयुर्वेद की चिकित्सा से उसकी अपेक्षा कहीं अधिक लाभ हुआ।

१७. अनवस्थित साइंस के आधार पर लोगों की काय-चिकित्सा करना एक प्रकार का विश्वासघात है।

१८. साइंस जड़ साधनों के द्वारा जड़ वस्तुओं पर जो परीक्षाएँ करता है, उन्हीं का चेतन-प्राणियों पर भी आँख मीचकर प्रयोग करना शुरू कर देता है। परन्तु चेतन-प्राणियों को हानि पहुँचाए विना वह उन पर होनेवाले प्रभाव का निर्णय करने में असमर्थ है। जिस तरह साइंस एक नली में मलेरिया के कीड़े भरकर, कुनैन के द्वारा उन्हें मारकर, दिखला देता है, इसी तरह बुख़ार के ऊपर कुनैन का प्रभाव दिखलानेवाली कोई नली उसके पास नहीं है। अतः काय-चिकित्सा के मार्ग में साइंस अधूरा है।

१६. जो चिकित्सा-पद्धति किसी वस्तु के गुण, दोष और दोषों से उत्पन्न होनेवाले विकारों का परिहार नहीं बतला सकती, वह अपूर्ण है। चरक से जिस प्रकार कुनैन के गुण, उसके दोष और उसके दोषों से उत्पन्न होनेवाले विकारों के शान्त करने का मार्ग विदित होता है, उस प्रकार का ज्ञान करानेवाली कोई ट्यूब (tube) साइंस के पास नहीं है। अतः पश्चिमी चिकित्सा काय-चिकित्सा के अयोग्य है।

२०. जब तक साइंस के सिद्धान्तों का परिवर्तन बन्द नहीं होता, तब तक किसी चिकित्सा-पद्धति के साथ 'साइंटिफ़िक'-शब्द जोड़ना गर्व की नहीं, बल्कि लज्जा की बात है; क्योंकि 'साइंटिफ़िक-चिकित्सा' का अर्थ होता है 'अनिश्चित चिकित्सा', 'सन्दिग्ध चिकित्सा', 'भ्रान्त चिकित्सा' तथा 'अपूर्ण चिकित्सा'।

२१. बहुत-से रोगी ऐसे होते हैं, जिन्हें कभी ज्वर आदि होता है, और कभी कोई फोड़ा आदि। वैद्य लोग सर्जरी में एकदम कोरे होते हैं, अतः फोड़े के लिये किसी डॉक्टर का बुलाना आवश्यक होता है। ऐसी दशा में कुछ तो ख़र्च के ख़याल से, कुछ दो चिकित्सकों की दवा में विरुद्ध प्रभाव हो जाने के भय से रोगी को अपनी इच्छा के विरुद्ध ज्वर आदि की दवा भी डॉक्टर से ही लेनी पड़ती है। सरकार की अपूर्व कृपा के कारण न तो वैद्यों को सर्जरी का ज्ञान होने पाता है, न इनका कोई दृढ़ संगठन ही। इसी कारण भारत के रईसों के बड़े-बड़े दानों की औषध-सम्बन्धी रक़में भी एलोपैथी के पेट में ही समा जाती हैं, जो उसके प्रचार और विस्तार का कारण बन रही हैं।

२२. बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो दवा तो किसी वैद्य की खाते हैं, परन्तु नौकरी जाने के भय से, बीमारी का सार्टिफ़िकेट लेने के लिये, सिविल सर्जन साहब के पास जाते हैं, और साहब की नाराज़ी के भय से दवा भी शफ़ाख़ाने से लाकर घर में फेंक देते हैं। इन बातों से साधारण जनता में एलोपैथी का अनुचित महत्त्व बढ़ता है।

२३. यदि कोई अँगरेज़ या अधगोरा हिन्दोस्तानी दवा करे, तो उसकी नौकरी में भी बखेड़ा पड़े, और बिरादरी (क्लब) से भी निकाला जाय। अत्यन्त दुखी होने पर ऐसे कई लोग देशी दवा चोरी से करते हैं, और साथ ही बड़ी नम्रता से यह प्रार्थना भी करते जाते हैं कि उनकी बात किसी को विदित न हो। सरकार ने एलोपैथी को जो अनुचित महत्त्व दे रक्खा है, उसी का यह परिणाम है। यदि वैद्यों को सर्जरी का ज्ञान हो जाय, और धर्मप्राण भारतीयों को यह ज्ञान हो जाय कि पश्चिमी चिकित्सा में गऊ, सुअर, शराब आदि की सर्वपर्थीन कर्मनाशा बहाई जाती है, एवं अँगरेज़ों की तरह सुसंगठित हिन्दोस्तानी लोग भी यह नियम कर दें कि जो हिन्दोस्तानी अँगरेज़ी दवा खायगा, वह बिरादरी से भी निकाल दिया जायगा, और नौकरी से भी बरख़ास्त कर दिया जायगा, तो निःसन्देह दो ही दिन में पश्चिमी चिकित्सा को यहाँ से 'सात समुन्दर-पार' भाग जाना पड़े।

यदि मेजर डॉक्टर रणजीतसिंह साहब बहादुर या अन्य कोई एलोपैथ हमारे इन आक्षेपों का समाधान करने का साहस करेंगे, तो हम इनके आगे कुछ और भी पूछेंगे।

आयुर्वेद के ऊपर जो कड़े-से कड़े आक्षेप हो सकते हैं, उन सबका उल्लेख करके विस्तृत, गम्भीर और हृदयङ्गम समाधान इस पुस्तक में किया गया है; परन्तु इस संक्षिप्त लेख में इतना स्थान नहीं कि उन सब बातों का उल्लेख किया जा सके।

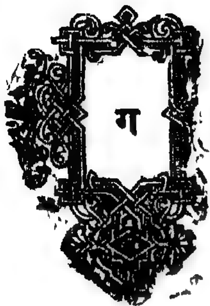
हमारी सम्मति में जब तक आयुर्वेद के उद्धार का पूरा उपाय न किया जायगा, और जब तक आयुर्वेद के नाम से ठगी करनेवाले धूर्तों का रास्ता न रोका जायगा, जब तक आयुर्वेद के नाम से छिपा-छिपाकर विलायती दवाएँ बेचनेवाले और दक्षिणा के लोभ से सार्टिफ़िकेट बेच-बेचकर जनता की दृष्टि में धूल झोंकनेवाले नक़ली 'कविराजों' का मार्ग बन्द न किया जायगा, जब तक आयुर्वेद को बदनाम करनेवाले स्वार्थी लोगों का मुँह बन्द न किया जायगा, और अति प्राचीन ईश्वरीय ज्ञान से सम्पन्न, दृढ़, अपरिवर्तनीय, आयुर्वेदिक सिद्धान्तों और औषधों को नवीन साधनों की सहायता से देश-कालोपयोगी न बनाया जायगा, तब तक संसार निश्चित, अभ्रान्त और हितकर चिकित्सा से वञ्चित ही रहेगा।*

शालग्राम शास्त्री

---

* 'आयुर्वेद-महत्त्व' प्रकाशित हो गई है। अगले अंक में इसका परिचय प्रकाशित होगा।—संपादक

स्वर्गीय पं० नंदलाल-विश्वनाथ दवे



गत मई-मास में मध्यप्रदेश-निवासी एक ऐसे सज्जन की मृत्यु हो गई, जिनके समान उत्साही, दृढ़-संकल्प और उच्च आदर्श के मनुष्य विरले ही मिलते हैं। इस समय अन्य प्रदेशों की बात तो दूर रही, मध्यप्रदेश में भी ऐसे लोग कम मिलेंगे, जो उनके नाम अथवा जीवनी से परिचित हों। कारण, उनको सरकारी कार्य-क्षेत्र से अलग हुए बत्तीस वर्ष से ऊपर होने आए। इतने समय में नई दुनिया पैदा हो गई; नए लोग, नए विचार, नई पद्धतियाँ क्षेत्र में आ गईं, और स्वभावतः पुराने कार्य-कर्ताओं को लोग धीरे-धीरे भूल गए। परंतु यथार्थ में यदि मध्यप्रदेश में हिंदी का मान अब इतना बढ़ गया है, तो इसका यश उन्हीं तीन-चार सज्जनों को देना चाहिए, जिन्होंने आरंभ-काल में हिंदी की उन्नति के लिये बहुत कुछ प्रयत्न और परिश्रम किया। उनमें से एक हमारे चरित्र-नायक हैं। दूसरे, पं० विनायक रावजी का देहांत परसाल हो गया था। अँगरेज़ी में एक कहावत है—"जिस व्यक्ति ने पहलेपहल यह ढूँढ़ निकाला कि एक और एक दो होते हैं, उसे आजकल के अनेक गणित-विद्याविशारदों की अपेक्षा अधिक मान देना चाहिए।"

अनुमानतः चालीस वर्ष हुए, मध्यप्रदेश में भी उर्दू का वैसा ही पूर्ण राज्य था, जैसा कि अभी पंजाब में है, और थोड़े ही दिन हुए, संयुक्तप्रांत में था। अदालतों की भाषा उर्दू, शिक्षित समाज की भाषा उर्दू! अच्छे-अच्छे ब्राह्मण-कुमार तक उर्दू-फ़ारसी जानने का फ़ख़्र करते थे। प्राइमरी शालाओं तक में उर्दू का दौरदौरा था। जहाँ देखिए, वहाँ उर्दू का ही साम्राज्य था। इस प्रदेश में ऐतिहासिक तथा अन्य कारणों से महाराष्ट्र लोगों में हिंदूपन की झलक हमेशा से अधिक रही है; पर वे भी उर्दू-फ़ारसी के जाल में फँसे हुए थे। यदि कोई ब्राह्मण-बालक उस समय कोई संस्कृत-शब्द का उपयोग कर देता, तो लोग कहने लगते—"बिरोमिन का बच्चा है, संसकीरत पढ़के भीख तो भी माँग खायगा।" जब संस्कृत को ऐसा आदर मिलता था, तब बेचारी हिंदी किस खेत की मूली थी! वह तो गँवारों तथा देहक़ानियों की बोली मानी जाती थी। न कोई उस भाषा में लेख या पुस्तक लिखने की हिम्मत करता, न व्याख्यान देता था। लोग हिंदी के नाम से नाक-भौं सिकोड़ने लगते थे।



स्वर्गीय पं० नंदलाल-विश्वनाथ दवे
(विरक्त अवस्था में)

सन् १८८४ ई० में सर जॉन मॉरिस (जो उस समय चीफ़ कमिश्नर थे) ने हुक्म दिया कि आइंदा से हिंदी-ज़िलों की (जिनकी संख्या कुल १३ थी) अदालती भाषा हिंदी ही हो जाय, प्राइमरी शालाओं में हिंदी पढ़ाई जाय, और सरकारी काग़ज़ात देवनागरी में ही लिखे जायँ। हुक्म देना तो सहज है, पर माननेवाले भी तो चाहिए। लिपि में तो परिवर्तन हो गया; परंतु भाषा ज्यों-की-त्यों रही, लोगों की चित्त-वृत्ति ज्यों-की-त्यों रही। हिंदी-पाठशालाओं के शिक्षक तक उम्दा लच्छेदार उर्दू में ही अर्ज़ी देते थे। उन दिनों की हवा ही कुछ ऐसी थी कि हिंदी में इस प्रकार की अर्ज़ियाँ पेश होती थीं—"जनाब डिपुटी इंस्पेक्टर साहब मदारिस दाम-इक़बालहू, फ़िदवी कमतरीन अर्ज़ कर उम्मेदवार है कि दो योम की छुट्टी इनायत फ़र्माई जाय।" जब लोग इस प्रकार की गाढ़ी नींद में पड़े हुए थे, तो सरकार की मदद से लाभ उठाने की आशा ही क्या कर सकते थे!

ऐसे अंधकार के समय शिक्षाखाते में तीन-चार व्यक्ति ऐसे थे, जो कठिनाइयों से न डरकर इस उद्योग में लगे थे कि जैसे बने, वैसे शालोपयोगी ऐसी पुस्तकें बनें, जिनमें ऐसी भाषा हो, जिसे यहाँ के लोग समझ सकें; देवनागरी-अक्षरों में केवल फ़ारसी की ही पढ़ाई न हुआ करे। इन व्यक्तियों में हमारे चरित्र-नायक भी थे, और उन्होंने विलक्षण उत्साह से काम किया।

मुझे जबलपुर-शहर में ३२ वर्ष होने को आए। मैं आगरे से आया था, जहाँ उर्दू-फ़ारसी का प्राधान्य सदा से था। मैंने उर्दू में अच्छे-अच्छे व्याख्यान सुने थे, उर्दू के नाटक अनेक बार देखे थे, उर्दू की उत्तम-उत्तम पुस्तकें भी देखी थीं। वातावरण का प्रभाव इतना ज़बर्दस्त पड़ा था कि मेरा भी दृढ़ विश्वास हो गया था कि न तो हिंदी में कोई नाटक हो सकते हैं, न कोई अच्छा साहित्य, न कोई अच्छे व्याख्यान। भाग्यवश किसी एक डिबेटिंग-सोसाइटी में जाने का अवकाश मिला। वहाँ कोई तो अँगरेज़ी में लेक्चर देता, कोई उर्दू में, और कोई मराठी में। हिंदी के नाम से प्रायः सब मुँह छिपाते थे। पर एक व्यक्ति उस समय ऐसा भी आता था, जो सरल, ओजस्वी हिंदी में व्याख्यान देता, और काम पड़ने पर घंटों बोल सकता। वह कभी तुलसी, कभी सूरदास, कभी कबीर के वचन सुनाता, तो कभी बुंदेलखंडी, ब्रजभाषा या अन्य बोलियों की कहावतें इतने प्रेम से कहता कि सुननेवाला मुग्ध हो जाता। बोलते-बोलते जब जोश आ जाता, तो उसकी वाणी अत्यंत मोहनी हो जाती, और सुननेवाले विह्वल हो जाते। मेरे मन पर तो उसके व्याख्यानों का बड़ा ही प्रभाव पड़ा। तरह-तरह के प्रश्न उठने लगे—क्या हिंदी में भी ऐसी शक्ति है, जो मन पर प्रभाव डाल सके? क्या हिंदी-कवियों के कथन ऐसे हैं, जिन्हें शिक्षित-समाज आनंद-पूर्वक सुन सकता है? अस्तु, हिंदी के प्रति तिरस्कार-बुद्धि जाती रही, और जिज्ञासा प्रदीप्त होने लगी।

पूछने पर मालूम हुआ कि यह व्यक्ति पं० नंदलाल-विश्वनाथ दुबे हैं, जो नार्मल स्कूल के सुपरिंटेंडेंट हैं। मातृ-भाषा इनकी गुजराती है, परंतु उर्दू, फ़ारसी, संस्कृत भी अच्छी जानते हैं; बी० ए० तक अँगरेज़ी भी पढ़े हैं। हिंदी के बड़े प्रेमी हैं। ब्रजभाषा तथा बुंदेलखंडी अच्छी तरह बोल सकते हैं। यूक्लिड का हिंदी में अनुवाद किया है, कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'शकुंतला' तथा भवभूति के 'उत्तर-रामचरित्र' का हिंदी में अनुवाद किया है, 'श्रीउद्यान मालिनी' नाम का एक बृहत् पद्य-ग्रंथ, धर्मोपदेश के लिये, लिख चुके हैं। मध्यप्रदेश में पहले-ही-पहल हिंदी के उपर्युक्त नाटकों का मंच पर अभिनय कराया है, धर्म-प्रचार के लिये बाज़ार, हाट, स्कूलों में उपदेश दिया करते हैं। पर हिंदी-प्रेमी तथा भक्ति की मात्रा अधिक होने के कारण शिक्षित-समाज इन्हें पागल नहीं, तो सनकी अवश्य समझता था।

मेरी जिज्ञासा प्रबल होने लगी। उनके दोनों ग्रंथों के अनुवाद बारीकी से देख संस्कृत के आदि-ग्रंथों से मिलान किया। फिर राजा लक्ष्मणसिंह तथा लाला सीता-राम के अनुवादों से भी मिलान किया। निम्न-लिखित विशेषताएँ देखने को मिलीं—

(१) संस्कृत के ग्रंथों का अर्थ जितनी बारीकी तथा शुद्धता से इन्होंने समझा, और अनुवाद में प्रकट किया है, उतना दूसरे अनुवादकों से नहीं बन पड़ा।

(२) संस्कृत-वृत्तों में हिंदी-कविता करने का साहस पहलेपहल इन्हीं ने किया। इनके पहले के किसी ग्रंथ में यह बात देखने में नहीं आई थी। इस प्रयत्न में उनकी कविता क्लिष्ट अवश्य हो गई है; परंतु शब्द-माधुर्य फिर भी बहुत है।

(३) गद्य में इनकी भाषा अति सरल, मधुर और बिना प्रयास समझने-योग्य है।

(४) स्त्रियों की भाषा व्रजभाषा, नौकरों की बुंदेलखंडी और पुलीसवालों की उर्दू-मिश्रित हिंदी रक्खी गई है।

आधुनिक दृष्टि से इन दो पुस्तकों में कुछ दोष निकाले जा सकते हैं; परंतु यह भी याद रखना चाहिए कि पं० नंदलालजी ने हिंदी-साहित्य के लिये सफ़रमैना का काम किया है। अब इंजिनियर कृपा कर उस क्षेत्र को बहुत कुछ सुधार रहे हैं। खेद है, ये दोनों पुस्तकें अब अप्राप्य हैं। ये पुस्तकें बहुत करके नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ में छपी थीं। विचित्रता यह कि ये सन् १८८६-८७ में लिखी गईं, जब पंडितजी उड़िया-प्रांत में संबलपुर-हाई स्कूल के हेडमास्टर थे। वहीं इन नाटकों का अभिनय कराया गया था। उन दिनों हिंदी-पुस्तकें गलतियों से भरी रहा करती थीं; परंतु इन दोनों में अशुद्धियाँ देखने को नहीं मिलती थीं। फिर छपाई, कागज़, गेट-अप आदि सब उत्तम। क्या यह बात अद्भुत नहीं कि इस प्रदेश के सर्वप्रथम हिंदी-नाटक एक गुजराती महाशय लिखें, वे उड़िया-देश में लिखे जायँ, और उनका अभिनय भी उसी देश में हो!

पंडित नंदलालजी ने हिंदी की ओर मेरा प्रेम कुछ जाग्रत होता देख 'उद्यान-मालिनी'-नामक अपने पद्य-ग्रंथ की ७-८ कॉपियाँ भेंट कीं। मैंने उसे पढ़ा, और समझने की कोशिश भी की। परंतु उस समय संस्कार प्रबल न थे। अधिक न समझ सका। उनकी फ़िलासफ़ी का सार मुझे जो मालूम हुआ, वह नीचे लिखता हूँ—यह दुनिया एक उद्यान है; ईश्वर ऐसी मालिन है, जो किसी पेड़ को उखाड़ती, किसी को बढ़ाती, किसी को सींचती और किसी को लगाती है। जो पेड़ उसके अभिप्राय के साधक होते, वे पनपते और जो बाधक होते, वे काट दिए जाते हैं। उनका उद्देश्य सब धर्मों तथा पंथों को एक करके 'श्रीउद्यान-मालिनी' के झंडे के नीचे लाने का था। जाति मद वह रखना नहीं चाहते थे, और धर्म-द्वेष मिटाना चाहते थे। उनकी उदारता का परिचय 'श्रीउद्यान-मालिनी' के एक पद से विदित होगा—

हिंदु, जैन, इसलाम, क्रिस्त पारसि सब मेरे;
धर्म-जगत में जाग, मोहबश नहिं शठ हेरे।

पंडितजी ने योगाभ्यास अच्छा किया था, और इस विषय में पहुँचे हुए भी थे। उनकी आँखें ही देखने से मालूम होता था कि उनकी दिव्य दृष्टि जाग्रत् है। और, वार्तालाप करने से तो पूज्य-भाव एकदम बढ़ जाता था।

सुना जाता है, एक अँगरेज़ के कारण इनके धर्मोत्साह और कवित्व-शक्ति की जागृति हुई। संबलपुर में जब यह हेडमास्टर थे, तब गुडरिज साहब डिप्टी कमिश्नर (कलेक्टर) थे। यह हिंदोस्तानियों से बहुत सहानुभूति रखते और विद्वानों की खोज में रहते थे। एक दिन कंपनी-बाग़ में गुडरिज साहब, हमारे चरित्र-नायक तथा दो-तीन अन्य सज्जन टहलते-टहलते एक फाटक के नीचे से निकले। वसंत-ऋतु थी, मधुमालती के फूल फूले हुए शोभा दे रहे थे। साहब ने पूछा—पंडितजी, क्या किसी संस्कृत अथवा हिंदी-कवि ने इस शोभा का वर्णन किया है? पंडितजी से कोई उदाहरण तो देते बना नहीं, पर खुद हिंदी की एक कविता बनाकर वहीं सुना दी। साहब उनकी कवित्व-शक्ति पर विस्मित हुए, और उनसे कविता करते रहने का आग्रह करने लगे। आपस में मित्रता बढ़ गई, और समय-समय पर बैठक में वेदांत पर वादानुवाद होने लगा। पं० नंदलालजी अपने विचारों को पद्य में गढ़कर इन्हें सुनाते और साहब भी मग्न हो उनसे वेदांत, माया आदि विषयों की चर्चा सुनते, अपना मत देते और पंडितजी का उत्साह बढ़ाते थे। धीरे-धीरे पंडितजी में ध्यान, मनन तथा योगाभ्यास की शक्ति बढ़ चली। इसकी मात्रा इतनी बढ़ गई कि २४ घंटे बराबर ध्यान में मग्न अथवा लिखते बैठे रहते थे। कुछ वर्ष उपरांत उनका उत्साह इतना बढ़ गया कि संसार से विरक्त हो सरकारी नौकरी छोड़ दी, और धर्मोपदेश के लिये फिरने लगे।

यह गुडरिज महोदय वही थे, जो पेंशन लेकर लंदन में कांग्रेस-कमेटी के मेंबर हुए। जब १८९६-९७ में मध्य-प्रदेश में घोर दुर्भिक्ष पड़ा, और अंदाज़न् बीस लाख मनुष्यों की अकाल-मृत्यु हुई, तब विलायत से आकर इन्हीं ने लेक्चर, लेख, फ़ोटो आदि के द्वारा मध्यप्रदेशीय तथा हिंदोस्तान की सरकार को जाग्रत कर उचित व्यवस्था करने को बाध्य किया था। मध्यप्रदेश के लोग उनकी इस सेवा को भूल नहीं सकते।

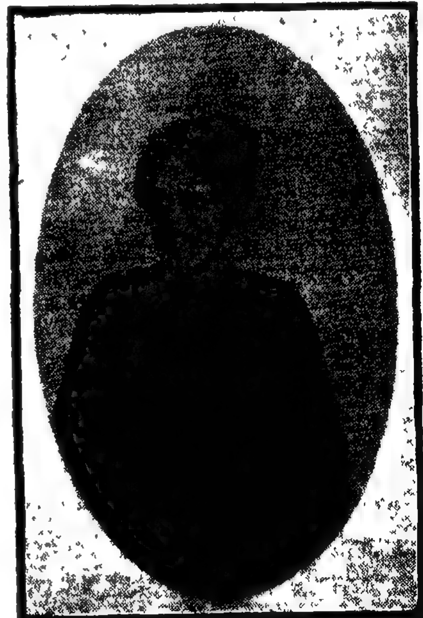
हमारे चरित्र-नायक का जन्म संयुक्तप्रांत में, उरई में,

संवत् १६०४ में, हुआ था। परंतु उन्होंने मध्यप्रदेश के हटा तथा सागर-नामक क़स्बों में प्राथमिक शिक्षा पाई। पहले हिंदी सीखी। फिर अदालती भाषा उर्दू होने के कारण एक मौलवी के पास उर्दू पढ़ी। पीछे अँगरेज़ी सीखी। उन दिनों म० प्र० में केवल सागर में ही हाई स्कूल था। यहाँ से एफ़० ए० पास कर बी० ए० पढ़ने के लिये प्रयाग के म्योर-कॉलेज में गए। वहाँ पं० आदित्यराम भट्टाचार्यजी की अध्यक्षता में संस्कृत में विशेष निपुणता प्राप्त की। परंतु बीमारी के कारण परीक्षा न दे सके।

उन दिनों मध्यप्रदेश में शिक्षा का इतना अभाव था कि एफ़० ए०-पास मुँह-माँगी जगह ले सकता था। दवेजी चाहते, तो प्रयाग से लौटने पर तहसीलदार अथवा छोटे साहब सुगमता से हो जाते। पर द्रव्योपार्जन की ओर उनका लक्ष्य कभी नहीं रहा। सोच-विचार कर शिक्षाखाते में शिक्षक हो गए। फिर, कुछ दिन डिपुटी इंस्पेक्टरी कर, संबलपुर-स्कूल के हेडमास्टर हो गए। इन्हीं के उद्योग और उड़ीसा-प्रांत के राजों की मदद से, सन् १८८७ में, वहाँ उड़िया-प्रांत के लिये एक गवर्नमेंट हाई स्कूल खोला गया, और आप उसके हेडमास्टर हुए। पीछे सन् १८६० ई० में, जबलपुर नार्मल स्कूल के सुपरिंटेंडेंट, और सन् १८६१ ई० में रायपुर हाई स्कूल के हेडमास्टर हुए। छत्तीसगढ़ के देशी राज्यों में इनका बड़ा नाम था, विशेषकर उड़िया-राजों में राजा बामरा, राजा सोनपुर आदि राजा इन्हें बहुत ही मानते थे। यदि इन्हें पैसे का लोभ होता, तो न-जाने कौन-सा पद प्राप्त कर लेते। एक समय, जब यह केवल असिस्टेंट मास्टर थे, अफ़सरों ने इन्हें बिना माँगे डिपुटी कलेक्टरी (छोटे साहबी) का पद देने का विचार प्रकट किया। पंडितजी ने उत्तर दिया कि मैं छोटे साहब तथा तहसीलदार तैयार करना पसंद करता हूँ, पर स्वयं बनना नहीं चाहता। इनके पास पढ़ने का जिन लोगों को सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे कहते हैं कि परीक्षा पास कराने में तो मेहनत करते ही थे; पर उनका विशेष लक्ष्य आचार-सुधार, धर्म-शिक्षा तथा लोक-सेवा की ओर रहता था। विद्यार्थियों के साथ बड़े प्रेम का भाव रखते थे, बेत चलाना या भला-बुरा कहना ठीक नहीं समझते थे।

खेद की बात है कि सन् १८६२ में आपने धर्मोत्साह में आकर सरकारी नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया, अपने आश्रित जनों को त्याग संन्यासी हो गए। अफ़सरों ने बहुत चाहा कि आप न जायँ, मित्रों ने भी भरपूर कोशिश की; पर उन्होंने एक की न मानी। ख़ैर, उनके मित्रों और अफ़सरों के उद्योग से उनके आश्रितों के हितार्थ पेंशन मंजूर हुई। कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि यदि कोई योग्य व्यक्ति धर्म-क्षेत्र में कार्य के लिये प्रस्तुत होता है, और इस कारण संसार के बंधन काटता है, तो उसमें खेद क्यों किया जाय? मेरा उत्तर यह है कि हमारे चरित्र-नायक-सरीखे पर-स्वार्थ-बुद्धि तथा उत्साही जीव के शिक्षा-क्षेत्र में रहने से जितना लोगों का उपकार होता, उतना उनके अन्य क्षेत्र में रहने से नहीं हो सकता। दूसरे, ढाई बरस के अटूट परिश्रम के उपरांत उनको अनुभव भी यही हुआ कि लोग उनके उपदेश ग्रहण करने के लिये अभी तैयार नहीं हैं, और उनको अंत में संन्यास छोड़ना पड़ा। तीसरे यह कि उनकी साध्वी स्त्री तथा छोटे-छोटे बच्चों को उनके संन्यास लेने से अनेक कष्ट सहने पड़े। गृहस्थाश्रम-धर्म पूरा निभ चुकने पर ही संन्यास लेना उचित है।

संन्यास छोड़ने के उपरांत उन्होंने समाज-सेवा की ओर विशेष लक्ष्य दिया। कभी मालगुज़ारी-सभा में कार्य कर ग़रीब किसानों की उन्नति का उद्योग करते, कभी पब-



स्वर्गीय पं० नंदलाल-विश्वनाथ दवे
(७७ वर्ष की अवस्था का चित्र)

लिक सर्विस-कमीशन के प्रश्नों के उत्तर तैयार कर रईसों तथा साक्षियों को हिंदोस्तानियों के हक़ के लिये लड़ने को मसाला तैयार कर देते, कभी दीन-दुखियों की सेवा मे लग जाते। सन् १८६८ में एक पैंफ़लेट छपाकर बाँटा, जिसमें उन्होंने ऐसी हिंदी-युनिवर्सिटी का एक मसौदा तैयार किया था, जिसमे सब प्रकार की शिक्षा हिंदी ही मे दी जाय। उस समय हिंदी-भाषा की युनिवर्सिटी की बात भला कौन सुननेवाला था? उनकी विनती को लोगों ने ताक़ पर रख दिया। समय के पहले किए गए प्रयत्नों के फल बहुधा ऐसे ही हुआ करते हैं। परंतु यदि महापुरुषों का लक्षण यह है कि समय के पहले ही वे आवश्यकताएँ देख लेते हैं, तो यह कहना अनुचित न होगा कि पं० नंदलालजी में महत्ता के कई लक्षण थे।

आजकल शिक्षित-समाज का प्रायः सर्वमान्य मत यह है कि केवल माला जपने की अपेक्षा हीन-दीन-दुखियों की सहायता करना प्रत्येक मनुष्य का मुख्य धर्म है। अस्पृश्य-जातियों से घृणा करना अथवा दूर रहना भी निंदनीय है। परंतु कुछ बरस पहले लोगों के विचार कुछ दूसरे ही थे। ऊँची जाति के लोग नीच की सेवा करना तो दूर रहा, छूने तक मे अपनी हेठी समझते थे। सरकारी नौकरों में तो और भी नवाबी की बू भरी रहती थी। परंतु हमारे चरित्र-नायक में, जो उच्च कुल के गुजराती खेड़ावाल-ब्राह्मण थे, सरकारी अफ़सर थे, सेवा-धर्म की मात्रा आरंभ से ही चढ़ी-बढ़ी थी। बाज़ार अथवा मंदिरों में उपदेश देना, रोगियों की सेवा करना, उनका मल-मूत्र तक आवश्यकतानुसार धोना, भूखों को खिलाना-पिलाना उनके लिये मामूली बात थी। यदि कोई रोगी-दुखी उन्हें रास्ते मे देख पड़ता, तो जाति-पाँति को न देख उसे घर ले आते, मरहम-पट्टी करते, दवा खिलाते, स्वच्छ कपड़ों का बंदोबस्त करते, और जब तक उसके दुःख का निवारण न हो जाय, पीछा न छोड़ते थे। सन् १९१८ के इनफ़्लुएंज़ा के प्रकोप के समय लोक-सेवा में आपने सराहनीय प्रयत्न किया। आयुर्वेदिक दवाएँ लिए-लिए गाँव-गाँव फिरते रहे, और बुढ़ापे में अपने कष्ट की परवा न कर देहातियों की सहायता की। मंदिरों में जाकर घंटों ग़रीबों को उपदेश देते और उपदेश देते-देते आनंद से विह्वल हो जाते थे। लोग इन कारणों से बहुत दिनों तक इन्हें पागल समझते रहे। बिरादरीवाले जाति से बाहर करने के प्रपंच में पड़े रहे। पर इन्हें परवा न खाने की थी, न पीने की, और न तन की सुध थी। इन्होंने घर-दर छोड़कर देश-हित धूनी रमाई थी।

अब ऐसे कार्य सराहनीय समझे जाते हैं। परंतु पं० नंदलालजी का क़सूर यदि था, तो इतना ही कि उन्होंने यह कार्य समय के पहले ही शुरू कर दिया था। ये ही उनकी महत्ता के लक्षण हैं। ख़ुशी की बात यह है कि सरकार ने नौकरी के समय उनके देश तथा समाज-सेवा के कार्य में बाधा नहीं डाली।

अभी कुछ साल से पुरुषसूक्त की टीका तथा भगवद्गीता के भाष्य एवं महाभारत पर कुछ नोट्स लिख रहे थे। उनका विश्वास था कि जब तक मनुष्य किसी उपयोगी कार्य मे लगा है, तब तक उसकी मृत्यु नहीं होती। गत वर्ष जब वह बहुत बीमार हुए, घर के लोग भय-भीत हो गए। पर उनका कहना यही था कि मेरा कार्य समाप्त नहीं हुआ, अभी मैं मरता नहीं। अभी, हाल ही में, जब इन पुस्तकों का कार्य समाप्त हो गया, तब बोले कि अब मेरा इस जन्म का कार्य समाप्त हो गया। अब मैं टिक नहीं सकता। शीघ्र ही ७८ वर्ष की अवस्था मे उनका देहांत हो गया।

अपने चरित्र-नायक के जीवन में मुझे चार बातें विशेष महत्त्व की मालूम होती हैं—एक तो वह बड़े दृढ़-संकल्प थे; जिस काम को हाथ मे लेते, उस पर सोलहों-आने ध्यान देते; तन, मन, धन, सब अर्पण कर देते; न अपने शरीर का कष्ट देखते, न दूसरों का सुख। यही कारण है कि ७८ वर्ष की अवस्था में भी जवान देख पड़ते और जवानों से चौगुना अधिक काम कर दिखाते थे। दूसरे, उनके मन में दीन-दुखियों पर बड़ी दया रहती। स्वार्थ की मात्रा इतनी कम थी कि जो पुस्तकें छपवाते, उन्हें मुफ़्त बाँटने को तैयार रहते। बिक्री हो या न हो, लोगों का उपकार हो, यही उद्देश्य रहता था। इसी प्रकार उनकी जीवनी त्याग-मूर्ति के समान थी। चौथी बात यह कि उनके आचार-विचार समय के बहुत आगे के थे। इसलिये उनका जीवन सफल-सा नहीं देख पड़ता।

ईश्वर अच्छे कर्मों का फल अनेक रूपों में देता है। दवेजी को अपने प्रयत्नों का फल बहुत कम

मिला, बहुधा असफलता ही मिली; परंतु अत्यंत आनंद की बात है कि उनकी सब संतति उज्ज्वल चरित्र तथा उच्च आदर्श से समन्वित है। उनके ज्येष्ठ पुत्र पं० कल्याणशंकर दवे नागपुर में इन्कमटैक्स-ऑफ़िसर हैं। छोटे पुत्र पं० गंगादत्त दवे जबलपुर माडल हाई स्कूल में शिक्षक हैं। उनकी दोनों कन्याएँ श्रीमती रेवाबाई तथा सावित्रीबाई अच्छे घरों में ब्याही हैं। इन सबके उज्ज्वल चरित्र देखकर आनंद होता है, और यही भासता है कि स्वर्गीय दवेजी की परमार्थपरायणता का ही यह फल है कि सब-के-सब आदर्श चरित्र हैं। कदाचित् ईश्वर ने इसी स्वरूप में पुरस्कार देना चाहा है।

आशा है, उनकी जो पुस्तकें छपी नहीं हैं, उनके छपवाने का कुछ-न-कुछ उद्योग किया जायगा।

लज्जाशंकर झा

भूषण और मतिराम



काशी की नागरीप्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित और उसके सुयोग्य मंत्री बाबू श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित "हस्त-लिखित हिंदी-पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण" नाम की पुस्तक की भूमिका में, भूषण और मतिराम के विषय में, पं० भागीरथप्रसाद दीक्षित का एक लेख उद्धृत किया गया है। इस लेख में दीक्षितजी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि (१) भूषण का जन्म संवत् १७३० के लगभग हुआ था। भूषण छत्रपति महाराज शिवाजी के दरबारी कवि नहीं थे 'शिवराजभूषण' का सं० १७८० के लगभग निर्माण हुआ था, जिसको भूषण शिवाजी के पौत्र शाहूजी के पास ले गए थे, (२) भूषण और मतिराम भाई-भाई नहीं थे; इनके भाई-भाई होने की किंवदंती केवल भ्रांति-मूलक है।

दीक्षितजी के इस लेख की आलोचना मिश्रबंधु महोदय, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० कृष्णविहारी मिश्र तथा हम कर चुके हैं। हमारा लेख आषाढ़, संवत् १९८१ की माधुरी में प्रकाशित हुआ है।

दीक्षितजी ने उसी संवत् पौष-मास की माधुरी में एक लेख प्रकाशित किया है, जिसमें उपर्युक्त आलोचनाओं का उत्तर दिया है। उस लेख में दीक्षितजी ने हमारे उपर्युक्त लेख में कुछ भूलें बतलाई हैं। अस्तु, इस लेख में हम दीक्षितजी द्वारा की गई अपने लेख की आलोचना पर विचार करते हैं—

(१) 'शिवसिंहसरोज' के आधार पर दीक्षितजी भूषण का जन्म संवत् १७३८ में होना मानते हैं। इसके विरुद्ध हमने जयपुर-नरेश महाराज रामसिंह (प्रथम) की प्रशंसा में भूषण का कहा हुआ एक छंद दिया था, और लिखा था कि महाराज रामसिंह का राज्य-काल संवत् १७२३-१७३२ था, इसलिये भूषण ने महाराज रामसिंह की प्रशंसा का छंद सं० १७३२ के पूर्व ही कहा होगा। अतएव भूषण का जन्म सं० १७३८ में नहीं, उससे बहुत पूर्व हुआ होगा।

दीक्षितजी ने हमारे इस कथन के विरुद्ध लिखा है—"इस पद से औरंगज़ेब का वर्तमान होना तो पाया जाता है; पर रामसिंह का वर्तमान होना निश्चयात्मक रीति से नहीं माना जा सकता। यदि यह मान भी लें कि रामसिंह का वर्तमान रहना ही अपेक्षित है, तो उनके सं० १७५४ वि० तक वर्तमान रहने के कारण याज्ञिकद्वय का संवत् १७२३ में भूषण का वर्तमान रहना प्रमाणित करना नितांत असंगत है।"

दीक्षितजी ने अनुमान किया है कि हमने रामसिंह का संवत् १७३२ तक ही वर्तमान रहना, ईश्वरदास नागर की सूचना के आधार पर, लिखा है। हमने रामसिंहजी का राज्य-काल संवत् १७२३-१७३२, न तो ईश्वरदास नागर की सूचना के आधार पर लिखा था, और न यदुनाथ सरकार या टॉड-राजस्थान के आधार पर। हमने तो यह राज्य-काल बाबू श्यामसुंदरदासजी द्वारा संपादित उसी "हस्त-लिखित हिंदी-पुस्तक के संक्षिप्त विवरण" के आधार पर लिखा था। इस पुस्तक के पृष्ठ १४४ पर स्पष्ट यही संवत् दिए हैं। इस पुस्तक में बहुत सी भूलें रह गई हैं; किंतु हम नहीं जानते थे कि इसमें ऐसी मोटी भूलें भी रह गई हैं। अस्तु, मूल प्रश्न यह है कि महाराज रामसिंह कब तक जीवित रहे? दीक्षितजी उनका सं० १७५४ तक जीवित रहना लिखते हैं। मुंशी देवीप्रसादजी ने सं० १७४६ तक उनका जीवित रहना लिखा है।

मुंशीजी का लिखना सही है, दीक्षितजी का दिया संवत् अशुद्ध है। प्रमाण लीजिए—

(१) डॉक्टर हंडले ने 'Rulers of India' नाम की पुस्तक में जयपुर-नरेशों का राज्य-काल इस भाँति लिखा है—

मिर्ज़ा राजा जयसिंह	१६२२-१६६८ ई०
रामसिंह	१६६८-१६९० ई०
विष्णुसिंह	१६९०-१७०० ई०
सवाई जयसिंह	१७००-१७४४ ई०

टॉड इसी संबंध में निम्न-लिखित संवत् देते हैं—

मिर्ज़ा राजा जयसिंह	१६७९-१७२५
रामसिंह	१७२५-१७४६
विष्णुसिंह	१७४६-१७५६
सवाई जयसिंह	१७५६-१८००

(२) प्रसिद्ध कवि कुलपति मिश्र महाराज रामसिंह और विष्णुसिंह के आश्रित थे। उन्होंने महाराज रामसिंह के लिये 'रस-रहस्य' और 'संग्राम-सार' (भाषा—द्रोण-पर्व) की और विष्णुसिंह की आज्ञा से 'दुर्गाभक्ति-चंद्रिका' की रचना की थी। यह ग्रंथ सं० १७४९ में बना था। इसके आदि में राजवंश का वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि रामसिंह के पुत्र कुँअर कृष्णसिंह का देहांत रामसिंहजी के सामने ही हो गया था।

"राजाधिराज नृप राम सुअ, तेज-पुंज जिमि रवि सहस ;
निज स्वामि-काज अरि ठट्ट हनि गय सुरपुर बिस्तारि जस।
तासु तनय अब बिसनसिंह नृप देहार-पति ;
चंडभान बपु-तेज, ज्ञान सुरगुरु, धन धन-पति।"

इससे स्पष्ट है कि विष्णुसिंह के गद्दी पर बैठने के पश्चात् ही 'दुर्गाभक्ति-चंद्रिका' की रचना की गई थी। अंत में रचना-काल इस तरह दिया है—

नंद बेद ऋषि चंद है, संवत अगहन-मास ;
सुक्ल पच्छ की पंचमी, कियो ग्रंथ परकास।

इससे सिद्ध है कि रामसिंह का संवत् १७५५ तक जीवित मानना नितांत भ्रम है। कारण, संवत् १७४९ में रामसिंह के पौत्र विष्णुसिंह राज्य करते थे। मुंशी देवीप्रसाद तथा डॉक्टर हंडले ने जो संवत् १७४६ लिखा है, वही सही है।

महाराज रामसिंह की प्रशंसा का छंद सवाई जयसिंह के समय में भूषण ने कहा होगा, दीक्षित का यह अनुमान भी ठीक नहीं। छंद में स्पष्ट लिखा है—

अब अवरंगजेब पायो रामसिंहजू सों,
और दिन-दिन पैहैं कूरम के माने सों।

यदि यह छंद सवाई जयसिंह के समय में कहा गया होता, तो केवल महाराज मानसिंह से रामसिंह तक के राजों के ही नाम न लिए जाते; किंतु विष्णुसिंह तथा सवाई जयसिंह का भी वर्णन अवश्य होता, और रामसिंहजी का ही वर्णन करके आगे के लिये 'और दिन-दिन पैहैं' न लिखा जाता। हम दीक्षितजी का ध्यान भविष्यकालिक क्रिया पैहैं (पावेंगे) की ओर आकृष्ट करते हैं, जिससे प्रकट होता है कि यह छंद रामसिंहजी के समय में ही कहा गया था, सवाई जयसिंह के समय में नहीं।

हमने भूषण का बनाया हुआ दाराशाह की प्रशंसा का एक छंद 'नवीन' कवि के 'प्रबोध-रस-सुधा-सर' से उद्धृत करके सिद्ध किया था कि भूषण रामसिंहजी से भी बहुत पूर्व, संवत् १७१५ से पहले, विद्यमान थे। दीक्षितजी इस छंद को दाराशाह की प्रशंसा का न मानकर जहाँदारशाह की प्रशंसा का मानते हैं। इसका कारण वह यह बतलाते हैं कि जहाँदारशाह के 'रकार' को दीर्घ पढ़ने से छंद में रुकावट होती है। पर यह कहना ठीक नहीं। रुकावट कुछ भी नहीं पड़ती।

हमने यह छंद नवीन कवि के 'प्रबोध-रस-सुधा-सर' से लिखा है। 'सुधा-सर' की दो प्रतियाँ हमने देखी हैं, जिनमें एक स्वयं नवीन की लिखी है। दोनों प्रतियों में जहाँदाराशाह स्पष्ट लिखा है। हमने ये प्रतियाँ दीक्षितजी को भी, जब वह हाल ही में हमारे पास भरतपुर आए थे, दिखा दी है। ऐसे स्पष्ट लेख के मुक़ाबले में दीक्षितजी की बात कहाँ तक मानी जा सकती है, इस पर पाठक विचार कर लें।

दीक्षितजी मिश्रबंधुओं पर प्राचीन कवियों के छंदों पर खराद करने का दोषारोपण करते हैं, किंतु न-मालूम क्यों, स्वयं इस तरह की खराद चलाते हैं, और ऐतिहासिक तथ्य को केवल अपनी जीभ की रुकावट के कारण सत्यानाश किए देते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षितजी को स्वयं ऐसी खराद चलाने की आदत है। हमने पौरच-नरेश अमरेसजू के अनिरुद्धसिंह की प्रशंसा का भूषण-कृत एक छंद अपने लेख में दिया है। दीक्षितजी बिना किसी प्रमाण के इस छंद पर खराद चढ़ाकर, पौरच को ऐरच

मानकर, मन-गढ़ंत बात लिख बैठे हैं। दीक्षितजी को यह मालूम नहीं कि पौरच क्षत्रियों की एक जाति है। इस नाम के राजा विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। सूदन ने अपने 'सुजान-चरित्र' में लिखा है—

कूरम राठौर गौड़ हाड़ा चहुआन मोर,
तोमर चंदेल जाहौं जग-जितवार हैं;
पौरच पुंडरि परिहार औ पंवार बैस,
सेंगर सिसौदिया सुलकी दितवार हैं।*

दीक्षितजी यदि अलीगढ़-डिस्ट्रिक्ट-गज़ेटियर के पढ़ने का कष्ट उठावेंगे, तो उनको मालूम होगा कि अठारहवीं शताब्दी में हाथरस, मेंडू-कासगंज इत्यादि स्थानों में पौरच राजा राज्य करते थे।

उपर्युक्त प्रमाणों से विदित होगा कि पौरच को ऐरच मानकर जो तुक भिड़ाई गई है, वह भूल से भरी है। हमने यह छंद कम-से-कम चार हस्त-लिखित पुस्तकों में देखा है। सबमें पौरच ही पाठ है, ऐरच नहीं।

दीक्षितजी केवल खराद चढ़ाकर वास्तविक बातों को अपने विचारानुकूल ही नहीं कर लेते, किंतु बहुत कुछ निर्मूल, निराधार मन-गढ़ंत बातें न-मालूम कहाँ से लिख मारते हैं। आपने चिंतामणि के 'भाषा-पिंगल' का रचना-काल संवत् १७१७ बतलाया है, और प्रमाण में यह दोहार्द्ध 'भाषा-पिंगल' से उद्धृत किया है—

"कहत अक मन द्वीप द्वै, जानु बराबर लेहु"

आपने केवल इतना ही लिखकर संतोष नहीं किया, मकरंदशाह भोसला के विषय में ग्रांट डफ़-कृत 'मराठा-इतिहास' का प्रमाण देते हुए लिखा है कि "संवत् १७१५ तक नागपुर में मुसलमानों का अधिकार था। इसी वर्ष राघोजी भोसला और मकरंदशाह ने मुसलमानों को निकाल बाहर किया, और नागपुर में मराठों का अधिकार हो गया। फिर राघोजी तथा मकरंदशाह में भी अधिकार के लिये झगड़ा हुआ। अंत को राघोजी नागपुर छोड़कर चले गए, और उस पर मकरंदशाह का अधिकार रहा। वहीं पर, मकरंदशाह के आश्रित रहकर, संवत् १७१७ में, चिंतामणि कवि ने 'भाषा-पिंगल' ग्रंथ रचा। उसके दो-तीन वर्ष पश्चात्, वहीं पर, उन्हीं के आश्रय में, 'कवि-कुल-कल्पतरु'-नामक ग्रंथ रचा। अतः सं० १८०० के बाद तक चिंतामणि का जीवित रहना निश्चित है।"

हमारे पास चिंतामणि का 'भाषा-पिंगल' है। उसके देखने से विदित हुआ कि दीक्षितजी का लिखा दोहार्द्ध संवत का दोहा नहीं है। इसमें दीक्षितजी की खराद ने पूर्ण रीति से काम किया है। हम यहाँ पर पूर्वापर-संबंध दिखलाने के लिये 'भाषा-पिंगल' से कुछ अवतरण देते हैं। इससे पाठकों को विदित होगा कि यह दोहार्द्ध निर्माण-काल का नहीं है। इसके पाठ में बहुत अनुचित फेरफार हुआ है—

"चिंतामनि कवि को हुकम, कियो साहि मकरंद;
करौ लच्छ-लच्छन-सहित, भाषा-पिंगल छंद।
साहि नृपति के हुकम तें, मो मति को परगास;
नैनन्नु को रबि के उवे, अंधकार को नास।
कहि 'कबि मनि' अरु दीप द्वै, जानि बराबर लेहु;
गुन प्रकास तब करत जब, पावत पूरन नेहु।
तातें 'चिंतामणि' करत, नीके छंद बिचार;
पिंगल को मत देखिकै, निज मति के अनुसार।"

पाठक देखेंगे कि तीसरे दोहे के पूर्वार्द्ध में कितना अधिक फेरफार हुआ है। न तो इसमें 'अक'-शब्द है, न 'मन'-शब्द। दीप का द्वीप हो गया है। हमारा लिखा पाठ केवल हमारी ही प्रति में नहीं है। हमने और प्रतियों में भी यही पाठ देखा है। यह दोहा निर्माण-काल का संवत नहीं बतलाता। न-मालूम दीक्षितजी ने ऐसा किस तरह मान लिया है।

हमने ग्रांट डफ़-कृत मराठों का इतिहास देखा। उसमें नागपुर के किसी मकरंदशाह भोसले का नाम तक नहीं है। राघोजी भोसले के चचेरे भाई कन्होजी भोसले का वर्णन अवश्य है। वह भी उस रीति से नहीं, जिस रीति से दीक्षितजी ने अपने लेख में दिया है। कन्होजी भोसला संवत् १७११ के पूर्व ही, आज्ञापालन न करने के अपराध में, सितारे में क़ैद कर लिया गया था। उसकी जगह राघोजी भोसला सेना साहिब सूबा के पद पर नियुक्त किया गया था। सितारे ही में कुछ वर्ष क़ैद रहकर कन्होजी का देहांत हुआ था। मालूम नहीं, कन्होजी भोसला के नाम को दीक्षितजी ने खराद चढ़ाकर मकरंदशाह भोसला के नाम में किस तरह बदल दिया, और सं० १७१७ अथवा सं० १८००

* नागरीप्रचारिणी-सभा द्वारा संपादित 'सुजान-चरित्र', पृष्ठ १३।

तक नागपुर में उसका रहना कैसे लिख दिया है। वह तो इससे बहुत पूर्व सितारे में क़ैद कर लिया गया था। आशा है, दीक्षितजी इस पर फिर विचार करेंगे।

हमने शाहशुजा की प्रशंसा में चिंतामणि-कृत कुछ छंद लिखे थे। उनमें कवि ने अपना उपनाम 'मनि' दिया है। इस पर दीक्षितजी ने लिखा है कि साहू और मकरंदशाह की प्रशंसा में जो छंद चिंतामणि के मिलते हैं, उनमें चिंतामणि नाम का ही प्रयोग किया गया है। अतः उनकी राय में, संभव है, यह 'मनि'-उपनामधारी कोई भिन्न कवि हुआ हो। दीक्षितजी ने अपने कथन के प्रमाण में चिंतामणि के 'भाषा-पिंगल' और 'कवि-कुल-कल्पतरु' के नाम लिखे हैं।

हमारा अनुमान ही नहीं, बल्कि हम दृढ़ता-पूर्वक कह सकते हैं कि या तो दीक्षितजी ने चिंतामणि के 'पिंगल' और 'कवि-कुल-कल्पतरु' को देखा ही नहीं, यों ही उनके नाम लिख दिए हैं, अथवा बिना विचारे ऐसा लिख मारा है। 'कवि-कुल-कल्पतरु' और 'भाषा-पिंगल' में अनेक छंदों में 'मनि'-उपनाम आया है। कल्पतरु के पहले ही पृष्ठ में, बल्कि पहले ही छंद में, यह उपनाम मौजूद है। मालूम नहीं, दीक्षितजी ने फिर भी ऐसा लिखने का साहस कैसे किया?

दीक्षितजी कहते हैं—"जिस प्रकार 'मुद्राराक्षस', 'वासवदत्ता' और 'रामायण' आदि ग्रंथ उनके नायकों के सैकड़ों वर्ष बाद रचे गए हैं, उसी प्रकार 'शिवराज-भूषण' और 'शिवा-बावनी' की रचना हुई होगी, ऐसा मानने में क्या आपत्ति है?"

हमारे विचार से बड़ी आपत्ति यह है कि 'मुद्राराक्षस' आदि के कर्ता अपने नायक के समय में अपना स्वयं विद्यमान होना नहीं लिखते। इसके विरुद्ध 'शिवराज-भूषण' में कवि अपना विद्यमान होना स्पष्ट शब्दों में लिखता है—

> देसन-देसन ते गुनी आवत जाचन ताहि;
> तिनमें आयो एक कवि, भूषन कहियतु जाहि।

दीक्षितजी ने अपने पहले लेख में लिखा था कि भूषण और मतिराम के भाई-भाई होने का भ्रम 'शिवसिंह-सरोज' से फैला है। उनका भाई-भाई होना किसी ग्रंथ में लिखा नहीं मिला। उनकी राय में 'शिवसिंह-सरोज' से ही यह भ्रांति सर्वसाधारण में फैली है।

इस अनुमान के विरुद्ध 'सरोज' से पहले के दो ग्रंथ 'वंश-भास्कर' तथा 'तज़किरए सर्व आज़ाद' का प्रमाण देकर हमने सिद्ध किया था कि 'सरोज' से बहुत पहले से लोग भूषण और मतिराम को भाई-भाई मानते आए हैं।

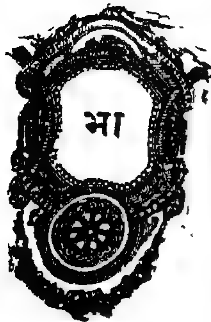
दीक्षितजी 'वंश-भास्कर' और 'तज़किरए सर्व आज़ाद' के कर्ता मीर गुलामअली के कथन को किंवदंती ही मानकर उपहास की दृष्टि से देखते हैं, किंतु वह इस बात को भूल जाते हैं कि स्वयं उन्हीं के कथन के अनुसार भूषण का सं० १८०० तक विद्यमान होना पाया जाता है। 'तज़करा' सं० १८०८ में रचा गया था। अतएव गुलामअली भूषण के समकालीन थे। भूषण और मतिराम उसी समय से भाई-भाई प्रसिद्ध थे।

दीक्षितजी नीलकंठ के 'अमरेश-विलास' का निर्माण-काल संवत् १७६८ लिखते हैं। मालूम नहीं, इसका क्या आधार है? काशी की नागरीप्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी-पुस्तकों की सन् १६०३ ई० की खोज की रिपोर्ट में 'अमरेश-विलास' का निर्माण-काल संवत् १६६८, श्रावण की सप्तमी, लिखा है। और, उसके कर्ता नीलकंठ के विषय में लिखा है—"कदाचित् भूषण प्रभृति चार भाइयों में से यह नीलकंठ हों।" मालूम नहीं, दीक्षितजी 'अमरेश-विलास' का निर्माण-काल एक सौ वर्ष पश्चात् किस आधार पर बतलाते हैं। रिपोर्ट के कदाचित् को उड़ाकर 'अमरेश-विलास' के कर्ता नीलकंठ को निश्चित रूप से भूषण का भाई तो मिश्रबंधु महोदयों ने पहले ही बना दिया था, और इसी कारण भूषण-ग्रंथावली में अपने निर्द्धारित समय को और पीछे हटाया था। अब दीक्षितजी ने उसको एक सौ वर्ष और आगे बढ़ा दिया। जब तक ऐसा करने का दृढ़ प्रमाण न हो, तब तक 'अमरेश-विलास' का समय सं० १६६८ ही मानना उचित है।

लेख बढ़ जाने के कारण हम दीक्षितजी के उठाए दूसरे प्रश्नों की आलोचना इस समय नहीं करते। हमको इन त्रिपाठी-बंधुओं के विषय में कुछ और हाल मालूम हुआ है। पूरी खोज के पश्चात् हम उसे भी पाठकों के सम्मुख उपस्थित करेंगे।

मयाशंकर याज्ञिक
जीवनशंकर याज्ञिक
भवानीशंकर याज्ञिक

देशी राज्यों की परिस्थिति



भारत के नक्शे पर लाल और पीले, दो रंग देख पड़ते हैं। रजवाड़ों का यह पीला रंग ही बतला रहा है कि उनका दर्जा हलका है। हम सरकार और राजों के पूर्ण हितैषी हैं। हम इन *रजवाड़ों को नीच गति से हटाकर*, उनकी ब्रिटिश-सरकार के साथ सच्ची मित्रता कराकर, उनको सम्मान-पद दिलाकर, वास्तविक बराबरी का मेल कराना चाहते हैं। कुछ लोग देशी रजवाड़ों को ठीक वैसे ही बनाना चाहते हैं, जैसे कि इंगलैंड में लॉर्ड लोग हैं, और ब्रिटिश भारत में भी वैसी ही दो पार्लियामेंट करना चाहते हैं, जैसे विलायत में House of Lords and House of Commons हैं। मांटेग-चेम्सफ़ोर्ड रिफ़ार्म-स्कीम से ऐसा ही कुछ ढंग झलकता भी है। तभी तो (चेंबर आफ़ प्रिंसेज़) नरेंद्र-मंडल क़ायम भी हो गया है। परंतु हम राजों को स्वतंत्र ही रखना चाहते हैं, उनको, अपने-अपने राज्य में अपनी प्रजा को बराबरी के हक़ देकर, उनकी सलाह के साथ तरक्की करने का अवसर देना चाहते हैं। हम चाहते हैं, देशी राजों को अपने-अपने राज्यों में सुधार करने की अधिक स्वतंत्रता दी जाय, पोलिटिकल डिपार्टमेंट की ओर से उसमें रोके न अटके।

यह सब लोगों को विदित है कि देशी रजवाड़े ईस्ट इंडिया-कंपनी के समय स्वतंत्र राज्य थे। फिर स्वतंत्र राज्य से बराबर के मित्र बने, बराबर की मित्रता से ब्रिटिश-साम्राज्यांतर्गत ऐसे निःसहाय मित्र बने, जिनको अपने बलवान् मित्र के सामने सदा दबना पड़ता है। मेयो-कॉलेज तथा दूसरे नरेंद्र-कॉलेजों की पढ़ाई तथा पोलिटिकल रेज़िडेंटों के हस्तक्षेप के कारण कई नरेश सिर्फ़ बड़े-बड़े महलों में रहनेवाले और अपने ऐश-आराम के लिये व्यर्थ ख़र्च करनेवाले बन गए। उनको राज्य के कारोबार में कोई आनंद ही नहीं आता। वे सब काम दीवान और कारबारियों या पढ़े-लिखे ख़ुशामदियों पर छोड़ देते हैं, और स्वयं विलायत की सैर में प्रजा का धन उड़ाते फिरते हैं। प्रत्येक राजा अपने यहाँ जब कभी गवर्नर जेनरल के एजेंट या लाट साहब को बुलाता है, तो एक भारी भोज देता है, जिसमें राज्य के मुख्य-मुख्य अफ़सरों और सरदारों के सामने, उसने तथा उसके पूर्वजों ने अँगरेज़ी साम्राज्य की जो-जो सहायता की, उसका उल्लेख कर, चिकनी-चुपड़ी बातें कहकर, अपने को अँगरेज़ों का दोस्त (Ally) कहता है। परंतु ये कोरे वाक्य ही हैं। सरकार इनको दोस्ती के ये वाक्य इस्तेमाल कर लेने देती है; *क्योंकि वह इन देशी रजवाड़ों की कमज़ोरियों को जानती है। यह भी जानती है* कि ये लोग कोरे वाक्शूर हैं, इनसे करते-धरते कुछ नहीं बनेगा, अतः इनको मीठी बातें भी सुना देती है। कहीं-कहीं पोलिटिकल ऑफ़िसर किसी स्वतंत्र-प्रकृति राजा के सामने अपनी नीति कुछ स्वागत भी कर देते हैं; परंतु पाप का घड़ा भरते ही सब बदला निकाल लेते हैं। ये 'दोस्ती लंदनवाले' राजा, जब सरकार चाहे, किसी अपराध में कान पकड़कर गद्दी से उतारे जा सकते और दूसरे इनके स्थान पर बिठाए जा सकते हैं। देशी राजे भी अँगरेज़ों की नीति को समझते हैं; परंतु लाचार और निर्बल हैं। इनमें स्वार्थ-त्याग करने और ऐश-आराम छोड़ने की बुद्धि या शक्ति है ही नहीं। अतः इसी गुलामी को सुख समझकर इतराते हैं। कभी-कभी अँगरेज़ पोलिटिकल ऑफ़िसर महाराजों की यह शिकायत करते हैं कि वे इनके बताए सुधार बहुत ही कठिनता से करते हैं। परंतु हमें देशी राजों की स्थिति भी देखनी चाहिए। पोलिटिकल डिपार्टमेंट से जो सुधार का प्रस्ताव उठता है, उसमें सदा कुछ-न-कुछ चाल ही रहा करती है। अतः देशी राजे इन सब बातों को बहुत ही शंका की दृष्टि से देखते हैं। राजों को 'Privilege of remaining undisturbed in their possession' का एकमात्र ध्येय रहता है; परंतु वे यह नहीं सोचते कि जातियाँ बहुकाल निर्भयता से स्वार्थ-त्याग किए बिना कदापि नहीं बन सकतीं। अतः बिना इस मूल-मंत्र के सब राजपाट धीरे-धीरे जाता रहेगा। कुछ राजे तो इतने अदूरदर्शी हैं कि "ब्रिटिश भारत में लोकमत को दबाओ" यही प्रेरणा दिन-रात पोलिटिकल ऑफ़िसरों से करते रहते हैं। ये अदूरदर्शी अपनी प्रजा को हमेशा गुलाम बनाए रखने के लिये सरकार से सहायता माँगते और कहते

है कि हमारी स्थितिवालों को यही मार्ग लाभप्रद है। परंतु यह नहीं सोचते कि जिनसे सहायता माँगते हैं, वे उन्हें कब छोड़ेंगे। वही पंचतंत्र की साँप और मछलीवाली कहावत के अनुसार सबका भक्षण होगा। पहले देशी रजवाड़ों के 'हितैषी दुश्मनों' को मारने के बहाने प्रवेश होगा, फिर सबका लोप होगा। कुछ देशी राजे तो खुल्लमखुल्ला कहते हैं कि "अभी तो अँगरेज़ बलशाली हैं, अतः इन्हीं के गीत गावेंगे; जब भारत का लोकमत जाग्रत होगा, तब भारत के लोकमत के गीत गाने लगेंगे। कुछ रजवाड़े कहते हैं, यह स्वतंत्रता का युग आ गया है, रूस के ज़ार के समान हमें नष्ट तो ज़रूर ही होना है, फिर हम लोकमत को दबाने का अंतिम प्रयत्न क्यों न करें? जब तक टले, तब तक मामले को क्यों न टालें, और ऐश-आराम में जीवन व्यतीत क्यों न करें?" आज से कुछ वर्ष पूर्व मि० जेम्स मिल ने सच कहा था कि "Subsidiary Alliance से हम देशी रजवाड़ों से फ़ौजी ताक़त छीनते हैं, और इस फ़ौजी ताक़त के छीनने के यही अर्थ हैं कि हम असल राज्य-शक्ति भी अपने क़ब्ज़े में करते हैं।" फिर बेचारे राजा लोगों को बिना फ़ौज के अपनी सरकार के काम चलाने के लिये कोरे अख़्तियारात रह जाते हैं, और वे कोरे नाम-मात्र के ब्रिटिश गवर्नमेंट के ख़राब ट्रस्टी बन जाते हैं। परंतु "विनाशकाले विपरीत-बुद्धिः" के अनुसार राजों की विचित्र बुद्धि है। स्वर्गीय देशहितैषी खासेराव जादव एम्० आर० ए० सी० एफ्० सी० एस्०, सर्वे और सेटिलमेंट के कमिश्नर तथा एग्रीकल्चरल एडवाइज़र, (यह बड़ोदा के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट थे, और इनकी बड़े-बड़े महाराजों से मित्रता थी) ने "Wake up princes" (राजो, जागो!)-नामक पुस्तक रचकर राजों को जगाना चाहा, और कमर कसकर भारत-माता के उद्धार के लिये खड़े होने को कहा था। उन्होंने वर्तमान नरेंद्र-मंडल के विरुद्ध आवाज़ उठाई और नरेंद्र-मंडल में उपयुक्त सुधारों की योजना की थी। परंतु इने-गिने राजों को छोड़कर औरों ने इनकी बात नहीं मानी, सब उसी कुएँ में गिर पड़े। श्रीमान् खासेराव जादव बड़े ही विचार-शील सज्जन और बड़ोदा आर्य-समाज के प्रधान थे। उनसे मेरी कई बार देशी राज्यों के विषय में बातचीत हुई थी। वह रजवाड़ों की वर्तमान परिस्थिति से बहुत दुःखित थे। न-मालूम कितने देश-भक्त इन रजवाड़ों के सुधार का आयोजन करते-करते मर गए, और कितने और बलिदान होंगे, तब कहीं ये देशी राजे सुधरेंगे। यदि उनके कथनानुसार देशी नरेश कार्य करते, तो आज संधि के अनुकूल महाराज इंदौर के विषय में Ally-शब्द के सच्चे अर्थ लगाकर विकट विपत्ति के बादल इंदौर से हटाए जा सकते थे, संधियों का सच्चा पालन सच्चे अर्थों में होता, और आपकी आज की-जैसी अवहेलना न होती। भारत की प्रसिद्ध नारी-रत्न अहल्याबाई की संतान को राज-पाट छोड़ना पड़ा! उनकी यह दशा देखकर दुःख होता है। संगठन न होने से नरेंद्र-मंडल के स्तंभ पटियाला नरेश से श्रीमान् वायसराय यह लापरवाही से कह सकते हैं कि नरेंद्र-मंडल टूट जाय तो टूट जाय, पर इंदौर की जाँच नहीं रुक सकती। अजी जाँच की बात तो दूर रही, हमारे देशी नरेश तो अपनी असहाय बहन—बस्तर की राजकुमारी—के कष्टों तक को दूर नहीं कर सके। जब विवाह-जैसे धार्मिक प्रश्नों में भी पोलिटिकल डिपार्टमेंट का हस्तक्षेप होने लगा, तो नरेंद्रों की पराधीनता की परा काष्ठा हो गई! जो संसार के विजेता क्षत्रिय इतने निर्जीव हो जायँ कि पोलिटिकल डिपार्टमेंट में तो कहना दूर रहा, क्षत्रिय-सभा में भी अपने मुँह से पीड़ित बहन के लिये एक शब्द न बोल सकें, उनकी हीन दशा देखकर हमारा मस्तक लज्जा और शोक से नीचा हो जाता है। बड़े-बड़े वीर राठौरों, सीसोदियों, चौहानों में, जो स्त्री-जाति की मान-मर्यादा के लिये अपूर्व शौर्य दिखा चुके हैं, परस्पर की फूट, ईर्षा, द्वेष और दूसरों के मुक़ाबले में सहानुभूति की इतनी भारी कमी देखकर हमें दाँतों-तले उँगली दबानी पड़ती है, और प्रश्न उठता है कि देशी राजों का इतना अधिक पतन कैसे हो गया? इसका एक कारण तो यह है कि कुछ राजे इन राज्यों को अपनी निजी जायदाद मानते हैं, जिनका ये जैसा चाहें, वैसा इस्तेमाल करें। ये प्रजा को जो कुछ भी थोड़े-बहुत अधिकार प्राप्त हैं, उन्हें अपनी कृपा का दान समझते हैं; राज्यों में प्रजा का कोई हक़ नहीं मानते, अपने को विजेता और प्रजा को विजित जाति मानते हैं। जिन सड़कों पर चाहें, प्रजा को चलने दें, जिन सड़कों पर चाहें, न चलने दें। प्रजा के टैक्सों से वसूल हुआ धन मनमाना

ख़र्च करते हैं। इससे प्रजा की सब सहानुभूति जाती रही। देशी राज्यों की इस दुर्दशा का दूसरा कारण यह है कि राजों की फ़ौजी ताक़त का नाश हो गया। यह Subsidiary Alliance का ही परिणाम है कि देशी राज्यों की यह दशा है। मुग़ल-साम्राज्य में भी ये इतने पराधीन न थे, जितने आज हैं। इस फ़ौजी ताक़त के हटाने से राजे किस प्रकार निर्जीव किए गए, इस बात को बड़े-बड़े अँगरेज़ अफ़सर मानते हैं। थार्नटन साहब तो अपनी पुस्तक में "राजों के जाँच-कमीशनों की नियुक्ति" तक को एक राजनीतिक बात मानते हैं। सभी इस बात को मानते हैं कि इन कमीशनों की नियुक्ति से संधियाँ टूटती हैं। बराबर की दोस्ती के हक़ जाते रहते हैं। दुःख तो यह है कि मांटेग-चेम्सफ़ोर्ड-रिफ़ार्म-स्कीम में स्वयं राजों ने, अपने न्याय के लिये, इस प्रकार की जाँच माँगी है। अभी राजों और ब्रिटिश-सरकार की संधियाँ एक दूसरे के बराबर की दोस्ती की हैं। यदि आज इनके हाथ में फ़ौजी ताक़त होती, तो इंदौर के महाराज कह सकते थे कि बहुत अच्छा, आप और हम दोस्त नहीं रहे; पर आप हमारे ऊपर कमीशन मुक़र्रर करनेवाले या राज-पाट छोड़ने को बाध्य करनेवाले कौन हैं? ये देशी राजे उस समय अमीर-काबुल और नेपाल के समान स्वतंत्र थे, जब पहलेपहल इनके साथ संधियाँ हुई थीं। परंतु समय के फेर से, अपने आलस्य और प्रमाद के कारण, इनकी ताक़त घटती गई। इन्होंने गोद लेने की सनदें स्वीकार कीं। फिर राजगद्दी पर बैठते समय लाट साहब का ख़रीता आने लगा। तब से पराधीनता दिन-दिन बढ़ती गई। नाभा के महाराज के समान कई राजे आज बिलकुल पराधीन अवस्था में हैं। इनकी दुर्दशा और बेबसी देखकर मुझे 'प्रकाश' कवि की यह कविता याद आती है—

शमशीर गिरती थी बर्क़ बनकर हमेशा रहती उदू के सर पर;
उन्हीं के हथियार और रिसालों में आज ताले पड़े हुए हैं।
जिन्हीं की भयभीत गर्जना से, था काँपता यह तमाम आलम;
वे आज शेरे-बबर भी गर्दन क़फ़स में डाले पड़े हुए हैं।

इस परिस्थिति में देशी नरेशों का क्या कर्तव्य है, और इनको किस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिए, यह फिर लिखूँगा।

चाँदकरण शारदा

लुँडा-भाषा और लुँडे-अक्षर



प्राचीन समय में लुंडा एक ऐसी भाषा थी, जो समस्त पंजाब में बोली जाती थी। परंतु अब पंजाबी और सिंधी के अतिरिक्त जितनी बोलियाँ पंजाब में बोली जाती हैं, वे सभी उस प्राचीन लुंडा के ही भेद-मात्र हैं। पंजाबी और सिंधी के प्रचलित होने पर इसका नाम धीरे-धीरे पंजाबियों के हृदय से मिटने लगा, और प्रांतीय नामों पर भिन्न-भिन्न नाम प्रचलित होते गए। इसी से मुलतानी, झंगी, लायलपुरी, बहावलपुरी, डेरा-वाली इत्यादि बोलियाँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों के नामों से प्रचलित हो गईं। आगे चलकर इस भाषा का असली नाम ही लोग भूल गए। केवल अक्षरों का ही 'लुंडे-अक्षर' के नाम से व्यवहार जारी रहा। इसका कारण यह है कि लुंडे-अक्षर व्यापार आदि में प्रचलित रहे; परंतु, इस पर भी, इसकी असंख्य लिपियाँ हो गईं। दस-दस कोस के अंतर पर एक स्वतंत्र लुंडा-लिपि हो गई।

लुंडा का प्राचीन इतिहास

महाभारत में वाह्लीक लोगों की एक जाति का वर्णन आया है, जिसे 'जार्तिक' नाम दिया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि ये लोग वहशी होते थे। जहाँ ये लोग रहते थे, उसी क्षेत्र में पाँच नदियाँ—विपाशा (व्यास), इरावती (रावी), सिंधु (सिंध), चंद्रभागा (चनाब), वितस्ता (झेलम)—बहती थीं। इन लोगों का आहार कुछ अच्छा न था—गधे, ऊँट और भेड़ों का दूध पीते थे, वेदोक्त आचार-व्यवहार कुछ भी न जानते थे। इसी 'जार्तिक'-जाति का अपभ्रंश 'जाटकी'-जाति है। विशेषतः वैसी ही प्रकृतिवाले लोग अब भी 'जाट' कहलाते हैं। इनकी भाषा 'जाटकी' (लुंडा) है, जो कि अन्य लुंडाओं से बहुत भिन्न है। परंतु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि उस समय सर्वथा अविद्या फैली हुई थी। महाभारत में जहाँ 'जार्तिक' लोगों का वर्णन आया है, वहाँ अन्य वेदादि माननेवाली जातियों का भी वर्णन है। उस समय लुंडा-जगत दो राष्ट्रों में विभाजित था—एक गांधार और दूसरा केकय। इसके

अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि इसी समय (ख्री० पू० अष्टम शताब्दी में) तक्षशिला गांधार की राजधानी थी। यहाँ एक अद्भुत विद्यापीठ (युनिवर्सिटी) भी था। रावलपिंडी-ज़िले में इसके अभी तक खँडहर मिलते हैं, और इसी देश के शलातुर-स्थान में अद्वितीय वैयाकरण पाणिनि महाराज हो गए हैं। उस समय केकय-देश विद्या का केंद्र था। छांदोग्य-उपनिषद् में लिखा है कि किस प्रकार पाँच धर्मवेत्ता अपने प्रश्नों को लेकर एक ब्राह्मण के पास गए, और वहाँ कोई उनका उत्तर न दे सका। इसी कारण उसने उन्हें केकय-देश के राजा अश्वपति के पास भेजा, और उन्होंने बड़ी उत्तमता से उन कठिन प्रश्नों का उत्तर दिया।

लुंडा-जगत् में दो महिलाएँ निकलीं, जिनका नाम आज तक हमारे इतिहास के गौरव को बढ़ा रहा है— गांधार-देश से गांधारी (धृतराष्ट्र की धर्मपत्नी), जिसके सुयोधन प्रभृति १०० पुत्र थे, और केकय-देश से कैकेयी, जिसने राजा दशरथ के महल को सुशोभित किया, तथा राम को वनवास दिलाया। उस समय लुंडा-जगत् इन्हीं दो राष्ट्रों में विभाजित था। परंतु अब केवल पश्चिमी पंजाब को ही लुंडा-जगत् कहते हैं; क्योंकि अब पंजाबी और सिंधी लुंडा-भाषा नहीं रहीं। इस तरह से तो ये सारी भाषाएँ परस्पर बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं, और लुंडा के विशेष-धर्म पंजाबी में और पंजाबी के लुंडा में अधिकता से पाए जाते हैं। परंतु अब इसकी विभाजक सीमा नियत हो गई है। लुंडा-भाषा का अनुपम नमूना अब केवल पश्चिमी पंजाब में ही मिल सकता है। यह भाषा मुलतान, झंग, डेराइस्माइलख़ाँ, डेरागाज़ीख़ाँ आदि ज़िलों में ही पाई जाती है। यह पंजाब से मांटगुमरी की सीमा-पर्यंत पूर्ण रूप से विभक्त होकर, ब्रिटिश भारत की सरहद तक चली गई है। यहाँ से इसकी सीमा और भी नियत-सी हो गई है। इसके अनंतर यह किशनगंगा की घाटी की ओर चली जाती है। यहाँ से फिर यह बदलती और हज़ारा से पश्चिमी-सरहद में जा मिलती है। इधर फिर अटक होती हुई मियाँवाली, जेहलम, अहमदपुर, बहावलपुर इत्यादि स्थानों में विशेष रूप से अधिकार पा जाती है। यहीं तक ही नहीं, यह पेशावर, कोहाट, बन्नू इत्यादि स्थानों में भी बोली जाती है। परंतु इन प्रदेशों की विशेष भाषा पश्तो है, जो पठानों और मुसलमानों के द्वारा भारतवर्ष में फैली।

पंजाबी भाषा एक मिश्रित भाषा है, जिसका पूर्ण रूप से संस्कार गुरु हरराय के समय में हुआ। मिस्टर ओझायन ने लुंडा-भाषा को संस्कृत-भाषा का अपभ्रंश माना है। परंतु यह बात हमें ठीक नहीं जँचती। वस्तुतः यह भाषा अपभ्रंश-प्राकृत से ही निकली है। इस बात का थोड़ा दिग्दर्शन कराया जायगा।

इतिहास देखने से यह पता चलता है कि पश्चिमी पंजाब सर्वदा विदेशियों के हमलों का केंद्र रहा तथा विदेशियों से विजित एवं दलित होता आया है। यह बात किसी से छिपी नहीं कि पंजाब के ही रास्ते आर्य लोग भारत में आए। फ़ारस के डेरियस ने (ख्री० पू० ५२१-४८५) बौद्ध काल में सर्वप्रथम पंजाब पर ही हमला किया था। हेरोडोटस ने भी इसे जीतकर दो भागों में विभक्त किया था। उनमें एक गांधार था। ज़रकसीज़ ने जिस समय (ख्री० पू०४८०) यूनान पर अपनी प्रचंड सेना लेकर धावा किया था, तब गांधार-प्रदेश के बहुत-से सेनानी इस युद्ध में विद्यमान थे। सिकंदर के प्रचंड धावे का भी पंजाब पर कम प्रभाव नहीं पड़ा। ग्रीस के इतिहासकारों ने इतिहास-ग्रंथों में इस धावे के बहुत-से नाम लिखे हैं, और उनका उच्चारण ऐसा किया है, जैसा पंजाब में पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि पैशाची-भाषा उस समय विद्यमान थी, और वह सिंधी और लुंडा के नाम से पुकारी जाती थी। उन्होंने 'पुष्कलावती' संस्कृत-नाम को 'पुक्खलावती' प्राकृत-नाम से लिखा है। इसी प्रकार 'चंद्रभागा' और 'चंद्रगुप्त' के भी 'चंद्रफाका' और 'चंद्रकुप्त' आदि प्राकृत-नाम दिए हैं। ये नाम पैशाची-प्राकृत के अनुसार हैं। ख्री० पू० द्वितीय शताब्दी में यूनान के लोग बैक्ट्रिया (Bactria) से पश्चिमी पंजाब में आए, और उन्होंने कई देश भी बसाए। इसके पीछे कई जातियाँ इस देश में आईं। जैसे, सिथियन (Scythians), पार्थियन (Parthians), कुशान (Kushans) और हूण (Huns)। इन्होंने उत्तर-पश्चिम की ओर हमला किया। सिंध से भी कई मुसलमान-जातियाँ आईं।

इस प्रकार हमने देख लिया कि किस तरह पंजाब-प्रांत विदेशियों के हमलों से दलित किया गया। कहने का तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों विदेशी जातियाँ पंजाब में आती

गई, त्यों-त्यों भाषा में परिवर्तन होता गया। मुसलमानी ज़माने में तो उसमें सीमातीत परिवर्तन हुआ। कितने ही फ़ारसी-अरबी के शब्द इसमें मिल गए। ड्रेडिक (Dradic) भाषाओं में ग्रीक के (यूनानी) शब्द पाए जाते हैं। जैसे, काश्मीरी (लुंडा) का 'दपार' (एक प्रकार का सिक्का) यूनान का शब्द है। खोवारी-भाषा का 'द्रोखुम' (चाँदी) भी यूनानी शब्द है। परंतु लुंडा और सिंधी में ऐसे शब्द नहीं हैं। जहाँ तक प्रतीत होता है, इसकी भाषा का परिवर्तन नहीं हुआ; यहाँ तक कि 'सिंधु'-शब्द भी जैसे-का-तैसा ही बना रहा। यूनानी ग्रंथों में 'हिंदुओं' को 'सिंधु' नाम दिया गया है, और कहीं-कहीं 'इंदु' (Indo's)-शब्द भी आया है, जो केवल सिंध-वासियों को ही लक्षित करता है।

यह बात विदित नहीं कि ये भाषाएँ कहाँ से निकलीं। सिंधी-भाषा के पूर्व की भाषा अपभ्रंश-प्राकृत थी, जिसका नाम 'ब्राचदी' था। इसी का थोड़ा वर्णन मार्कंडेय ने किया है, और इसका व्याकरण भी दिया है। ब्राचदी-पैशाची-प्राकृत का व्यवहार इसी पश्चिमी पंजाब के जन-समुदाय में था। मार्कंडेय ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि केकय-पैशाची सब प्राकृतों में मुख्य प्राकृत थी। हमें इस बात का निश्चित रूप से ज्ञान नहीं कि कौन-सी प्राकृत लुंडा-जगत् में विद्यमान थी, जिसका प्राचीन केकय और गांधार-देश से संबंध था। गवेषणा से मालूम हुआ है कि 'सविपाश-केकय' किसी समय प्रचलित थी। गांधार की अशोक की शिला-लिपियों में दो शिलाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें 'सविपाश-केकय' का वर्णन है। ये शिलाएँ शाहबाज़गढ़ और मानसेहरा में पाई गई थीं। इनमें बहुत-से ऐसे अक्षर पाए गए हैं, जो लुंडा और सिंधी-अक्षरों में विद्यमान हैं।

यह कहा जा चुका है कि लुंडा एक स्वतंत्र भाषा है, जो प्राचीन समय में केकय और गांधार-प्रदेश की भाषा थी, और आजकल मुलतान से ब्रिटिश-सरहद तक बोली जाती है। भिन्न-भिन्न स्थानों में इस भाषा के कई नाम हैं—जैसे जाटकी, मुलतानी, हिंदकी या हिंदको और पश्चिमी-पंजाबी। इसे जाटकी इस कारण कहा जाता है कि बहुत स्थानों में इसके बोलनेवाले जाट हैं। परंतु जहाँ पर जाट लोग अधिक संख्या में नहीं बसते, वहाँ यह नाम नहीं है। यह भाषा मुलतान के चारों ओर कोने-कोने में बोली जाती है। इस कारण इसका नाम 'मुलतानी' भी है। 'हिंदकी' या 'हिंदको' इसका नाम सरहद में पड़ा है। यहाँ पर पठान लोग पश्तो और हिंदू लुंडा बोलते हैं। इसलिये पठानों ने इसका नाम 'हिंदकी' रख दिया—हिंदकी अर्थात् हिंदुओं की भाषा। मुलतान में इसी नाम के आधार पर लुंडे-अक्षरों को 'हिंदकी अक्खर' कहते हैं। कारण, यहाँ मुसलमानों की आबादी प्रायः अधिक है, और पूर्वकाल में भी यह पूर्ण रूप से मुसलमानी राज्य रह चुका है। वास्तव में ये सारी भाषाएँ लुंडा-मात्र ही हैं। नाम 'लुंडा' अथवा 'पश्चिमी पंजाबी' कुछ कहो, एक ही बात है।

हमें इस बात का पूर्ण ज्ञान है कि पंजाबी हिंदू-आर्य-भाषाओं के मध्यप्रांत की भाषा है, और यह निरी मिश्रित भाषा ही है। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि लुंडा, पंजाबी, पश्चिमी हिंदी और सिंधी, ये सारी भाषाएँ प्राकृत से निकली हैं। उदाहरण के तौर पर देख लीजिए—'भक्त' (संस्कृत)-शब्द का अपभ्रंश प्राकृत में 'भट्ट' है, जो पश्चिमी हिंदी में 'भात', सिंधी में 'भटु', काश्मीरी में 'बत', तथा लुंडा में 'भत्त' कहलाता है। इस प्रकार ये सारी भाषाएँ प्राकृत से निकली हैं।

प्राकृत-भाषा कब से प्रचलित हुई, इस बात का पूरा पता नहीं। परंतु यह तय हो चुका है कि संस्कृत-भाषा पूर्वकाल में, समस्त भारत में, कहीं नहीं बोली जाती थी। जिस प्रकार अँगरेज़ी में बोलचाल की भाषा और लिपिबद्ध अँगरेज़ी में बहुत भेद है—अर्थात् कई शब्द ऐसे हैं, जो केवल बोलचाल में ही व्यवहृत होते हैं, लेकिन लिखने-पढ़ने में प्रयुक्त नहीं होते—उसी प्रकार जब संस्कृत-भाषा का प्रचार था, तो प्राकृत बोलचाल की भाषा थी। परंतु बौद्धों के समय में इसने प्रचंड रूप धारण कर लिया, यहाँ तक कि कचहरियों में भी प्राकृत ही व्यवहृत होती थी। कहने का तात्पर्य यह कि मिस्टर ओब्रायन ने जो लुंडा-भाषा को संस्कृत से निकली हुई कहा है, यह बहुत अंशों में ठीक नहीं। केवल संस्कृत का रूपांतर तो प्राकृत-भाषा है, शेष सारी भाषाएँ प्राकृत से निकली हैं। निम्न-लिखित थोड़े-से उदाहरण दिए जाते हैं, जो संस्कृत-भाषा से प्राकृत-परंपरा में आकर, अपभ्रंश होकर, विविध भाषाओं में सम्मिलित हो गए हैं—

संस्कृत	प्राकृत	लुंडा	पंजाबी	सिंधी	पश्चिमी हिंदी
दर्भ	दब्भ,डभु	डंभ	दब्भ	डभ	दाभ
उच्चः	उच्चौ	उच्चा	उच्चा	उचो	ऊँचा
सत्य	सचु	सच्च	सच	सचु	सच,साँच
ऋक्ष	रिच्छु	रिच्छ	रिछ	रिछु	रीछ
दुग्ध	दुध्धु	दुध्ध	दुध्ध	दुध्धु	दूध
अग्रे	अग्गाहि	अग्गे	अग्गे	अगे	आगे
चक्रम	चक्कु	चक्कल	चक्क	चकु	चक्कर
शुष्कम	सुक्खौ	सुक्का	सुक्का	सुको	सूखा
कर्म	कम्मु	कम्म	कम	कम	काम
श्वश्रु	ससु	सस्स	सस	हश	सास
रक्तम	रत्तौ	रत्त	रत्ता	रतो	राता
हस्तम्	हत्थु	हत्थ	हथ	हथ	हाथ
पृष्ठ	पिट्ठु	पिठ	पिट्ठ	पिठा	पीठ

इसी प्रकार और भी अनेक शब्द हैं, जो संस्कृत से प्राकृत में आकर फिर अन्य भाषाओं में आ मिले। अंतर बहुत थोड़ा है। कहीं-कहीं व्यंजनों का हल् या द्वित्व करके भिन्न-भिन्न रीति से उच्चारण किया गया है।

लुंडा का अन्य भाषाओं से संबंध

लुंडा-भाषा प्रत्येक पंजाबी भाषा के अंदर विद्यमान है; परंतु इसके कई ऐसे शब्द हैं, जो किसी में नहीं पाए जाते। राजस्थानी भाषा से भी इसका बहुत कुछ संबंध है। वस्तुतः लुंडा-भाषा का एक चिह्न है। इसमें स्वाभाविक क्रिया के साथ-साथ सी-साँ-से-सू-सन्-सो आदि प्रत्यय लग जाते हैं। इसमें केवल दो ही वचन होते हैं—एकवचन और द्विवचन। जिस तरह 'मरना'-धातु में

ओ (वह एक) मरसी— ओ (वे सब) मरसन्

तूँ (,,) मरसीं— तुसाँ (सब) मरसो

मैं (,,) मरसाँ— असाँ (,,) मरसूँ

हैं, इसी प्रकार खावणा (खाना), पीवणा (पीना), समणा (सोना)-धातुओं के पीछे भी उपर्युक्त प्रत्यय लगाने से खासों, पीसाँ, समसाँ इत्यादि रूप हो जाते हैं। गुजराती-बोली में इसे मरासी, मरासूँ, मरासाँ, मरासन् इत्यादि कहते हैं। सिंधी में यद्यपि प्रत्यय नहीं लगते, तथापि यह भाषा लुंडा के साथ ऐसी संगठित है कि यू० पी०वाले और उत्तरीय भारत के लोग इसके भेद को न पहचान सकेंगे। यहीं तक नहीं, लुंडा-भाषा भी स्थान-स्थान पर उच्चारण में कुछ-कुछ परिवर्तित होती चली गई है। डेराइस्माइलख़ाँ की 'खेतरानी लुंडा' और 'मुलतानी लुंडा' में भी नाम-मात्र का भेद है। इसके घ, झ, भ, ढ, ढ के स्थानों में, मुलतानी लुंडा में ग,ज, ब, ड, द, ये अक्षर बोले जाते हैं। जैसे 'घिद्दा' (लिया) के स्थान में 'गिद्दा', भुख (भूख) के स्थान में बुख इत्यादि। इसी प्रकार मेकूँ, तेकूँ (मुलतानी मुझे, तुझे) के स्थान में डेरावाले मैकूँ, तैकूँ और किथ, उथ, जिथ (कहाँ, वहाँ, जहाँ) के स्थान में किडु, उडु, जिडु इत्यादि बोलते हैं। मुलतानी लुंडा का 'ढिढ' (पेट) हज़ारी लुंडा में 'टिढ' बोला जाता है; 'कुकड़' (मुर्ग) को 'कुकड़' और 'कुकिड़' को कुकड़ी कहते हैं। सर्वनामों के स्थान में प्रायः 'हम' और 'तुम' व्यवहृत होते हैं। परंतु लुंडा, सिंधी और पंजाबी में भी भेद पाया जाता है—

लुंडा में…… … असाँ (हम)— तुसाँ (तुम)

पंजाब में …… असीं (,,) — तुसीं (,,)

काश्मीरी और कोहिस्तानी में असी(हम)—त्वाही(,,)

इन भाषाओं का मेल इतना दृढ़ नहीं है, जितना कि भेद। केवल 'जाना'-धातु को ही ले लीजिए—

पंजाबी में… … … … …जाणा

काश्मीरी में…… … गतशउन

उत्तरीय लुंडा में……गच्छेणा

मुलतानी लुंडा में……वञणा, वनणा

सिंधी में . … … … वञणु

काश्मीरी में भी इसे 'वञणा' कहते हैं; क्योंकि इसमें एक रास्ते का नाम आता है—हस्तिवञ अर्थात् जिस रास्ते से हाथी जा सकता हो। परंतु यह शब्द अब प्रचलित नहीं है।

लुंडा के भेद

वस्तुतः लुंडा के, उच्चारण की दृष्टि से, मुख्य तीन भेद हैं—

१· पश्चिमी प्रामाणिक

२· उत्तर-पूर्वी

३· उत्तर-पश्चिमी

'पश्चिमी प्रामाणिक' लुंडा का थोड़ा दिग्दर्शन सर जेम्स विलसन की 'पश्चिमी पंजाबी-कोश'-नामक पुस्तक में

आया है। यह मुख्य लुंडा है, जो समस्त लुंडा-प्रांत में प्रचलित है। इसके फिर तीन भेद हो जाते हैं—

१. सहज-प्रामाणिक

२. मुलतानी

३. थलकी

'सहज प्रामाणिक' लुंडा का दूसरा नाम 'ठेठ लुंडा' भी हो सकता है। यह शाहपुर, गुजरानवाला और गुजरात में बोली जाती है। फिर यह झंग, और लायलपुर में कई नामों में बदल जाती है। मुख्य नाम 'जाटकी' है। लायलपुर में पंजाबी और लुंडा मिलकर 'जाटकी' के नाम से कही जाती है। झंग में यह चनाव के किनारे 'चिनावरी'-स्थान में व्यवहृत होती है। इसी प्रकार गुजरानवाला में भी पंजाबी और लुंडा मिश्रित हो गई हैं। गुजरात की बोली को 'जटांदर दी बोली' कहते हैं।

मुलतानी लुंडा मुलतान, मुज़फ़्फ़रगढ़, डेराजात, मियाँवाली, बहावलपुर इत्यादि स्थानों में बोली जाती है। कई महाशय झंग की बोली को भी 'मुलतानी' लिखते हैं। परंतु जहाँ तक विचार से देखा गया है, यह बात ठीक नहीं। यह सहज-प्रामाणिक लुंडा के अंतर्गत आ जाती है। मुख्य भेद इनमें यह है कि मुलतानी बोली मीठी और सरस है, और झंग की बोली कर्कश तथा 'रूखी'। वहाँ की प्रायः 'जाटकी' बोली ही है। यदि कोई झंगी किसी से मामूली बात भी करता होगा, तो ऐसा प्रतीत होगा कि लड़ाई लड़ रहा है। उत्तरीय बहावलपुरी बोली भी ऐसी ही है। मुज़फ़्फ़रगढ़ से आगे डेरागाज़ीख़ाँ और डेराइस्माइलख़ाँ के ज़िलों में बिलोची और 'विशुद्ध लुंडा'—जिसे 'ठेठ लुंडा' के नाम से लिखा गया है—बोली जाती है। इसे 'हिंदकी' या डेरावाली बोली भी कहते हैं; परंतु यह मुलतानी के ही अंतर्गत आ जाती है।

मुलतानी लुंडा बोलनेवालों की संख्या २१,७६,१८३ है, और 'पश्चिमी प्रामाणिक' बोलनेवालों की १५,०७,८२७।

उत्तर-पूर्वी लुंडा एक मिश्रित लुंडा है, जिसमें कुछ पश्चिमी लुंडा और कुछ उत्तर-पश्चिमी लुंडा, दोनों विद्यमान हैं।

उत्तर-पश्चिमी लुंडा के भी कई नाम हो जाते हैं, जो भिन्न-भिन्न जातियों या स्थानों के निवासियों के बोलने से प्रचलित हो गए हैं। जैसे, पोठवाड़ में 'पोठवाली', कैंडाल में 'कैंडाली' और चिभ्भाल में 'चिभ्भाली'।

उत्तर-पश्चिमी और पश्चिमी लुंडाओं में भी परस्पर कई स्थानों में भेद पाए जाते हैं। यह बात पहले भी दिखाई जा चुकी है। जैसे उत्तर-पश्चिमी के 'गछ्या' या 'अछ्या' के स्थान में 'वजणा' व 'आवणा', और उत्तर-पूर्वी में 'जाणा' व 'आणा'। इसी प्रकार तेरा, मेरा की जगह तेडा, मेडा, और 'होणा', 'होया' की जगह 'थीवणं', 'थ्या', 'थीसी' इत्यादि बोले जाते हैं।

लुंडा-लिपियाँ

यह बात पहले बतलाई जा चुकी है कि पंजाब और सिंध, कहीं चले जाओ, आपको जगह-जगह भिन्न-भिन्न लिपियाँ दिखलाई देंगी। परंतु मुख्यतः कई लुंडा-लिपियाँ हैं, जिनके नाम निम्न-लिखित हैं—

(१) अमृतसरी, (२) मुलतानी, (३) बाणियाँ, (४) सिंधिया, (५) हैदराबादी-खुदाबादी, (६) दिल्लीवाल, (७) गुजराती, (८) बीकानेरी, (९) शिकारपुरी, (१०) सक्खरी, (११) लहान, (१२) भाटिया, (१३) (लाडाई), (१४) बंगाई, (१५) राजाई, (१६) ख्वाजा, (१७) हैदराबादी, (१८) बहावलपुरी, (१९) पश्चिमी लुंडा।

इनमें से मुझे कुछ लिपियाँ मिली हैं। ये निम्न-लिखित हैं—

दिल्लीवाल

खुदाबादी

अमृतसरी

शिकारपुरी
(बाक़ी खुदाबादी)

बहावलपुरी

हैदराबादी

लाडाई

सक्खरी

ख़्वाजा

माटिया

बगाई

राजाई

सिंधी और लुंडा-अक्षर

सिंधी और लुंडा-अक्षरों में बहुत थोड़ा भेद है। सिंध में लुंडा-अक्षरों को 'वाणिया-अक्खर' कहते हैं। ये प्रायः समस्त व्यापार-संबंधी कामों में व्यवहृत होते हैं। बहीखातों में ये ही अक्षर अधिकता से उपयोग में आते हैं। इनमें मात्राएँ नहीं होतीं, और कईएक अच् अक्षर भी नहीं हैं। इनके पढ़ने में अत्यंत कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी तो जो कुछ लिखा होता है, उसका उलटा पढ़ा जाता है।

इस विषय में दो-एक कहावतें भी प्रसिद्ध हैं। किसी ने अपने भाई को चिट्ठी लिखी कि "लालाजी अजमेर गए हैं।" पढ़नेवाले ने मात्राओं के अभाव से "लालाजी आज मर गए हैं" ऐसा पढ़ा। परंतु लुंडा-भाषा का गणित बहुत तेज़ होता है। हज़ारों की रक़मों के मिती काँटे और तिजारती हिसाब इत्यादि लुंडा जाननेवाले झट निकाल लेते हैं।

१८६८ में ऑफ़िशियल कमेटी ने सिंधी लुंडा-अक्षरों पर विचार किया कि किस लुंडा-भेद को सिंधी माना जाय। तय यह हुआ कि खुदावादी-अक्षरों का संशोधन करके सिंधी-लिपि बना ली जाय। यही शुद्ध सिंधी अब स्कूलों में भी पढ़ाई जाती है। परंतु व्यापारी महाशयों ने अपना पुराना ढंग अभी तक नहीं बदला। वही पुराने मात्रा-रहित अक्षर बहीखातों में लिखे जाते हैं।

खुदावादी से निम्न-लिखित अक्षर संशोधन द्वारा नियत किए गए—

स्वर

मात्राएँ

व्यंजन

पश्चिमी लंडा

मुलतानी लंडा

“आनंदबंधु”

पंडित व्रजनारायण चकबस्त



वा रह फ़रवरी, १९२६ की रात्रि को लखनऊ की एक महान् आत्मा ने इस संसार से मुख मोड़कर सदा के लिये आँखें बंद कर लीं। यों तो प्रत्येक मनुष्य की मृत्यु पर उसके जाननेवाले दो-चार आँसू बहाते हैं, परंतु इस महान् पुरुष की मृत्यु पर आँसू तो केवल उन्हीं लोगों ने बहाए, जिन्होंने केवल उसके गुणों का वर्णन सुना था। जाननेवाले तो मर ही मिटे। उसके मित्रों के लिये संसार शून्य हो गया। उनके जीने का सुख और मरने का आनंद जाता रहा। उसके मित्रों के लिये उसी के शब्दों में कहा जा सकता है —

"एक दुनिया का भुलाना है भुलाना उसका।"

मैं तो उसके तुच्छ भक्तों में से एक हूँ। मेरे सामने उसका चित्र हर समय घूमा करता है। उसकी अमृत में समोई हुई आँखें, जो किसी को दुःख में देखकर उसको प्रेम से विह्वल कर देती थीं, अब न देख पावेंगी। उसका महान् हृदय, जिसमें आज तक कभी किसी की बुराई नहीं आई, और जिससे सदा प्रेम का सोता बहा किया, जिसमें सभी जाति और धर्मावलंबियों का स्थान था, अब काम न करेगा। उसका तेजस्वी शरीर जलकर भस्म हो गया। हा ईश्वर! यह निर्दयता तुमको शोभा नहीं देती।

पं० व्रजनारायण चकबस्त का जन्म सन् १८८२ ईसवी में, फ़ैज़ाबाद में, हुआ था। आपके पिता पं० उदितनारायण-जी आपके बाल्य-काल ही में इस संसार से चल बसे। आपकी शिक्षा का निरीक्षण आपकी माता और आपके बड़े भाई पं० महाराजनारायण-जी करते रहे। आपकी माता बहुत ही बुद्धिमती, साक्षात् देवी हैं। उन्होंने इस प्रकार से आपकी देख-भाल की कि व्रज-नारायणजी बहुधा कहा करते थे—मैं जो कुछ हूँ, अपनी मा के कारण हूँ। जिन लोगों ने उनकी माताजी के दर्शन किए



पं० व्रजनारायण चकबस्त

हैं, वे कह सकते हैं कि यह बात बिलकुल सच है। उनकी वृद्धा माता धैर्य की मूर्ति और शांति की जीती-जागती तसवीर है। जिस प्रकार से इस वृद्धावस्था में उन्होंने ऐसे सर्वप्रिय होनहार पुत्र का वियोग सहन किया है, वह यही प्रमाणित करता है कि ब्रजनारायणजी की माता होने की योग्यता उन्हीं में थी। उन्हीं की कोख से ऐसा पुरुष-रत्न उत्पन्न हो सकता था।

चकबस्तजी ने साधारण शिक्षा प्राप्त करके १९०७में वकालत की परीक्षा पास की। उर्दू-भाषा के आप बड़े धुरंधर लेखक और प्रसिद्ध कवि थे। जिस समय आप बी० ए० में पढ़ते थे, उसी समय से आपकी धूम चारों ओर फैल गई थी। गुलज़ार-नसीम (Controversy=शास्त्रार्थ) में आपका लोहा बड़े-बड़े लेखक मान गए। इस समय मैं आपकी कविता की समालोचना या प्रशंसा करना नहीं चाहता; क्योंकि वह बड़े कवि अवश्य थे, प्रसिद्धि प्राप्त की थी, यहाँ तक कि उनकी कविता ऐसी रुचिकर होती थी कि सुनते-सुनते लोगों को याद हो जाती थी। सन् १९११ में जब आपने हिंदू-विश्वविद्यालय का चंदा जमा करने के समय क़ैसरबाग़ की बारहदरी में अपनी कविता पढ़ी थी, तो दूसरे ही दिन वह इतनी प्रसिद्ध हुई कि मैंने कॉलेज जाते समय एक इक्केवाले को यह तान लगाते हुए सुना—

"फ़क़ीर क़ौम के आए हैं, झोलियाँ भर दो।"

इसी प्रकार दक्षिण-आफ़्रिका के संबंधवाली कविता, रामायण का दृश्य, फूलमाला, गोखले और तिलक के नौहे, मिसेज़ बीसेंट की गिरफ़्तारी की कविता आदि आपकी अनेक कविताएँ लोगों को कंठस्थ हैं।

इसमें संदेह नहीं कि आप एक बड़े कवि थे; परंतु कविता से अधिक आपमें एक और बड़प्पन था। उसी के संबंध में मैं यहाँ कुछ लिखूँगा।

वकालत में भी आपने सफलता प्राप्त की। आपकी जिरह की धूम चारों ओर फैल चुकी थी। कहा जाता है, जो जिरह आपने अपनी मृत्यु के दिन रायबरेली में की, उसमें आपने ऐसी-ऐसी बातें गवाह से कहलवा लीं कि सबजज साहब अचंभे में आ गए। परंतु मैं वकालत के विषय में भी कुछ न लिखूँगा; क्योंकि यह साधारण बात है, और बहुत-से वकीलों में पाई जा सकती है।

सबसे बड़ी प्रशंसनीय बात यह थी कि आपमें वे गुण थे, जो मनुष्य में होने चाहिए, परंतु होते नहीं। आपका एक मिसरा है—"आदमी के लिये मेराज़ है इंसाँ होना।" आप इंसान थे। बाहर के लोग उनको एक प्रसिद्ध कवि और एक विख्यात वकील ही समझते हैं; परंतु उनके भक्त उनकी आदमीयत पर फ़िदा थे। आपके स्वभाव में छुटपन में भी बचपन न था। आप सदा से गंभीर थे। खेल-कूद, नाच-तमाशे में आपको कोई मज़ा न आता था। हाँ, कहीं लेक्चर हो, तो आप अवश्य पहुँचते थे। पर अकेले कभी न जाते थे। अपने मित्रों और भक्तों को एकत्र करके ले जाते थे। जुए से आपको बहुत घृणा थी, और आपने काश्मीरी युवकों की जो सभा स्थापित की थी, उसमें प्रत्येक सभासद को यह प्रण करना पड़ता था कि वह आजन्म जुआ न खेलेगा। आपके चरित्र में कोई दोष न था।

प्रेम तो आपके नेत्रों से टपकता था। जिससे जान-पहचान हुई, उसके लिये न्योछावर होने को तत्पर रहते थे। न-मालूम कितनी बार आपने अपनी जान हथेली पर रखकर प्लेग, इनफ़्लुएंज़ा, क्षय आदि के रोगियों की सेवा की। यों तो आप बड़े वहमी थे, रोग से बहुत डरते थे। किसी को छींक आवे, तो डॉक्टर और वैद्य की डाक बिठा देते थे; परंतु जब रोग घोर रूप धारण कर लेता था, तो फिर आप रोगी के सिरहाने से नहीं हटते थे। मा, बहन, भाई डरकर भाग जायँ, परंतु ब्रजनारायणजी टलनेवाले नहीं। मित्रों, मित्रों की स्त्रियों और भक्तों की सेवा करनेवाला अब नहीं रहा।

अपनी माता, और नातेदारों से आपका ऐसा व्यवहार था कि जिसका वर्णन करना कठिन है। आपकी माता कुछ दिन से बीमार हैं। उनके लिये आप दूध पीते बच्चे की तरह बेचैन रहते थे। ज़रा उनकी तबियत ठीक न हो, तो मुक़द्दमे वापस कर देते थे। उनकी चारपाई के पास बैठकर प्रत्येक क्षण उनके हृदय की गति देखा करते थे। सच तो यह है कि रुई के गालों में रखकर आपने इतने दिन उन्हें जीवित रक्खा, नहीं तो वह कब की चल बसी होतीं। कदाचित् उनका चिराग़ इसीलिये जलता रक्खा कि वह यह दिन देखें! बड़े भाई को सदा पिता के तुल्य समझा। मौत के दिन तक उनसे ऐसा डरते थे, जैसे आठ दस वर्ष का बालक पिता से डरता है। कभी उनकी त्योरी में बल पाया, तो उदास हो गए कि न-मालूम मुझसे

क्या अपराध हो गया। सब कुटुंबियों के साथ आदर्श व्यवहार था। कभी किसी को कोई शिकायत का अवसर नहीं मिला।

आप pushing बिलकुल न थे। अपने घर में बैठना और मित्रों की सेवा करना ही आपका धर्म था। कभी प्रसिद्ध होने का ध्यान ही आपने न किया। आपका यह मिसरा कि—

"एक दिन ख़ुद ढूँढ़ लेगी शोहरत मुझको।"

बिलकुल ठीक है। शोहरत ने आपको ढूँढ़ा, आप शोहरत के पीछे कभी नहीं दौड़े।

यद्यपि आप गंभीर थे, तथापि humour (हास्य) आपमें कूट-कूटकर भरा था। एक बार एक सबजज साहब ने आपसे मज़ाक़ किया कि पंडितजी के मुक़द्दमे में पहली एप्रिल रख दो, वही आपको सूट करेगी। आपने तुरंत उत्तर दिया—हुज़ूर, अदालत को बेवक़ूफ़ बनाकर काम निकालना ही हमारा काम है। ज़रूर पहली एप्रिल रक्खें। सबजज साहब चुप हो गए।

एक बार आप रेल में जा रहे थे। एक पादरी पैर फैलाकर लेटा था। इनको बैठने तक की जगह न दी। आपने तुरंत कहा—क्या आप गिरजे ही में यह कहना जानते हैं कि अपने पड़ोसी को अपना ही-सा समझो, या उस पर आप अमल भी करते हैं? यह सुनकर पादरी झट से उठ बैठा।

आप प० बिशननरायन दर को अपना गुरु मानते थे। उनका आदर आप जिस प्रकार करते थे, उसका वर्णन करना कठिन है। उनके चरणों के पास बैठकर उनकी बातों को सुनना आपके जीवन का मुख्य उद्देश्य था। आपने कहा भी है—

फ़ख़्र है मुझको इसी दर से शरफ़ पाने का;
मैं शराबी हूँ, इसी रिंद के मयख़ाने का।

यद्यपि आप इतने बड़े हो गए थे, तो भी बड़ों का आदर बहुत करते थे। अपने से अवस्था में बड़े को आपने सदा आदर की दृष्टि से देखा।

आप पक्के समाज-सुधारक थे। काश्मीरी समाज में जो दो पार्टियाँ हो गई थीं, उनको आप ही ने मिलाया। स्त्री-शिक्षा, परदे के विरोध में, विधवा-विवाह के पक्ष में और और समाज-सुधार के मसलों में आप भाग लेते थे।

आपका मज़हब आपके इस शेर से प्रकट है—

हमारे और ज़ाहिदों के मज़हब में
फ़र्क़ अगर है तो इस क़दर है;
कहेंगे हम जिसको पासे-इंसां
वह उसको ख़ौफ़े-ख़ुदा कहेंगे।

पहले आपको ईश्वर की स्थिति में विश्वास न था, परंतु अब कुछ बरसों से हो गया था। इस विश्वास के न होते हुए भी आप कभी किसी मज़हबवाले का दिल नहीं दुखाते थे। सच तो यह है कि आपने ज़िंदगी ही मज़हबी गुज़ारी, चाहे किसी ख़ास मज़हब में यक़ीन हो या न हो। यदि स्वर्ग में अच्छी आत्माएँ जाती हैं, तो यह कहा जा सकता है कि सब मज़हबवालों से पहले आपकी आत्मा को स्वर्ग प्राप्त होगा।

काम, क्रोध, लोभ, मोह की मात्रा आपमें ज़रा भी न थी। आप शांति का रूप थे। जो शांति आपके मृतक मुख से टपकती थी, उसी से प्रकट है कि आप कैसे शांत थे।

पंडितजी सच्चे मनुष्य थे। १२ फ़रवरी को आप रायबरेली एक मुक़दमे में गए। दो बजे तक काम किया। वापस आने के लिये गाड़ी में बैठ गए। बातचीत करते-करते आपकी छड़ी हाथ से छूट पड़ी, बोल बंद हो गया। आप गाड़ी से उतार लिए गए। डॉक्टर बुलवाए गए। परंतु ऐसा कठिन फ़ालिज था कि चार घंटे में आप चटपट हो गए। आपका मृतक शरीर रात को ग्यारह बजे लखनऊ वापस आया। उस वक़्त उसे देखकर भी आपकी मृत्यु का विश्वास नहीं होता था। मुख गंभीर और शांत था। कष्ट की एक रेखा भी मुख पर न थी। ऋषियों की मृत्यु ऐसी ही होती है।

आपकी एक आठ वर्ष की कन्या है। वृद्धा माता, स्त्री, भाई, भावज और उनके बच्चे हैं, जो शोक-सागर में डूबे हुए हैं। इनके अतिरिक्त आपके अनेक मित्र और भक्त हैं, जिन पर पहाड़ टूट पड़ा, जिनके लिये इस संसार में अब बैठने का ठिकाना तक न रहा।

ईश्वर इन सबको यह दुःख सहने की शक्ति दे।

ब्रजकृष्ण गुर्टू

दीक्षा

सुख-दुःख भूल के, भव अघ-मूल के,
स्वप्न-महासिंधु-मध्य मैं विलीन हो रहा,
था अचेत सो रहा।
नींद मे निमग्न हो, लोक से अलग्न हो,
जाने किस व्योम पर तानता वितान था,
कुछ भी न ज्ञान था।
स्नेह में घुलाती हुई, मद-सा पिलाती हुई,
नींद-कामिनी थी मुझे अंक में झुला रही,
शांति से सुला रही।
आलस को तीर-सी, शीत के समीर-सी,
आके एक बात उर-सर उमँगा गई,
मुझको जगा गई।
कंज को दिनेश-सी, नभ को निशेश-सी,
दिव्य शब्द-ज्योति मेरी हृत्कली खिला गई,
सुधा-सी पिला गई।
अंतर-आकाश से, प्रोज्ज्वल-प्रकाश से,
आँखें चकाचौंध कीं पुनीत छवि-धाम ने,
दीखे गुरु सामने।
एक ही निमेष में, अंतरिक्ष-देश में,
हुए वे प्रकाशमान दिव्य देव-रूप में,
प्रतिभा अनूप में।
रश्मि-रूप डोर-सी, दामिनी-हिलोर-सी,
एक शृंखला दे चढ़े नभ में समक्ष थे,
हो गए अलक्ष थे।
विस्मय की राह में, प्रेम के प्रवाह में,
बह चले विलोचन अथाह मोद-पाथ में,
शृंखला पै आ थमे।
लोचन चकित हुए, अंग पुलकित हुए,
शृंखला-स्वरूप वहाँ शब्द ही अशेष था,
गुरु-उपदेश था॥

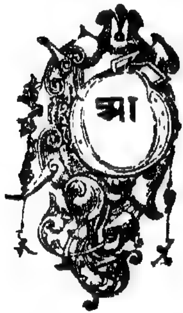
रामनारायण मिश्र

सूचना

गत कार्तिक की माधुरी (वर्ष ४, खंड १, संख्या ४) में "एक ऐतिहासिक भूल"-शीर्षक जो लेख डॉक्टर अंबालाल शर्मा का छपा है, उसका उत्तर हमारे पास आ गया है। वैशाख की संख्या में वह प्रकाशित किया जायगा। संपादक



१ महाराज गोविंदचंद्र और कुमारदेवी



श्विन की माधुरी में छपे हमारे 'राष्ट्रकूट और गाहड़वाल-वंश'-शीर्षक लेख में दी हुई चौथी शंका के विषय में निम्न-लिखित बात विशेष उल्लेख-योग्य है—

जिस कुमारदेवी का विवाह गाहड़वाल-नरेश गोविंदचंद्र के साथ हुआ था, वह छिक्कोर-वंशी देवरक्षित की कन्या और राष्ट्रकूट-महण (मथन) की नवासी थी। अतः इस विवाह में किसी प्रकार की आपत्ति करना ही व्यर्थ है। इस प्रकार के विवाह प्राचीन काल से आज तक बराबर होते चले आए हैं। हाँ, इतना अवश्य ध्यान रक्खा जाता है कि जिस प्रशाखा में पुरुष उत्पन्न हुआ हो, कन्या भी उसी प्रशाखा की नवासी न हो। अर्थात्, यदि पुरुष जयमलजी का वंशज है, तो वह जयमलजी से उत्पन्न हुई प्रशाखाओं की नवासियों से विवाह नहीं कर सकता; परंतु जयमलजी के भाइयों की चलाई मेड़तियों की प्रशाखाओं—चाँदावत, जगमालोत, गोपीनाथोत, ईशरदासोत आदि—की नवासियों से विवाह कर सकता है। इसी प्रकार का नियम सब राजपूत-वंशों में प्रचलित है।

यहाँ पर हम अपने वयोवृद्ध हितैषी रूपाहेली ठाकुर चतुरसिंहजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक समझते हैं; क्योंकि आप ही की कृपा से हमारा ध्यान इधर आकृष्ट हुआ है।

विश्वेश्वरनाथ रेऊ

× × ×

२. शून्य गोद

शरद्-पूर्णिमा की निशीथ शांति में मेरे खेत के पास-वाले वृक्षकुंजों ने अपूर्व मौन धारण किया। मैंने देखा, वे निःस्तब्ध होकर एकटक आकाश की ओर देख रहे थे। और दिन तो ये मतवालों की तरह अंग-अंग हिलाकर शोर मचाया करते थे। आज यह शांति कैसी?

बाहर अनंत की ओर दृष्टि उठाकर देखा, तो एक आकेश-श्वेत वृद्ध पिता अपनी चिरकाल के पश्चात् आई हुई षोडशवर्षीया कन्या के सघन ज्योत्स्नामय काले केशों पर स्नेह-स्निग्ध हाथ रखकर, प्रेम और करुणा के भार से पृथ्वी की ओर झुका पड़ता था। उसकी आँखों में तरल तारे टिमटिमाते थे, और उसकी दाढ़ी की केश-रश्मियाँ बाला के स्निग्ध मुख-मंडल पर बिखर रही थीं।

बाला अपने प्रेमाश्रुओं से भीगे हुए मुख को अपने पिता के अनंत हृदय में छिपा रही थी। ऐसा प्रतीत होता था कि शीघ्र ही उनका वियोग होनेवाला है।

प्रभाती तारे के पीले प्रकाश में मैंने देखा, मेरे बाग़

की समस्त विकसित कलिकाओं के मुखों पर आँसू बिखर रहे थे।

अनंत की गोद शून्य प्रतीत होती थी।

सूर्यकरण पारीक

× × ×

३. स्मृति या विस्मृति *

सदियाँ बीतीं, किंतु न बतियाँ—वे दिन रतियाँ ही भूलीं;
जिनमें प्रकृति पिया रसिया की रँगरलियों पर थी फूली।
कली-कली विकसित हो जिस पर करती थी यौवन का दान;
उस नटखटी माधुरी मुरली पर मोहित हैं अब भी कान।
सखी-सखाओं की वह क्रीड़ा, गैया, मैया का आह्वान;
करते हैं हिय-पट पर मेरे, आँखमिचौनी का अनुमान।
ब्रज-वनिता की विरह-व्यथा से गूँज रहा अब भी आकाश;
किस छलिया की मधुर मूर्ति का आता है अभिनव-आभास?
जड़-चेतन वृक्षों-पत्तों में, रजकण में इक गुप्त प्रकाश;
प्रकटित करता है यह किसका छिपा हुआ उज्ज्वल इतिहास?
री वृंदा, तू सत्य बता दे, क्या है यह सब—माया है?
या स्मृति है, अथवा कवि की कल्पित विस्मृत छाया है?

लतीफ़हुसेन 'नटवर'

× × ×

४. मिस्टिसिज़्म (*Mysticism*) का पर्याय

जब से बंगीय कवि श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर को 'नोबल-प्राइज़' मिला है, तब से हिंदी के साहित्यिकों का ध्यान उनकी रचनाओं की ओर विशेष-रूप से आकृष्ट हुआ है। श्रीरवींद्रनाथ की शैली समकालीन बँगला-कविता की शैली से भिन्न है। उनकी रचनाएँ अधिकांश मिस्टिसिज़्म हैं। जब से उनकी मिस्टिक रचनाओं के हिंदी और अँगरेज़ी-अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, उनके अनुकरण में हिंदी में भी कविताएँ की जाने लगी हैं। किसी नई बात के अनुकरण के पूर्व उसके दोष-गुण पर विचार करना पड़ता है; पर हिंदी के कुछ नवयुवक कवि श्रीरवींद्रनाथ की शैली पर आलोचनात्मक विचार किए बिना ही उनका अंध अनुकरण कर रहे हैं। उनको जान लेना चाहिए कि बँगला-साहित्य-संसार में ही श्रीरवींद्रनाथ की शैली का एक विरोधी दल है। वह उसका प्रचार वांछनीय नहीं समझता। यही हाल योरप का भी है। वहाँ मिस्टिक कवियों की कड़ी-से-कड़ी आलोचना की जाती है, और उनकी शैली का यहाँ तक विरोध किया जाता है कि 'वार्लेन' को लोग द्वीपांतर-दंड देने-योग्य समझते हैं। उसी प्रकार 'मेटरलिंक' को 'Hopeless mental cripple' कहकर, स्पष्ट शब्दों में, उसकी रचना की निंदा की जाती है, और विचारशील लोग उसका प्रचार अभीष्ट नहीं समझते। पर हमारे यहाँ के नवयुवक अपनी निर्दोष प्राचीन विशेषताओं को छोड़कर किसी भी नई बात का, चाहे वह बुरी ही क्यों न हो, अनुकरण करने में बड़े दक्ष जान पड़ते हैं। यह बड़े खेद की बात है।

मिस्टिसिज़्म के पर्याय की बात ही लीजिए। कुछ लोग इसके लिये 'छायावाद'-शब्द का प्रयोग करने लगे हैं। किसी ने यह शब्द लिख दिया। बस, फिर तो बिना यह सोचे-विचारे कि यह मिस्टिसिज़्म का ठीक पर्याय है या नहीं, उसका प्रयोग होने लगा है। हमें अधिक दुःख इस बात का है कि दो-एक संपादकों तक ने यह ग़लती की है। मैं भी पहले यही ग़लती करता रहा हूँ; पर मुझे उस समय भी अपनी ग़लती का ज्ञान था, और मैं ठीक पर्याय जानने की चेष्टा में रहा हूँ। पूज्यपाद पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने मुझे लिखा था—

"Mysticism = भावना-योग, अपरोक्ष ज्ञानवाद। वैज्ञानिक कोष के अंतर्गत मेरी बनाई हुई दार्शनिक परिभाषा देखिए।"

श्रीयुत बाबू पदुमलालजी बख़्शी बी० ए०, सरस्वती के भूतपूर्व संपादक, लिखते हैं—

"Mysticism, के लिये मैं 'भक्तिवाद' या 'अध्यात्मवाद' उपयुक्त शब्द समझता हूँ।"

अँगरेज़ी-कोष में 'Mysticism' का अर्थ इस प्रकार दिया है—

Mysticism——× × × A tendency of religious feeling marked by an effort to attain to direct and immediate communion with God; obscurity of doctrine.

इससे जान पड़ता है कि मिस्टिसिज़्म कुछ खेलवाड़ की वस्तु नहीं है। क्या 'छायावाद' से इन अर्थों का बोध होता है? यदि नहीं, तो वह मिस्टिसिज़्म का पर्याय कैसे हो सकता है? हमें अनुभव हुआ है कि कुछ लोग 'छाया-

* गत वृंदावन-कवि-सम्मेलन में पठित और प्रशंसित।

वाद' नाम के कारण ही मिस्टिसिज़्म का मतलब चाहे जैसा लिख मारना समझ बैठे हैं। जिन्हें काव्य शास्त्र का ककहरा भी नहीं आता, वे भी कविता करने चले हैं! इसका समर्थन कविता-संबंधी एक उच्च मासिक पत्र की एक संपादकीय टिप्पणी के इस अंश से भी होता है—

'× × × जो लोग बालकों की भाषा में कविता लिखना चाहते हैं, उस संप्रदाय में बहुत-से रँगे सियार हैं, जो केवल इसलिये ऐसा चाहते हैं कि वे स्वयं प्रौढ़ विद्वान् नहीं हैं × × ×'

मिस्टिसिज़्म का अर्थ अंटसंट लिखना नहीं है। 'छाया-वाद'-पर्याय से उसकी गंभीरता नहीं रह जाती।

साहित्यिकों से निवेदन है कि वे 'छायावाद'-शब्द का प्रयोग न करें। जब तक मिस्टिसिज़्म का कोई उपयुक्त पर्याय नहीं मिलता, तब तक हमें इस बात में बँगला का अनुसरण करना चाहिए। इसके लिये बँगला में हमें जहाँ तक ज्ञात है, अभी तक कोई शब्द गढ़ा नहीं गया। वे मूल-शब्द ही लिखा करते हैं।

मुकुटधर पांडेय

× × ×

५. "निकसि नदी चली" *

ब्रज बहि जैहै, रहि जैहै नहीं पात-पुंज,
पैहै नहीं खोज बन-बीथिन गली-थली ;
मेरी ही उसासन सों उड़िकै सरीर यह,
है-है जाय धूरि पगपूरित भली-भली।
लाओ ना सँदेस, ना सँदेस ही सुनाओ आय,
अब ना जराओ ऊधो, वैसही जरी भली ;
आप ही बहैगी औ कहैगी जाय साँवरे सों,
देखो इन नैनन सों निकसि नदी चली।

अंबिकाप्रसाद भट्ट "अंबिकेश"

× × ×

६. प्रत्यक्ष दर्शन

सोहै सीस मोर-पच्छ मुकुट अरीरदार,
कुंडल की डोलन कपोलन किनारे को ;
केसर-तिलक, बंक भ्रुकुटी, चपल नैन,
पीत पट छोरैं छोर पगन पछारे को।
कहत 'बिहारी' अंग उपमा अनूप पेल,
चैन सों मिलो री हेली हृदय हमारे को ;
टूटि आई लोक-लाज, लूटि आई मौज आज,
लेखि आई धन्य भाग, देखि आई प्यारे को।

कविराज बिहारीलाल ब्रह्मभट्ट

× × ×

७. छवि

झूमि रहे मुकुट सु मोती माल मोहन पे,
घूमि रहे सुंदर सु नैन छबिवारे री ;
डोलि रहे कुंडल अमोल ये कपोलन पै,
बोलि रहे कोमल सु बैन सुखकारे री।
भाय रहे भूषन, सु पीत पट छाय रहे,
छाय रहे कंचन लौं केस घुँघरारे री ;
फेरि रहे पानि धनु-बान सरजू के तीर,
हेरि रहे कौसल-किसोर अति प्यारे री।

रामाधीनलाल खरे

× × ×

८. श्रीगोस्वामी तुलसीदास-कृत 'ज्ञानदीपक'

गोस्वामी तुलसीदासजी-रचित बारह ग्रंथ प्रसिद्ध हैं— कवितावली, दोहावली, गीतावली, रामचरित-मानस, रामाज्ञा, विनय-पत्रिका, वैराग्य-संदीपिनी, कृष्ण-गीता-वली, रामलला-नहछू, पर्वती-मंगल, जानकी-मंगल और बरवै रामायण।

इनके अतिरिक्त दस ग्रंथों के नाम 'शिवसिंह-सरोज' आदि में और पाए जाते हैं—राम-सतसई, संकट-मोचन, हनु-मद्बाहुक, राम-सलाका, छंदावली, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोला रामायण, कुंडलिया रामायण तथा झूलना रामायण।

इनमें बहुत-से तो अप्राप्त हैं, और कुछ दूसरे ग्रंथों के अंश-मात्र हैं। नागरीप्रचारिणी-सभा, काशी से जो 'तुलसी-ग्रंथावली' प्रकाशित हुई है, उसमें भी पहले लिखे हुए केवल बारह ग्रंथ ही गोस्वामीजी-कृत प्रकाशित हुए हैं।

हाल में मुझे गोस्वामीजी-रचित एक और ग्रंथ का पता चला है। उसका नाम है 'ज्ञानदीपक'। किंतु मुझे केवल उस ग्रंथ के आदि के दो ही पन्ने प्राप्त हुए हैं। जो पन्ने मुझे मिले हैं, वे पुराने लिखे मालूम होते हैं। उनका काग़ज़ मोटा, खुरखुरा, पुराने ढंग का है।

* प्रथम अ० भा० कवि-सम्मेलन, कानपुर में पठित तथा माधुरी-संपादक पं० दुलारेलाल भार्गव द्वारा पुरस्कृत।

लिपि सुंदर तथा काली, चमकदार स्याही में है। जगह-जगह लाल स्याही का भी प्रयोग हुआ है, तथा कहीं-कहीं हरताल से शुद्ध भी की गई है। पन्नों की लंबाई १० इंच और चौड़ाई ५ इंच है। प्रत्येक पन्ने में ८ पंक्तियाँ हैं।

बहुत खोज करने पर भी अब तक पूरा ग्रंथ प्राप्त नहीं हो सका। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि पुस्तक कितनी बड़ी और कैसी है। किंतु उसकी भाषा आदि से ग्रंथ की उत्कृष्टता जान पड़ती है, और यह भी कि वह गोस्वामीजी की ही रचना है। उसका रचना-काल गुरुवार, आषाढ़-शुक्ल द्वितीया, संवत् १६३१ है, जैसा कि स्वयं दोहों से प्रकट होता है। पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उन दोनों पन्नों की प्रतिलिपि दी जाती है—

श्रीगोस्वामी तुलसीदास-कृत पोथी 'ज्ञानदीपक' लिख्यते—

दो०—सुमिरत चरण गनेस के, प्रथमहिं सीस नवाइ ;
बुद्धि सिद्धि जांत लहौं, भाषौं ग्रंथ बनाइ।

चौ०—नहिं उपजै नहिं होइ बिनासा ;
तिहूँ लोक जाकर परकासा।
जाकी लीला जगत भुलाना ;
नमो-नमो ता प्रभु भगवाना।

दो०—सारद सुक नारद सुमिरि, ब्यास जनक के पाँइ ;
ज्ञानदीपिका रचत हौं, राम-चरन चित लाइ।

चौ०—सुन-सुन बिबिध संस्कृत बानी ;
भाषा कीन्ह चहौं रुचि मानी।
हरिहर मिलन के मारग पाँचा ;
देहु बताय प्रगट श्रुधि साँचा।

दो०—ज्ञानदीपिका बरनिहौं, भाषत ज्योति जे पाँच :
उक्ति-जुक्ति सों अर्थ करि, कथा पुरातन साच।

अथ दीपक—जथा—

दो०—बुद्धि पात्र बाती उकति, तत्र तेल की धार ;
ब्रह्म-अगिन कर लेसिये, ज्ञान दीप-उजियार।
सम्बत् सोरह सौ गए, इकतिस अधिक बिचार ;
सुकुल पच्छ आषाढ़ को, दुइज पुण्य गुरुबार।
ता दिन उपजी दीपिका, पाँच जोति परवान ;
धर्म ज्ञान अरु ब्रह्म पुनि, प्रभु सरूप बिज्ञान।
ज्ञानी सत्यक बैस्नब, ब्रह्मबासिन सुख जोग ;
हित वे गिनिहैं ग्रंथ यह, दुखिहैं दर्मी लोग।

अथ कथा को प्रसग चल्यौं।

दो०—ज्ञान गुरू को सिष्य इक, ताको नाम सुबुद्धि ;
धर्म कथा पूछन लगो, जो मारग सुच सुद्धि।

सुबुद्धि उवाच

दो०—कै पद कहिए धरम के, उतपति किन बिस्तार ;
कित अस्थित कित नास गुरु, कहिए सकल बिचार।

गुरुज्ञान उवाच

चौ०—चार चरन सुभ धरमहिं जाना ;
बिद्या सत्य तपस्या दाना।
द्रुत पति मन दया बिस्तारा ;
अस्थित छिमा लोभ छै कारा।

शिष्य उवाच

दो०—को बिद्या को सत्त पुनि, को तपस्य को दान ;
तुम हो गुरु सर्वज्ञ, कहिए सकल बिधान।

ज्ञानगुरु उवाच

सवैया

ब्रह्म निरूपन बेद के मारग रामकथा सब बिद्या माहीं ,
बरन अचार बिचार सोइ सत्य सकट दरहिं सत्य सराहीं।
देह रहै दमकै नख सों सुख सोद सदा तपु है सच ताहीं ;
देहि कछू हरि हेतु सुदान भलो तुलसी जग और वृथा हीं।

सुबुद्धि उवाच

दो०—को हितु कहौ बिदेस में, को हितु कहिए भौन :
को हितु अपनी देह को, मरन-काल हितु कौन।

ज्ञानगुरु उवाच

दो०—बिद्या हित बिदेस में, त्रिया भौन हितु होइ ;
दुःख हितु निज देह को, धर्म मरन हितु सोइ।

इकबालबहादुर श्रीवास्तव
(अनुरागी हार)

× × ×

१. कब ?

तुम्हारी राह देखते देव, नेत्र थक गए हृदय बेचैन ;
हृदय की आशा का अवसान, हुआ चाहता देर अब है न।
निराशा-वायु-प्रचंड झकोर, बुझाता दीप सनेह-विहीन ;
विकलता बढ़ती क्षण-क्षण हाय, हुआ तन उत्कंठा में क्षीण।

* * *

समानांतर रेखाएँ दो, मिलेंगी कब अनंत के पास ;
मिलेगी उद्धत चित को शांति, कभी क्या होगा विरह-विनाश।

मान कब होगा तेरा भंग, हृदय की कली खिलेगी, या न ?
कोप का भी कब होगा अंत, विलय होगी यों ही यह तान ?

* * *

बता दो, कब आओगे देव ? बहेगा अविरल अश्रु-प्रवाह ।
धुलेगा दिल का सारा मैल, बंद कब होगी जी की आह ?
पूर्ण कब होगी चित की चाह, मिलेंगे दो नद भरे उमंग ;
उठेगी हृत्तंत्री कब गूँज, करोगे कब यह अभिनव भंग ?

रामबहोरी शुक्ल

× × ×

१०. राव सुरजन और अकबर

माधुरी के पिछले दो अंकों में मेरे 'अकबर और रण-थंभोर'-शीर्षक लेख पर कुछ टिप्पणियाँ हुई हैं। मैं आपको तथा अन्य महानुभावों को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने मेरे लेख की ओर जनसाधारण का ध्यान आकर्षित करके, मेरा उत्साह बढ़ाया। यह लेख दो वर्ष पूर्व काशी की नागरीप्रचारिणी-पत्रिका में 'बूँदी का सुलहनामा' के नाम से निकला था। उस समय जहाँ तक मुझे ज्ञात है, किसी भी हिंदी-पत्र का इसकी ओर ध्यान नहीं गया। कुछ समय उपरांत मैंने उसका अँगरेज़ी में अनुवाद करके 'कलकत्ता-रिव्यू' को भेजा ; परंतु कई कारणों से वह अब तक न छप सका। अस्तु, लेख पर जो टिप्पणियाँ निकली हैं, उनमें से मैं आज मेहता लज्जारामजी की टिप्पणी पर दो-एक शब्द लिखने का साहस करता हूँ। मेहताजी राजपूताने के विख्यात इतिहासज्ञों में हैं, और इस कारण मैं उनके विचारों को आदर की दृष्टि से देखता हूँ। परंतु खेद से लिखना पड़ता है कि मेरे लेख के अभिप्राय को मेहताजी ने भली भाँति समझने की चेष्टा नहीं की। मेरा अभिप्राय बूँदी के इतिहास में एक बड़ी घटना को झूठ साबित करके उस इतिहास को किसी प्रकार भी कलंकित करने का नहीं है, और न केवल मेरे ही न्यायालय का न्याय इतिहास-संसार में मान्य हो जायगा। आधुनिक इतिहास-लेखन-शैली में तर्क को ऊँचा स्थान दिया है। और, यों तो पुराने समय की बातें अक्षरशः सत्य लिखना सदा असंभव ही-सा होता है ; परंतु जो बात तर्क से न्यायसंगत प्रतीत हो, वही ऐतिहासिक दृष्टि से भी सत्य मानी जाती है। इस तर्क में यह स्वभावतः आवश्यक होता है कि समकालीन इतिहासों के आधार पर किसी घटना के होने-न होने का निश्चय किया जाय, और यदि एक ऐतिहासिक ग्रंथ को एक मनुष्य असत्य माने, तो दूसरे व्यक्ति को अधिकार है कि अन्य ग्रंथ को भी वैसा ही स्थान दे। तात्पर्य यह कि यदि हम यह कहने को तैयार हों कि मुसलमान इतिहासकारों ने, विशेषतः अबुलफ़ज़ल ने, मुग़ल-बादशाह को खुश करने की नीयत से रणथंभोर की लड़ाई का हाल असत्य लिख दिया, तो हमें यह मानने को भी तैयार रहना चाहिए कि बूँदी के इतिहासकार भी मनुष्य ही थे, और आत्माभिमान से प्रेरित हो, उनके लिये भी किसी घटना को असत्य लिखना असंभव न था। मुँहणोत नैणसी को जाने दीजिए ; क्योंकि मेहताजी के न्यायालय में इस व्यक्ति को कोई स्थान नहीं मिल सकता। परंतु यह समझ में नहीं आता कि मौलाना अबदुलक़ादिर बदायूनी तथा अन्य मुसलमान समकालीन लेखक—सब-के-सब—रणथंभोर के मामले में क्यों झूठ बोल गए ?

यह भी माना कि ये लोग भी आत्माभिमान के कारण सच्चा इतिहास नहीं लिख पाए ; परंतु मैंने जो इस घटना को असत्य दिखलाया है, वह केवल समकालीन इतिहासों पर ही निर्भर नहीं है। एक बार मान लें कि सब मुसलमान लेखक तथा मुँहणोत नैणसी किसी कारण से झूठे हैं ; पर फिर भी एक कठिन समस्या, सुलहनामों की शर्तों से, उत्पन्न होती है, और इस समस्या का हल करना बड़ा दुस्तर प्रतीत होता है। कर्नल टॉड के अनुसार जो शर्तें सुलहनामे में लिखी हैं, वे 'बूँदी-वंशभास्कर' के आधार पर बनाई हुई प्रतीत होती हैं। परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से ये सब शर्तें बेमतलब मालूम होती हैं। जब जज़िया और दाग़ का किसी को ख़याल भी न था, जब अटक के पार का राज्य अकबर के अधीन ही न था, जब नौरोज़ और सिज़दा कोई जानता ही न था, जब फ़तहपुर-सीकरी का लाल दरवाज़ा बना ही न था, तो इस सुलहनामे में इन सबका ज़िक्र किस तरह आ गया। इस प्रश्न के उत्तर पर ही अधिकांश में सारी घटना का सत्य अथवा असत्य होना निर्भर है। यदि मेहता लज्जारामजी ऐतिहासिक ग्रंथों के आधार पर यह सिद्ध कर सकें कि चाहे ऊपर-लिखी हुई बातें दस वर्ष बाद ही क्यों न हुई हों, उनका सन् १५६६ ई० के शर्तनामे में आना संभव है, तो मैं अपनी भूल स्वीकार कर लूँगा। इतना ही नहीं, बल्कि मुझे भूल

स्वीकार करने में बड़ा हर्ष होगा ; क्योंकि बूँदी का वर्त-मान इतिहास इसी घटना से आरंभ होता है । यदि यह घटना असत्य ही बनी रही, तो अच्छा नहीं । माना कि 'बूँदी-वंशभास्कर' एक उच्च कोटि का ग्रंथ है ; पर जिस ग्रंथकर्ता से महाराणा कुंभा के मरने की घटना सच न लिखी गई, उसके लिये रणथंभोर के विषय में बिना छानबीन किए ही चारणों की बात लिख देना भी संभव है । रणथंभोर की घटना को यदि स्मिथ साहब ने सच माना है, तो वह केवल इस कारण से कि ऐसा करने से उनको अकबर के बारे में कही हुई अन्य बातों का समर्थन करने का अवकाश मिलता है । शायद मेहताजी ने स्मिथ साहब का 'अकबर' आद्योपांत ध्यान देकर नहीं पढ़ा । यदि पढ़ते, तो उनको मालूम होता कि 'अकबर' के अन्य आधुनिक लेखकों से केवल दो ही-एक नई बातें स्मिथ साहब ने लिखी हैं । उनमें सबसे बढ़कर यह है कि अकबर ने अपने राज्य के अंत-काल में असीरगढ़ के क़िले को अपने अधीन करने के लिये घूँस और फ़रेब से काम लिया ।

मेरी मंद बुद्धि में स्मिथ साहब ने यह बात ठीक नहीं लिखी । चाहे जो हो, साहब बहादुर इस बात को सच मानते हैं, और इसकी सचाई के सबूत में यह लिखते हैं कि "अकबर के ऐसे व्यवहार से इतिहास-प्रेमी अचंभित न हों ; क्योंकि उसका ऐसा स्वभाव था, और रणथंभोर के अगम्य दुर्ग को अपने क़ाबू में लाने के लिये भी बादशाह ने एक प्रकार का जाल रचा था।" इससे स्पष्ट है कि स्मिथ साहब ने रणथंभोर की घटना पर स्वतंत्र रूप से तथा खुले दिल से विचार नहीं किया। और, इस लेख को अँगरेज़ी तथा हिंदी में प्रकाशित करने का मेरा अभिप्राय यही बतलाने का था कि स्मिथ साहब ने कहीं-कहीं अकबर के बारे में मनमाना लिख दिया है । यदि मेहताजी को मेरा लेख झूठा साबित करना है, तो उनको यही उचित है कि समकालीन इतिहासों के आधार पर मेरे प्रत्येक तर्क का उत्तर दें, न कि दो-एक ऊपरी बातें लिखकर संतुष्ट हो रहें । मेहताजी को केवल मामला बढ़ने के ही भय से अपनी लेखनी न उठानी चाहिए। एक कठिन समस्या इस प्रकार से अथवा इस नीयत से हल नहीं होती । छानबीन करने की आवश्यकता है, और इस शुभ कार्य में यदि मैं कुछ सेवा मेहताजी की कर सकूँ, तो अपने को धन्य समझूँगा ।

पी० बी० जोशी

× × ×

११. मनाही

उनसे कह दो कि दवाजे-दिलो शैदा न करें ;
यही अच्छा है कि बीमार को अच्छा न करें ।
क्या कहा,फिर तो कहो—हम कोई शिकवा न करें;
चुप रहें, ज़ुल्म सहें—ज़ुल्म का चर्चा न करें ?
दमे-आखिर तो निकल जाय तमन्ना मेरी ;
वह न ऐसे में भी आवें, कहीं ऐसा न करें ।
रोज़ वह कहते हैं, आज आवेंगे, कल आवेंगे ;
ऐसे वादे से तो बेहतर है कि वादा न करें ।
अभी देखा ही नहीं आपने आईनए-हुस्न ;
देख लें आप, तो यकताई का दावा न करें ।
खुदनुमाई उन्हें ग़ैरों में लिए फिरती है ;
हम तो जब जानें कि हमसे भी वह पर्दा न करें ।
तेग रुक जाती है, नावक* भी बहक जाता है ;
कोई 'बिसमिल' को यह समझा दे कि तड़पा न करें ।

सुखदेवप्रसादसिंह 'बिसमिल'

× × ×

१२. चंदा †

(१)

सायंकाल का अंधकार पृथ्वी पर अपना अधिकार जमा रहा था । लखनऊ में एक दुमंज़िले मकान के एक कमरे के भीतर एक लालटेन तीव्र ज्योति से जल रही थी । एक पलँग पर लक्ष्मी के कृपापात्र बाबू हरिश्चंद्र लेटे-लेटे अंतकाल की राह देख रहे थे । एकाएक वह बोल उठे—"चंदा!"

मरणासन्न पति के पास बैठी हुई स्त्री ने उत्तर दिया—"जी !"

"मुझे माफ़ करो ।"

कहते-कहते बाबू हरिश्चंद्र ने अपने आरक्त नेत्र चंदा के मुँह पर गड़ा दिए, अपने दुर्बल काँपते हुए हाथों से उसके एक हाथ को दबा लिया । मुँह को दूसरी ओर कुछ फेरकर, अपने हाथ को धीरे-धीरे खींचकर, चंदा करते

* तीर ।

† एक बँगला-गल्प के आधार पर ।

हुए चंदा ने कहा—"आप चुप हो जाइए, शांत होकर ज़रा सोने की कोशिश कीजिए।"

"शांत ही तो मैं नहीं हो सकता चंदा।"

बाबू हरिश्चंद्र ने एक लंबी साँस ली।

"डॉक्टर साहब ने बिलकुल बोलने को मना किया है।"

"दिल के शांत होने की कोई दवा तो वह दे नहीं सकते। मुँह की दो बातें—"

"चुप रहिए—चुप रहिए; नहीं तो दिमाग़ में फिर गरमी चढ़ जायगी।"

एक हाथ से पंखा झलते हुए चंदा ने दूसरा हाथ बाबू हरिश्चंद्र के सिर पर रक्खा। स्निग्ध कोमल हाथ के स्पर्श से बाबू हरिश्चंद्र को बहुत आराम मिला।

चंदा ने कहा—"अब थोड़ा सोइए तो सही।"

"सोऊँगा! मेरे दिल को पहले शांत तो कर दो। कहो, मुझको तुम माफ़ करोगी?"

चंदा की आँखें सजल हो आईं। हृदय को दबाकर उसने कहा—"आपसे तो कोई क़सूर हुआ नहीं, माफ़ क्या करूँगी!"

"इस उमर में, बीमारी की दशा में भी, तुम्हारे रूप पर मुग्ध होकर तुमसे ब्याह किया था—"

"लेकिन ब्याह तो किया था मेरे पिता ने।"

"हाँ, मुझसे उनका अपराध अधिक है—बहुत अधिक है! लेकिन मैंने चाहा तो था। वह मेरे बहुत-से रुपए के क़र्ज़दार थे—"

"ज़्यादा बोलिए नहीं। भला अब उन बातों की चर्चा क्यों? उन सब मामलों को न सोचिए। बीमारी बढ़ जायगी।"

"बीमारी!—बढ़ और क्या जायगी? मैं तो जा रहा हूँ, एक दिन पहले या एक दिन पीछे—इससे क्या?"

"नहीं-नहीं, आप अच्छे हो जायँगे—"

"अच्छा हो जाऊँगा! न-न, यह तो नहीं होने का। मुझको कोई अच्छा नहीं कर सकता। जाने से पहले दिल को ज़रा-सा हलका करना चाहता हूँ।"

अंत के दो-चार शब्द ठीक-ठीक नहीं निकले, दोनो आँखें बंद हो गईं। इस उत्तेजना की प्रतिक्रिया से बाबू हरिश्चंद्र एकाएक बेहोश-से हो गए। सिर पर गुलाब का पानी छिड़ककर चंदा ज़ोर से पंखा झलने लगी। कुछ तंद्रा का भाव मालूम हुआ। साँस—क्षीण होने पर भी—नियम से चलने लगी। लगभग आधे घंटे के बाद बाबू हरिश्चंद्र एकदम काँप उठे—शिथिल अवसन्न दृष्टि से एक बार इधर-उधर देखा; फिर क्षीण और दबी हुई ज़बान से कहा—"अरे थोड़ा-सा पानी!"

चंदा ने कई चम्मच पानी उनके मुँह में डाल दिया। इसके बाद घड़ी की तरफ़ देखकर बोली—"दवा पीने का समय हुआ है, दूँ?"

"दो।"

चंदा ने दवा लाकर रोगी के मुँह में थोड़ी-थोड़ी करके डाल दी।

पानी और दवा पीने के बाद बाबू हरिश्चंद्र के कुछ शक्ति-सी आ गई। कुछ देर ख़ामोश रहकर, मानो कुछ बल संग्रह करके, अंत में उन्होंने कहा—"हाँ, तुम्हारे पिता का अपराध बहुत ज़्यादा—"

"न बोलिए, न बोलिए। कुछ अच्छे मालूम हो रहे हैं—"

"हाँ, इसीलिये दो-चार बातें अभी कहना चाहता हूँ। शायद बाद को न कह सकूँगा। न-न, बाधा न डालना—मना न करना, चंदा। दिल हलका होने से ही ज़रा स्वस्थ मालूम होता हूँ। फिर—"

इतना कहकर वह फिर अचानक रुक गए, और दम-भर के बाद बोल उठे—"अरे, दो शब्द भी नहीं बोलने देगा? लेने आया है, तो ले चलना—ले चलना—अभी ले चलना; लेकिन चित्त बहुत भारी है; थोड़ा हलका कर लेने दे।"

मस्तक पर ठंडा पानी देकर चंदा ज़ोर से हवा करने लगी। बाबू हरिश्चंद्र आँखें फाड़कर देखने लगे, हाथ उठाकर चंदा का एक हाथ थाम लिया। बोले—"बस, कुछ न बोलना—मना न करना। मुझको जो कुछ कहना है, समाप्त करने दो। हाँ, तुम्हारे पिता का अपराध बहुत ज़्यादा है। उन्होंने व्यापार करने के विचार से बहुत-सा ऋण लिया था। सर्वस्व नाश होना या जेलख़ाने जाना बेहतर था, लेकिन तुम्हारा इस भाँति मेरे-जैसे बीमार बूढ़े लंपट की लालसा में बलिप्रदान करने का अधिकार उनको नहीं था।"

चंदा की आँखों में आँसू भर आए। मुँह फेरकर उसने कहा—"मैंने भी तो इनकार नहीं किया था?"

"यह तुम्हारा महत्त्व है। मैं आज इसीलिये और भी तृप्त हूँ। हाँ, बेदर्द पिता ने अपनी ग़र्ज़ से तुम-जैसी देव-बाला कन्या का बलिप्रदान कर दिया। लेकिन मैंने उस बलिप्रदान का दावा किया ! रुपए तो मैं छोड़ सकता था। आज तो सभी छोड़े जा रहा हूँ—धन, भोग-लालसा, सब। ले जा रहा हूँ सिर्फ़—नहीं, अब मुझसे नहीं होता। बहुत पाप इस ज़िंदगी में किए हैं, सभी करते हैं। ख़याल नहीं करता था, लेकिन आख़िर ज़िंदगी का यह महापाप—"

आँखें पोंछकर चंदा ने कहा—"भगवान् के चरणों में अपने को सौंप दीजिए। वही आपको शांति देंगे।"

"देंगे—देंगे ? क्या देंगे ? तुम कहती तो हो, चंदा, देंगे ?"

इतना कहकर बाबू हरिश्चंद्र ने फिर अवसन्न भाव से आँखें मूँद लीं।

थोड़ी देर के बाद बाबू हरिश्चंद्र ने एक बार आँखें फाड़कर फिर देखा—मुँह थोड़ा-सा खोल दिया। चंदा दूध देने लगी। बाबू हरिश्चंद्र ने सिर हिलाकर मना किया। चंदा ने पानी दिया। उन्होंने कई घूँट पिए। पहले की अपेक्षा वह कुछ स्वस्थ मालूम हुए। आहिस्ता-आहिस्ता चंदा ने पूछा—"आपके लड़कों के पास ख़बर भेज दूँ ?"

"नहीं।"

"भेजने से अच्छा होता।"

"नहीं—अभी नहीं।"

"फिर कब ?"

"बाद को। अगर वे आए, तो अच्छा ; नहीं तो थोड़ी-सी आग—वह तुम्हीं दे देना।"

"क्या आपको उन्हें देखने की इच्छा नहीं होती ?"

दोनों आँखों से दो बूँद आँसू बह आए। कोमल हाथ से चंदा ने उन्हें पोंछ दिया। फिर आँसू गिरे—फिर चंदा ने पोंछा ; फिर गिरे।

चंदा ने कहा—"क्यों मना कर रहे हैं ? उनको ख़बर भेज दूँ, वे आ जायँ।"

"नहीं, यह मुँह उनको नहीं दिखाऊँगा ! उनको दिखा नहीं सकता !"

"क्यों ? जो कुछ बाधा हो, दूर कीजिए न। अभी वक़्त है।"

"वक़्त शायद हो, लेकिन हक़ नहीं है। मैं प्रण में बँधा हूँ—नहीं, उसकी चर्चा अब न करो, चंदा। ख़ुशी अब मैं चाहता नहीं। चैन-चैन—कुछ चै—"

वह फिर आँखें मूँदकर अवसन्न हो गए। कुछ समय तक उनके मुख की ओर चंदा आँखें डबडबाए निहारती रही। अकस्मात् उसके हृदय में चिंता और भय समा गया। उसने धीरे-धीरे उठकर बग़ल का दरवाज़ा खोला। डॉक्टर और दो-चार आदमी वहाँ बैठे हुए थे। इशारे से चंदा ने डॉक्टर को बुलाया। धीरे से उन्होंने घर के अंदर आकर रोगी के मुँह की ओर देखा। साँस, नब्ज़ और शरीर की गरमी की परीक्षा की। आशंका से वह घबरा उठे, तुरंत बग़लवाले उसी कमरे में लौट गए, और कई एक शीशियाँ निकालकर दवा तैयार करके ले आए। चंदा बिछौने के पास खड़ी थी, उसने दवा लेकर धीरे-धीरे अपने स्वामी के मुँह में डाल दी।

इसके पश्चात् रोगी कुछ स्वस्थ प्रतीत हुआ। दरवाज़े के बाहर पुराना नौकर बलदेव बैठा था। उसे रोगी के पास आकर खड़ा होकर हवा करने के लिये इशारा करके चंदा बग़ल के कमरे में फिर चली गई।

(२)

"डॉक्टर साहब !"

"जी, आइए। आप परेशान न हों। हाँ, देखिए, रात बहुत हो गई ; अकेली और कितना जग सकेंगी ? अब आप जाकर कुछ आराम करें। थोड़ी देर के लिये कोई और बैठेगा।"

सिर हिलाकर चंदा ने कहा—"नहीं, मुझे कोई तकलीफ़ नहीं मालूम होती। जब कभी जग उठते हैं, मुझी को बुलाते हैं।"

"ठीक है, ठीक है ; लेकिन—"

"उनकी हालत इस वक़्त कैसी है ?"

"हालत क्या ? बात यह है, बहुत ही नाज़ुक मौक़ा है ! लेकिन आप हैरान न हों। यह रात ख़ैरियत से बीत जाय, तो—"

"क्या बीतने की विशेष संभावना है ?"

डॉक्टर ने कुछ संकोच से जवाब दिया—"देखिए, सब परमात्मा के हाथ—"

"मैं उनके लड़कों को ख़बर भेजना चाहती हूँ—"

बग़ल ही में एक वृद्ध सज्जन बैठे थे। उनका नाम मोहनलाल था। रोगी की अतुल संपत्ति का कुल प्रबंध

इन्हीं के ज़िम्मे था। उन्होंने कहा—"यह तो उनकी मंशा नहीं है, माजी।"

"मैं ख़ूब जानती हूँ। फिर भी मैं उनको एक बार ख़बर कर देना चाहती हूँ।"

"अगर आप कहें—"

"हाँ, मैं कहती हूँ। आप अभी उनको सँदेसा भेज दीजिए। बीमारी का हाल भी तो उन्हें मालूम नहीं। अभी एक चिट्ठी लिख दीजिए—लिख दीजिए, बाबूजी सख़्त बीमार हैं, फ़ौरन् चले आवें। मोटर तैयार है। अभी ख़त लेकर कोई चला जाय।"

बाबू मोहनलाल उठकर ख़त लिखने बैठ गए। काग़ज़ और क़लम लेते ही उन्होंने फिर पूछा—"आपके पिताजी को भी ख़बर भेज दूँ?"

"नहीं।"

"वह क्या कहेंगे?"

"नहीं, कोई ज़रूरत नहीं। उनको ख़बर न देना।"

चंदा के मुँह और आँख पर एक उत्तेजना की लाली-सी छा गई। तुरत ही आत्मसंवरण कर धीरे से बोली—"नहीं, और किसी को ख़बर देने की कोई ज़रूरत नहीं। सिर्फ़ उनके लड़कों के पास अभी आदमी भेज दीजिए।"

यह कहकर चंदा फिर रोगी के कमरे में चली गई, और नौकर के हाथ से पंखा ले लिया। बलदेव उमड़े हुए आँसू पोंछकर एक किनारे जा खड़ा हुआ। चंदा ने एक बार उसकी ओर देखा; उससे बाहर जाने के लिये कहने की हिम्मत नहीं पड़ी।

कदाचित् एक घंटा बीता होगा। बाहर बरामदे में आवाज़ करती हुई कईएक मोटरें आ गईं। चंदा का समस्त शरीर काँप उठा। उसने प्रबल चेष्टा से अपने को सँभाला, और तनकर खड़ी हो गई। बलदेव दोनों हाथों से मुँह ढककर बैठ गया।

ज़ीने पर मृदु, परंतु द्रुत तथा अनेक पैरों की आहट मालूम हुई। जो आए थे, वे सब बग़ल के कमरे में दाख़िल हो गए। चंदा भी दरवाज़ा खोलकर उनके सामने जाकर खड़ी हो गई। कमरा भर गया था। दो पुत्र, दो पुत्र-वधू, कन्या, पोता, पोती, नाती, नातिन, सभी आ गए थे। एक बार चंदा ने उन सबकी ओर देखा। लज्जा तथा दुःख से उसका सिर झुक गया। किस लोभ से इन सबको छोड़कर उन्होंने केवल इस अभागिन को अपना लिया था! ख़याल हुआ, इनके निकट अपराधी आज ख़ुद वही है—वही उस वृद्ध की आँख के सामने उनके इस चंद्र-मंडल को ग्रसकर आ खड़ी हुई है। चंदा ने चकित दृष्टि से फिर एक बार उन्हें देखकर सिर झुका लिया, और फिर न उठा सकी। आगंतुक भी स्तब्ध होकर चंदा के मुँह की ओर ताकने लगे। उनके मुँह से एक भी शब्द न निकला। कुछ तो श्रद्धा से और कुछ करुणा-मिश्रित दृष्टि से सबने चंदा की ओर आज देखा। उसी के नाम पर इतने दिन तक उन्होंने सहस्रों अभिशापों की बौछारें सही हैं।

सिर झुकाए हुए चंदा ने डॉक्टर साहब के पास जाकर मृदु स्वर से पूछा—"ये अब उस कमरे में जा सकते हैं?"

डॉक्टर ने सिर हिलाकर अपनी सम्मति प्रकट की।

दरवाज़ा खोलकर चंदा हट गई। चुपचाप धीरे-धीरे सब-के-सब उस कमरे में चले गए, और मुमूर्षु की शय्या को चारों ओर से घेरकर खड़े हो गए।

कुछ देर बाद बाबू हरिश्चंद्र चौंक पड़े। उन्होंने क्षीण, अवरुद्ध कंठ में कहा—"ये कौन—ये सब कौन आए हैं?—वाह!"

चंदा नज़दीक आकर, सिर झुकाकर बोली—"आँखें खोलकर एक बार देखिए तो।"

बाबू हरिश्चंद्र ने आँखें फाड़कर देखा। चेहरे पर एक आनंद की दीप्ति छा गई; परंतु फ़ौरन् वह चेहरा एकदम पीला पड़ गया। शिथिल आँखें बंद हो गईं—दोनों आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई।

इसके पश्चात्—इसके पश्चात् ही—काल ने अपनी काली छाया में असार संसार के एक विभ्रांत जीव को खींच लिया। उस छाया की ओट में अमृत-लोक के प्रकाश का आनंद, विराम की शांति इस व्यथित विभ्रांत जीव के भाग्य में थी या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर कौन देगा? उस लोक के जो कर्म-फलदाता देवता धर्मराज हैं, उन्हीं को मालूम है।

(३)

"आपने हमको बुलाया है?"

"हाँ, बैठिए।"

चंदा ने अदब के साथ उठकर बाबू हरिश्चंद्र के

दोनों पुत्रों—रमेश बाबू और महेश बाबू—को बैठने के लिये आसन दिया। दोनों शांति से बैठ गए।

"किस लिये आपने हमको बुलाया है ?"

अत्यंत संकोच के भाव से चंदा ने कहा—"वह बहुत जायदाद छोड़ गए हैं—"

"हाँ, सुना तो ऐसा ही गया है।"

"उनके वसीयतनामे का हाल भी आप लोगों ने सुना होगा ?"

"हाँ, सुना है—सब जायदाद आपको दे गए हैं।"

"विवाह के समय मेरे पिताजी को ऐसा वचन दिया था—"

"हम लोगों के सामने उन सब बातों की चर्चा करने की कोई ज़रूरत है ?"

चंदा ने जवाब दिया—"वह इस संसार को छोड़कर चले गए। जो कुछ उन्होंने किया, उस पर किसी को अब असंतोष प्रकट करना उचित नहीं।"

महेश ने कहा—"अपने बारे में आप जो उचित समझें, कीजिए। लेकिन हम लोगों को क्या यह नसीहत देने ही के लिये आपने बुलवाया है ?"

"नहीं, नसीहत देने का मुझे क्या अधिकार है ? मगर हाँ, मेरे संबंध में शेष कर्तव्य जो कुछ उन्होंने सोचा, वही वह कर गए। अब मुझे अपना कर्तव्य करना होगा। यही उनका वसीयतनामा है।"

चंदा ने वसीयतनामा सौतेले लड़कों के सामने रख दिया।

रमेश ने कहा—"हम लोग उसे देखकर अब क्या करेंगे ?"

चंदा ने वसीयतनामे को उठा लिया, उसे फाड़कर दियासलाई लगा दी। काग़ज़ के टुकड़े क्षण-भर में जल-कर सबके देखते-ही-देखते भस्म हो गए।

चंदा ने कहा—"वसीयतनामे का तो अंत इस तरह हो गया। अब आप लोग अपनी पैतृक संपत्ति के वारिस हैं।"

दोनों भाई पत्थर की मूर्ति की तरह चकित-स्तंभित बैठे रहे। अंत में महेश ने कहा—"यह आपने क्या किया ?"

चंदा—"ठीक ही किया। आप लोग उनके वंशज हैं, जायदाद के उचित अधिकारी हैं। मैं कौन हूँ, जो इतनी बड़ी जायदाद की स्वामिनी बनूँगी ?"

"आप उनकी सहधर्मिणी और हमारी—"

"जो कुछ हूँ, पर मेरा क्या कोई अधिकार है, मैं स्वयं नहीं समझती।"

"क्यों नहीं समझेंगी ? स्वतंत्र भाव से, स्वच्छंदता से आपकी परवरिश हो सकती है, कम-से-कम यह दावा तो आपका ज़रूर है। वसीयतनामा आपने नष्ट कर दिया। शायद और कोई दस्तावेज़ या कोई और बंदोबस्त हो—"

चंदा कुछ उत्तेजित होकर बोली—"मैं नहीं जानती। जानने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। दावा ? नहीं, दावे की कोई बात अब न छेड़िएगा। दावा मैं किसी चीज़ का नहीं करती, और न करूँगी। उन्होंने ज़ेवर तो मुझे बहुत दिया था, वह भी मैं बहुओं को दिए देती हूँ। वे पहनेंगी, मैं ख़ुश हूँगी।"

इतना कहकर चंदा चुप हो गई, मानो इससे और ज़्यादा कुछ बोल नहीं सकती थी !

रमेश ने कहा—"लेकिन आपका भरण-पोषण—"

"भरण-पोषण ? अकेली औरत मैं—बेवा। आधपाव आटा और दो खद्दर की धोती—ख़र्च ही क्या ? आप लोग शायद जानते हैं, मेरे पिताजी ने मेरी तालीम के लिये कुछ उठा नहीं रक्खा।"

"जानते हैं, आप सुशिक्षिता हैं ; लेकिन आपका भाग्य इस तरह क्यों फूट गया, यही नहीं जान सकते। ख़ैर, जो शिक्षा आपने प्राप्त की है, उससे कमाकर सिर्फ़ अपने को नहीं, बल्कि और भी दो-चार का आप पाल सकती हैं ज़रूर, लेकिन आपको ऐसा क्यों करना होगा ? माना कि आप पिताजी की कोई जायदाद अपनी ज़रूरत के लिये नहीं रखना चाहती ; परंतु आप माता हैं, हम लोग आपकी संतान हैं। हम लोगों का दावा—"

इतना कहना था कि चंदा का हृदय उमड़ आया, और उसने दोनों हाथों से मुँह ढक लिया। रमेश भी एकाएक रुक गया। कुछ देर बाद उसने स्नेह-पूरित कोमल कंठ से पुकारा—"अम्मा !"

अवरुद्ध कंठ से चंदा ने उत्तर दिया—"बेटा !"

"संतान के दावे की क्या उपेक्षा करके चली जाओगी, अम्मा ?"

स्नेह-समुद्र की उद्दाम हिलोरों ने सारा बाँध तोड़ दिया। चंदा और बाबू हरिश्चंद्र के पुत्रों के बीच में जो

दीवार थी, वह ताश के मकान की तरह गिर गई। फूट-फूटकर रोते हुए चंदा ने कहा—"अम्मा, अम्मा!—मैं अम्मा? पुत्र का दावा आप लोग कर रहे हैं—"

दोनों भाई एकसाथ बोल उठे—"हाँ, आप माता और हम लोग पुत्र। संतान का दावा आज आप पर कर रहे हैं। जननी होकर, देवी होकर, पुत्रों के साथ संसार में आप रहिए।"

"रहूँगी—वैसे ही रहूँगी। मैं बहुत छोटी हूँ। माता कैसी होनी चाहिए, मैं नहीं जानती। कन्या होकर आप लोगों के साथ रहूँगी—आप लोग मेरे पिता हैं। कन्या के योग्य स्नेह की थोड़ी-सी जगह देना—मैं कृतार्थ हूँगी।"

कालीचरण चटर्जी

× × ×

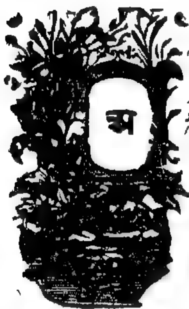
१३. वह कहाँ?

उधर देखो कलियों का हास,
फूलते हुए सुमन के कुंज;
नीलिमा का मयंक-आभास,
प्रात का कोमल रवि-कर-पुंज।
उषा क्यों मंदस्मित-मुख शांत?
दिशा का मुग्ध मनोहर रूप?
निशा के पथ पर क्यों कल कांत?
गगन के तारे ज्योति-स्वरूप?
मुक्त मलयज-मारुत मृदु-मंद,
विश्व में भरता जीवन-राग;
हरित क्यों कोमल तृण स्वच्छंद,
पवन पाकर उठते हैं जाग?
समझ ले, कौन कंठ में, मूढ़,
तुम्हारे भरता जीवन यहाँ;
प्रश्न हल हो तब तेरा गूढ़,
विश्व में कैसा है, "वह कहाँ?"

"सहिष्णु"



१. जल के विचित्र जीव



नुसंधान करनेवालों को पता लगा है कि फ़िलीपाइंस-द्वीप के जल में विषैली मछलियाँ रहती हैं। वे काटती या डंक नहीं मारतीं। उन्हें खाना क्या है, मानो मृत्यु-मुख में पड़ना है। मैनिला के निकट कई मौतें हुईं। उनकी खोज करने के लिये डॉ० ऐलबर्ट हेरी नियुक्त हुए, और वह इस नतीजे पर पहुँचे कि मौतें विषैली मछलियों के खाने से ही हुई हैं।

जल में एक प्रकार की मछली होती है, जो बड़ी शीघ्रता से अपने शरीर में हवा भरकर एक छोटे बेलून के आकार की हो जाती है। कुछ समय पूर्व तक उसके ऐसा करने का कारण लोगों को ज्ञात न था; किंतु खोजियों ने पता लगाया है कि शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिये ही वह ऐसा करती है, और ज्यों ही उनका भय जाता रहता है, वह हवा निकालकर पुनः अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाती है।

डॉग-मछली एक विचित्र ही जीव है। गिरगिट की तरह वह अपना रंग इच्छानुसार बदल सकती और अपने शत्रुओं की क्षीण दृष्टि से ओझल भी हो जाती है। समुद्र-गर्भ से एक प्रकार की ईल-मछली निकाली गई है। उसके दो भुजाएँ होती हैं, जिनसे प्रकाश निकला करता है। यह प्रकाश अँधेरे समुद्र में उन्हें मार्ग दिखलाने का काम करता है। देखा गया है कि घोंघा बिना किसी चेतावनी के अपना लिंग बदल सकता है। नर-घोंघा इच्छा होते ही मादा बन सकता और मादा नर में परिणत हो सकती है।

एक और आश्चर्यजनक बात यह है कि मछलियों के कान देखकर उनकी उमर बतलाई जा सकती है। मछलियों के कान में छिद्र नहीं होते, किंतु उनके एक ऐसा पदार्थ होता है, जिसे यदि दो फाँकों में काटकर माइक्रॉस्कोप से देखें, तो उसमें प्याज़ के-से पर्त दिखलाई पड़ेंगे। हरएक पर्त वर्ष की संख्या का सूचक है। ऐसी पर्तों को गिनकर मछली की उमर बतलाई जा सकती है। इसमें तो कोई शक नहीं कि मछलियाँ अच्छी तरह सुन सकती हैं।

समस्त जीवित प्राणियों में ह्वेल-मछली सबसे बड़ी होती है। कोई-कोई ह्वेल ६० फ़ीट लंबी, और तोल में ३० टन होती है। यह छोटे-छोटे जीवों को खाकर ज़िंदा रहती है। यदि वह शाकाहारी होती, तो उसकी जीवन-रक्षा के लिये आधे वर्गमील से भी अधिक ज़मीन की पैदावार की आवश्यकता होती। स्मिथ-सोनियन इंस्टीट्यूट के डॉ० क्लार्क ने ऐसा अंदाज़ लगाया है कि ह्वेल-मछली घंटे में तीस मील की चाल से चलती है।

इसके चलने में, हिसाब लगाया गया है, ६१० हार्स-पावर की शक्ति लगती है।

नील-नद में एक और ही प्रकार की मछली होती है। नदी की बाढ़ का पानी जब घट जाता है, तब यह मछली कीचड़ में १८ इंच गहरा गड्ढा बनाकर वहीं आश्रय लेती है, और एक लबाबदार पदार्थ निकालकर उस गड्ढे के छेद ढक देती है, जो पीछे रुई के आकार का हो जाता है। इस प्रकार बाहर से हवा बराबर आती-जाती रहती है। इस अवस्था में मछली, सूखे दिनों में भी, उसी गड्ढे में रहती है। किंतु उसका गड्ढा ढूँढ़ निकालने में लोगों को कष्ट नहीं होता। गड्ढे में गरम पानी डालते ही वे बाहर निकल आती हैं।

कुछ मछलियाँ बिना जल के भी कुछ देर तक जीवित रह सकती हैं। ईल सूखी ज़मीन पर कभी-कभी कुछ दूर तक चली भी जाती है। एक प्रकार की मछली, जिसे 'गोर्बी' कहते हैं, पूर्व-भारतीय द्वीप-पुंज में पाई जाती है। वह पेड़ पर भी चढ़ सकती है। ज़मीन पर या पेड़ों पर इसके खाद्य-पदार्थ—छोटे-छोटे कीड़े—मिलते हैं।

मध्य-अमेरिका की नदियों में विद्युत्धारी ईल (Electric Eel) पाई जाती है। लंबाई में वह आठ फ़ीट, और तौल में पंद्रह सेर होती है। इसके शरीर में उसी प्रकार की बैटरी रहती है, जैसी मोटर-गाड़ियों में। इसकी पूँछ शरीर की तीन-चौथाई होती है। उसमें दो कोष होते हैं, जिनमें एक लसीला पदार्थ रहता है। ये ही कोष बैटरी का काम करते हैं। विद्युत् उनके शरीर से निकलकर उसी स्थान में जमा होती है। एक बड़ी इलेक्ट्रिक ईल अपनी पूँछ से इतनी विद्युत् निकाल सकती है कि एक घोड़ा या मनुष्य मर जाय।

स्याम में एक प्रकार की मछलियाँ पानी के बुलबुलों का खोता बनाती हैं। जब मादा-मछली अंडा देने लगती है, तो नर पानी में बुलबुलों का एक खोता तैयार करता है। ये बुलबुले, मछली के मुख से निकले हुए एक पदार्थ के साथ मिले रहने के कारण, बहुत कुछ स्थायी होते हैं। मादा अंडा देने के बाद उन्हें खा जा सकती है, किंतु नर उन्हें अपने मुँह में रखकर खोते में छिपा देता है, और जब तक अंडा फोड़कर बच्चे बड़े नहीं हो जाते, तब तक उनकी रक्षा करता रहता है।

× × ×

२. स्वास्थ्य की कसौटी

जन्म के समय फ़ी सदी ८० बालक स्वस्थ होते हैं। केवल बीस किसी-न-किसी प्रकार के रोग से रुग्ण रहते हैं। किंतु युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते यह संख्या उलटी हो जाती है, अर्थात् केवल २० तो स्वस्थ रहते और बाक़ी ८० रोगी हो जाते हैं। इटालियन चिकित्सक ऐचिली डी० जिओमैनी गत चालीस वर्षों से इस दोष को दूर करने की चेष्टा में लगे हुए थे, किंतु उनके उत्तराधिकारी डॉ० फ़िलिप राइस ने अब स्वास्थ्य की कसौटी प्रकाशित कराई है। इस आधार पर कि हमारे बहुत-से रोग लड़कपन ही से हमारे शरीर में रहते हैं, डॉ० राइस अपने सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि आधुनिक चिकित्सा शास्त्र इतना दोष-पूर्ण हो गया है कि उसका आश्रय ग्रहण कर कोई भी डॉक्टर मनुष्य के स्वास्थ्य को ठीक-ठीक नहीं बतला सकता। किंतु उनका सिद्धांत इतना आसान है कि अंक-गणित का थोड़ा-सा भी ज्ञान रखनेवाला मनुष्य अपने स्वास्थ्य के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकता है।

डॉ० डी० जिओमैनी ने निश्चित किया था कि किसी भी मनुष्य की लंबाई उसके हाथों को फैला देने पर दाहने हाथ की उँगली के छोर से बाएँ हाथ की उँगली के छोर तक की लंबाई के बराबर होगी। छाती का घेरा, अर्थात् एक रस्सी या डोरा छाती के चारों ओर लपेटने से मनुष्य की लंबाई का आधा होगा। छाती की हड्डी की लंबाई उसकी लंबाई का १/१० भाग होना चाहिए। पेट की लंबाई मनुष्य की लंबाई का १/५ भाग होना चाहिए। छाती की हड्डी के निचले भाग से नाभी की दूरी लंबाई का ५/१० भाग, नितंब की चौड़ाई सारे पेट की लंबाई का ४/५ भाग और रीढ़ की लंबाई मनुष्य की लंबाई का २/५ भाग होना चाहिए।

यह नाप बड़ों के लिये है; किंतु लड़कों के लिये उनकी उमर के अनुसार इसमें फ़र्क़ पड़ सकता है। तुरंत पैदा हुए शिशु के सिर की लंबाई उसकी सारी लंबाई की १/४ होती है, किंतु बड़े मनुष्यों में उसकी लंबाई का केवल १/८ भाग ही होती है। बच्चे का ऊपरी पेट उसकी छाती या नीचे के पेट से बड़ा होता है। वयस्क-प्राप्त मनुष्यों में ऐसा नहीं होता। लड़कों की प्रत्येक इंद्रिय की बाढ़ नापी नहीं जा सकती।

इस प्रथा द्वारा हम लोग मनुष्य की स्नायुओं की शक्ति का भी पता लगा सकते हैं। बड़े शरीर में दोष-पूर्ण स्नायु मनुष्य को काहिल बना देते हैं। ऐसे मनुष्य साधारणतः आगे की ओर कुछ झुक जाते हैं। छोटे शरीर में, शक्तिशाली स्नायु-प्रणाली होने से, मनुष्य में बड़ी कार्यकारिणी शक्ति होती है, जिससे उसकी इंद्रियाँ शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। किंतु यह किस प्रकार जाना जाता है?

डॉ० राइस कहते हैं—"यदि मनुष्य की लंबाई उसके बाहु फैलाने की लंबाई से छोटी हो, तो उसकी स्नायु-संबंधी प्रणाली अधिक उन्नतिशील होती है। लड़कों में यह बात तुरंत प्रत्यक्ष हो जाती है। ऐसे लड़के बड़े तुनुक-मिज़ाज होते हैं। तीव्र बुद्धि के कारण वे अधिक पढ़ने के लिये उत्साहित किए जाते हैं। स्कूल में भी वे कम उमर में ही आगे बढ़ा दिए जाते हैं। उन्हें खाने के लिये भी उत्तेजित किया जाता है। किंतु ऐसे लड़के दोष-रहित नहीं कहे जा सकते।

"यदि बाहुओं की लंबाई मनुष्य की पूरी लंबाई से छोटी हो, तो आलसी का चिह्न प्रकट होता है। ऐसे लड़कों का मस्तिष्क बड़ा तीव्र होता है। किंतु यदि बाहुओं की लंबाई बहुत छोटी हुई, तो वे सुस्त या पिछड़े हुए समझे जाते हैं; पर कार्य तथा व्यायाम करने के लिये उत्साहित करने से वे राह पर आ जाते हैं। वे श्वास-व्यायाम (Bereathing Exercise) और अच्छा भोजन मिलने पर अपनी कमी पूरी कर लेते हैं।

"निग्रो के बाहुओं का फैलाव उसकी ऊँचाई से बहुत बड़ा होता है, इसलिये वे अपने बुरे स्वभाव के लिये विख्यात हैं। किंतु चीनियों में ठीक इसका उलटा पाया जाता है, इसलिये वे शांत और काहिल होते हैं।"

इस पैमाने द्वारा कोई भी मनुष्य अपने स्वास्थ्य का पता आसानी से लगा सकता है।

× × ×

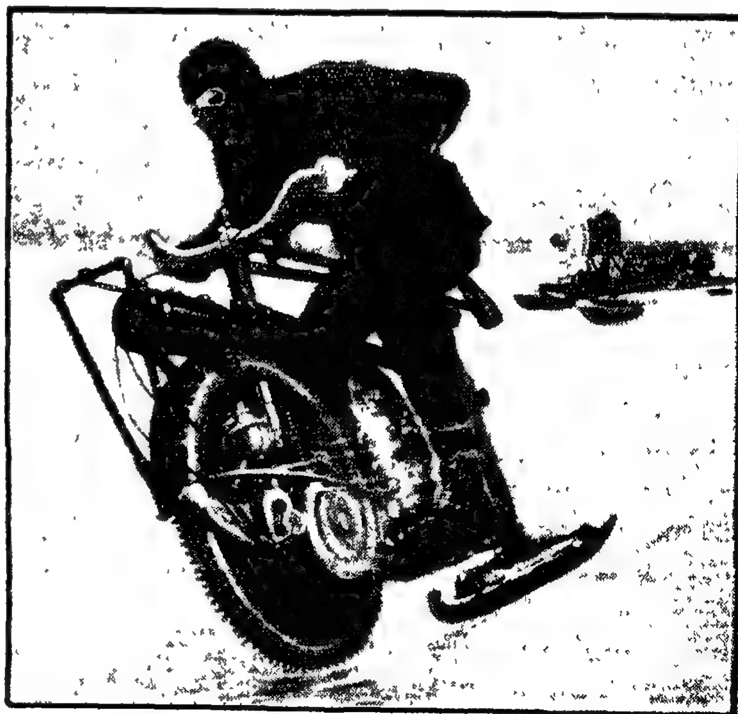
३. सभ्यता में सबसे पिछड़े मनुष्यों के देश की यात्रा

बेचुआना-लैंड की कलहारी-मरुभूमि में मनुष्य की जो जाति बसती है, वह संसार की सब जातियों से पिछड़ी हुई है। यद्यपि वह पेड़ों पर बंदरों की तरह नहीं रहती, तथापि उसमें 'एप'-नामक बंदरों और उस जाति के मनुष्यों की बनावट में बड़ी समानता है। उनमें श्वेत मनुष्यों की एक भी चाल नहीं है, यही उनमें विशेषता है। बरसात में उनके घरों में कीड़ों तथा साँपों की भरमार रहती है। गरमी के दिनों में पानी का प्रायः अभाव-सा रहता है। डॉ० ग्रट एस्० जॉन, पाल एल्० हाल्फर और डॉ० केडल का विचार एक वर्ष तक इन विचित्र मनुष्यों के साथ रहने का है। ये इनकी चाल-चलन और रहन-सहन का निरीक्षण करेंगे।

× × ×

४. घंटे में ५० मील बर्फ़ पर चलनेवाली गाड़ी

टॉमस एवोस्कान (Thomas Avoskan) ने बारह वर्ष के अनुभव के बाद एक ऐसी गाड़ी या साइकिल बनाई है, जो बर्फ़ पर, घंटे में ५० मील के हिसाब से, चलती



घंटे में ५० मील बर्फ़ पर चलनेवाली साइकिल

है। प्रेसिड-झील का पानी जब जम गया था, उस समय इसकी परीक्षा वहाँ हुई थी। अपने आविष्कार के बारे में टॉमस ने कहा है—"मैं मनुष्यों को बर्फ़ पर स्केटिंग करते देखा करता था। एक दिन मेरे जी में आया कि यदि मोटर द्वारा स्केटिंग हो, तो बड़ा मज़ा आवे। इसकी आवश्यकता भी थी। मैं बारह वर्षों में ऐसी साइकिल बनाने में सफल हुआ हूँ। पहले हमने एक ऐसा पहिया बनाया, जो बर्फ़ में धँस जाया करे। तब सवार के लिये बैठने की जगह (सीट) बनाई। इसी प्रकार धीरे-धीरे यह साइकिल बन गई। किंतु इसके बनने के पहले हमारी बीसों चेष्टाएँ असफल हुईं। भाग्यवश हमें रात में चौकी-दारी का काम मिल गया। इसलिये मैं अपना सारा दिन इस मशीन के बनाने की चेष्टा में बिताया करता था। जो कुछ बचा सकता था, उसे इसी काम में लगा देता था।"

एवोरसंकान के लिये वह दिन बड़ा ही सुखदायक था, जब उसकी गाड़ी सफलता-पूर्वक प्रेसिड-झील पर दौड़ी थी। यह साइकिल उन लोगों के भी काम आ सकती है, जो बर्फ़ से आच्छादित देशों के अन्वेषण में निकलते हैं।

× × ×

७. चमड़े द्वारा देखना

फ़्रांस के एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक जील लैवेडी ने सुना था कि कोई मनुष्य या स्त्री आँख बाँध देने पर भी देख सकता है। किंतु उसने जितनी परीक्षाएँ कीं, सबमें वह असफल रहे। अर्थात्, उसे एक भी ऐसी स्त्री या पुरुष न मिला, जो आँख बाँध देने पर देख सके। इसलिये अख़बारों में जब उसने पेरिस की एक युवती स्त्री का वृत्तांत पढ़ा कि आँख बाँध देने पर भी वह चमड़े से देख सकती है, तो उसे विश्वास नहीं हुआ। डॉक्टरों ने भी उसकी परीक्षा की, और उन्होंने भी प्रकाशित कराया कि सचमुच वह स्त्री आँख बाँध देने पर भी देख सकती है। लैवेडी ने स्वयं उसकी परीक्षा करनी चाही, और उसे इजाज़त भी मिल गई। उसने उसकी आँखों को बड़ी सावधानी से बाँधा। तब वह एक अँधेरे कमरे में गए, और एक पुस्तक के बीच से एक पृष्ठ फाड़ लिया। उसने स्वयं भी उसे नहीं देखा; क्योंकि ऐसा करने से उसे भय था कि कहीं वह स्त्री टेलिपैथी (किसी के मनोगत भाव बतला देने की विद्या) द्वारा उस पृष्ठ के विषय को न जान जाय। इस प्रकार उसने उस पृष्ठ को उस स्त्री के सामने रखकर पूछा—"तुम क्या देखती हो ?"

उसने उत्तर दिया—"किसी पुस्तक का एक पृष्ठ।"



आँख बंद कर देने पर भी ये लड़कियाँ पुस्तकें पढ़ सकती, ताश के पत्ते पहचान सकती या कैलेंडर की तारीख़ बतला सकती है



आँख बंद करके इस १४ वर्ष की लड़की के सामने एक चित्र रख दिया गया, और इसने उसका पूरा-पूरा वर्णन कर दिया

और, उसने उसकी सारी बातें बतला दीं। लैवेडी ने पृष्ठ की ओर देखा। उसने जो कुछ कहा था, ठीक ही कहा था। इसके बाद उसने लकड़ी के एक बॉक्स में ताश का एक पत्ता रक्खा, और वह भी इस प्रकार कि केवल पत्ता ही दिखलाई दे। इसके बाद उस स्त्री को दिखलाकर पूछा, और उसने ठीक-ठीक बतला दिया कि वह ईंट का दहला है।

इसके बाद लैवेडी ने दक्षिणी फ्रांस के ने(Nay)-शहर की तीन और लड़कियों की परीक्षा की। फल-स्वरूप उसने देखा कि आँख बाँध देने पर भी वे पुस्तकें पढ़ सकती हैं, सुई में डोरा डाल सकती हैं, और किसी वस्तु का रंग पहचान सकती हैं। ऐसा क्यों होता है ? लैवेडी को ज्ञात नहीं है, किंतु वह अनुमान करता है कि आँख के पास ही ललाट है; और उसमें भी देखने की सूक्ष्म शक्ति विद्यमान है। जिन लड़कियों की परीक्षाएँ हुई, उन्हें वस्तुएँ पहचानने में समय लगता था, तथा अत्यधिक ध्यान-मग्नता की भी आवश्यकता पड़ती थी। सारा कार्य मस्तिष्क द्वारा ही होता था। इससे हम अनुमान करते हैं कि मनुष्य के चमड़े में भी देखने की शक्ति विद्यमान है।

× × ×

६. फलों को सुरक्षित रखना

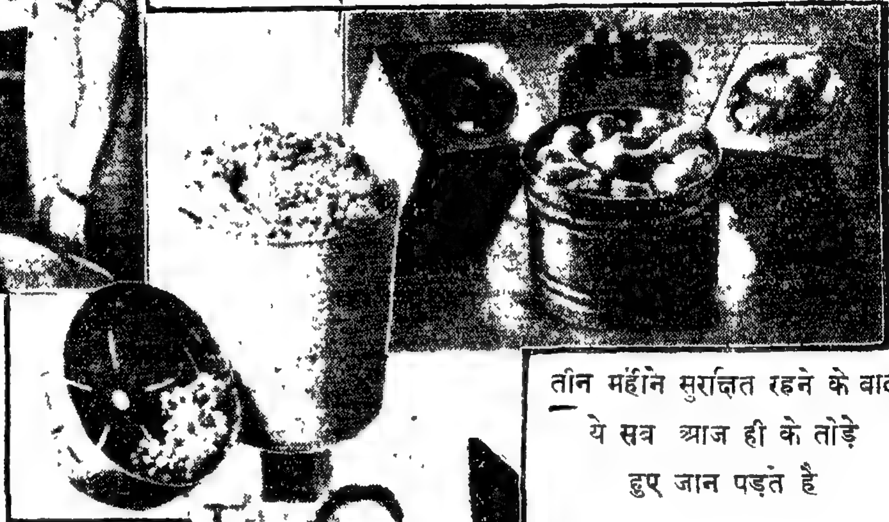
सैन-फ्रांसिस्को में एडवर्ड मिलेनी-नामक एक मनुष्य रहता है। उसने १७ वर्षों के निरंतर परिश्रम तथा १८७ बार की असफलता के बाद एक ऐसी पद्धति निकाली है, जिससे फल-फूल, मछली, मांस, अंडे आदि महीनों तक सुरक्षित रह सकते हैं। १७ वर्ष पहले मिलेनी फलों का व्यवसाय करता था। उस समय उसके बहुत-से फल सड़कर नष्ट हो जाते थे। उसे जो नफ़ा होती थी, वह फलों के सड़ने के रूप में निकल जाती थी। वह सोचने लगा कि किस प्रकार फलों का सड़ना रुक सकता है। अपने विचार का वह पक्का आदमी है। असफलता के बाद असफलता उसकी विचार-सिद्धि में बाधा देने लगी; किंतु वह भी एक ही निकला। उसने अंत को एक रीति निकाल ही तो ली।

फलों को सुरक्षित रखने की प्रथा बड़ी ही आसान है। जिन पदार्थों को सड़ने से बचाना होता है, उन्हें अलग-अलग काग़ज़ में लपेट देते हैं, और किसी टिन या अन्य धातु के बर्तन में कस-कसकर रखते हैं। सबके ऊपर एक सूराख़दार मोटा काग़ज़ रखकर फिर उन्हें ढक देते हैं। इस काग़ज़ के ऊपर एक विशेष प्रकार के मिश्रित द्रव पदार्थ में (Solution) डूबा हुआ लकड़ी का टुकड़ा रख देते, और फिर उसमें आग लगा देते हैं। लकड़ी जलने लगती है, और उसके जलने से बर्तन की सारी ऑक्सिजन ख़र्च हो जाती है। उसके स्थान में जो दूसरी गैस बनती है, वह, और हवा का बाक़ी नत्रजन रह जाता है। इनसे कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता। इसी समय बर्तन का ढकन इस प्रकार बंद कर देते हैं कि उसमें हवा प्रवेश न कर सके। इस प्रकार सुरक्षित फल तीन-तीन महीने तक ताज़े

रहते हैं। हाँ, उपर्युक्त द्रव-मिश्रण का पता नहीं, क्या है, और न इसका ही पता है कि उसके जलने से कौन-सी गैस पैदा होती है; क्योंकि मिलेनी ने यह सब गुप्त रक्खा है।



बर्तन बंद करने की मशीन



तीन महीने सुरक्षित रहने के बाद ये सब आज ही के तोड़े हुए जान पड़ते हैं

सुरक्षित अंगूर (इनमें उतना ही रस है, जितना ताज़े अंगूरों में)

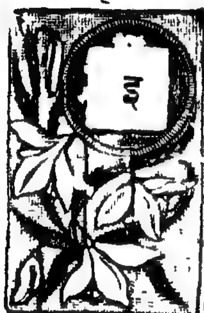


एडवर्ड मिलेनी

रमेशप्रसाद



१ मिसेज़ हाल्डेन



इंगलैंड के क्रोन-नामक नगर में, कुछ दिन हुए, मिसेज़ हाल्डेन नाम की एक शतवर्षीया वृद्धा की मृत्यु हुई है। जितना आदर-सम्मान इस वृद्धा को प्राप्त हुआ, उतना शायद ही किसी अन्य स्त्री को प्राप्त हुआ होगा।

मिसेज़ हाल्डेन का जन्म सन् १८२९ ई० की ९वीं एप्रिल को हुआ था। इनके चाचा लॉर्ड एल्डन और लॉर्ड स्टौवल गत १९वीं शताब्दी के प्रसिद्ध पुरुषों में थे। ९ एप्रिल, सन् १९२९ को जब इस वृद्धा की १००वीं वर्ष-गाँठ का उत्सव मनाया गया, उस समय उसे प्रायः सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्तियों ने बधाई दी। इन बधाई देनेवाले व्यक्तियों में स्वर्गीय राजमाता महारानी एलेक्ज़ेंड्रा, सम्राट् जॉर्ज, सम्राज्ञी मेरी तथा केंटरबरी और यार्क के प्रधान पादरियों का नाम विशेष उल्लेखनीय है।



मिसेज़ हाल्डेन

मरने के कुछ मास पूर्व तक मिसेज़ हाल्डेन का स्वास्थ्य ठीक रहा। बच्चों से विशेष प्रेम होने के कारण तथा संतान पालन में विशेष दक्ष होने के कारण ही वह इंगलैंड की 'आदर्श माता' कही जाती थीं। मृत्यु से पूर्व अर्थात् रोग-ग्रस्त होने पर उनके पुत्र लॉर्ड हाल्डेन ने उनकी बड़ी सेवा की। इस समय वृद्धा के लॉर्ड हाल्डेन के अतिरिक्त दो पुत्र—सर डब्ल्यू० हाल्डेन और प्रोफ़ेसर जे० एस्० हाल्डेन, तथा एक पुत्री एलिज़बेथ हाल्डेन (कंपेनियन ऑफ़ ऑनर) मौजूद हैं।

मरते समय वृद्धा ने अपने दीर्घ जीवन के तीन प्रधान कारण बतलाए हैं—किसी प्रकार का नशा न करना, प्रसन्न-चित्त रहना तथा उच्च आदर्श रखना। ये तीनों बातें मनुष्य के जीवन को बढ़ानेवाली हैं।

× × ×

२. एक सौ पाँच वर्ष की स्त्री

लीड्स में मेरी वाल्टन नाम की एक स्त्री है। अभी हाल में उनकी १०५वीं वर्ष-गाँठ का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया था। भारतवासियों को विशेषकर इस



मेरी वाल्टन

समय, जब कि भारतवर्ष में आयु का कुछ ठिकाना नहीं, यह बात अवश्य ही आश्चर्यजनक मालूम होगी ; पर इतनी अवस्था होने पर भी वह स्पष्ट रूप से बोलती, भली भाँति सुनती और बिना चश्मे की सहायता के सीने-पिरोने का काम कर लेती हैं। उनका शरीर एकदम स्वस्थ है।

मेरी वाल्टन का जन्म सन् १८२० ई० में, 'बाथ'-नगर में, हुआ था। बीस वर्ष की अवस्था में उनका एक सरकस के खिलाड़ी बेली से प्रेम हो गया, और कुछ ही समय पश्चात् उनका विवाह भी हो गया। दोनों ही लगभग ४० वर्ष तक उस सरकस-कंपनी के साथ इँगलैंड में घूमते रहे। इस बीच में मेरी के २३ संतानें हुईं, पर उनमें से इस समय केवल पाँच ही—दो लड़के और तीन लड़कियाँ—जीवित हैं। जिस समय बेली मरा, उसके सब मिलाकर १६४ नाती-पोते थे।

बेली की मृत्यु के पश्चात् मेरी ने वाल्टन-नामक एक फ़ोटोग्राफ़र से पुनः विवाह कर लिया, और सरकस-कंपनी से अपना संबंध तोड़ लिया। मेरी के पास सम्राट् पंचम जॉर्ज के दिए हुए दो बधाई के पत्र हैं। जिस समय महारानी विक्टोरिया अपने राज्य-तिलकोत्सव के पश्चात् 'बाथ' आई थीं, उस समय मेरी ने उनसे हाथ मिलाया था।

१०५ वर्ष की होने पर भी मेरी स्वस्थ हैं, उनके शरीर पर वृद्धावस्था की ज़रा-सी भी शिथिलता के चिह्न नहीं दिखलाई पड़ते। मेरी का कहना है कि डॉक्टरों के कहने से वह छुटपन ही से एक ग्लास ब्रांडी और सोडा नित्य पिया करती हैं, इसी से वह इतनी स्वस्थ हैं। विलायत की आब हवा के अनुसार शायद ऐसा हो सकता हो।

प्रद्युम्नकृष्ण कौल

× × ×

२. विचारों का प्रभाव

एक समय की बात है कि पेरिस में एक कन्या का एक व्यक्ति से प्रेम हो गया। कन्या अत्यंत सुंदरी थी। उसकी उमर १९ वर्ष के लगभग थी। उसके प्रेमी युवक की आयु २९ वर्ष की होगी। कन्या का पिता धनी, मानी, प्रतिष्ठित पुरुष था, किंतु वह युवक बेचारा ग़रीब का लड़का था। दोनों में विवाह होने की कोई सूरत नहीं दिखलाई पड़ती थी, किंतु पारस्परिक प्रेम अत्यंत गहरा था। युवक ने एक दिन तंग आकर अपनी प्यारी से कहा—"मैं अमेरिका धन कमाने के लिये जाता हूँ। यदि मेरा काम बन गया, तो ३ वर्ष में इतना धन ले आऊँगा कि तुम्हारे माता-पिता को विवाह करने पर बाध्य कर सकूँगा। इसके अतिरिक्त अब और कोई उपाय नहीं रहा।" अस्तु, बात निश्चय हो गई ; नवयुवक समुद्र-पार जाने को तैयार हुआ। चलते समय उस युवक के शब्द ये थे—"मेरी प्यारी, मैं तुमको जिस सूरत में छोड़े जाता हूँ, उसी सूरत में लौटकर देखूँ, इसका ध्यान रखना।" कन्या ने इसका अर्थ यह समझा कि जिस प्रकार की उसकी वर्तमान आकृति और सुंदरता है, उसका प्रेमिक यह चाहता है कि उसके लौटने तक उसकी आकृति में किसी प्रकार का भी फ़र्क़ न पड़े। अतः उसे इस बात का विशेष-रूप से ध्यान रहने लगा। वह दिन-भर में जितनी बार हो सकता, बड़े दर्पण के सामने जाकर अपनी आकृति देखती कि उसकी सूरत वैसी ही है, अथवा नहीं। अस्तु, प्रत्येक बार उसे यह देखकर धैर्य होता कि उसकी आकृति आदि अभी तक वैसी ही हैं। उसका यह स्वभाव पागलपन की हद तक पहुँच गया, और यह उसका १०-१५ बार का नित्य-कर्म ही हो गया।

सहसा उसका प्रेमिक अमेरिका में एक अभियोग में फँसकर १० साल के लिये क़ैद हो गया। किंतु प्रेमिका भी उसी प्रकार उसके शुभागमन की प्रतीक्षा करती रही, और दूसरी जगह विवाह करने का विचार तक मन में न लाई। अंत में जब उसका प्रेमिक आया, तो उसकी आयु उस समय ३८ वर्ष की थी। जेल के कष्टों तथा दुःखों के कारण वह अत्यंत निर्बल एवं क्षीण हो गया था। उसके चेहरे पर वृद्धावस्था के चिह्न झलकते थे। इसके प्रतिकूल प्रेमिका की आयु ३२ वर्ष की थी। किंतु वह १९वर्षीया कन्या की भाँति ही युवती और सुंदरी थी, यहाँ तक कि

कोई बुद्धिमान्-से-बुद्धिमान् तथा अनुभवी-से-अनुभवी मनुष्य भी नहीं कह सकता था कि उसकी आयु २० वर्ष से अधिक होगी।

उस कन्या का ऐसा स्वास्थ्य और सौंदर्य देखकर फ्रांस में डॉक्टरों की एक कमेटी बैठी, और कन्या से उसके रहन-सहन एवं भोजन आदि-विषयक अनेकानेक प्रश्न किए गए। किंतु उसके रहन-सहन में कोई भेद नहीं पाया गया। अंत में डॉक्टरों ने निश्चय किया कि यह एक प्रकार का हिप्नाटिज़्म का प्रयोग होता रहा है, और यह विचारों की ही शक्ति है, जिससे यह कन्या पूर्ण युवती बनी हुई है।

बुद्धिसागर वर्मा

× × ×

४. हमारी बहनों का स्वास्थ्य तथा व्यायाम

प्रायः कई वर्षों से कुछ समाजसेवी विद्वानों का ध्यान स्त्री-शिक्षा की कठिन समस्याओं की ओर आकृष्ट हुआ है, पर खेद की बात है कि आज तक निर्विवाद-रूप से कोई मत निश्चित नहीं हो सका। इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि स्त्रियाँ स्वयं इन प्रश्नों पर ध्यान नहीं देतीं, और न इन्हें हल करने का ही उद्योग करती हैं। यद्यपि अपने विचार तथा अनुभव के अनुसार लोगों ने स्त्री-शिक्षा के विषय में अनेक प्रकार के भाव प्रकट किए हैं, तथापि शिक्षा से भी अधिक आवश्यक विषय—स्त्रियों के व्यायाम तथा स्वास्थ्य—की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। क्या बात है कि अन्य देशों की अपेक्षा भारत की स्त्रियाँ अधिकतर निर्बल एवं रुग्ण देख पड़ती हैं? उत्तर में यही कहना पड़ता है कि उन्होंने अपनी व्यायाम की प्रथा को एकदम अनावश्यक समझ उसे भुला दिया है। यह बात सच है कि घर-गृहस्थी का काम-धंधा स्त्रियों का सर्वप्रधान व्यायाम होता है; परंतु जब स्त्रियाँ उसे भी करें, तब तो। आजकल की अमीर तथा थोड़ा भी पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ गृहस्थी का काम करने में अपनी हीनता समझती हैं। घर में विलायती दवाइयों की खुशनुमा शीशियों के सजाने में ही वे अपने सुहाग की इतिश्री समझे हुए हैं. केवल शृंगार करके पलँगों पर बैठे रहने में ही वे अपनी सभ्यता समझती हैं। व्यर्थ शृंगार का यह संक्रामक रोग भारत में घर-घर कोने-कोने में इस बुरी तरह से व्याप्त हो गया है कि आज हमारी बहनें गुड़िया ही बनी हुई हैं, तथा मशीन की कठपुतलियों की भाँति नचाई जाती हैं। ऐसा ही करते-करते स्त्री-जाति अपने स्वास्थ्य को खो बैठी है। पर यह उनकी बड़ी भारी भूल है। उनको अभी इस बात का ज्ञान नहीं कि जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिये स्त्रियों को मुख्यतः अपने स्वास्थ्य पर ध्यान देना चाहिए। यदि स्वास्थ्य ठीक रहा, तो वे अपनी जीवनचर्या भी निर्विघ्न समाप्त कर सकेंगी। शोक है, स्त्रियों के ही बुरे स्वास्थ्य के कारण आज हमारी संतानें भी बुरी दशा को प्राप्त हो रही हैं।

संसार जानता है कि कुछ समय पहले भारत में कैसे-कैसे धीर, वीर, विद्वान् पुरुष हो गए हैं। यह सब उनकी माताओं का ही प्रताप था कि उन्होंने संसार में अपने नाम अमर कर दिए। वीर अभिमन्यु पर किसको अभिमान नहीं होता? गर्भ में ही उस बच्चे पर माता का ऐसा विलक्षण प्रभाव पड़ा कि वह वीरता के इतिहास में अपनी अक्षय कीर्ति छोड़ गया। क्या आजकल की संतान वीर हो सकती है? कहना पड़ता है कि यदि माताओं की यही हीन दशा रही, तो धीर, वीर पुरुष देश में कदाचित् ही उत्पन्न हो सकेंगे। प्राचीन काल में मनुष्यों की पूरी आयु १०० वर्ष की होती थी, पर आज इसका उत्तरदायित्व माताओं पर भी बहुत कुछ है। उनकी आयु दिन-पर-दिन कम ही होती चली जाती है। एक डॉक्टर का कथन है कि पुरुषों का मूल-कारण स्त्रियाँ ही हैं, स्त्रियों के स्वास्थ्य की हीनता के कारण ही मनुष्यों के मस्तिष्क तथा शरीर की अन्यान्य हड्डियाँ क्रमशः निर्बल पड़ती जाती हैं। माताओं की ही मूर्खता के कारण, वास्तव में, उनके बच्चे सदा के लिये कायर एवं डरपोक बन जाते हैं, यहाँ तक कि इसी भय के कारण कभी-कभी माताएँ अपने बच्चों की जान तक की घातक बन जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसी माताएँ होंगी, तथा जैसी इनकी शिक्षा और लालन-पालन की प्रणाली होगी, वैसी ही उनकी संतान बनेगी।

प्रायः सभी जानते हैं कि 'हिस्टीरिया', 'मूर्च्छा', इत्यादि नए रोगों से दुनिया भरी हुई है। इसका कारण भी स्त्रियों की विशेष सुकुमारता या उनका अत्यधिक आलस्य ही है। मुझे तो बिहार-प्रांत की बहनों की दशा पर आँसू आ जाते हैं। इधर बहुतेरी ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो

समय-समय पर बेतरह हाथ-पैर पीटने लगती हैं, और प्रश्न करने पर यह बतलाती हैं कि उन पर किसी 'ब्रह्म', 'हनुमान', 'गोरे' या 'बामत' की कृपा हुई है। भारतवर्ष की महिलाओं के सिर पर आज भूत नाचते हैं! जब उनकी अस्वस्थता के कारण प्रसूति-गृह में बच्चा धनुष्टंकार-रोग से ऐंठकर रह जाता है, तो कहती हैं, 'जम' वा 'जमुआ' ने आँत दिया। यह दोष कुछ-न-कुछ अंशों में सभी प्रांतों में वर्तमान है।

स्त्रियों का वर्तमान स्वास्थ्य और शिक्षा का एक साधारण चित्रण तो मैंने किया, परंतु अब हमें यह विचारना चाहिए कि उनकी यह दशा सुधरेगी कैसे? इस प्रश्न को स्त्री-पुरुष, सभी को एक-समान हल करना चाहिए; क्योंकि जिसकी अवनति तथा पतन है, उसका उत्थान भी अवश्य हो सकता है। मेरे विचार में, स्वास्थ्य के विषय में, स्त्रियों के लिये घर का काम-धंधा सबसे अच्छा व्यायाम है। देखने में आता है कि जितनी काम-काजी गाँव की स्त्रियाँ हैं, वे अधिक स्वस्थ रहती हैं। प्रायः बेचारी गरीब स्त्रियाँ धनिक स्त्रियों की अपेक्षा मोटी नहीं, तो हट्टी-कट्टी ज़रूर रहती हैं। कारण यह है कि गृहस्थी के काम—पीसना, कूटना इत्यादि—से उनके शरीर को सयमित व्यायाम मिल जाता है। इस कार्य के बाद उनमें एक प्रकार की नई स्फूर्ति आ जाती है। ये काम ही ऐसे हैं, जिनसे रक्तवाहिनी नाड़ियाँ अपना कार्य यथाविधि करने लगती हैं। ऐसी ही आदत पड़ते-पड़ते स्त्रियाँ ऐसी सुकुमार होती चली जाती हैं कि यदि कल न हो, तो वे चाहे प्यासी भले ही रह जायँ, परंतु कुएँ से पानी न खींच सकेंगी। गाँवों की स्त्रियों के लिये २-४ कोस चल लेना तो कोई बात ही नहीं है; पर शहरों की स्त्रियाँ थोड़ी दूर भी पैदल नहीं चल सकतीं। यदि कभी थोड़ी दूर चलने का अवसर आ गया, तो वे उतने ही में थक जाती हैं, और पीछे चार-चार दिन थकावट के मारे उठ-बैठ तक नहीं सकतीं। यह सब अभ्यास न रहने का ही एक-मात्र परिणाम है। रसोई करना हमारी स्त्रियों का प्रधान कर्तव्य समझा जाता है; परंतु अब तो बैठे बैठे स्त्रियाँ ऐसी सुकुमार तथा रोगिणी हो गई हैं कि भरपूर रसोई करना भी उनको पहाड़ मालूम होने लगता है। मसाला इत्यादि पीसने को तो अब हमारी बहनें केवल दासी का ही काम समझती हैं। परंतु इसी एक काम से हाथों का इतना व्यायाम हो जाता है कि जिसकी समता १० डंबलों के व्यायाम से भी नहीं हो सकती। देखिए, योरपीय महिलाओं का स्वास्थ्य भी हमारी भारतीय बहनों की अपेक्षा अच्छा ही रहता है। कारण यह है कि वे अपने व्यायाम का अधिक ध्यान रखती हैं। वे घोड़ों पर चढ़ती हैं, पैरगाड़ी चलाती हैं, और अपने व्यायाम के लिये नाना प्रकार के खेल—टेनिस, बैडमिंटन इत्यादि—भी खेलती हैं। शारीरिक व्यायाम के साथ-साथ उनका मनोरंजन भी होता रहता है। इससे यह तात्पर्य कभी न समझिए कि हमारी बहनें भी पर्दा-प्रथा को तोड़कर, बाहर निकलकर, घोड़ों पर चढ़ें या साइकिल चलावें। तात्पर्य केवल यह है कि उनको भी अपने योग्य कुछ-न-कुछ कार्य व्यायाम-रूप में अवश्य करते रहना चाहिए। साइकिल चलाना या हाकी खेलना हमारी स्त्री-सभ्यता के बाहर है; पर वही काम क्या हम झूले से नहीं निकाल सकतीं? मेरे विचार में यह झूला स्त्रियों के लिये ही निकाला गया था, जिसमें न सिर्फ़ पैरों का ही, बल्कि सारे शरीर का व्यायाम तथा रक्त-संचालन हो जाता है, और व्यायाम के साथ-साथ, घर-के-घर ही में, मनोरंजन भी हो जाता है। पर देखती हैं, यह रहा-सहा व्यायाम—'झूला'—भी भारतवर्ष से उठ जायगा; क्योंकि हमारी बहनें अब इतनी सुकुमार हो गई हैं कि वे झूले का झोंका भी सहन नहीं कर सकतीं। उन्हें उल्टी होने लगती तथा तुरंत ही चक्कर आने लगते हैं। इसके अतिरिक्त चर्खा कातने की प्रथा तो भारतीय स्त्रियों ने एकदम त्याग ही दी। इसी के अभाव के कारण आज भारतवर्ष लाखों रुपए विदेश को देकर दरिद्र बन बैठा है। लाखों जुलाहे बेकार हो गए। पूर्वजों की कीर्ति मिटी जाती है। यदि हमारी बहनें इस विषय की ओर थोड़ा भी ध्यान दें, तो वे अपने देश की आर्थिक अवस्था के सुधारने के अतिरिक्त अपने व्यायाम की एक सामग्री भी निकाल लेंगी। अस्तु, यदि हमारी बहनें अपने व्यायाम तथा परिश्रम पर ध्यान देंगी, तो उनको स्वास्थ्य-लाभ के अतिरिक्त और भी कितने ही लाभ होंगे। परिश्रम न करने से ही मनुष्य निरुद्यमी बन जाता है। निरुद्यमता में ही आलस्य का निवास है, और यह सब रोग एवं दारिद्र्य की जड़ है।

धर्मदेवी गुप्त

कवि-चर्चा



१. रायबहादुर कविवर राधानाथ राय



उड़ीसा के दो प्रसिद्ध कवियों के संक्षिप्त जीवन-चरित्र माधुरी के विगत अंकों में निकल चुके हैं। आज हम उत्कल-कवि-कुल-गुरु रायबहादुर राधानाथ राय के विषय में कुछ लिखते हैं—

माधुरी के अनेक पाठक भारत के अनुपम रत्न, वदान्यवर पं० भूदेव मुखोपाध्याय के पांडित्य, प्रतिभा और पवित्र जीवन से परिचित होंगे। ऐसे आदर्श विद्वान् एवं ऋषिकल्प महानुभाव जिस नवयुवक कवि के साहित्य और संगीत-कुशलता पर मुग्ध हों, उसका कीर्ति-गान करें, वह धन्य है। भूदेव बाबू ने लिखा था—

राधानाथ उड़िष्यार गौरव-केतन ;
उदार, विनीत, धीर, सुबोध, सुजन।
नाना भाषा-विभूषित, नाना शास्त्र-सुपंडित,
कविता-कानने पिकवर प्रियवर '
स्वर्गीय स्वभावे पूत तोमार अंतर।

(बँगला)

राधानाथ, उड़िष्याय करिया उज्ज्वल ,
दीर्घजीवी हये साध स्वदेश मंगल :



उत्कल-कवि-कुल गुरु रायबहादुर राधानाथ राय

हे सुजन, पृथिवीते,
थाक सुखे स्वच्छंदेते;
ससारेर विघ्न-बाधा अतिक्रम करि,
बड़ हओ प्रियवर, आशीर्वाद करि।

कहना न होगा कि भूदेव बाबू का शुभ आशीर्वाद राधानाथ राय के लिये अक्षरशः सत्य निकला। जिस समय पंडितवर भूदेव मुकर्जी ने सरकारी 'एजुकेशन-गज़ट' में यह आशीर्वादात्मक कविता प्रकाशित की थी, उस समय वह उड़ीसा-विभाग के स्कूलों के इंस्पेक्टर' और राधानाथ बाबू उनके नीचे सहायक इंस्पेक्टर थे। अपने मातहत के प्रति ऐसा वात्सल्य-प्रदर्शन निःसंदेह अतुलनीय घटना है। क्यों न हो, "उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"। भूदेव बाबू प्रकृत उदार-चरित थे।

कविवर राधानाथ का जन्म, ता० १८ सेप्टेंबर, सन् १८४८ को, केदारपुर-नामक ग्राम में हुआ था। यह ग्राम ज़िला बालेश्वर में है। आपके पिता का नाम सुंदरनारायण राय तथा माता का नाम श्रीमती तारिणीदासी था। बालक राधानाथ केवल ९ ही वर्ष के थे, तभी उनकी जननी का परलोकवास हो गया। मातृहीन बालक के लालन-पालन का समस्त भार पिता पर पड़ा। पिता ने स्वपुत्र के भरण-पोषण और शिक्षा के लिये कोई बात उठा नहीं रक्खी। वह उसे हमेशा अपने साथ-साथ रक्खा करते थे। राधानाथजी के पिता प्राकृतिक शोभा-संदर्शन के बड़े प्रेमी थे। पिता के इस गुण का विकास पुत्र में बाल्यावस्था ही से दिखाई देने लगा था। इनके पूर्वज पहले बंगदेशांतर्गत मेदिनीपुर-ज़िले में रहते थे। आज से कोई ३००-४०० वर्ष पहले मेदिनीपुर छोड़कर वह उड़ीसा में आ बसे और वहीं रहने लगे थे। ये लोग दक्षिणराढ़ीय कायस्थ हैं।

उड़िया-भाषा की पढ़ाई पूरी करके राधानाथ अँगरेज़ी पढ़ने लगे, और १७ वर्ष की आयु में कलकत्ता-विश्वविद्यालय की प्रवेशिका(Entrance)-परीक्षा पास कर एफ़० ए० के लिये कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कॉलेज में भरती हो गए। वहाँ उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा करता था, इससे उन्हें विवश होकर घर लौट आना पड़ा। घर लौटने पर उन्हें बालेश्वर-ज़िला-स्कूल में ३०) मासिक वेतन की एक नौकरी मिल गई। वह ३०) में तृतीय शिक्षक के पद पर नियुक्त हुए, और एफ़० ए० के लिये अध्ययन करने लगे। इसी बीच में कटक में कॉलेज की स्थापना हुई। राधानाथ के कई आत्मीय स्वजनों ने उन्हें कॉलेज में भरती हो जाने के लिये अनेक प्रकार से उत्तेजित किया, पर वह अपने पूज्य पिता की आज्ञा के बिना वैसा नहीं करना चाहते थे। उनके पिता सुंदरनारायणजी फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता थे। साथ ही उड़िया, बँगला, हिंदी और संस्कृत में भी उनका अच्छा प्रवेश था। वह अल्प वेतन पानेवाले राजकर्मचारी थे; पर उनमें स्वाभिमान की मात्रा अधिक थी। वह यह नहीं चाहते थे कि राधानाथ किसी बंधु या आत्मीय के आर्थिक साहाय्य पर निर्भर रहकर विद्योपार्जन करें। इधर स्वयं भी उच्च शिक्षा का भार वहन करने में समर्थ न थे; क्योंकि एक बृहत् परिवार के भरण-पोषण के एक-मात्र अवलंब वही थे। पिता की आर्थिक एवं मानसिक अवस्था देखकर राधानाथ ने अपनी भावी उन्नति का विचार त्याग दिया, और उस घोर दुर्भिक्ष के समय परिवार-पालन में वृद्ध पिता को साहाय्य प्रदान करना सर्वतोभाव से अपना कर्तव्य सोचा। इसी के साथ-साथ कॉलेज में प्रवेश करने का संकल्प भी स्थगित हो गया।

राधानाथ चाहते थे कि वकालत की परीक्षा पास कर वकील बनें; पर यहाँ भी उनके पूज्य पिता ने उन्हें वैसा करने से रोका। कौन जानता है, यदि राधानाथ बाबू वकील बन जाते, तो उड़ीसा को एक मनस्वी कवि उत्पन्न करने का श्रेय न मिलता। यहाँ हमें हिंदी के जन्मदाता पूज्य भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के विषय में कथित एक विद्वान् की उक्ति का भी स्मरण हो आता है—

Who knows, the country might have lost a poet to gain a half educated Deputy Magistrate or a briefless Vakil!

सुंदरनारायण बाबू ने अपने प्रिय पुत्र को शिक्षा-विभाग में ही रहकर धीरे-धीरे उन्नति करने का आदेश दिया। राधानाथ के सदृश आज्ञाकारी और कर्तव्यनिष्ठ पुत्र भला अपने पूज्य पिता के आदेश की अवज्ञा करता! उन्होंने सोचा कि मेरे जिस कार्य से पिता को प्रसन्नता हो, वही मेरे लिये मंगलदायक एवं कर्तव्य है।

बालेश्वर के अवस्थान-काल में उन्हें प्रसिद्ध कवि पं० फ़क़ीरमोहन सेनापति के परिचय और सत्संग का अवसर मिला। इनके तथा अपने सहपाठी दामोदरप्रसाद

दास के सुदृष्टांत और उत्साह से राधानाथ उड़िया तथा बँगला-भाषाओं के अनुशीलन में प्रवृत्त हुए, और बँगला-भाषा में "कवितावली"-नामक एक छोटा-सा काव्य लिखकर प्रकाशित किया। १८ वर्ष के नवयुवक द्वारा लिखित इस बँगला-काव्य की आशातीत प्रशंसा-पूर्ण समालोचना "अमृतबाज़ार-पत्रिका" में प्रकाशित हुई। उन्होंने उड़िया में "इटालीय युवा"-नामक एक नवन्यास लिखकर उसी समय 'उत्कल-दर्पण' में छपवाया था। बालेश्वर में पाँच वर्ष तक रहकर वह पुरी-ज़िला-स्कूल के द्वितीय शिक्षक होकर चले गए। वहाँ उनके छात्रों में प्रसिद्ध मधुसूदनराव (भक्त कवि) थे, जिनके साथ इनकी गाढ़ी मैत्री हो गई; और फिर दोनो ने मिलकर अवकाशानुसार साहित्य-चर्चा करने का संकल्प किया। पुरी में राधानाथ ने प्रसिद्ध मेघदूत का उत्कलानुवाद और बँगला-कवितावली के द्वितीय भाग की रचना की। आपका 'मेघदूत का उत्कलानुवाद' ऐसा सरस, सरल और प्रसाद-गुण-पूर्ण हुआ है कि उसकी प्रशंसा करते ही बनती है। इस अनुवाद का समर्पण प्रसिद्ध वैयाकरण जॉन बीम्स साहब को किया गया था। वह उस समय उड़ीसा में कलेक्टर थे, और अपने भारतीय भाषाओं के प्रति अनुराग के लिये प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय थे।

किंतु बँगला-कवितावली (द्वितीय भाग) के प्रकाशन के साथ एक विचित्र आनंदवर्द्धक घटना का संबंध है। राधानाथ पुरी-ज़िला-स्कूल से बदलकर बाँकुड़ा-ज़िला-स्कूल के द्वितीय शिक्षक हुए, और वहाँ ७-८ महीने रहकर बालेश्वर-ज़िला के स्कूलों के डिपुटी इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त किए जाने पर पुनः उड़ीसा लौट आए। बालेश्वर के महाराज वैकुंठनाथ दे की सहायता से उनकी कवितावली (द्वितीय भाग) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की बड़ी अच्छी समालोचनाएँ निकलीं। भूदेव बाबू द्वारा संपादित 'एजुकेशन-गज़ट', बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय द्वारा संपादित 'बंग-दर्शन' एवं पूज्य ईश्वरचंद्र विद्यासागर के समर्थक संप्रदाय-विशेष द्वारा परिचालित 'हालिसहर-पत्रिका' ने राधानाथ बाबू की रचना की यथेष्ट प्रशंसा की। उस समय बंकिम बाबू के एक भूतपूर्व सहाध्यायी कलकत्तानिवासी जगदीशनाथ राय बालेश्वर-ज़िला के पुलीस-डिस्ट्रिक्ट-सुपरिंटेंडेंट थे। उनके थे। ज्येष्ठ पुत्र का नाम राधानाथ राय था। यह राधानाथ कलकत्ता से आकर अपने पिता के साथ बालेश्वर में रहते थे। बंकिम बाबू ने इन्हीं राधानाथ राय एम्० ए० को 'कवितावली' का प्रणेता अनुमान कर उनके पिता जगदीशनाथ राय को अभिनंदन-पूर्वक आशीर्वादात्मक एक पत्र लिखा था। यह पत्र पाकर जगदीश बाबू और उनके चिरंजीव आश्चर्यान्वित हो गए। पीछे जब उन लोगों को पता लगा कि 'कवितावली' के प्रकृत लेखक, सुंदरनारायण राय के सत्पुत्र राधानाथ राय हैं, तो उन पिता-पुत्रों ने स्वतः प्रेरित होकर राधानाथ बाबू से उनके घर पर जाकर भेंट की।

बालेश्वर में राधानाथ ५ वर्षों तक स्कूलों के डिपुटी इंस्पेक्टर रहे। फिर उनकी पदोन्नति हुई। वह ज्वाइंट-इंस्पेक्टर बनाए गए। जब वह ज्वाइंट इंस्पेक्टर थे, तभी उन्होंने 'लेखावली' नामक एक बँगला-काव्य की रचना की। उनके इस काव्य को देखकर भूदेव बाबू अत्यंत प्रसन्न हुए, और स्व-संपादित 'एजुकेशन-गज़ट' में उसे क्रमशः प्रकाशित करने लगे। भूदेव बाबू का यह मत था कि प्रत्येक उत्कलवासी को उड़िया-भाषा की उन्नति के लिये अनन्यव्रती होना उचित है। इस उदार मत को सुनकर राधानाथ की आँखें खुल गईं। उन्होंने बँगला-भाषा में रचना करने का प्रयत्न बिलकुल छोड़ दिया, और अवकाशानुसार उड़िया-भाषा में काव्य-रचना करने के लिये तत्पर हुए।

सन् १८९१ में राधानाथ ज्वाइंट-इंस्पेक्टर से इंस्पेक्टर के पद पर पहुँचे, और सन् १९०१ में प्रांतीय सर्विस के शीर्ष स्थान पर आरूढ़ हुए। सन् १८९७ में सरकार ने हमारे चरितनायक को 'रायबहादुर' की पदवी प्रदान कर अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया।

सन् १९०३ में आपने सरकारी नौकरी से पेंशन ले ली। इस बीच में वह बंगाल के बर्दवान-विभाग के भी कई वर्षों तक इंस्पेक्टर रहे। उस समय बंगाल के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवि-कोविदों से उनकी जान-पहचान और मैत्री भी हो गई थी। वे लोग राधानाथ बाबू के सद्गुणों और कवित्व-शक्ति पर विमुग्ध थे। 'पलासी-युद्ध' के कवि प्रसिद्ध नवीनचंद्र सेन महोदय ने, एक कविता राधानाथ बाबू पर लिखकर, अपने मनोभाव प्रकट किए थे। उस कविता का प्रथम पद्य यह है—

एस, एम, उड़ीष्यार गौरव-केतन ;
बीणापाणि जननीर स्नेहास्पद-धन ;
जेष्ठ सहोदरोपम, प्राणेर देवता मम ;
हृदयेर सिंहासन करिया स्थापन ,
रेखेछि तोमार तरे, बसह सुजन '

(बँगला)

राधानाथ कृत 'महायात्रा'-काव्य अपूर्ण होकर भी उनकी दिव्य प्रतिभा तथा कल्पना-शक्ति का साक्षी है । क्या भाषा और भाव की प्रौढ़ता, क्या विषय-विवेचन, क्या आर्यावर्त की दशा-परिवर्तन का विशद वर्णन—सब एक-से-एक बढ़कर हैं । यह आधुनिक उत्कल-साहित्य का प्रथम महाकाव्य है । इसकी रचना 'मेघनाद-वध' के ढंग पर 'अमित्राक्षर' में की गई है । "पृथिवी के इतिहास में अतुलनीय महाकुरुक्षेत्र-युद्ध में जयश्री-मंडित, अखंड भारत-साम्राज्य के अधीश्वर अथच विजयोत्सव के अंत में ऐश्वर्यातृप्त, महाशून्यायित हृदय, शोक-निर्वेद-निमग्न, वैराग्य-व्याकुल, शांतिप्रयासी, धर्मनंदन युधिष्ठिर-प्रमुख-पांडव वीरेंद्रों की वही परम स्मरणीय महाप्रस्थान-रूप चिरामृत कथा 'महायात्रा'-काव्य का वर्णनीय विषय है ।" 'महायात्रा'-काव्य वीर-रस-प्रधान है । इसको पढ़ते-पढ़ते भुजाएँ फड़क उठती हैं । २१ सर्गों में यह काव्य समाप्त होता, पर कविवर इसके केवल ७ ही सर्ग लिखकर रुक गए; और ऐसा अनुपम ग्रंथ अधूरा ही रह गया । यह काव्य भारत के सत्पुत्ररत्न पंडितप्रवर बाबू रमेशचंद्र-दत्त (कमिश्नर—उड़ीसा-विभाग) को समर्पित है ।

राधानाथ बाबू हिंदी भी जानते थे, और गोसाईंजी-कृत 'रामचरित-मानस' के बड़े प्रेमी थे । 'तुलसी-स्तवक' नाम से उन्होंने गोसाईंजी के वर्षा और शरद्-वर्णन का उत्कलानुवाद भी किया है । उदाहरणार्थ दो-चार पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

मूल—सिमिटि-सिमिटि जल भरहिं तलावा ;
　　जिमि सद्गुन सज्जन पहिं आवा ।
अनु०—निरते नीर पाते पुरिला सर ;
　　सात्त्विक गुणे यथा साधु-अंतर ।
मूल—सस-संपन्न सोह महि कैसी ;
　　उपकारी की संपति जैसी ।
अनु०—शष्ये वसुधा केड़े शोभा-आस्पद;
　　उपकारी जनर जेन्हे संपद

राधानाथ बाबू के प्रधान-प्रधान काव्यों का सामयिक क्रम नीचे दिया जाता है—

१ मेघदूत	८ चिलिका
२ कवितावली	९ महायात्रा (अपूर्ण)
३ केदार-गौरी	१० ययातिकेशरी
४ चंद्रभागा	११ तुलसी-स्तवक
५ नंदिकेश्वरी	१२ उर्वशी (अपूर्ण)
६ उषा	१३ दरबार
७ पार्वती (अपूर्ण)	१४ दशरथ-वियोग

कई वर्ष पहले 'केदार-गौरी' का हिंदी-अनुवाद करके इन पंक्तियों के लेखक ने 'सरस्वती' में प्रकाशित कराया था ।

भारत में ऐसा कौन रायबहादुर है, जो जेठ की दुपहरी में महानदी के तप्त बालुकामय मरुस्थलोपम तट-देश में अपने ज्येष्ठ पुत्र के साथ दीन-हीन अछूत कष्ट-पीड़ितों को सहायता पहुँचाने के लिये, उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिये, गरमी और लू की मार सहते हुए, शांत एकांत भाव से लोक-सेवा में—दरिद्र नारायणों की चरण-पूजा के लिये—प्रस्तुत देखा गया हो ? असहयोग-युग के पहले तो ऐसी घटना नव्य शिक्षित भारत के लिये एकदम नई थी । राधानाथ बाबू कष्टजीवियों, श्रमजीवियों, अनाथ, विधवा, अभावग्रस्त छात्र-समूह और रोग-दुःख-जर्जर जन-समाज के एक-मात्र आधार थे—उनके सहृदय मित्र थे ।

कविवर राधानाथ के सद्गुणों का वर्णन इस छोटे-से लेख में नहीं किया जा सकता । वह सद्गुणों के सिंधु थे । इतने पर भी वह प्रतिभा, सौजन्य एवं विद्या-प्रेम देखकर प्रकृत प्रसन्नता-लाभ किया करते थे । वह बामंडा-राज्य के विद्या-रसिक संस्कृतज्ञ राजकवि राजा सर बासुदेव सुदलदेव * के सद्गुणों पर विमुग्ध थे । सुप्रसिद्ध पंडित-प्रवर ईश्वरचंद्र के जीवनीलेखक श्रीयुत पं० चंडीचरण वंद्योपाध्याय से उन्होंने एक बार कहा था—

"बंगेर विद्यासागर देखियाछेन, जीवनचरित ओ लिखियाछेन, एकबार आमादेर उड़ीष्यार विद्यासागर के देखिबा आसुन। आमिई आपनार जाबार समस्त व्यवस्था करिया दिब । एकटि खाँटि सत्य मानुष देखिया चक्षु सार्थक करून ।"

---

* राजकवि राजा सच्चिदानंद त्रिभुवनदेव इन्हीं के ज्येष्ठ पुत्र थे ।

इन वाक्यों में उड़ीसा के 'गौरव-निकेतन' के विमल हृदय की महत्ता विद्यमान है।

राधानाथ बाबू ने मित्राक्षर और अमित्राक्षर-छंदों में काव्य-रचना पर लिखा था—

आजकल अनेक लेखक अमित्राक्षर लिखने का प्रयास किया करते हैं। इस संबंध में अनेक लोगों की अनेक सम्मतियाँ हैं। कोई-कोई कहते हैं कि मित्राक्षर-छंद लिखने की अपेक्षा अमित्राक्षर लिखना सहज है। किसी-किसी का मत है कि मित्राक्षर-छंद में शृंखला-स्वाधीन होने के कारण भावव्यक्ति में बाधा पड़ती है। कोई-कोई कहते हैं कि अमित्राक्षर-छंद महीयान् (Sublime) भाव प्रकट करने के लिये जिस प्रकार उपयोगी है, उस प्रकार मित्राक्षर-छंद नहीं। वे लोग अपने मत के समर्थन के लिये मिल्टन का उदाहरण दिया करते हैं। ऐसे मतवाद की समीचीनता अब तक मुझे हृदयंगम नहीं हुई है। मिल्टन की अपेक्षा दांते (Dante) विशेष महीयान् है, किंतु दांते ने अपना महाकाव्य मित्राक्षर-छंदों में लिखा है। उत्कर्ष मेरी क्षुद्र सम्मति में, छंद पर नहीं, क्षमता पर अवलंबित है। काव्य-उत्कर्ष छंद-सापेक्ष नहीं, क्षमता-सापेक्ष है। मित्राक्षर-रचना की अपेक्षा अमित्राक्षर-रचना सहज है। यह कहाँ तक सच है, मैं नहीं कह सकता। अपने निज के अनुभव से मैं जानता हूँ कि अमित्राक्षर-रचना अधिकतर कठिन है। उत्कल-काव्य-गुरु राधानाथ रायजी के मत की ओर हम अपने बेतुकी कविता के प्रेमी नवयुवक कवियों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

राधानाथ बाबू की चिंता-धारा वैराग्य-पूर्ण थी। वह एक विरक्त संन्यासी की भाँति विभव-विलास के मध्य में कठोर संयम के साथ निवास करते थे। सन् १९०८ के एप्रिल-महीने में इस महापुरुष की आत्मा उत्कल-धाम को त्यागकर परमधाम के लिये बिदा हो गई। उत्कल में हाहाकार मच गया। शत-शत कवि-लेखकों ने उनके वियोग-दुःख से व्यथित होकर अपने शोकोद्गार गद्य-पद्य रूप में प्रकट किए। उत्कल-धरा ने—उत्कल-वन-शोभा-लक्ष्मी ने—अपना एकांत उपासक खोकर अश्रु-वर्षण किया। उत्कल-भारती अपना वर-पुत्र खोकर विपन्न हुई। उत्कल का गौरव-केतन खिसक पड़ा। भारत-माता ने अपना एक तेजस्वी एवं आत्माभिमानी आदर्श पुत्र-रत्न खो दिया।

कविवर राधानाथ की समाधि कटक-नगर के निकट बनाई गई है। वहीं उनके मित्रवर "भक्त कवि" मधुसूदनरावजी की भी समाधि है। बामंडा-राज्य में उनकी 'परलोक-यात्रा' की स्मृति में एक वेदिका पर शिलालेख स्थापित कराकर, राजकवि राजा श्रीसच्चिदानंद त्रिभुवनदेव 'विज्ञान-विनोद' ने 'कवि-समादर' का आदर्श दिखा दिया है। उस लेख की अंतिम पंक्तियाँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

× × ×

(उड़िया में)

"तेजि सर्व माया-मोह, आउ मर-तनु,
अमर भुवने जाइ विश्वामिलः सत्य,
किंतु "राधानाथ" नाम मर्त्यरे अमर
रखि जाइ अछ जेउँ अक्षय कीरति,
विलुप्त न हेब यावच्चन्द्रार्क मेदिनी।
तेणु एहि मृत-स्थले ए रम्य वेदिका,
निर्माणिले तव सेहि स्मृतिरक्षा अर्थे;
गुणिगण गुणग्राही बामंडामंडन
राजा श्रीसच्चिदानंद त्रिभुवनदेव।"

कविवर राधानाथ राय की गद्य-पद्यमयी रचनाओं का संग्रह 'राधानाथ-ग्रंथावली' के नाम से छत्तीसगढ़ांतर्गत 'खरियार'-ज़मींदारी के श्रीमान् कुँअर शिवनारायणदेव (राजभ्राता) ने सर्वप्रथम सन् १९०२ में प्रकाशित कराया था। सन् १९१३ में उक्त ग्रंथावली का द्वितीय संस्करण कविवर के ज्येष्ठात्मज श्रीयुत बाबू शशिभूषण राय (काली गली, कटक) द्वारा प्रकाशित किया गया। बाबू शशिभूषण राय अपने सुयोग्य पिता की सुयोग्य संतान हैं। आप उड़िया-साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ और सुलेखक हैं। आपकी लिखी 'उत्कल-प्रकृति' पटना-विश्वविद्यालय के बी० ए०-कोर्स में है। आपने 'पितृस्मृति' एवं 'मा'-नामक दो छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ अपने परमाराध्य पितृदेव और माता के वियोग में लिखी हैं, जिनकी लेख-शैली आकर्षक और भाव-प्रकाशन कवित्व-पूर्ण है। खेद है, रायबहादुर राधानाथ के कनिष्ठ पुत्र श्रीरजनीभूषणजी का गत वर्ष शरीर-पात हो गया।

लोचनप्रसाद पांडेय



१. वैद्यक

परीक्षित प्रयोग—लेखक और प्रकाशक, वैद्य बाँकेलाल गुप्त, विजयगढ़, अलीगढ़; पृ०-सं० ४१; स्कूली साइज़; छपाई आदि सन्तोषजनक; मूल्य ।=)

इसमें छोटे-छोटे प्रयोगों का संग्रह है। कुछ पुस्तकों से चुने हुए तथा कुछ बाहर के प्रयोग हैं। संग्रह अच्छा है। साधारण गृहस्थों के लिये उपयोगी है। कुछ वैद्य भी इससे लाभ उठा सकते हैं।

× × ×

सूर्य-रश्मि-चिकित्सा—लेखक और प्रकाशक पूर्वोक्त; छपाई, कागज़, आकार पूर्ववत्; पृ०-सं० ५६; मूल्य ।।।)

पुस्तक का विषय उसके नाम से ही स्पष्ट है।

× × ×

आरोग्य-प्रदीप—अनुवादक, श्रीगुलाबचन्द्र जैन; प्रकाशक, राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर; जबलपुर; चिकना कागज़, साफ छपाई; स्कूली साइज़; दाम १।=)

मराठी-भाषा में दो सज्जनों ने इस विषय की एक पुस्तक, अँगरेज़ी की अनेक पुस्तकों के आधार पर, लिखी थी। उसी का यह अनुवाद है। आरोग्य के लिये औषधों की अपेक्षा प्राकृतिक नियम ही अधिक श्रेयस्कर हैं, यही इस पुस्तक का ध्येय है। यद्यपि भारत के लिये यह विचार नया नहीं है, वैदिक साहित्य का अनुशीलन करनेवाले इस बात को अच्छी तरह जानते हैं, तथापि लेखकों ने ये विचार विलायती पुस्तकों से लिए हैं, और वहाँ अभी प्राकृतिक चिकित्सा का आरम्भ भी ठीक-ठीक नहीं हुआ है। अतः उनका यह लिखना भी 'अनुवाद' ही समझना चाहिए कि "आजकल का वैद्यक-शास्त्र जिस दिन प्राकृतिक नियम और स्वाभाविक शक्ति के योग से चिकित्सा करनेवाला हो जायगा, वह दिन मनुष्य-जाति के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिख जाने-योग्य होगा।"

पश्चिमी जगत् का "वैद्यक-शास्त्र" अर्थात् प्रधानतया एलोपैथी चिकित्सा 'प्राकृतिक नियम' और 'स्वाभाविक शक्ति' के आधार पर अवलम्बित नहीं है, यह बात अब योरप भी धीरे-धीरे समझने लगा है। इसी का यह ज्वलन्त हृदयोद्गार है। यदि संसार की कोई भी चिकित्सा-पद्धति अपने को मनुष्य जाति या प्राणिसमूह का वास्तविक हितकारक बताना चाहती है, तो उसे वैदिक और आयर्वेदिक सिद्धान्तों के 'प्राकृतिक नियम' और 'स्वाभाविक शक्ति' की विवेचनाओं की शरण में एक-न-एक दिन आना पड़ेगा, और अवश्य आना पड़ेगा। पुस्तक अच्छी है। परिश्रम से लिखी गई है, अनेक विचारणीय विषयों से पूर्ण है, अतएव उपादेय है। हिन्दी-संसार में यह 'नई चीज़' हो सकती है।

× × ×

शिशु-पालन—लेखक, श्रीयुत मुकुन्दस्वरूपजी वर्मा बी० एस्-सी०, एम्० बी०, बी० एस्०; प्रकाशक, नागरीप्रचारिणी

सभा, काशी ; आकार २०×३०, १६पेजी ; पृ०-सं० २६७ ; छपाई, काग़ज़ आदि उत्तम; मूल्य १)

इस पुस्तक के लेखक एक बहुज्ञ व्यक्ति हैं। फलतः पुस्तक भी अनेक ज्ञातव्य और उपयोगी विषयों से पूर्ण है। पैदा होने के समय से लेकर २-३ वर्ष तक के बच्चों के विषय में स्नान, भोजन, रहन-सहन, बीमारी और चिकित्सा आदि से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक ज्ञातव्य बातों का इसमें समावेश है। भाषा सरल और सुबोध है। विषयों का चुनाव और निरूपण-शैली भी हृदयङ्गम है। माताएँ, दाइयाँ, चिकित्सक और परिचारक इससे शिक्षा ले सकते हैं।

ये सब पुस्तक के गुण हैं, परन्तु हमें खेद के साथ इस पुस्तक में खटकनेवाली बातों का भी दिग्दर्शन कराना ही पड़ेगा। विलायती शिक्षा-दीक्षा में निष्णात लेखकों में जो हवा चलती आजकल अधिकांश देख पड़ती है, उसी की इसमें भी अतिमात्रा मौजूद है।

अनेक लेखक योरप की अनेक आकर्षक बातों को देख-सुनकर और उनके लाभों को समझकर भारत के लिये भी उनका उसी रूप में उपदेश करना आरम्भ करते हैं। यदि वे भारत की आर्थिक तथा सामाजिक दशा को ध्यान में रखकर, उसकी आध्यात्मिकता को न भुलाकर, आवश्यकता और उपयोगिता के आधार पर कुछ थोड़ा हेर-फेर करके यहाँ की जनता के हित की दृष्टि से उन सब बातों को भारतीय रूप देने का कष्ट उठावें, तो बहुत कुछ सफलता हो सकती है। परन्तु कुछ लेखक तो असामर्थ्य के कारण, और कुछ इसे कष्टसाध्य समझकर इससे आँख चुरा जाते हैं, फलतः लेखकवर्ग पुरस्कार पा जाते हैं, और प्रकाशक लोग भी किसी-न-किसी तरह अपने टके सीधे कर लेते हैं; परन्तु जनता जिस लाभ की कामना से पुस्तक ख़रीदती है, उससे उसे निराश होना पड़ता है।

हमें दुःख है, यदि कोई भारतीयत्व का पक्षपाती शिशुपालन की इच्छा से इस 'शिशुपालन' को ख़रीदेगा, तो उसे बहुत अंशों में निराश होना पड़ेगा।

विलायत के किस कोने में कैसे क्या होता है, इसका तो बहुत कुछ पता इस पुस्तक से लगेगा; परन्तु भारत में क्या होता है, कैसे होता और क्यों होता है इसका ज्ञान आपको इससे न हो सकेगा। बच्चे के पाउडर कैसे लगाना चाहिए, यह तो आपको इसमें कई तरह से लिखा मिलेगा; परन्तु बच्चों को घुट्टी कैसे, कब और किस-किस चीज़ की दी जाती है, इसकी चर्चा आप आदि से अंत तक कहीं न पावेंगे। टब में नहलाना, रेशमी या ऊनी मोज़े पहनाना आदि तो बहुत कुछ है; परन्तु बच्चे के शरीर में कोई करने और माता के शरीरे की चर्चा कहीं नहीं है। हाँ, कई जगह यह ज़ोर देकर लिखा है कि कमज़ोर बच्चों को अण्डा बहुत हितकर है। यह भी बताया गया है कि किस उमर में कितने अण्डे खिलाने चाहिए। दवाइयाँ और चिकित्सा-क्रम भी नीचे से ऊपर तक विलायती भरा है। क्या ही अच्छा होता, यदि सुयोग्य लेखक विलायत की बातों का उसी रूप में अनुवाद न करके, भारत की उपयोगिता की दृष्टि से कोई पुस्तक लिखते।

शालग्राम शर्मा

× × ×

२. ज्योतिष

ज्योतिष-कल्पतरु (ज्योतिष-संबंधी मासिक पत्रिका)—आकार डिमाई अठपेजी ; पृष्ठ-सख्या ३४; वार्षिक मूल्य ३॥) ; सपादक और प्रकाशक, प० मदनलाल शर्मा मिश्र, बेलनगज, आगरा।

हिंदुओं के जन्म, मृत्यु, व्रत, उत्सव, जप, दान, संध्या, पूजा, यात्रा, विवाह, कोई काम ऐसे नहीं हैं, जिनमें तिथि, नक्षत्र, भरणी, भद्रा इत्यादि के जानने की आवश्यकता न पड़ती हो। जो थोड़े-से समाजसुधारक फलित ज्योतिष को कपोल-कल्पित समझते हैं, वे भी कुछ कामों के लिये नक्षत्रों का विचार करने की आवश्यकता समझते हैं। इससे समझा जा सकता है कि हिंदू-संसार पर ज्योतिष का प्रभुत्व प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कितना है। परंतु खेद की बात है कि इस महत्त्व-पूर्ण शास्त्र के संबंध में विद्वानों में जितना मतभेद है, उतना और किसी शास्त्र के संबंध में नहीं। एक ही वर्ष में कोई चैत का महीना मलमास मानता है, कोई वैशाख का, और कोई कहता है कि जेठ का महीना मलमास होगा। इस पर मज़ा यह कि सब किसी-न-किसी प्रमाण की दोहाई देते हैं।

इन भिन्न मतों का परिणाम यह हुआ है कि व्यवहार की सुविधा के लिये लोग ईसाई-तिथियों का प्रयोग अधिक करने लग गए हैं। जहाँ कहीं भारतीय प्रथा से इतिहास की घटनाओं का समय बतलाया जाता है, वहाँ उसका ठीक-ठीक पता लगाना कितना कठिन हो जाता

है, इसका अनुमान वे ही कर सकते हैं, जिनको इसका काम पड़ता है। ऐसी ही कठिनाइयों को दूर करने के लिये भारतवर्ष के अनेक दूरदर्शी विद्वान् बहुत दिनों से यह प्रयत्न कर रहे हैं कि सारे भारतवर्ष में एक ही प्रकार की तिथि-पद्धति काम में लाई जाय ; परंतु अभी तक कुछ सफलता नहीं मिली। इस प्रांत में भी पं० बापूदेव शास्त्री और पं० सुधाकर द्विवेदी ने कुछ दिनों तक इसकी चर्चा चलाई थी। गत वर्ष काशी-विश्वविद्यालय के प्राण, महात्मा पं० मदनमोहन मालवीयजी ने पं० रामयत्न ओझा ज्योतिषाचार्य की सहायता से कुछ उद्योग किया था। इसका परिणाम जो * कुछ हुआ हो, परंतु यह निश्चय है कि एक बार सभा कर देने से कोई प्रश्न सुलझ नहीं सकता। कारण, जब तक इसके लिये स्थायी रूप से प्राचीन और अर्वाचीन ज्योतिष-सिद्धांत के जानकार ज्योतिषियों की एक समिति नहीं बनती, और लगातार १०-१५ वर्षों तक अच्छे मासिक पत्र द्वारा इसका आंदोलन नहीं किया जाता, तब तक कोई फल नहीं हो सकता।

ऐसी स्थायी समिति के उद्योग के अभाव में यदि कोई उत्साही सज्जन अपने ही बाहुबल से ज्योतिष-संबंधी मासिक पत्रिका चलाने का उद्योग करें, तो वह सारे हिंदू-समाज के धन्यवाद के पात्र हैं। इस विचार से आलोच्य पत्रिका के संपादक पं० मदनलाल शर्मा का उत्साह प्रशंसनीय है।

पत्र के रंग-ढंग से जान पड़ता है कि इसके निकालने में बहुत जल्दी की गई है। इसके सभी लेख (केवल एक को छोड़कर) संपादक महोदय की ही क़लम से लिखे गए हैं। इसलिये एक ही बात कई लेखों में बार-बार दुहराई गई है। संपादन करने का ढंग आकर्षक नहीं है। एक को छोड़ सभी लेख अपूर्ण हैं, जो कई अंकों में पूर्ण हो सकेंगे। सभी लेखों में संस्कृत-श्लोक और इनके भाषानुवाद दिए गए हैं। अनेक श्लोक संपादक महोदय के ही बनाए जान पड़ते हैं ; क्योंकि यह नहीं बतलाया गया कि वे कहाँ से लिए गए हैं। छपाई दोनों भाषाओं की इतनी अशुद्ध है कि अनेक स्थानों में अर्थों का पता ही नहीं लगता। संपादक महोदय अपने विषय के विद्वान् जान पड़ते हैं ; परंतु इनको सुबोध हिंदी लिखने का अभ्यास कम है। ऐसी दशा में मुझे यह आशा नहीं होती कि इस पत्रिका के ग्राहक यथेष्ट हो सकेंगे, और यह निर्विघ्न कुछ दिनों तक चलकर अपना उद्देश्य पूरा करने में समर्थ हो सकेगी। उदाहरण के लिये इसके लेखों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

१—अवतरणिका—इसमें संपादक महोदय ने ज्योतिष-शास्त्र का महत्त्व इस प्रकार दिखलाया है—"स्थिर नहीं रहनेवाली दुनिया में जो-जो वस्तु देखने में आती है, उनकी मोटी-मोटी परिस्थिति पर विचार करने की इच्छा प्रत्येक मनुष्य को होती है। जिस प्रकार महाभारतादि युद्ध, देश-विप्लव, राज्य-परिवर्तन, महापुरुष, महात्मा, राजा, कवि तथा विद्वानों के चरित्रों के विषय में जानने की इच्छा, और ये वस्तु तथा ये परिस्थितियाँ कब और क्यों हुईं, इन भावनाओं के उदय होने पर उनके समाधानों के जानने की प्रबल उत्कंठा होती है, इस उत्कंठा को पूरा करनेवाला एक ज्योतिष-शास्त्र ही है।" (पृष्ठ २)।

इस लंबे वाक्य का निश्चयात्मक अर्थ क्या है, इसका पता नहीं। अपनी इच्छा के अनुसार लोग इसका भिन्न-भिन्न अर्थ कर सकते हैं।

२—कालमाहात्म्य—काल-शब्द की व्याख्या संस्कृत-श्लोकों का प्रमाण देकर आरंभ की गई है।

३—शास्त्रीय विचार—(१) वार-क्रम-विचार—इस लेख में यह दिखलाया गया है कि इतवार, सोमवार इत्यादि सात वारों का क्रम किस सिद्धांत के अनुसार रक्खा गया है। यही लेख पूर्ण है।

४—भारतीय ज्योतिष-शिक्षण—इस लेखमाला का यह उद्देश्य जान पड़ता है कि सभी हिंदुओं को पंचांग-संबंधी मोटी-मोटी बातों का ज्ञान हो जाय। कहीं-कहीं भाव ऐसे उलझ गए हैं कि साधारण पाठकों को उनका कुछ भी बोध नहीं हो सकता। पृष्ठ १५ में लिखा है—"बारह १२ वर्ष का एक भचक्र होता है, अर्थात् सूर्यादि ग्रह जितने समय में १२ राशि को भोगते हैं, वह समय उन-उन ग्रहों का वर्ष कहाता है।" मेरी समझ में इसका कुछ अर्थ न आया। बारह वर्ष का भचक्र मैंने किसी सिद्धांत-ग्रंथ में लिखा नहीं पाया। भचक्र का अर्थ है संपूर्ण क्रांतिवृत्त, १२ राशियाँ, २७ नक्षत्र अथवा ३६० अंश।

५—योरपीय ज्योतिष-शिक्षण—इस लेखमाला

* इसके परिणाम-स्वरूप 'विश्व-पंचांगम्' निकला है।
—संपादक

का उद्देश्य यह समझ पड़ता है कि भारतवासियों को इस बात का भी पता लगता रहे कि योरप में ज्योतिष की वृद्धि कितनी और किस प्रकार हो रही है।

जिस प्रकार बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् इस बात को सिद्ध करने का व्यर्थ उद्योग करते आ रहे हैं कि भारतवासियों ने यूनानियों और खाल्दिया-निवासियों से ज्योतिष सीखी, उसी प्रकार संपादक महोदय भी बिना कुछ प्रमाण दिए कहते हैं—"योरप में भारतवर्ष से ही इस विद्या का ज्ञान प्राप्त करके अनेक ज्योतिर्विद् विद्वान् इस साहित्य की वृद्धि करते रहे हैं।"। मेरी तुच्छ बुद्धि में यह बात नहीं आती कि ऐसी बातों से हमारा क्या उपकार हो सकता है। हाँ, हानि होने की संभावना अधिक है; क्योंकि जब कभी कहा जायगा कि हमको अमुक-अमुक बातों में संस्कार करने की आवश्यकता है, तो तुरंत यही उत्तर मिलेगा कि हममें क्या कमी है, हमसे तो और लोग भी सीख सकते हैं।

६—फाल्गुन मास का पंचांग—यह दस पृष्ठों में है। आठ पृष्ठों में फाल्गुन मास का तिथिपत्र, ग्रहस्पष्ट, मासफल इत्यादि दिए गए हैं, और दो पृष्ठों में इस मास के व्रत, उत्सव इत्यादि के मनाने की विधि है। मेरी समझ में यह बात एक या दो पृष्ठों में लिखी जा सकती थी। ३४ पृष्ठों की मासिक पत्रिका का एक-चौथाई भाग केवल १ मास के पंचांग से भर देना, जब कि बारह मासों का पंचांग बाज़ार में दो-दो आने में मिल सकता है, वांछनीय नहीं। यदि कहा जाय कि इसमें कोई विशेषता होगी, तो यह बात भी नहीं है। इससे भारतवर्ष-भर का काम नहीं लिया जा सकता, और न यही स्पष्ट होता है कि दैनिक सूर्य किस समय का और किस स्थान के लिये बनाया गया है।

७—ज्योतिष के अंग तथा उपांग—इसमें प्रायः वे ही बातें दुहराई गई हैं, जो पहले लेखों में आ गई हैं। केवल ज्योतिष-शास्त्र के प्राचीन और मध्यमकालीन प्रवर्तकों के ३६ या ४० नाम विशेष हैं।

८ कुंडली-कल्पवृक्ष—इसी लेख का संस्कृत-भाग श्रीयोगेश्वर-नामक किसी अन्य ज्योतिर्षी का रचा हुआ जान पड़ता है। भाषा में इसका अर्थ संपादक महोदय ने ही किया है। अभी इसका मंगलाचरण और श्रीगणेश किया गया है। आगे चलकर शायद यह बतलाया जायगा कि कुंडली का विचार कैसे किया जाता है।

मेरा विचार है कि हिंदी में ज्योतिष-संबंधी एक पत्रिका निकालने की अत्यंत आवश्यकता है। परंतु इसके लिये ज्योतिष के विद्वानों, धन से सहायता करनेवालों, धनिकों और ऐसे संपादक या संपादकों के सहयोग की आवश्यकता है, जो ज्योतिष के विद्वान् होने के साथ-साथ हिंदी, संस्कृत और अँगरेज़ी की भी अच्छी योग्यता रखते हों। जब तक इन तीनों बातों का प्रबंध न हो, तब तक ज्योतिष का पुनरुद्धार सफलता-पूर्वक नहीं किया जा सकता। जब तक यह संभव न हो, तब तक मेरी इच्छा यह है कि 'माधुरी' और 'आज' के संपादक महानुभाव अपने पत्रों में पंचांग-संशोधन-संबंधी आवश्यक बातों की चर्चा करने के लिये भी एक विशेष स्थान दें, और इस विषय के विद्वानों की सहकारिता से, स्थायी रूप से, इसके आंदोलन में हाथ बँटावें। इससे भी बहुत कुछ उपकार हो सकता है।*

महावीरप्रसाद श्रीवास्तव

× × ×

श्रीमहामंडल-डाइरेक्टरी (सं० १९८३ की)—संपादक, श्रीगोविंदशास्त्री दुगवेकर; प्रकाशक, दि भारतधर्म-सिंडिकेट लिमिटेड, बनारस; पृष्ठ-संख्या ५०० के लगभग; आकार मॅझोला; दाम ॥); काग़ज़ साधारण; श्रीगणेशजी का एक रंगीन चित्र भी है।

बँगला की गुप्त-प्रेस-पंजिका आदि के आदर्श पर श्रीमहामंडल की ओर से यह डाइरेक्टरी प्रकाशित हुई है। इसमें व्रतोत्सव-कथाएँ, सामान्य धर्म-कृत्य, दशविध-संस्कार, स्वास्थ्यतत्त्व, आशुचिकित्सा, देश-भेद के अनुसार अक्षांश और समय का निर्णय, नाप आदि ६१ सर्वोपयोगी विषय दिए हुए हैं। पंचांग भी इसका विस्तृत और उपयोगी है। हिंदी में यह डाइरेक्टरी एक नई चीज़ है। जैसी उपयोगी, वैसी ही सस्ती भी है। आशा है, हिंदी-भाषाभाषियों में इसका बहुत प्रचार होगा।

× × ×

चंद्र-पंचांगम्—रचयिता, पूर्णचंद्र त्रिपाठी ज्योतिषाचार्य; मूल्य ।=); डाक-खर्च अलग; मिलने का पता—पं० धर्मदेव त्रिपाठी, कचौरी गली, बनारस।

---

* हम ३-४ पृष्ठ का स्थान प्रतिमास दे सकते हैं, बशर्ते कि इस विषय के लेखक लिखने को तैयार हों।—संपादक

यह नए वर्ष का पंचांग बड़ा और विशुद्ध है। इसमें बहुत-सी आवश्यक बातों का समावेश है। दैनिक क्रम-सारिणी रहने से इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। शताधिक मुहूर्तों के देखने के चक्र भी इसमें हैं। प्रत्येक मास में व्रतोत्सवादि का धर्मशास्त्रोक्त निर्णय भी छपा है। तात्पर्य यह कि साक्षर गृहस्थों और ज्योतिषी पंडितों के बड़े काम का पत्रा है। आशा है, इसका अच्छा आदर और बिक्री होगी।

× × ×

विश्व-पंचांगम्—संपादक, माननीय प० मदनमोहन मालवीयजी और ज्योतिषाचार्य पंडित रामयत्न ओझाजी ; प्रकाशक, काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय का ज्योतिष-धर्मशास्त्र-विभाग ; मिलने का पता—ज्ञानमंडल, कबीरचौरा, बनारस ; मूल्य ।-)

यह नव वर्ष का पंचांग सर्वगुणालंकृत है। क्यों न हो, जिसकी रचना और संपादन में महामना मालवीयजी-सरीखे महापुरुष का हाथ हो, उसका इस प्रकार सर्वांग-पूर्ण सुंदर न होना ही आश्चर्य होता। इसमें कोई ज्ञातव्य और प्रयोजनीय विषय नहीं छोड़ा गया। विशुद्धता पर विशेष ध्यान दिया गया है। हम प्रत्येक हिंदू-धर्माभिमानी आस्तिक सज्जन से इसकी एक कॉपी मँगाकर अपने पास रखने की साग्रह प्रार्थना करते हैं। इस पत्रे की विशेषताओं का पूरा परिचय देने के लिये यथेष्ट स्थान और समय की आवश्यकता है। पाँच आने पैसे कुछ बड़ी बात नहीं, मँगाकर देख ही न लीजिए ; धन का दुरुपयोग न होगा।

× × ×

विक्रम-विजय-पंचांग—रचयिता, विद्याभूषण प० लक्ष्मीप्रसादजी पाठक ; जबलपुर के ज्योतिष-कार्यालय से प्रकाशित ; चार आने में वहीं से मँगाया जा सकता है।

यह नवीन वर्ष का मकरंदीय पंचांग भी गणित की विशुद्धता के कारण गृहस्थ-मात्र के लिये उपयोगी है। इस पंचांग में प्रतिपक्ष में प्रतिदिन की सूर्य-क्रांति लिखी है, यह इसकी एक विशेषता है। आशा है, इस पत्रे का भी यथेष्ट प्रचार और आदर होगा।

× × ×

श्रीविश्वम्भर-पंचांगम्—रचयिता, प० लक्ष्मीकांतजी कन्याल ; मिलने के कई पते हैं—गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ से भी मिल सकता है ; मूल्य कुछ लिखा नहीं ; छपाई-सफ़ाई, काग़ज़ आदि उत्तम।

यह नवीन वर्ष का पंचांग नवलकिशोर-प्रेस के स्वत्वाधिकारी पं० विष्णुनारायणजी भार्गव की सहायता से प्रकाशित हुआ है। इसका भी गणित बहुत शुद्ध रीति से किया गया है। विवाह, यज्ञोपवीत आदि के मुहूर्त भी लिख दिए गए हैं। गृहस्थों के काम की चीज़ है।

× × ×

डॉक्टर एस० के० बर्मन का संवत् १९८३ का सचित्र पंचांग—मिलने का पता—डॉक्टर एस० के० बर्मन, ४, ताराचंददत्त-स्ट्रीट, कलकत्ता ; मुफ़्त भेजा जाता है ; काग़ज़-छपाई आदि आदर्श।

यह सर्वोपयोगी सुंदर पंचांग कई वर्षों से बराबर प्रकाशित होकर हज़ारों की संख्या में मुफ़्त बाँटा जा रहा है। इस बार इसमें ५ रंगीन चित्र हैं। शुरू का श्रीराधा-कृष्ण का चित्र बड़ा ही भाव-पूर्ण और मनोहर है। इस वर्ष इस कार्यालय के स्वामी ने इस पंचांग की १ लाख प्रतियाँ बाँटने के लिये छपवाई हैं। हम इस उदारता के लिये श्रीचुन्नीलालजी बर्मन को साधुवाद देते हैं।

"ज्योतिषी"

× × ×

३. नाटक

शाँजहाँ—लेखक, प० रूपनारायण पांडेय ; प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला, लखनऊ ; आकार डबल क्राउन ; पृष्ठ-संख्या १७५ ; सादे और रंगीन चित्रों से परिपूर्ण ; छपाई उत्तम ; मूल्य सादी जिल्द का १=), सजिल्द का १॥=) ; तृतीय संस्करण।

प्रस्तुत पुस्तक बँगला के सुप्रसिद्ध नाटककार श्रीक्षीरोद-प्रसाद विद्या-विनोद के नाटक के आधार पर लिखी गई है। इसकी लोकप्रियता और उत्तमता का प्रमाण यही यथेष्ट है कि सुप्रसिद्ध लेखक, कवि, नाटककार, और संपादक स्वयं पं० रूपनारायण पांडेयजी ने इस नाटक को हिंदी में अपनाया है, और इतने थोड़े समय में अब तक इसके तीन संस्करण हो चुके हैं। जब पहलेपहल यह हिंदी में प्रकाशित हुआ था, तभी मैंने इसके गुणों पर मुग्ध होकर इसका गोंडे में अभिनय किया था, और रंगमंच पर इसे पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त हुई थी। इसका प्लाट इतिहास से लिया गया है सही, परंतु नाटक के गुणों को अच्छी तरह से प्रकट करने के लिये एकआध कल्पित चरित्रों से भी सहायता ली गई है। इससे नाटक की शोभा भी दूनी हो गई है, और इतिहास की घटनाओं में दर्शकों पर अपना अचूक प्रभाव डालने के

लिये पूरी शक्ति भी आ गई है। घटना-बंधन, चरित्र चित्रण और भाव-प्रदर्शन में नाटककार महोदय अच्छी तरह से सफल हुए हैं ; बातें ऐसी दर्द भरी हैं कि पत्थर का हृदय भी पिघल जाता है। वास्तव में यह नाटक करुण-रस का समुद्र है। परंतु इसके साथ ही वीर रस का भी इसमें अच्छा वर्णन है। प्रेम की भी बड़ी प्यारी, स्वच्छ और पवित्र झलक है, और हास्य रस के भी मधुर छींटे हैं। इसके भाव ऊँचे, आदर्श ऊँचा और मुख्य चरित्र प्रायः सभी ऊँचे हैं। हर तरह से यह नाटक उच्च कोटि का कहा जा सकता है। भाषा ज़ोरदार है, और भाव भी भव्य।

जी० पी० श्रीवास्तव

× × ×

४. काव्य

हिमगिरि-संदेश—मूल-लेखक, पाल रिचार्ड ; अनुवादक, श्रीहरिशरण श्रीवास्तव्य 'मराल' बी० ए०, एल्-एल्० बी०, मेरठ ; पृष्ठ-संख्या ५८ ; मूल्य ।=)

पाल रिचार्ड सुप्रसिद्ध विद्वान् तथा दार्शनिक हैं। फ्रांस-निवासी होकर भी आप भारत के भक्त हैं। उन्होंने 'टु इंडिया, दि मेसेज़ ऑफ् दि हिमालयाज़' नाम की पुस्तक लिखी है। मूल पुस्तक फ्रेंच-भाषा में है। प्रस्तुत पुस्तक उसके अँगरेज़ी-अनुवाद का दूर-अनुवाद है। भाव अच्छे हैं इसमें कोई भी संदेह नहीं। 'मराल'जी ने बहुत अच्छा किया, जो हिंदीवालों को उनसे परिचित करा दिया।

× × ×

कृष्ण-दर्शन ('अवतार' तथा 'नंद-घर आनंद')—लेखक, श्रीयुत मंगलाप्रसाद गुप्त श्रीवाल ; प्रकाशक, कृष्ण-दर्शन-पुस्तकालय, रासमंडल, जौनपुर ; पृष्ठ-संख्या ५६ तथा ४० ; मूल्य ।) तथा ।-)

ये 'कृष्ण दर्शन-पुष्पांजलि' के दो पुष्प हैं। विषय नाम ही से प्रकट है। पद्यों का ढंग राधेश्यामी है। रचना साधारण है। कथा बाँचनेवालों के मतलब की है।

"स०"

× × ×

सुंदरकांड—रचयिता, स्वर्गवासी गोस्वामी झामदासजी; पृष्ठ-संख्या ७६ ; आकार 'माधुरी' का; कागज़ और छपाई सुंदर; मूल्य ।); मिलने का पता—पं० रामबरन मिश्र, हवड़ा-ज्यूट-मिल्स, हवड़ा।

गोस्वामी झामदासजी साधु पुरुष थे। उनका जन्म संवत् १७६९ में जौनपुर ज़िले के अंतर्गत अमोव-नामक गाँव में हुआ था। आप शांडिल्यगोत्री अगराइच के त्रिपाठी थे। संवत् १८१८ के लगभग गोस्वामीजी ने 'श्रीरामचरितार्णव'-नामक एक बड़ा ग्रंथ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण और श्रीअध्यात्मरामायण के आधार पर बनाया था। यह ग्रंथ गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण से बड़ा है। समालोच्य सुंदरकांड इसी 'रामचरितार्णव' का पंचमांश है। इसका संपादन पं० अयोध्याप्रसाद मालवीय और पं० शत्रुघ्नकिंकर पांडेय ने किया है।

गोस्वामी झामदासजी साधु पुरुष थे, यह बात उनकी कविता से भी भली भाँति टपकती है। हमारा ख़याल है कि इस पुस्तक में श्रीझामदासजी ने गोस्वामी तुलसीदास की रामायण का भी पूरा अनुकरण किया है। जो हो, पुस्तक अच्छी है, और इसका प्रकाशित हो जाना हिंदी-साहित्य के लिये परमोपकारी है। हम चाहते हैं, भक्त-कविता-प्रेमियों में 'श्रीरामचरितार्णव' का आदर हो, जिससे समग्र ग्रंथ शीघ्र प्रकाशित हो जाय। श्रीझामदासजी की कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

सो सुनि तेइ तामस उर आना ; कहा तुमहिं तनु बर अभिमाना।
अस कहि बदन बिदारन कयऊ ; दुइ दस जोजन आनन भयऊ।
तासु दसा अवलोकि कपीसा ; निज तनु कीन्हेउ जोजन तीसा।
चालिस जोजन मुख तेइ कीन्हा ; कपि पचास जोजन तनु लीन्हा।
जोजन षष्ठि बदन पुनि ताही ; तब कपि जोजन सत्तरि ग्राही।
पुनि असीति जोजन मुख तासू ; कपि करि जोजन नवति प्रकासू।
हनुमानहि जब नवति निहारी ; सत जोजन तेइ बदन पसारी।
बिसद बिकट मुख लखि तेहि केरा ; तब कपि यह उपाय हिय हेरा।
करि अंगुष्ठ-प्रमान तनु, तबहिं बुद्धि-बल-धाम ;
प्रबिसि बदन पुनि निकरि नभ, कीन्हो ताहि प्रनाम।

× × ×

भजनशिरोमणि—संग्रहकार, लाला देवीदीनजी सर्राफ़; प्रकाशक, बाबू महेंद्रदेव वर्मा वकील, फ़ैज़ाबाद ; पृष्ठ-संख्या २३३ ; कागज़ और छपाई उत्तम ; मूल्य १)। डाक-ख़र्च।) प्रकाशक तथा लाला देवीदीन सर्राफ़, मोहल्ला नई-बस्ती, सीतापुर के पते से प्राप्त।

इस पुस्तक में प्रायः ६० साधु-महात्माओं के भजनों का संग्रह है। संग्रह-ग्रंथों में प्रायः संग्रह करनेवाले को

रुचि के अनुसार ही संग्रह-कार्य होता है । इस संग्रह में भी यही बात है। जहाँ हम इसमें सूर, तुलसी, कबीर और नानक-जैसे दिग्गज महात्माओं के पद पाते हैं, वहाँ इसमें अनेक अत्यंत साधारण पदरचयिताओं की रचनाएँ भी मौजूद हैं। फिर भी संग्रह अच्छा है, और धर्म-प्रेमी पाठकों के काम का है। संग्रह लोकप्रिय भी हुआ है; क्योंकि यह इसका दूसरा संस्करण है।

कृष्णबिहारी मिश्र

× × ×

५. नीति

चरित्र-शिक्षा—लेखक और प्रकाशक, बदरीदत्त जोशी; प्राप्ति-स्थान—हिंदी प्रेस, प्रयाग; मूल्य ।।)

'चरित्र क्या है, और वह किस प्रकार दृढ़ किया जाता है, इस विषय का निरूपण' इस पुस्तक में किया गया है। पुस्तक सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में सदाचार का महत्त्व, कर्तव्य-पालन आदि अनेक उपयोगी विषयों का सन्निवेश है। चरित्र के बिना मनुष्य-जीवन पशु-पक्षियों के जीवन से भी निकृष्ट है, यह प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। हमारी तो धारणा है कि एक चरित्रहीन पुरुष भी सदाचार के महत्त्व का क़ायल रहता है, और अपनी दुष्प्रवृत्ति के लिये अपने कुसंग तथा अपने हृदय-दौर्बल्य को ही दोष देता है। ऐसे बिरले ही दुराग्रही होंगे, जो सदाचार के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठावें। सदाचार की महत्ता मान लेने पर उसके प्रचार की आवश्यकता है। अपरिपक्व-बुद्धि बालकों को उस विषय का पाठ पढ़ाना प्रत्येक पाठक का पुनीत कर्तव्य होना चाहिए। एतदर्थ इस संबंध में जितनी पुस्तकें लिखी जायँ, उतना ही अधिक लाभ है। यह हम मानते हैं कि केवल पुस्तकों से काम न चलेगा। सदाचार की शिक्षा अच्छा आदर्श समक्ष रखने से जितनी सरलता से हो सकती है, उतनी उपदेश तथा पुस्तकों से नहीं। तो भी पुस्तकों में इस प्रकार सरल भाषा में दुरूह विषयों का विवेचन पढ़कर अवश्य ही छात्र लोग लाभ उठा सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में सदाचार की महत्ता तथा शिक्षा पर पूर्ण विचार किया गया है, और राष्ट्रीयता तथा जातीयता पर भी पाठकों का ध्यान अच्छे ढंग से आकृष्ट किया गया है। पुस्तक उदार भाव से लिखी गई है। इसमें न तो प्राचीन लकीर की संकीर्णता ही है, और न आधुनिक उच्छृंखलता ही। पुस्तक प्रत्येक भारतीय के मनन करने-योग्य है। ऐसी पुस्तकें हमारे यहाँ की पाठशालाओं में पाठ्य-पुस्तकें रक्खी जायँ, तो छात्रों का—तथा उनके द्वारा देश का—बड़ा उपकार हो। ऐसी अच्छी पुस्तक लिखकर जोशीजी ने हिंदी-संसार का बड़ा उपकार किया है।

आशादत्त ठाकुर

× × ×

६. व्याकरण

मैथिलीय भाषा-व्याकरण—लेखकद्वय, प० श्रीहीरालाल झा 'हेम' तथा प० श्रीनौबतलाल झा; प्रकाशक, कन्हैयालाल कृष्णदास, मालिक 'श्रीरमेश्वर'-प्रेस, दरभंगा; मूल्य ॥)

जिस प्रकार बंगाली, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय भाषाएँ हैं, उसी प्रकार मिथिला-भाषा भी है। मिथिला-भाषा बोलनेवालों की संख्या अन्यान्य प्रसिद्ध प्रांतीय भाषाभाषियों के मुक़ाबले में कम नहीं है। बंगाली, मराठी आदि के समान इसका साहित्य भी सर्वांगीण है। परंतु कालगति की विचित्रता से इस समय इस भाषा की दुरवस्था हो रही है। इधर हिंदी-प्रेमी सज्जनवृंद इसे हिंदी का ही एक भेद कहकर उसे स्वतंत्र रूप से पनपने नहीं देते। उधर बंग-भाषा उसे अपना एक अंग मानकर उसकी उन्नति में रोड़े अटकाती है। जिसका फल यह हुआ कि बिहारी-भाषा होने पर भी बिहार में ही अभी तक न तो उसे विश्वविद्यालय में ही समुचित सम्मान मिला है, और न प्रांत के स्कूलों में स्वतंत्र-भाषा तथा पाठ-माध्यम के रूप में उसका सन्निवेश हुआ है। यह बड़े खेद की बात है। हिंदी सर्वथा राष्ट्र-भाषा होने की अधिकारिणी है, इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु उसकी छत्र-छाया में, सामंतरूप में, प्रांतीय भाषाओं को न केवल अपने साहित्य की अभिवृद्धि ही करने का अधिकार है, प्रत्युत प्रांत में समादृत होने का भी हक़ है। परंतु आज-कल तो धींगाधींगी है। दुर्बल के स्वत्वों की रक्षा करने-वाले मनस्वी वीर बिरले ही होते हैं। यही कारण है कि बिहार-प्रांत के अधिकारीवर्ग इतने समय तक इसके संबंध में सर्वथा उदासीन रहे हैं। परंतु अब समय कुछ अच्छा नज़र आ रहा है। कलकत्ता-विश्वविद्यालय ने उसे एम्० ए० तक की परीक्षाओं में स्थान दिया है, यह कम गौरव की बात नहीं है। साथ ही पटना-विश्वविद्या-

लय के लिये यह अत्यंत लज्जा का विषय है कि उसने अभी तक मैथिली-भाषा का समुचित आदर नहीं किया। पाठ्य-पुस्तकों की कमी अधिकारीवर्ग की स्वेच्छाचारिता के बढ़ाने में सहायक होती आई है। साहित्य में जहाँ कवि-कुल-कमल-प्रभाकर विद्यापति तथा चंदा झा-सदृश काव्य-कोविदों के ग्रंथ पाए जाते हैं, वहाँ व्याकरण की पुस्तक का सर्वथा अभाव अवश्य ही खेदजनक था। हर्ष का विषय है कि इस पुस्तक के उत्साही लेखकद्वय ने इस अभाव की पूर्ति कर दी है। व्याकरण छोटा है, और प्राथमिक कक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक होने-योग्य है। जिन बालकों की मातृभाषा मैथिली है, उन्हें इससे विशेष लाभ होगा। पुस्तक अन्यान्य व्याकरणों की शैली पर सुबोध भाषा में लिखी गई है, और थोड़ी-सी भाषा जाननेवाले भी इससे लाभ उठा सकेंगे। हमारा पटना के शिक्षा-विभाग के अध्यक्षों से साग्रह अनुरोध है कि वे इस पुस्तक का प्रचार करने में सहायता दें, जिससे और भी अधिक उपयोगी और बड़ा व्याकरण बनाने में लेखकों को उत्साह मिले। कहीं-कहीं छापे की अशुद्धि खटकती है। द्वितीय संस्करण में—और हमें विश्वास है, इसके द्वितीय संस्करण का सुअवसर शीघ्र आवेगा—इस पर ध्यान दिया जाय। उदाहरणार्थ पृष्ठ ६८ में, मुकरी (अपहुति) के उदाहरण में, एक जगह ककार छूट जाने से अर्थ समझने में कठिनता होती है। पृष्ठ ८८ में विवक्षा के स्थान में विवधा छप गया है। पृष्ठ ८२ में निर् के स्थान में निष् छपा है। अपि-उपसर्ग को 'विशेषता का द्योतक' बताकर 'अपिधान' के बदले दूसरा उदाहरण देना उचित था। इसी तरह पृष्ठ ८१ में उपसर्गों का संग्राहक श्लोक भी ठीक नहीं छपा। फिर भी छापे की अशुद्धियों से पुस्तक की उपयोगिता में कोई बाधा नहीं पड़ती। हमने इसलिये इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि अगले संस्करण में वे दूर कर दी जायँ। लेखक महोदयों से हमारा यह भी अनुरोध है कि यदि उन्हें इससे पूर्ण प्रोत्साहन मिले, तो इसके आगे और बड़ा व्याकरण बनाकर मैथिली-साहित्य की श्री-वृद्धि में सहायक हों। इसके साथ-साथ यदि व्याकरण की पुस्तक की भाषा राष्ट्रभाषा हिंदी हो, तो अन्य प्रांतवासी मैथिल भी इससे विशेष लाभ उठा सकेंगे, और इस तरह विदेशस्थ मैथिलों से भाषाजन्य जो भेद प्रतीत हो रहा है, वह भी निर्मूल हो जायगा। इससे मिथिलास्थ मैथिल-मंडल को लाभ ही होगा—हानि नहीं—ऐसी हमारी धारणा है।

आद्यादत्त ठाकुर

× × ×

७. पत्र-पत्रिकाएँ

चाँद (मासिक)—संपादक, श्रीरामरखसिंह सहगल और श्रीचंडीप्रसाद "हृदयेश"; वार्षिक मूल्य ६॥); चाँद-कार्यालय, २४ जार्ज टाउन, प्रयाग से प्रकाशित।

'चाँद' स्त्री-समाज का सर्वश्रेष्ठ पत्र है। यह उसका विशेषांक है। भारतीय नारी-जाति को सुयोग्य नागरिक बनाने के उद्देश्य से इसमें सब प्रकार की सामग्री दी जाती है। स्त्रियों की स्वत्व-रक्षा में भी 'चाँद' पीछे नहीं है। समालोच्य संख्या में कुल मिलाकर ३२ लेख और कविताएँ हैं। रंगीन तथा सादे १० चित्र भी हैं। लेख अच्छे हैं। कविताएँ ग़नीमत हैं। छपाई-सफ़ाई और काग़ज़ बढ़िया है। हिंदी-प्रेमियों को इसे अवश्य अपनाना चाहिए। इसका प्रत्येक अंक संग्रह करने-योग्य होता है।

× × ×

श्रीकान्यकुब्ज-हितकारी (मासिक)—संपादक, लक्ष्मीकांत त्रिपाठी एम्० ए० और सद्गुरुशरण अवस्थी बी० ए०; वार्षिक मूल्य १॥); पता—व्यवस्थापक, कान्यकुब्ज-हितकारी, कानपुर।

हितकारी के २७वें भाग की ९वीं और १०वीं संख्याएँ संयुक्त करके विशेषांक के रूप में, कानपुर-कांग्रेस के अवसर पर, निकाली गई थीं। वही हमारे सामने है। इतने धनाढ्य एवं विद्वान् कान्यकुब्जों के होते हुए भी यह पत्र किसी प्रकार रो-धोकर चल रहा है, यह बात अवश्य ही कान्यकुब्ज-जाति के लिये कलंक है। हम आशा करते हैं कि कान्यकुब्ज-जगत् अपने जातीय पत्रों को तो अवश्य ही अपनावेगा।

समालोच्य संख्या को संपादकद्वय "सर्वांगसुंदर एवं पूर्ण रूप में निकालना चाहते थे, परंतु यह न हो सका।" प्रायः सभी लेखों में 'कान्यकुब्ज-जाति' की प्राचीनता और वैभव के गीत गाए गए हैं। 'कान्यकुब्ज-समाज की कुछ वर्तमान समस्याएँ' इस लेख को छोड़कर अन्यत्र कहीं भविष्य पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला गया है। २६ लेख-कविताओं में १० तो जीवनियाँ ही हैं, जिनमें चरित-नायकों की विद्वत्ता और वैभव का दिग्दर्शन कराया गया

है। यह अंक संपादकों ने उस समय तैयार किया है, जब कानपुर में कांग्रेस की धूम थी। देश-प्रेमी एवं सार्वजनिक कार्यकर्ता होने के कारण संपादकों को भी अवकाश की कमी थी। इसके सिवा कान्यकुब्ज-जाति के लेखकों की संख्या हिंदी-जगत् में अधिक होने पर भी दो-एक जातीय पत्र उनकी सेवा से वंचित ही रह जाते हैं। ऐसी दशा में सुयोग्य संपादक जितनी उपादेय सामग्री का इस अंक में समावेश कर पाए हैं, उतनी भी कुछ कम नहीं है। हम प्रत्येक प्रांत के निवासी और प्रवासी कान्यकुब्ज से यह अनुरोध करते हैं कि वह इस जातीय पत्र का ग्राहक होकर इस जातीय-संस्था की सहायता अवश्य करें।

× × ×

ब्राह्मण-सर्वस्व (मासिक)—संपादक, श्रीब्रह्मानंद शर्मा, काव्यतीर्थ ; वार्षिक मूल्य ३) ; ब्रह्म-प्रेस, इटावा से छपकर प्रकाशित।

यह भी विशेषांक है। इस पत्र को हिंदी और ब्राह्मण-जाति की सेवा करते हुए २२ वर्ष हो चुके। इसमें प्रायः सनातनधर्म के संबंध के लेख रहते हैं। शास्त्रीय तर्क और विवेचना इस पत्र की एक खास विशेषता है, और इसके विचारों में आज तक पं० भीमसेन शर्मा के विचारों की सुगंध आती है। भगवान् करे, पत्र दीर्घायु हो, और अपने वैदिक ज्ञान से समाज को लाभान्वित करता रहे।

× × ×

दिगंबर जैन (मासिक)—संपादक और प्रकाशक, मूलचंद-किशनदास कापड़िया, सूरत ; वार्षिक मूल्य २)

जैनियों के दिगंबर-संप्रदाय का यह मासिक मुख-पत्र है। समालोच्य संख्या विशेषांक है। कुल मिलाकर गद्य-पद्यमय ४३ लेख हैं, और १० चित्र। अंक अच्छा निकला है। संप्रदाय-विशेष का होने पर भी इसमें कुछ लेख सर्वसाधारण के लिये भी हैं। लगभग १ फ़ार्म की सामग्री अँगरेज़ी में भी है।

× × ×

हितकारिणी (मासिक)—संपादक, रायसाहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी बी० ए०, साहित्य-रत्न ; वार्षिक मूल्य ३); हितकारिणी-प्रेस, जबलपुर से प्रकाशित।

हितकारिणी-पत्रिका मध्यप्रांत की एक पुरानी और सुसंपादित पत्रिका है। असहयोग-आंदोलन के ज़माने में यह भी चपेट में आ गई, और सरकारी ग्रांट बंद हो जाने से बंद हो गई थी। हर्ष की बात है, गत दीपावली से यह फिर निकलने लगी है। किंतु हमें यह जानकर आश्चर्य हुआ कि हितकारिणी का पुराना इतिहास 'नेस्तनाबूद' कर दिया गया है। ७-८ वर्षों तक पहले निकालकर भी अब वह फिर 'प्रथम वर्ष की प्रथम संख्या' से प्रारंभ हुई है। हितकारिणी 'विविध विषय-विभूषित शिक्षा-संबंधी' मासिक पत्रिका है। शिक्षा-संबंधी पत्रिका के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि शिक्षकों के ही हाथ में उसका संपादन-भार रहे।

हितकारिणी की गणना अच्छी पत्रिकाओं में किसी समय थी। हमें विश्वास है, उसका पूर्व गौरव फिर स्थापित होगा। पर हमें संपादकप्रवर द्विवेदीजी से कुछ निवेदन करना है और वह यह कि वह हितकारिणी की गति को बदल दें। हमें आशा है, हितकारिणी-पत्रिका मध्यप्रांत के स्कूलों में सच्ची नागरिकता का बीज-वपन करेगी।

× × ×

महारथी (विशेषांक)—संपादक, वेदव्रत विशारद ; वार्षिक मूल्य ४॥) ; प्राप्ति-स्थान—चाँदनी चौक दिल्ली।

यह मासिक पत्र ६ महीने से निकल रहा है। समालोच्य संख्या विशेषांक है। गद्य-पद्य लेखों के सब मिलाकर ४४ शीर्षक हैं। अंक अच्छा निकला है। मुखपृष्ठ पर कुरुक्षेत्र के युद्ध का अर्जुन और श्रीकृष्ण का चित्र है ; भीतर महारानी लक्ष्मीबाई का चित्र है। दोनों चित्र पत्र के नाम के सार्थक हैं। हिंदी-पाठकों को चाहिए कि पत्र के संचालकों का उत्साह बढ़ावें। पत्र में लेख आदि उच्च कोटि के होते हैं।

× × ×

अभ्युदय (विशेषांक)—संपादक, पं० कृष्णकांत मालवीय ; अभ्युदय-प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित ; वार्षिक मूल्य ३॥)

यह 'अभ्युदय' का हिंदू-महासभा-संबंधी विशेषांक है। हिंदू-जाति का पक्ष लेना और उसके स्वत्वों की रक्षा करना अभ्युदय का विशेष लक्ष्य है। पिछले विशेषांकों की भाँति यह भी सुपाठ्य एवं सचित्र है। हिंदू-महासभा पर एक उच्च कोटि का विचार-पूर्ण संपादकीय लेख भी इसमें है। हम पत्र की निरंतर उन्नति चाहते हैं।

× × ×

आर्यजगत् का ऋषिबोधांक—संपादक, श्रीखुशहालचंदजी ; वार्षिक मूल्य ४), और इस अंक का ।≤) ; मिलने का पता—मैनेजर, आर्यजगत्, लाहौर।

शिवरात्रि के अवसर पर यह विशेषांक निकालकर इसके संचालकों ने अपनी कर्तव्य-परायणता का परिचय दिया है। इस अंक के प्रायः सभी लेख स्वामी दयानंदजी से संबंध रखनेवाले हैं। श्रीयुत मालवीयजी, श्रीरवींद्रनाथजी, लाला हरदयालजी (स्वीडन), अमेठी के राजकुमार श्रीरणंजय वर्माजी आदि विशिष्ट पुरुषों ने स्वामीजी के संबंध में कुछ-न-कुछ लिखकर अपना श्रद्धा-भक्ति का परिचय दिया है। ३ चित्र भी हैं। अंक संग्रह करने-योग्य हुआ है। संपादकजी का श्रम सराहने-योग्य है।

× × ×

राजस्थान (मासिक)—संपादक, श्रीसत्यदेव विद्यालंकार ; पता—राजस्थान-प्रेस, अकोला ; वार्षिक मूल्य ६) ; पृष्ठ ४२

लेख विचार-पूर्ण और ज़ोरदार हैं। यदि राजस्थान राजस्थान-जैसे पिछड़े स्थान में ज्ञान की ज्योति फैलाकर राजस्थानियों को जगा सका, तो इसका जन्म सार्थक होगा।

× × ×

वीर (विशेषांक)—दिगंबर जैन-परिषद् का पाक्षिक पत्र ; संपादक, ब्र० शीतलप्रसादजी ; बिजनौर से प्रकाशित ; वार्षिक मूल्य २॥)

इस निर्वाणांक में श्रीमहावीर-निर्वाण-भूमि का पहला रंगीन चित्र बहुत सुंदर है। इसके अतिरिक्त ३ चित्र और हैं। अंक जैनियों के लिये संग्रह करने की वस्तु है।

× × ×

वैदिक धर्म (७३वाँ अंक)—संपादक, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमंडल, औंध (जिला सतारा) ; इसी पते से प्राप्य ; वार्षिक मूल्य (मनीऑर्डर से) ४)

यह सचित्र मासिक पत्र वैदिक तत्त्व-ज्ञान के प्रचार के लिये निकाला जाता है। प्रतिमास ३२ पृष्ठ रहते हैं। इसके विषय बड़े गहन और विचार मार्के के होते हैं। प्रत्येक शास्त्र-प्रेमी को ग्राहक बनकर प्रकाशक का उत्साह बढ़ाना चाहिए।

× × ×

सुवर्ण-वणिक्-समाचार (बँगला मासिक)—संपादक, श्रीउपेंद्रनाथ सेन बी० ए० ; मिलने का पता—२७, मदन बड़ालेर लेन, बौ बाज़ार, कलकत्ता ; वार्षिक मूल्य २)

यह सुवर्ण-वणिक्-समाज का सचित्र मासिक पत्र है। इसमें जातीय लेखों के अतिरिक्त ऐसे लेख भी रहते हैं, जो सर्वसाधारण के लिये उपयोगी होते हैं।

× × ×

स्वास्थ्य (बँगला मासिक)—संपादक, रायबहादुर डॉ० गोपालचंद्र चटर्जी एम्० बी० और डॉ० व्रजेंद्रनाथ गांगुली एम्० बी० ; इनके सिवा तीन एम्० बी० और आयुर्वेदशास्त्री सहकारी संपादक भी हैं ; वार्षिक मूल्य २) मात्र ; पता—आइडियल-प्रेस, ४, सुकिया स्ट्रीट, कलकत्ता।

यह पत्र बहुत ही उपयोगी और पढ़ने-योग्य है। इस अंक में यक्ष्मा पर जो सचित्र लेख निकला है, वह अनेक ज्ञातव्य तथ्यों से परिपूर्ण है। इसका प्रत्येक लेख बड़ा महत्त्व-पूर्ण होता है, और ओज के साथ लिखा जाता है। उपयोगिता के साथ ही सस्ता होना सोने में सोहागा है। हिंदी में अभी इस कोटि का स्वास्थ्य संबंधी कोई पत्र नहीं निकलता। बँगला जाननेवाले पाठकों को अवश्य इस पत्र का ग्राहक होना चाहिए।



इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुबीते के लिये प्रति मास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास नीचे-लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

(१) "मतिराम-ग्रंथावली", लेखक, कवि मतिराम; संपादक, पं० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल्-एल्० बी०। मूल्य २॥), ३)

(२) "निबंध-निचय", लेखक, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, संपादक, पं० दुलारेलाल भार्गव (माधुरी-संपादक); निबंधों का संग्रह। मूल्य १), १॥)

(३) "ऊषा", लेखक, श्रीयुत प्रतिपालसिंह आयुर्वेदाचार्य; संपादिका, कृष्णकुमारी; स्त्री-उपयोगी पुस्तक। मूल्य ॥।≈)

(४) "कर्मयोग", लेखिका, प्रो० हिरण्मयी; अनुवादक, पं० संतराम बी० ए०; संपादक, पं० दुलारेलाल भार्गव (माधुरी-संपादक)। मूल्य ॥)

(५) "इतिहास की कहानियाँ", लेखक, श्रीयुत ज़हूरबख़्श हिंदी-कोविद; संपादक, श्रीयुत प्रेमचंद बी० ए०। मूल्य ॥≈)

(६) "विज्ञानवाद", लेखक, पं० भूपनारायण दीक्षित बी० ए०, एल्० टी०; संपादक, श्रीयुत प्रेमचंद बी० ए०। मूल्य ।)

(७) "मनोहर ऐतिहासिक कहानियाँ", लेखक, श्रीयुत ज़हूरबख़्श हिंदी-कोविद। मूल्य १॥)

(८) "मनोरंजक कहानियाँ", लेखक, श्रीयुत ज़हूरबख़्श हिंदी-कोविद; बालकोपयोगी। मूल्य १)

(९) "आशा पर पानी", लेखक, श्रीयुत जगदीश झा विमल; उपन्यास। मूल्य ॥)

(१०) "ग्रह का फेर", अनुवादक, श्रीश्यामसुंदर द्विवेदी 'सुहृद'; उपन्यास। मूल्य ॥)

(११) "बालकवितावली", लेखक, ठाकुर श्रीनाथसिंह; बालकोपयोगी। मूल्य १)

(१२) "परियों का देश", लेखिका, श्रीमती गोपालदेवी; कहानियों का संग्रह। मूल्य १)

(१३) "हँसी-खेल", लेखक, श्रीयुत सुदर्शनाचार्य बी० ए०; बालकोपयोगी पद्य-संग्रह। मूल्य ।॥)

(१४) "महात्माओं की दिव्य वाणियाँ", संग्रहकर्ता, बाबू वैद्यनाथसहाय; संग्रह। मूल्य ।)

(१५) "मनीषी चाणक्य", लेखक, पं० रामशंकर त्रिपाठी; जीवन-चरित्र। मूल्य १)

(१६) "हिंदी वैद्युत-शब्दावली", लेखक, श्रीयुत केशवप्रसाद मिश्र-श्रीयुत रामनाथसिंह। मूल्य ॥)

(१७) "काव्य-निर्णय", कविवर भिखारीदास का प्रसिद्ध ग्रंथ। मूल्य १।)

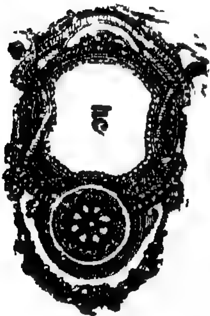
(१८) "संलाप", लेखक, श्रीयुत रामकृष्णदासजी; नाट्य-संग्रह। मूल्य ।≈)

(१९) "संध्या-दर्पण", लेखक, पं० देवीदत्त जोशी कुर्मांचलीय; संध्या की व्याख्या; द्वितीय संस्करण। मूल्य २)

(२०) "कौटिल्य अर्थ-शास्त्र", अनुवादक, डा० उदयवीरसिंह विद्या-भास्कर, वेद-रत्न, शास्त्री इत्यादि; भाषा-टीका-सहित। मूल्य ७), ८)



१. ऊसर की वर्षा



मने इधर समाचार-पत्रों में कई हिंदू-राजों के ऐसे दानों की चर्चा देखी है, जिन्हें ऊसर की वर्षा कहना कुछ अत्युक्ति न होगा। प्रत्येक हिंदू-धनाधीश का कर्तव्य है कि वह पहले हिंदू-जाति और हिंदी-भाषा की उन्नति और उत्तरोत्तर उत्कर्ष की चेष्टा करे, ऐसे कामों और संस्थाओं को आर्थिक सहायता पहुँचावे, जिनसे हिंदू-जाति का हित होता हो, उद्धार और सुधार होता हो, राष्ट्र-भाषा हिंदी का भांडार भरा जाता हो। उसके बाद उसे अधिकार है, वह चाहे अलीगढ़-युनिवर्सिटी को हज़ारों रुपए दे डाले, चाहे ईदगाह बनाने में सहायता करे। किंतु यदि कोई राजा या रईस इतना भी नहीं समझता कि पहले अपने घर में चिराग़ जलाकर पीछे मसजिद में चिराग़ जलाना ही चिराचरित प्रथा है—बुद्धिमत्ता है, तो निस्संदेह वह नादान है। हम यह बात सांप्रदायिकता के भावों से अंधे होकर नहीं लिख रहे हैं। हम जब यह देखते हैं कि मुसलमान राजा या रईस हिंदुओं के हित के लिये, हिंदी-प्रवर्द्धिनी या नागरीप्रचारिणी संस्थाओं के लिये एक पैसा भी नहीं देते, किंतु हिंदू-राजा या रईस मुसलमानों की अलीगढ़-युनिवर्सिटी-जैसी हिंदू-विद्वेषिणी संस्था के डेपुटेशन को अनायास हज़ारों का दान दे डालते हैं, तो हमसे विरोध किए बिना नहीं रहा जाता। हम देखते हैं, हिंदी का भांडार रिक्त पड़ा है, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन धनाभाव के कारण इतिहास-रचना के महत्त्व-पूर्ण कार्य में हाथ नहीं लगा सकता, कई अच्छे पत्र और उपयोगी पत्रिकाएँ धनाभाव से बंद हो जाने के लिये लाचार होती हैं; हम देखते हैं, पद-दलित हिंदू-जाति के विरुद्ध सांप्रदायिक युद्ध छेड़ दिया गया है, मुसलमानों के ज़िम्मेदार पदस्थ नेता निर्लज्जता के साथ हिंदू-जाति पर हमला करने का समर्थन कर रहे हैं, सर अब्दुर्रहीम-जैसे व्यक्ति हिंदू-नेताओं पर नीच आक्रमण करके साधारण मुसलमानों में हिंदू-विद्वेष के भाव भर रहे हैं; हम देखते हैं, हिंदुओं की रक्षा करने में सरकार भी आनाकानी कर रही है, उसका भी रुख़ मुसलमानों को फोड़कर अपनी ओर मिलाने की ओर है। ऐसे दुर्योग में यदि हिंदू-राजा और रईस भी हिंदू-जाति और हिंदी-भाषा का साथ न देकर मुसलमानों की ही सहायता करते हैं, तो हिंदी और हिंदुओं के लिये इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है? हम मुसलमानों की सहायता करने के विरोधी नहीं हैं। यदि हिंदू-राजा और रईस अपनी जातिगत उदारता के कारण

मुसलमानों की सहायता करना अपना कर्तव्य समझते हैं, तो बड़ी अच्छी बात है। किंतु उनकी यह उदारता तभी सार्थक और प्रशंसनीय हो सकती है, जब वे हिंदी और हिंदुओं के लिये भी जी खोलकर पहले कुछ कर लें। परंतु हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिंदी और हिंदुओं की सहायता के लिये जो एक पैसा भी नहीं ख़र्च करने को तैयार होते, वे ही हिंदू-राजे मुसलमानों और इनकी संस्थाओं की सहायता के लिये मुक्तहस्त हो रहे हैं। ऐसे नरेशों से हमारी प्रार्थना है कि वे पहले अपनी जाति और अपनी भाषा की सहायता करें, पहले अपना घर सँभाल लें, पीछे औरों का घर बनाने में लगें। अन्यथा जिन्हें वे दान दे रहे हैं, वे यही समझेंगे कि ख़ूब बेवकूफ़ बनाकर रक़म ऐंठी ! जब मुसलमानों ने हिंदुओं की रक़म से ही उनके विनाश की तैयारी करके "मियाँ की जूती मियाँ के सिर पर" वाली कहावत चरितार्थ कर दिखाई, तब पछताने के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगेगा। आशा है, हमारे माननीय राजा और रईस हमारी इस सूचना और प्रार्थना पर अवश्य ध्यान देंगे।

× × ×

७. बँगला और हिंदी का वर्तमान साहित्य

यह तो प्रत्येक पढ़े-लिखे आदमी से आज छिपा नहीं है कि इस समय बंग-भाषा का साहित्य सर्वांग-पूर्ण नहीं, तो अधिकांश में भरा-पूरा है। बँगला के साहित्य में इस समय किसी भी आवश्यक और उपयोगी विषय की पुस्तकों का अभाव नहीं है। यद्यपि यह सच है कि अभी तक बँगला में भी उपन्यासों और नाटकों की ही भरमार है, उसमें अधिकांश पुस्तकें अँगरेज़ी की पुस्तकों का अनुवाद-मात्र हैं या उनके आधार पर लिखी गई हैं, उसमें भी मौलिक और सुचिंतित लिखी गई पुस्तकें अब भी इनी-गिनी ही हैं ; तथापि यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बँगला का वर्तमान साहित्य भारत की अन्य प्रांतीय भाषाओं के वर्तमान साहित्य से समृद्ध ही है। हिंदी का वर्तमान साहित्य, विस्तार की दृष्टि से, इस समय तरक़्क़ी करता जा रहा है, इससे किसी को इनकार नहीं हो सकता। दस-बीस वर्ष पहले हिंदी में जितनी पुस्तकें थीं, उनकी अपेक्षा इस समय आठ-दसगुनी पुस्तकें बाज़ार में बिक रही हैं। परंतु खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह वृद्धि समृद्धि का निदर्शन नहीं मानी जा सकती। हिंदी के वर्तमान लेखक बँगला की सड़ी-से-सड़ी पुस्तक का अनुवाद करके चट छपाने के लिये दौड़ पड़ते हैं। यह मनोवृत्ति ही निंदनीय है, और इस टुकड़ख़ोरी को देखकर अगर बंगाली लोग हिंदी को हेय दृष्टि से देखने लगें, तो इसमें उनका नहीं, हमारा ही दोष है। हम अनुवाद के विरोधी नहीं। प्रत्येक भाषा का साहित्य आरंभिक अवस्था में अनुवाद को अपनाता है। और, उन्नतावस्था में भी (अँगरेज़ी, बँगला आदि भाषाओं की ओर देखिए) अन्य भाषाओं के उच्च कोटि के ग्रंथों का अनुवाद करना निंद्य नहीं माना जाता। परंतु यदि किसी भाषा के लेखक फ़ी सदी निन्नानवे पुस्तकें अनुवाद करके ही छपाने लगें, सौ में एक पुस्तक भी लेखक की मौलिक प्रतिभा का परिचय देनेवाली न निकले, तो वास्तव में यह परिस्थिति उस भाषा और उसके लेखकों के लिये घोर लज्जा की बात है। राष्ट्र-भाषा हिंदी की आज ऐसी ही परिस्थिति है। आश्चर्य का विषय तो यह है कि जो हिंदी के महारथी माने जाते हैं, जिनमें मौलिक लिखने की विद्या-बुद्धि है, जो अनुवाद करने की निंदा करते हैं, जो उच्च शिक्षित ग्रेजुएट हैं, वे लेखक भी जब क़लम पकड़ते हैं, तो अनुवाद ही के लिये ! एक मज़ा और है। कुछ लेखक ऐसे भी पैदा हो गए हैं, जो अनुवाद तो करते हैं, पर पुस्तक के टाइटिल पर यह नहीं लिखते कि यह पुस्तक अनुवाद है, अथवा अमुक पुस्तक का अनुवाद है। अभी बेलवेडियर-प्रेस (प्रयाग) से श्रीशरच्चंद्र चटर्जी की 'परिणीता' का अनुवाद 'प्रेम-तपस्या' के नाम से प्रकाशित हुआ है ; पर उसके 'उदीयमान' लेखक महाशय निर्लज्जता के साथ स्वयं लेखक बन बैठे हैं। आपने कहीं भी यह सूचना नहीं दी कि यह पुस्तक अमुक पुस्तक का अनुवाद है। कैसी नीचता है, कितनी निर्लज्जता है ! इसी तरह अनुरूपा देवी के 'मा'-उपन्यास का अनुवाद 'कर्तव्याघात' के नाम से दूसरे हज़रत कर बैठे हैं। ये तो एक-दो उदाहरण हमने दे दिए हैं। लिखा जाय, तो ऐसे चोर लेखकों का एक सहस्रनाम लिखा जा सकता है। इस तरह पराए यश पर हाथ साफ़ करने की प्रवृत्ति जितनी जल्दी दूर की जा सके, उतना ही अच्छा। हम हिंदी के वर्तमान लेखकों से सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वे यदि मौलिक रचना करने की शक्ति और योग्यता रखते हैं, तो पहले इसी के लिये चेष्टा करें। एक बार चेष्टा करके

तो देखें, सफलता अवश्य मिलेगी। जिनको यह निश्चय हो चुका हो कि वे मौलिक नहीं लिख सकते, वे पहले अन्य उन्नत भाषाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करें, अध्यवसाय के साथ अध्ययन करें, अपनी भाषा पर अधिकार प्राप्त करें। उसके उपरांत यह देखें कि हिंदी में किन विषयों के साहित्य की कमी है, हिंदी का कौन विभाग रिक्त है, यह भी सोचें कि किस भाषा का कौन लेखक श्रेष्ठ है, उसकी कौन रचना इस योग्य है कि उसका अनुवाद हिंदी-भाषा के साहित्य को अलंकृत कर सकता है। इतना सब कर चुकने पर उन्हें उस ग्रंथ के अनुवाद में हाथ लगाना चाहिए, और स्पष्ट स्वीकार करना चाहिए कि यह पुस्तक अमुक भाषा के अमुक लेखक की अमुक पुस्तक का अनुवाद है। जो लोग केवल पेट पालने के लिये साहित्य-सेवा कर रहे हैं, उन्हें भी केवल अर्थ-लोभ से कूड़े-कर्कट का अनुवाद करके हिंदी-साहित्य को गंदा न करना चाहिए। ऐसा करने से ही हिंदी का साहित्य समुन्नत होगा, उसमें सुंदर ग्रंथ-रत्न देख पड़ेंगे, और वह अन्य भाषाओं के साहित्य के मुक़ाबले खड़े होने के लायक़ होगा। इस विषय में हमें अन्य उन्नत भाषाओं के साहित्य-सेवियों का अनुसरण करना चाहिए। हमारे होनहार नवयुवक लेखक यदि हास्य, मनोरंजन आदि के बहाने आपस में कीचड़ उछालने या एक दूसरे की पगड़ी उतारने में ही अपने समय, शक्ति और प्रतिभा का अपव्यय न करके, साहित्य की श्रीवृद्धि करने में तत्परता दिखावें, तो बहुत कुछ काम हो सकता है।

× × ×

३. बँगला और हिंदी के लेखक

बँगला-भाषा के साहित्य की भी एक समय—बहुत दिन नहीं हुए—बड़ी ही हीन दशा थी। न तो कोई आदर्श था, और न कोई शैली। पुस्तकें बहुत कम लिखी जाती थीं; उच्च कोटि के साहित्यिक पत्रों का भी अभाव ही था। उच्च शिक्षा-प्राप्त समुदाय अँगरेज़ी-भाषा और उसके साहित्य पर लट्टू था। माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिमचंद्र, रमेशचन्द्र दत्त, और द्विजेंद्रलाल राय-जैसे उच्च कोटि के लेखक भी—जो पीछे बँगला के धुरंधर लेखक और कवि हुए—पहले अँगरेज़ी में ही लिखते थे। किंतु शीघ्र ही उनका यह भ्रम दूर हो गया। वे समझ गए कि अँगरेज़ी में लिखकर यशस्वी होना उनके लिये सुदूर-पराहत है, और वह जातीयता की दृष्टि से वांछनीय भी नहीं है। बस, फिर क्या था; हवा पलटी, और ऐसी पलटी कि आज प्रत्येक पढ़ा-लिखा बंगाली—मर्द ही नहीं, स्त्रियाँ भी—बँगला-साहित्य का पढ़ना और बँगला में कुछ-न-कुछ लिखना अपना परम कर्तव्य समझता है। आज बंगाल का विरला ही एम्० ए०, बी० ए० होगा, जो बँगला-भाषा का लेखक या कवि न हो। यहाँ तक कि सरकारी कर्मचारी भी अवसर के समय में कुछ लिखते ही रहते हैं। इसी का परिणाम यह हुआ है कि बँगला का साहित्य दिन-दिन परिवर्द्धित, परिमार्जित होकर भारत में ही नहीं, योरप में भी आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है। बँगला के लेखक केवल धन कमाने की लालसा से ही साहित्य की सेवा करते हों, यह बात भी नहीं है। उनके इस व्यसन के मूल में विशुद्ध भाषा-प्रेम का भाव विद्यमान है। उच्च कोटि के बँगला पत्रों के नियमित लेखकों में शायद ही कुछ ऐसे हों, जो धन के लिये लिखते हों, या जिन्हें पुरस्कार दिया जाता हो। ग़रीब साहित्य-सेवकों की बात दूसरी है। उनमें भी जो लोग केवल साहित्य-सेवा से ही जीविका चलाते हैं, उनका धन लेना तो अनिवार्य और क्षंतव्य है, किंतु जो लोग दूसरी जीविका रखकर साहित्य सेवा करते हैं, वे कदापि धन के लिये लालायित नहीं रहते। वे जानते हैं कि यदि हम धन की लालसा रक्खेंगे, तो हमारा आरंभिक अवस्था में स्थित साहित्य अर्थ-संकट में पड़कर पनपने न पावेगा। दूसरी ओर हिंदी को देखिए। हमारे यहाँ पहले तो एम्० ए०, बी० ए० लोग हिंदी लिखने में अपना अपमान मानते थे। ईश्वर की कृपा से इस समय यह बात कम हो चली है। अब ग्रेजुएटों की और अंडर ग्रेजुएटों की दृष्टि हिंदी की ओर फिरी है, और हिंदी के लेखकों में आधे से अधिक एम्० ए०, बी० ए० लोगों के नाम देख पड़ते हैं। परंतु, फिर भी, इतना ही यथेष्ट नहीं। अभी ऐसे लेखकों की और अधिक संख्या होने की आवश्यकता है। जब तक प्रत्येक हिंदी-भाषाभाषी एम्० ए०, बी० ए०, डिप्टी कलेक्टर, वकील, बैरिस्टर, डॉक्टर, प्रोफ़ेसर, इंजीनियर, जज, व्यापारी आदि हिंदी में लेख और पुस्तकें आदि लिखना अपना कर्तव्य न समझेगा, तब तक हिंदी की यथेष्ट श्रीवृद्धि न हो सकेगी, हिंदी का रिक्त भांडार पूरा न हो सकेगा। दूसरी बात यह है कि हिंदी के धनी लेखक भी पुरस्कार लिए बिना लिखने को तैयार नहीं होते। वे

लेखक भी, जिनकी जीविका दूसरे मार्ग से चलती है, जो स्वयं लखपती हैं, यही चाहते हैं कि उनकी प्रत्येक रचना पर पुरस्कार अवश्य मिले। इसका फल यह होता है कि साहित्य-सेवा में ग़रीब लेखकों का जो आर्थिक भाग रहता है, उसमें कमी पड़ती है। हम यह नहीं कहते कि पुरस्कार माँगना अनुचित है, या कोई पाप है। हमारा कहना यही है कि इस समय हिंदी के साहित्य की बड़ी हीन अवस्था है। पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार अभी इतना यथेष्ट नहीं है कि उसके प्रत्येक लेखक को पुरस्कार—यथेष्ट पुरस्कार—दिया जा सके। यह बात ध्यान में रखकर प्रत्येक समर्थ लेखक को पुरस्कार का लालच न करना चाहिए। उसे यह समझना चाहिए कि वह अपनी शक्ति के अनुसार मातृभाषा के चरणों में पुष्पांजलि अर्पण कर रहा है। इसके सिवा यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जो रचना केवल धन के लिये की जाती है, वह कभी उच्च कोटि की नहीं हो सकती, उसमें हृदय के वे भाव नहीं आ सकते, जिनकी उत्पत्ति सच्ची लगन के बिना नहीं होती। फिर पुरस्कार पाने का अधिकार श्रेष्ठ रचना को ही होना चाहिए। यदि प्रत्येक रचना पुरस्कार का दावा करे, तो पुरस्कार-शब्द का दुरुपयोग होना अनिवार्य है। हमें आशा है, हमारी इस प्रार्थना पर हमारे उच्च-शिक्षित युवक और लेखक अवश्य ध्यान देंगे। हमारे यहाँ का प्रत्येक उच्च शिक्षित विद्वान् हिंदी में कुछ-न-कुछ लिखते रहना अपना अत्यावश्यक कर्तव्य समझेगा, और प्रत्येक लेखक केवल धन के लिये लिखने का ख़याल छोड़कर लोक-सेवा और साहित्य-सेवा को ही अपने लक्ष्य में रक्खेगा।

× × ×

४. हिंदी-पुस्तकों की बिक्री

इसमें संदेह नहीं कि शरीर की ख़ुराक जैसे विविध भोजन के पदार्थ हैं, वैसे ही मनुष्य के मन की ख़ुराक विविध ज्ञान-गर्भ पुस्तकें हैं। जैसे भोजन के बिना शरीर सूख जाता है, उसकी उन्नति और पुष्टि नहीं होती, वैसे ही ग्रंथों के अध्ययन के बिना मन भी शुष्क—नीरस रहता है, वह उन्नति नहीं कर सकता, और पुष्ट भी नहीं हो पाता। यही कारण है कि मानव-जाति के मनस्वी जीव मानसिक जीवन को सजीव बनाए रखने के लिये पुस्तक-पाठ अवश्य करते हैं। यह पुस्तक-पाठ की प्रवृत्ति जिस जाति में जितनी अधिक वृद्धि को प्राप्त होती है, उस जाति की भाषा का साहित्य उतनी ही समृद्धि का अधिकारी देखा जाता है। जितने ही पाठक बढ़ते हैं, उतने ही प्रकाशक पैदा होते हैं; जितना ही जनता ख़रीदकर पुस्तकें पढ़ती है, बाज़ार में पुस्तकों की बिक्री बढ़ती है, उतना ही लेखकों की लेखनी में ओप चढ़ती है। मतलब यह कि पुस्तकों की बिक्री, पुस्तकों की रचना और पुस्तकों के प्रकाशन में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। पुस्तकों की खपत ख़ासी होने पर प्रकाशक का उत्साह बढ़ता है, और फिर वह उसी के अनुसार अच्छी रक़म पुरस्कार में देकर विशेषज्ञ विद्वान ग्रंथकारों से उत्कृष्ट, उन्नत, उपयोगी सत्साहित्य का निर्माण कराता है। अँगरेज़ी आदि भाषाओं के साहित्य की बात जाने दीजिए—उनकी तो प्रत्येक पुस्तक का प्रत्येक संस्करण लाखों की संख्या में छपता और थोड़े ही समय के भीतर खप जाता है—भारत में ही बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं की पुस्तकें भी हज़ारों की संख्या में बिक जाती हैं, और एक-एक पुस्तक के अनेक संस्करण सहज ही हो जाया करते हैं। परंतु जब हम देश के एक बड़े भाग की मातृभाषा—राष्ट्र-भाषा के गौरव की अधिकारिणी—हिंदी भाषा की पुस्तकों की अत्यंत कम बिक्री होते देखते हैं, तब हमारा मस्तक लज्जा के मारे नीचा हो जाता है। हिंदी की अच्छी-अच्छी पुस्तकों का यह हाल है कि उनके २-३ हज़ार के पहले संस्करण का ही बिकना कठिन हो जाता है। दस-बीस वर्षों में भी किसी-किसी पुस्तक का पहला संस्करण निःशेष नहीं हो पाता। इस संबंध में बातचीत होने पर इसके कई कारण सुनने में आते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि हिंदी की पुस्तकें कम बिकने का कारण यह है कि अधिकांश पुस्तकें समयानुकूल, उपयोगी और उच्च कोटि की नहीं प्रकाशित होतीं। बहुत करके रद्दी उपन्यास या निम्न कोटि की किताबें ही अनुभवहीन अल्पशिक्षित, अधकचरे, अर्थ-प्रार्थी लेखकों की लिखी निकलती हैं, और इसीलिये पठित-शिक्षित समाज में उनका आदर नहीं होता। किंतु जिन्हें इस विषय का अनुभव प्राप्त है, वे जानते हैं कि वस्तु-स्थिति इसके विपरीत ही है। रद्दी उपन्यास और अन्य निम्न कोटि का साहित्य ही अधिकतर बाज़ार में खप जाता है। उच्च कोटि की, उपयोगी विषयों पर लिखी गई जो थोड़ी-बहुत पुस्तकें

प्रकाशित हुई हैं, वे बुकसेलरों की आलमारियों में पड़ी सड़ रही हैं। साल छः महीने में कहीं कोई ख़रीदार आ गया, तो आ गया। 'ज्ञान और कर्म', 'अर्थ-शास्त्र', 'वनस्पति-शास्त्र,' 'रसायन-विज्ञान' आदि पुस्तकों और 'विज्ञान', 'स्वार्थ' आदि पत्रों के ग्राहक उँगलियों पर गिन लिए जा सकते हैं। यही कारण है कि हिंदी में अभी तक 'पृथ्वीर इतिहास', 'विश्वकोष' आदि की टक्कर के ग्रंथ न तो लिखे ही जाते हैं, और न प्रकाशित ही होते हैं। दूसरा मत यह है कि हिंदी की पुस्तकों का काग़ज़, छपाई-सफ़ाई, जिल्द आदि इतनी रद्दी और भद्दी होती है, उनमें अशुद्धियों की इतनी भरमार रहती है कि उन्हें ख़रीदने को ख़रीदारों का जी ही नहीं चाहता। पर इस कथन में भी तथ्य बहुत थोड़ा है। इसमें शक नहीं कि ये ख़राबियाँ कुछ अंश में पाई जाती हैं, पर अब कई प्रकाशकों की पुस्तकों में ये दोष बिलकुल नहीं देखे जाते। अच्छा काग़ज़ लगानेवाले, अच्छी जिल्द और शुद्ध छपाई पर विशेष ध्यान देनेवाले प्रकाशकों का अभाव नहीं है। पर वे भी झींख रहे हैं। तीसरा मत यह है कि पुस्तकों का मूल्य बहुत अधिक रख दिया जाता है। चार आने लागत की पुस्तक का मूल्य दो रुपए तक रखने में भी कुछ प्रकाशक नहीं हिचकते। इस अभियोग में अवश्य ही सत्य की मात्रा है। बेशक कई प्रकाशकों की पुस्तकें महँगी हैं। किंतु हम देखते हैं, भड़कीली जिल्द और रंगीन चित्रोंवाली, महँगी-से-महँगी पुस्तकें भी धड़ल्ले से बिक रही हैं। उनके ख़रीदारों की कमी नहीं देख पड़ती। उनके एक-दो संस्करण तो सहज ही खप जाते हैं। हिंदी की अच्छी, उत्कृष्ट, उपयोगी पुस्तकें कम बिकने का जो कारण हमें समझ पड़ता है, वह यह है कि हिंदी-भाषाभाषी जनता का जो भाग पैसेवाला है, और महीने में दस-बीस रुपए की पुस्तकें ख़रीदने की सामर्थ्य रखता है, उसमें या तो हिंदी-पुस्तकें पढ़ने का शौक़ नहीं है, और अगर शौक़ भी है, तो दूसरों से माँगकर पढ़ लेने-भर का, ख़रीदने का नहीं। हम स्वयं कई ऐसे धनी सज्जनों को जानते हैं, जो हमसे पढ़ने के लिये पुस्तकें माँगने में संकोच नहीं करते। इस प्रवृत्ति का एक प्रबल कारण यह भी है कि हिंदी-भाषाभाषी धनाढ्यों में अपने यहाँ पुस्तकालय रखने की रुचि नहीं पाई जाती। वे एक बार पढ़ लेना ही यथेष्ट समझते हैं; यह नहीं सोचते कि प्रत्येक पढ़े-लिखे मनुष्य के पास भू-मंडल-भर के नहीं, तो अपनी जाति के ही ज्ञानी, विद्वान्, शिष्ट, विशिष्ट, महापुरुषों के अनुभव-संचित ज्ञान का भांडार, उनके ग्रंथों के रूप में, अवश्य ही रहना चाहिए। उससे अपना, अपने परिवार का, अपने इष्ट-मित्रों और आने-जानेवालों का जितना उपकार होगा, उससे जितना अधिक लाभ होगा, उसके देखते उन्हें ख़रीदने का ख़र्च कुछ भी नहीं है। जिस देश और जाति के मनुष्य पुस्तक-संचय का महत्त्व जानते हैं, उस देश और जाति के लिये निजी पुस्तकालय जीवन की एक अपरिहार्य अत्यावश्यक सामग्री हो रहे हैं। बंगाली सज्जनों को यह व्यसन-सा होता है कि वे कोई अच्छी नई पुस्तक प्रकाशित होने पर उसकी एक प्रति अवश्य ख़रीद लेते हैं। बड़े बहुज्ञ विद्वान् भी बालकों और स्त्रियों के लिये साधारण श्रेणी की पुस्तकें ख़रीदने में आनाकानी नहीं करते; महँगी है या सस्ती, इस पर ध्यान नहीं देते, पुस्तक का विज्ञापन पढ़ते ही मँगा लेते हैं। ऐसा करने का एक दूसरा दृष्टिकोण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि अपनी भाषा की श्रीवृद्धि के लिये पुस्तकें ख़रीदकर उनका प्रचार बढ़ाना मेरा कर्तव्य है। इसका फल यह होता है कि प्रकाशकगण प्रत्येक (नए या पुराने, प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध) लेखक की रचना को बेखटके छाप डालते हैं। उन्हें पुस्तकों की बिक्री कम होने का रोना नहीं रोना पड़ता। आज बंगालियों की प्रतिभा ने विश्वव्यापी गौरव की अधिकारिणी होकर प्रसिद्धि और सिद्धि के साथ इसी से वह प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, जिसके लिये बड़े-बड़े ज्ञान-योगियों को भी बरसों सत्य की साधना और सरस्वती की आराधना करनी पड़ती है। देखें, हमारे हिंदी-भाषाभाषी समर्थ सज्जनों का समुदाय कब इस सत्य सिद्धांत को समझकर उसके अनुसार कार्य करता है। ईश्वर वह दिन शीघ्र लावे।

× × ×

५. ग्रंथों का संपादन

प्रत्येक भाषा के साहित्य में जो ग्रंथ प्रकाशित होते हैं, उनका संपादन किया जाता है। संपादन के अर्थ यही नहीं हैं कि ग्रंथों में काट-छाँट ही की जाय, यद्यपि काट-छाँट भी आवश्यकता के अनुसार संपादन-कार्य का अपरिहार्य अंग है। हिंदी-संसार में कुछ लोग यह समझ बैठे हैं कि किसी प्रसिद्ध व्यक्ति के ग्रंथ का संपादन उस-

की अपेक्षा अप्रसिद्ध व्यक्ति नहीं कर सकता। किंतु उनकी यह धारणा ठीक नहीं। कारण, ग्रंथ लिखने की योग्यता और चीज़ है, और संपादन की योग्यता और चीज़। संपादन के लिये विद्वत्ता के अतिरिक्त अनुभव की भी अत्यंत आवश्यकता होती है। हम किसी का अपमान नहीं करना चाहते, पर सत्य के अनुरोध से लिखना ही पड़ता है कि बहुत-से प्रसिद्ध लेखक और ग्रंथकार ऐसे हैं कि उनकी रचना यदि यथावत् प्रकाशित कर दी जाय—उसकी भाषा में परिवर्तन और संशोधन न किया जाय, उसके विराम-चिह्नों आदि का प्रयोग यदि ठीक न किया जाय—तो हिंदी-संसार एकदम चकित हो जाय! अधिकांश प्रसिद्ध लेखकों और ग्रंथकारों की कृतियाँ संपादकों की ही बदौलत परिमार्जित रूप में निकलीं और निकल रही हैं। छपी हुई पुस्तक और उसकी असल देखकर फ़ौरन् मालूम किया जा सकता है कि संपादक को उसके संपादन में कितना परिश्रम करना पड़ा है। किसी लेखक की सुसंपादित एक पुस्तक तथा असंपादित दूसरी पुस्तक सामने रखकर, दोनों की तुलना करने से भी यह रहस्य आसानी से समझ में आ जायगा। असल बात तो यह है कि हिंदीवाले अभी तक संपादन के महत्त्व को ही नहीं समझ पाए। यदि वे जान जायँ कि किसी ग्रंथकार की पुस्तक का दूसरे के हाथों संपादन होना कोई अपमान की बात नहीं है, और किसी ग्रंथ के सर्वांग-सुंदर प्रकाशित होने के लिये उसका दूसरे किसी अनुभवी के द्वारा संपादन होना अत्यंत आवश्यक है, तो वे कदाचित् संपादकों के विरुद्ध ऐसा ओछा अभियोग उपस्थित करते संकोच करें। जितने प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित लेखक हैं, वे इस बात को जानते हैं कि अपनी त्रुटियाँ प्रायः अपने को नहीं देख पड़तीं, और इसीलिये वे अक्सर (सौजन्यवश ही सही) लिख दिया करते हैं कि हमारे लेख या पुस्तक में जो त्रुटियाँ हों, उन्हें सुधार लीजिएगा।

× × ×

६. शिवगढ़-नरेश

शिवगढ़-राज्य रायबरेली-ज़िले के अंतर्गत है। यह राज्य कुछ वर्ष पहले तक एक छोटा-सा ताल्लुक़ा था, परंतु इसके अधीश्वर उत्तरोत्तर ऐसे वीर और पराक्रमी होते आए हैं कि यह ताल्लुक़ा दूर-दूर तक प्रसिद्ध रहा है। यहाँ के नरेशों की धाक आस-पास के सभी ताल्लुक़ेदारों पर रही है। शिवगढ़ के नरेश प्रायः प्रजापालक, धर्मात्मा, वीर और गो-ब्राह्मण-भक्त, आस्तिक रहे हैं। प्रजा भी इनका हृदय से सम्मान करती आती है। स्वर्गवासी श्रीरामेश्वरबख़्शसिंहजू देव बहादुर के राज्य-काल में इस राज्य की विशेष उन्नति हुई। कारण, प्रसिद्ध



स्व० श्रीयुत रामेश्वरबख़्शसिंहजू देव बहादुर
(शिवगढ़-नरेश)

सेमरपहा-राज्य, पामरगंज और धनतौली आदि बड़े ताल्लुक़े आप ही के समय में शिवगढ़-राज्य में शामिल हो गए। उक्त नरेश ने राज्य की उन्नति और प्रजा के उपकार के लिये अपनी राजधानी शिवगढ़ की बड़ी उन्नति की। आप ही के समय में वहाँ तार, डाकघर, अस्पताल, पाठशाला आदि की स्थापना हुई, बाज़ार बना, पक्की सड़कें तैयार की गईं, विशाल भव्य भवन भी निर्मित हुआ। आपकी हार्दिक इच्छा थी कि राज्य में एक अँगरेज़ी-मिडिल-स्कूल भी हो जाय। परंतु काल की कुटिलता

ने आपकी यह इच्छा नहीं पूर्ण होने दी। जुलाई, सन् १९२४ में आप स्वर्गवासी हो गए। इस समय आपके सुपुत्र गौड़-कुल-कमल-दिवाकर राजेंद्र बरखंडी महेश-प्रतापनारायणसिंहजू देव बहादुर राज्य का शासन कर रहे हैं। आपने पिता की इच्छा को सबसे पहले पूर्ण किया—शिवगढ़-राजधानी में मिडिल-स्कूल और कन्या-पाठशाला की स्थापना करा दी। आपको सिंहासनासीन हुए अभी थोड़े ही दिन हुए, परंतु इस स्वल्प काल में



श्रीयुत बरखंडी महेशप्रतापनारायणसिंहजू देव बहादुर (शिवगढ़-नरेश)

ही अपने सद्गुणों के कारण आप जनप्रिय हो चुके हैं। आप दयालु, क्षमाशील, प्रजारंजक, दूरदर्शी, सत्यसेवक, दृढ़प्रतिज्ञ कर्तव्यपरायण, ज्ञानी तथा धर्मात्मा हैं। आप दान करने में भी मुक्तहस्त हैं। हाल ही में आप राय-बरेली के हिंदू-हाई स्कूल को १,०००) तथा उसी में क्षत्रिय-बालकों के लिये छात्रनिवास बनवाने को २,२००) देकर अपनी उदारता का परिचय दे चुके हैं। गत वर्ष गंगा की बाढ़ में आपके इलाक़े की बहुत-सी प्रजा का सर्वस्व नष्ट हो गया था। आपने उनकी सहायता हर तरह से की है। आप हिंदू-जाति और हिंदी के बड़े अनुरक्त भक्त हैं। आपसे हिंदू-जनता और हिंदी-भाषा को बड़ी आशा है। हम ईश्वर से आपके चिरजीवन की प्रार्थना करते हैं।

× × ×

७. स्वर्गवासी पंडित वेंकटेश-वामन सोवनी

स्वर्गवासी पंडित वेंकटेश-वामनजी सोवनी एक पुरुष-रत्न थे। आप चुपचाप अपने कर्तव्य का पालन करने-वाले पुरुषों में थे। आपको आडंबर या प्रसिद्धि-प्रियता से पूरी घृणा थी। आप संस्कृत-भाषा के भारी विद्वान्, अँगरेज़ी के आचार्य और ज्ञान के अनन्य उपासक थे। आप महाराष्ट्र-ब्राह्मण थे। आपका उपाधि-सहित पूरा परिचय यह है—श्रीवेंकटेश-वामन सोवनी एम्० ए०, एम्० आर० ए० एस्०, एफ़्० एल्-एल्० सी०, एम्० बी० ओ० आर० आई०। आप पहले मेरठ कॉलेज के संस्कृत-प्रोफ़ेसर थे। उसके बाद प्रयाग-युनिवर्सिटी में संस्कृत के लेक्चरार नियुक्त हुए थे। वहीं गत २३ जून, १९२५ को



स्व० पं० वेंकटेश-वामन सोवनी एम्० ए० आदि

ज्वर से अचानक आपका देहांत हो गया। आपकी रहन-सहन बड़ी सादी थी। अँगरेज़ी पढ़े-लिखे होने पर भी आप परम आस्तिक और सदाचारी ब्राह्मण थे। आपमें जाति-हितैषणा और देश-भक्ति भी कुछ कम नहीं था। आप द्वेष तो किसी से रखते ही न थे। मेरठ कॉलेज अथवा प्रयाग-युनिवर्सिटी में काम करते समय क्या हिंदू, क्या मुसलमान और क्या ईसाई—क्या सनातनी, क्या आर्यसमाजी—सभी आपके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखते थे। आपके हृदय में दया का तो भांडार ही भरा था। कोई भी प्रार्थी ख़ाली न लौटता था। कोई परिचित रोगी आपकी सेवा से वंचित न रहता था। आपका विद्या-व्यसन तो अनुकरणीय ही था। आप अवकाश का सारा समय अध्ययन में ही बिताते थे। बीमार होने पर भी आप यथासाध्य छात्रों के अध्ययन में नागा न पड़ने देते थे। आपकी मितव्ययिता भी आदर्श थी। किंतु पुस्तकें ख़रीदने में आपने कभी किफ़ायतशारी से काम नहीं लिया। मेरठ-कॉलेज की लाइब्रेरी में इनसाइक्लोपीडिया-ब्रिटानिका न थी। आपने जब उसके पढ़ने का और कोई उपाय न देखा, तो आर्थिक कष्ट सहकर भी उक्त बहुमूल्य पुस्तक मँगा ली। पंडितजी की संक्षिप्त जीवनी इस प्रकार है—१३ एप्रिल, सन् १८८२ को आपका जन्म हुआ। आपकी जन्मभूमि वाठार, ज़िला सतारा है। सोवर्नी-कुल, जिसमें आपने जन्म लिया, अपनी धनाढ्यता के लिये एक समय प्रसिद्ध था। पर आपके जन्म-काल में वह स्थिति न थी। आपके माता-पिता आपकी स्वल्पावस्था में ही परलोकवासी हो गए थे। आपने अपना अध्ययन अपने ही पुरुषार्थ से जारी रक्खा। अपनी प्रतिभा के कारण आपने जो छात्रवृत्तियाँ प्राप्त कीं, उन्हीं से आपकी शिक्षा का ख़र्च चला। उसी रक़म में कुछ बचाकर आप अपने बड़े भाई को भी कुछ-कुछ देते रहते थे। सन् १९०६ में आपने बंबई विश्वविद्यालय की एम्० ए०-परीक्षा (अँगरेज़ी और संस्कृत में) पास कर ली। विद्यार्थी की अवस्था में भी पंडितजी संस्कृत की कविता करते थे। आपकी एक कविता की प्रशंसा कई संस्कृत के पत्रों ने की थी। पूने के डेकन-कॉलेज में पंडितजी को संस्कृत की सभी छात्रवृत्तियाँ प्राप्त हुई थीं। "कालिदास के समय हिंदुओं की अवस्था"-विषय पर लेख लिखने के कारण श्रीपाठकजी ने आपको Candy संस्कृत-पारितोषिक दिया था। सन् १९०१ में मैट्रिक-परीक्षा में द्वितीय होने के कारण आपको जगन्नाथशंकर सेठ-संस्कृतछात्रवृत्ति मिली थी। बी० ए० की परीक्षा ऑनर्स के साथ पास करने पर डेकन-कालेज से दक्षिणा-फ़ेलोशिप आपने पाई था। एम्० ए० पास होते ही आप मेरठ-कॉलेज में संस्कृत के सीनियर प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए। आपके शिष्यों में कुँअर गणेशसिंह (हिंदू-संसार और कलकत्ता-समाचार के संस्थापक), बाबू मूलचंद (विश्वमित्र के संपादक), पं० हरदत्त शर्मा एम्० ए० संस्कृत-प्रोफ़ेसर, श्रीयुत राधाकृष्ण एम्० ए०, पं० शंकरदत्त बी० ए०, बाबू मुरारिशरण मांगलिक बी० ए०, एल० टी० इत्यादि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सज्जन हैं। आप ग्रेटब्रिटन और आयर्लैंड की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के सभासद् भी थे। आपने सोसाइटी के मुखपत्र में (सन् १९०६ से १९१२ तक) चार गवेषणा-पूर्ण लेख लिखकर छपाए थे। 'वैदिक मैगज़ीन' और बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के 'जरनल' में भी पंडितजी के कई विद्वत्ता-पूर्ण लेख प्रकाशित हुए थे। आपने अश्वघोष के बुद्धचरित्र का समालोचना-सहित संपादन भी किया। प्रयाग, पंजाब, देहली और बनारस की युनिवर्सिटियों ने आपको मैट्रिक से एम्० ए० तक के कई विषयों का परीक्षक नियत किया था। पंडितजी Latent Light Culture के फ़ेलो और Bhandarkar Oriental Research Institute के सदस्य थे। पहली ही कानफ़्रेंस में आपने 'परिध्वनि अलंकार'-विषय पर अपना सारगर्भ निबंध पढ़ा था, जिसकी प्रशंसा दक्षिण के बड़े-बड़े विद्वानों ने की थी। पंडितजी का स्वास्थ्य सदा से ख़राब रहा। आपके अँगरेज़ मित्रों ने आपको विलायत भेजने की कई बार इच्छा प्रकट की थी; पर आप अपने आचार-विचार के कारण लाचार थे। पंडितजी में इतने गुण थे, आपकी योग्यता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि हम इस थोड़े-से स्थान में उसका संक्षिप्त-से-संक्षिप्त परिचय भी नहीं दे सकते। पंडितजी बंबई के एम्० ए० होने के कारण गत वर्ष तक किसी और विश्वविद्यालय में डॉक्टर होने की आज्ञा नहीं प्राप्त कर सके थे। गत वर्ष ही आपको डॉक्टर की उपाधि के लिये 'निबंध' देने की आज्ञा प्राप्त हुई थी। पर अब आज्ञा का मिलना और न मिलना बराबर था। यद्यपि आप डॉक्टर ऑफ़ लिटरेचर की उपाधि नहीं प्राप्त कर सके,

परंतु इसमें संदेह नहीं कि आपकी योग्यता इससे भी कहीं अधिक थी। पंडितजी की मृत्यु से देश का एक विद्वान् पुरुष-रत्न खो गया। हम पंडितजी की आत्मा के लिये शांति की प्रार्थना करते हैं। पंडितजी के ४ पुत्र और २ कन्याएँ हैं। ज्येष्ठ पुत्र की आयु १८ वर्ष की है। वह बी० ए० में पढ़ते हैं। हमारी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि आप अपने पितृदेव के पदांक का अनुसरण करते हुए कीर्ति के भागी बनें।

× × ×

८. कुछ जानने-योग्य बातें

१—क्लोरोफ़ार्म का आविष्कार सर जेम्स सिमसन नाम के एक अँगरेज़ रसायन-शास्त्री ने किया था।

२—प्रसिद्ध बेलजियम कवि मैडम एफ़्रिली केमर्ट ने हाल में एक काव्य-पुस्तक लिखकर प्रकाशित की है। उसका नाम उन्होंने रक्खा है 'अर्थहीन कविता'। हमारे यहाँ के 'छायावाद'-पंथी कवियों को शीघ्र उक्त पुस्तक मँगाकर पढ़नी चाहिए।

३—प्रसिद्ध अँगरेज़ औपन्यासिक डिकेंस की कन्या मिसेज़ पेरूजिनी अभी जीवित हैं। उनकी अवस्था ८७ वर्ष की है। इस समय भी वह ख़ूब स्वस्थ और सबल हैं।

४—ब्रिटिश-साम्राज्य का विस्तार १,६६,५३,७५१ वर्गमील है।

५—लंदन के अजायबघर के पुस्तकालय में ३० लाख पुस्तकों का संग्रह है।

६—आवाज़ हवा में सेकिंड में १,१०० और पानी में ४,७०० फ़ीट की चाल से आता है।

७—संसार-भर में केवल बालों के लिये हर साल सात करोड़ के लगभग जंगली पशुओं की हत्या होती है।

८—स्पेन का एक महल १२० मील के घेरे में बना है। उसकी प्रदक्षिणा चार दिन में की जा सकती है।

९—बंबई युनिवर्सिटी ने स्कूललीविंग-परीक्षा में हिंदी को भी अपने यहाँ स्थान देने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है।

१०—जिस चुकंदर से चीनी बनाई जाने लगी है, उसकी खेती इँगलैंड में बढ़ती जा रही है। गत वर्ष कुल ५६,२०० एकड़ ज़मीन में ही उसकी खेती हुई थी; पर अब की १,२८,५०० एकड़ में वह बोई जानेवाली है।

११—नार्वे का खिलाड़ी चार्ल्स होफ़ नेवेस्टन १३ फ़ीट १½ इंच ऊँचे पर बँधे रस्से को छलाँग मारकर साफ़ नाँघ गया। संसार-भर में आज तक कोई मनुष्य इतनी ऊँची छलाँग नहीं मार सका था।

१२—आस्टुरियास नाम का एक २२,५०० टन का भारी जहाज़ बना है। इसका एंजिन कोयले से नहीं, पेट्रोल से चलेगा। जहाज़ों के इतिहास में यह अपने ढंग का पहला ही जहाज़ है।

१३—गत महायुद्ध में किस देश का कितना रुपया ख़र्च हुआ, यह नीचे के कोष्ठक में देखिए—

देश		कुल ख़र्च	मित्र-राज्यों को उधार दी गई रक़म छोड़कर
अमेरिका	डालर	३२,०८०,२६६,९६८	२२,६२५,७५२,८४३
ग्रेटब्रिटन	,,	४४,०२९,०११,८६८	३५,३३४,०११,८६८
ब्रिटिश-साम्राज्य	,,	४,४९३,८१३,०७२	४,४९३,८१३,०७२
फ़्रांस	,,	२५,८१२,७८२,८००	२४,२६५,५८२,८००
रूस	,,	२२,५९३,९५०,०००	२२,५९३,९५०,०००
इटली	,,	१२,४१३,९९८,०००	१२.४१३,९९८,०००
दूसरे मित्र-राज्य	,,	३,९६३,८६७,९१४	३,९६३,८६७,९१४
टोटल	,,	१४५,३८७,९८०,६२२	१२५,६९०,४७६,४६७
जर्मनी	,,	४०,१५०,०००,०००	३७,७७५,०००,०००
आस्ट्रिया-हंगरी	,,	२०,६२२,६६०,६००	२०,६२२,६६०,६००
तुर्की व बलगेरिया	,,	२.२४५,२००,०००	२,२४५,२००,०००
टोटल	,,	६३,०१८,१६०,०००	६०,६४३,१६०,६००
दोनों पक्षों का मिलाकर	,,	२०८,४०५,८५१,२२२	१८६,३३३,६३७,०६७

१४—लड़ाई के कारण दूसरा ख़र्च जो हुआ, उसका भी हिसाब कार्नेगी-ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित हुआ है। दूसरा ख़र्च गिनने की अमेरिकन रीति बड़ी अद्भुत है। लड़ाई के कारण जो प्राण-हानि हुई, उसको भी रुपयों में गिनने का प्रयत्न किया गया है। यथा—

सिपाही	डालर	३३,५५१,२७६,२८०
युद्ध में न जाने पर भी उसके कारण मृत मनुष्यों का मूल्य	,,	३३,५५१,२७६,२८०
ज़मीन	,,	२९,९६०,०००,०००
जहाज़ और उसका माल	,,	६,८००,०००,०००
रुकी हुई उपज की क़ीमत	,,	४५,०००,०००,०००
लड़ाई के कारण संकट-निवारण में	,,	१,०००,०००,०००
न लड़नेवाले देशों का नुक़सान	,,	१ ७५० ०००,०००
कुल ख़र्च	,,	१५१,६१२,५४२,५६०
कुल दूसरा ख़र्च	डालर	१५१,६१२,५४२,५६०
कुल सीधा ख़र्च	,,	१८६,३३३,६३७,०९७
[डालर=२॥।)]	डालर	३३७,९४६,१७९,६५७

ये अंक भी इतने भयंकर हैं कि उनका महत्त्व एकाएक समझ में आना मुश्किल है। ईसा-मसीह के जन्म से अब तक के वर्ष गिने जायँ, और उनके घंटे बनाए जायँ, तो प्रति घंटा २०,००० डालर ख़र्च पड़ेगा। लड़ाई के दिनों में एक दिन में २१½ करोड़ डालर अथवा एक घंटे में ८० लाख डालर ख़र्च होते थे। यदि दूसरे शब्दों में कहें, तो अमेरिका के डेट्रोइट और क्लीवलैंड-प्रांत की तमाम शालाओं को एक साल चलाने के लिये जितना ख़र्च होता है, उससे भी अधिक एक घंटे में ख़र्च हुआ; और केलिफ़ोर्निया-जैसे एक बड़े विद्यापीठ की स्थापना करने में जितने रुपए लगाने की आवश्यकता होती है, उतने रुपए ख़र्च हुए। और भी दूसरे हिसाब से गिनें, तो अमेरिका के सब गिरजाघरों ने मिलाकर एक साल में जो रक़म इकट्ठी की, वह भी लड़ाई के तीन दिन के ख़र्च से कम पड़ती है। अमेरिकन और कैनेडियन लोगों की तरफ़ से विदेशी मिशनों को दी गई रक़म लड़ाई के पाँच घंटे के ख़र्च से कम पड़ती है। संसार के सभी ईसाई युवकों के मंडलों को चलाने के लिये जितने रुपयों की आवश्यकता होती है, उतने रुपए लड़ाई के दिनों में केवल ६ घंटे में ख़र्च हुए। एक दिन के ख़र्च की रक़म में २,१५० कारीगरों को (प्रति कारीगर एक साल में २ ५०० डालर के हिसाब से) ४० साल तक रोज़ी दी जा सकती है।

[भारत में यदि प्रति मनुष्य ३०) की वार्षिक आमदनी गिनी जाय, तो समस्त देश की ९ अरब की आमदनी होती है, अर्थात् लड़ाई का कुल ख़र्च इस देश की ११ साल की आमदनी के बराबर होता है।

अफ़सोस तो यह है कि इसमें भारत के जुदे अंक नहीं दिए गए, नहीं तो हिंदोस्तान-जैसे ग़रीब देश से कितने मनुष्यों की ख़ूराक चली गई, उसका भी हिसाब निकाला जा सकता था।]

१५—भारत-सरकार के गत कई वर्षों के आय-व्यय का ब्योरा इस प्रकार है—

सन्	आय	व्यय	घाटा	बढ़ती
१९१५—१६	८०,००,९९,०००	८१,७९ २६,०००	१,७८,३०,०००	+
१९१६—१७	९८,५३,१०,०००	८७,३१,३७,०००	+	१..,२१,७३,०००
१९१७—१८	१,१८,७०,५८,०००	१,०६ ५७,५२,०००	+	१२,१३,०६,०००
१९१८—१९	१,३०,४०,६६,०००	१,३६,१३ ७२,०००	५,७३,०६,०००	+
१९१९—२०	१,३७,१३,१८,०००	१,६०,७९,२७,०००	२३,६५,२९,०००	+
१९२०—२१	१,३५,६३,३२,०००	१,६१,६४,१७,०००	२६,०० ८५,०००	+

१९२१—२२	१,१५,२१,५०,०००	१,४२,८६,५२,०००	२७,६५,०२,०००	+
१९२२—२३	१,२१,४१ २९.०००	१,३६,४३,०५,०००	१५,०१,७६,०००	+
१९२३—२४	१,३३,१६,६३.०००	१,३०,७७,६३,०००	२,३९,००,०००	+
१९२४—२५	१ ३८,०३,९२ ०००	१,३२ ३५,६६,०००	५ ६८,२६,०००	+
१९२५—२६	१,३१ ३५,००,०००	१,३०,५०,००,०००	+	१,३० ००,०००
१९२६—२७	१.३३,४३,००,०००	१,३०,३८,००,०००	+	३,०५,००,०००

सन् १९२५-२६ के अंक दुहराए हुए अनुमान के हैं, और सन् १९२६-२७ के अंक शुद्ध अनुमान के।

१६—पिछले कई वर्षों से भारत-सरकार का सैनिक व्यय इस प्रकार हो रहा है—

सन्	ख़र्च	विशेष
१९२१—२२	६९,८१,००,०००	सन् २४-२५ तक का ठीक ख़र्च दिया गया है। सन् १९२५-२६ का दुहराया हुआ अनुमान और १९२६-२७ का शुद्ध अनुमान है।
१९२२—२३	६५,२७,००,०००	
१९२३—२४	५६,२३,०० ०००	
१९२४—२५	५५,६३,००,०००	
१९२५—२६	५६,२८,००,०००	
१९२६—२७	५४,८८,००,०००	

१७—इस समय संसार के १४ प्रधान राष्ट्रों की सेना में ६० लाख के लगभग सैनिक हैं। भिन्न-भिन्न देशों की संख्या इस प्रकार है—

देश	सैन्य-संख्या	देश	सैन्य-संख्या
फ़्रांस	१०,३४,०००	स्विज़रलैंड	१,७०,०००
ब्रिटिश-साम्राज्य	७,४० ५००	तुर्की	१,५२,०००
रूस	५,३८,०००	जेकोस्लाविया	१,५०,०००
पोलैंड	४,५०,०००	अमेरिका	१,४४,०००
इटली	३,५० ०००	जर्मनी	१,००,०००
जापान	३,००,०००	अमेरिका आवश्यकता पड़ने पर दो लाख सेना खड़ी कर सकता है।	
यूनान	२,५५,०००		
स्पेन	२,५३,०००	[हिंदी-नवजीवन से]	

× × ×

१. तीन महत्त्व-पूर्ण घटनाएँ

इधर दो मास के भीतर-भीतर भारत में तीन महत्त्व-पूर्ण घटनाएँ घटीं। पहली घटना तो यह है कि महाराज इंदौर ने राजगद्दी छोड़ दी, और अपने पुत्र को वह स्थान दे दिया। शायद सरकार यही चाहती थी, और उसके मन की बात हो गई। लॉर्ड रीडिंग ने अपने शासन-काल में केवल नाभा के महाराज को ही राजगद्दी छोड़ने के लिये विवश नहीं किया, वरन् इंदौर-नरेश को भी उसी पथ का पथिक बनाया। अब यह बात एक प्रकार से स्पष्ट हो गई है कि जब कभी सरकार किसी महाराज को गद्दी से उतारना चाहेगी, तो बस, एक कमीशन की घोषणा कर देगी। या तो बेचारे महाराज कमीशन के सामने अभियुक्त के समान उपस्थित होकर अपने आपको ज़लील करेंगे, या चुपचाप गद्दी छोड़ देंगे। बड़ा ही सरल उपाय है। हमारे ख़याल से इंदौर-महाराज का गद्दी त्यागना बड़ी महत्त्व-पूर्ण घटना है, और नाभा तथा इंदौर के उदाहरणों से देशी नरपतियों के स्वत्वों पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। दूसरी घटना है स्वराज्य-

दलवालों का कौंसिल-परित्याग। कानपुर की कांग्रेस ने जब स्वराज्य-दल को अपनाया था, तब इसने इस दल को यह भी आज्ञा दी थी कि यदि फ़रवरी तक सरकार तुम्हारी माँगों का संतोषजनक उत्तर न दे, तो तुम्हें कौंसिलें छोड़ देनी होंगी। स्वराज्य-दल ने अब कांग्रेस की उसी आज्ञा का पालन किया है। इधर देश में स्वराज्य-दल की साख बहुत कुछ गिर गई थी; पर इसके इस काम से एक बार उसका मस्तक फिर कुछ ऊँचा हो गया है। कौंसिल-परित्याग के पूर्व बड़ी व्यवस्थापिका सभा में पं० मोतीलालजी नेहरू ने जो भाषण किया था, वह परम गंभीर, निर्भीक और सच्ची बातों से परिपूर्ण था। उसमें न तो धमकी थी, और न डींग। उसमें तथ्य की बातें ऐसे अच्छे ढंग से कही गई थीं कि प्रत्येक भारतवासी को उसे पढ़कर पराधीनता-वेदना की कसक से तिलमिला जाना पड़ा होगा। उस भाषण का सारांश यह था कि राष्ट्रीय आत्मसम्मान हमें विवश करता है कि हम नौकरशाही के साथ और भी अपमान-पूर्ण सहयोग करें। हम तो यही चाहते हैं कि आगामी निर्वाचन में स्वराज्य-दलवाले सम्मिलित न हों; पर ऐसा होगा नहीं। हमारा यह भी निश्चय है कि इस निर्वाचन में स्वराज्य-दलवालों की हार होगी; पर इससे हमें दुःख भी होगा, और सुख भी। दुःख इस बात का कि सच्चे स्वराजियों के स्थान में 'जी हुज़ूरी'-दल एक बार फिर कौंसिलों में बहुमत पा सकेगा, और नौकरशाही संसार के सामने मस्तक तानकर फिर मनमाने क़ानून पास कर सकेगी। और, सुख इस बात का होगा कि कौंसिलों के काम से छुटकारा पा जाने के बाद स्वराज्य-दल के कर्मवीर नेता अपने अदम्य उत्साह से महात्मा गांधी के कार्यक्रम को सफल बनाने में जुट जायँगे, तब फिर देश में नवीन जीवन का प्रादुर्भाव हो सकेगा। स्वराज्य-दल का कौंसिल-त्याग बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण घटना है; और इसका देश की भावी राजनीति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा। तीसरी महत्त्व-पूर्ण घटना है लॉर्ड रीडिंग का प्रस्थान और लेविहर नए लाट का आगमन। लॉर्ड रीडिंग के जाने से हम ज़रा भी दुखी नहीं हैं। इनके शासन-काल में भारत के राजनीतिक आंदोलन की छीछालेदर हो गई। हिंदू-मुसलमान लड़ गए, और असहयोग-आंदोलन कुचल डाला गया। दो देशी नरपतियों को सिंहासन त्याग करना पड़ा, और भारतवर्ष पूरे तौर से ज़लील हुआ। लॉर्ड इरविन से भी हमें बहुत कम आशा है।

× × ×

१०. राधाकृष्ण की प्रेम-लीला

ब्रजभाषा की शृंगार-रस की कविता में अधिकतर राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन है। उसी बात को बार-बार आगे होनेवाले कवि दोहराते गए हैं। उनके वर्णन के विषय इने-गिने हैं। उनकी कविता की क्रीडा-स्थली नितांत संकुचित है। बात यह है कि कविता में घटना-विशेष का ही वर्णन किया जाता है। उस घटना का संबंध मनुष्य-जाति से होना चाहिए। इतना ही पर्याप्त नहीं है। किसी घटना के कविता में निम सकने के लिये उसमें उत्तमता की मात्रा इतनी अधिक होनी चाहिए कि वह रमणीयता उत्पन्न कर सके। सभी घटनाएँ कविता के लिये उपयुक्त नहीं हो सकतीं। कृष्णचंद्र वृंदावन से मथुरा चले गए हैं। उनके विरह में वृंदावन की गोपियाँ विकल हो रही हैं। कृष्णचंद्र के भेजे उद्धवजी वृंदावन में आकर गोपियों को योगाभ्यास का उपदेश देते हैं। गोपी-उद्धव-संवाद की अमर घटना घटित होती है। क्या इस संसार में विरह-विधुरा नारी को और किसी ने उपदेश नहीं दिया? एक ने नहीं, लाखों ने ऐसा किया है; पर गोपी-उद्धव-संवाद की बात ही निराली है। इस प्रकार की अन्य घटनाएँ इस घटना का सामना नहीं कर सकतीं। गोपी-उद्धव-संवाद कभी पुराना नहीं हो सकता। अन्य ऐसी घटनाएँ उसके स्थायित्व को पा नहीं सकतीं। कहने का तात्पर्य यह कि कविता से सुसज्जित की जानेवाली विशेष घटनाएँ संसार में थोड़ी ही मिलती हैं। यदि ध्यान देकर देखा जाय, तो मालूम पड़ेगा कि ब्रजभाषा के कवियों ने जिन विशेष घटनाओं को बार-बार दोहराया है, उनमें रमणीयता उत्पन्न करनेवाली सामग्री अत्यधिक भरी हुई है। ऐसी घटनाएँ कभी पुरानी नहीं हो सकतीं। उनका संबंध किसी समय-विशेष से नहीं है। वे सभी समय जीती-जागती नेत्रों के सामने नृत्य करती हुई मौजूद हैं। माना कि ऐसी घटनाएँ थोड़ी हैं, पर कविता के लिये तो संपूर्ण उपयुक्त हैं। ब्रजभाषा-कविता में थोड़े विषयों पर बार-बार उन्हीं का वर्णन पाए जाने का यही रहस्य है। राधाकृष्ण की

लीलाओं के ही अधिक वर्णन पाए जाने का एक कारण तो प्रेम-भक्ति की रमणीयता है, तथा दूसरा यह कि वृंदावन के कृष्ण का जीवन गोप-जीवन की मनोरम झलक भी दिखलाता है। विद्वानों का मत है कि यह जीवन नितांत सरल, निर्दोष और कुटिलता-शून्य है। ऐसे जीवन का वर्णन कविता के लिये उत्कृष्ट विषय है। बस, व्रज-भाषा-काव्य में इसीलिये राधाकृष्ण के बार-बार दर्शन मिलते हैं।

× × ×

११. 'मिश्रबंधु-विनोद'

हिंदी-साहित्य में 'मिश्रबंधु-विनोद' का एक विशेष स्थान है। चाहे इसकी सामग्री डॉक्टर ग्रियर्सन के 'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ् हिंदुस्तान', 'शिवसिंह-सरोज' और नागरीप्रचारिणी सभा की खोज की रिपोर्टों से ही अधिक परिमाण में क्यों न ली गई हो, परंतु, फिर भी, हिंदी-जगत् में हिंदी-साहित्य के स्थूल रूप, उसके आकार और उसके इतिहास का स्पष्ट और बहुव्यापक परिचय सबसे पहले इसी ग्रंथ ने दिया है। साहित्यिकों में इस बात पर भले ही मतभेद हो कि मिश्रबंधुओं को अमुक कवि को अमुक श्रेणी में न रखना चाहिए; पर इसमें किसी को आपत्ति नहीं कि इस ग्रंथ ने अन्य भाषा के विद्वानों का ध्यान भी हिंदी-साहित्य की ओर आकृष्ट किया है। इधर कई साल से यह ग्रंथ-रत्न सुलभ न था, प्रथम संस्करण सारा-का-सारा बिक चुका है, अतः इसके दूसरे संस्करण की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। माधुरी के पाठक यह बात भली भाँति जानते हैं कि गंगा-पुस्तकमाला के संचालक कई मास से यह ग्रंथ-रत्न प्रकाशित करने का आयोजन कर रहे हैं। माधुरी में समय-समय पर कई ऐसे नोट भी निकल चुके हैं, जिनमें विद्वान् पाठकों से मिश्रबंधु-विनोद के लिये नई सामग्री देने और पुराने संस्करण के संशोधन में सहायक बनने के लिये प्रार्थना की जा चुकी है। ये प्रार्थनाएँ सर्वथा निष्फल नहीं हुईं, और अनेक साहित्य-प्रेमियों ने नई सामग्री भेजकर 'मिश्रबंधु-विनोद' के संपादक को अनुगृहीत किया है। फिर भी जैसी चाहिए, वैसी सहायता नहीं मिली। ख़ैर, साहित्य-प्रेमियों को यह जानकर हर्ष होगा कि अब यह ग्रंथ-रत्न प्रेस में दिया जा रहा है। इसका आकार यों ही बहुत बड़ा था; इस बार तो और भी बड़ा हो जायगा। अभी प्रथम भाग का छपना शुरू होगा, फिर क्रम से लगातार और भाग भी छपते रहेंगे। साहित्य-प्रेमी और विद्वान् पाठक अब भी सहायता दे सकते हैं। यद्यपि प्रेस-कॉपी तैयार है, फिर भी यदि बीच में कोई बहुत ही महत्व-पूर्ण और नई बात मालूम हो जायगी, तो संपादक उससे लाभान्वित होने का पूर्ण उद्योग करेंगे। प्रथम भाग के आगेवाले भागों के लिये तो नवीन सामग्री अब भी सुगमता के साथ भेजी जा सकती है। उसका पूर्ण उपयोग किया जायगा, और प्रेस-कॉपी भी कटने-पिटने से बच जायगी। इसलिये जो विद्वान् पाठक अब भी 'मिश्रबंधु-विनोद' में परिवर्द्धन या परिवर्तन चाहते हों, वे सहर्ष वैसी सूचना दें। हाँ, एक बात के लिये पाठकगण कष्ट न करें। मिश्रबंधुओं ने श्रेणी का जो क्रम रक्खा है, अथवा भाषा-संबंधी उनके जो विचार हैं, उनके संबंध में लेखकगण कष्ट न उठावें। ग्रंथ के प्रकाशित हो जाने पर श्रेणी-विभाग को लेकर अथवा भाषा के औचित्य-अनौचित्य की चर्चा करते हुए लेखकगण यथारुचि खंडनात्मक अथवा मंडनात्मक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करा सकते हैं। पर अभी वैसी विवादास्पद सूचनाएँ मिश्रबंधु-विनोद के संपादक के पास भेजने से कोई लाभ नहीं। कहने का प्रयोजन यह है कि 'विनोद' के लिये सामग्री भेजते समय इस विवादास्पद विषय की सामग्री न भेजी जाय।

× × ×

१२. सुभद्रा

श्रीयुत विश्वनाथ-दामोदर ऋषि बी० ए० एल्-एल्० बी० का परिचय और चित्र माधुरी में प्रकाशित हो चुका है। भारत में परलोक-विद्या अथवा मरणोत्तर जीवन-विद्या का प्रचार ऋषि महोदय के द्वारा हो रहा है। अभी हाल ही में जब से आप योरप से परलोक-विद्यावाद-कांग्रेस से लौटे हैं, तब से आपने अपना प्रचार-कार्य तेज़ी से शुरू कर दिया है। ऋषिजी इधर कई सप्ताह लखनऊ में भी रहे, और यहाँ उनके दो व्याख्यान तथा कई सज्जनों के यहाँ सियांसों (प्रयोगों) द्वारा परलोकगत आत्माओं का आह्वान किया गया। मेज़ को हिलाकर तथा स्वयं-लेखन (Automatic writing) द्वारा मृतात्माओं से बातचीत भी की गई। इन प्रयोगों के संबंध में कोई

बात निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती कि वे सफल रहे या असफल ; पर उनसे कई चमत्कार-पूर्ण बातें अवश्य जान पड़ीं । यदि Telepathy, Thought transference तथा Subconscious Brain के झमेले न हों, तो लोगों को मृतात्माओं पर बहुत शीघ्र विश्वास हो जाय । पर उपरि-कथित टेलीपैथी आदि के कारण परलोक-विद्यावाद संदेह की दृष्टि से भी देखा जा सकता है । जो हो, संसार के बहुत बड़े-से-बड़े विद्वान् भी अब परलोक-विद्या में विश्वास करने लगे हैं, और यह बात भी ठीक है कि परलोक-विद्या की जाँच-पड़ताल करते-न-करते ही टेलीपैथी आदि के संबंध में ज्ञान प्राप्त हुआ है ; टेलीपैथी को मेस्मेरिज़्म आदि का रूपांतर-मात्र माननेवाले कई विद्वान भी अब परलोक-विद्यावाद को मानने लगे हैं ; अतः मरणोत्तर जीवन का प्रश्न अब धीरे-धीरे विश्वव्यापी भी होने लगा है, और उसके विरोध की गति भी मंद हो चली है । अस्तु, इस सारी वस्तु-स्थिति पर विचार करके, स्वयं परलोक-विद्या के जानकार न होते हुए भी, हम यह मानते हैं कि इसके अंतस्तल में कुछ सार है—यह निरा धुएँ का धौरहरा नहीं है । आवश्यकता इस बात की है कि ईमानदार आदमी, जिनका उद्देश्य इस विद्या द्वारा धनोपार्जन न हो, गंभीरता के साथ प्रयोगों द्वारा स्वयं इसकी सचाई या झुठाई का अनुभव प्राप्त करें । तभी किसी प्रकार की संतोषदायक बात मालूम हो सकती है ।

श्रीयुत ऋषिजी की प्रथम पत्नी का नाम था श्रीमती सुभद्रादेवी । उनका परलोक-वास हो गया है । उनकी मृतात्मा से ऋषिजी की बातचीत होती है । समय-समय पर सुभद्रादेवी ऋषिजी को संदेश भेजा करती तथा परलोक का वर्णन भी बतलाया करती हैं । एक बार सुभद्रादेवी ने ऋषिजी को बतलाया कि हमारे अमुक-अमुक संदूक में अमुक-अमुक वस्तु है । ऋषिजी ने स्त्री के मरने के बाद वह संदूक कभी न खोला था । इसलिये उन्हें बिलकुल न मालूम था कि उस संदूक में क्या है । फिर भी जब मृतात्मा ने बतलाया, तो उन्होंने संदूक खोलकर देखा, और तब उन्हें आश्चर्य से चकित हो जाना पड़ा ; क्योंकि संदेश के अनुसार सभी वस्तुएँ संदूक में थीं । ऋषिजी ने इन्हीं सुभद्रादेवी द्वारा प्राप्त संदेश तथा कुछ और भी ऐसा ही मसाला इकट्ठा करके 'सुभद्रा' अथवा 'मरणोत्तर जीवन' नाम की एक पुस्तक लिखी है । इस पुस्तक में परलोक-विद्या की खोज, आधार-भूत संदेश, परलोक-वर्णन, मनोरंजक संदेश तथा मृत बालकों की परलोक में स्थिति-नामक पाँच अध्याय हैं । पुस्तक इंडियन स्पिरिच्युअलिस्टिक सोसाइटी, दारागंज, प्रयाग की ओर से प्रकाशित हुई है, और १) में लीडर-प्रेस, प्रयाग के पते से मिलती है । हिंदी में यह अपने ढंग की अनोखी पुस्तक है । अँगरेज़ी में परलोक-विद्या-संबंधी साहित्य बहुत है ; पर हिंदी में इस विषय की यह पहली ही पुस्तक है । हमारा ख़याल है, परलोक-विद्या के प्रेमी इस पुस्तक को अवश्य ख़रीदेंगे, जिससे उत्साहित होकर ऋषि महोदय इस विषय पर और भी पुस्तकें लिख सकें ।

× × ×

१३. ब्रिटिश-साम्राज्य के पत्र

लंदन के अलावा ब्रिटिश-द्वीपों के अन्य प्रांतों में भी समाचार-पत्रों का बहुत प्रचार है । प्रचार ही नहीं, कई प्रांतीय पत्र तो राजधानी के पत्रों से भी बढ़कर हैं । अपने प्रांत में एक प्रांतीय पत्र का जो प्रभाव है, वह राजधानी के बड़े-से-बड़े पत्र का भी प्रायः नहीं देखा जाता । पहले प्रत्येक नगर में प्रायः दो दैनिक पत्र निकलते थे । इनके मत परस्पर-विरुद्ध रहते थे । इस प्रकार एक ही समस्या पर दोनों दृष्टियों से विचार करने का अच्छा मौक़ा रहता था । पर अब कुछ ऐसा चलन चल गया है कि एक ही पत्र का बोलबाला रहता है । प्रांतीय पत्रों का भी कुछ परिचय लीजिए ।

सन् १८१७ ई० में एडिनबरा से 'स्कॉट्समैन' नाम का पत्र निकला । जिस समय इस पत्र का आविर्भाव हुआ, उस समय समाचार-पत्रों पर करों का बेहद बोझ था । इस कारण यह पत्र आरंभ में वैसी उन्नति न कर सका । परंतु भाग्य से इसको मिस्टर अलेक्ज़ैंडर रसेल-जैसे सुयोग्य संपादक मिल गए, और यह ख़ूब चमका । सन् १८४८ ई० से सन् १८७६ ई० तक इन्हीं ने इस पत्र का संपादन किया । निःशुल्क व्यापार, धार्मिक विचार, विनोद-सत्कार और कट्टरता और बनावट की फटकार के कारण यह पत्र बड़ा ही लोक-प्रिय हो गया । इस पत्र का मैनेजर भी अपने समय का सर्वश्रेष्ठ मैनेजर था । पत्र की भिन्न-भिन्न समयों में क्या दशा थी, इसका विवरण भी जानने-योग्य है । सन् १८५५ ई० तक यह पत्र अर्द्ध-साप्ता-

हिक प्रकाशित होता था। सन् १८५५ के बाद, रूसी समर के समय, दैनिक हो गया, और छः हज़ार बिकने लगा। पर कुछ ही समय बाद इसकी ग्राहक-संख्या ४,००० ही रह गई। सन् १८५६ ई० में यह फिर बढ़ा, और १०,००० बिकने लगा। फिर तो क्रम से इसकी उन्नति ही होती गई। सन् १८६२ ई० में १५,०००, सन् १८६५ ई० में २५,०००, सन् १८७० ई० में ३०,०००, सन् १८७७ ई० में ५०,०००, सन् १८८० ई० में ६०,००० और इस समय संभवतः इसकी नित्य १,००,००० प्रतियाँ छपती हैं।

मैंचेस्टर-गार्जियन भी बड़ा प्रभावशाली पत्र है। यह पहलेपहल सन् १८२१ ई० में निकला था। इस पत्र का संचालन अधिकतर टेलर-नामधारी पिता-पुत्रों के हाथ में रहा। इस पत्र की नीति सदा यही रही कि भूस्वधिकारियों के प्रभुत्व का विरोध किया जाय, और वैदेशिक अनुदार नीति का प्रतिवाद होता रहे।

इसके संचालन का इतिहास भी स्कॉट्समैन के इतिहास से बहुत कुछ मिलता है। इस पत्र के इतिहास में एक घटना स्मरणीय है। पूर्वी देशों में मैंचेस्टर के व्यापारी जो अपना विशेष माल भेजते थे, उस पर प्रत्येक व्यापार-संघ के पृथक्-पृथक् ट्रेड-मार्क या व्यापार-चिह्न रहते थे। लालच के मारे उस समय इन व्यापार-चिह्नों का बड़ा दुरुपयोग होता था। 'मैंचेस्टर गार्जियन' ने इसके विरुद्ध तीव्र आलोचनात्मक लेख लिखे। लेखों का बड़ा प्रभाव पड़ा। यद्यपि उसे मान-हानि के एक मुक़दमे में फँसना पड़ा, तो भी वह अत्यधिक लोक-प्रिय हो गया, और मैंचेस्टर के हितों का वास्तविक रक्षक माना जाने लगा। इस पत्र का प्रभाव बहुव्यापी है। यह अपने ज़िले तक ही परिमित नहीं है। अकेले मिस्टर सी० पी० स्कॉट ने ४० साल तक इस पत्र का संपादन किया। इस पत्र में व्यापार-संबंधी चर्चा के अलावा मानसिक उन्नति के लिये भी पर्याप्त सामग्री पाई जाती है। समालोचना, संगीत, नाटक आदि, सभी विषयों का अच्छा विवेचन रहता है। इस संबंध में एक बात और भी प्रशंसनीय है। ऐसी सारी साहित्यिक चर्चा सदा गुमनाम प्रकाशित होती है। असली लेखक का नाम किसी को भी विदित नहीं होता।

'बरमिंघम-डेली पोस्ट' मिडलैंड का प्रधान पत्र है। ब्रिटन का सबसे पुराना पत्र, जो अब भी प्रकाशित होता है, ग्लॉस्टर-मर्करी है। यह पत्र सन् १७१७ ई० में निकला था। इस पत्र के विरोध में कुछ ज़मींदारों और अपरिवर्तनवादी-दल के लोगों ने 'यार्कशायर-पोस्ट'-नामक पत्र निकाला था, जो इस समय भी अच्छी अवस्था में चल रहा है। 'लिवरपूल डेली पोस्ट' पहला दैनिक पत्र है, जो एक आना प्रति के हिसाब से पहलेपहल बिका। 'न्यू कैसिल', 'क्रॉनिकल', 'लंकाशायर आब्ज़रवर', तथा 'शेफ़ील्ड टेलीग्राफ़' भी बढ़िया पत्र हैं, और अपने प्रदेशों की अच्छी सेवा कर रहे हैं। रियर, स्पोर्टिंग क्रॉनिकिल, तथा टेली डिस्पैच आदि पत्रों में शिकार-संबंधी समाचारों का प्राधान्य रहता है। इँगलैंड के दक्षिण में ब्रिस्टल तथा प्लाइमथ से भी कई अच्छे पत्र निकलते हैं। ऐसे पत्रों में मज़दूरों का एक पत्र बहुत अच्छा है।

उत्तरीय ब्रिटन में ग्लासगो-हेरल्ड बड़ा ही प्रभावशाली पत्र है। इसका मालिक एक कंपनी है। 'अबर्डीन जरनल' और 'अबर्डीन फ़्री प्रेस' भी अच्छे पत्र हैं। डंडी से भी कई पत्र निकलते हैं, जिनमें 'डंडी ऐडवर्टाइज़र' और 'डंडी कोरियर' मुख्य हैं। दोनों पत्रों का ख़ासा प्रचार है। दक्षिण-वेल्स में 'वेस्टर्न मेल' तथा साउथ-वेल्स न्यूज़ क्रम से अपरिवर्तनवादी और उदार-दल के अच्छे पत्र हैं।

आयर्लैंड के डब्लिन-नगर से 'आइरिश टाइम्स'-नामक पत्र निकलता है। यह पत्र पुराना है, परंतु इसकी उन्नति का प्रारंभ सन् १८७३ ई० से होता है। 'डब्लिन-डेली एक्सप्रेस' भी बहुत पुराना पत्र है। यह पत्र आँख मूँदकर ज़मींदारों और अधिकारियों के पक्ष का समर्थन करता है। 'फ़्रीमैंस-जरनल' और 'इंडिपेंडेंट' राष्ट्रीय दल के पत्र हैं। बेलफ़ास्ट से भी दो पत्र निकलते हैं। इनमें 'बेलफ़ास्ट-न्यूज़-लेटर' पुराना है, और सन् १७३७ ई० में निकला था। 'बेलफ़ास्ट-नार्दर्न-ह्विग' अपेक्षाकृत नवीन है। 'कार्क-एग्ज़ामिनर'-नामक पत्र कार्क-नगर से निकलता है। यह भी साधारणतः अच्छा है। आस्ट्रेलिया के पत्रों में 'सिडनी-मार्निंग-हेरल्ड', 'सिडनी-डेली टेलीग्राफ़', 'मेलबोर्न-आर्गस' और 'मेलबोर्न-एज' मुख्य हैं। इनमें एक भी सन् १८३० से पहले का नहीं है। यहाँ का 'सिडनी-बुलेटिन' पत्र बड़ी ही कटु तथा तीव्र भाषा में व्यंग्य करता है। कनाडा के पत्रों में सबसे पुराना मांट्रियल-गज़ट है, और स्टार आधुनिक। दोनों ही का संपादन अच्छे ढंग से होता है। परंतु

सबसे अधिक प्रभावशाली टोरांटो-ग्लोब है। यह उदार-दल का और संरक्षण-नीति का समर्थक है। दक्षिण-आफ्रिका के पत्रों में 'जोहान्सबर्ग-स्टार' तथा 'केप-टाइम्स' मुख्य हैं। केप-टाइम्स सन् १८७६ ई० में निकला था। यह भारत को छोड़कर ब्रिटिश-साम्राज्य के भीतर प्रकाशित होनेवाले पत्रों का अत्यंत स्थूल दिग्दर्शन है। भारतीय पत्रों का इतिहास कुछ विस्तार के साथ फिर कभी लिखा जायगा।

× × ×

१४. 'ईश्वर का बहिष्कार'

माधुरी की पिछली ४ संख्याओं में श्रीयुत "प्रत्यक्षवादी" महाशय का 'ईश्वर का बहिष्कार'-शीर्षक लेख निकला है। बहुतेरे पाठक यह जानने के लिये उत्सुक हैं कि आखिर "प्रत्यक्षवादी" महाशय असल में हैं कौन। उनका नाम जानने के लिये पाठकों की इतनी उत्सुकता जानकर हमने "प्रत्यक्षवादी" महाशय से उनका नाम प्रकट करने की आज्ञा ले ली है। अब तक उन्होंने अपना नाम इसीलिये नहीं प्रकट किया था कि वह नहीं चाहते कि लोग पत्रों की भरमार से उन्हें तंग करें। उनके पास व्यक्तिगत पत्रों के उत्तर देने के लिये यथेष्ट समय भी नहीं है। लोग उन्हें तंग न करें, इसी शर्त पर उन्होंने अपना नाम प्रकट करने की अनुमति दी है। "प्रत्यक्षवादी" महाशय हिंदी के वयोवृद्ध लेखक श्रीयुत राधामोहन गोकुलजी हैं। उनका कहना है—"लोगों को जो कुछ लिखना हो, माधुरी में लिखें। तीन महीने तक जितने लेख छपेंगे, उन सबको पढ़कर मैं नई-नई उक्तियों और तर्कों का उत्तर दूँगा। लेकिन याद रहे, लेख Inductive and deductive तर्क और Exact Science के आधार पर हो; क्योंकि मैं प्रत्यक्षवादी हूँ।"

× × ×

१५. अनुचित यशोलिप्सा

गत मार्गशीर्ष की माधुरी में महिला-मनोरंजन के अंतर्गत श्रीउमाशंकर मेहता का एक लेख "वैधव्य और समाज"-शीर्षक प्रकाशित हुआ है। जनवरी, सन् १९२६ के चाँद में एक टिप्पणी इसके संबंध में निकली है, जिससे मालूम होता है कि मेहताजी ने चाँद के एक लेख को ही साधारण उलट-फेर करके माधुरी में छपाया है। आपने शीर्षक भी चाँद का चुरा लिया है। हमें मेहताजी के लेख की कॉपी पढ़कर ही कुछ संदेह हुआ था। हमने दो-दो बार मेहताजी से दर्याफ़्त किया कि "यह लेख आपका मौलिक है या नहीं? हमें याद पड़ता है कि हमने इसे कहीं अन्यत्र पढ़ा है।" इसके उत्तर में मेहताजी ने बड़े ज़ोरदार शब्दों में यह दावा किया कि उनका लेख एकदम उन्हीं के मस्तिष्क से निकला है। परंतु जब चाँद का नोट निकला, तब आपने 'प्रताप' में यह कैफ़ियत दी कि "हम इसी नाम की एक पुस्तक लिख रहे हैं, और उसी का यह एक अंश है। हमने चाँद, माधुरी, सरस्वती आदि पत्रों के लेखों से इसके लिखने में पूरी सहायता ली है।" किंतु ज़बानी आपने हमसे यह कहा कि गुजराती के "समाज-जीवन" पत्र से उन्होंने इस नोट की सामग्री ली है, और चाँद के संपादक ने भी वहीं से मसाला लिया है। पर हमें यह ठीक नहीं जँचता। समाज-जीवन की टिप्पणी से पहले ही चाँद की उक्त टिप्पणी छप चुकी थी। अगर किसी ने चोरी की है, तो समाज-जीवन ने ही। ख़ैर, मामला साफ़ है। मेहताजी की अनुचित यशोलिप्सा का ही यह परिणाम है। हमें आश्चर्य है कि बार-बार चोरी पकड़ी जाने और फटकार बतलाने पर भी हिंदी में ऐसे चोर लेखकों, कवियों और ग्रंथकारों की संख्या बढ़ती ही जाती है। हम मेहताजी की श्रेणी के लेखकों से सविनय प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी इस कुप्रवृत्ति को छोड़ दें। इसमें यश के बदले बदनामी ही हाथ आती है। यदि उनकी यह आदत छूटना एकदम असंभव ही हो, तो कम-से-कम माधुरी को तो अपनी कृपा से वंचित ही रक्खें। हमने अब यह तय कर लिया है कि जिस लेखक की चोरी एक बार ज़ाहिर हो जायगी, उसका कोई लेख कभी हम अपनी पत्रिका में नहीं छापेंगे। हमारी राय में प्रत्येक पत्र-संपादक को यही नियम कर लेना चाहिए।

× × ×

१६. एकता-सम्मेलन

संयुक्तप्रदेश की सरकार के भूतपूर्व मंत्री और 'लीडर' पत्र के वर्तमान प्रधान संपादक श्रीयुत सी० वाई० चिंतामणि ने बंबई में भारत के राजनीतिक दलों के एकता-सम्मेलन की आयोजना की है। इस एकता-सम्मेलन का उद्देश्य यह है कि जो राजनीतिक दल वैध आंदोलन का आश्रय लेकर काम करते हैं, वे सब मिल जायँ। वहाँ

तक तो उनका उद्देश्य प्रशंसनीय कहा जा सकता है, और इसमें किसी को आपत्ति भी नहीं हो सकती। पर इसके आगे एकता-सम्मेलन जो कुछ करना चाहता है, उस पर सभी विचारशील देश-हितैषियों का मत एक होता नहीं दिखलाई पड़ता। एकता-सम्मेलन चाहता है कि सभी वैध आंदोलन करनेवाले दल सरकार से तो सहयोग करने का निश्चय रक्खें, पर स्वराज्य-दल का घोर विरोध करके आगामी निर्वाचन में उस दल के प्रतिनिधियों को न निर्वाचित होने दें। पर ऐसा क्यों किया जाय ? क्या असहयोग का जवाब असहयोग से देना अवैध है ? फिर क्या स्वराज्य-दल ने सहयोग के लिये हाथ नहीं बढ़ाया ? क्या लॉर्ड रीडिंग की सरकार ने सहयोग की चेष्टा को ठुकरा नहीं दिया ? क्या सारे देश-प्रेम का ठेका इन 'वैध' आंदोलनकारियों को ही मिला है ? क्या स्वदेश-सेवा का एक-मात्र उपाय सहयोग ही है ? क्या स्वराज्य-दल के लोगों में देश-प्रेम का सर्वथा अभाव है ? यदि इन सब प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' हो, तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहेगा, और यदि 'नहीं' हो, तो हम यह कहने को विवश होंगे कि फिर स्वराज्य-दलवालों के भी अपने दृष्टि-कोण से स्वदेश-सेवा करने के मार्ग में रोड़े क्यों अटकाए जायँ ? हमारी राय तो यह है कि चिंतामणिजी का यह उद्योग कि स्वराज्य-दल के लोगों को पूर्ण परास्त किया जाय, एक बड़ी ही कुत्सित मनोवृत्ति का परिचय देता है। आपने बंबई के भाषण में यह भी कहा है कि स्वराजियों को वोट देने का अर्थ नौकरशाही को वोट देना है। हमें आश्चर्य है कि यह सफ़ेद झूठ चिंतामणिजी के मुख से कैसे निकला ! लाहौर के 'ट्रिब्यून' पत्र ने ठीक ही लिखा है कि चिंतामणिजी के इस निर्वाचन-संबंधी दाँव-पेच को कोई भी अच्छा न कहेगा। मॉडर्न रिव्यू के संपादकीय नोटों में स्वराज्य-दलवालों के कौंसिल-त्याग-कार्य की निंदा नहीं की गई, वरन् एक प्रकार से उनके इस कार्य का समर्थन किया गया है, और यह भी कहा गया है कि और दलवालों को भी स्वराजियों के साथ-साथ कौंसिल-त्याग करना चाहिए था। यह बात तो निर्विवाद है कि कौंसिलों में स्वराजियों ने पूर्वापेक्षा अधिक निर्भीकता का वायु-मंडल तैयार कर लिया है। उनका दल अन्य सभी दलों से विशेष संगठित है, और अलग-अलग प्रत्येक दल को देखते हुए उसका बहुमत भी है। फिर स्वराज्य-दल सरकार से मोर्चा लेने के लिये पग-पग पर तैयार रहता है। उत्तरदायी पदों को अस्वीकार करके उसने स्वार्थ-त्याग का भी परिचय दिया है। चिंतामणिजी इसी दल को पराजित करने के लिये एकता-सम्मेलन करते हैं ! हमारा ख़याल था कि एकता-सम्मेलन का उद्देश्य होगा सरकार से मोर्चा लेने का उद्योग ; पर अब तो जान पड़ता है कि निर्वाचनों में स्वराजियों को हराने और फिर दाँतों में तिनका दाबकर सरकार से सहयोग करने के लिये ही इसकी सृष्टि हुई है। ऐसे एकता-सम्मेलन से देश-हित क्या होगा, यह विचारणीय है।



[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ४ खंड २ | वैशाख-शुक्ल ७, ३०२ तुलसी-संवत् (१९८३ वि०)— १९ मई, १९२६ ई० | संख्या ४ पूर्ण संख्या ४६

गणेश-वंदना

(१)

इंद्र रहैं ध्यावत, मनावत मुनिंद्र रहैं,
गावत कविंद्र गुन दिन-छिनदा रहै ;
कहै "रतनाकर" त्यौं सिद्धि चौंर ढारति, औ'
आरति उतारति समृद्धि प्रमदा रहै।
दै-दै सुख मोदक प्रमाद सौं लड़ावत ही,
मोद-भरी कमला उमा औ बरदा रहैं ;
चारु चतुरानन पंचानन षडानन हूँ,
जोहत गजानन कौ आनन सदा रहैं।

(२)

सुमुख कहाइबौ सफल बक्रतुंड ही कौं,
सुमिरत जाहि कौन बिपति बही नहीं ;
कहै "रतनाकर" त्यौं उदर उदार माँहिं,
सकल समानी कला, एकौ उमहो नहीं।
बुधि-बल तीन हीं परग मैं त्रिलोक फिरे,
तातैं गति मूष हूँ की मंदता लही नहीं ;
एकै दंत सकल दुरंतनि कौ अंत करै,
दंत दूसरे की तंत तनक रही नहीं।

(३)

सुंड सौं लुकाइ औ दबाइ दंत दीरघ सौं,
दुरित दुरूह दुख दारिद बिदारे देत ;
कहै "रतनाकर" बिपत्ति फटकारै फूँकि,
कुमति कुचार पै उछारि छार डारे देत।
करनो बिलोकि चतुरानन गजानन की,
अंब सौं बिलखि यौं उराहनौ पुकारे देत ;
तुम ही बताओ कहा बिघन बिचारे जाहिं,
तीनौं लोक माँहिं थोक इनकौं उजारे देत।

"रत्नाकर"

पहाड़, नदी और समुद्र के बारे में उनका ज्ञान क्या था। इन प्रश्नों के उत्तर में भाषा विज्ञानवेत्ताओं ने यह निर्द्धारित किया है कि उन्हें समुद्र का ज्ञान न था, परन्तु वे पहाड़ तथा नदियों से पूर्णतः परिचित थे ; क्योंकि उस समय की भाषा में समुद्र के लिये, कोई शब्द नहीं। ऐसा ज्ञात होता है कि उनका निवास ऐसी जगह में था, जो सब ओर से पहाड़ों से घिरी थी, जिसके पास समुद्र तो नहीं था, परन्तु नदियाँ बहती थीं। आब-हवा, जिसमें वे साँस लेते थे, मध्यम श्रेणी (Temperate Zone) की थी, क्योंकि जिन वृक्षों का नाम उनकी भाषा में पाया जाता है वे उसी हवा में रह सकते हैं। जंगली वृक्षों में जैतून, भोजपत्र, बीच (Beech) आदि से वे परिचित थे, परन्तु फलवाले वृक्ष कौन-से थे, यह ठीक तौर पर नहीं कहा जा सकता। लेकिन यह निश्चय है कि फलों से वे परिचित थे। गाय, बैल, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, सुअर आदि उनके पालतू जानवर थे, पर उस समय उन्हें हाथी, ऊँट तथा गधे का ज्ञान न था; क्योंकि इनके लिये कोई शब्द नहीं मिलता। खेती करना वे जानते थे, और यदि यह ठीक है, तो वे खानाबदोश न होकर एक निश्चित जगह पर रहनेवाले लोग रहे होंगे, क्योंकि खेती के लिये कम-से-कम एक साल एक स्थान पर रहना आवश्यक है। चिड़ियों में वे हंस, बतख तथा गरुड़, और जंगली जानवरों में रीछ तथा भेड़िए को जानते थे। लेकिन शेर और चीते का उन्हें ज्ञान न था।

इतना जानने के बाद, इसी के अनुसार, स्थान का पता लगाया जा सकता है। चूँकि भारत के जंगलों या बगीचों के वृक्ष और फूल इनसे भिन्न हैं इसलिये भारत उस स्थान के होने के सम्मान को प्राप्त नहीं कर सकता। पामीर के प्लेटो की सम्भावना और भी कम है; क्योंकि वह दुनिया के अत्यन्त शुष्क प्रदेशों में है। योरप के उत्तरीय प्रदेश इन शर्तों को पूरा नहीं करते; क्योंकि उनमें बड़े-बड़े जंगल हैं। कोई-कोई रूस के दक्षिणी भाग को आर्यों का आदिस्थान बतलाते हैं लेकिन वह भी इस कसौटी पर पूरा न उतरने से नहीं हो सकता। और, अंत में एक ही ऐसा प्रदेश रह जाता है, जो आर्यों का आदि निवास स्थान कहा जा सकता है, और वह वह है, जिसके पूर्व में कारपेथियन पर्वत-श्रेणी (Carpathians), दक्षिण में बाल्कन पहाड़ (Balkans), पश्चिम में आस्ट्रियन आल्प्स (Austrian Alps) और उत्तर में एर्ज़ेबर्ज (Erzgebirge) तथा अन्य पहाड़ियाँ हैं*। संपूर्ण आर्य-भाषाओं के प्राचीनतम सामान्य शब्दों से जानी हुई सब बातें इस प्रदेश में पाई जाती हैं। इस प्रदेश की यह विशेषता है कि यह घोड़ा तथा गऊ पालनेवालों के लिये पूरी तरह उपयुक्त है। यहाँ पर खेती भी की जा सकती है, और गउओं के चरने के स्थान की भी कमी नहीं है। यदि आर्य लोग बीच (Beech) के वृक्ष से परिचित थे, तो निश्चय ही वे उस रेखा के पश्चिम की ओर रहते थे, जो मध्य एशिया से लेकर क्रीमिया-टापू तक खींची जा सकती है। जब इस स्थान पर उन आर्यों की आबादी बहुत बढ़ गई, तो नए स्थानों की खोज में इधर उधर को चल पड़े। अनुमान से उनका मार्ग डान्यूब नदी के किनारे किनारे समुद्र-तट पर पहुँचा ; वहाँ से एशियामाइनर होते हुए पूर्व की ओर। मध्य एशिया के निकट आकर एक शाखा फ़ारस की ओर तथा दूसरी भारत की ओर चली गई। इसी आस्ट्रिया हंगरी के प्रदेश से जर्मन लोग पहले जर्मनी में, फिर इंगलैंड, नार्वे, स्वीडन आदि में, रोमन लोग पश्चिम की ओर होकर इटली में, सेल्ट लोग फ़्रांस में और ग्रीक लोग मेसीडोनिया होकर ग्रीस के भिन्न-भिन्न द्वीपों में जा बसे। इनमें से कई एक जातियों का बसना तो ऐतिहासिक काल की बात है। इस प्रकार युक्ति के पिछले भाग को इतिहास की भी साक्षी मिलती है।

इस युक्ति की श्रृंखला के देखने से सहज ही समझ में आ सकता है कि यह सारी युक्ति केवल कल्पना-शक्ति के आधार पर अवलंबित है; और चूँकि यह सब केवल संभव ही है, इसलिये अनेक बातें इसके विपक्ष में भी कही जा सकती हैं। हमें यह दिखलाना है कि भाषा-विज्ञान के इस आधार पर आस्ट्रिया-हंगरी के प्रदेश को आर्यों का आदिस्थान बतलाना ठीक नहीं, और भाषा-विज्ञान की साक्षी इस विषय में अधिक मूल्य की नहीं। इसलिये इस प्रश्न के तय करने में और किसी अन्य युक्ति का सहारा लेने की आवश्यकता है।

सबसे पहली बात यह है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के समता-सूचक शब्द एक तीसरे ही सामान्य निवास-स्थान को न बताकर, उन्हीं में एक भाषा के परिवर्तित रूप को प्रकट करते हैं। यह बहुत संभव है कि लैटिन, ग्रीक, संस्कृत आदि आर्य-भाषाओं की जननी इंडो-जर्मनिक न होकर इन्हीं

* 'The Aryans' by Prof. Giles, M. A. in 'Cambridge History of India', Vol. 1.

भाषाओं में कोई भाषा हो, और अति प्राचीन होने के कारण वह गौरव संस्कृत को प्राप्त हो। अधिक स्पष्ट करने के लिये जिस प्रकार यह कल्पना की जा सकती है कि युग (गाड़ी का जुआ) के द्योतक शब्द इन सब भाषाओं में अपने से भिन्न एक ही भाषा से लिए गए, क्योंकि वे एक ही धातु से निकले प्रतीत होते हैं। उसी प्रकार यह भी असंभव नहीं कि लैटिन आदि भाषाओं में यह शब्द संस्कृत के 'युग' का रूपांतर हो, अर्थात् यहीं से लिया गया हो। शब्द के स्वरूप के भेद को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह यहाँ से नहीं लिया गया; क्योंकि पहले तो एक भाषा से शब्द लेते समय ही उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन करने की ओर मनुष्य का स्वाभाविक झुकाव होता है, दूसरे, उन्हीं शब्दों का भिन्न-भिन्न जल वायु में रहनेवाले लोगों के कंठ में आने पर स्वरूप बदल जाता है। यह बात भाषा-विज्ञान के प्रारंभिक छात्र की समझ में भी आसानी से आ सकती है।

दूसरी जो बात हमें इस विषय में कहनी है, वह है देशों की प्राकृत अवस्था में परिवर्तन होना। आर्यों का प्रादुर्भाव कोई नवीन बात नहीं। हिंदुओं के धार्मिक विचार तो उसे लगभग दो अरब वर्ष पूर्व रखते हैं, और आधुनिक विद्वान भी इस घटना को ईसा से कम-से-कम ३,००० वर्ष पूर्व की बताते हैं। आज से ५,००० वर्ष पूर्व ही यदि आर्यों का समय मान लिया जाय, तो इतना समय भी देशों की प्राकृतिक दशा बदलने के लिये पर्याप्त है। यह बहुत संभव है—जैसा कि अनेक विद्वानों का मत भी है—कि पामीर का प्रदेश उस समय एक हरा भरा प्रदेश रहा हो, उसमें नदियाँ भी बहती हों। नदियों का पाट बदल जाना या पहाड़ी नदियों का बिलकुल सूख जाना भी कोई आश्चर्य की बात नहीं, और न उसके लिये दीर्घ काल की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये भूगर्भ-विद्यावेत्ताओं का यह कथन है कि जहाँ आजकल थार की मरुभूमि है, वहाँ किसी समय समुद्र की लहरें कलोल करती थीं, और सांभर झील उस समुद्र की अवशिष्ट स्मृति है। इससे यह समझ में आ सकता है कि प्रकृति में कितने महान् परिवर्तनों का होना संभव है। पामीर का आजकल सूखा होना इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि वह उस समय भी एक सूखा प्रदेश था, और इसलिये वह आर्यों की भाषा के सामान्य शब्दों से पहुँचे हुए परिणाम की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। यही बात वृक्ष तथा पशु-पक्षियों के बारे में कही जा सकती है। वेदों में 'सोम' का वर्णन जगह-जगह पाया जाता है, अनेक यज्ञों में उसका प्रयोग होता था। परंतु आज यह पता नहीं कि यह 'सोम' क्या वस्तु थी, और कहाँ पाई जाती थी। जिन प्रदेशों में पहले भोजपत्र अधिकता से पाया जाता था, उनमें अब उसका नाम भी नहीं है। 'हंस' संस्कृत-साहित्य में एक विशेषता के साथ प्रयुक्त होता रहा है, प्रयोग करनेवालों का उससे पूर्ण परिचित होना संभव है। परंतु आज उसका पता भी नहीं। पालतू जानवरों का एक स्थल से दूसरे स्थल को ले जाना सहज ही समझ में आ सकता है। जंगली जानवर भी अपनी सुविधाओं के अनुसार अपने निवास-स्थानों को बदलते रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान या कुछ समय पूर्व की किसी देश की प्राकृतिक दशा को देखकर यह कहना ठीक नहीं कि कई हज़ार वर्ष पूर्व भी वह ऐसी ही थी, उसमें ये ही वृक्ष थे, और वहाँ यही पशु-पक्षी बसते थे। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, आजकल की बात को ही सोचिए। इस समय इँगलिश-भाषा या उसके शब्द प्रायः प्रत्येक देश में पाए जाते हैं। पंजाब के अँगरेज़ी बोलनेवालों की इँगलिश तथा इँगलैंड की इँगलिश एक-सी है, लेकिन पंजाब की अँगरेज़ी-भाषा का, उसके निकटतम प्रदेश अफ़ग़ानिस्तान की भाषा से कोई संबंध नहीं। इँगलिश-भाषा के बहुत-से शब्द हिंदी में आ गए हैं। व्यापार इतना बढ़ा हुआ है कि एक देश की वस्तु दूसरे देश में पहुँच सकती है। और तो और, वृक्ष भी इधर से उधर ले जाए जाते हैं। नए देश में पहुँचने पर उन वृक्षों को नए नाम दिए जाते हैं। अब कल्पना कीजिए कि आज से कई हज़ार वर्ष बाद—जब कि आजकल की वास्तविक स्थिति का कोई ठीक-ठीक प्रमाण न हो—इस समय के इतिहास के जानने का प्रयत्न किया जाय और वह प्रयत्न केवल भाषा के आधार पर निर्भर हो, तो परिणाम क्या होगा? वे लोग न जाने कितने भ्रम-पूर्ण परिणाम निकाल लेंगे।

इस विषय में एक तीसरी बात और भी है। वह है भाषा-विज्ञान की साक्षी का अधूरापन। ऐसे गूढ़ विषयों के निश्चय करने में भाषा-विज्ञान की साक्षी बहुत ही अपूर्ण है; क्योंकि उसकी आधार-शिला सर्वथा अनुमान पर निर्भर है। इतना ही नहीं, अपितु उससे काम लेनेवाले

विद्वान् ही अंत में यही बात कहकर रुक जाते हैं। प्रो० गाइल्स (Prof. Giles) के शब्द यही प्रमाणित करते हैं — "The argument from language, however, is of necessity inconclusive, because all nations occasionally give animals, with which they are familiar, fanciful names."* अर्थात्, "फिर भी भाषा की युक्ति निश्चय करने के लिये अपूर्ण है; क्योंकि प्रत्येक जाति उन जानवरों के जिनसे वह परिचित है, समयानुसार मनमाने नाम रख देती है।" प्रो० कीथ (A. B Keith) लिखते हैं — All the Indo-European languages have certain special points in which they agree with one or another of the group, and to deduce racial mixture and migration from these facts is quite impossible."† अर्थात्, "प्रत्येक 'इंडो-योरपियन' भाषा की कुछ-न-कुछ विशेषता है, और उसके बारे में वह उस समूह की किसी-न-किसी भाषा से मिलती है। (इसलिये) इन बातों से जातियों के मिलने तथा इधर-उधर जाने के बारे में कुछ परिणाम निकालना बिलकुल असंभव है।"

यदि भाषा-विज्ञान की इस प्रकार की साक्षी मान भी ली जाय, तो भी वह उत्तरीय भारत या मध्य-एशिया के आर्यों का आदि निवास-स्थान होने में बाधक नहीं होती। इस अवसर पर हम योरपियन विद्वानों की एक भ्रम-पूर्ण युक्ति की ओर संकेत करना चाहते हैं। आर्यों के आदिस्थान का अनुमान करते समय संपूर्ण इंडो-जर्मनिक भाषाओं के जिन सामान्य शब्दों का उपयोग किया जाता है, उनमें ऋग्वेद के शब्द भी शामिल हैं; क्योंकि संस्कृत का सबसे प्राचीन ग्रंथ होने से ऋग्वेद से ही उस समय की संस्कृत का ज्ञान होता है। इन शब्दों का संकेत करते समय तो ऋग्वेद पाश्चात्य विद्वानों की निगाह में रहता है, और वे इन शब्दों के आधार पर आर्यों का आदिगृह आस्ट्रिया-हंगरी बताते हैं। लेकिन जब ऋग्वेद के निर्माण के समय तथा स्थान का प्रश्न आता है, तब उन्हीं शब्दों के आधार पर वे लोग ऋग्वेद का स्थान उत्तरीय पंजाब बताते हैं; क्योंकि ऋग्वेद में वृक्ष, पशु, पक्षी आदि के जो नाम आते हैं, वे सब वहीं पाए जाते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन वृक्षादि के लिये वे ही शब्द हैं, जो उन वृक्षादि के लिये, जिनके आधार पर आर्यों का आदिस्थान आस्ट्रिया हंगरी बतलाया जाता है। अर्थात्, ऋग्वेद का स्थान बतलाते समय तो वे वृक्षादि पंजाब के उत्तर में पाए जाते हैं, और आर्यों का आदिस्थान बतलाते समय आस्ट्रिया हंगरी में! इससे तो यही अच्छा होता कि ऋग्वेद भी वहीं पहुँच जाता।

(२) ऋग्वेद का साक्षी—प्रस्तुत कठिन पहेली का उत्तर देने के लिये कुछ विद्वान् ऋग्वेद—जो कि दुनिया के पुस्तकालय में सबसे पुराना ग्रंथ है—से भी सहायता लेने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन हमारी सम्मति में ऋग्वेद में इस विषय में कुछ नहीं है। प्रो० कीथ का कहना है—"It is, however, certain that the Rigveda offers no assistance in determining the mode in which the Vedic Indians entered India.* अर्थात्, "यह सब होते हुए भी यह निश्चय है कि वेदानुयायी भारतीय भारत में किस प्रकार आए, इस विषय में ऋग्वेद हमें कोई सहायता नहीं देता।" आधुनिक विद्वानों के मतानुसार आर्य लोग अपने आदि निवास-स्थान से, ईसा से २,४०० वर्ष पूर्व इधर उधर गए†। अर्थात्, आर्यों के प्रयाण (Migration) की तिथि ये लोग २४०० बी०सी० बतलाते हैं, और लगभग यही तिथि वेदों के भी बनने की बताई जाती है। यदि ये दोनों बातें ठीक हैं, तो ऋग्वेद में कम-से-कम आर्यों के उस देश का वर्णन होना चाहिए था, जिसे वे पीछे छोड़कर आए थे। साथ ही नवीन देश में आने के प्रकार के वर्णन की भी आशा की जा सकती है। परंतु इसके विपरीत वेदों को ऐतिहासिक माननेवाले लोगों ने ऋग्वेद में आए हुए वृक्ष, पहाड़, नदी, पालतू तथा जंगली जानवरों के नाम और जल-वायु तथा प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ऋग्वेद की रचना उत्तरीय पंजाब में हुई थी।

इसके अतिरिक्त एक और युक्ति दी जाती है, और वह ऋग्वेद के किसी मंत्र के आधार पर नहीं, अपितु उसकी भाषा के आधार पर है। वह इस प्रकार है — 'इंडो-जर्मनिक' नामवाली भाषा को दो बड़े-बड़े भागों में विभक्त करते

* The Cambridge History of India. P. 67.

† 'Indo-Iranians' by A. B. Keith in 'Bhandarkar Commemoration Volume. 4.

* Cambridge History of India, P. 79.

† Cambridge History of India, P. 70.

हैं—एक का नाम है 'सेंटम्' (Centum), और दूसरे का 'सैटम्' (शतम्=Satum)। ये भिन्न भिन्न भागों में १०० के वाचक शब्द हैं। इंडो जर्मनिक मातृ-भाषा का 'क्' कुछ भाषाओं में तो 'क' ही रहा, और किसी-किसी में 'श' हो गया। बहुत करके पूर्वी भाषाओं ने पिछला मार्ग अवलंबन किया, और पश्चिमी लैटिन आदि ने पहला। 'अवस्ता' (पारसियों की धार्मिक पुस्तक) तथा 'ऋग्वेद' की भाषा में इस विषय में तो समता है ही, परंतु इसके साथ-साथ और भी अनेक आश्चर्य-पूर्ण समानताएँ हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि एक-दो साधारण परिवर्तन कर देने के बाद 'अवस्ता' के मंत्रों तथा वैदिक मंत्रों में कोई भेद नहीं रहता। और, कोई भी दूसरी विदेशी भाषा वैदिक भाषा के इतने समीप नहीं, जितना कि पारसियों की धार्मिक पुस्तक 'अवस्ता' की भाषा। इस असाधारण समता को देखकर पाश्चात्य विद्वानों ने यह कहा कि भारत तथा फ़ारस के आर्य बहुत समय तक साथ-साथ रहे थे। वे लोग अन्य आर्यों को आस्ट्रिया हंगरी में ही छोड़कर साथ-साथ मध्य-एशिया में आए, और वहाँ आकर दो भागों में विभक्त हो गए। एक भाग भारत की ओर गया, तथा दूसरा फ़ारस की ओर। चूँकि ये दोनो शाखाएँ अन्य आर्यों की अपेक्षा आपस में अधिक दिनों तक पास-पास रहीं, इसलिये इनकी भाषाओं में इतनी समानता है। परंतु क्या यह बात और कुछ नहीं बतला सकती? हमारी समझ में यह कहना यदि अधिक नहीं, तो कम-से-कम उतना ही ठीक होगा कि पहले आर्य लोग (वैदिक ऋषि) उत्तरीय भारत में रहे, यहाँ उन्होंने अपने धर्म तथा सभ्यता का विकास किया, और फिर पश्चिम की ओर बढ़े। वे जैसे-जैसे बढ़ते गए, दूरी के साथ-साथ उनकी भाषा तथा धर्म भी बदलता गया। भिन्न-भिन्न देशों की जल-वायु का उनके उच्चारण पर प्रभाव पड़ा, कुछ शब्द वे भूल गए, कुछ शब्द नए गढ़ लिए, कुछ चीज़ें नई देखीं, उनके नए नाम भी रक्खे। इस प्रकार नाम देने में भी विपर्यय हो गया; क्योंकि फ़ारस अत्यंत निकटवर्ती देश था, इसलिये वहाँ भाषा में बहुत कम परिवर्तन हुआ। और, यही बात धर्म के साथ हुई। 'अग्निहोत्र' एक अनिवार्य वैदिक कृत्य है, अग्निपूजा पारसियों के धर्म में है। पारसियों के देवतों के नाम वैदिक देवतों के नामों पर हैं। फिर वैदिक आर्य फ़ारस से निकलकर पश्चिम की ओर बढ़े, और आरमीनिया, एशियामाइनर होते हुए ग्रीस तथा मिसर तक पहुँच गए।

इसके प्रमाण में कि 'अवस्ता' की भाषा संस्कृत-भाषा से ली गई, एक और बात भी प्रस्तुत की जा सकती है। वैदिक, संस्कृत तथा अवस्ता की भाषा की तुलना करने से ज्ञात होता है कि वैदिक भाषा के व्यंजनों की संख्या तथा उनके उच्चारण की शुद्धता 'अवस्ता' के व्यंजनों की संख्या तथा उच्चारण की शुद्धता से अधिक है। उदाहरण के लिये संस्कृत के 'चवर्ग' में पाँच व्यंजन होते हैं, लेकिन 'अवस्ता' में केवल 'च' तथा 'ज' हैं। अवस्ता में 'टवर्ग' का नितांत अभाव है। 'महाप्राणों' (अर्थात् 'ख, घ' आदि वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ अक्षरों) का पता नहीं, और अनुनासिक भी कुछ ही अंशों में संस्कृत के समान हैं। यह मानने की अपेक्षा कि भारत में पहुँचनेवाली आर्यों की शाखा ने व्यंजनों में उन्नति कर ली, और फ़ारस-वाले वैसे ही रह गए, यह मानना अधिक बुद्धि-संगत प्रतीत होता है कि भारत से चलने के बाद फ़ारस में आकर समय तथा देश के प्रभाव से आर्य लोगों ने कुछ व्यंजनों को कार्य में लाना छोड़ दिया; अर्थात्, अधिक से कम हो जाने की ही अधिक संभावना है, कम से अधिक होने की नहीं।

ऋग्वेद को ऐतिहासिक माननेवाले भी इसके अतिरिक्त ऋग्वेद से अन्य कोई प्रमाण नहीं निकाल सकते, और यह प्रमाण भी यह सिद्ध नहीं करता कि आर्य लोग भारत में आस्ट्रिया से चलकर आए थे। हाँ, ऋग्वेद के कुछ मंत्र यह अवश्य प्रकट करते हैं कि वैदिक ऋषि बहुत काल से उसी स्थान पर रहते थे। ऋग्वेद में ऐसे अनेक मंत्र आते हैं, जिनमें पूर्वकालीन ऋषियों का वर्णन है। यथा—'अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः', "ये नः पूर्व्यासः पितरः" तथा "तं प्रत्नासः ऋषयो दीध्यानाः"*। इन मंत्रों में पूर्व ऋषियों से तात्पर्य उन आर्यों से नहीं हो सकता, जो आस्ट्रिया-हंगरी में बसे थे क्योंकि यहाँ उन्हीं पूर्वजों का ग्रहण है जिनका धर्म वैदिक ऋषियों के धर्म से मिलता था। इसके सिवा ऋग्वेद में उच्च वैदिक सभ्यता की स्मृति है। जन, विश, पुर आदि शब्द ग्रामीण जीवन से बढ़कर नागरिक जीवन की ओर इशारा करते हैं। भिन्न-भिन्न उद्यमों के अनुसार समाज का चार वर्णों में विभक्त होना पाया जाता है। "विशो न राजानं वृणानाः" तथा "राजा न सत्यः समितीरियानः" + आदि मंत्रों

* ऋग्वेद १।१ : ४।५०।१

\+ ऋग्वेद १०।१२४।८; १०।६७।६

में राजकीय शासन-शैली का भी वर्णन है। यदि ऋग्वेद ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व का है, तो समाज की इस उन्नति में भी कुछ-न-कुछ समय लगा होगा। फिर यह कहना कि ईसा से २,५०० वर्ष पूर्व आर्य लोग आस्ट्रिया-हंगरी से इधर-उधर गए, कैसे ठीक हो सकता है? सच बात तो यह है कि ऋग्वेद असली समय से बहुत पीछे का बताया जाता है, लेकिन फिर भी किसी देश में इतने पूर्व सभ्यता का विकास नहीं प्रकट होता। ऋग्वेद के पीछे भी, जब भारत में साहित्य, राजनीति, वैद्यक, गणित आदि का पूर्ण विकास हो चुका था, अन्य देशों को इनका ज्ञान न था। कम-से-कम कोई प्रमाण नहीं जिससे उनके ज्ञान का समर्थन हो। इसलिये हमारा अनुमान तो यही है कि दुनिया में भारत ही सबसे पूर्व उन्नत हुआ था। आर्य लोगों का आदि निवास-स्थान मध्य-एशिया के उसी भाग में था, जो संसार का सबसे ऊँचा सम स्थल है, और भारत की उत्तरीय सीमा उस समय वहाँ तक थी।

(३) तीसरी साक्षी, जिस पर हमें विचार करना है, भूमि खोदकर निकाले हुए कुछ लेखों की, विशेषकर एशियामाइनर के अंतर्गत बोगज़ कोई (Boghaz Koi) के लेखों की है। हमारी सम्मति में इस साक्षी का मूल्य अन्य साक्षियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। समय के चक्र के साथ-साथ भूमि पर तह-की-तह पड़ती जाती है। प्राकृतिक तूफ़ानों में शहर-के-शहर दब जाते हैं, यह बात सबको ज्ञात है। आज न-मालूम कितने स्थल ऐसे होंगे, जहाँ प्राचीन समय की चीज़ें गड़ी हुई मौजूद हैं। यदि किसी प्रकार वे चीज़ें मिल जायँ, तो वे उस समय की वास्तविक स्थिति पर सच्चा प्रकाश डाल सकती हैं। और फिर, यदि उनमें भी कोई लेख हो, तो वह तो उस समय के इतिहास का काम देगा। इसी विचार से प्राचीन इतिहास की खोज करनेवाले सज्जन इधर-उधर खुदाई करवाते रहते हैं। कुछ समय हुआ, जर्मन-विद्वानों को बोगज़-कोई में कुछ ऐसे लेख मिले थे, जिनमें 'हिताइत' (Hittite) और 'मितानी' (Mitani) राजों के बीच में होनेवाली संधि की शर्तों का वर्णन है। संधि की शर्तों के लिखने के बाद ये राजा, संधि की रक्षा के लिये, कुछ देवतों का आह्वान करते हैं, और आश्चर्य है, वे देवता और कोई नहीं, अपितु इंद्र, मित्र, वरुण तथा नासत्यौ हैं। वेद के नाम से अभिज्ञ जनों को इन देवतों का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। ये वे ही प्रसिद्ध देवता हैं, जिनका वर्णन बार-बार वेदों में आता है। यह लेख भूगर्भ-विद्या तथा इतिहास के आधार पर ईसा से १,४०० वर्ष पूर्व का प्रमाणित होता है। इससे पता लगता है कि कम-से-कम ईसा से १,४०० वर्ष पूर्व इंद्र के उपासक, वैदिक ऋषि या योद्धा एशियामाइनर में थे। इंद्र आदि वैदिक देवता वहाँ के उपास्य देव थे। यह कहना कि ये देवता एशियामाइनर के होंगे, और वहाँ से भारत में पहुँचे होंगे, या यह कि जब तक आर्य लोग भारत में पहुँच ही न पाए थे आर्यों में इन देवतों की उपासना प्रारंभ हो गई थी, हास्यास्पद है। धर्म का इतिहास बतलाता है कि इंद्र आदि देवता वेदों की संपत्ति हैं, और कोई अन्य पुस्तक या धर्म उनके लिये दावा नहीं कर सकता। यही बात प्रसिद्ध जर्मन प्रोफ़ेसर एम्० विंटरनिट्ज़ (M. Winternitz) ने 'कलकत्ता-रिव्यू' (Calcutta Review—Nov. 1923) में प्रकाशित 'ऋग्वेद का समय' (Age of Rigveda) में लिखी है। यह कहना भी भूल है कि एशियामाइनर में आर्य लोग पश्चिम की ओर से आए, अर्थात् आस्ट्रिया से, जो उनका आदिगृह रहा होगा। इस बात के प्रमाणित करने के लिये कोई प्रमाण नहीं मिलता, प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि आर्य लोग एशियामाइनर में पूर्व की ओर से पहुँचे। प्रो० कीथ पक्ष-विपक्ष की युक्तियों पर विचार करके लिखते हैं—"There remains, therefore the obvious conclusion that the Aryans of Mitani and Syria penetrated these lands from the east."* अर्थात्, "इसलिये अंत में यही स्पष्ट प्रमाण रह जाता है कि मितानी और सीरिया के आर्य इन प्रदेशों में पूर्व की ओर से घुसे।"

इस लेख के अतिरिक्त कुछ पत्र भी पाए गए हैं, जिनमें मितानी (उत्तरीय मेसोपोटेमिया) के निवासियों का वर्णन है, और उनके राजों के नाम 'अर्ततम' (Artatama), 'तुसरत्त' (Tusaratta) और 'सुत्तर्न' (Suttarn) दिए हैं। इन सब नामों को विद्वान् लोग आर्य नाम मानते हैं। १७४६ बीसी से १५८० बीसी

* Bhandarkar commemoration Volume P. 88.

तक बैबिलोनिया में 'कैसाइट्स' (Kassites) का राज्य था। उनके राजों के नाम भी इसी प्रकार के हैं। 'सुरिअस' (Shurias) तथा 'मर्यतस' (Maryatas) नाम साफ़-साफ़ वैदिक 'सूर्य' तथा 'मरुत' के अपभ्रंश प्रतीत होते हैं। प्रो० गाइल्स इसका समर्थन करते हैं—'Names like Shurias 'Sun' and Maryatas seem identical with the Sanskrit Surya and Maruts (the wind gods) ......" * इसके बाद ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व के राजा असुरबेनीपाल के पुस्तकालय में असीरिया के मंदिरों में पूजे जानेवाले देवतों कीसूची मिली है। उसमें मुख्य देव का नाम 'अस्सर-मज़स' (Assar-Mazas) है, जो अवस्ता में 'अहुर्मज़्द' तथा वेद में 'असुर' के रूप में विद्यमान है। इससे ज्ञात होता है कि एशियामाइनर के प्रदेश में वैदिक सभ्यता बहुत समय तक रहा था। इस सबके लिखने से हमारा प्रयोजन यह बतलाने का है कि भारतीय वैदिक सभ्यता बहुत पुरानी है, और वैदिक आर्यों के ही भारत से इधर-उधर जाने के प्रमाण मिलते हैं, इससे विपरीत नहीं।

पंजाब-सूबे के हरप्पा-स्थान में जो वस्तुएँ भूमि खोदकर निकाली गई हैं, उनसे भी प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। वहाँ पर प्राचीन कारीगरों की बहुत सुंदर वस्तुएँ मिली हैं, जिनसे आर्यों की प्राचीन सभ्यता का कुछ पता लगता है। उन चीज़ों का समय ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व का है। यदि यह ठीक है—जैसी कि संभावना है—तो ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व भी भारत में आर्य-सभ्यता थी, अर्थात् आर्य लोग यहीं रहते थे। फिर यह कहना किस प्रकार युक्तियुक्त हो सकता है कि आर्य लोग ईसा से २,५०० वर्ष पूर्व आस्ट्रिया-हंगरी से इधर-उधर गए ?

इसके अतिरिक्त इस विषय में कुछ सहायता 'तोखेरियन'(Tokharian)-भाषा से भी ली जा सकती है, जिसका पता लगभग बीस वर्ष हुए, जर्मन-विद्वानों को मध्य-एशिया में लगा है। सन १९०४ के पूर्व किसी को पता भी न था कि मध्य-एशिया में कोई ऐसी भी भाषा हो सकती है। ऊपर कहा जा चुका है कि 'इंडो-जर्मनिक' भाषाओं के दो बड़े भाग हैं—एक सेंटम् (Centum) और दूसरा सैटम् (Satum)। और, प्रायः पश्चिम की भाषाएँ प्रथम भाग में हैं, तथा पूर्व की द्वितीय में।

* Cambridge History of India, Vol. I, P.76

लेकिन 'तोखेरियन'-भाषा, जो पूर्व में है, पश्चिमी भाषाओं की विशेषताओं से संयुक्त है। उसमें 'इंडो-जर्मनिक' 'क' 'क' ही रहता है, 'श' में परिवर्तित नहीं होता; अर्थात् सौ संख्या के लिये उसमें 'कंध' (Kandh)-शब्द है। इसके सिवा अन्य पश्चिमी भाषाओं की तरह उसमें a, e, o, तीनों स्वर मिलते हैं। इंडो-जर्मनिक वंश की कुछ भाषाओं में अ-स्वर के स्थान पर उससे मिलते-जुलते तीन स्वर a, e, o (ये इँगलिश के a, e, o से बिलकुल भिन्न हैं) हैं। जैसे, ग्रीक-भाषा। और, किसी में इन तीनों के बदले केवल 'अ' है। जैसे, संस्कृत। इससे भाषा-विज्ञानवेत्ताओं ने यह परिणाम निकाला कि उस भाषा में, जो इन सब भाषाओं की जननी है और जिसका नाम इंडो-जर्मनिक मातृभाषा है, ये तीनों स्वर थे। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, किसी में तीनों स्वर रह गए, और किसी में तीनों से मिलकर एक स्वर बन गया। प्रायः पश्चिमी भाषाओं में ये तीनों स्वर हैं। आस्ट्रिया-हंगरी को आर्यों का आदिस्थान बतानेवालों ने इस युक्ति को इस प्रकार अपने पक्ष में घटाया—चूँकि इंडो-जर्मनिक वंश की पश्चिमी या आस्ट्रिया-हंगरी के आसपास की भाषाओं में तीनों स्वर हैं, और पूर्वी भाषाओं में इन तीनों स्वरों के स्थान में केवल एक स्वर है, इसलिये इंडो-जर्मनिक मातृभाषा आस्ट्रिया-हंगरी में ही शुरू हुई होगी। अर्थात् उसके बोलनेवाले आर्य पहलेपहल वहीं रहते थे। परंतु अब भाषा-विज्ञान के आधार पर दी गई यह युक्ति भी आस्ट्रिया को आर्यों का आदिगृह नहीं प्रमाणित करती; क्योंकि एक सुदूरवर्ती पूर्वी भाषा में भी पश्चिमी भाषा के चिह्न हैं। तोखेरियन भाषा की खोज के पश्चात् यह कहना अनुचित न होगा कि यदि इंडो-जर्मनिक मातृभाषा जैसी इन सब आर्य भाषाओं की कोई जननी थी, तो वह पूर्व में ही थी। केवल इसी घटना से अनेक विद्वानों ने अपनी सम्मति बदल दी, और मध्य-एशिया को आर्यों का निश्चित आदि-स्थान बताने लग गए हैं। पाश्चात्य विद्वान् मि० फ़ीस्ट (Mr. Feist) ने अपने ग्रंथ 'Kultur der Indo-germanen' में इसी आधार पर मध्य एशिया को आर्यों तथा आर्य-भाषाओं (Indo-Germanic languages) का उद्गम स्थान बतलाया है। एशिया की संस्कृत तथा तोखेरियन-भाषाओं की विशेषताएँ मिलाने के बाद पश्चिमी भाषा की कोई ऐसी विशेषता नहीं रह जाती, जिसके लिये आर्य-भाषाओं की मातृभाषा के स्थान के लिये हमें मध्य-योरप की शरण लेनी पड़े।

यहाँ तक हमने केवल दो ही स्थानों की पक्ष विपक्ष की युक्तियों पर विचार किया है —एक तो आस्ट्रिया-हंगरी का प्रदेश, तथा दूसरा मध्य एशिया का उच्चतम चौरस मैदान। इन स्थानों के अतिरिक्त अन्य कई स्थान भी आर्यों का आदि निवास-स्थान बताए जाते हैं। जैसे, स्कैंडिनेविया का प्रायद्वीप, रूस के दक्षिणी मैदान तथा जर्मनी। परंतु इनके पक्ष में कोई ख़ास युक्तियाँ नहीं। विशेष वादविवाद तो उपर्युक्त दो ही स्थानों के बारे में है। स्कैंडिनेविया का प्रायद्वीप तो ऐतिहासिक काल में ही बसा है। यह भी संदेहास्पद है कि उससे पूर्व वहाँ कोई आबादी थी। रूस के दक्षिणी मैदान इस प्रकार के नहीं कि वहाँ पहलेपहल कोई आबादी हुई हो। वे केवल इधर-उधर आनेवाले पथिकों के रास्ते के लायक़ हैं। जर्मनी की भाषाओं की आर्य-भाषाओं से अधिक भिन्नता देखकर यह अनुमान होता है कि इंडो-जर्मनिक भाषाभाषी आर्य जब जर्मनी में गए, तब वहाँ पर और लोग बसे हुए थे। परिणाम यह हुआ कि दोनो की भाषाओं ने मिलकर एक ऐसा रूप धारण कर लिया, जो इंडो-जर्मनिक-भाषा से बहुत भिन्न है।

महेंद्रप्रताप शास्त्री

सुखी राजकुमार



पूर्ण नगर से ऊँचे, एक विशाल स्तंभ पर, सुखी राजकुमार की मूर्ति सुशोभित थी। उसके समस्त शरीर पर उत्कृष्ट सुवर्ण-पत्र मढ़े थे। दो जगमगाते हुए नीलम उसके नेत्रों का काम देते थे, और एक सुदीर्घ आरक्त माणिक्य उसकी तलवार की मूठ पर चमकता था। सुखी राजकुमार की वास्तव में बड़ी प्रशंसा थी। ललित-कलाशीलता की ख्याति के उत्सुक एक म्युनिसिपल-कमिश्नर ने कहा—"वह वायुध्वज-सरीखा सुंदर है;" किंतु इस आशंका से कि कहीं लोग मुझे अव्यावहारिक न समझें, जैसा वह था भी नहीं, उसने अपनी उक्ति में इतना और बढ़ा दिया—"केवल उतना उपयोगी नहीं है।"

एक समझदार मा ने अपने बच्चे से, जो 'चंदा मामा' के लिये मचला हुआ था, पूछा—"तू सुखी राजकुमार-सा क्यों नहीं हो जाता? सुखी राजकुमार किसी वस्तु के लिये रोने का कभी स्वप्न भी नहीं देखता।"

एक अकृतार्थ मनुष्य उस विचित्र प्रतिमा की ओर देखकर बड़बड़ाया—"प्रसन्नता की बात है, इस संसार में कोई तो ऐसा है, जो पूर्ण सुखी है।"

निर्मल बसंती कुरते और स्वच्छ धोतियाँ पहने अनाथालय के बालकों ने समाज-मंदिर से बाहर निकलकर कहा—"वह ठीक देवदूत-सा प्रतीत होता है।"

गणित के एक शिक्षक ने, जो निगरानी के लिये बालकों के साथ था, कहा—"तुमने कैसे जाना? तुम्हें किसी देवदूत के तो कभी दर्शन नहीं हुए?" लड़कों ने उत्तर दिया—"ओह! हमने स्वप्न में देवदूत के दर्शन किए हैं।" इस पर शिक्षक महाशय की त्योरियाँ चढ़ गईं, और वह बहुत रुष्ट हुए; क्योंकि बच्चों का देवदूतों के स्वप्न देखना उन्हें अच्छा नहीं लगा।

एक रात को एक नन्हा-सा खंजन-पक्षी उस नगर के ऊपर से उड़ता हुआ निकला। उसके साथी-संगी तीन सप्ताह पूर्व पुण्यप्रदेश मेवाड़ को चले गए थे; पर एक अति सुंदर सिरकी के प्रेम में फँसकर वह पीछे रह गया था। वसंत-ऋतु के प्रारंभ में, एक बड़ी पीली तितली के फेर में नदी पर मँडलाते समय, उस सिरकी से उसका समागम हुआ, और उसकी पतली कमर पर वह ऐसा मोहित हुआ कि उससे मस्त आलाप करने को ठहर गया था।

बिना किसी प्रकार के शिष्टाचार के प्रसंग की बात तुरंत कहना ही उचित समझकर खंजन ने उससे कहा—"क्या मैं तुमसे प्रेम करूँ?" यह सुनकर सिरकी ने उसके सामने सिर झुका दिया। तब तो वह उसके इर्द-गिर्द जल को अपने पखनों से स्पर्श करता और रुपहली लहरियाँ बनाता हुआ उड़ने लगा। उसकी यह प्रेमोपासना ग्रीष्म-ऋतु-भर चलती रही।

दूसरे खंजनों ने हँसकर कहा—"यह अनुराग हास्यास्पद है। वह (सिरकी) निपट निर्धन है, साथ ही उसके संबंधियों की संख्या भी अत्यधिक है।" सचमुच नदी के तट पर अनेकों सिरकियाँ भरी पड़ी थीं। पावस की सवारी आने पर वे सब-के-सब चलते बने।

साथी खंजनों के चले जाने पर, उस प्रेमासक्त खंजन को अकेले रहना बुरा मालूम होने लगा। वह अपनी प्राण-

प्रिया से भी ऊबने लगा। उसने कहा—"वह बातचीत तो करती ही नहीं, और इसके चंचला होने में भी मुझे आशंका है; क्योंकि वह निरंतर पवन से अठखेलियाँ किया करती है।" निस्संदेह जब वायु चलती थी, तभी सिरकी खूब आवभगत करती और सौजन्यता दिखाती थी। मैंने माना कि वह गृहस्थ है; किंतु मुझ देशाटन-प्रेमी की पत्नी में भी पर्यटन का अनुराग होना आवश्यक है।"

निदान खंजन ने उससे कहा—"तुम मेरे साथ चलोगी?" सिरकी को अपना घर इतना प्यारा था कि प्रत्युत्तर में उसने केवल गर्दन हिला दी।

खंजन ने झिड़ककर कहा—"तू मुझे इतने दिनों तक भरमाए रही। मैं अब चित्तौर के विजय-स्तंभ को जाता हूँ। सलाम!"

वह उड़ गया।

सारे दिन उड़ता हुआ वह रात को सुखी राजकुमार के नगर में पहुँचा। उसने सोचा—"कहाँ ठहरूँ? आशा तो है, नगर ने यथोचित प्रबंध कर रक्खा होगा।"

इतने में आकाशचुंबी स्तंभ पर स्थित मूर्ति पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसने समझा, यही मेरे ठहरने की जगह है। स्थान बहुत ही रमणीय है, और स्वच्छ वायु भी खूब मिलेगी। इस विचार से वह सुखी राजकुमार के ठीक पैरों के नीचे आ उतरा।

इधर-उधर देखकर प्रसन्न हो उसने मन में कहा—"मेरे सोने का कमरा सोने का है।" अस्तु, सोने का सामान उसने किया। सोने की इच्छा से ज्यों ही वह अपना सिर पखनों के नीचे रख रहा था, त्यों ही एक बड़ी-सी पानी की बूँद उसके ऊपर आ गिरी। चौंककर उसने कहा—"बड़ी विचित्र बात है। आकाश में मेघों का पता तक नहीं है, तारागण निर्मल हैं, और निरापद चमक रहे हैं: फिर भी वृष्टि हो रही है। बंग-देश का जल-वायु बड़ा ही भयंकर है। सिरकी को वृष्टि पसंद थी, किंतु यह उसकी स्वार्थपरता-मात्र थी।" इतने में एक बूँद और गिरी।

वह कह उठा—"वर्षा से ही नहीं बचा सकती, तो यह मूर्ति किस काम की! मुझे किसी अच्छे धुँआरे की खोज करनी चाहिए।" इस इरादे से उसने उड़ जाने का निश्चय किया।

उड़ने के लिये वह अपने पखने फैला भी नहीं पाया था कि तीसरी बूँद गिरी। तब तो उसने ऊपर की ओर देखा। देखा क्या कि सुखी राजकुमार के नेत्र आँसुओं से परिपूर्ण हैं, उसके सुनहले गालों के ऊपर से आँसू ढलक रहे हैं। चाँदनी में उसका मुखमंडल इतना रुचिर लगा कि नन्हे खंजन का हृदय करुणा से भर गया। उसने पूछा—"आप कौन हैं?"

"मैं सुखी राजकुमार हूँ।"

खंजन ने पूछा—"तो फिर आप रोते क्यों हैं? आपने तो मुझे बिलकुल भिगो दिया।"

मूर्ति ने उत्तर दिया—"जब मैं जीवित था, और मेरे मानव-हृदय था, तब मैंने जाना ही नहीं कि आँसू कहते किसे हैं। मैं नंदन-कानन में रहता था, जहाँ शोक का प्रवेश निषिद्ध है। दिन को मैं अपने सखाओं के साथ बग़ीचे में खेलता और रात को बड़ी बारहदरी में रास रचता था। बग़ीचा ऊँचे प्राचीर से आवेष्टित था। मेरे आसपास की प्रत्येक वस्तु इतनी मनोहर थी कि बग़ीचे के उस पार की दशा का हाल जानने की मुझे कभी चिंता ही नहीं हुई। मेरे दरबारी मुझे 'सुखी राजकुमार' कहते थे; और यदि आमोद-प्रमोद की संज्ञा सुख हो, तो निस्संदेह मैं सुखी था। इस प्रकार जीवन व्यतीत कर पंचत्व को प्राप्त हुआ। मृत्यु के बाद नागरिकों ने मुझे इतने ऊँचे पर बैठा दिया है कि अब मैं अपने नगर की संपूर्ण विभीषिकाओं और क्लेशों का अवलोकन कर सकता हूँ। और, यद्यपि मेरा हृदय सीसे का बना है, तथापि मेरे लिये रोने के सिवा और कोई उपाय नहीं।"

खंजन ने अपने मन में सोचा—"क्या यह ठोस सोने का नहीं है?" भद्रता के कारण उसने ऐसी कोई अशिष्ट बात ज़ोर से कहना ठीक नहीं समझा।

धीमे सुरीले स्वर में सुखी राजकुमार कहने लगा—"बहुत दूर पर, एक छोटी गली में, वह एक दरिद्रालय है। उसकी एक खिड़की खुली हुई है, जहाँ से मैं एक स्त्री को टाट के बोरे पर बैठा हुई देख रहा हूँ। उसका चेहरा बहुत कृश एवं पीला है, गालों पर झुर्रियाँ हैं, खाल लटक रही है, हाथ रूखे तथा देह सुचकी हुई है। जाति की वह दर्ज़िन है। महारानी की मुख्य परिचारिका के लिये वह धूपछाँह के लहँगे पर रेशम के फूल काढ़ रही है। परिचारिका इस लहँगे को विवाहोत्सव में पहनेगी। कमरे के एक कोने में एक बिस्तरे पर उसका बच्चा बीमार पड़ा



"महारानी की मुख्य परिचारिका के लिये वह धूपछाँह के लहँगे पर रेशम के फूल काढ़ रही है।"

हुआ है। वह ज्वर से पीड़ित है, और संतरे माँग रहा है। बेचारी मा के पास पानी के सिवा और कुछ नहीं है। बच्चा संतरों के लिये रिरिया रहा है। खंजन ! खंजन ! नन्हे खंजन ! तू मेरी तलवार की मूठ में जो माणिक्य जड़ा हुआ है, उसे उसके पास पहुँचा दे। मैं हिल नहीं सकता, मेरे पैर इस चौकी में जकड़े हुए हैं।

खंजन ने कहा—"मेवाड़ में मेरी बाट देखी जा रही है। मेरे साथी-संगी फ़तेह-सागर पर उड़ रहे हैं, और खिले हुए कमलों से बातचीत कर रहे हैं। वे शीघ्र ही समीपवर्ती राजप्रासाद में सोने जायँगे। स्वयं महाराज ठाट-बाट के साथ महल में मौजूद हैं। ढाके की मलमल से उनका शरीर शोभायमान है। ख़स की रूह से सारा राजभवन महक रहा है। महाराज के गले में राजमुक्ताओं का कंठा शोभा दे रहा है, और उनके चंद्रमुख की चटक चंद्रिका चारों ओर छिटकी हुई है।"

राजकुमार ने कहा—"खंजन ! खंजन ! नन्हे खंजन ! आज की रात क्या तू मेरे पास न टिकेगा, और मेरा दूत न बनेगा ? बीमार बच्चा बहुत विकल है, और उसकी मा बहुत उदास है।"

खंजन ने उत्तर दिया—"बच्चे मुझे नहीं सुहाते। पिछले ग्रीष्म में जब मैं नदी पर टिका हुआ था, वहाँ के दो छोकड़े—धाटियों के पुत्र—सदा मुझे ढेलों से मारा करते थे। अलबत्ता उनका निशाना कभी बैठा नहीं। इतने-भर के लिये हम खंजन बहुत तेज़ उड़ते हैं। और, विशेषतः मैं तो उस कुटुंब का हूँ, जो अपनी चपलता के लिये बहुत ही प्रसिद्ध है। तो भी बालकों का यह कृत्य अनादर का लक्षण तो था ही।"

यह सुनकर सुखी राजकुमार इतना दुःखी हुआ कि नन्हा खंजन भी खिन्न हो गया। उसने कहा—"यहाँ बड़ी सर्दी है; पर मैं एक रात यहाँ बसूँगा, और आपका काम करूँगा।"

राजकुमार ने कहा—"नन्हे खंजन, तुम्हें धन्यवाद है।"

खंजन ने राजकुमार की तलवार की मूठ से वह बेशक़ीमत माणिक्य उखाड़ लिया, और उसे चोंच में दबाकर, नगर के घरों की छतों के ऊपर से उड़ता हुआ चल दिया।

वह जुम्मा-मसजिद के मीनार के पास से निकला, जिसमें सफ़ेद संगमरमर पर ख़लीफ़ा की मूर्ति खुदी हुई थी, और संगमूसे पर कुरान की आयतें। वह राजमहल के पास से गुज़रा, जहाँ नाच-रंग का समा बँधा हुआ था। उसे एक सुंदरी अपने सुहृद के साथ बाहर छज पर दिखाई दी। प्रेमी ने प्रेयसी से कहा—"तारागण कैसे अद्भुत हैं, और प्रेमपाश की प्रबलता भी कैसी अद्भुत है!"

कामिनी ने उत्तर दिया—"आशा है, मेरी पोशाक राजकीय विवाहोत्सव तक तैयार हो जायगी। मैंने बहुँग पर रेशम के सुंदर फूल कढ़वाए हैं। किंतु दर्ज़िनें बड़ी सुस्त होती हैं।"

वह नदी के ऊपर होकर निकला। उसने नौकाओं के मस्तूलों में लालटेनें लटकती हुई देखीं। चौक से जाते समय उसने बूढ़े बनियों को भावताव करते और युवकों को पीतल के तराजुओं में चाँदी तौलते देखा। अंत में वह दरिद्रालय पहुँचा, और भीतर झाँका। दर्ज़िन का बच्चा अपने बिस्तरे पर ज्वर से छटपटा रहा था, और वह थकावट के मारे बैठे-ही-बैठे ऊँघकर सो गई थी। खंजन फुदककर कमरे के भीतर गया, और चौकी पर औरत के अंगुश्ताने के पास बहुमूल्य माणिक्य रख दिया। तब बिछौने के इर्द-गिर्द धीरे से उड़कर, उसने बच्चे के मुँह पर अपने पखनों से पंखा किया। लड़के ने कहा—"ओह! बड़ा आराम मिला। मैं अच्छा हो रहा हूँ।" और, अनामय निद्रा ने उसे अपने अंक में समेट लिया।

तदुपरांत खंजन सुखी राजकुमार के पास लौट गया, और अपनी सारी करतूत उसे सुनाकर बोला—"बात विचित्र है, किंतु इतनी अधिक सर्दी होने पर भी मुझे अब काफ़ी गरमी मालूम पड़ती है।"

राजकुमार ने कहा—"कारण यह है, तुमने परोपकार का एक काम किया है।"

नन्हा खंजन सोचने लगा, और सो गया। सोच-विचार में उसे सदा नींद आ जाती थी।

सबेरा होने पर वह उड़कर नदी-तट पर पहुँचा, और स्नान किए। पुल के ऊपर से जाते हुए एक पक्षी-विद्या-विशारद ने खंजन को देखकर कहा—"कैसी विचित्र बात है। पावस में खंजन!" इसी विषय को लेकर विशारदजी ने स्थानीय समाचार-पत्र में एक लंबा लेख लिख डाला। प्रत्येक पत्र ने लेख को उद्धृत किया। किंतु उसमें सांकेतिक शब्दों का प्रयोग इतना अधिक किया गया था कि लोग समझ ही न सके।

खंजन ने सोचा—आज रात को मैं मेवाड़ की यात्रा करूँगा। और, इस आशा से वह बड़ी मौज में था। उसने नगर की समस्त बढ़िया इमारतों को देखा, और बड़े मंदिर के शिखर पर बहुत देर तक विश्राम किया। जहाँ कहीं वह गया, वहीं गौरैयों ने चुहचुहाकर एक दूसरे से कहा—"कैसा विख्यात बटोही हमारे बीच में वर्तमान है!" इस प्रकार उसने ख़ूब आनंद लूटा।

चंद्रोदय होने पर वह सुखी राजकुमार के पास लौट आया, और बोला—"मेवाड़ का कोई काम मुझे सौंपिएगा? मैं अब रवाना हो रहा हूँ।"

राजकुमार ने कहा—"खंजन! खंजन! नन्हे खंजन! एक रात और तू मेरे यहाँ न रहेगा?"

खंजन ने उत्तर दिया—"मेवाड़ में मेरी राह देख रहे होंगे। कल ही मेरे मित्रगण दूसरे जलाशय को उड़ जायँगे। जल के प्रखर वेग में दरियाई घोड़े वहाँ शंखध्वनि करते हैं, और पत्थर के एक विशाल सिंहासन पर अर्द्ध-नारीनटेश्वर विराजमान हैं। वह रात-भर तारों को देखते रहते और उषःकाल में 'हरि ओम्' की एक आनंदध्वनि करते हैं। फिर, वह मौन हो जाते हैं। दोपहर के समय पीले सिंह जलाशय के तट पर जलपान करने आते हैं। उनके नेत्र मरकत-सदृश हैं, और उनका गर्जन जलप्रपात के घोष की प्रतिद्वंद्विता करता है।

राजकुमार ने कहा—"खंजन! खंजन! नन्हे खंजन! नदी के उस पार, बहुत दूर पर, एक कोठरी में, मुझे एक युवा पुरुष दिखाई दे रहा है। वह काग़ज़-पत्रों से ढकी हुई मेज़ पर झुका हुआ है। उसकी बग़ल में तिपाई पर, एक गुलदान में, मुरझाए हुए गुलाब के फूलों का एक गुलदस्ता है। उसके केश रूखे, पर घुँघराले हैं, ओठ क़ंधारी अनार के दानों की तरह सुर्ख़ हैं, और नेत्र विशाल तथा फटे हुए। नाटक-कंपनी के संचालक के लिये वह एक नाटक समाप्त करने का प्रयत्न कर रहा है; किंतु थकावट के कारण उसकी उँगलियाँ अब और लिखने में असमर्थ हैं। दम लेने का उसे अवसर नहीं, भूख से वह मूर्च्छित-सा हो रहा है।"

सहृदय खंजन बोल उठा—"मैं आपके पास एक रात और ठहरूँगा। क्या दूसरा माणिक्य मैं उसे दे आऊँ?"

राजकुमार ने कहा—"खेद है, मेरे पास अब कोई माणिक्य नहीं। अब केवल मेरे नेत्र बच गए हैं। ये असाधारण नीलम के हैं। एक हज़ार वर्ष हुए, ये नीलमशब्दवेधी महाराज पृथ्वीराज चौहान के यहाँ से मेरे पूर्वजों को दहेज़ में मिले थे। इनमें से एक निकाल लो, और उस युवा नाटककार को दे आओ। वह उसे जौहरी के हाथ बेचकर पेट के लिये भोजन, और मस्तिष्क शीतल करने के लिये सुगंधित तेल ख़रीद लेगा, तब अपना नाटक समाप्त करेगा।"

"प्यारे राजकुमार, मैं ऐसा नहीं कर सकता" कहकर खंजन रोने लगा।

राजकुमार ने कहा—"खंजन, खंजन, मेरा कहना मानो।"

तब तो खंजन ने राजकुमार का एक नेत्र उखाड़ लिया, और नाटककार की कोठरी की ओर उड़ गया। कोठरी के भीतर जाना बहुत सहज था; क्योंकि छत में एक छेद था। खंजन उसी छेद से कोठरी में आ पहुँचा। युवक चिंतामग्न बैठा था। उसने पक्षी के पंखों की फड़फड़ाहट नहीं सुनी; किंतु जब नज़र फेरी, तो एक सुंदर नीलम मुरझाए गुलाबों पर रक्खा हुआ पाया।

उसने कहा—"अब मेरी क़द्र होने लगी है। मेरे किसी बड़े क़द्रदाँ का भेजा हुआ यह उपहार है। अब मैं अपना नाटक समाप्त कर सकता हूँ।" और, वह लहलहा उठा।

दूसरे दिन खंजन बंदरगाह को उड़कर गया। एक बड़े जहाज़ के मस्तूल पर उसने अड्डा जमाया, और मल्लाहों को बड़े-बड़े बॉक्स रस्सियों से गोदाम से निकालते देखता रहा। हरएक पेटी के ऊपर आ जाने पर वे चिल्लाते थे—"एक ढेर लगा दो।" खंजन ने आवाज़ लगाई—"मैं मेवाड़ जाता हूँ।" किंतु किसी ने ध्यान नहीं दिया। जब चंद्रोदय हुआ, खंजन उड़कर सुखी राजकुमार के पास लौट आया। राजकुमार से उसने कहा—"मैं आपसे अंतिम नमस्कार करने आया हूँ।"

राजकुमार ने कहा—"खंजन, एक रात और तू मेरे यहाँ न बसेगा ?"

खंजन ने उत्तर दिया—"यहाँ वर्षा बहुत होती है, और शीघ्र ही ओले पड़नेवाले हैं। राजस्थान में चित्तौरगढ़ के पेड़ों पर सूर्य चमक रहा है, और नीचे झील के किनारे, कीचड़ में, मगरमच्छ पड़े हुए इधर-उधर ताक रहे हैं। मेरे संगी श्रीएकलिंग महादेव की वाटिका में अपने लिये खोते बना रहे हैं। सफ़ेद बतख़ें तथा हरे जंगली कबूतर उन्हें देख रहे हैं, और घुल-घुलकर आपस में बातें कर रहे हैं। प्यारे राजकुमार, मेरा आपसे बिदा होना ज़रूरी है। किंतु मैं आपको कभी न भूलूँगा, तथा जो मणि आपने दे दिए हैं, उनके बजाय आगामी वसंत-ऋतु में आपके लिये दो सुंदर रत्न लाऊँगा। माणिक्य लाल गुलाब से भी अधिक लाल होगा, और नीलम विशाल महोदधि की तरह नीला।"

सुखी राजकुमार ने कहा—"नीचे उद्यान में दही बेचनेवाली एक किशोरी ग्वालिन खड़ी है। उसकी दही की मटकी गिर गई है, और सब दही बिखर गया है। मटकी भी फूटने से नहीं बची। यदि वह कुछ पैसे कमाकर घर न ले जायगी, तो उसका पिता उसे पीटेगा। ऐसी दशा में स्वभावतः वह रो रही है। उसकी धोती बिलकुल फटी हुई है, और बदन पर कुरती तक नहीं है। मेरा दूसरा नेत्र उखाड़कर उसे दे आओ। तब उसका बाप उसे न मारेगा।"

खंजन ने कहा—"एक रात और मैं आपके घर ठहरूँगा, किंतु आपका दूसरा नेत्र नहीं उखाड़ सकता; क्योंकि तब आप अंधे हो जायँगे।"

राजकुमार ने कहा—"खंजन, प्यारे खंजन, मेरा कहना मानो।"

राजकुमार की बात मानकर खंजन ने उसका दूसरा नेत्र भी उखाड़ लिया, और उसे लेकर नीचे उड़ गया। वह झपटकर दहीवाली के पास से निकला, और रत्न को उसके हाथ में डाल दिया। किशोरी ने कहा—"कैसा सुंदर शीशा है।" और, वह हँसती हुई अपने घर की ओर लपकी।

उधर खंजन राजकुमार के पास लौट आया। उसने कहा—"अब आप अंधे हैं, अतएव मैं आपके पास सदा रहूँगा।"

"नहीं, प्यारे खंजन, तुम मेवाड़ की राह लो।"

खंजन ने कहा—"मैं आपके पास सदा रहूँगा।" और, वह राजकुमार के चरणों में सोया।

दूसरे दिन दिन-भर वह राजकुमार के कंधे पर बैठा और अपनी पिछली सैरों में विचित्र मेवाड़ में जो कुछ उसने देखा-सुना था, उसकी चर्चा करता रहा। उसने

चित्तौर के ध्वंसावशेष का, जिसे देखकर बटोहियों और दर्शकों को बाप्पा रावल और राणा साँगा की वीरता की गाथाओं तथा राणा प्रताप का नाम स्मरण आ जाता है, अति रोचक और विशद वर्णन किया। उसने सहस्रों राजपूत-रमणियों के कई बार एकसाथ चितारोहण तथा साकाओं की कथा कही। उसने मेवाड़ के इष्टदेव श्रीएकलिंग की महिमा का वर्णन किया, जिनकी आज्ञा लेकर महाराज रण-भेरी बजाते हैं। उदयपुर की झीलों और उनके तटस्थ रमणीय राजप्रासादों का शब्द-चित्र खींचकर उसने राजकुमार को प्रसन्न किया। उसने नाथद्वारे के विलक्षण भूरिभोग का वृत्तांत कहा, जिसके लिये केसर चक्कियों में पीसी जाती है। वहाँ के सुघर, सलोने गोस्वामियों के उन अमूल्य रत्नों का भी उसने ज़िक्र करना नहीं छोड़ा, जिन्हें देखने को राजे-महाराजे भी लालायित रहते हैं। और, अंत में उसने मेवाड़ के रणबाँकुरे शीशोदियों की आन-बान और केसरिया बाना पहनकर जूझने की अनेक वे अनुपम बातें सुनाईं, जिन्हें सुनकर संसार चकित होता और वीर नाच उठते हैं।

राजकुमार ने कहा—"प्यारे खंजन, तुम मुझसे अनोखी बातें कहते हो, किंतु नर-नारियों की यातना से अधिक विचित्रता किसी भी बात में नहीं है। दुर्गति से बड़ा कोई और रहस्य नहीं। सुनो, मेरे नगर के ऊपर मँडलाकर जो कुछ तुम्हें दिखाई पड़े, मुझे सुनाओ।"

राजकुमार की आज्ञा मानकर खंजन उसके महानगर-भर के ऊपर उड़ा। धनिकों को अपने सुंदर भवनों में उसने आमोद-प्रमोद करते देखा, और उनकी ड्योढ़ियों पर भिक्षुकों को आसरा लगाए बैठे पाया। सँकरी और अँधेरी गलियों में घूमकर उसने भूख से मरते हुए बच्चों के, जो पथराई हुई आँखों से गंदी गलियों की ओर निहार रहे थे, रक्तहीन चेहरों का निरीक्षण किया। वर्षा से बचने के लिये एक पुल की मेहराब के नीचे दो भूखे छोटे लड़के, शीत के कारण, चिपटे हुए पड़े थे, उनमें से एक चिल्लाया—"अब तो बड़ी ही भूख लगी है।" दूसरी ओर से पुलीस के पहरुए ने अपना छोटा डंडा दिखाकर कर्कश स्वर से कहा—'यहाँ से चले जाओ।" बेचारों को बरसते ही में चल देना पड़ा।

इसके बाद वह राजकुमार के पास लौट गया, और जो कुछ देखा था, कह सुनाया।

राजकुमार ने कहा—"मैं विशुद्ध सोने के पत्रों से मढ़ा हुआ हूँ। तुम एक-एक पत्र ले जाओ, और ग़रीबों को दे दो। जीवित मनुष्य सदा यही समझते हैं कि सुवर्ण उन्हें सुखी कर सकता है।"

खंजन ने एक-एक करके सुंदर सोने के पत्र नोचे, और दीन-दुखियों को दे दिए। वे हँसने और राजपथों पर खेलने लगे। उन्होंने कहा—"अब हमें रोटियाँ मिलीं।" इधर सुखी राजकुमार पूरा खबीस और मटीला दिखाई पड़ने लगा।

दो-एक दिन बाद बड़ी वर्षा हुई, और खूब ओले गिरे। सड़कों पर ओलों की चट्टानें इतनी स्वच्छ और चमकीली थीं कि चाँदी की-सी जान पड़ती थीं। प्रत्येक आते-जाते मनुष्य के शरीर पर जाड़े के कपड़े दिखाई देने लगे, और लक्ष्मी के लालों ने काश्मीरी दुशालों से अपने शरीरों को लपेट लिया। लड़के ओलों के ढेरों से खेलने लगे।

दीन-हीन खंजन बहुत अधिक सर्दी खा गया था, किंतु राजकुमार का साथ उसने नहीं छोड़ा। उससे इतना अधिक प्रेम उसे हो गया था। अपने पंख फड़फड़ाकर उसने अपनी सर्दी दूर करने की चेष्टा की, और हलवाई की नज़र चूकने पर थाल से बूँदी के लड्डुओं की चूर चुग ली।

निदान उसे जान पड़ा कि अब मेरा अंतिम समय निकट है। उसमें केवल इतना ही आत्म बाक़ी रह गई थी कि एक बार राजकुमार के कंधे पर वह फिर पहुँच गया। क्षीण स्वर से उसने कहा—"अंतिम नमस्कार, प्रिय राजकुमार! अपना हाथ मुझे चूम लेने दो।"

राजकुमार ने कहा "मुझे हर्ष है कि अंत में तुम मेवाड़ जा रहे हो। तुम यहाँ बहुत दिन ठहरे। तुम मेरा हाथ नहीं, मुँह चूमो; क्योंकि मुझे तुमसे स्नेह हो गया है।"

खंजन ने कहा—"अरे, मैं मेवाड़ नहीं जा रहा हूँ—जा रहा हूँ मृत्यु के मुँह में। मृत्यु निद्रा की सगी बहन है। है न?"

उसने राजकुमार के गाल चूमे, और निर्जीव होकर उसके पैरों पर गिर पड़ा।

उसी समय मूर्ति के भीतर एक विचित्र कड़क हुई, मानो कोई वस्तु फट गई हो। वास्तव में राजकुमार का सीसे का हृदय ठीक बीच से फटकर दो टूक हो गया। ओलों की अति वृष्टि से सचमुच बड़ी ही बेढब सर्दी पड़ने लगी थी।

दूसरे दिन सबेरे म्युनिसिपल-चेयरमैन कुछ म्युनि-

सिपल-मेंबरों के साथ मूर्ति के नीचेवाले बग़ीचे में टहल रहे थे। नगर-पिताओं की मंडली जब स्तंभ के पास पहुँची, तो चेयरमैन साहब ने ऊपर मूर्ति की ओर देखा। उनके मुँह से निकल पड़ा—"अरे ग़ज़ब! सुखी राजकुमार कितना कुरूप दिखलाई पड़ता है!"

म्युनिसिपल-मेंबरों ने कहा—"बेशक, बेशक, बहुत ही कुरूप!" और, वे मूर्ति की ओर ताकने लगे।

चेयरमैन ने कहा—"लाल उसकी तलवार से गिर गया है, उसके नेत्र रह नहीं गए, और उसकी काया भी अब कंचन की नहीं है।"

मेंबरों ने कहा—"ठीक तो यह है कि भिखारी और उसके हाल में अब कोई अंतर नहीं।"

चेयरमैन ने कहा—"और, उसके पैरों में एक मरी हुई चिड़िया भी पड़ी है। हमें ढिंढोरा पिटवा देना चाहिए कि पक्षियों को यहाँ मरने की इजाज़त नहीं है।"

म्युनिसिपल-सेक्रेटरी ने चेयरमैन की यह सूचना नोट कर ली।

निदान सुखी राजकुमार की मूर्ति उखड़वा ली गई। विश्व-विद्यालय के ललित कला-अध्यापक ने कहा—"चूँकि वह अब सुंदर नहीं रह गई है, इसलिये उपयोगी भी नहीं है। मूर्ति फिर गलाने को दे दी गई, और चेयरमैन ने म्युनिसिपल-बोर्ड का एक अधिवेशन यह विचार करने के लिये किया कि मूर्ति की धातु का क्या किया जाय। अधिवेशन में चेयरमैन ने कहा—"निस्संदेह हमें दूसरी मूर्ति बनवानी चाहिए, और वह मेरी हो।"



"निस्संदेह हमें दूसरी मूर्ति बनवानी चाहिए, और वह मेरी हो।"

प्रत्येक मेंबर ने कहा—"नहीं, मेरी हो।"

मेंबरों को लड़ते-झगड़ते छोड़कर मैंने लोहारख़ाने की राह ली।

लोहारख़ाने के सरदार ने कहा—"कैसी विचित्र बात है? यह फटा हुआ ताँबे का हृदय भट्ठी में गलता ही नहीं। हमें इसे फेंक देना चाहिए।"

परेशान होकर लोहारों ने मूर्ति के अगलित हृदय को उसी घूरे पर फेंक दिया, जिस पर मृतक खंजन पड़ा हुआ था।

* * *

परमेश्वर ने अपने दूतों से कहा—"सुखी राजकुमार के नगर की दो सबसे बढ़िया चीज़ें मेरे पास ले आओ।" दूत सीसे का हृदय और खंजन की लाश लेकर पहुँचे।

परमात्मा ने दोनों वस्तुएँ देखकर कहा—"शाबाश ! तुमने ठीक चुनाव किया । यह खंजन मेरे वैकुंठ के बग़ीचे में सदा गान करेगा, और सुखी राजकुमार वैकुंठ में बस-कर नित्य निरंतर मेरी स्तुति करेगा ।"

परभनप्रसाद पारखी

विज्ञापन

आज शिशु के कवि को अनजान
मिल गया अपना गान !

खोल कलियों ने उर के द्वार
दे दिया उसको छवि का देश,
बजा भौंरों ने मधु के तार
कह दिए भेद-भरे संदेश ;

आज सोए खग को अज्ञात
स्वप्न में चौंका गया प्रभात,
गूढ़ संकेतों में हिल पात
कर रहे अस्फुट बात !

आज कवि के चिर-चंचल प्राण
पा गए अपना गान !

दूर, उन खेतों के उस पार
जहाँ तक गई नील-झंकार,
गूँजता छाया में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार ;

वहीं उन पेड़ों में अज्ञात
चाँद का है चाँदी का वास,
वहीं से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते हैं उड़कर पास !

इन्हीं में छिपा कहीं अनजान
मिला कवि को निज गान !

श्रीसुमित्रानंदन पंत

डमरा-टापू



अभी बहुत दिन नहीं हुए, हमारे बहुतेरे देशवासी विदेशों को कुली बनाकर भेजे जाते थे। जिन स्थानों को ये कुली भेजे जाते थे, उन्हीं में से एक 'डमरा-टापू' के नाम से विख्यात है। यह वास्तव में कोई टापू नहीं, बल्कि दक्षिणी अमेरिका का एक छोटा-सा भाग है। इसका नाम ब्रिटिश-गायना (British Guiana) है। यहाँ 'डमरारा'-नामी एक मुख्य नदी है। इसी के कारण यह डमरारा (Demerara) के नाम से ही प्रसिद्ध है। इसी डमरारा का बिगड़ा हुआ नाम 'डमरा' है। लोग प्रायः ट्रिनिडाड, जमैका, मारिशस और फ़ीजी आदि के टापुओं को ही भेजे जाते थे। इसी प्रसंग-वश 'ब्रिटिश-गायना' अथवा 'डमरारा'-देश 'डमरा-टापू' के ही नाम से अधिक प्रसिद्ध हुआ।

यह देश एक अँगरेज़ी उपनिवेश है। इसमें अँगरेज़ों के अतिरिक्त पुर्तगीज़, चीनी, निग्रो और हिंदोस्तानी भी बसते हैं। परंतु यहाँ किसी भी जाति के लोगों का व्यवहार हिंदोस्तानियों के प्रति वैसा नहीं है, जैसा कुछ स्थानों या उपनिवेशों में। और, निस्संदेह यहाँ भारत-वासी अन्य स्थानों से अच्छे हैं। योरपियन सबसे पहले सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में यहाँ आ बसे थे। इसका क्षेत्रफल ८६,४८० वर्गमील है, और जन-संख्या ३,१२,००० के लगभग। लोग केवल समुद्र के आसपास की भूमि में बसे हैं। बाक़ी भाग बड़ा भारी जंगल है।

प्रधान नगर

उपनिवेश का प्रधान नगर जॉर्ज-टाउन (George Town) है। इसकी जन-संख्या ५६,००० के लगभग है, अर्थात् सारे उपनिवेश का एक बड़ा भाग यहाँ बसा हुआ है। यह एक बड़ा बंदर है। डमरारा-नदी अटलांटिक-महासागर में गिरती है। उसी के मुहाने के दाहने किनारे पर यह बसा हुआ है। छोटे-बड़े स्टीमर और बड़े जहाज़ों का यह बड़ा भारी केंद्र है। कनाडा, उत्तरीय अमेरिका, योरप तथा संसार के अन्य भागों को भी यहीं



जॉर्ज-टाउन की प्रधान सड़क

होकर जहाज़ जाते और आते हैं, और लाखों रुपयों का माल यहाँ से बाहर जाता-आता है। नगर का भीतरी भाग भी बहुत अच्छा है। खुली हुई सड़कें हैं, रात को बिजली की रोशनी होती है। अच्छे-अच्छे सरकारी भवन, प्रधान न्यायालय, विद्यालय और बड़ी-बड़ी दूकानें एवं एजेंसियाँ इस नगर में हैं। अनेक देशों के लोग यहाँ देखने में आते हैं। आने-जानेवाले माल से एक बड़ी रक़म की आय भी हो जाती है। इसके बाद दूसरा बड़ा नगर 'न्यू अमस्टरडाम' है। इसकी जन-संख्या ६,००० के लगभग है। यह बरबीस-नदी के दाहने तट पर बसा है। यह भी एक बंदर-स्थान है। यहाँ से भी माल बाहर जाता और आता है। यह जॉर्ज-टाउन से दक्षिण-पूर्व की ओर है। स्परिंग-लैंड्स और मोरा-हसा भी छोटे-छोटे बंदर हैं। इनमें स्परिंग-लैंड्स पूर्व की ओर है। डच-राज्य का इलाक़ा डच-गायना के बहुत ही निकट है। एक बड़ी नदी ब्रिटिश-गायना और डच गायना के बीच की सीमा है। कोरंटाइन इसी के मुहाने पर बाईं ओर है, और 'मोरा-हसा' ठीक उत्तर में। यहाँ से विनिजुला का राज्य बहुत ही समीप है, और यह 'वेनी' नाम की नदी के तट पर है।

निग्रो

निग्रो लोगों पर जितना अत्याचार हो चुका है, वह इतिहास से धोया नहीं जा सकता। इनके साथ जो व्यवहार किया जा चुका है, उसे जानकर प्रत्येक भद्र पुरुष का हृदय काँप उठता है। परंतु इस पीड़ित एवं पद-दलित जाति के लोगों ने संसार में जैसी उन्नति की है, वह अत्यंत आश्चर्यजनक तथा प्रशंसनीय है। अस्तु, यहाँ के भी निग्रो लोगों ने बड़ी उन्नति कर ली है। ये वकील, बॅरिस्टर, डॉक्टर और कौंसिल के मेंबर हैं। बड़े धनी एवं विद्वान् भी हैं, और अपनी मान-मर्यादा का सदा ध्यान रखते हैं। एक समय की बात है, एक निग्रो ने किसी अँगरेज़ या योरपियन से कहा था कि हम काले अवश्य हैं, किंतु हमारा और तुम्हारा रक्त एक-सा ही है। जिस तारीख़ को इनके दासत्व की बेड़ियाँ कटी हैं, उस दिन ये लोग बड़ी धूम-धाम के साथ उत्सव करते हैं।

ये डील-डौल में ख़ासे पूरे और बड़े शक्तिशाली होते हैं। इनमें किसी-किसी की शक्ति का अंदाज़ इसी बात से बहुत कुछ हो सकता है कि ये जंगली गाय या भैंस की सींगों को बड़ी मज़बूती से पकड़ लेते और गर्दन मरोड़कर उसे मार डालते हैं। इनके सिर के बाल टेढ़े और कड़े होते हैं। ये आफ़्रिका की कई जातियों के हैं। बली और परिश्रमी होने के सिवा ये बड़े चतुर भी हैं। बूढ़ी स्त्रियाँ बहुत-सी जंगली जड़ी-बूटियाँ पहचानती हैं, और बड़ी योग्यता से उनको प्रयोग में लाती हैं।

निग्रो लोगों का न तो कोई धर्म है, और न भाषा ही। अब ईसाइयत इनका धर्म और अँगरेज़ी इनकी भाषा है। ये लोग योरपियनों में भी घुल-मिल रहे हैं। बहुतेरे निग्रो लोगों की स्त्रियाँ योरपियन लेडियाँ हैं, और बहुतेरी निग्रो-स्त्रियों के पति योरपियन। कुछ लोग जादू, टोना और भूत-प्रेत भी मानते हैं, और बहुत डरते हैं। सबसे पहले निग्रो लोग ही यहाँ कुली का काम करते थे; किंतु जब इनके दासत्व की बेड़ियाँ कटीं, तो चीनी लोग ठेके पर कुली बनाए गए। इनका ठेका ख़त्म होने के बाद भारतवासी फँसा-फँसाकर यहाँ भेजे जाने लगे। इस उपनिवेश के असली बाशिंदे 'करीब' कहलाते हैं। ये जंगलों में रहा करते हैं।

चीननिवासी

यहाँ के चीननिवासी भी कुली हैं, जो अब कुलीपन के ठेके से मुक्त होकर यहाँ बस गए हैं। चीनी कुली बड़ा



लकड़ी की ग्वाहो में मूल-निवासी

झगड़ा करते थे, अच्छी तरह काम न करते थे। इस कारण इनकी भरती बहुत समय तक जारी नहीं रही। यहाँ के भी चीनी लोग डील-डौल में बड़े नहीं होते, और इनके पैर भी छोटे-ही-छोटे होते हैं। इनमें परस्पर बड़ा मेल रहता है, पीड़ित की सहायता सब मिलकर करते हैं। ग़रीब चीनी अन्य चीनी ही की नौकरी करना पसंद करता है। यदि कोई किसी मामले-मुक़दमे में फँस जाय, तो सब लोग उसके लिये ख़ूब लड़ते हैं।

ये लोग केवल अपने वर्ष का प्रथम दिन बड़े समारोह से मनाते हैं, किंतु ईसाइयत का गहरा रंग इन पर भी चढ़ गया है। अपनी भाषा बोल या समझ तो लेते हैं, परंतु लिख-पढ़ नहीं सकते। पहले ये बड़े पक्के चोर होते थे, और अपने अपराधियों को ऐसा छिपा देते थे कि पता ही न लगता था। लाख पूछने पर भी अपनी भाषा में केवल 'मीना सार्पा' अर्थात् 'मैं नहीं जानता' ही कहा करते थे। इन लोगों ने अब अपनी हालत बहुत ज़्यादा सुधार ली है।

भारतवासी

इस देश में वही भारतवासी हैं, जो कुली बनकर गए, अथवा जो लोग बहुत पहले कुली बनकर गए थे, उन्हीं की संतान हैं। जितने लोग कुली बनकर गए थे, उनमें थोड़े ही लोग मीयाद समाप्त होने के बाद या कुछ और समय के बाद भारत को लौट आए हैं। नहीं तो बहुतेरे वहाँ स्थायी रूप से बस ही गए हैं। इन बसनेवालों में बहुतेरों ने बड़ी उन्नति भी कर ली है, बड़ा धन कमा लिया है, और उच्च शिक्षा भी प्राप्त कर ली है। परंतु बहुत-से लोगों के दिलों में भारत की भूमि या धर्म के प्रति अब प्रेम नहीं है। वे बिलकुल साहब बन बैठे हैं, और भारतीय भाषा और धर्म से बहुत दूर हो गए हैं। ऐसे लोगों के नाम भी भारतीयों के-से नहीं रहे हैं। परंतु बहुतेरे बूढ़े लोगों में भारतीयता अब भी बाक़ी है। वे भारतीयों के-से नाम रखते हैं, हिंदी-भाषा भी बोलते हैं, उसको जीवित कर रक्खा है। भारत से मँगाकर हिंदी-पुस्तकें आदि भी पढ़ते हैं। कुछ लोगों ने एक भारतीय संस्था भी क़ायम कर रक्खी है। परंतु भारतीयों में परस्पर मेल नहीं रहता, और फूट ने इनका पीछा वहाँ भी नहीं छोड़ा है।

यहाँ के भारतीयों में छूत-छात का भूत नहीं है, परंतु कुछ बातें भारत की अवश्य हैं। जैसे, सत्यनारायण की कथा सुनते हैं, दुर्गापाठ या हनुमान्‌जी की पूजा भी होती है, किसी के सिर पर भूत-प्रेत या अन्य देवता भी आ जाते हैं। वे अभुआते अर्थात् सिर हिलाते हैं। कुछ लोग ग़ाज़ीमियाँ की भी पूजा करते हैं। हिंदुओं के मंदिर और शिवालय भी हैं, तथा वे भारत के हिंदुओं के समान अपने त्योहार भी मनाते हैं। परंतु इन हिंदुओं को ईसाई बनाने के लिये ईसाई-पादरी भी ख़ूब काम कर रहे हैं। वे चाहते हैं कि ये लोग ईसाई बन जायँ, और भारत को भूल जायँ।

जो ब्राह्मण कुली बनकर गए थे, वे या उनके वंशज पंडिताई का काम करते हैं। विवाह आदि भी भारतीय ढंग से कराते हैं। भारत से गया हुआ गंगा-जल भी वहाँ बिकता है। लोग पूजा-पाठ में उसका प्रयोग करते हैं। परंतु ये सब बातें प्रायः बहुत ही कम होती जा रही हैं, और ईसाइयत का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा है। उत्तरीय भारत के लोग अधिक हैं। इस कारण इसी प्रांत की बातों का चलन अधिक है। परंतु एक बड़ी विचित्र बात यह भी होती थी कि जब कोई क्वाँरा पुरुष

किसी ब्याही या बिना ब्याही स्त्री को भगा ले आता था, और बाद को उसके लड़के-बच्चे होते तथा किसी लड़के या लड़की का विवाह होनेवाला होता था, तो उस विवाह के पहले बाप का विवाह केले के पेड़ के साथ रचा जाता था। इस प्रकार उस पुरुष के क्वाँरेपन के मिटने के बाद उसके लड़के या लड़की का विवाह होता था।

भारतीयों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता

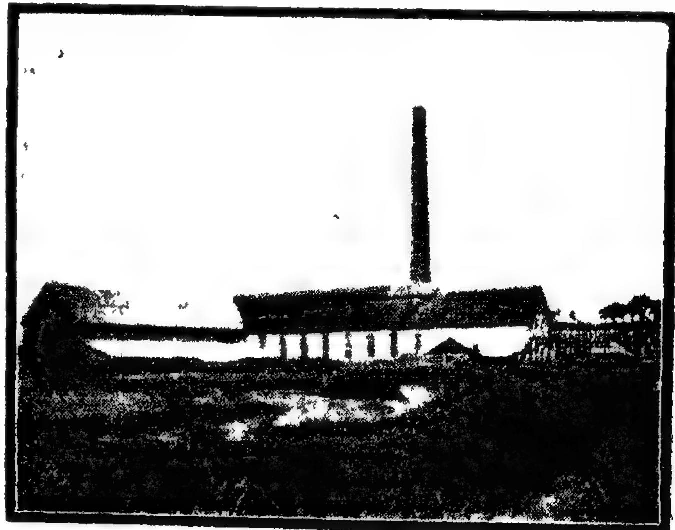
इस स्थान में भारतवासियों की संख्या १,४०,००० के लगभग है। अधिकांश हिंदू कहे जाते हैं। मुसलमान थोड़े ही-से हैं। मसजिदें भी हैं। ये लोग अपने धर्म पर अधिक आरूढ़ भी हैं। बड़ी भारी आवश्यकता यह है कि यहाँ के भारतीयों में (हिंदुओं में) धार्मिक एवं सामाजिक सुधार का काम किया जाय। श्रीभाई परमानंदजी सन् १९१० ई० में यहाँ गए थे। आपके व्याख्यान भी हुए थे। कुछ अन्य सज्जनों ने भी काम किया है। उसी का फल है कि कुछ लोग आर्य-समाजी विचार के भी हो गए हैं। किंतु एक बड़े पैमाने पर स्थायी रूप से काम हो, तो अच्छा है। आर्य-समाज के लिये अच्छा अवसर है। इस देश के समीप ट्रिनिडाड, जमैका, डच-गायना और फ्रेंच-गायना आदि स्थानों में भी काफ़ी भारतवासी हैं। अतः एक बड़ी सीमा के भीतर अच्छा काम हो सकता है।

गन्ने की चीनी और अन्य चीजें

उपनिवेश की सारी भूमि में केवल ३९० वर्गमील की भूमि खेती के काम में आती है। यहाँ गन्ना, धान, क़हवा, रबर और नारियल आदि ऐसी चीज़ें बहुत पैदा होती हैं। गन्ने से चीनी, मदिरा और कुछ अन्य चीज़ें बनाई जाती हैं। गन्ना यहाँ बहुत बढ़िया क़िस्म का होता है, लगभग ८०,००० एकड़ के क्षेत्रफल में बोया जाता था। इसी के लिये यहाँ बाहरी कुलियों की आवश्यकता विशेष-रूप से है। सन् १९१७ ई० में भारत से भरती बंद हो जाने के कारण यहाँ के इस कारबार पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। सन् १९१६ की बात है, लगभग ७७,१७६ एकड़ की भूमि में गन्ने की खेती हुई थी, किंतु सन् १९१८ में लगभग ७१,९९८ एकड़ में ही हो पाई।

एक एकड़ भूमि के गन्ने में लगभग २ टन अर्थात् ५६ मन चीनी होती है, और चीनी के मैल से (जिसे मालैसिस Molasses कहते हैं) ९० गैलन शराब बनती है। मालैसकिट (Molascuit) भी गन्ने से बनता है। निदान गन्ना यहाँ की एक ख़ास चीज़ है। भारतवासी इसी के लिये वहाँ भेजे जाते थे। ऐसे लोगों को जहाज़ ही से दुःख का अनुभव होने लगता था। ब्रिटिश-गायना के डिपो में पहुँचने पर लोग भिन्न-भिन्न स्थानों में भेज दिए जाते थे। वहाँ लोगों को १२-१४ घंटे तक नित्य काम करना पड़ता था। जो ठीक से काम नहीं करते थे, उनको वहीं ठीक किया जाता था, अथवा जेल की हवा खिलाई जाती थी।

लोग प्रायः अरकाटियों के बहकाए हुए होते थे। बेचारे अच्छी नौकरी की लालच में फँस जाते थे। पाँच वर्ष का ठेका होता था। किंतु जब वहाँ के दुःखों से तंग आ जाते थे, तो फाँसी लगाकर उसके पहले ही मर भी जाते थे। इनके रहने के लिये जो स्थान था, वह भी संतोषजनक न था। १४ फ़ीट लंबे और १० फ़ीट चौड़े कमरे में तीन या चार आदमी रक्खे जाते थे। सब घर पास-ही-पास होते थे। यहाँ इनके स्वास्थ्य का भी पूरा ध्यान नहीं रक्खा गया था। इस प्रकार के दुःखों का ही फल है कि यहाँ एक बार बड़ा झगड़ा मच चुका है।



चीनी का कारखाना



गन्ने के खेतोवाली एक बड़ी नहर



अपने निवासस्थान मे कुली

२०या२५वर्ष की बात है,बेचू नाम के कोई सज्जन संभवतः जान-बूझकर यहाँ कुली बनकर पहुँचे, और यहाँ का हाल समाचार-पत्रों मे दिया। मालिक लोग बड़े असंतुष्ट हुए। यह वहाँ से निकाले गए, किंतु भारतवर्ष में पहुँचने के पहले ही मार्ग ही में मर गए। अस्तु, गन्ने की खेती के विषय में भारतीयों की रामकहानी बहुत बड़ी और अत्यंत हृदयविदारक है। यहाँ गन्ने और चीनी आदि के कारबार के मालिक अँगरेज़ है। इन मालिकों की बदौलत भारतीयों को नाना प्रकार के जो कष्ट पहुँच चुके हैं, उनके उल्लेख के लिये, वास्तव में, यहाँ पर्याप्त अवसर या स्थान नहीं।

सन् १९१३ में जितना माल इस उपनिवेश से बाहर गया था, उसमें ६७ प्रति सैकड़े गन्ने से तैयार होनेवाली वस्तुएँ चीनी और शराब आदि थीं। सन् १९१८ ई० में गन्ने से बननेवाली वस्तुएँ ८१ प्रति सैकड़े थीं, अर्थात् इस भूमि में सबसे अधिक रक़म की बाहर जानेवाली वस्तुएँ गन्ने की ही थीं। केवल चीनी २,०६६,७८४ पौंड मूल्य की बाहर भेजी गई थी। इस समय प्रति सैकड़ा क्या है, कुछ ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। किंतु अनुमान से ऐसा अवश्य मानना पड़ता है कि गन्ने के कारबार को बड़ा धक्का लगा है; क्योंकि भारत से कुलियों के जाने का ठेका सन् १९१७ ई० में टूट चुका है। जो लोग कुछ पहले गए थे, उन्हीं में से २५० से कुछ ही ऊपर १ जुलाई,१९२३ई० को भारतवर्ष वापस आ गए हैं; और जो वहाँ रह गए हैं, और अपनी मीयाद पूरी कर चुके हैं, उनके लिये अब बंधन नहीं रहा कि वे अवश्य गन्ने के काम में योग दें। इस तरह मज़दूरों की कमी के कारण गन्ने की खेती की समस्या यहाँ बड़ी विकट हो गई है।

चावल और दूसरी पैदावार

धान—धान और अन्य चीज़ें भी उपनिवेश में पैदा होती हैं। पहले थोड़ी-सी भूमि में ही धान लगाया जाता था, और वह केवल उपनिवेश-भर के लिये काफ़ी होता था। परंतु अब इसकी खेती दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। बहुत-सा चावल समीप के टापुओं तथा राज्यों को भी भेजा जाता है। एक एकड़ मे ५० मन के क़रीब धान की पैदावार होती है।



खेतों में धान रोपे जा रहे हैं

नारियल—यह समुद्र-तट के पास बहुत होता है, और एक ख़ास क़िस्म का होता है। इसकी पैदावार भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

कोको—यह भी यहाँ की एक मुख्य वस्तु है। 'क्रीवोलो' और 'फोरस्टेरो', इन दो तरह का क़हवा यहाँ बहुत होता है, और बाज़ार में अच्छे दामों पर भी बिकता है।

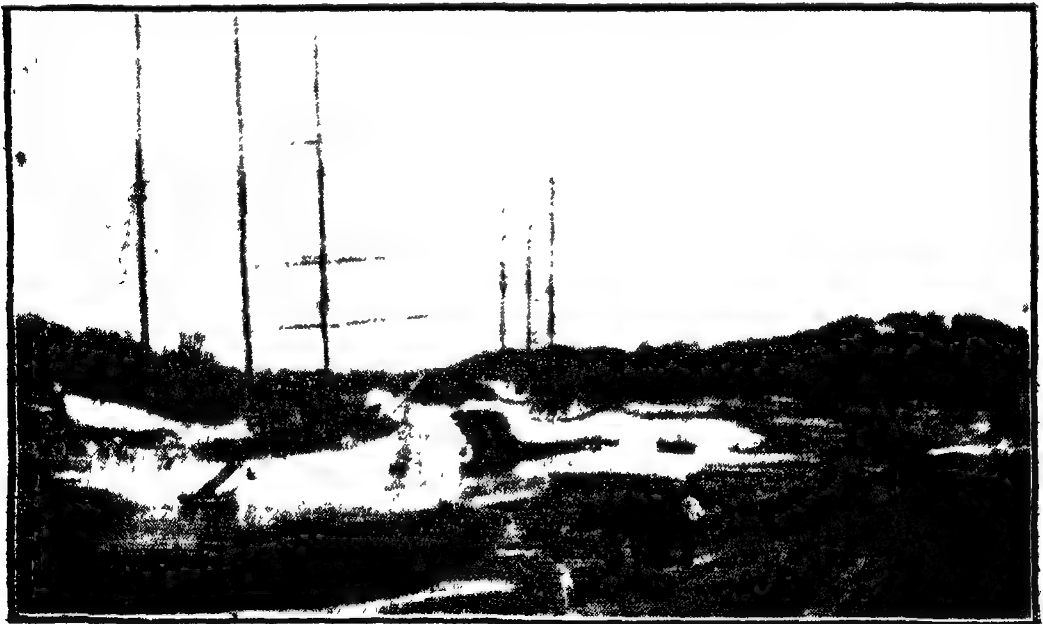
रबर—यह भी यहाँ कुछ कम नहीं होता, और अच्छे क़िस्म का होता है।

नीबू—किसी-किसी भाग में तो बहुत ही अधिक होता है। इनमें काफ़ी रस होता है, और तेज़ाब की भी मात्रा काफ़ी रहती है।

इन चीज़ों के सिवा और भी कई चीज़ें यहाँ बहुतायत से होती हैं, परंतु सबके लिखने की आवश्यकता नहीं मालूम होती।

जंगली लकड़ी ग्रीनहार्ट

उपनिवेश का ७८,२०० वर्गमील बिलकुल जंगल है, और उसमें कुछ ऐसे स्थान भी हैं, जहाँ अभी तक लोग पहुँचे ही नहीं। 'रूपननी' नाम का जंगल बड़ा प्रसिद्ध और भयानक है। यह दक्षिणी भाग में है। जंगली भागों में आना-जाना बड़ा कठिन काम है। किंतु देश में नदियाँ बहुत हैं, इसलिये उनके द्वारा आने-जाने में बड़ी सुगमता रहती है। इन्हीं नदियों के द्वारा बहुत-सी जंगल की वस्तुएँ लाई भी जाती हैं, और फिर बाहर भेजी जाती हैं।



जहाज़ों पर ग्रीनहार्ट की लदाई हो रही है



जंगलों में ग्रीनहार्ट की कटाई

यहाँ के जंगलों में कई प्रकार की उत्तम एवं उपयोगी लकड़ियाँ पाई जाती हैं । एक प्रकार की लकड़ी 'कैरव-उड' कहलाती है । यह उपनिवेश में प्रायः घर बनाने के काम में आती है, और घर का अन्य आवश्यक सामान—संदूक-दरवाज़े आदि—भी इसी का बनता है । एक प्रकार की और लकड़ी 'बलाबा-उड' कहलाती है । इसके खंभे आदि बनाए जाते हैं । यह भी कुछ कम अच्छी लकड़ी नहीं होती । परंतु जो लकड़ी विशेष रूप से उत्तम और अमूल्य होती है, वह 'ग्रीनहार्ट' के नाम से प्रसिद्ध है । जगद्विख्यात पनामा-नहर में इस लकड़ी से बहुत काम लिया गया है । जल के भीतर-ही-भीतर यदि कोई चीज़ बनानी हो, तो यह अति उत्तम लकड़ी है । इसकी बदौलत उपनिवेश को बड़ा ही लाभ होता है; क्योंकि बाहर इसकी बड़ी माँग और खपत है ।

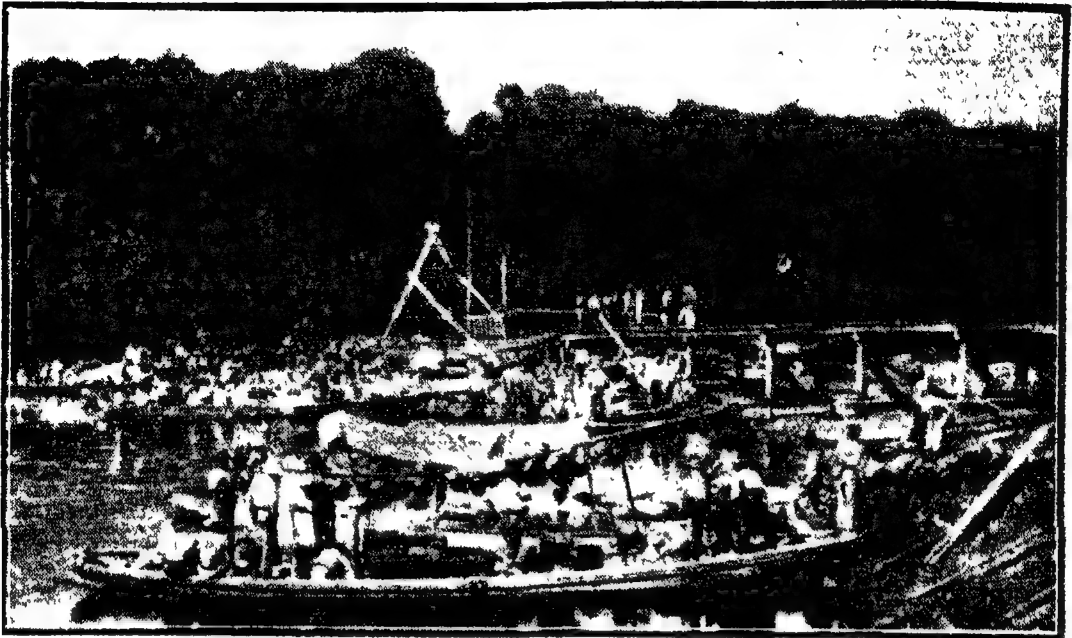
बलाटा

जंगल में लकड़ियों के सिवा जो अन्य उपयोगी वस्तुएँ पाई जाती हैं, उनमें एक 'बलाटा' है । यह यहाँ के जंगल की एक ख़ास चीज़ है । यह वही वस्तु है, जिसका मशीनों में चक्र के घुमाने के हेतु चमड़े-सा प्रयोग किया जाता है । यह जूतों के तल्ले आदि उपयोगी कामों के लिये भी अच्छा होता है, गटा पारचा का भी काम देता है । यह वास्तव में बलाटा-वृक्ष का गोंद है । बलाटा-वृक्ष उपनिवेश के ठीक सुदूर दक्षिणी भाग में पाए जाते हैं । वास्तव में दक्षिण का एक बड़ा भाग बलाटा ही के वृक्षों से भरा पड़ा है, और इन्हीं वृक्षों की बदौलत हर साल हज़ारों रुपए कमाए जाते हैं ।

बलाटा-वृक्ष में तिरछे निशान कर दिए जाते हैं । उन्हीं निशानों के रास्ते से गोंद बह-बहकर नीचे आता है । किंतु जंगल में जाकर बलाटा प्राप्त करना बड़ा कठिन काम है । इसलिये बलाटावाले मज़दूरों को मज़दूरी का अच्छा पारता पड़ता है । बलाटा संचय करनेवाले को



बलाटा-वृक्ष



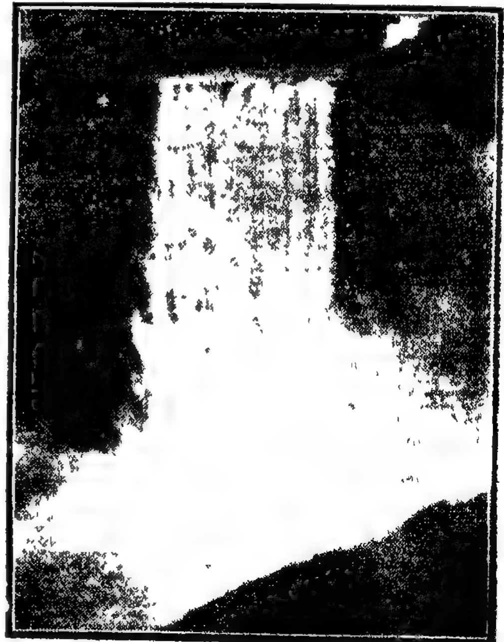
लोग बलाटा के लिये जा रहे है

इस देश में बलाटा-ब्लीडर (Ba ata Bleeder) कहते हैं।

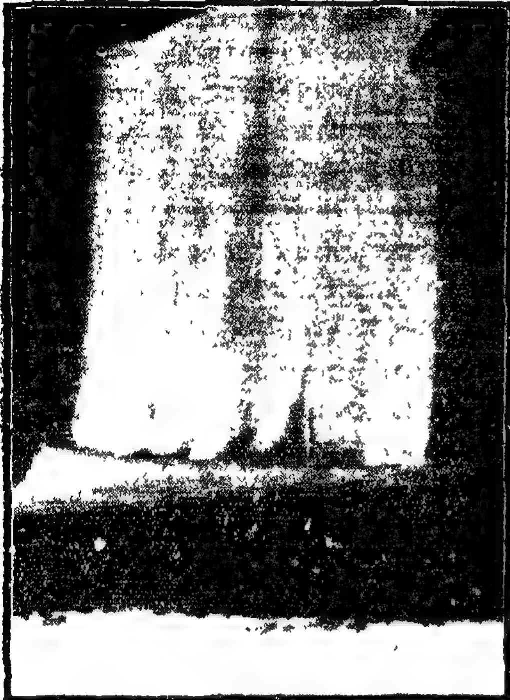
जंगल से और भी लाभ हैं। जंगल की बदौलत घास-चारे की अधिकता रहती है। इसलिये यहाँ घोड़े, गाय, बैल, भेड़, बकरी और भैंस आदि पशु भी बहुत हैं।

संसार का एक सर्वश्रेष्ठ प्राकृतिक दृश्य

इस देश के जंगल में जो प्राकृतिक वस्तुएँ हैं, उन्हीं में एक 'कैचूर'-नामक झरना भी है। यह भूमंडल में सबसे ऊँचा झरना है। इसकी कुल ऊँचाई निकट की भूमि से ८२२ फ़ीट है, और चौड़ाई लगभग ३०० फ़ीट। समुद्र के धरातल से झरना १,१३० फ़ीट की ऊँचाई पर है। इसके विषय में लोगों को सन् १८११ ई० में पता लगा। इससे पहले नियागरा का झरना सबसे ऊँचा माना जाता था, किंतु यह उससे कहीं अधिक ऊँचा है। 'इसीकुबो' (Essequiho) नाम की एक नदी दक्षिण की ओर से निकलती है, और उत्तर की ओर बहकर अटलांटिक-महासागर में गिरती है। उसी की एक सहायक छोटी-सी नदी पोटैरो (Potaro) है। इसी सहायक नदी का यह कैचूर-झरना जंगल में, २०३



कैचूर संसार का सबसे ऊँचा झरना
(यह ज़मीन से ८२२ फ़ीट ऊँचा है, और समुद्र की सतह से १,१३० फ़ीट)

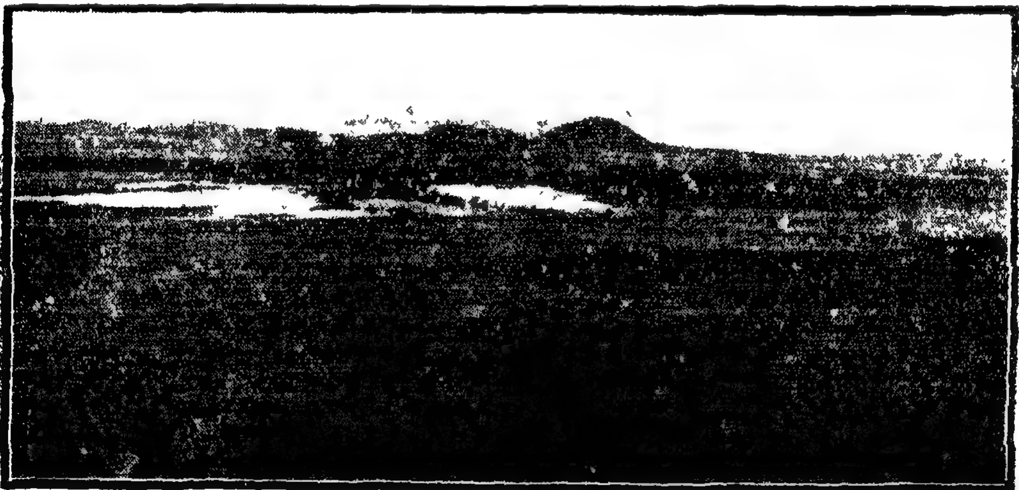


कैचूर का एक और दृश्य

दशांतर (उत्तरीय) और ५६ ५ अक्षांश (पश्चिमी) पर है। जॉर्ज टाउन से यह स्थान काफ़ी दूर है, परंतु यहाँ तक पहुँचने के लिये काफ़ी सुप्रबंध है। यात्री लोग यहाँ बराबर आया-जाया करते हैं, और प्रकृति का यह अपूर्व दृश्य देखकर विस्मित एवं प्रसन्नचित्त होते हैं। इसी झरने के समीप की भूमि में सोना और हीरा विशेष रूप से पाया जाता है, तथा कुछ अन्य उपयोगी वस्तुएँ भी मिलती हैं। इस झरने में इतनी शक्ति है कि इससे बहुत-सी मिलें चल सकती हैं।

जंगल में सोना

स्मरण रहे, इस देश में केवल काष्ठादिक पदार्थ अथवा नदियाँ ही अधिक नहीं हैं, बल्कि सोना और हीरा-जैसी अमूल्य वस्तुएँ भी यहाँ पाई जाती हैं। 'मज़रोनी'-नामक नदी विनिज़ुला-राज्य की सीमा के समीप से निकलती है। उसी स्थान के पास से ही पोटैरो और इसोकुबो आदि कई नदियाँ भी निकलती हैं। इन्हीं नदियों की तराई में सोना और हीरा पाया जाता है। पहले-पहल सोना मज़रोनी-नदी के रेत में पाया गया था। लोग नदी की रेत को धो-धोकर अब भी बहुत-सा सोना एकत्र करते हैं। परंतु खानें खोदकर भी अधिक सोना निकाला जाता है। इस प्रकार सोने की प्राप्ति में वृद्धि देखकर इस ओर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। और, अब काफ़ी पूँजी लगाई जा रही है। अच्छी-अच्छी मशीनों से भी काम लिया जा रहा है, तथा चतुर लोगों का भी योग इसमें है। सोना-विषयक कार्य सबसे पहले सन् १८८४ ई० में आरंभ हुआ था। उस साल केवल



रूपननी-जंगल का एक दृश्य

२१० औंस सोना बाहर भेजा गया था। किंतु थोड़े ही समय बाद सोना अधिक पाया गया, यहाँ तक कि सन् १८६१ ई० तक सब मिलाकर, १,००,००० औंस प्राप्त हो गया। इसके बाद प्रतिवर्ष लगभग ५०,००० औंस पाया जाने लगा। सन् १९१३ ई० में ८२,००० औंस और सन् १८८१ ई० से लेकर सन् १९१८ ई० तक लगभग ९२,५०,००० पौंड का सोना २५,००,००० औंस से कुछ अधिक इस उपनिवेश से बाहर भेजा गया।

सन् १९१७ ई० की पहली जुलाई से सन् १९१८ ई० की ३० जून तक जितना सोना भिन्न-भिन्न स्थानों से प्राप्त हुआ, उसका ब्योरा इस प्रकार है—

	औंस	पेनीवेट	ग्रेन
बीमा	२,६१६	१६	६
बरामा	५०१	१५	१
कुयूनी	१,९०८	४	०
पुरूनी	२,६६६	१६	३
मज़रोनी	४,६२१	११	१६
इसीकुबो	३६५	२	२१
पोटैरो	१२,५८७	३	४

अब यह जानना चाहिए कि २४ ग्रेन का एक पेनीवेट, और २० पेनीवेट का एक औंस होता है। अथवा यह कि २ तोले और आठ माशे का एक औंस, और एक माशा और ४⅘ रत्ती का एक पेनीवेट अर्थात् ८ रत्ती का १५ ग्रेन होता है। इस हिसाब से ८६४ सेर ७ छटाक ६ माशे के लगभग सोना सन् १९१७ ई० की पहली जुलाई से लेकर ३० जून सन् १९१८ ई० तक प्राप्त हुआ।

हीरा और अन्य खनिज पदार्थ

जिस भूमि में सोना पाया जाता है, उसी भूमि तथा उसके समीप ही हीरा भी मिलता है। सन् १९०१ ई० से लेकर सन् १९१८ ई० तक १,४८,८०६ करात * हीरा पाया जा चुका है। सन् १९०७ ई० में २,००० क़रात मिला था, किंतु १९१७ ई० में १६,६८५ क़रात। सन् १९१५ ई० से लेकर सन् १९१८ ई० तक हीरे की प्राप्ति का औसत प्रतिवर्ष १२,१७३ क़रात रहा है। सन् १९१८ ई० में ३४,९२५ पौंड का हीरा उपनिवेश से बाहर भेजा गया।

उक्त दोनों पदार्थों के सिवा इस उपनिवेश के दो और खनिज पदार्थ हैं—एक बाक्साइट (Bauxite), दूसरा मीका (Mica)। ये दोनों भी उपयोगी वस्तुएँ हैं। ये चीज़ें भी बाहर बहुत जाती हैं। परंतु यह भी ज्ञात रहे कि उक्त सारी चीज़ों की प्राप्ति में वहाँ के निग्रो बड़े काम के हैं।

कुछ अन्य बातें

बालकों की शिक्षा अनिवार्य है। हर तरह की शिक्षा का प्रबंध है। बालिकाओं की शिक्षा अनिवार्य नहीं, किंतु बहुत-सी लड़कियाँ पढ़ती हैं। सरकारी विद्यालयों के सिवा ईसाइयों और जनता की ओर से भी शिक्षा का प्रबंध है। खेती-बारी नवीन ढंग से होती है। पैदावार भी अच्छी रहती है। लगान बहुत ज़्यादा नहीं है। जंगल काट-काटकर ज़मीन खेती के लायक़ बनाई जा रही है। भारत के लोग स्वतंत्र रूप से जायँ, और अपना कामकाज करें, तो बड़ा लाभ उठा सकते हैं। सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ अर्थात् सन् १६१६ ई० में पहलेपहल यहाँ डच लोग आ बसे थे। इनके ही द्वारा यहाँ अनेक प्रकार के फल आदि पहुँचे थे, जो अब यहाँ खूब पैदा होते हैं। यहाँ की भूमि नर्म है, और वर्षा भी अच्छी होती है।

प्रायः सभी मृतक गाड़े जाते हैं। किंतु जो लोग यह कह जाते हैं कि हम समुद्र में फेंके जायँ, वे समुद्र ही में फेंके जाते हैं। यदि किसी के यहाँ लड़का पैदा हो, तो १४ दिन के भीतर सरकारी दफ़्तर में नाम लिखा देना चाहिए; नहीं तो जुरमाना अवश्य हो जाता है। विवाह गिरजाघर में होता है, अथवा लाइसेंस मैरिज (License marriage) होती है, अर्थात् मैजिस्ट्रेट के यहाँ लिखा देना पड़ता है। केवल थोड़े-से हिंदू या मुसलमानों के विवाह भारतीय ढंग से होते हैं। यहाँ परदे की चाल किसी भी जाति के लोगों में नहीं है *।

महेशप्रसाद मौलवी

---

* एक करात तोल में लगभग ३ ग्रेन के बराबर होता है। ग्रेन और रत्ती आदि की बाबत, सोने के संबंध में, भली भाँति लिखा जा चुका है। किसी-किसी ने १ करात की तोल ३ या ४ रत्ती भी लिखा है।—लेखक।

* इस लेख के लिये मैं अपने ब्रिटिश-गायनानिवासी मित्र श्रीबाबूलाल तिवारीजी का आभारी हूँ; क्योंकि उन्होंने कृपा करके जो कुछ मुझे बतलाया है, उसी के आधार पर मैं इसे लिख सका हूँ।—लेखक।

पतझड़ समीर

(चतुर्दशपदी)

चल, वसंत-बाला-अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त ;
आतीं मलयानिल की लहरें जब दिनकर होता है अस्त ।
मधुकर से कर संधि, विचर कर उषा नदी के तट—उस पार ;
चूसा रस पत्ती-पत्ती से, फूलों का दे लोभ अपार ।
लगे रहे जो अभी डाल से बने आवरण फूलों के ;
अवयव थे, शृंगार रहे, जो वनबाला के झूलों के—
आशा देकर गले लगाया, रुके न वे फिर रोके से ;
उन्हें हिलाया, बहकाया भी, किधर उड़ाया झोंके से ।
कुम्हलाए, सूखे, ऐंठे, फिर गिरे अलग हो वृंतों से ;
वे निराश मर्माहत होकर, कुसुमाकर के कुंतों-से ।
नव पल्लव का सृजन! तुच्छ है, किया वात से वध जब क्रूर ;
कौन फूल-सा हँसना देखे, हैं अतीत से भी अब दूर ।
लिखा हुआ उनकी नस-नस में इस निर्दयता का इतिहास ;
तू अब 'आह' बनी घूमेगी, उनके अवशेषों के पास ।

जयशंकर "प्रसाद"

भारतीय विश्वविद्यालय



सब देशों में मुख्य शिक्षा वहाँ की देश-भाषा में दी जाती है । कई कार्यों के लिये किसी आकर-भाषा में शिक्षा का कार्य भी होता है । पर साधारण ज्ञान-विज्ञान, जिनका प्रतिदिन जीवन में काम पड़ता है, देश की साधारण बोली में सिखाए जाते हैं । तो भी विरल प्रचारवाले कुछ दर्शन तथा कठिन गणित आदि के विषयों का विकास चिर-काल से एक रूप तथा अनेक देशों में, थोड़े-बहुत प्रचार-वाली किसी आकर-भाषा के द्वारा ही होता है । निर्वचन आदि कितने ऐसे विषय भी हैं, जिनके ज्ञान के लिये आकर-भाषाओं की बड़ी ज़रूरत पड़ती है । यही स्वाभाविक शिक्षा का प्रकार है । योरप, अमेरिका, जापान आदि में इसी प्रकार की शिक्षा दी जा रही है । जर्मनी, इँगलैंड, फ्रांस आदि में मुख्य शिल्पकला आदि की शिक्षा जर्मन, इँगलिश, फ्रेंच आदि देशी भाषाओं में होती है, और विरल प्रचार तथा मौलिक अनुसंधानों के लिये लैटिन, ग्रीक, संस्कृत, अरबी आदि आकर-भाषाओं का अभ्यास किया जाता है । किसी-किसी देश में लोग कभी-कभी विदेशी भाषाओं का राजकीय होने या उनके अमूल्य गुणों के कारण भी अभ्यास करते हैं । जहाँ तक राजकीय कार्यों अथवा शिल्प-कला आदि विषयों के संग्रह तथा साहित्य-सौंदर्य आदि के लिये विदेशी भाषाओं का अभ्यास किया जाय वहाँ तक लाभ के सिवा हानि नहीं हो सकती । पर साधारण शिल्प-कला आदि जीवन के दैनिक कार्यों के लिये यदि विदेशी भाषा ही में शिक्षा दी जाय, अथवा शिल्पकला आदि की शिक्षा ठीक से हो ही नहीं, और मौलिक अन्वेषण के लिये भी विदेशी भाषा ही की शरण ली जाय, तो देश की बड़ी हानि होती है । हमारे देश की आज यही दशा है । यहाँ प्रथम तो शिल्पकला आदि की शिक्षा का ठीक प्रबंध नहीं है । कुछ लोग आई०ए० बी०ए० के बदले आई०एस्-सी०, बी० एस्-सी०, इंजीनियरिंग आदि की डिग्रियों के लिये पढ़ते भी हैं तो उनसे न तो हाथ का काम होता है, और न उनका बीस वर्ष तक विदेशी भाषा में परिश्रम करने के बाद ऐसा दिमाग़ ही रह जाता है कि वे मौलिक अन्वेषण, आविष्कार आदि कर सकें । इन बेचारों को नौकरी के सिवा भोजन का अन्य कोई उपाय नहीं । इसलिये जो पुलीस-सब-इंस्पेक्टरी आदि का काम पहले निरक्षर लोग या हाल में मिडिल-पास लोग बड़ी बहादुरी से निबाह लेते थे, और जो हद-से-हद आर्ट-कोर्सवाले भी आज कर लेते हैं, उन्हीं नौकरियों में प्रवेश पाने के लिये आज साइंस-कोर्सवाले भी बाध्य होते हैं । अस्तु, जहाँ तक छात्रवृत्ति या नौकरी की प्रतिज्ञा मिले, वहाँ तक तो ऐसी शिक्षा व्यर्थ नहीं कही जा सकती । पर यदि नौकरी या शिल्पकला मौलिक अन्वेषण आदि की दुराशा से देशी शिक्षा का समस्त स्थान और भार विदेशी शिक्षा को ही दे दिया जाय, तो इससे बढ़कर अन्य कोई दुर्भाग्य की बात नहीं हो सकती । इस देश में विशेषतः पश्चिमोत्तर-भारत में, पंद्रह-बीस करोड़ निवासियों की स्वाभाविक शिक्षा सामान्यतः हिंदी में होनी चाहिए । मौलिक अनुसंधान आदि के लिये अँगरेज़ी में शिक्षा नियमित रूप से रहे । संसार के बहुत-से ज्ञान-विज्ञान आदि विषयों के मौलिक अनुसंधानों के लिये इँगलिश, जर्मन, फ्रेंच आदि भाषाओं के भी अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है । परंतु इसके साथ ही जब तक देश में साधारण शिक्षा का देश-

भाषा के द्वारा प्रबंध और मौलिक अनुसंधानों के लिये संस्कृत की उन्नत शिक्षा की व्यवस्था के केंद्र नहीं स्थापित होंगे, तब तक देश का कल्याण नहीं।

इसी दृष्टि से देश के कतिपय सज्जन एक आदर्श भारतीय विश्वविद्यालय स्थापित करने का विचार कर रहे हैं। जैसे कलकत्ता, अलीगढ़, मदरास, बंबई, मैसूर, काश्मीर, ढाका, लखनऊ, प्रयाग पंजाब, नागपुर आदि विश्वविद्यालय मुख्यतः अँगरेज़ी में शिक्षा देकर ऐसे लोगों को शिक्षित करने के लिये बने हैं, जिन्हें राज-काज में भाग लेने की इच्छा रहती है, वैसे ही हमारा यह विश्वविद्यालय उन लोगों के लिये स्थापित हो रहा है, जो या तो ऐसे दरिद्र हैं कि पूर्वोक्त विश्वविद्यालयों में शिक्षा के व्यय का भारी बोझ नहीं उठा सकते, या जिन्हें बीस वर्ष तक विदेशी भाषा में परिश्रम करने का, आँख और पीठ आदि में, दम नहीं है; अथवा अपने पास धन होने के कारण या अन्य किसी कारण से अति कष्टसाध्य—और आजकल की छात्र-संख्या की अधिकता के कारण निष्फलप्राय—आधुनिक शिक्षा में जिनकी प्रवृत्ति नहीं है, ऐसे लोगों के सुशिक्षित करने के लिये हमारा विश्वविद्यालय बनाया जा रहा है। बस्ता आदि बाँधने की शिक्षा अर्थात् कचहरी आदि काम के लायक़ शिक्षा के लिये ज़रूरत से ज्यादा प्रबंध देश में पहले से है। इस शिक्षा के लिये एक-एक बालक के अभिभावक को चार-पाँच हज़ार या इससे भी अधिक रुपए, और स्वयं बालक को प्रायः समस्त स्वास्थ्य (परिपाक, दृष्टि आदि शक्तियाँ) तथा बीस-पचीस वर्ष आयु के देने पड़ते हैं। पहले ऐसी प्रणाली से शिक्षित लोगों की संख्या कम थी, इसलिये सभी हज़ारों ही का महीना तो नहीं, पर साधारणतः दस-बीस वर्ष के परिश्रम से वकालत आदि या नौकरी के द्वारा सौ-पचास का महीना कमा लेते थे। पर अब वकालत आदि में कभी-कभी दस रुपए भी दुर्घट हो रहे हैं। और, नौकरी की यह दशा है कि बी० ए०-वाले को पहरेदारों का काम भी नहीं मिल रहा है! ऐसी दशा में बस्ता बाँधने की शिक्षा के साथ-साथ देश में सस्ती शिक्षा का प्रबंध होना चाहिए। ऐसा प्रबंध होना चाहिए कि जिनको फ़ीस देने की शक्ति नहीं वे भी विदेशी भाषा के अभ्यास में स्वास्थ्य खोए बिना अपनी स्वाभाविक भाषा में आसानी से, थोड़ी उमर में, उपयुक्त शिल्पकला की शिक्षा पाकर, स्वतंत्रता से कुटुंब का भरण-पोषण करने के साथ-साथ समय पाकर नए-नए आविष्कार आदि भी कर सकें। अधिकांश ग़रीब ही कभी-कभी ऐसे बुद्धिमान् होते हैं कि अवसर मिले, तो बहुत व्यय से शिक्षा प्राप्त हुए लोगों की अपेक्षा बहुत ही उत्तम कार्य कर सकें। पर इन्हें देश की ओर से अभी अवसर नहीं मिल रहा है। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली से इनको अपनी शक्ति दिखाने का अवसर मिलेगा। अपनी ही भाषा में सुशिक्षित होकर, हाथ-पैर के काम में लगने के कारण, सोचने-विचारने बहुतेरे लोग एडिसन् रौंट्ज़ेन, आइंस्टाइन आदि बड़े-बड़े वैज्ञानिक निकले हैं। इस देश में भी पहले बड़े-बड़े दर्शन और विज्ञान आदि के आचार्य ऐसी ही प्रणाली से शिक्षा पाकर हुए थे। पर आधुनिक शिक्षा से तो यहाँ सैकड़ों वर्ष में दो ही-एक अच्छे विद्वान् निकल सके हैं।

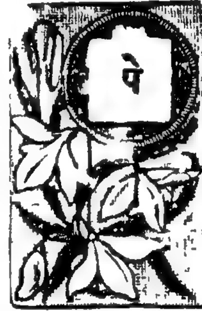
प्रस्तावित विश्वविद्यालय में एक मौलिक अनुसंधान का वृहत् केंद्र रहेगा, जिसमें दस-पंद्रह वैज्ञानिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक आदि विभाग रहेंगे। प्रत्येक विभाग में दस-पाँच उद्भट विद्वान्, जगत् का समस्त ज्ञान-विज्ञान संस्कृत तथा देश-भाषा में लाकर, उपयुक्त छोटे-बड़े ग्रंथों के निर्माण के अतिरिक्त और भी ज्ञान-विज्ञान के प्रचार का कार्य करते रहेंगे। इस अनुसंधान-केंद्र द्वारा प्रकाशित ग्रंथों का प्रचार देश-देशांतर में किया जायगा, और भारत को पुनः जगद्गुरुत्व की गद्दी पर बैठने का अवसर मिलेगा। इस विभाग के लिये मुद्रित तथा लिखित ग्रंथों का विशाल पुस्तकालय, औषधोद्यान, ग्रहवेधालय, यंत्रशाला, चित्रशाला, मुद्रणालय आदि अनेकानेक प्रबंध रखना पड़ेगा। इस अनुसंधान-केंद्र के स्थापन और परिचालन के लिये कितना अर्थसंचय, परिश्रम तथा आत्मत्याग अपेक्षित है, इसका नेता लोग स्वयं अनुमान कर सकते हैं। अकेले इस बड़े कार्य के लिये करोड़ों की संपत्ति और अनेकानेक नेताओं के आत्मत्याग की ज़रूरत है।

ऊपर कहे हुए केंद्र के साथ एक आदर्श पाठशाला भी रहेगी। उसके आदर्श पर और भी हज़ारों पाठशालाएँ देश में स्थापित होंगी। इस आदर्श पाठशाला में अनेक विभागों के द्वारा छात्रों के लिये अर्थकरी शिक्षा का सुप्रबंध होगा। प्रथम श्रेणी में मातृभाषा के द्वारा छात्रों को संक्षिप्त गणित, भूगोल, इतिहास आदि का सामान्य ज्ञान कराया जायगा। प्रायः पाँच से दस वर्ष तक के बालक इस विभाग में ऐसी शिक्षा पा जायँगे कि जर्मन, जापानी आदि

समान वय के बालकों से इनका सामान्य ज्ञान किसी प्रकार कम नहीं रहेगा। इन्हीं बच्चों के लिये दस-बीस ऊँची श्रेणियाँ भी रहेंगी। इन श्रेणियों में प्रत्येक में या कभी-कभी एक से अधिक में अलग-अलग एक-एक बालक का समावेश होगा। दस से पंद्रह वर्ष तक की उमर का बालक इन विभाजित श्रेणियों में शिक्षा पाकर लोहार, चमार, ठठेर, कसेरा, गायक, वादक, कथक, हलवाई, अध्यापक आदि में से एक या कभी-कभी अनेक शिल्पकलाओं में प्रवीण होकर, सोलहवें वर्ष की अवस्था में किसी स्वतंत्र शिल्पकला से अपनी वृत्ति का प्रायः घरबैठे प्रबंध कर सकेगा, और कभी-कभी नए आविष्कार भी करने में समर्थ होगा। इन सामान्य शिक्षित शिल्पकलावाले छात्रों में कुछ बहुत ही तीक्ष्ण बुद्धिवाले चुनकर, छात्रवृत्ति देकर इँगलिश, जर्मन, फ्रेंच, जापानी आदि भाषाएँ सिखाकर, अनुसंधान केंद्र से विदेश भेजे जायँगे, और वहाँ से संग्रह कर ज्ञान-विज्ञान का विकास देश में करेंगे। जो दूसरी प्रवृत्ति के होंगे, वे संस्कृत का गंभीर ज्ञान कराकर व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि के अनुसंधान में लगा दिए जायँगे। प्रायः ये दो प्रकार के चुने हुए विद्यार्थी आश्रम ही के कार्य में अपना जीवन व्यतीत करेंगे। इस संस्था के अध्यापक, संचालक आदि बूढ़े-सूढ़े लोहार, चमार तथा दर्शन, इतिहास आदि के प्रेमियों को शिल्पकला, दर्शन और विज्ञान आदि के तत्त्वों के समझने में यथावसर सहायता दिया करेंगे। जो जिस बात के समझने के योग्य होगा, उसे कार्य-रूप से समझाने के लिये आश्रम के सभी लोग तत्पर रहेंगे। रुपया, रस्म और रूखी या बाहरी भाषा के कारण यहाँ के शिक्षा पाने-योग्य बालक शिक्षा से वंचित रह जाते हैं, या अनुपयुक्त शिक्षा का महाभार जन्म-भर ढोते हुए "स्थाणुरयं भारवाहः किलाभूत्, यथा खरश्चन्दनभारवाहः" आदि लौकिक, वैदिक कहावतों के उदाहरण बने रहते हैं। इससे विश्वविद्यालय में किसी छात्र से रुपया नहीं लिया जायगा। किसी से यह नहीं पूछा जायगा कि वह कौन परीक्षा पास है। जो जिस विद्या के ग्रहण करने-योग्य और उत्सुक होंगे, उन्हें वही बतलाई जायगी। विशेष योग्यता और इच्छा न रहने से वे स्वयं दूसरे कार्य पर नहीं हटेंगे। सबकी शिक्षा और विद्याएँ मातृभाषा में बतलाई जायँगी, जिससे रुपया या विदेशी भाषा में मैट्रिक के लिये पंद्रह-बीस वर्ष लगातार आँख आदि खोए और नौकरी न मिलने से अंत में नैराश्य-नीरद में पड़े बिना ही हमारे बालक सुशिक्षित, वीर और स्वतंत्र होकर, शासक और शासनीय, परकीय तथा आत्मीय, सभी की भलाई की चेष्टा आजन्म करते रहेंगे। देश में पुनः दीर्घायु तथा निरुपद्रव, स्वस्थ, ज्ञान एवं धर्ममय जीवन का सदा के लिये विकास होगा, और पुनः पाणिनि, पतंजलि, विष्णुगुप्त, चरक, भास्कर, शंकर आदि या न्यूटन, डार्विन, कांट, हेगेल के सदृश विद्वान् यथावसर देख पड़ेंगे।

रामावतार शर्मा

परलोकविद्या-कांग्रेस



पेरिस-नगर में पिछले दिनों परलोक-वाद से संबंध रखनेवाली समस्त संसार की जो बड़ी अंतरराष्ट्रीय कांग्रेस हुई थी, उसका विवरण देने के पूर्व मैं अपने अनुभव की थोड़ी-सी बातें लिख देना उचित समझता हूँ। उपर्युक्त महान् समारोह में सम्मिलित होने के उपलक्ष्य में मुझे जो समुद्र-यात्रा करनी पड़ी थी, ये अनुभव उसी समय प्राप्त हुए थे।

मेरी समुद्र-यात्रा १५ अगस्त (सन् १९२५) को प्रारंभ हुई थी। समुद्र अत्यंत क्षुब्ध था, और इसके कारण मैं और मेरे साथी उस जहाज़ के सभी भारतीय यात्री समुद्र-रोग (समुद्र-यात्राजन्य मिचली) से पीड़ित हो गए। हम लोगों का यह कष्ट अदन तक बराबर जारी रहा। उक्त स्थान में, एक गुजराती-होटल में, हम लोगों को भारतीय भोजन प्राप्त हुआ। इससे हम लोगों को बड़ी शांति मिली ; क्योंकि अभ्यस्त भोजन न मिलने से भारतीय यात्रीगण सचमुच अनशन ही कर रहे थे। अदन से आगे बढ़ने पर हम लोगों की दशा बहुत कुछ सुधर गई। शेष यात्रा-भर समुद्र शांत और आनंदप्रद था। जहाज़ पर सिनेमा के खेल भी होते थे, इससे लंबी यात्रा की मनहूसियत बहुत कुछ भंग हो गई, और रात्रि का समय अत्यंत आनंद के साथ कटने लगा। पहली सितंबर को हम लोग जिनेवा पहुँचे। वहाँ मैंने ट्यूरिन-लौन-मार्ग होकर पेरिस जानेवाली गाड़ी से यात्रा की, और दूसरे दिन पहुँच गया।



वी० डी० ऋषि

पेरिस के अंतरराष्ट्रीय परलोकवाद-संघ की ओर से कांग्रेस की व्यवस्था की गई थी। उक्त संघ की कार्य-कारिणी-समिति के अधिवेशन चौथी-पाचवीं सितंबर को हुए। यद्यपि मैं इस समिति का सदस्य न था, तथापि मुझे उसके अधिवेशनों में उपस्थित होने की आज्ञा विशेष-रूप से प्राप्त हो गई थी। कांग्रेस का जो कार्य-क्रम निर्धारित किया गया था उसमें कुछ परिवर्तन भी हुए। जिस कार्य-क्रम के अनुसार कार्य हुआ, उसमें पूर्व कार्य-क्रम की कई बातें निकाल डाली गई थीं। Maison de Spirites में ६ सितंबर को ८ बजे सवेरे कांग्रेस-कार्य का आरंभ हुआ। कुछ मिनटों के बाद सर आर्थर कैनन डॉयल पधारे, और भिन्न-भिन्न देशों के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने देशों की ओर से हर्षध्वनि में स्वागत किया। मैंने यह निर्देश किया कि यद्यपि साधारणतः परलोकवाद के सिद्धांतों पर भारत का विश्वास है तथापि प्रयोगात्मक दृष्टि से अभी यह आंदोलन भारत में शैशवावस्था ही में है, तथा उसके संरक्षण की निरंतर आवश्यकता है। इस कांग्रेस में २४ देशों के निवासी पधारे थे। प्रतिनिधियों की संख्या पचास थी।

कांग्रेस के साथ परलोकवाद-प्रदर्शिनी की भी व्यवस्था की गई थी। इसका उद्घाटन ११ बजे दिन को हुआ। यहाँ परलोक-गत प्राणियों के छायाचित्र, मीडियम द्वारा प्राप्त चित्र, परलोक-गत प्राणियों के आवेश से संपादित लिपि तथा परलोक-प्राप्त प्राणियों के शरीर-धारणसूचक साँचे आदि रक्खे थे। उद्घाटन के अवसर पर प्रतिनिधियों के अतिरिक्त सैकड़ों दर्शक भी मौजूद थे।

कांग्रेस का संपूर्ण अधिवेशन दोपहर के बाद ३ बजे दिन को आरंभ हुआ। स्थान—(Societies de Savantes) का हाल—खचाखच भरा हुआ था। अंतरराष्ट्रीय परलोकवाद-संघ के सीनियर सदस्य मि० लियान डेनिस ने प्रतिनिधियों और दर्शकों का स्वागत करते हुए एक मर्मस्पर्शिनी वक्तृता दी। उपस्थित जनता व्याख्यान के बीच में हर्षध्वनि भी करती जाती थी। इसके बाद परलोकवाद-संघ के सभापति मिस्टर बेरी का व्याख्यान हुआ, और फिर प्रत्येक प्रतिनिधि का परिचय दिया गया। परिचय के समय जनता प्रत्येक प्रतिनिधि के नाम का सोत्साह हर्षध्वनि के साथ अभिनंदन करती थी। इस उत्साह-पूर्ण अभिनंदन के उत्तर में प्रत्येक प्रतिनिधि भी आदर के साथ जनता को प्रणाम करता था।

सर कैनन डॉयल का व्याख्यान

साढ़े आठ बजे रात को इसी हाल में सर कैनन डॉयल का व्याख्यान हुआ। व्याख्यान में परलोक-गत प्राणियों के असाधारण चित्र भी दिखलाए गए। हाल में प्रवेश न पा सकने के कारण बहुतेरे लोगों को निराश होकर लौट भी जाना पड़ा। लोगों के उच्छृंखल उत्साह तथा मैजिक लैंटर्न के संचालकों द्वारा चित्रों के दिखलाने में भूलें होने से व्याख्यान के पूर्ण प्रभावशाली होने में न्यूनता आ गई थी। Maison de Spirites में दूसरे दिन प्रातःकाल फिर कांग्रेस का कार्य आरंभ हुआ। पहले अंतरराष्ट्रीय परलोकवाद-संघ के संघटन की कुछ बातों को पूरा करके, कार्य-क्रम के चार विभागों के विषयों पर विचार करने के लिये चार कमेटियाँ बनाई गईं। ये भारतीय नेशनल कांग्रेस की विषय-निर्धारिणी समितियों के ही समान थीं। प्रतिनिधि और सदस्यों को स्वतंत्रता थी कि वे इन चार में किसी एक को चुन लें। फिर, उनको यह भी स्वाधीनता थी कि यदि चुनी हुई कमेटी और किसी दूसरी कमेटी के निश्चित समय में संघर्ष न हो, तो प्रतिनिधि



परलोकविद्या-परिषद्

(खड़े हुए)—१. मि० ग्रिमशा (अमेरिका)

२. मि० वी० डी० ऋषि (भारतवर्ष)

(बैठे हुए)—३. मिसेज़ केलवलेंडर (अमेरिका)

४. मि० टायलर (इँगलैंड)

या सदस्य अन्य कमेटियों में भी भाग ले सकते हैं। इन चार कमीशनों में प्रयोगवाद, सिद्धांतवाद, धर्म और परलोकविद्या-वाद के प्रचार-संबंधी विषय थे। मैंने चौथे कमीशन को चुना था, पर अवसर मिलने पर अन्य कमीशनों में भी उपस्थित होता था। जो सदस्य उत्साह के साथ काम करते थे, उनमें आपस में वाद-विवाद भी खूब होता था। कांग्रेस के दूसरे और तीसरे दिन कमीशनों का काम होता रहा, और तीसरे दिन रात को ९ बजे Maison de Spirites में एक संगीत-मंडली द्वारा सदस्यों की अभ्यर्थना की गई। इस अवसर पर जो साइकोमेट्रिक * प्रयोग किए गए, वे अत्यंत महत्त्व-पूर्ण थे।

पेरिस की अध्यात्मशाला

चौथे दिन भी कमीशनों का काम होता रहा, और कांग्रेस के अनुमोदन के लिये रिपोर्टें तैयार की गईं। उसी दिन रात को ९ बजे Societies de Savantes में लैंटर्न के चित्रों द्वारा, पेरिस की अध्यात्मशाला का कार्य दिखलाने के लिये, एक सार्वजनिक व्याख्यान की व्यवस्था की गई। जो स्लाइड्स दिखलाई गई थीं, उनमें परलोक-वासी प्राणियों के स्थूल अंगों के चित्र भी थे। जनता पर इनका बड़ा प्रभाव पड़ा। सर विलियम क्रुक्स, फ्लैमेरियन तथा और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्तियों ने परलोकविद्या-संबंधी जो प्रयोग और अनुभव प्राप्त किए हैं, उनका प्रदर्शन भी सिनेमा के द्वारा किया गया।

पाँचवें दिन प्रातःकाल Maison de Spirites में चारों कमीशनों का एक संपूर्ण अधिवेशन इस अभिप्राय से किया गया कि उसी दिन ३ बजे दिन को होनेवाली कांग्रेस के सम्मुख उसकी रिपोर्ट उपस्थित की जा सके, जिसमें सबका एक मत हो। संघ के जेनरल सेक्रेटरी ने कमीशन की रिपोर्टों को पढ़ सुनाया, और उन पर वाद-विवाद हुआ। फिर कार्य-क्रम के अनुसार कार्य किया गया। ऐलफ्रेड किट्सन महोदय ने 'परलोकविद्या-वाद और बालक'-नामक एक निबंध लिखा था। कांग्रेस में यह निबंध छठे दिन पढ़ा जाने को था, लेकिन पढ़ा पाँचवीं तारीख़ को ही गया। मिस्टर किट्सन ब्रिटिश-स्पिरिचुअलिस्ट लीसियम-यूनियन के प्रतिनिधि थे। आपके निबंध में परलोकविद्या-वाद और बालकों के संबंध पर विचार किया गया है। जो बालक थोड़ी उमर में मर जाते हैं,

* मृत प्राणी से संपर्क रखनेवाली वस्तु को (आभूषण-वस्त्रादि) लेकर प्रयोग द्वारा मृत प्राणी के विषय में बहुत-सी बातें बतला दी जाती हैं। जिस विद्या से यह कार्य संपादित होता है, उसे साइकोमेट्री कहते हैं।

उनका क्या होता है, इसके विषय में प्रायः संसार कुछ नहीं जानता। ब्रिटिश और अमेरिकन स्पिरिचुअलिस्ट्स ने परलोकविद्या-वाद की शिक्षा देने के लिये बड़े-बड़े लीसियम्स खोल रक्खे हैं। इनमें बालकों को शिक्षा दी जाती है।

प्रतिनिधियों का प्रीति-भोज

उस रात को कांग्रेस के प्रतिनिधियों और सदस्यों को डचेज़ हैमिल्टन ने एक प्रीति-भोज दिया। यह बड़ा ही मनोरंजक भोज था। भोज के अवसर पर प्रतिनिधियों ने परलोकविद्या-वाद से संबंध रखनेवाली अपनी निज की घटनाओं का वर्णन किया। मुझे भी १० मिनट का समय दिया गया, और मैंने अपने अनुभव की दो बातों का वर्णन किया। फलाहार के उपरांत कुछ साइको-मेट्रिक प्रयोग भी किए गए।



सौ० प्रभावतीबाई ऋषि

(श्रीऋषिजी की द्वितीय पत्नी)

कांग्रेस का संपूर्ण अधिवेशन छठे दिन प्रातःकाल और दोपहर को हुआ। इस अवसर पर कांग्रेस में नियुक्त कमीशनों की रिपोर्टें स्वीकृत हुईं। कमीशनों की रिपोर्टों में जिन बातों का उल्लेख किया गया है, उनमें कुछ इस प्रकार की हैं—परलोकविद्या-वादियों का एक विशेष झंडा और बैज रहे। Hydes ville में एक अंतरराष्ट्रीय परलोक-विद्यावादियों का स्मारक बनाया जाय। इनके अतिरिक्त जिन भिन्न-भिन्न राज्यों की सरकारें इस विद्या को झूठी कहती हैं, और उसके प्रसार में बाधक हैं, उनसे यह प्रार्थना की गई कि वे ऐसा न करें।

Salle Wagram में सर आर्थर ने अपना दूसरा व्याख्यान दिया। यह स्थान भी श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। हाल में पर्याप्त स्थान न होने से हज़ारों लोग बाहर खड़े रहे। बड़े-से-बड़े आशावादी को भी इतनी भीड़ की संभावना न थी। इससे पेरिसवालों के उत्साह की पूर्ण सूचना मिलती है। व्याख्यान के अवसर पर कोई असाधारण बात नहीं हुई, और जनता बड़े ध्यान से शांति-पूर्वक सुनती रही।

कांग्रेस का अंतिम दिन

अंतिम दिन ३ बजे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, और एकमत से निम्न-लिखित निर्णय स्वीकृत किए गए—

१ ईश्वर की सत्ता, जो ज्ञानमय और सबका स्रष्टा है।

२ आत्मा की सत्ता, जो इस लौकिक जीवन में पार्थिव और नाशमान शरीर से, एक मध्यस्थ के साथ, जुड़ी रहती है। यह मध्यस्थ पेरी स्पिरिट या फ़्लूइडिक अक्षय शरीर कहलाता है।

३ आत्मा की अमरता तथा जीवन की प्रगतिशील अव-स्थाओं के द्वारा विकास तथा संपूर्णता की ओर प्रगति।

४ सब प्राणियों के प्रति व्यक्तिगत और सामूहिक, सार्वभौम उत्तरदायित्व।

जब सभापति का अंतिम भाषण समाप्त हो गया, तो प्रतिनिधियों ने अपने-अपने देश की ओर से धन्यवाद किया। निकट भविष्य में भारत में भी कांग्रेस हो सकेगी, इस आशा से लोग बहुत प्रसन्न हुए। जब मैं योरप जा रहा था, तो मुझे बिदा करने के लिये भारत में एक सभा हुई थी। इस सभा के सभापति ने अपने भाषण में जो बातें कही थीं, उन्हीं पर मेरा कथन अवलंबित था।

रविवार का दोपहर लौटे Versailles Chateau तथा अन्य स्थानों में सैर-सपाटे के लिये व्यवस्था की गई थी। परंतु यह प्रबंध ऐच्छिक था, और बहुत थोड़े-से कांग्रेसवालों ने इससे लाभ उठाया।

सब मिलाकर संपूर्ण कांग्रेस में उत्साह के साथ काम हुआ, और प्रत्येक काम में भीड़ रही। यह प्रश्न किया जा सकता है कि कांग्रेस का प्रत्यक्ष फल क्या निकला? किंतु ऐसे सम्मेलन का, जिसमें संसार-भर के लोग एकत्रित हुए हों, कोई तात्कालिक परिणाम नहीं बतलाया जा सकता। जिन लोगों को इस मामले से दिलचस्पी है, उनकी आपस में सैकड़ों मुलाक़ातें हुईं, और निश्चय ही इन मुलाक़ातों से आंदोलन को प्रोत्साहन मिला। कांग्रेस से यह बात भी प्रकट हुई कि भिन्न-भिन्न देशों के उन्नतिशील मनन करनेवालों का परलोकविद्या-वाद के आवश्यक सिद्धांतों में एक मत है। खानगी मुलाक़ातों द्वारा विचार-परिवर्तन जितने महत्त्व-पूर्ण थे, उतने खुली कांग्रेस में स्वीकृत प्रस्ताव नहीं। कांग्रेस जिन निर्णयों पर पहुँची है, उनको जानकर हमारे देशवासी तो प्रसन्न ही होंगे; क्योंकि ऐसे विचारों पर हमारे देश में सर्वसाधारण का विश्वास पहले ही से है।

कुछ प्रयोग

कांग्रेस हो जाने के बाद मि० जेयर्न मेयर मेटाफ़िज़िकल इंस्टीट्यूट दिखलाने के लिये प्रतिनिधियों को Salla Wagram को ले गए। वहाँ पर Dr. Geley तथा अन्य प्रतिष्ठित सज्जनों ने प्रत्यक्ष दर्शन-संबंधी अपने स्मरणीय प्रयोग किए। मैं प्रयोगशाला, पैराफ़ीन—मोम—का पात्र, सियांस-गृह तथा अन्य औज़ार देख सकता था। मैंने यहाँ यह भी देखा कि वंचना को दूर करने और अच्छा-से-अच्छा फल प्राप्त करने के लिये कितना विशाल आयोजन कर रक्खा गया है। जब कांग्रेस हो रही थी, तब और उसके बाद भी मैंने तीन उत्कृष्ट Clair Voyant Mediums से मुलाक़ात की। मैं प्रारंभ ही में यह बतला देना चाहता हूँ कि ये लोग मेरे पूर्व इतिहास को कुछ भी नहीं जानते थे। फिर भी इन तीनों ने अलग-अलग जो वर्णन दिए, वे प्रायः एक-से थे। सभी ने मुझे बतलाया कि तुम्हारी प्यारी पत्नी परलोक में तुम्हारे पास ही खड़ी है। इन लोगों ने उसकी वेष-भूषा का जो वर्णन दिया, वह उसकी जीवित अवस्था की आकृति के समान ही था। एक मीडियम ने तो उसका नाम भी बतला दिया। इस मीडियम को मेरे चारों ओर एक प्रकाश का परिवेषण दिखलाई पड़ता था, और उसका कहना था कि मैंने जिस काम को अपनाया है, वह कुछ ही सालों में सफल होगा।



मृत पत्नी सौ० सुभद्राबाई ऋपि
(यही परलोक का रहस्य बतलाती हैं)

Clair Voyant Mrs. Lucilla ने बतलाया कि परलोकवासिनी स्त्री का कहना है कि "मैं भारत में काम करने के मामले में सलाह दिया करूँगी। आपके प्रति मेरा जो प्रेम है, वही भावी कार्य के लिये प्रोत्साहन का काम देगा। मैं खुल्लमखुल्ला आपको और आपके साथियों को मिलूँगी। जब तुम भारतवर्ष पहुँचोगे, तो मैं तुम्हें उन लोगों के खोज निकालने में मदद करूँगी, जो सजग हैं, और जो इस नए आविष्कार को समझते हैं।" इन्हीं से मुझे एक और भी संदेश मिला है। वह इस प्रकार है—

"प्रियवर, प्रतिदिन मेरा प्रेम आपके लिये बढ़ता जाता है। मैं आपकी प्रतीक्षा कर रही हूँ, और उचित समय पर जब आप आवेंगे, आपका स्वागत करने को तैयार रहूँगी। किंतु आपको अभी बहुत कार्य करना है। शौर्य, अध्यवसाय और सहनशक्ति का अवलंबन करो। आपने अब तक जैसा काम किया है, वैसा ही करते रहो, तो आपका मार्ग खुल जायगा। साधन और साहाय्य भी मिल जायँगे। चिंता मत करो। सब ठीक होगा। मैं आपके साथ रहती हूँ, और आपकी मीडियम (मिसेज़ राबर्टसन) से भेंट होने से मुझे बहुत खुशी हुई है।

मीडियम्स की शिक्षा

Maison de Spirites में एक दिन का अंतर देकर मीडियम्स के लिये सियांसों और शिक्षा की व्यवस्था थी। इनका काम फ़्रांसीसी-भाषा में हो रहा था, इसलिये मैं अपनी इच्छा के अनुसार सब बात सुन-समझ न सका। वहाँ पर मैंने मेज़ का उठना, Oniju board लिपि और Trance Mediumship के दृश्य देखे। इसके अतिरिक्त वे कुछ और मीडियम्स और दृश्य भी दिखला सकते हैं। परंतु जब मैं पेरिस में था, तब वे कहीं बाहर थे। इसलिये मैं उनकी शक्तियों से लाभ न उठा सका।

फ़्रांस की अपेक्षा इँगलैंड में परलोकविद्या-वाद विशेष उन्नत अवस्था में है। फ़्रांस में ध्वनि-श्रवण (direct voice) और परलोकवासियों के छाया-चित्र देखने को नहीं मिलते। कम-से-कम मेरे मित्र ने मुझे यही सूचना दी। और, यद्यपि मैं उनकी तलाश में बराबर पूछ-ताछ करता रहा, तथापि वैसे लोग मेरे देखने में नहीं आए। Metaphysical Institute में सूक्ष्म पदार्थ Ectoplasmic Medum Eva की बाबत कहा जाता है कि आजकल वह सियांस नहीं करता। जब मैं लंदन में आया, तो मेरे मित्र मिस्टर बुश ने मेरा परिचय कई आत्माओं और कई मीडियम्स से कराया। London Spiritualist alliance में मैंने Mr. Vont Peters के Clair Voyant प्रयोग देखे। इँगलैंड के बढ़िया-से-बढ़िया Clair Voyant Mediums में उसकी भी गणना है, और उस दिन के प्रयोग में उसने बहुत ठीक बातें बतलाई। मैं किसी व्यक्तिगत अनुभव के प्राप्त करने के लिये उत्सुक हो रहा था, और अधिक समय तक अधीर हो प्रतीक्षा करता रहा। आख़िर मीडियम ने बतलाया कि एक वयस्क भारतीय परलोकवासी मेरे निकट खड़ा है। उसने उसकी आकृति का भी वर्णन किया; पर मेरे ध्यान में ऐसी किसी मित्र की सूरत न आई। मैं तो परलोक में अपनी स्त्री की आशा कर रहा था। इस दृश्य से उन अविश्वासियों के संदेह का निराकरण होना चाहिए, जो इसकी सत्ता मानसिक कारणों से मानते हैं।

British College of Psychic Science में direct voice के भी एक सियांस की योजना की गई। इसमें मिस कूपर मीडियम थीं। सियांस में दस स्त्री और पुरुष इस अभिप्राय से बैठे कि वे अपने प्रिय मृत आत्मीयों की वार्त्ता सुन सकें। ये सियांस बिलकुल अंधकार में किए जाते हैं, और बैठनेवाले हाथ मिलाए रहते हैं। पहले दस मिनट तक संगीत होता रहा। इसके बाद वहाँ जो तुरहियाँ रक्खी थीं, उनके द्वारा कानाफूसी सुन पड़ने लगी। स्पिरिट-गाइड ने सबसे पहले मुझी को संबोधन किया। उसने कहा कि आपके पास एक भारतीय स्त्री की मृतात्मा खड़ी है। आप उससे अपनी भाषा में बातचीत कीजिए। यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, और स्वभावतः मैंने समझा कि परलोकवासिनी मेरी स्त्री ही आई है। मेरे प्रश्न के उत्तर में स्पिरिट-गाइड ने मुझको बतलाया कि मेरी स्त्री ही आई है। मैंने मराठी-भाषा में जो प्रश्न किए, उनके उत्तर इतने मंद स्वर में थे कि मुझे कठिनाई से सुन पड़ते थे, और मैं उन्हें समझ नहीं सकता था। परंतु इतना मैं अवश्य जान सका कि वे मेरी ही भाषा में कहे गए थे। यह

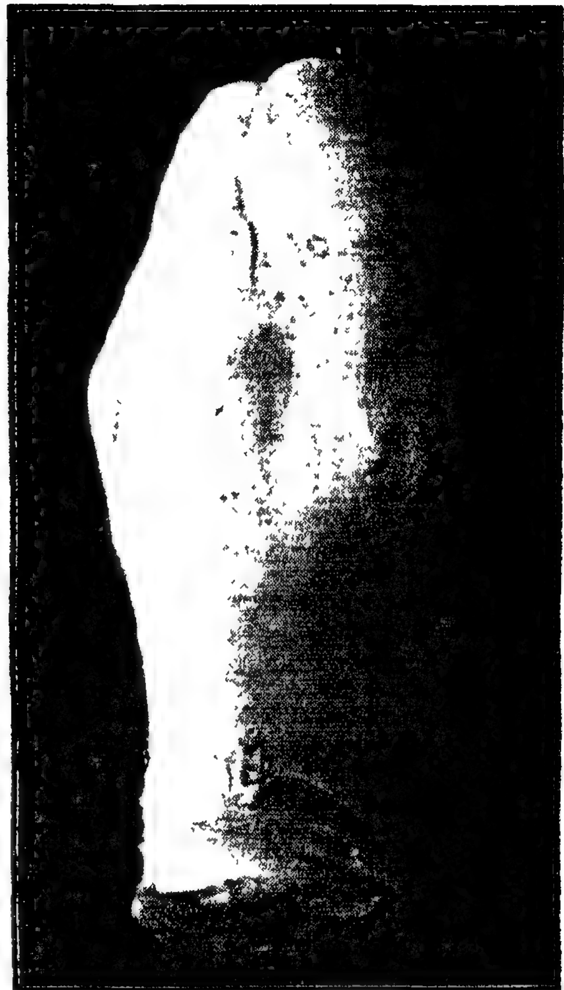


परलोक-गत प्राणी

मि० ऋषि　　　　　　　　स्त्री मीडियम

मुलाक़ात बहुत थोड़ी देर तक रही, और स्पिरिट-गाइड ने मुझे बतलाया कि मृतात्मा चली गई। सियांस के शेष काम में अन्य बैठनेवालों ने अपने संबंधियों की वाणी सुनी। एक बात यह भी बतलाने-योग्य है कि मेरी स्त्री ने मेरी जाँघ का स्पर्श किया था, और मेरे हाथ में एक फूल आ गया था। पाठकों को जान लेना चाहिए कि वहाँ बैठनेवालों में कुछ लोग फूल लाए थे।

मृतात्माओं के छाया-चित्र लेने की व्यवस्था श्रीमती डीन ने की थी। बैठनेवालों में मीडियम Mr. Bush, Mrs. Robertson और मैं था। चार प्लेटों में से दो में मृतात्माओं के चित्र आए थे। मुझे वहाँ पर अपनी स्त्री की भी आशा थी, विशेषकर जब सभी बैठनेवाले उसके विषय में दिलचस्पी ले रहे थे, और जब सूक्ष्मदृष्टि-युक्त मीडियम Mrs. Robertson बहुत देर से उसकी उपस्थिति का अनुभव कर रही थीं। परंतु जब प्लेट धोया गया, तो मृतात्मा का चेहरा योरपियन का निकला, भारतीय नहीं।



परलोक-गत प्राणी के हाथ का साँचा

(यह अत्यंत सूक्ष्म मसाले का बना है)

लंदन में मैंने Wembledon Spiritualist Church में स्थित Healing circle का भी निरीक्षण किया। इन सर्किल्स के द्वारा यह काम होता है कि यदि रोगी ने प्रार्थना की कि मुझे रोग अच्छा करने के लिये परलोक-प्राप्त सहायता दी जाय, तो यहाँ से रोगी के पास विचार-शक्ति प्रेषित की जाती है, तथा मित्र मृतात्माओं से रोगी को चंगा करने की प्रार्थना की जाती है। भारत में अभी ऐसे सर्किल नहीं हैं। यहाँ उनकी आवश्यकता है। इनसे परलोकविद्या-वाद की उपयोगिता भी पूर्णतः प्रति-पादित हो जायगी।

और दृष्टियों से भी मेरी लंदन-यात्रा उपयोगी सिद्ध हुई। सर आर्थर कैनन डॉयल ने भारत में काम में लाने के लिये मुझे मृतात्माओं के कुछ छाया-चित्र और स्लाइड्स दिए। पेरिस में मैंने आर्थर कैनन डॉयल के लैंटर्न-लेक्चर्स से जो अनुभव प्राप्त किया, उससे मुझे आशा होती है कि मेरे देशवासी ऐसे लेक्चरों का उत्साह-पूर्वक पसंद करेंगे।

विश्वनाथ-दामोदर ऋषि

बायोकेमिस्ट्री



गत वर्ष किसी महीने की माधुरी * मे एक लेख 'होमियोपैथी'-शीर्षक प्रकाशित हुआ था। उसके उपोद्घात में चिकित्सा की भिन्न-भिन्न प्रणालियों का कुछ वर्णन भी दिया गया था। उसमें बायोकेमिस्ट्री के संबंध मे केवल इतना ही बतलाया गया था कि इस प्रणाली में केवल १२ दवाएँ होती हैं, और यह बहुत-सी बातों में होमियोपैथी के समान है। आज हमारा विचार है कि बायोकेमिस्ट्री के संबंध मे अधिक विस्तार के साथ कुछ लिखें, तथा उसका मुख्य रहस्य बतलाने की चेष्टा करें।

'बायोकेमिस्ट्री'-शब्द का अर्थ है—जीवन (बायस) का रसायन-शास्त्र (केमिस्ट्री) अर्थात् वह शास्त्र, जिसके द्वारा जीवित पदार्थों अर्थात् प्राणियों के शरीर की बनावट और उसके क्रम का हाल ज्ञात होता है। चिकित्सा के संबंध मे इतना और भी लिख देना आवश्यक होगा कि उस शास्त्र से यह भी ज्ञात होता है कि शरीर की असाधारण अर्थात् रुग्ण अवस्था किस प्रकार हो जाती है, और जिस कमी के कारण ऐसी असाधारण अवस्था होती है, उसकी पूर्ति करके पुनः साधारण अवस्था (स्वास्थ्य) कैसे प्राप्त की जा सकती है।

अन्य शास्त्रों की तरह यदि बायोकेमिस्ट्री-शास्त्र भी सत्य है, तो इसका सिद्धांत सर्वदा सत्य होना चाहिए। फिर क्या बात है कि इसकी चर्चा लोगों में सौ-पचास वर्षों से ही है? पहले इसके सत्य सिद्धांत कहाँ गए थे? उत्तर में हम कह सकते हैं कि इस शास्त्र के सिद्धांत पुराने-से-पुराने समय में भी इतने ही सच्चे थे, जितने आज हैं; किंतु उनका पता पहले किसी को नहीं मिला था। जब पता मिला, तब उनकी ख्याति हुई। क्या डॉक्टर जेनर के पहले यदि कोई चेचक के टीके का पता लगाता, तो उसको उतनी ही सफलता न मिलती? क्या कोलंबस के पहले यदि कोई जहाज़ लेकर घूमता, तो उसे अमेरिका का महाद्वीप न मिलता? क्या वॉट साहब के पहले वाष्प में एंजिन चलाने की शक्ति नहीं थी? क्या न्यूटन के पहले पृथ्वी में आकर्षण-शक्ति सच-मुच नहीं थी? हम कह सकते हैं कि इसी प्रकार बायो-केमिस्ट्री के सिद्धांत सर्वदा सत्य थे, केवल उनका ज्ञान स्पष्ट रूप से मनुष्य को नहीं था।

अब इस सिद्धांत के पता लगने की कथा सुनिए। अब से कोई एक शताब्दी पहले 'आरकाइव' (Stapf's Archiv)-नामक एक सामयिक पत्रिका में यह प्रकाशित हुआ कि मनुष्य-शरीर के समस्त आवश्यक अंश महौषधि हैं। यह सन् १८३२ ई० की बात है। फिर उसी पत्रिका मे सन् १८४६ ई० में प्रकाशित हुआ कि मनुष्य-शरीर के समस्त अंश मुख्यतः उन अवयवों पर अपना विशेष प्रभाव डालते हैं, जहाँ उन्हें कार्य का विशेष अवसर मिलता है।

हम नहीं कह सकते कि जिन डॉक्टरों ने उपर्युक्त बातें प्रकाशित कराईं, उन्हें ये बातें कैसे ज्ञात हुईं। परीक्षाओं के द्वारा उन्हें ये बातें ज्ञात हुई हों, या परंपरानुसार जो दवाएँ प्रचलित थीं, उन्हीं से तर्क तथा ऊहापोह के द्वारा उन्होंने अनुमान किया हो। हमारे देश में भी परंपरानुसार ऐसी बहुत-सी दवाएँ दी जाती हैं, जिनसे अनुमान की सामग्री मिल सकती है। उदाहरणार्थ शरीर के अर्द्धभाग मे—विशेषतः कटि-प्रदेश, पीठ या मोंढे के पास—बड़ी जलनवाले फफोलों पर मनुष्य की पुरानी हड्डी घिसकर लगाने से तुरंत बड़ा लाभ होता है, सिर के बाल उड़ जाने पर (खुसुरुवा-रोग मे) हाथी-दाँत की भस्म लगाने से विशेष लाभ होता है, उँगली में बलाय निकलने पर छिपकली बाँधी जाती है। इसी प्रकार अनेक जीवों के मांस आदि से भी काम लिया जाता है।

* देखो, माधुरी वर्ष ३, खंड २, संख्या १

जो बातें 'आरकाइव' में प्रकाशित हुईं, उन पर किसी ने विशेष-रूप से ध्यान नहीं दिया। कुछ दिनों के बाद आवोंग्ज महाशय ने अपनी एक पुस्तक में इस विषय की कुछ और चर्चा की। परंतु इन बातों के आधार पर एक चिकित्सा-प्रणाली निर्मित करने का श्रेय जर्मनी के ओल्डेनबर्ग-स्थान के डॉक्टर विलियम शुस्लर (William H. Schuessler) को प्राप्त हुआ। इन्होंने मार्च, सन् १८७३ ई० में एक लेख प्रकाशित कराया, जिसका शीर्षक था "Shortened Therapeutics", अर्थात् "संक्षिप्त चिकित्सा-प्रणाली"। उस लेख में डॉक्टर शुस्लर ने एक स्थान पर लिखा था—"कोई एक साल पहले मैंने निश्चय किया था कि रोगियों पर प्रयोग करके यह अनुभव प्राप्त करूँ कि यदि उनके रोग सर्वथा असाध्य नहीं हैं, तो क्या प्राकृतिक पदार्थों अर्थात् शारीरिक कार्यकारिणी ओषधियों से उनको लाभ नहीं हो सकता ?" इस लेख पर पाँच महीने तक किसी ने ध्यान नहीं दिया। अंत में लीपज़िग के डॉक्टर लारबेकर ने इस लेख के संबंध में कुछ आपत्ति की। उत्तर उसी पत्रिका के सात अंकों तक बराबर छपता रहा। यही उत्तर बायोकेमिक चिकित्सा-प्रणाली का सार है। उसका अनुवाद अँगरेज़ी में हुआ, और अँगरेज़-डॉक्टरों ने भी इस विषय पर विचार किया, तथा पुस्तकें प्रकाशित कीं। रोम के प्रोफ़ेसर मोलेस्कॉट की समालोचना से उत्साहित होकर डॉक्टर शुस्लर ने रोगियों पर प्राकृतिक ओषधों का प्रयोग प्रारंभ कर दिया, और उसमें उन्हें सफलता प्राप्त हुई।

अब इस चिकित्सा-प्रणाली के सिद्धांतों पर विचार करना चाहिए। जड़ पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) आर्गैनिक (Organic), (२) इनआर्गैनिक (Inorganic)। इन शब्दों की ठीक-ठीक परिभाषा इस समय हम नहीं दे सकते, इतना कह सकते हैं कि जीव-संबंधी पदार्थों को आर्गैनिक तथा खनिज पदार्थों को इनआर्गैनिक समझ लेना चाहिए। मनुष्य-शरीर में दोनों प्रकार के पदार्थ रहते हैं। आर्गैनिक पदार्थ हैं शक्कर, चर्बी और अलब्यूमिन, और इनआर्गैनिक पदार्थ हैं पानी तथा और कईएक खनिज, जिन्हें हम शारीरिक लवण या क्षार कह सकते हैं। जीवित मनुष्य के शरीर में $\frac{७}{१०}$ से कुछ अधिक भाग पानी का है, $\frac{१}{२०}$ के लगभग शारीरिक क्षार और शेष आर्गैनिक पदार्थ हैं।

यद्यपि शारीरिक क्षारों की मात्रा बहुत अल्प होती है, तथापि उनका महत्त्व अल्प नहीं। पानी तथा आर्गैनिक पदार्थ अत्यंत जड़ हैं। उनका कार्य शरीर के लिये वही है, जो इमारत के लिये ईंट, चूना, मिट्टी, पत्थर, लकड़ी आदि का होता है; परंतु शारीरिक क्षारों का काम वही है, जो इमारतों के बनानेवालों अर्थात् कारीगरों का है। ये क्षार ही शरीर के बनाने तथा उसे सुदृढ़ रखने का कार्य करते हैं।

क्षारों की संख्या बारह है। जिस मात्रा में जिस क्षार की आवश्यकता शरीर को है, उसमें कमी हो जाने से शरीर की अवस्था असाधारण एवं अस्वाभाविक हो जाती है। इस अवस्था को रोग कहते हैं। क्षारों की कमी अनेक प्रकार से, शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों में, होती है। अतः रोगों के अनेक भेद हैं, जो अनेक नामों से पुकारे जाते हैं। कोई भी पीड़ा या दुःख की भावना यह प्रकट करती है कि रक्त में किसी एक क्षार या कई क्षारों की कमी हो गई है। इसलिये स्वास्थ्य-लाभ तभी हो सकता है, जब उन क्षारों की पूर्ति की जाय।

सभी आवश्यक क्षार मनुष्य के शरीर में भोजन से आते हैं। मनुष्य का भोजन है वनस्पति। जो लोग मांस खाते हैं, उन्हें भी वनस्पति खानेवाले जीवों का ही मांस मिलता है। वनस्पति-वर्ग को आवश्यक क्षार पृथ्वी से मिलता है। अतः पृथ्वी को माता कहना अत्यंत न्याय-युक्त है। हम लोग भारत-माता के कितने ऋणी हैं, इसका विचार हमारे पाठक स्वयं ही कर लें।

यह प्रकृति-सिद्ध नियम है कि शरीर का हरएक अवयव भोजन तथा ओषध से बने हुए रक्त से केवल वही अंश खींच लेता है, जिसकी आवश्यकता उसको रहती है। इसी सिद्धांत पर यह भी कहा जाता है कि यदि किसी अंग को किसी क्षार की कमी के कारण कुछ कष्ट है, तो वह क्षार, ओषध-रूप में देने से, रक्त में पहुँच जायगा, और रक्त से उस अंग में पहुँचकर उसकी रक्षा करेगा। इस विषय का पुस्तकों में बहुत बारीक विवरण लिखा है, परंतु विस्तार-भय से, अँगरेज़ी-शब्दों के हिंदी में प्रकट करने की कठिनाई के कारण तथा साधारण ज्ञान के लिये उसकी अधिक उपयोगिता न देखकर उसे हम यहाँ नहीं लिखते।

इन बारह क्षारों के नाम ये हैं—

(१) कैल्केरिया फ़ास्फ़ारिका या फ़ास्फ़ेट ऑफ़ लाइम (Calcarea Phosphorica)—चूने का अंश ।

(२) फ़ेरम फ़ास्फ़ारिकम या फ़ास्फ़ेट ऑफ़ आयरन (Ferrum Phosphoricum)—लोहे का अंश ।

(३) केली फ़ास्फ़ारिकम या फ़ास्फ़ेट ऑफ़ पोटाश (Kali Phosphoricum)—पोटाश का अंश ।

(४) नेट्रम फ़ास्फ़ारिकम या फ़ास्फ़ेट ऑफ़ सोडा (Natrum Phosphoricum)—सोडा का अंश ।

(५) मैग्नेशिया फ़ास्फ़ारिकम या फ़ास्फ़ेट ऑफ़ मैग्नेशिया (Magnasia Phosphoricum)—मैग्नेशिया का अंश ।

(६) केली म्यूरियाटिकम या क्लोराइड ऑफ़ पोटाश (Kali Muriaticum)—पोटाश का अंश ।

(७) नैट्रम म्यूरियाटिकम या क्लोराइड ऑफ़ सोडा (Natrum Muriaticum)—नमक का अंश ।

(८) कैल्केरिया सल्फ़्यूरिका या सल्फ़ेट ऑफ़ लाइम (Calcarea Sulphurica)—चूने का अंश ।

(९) नैट्रम सल्फ़्यूरिका या सल्फ़ेट ऑफ़ सोडा (Natrum Sulphurica)—सोडा का अंश ।

(१०) केली सल्फ़्यूरिकम या सल्फ़ेट ऑफ़ पोटाश (Kali Sulphuricum)—पोटाश का अंश ।

(११) कैल्केरिया फ़्लूरिका या फ़्लूराइड ऑफ लाइम (Calcarea Fluorica)—चूने का अंश ।

(१२) सिलीशिया (Silicea)—अभ्रक का अंश ।

इन्हीं बारह क्षारों में कोई तो हड्डी के लिये, कोई मांस और कोई स्नायु के लिये आवश्यक हैं । इनकी कमी भी बहुत ही अल्प मात्रा में होती है, और प्रायः दो ही-चार ख़ूराकों में रोग दूर हो जाता है । डॉक्टरों ने यदि परीक्षा के द्वारा निश्चित कर लिया कि अमुक रोग की अमुक अवस्था में, शरीर के अमुक अवयव में, अमुक क्षार की कमी हो गई है, तो यह जान लेने पर फिर चिकित्सा करना सरल है ।

"अपने पूत को कोई काना नहीं कहता"—इस कहावत के अनुसार बायोकेमिस्ट्री के डॉक्टरों ने भी अपनी चिकित्सा की भूरि-भूरि प्रशंसा तथा अन्य प्रणालियों की निंदा की है । उनका कहना है कि संसार में जो अन्य यावत् चिकित्सा-प्रणालियाँ प्रचलित हैं, वे सब दोष-युक्त हैं । अन्य प्रणालियों का आंतरिक रहस्य यह है कि बाबा अमुक दवा करते रहे या गुरुजी अमुक दवा देते रहे हैं, इसीलिये हमको भी इसी पर भरोसा करना चाहिए । ऐसी बातें शास्त्रोचित नहीं, वरन् अँधेरे में टटोलने के समान हैं । किसी समय विष, संखिया, पारा, कलियारी, कुचला, जमालगोटा आदि हानिकारक पदार्थों के देने से किसी को लाभ हो गया, तो इससे यह न समझ लेना चाहिए कि ये प्राकृतिक दवाएँ हैं । क्या ऐसा संभव नहीं कि ये दवाएँ आँख फोड़कर ही उनकी पीड़ा का निवारण करती हैं ? शरीर के अवयवों को बेकार करके ही उनकी शिकायत को दूर करती हैं ? यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि इन विषों में शरीर के विविध रोगों के दूर करने की शक्ति है, तो ये इस लाभ के साथ यह हानि भी तो करते हैं कि आगे के लिये शरीर में एक ऐसा विष व्याप्त कर देते हैं कि शरीर अन्य कितने ही रोगों का घर बन जाता है । दो-चार बार ऐसी ही चिकित्सा करने से शरीर में विष की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि यमराज के दूतों का सामना समय से बहुत पहले करना पड़ता है ! इसका नाम शास्त्र नहीं है ।

पीड़ा प्राकृतिक है । उधर तो शरीर के किसी अवयव में किसी क्षार की कमी हो रही है, तत्संबंधी कार्य में बाधा पड़ रही है, शरीर को उससे हानि हो रही है, और इधर आपको पता नहीं कि इतना घोर अनर्थ हो रहा है । पीड़ा ही इस अनर्थ की सूचना देती है, पीड़ा ही अपनी भाषा में पुकार-पुकारकर कहती है कि अमुक क्षार की कमी है, भेजिए । परंतु आप उस इष्ट पदार्थ को न भेजकर उलटे संखिया भेजते हैं । पेट में भोजन की कमी से क्षुधा रूपी पीड़ा उठने पर, रोटी-दाल-भात भेजने के बदले भिलावाँ भेजना क्या बुद्धिमानी का काम है ?

बायोकेमिक चिकित्सा-प्रणाली ने होमियोपैथी की भी रू-रियायत नहीं की ; "विषस्य विषमौषधम्" के सिद्धांत पर भी हाथ साफ़ किया है । उसका आक्षेप है कि होमियोपैथी-चिकित्सा भी अँधेरे ही में टटोलना है । लक्षण मिलाते-मिलाते नाक में दम आ जाता है, फिर भी दवाएँ बदलनी पड़ती हैं ; क्योंकि रोग के लक्षण बदलते रहते हैं । हाँ, यदि लक्षण इसलिये मिलाए जाते हैं कि जिस क्षार की कमी है, उसका पता लगे, तो लक्षण-विचार एक आवश्यक चीज़ है ।

ऊपर के वर्णन से यह भ्रांति हो सकती है कि जिन बारह क्षारों का प्रयोग बायोकेमिक चिकित्सा-प्रणाली में

होता है, वे मनुष्य-शरीर की राख से निकाले जाते हैं। पर वास्तविक बात ऐसी नहीं है। ऊपर कहा गया है कि पृथ्वीगत क्षार वनस्पतियों के द्वारा मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट होते हैं। अतः यदि शरीर में किसी क्षार की कमी हो, तो उसकी पूर्ति पृथ्वी के क्षार से कर देते हैं। बारहों क्षार खनिज पदार्थ हैं, और शुद्ध करके औषध के काम में लाए जा सकते हैं। परंतु उन्हें बिना ठीक तैयारी के खा लेना लाभदायक नहीं होता। बारह क्षारों में साधारण लवण भी एक है, जिसे हम भोजन के साथ नित्य ही खाते हैं। फिर भी यदि शरीर के किसी अंग में इस क्षार की कमी हो, तो भोजन के साथ नमक की मात्रा बढ़ा देने से काम न चलेगा। क्षार की तैयारी का बहुत बड़ा महत्व है।

तैयारी का महत्व समझने के लिये शरीर की बनावट तथा उसके कार्य-संचालन पर ध्यान देना पड़ेगा। मनुष्य जो कुछ खाता-पीता है, वह आमाशय में जाता है। वहाँ कुछ अम्ल उसमें मिल जाता है। तब वह द्रव पदार्थ बारहइंची नली में होकर छोटी आँत में जाता है। मार्ग में पित्त तथा खार के समान एक अन्य रस उस द्रव में मिलता है। आँत में भोजन का रस चूसने की शक्ति है। यह भोजन-सार रक्त होकर फेफड़ों में आता है, और वहाँ शुद्ध वायु के अमृतमय अंश के संपर्क से शुद्ध होकर, हृदय की धड़कन के द्वारा शरीर के छोटे-से-छोटे अंश में पहुँचता और उसको शक्ति-प्रदान करता है। सभी आवश्यक वस्तुएँ रक्त के द्वारा ही शरीर में पहुँचती हैं। परंतु रक्त के साथ रहने के लिये क्षारों का अत्यंत सूक्ष्म परमाणुओं में विभाजित हो जाना आवश्यक है। कोई भी अंग किसी क्षार के ढोके नहीं ग्रहण कर सकता, और न उसके मोटे-मोटे अणु ही। यदि किसी प्रकार इन क्षारों के परमाणु अलग कर दिए जायँ, तो वे रक्त के साथ रुग्ण अंगों तक पहुँच सकते और शरीर की पतली झिल्लियों को पार कर सकते हैं। जितना ही रुग्ण कोई शरीर का अवयव होता है, जितना ही पुराना रोग होता है, उतनी ही निर्बलता उसमें हो जाती है, और उतनी ही बारीकी क्षारों के लिये आवश्यक होती है।

इस कार्य की साधना के लिये शुद्ध क्षार को उससे नौगुनी दूध की शकर के साथ खरल करते हैं, उसे बार-बार खरोंचते और पीसते हैं। तैयार हो जाने पर उसका नाम 'वन एक्स 1 X' रखते हैं। फिर इस चूर्ण का एक भाग और दूध की शकर का नौ भाग मिलाकर खरल करते और उसका नाम 'टू एक्स 2 X' रखते हैं। इसी प्रकार किसी तैयार औषध के एक भाग में नौ भाग दूध की शकर मिलाकर खरल करने से उससे आगे का नंबर तैयार हो जाता है। जितना ही आगे बढ़ते हैं, उतनी ही बारीकी औषध में आती जाती है, और उतना ही अधिक योग्यता पुराने रोग में प्रयोग करने की भी। साधारणतः '6 X' का प्रयोग होता है। कभी-कभी '12 X' का भी। कुछ विशेष दशाओं में '30 X' का भी प्रयोग होता है, परंतु '60 X' तक भी दवाएँ मिलती हैं। और, यदि चाहें, तो आगे के नंबर भी बनवा सकते हैं।

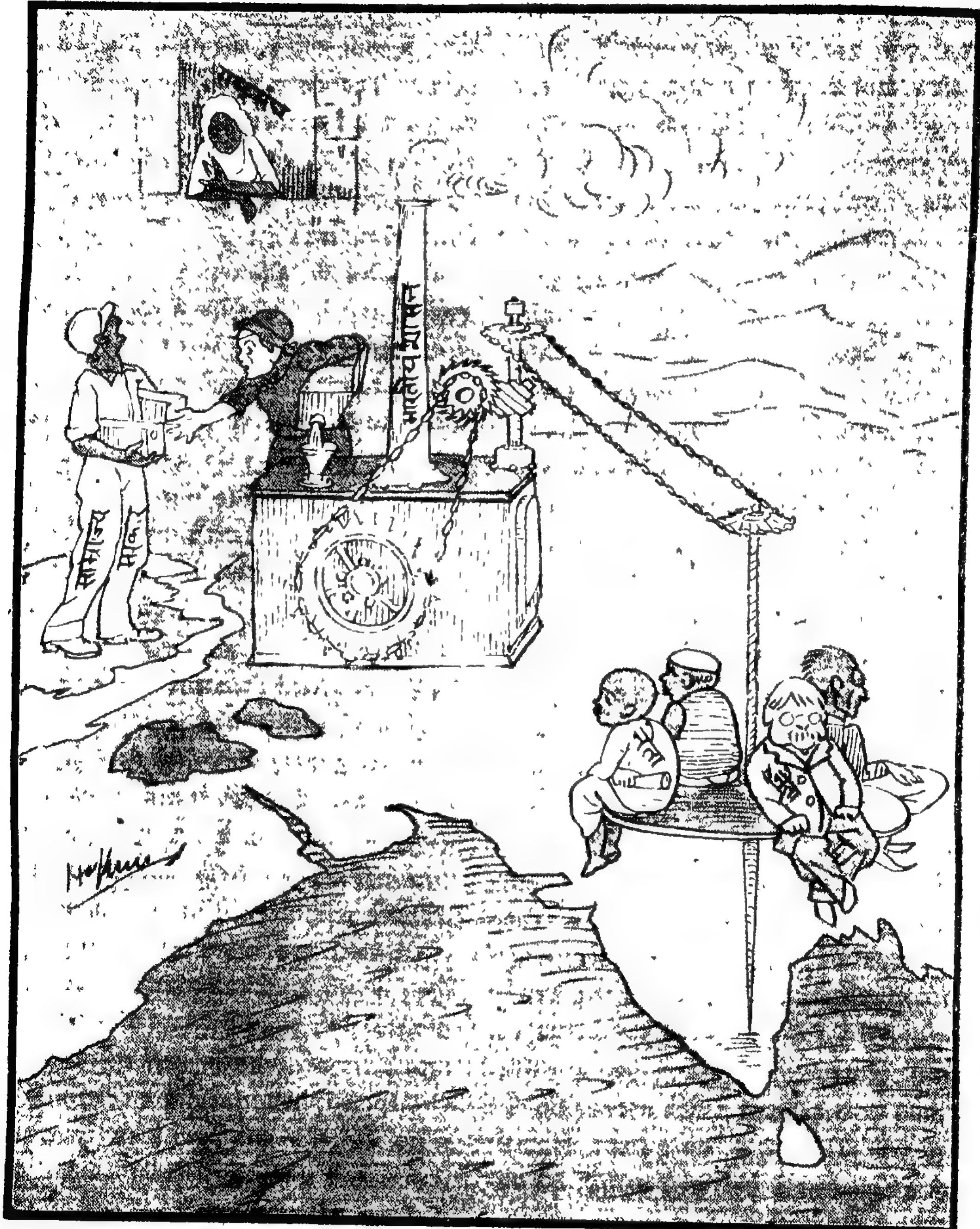
बायोकेमिक और होमियोपैथिक दवाओं की तैयारी में इतनी समानता है। परंतु भेद भी बहुत है। होमियोपैथिक दवाएँ दूध की शकर में तभी तक घोटी जाती हैं, जब तक वे स्पिरिट में घुलने-योग्य न हो जायँ। फिर उनकी तैयारी स्पिरिट ही में होती है। होमियोपैथिक दवाओं की तैयारी में, १ बूँद दवा में ९९ बूँद स्पिरिट मिलाकर तब आगे का नंबर तैयार होता है; किंतु बायोकेमिक प्रणाली में, १ रत्ती दवा के साथ ९ रत्ती शकर मिलाई जाती है। अर्थात्, किसी एक नंबर में जितनी दवा होती है, उसका दशांश उसके आगेवाले नंबर में होता है। इसी अनुपात के सूचित करने के लिये अँगरेज़ी का अक्षर X लगा देते हैं, जिसका अर्थ रोमन-संख्या के अनुसार १० है।

यद्यपि १२ क्षारों में प्रत्येक के अनेक नंबर हो सकते हैं, तथापि साधारण चिकित्सा के लिये हरएक क्षार के औसतन् दो-दो नंबर लेने से काम चल जाता है, और एक ही छोटे-से बॉक्स में कुल दवाएँ समा जाती हैं। इससे बाहर ले जाने में सुबीता भी होता है। इन दवाओं में स्पिरिट आदि न रहने से अत्यंत शुद्धता भी रहती है।

यह लेखक स्वयं कोई डॉक्टर नहीं, परंतु उसे इस विषय में रुचि है, और उसे होमियोपैथिक दवाओं के साथ-साथ प्रायः बायोकेमिक दवाएँ बाँटने का भी अवसर मिला है। बच्चों के पसली चलनेवाले रोगों (पँजरी, Croup, Diphtheria) में इन क्षारों से इतना अधिक और शीघ्र लाभ हुआ है कि लेखक उन पर विश्वास करने लगा है। इस चिकित्सा-प्रणाली पर हिंदी में भी कहीं-कहीं पुस्तकें छपी हैं।

चंद्रमौलि सुकुल

बिजली की फिरकी





राधा-कृष्ण

[चित्रकार—श्रीयुत गोविंदराम-उदयराम]

श्रीराधा बाधाहरनि नेहअगाधा-साथ—
निसक्रिय नयन-निकुंज मैं नचौ निरंतर नाथ !
दुलारेलाल भार्गव

N K. Press, Lucknow

पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी



व्यक्ति और समाज, दोनों परस्पर सापेक्ष । जब व्यक्ति के व्यक्तित्व का समाज में प्रवेश हो जाता है, तब वह व्यक्ति समाजमय हो जाता है । ऐसे ही व्यक्ति संसार में आदर्श होते हैं, और उनके आदर्श जीवन से संसार कुछ लाभ उठा सकता है ।

बहुधा मनुष्य के जीवन-काल में उसके प्रति लोगों का ध्यान नहीं जाता, और उसके न रहने पर उसके गुण ढूँढे जाते हैं । फिर, द्विवेदीजी के जीवन-काल में ही उनके जीवन-संबंधी परिवर्तन दिखाने का कारण यह है कि द्विवेदीजी



पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी

वृद्ध हैं—इतने वृद्ध हैं कि भारतवासियों की आयु का जो औसत निकाला गया है, उसके तिगुने के लगभग पहुँच गए हैं । उन्होंने अपने जीवन-काल में समय के आघात-प्रत्याघातों को यथेष्ट सहन किया है, उनके जीवन में प्राचीन रूढ़ियों और वर्तमान परंपरा का संघर्ष है । इसलिये समाज-सेवा, देश-प्रेम और आदर्श व्यक्तित्व के सम्मिश्रण का जीवित स्वरूप जो प्रत्यक्ष देखना चाहें, वे इस चरित-नायक में देख सकेंगे । द्विवेदीजी के जीवन में कुछ संदेश है । उनके जीवन से भावी संतान कुछ सीख सकती है । इसीलिये उनका जीवन-चरित्र लिखना आवश्यक समझा गया ।

द्विवेदीजी के जीवन की विशेषताएँ उनके ऊपर लिखे हुए गुण हैं । इन्हीं ने उनका जीवन-चरित्र संसार के समक्ष रखने के लिये हमें प्रेरित किया है । "मेरे जीवन-संबंधी कार्यों को देश के सम्मुख रखने से क्या लाभ होगा ? मैं संसार के उन प्राणियों में हूँ, जो एकांत चिंतना में निरत रहकर अपने को अनंत आत्मा में विलीन कर देने की इच्छा किया करते हैं । मेरे पतित जीवन से कुछ लाभ नहीं । वह केवल भू-भार रहा है ।" द्विवेदीजी के इन वाक्यों में एक निर्लिप्त उदास जीवन की क्रियात्मक वेदना भरी है । ये उस समय के वाक्य हैं, जब हमने उन्हें जीवन-संबंधी घटनाएँ लिखकर भिजवाने के लिये बाध्य किया था । आज दुनिया में ज़माना धूम मचा देने का है, कुछ अनाप-शनाप जोशीले शब्द छपवाकर जेल काट आनेवाला एक अनुभव-हीन, अशिक्षितप्राय छोकरा भी आज नेता समझा जाता है ; पर नेतृत्व वास्तव में कहाँ है, दुनिया इस ओर नहीं देखती । वह क्षणिक जुगनू की दमक में भी सूर्य के प्रकाश का धोखा खाती है । किंतु जहाँ धूमधाम नहीं, वहीं वास्तव में सच्ची मानवता है ।

द्विवेदीजी का जन्म माघ-बदि ६ (शनिवार), संवत् १९२१ को हुआ था । द्विवेदीजी इस समय ६२ वर्ष के हैं, किंतु उनके शरीर के गठन, कार्यशीलता और अध्यवसाय को देखनेवाले लोग सफ़ेद बालों में भी नवयुवक-जीवन की प्रेरणा, उमंग और क्षमता पाते हैं । श्रवण-शक्ति से वह किंचित् वंचित हैं, किंतु कदाचित् विधाता ने उन्हें हास्य का मूर्तिमान रूप देने के लिये ही यह शक्ति छीन ली है ।

द्विवेदीजी कान्यकुब्ज-ब्राह्मण हैं । डौंड़ियाखेरे (बैसवारे) में आपके पूर्वजों का आदि-स्थान था । वहाँ से उठकर वे फ़तहपुर-ज़िले में, बिंदकी के समीप, सरहन (कलाँ) में, जा बसे । यह गाँव विवाह-संबंध से दहेज़ में उन्हीं को मिल गया था, पर पीछे हाथ से निकल गया । कृषि और सैनिक वृत्ति, ये ही दोनों उनके व्यवसाय थे । आपके प्रमातामह पं० उजागर मिश्र नागपुर के राघोजी भोंसला के यहाँ फ़ौजी अफ़सर थे । उनके शरीर में विलक्षण बल था । भोपाल के नवाबों पर विजय प्राप्त करने के पुरस्कार-स्वरूप उक्त मिश्रजी को नक़द १ लाख रुपए मिले, और वह जबलपुर के समीप, इतिहास-प्रसिद्ध गोंड़ राजों की राजधानी गढ़ा में बस गए । उजा-

वास्तव में ऐसे हैं या नहीं। यदि धन दे सकनेवाले धन देकर सहायता पहुँचावें, तो राष्ट्र-प्रेम सच्चा, नहीं तो केवल देशद्रोह है। अपने इसी स्मारक की रक्षा के लिये उन्होंने ४७ वर्ष की वृद्धावस्था में युद्ध ठान दिया। यह है सिद्धांत के लिये आत्मत्याग और उनके राष्ट्रीय शिक्षा-प्रेम का ज्वलंत उदाहरण। अंत में, १ वर्ष के भीतर ही, राष्ट्रीय स्कूल टूट गया। क्षणिक जीवन की एक प्रखर रश्मि प्रकाशित होकर विलीन हो गई। साथ ही, ऐसा जान पड़ा कि अब सब कुछ जाता है। ऐसे नाजुक मौक़े पर द्विवेदीजी फिर आगे आए, और विना कुछ वेतन लिए पुनः स्कूल का निर्माण किया। एक ही वर्ष में स्कूल फिर ज्यों-का-त्यों भर गया। अब तो उसमें औद्योगिक शिक्षा की कई शाखाएँ खोल दी गई हैं। द्विवेदीजी ही उसके प्रिंसिपल बनाए गए हैं, पर आपका वेतन पहले की अपेक्षा आधा ही है। मनुष्य-जीवन और स्वदेश-सेवा के मार्ग भिन्न-भिन्न होते हैं। वास्तव में द्विवेदीजी ने स्वदेश-सेवा के लिये शिक्षा को ही मार्ग बनाया था, और आज तक उसी को परिष्कृत करते जा रहे हैं। मार्ग अनेक होते हैं, मनुष्य अपनी रुचि और देश की आवश्यकता के अनुसार उन्हें पसंद करता है। द्विवेदीजी ने उसी मार्ग को चुना है जिसे अनुभवी वैद्य ही शरीर के बहिरंग दोषों को दूर करने के लिये चुना करते हैं अर्थात् अतरंग से बहिरंग का सुधार। आप नैतिक शिक्षा के बड़े प्रेमी हैं, और हितकारिणी स्कूल में यह प्रतिदिन दी भी जाती है। उच्च कक्षाओं में आप स्वयं प्रतिदिन उपदेश करते हैं। इसी नैतिक शिक्षा की सहायता के लिये आपने 'सदाचार-दर्पण'-नामक पुस्तक लिखी थी।

मनुष्य के राजनीतिक सिद्धांत भी अलग-अलग होते हैं। द्विवेदीजी ने नरम नीति को पसंद किया। उनके समय में आगे सभी माडरेट थे। इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र है। इधर कांग्रेस गरम दल के हाथों में आ गई। मत-भेद होने से प्रत्येक सिद्धांतवादी अपने मत के समर्थनार्थ जो उचित समझता है, करता है। किंतु उनकी सहानुभूति बराबर कांग्रेस के साथ रही है। वैध आंदोलन में उन्होंने कई वर्ष उसका साथ दिया; पर जब प्राइवेट स्कूलों के मास्टरों को भी राजनीतिक आंदोलन में भाग लेना सरकार के द्वारा मना किया गया, तब आपको कांग्रेस से अलग होना पड़ा। यह उनका व्यक्तिगत स्वातंत्र्य है।

समाज-सेवा देश-प्रेम का आधारभूत स्तंभ है। अबु-बेन-आदम (Abu-Ben-Adham) ने फ़रिश्ते से स्वप्न में कहा था—मेरा नाम ईश्वर के भक्तों में नहीं, वरन् जो ईश्वर के भक्त हैं, उनके भक्तों में लिखो। दूसरे दिन वह क्या देखता है ? उसका नाम ईश्वर-भक्तों में ही सर्वप्रथम है। रामायण में भी भरत ने हनुमान् से कहा था—राम से अधिक मुझे राम के भक्त प्यारे हैं। समाज-सेवक ही वास्तविक देश-भक्त हैं। वे ही समाज के अक्षम अंगों को जीवन-संग्राम के योग्य बनाकर देशोद्धार में सच्चे सहायक होते हैं। न-जाने कितने दीन, दरिद्र, असमर्थ और अक्षम बालकों को तन, मन और धन से सहायता दे-दिलाकर द्विवेदीजी ने जीवन-संग्राम के योग्य बना दिया, और आज भी न-जाने कितने बनते जा रहे हैं। जबलपुर में बड़े और छोटे, प्रायः सभी ने उनसे सहायता ली है। ऐसा कोई सार्वजनिक कार्य नहीं, जिसमें वह सम्मिलित न रहे हों।

द्विवेदीजी संसार के उन लोगों में हैं, जो अपने बाहु-बल पर संसार-समुद्र के तूफ़ान में अपनी जीवन-नौका को अनर्थकारी झोंकों से बचाते हुए पार ले जाते हैं। अपने ही शिक्षा-ज्ञान, अनुभव, योग्यता, स्वावलंबन और पांडित्य के बल पर द्विवेदीजी कभी जबलपुर म्युनिसिपल कमेटी के सदस्य रहे, नागपुर-विश्वविद्यालय की प्रथम कमेटी के भी सदस्य बनाए गए, और अब नागपुर-वि०वि० की फ़ेकल्टी ऑफ़ आर्ट्स तथा हाई स्कूल-बोर्ड की हिंदी और इतिहास-कमेटियों के सदस्य हैं। हाई स्कूल-शिक्षा-बोर्ड की मैट्रिक-परीक्षा और हिंदू-विश्वविद्यालय की बी० ए०-परीक्षा के परीक्षक भी नियुक्त हुए हैं। द्विवेदीजी प्रभृति के उद्योग से ही नागपुर-विश्वविद्यालय में एम्० ए० तक 'हिंदी' अनिवार्य-रूप से रक्खी गई है। आप उक्त प्रांत में मैट्रिक तक हिंदी के माध्यम होने के पक्ष में रहे हैं, और वह हो भी गया है।

साहित्य द्वारा समाज और देश की सेवा किस तरह की जा सकती है, यह भी द्विवेदीजी के जीवन से सीखने की बात है। द्विवेदीजी ने 'शुभचिंतक', 'शिक्षाप्रकाश' और 'कान्यकुब्ज-नायक' का योग्यता-पूर्वक वर्षों अवैतनिक रूप से संपादन किया है, 'हितकारिणी' पत्रिका केवल २०) वेतन लेकर ११ वर्षों तक चलाई, और हितकारिणी सभा के लिये ७,०००) वार्षिक आय का द्वार खोल दिया। आप चाहते, तो अपने एक मित्र के साथ इसका संचालन कर,

दोनों इस आमदनी का उपभोग करते ; पर आपने यह अधिकार सभा को सहर्ष सौंप दिया, जिससे स्कूल की आर्थिक स्थिति सुधर गई। आपने 'श्रीशारदा' में भी बहुत-से लेख लिखे। माधुरी के पाठक भी द्विवेदीजी की गल्पों का रसास्वादन कर चुके होंगे। किंतु उनकी साहित्य-सेवा का सजीव प्रमाण उनके ग्रंथ हैं 'सदाचार-दर्पण' और 'भारत-इतिहास'। आपके ये दो ग्रंथ नागपुर-विश्वविद्यालय की मैट्रिक-परीक्षा में स्वीकृत हैं। दोनों स्वतंत्र ग्रंथ हैं, और देखने-योग्य है। आपने और भी छोटी-छोटी कई पुस्तकें लिखी हैं, जो छप भी चुकी हैं। उनमें 'साधारण ज्ञान' के दो भाग, जो हिंदी की तीसरी और चौथी कक्षाओं के लिये स्वीकृत हुए हैं, अपनी नवीनता के कारण उल्लेखनीय हैं। द्विवेदीजी का अवशिष्ट जीवन शिक्षा के गहन मार्ग को सुलझाने और साहित्य-निर्माण में ही बातता है। आप पुराने सुयोग्य लेखक, उच्च श्रेणी के वक्ता, संपादक, अध्यापक और ग्रंथकार हैं। भारत-धर्म-महामंडल ने आपके गुणों पर मुग्ध हो, आपको 'साहित्य-रत्न' की पदवी से विभूषित कर, अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया है। किंतु खेद है कि हिंदी के इतने पुराने और अनन्य भक्त, सेवक और सहायक, जबलपुर-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की स्वागत-समिति के मंत्री और सम्मेलन को सफल बनानेवाले, मध्यप्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की स्वागत-समिति के सभापति, स्थानीय छात्र-सम्मेलनों और शिक्षक-संघों के अनेक बार के सभापति, कान्यकुब्ज-जातीय सभा के दो बार के सभापति, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रचारित वार्षिक परीक्षाओं के प्रारंभ से कई वर्षों तक परीक्षक एवं व्यवस्थापक और विश्वविद्यालय की उच्च श्रेणी तक हिंदी को सम्मान दिलानेवाले, हिंदी के परीक्षक, आदर्श त्यागी तथा समाज-सेवी का उचित सम्मान अभी हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से नहीं किया गया। आप विद्या और वय, दोनों की दृष्टि से इस सम्मान के सर्वथा योग्य हैं। द्विवेदीजी उच्च कोटि के समालोचक हैं। प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की स्वागत-समिति के अध्यक्ष रूप में दी हुई उनकी वक्तृता में हिंदी-साहित्य की आवश्यकताओं और साहित्य-निर्माण की विधियों का अच्छा निदर्शन है। मध्यप्रांतीय शिक्षा-विभाग के लिये तो आप बहुत समय से समालोचक का कार्य करते आ रहे हैं। शिक्षा-विभाग के उच्च अधिकारी उन्हें आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। द्विवेदीजी की आसक्ति ग्रंथावलोकन में है। हिंदी-साहित्य, इतिहास, अँगरेज़ी-साहित्य और उपन्यास-नाटक आपके प्रिय विषय हैं। शारीरिक परिश्रम तो आप इस बुढ़ापे में भी करते हैं। अध्ययन से जब तबियत उचटती है, तो आप चार-छः मील घूमते और बग़ीचे का काम करते हैं। आपको प्रकृति-पर्यवेक्षण में बड़ा आनंद आता है।

हमारी समझ में अब व्यक्तित्व की परिभाषा बतलाने की ज़रूरत नहीं। ऐसे सहृदय समाज-सेवक में पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, प्लेग आदि बीमारियों के शिकार मुर्दों को उठवाने और उनके दुःखी कुटुंबियों को यथा-साध्य सहायता पहुँचाने की प्रवृत्ति का न होना ही अस्वाभाविक होता। जबलपुर में प्रथम बार प्लेग के समय आपने जान को हथेली पर रखकर महीनों काम किया था। द्विवेदीजी आदर्श समाज-सेवक हैं। मध्यप्रांत के उँगली पर गिने जानेवाले कार्यकर्ता व्यक्तियों में द्विवेदीजी भी एक हैं। सच्चरित्र द्विवेदीजी के आदर्श जीवन को देखकर ही सरकार ने अभी कुछ दिन हुए, उन्हें रायगढ़-महाराज का कंपेनियन बनाया था, और केवल ३ महीने में ही द्विवेदीजी ने राजा साहब की आदतों में सुधार कर दिए थे। पर होन-हार अमिट है। राजा साहब न रहे, और द्विवेदीजी को फिर उसी जबलपुर वापस आना पड़ा जहाँ उनकी योग्यता और लोकोपकार की कुछ क़दर नहीं की गई थी। लेकिन खरा सोना खरा ही रहता है। वह आग में ज्यों-ज्यों तपाया जाता है, त्यों-त्यों अधिक खरा और तेजस्वी निकलता है। आदर्श व्यक्तित्व यही है, यही उसकी विशेषता है, और यही उसकी महनीयता का कारण है। द्विवेदीजी ने कितनों ही को आदर्श मार्ग दिखाया, कितनों ही को साहित्य-सेवी बनाया, कितने ही कपूतों को सपूत बना दिया। संतोष और त्याग, बुढ़ापा और परिश्रम, ज्ञान और वैराग्य, अर्थकष्ट और विद्वत्ता का सामंजस्य और विरोधाभास द्विवेदीजी के जीवन में एकत्र पाए जाते हैं।

यों तो सृष्टि ही गुण-दोषमय है। दोष के होने पर ही गुणों की शोभा है, और गुणों में दोष छिप जाते हैं। इसीलिये आदर्श नररत्नों के चरित्र उस चौकोर काच के टुकड़े की नाईं होते हैं, जिसके किसी भी ओर से देखने पर एक ही रूप प्रतिबिंबित होता है। 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'।

यौवन

जीवन-प्रभात-रवि-सा, जग-बीच शुभ्र निर्मल,
किरणें बिछा रहा है;
पागल किशोर कवि-सा, साहित्य-मध्य मंजुल,
हलचल मचा रहा है।
विज्ञान-ज्ञान खोकर, शृंगार-रस-लहर में,
उन्मत्त हो रहा तू;
हे चित्रकार सुंदर, किस माधुरी-नगर में,
विक्षिप्त सो रहा तू?
विषमय विरह-व्यथा से, कुसुमित कदंब ऊपर,
बुलबुल कराहती है;
विकसित कमल-कथा से, भौंरा मचल-मचलकर,
मुख को सराहती है।
मधु सा मधुर मनोहर, चिकने हरे विटप का,
रसमय रसाल तू है;
गंधर्व श्याम सुंदर, श्यामांगिनी मुकुट का,
माणिक विशाल तू है।
धानी-सफ़ेद-पीला, सौंदर्य रम्य रुचिरा,
रंगीन श्याम-घन है:
किन्नर रसिक रंगीला, पाकर उमंग-मदिरा,
तू मस्त गुलबदन है।
जन्मांध लोचनों में, बनकर प्रकाश निर्मल,
झलमल झलक रहा तू;
दुख-दैन्य-मोचनों में, पाषाण-प्राण में चल,
छल-छल छलक रहा तू।
मुसकान यह मनोहर, मानो वसंत-ऋतु के,
झरते सुघर सुमन हैं:
अभिसार-प्रेम-पथ पर, लोचन हज़ार अटके,
सौंदर्य में मगन हैं।
सजनी सुवर्ण-वर्णा, ठगिनी-समान व्याकुल,
पगली बनी खड़ी है:
आ बाँध नीर तरणी, नाविक सुजान चंचल—
यह मौत की घड़ी है।
शृंगार पद्मिनी का, सधवा सुहाग-चंदन,
तू शांत साँवला है:
कुब्जा कुरूपिनी का, वह स्पर्श, ध्यान, चुंबन—
तू कृष्ण बावला है।
अलि-जौहरी रसीला, कोकिल-समान गायक,
चक्रांग-सा चपल है:
छैला, छली, छबीला, नटवर नवीन नायक,
मृदु मौलि है—मुकुल है।
शृंगार साज संध्या, ले आरती-कटोरा,
तुझ पर उतारती है;
तेरे लिये कमी क्या, उस पार बैठ गोरी,
यौवन सँवारती है।
चमके सदैव मग में, गौरव-गगन सितारा,
हे कवि, गुणी, सु-दर्शन;
नीरस असार जग में, तू कर चुका हमारा,
पारस-समान जीवन।

"गुलाब"

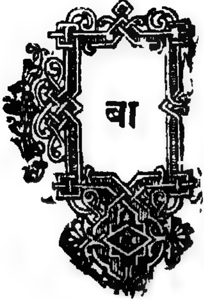
विश्व-संगीत

विकसे वारिज, खिले बग़ीचे, सुरभि मही में महकाई;
शीतल, सुखद वायु धीरे से सन-सन-सी करती आई।
बना सुवाद्य पक्षि-कलरव का, मोरों ने नव नृत्य किया;
श्यामा शुक-सारिक-समूह ने विश्व-गान में योग दिया।
ओस-कणों से हरित तृणों पर मुक्तमाल-सी बिखर गई;
सृष्टि हँसी शोभा पर अपनी, दिखलाई रदपंक्ति नई।
इस प्रभात की मुक्तावलि में निशि तारावलि भूल गई;
सरित सरोवर में रवि-आभा सुंदर-सी जल पड़ी नई।
थी खेलती आग पानी पर चिनगारियाँ चमकती थीं;
रश्मि अंशुमाली की जल में पैठ-पैठ रह जाती थीं।
छिटक रही थी किरण-माल, जो ओस-भरी निशि बीती थी:
सद्यस्नात सुमन तरु-पल्लव की पत्रावलि पीती थी।
पा गुदगुदी पवन के कर की वन-का-वन हँस देता था:
बीच-बीच परिहास-हास का दृश्य हृदय हर लेता था।
मंद मलय था, मधुर महक थी, कलियों की चटकाहट थी;
थी मुसकान मधुर, फिर कोमल ठट्ठे की-सी आहट थी।
स्वयं सामने आकर नाचा, गाया, हँसा, खिला कोई;
धीरे से इस सृष्टि-चक्र को फिर से चला गया कोई।
किसने लखी, सुनी थी किसने, कौन पारखी ने परखा;
उस स्वामी की क्षणिक हँसी, वह किसके नयनों ने निरखी।
आया वह प्रत्यक्ष सबेरे, मैं अँगड़ाई लेता था;
अर्द्धसुप्त था, देव उसी क्षण दुर्लभ दर्शन देता था।
पिला गया रस, जिला गया जग, भूमि स्वर्ग-सम खिला गया;
मैं सोता रह गया, नाथ, वह विशद विश्व में खिला गया

भगवानदीन पाठक

सृष्टि-उत्पत्ति की परंपरा

(१)



बाइबिल तथा कुरान में सृष्टि की उत्पत्ति की विचित्र कथा पाई जाती है। उस कथा का संक्षेप यह है कि परमात्मा ने अपना एक फ़ोटो तैयार किया, जिसका नाम 'आदम' रक्खा। आदम को स्वर्ग के बग़ीचे में रखकर वहाँ की देख-रेख का काम भी सिपुर्द कर दिया। उस समय आदम खेती नहीं करता था, बाग़ में जो कुछ लगा हुआ था उसी से पेट भर लेता था। वह बड़े मज़े में था, हल चलाकर उसे परेशान नहीं होना पड़ता था। उसी बाग़ में एक 'ज्ञान-वृक्ष' लगा हुआ था, जिसके फल खाकर भलाई-बुराई का भेद मालूम होने लगता था। इसके अतिरिक्त एक दूसरा 'अमरता' का वृक्ष भी था, जिसके फल खानेवाला अमर हो सकता था। परमात्मा ने आदम के लिये एक स्त्री को उत्पन्न किया, और इस जोड़े को उपर्युक्त दोनो फल खाने से मना कर दिया। परमात्मा इन फलों को स्वयं तो खाता था, परंतु इस भय से कि कहीं आदम और हव्वा इन्हें खाकर स्वयं उन्हीं के-जैसे ज्ञानी (चित) तथा अमर (आनंद) न हो जायँ, उन्हें रोकता था। हव्वा की उत्पत्ति के संबंध में, इन ग्रंथों में, दो क़िस्से पाए जाते हैं—पहले तो यह लिखा है कि स्त्री आदम की पसली से बनाई गई। और, आगे चलकर यह लिखा है कि आदमी और औरत इकट्ठे ही जुड़े हुए पैदा हुए थे; परमात्मा ने उन्हें बीच से काटकर दो भागों में विभक्त कर दिया, और उनका स्त्री-पुरुष का व्यवहार प्रारंभ हो गया।

उसी बग़ीचे में साँप—शैतान—भी रहता था। परमात्मा की और शैतान की लड़ाई थी। उस समय शैतान (साँप) भी हम लोगों की तरह खड़ा होकर पैरों से चलता था। उसके हाथ-पैर थे। शैतान ने परमात्मा को ठगने की सोची, और इस काम के लिये उसने आदम की हड्डी से बनी स्त्री को अपना उपकरण बनाया। साँप स्त्री को जाकर बहकाने लगा—उससे कहा, इन फलों को बेखटके खाओ, बड़े मज़ेदार हैं, परमात्मा झूठ बोलता है, इनके खाने से कोई मर जाता होता, तो वह स्वयं अब तक कैसे जीता रहता। नहीं, तू नहीं मरेगी; स्वयं खा, और आदम को खिला। हव्वा उसकी बातों में आ गई। अभी तक तो दोनों ही मिट्टी के ढेले से बने थे, नंगे फिरते थे, असभ्य थे, जंगली थे। अभी वे सत्—अस्तित्व—की अवस्था तक ही पहुँचे थे। अब साँप के द्वारा बहकाए जाने पर, ज्ञान-फल को खाकर चित् (Knowledge) को भी पा गए। बस, अमरता का फल चखने से पहले ही परमात्मा को षड्यंत्र का पता चल गया, और उसने इस बढ़ते हुए अनर्थ को रोक दिया। वह स्वयं तो 'सच्चिदानंद' बना रहा, पर आदम तथा हव्वा का स्वरूप 'सच्चित्' बनने तक ही पहुँच सका। 'अमरता' का फल खा भी लेते, तो उनकी जीवात्मा तथा परमात्मा में भेद ही क्या रह जाता? अपनी ही शकल को सामने रखकर परमात्मा ने आदम को बनाया था, लेकिन इस फल के खाने पर तो शकल इतनी मिल जाती कि असल और नक़ल में फ़र्क़ ही न रहता—मनुष्य परमात्मा ही हो जाता, और सृष्टि आदम के साथ शुरू होकर उसी के साथ ख़तम हो जाती। जो कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ। ख़ैर, परमात्मा ने आदम को बुलाकर पूछा—"ज्ञान-फल क्यों खाया?" वह गिड़गिड़ाता हुआ बोला—"मुझे तो ईव ने खाने को दिया था।" ईव से पूछा गया। वह बोली—"मुझे छली, मायावी साँप ने बहका दिया।" फिर क्या था, साँप पर क्रोध उमड़ पड़ा। उसे पृथ्वी पर गिरकर धूल चाटने का शाप दिया गया, और यह भी कहा गया कि तुम्हारे हाथ-पैर कट जायँ, और तुम पेट के बल चला करो। तभी से साँप रेंगने लगा, नहीं तो वह भी ऐंठ-ऐंठकर चला करता। मनुष्य तथा स्त्री को भी इस अपराध में स्वर्ग छोड़कर भूमि पर आना पड़ा। उन्हें यह शाप दिया गया कि अब से तुम्हें बैठे-बैठे मुफ़्त रोटी नहीं मिलेगी। पसीना बहाओ, और खेती करके जीवन-निर्वाह करो। उस समय स्वर्ग से निकालते हुए परमात्मा ने उन्हें कपड़े भी सीकर पहना दिए। इस प्रकार परमात्मा और साँप की लड़ाई में ज्ञान-फल खाने के कारण, आदम की हड्डी से बनी स्त्री के द्वारा साँप का पतन हुआ, जिसमें उसे हाथ-पैर भी खो देने पड़े।

प्रायः इसी वर्णन को मनुष्य के पतन का नाम दिया जाता है। परंतु सारा वर्णन पढ़ लेने पर इसे मनुष्य के पतन की अपेक्षा शैतान का पतन कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। शैतान के पतन के साथ-साथ मनुष्य को खेती करने तथा

नगे न रहने का शाप अवश्य दिया गया, परंतु दोनों के शापों की तुलना में शैतान को अधिक कठोर दंड दिया गया है।

बाइबिल तथा कुरान के इसी वर्णन की तरह पारसी-पुस्तकों में भी यह कथा पाई जाती है। बिशप कोलैंसो * लिखते हैं—पारसियों के परमात्मा अहुर्मज़्द ने पहले जोड़े को पवित्र तथा पाप-रहित उत्पन्न किया था। परंतु अहिर्मान के भेजे हुए साँप ने उन्हें अमरता का एक फल खिला दिया, जिससे उनकी पवित्रता नष्ट हो गई। पारसियों के यहाँ यह भी माना जाता है कि हेडेन(Heden)-नामक स्वर्ग-स्थान में 'होम'-नामक वृक्ष था, जिसका फल शैतान ने आदि युगल को खिलाया था। शैतान के लिये पारसी-साहित्य में 'अज़ि'-शब्द पाया जाता है।

ईसाई, मुसलमान तथा पारसी-धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों में भी यह कथा पाई जाती है। बैबिलोनिया की एक प्राचीन प्रशस्ति ब्रिटिश-म्यूज़ियम में मौजूद है, जिसके आधार पर, जॉर्ज स्मिथ महोदय की सम्मति में, कहा जा सकता है कि यहूदियों के १,१०० वर्ष पूर्व बैबिलोनिया में यही गाथा प्रचलित थी। इस पर एक चित्र भी है, जिसमें एक तरफ़ स्त्री तथा दूसरी तरफ़ पुरुष बैठा हुआ है। साँप भी नज़दीक ही पूँछ के बल खड़ा हुआ है। स्त्री तथा पुरुष, दोनों वृक्ष के फल की तरफ़ हाथ बढ़ाए हुए हैं।

यूनानी स्वर्ग को Elysium या Garden of Hesperides के नाम से पुकारते थे। उनके स्वर्ग या बग़ीचे में अमरता का वृक्ष था, जिसमें सोने के फल होते थे। उसकी रक्षा के लिये तीन देवियाँ तथा एक साँप हर वक़्त तैनात रहते थे। हरक्यूलीज़ के जीवन की घटनाओं में इस वृक्ष के फल तोड़कर लाना एक मुख्य घटना है। हरक्यूलीज़ जब इन फलों को लेने गया, तो उसने साँप को अपनी ड्यूटी पर मुस्तैद पाया। और, उसे साँप के सिर को अपने पैर के नीचे कुचलकर फल इकट्ठे करने पड़े।

मिसर में भी, इसी प्रकार स्वर्ग में, एक जीवन वृक्ष की कल्पना स्वीकार की जाती थी। उनके मुख्य देवता ओसिरिस ने इस वृक्ष के तने पर कुछ आत्माओं के नाम लिखे जाने की आज्ञा प्रचारित की थी। इस वृक्ष के फल चखने का परिणाम यह होता था कि खानेवाला ईश्वर के सदृश ही बन जाता था।

अधिक न बढ़ाकर इतना कह देना पर्याप्त होगा कि ईश्वर तथा साँप की जीवन-वृक्ष के फल के लिये लड़ाई, लड़ाई में साँप का मारा जाना, पुरुष तथा स्त्री का फल खाना—यह सब एक ऐसी कथा है, जो संसार के एक या दो धर्मों में नहीं, प्रायः प्रत्येक धर्म में पाई जाती है। थोड़ा-बहुत भेद अवश्य है। कहीं साँप मनुष्य को फल खाने के लिये बहकाता है, और कहीं साँप ही मनुष्य से उस फल की रक्षा कर रहा है। परंतु इस प्रकार का भेद कथानक की परंपरागत समानता को देखते हुए वास्तव में नहीं के बराबर रह जाता है। हमारा मत यह है कि संसार में सर्वत्र प्रचलित इस कथा का आधार वैदिक साहित्य ही है। हम अपने मत के पुष्ट करने के लिये यहाँ प्रमाण तथा लोकोक्ति, दोनो का आश्रय लेंगे। परंतु लोकोक्ति का आधार भी प्रमाण ही होगा।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल, अनुवाक ७, सूक्त ३२ में यही कथा पाई जाती है। इस सूक्त का ३रा मंत्र इस प्रकार है—

"वृषायमाणोऽवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य ;
आ सायकं मघवादत्त वज्रं अहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्।"

मंत्र का अभिप्राय यह है कि 'इंद्र' ने 'सोम' का पान किया, और फिर उसने 'वज्र' लेकर 'प्रथम अहि' को मार डाला। इस मंत्र से यह स्पष्ट है कि इंद्र स्वयं सोम-रस का पान करता है। मंत्र में लिखा है कि वह सोम रस स्वयं पीकर 'प्रथम अहि' को मार डालता है। यदि प्रथम अहि इंद्र के सोमरस-पान में कोई विघ्न न डालता, तो उसे मारने की क्या आवश्यकता पड़ जाती ? इसका अभिप्राय यही मालूम होता है कि 'इंद्र' तथा 'प्रथम अहि' की 'सोम-रस' के लिये लड़ाई हुई, जिसमें इंद्र ने अपने 'वज्र' से प्रथम अहि को मार डाला।

इंद्र को सोम की रक्षा की चिंता है, यह उसी सूक्त के १२वें मंत्र से भी स्पष्ट है। उसमें लिखा है—'अजयः गाः, अजयः शूरसोमं, अवासृजः सप्तसिंधून्'—अर्थात् शूर इंद्र ने गउओं को जीता, फिर सोम को भी। क्या इससे हमारा भाव और अधिक स्पष्ट नहीं हो जाता ? चाहे कुछ भी हो, यह मानना ही पड़ता है कि इंद्र की तथा प्रथम अहि की लड़ाई सोम-रस के लिये ही थी।

यह 'सोम' क्या चीज़ है, जिसे 'इंद्र', 'अहि' को नहीं लेने देता ? प्रचलित कथानक के अनुसार 'सोम' एक वृक्ष का नाम है, जो ज्ञान देता है। पारसी लोगों के 'होम'

* The Pentatench Examined. Vol IV, P. 152.



प्रतीक्षा

[चित्रकार—श्रीयुत अक्षयराज व्यास]

बन भटको, अटको कहूँ, खटको यह चित धारि ;
निरनिमेष नयननि रही नागर-पंथ निहारि ।

N. K. Press, Lucknow

का भी यही गुण माना जाता है। सामवेद। उ०। प्र० ३। अर्ध० १। म० ११ में लिखा है—'सोमः पवते जनिता मतीनाम् ।' मतीनां जनिता का अर्थ है बुद्धि देनेवाला, ज्ञान-शक्ति बढ़ानेवाला। अतः लोक तथा वेद, दोनों के अनुसार सोम 'ज्ञानप्रद वृक्ष' का नाम है। बाइबिल में यह 'ज्ञानप्रद वृक्ष' (सोम) 'Tree of the Knowledge of Good and Evil' के नाम से पाया जाता है। जिस प्रकार बाइबिल का इष्टदेव इस वृक्ष को अपने लिये रखना चाहता है, इसी प्रकार वेद का 'इंद्र' भी 'सोम-रस' को अपने लिये रखना चाहता है। बाइबिल के कथानक के अनुसार इस वृक्ष के फल के कारण परमात्मा तथा शैतान से, जिसका साँप का स्वरूप दिखाया गया है, लड़ाई छिड़ गई। वेद की कथानुसार भी इंद्र तथा प्रथम अहि से 'सोम' के कारण लड़ाई छिड़ती है।

सोम-रस ही बाइबिल का ज्ञान-वृक्ष है, यह हमने देख लिया। अब प्रश्न होता है कि यह 'प्रथम अहि' कौन है? इसका उत्तर यह है—'बाइबिल का शैतान साँप।' कैसी मज़ेदार बात है! वेदों के 'प्रथम अहि' बाइबिल के हज़रत साँप ही हैं। अहि का अर्थ लौकिक संस्कृत में 'साँप' होता है। वेदों में 'प्रथम अहि' आया है, जिसका अर्थ है सबसे पहला साँप! शैतान—साँपों के सरदार—सबसे पहले साँप जो ठहरे!! यह अहि सोम-रस को उड़ाना चाहता है, इंद्र से छीनना चाहता है। और, बाइबिल का शैतान साँप भी ज्ञान-वृक्ष को जिहोवा के बगीचे से उड़ा लेना चाहता है। पुराणों की समुद्र-मंथन की कथा में, 'अमृत' निकालने के लिये, सर्पराज को ही मंदराचल के लिये मथन-रज्जु बनाया गया था। इस कथा में भी साँप तथा अमरता के फल का कुछ संबंध निर्दिष्ट है। हमने देख लिया कि इंद्र और अहि की सोम-रस के लिये तथा बाइबिल, कुरान एवं अन्य धर्मों में वर्तमान परमात्मा एवं साँप की ज्ञान-वृक्ष के लिये लड़ाई, सब एक ही कथा के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

ज्यों-ज्यों हम ऋग्वेद के उक्त सूक्त का आगे-आगे अध्ययन करते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारी कल्पना अधिकाधिक पुष्ट होती जाती है। बाइबिल में साँप के विषय में स्त्री कहती है—"इसने मुझे छल लिया—मुझ पर माया कर दी!" ऋग्वेद के इसी सूक्त के चौथे मंत्र में लिखा है—'यदिंद्राहन प्रथमजामहीनामान्मायिनाममिनाः प्रोतमायाः।' यहाँ पर 'मायिनां अहीनाम्' कहकर वेद में भी साँप के ऊपर मायावी, छली होने का दोष आरोपित किया है।

बाइबिल के अनुसार परमात्मा ने साँप को पृथ्वी पर गिराकर मिट्टी खाने का शाप दिया। ऋग्वेद के इसी सूक्त के चौथे मंत्र में लिखा है—'अहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः'—अर्थात्, साँप पृथ्वी के ऊपर आ सोया। इसके आगे बाइबिल में शाप देते हुए कहा गया है कि तू पेट के बल रेंगेगा, तेरे हाथ-पैर कट जायँगे। यही अभिप्राय ऋग्वेद के इसी सूक्त के छठे मंत्र में दिया है—"अपादहस्तो अपृतन्यदिंद्रं।" इस मंत्र में 'अहि' के लिये 'अपादहस्त'-विशेषण प्रयुक्त किया गया है, जो विशेष ध्यान देने-योग्य है। अहि अहस्तपाद अर्थात् हाथ-पैर से रहित है। बाइबिल के साँप का भी यही हाल हुआ है, यह पहले ही लिखा जा चुका है। पहले तो वेद में सोम के लिये लड़ाई में अहि अर्थात् साँप, इस शब्द का प्रयोग होना, और फिर उसके लिये लगभग उन सभी विशेषणों का प्रयोग होना, जो बाइबिल में साँप के क़िस्से में पाए जाते हैं, क्या आश्चर्य में डाल देनेवाली समानता नहीं?

(२)

अहि तथा इंद्र की अन्य धर्म कथाओं के साथ जो समानता पाई जाती है, उसके बाद सृष्ट्युत्पत्ति-प्रकरण में, भिन्न-भिन्न धर्मों में, कई अन्य अचंभे में डाल देनेवाली समानताएँ भी मिलती हैं। उनकी तरफ़ भी हमारा ध्यान गए बिना नहीं रह सकता। बाइबिल में लिखा है—Let us make man in our own image, after our likeness—अर्थात्, परमात्मा ने सोचा, मनुष्य को अपनी शक्ल का बनाएँ। बुनसेन महोदय की "Angel Messiah"-पुस्तक के १०४ पृ० में लिखा है कि पारसियों के यहाँ भी यही भाव पाया जाता है। हमारी धारणा है कि यह भाव वेद के "योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि", इस वाक्य के आधार पर सर्वत्र फैला है। इस समानता के संबंध में अधिक न लिखकर हम सृष्टि-उत्पत्ति की एक अन्य मुख्य समानता की ओर चलते हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति की कथा के संबंध में यहूदियों तथा ईसाइयों की मान्य धर्म-पुस्तक बाइबिल का कथन है कि स्त्री और पुरुष इकट्ठे उत्पन्न किए गए थे—एक ही शरीर का एक

हिस्सा स्त्री का तथा दूसरा पुरुष का था। लिखा है— "male and female created he" अर्थात्, परमात्मा ने उनके दो हिस्से कर दिए।

पारसियों की धर्म-पुस्तक 'बुंदहेश' में लिखा है— अहुर्मुज़्द ने 'माश्य' तथा 'माश्यान' नामी पुरुष और स्त्री का जोड़ा, पीठ की तरफ़ से जुड़ा हुआ, पैदा किया।

इस वर्णन से एक विपरीत वर्णन भी बाइबिल में पाया जाता है, जिसके अनुसार परमात्मा ने मनुष्य को सुलाकर उसकी हड्डी से स्त्री की रचना की। हमारी समझ में, स्त्री के विषय में, इन दोनों वर्णनों का आधार वैदिक तथा भारतीय साहित्य ही है। पहले हम स्त्री-पुरुष के एक ही शरीर के अवयव होने के विषय में लिखेंगे।

बृहदारण्यकोपनिषद् के ४थे ब्राह्मण में इस प्रकार लिखा है—

"स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी नैव रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सपरिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्।"

अर्थात्, प्रथम पुरुष इतना बड़ा था, जितना स्त्री-पुरुष मिलकर होते हैं। एक ही शरीर के अंग होने के कारण आनंद-प्राप्ति न होती थी, अतः उनके दो टुकड़े कर दिए गए, जिन्हें व्यावहारिक भाषा में लोग पति-पत्नी कहने लगे। उपनिषद् का वह वाक्य और बाइबिल की कथा एक ही है। भागवतपुराण, ३ स्कंध, १२ अध्याय के ५२, ५३, ५४ श्लोकों में भी स्वयंभू के पुत्र सर्वप्रथम पुरुष स्वायंभुव के विषय में भी ऐसी ही कथा आती है। श्लोक इस प्रकार हैं—

कस्य रूपमभूद्द्वेधा यत्कायमभिचक्षते ;
ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत।
यस्तु तत्र पुमान् सोऽभून्मनुः स्वायम्भुवः स्वराट् ;
स्त्री यासीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः।
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाबभूविरे।

'क' अर्थात् 'ब्रह्मा' के दो टुकड़े हो गए, इसीलिये शरीर को 'काय' कहते हैं। उनमें जो पुमान-भाग था, उसका नाम 'मनु' हुआ, तथा जो स्त्री-भाग था, उसका नाम 'शतरूपा' रक्खा गया। तब से सृष्टि-उत्पत्ति भी मैथुन द्वारा होने लगी। स्त्री को अर्द्धांगी, वामांगी आदि कहा जाता है। इन शब्दों में भी उपनिषद्, पुराण, बाइबिल तथा कुरान की कथा भरी हुई है। बाइबिल का यह क़िस्सा—जिसे पढ़कर हम उसको खिल्ली उड़ाया करते हैं—यथार्थ में बहुत पुराना है, और धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी को उस स्वर्ण-युग की झाँकी दिखलाता है, जब इस परम पुनीत देश की सभ्यता के टूटे-फूटे टुकड़े भी दूर दूर देशों में देवता के प्रसाद की तरह पूजे जाते थे। भारत की धूल को संसार स्वर्ण-तुल्य समझता रहा है। इसके लिये किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं। अभी हम जिस विषय की चर्चा कर रहे हैं, उसमें, कौन नहीं जानता, कितना आध्यात्मिक तत्त्व भरा पड़ा है? स्त्री को अर्द्धांगी कहना सभ्यता की ऊँची-से-ऊँची पहुँच है। इन उच्च भावों से भरपूर भारत की पूजा भला क्यों न होती? प्राचीन काल में भारत की पूजा इतनी अधिक हो गई थी कि आगे चलकर जब भारत उच्च आदर्शों को भूल गया, तब भी इस देश में प्रचलित अर्थ-हीन शब्दों की भिक्षा लेकर अन्य देश अपने को धन्य मानते रहे, और सदियों तक यह समझते रहे कि सचमुच प्रथम स्त्री-पुरुष का शरीर जुड़ा हुआ था, तथा परमात्मा ने उसे काटकर दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया।

इसके अनंतर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुरुष की हड्डी से स्त्री के बनने की कथा का उद्भव-स्थान कहाँ है? इस प्रश्न के उत्तर के लिये हम विचारकों का ध्यान महाभारत, वनपर्व के १००वें अध्याय के निम्न-श्लोकों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं—

दधीचिरिति विख्यातो महानृषिरुदारधीः ;
तं गत्वा सहितास्सर्वे वरं वै सम्प्रयाचत।
स वो दास्यति धर्मात्मा सुप्रीतेनान्तरात्मना ;
स वाच्यः सहितैः सर्वैर्भवद्भिर्जयकांक्षिभिः।
स्वान्यस्थीनि प्रयच्छेति त्रैलोक्यस्य हिताय वै ;
स शरीरं समुत्सृज्य स्वान्यस्थीनि प्रदास्यति।
तस्यास्थिभिर्महाघोरं वज्रं संक्रियतां दृढम् ;
तेन वज्रेण वै वृत्रं वधिष्यति शतक्रतुः।

युधिष्ठिर से लोमश ऋषि कहते हैं कि वृत्र के उपद्रव से जब संसार पीड़ित होगा, तब इंद्र महाराज दधीचि के पास आकर अपना रोना सुनाने लगे। दधीचि ऋषि ने अपनी हड्डियाँ दीं, जिनसे वज्र बनाया गया। उस वज्र से ही वृत्र का वध किया गया। महाभारत की इस कथा का मूल वेद की निम्न लिखित ऋचा में है—

'इंद्रो दधीचो अस्थिभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः जघान" (१।८४।१३)

अर्थात्, इंद्र ने दधीचि की हड्डियों से वृत्र का वध किया। 'वृत्र' के लिये दूसरा शब्द वेद में 'अहि' आता है। दोनों पर्यायवाची हैं। अतः अहि के मारने के लिये इंद्र ने दधीचि की हड्डियों का वज्र बनाकर उसका प्रयोग किया, यह वेद की कथा है। बाइबिल की कथा यह है कि साँप को मारने के लिये जिहोवा या खुदा ने आदम की हड्डियों से बनी 'ईव'-नामक शक्ति का प्रयोग किया। दधीचि की हड्डियों से तो अहि मारा गया, और आदम की हड्डियों से साँप। इस मारण-कार्य में, वैदिक कथा में, लड़ाई इंद्र तथा अहि में थी, और बाइबिल की कथा में लड़ाई परमात्मा और साँप में। दोनो कथाओं में लड़ाई का मूल 'ज्ञान-फल' की रक्षा थी।

मज़ेदार बात यह है कि यह दधीचि भी हज़रत आदम की तरह उसी बखेड़े से गुज़र चुके हैं। इन्हें भी आदम की तरह एक चीज़ सिपुर्द की गई थी, जिसके विषय में इन्हें भी इंद्र ने कह दिया था कि यदि इसकी पूरी-पूरी हिफ़ाज़त न हुई अथवा किसी दूसरे के हाथ में पड़ गई, तो सख्त सज़ा दी जायगी। सज़ा भी कम नहीं, आदम से कहा गया था कि तुम इस वृक्ष की रक्षा न करके यदि इसका फल खा लोगे, तो मौत के शिकार होगे। दधीचि को भी यही भय दिखलाया गया था। आदम को ज्ञान-वृक्ष की रक्षा करने के लिये कहा गया था, और दधीचि को मधु की रक्षा करने के लिये। शतपथ-ब्राह्मण १४।१।१ में लिखा है—

"सह इंद्रेणोक्त आस। एतं चेदन्यस्मा अनुब्रूयास्तत एव ते शिरश्छिन्द्यामिति।"

अर्थात्, इंद्र दधीचि से बोले कि यदि तुमने मधु का निर्देश किसी दूसरे को कर दिया, तो सिर काट लिया जायगा।

बाइबिल में आदम ने फल खा लिया, और उसका पतन भी हो गया। ब्राह्मण-ग्रंथ के दधीचि ने भी मधु का निर्देश अश्विनी को कर दिया, और अपना सिर कटवा लिया। अश्विनी ने दधीचि से आकर कहा—"मधु का हमें उपदेश दो।" दधीचि ने कहा—"मुझे इंद्र ने ऐसा करने से मना किया है।" शैतान ने आदम-ईव से आकर कहा—"फल खा लो।" उन्होंने भी यही कहा कि परमात्मा ने हमें ऐसा करने से रोक दिया है। अंत में दधीचि ने मधु का उपदेश कर दिया, और आदम ने भी फल खा लिया। ब्राह्मण-ग्रंथ की इस कहानी में बाइबिल के साँप की जगह अश्विनी आ गए हैं। अन्यथा अन्य सब प्रकार से कहानी वही है, जो बाइबिल में ले ली गई है। शतपथ के इस कथानक को लेकर जब हम दधीचि की हड्डियों से बने वज्र द्वारा वृत्र के वध की कथा वैदिक साहित्य में पढ़ते हैं, तब तो ज़रा भी संदेह नहीं रहता कि बाइबिल के जिहोवा तथा शैतान की कथा का इंद्र तथा अहि (वृत्र) की कथा से, ज्ञान-फल की कथा का सोम-रस तथा मधु की कथा से, आदम और ईव का दधीचि और वज्र की कथा से साधारण नहीं, अपितु असाधारण संबंध है। अस्तु, प्रत्यक्ष जान पड़ता है कि बाइबिल और कुरान की सारी कथा का आधार वैदिक है।

(३)

इन अत्यंत घनिष्ठ समानताओं को देखकर सहसा यह प्रश्न उठता है कि इन कथानकों का वास्तविक अभिप्राय क्या है? क्या ये अलिफ़लैला के क़िस्से और महज़ जंगली लोगों के मन-बहलाव की बातें हैं, या इनके आधार में कुछ सचाई भी मौजूद है? हमारी सम्मति में इन्हें क़िस्से और मन-बहलाव की ही बातें नहीं कह सकते, क्योंकि इनमें मन-बहलाव की बात तो कोई नहीं है। इंद्र ने दधीचि की हड्डियों से वज्र बनाकर वृत्र को मारा, और सोम-रस की रक्षा की, अथवा जिहोवा ने आदम की हड्डियों से हव्वा को बनाकर साँप को मारा, और ज्ञान-वृक्ष की रक्षा की—इस तरह की कहानियों से किसका मन बहल सकता है? यदि मान भी लिया जाय कि कुछएक रसिकों को इसमें अपार आनंद आता है, तो भी यह नहीं माना जा सकता कि इस कहानी में इतना रस भरा है कि यह उस प्रकार विश्वव्यापी हो जाय, जिस प्रकार यह हो गई है। बहुतेरे लोगों का कथन है कि ये अलंकार हैं। इनका अभिप्राय और ही कुछ है। हमारी समझ में यह भी नहीं आता कि ऐसे क्लिष्ट अलंकार रखने का क्या प्रयोजन, जिन्हें कोई समझ ही न सके? जहाँ तहाँ अलंकारों को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति आजकल के वेद-प्रेमियों में बढ़ती चली जा रही है; परंतु ऐसे व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि अलंकार का उद्देश्य अर्थ को छिपाना नहीं, विशद करना होता है। हमारे कथन का यह अभिप्राय कभी नहीं कि वेदों में अलंकार नहीं है। अनेक स्थलों पर जब हम वेदों के शब्दों का परिचय नहीं पाते हैं,

तो वहाँ अलंकार समझने लगते हैं। यह ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त अनेक स्थल ऐसे भी हैं, जो अब लौकिक संस्कृत की दृष्टि से तो अलंकार बन गए हैं; परंतु यदि उनके वैदिक शब्दों द्वारा अर्थ किए जायें, तो वहाँ साधारण अर्थ हो जाते हैं, अलंकार नहीं रहते।

प्रकृत प्रकरण में प्रश्न उपस्थित होता है कि इंद्र तथा वृत्र की लड़ाई का वास्तविक अभिप्राय क्या है? हम समझते हैं कि यह अलंकार-रूप में नहीं, वैदिक संस्कृत के सीधे-सादे मोटे शब्दों में सूर्य तथा बादल के पारस्परिक संग्राम का कविता में वर्णन है। इंद्र का नाम 'द्युस्' है। उसी से ग्रीक लोगों के देवता 'ज़ीयस' तथा यहूदियों के देवता 'जिहोवा' के नाम बने। इसीलिये बाइबिल में इंद्र की जगह जिहोवा इस कथा का नायक है। वेदों में इस इंद्र की वृत्र के साथ यत्र-तत्र लड़ाई प्रसिद्ध है, इंद्र को वृत्रारि कहा जाता है। इंद्र और वृत्र का संग्राम चलता ही रहता है। इस वृत्र के अनेक नामों में एक प्रसिद्ध नाम 'अहि' भी है। 'अहि'-शब्द का अर्थ लौकिक संस्कृत में 'साँप' है। जिहोवा तथा सर्पेंट की लड़ाई इंद्र तथा अहि की ही लड़ाई है। वेद में बादल के लिये जो विशेषण पाए जाते हैं, वे साँप पर भी घट जाते हैं; और 'अहि' का अर्थ साँप है ही, इसी कारण यहूदी, ईसाई, पारसी और मुसलमान भूल कर बैठे हैं। अहि का आलंकारिक नहीं, अपितु शाब्दिक अर्थ ही वैदिक संस्कृत में 'बादल' है। 'वृञ् वरणे'-धातु से वृत्र का अर्थ बादल तो लोक-प्रसिद्ध ही है। इंद्र का अर्थ है सूर्य। इस प्रकार इंद्र तथा अहि की लड़ाई सूर्य तथा बादल की लड़ाई है। सोम-रस का अर्थ है जल। हमने वेद-मंत्रों का अर्थ तथा बाइबिल की कथा का निर्देश करते हुए बतलाया है कि सोम-रस के लिये ही इंद्र तथा अहि की—जिहोवा तथा शैतान की—लड़ाई हुई। वेद के कवितामय शब्दों में, पानी के लिये, सूर्य और बादल की लड़ाई हुई। यदि बादल जीत जाय, और पानी को अपने पास रख ले, तब वर्षा न हो, और कृषि भी न हो सके। कृषि के लिये आवश्यक है कि सूर्य बादल के गर्व को खर्व कर दे, और उसे औंधे मुँह ज़मीन पर गिरा दे। इस लड़ाई में यह देखकर कि 'सोम-रस' अर्थात् जीवन देनेवाले पानी को 'अहि' अर्थात् बादल अपने पास रखना चाहता है। 'इंद्र' अर्थात् सूर्य को गुस्सा आया। लड़ाई छिड़ गई। परिणाम जो कुछ हुआ, वह वेद तथा बाइबिल में लिखा हुआ है—"अहिः शयत उपपृक् पृथिव्याः"—बादल बरसकर पृथ्वी पर आ सोया; और, "अपादहस्तो अपृतन्यत्"—बिना हाथ-पैर के लड़ाई को निकला था, वह कर ही क्या सकता था? बादल के हाथ-पैर होते ही नहीं।

इस प्रकरण में यह लिख देना अनुचित न होगा कि इंद्र का अर्थ सूर्य करना केवल अटकल पर आश्रित नहीं है। इस अर्थ का, अंत में, वेद साक्षी है। अथर्ववेद में लिखा है—"वृत्राज्जातो दिवाकरः" (अथर्व। ४ का०। १०। ५) अर्थात्, वृत्र से सूर्य हुआ। अभिप्राय यही है कि बादल के हटने से सूर्य का उदय होता है। इस प्रकरण में दिवाकर तथा वृत्र का संबंध देखकर पूर्वप्रतिष्ठित इंद्र-वृत्र संबंध में इंद्र का अर्थ दिवाकर कर लेना संभवतः क्लिष्ट कल्पना नहीं कहा जा सकता।

संपूर्ण वर्णन कैसा कवितामय है। परंतु दुःख यही है कि ऐसे उत्कृष्ट वर्णन के आधार पर ही न-जाने क्या-का-क्या खड़ा हो गया है। केवल 'अहि'-शब्द ने ऐसा धोखा दिया कि कुरान, पुराण, इंजील—सभी ऐसे भ्रम जाल में फँस गए कि कुछ-का-कुछ ही कहने लगे। पौराणिक लोग अलंकार का नाम सुनते ही चौंक उठते हैं, और कहने लगते हैं कि हम तो वेदादि के अक्षर-अक्षर को सत्य मानते हैं, और उनमें जो कुछ कथा-कहानी है, उसे वैसा ही स्वीकार करते हैं। उनके संतोषार्थ हम यहाँ यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि हमने जो अर्थ दिया है, वह किसी अलंकार पर आश्रित नहीं है। यह तो सीधा वेद के शब्दों का अर्थ है। वैदिक काल में अहि तथा वृत्र-शब्दों का उन-उन प्रकरणों में उच्चारण होते ही विद्यार्थी के हृदय में एकदम बादल का ख़याल आता था। इसमें कोई अलंकार नहीं है। हमारी सम्मति में वेदों में घुसकर मन-माने अलंकार ढूँढ़ने की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी उनके सीधे शाब्दिक अर्थों के समझने की। हाँ, इससे एक बात अवश्य ध्यान में आने लगती है, और वह यह कि यदि भारत से ही अन्य धर्मों में इन कथानकों का समावेश हुआ है, तो वह तब हुआ होगा, जब भारत में वैदिक साहित्य का लोप हो चुका था, और लौकिक संस्कृत-साहित्य का सूर्य उच्चतम अक्षांश पर पहुँच चुका था। एक समय ऐसा था, जब 'अहि' का उच्चारण करते ही 'बादल' अर्थ पहले ध्यान में आता था। और,

फिर ऐसा समय आया, जब इस शब्द के उच्चारण से एक-दम 'साँप' का अर्थ ध्यान में आने लगा। यदि हमारी यह कल्पना ठीक हो, तो वेदों के भारतवर्ष में अच्छी तरह से प्रचलित होने का समय बहुत पहले जा पड़ता है।

अब हम यह समझ लें कि शैतान का पतन केवल सूर्य द्वारा बादल का ज़मीन पर बरस जाना है, तो आगे यह आप ही समझ में आ जाता है कि बाइबिल में परमात्मा ने मनुष्य को पसीना बहाकर खेती करके भोजन पैदा करने के लिये क्यों कहा है। बादल के बरसने का खेती के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है, इसे कौन न मानेगा? खेती के साथ कपड़े पहनने का साथ है ही! इसीलिये बाइबिल की कथा में फल खाने के बाद नग्नता के ढकने का भाव भी दिखलाया गया है। वेदों में इंद्र तथा वृत्र का संग्राम बादल बरसाने तक ही समाप्त हो जाता है, परंतु बाइबिल आदि में उस कहानी के 'भग्न शाब्दिक अवशेष' की जैसी-की-तैसी रक्षा करने के अनंतर मनुष्य के खेती करने की कथा को साथ जोड़ दिया है, जो स्वयं इस बात का प्रमाण है कि वास्तव में इस कथानक का अभिप्राय सूर्य-बादल-वर्षा-जल-कृषि इत्यादि-विषयक ही है, अन्य-विषयक नहीं। ऋग्वेद के (१ मंडल । १८७ सूक्त के छठे) मंत्र में भी यह निर्देश पाया जाता है कि अन्न ने (कृषि ने) अहि (बादल) का नाश किया—'अहिमसाववधीत।' संभवतः ऋग्वेद का यही मंत्र, इंद्र तथा वृत्र की लड़ाई में, कृषि के भाव के साथ भी जुड़ जाने का आधार हो।

अब एक प्रश्न रह जाता है, और वह यह कि आदम की हड्डी से बनी स्त्री द्वारा अथवा दधीचि की हड्डी से बने वज्र द्वारा शैतान अथवा वृत्र के नाश का क्या अभिप्राय है? हमारी सम्मति में दधीचि का कथानक बिलकुल आध्यात्मिक कथानक था, और उसे ऐतिहासिक रूप देकर पुराण, बाइबिल तथा कुरान आदि ने एक उच्च आध्यात्मिक सत्यता पर बलात्कार किया है। आध्यात्मिक भाव के इस वैदिक कथानक का इंद्र तथा वृत्र की लड़ाई से कोई संबंध न था, यह एक स्वतंत्र ही कथानक था। परंतु चूँकि इंद्र-वृत्र तथा दधीचि के दोनों कथानकों में वृत्र का नाम आया है, इसलिये पुराणकारों ने दोनों पर-स्पर असंबद्ध कथानकों को मिला दिया है, जिससे वेदों को छोड़कर अन्य धर्मों की सृष्टि-उत्पत्ति संबंधी कहानी में गड़-बड़ हो गई है। इस गड़बड़ का ही बाइबिल-कुरान आदि को शिकार बनना पड़ा है। दधीचि की तथा इंद्र और वृत्र की कथाएँ अलग-अलग हैं; दोनों में भेद न कर सकना ही विचार-व्यत्यास का कारण है। विचार-व्यत्यास की संभावना, जैसा हमने अभी बतलाया है, दोनों कथानकों में वृत्र तथा इंद्र शब्द का प्रयोग होना है। परंतु हमारा ख़याल है कि वास्तव में जहाँ दधीचि का वर्णन है, वहाँ कथा का वर्षा आदि से कोई संबंध नहीं। वर्षा, कृषि आदि से तो इंद्र तथा वृत्र-मात्र की कथा का ही संबंध है। अब प्रश्न हो सकता है कि ऐसी अवस्था में इस कथा का अभिप्राय क्या हुआ? सुनिए—

वेद-पुराण आदि की कथाओं के अनुसार अथर्वा का पुत्र दधीचि है—"तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र ईधे अथर्वणः" (ऋक् ६ । १६ । १४)। अथर्वा का अभिप्राय है गुण-दोष के ज्ञान से रहित समाधि की अवस्थावाला—थर्वति गति-कर्मा का अर्थ है—जिस अवस्था में किसी प्रकार की गति न हो, उसका पुत्र दधीचि ऋषि है। दधीचि की व्युत्पत्ति निरुक्त ने—"प्रत्यक्तो ध्यानम्'—यह की है। दधीचि का अर्थ हुआ गुण-दोष-ज्ञान-सहित मनवाला। इंद्र का अर्थ है जीव; वृत्र का अर्थ है पाप। इंद्र दधीचि की हड्डियों से वृत्र का नाश करता है, यह वेद तथा पुराण में पाया जाता है। अब इसका स्पष्ट शाब्दिक अर्थ यह हुआ—"इंद्र अर्थात् जीव, दधीचि की अर्थात् ध्यानी पुरुष की हड्डियों अर्थात् हड्डियों तक संपूर्ण देह से वृत्र का अर्थात् पाप का नाश करता है।" यह भी आलंकारिक वर्णन नहीं, शाब्दिक अर्थ ही है। हाँ, यह वर्णन आलं-कारिक न होकर भी आध्यात्मिक अवश्य है; क्योंकि इस प्रकरण में इंद्र तथा वृत्र, ये दो शब्द आ गए हैं, और इन्हीं दोनों का ज़िक्र वर्षा-प्रकरण में भी होता है। अतः भूल से दधीचि की कथा को भी वर्षा के प्रकरण में लगा दिया गया, जिससे सृष्टि-उत्पत्ति के प्रकरण में, सब धर्मों में, आदम की कथा भी शामिल हो गई। वास्तव में दोनों प्रकरण अलग-अलग थे। फिर भी, दधीचि का आधिभौतिक अर्थ सूर्य भी किया जा सकता है। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने निरुक्त-भाष्य के ४र्थ खंड की शब्दानुक्रमणिका के ७४ पृष्ठ पर दध्यङ् का अर्थ आदित्य किया है। भाष्य में वह लिखते हैं कि उत्तम स्थान में पठित होने के कारण दध्यङ् का अर्थ सूर्य किया जा सकता है। यदि इस प्रकार दधीचि का सूर्य अर्थ कर लिया जाय,

तो उसकी किरणों को दधीचि की हड्डियाँ कहा जा सकता है। इन किरणों से बाइबिल की स्त्री-रूपा विद्युत् उत्पन्न होती है, जो अहि-रूप शैतान को मारती है। इस प्रकार दधीचि का सूर्य अर्थ करने से बाइबिल की सारी-की-सारी कथा का यह स्रोत कहा जा सकता है। इस स्थल पर यह भी ध्यान देने-योग्य बात है कि दधीचि का पिता अथर्वा है, जिसका अर्थ परमेश्वर किया जा सकता है। परंतु अथर्वा का अर्थ वेद तथा ज़िंदावस्था में पुरोहित भी है, और पुरोहित का सोम-रस से संबंध है ही। इस प्रकार अथर्वा, दधीचि आदि का सोम-रस से संबंध भी द्योतित हो जाता है। इस प्रकरण में यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि दधीचि के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उससे मुझे स्वयं संतोष नहीं है। अभी इस विषय की अधिक खोज होने की ज़रूरत है।

इस प्रकार हमने देख लिया कि समस्त धर्मों में सृष्टि-उत्पत्ति-संबंधी प्रचलित संपूर्ण कथाओं के आधार वेद ही हैं, और उन्हीं के यथार्थ अर्थ को न समझकर भिन्न भिन्न धर्मों में भिन्न-भिन्न कथाओं का प्रादुर्भाव हुआ। महा० भारत में सत्य ही लिखा है —' बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।' यदि लोग बहुश्रुत होते, तो संसार में धार्मिक लड़ाइयाँ और असह्य विभिन्नताएँ न दिखलाई पड़तीं।

सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

"एक ऐतिहासिक भूल"-संबंधी भ्रम-निवारण



कार्तिक-मास की माधुरी में श्रीयुत अंबालालजी वैद्य ने हमारे जून, सन् १६२५ की 'सरस्वती' में निकले 'राव जोधाजी'-शीर्षक लेख में भूल बतलाते हुए हमें जिन शब्दों में याद किया है, उसके लिये हम उक्त महाशय को धन्यवाद देते हैं। इसमें वैद्यजी का विशेष दोष नहीं है ; क्योंकि आप तो इस वितंडावाद में केवल शिखंडी के रूप में सामने लाए गए हैं। अस्तु, आगे हम आक्षेपों का उत्तर देने की यथासाध्य चेष्टा करते हैं—

आपका पहला आक्षेप यह है कि हमने अपने लेख में जोधपुर के राव रणमल्ल की बहन का ब्याह राणा मोकल से होना लिख दिया है। वास्तव में आपका यह आक्षेप समुचित है। परंतु यदि आप जुलाई-महीने की 'सरस्वती' के देखने का कष्ट उठाते, तो शायद आपको माधुरी का पूरा एक पृष्ठ लिखने का व्यर्थ कष्ट न उठाना पड़ता। लेखक के दोष से वास्तव में उक्त वाक्य में गड़बड़ हो गई थी। परंतु जैसे ही जून-महीने की 'सरस्वती' प्रकाशित होकर हमें मिली, वैसे ही हमने भूल-सुधार की सूचना सरस्वती-संपादक के पास भेज दी। इसका प्रमाण वैद्यजी के लेख के पहले कालम में दिए हुए माधुरी-संपादक के नोट से ही मिल जाता है।

आपका दूसरा आक्षेप है कि हमने जो लिखा है— 'राणा कुंभा को मेवाड़वालों ने भड़काकर अपनी तरफ़ मिला लिया, और वि० सं० १४९५ में रणमल्ल को रात्रि के समय मार डाला,' यह सर्वथा अनुचित है ; क्योंकि मेवाड़ की ख्यातों में या टाड साहब के राजस्थान में ऐसा नहीं लिखा। इनका आधार केवल मारवाड़ की ख्यातें ही हैं।

इस पर हमारा निवेदन है कि जब मारवाड़ की ख्यातों का लिखा अप्रामाणिक है, तो फिर मेवाड़ की ख्यातों को ही प्रामाणिक समझने में कौन सा विशेष कारण विद्यमान है? यह तो सभी जानते हैं कि अपने दूध को कोई भी खट्टा नहीं बतलाता। ऐसी हालत में भला मेवाड़ के लेखक अपनी ख्यातों में अपनी बुराई क्यों लिखने लगे थे। रहा टाड साहब का राजस्थान, सो उसे भी तो उन्होंने मेवाड़ में रहकर वहाँ की ख्यातों के आधार पर (वहाँ के यति ज्ञानचंद्र की मदद से) ही लिखा था। फिर भी यदि टाड साहब के इतिहास को प्रमाण मानने का आग्रह किया जायगा, तो प्रसिद्ध सूर्यवंशी महाराणाओं के निष्कलंक कुल में काजल की रेखा लगे बिना न रहेगी। टाड साहब के समय के छपे राजस्थान के पृष्ठ २७१ और २७२ में लिखा है— "महाराणा हम्मीर ने चित्तौड़ प्राप्त करने की ग़रज़ से राव मालदेव (चौहान) की विधवा कन्या से विवाह किया था, और उसी से महाराणा क्षेत्रसिंह (खेता) का जन्म हुआ।" उक्त इतिहास में ऐसी और भी अनेक (कल्पित) घटनाएँ भरी पड़ी हैं।

आगे हम अपने उपर्युक्त लेख की पुष्टि में, कलकत्ता-युनिवर्सिटी में राजपूताने के इतिहास के भूतपूर्व लेक्चरार

विद्वद्वर पंडित रामकरणजी के लिखे इतिहास से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

"In 1490 V. S., Chacha and Mera, two of the illegitimate sons of Rana Khetaji, murdered Mokalji. When this news reached Ranamallji, he at once came to the help of Kumbha, Mokal's son, and having killed the murderers in their place of refuge, seated Kumbha on the throne. The administrative affairs of Mewar were also settled by him. Thereupon the Sardars of Mewar headed by Chacha's son Aka and the Parmar Mahapa with the assistance of Mokal's elder brother Chunda, warned Kumbhaji to be on his guard, otherwise the throne would pass on to the Rathors. The mind of Kumbhaji was thus poisoned, and in consequence, in 1495, the Rana caused Ranamal to be murdered."

(History of Rathors—page 277.)

अर्थात्, वि० सं० १४९० में राणा खेता के दासी-पुत्र चाचा और मेरा ने मोकलजी को मार डाला। इस पर रणमल्लजी ने मेवाड़ में पहुँच बालक कुंभाजी को वहाँ की गद्दी पर बिठा दिया, और चाचा और मेरा को मारकर खुद मेवाड़ का प्रबंध करने लगे। इस पर चाचा के पुत्र आका, परमार महपा और कुंभाजी के बड़े भाई चुंडा ने सरदारों से मिलकर कुंभाजी को राज्य छिन जाने का भय दिखलाया। इससे उन्होंने वि० सं० १४९५ में रणमलजी को मरवा डाला।

राजपूताने के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गवासी मुंशी देवीप्रसादजी अपनी ई० स० १८९२ की छपी जंत्री में लिखते हैं—"मोकलजी को चाचा मेरा ने मार डाला, और उनके कुँअर कुंभा को चित्तौड़ में जा घेरा। कुंभाजी ने रिड़मलजी को बुलाया। यह फ़ौरन् वहाँ गए, और चाचा मेरा को मारकर मेवाड़ का काम खुदमुख्तियारी से करने लगे। इस वास्ते शीशोदियों ने नाराज़ होकर रावजी को सोते हुए चित्तौड़ के क़िले में मारा।"

इन्हीं मुंशीजी का एक लेख 'राव जोधाजी' पर जनवरी, सन् १९१५ की सरस्वती में निकला था। उसमें लिखा है—

"चित्तौड़ के राना मोकल को, जो इनके पिता राव रिड़मल के भानजे थे, चाचा मेरा ने मार डाला। पर वहाँ के सरदार उनको कुछ भी सज़ा न दे सके। शायद उनकी साज़िश से ही यह काम हुआ हो। परंतु रिड़मल ने मारवाड़ से आकर चाचा मेरा को मारा, और अपने भानजे के बालक बेटे राना कुंभा का राज्य जमाने के लिये राठौरों की फ़ौज मेवाड़ में रक्खी। यह बात उन कृतघ्नी सरदारों को बुरी लगी। उन्होंने राना की मा को बहकाया, और कहा कि राव रिड़मल तुम्हारे बेटे को मारकर मेवाड़ का राज्य ले लेंगे। इस कारण उसने रात को चित्तौड़ के महल में सोते हुए राव रिड़मल को अपने जेठ चुंडा से मरवा डाला।"

रायबहादुर पं० गौरीशंकरजी ओझा और अंबालालजी ने जिस नैणसी की ख्यात की प्रामाणिकता स्वीकार[1] की है, उसमें लिखा है—

"रिणमलजी कुंभैनूं टीको दियो, बीजाही जिके सीसोदिया फिरिया हुता तियांनु मार देस माहेसूं काढ़ सावल किया। रिणमल कुंभैनु धरती साफ़ दीनी। कुंभो सुख सूं राज करै। इयं जिनस देस सरब रिणमल बास कियो छै। जांणैजियैनुं काढ़े। एकदा प्रस्तावै चाचै मेरैरा बेटा राणाजी सूं आय मिलिया। महपो परमार आय मिलियो। हिवै महपो परमार राणै कुंभैनुं कहै धरती राठौड़ लीधी। एक दिन राणों कुंभो पौढ़ियो छै आको चाचावत पगे हाथ दे छै। सु अकारै आंख्यां सूं आंसू ढलिया। ऊंना टिबका राणारै पगां ऊपर ढलिया। ताहरां राणो जागियो। देखै तो आको रोवै छै। ताहरां कहियौ अका क्यों? कह्यौजी धरती सीसोदियां हूं गई, राठवड़ लई। तै मोनुं दुख आवै छै। ताहरां राणो बोलियो अका रिणमलनुं मारस्यो? कह्यौ दीवाणरा पूठै हाथ हुसी तो मारस्यां। ताहरां राणै हुकम कियो रिणमलनुं मारो। यूं रोज आलोच करै......एक दिन राणै कुंभै, महपै

१. उसी दिन से मारवाड़ में "रिड़मलां थापिया जिके राजा" की कहावत चरितार्थ हुई है (अर्थात् जिनको रिड़मलजी ने राजा बनाया, वही राजा हुए; दूसरे किसी की कुछ भी न चली)।

१. "एक ऐतिहासिक भूल"-शीर्षक लेख के पृ० ४३७ के पहले कालम के अंत में स्वयं वैद्य अंबालालजी ने लिखा है—

"१७वीं शताब्दी में जोधपुर (मारवाड़) के दीवान महता नैणसी ने अद्भुत एवं अपूर्व इतिहास की पुस्तक 'महता नैणसी की ख्यात' के नाम से लिखी है। यह अत्यंत महत्त्व-पूर्ण पुस्तक है, और मारवाड़ की ख्यात से कहीं अधिक प्रामाणिक है।"

परमार, अर्क चाचावत इयां आलोच कियो आज रिणमलनुं मारस्यां, रातरा पोढियानुं मारस्यां। रातरो चूक कियो। रात कुंभो पोढियो, ऊठे, बैसे, महिल हूं बारे आवै, फिर मांहि आवै। ताहरां राणी पूछियो, दीवाण आज किमूं छै। दीवाण किण ही सों चूक कियो छै? कह्यो हवे। ताहरां राणी बोली। देख यां हरांमखोरां कहे कोई रिणमलसूं चूक करना हुवो? ताहरां बोलियो म्हांतो रिणमल मरायो। राणी बोली कासूं कियो। थांहरे बापरो वैर लियो, तोनूं टीको दियो, थारी धरती वसाई, तरे वामते ये मरावो। थां मूं रिणमल कासूं बुरो कियो छै। ताहरां दीवाण छोकरी मोली, जायने महिपै नुं तेडिल्याव। कहियो, थांनु, काम फुरमायो सूं मत करो। ताहरां छोकरी जायने कह्यो महपाजीथां नु दीवाण बुलावै छै। ताहरां जाणियो रिणमल जीवियो, तो म्हे मरस्यां। ताहरां छोकरीनुं माला दीनी अर कहियो तूं कहे काम थां फुरमायो हुतो सुकियो। छोकरी पाछी फिरी आयने राणानुं कह्यो। इयां आइने रिणमलजी-नुं पौढियानुं घाव कियो।"

अर्थात, रणमल्लजी ने बाग़ी सरदारों को दबाकर कुंभाजी को गद्दी पर बिठा दिया, और उनके नवयुवक होने के कारण मेवाड़ का प्रबंध स्वयं अपने हाथ में रक्खा। मौक़े से रणमल्लजी द्वारा मारे गए चाचा के पुत्र आदि ने राणा कुंभा को भड़काकर रणमल्लजी के मारने की आज्ञा ले ली। परंतु जब रानी को इस बात का संदेह हुआ, तो उसने कुंभाजी को समझाया कि रणमल्लजी ने तो शत्रुओं को मारकर तुम्हारा राज्य जमाया है, अतः नमकहरामों के कहने से उन्हें मरवाना उचित नहीं है। यह बात राणाजी की भी समझ में आ गई, और उन्होंने दासी के द्वारा षड्यंत्र-कारियों के पास रणमल्लजी के न मारने का आदेश भेज दिया। परंतु उन्होंने दासी को रिशवत देकर राणाजी के पास रणमल्लजी के इस आज्ञा पाने के पूर्व ही मारे जाने का झूठा संवाद भेज दिया, और दासी के लौटते ही सोते हुए रणमल्लजी को मारकर अपनी दुरभिसंधि पूरी की।

इन अवतरणों से हमारे लेख की ही पुष्टि होती है। फिर भी आगे स्वयं आक्षेपकर्ता द्वारा "एक ऐतिहासिक भूल" वाले लेख के पृष्ठ ४३७ के पहले कालम में उद्धृत की हुई 'वीर-विनोद' की कुछ पंक्तियाँ दी जाती हैं—"एक दिन हंसाबाई ने राणा कुंभा से कहा कि मेरा चित्तौड़ में व्याह होने से ही रणमल्लजी का मारा जाना तथा मंडोवर का नष्ट होकर जोधाजी का जंगलों में मारे-मारे फिरना आदि सब तरह से राठौरों का नुक़सान हुआ है। उन लोगों ने तुम्हारा कुछ बुरा नहीं किया, बल्कि रणमल्ल ने चाचा और मेरा से तुम्हारे बाप का बदला लिया, और तुम्हारे शत्रु मुसल-मानों से बड़ी बहादुरी से लड़े।"

जिस मेवाड़ के इतिहास 'वीर-विनोद' के लिये उदयपुर-महाराणा के लाखों रुपए ख़र्च हुए, और जिसकी रचना में श्यामलदासजी आदि अनेक गण्य-मान्य विद्वानों ने कई वर्ष लगातार परिश्रम किया, उसी प्रसिद्ध इतिहास की ये पंक्तियाँ भी तो रणमल्लजी को निष्कलंक सिद्ध करती हैं।

आगे वैद्यजी ने हमारी इस लिखावट पर कि "कुंभा ने जोधाजी के उद्योग को शिथिल करने के लिये उनके चचेरे भाई राघवदेव को सोजत का परगना दिया" आक्षेप किया है। आपका कहना है कि मेवाड़ के महाराणा तो अनेक लोगों को जागीर देते आए हैं। उन्होंने नरबदजी को भी जागीर दी थी।

आपका उक्त कथन बहुत ठीक है। परंतु साधारण समझ का आदमी भी यह भली भाँति समझ सकता है कि ऐसे समय, जब कि जोधाजी अपने पैतृक राज्य पर अधि-कार करने की लगातार और जी तोड़ चेष्टा कर रहे थे, उनके चचेरे भाई को राज्य का कुछ हिस्सा दे देना भेद (Divide and rule) नीति के सिवा और क्या हो सकता है? रही नरबदजी को जागीर देने की बात, सो उसका भी हाल सुन लीजिए। ख्यातों में लिखा है—"अपनी विजय हो जाने पर राजनीति-चतुर रणमल्लजी ने मेवाड़ की सेना को मंडोर-नगर के अंदर ले जाना उचित न समझा। यद्यपि राणाजी के सरदारों ने नगर और क़िला दिखाने का बहुत आग्रह किया, तथापि रणमल्लजी ने उन्हें बाहर से ही, बड़ी ख़ातिर के साथ, विदा कर दिया। इससे नाराज़ होकर लौटते हुए वे लोग ज़ख़्मी नरबदजी को भी अपने साथ ले गए, और उन्हें रणमल्लजी के ख़िलाफ़ उभारने लगे।"

स्वर्गवासी मुंशी देवीप्रसादजी ने अपनी ई० स० १८९२ की छपी ऐतिहासिक जंत्री के पेज ३२ ३३ में लिखा है—"राणाजी ने यह ख़बर सुनकर नरबदजी को अपनी फ़ौज के साथ मारवाड़ भेजा, और कहा, जब तुम जोधाजी को मार डालोगे, तो मंडोर का राज्य तुमको दे देंगे।"

क्या इससे हमारे लेख की पुष्टि और महाराणा की राज-नीतिक चाल नहीं प्रकट होती?

इसके अलावा महाराणा ने राठौर वीर दुर्गादासजी को जो जागीर दी थी, वह भी उनके पूर्व-कृत उपकार का पुरस्कार ही था ; क्योंकि उन्होंने गृह-कलह और बाहरी आक्रमणों के समय अनेक बार मेवाड़वालों की सहायता की थी, तथा उन-जैसे वीर को अपने यहाँ रखने में आगे भी उन्हें बहुत कुछ सहायता की आशा थी।

आपका तीसरा आक्षेप यह है कि हमारा यह लिखना कि—"जोधाजी ने गोडवाड़ को लूटा, चित्तौड़ पर आक्रमण किया, कुंभाजी भाग गए, और अपने पुत्र ऊदा के द्वारा संधि का प्रस्ताव भेजा", बिलकुल झूठ है। ये बातें मारवाड़ की ख्यात में कहाँ लिखी हैं ?

परंतु स्वयं वैद्यजी ने अपने लेख के पृष्ठ ४३६ के पहले कालम की समाप्ति पर जिस ख्यात की पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, उसी से राणाजी का पाली से बिना लड़े ही लौट जाना, जोधाजी का चित्तौड़ पर आक्रमण करना और कुंभाजी का सुलह का पैगाम भेजना सिद्ध होता है। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"इतरै राव जोधारा नगारो नजीक हुवो अर राणारै साथ सुणियो तरै पाली सुं निसर गया। सं० १५१२ में चितौड़ रा किवाड़ बालिया, पछै राणै बिसरालो (समझौता) करायो।"

अब फरमाइए, सामने आती हुई राठौर-सेना के नक्कारे की आवाज़ सुनकर क्या राणाजी को दया आ गई थी, जो पाली से बिना लड़े ही लौट गए, और क्या चित्तौड़ के किवाड़ राणाजी ने सरदी मिटाने के लिये स्वयं ही जला दिए थे ? इसके अलावा "पछै राणै बिसरालो (समझौता) करायो" का क्या अर्थ समझा जाय ? बाक़ी रही गोड़वाड़ लूटने की बात, सो उसके प्रमाण में यहाँ पर उदयपुर के बाबू रामनारायणजी दूगड़-लिखित 'राजस्थान-रत्नाकर' (राजपूताने के गुहिलवंशी राज्यों का इतिहास) भाग प्रथम, तरंग २ के पृष्ठ ७८ में दिए राणा कुंभा के इतिहास में कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

"जोधा का पीछा करता हुआ राव चूंडा मारवाड़ की राजधानी मंडोर तक चला गया, और उसे जीतकर वहाँ शीशोदियों का झंडा फहराया, अपने दो बेटों को मंडोर में छोड़ आप पीछे चित्तौड़ आया। बारह वर्ष तक मंडोर शीशोदियों के क़ब्ज़े में रहा। आख़िर हरबू सांखला, पाबू राठौर और मेवों की मदद से राव जोधा ने पीछे वहाँ अपना अधिकार जमाया। चूंडा का एक बेटा तो वहीं मुक़ाबले में मारा गया, और दूसरा गोड़वाड़ के पास क़त्ल हुआ।"

अब फ़रमाइए, गोड़वाड़ के पास उदयपुर की सेना के एक सेनापति का क़त्ल होना क्या आशय प्रकट करता है ? वह राठौरों के हाथ से युद्ध में मारा गया, या स्वयं ही खुदकुशी कर गया ?

इस विषय में वही प्रसिद्ध नैणसी लिखता है—

"रावजीरै फौजाँरी बाग ऊपड़ी त्यौं दीवाणरी फौज पाछी मुड़ी। इतरै केइक बडेरा ठाकुर बीच पड़िया, जू कह्यौ ठाकुरां भाग पाछा कांई आवाँ। तद फौजां आधी ही चलाई सु पीछोले आय घोड़ो पायो। देस दीवाणरो मार पेमाल कियो। फेर पाछो मंडोवर पधार जोधपुर वसायो। राज कियो।"

अर्थात्, राव जोधाजी की फ़ौज का हमला होने पर राणाजी की सेना लौट चली। जोधाजी ने पीछोला-नामक झील पर पहुँच अपने घोड़े को पानी पिलाया, और मेवाड़ को लूट-खसोटकर बर्बाद कर दिया।

इससे भी जोधाजी का मेवाड़ पर आक्रमण कर विजय प्राप्त करना प्रकट होता है।

आगे इसी आशय के कुछ प्राचीन पद उद्धृत किए जाते हैं—

छप्पय

"चीतोड़ तणा चूंडा हरै कि माडह पर जालिया।"

नीशाणी

"जोधे जंगम आपरा पीछोले पाया।"

मुंशी देवीप्रसादजी अपनी सन १८६८ की छपी ऐतिहासिक जंत्री के पृष्ठ ३३ में लिखते हैं—

"बाद इसके राणा कुंभाजी अपनी तमाम फ़ौज लेकर मेवाड़ से पाली में आए, मगर जोधाजी ने दस हज़ार राठौरों के साथ कि जो मरने-मारने को तैयार होकर उनके पास आए थे, मुक़ाबला करके उनको भगा दिया, और तमाम मुल्क मेवाड़ का गोड़वाड़ से लेकर चित्तौड़ तक तबाह कर डाला। राणाजी दरवाज़ा बंद करके क़िले में बैठ रहे। जोधाजी ने वैशाख वदि १२, संवत् १५१२ को

१ आप ही को साथ लेकर इस समय हमारे श्रद्धेय राय-बहादुर प० गौरीशंकरजी ओझा अपना 'राजपूताने का इतिहास' लिख रहे हैं।

चित्तौड़गढ़ घेरा, और किंवाड़ जला दिए । तब राणाजी ने अपने बेटे ऊदाजी को भेजकर सुलह चाही ।"

इन्हीं मुंशीजी ने जनवरी, सन् १९१५ को सरस्वती में लिखा था—

"निदान संवत १५१० में चूंडा के बेटे......को मारकर उन्होंने मंडोर ले लिया और बाप की मृत्यु का बदला लेने के लिये मेवाड़ पर चढ़ाई करके तीन-चार बरस में राना कुंभा का सारा देश लूट-खसोटकर उजाड़ दिया । तब राना ने लाचार होकर, दो परगने देकर, सुलह कर ली।"

इन लेखों से भी हमारे लेख को ही पुष्टि होती है ।

आगे चलकर वैद्यजी ने लिखा है—

"यह सुविस्तृत गोड़वाड़-प्रदेश जोधाजी से लेने के बाद ३०० वर्ष तक मेवाड़ के अधीन रहा, और पीछे, कर्नल टाड से कुछ ही वर्ष पूर्व, धोखे से मारवाड़ के हाथ लग गया ।"

परंतु वास्तव में, वि० सं० १८२७ में राणा अड़सीजी ने अपनी सहायता के उपलक्ष्य में यह प्रदेश जोधपुर के महाराज विजयसिंहजी को सौंप दिया था । यही बात घुमा-फिराकर उदयपुर के इतिहास-लेखक दूगड़जी ने भी अपने मेवाड़ के पूर्वोक्त इतिहास के पृष्ठ १६६ में लिखी है।

प्रसिद्ध इतिहास-लेखक श्यामलदासजी ने अपने उदयपुर के इतिहास (वीर-विनोद) में लिखा है—

" इसी अरसे में काका बाघसिंह गोड़वाड़ पर महाराणा का क़ब्ज़ा जमाकर वापस आया, और महाराणा से अर्ज़ की कि वहाँ पर हमेशा फ़ौज रखने से क़ब्ज़ा क़ायम रह सकता है, वर्ना रत्नसिंह की तरफ़ से लूट-मार होती रहेगी, और वह परगना उसके क़ब्ज़े में जाने से उसकी ताक़त बढ़ जायगी। इस पर महाराणा ने जोधपुर के राजा विजयसिंह को लिखा कि तुम अपनी ३,००० फ़ौज नाथद्वारे में रक्खो, और उसकी तनख़्वा के बदले गोड़वाड़-परगना अपने क़ब्ज़े में कर लो ।"

इससे भी हमारी ही बात सिद्ध होती है ।

अब रहा जोधाजी का अपनी पुत्री शृंगारदेवी का राजमल के साथ विवाह करना । हमारी समझ में नहीं आता कि वैद्यजी इससे क्या तात्पर्य निकालना चाहते हैं? जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के राजघरानों में तो आज तक भी बराबर आपस में विवाह-संबंध होता चला आता है। फिर यदि आपके लेखानुसार हंसाबाई के आग्रह ही से यह विवाह किया गया, तो क्या बुरा हुआ? हमारी समझ में तो हंसाबाई ने इस विवाह के करवाने में वीर राठौरों और प्रतापी शीशोदियों के बीच नए सिरे से मैत्री करवाने का ही मतलब देखा होगा। परंतु यदि आप इससे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जोधाजी ने किसी अनुचित दबाव में पड़कर ही राजमल से अपनी कन्या का विवाह किया, तो यह बात इतिहास से या आपके उद्धृत किए घोसुंडी के लेख के श्लोकों से भी सिद्ध नहीं हो सकती ।

इसके बाद वैद्यजी ने राठौर करन पर आक्षेप किया है। न-मालूम उक्त करन को बहलोल का उमराव मानने में आपको क्या आपत्ति है, और उस आपत्ति के लिये आप कौन-सा प्रमाण रखते हैं। उस समय भी क़न्नौज के आस-पास सामंत राठौरों का अधिकार था, और आज भी है । स्वर्गवासी मुंशी देवीप्रसादजी ने भी करनवाली घटना का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है, और ख्यातों में इसी सामंत राजा करन को 'क़न्नौज का धणी' लिखा है ।

आगे वैद्यजी ने मारवाड़ की ख्यातों को झूठ साबित करने के लिये उन पर आक्षेप किए हैं । ज़रा उनका नमूना भी देख लीजिए—

आक्षेप (१) "आरंभ से मारवाड़ की ख्यात की वंशावली ही ग़लत है ।"

उत्तर—क्या उदयपुर की ख्यातों की आरंभ की वंशावली सही है? स्वयं ओझाजी ने अपने राजपूताने के इतिहास के ३६४ पृष्ठ में उदयपुर की ख्यातों का यह दोष अंगीकार किया है ।

आक्षेप (२) मारवाड़ की ख्यातों में राठौरों को सूर्यवंशी लिखा है, परंतु वे चंद्रवंशी हैं ।

उत्तर—इस विषय के प्रमाण हमारे भारत के प्राचीन राजवंश के तृतीय भाग में दिए गए हैं। यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है । परंतु आपके समाधान के लिये पं० गौरीशंकरजी ओझा के लेख के अनुवाद से ही कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं—

(I) The oldest ताम्रपत्र issued by the Rathor chief is that of अभिमन्यु, dated Samvat 500. It bears the seal of a goddess riding on a lion, which shows that the Rathors were originally शाक्त or सूर्यवंशी

अर्थात्, राठौरों का सबसे पुराना ताम्रपत्र अभिमन्यु का

है। इसकी मुहर मे सिंहवाहिनी देवी की मूर्ति बनी होने से यह शाक्त या सूर्यवंशी थे।

(II) There is no such clan as राष्ट्रकूट in the यदुवंश ramification

अर्थात, यदुवश को शाखाओं में इस वंश का नाम नहीं मिलता।

(III) Moreover, it is abundantly proved by the Tamra Patras of Samvat 083 and 1126 that Yadus and the Rashtrakutas intermarried. Had they been of the same वंश, no such intermarriage would have taken place

अर्थात, वि० सं० १०८३ और ११२६ के ताम्रपत्रों से प्रकट होता है कि यदुवंशियों और राष्ट्रकूटों के आपस में विवाह होते थे। यदि ये राष्ट्रकूट भी यदुवंशी होते, ऐसा कभी न होता।

परंतु आप अगर चाहें, तो राठौरों को चंद्रवंशी ही समझ लें। फिर भी ये क्षत्रिय तो रहेंगे। अब ज़रा अपने दामन को तो देखिए कि आपके यहाँ के बहुत-से लेखों मे तो मेवाड़ के राजवंश का आनंदपुर के नागर-ब्राह्मणों से उत्पन्न होना तक लिखा मिलता है।

यहा पर यह प्रकट कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि हम पवित्र महाराणाओं के वंश को भी राठौर-वंश के समान ही आदर की दृष्टि से देखते हैं। परंतु हमारे वैद्यजी ने जो यह व्यर्थ का अप्रिय वातावरण पैदा किया है, उसी ने हमें ऐसी धृष्टता करने को बाध्य किया है। अतः इसका दोष हम पर नहीं है।

आक्षेप (३) घोंसंडी के लेख में तो जोधाजी की पुत्री शृंगारदेवी का नाम है, परंतु ख्यातों मे नहीं है।

उत्तर—कन्या का नाम किसी-किसी ख्यात में छूट जाना साधारण बात है। परंतु आपके यहाँ तो चित्तौड़, आबू और राणपुर के लेखों में बप्प को गुहिल का पिता लिख दिया है, और कुंभलगढ़ के लेख में उसी बप्प को गुहिल के पोते का पोता लिखा है। क्या यह अनर्थ नहीं है?

आक्षेप (४) क़न्नौज में उस समय कोई राठौर धनी नहीं था।

उत्तर—उक्त प्रदेश के आसपास सामंत राजा तब भी थे, और अब भी हैं! ऐसे ही एक सामंतराज को ख्यातों में क़न्नौज का धनी लिख दिया गया है। अथवा, आप यही समझ लें कि यह क़न्नौज के राजवंश का था, इसी से ख्यातवालों ने उसे इस प्रकार संबोधन किया होगा।

आक्षेप (५) कुंभाजी की चढ़ाई का और जोधाजी के फ़ौज की ५,००० गाड़ियों का वर्णन दूसरी ख्यात में है, परंतु नैणसी की ख्यात में नहीं।

उत्तर—क्या खूब! क्या जो नैणसी की ख्यात में नहीं है, वह सभी ग़लत है? यदि यही माना जाय, तो ओझाजी-जैसे विद्वानों के लिखे इतिहासों और उदयपुर की ख्यातों में जो ऐसी अनेक बातें हैं, क्या वे सब ग़लत समझी जायँ?

आक्षेप (६) फ़ारसी-तवारीख़ों या पाश्चात्य विद्वानों के ग्रंथों में उक्त बातें कहीं नहीं लिखी हैं।

उत्तर—क्या सचाई का ठेका उन्हीं लोगों ने ले रक्खा है? इसके अलावा राजपूताने का इतिहास लिखने का विशेष प्रयत्न पाश्चात्य विद्वानों ने अभी तक शुरू ही नहीं किया है। रही फ़ारसी-तवारीख़ों की बात, सो मुसलमान लेखक भी अनेक स्थानों पर प्रतिपक्षियों या हिंदुओं की महत्त्व-सूचक घटनाओं के समय मौन साधे हुए पाए जाते हैं। इसके प्रमाण में कृपा कर फ़रिश्ता का लिखा महमूद खिलजी आदि की मेवाड़ पर की चढ़ाइयों का वर्णन ही वीर-विनोद आदि इतिहासों से मिला देखें। फिर आपने भी तो अपने लेख के पृष्ठ ४४१ मे लिखा है कि इन युद्धों का वर्णन लिखते हुए फ़रिश्ता ने पक्षपात का परिचय दिया है।

इसके अलावा पाश्चात्य विद्वान् तो राजपूतों को क्षत्रिय मानने मे भी संकोच करते है, और मुसलमान लेखकों ने एकआध स्थान पर उदयपुरी बेगम तक का क़िस्सा कल्पित कर लिया है। अतः केवल उनके लिखे को ही आप्तवचन नहीं मान सकते।

आक्षेप (७) उक्त बातें किसी ऐतिहासिक प्रमाण से सिद्ध नहीं होतीं।

उत्तर—क्या हम पूछ सकते हैं कि आप ऐतिहासिक प्रमाण मानते किसे है? क्या जो कुछ सामग्री राजपूताना-म्यूज़ियम, अजमेर मे, है, वही प्रामाणिक है? यदि ऐसा नहीं, तो इस लेख में दिए प्रमाणों पर भी एक बार विचार करने की कृपा करें।

आक्षेप (८) मारवाड़ की ख्यात के प्रारंभ के कितने ही राजों के संवत झूठे है।

उत्तर—क्या यही हाल उदयपुर की ख्यातों का नहीं है? इसके अलावा इतना द्रव्य और समय का व्यय कर,

अनेक विद्वानों द्वारा लिखाए गए वीर-विनोद ही के सब संवत् और घटनाएँ क्या ठीक हैं ? यदि नहीं, तो फिर मारवाड़ के पुराने ख्यात-लेखकों को ही क्यों दोष दिया जाय ? फिर इतिहास में तो नित्य ही नवीन बातों का पता लगता रहता है। देखिए, हाल ही में प्रकाशित राजपूताने के इतिहास के पृष्ठ २१४ और २२८ में मूलराज सोलंकी का समय वि० सं० १०१७ से १०२८ लिखा है। परंतु हमें साँभर से सोलंकियों का एक लेख मिला है। उसमें 'वसुनन्दनिधौ वर्षे......विक्रमार्कत:" लिखा होने से मूलराज का वि०सं०६६८ में राजा होना पाया जाता है।

इसके बाद वैद्यजी ने माधुरी के कई पृष्ठों में कुंभाजी के प्रताप का वर्णन किया है। हम भी इससे पूर्ण सहमत हैं। भला ऐसा कौन हिंदू होगा, जो प्रातःस्मरणीय महाराणाओं की प्रशंसा पढ़कर प्रसन्न न होगा ! परंतु सोच देखिए, राठौरों का प्रताप भी किसी से घटकर नहीं रहा। अरब-व्यापारी सुलेमान, इब्न खुर्दाद, अलमसऊदी, इब्न हौकल और अल इस्तखरी आदि अनेक लेखकों ने राष्ट्रकूटों को भारत के सबसे बड़े और प्रतापी राजा लिखा है। इन्हीं के लेखों से पता चलता है कि एक समय इनका राज्य चीन की सीमा तक पहुँच गया था। रही रणमल्लजी और जोधाजी की बात, सो रणमल्लजी ने ही चाचा मेरा को मार मेवाड़-राज्य की रक्षा की थी, और मुहम्मदशाह और अहमदशाह के साथ के युद्धों में भी वह ही कुंभाजी के सहायक और अभिभावक रहे। यह बात स्वयं वैद्यजी के लेख के पृष्ठ ४४० की २१वीं पंक्ति से भी सिद्ध होती है। रणमल्लजी के पुत्र जोधाजी ने भी पहले तो मेवाड़वालों को परास्त कर अपने पैतृक राज्य मंडोर पर अधिकार कर लिया, और अपने जोधपुर के राज्य के समान ही अपने पुत्र बीकाजी के लिये बीकानेर के नवीन राज्य की स्थापना की। इनके अलावा मुसलमानों से अजमेर के कई परगने छीन लिए, मेड़ता, झूंझणू (फ़तेहपुर) आदि के प्रदेशों पर अधिकार किया, देहली के बादशाह बहलोल लोदी और जौनपुर के हुसैनशाह की सम्मिलित सेनाओं को हराया, जालोर के मुसलमानों और सिरोही के राव को परास्त किया, तथा हाँसी-हिसार तक अपनी विजय-वैजयंती उड़ाई। अधिक क्या लिखें, स्वयं मेवाड़ के महाराणा रायमल्लजी के वि० सं० १५६१ के घोसुंडी (मेवाड़) से मिले लेख में जोधाजी के विषय में लिखा है—श्रीजोधक्षितिपतिरुग्रमल्ल-धारानिर्यातप्रहतपठाणपारशीकः : पूर्वाननतार्पीन गयया विमुक्तया काश्यां सुवर्णैर्विपुलैर्विपश्चितः। अर्थात्, जोधाजी ने पठानों आदि को हराया, गया के यात्रियों पर लगनेवाला जज़िया (कर) छुड़वा दिया, और काशी में खूब सुवर्ण का दान दिया।

ध्यान रहे, जोधाजी की यह तारीफ़ उनके वंशजों के लेख से नहीं, किंतु मेवाड़वालों के लेख से उद्धृत की गई है। इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है ? आशा है, हमारे इस लेख से पाठकों को अवश्य ही संतोष होगा।

विश्वेश्वरनाथ रेऊ

ब्रह्मतेज

(१)



ठाकुर हनुमानसिंह जब से सुंदरपुर के थाने पर आए, तब से लोगों का सुख और शांति सदैव के लिये विदा हो गई। कारण, ठाकुर साहब ने आते ही देहाती जनता को वह गीदड़-भभकियाँ दीं, ऐसे पैंतरे दिखाए कि लोगों पर उनका आतंक भली भाँति छा गया। थानेदार का आतंक वैसे ही क्या कम होता है—ख़ासकर देहात में, और ऐसी दशा में, जब कि उसका उद्देश्य ही आतंक जमाना हो। बेचारे अपढ़ देहाती उनसे थर-थर काँपते थे।

इधर हनुमानसिंह की यह दशा थी कि वह अपने को उतने स्थान का, जहाँ तक चारों ओर उनकी दृष्टि जा सकती थी और उनका हलक़ा था, एक-मात्र अधीश्वर समझते थे। वह हाकिम थे, और जनता उनकी प्रजा—ऐसी प्रजा, जिसके सुख-दुःख और जीवन-मरण की बागडोर उन्हीं के हाथ में थी। जिस वक़्त थानेदार साहब अपने घोड़े पर सवार होकर 'रौंद' के लिये निकलते और अपने चारों ओर लोगों को ज़मीन तक सिर झुकाकर सलाम करते देखते थे, तो उन्हें बे पिए दो बोतल का नशा हो आता था। उस समय थानेदार साहब सोचने लगते—हम भी क़िस्मत के बड़े धनी हैं कि ऐसी

नौकरी मिली। पुलीस की नौकरी, और वह भी थानेदारी, पूर्वजन्म के पुण्यों से ही प्राप्त होती है। जिसने मनुष्य योनि में जन्म लेकर थानेदारी न की, उसका नर-देह धारण करना व्यर्थ ही गया।

थानेदार साहब पुलीस-ट्रेनिंग की वैतरणी पार करके पहलेपहल इसी स्वर्ग-तुल्य सुंदरपुर के थाने में आए थे। ईश्वर की दया से अभी एक प्रकार से नवयुवक ही थे, तंदुरुस्त और हट्टे-कट्टे भी थे। अतएव उनके हृदय में इस स्वर्ग का पूर्ण सुख भोगने का उत्साह भी काफ़ी से कुछ ज़्यादा ही था। दोपहर का समय था। थानेदार साहब अपने क़िले के—जिसे मूर्ख देहाती अपनी भाषा में थाना कहा करते हैं—दरबारे-आम में बैठे हुए थे। थाने का प्रांगण दरबारे-आम था; क्योंकि वहाँ प्रत्येक ऐरे-ग़ैरे, नत्थू-ख़ैरे जा सकते थे। सामने हुक़ा रक्खा हुआ था। थोड़ी ही दूर पर उनके मंत्री अथवा दीवान साहब, जिन्हें लोग 'दीवानजी' कहा करते थे, एक वस्त्र-शून्य चारपाई पर बैठे अपना नारियल गुड़गुड़ा रहे थे। थोड़ी देर में थानेदार साहब ने एक अँगड़ाई लेकर कहा—भई दीवानजी, यह हल्क़ा तो बड़ा मुर्दा मालूम पड़ता है। न कहीं फ़ौजदारी होती है, न कहीं चोरी, न कहीं डाका। कहीं कुछ ज़िंदगी ही नहीं। सब तरफ़ मुर्दनी छाई रहती है। यही हालत रही, तो यहाँ तो बैठे-बैठे ज़ंग लग जायगा।



"भई दीवानजी, यह हल्क़ा तो बड़ा मुर्दा मालूम पड़ता है।"

दीवानजी थे पुराने खुर्राट। न-जाने कितने थानों की मिट्टी चाटे बैठे थे, और न-जाने कितने थानेदारों की आँखें देखी थीं। ऐसे रंगरूट थानेदारों को वह समझते ही क्या थे। झट से मुसकिराकर बोले—अब आप आए हैं, धीरे-धीरे सब होगा, घबराइए नहीं।

थानेदार साहब कुछ झेंपकर मुसकिराते हुए बोले—आप तो मुझी पर फ़ब्तियाँ कसने लगे।

दीवानजी दाँत निकालकर बोले—क्या मजाल! हुज़ूर ऐसा ख़याल दिल में कभी न लावें। मेरा मतलब यह था कि अभी आपको आए थोड़े ही दिन हुए हैं। चोरी-फ़ौजदारी कुछ रोज़ तो होती ही नहीं। जब कुछ दिन रहिएगा, तो सभी बातें देखने को मिलेंगी। इसके अलावा एक बात और है। इस हल्क़े में ज़्यादातर ब्राह्मन, बनिए और नीच क़ौमें ही रहती हैं, ठाकुर बहुत कम हैं। जहाँ ठाकुरों की बस्ती ज़्यादा

होती है, वहाँ फ़ौजदारी और झगड़े-फ़साद ज़्यादा होते हैं।

थानेदार साहब मूछों पर ताव देकर बोले—ठाकुर तो दिलेर होते ही हैं, इसमें शक ही क्या है।

दीवानजी थानेदार साहब को मूछों पर ताव देते देख मन-ही-मन मुसकिराए। प्रकट में बोले—इसके अलावा आपने आते ही वह रोब जमाया है कि लोगों की नानी-सी मर गई है। इन्हीं सब वजूहात से अमन है।

थानेदार साहब बोल उठे—अमन रहना तो हर हाल में अच्छा ही है, हम लोगों की नेकनामी इसी में है। मगर ऐसा अमन भी खलता है कि हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहें। दिल बहलने के लिये कभी-कभी कुछ शग़ल मिलना ज़रूरी है।

दीवानजी—घबराइए नहीं, धीरे-धीरे सभी कुछ मिलेगा।

थानेदार साहब जँभाई लेकर बोले—अच्छा, अब ज़रा देर सोएँगे, नींद मालूम हो रही है।

यह कहकर थानेदार साहब उठे, और अपने शयन-गृह की ओर चल दिए। उनके चले जाने के बाद दीवानजी ने आवाज़ दी—"ग़फ़ूरख़ाँ! ग़फ़ूरख़ाँ!" एक कोठरी से आवाज़ आई—"क्या हुक्म है दीवानजी।" दीवानजी बोले—अरे मियाँ, बाहर आकर धूप में बैठो। क्या बिल में दबके पड़े हो?

इतना सुनते ही एक अर्द्धवयस्क सिपाही लुंगी और रुई की बंडी पहने बाहर आया।

दीवानजी ने पूछा—क्या कर रहे थे?

ग़फ़ूरख़ाँ—कुछ नहीं, खाना खाकर ज़रा लेट गया था। यह कहता हुआ वह आया, और दीवानजी की चारपाई पर, पैताने की ओर, बैठ गया।

दीवानजी थोड़ी देर तक चुपचाप नारियल पीते रहे। बाद को उन्होंने नारियल पर से चिलम उतारकर ज़मीन पर औंधा दी, और नारियल को चारपाई के पाए के सहारे खड़ा कर दिया। ग़फ़ूरख़ाँ पूछ उठा—इंस्पेक्टर साहब क्या आराम करने चले गए?

दीवानजी ने मुसकिराकर उत्तर दिया—हाँ।

ग़फ़ूरख़ाँ भी मुसकिरा दिया। बोला—क्यों? इसमें मुसकिराने की क्या बात थी? मैंने कोई बेजा बात तो पूछी नहीं?

दीवानजी—नहीं जी, मैं कुछ और ही सोचकर मुसकिराया।

ग़फ़ूरख़ाँ—क्या?

दीवानजी—भई, यह इंस्पेक्टर साहब भी पूरे चे, ग़ैन, दाल हैं। मुझसे अभी-अभी बोले कि यहाँ फ़ौजदारी, चोरी, डाका वग़ैरह कोई वारदात नहीं होती? क्या बात है?

ग़फ़ूरख़ाँ—हाँ!

दीवानजी—तुम्हारी क़सम। बोले, जो यही हालत रही, तो बैठे-बैठे ज़ंग लग जायगा।

ग़फ़ूरख़ाँ क़हक़हा मारकर हँसा। बोला—वल्लाह, क्या कही है।

दीवानजी भी हँसने लगे। हँसते-हँसते बोले—मैंने भी बड़ा मज़ेदार जवाब दिया। कहा—अब आप आए हैं, धीरे-धीरे सब होगा।

ग़फ़ूरख़ाँ हँसी के मारे व्याकुल होकर बोला—ख़ूब कही, बड़े ज़ोर की कही।

दीवानजी ज़रा गंभीर होकर बोले—मगर इसे हज़रत समझ गए। बोले—आप तो मुझ पर फ़बतियाँ कसते हैं। मैंने भी साफ़ कन्नी से उड़ा दिया। ऐसा पुचारा दिया कि लौंडी तर हो गई।

ग़फ़ूरख़ाँ—तो यह कहिए, धीरे-धीरे अड्डे पर आ रहे हैं।

दीवानजी—आएँगे नहीं, तो जायँगे कहाँ? अरे क्यों, तुम भी तजुर्बेकार हो, और हमने भी बहुतों को देख लिया। कोतवाली के चबूतरे पर बैठकर दामन पाक रखना ख़ालाजी का घर नहीं है! हज़ारों में कहीं एक-आध ही ऐसे निकलते हैं। यह तो काजल की कोठरी है।

ग़फ़ूर—पहलेपहल जब आए थे, तब तो ऐसी बातें की थीं, गोया घर से कंठी बाँधकर निकले हैं। क़सम ख़ुदा की, मैंने तो समझा था कि अच्छे सब्ज़-क़दम आए! कभी-कभी मुट्ठी गरम हो जाती थी, सो वह ढोल ही गया।

दीवानजी—अजी तौबा करो क्यों! ऐसे होते, तो पुलीस में आते ही क्यों? यह सब रंगबाज़ी थी।

ग़फ़ूर—मगर बड़ी जल्दी खुल गए।

दीवानजी—और किस भद्दे तरीक़े से। इसीलिये तो मैंने कहा कि पूरे चे, ग़ैन, दाल हैं। कहते हैं—यहाँ वारदात ही नहीं होती!

यह कहकर दीवानजी ने फिर क़हक़हा लगाया।

ग़फ़ूर—वाहीाबल्ला, अभी लौंडे तो हैं ही।

दीवानजी—बड़ा अच्छा है, इन्हीं से तो मज़ा मिलेगा। इनकी नकेल हमारे-तुम्हारे हाथ में रहेगी। जिधर चाहना, घुमाना।

इसी समय एक देहाती, जो वेष-भूषा से कोई शूद्र मालूम होता था, आकर दीवानजी के सामने खड़ा हो गया। दीवानजी ने उससे पूछा—क्या है बे ?

वह बोला—सरकार, एक रपट लिखाना है।

दीवानजी—काहे की रपट ?

वह—सरकार, एक आदमी हमें मारने को कहता है।

ग़फ़ूर बोला—धुत् ससुरे ! मारने को कहता है, बस, इसी पर रपट लिखाने चल दिया ?

दीवानजी—कौन आदमी है ?

वह—एक बाम्हिन हैं।

दीवानजी—कुछ मालदार है ?

वह—मालदार काहे नहीं है। दुइ गोईं (दो जोड़ी बैलों) की खेती करत हैं, बाग़-बग़ीचा है। दुइ भैंसी हैं, एक घोड़ा है। सबै कुछ तो है।

दीवानजी ने "हूँ" कहकर ग़फ़ूरख़ाँ की ओर देखा। ग़फ़ूरख़ाँ ने भी एक रहस्य-पूर्ण दृष्टि से दीवानजी की ओर देखा।

दीवानजी उससे बोले—मारने को क्यों कहता है रे ?

वह—सरकार, हम उनके खेत माँ काम करते रहे। तीन-चार दिन से हमारी तबियत ख़राब है। उन बुलावा, हम नहीं गयन। यहि पर आज बोले—'साले, कल से आना, नहीं तो मारते-मारते हड्डी-पसली तोड़ दूँगा।' सरकार, हम ग़रीब आदमी हन। अबै हमार जिउ अच्छा नहीं आय, हम काम पर नहीं जाइ सकित। सो सरकार, ऐसन न होय कि काल्हि ऊ हमका मारैं-पीटैं। यही ते सोचा कि चलौ, रपट लिखाइ देई।

दीवानजी बोले—तो साले, यह क्यों नहीं लिखाता कि उन्होंने मारा।

वह—अब ले मालिक, झूठ कैसे लिखाइ देई ?

दीवानजी ग़फ़ूरख़ाँ से बोले—ग़फ़ूरख़ाँ, इस हरामज़ादे को हवालात में बंद करो। साला झूठी रपट लिखाने आया है।

ग़फ़ूरख़ाँ तो पहले ही से तैयार बैठे थे। झट उठ खड़े हुए, और बोले—चलो बचा, कम-से-कम ६ महीने तो चक्की पीसो।

इतना सुनते ही देहाती के होश उड़ गए कि यहाँ तो उलटी आँतें गले पड़ी जाती हैं। वह घबराकर बोला—मालिक, हम गंगामाई की कसम खाइत है कि हम झूठ नहीं बोलत।

ग़फ़ूरख़ाँ ने उसका हाथ पकड़ा, और घसीटकर कहा हाँ-हाँ, हम जानते हैं, तू बड़ा सच्चा है। चल इधर आ।

ग़फ़ूरख़ाँ उसे घसीटकर अलग ले गया, और बोला—सुनता है बे, या तो यह लिखा कि बाम्हनदेवता ने मारा, या हवालात में बैठ।

देहाती हाथ जोड़कर बोला—मालिक, ऐसी दग़ाबाज़ी...। वाक्य पूरा होने के पूर्व ही ग़फ़ूरख़ाँ ने उसके एक थप्पड़ मारा, और कहा—साले, अपनी ही कहे जाता है ! हम जो कहते हैं, वह नहीं सुनता ?

देहाती थप्पड़ खाकर अत्यंत भयभीत हो गया। हाथ जोड़कर बोला—मालिक, मारौ न, जस हुकुम होय, तस करी।

(२)

सुंदरपुर से लगभग दो मील की दूरी पर एक गाँव जसवंतपुर है। गाँव ख़ासा है। लगभग सौ घर हैं—२०-२५ घर पासियों के हैं, १०-१२ चमारों के, १५-२० अहीरों के, ४-५ ठाकुरों के और शेष ब्राह्मण बनियों के। अधिक घर ब्राह्मणों ही के हैं।

इसी गाँव में एक ब्राह्मण रहते हैं। उनका नाम जगदीशप्रसाद मिश्र है। घर के अच्छे हैं। ४० बीघे की खेती कराते हैं, कुछ लेन देन भी करते हैं। ईश्वर का दिया सब कुछ है। बाग़-बग़ीचा है, गाय-भैंसें हैं। मिज़ाज के ज़रा गरम हैं। गुस्सा बड़ी जल्दी आता है। हाथ भी बड़ी जल्दी चला बैठते हैं, अपने इस उद्दंड स्वभाव के लिये वह गाँव-भर में प्रसिद्ध हैं। परंतु इसके साथ ही उनमें गुण भी हैं। अपने आचार-विचार के बड़े पक्के हैं; धर्म-कर्म में भी जैसा एक सच्चे ब्राह्मण को होना चाहिए, वैसे ही हैं। स्वभाव के सरल इतने हैं कि जिस पर प्रसन्न हो जायँ, उस तन के कपड़े तक उतारकर दे दें। परंतु साथ ही हठी इतने हैं कि चाहे सर्वस्व चला जाय, पर उनकी हठ रहे।

दोपहर के तीन बज चुके थे। पं० जगदीशप्रसाद अपनी चौपाल में बैठे दो-चार आदमियों से बातें कर रहे थे। इसी समय दो सिपाही और एक गाँव का चौकीदार, जिनके पीछे दो-चार आदमी तथा गाँव के लड़कों की भीड़ थी, उनकी चौपाल के सामने आकर खड़े हो गए। एक कानिस्टिबिल ने पूछा—क्या आपका ही नाम जगदीशप्रसाद है?

पं० जगदीशप्रसाद का कलेजा धड़कने लगा। उठकर खड़े हो गए, बोले—हाँ, हमारा ही नाम जगदीशप्रसाद है। कहिए।

कानिस्टिबिल—आपको थानेदार साहब ने थाने पर बुलाया है।

जगदीश—क्या?

कानिस्टिबिल—यह वहीं चलकर पूछिएगा, हमें तो जो हुक्म मिला, उसकी तामील कर रहे हैं।

जगदीश—आख़िर कोई बात तो होगी?

कानिस्टिबिल—इस गाँव के एक पासी ने आपके ख़िलाफ़ एक रिपोर्ट लिखाई है। उसी की बाबत बुलाया है।

जगदीशप्रसाद पास बैठे हुए आदमियों की ओर देखकर बोले—कौन पासी है, और मैंने उसका क्या बिगाड़ा है? (कानिस्टिबिल से) क्यों साहब, उसका हुलिया क्या है?

दूसरा कानिस्टिबिल कुछ बिगड़कर बोला—हमें इतनी फ़ुर्सत नहीं कि आपके सवालों का जवाब दें। थाने पर चलिए, वहाँ सब मालूम हो जायगा।

यह सुनकर चौपाल में बैठा हुआ एक आदमी जगदीशप्रसाद से बोला—अरे चले जाओ, डर काहे का? जब कर नहीं, तो डर काहे का?

जगदीशप्रसाद बोले—अच्छा, कपड़े पहन लें; अभी चलते हैं।

यह कहकर जगदीशप्रसाद घर के अंदर चले गए। वहाँ से १५ मिनट में कपड़े पहनकर निकले। कानिस्टिबिलों से बोले—चलिए। सत्यनारायण, तुम भी हमारे साथ चलो।

चौपाल में बैठा हुआ एक आदमी उठकर बोला—हाँ-हाँ, चलो।

जगदीशप्रसाद चौपाल के नीचे उतरकर सत्यनारायण से बोले—लक्ष्मीनारायण को भी साथ ले लें?

लक्ष्मीनारायण उनके छोटे भाई का नाम था। उसकी उमर २०-२२ वर्ष की थी। कानिस्टिबिल हँसकर बोला—अरे महाराज, कुनबे-भर को साथ लेकर क्या करोगे, वहाँ कोई फाँसी थोड़े टँगी है।

जगदीशप्रसाद सत्यनारायण से बोले—अच्छा जाने दो, चलो चलें।

दोनों कानिस्टिबिल, चौकीदार, जगदीशप्रसाद तथा सत्यनारायण थाने की ओर चले। पीछे गाँव के दो-चार बेफ़िक्रे तमाशबीन भी हो लिए। यह देखकर एक कानिस्टिबिल ने डाँटा—तुम कहाँ आते हो, कोई तमाशा है? जाओ, अपना-अपना काम देखो।

दूसरा कानिस्टिबिल बोला—आने दो, बोलो नहीं, सबको थाने में बंद कर देंगे।

इतना सुनते ही सब लोग वहीं रह गए।

थाने पर पहुँचकर जगदीशप्रसाद ने देखा, थानेदार साहब एक कुर्सी पर बैठे हैं। पास ही दीवानजी एक चारपाई पर बैठे अपना नारियल पी रहे हैं। सामने रोज़-नामचा खुला रक्खा है। थानेदार के सामने तीन पासी ज़मीन पर बैठे हैं। एक पासी के माथे तथा मुँह पर रक्त की लकीरें सूखकर रह गई हैं। जान पड़ता था, सिर फट जाने से रक्त-स्राव हुआ था। यह दृश्य देखकर जगदीशप्रसाद का कलेजा धक्-धक् करने लगा।

थानेदार साहब के सामने पहुँचते ही एक कानिस्टिबिल ने कहा—हुज़ूर, इन्हीं का नाम जगदीशप्रसाद है।

थानेदार साहब ने नीचे से ऊपर तक जगदीशप्रसाद को देखा। फिर घायल पासी की ओर उँगली उठाकर उनसे पूछा—तुम इस पासी को जानते हो?

जगदीशप्रसाद ने कहा—हाँ, जानता हूँ, हमारे ही गाँव का पासी है। नाम ललुआ है।

थानेदार साहब ने "हूँ" कहकर थोड़ी देर तक कुछ सोचा। फिर पूछा—इसे तुमने क्यों मारा?

पं० जगदीशप्रसाद घबराकर बोले—मैंने मारा! मैंने तो इसे नहीं मारा।

थानेदार ने पासी की ओर देखकर उससे पूछा—यह तो कहते हैं, हमने नहीं मारा।

पासी बोला—साहब, मारा कैसे नहीं। यह खोपड़ी क्या बिना मारे ही फट गई है? ये दो आदमी गाँव के हैं, इनसे पूछ लिया जाय।

थानेदार ने उन दोनों से पूछा—तुमने जगदीशप्रसाद को इसे मारते देखा था ?

उनमें से एक बोला—हाँ साहब, देखा था।

थानेदार—क्या देखा ?—बयान करो।

एक—साहब, यह महाराज इसके दरवाज़े से निकले। यह बैठा तमाखू पी रहा था। यह महाराज बोले—ललुआ तू काम करने नहीं आता। इसने कहा—हमारा जी अच्छा नहीं है। जब जी अच्छा होगा, तब आवेंगे। इस पर यह बोले—यह हम कुछ नहीं जानते। कल तुम्हें आना पड़ेगा। नहीं आओगे, तो हड्डी-पसली तोड़ देंगे। इस पर, साहब, ललुआ बोला—कैसे हड्डी-पसली तोड़ दोगे—दिल्लगी है ! जाओ, हम नहीं आवेंगे। जो करना हो, कर लेना। इस पर, साहब, इन महाराज ने एक डंडा इसको मारा, और बोले—साले टर्राता है ! इस पर फिर ललुआ ने कुछ कहा। सो साहब, हमने नहीं सुना। हम ज़रा दूर थे। बस सरकार, महाराज ने तीन-चार डंडे और मारे। ललुआ बेचारा गिर पड़ा। महाराज बकते-झकते अपने घर की तरफ़ चले गए।

थानेदार—वहाँ और भी कोई था ?

वह पासी अपने साथी को दिखाकर बोला—यह ख़लतुआ था।

थानेदार—और कोई ?

वह—और तो कोई नहीं था सरकार। आजकल खेतों की सिंचाई हो रही है, इससे सब अपने-अपने खेतों में थे।

थानेदार—तुम लोग वहाँ क्या कर रहे थे ?

वह—सरकार, अपने खेत में पानी लगा रहे थे। हमारे खेत ललुआ के घर के सामने ही हैं।

थानेदार ने जगदीशप्रसाद से पूछा—कहिए जनाब, इस पर आप क्या कहते हैं ?

पं० जगदीशप्रसाद समझ गए कि मुक़दमा पूरे तौर पर बन गया; अब प्राण बचना कठिन है। परंतु, फिर भी, साहस करके बोले—ये सब झूठ बकते हैं। यदि इसमें एक अक्षर भी सत्य हो, तो जो चोर की सज़ा, वह मेरी।

थानेदार—आपके पास इसका कुछ सबूत है कि ये सब लोग झूठ बोल रहे हैं ?

जगदीशप्रसाद कुछ देर तक मौन रहकर बोले—इसका सबूत मैं क्या दूँ ? पर मैं भगवान् को साक्षी करके—

थानेदार—यह ब्राह्मणपना यहाँ नहीं चलेगा। भगवान् आपके लिये गवाही देने नहीं आवेंगे।

जगदीश—इसको आज मैंने डाँटा ज़रूर था कि काम करने क्यों नहीं आता। बाक़ी मार-पीट तो मैंने की नहीं।

थानेदार—अभी तो आप कहते थे कि ये जो कुछ कहते हैं, सब झूठ है—और, अब आप कहते हैं कि डाँटा था।

दीवानजी बोल उठे—देखिए, धीरे-धीरे सब क़बूल देंगे। जगदीशप्रसाद कुछ कर्कश स्वर में बोले—धीरे-धीरे क़बूल देंगे ? क़बूल क्या देंगे ? क़बूलने के लिये है क्या ? किसी को डाँटना कोई जुर्म तो है नहीं। बाक़ी रही मार-पीट की बात, सो वह सब झूठ है।

थानेदार—आप हमारे सामने क़ानून तो छाँटिए नहीं। हम भी जानते हैं कि डाँटना जुर्म नहीं है, और न डाँटने के लिये आपको कोई मुजरिम बना रहा है। सवाल तो मार-पीट का है। अगर आपने मारा नहीं, तो इसकी खोपड़ी कैसे फटी ?

जगदीश—मैं क्या जानूँ, कैसे फटी ?

थानेदार—दीवानजी, आप इन सबके बयान ले लीजिए। इसके बाद क़ानूनी कार्रवाई की जाय। (जगदीशप्रसाद से) आप अगर कोई ज़मानतदार लावें, तो आप छोड़े जा सकते हैं, वरना आपको हवालात में रहना पड़ेगा।

अब जगदीशप्रसाद घबराए। यद्यपि वह जानते थे कि मामला बिलकुल गाँठा हुआ है, तथापि एक तो वह देहाती, दूसरे ब्राह्मण, तीसरे क़ानून-क़ायदे से अनभिज्ञ थे। सत्यनारायण से बोले—भैया, यह तो अच्छा अपराध लगा। अब क्या करें ?

उसी समय एक कानिस्टिबिल ने उनके कान में कहा—आप घबराते क्यों हैं ? थानेदार साहब बड़े रहमदिल आदमी हैं, ख़ुशामद कीजिए, और कुछ दे-दिलाकर यहीं मामला रफ़ा-दफ़ा करा दीजिए। हम भी आपकी तरफ़ से सिफ़ारिश कर देंगे।

जगदीशप्रसाद ने कहा—ख़ुशामद तो हमसे होगी नहीं, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ। बाक़ी रही देने-दिलाने की बात, सो उसके लिये हम तैयार हैं।

कानिस्टिबिल—तो बस, १००) मँगा लीजिए, हम यहीं सब रफ़ा-दफ़ा करा देंगे।

जगदीशप्रसाद—सौ रुपए ! सौ रुपए तो बहुत हैं, हम पचास दे सकते हैं।

कानिस्टिबिल—पचास में तो पचास बरस भी तय न होगा।

जगदीश—तो इससे अधिक तो हम दे भी नहीं सकते। किसान आदमी हैं, कोई लखपती तो हैं नहीं।

इसी प्रकार कुछ देर तक बहस होती रही। अंत को ७५) में मामला तय हो गया। पंडितजी ने सत्यनारायण को भेजकर रुपए मँगाए, और हवाले किए। शाम को ६ बजे के बाद उन्हें छुट्टी मिली। चलते समय पंडितजी ने ग़फ़ूरख़ाँ को अलग बुलाकर कहा—थानेदार साहब ने पहले भलेमानसों से की, यह अच्छा नहीं किया।

ग़फ़ूरख़ाँ—इसका क्या मतलब ?

पंडितजी—इसका मतलब यही कि शरीफ़ों की दिक़ न करना चाहिए।

ग़फ़ूरख़ाँ—जो जुर्म करेगा, वही फँसेगा। इसमें शरीफ़ और बदमाश की कौन-सी बात है।

पंडितजी—ख़ैर, जुर्म तो जैसा हमने किया, यह हम जानते हैं, और तुम भी ख़ूब जानते हो।

ग़फ़ूरख़ाँ—जानते हो, तो अच्छी बात है। हमारा काम ही बदमाशों को ठीक करना है। हम लोगों ने बड़े-बड़े बदमाशों को ठीक किया है, आप हैं किस खेत की मूली।

पंडितजी—बदमाशों को ठीक किया होगा, मगर अभी शरीफ़ों से पाला नहीं पड़ा है। याद रक्खो, शरीफ़ आदमी जब बिगड़ उठता है, तो वह बड़े-से बड़े बदमाश से भी ज़्यादा ख़तरनाक हो जाता है।

यह कहकर पंडितजी चल दिए। ग़फ़ूरख़ाँ अवाक् होकर उनकी ओर खड़ा देखता रहा।

(३)

पं० जगदीशप्रसाद ने उस दिन रात में भोजन नहीं किया। घर में पत्नी ने कारण पूछा, तो कह दिया—"जी अच्छा नहीं है।"

पत्नी ने कहा—क्या रुपयों का रंज करते हो? जाने दो, तुम्हारी ख़ैर-ख़ैरात गए। भगवान् उस दाढ़ीजार थानेदार को देखेंगे, जिसने झूठा दोष लगाया है। रुपए का क्या, हाथ का मैल है। तुम बने रहो, रुपया बहुत हो जायगा।

पं० जगदीशप्रसाद एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर बोले—इस कलिकाल में ब्राह्मण इतने तेजहीन हो गए कि एक साधारण सरकारी कर्मचारी उन्हें, निर्दोष होने पर भी, धमकाकर ऐसा दंड दे!

पत्नी—जाने दो इन बातों को, भोजन करो चलके।

जगदीशप्रसाद पत्नी की बात पर ध्यान न देकर बोले—क्या सचमुच ब्राह्मण इतने शक्तिहीन हो गए कि उन्हें चाहे जो धमका ले? एक समय वह था कि यदि कहीं दृष्टि डाल देते थे, तो अत्याचारी भस्म हो जाते थे। और, आज यह दशा है!

पत्नी—वह समय गया, अब वैसे ब्राह्मण हैं कहाँ। अपना धर्म-कर्म कोई करता नहीं, न किसी की जात-पाँत का ही ठीक है। आजकल जिसे देखो, जनेऊ पहने घूमता है। तेज कहाँ से हो?

जगदीशप्रसाद—नहीं, मुझे विश्वास नहीं होता। सच्चे आदमी की सदैव, सब काल में, विजय होती है। सच्चे को भगवान् कभी नहीं भूलते।

पत्नी—ये सब कहने की बातें हैं।

जगदीशप्रसाद—कहने की नहीं, करने की बातें हैं। बिना कुछ उद्योग किए कुछ नहीं होता।

पत्नी—ख़ैर, होता होगा, तुम्हें इस झगड़े से क्या। चलो खाओ, रसोई ठंडी हो रही है।

पं० जगदीशप्रसाद का मुखमंडल तमतमा उठा, आँखों में एक विचित्र चमक उत्पन्न हो गई। उत्तेजना-पूर्ण स्वर में वह बोले—अब मैं भोजन करूँगा? एक ब्राह्मण पुत्र होकर इतना अपमानित हुआ, और निर्दोष! यदि दोषी होता, तो भी संतोष होता। मेरा अंतःकरण, मेरी आत्मा कहती है कि मैं निर्दोष हूँ, मुझ पर यह अत्याचार हुआ है। ऐसी दशा में मैं भोजन करूँगा?—कदापि नहीं। जब तक वह दुष्ट, वह अत्याचारी थानेदार मेरे चरणों पर गिरकर अपने इस दुष्कर्म के लिये मुझसे क्षमा न माँगेगा, तब तक मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा। मुझे पूर्ण विश्वास है, यदि मैं ईश्वर की दृष्टि में दोषी हूँ, तो इसी में मेरा प्राणांत हो जायगा। अन्यथा वह दुष्ट, वह अत्याचारी, वह राज्यपदाभिमानी अवश्य इन चरणों पर अपना सिर रक्खेगा।

पत्नी अपने पति के स्वभाव से भली भाँति परिचित थी। पति की यह 'भीष्म प्रतिज्ञा' सुनकर उसका कलेजा दहल

गया। वह मुँह पर आँचल डालकर रोने लगी। रोते-रोते वह बोली—सत्यानाश हो जाय इस दाढ़ीजार थानेदार का, बैठे-बिठाए एक व्याधि लगा दी। भगवान करे इसके कोई पानी देनेवाला न रहे। हे सत्यनारायण बाबा, उसका जो कोई मीठा-प्यारा हो, उसकी खटिया मस-मसानी निकले। हे महादेव बाबा, इस दाढ़ीजार के कोई दिया जलानेवाला न रहे।

जगदीशप्रसाद बोले—बस, यह निरर्थक वचन मेरे सामने मुँह से मत निकालो। तुम्हें कोसने का कोई अधिकार नहीं। अब तो न्याय ईश्वर के हाथ है। वह जैसा उचित समझेंगे, करेंगे। जाओ, तुम भोजन करो।

पत्नी—हाँ, भोजन करूँ! तुम भूखे बैठे रहो, और मैं भोजन करूँ! कैसे भोजन करूँ? जब तक तुम नहीं खाओगे, मैं भी नहीं खाऊँगी। तुम्हारी यही इच्छा है, तो ऐसा ही सही। हम और तुम, दोनों साथ मरेंगे।

जगदीशप्रसाद प्रसन्नमुख होकर बोले—ओह! तब तो यह अनुष्ठान पूर्णांग हो गया। अर्द्धांगिनी के सम्मिलित हुए बिना कोई यज्ञ, कोई अनुष्ठान पूर्ण नहीं होता। आह! अब क्या है, अब तो निश्चय उस दुष्ट को परास्त करूँगा। इतना कहकर पं० जगदीशप्रसाद ने अपनी दोनों बाँहें फैला दीं। पति की यह मुद्रा देखकर पत्नी के अश्रु-सिक्त मुखमंडल पर हास्य की एक रेखा दौड़ गई। उसने आगे बढ़कर पति के वक्षःस्थल में अपना मुख छिपा लिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल दो-एक आदमियों को, पं० जगदीशप्रसाद के छोटे भाई लक्ष्मीनारायण के द्वारा यह समाचार मिला। फिर क्या था, थोड़ी ही देर में गाँव-भर में यह ख़बर फैल गई कि पं० जगदीशप्रसाद और उनकी पत्नी कल रात से भूखे पड़े हैं, उन्होंने अब प्रातः नहीं किया। एक दिन तो लोगों ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया, पर जब दो दिन इसी प्रकार बीते, तब लोग पं० जगदीशप्रसाद के घर पर आने लगे। ऐसे-वैसों का तो साहस ही न पड़ा कि पं० जगदीशप्रसाद से कुछ कहें; क्योंकि सब उनके स्वभाव से परिचित थे। गाँव में एक वृद्ध ब्राह्मण थे। उनको गाँव के सब लोग आदर तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते थे। पं० जगदीशप्रसाद भी उनका बड़ा सम्मान करते थे। उन्होंने आकर कहा—अरे जगदीश, यह मैंने क्या सुना! सुना, तुमने और तुम्हारी पत्नी ने कल रात से भोजन नहीं किया। क्या यह सच है?

पं० जगदीशप्रसाद इस समय नहा-धोकर, पवित्रता के साथ, एक आसन पर पद्मासन लगाए बैठे थे। नेत्र उनके बंद थे। उनके पास ही, वाम पार्श्व में, उनकी पत्नी भी उसी प्रकार आसन पर बैठी थी। वृद्ध को आते देख उसने घूँघट निकाल लिया। पं० जगदीशप्रसाद ने कहा—हाँ चाचा, आपने जो कुछ सुना, ठीक सुना।

वृद्ध—तो बचा, इसका कारण क्या है?

जगदीश—चाचा, कल का समाचार आपने नहीं सुना?

वृद्ध—कुछ-कुछ सुना था, पर ठीक से नहीं मालूम कि बात क्या थी।

जगदीशप्रसाद ने सब वृत्तांत कह सुनाया। वृद्ध सब सुनकर बोले—थानेदार ने काम तो बुरा किया। पर बेटा, जाने दो, पुलीस तो सब ऐसी ही होती है, हम तो यही बातें देखते-देखते बुड्ढा गए। आजकल तो ऐसी बातें नित्य ही होती रहती हैं। जो तुम्हें रुपयों का रंज हो, तो बेटा, मैं अभी घर जाकर रुपए तुम्हारे पास भिजवाए देता हूँ। तुम भोजन करो।

जगदीश—चाचा, रुपए का नाम आप मत लीजिए, मुझे दुःख होता है। यदि आपकी आज्ञा हो, तो इतने ही, बरन् इसके दूने तक मैं आप पर न्योछावर करके फेंक सकता हूँ। रुपयों का तो कोई प्रश्न ही नहीं। प्रश्न तो अपमान और कलंक का है। उस अत्याचारी के दर्प-मर्दन—उसका अभिमान चूर्ण करने का प्रश्न है चाचा। इतना सुनते ही एक नवयुवक—जिसकी उमर २०-२१ वर्ष की होगी, जो ख़ूब हृष्ट-पुष्ट और देखने में सुंदर था—हाथ में लाठी लिए, जिस स्थान पर पति-पत्नी बैठे थे, उसके द्वार पर खड़ा इनकी बातें सुन रहा था। जगदीश-प्रसाद की बात सुनकर वह दरवाज़े के भीतर आ गया, और उनके सामने हाथ जोड़कर बोला—चाचा, बस, इतनी ही-सी बात के लिये आप भूखे बैठे हैं। उठिए, भोजन कीजिए। मैं अभी उस हरामज़ादे के पास जाता हूँ, उसे खींचकर आपके पास लाता हूँ। यदि ऐसे न आवेगा, तो उसकी लाश लाऊँगा—उसका सिर लाऊँगा। यदि यह भी संभव न होगा, तो केवल उसका रक्त लाऊँगा, और उससे आपके चरण धोऊँगा। अब वह दुष्ट बिना आपसे क्षमा माँगे ज़िंदा नहीं रह सकता। हमारे-ऐसे हट्टे-कट्टे लड़के होते हुए आप भूखे बैठे रहें, हमसे यह नहीं देखा जाता।

यह कहकर वह लाठी सँभालता हुआ उठा। उसके नेत्र रक्त-पूर्ण हो रहे थे, मुँह में फेना आ गया था।

जगदीशप्रसाद बोले—बेटा जीवनसिंह, यदि तुमने ऐसा किया, तो लौटकर मुझे जीवित न पाओगे। ईश्वर को साक्षी करके कहता हूँ कि मैं प्राण त्याग दूँगा। बेटा, यह काम क्षत्रियों का है। मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे इस प्रकार प्रतिशोध लेना उचित नहीं। मैं तो अपना मुक़द्दमा भगवान् को सौंप चुका। अब वही जैसा उचित समझेंगे, करेंगे।

वृद्ध सज्जन बोल उठे—तो तुम इस प्रकार बैठे क्या कर रहे हो? क्या पुरश्चरण करोगे?

जगदीशप्रसाद—राम-राम, यह काम हत्यारों का है, कायरों का है। जो ऐसा करते हैं, वे ब्राह्मण नहीं, हत्यारे हैं, वधिक हैं, चांडाल हैं। मैं तो कह चुका कि मैं भगवान् के न्याय पर भरोसा किए बैठा हूँ। वह जिसे दोषी समझेंगे, उसे दंड देंगे।

इसी समय ललुआ पासी भी दरवाज़े के सामने कुछ दूर पर आकर खड़ा हो गया, और वहीं से चिल्लाकर बोला—धर्मावतार, मेरा अपराध माफ़ करो, मेरा उसमें तनिक अपराध नहीं। भगवान् जाने, मुझसे मार-मारके सब कहलाया। जिन्होंने गवाही दी थी, वे दोनों भी इसी तरह ज़मीन पर नाक रगड़-रगड़कर क्षमा माँगने लगे। पं० जगदीशप्रसाद ने उनसे कहा—मैं जानता हूँ, तुम लोगों का कोई अपराध नहीं, तुमसे बल-पूर्वक ऐसा कहलाया गया। तुम लोग अपने-अपने घर जाओ।

लोगों ने बहुतेरा उन्हें समझाया, पर उन्होंने एक न मानी। विवश हो सब अपने-अपने घर चले गए।

(४)

पहले तो लोगों को उनसे सहानुभूति उत्पन्न हुई थी, पर अब चार दिन इसी तरह बीत जाने पर कोई उन्हें पागल कहता, कोई सनकी और कोई कुछ कहता था। जिसका जो जी चाहता, वही कहता था। केवल दो आदमी ऐसे थे, जो जगदीशप्रसाद के इस पागलपन में कुछ सार की झलक देख रहे थे—एक थे वही वृद्ध सज्जन, और दूसरा ललुआ पासी। ये दोनों बात पड़ने पर यही कहते—चाहे जो हो, पर ब्राह्मण की यह तपस्या ख़ाली न जायगी।

उधर थानेदार साहब को भी यह समाचार मिला कि जगदीशप्रसाद और उनकी पत्नी दो दिन से भूखे बैठे हैं। यह सुनकर वह बहुत हँसे। दीवानजी से बोले—सुना दीवानजी, क्या स्वाँग लाया है।

दीवानजी बोले—ऐसे-ऐसे बाम्हन हमने बहुत देखे हैं, इतनी उमर यही देखते-देखते बीती है। ऐसे बाम्हन जो होते, तो आज बाम्हनों की यह हालत न होती।

ग़फ़ूरख़ाँ बोला—हुज़ूर का हुक्म हो, तो अभी बाँधकर ले आऊँ। चार रोज़ हवालात में बंद रखिए, सब बम्हनौती निकल जाय।

थानेदार—आख़िर वह कब तक न खायगा?

दीवानजी—हुज़ूर की बातें, चुरा-छिपाकर खा लेता होगा। दिखाने को भूखा बैठा है। यह सब हम लोगों पर रंग जमाने की बातें हैं। हम तो रात-दिन ऐसे रंग देखा करते हैं। ऐसी धमकियों में आ जायँ, तो पुलीस की नौकरी क्या ख़ाक करें।

थानेदार—मगर बड़ा बना हुआ है।

ग़फ़ूर—पक्का बदमाश है। इस बार तो बचा ये ७५) ही लिए, अब की जो किसी मामले में फँसा, तो बिना दो-चार सौ दिए न बचेंगे। तब कहूँगा कि हाँ बेटा, अब खाना छोड़ो। देखें, कितने दिनों तक भूखे रहते हो।

इसी तरह एक सप्ताह बीता। गाँव-भर में इस बात से एक आतंक-सा छाया हुआ था। थानेदार साहब को भी बराबर सूचना मिलती रहती थी। एक दिन उस गाँव का एक आदमी थाने की ओर से निकला। थानेदार साहब ने पूछा—क्यों भई, जगदीशप्रसाद का क्या हाल है?

वह बोला—सरकार, बहुत कमज़ोर हो गए हैं। अब तो बैठा भी नहीं जाता। दोनों प्राणी ज़मीन पर पड़े रहते हैं।

इतना सुनकर थानेदार साहब का कलेजा दहला। उन्होंने दीवानजी की ओर देखकर कहा—दीवानजी, यह क्या मामला है? इससे तो मालूम होता है कि वाक़ई वह भूखे ही रहते हैं।

दीवानजी—अजी ये सब कहने की बातें हैं। मैं तो किसी का इतना दम नहीं देखता कि एक हफ़्ते तक भूखा रहे।

वह आदमी बोला—नहीं दीवानजी, यह बात नहीं। आप जाकर उनकी सूरत देखिए, तो पता लगे। सात ही दिन में दोनों आधे रह गए हैं। कुछ दूर नहीं, जाकर देख लीजिए न।

अब तो दीवानजी चुप हो गए। इधर थानेदार साहब का मुख भी गंभीर हो गया। ग़फ़ूरख़ाँ भी सकपकाए।

थानेदार साहब ने पूछा—तो पड़े किया क्या करते हैं?

वह आदमी—बस, भगवान्—हे भगवान—रटा करते हैं। मैंने तो, जब-जब उधर से निकला, यही सुना।

इतना सुनते ही तीनों सरकारी कर्मचारियों पर पाला पड़ गया। सब चुपचाप एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। वह आदमी भी यह समाचार देकर चल दिया। थोड़ी देर बाद दीवानजी बोले—ऊँह, होगा भी, मरने दीजिए, अपने से क्या? ग़फ़ूरख़ाँ भी गला साफ़ करके बोला—इससे नतीजा क्या निकलेगा, अपनी ही जान गँवाएँगे।

थानेदार साहब ने कहा—मगर यह तो बुरा होगा। दो ब्राह्मण हम पर जान दे देंगे।

दीवानजी—अजी नहीं, जान क्या दे देंगे, दो-चार दिन में जब मरने लगेंगे, तब खायँगे। जान देना कोई खेल नहीं है।

थानेदार साहब ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया, चुपचाप चिंतित भाव से उठकर अपने दफ़्तर में चले गए। उनके जाने के बाद दीवानजी बोले—थानेदार साहब की तो दुनिया तंग है।

ग़फ़ूरख़ाँ—बड़े बोदे हैं, लाहौलवलाक़ूवत। ऐसे आदमी भला पुलीस की नौकरी के क़ाबिल हैं?

दूसरे दिन सबेरे थानेदार थाने के सहन में कुरसी पर बैठे थे। उसी समय दीवानजी पाख़ाने से लोटा लिए निकले। थानेदार साहब ने पूछा—दीवानजी, आज आप कई बार पाख़ाने जा चुके, क्या बात है?

दीवानजी—हुज़ूर, आज दस्त आ रहे हैं, पेट में इंतिहा की मरोड़ है।

थानेदार साहब—पेचिश हो गई है?

दीवानजी—जी हाँ, खाने में कुछ बदपरहेज़ी हो गई।

उसी समय दो आदमी ग़फ़ूरख़ाँ को टाँगे हुए ले आए। ग़फ़ूरख़ाँ बुरी तरह कराह रहा था। थानेदार साहब उठ खड़े हुए। पूछा—क्या हुआ? वे आदमी बोले—तालाब में नहा रहे थे। बस, पैर फिसला, गिर पड़े। जान पड़ता है, पैर उखड़ गया।

दीवानजी और थानेदार, दोनों ग़फ़ूरख़ाँ की तरफ़ दौड़े। पास पहुँचकर थानेदार साहब ने पूछा—ग़फ़ूरख़ाँ, क्या हुआ?

ग़फ़ूर ने कहा—हुज़ूर...जान...पड़ता...है...घुटना...उखड़ गया। आह...बड़ा...दर्द है।

उसी गाँव में एक अहीर रहता था, वह उखड़े हुए अंग बिठाने में बड़ा सिद्धहस्त था, और आसपास में अपने काम के लिये बहुत प्रसिद्ध था। थानेदार साहब ने उन आदमियों से कहा—इन्हें चारपाई पर लिटा दो। बाद को एक कानिस्टिबिल से बोले—"ज़रा दौड़कर उस अहीर को बुला लाओ।" कानिस्टिबिल दौड़ा हुआ गया। थानेदार साहब ने कहा—दीवानजी, आप थोड़ा कपड़ा तो लाइए।

दीवानजी बोले—हुज़ूर, मुझे फिर पाख़ाना मालूम होता है, पाख़ाने हो आऊँ, तो लाऊँ। यह कहकर दीवानजी लोटा उठाकर पाख़ाने की तरफ़ भागे।

अहीर आया। उसने चेष्टा करके ग़फ़ूरख़ाँ का घुटना बिठा दिया। परंतु ग़फ़ूरख़ाँ अभी चारपाई से उठने-योग्य नहीं था। अहीर ने कहा—अभी सात दिन इन्हें चारपाई पर ही पड़े रहना पड़ेगा।

दीवानजी को बराबर दस्त आ रहे थे। दोपहर के बाद थानेदार साहब को एक तार मिला। थानेदार साहब ने तार पढ़ा। तार उनके घर से आया था। तार में लिखा था—"लल्लू को प्लेग हो गया है। शीघ्र आओ।"

लल्लू थानेदार साहब के पंचवर्षीय पुत्र का नाम था। तार उनके पिता की ओर से था। उसे पढ़कर थानेदार साहब घबरा गए—उनके हाथ पाँव फूल गए। जब तक छुट्टी की मंज़ूरी न मिले, तब तक थाना छोड़ नहीं सकते। और, उन्हें एक क्षण भी रहना कठिन था। बड़े व्याकुल हुए। उसी समय उन्हें अचानक पं० जगदीशप्रसाद का ध्यान आया। सोचा—एक दिन में तीन दुर्घटनाएँ! ग़फ़ूर की टाँग उखड़ गई, दीवानजी को दस्त आ रहे हैं, हमारे लड़के को प्लेग हो गया। उफ़! यह उसी ब्राह्मण का शाप काम कर रहा है। हमने बड़ा बुरा किया, जो अब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया।

उसी समय एक कानिस्टिबिल से कहा—साईस से कहो, हमारा घोड़ा तैयार करके लावे। जल्दी जाओ। इधर थानेदार साहब ने सौ रुपए निकालकर अपनी जेब में डाले, और दीवानजी के पास पहुँचे। दीवानजी लेटे हुए थे। थानेदार साहब ने पूछा—दीवानजी, क्या हाल है?

दीवानजी बोले—हुज़ूर, अभी वैसा ही है। मरा जा रहा हूँ।

थानेदार—दीवानजी, यह सब जगदीशप्रसाद के शाप का फल मिल रहा है। ब्राह्मण को भूखे मरते एक हफ़्ते से ज़्यादा हो गया।

दीवानजी आँखें फाड़कर बोले—हुज़ूर ख़ूब सोचे, वाक़ई यही बात है।

थानेदार—मेरे लड़के को प्लेग हो गया, अभी तार आया है। ग़फ़ूरख़ाँ भी पास ही कोठरी में पड़ा था। यह सुनकर वह वहीं से बोला—हुज़ूर, ख़ुदा के लिये उस बाम्हन के पास जाइए। वाक़ई यह उसी का अज़ाब है। कमबख़्त ने कोस-कोसकर मार डाला। या अल्लाह, टाँग में इस क़दर तकलीफ़ है कि बयान नहीं कर सकता। मेरी जानिब से भी मुआफ़ी माँग लीजिएगा।

थानेदार—ख़ाली मुआफ़ी से काम न चलेगा, उसके रुपए भी वापस करने होंगे।

ग़फ़ूर—ज़रूर-ज़रूर, मैं तो दो-चार रुपए अपने पास से मिलाकर वापस करने को तैयार हूँ। ऐसे रुपए से बंदा बाज़ आया। लाहौल, लाहौल, जान ही ले ली।

दीवानजी—वाक़ई बड़ा सक़ील (गरिष्ठ) रुपया है, सारे दुश्मनों के जान अज़ाब में है। हुज़ूर, मैं पाँच रुपए अपने पास से दूँगा—आप उसके पास ज़रूर जाइए। मेरी जानिब से भी बहुत-बहुत मुआफ़ी माँग लीजिएगा।

थानेदार—भई, इसमें अधिक अपराध तो तुम्हीं दोनों का है। तुम्हीं दोनों ने मुक़दमा बनाया। मुझे तो बाद को मालूम हुआ।

दीवानजी—ख़ैर, वह किसी का हो, आप अब उसके पास जाइए।

घोड़ा आ गया। थानेदार साहब सवार होकर जगदीशप्रसाद के मकान पर पहुँचे। उनको आते देख लोगों की भीड़ उनके पीछे हो ली। उन्होंने लोगों को डाँटा—जाओ, अपना अपना काम देखो। कुछ लोग तो यह सुन टल गए, लेकिन कुछ पीछे लगे ही रहे। थानेदार साहब पं० जगदीशप्रसाद के मकान पर पहुँचे। पं० जगदीश यद्यपि निर्बल थे, पर थानेदार का नाम सुनते ही उठ बैठे। थानेदार ने जाते ही उनके चरणों पर अपना सिर रख दिया, और कहा—ईश्वर के लिये हमें क्षमा कीजिए, हमसे बड़ा अपराध हुआ। हम आपको ऐसा नहीं जानते थे। यह लीजिए अपने रुपए, इनमें पचीस मैंने अपने पास से मिलाए हैं।



"ईश्वर के लिये हमें क्षमा कीजिए, हमसे बड़ा अपराध हुआ।"

पं० जगदीशप्रसाद ने अपने भाई से कहा—इन रुपयों को अलग रक्खो, इनसे सत्यनारायण की कथा कराई जायगी, ब्राह्मण-भोजन कराया जायगा।

थानेदार साहब ने कहा—मुझे अभी तार मिला है कि मेरे लड़के को प्लेग हो गया। आशीर्वाद दीजिए कि वह अच्छा हो जाय। उसे कुछ हो गया, तो मुझे घोर दुःख होगा।

जगदीशप्रसाद मुसकिराए, और बोले—मैं हृदय से तुम्हें क्षमा करता हूँ, और ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह तुम्हारे पुत्र को आरोग्य करे।

थानेदार साहब—ग़फ़रख़ाँ की टाँग उखड़ गई, दीवान-जी दस्तों के मारे मरे जा रहे हैं। उन्हें भी मुआफ़ी दीजिए।

जगदीशप्रसाद—मैं हृदय से उन्हें भी क्षमा प्रदान करता हूँ।

थानेदार साहब—मैं ईश्वर को गवाह करके कहता हूँ कि कभी किसी निरपराध को न सताऊँगा, और ब्राह्मणों की तो सदैव रक्षा करूँगा।

उपस्थित लोगों ने उच्च स्वर से कहा—पं० जगदीश-प्रसाद की जय।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक

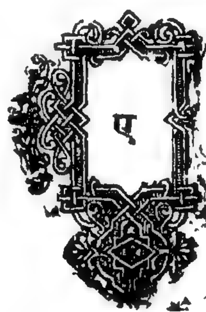
हृदय का उद्गार

(द्विपद)

न मेरी बात सुनते है, न अपनी ही सुनाते हैं;
न-जाने चाहते क्या हैं, न-जाने क्यों सताते हैं।
कलेजा जल गया, तो आप जल, पर क्यों जले आँसू;
न-जाने किस लिये वे आग पानी में लगाते हैं।
अगर मुँह है बिगड़ना, बात तो कैसे न बिगड़ेगी;
बने तब बात क्यों, जब वे बहुत बातें बनाते है।
किसी भी काम को हैं तो नहीं रँगरेलियाँ उनको;
न रखकर रंग औरों का अगर वे रंग लाते हैं।
बदलते हम नहीं, उनका बदलना आँख का देखो;
हमारी आँख में रह वे हमें आँखें दिखाते हैं।
बता यह भेद कोई दे, समझ हम तो नहीं पाते;
वे कैसे आँख के ही सामने आँखें चुराते हैं।
खुली आँखें नहीं खोले, मगर खुलकर कहेंगे हम;
तुम्हारी राह में आँखें हमीं अपनी बिछाते हैं।
बता दे बात यह हमको बड़े वे आँखवाले हैं;
छिपाने आँख हैं, तो आँख में कैसे समाते हैं।
गया जल जी, तो आँखों से न क्यों चिनगारियाँ निकलें?
लगाते आग है, तो किस लिये आँखें लगाते हैं।
लटकते आँख में हैं, आँख के काँटे बने है हम;
मिलाएँ किस तरह से आँख वे आँखें बचाते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

फूलों में विवाह



एक सुंदर, सुगंधित खिले हुए फूल को देखकर किसका चित्त प्रसन्न नहीं हो जाता? किसका जी नहीं ललचा जाता? प्रकृति की ऐसी शोभा पर कौन नहीं मुग्ध होकर मुक्तकंठ से प्रशंसा करता? फूल बच्चों का मान है, कवियों की जान है, प्रेमियों के प्रेमोपहार और पुजारियों की आराधना-सामग्री है। हमारे पूर्वजों ने पुष्प की बड़ी प्रतिष्ठा की है। विना पुष्पों के पूजा ही नहीं। इसका कारण कदाचित यही हो कि उनकी उत्तम सुगंध और प्रिय सौंदर्य से मस्तिष्क ताज़ा और शांत हो जाता है, चंचल चित्त भी उस ओर खिंचकर स्थिर हो जाता है। विना ऐसी एकाग्रता के ईश्वराराधन भी कब संभव है? और, कवियों की तो बात ही अनोखी है। उर्दू के शायरों को गुल और बुलबुल के विना चैन नहीं। बुलबुल की मुहब्बत चमन से तभी तक है, जब तक उसमें गुल है। इसी आधार पर बड़े-बड़े काव्य बन गए। संस्कृत तथा

हिंदी-कवियों ने भी पुष्प और भ्रमर पर क़लम तोड़ दी है। विहारी के "इहि आशा अटक्यो रह्यो, अलि गुलाब के मूल" से भौंरे का गुलाब पर गाढ़ा स्नेह और आसक्ति सबको मालूम है। गुल और बुलबुल के विना उर्दू शायरी की तथा पुष्प और भ्रमर के विना हिंदी-कविता की क्या दशा होती, यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं। मेरी राय में तो बस, मरुभूमि की यात्रा ही समझिए।

यह कहना तो भूल ही गया था कि गुल के शौक़ीनों में बुलबुल, भौंरे और कवियों के अतिरिक्त वनस्पति-शास्त्र के विद्वान् भी हैं। जहाँ उन्होंने फूल को देखा कि हृदय में तरंगें उठने लगीं। बस, 'क्यों' और 'कैसे' की झक सवार हुई— इसकी शकल ऐसी ही क्यों हुई, इससे भिन्न क्यों नहीं हुई? इसकी ऐसी मनोहर सुंदरता तथा सुगंध का क्या अभिप्राय है? इत्यादि। जब तक ये शंकाएँ दूर नहीं हो जातीं, उन्हें शांति नहीं। सुंदरता और सुगंध का स्वाद उन्हें इन प्रश्नों के उत्तर ही में मिलता है। कवियों ने तो पुष्प का लावण्य और उस पर उसके प्रेमियों का स्नेह देखकर, मधुर और रसीले शब्दों में, छंद रचकर छुटकारा पा लिया। उन्हें भौंरे का पुष्प से प्रीति करने का क्या कारण है, और इस प्रीति से पुष्प का क्या लाभ है, इससे कुछ प्रयोजन नहीं। काव्य और विज्ञान में यही प्रधान अंतर है। यद्यपि कवि और वैज्ञानिक, दोनो ही प्रकृति के उपासक हैं, तथापि दोनो के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। वैज्ञानिक को अपने 'क्यों' और 'क्या' के उत्तर में बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। प्रकृति की छोटी-से-छोटी वस्तु को लेकर घंटों, महीनों या बरसों बैठे रहे, उसी की धुन में तन-मन की सुधभूल गई, तब कहीं जाकर जो सूझी, तो आनंद की तरंगों में उतराने लगे। बड़े परिश्रम से प्राप्त की हुई वस्तु बड़ी प्रिय और मूल्य की होती है। इसी कारण वैज्ञानिक का सुख कवि की अपेक्षा अधिक एवं स्थायी होता है। हमारे पुष्पों के विवाह के प्रदर्शक और साक्षी कौन हैं— कवि या वैज्ञानिक? इसका उत्तर देने की आवश्यकता नहीं।

अब बहुतेरे लोग यह प्रश्न भी करेंगे कि फूलों में विवाह कैसा? क्या उनमें भी स्त्री-पुरुष होते हैं? विवाह का समय कौन है, अथवा विवाहोत्सव में सम्मिलित कौन होते हैं? क्या इस विवाह का कुछ फल भी है? इसकी कथा बड़ी मनोरंजक है। यदि सुनना अथवा प्रत्यक्ष रूप से देखना हो, तो पाठकवृंद वसंत-ऋतु में किसी रम्य उपवन में पधारें, जहाँ—

"देखत ही बन फूले पलास बिलोकत ही कछु और की औरन,"

और

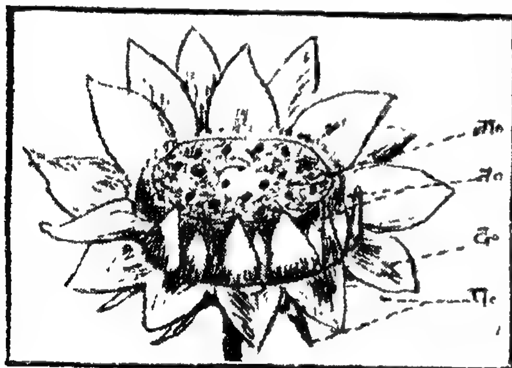
"शीतल मंद सुगंध वायु सौरभ कुल-कमल विकासै;
अलि कोकिल द्रुम-लता पल्लवित झूलत झूलन खासै।"

का आनंद प्राप्त कर मुर्झाए दिलों में भी जान आ जाती है। जहाँ उत्साह और प्रेम की धारा बहती है, जहाँ सौंदर्य का साम्राज्य है, जहाँ प्रकृतिदेवी अपने कोमल करों से छोटे-बड़े अपने सब पुत्रों का प्रतिक्षण शृंगार करती रहती है, वहीं पुष्पों का विवाह-मंडप है। वसंत-ऋतु शुभ लग्न है। उस समय बरातियों और दर्शकों की भीड़ लगी रहती है। भौंरे और मधुमक्खियाँ गूँज-गूँजकर मधुर बाजे बजाती हैं, कोयल और पपीहा मंगल गान करते हैं, तितलियाँ अनेकानेक सुंदर रंग-बिरंगे वस्त्राभूषण धारण कर, अपने नाचने का कौतुक दिखाकर अप्सराओं को भी लज्जित करती हैं। मक्षिकाएँ तो प्रायः पीत वस्त्रधारी ही होती हैं। बेचारे श्यामरंग भौंरों को भी ऐसे शुभ अवसर पर पीला हार पहनना पड़ता है। भोजन-सामग्री की भी कमी नहीं। अमृतमय मधु और पराग, उत्तमोत्तम स्वादिष्ट पकवान की तरह तैयार हैं। चित्ताकर्षक सुगंध से वायु पूरित है। धन्य है प्रकृति की महिमा! जिसे मनुष्य लाखों रुपए खर्च कर इच्छानुसार समय पर नहीं प्राप्त कर सकता, वही शोभा प्रकृतिदेवी हँसते-हँसते उत्पन्न कर देती है। यों तो विवाह किसी भी ऋतु में होता रहता है, किंतु वसंत-ऋतु उनके विवाह का मुख्य समय है। मुझे विश्वास है, ऐसे शुभ कार्य में सम्मिलित होकर मनुष्य अपने-आपको भूल जायगा। यदि आप कभी अनिमंत्रित भी इस उत्सव में गए होंगे, तो उदार पुष्पों ने अच्छी-अच्छी सुगंध से अवश्य आपका स्वागत-सत्कार किया होगा।

विवाह का रहस्य जानने के पूर्व पुष्पों से परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। विना इसके विवाह में सम्मिलित होने पर भी, उनका चरित्र समझ में न आवेगा। किंतु पुष्पों पर ध्यान देने से तत्काल यह समस्या उपस्थित होती है कि पुष्पों के जन्मदाता वृक्ष, शाखा, पल्लव, फल आदि का परिचय पहले क्यों न प्राप्त कर लें? इसको समझने के लिये एक मधुमक्खी के छत्ते पर ध्यान दीजिए। यह मक्खियाँ

के समूह से आच्छादित होता है, जिसमें तीन प्रकार की मक्खियाँ होती हैं। विशेष संख्या कर्मचारियों की होती है, जो नपुंसक (नर, न नारी) होती हैं। फिर, थोड़ी संख्या नरों की होती है, जिनका मुख्य कार्य केवल नारी को गर्भ धारण कराना है। प्रत्येक तीसरे छत्ते में एक रानी (मलका) होती है, जो उपर्युक्त रीति से गर्भ धारण कर, अंडे देती है। छत्ता क्या, एक बड़ा नगर है, जिसमें एक स्त्री, थोड़े पुरुष और शेष नपुंसक कर्मचारी रहते हैं। वृक्ष इसी प्रकार का एक छत्ता है। तना और शाखा-प्रशाखा छत्ते का कार्य करती हैं। पत्तियाँ, नपुंसक कर्मचारी हैं, जो वायु और जड़ द्वारा लाई हुई खनिज वस्तुओं से भोजन-सामग्री तैयार करती हैं। पुष्प, नर और नारी रूप हैं, जिनके परस्पर-सहवास से बीज-संतान की उत्पत्ति होती है। वृक्ष का सारा कर्तव्य इसी वंश-परंपरा के स्थिर रखने के लिये है। संतान-हीन वृक्ष का जीवन व्यर्थ है।

संतानोत्पत्ति के लिये विवाह परमावश्यक है। विवाह का भेद तभी खुलेगा, जब पुष्प के अंग-प्रत्यंग से परिचय होगा। साधारणतः पुष्प के चार विशेष अंग होते हैं, जिनका पृथक्-पृथक् कार्य बँटा हुआ है। इन्हीं चारों अंगों के कार्य पर पुष्प की रक्षा, विवाह तथा वंशोत्पत्ति का दार-मदार है। यहाँ चित्र नं० १ कमल के फूल का है।



चित्र नं० १

इसमें छत्ते के बाहरी पर्ण-समूह को छद-चक्र (Perianth) कहते हैं। इस छद-चक्र में दो प्रकार के पर्ण होते हैं—प्रथम बाहरी चार या पाँच पत्तियों के आकार का, जिन पर पीली या सफ़ेद लंबी रेखाएँ होती हैं, एक चक्र होता है। इसे पुट-चक्र (Calyx) कहते हैं। इनमें प्रत्येक को पुट (Sepal) कहते हैं (चित्र नं० १ पु०)। इसके बाद गुलाबी * रंग के पत्तों का एक समूह होता है, जो बीच में छत्ते को चारों ओर से परिवेष्टित करता है। इसे दल-चक्र (Corolla) कहते हैं, और समूह के प्रत्येक पत्र को दल (Petal) (चित्र नं० १ द०)। फिर, छत्ते के चारों ओर पतले-पतले सूत्रों का, छत्ते और दलों के बीच में, एक परिवेष्टन होता है, जिसे केशर या नर-भाग (Andrœcium) कहते हैं (चित्र नं० १)। प्रत्येक सूत्र को लिंग-सूत्र (Filament) कहते हैं, जिसके शिखर पर एक छोटी थैली—परागकोष (Anther)—होती है। इस कोष में पराग (Pollen) भरा रहता है। पराग की समता प्राणियों में वीर्य की है। चौथा अंग—बीच का छत्ता—नारी भाग (Gynœcium) कहलाता है (चित्र नं० १ ना०)। छत्ते में बहुत-से बिंदु दिखाई देते हैं। इन्हीं बिंदुओं के नीचे पतली पतली नलियाँ होती हैं, जिन्हें योनि-नलिका (Carpel) कहते हैं। प्रत्येक योनि-नलिका के मूल में एक छोटा कोष—गर्भाशय (Ovary)—होता है। हरएक गर्भाशय में एक रज-बिंदु (Ovule) होता है, जिसकी समता प्राणियों के रज की है। यही पुष्प की संक्षिप्त रचना है। किंतु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि सब पुष्पों में ये चारों भाग उपस्थित रहते हैं, तथा जिनमें चारों अंग रहते हैं, उनमें वे समान आकृति के ही होते हैं। केवल आदर्श पुष्प में चारों भाग मिलते हैं। एक जाति के पुष्पों के अंग, दूसरी जाति के पुष्पों के अंगों से, रचना तथा रंग-रूप में, प्रायः भिन्न होते हैं। यथा, किसी पुष्प में पुट पत्तियों के आकार की, दूसरे में रोएँ की सी होती हैं। बहुतेरे पुष्पों में दल अलग-अलग और बहुतों में परस्पर जुड़कर घंटा, प्याला या अनेक वस्तुओं के रूप धारण करते हैं। इसी प्रकार लिंग-सूत्र और योनि-नलिका की रचना भिन्न भिन्न फूलों में बड़ी विलक्षण होती है। बहुतेरे फूलों में केवल तीन या दो ही भाग होते हैं। इन्हें अनादर्श पुष्प कहते हैं। जिस पुष्प में नर नारी, दोनों अंग हों, उसे द्विलिंगिक (Bisexual) पुष्प कहते हैं। जिसमें केवल एक हो (नर या नारी) अंग हो, उसे एकलिंगिक (Unisexual) पुष्प कहते हैं। यथा, कद्दू के पुष्प में। एकलिंगिक श्रेणी में इस कारण नर-पुष्प (Male flower) और नारी-पुष्प (Female flower)

* श्वेत कमल में श्वेत और नील कमल में नीले रंग का दल होता है।

होते हैं। किसी-किसी पुष्प में दोनों (नर नारी) ही भाग नहीं होते। उन्हें नपुंसक (Neuter) पुष्प कहते हैं। वृक्षों में कुछ केवल नर-पुष्प, कुछ केवल नारी पुष्प और कुछ दोनों प्रकार के पुष्प धारण करते हैं। बीजोत्पत्ति के लिये पराग कण का रज-बिंदु तक पहुँच जाना परमावश्यक है। इस क्रिया को वैज्ञानिकों ने सेचन (Pollination) कहा है। किंतु मैंने पाठकों की सुगमता और विनोद के लिये इसका नाम 'पुष्प-विवाह' रक्खा है। इस विवाह के निर्विघ्न पूर्ण होने के लिये प्रकृति ने पुष्पों को अनेक साधन दिए हैं। कवियों के चतुर नायक और फूलों के रसिक भौंरे इन्हीं साधनों में हैं।

पुष्पों में क्यों ऐसी लावण्यता होती है? उनमें ऐसी मनोहर सुगंध होने का प्रयोजन क्या है? किस अभिप्राय से उनमें मधुर स्वादिष्ट मधु भरा रहता है? क्या प्रकृति ने उनको ये गुण मानव जाति के उपभोग के लिये दिए हैं? नहीं, इन गुणों से पुष्प के ही प्रधान कार्य संपादित होते हैं। इन्हीं गुणों के वशीभूत होकर भ्रमर, कीट, पतंगादि पुष्प का सेवन करते हैं, और अपने स्वार्थ में अनुरक्त होते हुए भी प्रकृति की प्रेरणा से पुष्पों का बड़ा उपकार करते हैं। प्राणियों की इंद्रियों पर प्रभुत्व जमाने के लिये पुष्पों ने जो स्वाँग रचा है, उसे भी सुनिए। सबसे प्रथम बाह्य संसार का ज्ञान चक्षु इंद्रिय द्वारा होता है। जितनी दूर से मनुष्य या कोई प्राणी किसी वस्तु को देख सकता है, उतनी दूर से सूँघने और स्वाद लेने की कौन कहे, सुन तक नहीं सकता। बहुत दूरी पर होने पर भी ग्रहादि को हम सहज में देख लेते हैं। कर्णेंद्रियों के लिये पुष्पों ने कोई सामान नहीं किया; क्योंकि जिन प्राणियों की उपासना के वे प्रेमी हैं, उनकी कर्णेंद्रियाँ या तो बहुत सूक्ष्म हैं, या हैं ही नहीं। यदि होतीं भी, तो भी पुष्प के लिये मधुर गान करना असंभव था। फिर, दूर से और किसी प्रकार का आकर्षण होता है, तो वह घ्राणेंद्रिय द्वारा। चींटी-जैसे छोटे जीव की अनुसंधान-शक्ति किसी से छिपी नहीं। यह घ्राण शक्ति थोड़े-से क्षुद्र प्राणियों के सिवा सबमें विद्यमान है। स्वाद का आकर्षण भी बड़ा प्रबल होता है। अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ देखकर बच्चे, जिनको अपनी इंद्रियों पर अधिकार नहीं है, विचलित हो जाते हैं। परंतु रसेंद्रियों के लिये पदार्थ का अत्यंत निकट होना आवश्यक है। अब पुष्प को लीजिए। चक्षुओं को वशीभूत करने के लिये प्रकृति ने उन्हें कैसा अनुपम सौंदर्य दिया है। ऐसे रंग-बिरंगे रूप का विन्यास कृत्रिम रूप से होना दुष्कर है। मानव शक्ति कितनी परिमित है! चित्रकार सदा प्रकृति के अनुकरण में लगे रहते हैं—वस्त्रों पर, शालों पर, खंभों पर, यहाँ तक कि पात्रों पर भी प्रकृति की नक़ल की जाती है। किंतु उसमें उस अनूठे सौंदर्य की बू कहाँ? वे कोमल हरी-हरी पल्लव युक्त लताएँ, जो रंग बिरंगे और मनोहर पुष्पों के भार से दबी जा रही हैं, क्या शुष्क सूत्रों, कठिन पत्थरों या धातुओं पर आ सकती हैं? ऐसी ही शोभा पर वर्ड्सवर्थ-जैसे महाकवियों ने तन-मन वार दिया। फिर हमारे कोमल हृदयवाले भौंरों और बुलबुलों का कहना ही क्या। उनसे पुष्पों का प्रेम और उपकार होना आश्चर्य नहीं। सत्य तो यह है कि मनुष्य-जैसे उच्च श्रेणी के प्राणी स्वार्थ वश हो, पाषाण हृदय हो गए हैं; पुष्पों को अपने विलास के लिये उनके निर्दिष्ट स्थान से हटा, भौंरों के प्रेम पूरित मुख की अवहेलना कर, प्रकृति के प्रेमिकों की भयंकर हानि करने में अपना मान समझते हैं। इस आचरण से वनस्पति-साम्राज्य को बड़ा धक्का पहुँचता है, उसे बड़ा क्षोभ हुआ है। फिर भी पुष्प ऐसे उदार एवं दयालु हैं कि इस अत्याचार की शिकायत प्रकृति से कभी नहीं करते। कौन जाने, छिपे-छिपे करते हों। रूप के अतिरिक्त पुष्प, रस और गंध के भी निधि हैं। अतः भ्रमर उनके रूप पर मोहित हो जब समीप आता है, तो वह उत्तम सुगंध का अनुभव करते ही आकर्षित होता है, और पुष्प से आलिंगन करने के लिये विवश हो जाता है। ऐसे अवसर पर पुष्प उसका मधुर मधु से सत्कार करता और अपनी प्रीति का परिचय देता है। बस, फिर क्या कहना। भौंरा प्रेम में उन्मत्त हो, इस पुष्प से उस पुष्प पर लुभाया फिरता है, और इस पर्यटन से पुष्पों का महान उपकार होता है।

पुष्पों में विवाह (सेचन) दो प्रकार से होता है—प्रथम तो आत्मसेचन (Self-pollination), जिसमें एक ही द्विलिंगिक पुष्प के नर-नारी-भाग से पराग-कण और रज-बिंदु का परस्पर सम्मेलन होता है। यह क्रिया एकलिंगिक पुष्पों में नहीं हो सकती। एकलिंगिक पुष्पों में नर-पुष्प का पराग-कण दूसरे नारी-पुष्प के रज-बिंदु से मिलता है। यह विवाह की दूसरी रीति परसेचन (Cross-polination) कहलाती है। ताड़ का वृक्ष यदि अकेला लगा दिया जाय, तो उसमें फल

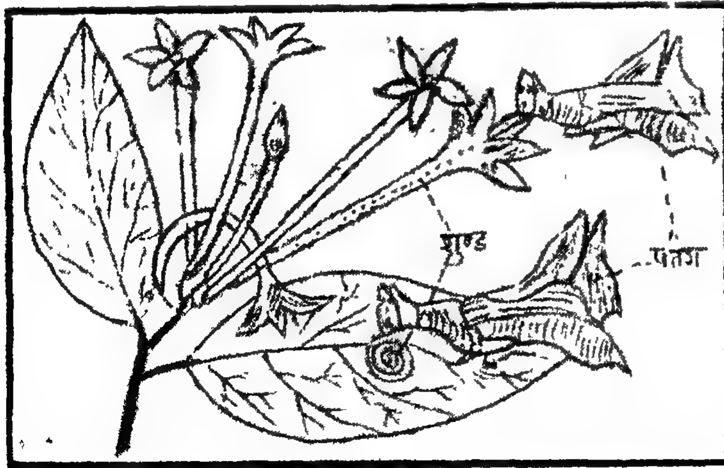
नहीं लगते। इसका कारण यह है कि उस जाति में दो प्रकार के वृक्ष होते हैं — एक तो वे, जिनमें केवल नर-पुष्प लगते हैं; दूसरे वे, जिनमें नारी-पुष्प ही पाए जाते हैं। जब तक दो भिन्न लिंगों के वृक्ष इकट्ठे नहीं होते, तब तक गर्भाधान होना असंभव है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों रीतियों में कौन-सी उत्तम है। खच्चर की उपयोगिता से कोई अपरिचित नहीं। यह घोड़े और गधे, दोनों से अधिक हृष्ट-पुष्ट और परिश्रमी होता है। परंतु इसका जन्म घोड़ा और गधा, दोनों जातियों के मिश्रण से होता है। हमारे हिंदू-शास्त्र में भी विवाह के समय गोत्र की खोज की जाती है, और एक ही गोत्र में शादी नहीं होती, वरन् भिन्न-भिन्न गोत्रों ही का परस्पर सम्मेलन विधिवत् कहा जाता है। यही दशा पुष्पों की भी है। यद्यपि आत्मसेचन-क्रिया से पुष्प में गर्भाधान और संतानोत्पत्ति भी होती है, तथापि संतान दुर्बल और अल्पायु होती है। इससे भिन्न दशा परसेचित पुष्पों की है। उनकी संतान बली एवं उन्नतिशील होती है। बहुत-से वैज्ञानिकों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि आत्मसेचन से तो अच्छा यही है कि सेचन हो ही नहीं। किंतु यह मत अच्छा नहीं। वंश-परंपरा के लाभार्थ अगर और किसी प्रकार सेचन न हो, तो आत्मसेचन ही से काम चल जा सकता है। सेचन-क्रिया अनेक शक्तियों द्वारा पूर्ण होती है। यथा, मनुष्य अकेले ही विना किसी सहायता के विवाह में बड़ी कठिनाइयाँ उठाता है। वही दशा पुष्पों की भी होती, यदि प्राकृतिक शक्ति, वायु, जल या जीव उनकी सहायता न करते। अतः परसेचन का दारमदार इन्हीं तीनों शक्तियों पर है। इसी के अनुसार, शक्तियों की उपयोगिता के लिये, पुष्पों ने अनुकूल रूप धारण किया है। वायु द्वारा सेचन-साधक पुष्प बहुत छोटे और अव्यक्त होते हैं। उन्हें रस-रूप-गंध की आवश्यकता नहीं होती। उनका आकार भी प्रायः सूक्ष्म होता है, परंतु उनमें पराग-कण की बड़ी अधिकता होती है; क्योंकि पुष्प तक पहुँचते-पहुँचते अधिक भाग तितर-बितर होकर नष्ट हो जाता है। उनका विवाह पवन-देव की दया पर अवलंबित है। ऐसे पुष्पों के उदाहरण घासों या मैदान के छोटे-छोटे पुष्पों में मिलते हैं। जलजनित पुष्पों में सेचन-क्रिया कभी-कभी जल द्वारा ही होती है। पराग-कण परिपक्व होकर जल-तरंगों में बहता हुआ दूसरे पुष्प तक पहुँचता है। यद्यपि यहाँ विवाह में वरुण-देवता का इतना अनुग्रह रहता है, तथापि पराग-कण अधिक परिमाण में नष्ट हो जाते हैं। कुछ तो लोभी जलचरों के भक्ष्य बन जाते हैं, और कुछ तरंगों के वेग में निर्वासित। इस कारण ऐसे पुष्पों में भी पराग अधिक पाया जाता है। जीव द्वारा परसेचन उपर्युक्त दोनों क्रियाओं की अपेक्षा अच्छा होता है। इस विवाह में मुख्यतः तितली, भौंरा, मधुमक्खी और पतंग सम्मिलित होते हैं, किंतु इनके अतिरिक्त पक्षी, शंबूक, चमगीदड़ और गुबरैला आदि कीटक भी उत्साह-पूर्वक कार्य करते दिखाई दिए हैं। प्रकृति-साम्राज्य के इस प्रकार असंख्य विवाहों की धूमधाम में पुष्पों ने अपने-अपने प्रेमियों को बाँट लिया और उन्हीं की रुचि के अनुसार अपना वेष भी धारण किया है। अतः बहुतेरे पुष्पों के प्रेमी भौंरे और मधुमक्खी, बहुतों के कीट-पतंगादि और बहुतों के अन्य जीव हो गए हैं। यथा, छोटे-छोटे कीटों द्वारा उन पुष्पों में सेचन होता है, जिनका आकार छोटा, और जिनमें मधु तथा पराग बहुत ऊपर ही होने से सहज में मिल जाता है। बहुत-से पुष्पों में मधु नीचे और छिपा हुआ होता है। इस मधु को छोटे-छोटे कीड़े नहीं पा सकते। उन तक पहुँच उन्हीं प्राणियों की है, जिनकी जीभ लंबी हो। फिर, दूसरे प्रकार के पुष्पों में दल संयुक्त होकर एक नली के आकार के बन जाते हैं, और इस नली की तह में मधु एकत्रित होता है। ऐसे पुष्पों के रसिक बड़ी तितलियाँ या मधुमक्खियाँ होती हैं। बहुत-से लोगों का मत है कि कदंब-पुष्पों का विवाह निशिचारी चमगीदड़ों द्वारा होता है। न जाने किस कारण आनंदकंद श्रीकृष्णचंद्र को कदंब पर इतनी रुचि थी। पर भौंरे और मधुमक्खियों द्वारा सेचन बहुत पूर्ण रीति से होता है; क्योंकि उनके पास पिछले पैरों पर पराग एकत्र करने की टोकरी रहती है। वे इसी टोकरी में पराग-कण भरकर पुष्पों का आलिंगन करते हैं। बिहारीजी के—

"नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास यहि काल ;
अली कली ही सों बिंध्यो,…… ……………………।"

में वैज्ञानिक तत्त्व भी है। भौंरे का कली पर आसक्त होना भारी अनरीति है। भौंरे या मधुमक्खियाँ फूलों के पास पराग और मधु ही के लिये जाती हैं। और, कब? फूल खिलने पर। कभी किसी ने भौंरे को कली या शुष्क फूल पर बैठते नहीं देखा। वस्तुतः वह बैठता भी नहीं। वह तो बड़ा विवेकी है। उसे सुंदरता से बड़ा प्रेम है। प्रथम

वह सुंदरता ही के वशीभूत हो पुष्प के पास जाता है। इस विषय में वह पूरा स्वार्थी है। उसके अनुराग का कारण पुष्प का लावण्य, सुगंध और मधुर मधु है। डारविन साहब ने लिखा है कि इसकी परीक्षा करने के लिये मैं एक पौदे की डालियों में कृत्रिम फूल लगाकर, और उस पर सुगंध डालकर थोड़ी देर चुपचाप देखने लगा, तो देखता क्या हूँ कि मधुमक्खियों ने उसे वास्तविक पुष्प जानकर आ घेरा, और रस-पान करने का प्रयत्न करने लगीं। भौंरे तथा अन्य कीटों के स्वार्थ पर बहुत-सी वनस्पतियों के जीवन का आधार है। पुष्प ही वनस्पति के नर-नारी-रूप हैं। स्वार्थी भ्रमर इन्हीं नर-नारियों के प्रेम-संचालक दूत हैं। वनस्पति और प्राणी, दोनो सजीव हैं। गमन-शक्ति होने से प्राणी अपना कार्य स्वयं कर लेते हैं। वनस्पतियों के यह शक्ति न होने से, बिना किसी प्रकार की सहायता के, उनके छोटे-छोटे कार्य रुक जाते हैं। इसी कारण वनस्पतियों का प्राणियों पर बड़ा सहारा है। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि प्राणी भी वनस्पतियों के ऋणी नहीं हैं। वनस्पतियों का अस्तित्व बड़े महत्त्व का है। यदि प्रकृति वनस्पतियों से हाथ खींच ले, तो थोड़े ही काल में वनस्पति-राज्य का अंत हो जाय। ऐसी अवस्था में हमारे चेतन प्राणी क्या सोना, चाँदी, लोहा, नमक और गंधक खाकर रहेंगे? या तो उनके साथ ही सबका अंत हो जायगा, या आपस में वे एक दूसरे का भक्षण कर, थोड़े ही काल में नष्ट हो जायँगे। अतः वनस्पतियों की उन्नति का मूल पुष्प-विवाह और उसके लिये प्रकृति की प्रेरणा तथा हमारी जीवन-यात्रा से जो घनिष्ठ संबंध है, उसे पाठकवृंद स्वयं विचार लें।

पुष्प के आकार और उसकी सेचन-क्रिया के संबंध का वृत्तांत बहुत बड़ा है। यहाँ, संक्षेप में, केवल दो उदाहरण देकर चित्र द्वारा बतलाया गया है। चित्र नं० २ (अ) मालती-पुष्प का चित्र है। यहाँ पुष्प में चार दल हैं। ये चारो परस्पर जुड़कर एक नली के आकार में हो गए हैं। यह नली नीचे से बंद है, और इसकी तह में मधु एकत्र होती है। केवल मुँह खुला हुआ है। इस नली की तह तक वही पहुँचकर मधु का स्वाद ले सकते हैं, जिनकी ज़बान अथवा शुंड (Probosis) इतनी लंबी हो, जितनी नली की लंबाई। इससे प्रकट है कि भौंरे तथा मधुमक्खियों की गुज़र इस स्थान पर नहीं। चित्र में पुष्प की दाहनी तरफ़, एक पतंग की शकल बनी हुई है (प) जिसके मुँह की तरफ़ ध्यान देने से एक घड़ी की कमानी की तरह एक गोल लपटी हुई शुंड (शु) है। यह शुंड सीधी करने पर प्रायः तीन इंच तक लंबी हो जाती है। यह पतंग उड़ता हुआ फूल के मुँह पर आ बैठता है, और अपनी शुंड को सीधा करके पुष्प की तह में डाल देता तथा मधु-पान करता है। यहाँ, चित्र में, पुष्प के मुख पर पतंग का सिर-भाग बना हुआ है, जिससे शुंड निकलकर सीधी पुष्प में जा रही है, जो बिंदुओं द्वारा दिखाई गई है। ऐसा करने से एक ही पतंग मधु की लालसा से अनेक मालती-पुष्पों पर जाता और एक के पराग-कण दूसरे पुष्प पर ले जाता है। यदि संयोगवश इस दूसरे पुष्प की योनि-नलिका परिपक्व हुई, तो सेचन-क्रिया पूर्ण रूप से संपादित हो जाती है।



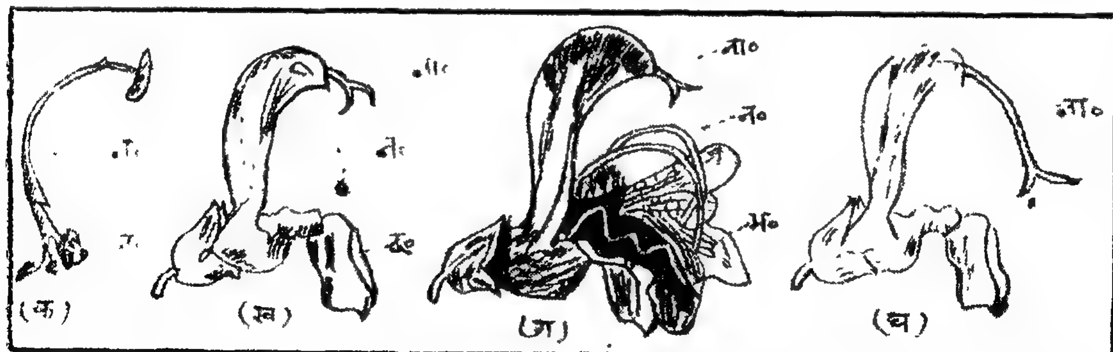
चित्र नं० २ (अ)

दूसरा उदाहरण चित्र नं० २ (ब) का है। इसमें सेचन-क्रिया मालती की अपेक्षा भिन्न रीति से होती है। चित्र सेज (Sage)-पुष्प का है, इसमें नर-भाग नारी-भाग से पहले परिपक्व होता है। जब तक नारी-भाग परिपक्व नहीं होता, वह पराग-कण को नहीं ग्रहण कर सकता।

यहाँ, चित्र (ख) में, दल-चक्र के दो भाग । ऊपरी भाग थोड़ा झुका हुआ और नीचे के भाग से अलग है । इसी टेढ़े हिस्से में नर-नारी-भाग रहते हैं । नीचे के भाग की शकल विचित्र होती है । यह एक उपयुक्त बैठने-योग्य स्थान (द)-सा दिखाई देता है । इसका रंग बड़ा सुंदर होता है, जिससे कीड़े आकर्षित होते हैं । यहाँ लिंग-सूत्रों की बनावट भी विचित्र ही होती है । केवल दो लिंग सूत्र होते हैं, जो परस्पर मूल में जुड़े हुए होते हैं । इस जुड़े हुए भाग से एक छोटा-सा (ल०) निकला हुआ होता है, जो लीवर (lever) का काम देता है । जब भौंरा नीचे के दल (द) पर बैठकर अपना मुँह मधु की लालसा से फूल के अंदर डालता है, तो (ल) लीवर उसके सिर से टकराता है, और लिंग-सूत्र (ख) और (ग) में (न) की भाँति झुककर, उसके शरीर तथा पंखों पर पराग की वर्षा करते हैं । भौंरा अपना मतलब निकालकर पुष्प का रस ले, परंतु पराग से लदा हुआ दूसरे पुष्प पर जाता है । पाठकों का ध्यान (ख) और (ग) पर आकर्षित होने से निश्चय है कि उन्हें (ना०) नारी-भाग देखने पर यह विदित हो जायगा कि इन दोनों में (ना०)-चित्र (घ) के (ना०) नारी-भाग से छोटा दिखाई देता है, और बहुत कम झुका हुआ है । कारण यह कि (घ) में उस अवस्था का चिह्न है जब नारी-भाग (ना०) परिपक्व होता है । इस अवस्था में नारी-भाग झुककर इतना नीचे आ जाता है कि भौंरा या मक्खी आते ही उसके शरीर से रगड़ खाकर, तब पुष्प के अंदर सिर डाल सकती है । अतः जब ऐसे पुष्प पर— जो अधिक अवस्था प्राप्त करने पर योनि-नलिका को परिपक्व कर, विरहिणी कामिनियों की भाँति प्रियतम के संयोग के लिये लालायित होकर झुका बैठा रहता है—उपर्युक्त रीति से पराग से लदा हुआ भौंरा आता है, तो योनि-नलिका उसके शरीर से रगड़कर पराग प्राप्त करती है । फिर क्या, शुष्क आशा-लता हरी हो आती और बहुत दिनों की कामना पूरी होती है । फिर, पराग-कण धीरे-धीरे रज-बिंदु तक पहुँचता और संस्कार-युक्त गर्भाधान होता है ।

विवाहोपरांत पुष्प में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं, इसकी कथा बड़ी विस्तीर्ण है । इसके लिये यहाँ स्थान नहीं । परंतु इतना कह देना आवश्यक है कि विवाह के बाद पुष्पों को भौंरे की आवश्यकता नहीं होती । भौंरा भले ही चाहे, पर पुष्प उससे उदासीन हो जाता है । उसे अब अपनी संतान की चिंता होती है, इसलिये वह अपनी शक्ति को रंग, रूप के आडंबरों से हटाकर कुटुंब के लालन-पालन में लगा देता है । इसका फल यह होता है कि पुट और दल शुष्क हो जाते हैं, मधु का निकलना बंद हो जाता है, सुगंध उड़ जाती है, और वही लावण्यमय पुष्प गार्हस्थ्य से वानप्रस्थ, वानप्रस्थ से संन्यास धारण कर, संसार का भार अपनी संतान पर छोड़कर, प्रकृति में लय हो जाता है । इसी प्रकार अनेक रीतियों से अन्य पुष्पों में सेचन होकर फल और बीज की उत्पत्ति होती है ।

लिखते-लिखते दो लोकोक्तियाँ याद आ गईं—'गूलर के फूल' और 'चंपा से भ्रमर का विराग'। लोगों का कहना है कि गूलर में फूल नहीं होते । जो वस्तु अलभ्य हो जाती है, उसके लिये कहते हैं, गूलर का फूल हो गई । किंतु यह मत असत्य है । बिना फूल के भी कहीं फल हो सकता है ? बात असल यह है कि प्रारंभ ही से गूलर का फूल



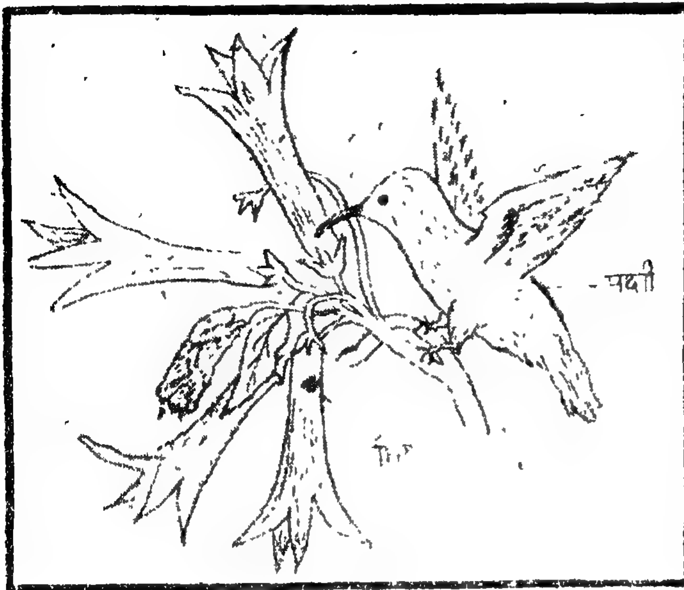
चित्र नं० २ (ब)

संपुटित होता है, अन्य फूलों को भाँति कभी खुलता नहीं। ऐसी दशा में वह फल-सदृश हो दिखाई देता है। इसी कारण लोगों को यह भ्रम हो गया कि गूलर में फूल नहीं लगते, या लगते भी हैं, तो ऐसे क्षणिक होते हैं कि उन्हें कोई देख नहीं सकता। रहा भौंरा और चंपा का संबंध। इसके तो कवियों ने अनेक उदाहरण दिए हैं। यथा," ... चाटि जाते भौंर जो न होती रंग चंपा की" इत्यादि लिखकर चंपा का बड़ा अनादर किया गया है। किंतु वैज्ञानिक मत से इसका प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, चंपा के पुष्प का रंग बहुत आकर्षित नहीं होता। उसका विकास संध्याकाल में होता है। जब भौंरा उत्तमोत्तम और सुंदर पुष्पों के आतिथ्य सत्कार से थककर विश्राम की लालसा में मग्न रहता है, उस समय चंपा के पुष्प पर उसकी निगाह न पड़े, तो कोई आश्चर्य नहीं। संभवतः चंपा का सेचन पतंगों द्वारा होता है। संध्या का विकास और साधारण वेष इसी के समर्थक हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-से पुष्पों में चंपा की तरह रस और गंध होने पर भी भौंरे को आकर्षित करने की शक्ति नहीं होती। डारविन* साहब ने लिखा है कि मैं एक बार फूलों का अनुसंधान करते समय एक बात देखकर बड़ा अचंभित हो गया। Epipaetis latifolia का पुष्प देखने में सुंदर और मधु से भरा होता है, परंतु फिर भी न तो भौंरे और न मधुमक्खी, कोई उसे नहीं पूछता—उसके समीप तक नहीं जाते। इस पर डारविन साहब ने यह लिखा है कि भौंरों को इस मधु से प्राकृतिक घृणा है। यदि कवियों का कथन सत्य है, तो कदाचित् यही रहस्य चंपा का भी हो। अस्तु।

सेचन रहस्य समाप्त हो गया। विवाहोत्सव-वर्णन की खुशी में मग्न होने से एक मुख्य बात लिखने को रह गई। क्या पुष्प के जीवन में सुख-ही-सुख है? क्या उसके विवाहोत्सव में मंगल को छोड़कर विघ्न बाधा नहीं होता? उपर्युक्त कथन से यह न समझ लेना चाहिए कि जितने जीव पुष्पों के पास आते हैं, सब उसे लाभ हो पहुँचाते हैं। मानव समाज की भाँति पुष्पसेवी प्राणियों में भी तीन प्रकृति के जीव हैं—प्रथम तो वे, जो अपना स्वार्थ न रहने पर भी पुष्पों का उपकार करते हैं। ऐसे जीवों का उदाहरण मिलना इस समय कठिन है। दूसरी श्रेणी के जीव मध्यम कहलाते हैं, जो अपना अर्थ सिद्ध करते हुए पुष्प की भी सहायता करते हैं। भौंरे, मधुमक्खियाँ इत्यादि इसी मध्यम श्रेणी के जीव हैं। तीसरे, अधम श्रेणी के जीव पुष्प का अनिष्ट ही कर अपना मतलब निकालते हैं। इन अधम जीवों के अत्याचार से पुष्प की भयंकर हानि होती है। ये निर्दयी जीव उनके कोमल दलों को छेदकर उनका लावण्य नष्ट कर देते हैं, और उनका अमूल्य मधुर मधु चुरा ले जाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि पुष्प कांति-हीन एवं नीरस हो जाता है। विलास प्रिय भौंरे की विवेक-पूर्ण आँखें उस पर नहीं पड़तीं। बेचारा पुष्प विरहाग्नि में क्षीण होकर शुष्क हो जाता है, और अविवाहित तथा संतान-हीन हो, मृत्यु को प्राप्त होता तथा परमगति से वंचित रह जाता है। प्रकृति पुष्पों को बहुत प्यार करती है। उससे ये अत्याचार देखे न गए। इसलिये पुष्पों को उसने रक्षा की सामग्री देना आरंभ कर दिया। अनेक पुष्पों ने अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिए। कितनों ने जटा धारण कर साहस हीन काँटों को डरा दिया। बहुतों ने अपने क़िले के चतुर्दिक् खाइयाँ खोद, उसमें पानी भर, निश्चिंत बैठना आरंभ कर दिया। जो कोमल-हृदयवाले पुष्प थे, उन्होंने एक प्रकार का स्वादिष्ट रस तैयार कर, हानिकारी जीवों को रिशवत दे, उनसे अपनी रक्षा का आयोजन किया। इस रहस्य का पूरा उल्लेख किया जाय, तो एक पुस्तक तैयार हो जायगी। किंतु पाठकों के विनोदार्थ, अत्यंत संक्षेप में, थोड़े-से चित्रों द्वारा इस विषय को भूमिका-मात्र दी जाती है। अब आक्रमणकारियों का हाल सुनिए। इनके आकार छोटे-बड़े, पंख-हीन या पंखवाले, उड़ने या रेंगनेवाले, चूमने या काटनेवाले इत्यादि अनेक प्रकार के होते हैं। किसी किसी के शरीर पर मुलायम रोएँ और किसी-किसी के शरीर पर एक कठोर कवच होता है। इस कारण बहुत-से पुष्पों के हथियारों का मुकाबला ये बड़ी खूबी से कर लेते हैं।

इनमें कोई पराग या मधु के और कोई दोनों के प्रेमी होते हैं। यहाँ चित्र नं० ३ एक साधारण पुष्प का है। पाठकों ने यदि कभी ध्यान दिया होगा, तो देखा होगा कि पुष्पों पर एक छोटी चिड़िया इधर से उधर बड़ी शीघ्रता से फुदकती फिरती है। इसको बहुत-से लोग 'फुल-सुँघनी' कहते हैं। वस्तुतः यह फूल नहीं सुँघती, वरन उसका मधु चुराती फिरती है। इसकी चोंच लंबी और नोकीली होती है।

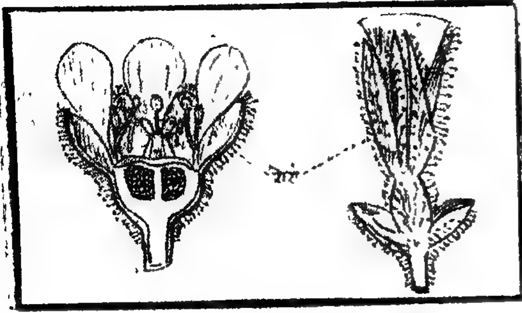
* Darwin—Cross and self-fertilization



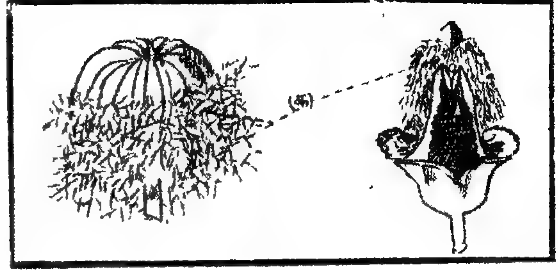
चित्र नं० ३

द्वारा से यह पुष्पों को छेदकर मधु का अपहरण करती है। यहां, चित्र में, मधु पुष्प की तह में है। पुष्प का आकार नली की तरह का होने से मधु सुरक्षित रहता है। यह पक्षी आकर नली के मूल-भाग में, जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है, छेदकर मधु चूस लेता और पुष्प में एक छेद बना जाता है। कभी-कभी तो यह एक ही पौदे के अनेक पुष्प थोड़े ही समय में छेदकर नीरस कर देता है। इसका परिणाम यह होता है कि उस छेद द्वारा अनेक छोटे छोटे कीड़े भी, जिनको अन्यथा मधु मिलना असंभव था, आकर मधु का नाश कर देते हैं। इससे पुष्प की प्राकृतिक क्रिया में बड़ी बाधा पहुँचती है। इस प्रकार बेचारे पुष्पों को अनेक भीषण शत्रुओं का सामना भी करना पड़ता है। इनको वश में करने के लिये प्रकृति ने पुष्पों को चारों युक्तियों—साम, दाम, दंड और भेद - से काम लेना सिखा दिया है। पुष्पों ने जिस रीति से अपनी रक्षा का ढंग निकाला है, वह बड़ा मनोरंजक है। इसके भी कुछ उदाहरण, संक्षेप में, चित्रों द्वारा नीचे दिए गए हैं—

जब फूलों ने देखा कि मधु ही के कारण उन पर ये अत्याचार हो रहे हैं, तो उनमें से कुछ ने एक ऐसा द्रव्य तैयार करना आरंभ कर दिया, जिससे कीड़ों को कौन कहे, बड़े-बड़े जीव—जो फूल-का-फूल ही खा गए होते—भी दूर ही से पुष्प का त्याग कर देते हैं। यह द्रव्य एक अद्भुत गंध का होता है, जिससे प्राणियों को घृणा होती है। इसके पुष्प में रहने के कारण अत्याचारी इसके निकट नहीं आते, जैसे किसी सुंदरी ने दुष्टों के उत्पात से बचने के लिये अपना शृंगार युक्ति-पूर्वक बदल दिया हो। दूसरी श्रेणी के पुष्पों में क़िलेबंदी का उदाहरण मिलता है। जैसे बड़े-बड़े दुर्गों की रक्षा के लिये उनके चारों तरफ़ खाइयां खोदकर, उनमें पानी भर देते हैं, ठीक वैसा ही यहां, पुष्पों में, भी होता है। इस तरह वे चोटियों या उन्हीं की श्रेणी के रेंगनेवाले जीवों से रक्षा करते हैं। इसका अनुभव सबको होगा। यदि किसी मीठी चीज़ को, चारों तरफ़ पानी डालकर, बीच में रख दे, तो चींटी या घुन उस तक नहीं पहुँच पाते। इसी कारण पुष्पों ने, इन शत्रुओं से बचने के लिये, पानी ही के नाल बनाकर अपनी रक्षा की है। बात यह होती है कि नर या नारी-भाग के चारों तरफ़ दल-चक्र में सब दल परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, और उनके मिलने से एक प्याले की शकल बन जाती है, जिसमें वर्षा का जल या ओस आकर एकत्रित हो जाती है, और पुष्प के मुख्य भाग - दल - प्याले के समुद्र में द्वीप-से दिखाई देने लगते हैं, जहां रेंगकर चढ़नेवाले जीवों का पहुँचना असंभव हो जाता है। कभी-कभी जल की मात्रा बहुत अधिक होती है। डारविन ने लिखा है कि मैंने एक बार बीयर (Bees Lamprococcus Weilbachii) के पुष्प प्याले में आठ औंस, (लगभग चार छटांक) जल देखा है। तीसरी युक्ति शत्रुओं के फँसाने के लिये फूलों ने यह निकाली, जैसे कि चिड़ीमार पक्षियों को कोई चिपचिपी वस्तु उनके पंखों में लगाकर पकड़ता है। एक गाढ़ा, लसदार द्रव्य फूलों के डंठल तथा पुट-चक्र के चारों तरफ़ से निकलता है। जब पुष्प के पास मधु के भूखे कीड़े आने की चेष्टा करते हैं, तो उसमें ऐसा फँस जाते हैं कि प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है।



चित्र नं० ४ (अ) और (ब)

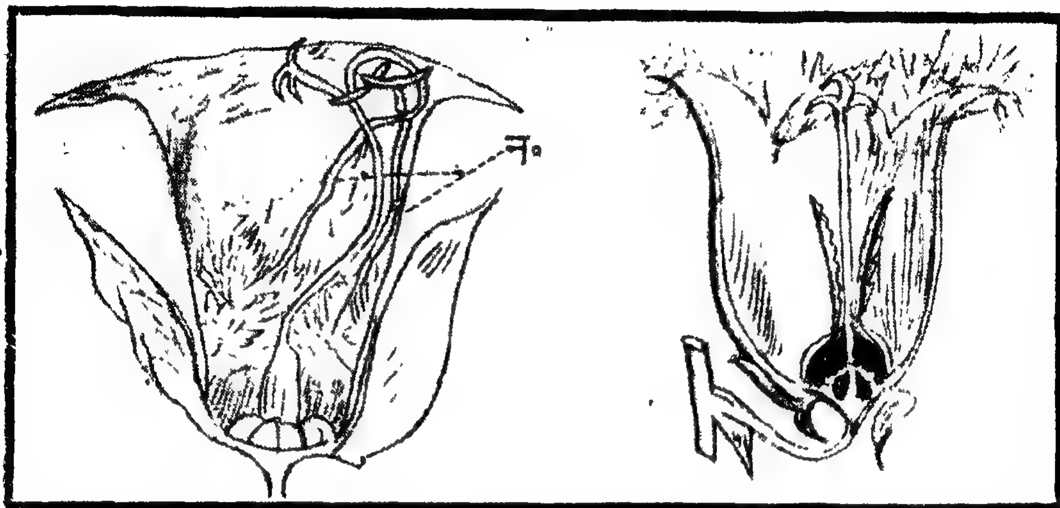


चित्र नं० ५ और ६

चित्र नं० ४ (अ) और (ब) में पुष्प के डंठल तथा पुट पर चारों तरफ़ छोटे-छोटे रोएँ दिखाई दे रहे हैं। इन रोओं के सिरे पर गोल-गोल गाँठें हैं। अब कीड़ा पुष्प पर चढ़ता है, तो इन्हीं गाँठदार बालों से एक चिपचिपी वस्तु का स्राव होता है, जिसमें कीड़े फँस जाते हैं। जितना ही वे उससे निकलने के उद्योग में वेग-पूर्वक अपने शरीर को इधर से उधर हिलाते हैं, उतना ही वह लसदार स्राव उनके चारों तरफ़ लिपटता जाता है। इसके साथ ही वायु के प्रभाव से वह स्राव सूखने भी लगता है, और थोड़ी देर में कीड़े मरकर डंठल अथवा पुट-चक्र के चारों तरफ़ रह जाते हैं।

'गुल-बेख़ार-नहीं' पुष्पों की चौथी युक्ति में चरितार्थ होती दिखाई देती है। इसमें पुष्पों ने अपनी रक्षा अस्त्र-शस्त्र धारण करके की है। । बहुत-से जीव रोएँ और स्राव की कुछ परवा नहीं करते, किंतु यदि कोई नोकीली चीज़ उनके चुभ जाय, तो उनका बुरा हाल हो जाता है। ऐसे जीवों का उदाहरण घोंघे (शंबूक) और सीप में वास करनेवाले जीवों में मिलता है। इनको काँटों से बड़ा भय होता है, अतः इनसे बचने के लिये पुष्पों ने काँटे जमा लिए हैं। ये काँटे कभी डंठल या पुट पर, अथवा कभी-कभी अंदर के भाग में भी पाए जाते हैं। इन काँटों से एक बार चुभकर आक्रमणकारी जीव फिर पुष्पों के पास नहीं आते। छोटे जीवों की कौन कहे, मनुष्य तथा गाय-बैल, चौपाए तक काँटों के भय से बहुत-से पुष्पों के तोड़ने या नष्ट करने का साहस नहीं करते। बहुत-से लोगों को यह कहते सुना जाता है कि प्रकृति ने पुष्पों को ऐसा लावण्य तो दिया, परंतु उनमें काँटे लगाकर 'चंद्रमा का लांछन' कर दिया। किंतु अब स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गया कि काँटे कलंक नहीं हैं, वरन् उनकी तलवारें हैं, जिनसे वे अत्याचारियों को दंड देते हैं। चित्र नं० ५ में ये काँटे (क) पुष्प के पुट-चक्र और डंठल पर ऐसे घने जमकर नीचे को झुक गए हैं कि फूल से साक्षात होने के पूर्व ही कीड़ा काँटों से छिदकर विवश हो नीचे लौट आता है। चित्र नं० ६ में काँटे (क) सीधे लिंग-सूत्रों पर लगे हुए हैं। इसमें मधु इन्हीं लिंग-सूत्रों से घिरा हुआ है। यहाँ प्रकृति ने मधु के ख़ज़ाने की रक्षा के लिये हथियारबंद सिपाही खड़े कर दिए हैं, जो डाकुओं को समीप आते ही घायल कर ख़ाली हाथ लौटा देते हैं।

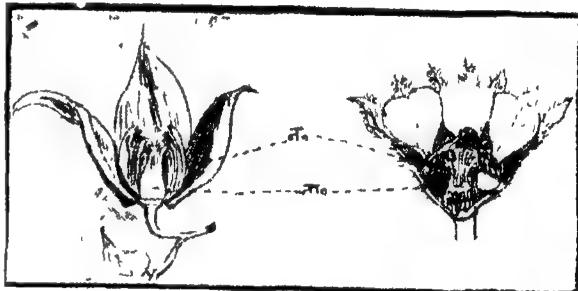
यही नहीं, बहुत-से पुष्पों ने जटा धारण कर, अपनी शकल डरावनी बना, रक्षा का उपाय रच लिया। यह जटा प्रायः पुष्प के भीतरी भाग में या दल-चक्र के कोरों पर पाई जाती है। इसका फल यह होता है कि भौंरे इत्यादि तो सुगमता से इन बालों के भीतर अपनी लंबी जीभ डालकर रस (मधु) प्राप्त कर लेते हैं, परंतु छोटे-छोटे कीड़े इन बालों के सघन वन में पड़कर भयभीत हो जाते हैं, और अंत में रास्ता न मिलने से हताश होकर लौट आते हैं। चित्र नं० ७ में पुष्प के भीतर जहाँ से (न) लिंग-सूत्रों की उत्पत्ति हुई है, उनके मूल से घने बालों का गुच्छा निकलता हुआ दिखाई दे रहा है। दोनों तरफ़ के बालों के परस्पर मिलने से एक टट्टी-सी बन गई है। इस टट्टी के नीचे मधु एकत्रित होता है। यदि संयोग से कीड़े चढ़कर अंदर पहुँच भी गए, तो महान् संकट में पड़ जाते हैं। बालों के समूह में फँसकर उनकी बड़ी दुर्गति होती है। इस कठिन यातना के भोगने का फल क्या होता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। इससे भी उत्कृष्ट यत्न का



चित्र नं० ७ और ८

प्रमाण चित्र नं० ८ में मिलता है। यहां दलों को परस्पर संयुक्त कर पुष्प एक घंटी के आकार का हो गया है। इस घंटी के मुँह के चारों तरफ़, किनारे पर, लंबे-लंबे बाल जमकर आपस में ऐसे गुँथ गए हैं, मानो घंटी के मुँह पर जाल बिछा हुआ है। कीड़े आकर जब देखते हैं, तो उन्हें मालूम होता है कि फूल का मुख जाल से बंद है। फल यह होता है कि अपना-सा मुह लेकर चले आते हैं। अपने बगीचों के चारो तरफ़ लोग लोहे के जाल क्यों लगाते हैं? ठीक यही काम इस जाल से ये पुष्प लेते है। हां, भौंरे और मधुमक्खियों को यह जाल कुछ बाधा नहीं पहुँचाता। वे इतने बलिष्ठ होते हैं कि इन बालों को हटाकर पुष्प-सेचन करते हैं, और इस उपकार के बदले फूल उन्हें स्वादिष्ट मधु खाने को देता है।

जिन पुष्पों को प्रकृति ने उपर्युक्त शक्ति नहीं दी है, वे बेचारे अपने अंग को ही तोड़-मोड़कर अथवा अवयवों को एकत्रित कर एक ऐसा रूप धारण करते हैं कि कीड़ों को मधु मिलना असंभव हो जाता है। इनके पुट चक्र अथवा दल-चक्र ऐसे सघन होते और एक दूसरे को घेर लेते है कि नर और नारी-भाग तथा मधु एक सुरक्षित दुर्ग में बंद हो जाता है। मधु तक पहुँचने के लिये पूर्ण बल की आवश्यकता होती है। निर्बल जीवों की यहां गुज़र नहीं। इस कार्य के करने में केवल भौंरे ही समर्थ होते हैं। छोटे कीड़ों में इतनी शक्ति कहां। इसका उदाहरण चित्र नं० ९ और १० में भली भांति प्रदर्शित है। दोनों में योनि नलिकाओं



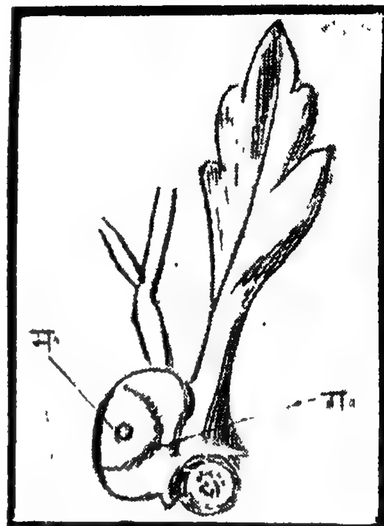
चित्र नं० ९ और १०

(ना०) को, जो बीच में है, चारों तरफ़ से लिंग सूत्रों (न०) का एक सघन परिवेष्टन लगा हुआ है। लिंग-सूत्रों को घेरकर दल-चक्र ने यथेष्ट रक्षा की है। मधु यहां सूत्रों और नलिकाओं के बीच में है। इन दलों को हटाकर लिंग-सूत्रों के मूल से मधु निकालना सहज नहीं है। छोटे-छोटे कीड़ों की कौन कहे, इसमें भौंरों के भी दांत खट्टे हो जाते हैं। केवल वही इस मधु का स्वाद ले सकते हैं, जो बली और पुरुषार्थी है।

इसके अतिरिक्त बहुत-से पुष्पों में रक्षा करने का एक अनूठा ढंग है। जब उनका अर्थ सिद्ध होता है, तब वे

वे दिखाई देते है, नहीं तो छिप जाते हैं। तुलसीदासजी की "गिरा अलिन मुखपकज रोकी; प्रगट न लाज-निशा अवलोकी" उपमा कैसी मधुर और विलक्षण है! कमल रात्रि में लज्जावश हो संपुटित हो जाता है। कारण यह कि कमल में सेचन भौंरों के द्वारा होता है। परंतु रात को प्रेमी भ्रमर उसके समीप रह नहीं सकता। अतः कमल वियोग-युक्त हो अपना मुख छिपा लेता है। यदि ऐसा न करे, तो रात्रि में अन्य कीट आकर उससे छेड़-छाड़ करें। कुमुदबंधु के प्रकाश में कमलिनी के विकसित होने की रीति इससे उलटी ही है। कमलिनी भौंरे को नहीं चाहती। उसके प्रेमी निशिचारी पतंग आदि हैं। उन्हीं के लिये वह सध्यासमय मे सुगंध बरसाती हुई सज-धजकर उत्कंठिता नायिका की तरह बैठी रहती है। रात-भर वह अपने स्नेहियों के साथ विहार कर प्रफुल्लित होती है। अरुणोदय होते ही उसकी वही दशा होती है, जो संध्यासमय कमल की। बहुतेरे लोगों का यह मत है कि इन दोनों पुष्पों का विकास गरमी और ठंडक पर है। कमल सूर्य की किरणों के ताप से खिलता है, और कमलिनी रात्रि की ठंडक में विकसित होती है। जो हो, इस युक्ति से उनकी यथेष्ट रक्षा होती है, इसमें संदेह नहीं। इसका उदाहरण और भी अनेक पुष्पों में मिलता है। किसी-किसी पुष्प की तो यह दशा होती है कि विकसित होते ही जहाँ उनमें सेचन हुआ कि तत्काल वे संपुटित हो जाते हैं, फिर नहीं खिलते।

दंड और भेद की कथा तो पाठकों ने सुन ली। अब साम-दाम का हाल सुनिए। बहुत से पुष्पों में पत्तियों की जड़ तथा डंठल में एक ग्रंथ या गाँठ (Gland) होती है। इस गाँठ से आवश्यकतानुसार मधु का स्राव होता है। ज्यों ही कोई कीड़ा पुष्प पर चढ़ना चाहता है, त्यों ही गाँठ से मधु निकलकर तैयार हो जाती है, और पुष्प के पास पहुँचने के पूर्व रास्ते ही में कीड़े को मिल जाती है, जिससे वे अपनी जठराग्नि शांत कर ऐसे भूल जाते हैं कि फिर फूल तक पहुँचने की चेष्टा नहीं करते। यहाँ चित्र नं० ११ में, फूल के नीचे और पत्ती की जड़ में एक ऐसी गाँठ (गा०) दिखाई देती है। इस गाँठ के मध्य में एक मुँह होता है, जिससे मधुबुंद (म०) निकलते हैं। जब कीट नीचे से पुष्प की ओर चढ़ता है, तो उसे गाँठ होकर ही जाना पड़ता है। गाँठ पर पहुँचते ही मधु के स्वाद से आकर्षित हो, वह वहीं ठहर जाता है; क्योंकि उसकी कामना मधु में ही है।



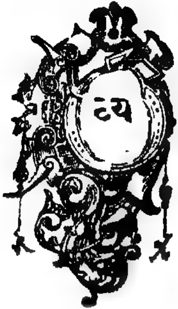
चित्र नं० ११

वह भौंरे की तरह सुंदरता का भूखा नहीं है। उसे पेट की पूजा से प्रयोजन है। चाहे भोजन की वस्तु पुष्प में मिले चाहे पत्ती या डाल पर, उसके लिये बराबर है। पेट भर जाने पर वह ऊपर जाने की व्यर्थ कोशिश नहीं करता। इस प्रकार पुष्प अपनी रक्षा कर, निर्विघ्न अपने प्रेमियों के साथ सुख भोगकर प्रकृति साम्राज्य का एक महान कार्य करता है।

प्रकृति में कैसे-कैसे अद्भुत खेल हो रहे हैं। जिसका पाठकों के सामने एक छोटा उदाहरण दिया गया है, जो कार्य देखने में अत्यंत साधारण प्रतीत होता है, उसे यदि ज्ञान-चक्षुओं से देखें, तो रहस्य-पूर्ण और सौंदर्य से परिपूरित मालूम होगा। नित्यप्रति हम आकाश को रात्रि के समय देखते हैं। असंख्य तारे चमकते दिखाई देते हैं। हम उनकी परवा भी नहीं करते। किंतु यदि एक ही तारे का अध्ययन करने बैठ जायँ, तो वर्षों बीत जायँगे, और हमें उसका पूर्ण ज्ञान भी न होगा। इनमें कोई-कोई तारे हमारे भूमंडल से कईगुना बड़े और प्राणियों से संपन्न हैं। कितने विद्वानों का तो यह मत है कि वहाँ के प्राणियों की सभ्यता हमारी सभ्यता से बढ़-चढ़कर है। जो हो, प्रकृति की विलक्षणता और लावण्य में ज़रा भी संदेह नहीं। उसे देखने के लिये आँखें चाहिए। यह लेख प्रकृति के गूढ़ रहस्य का केवल पहला पृष्ठ है।

श्रीकमलादत्त त्रिपाठी

ज़िला-बोर्डों का कर्तव्य



वस्थापक सभाओं के विषय में लोकमत कुछ भी हो, उसकी विवेचना हम इस लेख में न करके, पाठकों का ध्यान केवल ज़िला-बोर्ड की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करेंगे। ज़िला-बोर्ड और म्युनिसिपलिटी, इन दो संस्थाओं के विपक्ष में कोई भी नहीं है। स्वयं महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को इनके सदस्य बनने की सलाह दी है। इलाहाबाद-म्युनिसिपलिटी के चेयरमैन, महात्माजी के सोलहोआने अनुयायी पं० जवाहरलालजी नेहरू चुने गए थे। इसका एक-मात्र कारण यह था कि इन दो संस्थाओं में सरकारी आधिपत्य वैसा कुछ भी नहीं है, जैसा प्रांतीय तथा राष्ट्रीय व्यवस्थापक सभाओं में रहता है। जनता अपनी ही इच्छानुसार अपने प्रतिनिधि चुनती है। फिर निर्वाचित प्रतिनिधि अपने चेयरमैन का चुनाव करते हैं। सरकार प्रति-वर्ष कुछ ख़ास रक़म बोर्ड को देती है, पर बोर्ड की कार्य-वाही में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करती। बोर्ड बहुमत होने पर स्वेच्छाचारी है। इसलिये बोर्ड के अधिकार में सार्वजनिक जीवन को सुचारु तथा स्वस्थ बनाने के बहुत-से उपाय हैं। ज़िला-बोर्ड को ज़िले-भर की सड़कें, पुल, स्कूल, चिकित्सालय, सफ़ाई, पाठशाला आदि सुधारने और बढ़ाने का पूरा अधिकार है। इसके सदस्य भी ज़िले के भिन्न-भिन्न तहसीलों और परगनों से निर्वाचित किए जाते हैं। जो उम्मेदवार चुनाव के लिये खड़े होते हैं, वे सर्वत्र यही कहते जाते हैं कि हम जनता की सेवा करना चाहते हैं; यदि हमें बोर्ड में पहुँचने का मौक़ा मिल जाय, तो अपनी यह इच्छा पूरी करें। साधारण जनता भी उनकी बातों में विश्वास करके अपनी ओर से उन्हें प्रतिनिधि भेज देती है।

यहाँ तक तो जनता ने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। अब निर्वाचित प्रतिनिधियों का कर्तव्य है कि वे अपनी बुद्धि तथा बड़ों के सदुपदेश का अनुसरण कर, अज्ञान और अशिक्षित जनता को उन्नति-पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न करें। उनके हाथ में इस समय महत्त्व के अधिकार हैं। यदि उनका उचित उपयोग किया जाय, तो इसमें संदेह नहीं कि थोड़े ही काल में सार्वजनिक जीवन में कायापलट हो जाय। हम इस बात को जानते हैं कि किसी भी शासन-संस्था के पास कुबेर का धन नहीं रहता, जिससे कि वह सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रत्येक मनुष्य की इच्छा के अनुकूल कर सके। तो भी जो कार्य देश-प्रेम तथा सत्य के लिये किया जायगा, उसमें देश काल की दशा के अनुसार बहुमत की स्वीकृति अवश्य प्राप्त होगी। यदि हम पुरानी लकीर के फ़क़ीर ही बने रहना चाहें, या केवल सदस्य चुने जाने तक लोकोपकार के नक़्क़ारे पीटते रहें, तो उससे न तो अपना ही, और न जनता का ही कल्याण हो सकता है। बोर्ड के सदस्यों को यह समझना है कि हम बिना वेतन के सेवक हैं, तथा हमारे मालिक वे लोग हैं, जिन्होंने हमें अपने मत देकर यहाँ भेजा है। साथ-ही-साथ लोगों का भी यही कर्तव्य है कि वे अपने-पराए क्षणिक उत्साह-प्रेरित होकर अपनी हानि स्वयं न करें। और, जो लोग हमारा हित चाहते हैं, उन्हें हृदय से सहायता देकर उनका हाथ बटावें।

बोर्ड का कार्य किस प्रकार चलाया जाना चाहिए, इस विषय का विशेष मनन करने की आवश्यकता है। प्रत्येक कार्य करने में संगठन मूल-मंत्र है। बिना इसके किसी भी सार्वजनिक कार्य में क़दम आगे नहीं बढ़ सकता। सदस्य-संगठन तथा समूह-संगठन, दोनों की मात्रा बराबर-बराबर होनी चाहिए। पहले सड़क तथा पुलों को लीजिए। एक गाँव से दूसरे गाँव और एक क़स्बे से दूसरे क़स्बे तक आने के लिये हर स्थान में अच्छी और स्वच्छ सड़कों का होना तथा छोटी बड़ी नदियों में पुल बाँधना एवं निर्जल स्थानों में पानी के नाले या पोखरे बनवाना बहुत आवश्यक है। किंतु इन कार्यों को इच्छा-पूर्वक पूरा करने के लिये प्रत्येक ज़िला-बोर्ड के पास पर्याप्त धन नहीं हो सकता। यहाँ पर हम म्युनिसिपलिटी और ज़िला-बोर्डों को एक तराज़ू में नहीं रख सकते, म्युनिसिपलिटी में बोर्डों की अपेक्षा अधिक आय होती है। वहाँ कई प्रकार के कर लगाए जाते हैं, धनी, ग़रीब, सभी कुछ-न-कुछ व्यवसाय और उद्योग-धंधों में लगे रहते हैं, जिससे उन्हें अपनी आवश्यकता और आराम के लिये सम्मिलित कर देना ही पड़ता है। ज़िला-बोर्डों में ऐसा नहीं हो सकता। गाँवों में अधिकांश दीन कृषक रहते हैं, जिनकी खेती के सिवा अन्यत्र कहीं से कोई आमदनी नहीं। यदि उन पर कोई नया कर लगाया जाय,

तो चारों ओर से हाहाकार मचने लगता है। वास्तव में वे देवें भी कहाँ से। किंतु उनके पास असंख्य कोष उनकी भुजाओं के बल के रूप में है, जिसे पाने के लिये योग्य तथा विश्वास-पात्र सदस्यों का होना अनिवार्य है। जो सदस्य प्रजा की दृष्टि में प्रिय नहीं हैं, वे भी अपनी चाल-ढाल से बोर्ड में पहुँचकर अपना समय तथा बोर्ड का जीवन व्यर्थ करने की सोचा करते हैं। समझना तो यह चाहिए कि वे अपने पैरों में स्वयं कुल्हाड़ी मारने पर उतारू हैं, और साथ-ही-साथ देश-द्रोह का कलंक उनके मस्तक पर लगता जाता है। विश्वास-पात्र प्रतिनिधियों के सम्मुख सबसे पहला कार्य ग्राम-संगठन का है। वे गाँव में प्रचार करते हुए सफ़ाई, शिक्षा आदि की ओर लोगों की मनोवृत्ति झुका सकते हैं। पहले जो कुछ धन बोर्ड की ओर से मिले, उसका उपयोग सड़क, पुल और नदियों में किया जाय। शेष कार्य पूरा करने के लिये लोगों के हृदय में ऐसा उत्साह पैदा किया जाय कि वे सहायता देने के लिये खुद आगे बढ़ें। इसी अभिप्राय से महात्मा गांधी ने बोर्ड के सदस्यों को अपनेआप फावड़ा लेकर सड़क बनाने का उपदेश दिया है।

दूसरी समस्या सबसे जटिल तथा सबसे महत्त्व की शिक्षा की है। बिना इस कमी को पूरा किए हुए हम अपनी गणना जीते जागते राष्ट्रों में नहीं कर सकते। किसी भी आंदोलन का—चाहे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक हो या आर्थिक – अशिक्षित जनता द्वारा सफल होना असंभव है। शिक्षा की न्यूनता ही हमारे पतन का मूल कारण है, यद्यपि हम कहते यह जाते हैं कि अँगरेज़ी शासन हमारे ऊपर तलवार के बल से हो रहा है, हम घरबैठे विदेशियों के ग़ुलाम हैं। यदि हमारी स्थिति का भली भाँति सिंहावलोकन किया जाय, तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि अँगरेज़ों की तलवार नहीं, प्रत्युत हमारी मूर्खता ही हमारी दासता का कारण है। हममें एक सैकड़ा आदमी भी अच्छी तरह से शिक्षित नहीं। जो हैं भी, वे केवल नक़्क़ाल मात्र हैं। उन्हें अपनी जाति, अपने धर्म, अपने पूर्व गौरव और भावी उत्थान पर बिलकुल भी श्रद्धा नहीं है। शिक्षित सामान्य अँगरेज़ और सामान्य भारतीय की तुलना कीजिए, प्रत्यक्ष ज्ञात हो जायगा कि दोनों में आत्मसम्मान की मात्रा कितनी-कितनी है। इसलिये हमें सबसे अधिक सुचारु शिक्षा का प्रचार करने की आवश्यकता है। इसमें संदेह नहीं कि अब भी हमारे यहाँ राम, कृष्ण, विवेकानंद, दयानंद, दादाभाई, तिलक, सुरेंद्र, अरविंद, दास, नेहरू, रवींद्र, जगदीशचंद्र होते ही आ रहे हैं, किंतु इन महानुभावों का अनुकरण सामान्य लोग तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि उनके मानसिक चक्षु न खुल जायँ। सरकार ने जैसी भी शिक्षा दी, उसे हम भला-बुरा नहीं कह सकते, जब कि हम स्वयं अपने हाथ में शिक्षा की बागडोर आने से उसका सुधार करने में असमर्थ हैं। यदि ज़िला-बोर्ड चाहें, तो इस मार्ग में भावी संतानों का भाग्य बदल सकते हैं। इसके लिये प्रत्येक गाँव में पाठशाला प्रारंभ की जाय। सब स्थानों के सदस्य अपना एकमत करके, शिक्षा-विभाग द्वारा योग्य पुस्तकों का संचालन करवावें। जब बालकों के कोमल हृदयों में प्रारंभ ही से मनुष्य बनानेवाली शिक्षा के बीज बोए जायँगे, तो इसमें संदेह नहीं कि उनसे जो वृक्ष उगेंगे, वे भी महत्त्व के होंगे। उच्च श्रेणी के विद्यार्थी, अध्यापक और पढ़े हुए लोगों को प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य से परिचित कराना चाहिए। यहाँ पर फिर सर्वेसर्वा धन का प्रश्न उपस्थित होता है। प्रत्येक छोटी मोटी पाठशाला या गाँव एक अच्छा पुस्तकालय स्थापित नहीं कर सकता। यही कारण है कि ९९ सैकड़ा मनुष्य अपने धर्म और अस्तित्व से अन्यमनस्क हैं, और मिथ्या आडंबरों तथा निर्मूल उपासनाओं में उनका अमूल्य जीवन व्यतीत होता जा रहा है। इसके लिये एक सदा भ्रमण करनेवाले पुस्तकालय की आवश्यकता है। प्रत्येक ज़िला-बोर्ड एक या दो हज़ार रुपए की पुस्तकें आसानी से ख़रीद सकता है। उन पुस्तकों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने के लिये गाड़ी, घोड़े और कुलियों का प्रबंध किया जा सकता है। उसका कार्य-क्रम इस प्रकार रहे कि ज़िले के मुख्य स्थान गिनकर वर्ष के बारह महीने उतने ही स्थानों में बराबर विभाजित किए जायँ। जितने दिन वह पुस्तकालय किसी स्थान-विशेष में रहता है, उसके समीप की जनता को पुस्तकों से लाभ उठाने के लिये सूचित किया जाय। इस प्रकार वह पुस्तकालय बारहों महीने यात्रा करता रहे।

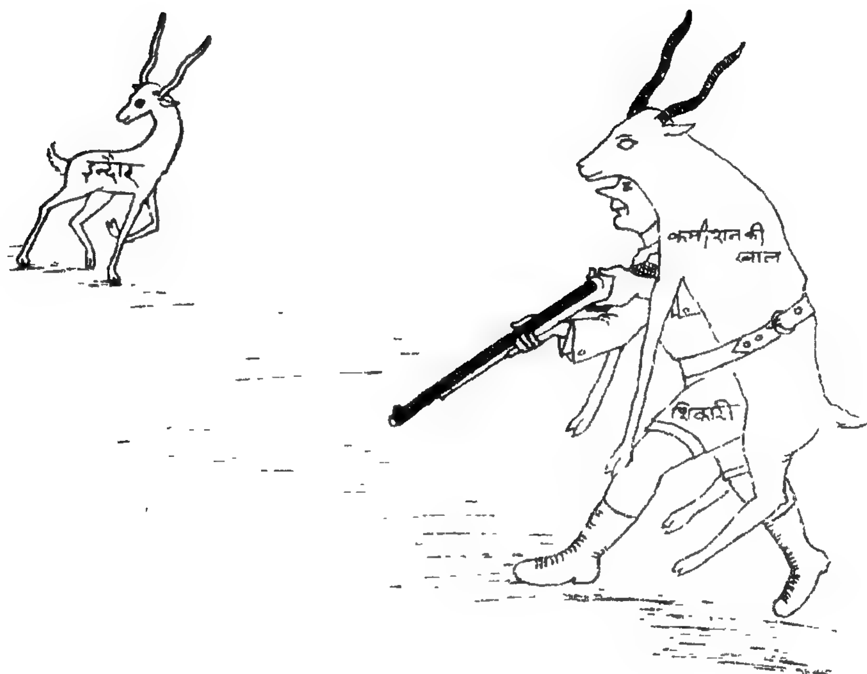
इस प्रकार उच्च शिक्षा मिलने से लोगों के विचार भी उच्च होते जायँगे, और कलह तथा वैमनस्य की जड़ भी सूखती जायगी। आज समस्त भारत धार्मिक एवं सामाजिक उच्छृंखलताओं का भयानक युद्ध-क्षेत्र हो रहा है।

क्या यह वास्तविक धार्मिक द्वंद्व है ? कदापि नहीं। कोई भी धर्म स्वार्थ, अन्याय, अत्याचार, अहंकार और उद्दंडता नहीं सिखलाता। सच्चा धार्मिक मनुष्य "वसुधैव कुटुम्बकम्" के सिद्धांत से भटककर विचलित नहीं हो सकता। पिछली शताब्दियों में पाश्चात्य राष्ट्रों की भी ऐसी ही दुर्दशा थी। लेकिन ज्यों ही सभ्यता और शिक्षा का विकास होता गया, वैसे ही निर्मल तर्क-वितर्कों से वे किनारा खींचते गए। मेरे कहने का यह अभिप्राय कभी नहीं है कि पाश्चात्य सभ्यता आदर्श सभ्यता है, और हम जी-जान से उसके अनुकरण के लिये उद्यत हो जायें। हमारे यहाँ हमारी सभ्यता की अचल नींव पड़ी है, केवल उस पर सुशिक्षा द्वारा अपना राष्ट्रीय भवन बनाना है, जिसमें फिर से शांति, सौजन्य, सहानुभूति और शील की दीपमालिका प्रज्वलित हो उठे।

सफ़ाई और चिकित्सालय, ये दोनों भी ऐसे अंग हैं, जिनकी महत्ता स्वीकार करने से हम पीछे नहीं हट सकते। जहाँ तक हो सके, गाँवों-गाँवों में सफाई का प्रचार साहित्य तथा व्याख्यानों द्वारा होना चाहिए। और, स्कूलों में अध्यापकों के लिये विशेष हिदायत होनी चाहिए कि वे अपने विद्यार्थियों से अनुकरण कराकर दिखावें। कहीं-कहीं मिडिल या नार्मल स्कूलों में थोड़ी-सी वैद्यक भी पढ़ाई जाय। इससे हमें सफ़ाई तथा चिकित्सा, दोनों में सहायता मिल सकती है। सारांश यह कि ज़िला बोर्डों के ऊपर ज़िलों का बहुत बड़ा भार है। आपस की खींचातानी करने से विशेष लाभ नहीं होता, वरन् वैमनस्य उत्पन्न होता है। कई एक नए उत्साही सदस्य यह भी प्रयत्न करते हैं कि थोड़ा बहुत रुपया बोर्ड से खींच लिया जाय, उससे एक छोटा-सा पुस्तकालय तथा एक सामान्य औषधालय अपने गाँव या इलाक़े में खोल दिया जाय, तो दूसरी बार अवश्य चुनाव में सफलता होगी। पर यह चाल भी सार्वजनीन होनी चाहिए। यह सार्वजनिक उत्तरदायित्व का कार्य है, और सार्वजनिक हित की दृष्टि से किया जाना चाहिए।

हर्षदेव ओली

इंदौर-कमीशन





१. अध्यापक विनयकुमार का स्वागत



हिंदू-जाति का इतिहास एक बात बहुत स्पष्ट शब्दों में बताता है। हमारे यहाँ के ऋषि-मुनियों ने अपने आचरण और शब्दों द्वारा उसी पर ज़ोर दिया है। आर्य-जाति के सब ग्रंथों का सार भी वही है। वह यह है कि प्रत्येक हिंदू का धर्म हिंदू-साहित्य और संस्कृति की रक्षा करना है। जिस दूरदर्शी विद्वान् ने "आचार-प्रभवो धर्मः" कहा है, उसने सूर्य की ज्योति की भाँति यह बात देख ली थी। धर्म की उत्पत्ति आचार अर्थात् संस्कृति में है। जिस मनुष्य ने अपनी संस्कृति समझ ली, वह लाख कहे कि मैं हिंदू नहीं हूँ, पर वही सच्चा हिंदू है। इसके विपरीत जो हिंदू अपनी संस्कृति नहीं जानता, वह बड़े-से-बड़ा आस्तिक, कट्टर-से-कट्टर सनातनधर्मी होने पर भी अहिंदू और पतित है। जब आपने अपना कलेवर नहीं पहचाना, तो यदि वह आपके रक्त में नहीं बहा, तो धर्म का साबुन आपको साफ़ नहीं कर सकता, उलटे स्वयं मैला हो जायगा। इस संगठन के युग में यह सिद्धांत हमें समझ लेना चाहिए। आवश्यकता है कि स्वयं भारत में जनता अपनी सभ्यता को समझे—समझे कि उसका स्थान संसार की सभ्यता में कितना महत्त्व रखता है। तब वह हिंदुत्व का गर्व करेगी, उसकी रक्षा के लिये मरेगी और आवश्यकता पड़ने पर मारने का कठोर कर्तव्य पूरा करेगी। तब हिंदुत्व वास्तव में जाग्रत् होगा। और, फिर किसकी शक्ति है, जो उसे पराजित कर सके।

कलकत्ते के साहित्य-सम्मेलन में एक हिंदू फ़क़ीर ने यह सदा दी थी। हिंदू-सभ्यता का प्रचार करने के लिये इस त्यागी संन्यासी ने 'हिंदू-साहित्य-प्रचारक' नाम की पुस्तिका वहाँ बँटवाई थी। उसने साहित्य-सम्मेलन से प्रार्थना की थी कि यह काम वह अपने हाथ में ले। यह योगी है प्रो० विनयकुमार सरकार एम्० ए०। अब यह प्रायः १२ साल के वनवास (योरप-वास) के बाद भारत पहुँचे हैं। भला कौन इनका स्वागत न करेगा? भारत में अध्यापक सरकार को यही धुन थी कि देश-विदेश में हिंदू-संस्कृति का प्रचार हो, संसार समझे कि हिंदू-जाति ने सार्वभौम सभ्यता में बड़ा भाग लिया है। हम सभ्य जातियों के ऋणी नहीं हैं, उनके ऊपर हमारा भी ऋण है। इसलिये उन्होंने खोज की, पता लगाया कि हिंदू अकर्मण्य नहीं थे। योरपियन प्राच्य-विद्याविशारद कहते थे कि हिंदू चिंतावीर थे, कर्मवीर नहीं। उन्होंने ज्ञान के नशे में अपने को मस्त कर दिया; और हाँ, इस क्षेत्र में वे बहुत आगे बढ़े। लेकिन कर्मक्षेत्र में वे कुछ भी न कर सके। कर्मयोग की पवित्र भूमि पर लगे हुए इस लांछन को दूर करने का प्रो० सरकार ने बीड़ा उठाया। उनकी पुस्तक The Positive Back-ground of Hindu Sociology इसी चेष्टा का पहला फल है। इसमें आपने सप्रमाण दिखाया है कि हमारे पूर्वज चिंतावीर थे, इसमें तो

संदेह नहीं; किंतु उन्होंने इस संसार के कर्मों की अव-हेलना भी नहीं की। जड़-विज्ञान में उन्होंने वैसी ही उन्नति की है, जैसी आत्मविज्ञान में। शुक्रनीति का अँगरेज़ी-अनुवाद करके आपने यह दिखाया है कि राजनीति में हम तत्कालीन संसार में अपनी जोड़ न रखते थे। इन पुस्तकों का विद्वानों ने अच्छा आदर किया है।

इससे पहले प्रो० सरकार शिक्षा तथा इतिहास पर कई पुस्तकें लिख चुके थे। चूँकि आप कलकत्ते के राष्ट्रीय विद्यालय के अध्यापक थे, और आपने राष्ट्र-सेवा का व्रत ग्रहण किया था, इसलिये शिक्षा के सिद्धांतों का सार निकालकर नई शिक्षा-पद्धति का प्रचार किया। वास्तव में आपकी पद्धति नई और आशुफलप्रद है। क्या ही अच्छा सिद्धांत है कि विद्यार्थी को, आपके कथनानुसार, कर्मक्षेत्र में उतारकर सेवा-भाव सिखाना चाहिए। यह 'अनुशासन' सर्वत्र उपयोगी है। हमारे देश में तो इसकी नितांत आवश्यकता है। राष्ट्रीय शिक्षा, बिना इस पर अमल किए, लँगड़ी रह जायगी। आपके उस समय के लिखे निबंध महत्त्व-पूर्ण हैं। उस समय के फ़ैशनेबल नेताओं का आपने जहाँ वर्णन किया है, उसे पढ़कर उस समय छाती फटती थी। मुसलमान-हिंदू-समस्या पर आपने क्या ही सच लिखा था कि धर्म का अभाव हममें फूट पैदा कर रहा है। उस समय आपने बताया था कि योरप टर्की के अर्द्ध-चंद्र को अर्द्धचंद्र देना चाहता है, और समय नज़दीक है, जब टर्की को मिटाने के लिये युद्ध होगा। तभी मुसलमान होश में आवेंगे। यह समय दूसरे रूप में आया था, और मुसलमान हमसे मिलने को आतुर हुए थे; किंतु इधर फिर से टर्की की विजय, योरप का पराक्रम तथा सीरिया के विद्रोह ने इनका माथा फेर दिया है। आपने उस समय सबसे पहले बुकर टी वाशिंगटन के आत्मचरित का अनुवाद 'निग्रोजातिर कर्मवीर' के नाम से बँगला में किया था। खेद है, हिंदी में या तो इस बँगला-अनुवाद का या मराठी-अनुवाद का अनुवाद किया गया है।

१९१३ में आप काशी के अपने श्रद्धेय मित्र बा० शिव-प्रसाद गुप्त के साथ संसार भ्रमण को निकले। बाबू साहब की प्रसिद्ध पुस्तक 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' के पाठक जानते हैं कि इन देश-भक्त यात्रियों के भारत में वापस आने के रास्ते में कैसी अड़चनें डाली गई थीं। किसी प्रकार बाबू साहब तो वापस आए; पर अध्यापक सरकार न आ सके। वह चीन में रहे।



अध्यापक विनयकुमार सरकार एम० ए०

वहाँ उन्होंने हिंदू-संस्कृति का प्रचार किया, और अध्ययन किया कि भारत और चीन का आपस में कितना घनिष्ठ संबंध है। इस विषय पर आपकी पुस्तक 'China seen through a Hindu's eyes' प्रसिद्ध है। यह आपकी गवेषणा का फल है। आप कुछ दिन जापान में भी रहे, फिर अमेरिका गए। वहाँ आपने कई पुस्तकें हिंदू-संस्कृति पर प्रकाशित कीं। कई कविताएँ भी आपने अँगरेज़ी में लिखीं, जिनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। इनकी खूब तारीफ़ हुई। एक अमेरिकन प्रकाशक ने इन्हें 'The Bliss of a moment के नाम से पुस्तकाकार छापा है। इनमें वाल्ट ह्विटमैन की भाँति वर्तमान कर्मप्रधान जगत् की शक्तिप्राण आत्मा का विकास हुआ है। आपने कई संस्कृत वैष्णव-गीतों का अँगरेज़ी अनुवाद भी किया है, और वैष्णव साहित्य पर भी लिखा है। यह पुस्तक Love in Hindu Literature के नाम से सन् १९१६ में, टोकियो में, प्रकाशित हुई थी। इसके अनंतर आपने The Folk-element in Hindu Culture के नाम से एक पुस्तक लिखी, जिसमें आपने दिखाया कि हमारी संस्कृति में जनता के हृदय का क्या प्रभाव पड़ा। १९१८ में लांगमैन ने लंदन से आपकी पुस्तक Hindu

Achievements in exact Science छपी। इसमें हमारे पूर्वजों की वैज्ञानिक प्रतिभा का गुणगान है। वह भी भाव-पूर्ण नहीं, प्रमाण-पूर्ण।

युद्ध समाप्त होने पर आप फ़्रांस चले आए। कुछ दिन पेरिस में रहे। वहाँ आपने हिंदू-संस्कृति का प्रचार किया। आपको वहाँ के विश्वविद्यालय ने व्याख्यान देने के लिये निमंत्रित किया। फ्रेंच-एकाडेमी में भी भाषण हुआ। यह सम्मान एशियावालों में आपको ही सर्वप्रथम मिला। सरकार महोदय ने वहाँ कुछ छोटी पुस्तकें फ्रेंच में छपाईं। तब आप स्वीज़रलैंड होते हुए जर्मनी आए। यहाँ भी आपने अपना काम किया, यानी हिंदू-संस्कृति का विदेश में प्रचार किया। आपकी पुस्तिका Die Lebensanschanung des guders १९१६ में छपी। इसमें आपने बताया है कि भारतीय जीवन को किस दृष्टि से देखते हैं। यहाँ से आपने कुछ दिन तक Commercial news-नामक मासिक पत्र निकाला। यहीं से सरकार महोदय इटली गए। वहाँ भी आप अपने ध्येय के लिये अथक परिश्रम करते रहे।

श्रीयुत विनयकुमार सरकार अब अपनी मातृभूमि में पहुँचे हैं। योरप की सभ्यता ही नहीं, सारे संसार की सभ्यताओं का सार ग्रहण कर, भारत की संस्कृति में डूबे हुए अध्यापक सरकार इस समय योग्यतम मनुष्य हैं, जो हमें सब देशों की भलाई-बुराई बता सकते हैं। भारत को आवश्यकता है इस बात की कि सबसे भलाई ले, और जो बुराइयाँ उसके भीतर पैदा हो गई हैं, उन्हें दूर करे। हिंदू जाति इस समय अपनी सहज बुराइयों के भार से दबी जा रही है। उसे यदि संसार में जीवित रहना है — और, कौन यह न चाहेगा — तो आँखें खोलनी होंगी। इस काम के लिये अध्यापक सरकार-जैसे पंडितों की आवश्यकता है। हम उनका सपत्नीक भारत में स्वागत करते हैं। मुझे तो पूरी आशा है कि आपसे राष्ट्र-भाषा हिंदी को भी लाभ पहुँचेगा, क्योंकि आप हिंदी के बड़े प्रेमी हैं, और उसे राष्ट्र भाषा मानते हैं।

बर्लिन ;　　　　　　धुरंधर शर्मा

× × ×

२. कनक-रेणु*

(१)

मानव जीवन की दो घटनाएँ अन्य सभी घटनाओं की अपेक्षा सुंदर हैं—जन्म और मृत्यु। इन दोनों में भी मृत्यु अधिक सुंदर है।

बाल-सूर्य की छवि बहुत कमनीय होती है, परंतु क्या वह डूबते हुए रवि की छटा की बराबरी कर सकती है?

(२)

हे मेरे आनंदमय एवं शोकमय संगीत, तुम संसार में आओ, पर यदि कोई तुमसे पूछे कि तुम आनंदमय एवं शोकमय क्यों हो, तो तुम क्या उत्तर दोगे?

तुम कहना—"हम शोकमय इसलिये हैं कि हमें 'वर्तमान' का ज्ञान है।"

तुम कहना—"हम आनंदमय इसलिये हैं कि हमारे नेत्रों में 'भविष्य' का आभास है।"

(३)

संसार की सभी अवस्थाओं का आदि और अंत वेदना से पूर्ण होता है।

दूसरे की वेदना में हमारा जन्म होता है, और अपनी वेदना में हमारी मृत्यु।

(४)

सबसे सुंदर वस्तु का सबसे शीघ्र विनाश होता है। उसके विनाश के अनंतर केवल उसकी सुगंध रह जाती है।

परंतु गुलाब के प्रेमी के लिये गुलाब का सुवास एक वेदना-मात्र है।

(५)

क्या हमारा अंधकार हमारी रक्षा के लिये फैलाए गए भगवान् के हाथ की हथेली की छाया है?

रामचंद्र टंडन

× × ×

३. 'शमा रोती है, मगर फूल खिले जाते हैं'

न तो सुनते हैं गिले वो न गिले जाते हैं;
　लेकिन इतना है कि अब तक वो मिले जाते हैं।
उनको शिकवा नहीं, मेरे भी गिले जाते हैं;
　दोनो दिल आज सफ़ाई से मिले जाते हैं।
शिकवे ही आते हैं दिल से, न गिले जाते हैं :
　हाय! फिर किसलिये हम तुमसे मिले जाते हैं।
बहरे[1] गुलगश्ते[2] चमन कौन है आनेवाला,
　आप-ही-आप जो सब फूल खिले जाते हैं?

* अँगरेज़ी-कवि फ्रांसिस टॉमसन की पंक्तियाँ।

१. वास्ते, २. सैर।

आख़िरी वक़्त मेरे कान में य' किसने कहा—
भूल जाना न कहीं तुमसे मिले जाते हैं।
नालए[1] दिल का मेरे ग़ैर असर कुछ न सही ;
ज़ुल्मवालों के कलेजे तो हिले जाते हैं।
हाय ! फिर इस दिले बेसब्र को नाले सूझे ;
हाय ! फिर ज़ख़्म कलेजे के छिले जाते हैं।
उनके अंजाम प' शबनम[2] तो है रोती शब-भर ;
और फूलों की य' हालत है, खिले जाते हैं।
किसलिये डाली हैं ज़ालिम ने गले में बाहें ?
ज़िंदगी-भर के मेरे दिल से गिले जाते हैं।
शाख़ में रह गए जो फूल व' हैं अफ़सुर्दा ;
तेरे दामन में जो पहुँचे त' खिले जाते हैं।
साथ दोनों को मेरी क़ब्र प' वो क्या लाए ;
शमा रोती है, मगर फूल खिले जाते हैं।
नीची नज़रें य' तेरी और सितम क्या ढाती ?
ख़ाक में देखनेवाले तो मिले जाते हैं।
हमें[3] रुख़सत दिले बेताब ने "ग्रासित" पूछा—
क्या व' फिर आएँगे, जो आज मिले जाते हैं ?

मास्टर वासित 'बिस्वानी'

× × ×

४. चीन-साहित्य का एक पृष्ठ

और-और देशों की तरह चीन-देश में भी मन का भाव प्रकट करने के लिये कविता का ही आश्रय लिया गया है। ईसा के प्रायः १,७०० वर्ष पहले से ही हमें चीन के साहित्य का प्रारंभ देखने में आता है। वीरों की जीवन-कहानी, कृषकों की आशा और आकांक्षा, प्रत्येक दिन की जीवन की छोटी-छोटी बातें, हास्य तथा रुदन को लेकर ही चीन साहित्य का जन्म हुआ। दूसरी-दूसरी जातियों में जो हमें प्रारंभिक गाथाएँ मिलती हैं, उनका विषय साधारणतः युद्ध, विग्रह और शौर्य रहता है। किंतु चीन का साहित्य शांति भाव से ही परिपूर्ण है।

यदि सच पूछा जाय, तो 'तांग'-युग ही चीन साहित्य के गौरव का युग है। इसी युग में लीपो, तुफ़ू और पोचुई-नामक तीन कवि हुए, जिन्होंने अपने-अपने यशोगौरव से चीन के साहित्य को ऊँचे शिखर पर पहुँचाया। चौथी शताब्दी में चुयुयान नामक एक कवि का भी नाम देखने में आता है। इसके जन्म के दो सौ वर्ष पहले हान-वंशीय राजा चीन के सिंहासन पर विराजमान थे। चार सौ वर्ष तक उन्होंने राज्य किया। इन चार सौ वर्षों में चीन-निवासी ऐसे प्रभावान्वित हो गए कि वे आज भी हान-वंशीय कहलाने में अपना गौरव समझते हैं। इस वंश के प्रायः सभी सम्राट् साहित्यिकों तथा कवियों के आश्रयदाता थे। नाना प्रकार की ललित-कलाओं की उन्नति इसी वंश के राजों के समय में हुई। बौद्धधर्म का भी इसी समय चीन में पहलेपहल प्रचार हुआ, जिसके प्रभाव से चीन-साहित्य से आनंदवाद बिलकुल जाता रहा।

ईसा की तीसरी सदी में 'वंशकुंज के सप्तर्षि'-नामक कवि चीन के साहित्य संसार में प्रकट हुए। इन कविबंधुओं में विशेषता यह थी कि उनमें प्रत्येक साहित्यिक, कवि, गायक और दार्शनिक था।

तुफ़ू, लीपो और पोचुई, ये तीनों कवि आठवीं शताब्दी में राज-कर्मचारी के ऊँचे-ऊँचे पद पर थे। किंतु तुफ़ू और लीपो के भाग्य में राजकार्य करना अधिक दिनों तक बदा नहीं था। उन्होंने सौभाग्य-लक्ष्मी का निरादर किया, और फिर सौभाग्य-लक्ष्मी ने भी उनकी अवहेलना की।

तुफ़ू कितने ही वर्षों तक अनेक शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद, २७ वर्ष की अवस्था में, राजकार्य में प्रवृत्त हुए। कुछ दिनों के बाद वह राज-सभा के उच्च कर्मचारी नियुक्त किए गए। किंतु उनका हृदय इस काम से संतुष्ट नहीं हुआ। स्पष्टवादिता के अपराध में किसी एक प्रदेश का शासक बनाकर उन्हें फिर निर्वासन-दंड दिया गया। जिस समय तुफ़ू को प्रांत विशेष के शासक होने की आज्ञा सुनाई गई, वह हठात् राजकीय सभी पदक और चिह्न अपने शरीर से उतारकर, आश्चर्य चकित राज-सभासदों के सामने से चुपचाप धीरे धीरे राज सभा से बाहर हो गए। यही उनके वैराग्य जीवन का प्रारंभ था। देश-देश, नगर-नगर छिपे वेष में घूम घूमकर, कविता सुनाकर लोगों को मुग्ध करना और साहित्य-प्रेमी जनों का आतिथ्य स्वीकार करके अपना जीवन बिताना ही इनका ध्येय रहा। इसी अवस्था में समुचयान प्रदेश के सेनाध्यक्ष और शासक ने उन्हें पता लगाकर खोज निकाला, और उन्हें प्रत्नतत्त्व-विभाग का एक उच्च राजपद दिया। छः वर्ष निरंतर काम करते रहने के बाद उसी प्रदेश के विद्रोहियों से इनका सामना हो गया, और बाध्य होकर तुफ़ू फिर गृह-त्यागी हुए।

१. आह, २. ओस, ३. वक़्त।

लीपो असाधारण प्रतिभाशाली कवि थे। वह २० वर्ष की उमर में ही सब शास्त्रों का अध्ययन कर शास्त्राचार्य की पदवी पा चुके थे। राजा मिंगतोरांग के यहाँ रहने के पहले ही उनका कीर्ति सौरभ संपूर्ण चीन में फैल चुका था। उन्हें अपने यहा रखने के लिये संभ्रांत समाज में एक प्रकार की प्रतिद्वंद्विता चलती थी। मिंगतोरांग के आश्रम में आ जाने पर उनका आदर, सम्मान और सत्कार असीम हुआ।

कुछ दिनों के बाद लीपो ने राजाश्रय छोड़ वनवास का आश्रय लिया। अब उन्हें स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। उस समय यह स्वच्छंद रूप से, विहंगम की नाई, देश-देश, गाँव गाँव और नगर-नगर में आज़ादी के गीत गाते और स्वतंत्र होकर विचरण करते थे।

कुछ दिनों तक वह इसी प्रकार विचरण करते रहे। एक समय दुर्भाग्य से विद्रोहियों के साथ में पकड़े जाने पर लीपो को कारावास का दंड हुआ। किंतु जेल की दीवालें उनकी धवल कीर्ति में धब्बा नहीं लगा सकीं।

- जिस समय पोचुई का जन्म हुआ, मिंगतोरांग का गौरव-पूर्ण युग व्यतीत हो चुका था। असाधारण बुद्धि-संपन्न १७ वर्ष के नवयुवक पोचुई ने चीन के संपूर्ण शास्त्र और साहित्य का अध्ययन कर, राजकार्य का भार ग्रहण किया। उनमें प्रतिभा थी, इस कारण वह धीरे-धीरे ऊँचे-से-ऊँचे पद पर आरूढ़ होते गए।

तुफू और लीपो के साथ उनका एक विषय में मतभेद था। तुफू और लीपो ने राजाश्रय को अपनी जीविका का केंद्र कभी नहीं माना। पोचुई अपने जीवन में उच्च राज-कार्य में नियुक्त हुए थे। उनकी संपूर्ण कविताएँ राजकार्य से अवकाश मिलने पर ही लिखी गई थीं।

वह समस्त जाति को एक परिवार की नाई समझते थे, और सम्राट् को उस जाति-रूपी परिवार का पिता मानते थे। उच्च स्वदेश-प्रेम को लेकर कहानी का रूप सर्वप्रथम इन्हीं ने दिया था।

गोपीनाथ वर्मा

× × ×

५ याचना

भगवन् ! आप किस वेष में विचरते हैं ? सदा मेरे अंग-अंग के संग रहते हो, फिर भी तुमसे मैं अपरिचित क्यों हूँ ? उपकारों का तो स्मरण है, पर उपकारी को नहीं जाना। कैसा विमूढ़ हूँ !

विपद् की अँधेरी रात्रियों में आपने पथ-प्रदीप बनकर, अनेक बार मुझे मार्ग-प्रदर्शन किया। दुःख की बढ़ती हुई प्रचंड ज्वाला जब भस्म कर रही थी, मैं हताश हो निस्सहाय मूक खड़ा था। आपने जल की शीतल धारा बनकर मेरा त्राण किया।

जीवन-संग्राम में पराजित हो, अधोमुख अवनति की ओर लौट रहा था। आपने वीरता का संचार कर मुझे फिर समर-भूमि में ढकेल दिया। विफलता के निरंतर आघातों से शक्ति-हीन हो जब पृथिवी पर गिर पड़ा, आपने लाठी बनकर मुझे आश्रय दिया।

मेरा विशाल हृदय-मंदिर बहुत काल से सूना पड़ा है। मैं अतिथि-सत्कार के लिये द्वार पर खड़ा आपकी बाट देखा करता हूँ। पतितपावन ! मेरा आतिथ्य स्वीकार क्यों नहीं होता ?

शिशिर में सारा वनस्पति-संसार शुष्क एवं नीरस हो जाता है, वसंत में मृतप्राय कलियाँ पुनः नवजीवन पाती हैं। नाथ ! मेरे जीवन में यह वसंत क्यों नहीं आता ?

प्रमुदित सागर-तरंगों का गाना सुनता हूँ, आकाश की विस्तृत रंगभूमि पर तारागण का अभिनय देखता हूँ। पर, देव ! मेरा हृदय हर्ष-शून्य क्यों है ?

प्रमाद-रहित हो साय-प्रातः आपकी अर्चना करता हूँ। मुझे अपने अंक में क्यों नहीं लेते ? किंशुक हूँ प्रभो ! सौरभ प्रदान करो।

देखो, आषाढ़ की दोपहरी की तरह विषाद सिर पर आ रहा है। हे तात ! आप आतपत्र बनकर मेरा संरक्षण कीजिए।

नैरोबा, दक्षिण-आफ्रिका ; बलदेव अग्रवाल

× × ×

६ घनश्याम देखि

पीत-पटवारी छबि नैननि छहरि जाति,
चमकत चहुँधा चपल बिज्जु-दाम देखि।
कोकिल पपीहरा उचारैं जनु बंसी-धुनि,
भासै मणिमाल बकमाल अभिराम देखि।
'कौशलेंद्र' भान होत मंजुल मुकुट को त्यौं,
मोद-भरे मुरवान नाचत ललाम देखि :
मघवा निठुर मेरे प्रानन को प्यासो भयो,
आली सुधि आवै घनश्याम घन श्याम देखि।

कौशलेंद्र राठौर

× × ×

७. वीणा

सरस, सुरीली, मंजु, मधुर अलापवारी,
मान-कुंजिका-सी कैधों मार की कटारी-सी ;
प्रेम-फुलवारी की अनोखी आम-बागवारी,
प्यारी कलकीन कहैं सारँग-बयारी-सी ।
चंद्र-सी बदनवारी, चंद्रबदनी की कैधों,
चारु युक्ति-उक्तिवारी तूलिका नियारी-सी ;
'रंजन' करनवारी कैधों प्रेम-पिचकारी,
गिरिधरवारी, गिरिधारी की पियारी-सी ।
जंगबहादुर मिश्र "रंजन"

× × ×

८. परिचय

गज हौं न नाथ, किंतु अधम अजामिल हौं,
रसना रुचिर राम-नाम-राग रागै ना ;
पामर हौं, गिद्ध नहिं, जोगी-जती-सिद्ध नहिं,
पावन पहार ते सुबुद्धि मन जागै ना ।
जासौं जग जीवन है ताहि कौं बिसारे मन,
कलुष-कलंक-पंक छोड़ि कहूँ पागै ना ;
दीन हौं, कलंकी हौं, कलकिन सों काज तुम्हैं,
अंक गहि लेहु, तौ कलंक अंक लागै ना ।
पांडेय गजानन शर्मा "ब्रजचंद्र"

× × ×

९. रामायण और महाभारत

संसार का आदि-काव्य रामायण तथा जगत्-भर में सबसे बड़ा एवं महत्त्व पूर्ण इतिहास महाभारत, दोनो ही साहित्य के चंद्र-सूर्य हैं ।

इनके रचयितागण महर्षि वाल्मीकि और व्यास साधारण लेखक नहीं, किंतु त्रिकाल-दर्शी थे, जिन्हे सारा जगत् "करतल-गत आमलक-समाना" था । तभी तो वे ऐसे जगत्-प्रसिद्ध महाकाव्यों का प्रणयन कर सके । व्यास और वाल्मीकि किसी व्यक्ति-विशेष के नाम नहीं हैं, किंतु विशेष उद्देश्यों के नाम हैं ।

इन काव्यों की व्यापकता अनंत है । ये पुस्तकें पुस्तकालय की आलमारियों में रक्खी रहने की चीज़ नहीं हैं । किंतु इनसे जीवन का घनिष्ठ और नित्य का संबंध है ।

रामायण और महाभारत भारतीय सभ्यता के उदाहरण हैं । वे आर्य-सभ्यता के स्तंभ हैं । जिस प्रकार Paradise Lost-काव्य में योरपीय सभ्यता प्रतिबिंबित हुई है, उसी प्रकार इन काव्यों में भारतीय सभ्यता का विकास हुआ है ।

रामायण और महाभारत केवल महाकाव्य नहीं हैं, वे प्राचीन तथा आधुनिक सामाजिक जीवन के जोड़ने के लिये ऐतिहासिक पुलों के समान हैं । प्राचीन होकर भी वे आधुनिक समाज पर अनंत प्रभाव डालते हैं । रामायण त्रेता के समाज को आजकल के समाज में खींच ले आती है, तथा वर्तमान समाज को प्राचीनता के धुँधले प्रकाश में जाग्रत् करती है । उसी प्रकार महाभारत भी द्वापर के समाज से हमें चिरसंबद्ध करता है ।

इतने पुराने होकर भी इनके अपरिवर्तनशील रहने का यही कारण है ।

रामायण और महाभारत की समालोचना केवल काव्य-दृष्टि से न की जानी चाहिए; क्योंकि वे महाकाव्य होने के साथ-ही-साथ इतिहास और धर्म-ग्रंथ भी हैं ।

विदेशी लेखक इन ग्रंथ-रत्नों को Epic poems के नाम से पुकारते हैं, किंतु Epic का असली अर्थ वीर-रस-प्रधान काव्य है । यद्यपि इनमें संसार-इतिहास के दो महायुद्धों का वर्णन है, किंतु यह उनकी प्रधानता नहीं है । इनमें उस धर्मतत्त्व की प्रधानता है, जिसका कि युद्ध एक अंग-मात्र है—जिसके लिये युद्ध करना धर्म हो जाता है । युद्ध आनुषंगिक विषय है, प्रधान नहीं ।

रामायण युद्ध-काव्य नहीं, प्रेम-काव्य है । राम-सीता आदि के अलौकिक प्रेम को स्पष्ट करने ही के लिये इसकी रचना हुई है । लंका का युद्ध इसी प्रेम को स्पष्टतः चरितार्थ करने के लिये हुआ था । अतः रामायण का प्रधान विषय युद्ध नहीं, प्रेम है ।

मनुष्य का चरम आदर्श स्थापित करना ही भारतीय कवियों का उद्देश्य था । मनुष्य-जीवन में ही यह आदर्श स्थापित हो सकता है, देव-जीवन में नहीं ; क्योंकि देव-चरित्र का आदर्श मनुष्यों के लिये उपयोगी नहीं हो सकता । मनुष्य ही मनुष्य का आदर्श हो सकता है । इसीलिये राम मनुष्य-रूप से रामायण के रंगमंच पर अवतीर्ण होते हैं, और मनुष्यों के आदर्श के लिये उन्हीं के समान कार्य करते हुए परम उन्नति तक पहुँचते हैं । यदि राम-चरित्र मनुष्य-चरित्र न होकर देव-चरित्र होता, तो उसकी इतनी महिमा न रहती ।

राम-चरित्र इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मनुष्य

ही अपने कर्मों से देवता-पद तक पहुँच सकता है। नर से नारायण होना ही राम-चरित्र का आदर्श है। नारायण होकर भी नर-चरित्र करना उसमें और भी सुंदरता की रेखा खींच देना है। हमारे राम देवता और मनुष्य, दोनों ही हैं। यही बात रामायण को काव्य-पद से धर्मशास्त्र के पद पर पहुँचा देती है।

रामायण गृहस्थ-काव्य है। एक गृह की कथा को यह इतने बृहत् रूप से दिखाती है, यही उसका महत्त्व है। किसी भी देश के साहित्य में कभी भी एक घरेलू विषय इतने बड़े काव्य का वर्णनीय विषय नहीं बनाया गया। रामायण भारत के गृह-धर्म की श्रेष्ठता का आदर्श है। इससे यह पता लगता है कि भारत गृहस्थाश्रम को कितना महत्त्व देता है।

व्यक्ति गृहस्थाश्रम को और गृहस्थाश्रम सारे समाज को धारण करता है। यही आश्रम भारतीय सभ्यता की नींव है। व्यक्ति, कुटुंब और समाज को एकसाथ संबद्ध कर भारतीय आर्य-सभ्यता का सच्चा आदर्श दर्शाना ही रामायण का उद्देश्य है। इसमें व्यक्ति तथा कुटुंब के द्वारा सारे समाज का परिचय दिया गया है।

कभी-कभी रामायण के आदर्शों पर अति प्राकृत होने का दोष लगाया जाता है। चाहे विदेशी के लिये वे आदर्श अति प्राकृत भले ही हों, किंतु जो भारत इनसे चिरपरिचित है, उसके लिये वह अति प्राकृत नहीं, प्रत्युत अति ही प्राकृत अथवा बिलकुल साधारण है। यह आदर्श काल्पनिक नहीं है। यदि इसमें सत्यता न होकर कल्पना का राज्य होता, तो इसका हमारे हृदयों पर उतना असर न होता।

श्रीअरविंद घोष के अनुसार व्यास, वाल्मीकि और कालिदास आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के उदाहरण हैं। व्यास नैतिक अवस्था के तथा वाल्मीकि मानसिक अवस्था के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं। इनके काव्यों में भारत की नैतिक उन्नति के चित्र हैं। रामायण में विशेषता यही है कि उसमें शारीरिक और मानसिक, दोनों विकासों के चित्र हैं।

व्यास ने निष्काम-धर्म की शिक्षा दी है। वाल्मीकि ने ऐसा नहीं किया। व्यास एक समाज-संस्कारक थे। वाल्मीकि ने प्राचीन आदर्श ग्रहण किया, किंतु व्यास ने सामाजिक तथा नवीन। व्यास ने सब विद्याओं को नए संस्कार के ढाँचे में ढाल दिया। महाभारत में हर जगह मानसिक तथा रामायण में धार्मिक उत्तेजना पाई जाती है।*

ब्योहार राजेंद्रसिंह

× × ×

१०. सतत शंका

क्या यह लीला तेरी है?
अथवा क्षमता मेरी है?
दिखलाती है जो यह मुझको दृश्य रँगीले, नाथ, सदा।
क्या यह कोई माया है—
मोहमयी छल-छाया है?
जिसकी अद्भुत कौतुक-लीला करती मन को भ्रांत सदा।
या यह कोई सपना है,
भ्रममय काल-कल्पना है,
जिसके अद्भुत विभ्रम से यह व्याप्त हो रही है वसुधा।
पता न पाया क्या लीला!
असमंजसकर दुःशीला!
जिसके गोरख-धंधे में ही फँसा नाचता पिंड सदा।
प्रभो! तुम्ही यह बतलाओ,
यह विकट रहस्य हटाओ,
कभी मिलेगी मुक्ति या कि मैं सदा रहूँगा, नाथ, लदा।

ज्वालाप्रसाद गुप्त

× × ×

११. प्रतिवाद

गत माघ की माधुरी में "भारतीय इतिहास का भौगोलिक आधार" की आलोचना छपी है। आलोचना तो हमारे नाम से है, पर न-जाने आलोचक महाशय कौन हैं। माधुरी-संपादक ने शायद हमारा नाम देखकर ही उस आलोचना को प्रकाशित कर दिया था। इसके लिये हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। पर आलोचक महाशय ने अपना नाम छिपाकर और उसकी जगह हमारा नाम देकर एक बड़ा अनर्थ किया है। हमें शोक है, उस आलोचना को पढ़कर पुस्तक के लेखक श्रीयुक्त जयचंद्र विद्यालंकार को अत्यंत क्षोभ हुआ होगा; क्योंकि पुस्तक वास्तव में वैसी है नहीं। एक सज्जन ने जबलपुर में हमसे यह पुस्तक पढ़ने को ली थी। यदि उन्होंने ऐसा किया है, तो उन्होंने हमारे साथ विश्वासघात किया है। हम उसका प्रतिवाद करते हैं।

मातादीन शुक्ल

* * *

* श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर के एक लेख के आधार पर।

माघ शुक्ल ७, संवत् १९८१ की माधुरी में 'सुखमनी' की समालोचना में लिखा गया है कि यह पुस्तक सिखों की धर्म-पुस्तक है। यह बात इतिहास के विरुद्ध है। 'सुखमनी' के रचयिता गुरु अर्जुनदेव सत उदासीजी है। इसी कारण इस पुस्तक को सब उदासी साधु तथा उदासी पथवाले सिख-सेवक, हिंदू-सनातनधर्मी, सभी मानते और पूज्य दृष्टि से देखते हैं। इस पर सब—हिंदू, सनातनी हिंदुओं—का अधिकार है, केवल सिखों का नहीं। सिखों के दसों गुरुओं का जो इतिहास प्राचीन ग्रंथों के प्रमाणों पर लिखा गया है, और जो (दोनों भाग) अमर-प्रेस, सक्खर, सिंध से प्राप्त हो सकता है, उसमें इसकी चर्चा है।

साधु सुतीक्ष्ण मुनि

× × ×

१२. चूरू का सुराणा-पुस्तकालय

गत माघ की माधुरी के 'सुमन-संचय' में श्रीयुत श्रीगोपालजी नेवटिया ने चूरू के 'सुराणा-पुस्तकालय' का दिग्दर्शन कराकर वास्तव में प्राचीन ग्रंथों की खोज करनेवाले विद्वानों के लिये एक नए ख़ज़ाने का पता दिया है। उनके ढाई हज़ार पुस्तकों के अवलोकन के बाद केवल दो पुस्तक-रत्नों का हाथ आना भी कुछ कम स्तुत्य नहीं है। लगभग २५-२६ वर्ष पहले एक बार मुझे भी चूरू जाना पड़ा था; किंतु उस समय न तो इस पुस्तकालय का अस्तित्व ही था, और न मुझे सुराणाजी महाशय के दर्शनों का ही सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसलिये कहना चाहिए कि सेठ लोखारामजी सुराणा ने बहुत थोड़े समय में बहुत भारी संग्रह कर लिया। वह बीकानेर-राज्य की कौंसिल के मेंबर हैं, और एक उत्साही हिंदी-सेवक हैं। आशा है, प्राचीन पुस्तकों की खोज करनेवालों के लिये अपने पुस्तकालय का द्वार खोलकर उत्तमोत्तम ग्रंथ-रत्नों के प्रकाशन में सहायक होंगे। उनके पुस्तकालय की सार्थकता इसी में है कि चूरू-निवासियों के अतिरिक्त अन्यान्य प्रांतों के हिंदी-हितैषी भी इससे लाभ उठा सकें।

श्रीयुत नेवटियाजी के नोट में जब 'बिहारी-सतसई' की संस्कृत-टीका अधूरी बतलाई गई है, तो उसके लिये मुझे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। किंतु 'श्रीमद्भागवत" के विषय में उनके नोट में जो बातें कुछ संदिग्ध-सी दिखलाई देती हैं, उन्हें स्पष्ट कर देना मुझे आवश्यक जान पड़ता है। यदि मेरा अनुमान सत्य है, तो वह राजपूताना-निवासी हैं; और ऐसी स्थिति में "रा" का अर्थ उनके ध्यान में न आना आश्चर्य की बात है। मारवाड़ में इसका "का" के अर्थ में प्रयोग होता है, और इसलिये "संवत् १८४३ रा" का अर्थ हुआ "संवत् १८४३ का", यह सर्वजन-सम्मत अर्थ है। इसमें संदेह की बिलकुल गुंजाइश नहीं।

'श्रीमद्भागवत' के अष्टम स्कंध के सोलहवें अध्याय का एक पद्य उद्धृत करके श्रीयुत नेवटियाजी ने उसके तीसरे चरण को "तार्क ग्रह कामि...पुपद * धारे" इस तरह पर लिखा है, और ऐसा लिखकर फुटनोट में लिखा है कि "केवल 'पु' के स्थान में शायद 'रिपु' चाहिए था। संभव है, यह नक़ल करनेवाले की भूल हो।" मेरी समझ में न यहाँ 'रि' की आवश्यकता है, और न नक़ल करनेवाले की भूल है। असल पाठ 'कशिपु पग्धारे' है, जिसका अर्थ 'कश्यप पधारे' हुआ। प्राचीन प्रणाली के अनुसार आजकल के शब्द-शब्द अलग लिखने की जगह असल पुस्तक में अक्षर-अक्षर अलग-अलग लिखा गया होगा। उन्होंने इसके अर्थ पर दृष्टि न डालकर इस तरह पदच्छेद कर दिया है। यह उस समय का है, जब दैत्यों के राज्य छीन लेने से देवता गिरि-कंदराओं में जा छिपे थे। कश्यपजी अदिति के आश्रम में आए, वह अपना दुखड़ा रोए, और वामनावतार हुआ।

अब एक ही बात लिखना बाक़ी है। उन्होंने इस पुस्तक का एक पद्य उद्धृत कर उसमें 'कपड्यो' का अर्थ 'पकड्यो' किया है, और बीकानेरी-भाषा में इसका अर्थ पकड़ना बतलाकर कवि का उस प्रांत की भाषा से संपर्क बतलाया है। संभव है, ऐसा हो। किंतु जहाँ तक मैं जानता हूँ, मैं कह सकता हूँ कि बीकानेरी-भाषा में मैंने कभी 'कपड्यौ'-शब्द का इस अर्थ में प्रयोग होते नहीं देखा; और न यह अर्थ यहाँ संगत ही हो सकता है। कपट को किसने पकड़ लिया, और इसका यहाँ संबंध क्या है? मेरी समझ में यह लिखनेवाले की ग़लती है। यहाँ कोई और शब्द होना चाहिए। यदि नेवटियाजी महाशय स्कंध और अध्याय का पता दें, तो मूल-भागवत से मिलान कर निश्चय किया जा सकता है।

श्रीयुत नेवटियाजी को श्रीयुत सुराणाजी से विदित हुआ है कि यह पुस्तक तीन वर्ष पूर्व नारनौल से प्राप्त



व्याध पुत्री

[श्री दुलारेलाल भार्गव की चित्रशाला में]

हुई है। यदि स्वयं संग्रहकर्ता ने नारनौल को जोधपुर-राज्य के अंतर्गत बतलाया हो, तो संभव है, उस राज्य में इस नाम का कोई ग्राम होगा ; नहीं तो यह नारनौल पटियाला-राज्य में है, और जयपुर-इलाक़े की तोराँवाटी-परगने के समीप है। यह एक पुराना शहर है। यहाँ इस तरह की पोथियाँ मिलने की अधिक संभावना है।

मेहता लज्जाराम शर्मा

× × ×

१३. विद्युद्-वेग

अहो, हे सुनासीर के वज्र ,
श्याम मेघों के हास-विलास ;
वृषभ-पति के त्रिशूल की ज्योति ,
इंदु की किरणों के आभास।
राम के धनुहा की टंकार ,
पार्थ के बाणों की बौछार ;
द्रोण गुरु के हाथों की शक्ति ,
दिवाकर-किरणों की मनुहार।
विष्णु के शस्त्र—सुदर्शन चक्र ,
भीम की गदा—मदन के बाण ;
निशा-देवी के हीरक हार ,
वायु की मंद, मधुर मुसकान।
जिष्णु के नंदनवन की कांति ,
ब्रह्मसुत की वीणा के तार ;
घोर तम में भूले विक्षिप्त ,
पथिक के कर्णधार अंगार।
धर्म की न्याय-ज्योति तम-हीन ,
पापियों के यम-दंड कठोर ;
मेघ के उर-कंपन से प्रकट ,
प्रेम की हिलती हुई हिलोर।
काव्य की सुगम कल्पना-शक्ति ,
वीर-असि-धारा में छविमान ;
नेत्र रहते हैं सदा अतृप्त ,
अहो ! चंचलता के उपमान।

"सम्राट"

× × ×

१४. प्रणय-रात्रि

(१)

पटना में एक स्त्री रहती थी। उसका नाम वासव था। वह सुंदरी थी। उसके शरीर में वसंत की बहार, मोहनी तथा सुगंध थी।

वह युवती थी। उसके यौवन में बढ़ते हुए चंद्रमा का विकास, माधुर्य तथा काव्य था।

वह धनाढ्य थी। उसकी संदूकों में बहुमूल्य वस्त्र, मनोहर आभूषण तथा मोहरें थीं।

परंतु उसके पास कुछ भी न था—वह वेश्या थी।

(२)

नगर के बाहर एक नौजवान साधु रहता था। उसका नाम उपगुप्त था। उसके पास अपना निज का मकान न था, उसके पास वस्त्र न थे, उसके पास रुपया-पैसा कुछ न था। मगर उसके पास आँखों की मुसकान, चित्त की स्थिरता तथा शांति की नींद थी।

वासव धर्म को पाप की पृथ्वी पर पछाड़ती थी, उपगुप्त अधर्म के अभागे पुत्रों की शोचनीय अवस्था पर अपनी सुंदर आँखों के पवित्र आँसू बहाता था। और, दोनों को एक दूसरे का पता न था।

(३)

एक दिन दैवयोग से दोनों का साक्षात् हो गया। उपगुप्त ने पाप की पुत्री वासव को देखा, और आँखें झुका लीं।

वासव ने उपगुप्त की आँखों की सादगी तथा पवित्रता को देखा, और उसके हृदय में हलचल मच गई।

उसने कुसुम-संगीत से भी मधुर स्वर में कहा—"यहाँ मिट्टी में क्यों पड़े हो ? चलो, मैं तुम्हें हृदय के आसन पर बिठाऊँगी।"

उपगुप्त के हृदय पर स्त्री के सौंदर्य ने अपनी संपूर्ण शक्तियों से आक्रमण किया ; पर वह निर्बल न था।

उसने पृथ्वी की ओर देखा, और कहा—"अभी समय नहीं आया। कभी मिलूँगा।"

(४)

दो वर्ष बीत गए। मगर वासव के दिल में एक ही चिंता, एक ही अभिलाषा थी—प्रणय-रात्रि कब आवेगी ?

वह बार-बार उपगुप्त के पास गई ; परंतु उसने हर बार यही उत्तर दिया—"अभी वह रात नहीं आई।"

कालांतर वासव ने उसे भुला दिया। किंतु उपगुप्त के हृदय में उसकी स्मृति शेष थी।

(५)

नगर में एक स्त्री रहती थी। वह कुरूपा थी—उसके

शरीर से दुर्गंध आती थी। वह बूढ़ी थी, उसके अंगों को मौत के कीड़े चाट रहे थे। वह रोटी के एक-एक टुकड़े के लिये तरसती थी, मगर उस पर कोई दया न करता था।

यह वही कोमलांगी, धनाढ्य वासव थी, जो कभी पटना की सबसे सुंदर स्त्री थी। आज उसकी तरफ़ कोई देखता भी न था।

(६)

सौंदर्य और यौवन के विनाश का यह समाचार उपगुप्त ने सुना, और वह अपनी तपस्या छोड़कर वासव के पास आया।

"कौन है ?"

"उपगुप्त।"

"चले जाओ, समय जाता रहा है।"

"नहीं मा ! आज ही प्रणय-रात्रि है।"

वासव ने चकित होकर उपगुप्त की ओर देखा, और कहा—"तुम क्या कह रहे हो ? मैं कुछ नहीं समझी।"

उपगुप्त बोला—"मा ! जब सुंदरता, सुख और वैभव का समय था, उन दिनों तुम्हें मेरी आवश्यकता न थी; न मेरे धर्म की घोर प्रतिज्ञा मुझे तुम्हारे लावण्य की ओर देखने की आज्ञा देती थी। परंतु अब वह यौवन बूढ़ा हो गया है, शोभा कुम्हला गई है, और अमीरी पैसे-पैसे के लिये तरस रही है। यही प्रणय-रात्रि है, यही मेरे आने का ठीक समय है। अब मैं तुम्हें छोड़कर कहीं न जाऊँगा।

वासव ने अपनी मरती हुई आँखें एक बार खोलीं, और फिर सदा के लिये बंद कर लीं।

उपगुप्त ने अपने कमंडल से पानी लेकर वासव के गले में टपका दिया। मगर वासव कहाँ थी !

उपगुप्त की आँखें भी सजल हो गईं।

सुदर्शन

× × ×

१५. नए प्रकार की शक्कर

पूर्वी पैरागे प्रदेश * के मरु-स्थल में एक ऐसा पौदा पाया गया है, जिसमें गन्ने की शक्कर की अपेक्षा सौगुनी अधिक मिठास है। इस पौदे का नाम "क-आ-हि-ई" है। इसके फूल गेंदा और सूर्यमुखी के पुष्प-पुंज (Composites)-सरीखे होते हैं। इसमें जो मिठास है, वह किसी प्रकार की शक्कर के कारण नहीं है। इसमें एक प्रकार का "ग्लू कोसाइड"-नामक पदार्थ होता है। इस वृक्ष की पत्तियाँ सुखाकर बारीक पीस ली जाती हैं। बस, इस चूर्ण की एक चुटकी अनेक भोज्य पदार्थों को मीठा करने के लिये पर्याप्त होती है।

पत्तियों को पानी में भी सीझने के लिये डाल देते हैं, और पानी को छानकर मीठा रस तैयार कर लेते हैं। इस रस को फिर आँच पर पकाकर गाढ़ा कर लेते हैं। इस रस में एक बड़ा भारी गुण यह है कि अर्से तक रक्खा रहने से इसमें खट्टापन नहीं आता। मधुमेह के रोगियों को, जिन्हें गन्ने की शक्कर हानिकर है, यह रस विशेषकर उपयोगी होगा। खट्टापन न आने और कीटाणुओं के आक्रमण से बचे रहने के कारण इस पौदे का पूर्वोक्त प्रकार से तैयार किया हुआ रस व्यापारिक दृष्टि से भी बड़े लाभ की वस्तु है।

मालूम नहीं, यह गन्ने की शक्कर के समान पौष्टिक भी है अथवा नहीं। फिर भी यदि इस पौदे की खेती शुरू हो गई, तो ईख की काश्त बहुत कुछ कम हो जायगी, ऐसा अनुमान होता है।

रामनारायण मिश्र

× × ×

१६. कुटीर-उद्योग का भविष्य

प्रत्येक उद्योग की सफलता (१) काम करनेवालों की संख्या तथा उनकी शिक्षा और संगठन, (२) धन और (३) प्रक्रिया पर निर्भर रहती है। हमारे कुटीर-उद्योग के काम करनेवालों की संख्या कम है, जिसके मुख्य कारण दो हैं—(अ) जो काम करनेवाले महामारी आदि से मरते हैं, उनका स्थान चिरकाल तक खाली रहता है, क्योंकि किसी भी उद्योग में सिद्ध-हस्त होने में बहुत समय लगता है, (ब) इन लोगों में आपस में द्वेष-भाव होने से कारीगर अपना हुनर एक दूसरे को बताना नहीं चाहते, और अपने कुटुंबियों तथा जातिवालों को छोड़कर अन्य किसी को अपने यहाँ उम्मेदवार नहीं रखते। कहीं-कहीं तो यहाँ तक देखा गया है कि बाप ने अपने बेटे तक को अपना हुनर नहीं सिखाया। यह भी संभव है कि कदाचित् वह अपना काम दूसरे को बताना जानता ही न हो; क्योंकि काम कर लेना एक बात है, और दूसरे को सिखा देना दूसरी।

हमारे कुटीर-उद्योग करनेवालों की शिक्षा का क्रम

* पैरागे (Paraguay)-नामक प्रजातंत्र-प्रदेश दक्षिण-अमेरिका के मध्यभाग में है।—लेखक।

ती अत्यंत शोचनीय हो गया है। द्वेष अथवा अज्ञान के कारण दूसरों को न बताकर अपनी विद्या को गुप्त रखने की प्रथा ने यह दशा कर दी है कि कारीगर स्वयं तो किसी को कुछ बताता ही नहीं है, प्रत्युत उम्मेदवार को स्वयं बरसों तक उसके पास बैठकर और उसके काम का तरीक़ा देखकर ही सीखना पड़ता है। इधर लिखने-पढ़ने का ज्ञान न होने से किताबों द्वारा जो अनुभव हो सकता है, वह भी उनको प्राप्त नहीं होता। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि शिक्षा का कोई प्रबंध है ही नहीं। संगठन की तो और भी बुरी दशा है। प्रत्येक कारीगर अपना काम करता है, कच्चा माल स्वयं ख़रीदता है, और बने हुए माल के बेचने का ज़िम्मेदार होता है। परिणाम यह होता है कि अपने ढंग के गुप्त रखने का प्रयत्न और भी बढ़ता जाता है। न तो एक दूसरे का सहयोग होता है, प्रत्युत जो प्रयत्न सहयोग स्थापित करने का किया जाता है, उसमें भी अनेक अड़चनें और बाधाएँ पड़ती हैं।

वर्तमान संगठन में अनेक मध्यवर्ती महाजन काम करते हैं। इससे बर्तनेवालों को तो माल महँगा मिलता है, परंतु कारीगरों को मज़दूरी बहुत कम मिलती है। कहीं-कहीं तो दिन-भर की मिहनत के पीछे –) या –)॥ तक की मज़दूरी का हिसाब लगता है। ऐसा संगठन जितनी जल्दी बदल दिया जाय, उतना ही अच्छा। जब मज़दूरी का यह हाल है, तो निर्धनता का क्या ठिकाना। सब घर मिलकर काम करता है, तब कहीं कठिनाई से जीवन-निर्वाह होता है। लड़के पढ़ने को नहीं भेजे जाते; क्योंकि उनको धंधे में सहायता देनी पड़ती है। औरतें हलका काम करके या तो स्वयं जीविका-निर्वाह के लिये धन उपार्जन करती हैं, या माल की तैयारी में सहायता देती हैं। और, इस तरह अपना हिस्सा कौटुंबिक कोष में देती हैं। यह सब मिलकर भी कुटुंब का निर्वाह कठिनाई से होता है। इसलिये वर्तमान संगठन में न केवल कारीगर को निर्धनता का सामना करना पड़ता है, बल्कि बाज़ार में उसकी कुछ साख भी नहीं रहती। इसलिये उसको महाजन से धन सदा उधार लेना पड़ता है, और बड़ी कड़ी शर्तें मंज़ूर करनी पड़ती हैं। सवाई से ड्योढ़े तक का ब्याज देना पड़ता है। माल की बिक्री की भी महाजन के ही हाथ की शर्त होती है। उसमें कारीगर ही को घाटा रहता है। रही प्रक्रियाओं की बात, सो जो कुछ पूर्व-पुरुषों से उन्होंने सीखा है, वही नमूने, वही क्रिया, वही ढंग और वही बात आज तक चली आती है। और, किसी काम का कारण विशेष न ज्ञात होने से पुरानी क्रियाओं में हानि ही होती है, कुछ उन्नति नहीं दिखाई देती। उदाहरण के लिये रँगाई या छपाई के काम को लीजिए। पुराने ज़माने का रंग बनाने का ढंग तो रहा नहीं, परंतु क्रम वही है। विलायती पुड़ियों के रंग काम में आते हैं, परंतु उनके ठीक-ठीक मिलाने या भाप देने का रास्ता व्यवहार में नहीं आया, और न यह ज्ञात हुआ कि कौन-से क़िस्म का रंग कब और कहाँ काम में लाना चाहिए। फलतः अच्छे-से-अच्छा कपड़ा कच्चा निकल जाता है, और ख़राब हो जाता है। यही हाल सब उद्योगों का है। रासायनिक खोज, वैज्ञानिक अनुसंधान और नए औज़ारों की सभी उद्योगों में आवश्यकता है। और, इधर हमारे कारीगर अनपढ़ और पुरानी चाल के फ़क़ीर हैं। उनको डर मालूम होता है कि उनकी प्रक्रियाओं में किंचिन्मात्र परिवर्तन होने से कहीं ऐसा न हो कि अभिमत फल न मिले। ज़रा-सी बात पर वे घबरा जाते हैं। खोज, जाँच और अनुसंधान के लिये न तो उनमें शक्ति ही है, और न उनके पास धन और समय है। उधर अन्य देशवासी नए-नए आविष्कार करके समय बचाने और कम व्यय में अधिक माल उत्पन्न करने में लगे हैं, इधर हमारे कारीगर अपनी चाल से हटना ही नहीं चाहते। एक बार हमको एक स्थान पर ठठेरों से बात करने का अवसर मिला। हमने उनसे पूछा कि पुरानी चाल के भारी-भारी बर्तनों के स्थान पर नए तर्ज़ के बर्तन क्यों नहीं बनाते, यद्यपि बने-बनाए बर्तन वे बहुतायत से अन्य प्रांतों से मँगा-मँगाकर बेचते हैं, तो ज्ञात हुआ कि उनको इसका ज्ञान नहीं है कि ऐसे हलके बर्तन कैसे बन सकते हैं। वे तो मिट्टी के भारी-भारी ढाँचे बनाकर ही उनमें बर्तन ढाला करते हैं। उनसे कहा गया कि मिट्टी के साँचे बनाने में अधिक समय लगता है, उन्हें बार-बार तोड़ डालना पड़ता है, क्यों नहीं वे धातु के साँचे रखते? उनको इसका स्वप्न में भी ज्ञान न था कि धातु के भी साँचे बन सकते हैं, और न उनके लिये उनके पास धन था। बस, उन्होंने सिर हिला दिया, और बात समाप्त कर दी। पीतल के थान लेकर पीट-पीटकर बर्तन बनाना तो वे जानते थे, परंतु स्टांपिंग मशीन और साँचे के द्वारा बर्तन बनाने में उन्हें एतराज़ था। उनसे जब पूछा गया

कि एक विशेष तालाब ही की मिट्टी साँचे बनाने के काम में क्यों आती है, तो उत्तर यही था कि सदा से वहीं से मिट्टी आती रही है, और दूसरे स्थान की मिट्टी से काम नहीं चलेगा। वास्तव में ये लोग विद्या-हीन होने से ही घोर अंधकार में पड़े हुए हैं। न तो उनको कोई नई बात ही सूझती है, और न निर्धनता के कारण वे खोज में अपना समय या धन ही व्यय करना चाहते हैं; नए नमूने तक जारी करने में उन्हें उज़्र होता है।

तब यही निश्चय करना पड़ा कि न तो कारीगरों की शिक्षा का क्रम ही ठीक है, न उनकी संख्या ही पर्याप्त है। उनका संगठन पुराना हो गया है, और इस परिवर्तनशील संसार में उसमें भी परिवर्तन की आवश्यकता है। धन का इनके पास पूर्ण अभाव है और न नए आविष्कारों की आवश्यकता तथा उसके लिये काफ़ी योग्यता कारीगरों में है, न धन तथा समय। तब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इन सब बातों की कमी कैसे पूरी हो सकती है? अस्तु, संख्या में वृद्धि करने का तो यही उपाय है कि अधिकतर संख्या में सीखनेवालों को औद्योगिक शिक्षा दी जाय। इसका प्रबंध सरकार ही कर सकती है, और यही समझकर सरकार इसका प्रबंध कर भी रही है। गत वर्ष केवल १८ बड़े स्कूल औद्योगिक विभाग की ओर से अथवा उससे सहायता पाकर चल रहे थे। इस साल ६२ हैं। अब तो कोई ज़िला बाक़ी नहीं है जिसमें किसी-न-किसी प्रकार की शिक्षा का प्रबंध न हो। जहाँ डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड अथवा म्युनिसिपलिटी की ओर से आधा ख़र्च मिला है, वहाँ आधा ख़र्च और देकर सरकार ने स्कूल खुलवा दिया है। जो कारीगर निर्धनता के कारण अपना काम छोड़कर शिक्षा पाने के लिये स्कूल नहीं जा सकते, उनकी सुविधा के लिये सरकार ने अनेक स्थानों पर रात्रिशालाओं का प्रबंध कर रक्खा है। इन कक्षाओं में कारीगरों को उनके काम में आधुनिक युक्तियों और नए औज़ारों का प्रयोग सिखलाया जाता है। एक और प्रबंध भी किया गया है कि नए तरीक़े तसवीरें दिखाकर मैजिक या बिजली की लालटेनों के द्वारा कारीगरों को बताए जाते हैं, और नए प्रयोगों का उपयोग उनको समझाया जाता है। नए औज़ार उनको दिखाए और नए नमूने बताए जाते हैं। यह काम प्रायः नुमाइशों में होता है, जहाँ कारीगर लोग अधिक संख्या में गाँवों से भी आकर एकत्रित होते और इनसे लाभ उठाने का अवसर पाते हैं। इस प्रबंध से अच्छी शिक्षा लोगों को मिल सकेगी। और, चूँकि सब जातियों के लड़कों को औद्योगिक शिक्षा पाने का अवसर मिलेगा इसलिये संख्या में भी वृद्धि होगी। धन और संगठन, दोनों का बहुत बड़ा संबंध है। अच्छा संगठन होने से मूल धन मिलने में सहायता मिलेगी, और अधिक मूल-धन होने से काम में वृद्धि होगी, तथा लाभ भी अधिक होगा। अतः संगठन के सम्हालने का प्रबंध होना चाहिए। सरकार से २०,०००) सहयोगी संस्थाओं को ऋण देने का प्रबंध हो गया है। विशेष सहायता इन संस्थाओं के सफलता पाने पर मिल सकती है। संगठन कैसा होना चाहिए, यह निश्चय करना कोई बड़ा कठिन काम नहीं। जहाँ तक संभव हो चीज़ बनानेवालों और उनका उपयोग करनेवालों के मध्यवर्ती लोगों के कम करने का प्रबंध होना चाहिए; क्योंकि जितने ही अधिक मध्यवर्ती लोग होंगे, उतनी ही चीज़ महँगी बिकेगी। अतः औद्योगिक केंद्रों में सहयोगी संस्थाएँ स्थापित होनी चाहिए। माल के सस्ता ख़रीदने और उचित समय तक रोके रहने के लिये धन का प्रबंध होना चाहिए। इससे ये दोनों कठिनाइयाँ हल हो सकेंगी। अब रही नई-नई युक्तियों और आविष्कारों की बात, सो रासायनिक अनुसंधान का प्रबंध सरकारी टेक्नॉलॉजिकल इंस्टीट्यूट, कानपुर और बरेली के उड-वर्किंग इंस्टीट्यूट में है। अन्य स्कूलों में उसका प्रबंध हो जाने से अन्य कामों में भी सहायता मिल सकेगी। लोगों की रुचि इधर आ जाने से बड़ी उन्नति होने की संभावना है। अभी तो हाथ से काम करना ओछा एवं नीच काम समझा जाता है। तभी तो यह दशा है कि इंट्रेंस पास आदमी को १५) या २०) मासिक की नौकरी मिलने में भी कठिनाई होती है, और थोड़ा काम जाननेवाला बढ़ई भी १।) रोज़ पैदा करता है। आवश्यकता है शिक्षित नवयुवकों का झुकाव इस ओर होने और सार्वजनिक शिक्षा में थोड़ा-सा परिवर्तन होने की जिससे हाथ से काम करने की ओर जो उपेक्षा है, वह दूर हो जाय। औद्योगिक उन्नति का भविष्य इसी पर अधिकतर निर्भर है।

चंपाराम मिश्र



१. दुनिया की घनी आबादी



मनुष्य और मनुष्य जाति-संबंधी बातों का पता लगानेवाले विद्वानों का कहना है कि यदि दुनिया की आबादी आजकल के ही हिसाब से बढ़ती गई, तो एक हज़ार वर्ष के बाद इस पृथ्वी पर इतने मनुष्य हो जायेंगे, जिनको केवल खड़े होने-भर की जगह मिलेगी। केवल तीन सौ वर्षों में पृथ्वी की सारी भूमि अन्न उत्पन्न करने के काम में आ जायगी। यदि ऐसा न किया जायगा, तो उस समय की बढ़ती हुई आबादी के लिये काफ़ी अन्न नहीं मिलेगा। आजकल जहा गड्ढे, दलदल या ऊसर-भूमि, मरुभूमि, ऊँचे टीले या पहाड़ियां हैं, वहां भी खेत लहलहाते हुए देख पड़ेंगे।

डॉक्टर जे० मैडिसन टेलर एक और भयंकर बात की सूचना देते हैं। आबादी में जो वृद्धि हो रही है, उसमें सभी लोग तंदुरुस्त, बुद्धिमान और कार्यक्षम नहीं हो रहे हैं। उनमें अधिकांश ऐसे ही लोगों की संख्या है जो साधारणतः रोगी, मूर्ख और काहिल निकल रहे हैं। ऐसे लोगों में बहुतों को दूसरों पर आंशिक या पूर्ण रूप से निर्भर करना पड़ता है। इन लोगों की संख्या जितनी बढ़ती आयगी, उतनी ही उन मनुष्यों की मांग होगी, जो इन अपाहिजों का भार वहन करें। इसके सिवा १८वीं शताब्दी में लोगों का औसत जीवन काल ३२ वर्ष था, और अब वह ५५ वर्ष का हो गया है। इससे जान पड़ता है कि लोगों की जीवनी-शक्ति तो बढ़ गई है, किंतु उधर उनकी योग्यता या गुण में काफ़ी कमी हो गई है।

जीवन काल का बढ़ना बहुत-कुछ अच्छा भोजन और अच्छे प्रकार की रहन-सहन पर निर्भर है। अब "योग्यतम व्यक्तियों के जीवित रहने का" सिद्धांत पुराना हो गया, और उसके ऊपर से लोगों का विश्वास भी उठता जा रहा है; क्योंकि देखने में आता है कि एक योग्यतम व्यक्ति ग़रीब के घर में जन्म लेने ही के कारण अकाल ही में काल-कवलित हो जाता है, और एक अयोग्य-से अयोग्य व्यक्ति धनी के घर में जन्म ग्रहण कर अपेक्षाकृत अधिक काल तक जीता और संसार में अयोग्यों की संख्या बढ़ाता है। प्रकृति में भी हम यही बात पाते हैं। एक अयोग्य पौदा, जो किसी बड़े वृक्ष की छत्रच्छाया में रहता है उस पौदे की अपेक्षा अधिक काल तक बचा रह सकता है जिसे अपनी रक्षा आप ही करनी पड़ती है। इसलिये जीवन-काल की वृद्धि अच्छी रहन-सहन, दैनिक जीवन की कठिनाइयों की कमी और यथेष्ट अच्छे भोजन का मिलना आदि बातों पर अवलंबित है। अब पहले की अपेक्षा बहुत कम अयोग्य, रोगी और अपाहिज व्यक्ति मरते हैं, अतएव वे योग्य मनुष्यों पर अपना भार लादते जाते हैं।

अनुमान किया जाता है कि आजकल ६ योग्य व्यक्तियों को एक अयोग्य व्यक्ति का भार वहन करना पड़ता है। डॉक्टर टेलर का कहना है कि यदि आज का यही हिसाब जारी रहा, तो तीन सौ वर्षों के बाद केवल दो योग्य व्यक्तियों को एक अयोग्य व्यक्ति का भार लेना पड़ेगा। और कुछ दिन बाद एक ही योग्य व्यक्ति को कई अयोग्य व्यक्तियों का भार वहन करना पड़े, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर ज्यों-ज्यों जीवन-यापन का कार्य अयोग्य व्यक्तियों के लिये आसान होता जाता है, त्यों-त्यों जातीय और वैयक्तिक उन्नति के पथ में रोड़े भी जमा होते जा रहे हैं। ये रोड़े उत्पादक-शक्ति और विघ्न-बाधाओं के अतिक्रम करने की चेष्टा की कमी के कारण है। अपनी स्थिति के क़ायम रखने और अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये मनुष्य को सदा शक्ति, बुद्धि और योग्यता की आवश्यकता होती है। इस प्रकार शरीर के साथ-साथ आत्मा की भी उन्नति होती जाती है। इसके विपरीत देखा यह जाता है कि आराम-तलबी मनुष्य को काहिल और जातीय गुणों से वंचित कर देती है। यद्यपि ऐसा एकाएक नहीं होता; किंतु जिस गति से उन्नति होती है, उससे कहीं ज्यादा तेज़ी से मनुष्य अवनति की ओर लुढ़कता है। प्रकृति के नियमानुसार शारीरिक अधोगति के साथ-ही-साथ आत्मिक अवनति भी होती है। यद्यपि यह सिद्धांत विवाद-ग्रस्त है, फिर भी कोई इसे झूठा साबित नहीं कर सका है। हम प्रकृति के कई नियमों का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाते। हम कई वस्तुओं या मनुष्य की योग्यता को जानते हैं, जिनका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। हर्टज़ियन (Hertzian) लहर ही को लीजिए। बेतार के तार में इसका अनंत प्रभाव है। वह इतनी व्यापक है कि उसके द्वारा हम दूसरे ग्रह के लोगों से भी बातें करने में समर्थ हो सकते हैं। किंतु हम न तो उन्हें देख सकते है, और न उनके विद्यमान होने का हमारे पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। इसी प्रकार हम लोग शरीर और आत्मा के संबंध को भी ले सकते हैं।

अब आत्मा क्या है ?—ऐसा प्रश्न हो सकता है। मैंने ऊपर जहाँ-जहाँ 'आत्मा' का प्रयोग किया है, उसमें उस आत्मा को न लेना चाहिए, जिसे हिंदू लोग 'आत्मा' कहते हैं। अन्य जीवित पशुओं से मनुष्य में विशेषता केवल यही है कि उसके मस्तिष्क है, विचार तथा तर्क करने की शक्ति है, उसमें बुद्धि है। उसके इन गुणों का सूचक कोई उपयुक्त नाम न मिलने के कारण ही हमने 'आत्मा' शब्द का व्यवहार किया है। कुछ लोगों में दूरदर्शिता की भी शक्ति होती है। मनुष्य को अनजान पथ में चलना है, उसे अपनी बुद्धि, विचार, दूरदर्शिता आदि गुणों की सहायता लेकर पैर बढ़ाना चाहिए। अन्यथा उसके शत्रु—जो लाखों की संख्या में हैं—थोड़े ही समय में पृथ्वी से उसे सर्वदा के लिये बिदा कर देंगे।

डॉ० टेलर का कहना है कि इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि कई योग्यतम व्यक्ति एकसाथ मिलकर ऐसे उपायों को सोच निकालें, जो हमारी स्थिति को सब प्रकार से बनाए रखने में सहायक हों। इसके और भी उपाय हैं, किंतु उन पर विचार करना आज ठीक नहीं।

× × ×

२. क्या हमारा शरीर अमर है ?

मृत्यु कोई प्राकृतिक नहीं, केवल आकस्मिक घटना है। फ्रांस के एक प्रसिद्ध जीव-तत्त्ववेत्ता का कहना है कि समस्त जीवित कोषों में अनंत समय तक नष्ट न होने की एक विशेषता है। उधर जीव-तत्त्ववेत्ताओं का कहना है कि हमारे शरीर के कोष नष्ट होते रहते हैं। किंतु यह बात अब गलत सिद्ध हो रही है। रूस के दो अनुसंधान-कारियों ने गत १३ वर्ष की निरंतर परीक्षाओं के बाद यह पता लगाया है कि जीवित कोषों की स्वाभाविक मृत्यु नहीं होती। हम लोग जानते हैं कि हमारा शरीर जीवित कोषों से बना है। इसलिये क्या यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य-शरीर अमर है ?

पास्टर-इन्स्टीट्यूट (Pasteur Institute) के डॉ० मेटालनिकोव (Metalnikov) ने 'Immortality and Rejuvenation in Modern Biology'-नामक एक पुस्तक छपाई है। यह पुस्तक उन लोगों के लिये लिखी गई है, जो इच्छा-पूर्वक बुड्ढे होना और मरना चाहते हैं। उनकी पुस्तक के अंतिम अध्याय का पहला वाक्य इस प्रकार है—

"What we have just written, forces us to maintain our conviction that immortality is the fundamental property of living organism."

आगे चलकर आप लिखते हैं—

"Old age and death are not a stage of earthly existence."

अर्थात्, बुढ़ापा और मृत्यु पार्थिव पदार्थ नहीं हैं।

यह सिद्धांत एक ऐसी संस्था से प्रकाशित हुआ है, जिसका सानी दुनिया में नहीं है, और इसके प्रतिपादन करनेवाले एक ऐसे वैज्ञानिक हैं, जिन्हें सारा संसार सम्मान की दृष्टि से देखता है। इस पर हमें क्या कहना है ?

बहुतेरे लोग धर्म और दार्शनिक आत्मा की अविनश्वरता के क़ायल हैं। किंतु व्यावहारिक विज्ञान बहुत-कुछ नास्तिक है। प्राणियों के जीवन का हमें जो ज्ञान है, वह ऊपर दिए हुए सिद्धांत के विपरीत है। पशु एक छोटे कीड़े से उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, और अंत में मर जाते हैं। इस प्रकार किसी भी प्राणी का जीवन समाप्त होता है, और उसका ऐहिक शरीर सदैव के लिये लुप्त हो जाता है। ऐसा कोई भी वैज्ञानिक प्रमाण नहीं, जिसके द्वारा यह साबित किया जा सके कि शरीर के साथ ही आत्मा का भी लोप नहीं हो जाता, और वह शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी पृथक् रूप से विद्यमान रहती है। जीव-विज्ञानवेत्ता शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् विचार भी नहीं सकते। उनके लिये अविनश्वर और नश्वर शरीर में कोई अंतर नहीं। डॉ० मेटालनिकोव आत्मा की अविनश्वरता के साथ ही शरीर की भी अविनश्वरता प्रमाणित कर रहे हैं। मृत्यु मनुष्य या उच्च कोटि के जानवरों को ही स्थायी रूप से नष्ट करती है, किंतु वह निम्न श्रेणी के पौदों और साधारण जीवों या प्रोटोज़ोनस को नष्ट नहीं कर सकती। प्रोटोज़ोन यद्यपि एक ही कोष का बना होता है, और उसे केवल अणुवीक्षण-यंत्र द्वारा ही देख सकते हैं, तथापि उसमें वे विशेषताएँ पाई जाती हैं, जो उच्च जाति के पशुओं के कोषों में रहती हैं। वह चल-फिर सकता है, अपना भोजन तलाश करता है, अपने से छोटे जानवरों का शिकार करता, भिन्न-भिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं से प्रभावान्वित होता और बढ़ता है।

उच्च श्रेणी के जीव जैसे किसी विशेष इंद्रिय के द्वारा अपनी संतान उत्पन्न करके बढ़ते हैं, उस प्रकार प्रोटोज़ोन नहीं बढ़ता, प्रत्युत वह दो बराबर भागों में बँट जाता है। साफ़ पानी में रहनेवाले कोष चौबीस घंटे में एक या दो बार टूटते हैं। प्रत्येक टुकड़ा पुनः एक कोष बन जाता है, भोजन करता है, बढ़ता है, और पुनः टूटता है। किंतु किसी भी कोष की प्राकृतिक मृत्यु नहीं होती, जैसा कि उच्च श्रेणी के पशुओं में साधारणतः देखा जाता है। ये कोष तभी मरते हैं, जब पानी में कोई विष डाल दिया जाता या वह गरम किया जाता है।

१६७८ ई० में पहलेपहल De Saussure ने परीक्षा आरंभ की। उन्होंने पानी में एक कोष डालकर उसे अपनी आँखों के सामने टूटते हुए देखा। चार दिन के बाद वही कोष टूट-टूटकर इतना बढ़ गया कि कोषों की संख्या गिनना मुश्किल हो गया। पर कुछ लोगों का मत यह भी है कि इन कोषों की बाढ़ अपरिमित नहीं है।

इसके ४० वर्ष बाद मापस (Maupas) ने कोषों की बाढ़ की सूक्ष्म रूप से परीक्षा की, और एक कोष की ७०० पीढ़ियों तक उन्हें टूटते हुए देखकर सोचा कि उसकी अंतिम अवस्था बुढ़ापा और मृत्यु होगी। किंतु इधर हेडेलबर्ग के जोकोवस्की, पेट्रोग्रेड के कालगिन, इँगलैंड के कालकिंस, वेसमैन तथा अन्य वैज्ञानिकों की परीक्षाओं का फल कुछ दूसरी ही बात को प्रमाणित कर रहा है, अर्थात् यह कि कोषों की मृत्यु या विनाश होता है। उक्त वैज्ञानिकों का कहना है कि ऐसा होने का कारण पानी को ज्यों-का-त्यों छोड़ देना है। ऐसा करने से उसी में एक प्रकार का विष पैदा होता है, जो कोषों को नष्ट कर देता है। यदि उस पानी में प्रतिदिन शुद्ध पानी डाला जाय, तो ऐसा नहीं होता।

१९०७ में वड्रफ़ और मेटालनिकोव ने रूस में परीक्षाएँ आरंभ कीं। उनकी परीक्षा सन् १९२० तक चलती रही। इन तेरह सालों में एक कोष के ८,००० वंशज पैदा हुए। इसलिये उन्हें उनकी उत्पत्ति और भोजन के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का काफ़ी मौक़ा मिला। उन्होंने पता लगाया कि कोषों के नाश होने के कई कारण तो हैं, किंतु उनमें कोई भी प्राकृतिक नहीं है। उनकी उत्पादक-शक्ति इतनी अधिक है कि यदि एक कोष का प्रतिदिन एक ही बार टूटना मान लिया जाय, तो एक महीने में केवल एक ही कोष से १,०७,३७,४१,८२४ कोष हो जायँगे। दो महीने में वे बढ़कर इतने हो जायँगे, जिन्हें संख्या में प्रकट करना असम्भव है। इसलिये उन्हें दूसरी तरह से प्रकट करने की चेष्टा करता हूँ। यदि १,००० कोष एक घन मिलिमीटर स्थान को घेर सकें, तो ४० दिनों में एक कोष बढ़कर इतना अधिक हो जायगा कि एक हज़ार घन मिलिमीटर (एक घन गज़) उनसे घिर जायगा। इसी प्रकार दो महीने में दस लाख घन मिलिमीटर जगह घिरेगी, और चार

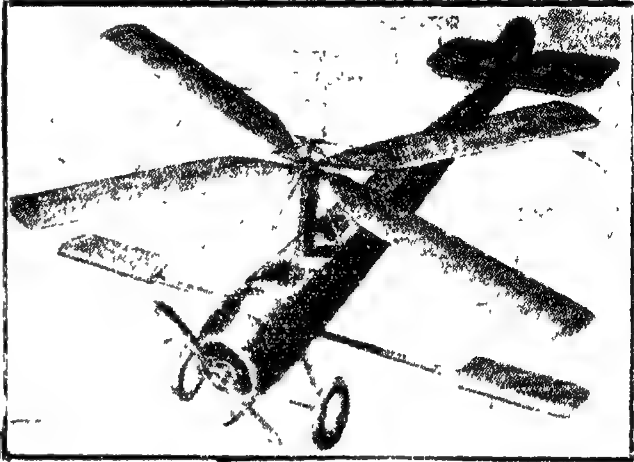
महीने में उनकी संख्या इतनी बढ़ जायगी कि आधी पृथ्वी उन्हीं से घिर जायगी। उड्रफ़ साहब के हिसाब के अनुसार एक कोष की सात वर्षों में ४,४७३ पीढ़ियाँ पैदा होती हैं और उनकी संख्या इतनी हो जाती है कि उनसे १०,००० ऐसी पृथ्वियाँ घिर सकती हैं।

ऊपर के दिए हुए अंकों से पता लगेगा कि एक कोष की उत्पादक शक्ति कितनी प्रबल है, तथा उसकी बाढ़ कितनी तेज़ी से होती है। यदि उत्पादन की यही गति जारी रहे और उन्हें यथेष्ट भोजन मिलता जाय, तो कुछ शताब्दियों में ये कोष सारे ब्रह्मांड में – सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि, सभी में – फैल जायँगे। हम देखते हैं, हमारा शरीर जिस कोष से बना है, वह अविनश्वर है। फिर हमारा शरीर क्यों नाशवान् बना हुआ है? अवश्य इसमें सारा दोष हमारा ही है। हम अपने शरीर के ऊपर कई प्रकार के अत्याचार कर रहे हैं, बहुत-से अप्राकृतिक कारणों से उसे जर्जरित कर रहे हैं और शोक, चिंता, व्याधि तथा अत्यधिक कामों के बोझ से उसे प्रतिक्षण नष्ट कर रहे हैं। फिर भला यह कैसे अविनश्वर बना रहे? यदि हम उसके साथ अच्छा बर्ताव करें, उसकी काफ़ी ख़बरदारी रक्खें और उसे यथेष्ट परिमाण में पौष्टिक भोजन प्रदान करें तो डॉक्टर मेटालनिकोव के शब्दों में हम भी कह सकते हैं कि "जीवित कोषों की विशेषता अमरता में है।" और हमारा शरीर भी अमर है।

× × ×

३. आटोगिरो

लोगों को वर्तमान वस्तुओं से संतोष नहीं है। वे प्रतिदिन आजकल की वस्तुओं में किसी-न-किसी प्रकार की उन्नति करने पर तुले हुए हैं। अभी वायुयानों की आरंभिक अवस्था है। इस समय यदि वायुयानों में उन्नति हो, नए-नए प्रकार के वायुयान बनें, तो आश्चर्य न करना चाहिए। इस दिशा में अभी फिर भी बहुत-कुछ करना बाक़ी है। उस दिन इँगलैंड के फार्नबरो-



'आटोगिरो' की बनावट



एंजिन बंद कर देने के बाद 'आटोगिरो' ज़मीन पर उतर रहा है

नामक स्थान में 'आटोगिरो'-नामक नए आविष्कृत वायुयान की परीक्षा हुई थी। उसे देखने के लिये बहुत से इंजीनियर और वायुयान-विशेषज्ञ एकत्र हुए थे। उसकी सफल परीक्षा देखकर अँगरेज़ी-हवाई-फ़ोर्स के मार्शल सर सिफ़्टेन ब्रुकर ने कहा था — राइट बंधुओं के प्रथम हवाई जहाज़ से उड़ने के बाद वायुयान की उन्नति में यह सबसे बड़ी उन्नति है। इस यश के प्राप्त करने का सौभाग्य एक स्पेन देशवासी इंजीनियर को हुआ है। आपका नाम Don Ju n de la Cierva है। पाँच वर्षों के निरंतर परिश्रम के बाद आप 'आटोगिरो' के बनाने में सफल हुए हैं। आटोगिरो देखने में भद्दा यंत्र है। उसके सिरे पर पंख लगे हुए हैं, जो हवा से घूमते हैं। यह मशीन ज़मीन से बड़े ज़ोरों के साथ आकाश में उड़ी, २० मील

की उड़ान तय कर सीधे ज़मीन पर आ गिरी, और गिरने के स्थान से केवल २० फ़ीट चलकर रुक गई। पहले के वायुयानों के नियमों में यह एक भी नियम का पालन नहीं करती।

इस परीक्षा में एक विशेषता और थी। उतरते समय आटोगिरो जब ज़मीन से कई सौ फ़ीट ऊपर था, उसी समय एंजिन बंद कर दिया गया और वह धीरे धीरे ज़मीन पर गिरने लगा। ज़मीन पर पहुँचने पर उसे किसी प्रकार का नुकसान नहीं पहुँचा, और कुछ दूर चलकर वह ठहर गया।

माधुरी के किसी पिछले अंक में हमने "हालिकायटर"-नामक वायुयान के विषय में लिखा था। यह वायुयान किसी भी स्थान से आकाश में उड़ सकता है। उड़ने के पहले इसे दौड़ लगाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिये वह मकानों की छत पर से भी उड़ सकता है। अब एक ऐसे वायुयान की आवश्यकता थी जो चाहे जहाँ कहीं उतारा जा सके। साधारण वायुयान ज़मीन पर पहुँचकर भी ठहरने के पहले कई सौ गज़ों की दौड़ लगा लेता है। इसलिये एक ऐसे वायुयान का अभाव अनुभव किया जा रहा था जो किसी निर्दिष्ट स्थान पर उतरे। आटोगिरो इस अभाव को बहुत कुछ दूर कर सकेगा; क्योंकि ज़मीन पर पहुँचने के बाद इसे २० फ़ीट से अधिक की दौड़ लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आटोगिरो आकाश में औसतन ७० मील की चाल से उड़ता है। यदि आकाश में इसका एंजिन ख़राब हो जाय या रुक जाय, तो उसके पंखे उसे एकाएक ज़मीन पर गिरने से रोकते हैं, और वह धीरे-धीरे ज़मीन पर उतरता है।

× × ×

८. शीशे की मज़बूती

शीशे को नाज़ुक कहनेवाले लोग भूल करते हैं। शीशा कोई ऐसा पदार्थ अब नहीं रहा जो ज़रा-सा धक्का लगते ही टूट जाय। शीशे की बोतलें अब इतनी मज़बूत बनने लगी हैं कि उनसे लोहे की कील लकड़ी में ठोकी जा सकती है। बारह फ़ीट की ऊँचाई से ऐसे शीशे के बर्तन ज़मीन पर गिरा देने से भी नहीं टूटते। ये तो पुरानी बातें हुईं। अब शीशे की मज़बूती की एक और परीक्षा देखिए। चार शीशे की बोतलों पर एक लकड़ी का तख़्ता रख दिया गया, और उस पर एक हाथी को खड़ा कर दिया गया। किंतु वाह री बोतलें! उनमें एक भी नहीं टूटी! हाथी भी जनाब, कोई मामूली हाथी न था, अमेरिका का सबसे बड़ा और भारी हाथी था। उसका वज़न १३,००० पौंड अर्थात् क़रीब दो सौ मन था। ओहियो टोलेडो-नगर के चिड़ियाख़ाने में कई शीशा बनाने-वाले लोगों के सामने यह परीक्षा हुई थी। सचमुच अमेरिका कमाल कर रहा है।



शीशे की बोतलों पर हाथी को खड़ा करके उनकी परीक्षा की जा रही है

× × ×

९. डूबे हुओं की रक्षा

देखा जाता है कि डूबते हुए लोगों की पुकार सुनकर जो लोग उनकी रक्षा के लिये पानी में कूदते हैं, उनमें बहुत-से लोग उन्हें बचाने की चेष्टा में आप ही डूब मरते हैं। इसका कारण यह है कि वे यह नहीं जानते कि डूबते हुए मनुष्यों की किस प्रकार रक्षा की जाती है। भारतवर्ष के आँकड़े तो हमें ज्ञात नहीं, किंतु अमेरिका में प्रतिदिन प्रायः २० मनुष्य डूबकर मर जाते हैं। वहाँ के

क्लिफोर्ड-थार्न ने प्राय ३०० डूबते हुए मनुष्यों की रक्षा की है। उनका तजुरबा है कि डूबते हुए मनुष्य को बचाने के लिये सबसे अधिक आवश्यक दिमाग़ को ठंडा रखना – घबड़ाने से बचाना है। कोई घबड़ाया नहीं कि सब गुड़ मिट्टी हुआ नहीं। बचाने के कई नियम है। उन्हें जान लेने से, और भय-उत्तेजना को पास न फटकने देने से, कोई भी तैराक डूबते हुए भारी-से-भारी लाशवाले आदमी को बचा सकता है। यहाँ शारीरिक शक्ति की आवश्यकता उतनी नहीं है जितना शांत और होश में रहने की।

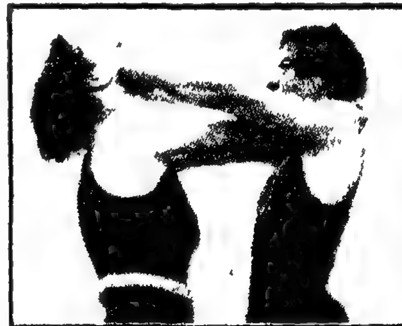
यदि कोई मनुष्य तैरते हुए घबड़ाकर डूबने लगे, तो किनारे पर खड़े हुए मनुष्यों को 'डूबा, डूबा' चिल्लाकर उसे और न घबड़ा देना चाहिए, बल्कि धीरज देना चाहिए, ताकि वह होश में आकर किनारे की ओर तैर आवे। एक बार ऐसा ही हुआ। एक मनुष्य तैरते-तैरते घबड़ा गया और डूबने लगा। सहायता के लिये उसने पुकार मचाई। किनारे के लोग भी शोर-गुल मचाने लगे, किंतु क्लिफोर्ड-थार्न ने उन्हें मना किया, डूबते हुए मनुष्य को चिल्लाकर धीरज बंधाया और वह मनुष्य, जो कुछ ही पहले सहायता माँग रहा था, अब होश में आकर स्वयं किनारे पहुँच गया। हाँ, यदि डूबते हुए मनुष्य की रक्षा के लिये किसी को पानी में कूदना ही पड़े, तो मौत को सर्वथा भूल जाना चाहिए। ऐसा देखा जाता है कि डूबता हुआ मनुष्य, बचानेवाले को पकड़कर पानी के ऊपर आने की भरपूर चेष्टा करने में, उसे ज़ोरों से पकड़ लेता है। यदि रक्षक कुछ देर चुपचाप रहे तो डूबता हुआ मनुष्य या तो उसे छोड़ देगा, या उसकी पकड़ ढीली पड़ जायगी। यदि ज़रूरत ही पड़े, तो रक्षक कई दिए हुए तरीक़ों से अपनी रक्षा कर सकता है।



इस प्रकार पकड़े जाने पर अपने हाथों की ताकत से कंधे की ओर उठाओ, और नीचे से निकल पड़ो



घुटने की सहायता से हाथ छुड़ा रहा है



डूबते हुए मनुष्य से बचने के लिये बचानेवाला उसके गले या नाक को दोनों हाथों से ठेल रहा है

यदि डूबता हुआ मनुष्य रक्षक को पीछे से आकर पकड़ ले—जैसा चित्र में दिखाया गया है—तो मज़बूती से हाथों से उसे कंधे की ओर उठाओ, और नीचे से निकल पड़ो।

यदि डूबता हुआ मनुष्य आपकी कलाइयों को पकड़ ले, तो अपने घुटनों की सहायता से उस मनुष्य के हाथ को दबाइए। चाहे कितनी ही मज़बूती से वह आपका हाथ पकड़े हो, इस प्रकार करने से वह आपका हाथ अवश्य छोड़ देगा। पिछले पृष्ठ पर चित्र में देखिए।

उसी के नीचे के चित्र में एक मनुष्य ने रक्षक का गला पकड़ लिया है। उस समय बचने के लिये उस मनुष्य के गले या नाक को दोनों हाथों से ठेलो।

डूबते हुए मनुष्य को किनारे पर ले आने का सबसे आसान तरीक़ा यह है कि उसे एक हाथ से इस प्रकार पकड़ो कि आपका हाथ उसके कंधे से होता हुआ छाती से दूसरे हाथ की कखरी तक चला जाय (नीचे चित्र में देखिए)। इसके बाद अपनी पीठ के बल तैरकर उसे खींचते हुए ले आइए। इस प्रकार उसका सिर पानी के ऊपर रहेगा, वह आसानी से साँस ले सकेगा, और स्वयं आपको भी तैरने में सुबीता होगा।



पकड़नेवाला डूबते हुए मनुष्य के कंधे से अपना हाथ उसके दूसरे हाथ की कखरी तक पहुँचा रहा है

यदि डूबता हुआ मनुष्य कपड़ा पहने हो, तो उसे पीछे से पकड़ने में आसानी है। इसके बाद उससे बातें करने से यदि वह शांत हो जाय, तो उसकी दोनों कखरियों में या गले के दोनों ओर हाथ लगाकर उसे किनारे पहुँचाना चाहिए। इस अवस्था में दोनों को पीठ के बल तैरना पड़ेगा।

यह जानकर लोगों को आश्चर्य होगा कि पतले मनुष्यों की अपेक्षा मोटे मनुष्यों का बचाना आसान है; क्योंकि मोटे मनुष्य आसानी से उतरा सकते हैं। कपड़ा पहने हुए मनुष्यों के कपड़ों में हवा बहुत देर तक रुकी



कखरियों में हाथ लगाकर किनारे पहुँचा रहा है

रहती है, इसलिये वे भी कुछ देर तक उतरा सकते हैं।

किंतु बचानेवाले का काम यहीं समाप्त नहीं होता। किनारे पर ले आने के बाद यदि मालूम हो कि वह बेहोश हो गया है, तो उसे पेट के बल लिटा देना चाहिए; और मुँह और नाक को साफ़ कर, उसके मुँह को ऐसा घुमा देना चाहिए कि वह आसानी से साँस ले सके। इसके बाद उसकी कमर को ज़ोर से पकड़े (चित्र में देखिए), और अपने हाथों से ऊपर से नीचे, आगे से पीछे पेट पर दबाव डालते



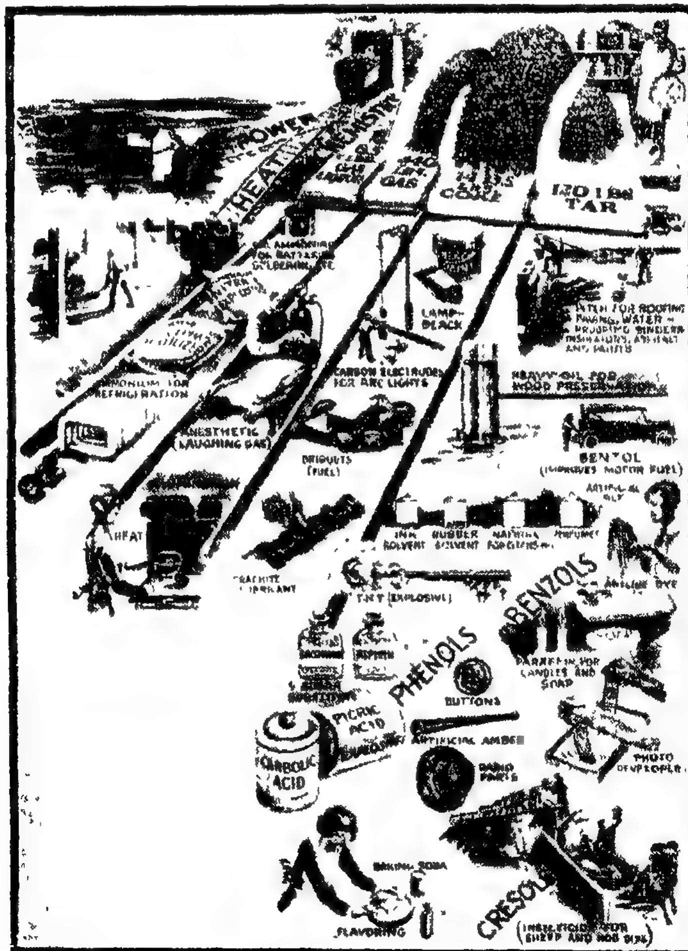
ज़मीन पर, पेट के बल लिटाकर, फेफड़ों पर दबाव डाला जा रहा है

हुए मले ; हाथ को पीछे ले आकर एकाएक छोड़ दे, ताकि उसके फेफड़े पुनः काम करने लगें। यह क्रिया धीरे-धीरे एक मिनट में १५ बार की जाय। यदि कोई सहायक निकट हो, तो उससे बेहोश मनुष्य की जीभ पकड़ने को कह दीजिए। काम जल्दी और शांत भाव से होना चाहिए।

× × ×

६. एक टन कोयला

हममें बहुतों की धारणा है कि कोयला केवल खाना पकाने या रेल, स्टीमर आदि चलाने ही के काम में आता है। हम लोगों को इसके अनंत धन का कुछ भी ज्ञान नहीं है। हम धुएँ के साथ प्रतिवर्ष करोड़ों रुपए के माल का नुक़सान कर देते हैं। इसी धुएँ के साथ हमारी आवश्यकता की बहुत-सी चीज़ें भी नष्ट हो जाती हैं। खान से निकलने पर कोयले की उपयोगिता तीन दशाओं में बँट जाती है—(१) शक्ति, (२) गरमी, (३) रासायनिक पदार्थ। यदि हम लोग कोयले को शक्ति या गरमी देने के लिये उपयोग में लावें, तो सब रासायनिक पदार्थ नहीं प्राप्त हो सकते। रासायनिक दिशा में कोयला चार प्रधान हिस्सों में बँट जाता है। एक टन कोयले से हमें पाँच छः पौंड गैस लिकर, ४४० पौंड गैस, १,४३३ पौंड कोक और १२० पौंड टार मिलता है। अब इन चार प्रधान पदार्थों से सैकड़ों सचराचर जगत् के काम में आनेवाले पदार्थों की सृष्टि होती है। चित्र देखने से इन पदार्थों का कुछ-कुछ अंदाज़ लगाया जा सकता है।



एक टन कोयले से बने हुए सामान

श्रीरमेशप्रसाद

मुख,
पे ।



१. रमणी-हृदय



"स्त्री के चरित्र और पुरुष के भाग्य को देव भी नहीं जानता, मनुष्य का तो कहना ही क्या है।"—यह लोकोक्ति न-मालूम कितनी पुरानी है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि यह स्त्री के संबंध में पुरुष के भारी अविश्वास की द्योतक है। स्त्रियों के चरित्र के विषय में पुरुषों ने ऐसी ही बहुत-सी कहावतें गढ़ रक्खी हैं। स्त्री चंचल, अस्थिर-बुद्धि और चपल होती है, उसकी प्रकृति की थाह लेना असंभव है—ऐसी-ऐसी अनेक सम्मतियाँ उनके विषय में सुनने में आती हैं। परंतु सच पूछिए, तो स्त्री की प्रकृति और उन गुप्त नियमों को, जिनके अनुसार उसके मनोवेग उठा करते हैं, पुरुष ने कभी समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। उन्होंने स्त्री की बाह्य चेष्टाओं को देखकर ही उसके चरित्र के संबंध में अपनी मनमानी व्यवस्था दे दी है। इस लेख द्वारा हम पाठकों को रमणी-हृदय की एक झलक दिखाने का प्रयत्न करते हैं।

लाहौर में 'जात-पाँत-तोड़क मंडल' नाम की एक संस्था है। उसका उद्देश्य जात-पाँत के भेद को दूर कर, हिंदू-मात्र में गुण-कर्मानुसार विवाह की प्रथा को प्रचलित करना है। उस संस्था के मंत्री-पद का काम मेरे ही सिपुर्द है। इस कारण नाना प्रकृतियों के लोग मुझसे विवाह-संबंधी परामर्श लेने आया करते हैं। पिछले थोड़े दिनों में मुझे कतिपय ऐसी घटनाओं का पता लगा है, जिनको, ऊपर से देखने पर, मानने को जी नहीं चाहता; परंतु हैं वे वास्तव में सत्य।

स्त्री स्वभाव से ही पति की एक-मात्र स्वामिनी होना चाहती है। वह यह नहीं बर्दाश्त कर सकती कि कोई सौत उसके पति को उससे छीन ले। परंतु जो उदाहरण हम आगे लिखने जा रहे हैं, उसमें अवस्था इसके सर्वथा विपरीत बताई जाती है।

१—श्रीयुत खे० की आयु ३६ वर्ष की है। आप एक दफ़्तर में काम करते हैं, बड़े धार्मिक विचार के हैं। कोई एक वर्ष हुआ, उनकी धर्मपत्नी बीमार हुई। डॉक्टर ने ऑपरेशन करके उसका गर्भाशय निकाल डाला। इसलिये अब संतान होना असंभव है। पहले भी कोई संतान नहीं थी। उन्हीं के शब्दों में वह अपने तो दूसरा विवाह करने के इच्छुक नहीं, परंतु उनकी धर्मपत्नी स्वयं ही उनके विवाह पर ज़ोर ही नहीं दे रही है, वरन सगाई का भी प्रबंध कर रही हैं। और, मना करने पर वह रोने लगती हैं।

२—श्रीयुत जे० भी एक दफ़्तर में क्लर्क हैं, आयु ४० वर्ष है। पाँच-छः बच्चे उनके मर चुके हैं; अब और संतान होने की आशा नहीं, धर्मपत्नी दूसरा विवाह करने

हुए मले
उसने

/। कहती हैं, मुझे १५) मासिक निर्वाह ना। मैं अलग मकान में रहूँगी। तुम दोनो पति कहता है, मुझे संतान की इच्छा नहीं, रहकर ही सुखी हूं। परंतु वह एक नहीं

३—श्रीयुत कृ० एम्० ए० पास हैं, खद्दरधारी तथा कांग्रेस के कार्यकर्ता रह चुके हैं। दो लड़कों के बाप हैं, धर्मपत्नी को कुमारीजी कहकर संबोधन करते हैं, कुमारीजी की विद्वत्ता की प्रशंसा करते नहीं थकते। आपकी एक अविवाहिता साली है। वह दसवीं कक्षा में पढ़ती है। अब आप उसके साथ विवाह करने पर उतारू हो गए हैं, विधवा सास के विरोध और रोने-पीटने की कुछ परवा नहीं करते। उनकी 'कुमारीजी' भी छोटी बहन को अपनी सौत बनाने के लिये भरसक यत्न कर रही हैं। उनकी प्रेरणा से 'लीला' माता और संबंधियों की मान-प्रतिष्ठा को भंग करके, बड़ी बहन की सपत्नी बनने के लिये उद्यत हो गई है। आश्चर्य है, कुमारीजी यह दुःखदायक संबंध कराने में क्यों सहायता दे रही हैं!

४—श्रीयुत मो० लॉ-कॉलेज में पढ़ते हैं। घर में स्त्री और बच्चा है; परंतु आपका एक कुमारी से प्रेम हो गया है। लड़की एफ़० ए० में पढ़ती है, और माता-पिता के डाँट-डपट और मार पीट करने पर भी यही कहती है कि मैं मो० के ही साथ विवाह करूँगी। वह मो० की पहली स्त्री की दासी बनकर रहना और उसके जूठे बर्तन साफ़ करना स्वीकार करती है। श्री० मो० के दो मित्र मेरे पास उस विषय में सम्मति पूछने आए। उन्होंने प्रेमिक और प्रेमिका के परस्पर आलिंगन का फ़ोटो मुझे दिखाकर उनके अटूट प्रेम के नाम पर अपील की।

मैं एक स्त्री के रहते दूसरी स्त्री का रखना घोर अन्याय समझता हूँ। मैंने उन युवकों को बहुत फटकारा, और परामर्श दिया कि वे उस कुमार्गगामी मो० को पाप-पंक में पतित होने से रोकें, और कहें कि वह अपनी पहली स्त्री की दशा पर दया करके यह निंदनीय कर्म न करे। उन्होंने उत्तर दिया—"महाशय उसकी स्त्री तो स्वयं चाहती है कि वह उस कुमारी से विवाह कर ले। उसने सहर्ष इसकी अनुमति दे दी है।" मैं यह सुनकर चकित रह गया।

वात्स्यायन मुनि ने अपने काम-सूत्र में लिखा है कि निम्न-लिखित अवस्थाओं में पहली स्त्री के जीते जी दूसरी स्त्री ग्रहण की जाती है—

'जब पहली स्त्री को कोई असाध्य रोग हो, वह दुराचारिणी हो, पत्नी और पति में सच्चा प्रेम न हो, वह बाँझ हो, उसके लड़कियाँ ही-लड़कियाँ उत्पन्न होती हों, या पति अस्थिर-चित्त होने के कारण एक से अधिक स्त्रियों का आनंद लेना चाहता हो।

इसलिये पत्नी को आरंभ से ही इन संयोगों के विषय में सावधान रहना चाहिए, और पति के प्रति प्रगाढ़ प्रेम, सच्चरित्रता और चतुराई से ऐसा संयोग ही न आने देना चाहिए।

यदि संतान न हो, तो उसे स्वयं ही पति को दूसरा विवाह कर लेने के लिये अनुरोध करना चाहिए।

ऊपर कही हुई अवस्थाएँ उपस्थित होने पर उसे बनाव-चुनाव और शृंगार आदि द्वारा अपने शरीर को अधिक सुंदर एवं चित्ताकर्षक बनाना चाहिए। किंतु यदि उसके ऐसे प्रयत्न करने पर भी सौत सचमुच आ ही जाय, तो उसे उसको अपनी छोटी बहन के समान समझना चाहिए।*"

यदि उपर्युक्त चारों स्त्रियों की दशाओं पर वात्स्यायन मुनि के अनुभव के प्रकाश में देखा जाय, तो पता लगता है कि स्त्री का हृदय सौत के विचार से ही जलने लगता है। परंतु जब वह देखती है कि पति सौत लाए बिना न रहेगा, और उसकी मानसिक वेदना सीमा का उल्लंघन कर जाती है, तब वह सहज ज्ञान से जान जाती है कि अब पति की इच्छा के सामने सिर झुकाने ही में कल्याण है। अतएव वह पति को प्रसन्न करने के उद्देश्य से दूसरी स्त्री के लाने में उसको सहायता देने लगती है। पति समझता है कि वह सहर्ष और स्वेच्छा-पूर्वक उसे सौत के ले आने पर ज़ोर दे रही है। वह यह नहीं देख सकता कि सिंहासन-च्युत सम्राज्ञी के सदृश स्त्री का हृदय बुझ चुका है। नारी-हृदय की एक बड़ी विशेषता यह भी देखने में आई है कि वह भीतर से मर्मांतक वेदना से व्यथित होने पर भी बाहर हँसती रहती है।

संतराम

× × ×

* मेरी अप्रकाशित पुस्तक 'रति-विज्ञान' के "बड़ी और छोटी पत्नी के कर्तव्य" नामक प्रकरण से उद्धृत।—लेखक।

२. दोनों

कितनी विचित्रता थी ? एक हृदय सरल था, दूसरा अभिमानी। किंतु थे दोनों प्रेमिक, और थे एक। एक था ज्योतिर्मय दीपक, दूसरा था जल मरनेवाला पतंग। एक मचलता था, दूसरा मनाता था। दूसरा जब चिढ़ाता था, पहला स्वाभाविक मंद, मधुर मुसकान से मुस्किरा देता था। कितना विचित्र मिलन—कितना सुंदर संयोग था ? प्रेम-अभिमान, सुख-दुःख, धूप-छाह, विरह-मिलन तथा अंधकार-प्रकाश का-सा मिलन था।

चाहते दोनों ही दोनों को थे, किंतु चाहने-चाहने में अंतर था। एक सरल था, उसका प्रेम पर्वत के झरने के समान, अप्रतिहत गति से, दूसरे की ओर हहर-हहर कर प्रवाहित होता था। उसमें चंचलता और सरलता का अनुपम सम्मिलन था। दूसरा भी चाहता था, किंतु था अभिमानी। गंभीर कल-कलनिनादिनी, पुण्यतोया भग-वती भागीरथी की क्षीण चंचल धारा जिस प्रकार पार्वत्य-प्रदेश से निकलकर समतल-भूमि पर आती हुई स्थिर-सी प्रतीत होने लगती है, उसी प्रकार उसका प्रेम प्रवाहित रहने पर भी स्थिर प्रतीत होता था।

दोनों थे भिक्षुक, और थे मित्र। एक था किशोरावस्था को पार करता हुआ षोडशवर्षीय बालक, और दूसरी थी शुद्ध-हृदया चतुर्दशवर्षीया बालिका।

(२)

सायंकाल जब भगवान् भास्कर अपनी रश्मियों को धरातल से समेट, अस्ताचल पर जा, अपनी प्रेयसी पश्चिम-दिशा की ओर प्रेम भरी चितवन से निहारने लगते, धरा सुनहली सारी ओढ़, मुग्ध भाव से वह प्रेम-भरी चितवन निरखने में मग्न हो जाती, पक्षी चहक उठते, संसार गूंज उठता। तब बालक अपना सितार लेकर गाने को बैठता, और सुनने बैठती वही उसकी सुख-दुःख की संगिनी बालिका।

जब रात होती, सारा संसार अंधकार के कृष्ण पट से आच्छादित हो जाता, निशा-सुंदरी नक्षत्रों का हार पहन-कर, संसार में आ सुख की वर्षा करने लगती, सांध्य-समीरण बहता रहता, चंद्रदेव अपनी सत्ताईस प्यारियों के मध्य आ क्रीड़ासक्त हो जाते। तब भिक्षुक किस्से कहता, और बालिका हुँकारी भरती। एक गाता दूसरा सुनता। बा-लिका बालक को देखता रहती, और बालक बालिका को। इसमें किसी प्रकार की बाधा कभी नहीं पड़ी, और न पड़ने की संभावना ही थी; क्योंकि दोनों ही इस सुख, दुःख मत्सर-पूर्ण संसार में रहकर भी इससे अलग थे। उनका दूसरा ही संसार था, और उसके दूसरे ही नियम थे। उसमें सुख था, दुःख नहीं ; मिलन था, विरह नहीं, और न उसकी पीड़ा। उनके पीछे आत्मीयता का, बंधु-बांधवों का झगड़ा न था। यदि कुछ था, तो हृदय का झगड़ा था। किंतु उसमें दुःख न था। यदि कुछ वास्तव में था तो वह थी आलिंगन की मधुर आकांक्षा।

बालक बालिका को चपला कहता, और बालिका कहती बालक को सरल।

सांझ, सुंदरी युवती के वेष में खड़ी हो अपने पति वसंत से इठला रही थी। आम्र-मंजरियों पर भौंरे गुन गुन कर रहे थे। वृक्षों में नई-नई कोंपलें आ रही थीं, स्निग्ध चंद्र-ज्योत्स्ना सारे संसार पर क्षीर सागर के फेन की तरह विस्तृत थी। स्वर की प्रतिस्पर्द्धा के कारण कोकिल और पपीहा के 'कुहू-कुहू' और 'पी कहाँ, पी कहाँ' के मिश्रित स्वर से सारा उपवन झंकृत हो रहा था। युवक ने मधुर स्वर से कहा— "चपले" !

"सरल"

"गाना गाओ, चपले ! देखो तो सही, कितना सुहावना समय है।"

"मैं भी यही सोच रही थी सरल ! मैं नहीं, तुम गाओ।"

फिर, चंद्र की ओर देखकर युवती ने कहा "हाँ सरल, ऊपर देखो, चंद्र हँस रहा है। तुम गाओ, मैं हँसूँगी।"

गायक का सितार बज उठा। ज्ञात हुआ, सारा उपवन शांत हो गया है। कोकिल, पपीहा चुप हो गए। पल्लव स्थिर-से हो गए। सांध्य-समीरण उसी प्रकार बहुत ही धीरे-धीरे बह रहा था। गायक आँखे मूँदे हुए गा रहा था। पृथ्वी पर पड़ी हुई बालिका अर्द्धोन्मीलित नयनों से उसकी ओर निहार रही थी। गायन समाप्त हो गया, सितार शांत हो गया, कोकिल 'कुहू-कुहू' कर उठी। पपीहा 'पी कहाँ ?', पी कहाँ ?' कर चीख पड़ा। युवती को ज्ञात हुआ कि वह किसी दूसरे ही संसार में है। उसने अन्यमनस्क हो कहा—"सरल !"

"चपले !"

मंद प्रवाह भी चंचल हो उठा। दोनों के हृदय समान गति से एक दूसरे की ओर दौड़ पड़े। युवक के हाथ से सितार छूट पड़ा। उन्मत्त प्रेमिक ने लालसा के स्वर में कहा—"सरल—चपले !"

पपीहा 'पी कहाँ ?, पी कहाँ ?' कह अब भी चिल्ला रहा था।

(३)

कितने क्षण, घंटे, दिन इसी प्रकार बीते, इसका पता नहीं। कितने महीने, ऋतुएँ, वर्ष इस प्रकार बीत गए इसका भी कुछ पता नहीं। दोनों को किसी बात की आशंका नहीं थी, और न थी किसी प्रकार की आवश्यकता। दोनों प्रतिदिन उसी प्रकार गाते, हँसते, मचलते और सो जाते थे।

आज भी चंद्रदेव गगन मंडल पर निश्शंक हो क्रीड़ा कर रहे थे। सांध्य-समीरण अभी तक चल रहा था। दोनों समवयस्क मित्र अपनी झोपड़ी में सुख की नींद सो रहे थे। अचानक गायक की नींद टूट गई। उसने टिमटिमाते हुए दीपक के प्रकाश में देखा, बालिका निश्शंक हो सुख की नींद सो रही है; उसके मुख पर एक विचित्र कांति क्रीड़ा कर रही है। गायक कुछएक क्षण खड़ा हो इस दृश्य को मुग्ध हो निरखता रहा, और फिर सितार लेकर बाहर निकल आया। 'कुहू-कुहू', 'पी कहाँ ? पी कहाँ ?' के कलरव से उपवन गूँज रहा था। गायक बैठकर गाने लगा। उसकी उँगलियाँ थिरक-थिरक कर सितार पर नाचने लगीं।

झोपड़ी के दीपक का तेल समाप्त हो गया था। बत्ती पहले थोड़ी-थोड़ी जल रही थी, अचानक सारी-की-सारी जल उठी। आह ! कैसा सर्वनाश होने जा रहा है। एक तिनके में दीपक की लौ छू गई। तिनका जल उठा। आग शीघ्रता से दौड़ी, और झोपड़ी के तिनके तिनके पर नाचने लगी। झोपड़ी की अग्नि एवं चंद्र-ज्योत्स्ना के प्रकाश में वन-प्रदेश चमक उठा। अनाथ गायक मस्त हो अब भी गा रहा था। उसका सितार भी उसी तरह बज रहा था।

गीत समाप्त हुआ। गायक ने आँखें खोलकर देखा, सारे उपवन में प्रकाश हँस हँसकर कलोलें कर रहा है। हैं ! यह क्या ? झोपड़ी से हहर-हहर कर लपटें निकल रही थीं। गायक चिल्ला उठा —"चपले !"

किंतु स्वर अनंत आकाश में, अनंत की गोद में, अनंत काल के लिये विलीन हो गया।

अचानक फर फर कर बाईं भुजा फड़क उठी। भावी अनिष्ट की आशंका से हाथ काँप उठे, सितार पृथ्वी पर गिर पड़ा, और गायक उन्मत्त हो, अप्रतिहत गति से, झोपड़ी की ओर दौड़ा। निकट पहुँचकर उसने देखा, झोपड़ी के भीतर-बाहर, चारो ओर, आग लगी है। सारा उपवन फिर कंपित हो उठा—"चपले !"

गायक ने सुना, अग्निदेव व्यंग्य हास्य में कह रहे हैं—"चपले !"

आशा क्षीण स्वर से कह रही है—"चपले !"

गायक का व्यस्त हृदय पुकार रहा है—"चपले !"

गायक दौड़कर झोपड़ी में घुस गया। उसने शोकाकुल दृष्टि से देखा, बालिका अब भी उसी तरह गहरी नींद सो रही है। उसके मुख पर दैवी कांति शांति-पूर्वक उसी प्रकार क्रीड़ा कर रही है। खड़े होकर गायक ने फिर पुकारा—"चपले !"

पर बालिका की आँखें ज़रा भी नहीं खुलीं। गायक घुटनों के बल झुका। और, उसकी सुगठित भुजाएँ आकाश में फैली ही थीं कि झोपड़ी तड़तड़ाकर ज़मीन पर आ गिरी।

अग्निदेव अंतिम बार 'हा ! हा !' कर अट्टहास के स्वर में खिलखिला पड़े। उधर चंद्रदेव भी आकाश में हँस रहे थे।

श्यामादेवी मिश्र

कवि-चर्चा



१. 'पद्मावत' का काल-निर्णय



महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' का आरंभ कब किया, यह प्रश्न आजकल किसी को भी सताता-सा नहीं देख पड़ता। कुछ वर्ष पहले मेरी यह धारणा थी कि 'पद्मावत' हिजरी सन् ९२७ में आरंभ हुई। परंतु साहित्य-सम्मेलन ने जो संस्करण प्रकाशित किया है, उसे देखकर कुछ थोड़ा संदेह अवश्य हो गया। श्रीयुत लाला भगवानदीनजी ने जिस संस्करण का संपादन किया, उसमें कोई प्रमाद नहीं रह सकता। इसी संदेह के दूर करने के लिये नागरी-प्रचारिणी सभा की 'जायसी-ग्रंथावली' मँगवाई। उसमें भी "सन नव सै सैतालिस अहा" लिखा पाया। जब स्वनाम-धन्य बाबू श्यामसुंदरदासजी का अभिप्राय देखा, तो वह भी अपनी 'हिंदी-भाषा का विकास'-नामक पुस्तिका में यही कहते हैं कि "मलिक मुहम्मद ने अपने ग्रंथ पद्मावत का आरंभ संवत् १५९७ में किया था।"

इसके विपरीत 'मिश्रबंधु-विनोद' में हम यह लिखा पाते हैं—"पद्मावत में यह लिखा है कि यह सन् ९२७ हिजरी में आरंभ की गई, जो संवत् १५७५ में पड़ता है।" पर मिश्रबंधुओं ने यह नहीं लिखा कि हमने पद्मावत की हस्त-लिखित प्रति देखी है या नहीं। उनकी खोज आरंभ होने के पहले ही पद्मावत के कम से कम दो संस्करण छप चुके थे—एक तो काशी में, और दूसरा लखनऊ से—शायद नवलकिशोर-प्रेस में। अतः संभव है, उन्होंने हस्त-लिखित प्रति के देखने का कष्ट न उठाया हो। यह संभव अवश्य हो, परंतु मिश्रबंधु-जैसे साहित्य की गहरी खोज करनेवाले विद्वान् हस्त-लिखित पोथी बिना देखे संतुष्ट हो गए होंगे, यह मानने को हृदय तैयार नहीं होता। खेद है, ये दोनो पुराने संस्करण मैं न देख सका। परंतु सुनता हूँ, उन दोनो में पद्मावत का आरंभ-काल हिजरी सन् ९२७ ही दिया गया है।

यों तो छपी हुई पुस्तकों के पढ़नेवालों को मान ही लेना चाहिए कि जो कुछ छपा है, वह किसी-न-किसी हस्त-लिखित प्रति में अवश्य लिखा होगा। परंतु ग्रंथ का काल-निर्णय जिन शब्दों पर निर्भर है, उनमें यदि अंतर पड़ता है, तो संपादकों का कर्तव्य है कि विशेष पाठ कहाँ मिला, और उसे ही क्यों रखना चाहिए, इसका भी कारण भूमिका में अवश्य लिख दें। लाला भगवान-दीनजी ने तो भूमिका लिखी ही नहीं। शायद उत्तरार्द्ध में लिखें। श्रीयुत रामचंद्र शुक्ल ने २५५ पृष्ठों की एक बृहत् भूमिका लिख डाली है। ग्रंथ के अंतरंग का परीक्षण जिस योग्यता से किया गया है, वह अत्यंत ही सराहनीय है। परंतु काल-निर्णय-संबंधी संदेहों का उल्लेख उसमें कहीं नहीं है। श्रीशुक्लजी लिखते हैं—"जायसी ने पद्मावत का निर्माण-काल दिया है—

सन नव से सैतालिस अहा ;
कथा-अरम बैन कवि कहा ।

अर्थात्, सन ९४७ हिजरी अर्थात संवत् १५९७ में इस ग्रंथ का आरंभ हुआ। यह शेरशाह का समय था, जिसकी प्रशंसा कवि ने ग्रंथ के आरंभ मे की है।

बाबू श्यामसुंदरदासजी ने कोई कारण नहीं बतलाया। और, यह ठीक भी है। उनका उद्देश्य वहा जायसी के समय का विचार करने का था ही नहीं।

'मिश्रबंधु-विनोद' को छपे बारह वर्ष हो गए, और अब उसका दूसरा संस्करण गंगा-पुस्तकमाला से प्रकाशित होने जा रहा है। संभव है, इस बीच में ऐसी पोथियाँ मिल गई हों, जिनमे "नव सै सैतालिस अहा (अहै)" लिखा हो। परंतु आश्चर्य केवल इस बात का है कि इस वर्तमान धारणा के विरुद्ध पाठ पर भी कोई टिप्पणी नहीं दी गई। अभी तक मेरे पढ़ने या सुनने में किसी एक भी पोथी का वर्णन नहीं आया, जिसमें उपर्युक्त सन ९४७ लिखा हो।

यह समझना कोई कठिन बात नहीं कि मूल-वृत्ति के "सन नव सै सत्ताइस अहै" का "सन् नौ सै सैतालिस अहै" क्यों कर दिया गया। हिजरी सन ९२७ में सुलतान इब्राहीम लोदी दिल्ली के तख्त पर आरूढ था। जायसी ने यदि ९२७ मे ग्रंथ का आरंभ किया, तो सुलतान इब्राहीम लोदी की प्रशंसा ग्रंथ के आरंभ मे रहनी थी। परंतु वहाँ तो शेरशाह की वीरता, न्यायशीलता, सौंदर्य एवं उदारता का वर्णन पाया जाता है। इस असंगति का समाधान तभी हो सकता है, जब ग्रंथ-काल हटाकर संवत् १५९६ से १६०० तक मे—शेरशाह के राजत्व-काल मे—आ जाय। दुर्भाग्य-वश प्रलोभन भी ऐसा कुछ सुकर और मीठा था कि लोग अपने-आपको रोक न सके। कहो 'सत्ताइस' का 'सैतालिस' कर दिया जाय! बस, आ जाता है ठीक संवत १५९७। उच्चारण एवं लिपि-सादृश्य के आधार पर बुद्धि को भी सरलता से संतुष्ट कर दिया। बस, संपादकत्व के अधिकार का उपयोग कर मूल में सैतालिस लिख डाला गया।

मेरा लक्ष्य यह लिखते समय न तो लाला भगवानदीनजी की ओर है, और न श्रीरामचंद्र शुक्लजी की ओर। जहाँ तक मुझे मालूम है, इस सुविधाजनक संशोधन के उत्पादक हैं डा० ग्रियर्सन साहब। ग्रियर्सन साहब ही ने पहलेपहल इस हिजरी सन् ९२७ तथा शेरशाह के काल की असंगति बतलाई, और पद्मावत का काल सुझाया ई० सन् १५४०। मुझे भय है, कहीं लालाजी तथा शुक्लजी ने वही वर्ष ठीक मानकर, डॉ० साहब की तर्क-पद्धति से सहमत होकर, "सत्ताइस" की जगह "सैतालिस" न कर डाला हो। बाबू श्यामसुंदरदास का अनुमान भी डॉ० ग्रियर्सन साहब के लेख पर ही अवलंबित है। आपकी पुस्तिका का कुछ भाग 'इंडियन गजे़टियर' भाग २रा, इस ग्रंथ के भाषा-विषयक परिच्छेद से लिया गया है। उस परिच्छेद में डॉ० ग्रियर्सन साहब ने पद्मावत का समय ईसवी सन १५४० ही दिया है। इसी में ५७ जोड देने से संवत १५९७ आ जाता है।

इहलोक परलोक, दोनों की उज्ज्वलता का मधुर परिचय करानेवाला यह ग्रंथ शीघ्र ही बहुत प्रसिद्ध हो गया। उत्तर-भारत में एक छोर से दूसरे छोर तक इसका प्रचार हो गया। मुसलमान कविता-प्रेमियों ने तो इसे खूब ही अपनाया। ऐसे ही एक कविता-प्रेमी थे अराकान राज्य के वज़ीर मगन ठाकुर। नाम तो हिंदू मालूम पड़ता है, परंतु मगन ठाकुर थे मुसलमान। इन्हे साहित्य-संगीतादि कलाओं से बहुत प्रेम था। इनके आश्रय में नित्य ही कई विद्वान रहा करते थे। इन्ही विद्वान कवियों में एक आलो-उजालो नाम के कवि थे। ऊँचे कुल में उत्पन्न होने पर भी, केवल दुर्भाग्य-वश, इन्हें मगन ठाकुर का आश्रय लेना पड़ा। इनकी प्रतिभा देखकर वज़ीर साहब ने अपने प्रिय ग्रंथ पद्मावत का बँगला में अनुवाद करने की इन्हें आज्ञा दी। कहा जाता है शृंगार-रस में यह अनुवाद मूल से भी बढ़ गया है। कुछ भी हो, ग्रंथ समाप्त होने पर कवि ने और भी कुछ अनुवाद बँगला में किए। इसके कुछ ही अनंतर अराकान पर शाहशुजा ने चढ़ाई की। परंतु युद्ध में वह मारा गया।

इतिहास से पता चलता है कि शाहशुजा की मृत्यु संवत १७१५ में हुई। अतः यह मान लेने में कोई विशेष आपत्ति नहीं कि जायसी के पद्मावत का बँगला-अनुवाद संवत १७०० में हुआ। इसी अनुवाद की जो हस्त-लिखित प्रतियाँ मिली हैं, उनके आधार पर हम जायसी का ग्रंथ-काल निश्चित कर सकते हैं। यहाँ हम यह लिखा पाते हैं—

"सेख महम्मद जति, जखन रचिल ग्रंथि ;
संख्या सप्तविंश नवशत।"

अर्थात्, शेख़ मुहम्मद ने जब ग्रंथ की रचना की, उस समय सन् था ९२७। बंगाल-जैसे सुदूर प्रदेश में, संवत् १७०० में, अनुवादित ग्रंथ के इस पाठ से तो यही ज्ञात होता है कि मलिक मुहम्मद ने अपने पद्मावत में 'नव सै सत्ताइस' ही लिखा होगा। फिर, हम जब मगन ठाकुर-जैसे रसिक उच्चाधिकारी का विचार करते हैं, तो मालूम पड़ता है कि उन्होंने मूल-ग्रंथ की शुद्ध प्रति प्राप्त करने में कोई कसर न उठा रक्खी होगी।

ऐसी अवस्था में हमें तो मिश्रबंधुओं की ही कैफ़ियत संतोषजनक एवं बुद्धिसंगत जँचती है। आप लिखते हैं—"जान पड़ता है, जायसी ने कथा बनाना संवत १५७५ में प्रारंभ कर दिया था, और फिर ग्रंथ समाप्त हो जाने पर, शेरशाह के समय में, उसकी वंदना बनाई।" यह असंभव है कि मिश्रबंधुओं ने डॉक्टर ग्रियर्सन साहब की राय पढ़ी न होगी। फिर भी उन्होंने उससे सहमत न होकर इस प्रकार का कुशल-समाधान सोच निकाला। वंदना में इस प्रकार के परिवर्तन साहित्य के इतिहास में थोड़े नहीं हैं। मतिराम का 'रसराज' शाहंशाह औरंगज़ेब की प्रशंसा से विभूषित था ; परंतु कारण-वश अनबन हो जाने से कवि ने वे प्रशंसात्मक छंद निकाल डाले। पद्माकर का 'जगद्विनोद' राजा जगतसिंह की प्रशंसा करने के हेतु से नहीं लिखा गया। आलीजा बहादुर दौलतराव सिंधिया की स्तुति में पहले 'आलीजा-प्रकाश' लिखा गया। बाद को उसी को 'जगद्विनोद' का जामा पहनाया गया। कारण, दौलतराव एवं पद्माकरजी में शीघ्र ही मनमुटाव हो गया था। नहीं मालूम, ये दोनों बातें कहाँ तक सत्य हैं। परंतु इस प्रकार की किंवदंतियों का चल पड़ना ही इस बात का प्रमाण है कि वंदनाएँ बहुधा बदल दी जाती हैं।

गोविंद-रामचंद्र चांदे

× × ×

२. गणेश कवि

सुकवि गणेश जबलपुर-निवासी एक कवि थे। स्व० पं० विनायकराव और श्रीयुत जगन्नाथप्रसाद "भानु" प्रभृति की जो कवि-समाज जबलपुर में थी, उसके आप भी सदस्य थे। इस कवि-समाज की बैठकें बहुधा हुआ करती थीं, और समस्या-पूर्तियाँ भी साथ-ही-साथ होती रहती थीं। गणेश कवि उक्त समाज के एक प्रतिष्ठित कवि थे।

आप जाति के दर्ज़ी थे। किंतु कविता से आपको प्रेम था। हमने उनके हस्त-लिखित संग्रह-ग्रंथ (अप्रकाशित) देखे हैं। यह किस कोटि के कवि थे, यह निश्चय करने के लिये हम गणेश कवि के केवल दो कवित्त देते हैं। कवि का पूरा परिचय फिर कभी देंगे।

निम्न-लिखित कवित्तों में सुकवि गणेश एक विरहिणी नायिका का वर्णन करते हैं—

बैठी मिस बाम आम खास में बिगोई काम,
आए नहिं श्याम भरी भूषण ना धारौंगी।
भाखत "गणेश" देस, सोरठ, मलार, फाग,
गाओ-गाओ सब मैं तो नेक ना उचारौंगी।
बोली रंग अब लाय, बाहु उर से दबाय,
बिरह बियोग पाँव बीरन बिसारौंगी ;
त्यागौं गृहकाज अरु लाज हू उतारौं आज,
आए जो न कंत तो बसंत मेटि डारौंगी।

कितनी विरह-ताड़ित नायिका है, और कितना अधिक आत्मविश्वास उसे है ! पुनः वह कहती है—

आयगो बसंत कंत आयो ना बिदेशी बीर,
उर दुख मारो प्यारी जमुन सिधारौंगी ;
बिरह-बियोग मारो मदन कटारो घालो,
कोयल देमारो जाय बन से निकारौंगी।
देखियो "गणेश" वा बिदेशी कौन रीति ऐसी,
करैं बिपरीत बिष खायबो बिचारौंगी,
हमहू तो आली आज देखति हैं बैठी राह,
आए जो न कंत तो बसंत मेटि डारौंगी।

किशोर कवि शालग्राम और देव ने भी आत्माभिमानिनी विरहिणी नायिकाओं का ऐसा ही वर्षा ऋतु का वर्णन किया है। गणेश कवि की यह रचना स्वतंत्र है।

× × ×

३. भूषण का एक कवित्त

भूषण कवि के संबंध में प्रायः यह धारणा-सी बँधी हुई है कि उन्होंने केवल वीर-रसात्मक ही कविता की है। यद्यपि माधुरी की किसी पिछली संख्या में श्रीयाज्ञिकबंधुओं ने अपने संग्रहालय से भूषण की शृंगारात्मक कविता का परिचय करा दिया है, और इसके प्रमाण में उन्होंने कुछ कवित्त भी दिए हैं, तथापि उपर्युक्त धारणा बनी हुई है। इसका कारण यही है कि भूषण वीर-रस के ही कवि प्रसिद्ध हैं, और वास्तव में वीर-रस की ही कविता उन्होंने

की है। 'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी' और छत्रशाल की प्रशंसा के उनके कवित्त इस बात की साक्षी देते हैं। ये ही ग्रंथ उपर्युक्त धारणा के मूलाधार हैं। पर जैसा कि याज्ञिकबंधुओं ने कुछ कवित्त देकर भूषण के *शृंगार-रस का परिचय कराया, वैसे ही और भी कुछ कवित्त* मिलते हैं। हमारा ख़याल है, प्राचीन ग्रंथों और हस्त-लिखित प्रतियों का जितना अच्छा संग्रह याज्ञिकबंधुओं के पास है, उतना कदाचित् ही अन्यत्र मिले। उनका संग्रहालय एक प्रकार की संस्था ही है। उन्हें प्राचीन साहित्य की सूचनाएँ भी काफ़ी तौर से हैं। हमारे मित्र पं० भवानीशंकर याज्ञिक से हमें यह मालूम हुआ है कि जिस कवित्त का परिचय कराने हम जा रहे हैं, वह उनके पास के संग्रह-ग्रंथों में नहीं है। हम वह कवित्त नीचे देते हैं—

नैन जग नैनन सों प्रथमै लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरे नाहिं टेरे हैं;
अड़ि-अड़ि, पिलि-पिलि लड़े हैं उरोज बीर,
देखो लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं।
पिय को चखायो स्वाद कैसो रति-संगर को,
भए अंग-अंगनि ते केते मुठभेरे हैं;
पाछे परे बारन को बाँधि कहें आलिन सों,
"भूषण" सुभट ये ही पाछे परे मेरे हैं।

हमारे इस भूषण के कवित्त का कारण यह है कि इसमें *शृंगार* की काया में वीर-रस का प्राण है। याज्ञिकबंधु यह दिखला चुके हैं कि भूषण ने *शृंगार-रस* को भी कविता की है, और वीर-रस के लिये भूषण प्रकृत प्रसिद्ध हैं। इस कवित्त में दोनो विशेषताएँ हैं। इसीलिये हमारी समझ में यह भूषण का ही कवित्त हो सकता है। यह कवित्त हमें अपने जबलपुर-निवासी मित्र पं० गंगाविष्णु पांडेय विद्या-भूषण से प्राप्त हुआ है। हम इसे कविता-प्रेमियों के सामने विचारार्थ उपस्थित करते हैं।

मातादीन शुक्र



१. विज्ञान

सुभद्रा—लेखक, श्रीविश्वनाथ दामोदर घोष बी० ए०, एल्-एल्० बी०; प्रकाशक, संचालक इंडियन स्पिरिच्युअलिस्टिक सोसाइटी, दारागंज, प्रयाग; छपाई, कागज संतोषजनक; स्क्वेयर साइज़; मूल्य १)

इस पुस्तक का संबंध परलोक-विद्या से है। भारत में तो देव, यक्ष, गंधर्व, प्रेत और पिशाचादिकों पर तथा परलोक, पिंडदान, पितृश्राद्ध और यज्ञादिकों पर श्रद्धा-विश्वास रखनेवाली जनता 'सनातन' से चली आ रही है। परंतु आजकल योरप और अमेरिका में भी इसके एक अंश (मृत व्यक्ति-संबंधी) की धूम है। जब से कुछ प्रधान व्यक्तियों को मृत व्यक्तियों के दर्शन हुए, तब से उनके दिमाग़ से परलोक-संबंधी नास्तिकता हवा हो गई। अब प्रेतों का आवाहन और उनसे बातचीत करने की धुन सवार हुई। पश्चिमी देशों की कर्मण्यता और अध्यवसाय तो प्रसिद्ध ही है। इस मार्ग में भी उन्होंने बहुत-कुछ कर लिया। कई सोसाइटियाँ बनीं; अनेक पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। बड़ी-बड़ी कहानियाँ शुरू हुईं। बहुत-कुछ प्रचार आरंभ हुआ, जिसमें कुछ असलियत भी मालूम होती है, और बहुत कुछ आडंबर भी। परंतु जो कुछ भी है, वह सब प्रेतात्माओं से संबंध रखनेवाला। देव, यक्ष, गंधर्व आदि की बातों का अभी वहाँ स्वप्न भी नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक भी उसी प्रकार की है। श्रीमती सुभद्राबाई पुस्तक-लेखक महाशय की प्रथम पत्नी थीं। उनका देहांत हुआ, और आपको उन्हीं के वियोग में परलोक-विद्या की खोज करने की चिंता हुई। अंत में आपको सफलता मिली। आजकल, सुना है, आपकी द्वितीय पत्नी पर प्रथम पत्नी का आवेश होता है, और स्वयं लेखन-शैली द्वारा बातचीत भी होती है।

इस पुस्तक में कुल पाँच प्रकरण हैं। पहले में लेखक ने अपनी परलोक-विद्या की खोज का वर्णन किया है। दूसरे में कई संदेशों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वे सब आपकी स्त्री के भेजे हुए थे। तीसरे में परलोक का वर्णन है, और दबी ज़बान से यह भी कहा गया है कि पुराणों में वर्णित परलोक की अपेक्षा यह वर्णन अधिक प्रामाणिक है; प्रत्यक्ष अनुभव-सिद्ध होने के कारण यही मान्य है, पौराणिक वर्णन उपेक्षणीय है। चौथे में मनोरंजक संदेश है, और पाँचवें में मृत बालकों की परलोक में स्थिति बताई है।

आपका कहना है कि मरने में किसी को कुछ कष्ट नहीं होता। मरे हुए बालकों के लिये वहाँ अत्युत्तम प्रबंध है। छोटे-से-छोटे बच्चों के लालन-पालन के लिये वहाँ दाइयाँ मौजूद हैं। वे कभी-कभी सोती हुई माता के पास उस बच्चे को ले भी आती हैं, और थोड़ी देर उसके पास उसे लिटाकर प्रेमाकर्षण कराती हैं। यहाँ की तरह वहाँ भी बच्चे बड़े होते हैं। उनके पढ़ाने-लिखाने के लिये अत्यंत उत्कृष्ट पाठशालाएँ हैं। अध्यापक और अध्यापिकाओं की योग्यता अकथनीय है। रहने को सुंदर, स्वच्छ मकान, खाने

को अच्छे-से-अच्छा भोजन और पहनने को उत्तमोत्तम वस्त्र मिलते हैं। पढ़ने को पुस्तक, स्लेट, पेंसिल आदि, सब कुछ मिलता है। परीक्षाएँ भी होती हैं, और इनाम में खिलौने और मिठाइयों के दोने भी मिलते हैं। सैर के लिये मनोरम बाग़-बग़ीचे और सवारी के लिये मोटर तथा साइकिलें भी हैं। जो लोग यहाँ से जाते हैं, उनके लिये पहले ही से मकान तैयार रहता है। खाने-पहनने के लिये सब प्रबंध 'गुरु' कर देते हैं। किसी को कोई दिक़्क़त नहीं उठानी पड़ती। हाँ, मंदिर में सबको आना पड़ता है। आरती के समय वहाँ उपस्थिति आवश्यक है। जप, तप, पुराण-श्रवण और राम-नाम तथा हरिकीर्तन सबको करना होता है। मूर्ति-पूजा के विरोधियों की क्या गति होती है, यह नहीं बताया गया। परंतु वहाँ दंड मिलने की बात कही गई है। 'गुरु' जब बहुत नाराज़ होते हैं, तो पृथ्वी पर भेजने की आज्ञा देते हैं। उस समय दंडित प्राणी बहुत दुखी होता है, और उस सुखमय स्थान को छोड़कर यहाँ नहीं आना चाहता। 'गुरु' बड़े दयावान् होते हैं, वे क्षमा भी कर देते हैं। पढ़े-लिखे लोगों की वहाँ बड़ी क़द्र होती है। बड़ी अवस्था में कुमारी लड़कियों का विवाह भी होता है, परंतु विधवा-विवाह नहीं होता। अंधे, लूले, लँगड़े आदि जो मरते हैं, उनके सब अंग मरने के बाद दुरुस्त हो जाते हैं।

वि० दा० ऋषिजी के इस फ़िसाने को सुनकर तो यही जी चाहता है कि यहाँ से लोगों को मय बाल-बच्चों के चलकर वहीं रहना चाहिए। न पढ़ाई-लिखाई की फ़िक्र, न फ़ीस की चिंता; न मकान का किराया देने की ज़रूरत, और न खाने-पहनने की चीज़ों के दाम देने की आवश्यकता। दिन-रात धर्म-चर्चा और धार्मिक पुरुषों का सत्संग। फिर और क्या चाहिए? परंतु ऋषिजी रास्ता बताएँ, तब तो!

हाँ, वहाँ स्वराज्य-चर्चा होने की बात भी कही गई है। परंतु दलित, दरिद्र, भुक्खड़ों के दिमाग़ में जन्म लेनेवाले इस भूत (स्वराज्य) की उत्पत्ति वहाँ के आनंद-निमग्न प्राणियों के मन में क्योंकर हुई, यह बात समझ में नहीं आई। संभव है, आगे कोई परलोकवासी आत्मा आकर यह बता जाय कि वहाँ इसी लोक के स्वराज्य की चर्चा हुआ करती है। वहाँवालों को तो इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

हिंदी-वैद्युत-शब्दावली—लेखक, श्रीयुत केशवप्रसाद मिश्र और श्रीयुत रामनाथसिंह; प्रकाशक, आर० एन्० सिंह, २३२ मदैनी, बनारस; मूल्य ॥)

यह एक अत्युत्तम पुस्तक है। इस प्रकार की केवल-मात्र दूसरी शब्दावली, जिसका कि लेखक को ज्ञान है, काशी-नागरीप्रचारिणी सभा की हिंदी-साइंटिफ़िक-ग्लॉसरी (Hindi Scientific Glossary—अर्थात् हिंदी-वैज्ञानिक शब्दावली) ही है। प्रस्तुत ग्रंथ उक्त ग्लॉसरी के विद्युत-संबंधी शब्दों की न्यूनता को भली भाँति पूर्ण करते हुए, अनेक स्थलों पर नागरीप्रचारिणी सभा के कोष में दिए हुए शब्दों की अपेक्षा उपयोगी और अधिक उपयुक्त शब्द देता है। इस नूतन नामकरण-संस्कार में इस बात का भी भली भाँति ध्यान रक्खा गया है कि नए गढ़े हुए शब्दों की ध्वनि जहाँ तक हो सके, विदेशी शब्दों के ही समान हो; पर वैसा होते हुए भी उनका अर्थ वही हो, जो विदेशी शब्दों का। मेरी राय में यह बात बहुत ही सराहनीय है, और इस प्रकार के नामकरण में इन बातों पर ध्यान रखना बहुत ही ज़रूरी है। निम्न-लिखित उदाहरणों से मेरा मतलब बिलकुल साफ़ हो जायगा—

Circuit=सरकित, Dynamo=द्युग्राम (द्यु—Energy, ग्राम— Producer), Rheostat=रय-स्थाप (रय—Current, Rheo) Cable=कईबल, Hysterisis=हतशेष, Solenoid=सोमिलायत इत्यादि।

प्रस्तुत पुस्तक इस प्रकार बहुगुण-संपन्न है। अतएव आगे जिन बातों का उल्लेख किया जायगा, उनसे यह न समझना चाहिए कि उक्त गुणों को किंचिन्मात्र भी छोटा करके दिखाने का मेरा मतलब है। मुझे तो अब इस बात की बड़ी ही आवश्यकता मालूम पड़ती है कि हिंदी में वैज्ञानिक विषयों के लेखकों और ग्रंथकारों को मिल-जुलकर विद्युत-संबंधी ही नहीं, प्रत्युत अन्यान्य वैज्ञानिक विषयों के भी पर्याय-शब्दों का एक बृहत् कोष तैयार करना चाहिए। काशी-नागरीप्रचारिणी सभा को चाहिए कि उपर्युक्त ग्लॉसरी का दूसरा संशोधित और संवर्द्धित संस्करण निकाले। ऐसा करने के लिये हिंदी-वैज्ञानिक लेखकों की समुचित सहायता ली जाय; पर साथ-ही-साथ कुछ संस्कृतज्ञों की भी, जो इस बात का ध्यान रक्खें कि गढ़े हुए शब्द अनियमित या बेढंगे न हों।

समालोच्य पुस्तक अत्यंत उपयोगी है, और अपेक्षाकृत बहुविस्तीर्ण भी। परन्तु ऐसा होते हुए भी बहुत-से ऐसे शब्द इसमें सम्मिलित होने से रह गए हैं, जिन्हें इस्तेमाल करने का मौक़ा किसी-न किसी लेखक को अवश्य पड़ेगा। उनके लिये तुल्यार्थवाची शब्दों की खोज इस कोष में करना निराशाजनक होगा। उदाहरणार्थ, हाल ही में इस लेखक को अपने एक लेख में निम्न-लिखित शब्दों का व्यवहार करने की आवश्यकता आ पड़ी थी। शब्दावली के मिलने पर लेखक ने बड़ी उत्सुकता से इन शब्दों के पर्याय-शब्दों की उसमें खोज की; परन्तु वे इस कोष में नहीं मिले। इन विदेशी शब्दों के लिये लेखक को ब्रैकट में दिए हुए शब्द गढ़ने पड़े थे—

anode(धनद्वार), Ion (गामी—यात्री ?), anion (धनगामी, ध० यात्री ?), cation (ऋणगामी), Arc light, Bobbin, Brake, Galvanometer, heads (सिरे), Leading in (अन्तर्नायक), Leading out (बहिर्नायक)।

यदि उक्त ग्रंथ का दूसरा संस्करण निकले (और, आशा की जाती है कि ऐसा करने का अवसर शीघ्र ही आवेगा), अथवा यदि काशी-नागरीप्रचारिणी सभा इस नोट में ऊपर लिखी हुई विज्ञप्ति के अनुसार काम करने का निश्चय करे, तो आशा है कि उपर्युक्त शब्दों के भी उचित पर्याय-वाची शब्द इस नवीन ग्रंथ में सम्मिलित हो जायँगे। केवल ये ही शब्द नहीं, इस प्रकार के शब्दों की संख्या बहुगुनी की जा सकती है, खासकर यदि अन्यान्य लेखकों से भी शब्दों के भेजने की प्रार्थना की जाय।

अंत में एक बार फिर यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इस नोट में जो कुछ भी लिखा गया है, वैसा होने पर भी समालोचित पुस्तक अनेक गुणों से संपन्न है, और हिंदी में विज्ञान-संबंधी लेख या ग्रंथ लिखनेवालों के पास अवश्य ही उसकी एक प्रति रहनी चाहिए। एक और बात बड़ी ही आवश्यक मालूम पड़ती है। वह यह कि भिन्न-भिन्न लेखक किसी एक चीज़ या विषय के लिये एक ही शब्द का उपयोग करें। ऐसा करने से ही भाषा में सुगमता अथवा बोधगम्यता और लेखन-शैली तथा विन्यास की वृद्धि हो सकती है।

जगद्बिहारी सेठ

× × ×

रंग—लेखक, श्रीसत्येश्वर घोष एम्० एस्-सी०; आकार माधुरी का; पृष्ठ-संख्या १२ : विज्ञान-परिषद्, प्रयाग से प्राप्त।

प्रयाग के 'विज्ञान'-मासिक पत्र में यह लेख छप चुका है। उसी रूप में यह अलग भी छपा लिया गया है। इसमें मंजिष्ठा, कत्था, हल्दी, कुसुम, पानी, सोडा, सज्जी, चूना, फिटकरी, हीराकस, बाइक्रोमेट ऑफ़ पोटाश, रंग तैयार करने के उपकरण, वज़न और माप तथा रँगने के साधारण नियमों की चर्चा है। इससे रँगरेज़ और साधारण गृहस्थ, दोनों लाभ उठा सकते हैं। प्रूफ़ का संशोधन अच्छी तरह नहीं किया गया। भाषा भी कहीं-कहीं बेढंगी है। जैसे—

"मंजिष्ठा के मुक़ाबिले व्यवहार के लिये मंजिष्ठा को कूटकर चूर्ण बना कपड़े में छान लेना चाहिए।

"कत्थे में बहुत मैला रहने के कारण से कीचड़ हो सकती है।

"पतंग से सकता है और रंग उड़ सुंदर बैगनी रंग भी बन जाने से फिर सहज में ही साड़ी को रँगा जा सकता है।

"ज़्यादा खरीदने के पहले इस लेख में दिए हुए उपाय से कि नील का पानी अच्छा है कि नहीं। अच्छे नील का भाव प्रायः १२) सेर है।

"चूने के ढेलों पर पानी से बुझाकर (slaked) चूर्ण करके किसी मिट्टी के बर्तन में रख देना चाहिए।

"रंग पानी में छोड़ने से पहले रासायनिक उपाय से रंग में परिवर्तित किया जा सकता है।"

× × ×

वृद्धावस्था और मृत्यु—लेखक, धीरेंद्रनाथ चक्रवर्ती एम्० एस्-सी०; आकार माधुरी का; पृष्ठ ६ : विज्ञान-परिषद्, प्रयाग से प्राप्त।

यह लेख भी विज्ञान में छप चुका है। यह इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के रसायनाचार्य डॉक्टर नीलरत्नधर के लेखों का अनुवाद है। विषय रोचक और गंभीर है, परन्तु अनुवाद कहीं-कहीं दुर्बोध है। यह लेख उन पाठकों के लिये लिखा गया था, जो वैज्ञानिक बातों को अच्छी तरह समझते हैं। इसलिये इसका अक्षरशः अनुवाद भी उसी श्रेणी के लोगों की समझ में आ सकता है, जो विज्ञान से कुछ परिचित हों। अन्य श्रेणी के पाठकों के लिये भी रोचक बनाने के लिये पारिभाषिक शब्दों को संक्षेप में समझा

दिया जाता, तो अच्छा होता । अनुवाद का अंतिम भाग इतना संक्षिप्त है कि उसका कुछ अर्थ ही समझ में नहीं आता ।

महावीरप्रसाद श्रीवास्तव

× × ×

हस्त-परीक्षा (हिंदी-पामिस्ट्री)—लेखक और प्रकाशक, ज्योतिषी श्रीनिवास-महादेवजी पाठक, श्रीभुवनेश्वरी प्रिंटिंग-प्रेस, रतलाम ; आकार बड़ा ; पृष्ठ-संख्या ३८२ ; कागज़, छपाई साधारण ; मूल्य ४)

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें पूर्वी और पश्चिमी मतानुसार हस्त-परीक्षा-संबंधी प्रायः सभी बातें दे दी गई हैं । पुस्तक में हस्त-रेखाओं से संबंध रखनेवाले कई चित्र भी दिए गए हैं । यह पुस्तक कई संस्कृत, हिंदी, मराठी और अँगरेज़ी ग्रंथों के अध्ययन के बाद, बड़ी खोज और परिश्रम के साथ, लिखी हुई मालूम होती है ।

हमारे पूर्वजों ने जब से यह कल्पना कर ली कि मनुष्य के जीवन-काल की सभी कार्य-क्रमसूचक घटनाएँ हथेली में अंकित रहती हैं, तब से हस्त के निरीक्षण की प्रथा आरंभ हुई । जिस शास्त्र के आधार पर हस्त-रेखाओं को देखकर पुरानी और भावी घटनाएँ मालूम की जाती हैं, उसे 'हस्त-सामुद्रिक' कहते हैं । यह शास्त्र बहुत पुराना है । भारतवर्ष में सात हज़ार वर्ष के पहले भी इस शास्त्र का अस्तित्व था, इसका प्रमाण लेखक महाशय ने इस पुस्तक में दिया है । अन्य देशों में इस शास्त्र के ज्ञान के प्रचार के संबंध में श्रीयुत पाठकजी लिखते हैं कि इस शास्त्र का भारतवर्ष से चीन में, चीन से यूनान में और यूनान से योरप में प्रचार हुआ । परंतु चीन से उसके यूनान में जाने का आपने कोई प्रमाण नहीं दिया । संभव है, यूनान में इसका प्रचार सीधे भारतवर्ष से ही हुआ हो । भारत में तो इस शास्त्र की अधिक उन्नति नहीं हुई, और जो कुछ उत्तम ग्रंथ इस शास्त्र पर थे भी, उनमें अधिकांश मुसलमान बादशाहों के समय में नष्ट कर दिए गए । उधर पश्चिमी देशवालों ने इस शास्त्र की ओर अच्छा ध्यान दिया, और खूब उन्नति कर दिखाई । इसलिये हम लोग भी अपने सामुद्रिक शास्त्र की तरफ़ ध्यान न देकर अँगरेज़ी-पामिस्ट्री की तरफ़ अधिक ध्यान देने लग गए हैं । इस संबंध में श्रीपाठकजी लिखते हैं—

"जैसा पाश्चात्यों ने शोध किया है, वैसा ही सतत सूक्ष्म निरीक्षणानुसंधान द्वारा हमारे देश के शोधक भी इस शास्त्र की शोध चालू रखते, तो हिंदुस्तान-देश में ही जन्म पाए हुए इस शास्त्र-रूपी वृक्ष के मिष्ट फल हमें हमारे देश में ही चखने को मिल जाते । परंतु ऐसा न होने से ही आज हम उधर के फलों के लिये ललचा रहे हैं ।"

पुस्तक १४ प्रकरणों में विभक्त है । दूसरे प्रकरण में पंजे के नैसर्गिक विभाग का वर्णन किया गया है, और तीसरे में भिन्न-भिन्न प्रकार की उँगलियों के विशेष फल बतलाए गए हैं । चौथे से लेकर दसवें प्रकरण तक आयु-रेखा, मस्तक-रेखा, अंतःकरण-रेखा, भाग्य-रेखा, सूर्य-रेखा, स्वास्थ्य-रेखा और क्षुद्र रेखाओं के संबंध में विचार किया गया है । ग्यारहवें में आयुष्य में होनेवाली 'वार्ताओं' का निर्णय है, और बारहवें में 'ग्रहों के पर्वतों' का विस्तृत वर्णन है । तेरहवें प्रकरण का मनन करने से किसी भी व्यक्ति का हाथ देखकर यह बतलाया जा सकता है कि वह कौन-सा रोज़गार या धंधा कर रहा है, या उसका पेशा क्या है । चौदहवें प्रकरण में रोग तथा पीड़ाओं का विषय वर्णित है, और अंतिम प्रकरण में अंग-सामुद्रिक पूर्वी पद्धति के अनुसार समझाया गया है ।

भाषा की क्लिष्टता के कारण कहीं-कहीं पर लेखक के भाव आसानी से समझ में नहीं आते । अनुवाद की बू भी कहीं-कहीं पर आती है । प्रूफ़-संबंधी ग़लतियों की तो भरमार है । सोलह पृष्ठों का तो शुद्धिपत्र ही दिया गया है । जहाँ कहीं पूर्वी और पश्चिमी बातों में मतभेद है, वहाँ पर लेखक ने स्पष्ट रूप से यह नहीं बतलाया कि कौन-सा मत अधिक ग्राह्य है । यदि पुस्तक किसी योग्य संपादक द्वारा संपादित की जाती, तो इसके अधिकांश दोष दूर हो जाते ।

पुस्तक अपने ढंग की निराली है । हिंदी-संसार को इसका उचित आदर करना चाहिए ।

दयाशंकर दुबे

× × ×

२. इतिहास

भारत के हिंदू-सम्राट्—लेखक, चंद्रराज भंडारी 'विशारद' ; प्रकाशक, हिंदी-साहित्य-मंदिर, बनारस ; पृष्ठ-संख्या २७२ ; मूल्य १।।)

प्रस्तुत पुस्तक की प्रस्तावना में प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर श्रीयुत गौरीशंकर-हीराचंदजी ओझा ने लेखक

का उत्साह बढ़ाने के लिये जो कुछ लिखा है, उस पर कहीं हमें हरताल नहीं फेरनी। भंडारीजी ने बहुत कुछ पढ़कर यह पुस्तक लिखी है। इसलिये प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं का जो कुछ आपने उल्लेख किया है, उसमें अधिक मतभेद नहीं हो सकता। चंद्रगुप्त, विक्रमादित्य के काल-निर्णय में भी कोई मतभेद नहीं हो सकता। हाँ, इस पर मतभेद अवश्य हो सकता है कि जिन नवरत्नों का उल्लेख, दंत-कथाओं में, विक्रमादित्य के समय का बताया जाता है, वे यही थे या कोई और। विक्रम-संवत् इन्हीं का चलाया हुआ है, या किसी और राजा का, जो इनसे पहले कभी मालवा का शासक रहा हो? अनुमान यह होता है कि जिसे हम अब विक्रम-संवत् कहते हैं, वह मालव-संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। विक्रमादित्य ने जब शकों को हराकर मालवे पर अधिकार किया, तो इनका मान बढ़ाने के लिये प्रचलित मालव-संवत् का विक्रम-संवत् नामकरण किया गया। विक्रमादित्य विद्या-व्यसनी और विद्वानों के आदर-भाजन तो थे ही, लोग इधर-उधर के अन्य विद्वानों को, जिनके समय के विषय में उन्हें ठीक-ठीक हाल मालूम नहीं था, विक्रमादित्य के समय का बताने लगे। लेखक महाशय ने कनिष्क के काल-निर्णय पर भी विचार नहीं किया है। इसमें जो कुछ मतभेद है, उसकी सूचना दे देना चाहिए था। मालूम होता है, विस्तार-भय से शिवाजी का भी उल्लेख नहीं किया गया। वह भी तो हिंदू-सम्राट् थे।

पुस्तक की पुनरावृत्ति की आवश्यकता है। लेखन-शैली जितना पुष्ट होनी चाहिए, उतनी नहीं है। आवश्यक ऐतिहासिक चित्रों का अभाव और भी खटकता है। उपर्युक्त त्रुटियाँ दूर कर दी जायँ, और जगह-जगह जातीय जोश की मात्रा कम कर दी जाय, तो यह पाठ्य-पुस्तक के योग्य हो सकती है।

हम लेखक महाशय को उनके प्रयत्न के लिये साधुवाद देते और आशा करते हैं कि आपकी कलम से इससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ निकलेंगे।

कालिदास कपूर

× × ×

३. उपन्यास

अमरपुरी (दो भाग)—भाषांतरकार, श्रीकृष्णदत्त पालीवाल एम० ए०, एम० एल० सी०; प्रकाशक, सैनिक-पुस्तक-भंडार, आगरा; मूल्य ४); पृष्ठ-संख्या लगभग साढ़े नव सौ।

देश की वर्तमान दशा को देखते हुए आजकल राष्ट्र-संबंधी विषयों की पुस्तकें प्रकाशित करने की ओर हमारे उत्साही प्रतिभाशाली सुलेखकों का ध्यान समुचित रूप से आकर्षित हो चला है। कितनी ही पुस्तकें इन गंभीर विषयों की प्रकाशित हुई और हो रही हैं। इन्हीं में 'अमरपुरी' नाम की पुस्तक भी है, जो सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक हाल-केन की 'इटरनल सिटी' का अनुवाद है। रोम-राज्य में स्वतंत्रता का आंदोलन किस प्रकार आरंभ हुआ, और फिर किस प्रकार वांछित फल प्राप्त कर समाप्त हुआ, इसी का सविस्तर वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। रोमन राजकुमार मि० बौलोना (डाक्टर डेविस) ने अपना सर्वस्व और अंत में प्राण तक स्वदेश को अर्पण कर दिए, डेविड लियान (डेविड रौसी—सुविख्यात महात्मा पोप का पुत्र) विधि-वैपरीत्य से मिस्टर बौलोना द्वारा पाला जाकर अंत में उन्हीं के मत का अनुयायी हुआ। साथ-ही-साथ बौलोना की पुत्री डौना रोमा के शुभाशुभ चरित्रों का चित्र, स्वामिभक्त ब्रूनो के पटवर्षीय बालक जोजेफ़ की स्वराज्यांदोलन में सैनिक की गोली से आकस्मिक मृत्यु, पुत्र-शोक से विकल डेविड रौसी की मानरक्षा करते हुए ब्रूनो की अपूर्व आत्मबलि तथा राजमंत्री बौनेली का डौना रोमा के प्रेम में अंधे होकर भाँति-भाँति के कुचक्रों द्वारा डेविड रौसी का सत्यानाश करने पर उतारू होना और अंत में डेविड रौसी के ही हाथों उसकी मृत्यु, एवं महात्मा पोप के अपूर्व परोपकारी जीवन का चित्र इसमें अंकित है। अस्तु, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हमें इसमें तीन प्रकार के चरित्र मिलते हैं—(१) देशभक्त बौलोना (डाक्टर डेविस) का निष्कलंक एवं पवित्र चरित्र संसार के उन महापुरुषों का स्मरण दिलाता है, जो राजप्रासाद में जन्म लेकर मातृभूमि के श्रीचरणों में कर्तव्य-वश अपने को निर्मोही की भाँति बलिदान कर देते हैं, (२) मि० डेविड रौसी का चरित्र उन आदर्श पुरुष सिंहों का है, जो अनाथ अवस्था में संसार-सागर के बीच छोड़ दिए जाते हैं, और जो अपने ही बाहु-बल से उसे पार करते हैं। यह एक मध्य-श्रेणी का चरित्र-चित्रण है। इसके बाद तीसरा चरित्र हमें डौना रोमा का मिलता है, जिसे हम भारतीय सभ्यता की दृष्टि से निकृष्ट कहते हैं।

फिर भी, इस पुस्तक में सार्वजनिक आंदोलन की गति-विधि, मानव-हृदय और मस्तिष्क के विरोधी विचारों और

भावनाओं का सुंदर संघर्षण अच्छा दिखाया गया है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते यह प्रत्यक्ष जान पड़ता है कि कार्ल मार्क्स और टाल्सटाय के विचारों का एक मध्यवर्ती अनुपात हाल-केन की प्रतिभा में आलोकित था; क्योंकि भारतवर्ष में अहिंसा और लोकमत तथा योरप में साम्यवाद और बोल्शेविज़्म की आज जो लहर उठ चुकी और उठ रही है, उनकी भविष्यवाणी लेखक ने अपने उपन्यास में आज से २५ वर्ष पूर्व ही कर दी थी। इसी कारण मि० बीलोना के चरित्र में, कई अंशों में, महात्मा गांधी की छाया हमें दिखाई देती है।

अब यदि इसकी लेखन-शैली की ओर ध्यान दें, तो यों तो पुस्तक देशानुराग को बढ़ानेवाली है ही, और रोचक भी है, परंतु, फिर भी, इसमें कहीं कहीं पर नीरसता आ गई है। उदाहरण के लिये, पुस्तक के प्रथम खंड में, प्रस्तावना को छोड़कर, अन्य दस पाँच परिच्छेद तो रूखे-से प्रतीत होते ही हैं। पर अन्य कई स्थानों पर भी बीच-बीच में कुछ रूखापन आ गया है। किंतु आगे चलकर मि० डेविड और डोना रोमा के सम्मिलन से अवश्य रोचकता आ गई है। चाची कौंटेस की बार-बार नटलीला और नमक की पुकार एक निरुत्साहित पाठक को हँसाने की चेष्टा करती है। पुस्तक बहुत अच्छी है। मूल पुस्तक मैंने नहीं देखी; पर अनुवाद की सुबोधता और सुशृंखलता यही प्रकट करती है कि अनुवाद निर्दोष है। प्रूफ़ की अशुद्धियाँ तो अवश्य ही खटकती हैं, पर आगे इनमें सुधार भी किया जा सकता है।

कमलादेवी

× × ×

चंचला—लेखक, प० राजनारायण मिश्र; प्रकाशक, प० नीलकंठ-वंशीधर-पुस्तकालय, अमीनाबाद, लखनऊ; मूल्य ।); पृष्ठ-संख्या ६४

यह औरंगज़ेब और चंचलकुमारी का क़िस्सा है। लेखक महोदय ने फ़ारसी और उर्दू की खूब टाँग तोड़ी है। आप 'जिगर' को 'ज़िगर', 'बेगम' को 'बेग़म' लिखते हैं। शीन का शड़ाक़ा इसी को कहते हैं। उर्दू-मुहावरों की तो ऐसी मिट्टी ख़राब की है कि बस, कुछ न पूछिए। सुनिए—

परिया बीबी—"लख़्ते जिगर, कुछ पूछो मत, बड़ी ही नागहानी का मौक़ा है।"

नागहानी का मौक़ा कैसा होता है, यह मिश्रजी ही जानते होंगे।

और सुनिए—

उदयपुरी बेगम—"अरे लख़्ते ज़िगर, मैं शाह से ज़रूर यह तस्करा बयान करूँगी।"

'तस्करा' किस भाषा का शब्द है, यह लेखक महोदय ही बता सकते हैं। ऐसी किताबें लिखकर क्यों अपना धन और पाठक का समय नष्ट किया गया है, समझ में नहीं आता।

× × ×

माधुर्यंत्र या गुप्त भेद—लेखक, पंडित राजनारायण मिश्र; प्रकाशक, प० नीलकंठ-वंशीधर-पुस्तकालय, अमीनाबाद, लखनऊ; पृष्ठ-संख्या ११२; मूल्य ।॥)

लेखक महोदय बुरा तो मानेंगे; पर समालोचक का काम ही ऐसा पाजी है कि उसे कड़वी सच्चाइयाँ कहनी ही पड़ती हैं। यह एक जासूसी कहानी है, लेकिन कथानक कुछ इस तरह रक्खा गया है कि अंत की बात पहले ही मालूम हो जाती है, और पढ़नेवाले को न तो कुतूहल होता है, न उत्सुकता। पात्र सभी बाज़ारू शोहदे हैं, वह भी असली शोहदे नहीं, बल्कि उनके गुंडे। कोई पात्र सजीव नहीं, न किसी चरित्र में कोई विशेषता है। ज़रा-सी बात को बढ़ाकर कहने का लेखक को मर्ज़ है, जिससे पढ़नेवाले का जी ऊब जाता है।

प्रेमचंद

× × ×

किरण—अनुवादक, श्रीयुत ब्रजजीवनदास गुप्त; प्रकाशक, सजीवन-ग्रंथमाला-कार्यालय, बुलानाला, काशी; पृष्ठ-संख्या १२७; मूल्य ।॥)

इस पुस्तक में जासूसी कहानियों के जगत-प्रसिद्ध लेखक सर ए० कॉनन डॉयल की पाँच गल्पों का हिंदी-रूपांतर है। सभी गल्पें रोचक हैं, और भाव-पूर्ण होने के साथ-साथ चरित्र-चित्रण का कौशल भी दिखाती हैं। हम समझते हैं कि अनुवाद की अपेक्षा रूपांतर करना ही ठीक था, और ऐसा ही लेखक महाशय ने किया भी है। भाषा सरल और सुबोध है, परंतु अँगरेज़ी नाम और कुछ शब्द ब्रैकेट में देने का प्रयोजन नहीं समझ में आया। यह अनावश्यक है। मूल कहानियों का नाम देना आवश्यक था, वह नहीं दिया गया। इसमें संदेह नहीं कि यह छोटी-सी पुस्तक मनोरंजन की सामग्री है।

जीवनशंकर याज्ञिक

× × ×

क्षमा—लेखक, श्रीनाथसिंह; प्रकाशक, प० सुदर्शनाचार्य, गृहलक्ष्मी-कार्यालय, प्रयाग ; मूल्य ॥); पृष्ठ-संख्या १२८ ; सजिल्द ।

यह 'गृहलक्ष्मी-ग्रंथमाला' की सत्ताईसवीं पुस्तक है। पति में इतना आत्मिक बल होना चाहिए कि वह पत्नी के अपराधों को क्षमा कर दिया करे—यही इस छोटी-सी कहानी का उद्देश्य है। लेखक ने श्रीमती गोपालदेवी के दिए हुए प्लॉट और भावों को अपने पात्रों और भाषा में अंकित किया है, और अंत में 'क्षमा' नाम को सार्थक कर दिखाने का प्रयत्न किया है, जिसमें वह सफल हुए हैं। यदि यह प्लॉट देवीजी का दिया हुआ है, तो हमें यह देखकर अत्यंत खेद होता है कि इस कथानक की प्रधान पात्री अपने मुसलमान प्रेमिक के साथ, अपनी ससुराल से भागकर, उसी के घर चली आती है। इस दशा में यह पुस्तक हिंदू-स्त्री-समाज के पढ़ने-योग्य कदापि नहीं। क्षमा और प्रेम की विजय समाज की सद्वृत्तियों के साथ-साथ दिखाई जाती, तो अवश्य ही यह पुस्तक स्त्रियों के भी पढ़ने-योग्य होती। उपन्यास-लेखकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय सभ्यता और हिंदू-समाज की कीर्ति-रक्षा ही वास्तव में साध्य है, और उनका उपन्यास-लेखन केवल साधन-मात्र।

मातादीन शुक्ल

× × ×

जयश्री—लेखक, श्रीज्ञानचंद्र शास्त्री ; पृष्ठ-संख्या २०८; छपाई और कागज अच्छा ; मूल्य १) ; कदाचित् लेखक के नाम से और गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार के पते से प्राप्य।

इस पुस्तक में कथा-रूप से एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन किया गया है। संवत् ७७० के लगभग भारत पर अरबों का भयानक आक्रमण हुआ था। सेना-संचालकों में मुहम्मद बिन कासिम नाम का एक युवक भी था। यह खलीफ़ा का बड़ा भक्त था। इसकी देख-रेख में हिंदुओं पर घोर धार्मिक अत्याचार किए गए। इसने देवल के राजा का नहस-नहस करके, उसकी पुत्रियों को खलीफ़ा के पास भिजवाया था। पुत्रियाँ परम सुंदरी और बुद्धिमती थीं। उन्होंने खलीफ़ा से झूठ-मूठ कह दिया कि मुहम्मद बिन कासिम ने हमारा सतीत्व नष्ट कर डाला है। इस बात से खलीफ़ा मुहम्मद बिन कासिम से बहुत चिढ़ गया, और उसको बुरी तरह से बैल की खाल में सिलवाकर मरवा डाला। बाद को राजा की पुत्रियों ने खलीफ़ा को बतला दिया कि मुहम्मद बिन कासिम से बदला लेने के लिये हमने यह बात झूठ-मूठ कह दी थी। सच्ची बात जानकर खलीफ़ा को बड़ा पश्चात्ताप हुआ ; पर अब वह कर ही क्या सकता था। हाँ, उसने लड़कियों को अवश्य मरवा डाला। इन लड़कियों में एक का नाम 'जयश्री' था। समालोच्य पुस्तक का मूल कथा-भाग यही है। इस कथा का प्रवाह अन्य कथानकों के संयोग से रोचक बनाया गया है। इन लड़कियों का हाल मुसलमानी इतिहासों में भी पाया जाता है, और उसके द्वारा भारत के अतीत गौरव की सुंदर घोषणा होती है। हम ज्ञानचंद्रजी को, आत्माभिमान उत्पन्न करानेवाली तथा सच्ची ऐतिहासिक घटना से मंडित इस पुस्तक के लिखने के उपलक्ष्य में बधाई देते हैं, और चाहते हैं कि हिंदी-संसार में इस पुस्तक का आदर हो।

कृष्णबिहारी मिश्र

× × ×

४. चित्रकला

तिलक-अलबम—प्रकाशक, शिवनारायण मिश्र 'भिषग्रत्न', प्रकाश-पुस्तकालय, कानपुर ; मूल्य १)

इस चित्राधार में लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलक के भिन्न-भिन्न स्थितियों के कुल ६४ चित्र हैं। इन चित्रों में बहुत-से 'प्रभा' और 'प्रताप' में पहले प्रकाशित भी हो चुके हैं। अच्छा हुआ कि लोकमान्य के ये सब चित्र एक स्थान पर चित्राधार रूप में प्रकाशित कर दिए गए। सभी सादे चित्र हैं। लोकमान्य की जिन राजनीतिक नेताओं से समय-समय पर भेंट हुई थी, उनके चित्र भी प्रसंग-वश आ गए हैं। चित्राधार संग्रह-योग्य है।

× × ×

व्यंग्य-चित्रावली—प्रकाशक, शिवनारायण मिश्र 'भिषग्रत्न', प्रकाश-पुस्तकालय, कानपुर ; मूल्य १॥), सजिल्द ।

इस चित्राधार का विषय इसके नाम ही से स्पष्ट है। हिंदी-पुस्तक-एजेंसी की 'भाव-चित्रावली' जैसी निकली है, उसी के जोड़ की यह है; पर व्यंग्य के भाव इसमें भिन्न-भिन्न दिखलाए गए हैं। ये चित्र भी समय-समय पर 'प्रभा' और 'प्रताप' में निकल चुके हैं। इसमें राजनीतिक सभी प्रकार के व्यंग्य-चित्र हैं, और प्रायः सभी भाव-पूर्ण भी। केवल मनोरंजन के लिये नहीं, मस्तिष्क के लिये भी कुछ सामग्री इन चित्रों से मिलती है।

एक चित्रकार

× × ×

५. वैद्यक

आसव-विज्ञान—लेखक, स्वामी हरिशरणानंद वैद्य ; प्रकाशक, पंजाब-आयुर्वेदिक फ़ार्मेसी, अमृतसर ; स्फ़ुली साइज़ ; पृ० सं० १०३ ; छपाई, कागज़ साधारण ; मूल्य १)

पुस्तक का विषय उसके नाम ही से स्पष्ट है। आसव, अरिष्ट, सुरा आदि से संबंध रखनेवाली, पाश्चात्य साइंस द्वारा निर्द्धारित, अनेक ज्ञातव्य बातों का इसमें समावेश है। लेखक ने आसव और सुरा को एक ही माना है। जो वैद्य आसव आदि बनाते हैं, उन्हें इस पुस्तक से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। जो नहीं बनाते, उनकी भी अनेक अंशों में ज्ञानवृद्धि हो सकती है। पुस्तक अपने ढंग की अच्छी है। परंतु मूल्य बहुत अधिक है।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

६. बाल-साहित्य

सचित्र देशी खेल—संग्रहकर्ता और प्रकाशक, श्रीयुत रघुनंदन शर्मा, हिंदी-प्रेस, प्रयाग; आकार २०×३० सोलह-पेजी; कागज़, छपाई अच्छी ; पृष्ठ-संख्या १२८ ; मूल्य ॥)

इस पुस्तक में भारत के विविध प्रांतों में खेले जानेवाले आँधामिचौनी, भैंसा-कूदनी, धूप-छाया, कबड्डी, खो, मगरचाल, मोर-चाल, मेंडक-चाल, गढ़ा-गेंद, चील-कपट्टी, डुडुआ-चोर इत्यादि ४७ खेलों का उत्तम संग्रह है। कई खेलों के चित्र भी दे दिए गए हैं। इन खेलों से भारतीय बालक-बालिकाओं का मनोरंजन और साथ-ही साथ व्यायाम भी होगा। इन खेलों का प्रचार संपूर्ण सरकारी और राष्ट्रीय पाठशालाओं में शीघ्र ही हो जाना चाहिए। पुस्तक बहुत अच्छी है, और ऐसी सरल भाषा में लिखी गई है कि कम उमर के लड़के भी अच्छी तरह समझ सकते हैं। पुस्तक के अंत में शरीर को नीरोग तथा दृढ़ बनाने के लिये व्यायाम के कुछ सचित्र तरीक़े भी बतलाए गए हैं। प्रत्येक पाठशाला के पुस्तकालय में इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य होनी चाहिए। विद्यार्थियों को भी इससे उचित लाभ उठाना चाहिए।

दयाशंकर दुबे

× × ×

बाल-कवितावली—लेखक, श्रीनाथसिंह; प्रकाशक, शिशु-कार्यालय, प्रयाग ; मूल्य १) ; पृष्ठ-संख्या १८०

यह बाल साहित्य की पुस्तक 'शिशु-पुस्तक-माला' का चौथा फूल है। सब मिलाकर ११२ विषयों पर कविताएँ हैं। कविताओं में ख़ास बात यह है कि उनकी भाषा और भाव, दोनों बालकों के-से हैं। बच्चों को इसके पढ़ने में ज़रूर मज़ा आवेगा। पर कहीं-कहीं बालकों के लिये कुछ कर्कश शब्दों का आ जाना ज़रा खटकता है। 'बाल-विनय'-शीर्षक चित्र भाव-पूर्ण है। पुस्तक पं० गौरी-शंकर मिश्र को समर्पित है। अच्छी है।

× × ×

परियों का देश—लेखिका, श्रीमती गोपालदेवी ; प्रकाशक, शिशु-कार्यालय, प्रयाग ; मूल्य १) ; पृष्ठ-संख्या १२८

यह उपर्युक्त 'शिशु-पुस्तक-माला' का पाँचवाँ फूल है। बालक-बालिकाओं के पढ़ने-योग्य सरल, उपयोगी और मनोरंजक कहानियों का यह संग्रह है। लेखिका का अभिप्राय इस पुस्तक के द्वारा एक नए मार्ग का प्रदर्शन करना है। आपकी सम्मति में "हिंदी में बालक-बालिकाओं के लिये क़िस्से-कहानी की जितनी किताबें हैं, उनमें अधिकांश प्रायः ऐसी हैं, जिनमें राजा, रानी या राक्षसों आदि की मनोरंजक कथाओं के सिवा और कुछ नहीं है।......बाल-कथाओं में भी बालक-बालिकाओं के मनोभावों का चित्रित होना आवश्यक है।.....यह कमी मुझे सदैव खटकती रही है। इसी के दूर करने के अभिप्राय से मैंने यह कहानियों की किताब लिखी है।" इसमें कुल मिलाकर २८ कहानियाँ हैं। कहानियों के विषय अच्छे हैं, लिखे भी अच्छे ढंग से, अच्छी भाषा में, गए हैं। बालक रुचि से पढ़ेंगे। इन कहानियों में कई तो 'शिशु' में निकल भी चुकी हैं।

"समालोचक"

× × ×

मनोरंजक कहानियाँ—लेखक, जहूरबख़्श 'हिंदी-कोविद' ; प्रकाशक, चाँद-कार्यालय, इलाहाबाद ; पृष्ठ-संख्या २०८ ; मूल्य १); कागज़-छपाई उत्तम।

पुस्तक का विषय नाम ही से विदित हो जाता है। बालकों के हितार्थ जितनी कहानियों की पुस्तकें अब तक लिखी गई हैं, उनसे यह पुस्तक कहीं अधिक बढ़कर है। लेखक महाशय ने इस पुस्तक में १७ मनोरंजक कहानियाँ लिखी हैं। लेखन-शैली सरल और सरस है। कोई भी कहानी ऐसी नहीं, जिसे बालक-बालिकाएँ प्रेम से

न पढ़े। यह पुस्तक मैंने भैयालाल विद्यार्थी से पढ़वाई थी। प्रथम कहानी 'लक्ष्मी बहू' उस तीसरी कक्षा में पढ़नेवाले विद्यार्थी ने बिना ही रोक-टोक के इस तरह पढ़ सुनाई, मानो यह पुस्तक उसने कभी और भी पढ़ी हो। सारांश पूछने पर वह सारी कहानी सुनाने में कहीं न अटका। वास्तव में लेखक महाशय का परिश्रम सफल है। उनका वक्तव्य बिलकुल ठीक है। बालोपयोगी पुस्तक वही है, जिसके पढ़ने में बालकों का मन लगे। इस पुस्तक में लेखक महाशय ने एक और ज़बरदस्त खूबी रक्खी है। वह यह कि कई कहानियाँ तो उन्होंने ऐसी लिखी हैं, जिनमें उनका ही लिखना प्रतीत होता है; किंतु अनेक कहानियाँ ऐसी हैं, जिन्हें पढ़कर बालकों को यही विदित होता है कि यह जिसके ऊपर लिखी गई है, वह स्वयं ही कह रहा है। मेरी समझ के अनुसार लेखक महाशय ने यह बहुत ही ठीक किया है। यदि वह लेखन-शैली एक ही-सी रखते, तो संभव था कि बालकों का मन पूरी पुस्तक पढ़ने की ओर न जाता। बीच-बीच में लिखने की शैली बदल देने से पुस्तक बहुत ही उपयोगी हो गई है। इन छोटी-छोटी कहानियों में लेखक ने समाज का भी अच्छा खाका खींचा है। कहीं-कहीं पर तो लेखक महाशय ने अपनी क़लम इस तरह चलाई है कि पढ़ते ही एकदम आँसू आ जाते हैं, किंतु कहीं पर आप ऐसी नाराज़ी से लिखते हैं कि पढ़ने में भी वही भाव आ जाता है। 'जा, कुठीले में रक्खी है, निकालकर भकोस ले।' क्या ही ग़ुस्से से भरा स्वाभाविक सुंदर वाक्य है। वास्तव में कई माताएँ ऐसे ही शब्दों का प्रयोग करती हैं। इस पुस्तक में ऐसी कोई भी कहानी नहीं, जिसके पढ़ने में आनंद न आता हो। पूरी पुस्तक पढ़ने पर भी छोड़ने को जी नहीं चाहता। सात बहनें, बादशाह और वज़ीर, बादशाह और बालक, ये कहानियाँ तो अत्यंत ही रोचक और उत्तम हैं। बिना शिक्षा की तो कोई भी कहानी नहीं लिखी गई।

इस पुस्तक में मेरे मन में खटकनेवाली सिर्फ़ एक ही बात है। वह यह कि पुस्तक चित्रों से रहित है। यदि ऐसी उपयोगी तथा शिक्षाप्रद पुस्तक में कहीं चित्र और होते, तो सोने में सुगंध आ जाती। प्रकाशक महाशय अवश्य ही इस ओर ध्यान देंगे। बालकों के मन को मोहनेवाले चारु चित्र अधिक लाभकारी होते हैं। लेखक महाशय ने अपने वक्तव्य में यह साफ़ लिख दिया है कि यह पुस्तक १० वर्ष की अवस्थावाले बालकों के लिये लिखी गई है। इस पर प्रकाशक महाशय को अवश्य ही ध्यान देना था। अगले संस्करण में यह पुस्तक बड़े अक्षरों में, और दो भागों में, छापी जाय, तो अधिक लाभ होगा।

हरिप्रसाद द्विवेदी

× × ×

साधारण ज्ञान (दूसरा भाग)—संपादक, राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी बी० ए०, साहित्यरत्न; प्रकाशक, मिश्रबंधु-कार्यालय, जबलपुर; मूल्य ।=); पृष्ठ-संख्या १४२; स्कूली साइज़।

इस पुस्तक के पहले भाग का परिचय माधुरी की किसी पिछली संख्या में दिया जा चुका है। प्रस्तुत भाग मध्य-प्रांत के स्कूलों की चौथी हिंदी-कक्षा के लिये है। इस दूसरे भाग के तीन खंड किए गए हैं—(१) नया और पुराना जीवन, (२) नागरिक कर्तव्य और देश का प्रबंध, (३) सच्चरित्रता के नियम। और, तीनों भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा लिखे गए हैं। इसमें साधारण ज्ञान-संबंधी प्रायः सभी उपयोगी बातें आ गई हैं। तीसरा भाग कहानियों के रूप में दिए जाने के कारण कुछ अधिक रोचक है। अन्य प्रांतों को भी निम्न कक्षाओं के लिये ऐसी ही पुस्तकें रखनी चाहिए।

× × ×

कौतूहल-भांडार—लेखक, लाला संतराम बी० ए०; प्रकाशक, मिश्रबंधु-कार्यालय, जबलपुर; मूल्य १।); पृष्ठ-संख्या ११६; कागज़, छपाई मामूली; स्कूली साइज़।

पुस्तक में कुल मिलाकर ३१ कौतूहल-प्रद बातें तथा घटनाएँ दी गई हैं, जो पुस्तक के नाम को सार्थक करती हैं। लेखक ने अपने लेखों के अतिरिक्त अन्य १० लेखकों के एक-एक लेख भी इसी विषय के ले लिए हैं। पुस्तक मनोरंजक है, और वास्तव में 'कौतूहल-भांडार' है। साथ ही ज्ञानवर्द्धक भी।

मातादीन शुक्ल

× × ×

७ बँगला

ज्ञानी गुरु—लेखक, परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी निगमानंद परमहंस; प्रकाशक, सारस्वतमठ, पो० कोकिलामुख,

जोरहाट (आसाम) ; डबल क्राउन सोलहपेजी आकार; पृष्ठ-संख्या ४५० के लगभग ; मूल्य २॥) ; छपाई, कागज आदि अच्छा।

यह सारस्वत-ग्रंथावली की तीसरी पुस्तक है, और १६ वर्ष में इसके पाँच संस्करण हो चुके हैं। इसमें धर्म क्या है, धर्म की प्रयोजनीयता, हिंदू-धर्म, अधिकार-भेद, जाति-भेद आदि अनेक परिच्छेदों में बहुत-से ज्ञातव्य विषयों का सुंदर समावेश है। पुस्तक के तीन खंड या कांड हैं। पहला नाना कांड है, दूसरा ज्ञान-कांड और तीसरा साधन-कांड। पुस्तक में सुंदर और प्रबल युक्ति-तर्कों द्वारा ऐहिक एवं पारलौकिक तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है। भाषा भी प्रांजल है। हम बँगला जाननेवाले धर्म-जिज्ञासु लोगों से यह पुस्तक मँगाकर पढ़ने का अनुरोध करते हैं।

× × ×

माटिर घर—लेखक, श्रीशैलजानंद मुखोपाध्याय ; प्रकाशक, बरदा-एजेंसी, कॉलेज-स्ट्रीट-मार्केट, कलकत्ता ; पृष्ठ-संख्या १६५, मूल्य २) ; जिल्द सुंदर और मजबूत ; कागज मोटा एंटिक और छपाई बढ़िया।

श्रीयुत शैल बाबू बँगला के एक प्रसिद्ध लेखक हैं। आपके लिखने का ढंग और विषय निराला है। आप बहुधा उपन्यास या कहानियाँ लिखते हैं। आपकी कहानियों या लेखों के पात्र धनिक-श्रेणी के मनुष्य नहीं होते। आप अपनी रचनाओं में प्रायः निम्न कोटि के ग़रीब, मज़दूर, सताए गए पात्रों को ही उपस्थित करते हैं। उन्हीं के सुख-दुःख का, दैनिक चर्या का, जीवन के प्रत्येक पहलू का परिचय देने में आपकी लेखनी पटुता दिखाती है। यह एक उपन्यास है। इसमें जो कथानक है, वह बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। पढ़ते-पढ़ते तन्मय हो जाना पड़ता है। हिंदी में आजकल के नए अनुवादक आँख मूँदकर बँगला के कूड़ा-कर्कट का अनुवाद किए डाल रहे हैं। उनसे हमारा निवेदन है कि यदि वे शैल बाबू की किसी पुस्तक का हिंदी में अनुवाद करके, हिंदी के लेखकों को श्रमिक-श्रेणी के संबंध में पुस्तक-रचना की राह दिखावेंगे, तो एक उल्लेख-योग्य कार्य करेंगे। शैल बाबू लगभग ६-७ उपन्यास लिख चुके हैं।

× × ×

अतसी—लेखक और प्रकाशक वही ; मूल्य १॥) ; पृष्ठ-संख्या १७८ ; जिल्द, कागज और सफाई आदि मनोहर।

यह एक कहानियों का संग्रह है। इसमें 'अंसदर्धेर यात्री एरा, बनर्जी, जामाता, बाबाजीउ, बाजीगर, आलो-आँधारी और आत्रेयी आतुरानी एखो आमार घर के, ये छः कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ भी शैल बाबू की विशेषता से परिपूर्ण हैं। पहले की पाँच कहानियाँ तो सार्वदेशिक हैं, केवल अंतिम कहानी ख़ास बंगाली-समाज की चीज़ है। कहानियाँ सब पढ़ने-योग्य और असर डालनेवाली हैं। हिंदी-भाषाभाषियों में जो सज्जन बँगला जानते हैं, उन्हें ये दोनों पुस्तकें मँगाकर अवश्य पढ़नी चाहिए।

एक बंगाली

× × ×

८ पत्र-पत्रिकाएँ

रफ़ीक़ुल तालीम (उर्दू-मासिक पत्र)—संपादक, लाला रघुनाथसहाय ; प्राप्ति-स्थान—'रफ़ीक़ुल तालीम'-एजेंसी लाहौर ; वार्षिक मूल्य ३)

यह उर्दू-भाषा का शिक्षा-संबंधी मासिक पत्र है। समालोच्य संख्या १०वीं जिल्द की पहली संख्या है। इसमें ६४ पृष्ठों में प्रायः २४ छोटे-छोटे लेख हैं। ३ सादे चित्र भी हैं। लेखों में डॉक्टर क़ाज़ी अब्दुललतीफ़ एम्० ए० का लिखा 'अमेरिका की युनिवर्सिटियाँ' तथा लाला गौरदास राम ल्लावड़ा का 'हिंदोस्तानी तालीम की तारीख़' अच्छे जान पड़ते हैं। यह पत्र पंजाब-प्रांतीय शिक्षा-विभाग की संरक्षकता में निकलता है, इसलिये इसकी आर्थिक स्थिति अच्छी होनी चाहिए। हम पत्र की उन्नति चाहते हैं।

× × ×

हिंदुः (मासिक)—संपादक, प० कालूराम शास्त्री ; प्रकाशक ; प० कामताप्रसाद दीक्षित, अमरौधा, जिला कानपुर ; वार्षिक मूल्य १॥)

इसकी ७ संख्याएँ फ़रवरी तक निकल चुकी हैं। भिन्न-भिन्न विषयों पर छोटे-छोटे लेख रहते हैं।

× × ×

संकीर्तन-समाचार (मासिक)—संपादक, श्रीगोकुलानंद-प्रसाद वर्मा ; पत्र-व्यवहार का पता—मैनेजर, भक्ति-प्रचार सत्संग-कुटी, मेहदीचक, भागलपुर ; वार्षिक मूल्य २)

है तो यह वैष्णव-धर्म-संबंधी पत्र; पर इसमें "आत्म-विद्या" भी सम्मिलित है। अभी जनवरी से निकलने लगा है। बहुत ही साधारण पत्र है।

× × ×

ब्रह्मचारी (मासिक)—संपादक, धर्मरत्न पं० केदारनाथ शर्मा; प्रकाशक, पं० मोहनलाल गौड़, ब्रह्मचारी-कार्यालय, देहरादून; वार्षिक मूल्य २)

यह हरद्वार के ऋषिकुल-ब्रह्मचर्याश्रम का मासिक मुख-पत्र है। इसको निकलते ७ वर्ष हो चुके। ऐसी संस्था के पत्र को गंभीर और रोचक बनाने की आवश्यकता है।

× × ×

विधवा-बंधु (मासिक)—संपादक, दीनानाथ सिद्धांतालंकार; प्रकाशक, विधवा-विवाह-सभा, लाहौर; वार्षिक मूल्य २)

उक्त संस्था का यह मुख-पत्र है। संस्था की ओर से उर्दू और अँगरेज़ी में भी इसी विषय के पत्र निकलते हैं। उद्देश्य प्रशंसनीय है। देश की सामाजिक स्थिति, विधवाओं की दुर्दशा और भारतवासियों की मानसिक प्रवृत्ति पर यह पत्र अच्छा प्रकाश डालता है।

× × ×

उपन्यासमाला (मासिक)—संपादक, श्रोत्रिय जगदीशदत्त विद्याविनोद; उपन्यास-माला, बिजनौर से प्राप्त, वार्षिक मूल्य २)

पत्र का विषय नाम से ही स्पष्ट है। अभी जनवरी से निकलने लगा है। उन्नतिशील जान पड़ता है।

× × ×

पथ-प्रदर्शक अर्थात् वैद्य-भूषण (मासिक)—संपादक तथा प्रकाशक, राजवैद्य धर्मदेव कविभूषण, वैद्यरत्न; वार्षिक मूल्य १)

वैद्यक-संबंधी जहाँ कई छोटे-छोटे पत्र निकलते हैं, उन्हीं में इसे भी समझना चाहिए। इसका उद्देश्य प्राचीन आयुर्वेदिक प्रणाली का प्रचार करना है। पत्र साधारण है।

× × ×

मारवाड़-जैन-सुधारक (मासिक)—संपादक और प्रकाशक, वी० वी० सिंघी, मंत्री, मारवाड़-जैन-सुधारक सभा, सिरोही; वार्षिक मूल्य २॥)

यह जैन-संप्रदाय का पत्र है। जैन-धर्म-संबंधी बातें प्रायः रहा करती हैं। संप्रदाय-विशेष के अपनाने की वस्तु है।

× × ×

यादव (पाक्षिक)—संपादक, चौधरी रणजीतसिंह यादव; प्रकाशक, शिवप्रसाद यादव, यादव-ऑफिस, गोरखपुर; वार्षिक मूल्य ३)

इस पत्र का कुछ भाग तो अँगरेज़ी में और कुछ हिंदी में रहा करता है। जाति-विशेष का पत्र है। अच्छा है।

× × ×

महाब्राह्मण (मासिक)—संपादक, हीरालाल मिश्र; महाब्राह्मण-कार्यालय, गुलज़ार बाग, पटना से प्रकाशित; वार्षिक मूल्य १॥)

यह ऐसा पत्र है, जिसे देखकर कहना पड़ता है कि ऐसे पत्र न निकलें, तभी अच्छा। फिर भी यह विविध 'विषय-संपन्न' है!

× × ×

आर्य (मासिक)—संपादक, श्रीचमूपति; वार्षिक मूल्य ३) गुरुदत्त-भवन, लाहौर से प्राप्त।

यह आर्य-प्रतिनिधि-सभा, पंजाब का मुख-पत्र है, और एक विद्वान् द्वारा संपादित होता है। इसमें अच्छे-अच्छे विद्वत्ता-पूर्ण लेख निकलते हैं। छठे भाग की छठी संख्या हमारे सामने है। इसमें 'वेद का विचित्र विज्ञान' और 'भूत-विद्या' लेख विशेष रूप से पठनीय हैं। हम इस पत्र का प्रचार चाहते हैं।

× × ×

निपुण व्यापारी (मासिक)—संपादक, दुलीचंद गोविला; वार्षिक मूल्य ३); पत्र-व्यवहार का पता—मैनेजर, निपुण व्यापारी, दिल्ली।

यह "व्यापार, शिल्प और उद्योग-व्यवसाय का मुख्य मासिक पत्र" है, जैसा कि इसके नाम से भी स्पष्ट है। शिल्प-कला पर जो नोट्स रहते हैं, वे कुछ अच्छे हैं। पत्र को अपना नाम सार्थक करने के लिये काफ़ी गुंजाइश है।

× × ×

कसौधन-मित्र (मासिक)—संपादक और प्रकाशक, मुन्नीलाल; वार्षिक मूल्य १॥); प्राप्ति-स्थान—भागलपुर।

यह कसौधन-वैश्य-जाति का पत्र है, अतएव वे ही इसे पढ़ सकते हैं। सर्वसाधारण के काम का नहीं है। बहुत ही साधारण कोटि का पत्र है।



इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुबीते के लिये प्रति मास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास नीचे-लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

(१) "हुस्सिंग की भारत-यात्रा", पं० संतराम बी० ए०-कृत अनुवाद। मूल्य २॥।)

(२) "गोपालन", मूल्य ॥।)

(३) "दाग़-जिगर", श्रीरामनाथलाल 'सुमन'-कृत : कविवर जिगर का काव्य-संग्रह। मूल्य १।)

(४) "बौद्धकालीन भारत", श्रीजनार्दन भट्ट-लिखित ऐतिहासिक पुस्तक। मूल्य २), ३)

(५) "साहित्य-प्रभाकर", श्रीरामशंकर त्रिपाठी-कृत संग्रह : काव्य-पुस्तक। मूल्य ३॥), ४)

(६) "वीर छत्रसाल", श्रीयुत कन्हैयालाल बी० ए० 'तसव्वर'-लिखित नाटक। मूल्य ॥।)

(७) "मदिरा-देवी", श्री एम्० आरज़ू साहब बदायूँनी-लिखित नाटक। मूल्य ॥≈)

(८) "झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई", श्रीयुत दत्तात्रय-बलवंत पारसनीस की मराठी-पुस्तक के अनुवाद का द्वितीय संस्करण। मूल्य १।)

(९) "बंगाली बाबू", "कठपुतली", "विषविवाह", श्रीयुत दुर्गाप्रसाद खत्री द्वारा संपादित गल्प-संग्रह। मूल्य ।) प्रति पुस्तक

(१०) "सरस्वतीचंद्र", श्रीयुत गोवर्द्धनराम-माधवराम त्रिपाठी बी० ए०-लिखित : पं० नरोत्तम व्यास द्वारा अनुवादित : उपन्यास : दूसरा खंड। मूल्य २), २॥)

(११) "पंचपल्लव", श्री० प्रभातकुमार मुखोपाध्याय-लिखित : पं० लक्ष्मीप्रसाद पांडेय द्वारा अनुवादित ; गल्प-संग्रह। मूल्य १॥)

(१२) "गल्प-गुच्छ", कवींद्र रवींद्र-लिखित : पं० रूपनारायण पांडेय द्वारा अनुवादित : गल्प-संग्रह : ३-४ भाग। मूल्य १) प्रति भाग।

(१३) "राजा-रानी", वही लेखक, और वही अनुवादक : नाटक। मूल्य १।)

(१४) "ज़हरी साँप", पं० नारायणप्रसाद 'बेताब'-लिखित नाटक। मूल्य ॥)

(१५) "गोरखधंधा", पं० नारायणप्रसाद 'बेताब'-लिखित नाटक। मूल्य ॥)

(१६) "बीरबल-विवेक", बीरबल के चुटकुलों का संग्रह। मूल्य ।≈)

(१७) "अमृतांजलि", हवन, संध्या, पंचयज्ञ इत्यादि का संग्रह। मूल्य ।≈)

(१८) "मेरी जर्मन-यात्रा", "मेरी कैलास-यात्रा", "संगठन का बिगुल", स्वामी सत्यदेवजी-कृत पुस्तकों का तृतीय संस्करण। मूल्य क्रमशः १), ॥≈), ॥)

(१९) "आरोग्य-प्रदीप", श्रीयुत गुलाबचंद जैन द्वारा अनुवादित। मूल्य १≈)



१. "आयुर्वेद-महत्त्व"



दि संसार की सभ्यता का इतिहास देखा जाय, तो भारतवर्ष की सभ्यता सबसे प्राचीन ठहरती है। इस बात को कुछ विदेशी तो स्पष्ट शब्दों में और अधिकांश दबी-ज़बान से स्वीकार कर चुके तथा करते जा रहे हैं। इसी के साथ-साथ आयुर्वेद की प्राचीनता अथच महनीयता भी स्थापित है। किंतु इधर पाश्चात्य विद्वान कर क्या रहे हैं कि हमारी ही साइंस को नया रूप देकर अपनी मौलिकता का डंका पीटते हैं। पर उनके लाख प्रयत्न करने पर भी हमारी सभ्यता की प्राचीनता तथा महनीयता छिपी नहीं रह सकती। कई बार इस पर प्रकाश डाला जा चुका है। किंतु हमारे आयुर्वेद की महत्ता को स्वीकार करके भी ब्रिटिश-राज्य में, भारतवर्ष में, आयुर्वेद को कभी राजकीय आश्रय नहीं दिया गया। फलतः देश की जल-वायु के अनुसार उत्पन्न रोगों का विदेशी औषधोपचार से इलाज किए जाने का परिणाम उलटा हुआ। हमारे देशवासियों को इस बात की शिकायत है कि सरकार सब कुछ जान-बूझकर भी हमारी आयुर्वेद-चिकित्सा को प्रश्रय नहीं दे रही है। न-जाने कितनी बार आयुर्वेद-महामंडल की ओर से इसका उद्योग किया गया; किंतु कुछ तो व्यापारिक लाभ की दृष्टि से, कुछ राजनीतिक दृष्टि से और कुछ हठधर्मी से आज तक देश के ख़र्चे से चलनेवाले अस्पतालों में देशी चिकित्सा-पद्धति, सस्ती, लाभप्रद तथा इस देश के सर्वथा अनुकूल होने पर भी, जारी नहीं हुई। यही नहीं, एसेंबली और लोकल कौंसिलों में बैठनेवाले कुछ स्वनामधन्य अँगरेज़ी सभ्यता के उपासकों ने तो आयुर्वेद के हिमायतियों को खुल्लम-खुल्ला चैलेंज भी दिया। अभी बहुत दिन की बात नहीं है, युक्तप्रांतीय व्यवस्थापिका सभा में डॉ० मेजर रणजीत-सिंह ने भी १४ दिसंबर, १९२२ को आयुर्वेद-चिकित्सा को पुनः प्रचारित करने के संबंध के एक प्रस्ताव का कड़े शब्दों में विरोध एवं आयुर्वेदिक प्रणाली की भर्त्सना की थी। यह "आयुर्वेद-महत्त्व" वास्तव में उसी ललकार का उत्तर है। आयुर्वेद-महत्त्व के निर्माता विद्या-वाचस्पति पं० शालग्राम शास्त्री, साहित्याचार्य ने, इस पुस्तक द्वारा उचित एवं उपयुक्त उत्तर देकर, वास्तव में आयुर्वेद की कीर्ति की रक्षा की है। साथ ही, एलोपैथी के माननेवाले तथा अन्य पाश्चात्य विद्वान जो यह कह दिया करते हैं कि आयुर्वेद एक पुरानी पद्धति है, तथा जीर्ण शीर्ण और उसमें नवीन आविष्कार नहीं होते, उस कलंक को भी शास्त्रीजी ने वैद्यों के मस्तक से मिटा दिया है। ऐसा उत्तम एवं खोज का



विद्या-वाचस्पति पं० शालग्राम शास्त्री, साहित्याचार्य

ग्रंथ लिखने के लिये हम शास्त्रीजी को बधाई देते हैं। "आयुर्वेद-महत्त्व"-शीर्षक जो लेख चैत्र की माधुरी में छपा था, उसमें इस ग्रंथ का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। अतएव यहाँ उसके दुहराने की ज़रूरत नहीं। पुस्तक में शास्त्रोक्त प्रमाणों के बल पर शास्त्रीजी ने आयुर्वेद का महत्त्व दिखला दिया है, और यह भी स्पष्ट बतलाया है कि पश्चिमी साइंस उतनी गहराई तक न तो खोज ही कर सकी है, और न कभी कर सकेगी, जितनी गहराई तक आयुर्वेद के रचयिता ऋषि-मुनि न-जाने कितने वर्षों पूर्व कर गए हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्रीजी ने उसमें यह भी सतर्क एवं सप्रमाण सिद्ध किया है कि एलोपैथी का प्रचार केवल व्यापारिक, राजनीतिक एवं हठधर्मी के कारण ही यहाँ हो रहा है। ग्रंथ को देखकर हम तो यही समझते हैं कि जिस प्रकार प्रलय-काल में संसार के जलमय हो जाने पर अक्षय-वट खड़ा रहता है, उसी प्रकार पाश्चात्य साइंस के इस व्यापक क्षेत्र में शास्त्रीजी का यह खोज-पूर्ण ग्रंथ अक्षुण्ण स्थित है। और, हम उत्सुकता-पूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं कि एलोपैथी के दमदार हामी उनके इस खुले चैलेंज का क्या उत्तर देते हैं। हमें इस बात का गर्व है कि आज आयुर्वेद की इस गिरी हुई दशा में भी उसकी मर्यादा के संरक्षक शास्त्रीजी-जैसे विद्वान् मौजूद हैं। आपके इस ग्रंथ का हृदय से स्वागत है।

× × ×

२. विश्वविद्यालयों में हिंदी

महाविद्यालयों, विद्यापीठों, शिक्षा-संस्थाओं और विश्वविद्यालयों के हमेशा दो पहलू रहते हैं — एक शिक्षा-संबंधी, दूसरा शिक्षण-संबंधी। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। पहले का संबंध शिक्षा-प्रणाली, पाठ्यक्रम, शिक्षा-माध्यम और शिक्षा-उद्देश्य से है, और दूसरे का शिक्षण-कला की योग्यता, गंभीर ज्ञान एवं अनुभव से। जिन देशों में कला की महत्ता समझी जाती है, वहाँ उपर्युक्त दोनों दिशाओं का तारतम्य देश को लक्ष्य में रखकर मिलाया जाता है। यही कारण है कि उन्नत देशों में शिक्षा का मधुर फल हमें कला के रूप में मिलता है।

हमारे देश की भी निद्रा कुछ दूर हो चली है, और यह बड़े गौरव की बात है कि प्रथम पहलू के एक भाग— शिक्षा-माध्यम की आवश्यकता एवं वास्तविकता— का अनुभव किया जा रहा है। अब हमारे विश्वविद्यालयों में भी माध्यम राष्ट्र-भाषा हिंदी रक्खी जाने लगी है। सबसे प्रथम इसका सूत्रपात, प्रांतिक भाषा की दृष्टि से, कलकत्ता-विश्व-विद्यालय में हुआ। उस समय देश को राष्ट्रीयता का ज्ञान यथेष्ट नहीं था, प्रांतिकता ही सब कुछ समझी जाती थी। किंतु इधर समय पलटा और हिंदी की— राष्ट्र-भाषा की— उपयोगिता सचमुच महसूस की गई। काशी के हिंदू-विश्व-विद्यालय ने इस दिशा में पथ-प्रदर्शक का भाग लिया। उसी के पद-चिह्नों का अनुसरण कर अन्य विश्वविद्यालयों में भी हिंदी को प्रश्रय दिया जाने लगा। यद्यपि अभी इस पहलू के अन्यान्य अंगों का नियंत्रण विदेशी सरकार द्वारा ही किया जाता है, फिर भी इसमें संदेह नहीं कि

दूसरे पहलू की पूर्ति हिंदू-विश्वविद्यालय ने विदेशी आदर्श पर की है। उसने देखा कि किसी ख़ास विषय के पढ़ाने के लिये उस विषय के पंडित ही नियुक्त किए जायँ, और उसने इसका अनुसरण ही नहीं, पालन भी किया। जर्मनी आदि उन्नत देशों के विश्वविद्यालयों में उमर और डिग्रियों की कोई क़ैद नहीं रहती। वहाँ व्यक्ति-विशेष की तद्विषयक ज्ञान की योग्यता ही एक-मात्र कसौटी मानी जाती है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय और रामचंद्र शुक्ल की हिंदी-व्याख्याता के पदों पर नियुक्ति इसी आदर्श पर, कम-से-कम हिंदू-विश्वविद्यालय में, हुई थी। पर इधर कुछ यह देखने में आ रहा है कि सरकार इस दिशा में, प्रांतिक विश्वविद्यालयों में, अपनी ही नीति का पालन कराना चाहती है। सरकारी नीति से निर्धारित विश्वविद्यालयों को डिग्रियों और बड़े-बड़े लोगों की सिफ़ारिशों की क़ैद कहीं-कहीं तो, अपनी टाँग अड़ाकर, उसने लगा ही दी है, और अन्यत्र भी चेष्टा कर रही है। हिंदी-व्याख्याता नियुक्त करने के संबंध में भी आज यही बात हमारे सुनने में आ रही है।

पर इसका परिणाम कुछ बुरा होने की आशंका है। प्रायः जिन ग्रेजुएटों की नियुक्ति की जाती है, वे हिंदी के योग्य विद्वान् नहीं होते। युनिवर्सिटी की डिग्री ले लेना और हिंदी-साहित्य का ज्ञान होना, दोनों भिन्न-भिन्न बातें है। नागपुर-विश्वविद्यालय में इस समय यही प्रश्न उपस्थित है कि कोई ग्रेजुएट ही हिंदी-व्याख्याता नियुक्त किया जाय। ग्रेजुएटों के संबंधी सरकारी कर्मचारी भी इसका अनुमोदन करते हैं। पर हमारे सामने ऐसे ग्रेजुएटों की कोई विशेष योग्यता-पूर्ण स्थिति नहीं रह जाती, जब हम यह देखते हैं कि हिंदू-विश्वविद्यालय में ही—जहाँ हिंदी के ग्रेजुएट तैयार करने का आयोजन है, और जहाँ के ग्रेजुएट हिंदी के आचार्य माने जा रहे हैं—इन ग्रेजुएटों के निर्माता हिंदी के प्रोफ़ेसर स्वयं ग्रेजुएट नहीं हैं। इसका उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं। कहने का आशय यह कि आज भी हिंदी के ऐसे विद्वान् मौजूद हैं, जिन्होंने डिग्री तो नहीं प्राप्त की, पर डिग्री-धारियों के पढ़ाने का दम रखते है। ऐसी स्थिति में हमें तो यही मालूम पड़ता है कि नागपुर-विश्वविद्यालय में भी सरकार डिग्रीधारी, किंतु शिक्षण और साहित्यिक ज्ञान से अधिकांशतः अनभिज्ञ ग्रेजुएटों को व्याख्याता नियुक्त करवाने की कोशिश करके केवल अपनी युनिवर्सिटी-पालिसी का समर्थन कराने तथा महत्त्व स्थापित करने की फ़िक्र कर रही है। हमारी सम्मति में यह नीति अच्छी नहीं। अब वह समय नहीं रहा कि इस देश के प्रजा-प्रतिनिधि विदेशी नीति द्वारा निर्धारित शिक्षा-नीति का अनुसरण करते रहें। इसलिये युनिवर्सिटी के लेक्चरर नियुक्त करते समय न तो कोई उमर की क़ैद होनी चाहिए, और न डिग्री का प्रश्न ही आना चाहिए। वास्तव में व्याख्याताओं का प्राचीन साहित्य का ज्ञान और हिंदी की योग्यता ही ऐसी कसौटी है, जिस पर वे कसे जा सकते हैं। तभी गुणग्राहकता और योग्य व्याख्याताओं का सम्मान हो सकता है। हमारे देश में डिग्री के भूत ने कुछ ऐसा रंग जमा रक्खा है कि बेचारे उपयुक्त पात्र तो रह जाते हैं, और उनकी जगहें ऐसे महाशयों को दे दी जाती है, जिन्हें हिंदी-साहित्य का सचमुच पढ़ाने-योग्य ज्ञान तक नहीं रहता, जो प्राचीन साहित्य के रूप को खुद नहीं समझ सकते। इस भूत के झाड़ने का हम एक उपाय बताते हैं। वह यह कि यदि विश्वविद्यालय चाहें, तो किसी विशेष पद के लिये एक सर्वांगीण ज्ञान की विशेष परीक्षा (Competitive Examination) रख लें। इस दशा में उन्हें एक तो चुनाव करने में सहूलियत होगी; दूसरे योग्य व्यक्तियों को उचित सम्मान प्राप्त करने का मौक़ा मिलेगा; तीसरे सरकारी कर्मचारियों के रिश्तेदार सिफ़ारिशी टट्टुओं से विश्वविद्यालय बचे रहेंगे। वैयक्तिक गंभीर ज्ञान एवं योग्यता के सामने हमारी दृष्टि में सिफ़ारिशों और डिग्रियों का कोई मूल्य नहीं लगाया जा सकता। कम-से-कम जर्मनी और अमेरिका आदि उन्नत देशों में ऐसा ही होता है। क्या उनका यह आदर्श हमारे देश में ग्राह्य नहीं हो सकता ?

× × ×

३. साहित्य-सम्मेलन का शोक

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन एक ज़िम्मेदार संस्था है। हिंदी की वर्तमान प्रगति, प्रचार और व्यापकता में उसने जो भाग लिया है, वह किसी से छिपा नहीं। फिर भी हम यह देखते हैं कि उसका कुछ अपमान-सा हो रहा है, और वह भी उन्हीं के द्वारा, जिन्हें सम्मेलन के आंदोलन के बाद ही हिंदी का महत्त्व विदित हुआ है। कम-से-कम देश के भिन्न-भिन्न प्रांतीय शिक्षा-विभाग और विश्वविद्यालय ऐसी ही संस्थाएँ है, जिन्होंने हिंदी का उचित आदर सम्मेलन के अनवरत आंदोलन के बाद ही किया है। तो भी देखने में यह आता है कि कुछ तो प्रांतीय शिक्षा-विभाग और

न विश्वविद्यालय हो सम्मेलन की उचित सम्मति से काम करते हैं—काम करने की कौन कहे, राय तक नहीं लेते। देशी राज्यों के शिक्षा-विभागों में कुछ अब भी ऐसे हैं, जो अपने यहाँ हिंदी-शिक्षकों की नियुक्ति के संबंध में साहित्य-सम्मेलन की सम्मति का आदर करते हैं। सरकारी शिक्षा-विभागों और विश्वविद्यालयों का यह भारी दोष है कि वे हिंदी-साहित्य-सम्मेलन-जैसी हिंदी की एक प्रतिनिधि-संस्था की सम्मति का हिंदी-अध्यापकों की नियुक्ति के समय भी, मूल्य तक नहीं लगाना चाहते। यही सरकारी शिक्षा-संबंधी नीति है, जिसे दुरुस्त करने के लिये सम्मेलन को अपनी शक्ति से काम लेना होगा। जब तक सम्मेलन अपनी ओर से ऐसा उद्योग न करेगा कि सरकारी विश्वविद्यालयों और शिक्षा-विभागों की उच्च पाठशालाओं में उसी के चुने हुए योग्य व्याख्याता और शिक्षक नियुक्त किए जायँ, तब तक सरकार भी उसकी परवा न करेगी। हम सम्मेलन का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि वह अपनी शक्ति से काम ले—ऐसा आंदोलन उठावे कि उसी के चुने हुए योग्य विद्वान्, साहित्यज्ञ व्याख्याता एवं शिक्षक शिक्षा-संस्थाओं में पहुँचें। और, विश्वविद्यालयों से हमें यह कहना है कि अपने यहाँ व्याख्याता नियुक्त करते समय वे सबसे प्रथम साहित्य-सम्मेलन से योग्य विद्वान् माँगें। तभी योग्य विद्वानों की जो जगहें कोरे डिग्रीधारी अथवा ख़ाली ढिंढोरा पीटनेवाले महाशय पा जाते हैं, वे वास्तव में हिंदी के विद्वानों को मिलेंगी। हिंदू-विश्वविद्यालय ने जिस कसौटी पर अध्यापकों की नियुक्ति की है, उसी के अनुसार काम करना क्या अधिक श्रेयस्कर न होगा? सम्मेलन इस कार्य में विश्वविद्यालयों को सहायता दे सकता है। फिर इस सहायता से क्यों न लाभ उठाया जाय?

× × ×

४. युक्तप्रांत में हिंदी

आख़िर सुबह का भूला हुआ शाम तक घर आ गया। मध्यप्रांत आदि शिक्षा-विभागों को देखकर उधर बंबई-प्रांत में मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में हिंदी को स्थान दिया गया, और इधर युक्तप्रांत में माध्यम हिंदी कर दी गई। इसके लिये हम दोनों को बधाई देते हैं। अब प्रश्न यह आता है कि माध्यम तो युक्तप्रांत में हिंदी हो गई, लेकिन शिक्षकों का आयोजन कैसे हो? हमारी सम्मति में यह कठिनाई बड़ी आसानी से दूर की जा सकती है, अगर सरकार हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की शक्तियों से भी काम ले।

दूसरा प्रश्न है सभी विषयों के मातृभाषा में पढ़ाए जाने का। इस संबंध में हमें यह विचार करना होगा कि किन-किन विषयों की पुस्तकें हिंदी में काम चलाने-योग्य मौजूद हैं, और किन-किनकी ज़रूरत है। किंतु जब तक पुस्तकें, टेक्स्टबुक-कमेटी की सम्मति में, तैयार न हो जायँ—यद्यपि हम यह जानते हैं कि कुछ विषयों की पाठ्य-योग्य पुस्तकें हिंदी में मौजूद हैं—तब तक योग्य शिक्षकों की सहायता का उपयोग इस दिशा में किया जाय। सबसे अच्छा तो यह होगा कि अनुभवी शिक्षकों से ही पुस्तकें हिंदी में लिखाई जायँ। हिंदी-माध्यम को सफल बनाने के लिये दोनों अन्योन्याश्रित अंगों—शिक्षकों और पाठ्य-पुस्तकों—का समीकरण करना ही सुलभ एवं अचूक साधन है।

× × ×

५. साहित्यिक क्षमा

संसार में क्षमा के जितने स्वरूप हैं, उन्हीं में एक साहित्यिक क्षमा को भी समझना चाहिए। किंतु क्षमा के अन्य रूपों की अपेक्षा उसके इस रूप में कुछ विशेषता है। प्रायः क्षमा के दो ही कारण देखने में आते हैं। एक तो तब, जब कि अपराधी की अंतरात्मा वास्तव में अपने अपराध को स्वीकार करती है, और उसे क्षमा माँगने में कोई संकोच या भय नहीं, प्रत्युत हर्ष एवं आह्लाद होता है। यह मनुष्य के आत्मिक बल का सर्वोत्कृष्ट परिचय है, और यही श्लाघ्य भी है। दूसरे तब, जब कि अपराध न सूझने, आत्मीयता के कारण उसे महसूस न करने अथवा अपराध का निश्चय न होने पर भी कोई व्यक्ति केवल शिष्टाचार अथवा लोकाचार के लिये अपने को, दबी-ज़बान से, अपराधी स्वीकार करता और क्षमा माँगता है। यह वास्तव में क्षमा नहीं, प्रत्युत आडंबर है—आडंबर-पूर्ण क्षमा है, अथवा, दूसरे शब्दों में, यह लोकाचार-मात्र है। क्यों? क्योंकि अपराध सिद्ध होने पर ऐसा व्यक्ति हठधर्मी की शरण लेने लगता है; अपने अपराध को, अपनी त्रुटियों को तो स्वीकार नहीं करता, वरन् उलटे अपनी निर्दोषता का विश्वास दिलाने की क्रियात्मक चेष्टाएँ किया करता है। साहित्यिक क्षेत्र में इसी दूसरे कारण से उद्भूत क्षमा का रूप देखने में आता है, और फिर इसके

रूपांतर अथवा उपरूप भी दृष्टिगोचर होते हैं। नीचे हम उदाहरणों द्वारा अपने कथन को स्पष्ट किए देते हैं।

यह रूप बहुधा अनुवाद और संग्रह-ग्रंथों में देखने में आता है। मौलिक ग्रंथों में प्रायः यह रूप नहीं मिलता। आज की साहित्यिक प्रगति यह है कि जिसे कुछ नहीं सूझता, वह संग्रह-ग्रंथ ही तैयार करके ग्रंथकारों में अपना नाम लिखाता है। हम किसी ख़ास ऐसे ग्रंथ का उल्लेख न कर केवल यही कहना चाहते हैं कि पाठकगण आज तक निकले हुए ऐसे ग्रंथों, पुस्तकों और पुस्तिकाओं को स्वयं देख लें। उन्हें प्रायः प्रत्येक ऐसी पुस्तक में इस आशय के वाक्य लिखे मिलेंगे—"प्रूफ़-रीडिंग की भूल से बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं", "सैकड़ों कवि छूट गए हैं", "समयाभाव से इसका संपादन ठीक नहीं हो सका", "भाषा-संबंधी त्रुटियाँ भी इसमें होंगी", "अवकाश के अभाव से समय खोजने के लिये मैं दूसरे ग्रंथों से सहायता नहीं ले सका", "बहुत-से स्वनाम-धन्य और प्रतिष्ठित लेखकों की रचनाएँ स्थानाभाव से नहीं दी जा सकीं", "मैं कवि नहीं, काव्य-मर्मज्ञ नहीं, इस दृष्टि से भी क्षमा पाने का अधिकारी हूँ", "मेरा उद्देश्य ग्रंथ रचना नहीं, केवल मनोरंजन है", "अनुवाद में त्रुटियाँ होंगी" इत्यादि। इसी कोटि के और भी वाक्य मिल सकते हैं। अस्तु, इन वाक्यों अथवा इसी कोटि के इसी आशय के अन्यान्य वाक्यों का क्या अभिप्राय हो सकता है, यह प्रश्न भी अब सामने आता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि यह केवल लोकाचार के लिये क्षमा-याचना है। बहुधा ऐसी ही क्षमा आजकल ग्रंथों के रचयिता माँगा करते हैं। अब यदि कोई इनसे यह पूछे कि फिर आपको इस अनधिकार-चेष्टा का अधिकार क्या है कि दूसरों की वस्तु को अपनी करके—नहीं अपनी-सी बनाकर, संशोधन की दृष्टि से दूसरों की रचना में अनुचित सुधार करके, अपनी छाप लगाकर, क्षमा माँगने के लिये आप हाथ जोड़कर खड़े हों, और उसकी आशा करें?, यदि यह क्षमा-याचना सचमुच क्षमा-याचना है, तो आंतरिक होनी चाहिए। यह आडंबर क्यों? और, अपराध को स्वीकार करने और क्षमा माँगने के पूर्व आपने कौन-सा प्रायश्चित्त करने का निश्चय किया है? यदि आपको इतना ज्ञान था कि यह अपराध है, तो फिर आपने किया क्यों? इस दशा में क्या आपको दंड न मिलना चाहिए? यह तो ज्ञान की अवस्था में अपराध है, पागलों का नहीं। और, जब आपने जान-बूझकर ही कर डाला है, तो क्षमा प्राप्त करके, दंड न स्वीकार करके अथवा दंड के सीमाक्षेत्र से बाहर निकल भागने की चेष्टा में सफल होकर क्या आपकी यह प्रवृत्ति बढ़ती ही न जायगी? ऐसी क्षमा से तो मनुष्य की प्रवृत्ति में सुधार नहीं, प्रत्युत दुराग्रह उत्पन्न हो जाता है। इसलिये दया के सिंहासन से नहीं, न्याय-दंड से ऐसी क्षमा की आशा करना दुराशा है। हाँ, न्याय-दंड से भी क्षमा मिल सकती है। किंतु प्रायश्चित्त में ही आनंद का अनुभव किया जाय, तब : और इसके लिये सच्चा प्रायश्चित्त यही है कि केवल नाम के लिये कोई वस्तु संसार के सामने रखने की अपेक्षा एक सांगोपांग, अनुभव-पूर्ण एवं उत्कृष्ट वस्तु—भले ही उसके पूर्ण होने में समय लग जाय और संभव है, कभी-कभी जीवन-काल में वह न भी पूर्ण हो—रक्खी जाय। इसके लिये और कोई दूसरा मार्ग नहीं।

× × ×

६. साहित्यिक विवाद में व्यक्तिगत आक्षेप

हिंदी-पत्र पत्रिकाओं में समय समय पर ऐसे आलोचनात्मक लेख भी निकलते रहते हैं, जिनमें साहित्य-संबंधी किसी विषय को लेकर खंडन-मंडन किया जाता है। यदि एक पक्ष उसी विषय का खंडन करता है, तो दूसरा उसका समर्थन। इस खंडन-मंडन की प्रणाली से बड़ा मनोरंजन होता है, साथ ही ज्ञानवर्द्धन भी। पर यह आनंद तभी तक रहता है, जब तक उभय पक्ष के लेखक केवल सिद्धांतों पर झगड़ते हैं, व्यक्तिगत आक्षेप नहीं करते। किंतु जब मामला व्यक्तिगत आक्षेप तक पहुँचता है, तब सब मज़ा किरकिरा हो जाता है। और, तब साहित्यिक विवाद आदर की वस्तु न रहकर घोर घृणास्पद, अहम्मन्यता-पूर्ण और महज़ गाली-गलौज हो जाता है। यह बड़े ही परिताप की बात है कि हिंदी के बहुत-से पाठकों को इस गाली-गलौज में बड़ा आनंद आता है, और जिन पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे विवाद छपते हैं, उनको ये लोग मोल लेकर चाव से पढ़ते भी हैं। पाठकों की इस कुरुचि से उत्साहित होकर, केवल ग्राहक बढ़ाने के उद्देश्य से ही कई नई पत्र-पत्रिकाएँ ऐसे फूहड़ एवं कुत्सित वाद-विवाद को प्रश्रय देती हैं। किंतु हमारे आश्चर्य की सीमा न रही, जब हमने काशी की प्राचीन और प्रतिष्ठित 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में भूषण पर एक ऐसा लेख देखा, जिसमें व्यक्तिगत आक्षेपों की भरमार थी।

पत्रिका में उस लेख के लेखक ने अपने विरोधी लेखक के चचा के हाथ की लिखी 'शिवराज-भूषण'-पुस्तक पर यह आक्षेप किया है कि संभवतः उसमें जो कारतलबख़ाँ नाम आया है, उसे उन्होंने ख़राद करके बना दिया है। कितना भद्दा आक्षेप है! चचा ने जब पुस्तक लिखी, तब भतीजा पैदा भी नहीं हुआ था, और नागरीप्रचारिणी पत्रिका के लेखक से विवाद छिड़ने के पहले ही चचा का देहांत हो चुका था। फिर भी, चचा पर ख़राद करने का—जाल बनाने का—आक्षेप कर दिया गया! तो क्या चचा ने यह पहले ही से जान लिया था कि कई वर्ष बाद जो मेरा भतीजा पैदा होगा, उससे मेरे मर जाने के कई साल बाद एक लेखक से वाद-विवाद होगा। इसलिये उस वाद-विवाद में अपने भतीजे को जिताने के लिये जाली कारतलबख़ाँ नाम लिख देना चाहिए। ऐसा आक्षेप करनेवाले लेखकों के साहस धन्य हैं। उक्त लेख में ऐसे अनेक आक्षेप हैं। यह तो उसका एक नमूना है। पत्रिका में ऐसे आक्षेप-पूर्ण लेख को देखकर हमें खेद हुआ।

स्वयं माधुरी-पत्रिका और उसके संपादकों पर भी दो-एक पत्रों में, प्रायः प्रत्येक अंक में, व्यक्तिगत आक्षेपों की भरमार रहती है। माधुरी ऐसे आक्षेपों का उत्तर नहीं देना चाहती। वह केवल सिद्धांतों पर विवाद करती है। एक बात और' जिसके कारण माधुरी इन आक्षेपों की उपेक्षा करती है। हमारे ऊपर आक्षेप करनेवाले लेखक और कवि प्रायः ऐसे ही हैं, जिनकी रचनाएँ कारण-वश माधुरी में नहीं निकल सकीं। वे हमसे असंतुष्ट हैं, और अपना असंतोष व्यक्तिगत आक्षेपों के रूप में प्रकट करते हैं। छपने के लिये लेख और कविताएँ भेजते समय उन्होंने जिस चाटुकारी की भाषा में हमें पत्र लिखे हैं, वे हमारे पास मौजूद हैं। और, अब असंतुष्ट होने पर जिन शब्दों में वे हम पर कृपा करते हैं, वे साहित्य-संसार के सामने हैं। यदि हम उन सज्जनों के पत्र छाप दें, तो सुयोग्य समालोचकों को विषमतामयी तुलनात्मक समालोचना के लिये अच्छी सामग्री मिल जाय। ख़ैर, हम इस विवाद में नहीं पड़ना चाहते। पर लेखकों, कवियों और पत्र-संपादकों से इतनी प्रार्थना करते हैं कि साहित्य-सेवा के मामले में सिद्धांतों पर ही मनमाना विवाद करते हुए अपने पक्ष का समर्थन कीजिए, विरोधी पक्ष पर व्यक्तिगत आक्षेप करके साहित्यिक विवाद को गंदा न बनाइए। व्यक्तिगत आक्षेप साहित्यिक आतृभाव को नष्ट करते हैं। उनसे साहित्य को बचाना चाहिए।

× × ×

७. कौशांबी

भारत का प्राचीन भूगोल देखने से जान पड़ता है कि कौशांबी-नगरी बहुत प्रसिद्ध एवं समृद्ध थी। इसकी प्रतिष्ठा बौद्धों के समय में भी थी, और वैदिक तथा पौराणिक काल में भी। बुद्ध भगवान् यहाँ भी ठहरे थे, तथैव जीवित अवस्था में पहलेपहल यहीं पर चंदन-काष्ठ की उनकी मूर्ति बनाई गई थी। रत्नावली नाटिका में कौशांबी का वर्णन है। कहते हैं, प्रसिद्ध व्याकरण-रचयिता कात्यायन का जन्म यहीं हुआ था। महाकवि कालिदास के मेघदूत-काव्य में भी कौशांबी का उल्लेख है। प्राचीन साहित्य देखने से हमें रामायण तथा शतपथ-ब्राह्मण में भी कौशांबी का वर्णन मिलता है। खेद है, इधर बहुत दिनों से यह पता न चल रहा था कि कौशांबी-नगरी थी कहाँ पर।

पहलेपहल जनरल कनिंघम ने कौशांबी की खोज का काम अपने हाथ में लिया। उन्होंने प्राचीन साहित्य का अध्ययन करके, तथा इस समय पाए जानेवाले स्तंभों और खँडहरों को बारीक निगाह से देखकर यह निश्चय किया कि हो-न हो, प्रयाग से १५ कोस उत्तर, यमुना-नदी के किनारे, जहाँ पर कोसाम-ग्राम है वहीं, पहले कौशांबी-नगरी थी। जनरल कनिंघम के इस अनुमान का विंसेंट स्मिथ साहब ने ज़ोरों से खंडन किया। उन्होंने हुएनसांग के यात्रा-विवरण के आधार पर सिद्ध किया कि वर्तमान कोसाम-ग्राम के पास कौशांबी नहीं हो सकती। कुछ इतिहासज्ञों का मत है कि जहाँ पर वर्तमान सतना-क़स्बा है, वहीं पहले कौशांबी थी। कौशांबी के संबंध में तीन शिलालेख प्राप्त हैं—एक अकबर के राजत्व-काल का तथा दूसरा संवत् १८८१ का। स्मिथ साहब ने जिस समय अपना इतिहास लिखा था, उस समय भी ये दोनो शिलालेख उपलब्ध थे। इनमें कौशांबी की स्थिति का परिचय रहने पर भी स्मिथ साहब ने दूसरा अर्थ लगाकर उनका प्रमाण नहीं माना था। उसी समय एक तीसरा शिलालेख भी मिला। यह कड़ा-स्थान के पुराने क़िले में था। जिस समय स्मिथ साहब अपना ग्रंथ लिख रहे थे, उस समय तक इस शिलालेख की लिपि ठीक तौर से पढ़ी न जा सकी थी। पर अब उसके विषय की सब बातें मालूम हो गई हैं। लेख का सार यह है कि संवत् १०९३ में राजा यशपाल ने, जो कड़-ग्राम में ठहरे थे, कौशांबी-प्रांत के पयग्राम-

ग्रामवासियों के नाम कुछ आज्ञा-पत्र निकाले। ये कट और पयलास-ग्राम वर्तमान कोसाम-ग्राम के निकट अब भी मौजूद हैं, तथा कड़ा और पारस के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन तीन के अतिरिक्त एक और शिलालेख हाल में मिला है, जिसमें कौशांबी-प्रांत के मेहवाद-ग्राम का उल्लेख है। यह गाँव इसी नाम से अब भी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त एक ताम्र मुद्रा भी मिली है, जिसमें 'कोसांबी' का उल्लेख है। इस प्रकार अब एक तरह से यह निश्चित हो गया कि वर्तमान कोसाम-ग्राम के स्थान पर ही प्राचीन कौशांबी था। नए प्रमाणों की खोज निकालने का सारा यश रायबहादुर दयारामजी साहनी को है।

× × ×

८. अवध-हिंदू-सम्मेलन

विगत मास लखनऊ में अवध-हिंदू-सम्मेलन का अधिवेशन बड़ी धूमधाम के साथ हो गया। यद्यपि पंडाल में प्रवेश टिकट के द्वारा ही होता था, फिर भी भीड़ काफ़ी थी, और उत्साह भी अधिक था। सम्मेलन के साथ ही अंतिम दिन शुद्धि-सभा का भी उत्सव हुआ। उस दिन शहर में बड़ी सनसनी थी, और एक प्रकार से दंगा हो होते-होते बच गया। अवध-हिंदू-सम्मेलन में अवध के ताल्लुकदारों, पं० मदनमोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानंद और स्वामी सत्यदेव का प्राधान्य था।

स्वामी श्रद्धानंद का भाषण बड़ा ही सुंदर हुआ। उसमें कुछ काम करने की सच्ची प्रेरणा थी। स्वामीजी उन इने-गिने हिंदुओं में हैं, जो बात की अपेक्षा काम को अधिक महत्त्व देते हैं। हिंदू-सभा को निर्वाचनों में भाग लेना चाहिए या नहीं, इस संबंध में स्वामीजी ने जो कुछ कहा, वह अक्षरशः ठीक है। आपका कहना था कि निर्वाचन का काम हाथ में लेते ही हिंदू-सभा नष्ट हो जायगी, इसलिये उसे केवल समाज-सुधार के काम में हाथ डालना चाहिए। कलकत्ते के दंगे का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने हिंदुओं द्वारा मसजिदों के तोड़े जाने पर खेद प्रकट किया; पर साथ ही उन्होंने मुसलमान नेताओं को भी चेतावनी दी कि वे मुसलमान गुंडों को समझा-बुझाकर शांत करें, नहीं तो भयंकर रक्तपात की संभावना है, और उसमें मुसलमानों की भी पूरी हानि होगी।

मालवीयजी का व्याख्यान निराशाजनक था। उन्होंने तो अधिकतर स्वराज्य-दल और विशेषकर पं० मोतीलालजी के कार्यों की ही कड़ी समालोचना की। कुछ लोगों का ख़याल है कि यह व्याख्यान कोरे निर्वाचन-संबंधी प्रचार-कार्य के योग्य था। पंडितजी ने अपने व्याख्यान में पंडित मोतीलालजी के कई परस्पर-विरोधी कार्यों का उल्लेख किया, उनको खरी-खोटी सुनाई; पर यदि कोई स्वयं पंडितजी से पूछे कि साहब, आपने ग्यारह साल फ़ाइनेंस-बिल क्यों अस्वीकृत कराया था, और फिर परसाल और इस साल उसे क्यों पास होने दिया, तो न-मालूम पंडितजी इसका क्या जवाब देंगे ?

स्वामी सत्यदेवजी का व्याख्यान बड़ा ही ओज-पूर्ण और भावुकतामय था। उसमें विद्वत्ता और मौलिकता के साथ-साथ दर्शन होते थे। आपके व्याख्यान का सार यह था कि भारत को राष्ट्रीयता के लिये हिंदू-संस्कृति की रक्षा होनी चाहिए। हिंदू-संगठन के कार्य से इस संस्कृति की रक्षा होनी है, इसलिये हिंदू-संगठन का काम राष्ट्रीयता का साधक है, बाधक नहीं। आपने मुसलमानों को सलाह दी कि इसलाम-धर्म में रहते हुए भी उनको हिंदू-संस्कृति अपनानी चाहिए। उनको हिंदू-त्योहार मनाने चाहिए, हिंदू-साहित्य पढ़ना और हिंदी को अपनाना चाहिए, तथैव भारत के मुक़ाबले में भारत के बाहर स्थित देशों से कम प्रेम करना चाहिए। निदान अवध-हिंदू-सम्मेलन द्वारा हिंदू-संगठन का कार्य किया गया, और अगले निर्वाचन के लिये अनुकूल वायुमंडल भी तैयार किया गया।

× × ×

९. राजनीतिक दलबंदी

भारत का राजनीतिक आंदोलन इस समय नितांत क्षीण हो गया है। इस क्षीणता के कई कारण हैं; पर सबसे बड़ा कारण दलबंदी की भावना है। दलबंदी राजनीतिक जीवन का अंग है, वह उसे स्वास्थ्यकर बनाती है। इँगलैंड की राजनीतिक सफलता इसी दलबंदी पर अवलंबित है; पर भारत की स्थिति इसके विपरीत है। यहाँ दलबंदी राजनीति के लिये घातक है, उसका संपूर्ण नाश करनेवाली है। खेद है, भारत का राजनीतिक आंदोलन इस समय इसी दलबंदी के दलदल में फँस गया है। अब इसका कुछ परिचय लीजिए।

पहले तो हिंदू-मुसलमानों में विरोध है, एक दूसरे को शत्रु समझता है। फिर मुसलमानों में एक दल कांग्रेस और ख़िलाफ़त का विरोधी तथा मुसलिम-लीग का समर्थक है। उधर शिया-सुन्नी-संप्रदायों का

अलग ही ज़बर्दस्त विरोध है। और, प्रायः सारा मुसलमान-समुदाय हिंदुओं के शुद्धि-संगठन-आंदोलन का जानी दुश्मन है। रंग-ढंग के देखने से जान पड़ता है कि मुसलमान शीघ्र ही कांग्रेस के राजनीतिक आंदोलन में हिंदुओं का साथ छोड़ देंगे। सर अब्दुर्रहीम की अलीगढ़वाली स्पीच तथा उनकी बंगाल की मुसलिम-पार्टी इसके प्रमाण हैं। हाल में मौलाना मुहम्मदअली ने भी कुछ ऐसी ही धमकी दी है।

अब हिंदुओं को लीजिए। दक्षिण में ब्राह्मण-अब्राह्मण दल की विभीषिका बड़ी भयंकर है। कांग्रेस में इस समय स्वराज्य पार्टी का बोलबाला है; पर इसी पार्टी के केलकर, जयकर आदि अब अलग हो गए हैं। मालवीयजी की नेशनल पार्टी ने कई दलों को एकत्रित ज़रूर किया है, पर उसका अस्तित्व अधिकतर निर्वाचन के लिये है; क्योंकि अब भी लिबरल, इंडिपेंडेंट आदि दलों की सत्ता बनी ही है। एक और शूद्रों का दल अलग खड़ा हुआ है। इस समय भारत के राजनीतिक नेता सच्ची देश-सेवा की बात को भूलकर निर्वाचन में कैसे सफलता हो, इसी फेर में पड़े हुए हैं। हिंदू-महासभा में भी हिंदू-समाज को लाभ पहुँचानेवाले कामों की ओर ध्यान नहीं दिलाया जा रहा है, प्रत्युत उसके द्वारा स्वराजियों को हराकर निर्वाचन में कैसे विजय प्राप्त की जाय, इसी की ओर लक्ष्य है। फिर हिंदू-सभा को वर्णाश्रमी हिंदू घोर संदेह की दृष्टि से देख रहे हैं, और अलग सनातनधर्म-संगठन की व्यवस्था की जा रही है। आर्य-समाज के जलसों और मुसलमानों की मसजिद के सामने बाजा न बजाने देने के हठ के कारण हिंदू-मुसलमान-दंगे की बात तो नित्य की हो गई है। नेताओं में मालवीयजी को मुसलमान शत्रु समझते हैं, और हिंदुओं का मौलाना मुहम्मदअली में अब विश्वास नहीं रहा है। गांधीजी को हिंदू मुसलमानों का तरफ़दार, और मुसलमान केवल एक हमदर्द काफ़िर मानते हैं, जिसकी सलाह मानने को वे मजबूर नहीं हैं। पं० मोतीलालजी का देश पर कुछ प्रभाव है। पर अनेक हिंदू और मुसलमान उन्हें भी संदेह की दृष्टि से देखते हैं। सारांश यह कि इस समय भारत में कोई निश्चित राजनीति नहीं है, चारो ओर दलबंदी का दलदल फैल गया है, और उसी में देश बुरी तरह फँसा हुआ है।

× × ×

१०. कोयले की हड़ताल

इधर कई साल से इँगलैंड के कोयले के व्यवसाय में यथेष्ट लाभ नहीं हो रहा है। इस कारण खान के मालिकों का विचार हुआ कि खान में काम करनेवाले मज़दूरों की मज़दूरी कम कर दी जाय। पर मज़दूर इस बात पर राज़ी नहीं होते थे, और मज़दूरी घटाने की बात को लेकर हड़ताल करने को तैयार थे। यह उलझन इसी रूप में बहुत समय से चली आ रही थी। पर कोयले के मज़दूरों की हड़ताल की भयंकरता का अनुभव करके दोनों में किसी भी पक्ष को दूसरे की उपेक्षा करने का साहस न होता था। आख़िर सरकार ने एक कोयला-कमीशन नियुक्त किया, और खानों के मालिकों को इस बात पर राज़ी कर लिया कि जब तक कमीशन अपना निर्णय न दे दे, तब तक मालिक मज़दूरों की मज़दूरी न घटावें, और इस बीच में उनकी जो हानि होगी, उसे सरकार सहायता-रूप में दान देकर पूरी कर देगी। इस बात को दोनों पक्षों ने मान लिया, और कोयले का कमीशन जाँच करने बैठा। पर इस कमीशन ने बहुमत से यह निर्णय किया कि हाँ, मज़दूरों की मज़दूरी घटाना ही श्रेयस्कर है। उधर कमीशन में जो मज़दूर सदस्य थे, उन्होंने अल्पमत की अपनी अलग रिपोर्ट लिखी, और मज़दूरी घटाने के प्रस्ताव का विरोध करते हुए यह बतलाया कि यदि यह व्यवसाय पूँजीपतियों के हाथ से छीनकर सारे राष्ट्र की संपत्ति कर दिया जाय, तो मज़दूरी घटाए बिना भी काम चल सकता है। पर सरकार ने बहुमत की रिपोर्ट मानने की ही इच्छा दिखलाई। इस पर मज़दूर-दल में खलबली मच गई, और हड़ताल की व्यवस्था की जाने लगी। इसी बीच में सरकार और मज़दूर-दल के नेताओं में बहुत कुछ परामर्श हुआ; पर सुलह न हो सकी। आख़िर हड़ताल हो ही गई। कहते हैं, इँगलैंड में ऐसी बड़ी हड़ताल और कभी नहीं हुई। कुछ समय हुआ, बंबई में रुई के संबंध में जो हड़ताल हुई थी, इँगलैंड की कोयले की हड़ताल उससे कई बातों में मिलती-जुलती है। १५या१६लाख आदमी बेकार हैं। अख़बारों का छपना बंद रहा। हाइड-पार्क में तो लोग जाने नहीं पाते थे। पुलीस और हड़तालियों में मारपीट भी हुई। विगत महासमर में जिस प्रकार जर्मनी के कोयले के व्यापार को दबाकर इँगलैंड ने अपने व्यवसाय को बढ़ाया था, इसी प्रकार, उन्हीं उपायों से, जर्मनी इस समय इँगलैंड के हाथ से व्यापार छीनने को उत्सुक है। अस्तु।

इधर के समाचारों से मालूम हुआ कि हड़ताल समाप्त हो गई है। पर हमारा अनुमान है कि इसका परिणाम मज़दूर-दल के लिये अच्छा होगा। बहुत संभव है, अगले चुनाव में एक बार शासन की बागडोर फिर मज़दूर-दल के हाथ में आ जाय।

× × ×

११. महात्मा गांधी का विश्वव्यापी प्रभाव

भारतवर्ष में जैसे-जैसे महात्मा गांधी का प्रभाव कम पड़ता जाता है, वैसे ही-वैसे विदेशों में उनका प्रभाव बढ़ता जाता है। भारतवर्ष में विदेशी सरकार भी अब उनके महत्त्व को समझने लगी है, और बंबई-सरकार ने तो उन्हें कृषि-कमीशन में सम्मिलित होने और चर्खा-खद्दर के प्रचार में सरकार से सहयोग करने के लिये निमंत्रित किया है। समाचार-पत्रों से मालूम हुआ है कि मई-महीने में महात्माजी महाबलेश्वर में बंबई के गवर्नर से मुलाक़ात भी करेंगे। विदेशों में तो महात्माजी का प्रभाव दिन-दिन बढ़ रहा है। अमेरिका के कई प्रधान पादरियों ने उनके प्रति सम्मान के जो भाव दिखलाए हैं, वे तो विश्व-विदित ही हैं। हाल में उन्हें अमेरिका आने का निमंत्रण देने के लिये कई सज्जन साबरमती तक पधारे थे। इतना ही नहीं, अमेरिका की एक प्रतिष्ठित संस्था ने चंदा करके कई सौ डालर महात्माजी को इसलिये भेंट किए हैं कि वह उस धन को अछूतोद्धार के काम में लगावें। फ्रांस की भक्ति इससे भी बढ़कर है। रोम्यांरोलां ने अपने लेखों द्वारा संसार को महात्माजी का जैसा परिचय दिया है, उसको यहाँ फिर से लिखने की आवश्यकता नहीं। यहाँ पर इतना ही कहना अलम् होगा कि फ्रांस के नौसैनिक की कन्या महिला-रत्न मिस स्लेड इस समय सत्याग्रह-आश्रम में रहती हैं, और महात्माजी के आदेश के अनुसार कार्य कर रही हैं। अब मिस स्लेड चर्खा चलाती और खद्दर धारण करती हैं। मिस साहबा की माता भी फ्रांस में रहकर अवकाश के समय चर्खा कातती हैं। इटली के उद्धारकर्ता महामना गेरीबाल्डी के पौत्र की भी महात्मा गांधी में अपूर्व भक्ति है। उनका कहना है कि महात्मा गांधी के सिद्धांत सच्चे और आदरणीय हैं। विशेष करके अहिंसात्मक युद्ध पर तो वह बहुत ही मुग्ध हैं। पोलैंड के एक प्रोफ़ेसर साहब गांधीजी के इतने बड़े भक्त हो गए हैं कि वह भारत से मँगाकर पोलैंड में खद्दर बेचते हैं, और संसार को चर्खे का संदेश सुनाते हैं। शीघ्र ही फ़िनलैंड-देश में संसार-भर के विद्वानों की एक महासभा होनेवाली है। इस सभा ने महात्मा गांधी को बड़े आग्रह और प्रेम के साथ बुलाया है। जापान, अफ़ग़ानिस्तान, टर्की, मिसर तथा दक्षिण-आफ़्रिका आदि देशों में तो लोग गांधीजी का स्मरण बड़े स्नेह और भक्ति के साथ करते हैं; पर अभागा भारतवर्ष अपने ऐसे सच्चे सपूत की उपेक्षा कर रहा है। यही क्यों, यहाँ के कई शिक्षित और अपने को भारी देशभक्त माननेवाले सज्जन ऐसे भी हैं, जो खद्दर के नाम से ही भड़कते हैं। और, उन्होंने यह ज़िद कर रक्खी है कि चाहे संसार गांधीजी को महात्मा कहने लगे, पर वे उन्हें मिस्टर ही कहेंगे। दासता की मनोवृत्ति हमारा पतन कहाँ तक करा सकती है, यह बिलकुल स्पष्ट है।

× × ×

१२. भूषण के काव्य में समय का प्रतिबिंब

भूषण ने जिस समय कविता की, उस समय हिंदुओं के भाव मुसलमानों के प्रति क्या थे, इसका पता उनकी कविता से भली भाँति चलता है। औरंगज़ेब एक कट्टर मुसलमान था। धर्मांधता के जोश में उसने हिंदुओं पर अमानुषिक अत्याचार किए। पद-दलित हिंदू जाति को उसने बिलकुल मटियामेट करने की ठान ली। हिंदू और मुसलमान-प्रजा के अधिकार एक-समान नहीं रह गए। मुसलमानों को विशेषाधिकार मिले, और हिंदुओं के स्वाभाविक अधिकारों में भी बाधा डाली गई। सारी प्रजा को मुसलमान हो जाने की सलाह नहीं, आज्ञा ही दे दी गई। जो धर्मप्राण हिंदू इस सलाह या आज्ञा को न मान सके, उनको आज्ञा दी गई कि तुम लोगों को 'जज़िया'-कर देना होगा। हिंदू-धर्म को अपमानित करने के लिये ऐसा कर ही काफ़ी था। पर घाव पर नमक छिड़कने के समान उनके पवित्र तीर्थ-स्थानों पर भी हमला किया गया। चिरकाल से प्रतिष्ठित, प्राणों से प्यारे और पवित्रतम हिंदू-मंदिर तुड़वा डाले गए, और उनके स्थानों पर पाशविक बल की घोषणा करने के लिये मस्जिदों का निर्माण किया गया। मथुरा लूट ली गई, बड़े-बड़े मंदिर ढहा दिए गए, विश्वनाथ की पुरी काशी पर चढ़ाई हुई, और विश्वनाथजी का मंदिर भी तोड़ डाला गया। इस प्रकार धर्मांधता और पाशविकता पराकाष्ठा को पहुँच गई। मुसलमान इतिहासकारों ने औरंगज़ेब के इन कामों की प्रशंसा की

है, और उसे पुण्यात्मा बतलाया है। इस घोर धार्मिक असहिष्णुता के बल पर इसलामी दुनिया में औरंगज़ेब का विशेष सम्मान है। वह अकबर से श्रेष्ठ शासक माना गया है। ख़ैर, यह तो औरंगज़ेब और मुसलमानों के बीच की बात हुई। पर हिंदुओं के भाव औरंगज़ेब के प्रति क्या थे, पीड़ित अत्याचारी को कैसा समझता था, इसके जानने का उपाय क्या है? उस समय के हिंदुओं के लिखे इतिहास बहुत थोड़े उपलब्ध हैं। जो कुछ हैं भी, उनमें औरंगज़ेब के डर से इतिहासज्ञों ने अत्याचारी के प्रति पीड़ितों के भाव बहुत ही दबी-ज़बान से स्वीकार किए हैं। हिंदू कवियों ने उस भीषण समय में भी जो कविता की है, वह शृंगार-रस से शराबोर है। ऐसी कविता जिन राजों के लिये लिखी गई है, उनकी विलास-प्रियता का प्रतिबिंब तो उसमें मौजूद है; पर उनमें पीड़ित हिंदुओं के अत्याचारी औरंगज़ेब के प्रति क्या भाव थे, इसकी तो झलक भी नहीं है। भला हो भूषण-जैसे दो-चार कवियों का, जिन्होंने अपनी कविता की बदौलत हमें यह जानने का अवसर दिया कि औरंगज़ेब के समय हिंदुओं के मुसलमानों के प्रति क्या भाव थे। भूषण की कविता की यह सबसे बड़ी विशेषता है। प्रोफ़ेसर यदुनाथ सरकार ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवाजी' में इस बात को स्वीकार किया है। भूषण की कविता से इस प्रकार के दो उदाहरण दिए जाते हैं—

देवल गिरावते, फिरावते निसान अली,
ऐसे डूबे रावराने सबी गए लब की ;
गौरा, गनपति आप औरन को देत ताप,
आपके मकान सब मारि गए दब की।
पीरा-पयगंबरा दिगंबरा दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई, रही बात रब की ;
कासिहू की कला जाती, मथुरा मसीद होती,
सिवाजी न होतो, तौ सुनति होती सब की।

* * *

कुंभकर्न-असुर-औतारी अवरंगजेब,
कीन्हीं कत्ल मथुरा दुहाई फेरी रब की ;
खोदि डारे देवी देव सहर मोहल्ला बाके,
लाखन तुरुक कीन्हें छूटि गई तब की।
"भूषन" भनत भाग्यो कासीपति बिस्वनाथ,
और कौन गिनती में, भूली गति भव की ;
चारौ बर्न धर्म छोड़ि कलमा नेवाज पढ़ि,
सिवाजी न होतो, तौ सुनति होति सब की।

× × ×

१३. कलकत्ते का दंगा

समाचार-पत्रों के पाठकों ने कलकत्ते के भीषण दंगे का वीभत्स वर्णन पढ़ा ही होगा। भारतवर्ष की भूतपूर्व राजधानी और हिंदोस्तान के इतने बड़े नगर में हफ़्तों इतना विकट संघर्ष होता रहे, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है। कहा जाता है, भारत में हिंदू-मुसलमानों का इतना बड़ा और इतने समय तक चलनेवाला और कोई दंगा नहीं हुआ। दंगा क्यों, यह तो हिंदू-मुसलमानों के बीच में खुली लड़ाई थी। इस दंगे के कारण करोड़ों रुपए की हानि हुई, सैकड़ों मनुष्य घायल हुए, और न-जाने कितने कत्ल कर गए। अब सैकड़ों को न्यायालय से दंड मिलेगा और हज़ारों कलकत्ता छोड़ने को विवश होंगे। कई समाचार-पत्रों पर भी मामला चल रहा है। दंगे के इस संहारकारी स्वरूप पर जितना ही विचार करते हैं, उतना ही खेद और पश्चात्ताप होता है। भारत के नए लाट के शुभागमन के उपलक्ष्य में दंगा-रूपी जो प्रसाद दिया गया है, उससे हिंदू-मुसलमान मन-ही-मन अपने भाग्य को कोस रहे हैं। भारत की भावी राजनीति पर दंगे का पूर्ण प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा। विशेषकर इस दंगे से मुसलमान नेता बड़े असमंजस में पड़ गए हैं। मौलाना मुहम्मदअली जैसे राष्ट्रीयता के पुजारी नेता को भी यह असह्य हो उठा है कि हिंदू लोग मुसलमानों के आगे मुँह में तिनका दबाकर क्यों नहीं गए। ख़ैर, यह तो जैसा कुछ है, है ही; पर दंगे से कई नई बातों का पता चला—एक तो यह कि यदि हिंदू लोग चाहें, और कुछ करने पर आ जायँ, तो वे दंगा-फ़साद में भी मुसलमानों से बराबर का लोहा ले सकते हैं; दूसरे यह कि पशुबल से प्रभावान्वित होने पर, मसजिदों आदि के तोड़ने में उन्हें भी संकोच नहीं रह जाता; तीसरे यह कि प्रोत्साहन मिलने से बंगाली नवयुवक आत्मरक्षा का काम कर सकते हैं; चौथे यह कि समाज-सेवा का भाव पर्याप्त परिमाण में जाग्रत हो गया है, और बड़े घरों के शिक्षित नवयुवकों को भी, ज़रूरत पड़ने पर, सड़कें बुहारने तथा मैला तक साफ़ करने में संकोच नहीं है। पर हमें इस बात का दुःख है कि कुछ हिंदू गुंडों ने मंदिरों के तोड़ने का बदला लेने की नीयत से मसजिदें तोड़ डालीं। हम

हिंदुओं के इस काम की घोर निंदा करते हैं, और मुसलमान नेताओं के इस कथन का घोर प्रतिवाद करते हैं कि हिंदू नेता तथा पत्रों के संपादक हिंदुओं के ऐसे कार्यों की तीव्र आलोचना नहीं करते। यह उनकी बुद्धि का भ्रम है। मुसलमानों को भी यह बात जान लेनी चाहिए कि "मरता क्या न करता" की कहावत के अनुसार, बहुत सताए जाने पर, एक शांति प्रिय जाति भी कहाँ तक क्षुब्ध हो सकती है। कलकत्ते का दंगा इसी बात की घोषणा है कि हिंदू और मुसलमान इस दुराग्रह को छोड़ दें कि वे एक दूसरे को पशुबल से दबा लेंगे। सरकार को भी इस ढंग से सतर्क हो जाना चाहिए। कहीं यही दोनों आपस में लड़नेवाली शक्तियाँ मिलकर सरकार से भिड़ जायें, तो न-जाने क्या कर सकती हैं। इसलिये शासन के मामले में सुधार करके सरकार को भी इन्हें प्रसन्न रखना चाहिए।

× × ×

१४. मसजिदों के सामने बाजा

इधर साल-डेढ़ साल से मुसलमानों ने यह आंदोलन फैला रक्खा है कि सड़कों पर मुसलमानों की जो मसजिदें हैं, उनके पास से हिंदू लोग उस समय बाजा बजाते हुए कोई जलूस नहीं निकाल सकते, जिस वक्त मुसलमान नमाज पढ़ रहे हों। इसका अर्थ यह है कि शाही सड़कों पर पूरी स्वतंत्रता से जलूस निकालने का अधिकार हिंदुओं को उस समय नहीं है। यदि सड़क के पास कोई मसजिद हो, और उस मसजिद में नमाज़ पढ़ी जा रही हो, तो क्या सचमुच उस सड़क से नमाज़ पढ़ने के वक्त हिंदुओं का कोई जलूस बाजा बजाते हुए नहीं निकल सकता? यदि भारत-सरकार की ओर से ऐसा कोई क़ानून होता, तब तो कोई बात न थी। सभी हिंदू उसे मानते। और, यदि उन्हें क़ानून असह्य होता, तो वैध आंदोलन से उसे रद् कराने का उद्योग करते, अथवा सत्याग्रह का आश्रय ले अपनी मनोकामना पूरी करते। पर अब ऐसा कोई क़ानून नहीं है, और सरकारी सड़कों के संबंध में स्पष्ट आज्ञा है कि सभी कोई उन पर शांति-पूर्ण जलूस बिना रोक-टोक के निकाल सकते हैं, तो मुसलमानों के दुराग्रह का अर्थ समझ में नहीं आता। यदि मुसलमान चाहते हैं कि नमाज़ के वक्त उनकी मसजिदों के पास किसी प्रकार का बाजा न बजे, तो उन्हें चाहिए कि या तो वे अपनी मसजिदों को नगर से बाहर दूर, ऐसे सुनसान स्थान में, बनावें, जहाँ जलूस निकलने की संभावना न हो, या फिर सरकारी कौंसिलों द्वारा इस आशय का क़ानून पास कराने का उद्योग करें। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि हिंदुओं के समान वे भी अब शासित जाति हैं, और देश में प्रचलित क़ानून की पाबंदी उनके लिये भी वैसी ही है। अब वे शासक जाति नहीं हैं, इसलिये उनकी आज्ञाओं के मानने के लिये हिंदू क्यों तैयार हों? मसजिद के सामने किसी जलूस के बाजा बजाते हुए निकलने के संबंध में क़ानून बिलकुल साफ़ है। सन् १९१८ की बात है। इसी बात को लेकर औरंगाबाद के शिया सुन्नियों में ख़ूब लड़ाई हुई थी, और मामला प्रिवी कौंसिल तक गया था। वहाँ से स्पष्ट शब्दों में यह निर्णय हो गया है कि "भारत की सभी जातियों और उपजातियों के लोगों को अधिकार है कि सरकारी सड़कों पर वे पूरे प्रबंध और साज-बाज के साथ जलूस ले जायँ। भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मों के लोग ऐसा अपना हक़ नहीं पेश कर सकते कि हमारे उपासना के स्थान से जाते समय जलूस के काम रुक जायँ।" लॉर्ड डुनेडिन, कार्सन और डार्लिंग का यह संयुक्त फ़ैसला है। मामला बहुत साफ़ है। हमारे मुसलमान भाइयों को चाहिए कि जब तक क़ानून बदल न जाय, तब तक वे भले नागरिकों के समान उसकी रक्षा करें, और व्यर्थ के झगड़े बढ़ाकर भारत की उन्नति के मार्ग में रोड़े न अटकावें। ईश्वर उन्हें सुबुद्धि दे।

× × ×

१५. कई विद्वानों और देश-भक्तों की मृत्यु

इधर बहुत थोड़े समय के भीतर अभागे भारतवर्ष को अपने कई परम प्रिय विद्वान् और देश-भक्त पुत्रों के वियोग का असह्य दुःख उठाना पड़ा है। इस दुःख के कारण इस देश की विद्वन्मंडली संत्रस्त एवं क्षुब्ध है। हमें भी देश की इस हानि से बड़ा शोक है। मृत वीरात्माओं के कुटुंबियों के साथ हमारी पूर्ण सहानुभूति है। यहाँ उन मृत विद्वान् देश-भक्तों का अत्यंत संक्षिप्त परिचय देकर ही हम उनके प्रति अपनी क्षुद्र भक्ति-प्रेमांजलि चढ़ाते हैं।

कराल काल ने थोड़े समय के भीतर ही हमसे सर के० जी० गुप्त, रावबहादुर पारसनीस और पंडित टी० गणपति शास्त्री को छीन लिया। सर के० जी० गुप्त बंगाल के भूषण थे। वह सन् १८७३ में इंडियन सिविल सर्विस में दाख़िल हुए थे। फिर क्रम से बोर्ड ऑफ़ रेविन्यू के मेंबर, बिहार और उड़ीसा के कमिश्नर तथा लंदन स्थित इंडिया कौंसिल के

सदस्य रहे। गुप्तजी सज्जन और मिलनसार थे। रावबहादुर पारसनीस सतारा के रहनेवाले और योग्य इतिहासज्ञ थे। इन्होंने सतारे में ऐतिहासिक अजायबघर की स्थापना की थी। कुछ समय से आप बंबई हाईकोर्ट के जज जस्टिस किनकेड के साथ मिलकर मराठा-जाति का विशाल इतिहास लिख रहे थे। इनके असामयिक स्वर्गवास से मराठा-इतिहास में मौलिक खोज के काम को बड़ा धक्का पहुँचा है। पारसनीसजी मराठा-इतिहास के विशेषज्ञ कहे जा सकते हैं। पं० गणपति शास्त्री त्रिविद्रम के रहनेवाले थे। यह ट्रावनकोर के राजप्रासाद-पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष थे, तथैव संस्कृत-कॉलेज के प्रिंसिपल एवं संस्कृत-प्रकाशन-विभाग के क्यूरेटर भी। महाकवि भास के नाटकों का पता लगाकर उन्हें प्रकाशित कराने का श्रेय सबसे पहले आप ही को प्राप्त हुआ। जब तक भास के नाटक न निकले थे, तब तक शूद्रक कृत मृच्छकटिक-नाटक को ही लोग सबसे पुराना समझते थे। पर शास्त्रीजी ने इस धारणा को निर्मूल कर दिया। इसके अतिरिक्त इन्होंने कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का ऐसा सुसंपादित संस्करण निकाला कि जर्मनी की ब्रावजिन-युनिवर्सिटी ने आपको पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। भारत सरकार ने भी आपका अगाध पांडित्य देखकर आपको महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया था।

× × ×

१६. पं० माधवराव सप्रे का शरीरांत

पंडित माधवरावजी सप्रे के निधन से हिंदी-साहित्य-मंदिर का एक सुदृढ़ स्तंभ ढह पड़ा! यह दुर्घटना गत चैत्र (द्वितीय) के शुक्ल-पक्ष की पवित्र एकादशी के दिन हो गई। दो सप्ताह से उनका शरीर बुख़ार का शिकार हो रहा था। आरंभ में आँवदस्त की भी शिकायत थी। सप्रेजी से हमारी जान-पहचान देहरादून के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में, जिसमें आपने सभापति का आसन सुशोभित किया था, हुई थी। वहीं आपको संग्रहणी की बीमारी हो गई। इस कठिन रोग से मुक्ति प्राप्त करने के लिये आप फ़ौरन, सुप्रसिद्ध हिंदी-लिपि-लेखक पं० गौरीशंकर भट्ट के साथ, हमारे यहाँ लखनऊ चले आए। १५-२० रोज़ तक आपको घोर कष्ट रहा। डॉक्टर प्रामाणिक के इलाज से आप उस समय अच्छे तो हो गए—हमलोगों की सेवा सफल तो हो गई; किंतु फिर आपकी यह बीमारी आपके शरीर से सर्वथा दूर नहीं हुई। और, अंत को



स्वर्गीय पं० माधवरावजी सप्रे बी० ए०

उसी ने आपके शरीर को इतना दुर्बल कर दिया कि ५४-५५ वर्ष की अवस्था ही में आपको इहलोक-लीला संवरण कर देनी पड़ी।

पं० माधवरावजी सप्रे का जन्म, दमोह-ज़िले की हटा-नामक एक तहसील के अंतर्गत पथरिया-ग्राम में, ता० १६ जून, सन् १८७१ को, हुआ था। बी० ए० पास करके आपने हिंदी-सेवा का बीड़ा उठाया, और अंत तक इसी सेवा-क्षेत्र में वीर की नाईं डटे रहे। मराठी-भाषाभाषी होते हुए भी उनका राष्ट्र-भाषा हिंदी की सेवा में दत्तचित्त रहना उनकी अनुकरणीय उदारता और राष्ट्रीयता का परिचायक है। हिंदी-साहित्य की वर्तमान समृद्धि-वृद्धि में आपका बड़ा हाथ है। मध्य-प्रदेश—विशेषकर छत्तीसगढ़—को अंधकार से प्रकाश में लाने में आपने प्रशंसनीय परिश्रम किया था। आपने समय-समय पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं का संपादन और बहुतेरी बहुमूल्य पुस्तकों का निर्माण किया है, जिनमें छत्तीसगढ़-मित्र हिंदी-ग्रंथमाला, हिंदी-केसरी, हिंदी-गीता-रहस्य, हिंदी-दासबोध, महाभारत-



पं० माधवरावजी सप्रे (मृत्यु-शय्या पर)

मीमांसा मुख्य हैं । ऐसे स्वार्थत्यागी देश-भक्त, सुयोग्य संपादक और श्रेष्ठ लेखक के लिये हिंदी-संसार आठ-आठ आसू रो रहा है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं ।

पंडित माधवरावजी बहुत आडंबर-विहीन, संतोषी, सरल-प्रकृति और निरभिमानी व्यक्ति थे । सरल जीवन और उच्च विचार' की तो आप साक्षात् मूर्ति ही थे। आपके गुणों का प्रत्यक्ष परिचय हमें तभी हुआ, जब आप हमारे यहाँ बीमार पड़े थे। आपको सख़्त तकलीफ़ थी ; किंतु मुँह से आह तक न निकालते—शांति के साथ पलंग पर पड़े रहते । आपकी सहनशीलता देखकर दाँतों-तले उँगली दबानी पड़ती थी । बहुत कम बोलते और बोलते, तो मतलब की बात । उन दिनों रात में, दिन-भर के काम के पश्चात्, प्रायः हमारा-आपका साहित्यिक विषयों पर वार्तालाप हुआ करता था। उस समय हिंदी-साहित्य की वर्तमान प्रगति की गति को और तीव्र करने के संबंध में आप जो उपदेश हमें दिया करते थे, वे अनमोल थे।

हम सप्रेजी के कुटुंब के साथ इस असह्य दुःख में समवेदना प्रकट करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह उनकी आत्मा को शांति दे । सप्रेजी की संक्षिप्त जीवनी, माधुरी की किसी संख्या में, १½ वर्ष पहले, हम लिख चुके हैं। विस्तृत जीवनी फिर कभी प्रकाशित करेंगे।

× × ×

१७. स्वर्गवासी श्रीयुत कन्हैयालालजी

हमें यह जानकर अत्यंत शोक हुआ कि हिंदी के आबालवृद्ध-सुपरिचित बाबू श्यामसुंदरदासजी को इस वृद्धावस्था में अपने सबसे बड़े पुत्र का विछोह सहन करना पड़ा । ईश्वर की इच्छा ! बाबू साहब को इस विपत्ति में हमारी हार्दिक सहानुभूति है। जिस परमपिता परमात्मा ने उनके प्रिय पुत्र को उनसे छीन लिया, वही अब बाबू साहब को यह असहनीय वियोग सहन करने का साहस भी दे, यही हमारी प्रार्थना है ।

बाबू साहब के स्व० पुत्र श्रीयुत कन्हैयालाल खन्ना का जन्म सं० १६६३ के भाद्रपद की कृष्णा ७ को हुआ था। कन्हैयालालजी एक होनहार नवयुवक थे, किंतु वायुशूल के उठते रहने के कारण वह उच्च शिक्षा प्राप्त न कर सके। यही दर्द अंत में उनकी मृत्यु का कारण भी हुआ । कन्हैयालालजी को हिंदी से बड़ा प्रेम था। कहना तो यह चाहिए कि बाबू साहब का हिंदी-प्रेम ही उन्हें कन्हैयालाल के रूप में प्राप्त हुआ था। सन् १६२१ में कन्हैयालालजी ने लाला लाजपतराय की 'यंग इंडिया'-नामक पुस्तक का हिंदी-अनुवाद किया। किंतु कराल काल की प्रवंचना से कन्हैयालालजी स्वयं अपने पिता बाबू साहब की सुंदर जीवनी लिखने का अपना संकल्प पूरा न कर सके। अभी गत वर्ष ही यह काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के सदस्य बने थे, और बाबू श्यामसुंदरदासजी का हिंदी-सेवा-संबंधी कार्यक्रम जारी रखने की इनकी दृढ़ इच्छा थी। पर कराल काल ने ऐसा न होने दिया । और, एक उन्नत-मस्तिष्क नवयुवक अपने विचार लिए हुए अपने वृद्ध माता-पिता एवं कुटुंबियों को छोड़कर इस संसार से चल बसा । कितनी भीषण विडंबना है—



स्वर्गवासी श्रीयुत कन्हैयालालजी खन्ना

(बाबू श्यामसुंदरदासजी के ज्येष्ठ पुत्र)

"निज पुत्रों का श्राद्ध पिता रो-रो करता है ;
सच कहना हे नाथ, यही क्या ईश्वरता है ?"

कन्हैयालालजी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह परम सच्चरित्र, मिष्टभाषी, सुशील, नम्र, हँसमुख और मिलनसार थे। जिन दिनों बाबू श्यामसुंदरदास लखनऊ में कालीचरण-हाईस्कूल के हेड-मास्टर थे, तब आप बहुधा हमें दर्शन दिया करते थे। आपका वह भोला चेहरा भुलाए नहीं भूलता। ईश्वर आपकी आत्मा को सद्गति दे।

× × ×

१८. खिलाफ़त-सम्मेलन

आश्चर्य की बात तो यह है कि ग़ाज़ी मुस्तफ़ा कमालपाशा ने खिलाफ़त को तो तहस-नहस कर दिया, किंतु हिंदोस्तान के मुसलमान उसका डंका पीटने से बाज़ नहीं आते। पूछो, जब ख़लीफ़ा ही नहीं, तो ख़िलाफ़त कैसी! मगर यह समझावे कौन, और समझावे भी तो समझ में किसी की आवे, तब न। कमालपाशा एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ हैं। वह जानते हैं कि अंतरराष्ट्रीय प्रगति में ख़िलाफ़त उन्हें बढ़ने से रोकती है। किंतु भारतवर्षीय मुसलमानों की समझ में यही आ रहा है कि ख़िलाफ़त के नाम पर भारतीय मुसलमानों का संगठन चंदा इकट्ठा करने और काफ़िरों के "क़त्लेआम" के लिये किया जा सकता है।

इसीलिये ख़िलाफ़त के नाम पर एक ऐसा रंग देखने में आया, जिस पर हमारा भी ध्यान चला गया। ख़िलाफ़त-कमेटी का ध्येय अब उसके संचालकों और सुधारकों ने बदल दिया (?)। अभी हाल में पिछले दिनों जो ख़िलाफ़त-सम्मेलन हुआ, उसमें मौलाना मुहम्मदअली ने यह घोषणा की है कि "भारतीय मुसलमानों के धार्मिक, शिक्षा-संबंधी, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थों की रक्षा करना ख़िलाफ़त-कमेटी का ध्येय है।" यही ध्येय जज़ीरतुल अरब की स्वाधीनता और भारतीय स्वराज्य-प्राप्ति के लिये भी पहले था। यदि यही ध्येय है, तो इसका अर्थ अब यह है कि मौलाना मुहम्मदअली केवल मुसलमानों के ही धार्मिक, शिक्षा-संबंधी, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्वार्थों की रक्षा करके स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं, जो राजनीतिक दृष्टि से भ्रम-पूर्ण है। दूसरा प्रस्ताव मि० मुहम्मदशफ़ी का था, जिसमें हिंदू-महासभा की संगठन-संबंधी कार्यों के लिये भर्त्सना की गई है। पर हम अब यह जानना चाहते हैं कि इसी प्रस्ताव के संबंध में जो यह कहा गया है कि मुसलमान अपने जातीय सुधारों के लिये विधायक कार्य करें—यह सब क्या है? यही बात हिंदू भी तो कर रहे हैं। जो काम मुसलमानों के लिये निर्धारित किया गया है, यदि वही काम हिंदू भी कर रहे हैं, तो इसमें भर्त्सना की क्या आवश्यकता? बात यह है कि मुसलमान संगठन द्वारा अपने को तो मज़बूत बनाना चाहते हैं, पर उनकी इच्छा यह है कि हिंदू कमज़ोर एवं विभाजित ही रहें। ख़िलाफ़त-सम्मेलन में इन बातों के अतिरिक्त एक ख़ास बात, जिससे मुसलमानों की नीयत का पता लगता है, यह हुई कि एक वक्ता ने कहीं हिंदुओं के लिये 'भाई'-शब्द का प्रयोग किया। इस पर 'बिरादरान जलसा' ने उन्हें आड़े-हाथों लिया। फिर भी मुसलमान हिंदुओं से समझौता करने के लिये, सम्मान की शर्तों पर, तैयार रहें (?)। कितना विरोधाभास है! क्या मुसलमान यह चाहते हैं कि हिंदू लोग

अपना संगठन छोड़कर, असंगठित रूप में, मुसलमानों की ज़्यादतियों के शिकार बने रहें और मुसलमान छिपे-छिपे और खुल्लमखुल्ला संगठन करके, उन्हें अधिकाधिक दबाने के लिये तैयार होते जायँ ? मुसलमानों को स्मरण रखना चाहिए कि दोस्ती बराबरी के दावे से होती है । 'संगठन का आंदोलन छोड़ दो, नहीं तो उसके जारी रखने के परिणाम को भोगने के लिये तैयार हो जाओ", यह तो हिंदुओं के लिये खुला चैलेंज है । "यदि मुसलमान अपनी ताक़त के साथ मैदान में आ जायें, तो लाला लोग (अर्थात हिंदू) हाथ जोड़कर खड़े होंगे, और दो ही घंटे में मेल हो जायगा '—यह उन लोगों की धारणा है, जो अपने को मुसलमानों के स्वार्थों के रक्षक समझते और ख़िलाफ़त के सूत्रधार समझे जाते हैं । यह इस बात का प्रदर्शक है कि हिंदुओं के प्रति स्वराज्य की इच्छा रखनेवाले मुसलमान नेताओं का क्या ख़याल है । मौलाना मुहम्मदअली के भारतवर्ष में ख़िलाफ़त की धार्मिक शक्ति स्थापित करने का तो यही अभिप्राय है कि मौलाना का स्वराज्य वास्तव में मुसलिम स्वराज्य है । और, इस स्वराज्य में—जैसा कि उन्होंने जेहाद के लिये जाते वक़्त बंबई में कहा है कि हिंदू मुसलमानों को भारतवर्ष से निकाल देना चाहते हैं, उसके बिलकुल विपरीत—हिंदुओं का रहना असंभव होगा ।

अस्तु, ख़िलाफ़त-सम्मेलन चाहे सफल हुआ हो या विफल; किंतु उससे हिंदुओं को ख़ासी चेतावनी मिलती है । हिंदुओं को यह स्मरण रखना चाहिए कि ग़ाज़ी मुस्तफ़ा कमालपाशा, अफ़ग़ानिस्तान के अमीर आदि—जैसे उनके संरक्षक नहीं हैं, जिन पर वे अपनी आशाएँ स्थिर किए रहें । उन्हें अपनी रक्षा का आयोजन स्वयं करना होगा, और यह तभी होगा, जब हिंदू-मात्र हिंदू-संगठन में योग देंगे ।

× × ×

१९. "सुअर की सभ्यता"

मौलाना मुहम्मदअली को संदेह ही नहीं, वह विश्वास भी हो गया है कि हिंदू मुसलमानों को भारत से निकाल बाहर करना चाहते हैं । हमें बहुत शोक है कि अली-बंधुओं-सरीखे औरंगज़ेबी पर विश्वास करनेवाले मुसलमान नेताओं के दिल में यह शक पैदा हो गया है । हिंदुओं की उठती हुई धाक का यद्यपि यह एक प्रमाण है, फिर भी हमें यह जानकर वाक़ई अफ़सोस हुआ । पर वास्तव में बात ऐसी नहीं, जिस रूप में मौलाना मुहम्मदअली उसे मुसलमानों के सामने पेश कर रहे हैं । ऐसी ख़ूँख़ार शक्ल दिखलाकर ही मौलाना साहब "लालाजी की लालियत, मालवीय को मालवीयत और स्वामीजी की स्वामियत" की मुख़ालिफ़त की बातें मुसलमानों के सामने पेश कर सकते थे । इस बात को हम बहुत पहले से जानते हैं कि अलीबंधु "गाय की सभ्यता' को सहन नहीं कर सकते । यदि सहन कर सकते, तो कभी भी उन्होंने जबलपुर में अपने एक ५-६ वर्ष पूर्व के भाषण में न कहा होता कि "अगर मुसलमान एक गाय की क़ुर्बानी से ख़ुश रहते हैं, तो हिंदू उन्हें अपना छोटा भाई समझकर कर लेने दें ।" अस्तु, अब इसके बाद हम यह समझने के लिये भी मजबूर हैं कि मौलाना साहब हज करने इसलिये, जैसा कि वह कह गए हैं, नहीं गए हैं कि नया जीवन लेकर लौटेंगे और स्वराज्य ले लेंगे । किंतु, हम समझते हैं कि वह स्वराज्य लेने के लिये तो नहीं, हाँ, अरब और टर्की से "सुअर की सभ्यता" लाने गए हैं, और उसी का अब झंडा फहरावेंगे । लेकिन हमारा निवेदन है कि जिस अपने पूर्वज इब्नकासिम पर मौलाना साहब को नाज़ है, वह भी इस बात में नाकामयाब हुआ है । जब अलाउद्दीन ख़िलजी का "पेश क़ब्ज़" और औरंगज़ेब की "तलवार", ख़ुद उन्हीं के ज़माने में गाय की सभ्यता को नेस्तनाबूद करके "सुअर की सभ्यता" को नहीं क़ायम कर सकीं, तो इस ज़माने में जब मुसलमान भी हिंदुओं की तरह ही ग़ुलाम हैं—वह कैसे क़ायम हो सकेगी, यही हमें संदेह है । फिर भी हम मौलाना साहब की ख़ूबी और एख़लाक़ की तारीफ़ करते हैं कि इस नाउम्मीदी के ज़माने में भी उनमें बहादुरी का काफ़ी माद्दा है । और, दरहक़ीक़त हमारी यही मंशा है कि हिंदू लोग भी अपनी "गाय की सभ्यता" की रक्षा करने के लिये मौलाना साहब के नमूने से फ़ायदा उठावें । अपने धर्म की रक्षा करने में ही मनुष्य का कल्याण है । "स्वधर्मे निधनं श्रेयः ।"

× × ×

२०. जन-संख्या और अंतरराष्ट्रीयता

संसार के भविष्य की चिंता करनेवालों के सामने बढ़ती हुई जन-संख्या की एक कठिन समस्या हर समय मौजूद रहती है । कोई उसकी बढ़ती हुई तादाद से इतने भय[illegible] कि उन्हें यह भय होने लगता है कि इसी रफ़्तार से

में वृद्धि होती गई, तो कुछ नियत वर्षों के बाद लोगों को भोजनों के भी लाले पड़ जायँगे। तब मनुष्य एक दूसरे को जंगली जानवरों की तरह खाने लगेंगे, और भयानक स्थिति उत्पन्न हो जायगी। हम भी अपने विचार इस संबंध में कई बार प्रकट कर चुके हैं, और हमारा अब भी यही निश्चित मत है कि इस पहेली को—यदि यह सचमुच ख़तरनाक है—हमारी आश्रम-चर्या ही हल कर सकती है। यहाँ इस संबंध में हम अपना हर्ष प्रकट करने का मोह संवरण नहीं कर सकते कि सभ्यताभिमानी पाश्चात्य देशों ने भी अब हमारे सिद्धांत को स्वीकार करना प्रारंभ कर दिया है। किंतु इस संबंध में, अभी हाल ही में, मि० कार सांडर्स ने अपने 'जन-संख्या'-नामक ग्रंथ में कुछ और ही विचार प्रकट किए हैं। उनकी पुस्तक के एक अध्याय में जन-संख्या का अंतरराष्ट्रों की दृष्टि से अच्छा विचार किया गया है। यद्यपि वह इस बात के क़ायल हैं कि एक वृहत् रूप में भिन्न-भिन्न समाजों में कुटुंब-नियंत्रण आवश्यक है कि जिससे अनावश्यक वृद्धि न हो; फिर भी, अंतरराष्ट्रीयता और जन-संख्या का जहाँ संबंध है, वहाँ उनके विचार सचमुच विचारणीय हैं। उनकी सम्मति में जन-संख्या की वृद्धि से अंतरराष्ट्रीयता के संबंध में देश-विशेष को लाभ है। यह लाभ किसी विशेष समाज को अपनी बढ़ी हुई जन-संख्या से प्रतिनिधित्व के रूप में प्राप्त होता है। अंतरराष्ट्रीय कानफ़्रेंसों में, उनकी सम्मति में, प्रतिनिधित्व की अधिकता फ़ौज का काम करती है। बात बिलकुल पते की जान पड़ती है, और भारतवर्ष में ही—अंतरराष्ट्रीय प्रश्नों को जाने दीजिए—भिन्न-भिन्न प्रांतों के निवासियों ने इससे कितना लाभ अभी पिछले दिनों उठाया है। प्रांतिकता का सीमाबंधन वास्तव में, इस देश में, इसी आधार पर हो रहा है। इतिहास-परिवर्तन में भी इसका प्रभाव पड़ता है। जन-संख्या से उत्पन्न हुई शक्ति, प्रतिनिधित्व तथा उसकी वृद्धि के कारण वैमनस्य भी हो जाता है। अपनी समाज में ही हम लोग इसका उदाहरण पा सकते हैं। हममें बहुतों ने कई बार देखा होगा कि अल्पसंख्यक प्राणियों को बहुसंख्यक सदा दबाने की चेष्टा किया करते हैं। इस भेद के कारण उत्पन्न हुई प्रतिक्रियाएँ कभी तो लाभप्रद होती हैं, और कभी हानिकर भी।

मि० कार सांडर्स ने अपने तर्क की पुष्टि में आयर्लैंड और इँगलैंड का उदाहरण भी दिया है। उसमें सन् १८२१ में ग्रेटब्रिटेन और आयर्लैंड का अनुपात लगाकर बतलाया है कि सन १९२१ में अर्थात् १०० वर्षों में दोनों की आबादी में इतना अंतर हो गया है कि उस समय तो आयर्लैंड की आबादी ग्रेट-ब्रिटेन की आबादी की आधी थी, और आज दसवाँ भाग है। इस बीच में आयर्लैंड के प्रति ग्रेटब्रिटेन के भावों में जो-जो परिवर्तन हुए, उनका बहुत कुछ कारण यह संख्या-संबंधी वृद्धि है। आयर्लैंड के विरुद्ध जो काम करना ग्रेट-ब्रिटेन को पहले असंभव जान पड़ते थे, वे हो गए। इतिहास इसका साक्षी है। इसी प्रकार की कल्पना लेखक ने, जन-संख्या के प्रश्न को लेकर, कनाडा और आस्ट्रेलिया के संबंध में भी की है। लेखक का कहना है कि कालांतर में कनाडा और आस्ट्रेलिया अपने समुद्र-पार रहनेवाले शासकों के शासन का जुआ कंधे से उतार देंगे। स्मरण रहे, आज कनाडा और आस्ट्रेलिया ब्रिटिश-साम्राज्य के अंतर्गत हैं। यद्यपि ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति इसका समर्थन नहीं करती, और न वह तर्क मानने के लिये ही मजबूर करती है; फिर भी यह तर्क है विचारणीय। इसी प्रकार का निष्कर्ष मि० सांडर्स फ्रांस और जर्मनी के संबंध में भी, जन-संख्या की वृद्धि के आधार पर, निकाल रहे हैं। फ्रांस का यह ख़याल है कि जर्मनी की संख्या फ्रांसीसियों की अपेक्षा बढ़ती जा रही है। अस्तु। जब अंतरराष्ट्रीय दृष्टि से जन-संख्या की वृद्धि का प्रश्न इतना महत्त्व-पूर्ण है, तो फिर उसके नियंत्रण का प्रश्न कैसा? इस प्रकार का एक प्रश्न उठता है। लेकिन, यह राष्ट्रवादियों के विचारने का सवाल है। हमारी सम्मति में इस मामले में अपने भविष्य के नियंता होने का अधिकार मनुष्य-मात्र को है।



मधुर मुरली

[श्रीयुत हनूमान शर्मा की कृपा से प्राप्त]

सतसगति लघु बस हूँ हरि अवगुन गुन देति ;
केहि न मधुर अधरनि-धरी बंसी बस कर लेति ।

दुलारेलाल भार्गव

N K Press Lucknow

माधुरी के नियम

मूल्य

माधुरी का डाक-व्यय-सहित वार्षिक मूल्य ७॥), छ मास का ४) और प्रति संख्या का ॥।) है। वी० पी० से मँगाने में ≈) रजिस्ट्री के और देने पड़ेंगे। इसलिये ग्राहकों को मनीऑर्डर से ही चंदा भेज देना चाहिए। भारत के बाहर सर्वत्र वार्षिक मूल्य ९), छ महीने का ५) और प्रति संख्या का ॥।≈) है। वर्षारंभ श्रावण से होता है; और प्रति मास शुक्ल-पक्ष की सप्तमी को पत्रिका प्रकाशित हो जाती है। लेकिन ग्राहक बननेवाले चाहे जिस संख्या से ग्राहक बन सकते हैं।

अप्राप्त संख्या

अगर कोई संख्या किसी ग्राहक के पास न पहुँचे, तो अगले महीने के शुक्ल-पक्ष की सप्तमी तक कार्यालय को सूचना मिलनी चाहिए। लेकिन हमें सूचना देने के पहले स्थानीय पोस्ट-ऑफ़िस में उसकी जाँच करके डाकख़ाने का दिया हुआ उत्तर सूचना के साथ आना चाहिए। उनको उस संख्या की दूसरी प्रति भेज दी जायगी। लेकिन उक्त तिथि के बाद सूचना मिलने से उस पर ध्यान नहीं दिया जायगा, और उस संख्या को ग्राहक ॥।–) के टिकट भेजने पर ही पा सकेंगे।

पत्र-व्यवहार

उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिए। अन्यथा पत्र का उत्तर नहीं दिया जा सकेगा। पत्र के साथ ग्राहक-नंबर का भी उल्लेख होना चाहिए। मूल्य या ग्राहक होने की सूचना संचालक गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ या मैनेजर नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ के पते से आनी चाहिए।

पता

ग्राहक होते समय अपना नाम और पता बहुत साफ़ अक्षरों में लिखना चाहिए। दो-एक महीने के लिये पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध डाक-घर से ही कर लेना ठीक होगा। अधिक दिन के लिये बदलवाना हो, तो संख्या निकलने के १५ रोज़ पेश्तर उसकी सूचना देनी चाहिए।

लेख आदि

लेख या कविता स्पष्ट अक्षरों में, काग़ज़ की एक ओर, संशोधन के लिये इधर-उधर जगह छोड़कर, लिखी होनी चाहिए। क्रमशः प्रकाशित होने लायक़ बड़े लेख संपूर्ण आने चाहिए। किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने का, उसे घटाने बढ़ाने का तथा उसे लौटाने या न लौटाने का सारा अधिकार संपादक को है। जो नापसंद लेख संपादक लौटाना मंज़ूर करें, वे टिकट भेजने पर ही वापस किए जा सकते हैं। यदि लेखक लेना स्वीकार करते हैं, तो उपयोगी और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दिया जाता है। सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबंध लेखकों को ही करना चाहिए। हाँ, चित्र प्राप्त करने के लिये आवश्यक ख़र्च प्रकाशक देंगे।

लेख, कविता, चित्र, समालोचना के लिये प्रत्येक पुस्तक की २-२ प्रतियाँ और बदले के पत्र इस पते से भेजने चाहिए—

पं० दुलारेलाल भार्गव

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ

विज्ञापन

किसी महीने में विज्ञापन बंद करना या बदलवाना हो, तो एक महीने पहले सूचना देनी चाहिए।

अश्लील विज्ञापन नहीं छपते। छपाई पेशगी ली जाती है। विज्ञापन की दर नीचे प्रकाशित है—

१ पृष्ठ या २ कालम की छपाई... ...२०) प्रति मास
१/२ ,, या १ ,, ,, ... १६) ,, ,,
१/४ ,, या १/२ ,, ,, ... १०) ,, ,,
१/८ ,, या १/४ ,, ,, ... ६) ,, ,,

कम-से-कम चौथाई कालम विज्ञापन छपानेवालों को माधुरी मुफ़्त मिलती है। साल भर के विज्ञापनों पर उचित कमीशन दिया जाता है।

माधुरी में विज्ञापन छपानेवालों को बड़ा लाभ रहता है। कारण, इसका प्रत्येक विज्ञापन कम-से-कम ४,००,००० पढ़े-लिखे, धनी मानी और सभ्य स्त्री-पुरुषों की नज़रों से गुज़र जाता है। सब बातों में हिंदी की सर्व-श्रेष्ठ पत्रिका होने के कारण इसका प्रचार ख़ूब हो गया है, और उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, एवं प्रत्येक ग्राहक से माधुरी ले-लेकर पढ़नेवालों की संख्या ४०-५० तक पहुँच जाती है।

यह सब होने पर भी हमने विज्ञापन-छपाई की दर अन्य अच्छी पत्रिकाओं से अपेक्षाकृत कम ही रक्खी है। कृपया शीघ्र अपना विज्ञापन माधुरी में छपाकर लाभ उठाइए। कम-से-कम एक बार परीक्षा तो कीजिए।

मैनेजर माधुरी, लखनऊ

क्या आप विज्ञापन छपाकर लाभ उठाना चाहते हैं ?

तो

माधुरी में अपना विज्ञापन छपाइए।

क्यों

माधुरी लोक-प्रिय पत्रिका है और इसके विज्ञापकों को सबसे अधिक लाभ होता है।

इसके सबूत के लिये माधुरी के विज्ञापन पृष्ठ गिनिए

अस्तु, आज ही अपना विज्ञापन भेजिए

विज्ञापन छपाने के नियम

(क) विज्ञापन छपाने के पूर्व कंट्रैक्ट-फ़ार्म भरकर भेजना चाहिए। कितने समय के लिये और किस स्थान पर छपेगा इत्यादि बातें साफ़-साफ़ लिखना चाहिए।

(ख) झूठे विज्ञापन के ज़िम्मेदार विज्ञापनदाता ही समझे जायँगे। किसी तरह की शिकायत साबित होने पर विज्ञापन रोक दिया जायगा।

(ग) साल-भर का या किसी निश्चित समय का ठेका तभी पक्का समझा जायगा, जब कम-से-कम तीन मास की विज्ञापन-छपाई पेशगी जमा कर दी जायगी और बाक़ी भी निश्चित समय पर अदा कर दी जायगी। अन्यथा कंट्रैक्ट पक्का न समझा जायगा।

(घ) अश्लील विज्ञापन न छापे जायँगे।

ख़ास रियायत

साल-भर के कंट्रैक्ट पर तीन मास की पेशगी छपाई देने से ६।) फ़ी सदी, ६ मास की देने से १२॥) और साल-भर की पूरी छपाई देने से २५) फ़ी सदी, इस रेट में, कमी कर दी जायगी।

विज्ञापन छपाई की रेट

साधारण पूरा	पेज	३०)	प्रति	बार
,, १/२	,,	१६)	,,	,,
,, १/४	,,	१०)	,,	,,
,, १/८	,,	६)	,,	,,
कवर का दूसरा	,,	५०)	,,	,,
,, तीसरा	,,	४५)	,,	,,
,, चौथा	,,	६०)	,,	,,
दूसरे कवर के बाद का	,,	४०)	,,	,,
प्रिंटिंग मैटर के पहले का	,,	४०)	,,	,,
,, ,, बाद का	,,	४०)	,,	,,
प्रथमरंगीनचित्रकेसामनेका	,,	४०)	,,	,,
लेख सूची के नीचे आधा	,,	२४)	,,	,,
,, ,, चौथाई	,,	१५)	,,	,,
प्रिंटिंग मैटर में आधा	,,	३०)	,,	,,

पता—मैनेजर माधुरी, लखनऊ।

माधुरी की पिछली संख्याएँ

माधुरी के प्रेमी पाठकों ने हमसे समय समय पर पिछली संख्याएँ भेजने के लिये आग्रह किया है। पिछली संख्याओं के अभी कुछ सेट भी बाक़ी रह गए हैं। अतः ऐसी अवस्था में जिनके फ़ाइलों में निम्न-लिखित संख्याओं में जो संख्याएँ न हों, अभी मँगाकर अपना सेट पूरा कर लें। अन्यथा प्रतियाँ शेष न रहने पर हम देने से असमर्थ होंगे।

प्रथम वर्ष की संख्याएँ

फुटकर संख्याएँ

तीसरी (आश्विन की) संख्या		२)
छठी (पौष की)	,,	२)
आठवीं (फाल्गुन की)	,,	२)
नवीं (चैत्र की)	,,	॥|)
दसवीं (वैशाख की)	,,	॥|)
ग्यारहवीं (ज्येष्ठ की)	,,	१)
बारहवीं (आषाढ़ की)	,,	१)

नोट — चारों संख्याएँ एकसाथ लेने से २)। इनमें बड़े ही मनोरंजक लेख और मनोहर चित्र निकले हैं।

प्रथम वर्ष

सजिल्द सेट

इनकी जिल्दें मज़बूत और सुंदर कपड़े की बनी हैं, जिन पर सुनहरे अक्षरों में माधुरी का नाम इत्यादि आवश्यक बातें लिखी हैं। सेट देखते ही हाथ में ले लेने को तबियत छटपटाने लगेगी। ये सेट क्या हैं, पुस्तकालयों और वाचनालयों की शोभा हैं। १० पुस्तकें और न रखकर एक सेट माधुरी का रक्खें, तो अधिक अच्छा होगा।

१ से ६ संख्याओं तक — २०) ; इन्हें प्रेमी पाठकों ने २४)-२४) प्रति सेट देकर ख़रीद लिया है। ७ से १२ संख्याओं तक प्रति सेट मूल्य ६)

द्वितीय वर्ष की संख्याएँ

इस वर्ष की १२ संख्याओं में केवल प्रथम संख्या अप्राप्य है। बाक़ी संख्याओं की अधिक-से अधिक ४० प्रतियाँ तक बाक़ी रह गई हैं। जिन प्रेमियों को जिस संख्या की आवश्यकता हो, लौटती डाक से लिखकर मँगा लें। मूल्य प्रत्येक संख्या का १)

द्वितीय वर्ष

इन संख्याओं के सुंदर जिल्ददार सेट भी मौजूद हैं। जिनमें प्रथम संख्या भी मौजूद है। ऐसे केवल प्रथम खंड के २३ और दूसरे के ४० सेट बाक़ी रह गए हैं। जो प्रेमी पाठक लेना चाहें, प्रत्येक के लिये ४) भेजकर शीघ्र मँगा लें। अन्यथा निकल जाने पर फिर न मिल सकेंगे।

तृतीय वर्ष की संख्याएँ

इस वर्ष की फुटकर संख्याओं में केवल पहली, तीसरी, चौथी और सातवीं से बारहवीं तक सभी मिल सकती हैं। प्रत्येक का मूल्य ॥|) जितनी या जिस संख्या की आवश्यकता हो, लौटती डाक से लिखकर मँगा लें।

तृतीय वर्ष

इनके सुंदर सेट भी लगभग ४० की संख्या में बाक़ी रह गए हैं। जो सज्जन चाहें ४) प्रति सेट के हिसाब से मँगवा सकते हैं। एकसाथ दोनों सेट लेने से ६) में ही दे दिए जायँगे। विलंब से आर्डर आने से, हम नहीं कह सकते कि दे सकेंगे।

नोटः—हमारे प्रत्येक सेट ऐसे मनोहर, और मजबूत बँधे हैं कि बाज़ार में ३) देने पर भी नहीं बँध सकते। सुंदर कपड़ा और उसके ऊपर स्वर्णाक्षरों का काम सुंदरता को दोबाला करता है। किसी बढ़िया से बढ़िया लाइब्रेरी में भी रखने से माधुरी की शोभा श्रेष्ठतम रहेगी। अतः प्रेमी पाठकों से निवेदन है कि अपने इच्छित अंक और सेट फ़ौरन् मँगवा लें।

निवेदक—मैनेजर माधुरी, लखनऊ



[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

मिना, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ४ खंड २ | आषाढ़-शुक्ल ७, ३०२ तुलसी संवत् (१९८३ वि०)— १७ जुलाई, १९२६ ई० | संख्या ६ पूर्ण संख्या ४८

प्रार्थना

(श्रीदुलारेलाल भार्गव-कृत दोहे पर कुंडलिया)

"श्रीराधा बाधाहरनि-नेहअगाधा-साथ—
निसिदिन नयन-निकुंज में नचौ निरंतर नाथ !"
नचौ निरंतर नाथ, हाथ इक चरखा लीजै ;
सादी खादी धारि सदा सत्याग्रह कीजै।
लहि स्वराज सुख-मूल ऐक्यमय प्रीति अगाधा ;
सविनय आज्ञा-भंग करौ मन तव श्रीराधा।

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

अनुरोध

मीड़ मत, खिंचे बीन के तार।
निर्दय उँगली आह ! ठहर जा,
पल-भर अनुकंपा से भर जा,
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी निकलेगी निस्सार।
छेड़-छेड़ हर मूक तंत्र को,
विचलित कर मधु मौन मंत्र को,
बिखरा दे मत, शून्य पवन में लय हो स्वर-संसार।
मसल उठेगी सकरुण व्रीड़ा,
किसी हृदय को होगी पीड़ा,
नृत्य करेगी नग्न विकलता, परदे के उस पार।

जयशंकर "प्रसाद"

परमेश्वर और उसका स्वरूप

१ नास्तिकवाद



रैच का कथन है कि जिस प्रकार सूर्य की सत्ता स्वयं सिद्ध है, उसी प्रकार परमात्मा का न होना भी स्वयं सिद्ध है। गस्टेव फ़्लारेंस कहता है कि परमात्मा का विचार ही हमारा शत्रु है; मानव-समाज की उन्नति नास्तिकवाद के आधार पर ही हो सकती है। कहते हैं, ब्रेडला ने अपने मकान के प्रवेश-द्वार पर 'God is Nowhere' (ईश्वर कहीं नहीं है) का पट्टा टाँग रक्खा था। इस प्रकार के परमात्मा का अभाव माननेवाले नास्तिक संसार में कम नहीं हैं। ऐसे नास्तिकों के प्रति जॉन फ़ास्टर का कहना है कि जो मनुष्य परमात्मा के अभाव को सिद्ध करना चाहता है, वह पहले अपने को सर्वज्ञ सिद्ध कर ले, तभी आगे बढ़ सकता है। जिस बुद्धि से परमात्मा का तिरस्कार किया जाता है, उसी में परमात्मापन आरोपित करना पड़ता है। जब तक मनुष्य सर्वज्ञ न हो, तब तक उसे क्या मालूम ? शायद दुनिया के किसी कोने में, जहाँ तक वह अभी नहीं पहुँचा, परमात्मा की सत्ता के निशान मौजूद हों ? यदि संसार-भर के प्रत्येक 'कर्ता' को वह नहीं जानता, तो नहीं कह सकता कि जिसको वह नहीं जानता, वही संसार का भी 'कर्ता नहीं है। जब वह कह देगा कि मैं सर्वज्ञ बनकर दुनिया-भर में ढूँढ़ आया, और परमात्मा का कोई निशान मैंने कहीं नहीं पाया, तब हम उसी को परमात्मा मानकर उसकी पूजा करने लगेंगे। परमात्मा का अभाव सिद्ध करना अपने को सर्वज्ञ कहने से कम नहीं।

यदि कुछ देर के लिये मान भी लें कि परमात्मा नहीं है, तो भी हमारा नास्तिकों से प्रश्न है कि वे संसार की गुत्थी को कैसे सुलझाते हैं ? उत्तर मिलता है—'प्रकृतिवाद' (Materialism) से। वैसे तो 'प्रकृतिवाद' कोई एक सिद्धांत नहीं, और इसके अंतर्गत सैकड़ों 'वाद' मौजूद हैं, तथापि उन सबमें मुख्य विकासवाद (Evolution) का सिद्धांत है। इस मत के अनुसार यह माना जाता है कि 'प्रकृति' में विकास होते-होते वर्तमान 'विकृत' जगत् की उत्पत्ति हो गई। सांख्य-मत इसी मत का पोषक है। परंतु उसे कई कारणों से, जिनका यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता, नास्तिक नहीं कह सकते। हक्सले तथा टिंडल का मत है कि हमें संसार के बचपन के समय की झाँकी दिखला दी जाय, तो हम मूल प्रकृति से जीवित जगत् की रचना होते हुए देख सकते हैं; जड़ (Inorganic) से चेतन (Organic) की उत्पत्ति हमारी कल्पना में आ सकती है। जीवन की इकाई 'कलल-रस' (Protoplasm) है, जो कार्बन, हाईड्रोजन, ऑक्सिजन और नाईट्रोजन के सम्मिश्रण से बना है। इनमें परमात्मा का कोई हाथ नहीं। यही मत चार्वाकों * का है, जिसे वे 'देहात्मवाद' कहते हैं।

जब से पाश्चात्य देशों में यह विचार उत्पन्न हुआ कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति हो सकती है, तब से वहाँ अनेक परीक्षण किए गए। डच तथा इटालियन लोगों † ने बड़े मज़ेदार परीक्षण किए। उनमें एक यह था कि एक वैज्ञानिक ने पनीर और कुछ गेहूँ लेकर एक कपड़े में रख दिया। कुछ दिन के बाद वहाँ चूहे देख पड़े। वैज्ञानिक ने कल्पना की कि पनीर तथा गेहूँ के मिलाने से चूहे पैदा हो जाते हैं। हमें आज यह सुनकर हँसी आती है; परंतु उस समय बड़ी संजीदगी से यह बात मान ली गई। किंतु जड़ से चेतन को उत्पन्न करने का अभी तक कोई परीक्षण सफल नहीं हुआ। यदि मान भी लें कि किसी समय रसायन-भवन की परीक्षण-नलिका में जीवन की उत्पत्ति हो जाय, तो भी क्या यह सिद्ध हो जायगा कि उसका कारण जड़ प्रकृति ही है ? डॉ० फ़्लिंट ‡ लिखते हैं कि यदि जड़ से चेतन की उत्पत्ति होती देख पड़े, तो भी प्रकृतिवाद सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि आस्तिक कह सकता है कि जिन अवस्थाओं में जीवन

---

* अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् । न्या०, ४र्थ अध्याय, १ आ०, २२ सूत्र ।

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः ।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते । (सर्वदर्शन-संग्रह)

† Seven Men of Science, page 99.

‡ "Were spontaneous generation proved, materialism would remain as far from established as before." (Anti-Theistic Theories, page 164).

अपनेको प्रकट कर सकता है, उन्हीं का तुमने पता लगाया, जीवन को नहीं उत्पन्न कर पाए ! जड़ तथा चेतन में जो शाश्वत भेद दिखाई देता है, उसका उत्तर प्रकृतिवादियों के पास कुछ नहीं है ।

प्रकृतिवादियों से हम यह भी कहना चाहते हैं कि कार्बन, हाईड्रोजन, ऑक्सिजन तथा नाईट्रोजन से जहाँ 'चेतनता' उत्पन्न नहीं हो सकती, वहाँ इनसे 'ज्ञान' भी नहीं उत्पन्न हो सकता। क्या कभी कल्पना की जा सकती है कि किसी भी समय ईंटें मिलकर सभा करें, और हम लोगों की तरह व्याख्यान देने लगें ? यदि मनुष्य में जड़ पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं है, तो वह विचार कैसे कर सकता है ? दिमाग़ की आणविक गति (Molecular action) ज्ञान(Sensation-perception) में कैसे बदल जाती है ? प्रो० टिंडल * ने बहुत ठीक पूछा है कि दिमाग़ की भौतिक रचना तथा ज्ञान के अनुभव का मिलानेवाला कौन-सा रास्ता है ? मान लिया कि दिमाग़ में एक ख़ास विचार तथा एक ख़ास भौतिक परिवर्तन इकट्ठे होते हैं। परंतु किस साधन से, किस युक्ति से, हम दोनों को मिला देते हैं, और एक को दूसरे का कारण कहने लगते हैं ? इसमें संदेह नहीं कि ये दोनों इकट्ठे दिखाई देते हैं ; परंतु यह मानना ही पड़ता है कि 'मस्तिष्क तथा 'चेतनता' दो पृथक् वस्तुएँ हैं, जिन्हें अभी तक विज्ञान नहीं मिला सका।

नास्तिकों का कथन है कि प्राकृतिक तत्त्वों से मस्तिष्क बनता है, और वही सोचता है। मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्य शक्ति क्यों मानी जाय ? विचार तो मस्तक का ही रस (Secretion) है। परंतु यह विचार ठीक नहीं। फ़्लेमेरियन * ने अपनी पुस्तक 'मृत्यु और उसका रहस्य' में ऐसे व्यक्तियों के दृष्टांत दिए हैं, जिनका सैरीब्रम तथा सैरीबैलम गल गया था, और वे विचार करते रहे। वेदांत-दर्शन † (अ० ३, पा० ३, सूत्र० ५४) में देह तथा मस्तक के अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि करते हुए लिखा है कि यदि मस्तक के अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है तो 'मेरा मस्तक' यह ज्ञान कैसे हो सकता है ? क्या अग्नि अपनेको जला सकती है ? क्या नट अपने कंधे पर चढ़ सकता है ? यदि नहीं, तो मस्तक को भी 'मेरा मस्तक' यह ज्ञान तभी हो सकता है, जब वह

* "The passage from the physics of the brain to the corresponding facts of consciousness is unthinkable. Granted that a definite thought and a definite molecular action in the brain occur simultaneously : we do not possess the intellectual organ, nor apparently any rudiment of the organ, which would enable us to pass, by a process of reasoning, from the one phenomena to the other. They appear together, but we do not know why......the chasm between the two classes of phenomena would still remain intellectually impassable"

* "My learned friend Edmond Perrier presented to the Academy of Sciences, in his lecture of December 22nd, 1913, an observation of Dr. Robinson's concerning a man, who had lived nearly a year with almost no suffering and with no apparent mental trouble, with a brain, that was nearly reduced to a pulp, and was no longer any thing but a vast purulent abscess. In July, 1914, Dr. Hallopean brought to the Society of Surgery the account of an operation that had been performed at the Necker Hospital upon a young girl, who had fallen from the Metropolitan Railway : at the trepanning it was ascertained that a large proportion of the brain matter was reduced literally to a pulp. They cleaned, drained and reclosed the wound, the patient recovered. On March 24th, 1917, at the Academy of Sciences, Dr. Guepin showed, through an operation on a wounded soldier that the partial ablation of the brain does not prevent manifestations of intelligence" See—Death and its Mystery (P. 38-39) by C. Flammarion.

.cism thought." Ethics—See,

† देखो भाष्य में "न ह्यग्निरुष्णः सन् स्वात्मानं दहति। न हि नटः शिक्षितः सन् स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति" (वे०, ३, ३, ५४)

चलानेवाली कोई पृथक् सत्ता मान लिया जाय । इसी प्रकार की अनेक युक्तियों से भामतीकार वाचस्पति मिश्र * ने देह से भिन्न आत्मा की सत्ता को सिद्ध किया है।

अब यदि यह भी मान लिया जाय कि दिमाग़ के बिना मनुष्य सोच नहीं सकता, तो भी इसका अभिप्राय यही होगा कि दिमाग़ एक ऐसा साधन है, जिसके बिना विचार नहीं हो सकता यह तो सिद्ध नहीं होगा कि 'विचार' दिमाग़ से ही शुरू होता है उसी में समाप्त हो जाता है और उससे ऊपर नहीं रहता। इसी भाव को सर ऑलिवर लॉज † ने अपनी पुस्तक 'मस्तिष्क और तत्त्व' में बड़े अच्छे शब्दों में लिखा है। वह लिखते हैं—'विचार' 'दिमाग़' से ही होता है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि दिमाग हमारी चेतना का साधन है, उपकरण है। उसे उत्तेजना मिले, तो मानसिक क्रिया उत्तेजित हो जाती है; उसे आघात पहुँचे, तो मानसिक क्रिया को भी आघात पहुँचता है। यह सब कुछ मान लेने से क्या सिद्ध हुआ? केवल यही कि मानसिक गति के प्रकट होने के लिये मस्तिष्क एक आवश्यक उपकरण है। परंतु हमने यह कहाँ माना कि मन ही यह उपकरण है? मन इस उपकरण की सहायता लेकर भी इससे ऊपर हो सकता है।

हमने देखा कि 'प्रकृतिवाद' 'जीवन' तथा 'ज्ञान' के विषय में 'कहाँ से' और 'कैसे' का उत्तर नहीं दे सकता। इन तथा इसी प्रकार के अन्य आक्षेपों के कारण योरप में नास्तिकता हटती चली जा रही है। इसीलिये 'इन-साइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलिजन एंड एथिक्स' * में नास्तिकवाद के प्रकरण में लिखा है कि आजकल नास्तिकवाद लगभग बिलकुल उड़ गया है, और उसकी जगह 'अज्ञेयवाद' आ रहा है।

२. संदेहवाद तथा अज्ञेयवाद

हमने अभी देखा कि नास्तिकवाद ने संदेह के लिये जगह ख़ाली कर दी। संदेह ने दो पृथक् पृथक् रूप धारण किए—'संदेहवाद' तथा 'अज्ञेयवाद'। संदेहवाद का मुख्य प्रवर्तक ह्यूम कहा जा सकता है, और भारत में जैनियों का 'स्याद्वाद' † इसी का रूपांतर है। संदेहवाद में आत्म-व्याघात के अंश मौजूद हैं, इसलिये यह ठहर नहीं सकता। संदेह में तो संदेह होता नहीं, वह तो निश्चित है। फिर संदेहवाद कहाँ रहा? इसी बात को वेदांत में जैनियों के स्याद्वाद का खंडन करते हुए 'नैकस्मिन्नसम्भवात्' इस सूत्र से प्रकट किया है।

* भामती (पृ० ६)—"न हि बालस्थविरयोः शरीरयोरस्ति मनागपि प्रत्यभिज्ञानगन्धो येनैकत्वमध्यवसीयेत । तस्माद्येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्यो भिन्नं यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम् । तथा च बालादिशरीरेषु व्यावर्तमानेष्वपि परम्परमहंकारास्पदमनुवर्तमान तेभ्यो भिद्यते । अपि च स्वप्नान्ते दिव्यं शरीरभेदमास्थाय तदुचितान्भोगान् भुञ्जान एव प्रतिबुद्धो मनुष्यशरीरमात्मानं पश्यन् नाहं देवो मनुष्य एवेति देवशरीरे बाध्यमानेऽप्यहमास्पदमबाध्यमानं शरीराद्भिन्नं प्रतिपद्यते । अपि च योगव्याघ्र- शरीरभेदेऽप्यात्मानमभिन्नमनुभवतीति नाहंकारालम्बनं देहः ।"

† "Fundamentally it amounts to this : that a complex piece of matter called the brain is the organ or instrument of mind and consciousness ; that if it be stimulated, mental activity results · that if it be injured or destroyed, no manifestation of mental activity is possible...... Suppose we grant all this, what then? We have granted that brain is the means, whereby mind is made manifest on this mental plane, it is the instrument through which alone we know it, but we have not granted that mind is limited .. its material manifestation .....Mind may be ... orate or incarnate in matter, but it may ... end it." Mind and Matter by Sir ..., page 324.

* "At the present time atheism in the definite form, which it has often assumed in the past, has almost entirely disappeared, and an agnostic form of rationalism has taken its place" Encyclopedia of Religion and Ethics—See "Atheism"

† वेदांत० (२,२,३३) "सर्वत्र चेम सप्तभङ्गीन्यायमवतारयन्ति । स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्चेति ।...न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत् । य एते सप्त पदार्था निर्धारिता एतावन्त एव रूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः ।"

आधुनिक काल में संदेहवाद का विचार अज्ञेयवाद (Agnosticism) के रूप में प्रकट हुआ, और प्रो० हक्सले ने अपनेको नास्तिक कहलाने से बचाने के लिये इस शब्द का निर्माण किया। अपनी पुस्तक 'मैथड ऐंड रिजल्ट' * में वह एक जगह लिखते हैं कि मुझे निर्बल शक्ति का सृष्टि की अंतिम सत्ता तक पहुँच पाना असंभव प्रतीत होता है। परमात्मा के गुणों की व्याख्या करनेवाले मुझे बेवकूफ़ मालूम पड़ते हैं, और उनसे बढ़कर मूर्ख वे, जो उसकी सत्ता के खंडन करने का दम भरते हैं। हक्सले का कथन था † कि प्रकृति तथा परमात्मा, दोनों 'हौआ' हैं। इनके पीछे भागने से मनुष्य का कुछ नहीं बन सकता। जब मशीन ‡ को चलती हुई पाकर, उससे काम करने से हमें फ़ुर्सत नहीं, तब उसकी रचना आदि विकट प्रश्नों को सोचने में समय क्यों खोया जाय?

परंतु हक्सले का यह विचार ठीक नहीं। मनुष्य की रचना इस प्रकार की नहीं है कि वह अंतिम सत्ताओं पर विचार करना ही छोड़ दे। ऐसा मान लेना मानव-प्रकृति से अनभिज्ञता प्रकट करता है। मनुष्य जब तक मनुष्य है, वह अन्य बातों के साथ इन पर भी विचार करता ही रहेगा। और, किसी-किसी समय तो अन्य सब कुछ छोड़कर इन्हीं पर बड़ी प्रबलता से विचार करेगा। प्रो० हक्सले मनुष्य को मशीन का पुर्ज़ा बना देना चाहते हैं। किंतु मनुष्य की रचना इस भाव के विरुद्ध है। मनुष्य इन पर विचार करेगा, और विचार अंत तक संदिग्ध अवस्था में ही रहेगा। इस बात को मानने के लिये भी मनुष्य को तैयार नहीं कर सकते। विचार का अभिप्राय निश्चय पर पहुँचना है, संदेह में पड़े रहना ही नहीं। अज्ञेयवाद ही यदि संसार की समस्याओं का अंतिम उत्तर होता, तो मानव-समाज कभी का आत्मघात कर इस समस्या को हल कर चुका होता। इसीलिये शॉपेनहार आदि अज्ञेयवादियों ने आत्मघात में कोई दोष नहीं देखा। कई लोग भूल से उपनिषदों को अज्ञेयवाद का प्रतिपादक समझते *। बुद्ध को अज्ञेयवादी कहा जा सकता है, यद्यपि बहुतों की उसके विषय में यह सम्मति नहीं है। परंतु उपनिषदों को अज्ञेयवाद का प्रतिपादक कहना बड़ी भारी भूल है। उनमें स्पष्ट लिखा है—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः"—उसे न जानने से तो नाश-ही नाश है *!

जिस प्रकार नास्तिकवाद का ह्रास हुआ, संदेहवाद नष्ट हो गया, उसी प्रकार अब योरप से अज्ञेयवाद भी लुप्त होता चला जा रहा है। 'इनसाइक्लोपीडिया आफ़ रिलिजन ऐंड एथिक्स' में अज्ञेयवाद पर लिखते हुए स्पष्ट कहा है कि आधुनिक दार्शनिक विचारों का झुकाव अज्ञेयवाद को पीछे छोड़ जाने की ओर है। †

* "The problem of the ultimate cause of existence seems to me hopelessly out of reach of my poor powers. Of all the senseless babble I have ever had occasion to read, the demonstrations of these philosophers, who undertake to tell us all about the nature of God, would be the worst, if they were not surpassed by the still greater absurdities of the philosophers, who try to prove that there is no God" Method and Results, page 245

† "For what after all do we know of this terrible 'matter' except as a name for the unknown and hypothetical cause of states of our consciousness......"

‡ "Why trouble oneself about matters, which are out of reach, when the working of the mechanism itself, which is of infinite practical importance, affords scope for all our opportunities." Huxley's Critiques and Addresses, page 307

* उपनिषदों में अज्ञेयवाद के प्रतिपादक ये वाक्य कहे जाते हैं—

"न विद्मो न विजानीमो—यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् * इत्यादि"

इसका अभिप्राय यही है कि जिस प्रकार का लोग उसे बता रहे हैं, वह वैसा नहीं है। उपनिषदों में लिखा है—"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते। इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति...। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्।"

† "More recent philosophical developments encourage the expectation that Agnosticism will soon be a superseded mode of thought." Encyclopedia of Religion and Ethics—See, "Agnosticism".

३. आस्तिकवाद—परमात्मा की सिद्धि

हमने देख लिया कि नास्तिकवाद, संदेहवाद तथा अज्ञेयवाद हमें संतोष नहीं दे सकते। अब प्रश्न होता है कि ऐसी अवस्था में सृष्टि की उत्पत्ति कैसे समझी जाय? हमारा विचार है कि आस्तिकवाद ही इस विकट समस्या का सबसे बढ़िया समाधान है। ईश्वर की सत्ता निम्न-लिखित युक्तियों से सिद्ध की जा सकती है—

(क) जगत्कार्यत्ववाद (Cosmological Argument)—मीमांसक मानते हैं कि संसार का स्थूल रूप अनादि है। परंतु विज्ञान से सिद्ध हो चुका है कि प्रकृति का यह स्थूल रूप अनादि नहीं। यह किसी-न-किसी समय बना, और किसी-न-किसी समय नष्ट हो जायगा। भिन्न-भिन्न परमाणुओं से यह सुंदर संसार कैसे पैदा हो गया? कई प्रकृतिवादियों का कथन है कि परमाणुओं के मिलने से 'ऐसे ही' (Fortuitous concourse of atoms) यह जगत् पैदा हो गया। यह कल्पना ऐसी ही है, जैसे कोई कहे कि बहुत-से अक्षरों को जोड़ देने से ऐसे ही एक पुस्तक तैयार हो गई! हम जानते हैं, संसार में ऐसे ही कुछ नहीं होता। कार्य-कारण का नियम अटल है। जो बनता है, उसका बनानेवाला भी होता है। यदि संसार बना, तो इसे किसने यह शकल दी? यह परिवर्तन कैसे हुआ? इस परिवर्तन का कारण कौन है? जो कारण है, वही परमात्मा है।

विकासवादी कहते हैं कि प्रकृति स्वयं इस परिवर्तन का कारण है। परंतु वह स्वयं इसका कारण नहीं हो सकती। यदि प्रकृति ही कारण हो, तो मानना पड़ेगा कि परिवर्तन प्रकृति का स्वाभाविक गुण है। परंतु 'परिवर्तन' किसी वस्तु का स्वाभाविक गुण नहीं हो सकता। स्वाभाविक गुण का अर्थ है 'नित्य गुण'। जो गुण किसी वस्तु का 'स्वभाव' हो, वह उसमें सदा—'नित्य' रहना चाहिए। जब एक गुण सदा रहेगा, तो उसका विरोधी गुण उसमें नहीं रह सकता। 'परिवर्तन' का अर्थ है 'अनित्य'—बदलनेवाला। अस्तु, परिवर्तन के स्वाभाविक होने का मतलब हुआ अनित्य का 'नित्य' होना। भला अनित्य को नित्य कहनेवाले की बुद्धि ठिकाने हो सकती है? यदि किसी प्रकार परिवर्तन को प्रकृति का स्वाभाविक धर्म मान भी लिया जाय, तो भी प्रकृति में एक ही प्रकार की यांत्रिक गति (Mechanical movement) होनी चाहिए—या तो वह बनती ही जाय, या बिगड़ती ही। परंतु ऐसा नहीं होता। सृष्टि का प्रारंभ करनेवाली प्रकृति में तो उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय—ये तीन विरोधी धर्म पाए जाते हैं। मैं एक पत्थर फेंकता हूँ। चूँकि उसे बाहर से गति मिली है, इसलिये वह चलता है, फिर ठहर जाता है। सृष्टि में उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय परस्पर-विरोधी गुण हैं, जो यही सिद्ध करते हैं कि प्रकृति के इन गुणों का कारण प्रकृति से बाहर है, उसका वह स्वभाव नहीं। यही भाव हरिदासीय कुसुमांजलि में इस प्रकार प्रदर्शित किया गया है—"क्षित्यादि सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्। सकर्तृकत्वञ्च उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमज्जन्यत्वम्।"

(ख) आयोजन भूतिवाद (Teleological Argument)—विज्ञान से पता चलता है कि जहाँ संसार सादि और सांत है, वहाँ वर्तमान संसार में अखंड नियम तथा व्यवस्था (Law, order, design) चल रही है। ज्योतिष शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, रसायन-शास्त्र, जीवन-विद्या—जहाँ कहीं भी हम आँख उठाकर देखते हैं, हमें नियम तथा व्यवस्था ही दिखाई देती है। एक छोटे-से बगीचे में क्रमशः वृक्षों की पंक्ति लगाने में माली की ज़रूरत पड़ती है, तो क्या ब्रह्मांड * के उद्यान की व्यवस्था बिना माली के हो रही है? डा० फ्लेमिंग "सेवन मेन ऑफ़ साइंस में कहते हैं कि सूर्य के इर्द-गिर्द जो आठ मुख्य ग्रह हैं, उनकी सूर्य से दूरी एक दूसरे की अपेक्षा लगभग दुगनी के है। यह अनुपात बोड के नियम से प्रसिद्ध है। क्या इन ग्रहों की इस प्रकार नियमित और व्यवस्थित गति बिना किसी चेतन शक्ति के हो रही है? विकासवादी कहते हैं कि ये सब तो प्रकृति के नियम हैं। परंतु क्या नियम कभी नियंता के बिना रह सकते हैं?

* यदि पृथ्वी की सूर्य से दूरी १०० संख्या से सूचित की जाय, तो अन्य ग्रहों की दूरी इस प्रकार होगी—Mercury (बुध) ३६; Venus (शुक्र) ७२; Earth (पृथ्वी) १००; Mars (मंगल) १५०; Jupiter (बृहस्पति) ५२०; Saturn (शनि) ९५०; Uranus (अरुण) १,९२०; Neptune (वरुण) ३,०००—Seven Men of Science पृ० ३८. (मार्स और जुपिटर के बीच अन्य ग्रह भी हैं, इसलिये इनकी दूरी में चौगुने के लगभग अंतर पाया जाता है)

विश्व की इसी धृति को वेद में—'स दाधार पृथिवीमुतद्याम्'—कहकर प्रकट किया है। कुसुमांजलि में इसी अनुमान को इस प्रकार प्रकट किया है—"सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकारम्भकपरमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म, चेतनप्रयत्नपूर्वकं, कर्मत्वात्, अस्मदादिशरीरक्रियावत्। ब्रह्माण्डादिपतनप्रतिबन्धकीभूतप्रयत्नवदधिष्ठितम् धृतिमत्त्वात् वियति विहङ्गमधृतकाष्ठवत्।"

प्रो० हक्सले 'क्रिटिक्स ऐंड एड्रेसेज़' * में लिखते हैं—"विकासवाद से संसार के नियमों तथा व्यवस्था को हल करने का प्रयत्न निरर्थक है। तुम जितना ही नियमों की महत्ता तथा गहनता का पता लगाते जाओगे, उतना ही आस्तिक कहेगा कि यह सब परमात्मा की महत्ता का प्रदर्शक है। संसार में अमुक-अमुक नियम हैं—यह कहकर नियन्ता परमात्मा का खंडन नहीं किया जा सकता।"

(ग) अदृष्ट नियामकत्ववाद (Moral Argument)—कार्य-कारण का नियम हमें बतलाता है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे का बुरा फल होना चाहिए। मनुष्य इस कर्म-फल का नियंता नहीं है; परंतु वह नियमित अवश्य है। कर्म के जड़ वस्तु होने के कारण उसमें भी यह शक्ति नहीं हो सकती। जो इस अदृष्ट का नियामक है, वही ईश्वर है। इसी भाव को न्याय-दर्शन में लिखा है—"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।" कुसुमांजलि में इसी पर यह अनुमान बनाया गया है—"अदृष्ट बुद्धिमच्चेतनकारणाधिष्ठितं, अचेतनत्वे सति कारणत्वात्, चेतृपुरुषाधिष्ठित वास्यादिवत्।"

ईसाई लोग जीवात्मा को उत्पन्न किया हुआ मानते हैं। इसलिये उन्होंने इस युक्ति को दूसरे रूप में रक्खा है। वे कहते हैं कि पशु-जगत् में मत्स्य-न्याय (Struggle for existence) दिखाई देता है; परंतु मनुष्य-जगत् में न्याय, प्रेम, दया तथा कर्तव्याकर्तव्य के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य की प्रकृति में 'यह करो, और यह न करो' का भाव (Conscience) कहाँ से आया? ईसाइयों का कथन है कि इस भाव को हमारे अंदर परमात्मा ने पैदा किया।

(घ) निरतिशयवाद (Ontological or A Priori Argument)—प्रत्येक मनुष्य के हृदय में सर्वज्ञता, अनंतता, अनादित्व आदि के विचार वर्तमान हैं। प्रश्न यह है कि ये विचार कहाँ से आए, और किस सत्ता के विषय में ठीक हैं? हम पहले देख आए हैं कि संसार में एक ऐसी सत्ता है, जो इस सृष्टि का कारण है, चेतन है, ज्ञान-स्वरूप है, और जिसका कार्य ऐसा महान् है कि उसे यदि हम अनंत नहीं, तो सांत भी नहीं कह सकते। ऐसा युक्ति-युक्त भी प्रतीत होता है कि उसी सत्ता के विषय में इन विचारों को ठीक समझा जाय। प्लेटो, एंसलम, डेकार्टे आदि ने इसी युक्ति से परमात्मा को सिद्ध किया है। ये विचार मिथ्या नहीं कहे जा सकते; क्योंकि ये सदा और सब मनुष्यों में पाए जाते हैं। यदि ये विचार असत्य हैं, तो फिर मनुष्य की बुद्धि ही क्यों असत्य नहीं? इसी को योग-दर्शन में बहुत ही अच्छे प्रकार से "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" इस सूत्र की व्याख्या करते हुए इस प्रकार लिखा है—"अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात् परिमाणवत्। यत्र काष्ठाप्राप्तिः ज्ञानस्य स सर्वज्ञः।"

इसके अतिरिक्त इसलिये भी इस ज्ञान को भ्रमात्मक नहीं कह सकते कि जितना भ्रमात्मक ज्ञान होता है, उसका सारा हिस्सा अलग-अलग कहीं-न-कहीं हमारा देखा होता है। स्वप्न में हम आदमी के सूँड़ लगी हुई देखते हैं, परंतु प्रत्यक्ष में हमने आदमी और सूँड़ को अलग-ही-अलग देखा है। जब हमें पूर्णता, सर्वज्ञता, अनादिता और अनंतता का ज्ञान उठता है, तब प्रश्न होता है कि

* "No doubt it is quite true that the doctrine of evolution is the most formidable opponent of all the commoner and coarser forms of Teleology. The teleological and the mechanical views of nature are not, however, of necessity, mutually exclusive. On the contrary, the more purely a mechanist the speculator is, the more firmly does he assume a primordial molecular arrangement, of which all the phenomena of the universe are the consequences; and the more completely is he thereby at the mercy of the teleologist, who can always defy him to disprove that this primordial molecular arrangement was not intended to evolve the phenomena of the universe." See, Critiques and Addresses of Professor Huxley, pages 305, 307.

यह ज्ञान कैसे हुआ ? हमने इन गुणों को कहाँ देखा ? अतएव मानना पड़ेगा कि इनका ज्ञान अन्य भ्रमात्मक ज्ञानों के समान नहीं, प्रत्युत इनमें तथा उनमें बहुत भेद है।

(ङ) ज्ञानकारणवाद—यद्यपि यह युक्ति A Priori Arguments के अंदर ही समाविष्ट हो सकती है, तथापि भारतीय दर्शनों में इस युक्ति पर बहुत ज़ोर दिया है। इसलिये इसको अलग लेना ही उचित जान पड़ता है।

जब तक ज्ञान का देनेवाला कोई न हो, तब तक मनुष्य बोल तक नहीं सकता। सारा-का-सारा ज्ञान धारा रूप में कहीं से आता है। परीक्षणों के आधार पर ये बातें सिद्ध की गई है। इस विषय में अकबर तथा सीरिया के राजा असुर बेनीपाल के परीक्षण प्रसिद्ध है। बच्चों को, पैदा होते ही, गूँगी दाइयों के साथ जंगलों में रक्खा गया। वे कुछ न बोल सकते थे। हाँ, बकरियाँ पास से गुज़रती थीं, इसलिये वे बकरी की-सी आवाज़ ज़रूर निकाल सकते थे। प्रो० मैक्समूलर भी इस बात को स्वीकार करते है। इसी को भिन्न-भिन्न दर्शनकारों ने बड़ी प्रबल युक्ति के रूप में दिया है। योग-दर्शन कहता है—"स सर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्।" वेदांत का कथन है—"शास्त्रयोनित्वात्।" वैशेषिक में लिखा है—"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे।"

(च) योगि-प्रत्यक्षवाद (Intuitional Argument)—जैसे मनुष्य की आँख, नाक आदि ज्ञानेंद्रियाँ है, वैसे अंतःकरण (Intuition) भी एक इंद्रिय है, जिससे मनुष्य उन सत्ताओं का अनुभव करता है, जिनका बाह्य इंद्रियों से ज्ञान नहीं हो सकता। पूर्वी तथा पश्चिमी देशों में ऐसे-ऐसे संत, योगी, महात्मा हो चुके हैं, जिनका दिमाग़ बिलकुल ठीक है, जो हमसे हज़ार दर्जे ऊँचे है, और जो बतलाते हैं कि हमने उस सत्ता को 'अंतः प्रत्यक्ष' किया है। क्या हम उनकी साक्षी का तिरस्कार कर सकते है ? क्या हम साधारण वस्तुओं में भी नहीं देखते कि अनेक ऐसी वस्तुओं का हमें पता तक नहीं चलता, जिनका दूसरों को साक्षात् अनुभव होता अथवा यंत्रादि द्वारा ज्ञान हो सकता है ? कई लोगों को ख़ास-ख़ास तरह के रंग नहीं देख पड़ते। कइयों को कोई-कोई स्वाद नहीं मालूम होता। तो क्या हम परमात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने से उसके न होने पर विश्वास कर सकते हैं ? नहीं। शक्तियों की सीमा को अब तक किसी ने नहीं बाँधा। संसार में विलक्षण तथा असीम शक्तियाँ मौजूद है। ऐसे महात्माओं की भी कमी नहीं, जो ब्रह्म के सम्मुख अपने को ऐसे खड़ा देखते हैं, जैसे हम अपनेको किसी मूर्तिमान् पदार्थ के सामने। ठीक है, उसका आँख, नाक आदि इंद्रियों से ज्ञान नहीं होता। परंतु हो सकता है, वह इन इंद्रियों का विषय ही न हो। यदि कोई आँख से सूँघना चाहे, और नाक से देखना चाहे, तो वह मूर्ख कहा जायगा। हम भी इन्हीं आँखों से, जिनका काम मूर्त पदार्थ को देखना है, अमूर्त को देखना चाहते है। इसमें हमारा ही दोष है। मनुष्य की उस शक्ति को, जिससे भगवान् का दर्शन किया जा सकता है, 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का नाम दिया गया है। इस ऋतंभरा प्रज्ञा की सिद्धि योग-दर्शन में इस प्रकार की गई है—

"श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां अन्य विषयाविशेषार्थत्वात्।"

४ परमात्मा का स्वरूप—वह क्या है ?

इस प्रकार जब हम परमात्मा की सत्ता तक पहुँच जाते है, तब प्रश्न होता है कि उसका स्वरूप क्या है ? हमने देखा था कि वह संसार का कारण है। कारण का अभिप्राय क्या ? मनुष्य में कारण की आकांक्षा उसे कहाँ ले जाती है ? जब मैं संसार के कारण को ढूँढ रहा हूँ, उस समय यदि मुझे कोई ऐसा कारण बतला दिया जाय, जो कारण तो हो, परंतु स्वयं भी कार्य हो, और उसका भी कारण मुझे ढूँढना पड़े, तो वह कारण ढूँढने की आकांक्षा को नहीं पूरा कर सकता। कारण ढूँढने का अभिप्राय ऐसा कारण ढूँढने से है, जो सबका कारण तो है, परंतु जिसका स्वयं कोई कारण नहीं ; क्योंकि वह स्वयं कार्य नहीं। तभी कारण की जिज्ञासा शांत हो सकती है, अन्यथा मृगमरीचिका की तरह यह कभी शांत ही न होगी। इसलिये यदि परमात्मा कारण है, तो वह आदि-कारण (Uncaused cause) होना चाहिए, नहीं तो कारण ढूँढने की आकांक्षा ही निरर्थक है। इसी दोष को भारतीय दर्शनों में 'अनवस्था'-दोष कहा है। यदि वह आदि-कारण स्वयं 'कार्य' नहीं, तो उसे अनादि और अनंत भी होना चाहिए ; क्योंकि वैसा न होने से वह 'कार्य' हो जाता है। अब कार्य-कारण के नियम के पीछे चलते हुए हम उस कारण की कल्पना करते हैं, इसलिये यह भी मानना पड़ेगा कि वह कार्य-कारण के नियम को तोड़ नहीं सकता, अभाव से उत्पत्ति नहीं करता। इसी-

ज़िये वह संसार का निमित्त-कारण (Effic ent cause) है, उपादान कारण (Material Cause) नहीं।

ईश्वर को सिद्ध करनेवाली दूसरी युक्ति में हमने देखा था कि संसार में बुद्धि का प्रयोग पाया जाता है, नियम तथा व्यवस्था देख पड़ती है। अतः स्पष्ट है कि वह कारण बुद्धिमान् चेतन होना चाहिए।

ईश्वर का प्रतिपादन करनेवाली तीसरी युक्ति में हमने देखा कि वह कर्म-फल का नियन्ता है। इसलिये कर्म-फलों का नियमन करना भी ईश्वर का ही गुण हुआ। ईश्वर 'अभाव' से 'भाव' को नहीं पैदा करता, इसलिये जीवात्मा को नहीं पैदा कर सकता। यदि जीवात्मा पैदा नहीं हुआ, तो वह नित्य है। "नित्य जीवात्मा के कर्म-फल का ईश्वर नियमन करे"—इसका यही अभिप्राय है कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र तथा फल भोगने में परतंत्र है।

चौथी युक्ति के अनुसार मानना पड़ेगा कि वह अनादि, अनंत, चेतन, कर्माध्यक्ष निमित्त कारण सीमा-रहित (Infinite) होना चाहिए। जब हम आधी रोटी मांगते हैं, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि हमें 'पूरी रोटी' का ज्ञान है। इसी प्रकार जब हम संसार में अपूर्णता का अनुभव करते हैं, तो उसका यही अभिप्राय है कि हमें 'पूर्णता' का भी ज्ञान पहले से है। इसी युक्ति का हमने 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्' या A Priori Argument के नाम से वर्णन किया है। परिमाण, सुख, ज्ञान आदि का थोड़े अंशों में प्रत्येक को अनुभव होता है; परंतु जब तक निस्सीम का ज्ञान न हो, तब तक थोड़े का ज्ञान कैसे हो सकता है? दूसरे शब्दों में, जब तक पूरी का ज्ञान न हो तब तक आधी का ही ज्ञान कैसे हो सकता है? हाँ, इसमें संदेह नहीं कि हमें ज्ञान होते हुए भी मालूम न हो सके। परन्तु हमने अभी यही देखा कि जब तक इन गुणों का ज्ञान मनुष्य में स्वाभाविक न मान लिया जाय, तब तक वह 'आधी रोटी' भी नहीं खा सकता।

इसके अतिरिक्त परमात्मा के उक्त गुणों को पूर्ण मानने का एक और भी कारण है। यदि हम इन गुणों को पूर्ण न मानकर सीमित (Finite) मान लें, तो इस सीमित कारण की परिधि के बाहर जो कुछ होगा, वह 'कारण-रहित' हो जायगा। इसी भाव को हर्बर्ट स्पेंसर ने अपने 'फ़र्स्ट प्रिंसिपुल्स' में (पृ० २७-२८) प्रकट करते हुए लिखा है कि आदि-कारण निस्सीम भी होना ही चाहिए। यदि वह सीमारहित मान लिया जाय, तो उसे 'पूर्ण' मानना भी आवश्यक है; क्योंकि सीमा रहित होने का ही दूसरा नाम पूर्ण होना है; और यदि वह पूर्ण है, तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, स्वतंत्र तथा आनंद-स्वरूप भी है; क्योंकि ये गुण पूर्णता के अवश्यंभावी परिणाम हैं। इनमें से एक भी गुण न हो, तो वह पूर्ण नहीं।

अस्तु, परिणाम यह निकला कि परमात्मा है, वह संसार का अकारण निमित्त कारण (Uncaused Efficient Cause) है, चेतन है, कर्मों का अधिष्ठाता है, पूर्ण है, और इसीलिये आनन्द-स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक तथा स्वतंत्र है। इस प्रकार के परमात्मा के विचार को 'पुरुष-विशेषवाद' (Personal Conception of God) कह सकते हैं, शरीरी पुरुषवाद (Anthropomorphic Conception of God) नहीं। इसीलिये योग-दर्शन ने लिखा है—"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषईश्वरः।"

परमात्मा के न्यायकारी तथा दयालु, ये दो गुण भी कहे जाते हैं। बहुतों का विचार है कि परमात्मा या तो न्यायकारी ही हो सकता है, या दयालु ही, दोनों नहीं; क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है। हमारा विचार है कि इनमें विरोध नहीं है। ये दोनों गुण मिलकर एक बनते हैं। चूँकि हम कार्य-कारण के नियम को मानते हैं, इसलिये हमें मानना ही पड़ता है कि परमात्मा न्यायकारी है, अर्थात् कार्य-कारण के नियम को अनवरत जाग्रत रखता है। परंतु बदला लेना भी तो कार्य-कारण का ही फल है। किसी ने मुझे पत्थर मारा, तो मैं भी उसे पत्थर मारूँ, यह भी तो कार्य-कारण का ही स्वरूप है। यहूदियों के पुराण अहदनामे में लिखा है कि यदि कोई तुम्हारी आँख फोड़े, तो तुम भी उसकी आँख फोड़ दो, दाँत तोड़े, तो दाँत तोड़ दो (An eye for an eye and a tooth for a tooth)। परंतु यह बदले (Retaliation) का भाव है। परमात्मा 'न्याय' ही नहीं करता, वह 'दया' भी करता है। दया करने के लिये वह 'बदला' (Retaliation) नहीं लेता, परंतु 'सुधार' (Reformation) करता है। परमात्मा सुधार के लिये दंड देता है, इसीलिये दूसरे शब्दों में कहते हैं, परमात्मा दयालु और न्यायकारी है।

परमात्मा का स्वरूप जानने के लिये इतना ही जानना आवश्यक नहीं कि 'वह क्या है'। इसके साथ यह भी जानना आवश्यक है कि 'वह क्या नहीं है ?'

५. वह क्या नहीं है ?

(क) अनेकदेवतावाद (Polytheism) – परमात्मा, जिसका हम अभी प्रतिपादन कर चुके हैं, अनेक नहीं, परंतु एक है। पुराणों में अनेकदेवतावाद माना गया है। ईसाई लोग भी 'तीन में एक और एक में तीन' (Trinity) का सिद्धांत मानते हैं, जो अनेक-देवतावाद ही है। हमारी समझ में नहीं आता कि यदि सचमुच देवता अनेक हैं, तो संसार में एकता कैसे आ सकती है ? थियासोफ़िस्टों का कथन है कि परमात्मा प्रधान देवता है, और उसे अपनी सहायता के लिये अन्य देवतों की आवश्यकता होती है। जैसे वायसराय को अन्य शासकों की। यदि यह बात मान ली जाय, तो परमात्मा का सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक होना—सभी कुछ छोड़ना पड़ता है। बहुतों का कथन है कि वेद में भी बहुदेव-पूजा पाई जाती है। परंतु—'स एक एव एकवृदेक एव'—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—आदि मंत्रों से सिद्ध है कि यह केवल भ्रम है।

(ख) वेदांतवाद (Pantheism) – परमात्मा-ही-परमात्मा हो, अन्य कुछ भी न हो, यह बात भी ग़लत है। वेदांती, सूफ़ी वा पैनथीस्ट (Pantheists) इस बात का क्या उत्तर देंगे कि यदि पूर्ण ब्रह्म से ही जगत् का विकास हुआ है, तो इसमें त्रुटि कहाँ से आई ? बुराई कैसे उत्पन्न हुई ? यदि यह मान लिया जाय कि सब कुछ परमात्मा का ही विकास है, तो इससे दुराचार बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त एक से अनेक का होना भी समझ में कैसे आ सकता है ? एक अनेक हो ही नहीं सकता – एक तो सदा एक ही रहेगा। एक को अनेकता में लानेवाला जो भी कारण होगा, वह एक के बाहर का ही। इसलिये मानना पड़ता है कि परमात्मा के अतिरिक्त भी कुछ है। वह क्या है ?— वह है संसार। संसार में हमें दो सत्ताएँ देख पड़ती हैं— प्रकृति तथा जीव। ईसाइयों का कथन है कि ईश्वर ने ही इन दोनों को भी पैदा किया। इस अवस्था में अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने के साथ-साथ यह भी मानना पड़ता है कि परमात्मा ने किसी जीव को अच्छा और किसी को बुरा—जैसी मर्ज़ी आई—बना दिया। यदि ऐसा नहीं, तो ये तीनों नित्य हैं। वेद कहता है—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया०।" अर्थात् तीन नित्य, अनादि सत्ताएँ हैं। बहुतों का कहना है कि यदि तीनों नित्य हैं, तब तो प्रकृति तथा आत्मा भी परमात्मा के बराबर हो गई ! परंतु यह ठीक नहीं। बराबरी एक गुण की बराबरी हो जाने से नहीं हुआ करती। प्रकृति जड़ है, सीमित है, और आत्मा अल्पज्ञत्व आदि बंधनों से घिरा हुआ है; परमात्मा सब सीमाओं तथा बंधनों से ऊपर है। बहुतों का कहना है कि परमात्मा यदि प्रकृति तथा जीव को नहीं पैदा कर सकता तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं। यह शंका वैसी ही है, जैसे कोई कहे कि यदि परमात्मा अपने-जैसे ही और बीस परमात्मा नहीं पैदा कर सकता, या आत्मघात नहीं कर सकता, तो वह सर्वशक्तिमान् नहीं। असल बात यह है कि परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता आदि गुणों के लिये प्रकृति एवं जीवात्मा का भी अनादि, अनंत होना आवश्यक है। परमात्मा के ये गुण नित्य हैं, और चूँकि इन गुणों का संबंध प्रकृति तथा जीवात्मा के साथ है, इसलिये उन्हें भी नित्य मानना ही पड़ता है। नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि जिस समय प्रकृति तथा जीव नहीं थे, उस समय परमात्मा में ये गुण भी नहीं थे।

(ग) शारीरिक पुरुषवाद (Anthropomorphic Conception of God)—यूनानियों की एक कथा है कि जंगल के जानवरों ने सभा की। हाथी ने परमेश्वर के स्वरूप पर व्याख्यान देना शुरू किया। उसने कहा—परमात्मा बहुत ही मोटा-ताज़ा है, उसके कई मील लंबी सूँड़ है, योजनों लंबे दाँत हैं। शेर ने उठकर कहा—नहीं, यह कैसे हो सकता है ? परमात्मा की शकल तो मेरी-सी है। उसके दो-दो सौ गज़ लंबे नाख़ून हैं। उसने परमात्मा को एक भारी शेर सिद्ध कर दिया। यहूदियों तथा मुसलमानों के परमात्मा का भी यही स्वरूप है। पुराने अहदनामे * में

* "And they heard the voice of the Lord God walking in the garden in the cool of the day : and Adam and his wife hid themselves from the presence of the Lord God amongst the trees of the garden."

"And the Lord God called into Adam and said unto him, where art Thou." Genesis, Chap. 3 – 8-9

जिहोवा के हाथ-पाँव, उसके चलने-फिरने, सभी का ज़िक्र आता है। चूँकि हज़रत मोहम्मद ने भी यहूदियों के ही परमात्मा के विचार को कुछ सुधारकर अपने धर्म में जारी किया, इसलिये उनका परमात्मा भी एक बड़ा भारी मनुष्य है। 'अवतारवाद' तथा 'मूर्तिपूजा' भी इसी कोटि के विचार हैं। मनुष्य को 'परमात्मा' मान लेने में जितने दोष आ सकते हैं, वे सब इस विचार में भी मौजूद हैं।

बहुतों का कहना है कि यदि परमात्मा के हाथ-पैर न माने जायँ, तो सृष्टि की रचना भी नहीं हो सकती। सब कार्य हस्त-स्पंदनादि-युक्त कृति से होता है। इसलिये शरीर-धारी पुरुष के रूप से ही परमात्मा का मानना संगत है। परंतु यह मत अशुद्ध है। हस्त-स्पंदन स्वयं एक कार्य है। मेरे हस्त-स्पंदन का कारण कौन-सा हस्त-स्पंदन है? कोई दूसरा तो है नहीं! और, मेरे हस्त-स्पंदन का कारण मेरा ही हस्त-स्पंदन नहीं हो सकता; क्योंकि 'कार्य' कभी अपना 'कारण' नहीं होता। अतः मानना पड़ेगा कि मेरा हस्त-स्पंदन किसी हस्त-व्यापार-रहित कृति से होता है। इसी प्रकार अंकुर का दृष्टांत लिया जा सकता है। अंकुर बढ़ता है; परंतु उसमें हस्त-व्यापार युक्त कृति नहीं दिखाई देती। अतः अंकुर भी बिना हस्त-स्पंदनवाली कृति का कार्य है। यह कृति जिसमें रहे, उसे कर्ता या परमेश्वर कहते हैं। इसी भाव को श्रीगंगेशोपाध्याय ने 'ईश्वरानुमान' में लिखा है*।

(घ) एकनिष्ठ अनेकदेवतावाद (Christian Conception of God)—यद्यपि अनेकदेवतावाद में इसका ज़िक्र आ चुका है, तथापि ईसाइयों का विश्वास अपने ढंग का एक ही है। इसलिये इस पर भी कुछ शब्द लिख देना आवश्यक है। पुराने अहदनामे की अपेक्षा नए अहदनामे का परमेश्वर-संबंधी विचार कुछ ऊँचा है; परंतु उसमें अनेकता का अंश जोड़कर उसे ओछा कर दिया गया है। 'फ़ादर', 'सन' और 'होली घोस्ट'—इन तीन को एक, और एक को तीन माना गया है, जिसे 'ट्रिनिटी' के नाम से पुकारा गया है। तीन एक हैं, और एक तीन—यह न-जाने किस गणित-शास्त्र से सिद्ध किया जा सकता है? यदि इन तीन का यही अभिप्राय है कि एक ही परमात्मा के ये तीन स्वरूप हैं, तब तो तीन ही क्या हम सैकड़ों स्वरूप मानने के लिये तैयार हैं। पुराणों में जो भिन्न-भिन्न देवता प्रचलित हो गए, उसका मुख्य कारण यही था कि परमात्मा के एक-एक गुण को अलग-अलग व्यक्ति-विशेष मान लिया गया। ऐसा मालूम पड़ता है कि एलेग्ज़ेंड्रिया में, इजिप्ट के संपर्क में आने से, ईसाइयत में त्रित्व का भाव घुस आया। 'कॉनफ़्लिक्ट बिटवीन रिलिजन ऐंड साइंस'* के लेखक ड्रेपर महोदय लिखते हैं कि अन्य धर्मों के संपर्क में आने से ईसाइयत में अनेक नवीन विचारों ने प्रवेश किया। इजिप्ट में, जिसे त्रित्ववाद का घर समझना चाहिए, एक विवाद उठा। उस समय एलेग्ज़ेंड्रिया में एरियस नाम का व्यक्ति रहता था। उसने कहा कि कोई समय ऐसा था, जब 'God the Son'—'सन' अर्थात् 'पुत्र'—होने के कारण मौजूद नहीं था। पुत्र पिता के साथ कैसे हो सकता है? परंतु इस कथन का अभिप्राय यह था कि एरियस के मत में 'फ़ादर', 'सन' और 'होली घोस्ट' की सत्ताएँ समकालीन नहीं। इसी विषय पर एलेग्ज़ेंड्रिया में विवाद उठ खड़ा हुआ। एलेग्ज़ेंड्रिया के यूनानी तथा यहूदी अपने नाटकों में मज़ाक़ उड़ाने लगे, और कहने लगे कि बेटा और बाप इकट्ठे पैदा होते हैं, दोनों की उमर बराबर होती है। विवाद इतना बढ़ा कि कांस्टेंटाइन को Council

"And the Lord smelled a sweet savour: and the Lord said in his heart, I will not again curse the ground any more for man's sake." Genesis, Chap. 8—21.

"I do set my bow in the cloud and it shall be a token of a covenant between me and the earth, Genesis. Chap. 9—13

* "जन्यमात्रे हस्तादिव्यापारजनककृतित्वेन जनकत्वम्। चेष्टाया त्वित्यादौ च व्यभिचारात्।"—"तत्र यदि हस्तादिव्यापार कृतिमान् तत्रज्ञोऽभिमतस्तदा हस्तादिव्यापारस्य अंकुरे योग्यानुपलम्भबाधात्। अथ हस्तादिव्यापारशून्यः कृतिमान् अभिमतस्तदा ओमित्युत्तरम्। स एव भगवान् ईश्वरः।"—(ईश्वरानुमान)

* "As years passed on, the faith described by Tertullian was transmuted into one more fashionable and more debased. It was incorporated with the old Greek mythology. Views of Trinity, in accordance with Egyptian traditions, were established" Conflict between Religion and Science—page 47.

of Nicea बुलानी पड़ी, जिसमें त्रित्ववाद को वह स्वरूप दिया गया, जो इस समय ईसाइयत में पाया जाता है। कांस्टेंटाइन ने राजशक्ति की सहायता से इस विचार का प्रचार किया; नहीं तो इसकी युक्ति-युक्तता में ईसाइयों को संदेह अवश्य रहता। किंतु कई विचारशील ईसाई इस सिद्धांत को नहीं मानते, और इसलिये उन्होंने 'युनिटेरियन चर्च' की स्थापना भी की है। हमारा ख़याल है कि तीन अनादि सत्ताओं का वैदिक सिद्धांत ही इजिप्ट में पहुँचा था, जिसके प्रभाव में आकर ईसाइयों ने भी तीन सत्ताओं को अनादि ठहराया; परंतु भूल यही कर बैठे कि वे तीन सत्ताएँ कौन-सी हैं, यह नहीं जान सके।

इस प्रकार हमने देख लिया कि परमात्मा क्या है, और क्या नहीं। परमात्मा के इसी स्वरूप का प्रतिपादन निम्न-लिखित वेद-मंत्रों में किया गया है—

"न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ;
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ;
स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न।

...स एक एव एकवृदेक एव। (अथर्व—१३, ४, १६-२१)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ;
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।

(ऋ० १ म०, १६४ सू०, ४६ मं०)

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ;
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति।
एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ;
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्।

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत् ;
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।

(ऋक्)

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।

(ऋक्)

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति ... (यजु० ३२-५)

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ;
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधात्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजु०)

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्।

(ऋग्वेद)

अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश ;
सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम्।

(यजु० २३-५०)

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ;
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः।"

(अथर्व०)

म-थप्रन

बलिदान



रस्परिक प्रेम दंपति-जीवन का एक-मात्र अवलंब है और प्रेम का प्राण विश्वास है। उसमें संदेह का सम्मिश्रण होते ही दांपत्य सुखों का वैसे ही अंत हो जाता है, जैसे घटाओं के उमड़ते ही प्रकाश में नहाए हुए सुंदर आकाश की शोभा।

संध्या का समय था। बाबू मुरलीमनोहर दफ़्तर से लौट रहे थे। रास्ते में वे सभी दृश्य मौजूद थे, जो राहगीरों के मनबहलाव के सामान होते हैं। किंतु बाबू साहब को उनकी आवश्यकता न थी। उनके लिये अपनी कल्पना-शक्ति ही क्या कम थी। आँखों में घर की तसवीर थी, हृदय में मिलन की उत्कंठा। वह सोचते थे—मैं घर पहुँचकर किवाड़े खटखटाऊँगा, तारा दरवाज़ा खोलेगी, प्रेम से मुस्किराते हुए मेरा स्वागत करेगी। आज चाँदनी है, पार्क में बड़ी बहार होगी। हम दोनों घूमने जायँगे। कैसी शांतिप्रद नीरवता होगी, कैसा अनुपम दृश्य! मौलसिरी के पेड़ों के नीचे टहलेंगे, तालाब पर आकर बैठेंगे। तालाब के नीले जल में चंद्रमा और तारों के प्रतिबिंब कैसे सुंदर मालूम होंगे! तारा धीरे-धीरे गाना गावेगी। कैसा समा बँध जायगा!

ऐसे ही मंसूबे बाँधते हुए बाबू साहब घर पहुँचे। किंतु और दिनों की तरह आज दरवाज़ा बंद न मिला। बाबू साहब ने सोचा, महरी आई होगी। उन्होंने अंदर पैर रक्खा ही था कि किसी के हँसने की आवाज़ सुनी। फिर किसी ने कहा—लाला, यह प्रेम क्या चीज़ है?

किसी ने उत्तर दिया—भौजी, यह अपने दिल से पूछो।

बाबू साहब का माथा ठनका। यह क्या गुल खिल रहा है? मेरी अनुपस्थिति का यह दुरुपयोग! मैं तो दफ़्तर में कलम पीसता पीसता आधा हुआ आता हूँ और यहाँ प्रेम के राग अलापे जाते हैं। उनके हृदय में संदेह ने घर कर लिया। वह आगे बढ़े। भीतर दालान में उनके छोटे भाई श्याम पलँग पर पड़े-पड़े तारा के मुख की ओर मुस्किराते हुए देख रहे थे, और तारा नीचे चटाई पर बैठी पान लगा रही थी। संदेह को दूसरा प्रमाण मिला। आग पर घी पड़ गया। उनका मुख क्रोध से लाल हो गया। आँखों से ज्वाला निकलने लगी। लेकिन वह कुछ कह न सके। सीधे कमरे में कपड़े उतारने चले गए।

श्याम भाई को देखते ही लज्जा की मूर्ति बने हुए बाहर चले गए।

बाबू साहब कमरे से निकले, और बाहर जाने लगे। तारा ने उनके मुख की ओर कातर दृष्टि से देखते हुए पूछा—"कहाँ जा रहे हो? क्या जलपान न करोगे?"

"नहीं, कोई ज़रूरत नहीं।" बाबू साहब ने इतना कहा, और बाहर चले गए।

पति के जाते ही तारा को चिंताएँ सताने लगीं। आज वह इतने अप्रसन्न क्यों थे? सीधे मुँह बात भी न की। बिना कुछ खाए-पिए बाहर चले गए। कहीं किसी से झगड़ा तो नहीं हो गया? दफ़्तर में साहब ने कुछ कहा-सुना तो नहीं। नारायण जाने, क्या बात है। जब कोई अपने दिल की बात न बतावे, तो कोई कैसे जाने?

बाबू मुरलीमनोहर पार्क में तालाब के किनारे जाकर बैठ गए। चंद्रमा का शीतल प्रकाश ऐसा जान पड़ता था, मानो किसी कुशल गायक का मधुर राग व्याप्त हो रहा हो। प्रकृति के अनुपम दृश्य इस अलौकिक राग के लय में नृत्य करते हुए मालो अलंकार थे। पूर्ण निस्तब्धता थी, शांति का पूरा राज्य था। परंतु बाह्य शांति आंतरिक दाह नहीं मिटा सकती। बाबू साहब का क्रोध अशांति में परिणत हो गया; किंतु अशांति दूर न हो सकी। सौंदर्य की उपासना हृदय से होती है, बाह्य नेत्रों से नहीं। उद्यान की सुखद नीरवता उनके लिये श्मशान की करुण निस्तब्धता से कम न थी। एकांत सुखमय है, परंतु चिंता-ग्रस्त व्यक्ति के लिये नहीं। बाबू साहब के सामने उपर्युक्त घटना का चित्र खिंचा हुआ था। वह विचारों में व्यस्त थे। मैंने दोनों की बातें साफ़ सुनी हैं। 'लाला प्रेम क्या चीज़ है?' 'भौजी, यह अपने दिल से पूछो'—ये बातें बिना मतलब नहीं हो सकतीं। कोई बात अवश्य है। तारा मेरे प्रेम का दम अवश्य भरती है; किंतु स्त्रियों के मन की बात कौन जान सकता है? ऊपरी दिखावे से पेट की बातें नहीं जानी जा सकतीं। माना कि उन दोनों में हँसी-दिल्लगी का रिश्ता है; लेकिन मैंने श्याम को उसकी ओर घूरते हुए देखा है। उसकी आँखों में उसके मन का मर्म साफ़ खिला हुआ था। तारा उसकी ओर कनखियों से देखती हुई मुस्किरा रही थी। ये सब इसी बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि तारा अब विश्वास के योग्य नहीं रही। यह बड़ा अनर्थ हो रहा है। क्या करूँ? डाँट-फटकार से तो यह आग और भड़केगी, और बदनामी ही हाथ रहेगी। नहीं, यह बुद्धिमत्ता नहीं। हाँ एक तरकीब है—इन दोनों को अलहदा कर दूँ और देखूँ कि इसका क्या असर पड़ता है। यदि मेरा संदेह सत्य है, तो भंडा फूट जायगा। नहीं तो, कोई हानि भी नहीं है।

इस संकल्प के साथ ही उनके हृदय का बोझ भी हलका हो गया, और वह घर की ओर चल दिए।

श्याम अपने कमरे में लैंप के सामने बैठे हुए थे। सामने प्रसिद्ध नाटककार बर्नार्डशॉ का 'सेंट जॉन'-नामक नाटक खुला हुआ था। परंतु पढ़ने में उनका जी न लगता था। उनके हृदय पर लज्जा और क्रोध का अधिकार था। वह स्वभाव ही से भावुक थे छोटी से-छोटी बात से उनके हृदय में हलचल मच जाती थी। उनके हृदय में बार-बार यही विचार उठ रहे थे भाई साहब ने अपने मन में क्या सोचा होगा? उनकी आकृति से अप्रसन्नता झलक रही थी। हमें इस तरह विवेक-शून्य न हो जाना चाहिए था।

इतने में मुरलीमनोहर ने कमरे में प्रवेश किया, और पूछा—"श्याम, तुम्हारा इम्तहान कब होगा?"

"मार्च के अंत तक।"

"समय तो अब बहुत थोड़ा रह गया है?"

"जीहाँ।"

"मेरी राय में तुम अब होस्टल में जाकर रहो। यहाँ तुम्हारी पढ़ाई में हर्ज होगा।"

"अच्छी बात है।"

दूसरे दिन श्याम अपना असबाब लेकर बोर्डिंगहाउस चले गए।

तारा और श्याम में वह स्वाभाविक स्नेह था, जो एक साथ रहते-रहते स्वभाव और रुचि की समानता के कारण, पवित्र हृदयों में अंकुरित हो जाता है। श्याम का कॉलेज १ बजे बंद हो जाता था। उसके बाद उनका अधिकांश समय तारा के संग बीतता था। कभी विद्वानों के भाव-पूर्ण लेख पढ़े जाते कभी श्याम की अपनी बनाई हुई कविताएँ, और कभी किसी सामयिक प्रश्न पर विचार होता। एक को दूसरे का साथ अत्यंत आवश्यक हो गया था।

श्याम के जाते ही तारा खिन्न एवं उदास रहने लगी। पति के व्यवहार में भी पहले का-सा प्रेम न था। अब वह विशेषत: बाहर ही रहा करते, और जब घर आते भी, तो मुँह फुलाए हुए। बात-बात में झुँझला पड़ते। तारा बहुधा रोया करती। पति की इस उदासीनता का कारण उसकी समझ में न आया।

बाबू साहब का संदेह दिनोदिन दृढ़ होता जाता था। वह तारा की इस दशा का कारण केवल श्याम का वियोग समझते थे। उन्हें तारा के आँसुओं में उसके कलुषित हृदय की आहें घुली हुई मालूम होती थीं। अब वह अपनेको अधिक न रोक सके। उन्होंने एक दिन घृणा-मिश्रित क्रोध के आवेश में कहा—"तारा, मैं तुम्हारा रोज़ का रोना नहीं देख सकता। मैं बहुत दिनों से तुम्हारा रंग देख रहा हूँ।"

तारा ने उनकी ओर कातर दृष्टि से देखा। वह उनकी बातें समझ न सकी। यह अपराधी की भयहीन रहस्य भरी चितवन न थी, निर्दोष का सरल कौतूहल था। बाबू साहब ने समझा, तारा अपराध छिपाने का प्रयत्न कर रही है। उन्होंने व्यंग्य-पूर्ण भाव से कहा—"देखती क्या हो? तुम समझती हो, मेरे आँखें नहीं हैं? एक हृदय में दो आदमियों का प्रेम नहीं रह सकता।"

तारा फूट-फूटकर रोने लगी। यह घोर कलंक! सरल विनोद का यह भयंकर परिणाम! अविश्वास की यह सीमा! तारा का हृदय फटा जाता था। बाबू साहब उठकर बाहर चले गए।

इस घटना के तीसरे दिन तारा मायके चली गई। जाते समय उसकी दशा उस पक्षी की-सी थी, जो वर्षों पिंजड़े में बंद रहने के बाद एक दिन निर्वासित कर दिया गया हो। न पंखों में बल होता है, न हृदय में उत्साह। क़ैदी को वर्षों के अधिवास के बाद अपनी काल-कोठरी छोड़ते हुए हार्दिक दुःख होता है।

(२)

प्रेम का वास्तविक रूप समर्पण है। प्रेम अत्यंत सरल है। यद्यपि उसके बदले में शुष्कता और दुर्व्यवहार, रोष और



"देखती क्या हो? तुम समझती हो, मेरे आँखें नहीं हैं।"

क्रोध नहीं मिलते ; तथापि सच्चा निस्स्वार्थ प्रेम वह है, जिस पर रोष, क्रोध, शुष्कता, सकीर्णता का कुछ असर नहीं होता। ऐसे प्रेम में अलौकिक क्षमा तो होती है, किंतु क्षमाशीलता का ज्ञान नहीं।

तारा को मायके गए हुए छः महीने बीत गए; पर इस बीच में उसे पतिदेव का एक भी पत्र न मिला। ससुराल से एक बार भी कोई बुलाने न आया। तारा की दशा उस कोमल लता की-सी थी, जो वाटिका से पृथक् कर दी गई हो। न वाटिका का प्राण-पोषक जल वायु ही था, न कुंज की सघन श्यामल छाया, और न वृक्ष का मधुर प्रेमालिंगन। यद्यपि तारा की इस करुण दशा का सारा उत्तरदायित्व मुरलीमनोहर पर था, फिर भी उसे उनसे कोई शिकायत न थी। यदि उसे रोना था, तो अपने भाग्य का। इस दुर्दिन में यदि उसे ढारस होता था, तो अपनी निर्दोषिता के ज्ञान से या रामायण पढ़ने से।

तारा स्त्री ही थी। उसमें भी मानवी दुर्बलताओं की कमी न थी। वह भी मान करना जानती थी, उदासीन हो सकती थी; उसे भी रुष्ट होना आता था। उसका मन बहुधा चंचल हो जाता था—यह सरासर अन्याय है। क्या प्रेम का बदला यही है? इतने दिन हो गए, सुध तक न ली। कभी भूलकर भी न आए। मेरे पत्रों का जवाब तक नहीं देते, स्वयं लिखना तो दूर रहा। प्रीति की यही रीति है? वह यदि रुष्ट हो सकते हैं, तो क्या मैं भी रुष्ट होना नहीं जानती? उन्होंने यदि नाता तोड़ दिया, तो मुझी को क्या पड़ी है कि उनके पीछे दौड़ती फिरूँ। किंतु इस आतरिक हलचल के समय भी उसे ऐसा जान पड़ता, मानो कोई साध्वी तपस्विनी, पवित्रता के रंग में रँगी हुई, प्रेम-रस में डूबे हुए ये शब्द दोहरा रही हो—

"एकै धर्म एक व्रत नेमा ; काय-वचन-मन पति पद-प्रेमा।"

तारा लज्जा से गड़ जाती, उसे अपने ही से घृणा हो जाती, और अपना ही दोष दिखाई देने लगता था। मैं स्वयं विचारहीन न हो गई होती, तो आज यह दिन क्यों देखना पड़ता? यौवन संदेहात्मक होता है। वह मर्द हैं। मुझे लाला के साथ यों हँसते-बोलते देखकर यदि उन्हें संदेह हुआ, तो इसमें उनका क्या दोष? यह तो मनुष्य का स्वभाव है। यह विष मेरा ही बोया हुआ है। क्या अपने उत्तरदायित्व से बचने के लिये कर्तव्य से मुँह मोड़ लेना उचित है?

कार्तिक का महीना था। मधुर शीतल समीर मंद-मंद बह रही थी। तारा आँगन में टहल रही थी। आँगन में फैला हुआ चंद्रमा का प्रकाश ऐसा जान पड़ता था, मानो उसके सुख के दिनों का सुखद स्वप्न हो। तारा ने चंद्रमा की ओर आकुल नेत्रों से देखा। उसका विदीर्ण हृदय मानो कह रहा था—भगवन्, यह परीक्षा कितने दिनों तक होती रहेगी?

इसी समय एकाएक श्याम उसके सामने आकर खड़े हो गए। तारा ने पूछा—"लाला, तुम यहाँ कैसे?"

"यों ही चला आया। लेकिन, भौजी, क्या मेहमानों का आपके यहाँ ऐसा ही स्वागत होता है?"

तारा ने लज्जित होकर कहा—"क्षमा करना, लाला, आओ, बैठो।"

"नहीं भौजी, बैठूँगा नहीं। मुझे अभी इसी दस बजे की गाड़ी से जाना है। सिर्फ तुमसे दो बातें करनी हैं।"

श्याम ने तारा की ओर ध्यान से देखा; किंतु जो दृश्य देखने के लिये लालायित थे, वह न दिखाई दिया। सौंदर्य की वह अनुपम छटा, लावण्य की वह मनोहर छवि, जिसके देखते ही उनके काव्यमय हृदय में भावों का स्रोत बहने लगता था, न दिखाई दी। तारा की दशा प्रातःकाल के चंद्रमा के समान हो गई थी। मुख पर विषाद की मलिनता थी, आँखों में वेदना के आँसू। श्यामवर्ण केश बिखरे हुए थे। सुंदर मस्तक पर, जहाँ सिंदूर का टीका हँसा करता था, चिंता की रेखा थी। श्याम के मुख से एक ठंडी-सी आह निकल गई।

"भौजी, यह वेश क्यों? यह परिवर्तन कैसा?"

"परिवर्तन तो कुछ नहीं। हाँ, इधर कुछ दिनों से मेरी तबियत अच्छी नहीं रहती, लाला।"

"भेद क्यों छिपाती हो?"

"सच कहती हूँ, लाला। कोई और बात नहीं।"

"अच्छा, यही सही। लेकिन इतनी बात ज़रूर है कि यदि तुम्हें कोई रोग है, तो उसका संबंध हृदय से है।"

"लाला, यह मनोविज्ञान कहाँ सीखा?"

"तुम्हीं से, भौजी। तुम अपने दिल की बात कितना भी छिपाओ, किंतु मैं सब जानता हूँ। भाई साहब की अप्रसन्नता का कारण भी मुझसे छिपा नहीं। और, मैं यह भी जानता हूँ कि इस मनोमालिन्य का मूलकारण मैं ही हूँ। लेकिन मैं आज अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने

नहीं, अपना अपराध स्वीकार करने आया हूँ। मेरे हृदय में तुम्हारा प्रेम है। मैं जानता हूँ, यह प्रेम अनुचित है, और इसका परिणाम भी दुःखांत होगा। लेकिन मैं लाचार हूँ। प्रेम का पौदा जड़ पकड़ चुका है, इसे उखाड़कर फेंक देना असंभव है। मुझमें न तो संयम है, न आत्मबल।"

तारा को ये शब्द अत्यंत प्रिय मालूम होते थे। उसका हृदय आनंद से विह्वल हो रहा था, जैसे निर्बोध बच्चा जलते हुए दीपक को देखते ही हर्ष से उल्लसित होकर लपकता है, और चाहता है कि उसे अपने मुँह में रख ले। किंतु आत्मा को हृदय से पुरानी लाग है—वैसी ही, जैसी स्नेहमयी जननी को नटखट बालक से होती है। उसे हृदय का सरल आनंद फूटी आँखों नहीं भाता। आत्मा कहती थी—पराए मर्द के मुख से प्रेम की बात भी सुनना पतिव्रता स्त्री के लिये लज्जा की बात है। तारा बड़े असमंजस में पड़ गई। कुछ समझ में न आता था कि क्या करे। वह अनुदार नहीं होना चाहती थी, न कोई ऐसी बात ही करना चाहती थी, जिससे चरित्र पर धब्बा आवे। क्रोध और अप्रसन्नता प्रकट करने का मौक़ा न था। दयनीय व्यक्ति पर कौन सहृदय क्रोध कर सकता है? और, उदासीनता? उदासीनता से प्रेम में उग्रता आती है। सहसा तारा को एक उपाय सूझा। उसने कहा—"लाला, तुम मुझसे प्रेम करते हो, यह मेरे सौभाग्य की बात है। लेकिन इसका प्रमाण?'

"तुम मेरी परीक्षा ले सकती हो।"

"अच्छा लाला, मैं परीक्षा लेती हूँ। देखो, घबरा न जाना। यदि तुम्हें सचमुच मुझसे प्रेम है, तो तुम मुझे भूल जाओ।"

तारा की यह बात वैसी ही थी, जैसे कोई किसी से कहे कि यदि तुम्हें अपने घर से प्रेम है, तो उसमें आग लगा दो। श्याम का दिल दहल गया, आशाओं पर पानी फिर गया। उनकी दशा उस निरुपाय मनुष्य की सी हो गई, जो नदी-तट पर खड़ा हुआ मँझधार में उस नाव को डूबते हुए देखता है, जिससे उसकी आशाएँ लगी हुई हैं। किंतु आशाओं का अंत इतना दुःखदायी न था, जितना अपनी विवशता का ज्ञान। श्याम को अफ़सोस सिर्फ़ इस बात का था कि वह इस परीक्षा के लिये तैयार क्यों हुए। लेकिन बात हारकर बग़लें झाँकना आत्मसम्मान के विरुद्ध था। प्रेम वीर होता है, कायर नहीं। उन्होंने कहा—

"तुम्हारे कहने से तलवार की धार पर चलना—मौत का सामना करना—मेरे लिये इतना कठिन न होता, जितनी तुम्हारी यह बात। किंतु कठिनाई ही परीक्षा की कसौटी है। मैं अपनी दुर्बलता दिखाकर प्रेम के पवित्र नाम को कलंकित न करूँगा। अच्छा भौजी, मैं वचन देता हूँ, तुम्हें भूल जाऊँगा। आज से सप्ताह-भर बाद एकबार तुमसे फिर मिलूँगा। उसके बाद तुम्हारी राह का यह काँटा साफ़ हो जायगा।"

श्याम शीघ्रता से बाहर चले गए। तारा वहीं खड़ी रह गई। उसे श्याम से विरोध की आशंका थी; किंतु उनकी इन बातों ने उसे आश्चर्य में डाल दिया। उसकी आत्मा अवश्य शांत हो गई थी, लेकिन हृदय में मीठा-मीठा-सा दर्द हो रहा था। उसकी दशा इस समय उस यात्री की-सी थी, जो डाकुओं को रुपयों की थैली देकर जान बचाता है। जान बच जाने का आनंद अवश्य होता है, किंतु रुपए निकल जाने का दुःख मसोसता रहता है?

(३)

श्याम की दशा इस समय उस अज्ञान बालक की-सी थी, जो आग को खिलौना समझकर उसके साथ खेलता है, किंतु जल जाने पर रोने लगता है। उन्हें अब पता लगा कि प्रेम-पथ उद्यान की तरह साफ़-सीधी सड़क नहीं, काँटेदार झाड़ियों से भरा हुआ जंगली रास्ता है। यहाँ कठिनाइयाँ हैं, परीक्षा है, वियोग की दारुण यातना है। यहाँ वास्तविकता का तांडव-नृत्य है, कल्पना का सुखद स्वप्न नहीं।

श्याम को इन दिनों केवल एक चिंता सताया करती थी—तारा को कैसे भूल जाऊँ! जो उपाय सोचते, वही निष्फल जाता। दिन का तीसरा पहर था। उन्होंने पढ़ने में मन लगाने का प्रयत्न किया। सिर में तेल मला, कमरे का दरवाज़ा बंद किया, और एकाग्र चित्त होकर पढ़ने बैठे। लेकिन घंटों किताब खुली रही, एक या दो सतर से अधिक न पढ़ सके। ऊबकर किताब बंद कर दी, और मैच देखने चले गए। दर्शकों का ठट लगा था। बड़ा मनोरंजक खेल हो रहा था। श्याम बड़ी उत्सुकता से खेल देख रहे थे, फ़ील्ड की एक-एक घटना पर नज़र थी। खेल ख़त्म हो गया। किंतु इस समय यदि उनसे कोई पूछता कि किसकी जीत हुई, तो शायद ही बता सकते। श्याम पार्क में घूमने निकल गए। उद्यान का सुखद एकांत, प्राण-पोषक

मंद समीर, हरी-भरी लता-कुंज प्रेम-पीड़ित व्यक्ति के साथ वही करते हैं, जो मदिरा-सेवी के साथ ख़ाली बोतल और औंधे प्याले। श्याम को तारा का ख़याल सताने लगा। वह ज्यों-ज्यों उसका ख़याल दिल से निकाल डालने की कोशिश करते, वह और जगह करता जाता था। उन्हें अपनी इस दशा पर स्वयं आश्चर्य हुआ। सोचने लगे—मैं क्या से क्या हुआ जाता हूँ। क्या यह दुःसह रोग मेरा प्राण लेकर छोड़ेगा? पर-स्त्री से प्रेम कैसी लज्जा की बात है। और, फिर वह कौन? स्वयं बड़े भाई की स्त्री। कैसा घोर विश्वासघात है! क्या घर-बार छोड़कर कहीं परदेश चला जाऊँ? लेकिन यह कायरता है। और फिर विश्वास नहीं होता कि यह ख़याल वहाँ भी दूर हो सके। पति पत्नी कैसे सुख से रहते थे। मैंने ही उनके आनंद में विघ्न डाला। जिसके प्रेम का दम भरता हूँ, उसी को घर से निर्वासित कराया! मेरे लिये डूब मरने की बात है। तारा की कैसी शोचनीय दशा थी, पहचानी भी नहीं जाती थी। क्या मेल करा देने का कोई उपाय नहीं? देखूँ, कोशिश करूँ।

श्याम होस्टल लौटे, और भाई को एक पत्र लिखा।

(४)

तारा के चले जाने के बाद बाबू मुरलीमनोहर को घर काटे खाता था। घर की दशा उस सूने पिंजड़े की-सी हो गई थी, जिसे चहकता हुआ सुंदर पक्षी छोड़ गया हो। किसी वस्तु का मूल्य उसके अभाव में मालूम होता है। बाबू साहब को तारा का मूल्य अब मालूम होता था, जब उसकी पग-पग पर आवश्यकता पड़ती थी। न घर में अब वह सफाई थी, न वह सुथरापन। आवश्यकता दोषों पर पर्दा डाल देती है। उन्हें अब तारा के गुण-ही-गुण याद आते थे। उस घटना के विषय में भी अब उनका विचार बिलकुल पलट गया था। उनका मन अब उन्हीं को दोषी ठहराता था। उनका हृदय बार-बार कहता, इसमें मेरी ही भूल है। साधारण हँसी-दिल्लगी में संदेह सर्वथा अनुचित है। अगर ऐसी छोटी-छोटी बातों पर शक किया जाय, तो दुनिया का काम चलना मुश्किल हो जाय।

इस बीच में तारा के भी कई पत्र आ चुके थे। पत्रों का प्रत्येक शब्द स्नेह-सिक्त रहता था। उनमें वही प्रेम, वही अनुराग था, जो पहले के पत्रों में। बाबू साहब पत्रों के उत्तर लिखने बैठते, लेकिन अजीब झेंप-सी मालूम होती। सोचते, क्या लिखूँ। ख़त लिखते, और फाड़कर फेक देते। यद्यपि वह तारा को स्वयं पत्र लिखने में असमर्थ थे, किंतु उसके पत्रों से उन्हें हार्दिक आनंद प्राप्त होता था। बाबू साहब की दशा अब उस मचले हुए बालक की तरह हो गई थी, जो रो चुकने के बाद इस आशा में बैठा हो कि कोई मनाने आवे, तो घर चलूँ।

इधर बहुत दिनों से तारा का कोई पत्र न आया था। संध्या का समय था। बाबू साहब क़दम बढ़ाए हुए दफ़्तर से घर की ओर चले आ रहे थे। घर पहुँचकर बाबू साहब ने जो दरवाज़ा खोला, उन्हें सामने एक ख़त पड़ा दिखाई दिया। बाबू साहब का मुख प्रसन्नता से खिल उठा, नेत्रों में आशा-ज्योति चमकने लगी। उन्होंने शीघ्रता से पत्र उठाया, लेकिन ख़त हाथ में लेते ही चेहरे का रंग बदल गया। न वह प्रसन्नता रह गई, न वह आशा की झलक। पत्र तारा का न था। बाबू साहब हताश हो गए। पत्र लिए हुए अंदर गए, कपड़े उतारे, मुँह हाथ धोया, फिर कहीं पत्र पढ़ने की बारी आई। पत्र में लिखा था—

"भाई साहब,

बहुत दिन हो गए, पर कुशल-समाचार नहीं मिले। कई बार घर गया, लेकिन आपसे मुलाक़ात भी न हुई। मैं एक आवश्यक विषय पर आपसे कुछ बातें करना चाहता हूँ। परसों आऊँगा। आशा है, आप उस समय घर पर मिलेंगे।

दर्शनाभिलाषी

श्याममनोहर"

बाबू साहब सोचने लगे, यह आवश्यक विषय क्या हो सकता है? कहीं तारा के पास चलने का प्रस्ताव न कर बैठे। मैं वहाँ कैसे जाऊँगा? तारा क्या कहेगी? मैं क्या उत्तर दूँगा? नहीं, यह मुझसे न होगा। अच्छा यह है कि जब वह आवे, यहाँ न रहूँ। आप ही लौट जायगा। लेकिन उसे किसी और बात में सलाह लेनी हो, तो? नहीं, उस समय यहाँ अवश्य रहना चाहिए। यदि मेरा संदेह सत्य भी हो, तो भी मुझे ज़बरदस्ती तो वहाँ खींच नहीं ले जायगा।

(५)

आज श्याम के आने की बात थी। बाबू मुरलीमनोहर शाम ही से मकान पर मौजूद थे। छः बज गए, श्याम अभी तक नहीं आए। बाबू साहब प्रतीक्षा करते-करते ऊब उठे। उन्होंने दरवाज़ा खोला, सड़क पर आकर देखा; लेकिन कोई आता दिखाई न दिया। वह अंदर लौट आए। आकर अभी बैठे ही थे कि किसी ने किवाड़े खटखटाए।

उठकर दरवाज़ा खोल दिया । बाहर श्याम थे । किंतु बाबू साहब के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन्हें श्याम के पीछे एक स्त्री भी दिखाई दी । यह स्त्री कोई और नहीं, तारा थी । तारा और श्याम ने घर में प्रवेश किया । श्याम ने झुककर तारा के कान में कहा—"देखो भौजी, अब अपनी चीज़ सँभालकर रखना । मैं अपनी बात पूरी कर चुका ।" श्याम एकदम भीतर आँगन में चले गए । तारा और मुरलीमनोहर आमने-सामने खड़े थे, किंतु दोनों के नेत्र नीचे झुके हुए थे । तारा के नेत्रों से प्रेम-स्रोत बह रहा था । मुरलीमनोहर अपने आँसू छिपाने का प्रयत्न कर रहे थे । दोनों बहुत कुछ कहना चाहते थे, लेकिन किसी का मुँह न खुलता था ।

सहसा भीतर से गोली चलने की आवाज़ आई । मुरली और तारा चौंक पड़े, लपककर एकसाथ भीतर की ओर झपटे । सामने रोमांचकारी दृश्य था । श्याम आँगन में चित पड़े थे, सीने से ख़ून का फ़ौवारा छूट रहा था, कपड़े ख़ून से तर थे, मुख पर विचित्र शांति थी, चेहरे पर मुस्किराहट थी । बग़ल में एक रिवाल्वर पड़ा हुआ था । मुरलीमनोहर बाहर की ओर लपके । श्याम ने संकेत से मना किया, और क्षीण स्वर में कहा—"आप कहाँ जाते हैं—डॉक्टर बुलाने ? व्यर्थ कष्ट न कीजिए, मेरे मर्ज़ का इलाज हो गया !"



श्याम आँगन मे चित पड़े थे, सीने से ख़ून का फ़ौवारा छूट रहा था, कपड़े ख़ून से तर थे, बग़ल मे एक रिवाल्वर पड़ा हुआ था ।

देखते-देखते आँखों की पुतलियाँ फिर गईं, नेत्र पथरा गए, शरीर निर्जीव हो गया । किंतु श्याम के होठों पर एक विचित्र स्वर्गीय मुसकान थी ।

तारा और मुरली लाश पर गिरे, और बिलख-बिलखकर रोने लगे ।

(६)

उपर्युक्त दुःखांत घटना को हुए आज साल-भर हो गया । आँगन के छोटे बग़ीचे में एक चबूतरा बना हुआ है । यही वह स्थान है, जहाँ एक दीवाने ने प्रेम की बलिवेदी पर अपने प्राण चढ़ाए थे । आज ही शरद्-पूर्णिमा थी । चंद्रमा का शीतल प्रकाश ऐसा मालूम होता था, मानो किसी स्वर्गीय आत्मा की दिव्य ज्योति हो । तारा ने फूलों का एक हार चबूतरे पर चढ़ाया, प्रेम से आरती उतारी । फिर घुटनों के बल बैठ गई, नेत्र बंद कर लिए, और ध्यान में मग्न हो गई । उसके नेत्रों से दो आँसू गिर पड़े । इन आँसुओं में भक्ति और अनुराग की विमल ज्योति थी । दूर खड़े हुए बाबू मुरलीमनोहर इस दिव्य ज्योति का दर्शन कर रहे थे ।

राजेश्वरप्रसादसिंह

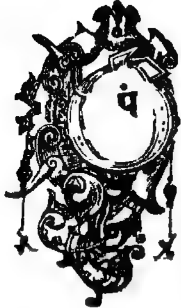
प्रभु-भक्ति



ताम्रयुग की भारतीय सभ्यता

(उत्तरार्द्ध)

अन्य स्थानों की खोज से ज्ञात हुई बातें



पंजाब के मांटगुमरी-ज़िले में हरप्पा-नामक एक स्थान है। प्राचीन काल में रावी-नदी इसी के पास होकर बहती थी। उक्त स्थान के आस-पास अनेक टीले पाए जाते हैं। यद्यपि उधर से रेलवे-लाइन निकालते समय ठेकेदारों और घर बनाने के लिये आस-पास के गाँववालों ने बनी-बनाई ईंटें प्राप्त करने के लिये वहाँ टीलों को खोद-खोदकर उनके ऊपरी भागों को बहुत कुछ बर्बाद कर दिया है, तथापि उनके नीचे के भागों को अभी तक विशेष हानि नहीं पहुँची है। अतः यहाँ पर खुदाई करवाने से जो घर वग़ैरह निकले हैं, वे मोहनजोदड़ो के मकानों आदि से मिलते-जुलते प्रतीत होते हैं। परंतु यहाँ पर (हरप्पा में) अब तक पक्की ईंटों की बनी २० दुहरी दीवालें ऐसी मिली हैं, जो दोनों तरफ़ एक दूसरे के ठीक आमने-सामने बनी हैं। इनके बीच में २४ फ़ीट का एक रास्ता-सा (aisle) है। उपर्युक्त दीवालों में १४ दीवालें तो इसके पूर्व में और ६ पश्चिम में हैं। यद्यपि इन सबकी लंबाई बराबर है, तथापि मुटाई में अंतर है। इन दीवालों को अधिक मज़बूत बनाने के लिये, १६-१७ फ़ीट के फ़ासले पर, इनकी मुटाई बढ़ा दी गई है। ऐसे स्थानों पर इनके तल-भाग की मुटाई ११ फ़ीट तक मोटी रक्खी गई है। यदि इनके बीच की पतली दीवालें न हों, तो ये लंबे कमरे समझे जा सकते थे। परंतु इनकी वर्तमान बनावट से इनका वास्तविक अभिप्राय जानना कठिन हो गया है।

हरप्पा के घरों की दीवालों में बनी समाधियों में या दरवाज़ों के नीचे ईंटों में दबी हुई हड्डियाँ पाई गई हैं। परंतु अब तक दरवाज़े के नीचे गड़ी हुई हड्डियाँ बहुत ही कम स्थानों में मिली हैं। इससे निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि ये विना कारण ही वहाँ पर गाड़ी गई थीं, या उस समय भी मकानों की रक्षा के लिये नर-बलि करने का



खुदाई करने के पूर्व हरप्पा के टीले का दृश्य

रवाज था। हरप्पा के आस-पास वायुयान द्वारा अन्वेषण करने से ज्ञात हुआ है कि रावी के प्राचीन मार्ग के किनारे-किनारे क़रीब ५० मील तक ऐसे ही बहुत-से प्राचीन टीले दिखाई देते हैं। इनमें कुछ तो बहुत ही पुराने और कुछ क्रमशः पीछे के समयों के प्रतीत होते हैं। सर जॉन मार्शल का अनुमान है कि यदि ये सब टीले खोदे जायँ, तो आज से २,००० वर्ष पूर्व तक की सभ्यता का बहुत कुछ सिल-सिलेवार इतिहास मिल सकता है।

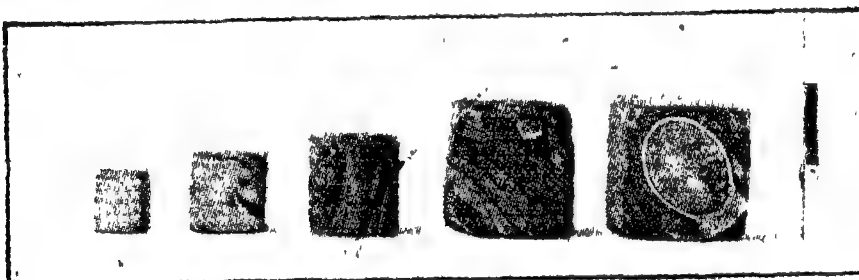
इसी प्रकार क्वेटा से २५० मील दक्षिण, बलूचिस्तान के झलवन-प्रदेश के 'नल'-नामक स्थान में, ताम्रयुग की एक





हरप्पा में प्राप्त मिट्टी के खिलौने

हरप्पा में प्राप्त २० दुहरी दीवालोंवाली एक इमारत (यह इमारत सबसे बड़ी है।)



हरप्पा मे प्राप्त तौलने के बाँट

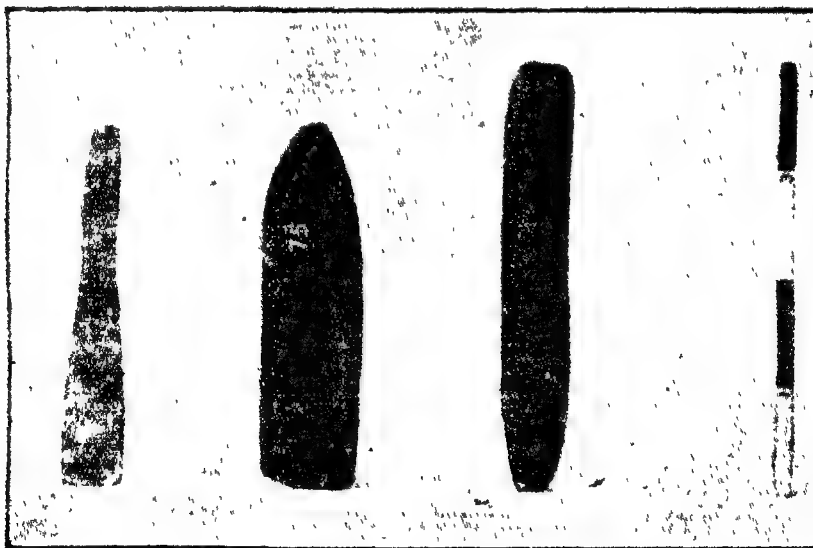


हरप्पा में प्राप्त कुछ ऐसे शिला-लेख, जो अंत तक पढ़े नहीं गए। बीच में गदा का अग्रभाग (Ring Stone) रक्खा है

श्मशान-भूमि का पता लगाया गया है। इस स्थान पर खुदाई करने से ज्ञात हुआ है कि यहाँ रहनेवाले उस समय के लोग या तो अपने मृत पुरुषों को कच्ची ईंटों से बनी क़ब्रों में गाड़ते थे, या वैसे ही ज़मीन में गाड़ देते थे। कच्ची ईंटों की क़ब्रों में गड़े मुरदों की हड्डियों के तो समूचे ढाँचे



नल में टीले के नीचे दबे हुए भारतीय सुमेरियन मकानात और वहाँ से निकली हुई ठठरी



नल में प्राप्त कुछ मिट्टी के औज़ार

मिले हैं ; परंतु पृथ्वी में गाड़े हुओं की केवल कुछ हड्डियाँ और खोपड़ी ही पाई गई हैं। इन सबके साथ ही उस समय के बहुत-से मिट्टी के बर्तन, ताँबे के औज़ार, माला के दाने, चक्कियाँ और अन्य अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी चीज़ें मिली हैं। ये सब मोहनजोदड़ो और हरप्पा में पाई गई वस्तुओं से मिलती हैं। परंतु यहाँ (नल) से मिले मिट्टी के रंगीन बर्तन, मसाले और बनावट में, पूर्वोक्त दोनो स्थानों में पाए गए बर्तनों से अधिक अच्छे हैं। बलूचिस्तान में और भी बहुत-से प्राचीन स्थानों के मिलने की संभावना है; क्योंकि यह प्रदेश सिंध, सीस्तान, पर्शिया और मेसोपोटेमिया का संयोजक है।

सारांश

ऊपर लिखी सारी बातों पर विचार करने से ज्ञात होता



नल मे प्राप्त एक मिट्टी का बर्तन

उस समय आने-जाने और व्यापारिक वस्तुओं के इधर-उधर ले जाने का साधन एक-मात्र नौकाएँ थीं। इसी से उस समय के लोग अधिकतर नदियों के किनारे बसना अधिक उपयुक्त समझते थे। अतः यदि हिंदोस्तान की बड़ी-बड़ी नदियों के प्राचीन मार्गों का पता लगाकर उनके आस-पास अनुसंधान किया जाय, तो बहुत-सी अज्ञात प्राचीन बातों का पता लग सकता है। भारत में ऐसे मार्गों का विस्तार तीन-चार हज़ार मील से कम न होगा। यहाँ पर हम सर जॉन मार्शल साहब से यह अनुरोध करना चाहते है कि जहाँ तक हो, देशी भाषाओं मे भी ऐसी पुस्तकें आदि प्रकाशित करने का प्रबंध करें, जिनमे पुरातत्त्व-विभाग द्वारा आज तक की प्राप्त और आगे यथासमय प्राप्त होनेवाली वस्तुओं का विवरण देशवासियों को ज्ञात होता रहे, और वे लोग भी इस विषय का महत्त्व समझने में समर्थ हों।



नल मे प्राप्त मिट्टी के बर्तन (कदाचित ये लैपों का काम देते थे।)



नल की श्मशान-भूमि से निकाले हुए मिट्टी के रंगीन बर्तन

है कि संभवतः अज्ञात शताब्दियों के पूर्व यह सभ्यता पश्चिमी हिंदोस्तान मे ही उन्नति को प्राप्त हुई होगी, और वहीं से सिंध, पंजाब के बहुत-से भागों, बलूचिस्तान, राजपूताने और शायद वहाँ से भी आगे के पूर्वी देशों में पहुँच गई होगी।

अब वाडेल साहब के मत पर संक्षेप में विचार किया जाता है। आशा है, विद्वान् लोग भी इस पर अपनी सम्मति प्रकाशित करने का अनुग्रह करेंगे—

मि० वाडेल ने लिखा है कि ईसवी सन् से ३,१०० वर्ष पूर्व मेसोपोटेमिया के सुमेरियन नरेश उरुअश ने, जो स्वयं आर्य-जाति का था, सिंध के किनारे अपना उपनिवेश क़ायम किया। इसी को ये सुमेरियन लोग एडिन (द्वितीय) कहते थे[1]। वाडेल साहब के मतानुसार इन्होंने ही वेदों की रचना भी की थी। यहाँ की प्राप्त मुहरों से पता चलता है कि मेसोपोटेमिया-नरेश सारगन (प्रथम) स्वयं भी अपना उपनिवेश देखने के लिये आया था। इन मुहरों (Seals) से यह भी ज्ञात होता है कि ई० सन् से क़रीब २,३५० वर्ष पूर्व जब एलम-प्रदेश-वालों ने अपने स्वामी उरवंश का नाश कर सुमेर पर अधिकार कर लिया, तब क़रीब आठ सौ वर्ष से स्थापित इस सिंध-तट के उपनिवेश का संबंध सुमेर से टूट गया, और अपने प्रधान राज्य की सहायता से वंचित हो जाने के कारण यह उपनिवेश भी कुछ ही समय में उजड़ गया।



हरप्पा में मिली गैंड़े के आकार के सींगवाले पशु के चित्र से युक्त एक मुहर



हरप्पा में मिली गैंड़े के आकार के सींगवाले पशु के चित्र की एक दूसरी मुहर

ये आर्य लोग सुमेरियन भाषा बोलते थे, और इसी से संस्कृत, पैशाची आदि भाषाओं और उनकी पुत्रियों की उत्पत्ति हुई है।

नीचे के नक़्शे में उर-वंश के राजाओं की नामावली और उनके भारतीय नाम दिए जाते हैं—

नंबर	फ़िनीशियन उरुअशवंशीय राजा की वंशावली	भारतीय नाम
१	उरु-अश् ख-अद्	हर्यश्व (चंद्रवंशी)
२	अ मद्-गल	मुद्गल ,,
३	बि (द,-अश-न-दि	पसेनदी—भद्राश्व ,,
४	इन अश न-दि	यवनाश्व (सूर्यवंशी)
५	ने तर-मि	दिवोदास-त्रसद्दस्यु ,,
६	लुगल अश द कद	मित्रायु (चंद्रवंशी)
७	उरु क-गि-न	च्यवन ,,

नक़्शे में उल्लिखित हर्यश्व और मुद्गल की मुहरों की-सी चित्र-लिपि में लिखी गई अग्निहोत्री, आंगिरस और कण्व आदि की हरप्पा में मिली हुई मुहरें भी ई० सन् से ३,१०० वर्ष पूर्व की हैं।

इसके बाद ई० सन् से ७१८ वर्ष पूर्व सेमिटिक असीरियन सारगन (द्वितीय) ने आक्रमण कर करचेमिश के पास इन सुमेर के आर्यों को परास्त कर दिया, और वहाँ से खदेड़े जाकर ये लोग एशिया-माइनर, पर्शिया आदि की तरफ़ होते हुए, सिंध को नीचे की तरफ़ से पारकर, दुआबे की तरफ़ फैल गए, और उन स्थानों को जीतकर वहाँ पर इन्होंने अपना स्वतंत्र राज्य क़ायम किया।

किंतु हमारी समझ में नहीं आता कि एक तो जब ईसा के ३,००० वर्ष पूर्व के सिंधवासी लोगों की तमाम मुहरों पर एकाक्ष (Mono-syllabic)-शब्दों का ही प्रयोग मिलता

१. इसी को असीरियन लोग 'उरनिन' कहते थे, और आर्यों के ग्रंथों में इसे हर्यश्व के नाम से लिखा है। यही पहला फ़िनीशियन राजा था, और इसी ने मेसोपोटेमिया में पहलेपहल इस वंश का राज्य क़ायम किया था।

२. हुएनसंग ने इस (स्वात-प्रदेश) का आटिन के नाम से उल्लेख किया है।

है, तो वे ही लोग वेदों की-सी उन्नत भाषा के लेखक कैसे कहे जा सकते हैं ? दूसरे उनकी सुमेरियन भाषा और वेदों की संस्कृत-भाषा में भी बड़ा अंतर है।

मि० वाडेल के मतानुसार अब तक भारतीय सुमेरियन आर्यों की दो तरह की मुहरें मिली हैं—एक लिखा-पढ़ी के काम की, जो लिखने के लिये तैयार किए गए चमड़े (पार्चमेंट) आदि पर लगाई जाती थी, और दूसरी मृत पुरुष की गर्दन में बाँधी जानेवाली या उसके शवावशेष के साथ रक्खी जानेवाली। आगे दोनों प्रकार की मुहरों की लिखावट के नमूने दिए जाते हैं—

पहले प्रकार की मुहर की लिखावट — ख-अश अश शि-अश बर-उ-गु एडिन-अश
अनुवाद— ऋषि — आंशअश * अग्निहोत्री एडिन का

दूसरे प्रकार की मुहर की लिखावट — शु-ख ख-अश-बुजुर मिद्-अश मतु कुस गिन तुम
अनुवाद — हे अस्त होते हुए सूर्य-रूपी मत्स्य ! सूर्योपासक मिदास को, जो मरकर जुदा हो गया है, जीवित कर दे।

* वैदिक साहित्य में इसका आंषिज-कक्षिवान के नाम से उल्लेख है।

कुछ भारतीय और सुमेरियन चित्र-लिपि के अक्षरों के मिलान का नक़्शा

भारत में मिली चित्र-लिपि	सुमेरियन चित्र-लिपि	लिखे जाने का समय	उच्चारण	चित्रों का अर्थ
		२८०० / २७००	ख	मछली
		२१००	सर	३६०
		३०००	गल	बड़ा
		३०००	सग	अंदरूनी
		२८०० / २४००	बद	शत्रु
		३०००	कु शु	को
		२८००	शु	हाथ
		२८००	उश	उपस्थ
		३०००	इ	घर का थाला या ज़मीन

भारत में मिली चित्र-लिपि	सुमेरियन चित्र-लिपि	लिखे जाने का समय	उच्चारण	चित्रों का अर्थ
		२७५०	बर	एक प्रकार का मंदिर
		३०००	६१	नरकट
		३०००	गन	पृथ्वी की नाप
		३१००	मल ग	उभरा हुआ
		३०००	—	—
		२४००	गिल	—
		३०००	गिर अद	बिच्छू

पाठक इन लिखावटों से वेदों की भाषा का मिलान कर स्वयं देख सकते हैं कि इन दो भाषाओं के लेखक एक कैसे माने जा सकते हैं।

इसके अलावा मि० वाडेल ने जो उपर्युक्त पंडिन को हुएनसाग के ओटिन से या बौद्धकालीन उद्यान से मिलाने का प्रयत्न किया है, वह भी समझ में नहीं आता; क्योंकि ऋग्वेद में उक्त उद्यान (स्वात)-प्रदेश का सुवस्तु के नाम से उल्लेख है। ऐसी हालत में कोई कारण नहीं मालूम होता कि जिस प्रदेश का उन्होंने अपने रचे वेदों में सुवस्तु के नाम से उल्लेख किया है, उसी को अपनी उसी समय की मुहरों में एडिन के नाम से लिखें।

इन बातों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि ई० सन् से ३,००० वर्ष पूर्व के इंडो-सुमेरियन वेदों के रचयिता आर्य नहीं थे। अब यदि यह अनुमान किया जाय कि इन्हीं इंडो-सुमेरियन लोगों के वंशजों ने इसके १,०००-१,५०० वर्षों के बाद वेदों की रचना की, तो यह भी संभव नहीं प्रतीत होता; क्योंकि स्वयं मि० वाडेल लिखते हैं कि ई० सन् के करीब २,३५० वर्ष पूर्व मेसोपोटेमिया का अपने प्रधान राज्य से संबंध टूट जाने के कारण इन सिंध-तीर-वासी लोगों की उन्नति के बजाय अवनति आरंभ हो गई थी। ऐसी अवस्था में उनकी एकाच् (Monos-yllabic)-भाषा का अल्पकाल में इतना उन्नत हो जाना असंभव है।

वाडेल महाशय ने ई० पू० से ७०० वर्ष पूर्व सुमेरियनों (आर्यों) का दूसरा आक्रमण होना लिखा है। ये भी वेदों के कर्ता नहीं हो सकते; क्योंकि यदि इस समय वेदों का लिखा जाना मानें, तो यह संभव नहीं कि ३०० वर्ष के बीच ही में वैदिक, दार्शनिक और पौराणिक मतों की उत्पत्ति और लय होकर बौद्ध-मत का आविर्भाव हो जाय। ऐसी हालत में यही मानना अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है कि सिंध-देश की यह प्राचीन सभ्यता आर्य न होकर द्राविड थी, और कालांतर में आर्यों के आगमन से दक्षिण के जंगलों की तरफ़ चली गई। इसके बाद इन द्राविड़ों के अधिकाधिक संसर्ग के कारण ही, देश-काल को देखकर, आर्यों को अपने वैदिक मत के साथ इनका दार्शनिक मत मिलाकर उपनिषदों और आरण्यक भाग की रचना करनी पड़ी। यदि ऐसा न मानें, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि थोड़े ही काल (क़रीब ५०० वर्षों) में आर्यों के वैदिक मत में इतना परिवर्तन कैसे हो गया; क्योंकि उपनिषदों आदि की रचना थोड़े समय बाद की हुई मानी जाती है। हमारे एक विद्वान् मित्र का अनुमान है कि पहले भारतवर्ष में जंगली क़ौमों के भील, मोने (निग्रिटो) आदि लोग बसते थे। कुछ समय के बाद पूर्व या उत्तर-पूर्व की तरफ़ से मुंडा-जाति के लोगों का आगमन हुआ। इन लोगों ने भारत के आदिम निवासियों को खदेड़कर मध्य-प्रदेश आदि के पहाड़ी स्थानों की तरफ़ भगा दिया। ये मुंडा लोग भूत-प्रेतों को पूजते और बलिदान आदि पर विश्वास रखते थे। इनकी एक शाखा तो मध्य-प्रदेश और उड़ीसा आदि की तरफ़ चली गई, और दूसरी कच्छ और सीस्तान तक फैल गई। मध्य-प्रदेश के गोंड, खोंड, संथाल और छोटा नागपुर तथा उड़ीसा के किनारे पर बसनेवाली जातियाँ तो पहली शाखा की हैं, और कच्छ के वाघेर और सिंध के बिरोही-मुसलमान, जो मिश्रित खमर (Khmer)-भाषा बोलते हैं, दूसरी के।

इसके बाद बैबिलोनिया की तरफ़ से द्राविड लोगों का आगमन हुआ। ये लोग अधिक सभ्य, दार्शनिक और शायद (एकांतवादी) भागवत थे, तथा बलूचिस्तान के मार्ग से यहाँ आए थे। इनकी अनेक शाखाओं में कुछ तो आबू, सतपुड़ा, विंध्याचल आदि स्थानों के मुंडा लोगों से लड़ती-भिड़ती सिंध की तरफ़ फैल गईं और कुछ दुआबे की तरफ़ जा पहुँचीं। द्राविड़ों के बाद ईरान की तरफ़ से आर्यों का आक्रमण हुआ। इनकी एक शाखा बंगाल की तरफ़ चली गई, और वहाँ के मुंडा लोगों को अपनाकर वहीं पर बस गई। अन्य शाखाएँ इधर-उधर फैलकर द्राविड लोगों को खदेड़ने लगीं। इससे वे लोग सतपुड़ा, विंध्याचल आदि के किनारे होते हुए सिंध के अधिक सघन वनों के मार्ग से दक्षिण की ओर चले गए।

मोहनजोडडो से प्राप्त मुहरों पर चक्र और त्रिपुंड्राकार अक्षरों के चिह्न तथा वहाँ से खोदकर निकाले गए गृहों के निर्माण-कौशल को देखकर यही कहना पड़ता है कि यहाँ पर संभवतः वेदों में जिनको असुर कहा है, उन्हीं द्राविड लोगों की बस्ती थी, और उनके दक्षिण की तरफ़ जाकर बस जाने के बाद भी आर्यों का उनके साथ घनिष्ठ संबंध बना रहा था। इसी से द्राविड लोगों के बहुत-से धार्मिक विचारों का संसर्ग आर्यों के रचे ग्रंथों में भी पाया जाता है।

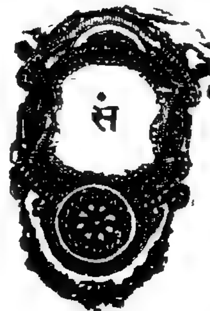
विश्वेश्वरनाथ रेउ

बिखरा हार

सुषमा का उपमान मनोहर,
छविमय था मेरा उर-हार ;
बिखरी मुक्ता-लड़ी मही पर,
टूट पड़ा जब उसका तार।
निर्मल, रवि-युत व्योम-छटा से,
सहसा हुआ कुलिश का नाद ;
कुटिल काल की चाल निरखकर,
हुआ मुझे अतिशय उन्माद।
एक-एक कर क्षण-क्षण तन के,
छीन लिए सारे शृंगार ;
पल्लव-हीन लता कर मेरा,
कर डाला जीवन निस्सार।
सूना करके भाल-तिलक से,
दिया मुझे था क्लेश कराल ;
लिया चित्त रंजन माला से,
रत्न, बढ़ाई उर में ज्वाल।
अन्य रत्न विक्षिप्त पड़े हैं,
शून्य हुआ मोती का साज ;
उन्हें पिरोती हूँ मैं रोती,
रहे आज कैसे अब लाज।
हृदयाकाश भास वारिद से,
आच्छादित है चारों ओर :
कला-हीन हा हुए कलापति,
चमकी प्रलय-चपला घोर।
विरह-व्यथा से छाती फटती
जाती मेरी है दिन-रात ;
कहाँ सांत्वना मुझे मिलेगी,
कौन सुनेगा मेरी बात ?
सब शृंगार त्याग कर अपने,
मलिन-मना, बैठी गति-हीन ;
हूँ विक्षिप्त वल्लभी-सी अब,
रोती निशि दिन दुर्बल, दीन।
सब नश्वर तन मन-धन मुझको,
देख पड़ रहे स्वप्न-समान ;
अंधकार-वेष्टित धरणी है,
अखिल विश्व है नरक समान।
छाया छिपी हार की मन में,
हुई उसी में अंतर्धान ;
आँसू-लड़ी भर रहो अंचल,
खड़ी रो रही हूँ अनजान।
शोक-सिंधु में उछल-उछलकर,
डगमग करती मेरी नाव ;
केवर्तक हे कृष्णदेव ! तुम,
जान रहे क्या मेरे भाव ?
कहते तो तुम सदा यही थे,
रहता हूँ दीनों के संग ;
यह मेरा हतभाग्य हुआ, क्या,
बदल रहे तुम अपना ढंग ?
हे निर्वाण-ज्योति जीवन की,
बिलख रही हूँ मैं म्रियमाण ;
तिमिराच्छन्न देख मन-मंदिर,
निकल रहे ये पामर प्राण।
हे हरि ! मुझे हताश निरखकर,
कोमल नहीं हुआ क्या चित्त ?
लोचन मेरे मूँद हृदय का,
कौन ले गया अनुपम वित्त ?
किससे कहूँ दुःख की गाथा,
कौन सुनेगा मेरी तान ?
होते नहीं सदय क्या तुम भी,
सतत कर रही हूँ तव ध्यान।

हर्षदेव ओली

नरसिंहनाथ-मंदिर के शिलालेख का समय



बलपुर-ज़िले के नरसिंहनाथ के मंदिर के शिलालेख के समय का निश्चय करने में पंडित लोचनप्रसादजी पांडेय लगभग एक वर्ष से प्रशंसनीय खोज कर रहे हैं। इसके संबंध में पांडेयजी के पास जो परस्पर विरुद्ध सम्मतियाँ आई हैं, उनको आपने मेरे पास भेजकर मेरी सम्मति भी पूछी है। पांडेयजी की लिखा-

पत्रों की पूरी फ़ाइल तथा "विकारी-संवत और नरसिंहनाथ का शिलालेख"-शीर्षक अप्रकाशित लेख मेरे पास गत नवंबर के अंतिम सप्ताह में ही माधुरी-संपादक द्वारा पहुँच गए थे; परंतु पर्याप्त अवकाश न मिलने से बहुत दिनों तक इसमें हाथ नहीं लगा सका। इसलिये पांडेयजी को प्रतीक्षा करने में कष्ट भी हुआ होगा, जिसके लिये क्षमा माँगता हुआ मैं अपना मत प्रकट करता हूँ।

उपर्युक्त शिलालेख विकारी-संवत्सर में, चैत्र-पूर्णिमा, हस्त-नक्षत्र और शुक्रवार के दिन लिखा गया था। इसके समय के संबंध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के जो मत मेरे पास भेजे गए, वे ये हैं—

(१) पांडेय लोचनप्रसादजी कहते हैं—If the Vikari year falling in samvat 1351 Vikram (1351-56=1295 A. D.) has a Friday on its full moon-day of the month of Chaitra, then the date of the Narsingh Nath inscription can safely be accepted as Vikram Samvat 1351 (1295 A. D.).

(२) इस पर रायबहादुर हीरालाल साहब उन्हें लिखते हैं—The details quite agree with your surmise in Vikram year 1351. In that year the full moon-day of Chaitra fell on Friday 1st April, 1295 A. D.

(३) रायबहादुर जगन्नाथप्रसाद "भानु" कवि लिखते हैं—According to my rough calculation S. 1351 Chaitra purnima fill on Friday with हस्त-नक्षत्र.

(४) विलासपुर के नार्मल स्कूल के शिक्षक पं० गोरेलालजी तिवारी ज्योतिर्विद् ने, बड़े परिश्रम से कई वर्षों की गणना करके, यह निश्चय किया है कि विक्रम-संवत् १४१० की चैत्र-पूर्णिमा ही शिलालेख का समय है।

(५) मैंने स्वयं गत आश्विन की माधुरी में लिखा था कि १३५६ ईसवी में विकारी-संवत्सर दक्षिण की प्रथा के अनुसार हो सकता है। इसी विचार से भांडारकर महोदय ने इस शिलालेख का समय १३५६ ई० माना है।

अब इन पाँच परस्पर-विरुद्ध मतों पर क्रमानुसार विचार किया जाता है—

१ले, २रे और ३रे मत की भूल—पांडेयजी ने पहले यही भूल की है कि उन्होंने संवत १३५१ वि० की चैत्र-पूर्णिमा को १३५१ में से ५६ घटाकर १२९५ ई० में होना मान लिया, जब कि उनको घटाना चाहिए था ५७। चूँकि विक्रम संवत् चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा से बदलता है, इसलिये नियम यह है कि यदि अभीष्ट समय १ली जनवरी के बाद और चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा के पहले अर्थात् १ली जनवरी और चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा के बीच में हो, तो विक्रम-संवत् से ५६ घटाने पर ईसवी सन निकलता है। अन्यथा (चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा से ३१ दिसंबर के बीच का समय जानने के लिये) विक्रम-संवत् से ५७ घटाना चाहिए। जैसे, माघ-सुदी १२, संवत् १९८२ का ईसवी सन जानना हो, तो १९८२ में से ५६ घटाना चाहिए। ऐसा करने से ईसवी सन १९२६ आता है, जो ठीक है; क्योंकि माघ-सुदी १२, १ली जनवरी और आगे आनेवाली चैत्र-शुक्ल पूर्णिमा के बीच में है। परंतु कार्त्तिक सुदी २, संवत् १९८२ का ईसवी सन १९८२−५७=१९२५ होगा, क्योंकि कार्त्तिक-मास १९८२ वि० की चैत्र-शुक्ल-प्रतिपदा और दिसंबर-महीने के बीच में है। इस नियम के अनुसार १३५१ वि० की चैत्र-पूर्णिमा १२९४ ई० के मार्च की १३वीं तारीख शनिवार को पड़ती है। इसका सन १२९४ ई० है, न कि १२९५; क्योंकि चैत्र-पूर्णिमा चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा के बाद और अगले दिसंबर के पहले है, इसलिये १३५१ से ५७ घटाना चाहिए।

यदि यह माना जाय कि १२९५ ई० की १ली एप्रिल की चैत्र-पूर्णिमा ही शिलालेख का समय है, क्योंकि इसी दिन शुक्रवार पड़ता है, तो यह भी असंगत है। १२९५ ई० की १ली एप्रिल को मेषसंक्रांति और चैत्रशुक्लादि, दोनों रीतियों से १३५२ विक्रम के गत संवत होते हैं। १३५२ विक्रमीय गताब्द में विकारी-संवत्सर किसी प्रकार नहीं हो सकता, और न हस्त-नक्षत्र ही होता है; क्योंकि इस वर्ष मेष-संक्रांति २६ मार्च को ही हो गई थी। इसलिये १ली एप्रिल को सूर्य कम-से-कम मेष-राशि के ५ अंश पर रहा होगा। पूर्णिमा का जिस समय अंत होता है, उस समय चंद्रमा सूर्य से ६ राशि आगे रहता है। इसलिये पूर्णिमा के अंतकाल का चंद्रमा तुला के ५ अंश पर रहा होगा। इस प्रकार यह प्रकट है कि जिस समय पूर्णिमा का आरंभ हुआ, उस समय चंद्रमा कन्या-राशि के २३ अंश को

समाप्त कर चुका था। परंतु कन्या के १० अंश के अंत से २३ अंश २० कला तक हस्त-नक्षत्र का परिमाण है। इसलिये पूर्णिमा के आरंभ होते समय ही आधा घंटे तक हस्त-नक्षत्र था, इससे अधिक नहीं। अस्तु, विकारी-संवत्सर और हस्त-नक्षत्र के अभाव से १ली एप्रिल १२९५ को चैत्र-पूर्णिमा को शिलालेख नहीं लिखा गया था।

जब १२९५ ई० में १३५१ विक्रमीय संवत् ही नहीं था, और न विकारी-संवत्सर तथा हस्त-नक्षत्र, तो रायबहादुर हीरालाल साहब तथा रायबहादुर "भानु" कविजी का कहना कि १२९५ ई० की चैत्र-पूर्णिमा को शुक्रवार था, अपने-आप ही कट जाता है।

अब यह देखना है कि यदि १३५१ वि० की चैत्र-पूर्णिमा १२९५ ई० में नहीं थी, तो क्या १२९४ ई० में ठीक थी ? इसकी गणना ग्रहलाघव के अनुसार पंडित गोरेलालजी ने ठीक की है, और सिद्ध किया है कि बुधवार के दिन (जिसे मेरे हिसाब से शुक्रवार कहना चाहिए, देखिए आगे) चतुर्दशी-तिथि तथा उत्तरा-फाल्गुनी थीं। यह लेखक भी सूर्य-सिद्धांत और सिद्धांत-शिरोमणि के अनुसार गणना करके इसी परिणाम पर पहुँचा है कि १३५१ की चैत्र-पूर्णिमा का आरंभ शुक्रवार को सूर्यास्त के लगभग अवश्य हुआ है; परंतु हस्त-नक्षत्र तो इस दिन मध्यरात्रि के बाद लगा था। इसलिये शुक्रवार के दिन न तो पूर्णिमा पड़ती है, और न हस्त-नक्षत्र ही।

५वें मत की भूल—५वाँ मत तो इस लेखक ने केवल इस विचार को ध्यान में रखकर लिखा था कि विकारी-संवत्सर दक्षिणी प्रथा के अनुसार १३५९ ईसवी में पड़ता है। परंतु यह ध्यान में नहीं रक्खा गया था कि दक्षिण की प्रथा के अनुसार संवत्सर का आरंभ मेष की संक्रांति से होता है, और पूरे वर्ष-भर तक वही संवत्सर माना जाता है। सन् १३५९ ई० की चैत्र-पूर्णिमा मेष-संक्रांति के पहले पड़ी थी, इसलिये विकारी-संवत्सर पूर्णिमा के दिन नहीं माना जा सकता। अतएव यह मत भी त्याज्य है। इसके सिवा अब पांडेयजी के लेख से यह सिद्ध है कि संबलपुर-ज़िले में संवत्सर की गणना उड़ीसा तथा नर्मदा के उत्तर-भाग के अनुसार ही होती है। इसलिये १३५९ ई० भी शिलालेख का समय नहीं है।

४थे मत की भूल—पं० गोरेलालजी तिवारी कहते कि संवत् १४१० की चैत्र-शुक्ल १५ शुक्रवार को थी। यह सिद्ध करने के लिये आपने जो गणना की है, वह संक्षेप में इस प्रकार है—

१४१० विक्र०=१४१०–१३५=१२७५ शक

१४४२–१२७५=१६७ वर्ष=१५×११+२

इसलिये चक्र ११ और शेष २ होता है। ग्रहलाघव की रीति के अनुसार २ शेष से ७५६ अहर्गण सिद्ध होता है। इसमें ११का पाँचगुना जोड़कर ७से भाग देने पर ५ शेष रहता है।

इसी से तिवारीजी ने समझा है कि सोमवार के बाद का ५वाँ दिन अर्थात् शुक्रवार ही पूर्णिमा का दिन है। परंतु यहाँ सोमवार के पहले का ५वाँ दिन ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि इष्टकाल १४४२ शक के पहले का है, और ग्रहलाघव के उपसंहाराधिकार के २२ श्लोक * में इसका स्पष्ट आदेश भी है। इसमें चौथे चरण के 'प्राक्'-शब्द का दूसरा अर्थ ही नहीं हो सकता। इसकी टीका में म० म० सुधाकर द्विवेदीजी भी लिखते हैं—"अन्थारम्भवारात् सोमात् प्राग्गणनयाऽभीष्टो वारो भवेदिति"। (ग्रहलाघव, पृष्ठ ३८९, बनारस का छपा)। इस विषय में स्वयं पंडित गोरेलालजी को भी भ्रम है, जैसा कि वह अपने एक पत्र में लिखते हैं—"अलबत्ता दिनों के गिनने के क्रम में भ्रम हो गया था, और वह अब तक है; क्योंकि इसके विषय में किसी-किसी का मतभेद है। कोई सीधे और कोई उलटे क्रम से गिनने के लिये कहते हैं।"

परंतु इस विषय में मेरा नम्र निवेदन है कि श्लोक में प्राक्-शब्द के रहते हुए मतभेद की गुंजाइश ही नहीं है। इसका सीधा अर्थ यह है कि जब इष्टकाल ग्रथारंभ-काल (१४४२ शक) से कम अर्थात् पहले का हो, तो सोमवार से पहले के वारों को उलटे क्रम से गिनते हुए वार का निश्चय करना चाहिए। इसलिये जब तिवारीजी सीधे क्रम से गिनकर १४१० वि० की चैत्र-पूर्णिमा

* द्व्यब्धीन्द्रा. शकरहितास्ततो भवाप्त
चक्राख्यं रविहतशेषकं तु हीनम् ;
चैत्राद्यैः पृथगमुतः सरामचक्रात्
सिद्धाल्याद्गरफलाधिमासयुक्तम् ।
खाग्निघ्न तिथिरहितं निरग्रचक्राङ्का-
शाढ्यं पृथगमुतोऽब्धिषट्कलब्धं ;
ऊनाहैर्वियुतमहर्गणो भवेद्वा वारः
प्राक् शरहतचक्रयुग्गणोऽब्जात् ।

का दिन शुक्रवार निश्चय करते हैं (१ सोमवार २ मंगलवार ३ बुधवार ४ गुरुवार ५ शुक्रवार), तो यह लेखक उलटे क्रम से गिनकर बुधवार निश्चय करता है (० सोमवार १ रविवार २ शनिवार ३ शुक्रवार ४ गुरुवार ५ बुधवार) इसका प्रमाण देने के लिये म० म० सुधाकरजी की सम्मति पहले दी जा चुकी है। हाँ आचार्य विश्वनाथजी ने अपनी टीका में जो उदाहरण दिया है (देखो, वही ग्रहलाघव, पृष्ठ ३८४), वह मेरे अर्थ के विरुद्ध पड़ता है। परंतु ध्यान से देखने पर यह प्रकट हो जायगा कि आचार्यजी ने यहाँ भूल की है। यदि और प्रमाण की आवश्यकता हो तो यही कहना पर्याप्त होगा कि इस रीति के अनुसार नीचे लिखी तिथियों के वार मिलाकर देख लीजिए—

(१) शक-संवत ६६६ फाल्गुन-शुक्ल ३, शनिवार (देखो, Indian Chrology, पृष्ठ ७३)

(२) शक ११०६ भाद्रपद शुक्ल १४, बुधवार (देखो, वही, पृष्ठ ७५)

इस प्रकार यह सिद्ध है कि १४१० वि० की चैत्र-पूर्णिमा शुक्रवार को नहीं, वरन बुधवार को थी। इसलिये यह संवत् शिलालेख का समय नहीं है।

शिलालेख का समय १४७० वि० अथवा सन् १४१३ ईस्वी के मार्च की १७वीं तारीख़ है— १४७० वि० की चैत्र-शुक्ल-पूर्णिमा शुक्रवार के दिन हस्त-नक्षत्र-युक्त थी। इस दिन विकारी-संवत्सर भी वर्तमान था। इसकी गणना सूर्य-सिद्धांत, सिद्धांतशिरोमणि और ग्रहलाघव, तीनों से ठीक उतरती है। इसके संबंध में पं० गोरेलालजी का कहना है कि पूर्णिमा गुरुवार और उत्तरा-नक्षत्र में थी। इसलिये इस शंका पर भी संक्षेप में विचार किया जाता है।

१४७० वि०=१४६७—१३५=१३३५ शक

१४४२-१३३५=१०७=११×६+८

इसलिये चक्र ६ और शेष ८ है। इस शेष से पं० गोरेलालजी ने २६४१ अहर्गण निकाला है, जो ठीक है। परंतु इसके बाद वार निकालने में वही पहली भूल हुई है, यद्यपि इस वार दोनों रीतियों से गुरुवार ही आता है। वार निकालने के लिये इस अहर्गण में ६ का ५गुना जोड़कर ७ से भाग देने पर यह आता है—

$$\frac{२६४१ + ६ \times ५}{७} = \frac{२६८६}{७} = ४२६ \frac{४}{७}$$

इसलिये सोमवार से पूर्व के चौथे दिन का यह अहर्गण है—

सोमवार	रविवार	शनिवार	शुक्रवार	गुरुवार
०	१	२	३	४

इससे सिद्ध है कि २६४१ अहर्गण गुरुवार का है। परंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि इस दिन चैत्र की पूर्णिमा भी थी; क्योंकि वार और तिथि का मिलान करने के लिये कभी-कभी एक दिन जोड़ना या घटाना भी पड़ता * है। इसलिये इसी अहर्गण से गुरुवार के सूर्य और चंद्रमा के स्पष्ट स्थान जान लेने से यह सहज ही निश्चय हो सकता है कि इस दिन कौन तिथि थी।

इस अहर्गण के अनुसार गुरुवार के दिन सूर्य ११रा, १७°, २४′ पर और चंद्रमा ५रा, १°, २३′ पर मध्यम गणना से थे, और चंद्रमा का मंदोच्च ४रा, १४°, ४८′ पर था। इसलिये यह सिद्ध किया जा सकता है (इस की क्रिया यहाँ दिखलाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती) कि स्पष्ट सूर्य का स्थान ११रा, २०° के लगभग और स्पष्ट चंद्रमा का स्थान ५रा, ०° के लगभग था। इसलिये सूर्य से चंद्रमा ५रा, १०° अथवा १६०° आगे था। १२ से भाग देने पर लब्धि १३ और शेष ४ रहता है, जिससे सिद्ध है कि गुरुवार के मध्यम सूर्योदय के समय चतुर्दशी-तिथि विद्यमान थी, और इसका तृतीयांश भाग बीत चुका था। इस समय चंद्रमा ५ राशि को समाप्त कर चुका था, इसलिये नक्षत्र उत्तरा-फाल्गुनी था। चंद्रमा एक दिन में १ नक्षत्र तथा १ तिथि के लगभग चलता है। इसलिये शुक्रवार के दिन हस्त-नक्षत्र और पूर्णिमा-तिथि होने में तनिक भी संदेह नहीं।

यही बात सूर्य-सिद्धांत और सिद्धांतशिरोमणि की गणना से भी सिद्ध होती है। इसलिये अब यह निश्चय हो गया कि नरसिंहनाथ के मंदिर का शिलालेख १४७० वि० की चैत्र-पूर्णिमा को ही लिखा गया था।

सब का सार—

(१) संवत् १३५१ वि० की चैत्र-पूर्णिमा १ ली एप्रिल, सन् १२६५ ई० को नहीं हो सकती; क्योंकि इस दिन संक्रांति और चैत्रशुक्लादि, दोनों प्रथाओं से १३५२ विक्रमीय

* "अभीष्ट वारार्थमहर्गणश्चेत् सैकोनितः कार्य इतश्चयेऽपि तद्वदिति।"
(सिद्धांतशिरोमणि)

गत था । इसलिये विकारी-संवत्सर और हस्त-नक्षत्र का अभाव था ।

इस वर्ष की चैत्र-पूर्णिमा १३मार्च, १२६४ ई० को पड़ी थी । परंतु वार शनिवार था । पूर्णिमा का आरंभ शुक्रवार को सूर्यास्त के समय अवश्य हुआ था, परंतु हस्त-नक्षत्र अर्द्ध रात्रि तक नहीं लगा था । इसलिये शुक्रवार को पूर्णिमा-तिथि और हस्त-नक्षत्र समझना कष्ट-कल्पना है, जब तक कि यह न मान लिया जाय कि पचांग बनानेवालों से १ दिन की भूल पड़ सकती है । परंतु यह बात तभी मानी जा सकती है, जब अन्य प्रमाणों से भी यह सिद्ध हो जाय कि शिलालेख का समय १३२१ वि० ही हो सकता है ।

(२) संवत् १४१० वि० में चैत्र की पूर्णिमा बुधवार को पड़ती है । पं० गौरीलालजी की क्रिया में भूल है, इसीलिये इनके हिसाब से शुक्रवार आता है । अस्तु, यह त्याज्य है ।

(३) संवत् १४७० वि० की चैत्र-पूर्णिमा शुक्रवार को हस्त-नक्षत्र के साथ पड़ती है, और इस दिन विकारी-संवत्सर भी वर्तमान था । अँगरेज़ी-पद्धति से इसकी तारीख़ १७ मार्च, १४१३ ई० है । इसलिये शिलालेख का समय १४७० वि० या १४१३ ई० है ।

(४) यह भी देख लिया गया है कि और किसी साल विकारी-संवत्सर के साथ चैत्र-पूर्णिमा शुक्रवार के दिन हस्त-नक्षत्र-युक्त नहीं होती ।

महावीरप्रसाद श्रीवास्तव

विलायती पत्र



पिछले पत्र में मैंने अपनी पोर्ट सईद तक की यात्रा का समाचार दिया है । पोर्ट सईद छोड़ने के बाद, मार्सेल पहुँचने तक कोई विशेष घटना नहीं हुई । धीरे-धीरे सर्दी बढ़ने लगी, और अब डेक पर सोना बंद हो गया । हमारा जहाज़ अभी तक बहुत तेज़ी से चल रहा था, और यदि उसी वेग से जाता, तो हम लोग बृहस्पतिवार को प्रातःकाल मार्सेल पहुँच जाते । किंतु कंपनी का ठेका यह है कि मेल-बोट शुक्रवार के पहले मार्सेल न पहुँचे । इसीलिये जहाज़ की चाल धीमी कर दी गई, और हम लोग ज़रा चक्कर के रास्ते से चलने लगे । इस चक्कर के रास्ते से जाने में इटली तथा आसपास के द्वीपों के किनारे दिखलाई पड़ने लगते हैं । अतएव हम लोगों को किनारे पर बसे हुए नगरों का बड़ा अच्छा दृश्य दिखाई दिया । यहाँ का जल-वायु देहरादून की तरह है । न बहुत गरमी है, न बहुत सर्दी । समुद्र के किनारे ये छोटे-छोटे नगर स्वप्न के नगरों की तरह मालूम पड़ते हैं । नगरों के पीछे छोटे-छोटे पहाड़ हैं । इन पहाड़ों पर थोड़ी-बहुत हरियाली भी है । इससे इनका दृश्य बड़ा मनोहर है । जहाज़ के ऊपर से सामने के दृश्य सिनेमा के दृश्यों की तरह चलते हुए मालूम पड़ते थे । एक दिन दोपहर को हम लोग स्ट्रांबोली-ज्वालामुखी के पास पहुँचे । यह ज्वालामुखी एक द्वीप के सिरे पर है । ज्वालामुखी का मुँह समुद्र की सतह से कई हज़ार फ़ीट ऊँचा है, और समुद्र की ओर वह दीवाल की तरह सीधा चला गया है । यह ज्वालामुखी जाग्रत है, और जिस समय हम लोग उसके समीप पहुँचे, उससे अग्नि और धुआँ निकल रहा था । जिस प्रकार हुक्का पीनेवाले लोग रह-रहकर धुआँ छोड़ा करते हैं, ठीक उसी प्रकार उससे भी रह-रहकर धुआँ और ज्वाला निकल रही थी । इस पहाड़ के नीचे समुद्र बहुत गहरा है, अतएव कप्तान ने हम लोगों को पहाड़ का पूर्ण दर्शन कराने के लिये जहाज़ को किनारे के बिलकुल निकट कर दिया । कैसा भयानक, किंतु कैसा सुंदर दृश्य था ! नीचे रसातल तक गहरा समुद्र, ऊपर गगन-भेदी प्रज्वलित पर्वत-शृंग ! किंतु विचार के लिये वहाँ इससे भी अधिक मसाला मौजूद था । स्ट्रांबोली के मुँह से प्रायः दो ही मील की दूरी पर एक अच्छा ख़ासा गाँव बसा है । मनुष्य कितना आशा-पूर्ण जीव है !

दिन प्रायः शतरंज, ताश, डेक-टेनिस इत्यादि में ही बीतता था । थोड़ा-बहुत पढ़ना-लिखना भी हो जाता था । कुछ समय खाने-बनाने में निकल जाता था । गप-शप भी खूब हुआ करती थी । एक दिन शाम को भोपाल के चीफ़-मिनिस्टर सर इसरारहुसेन साहब भी हम लोगों के डेक पर तशरीफ़ लाए । आप बड़े मिलनसार और सरल-प्रकृति के सज्जन हैं । उनसे बहुत देर तक बातचीत हुई । उन्होंने अपने यहाँ आने का निमंत्रण दिया । पर मैं जहाज़ पर तो उनके यहाँ नहीं जा सका ; हो सका, तो लंदन में मिलूँगा ।

मार्सेल पहुँचने के एक दिन पहले समुद्र में वेग की हवा चलने लगी, और बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगीं। तीन-चौथाई यात्री समुद्री बीमारी से विकल हो गए। मैं निहालसिंहजी के कैबिन में बड़ी देर तक लेटा रहा। पर वहाँ भी चैन न मिला। अपने कैबिन में आकर लेट गया। बड़ी बेकली रही। प्रायः दिन-भर यही हालत रही। इससे जी ऐसा घबराया कि मैंने मार्सेल ही में उतर जाने का निश्चय किया। लोगों ने कहा कि 'बे आफ़ बिस्के' में आजकल बहुत तूफ़ान आते हैं, वहाँ जहाज़ 'कार्क' की तरह हिलने लगता है। हमारे अधिकांश साथी यहीं उतर रहे थे। अतएव हमने भी सूचना दे दी कि हम मार्सेल में उतर पड़ेंगे।

जहाज़ प्रायः छः बजे मार्सेल में आ लगा। मार्सेल का बंदरगाह बहुत बड़ा है। बंबई की तरह यहाँ भी जहाज़ बिलकुल किनारे पर लगता है। हम लोगों ने अपना सामान जहाज़ के अधिकारियों के सुपुर्द किया, और एक हैंडबैग और कंबल लेकर उतर पड़े। यहाँ उतरते ही पहले कस्टम-हाउस के झगड़े का सामना हुआ। सिगरट, ताश, दियासलाई, सुगंधित पदार्थ आदि पर यहाँ बड़ी कड़ी चुंगी लगती है। इससे इन चीज़ों के लिये अच्छी तरह जाँच होती है। यहाँ तो इन सब चीज़ों से विरक्त हैं। इसलिये हम लोगों को शीघ्र छुटकारा मिल गया। लेकिन अधिकतर कस्टम के कर्मचारी योरप में सब जगह सामान खोलकर अपनी दिलजमई कर लिया करते हैं। यहाँ भी बहुतों के सामान की जाँच-पड़ताल हुई।

कस्टम हाउस से बाहर निकलते ही हम लोगों को कई एक गाइडों (मार्ग-दर्शकों) ने घेर लिया। अंत में हम लोगों ने एक गाइड को चुना, और उसे प्रायः १७५ फ्रैंक पर शहर घुमाने और दिखाने का ठेका दे दिया। इनका नाम मोशिये फ्रनेंड ब्लेशियर है। यह महाशय बहुत-से अन्य गाइडों के स्वभाव के नहीं, बड़े सज्जन और हँसमुख स्वभाव के हैं। अँगरेज़ी अच्छी बोलते हैं। इन्होंने हमको कुल शहर की सैर कराई। मार्सेल-नगर बहुत प्राचीन है। कहते हैं, फ़िनीशियन व्यापारियों ने रोमन साम्राज्य के समय इसे बसाया था। पर अब यह बहुत बड़ा एवं सुंदर नगर है। महत्त्व-पूर्ण बंदरगाह होने के कारण इसकी रौनक़ और भी बढ़ गई है। फ़्रांसीसी नगरों की एक विशेष वस्तु है 'कलेवार'। सड़क के दोनो ओर पेड़ों की दुहरी पंक्तियाँ लगाई जाती हैं। इन्हीं सड़कों को 'कलेवार' कहते हैं। पेड़ों की शाखाओं को काटकर मेहराब की तरह बना देते हैं, जिससे वे बड़े सुंदर मालूम पड़ते हैं। मार्सेल में भी कई 'कलेवार' हैं। नए आनेवाले को ये कलेवार बड़े आकर्षक मालूम पड़ते हैं।

हम लोग मोटर में सवार होकर पहले यहाँ के बड़े गिरजा-घर में गए। फ़्रांस में रोमन-कैथलिक संप्रदाय के ईसाई हैं। यह गिरजा भी रोमन-कैथलिक ईसाइयों का है। यह बहुत बड़ा है। सूली पर चढ़ा हुई ईसामसीह की मूर्ति बड़ी मनोहर बनी है। गिरजे के भीतर कई एक विभाग हैं। एक विभाग में रत्न-जटित सोने-चाँदी का सिंहासन-सा रक्खा है। उसमें बहुत-से रंग-बिरंगे बिजली के दीपक लगे हैं। उनके जलने पर वह सिंहासन बड़ा सुंदर मालूम पड़ता है। इस गिरजे से हम लोग यहाँ के बहुत पुराने गिरजे Saint Victor को चले। रास्ते में सेन-नदी पार करनी पड़ती है। पार करने के लिये बड़ा विचित्र पुल है। पुल के एक सिरे पर एक बड़ा भारी तख़्त-सा रक्खा है। हमारी मोटर उस तख़्त पर आकर खड़ी हो गई। यह तख़्त लोहे के रस्सों के द्वारा ऊपर पुल में लटका हुआ है। पुल के गर्डर इस तख़्त से प्रायः ७०-८० फ़ीट ऊँचे हैं। तख़्त नदी की सतह से प्रायः २० फ़ीट की ऊँचाई पर है। तख़्त पर मोटर के आते ही टिकट लेना पड़ा। टिकट लेने के बाद यह तख़्त चलने लगा। लोहे के रस्से के ऊपर एक यंत्र-सा बँधा हुआ था, जो पुल के ऊपर के गर्डरों पर बिछी हुई रेलों पर चलता था। उसके चलते ही हमारा तख़्त चलने लगा। हमारी मोटर उस तख़्त पर खड़ी थी। थोड़ी देर में तख़्त उस पार पहुँच गया। मोटर तख़्त को छोड़कर सड़क पर आ गई। पुल की इस विचित्रता का कारण यह है कि सेन-नदी में होकर छोटे-बड़े जहाज़ आया-जाया करते हैं। यदि पुल साधारण ऊँचाई का (४०-५० फ़ीट ऊँचा) बनाया जाय तो जहाज़ उसके नीचे से न निकल सकें। यदि पुल १००-१२५ फ़ीट ऊँचा बनाया जाय, तो उतनी ऊँचाई पर उस स्थान पर सड़क ले जाना असाध्य है। इसलिये इस प्रकार का पुल बनाकर, जिसमें चलता हुआ तख़्त लगा है, यह कठिनाई दूर की गई है। मार्सेल में इंजीनियरी की कला का यह बड़ा आश्चर्य-जनक नमूना है। इस पुल का नाम है Pount Transbor deur.

पुल को पार कर हम लोग सेंट विक्टर-चर्च में पहुँचे। यह

बहुत प्राचीन चर्च है। इसमें भूँसी की गुफाओं से भी अधिक अंधकार है। कबूतरों की बीट की दुर्गंध यहाँ भी मौजूद है। नीचे तहख़ाने में न-मालूम कितने संत गड़े पड़े हैं।

यहाँ से हम लोग शहर गए। शहर का मुख्य भाग बड़ा गुलज़ार है। भोजनों के लिये सिंहाली रिस्टॉरेंट में गए। यहाँ एक सिंहाली (लंका-निवासी) महाशय ने एक भोजनालय खोल रक्खा है। उनके यहाँ रसोइया भी सिंहाली ही है। फ़र्मायश करने से पूड़ी इत्यादि बना देता है। फल भी यहाँ खूब मिलते हैं। अंगूरों की बहुतायत है। केला, सेब, नाशपाती, इत्यादि सभी फल तथा मेवे प्राप्य हैं, और सस्ते हैं। यहाँ हम लोगों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भोजन पाए, और निवृत्त होकर कुछ देर आराम किया। इसके बाद फिर घूमने के लिये चले।

पहले यहाँ के सबसे प्रसिद्ध गिरजे नाटर-डेम-डे-ला-गार्ड (Notre-Dame de-la-Garde) गए। यह गिरजा यहाँ की सबसे ऊँची पहाड़ी पर बना हुआ है, और उसके शिखर पर एक विशालकाय सुनहली मूर्ति है। इसके ऊपर चढ़ने के लिये फ़्नीक्युलर Funicular है, जो पानी की शक्ति से चलती है। नीचे एक छोटा-सा प्लेटफ़ार्म है। इस पर एक लिफ़्ट, जिसमें प्रायः ४० आदमी बैठ सकते हैं, खड़ी हुई है। टिकट लेकर हम लोग उसमें बैठ गए। जब वह भर गई, तब कंडक्टर ने इशारा पाकर उसे चलाना आरंभ किया। हिंदोस्तान में कहीं-कहीं गाँवों में पानी भरने के लिये रस्सी के दोनों सिरों में दो घड़े बाँध देते हैं। जब एक घड़ा ऊपर खिंचता है, तो दूसरा नीचे जाता है। ठीक यही नियम इस लिफ़्ट में है। यह लिफ़्ट लोहे के रस्सों से बँधी है। उसका दूसरा सिरा दूसरी लिफ़्ट से बँधा है। जब यह लिफ़्ट नीचे से उठने लगी तो दूसरी लिफ़्ट ऊपर से नीचे उतरने लगी। रस्सों का परिचालन करने के लिये पानी की शक्ति का प्रयोग किया जाता है। यहाँ चढ़ाई प्रायः सीधी है, और मेरे अंदाज़ से कम-से-कम ३०० फ़ीट है।

लिफ़्ट धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगी। इस आश्चर्य-पूर्ण विमान में बैठकर हम लोग भी धीरे-धीरे ऊपर चढ़ने लगे। धीरे-धीरे सारा नगर हम लोगों के सामने नक़्शे की तरह बिछ गया। ज्यों-ज्यों ऊपर पहुँचते थे, और अधिक दूर की वस्तु दिखलाई पड़ती थी। यह अनुभव हम लोगों के लिये बिलकुल नया था। इसलिये हमें इस विमान की चढ़ाई में बड़ा आनंद आया।

ऊपर पहुँचकर हम लोग गिरजे में गए। यहाँ गिरजे में मोमबत्तियाँ चढ़ाई जाती हैं, जिनका जलाना पुण्य का कार्य समझा जाता है। सींक के समान पतली मोमबत्तियों से लेकर गज़-भर की लंबी और ३-४ इंच तक की मोटी मोमबत्तियाँ बिक रही थीं। हम लोगों ने भी देव-स्थान का आदर करने के लिये मोमबत्तियाँ ख़रीद लीं। यात्रियों की काफ़ी भीड़ थी। मंदिर में ईसाई देवी-देवतों तथा यादगार आदि के चित्र खूब बिक रहे थे। गिरजा बहुत बड़ा है, और उसके अंदर भी बहुत कारीगरी का काम है। हम लोगों ने पुजारी के हाथ में मोमबत्तियाँ दे दीं। उसने दीवट में उन्हें लगाकर जला दिया। वहाँ छोटी-बड़ी हज़ारों मोमबत्तियाँ जल रही थीं। भक्त लोग मोमबत्तियाँ चढ़ाने की इच्छा से खड़े हुए थे। मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है। काशी में फूलमाला की बहार देखी, अजमेर में भी यात्रियों में यही भाव पाया, और यहाँ इस गिरजे में भी वही मनुष्य-प्रकृति प्रत्यक्ष पाई। पूजा के लिये जन-साधारण सभी जगह उत्सुक रहते हैं। अस्तु, पूजन के स्वरूप ही में भेद है, भाव में तो सर्वत्र एकता है।

गिरजे से समुद्र तथा नगर, दोनों ही का बड़ा मनोहर दृश्य देख पड़ता है। युद्ध के समय इस ऊँचाई पर फ़्रेंच सेना पड़ी हुई थी। उसके चिह्न अभी तक मौजूद हैं। घूम-फिरकर उन्हें देखा। इसके बाद यहाँ से लौटे। फ़्नीक्युलर से ही नीचे उतरे। फिर मोटर में सवार होकर यहाँ का अजायबघर देखने चले। रास्ते में एक बड़ा विशाल और अत्यंत सुंदर फ़ौवारा दिखाई पड़ा। यह यहाँ के एक प्रसिद्ध नागरिक कांतिनी की स्मृति में बनाया गया है। कांतिनी एक धनी व्यक्ति थे। उन्होंने नगर की सेवा में बहुत कुछ धन और समय दिया था। इसको देखते हुए हम लोग अजायबघर पहुँचे। यह प्राचीन काल में बूर्बन राजों का महल था। कुछ कमरे अभी तक ज्यों-के-त्यों सुरक्षित हैं। अजायबघर में मिसर आदि की भी कुछ वस्तुएँ हैं। चीन की कुछ मूर्तियाँ भी हैं। अजायबघर एक बड़े उद्यान में है, और यह उद्यान बड़ा सुंदर है। इसमें देशी गेंदे भी लगे हुए हैं। वे इस सुंदरता से लगाए गए हैं कि उनका सौंदर्य दसगुना बढ़ गया है। इस बगीचे में यहाँ के एक प्रसिद्ध पहलवान की ब्रोंज़ (पीतल) की मूर्ति भी है। इसे देखकर मुझे अपने यहाँ के पहलवानों का स्मरण हो आया, जिनकी कला आजकल इतनी उतरी हुई है। हमारे देश में

आजकल किसी भी कला का उचित आदर नहीं है। यही कारण है कि सभी कलाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं।

अजायबघर से हम लोग समुद्र के किनारे की एक बड़ी ही रमणीक सड़क पर होते हुए पैले-डे-लॉगचैम (Palais De Longchamp) पहुँचे। लॉगचैम महाशय मार्सेल के एक बड़े भारी धनी थे। उन्हीं ने जनता के लिये यह विशाल उद्यान बनवाया है। इसके बाहरी हिस्से की बनावट में बड़े ऊँचे दर्जे की कला का प्रदर्शन है। यह भूरे पत्थर का बना है। गऊ, घोड़े आदि की भीमकाय मूर्तियों के बीच में फुहारों और जल-प्रपात के दृश्य हैं, जो कल्पना की पहुँच के बड़े भाव-पूर्ण नमूने हैं। इसको देखकर चित्त में एक प्रकार का विचित्र आनंद उत्पन्न होता है। इसके ऊपर चढ़कर बहुत बड़ा बाग़ है, जहाँ बैठने के लिये लान पर बहुत-सी बेंच और कुरसियाँ पड़ी हुई हैं। खेलने के लिये टेनिस आदि के बहुत-से कोर्ट तथा खेल का मैदान है। एक छोटा-सा चिड़ियाख़ाना भी है। लॉगचैम ने लाखों की (कदाचित् करोड़ों की) संपत्ति लगाकर यह विशाल बाग़ बनवाया है, और जनता की सेवा के लिये नगर के समर्पण कर दिया है। योरप में धनी लोगों का अपने देशवासियों की सेवा का यह एक नमूना है।

लॉगचैम-बाग़ से लौटकर हम लोग बाज़ार आए। यहाँ सर्दी बहुत थी। मेरे पास ओवरकोट नहीं था। इरादा यह था कि लंदन में चलकर अप-टु-डेट काट का ओवरकोट ख़रीदेंगे। किंतु सर्दी का ख़याल कर यहीं ओवरकोट ख़रीदना निश्चय किया। बहुत कुछ तलाश करने के बाद एक बड़ी दूकान से ओवरकोट ख़रीदा। लोगों ने कहा कि यहाँ लंदन से सस्ता मिलेगा; क्योंकि फ्रैंक की दर गिरी हुई है। कुछ फ़र्क़ अवश्य निकला, लेकिन यदि रोज़गार नहीं करना है, तो इस थोड़े-से फ़र्क़ का ध्यान परदेश में नहीं करना चाहिए।

यहाँ कुल दूकानों में प्रायः लड़कियाँ ही काम करती हैं। इनमें अधिकांश लड़कियाँ अधिक उमर की नहीं होतीं। अच्छी, बड़ी दूकानों में चुन-चुनकर लड़कियाँ रक्खी जाती हैं। बाज़ दूकानों में तो मालूम पड़ता है कि लड़कियों की प्रदर्शिनी ही है। योरप में पहले-पहल आते ही यह बात बहुत विचित्र मालूम पड़ती है। किंतु वहाँ रहने पर धीरे-धीरे मनुष्य इन सब बातों का आदी हो जाता है।

हमारी गाड़ी संध्या को ७ बजे चलनेवाली थी। अतएव कुछ फल ख़रीदकर हम लोग स्टेशन को चले। योरप के स्टेशन बहुत भद्दे हैं, और बाज़-बाज़ तो बड़े गंदे भी। मार्सेल का स्टेशन कुछ अच्छा नहीं। यहाँ की गाड़ियाँ हिंदोस्तान की गाड़ियों से भिन्न प्रकार की हैं। बाहर की ओर एक ही तरफ़ खिड़कियाँ होती हैं। दूसरी तरफ़ एक पतला बरांडा (Corridor)-सा होता है। यह आने-जाने का रास्ता है, और गाड़ी के कुल डब्बों से मिला रहता है। हम लोगों ने अपने लिये सेकंड क्लास की सीट पहले ही रिज़र्व करा ली थी, सो अपनी-अपनी जगह पर जा डटे। श्री० निहालसिंहजी * लियो होकर सीधे जिनेवा जानेवाले थे। उनकी गाड़ी रात को दस बजे जाती थी। अतः वह मोशिये ग्लैशियर के साथ ही रह गए। श्री० अगरवाला, सेठ रामेश्वरलाल और हम तीन ही आदमी पेरिस के लिये रह गए।

रात्रि में कोई कष्ट नहीं हुआ। भाप के द्वारा गाड़ी काफ़ी गर्म थी। इसलिये मैंने अपना ओवरकोट और कोट उतार दिया। केवल एक कंबल से काम चल गया। किंतु बाहर बड़े कड़ाके की सर्दी थी। रात-भर सोते गए। हमारी गाड़ी सीधी पेरिस जा रही थी। रास्ते में बहुत जगहों पर ठहरी भी नहीं।

हम लोग नव बजे पेरिस के 'गार दिलियों' स्टेशन पर पहुँच गए। यहीं से हमारी असली कठिनाई आरंभ हुई। विचार यह था कि पेरिस में दो-तीन दिन रहें। इसलिये एक टैक्सी करके टामस कुक के यहाँ गए, और होटलों का पता पूछा। किंतु उनके यहाँ केवल फ़र्स्ट क्लास होटलों के नाम रहते हैं, जहाँ ठहरना हम लोगों के लिये असंभव था। टैक्सी का शोफर अँगरेज़ी नहीं जानता था, इसलिये इशारों से बातचीत करते रहे। रास्ते में श्री० अगरवाला ने एक होटल का पता पूछा। वहाँ गए, तो उसने प्रायः ९० फ्रैंक एक कमरे के एक दिन के माँगे। ९० फ्रैंक के मतलब हुए १०० फ्रैंक; क्योंकि फ्रांस में नौकरों को १० फ़ी-सदी 'टिप'—बख़शीश—बिल के साथ ज़बरदस्ती वसूल कर ली जाती है। बख़शीश का विषय बड़ा जटिल है। उस पर आगे योरप की यात्रा में टीका-टिप्पणी करेंगे। बहुत-कुछ सोच-विचारकर हम लोगों ने यह निश्चय किया कि चलकर प्रदर्शिनी देख लें, और इसी टैक्सी पर सामान रहने दें। प्रदर्शिनी देखने के बाद दो-

* अब यह योरप से लौट आए हैं, और लखनऊ में एक अँगरेज़ी-पत्र के संपादक हो गए हैं।—संपादक

एक प्रसिद्ध इमारतें देखकर स्टेशन चले चलें, और लंदन के लिये जो पहली गाड़ी मिले, उसी पर बैठकर चल दें। अतएव हम लोग प्रदर्शिनी की ओर चले।

वेम्बर्ली की ब्रिटिश-साम्राज्य-प्रदर्शिनी के कारण, अपने देश को पैरिस की इस अनुपम प्रदर्शिनी का हाल लोगों को नहीं मालूम। तुलना करना बहुधा अच्छा नहीं होता। इसलिये इन दोनों की तुलना किए बिना ही यह निस्संकोच-भाव से कहा जा सकता है कि पेरिस की प्रदर्शिनी एक निराला ही वस्तु थी। यह साधारण प्रदर्शिनी नहीं थी। इसका नाम था International Exposition of Industrial and Decorative Arts. यह केवल कला-संबंधी प्रदर्शिनी थी। और, यह मानना पड़ेगा कि अद्वितीय थी। आजकल पश्चिमी कला में एक नया विचार उत्पन्न हो गया है, जिसे Cubism कहते हैं। ज्यामिति के भिन्न तथा सरल आकारों के सम्मिश्रण से चित्र भवन इत्यादि बनाए गए थे। इनमें बहुत-से भवन तो हिंद-भवन-निर्माण-कला से मिलते-जुलते थे। प्रदर्शिनी बहुत विस्तृत थी, और सीन-नदी के दोनों ओर फैली हुई थी। बीच में ज़ार एलेक्ज़ेंडर-पुल था। चित्रकारी, पोशाक, मकानों की बनावट और सजावट के लिये जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उन सबका वर्तमान काल में प्राप्त सर्वोत्तम संग्रह था। जगह-जगह अत्यंत सुंदर मूर्तियाँ रक्खी थीं। इनमें अधिकांश मूर्तियाँ नग्न थीं। किंतु कला की दृष्टि से बिलकुल ही निर्दोष था। भिन्न देशों के मकान—देशी ढंग से सजे हुए—नमूने के लिये बनाए गए थे। एशिया के देशों में जापान के ही मकान का नमूना दिखलाई पड़ा। नए राष्ट्र—जैसे ज़ेको स्लोवाकिया इत्यादि—भी अपना-अपना व्यवसाय फैलाए हुए थे। एक भाग में स्त्रियों की बहुत-सी मूर्तियाँ थीं, जिन्हें तरह-तरह की पेरिस के नए-से नए डिज़ाइन की पोशाकें पहनाई गई थीं। मूर्तियाँ ऐसी सजी थीं कि बिलकुल जीवित मालूम पड़ती थीं। एक विभाग में पुस्तकों की छपाई और जिल्दसाज़ी के नमूने थे। उन्हें देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता था। जगह-जगह पर फ़ौवारे बने थे। इनमें एक फ़ौवारा कोई ४० फ़ीट ऊँचा था, और Cubien डिज़ाइन का बनाया गया था। यह ठोस काँच का था, और रात्रि के समय इसमें रोशनी होती थी।

प्रदर्शिनी देखते-देखते हम लोग थक गए, और यह विचार किया कि ईफ़िल-टावर और ओपेरा-हाउस देखकर हम लोग स्टेशन चल दें। अतएव बाहर आए, और मोटर-वाले को बड़ी मुश्किल से अपना आशय समझा पाए। वह ईफ़िल-टावर की ओर ले चला। उसी के सामने ओपेरा-हाउस है। ईफ़िल-टावर लोहे का बना है। यह संसार में सबसे ऊँची मीनार है। हम लोग मोटर से उतर उसे अच्छी तरह देखने लगे।

ईफ़िल-टावर के सामने खड़े होकर हम लोग एक तस्वीर बेचनेवाले से उसकी टूटी-फूटी अँगरेज़ी में सिर मार रहे थे। यही इरादा था कि अब यहाँ से सीधे स्टेशन चले, और जो गाड़ी पहले मिले, उसी में सवार होकर लंदन चल दें। इतने ही में वहाँ कुछ दूर पर दो महाशय दिखलाई पड़े। उनके गेहुँए रंग और काले बालों से मालूम पड़ता था कि वे भी उसी पुण्यभूमि के निवासी हैं, जहाँ से हम आ रहे हैं। किंतु योरप में एका-एक किसी से बातचीत करना अनुचित समझा जाता है। इसलिये कुछ देर तक तो उन्होंने हमसे बातचीत न की, और न हमें ही उन्हें छेड़ने का साहस हुआ। अंत में हमने मुंशीलालजी से कहा, शायद ये लोग फ्रेंच जानते हों। मुंशीलालजी ने ज़रा आगे बढ़कर उनसे अँगरेज़ी में पूछा कि क्या आप लोग हिंदोस्तानी हैं। इसका उत्तर देने के पहले ही उनमें से एक महाशय ने आगे बढ़कर मेरा हाथ पकड़ लिया, और बोले—चतुर्वेदीजी, आप यहाँ कहाँ?

मैं चकित रह गया। इस पेरिस में—जहाँ सवेरे से हमें अँगरेज़ी समझनेवाला भी कोई नहीं मिला—यह मधुर हिंदी-भाषी पूर्व-परिचित कौन है? चेहरा पहचाना हुआ होने पर भी मैं उन्हें नहीं पहचान सका। मेरा आश्चर्य देखकर वह बोले—"क्यों चतुर्वेदीजी, मुझे पह-चाना नहीं? मैं हूँ हेमचंद्र।"

"अरे, हेमचंद्र जोशी!"—हम दोनों गले लग गए। १९११-१२ में हेमचंद्रजी प्रयाग के आक्सफ़र्ड-कैंब्रिज-हॉस्टल में रहते थे। तब मैं स्कूल में था, अथवा कालेज में भर्ती ही हुआ था। श्रीयुत हरि-रामचंद्र दिवेकर के साथ एकबार हम लोग पिकनिक के लिये झूँसी गए थे। वहीं हेमचंद्रजी से मुलाक़ात हुई थी। वहीं से हमारी मित्रता का सूत्रपात हुआ। हमने उन्हें अपनी एक पुस्तक भेजी थी। उसकी पहुँच स्वीकार करते हुए हेमचंद्रजी ने जो पत्र लिखा था, वह मुझे थोड़ा बहुत आज भी याद है। वह पद्य-मय गद्य था। तब से मित्रता रहने पर भी

हम लोगों की मुलाक़ात नहीं हुई थी। १४-१५ वर्ष बाद भी यद्यपि मेरे चेहरे में प्रायः कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ, तथापि उनके चहरे में अवश्य बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। इसलिये उन्होंने मुझे शीघ्र पहचान लिया ; किंतु मैं उन्हें एकाएक नहीं पहचान सका था।

हेमचंद्र ऐसे जीव हैं कि उनसे कहीं भी मिलने से आनंद आता है। किंतु पैरिस के इंफिल-टावर के नीचे यह अनायास मिलन औपन्यासिक मिलन से कुछ कम न था। और, इस मिलन का आनंद भी औपन्यासिक मिलन के समान ही उत्तेजक था। थोड़ी देर के लिये गगन-चुंबी इंफिल टावर, सामने का विशाल और संसार में सर्वश्रेष्ठ ओपेरा-हाउस सब कुछ अंतर्द्धान हो गए। केवल हम और हेमचंद्रजी रह गए।

दोनो ओर से प्रश्नों की मशीन-गन चलने लगी। 'तुम कहाँ' 'कब आए' 'कैसे आए' इत्यादि प्रश्नों के उपरांत उन्हें हमारे आने का कारण मालूम हो गया। 'तुम तो इतने Orthodox (कट्टर) हो ! मैं तो स्वप्न में भी यह न सोचता कि तुम विलायत-यात्रा करोगे।" यह कहकर उन्होंने अपने कथन की समाप्ति की। मुझे मालूम हुआ कि हेमचंद्रजी बर्लिन से छुट्टियों में फ्रेंच-भाषा का अध्ययन और पैरिस की सैर करने यहाँ आए हैं। उनको आए अभी दो ही तीन दिन हुए हैं, और वह एक होटल में ठहरे हैं।

इतनी देर तक उनके साथी का ध्यान ही न रहा। उनका नाम है श्रीभूदेवसिंहजी। यह आर्य-प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्रीयुत कुँअर हुकुमसिंहजी के चिरंजीव हैं। यह भी बर्लिन में अध्ययन करते हैं। हेमचंद्रजी के साथ ही पेरिस आए हुए हैं ?

"पेरिस में कब तक रहोगे?"

"हम तो अब जा रहे हैं।"

"क्यों ?"

इस पर हमने सुबह से इस समय तक की कुल कथा कह डाली। वह बोले—"आए हो, तो दो-एक दिन तो ठहरो। हम एक होटल में ठहरे हैं। उसमें तो जगह नहीं ; किंतु उसके पास ही कई एक होटल हैं। उनमें जगह है। मैं थोड़ी-बहुत फ्रेंच जानता हूँ,। चलकर सब ठीक कर दूँगा।"

अंत में हम लोग हेमचंद्रजी को लेकर चले। उन्होंने बड़े परिश्रम से, उद्योग करके, एक होटल में एक कमरा तय करा दिया। टैक्सीवाले को १२० फ्रैंक देकर विदा किया। अब कहीं जान में जान आई।

होटल में २० फ्रैंक पर तीन आदमियों के लिये एक कमरा लिया। यहाँ पहुँचकर कपड़े उतारकर, निवृत्त हुए, और लेटे। भोजनों के लिये हमने तो सेठजीवाले चना, चिवड़ा तथा अचार निकाला। नीचे एक दूकान में फल बिकते थे। उनके साथ उबाले हुए आलू भी ले आए। हेमचंद्रजी, भूदेवसिंहजी तथा हम सब लोगों ने बड़े प्रेम और आनंद से जलपान किया। जो स्वाद उस भोजन में पाया, वह इस जीवन में मुझे बहुत कम मिला होगा।

अंत में यह तय हुआ कि हम लोग आराम करें, और ४ बजे जब हेमचंद्रजी आवेंगे, हम लोग शहर देखने चलेंगे।

संध्या-समय चार बजे हेमचंद्रजी तथा भूदेवसिंहजी आ गए। हम पाँचो सैर करने निकले। मुझे होटल-डे-इनवलीद के देखने की बड़ी इच्छा थी ; क्योंकि इसमें मित्रराष्ट्रों का 'वार मेमोरियल' है, और इसी में नेपोलियन की समाधि है। इसलिये हम लोग पहले वहीं गए। इनवलीद में विगत युद्ध का बहुतेरा सामान है। कितनी ही छीनी हुई तोपें तथा अन्य सामान यहाँ मौजूद हैं। मार्शलफोश के जिस सैलून में आर्मिस्टिस (अस्थायी संधि) पर हस्ताक्षर हुए थे, वह गाड़ी भी यहीं रक्खी है। दीवाल पर अन्य प्राचीन युद्धों के चित्र खिंचे हुए हैं। जगह-जगह योद्धाओं की मूर्तियाँ रक्खी हैं। जिस किसी की भी कल्पना प्रबल हो, वह यहाँ घूमकर युद्ध की भीषणता का अच्छा अनुभव कर सकता है।

इनवलीद के पिछले हिस्से में नेपोलियन की समाधि है। समाधि देखने का समय हो चुका था, इसलिये हम उस समय दर्वाज़े से ही नेपोलियन की समाधि का दर्शन करके लौट आए।

यहाँ से हम लोग धीरे-धीरे टहलते हुए सीन-नदी के किनारे-किनारे चल रहे थे। मुंशीलालजी की प्रबल इच्छा थी कि नाटरडेम का विभाग देखें; किंतु मैं इतना थक गया था कि इतनी दूर जाना न चाहता था। अतएव हम लोग लूव्रा (Louvre) तक तो साथ गए, और उसके बाद हम और हेमचंद्रजी तो वहीं गंबैटा के स्मारक के पास ठहर गए, और हमारे तीन साथी नाटरडेम देखने चले गए।

बंबई में हमें माधुरी मिली थी। हमने उसे अभी नहीं पढ़ा था। सो हेमचंद्रजी को दिखलाने के लिये उसे ले

आए थे। गंबेटा के स्मारक के सामने ही पेरिस-नगर की मूर्ति है। वह एक स्त्री के स्वरूप में आकाश की ओर ताक रही है। उसके बाएँ हाथ में म्यान है, और दाहने हाथ से तलवार निकालने का उद्योग कर रही है। तलवार आधी ही निकली है। मूर्ति के नीचे लिखा है—

PARIS.
1914-1918.

इसी मूर्ति के नीचे बैठकर हम लोग बातचीत करने लगे। मैंने माधुरी अच्छी तरह नहीं पढ़ी थी। हेमचंद्रजी को वह अभी मिली भी न थी। वह देखने लगे। दूसरा औपन्यासिक संयोग देखिए। उन्होंने जैसे ही माधुरी खोली कि उनकी निगाह एकदम इन शब्दों पर पड़ी—'बर्लिन में बैठा हुआ हेमचंद्र चाहे मुझे कोसे'—हेमचंद्रजी बोल उठे—"यह किसने लिखा है?" मैंने कहा, "मुझे नहीं मालूम।" देखा, तो वह लेख श्रीयुत नरोत्तम व्यास का निकला। उसका शीर्षक था "प्रेमचंद्रजी के... अंजलि।" मुझे भी कौतूहल हुआ। मैंने उनसे कुल लेख पढ़ने के लिये कहा। मैंने वह लेख सुना। लक्ज़ा के जिस बाग में फ्रेंच औपन्यासिक विक्टर ह्यूगो, ड्यूमा आदि की आत्माएँ हवाख़ोरी के लिये आती होंगी, और आज भी जिस नगर में रोम्याँ रोलैंड-सरीखे औपन्यासिक मौजूद हैं, वहाँ मैंने लेखक के मतानुसार 'भए न अहहिं न हो नहिं हारा' प्रेमचंद्रजी के चरणों में चढ़ाई हुई 'अंजलि' को सुना। बेचारे हेमचंद्र ने केवल इतना ही कहा—"मुझे क्या पड़ी है कि मैं किसी को कोसूँ? मैं इस झगड़े से अलग रहना चाहता हूँ।" मैं भी उनसे सहमत हूँ। अतएव मैं भी अपने पत्र से इस झगड़े को अलग ही रक्खूँगा।

बड़ी देर तक हम दोनों योरप की सामाजिक अवस्था पर बातचीत करते रहे। अपने देश की सामाजिक अवस्था से उसकी तुलना की, उसके गुण और दोष देखे, फिर अपने तुलना करते समय केवल हृदय-हीन ही शांत रह सकता है। मैं तो सर्वथा हृदय-हीन हूँ। हेमचंद्रजी में सहृदयता है। उनके भाव वेगवती पार्वतीय नदी के समान प्रवाहित होने लगे। मैं बैठे-बैठे बड़ी देर तक सुनता रहा।

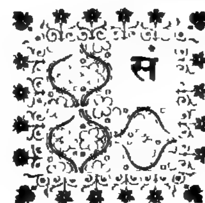
थोड़ी ही देर में श्रीयुत अगरवाला तथा अन्य महाशय लौट आए। अब हम लोग प्रदर्शिनी देखने चले; क्योंकि सुना था कि रात्रि में प्रदर्शिनी में बड़ी सुंदर रोशनी होती है।

प्रदर्शिनी पहुँचकर रोशनी के संबंध में जो कुछ कल्पना की जा सकती थी, वहाँ वह सब उपस्थित देखी। मनुष्य की कल्पना और विज्ञान तथा बिजली की सहायता से जितनी मनोहरता और कला-पूर्ण प्रकाश-पुंज उत्पन्न किया जा सकता है, वह सब यहाँ मौजूद था। ज़ार एलेग्ज़ैंडर के चौड़े पुल की लंबाई में रोशनी की मेहराबदार छः पंक्तियाँ थीं, और ये पंक्तियाँ बड़ी कारीगरी के साथ बनाई गई थीं। और, सीन-नदी!—सीन-नदी का वक्षःस्थल इंद्र-धनुष के समान विश्व के नेत्रों को प्रसन्न करनेवाले सभी रंगों से रंजित था। रह-रहकर दूर तक, दोनों किनारों पर, विद्युत-प्रकाश के रंग-बिरंगे फ़ौवारे छूट रहे थे। हमारी तो बात ही क्या, योरपवाले भी कहते थे कि प्रकाश का ऐसा अद्वितीय दृश्य मनुष्य के नेत्रों ने पहले कभी नहीं देखा। बहुत देर तक उसे देखने के बाद हम लोग नदी के पार अपनी पूर्व-परिचित काँच की लाट के पास पहुँचे। वह तो स्फटिक के खंभे की तरह इस समय प्रकाश की एक लाट थी, जिसके चारों ओर रंग-बिरंगे फ़ौवारे छूट रहे थे। पास ही एक विशाल अट्टालिका रक्त प्रकाश से और दूसरी हरे प्रकाश से प्रकाशित हो रही थी। एक तीसरा भवन समुद्री सीपों की तरह जगमगा रहा था। थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा उद्यान था, जिसमें साँची के तोरण की तरह एक छोटा-सा द्वार था, और जिसमें हरे पौदे, हरे पुष्प और सजावट के खंभे तथा गमले हलके बैंगनी प्रकाश से प्रकाशमान् थे। ऐसा नेत्र-रंजक दृश्य पेरिस को छोड़कर और कहाँ मिल सकता है।

यहीं घूमते-घूमते प्रायः ११ बज गए। अब हम लोग होटल लौटे। हम लोग सबेरे ८ बजे की गाड़ी से प्रस्थान करने का निश्चय कर चुके थे। अतएव हेमचंद्रजी से बिदा लेकर हम लोगों ने होटल में प्रवेश किया, और चना, चिउड़ा, आलू और फल खाकर निद्रा-देवी की शरण ली।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

संस्कृत भाषा



संस्कृत-शब्द का अर्थ है संस्कार किया हुआ। इस भाषा की उत्पत्ति के संबंध में बहुत मतभेद है। भारतीय आर्य लोगों के मन में

यह देव-भाषा है। इसी से भ्रष्ट होकर अन्य भाषाएँ बनी हैं। शब्दों की जो शक्ति है, सो इसी भाषा के शब्दों में है। वेद नित्य है, वह इसी भाषा में व्यक्त होकर आचार्य-परंपरा के द्वारा प्रकाशित हुआ है। वैदिक और लौकिक संस्कृत एक ही भाषा के प्राचीन और नवीन आकार हैं।

किंतु आधुनिक विद्वानों का यह मत नहीं। वे कहते हैं, वेद की रचना अति प्राचीन काल में हज़ारों वर्षों तक होती गई। ऋग्वेद-संहिता के प्राचीन मंत्र एक प्राचीन भाषा में बने थे, जिसका नाम वैदिक भाषा दिया जा सकता है। उस समय के आर्य लोग यही भाषा बोलते थे। ऋग्वेद के दस मंडलों में तीसरा मंडल विश्वामित्र और उनके घराने के अन्य ऋषियों की रचना है। सप्तम मंडल वशिष्ठ ऋषि और उनके वंश के ऋषियों का लिखा हुआ है। वशिष्ठ और विश्वामित्र एक ही समय के ऋषि थे। वेद-मंत्र-द्रष्टा अधिकांश ऋषियों की अपेक्षा वे नवीन थे। ऋक् रचयिताओं या द्रष्टाओं में एक प्राचीन ऋषि का नाम दीर्घतमा था। ऋग्वेद बनने में बहुत समय लगा था, अतएव सबकी भाषा एक नहीं है। जितने वर्षों में ये तैयार हुए थे, उतने में भाषा का परिवर्तन हो गया था। प्राचीन मंत्रों की भाषा दुर्बोध है; परंतु पीछे के मंत्रों की भाषा समझने में अधिक कठिनाई नहीं होती। पीछे के ब्राह्मण-युग के ऋषि लोग भी ऋग्वेद के प्राचीन अंशों को ठीक-ठीक नहीं समझते थे। वेद के बहुत-से शब्द लौकिक संस्कृत में अप्रचलित हो गए हैं, या उनके अर्थ बदल गए हैं। नीचे वैदिक भाषा की विशेषताएँ दिखाई गई हैं। प्राचीन वैदिक भाषा में अकारांत शब्दों का प्रथमा के बहुवचन का दो विभक्तियाँ थीं—(१) असस्, जैसे विश्वेदेवास, (२) अस्, जैसे देवाः। तृतीया के बहुवचन में देवेभिः तथा देवैः, दोनों रूप होते थे। उकारांत शब्दों में विभक्तियाँ लगकर ठीक संधि के नियमों से पद बनते थे। 'तनु' शब्द की द्वितीया के एकवचन में तन्वम् या तनुवम् होता था। 'मधु' तथा 'वसु' शब्द की षष्ठी के एकवचन में मध्वः, वस्वः बनते थे। आ, या अथवा इया के द्वारा तृतीया का एकवचन बनता था, 'ना' का व्यवहार नहीं था। जैसे मध्वा, उरुया, उर्विया, धृष्णुया। कभी-कभी दूसरे स्वरांत शब्दों के रूप भी इसी प्रकार से बनते थे। जैसे स्वपया, नावया। अकारांत पुल्लिंग शब्दों की प्रथमा तथा संबोधन के द्विवचन और नपुंसक के बहुवचन आकारांत होते थे। जैसे विश्वा, च्यवना, नरा। इकारांत स्त्रीलिंग शब्दों की तृतीया के एकवचन में, विकल्प में, अंत्य स्वर का गुण हो जाता था। जैसे नविष्टया। सप्तमी के एकवचन की विभक्ति प्रायः लुप्त हो जाती थी। जैसे "परमे व्योमन्"नाभि-शब्द की सप्तमी के एकवचन में 'नाभौ' के स्थान में 'नाभा' होता था। परस्मैपद के लट् के उत्तम-पुरुष के बहुवचन की विभक्ति 'मसि' थी, और प्रथमपुरुष के बहुवचन की विभक्ति 'रे' या 'रते'। जैसे एमसि, दुह्रे, दुह्रते। आत्मनेपद की 'त' विभक्ति लुप्त हो जाती थी। जैसे "वस्वईशे"। आठ ऐसे लकार थे, जिनको पाणिनि ने लेट् कहा है, और जो संभावना-वाचक होते थे। जैसे सुपथा करत्। लौकिक संस्कृत में इस प्रकार का व्यवहार नहीं है। धातुओं के इच्छानुसार परस्मैपद तथा आत्मनेपद में रूप होते थे। सब लकारों के लिये लङ्, लिङ् तथा लिट् का व्यवहार होता था। जैसे "ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नमः" इसमें अकरं (लुङ्) लट् में व्यवहृत हुआ है। "देवो देवेभिरागमत्" में आगमत (लङ्) अनुज्ञा में व्यवहृत हुआ है। "अद्या ममार" में ममार (लिट्) वर्तमान में व्यवहृत हुआ है।

कृदंत 'तुम्' प्रत्यय के स्थान में से, सेन, असे, असेन, कसेन, अध्यै, अध्यैन, कध्यै, कध्यैन्, शध्यै, शध्यैन, तवै, तवे, तवेङ्, तवेन होते थे। ये धात्वर्थवाचक थे। इनके उदाहरण वक्षे, जीवसे, पिबध्यै, दातवै, हनवे है। ये वक्ष, जीवस्, पिबधि इत्यादि की चतुर्थी के एकवचन से बने हैं। और ये उदाहरण हैं—प्रेषे, श्रियसे, पृणाध्यै, पातवै, सूतवे, कर्तवे, गंतवे। धात्वर्थवाचक और भी प्रत्यय पाए जाते हैं। जैसे णमुल्, कमुल्। शक्-धातु के संबंध से ये व्यवहृत होते थे। इनका 'अम्' रह जाता था। अतएव ये द्वितीया के एकवचन की विभक्ति से बने हैं। "अग्नि वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्" में विभाजं=विभक्तुम्। "ईश्वरोऽभिचरितोः" "ईश्वरो विलिखः" में "अभिचरितोः=अभिचरितुम्, विलिखः=विलिखितुम्। इनमें 'तोसुन्' और 'कसुन्' प्रत्यय हैं। ये प्रथमा के एकवचन के रूप हैं। परंतु लौकिक संस्कृत में हमेशा 'तुम्' होता है। जैसे कर्तुम्। यह शब्द 'कर्तु' ऐसे ही किसी शब्द की द्वितीया का एकवचन है। 'कर्तु' शब्द की चतुर्थी के एकवचन में कर्तवे है, जो वैदिक संस्कृत का तुमर्थक रूप है। नव्य

इत्यादि प्रत्यय लौकिक संस्कृत में भाव तथा कर्म-सूचक प्रत्यय हैं। उनके स्थान में वैदिक संस्कृत में, अवै, ए, एशय और त्व व्यवहृत होते थे। जैसे अन्वेतवै=अन्वेतव्यम्, परिधातवै=परिधातव्यम्, नावगाहे=नावगाहितव्यम्, दिदृक्षेण्यः=दिदृक्षितव्यम्, कर्त्वम्=कर्तव्यम्। पूर्वकालिक क्रियावाचक त्वा के स्थान में कभी-कभी त्वाय होता था। जैसे गत्वाय=गत्वा। अतएव कृत प्रत्ययों के साथ शब्दों की विभक्तियाँ लगती थीं। वैदिक भाषा में—

प्रथमा—विलिखः=विलिखितुम्।

द्वितीया—विभाजं=विभक्तुम्।

चतुर्थी—गन्वाय=गन्तुम्।

चतुर्थी—कर्तवे=कर्तुम्।

लौकिक संस्कृत में—

द्वितीया=कर्तुम्

तृतीया=गत्वा

"इष्ट्वीनम् देवान" में इष्ट्वीनम्=इष्ट्वा।

"स्नात्वी मलादिव" में स्नात्वी=स्नात्वा।

"पीत्वी सोमस्य वावृधे" पीत्वी=पीत्वा।

वेद में लौकिक संस्कृत के नियमों के बहुत व्यत्यय पाए जाते हैं (पाणिनि ३। १। ८५)।

नीचे लिखे व्यत्यय दृष्ट होते हैं—

(१) सुप् विभक्तियों के प्रयोग में—जैसे "धुरि दक्षिणायाः" में सप्तमी के स्थान में दक्षिणायाः का षष्ठी में प्रयोग हुआ है।

(२) तिङ् के वचनों में—जैसे "चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति" में तक्षंति के स्थान में तक्षति व्यवहृत हुआ है।

(३) परस्मैपद तथा आत्मनेपद का व्यतिक्रम—जैसे "ब्रह्मचारिणमिच्छते" में इच्छति के स्थान में इच्छते आया है।

(४) लिंग का व्यतिक्रम—जैसे "मधोस्तृप्ता इवासते" में मधु-शब्द का पुल्लिंग के सदृश रूप आया है।

(५) पुरुष के व्यवहार में व्यतिक्रम—जैसे "अधा-स्वीरैः दशभिर्वियूयाः" में वियूयात के स्थान में वियूयाः।

(६) कालवाची प्रत्ययों के व्यवहार में व्यतिक्रम—जैसे "श्वोऽग्नीन् आधास्य मानिनः" में लुट् के स्थान में लृट्।

(७) व्यंजनों का व्यतिक्रम—जैसे, अधुक्षत के स्थान में अधुक्षन्।

(८) स्वर-वर्णों का व्यतिक्रम—जैसे; "मित्रवयं च सूरयः" में मित्रावयम् के स्थान में मित्रवयम्।

(९) कृत तथा तद्धित प्रत्ययों का व्यतिक्रम—अण् प्रत्यय के स्थान में अच्—जैसे अन्न+आदः=अन्नादः के स्थान में अन्न+अदः=अन्नादः।

लौकिक संस्कृत में लट्, लङ्, लोट् और विधिलिङ् में धातुओं का विकरण होता है, अर्थात् धातुओं के साथ कुछ वर्ण या वर्णों का योग होकर अंग बनते हैं। इन अंगों के उत्तर विभक्तियाँ लगती हैं। इन लकारों को सार्व-धातुक कहते हैं। बाक़ी लकारों में किसी वर्ण का योग नहीं होता, और विभक्तियाँ धातुओं में लगती हैं। इन लकारों को आर्द्ध-धातुक कहते हैं। वैदिक भाषा में सब समय सार्व-धातुक तथा आर्द्ध-धातुक का भेद नहीं किया जाता था। लट्, लङ्, लोट, विधिलिङ् में भी वर्ण का योग न होकर धातुओं के उत्तर ही विभक्तियाँ लगती थीं। 'इ' का विधान भी नहीं होता था।

आर्द्ध-धातुक के स्थान में सार्व-धातुक—जैसे 'अश्' (व्याप्ती) धातु के लिट् में आनशिरे होना चाहिए; परंतु वैदिक भाषा में इस धातु के उत्तर नु लगता था। वि+अ+श्नु+इरे=वि+श्+नु+इरे=वि+श्+न्व्+इरे=विशन्विरे हुआ।

सार्व-धातुक के स्थान में आर्द्ध-धातुक—जैसे उपस्थेयाम् में लिङ् लकार है। 'स्था'-धातु का तिष्ठ नहीं हुआ, और आकार के स्थान में एकार हो गया।

'इ'—विधान के व्यतिक्रम का उदाहरण—वर्द्धयंतु के स्थान में वर्द्धंतु।

वैदिक भाषा में नीचे लिखे सुप् के व्यतिक्रम पाए जाते हैं—

(१) प्रथमा के बहुवचन अस् के स्थान में एकवचन का स्—जैसे पंथानः के स्थान में पंथाः।

(२) विभक्ति का लोप—जैसे व्योमनि के स्थान में व्योमन्।

(३) अंत्य सवर्ण स्वर का दीर्घ होना—जैसे धीत्या, मत्या, सुष्टुत्या के स्थान में धीती, मती, सुष्टुती।

(४) अंत्य वर्णों के स्थान में आ हो जाना—जैसे यौ के स्थान में या, यम् के स्थान में या। सुरथै—सुरथा, दिविस्पृशौ—दिविस्पृशा, उभौ—उभा।

(५) आन् हो जाना—जैसे नतम् के स्थान में नतान्।

(६) युष्मासु के स्थान में युष्मे, और अस्मभ्यम् के स्थान में अस्मे।

(७) तृतीया के ना के स्थान में या—जैसे उरुणा, धृष्णुना के स्थान में उरुया, धृष्णुया।

(८) अंत में 'आ' का व्यवहार, जिससे अंत्य स्वर और उसके पीछे के व्यंजन का लोप होता था—जैसे नाभौ के स्थान में नाभा।

(९) उपधा स्वर और अंत्य व्यंजन के लोप के साथ अंत में या का आना—जैसे अनुष्टया के स्थान में अनुष्ठ्या, अनुष्ठानम् के स्थान में अनुष्ठा।

(१०) साधु के स्थान में साधुया। यहाँ "सुपां सुलुक्" नहीं होता।

(११) "वसंता यजेत्" में वसते के स्थान में वसना, सरसि के स्थान में सरसी। सायन कहते हैं, 'सरसी' में "सुपां सुलुक्" सूत्र से सप्तमी की विभक्ति का लोप हुआ है। प्रवाहना के स्थान में प्रवाहवा, स्वप्नेन के स्थान में स्वप्नया, नावा के स्थान में नावया। आ+आल+शे=आच्छे।

आत्मनेपद की विभक्तियों के त का लोप होता है। जैसे शेते=शये। इसी प्रकार अदुहत के स्थान में अदुह, धारयेध्वम् के स्थान में धारयेध्वात, शृणुत के स्थान में शृणोत, सुनुत के स्थान में सुनोतन, जुषध्वम् के स्थान में जुजुष्टन, कृ के स्थान में क्राय, गत्वा के स्थान में गत्वाय, पदांत के गवाम् के स्थान में गोनाम्, हतम् के स्थान में हुतम्, सह के स्थान में सध, गृह् के स्थान में गृभ्, हन्ति के स्थान में हनति, ददाति के स्थान में दाति, विंशति के स्थान में विंशति।

अनुमान होता है कि वैदिक भाषा बोलचाल की भाषा थी। साधारण लोगों की भाषा में वेद रचना होती गई। परंतु बोलचाल की भाषा बदलती रहती है, इसलिये ऋग्वेद के प्राचीन मंत्रों की भाषा से पीछे की वैदिक रचनाओं की भाषा नहीं मिलती। पीछे के वैदिक युग की भाषा में भी विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। कुछ एक प्रकार से बोलते थे, कुछ दूसरे प्रकार से। शब्दों तथा रूपों के विकल्प में व्यवहार की सूची ऊपर दी गई है।

वैदिक भाषा की द्वितीय अवस्था का चित्र वेद के ब्राह्मण-भाग की भाषा में पाया जाता है। ब्राह्मणों में मंत्र-भाग की व्याख्या है। ऐतरेय ऋग्वेद का एक ब्राह्मण है, शतपथ शुक्ल यजुर्वेद का, तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद का तांड्य, सामवेद का गोपथ अथर्ववेद का ब्राह्मण है। ब्राह्मणों में प्राचीन वैदिक शब्दों से बहुत-से अप्रचलित हो गए, और शब्दों तथा धातुओं के रूप प्रायः लौकिक संस्कृत के रूपों के सदृश हो गए। लेट् अप्रचलित हो गया। पाणिनि ने लौकिक संस्कृत के लुङ् के जो-जो रूप बताए हैं, वे ठीक-ठीक पाए जाते हैं। मस् के स्थान में मसिका और तुमर्थक रूपों का व्यवहार अप्रचलित हो गया। अस्तु, ब्राह्मणों की भाषा में सब लकारों की क्रियाओं का प्रचुर व्यवहार दृष्ट होता है। इनमें स्त्रीलिंग शब्दों की षष्ठी के स्थान में चतुर्थी व्यवहृत होती पाई जाती है, जैसे "पृथिव्यै राजा"। आत्मनेपद के 'त' का लोप इनमें भी पाया जाता है। अतएव देखा जाता है कि ब्राह्मणों के समय की भाषा सरल थी। उसमें समासों का व्यवहार अधिक नहीं था, विभक्त्यंत अलग-अलग शब्दों तथा नाना काल-वाचक क्रियाओं से वाक्य बनते थे। कदाचित् ब्राह्मण-युग की यही साधारण भाषा थी। पाणिनि ने कई सौ वर्ष पीछे अपना व्याकरण लिखा था; और संभव है, उस समय के साधारण लोगों की भाषा में कुछ भिन्नता आ गई हो, जिससे साहित्यिक भाषा को शुद्ध रखने के लिये उसके नियम बनाने का प्रयोजन हुआ। इस समय के साधारण लोगों की बोली को उन्होंने 'भाषा' नाम दिया है, और अनुमान होता है कि यही बोली प्राचीन प्राकृत है। पाणिनि ने इसी का संस्कार करके इस संस्कृत भाषा या साहित्य की उपयोगी भाषा के नियम बनाए थे। यहीं से लौकिक संस्कृत का आरंभ है।

लौकिक संस्कृत का सबसे प्राचीन नमूना यास्क के निरुक्त में मिलता है। इसमें कुछ पारिभाषिक शब्द ऐसे हैं, जो पीछे की संस्कृत में नहीं पाए जाते। यास्क के पीछे संस्कृत भाषा का बहुत परिवर्तन हुआ।

यहाँ भाषा के स्वरूप का कुछ विचार आवश्यक है। "*अशेष-नरपति-शिरः समभ्यर्चित-शासन अपरपाकशासन सदृशचतुरुदधिमाला-मेखला-पृथ्वी* का भर्ता चक्रवर्ति-लक्षणोपेत शूद्रक नाम का राजा था।" इस वाक्य में 'राजा' कर्ता है, और 'था' क्रिया। अवशिष्ट जितने शब्द हैं, वे राजा के विशेषण हैं। हम इस वाक्य के भाव को कई एक कर्ताओं, छोटे-छोटे विशेषणों और क्रियाओं के द्वारा प्रकाशित कर सकते हैं। जैसे—"शूद्रक नाम का एक राजा था। वह द्वितीय इंद्र के सदृश था। चक्रवर्ती राजा के जितने लक्षण होते हैं, वे उसमें पाए जाते थे। पृथ्वी चार समुद्र से वेष्टित है। इस समग्र पृथ्वी का वह अधिकारी था। असंख्य सामंत राजा उसके निकट सिर झुकाते थे, और उनके ऊपर वह शासन करता था।" पीछे के वाक्यों में संज्ञाएँ, क्रियाएँ तथा विशेषण अलग-अलग हैं, और

बहुत-सी क्रियाओं का व्यवहार हुआ है। पहले के वाक्य में केवल एक ही क्रिया है, पीछे के वाक्यों में कुछ रोक नहीं है। इनमें नदी के स्रोत के सदृश एक प्रवाह है। यास्क के पहले की भाषा इसी प्रकार की थी। अनेक क्रियाओं का व्यवहार था। परंतु क्रिया क्या है? क्रिया क्या प्रकाशित करती है? क्रिया असल में कर्ता की कुछ विशेषता प्रकाशित करती है। अतएव क्रिया को हम विशेषण तथा संयोजक (Cofula) अर्थात् किसी अस्ति या नास्तिवाचक क्रिया से प्रकाशित कर सकते हैं। जब भाव समझना कठिन नहीं होता, तब संयोजक क्रिया अप्रकाशित भी रह सकती है। अतएव चिंता के प्रकाश के लिये कर्ता तथा उसके विशेषणों का ही प्रयोजन है। ऊपर दिए हुए पहले वाक्य में शूद्रक कर्ता है, समासों के द्वारा उसके विशेषण प्रकाशित हुए हैं, और एक संयोजक 'आसीत्' के द्वारा जितने विशेषण हैं, सब कर्ता के साथ संयुक्त हुए हैं। जब कहनेवाले का ध्यान कर्ता के प्रत्येक कार्य पर पड़ता है, तब द्वितीय प्रकार का वाक्य बनता है, और जब उसके गुणों पर पड़ता है, तब प्रथम प्रकार का। जैसे — वत्सराजो निष्क्रान्तः=वत्सराजो निश्चक्राम, चाण्डालकन्यका द्वारस्थिता=चाण्डालकन्यका द्वारे तिष्ठति, राजा उपजात-कुतूहलः=राज्ञः कुतूहलः उपजज्ञे, अयं विदितसकल-शास्त्रार्थः=अयं सकलानां शास्त्राणाम् अर्थं वेत्ति, श्रुता भवद्भिरस्य स्पष्टता वर्णोच्चारणे=भवन्तः अस्य वर्णोच्चारणे स्पष्टताम् अशृण्वन्। संज्ञा या विशेषण के साथ कृ, विद्या, भू इत्यादि कुछ धातुओं से उत्पन्न क्रियाओं के योग से साधारण क्रियाएँ प्रकाशित हो सकती हैं, जैसे त्यजति के स्थान में त्यागं वा त्यक्तं करोति, त्यज्यते के स्थान में त्यक्तो भवति। वाक्य में विभक्तियों के द्वारा शब्दों का संबंध सूचित होता है। समासों के द्वारा विभक्तियों का व्यवहार बहुत घट सकता है।

अतएव देखा जाता है कि यास्क के पीछे की संस्कृत भाषा ऐसी बनती गई कि उसमें क्रियाओं के भिन्न-भिन्न आकार और विभक्ति-युक्त संज्ञा तथा विशेषणों से निर्मित प्रवाह-युक्त शैली के स्थान में एक समास-बहुल क्रिया-शून्य शैली प्रचलित हुई। वाक्यों में केवल कर्ता, बहुत शब्दों के समास से निर्मित उसका विशेषण और एक संयोजक क्रिया रहती थी। बाणभट्ट की कादंबरी में इस शैली की परा काष्ठा है। इसमें संदेह नहीं कि इस शैली से भाषा बहुत संक्षिप्त हो जाती है; परंतु समझना बड़ा कठिन होता है। दर्शनों के विचारों में व्यवहृत भाषा और भी संक्षिप्त की गई है। इनमें पंचमी विभक्ति के द्वारा कारण का प्रकाश होता है। जैसे "पर्वतो वह्निमान् धूमात्"। इसका अर्थ है "इस पर्वत में आग है; क्योंकि इसमें धुआँ है।" इस भाव को प्रकाशित करने के लिये बहुत शब्दों की आवश्यकता है। जैसे "जहाँ-जहाँ धुआँ है, वहाँ-वहाँ आग है; इस पर्वत में धुआँ है, अतएव इसमें आग है।" इस प्रकार की भाषा से बहुत शब्द बच जाते हैं; परंतु अर्थ का समझना बहुत कठिन होता है। यह पाषाणवत् शैली 'नामात्मक' शैली कही जा सकती है, और इसके पहले की प्रवाह-युक्त शैली 'क्रियात्मक'। क्रियात्मक शैली में वाक्य छोटे-छोटे तथा सरल होते थे। ऐतरेय तथा शतपथ-ब्राह्मणों में वाक्य छोटे-छोटे हैं। यास्क के समय में भी बहुधा यह शैली चलती थी। पाणिनि के समय में भी यह भाषा बहुत साधारण थी। परंतु कुछ समय के बाद ही नामात्मक शैली ने क्रियात्मक शैली का स्थान ले लिया। उस समय के लोगों को इसीकी अधिक आदत पड़ी। संस्कृत भाषा की अद्भुत नमनीयता और कोमलता विभूति हैं, जिससे धातुएँ तथा शब्द नाना प्रकार के आकारों में परिवर्तित किए जा सकते हैं। यह सुविधा रहने के कारण नूतन शैली आसानी से जारी हुई। इस नूतन भाषा में स्मृति और पुराण लिखे गए; परंतु अभी तक इस शैली ने उस आतिशय्य को नहीं प्राप्त किया था, जो कादंबरी इत्यादि पीछे के लेखों में दृष्ट होता है। कादंबरी के पूर्व-भाग में तो एक-एक, दो-दो, तीन-तीन गज लंबे समासों से बने विशेषण-पद पाए जाते हैं। काव्य-युग के सब लेखों का (अर्थात् गद्यकाव्य, पद्यकाव्य तथा नाटय काव्य में नामात्मक शैली का) उसमें नमूना मिलता है। जिन कवियों का लेख सरल था वे उच्च रुचि-संपन्न या प्राचीन थे। दर्शन-शास्त्र, तर्कशास्त्र और व्याख्या ग्रंथों में नामात्मक शैली का प्रयोग तथा उत्कर्ष बहुत हुआ। पतंजलि के महाभाष्य में कुछ भिन्नता पाई जाती है। इसकी भाषा बोलचाल की भाषा है। वाक्य छोटे-छोटे तथा सरल हैं। इसमें भी नामात्मक शैली का कुछ ढंग आ गया है; परंतु बड़े-बड़े समास नहीं हैं। पुराणों तथा धर्मशास्त्र की भाषा इसी प्रकार की थी। वात्स्यायन का न्याय-भाष्य, शबर-भाष्य इत्यादि भी प्रायः इसी शैली में लिखे गए थे।

इसकी भाषा कुछ कठिन और सांकेतिक-सी हो गई थी। परंतु धीरे-धीरे समास-बहुल दार्शनिक शैली का उत्कर्ष होने लगा। वाक्य बड़े-बड़े बनने लगे, और बड़े-बड़े विशेषणों का व्यवहार होने लगा। शंकर-भाष्य इसी शैली में लिखा गया; परंतु उसकी भाषा स्पष्ट, मधुर तथा प्रवाह-युक्त है। शंकर के पीछे के दार्शनिकों की भाषा दुर्बोध है। इस प्रकार संस्कृत भाषा अवच्छिन्नता-वाचक (Abstract) और समास-निष्पन्न शब्दों की भाषा हो गई।

यदि सब कोई इस प्रकार की भाषा में बोलने लगते, तो भाषा विभक्ति-शून्य तथा क्रिया-शून्य बन जाती। परंतु संस्कृत-भाषा इस विपत्ति से बच गई। दार्शनिक भाषा अन्य विषयों के लेखों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकी। श्रेष्ठ संस्कृत की, जो पुराणों, महाकाव्यों और नाटकों की संस्कृत थी, गति भिन्न रही। परंतु नामात्मक शैली भाषा में बद्धमूल हो गई थी। दार्शनिक भाषा उसको रोक नहीं सकी। पुराणादि की रचना में दार्शनिक भाषा की कठोरता और अतिसंक्षेप नहीं पाया जाता। उसमें वर्तमान तथा भविष्यत् के सिवा अन्य क्रियापदों का व्यवहार बहुत कम था; कृदंतों-पद का प्रयोग बहुत अधिक था। क्रियापद के बनाने में सब धातुओं का व्यवहार प्रायः नहीं होता था, केवल भू अस्, कृ, विधा, गम्, प्राप् इत्यादि के ढंग की साधारण धातुएँ काम में आती थीं। उनके साथ अवच्छिन्न (Abstract) संज्ञाएँ, कृदंत-निष्पन्न या समास-निष्पन्न विशेषण जोड़ दिए जाते थे। तद्धित-निष्पन्न शब्दों का व्यवहार भी बहुत घट गया था। अन्य भंगी से, अर्थात् वाग्बाहुल्य के द्वारा, उनका प्रकाशन होता था।

ऊपर कहा गया है कि पाणिनि के पहले ही साधारण लोगों की भाषा साहित्यिक भाषा से भिन्न हो गई थी। साधारण अपढ़ लोग साहित्य की भाषा में नहीं बोल सकते, वे अपनी शक्ति तथा रुचि के अनुसार बोलते हैं। इससे साधारण बोली तथा साहित्यिक बोली में समता नहीं रहती। सर्वसाधारण की बोली प्राकृत कहलाती है। सबसे पहले की प्राकृत प्राचीन प्राकृत है। जब साहित्यिक भाषा बोलचाल की भी भाषा थी, उसी समय की भाषा से प्राकृत उत्पन्न हुई। परंतु धीरे-धीरे दोनों में भिन्नता बढ़ती गई। जैसे साहित्य की भाषा का प्रभाव प्राकृत पर पड़ता था, वैसे ही प्राकृत का प्रभाव भी साहित्यिक भाषा पर पड़ता था। प्राचीन प्राकृत का प्रभाव उस समय की साहित्यिक भाषा पर पड़ा। प्राकृत के बहुत-से शब्द तथा रूप साहित्य में प्रविष्ट होने लगे। साहित्यिक लोग घबरा गए। इस प्रभाव को रोकने की चेष्टा होने लगी। महेश इत्यादि वैयाकरणों ने व्याकरण के नियम बनाए; परंतु स्रोत को रोक नहीं सके। आख़िरकार पाणिनि ने ब्राह्मण-युग की तथा अपने समय की भाषा के आधार पर एक बहु-विस्तीर्ण वैज्ञानिक व्याकरण बनाया। यही आदर्श-व्याकरण हुआ, और इसी के अनुसार साहित्यिक संस्कृत का प्रयोग होने लगा। इसका फल यह हुआ कि प्राकृत और संस्कृत का अंतर बढ़ता गया। भाषा दो भिन्न-भिन्न धाराओं में प्रवाहित होती रही। लोगों की बोलचाल की भाषा एक प्रकार की थी, और साहित्य की भाषा दूसरे प्रकार की। जो विद्वान् थे, वे मार्जित भाषा में बोलते थे, और जो अपढ़ थे, वे प्राकृत में, परंतु दोनों में नित्य संघर्ष था। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता गया। इससे साहित्यिक भाषा के रूपों तथा प्रयोगों में फेर फार शुरू हुआ। पाणिनि के नियम के अनुसार शब्दों तथा धातुओं से नाना प्रकार के पद बनाना कठिन हुआ, और धीरे-धीरे नामात्मक शैली ने क्रियात्मक शैली के स्थान पर अधिकार कर लिया।

यह कहा गया है कि वैदिक भाषा के परिवर्तन से ब्राह्मणों की भाषा बनी। परिवर्तन भाषा का स्वभाव है। ब्राह्मण-युग की भाषा में क्या-क्या परिवर्तन हुए, यह दिखाया जा चुका। कुछ शब्द जो पीछे अप्रचलित हो गए, ब्राह्मणों में पाए जाते हैं—जैसे वर्म (प्रात), निष्ठाव (मध्यस्थ), अनीक (तीर), मंथावल (चमगीदड़), अवत्रदिन् (विचारक), इरा (स्वाद), तत (तात=पिता), भगवस् (समृद्ध), सुरिमण (शक्तिशाली), मेनि (अस्त्र)। यह भी कहा गया है कि लौकिक संस्कृत का सबसे पुराना नमूना यास्क के निरुक्त में मिलता है। निरुक्त में ऐसे भी बहुत शब्द हैं, जो पीछे की संस्कृत में नहीं मिलते। जैसे उपजन (नैकट्य), उपेक्षितव्य (परिदर्शन करना या पाना), कर्मन (अर्थ), विलम (भिन्न-भिन्न प्रकार), उपदेशाय ग्लायंत (सिखाने को असमर्थ), अनिर्वाह (अविवाहित रहना)। पाणिनि का व्याकरण यास्क तथा ब्राह्मणों के मध्यवर्ती समय में लिखा गया था। यह महाकाव्यों के पहले की भाषा का व्याकरण है। इसमें ब्राह्मणों के समय की तथा उसके पीछे की भाषा की आलोचना है। पाणिनि के सूत्रों में नीचे लिखे अप्रचलित शब्दों को

आलोचना पाई जाती है—अन्ववसर्ग (अपनी इच्छा के अनुसार चलने देना), नवासित (समाजच्युत), प्रत्यवसान (भोजन), अभिविधि (अंतर्भुक्त करना), स्वकरण (विवाह करना), उत्सजन (ऊपर फेंकना) मालूम होता है. ये शब्द पाणिनि के समय के पहले व्यवहृत होते थे। उस समय की कुछ क्रियाएँ तथा कृदंत पद भी दृष्ट होते हैं जो पीछे अप्रचलित हो गए। जैसे उपाजेकृ तथा अन्वाजेकृ (बल देना), निवचनेकृ (चुप रहना), कनेहत्य तथा मनोहत्य (अपनी इच्छा पूर्ण करना), ब्राह्मणवेद्, स्वपाप, ऊर्ध्वशोषं इत्यादि णमुल्-प्रत्ययांत शब्द।

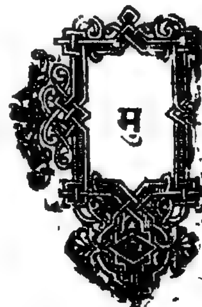
कात्यायन ने पाणिनि-व्याकरण का वार्तिक लिखा था। यह पाणिनि के बहुत पीछे लिखा गया था। वार्तिक में ऐसे पदों तथा रूपों की आलोचना है, जो पाणिनि में नहीं पाए जाते। इससे मालूम होता है कि ये शब्द तथा रूप पाणिनि के समय में नहीं थे, दोनों के मध्यवर्ती समय में इनकी उत्पत्ति हुई। पाणिनि के सूत्रों के अनुसार 'ब्रह्मन्' तथा 'नामन्' शब्दों के संबोधन में ब्रह्मन् तथा नामन् होते हैं; परंतु वार्तिक के अनुसार ब्रह्म तथा नाम भी होते हैं। पाणिनि के सूत्रों के अनुसार द्वितीय तथा तृतीय शब्द के स्त्रीलिंग का चतुर्थी, पंचमी और षष्ठी के एकवचन में, विकल्प में, द्वितीयायै वा द्वितीयस्यै, द्वितीयाया वा द्वितीयस्याः होते हैं। परंतु कात्यायन ने पुल्लिंग में भी सर्वनाम की विभक्तियों के विकल्प में व्यवहार का नियम दिया है। जैसे द्वितीयाय, द्वितीयस्मै; द्वितीयात्, द्वितीयस्मात्। पाणिनि के अनुसार मातुल का स्त्रीलिंग में 'मातुलानी' होता है; परंतु वार्तिक के अनुसार 'मातुली' भी होता है। पाणिनि में 'उपाध्यायी' है; परंतु कात्यायन में 'उपाध्यायानी' (उपाध्याय की स्त्री के अर्थ में) भी है। पाणिनि में आर्या तथा क्षत्रिया है, कात्यायन में आर्याणी तथा क्षत्रियाणी भी हैं। अतएव कात्यायन के समय में भाषा बहुत बदल गई थी। उनके समय में पाणिनि के समय के बहुत शब्द और रूप लुप्त या अप्रचलित हो गए थे। पाणिनि के समय में क्रियात्मक शैली जारी थी; कात्यायन के समय में क्रियात्मक शैली अप्रचलित हो गई थी, और कुछ नए रूपों का विकास हुआ था। कात्यायन का वार्तिक संस्कृत भाषा के चरम उत्कर्ष के समय लिखा गया था।

ऊपर के विवरण से मालूम हो गया कि भारत के साहित्य के पहले युग में ऋग्वेदसंहिता, यजुर्वेद का मंत्रांश और अथर्वसंहिता का प्राचीनांश बने थे। द्वितीय युग के अंतर्गत है—वेद के ब्राह्मणांश से लगाकर यास्क की भाषा, और यास्क की भाषा से पाणिनि की भाषा तक। तृतीय युग में महाकाव्य, पुराण, प्राचीन काव्य, तथा नाटक, अनुष्टुप् छंद में लिखित स्मृतियाँ और कात्यायन का वार्तिक है। पाणिनि का व्याकरण द्वितीय युग की संस्कृत भाषा का व्याकरण है, और कात्यायन का तृतीय युग की भाषा का, अर्थात् आदर्श संस्कृत का व्याकरण है। इसके पीछे के जितने ग्रंथ हैं, इसी के नियमों के अनुसार लिखे गए हैं। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में कात्यायन का अनुसरण किया है।

ऊपर दिखाया गया है कि तृतीय युग में दो परस्पर भिन्न शैलियाँ प्रचलित थीं—एक वह आदर्श शैली, जिसमें पुराण, काव्य, नाटकादि लिखे गए, और दूसरी वह शैली, जिसमें पीछे के दर्शन-शास्त्रादि। पहली सरल, प्रवाह-युक्त और मधुर है; दूसरी संक्षिप्त, समास-युक्त, तथा क्रियापद-शून्य। पाणिनि के समय के पीछे संस्कृत भाषा के स्वाधीन विकास का सुयोग नष्ट हो गया। यह विद्वानों की भाषा हो गई। साधारण लोग व्याकरण के नियमों के अनुसार नहीं बोल सकते थे; वे स्वाधीन प्राकृत भाषा में बोलते थे। संस्कृत भाषा मृत भाषा हो गई। प्राकृत भाषा सजीव रही, और जीवित भाषा की प्रकृति के अनुसार उसमें परिवर्तन होते गए।

नलिनीमोहन सान्याल "मोहन"

कछवाहों के इतिहास में एक उलझन



मुसलमानों में पुराने समय से ही इतिहास लिखने की जैसी प्रवृत्ति रही, वैसी हिंदुओं में नहीं रही। मुसलमानों के लिखे हुए अरबी और फ़ारसी के सैकड़ों इतिहास मिलते हैं, जिनमें जहाँ मुसलमानों के राज्य रहे, वहाँ का सविस्तर वृत्तांत है। जब से हिंदोस्तान में मुसलमानों का राज्य हुआ, तब से लगाकर मुग़लों के राज्य के अंत तक का एवं गुजरात,

मालवा, बंगाल, काश्मीर, दक्षिण आदि के समस्त मुसलमानी राज्यों का सविस्तर इतिहास विद्यमान है। इतना ही नहीं, किंतु मुग़लों के समय के तमाम बड़े-बड़े अफ़सरों तथा ग्रंथकर्ताओं के जीवन-चरित्र तक लिखे मिलते हैं। हिंदोस्तान से संबंध रखनेवाले मुसलमानों के इतिहास यद्यपि धर्म-द्वेष तथा जाति-द्वेष से ख़ाली नहीं हैं, और उनमें जहाँ-तहाँ हिंदुओं के महत्त्व की बातें बहुत घटाकर एवं मुसलमानों को बढ़ाकर लिखी हैं, तथा जहाँ कहीं मुसलमानों की हिंदुओं से हार हुई, उसको या तो वे बिलकुल छोड़ गए हैं, या उसे कुछ और ही रूप में लिखा है, तथापि ये इतिहास भी कम महत्त्व के नहीं हैं; क्योंकि हिंदुओं से संबंध रखनेवाली कई घटनाओं के निश्चित संवत् एवं बहुत कुछ वृत्तांत आदि उनमें मिल जाते हैं।

हिंदुओं का दृष्टि-कोण सदा से निवृत्ति-मार्ग की तरफ़ रहने के कारण उन्होंने प्राचीन काल से ही वास्तविक इतिहास की ओर ध्यान नहीं दिया, और मनुष्यों के चरित्र अंकित करने की अपेक्षा ईश्वर के अवतारों या देवी-देवतों के वर्णन करने में ही अपनी लेखनी को कृतार्थ समझा। इसी से हमारे यहाँ के अनेक राजों, धनाढ्यों, महाराजों, विद्वानों, वीर पुरुषों आदि के केवल चरित्र ही नहीं मिलते, वरन् उनका निश्चित समय भी अज्ञात है। यह तो प्राचीन इतिहास की दशा है। परंतु मुग़लों के समय के भी हिंदुओं के लिखे हुए हिंदू-राजों, सरदारों आदि के इतिहास नहीं मिलते।

राजपूताना भारत के इतिहास का केंद्र रहा, और यहाँ के राजों, वीर पुरुषों आदि ने बड़े-बड़े वीर कार्य किए, जिनका वास्तविक वृत्तांत भी हमारे यहाँ नहीं है। मुसलमानों के समय के राजपूताने के इतिहास में भी कई ऐसी उलझनें विद्यमान हैं, जिनका सुलझाना सहज नहीं। ऐसी उलझनों में से एक को हम आज हिंदी-पाठकों के सामने रखते हैं। इस उलझन का संबंध कछवाहा-वंश के राजा भगवानदास, भगवंतदास, मानसिंह और माधवसिंह से है।

कछवाहों का मूल-राज्य ग्वालियर में था, जहाँ एक छोटी शाखा विक्रम की १२वीं शताब्दी में राजपूताने से आई, और समय के हेर फेर से कभी स्वतंत्र और कभी परतंत्र रही। अकबर के समय के पहले तक राजपूताने में कछवाहों का राज्य सामान्य स्थिति में रहा। राजपूताने के राजों में पहले-पहल कछवाह राजा भारमल ने बादशाह अकबर की अधीनता स्वीकार की। तब से प्रतिदिन इस वंश का उदय होता रहा, और राजा भारमल, भगवानदास, मानसिंह, जयसिंह (मिर्ज़ा राजा) और जयसिंह द्वितीय (सवाई) आदि ने मुग़लों का राज्य बढ़ाने और उसकी रक्षा के लिये जो-जो वीरता के काम किए, वे मुसलमानों के इतिहास में भी अंकित हैं। ऐसे वंश का भी वास्तविक लिखित इतिहास हमारे यहाँ नहीं है, और राजा भगवानदास, भगवंतदास, मानसिंह और माधवसिंह का परस्पर का संबंध भी अनिश्चित है, जिसका निश्चय करना भी आवश्यक है। इस विषय में भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न बातें लिखी हैं, जिन्हें नीचे उद्धृत कर उन पर विचार किया जाता है—

बादशाह अकबर के समकालीन मुसलमान इतिहास-

समकालीन मुसलमान लेखक

लेखकों में मुख्य चार हैं। उनमें सबसे प्रथम स्थान पाने-योग्य ख़्वाजा निज़ामुद्दीन अहमद है, जो अकबर के समय में कई पदों पर नियुक्त रहा था, और जिसकी मृत्यु अकबर के जीवन-काल में, तारीख़ २३ सफ़र, सन् १००३ हिजरी (वि० सं० १६५१, कार्त्तिक-वदि १०) को हुई थी। उसने 'तबक़ात-इ-अकबरी', जिसको 'तारीख़ निज़ामी' भी कहते हैं, लिखी है। उक्त इतिहास-लेखक का इतिहासज्ञ विद्वानों में बड़ा सम्मान है, और अल-बदायूनी, फ़िरिश्ता आदि इतिहास-लेखकों ने उसके ग्रंथ से अपनी पुस्तकों में बहुत कुछ सहायता ली है। अबुल-फ़ज़ल के और उसके लेख में कई स्थानों पर परस्पर विरोध है। परंतु अबुलफ़ज़ल के कथन की अपेक्षा निज़ामी का कथन अधिक विश्वसनीय कहा जा सकता है। उसने सर्वप्रथम अकबर की सेवा स्वीकार करनेवाले आंबेर के राजा का नाम बिहारीमल[1] (भारमल), उसके पुत्र का नाम भगवानदास तथा पौत्र का मानसिंह दिया है[2],

१. फ़ारसी-वर्णमाला की अपूर्णता के कारण उसमें लिखे हुए स्थानों तथा पुरुषों के नाम बहुधा शुद्ध नहीं पढ़े जाते। फ़ारसी-तवारीख़ों में भारमल का नाम बिहारमल या पहाड़मल पढ़ा जाता है। इसी से अँगरेज़ अनुवादकों ने उसका इन्हीं नामों से परिचय दिया है। परंतु शुद्ध नाम भारमल है।

२. तबक़ात-इ-अकबरी का अँगरेज़ी ख़ुलासा (इलियट—हिस्ट्री ऑफ़् इंडिया) जिल्द ५, पृष्ठ २७३, ३४६, ३५१, ३६३, ४०२, ४२२, ४४१, ४५०, ४५२ और ४५८।

और उन तीनों का क्रमशः आंबेर का राजा होना माना है।

शेख अब्दुलक़ादिर बदायूनी ने, जिसकी मृत्यु हिजरी सन् १००४ (वि० संवत् १६५२-५३) में हुई, अकबर के समय में 'मुंतख़बुत्तवारीख़' लिखी। धर्मांधता के विषय में मुसलमान लेखकों में कोई भी उससे बाज़ी नहीं ले जा सकता। पग-पग पर हिंदुओं को गालियाँ देने और उनकी बुराइयाँ करने में वह मुसलमान लेखकों से सबसे आगे बढ़ा हुआ है। उसने अपनी तवारीख़ में अकबर की सेवा स्वीकार करनेवाले आंबेर के राजा का नाम बिहारीमल या पहाड़मल (भारमल), उसके पुत्र का भगवानदास तथा पौत्र का नाम मानसिंह दिया है[1]।

मुहम्मद क़ासिम फ़िरिश्ता ने, जिसकी मृत्यु का समय ठीक-ठीक निश्चित नहीं है, तो भी कोई उसका ईसवी सन् १६१२ (वि० सं० १६६६) और कोई १६२६ (वि० सं० १६८३) में मरना मानते हैं, अकबर के समय में 'तारीख़-फ़िरिश्ता' लिखी, जिसमें उसने अकबर के समय के आंबेर के राजों के नाम भारमल, भगवानदास और मानसिंह दिए हैं[2]।

अबुलफ़ज़ल ने, जो बादशाह अकबर का दीवान था, और जो तारीख़ ४ रबी-उल-अव्वल, हिजरी सन् १०११ (वि० सं० १६५६, भाद्रपद-सुदि ६ शुक्रवार) को नरसिंहदेव (वीरसिंहदेव) बुंदेला के हाथ से मारा गया 'अकबरनामा' नाम की बड़ी तवारीख़ लिखी है। परंतु उसमें शब्दाडंबर इतना अधिक है कि यदि उस आडंबर को निकालकर ख़ाली ऐतिहासिक घटनाओं का ही संग्रह किया जाय, तो वह ग्रंथ आधे से भी कम रह जाय। अव्वल दर्जे का ख़ुशामदी होने के कारण उसने कई घटनाओं को तोड़-मरोड़कर लिखा है, और कई निराधार बातें अपने ग्रंथ में लिख मारी हैं। ऊपर लिखी हुई पहली तीन तवारीख़ों में जिन-जिन घटनाओं का संबंध भगवानदास के साथ बतलाया गया है, उन सबका अबुलफ़ज़ल ने भगवतदास के नाम से उल्लेख किया है[1], और उसको बिहारीमल (भारमल) का पुत्र कहा है। इससे यह शंका उत्पन्न होती है कि जिस राजा को ऊपर लिखी हुई तीनों पुस्तकों में भगवानदास लिखा है, उसी का नाम क्या भगवतदास था, अथवा भगवानदास और भगवतदास दोनों भिन्न व्यक्ति थे? संभव तो यही प्रतीत होता है कि अबुलफ़ज़ल ने अपने शब्दाडंबर की धुन में सर्वत्र भगवानदास के स्थान में भूल से भगवतदास लिख दिया है। यही उक्त उलझन की मूल-ग्रंथि है।

बादशाह जहाँगीर ने, जिसकी आयु अकबर की मृत्यु के समय ३६ वर्ष के क़रीब थी, अपनी दिनचर्या की पुस्तक 'तुज़ुक-इ-जहाँगीरी' में आंबेर के राजा के नाम क्रमशः बिहारीमल (भारमल), भगवानदास[2] तथा मानसिंह लिखे हैं, और मानसिंह को भगवानदास का भतीजा[3] बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि मानसिंह भगवानदास का पुत्र नहीं, किंतु गोद लिया हुआ, उसके किसी भाई का पुत्र था। परंतु वह कौन-से भाई का पुत्र था, यह अस्पष्ट है। ऊपर लिखे हुए चारों इतिहास-लेखकों में प्रथम तीन ने तो मानसिंह को भगवानदास का पुत्र कहा है, और अबुलफ़ज़ल ने भगवतदास का, जिसका कारण हम यही अनुमान करते हैं कि मुसलमानों में तो दत्तक पुत्र की प्रथा ही नहीं है, और हिंदुओं में दत्तक पुत्र भी औरस पुत्र के समान माना जाता है। इसी से, संभव है, मुसलमान लेखकों ने मानसिंह को भगवानदास या भगवंतदास का पुत्र लिख दिया हो। बादशाह जहाँगीर का कछवाहों से घनिष्ठ संबंध होने के कारण वह उनसे अधिक परिचित

१. मुंतख़बुत्तवारीख़ (प्रोफ़ेसर एच्० डब्ल्यू० लो-कृत अँगरेज़ी-अनुवाद); जिल्द २, पृष्ठ ४५, १४४, १४६, १४७, १५४, १५८, १७३, २१८, २३३, २३६, २३८, २३६, २४२, २४३, २४७, २४८, २४६, २६६, ३००, ३०१, ३०२, ३०४, ३३०, ३२३, ३५०, ३५२, ३५७, ३५६, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६८, ३७०, ३७५, ३७६, ३८३, ३८४ और ३६६।

२. तारीख़-फ़िरिश्ता (ब्रिग्ज़ का अँगरेज़ी-अनुवाद); जिल्द २, पृष्ठ २३६, २३७, २५२, २५३, २५८, २५६, २६१, २६३, २६८ आदि।

१. अकबरनामा (एच्० बेवेरिज का अँगरेज़ी-अनुवाद); जिल्द २; पृष्ठ २४२, २५४, ३६४, ४७२, ४६६ और ५११। जिल्द ३; पृष्ठ १६, २०, २१, २७, ४६ आदि।

२. तुजुक-इ-जहाँगीरी (रॉजर्स और बेवेरिज-कृत अँगरेज़ी-अनुवाद); जिल्द १; पृष्ठ १६, २६ और ४२।

३. तुजुक-इ-जहाँगीरी (रॉजर्स और बेवेरिज कृत अँगरेज़ी-अनुवाद); जिल्द १; पृष्ठ १६।

था। इसी से उसने मानसिंह को भगवानदास का भतीजा लिखकर इस उलझन की एक ग्रंथि को सुलझा दिया है।

जयपुर-राज्य में प्राचीन खोज का काम अब तक हुआ ही नहीं। इससे वहाँ के समकालीन शिलालेखों में इस संबंध मे क्या लिखा है, यह ज्ञात नहीं हो सका।

समकालीन हिंदू लेखक

संगीताचार्य पंडित पुंडरीक-विट्ठल ने जो पहले दक्षिण के फ़ारूक़ी-घराने के सुलतानों का आश्रित था, परंतु उस घराने का राज्य नष्ट होने के बाद आंबेर मे भगवंतदास के पुत्र माधवसिंह के आश्रय मे आ रहा था, और पीछे से बादशाह अकबर का आश्रित हुआ था—अपने संगीत-ग्रंथ 'राग-मंजरी' मे लिखा है कि कच्छप (कछवाहा)-वंश के राजाधिराज भानुः[1] (भारमल) का पुत्र भगवंतदास वीर-शिरोमणि हुआ। उसके दो पुत्र बड़े विनम्र, शूर वीर एवं धार्मिक माधवसिंह और मानसिंह हुए, जो युद्ध-कुशल तथा बादशाह अकबर की दोनो भुजाओं के समान थे। उसने अकबर को मेरु रूप बतलाया है, दूसरे राजों को तारागण, एवं माधवसिंह तथा मानसिंह को चंद्र और सूर्य के समान कहा है[2]। इससे यह निश्चित है कि माधवसिंह और मानसिंह, दोनों भगवंतदास के पुत्र थे, और उनमें माधवसिंह बड़ा और मानसिंह छोटा था; क्योंकि पुंडरीक विट्ठल ने दो बार माधवसिंह का पहले और मानसिंह का पीछे नाम लिखा है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि माधवसिंह बड़ा और मानसिंह छोटा था। इनमें मानसिंह को भगवानदास ने गोद लिया, और वही उसके पीछे आंबेर का राजा हुआ। यही अभिप्राय जहाँगीर के लेख से भी निकलता है। इससे उक्त उलझन की दूसरी ग्रंथि सुलझ जाती है।

पुंडरीक विट्ठल ने 'राग-मंजरी'-नामक ग्रंथ माधवसिंह के आश्रय में रहकर बनाया था,[1] इसलिये उसका कथन अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि अबुलफ़ज़ल का यह कथन कि "भारमल के पीछे भगवंतदास आंबेर का राजा हुआ," विश्वास के योग्य नहीं। अब यह देखने की भी आवश्यकता है कि पिछले इतिहास-लेखकों ने इस संबंध में क्या लिखा है।

नैणसी की ख्यात

महणोत नैणसी ने अपनी ख्यातों का वि० सं० १७०७ के कुछ पहले से लगाकर १७२२ के लगभग तक संग्रह किया[2], जिसमें उसने कछवाहों की दो वंशावलियाँ दी हैं। पहली वंशावली उदेही के भाट राजपाण ने लिख दी थी, जिसमें १७वीं संख्या पर राजा भारमल का नाम है, और उसके १० बेटों के नाम राजा भगवंतदास, राजा भगवानदास, भोपत, सलहदी, सादूल (शार्दूल), सुंदर, पृथ्वीदीप, रूपचंद परशुराम और जगन्नाथ दिए हैं। भारमल के पीछे राजा भगवंतदास का आंबेर का राजा होना भी लिखा है। उसने भगवंतदास के पुत्रों के नाम राजा मानसिंह, माधवसिंह, सूरसिंह, प्रतापसिंह, कान्ह, चंद्रसेन, हरदास, वनमालीदास और भीम[सिंह] लिखे हैं, तथा उनमें

१. संस्कृत के पंडित लौकिक नामों को संस्कृत-रूप देते समय उनमें बड़ा फेरफार कर डालते हैं। ऐसा ही यहाँ हुआ है। पुंडरीक-विट्ठल को, जो दक्षिण का रहनेवाला था, राजपूताने में प्रचलित भारमल नाम विलक्षण प्रतीत होने से ही उसने उसको 'भानुः' बना दिया हो, यह संभव है।

२. श्रीमत्कच्छपवंशदीपकमहाराजाधिराजेश्वर-
तेजःपुञ्जमहाप्रतापनिकरो भानुः क्षिता राजते;
तस्यासीद्भगवन्तदासतनयो वीराधिवीरेश्वर-
श्चोणीमण्डलमण्डनो विजयते भूमण्डलाखण्डल ।
तस्य द्वौ तनयौ प्रभूतविनयौ शूरौ महाधार्मिकौ
जातौ पङ्क्तिरथात्मजौ त्वकबरक्षोणीपतेः स्तो भुजौ;
सिंहौ माधवमानपूर्वपदकौ संग्रामदक्षावुभौ।
तेजस्त्यागसहस्रहस्तकलितौ श्रीसर्वभूमीश्वरौ।
अकबरनृपधर्मी शक्रतश्चातिभीमो
धरणिगगनमध्ये जङ्गमो मेरुरूपः;
सकलनृपतितारा चन्द्रसूर्याविमौ द्वौ
जगति जयनशीलौ माधवामानसिंहौ ।
राग-मंजरी (पंडित पुंडरीक-विट्ठल-कृत); पृष्ठ १ (आर्य-भूषण प्रेस, पूना में मुद्रित)।

१. अगणितगणकचिकित्सकवेदान्तन्यायशब्दशास्त्रज्ञाः;
दृश्यन्ते बहवः स्वज्ञाता नात्र दृश्यन्तेऽन्यत्र ।
इत्युक्ते माधवे सिंहे विट्ठलेन द्विजन्मना;
नत्वा गणेश्वरं देवं रच्यते रागमञ्जरी ।
राग-मंजरी (पंडित पुंडरीक-विट्ठल-कृत); पृष्ठ २।

२. नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, महणोत नैणसी की ख्यात; प्रथम भाग के आरंभ में महणोत नैणसी का वृत्तांत; पृष्ठ ६।

भगवंतदास के पीछे मानसिंह का राजा होना माना है[1]। भगवतदास का आंबेर का राजा होना अबुलफ़ज़ल के कथन से प्रमाणित है, और आश्चर्य नहीं कि अबुलफ़ज़ल के ग्रंथ की प्रसिद्धि के पीछे, उसी के आधार पर, राजपाण ने वैसा लिख दिया हो, जो राग-मंजरी और तुज़ुक-इ-जहांगीरी के कथन के विरुद्ध है।

नैणसी ने एक दूसरी विस्तृत वंशावली भी दी है, जिसमें राजा सोढदेव का नाम सबसे प्रथम लिखा है। उसमें बहुत-से राजों के पुत्रों और वंशजों की भी विस्तृत नामावली संगृहीत है। १६वां नाम राजा भारमल का है, और आगे लिखा है "भारमल का पुत्र भगवानदास आंबेर का राजा हुआ, जिसके पीछे मानसिंह गद्दी पर बैठा।" परंतु कुछ आगे चलकर भगवानदास के दो पुत्रों के नाम मोहनदास और अखैराज दिए हैं, और भगवतदास का भारमल या भगवानदास से कोई संबंध न बतलाकर, उसके पुत्रों के नाम माधवसिंह, सूरसिंह, प्रतापसिंह और बलराम दिए हैं[2]। नैणसी का यह कथन कि भगवानदास के दो पुत्र थे, विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि यदि उसके दो पुत्र होते, तो उसके पीछे उसका भतीजा मानसिंह आंबेर-राज्य का स्वामी न होता। यदि नैणसी का यह कथन ठीक हो, तो यही कहना पड़ेगा कि भगवानदास के दोनों पुत्र बाल्यावस्था में ही मर गए होंगे, जिससे मानसिंह आंबेर का अधिपति हुआ।

हमारे संग्रह में जयपुर की भिन्न-भिन्न चार ख्यातें मौजूद हैं, जिनमें से एक में वि० सं० १८६१ तक का वर्णन है। उसमें भारमल के १० पुत्रों के नाम भगवतदास, भगवानदास, जगन्नाथ, परशुराम, सादूल, सलहदी, सुंदरदास, पृथ्वीदीप, रामचंद्र और विट्ठलदास दिए हैं, तथा भारमल के पीछे भगवतदास का राजा होना माना है। भगवतदास के चार पुत्र मानसिंह, माधवसिंह, सूरसिंह और वनमालीदास का होना और इनमें से मानसिंह का आंबेर की गद्दी पर बैठना भी बतलाया है। इसी तरह भगवानदास के तीन पुत्रों के नाम अखैराज, हरराम और अर्जुन दिए हैं, और अखैराज का लवाण, हरराम का कैलाई और अर्जुन का लूगे की जागीर पाना लिखा है।

दूसरी ख्यात हमारे जयपुर-निवासी इतिहास-प्रेमी मित्र पुरोहित हरिनारायणजी के संग्रह की प्रति की नक़ल है। उसमें भारमल के भगवतदास, सुंदरदास, पृथ्वीदीप, भगवानदास, रूपसी या रूपचंद, जगन्नाथ, महेशदास, सादूल, भोपत और परशुराम, ये दस पुत्र होना और इनमें भगवतदास का राजा होना माना है। भगवानदास का लवायन (लवाण) में राज्य करना और उसके दो पुत्र अखैराज और हिरदेराम होना भी बतलाया है। भगवतदास के पीछे उसके पुत्र मानसिंह का आंबेर का राजा होना भी माना है।

तीसरी और चौथी ख्यातें जयपुर-निवासी पं० केदारनाथजी के यहां से प्राप्त हुईं। उनमें भी राजा भारमल के पीछे भगवनदास (भगवतदास) का और उसके पीछे मानसिंह का राजा होना तथा माधवसिंह का मानगढ़ की जागीर पाना लिखा है।

इन चारों ख्यातों का हमारे इस लेख के संबंध का कथन मानने-योग्य नहीं है ; क्योंकि ऊपर बतलाए हुए कारणों से स्पष्ट है कि राजा भारमल के पीछे भगवानदास राजा हुए, न कि भगवतदास। और, भगवानदास के पीछे उनके छोटे भाई भगवतदास का छोटा पुत्र मानसिंह आंबेर के राज्य का स्वामी हुआ, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है।

राजपूताने के भिन्न-भिन्न राज्यों की जितनी ख्यातें मिलती हैं, उनमें एक भी विक्रम सं० १७०० के पूर्व की लिखी हुई नहीं है। प्रायः सभी इसके पीछे की हैं। अकबर के दरबार में जब राजपूताने के राजा रहने लगे, और वे मुसलमानों के इतिहासों से परिचित हुए, तभी से उनके यहां ख्यात लिखने का सिलसिला जारी हुआ होगा, ऐसा अनुमान होता है। इन ख्यातों में वि० सं० १६०० से पूर्व का इतिहास सुना-सुनाया लिखा है, जो अनिश्चित है, और संवत् भी बहुधा मनमाने दिए हैं। इन ख्यातों में राजों के गद्दी पर बैठने और मृत्यु के संवत् एवं रानियों, कुँअरों और कुँआरियों के नाम तथा कुछ-कुछ वृत्तांत मिलते हैं। ऐसी ख्यातें लिखने का काम बहुधा मामूली मनुष्यों के सिपुर्द रहता था, जिससे उनमें मुख्य-मुख्य ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कम ही मिलता है, और वह भी पक्षपात से ख़ाली नहीं। ऐसी स्थिति में विक्रम की १७वीं शताब्दी के इतिहास के लिये ये ख्यातें विशेष सहायक नहीं हो सकतीं।

१. महणोत नैणसी की हस्त-लिखित ख्यात ; पृष्ठ ६३।२

२. महणोत नैणसी की हस्त-लिखित ख्यात; पृष्ठ ६५।

योरपियन इतिहास-लेखकों में सबसे प्रथम कर्नल टॉड ने अपने वृहद् ग्रंथ 'राजस्थान' में जयपुर का भी इतिहास दिया है।

योरपियन लेखक

उसमें आंबेर में राजा भारमल के पीछे भगवानदास का राजा होना लिखकर, साथ में उस (भगवानदास) के तीन और भाइयों—सूरतसिंह, माधवसिंह और जगतसिंह—का होना माना है, तथा जगतसिंह के पुत्र मानसिंह का भगवानदास के पीछे आंबेर का राजा होना बतलाया है[1]। किंतु टॉड के अनुसार माधवसिंह को भगवानदास का भाई और मानसिंह को जगतसिंह का पुत्र मानना युक्ति-संगत नहीं; क्योंकि माधवसिंह और मानसिंह, दोनों भगवंतदास के पुत्र थे, जैसा कि 'राग-सजरी' से ऊपर प्रमाणित किया जा चुका है।

कर्नल टॉड का राजस्थान प्रकाशित होने के ३६ वर्ष बाद ईसवी सन् १८६८ (वि० सं० १९२५) में जयपुर के पोलिटिकल एजेंट कर्नल जे० सी० ब्रुक ने 'पोलिटिकल हिस्ट्री आफ़ दी स्टेट ऑफ़ जयपुर'-नामक पुस्तक लिखी, जिसे गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया के फ़ॉरेन डिपार्टमेंट ने अपने सिलेक्शन-संख्या ६५ में प्रकाशित किया। उसमें राजा भारमल के पीछे उसके पुत्र भगवंतदास का राजा होना, उसके (भगवंतदास के) तीन भाइयों माधवसिंह, सूरसिंह और जगतसिंह होना तथा जगतसिंह के पुत्र मानसिंह का भगवंतदास के पीछे आंबेर का राज्य पाना माना है[2]। इसमें भगवंतदास को राजा मान लेने से टॉड से भी अधिक गलती हो गई है।

प्रसिद्ध इतिहास-लेखक विंसेंट ए० स्मिथ ने अपनी 'अकबर'-नामक पुस्तक में आंबेर के राजा बिहारमल (भारमल) के पीछे भगवानदास का और उसके पीछे उसके भतीजे मानसिंह का जो भगवानदास का दत्तक पुत्र था, राजा होना लिखा है[3]। परंतु यह नहीं बतलाया कि मानसिंह भगवानदास के किस भाई का पुत्र था।

योरपियन लेखकों ने फ़ारसी तवारीख़ों के अँगरेज़ी-अनुवादों के अंत की अकारादि नामों की सूची में भगवानदास और भगवंतदास को एक ही व्यक्ति मान लिया है, जो ठीक नहीं।

हमारे इस लेख का निष्कर्ष यही है कि आंबेर के राजा भारमल के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र भगवानदास वहाँ का राजा हुआ, और भगवानदास के कोई पुत्र न होने के कारण उसके छोटे भाई भगवंतदास का छोटा पुत्र मानसिंह गोद लिया जाकर उसका (भगवानदास का) उत्तराधिकारी हुआ। भगवानदास और भगवंतदास दो अलग-अलग भाई थे। परंतु अबुलफ़ज़ल ने भ्रम से भगवानदास की जगह भगवंतदास लिख दिया, इसी से यह उलझन शुरू हुई। अकबर के समय के अन्य मुसलमान लेखकों तथा बादशाह जहाँगीर ने भगवानदास का नाम लिखा था; परंतु अबुलफ़ज़ल के अकबरनामे की प्रसिद्धि अधिक होने के कारण पिछली ख्यातों में भगवंतदास को आंबेर का राजा और भगवानदास को लवाण का सरदार लिख दिया गया। इसी तरह हमारे मित्र प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मुंशी देवीप्रसाद (स्वर्गवासी) ने 'अकबर-नामा'-नामक पुस्तक हिंदी और उर्दू में प्रकाशित की, जिसमें भी भगवानदास की जगह सर्वत्र भगवंतदास का नाम लिखा है, और 'तुज़ुक-इ-जहाँगीरी' के उनके हिंदी-अनुवाद में, मूल में, सर्वत्र भगवानदास नाम होने पर भी उसका शुद्ध रूप भगवंतदास होना माना है। इसमें मुंशीजी भी ख्यात-लेखकों की तरह अबुलफ़ज़ल की भूल-भुलैया में रास्ता भूल गए हैं।

इस विषय में हमें जो कुछ प्रमाण मिल सके, उनके आधार पर हमने इस उलझन के सुलझाने का प्रयत्न किया है। राजपूताने के इतिहास के प्रेमियों तथा विश्वविद्यालयों और कॉलेजों के इतिहास के अध्यापकों से हमारा नम्र निवेदन है कि यदि वे हमारे कथन से सहमत न हों, तो अपने मत को सप्रमाण प्रकाशित कर इस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न करें, और यश के भागी हों।

गौरीशंकर-हीराचंद ओझा

---

१. कर्नल टॉड का राजस्थान (ऑक्सफ़ोर्ड-संस्करण); जिल्द ३; पृष्ठ १३३७-१३३८ और पृष्ठ १३३८ की टिप्पणी २।

२. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ दी स्टेट ऑफ़ जयपुर; पृष्ठ १४, और शेख-संग्रह, संख्या १।

३. विंसेंट ए० स्मिथ—अकबर दी ग्रेट मोगल; पृष्ठ ५७ और ५८।



मान

[श्रीदुलारेलाल भार्गव की चित्रशाला से]

नेह-मेह मेह-नभ छयौ, चढ़यौ भौंह-सुरचाप ;
आँसु-बूँद गिरे, दुर्यौ हास्य-हंस चुपचाप ।
(मतिराम-कृत सवैया का रूपांतर)

चमत्कार

कोई कहता था, "सोच तब की मनोव्यथा तू,
'जग सपना था' समझेगा जब मन में :
आँखें हैं खुली, तो खोल कान भी अजान यह,
सभी बन जायगी कहानी एक छन में।"
ऐसा हुआ, एक दिन आँखें बंद पाके, मेरे
प्राणनाथ आ गए अचानक भवन में।
एक ही झलक में पलक कुछ ऐसी खुली,
हो गया कहानी मैं ही अपने नयन में।

रामनरेश त्रिपाठी

मातृभूमि

चाहे सब जग हमसे हो प्रतिकूल, किंतु,
रहती सदैव तू हमारे अनुकूल है :
तेरी भक्ति भरती उमंग अंग-अंग में है,
उसकी तरंग-शक्ति देती सुख-मूल है।
प्रेम से लगाना जब शीश पर तेरी धूल,
फूल के समान ज्ञात होता सब शूल है :
तेरी महिमा को मातु ! हम भले भूल जावें,
भूल-भूल जाती तू हमारी यह भूल है।

गोपालशरणसिंह

संतू



ज़िला मिर्ज़ापुर में विंध्याचल-पहाड़ी के नीचे एक नाला बहता है। उसका नाम स्वर्ग-धारा है। यह नाला विंध्याचल के किनारे बहता-बहता खाड़ियों में जाकर लुप्त हो जाता है। इन खाड़ियों में कंदराएँ हैं, चट्टानें हैं, शिलाएँ हैं, और जंगली जीव-जंतु बसते हैं। इन्हीं खाड़ियों के किनारे, जहाँ जंगल खतम होते हैं, मौज़ा बसंतपुर में संतू गड़रिया रहता था। वह बुड्ढा था, लेकिन बड़े जीवट का मर्द और हाथ-पैर का मज़बूत आदमी था। बल और साहस के साथ समझ और बुद्धि भी उसे मिली थी। मन में संतोष था, और अपना काम खूब समझता था। वह कुल 'बयारों' का मतलब जानता था। आँधियों का पता उसे आकाश का रंग देखकर पहले ही से मालूम हो जाता था। अक्सर ऐसा हुआ कि औरों को तो कुछ पता नहीं रहा, लेकिन उसको पहाड़ी के उस पार से हवा की आरंभिक और दबी हुई सनसनाहट सुनाई पड़ गई। संतू आँधी आने की इस चेतावनी से सजग हो जाता और यह कहता हुआ कि आँधी आ रही है, अपने गल्ले को सँभालने लगता था। जिन आँधियों के चलते ही लोग अपने-अपने छप्पर और किवाड़े बंद कर लेते थे, वे संतू को सदा पहाड़ी की ओर बुलाती थीं, जहाँ उसकी भेड़ें चरा करती थीं। वहाँ हवा वृक्षों को थपेड़े लगाती थी, और पत्थरों की कंकड़ियाँ उड़-उड़कर उस अंधकार में, अनगिनित छर्रों की तरह, उसके शरीर पर प्रहार करती थीं। इसी तरह की ज़िंदगी बिताते-बिताते संतू की उमर ६० बरस से अधिक हो गई थी।

यह समझना बड़ी भूल होगी कि वे हरी खाड़ियाँ, वे वृक्ष, निर्मल झरने, वे खुली हुई और ऊँची चट्टानें उसके हृदय पर कोई प्रभाव नहीं डालती थीं। वे लहलहाते हुए खेत, जहाँ वह आह्लादित हृदय से ईश्वर की स्वतंत्र वायु में साँस लेता था, वे ऊँची चट्टानें, जिन पर वह स्थिर और मज़बूत डगों से चढ़ जाया करता था, वह दुर्गम मार्ग—सबने उसके हृदय पर कठिनाई, सावधानी, भय, साहस और आनंद की कितनी ही ऐसी घटनाएँ अंकित कर दी थीं, जिन्हें वह भूल नहीं सकता था। उन बेज़बान जानवरों की यादगार, जिन्हें उसने पाला था, खिलाया था, जिनके बच्चों को गोद में लेकर पहाड़ी की राहें काटी थीं, वह हरियाली और पहाड़ी की शिखाएँ, चपल, सरस और स्फूर्ति में हवा के झोंके, जो उसके रक्त से बढ़कर उसके जीवन के साधन बन गए थे—सब-के-सबने उसके हृदय पर गहरा प्रभाव डाला था। ये दृश्य और ये स्मृतियाँ प्रेम और सुख का भांडार बन गई थीं—वह सुख, जो जीवन के प्रगाढ़ अनुभव का फल है, जो जीवन का नग्न स्वरूप है।

संतू अकेला नहीं था। उसकी सहचरी एक बुढ़िया थी, जिस पर जवानी की कांति अब भी कुछ-कुछ झलकती थी, जिसमें जवानी का अब भी कुछ कस-बल था। वह संतू से बीस बरस छोटी थी। बड़ी उत्साही और बड़ी

काम करनेवाली थी। पुराने ज़माने के दो चर्खे भी उसके पास थे, जिनसे वह ऊन और रुई काता करती थी। उनमें एक का बंद रहना इसका सूचक था कि दूसरा चल रहा है। इन दो प्राणियों के अतिरिक्त उस घर में रहनेवाला बस एक और था। वह उन्हीं का एकलौता बेटा था, जो उस समय पैदा हुआ था, जब संत अपनी उमर का हिसाब लगाकर कहा करता था कि अब मैं बूढ़ा हो चुका। यही लड़का और दो कुत्ते, जो अपनी वफ़ादारी कई आंधियों में साबित कर चुके थे, उस कुटुंब के सब कुछ थे।

यह कुटुंब उस घाटी में अथक श्रम के लिये प्रसिद्ध था, और उनका संयम और श्रम उस जवार में एक कहावत बन गया था। दिन डूब जाने पर जब बाप और बेटा, दोनो खेतों और पहाड़ की घाटियों से लौटकर घर आ जाते थे, तब भी काम बंद नहीं करते थे। दो घंटे रात बीतने पर बाजरे की रोटी, साग, चावल और दही खाते थे। भोजन कर लेने के बाद दोनो अलाव के सामने बैठ जाते और किसी ऐसे काम में लग जाते थे जो हलका और सुगम हो। जैसे, रुई से बिनौले निकालना, रुई और ऊन बिलासी के लिये धुनना, खेती के हथियारों की मरम्मत और सफ़ाई करना इत्यादि।

प्रतिदिन शाम को बिलासी घर के छोटे-से बरामदे के ताख पर कड़वे तेल का एक दिया जलाकर रख देती थी। वह दिया बहुत पुराना हो चुका था, और बहुत दिनों से इस घराने की सेवा कर रहा था। यही दिया उस एकांत में इस श्रमजीवी परिवार के जीवन का सूचक या प्रतिबिंब था। इसके कोमल एवं शीतल प्रकाश में बाप-बेटे बैठा करते थे, और बिलासी देर तक चर्खा चलाया करती थी, जिसकी ध्वनि से वह छोटा-सा घर रात के सन्नाटे में गूँजा करता था, मानो मधुमक्खियां गा रही हों।

संत का झोपड़ा बस्ती से अलग ऊँचाई पर बना था, जिसके उत्तर और दक्खिन में घाटी के उस पार दूर तक का मैदान और पच्छिम में बसंतपुर-गाँव दिखाई देता था। संत के घर का दिया, जिसका स्थिर प्रकाश नित्य अर्द्ध शताब्दी से दूर तक संध्या को नज़र आता था, उस जवार में एक नित्य की प्राकृतिक घटना हो गया था। इस दिया के प्रकाश में संत का छोटा-सा झोपड़ा संध्या को नीचे बसे हुए गावों से दूर तक दिखाई देता था, और लोग उस झोपड़े को 'साँझ का तारा' कहने लगे थे।

संत अपनी स्त्री से बहुत प्रेम करता था, लेकिन बेटे



"इसके कोमल एवं शीतल प्रकाश में बाप-बेटे बैठा करते थे, और बिलासी देर तक चर्खा चलाया करती थी।"

को उससे भी अधिक चाहता था। इस गहरे पुत्र-स्नेह का कारण वह स्वाभाविक अंध भावुकता न थी, जो संतान के प्रति सबके रक्त में विद्यमान रहती है। इस प्रबल प्रेम का कारण यह था कि ईश्वर की कुल देनों में सबसे बढ़कर एक पुत्र ही अपने साथ, माता और पिता के लिये, भविष्य की आशाएँ और कामनाएँ लेकर इस संसार में आता है। और, भय तथा चिंताओं की तरंगें भी वह अपने साथ लाता है, जो भाग्यवश उन आशाओं और कामनाओं के विफल हो जाने के विचार से माता-पिता के हृदय में उत्पन्न होती हैं। पुत्र के प्रति संतू का प्रेम बहुत था। उसका प्राण उसी पुत्र में बसता था, और वही पुत्र ले-देकर उसके जीवन का सहारा था। जब भुलई गोद में था, तो अक्सर ऐसा हुआ कि संतू ने माता की तरह उसकी सेवा-टहल की। ऐसा अपने मन-बहलाव या अपनी प्रसन्नता के लिये ही उसने नहीं किया था, जैसा कि पिता का स्वभाव होता है। संतू ने पुत्र की सेवा कष्ट सहकर की थी। उसने सैकड़ों बार घंटों तक अपने अथक हाथों से उसका पालना हिलाया था।

भुलई अभी छोटा ही था। मगर संतू गंभीर और दृढ़ आदमी होते हुए भी पुत्र को अपनी आँखों के सामने ही रखना पसंद करता था। जब संतू को अपने घर के पास काम रहता, या जब वह अपने झोपड़े के सामने बरगद के छतनार पेड़ की छाया में अपनी भेड़ों के झुंड के बीच एक मचिए पर बैठकर भेड़ों के बाल कतरता, या जब चंचल और मन को मोह लेनेवाले मेमने कलोलें करते, और भुलई उनकी टाँग पकड़कर खींचता या शोर मचा-कर उनको भड़काता था, तो संतू स्नेह-भरी दृष्टि से पुत्र की अवहेलना किया करता था।

जब भुलई ईश्वर की कृपा से पाँच बरस का हुआ, तो उसका मुख गुलाब के फूल की तरह खिलने लगा। संतू ने अपने हाथ से एक छोटा-सा डंडा एक अकोलह की डाल से काट दिया, उसके सिरे पर लोहे का एक हँसुआ कसकर बाँध दिया, और भुलई को एक पूरे गड़रिए की तरह सजा दिया। इस डंडे से सुसज्जित हो भुलई रखवाला बनकर अक्सर भेड़ों के बाड़े के फाटक पर या गल्ले के बीच अपने घराने की संपत्ति पर पहरा दिया करता था। अपनी पदवी पर समय के बहुत पहले नियुक्त होकर भुलई अपने बुड्ढे बाप के लिये सहायता और बाधा, दोनो था। इस काम में इस पाँच बरस के रखवाले बालक को अपने बुड्ढे पिता से केवल प्रशंसा ही नहीं, बल्कि ताड़ना भी मिला करती थी, यद्यपि यह छोटा-सा रखवाला अपने छोटे-से डंडे से अपनी आवाज़, दृष्टि या धमकियों अथवा क्रोध से कर्तव्य-पालन में कोई बात उठा नहीं रखता था।

जब भुलई दस बरस का हुआ, विंध्याचल के ऊँचे टीलों पर हवा के झोंकों और अंधड़ों का सामना करने और पहाड़ी की चढ़ाई तथा थका देनेवाली पगडंडियों की यात्रा करने के क़ाबिल हुआ, तो संतू के साथ पहाड़ की खाड़ियों में रोज़ भेड़ें चराने जाने लगा। यहाँ भी बाप-बेटे का रोज़ साथ रहता। वह पहाड़ी संतू को अब पहले से भी अधिक प्रिय हो गई। उस दस बरस के बालक में ऐसे भाव और चमत्कार प्रकट होते थे, जो सूर्य के प्रकाश से अधिक दिव्य और वायु की सरलता से भी अधिक मधुर थे। अपने पुत्र को देखकर उस बूढ़े आदमी की आत्मा पुनर्जन्म लेती थी। इसी तरह अपने बाप की आँखों के सामने भुलई बड़ा और जवान हुआ।

इस भाँति यह परिवार अपना सरल जीवन व्यतीत कर रहा था कि एक दिन संतू को एक बहुत दुःखद समाचार मिला। जिस समय भुलई ६ बरस का था, तो संतू के गाँव में एक ख़ून हो गया था। उस ख़ून के मुक़दमे में एक निरपराध मुसलमान फँसाया जा रहा था। मुक़दमे से बरी करने के लिये थानेदार उस जुलाहे से ३००) रिशवत माँग रहे थे। जुलाहा बेचारा गरीब आदमी था। बड़ी मुश्किल से अपना बुना हुआ गाढ़ा बेचकर रुपए-बारह आने रोज़ाना कमाता था, और पाँच-छः आदमियों का पेट भी पालता था। ३००) उसके पास कहाँ धरे थे। रोज़ कमाता और रोज़ खाता। जुलाहे को दस्तावेज़ लिखकर क़र्ज़ लेने की ज़रूरत पड़ी। लेकिन महाजन बिना ज़मानत के क़र्ज़ देने को राज़ी न होता था। संतू ने उसकी ज़मानत कर दी। जुलाहे से ३००) पाकर थानेदार ने उसे बरी कर दिया। लेकिन नव-दस बरस के अंदर जुलाहा सिर्फ़ २००) रु० अदा कर सका, और मर गया। सूद और असल मिलाकर अभी ४००) रुपए निकलते थे। यह बला संतू के सिर पड़ी। संतू ने दो बरस के अंदर २००) असल और सूद मिलाकर दे दिए। लेकिन सूद-दर-सूद उसकी छाती फाड़ डालता था। ४००) की संतू पर

नालिश हो गई थी, और उसी का समन अदालत से संतू के पास आया था। आज इस परिवार की चिंता और उदासी करुणा-जनक थी।

संतू के पास कुल डेढ़ बीघे खेत था, और पचास भेड़ें। खेत काश्तकारी का था। उसे बय या रेहन करने का हक़ संतू को न था। भेड़ों के बेचने से मुश्किल से डेढ़-पौने दो सौ रुपए मिल सकते थे। मगर भेड़ें बिक जातीं, तो उस परिवार की जीविका कैसे चलती? भेड़ों की ऊन से कंबल बनाकर चालीस-पचास रुपए साल की आमदनी उस परिवार की हो जाती थी। बिना इसके उस परिवार का गुज़र कैसे होता? संतू का दिल बैठ गया, उसकी हिम्मत टूट गई। इस वज्रपात से बचने की कोई आशा उसे नज़र नहीं आती थी।

दो दिन इस चिंता में गुज़र जाने के बाद संतू ने बिलासी से कहा—अब तक तो हम लोगों पर भगवान की दया बनी रही। हमारे भाग में कड़ी मिहनत बदी थी। पसीने की कमाई जन्म-भर हम लोगों ने खाई है। सूर्य को भी शायद इतना परिश्रम नहीं करना पड़ता, जितना मैं करता था। लेकिन आज यह दिन हम पर आ पड़ा। भगवान् ही की आँख हमसे फिर गई! ख़ैर, जो हुआ, सो हुआ। भुलई को घर से बाहर कमाने के लिये जाना पड़ेगा। आधी भेड़ें बेचे डालता हूँ। कुछ कंबल तैयार हैं। दो सौ से कुछ कम रुपए महाजन को देकर कुछ मोहलत माँग लें। हमारा भाग अच्छा होगा, तो साल-डेढ़ साल के अंदर भुलई २००) घर भेज देगा, और महाजन का बोझ हलका हो जायगा। अभी बलिकरन का बेटा छबिनाथ, दो ही बरस हुए, कलकत्ते जाकर कारखाने में नौकर हो गया, और दो सौ रुपए घर भेज चुका है। भुलई को भी कलकत्ते भेजेंगे। बड़ा होगा, तो फिर भुलई लौट आवेगा, और हमारे साथ रहेगा।

बिलासी चुपचाप बैठी सब बातें सुन रही थी। वह बीते दिनों की याद कर रही थी। लेकिन फिर यह सोचकर कि उस जवार के दो-तीन आदमी कलकत्ते से रुपए कमा-कर आए हैं, और अपना क़र्ज़ा भी अदा कर चुके हैं, खेत छुड़ा लिया, और अपनी बूढ़ी माताओं को चारों धाम करा दिए हैं, बिलासी को बड़ी ढाढ़स हुई, और आशा से उसका मुख प्रफुल्लित हो गया। संतू ने कुछ देर चुप रहने के बाद कहा—भुलई की माई, भुलई को कलकत्ते भेजने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। बुढ़ौती में बेटे का वियोग लिखा था। न-जाने उस पर वहाँ क्या पड़े, क्या न पड़े। उससे अलग रहकर जीना हमारे लिये कठिन होगा। लेकिन करें क्या? अगर मैं जवान होता, मेरा पौरुष चलता...। लेकिन मैं यह क्या कह रहा हूँ। भुलई के परदेश जाने की तैयारी करनी चाहिए। उसके कपड़े-लत्ते ठीक करने चाहिए।

यह कहकर संतू का जी कुछ हलका हो गया, मानो कोई बोझ उसके ऊपर से उतर गया। वह भेड़ें लेकर पहाड़ी की ओर चला गया।

बिलासी पाँच दिन तक रात-दिन काम में लगी रही, और बेटे के सफ़र की तैयारी करती रही। रास्ते के लिये आटा पीस दिया, चिउड़े कूट दिए, एक कंबल और एक कुरता तैयार करवा लिया। यात्रा की कुल तैयारी हो गई।

इतवार का दिन था। बिलासी ने भुलई को कलकत्ते भेजने का विचार छोड़ दिया; क्योंकि दो रात से उसने देखा कि संतू पुत्र-वियोग के स्वप्न देखकर नींद में दुःखी हो जाता है। एक दिन घर में केवल मा और बेटा रह गए। बिलासी ने भुलई से कहा—"अब तुझको कलकत्ते न भेजूँगी। तुझे छोड़कर हम लोगों का कोई सहारा नहीं। तेरे बिना तेरे दादा (बाप) का जीना कठिन हो जायगा।"

भुलई ने मा को ढाढ़स देकर कहा—'अच्छा, मैं अब न जाऊँगा।"

बिलासी कुछ निश्चिंत हो गई। रात को घर भर ने बेफ़िक्र होकर खाना खाया, और सब अपनी चिंता थोड़ी देर के लिये भूल गए। दूसरे दिन बिलासी पहले की तरह घर का काम करने लगी।

एक अठवारा बीत गया। संतू ने छबिनाथ के पास एक पत्र भेजा था। उसका जवाब आ गया। इन दिनों संतू के परिवार में घोर निराशा में भी आशा से काम-काज चल रहा था। छबिनाथ ने अपने पत्र में भुलई के लिये बड़ी उम्मीदें दिलाई थीं, और लिखा था कि संतू को कारख़ाने में बारह आने रोज़ की मज़दूरी मिल जायगी। संतू और बिलासी ने कई बार वह पत्र पढ़वाकर सुना। जब बिलासी गाँव-भर में पड़ोसिनों को वह पत्र दिखाकर घर आई। तो संतू ने कहा—"कल भुलन जायगा।" बिलासी भी प्रसन्न मन से बोली—"हाँ, कोई हर्ज भुलई के

कलकत्ते जाने में नहीं।" और, बहुत-सी उन अनावश्यक बातों का ज़िक्र किया, जो पहले से ठीक न कर ली जायँगी, तो जाते समय वह भूल जायगा। अब संतू भी निश्चिंत हो गया। लेकिन वह अब भी कुछ उदास और चुप था।

स्वर्ग धारा के निकट, घाटी के अंदर, अपने गल्ले के लिये एक बाड़ा बनाने का संतू का विचार था। उसने बहुत दिन पहले से बाड़े की दीवाल उठाने के लिये पत्थर के टुकड़े स्वर्ग-धारा के किनारे उठा-उठाकर जमा किए थे। उस दिन संध्या को वह भूलन को लेकर वहाँ गया। वहाँ पहुँचकर रुक गया। उसने भुलई से कहा—"बेटा, कल तू हम लोगों से बिदा हो जायगा। अब तक तेरे ही सहारे हम लोग जीते रहे। मैं चाहता हूँ कि अपने घराने का कुछ हाल तुझसे कहूँ; क्योंकि परदेश में ये बातें तेरे काम आवेंगी। जब तू पैदा हुआ, तो दो दिन तक, जैसा ऐसी दशा में होता है, तू सोता रहा। मैं तेरे लिये भगवान् से प्रार्थना करता रहा। जैसे-जैसे दिन बीतते गए, मेरा प्रेम तेरे लिये बढ़ता गया। जिस दिन पहले-पहल अलाव के पास, मा की गोद में, तुझे बच्चों की बोली में, मैंने गीत गाते सुना था, तो उसके पहले तेरे उस गीत से बढ़कर, जिसमें कोई शब्द न थे मीठी बोली मैंने जन्म-भर नहीं सुनी थी। भेड़ चराने और खेत में काम करने से जो समय बचता, उसमें मैं तुझे अपने घुटनों पर खिलाया करता था। कई बार इस पहाड़ी में मैं तुझे गोद में लिए लिए फिरा हूँ। जब तू बालक था; तो इन्हीं टीलों पर कई बार तेरे साथ मैं खेला हूँ। मैं बूढ़ा हो गया था; लेकिन फिर भी बच्चों की तरह तेरे साथ खेलता रहता था, जिसमें तेरा कोमल हृदय प्रसन्न रहे।"

भूलन कड़े दिल का आदमी था, लेकिन बूढ़े बाप की ये बातें सुनकर उसकी भी आँखें भर आईं। संतू ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"बेटा, रोओ मत। ठीक है, आज इन बातों की याद दिलाना ठीक नहीं।......भुलई, मेरे बाप भी इसी मकान में रहते थे। मेरे बाप-दादे भी इसी घर में रहते थे। इसी नदी पर उन सबका दाह हुआ है। बेटा, मेरी अभिलाषा है कि तू भी इसी तरह रह, जैसे तेरे पुरखे रहे हैं। देख भुलई, अब हम लोगों का कोई ठिकाना नहीं, और तुझे परदेश जाना पड़ रहा है।"

कुछ देर चुप रहने के बाद, पत्थरों के ढेर की ओर हाथ उठाकर उसने कहा—"यह काम हम दोनों का था। अब यह बाड़ा मुझे अकेले बनाना पड़ेगा। बेटा, भगवान् का नाम



"मेरे बाप-दादे भी इसी घर में रहते थे।"

लेकर एक पत्थर अपने हाथ से तू रख दे।......बेटा, निराश मत हो, जी को छोटा न कर। भगवान् की दया से हमारे दिन फिर पलटेंगे। अभी मेरा बल-पौरुष बाक़ी है। अभी मैं काम करने के लायक़ हूँ। तू परदेश में अपना काम कर, मैं यहाँ अपना काम करूँ। वह कुल काम मैं फिर उठा लूँगा, जिसका भार तेरे ऊपर अब तक डाल रक्खा था। फिर इस पहाड़ी की ऊँची चोटियों पर मैं अकेला जाऊँगा, आँधी बवंडर का सामना करूँगा। जैसे तेरे पहले सब काम अकेला करता था, वैसे ही फिर करूँगा। बेटा, तुझे भगवान् अच्छी तरह रक्खे। जब तू चला जायगा, तो हम लोगों के पास क्या रह जायगा? लेकिन मैं यह क्या कह रहा हूँ? मोह-माया ने मेरी मति मार दी है।...... बेटा, परदेश में अगर बुरे आदमियों का साथ हो, तो उस समय मेरी आज की बातें याद रखना, और घर का ध्यान करना। ऐसा करने से भगवान् तुझे विपत्ति से बचावेंगे! भुलई, मेरी आज की बात न भूलना। अपने पुरखों की रीति न छोड़ना। हमारे पुरखे धर्मात्मा और सच्चे थे।...... बेटा, अब जा। तू जहाँ रहे, परमात्मा तेरी रक्षा करें। जब तू लौटेगा, तो इस स्थान पर वह चीज़ बनी हुई देखेगा, जो इस समय यहाँ नहीं है। बेटा, तुझ पर कुछ भी मुसीबत पड़े, अंत काल तक तुझसे प्रेम बनाए रहूँगा, और चिता पर यह प्रेम लेकर जाऊँगा।"

संतू चुप हो गया। भुलई झुका, और पत्थर का एक भारी टुकड़ा उठाकर बाड़ की नीव रख दी। यह दृश्य देखकर वृद्ध पिता शोक से रो पड़ा। फिर दोनों चुपचाप घर चले आए। उस शांत घर में भी आज सन्नाटा छाया हुआ था, मानो नीरवता वहाँ सो रही थी।

रात किसी तरह कटी। सबेरा होते ही भुलई परदेश की यात्रा के लिये घर से निकला। उसने जी कड़ा कर लिया। जिस-जिसके घर से वह गुज़रा, वह उसके साथ हो लिया। भुलई के माता-पिता और यह सारा समूह गाँव के बाहर तक भुलई को पहुँचाने आया, और सबकी शुभ कामनाएँ लेकर भुलई गाँव के सिवान से आगे बढ़ा।

कुछ दिनों बाद छबिनाथ के पत्र गाँव में आए, जिसमें भुलई की कुशल और उसकी सफलता का शुभ समाचार था। भुलई का भी पत्र आया। उसने भी प्रेम और उत्साह के पत्र घर को भेजे। ये पत्र टूटी-फूटी भाषा में लिखवाए गए थे। लेकिन कलकत्ते की चहल-पहल और वहाँ के चमत्कार का कुछ हाल भी इन पत्रों में लिखा हुआ था। संतू तो एक बार इन पत्रों को सुन लेता था, लेकिन बिलासी बार-बार उन्हें पढ़वाकर सुनती थी। इस तरह कुछ महीने बीत गए। संतू पहले की तरह उत्साह और साहस से अपनी गृहस्थी का काम करने लगा। जब कुछ फ़ुर्सत मिलती, तो घाटी में जाकर पत्थर के टुकड़ों से बाड़ की दीवाल बना आता था।

उधर भुलई का यह हाल हुआ कि कलकत्ते की हवा उसे लग गई। उसे नए-नए शौक़ पैदा हो गए। वह शहर की बू-बास में फँसकर नशेबाज़ों, जुआड़ियों और बदचलन आदमियों के चक्कर में आ गया। इस कुसंगत का विषपूर्ण फल उसे मिला। उससे कोई ऐसा जुर्म हो गया, जिसके कारण गिरफ़्तारी से बचने के लिये कलकत्ते के बाहर उसे किसी टापू में भाग जाना पड़ा। वहाँ से किसी को फिर उसका हाल नहीं मालूम हुआ।

* * *

प्रेम में शांति प्रदान करने की शक्ति है। प्रेम असह्य विपत्तियों में भी सांत्वना देता है, नहीं तो मनुष्य पागल हो जाय, और उसका दिल टूट जाय। मैंने उन लोगों से बातें की हैं, जिन्होंने उस बुड्ढे गड़रिए को इस घटना के कई वर्ष बाद देखा था। वह अब भी पहाड़ी की शिखाओं और चट्टानों पर जाता और सूर्य की ओर आँखें उठाकर देखा करता था; अब भी वह हवा की मंद सनसनाहट सुनता था, अब भी पहले की तरह अपने गल्ले को चराता था। वह समय-समय पर घाटी में, स्वर्ग-धारा के किनारे, उस स्थान पर जाता था, जहाँ वह अपने गल्ले के लिये बाड़ा बनाता था। अक्सर ऐसा हुआ कि वह बाड़े के स्थान पर तो गया, लेकिन एक पत्थर भी उठाकर दीवाल पर नहीं रक्खा।

अक्सर लोगों ने उसे बाड़े के पास देखा था कि वह चुपचाप अकेला उदास बैठा हुआ है, और उसका साथी कुत्ता (एक कुत्ता मर चुका था) पाँव फैलाए उसके पास चुपचाप पड़ा हुआ है। इस तरह पूरे सात वर्ष तक रह-रहकर वह उस बाड़े को बनाने का यत्न करता रहा; पर मरने के समय उसे अधूरा ही छोड़ गया।

बिलासी पति के बाद तीन वर्ष तक जीती रही। उसके मरने के बाद उसके खेत बिक गए, और दूसरों के हाथ में चले गए। उसका झोपड़ा गिर गया, और उस ज़मीन पर भी हल चल गए। उस पड़ोस की सूरत ही बदल गई।

लेकिन वह बरगद का पेड़ अब भी है, जिसके पास संत का झोपड़ा था, और उस अधूरे बाड़े के भी कुछ चिह्न मिलते है, जिसके सामने स्वर्ग-धारा कल-कल नाद करती हुई बहती चली जाती है।

रघुपतिसहाय

दूध और उसके मुख्य अंश



ध की उपयोगिता साधारणतः सब पर विदित है। मनुष्य-मात्र के जीवन की सत्ता ही, किसी अंश मे, दूध पर निर्भर है। बच्चों को पैदा होते ही दूध दिया जाता है। उसी समय से दूध का प्रयोग आरंभ होकर मनुष्य के मरण-पर्यंत जारी रहता है। रोग-शय्या पर पड़े होने के कारण जब वह अन्य खाद्य वस्तुओं को ग्रहण करने से विवश हो जाता है, तब बहुधा दूध ही एक उदार सहायक की तरह उसकी रक्षा करता है। यथा-संभव प्रत्येक मनुष्य दूध को किसी रूप में ग्रहण करता ही है, चाहे उसी रूप मे या दही, घी, मक्खन आदि के रूप मे हो, अथवा पनीर (Cheese) या मलाई के रूप मे। इसका कारण केवल प्राकृतिक प्रेरणा ही नही, वरन दूध तथा दूध द्वारा बने हुए पदार्थों का शरीर-पुष्टि-कारक गुण भी है। प्राचीन काल से यह बात सर्वमान्य रही है। भारतवर्ष में शारीरिक संगठन की दृष्टि से खाद्य पदार्थों मे दूध को उच्चतम स्थान भी प्राप्त है, यहाँ तक कि धार्मिक ग्रंथों में भी दूध की प्रधानता पर ज़ोर दिया गया है। ऋग्वेद के वाक्य 'गौमें माता' (गऊ हमारी माता है आदि) इस बात की पुष्टि करते है। श्रीमद्भगवद्गीता के जन्मदाता भगवान् श्रीकृष्ण गोरक्षक विख्यात है। इसी प्रकार सारे संसार मे दूध सर्वोपरि खाद्य पदार्थ समझा गया है। हिंदू तो अब तक गऊ को माता कहते और पूजते हैं। किंतु शोक की बात है कि भारतवासी क्रमशः पूर्वजों के महत्त्व-पूर्ण उपदेशों को भूलते जा रहे है। वे केवल मौखिक पूजा से संतुष्ट देख पड़ते है, और गऊ तथा गऊ के द्वारा उत्पन्न पदार्थों का अध्ययन और यथोचित आदर नही करते। वास्तव में गऊ की पूजा योरप और अमेरिका में होती है। वहाँ के निवासी उसका मूल्य समझते तथा वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करके उससे अच्छा लाभ उठाने की चेष्टा करते रहते है। हम लोग तो केवल लकीर पीटते और भाग्य को उलाहना दिया करते हैं, किंतु भाग्य के दिए हुए इस अमूल्य कोष को उपयोग में नहीं लाते।

सभी जगह दूध का प्रयोग अधिकतर भोजन और थोड़ा बहुत औषधियों के रूप में होता रहा है; किंतु इनके अतिरिक्त कदाचित ही किसी अन्य प्रकार से वह व्यवहार मे लाया गया हो। वर्तमान युग मे, विज्ञान की सहायता से, दूध की उपयोगिता अतुलनीय हो गई है। संसार के समस्त पदार्थ इससे होड़ लेने में असमर्थ प्रतीत होते हैं। भोजन के लिये तो दूध से अधिक उपयुक्त कोई वस्तु है ही नहीं; क्योंकि यह रोगोत्पादक अंशों से रहित माना जाता है। किंतु अब विज्ञान द्वारा दूध भिन्न भिन्न रूपों में मनुष्य-मात्र की ऐसी सेवा कर रहा है, जिसको देखकर चकित होना पड़ता है। आजकल यह केवल उदर-पोषण की ही सामग्री नहीं है, वरन् इंद्रियों की तृप्ति करने में भी कृतकार्य होता जा रहा है, और उसके भिन्न-भिन्न अवयव अनेकों आवश्यक वस्तुएँ बनाने में काम आ रहे हैं। अतएव दूध-संवर्धी विज्ञान मे जितनी अधिक उन्नति होती जाती है, दूध का प्रयोग भी उतना ही बढ़ता जाता है। निस्संदेह दूध एक अनमोल रत्न है। हम लोगों को भी इससे लाभ उठाने का प्रयत्न करना चाहिए, जैसा कि पाश्चात्य देशों मे हो रहा है।

योरप और अमेरिका मे दूध के रूप में दूध का सेवन बहुत कम होता है। वे लोग अधिकतर इसको मक्खन-मलाई (Cream) और पनीर के रूप में ग्रहण करते है। किंतु इन पदार्थों के निकलने के पश्चात् जो दूध बचता है, उसका उपयोग अभी थोड़े ही दिनों से मालूम हुआ है। पहले लगभग सब-का-सब नालियों में फेंक दिया जाता था। इस कारण दूध से बने हुए पदार्थ महँगे बिकते थे, और इतना दूध बेकार नष्ट होता था। वैज्ञानिकों को चिंता हुई, और उन्होंने इसकी ओर ध्यान दिया। अस्तु। उन लोगों ने विश्लेषण करके दूध के अवयव पृथक् किए। दूध के मुख्य अवयव पाँच हैं, और उनकी मात्रा प्रतिशत इस प्रकार है—(१) जल ८० से ९० अंश, (२) स्निग्ध पदार्थ अथवा चिकनाई ४ से ६ अंश, (३) मांस-जनक पदार्थ १ से ८ अंश, (४) शक्कर ·
(५) क्षार ·२ से १ अंश। दूध मे
नत्रजन-युक्त पदार्थ दो प्रकार के होते

में केसीन और अलब्यूमिन कहते हैं। केसीन और अलब्यूमिन केवल दूध में ही नहीं, वरन दालों—अरहर, मटर, उड़द इत्यादि—में भी पाए जाते हैं। किंतु दूध की अपेक्षा दालों में उनकी मात्रा कम होती है। पहले-पहल हैमर्सटन साहब ने दूध से केसीन को पृथक् किया था।

जब हैमर्सटन साहब ने दूध से केसीन निकाला, तब इसके बारे में कुछ भी मालूम न था, और न किसी को स्वप्न में भी यह खयाल हुआ कि केसीन इतना अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। सच है, नूतन अन्वेषणों का मूल-कारण आवश्यकता ही है। मलाई निकालने के बाद बचे हुए दूध का उपयोग करना अत्यंत आवश्यक था। हैमर्सटन साहब ने केसीन बनाकर रास्ता दिखला दिया। वैज्ञानिकों ने उस पर तजुरबे करने शुरू किए, और थोड़े ही दिनों में शुद्ध, उत्तम केसीन तैयार करने तथा उसको उपयोगी बनाने की रीतियाँ ढूँढ निकालीं। क्यों न हो, किसी का परिश्रम निष्फल नहीं जाता। जो प्रयत्न करेगा, उसका मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने स्पष्ट कर दिखाया कि जिन वस्तुओं को लोग बेकार समझते हैं, वे भी कितनी उपयोगी हो सकती हैं। आज योरप और अमेरिका में ऐसे दूध को काम में लाने के लिये सैकड़ों कारखाने खुल गए हैं, और दिन-प्रतिदिन कारखानों की संख्या बढ़ती जा रही है। दुनिया-भर की बाज़ारें इन कारखानों के माल से भरी हैं; किंतु माँग में कमी नहीं होती। अतः नूतन आविष्कारों के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। पाश्चात्य देश अन्य वस्तुओं को छोड़कर दूध से भी मालामाल होते जा रहे हैं। उन्होंने दूध द्वारा असंख्य मनुष्यों के लिये रोज़ी कमाने के साधन निकाल दिए। वे अपने खाने के पदार्थ सस्ते दामों में तैयार करने लगे हैं, और साथ-ही-साथ अनेकों अद्भुत सुंदर वस्तुएँ भी बनाते हैं। यह सब हैमर्सटन साहब द्वारा निकाले हुए केसीन की बदौलत है।

केसीन का इतना अधिक उपयोग उसके विलक्षण गुणों के कारण है। मुख्य बात यह है कि उस पर पानी, गरमी, ऋतु आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। केसीन स्वयं न तो पानी में घुलता है, और न पानी को सोखता है, प्रत्युत इसके सम्मेलन घुलनशील हैं, और यह भी क्षार के मिश्रणों में घुल जाता है। सूखने पर केसीन इतना कठोर हो जाता है कि उसे आरी आदि ही से काट सकते और खराद पर चढ़ा सकते हैं। उसमें सुगमता-पूर्वक सूराख बनाए जा सकते हैं। केसीन की बनी हुई वस्तुओं पर सुंदर वारनिश चढ़ सकती है, जो बहुत दिनों तक स्थायी रहती है, और वह भिन्न-भिन्न प्रकार के रंगों से रँगी भी जा सकती है। केसीन में एक विशेष प्रकार की लस होती है। इसीलिये पेड़ों के गोंदों और सरेसों की जगह केसीन का प्रयोग दिन-प्रतिदिन अधिक होता जा रहा है, और इसकी सहायता से उत्तम प्लेट और प्लास्टिक तैयार किए जा रहे हैं।

योरप और अमेरिका के कारखानों में अनेक प्रकार से केसीन का प्रयोग किया जाता है। काग़ज़-संबंधी उद्योगों में यह बहुत काम आता है। काग़ज़ की लुगदी में मिलाने अथवा काग़ज़ पर केसीन की तह चढ़ा देने से उस पर पानी का प्रभाव नहीं पड़ता, और उसमें कड़ापन आ जाता है। इस प्रकार तैयार किया हुआ काग़ज़ बर्तन, बक्स, बैग, लपेटने का काग़ज़ और बोतल आदि बनाने के लिये अत्यंत उपयुक्त है; क्योंकि फिर यह तेल तथा पानी के प्रभाव से ख़राब नहीं हो सकता, और सुगमता से रँगा तथा वारनिश किया जा सकता है। केसीनवाले काग़ज़ से जो स्लेटें और चित्र खींचने के काग़ज़ बनते हैं, वे इस योग्य होते हैं कि उन पर जो कुछ लिखा जाता है, वह काग़ज़ को विकृत किए बिना बिगाड़ा जा सकता है।

पेंट अथवा रंग बनाने के लिये केसीन उपयोगी है, यह बात बहुत पहले से मालूम थी। किंतु केसीन द्वारा उनका बनाना थोड़े ही दिनों से शुरू हुआ है। अब भी योरप में ही अधिक मात्रा में, सब प्रकार के पेंट बनाए जाते हैं। अमेरिका में केसीन से केवल पानी में घुलनेवाले रंग बनते हैं। वहाँ इन्हीं की माँग है। ये मकान, अस्पताल, कारखाने आदि को सुंदर तथा सुसज्जित बनाने और लकड़ी तथा धातु की वस्तुओं को रँगने के काम में आते हैं। इन रंगों में जंतु-नाशक गुण भी है। इस गुण का पुनः संचार करने के लिये न तो किसी विशेष यंत्र की आवश्यकता होती है, और न दीवालों पर चढ़े हुए काग़ज़ के ख़राब होने का अंदेशा ही रहता है। इनका प्रयोग करने में भी किसी प्रकार की अड़चन नहीं; केवल पानी में मिलाकर लगाने की ज़रूरत रहती है। ये तुरंत सूख भी जाते हैं। यही कारण है कि पानी में घुलनेवाले केसीन-रंगों की माँग बढ़ती जा रही है। केसीन द्वारा बने हुए पेंट, रंग और वारनिश सस्ते भी बिकते हैं, और उत्तम भी होते हैं। इन वारनिशों को काम में लाने के लिये अलसी

के तेल का प्रयोग नहीं करना पड़ता। केसीन-वारनिशों से रँगे हुए पीपों और बक्सों पर लिखने में भी सुगमता होती है। इनकी सहायता से रंग-बिरंगे ताश तैयार होते हैं, और ये लकड़ी, पत्थर, दीवालों और ताज़े प्लास्टर पर चढ़ाए जा सकते हैं।

वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करके योरप के कारख़ानों ने, गत वर्षों में, केसीन द्वारा बननेवाली वस्तुओं के गुण और मात्रा में सराहनीय उन्नति कर ली है। अनेक प्रकार के प्लॉस्टिक्स और पेंट बाज़ारों में मिलने लगे हैं, जो भिन्न-भिन्न कामों के लिये इस्तेमाल किए जाते हैं। केसीन के मिश्रण रंग-रहित और न जलनेवाले तो होते ही हैं, उनमें विद्युत्-धाराएँ भी नहीं प्रवाहित हो सकतीं। ये बटन, छिल्ली, साधारण काम की रकाबियाँ बनाने के काम में आते हैं। केसीन-प्लास्टिक्स से प्रकृति में मिलनेवाले अद्भुत तथा मूल्यवान पदार्थ कृत्रिम रीति से बनने लगे हैं। इसके कृत्रिम सींग, हाथीदाँत, आबनूस, रबड़, चमड़ा आदि असली से भी कहीं अच्छे होते हैं। कड़ा रबड़ बनाने के लिये प्राकृतिक रबड़ की अपेक्षा केसीन-प्लॉस्टिक्स अधिक उपयुक्त है। पहले जो चीज़ें सिल्यूलवायड अथवा वानस्पतिक गोंदों से तैयार की जाती थीं, वे अब केसीन-प्लास्टिक्स से बनाई जाती हैं; क्योंकि ये अधिक सुंदर, सस्ती और न जलनेवाली होती हैं, सुगमता से टूटती नहीं, और तेल, तेज़ाब तथा पानी आदि के प्रभाव से सुरक्षित रहती हैं। अतः कृत्रिम रत्न, सुंदर भूषण, बुनने की सुइयाँ, सिगरेट के पाइप, चाकू आदि के बेंट, वैज्ञानिक यंत्र, शतरंज की गोटें, कंघियाँ, शृंगार-संबंधी वस्तुएँ और इसी प्रकार की सैकड़ों वस्तुएँ बनाने में केसीन-प्लास्टिक्स का प्रयोग किया जा रहा है। कमरों और मकानों की दीवालों तथा दरवाज़ों पर केसीन-प्लास्टिक का प्लास्टर करने से सील दूर हो जाती है, और आग द्वारा हानि होने की भी संभावना नहीं रहती।

कपड़े और सूत के कारख़ानों में भी केसीन का प्रयोग कम नहीं होता। यह सूत तथा रेशम के तागे को मुलायम और रंग ग्रहण करने-योग्य बना देता है। छींट छापने में केसीन बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है; क्योंकि केसीन के प्रयोग से सूत पर रंग अच्छे खिलते और स्थायी भी रहते हैं।

उपर्युक्त उद्योगों के अतिरिक्त केसीन साबुन, फ़ोटोग्राफ़ी के फ़िल्म, भोज्य पदार्थ और औषधियाँ बनाने के काम में भी आता है। साबुन में केसीन से कड़ापन आ जाता है, और वह सुगंधित भी बनाया जा सकता है। भोजन के रूप में केसीन का प्रयोग कम है; क्योंकि केसीन द्वारा तैयार हुए भोज्य पदार्थ अभी महँगे बिकते हैं। इसलिये सर्वसाधारण उन्हें प्रतिदिन व्यवहार में नहीं ला सकते। किंतु दुर्बल, कृश शरीर के रोगियों के लिये केसीन-युक्त पदार्थ ही उपयुक्त है। इनके जो भोज्य पदार्थ बनते हैं, उनमें २० से ६५ प्रतिशत तक केसीन रहता है। कुछ लोगों का मत है कि एक पौंड केसीन पाँच पौंड मांस के बराबर पुष्टिकारक है। पाश्चात्य देशों के हलवाई रोटी, मिठाई और बिसकुट आदि बनाते समय आटे में केसीन मिलाते हैं। जर्मनी में केसीन घोड़ों और सुअरों को गुड़, शक्कर अथवा खली में मिलाकर खिलाया जाता है। ओषधियों के रूप में केसीन का प्रयोग केवल इतना है कि वह अन्य ओषधि के साथ मिलाकर ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार लोहा, चाँदी, संखिया, पारा आदि बिना किसी भय के सेवन किए जा सकते हैं। केसीन के साथ मिलाकर ग्रहण करने से हानिकारक तथा विषैले पदार्थ भी हानि नहीं पहुँचाते, और न अधिक मात्रा में ही जाने पर प्राणघातक ही होते हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरे से न मिलने अथवा पानी में न घुलनेवाली ओषधियाँ केसीन की सहायता से सुगमता-पूर्वक आपस में मिलाई भी जा सकती हैं।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि योरप और अमेरिका में केवल केसीन-संबंधी व्यापारों में कितनी उन्नति हो गई है। भारतवर्ष में तो उन देशों की अपेक्षा दूध-संबंधी उद्योगों की वृद्धि करना अधिक आवश्यक है। यह कृषि-प्रधान देश ठहरा; यहाँ कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय नहीं। दूसरे, दूध-घी के बिना यहाँ के निवासी कठिनाई से जीवन व्यतीत कर सकते हैं। यदि दूध-संबंधी उद्योगों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हो जाय, तो दोनों प्रकार की कठिनाइयाँ दूर करने के उपाय निकल आवें, और खेती के लिये उत्तम बैल तथा खाद एवं मनुष्यों के लिये शुद्ध घी-दूध बहुतायत से मिलने लगे। यहाँ दूध देनेवाले पशु कम ख़र्च में पाले जा सकते हैं, और शुद्ध दूध की माँग भी काफ़ी है। जो दूध बिकने से बचे, वह घी बनाने के काम में लाया जाय। इस प्रकार

घी-दूध की कमी पूरी हो जायगी। घी निकालने के बाद बचे हुए मट्ठे से केसीन बनाना चाहिए। यदि अधिक न हो सके, अथवा केसीन से अन्य वस्तुएँ न बनाई जा सकें, तो अच्छी तरह सुखाया हुआ केसीन ही तैयार कर लिया जाय। योरप और अमेरिका में ऐसे केसीन की माँग है, इसलिये वह उन देशों में बिक जायगा। व्यापारियों को भी अच्छा लाभ होगा, तथा घी-दूध के भाव में कमी हो जायगी।

केसीन तैयार करने के लिये कारख़ाने खोलने के पहले दूध का अच्छा प्रबंध होना चाहिए। उचित तो यह है कि ऐसे कारख़ाने गोशालाओं के निकटस्थ रहें, या फिर वहाँ हों, जहाँ कम-से-कम १०० मन दूध प्रतिदिन मिल सके। केसीन तैयार करने के पहले दूध से मक्खन निकाल लेना अत्यंत आवश्यक है। चिकनाहट होने से केसीन जल्दी में बिगड़ जाता है। चिकनाहट-रहित दूध को जमाकर सुखा लेने से केसीन बन जाता है। पाश्चात्य देशों में दूध जमाने की कई रीतियाँ प्रचलित हैं। कहीं-कहीं प्राकृतिक रीति से खटास उत्पन्न करके दही जमाते हैं, जैसा कि भारतवर्ष में भी किया जाता है। किंतु इस रीति से समय बहुत लगता है। उन कारख़ानों में, दूध कमरत से आता है। इस रीति से दूध का जमाना हानिकर तथा कष्टदायक भी है। इसलिये ऐसी दशा में आम्लिक अथवा रेनट विधि का प्रयोग करना पड़ता है। आम्लिक विधि से दूध जमाने के लिये अधिकतर गंधक अथवा नमक का तेज़ाब काम में लाया जाता है, और रेनट विधि में रेनट मिलाना पड़ता है। रेनट एक प्रकार का पदार्थ है, जो बछड़ों के पेट के रसों से बनाया जाता है। फ्रांस-निवासी विद्युत्-धाराओं की सहायता से भी दही जमा लेते हैं। जब दही जम जाता है, तो उसे निचोड़कर पानी अलग कर लेते हैं। फिर अच्छी तरह धोकर धीमी-धीमी आँच में सुखा लेते हैं। केसीन से यथासंभव पानी निकाल देना अत्यंत आवश्यक है। अन्यथा वह थोड़े दिनों में बिगड़ जायगा। केसीन को सुखाने के लिये चतुर कारीगरों की ज़रूरत है; क्योंकि अनुभव के बिना केसीन को जलने से बचाना कठिन है। जले हुए टुकड़ों से मिश्रित केसीन सस्ते दामों में बिकता है। औद्योगिक दृष्टि से उज्ज्वल, शुद्ध, गंध-रहित केसीन अच्छा होता है। यद्यपि बाज़ार में सब प्रकार का केसीन मिलता है, फिर भी उत्तम केसीन बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।

केसीन-संबंधी कारख़ाने चलाने के लिये अधिक धन की भी आवश्यकता नहीं। थोड़े ही सामान से काम चल जाता है। पाश्चात्य देशों में अधिकतर गऊ के दूध से ही केसीन तैयार करते हैं। योरप में कहीं-कहीं बकरी का दूध भी काम में लाते हैं। भारतवर्ष में भैंस के दूध का प्रयोग हो सकता है। गाय के दूध में केसीन की मात्रा ३½ प्रतिशत होती है। अत्यंत शुद्ध केसीन में भिन्न-भिन्न अवयवों की मात्रा प्रतिशत इस प्रकार है - (१) जल ६.२२, (२) केसीन ८४.६ (३) वसा ०.८१, (४) क्षार ७.०७

पाश्चात्य देश में दही निचोड़ने से जो पानी शेष रहता है, वह फेंका नहीं जाता। वह अलब्युमिन और शक्कर बनाने के काम में लाया जाता है। इस पानी को उबालने से अलब्युमिन पृथक् हो जाता है। बाक़ी को सुखाकर शक्कर बना ली जाती है। इस प्रकार तैयार की हुई शक्कर को बाद में शुद्ध कर लेना पड़ता है। दूध की शक्कर अन्य प्रकार की शक्कर की अपेक्षा अधिक उपयोगी तथा ग्रहण करने योग्य होती है। उसका मुख्य गुण यह है कि दूध की शक्कर में ख़मीर नहीं उठता, और वह सुगमता से पच जाती है। अतः यह रोगियों और मंद पाचन-शक्तिवाले मनुष्यों के ग्रहण करने-योग्य है, क्योंकि इसके सेवन से किसी प्रकार की असुविधा अथवा कष्ट का भय नहीं रहता। यदि जल-मिश्रित दूध में इस शक्कर की उपयुक्त मात्रा मिला दी जाय, तो उसमें भी वही गुण आ जाते हैं, जो स्त्रियों के दूध में पाए जाते हैं। इस कारण यदि बच्चों को ऊपर का दूध (गाय, बकरी आदि का) देना हो, तो दूध की शक्कर का प्रयोग करना चाहिए, जैसा योरप और अमेरिका में होता है। इसके अतिरिक्त दूध की शक्कर ओषधियों के साथ मिलाकर रोगियों को भी दी जाती है। अतएव आवश्यकता है कि दही के पानी से शक्कर निकाल ली जाय जिसके बनाने में अधिक व्यय अथवा कष्ट नहीं होता। उपयोगी वस्तु मिल जायगी, और केसीन सस्ते दामों में तैयार होगा। व्यापार में यथासंभव किसी चीज़ को भी बेकार समझकर न फेंक देना चाहिए। जो कुछ हो, उसे काम में लाने का प्रयत्न करना चाहिए। पाश्चात्य देशों की व्यापारिक उन्नति का रहस्य यही है।

हरनारायण बाथम
श्रीपालसिंह

प्राचीन और वर्तमान देशी राज्य



प्राचीन काल में देशी राजों और उनकी प्रजा में एक दूसरे के साथ इस प्रकार का संबंध था, जैसे मोतियों की माला सूत में गुँथी रहती है। यदि आप उस सूत्र को, जिसमें मनके पिरोए हुए हैं, काट दें, तो मनके बिखर जायँगे, और सुंदरता तथा उपयोगिता कम हो जायगी। ब्रिटिश-सरकार की मित्रता के पश्चात् Subsidiary alliance से वह प्रेम-सूत्र कट गया। और, आज तो राजा लोग निस्सहाय हैं। हमारा मन प्रफुल्लित हो जाता है, जब हम रामायण और महाभारत में राजा और प्रजा के अपूर्व प्रेम का वृत्तांत पढ़ते हैं। यह प्रजा प्रेम ही था कि प्राचीन भारत-वासियों की सभ्यता से असीरिया, बैबिलोनिया, मिसर, एथेंस, मेसिडोनिया और रोमवालों ने सभ्यता सीखी। प्राचीन भारत में राजा होने का जन्मसिद्ध अधिकार किसी को नहीं था। वह गुणों के कारण राजा बनाया जाता था। ऋग्वेद के दूसरे मंडल के १२वें सूक्त में इंद्र का वर्णन है। उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वीरता ही इंद्र का लक्षण है। जो शत्रु का दलन करे, पराक्रमी हो, सातों समुद्रों और लोकों को स्वतंत्र करे, वही इंद्र कहलाता है। आजकल के राजा पराधीन, गुलाम अवस्था में नरेंद्र-मंडल में बैठकर अपने को इंद्र मानते हैं, यह कितना हास्यास्पद है! राजा का अर्थ ही यह प्रकट करता है कि वह प्रजा का रंजन करे। भला वे कोरे नाम-मात्र के ट्रस्टी राजा—जिनकी संधियों का मूल्य रद्दी काग़ज़ के टुकड़ों के बराबर है, जो राजनीतिक कारणों से गद्दी से उतारे जाते हैं, जो अपनी बाहरी और अंदरूनी रक्षा के लिये मुँह फाड़कर एक ग़ैर ताक़त से प्रार्थना करते हैं—प्रजा के माल और जान की क्या रक्षा करेंगे, और क्या रंजन करेंगे! यह बात राजा लोग स्वयं अपने हृदय पर हाथ रखकर सोचें। मनुस्मृति में राजों के कर्तव्य पढ़कर चित्त प्रसन्न हो जाता है। मनु के कहे हुए अमात्य और मंत्री राजा के इशारे पर नाचनेवाले खुशामदी कदापि नहीं होते थे। न वे कोरे महाराज साहब के इशारे पर सभा में जाकर, अपना ऊँचा हाथ उठाकर, वोट देनेवाले खुशामदियों में थे। वे तो अपनी सत्य सम्मति ही, जो राजा और प्रजा, दोनों के लिये हितकर होती थी, देते थे। और, इसीलिये बृहदारण्यक-उपनिषद् में मंत्री, राजा और प्रजा एक सुवर्ण-सूत्र में बँधे हुए बतलाए गए हैं। सारा संसार इसी प्रेम-सूत्र में गुँथा हुआ बतलाया गया है। परंतु अब वह सुवर्ण-प्रेम-युग गया। अब कवि कालिदास के कहे हुए राजा कहाँ हैं, जिनके लिये प्रत्येक नगर-निवासी और ग्रामवासी यह कहता था कि रघुवंश के महाराज सबसे अधिक उसे ही चाहते हैं?

राजा अब उस अगाध समुद्र के समान कहाँ दृष्टि-गोचर होते हैं, जिनमें छोटे-से नाले, चश्मे से लगाकर बड़ी-बड़ी नदियों तक के आने की मनाई नहीं? अब तो राजों से मुलाक़ात करना बड़े ही आदमियों का काम है। छोटों का तो उन तक पहुँचना कठिन ही नहीं, असंभव-सा प्रतीत होने लगा है। उफ़! इतना अभिमान! पहले के समान एक विचार, एक हिताहित, एक उद्देश्य, एक ही आदर्श, एक ही समानता की राज्य-प्रणाली—सब छूमंतर हो गई। देशी रजवाड़ों में राजा और प्रजा के एक ही रहन-सहन के तरीक़े, एक ही इतिहास, एक ही धर्म, एक ही जाति, एक ही खून—सब संगठन की बिजली दौड़ानेवाली बातें धीरे-धीरे भुला दी गईं। राजों को राजकुमार-कॉलेजों में अजमेर, राजकोट, इंदौर में कोरी पश्चिमी सभ्यता सिखाई जाती है। कई राजा अपने-आपको, अपनी प्रजा से दूसरी जाति का मानकर विदेशी के समान व्यवहार करने लगते हैं। यही कारण है कि अब जाति-जाति में द्वेष है; राजा-प्रजा में युद्ध, और धनिक और मज़दूरों में झगड़ा है। पर हमारी समझ में उन राजों की दूरदर्शिता नहीं आती, जो प्रजा को उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन देने में हिचकते हैं। प्रजा को कौंसिलों में बैठकर अपने दुख-दर्द की बात न कहने देने से तो यह भाव फैलता है कि राजा का हित प्रजा के हित के विपरीत है। यदि राजा अपनी प्रजा को कौंसिलों में, राजसभाओं में बैठकर रियासत के प्रबंध, ख़र्च, आमद और क़ानून पर राय देने, कहने-सुनने का अवसर देता है, तो उससे प्रजा के हृदय में यह भाव जाग्रत होता है कि महाराज का

और उनका एक ही आदर्श और उद्देश्य है। जब राजा और प्रजा का संबंध पिता-पुत्र के समान माना जाता है, तो फिर राजा का नौकर अपने को प्रजा का नौकर मानने में क्यों हिचकता है ? क्या आपने कभी गृहस्थ-जीवन में यह अनुभव किया है कि पिता का नौकर अपने मालिक के पुत्र पर अत्याचार और अन्याय करे, और पिता उलटे नौकर की ही पीठ ठोंके ? जिस गृहस्थी में ऐसा होता है, उसका गृहस्थ-जीवन दुःखमय होता है। कई राजा प्रजा को अधिकार न देकर और अपने सरदारों को पैरों तले रौंदकर यह समझते हैं कि बस, अब हम सुखी हो गए। परंतु उनके ऐसा करने से उन्हीं पर भयंकर आपत्तियाँ आती हैं। किसी के अख़्तियारात छीने जाते हैं, तो कोई गद्दी से उतारा जाता है; कोई फटकार सहता है, तो किसी का न्याय करने के लिये हाईकोर्ट के जजों का कमीशन बैठता है ! पहले राजों को सुधारने और दंड देनेवाले उनके भाई, बेटे, सरदार और प्रजा थी, और उनका दंड इतना भयंकर न होता था, जैसा कि अब है, और जिसका नाभा-नरेश अनुभव कर रहे हैं। इन देशी राजों की आँखें खोलने के लिये अपने सरदारों को पोलिटिकल एजेंटों द्वारा दबाने का प्रतिफल क्या होता है, और इसके क्या अर्थ लगाए जाते हैं, यह हम लॉर्ड 'सैलिसबरी' के वाक्यों से उद्धृत करते हैं। बड़ोदा-नरेश श्रीमल्हारराव गायकवाड़ को गद्दी से उतारते समय सेक्रेटरी ऑफ् स्टेट लॉर्ड सैलिसबरी ने लाट साहब को लिखा था—

"The British Government, which had deprived its Sardars and Rayats of the power of righting themselves, could not be justified in using its supremacy to compel them to submit again to a Ruler, whose incurable vices had been established by a full experience."

"अर्थात् ब्रिटिश-सरकार, जिसने राज्य के सरदारों और रैयत के राजा से अपने हक़ों की रक्षा का अधिकार छीन लिया है, अब फिर उसी रैयत को ऐसे राजा के मातहत नहीं रख सकती, जिसके पापाचार के कारनामे पूर्ण अनुभव के बाद सिद्ध हो चुके हैं।" यदि राजा अपनी रैयत को अपने यहाँ कौंसिलों द्वारा उनके हक़ों की रक्षा का अधिकार दे देते, तो ब्रिटिश-सरकार को उपर्युक्त गद्दी से उतारने का बहाना न मिलता, और उसी राज्य की प्रजा उचित प्रबंध कर देती। आजकल पोलिटिकल एजेंट प्रजा के दुखड़े पर अक्सर लिख देते हैं कि हम इस मामले में हस्तक्षेप नहीं कर सकते; क्योंकि हस्तक्षेप करने में उनकी राजनीतिक सिद्धि नहीं होती। परंतु जब कभी राजनीतिक सिद्धि करनी होती है, तब थोड़ी-सी शिकायत पर ही वे इस प्रकार लिखते हैं, जैसा भारत-सचिव लॉर्ड सैलिसबरी ने ही लाट साहब को लिखा था—

"The fact that you are bound to protect his throne against insurrection, laid on you a sacred obligation to protect his subjects against misgovernment."

"अर्थात् चूँकि तुम राजसिंहासन को बलवे इत्यादि के दबाने में सहायता देने को बाध्य हो, अतः तुम्हारा पवित्र कर्तव्य है कि तुम उस राज्य की प्रजा को राज्य की बदइंतज़ामी से भी बचाओ।"

इस पर लाट साहब ने गायकवाड़-महाराज को जो पत्र लिखा था, उसका कुछ अंश भी उद्धृत करते हैं—

"My friend I cannot consent to employ British Troops to protect any one in the course of wrong-doing. Misrule on the part of Government, which is upheld by the British power is a misrule in the responsibility, for which the British Government becomes in a measure involved. It becomes, therefore, not only the right, but the positive duty of the British Government to see that the administration of a State in such a condition is reformed and that gross abuses are removed."

"अर्थात् प्रिय मित्र, मैं सरकारी फ़ौज को किसी बुरे काम के सहायतार्थ नहीं दे सकता, और न ऐसे आदमी की ही रक्षा कर सकता हूँ। जो बुरा राज्य ब्रिटिश-ताक़त के बल पर स्थित है। उसके प्रबंध की ज़िम्मेदार कुछ हद तक ब्रिटिश-सरकार भी है। अतः यह ब्रिटिश-सरकार का हक़ ही नहीं, बल्कि सबसे बड़ा कर्तव्य है कि ऐसे राज्य का प्रबंध सुधारा जाय, और इसकी भारी ख़राबियाँ और बुराइयाँ दूर की जायँ।"

उपर्युक्त वाक्यों को पढ़कर नरेंद्र-मंडलवाले राजा अपना कर्तव्य सोचें, और शीघ्र निश्चित करें कि उनको अपनी बेबसी हटाने के लिये प्रजा को अधिकार देने की

कितनी आवश्यकता है। अब तो इंदौर और नाभा के मामले से हमारी मेहरबान सरकार एक क़दम और भी आगे बढ़ी है। पहले तो प्रजा की शिकायतों पर ही—चाहे वे कैसी ही क्यों न हों—राजों को अपने अधिकारों से अथवा राज्य से हाथ धोना पड़ता था; परंतु अब तो प्रजा के संतुष्ट रहने पर भी उन्हें कष्ट भोगने पड़ रहे हैं। नाभा और इंदौर की प्रजा अपने राजों से बहुत प्रेम करती है, यहाँ तक कि सार्वजनिक सभाएँ करके नाभा तथा इंदौर-नरेश के प्रति विश्वास प्रकट कर चुकी है, तथा उनके अधिकार कम करने का विरोध किया है। परंतु, फिर भी, जाँच-कमीशन की नियुक्ति होने से "होइ है सोइ जो राम रचि राखा"-वाली तुलसीदासजी की उक्ति चरितार्थ हुई। पर जाँच-कमीशन में समझदार राजों ने सम्मिलित होने से इनकार किया है, इसमें भी रहस्य है; क्योंकि जैसे पहले प्रजा की शिकायतों पर कमीशन नियुक्त हुआ, और राजा उसमें सम्मिलित हुए, तो थार्नटन साहब ने अपनी पुस्तक "General Sir Medde and the Fudatory States of Central and Southern India." में लिखा था—

"The enquiry is the first occasion on which England's jurisdiction as paramount and protecting power in India, to enquire into and punish (if need be) the misfeasance of native rulers was formally recognized by the chiefs themselves.

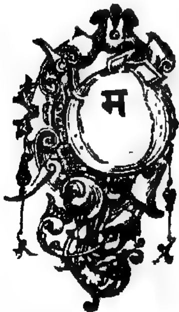
"Such jurisdiction as rightly stated in the article, is not founded upon statutes, nor is it expressly declared (though often implied) in treaties, but results directly from the position we have assumed. For the power which protects from internal as well as external foes, which prevents an uprising against oppression, is in justice bound to deal with the oppression."

"अर्थात् यह मल्हारराव गायकवाड की तहक़ीक़ाती कमेटी की नियुक्ति का पहला ही अवसर है, जब कि भारत में इँगलिस्तान के सबसे बड़ी ताक़त और रक्षक-राज्य होने का सिद्धांत स्वीकार किया गया। और, यह भी देशी राजों ने स्वयं मान लिया कि देशी राजों के अपराधों की तहक़ीक़ात और उन पर उनको सज़ा देने का हक़ ब्रिटिश-सरकार को है। यह सही है कि यह हक़ सरकार को संधियों या किसी क़ानून की रू से नहीं मिला है, परंतु देशी राजों पर जिस प्रकार की स्थिति सरकार ने प्राप्त कर ली है, उसी का यह नतीजा है; क्योंकि जो शक्ति उनको अंदरूनी और बाहरी, दोनों झगड़ों से बचावे, और जो अन्याय के विरुद्ध, बलवे करनेवालों के विरुद्ध भी उनको सहायता देकर बलवे को रोके, उसे न्यायानुकूल अत्याचारी, अन्यायी राजा को दंड देने का भी अधिकार है।" इसी प्रकार इंदौर-महाराज के मुक़द्दमे से यह भी सब राजों द्वारा माना हुआ सिद्धांत हो जायगा कि ब्रिटिश-भारत में किसी देशी राजा के नौकरों द्वारा कोई अत्याचार हो, तो नौकरों को सज़ा देने के बाद उस राजा की तहक़ीक़ात भी होगी। किंतु इस परिस्थिति में स्वयं इंदौर-महाराज ने गद्दी त्याग कर जहाँ अपना प्रायश्चित्त किया, वहाँ दूसरे देशी नरेशों को भी बचा लिया; क्योंकि अब राजा अपनी इच्छा के अनुसार गद्दी छोड़ सकता है, यह मिसाल क़ायम हुई, और उसको Ally और Equal partner in the Empire (अर्थात् ब्रिटिश-साम्राज्य में बराबर के साझीदार और मित्र) कहने का अवसर मिलेगा। परंतु बिना फ़ौजी ताक़त के यह सब शब्दों का जाल है। जैसा वास्तविक व्यवहार इनके साथ है, उस पर हम पूछते हैं कि बीकानेर-महाराज को लंदन के भोज में सम्राट् पंचम जॉर्ज ने जो अपनी बग़ल में सबसे पहली बाँये हाथ की तरफ़ की कुरसी दी थी, वह किस बात की द्योतक थी? क्या लड़ाई में सहायता देने का यही—इतना ही इनाम है? राजों को कोरे ख़िताबों, कुरसियों, तोपों की सलामियों से कब तक रिझावेंगे? देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधि को Peace Council Chamber में बराबरी का हक़ देकर बिठाने का क्या यह मतलब नहीं था कि देशी राजा अपने राज्यों और साम्राज्य में स्वतंत्र हैं? क्या देशी राजा मुसीबत के वक़्त ब्रिटिश-साम्राज्य के स्तंभ नहीं माने गए? और, क्या सिपाही-विद्रोह से लगाकर आज तक सरकार द्वारा देशी राजों की ब्रिटिश-साम्राज्य की सहायता देने के कारण बारंबार भूरि-भूरि प्रशंसा नहीं की गई? क्या कोरे वाक्शूर बन, ज़बानी जमा-ख़र्च से कभी दुनिया से असंतोष मिटा है? क्या देशी राजों ने, असहयोग-काल में भी, अपने देशवासियों की स्वतंत्रता के मार्ग में केवल ब्रिटिश-साम्राज्य

की सहायता के लिये रोड़े नहीं अटकाए ? क्या देशी राजा अपने ऐसे कर्तव्यों से ब्रिटिश-भारत की भारतीय प्रजा और देशभक्तों की निगाहों में हक़ीर और ज़लील नहीं बने ? परंतु इन बेचारों के इतने सदमे उठाने और ब्रिटिश-सरकार को प्रसन्न करने की इतनी कोशिशें करने पर भी आज पराधीन अवस्था है। ये कोरे शक्तिशाली राज्य के विश्वस्त नौकर (Paramount Power के Trustee) हैं, जिन्हें वह जब चाहे, हटा सकता है। जितनी ख़ुशामदें इन्होंने सरकार के पोलिटिकल रज़िडेंटों, गवर्नर जेनरल के एजेंटों और लाट साहबों की कीं, उतनी यदि परमपिता परमात्मा की करते, और सदाचार और ब्रह्मचर्य-युक्त जीवन व्यतीत कर, अपने पूर्वज भगवान् राम और कृष्ण के पद-चिह्नों पर चलते, तो न केवल इसी लोक में यश प्राप्त करते, वरन् परलोक भी सुधार लेते, तथा आनेवाली संतति के लिये अक्षय यश और नाम छोड़ जाते। परमपिता इन सूर्यवंशी और चंद्रवंशी राजपूत, मरहटा, जाट राजा-महाराजाओं को बल दे कि वे मातृभूमि भारत के उद्धारार्थ अपने-अपने राज्यों में प्रजा को पूर्ण अधिकार दे सबल बनें, और हमारी मातृभूमि के वास्तविक मुकुट-मणि कहलावें।

चाँदकरण शारदा

उत्पादन पर मज़दूरी



मज़दूरी के जटिल प्रश्न पर विचार करने से विदित होता है कि मज़दूरी तैयार माल के परिमाण पर, व्यय और मुनाफ़े का हिसाब लगाकर, दी जाती है। इस हिसाब में मज़दूरों की कार्यक्षमता पर अधिक ध्यान देना पड़ता है।

हिंदोस्तानी मज़दूर अत्यंत परिश्रमी हैं, कुशल शिल्पी हैं, और जो काम उन्हें सौंपा जाता है, उसे ख़ूबी के साथ करते हैं। पर, फिर भी, अन्य देशों के मुक़ाबले में पिछड़े हुए हैं। उनमें, औद्योगिक शिक्षा का सर्वथा अभाव है। मज़दूरों को औद्योगिक शिक्षा की कमी, प्रांत प्रांत के विभिन्न जल-वायु और अन्य प्राकृतिक कारणों द्वारा हमारे देश की मज़दूरी महँगी पड़ती है। भारतीय उद्योग की इस नाज़ुक हालत में, अन्य देशों की अपेक्षा, उत्पादन की दृष्टि से, कारख़ानों के संचालकों को अधिक ख़र्च करना पड़ता है। इसका प्रधान कारण यह है कि हमारे देश में दूसरे देशों की तरह सब प्रकार के साधन मौजूद नहीं हैं। हमें सदैव कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

किसी राजनीतिक कारण से नहीं, बल्कि व्यावसायिक दृष्टि से मज़दूरों को अच्छी मज़दूरी देना सदैव लाभदायक सिद्ध हुआ है। पहले तो परिश्रमी और कुशल शिल्पी उत्तेजना पाते हैं, और उनके परिश्रम की शक्ति नष्ट नहीं होती। दूसरे काम अच्छा तैयार होने पर कारख़ाने को भी लाभ होता है। हमारे देश के कारख़ानों में कच्चा माल कम नष्ट होता है, और देख-भाल करने की भी कम ज़रूरत पड़ती है। खेद है कि इतने पर भी हमारा देश शिल्प में पिछड़ा हुआ है। मज़दूरों की सुस्ती और अयोग्यता ने शिल्प को बहुत हानि पहुँचाई है। मज़दूर-दल अभी बुरी दशा में है। हमारा शिल्प संगठन-रहित है। यद्यपि कुछ व्यापारियों ने कारख़ाने खोलकर ख़ूब धन पैदा किया है, तथापि उससे देश को कुछ लाभ नहीं हुआ; क्योंकि उन्होंने उद्योग में पुनः धन के विनिमय का प्रयत्न नहीं किया। महायुद्ध के समय जब लंकाशायर के कारख़ाने गोला-बारूद बनाते थे, तब तो हम चुप ही बैठे रहे। हम इँगलैंड के स्थान पर जापान और अमेरिका से माल मँगाते रहे। इस समय भी, जब कि विदेशी कपड़े पर ज़कात-कर लगाया गया है, हुंडावन हमारे विपक्ष में है। और, स्वदेशी आंदोलन देश में विद्यमान है, तो भी हम चेष्टाहीन हैं, तथा विदेशी कारख़ानों का मुक़ाबला करने के लिये मज़दूरों की त्रुटियों को दूर नहीं करते। शिल्पोन्नति के लिये मज़दूरों का योग्य होना अत्यंत आवश्यक है। हमारे महान नेता, जो भारत में घर-घर चर्खा चलाने की अपील करते हैं, वह हमारी समझ में ठीक करते हैं।

हमारा देश अत्यंत ग़रीब हो गया है। कई करोड़ भारत-वासियों को वर्ष-भर एक कपड़े में गुज़र करनी पड़ती है। एक सम्मानित देशभक्त की पत्नी से बिहार की महिलाओं ने कहा था कि आपके पति हमें स्वच्छ रहने का उपदेश देते और कहते हैं कि प्रतिदिन स्नान करना चाहिए— पर हम क्या करें ? हमारे पास तो पहनने के लिये एक ही वस्त्र है, और यदि वह गीला हो जाय, तो हम अपने

शरीर को कैसे ढकें। इसलिये प्रत्येक गृह में चर्खा चलने लगे, तो फिर भारत को वस्त्र के लिये विदेशों का मुँह न ताकना पड़े।

यदि प्रत्येक गृह में एक ही स्त्री नित्यप्रति चर्खा काते, तो भी वह वर्ष भर के सूत से अपने छोटे परिवार की आवश्यकताएँ पूरी कर सकती है।

यह उद्योग भारतीय शिल्प को उत्तेजन देने के लिये अत्यंत आवश्यक है। हमारे देश के किसान आठ महीने हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहते हैं। उनके लिये जीविका-उपार्जन का यह सबसे अच्छा उपाय है। यह उन लोगों का कार्य है, जो कारखानों में काम नहीं करते। पर मज़दूरों की सारी शक्ति कारखानों में लगती है। उन्हें तो अपनी उन्नति शीघ्र ही करनी चाहिए। वे अपनी उन्नति करके ही कारखानों की उन्नति कर सकते हैं। मज़दूरों में वृद्धि हो, और नए तरीक़ों से मज़दूरी दी जाय—यह सब मज़दूरों के प्रयत्न पर निर्भर है। यदि उनमें अपनी उन्नति की आकांक्षा न हो, तो उनके लिये कैसे भी अन्य सिद्धांत स्थिर किए जायँ, और कितने ही सुबीते या रियायतें की जायँ, कुछ सफलता न होगी। एक विद्वान् लेखक के कथनानुसार यदि मज़दूरों से काम की कार्य-क्षमता की रक्षा होती हो, तो उचित मज़दूरी देने में त्रुटि नहीं करनी चाहिए। यदि कारखानेवाले उचित मज़दूरी देने को तैयार भी होते हैं, तो मज़दूर पूरा काम करके उसे प्राप्त करने का लाभ नहीं उठाते। वे बहुत सुस्ती और बेपरवाही से रहना चाहते हैं। मज़दूरों के प्रति यह सबसे बड़ी कठिनाई दृष्टिगोचर होती है कि वे कुशल शिल्पी बनने का प्रयत्न ही नहीं करते। वे स्वयं ही बुरी दशा में रहना चाहते हैं। कारखानों के संचालकों को भी यह बात याद रखनी चाहिए कि जब मज़दूर अपनी उन्नति करेंगे, तभी उनके कारखानों की उन्नति होगी। मज़दूरों को ऊपर उठाना कारखानेवालों के हाथ में है। इस विषय में मज़दूर और मालिक, दोनो दोषी हैं। यह दोष एक की बेपरवाही और दूसरे के प्रमाद के कारण है। अनेक बार यह भी देखा गया है कि कारखानों के संचालक उचित उपाय और नई प्रणालियाँ खोज निकालने में नाकामयाब होते हैं; क्योंकि वे सारा काम अपने सहकारियों को सौंप देते हैं, जो अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य-संचालन करते हैं। ऐसी दशा में, आवश्यकता होने पर, जो कारखानेवाले, कार्य से पूर्ण अनभिज्ञ होते हैं, वे कुछ नहीं कर सकते। पर सुव्यवस्थित कारखाने के संचालकों को खुद भी कार्य करना चाहिए, उन्हें आवश्यकता पड़ने पर मज़दूरों से भी सलाह लेनी चाहिए। दोनो ही एकत्र होकर, नए वैज्ञानिक सिद्धांतों को खोजकर, कारखानों की उन्नति करें।

वर्तमान कारखानों की उन्नति न होने का एक कारण पर्याप्त पूँजी का अभाव है। यदि बड़ा कारखाना खोलना हो, तो उसमें उपयुक्त कलें न मँगाने की मितव्ययता दिखाना सर्वथा अनुचित है। यदि हाथ की कलों का कारखाना हो, तो हाथ की कलें, और यदि विद्युत् से चलनेवाला कारखाना हो, तो उस प्रकार की उपयुक्त मशीनें मँगानी चाहिए। अच्छी कलें मँगाने में संकोच करना अपनी ही हानि करना है। फिर सस्ती और हलकी कलें बहुत कम चलती हैं, और उनकी दुरुस्ती का ख़र्च हर समय कारखानों को उठाना पड़ता है। असली कलों को भी हर समय बदलते रहना चाहिए; क्योंकि बिलकुल पुरानी होने पर उन्हें बेचने से कारखानों को नुक़सान उठाना पड़ता है। समय की प्रगति के साथ उचित परिवर्तन होने चाहिए। इस समय परिस्थिति सुधारने के लिये बड़े प्रयत्न की आवश्यकता है।

कारखानों में मज़दूरों को मज़दूरी देने का भी कोई उचित प्रबंध नहीं है। कारखानों के संचालक मज़दूरों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जिससे दोनो में सहयोग होना कठिन दिखाई देता है। कारखानेवालों को मज़दूरों को मनुष्य समझकर सदैव आदर की दृष्टि से देखना चाहिए। मज़दूरों से ही असल में मालिक को लाभ होता है।

मज़दूर भी मज़दूरी बढ़ाने के लिये सदैव पुकार मचाए रहते हैं; किंतु अपनी हालत नहीं सुधारते। मज़दूरवर्ग काम करने के समय का प्रश्न भी हर समय उपस्थित करता है। इधर कारखानों के मालिक अधिक मुनाफ़ा अपनी जेब में रखते हैं, इसलिये मज़दूरों का उनके प्रति द्वेष-भाव रहता है। पर ये सब त्रुटियाँ उचित प्रबंध द्वारा दूर हो सकती हैं। मज़दूरों को उत्तेजना देना सफलता-जनक सिद्ध हुआ है। इस उत्तेजना से उद्योग की सदैव उन्नति होती है। कारखानों की उन्नति होने पर मज़दूर भी अधिक धन उपार्जन करते हैं, और उनकी शारीरिक अवस्था में भी उन्नति होती है। मज़दूरों को उत्तेजना मिलने पर वे अधिक काम करने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये जहाँ मज़दूरों

को अधिक और अच्छा काम करने के लिये उत्तेजना दी जाती है वहां वे निस्संदेह पूरी मिहनत के साथ काम भी करते हैं। इससे कारख़ानों को वास्तव में सफलता भी प्राप्त हुई है। इँगलैंड और अमेरिका के कारखानों की उन्नति का मूल कारण उत्तेजना देना ही है। जहाँ मज़दूरों से बिना उत्तेजना दिए काम लिया जाता है, वहाँ कारख़ाने-वालों को हताश होना पड़ता है, और उस अवस्था में बड़े-बड़े कारख़ानों के दरवाज़े बंद हो जाते हैं।

हिंदोस्तानी मजदूर

इस विषय में और कुछ जानने के पूर्व हिंदोस्तानी मज़दूरों के गुण-दोष बताना आवश्यक है। यह हमारा कर्तव्य है कि हम उनके विषय में स्पष्ट रूप से लिखें। हमारी शिल्पोन्नति का दारमदार हमारे देश के मज़दूरों पर ही है। ऐसी दशा में, हमारी समझ में उनकी त्रुटियाँ दूर करने की आकांक्षा से, उनके विषय में कुछ लिखना अनुचित न होगा। हम जानते हैं, हमारे मज़दूरों में बहुत-सी कमज़ोरियाँ हैं। परंतु उनको दूर करना भी तो हमारा कर्तव्य है। कई विद्वानों ने इस विषय पर विचार किया है। पर दो-एक भारतीय विद्वानों ने इस ओर अधिक ध्यान दिया है। उन सबके मतानुसार हिंदोस्तानी मजदूर पूर्ण परिश्रम के योग्य हैं, और प्रत्येक कला सीखने की क्षमता रखते हैं; किंतु इस समय बड़ी बेपरवाही से काम करते हैं। यद्यपि हमारे यहाँ के शिल्पी अच्छे दस्तकार हैं, तथापि उनकी दस्तकारियाँ एक परिमाण में नहीं होतीं। उनमें कुछ-न-कुछ अंतर होता है। यह सबसे बड़ी त्रुटि है। उनके माल का कोई माप दंड नहीं। इसी से उनके माल की कोई पहचान नहीं होती। उनके माल के भिन्न-भिन्न परिमाण और स्वरूप होने के कारण बाज़ार में ग्राहक चक्कर में पड़ जाते हैं। एक भारतीय विद्वान् का कथन है कि इन त्रुटियों के अतिरिक्त भारतीय शिल्पी बेपर्वा और आलसी भी होते हैं; बिना निगरानी किए उनके भरोसे काम नहीं छोड़ा जा सकता। राज्य और कारख़ानों की सहायता के बिना वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते। हमारे कारखानों में काम सस्ता और अधिक होने पर भी महँगा पड़ता है; क्योंकि हमें मज़दूरों की निगरानी में अधिक ख़र्च करना पड़ता है; यही विद्वान् लेखक आगे चलकर कहते हैं कि उनमें उद्योगी बनने की अभिलाषा नहीं पाई जाती। वे अपने भाग्य को सर्व-श्रेष्ठ समझते हैं। वे अपनी उन्नति करने के लिये अधिक परिश्रम नहीं करना चाहते। उनमें यह भावना भी नहीं कि उच्च-से-उच्च कोटि का माल तैयार कर दूसरी जातियों को शिल्प में परास्त कर दें।

यद्यपि हम उक्त विद्वान् लेखक की सभी बातों से सहमत नहीं; परंतु वह जो कुछ कहते हैं, वैसी बहुत-सी त्रुटियाँ हमारे मज़दूरों में ज़रूर हैं। यह बात भी ठीक है कि मज़दूरों पर ही सब दोष नहीं मढ़े जा सकते। समय की गति के साथ वे भी अपनी अवस्था सुधार रहे हैं। परंतु उनकी इन त्रुटियों का मुख्य कारण शिक्षा और शिल्प-ज्ञान का अभाव है। इन दो बातों की पूर्ति होने पर वे योरप और अमेरिका के मज़दूरों की अपेक्षा अधिक उन्नति कर सकते हैं। शिक्षा उन्हें समझदार, अभिलाषी, चेष्टावान्, उद्योगी और चाव से काम करने-योग्य बनावेगी। उससे उनमें उच्च जीवन की अभिलाषा उत्पन्न होगी। हमें उन्हें उन्नति के पथ पर अग्रसर करना चाहिए, जिससे वे स्वयं अपने कर्तव्य को पहचान लें। जब उन्हें देश और समाज के प्रति अपना कर्तव्य ज्ञात हो जायगा, तो उन्नति होने में देर न लगेगी। वे स्वयं ही व्यावहारिक दृष्टि से अपने जीवन के प्रश्नों पर विचार करें। हम उन्हें मितव्ययी बनावें, और उनकी आदतों को ऐसे साँचे में ढालें, जिससे वे भूलकर भी अपना धन बुरे कामों में न नष्ट करें। यह होने पर वे अवश्य अपना जीवन सुख-पूर्वक व्यतीत कर सकेंगे।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हिंदोस्तानी मजदूर ज़्यादा आराम-तलब हैं। यदि इसका यह अर्थ है कि वे रोज़ाना परिश्रम की थकावट से भी अधिक आराम करना चाहते हैं, तब तो निस्संदेह उनमें यह खेद-जनक दोष है। पर यदि वे अधिक परिश्रम करके आराम करना चाहते हैं, तो उन्हें व्यसन-रहित आराम करने देना चाहिए। खेद की बात है, हिंदोस्तानी मज़दूर भूखे रहकर भी बुरे कामों में अपना धन नष्ट कर व्यर्थ आराम करते हैं। हमारी समझ में ये त्रुटियाँ प्राथमिक शिक्षा मिलने पर दूर हो सकती हैं। कारख़ानों में मज़दूरों के काम पर सदैव ध्यान रक्खा जाय, और उन्हें अधिक काम करने के लिये सदैव उत्तेजना दी जाय।

योरप और अमेरिका के मज़दूर भी आराम तलब हैं; किंतु वे उच्च श्रेणी का जीवन व्यतीत करते हैं। अमेरिका के मज़दूरों को शराब पीने की क़तई मनाही है। इसलिये

उनको शारीरिक शक्ति नष्ट नहीं होने पाती। वहाँ के मज़दूर शिक्षित हैं, और शिल्प-कला में पूर्ण निपुण। वे अपने कर्तव्य को समझते हैं, और अपने उद्योग की वृद्धि कर अधिक धन-संचय करते हैं। यहाँ पर हम विदेशी मज़दूरों का उदाहरण इसलिये दे रहे हैं कि उन्होंने शिल्प और व्यापार को अपने हाथ में कर लिया है। हमारे देश के मज़दूरों को अभी ये सब बातें सीखनी हैं। हमारा किसी देश से किसी बात में मतभेद भले ही हो, किंतु अच्छी बात हम किसी भी देश से बिना संकोच के हर समय सीख सकते हैं। हमारी ऐसी उपेक्षा के ही कारण आज हमारी यह दुर्दशा हो गई है। अँगरेज़-जाति में यह एक विशेष गुण है कि वे जहाँ गए, वहाँ की बातें सीखकर, उन्हें अपने साँचे में ढालकर, अपनी उन्नति की। सभ्यता किसी एक जाति की मिलकियत नहीं। एक के पास होने पर दूसरा भी उसे प्राप्त कर सकता है। इसलिये हमारे मज़दूर शिल्प संबंधी ज्ञान प्राप्त कर अपनी उन्नति कर सकते हैं। किंतु हम उन बातों को हिंदोस्तानी साँचे में ढालकर ही सीखें। अंधे बनकर पश्चिम की नक़ल करना हानिकारक होगा।

हर्ष की बात है कि आज हिंदोस्तानी मज़दूर कुछ समझ रहे हैं, और उनमें अधिक धन कमाने की भावना पैदा हो गई है। जहाँ के मज़दूरों में यह भावना नहीं पैदा हुई, वहाँ उत्तेजना देकर उन्हें ऊपर उठाना निष्फल सिद्ध हुआ है। उत्तेजना द्वारा मज़दूरों ने अवश्य ही थोड़ी-बहुत उन्नति की है; किंतु अशिक्षित और व्यसनी होने के कारण वे इस उत्तेजना से कोई लाभ नहीं उठा सके। उत्तेजना हर एक मज़दूर को अच्छा और अधिक काम करने के लिये उत्साहित करती है। एक दूसरे विद्वान् का कथन है कि हमारे मज़दूरों में ही सब त्रुटियाँ नहीं हैं। वह कहते हैं, मज़दूरों में श्रम की कार्य-क्षमता न होना, काम करने का अधिक समय, हिंदोस्तानी कारख़ानों का स्वास्थ्य नष्ट करनेवाली क्रियाएँ, कार्यकर्ताओं की कमज़ोरी, मज़दूरों का बुरा बर्ताव और उनकी लापरवाही आदि बातें शिल्प-क्षेत्र में बाधाएँ डालती हैं। मज़दूर अपनी शक्ति का उपयोग और अपनी ज़िम्मेदारी नहीं समझते।

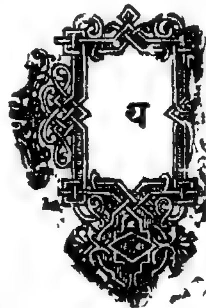
हमारी समझ में सब त्रुटियों का कारण प्राथमिक शिक्षा का अभाव है। शिक्षा प्राप्त होने पर मज़दूर स्वयं अपनी दशा सुधारकर सब त्रुटियाँ दूर कर सकेंगे। हमारे मज़दूरों में श्रम की कार्य-क्षमता के अंतर्गत शारीरिक शक्ति, नियम-निष्ठा, ईमानदारी, प्रवीणता, उद्यम, होशियारी और ध्येय-प्राप्ति में तन्मय होना आदि गुण भी हैं, और प्राथमिक शिक्षा से इन गुणों का सहज ही विकास हो सकता है।

कारख़ानों के क़ानून के अनुसार, अन्य देशों की अपेक्षा, हिंदोस्तानी मज़दूरों को अधिक समय तक काम करना पड़ता है। एक अनुभवी विद्वान् का यह कथन भी ठीक है कि हिंदोस्तानी कारख़ानों में विदेशी कारख़ानों की अपेक्षा अधिक व्यय करना पड़ता है। अच्छा-से-अच्छा हिंदोस्तानी कारख़ाना, एक अँगरेज़ी कारख़ाने के मुक़ाबले में अपरिमित परिश्रम करने पर भी, ६५ से ६६ फ़ी सैकड़े तक माल तैयार करता है। हिंदोस्तानी कारख़ानों में अँगरेज़ी कारख़ानों की अपेक्षा अधिक मज़दूर काम करते हैं; और यह कई लोगों के अनुभव की बात है कि जहाँ हिंदोस्तानी कारख़ानों में एक काम को छः आदमी करते हैं, वहाँ उसी काम पर लंकाशायर के कारख़ानों में एक आदमी नियुक्त किया जाता है।

जी० एस्० पथिक

बर्लिन से पेरिस

(१)



यदि कोई मुझसे पूछे कि पेरिस कब जाना चाहिए, तो मैं तुरंत उत्तर दूँगा—बारहों मास; लेकिन जब पास फ़िज़ूल पैसा न हो। आप कहेंगे, यह भी ख़ूब कही। जब पास फ़िज़ूल पैसा न हो, इसका क्या अर्थ? कभी किसी के पास फ़िज़ूल पैसा भी हुआ है? यह भी सच है। मैं स्वीकार करता हूँ; क्योंकि जोधपुर के महाराज १८ लाख रुपए की रक़म स्वाहा कर गए; पर कोई उनसे कहे तो कि श्रीमन्, आपने यह फ़िज़ूलख़र्ची की। भला ये राजे-महाराजे कब फ़िज़ूलख़र्ची करते हैं। जो हो, मेरे कहने का मतलब यह है कि पेरिस में तब जाना ठीक है, जब जेब में तीन-चार रुपए रोज़ रहने और खाने-पीने तथा रुपया-डेढ़ रुपया रोज़ वहाँ के उत्तम संग्रहालयों

(अजायबघर) की सैर करने आदि के लिये हो। पास में अधिक पैसा रहने से मैं तो बहुत जल्दी बिगड़ जाऊँ। पग-पग पर प्रलोभन हैं। भला कितने जीते बा सकते हैं? अस्तु, भगवान् ने मुझसे उचित ही मौक़े पर पेरिस की यात्रा करवा दी।

पास पैसे नहीं थे, विद्यालय में छुट्टियाँ थीं, एक मित्र बोले—"क्योंजी, पेरिस नहीं चलोगे?" मैंने कहा, आज शाम की गाड़ी से चलो, तो भी तैयार हूँ। वह बोले, तो लो जल्दी पुलीस से जर्मनी छोड़ने की आज्ञा। बात-बात में जाने की ठहर गई। तीसरे दिन सुबह पेरिस की गाड़ी में बैठ गए। बर्लिन छोड़ा, हानोवर पहुँचे। हिंडनबर्ग का बँगला यहीं है। यहीं उनकी ज़मींदारी भी है। रेल से ही उसके दर्शन किए। आगे बढ़े। राइन-प्रदेश रास्ते में पड़ा। ड्यूसलडार्फ से रेल-पथ के दोनों ओर बड़े-बड़े कारख़ाने शुरू हुए। रेल मानो उड़ी जा रही है, पर इनका अंत नहीं। कई स्टेशनों पर रेल रुकी। ऐसा मालूम होता था, मानो एक बड़े शहर के भीतर ये स्टेशन आ रहे हैं। डार्टमंड (Dortmund) तक यही हाल रहा। यह प्रदेश कल-कारख़ानों के लिये प्रसिद्ध है। वैसे तो जर्मनी-भर में सर्वत्र कारख़ाने-ही-कारख़ाने हैं, किंतु इस ओर कोयले की खानों तथा राइन का किनारा होने से इनकी अत्यंत प्रचुरता है। यहीं क्रुप का जगत्प्रसिद्ध लोहे का कारख़ाना है। इसकी तोपों की सहायता से एक बार जर्मन-जाति ने शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिए थे। ब्रिटिश-सिंह इनके गर्जन से भयभीत हो गया था; फ्रांस के प्राण सूख रहे थे; रूस अपने भाग्य को रो रहा था कि युद्ध में घुसा क्यों? एसेन में वह कारख़ाना अब भी है; किंतु अब लोहे की मशीनें बना रहा है। अब यह हथियार नहीं बना सकता। जहाँ कुछ साल पहले हॉविट्ज़र तोप बनती थी, वहाँ अब ज़मीन जोतने के हल बन रहे हैं। वास्तव में क्रुप के कारख़ाने में सत्ययुग या गांधी-युग आ गया है। किंतु कोई क्रुप तथा उसकी जातिवालों के हृदय से तो पूछे, जर्मनों से बात तो करे। क्या वे युद्ध छोड़ना चाहते हैं? क्या वे चाहते हैं कि जो हुआ, सो हुआ, अब भविष्य में संसार में शांति रहे, तो अच्छा? इसका प्रमाण मुझे क्रोयनहासन-नामक स्टेशन पर मिला। मैं गाड़ी के बरामदे में गार्ड के साथ बात कर रहा था। गाड़ी रुकी। कुछ लड़के अंदर चढ़ आए। ये छात्र थे, यहाँ स्कूल में पढ़ते थे। किंतु इनका घर था दो स्टेशन की दूरी पर। इसलिये प्रतिदिन आया-जाया करते हैं। गार्ड बाहर गया। मैंने इन लड़कों से बात करनी शुरू कर दी। यह जानने पर कि मैं भारत का हूँ, उन्होंने अँगरेज़-जाति के विरुद्ध अपने उद्गारों की झड़ी लगा दी। स्वाधीनता की महिमा गाई। फ्रेंच भी न छूटने पाए। भला वे कैसे छूटते? वे ही तो असल शत्रु हैं। इनसे लड़ने को यहाँ का बच्चा-बच्चा तैयार है। यह है जर्मन-जाति, जो विजेता के तलवे चाटने को तैयार रहती है! जो हो, इस जाति में मातृ-भूमि के प्रति अटल भक्ति है। स्वदेश के लिये सर्वत्र बलिदान करने की प्रचंड अभिलाषा है; साथ ही सजग होने के कारण, गिर-गिरकर उठने की शक्ति भी है। मुझे इन छात्रों को देख हिंदू-जाति का दुःखदायी स्मरण हो आया। एक ये लोग हैं, जो देश-प्रेम के मद में मतवाले हैं; जिनके नादान विद्यार्थी भी भली भाँति समझते हैं कि "अगर नाव डूबी, तो डूबेंगे सारे।" दूसरी ओर हिंदू हैं। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् काशीधाम में ज्ञान के हिमालय की तरह पड़े हुए पड़े हैं। जीवन-लीला समाप्त होने को है। दशा "अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्" हो गई है। किंतु संस्कृत-साहित्य की छानबीन उसी उत्साह और कर्मण्यता से कर रहे हैं, मानो नवयुवक हों। हृदय कितना पवित्र है, आत्मा कितनी निर्मल है, शत्रु के प्रति भी मन में बुरे विचार नहीं उठते। लेकिन इनसे कोई पूछे तो कि हिंदू-'धर्म', संस्कृति और जाति की कल्याण-कामना का क्या अर्थ है? ये संस्कृत के शब्द इनको अरबी के-से जँचते हैं। भले ही कोई विद्वान् इनका वैयक्तिक अर्थ कर दे, यानी कुछ प्राचीन इतिहास और उदाहरण उपस्थित कर प्रत्येक हिंदू को मुक्ति का मार्ग बता दे; पर देश की दुर्दशा, जातीय ह्रास, सामूहिक जनक्षय, फलतः धर्म, संस्कृति और जाति-पतन उनके ध्यान में आता ही नहीं। इससे बड़े दुर्भाग्य की बात जाति के लिये और क्या हो सकती है?

प्रायः बीस मिनट बाद लड़के उतर गए। इनकी शालीनता आदर्श थी। स्वाधीन भारत की कामना करते हुए ये दृष्टि से ओझल हो गए। मेरे दिल में तूफ़ान उठने लगा। एक जाति यह है, जो एक ठोकर खाने से दस सबक सीखती है; और एक हम हैं, जो आठ सौ सालों से धक्के-पर-धक्के खाते आ रहे हैं, लेकिन आँखें नहीं खोलते! अपनी अनीति, अधर्मीपन और अज्ञान ने राम, कृष्ण तथा बुद्ध के सात करोड़ पुजनेवालों को उन्हीं की जड़ खोदने-

वाला बना दिया। और, उस पर यह समझे बैठे हैं कि पतितपावन — जिसने स्पष्ट वाणी में कहा है कि असली पंडित वही है, जो विद्या और विनय से संपन्न ब्राह्मण, गऊ, हाथी, कुत्ते और मांस-भक्षी चांडाल को समान देखता है—हमारी आत्मा को देखते ही छाती से लगा लेगा। (यह संभवतः राम, कृष्ण और बुद्ध के भक्तों की संख्या कम करवाने का पुरस्कार हो!) बग़ल के डिब्बे में एक जर्मन-दंपति बैठे थे। गाड़ी में यात्री थोड़े थे—एक-एक डिब्बे में एक-एक, दो-दो आदमी। सबको स्वभावतः एकांतवास से थकन आ घेरती है, किसी दूसरे से—स्वाद बदलने के लिये—गपशप लड़ाने को तबीयत चाहती है। इनको हमसे बात करने की इच्छा हुई। हम भी यही चाहते थे। मालूम हुआ, ये अर्जेंटाइना में बस गए हैं। इस बार जर्मनी में राइन-प्रदेशवालों ने उत्सव मनाया था कि भगवान की कृपा से और जर्मन-जाति के प्रबल स्वातंत्र्य-प्रेम के कारण हम हज़ार साल से जर्मनी के साथ हैं। इसका उद्देश्य जर्मनी की राष्ट्रीयता को दृढ़ करना था। प्रवासी जर्मनों ने भी इस उत्सव में बहुसंख्या में तथा हृदय से भाग लिया था। संसार के सब भागों में बसे हुए जर्मन, गुड़ के पीछे भागती हुई चींटियों की तरह, दौड़े हुए आए थे। इस कारण इनका अपना स्वतंत्र उत्सव हो गया। संसार के सब कोनों, सब दिशाओं से मातृभूमि की उत्कट, अटल और विशुद्ध भक्ति से खिंचे हुए जर्मन-राष्ट्र के अनन्य उपासक, चुंबक द्वारा खिंचे हुए लोहे की तरह, परस्पर गले मिले। जो प्रेममय आनंद इन्होंने लूटा, वह स्वर्गीय ही कहा जा सकता है। इस अमृत-रस का पान कर ये पति-पत्नी अर्जेंटाइना वापस जा रहे थे। बहुत छुटपन में ये दक्षिणी अमेरिका चले गए थे। अब चालीस साल बाद मातृभूमि के चरणों में श्रद्धा की भेंट चढ़ाने पुलकित हृदय से आए थे। और, अब मातृभूमि की स्मृति, उसकी संस्कृति तथा सभ्यता-रूपी प्रसाद लेकर, उसका यश धवलित करने फिर वहीं को लौट रहे हैं। यही क्यों? हज़ारों (५०-६० हज़ार) जर्मन, विश्व के प्रत्येक खंड में, माता का मुख उज्ज्वल करने का व्रत धारण करके, जर्मनी और जर्मन-जाति की जय का नारा मारते हुए मोतियों की तरह बिखर रहे हैं। जब जर्मनी की वर्तमान दशा और उसकी पराजय पर बात हुई, तो इनके गले भर आए। फिर वह गंभीरता-युक्त उत्तेजना इनमें दिखाई दी, जो भारत के दुर्भाग्य से वहाँ कम देखने को मिलती है। मुझे कठोर, किंतु मर्मस्पर्शी अनुभव हुआ कि 'यद्यपि जग दारुण दुख नाना ; सब ते कठिन जाति-अपमाना।''

इस असह्य अपमान की ज्वाला, हृदय को व्याकुल कर देनेवाले इस भीषण लांछन का अंधकारमय स्वरूप, मेरी आँखों के सामने, अमावास्या की काली रात के श्मशान के समान, खड़ा हो गया। चित्त पागल होने लगा। उनकी बातें सुनने की ताक़त न रही। Auf wiedersehen कहा। अपने डिब्बे में भाग आया। कुछ देर के लिये गया। कोलोन में जब गाड़ी रुकी, तब होश आया। यहाँ लाइन ख़तम हो जाती है। लेकिन हमारा डिब्बा पेरिस की गाड़ी में जोड़ दिया गया। आध घंटे ठहरना पड़ा। स्टेशन से बाहर गए। अँगरेज़ी पुलिस, अँगरेज़ी पहरा है। सबको पूरी स्वतंत्रता है। जर्मन यहाँ आनंद में हैं। हाँ, विदेशी सैनिक इन्हें यमदूत-सा दिखाई देता है। मन में बदले की आग धधकने लगती है। Deutschland! Deutschland!!—Ueber Alles (जर्मनी! जर्मनी! तू सबसे श्रेष्ठ और सर्वोपरि है—'सकल देशेर सेरा' है) गानेवाले, अँगरेज़ सिपाही देखते ही, उसे मन-ही-मन—Du Verfluchter Auslaender—तू बदमाश विदेशी—कहे बिना कैसे रह सकता है। कोलोन में किसी जर्मन से अस्थायी अँगरेज़ आधिपत्य का ज़िक्र कर दीजिए। फिर तमाशा देखिए। जर्मन का थोथा हृदय क्या विष उगलता है। अस्तु, कोलोन बड़ा नगर है, व्यापार का केंद्र, कारख़ानों का अड्डा है। राइन के किनारे दृश्य भी बड़ा सुंदर है।

शाम को आठ बजे गाड़ी छूटी। आखन (Aix la chapele) पहुँचे। बात-की-बात में ड्यूरन आया। बस, जर्मनी ख़तम। फ़ौरन बेलजियनों ने रेल पर अधिकार कर लिया। रूखे और सिपाहियाना तबियत के Herr (हर) उतर गए, और लम्बनवी मिज़ाज के Monsieur (मोशिए) चढ़ आए। जर्मन यात्री भी यहाँ ऐसे ग़ुम हो गए, जैसे गधे के सिर से सींग। गाड़ी ख़ाली हो गई। डिब्बों में कई बेलजियन घुसे। हमारे में भी एक सज्जन आए। कस्टम हाउस के अफ़सर तथा पासपोर्ट देखनेवाले भी हमारे पास आए। इन दुबले-पतले छैल-छबीलों को देखकर ख़याल आया कि ये लोग जर्मनी के विरुद्ध क्या लड़े

होंगे ! जर्मन-भेड़िए के सामने ये मेमने की भी हस्ती नहीं रखते ! जर्मनों का स्वास्थ्य देखिए शरीर का गठन देखिए। लंबे-चौड़े ख़ूबसूरत जवान अपनी चाल से ही कह देते हैं कि सामने कोई सिपाही आ रहा है। चेहरे में क्षत्रियत्व झलकता है। बहुधा क्रूरता और नीचता का सम्मिश्रण उसमें झलकता होता है। बेलजियन बेचारे ज़नाने मिज़ाज के आदमी। मुख से सौजन्य बरसता है। आँखें कहती हैं, हम मारकाट की नहीं, प्रेम की प्यासी हैं। कुछ लोग पुलीस की वर्दी पहने हुए आए थे। यह पोशाक सर्वसाधारण पर रौब जमाने और उनके हृदय में भय का संचार करने के लिये पहनी जाती है। किंतु इन्हें देखकर साफ़ मालूम पड़ रहा था कि किसी ने औचित्य-अनौचित्य का विचार न कर भेड़ को ज़बरदस्ती भेड़िए की पोशाक पहना दी है। मनुष्य में और वेश में कितनी असंगति है, कितना वैषम्य है! "जेन छोड़ मयूर काकपुच्छे।" इन्होंने हमसे दो-चार प्रश्न किए, और हँसते हुए दूसरे डिब्बे में चले गए। मैंने अपने नवागत सहयात्री से बात करनी शुरू की। वह फ्रेंच के अलावा अँगरेज़ी भी बोलता था। यह बेलजियम की वर्तमान स्थिति से पूर्णतया संतुष्ट है। राजा का भी भक्त है। उत्साह के साथ बेलजियम-नरेश की भारत-यात्रा का वर्णन करने लगा। हर तरह हमारी सेवा करने को तैयार था। इसकी साधु प्रकृति देखकर इस जाति के प्रति हृदय खिंचने लगा। जहाँ की पुलीस सिधाई और सरलता की मूर्ति है, वहाँ के आदमी क्यों न भले हों? अगले स्टेशन पर यह सज्जन उतर गए। लियज् (Liege) में गाड़ी खड़ी हुई। देखता क्या हूँ, पाँच-सात मुसलमान एशिया की पोशाक में बोरा-बँधना लिए गार्डों के इंतज़ार में खड़े हैं। दो-तीन काले हैं, और दो-तीन गोरे। पर सब गंदे। भगवान् को मनाने लगा कि यह बला हमारे डिब्बे से न चिमट जाय। ईश्वर ने पुकार न सुनी, और ये भाई मेरे ही पास आए। डिब्बा भर गया। इनके बोरों के भीतर से बदबू आ रही थी। ये सरासर फ़र्श पर थूकने लगे। इसकी मनाही है। जर्मन और फ्रेंच में, बड़े-बड़े हरफ़ों के, नोटिस चिपके हैं—Defense de cracher और richt Spucken; पर कौन इसकी परवा करता है। बाद को मालूम हुआ, इनमें एक भी पढ़ा-लिखा नहीं है। इसलिये इन्हें अपनी आदत छोड़ने की कैसे सूझती? इनका अज्ञान इनकी कैसी सहायता करता है। भाग्य-शाली हैं वे, जो पढ़ना-लिखना नहीं जानते; क्योंकि उन्हें वर्तमान सभ्य संसार के क़ानून-क़ायदे नहीं धवरा सकते। उन्हें ज़्यादा मुआफ़ी मिलती है। इसीलिये ईसामसीह ने कहा है—'बालक ईश्वर के बहुत नज़दीक हैं; क्योंकि वे अज्ञ हैं।' आदम और हौआ की घोर अपराध की फिलॉसफ़ी अब समझा। उन्होंने परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध ज्ञान का फल खाया था। फ़ौरन् मौत ने उन्हें घेर लिया। समझदार की ही मौत है। इन्हें क्या परवा। ये ज्ञान से स्वतत्र हैं। थोड़ी देर तक इनको देखता रहा। सूरत बड़ी ख़ूँख़्वार! हँसते, तो मूछ और दाढ़ी से ढका हुआ चेहरा अधिक भयकर मालूम पड़ता। छोटे डिब्बे में इन सबको स्थान न मिला। इसलिये एक आदमी बाहर आने-जाने की राह पर खड़ा हो गया। उसने अपने सहयात्रियों से बातचीत करने के लिये किवाड़ खोल दिए। कमरे में ठंडी हवा आने लगी। अब तो कुछ बोलना ही पड़ा। पर किस भाषा में इनसे बातचीत की जाय? ये आपस में न-मालूम कौन ज़बान बोल रहे थे। मैंने एक की तरफ़ देखकर कहा—"तुरक! अरब"। बेचारा बेवकूफ़ की तरह मेरी सूरत देखने लगा। एक ने कुछ समझा। बोला—"आलजर"। ये लोग आलजीरिया के हैं। मैंने कहा—"अब्दुलकरीम!" सब में एक तरह की भनभनाहट-सी होने लगी। मैं समझा कि ये इस नाम से प्रसन्न हैं। आख़िर इन्होंने उसको भी भीतर बुलाया, जो बाहर खड़ा था। वह थोड़ी फ्रेंच बोल लेता था। उससे बातचीत शुरू हुई। वह दुभाषिया बन गया; इससे ये लोग प्रसन्न हो गए; क्योंकि मुझे ये मुसलमान समझने लगे, और उस पर अब्दुलकरीम का हिमायती! रोटी और कच्चा प्याज खाने लगे। मुझे भी देने लगे, पर मैंने कहा—धन्यवाद! अभी भोजन किया है। नाक ढकने की नौबत आ गई। कुछ देर के बाद ये सब चेले हो गए। सब इस बात की चेष्टा करने लगे कि मुझे कष्ट न हो। यहाँ तक कि ख़ुद बाहर खड़े हो गए, और मुझसे बोले, आप आराम करें। एक बार जो इनसे कहा कि "मियाँ, ठंड है, किवाड़े हमेशा बंद कर दिया करो", तो वह ब्रह्म-वाक्य हो गया। जिसे सर-दार बना लेते हैं, उसके अंधभक्त भी हो जाते हैं। वह कहे, चलती रेल से कूद जाओ, तो फ़ौरन् बिना परिणाम सोचे कूद पड़ेंगे। इन्हीं मूर्ख, किंतु सैनिक क़ायदों के पाबंद, कट्टर मुसलमानों के भरोसे अब्दुलकरीम मोरक्को में स्वराज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहा था। इन्हीं को

संगठित करके शेख़ सनोसी बिना ताज का बादशाह बना हुआ है! अब तो इन्हीं का साथ रह गया। वे भी पेरिस आनेवाले थे। मुझे इस गंदगी में अब वह कष्ट न रहा जो आरंभ में मालूम पड़ा था। फ़्रांस की सीमा आई। प्रातःकाल पेरिस आ गया। आलजीरियों ने हमारा सामान उठाने में बड़ी सहायता की। हमें किसी प्रकार का कष्ट न रहा। स्टेशन से बाहर निकले। बड़े प्रेम से ये भाई विदा हुए।

(२)

पेरिस के दर्शन होते ही आप-से-आप मुँह से निकल पड़ा— "पेरिस की जय।" वास्तव में 'पेरिस की जय' कहने में कोई हानि नहीं। यह मैं इसलिये लिख रहा हूँ कि बहुत-से पाठक इस जय को बुरा समझते होंगे। गंगामाई की जय, प्रयागराज की जय, या लो० मा० तिलक की जय, म० गांधी



पवित्र पेरिस
(पेरिस का प्रतिष्ठाता स्यांजेने वियेव)

की जय ठीक है। पेरिस तो विलास-भूमि है, संसार के धनियों की क्रीड़ास्थली है, इसकी जय से दुनिया रसातल चली जायगी! नहीं, मेरे मुँह से 'जय' उसी पवित्र भावों के आवेश में निकली, जिनके वशीभूत होकर हमारे सरल-हृदय तीर्थयात्री या मामूली मुसाफ़िर भागीरथी का दर्शन पाते ही, किसी अज्ञात प्रेरणा के अधीन होकर, चिल्ला उठते हैं—"गंगामाई की जय।" जय-शब्द स्वयं पवित्र है। किसी भाषा में इसका समानार्थक शब्द नहीं मिलता। मुसलमान लोग 'अलह सलाम'-शब्द काम में लाते हैं, जिसका अर्थ 'ख़ुदा सलामत रक्खे' है। अँगरेज़ कहते हैं, God Save यानी ईश्वर रक्षा करे। फ़्रेंच vive यानी 'जीवित रहे' कहते हैं। जर्मन कहते हैं, es lebewohl, अर्थात् तंदुरुस्त होकर ज़िंदा रहो। पर 'जय' की किसी को न सूझी। यह इस कारण कि संसार की अन्य जातियाँ—मंगोलों का मुझे पता नहीं—ख़ुदा मानते हुए भी आध्यात्मिक नहीं। फल यह होता है कि परमात्मा से भी सांसारिक उन्नति के लिये ही दुआ करनी है। Give us this day our daily bread—यही उनकी प्रार्थना है। जिसे रोज़ बिस्तरे से उठते ही रोटी की फ़िक्र पड़े, वह ईसामसीह का यह आर्य-सिद्धांत कि man doth not live by bread alone, ईसाई होने पर भी नहीं समझ सकता। जब आप प्रतिदिन तीन-तीन बार भगवान् से यही कहेंगे कि हे दीनबंधो, हमें हमारी आज की रोटी दो, तो फिर इसका क्या यह अर्थ होगा कि रोटी का कोई महत्त्व नहीं? इसीलिये एक जर्मन पादरी ने मुझे समझाया कि रोटी तो ज़रूरी है। किंतु कुछ बातें और भी हैं, जो इससे कुछ कम महत्त्व नहीं रखतीं। इसके विपरीत हिंदू सब कामों में सर्वत्र कहते हैं 'कृष्णार्पणमस्तु'। ईश्वर से रोटी तो माँगते ही नहीं; क्योंकि वे जानते हैं कि उसने रोटी और पूरियों की दूकान तो खोल नहीं रक्खी है। उलटे जो भोजन करते हैं, वह भी उसके अर्पण। आर्य-विचार-स्रोत विशेष प्रणाली के भीतर बहा है। इसमें प्रत्यक्ष की उतनी महिमा नहीं, जितनी उसके भीतर बसनेवाले अप्रत्यक्ष की। शरीर की क्या महिमा है? वह तो प्रत्यक्ष होने पर भी चोला है, जो फट जायगा। फलतः उसके भीतर बसनेवाले का आदर करना उचित है; क्योंकि वह नित्य और शाश्वत है। इसीलिये हिंदू चिल्लाता है—लो० मा० तिलक की जय, और अन्य जातियाँ परमात्मा से प्रार्थना करती हैं कि वह उनके नेता का शरीर स्वस्थ रक्खे। अब इसका भेद देखिए। तिलक की जय का अर्थ यह नहीं है कि लोक-

मान्य चिरजीवी रहें। मतलब यह है कि—जिसे हरएक हिंदू जानता है—उनकी कीर्ति, उनके यश की विजय हो। उनके सिद्धांतों की जीत हम चाहते हैं। हम उस यशरूपी शरीर को दीर्घायु-कामना करते हैं, जो मरने के बाद भी अपनी कीर्ति अक्षुण्ण रखता है, जिसे जरा-मरण का भय नहीं छूता। यह हमारा आत्मिक भावना की प्रवृत्ति है। इसीलिये हमें 'जय'-शब्द का आविष्कार करना पड़ा। प्रत्येक जाति के शब्दों में उसकी विचार-धारा का इतिहास भरा हुआ होता है। जो हो, मैं उन पाठकों से, जो "पेरिस की जय" पढ़कर इसे उचित न समझें, निवेदन करूँगा कि मेरा मतलब उस विलास-भूमि से नहीं है, जो पेरिस-नामक नगर में संसार की वारांगना के रूप में वर्तमान है। असल पेरिस यह नहीं है। यह विदेशियों की कृति है, और उन्हीं को लुभाती है। मेरे ध्यान में वह पेरिस है, जिसने इधर क़रीब चार सौ साल से जगत् का दृष्टिकोण बदल दिया है। रूसो और वाल्टेयर के पेरिस की जय कौन नहीं मनावेगा? दाँते और रोबस्पियेर की लीलाभूमि को कौन प्रणाम नहीं करेगा? ला मार्तीन और रोस्थरोलों की 'प्यारी' को कौन प्रेम-दृष्टि से नहीं देखेगा? मेरे साथ आप उस गंदे नाले को भूल जाइए, जिसे अधर्मियों ने पतितपावनी त्रिवेणी में डाल रक्खा है। इससे उसकी कीर्ति, उसके प्रताप में कुछ कमी नहीं होती। उलटे उन्हीं पर कलंक लगता है, जिन्होंने यह काम किया है। इस दृष्टि से यदि धर्म के शत्रु धनी पेरिस को गंदा करें, तो अनातोले फ्रांस और होरी बारब्युस्से का क्या दोष? शुभ्र नाम में बट्टा नहीं लगता। मेरी नज़रों में पेरिस वह धवल नगरी है, जिसके प्रभाव से गंदगी सफ़ाई नज़र आती है। इस पापापहारी गंगा में मैले पदार्थ पवित्र हो जाते हैं। इसलिये आइए, इसकी जय मनाइए।



प्लास द ला टेपाटर का दृश्य

(२)

स्टेशन से बाहर निकलते ही तंग सड़कों और पुरानी इमारतों को देख मेरे मित्र बोले—'भई, क्या यह वही पेरिस है, जिसके बारे में राजा महेंद्रप्रताप ने एक बार लिखा था कि यहाँ की सड़कें शीशे की हैं?" यह मित्र प्रेम-महाविद्यालय में शिक्षा पा चुके हैं। मेरे इन मित्र को पेरिस के पहले ही दर्शन ने विरक्त कर दिया। यह बोले, मैं ज़्यादा दिन यहाँ नहीं टिकने का। इससे तो बर्लिन सौगुना अच्छा। सच बात है। मेरे मित्र की आँखों में पेरिस और बर्लिन का जैसा प्रतिबिंब पड़ा, वही उन्होंने अविकल रूप में शब्दों द्वारा व्यक्त कर दिया। बर्लिन साफ़-सुथरा है, वहाँ

की सड़कें चौड़ी, मकान अप-टु-डेट हैं, चटक-मटक का पूरा ध्यान रक्खा जाता है। पेरिस अधिकांश गंदा है मकान पुराने और बेतरतीब हैं। कहीं-कहीं तो कलकत्ते की चीतपुर-रोड का दृश्य, मय उसकी गंदगी के, पूर्ण रूप में उपस्थित है। कुछ मकान तो कलकत्ते के रद्दी-से-रद्दी मकानों से गए बीते हैं। इस अंश की बर्लिन-जैसे रमणीय नगर से क्या तुलना? स्वभावतः मेरे मित्र घबरा गए। मैंने उनसे कहा — "भई, तुम शायद धोखे में आ गए हो। यदि ऐसा जानते, तो यहाँ न आते। किंतु जो लोग यहाँ आते हैं, वे इसके भीतरी गुणों पर मुग्ध होकर ही। क्या भोग-विलासी, क्या कला-उपासक, दोनों के लिये बाहर की गंदगी कुछ बड़ा महत्त्व नहीं रखती। जो लोग यहाँ की इतिहास-धारा से परिचित हैं, उन्हें तो पुराने मकान और खँडहर न्यूयार्क और बर्लिन के नए भव्य भवनों से कई गुना अच्छे जान पड़ते हैं।" मित्र कुछ भी न बोले।

पेरिस विचित्र शहर है। इसका अपना अलग ही ढंग है। जिस प्रकार संसार में मनुष्यों का अपना-अपना अलग स्वभाव होता है, उसी प्रकार नगरों का भी। एक नगर दूसरे से नहीं मिलता। वहाँ के निवासी एक साधारण प्रकृति में ढल जाते हैं। उनकी रहन-सहन, रीति-रवाज, बोल-चाल, हाव-भाव आदि एक ख़ास तरह के बन जाते हैं। भारत में भी पुराने नगरों में यही बात है। लखनऊ, देहली आदि के निवासी अपनी साधारण नागरिक संस्कृति का परिचय देते हैं, और कलकतिया टाइप अपना अनोखापन दिखाता है। इस स्वभाव का परिचय तब स्पष्ट रूप से मिलता है, जब मियाँ साहब फ़ख्र के साथ कहते हैं — "जनाब, बंदे का ग़रीबख़ाना लखनऊ या देहली है।" इस ग़रीबख़ाने पर मियाँ की छाती फूल जाती है; क्योंकि यह ग़रीबख़ाना सचमुच फूस ही की झोपड़ी क्यों न हो, किंतु है उस नगर में, जहाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी उच्च कोटि की सामान्य संस्कृति गढ़ी जा रही थी। ये ऐसे नगर हैं, जहाँवालों ने अपनी अद्भुत कल्पना द्वारा भाषा में वह जान, वह मिठास भर दी है कि और स्थानवाले उसकी नक़ल भी न कर सके। लखनऊ की उर्दू में भाषा का ही चमत्कार नहीं है, मज़ा तभी आता है, जब लहजा लखनवी हो। उन्होंने अपना जीवन एक विशेष प्रणाली में बहाया था, और उसे सदा नए-नए ढंग से दृढ़ करते जा रहे थे। इसलिये इन स्थानों की अपनी-अपनी संस्कृति है, जिन पर उन्हीं की छाप है। काशी को ले लीजिए, अपना विशेष भाव, भाषा, विचार-शैली, अनूठापन रखती है। यही बात पेरिस की है। चूँकि यह शहर बहुत पुराना है, और यहाँ के निवासी सदा भावुक और कल्पनामय रहे हैं, इसलिये इन्होंने वह जीवन-प्रणाली स्थिर कर ली है जो कविजनोचित कही जा सकती है। पहली बात यहाँ पहुँचते ही यह जँचती है कि यहाँ के लोगों के चेहरे सहृदय और भाव-पूर्ण होते हैं, गोया दिल चेहरे के रास्ते भाव बनकर बहता है। किसी के मुख पर विषाद की रेखाएँ हैं, तो किसी के करुणा। उनकी आकृति बतलाती है कि यहाँ बाहरी रूप आभ्यंतरिक आत्मा की अभिव्यक्ति है। यह बात सब मनुष्यों और सभी जातियों के बारे में कही जा सकती है। किंतु यह साक्षात् छाया अन्यत्र इतनी स्पष्ट नहीं देख पड़ती। इसके अतिरिक्त फ़्रांसीसियों की आत्मा सदियों से करुणा-मधुर भावों में मँज गई है। अतः उसका बाह्य रूप बड़ा सुघर और सुरुचि-पूर्ण लगता है, और यह रस इनके रक्त में इस प्रकार मिल गया है कि छोटे-छोटे बच्चों के रूप में आप इसका प्रतिबिंब पावेंगे। यह इनका स्वभाव हो गया है, जो इनका उत्तराधिकार है। पेरिस की नौकर-नौकरानियाँ भी सुरुचि-युक्त और भावुक होती हैं। इनके मुख से फ़्रेंच जितनी मीठी लगती है, दूसरे की ज़बान से कदापि नहीं, भले ही कोई कितने ही सालों से वहाँ क्यों न बसा हो। यह भेद पहले ही दिन मालूम हो जाता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि क्यों फ़्रांस में साहित्य का अमर रस इस बहुतायत से बहा। सुरुचि-पूर्ण साहित्यिकों ने इस संस्कृति की उत्तरोत्तर वृद्धि करने में सहायता दी, तथा संस्कृति और भावुक जनता ने साहित्यिकों के लिये रस और भावों की गंगोत्री का काम किया। परस्पर के इस विनिमय ने आनंदमय 'कविता-रस' से जगत् को परिप्लावित कर दिया। यदि आपके आँखें हैं, तो आप तुरत रोम्याँ रोलाँ के पात्र ओलीविए (Olivier) और आंत्वानेत (Antionette) को पहचान लेंगे। सिलवेस्टर बोनार (ylvester Bonard), जेरोम क्वानियार (Gerome Coiynard) हर मोड़ में आपको मिलेंगे। पहले ही मुझे जाँ क्रिस्टोफर का उदात्त हृदय देखने को मिला। जर्मन सैनिकता की क्रूरता से भागा हुआ एक नवयुवक मुझे मिला। यह आलसस-लोरेन का निवासी था। प्रशियन सैनिकता के विरोध में इसने बहुत हानि उठाई थी। घर बार, जायदाद, सब कुछ खोकर यह किसी प्रकार यहाँ निर्वाह



शकुंतला
(शकुंतला के फ्रेंच-अनुवाद से)

सुघर, सुरुचि-पूर्ण पेरिस

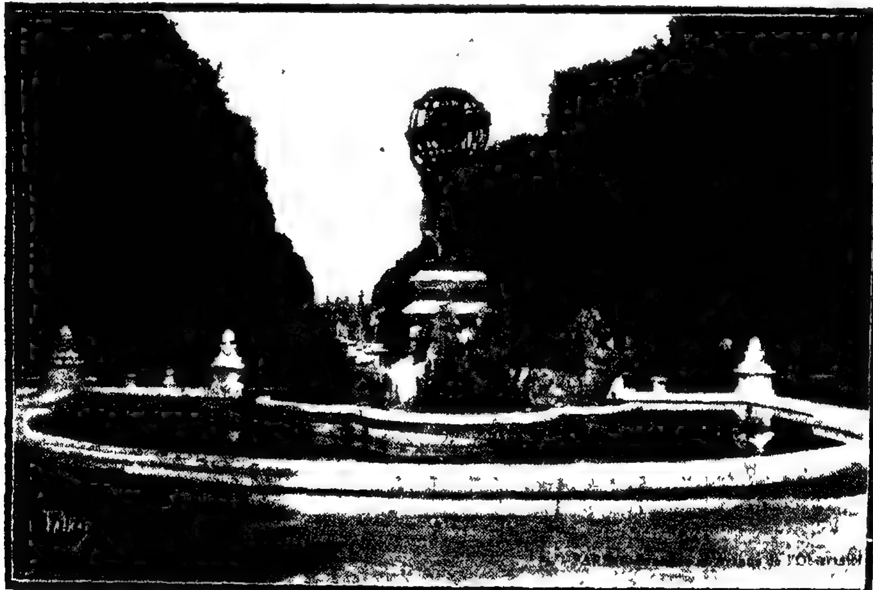
कर रहा था। यद्यपि इसमें ज्याँ क्रिस्टोफ़र की प्रतिभा नहीं थी, तथापि उसका अदम्य उत्साह, अन्याय-अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह का भाव तथा अपने मत के लिये बलिदान करने की प्रवृत्ति इसमें वर्तमान थी। मोपास्साँ के पात्र आपको यहाँ की सड़कों पर चलते-फिरते नज़र आते हैं, उनका मुखमंडल उनके हृदय का दर्पण है। आप उसके भाव और रस इसमें देख लीजिए। सच्चा प्रतिबिंब वर्तमान है। यह देख मुझे अपूर्व आनंद प्राप्त हुआ। मनुष्य क्या हैं, मानो विश्व के कवि ने अपनी अपूर्व प्रतिभा से कविताएँ रचकर बिखरा दी हैं। यहाँ स्वदेशी-विदेशी की पहचान सहज है। फ्रेंच चेहरा भाव-पूर्ण और विदेशी रूखा। इनके बीच यदि विहारी विहार करते, तो क्या होता? सौंदर्य-पिपासु रसिक-शिरोमणि यह महाकवि अघा न सका। इसे किस बेबसी से रोना पड़ा—"नेह न, नैनन को कछू, उपजी बड़ी बलाय; नीर-भरे नितप्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय।" यहाँ प्यास तो क्या बुझती, किंतु एक-एक चेहरा एक-एक दोहा-रूपी रत्न बन जाता। पेरिस में भला विहारी पैदा न होते? ला मार्टीन, आल्फ्रे द् म्युसे, ह्यूगो आदि इस रस का परिपाक कर गए हैं। ये विहारी के जाति भाई हैं।

पेरिस की सुरुचि भी आप तुरंत नोट कर लेंगे। यह सच है कि फ्रेंच इतने अप-टु-डेट नहीं रहते, जितने अँगरेज़ और जर्मन। न ये क़ायदे के ही बड़े पाबंद होते हैं। कुछ औरतें घरू कपड़े पहनकर बाज़ार में सौदा ख़रीदने चली आती हैं। कुछ मर्द अपने पेशे की पोशाक पहन सरे-बाज़ार घूमने निकल आते हैं। लड़के-लड़कियाँ भी पोशाक की ज्यादा परवा नहीं करतीं। पर इनके कपड़े सदा इनकी सुरुचि का प्रमाण देते हैं, गोया पैदा होते ही फ्रेंच यह गुण अपने साथ लाता है कि साधारण कपड़े भी अपने बदन पर रुचि का ध्यान रख सजा ले। योरप के अन्य देशों के निवासी सजधज की बड़ी चेष्टा करते हैं; पर इन बेक़ायदेवाले फ्रेंचों के सामने फीके ही लगते हैं। इसका कारण यह है कि फ्रांस में—विशेषकर पेरिस में—सुरुचि संस्कृति का एक अंग है, जो यहाँ के निवासियों के ख़ून में मिल गई है। यह रुचि सर्वत्र देख पड़ती है—भोजन में सुरुचि, बातचीत में सुरुचि, कला में सुरुचि, संगीत और साहित्य में सुरुचि। मैं, जैसा पहले कह चुका हूँ, उस पेरिस का वर्णन नहीं कर रहा हूँ, जिसका नाम वारांगना रख चुका हूँ, यद्यपि यहाँ भी सुरुचि का होना इसी बात से मालूम होता है कि इनकी आकृति-प्रकृति को और देशों से अधिक रुचियुक्त देखकर विदेशी इनके पीछे अपना नाश करते हैं। मतलब यह कि पेरिस नयनाभिराम ही नहीं, मनोहर भी है। मैला, गंदा पेरिस भी सफ़ाई-पसंद आदमी को अपना लेता है। एक जर्मन ने कहा है कि पेरिस की गंदगी भी मुझे मोह लेती है। यह जर्मन है हर शाफलर, जो कला-मर्मज्ञ गिना जाता है। ध्यान में रखने की बात यह है कि जर्मन लाचार होकर ही फ्रेंचों की तारीफ़ करेगा। इसका उदाहरण हर लाम्व-नामक एक सज्जन हैं, जो हिंदू-धर्म से प्रेम रखते हैं। मुझसे यह गीता पढ़ते तथा हिंदू-धर्म-संबंधी प्रश्नों का समाधान करवाते हैं। भारत की बेहद तारीफ़ करते हैं, वहाँ की सभ्यता को सर्वोच्च मानते हैं। किंतु इनकी यह उदारता फ्रांस का नाम लेते ही हवा हो जाती है। इन्होंने मुझे पेरिस आने से रोकने की चेष्टा की थी; और जब

यहाँ पहुँचकर मैंने इन्हें पत्र में लिखा कि फ्रेंच लोग कुछ अच्छे ही मालूम पड़ते हैं, तो इन्हें यह बात असह्य मालूम हुई, इन्होंने उत्तर तक देने की कृपा नहीं की ! ऐसे हठ-धर्मी जर्मन जब पेरिस पहुँचते हैं, तो वहाँ की सुरुचि और मनोरमता इन्हें भी बहुधा अपना लेती है। यह डंडे का ज़ोर नहीं, संस्कृति का शक्तिशाली प्रभाव है। आर्य-संस्कृति तथा आर्य-साहित्य में सुरुचि प्रधान है; किंतु हिंदी का दुर्भाग्य कि इधर रुचि की इस सुकुमारता का लोप हो गया है। हमारे समाज में अब रुचि का अर्थ बिलकुल संकुचित हो गया है। हम नई रुचि के प्रचारक बिहारी में कुरुचि देखते हैं, जयदेव को अश्लील समझते हैं, और नायक-नायिका-वर्णन को पाप मानते हैं। इनके लिये साधारण नीति ही रुचि का पर्यायवाची शब्द है। इसी-लिये हिंदी में एक भी ऐसा लेखक नहीं पैदा हुआ, जिसने कला की सृष्टि की हो। कहना तो यही पड़ता है कि इनकी सुरुचि से बिहारी और देव की कुरुचि ही भली।

(४)

पेरिस में जाति, रंग और धर्म का भेद नहीं है। काला और गोरा यहाँ एक है। इँगलैंड, अमेरिका और जर्मनी में रंग का बड़ा फ़र्क़ मानते हैं। ये गोरी जातियाँ कालों, पीलों को पशु समझती हैं। ये जैसे इनकी उदर-पूर्ति ही के लिये पैदा किए गए हैं। फ्रांस ऐसा नहीं समझता, यह नहीं कहा जा सकता। सीरिया का विद्रोह उसकी साम्राज्य-लिप्सा का प्रमाण है। किंतु व्यक्तिगत रूप में फ्रेंच यही समझता है कि काला भी आदमी है। इसलिये फ्रांस में सबको उन्नति करने का अवकाश है। यहाँ हबशी कर्मचारी दिखाई देते हैं, हबशी छात्र विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। पार्लियामेंट-भवन में भी मैंने हबशी देखे। इनके साथ समानता का व्यवहार किया जाता है। निग्रो वहाँ यह नहीं समझता कि वह किसी का गुलाम है। दो प्रत्यक्ष देखे हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा। मैं प्रतिदिन दिन को एक विशेष भोजनालय में भोजन करने जाता था। एक दिन मुझे कुछ देर हो गई। भोजन का समय १२-२ बजे तक रहता है। मैं पहुँचा सवा दो बजे। इस समय रेस्टोराँ के एक ख़ास हिस्से में वहाँ के कर्मचारी भोजन करते हैं। देखता क्या हूँ, एक आबनूस के कुंदे की तरह काला, चमकता हुआ हबशी भी उनमें बैठा है, और इस प्रकार अपने सहयोगियों से बातें कर रहा है, जैसे बराबरवाले आपस में करते हैं। सब लोग दिल्लगी-मज़ाक कर रहे हैं, हँस रहे और भोजन कर रहे हैं। उनके चेहरे बता रहे हैं कि इस मज-



पेरिस का प्रसिद्ध झरना

(संसार को काली, गोरी, पीली जातियों ने थाम रक्खा है)

जिस में छोटा-बड़ा कोई नहीं, काला-गोरा कोई नहीं, छूत-अछूत कोई नहीं। यहाँ वही आदमी बैठे हुए हैं, जो बराबर का दर्जा रखते हैं। क्या यह भी संभव है कि यह हबशी फ्रेंच-जाति और फ्रांस को प्यार न करें? मेरी यहाँ एक रूसी छात्र से जान-पहचान हो गई थी। एक इतवार को इसने मुझे न्योता दिया कि शहर से बाहर बोआ द वेंसान (Boi de Vincenne)-नामक वन में, एक नाचघर में, आऊँ। मैं यथासमय पहुँचा। रूसी विद्यार्थी मेरा इंतज़ार कर रहा था। दोनों भीतर घुसे। वहाँ देखता क्या हूँ कि ५-६ काले हबशी नवयुवक भी आए हुए हैं। उनकी एक मेज़ पर स्थान ख़ाली थे। हम दोनों वहीं बैठ गए। मैं इधर-उधर देखने लगा कि अन्य लोग इन्हें किस दृष्टि से देखते हैं। किंतु कहीं कुछ कौतूहल नहीं दिखाई दिया। मैंने अपने मित्र से जर्मन में कहा—क्या बात है कि कोई इन काले नौजवानों का कुछ ख़याल भी नहीं करता? और देशों में तो इनकी उपस्थिति यदि सौभाग्यवश अवांछनीय न समझी जाती, तो तमाशा तो बन ही जाती। वह हँसकर बोला—हाँ, ठीक है, पर यहाँ भेद-भाव तो है ही नहीं। मुझे ज्ञात हुआ कि यह जाति वास्तव में सभ्य है। इनके बच्चे भी इतने सभ्य हैं कि कालों को पशु नहीं आदम की औलाद समझते हैं। जब नाच आरंभ हुआ, तो पेरिस की सुरुचि-पूर्ण लड़कियाँ निस्संकोच और जी भरकर इनके साथ नाचीं। निग्रो अपना कालापन भूले, और गोरी बालिकाएँ अपना गौर वर्ण। "श्याम गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।" मैंने इन हबशियों से बातें कीं। ये यहाँ सोरबोन के विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते हैं। फ्रेंच सरकार इन्हें वृत्ति देती है। इनमें एक का विषय है डॉक्टरी, और दूसरे का वकालत। मुझे यह सुन बड़ा संतोष हुआ। चित्त में गद्-गदी-सी पैदा हो गई। फ्रांस का अन्याय-अत्याचार भूल गया। उसकी साम्राज्य-लोलुपता मेरी आँखों से ओझल हो गई। पेरिस का सत्य स्वरूप दृष्टि-गोचर हुआ। मुँह से निकल पड़ा—"पेरिस की जय।" फिर तो इन्हें कई जगह देखा। मेत्रो (Metro) में ये नौकर हैं, लाइब्रेरियों में निग्रो छात्र अध्ययन में दत्तचित्त रहते हैं। इन सबके हृदय में फ्रेंचों के प्रति श्रद्धा है। जब इन्होंने मुझे अपनी राजभक्ति बताई, तो मैं यह न कह सका कि ये गोरे धूर्त हैं। एक घटना मुझे कभी न भूलेगी। मैं चिड़ियाख़ाने जा रहा था। जिस मेत्रो (या भूगर्भ रेलवे-लाइन) से मैं सफ़र कर रहा था, उसका ड्राइवर हबशी था। हमारा डिब्बा सबसे आगे, और उसके आगे एंजिन था। यह काली मूर्ति वहाँ अँधेरे में भी चमक रही थी। मैं बड़ा प्रसन्न हुआ। किंतु इस डिब्बे में एक अमेरिकन भी अपनी स्त्री के साथ था। ज्यों ही उसने कृष्ण रूप देखा, शैतान की तरह बड़बड़ाने लगा, और दूसरे स्टेशन पर तो उतर ही गया। ऐसे भाव हैं स्वतंत्र अमेरिका के, जो अँगरेज़ों के साथ मिलकर तैयारी कर रहा है कि इस साल के भीतर एशिया और रूस चकनाचूर कर दिए जायँ, जिससे ये काले लड़ाई के लिये सिर न उठा सकें। पापी हृदय को चैन कहाँ। जर्मनी का भूत इनके हृदय से हटा, तो रूस का सवार है। रूस चाहे कुछ हो एशिया का मित्र है। इसलिये उसे बिना मिटाए मनमानी नहीं चल सकती। हमें क्या? अपने राम तो अपाहिज हैं। दूर से देखा करेंगे। अस्तु।

बड़ी बात तो छोड़े ही जा रहा हूँ। रेने मारां (Rene Maran) हबशी है। वह आफ़्रिका की फ्रेंच-कालोनी में सिविलियन है। छः साल हुए, उसने Batouala (बातुआला) नाम की पुस्तक लिखी थी। इसकी तारीफ़ क्या की जाय। एक-एक शब्द वज्र की तरह प्रहार करता है। इसमें क्या जीवन—क्या शक्ति—लेखक ने भर दी है। निग्रो-जीवन का इसमें ज्वलंत चित्र है। पराधीन हबशियों का दिल निकालकर लेखक ने इन रूखे-सूखे पन्नों के भीतर रख दिया है। पर वह वहाँ भी तड़पता है, फड़फड़ाता है। यह किताब फ्रेंच-शासन की क्रूरता के विरुद्ध है, कठोर भाषा में लिखी गई है। किंतु धन्य है फ्रेंच-गुण-ग्राहकता कि रेने मारां को इसी पुस्तक के लिये, १९२१ में, गोंकूर-पुरस्कार (Goncourt prise) दिया गया। ऐसा उदार हृदय अन्यत्र नहीं मिलने का। यह तो रूसो और वालटेयर की संतान है, जो भावावेश में आपा खो देती है। इस स्थिति में ये लोग उस मारवाड़ी लाला साहब का क्या ख़याल करते, जो पेरिस पहुँचने के दूसरे ही दिन ऐफ़ल-मीनार के नीचे अचानक मित्रवर पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के साथ मिले थे। यह भाई खिचड़ी पोशाक में थे, पर सिर पर मारवाड़ी ज़ोरेदार पगड़ी थी। इन्हें होटल में स्थान दिलाया, और दिन-भर इनके साथ पेरिस की प्रदक्षिणा की। लेकिन शायद किसी जर्मन या अमेरिकन ने इनकी विचित्र पोशाक को कुतूहल से देखा हो। फ्रेंच तो इन्हें भी अप-टु-डेट समझ रहे थे। जर्मनी में इनके

पीछे हज़ार-दो हज़ार दर्शक लग जाते। इन बातों से तथा फ्रेंचों के सबसे एकमन हो हिल मिल जाने के स्वभाव के कारण आदमी यहाँ at home (यानी घर-सा) समझने लगता है। न किसी प्रकार की रुकावट, न कोई बंदिश। लंदन, बर्लिन आदि में बाक़ायदगी ज़रूरी है, किंतु पेरिस में नहीं। इसलिये एक बेगार हट जाती है। आदमी उन क़ायदों का ग़ुलाम नहीं रहता, जिन्हें उसकी आत्मा बुरा समझती है। अतः वह अपनेको स्वतंत्र अनुभव करने लगता है।

(४)

पेरिस में जो दृश्य तुरंत अपनी ओर आकर्षित करता है, वह है वहाँ के बूलवार (Boulevard)। इस नगर में क़हवाघर, शराबघर, भोजनालय आदि इतने हैं कि संसार में शायद ही कहीं हों। ये सब साफ़-सुथरे और सुसज्जित हैं। मज़दूरों के रेस्टोराँ भी यहाँ ख़ूबसूरत बनाए गए हैं। यह बात लंदन के ईस्ट एंड या बर्लिन के उत्तरीय भाग में नहीं है। बूलवार तो यहाँ की शोभा हैं। चौड़ी वीथियों के दोनों ओर काफ़े या रेस्टोराँ के आगे कुरसियाँ और मेज़ें पड़ी हैं। आप उन पर बैठ जाइए, और आने-डेढ़ आने की काफ़ी सामने रख लीजिए। जी चाहे, जितनी देर बैठे रहिए, और राह-चलतों, मुसाफ़िरों तथा मोटरों को गिना कीजिए। मुझे यह दृश्य देखकर बड़ा विस्मय हुआ। स्थान की संकीर्णता से कुरसियाँ एक-पे-एक मिलाकर यों पड़ी रहती हैं, गोया पलटनें घुटना टेके, क़तार बाँधे खड़ी हैं। उन पर जब शौक़ीन लोग एक-से-एक चिपककर बैठ जाते हैं, और सब कुरसियाँ भर जाती हैं, तो दृश्य देखने-लायक़ होता है। तब असल सेना की याद आ जाती है। आरंभ में हँसते-हँसते मेरे पेट में तो बल पड़ गए। सुबह आठ बजे से ये बूलवार-प्रेमी बैठने लग जाते हैं। फिर यों डट जाते हैं, गोया यहाँ धरना देंगे। हे नाथ! इन्हें इतना समय कहाँ से मिलता होगा। जैसे किसी को सिवा मुसाफ़िरों को गिनने के कुछ करना ही नहीं होता। मक्खियाँ यहाँ इतनी नहीं होतीं कि मारा करें। इसके अलावा जो कहा जाय कि ख़ाली बैठे ये लोग राम-नाम क्यों नहीं जपते, सो पेरिस ये इसलिये नहीं आए हैं कि ख़ुदा की याद करें, बल्कि इसलिये कि उसे भूलें। इनमें ९९ सैकड़े वे धनी और वे उठाईगीर हैं, जो पेरिस को बदनाम कराते हैं। पास मुफ़्त का पैसा है, वह उड़ाते हैं, और अपने नाश के साथ औरों का भी सर्वनाश करते हैं। जो हो, यह बूलवार का नज़ारा अद्भुत है, पेरिस की विशेषता और विचित्रता है। कोई इनमें बैठकर आमोद-प्रमोद करता



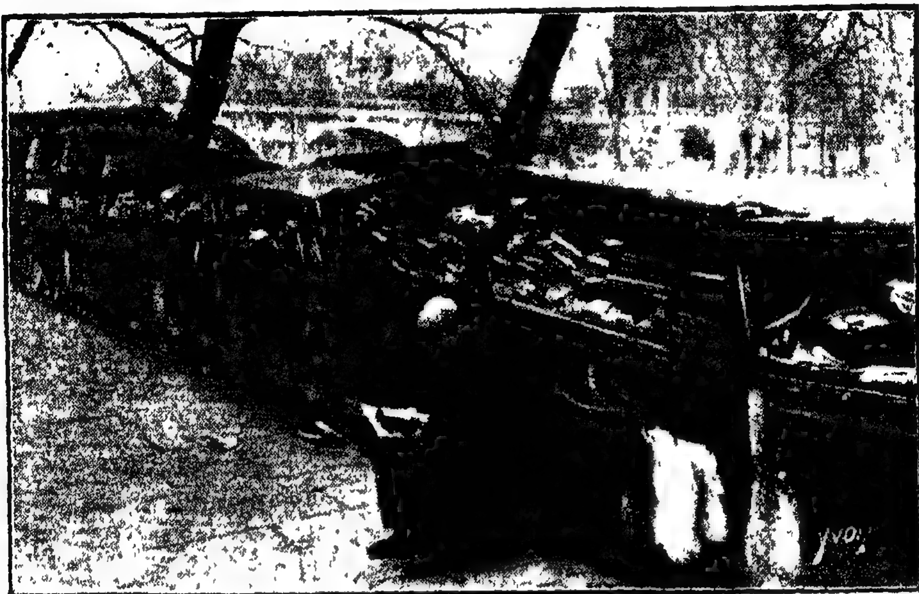
पेरिस का बूलवार

है, तो कोई इन बैठनेवालों को देखकर । दोनों ही अपना-अपना आनंद उठाते हैं । यह न समझना चाहिए कि बूलवार में खुलेआम बैठना गरमियों में ही होता होगा । गरमियों में तो सर्वत्र काफ़े, रेस्टोराँवाले बाहर कुरसियाँ डाल देते हैं । ठंड पड़ते ही कुरसियाँ हटा ली जाती हैं कि फिर गरमियों में वहाँ रक्खी जायँ । किंतु पेरिस मे, जाड़ों में भी, लोग बाहर बैठ जाते हैं । हवा काटने दौड़ती है, पारा शून्य से बहुत नीचे गिर जाता है । लोग गरम कपड़ों की तह-पर-तह चढ़ाए बाहर निकलते हैं । पर बूलवार में ज़रूर बैठेंगे । इन बूलवार के आसक्तों की बूलवार के प्रति अटल भक्ति चेहरों पर से टपकती है । इन्हें देखते ही आदमी समझ जाता है कि सुबह से शाम तक धक्का देनेवाले जाड़ों में आसन नहीं छोड़ेंगे । "हज़रते दाग़ जहाँ बैठ गए, बैठ गए ; और होंगे तेरी महफ़िल से उभरनेवाले" इन्हीं के लिये कहा गया है । एक दिन देखता क्या हूँ कि इनकी भक्ति से प्रसन्न हो, इन कहवा और मयख़ाने के मालिकों ने कुरसियों के बीच में बड़ी-बड़ी अँगीठियाँ डाल दी हैं । लीजिए, अब एक ज़ोर और मिल गया । भला फिर जाड़ों में भी कौन यहाँ से हटेगा ? अब तो ये मयख़ोर धधकती हुई अँगीठियों के चारों ओर यों बैठ जाते हैं, मानो एक ही मा-बाप की औलाद हों । मुमकिन है, घोर शीत में इन्हें ओढ़ने को कंबल भी मिलें । किंतु इन वीरों को इस बात की क्या परवा ? "मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ।"

इसी प्रकार का दूसरा दृश्य उन पैदल चलनेवालों का है, जो इन सड़कों पर चला करते हैं । (And thier number is Legion.) मनुष्य क्या है, चींटियों का दल । यह भीड़ रात-दिन जारी रहती है । कोई आता है, कोई जाता है । परमात्मन् ! ये जाते कहाँ होंगे ? किस लिये यह भीड़ है ? इनके पीछे हो लिया । कुछ आदमी चुन लिए कि ये जहाँ जायँ, इनका पीछा न छोड़ो । एक तो तुरंत ही एक भोजनालय में घुस गया । दूसरा आगे जाकर बूलवार में बैठ गया । तीसरा पेरिस के कार्डों के चित्र मोल लेने लगा । चौथा कहवाख़ाने में बैठ गया । ग़रज़ यह कि इन्हीं कामों की जल्दी है, जो यह लोकारण्य इधर-उधर दौड़ रहा है । आप इनकी बोलियाँ सुनिए । कोई अमेरिकन-इँगलिश बोलता है, कोई ठेठ विलायती बोली । कोई इटालियन बोलता है, कोई डच । फ्रेंच बोलनेवाले उतने नहीं । हाँ, कुछ लड़कियाँ विशुद्ध फ्रेंच नस्ल की अवश्य हैं । बहुत संभव है, इस केंद्र के चारों ओर यह जनसागर चक्कर लगा रहा हो । "करि राख्यो निरधार यह, मैं लखि चारो ज्ञान ; वही बैद, औषध वही, एकहि रोग-निदान ।" इन बूलवारों के लिये यह दोहा सर्वथा सत्य है । किस प्रकार ये लोग काम की निष्काम सेवा कर रहे हैं, विवश हो खिंचे जा रहे हैं, और कुछ सोचने का इन्हें अवसर ही नहीं मिलता । अपने काम में ये ऐसे व्यस्त रहते हैं कि मरने की फ़ुर्सत नहीं मिलती । मरना इनके लिये बड़ा आसान है । भरी जवानी में ये जान-बूझकर मर जाते हैं । इनमें मृत्यु के प्रति यह उपेक्षा का भाव एक विचित्र वस्तु है । माक्स लिंडर (Max Linder) ऐसे ही मर गया । उसकी स्त्री भी मर गई । दोनों जवान । पति की आयु ३१ साल की, पत्नी की २० वर्ष की । लिंडर ने सिनेमा में सफलता प्राप्त कर असंख्य फ्रैंक कमाए, सुंदरी युवती से व्याह किया । किंतु न-मालूम क्यों, गत ऑक्टोबर-महीने में पति-पत्नी अपने पलंग पर मरे पड़े मिले । दोनों ने स्वयं अपने हाथ की नस काट दी थी, जिससे उनकी मृत्यु हो गई । क्यों ? अभी तक किसी को पता नहीं । इन निठल्लों के लिये मौत का भी भय नहीं । क्या ये समझते हैं कि मरे, और सीधे ख़ुदा के पास पहुँचे । इन धनी बेकारों की अलग ही फ़िलासफ़ी है । बोलशेविक ही इन्हें रास्ते या बेरास्ते पर लावें तो लावें । दूसरे इनका कुछ नहीं कर सकते । इन ग़रीब-चूस, घर-फूँक तमाशा देखनेवालों में भारत के राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों से लेकर अमेरिका के धन-कुबेर तक, सभी शामिल हैं । यह दल पेरिस की विशेषता है — यहाँ का कलंक है । पर इसे निकाल कौन सकता है ?

(६)

इसके विपरीत दूसरा दृश्य सेन-नदी के किनारे पुरानी पुस्तकें तथा कबाड़ बेचनेवालों का है । नदी के तट पर प्रायः डेढ़-दो मील तक इनकी लंबी क़तार चली जाती है । सेन के दोनों ओर सड़क से कुछ ऊँची पत्थर की दीवाल बनी हुई है । इस पर इन कबाड़ियों के लंबे बॉक्स जमाए गए हैं । सुबह नव बजे ये खुल जाते हैं । शाम को जब तक भगवान् मरीचिमाली ज्योति लुटाते हैं, तब तक बंद नहीं किए जाते । इनके पास अधिकतर पुरानी पुस्तकें, चित्र, सिक्के आदि रक्खे रहते हैं । यह विशेष बाज़ार है, जिसके ख़ास ग्राहक हैं विद्यालयों के निर्धन छात्र, अध्यापक तथा प्राचीन ग्रंथों के खोजी । ये



पुरानी पुस्तकों का ढेर

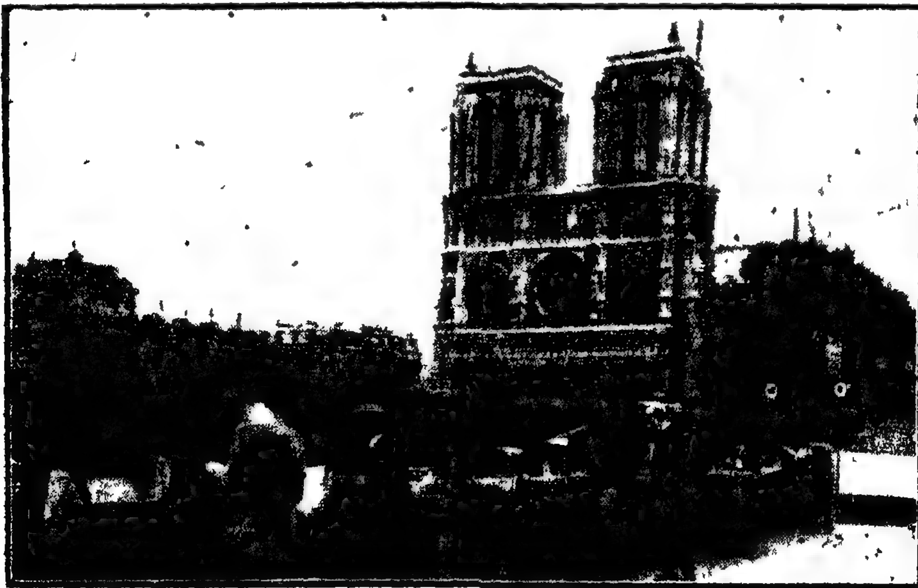
आते हैं, पुस्तक ढूँढ निकालते हैं, तथा मोल-तोल करके उसे ख़रीद ले जाते हैं। कुछ कबाड़ी बिक्री करते हैं, कुछ भोजन-भर के लिये पैसे पैदा करते हैं, और कुछ निराशा की साक्षात मूर्ति बने रहते हैं। इनके भाग में कोरी तपस्या है। नंगे पाँव, फटे-पुराने कपड़े पहने ये सुबह से शाम तक डटे रहते हैं। चार-पाँच फ्रैंक की बिक्री हुई, तो इनकी गुज़र हो गई। जीवन-संग्राम करते-करते अब ये उसका कड़वापन नहीं मालूम करते। हाँ, संग्राम के अमिट चिह्न इनके चेहरों पर विद्यमान हैं। मुख देखिए, झुर्रियों के मारे जाली बन गया है। एक-एक झुर्री कहती है कि हम उस वीर के पदक हैं, जिसे पग-पग पर आपत्तियों से लड़-कर काल का सामना करना पड़ा है। भला कब तक काल हार न मानेगा? इन चलते हुए मिट्टी के ढेलों का हृदय कौन परख सकता है? वहाँ न प्रमाद है, न उन्माद। न सुख है, न दुःख। इस विलास-भूमि में यह नज़ारा देखने की चीज़ है। एक ओर सोना पानी बनकर बहता है, दूसरी ओर पानी पर सोना पड़ता है। एक तरफ़ आकृति से भाव बहते हैं, तो दूसरी तरफ़ अभाव। बूलवार में तथा सेन के किनारे यानी केवल आधे मील की दूरी पर कितना अंतर है! हृदय चिल्ला उठता है—दीनबंधो, हे अशरण-शरण! यह क्या लीला है, क्या तमाशा है कि एक को आनंद के



सेन का विषादमय दृश्य

सागर में डुबा देते हो, और दूसरे को भूखों मारते हो ! एक को पाँचों उँगली घी में और सिर कड़ाई में ; और दूसरा लकड़ी बनकर, जलकर, अपनी ख़ाक बनाकर उसकी सहायता करता है । यह तुम्हारा कैसा न्याय है ? दयानिधे ! कैसा तराज़ू हाथ में पकड़ा है ? यह दृश्य देखकर ही भावुक हृदय साम्यवादी यानी कम्यूनिस्ट बन जाता है। किंतु कौन कह सकता है कि यहाँ आनंद नहीं ? यदि आनंद न होता, तो ये ज़िंदा ही क्यों रहते ? सच है, "दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना ।" मिर्ज़ा ग़ालिब का यह वाक्य बिलकुल सही है। कबाड़ी अब घिसते-घिसते शालग्राम बन गए हैं, आग की असह्य आँच में तपकर खरा सोना साबित हो गए हैं। कष्ट की सीमा लाँघ चुके हैं। "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एषह्येवाऽऽनन्दयाति ।" संसार में कौन जीवित रहता, और कौन साँस लेता, यदि आकाश में वायु की भाँति आनंद भी न विचरण करता। सच है, आनंद की लूट 'रसो वै स' रसमय विधाता ने ही कर रक्खी है। कोई भी इससे वंचित नहीं रहता। लूटनेवाले की आवश्यकता है, उसकी कमी है। लूट तो सदा जारी है। ये अभागे भी बिना आनंद के कैसे साँस लेते, यदि सर्वत्र आनंद न बहता। यह पेरिस में देखा कि भगवान् कैसे खेल करता है। 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति।" यह है आनंद की मीमांसा—उसका समाधान। इस सेन के तट पर मुझे क्या अनुभव हुआ, और क्या नहीं हुआ। हृदय रोया, हँसा, और जीवनी-शक्ति से संपन्न हुआ। सोचा, कौन सुखी है? बूलवार के धन-कुबेर या सेन के तट के भुखमरे ? एक के हृदय में, आधा संसार मोल लेने की शक्ति होने पर भी, असंतोष, अतृप्ति की ज्वाला भभक रही है कि क्यों पूरा संसार मेरे हाथ में न हुआ। दूसरी ओर कानी कौड़ी पास न होने पर भी शांत हृदय, वीचि-विरहित तालाब की भाँति, भगवान् की सुंदर प्रकृति के दर्पण का काम दे रहा है, अर्थात् उसमें प्रकृति का स्पष्ट प्रतिबिंब पड़ रहा है। शायद ऐसा ही दृश्य देख ईसामसीह ने कहा है—"धन्य हैं वे, जो निर्धन हैं ; क्योंकि उनके लिये स्वर्ग का द्वार खुला रहेगा।"

यह दरिद्रता की आध्यात्मिक आलोचना है। किंतु आकर सांसारिक दृष्टि से भी देखिए। आपको मालूम होगा कि द्रव्य का अभाव उतना ही बुरा है, जितना धन का भाव। गरीबी उतने ही पतित और संकोचहीन (बेदर्द) चरित्र-भ्रष्ट मनुष्य पैदा करती है, जितने अमीरी। पास अधिक धन होने से आदमी का शतमुख से पतन होता है। बिलकुल न होने से भी वही हाल है। बूलवार के माल-मस्त उतने ही चरित्रहीन हैं, जितने सेन के किनारे के (तथा उत्तरीय और दक्षिणी पेरिस के) दरिद्र। किंतु उनके पास



सेन-नदी का किनारा

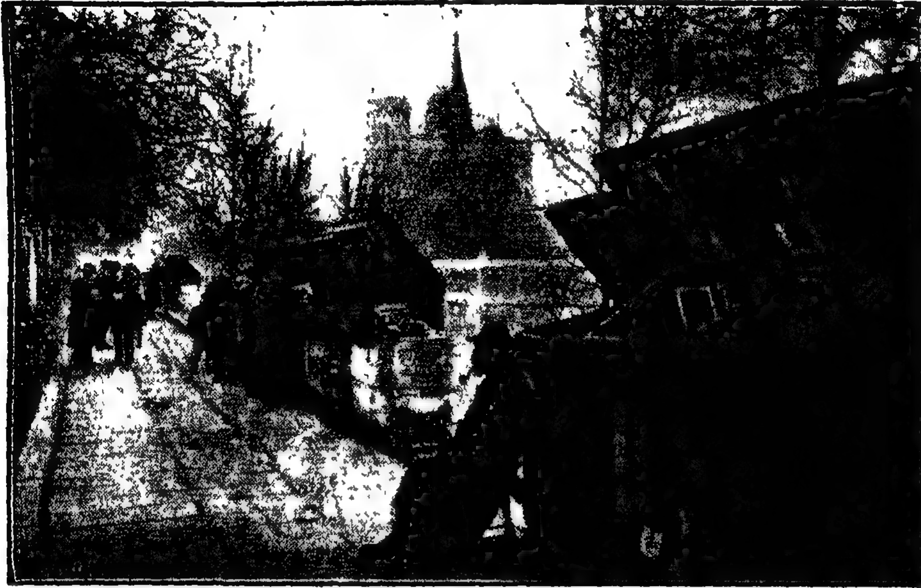


सुंदर पेरिस का असुंदर रूप
(सेन के किनारे भुखमरे)

और अपराध सहृदयता के नाम पर क्षमा-योग्य हैं जो केवल उदर-पूर्ति के लिये बाध्य होकर उनकी शरण लेते हैं। यह सब लिखने का सार यह है कि पेरिस के श्रमजीवियों और बेकारों में भी अनीति और अत्याचार काफ़ी है। सेन का किनारा उतना मनोरम नहीं, जितना बाहर से दिखाई देता है। लेकिन जो दारिद्र्य-दोष गुण-राशि-नाशी है, उसे पछाड़कर यहाँ के कुछ निवासी संसार को असली नसीहत दे रहे हैं। पाठक इन स्त्रियों का चित्र देखें। इन कंकालप्राय प्रेतों में क्रूरता का होना स्वाभाविक है। क्षीण मनुष्य सर्वत्र निष्करुण होते हैं। जो थोड़े आदमी इन बाधा-विघ्नों को पार कर सदाचारी एवं सतोषी हो रहे हैं, उनकी कहाँ तक प्रशंसा की जाय। हाँ, बुराई के विरुद्ध ज़ोर से नहीं लिखा जा सकता।

(७)

अंतिम तथा सबसे महत्त्व-पूर्ण विशेषता, जो तुरत नज़र पड़ती है, वह सब सार्वजनिक भवनों में Egalite, Fraternite, Liberte शब्दों का खोदा जाना है। जिधर जाओ, वे पवित्र शब्द दिखाई देते हैं। पहले फ्रेंच-विप्लव के समय क्रूर, किंतु पवित्र भावों से उन्मत्त नेताओं ने सर्वत्र पत्थरों में ये शब्द खोद दिए थे। सरकारी इमारतों में ही नहीं, थिएटरों, स्कूलों, कई स्थानों और खंभों पर भी ये शब्द पत्थर पर जड़ दिए गए हैं। जगह-जगह पर, हर मोड़ में, जनता को याद दिलाई गई है कि स्वाधीनता तभी हो सकती है, जब वह समता और भ्रातृ-भाव से उत्पन्न हुई हो। अन्यथा राजनीतिक स्वतंत्रता का होना देश के लिये मंगलकारी नहीं हो सकता। देश मिट्टी का नाम नहीं है। उस मिट्टी पर बसनेवाले जन-समूह से मातृ-भूमि की उत्पत्ति है। यह जनता अगर गुलाम है, तो राजनीतिक स्वातंत्र्य का कोई मूल्य नहीं। सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में फ्रांस के मनीषियों ने इस सत्य के दर्शन किए थे, और मौतेन, दिदरो, रूसो, वालटेयर आदि गला फाड़-फाड़कर उसका प्रचार कर गए हैं। जनता ने यह संदेश ध्यान से सुना, और गुरु के मंत्र की तरह इसे अंगीकार किया। इसीलिये मरने के पहले जब वालटेयर पेरिस आया, तो उसका धूमधाम से यहाँ तक स्वागत हुआ कि उसे कहना पड़ा—"Francais je meurs de Joie—फ्रांस के निवासियो! मैं आनंद से मर रहा हूँ।" इन शब्दों पर बहस छिड़ने पर असेंबली में प्रश्न छिड़ा था कि काले लोग भी गोरों के समान हैं या नहीं? बहुत वाद-विवाद के बाद बहुमत ने फ़ैसला दिया कि स्वतंत्रता के क्षेत्र में सब भाई-भाई और समान हैं। उसके पवित्र मंदिर में भेदभाव भाग जाता है। यह है १७६२ के क़रीब की बात, जब योरप की अन्य जातियाँ गुलामों का व्यापार करके घर भर रही थीं, अमेरिकन लोग इंडियनों तथा कई उपनिवेशों में जंगली



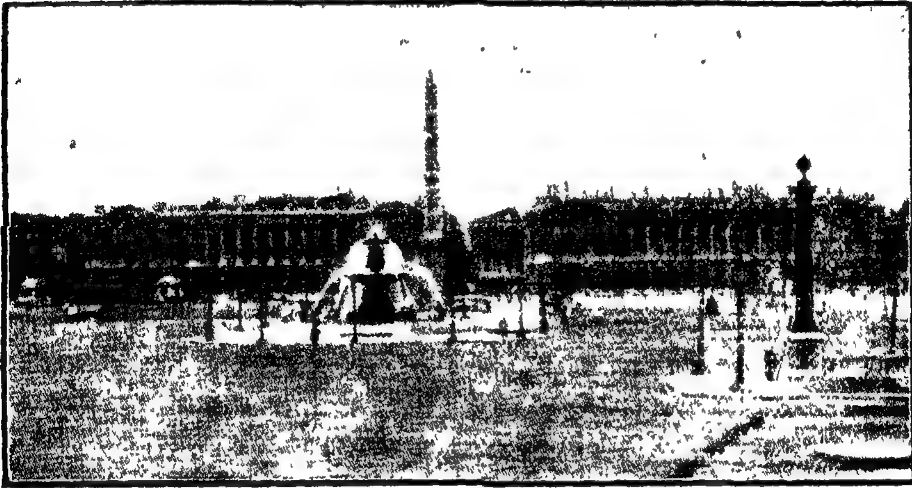
निराशा की मूर्ति



रौद्र पेरिस (विप्लव का स्वरूप)

मनुष्यों का शिकार करते थे। फ्रांस की इस उदारता का प्रभाव भारत पर भी पड़ा, और टीपू सुलतान को नेपोलियन के पास भेजे हुए पत्र में 'मैसूर का नागरिक टीपू' नाम से हस्ताक्षर करने की सूझी। भले ही बाद को ये विचार खटाई में पड़ गए हों, परिस्थिति ने या कहिए मनुष्य-स्वभाव ने स्वयं फ्रांस में वायु को दूषित कर दिया हो, किंतु यह श्रेय फ्रांस से—उसकी आत्मा पेरिस से—कौन छीन सकता है कि ये पवित्र शब्द उसके दिमाग़ में पहले-पहल "एकोब्रह्मत्रयोदेवाः ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः" की तरह, या ईसाइयों के पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा की भाँति एकीकृत हुए। इन शब्दों की बदौलत चाहे बुरे काम हुए हों, क्रूरता और निष्ठुरता की हद हो गई हो, असंख्य नर-नारियों के उन रत्नों ने, जो आत्मत्याग की मूर्ति थे, गिलोटीन के नीचे अपने प्राण दिए हों, दांतों (Danton) के समान जनता के निष्कपट प्रेमी का बलिदान किया गया हो; पर इनकी सत्यता में आँच नहीं लगती। इन शब्दों की छत्र-छाया में प्राण देते समय दांतों ने गर्जते हुए कहा था—"Allon, pas de delibrations, nousavon assery Vaen pour nous endermir den la sein de la gloire, अर्थात् आओ, अगर-मगर किस बात की ? इस तेज और प्रताप की गोदी में सोने के लिये हम यथेष्ट जीवित रह चुके हैं।"

सच है, "इस जलजले में कौन न मर जाय ऐ ख़ुदा !" इन्हीं शब्दों ने जाति-भर को पागल कर दिया था। जिस प्रकार १९२०-२१ में भारत में स्वतंत्रता-शब्द की जय के कारण जनता को जेल का उन्माद हो गया था, उससे भी अधिक वेग से फ़ांसीसी मरने-मारने को उन्मत्त थे। इस स्वतंत्रता-मदमत्त सर्व-साधारण की मानसिक स्थिति का शब्दों में परिचय देना असंभव है। बूढ़ी औरतें छोटे बच्चों को लाकर फाँसी का दृश्य दिखाती थीं कि उन्हें वीर-रस से मतवाला बना दें। दया का भाव गोया समाज में रह ही नहीं गया था। रक्त को देखकर मनुष्य के हृदय में कुछ भी हलचल नहीं होती थी, गोया पानी पड़ा हुआ है। जहाँ गिलोटीन पर नर-संहार होता था, वह स्थान सबके लिये खुला रक्खा गया था। शहर के भीतर सबसे उत्तम स्थान इस महान् और शुचि या अशुचि कार्य के लिये चुना गया था। उसका नाम रक्खा गया Place de la concordance—भाव-सामंजस्य-चौक या सहृदयता का चौराहा। Egalite, Fraternite और Liberte पर जो कुछ न्योछावर न किया गया हो, वही कम है। परमात्मन् ! तेरे नाम पर क्या कम क्रूरताएँ, पाशविकताएँ तथा नीति-विरुद्ध कार्य हुए हैं ? ईसाई और मुसलमान तो मानो करुणा के आकार को ख़ून के समुद्र में परिणत करने के लिये ही हुए थे। इनके मज़हब के फैलने का इतिहास देख लीजिए। प्रत्येक पन्ना रक्त से रंजित है। डॉ० इक़बाल फ़ख़्र के साथ फ़रमाते हैं, "तेग़ों के साए में हम पलकर बड़े हुए हैं।" पर इससे क्या ? उस "अपि शूलधरो निरामयो" परमात्मा के ऊपर कलंक लगता है। वह सदा सत्य है, और सत्य बना रहेगा। यही सिद्धांत फ्रेंच विप्लव पर भी घटता है। सच है, "किङ्कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।" कर्म क्या है, और अकर्म क्या है—इस पर बड़े-बड़े ज्ञानी धोखा खा जाते हैं। फिर फ्रेंच क्रूरता पर क्या मत दिया जाय। किंतु इस समय तो



फ्रेंच विप्लव की बलिवेदी तथा वर्तमान पेरिस की नाक प्लास द ला कोन्कॉर्डास

पेरिस में ये शब्द मुझ-जैसे परतंत्रता पीड़ित को—जो पग-पग पर इस पाप के बोझ से दबकर अपनी दुर्बलता का ज्वलंत अनुभव कर रहा है—दुःख भी दे रहे हैं, और सुख भी। किंतु मेरे रोग के लिये असल में टॉनिक का काम दे रहे हैं। हे मुरारे ! हे कंसनिसूदन ! हे कालिय-दमन ! हे परंतप ! तुमने भी एक बार "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्" और Eglite, Fraternite, Liberte के समान ही शब्दों के लिये 'धर्मसंस्थापनार्थाय' समता-धर्म के संस्थापन के लिये, कुरुक्षेत्र में नरसंहार का भीषण कांड उपस्थित कर दिया था। हे दौर्बल्य-पूर्ण अहिंसा के हिंसक, हिंदू-जाति को सुझा दो कि तेरा कठोर धर्म ही उसे सब उलझनों से बाहर निकालेगा, उसे मुक्ति का पथ दिखावेगा, और आसन्न मृत्यु से बचावेगा। क्या मर्मस्पर्शी सिद्धांत है "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।" वह पराधीनता चाहे जिस प्रकार की हो। उक्त फ्रेंच शब्दों ने इस श्लोक की सत्यता मेरे हृदय में और भी गहरी छाप दी कि "सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं; एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः।" अस्तु।

चेतावनी

हाल में जब से अमेरिका खुले खज़ाने एशिया का शत्रु बन बैठा है, योरप में एक नया आंदोलन उठ खड़ा हुआ है। यह है फ़्रांस के विरुद्ध। इसका उद्देश्य है फ़्रांस को जर्मनी की तरह इतना दुर्बल कर देना कि वह अमेरिका और इँगलैंड के सामने कभी सिर ऊँचा न कर सके; क्योंकि यदि फ़्रांस शक्तिशाली रहा, तो उसके द्वारा काले और पीले बढ़ेंगे, तथा अपने को गोरों की बराबरी का समझने लगेंगे। इस खेल में पाठक देख चुके हैं कि रूस अलानिया एशिया के साथ है, और फ़्रांस का गुज़ारा बिना हबशियों और एशियावालों को अपने साथ मिलाए नहीं चल सकता। और, यह बात नीच प्रकृति के स्वार्थी अमेरिकन तथा अँगरेज़ नहीं सह सकते। इसलिये फ़्रांस की सब बातों के विरुद्ध नया आंदोलन चलाया जा रहा है। ये दोनों जातियाँ प्रचार-कार्य करने में कुशल हैं। इसलिये हमें सावधान रहना चाहिए। इनकी बातों में आकर छद्मवेशी अमेरिकन और अँगरेज़ों के जाल में न फँसना चाहिए। माघ-मास की 'माधुरी' में एक नोट है कि किसी अमेरिकन ने फ़्रांस की नैतिक अवनति पर एक पुस्तक लिखी है। इस तरह का कार्य आजकल तेज़ी से हो रहा है। किंतु हमें यह भूलना न चाहिए कि नीति में फ़्रांस से उन्नत अमेरिका—जिसके स्वतंत्रता-प्रेम के गीत हमने बहुत सुने हैं—इस बीसवीं सदी में जापान को भी अछूत समझता है। हमारी छूत तो उसे शुद्ध ही नहीं कर सकती। भारतवासियों में स्वा० सत्यदेव की पुस्तकों से बड़ा भ्रम फैल गया है; क्योंकि वे सब पुरानी और निकम्मी हो गई हैं। इधर युद्ध के बाद अमेरिका ने जो छलाँगें भरी हैं, उससे वहाँ कायापलट हो गया है। वहाँ हिंदोस्तानी को गोरे के होटल में स्थान नहीं मिलता, गोरे रेस्टोरॉ में उसे भोजन नहीं दिया जाता, गोरे नाई उसकी हजामत नहीं बनाते, भले ही अमेरिकन व्यापारी सारे भारत की हजामत करने की जी जान से कोशिश करते हों। एक मेरे मित्र हाल में ही अमेरिका से आए हैं। बकौल उनके कठिनाइयाँ दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही हैं। वह सभ्य अमेरिका, जिसने बड़े गर्व के साथ न्यूयार्क में सबसे मौक़े की जगह पर स्वतंत्रता की विशाल-काय मूर्ति स्थापित कर रक्खी है, आज सन् १९२६ में काले हबशियों को लिंच करता है, यानी सब गोरे मिलकर ज़िंदे हबशी को बिना न्याय, बिना सुनवाई, ईसा की भाँति सूली दे देते हैं, मानो हबशी मनुष्य ही नहीं हैं। यह मदमत्त, पाप की मूर्ति अमेरिका अब फ़्रांस को नीति की शिक्षा देने चला है। माना कि फ़्रांस पतित है, किंतु यह सुनकर हँसते-हँसते किसके पेट में बल न पड़ जायँगे कि वह अमेरिका, जिसने साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, नीति आदि के क्षेत्र में प्रायः नहीं के बराबर काम किया है, अब फ़्रांस को नीति के पाठ पढ़ाने चला है! नव सौ चूहे हज़म करके बिल्ली हज को जा रही है! हे शेषशायी भगवान्, अब अपनी निद्रा निश्शेष कर दो। भारत! सावधान हो जा! तुझे, तेरे पड़ोसी एशिया के अन्य राष्ट्रों को और रूस को चकनाचूर करने के ये उपाय हैं। लेकिन दुहाई दी जा रही है नीति की। दुर्भाग्य है इस नीति का, जो इनके हाथ पड़कर दुर्गति को प्राप्त हो रही है। ये वही पादड़ी हैं जो बँगलों में शराब पीकर हमें मज़हब सिखाने आते हैं। फ़्रांस को अपना जन-बल बढ़ाने के लिये कालों-पीलों को मिलाने की सूझी है। वहाँ की व्यवस्थापिका सभा में इस विषय पर प्रस्ताव भी पास हो गए हैं। उधर अमेरिका में इन कालों-पीलों को बाहर खदेड़ने तथा अधिकार-च्युत करने के क़ानून बन चुके हैं। यह स्पष्ट स्वार्थ-विरोध इस नए आंदोलन की जड़ है। जर्मन भी इसमें सहायक हैं; क्योंकि जर्मनी में रंग की यह छुआछूत सबसे अधिक है। इसके अलावा राजनीति के पीछे लठ लेकर फिरनेवाले जर्मन समझते हैं कि चाहे हम अँगरेज़ों और अमेरिकनों के ग़ुलाम हो जायँ, पर फ़्रांस के भाई न बनेंगे; क्योंकि उसे वे अपना चिर-शत्रु मानते आते हैं। जो हो, अमेरिकनों और अँगरेज़ों द्वारा तैयार किए हुए इस धोखे के गढ़े में हमें न गिरना चाहिए। सीरिया तथा मोरक्को के उपद्रव भी योरपियन राष्ट्रों की शतरंज की चालें हैं। वे स्वाधीन हो जायँ, तो हमें दुःख न होगा। किंतु अँगरेज़ तथा अमेरिकन पत्र जब उनकी स्वतंत्रता और विजय की कामना करते हैं, तब इन 'गोरूपा व्याघ्रकर्मणा' राष्ट्रों की कूटनीति देखकर इनकी नीचता पर रोष आना स्वाभाविक है। भारतवासी इन्हें ख़ूब पहचानते हैं। उन्हें इनके फंदे में न आना चाहिए। पाँच से दस साल के भीतर ही संभवतः एशिया और भारत का फ़ैसला हो जायगा। उस समय इनका रूप खुलेगा। अभी तो—

ख़ूब पर्दा है कि चिलमन से लगे बैठे हो;
साफ़ छुपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं।

हेमचंद्र जोशी

कि अच्छे-बुरे का भेद आता रहता है, और खरे सिक्कों के स्थान में खोटे सिक्के हाथ आ जाते हैं। क्या यह लज्जा की बात नहीं कि पंजाब-केसरी महाराजा रणजीतसिंह की जीवनी भी हमारे पास आती है, तो बँगला से अनुवादित होकर। विद्या-सागर का जीवन-चरित्र बँगला से अनुवाद हो, तो हानि नहीं ; किंतु नेपोलियन की जीवनी के लिये हम बंगाल के सामने क्यों हाथ फैलावें ? हीर-राँझे की कहानी तो पंजाब के बच्चे-बच्चे की ज़बान पर है ; लेकिन बंगाली साहित्य-सेवियों की हिम्मत तो देखिए कि यह प्रेम कथा बँगला से ही हमें मिलती है। आज हिंदी-भाषा के एक प्रेमी उठते हैं, और इस कहानी का बँगला से अनुवाद कर देते हैं। मुझे लोगों की ऐसी बुद्धि पर रोना आता है। क्या वारसशाह के क़िस्से जल चुके हैं, या पंजाबी, उर्दू जाननेवालों का अभाव है, जो हम बँगला-अनुवाद से अनुवाद करें ? नदियाँ छोड़कर नहरों की तरफ़ दौड़ना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? एक और महाशय ने जॉन आफ़ आर्क का अनुवाद किया है। यह भी बँगला से। मगर क्या ? क्या हिंदी जाननेवाला ऐसा कोई नहीं, जो फ्रांसीसी या अँगरेज़ी जानता हो ? एक और सज्जन ने समुद्र के संबंध में एक पुस्तक का अनुवाद किया है। यह भी बँगला से। ऐसे आदमी साहित्य-सेवा नहीं करते, साहित्य की जड़ों पर कुल्हाड़ा चलाते हैं। इससे साहित्य बनता नहीं, बिगड़ता है। इस तरह की गंदी नालियों से नदी का पाट तो चौड़ा हो जायगा ; मगर जल की पवित्रता जाती रहेगी। 'कृष्ण कांत का बिल' बंकिम बाबू का बहुत बढ़िया उपन्यास है। एक और बंगाली ने इसे ही तोड़-मरोड़कर तथा अदल-बदलकर अपने नाम से छपा दिया है। कैसा निर्दनीय कर्म है। किसी चोर में भी ऐसा साहस न होगा। मगर मज़ा देखिए, इस पुस्तक का भी अनुवाद हिंदी में हो गया है। क्या ऐसे ग्रंथ कंकरों से किसी भाषा की श्री-वृद्धि हो सकती है ? कदापि नहीं।

परंतु इसका कारण क्या है ? जहाँ तक मैंने सोचा, इसका कारण यह है कि हमारे दिमाग़ पर बंगाल की दासता की मोहर लग चुकी है। हम यही समझते हैं कि बंगाली लेखक एकदम बढ़िया लेखक हैं। वह जो लिखते हैं, सही और दुरुस्त लिखते हैं। उनमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं। मगर यह भूल है। बाग़ को काँटों से साफ़-सुथरा किसने किया है ? निस्संदेह बंगाल की भूमि ने बड़े-बड़े विद्वान् और सुयोग्य लेखक उत्पन्न किए हैं। परंतु अनाड़ी लेखकों का वहाँ भी अभाव नहीं। अयोग्य और नालायक़ लेखक हर प्रांत में मौजूद हैं। इसलिये अनुवादक महाशयों को किसी भी पुस्तक का अनुवाद करने से पहले सोचना चाहिए कि इसके बिना हिंदी-साहित्य का काम चल सकता है, या नहीं ? अगर चल सकता है, तो उस पुस्तक को उठाकर दूर फेंक देना चाहिए। बुरी पुस्तक का अनुवाद करना अपनी भावी संतान पर ऐसा अनर्थ करना है, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं।

एक बात और है। अब हमें यह भी सोचना चाहिए कि क्या हम बँगला की काफ़ी पुस्तकों का अनुवाद हिंदी में नहीं कर चुके ? क्या यह उचित न होगा कि अब हिंदी-भाषा-भाषी अँगरेज़ी और फ्रांसीसी पुस्तकों के अनुवाद की ओर ध्यान दें। अँगरेज़ी में दुनिया-भर की विद्या भरी पड़ी है, और फ्रांसीसी में ऐसे उच्च कोटि के ग्रंथ मौजूद हैं, जिन्हें देखकर बुद्धि चकरा जाती है। बालज़क, ड्यूमा, विक्टर ह्यूगो, और अनातोले फ्रांस आदि लेखकों के उपन्यास ऐसे ज़ोरदार हैं कि पढ़कर मज़ा आ जाता है। इन सबकी पुस्तकें अँगरेज़ी में छप चुकी हैं। गीदमोपासाँ भी एक फ्रांसीसी लेखक हैं। यह अपनी कहानियों में मानव-जीवन के वास्तविक चित्र खींचते हैं। इनकी कहानियों के १३ ग्रंथ अँगरेज़ी में अनुवादित हो चुके हैं। मारिस लेब्लान साहब जासूसी कहानियाँ लिखने में इँगलिस्तान के सुप्रसिद्ध लेखक कॉनन डायल से भी बढ़ गए हैं। उनके उपन्यास 813, Bombserell, Golden Triangle, Hollom neeolle, The frontier, Arsien Lupin तो कई भाषाओं में छप चुके हैं। आस्कर वाइल्ड फ्रांस का सुप्रसिद्ध नाट्यकार है। इसके नाटक भाषा और भाव, दोनों की दृष्टि से प्रशंसनीय हैं। The Ideal Husband, The Importance of Beingearnest, और The Dutches of padna इस जादूगर के सुप्रसिद्ध नाटक हैं, जिन्होंने योरप की साहित्य-धारा को पलट दिया है। Seinki which पोलैंड का कवि-सम्राट् है। पोलिश साहित्य में इसकी वही पदवी है, जो अँगरेज़ी में शेक्सपियर की तथा संस्कृत में कालिदास की। Cow vains (तू किधर जाता है ?) इसका सबसे अच्छा उपन्यास है,

जिसमें लेखक ने नीरो के समय का चित्र खींचकर रख दिया है। अँगरेज़ी में भी उच्च कोटि के लेखकों की कमी नहीं। मेरी कॉरेली, राइडर हैगर्ड, लॉर्ड लिटन और हाल-केन की पुस्तकों को पढ़कर ऐसा कौन आदमी है, जो वाह-वाह न कहेगा? रूस के टालस्टाय की पुस्तकों के संबंध में तो यहाँ तक कहा जाता है कि यदि उन्हें शैतान भी पढ़ ले, तो फ़रिश्ता बन जाय। ये सब पुस्तकें इस योग्य हैं कि इनके अनुवाद हिंदी में प्रकाशित किए जायँ। यदि हिंदी-लेखक इस ओर ध्यान दें, और इस बात को समझें कि केवल बँगला-पुस्तकों से हिंदी-साहित्य की श्री-वृद्धि न होगी। इस समुद्र से हम बहुत ले चुके, अब तो सीपियाँ ही बाक़ी हैं। अब वहाँ क्यों न डुबकी लगावें, जहाँ से रत्न लेकर बँगला-साहित्य में जड़े गए हैं। कुछ समय पाकर जब मोती पैदा होंगे, तो हम फिर इस ओर ध्यान दे सकते हैं। इस समय इस बात की आवश्यकता है कि हम नए-नए समुद्र ढूँढ़ें, और उनमें ग़ोते लगाकर बहुमूल्य मोती प्राप्त करें, तथा उनसे अपना साहित्य-कोष भरें। परंतु साथ ही, मौलिक पुस्तकों की महत्ता को आँखों से ओझल न होने दें; क्योंकि इनके बिना किसी भाषा का साहित्य न तो बना है, न बन सकता है, और न बनेगा।

सुदर्शन

× × ×

२. पत्र-प्रतीक्षा *

तेरे काग़ज़ के टुकड़ों को कैसे देखूँ राह?
इन आँखों में तुझे देखने की कितनी है चाह।
कैसे यह अधीरता मन की कर सकती हूँ दूर?
रात-दिवस तेरी चिंता में मन अब रहता चूर।
बाँध टकटकी दरवाज़े पर देखूँ बारंबार;
शायद देख पड़ेगा कुछ तो उत्सुकता का पार।
पल-पल में नवीन आशा के रंगों से आकाश—
विह्वल मन का भर उठता है, चले वेग से श्वास।
अब सुनती थोड़ी-सी आहट, खिल उठती मुसकान;
होठों पर निर्जीव देह में आ जाते हैं प्राण।
उत्सुकता में भरकर देखूँ फिर-फिर अपना वेश:
वही आ गए, ऐसा लगता, जब पाती संदेश।
पढ़ती हूँ, फिर-फिर पढ़ती हूँ; होता किंतु न अंत;
एक पत्र मेरा होता है मानो पत्र अनंत।

* लेखक की अप्रकाशित पुस्तक से।

अक्षर-अक्षर चित्रित करता तेरा भव्य स्वरूप;
जब सोचूँ, तब नया-नया हो प्रियतम तेरा रूप।

वंशीधर

× × ×

३ रामायण-वर्णित चित्रकूट

सर्व साधारण की धारणा है कि बुंदेलखंड का चित्रकूट रामचंद्रजी का प्रिय 'चित्रकूट' है। परंतु पुरातत्त्वज्ञ और इतिहासज्ञ लोग इस विषय में एकमत नहीं हैं। अनेकों का कहना है कि सरगुजा-राज्य में 'रामगढ़'-नामक जो पहाड़ है, वही प्रकृत चित्रकूट है। वे ऐसा क्यों मानने लगे हैं, इसके कारण उन्हीं के शब्दों में सुनिए—

Contrary to usual, I give my hearty support to the correctness of the legend, and I hope to prove to my readers as I have to myself (though sorely against my will, for I must confess to a prejudice against admitting the correctness of legends), that this is really the *Chitrakuta* of the Ramayan and consequently that the hill known as Chitrakut in Bundelkhand is not the hill where Rama resided,

P. B. Beglar's,
Cunningham's Arche, Sur
Report Vol. XIII.

एक प्रख्यात 'गिरि' को लोग जब सैकड़ों वर्षों से 'चित्रकूट' मानकर पूजते आ रहे हैं, तो ऐसी दशा में किसी अन्य 'गिरिवर' को यह गौरव-प्रदान करना कठिन काम है। अतएव प्रथम 'गिरि' के विपक्ष और नूतन स्थान के पक्ष में सब बातें कहनी पड़ेंगी।

रामायण से मालूम होता है कि—

Go forth to Chitrakuta Hill,
× × × × ×
There with expanding heart to look
On river, table land, and brook,
And see the foaming torrent rave
Impetuous from the mountain cave"

मयूरनादाभिरतो गजराजनिषेवितः;
गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः सविश्रुतः।
पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलैर्युतः;
तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चैव हि।

विचरन्ति वनान्तेषु तानि द्रक्ष्यसि राघव ;
सरित्प्रस्रवणप्रस्थान्दरीकन्दरनिर्भरान ।
(अयोध्याकाड, सर्ग ५६)

चित्रकूट 'प्रयाग' से दस कोस पर था, यह नीचे के चरण में देखिए—

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि ।

*　　*　　*

चित्रकूट इतिख्यातो गंधमादनसन्निभः ।

चित्रकूट के मार्ग में 'दावानल'-वाले वन न थे । यथा—

रम्योमार्दवयुक्तश्च दावैश्चैव विवर्जितः ;
इति पथानमादिश्य महर्षि सन्यवर्तत ।

इस प्रकार श्लोकार्द्ध उद्धृत कर बेगलर साहब लिखते हैं—

From the first quotation it is evident that the *Chitrakuta* Hill contained table-land, a brook, a river close by and a torrent issuing impetuous from a mountain cave

The second quotation shows that on the road from Prayaga to *Chitrakuta* there were no *burning forests*

The third quotation shows that the mountain was tall and peaked and stood in a plain where all is green and fair. From the fourth quotation, the hill appears to have had table lands on its summit.

From the fifth quotation it appears the *Mandakini* was adorned with the islands.

From the sixth there appears to have been a noted *cave* on the north side of the hill.

From tho seventh there appears to have been a rill in *Chitrakuta* which ran, 'beneath the hill' from the eighth the place appears to have been frequented by elephants. The *ninth* quotation shows that the road to *Chitrakuta* from *Allahabad* went, "south and more south". and the hill had lovely woods and waterfalls, and to its north might be seen the *Mandakini*.

From the tenth it appears that the cloud after leaving *Amarkantak*, came to Chitrakut, thence on to the Vindhyas, and then to Dasharna From the eleventh it is evident that *Rama's* celestial *Car* flying direct from *Lanka* to Prayag, passes within view of Chitrakuta, which is represented as standing to the east of the path of the Car

The *Chitrakuta Hill* of Bundelkhand fulfills *none* of the conditions above detailed

अर्थात् —

१. बुंदेलखंडी चित्रकूट (अर्थात वर्तमान चित्रकूट) में न तो टेबल लैंड (उच्चसमभूमि) है, न वहाँ गिरि-गुहा से कोई निर्भर या वन-नदी निकलती है ।

२. प्रयाग से चित्रकूट के मार्ग में दावाग्नि-पूर्ण पर्वत मिला करते है । मार्ग के पर्वतों में गहन वन या पार्वतीय तरु-पुंज (forest tree) नहीं हैं । झाड़ी और घास-पात के वन बहुत हैं, जो प्रायः 'वनवह्नि' के सहायक रहते हैं ।

३. बुंदेलखंडी चित्रकूट-पर्वत बहुत ऊँचा नहीं है, और न उसके उच्च शृंग या शिखर है ।

४. There is not half a rood of table-land on the Chitrakuta Hill of Bundelkhand

एक एकड़ का चौथाई हिस्सा भी उच्चसमभूमि नहीं है ।

५. पयस्विनी-नदी मे द्वीप (islands) नहीं है ।

६. उस पर्वत मे कोई गुफा भी नही है ।

There is no cave in the hill

७. चित्रकूट-पर्वत के निकट कोई 'नाला' भी (rill) नही है ।

८. उस पर्वत मे या आसपास हाथी नहीं मिला करते । अकबर के समय में भी वहां हाथियों के मिलने का पता नहीं लगा था ।

The nature of the forest there is not such as would suit elephants, there is no forest but scrub, and elephants won't live in scrub jungle

९. प्रयाग से चित्रकूट उस वर्णित दिशा में नहीं है ।

१०. वर्तमान चित्रकूट विन्ध्य-पर्वत मे सम्मिलित है । अतः मेघ (मेघदूत-वर्णित मेघ) वहाँ से विंध्य पर्वत को नहीं आ सकता ; क्योंकि यमुना-नदी और चित्रकूट के बीच में कोई ऐसा पहाड़ नहीं है ।

११. वर्तमान चित्रकूट प्रयाग से पश्चिम की ओर है, और श्रीरामचंद्रजी का 'पुष्पक विमान' लंका से प्रयाग आता हुआ चित्रकूट से पूर्व-दिशा में गमन करेगा । अस्तु,

श्रीरामचंद्रजी विमान पर से यह नहीं कह सकते कि चित्रकूट पूर्व-दिशा में है।

यही संक्षेप में बेगलर साहब के लेख का अभिप्राय है।

अब देखना है कि सरगुजा-राज्य के रामगढ़-पर्वत पर, जिसे हम 'छत्तीसगढ़ी रामगढ़' कहते हैं, चित्रकूट की स्थिति के समर्थन की बातें कैसे घटित होती हैं—

१. रामगढ़ पर्वत पर उच्चसमभूमि (table-land), एक नाला (brook) और एक नदी है। एक गिरि-गुफा से निर्झर निकलकर बह रहा है—

The most rare feature which few hills can show—a torrent issuing "impetuous from a mountain cave."

(See my description of the Hathiphor tunnel)

२. इस मार्ग में दावाग्नि नहीं देखी जाती। दावाग्नि का प्रायः अभाव ही है।

३. रामगढ़-पर्वत बहुत ऊँचा पहाड़ है। उसकी एक चोटी (peak) भी है, जो ऊँची है।

४. रामगढ़-पर्वत के ऊपर बड़ी-सी उच्चसमभूमि है।

५. रेउर नदी (the Reur River), जो पर्वत के निकट बहती है, द्वीपों से अलंकृत है।

The Reur River which flows past it, is adorned with islands, and its character is that of long reaches of still water with rapids at intervals

६. सीताबेंगिरा की गुफा इसी रामगढ़-पर्वत में है।

७ एक नाला (rill) है, जो रामगढ़ पर्वत के पाद-देश में बहता है।

८. आज तक इस पर्वत में जंगली हाथी देखे जाते हैं।

Ramgarh hill is visited by wild elephants to this day, and was so in the days of Akbar

९. रामगढ़-पर्वत प्रयाग से दक्षिण, १८ डिग्री पूर्व में है।

Ramgarh hill lies only about 18 degrees east of due south from Allahabad.

१०. अमरकंटक से मेघ आगे बढ़कर रामगढ़-पर्वत से होता हुआ विंध्य-पर्वत पर पहुँचता है।

११. रामगढ़-पर्वत उस प्रधान मार्ग के, जो प्रयाग से रामेश्वर को जाता है, पूर्व दिशा में है, और मार्ग के निकट भी है। लंका से लौटते समय श्रीरामचंद्रजी के विमान से रामगढ़-पर्वत पूर्व की ओर देखा जा सकता है।

छत्तीसगढ़ी रामगढ़-पर्वत की स्थिति और परिस्थिति रामायण वर्णित चित्रकूट के परिचय से ठीक-ठीक मिलती है जनश्रुति के अनुसार लोग उसे अब तक चित्रकूट मानते हैं। अतः यही रामगढ़-पर्वत प्रकृत चित्रकूट माना जाना चाहिए।

प्रयाग से चित्रकूट की दूरी बेगलर साहब ४ लीग (4 leagues) बतलाते हैं। प्रयाग से रामगढ़ पर्वत की दूरी, स्थल-मार्ग से, २४० मील है। इस हिसाब से एक लीग ६० मील के बराबर मानने से काम चल सकता है।

भरतजी भरद्वाज से चित्रकूट का मार्ग पूछ रहे हैं—

Ere the *fourth league* from here be passed,
Amid a forest wild and vast,
Stands Chitrakuta's mountain tall,
Lovely with wood and waterfall,
North of the mountain you wilt see,
the beauteous stream *Mandakini*

Mr. Griffith's translation.

अयोध्याकांड सर्ग ८२, श्लोक ९-१०-११ के पाठ में यह दूरी २½ योजन है। ऊपर का अंश इन्हीं श्लोकों का अनुवाद है। मूल श्लोक यों हैं—

इति पृष्टस्तु भरत भ्रातुर्दर्शनलालसम् :
प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपा.।
भरतार्द्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने :
चित्रकूटगिरिस्तत्र रम्यनिर्झरकानन।
उत्तर पार्श्वमासाद्य तस्य मंदाकिनी नदी :
पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना।

"अर्द्ध तृतीयेषु योजनेषु" अर्थात् २½ योजन दूर बताया है। श्रीरामचंद्रजी को चित्रकूट की दूरी "दश क्रोश" बताई गई थी।

(अयोध्याकांड, सर्ग ५४, श्लो० २८)

अस्तु, एक ही ग्रंथ के एक ही कांड में प्रयाग से चित्रकूट की दूरी के संबंध में दो बातें मिलती हैं। पर इसमें संदेह नहीं कि चित्रकूट, जहाँ श्रीरामचंद्रजी निवास करते थे, गजयूथ सेवित तथा गुफाओं से युक्त था। यथा—लक्ष्मणजी भरत के साथ सेना देखकर कह रहे हैं—

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ;
सज्जं कुरुष्व चापञ्च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥

(सर्ग ९६)

पुनः आगे श्रीरामचंद्र सीताजी से कह रहे हैं—

मन्यस्व वनितं नित्यं सरयूर्वादिमां नदीम्।

पुनश्च,

इमां हि रम्यां गजयूथलोडितां,
निपीततोया गजसिंहरावरैः ;
सुपुष्पिता पुष्पभरैरलंकृतां,
न सोऽस्ति यः स्यामगतक्रमः सुखी ।
(सर्ग ६५)

इस लेख में जो मत व्यक्त किए गए हैं, वे बेगलर साहब के अनुसंधान और गवेषणा के आधार पर हैं। सन् १८७४-७५ में, अपनी रिपोर्ट में, इस विषय पर उन्होंने विस्तार के साथ लिखा है। इतिहास तथा पुरातत्त्व के विद्वानों ने इसके पक्ष या विपक्ष में कुछ लिखा है या नहीं, हमें यह ज्ञात नहीं। हमने बेगलर साहब के मत को, जो आज से ५० वर्ष पूर्व व्यक्त किया गया था, इस लेख द्वारा सर्व-साधारण के सम्मुख संक्षेप में उपस्थित कर दिया है। इस पर वाद-विवाद करना योग्य विद्वानों के अधिकार की बात है।

लोचनप्रसाद पांडेय

× × ×

४. छाया में एकता

तुम कदंब के ऊपर बैठे, झूल रही हूँ मैं झूला :
मार पिचकारी फूल रही मैं, श्याम रंग से वह फूला।
ऊपर जाती भक्ति-भाव से, नीचे नीच वृत्ति लाती :
पीछे हटती हूँ उतनी ही, जितनी मैं आगे आती।
देख रही मैं, तेरी छाया के नीचे अपनी छाया :
तुम तो ऊपर ही कदंब के झूला नीचे लटकाया।
ऊपर चढ़ने के प्रयत्न में मैं नीचे भी आती हूँ :
नीचे आकर फिर भी ऊपर अनायास चढ़ जाती हूँ।
थककर जब मैं नीचे उतरी, पास तुम्हारी थी छाया :
दोनों मिलकर एक रंग थे, भेद नहीं कुछ भी पाया।

प्यारेलाल टहमगुरिया

× × ×

५. स्थान-वाचक "लार" की व्युत्पत्ति

लार नाम के कई स्थान हैं। एक गोरखपुर-ज़िले में है, दूसरा फ़ारस-देश में। "लारी" नाम का बिहार में कोई मौज़ा है। लाट-देश दक्षिणी गुजरात को कहते हैं। लाहौर और लालवाड़ी पंजाब में हैं।

ऊपर के शब्दों से संबंध रखते हुए निम्न-लिखित भी स्थान-वाचक शब्द हैं।

रट्ठ, राट, राठ, राढ़, राढ़ा, राढ़ी इस सूबे में राढ़ी के मिश्र होते हैं। बंगाल के गौड़-प्रांत और उसकी राजधानी का पुराना नाम राढ़ा है, जो आजकल माल्दा और मुर्शिदाबाद के ज़िलों में शामिल हो गया है। "गौड़ं राष्ट्रमनुत्तमं निरुपमा तत्रापि राढापुरी।" (प्रबोधचंद्रोदय)

संस्कृत का र अक्षर प्राकृत में ल अक्षर हो जाता है। ट्ट का ठ, ढ, ढ़ हो जाता है। रूपांतर होते हुए ट्ट का केवल र रह जाना संभव है।

एक ही वैदिक शब्द राट से राष्ट्र या राज्य और लाट या लार-शब्द बने हैं, जैसे किसी पुरानी नदी की दो धाराएँ हो गई हों। राष्ट्र-शब्द का अर्थ जनपद और जन-समूह, दोनों है (देखो मनुस्मृति ६—२५४)। पहले लोग आ-आकर आबाद होते थे। पुनः नियम बनता था, और उसका पालन किया तथा कराया जाता था। ऐसे स्थान और लोगों का नाम राष्ट्र या लाट या लार होता था।

इसके संबंध में चीन-देश के प्रसिद्ध तीर्थ-यात्री हुएनसांग (जो सातवीं सदी ईसवी में भारतवर्ष आया था) के यात्रा-विवरण के (बीलकृत-संस्करण सन् १९०६ ई०) निम्न-लिखित पृष्ठों में कुछ नोट दिए हुए हैं—पृष्ठ १६, ६१, १००, १०८ और २६६, जो चीन-देश के इतिहास से लिए गए हैं, और जिनसे प्रकट होता है कि "लार" एक लड़ाकू तुर्की-क़ौम का नाम था, जिसका दबदबा फ़ारस और हिंद तक जमा हुआ था, और जो मालवा और गुजरात में बस गई थी।

आम तौर से किसी क़ौम के नाम का उसके निवास-स्थान से संबंध रहता है। इस सिद्धांत के अनुकूल "लार"-स्थान तुर्किस्तान में रहा होगा। बौद्ध धर्म के प्रचार के समय संस्कृत के बहुतेरे शब्द तुर्किस्तान में प्रचलित हो गए थे। स्वयं खुतन-शब्द (कु+स्तन पृथ्वी का ऊँचा भाग) अपभ्रंश या रूपांतर है। हिंदोस्तान का राष्ट्र-शब्द ऐसा व्यापी और प्रभावशाली है कि विदेशियों ने भी इसे अपनाया है।

यों तो तुर्किस्तान और फ़ारस स्वयं आदिम आर्य लोगों के निवास-कटिबंध में है, और आश्चर्य क्या कि राट या लाट या लार शब्द ख़ास उनका भी शब्द हो, जिसके लिये किसी से उधार लेने की उन्हें ज़रूरत न पड़ी हो।

राष्ट्रकूट-शब्द से बिगड़कर "राठौड़ या राठौर" हो गया है। 'कूट'-शब्द का भी अर्थ जन-पद और जन-समूह

दोनों होता है। राष्ट्रकूट-शब्द का अर्थ हुआ राष्ट्रों का निवास-स्थान, अथवा वह जन-समूह या क़ौम, जो राष्ट्रों में रहती हो। जो लोग किसी स्थिर नियमबद्ध या व्यवस्था-युक्त राज्य में रहते थे, वे असभ्य, वनचर गिरोहों या जातियों से विभिन्नता और उत्तमता दिखलाने के लिये अपने को राष्ट्र कहते थे। कुछ हालतों में, संभव है, इन राष्ट्रों या लारों का प्राचीन स्थान तुर्किस्तान रहा हो, और इस शायस्ता (सभ्य) गिरोह ने हमले करके हिंदुस्तान के मुख़्तलिफ़ हिस्सों में अपने निवास-स्थान बना लिए हों; और, जहाँ-जहाँ बसे, वहाँ-वहाँ अपने गिरोह और स्थान को राष्ट्र, रट, राढ, या लाट-लार-लाल-लाड़ की उपाधि देते गए हों। आमतौर से ये राष्ट्र या लार लोग हिंदुस्तान ही के आदिम निवासी रहे होंगे, तथा समय पाकर प्रबल और प्रसिद्ध हो गए होंगे।

अनुमानतः लार-शब्द राष्ट्र शब्द का रूपांतर है, तथा इसका भी अर्थ निवास-स्थान (जनपद) और जन-समूह (क़ौम), दोनों है।

विंध्येश्वरीप्रसादराय

× × ×

६. प्रतिरोध

मत उँड़ेलता जा रस इतना, झूम रहा मन मतवाला;
छलक पड़ेगा, छोटा-सा है मेरे जीवन का प्याला।
वैभव बाँध सकूँगा कितना फटे हुए इस अंचल में?
बेहोशी में पहनाता जा, यों न प्यार की मृदु माला।
सुख की इस अस्थिर धारा में स्थिर कब तक रह पाऊँगा?
सच कहता हूँ, रोक, नहीं तो तिनका-सा बह जाऊँगा।
यही हर्ष, बन क्लेश-अनल, कल से आवेगा झुलसाने;
'अंतर' की वह भीषण ज्वाला, फिर कैसे सह पाऊँगा?

श्रीजनार्दनप्रसाद झा "द्विज"

× × ×

७. प्रकृति

भारी फल मृदु, मंजु लता में विपुल लगाए;
भीषण वन में रुचिर मनोहर फूल खिलाए।
क्या दवाग्नि के हरित बाँस में अमित छिपाए;
शुष्क शैल से सरस सुधा-सम स्रोत बहाए।
उनका भी मेल मिला दिया, जो बिलकुल बेमेल हैं;
इस प्रकृति-नटी के विश्व में, कैसे अद्भुत खेल हैं।

जगन्नाथप्रसाद खत्री "मिलिंद"

× × ×

८. संगीत-शक्तिशाली जलचर जीव

स्थलचर जीवों के कंठ से कोमल-मधुर आदि नाना प्रकार की ध्वनियों का जो उद्भव होता है, इसे सभी जानते हैं। किंतु मछली आदि जल-जंतुओं में यह अद्भुत बात देखी जाती है, इसे बहुत कम लोग जानते होंगे। हम यहाँ इसी संबंध में 'बँगला-साहित्य-सदर्भ' से कुछ लिखते हैं।

सन् १८२४ ई० में लेफ़्टिनेंट ह्वाइट भ्रमण करते-करते कांबोडिया के निकटवर्ती किसी नदी के मोहाने में पहुँचे। उस समय वह नदी-गर्भ से आ रहा एक प्रकार का अद्भुत शब्द सुनकर बहुत चकराए। उनको मालूम हुआ, जैसे बहुसंख्यक वीणाएँ या हारमोनियम एकसाथ बज रहे हों। जहाज़ नदी-मुख में ज्यों-ज्यों अग्रसर होता गया, त्यों-त्यों यह ध्वनि अधिकाधिक उच्च और सुस्पष्ट होने लगी। थोड़ी देर बाद मालूम हुआ कि जलयान के नीचे से होकर ही यह ध्वनि आ रही है। क्षण-क्षण में वही एकतान-वाद्य इस तरह गंभीर नीद में ध्वनित होने लगा कि उसके द्वारा जहाज़ भी काँपने लगा। ह्वाइट के साथ एक चीन-देश का परिव्राजक था। उसने कहा, इस नदी में एक प्रकार की मछली रहती है। उसी का यह कलरव है।

बंबई के निकट समुद्र-भाग में भी ऐसे ही शब्द समय-समय पर सुनने में आए हैं। सन् १८४७ ई० में कुछ अँगरेज़ नावों पर सवार होकर सालिसिट-द्वीप के समीप भ्रमण कर रहे थे। उस वक़्त घंटा, और वीणा-ध्वनि की तरह की एक सुमधुर ध्वनि उन्होंने सुनी। पहले उन्होंने समझा कि यह ध्वनि स्थल से आ रही है। किंतु दूसरे ही क्षण उन्हें अनुभव हुआ कि उनकी नौका के चारों ओर समुद्र-तल से यह ध्वनि उठ रही है। नौका चलानेवालों से उन्हें मालूम हुआ कि यह एक जाति की मछली का शब्द है, और कुछ नहीं।

सन् १८४८ ई० में सर जेम्स एमरसन टेनांट सिंहल-द्वीप के बाटिकलोवा-स्थान में पहुँचे। वहाँ क़िले के नीचे एक झील है। उन्होंने सुना था कि इस झील से रात को—ख़ासकर चाँदनी रात को—वीणा का-सा स्वर सुनाई देता है। अब धीवरों ने भी उनके सामने इस बात के सत्य होने की साक्षी दी। इसके बाद एक बार वह चाँदनी रात में कई धीवरों को साथ लेकर नाव पर इस झील में गए, तथा वैसी ही ध्वनि सुनी। टेनांट साहब नौका के निम्न-भाग के

काष्ठ पर कान लगाकर परीक्षा करने लगे। तब वह ध्वनि अधिकतर स्पष्ट सुन पड़ने लगी।

एक समय अमेरिका के ब्रेटाउन-बंदर में भी रात्रि को जल के भीतर से वीणा-ध्वनि सुनी गई थी। नाविक लोग इसको सागर-तलवासी किसी देवता की वाणी समझ कर भयभीत हो गए। किंतु यह तो वास्तव में किसी जलचर प्राणी का शब्द-मात्र था, कुछ बुद्धिमानों की जाँच से यह निश्चय हो गया है।

समुद्र-गर्भ से निकलनेवाले ऐसे ही और शब्द अनेकानेक समुद्र-यात्रियों अथवा भ्रमणकारियों ने सुने हैं। केवल दो-एक जाति की मछली ही इस तरह संगीत-शक्तिशाली नहीं होती। पता लगा है कि मछली इत्यादि की कुछ जातियाँ तथा सीप इत्यादि की कोई-कोई जाति मधुर स्वर से बोलती है। ये सब संगीत-प्रेमी जीव ग्रीष्म-ऋतु में समुद्र में और कोई-कोई नदी में रहते हैं। परंतु भ्रमणकारी लोगों ने और भी किसी-किसी सामुद्रिक प्राणी की अद्भुत संगीत-शक्ति का वर्णन किया है।

प्रसिद्ध भूगोल-वेत्ता कैप्टेन विटेन-नामक एक मनुष्य ने ऐसे ही एक प्रकार के अद्भुत सामुद्रिक प्राणी का विवरण लिखा है। उक्त साहब एक समय जहाज़ पर सवार होकर हला-द्वीप को जा रहे थे। एक बार रात्रि में उनके जहाज़ के किसी नाविक को अकस्मात् पास ही मनुष्य की कंठ-ध्वनि-सी मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी। वह उसी वक़्त उठ बैठा, और इधर-उधर देखने लगा। किंतु उसको कहीं भी कोई प्राणी नज़र न आया। कोई उपाय न देख वह फिर जाकर सो रहा। थोड़ी ही देर बाद पहले की-जैसी आवाज़ फिर उसके कान में पड़ी। जिस स्थान और जिस वक़्त का यह विवरण लिखा जाता है, वहाँ पर उस वक़्त अच्छा प्रकाश * था, तथापि नाविक के बहुत दूर तक देखने पर भी कुछ नहीं दिखाई दिया। वह भूमि पर उतरा, और चारो तरफ़ विशेष रूप से अनुसंधान करने लगा। इस बार वह मनोरम शब्द सुस्पष्ट सुनाई दिया। तब और भी अधिक आश्चर्यान्वित होकर इतस्ततः अनुसंधान करते-करते उसने देखा कि सागर के जल पर, पास ही, एक शिला-खंड के ऊपर कोई अद्भुत प्राणी बैठा है। उसका मुँह और पीठ मनुष्य के मुख और पीठ-जैसी थी। हलदी का-सा रंग और बड़े-बड़े बाल थे। पूँछ सोल मछली की-जैसी थी। इस नवीन अद्भुत जंतु का दर्शन कर पहले तो नाविक कुछ झिझका, किंतु कुछ ही देर में वह समझ गया कि यह सामुद्रिक जीव के सिवा और कुछ नहीं है। दो मिनिट तक नाविक उसको देखता रहा। इसके बाद वह समुद्र गर्भ में ग़ोता लगा गया। नाविक ने उसी समय अपने अफ़सर के निकट आकर इस संगीत-शक्तिशाली मनुष्य की आकृतिवाले प्राणी का वर्णन किया। तब कहीं सब लोगों का समाधान हुआ।

केटलेक-द्वीपपुंज के अंतर्गत इयलो-नामक द्वीप में एक बार धीवरों ने इसी जाति के और एक प्राणी को पकड़ा था। इससे किसी तरह की गीत-ध्वनि सुनने की कोई सुविधा नहीं हुई। मगर जिस वक़्त इसको पकड़ा था, उस वक़्त यह क्षीण एवं कातर कंठ से अपनी मर्मवेदना प्रकट कर रहा था। डॉक्टर राबर्ट हैमिल्टन उक्त प्राणी के संबंध में लिखते हैं—धीवरों ने जिस अद्भुत प्राणी को पकड़ा था, वह तीन फ़ीट लंबा था। ललाट, मुख और ग्रीवा छोटी थी। मनुष्य की अपेक्षा वानर-जाति से उसके सब अंग अधिक मिलते थे। उसका वक्ष-स्थल स्त्रियों की तरह उभरा हुआ, हाथ दोनो छोटे-छोटे और छाती पर रक्खे हुए थे। छः आदमी मिलकर उसको नौका पर लाए थे। किंतु भय और कुसंस्कार-जनित घबराहट के कारण धीवर लोग उसको ठीक तरह से बाँध नहीं सके थे। बंधन शिथिल रहने के कारण थोड़े ही देर में वह हाथ से निकल गया, और समुद्र में जा गिरा।

इस तरह के प्राणी के अस्तित्व के विषय में वैज्ञानिक लोगों में से अनेकों ने अविश्वास प्रकट किया है। मगर ऐसे आश्चर्यकर प्राणियों के विवरण और अनेक जगहों पर भी मिल सकते हैं। सन् १८८२ ई० में मलाया-प्रदेश में और एक ऐसा ही प्राणी पकड़ा गया था। सिंगापुर के किसी संवाद-पत्र में उसके विषय में इस तरह लिखा था—'*मलाया-प्रदेश का एक धीवर समुद्र में मछली पकड़ने गया था। वह एक अपूर्व जंतु पकड़कर लाया है। उसकी लंबाई चार फ़ीट है, और मस्तक बहुत कुछ शूकर के-जैसा है। वक्ष-स्थल एवं पीठ स्त्रियों के वक्षःस्थल और पीठ की तरह है। नीचे का भाग क्रमशः पतला होते-होते पूँछ बन गया है। इसका रंग श्वेताभ-नीला था।* डॉक्टर डेनिस इसके सब अंगों की परीक्षा करके बोले

* मेरु के निकटवर्ती प्रदेश में अरोरा बोरियालिस (Aurora Barealis) का प्रकाश।

कि यह स्तन्य-पायी है। धीवर लोगों ने कहा—यह प्राणी तैरने में बहुत ही निपुण है। जल के ऊपर मस्तक निकालकर मनुष्यों की तरह यह ख़ूब ज़ोर से डुबकी लगा सकता है।"

२० वर्ष पहले यहाँ पर ऐसा ही और एक प्राणी पकड़ा गया था।

दुर्गादत्त जोशी

× × ×

९. श्रवण-दर्शन

हिय की हुलास-सिंधु हिय मैं हिलोरैं लेत,
नैनन की कोरन कछूक झलकति है;
कहत "बिहारी" छन होत-सी बिबस आन,
गात पुलकत, कांति अंग हुलसति है।
सरस सहेली कीर्ति कृष्ण की सुनावै ज्यों ज्यों,
त्यों-त्यों मनमोहनी मनोज मैं पगति है;
मान दै अलीन बैठी ध्यान दै प्रबीन प्यारी,
पानि दै कपोल कथा कान दै सुनति है।

* * *

गोबिंद के गुन-रूप-स्वभाव की आली कथा बरनी निसि भारी;
चालन लागी सबै गृह ग्वालिनी प्रात-प्रकास बिलोकि "बिहारी"
राधिका व्याकुल बाँह गही, पट तानि रही, कही जाउ न प्यारी;
नीकी लगी छिन और सुनाइयो हाहा सखी, तुम्हैं सौंह हमारी।

कविराज बिहारीलाल ब्रह्मभट्ट

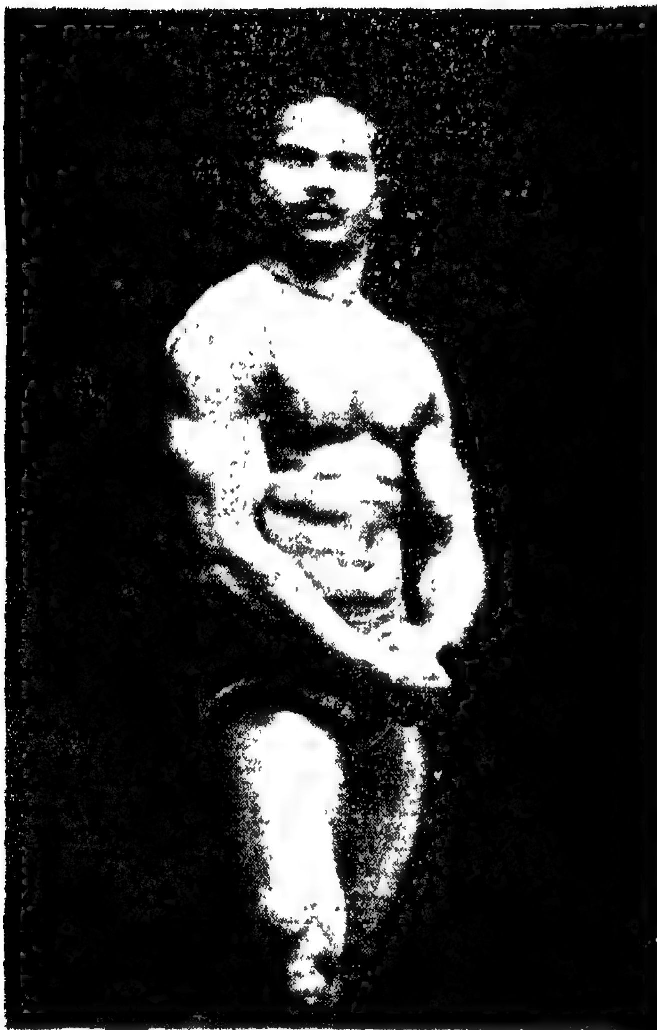
× × ×

१० प्रो० छोटालाल शाह

समस्त संसार के २५,००० पहलवानों में सांताक्रूज़ के (बंबई का एक उपग्राम) प्रख्यात गुजराती पहलवान प्रो० छोटालाल शाह को आठवाँ स्थान प्राप्त हुआ है, यह समाचार सुनकर कौन भारतवासी हर्षित न होगा? प्रो० शाह की अवस्था अभी २६ वर्ष की है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध सैंडो मि० अर्ल लीडरमैन की ओर से सन् १९२६ ई० के लिये जगत् के भिन्न-भिन्न देशों के कसरतबाज़ों की परीक्षा का प्रबंध किया गया था, जिसमें २५,००० कसरतबाज़ों ने अपने नंगे शरीर के फ़ोटो भेजे थे। इसके परीक्षक मि० लीडरमैन और मि० बरनार मेकफ़ाडन-जैसे विख्यात पहलवान थे। उन्होंने परीक्षा करके भारतीय पहलवान प्रो० छोटालाल शाह को १४ विशेष पारितोषिकों में से आठवाँ पारितोषिक दिया है। इस पारितोषिक में सुवर्ण-द्रक, पदक डालर का चेक और एक डिप्लोमा—प्रमाण-पत्र—है।

प्रो० छोटूभाई सिद्धपुर पाटण के निवासी हैं। आपके माता-पिता का क़द साधारण था, इसलिये बाल्यावस्था में छोटूभाई शक्ति-हीन एवं दुर्बल थे। एक दिन आपके एक मित्र ने ज़रा सी बात में आपके मुँह पर थप्पड़ लगा दिया। तत्काल यह भावी पहलवान भूमि पर गिर पड़ा, और मूर्च्छित हो गया। योग्य उपचार के बाद आप होश में आए, तो मित्र ने आपको व्यायाम आरंभ करने की सलाह दी। लेकिन उस समय आपके दिल में यह बात जगह न पा सकी। पुनः एक दूसरे दिन बालक छोटूभाई उसी मित्र के मुष्टि-प्रहार से बेहोश होकर भूमि पर गिर पड़े। इस वक़्त भी आपको व्यायाम करने की सम्मति दी गई। परंतु व्यर्थ। ऐसा दुर्बल बालक भविष्य में सुप्रसिद्ध पहलवान होगा, ऐसी आशा उस समय किसी को न थी। परंतु काल की महिमा को कौन समझ सकता है?

उपर्युक्त दोनो घटनाएँ हो जाने के बाद थोड़े ही दिनों में प्रो० के० के० शाह नाम के एक बलशाली पहलवान छोटूभाई की जन्मभूमि सिद्धपुर-पाटण (गुजरात) में आए। आप छोटूभाई के पिता के परिचित थे। वह उनके घर उनसे मिलने आए। तब छोटूभाई का दुर्बल शरीर देखकर प्रोफ़ेसर महाशय आपको उपालंभ देने लगे, और कड़े शब्दों में आपकी निंदा की। अंत में आपको व्यायाम करने की सलाह दी। प्रोफ़ेसर महाशय के कठोर उद्गारों का छोटूभाई के दिल पर गहरा असर हुआ। प्रोफ़ेसर चले गए। शीघ्र ही छोटूभाई भी मकान से निकल पड़े। वह सीधे व्यायाम-शाला की ओर अग्रसर हुए। वहाँ पहुँचने पर उस मित्र ने, जिसने दो बार बेहोश कर दिया था, छोटूभाई का सहर्ष स्वागत किया। व्यायाम-शाला में आपका यह प्रथम प्रवेश था। उस दिन ११ वर्ष की वय के छोटूभाई को उसी अखाड़े के समवर्गीय एक बालक ने कुश्ती में तीन बार पटकनी दी। परंतु छोटूभाई को व्यायाम का पूरा उत्साह हो चुका था, इसलिये आपने धैर्य न छोड़ा, और पूरे अध्यवसाय से शरीर बनाने के कार्य में तत्पर हुए। ६ महीने में, जो छोटूभाई पहले दिन केवल तीन डंड कर सके थे, १०० डंड करने लगे। अब तो छोटूभाई ने उस तीन दफ़े पटकनी देनेवाले लड़के को भूमि पर पटककर



प्रो० छोटालाल शाह

आए, और उन्होंने वहाँ सैंडो-पद्धति के आश्चर्यकारक प्रयोग कर दिखलाए। वह छाती पर पत्थर तुड़वाना, ज़ंजीर तोड़ डालना, शरीर के ऊपर से आदमियों से भरी हुई गाड़ी चलवाना इत्यादि प्रयोग करते थे, जिन्हें देखकर छोटूभाई के उत्साह ने फिर ज़ोर मारा। आपने वैसे ही प्रयोग करने की अपने पिता से आज्ञा माँगी। पिता को इसमें कुछ हर्ज नहीं मालूम हुआ। उन्होंने देखा कि सैंडो-पद्धति के प्रयोग कर दिखाने में राजे-रजवाड़ों में भी बहुत सम्मान होता है।

पिता की सम्मति मिलने पर छोटूभाई सैंडो-पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रयोग करने लगे। उन दिनों छोटूभाई प्रति दिन रात को बारह-एक बजे जागते और एक-दो बजे से प्रातःकाल के पाँच-छः बजे तक डंड-बैठक तथा अन्य व्यायाम किया करते थे। अब छोटूभाई २००० डंड एक सास में लगा सकते हैं, और ८००० बैठक। अपने प्रयोगों में आप पंद्रह सोलह पदक पा चुके हैं, जिनमें कितने ही रजवाड़ों से मिले हैं।

छोटूभाई का शरीर दिन-प्रतिदिन ज़्यादा पुष्ट और बलिष्ठ होने लगा। बंबई आने के पूर्व आप पटियाले के मशहूर पहलवान और संसार-भर के प्रथम पंक्ति के कुश्तीबाज़ गामा के पास गए थे। वहा चार-पाच महीने ठहरकर आप वापस लौट आए। पीछे अहमदाबाद के एक धनाढ्य गृहस्थ ने आपका स्नायुबद्ध शरीर देखकर आपको मासिक १००) की सहायता देने की कृपा की। यह सहायता चार वर्ष तक मिलती रही। इस अर्से में छोटूभाई ने अपना शरीर और भी दृढ़ बनाने का कार्य जारी रक्खा। बंबई में आकर आप नेशनल फ़िल्म-कंपनी में सिनेमा-नट का काम करने लगे। सवा वर्ष के बाद कंपनी बंद हो गई, और छोटूभाई कितने ही व्यायाम-प्रेमियों को व्यायाम की शिक्षा देने का काम करने लगे। आज आपके शागिर्दों में बड़े-बड़े डॉक्टर, वकील, व्यापारी

पराजित किया। भावी पहलवान छोटूभाई के लिये यह प्रसंग बड़ा आनंदकर और उत्तेजनप्रद था।

शीघ्र ही छोटूभाई अच्छे पहलवान बन गए और बहुत-से समवयस्क लड़कों को ज़ोर कराने लगे। छोटूभाई के पिता को आपकी यह प्रवृत्ति पसंद न आई; क्योंकि आपके अखाड़े के साथी अच्छे संस्कारवाले न थे। इस कारण पिता ने पुत्र की इन लोगों की मित्रता छुड़वा दी। पिता की इस आज्ञा को छोटूभाई ने बहुत असंतुष्ट होकर भी मान लिया। किंतु जीवन-तुल्य व्यायाम को आप क्योंकर छोड़ सकते थे? कुछ दिनों के बाद प्रो० के० के० शाह फिर पाटण

आदि हैं। आप बंबई के उपग्राम सांताक्रुज़ में छोटी-सी व्यायाम-शाला चला रहे हैं। सांताक्रुज़ के छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं के शरीर को बलिष्ठ बनाने के उत्तम कार्य में आप सदैव लगे रहते हैं।

उपर्युक्त व्यायाम-शाला के अर्द्धवार्षिक तथा वार्षिक सम्मेलन हुए थे, जिनमें छोटूभाई ने शारीरिक बल के बड़े कठिन प्रयोग कर दिखलाए थे। सम्मेलनों में आपके छोटे-छोटे शागिर्दों ने भी सुंदर काम कर दिखलाए थे।

जब तक छोटूभाई को अमेरिका का पारितोषिक नहीं मिला, तब तक आपको कोई पहचानता नहीं था। परदेशी छाप मिलने के बाद आज सब कोई प्रो० छोटूभाई की प्रशंसा मुक्तकंठ से कर रहे हैं। आप बंबई में विशाल धोरण पर एक व्यायाम-शाला स्थापित करना चाहते हैं। परंतु खेद की बात है कि अभी तक कोई व्यायाम-प्रेमी आपको इस स्तुत्य कार्य में साहाय्य करने को उद्यत नहीं हुआ। आपकी दूसरी अभिलाषा योरप-अमेरिका जाकर वहाँ भारतवर्ष का गौरव स्थापित करने की है। वहाँ जाकर अपने शरीर-बल की वहाँ की प्रजा को प्रतीत कराने और दूसरे कठिन प्रयोगों एवं युक्तियों के हस्तगत करने का आपका मनोरथ है। ईश्वर से हमारी प्रार्थना है कि प्रो० छोटूभाई को इन दोनों मनोरथों में सफलता मिले और ईश्वर आपको भारतवर्ष की गौरव-वृद्धि करने की शक्ति दे।

योगेश

× × ×

११. आगामी महायुद्ध की तैयारी

संसार के सात प्रसिद्ध देशों ने अपनी सेनाओं के लिये ३० मार्च, सन् १९२५ को १९२५-२६ के लिये निम्न-लिखित ख़र्च मंज़ूर किया था। इसमें सब प्रकार की सेनाएँ सम्मिलित हैं—स्थल, जल और वायु-सेनाएँ। इन सात देशों में इनकी बस्तियाँ और अधीन देश भी सम्मिलित हैं। इन देशों का धन भी दिया गया है, और यह दिखाया है कि यह ख़र्च देश के धन का प्रतिशत कौन-सा भाग है। ये अंक सरकारी सूचनाओं से लिए गए हैं। परंतु रूस के संबंध में जहाँ तक हो सका, केवल ठीक अंदाज़ा ही लगाया गया है। अंक डालर में दिए गए हैं। एक डालर ३ रुपए के बराबर होता है। जर्मनी का असली नाम "डौएशलांट" लिखा गया है।

(१) ख़र्च धन भाग के अनुसार

देश	सेना-ख़र्च वास्ते १९२५-२६	देश का धन	भाग प्रति १०० डालर पर
ब्रिटेन	६०४, ३५४, ७७०	१२६, ८०२, ४००, ०००	·५६
युनाइटेड-स्टेट्स	५५३, ८६१, ३४६	३२०, ४०३, ८६२, ०००	·१७
फ्रांस	२५४, ४८५, १५०	७४, ०३७, ६७३, ०००	·३४
जापान	२१८, ५००, ०००	३२, १७८, ७२५, ०००	·६८
रूस	१९०, ६९४, ०००	३०, ८७६, ०००, ०००	·६२
इटली	१५५, ३५९ २००	२९, ७४७, ७६३, ०००	·५२
डौएशलांट	१०७, ७०५, ६३३	८४, १७५, ७००, ०००	·१३

इन हिंदसों में केवल मुख्य देश ही लिए गए हैं; उनसे संबद्ध बस्तियाँ और अधीन देश सम्मिलित नहीं। अंक डालर में हैं।

ख़र्च प्रति मनुष्य

देश	सेना-ख़र्च वास्ते १९२५-२६	मनुष्य-गणना	सेनाख़र्च प्रतिमनुष्य
ब्रिटेन	५७२, ७३३, २२२	४४, २००, ०००	१२·९६
युनाइटेड-स्टेट्स	५५३, ८६१, ३४६	११२, १९३, ६१३	४·९४
फ्रांस	२५४, ४८५, १५०	३९, ५६०, ०००	६·१३
जापान	२१८, ५००, ०००	५९, ३००, ०००	३·६८
रूस	१९०, ६९४, ०००	१३१, १०४, ०००	१·४५
इटली	१५५, ३५९, २००	४०, ०००, ०००	३·८८
डौएशलांट	१०७, ७०५, ६३३	६३, ३५०, ०००	१.७०



गो-चारण

[चित्रकार—श्रीयुत गोविंदराम-उदयराम]

N. K. Press, Lucknow

देशों की सैन्य-गणना

इन हिंद्सों में केवल तैयार और तुरंत तैयार हो जाने-वाली सेनाएँ ही सम्मिलित हैं, देशों की पुरी मनुष्य-शक्ति सम्मिलित नहीं। जिन देशों में सैनिक नौकरी अवश्य है, उनमें प्रधान फ्रांस, इटली और जापान हैं; तथा उन देशों में, जहाँ सैनिक नौकरी स्वयं सेवकों की भरती से होती है, युनाइटेड स्टेट्स, ब्रिटेन और डौएशलांट प्रधान हैं। * इस निशानवाले अंकों में वायु-सेनाएँ सम्मिलित नहीं; क्योंकि इन देशों में इनका भिन्न राज्य-विभाग है।

केवल मुख्य देश						मुख्य देश, सम्मिलित बस्तियाँ और अधीन देश				
प्रति १००० मनुष्य	तुरंत तैयार होनेवाली सेना	प्रति १००० मनुष्य	तैयार सेना	मनुष्य-गणना	देश	मनुष्य-गणना	तैयार सेना	प्रति १००० मनुष्य	तुरंत तैयार होनेवाली सेना	प्रति १००० मनुष्य
१३६·४५	५,२२०,०००	११·३५	४४६,०१२	३६,५६०,०००	फ्रांस	६३ २८८,६००	६२६,०१२	६·७४	५,५००,०००	५८·६६
५ ४४	७ २ ६०८	४·२६	५६२,६७६	१३१,१०४,०००	रूस	१३३,००,०००	५६२,६७६	४·२३	७१२,६७६	५·३१
५ ७४	२५३,३६५	३ ४६	१५४,१६७	४४,२००,०००	ब्रिटेन	४४५,११२,०००	३८६ २०२	·८७	७७५,८६५	१·७४
६६·३२	३,६७२ ६३५	८ ७०	३४७,६३५	४०,०००,०००	इटली	४१,६२५,३६६	३८५,४३५	६·१४	४,०१०,४३५	६५·६५
२५ ४५	१ ५१०,०००	३·६६	२१६,०००	५६,३००,०००	जापान	८१,२७३,७६१	२५०,०००	३·०८	१,८६४,०००	२३·३०
३ ३१	३७४,३८८	·६१	१०१,६७३	११२,१६३,६२३	युनाइटेड-स्टेट्स	१२५,२७६,८८६	१४०,५२१	१·१२	४१४,२५४	३·३१
३·६५	२५०,०००	१·५८	१००,०००	६३,३५०,०००	डौएशलांट	६३,३५०,०००	१००,०००	१ ५८	२५०,०००	३·६५

इसमें कोई मतभेद नहीं कि महायुद्ध होगा। सब विद्वानों का अनुमान है कि बिना युद्ध योरप में चैन कदाचित न होगी। मैंने इस पर बहुत ही ध्यान दिया है, और मेरा अनुमान है कि सन् १९३० तक युद्ध का समय बहुत निकट आ जायगा। यह बहुत-सी सम्मतियों का सार है।

गोपालजी अहलूवालिया

× × ×

१२. मुरझाया फूल

चला गया है कहाँ न-जाने, माली मुझको पथ में फेंक;
संध्या-उषा नित्य आश्वासन से करती मेरा अभिषेक।
धूलि-धूसरित धरा-गोद में पड़ा अकेला भूल अतीत;
गाता हूँ अवरुद्ध कंठ से जीवन का अंतिम संगीत।
मुझमें सौरभ नहीं रहा है, इससे कोई पथिक प्रवीन;
आते कभी न पास देखने यह कारुणिक अवस्था दीन।
व्रज-वनिताएँ मुझे देखतीं, किंतु समझ मुरझाया फूल;
कुचल पगों से चल देतीं, इठलाती कालिंदी के कूल।
हँसता है आकाश-चंद्र बरसाता धवल सुधा की धार;
सुनता हूँ निशीथ में श्यामा की मधुमय नूपुर झंकार।
अरे! गूँथ सुंदर सुरभित माला में मुझको किसी प्रकार;
पहुँचा दे मोहन तक कोई, कर ले अपना यश-विस्तार।

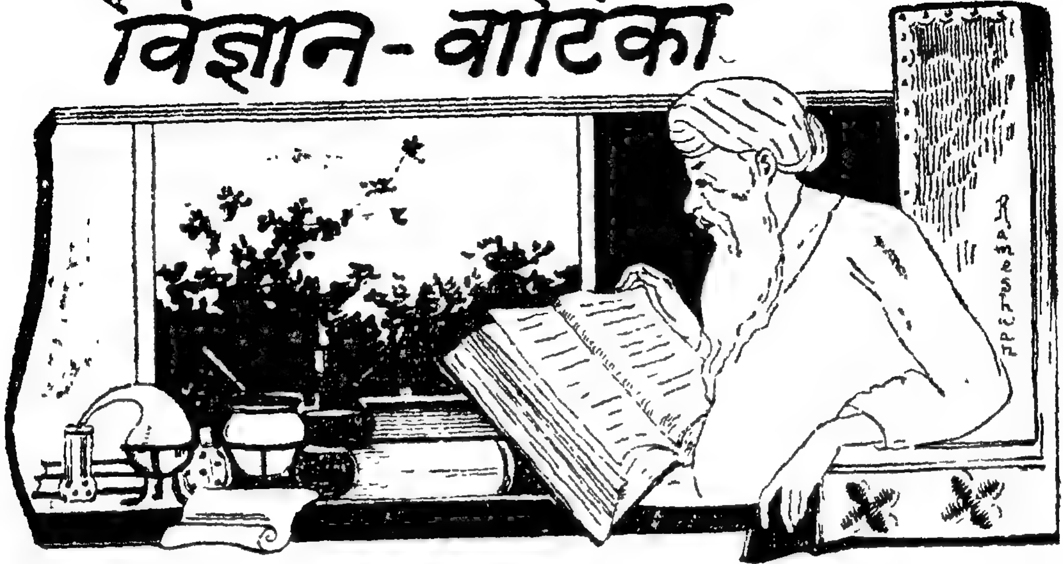
"कमल"

× × ×

१३ जय माता

जय वीर-प्रसविनि, विश्व-पोषिणि, जयति मंगल-कारिणी;
अज्ञान तम-नाशिनि, सुहासिनि, जयति खद्दर-धारिणी।
सुंदर सुवेष सदैव शोभित, जयति सब सुख-दायिनी;
जय अन्न-जल पूरित दयामयि, जयति शांति-प्रदायिनी।
जय धर्म-धारिणि, रत्नगर्भा, शुभ्र ज्योति-प्रकाशिनी।
विद्या-कला-कौशल-प्रदायिनि, उच्च ज्ञान-विकाशिनी।
जय पतित-पावनि रिपु-नशावनि, जयति बहु बलधारिणी;
जय शक्तिरूपिणि मातु भारत, जयति जय भय-हारिणी।

तोरनदेवी "लली"



१. बरबैंक का भावी कार्यक्रम



थर बरबैंक वैज्ञानिक जगत में इतना यश प्राप्त कर चुके हैं कि उनका अधिक परिचय देना सूर्य को दीपक दिखाना है। फल-फूलों को उनके साधारण आकार से दुगने-तिगने आकार का पैदा करने तथा न फलने या फूलनेवाले वृक्षों-पौदों में फल-फूल ला देने का श्रेय बरबैंक ही को है। अपने भावी कार्य-क्रम के विषय में प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया—"अभी तो मैंने अपना कार्य आरंभ ही किया है। पौदों को मनुष्य के काम में लाने का काम अभी प्रारंभिक अवस्था में है। मैं भविष्य में वृक्षों और पौदों में बहुत-से फल लगाना तो चाहता ही हूँ; किंतु इसके अलावा उन्हें अधिक मीठा, सार पदार्थ-युक्त और खुशनुमा भी बनाना चाहता हूँ। उनमें मैं वह गुण लाना चाहता हूँ, जिसके द्वारा वे बहुत दिनों तक सुरक्षित रह सकें, सड़ें नहीं, एक जगह से दूसरी जगह भेजने में बहुत कम बिगड़ें, और उनसे सभी विषैला या हानिकारक पदार्थ दूर हो जाय। शायद ही कोई दिन ऐसा बीतता है, जिस दिन मैं अपने बग़ीचे में कोई-न-कोई नई बात नहीं सीखता। काम करनेवालों के लिये पौदों की जानकारी अत्यंत आवश्यक है। अगले पाँच सालों में मैं इतना काम करना चाहता हूँ, जितना अब तक मैंने नहीं किया।"

यह उन महाशय की उक्ति है, जिनके सिर के सभी बाल सफ़ेद हो गए हैं, जो अपनी आयु के ७८ वर्ष बिता चुके हैं, और जिन्हें सारी दुनिया पौदों और वृक्षों का जादूगर कहती है। इस उमर में भी आप आशा लगाए बैठे हैं कि आगामी पाँच वर्षों में वह इतना काम करेंगे, जितना आज तक उन्होंने नहीं किया। दिन में दस घंटे और हफ़्ते में छः दिन आप काम करते हैं। आप शांत, मिहनती एवं धीर पुरुष हैं। आपने एक-एक पदार्थ को पुष्ट, अधिक और बड़ा फल पैदा करने के लिये १० लाख तरह के नए-नए पौदे लगाए हैं। उन्हें कई स्थितियों में रखकर परीक्षा की है। तब कहीं उत्तम श्रेणी का पौदा तैयार करने में आप सफल हुए हैं। आपने केवल दस वर्षों में एक अख़रोट का इतना बड़ा पौदा बना दिया है कि वह पचास वर्ष का जान पड़ता है। उसकी लकड़ी भी मामूली अख़रोट की लकड़ी से अच्छी जान पड़ती है। उनका शाहबलूत का दरख़्त केवल छः ही महीने में फलने लगा है। उनके चेरी-वृक्ष का फल व्यास में एक इंच बड़ा होने लगा है। तूत के वृक्ष की पत्ती और फल साधारण वृक्ष की पत्ती और फल से आकार में दुगने बड़े होने लगे हैं। आपने एक नए प्रकार का गेहूँ तैयार किया है, जिसकी बाल साधारण गेहूँ की बाल से इंचों

लंबी होती है। यह गेहूँ सभी तरह की आब-हवा में पैदा हो सकता है, और इसकी प्रत्येक बाल में सात से दस तक दाने अधिक होते हैं। यह जल्दी पकता है, और अन्य प्रकार के गेहूँ से इसमें रोग-रोधक शक्ति भी अधिक है। एक नए प्रकार का जौ आपने आविष्कार किया है, जिसमें लंबी बालें नहीं होतीं, और गेहूँ में और उसमें फ़र्क़ भी नहीं जान पड़ता। इसकी भी प्रत्येक बाल में छः से आठ तक दाने अधिक होते हैं। उनकी एक नए प्रकार की राई (Rye) मामूली राई से दुगनी होती है।



बरबैंक और उनका टेलिग्राफ़-पौदा

(यह पौदा बहुत छोटा होता है। किंतु बरबैंक ने इसे अपने-इतना ऊँचा बना दिया है।)

आपने सूर्यमुखी का फूल १८ इंच व्यास का तैयार किया है। उसमें विशेषता यह है कि उसका फूल स्वयं ज़मीन की ओर झुक जाता है। आपके आविष्कारों में काँटा-रहित सेंहुड़ (Cactus) भी है, जो पशुओं के खाने के काम में आता है। ये उनके पहले के आविष्कार हैं।

इस समय हम लोगों को अधिक प्रकार के अन्नों की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता यह है कि इस समय जितने प्रकार के अन्न हैं, उन्हीं की पैदावार बढ़ाई जाय। जितनी ज़मीन इस समय जोती-बोई जाती है, उतनी ही में, कम मनुष्यों द्वारा, अधिक अन्न पैदा करना ही इस समय का महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है। बरबैंक साहब का ध्यान इस ओर भी गया है। वह ऐसे फल पैदा करना चाहते हैं, जिन पर गरमी, ठंडक, नमी और कीड़ों आदि का प्रभाव न पड़े ऐसे फल, जिनमें न बीज हो न गुठली, न रेशे हों न काँटे, पैदा करने के लिये बरबैंक बड़े उत्सुक जान

सकते हैं । इस समय हमें कई प्रकार के पौधों की रक्षा की आवश्यकता है । आजकल रबर-वृक्ष से रबर जमा करने का अर्थ उस वृक्ष को सर्वथा नष्ट करना होता है । इसलिये एक ऐसे रबर की आवश्यकता है, जिससे मेपल (Maple)-वृक्ष का-सा रस निकाला जा सके । भविष्य के आवश्यक पदार्थों में सुगंध पैदा करनेवाला पौदा भी एक है । इसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण वृक्षों की आवश्यकता है । कुछ में उन्नति करनी है । ये सब काम मनुष्य की पहुँच के भीतर हैं । लोग अब इस बात को समझने लगे हैं कि वे प्राकृतिक शक्ति को कुछ अंशों में वशीभूत कर उसे इच्छानुसार कार्य में लगा सकते हैं । फिर उपर्युक्त कार्यों को वे क्यों नहीं कर सकते, विशेषतः जब बरबैंक-जैसे उत्साही, अध्यवसायी एवं न थकनेवाले मनुष्य मौजूद हों ?

बरबैंक का जीवन-चरित्र भी बड़ा विचित्र है। उनका पहला आविष्कार बरबैंक-नामक आलू था । इस आविष्कार के लिये आपको डेढ़ सौ डालर इनाम मिला था । इस रक़म को वह लेकर, अपना पितृ-गृह छोड़कर केलिफ़ोर्निया में जा बसे। यदि उन्होंने अपने आलू की रजिस्ट्री करा ली होती, और उन्हें प्रति 'बुशल' केवल एक ही 'सेंट' कर सरकार की ओर से मिला होता, तो आज वह संसार के सबसे धनी मनुष्य होते । किंतु केलिफ़ोर्निया के बग़ीचे में उन्हें इससे अधिक मूल्य का धन मिला । वहाँ उनका स्वास्थ्य अच्छा हो गया, और वह अधिक उत्साह के साथ उद्भिद् जगत् में आविष्कार करने के लिये घुस पड़े । उन्होंने उद्भिद्-जगत् और पशु-जगत्, दोनो का अध्ययन किया, और दोनों में उन्हें बड़ी समानता देख पड़ी । अपने आत्मचरित्र में आपने लिखा है—"प्रत्येक परमाणु (Atom) में जीवन है। जीवित और मृत में कोई फ़र्क़ नहीं । मनुष्य के मस्तिष्क में जो तत्त्व पाया जाता है, वही उसके पैर के नीचे की मिट्टी में भी है।"

बरबैंक से उनके भावी कार्यक्रम के विषय में कुछ कहलाना टेढ़ी खीर है। वह अपने आविष्कारों को एकाएक संसार के सामने रखते हैं, जिन्हें देख-सुनकर सारा संसार चकित हो जाता है । जब तक वह किसी विषय में पूरी सफलता नहीं पा लेते, जब तक उन्हें अपने आविष्कार से स्वयं संतोष नहीं हो जाता, तब तक वह उसे संसार के सामने नहीं उपस्थित करते । आप पेड़-पौदों की बीमारियाँ दूर करने की भी चेष्टा में हैं । देखें, आपको कहाँ तक सफलता मिलती है ।

× × ×

२. रसायन-शास्त्र की कुछ आकस्मिक घटनाएँ

जब कोई वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशाला में कोई प्रयोग करना आरंभ करता है, तब किसी निश्चित विषय की ओर लक्ष्य होने के कारण वह सदा उस लक्ष्य तक नहीं पहुँचता, और अक्सर गुमराह हो जाता है । वह सोचता है कुछ, और फल निकलता है कुछ और ही । किंतु ऐसे ही अवसरों में कभी-न-कभी बहुत बड़े आविष्कार हो जाया करते हैं । विज्ञान का इतिहास इसी प्रकार के आकस्मिक आविष्कारों से भरा पड़ा है । कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि सहकारियों की थोड़ी-सी भूल के कारण ही कई बड़े महत्त्व-पूर्ण आविष्कार हो गए । पाठकों की जानकारी के लिये ऐसे ही कुछ आकस्मिक आविष्कारों का वर्णन नीचे दिया जाता है ।

१८५६ ई० में डबल्यू० एच्० पार्किन साहब चेष्टा तो एनिलिन से कुनैन बनाने की कर रहे थे, किंतु रंग-संसार में युगांतर उपस्थित करनेवाली 'अलकतरे से रंग बनाने की प्रथा' का अकस्मात् आविष्कार हो गया । एनिलिन में पोटासियम बाई-क्रोमेट डालने से उन्हें एक काला पदार्थ मिला, जिसे दूसरा कोई होता, तो कदाचित् फेंक देता । किंतु इसी पदार्थ का रस आलकोहल के साथ खींचने से बढ़िया बैंगनी रंग बन गया । इसी आविष्कार से कृत्रिम रंग बनाने की प्रथा निकली, और आज इसी ढंग से रंग बनाने में लाखों मनुष्य लगे हुए हैं । हज़ारों मन कृत्रिम रंग सालाना बनता है, और रंग के बाज़ार में इसी कृत्रिम रंग का अखंड राज्य है । अब कोई प्राकृतिक रंग को पूछता तक नहीं ।

एक साहब एक बर्तन में कुछ रासायनिक पदार्थ रखकर प्रयोग कर रहे थे । गरमी नापने के लिये उसमें ताप-मापक यंत्र लगा था । अचानक वह टूट गया, और उसका सब पारा बर्तन में गिर गया । पाठक समझ सकते हैं कि प्रयोग ख़राब हो जाने से वैज्ञानिक महाशय को कितना निरुत्साह हुआ होगा । किंतु यदि ऐसा न होता, तो शायद आज हमें नक़ली नील देखने को न मिलता । इसी बिगड़े हुए प्रयोग से नक़ली नील बनाने की प्रथा का आविष्कार हुआ । भारतवर्ष के किसान हज़ारों एकड़ ज़मीन में नील बोकर जो अपनी

जीविका चलाते थे, वह मारी गई, और भारत के अन्यान्य व्यवसायों की तरह नील बनाने का धंधा भी नष्ट हो गया।

थोड़े ही दिनों की बात है, जापान से ख़बर आई थी कि एक जापानी ने एक पदार्थ का आविष्कार किया है, जिसका नाम अब पिरेला (Pirella) रक्खा गया है। आविष्कारक महाशय स्वयं इसके गुणों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इस पदार्थ को लेकर एक जर्मन वैज्ञानिक परीक्षा करने लगा। वह यह जानना चाहता था कि पिरेला किन-किन पदार्थों से बना है। किंतु अकस्मात् उसे पता लगा कि यह एक ऐसा पदार्थ है, जो शक्कर से दो हज़ारगुना और "सैकरिन" से पाँच या छःगुना अधिक मीठा है।

सैकरिन का आविष्कार भी बड़े मज़ेदार ढंग से हुआ था। एक नवयुवक अमेरिकन जॉन हॉपकिन-युनिवर्सिटी की प्रयोगशाला में डॉ० रेमसन के साथ काम कर रहा था। प्रयोग किसी दूसरी ही चीज़ के लिये हो रहा था। इसका उसे ज़रा भी ध्यान न था कि यह प्रयोग इतना उपादेय होगा। प्रयोग को बीच ही में छोड़कर नवयुवक भोजन करने घर गया। वह जो कुछ खाता, उसे मीठा ही जान पड़ता। घर की मालकिन से हरएक पदार्थ में बहुत ज़्यादा मीठा डालने के संबंध में उससे झगड़ा भी हो गया। अन्य लोगों ने घर की मालकिन का पक्ष लिया, और किसी भी पदार्थ को मीठा न बतलाया। नवयुवक बड़े चक्कर में पड़ा। उसने अपनी उँगलियाँ चाटकर देखीं, तो उन्हें भी मीठा पाया। तब उसका ध्यान उस प्रयोग की ओर गया, जिसे वह प्रयोगशाला में छोड़ आया था। तुरंत ही वह अपनी प्रयोगशाला को लौट गया, और प्रत्येक बर्तन की परीक्षा कर सैकरिनवाला बर्तन निकाला। इसके कुछ ही दिन बाद सैकरिन का आविष्कार हुआ।

एक पैकर की असावधानी से 'जिलेटिन डाइनामाइट' (विस्फोटक) का आविष्कार हुआ। नोबिल ने नाइट्रो-ग्लेसरिन का आविष्कार किया। किंतु यह इतना बड़ा विस्फोटक सिद्ध हुआ कि वह इसे बनाने का विचार ही त्यागने लगा। एक दिन एक पैकर की ग़लती से नाइट्रो-ग्लेसरिन की एक बोतल फूट गई, और चारों ओर पड़ी हुई बालू में मिल गई। अब उस बालू की परीक्षा करने पर वह नाइट्रो-ग्लेसरिन-जैसा तो कार्यकारी सिद्ध हुआ, किंतु निरापद उससे भी अधिक। इसके बाद नाइट्रो-ग्लेसरिन को अन्य वस्तुओं के साथ सुखाकर आज उसे डाइनामाइट के रूप में भिन्न-भिन्न कार्यों में लगा रहे हैं।

एसेटैनेलाइड (Acetanilide) का ओषधि के रूप में व्यवहार एक बालक-दूत की ग़लती से हुआ। एक जर्मन डॉक्टर ने एक लड़के को किसी दूकान पर नैप्थलीन लाने के लिये भेजा। ग़लती से उसे एसेटैनेलाइड की बोतल मिली, और उसी को वह लेता आया। ज्वर से पीड़ित एक मनुष्य को उक्त ओषधि देते ही उसका ज्वर उतर गया। पीछे ग़लती मालूम हुई; किंतु अब क्या होता? अब तो उसका ओषधि-रूप में उपयोग हो साबित हो चुका था। उसी दिन से वह ओषधि के रूप में व्यवहृत होने लगी।

कहा जाता है, आलकोहल का आविष्कार भी अकस्मात् ही हुआ। किंतु यह इतने दिनों की बात है कि उसका कोई विवरण नहीं मिलता।

× × ×

३. समुद्र-गर्भ से सोना

बर्लिन-युनिवर्सिटी के प्रो० फ्रिट्ज़ हैबर ने समुद्र-गर्भ से सोना निकालने की प्रथा का आविष्कार किया है। आप गत महायुद्ध में जर्मनों के लड़ाई के ऑफ़िस के विषैले गैस-विभाग के प्रधान थे। अब समुद्र-गर्भ से सोना निकालने की इच्छा से आपने उत्तर-अमेरिका के किनारे काम करने-वाली युनाइटेडब्युरो आफ़ फिशरीज़ से सहायता माँगी है। जब आपने पहले-पहल अपने इस आविष्कार की घोषणा की थी, तब कुछ लोगों ने ख़याल किया था कि सोने का मूल्य एकदम घट जायगा। किंतु वैज्ञानिकों का कहना था कि कोई भी मनुष्य समुद्र-गर्भ से सस्ते में सोना नहीं निकाल सकता। इस प्रथा द्वारा सोना निकालने में जितना ख़र्च पड़ेगा, उससे कहीं सस्ते दाम में ख़राब-से-ख़राब सोने की खान से सोना निकाला जा सकता है। समुद्र-गर्भ से सोना निकालने का प्रधान बाधक अधिक व्यय ही होगा। प्रो० हैबर भी इस बात को स्वीकार करते हैं। किंतु आपका कहना है कि मैं समुद्र-गर्भ से सोना व्यावसायिक विचार से नहीं निकालना चाहता। जिस प्रकार मिट्टी के प्रस्तरों (Veins) में सोना पाया जाता है, उसी प्रकार समुद्र में भी। जल में सोने के इन प्रस्तरों का पता लगाने से सामुद्रिक शास्त्र के कई रहस्यों का पता लगाया जा सकता है। आपके सिद्धांतानुसार इस बात से सामुद्रिक प्रवाह (Ocean currents), सागरों का परस्पर संबंध और समुद्र-जल के पिछले इतिहास पर प्रकाश पड़ेगा। आप

समुद्र-किनारे के भिन्न-भिन्न स्थानों से जल लेकर उसकी परीक्षा कर देखेंगे कि उसमें कितना सोना तथा अन्य बहुमूल्य धातुएँ हैं। उक्त ब्युरो ने आपकी मदद करने का आश्वासन दिया है; किंतु इस ख़याल से नहीं कि इसके द्वारा वह धनी बन सके, प्रत्युत एक वैज्ञानिक को आर्थिक सहायता देने के विचार से।

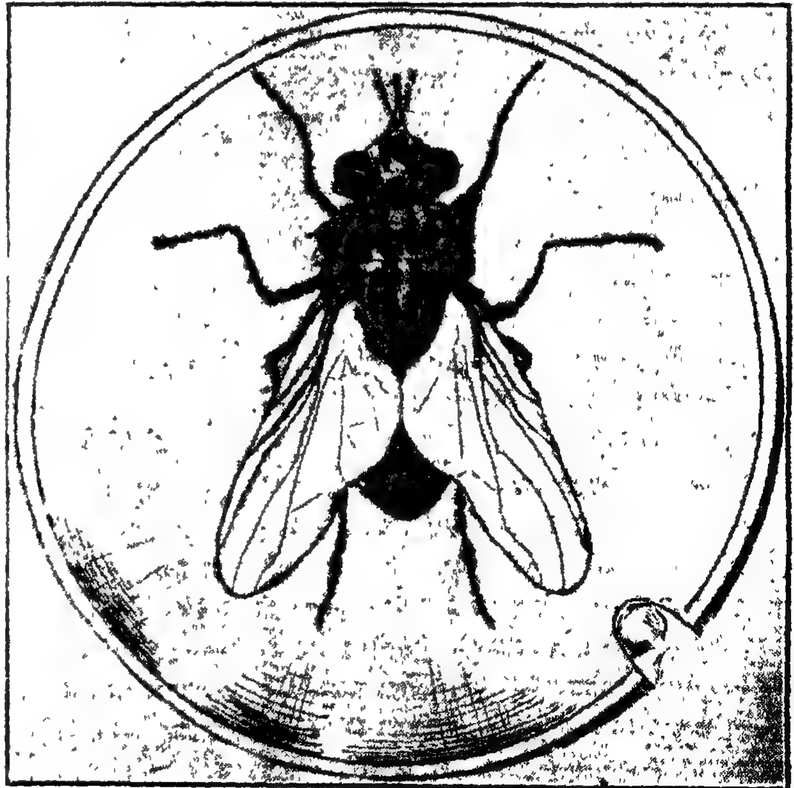
प्रो० हेबर गत युद्ध में अनेक गैसों के आविष्कारक के नाम से काफ़ी बदनाम हो चुके हैं। अब समुद्र-जल से सोना निकालकर शायद आप अपनी अपकीर्ति धो डालना चाहते हैं। यद्यपि आपके कथनानुसार आपकी मंशा समुद्र-जल से, व्यापारिक दृष्टि से, सोना निकालने की नहीं है, तथापि हम तो समझते हैं कि आपका अंतिम लक्ष्य उसी पर है।

× × ×

४. घर की मक्खियाँ

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमें जितनी बीमारियाँ होती हैं, उनमें अधिकांश मक्खियों के कारण होती हैं। कूड़ा-करकट लीद-गोबर आदि मैले स्थानों में मक्खियाँ अंडे देती हैं। केवल ग्रीष्म-ऋतु में एक मादा-मक्खी १,८०,००,००,००,००,००० अंडे, एकबार में ८० से १२० तक अंडे के हिसाब से, देती है। ये अंडे वह मैले स्थानों में देती है। जब तक वे मक्खी का आकार धारण कर उड़ने नहीं लगते, तब तक वहीं रहते हैं। इसलिये इनका सारा शरीर कीटाणुओं से आवृत रहता है। मक्खियाँ मच्छड़ की तरह तो एक मनुष्य के शरीर से दूसरे मनुष्य तक रोग नहीं ले जातीं, किंतु उनका सारा शरीर ही हैज़ा, टाइफ़ाइड टुयबरक्लुसिस आदि बीमारियों के कीटाणुओं से आच्छादित रहता है। वे जहाँ कहीं बैठती हैं, वहीं उनके शरीर से ये कीटाणु झड़ते हैं। इसके अलावा वे सदा उलटी करती रहती हैं। जिन लोगों ने अणुवीक्षण-यंत्र द्वारा इनकी कार्रवाई देखी है, उनका कहना है कि जिन वस्तुओं पर मक्खियाँ बैठती हैं, वे खाने लायक़ नहीं रहतीं। खाने के जो पदार्थ खुले छोड़ दिए जाते हैं, उन पर मक्खियों का बैठना अनिवार्य है। और, जहाँ वे बैठती हैं, वहाँ कीटाणुओं का झड़ना भी अनिवार्य है। ये कीटाणु बड़ी शीघ्रता से बढ़ते हैं, उस घर में फैलते हैं, और शहर-का-शहर साफ़ कर डालते हैं। इसका प्रमाण हमें किसी भी शहर या गाँव में हैज़ा फैलने से मिलता है। उस समय जितनी शीघ्रता से लोगों की मृत्यु होती है, वही इस बात का प्रमाण है।

मक्खियों के उड़ने के समय भनभन-शब्द होता है। यह शब्द साधारणतः उनके परों से निकलता हुआ समझा जाता है। किंतु वास्तव में दो प्रकार के शब्द होते हैं— पहला पंखों से, और दूसरा छाती (Thorox) से। छाती से निकलनेवाले शब्द का कंपन प्रति



गृह-मक्खी का बढ़ाया हुआ चित्र

सेकेंड १,३०० और डैने का कंपन इस संख्या का आधा है ।

एकबार एक लड़की उस दूध को, जिसमें एक मक्खी गिर-कर मर गई थी, मक्खी-समेत पी गई । थोड़ी ही देर बाद उसकी अवस्था बुरी होने लगी । अच्छे-से अच्छे डॉक्टर उसकी बीमारी को नहीं पहचान सके । मरने के बाद शव-परीक्षा से पता लगा कि मक्खी के शरीर में सटे हुए कीड़े इस शोचनीय घटना के कारण थे ।

मक्खियों के पकड़ने या मारने के कई तरीक़े हैं । मक्खी-काग़ज़ द्वारा मक्खियाँ आसानी से पकड़ी जा सकती हैं । गोंद के साथ थोड़ा गुड़ मिलाकर एक काग़ज़ पर चुपड़ दो । मक्खियाँ गुड़ खाने के लिये लालच से काग़ज़ पर आ बैठेंगी, और उसी में सट जायँगी । एक प्याले में थोड़ा दूध और पानी, जिसमें थोड़ी फ़ार्मलीन (Formaline) मिला दी गई हो, रख छोड़ो । प्याले के पानी पर बिस्कुट या रोटी का एक टुकड़ा ऐसा डालो कि वह तैरता रहे । लड़कों या बिल्ली की पहुँच के बाहर प्याले को किसी घर में रख दो । उस घर में जितनी मक्खियाँ होंगी, उस पानी को पिएँगी और मर जायँगी ।

× × ×

५. आकाश के तारे

आकाश के तारों के गिनने का प्रयत्न बहुत दिनों से हो रहा है, और कितने ही वैज्ञानिक इस काम में लगे हुए हैं । प्रो० फ़्रेडरिक एच० सियर्स ने अभी-अभी तारों की गणना ख़तम की है । उन्होंने तीन नील तारे गिने हैं । प्रत्येक के साथ एक उप-तारा भी है । यह गणना कई प्रकार के हिसाब-किताब पर अवलंबित थी । सबसे बड़ा दूरदर्शक-यंत्र भी उनमें ९७ प्रतिशत तारों को दृष्टि-पथ में लाने में असमर्थ था । पहले उन्होंने आकाश को कई वर्गों में बाँट दिया । फिर १३९ वर्गों को लेकर, उन्होंने ६० इंच के रिफ़्लेक्टिंग टेलिस्कोप द्वारा उनका फ़ोटो लिया । इस टेलिस्कोप में मनुष्य की आँखों से ४०,००० गुना अधिक प्रकाश प्रवेश करता है । १३९ वर्गों के तारे गिनने पर दस खरब निकले । यह भी जान लेना चाहिए कि ये १३९ वर्ग आकाश के केवल २५००वें भाग में बटे थे, और तारे भी केवल २१वें आकार (Magnitude) के देख पड़े । इसके बाद हिसाब करके आपने तारों की संख्या ३०,०,००,००,००,००,००० कूती ।

× × ×

६. कुछ विचित्र पदार्थ

संसार का सबसे छोटा घोड़ा सेटलैंड का है । ऊँचाई में वह केवल २६ इंच (क़रीब डेढ़ हाथ) और वज़न में सौ



अपने स्वामी की गोद में संसार का सबसे छोटा घोड़ा

पौंड (५० सेर) है । १९२५ की २५वीं जुलाई को वह पैदा हुआ था । किंतु उसकी बाढ़ रुक गई है । सिखलाने के बाद उसका थिएटरों में तमाशा दिखलाया जायगा ।

× × ×

७. फूलों की घड़ी

स्वीज़रलैंड में फूलों की एक घड़ी बनाई गई है । एक असली घड़ी के अंकों के ऊपर फूल बिछा दिए गए हैं । यहाँ



फूलों से ढकी हुई घड़ी

तक कि उनके काँटे भी फूलों से ढक दिए गए हैं। इसमें ख़ूबी यह है कि वह फूल से ढकी रहने पर भी ठीक समय देती है।

× × ×

८. नए प्रकार की साइकिल

पेरिस की सड़क पर एक नए प्रकार की साइकिल देख पड़ी है। मामूली साइकिल बहुत हिलती-डुलती है। किंतु इसमें ऐसा नहीं होता। इसकी सीट फ़्रेम पर नहीं लगी होती, प्रत्युत फ़्रेम के साथ जो सामने डंडा लगा रहता है, उसी पर लगी होती है। बग़ल के चित्र में देखिए।

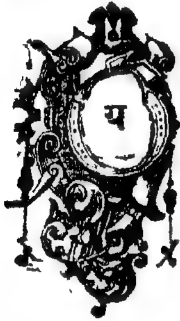
रमेशप्रसाद



न हिलने-डुलनेवाली एक नए प्रकार की साइकिल



१. मुर्गी की एक टांग



ह मानी हुई बात है कि आपस में मिलने-जुलने और बातचीत से मनुष्य को न केवल बहुत बातें मालूम होती हैं, वरन् उन पर अधिक विचार करने का अवसर मिलता है। जब मैं अपने किसी दोस्त से मिलता हूँ, और उसके किसी विशेष विषय पर विचार सुनता तथा अपने विचारों से मिलान करता हूँ, तो या तो मेरे विचारों में कुछ परिवर्तन हो जाता है, या मैं उन पर और भी दृढ़ हो जाता हूँ। ग़रज़ यह कि दोनों ओर की बहस मेरे सामने होती है और मुझे उस पर विचार करने का पूरा अवसर मिलता है। यदि मैं किसी से मिलूँ ही नहीं, किसी विषय पर वाद-विवाद करूँ ही नहीं, तो मेरी विचार करने की शक्ति लुप्त हो जायगी, तथा मैं वही बात ठीक समझूँगा, जो पहले मेरे कान में पड़े।

उदाहरणार्थ किसी बच्चे को लीजिए, उसका बाप हिंदू हो या मुसलमान, ईसाई हो या यहूदी, जैन हो या बौद्ध, पत्थर पूजनेवाला हो या तसवीर पूजनेवाला, सूर्य की पूजा करता हो या किसी भूत-प्रेत की, वह अपने विचारों के अनुसार उसे परमेश्वर की भक्ति सिखाता है, और इस विषय में बच्चों को सोचने-समझने का कोई मौक़ा नहीं देता। न इस विषय में किसी से वाद विवाद ही हो सकता है। नतीजा सब जानते हैं। हिंदू अपना कल्याण जगन्नाथ या द्वारका जाने में समझते हैं, मुसलमानों का ख़ुदा मक्के में रहता है। यदि अपने-अपने विचार पूरी तरह काम में लाए जायँ और प्रत्येक व्यक्ति स्वयं सोच-विचार कर सके, तो उसे मालूम हो सकता है कि जीवात्मा का पैदा करनेवाला सर्व-व्यापक है। न तो वह रामेश्वर में मिलता है, न मक्के या जरूसलम में। यदि वह है, तो हर जगह। यदि नहीं, तो कहीं भी नहीं है। लेकिन विचार से कोई काम नहीं लेता; क्योंकि हज़ारों वर्ष की शिक्षा ही यह है कि इस विषय में संदेह करना केवल नास्तिकों का काम है, जिनके वास्ते नरक का द्वार खुला हुआ है। इस पर भी अपने ही मत को हर एक आदमी ठीक समझता है, और दूसरे मतों को झूठा। यह तो प्रकट है कि परमेश्वर ने अगर नरक या स्वर्ग बनाया है, तो किसी विशेष मत के माननेवालों के लिये नहीं, अपितु सभी के लिये। अपने कर्म वहाँ ले जायँगे।

जितना ही कम किसी विषय को आदमी जानता हो, उतना ही ज़्यादा उसे उस बात के जानने का अभिमान होता है। कुछ दिन की बात है, मैंने एक छोटे बच्चे को शेक्सपियर की एक किताब पढ़ते देखा। वह उस समय एंट्रेंस भी पास न हुआ था। मुझसे बातचीत में बोला—उसे बी० ए० की लियाक़त है; क्योंकि वह उक्त किताब

पढ़ता है। यह बच्चा जब एफ़० ए० का इम्तिहान दे रहा था, तब उसे अपनी दो वर्ष पहले की बात याद थी। उसने स्वयं ही मुझसे कहा कि उसका अभिमान कैसा झूठा साबित हुआ। मसल तो मामूली है, किंतु किसी बड़े अनुभवी की कही है—"अधजल गगरी छलकत जाय।"

यह सब लिखने से मेरा मतलब केवल यह दिखाना है कि जब हम अपनी राय के सामने किसी की बात सुनना पसंद ही न करेंगे, तो वह ग़लत हो या सही, उसे सबकी राय से श्रेष्ठ समझेंगे, और हमसे जो सहमत नहीं, उन्हें बुरा-भला कहेंगे। यह अभिमान नहीं, तो और क्या है? हमको इस बात का बड़ा गर्व है कि हमने अपने स्त्री-समाज को बहुत ऊँचा स्थान दे रक्खा है, और करोड़ों आदमी ऐसे हैं, जो इसके ख़िलाफ़ सुनना ही नहीं चाहते। सुनना ही नहीं, इसके ख़िलाफ़ कहनेवाले को अँगरेज़ी प्रभाववाले या बिगड़े लोग कहने लगते हैं। जहाँ तक अँगरेज़ी प्रभाव का संबंध है, वह तो उनका अज्ञान है; क्योंकि क्या अँगरेज़ क्या मुसलमान और क्या हिंदू, सभी स्त्री-समाज को नीचा बनाए रखने में सहमत हैं। इँगलिस्तान या अन्य देशों में स्त्रियों ने जो थोड़े-बहुत हक़ प्राप्त कर लिए हैं, सो पुरुष-समाज की सहायता से नहीं, वरन् इसके विपरीत। हाँ, यह ज़रूर है कि कुछ पुरुषों ने उनका साथ दिया। वे बिगड़ गए या सँभल गए हैं, यह अपनी-अपनी राय है।

जैसे मज़हबी बातों में किसी बहस के सुनने के लिये हम तैयार नहीं, वैसे ही अधिकतर हिंदू स्त्री-समाज की दशा में किसी तरह का परिवर्तन करने या उसका ज़िक्र करने को भी तैयार नहीं हैं। बस एक ही रटन है कि स्त्री का स्थान सदा से हमारे यहाँ ऊँचा रहा है, और अब भी है उसमें परिवर्तन होते ही वह नीचे गिर जायगी। हरदम सीता, सावित्री दमयंती इत्यादि की मिसाल दी जाती है। इस बात का कोई ख़याल नहीं करता कि स्वयं उन्हीं के समय में स्त्री-समाज की कोई अच्छी हालत न थी। इसमें संदेह नहीं कि जहाँ तक पति-प्रेम और त्याग हो सकता है, उन्होंने कर दिखाया। किंतु उससे उनकी दशा कैसे ऊँची हो गई? रामचंद्रजी ने उस त्याग और उस प्रेम का क्या बदला दिया? ज्यों ही लंका जीती और सामने सीता को देखा, त्यों ही क्रोधित हो बोले—तेरा मेरे पास कुछ काम नहीं, जहाँ जी चाहे जा। मैंने यह लड़ाई तेरे वास्ते नहीं, अपनी इज़्ज़त के वास्ते लड़ी है। यदि स्त्री का स्थान ऊँचा समझा जाता होता, तो रामचंद्रजी-ऐसे महापुरुष कभी ऐसी बात मुँह से न निकालते। तुलसीदासजी-जैसे स्त्री-समाज के द्रोही तक इस बात को शायद हज़म न कर सके। इस क़िस्से पर उन्होंने दूसरा रंग चढ़ाया, धोबी की कहानी गढ़ी, और सीता-वनवास करवाया। चाहे धोबीवाला क़िस्सा माना जाय या वाल्मीकिवाला, दोनों इस बात के प्रमाण हैं कि सीता के साथ बड़ा अत्याचार हुआ, और वह भी लोकाचार के लिये, यदि स्त्री-समाज की ज़रा भी क़द्र होती, तो यह बात न होती।

यदि एक ही मिसाल ऐसी होती, तो यह कहा जा सकता था कि यह एक ख़ास बात हो गई। ऐसी कितनी ही मिसालें मौजूद हैं। महादेवजी की आज्ञा से सतीजी एकबार रामचंद्रजी की परीक्षा लेने चलीं। इस परीक्षा में उन्होंने सीताजी का रूप धारण कर लिया। महादेवजी को ख़बर हो गई; क्योंकि वह अंतर्यामी थे। जब सतीजी लौटकर आईं, तो यद्यपि वह जानते थे कि इनके हृदय में कोई पाप का विचार तक नहीं है, फिर भी इतने नाराज़ हुए कि उनको उस दिन से माता कहने लगे। दो-चार-दस दिन की नाराज़गी नहीं, दस हज़ार वर्ष तक यह चली। सती जलकर मर गईं, और उस समय भी उनकी यही चाह रही कि अगले जन्म में भी महादेवजी से विवाह हो। हिमालय के घर पैदा हुईं, दस हज़ार वर्ष तक महादेवजी को राज़ी करने के लिये तप करती रहीं, फिर भी परीक्षा के बाद महादेवजी राज़ी हुए। यदि स्त्री की दशा उस समय भी नीची न होती, तो किसी मूर्ख को भी यह ख़याल न होता कि किसी दूसरी स्त्री का रूप धारण करना महापाप है।

सावित्री के इतिहास में भी कोई बात ऐसी नहीं पाई जाती, जिससे यह नतीजा निकले कि उस ज़माने में भी स्त्री की दशा में कोई अच्छाई के लिये परिवर्तन हुआ था। इसके विपरीत स्त्री की पुरुष-भक्ति की वह कहानी है। पुरुष-भक्ति तो हिंदू-स्त्री में अब भी काफ़ी से ज़्यादा है; किंतु यह स्त्री की अच्छी दशा का सबूत नहीं।

मैं इसी तरह के कितने ही उदाहरण लिख सकता हूँ; किंतु अधिक लिखने की न तो जगह है, न ज़रूरत। फिर

भी एक और केवल इस ग़रज़ से लिखता हूँ कि उससे मुझे स्त्री की नीच दशा का पूरा प्रमाण मिलता है। राजा ययाति से गालव ने ८०० सफ़ेद घोड़े माँगे। उसके पास वैसे घोड़े न थे; किंतु ब्राह्मण के सवाल को पूरा करना भी ज़रूरी था। उनके बदले में उन्होंने अपनी सुंदरी कन्या माधवी को देकर कहा कि इसे बेचकर ८०० घोड़े ख़रीद लें। माधवी ख़ुशी से चली गई; किंतु ८०० घोड़ों के बदले में न बिक सकी। इस वास्ते गालव को उसे तीन बार अलग-अलग तीन पुरुषों के हाथ बेचना पड़ा, और हर दफ़े शर्त यही रही कि जब तक उसके पुत्र उत्पन्न न हो, वह ख़रीदार की जायदाद रहेगी। यह महाभारत की कथा है। लिखनेवाले ने यह दिखलाने की कोशिश की है कि माधवी को इस आज्ञापालन से स्वर्ग प्राप्त हुआ। किंतु यह बात यक़ीन करने लायक़ नहीं। मुमकिन है, उसके और कर्म भी अच्छे रहे हों, और स्वर्ग क्या, उसे निर्वाण प्राप्त हुआ हो। मगर लिखनेवाले को मालूम होना असंभव है। लिखनेवाले कौन? वही पुरुष, जिनकी यह ग़रज़ कि स्त्री को दबाए रक्खें। जब तक कि वे ऐसी बातें न कहें, ऐसे क़िस्से न गढ़ें, जिनसे स्त्री दबी ही रहने में अपनी भलाई समझे, तो भला उनकी कैसे बन आवे?

ये तो पुराने ज़माने की बातें हुई, जिनसे उस ज़माने में हमें समाज में स्त्री के स्थान का पता चलता है। अपने ज़माने का हाल हम रोज़ ही देखते हैं। दस वर्ष की अवस्था से परदे में बंद, पढ़ने-लिखने से वास्ता नहीं, लड़कों के साथ खेल-कूद तो दूर रहा, उनसे बोलना तक बुरा। मरदों के बीच उसका आना बड़े ऐब की बात, इत्यादि इत्यादि। स्त्री-शिक्षा के बड़े-से बड़े हामी थोड़ी-सी किताबें पढ़ाकर उसे शिक्षित कहने लग जाते हैं। लेकिन उतनी ही शिक्षा लड़के को देकर उसे कोई नहीं शिक्षित कहता। यह किसी को या तो सूझता नहीं या अगर सूझता है तो अपने तई धोका देकर समझा लेते है कि सिर्फ़ किताबें पढ़ने से शिक्षा पूरी नहीं होती। शिक्षा का सबसे बड़ा भाग यह है कि बड़ों और अपने से बुद्धिमानों का संग हो, आपस में मेल-जोल हो, वाद-विवाद हो, एक-दूसरे के विचारों पर ग़ौर कर सकें। जब तक लड़कों और लड़कियों को एक-दूसरे के विचारों पर ग़ौर करने का मौक़ा न दिया जायगा, तब तक लड़कियों की विचार-शक्ति कभी बढ़ ही नहीं सकती, और वह 'पतिव्रत' की पहली सीढ़ी पर ही खड़े रहने के सिवा कुछ कर नहीं सकती। इतना ही नहीं, स्वयं लड़कों के वास्ते भी बड़ी हानि है। उनके विचार भी वहीं खूँट बने रहेंगे, वे लड़कियों को नीच ही समझते रहेंगे। अगर मैं यों कहूँ कि स्त्री-पुरुष में इस देश में, आपस में एक तरह की दुश्मनी है, तो शायद ग़लत न होगा। कोई साहब कहेंगे कि अगर आपस में दुश्मनी है, तो साथ कैसे रहते हैं? मैं इसका जवाब दूँगा कि जैसे कुत्ता और बिल्ली एक मालिक के डर से अक्सर साथ रहते हैं। यहाँ मालिक गृहस्थी है, जिसका डर पुरुष को होता है। स्त्री बिल्ली के समान डरते-डरते साथ रहती है।

पाठकों ने बहुधा ऐसी बिल्लियाँ देखी होंगी, जो अक्सर कुत्तों को मार भगाती हैं। इसी तरह शायद और भी मिल जायँ, जो मरदों को डरा-धमका लेती हैं। किंतु यह इतना कम है कि यह ख़ास बात कही जा सकती है। मैं इस लेख में आम हालत का ज़िक्र कर रहा हूँ।

यहाँ मैंने पुराने ज़माने के उदाहरण ही इतिहासों से लिये हैं। अपने ज़माने के नाम से उदाहरण देना ज़रा मुश्किल बात है। एक तो वे इतने मशहूर आदमियों के न होंगे, जिनको सब जानते हों, और दूसरे ज़ाब्ता फ़ौजदारी का डर। ख़ैर, नाम की ज़रूरत भी नहीं; क्योंकि स्त्री का सताया जाना इतनी मामूली बात है कि हर गली-कूचे में दस-पाँच उदाहरण मिल जायँगे। बहुधा यह सुनाई देता है कि फ़लाँ गुंडा फ़लाँ स्त्री को भगा ले गया। किंतु कभी यह नहीं सुना जाता कि फ़लाँ स्त्री फ़लाने पुरुष को भगा ले गई। स्त्री को गुंडे बदमाशों से बचाने के सैकड़ों उपाय सोचे जाते हैं; यदि उसकी दशा पुरुष से नीच नहीं, तो इसकी क्या ज़रूरत है? मर्द सैकड़ों कुकर्म कर आवे, कोई उसे पतित नहीं समझता। उसकी वही क़दर होती है, जो किसी भलेमानस की। वह मूछों पर ताव देकर सबके बीच में उसी आनंद से रहता है। किंतु स्त्री अगर धोके से भी कभी भूल में पड़ जाय, या सिर्फ़ शक ही हो, तो सारा समाज ले-देकर उसके पीछे पड़ जाता है, और वह ऐसी पतित हो जाती है कि कोई मुँह देखने का रवादार नहीं रहता। क्या यह उसकी नीच दशा होने का प्रमाण नहीं? कभी यह भी सुना जाता है कि फ़लाँ आदमी ने जोरू को मार-पीटकर निकाल दिया। लेकिन कभी किसी ने पति को भी मार-पीटकर या बिना मारे-पीटे निकाला है? अगर समाज स्त्री-

पुरुष में बराबरी का बर्ताव रखता, तो ये मुसीबतें कभी न आतीं। मेरा कहना यह है कि क्या रामायण के ज़माने में और क्या महाभारत के, क्या हमारे ज़माने में और क्या तुलसीदास के, हमेशा पुरुष-समाज को यही कोशिश रही है और वह भी कामयाबी के साथ कि स्त्री को दबाए रक्खे। किंतु फिर भी ढिठाई यह कि अपने स्त्री-समाज की ऊँची दशा का गर्व है। वही मुर्ग़ी की एक टाँगवाली रटन लगी है।

मोहनलाल नेहरू

× × ×

७. संकेत

जब किसी देश में सुख और शांति होती है, लोगों को खाने-पीने की कमी नहीं होती, और बाहर के आक्रमणों का भी भय नहीं रहता, तब वहाँ ललित कलाओं का विकास होता है; लोग जीवन को सरस बनाने के लिये नए-नए उपाय सोचने लगते हैं : संगीत, कविता, चित्रकारी और शृंगार की ओर जनता को ध्यान देने का अवसर मिलता है; मनोभावों को प्रकट करने के लिये नए-नए शब्दों और संकेतों की सृष्टि होती है; युवक और युवतियाँ स्वच्छ, सुंदर वस्त्र-भूषणों से अलंकृत होकर प्रातः और सायंकाल सड़कों पर विहार करने निकलती हैं। रामायण में कहा है—जिस राजा का राज्य-प्रबंध अच्छा नहीं होता, उसके राज्य में नगर-सुंदरियाँ अपने कांतों के साथ शाम को विहार करती हुई नहीं देख पड़तीं। सारांश यह कि ललित कलाओं की उन्नत अवस्था किसी देश के सुखी और समृद्धिशाली होने का परिचायक हो सकती है।

संकेत-शास्त्र भी ललित कलाओं के अंतर्गत ही है। इसका काम-शास्त्र के साथ गहरा संबंध है। इन दोनों की उन्नति भी तभी होती है, जब देश धन-धान्य से भरपूर और प्रजा सब प्रकार से सुखी हो। हमारे देश में किसी समय इन दोनों शास्त्रों की ख़ूब उन्नति हुई थी। काम-शास्त्र की उत्पत्ति का दिग्दर्शन तो मैं अपने 'संस्कृत साहित्य में काम-शास्त्र का स्थान'-शीर्षक लेख में, माधुरी के किसी गतांक में, करा चुका हूँ। आज यहाँ संकेत-शास्त्र के संबंध में कुछ लिखता हूँ।

भारतीय संकेत-शास्त्र का वर्णन करने के पहले यह बता देना अनुचित न होगा कि संकेतों का प्रचार थोड़ा-बहुत प्रायः सभी जातियों में पाया जाता है। अँगरेज़ों में 'फ़ारगेट मी नाट' नाम का फूल प्रेमी और प्रेमिका की दृढ़ प्रीति का सूचक समझा जाता है; कपोत का चित्र स्नेह का परिचायक है। इसी प्रकार बलूत की शाखा और लिली का फूल भी अपना-अपना कुछ अर्थ रखते हैं। हमारे ज्योतिष में तो संकेतों से बहुत ही काम लिया गया है। उसमें ० के लिये वियत्, आकाश; १ के लिये इंदु, रूप; २ के लिये यम, रवि, चंद्र; ३ के लिये आग, त्रिकाल; ४ के लिये वेद, समुद्र; ५ के लिये इंद्रिय, भूत; ६ के लिये रस, ऋतु; ७ के लिये मुनि, महीधर; ८ के लिये वसु, गज; ९ के लिये गो, नंद और १० के लिये रावण के सिर, दिशा आदि संकेत हैं—इनके लिखने से इन संख्याओं का बोध होता है। इसी प्रकार फ़ारसी में भी अलिफ़, बे आदि अक्षरों के लिये संख्याएँ हैं।

अब हम काम-शास्त्र के एक प्राचीन ग्रंथ से लेकर कुछ संकेत यहाँ देते हैं।

यदि पुरुष-विषयक प्रश्न हो, तो फल का संकेत करना चाहिए। इसी प्रकार स्त्री के लिये फूल, कुल के लिये अंकुर, ब्राह्मण के लिये अनार, क्षत्रिय के लिये कटहल, वैश्य के लिये केला, शूद्र के लिये आम, राजपुत्र के लिये द्वितीया का चंद्रमा और राजा के लिये बादलों की छाया आदि संकेत कहे गए हैं। इसी प्रकार नीच कुल के लिये कोई काला फूल, सामंत-पुत्र के लिये सिर, युवा के लिये मध्याह्न, बालक के लिये कच्चा और बूढ़े के लिये पका फल आदि है। ब्राह्मणी के लिये कुंद का फूल, राजपुत्री के लिये मालती का फूल, वैश्य की लड़की के लिये मल्लिका (मोगरा), शूद्र की लड़की के लिये सफ़ेद कमल, बनिए या व्यापारी की लड़की के लिये साधारण कमल, मंत्री की लड़की के लिये कुमुदिनी, कामी पुरुष के लिये भ्रमर और कामिनी स्त्री के लिये आम की मंजरी आदि संकेत दिए गए हैं। बुलाने के लिये अंकुश, छिपाने के लिये हाथी, न बुलाने या मना करने के लिये प्राकार (घेरा), रात के लिये ढका हुआ चाँद और दिन के लिये ढका हुआ सूर्य संकेत माना गया है।

पहले पहर के लिये शंख, दूसरे के लिये महाशंख, तीसरे के लिये पद्म, और चौथे पहर के लिये महापद्म संकेत है। पाँचवें पहर के लिये राम, छठे के लिये विराम, सातवें के लिये प्रवर और आठवें के लिये प्रत्यूष संकेत किया गया है। तात्पर्य यह कि जब इन समयों को बतलाना हो, तब ढंग से बातचीत में इन शब्दों को यथाभिमत कह देना चाहिए।

दृष्टी बोलचाल से संकेतों का वर्णन ऊपर हो चुका है। अब हाथ आदि के इशारों के संकेत बताए जाते हैं। कुशल-क्षेम पूछने के लिये कान को काम की दशा बताने के लिये केशों को, स्नेह के लिये छाती को और पूजा के लिये सिर को छूना चाहिए। यदि मौक़े का प्रश्न हो, तो तर्जनी (अँगूठे के पासवाली) उँगली को मध्यमा (बीच की उँगली) के पीछे लगाकर इशारा करे। यदि रोकना हो, तो खुली अंजलि का इशारा करे, और बुलाना हो, तो अँगुलियों को सिकोड़ ले।

दिशाओं का संकेत इस प्रकार है—अँगूठा पूर्व, तर्जनी दक्षिण, मध्यमा पश्चिम और अनामिका उत्तर के लिये।

तिथियों का संकेत इस प्रकार है—सबसे छोटी उँगली को जड़ से लगाकर अँगूठे के ऊपर के भाग तक पाँचों में मोटी-मोटी रेखाएँ हैं। ये ही यथाक्रम प्रतिपदा से लेकर पंद्रह तिथियों के संकेत हैं।

यदि बाएँ हाथ की उँगलियों से इशारा किया जाय, तो शुक्ल-पक्ष और दाएँ हाथ की उँगलियों से इशारा किया जाय, तो कृष्ण-पक्ष समझना चाहिए। यदि अपना स्नेह प्रकट करना हो, तो प्रेमी प्रेमिका को और प्रेमिका प्रेमी को सुगंधित वस्तु दे या भेजे। सुपारी और कत्था भी इस काम के लिये उपयोग में लाया जा सकता है। यदि अत्यंत प्रेम प्रकट करना हो, तो छोटी इलायची या जायफल, या लौंग दी या भिजवाई जाती है। उसी प्रकार स्नेह के टूटने के लिये एक टूटा हुआ मूँगा, चिरकाल से संयोग होने के लिये दो टूटे हुए मूँगे, कामज्वर के लिये कोई कड़वी चीज़, और आपस में संयोग की आशा दिखाने के लिये दाख को संकेत माना है। अपना शरीर समर्पण करने में कपास, जीवन समर्पण करने में जीरा, किसी प्रकार का भय प्रकट करने के लिये भिलावाँ और निर्भयता प्रकट करने में हरीतकी संकेत है। मोम से बनाई हुई विशेष मुद्रा, जिसमें पाँचों उँगलियों के नाख़ूनों से चिह्न कर दिए गए हों, और उस पर लाल डोरा लपेट दिया गया हो, पोटली कहलाती है। इसमें मोम कामातुरता को, लाल डोरा अनुराग को और पाँचों उँगलियों के नख-चिह्न पंच-बाण (कामदेव) के प्रहार को बतलाते हैं। काम से देह के अत्यंत पीड़ित होने पर झिंझरा बुना हुआ कपड़ा, अनुराग में लाल, और विराग में गेरुआ या पीला वस्त्र संकेत समझना चाहिए। वियोग में फटा कपड़ा, संगम में किनारीदार और गाँठ लगा हुआ, एक का स्नेह प्रकट करने में एक और दोनों के स्नेह में दो वस्त्र संकेत समझने चाहिए।

श्रेष्ठ पुरुषों ने पाँच प्रकार का बीड़ा बतलाया है—१ कौशल, २ अंकुश, ३ कंदर्प, ४ पर्यंक और ५ चतुरस्र। स्नेह की अधिकता प्रकट करने के लिये कौशल-नामक पान-बीड़ा देना, भेजना या दिखलाना चाहिए। अपने समीप बुलाने के लिये अंकुश, काम की आतुरता दिखलाने के लिये कंदर्प और संगम का द्योतक पर्यंक संकेत है।

चतुरस्र नाम का पान-बीड़ा बे-मौक़ा बतलाने के लिये होता है। अप्रीति प्रकट करने के लिये सुपारी-रहित पान तथा स्नेह के लिये इलायची-सहित पान संकेत है।

एक पान की पीठ पर दूसरा पान मिलाकर और काले सूत से लपेटकर देना वियोग का चिह्न है। ऐसे ही आमने-सामने से पानों को मिलाकर तथा लाल सूत से लपेटकर देना संयोग का संकेत पाया जाता है। बीच से कटा हुआ तथा काले सूत से लिपटा हुआ पान त्यागने का संकेत है। प्राणपण से संगम प्रकट करने के लिये लाल वस्त्र के सूत से सींकर पान देने का आदेश है। अत्यंत अनुराग प्रकट करने के लिये निम्न-लिखित संकेत है—पान में कटी हुई सुपारी तथा केसर डालकर बाहर घिसा हुआ गीला चंदन लगाकर लपेटकर दे। अनुराग, विराग, राग और अप्रीति, इनको बतलाने के लिये यथाक्रम लाल, गेरुए, पीले तथा काले डोरे में माला गूँथ कर दे। जिस ग्रंथ से उपर्युक्त बातें ली गई हैं, उसके रचना-काल से लेकर अब तक मानव-प्रकृति में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ। वह अब भी वैसी ही है, जैसी तब थी। अब भी लोग आपस में संकेतों द्वारा बातचीत करते हैं, अब भी वे अंग-विकारों द्वारा अनुराग और विराग प्रकट करते हैं। पश्चिमी सभ्यता ने हमारे जीवन के सभी विभागों पर प्रभाव डाला है। हमारे खान-पान, रहन-सहन, राग-विराग और बोल-चाल, सभी पर उसका थोड़ा-बहुत रंग चढ़ा है। ऐसी दशा में इस गुप्त भाषा में भी कुछ-न-कुछ फेर-फार अवश्य हुआ है। पर यह कोई नहीं कह सकता कि आजकल के युवक और युवतियाँ किसी गुप्त भाषा का व्यवहार नहीं करते। हमारा तो विश्वास है कि जब तक संसार में नर और नारी का जोड़ा है, जब तक उनमें एक दूसरे के लिये आकर्षण है, तब तक यह भाषा कभी लुप्त नहीं हो सकती। इसमें रूपांतर भले ही हो जाय।

संतराम

कवि-चर्चा



१. कंठाभरण के 'संकर'



कवि-कुल-कंठाभरण सुकवि दूलह का अलकार-ग्रंथ है। कवियों में किंवदंती है कि एक बार जयपुर-दरबार में महाकवि देवजी और सुकवि दूलहजी से कुछ विवाद हो गया था। उसका खुलासा यह है— दूलह ने देव-कृत एक छंद में दोष दिखलाया था। छंद का अंतिम भाग था—''भाग-भरे मुख पै सोहाग बरसत है।'' इसके विषय में दूलह का कथन था कि 'मुख पै सोहाग' के स्थान पर 'भाल पै सोहाग' होना उचित है। कहते हैं, महाकवि देवजी ने बिगड़कर कहा कि तू ये बातें क्या जाने? अभी बालक है, कुछ पढ़-लिखकर कोई ग्रंथ बना, तब बात करना। उस समय सुकवि दूलह बालक तो नहीं, पर युवक अवश्य ही थे। वह अपने पिता कवींद्र उदयनाथजी के साथ उक्त दरबार में उपस्थित थे। दूलहजी ने विनम्र भाव से उत्तर दिया कि मैंने अलकार का एक ग्रंथ बनाया है, आपकी सेवा में कल प्रातःकाल उपस्थित करूँगा। रात्रि ही-भर में सुकवि दूलह ने 'कवि-कुल-कंठाभरण' निर्मित कर प्रातःकाल देवजी को सुना दिया। जो हो, 'कवि-कुल-कंठाभरण' में 'कुवलयानद' और 'चंद्रालोक' के आधार पर दूलहजी ने केवल ८० छंदों मे अलंकारों का वर्णन किया है।

गँधौली, ज़िला सीतापुर के सुकवि स्वर्गीय लेखराजजी के घराने में कंठाभरण का बड़ा चलन रहा है। उनके वंश का कोई विरला ही ऐसा व्यक्ति होगा, जिसे कंठाभरण कंठ न हो। लगभग २५ वर्ष पूर्व जब इन पंक्तियों के लेखक को अलंकार पढ़ने का चाव हुआ, तो उसने सुकवि ब्रजराजजी से अपनी इच्छा प्रकट की। उन्होंने सहर्ष पढ़ाना स्वीकार किया। यद्यपि अलंकार के मुद्रित तथा हस्त-लिखित अनेक ग्रंथ वहाँ वर्तमान थे, तथापि ब्रज-राजजी ने कवि-कुल-कंठाभरण ही को चुना। साथ ही सुकवि बैरीसाल का हस्त-लिखित भाषाभरण भी पढ़ाना स्वीकार किया। अतः उक्त दोनो ग्रंथों का पठन-पाठन साथ ही चला। सुकवि दूलह ने कंठाभरण में एक ही लपेट (अर्थात् छंद) में अलकारों के लक्षण और लक्ष्य किंवा उदाहरण कहे हैं, जिसके समझने में विद्यार्थी को कुछ कठिनाई पड़ती है। इसीलिये साथ में 'भाषा-भरण' के दोहे बड़ा सहारा देते हैं।

शीघ्र ही विशेष बोध हो जाने के अभिप्राय से एक कापी में चार कोठे भी ब्रजराजजी ने बनवा दिए थे, जिनमें से १ में संख्या, २ में भेद, ३ में लक्षण और ४ में लक्ष्य अर्थात् उदाहरण लिखवाले गए। साथ ही 'कवि-कुल-कंठाभरण' की कोष्ठ-बद्ध टीका भी तैयार हो गई। परंतु ग्रंथ का अंतिम छंद, जिसमें सुकवि ने संकर-अलंकार के चारो भेदों के उदाहरण बतलाए हैं, नहीं लग सका। अतएव उस समय तो ब्रजराजजी ने सुकवि भिखारीदास के

काव्य-निर्णय-नामक बृहत् ग्रंथ से संकर के चारों भेद समझा दिए, और कहा कि आगे विचारकर उक्त छंद में भी संकर-अलंकार के चारों भेदों के उदाहरण समझाने की चेष्टा करेंगे।

गुरुवर ब्रजराजजी के जीवन-काल में समय-समय पर कई बार उक्त छंद में संकर-अलंकार के चारों भेद बता देने की प्रार्थना करने पर सदैव एक ही उत्तर मिलता रहा कि देखो, विचार में हैं। उस समय की कौन कहे, इस अकिंचन की समझ में अद्यावधि नहीं आया कि क्या कारण था, जो सुकवि ब्रजराजजी सदा उस प्रश्न को उल्लिखित एक ही उत्तर से टालते रहे। यदि यह कहें कि उन्हें उस छंद में संकर-अलंकार के चारों भेद नहीं समझ पड़ते थे, तो यह उन्होंने कभी नहीं कहा कि हमें इस छंद में उक्त भेद नहीं समझ पड़ते, अथवा हम नहीं विचार सकते, अथवा दूलह से ही चारों के उदाहरण ठीक नहीं दर्शाते बने। जो हो, वह छंद अभी तक यों ही रहा। सारांश यह कि चारों भेद संकर के छोड़ शेष समग्र ग्रंथ की टीका तैयार हो सकती है। परंतु उनके बिना वह अपूर्ण रहेगा।

इधर कोई एक वर्ष से प० कृष्णविहारी मिश्र बी० ए० एल्-एल्० बी० ने कई बार कहा कि आप अपने 'कवि-कुल-कंठाभरण' की टीका ठीक कर दें, तथा उस पर एक समालोचना भी लिखें, तो वह इस समय साहित्य के विद्यार्थियों के निमित्त अवश्य ही बड़ी उपयोगी होगी। यही नहीं, उन्होंने भारतजीवन काशी की छपी हुई 'कवि-कुल-कंठाभरण' की एक प्रति भी भेज दी, जो न कहीं अन्यत्र छपी, और न प्राप्त हो सकती है।

कंठाभरण की इस प्रति को बाबू रामकृष्ण वर्मा ने सन् १८८९ में छापा तथा कवि रत्नाकर ने इसे "अति परिश्रम से शोधा" था। परंतु लिखते आश्चर्य और खेद भी होता है कि इसके तीन-चौथाई छंद अशुद्ध छपे हैं *।

* रत्नाकरजी को इस ग्रंथ की अन्य हस्त-लिखित प्रतियाँ नहीं प्राप्त हो सकी थीं, इसी से वह पाठ मिलाकर ठीक संशोधन नहीं कर सके। किसी प्राचीन कवि के ग्रंथ में मनमाने शब्द या अक्षर रखकर संशोधन करना ठीक नहीं था। हाँ, उन्होंने बहुत मोटी-मोटी गलतियाँ ठीक कर दी थीं। यह हमें रत्नाकरजी से ही ज्ञात हुआ है।—संपादक

इससे विद्यार्थियों की कौन कहे, काव्य-मर्मज्ञों को भी पूर्ण भ्रम हो सकता है। पढ़ने के समय हमने सुकवि ब्रजराजजी की हस्त-लिखित प्रति से मिलाकर अपनी छपी पोथी शुद्ध अवश्य कर ली थी। पर वह इस समय नहीं मिलती।

भीतर दो दोहे ऐसे छपे हैं, जो ब्रजराजजी की हस्त-लिखित प्रति में नहीं हैं। ब्रजराजजी स्वयं तथा उनके ज्येष्ठ भ्राता स्वर्गीय सुकवि द्विजराजजी भी इन दोनों दोहों को कवि दूलह की रचना नहीं स्वीकार करते थे। कहते थे कि ये रत्नाकर से निकले रत्न हैं।

अतएव आज साहित्य के विद्वानों तथा कविता-मर्मज्ञों के सम्मुख 'कवि-कुल-कंठाभरण' का अंतिम छंद विचारार्थ उपस्थित कर जिज्ञासा है कि कोई काव्य का पंडित बतावे, इसमें संकर के चारों भेद क्योंकर लक्षित होते हैं? अर्थात् इसमें किन अलंकारों का संकर है? अथवा स्वयं सुकवि दूलह ने ही भूल की है।

हौं हीं मतिमंद वाहि मंद पै पठाई, दाऊ
संकर को चाहि चंदकला तें लहाई री;
कहै "कवि दूलह" अपूरब प्रकास्यो हेतु,
नाहनि हमारी ठकुराइनि है आई री।
चारों भेद संकर के चारों तुक मैं बिदारि—
दे करि सुधाई मानो निठुराई लाई री;
पेखि मनि-मंदिर में पलन की पीक पीछी,
सोई अरुनाई इन आखिन में आई री।

यह ब्रजराजजी की संशोधित प्रति से लिया गया है। किंतु कवि रत्नाकर जी के संशोधित संस्करण के छंद का प्रथम पद यों है—

जापै हौं पठाई ता बिसासी पै गई न दोमि
संकर को चहीं चंद कला तें लहाई री।

यदि कोई महाशय उल्लिखित छंद में संकर-अलंकार के चारों भेद बताने तथा लिखने की कृपा करें, तो ग्रंथ तो पूर्ण ही हो जाय, साथ ही अलंकार विषय के जिज्ञासुओं का बड़ा उपकार अथवा लाभ भी हो; क्यों कि दूलह-कृत 'कवि-कुल-कंठाभरण' अलंकार का प्रामाणिक ग्रंथ होने के सिवा कंठ करने में सुगम एवं सरल है। आशा है, कोई कविता-मर्मज्ञ इस ओर ध्यान देने की शीघ्र ही कृपा करेंगे।

राधेनारायण वाजपेयी 'प्रजावैस'

× × ×

२. उपमा का उत्कर्ष

संसार के साहित्य में सर्वत्र उपमा की उत्कृष्टता के उदाहरण उपस्थित हैं। अतः यह उक्ति अधिकांश में मान्य होगी कि उपमा साहित्य का एक प्रधान अंग है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि यदि साहित्य-सरोवर में उपमारविंदों के आविर्भाव का अभाव होता, तो उसकी सरसता, सरलता एवं सौंदर्य में सौष्ठव की न्यूनता रहती। प्रायः पूर्व-पश्चिम के किसी भी देश का उन्नत साहित्य उपमाओं से रहित नहीं। संस्कृत भाषा के अगाध साहित्य-सागर में तो उपमा-तरंगियों की इतनी अधिकता है कि उसकी समता अन्य भाषाओं के साहित्य से कदाचित् ही हो सके।

इसी प्रकार हिंदी-भाषा के प्रौढ़कालीन साहित्य में भी उपमाओं का बाहुल्य देखा जाता है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि संस्कृत तथा हिंदी में, उपमाओं की दृष्टि से, कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास एवं महिमा मय महात्मा तुलसीदास का स्थान बहुत ऊँचा है। उभय मनीषी महात्माओं की मौलिकता मोहन-मंत्र की भाँति मन को मुग्ध कर लेती है। इनकी प्रकांड प्रतिभा की प्रशंसा करने में वाणी और लेखनी, दोनो असमर्थ हैं।

उपमाओं के अनेक भेद हैं, जिन पर गंभीर विचार करने के लिये स्वतंत्र लेख की आवश्यकता है। यहाँ मेरा उद्देश्य एक पद्य का दिग्दर्शन-मात्र है। उपमा में स्वाभाविकता एवं उपमेय-उपमान की समानता जितनी ही अधिक होती है, उतना ही अधिक उसका गौरव है। यह कहना असंभव है कि उपमा-क्षेत्र की सीमा कहाँ तक है; प्रत्युत कहा तो यह जा सकता है कि वह अनंत है, और उसका अंत एक-मात्र कवि-कल्पना पर ही निर्भर है। परंतु फिर भी प्रकृति की प्यारी अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं, जिन्हें कवि-कोविद उपमा के लिये हमेशा हाज़िर रखते हैं, बेचारों को कभी फ़ुरसत ही नहीं मिलती। जैसे—सागर, सरोवर, सरसिज, तरंगिणी, भूधर, आकाश एवं दिनेश, रजनीश इत्यादि।

कलित कमनीय कलाधर को तो मैंने उपमा-संबंधी बेगार के वास्ते अधिक जगहों में गिरफ़्तार देखा; पर एक उपमा मुझे ऐसी खटकी कि पाठकों के सामने उपस्थित करने को बाध्य होता हूँ। नहीं जानता, मेरा प्रयास मनोरंजक होगा, किंवा केवल माधुरी का कलेवर-वर्द्धक। उपमा यह है—

आनँद को कंद वृषभानुजा को मुख-चंद,
लीला ही ते मोहन के मानस को चोरै है;
दूजो तैसो रचिबे को चाहत बिरंचि नित,
सासि को बनावै "हरी" मन को न भोरै है।
फेरत है सान आसमान पै चढ़ाय फेरि,
पानिप चढ़ाइबे को बारिधि में बोरै है;
राधिका के आनन की जोट न बिलोकि बिधि,
टूक-टूक तोरै पुनि टूक-टूक जोरै है।

दयावानसिंह

× × ×

३. पं० गंगाधर शास्त्री

पं० गंगाधर शास्त्री अभी जीवित हैं। आप सरयूपारीण ब्राह्मण हैं। आपका निवास-स्थान गाँव डोकरिया, तहसील मुरवारा, ज़िला जबलपुर है। संस्कृत के भी आप कवि हैं, लेकिन हम यहाँ आपका एक हिंदी-कवित्त देते हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि जब कानपुर में पिछले दिनों अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन हुआ था, उस समय एक समस्या "बिज्जु बादर दरीची मैं" यह या ऐसी ही कुछ थी। हमने इस समस्या की पूर्ति में, बहुत पहले, निम्न लिखित कवित्त सुना था। वह कवित्त हमें उक्त शास्त्रीजी के भतीजे पं० रामशरणजी काव्यतीर्थ से प्राप्त हुआ था। पं० रामशरणजी ने शास्त्रीजी के कवितासंग्रह से हमें यह कवित्त बतलाया था—

देखो जू बहार कैसी कामिनी कमाल की है,
काटती करेजा नैन-नेजा की नरीची मैं;
आपने मुखारबिंद के मरीचि-मंडल सों,
फेंकती मसीही है मयंक की मरीची मैं।
कौन कहै पृथिवी के प्राची औ प्रतीची शची,
प्यारी-सी न पेखी परिस्तान की परीची मैं;
बार-बार खिरकि पै हरकि निहारै,
थिरकि रही है मानों बिज्जु बादर दरीची मैं।

मातादीन शुक्ल



१. खोज

कवि राजशेखर की जाति—लेखक, रा० ब० पं० गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा। आकार २०×२६ अठपेजी। पृ० सं० ४६ कागज, छपाई उत्तम; मूल्य लिखा नहीं।

इसके लेखक श्रीमान ओझाजी इतिहास और पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। आपने 'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका' के भाग ६, सं० २ में एक लेख छपाया था। उसी का यह पुस्तकाकार संस्करण है।

राजशेखर संस्कृत तथा प्राकृत के प्रसिद्ध कवि और धुरंधर विद्वान् थे। आपके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनका संपादन स्वर्गीय म० म० पं० दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, नार्वे-युनिवर्सिटी के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता और संस्कृतज्ञ स्टेनकोनो साहब और श्रीयुत सी० डी० दलाल एम्० ए०-जैसे सुयोग्य विद्वानों ने किया है। परंतु इनकी जाति के संबंध में कोई भी संपादक ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सका। कारण, एक ओर तो राजशेखर ने अपने और अपने पूर्वजों के लिये कुछ ऐसे विशेषण जगह-जगह पर लिखे हैं, जो ब्राह्मणों में ही संभव हैं, और दूसरी ओर अपनी स्त्री को प्रसिद्ध क्षत्रिय चौहान-वंश की कन्या बताया है। फिर राजशेखर नाम भी तो राजत्व या क्षत्रियत्व का सूचक है। इसी से पूर्वोक्त संपादक लोग उनकी जाति का कुछ निर्णय न कर सके।

यह बात यहीं पर समाप्त नहीं हुई। ट्रावनकोर-राज्य के पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष श्रीयुत टी० ए० गोपीनाथ राव ने तो दक्षिण-भारत में मिले हुए एक ताम्रपत्र के आधार पर कवि राजशेखर को केरल का राजा (क्षत्रिय) ही सिद्ध कर दिया, यद्यपि आपकी युक्तियों में साफ़ हठधर्मी झलकती है, और जैसे कुछ बंगाली लोगों के सिर पर भारत के तमाम प्रसिद्ध पुरुषों को बंगाली बनाने की धुन सवार हुई है—कवि कालिदास का गाँव तक बंगाल में पैदा हो गया है—वैसे ही आपकी युक्तियों और प्रमाणों में भी अकांड-तांडव और द्रविड़-प्राणायाम की परा काष्ठा विद्यमान है, परंतु उसका आमूल-चूल खंडन करने के लिये पं० गौरीशंकर-हीराचंदजी ओझा-जैसे मार्मिक इतिहासज्ञ और पुरातत्त्व के विशेषज्ञ की ही आवश्यकता थी। ओझाजी ने जिस मार्मिकता, विद्वत्ता और योग्यता के साथ श्रीगोपीनाथ राव की दलीलों की धूल उड़ाकर, कवि राजशेखर की उक्तियों के ही आधार पर, उन्हें यायावर-कुल का ब्राह्मण सप्रमाण सिद्ध किया है, वह देखते ही बनता है। चौहान-वंश की स्त्री की बात को भी बहुत ठीक निबाहा है।

आपकी विवेचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह प्राच्य तथा पाश्चात्य, दोनों शैलियों से विचार करती है। पाश्चात्य ढंग से विचार करनेवाले केवल बाहरी बातें देखते हैं। उन्हें अंतर्दृष्टि नहीं प्राप्त होती। जो लोग विलायती ढंग से शांकर भाष्य पढ़ते हैं, वे उसमें से यह ढूँढ़ निकालने की चेष्टा करते हैं कि श्रीशंकराचार्य के समय में कौन-कौन राजा थे, उस समय दाढ़ी, मूछ की काट-छाँट

कैसी होती थी, और लोग धोती की कांछ में कितने लपेट डालते थे। परंतु शंकर-सिद्धांतों के गंभीर तत्त्व में प्रवेश करने की वे हिम्मत नहीं करते। इधर प्राच्य ढंग से विवेचना करनेवाले भी बाहरी बातों की एकदम उपेक्षा कर जाते हैं। परंतु ओझाजी की विवेचना में दोनो शैलियों का सम्मिश्रण है। आप जहाँ शिलालेख आदि पर पाश्चात्य ढंग से विचार करते हैं, वहाँ कवि राजशेखर की कविताओं की गंभीरता और मार्मिकता को भी हाथ से जाने नहीं देते। इसी से आप इस लेख में निर्णयात्मक विचार करने में समर्थ हुए हैं। आपका यह लेख आदरणीय तथा प्रशंसनीय है।

× × ×

कवि राजशेखर का समय—यह भी ओझाजी का ही १० पृष्ठ का एक लेख है, और 'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका' के भाग ६, सं० ४ में उद्धृत किया गया है। मूल्य अज्ञात।

आपने राजशेखर का कविता-काल ८९०-९७० के लगभग माना है। आपकी युक्तियाँ और प्रमाण यहाँ भी पहले लेख के-से हैं।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

२. आयुर्वेद

व्रणोपचारपद्धति—लेखक, पंडित महावीरप्रसाद मालवीय वैद्य। प्रकाशक, पं० विश्वेश्वरदयालुजी वैद्यराज, बरालोकपुर, इटावा। स्कूली साइज़, कागज़, छपाई साधारण; पृ० सं० ८६; मूल्य ।=)

आयुर्वेद में व्रण आदि के उपचार का बहुत कुछ सामान होते हुए भी वैद्यों में आजकल इसके उपयोग और प्रयोग का एकदम अभाव है। सुश्रुत के अनेक स्थल कंठ करनेवाले और उस पर बहुत कुछ विचार करनेवाले वैद्य भी शल्य चिकित्सा में तो कोरे हैं ही, व्रणोपचार में भी निकम्मे हैं। शहरों में तो फिर भी मुसलमान जर्राहों के हाथ में यह काम अब तक मौजूद है, पर देहात इससे शून्य है। हमें ऐसे अनेक उदाहरणों का ज्ञान है कि जो घाव बड़े-बड़े सुशिक्षित डॉक्टरों के किए अच्छे न हो सके, उन्हें हिंदोस्तानी जर्राहों ने मरहम-पट्टी करके अच्छा कर दिया। इस पुस्तक में इसी प्रकार के अनेक मरहम, तैल आदि व्रणोपयोगी औषधों का अच्छा संग्रह है। देहातों में जहाँ डॉक्टर सुलभ नहीं हैं, वहाँ के वैद्य लोग इस संग्रह से जनता को बहुत कुछ लाभ पहुँचा सकते और ज़रा-ज़रा-सी बात के लिये डाक्टरों के पास दौड़ने से लोगों को बचा सकते हैं। हिंदी जाननेवाले गृहस्थ भी इस पुस्तक से बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। पुरानी स्त्रियाँ बहुत-सी बाल-चिकित्सा जानती हैं, पर आजकल की शिक्षित स्त्रियाँ इस विषय में कोरी होती हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि स्त्री-शिक्षा देनेवाले विद्यालय कुछ ऐसी पुस्तकें भी पढ़ाया करें। पुस्तक में व्रणों के संबंध में विशद और विस्तृत परिचय की कमी है। अगले संस्करण में इसका ध्यान रखना चाहिए।

शालग्राम शास्त्री

× × ×

चिकित्सा-चंद्रोदय (६ एवं ७ भाग)—माधुरी के पाठकों को, कलकत्ते की सुप्रसिद्ध हरिदास-कंपनी द्वारा प्रकाशित, चिकित्सा-चंद्रोदय-नामक ग्रंथ के पाँच भागों का पिछले किसी अंक में परिचय कराया जा चुका है। उसी का छठा और सातवाँ भाग भी मेरे मित्र श्री० रमाशंकर अवस्थी ने मेरे पास भेजा है। इस ग्रंथ के लेखक कलकत्ते के प्रसिद्ध वैद्य श्रीयुत हरिदासजी हैं, जो हिंदी-सेवा के लिये यथेष्ट रूप से प्रसिद्ध हैं। हिंदी के उच्च कोटि के प्रकाशकों में आपकी गणना है। यह आयुर्वेदीय चिकित्सा-संबंधी ग्रंथ लिखकर उन्होंने हिंदी-भाषा की एक बहुत बड़ी कमी पूरी कर दी है। वैसे तो संस्कृत-भाषा में चिकित्सा के भिन्न-भिन्न विषयों पर अलग-अलग पुस्तकें हैं, और आदि-चिकित्सा तथा निदान के संबंध में आयुर्वेद शास्त्र संस्कृत में ही है; लेकिन लेखक ने उन सब ग्रंथों का अध्ययन करके उनकी समस्त उपयोगी एवं ज्ञातव्य बातें क्रमबद्ध करके इस 'चिकित्सा-चंद्रोदय' में बड़ी ही सरल भाषा में लिख दी हैं। जो वैद्य केवल हिंदी द्वारा ही आयुर्वेद का आवश्यक ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये यह ग्रंथ अवश्य ही अत्यंत उपयोगी है। आयुर्वेद-प्रेमियों को भी यह ग्रंथ देखकर अवश्य ही प्रसन्नता होनी चाहिए; क्योंकि एक सुपात्र लेखक ने आयुर्वेद के प्रचार के लिये यह सरल और उपयोगी ग्रंथ लिखकर आयुर्वेद-जगत् को उपकृत किया है। इसके छठे भाग में खाँसी, जुकाम, श्वास, हिचकी, रक्तपित्त, अम्लपित्त, स्वर-भेद, अरुचि, वमन, प्यास आदि रोगों के लक्षण, निदान तथा चिकित्सा विस्तार से लिखी गई है। वर्णन इतना रोचक और उपयोगी है कि लेखक के अध्ययन की प्रशंसा करनी पड़ती है। कुछ डॉक्टरी ज्ञान का मिश्रण मालूम पड़ता है।

रूप का वर्णन बहुत ही उत्तम हुआ है। इस भाग का मूल्य सजिल्द ४), अजिल्द ३॥) है। सातवाँ भाग बहुत बड़ा है। यदि दो भागों में विभक्त हो जाता, तो कुछ भी हानि न थी। इस सातवें भाग में, अन्य भागों से बचे हुए ४० रोगों (जैसे मूर्च्छा, उन्माद, मृगी, हिस्टीरिया, वातरोग, लकवा, रक्तवात, वातरक्त, आमवात, गुल्म, प्लीहा, यकृत, हृदय-रोग, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, शरीर की अनुचित मुटाई और दुबलापन, उदररोग, सूजन, हाथीपाँव, गंडमाला, बेघा, नासूर, भगंदर, भग्नरोग, कोढ़, दाद, खुजली, विसर्प, नहरू, शिरोरोग, नेत्ररोग, कर्णरोग तथा मुँह-रोग आदि) का वर्णन है। इन रोगों के वर्णन में लेखक ने आयुर्वेद के ही प्रमाण दिए हैं, डाक्टरी की शरण नहीं ली। निदान लिखते समय भी सावधानी से काम लिया गया है। प्रत्येक रोग पर अनेक उत्तमोत्तम नुसखे भी दे दिए हैं।

जिन आयुर्वेद जाननेवाले लोगों ने सातों भाग ध्यान-पूर्वक पढ़े हैं, उन्हें प्लेग तथा यक्ष्मा आदि रोगों का वर्णन न मिला होगा। अपने आयुर्वेद में प्लेग का वर्णन है भी नहीं। लेकिन इस नए युग के इस भयंकर रोग के संबंध में बड़े-बड़े वैद्यों तथा कविराजों ने काफ़ी लिखा और कहा है। यदि इस संबंध में निदान तथा चिकित्सा-संबंधी साहित्य का संचय करके प्लेग पर भी लेखक महोदय अगले संस्करण में कुछ जोड़ सकें, तो अच्छा हो। अंत में हम लेखक महोदय को उनकी इस सफलता पर हार्दिक बधाई देते हैं।

रामेश्वर मिश्र

× × ×

३. साहित्य

पूर्ण-संग्रह (राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' की कवितावली)—संग्रहकर्ता, लक्ष्मीकांत त्रिपाठी एम्० ए०। प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ। मूल्य १॥)

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' कानपुर के एक उत्कृष्ट और प्रभाव-शाली कवि थे। आप वैसे तो वकील थे; लेकिन अपना बहुत-सा समय कविता की सेवा में भी लगाते थे। आपकी सच्ची साहित्य-सेवा का सिक्का सभी हिंदी-प्रेमियों के हृदयों पर अंकित है। इस पुस्तक में आपकी कविताओं का संग्रह है। कोई ऐसा विषय नहीं, जिस पर आपने सरस कविता न की हो। संग्रहकर्ता ने आपकी कविताओं को इन पाँच विभागों में विभक्त किया है—

१. ईश्वर-प्रार्थना,
२. प्रकृति सौंदर्य-वर्णन,
३. भक्ति और वेदांत-विषयक,
४. देशभक्ति, स्वदेशी और राजभक्ति,
५. विविध विषय।

देखिए, बसंत-वर्णन में आप कहते हैं—

बाटिका-बिपिन लागे छावन रँगीली छटा,
　　छिति से सिसिर को कसाला भयो न्यारो है;
कूजन किलोल सों लगे हैं कुल पछिन के,
　　'पूरन' समीरन सुगंध को पसारो है।
लागत बसंत नव संत मन जागो मैन,
　　दैन दुख लागो बिरहीन बरियारो है;
सुमन-निकुंजन में, कंजन के पुंजन में,
　　गुंजन मलिंदन को बृंद मतवारो है।

कैसी अच्छी कविता है!

ब्रह्मज्ञान की झलक भी देखिए—

बानी में अनल है के, इंद्र है के हाथन में,
　　बिष्णु है के पावन में, सत्ता को बिभास है;
जनन में प्रजापति, अधो माँहि मृत्यु सोई,
　　बोलै, गहै, चलै, रमै, त्यागै अनायास है।
स्रवन दिसान को, पौन को त्वचा में बल,
　　नैनन में सूरज के बल सों प्रकास है;
सोई है बरुन रसना में बस्यो 'पूरन' है,
　　सोई पृथिवी है करै नासा माहिं बास है।

आपकी देशभक्ति की कविता का नमूना भी पढ़िए—

देशों की घुड़दौड़ कहो, या कहो कबड्डी;
रहे मीर तुम सदा; किंतु अब हुए फिसड्डी।
नहीं अभी कुछ गया, बढ़ाओ अब भी साहस;
लो बढ़कर मैदान, पास आवे मत आलस।
निज तन, मन, धन, अर्पण करो, बस, फिर बेड़ा पार है;
उद्योग तुम्हारे हाथ है, फलदाता करतार है।

पुस्तक में एक-से-एक बढ़कर कविता है। पढ़ते ही बनता है। पुस्तक ३१२ पृष्ठों की है, और बड़ी सावधानी से छापी गई है। इसे सभी पुस्तकालयों और हिंदी-प्रेमियों के घरों में स्थान मिलना चाहिए।

कसोमल

× × ×

पंचवटी—लेखक, श्रीमैथिलीशरण गुप्त ; प्रकाशक, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी) ; मूल्य ।=) ; पृष्ठ-संख्या ६६ ; छपाई, सफाई अच्छी ।

प्रस्तुत पुस्तक १२७ पद्यों का एक खंड-काव्य है । इसमें राम वन-वास के समय शूर्पणखा की नाक काटने की कथा का वर्णन है । हमें आशा थी कि इस पंचवटी में गुप्तजी ने वस्तुतः प्रकृति का पर्यवेक्षण किया होगा ; पर वह सौंदर्य तो बहुत कम इसमें दिखाई दिया । हाँ, कथानक स्वल्प होने पर भी बढ़ा दिया गया है । उसमें भी गुप्तजी ने कुछ फेरफार कर दिया है । फल-स्वरूप कार्य-कारण-संबंध ही मिट गया है । वाल्मीकिजी और गो० तुलसीदास ने भी पंचवटी का वर्णन किया है । कालिदास ने भी अपने 'रघुवंश' में इस पर प्रकाश डाला है । पर पुस्तक पढ़ने से ज्ञात हुआ कि गुप्तजी के सामने शूर्पणखा की नाक कटा देना ही इस पुस्तक के कथानक का ध्येय था ।

फिर भी खड़ी बोली में जो नवीनता आ सकती है, उसमें गुप्तजी ने कोई कसर नहीं रक्खी । हमारा ख़याल है, गुप्तजी की कविता के शब्दों में साधारणतः प्रसाद-गुण रहा करता है । इसीलिये उनकी कविताएँ प्रायः रोचक और कंठस्थ भी हो जाती हैं । पर इस दृष्टि से भी उनकी यह 'पंचवटी' उन्हीं के 'जयद्रथ-वध' और 'रंग में भंग' को नहीं पाती ।

हमारे यहाँ एक बालक ने भी यह पुस्तक पढ़ी है । हमने उससे जब पूछा कि तुम्हें कौन-सा छंद सबसे अच्छा मालूम हुआ, तो उसने छंद तो न बताया, एक पंक्ति बतलाई—

"जाग रहा यह कौन धनुर्द्धर जब कि भुवन-भर सोता है"

सचमुच बहुत अच्छी पंक्ति है । पंचवटी का तत्त्व वास्तव में इसी पंक्ति में भरा है । सुषुप्ति पर जागृति की, वासना पर वैराग्य की और पापाचार पर सदाचार की विजय ही 'पंचवटी' का सारांश है । कवि ने इसी का चित्र खींचा है । किंतु खड़ी बोली की दृष्टि से इसकी भाषा में कुछ दूषण आ गए हैं । नीचे-लिखे पद्य उदाहरणार्थ दिए जाते हैं—

हमको तो मानो वन में ही है विश्वानुकूल्य (?) रक्खा ।

* * *

प्रेमपिपासु किसी कांता के तपरकूप यदि खनते हो ।

* * *

यों अनुरक्ता हुई आर्य पर जब अन्याय बढ़ाया तुम ।

* * *

संध्या के उपरांत नर्मदा का विकृतावर्तन देखा था ।

व्याकरण-संबंधी दो-एक भद्दे प्रयोग भी देखिए—

पर किस मन से वरूँ किसी को ? मन तो तुमने हरा गया ।

* * *

कह सकते हो तुम कि चंद्र का कौन दोष जो ठगा चकोर ?

एक ही पंक्ति में एक ही शब्द का एक ही अर्थ में दो बार आना पुनरुक्ति दोष है, जैसे इस पंक्ति में मन शब्द आया है । इसी प्रकार बाधा-शब्द का एक पद्य में कई बार प्रयोग हुआ है । पुनः स्त्रीलिंग विशेषण हमारी समझ में मात्रा और पाद-पूर्ति के लिये ही ज़्यादा हैं । अनुरक्ता, स्वगुण-गर्जनी, अधरस्थिता तर्जनी, मान्या, वदान्या, हास्यवदनी (हास्यवदना), विलक्षणी, कुटिला, अंबरस्था, उदा आदि प्रयोग हमारी दृष्टि में भद्दे हैं । 'अवलोकन' और 'अवहेला' शब्दों का लोभ गुप्तजी यहाँ भी नहीं संवरण कर सके, यद्यपि इन्हीं पर, उन्हीं की एक पुस्तक की समालोचना में, बहुत वाद-विवाद हो चुका है । हमारी दृष्टि में भी ये प्रयोग कुछ भद्दे-से हैं । 'झीम रहे हैं' प्रयोग भी अशुद्ध है । 'ठौर'-शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में कभी होते नहीं देखा । गुप्तजी 'अपनी ठौर' लिखते हैं, कहीं 'मूरत' तथा कहीं 'मूर्ति' ।

'अधर-दंशन', 'प्रकोष्ठ' तथा 'परिवेषण' आदि शब्द कर्ण-कटु भी हैं । पंचवटी में तो प्राकृतिक माधुर्य का मंद प्रवाह मिलना चाहिए, इन गड़े और अनगढ़े कंकड़ों की क्या ज़रूरत ? नीचे इसी पुस्तक की कुछ पंक्तियाँ और उद्धृत करते हैं । इन पंक्तियों में काव्य-चमत्कार के साथ भावों का आनंद लीजिए—

किंतु राम की उज्ज्वल आँखें सकल सीपियाँ भर आईं ।

* * *

किस व्रत में है व्रती वीर यह निद्रा का यों त्याग किए ;
राजभोग्य के योग्य विपिन में बैठा आज विराग लिए ।

* * *

है बिखेर देती वसुधरा मोती सबके सोने पर ;
रवि बटोर लेता है उनको सदा सबेरा होने पर ।

* * *

करते हैं हम पतित जनों में बहुधा पशुता का आरोप ;
करता है पशुवर्ग किंतु क्या निज निसर्ग-नियमों का लोप ?

* * *

इन्हें समाज नीच कहता है, पर हैं ये भी तो प्राणी ;
इनमें भी मन और भाव हैं, किंतु नहीं वैसी वाणी ।

*   *   *

मनः प्रसाद चाहिए केवल, क्या कुटीर फिर क्या प्रासाद ।

*   *   *

रत्नाभरण भरे अंगों पर ऐसे सुंदर लगते थे ;
ज्यों प्रफुल्ल बल्ली पर सौ-सौ जुगनू जगमग करते थे ।
आत्मवंचना करती है तू किस प्रतीति के धोखे से ?
झाँक न झंझा के झोंके में झुककर खुले झरोखे से ।
शांति नहीं देगी तुझको यह, मृगतृष्णा करती है क्रांति ;
सावधान हो मेरे मन तू, छोड़ भावना की यह भ्रांति ।

*   *   *

इसी समय पौ फटी पूर्व में पलटा प्रकृति-नटी का रंग :
किरण कंटकों से श्यामांबर फटा, दिवा के दमके अंग ।
कुछ-कुछ अरुण सुनहली कुछ-कुछ प्राची की अब भूषा थी ,
पंचवटी की कुटी खोलकर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी ?

*   *   *

विकस उठीं कलियाँ डालों में निरख मैथिली की मुसकान ।

*   *   *

बाह्य सृष्टि-सुंदरता है क्या भीतर से ऐसी ही हाय !

*   *   *

इत्यादि । सबसे अच्छा शूर्पणखा का रूप-परिवर्तन दिखाया गया है । स्थानाभाव के कारण उसकी पंक्तियाँ नहीं दी जातीं ।

पुस्तक कान्यकुब्ज-कुल-भूषण राजा श्रीकृष्णदत्तजी दुबे को समर्पित हुई है । आशा है, हिंदी-संसार गुप्तजी की अन्य रचनाओं की भाँति इसका भी आदर करेगा ।

×   ×   ×

स्वदेश-संगीत—लेखक, श्रीमैथिलीशरण गुप्त ; प्रकाशक, साहित्यसदन, चिरगाँव (झाँसी) ; मूल्य ॥) ; पृष्ठ-संख्या १३६ ।

यह गुप्तजी की 'स्वदेश-संबंधिनी' कविताओं का संग्रह है । कुल १३६ विषयों पर फुटकल कविताएँ हैं । इनमें से अधिकांश भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं । किंतु कुछ पहले की अप्रकाशित भी हैं । समय-समय पर लिखी जाने के कारण सचमुच इनका ऐतिहासिक महत्त्व भी है । संग्रह संग्रह करने योग्य है । गुप्तजी-सरीखे राष्ट्रीय कवि की स्वदेश-प्रेम-पूरित कविताएँ एकत्र करने के लिये प्रकाशक महाशय को अनेक धन्यवाद ।

मातादीन शुक्ल

×   ×   ×

अधिकार—लेखक, श्रीयुत 'पराग' एम्० ए० ; प्रकाशक, हिंदी ग्रंथ-भंडार, बनारस; पृष्ठ-संख्या ४०; मूल्य ।)

इसमें हृदय की स्वतंत्रता को लेकर एक दुःखांत दृश्य दिखलाया गया है । पिता का पुत्र को दूसरा ब्याह करने के लिये विवश करना कहाँ तक उचित हुआ, यह प्रश्न विचारणीय है ।

जगदंबाशरण दो कर्तव्यों के बीच धर्म-संकट में पड़ गए, इसमें संदेह नहीं । पर यदि वह कुछ और दृढ़ता से काम लेते, तो शायद पिता को अपने पक्ष में कर सकते और विमला का अधिकार न कुचला जाता । विमला चाहती, तो भारतीय रमणियों के 'आदर्श त्याग' और 'प्रेम' का अमृत पीकर धन्य हो जाती, और परिवार को सुखी बनाने का भी श्रेय पा सकती । पर दुर्भाग्य से उसने दूसरा ही मार्ग पकड़ा । एक निरपराध बालिका को उसकी भीषण प्रतिहिंसा का लक्ष्य होना पड़ा ।

इस दुःखांत नाटक-कथानक के भीतर मथुरानाथ का चरित्र निंदनीय है । उनके पुत्र यदुनाथ के प्रति किसी भी पाठक की सहानुभूति हो सकती है ।

×   ×   ×

कश्मीर छटा—लेखक और प्रकाशक, कर्नल विश्वनाथ उपाध्याय; मगध गोवर्द्धन, काशी ; मूल्य ।); पृष्ठ-संख्या ४८ ।

इस पुस्तक के प्रथम २० पृष्ठों में लेखक ने आत्म-परिचय दिया है । आगे कविता में कश्मीर की छटा का वर्णन है । 'श्रीअमरनाथ की यात्रा' अच्छी लिखी गई है । आरंभ और अंत में नर-काव्य किया गया है । यह पुस्तक कश्मीर-नरेश महाराजा श्रीहरिसिंह बहादुर के तिल-कोत्सव के उपलक्ष्य में लिखी गई और उन्हीं को अर्पित हुई है ।

मुकुटधर

×   ×   ×

४. गुजराती

प्राकृत-व्याकरण—रचयिता, पंडित बेचरदासजी दोशी ; गुजरात-पुरातत्त्व-ग्रंथावली का १५वाँ ग्रंथ ; पृष्ठ-संख्या ४४३ ; मूल्य ४)

गुजरात-पुरातत्त्व-मंदिर पिछले तीन वर्षों से काम कर रहा है। इस थोड़े ही समय में इसने देश की अमूल्य सेवा की है। जैन और बौद्ध वाङ्मय के अभ्यास की नींव जो डाली गई है, वह यथासमय देश की लुप्तप्राय प्रणाली को फिर से आग्रत करेगी। भारत की संस्कृति में बौद्धों और जैनों का जो भाग है, उससे आधुनिक शिक्षित समाज प्रायः अपरिचित ही है। पुरातत्त्व-मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रंथावली में कई पुस्तकें छप चुकी हैं, जो अपने ढंग की बिलकुल निराली और अद्वितीय हैं। जैसे आचार्य धर्मानंद 'कौशांबी' कृत बुद्ध-लीला-सार संग्रह, और 'बौद्धसंघनो परिचय'। पं० बेचरदास प्राकृत के एक निष्णात अभ्यासी हैं। प्रस्तुत ग्रंथ उनकी लगभग १२ वर्ष पूर्व लिखित 'प्राकृत मार्गोपदेशिका' नाम की पुस्तक का विस्तृत संस्करण है। अब देवनागरी-लिपि में छप जाने से साधारणतः हिंदी जाननेवाले भी इससे फ़ायदा उठा सकते हैं। देश में पुरानी विद्या उठ जाने के कारण प्राकृत का अभ्यास कम हो गया, यद्यपि प्राकृत का ज्ञान संस्कृत एवं भाषा-साहित्य के यथार्थ अभ्यास के लिये बहुत ही आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध, जैन एवं पाली-साहित्य का साथ ही छूट गया, और भूतपूर्व संस्कृति की परंपरा विच्छिन्न हो गई। गांधीजी द्वारा स्थापित पुरातत्त्व-मंदिर इस टूटी हुई परंपरा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास कर रहा है। यह सर्वथा उचित ही है।

पंडितजी का यह सरल और सुबोध व्याकरण बिलकुल नए ढंग से लिखा गया है, और इसमें सब प्राकृतों का विवरण है। प्राकृत का प्रधान ग्रंथ जैनाचार्य हेमचंद्र का है। वह अभी तक अपने विषय का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। उसी के आधार पर दोशीजी ने अपना व्याकरण लिखा है। दोशीजी-जैसे विद्वान् की कृति में त्रुटि दिखाना हमारी शक्ति के बाहर है। हम तो यही चाहते हैं कि हिंदी में भी इस ग्रंथ का अनुवाद हो। नागरीप्रचारिणी-सभा या काशी विश्व-विद्यालय को यह काम हाथ में लेना चाहिए। हिंदी में तो प्राकृत-कोष भी मौजूद है। पं० हरगोविंददास-त्रिकमचंद सेठ ने, कुछ अर्सा हुआ, अपने "पाइअसद्दमहण्णवो" (प्राकृत शब्द-महार्णव) का प्रथम खंड प्रकाशित कराया था। प्राकृत के अभ्यासी अपने यहाँ बहुत ही कम हैं। इसलिये हम लोगों को चाहिए कि जो थोड़े-बहुत विद्वान् हैं, उनकी कृतियों को अपनावें और उनको सहायता दें। प्राकृत के पूर्ण अभ्यास के बिना भाषा-कोष का बनना भी तो कठिन है।

× × ×

प्रीतमदासनी वाणी—प्रकाशक, सस्तु साहित्यवर्द्धक कार्यालय, अहमदाबाद; पृष्ठ-संख्या ४२०; मूल्य १)

हिंदोस्तान के धार्मिक जीवन में १४वीं शताब्दी से क्रांति का आरंभ हुआ। भक्ति-भाव की जो लहरें उठीं, उनकी समाप्ति १६वीं शताब्दी के मध्य तक नहीं हुई। इसका प्रभाव गुजरात पर भी पड़ा, और वहाँ भी कई भक्ति-प्रधान कवि हुए। इनमें प्रीतमदास का स्थान बहुत ऊँचा है। इनका जन्म वि० सं० १७८० के लगभग हुआ, और मृत्यु सं० १८५४ में। गुजरात में लोग इनके कई भजनों को बड़े भाव से गाते हैं, इनके ग्रंथ पूजे जाते हैं, और इनकी शिष्य-परंपरा जारी है। जैसे बाबा मलूकदास का स्थान हिंदी में है, वैसे ही प्रीतम का गुजराती वाङ्मय में आदर है। ऐसे भक्त कवि की वाणी का संग्रह प्रशंसनीय है, और सस्तुं साहित्यवर्द्धक कार्यालय को हम इसके लिये बधाई देते हैं।

एन्० सी० मेहता

× × ×

श्रीभक्तचरित्र अथवा भक्तिरसामृत, भाग १—अनुवादक, मडीच-निवासी मगनलाल-हरिकृष्ण महता; संपादक, भिक्षु अखंडानंद। प्रकाशक, सस्तु साहित्यवर्द्धक कार्यालय, अहमदाबाद। पृष्ठ-संख्या (५"×८") ८०८; मूल्य १) ; जिल्ददार १।)

सस्तु साहित्यवर्द्धक कार्यालय ने वर्तमान गुजराती-साहित्य की अच्छी श्री-वृद्धि की है। नाभादासजी-कृत भक्तमाल की तरह उत्कल-प्रांत में उड़िया भाषा के भक्तिरसामृत का भी अच्छा प्रचार है। समालोच्य पुस्तक इसी 'भक्तिरसामृत' के बँगला-भाषांतर का स्वतंत्र अनुवाद है। इसमें २१ भक्तों का चरित्र वर्णन किया गया है। प्रत्येक चरित्र मनोहर कहानियों की तरह सरस एवं सुपाठ्य है।

× × ×

छोटमनी वाणी (ग्रंथ पहला, भाग १-८)—संपादक, भिक्षु अखंडानंद; प्रकाशक, सस्तु साहित्यवर्द्धक कार्यालय, अहमदाबाद; पृष्ठ-संख्या (५"×८") ७६४; मूल्य ॥।); जिल्ददार १)

इस पुस्तक में भक्तवर छोटम कवि की ज्ञान-भक्तिमयी कविता का संग्रह है। हिंदी में जिस प्रकार कबीर, दादू आदि की 'बानी' प्रचलित है, उसी प्रकार गुजरात में नरसी, अखो, प्रीतम, भोज, छोटम आदि के वचन लोकप्रिय हैं। इस संग्रह का एक चतुर्थांश हिंदी-भाषा में है। वास्तव में गुजरात-प्रांत ने दयाराम, मुक्तानंद, ब्रह्मानंद आदि अनेक हिंदी-कवियों को जन्म देकर व्रजभाषा के धार्मिक साहित्य की अच्छी श्री-वृद्धि की है। पुस्तक का संपादन तथा संशोधन योग्यता से हुआ है। आशा है, इसके अन्य भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होंगे। यदि हिंदी-भाषा के पद देवनागरी अक्षरों में छपे होते, तो अधिक शुद्ध हो जाते, और ग्रंथ का वास्तविक महत्त्व गुजरात के इतर प्रांतों में भी बढ़ जाता। महात्मा छोटम-कृत हिंदी-कविता का एक उदाहरण दिया जाता है, जिससे हिंदी-भाषा-भाषियों को उनकी काव्य-शक्ति तथा शब्द-योजना का समुचित परिचय हो जायगा —

राग सदर

झूठा सब जगत तमासा है।
मृग-जल-पूर्ण भरोसा दीसे, पावत दौरत प्यासा है;
बाजीगर ने बाग बनाया, फूल और फल खासा है।
एक घड़ी पीछे धूरि उड़ावे, ऐसा सकल बिलासा है;
जवरा* माहि सब-सग मानो, पावत मन मे त्रासा है।
अंधकार दुख देवत जन को, भानु उदय नहिं भासा है;
कहि 'छोटम' परब्रह्म-प्रकासा, छूट गया भव-पासा है।

× × ×

देवांगना (नाटक)—रचयिता, श्रीयुत मारकंडरतनलाल घोलकिया एल० सी० इ०, पृष्ठ-संख्या १०८; मूल्य ॥)

यह गुजराती-भाषा का मौलिक नाटक है। लेखक ने नाटक को रोचक बनाने के लिये व्याकरण तथा पिंगल के जटिल नियमों का पालन करने में अपनी भावुकतामय स्वतंत्रता का आश्रय लिया है, और वह इस कार्य में कुछ सफल भी हुए हैं। कथानक अभी अपूर्ण है। इसका उत्तरार्द्ध भी शीघ्र ही प्रकाशित होना चाहिए। कवि-हृदय-जनित विचारों की कोमलता तथा भावुकता का परिचय इस ग्रंथ में अनेक स्थलों पर मिलता है। छपाई में अशुद्धियाँ बहुत हैं। आशा है, आगामी संस्करण में विशेष सावधानी से काम लिया जायगा।

× × ×

लाल चीन याने कपटीना कारस्थान (लालचीन अर्थात् कपटी की कारस्तानी)—अनुवादक, श्रीयुत धीरजलाल-अमृतलाल भट्ट; प्रकाशक, मेसर्स वर्द्धमान ऐंड सस पायधुनी, बबई; पृष्ठ-संख्या २८०; मूल्य ३)

यह ऐतिहासिक उपन्यास काशी-नागरीप्रचारिणी-सभा का 'मनोरंजन-पुस्तकमाला' में प्रकाशित श्रीव्रजनंदनसहाय-कृत 'लाल चीन' का स्वतंत्र अनुवाद है। इस कारण हिंदी-प्रेमियों को इसके कथानक का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। अनुवाद अच्छा हुआ है। यह उपन्यास 'चाँदनी' के ग्राहकों को भेट में दिया जाता है।

× × ×

चाँदनी—संपादक, नागरदास भाई पटेल। व्यवस्थापक, वर्द्धमान ऐंड सस; वार्षिक मूल्य ४)

यह एक मनोरंजक गल्पों तथा कहानियों की मासिक पत्रिका है। हमारे सामने पहले वर्ष का चौथा अंक है। गल्पों का संग्रह अच्छा है। अंत में कुछ जानने-योग्य बातें भी लिखी हैं, जिनसे जनसाधारण की विविध विषयों की जानकारी बढ़ सकती है।

भवानीशंकर याज्ञिक

× × ×

५. छोटी किताबें

कानपुर-कांग्रेस-गाइड—लेखक, श्रीयुत उदयनारायण वाजपेयी; प्रकाशक, स्वागत-समिति, ४०वीं भारतीय राष्ट्रीय महासभा, कानपुर। मूल्य ।≈)

यह 'गाइड' वास्तव में कानपुर में कांग्रेस के अवसर पर उपस्थित होनेवाले सज्जनों की सुविधा के लिये तैयार की गई थी। पर इसके भीतर कानपुर का कुछ इतिहास भी मिलता है। सचित्र भी है। कानपुर से अपरिचित यात्रियों के लिये तो किसी भी समय यह काम दे सकती है।

× × ×

विवाह दिग्दर्शन—लेखक, पं० रामशर्मा कौत्स, अजमेर; आकार २०×२६, १६ पेजी; कागज़ साधारण, छपाई स्वच्छ; पृ० सं० ७८; मूल्य ।); पं० रामजी त्रिपाठी, सराफापोल, अजमेर से प्राप्त।

* रस्सी।

पुस्तक का वर्णनीय विषय उसके नाम ही से स्पष्ट है। सनातनधर्म के सिद्धांतों को लक्ष्य में रखकर पुस्तक लिखी गई है।

× × ×

झाँसी की रानी—लेखक, सीतानाथ शर्मा बी० ए०। प्रकाशक, सैनिक पुस्तक-भंडार, आगरा। मूल्य ≈)

इसमें झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई का संक्षिप्त चरित्र दिया गया है। झाँसी की रानी का स्मारक भी शायद बन गया है। पाठक इस छोटी-सी पुस्तिका से उनका परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

× × ×

गुलाल—लेखक, लतीफहुसैन "नटवर"। प्रकाशक, मिलन-मंदिर, मुज़फ्फरनगर। मूल्य ≡) ; पृष्ठ-संख्या २८।

इस पुस्तक में नटवरजी की कुछ कविताओं का संग्रह किया गया है। कविताएँ बेशक अच्छी हैं।

× × ×

पीयूषधारा-प्रताप—लेखक, पं० गुरुदत्तजी शर्मा। प्रकाशक, बाबू लालसिंह वर्मा, अध्यक्ष पीयूषधारा मेडिकल हाल, जम्हौर, गया। मूल्य ≈)

यह 'पीयूषधारा' का विज्ञापन है, जो कहानी के रूप में लिखा गया है। छोटी-सी आख्यायिका ही बन गई है। विज्ञापन का यह ढंग हिंदी में नया है।

× × ×

मन-बहलाव—लेखक, गोविंदहरि। प्रकाशक, हितैषी-कार्यालय, श्रीसिद्धाश्रम, आगरा ; मूल्य –)

लेखक ने यह पुस्तिका कलकत्ते के मारवाड़ी-अस्पताल में लिखी थी। दस-पाँच कविताओं का संग्रह है। कविताएँ साधारण हैं।

× × ×

अद्भुत चित्र—लेखक, श्रीयुत नाथूलाल प्रेमी, पोस्ट चौमूँ, जिला जयपुर। मूल्य, माधुरी के ग्राहकों से ı)॥

प्रेषक की सम्मति में इस चित्र में १५ नर-मुंड प्रच्छन्न हैं। उनका ढूँढ़ना बुद्धि का काम है।

× × ×

जाट-सुधार—लेखक, कुँअर रतनसिंह, भरतपुर-हाउस, मेयो-कॉलिज, अजमेर। मूल्य ı)

पुष्कर (अजमेर) में कभी अखिल भारतवर्षीय जाट-विद्यार्थी परिषद् हुई थी। लेखक महाशय उसकी स्वागत-कारिणी समिति के प्रधान थे। यह पुस्तक उन्हीं की लिखी है। विषय नाम से स्पष्ट है।

× × ×

हमारा मन—लेखक, मुंशी गिरिधारीलाल सक्सेना। प्रकाशक, लाला सद्गुरुदयालशरणजी निगम, नं० ५ गंगा-प्रसाद-रोड, लखनऊ। मूल्य ı)

लेखक के कथनानुसार यह मानसिक दशाओं को प्रकट करनेवाली शांतिदायक पुस्तक है। नाम से तो जान पड़ता है, कोई मनोवैज्ञानिक पुस्तक होगी ; पर ऐसी बात नहीं है। इसमें एक कहानी और कुछ ग़ज़लों तथा प्रभातियों का संग्रह है।

× × ×

छात्रोपहार—लेखक, युधिष्ठिरप्रसाद सिंहानिया और श्रीगोपाल नेवटिया, स्वदेश-सभा, फतेहपुर (जयपुर)। मूल्य ≈)

इस पुस्तिका में विद्यार्थियों का कर्तव्य-मार्ग सुझाया गया है। केवल शुष्क उपदेश है। कहना चाहिए कि छात्रोपयोगी कुछ साधारण निबंधों का संग्रह है।

× × ×

कलंक-मार्जनम्—रचयिता, पं० बालचंद्र शास्त्री विद्या-वाचस्पति, नागपुर। मूल्य कुछ लिखा नहीं।

इसमें मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्रजी के दिव्य चरित्र पर आरोपित दोषों का शास्त्रीय आधार पर परिहार किया गया है। इसीलिये शायद इसका नाम 'कलंक-मार्जनम्' है।

× × ×

कार्य-विवरण—प्रकाशक, उपसमिति, स्वागत-कारिणी सभा, देहरादून। मूल्य ?)

देहरादून में जो १५वाँ हिंदी-साहित्य-सम्मेलन हुआ था, उसी का यह कार्य-विवरण है। रिपोर्ट के साथ-साथ कुछ समस्या-पूर्तियों और कविताओं का संग्रह भी है।

× × ×

मानस-पीयूष—संपादक और प्रकाशक, शीतलासहाय सावंत बी० ए०, एल्-एल्० बी०, अयोध्या। वार्षिक मूल्य ३)

यह एक प्रकार का मासिक पत्र और पुस्तक, दोनो ही है। श्रीरामचरितमानस पर "विशद-भाव-समन्वित तिलक" इसमें प्रकाशित होते हैं। राम-भक्तों के काम की चीज़ है। साहित्य-प्रेमी भी चाहें, तो लाभ उठा सकते हैं।

× × ×

कलकत्ता रहस्य—लेखक, "पोलखोलानंद"; प्रकाशक, नदे एंड कंपनी, ६५-५ कॉलिज स्ट्रीट, कलकत्ता : मूल्य ॥=)

'रहस्य-माला' की यह पहली पुस्तक है, और जहाँ से निकली है, वहीं से यह रहस्य शुरू हुआ है। लिखने का ढंग रोचक है। कलकत्ता-नगर का संक्षिप्त वर्णन देकर आगे सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

× × ×

मस्त-महाभारत (भीष्म-प्रतिज्ञा)—लेखक, लाला धनीरामजी गुप्त "मस्त कवि"। प्रकाशक, मस्त-कार्यालय, पोस्ट फुलेरा, जिला जयपुर। मूल्य =)

जान पड़ता है, 'मस्तजी' कोई दूसरा 'महाभारत' लिख रहे हैं। उसी का यह पहला अध्याय है। पर कविता निष्प्राण है। अपनी-अपनी धुन तो है।

× × ×

कविवर नंददास-कृत रुक्मिणी-मंगल—प्रकाशक, काशीनाथ वैश्य, लश्कर। मूल्य लिखा नहीं।

पुस्तिका का विषय नाम से स्पष्ट है। कदाचित् प्रकाशक महोदय इसे मुफ़्त बाँटते हैं।

× × ×

महर्षि का बलिदान—लेखक और प्रकाशक, मुंशी पुरुषोत्तमप्रसाद गौड़ नय्यर, अजमेर। मूल्य -)

इस पुस्तिका में स्वामी दयानंद के बलिदान का वर्णन किया गया है। स्वामीजी, महाराज जसवंतसिंह और नन्हीं भगतिन उर्फ नन्हींजी के चित्र भी हैं।

× × ×

गांधी-गीता—प्रकाशक, गणपतिचंद्र केला, विजयगढ़ (अलीगढ़)। मूल्य =)

इस पुस्तक में महात्मा गांधी के कुछ आध्यात्मिक विचारों का संग्रह है। यह श्रीनारायण-ग्रंथावली का दूसरा रत्न है।

× × ×

संसार-सार-संग्रह (प्रथम भाग)—प्रकाशक, उपर्युक्त सज्जन। मूल्य =)

यह एक प्रकार से श्लोकों का संग्रह है। अच्छी और संग्रह करने लायक पुस्तक है। यदि यह संग्रह कुछ बड़ा होता, तो और भी अच्छा होता। प्रकाशक इस ओर ध्यान दें।

× × ×

वेदांत-गीतांजलि—प्रकाशक, इंद्रदत्त शुक्ल, अनवरगंज, कानपुर। मूल्य -)

कानपुर-निवासी पं० दुर्गाप्रसाद शुक्ल ने 'राधेश्याम' की ग़ज़लों के तर्ज़ पर जो वेदांत-गीतांजलि लिखी है, उसी का यह 'ज्ञान-कांड' है।

× × ×

सुख-शांति का सच्चा मार्ग—लेखक, देवानंद वानप्रस्थी; प्रकाशक, श्यामलालजी चौधरी, दानापुर। मूल्य प्रेम।

वेद के कुछ मंत्रों का सार्थ संग्रह है। एकआध भजन भी जोड़ दिया गया है।

× × ×

१ शिक्षाशतक, २ कृषक-प्रबोध—लेखक, श्रीलक्ष्मणाचार्य (अनुज)। प्रकाशक, शारदा-सदन मु० नरसिंह देवला, पोस्ट राजगढ़, जिला अमझेरा, मालवा, राज्य ग्वालियर। दोनों की पृष्ठ-संख्या अलग-अलग ३५ तथा मूल्य चार-चार आने; छपाई और कागज़ साधारण; प्रकाशक के पते से प्राप्त।

पुस्तकों का विषय नाम से प्रकट है। पहली में शिक्षापूर्ण १०२ पद्य हैं, जिनमें अधिकांश में पूरी तुकबंदी है। दूसरी में तो तुकबंदी का साम्राज्य और भी प्रबल है। इसमें खेती से संबंध रखनेवाले पद्य हैं। एक नमूने से पाठकगण पद्यों की सरसता का अनुमान कर लेंगे—

चतुर किसानों की त्रिया, ले मजूरनी संग ;
हँस-हँस खेत निरावतीं, रँगी किसानी-रंग।
रँगी किसानी रंग, करों में खुरपी लीने :
अन्न बचाती खोद, घास अति ही चित दीने।

इत्यादि

× × ×

६. पत्र-पत्रिकाएँ

कला-कौशल (मासिक)—संपादक, विद्यार्थी भीमदत्त दीक्षित ; प्रकाशक, गंगाधरजी गुप्त ; वार्षिक मूल्य १।) ; प्राप्ति-स्थान, मूलगंज, कानपुर।

पत्र का विषय नाम से स्पष्ट है। पर अपने नाम को सार्थक करने के लिये बहुत प्रयत्न की ज़रूरत है।

× × ×

आरोग्य-दर्पण (मासिक)—संपादक, भिषग्रत्न वैद्य गोपीनाथ गुप्त ; प्रकाशक, शाह उत्तमचंद-नगीनादास रस-वैद्य, झंझा-आयुर्वेदिक फार्मेसी, रीची रोड, अहमदाबाद ; वार्षिक मूल्य २)

यह वैद्यक-संबंधी मासिक पत्र है; निकलता भी अच्छा ही है। आयुर्वेद-संबंधी कतिपय विषयों पर ही इसमें लेख रहते हैं। अपनाने-योग्य है।

× × ×

हृदय (साप्ताहिक)—संपादक, 'हृदय'; पत्र-व्यवहार का पता—प्रबंधक 'हृदय', मेरठ; वार्षिक मूल्य ३॥)

यह एक नवजात पत्र है। समालोच्य संख्या इसी का 'द्वितीय उद्गार' है। ईश्वर करे, यह एक उच्च कोटि का विचार-पत्र बने। लक्षण तो अच्छे जान पड़ते हैं। हमें आशा है, 'हृदय' भारतवर्ष में सच्चे हृदय उत्पन्न करने का श्रेय प्राप्त करेगा। इस पत्र की छपाई और सफ़ाई भी अच्छी है।

× × ×

आर्य-जीवन (साप्ताहिक)—संपादक, जयदेव विद्यालंकार; वार्षिक मूल्य ३)

यह पत्र बिहार-बंगाल की आर्य-प्रतिनिधि-सभा का मुख-पत्र है, और कलकत्ते से निकलता है। पत्र संप्रदाय-विशेष का है। आशा है, यह पत्र भी अपना विशेष स्थान प्राप्त करेगा।

× × ×

हिंद-हितैषी (पाक्षिक)—संपादक, पं० गोपीनाथ शर्मा चर्लट; प्राप्ति-स्थान, हिंद-हितैषी-आफ़िस, एलिचपुर (बरार); वार्षिक मूल्य १)

यह पत्र भी अभी हाल में निकला है। बहुत ही साधारण श्रेणी का पत्र है। अच्छा हो, यदि इस तरह के पत्र न निकाले जायँ।

× × ×

भारत-पुत्र (पाक्षिक)—संपादक और प्रकाशक, छैल-बिहारीलाल बजाज, हाथरस; वार्षिक मूल्य १)

इस पत्र की अब तक १७ संख्याएँ निकल चुकी हैं। यह भी एक साधारण श्रेणी का पत्र है। उन्नति की काफ़ी गुंजाइश है।

× × ×

महावीर (साप्ताहिक)—संपादक, जगन्नारायणलाल एम० ए०, बी० एल; प्राप्ति-स्थान, मुरादपुर, पटना; वार्षिक मूल्य ३)

इस पत्र में 'संदेश' भी सम्मिलित है। बिहार-प्रांत में कई साप्ताहिक पत्र निकले, और कई अब तक बंद हो चुके। आशा है, बिहारी बंधु इस पत्र को जीवित रखने का प्रयत्न करेंगे। पत्र साधारणतः अच्छा निकलता है, और जान पड़ता है, उन्नति भी करेगा।

× × ×

किसान-केशरी—संपादक, ठाकुर धर्मपालसिंह; प्राप्ति-स्थान, किसान-केशरी-कार्यालय, दरभंगा; वार्षिक मूल्य २)

समालोच्य संख्या के देखने से जान पड़ता है, पत्र का 'जैसा नाम, वैसा काम' नहीं है। 'किसान-केशरी' से किसानों के हित की ही आशा अधिक की जा सकती है।

× × ×

७ प्राप्ति स्वीकार

निम्न-लिखित संस्थाओं से नवीन वर्ष के कैलेंडर हमें प्राप्त हुए हैं। प्रेषकों को धन्यवाद—

महावीर प्रेस, आगरा (अँगरेज़ी का)—इस कैलेंडर में प्रतिदिन की आवश्यक बात नोट कर रखने के लिये भी थोड़ा-सा स्थान है।

गोरक्षण-सभा, नागपुर (मराठी-हिंदी का)—अच्छा और उपयोगी है।

लक्ष्मी-मेडिकल हाल, चौक, लखनऊ (दो प्रकार का और सचित्र)—राधा-कृष्ण का चित्र और संतानवती माता का चित्र, दोनो सुंदर एवं दर्शनीय हैं।

अमृतांजन-डिपो, मदरास—महाराजा का मनोहर चित्र इसकी उपयोगिता और सौंदर्य को दुबाला कर रहा है।

लहरी-बुकडिपो, बनारस—हिंदी, अँगरेज़ी और फ़ारसी, तीनो महीनों की तारीख़ों-समेत होने से सर्वोपयोगी है।

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ—बढ़िया और सुंदर है।

लक्ष्मी-प्रेस, गया—हिंदी में छपा है। अच्छा है।

भोलानाथ-कंपनी, ३० अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ—अच्छा है।

अखिल भारतवर्षीय जाट-विद्यार्थी-परिषद् के छठे वार्षिकोत्सव की स्वागत-समिति के सभापति का भाषण।

कबीर सुषमा—लेखक, हिंदी-साहित्यालंकार हंस-दास; प्रकाशक, भिक्षु दर्शनानंद स्वामी, काशी; मूल्य)॥

श्रीठाकुर रणविजयसिंहजी, प्रधान मंत्री, सीकर-राज्य का भाषण।

अखिल भारतवर्षीय विद्वत्सम्मेलन, अलीगढ़ की नियमावली।

श्रीराजस्थानीय ब्राह्मण-सम्मेलन के तृतीय वर्ष का कार्य-विवरण।

श्रीउदितनारायण-पुस्तकालय (भाँभी, सारन) की नियमावली और प्रथम दशाब्द की रिपोर्ट।

श्रीयुत श्रीरामप्रियाशरणसिंह और श्रीकमलाप्रसादसिंह-लिखित अवधीय सूर्यवंशियों का संक्षिप्त इतिहास।

रायपुर (सी० पी०) के हिंदू अनाथालय की 'सहायतार्थ' अपील।

प्रथम हिंदू-सम्मेलन, ज़िला आज़मगढ़ में ले० राजा दुर्गानारायणसिंह, तिर्वा-नरेश का भाषण।

तृतीय शिक्षा सप्ताह के अवसर पर शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष (जयपुर) की वक्तृता।

श्रीरघुनाथ गोशाला, खनड़ी की अष्टवार्षिक रिपोर्ट।

श्रीशिवप्रसाद टाटिया (सरदार-शहर) लिखित 'जातिच्युत बारहदरी' ; मूल्य ~)

स्वामी मंगलानंदपुरी-लिखित गोरक्षा का मुख्य उपाय ; मूल्य ‌)॥

श्रीभरतमंदिर की संपत्ति और पं० मदनमोहनजी मालवीय का कर्तव्य।

कानपुर के 'प्रेमबंधु' मासिक पत्र की प्रति।

श्रीयुत पंडित कृष्णराव-पूर्णचंद मांडलीक-लिखित 'किसानों की उन्नति तथा ग्राम-संगठन के विषय में एक संस्था का अनुभव।'

श्रीयुत गोपीनाथ, पोस्टल क्लर्क-लिखित 'आरती ध्यानमाला'।

बनारस के डार्विन-पिलग्रिम-ट्रस्ट की १९२५ की रिपोर्ट।

विधवा-विवाह-सहायक सभा, लाहौर की ११वीं रिपोर्ट।

छत्तीसगढ़ी भूतलीला—लेखक तथा प्रकाशक, श्रीयुत बोधीरामजी, डिपटी रेंजर, करतला, रियासत कोरबा, ज़िला बिलासपुर, म० प्र०; मूल्य ।=)

भजन-तरंग (द्वितीय भाग) निर्माता, धनुर्द्धारी रूपसिंह त्रिपाठी, बकेवर-प्रांत, इटावा ; मूल्य ॥।)



इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुबीते के लिये प्रति मास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास नीचे-लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई—

(१) "बिहारी-रत्नाकर-" (बिहारी-सतसई की रत्नाकरी टीका), प्रणेता, बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' बी० ए०। संपादक, श्रीदुलारेलाल भार्गव। मूल्य ४)

(२) "प्रेम-द्वादशी", श्रीयुत प्रेमचंदजी की उत्तमोत्तम बारह कहानियों का संग्रह। संपादक, श्रीदुलारेलाल भार्गव। मूल्य १।), सुनहरी जिल्द १॥।)

(३) "विदेशी विनिमय", श्रीदयाशंकरजी दुबे-लिखित। संपादक, श्रीदुलारेलाल भार्गव। मूल्य १), सजिल्द १॥)

(४) "गुप्त संदेश" (स्त्रियों के लिये उपयोगी), डॉक्टर युद्धवीरसिंहजी-लिखित। मूल्य ॥=)

(५) "लड़कियों का खेल" (बालकोपयोगी), श्रीगिरिजाकुमारजी घोष-लिखित। मूल्य ॥)

(६) "वनिता-विलास" (स्त्रियों के लिये उपयोगी), श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी-लिखित। मूल्य ॥।)

(७) "मानवती अर्थात् चित्तौड़ का शाका", लेखक श्रीयुत शिवव्रतलालजी वर्मन्। मूल्य ।-)

(८) "जया", अर्थात् राजपूतनी का विवाह। लेखक, श्रीयुत शिवव्रतलालजी वर्मन्। मूल्य ।-)

(९) "बाल दुर्गा" (सप्तशती का भाषानुवाद), अनुवादक, श्रीक्षीरोदप्रसादजी विद्याविनोद। मूल्य ॥=)

(१०) "राजा रानी", रविबाबू के नाटक का अनुवाद। अनुवादक, रूपनारायण पांडेय माधुरी-संपादक। मूल्य १॥)

(११) "जख्मी हिंद नाटक", लेखक, श्रीलाला-किशनचंदजी 'ज़ेबा'। मूल्य ॥)

(१२) "वीर वैरागी", द्वितीयावृत्ति। भाई परमानंद-लिखित। मूल्य ॥।=)

(१३) "जनक-नंदिनी", नाटक: श्रीपंडित तुलसीदत्त "शैदा"-लिखित। मूल्य २)

(१४) "वाल्मीकि मुनि का जीवनचरित्र", भाई परमानंद-लिखित। मूल्य ॥।)

(१५) "बालभक्त प्रहलाद" नाटक: श्रीकिशनलाल "ज़ेबा"-लिखित। मूल्य ॥।)

(१६) "हर पार्वती", लेखिका, श्रीमती लक्ष्मीदेवी। मूल्य ॥=)

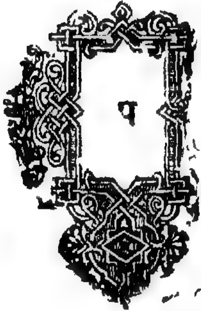
(१७) "पुनर्जन्म", श्रीपंडित नंदकिशोरजी विद्यालंकार-लिखित। मूल्य १।)

(१८) "वासुदेव-श्रीकृष्णचंद्र", लेखक, द्वारकाप्रसाद शर्मा चतुर्वेदी। मूल्य १)

(१९) "रहीम-कवितावली", लेखक, पं० सुरेंद्रनाथ तिवारी। मूल्य ।=)



१. हिंदी-पत्र-संपादक-समिति



पत्र-संपादन की कला बड़ा महत्व रखती है। योरप और अमेरिका में पत्र-संपादक प्रधान मंत्री से भी अधिक प्रभावशाली होते हैं। उनकी लेखनी में वह शक्ति होती है, जो जनता के मत को चाहे जिस ओर फेरकर बड़ी-से-बड़ी राजशक्ति की जड़ हिला सकती है, और उसे सुप्रतिष्ठित भी कर सकती है। वहाँ ऐसे-ऐसे भी संपादक पड़े हैं, जिन्हें अमेरिका के राष्ट्रपति, फ्रांस के व्यवस्थापक, इँगलैंड के प्रधान मंत्री या इटली के सर्वेसर्वा परिचालक डरते हैं, उन्हें अपने अनुकूल अथवा समर्थक बनाए रखने में ही अपनी कुशल समझते हैं। पाश्चात्य देशों के पत्र-संपादक अपना ज़बर्दस्त संगठन रखते हैं, अपार अनुभव रखते हैं, देश-काल का ख़याल रखते हैं, संसार की गति और युग-धर्म की परिणति का ध्यान रखते हैं। इसी कारण वे इस समय इस गौरव के अधिकारी हैं। किंतु जब हम हिंदी के पत्र-संपादकों की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें विवश होकर यही कहना पड़ता है कि इनकी स्थिति दफ़्तर के एक साधारण क्लर्क से भी गई-बीती है। इनके पास न वह विद्या है, न वह बुद्धि है, न वह वैभव है, न वह प्रभाव है, और न वह योग्यता है। यहाँ तक कि ये संघ-शक्ति से भी शून्य हैं। भारत के अँगरेज़ी आदि अन्य भाषाओं के पत्रों के संपादकों ने अपना एसोसिएशन बना रक्खा है, और उसका कार्य अच्छे ढंग से चल रहा है। परंतु हिंदी-पत्र-संपादकों का कोई ऐसा एसोसिएशन अब तक न था, जिसके द्वारा वे संघबद्ध होकर अपनी उन्नति करते। यह बात नहीं है कि कभी ऐसी समिति स्थापित करने की चेष्टा न की गई हो। चेष्टा एकाधिक बार की गई, समिति बन भी गई, पर उसका काम आगे नहीं चल सका, और उसकी अकाल-मृत्यु हो गई। हर्ष की बात है कि अब की बार एक उद्योगी कर्मवीर ने इधर ध्यान देकर संपादक-समिति को पुनरुज्जीवित किया है। शंकर के संपादक पं० नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने गत वर्ष देहरादून में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के साथ ही 'आज'-संपादक श्रीयुत बाबूरावजी पराड़कर की अध्यक्षता में संपादक-समिति का अधिवेशन भी कर डाला था। आपके उद्योग से अब इस समिति के ४८ सभ्य (संपादक) हो गए हैं। इस बार भी भरतपुर में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के साथ ही संपादक-समिति का अधिवेशन होनेवाला है। हम आशा करते हैं, इस बार हिंदी के प्रायः सभी पत्र-संपादक उपस्थित होकर उक्त संपादक-समिति को महत्त्व प्रदान करेंगे। इससे भिन्न भाषाओं के पत्र-

संपादकों की दृष्टि में राष्ट्रभाषा का गौरव बढ़ेगा। यह संपादक-समिति जितनी ही शक्तिशालिनी, प्रभाव-पूर्ण और बहुजनानुमोदित होगी, उतनी ही हिंदी-भाषा की धाक जमेगी, उतना ही भिन्न भाषा-भाषी पत्र-संपादकों की दृष्टि में हिंदी-पत्र-संपादक आदरणीय ठहरेंगे। हिंदी-पत्र-संपादकों को चाहिए कि अपनी समिति को आदर्श रूप से सुसंगठित और सुशृंखला के साथ संचालित करके अपने भिन्न भाषा-भाषी सहयोगियों को यह दिखला दें कि वे काम करना जानते हैं, और जिस भाषा के वे हामी हैं, वह वास्तव में इतनी उन्नति कर चुकी है कि राष्ट्रभाषा कहलाने की पात्रता एकमात्र उसी में है। इस समिति में भूतपूर्व संपादकों को भी सम्मिलित होना चाहिए। नए संपादकों को उनके अमूल्य अनुभव बड़ा लाभ पहुँचावेंगे। अर्से से पत्र-संपादन करनेवाले पुराने प्रवीण संपादक नवीन संपादकों के पथ-प्रदर्शक बनकर, समयानुसार अच्छी सलाह देकर, कर्तव्य की राह में बाधा-विपत्ति के बीच उत्साह के साथ न्याय और सत्य के निर्वाह का उत्साह बढ़ाकर उनको कम-से-कम उस श्रेणी में अवश्य पहुँचा देंगे, जिसमें मनुष्य संपादक-पद को कलंकित नहीं कर सकता, संपादक के पवित्र कर्तव्य का अपमान न कर संपादकों का पथ-प्रदर्शक भी बन सकता है। समय-समय पर उनकी सलाह नवीन संपादकों के बड़े काम की हो सकती है। अस्तु। समिति के पदाधिकारियों का इतना प्रभाव रहना चाहिए कि समग्र हिंदी-पत्र-संपादक उसका नियंत्रण स्वीकार करें। कम-से-कम समिति के सभ्यों को तो समिति की आज्ञा का पालन अवश्य ही करना पड़ेगा। इस बार के सभापतित्व के लिये हम निम्न-लिखित पाँच नाम पेश करते हैं—

महात्मा गांधीजी	हिंदी-नवजीवन-संपादक
पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी	भू० पू० सरस्वती-संपादक
पं० अंबिकाप्रसाद वाजपेयी	स्वतंत्र-संपादक
पं० अमृतलाल चक्रवर्ती	कई पत्रों के भू० पू० संपादक
पं० शिवनाथ शर्मा	आनंद-संपादक

× × ×

२. हिंदी में अन्य भाषाओं के शब्द

हिंदी-भाषा में अनेक भाषाओं की शब्द-संपत्ति आ गई है। हिंदी ने अन्य भाषाओं के शब्दों को ऐसा अपना लिया है कि अब वे उसी के हो गए हैं। शब्द अपना सकने की सामर्थ्य देखकर भाषा की प्रौढ़ता प्रतिपादित होती है। जिस भाषा में जितनी ही अधिक पचाने की शक्ति है, वह उतनी ही अधिक प्रौढ़ है। सुकवि दास ने तुलसी और गंग को सुकवियों का सरदार इसीलिये माना है कि इनकी भाषा में कई प्रकार की भाषाओं का सम्मिश्रण है। यथा—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार ;
इनकी भाषा में मिली भाषा बिबिध प्रकार।

मुसलमानी राजत्व-काल में, हिंदी में फ़ारसी और अरबी के शब्द तो घुस ही आए थे, साथ ही नामों और उपाधियों में भी विदेशी भाषा के शब्दों का भी ख़ासा चलन हो गया था। फ़तेहसिंह, फ़तेहप्रकाश, सरजबख़्शसिंह आदि नामों का चलन हिंदुओं में कम नहीं है। जयपुर के हिंदू-राजा जयसिंह 'मिर्ज़ा राजा' के नाम से प्रसिद्ध थे, और शिवाजी को भूषण कवि ने सरजाह, ग़ाज़ी और बख़्त-बलंद तक कहा है। कहने का तात्पर्य यह कि मुसलमानी राजत्व-काल का—मध्यकालीन युग का—हिंदी-भाषा में पूरा प्रतिबिंब मौजूद है। हिंदी-भाषा में अन्य भाषाओं के शब्दों का निस्संकोच प्रचलन उसकी पाचनशक्ति तथा प्रौढ़ता की स्पष्ट घोषणा है। ख़ैर, समय पाकर विदेशी शब्दों का हिंदी-शब्दों से इतना अधिक हेल-मेल हो गया कि कभी-कभी पद्य का अर्द्ध भाग शुद्ध हिंदी में तो शेषार्द्ध अन्य भाषा की शब्दावली में रचा जाने लगा। और, मज़ा यह कि ऐसी रचनाएँ एक प्रकार से भाषा का भूषण ही समझी गईं। 'भाषा-समक' की गणना अलंकारों में की जाती है। उसके एक छंद का एक पद लीजिए—

"बाकी मरम्मती उल्फ़त में हम हाकिज़ हाय बिकाने परे।"

धीरे-धीरे विदेशी भाषा के शब्दों से प्रेम और सहानुभूति इतनी बढ़ी कि उनका प्रयोग समासों में भी होने लगा। यदि चार पद हिंदी के हैं, तो उन्हीं के साथ एक शब्द विदेशी भाषा का मिलाकर समास करने में हर्ज न समझा जाने लगा। अनुप्रास के लिये तो कविगण ने ऐसे प्रयोग बहुतायत से किए ही हैं, पर यों भी ऐसे प्रयोग बड़े-बड़े कवियों तक को रुचते थे। काशी-नरेश के प्रसिद्ध कवि रघुनाथ ने अपने एक ग्रंथ का नाम 'इश्क़-महोत्सव' रक्खा था। यह प्रवृत्ति आजकल और भी प्रबल हो गई है, और हमें ज़िलाधीश, सिकंदर भाषा, लीडिंग कविता आदि प्रयोग देख पड़ते हैं। उस दिन हिंदी की एक

पत्रिका में एक कवि के 'जीवन-जी अर' के प्रयोग पर एक लेखक का आक्षेप देखकर हमें बड़ा कुतूहल हुआ। लेखक महोदय को ऐसे प्रयोग में बैल-भैंसे का जोड़ा दिखाई पड़ रहा था, तथा क़साई और ब्राह्मण एक पंक्ति में दृष्टिगत हो रहे थे, नहीं जानते, वही लेखक महोदय पुराने ब्रज-भाषा-काव्य में ऐसे हज़ारों जोड़े देखकर क्यों नहीं भय-भीत हुए, और स्वयं उन्हीं ने उसी लेख में 'मिक्‌चर-भाषा' और 'ज्वॉइंग-कविता' लिखकर गैंडा-हिरन का जोड़ा क्यों मिला दिया? जिस प्रकार हिंदी ने विदेशी भाषा के शब्दों से अपना कलेवर पुष्ट किया है, उसी प्रकार उर्दू भी हिंदी-शब्दों से भरपूर लाभान्वित हुई है। इस प्रकार की परस्पर आदान-प्रदान-क्रिया से हिंदी-उर्दू के लाभ के साथ-साथ हिंदू-मुसलमानों के परस्पर द्वेष में भी कमी हुई है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकेगा।

× × ×

३. पावस-प्रमोद

बिहारीलाल के "दीरघ दाघ निदाघ" के बाद पाठकों को प्रमोद-पूर्ण पावस की बधाई है। अब तो चारो ओर हरियाली-ही-हरियाली दिखलाई पड़ रही है, और नदी, तड़ाग, सभी जल से परिपूर्ण हैं। पुरवाई हवा के ठंडे झोंके कभी उग्र रूप धारण करते हैं, तो कभी मद-मस्तानी चाल से अठखेलियाँ करते हैं। आकाश में बादल छाए हैं। आर्द्रता का साम्राज्य है। पृथ्वी भी जल से ओतप्रोत है। अंतरिक्ष का वायु भी जल के संसर्ग से भारी एवं शीतल हो रहा है। प्रकृति प्रसन्न है, और उसकी प्रसन्नता से हमारा अनुमान है कि पुरुष भी आनंद-मग्न है। पशु, पक्षी, सभी प्रसन्न-वदन कलोल कर रहे हैं। यह सब बाह्य प्रसन्नता का प्रदर्शन आंतरिक प्रसन्नता का प्रतिबिंब-मात्र है। आंतरिक प्रसन्नता के कारण आकाश अपना हृदय चीरकर पानी बरसा रहा है, गर्जन कर रहा और चमक दिखला रहा है। इसी भीतरी प्रसन्नता से मेदिनी को हर्ष-रोमांच हो रहा है। उसके शरीर में, जिधर देखो, छोटे-छोटे अंकुर फूट निकलते हैं। वह हरी-भरी हो रही है। इस पावस-प्रमोद में निमग्न होकर ही आज ब्रह्मा ने भी सृजन-कार्य द्विगुणित वेग से आरंभ कर दिया है। कृमि-कीट-पतंग, पशु-पक्षी, सभी चौगुने वेग से बढ़ रहे हैं। विष्णु भी इस वृद्धि को देखकर चुप नहीं हैं। वह भी इन सबके लिये खाद्य सामग्री जुटाने के लिये—उनका पालन करने के लिये कमर कसकर उतर पड़े हैं। नाना प्रकार की वनस्पतियाँ उग आई हैं। फल तैयार हो रहे हैं। खेतों में शस्य लहलहा रहा है। ये सब ब्रह्मा की सृष्टि की रक्षा के उपाय हैं। महेश भी अपने उत्तरदायित्व को समझते हैं। वह ब्रह्मा और विष्णु को मर्यादा के बाहर काम नहीं करने देना चाहते। इसलिये कहीं बढ़िया लाकर हरे-भरे खेतों को उजाड़ रहे हैं, कहीं बीमारी फैलाकर संहार कर रहे हैं, और कहीं उन्हीं को आपस में भक्ष्य-भोक्ता बनाकर अपना काम निकाल रहे हैं। प्रकृति के प्रमोद-पूर्ण पावस का वर्णन कहाँ तक किया जाय। देखिए न—

(१)

लपटि रही है लता तरुन-तमालन सों,
बिटप बिसालन प्रभाव दरसतु है;
सीतल सुखद औ हीतल-हरनहार,
सीतल समीरन सनेह सरसतु है।
कहै "परताप" फल कुसुम कदंबन तें,
झरि-झरि अवनि पराग परसतु है;
उमगि प्रमोद चहु कोद तें अधिक आजु
प्यारे बन-बीथिन बिनोद बरसतु है।

(२)

बादरन आदर दै दादुर मचावैं सोर,
तैसे गिरि सृगन तें मोर मन मोरे देत;
पौन झकझोरन डरे कै चहुँओरन तें,
धुरवा धुरारे सर-सागर हिलोरे देत।
कहै "परताप" निसि-धौस बिरही जन कों,
कौंधि चकचौंधि चित बिज्जुरि बिथोरे देत;
छ्वै-छ्वै छितिमंडल उमडि नभ-मंडल तें,
धाराधर धारन धरनि आज बोरे देत।

× × ×

४. रवींद्रनाथ और म० गांधी

श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर कवि हैं, और श्रीमोहनदास-करमचंद गांधी महात्मा। पर यदि महात्मा गांधी को भी हम कवि मानें, तो कोई आपत्ति नहीं; क्योंकि कविता सत्य, सुंदर और शिव है, और महात्मा गांधी भी वही हैं। वह मूर्तिमान् कवित्व हैं। महात्मा गांधी का समस्त भारतवर्ष में—शिक्षितों और अशिक्षितों में—ख़ूब नाम है। अशिक्षित लोग आज भी उनको अपना त्राता समझते हैं। ठाकुर महोदय की ख्याति अधिकतर शिक्षितों में है।

बंगाल में उनका सबसे अधिक आदर है। महात्मा गांधी का संदेश असहयोग है। यह असहयोग और कुछ नहीं, केवल सत्प्रवृत्तियों का सत्कार और कुप्रवृत्तियों का त्याग है। श्रीरवींद्रनाथजी का संदेश 'विश्व-प्रेम' है। उधर अहमदाबाद में सत्याग्रह-आश्रम स्थापित करके महात्माजी एक बड़े ही दिव्य जीवन की झाँकी दिखला रहे हैं। यह जीवन सत्य से शराबोर है। इसमें तपस्या है, पूरी आत्म-निर्भरता है। यहाँ बुद्धि पर हृदय की विजय है। बोलपुर में ठाकुर महोदय का शांति-निकेतन भी दिव्य है, विचित्र है। यहाँ बुद्धिवाद के ज़ोर से विश्व-प्रेम की शिक्षा दी जाती है। इस निकेतन में बुद्धि-वैभव की घोषणा है, प्राचीन भारत के अध्ययन-जीवन का विज्ञापन है, और विश्व-प्रेम का प्रदर्शन। महात्मा गांधी की दृष्टि में आधुनिक भारत का त्राण खद्दर और चरखे में है। खद्दर और चरखे का आर्थिक महत्त्व उतना नहीं। पर सरल जीवन और सब प्रकार के लोगों की परस्पर सहानुभूति की उपलब्धि करने तथा संयम और अध्यवसाय की शिक्षा के लिये महात्माजी इन दिव्यास्त्रों का अंगीकार अनिवार्य मानते हैं। ठाकुर महोदय का खद्दर और चरखे में बहुत कम विश्वास है। उनका ख़याल है कि भिन्न-भिन्न जातियों के विद्वानों के परस्पर सम्मिलन से—उनके विचारों के आदान-प्रदान से—जिस सहिष्णुता, प्रेम और सहानुभूति का आविर्भाव होता है, भारत का त्राण उसी से संभव है। और कोई उपाय नहीं। भारत के मुसलमान रवींद्रनाथ की अपेक्षा गांधी पर अधिक विश्वास करते हैं। ठाकुर महाशय साहित्य का निर्माण करके उसके द्वारा विचार-क्रांति उत्पन्न करना चाहते हैं। महात्माजी अपने आदर्श पवित्र जीवन से लोगों का हृदय बदलना चाहते हैं। श्रीरवींद्रनाथजी ने जितना साहित्य-निर्माण किया है, श्रीगांधीजी ने उतना नहीं किया। पर सिद्धांत के लिये महात्मा गांधी ने जितना शारीरिक कष्ट झेला है, उसका बहुत थोड़ा भी ठाकुर महोदय को नहीं झेलना पड़ा। भारत-सरकार ने गांधीजी की अपेक्षा रवींद्रनाथजी का सत्कार कहीं अधिक किया है। ठाकुर महोदय धनी पुरुष हैं, और धनी होना वह पाप भी नहीं समझते। गांधीजी निर्द्धन हैं, दरिद्र हैं; पर वह अपनी इस स्थिति से संतुष्ट हैं। उनका ख़याल है कि धनवान् की अपेक्षा निर्द्धन को अधिक सुख है। विदेशों में दोनो का नाम ख़ूब है। साहित्य-जगत् में रवींद्र की पूजा है, तो मनुष्यता, उदारता और उच्च आदर्श के नाते लोग गांधीजी पर तन-मन-धन न्योछावर कर रहे हैं। रवींद्रनाथजी अपने समय के प्रतिनिधि-कवि हैं। इस समय चारों ओर क्या हो रहा है, इसको वह भली भाँति जानते हैं। किंतु गांधीजी भविष्य की पीढ़ियों के पैग़ंबर हैं। उनकी निगाह केवल 'आज' पर नहीं है। वह केवल यह नहीं बतलाते कि इस समय क्या हो रहा है, वरन यह बतलाना अधिक आवश्यक समझते हैं कि क्या होना चाहिए। यदि रवींद्रनाथ भारत के मन हैं, तो गांधीजी उसके प्राण।

× × ×

५. हिंदू-मुसलिम-समस्या

धीरे-धीरे हिंदू-मुसलिम-समस्या जटिलतर होती जाती है। हिंदू-मुसलिम-विरोध के संबंध में इधर कई महत्त्व-पूर्ण घटनाएँ घटी हैं। इनमें कई से स्थिति का सुधार हो सकता है। पर कई ऐसी हैं, जिनमें समस्या और भी उलझ गई है। पबने की बग़ावत, पाटुकपाड़े का दंगा, देवी राजराजेश्वरी के जलूस पर अकारण आक्रमण तथा मोहर्रम के ताजियों के जलूस से संबंध रखनेवाले उपद्रव ऐसे हैं, जो स्थिति को और भी भयंकर करते जा रहे हैं। पबने के आक्रमणों में मुसलमानी गुंडों ने जिस बर्बरता का परिचय दिया है, उसका प्रतीकार सरकार तभी कर सकती है, जब वह इन उपद्रव-कारियों को बिलकुल कुचल दे। देवी राजराजेश्वरी के जलूस पर हमला करके तो मुसलमानों ने ऐंगलो-इंडियन पत्रों—स्टेट्समैन और इँगलिश मैन—का सर्टिफ़िकेट भी हासिल कर लिया है। इन पत्रों की सम्मति में उक्त जलूस के अवसर पर होनेवाले उपद्रवों का सारा उत्तरदायित्व मुसलमानों पर है, हिंदू बिलकुल निर्दोष हैं। कहने का तात्पर्य यह कि धर्मांध गुंडे मुसलमानों के कुकृत्य इसलाम के गौरव को बिगाड़ रहे हैं, तथा उसका भविष्य मलिन होता जा रहा है। किंतु मुसलमानों की इन ज़्यादतियों का उत्तरदायित्व सरकार पर भी है। मसजिदों के सामने जलूस के बाजे रुकवाना न तो न्याय-संगत है, और न युक्ति-पूर्ण। रवाज और क़ानून भी इसके विरुद्ध हैं। फिर भी सरकार ने मुसलमानों को ख़ुश करने के लिये कई जगह मसजिदों के सामने बाजा बंद करने की आज्ञा दे रक्खी है। यह सरासर अन्याय है, ज़्यादती है, ज़ुल्म है। सरकार की इस

अनुचित नीति से मुसलमान गुंडों के हौसले बढ़ गए, और इसी से उपद्रव भी बढ़ रहे हैं। इधर मसजिद के सामने बाजा रोकने में तो सरकार इस नीति को अमल में ला रही है, और उधर दिल्ली की पहाड़ी-धीरजवाली सड़क पर उस ने क़ुरबानी के लिये सजी हुई गाय को घुमाने में मुसलमानों को नहीं रोका, बल्कि मदद की। उसके संबंध में उसने हिंदुओं के विरोध की भी परवा नहीं की। हिंदू-नेता और पत्र गला फाड़-फाड़कर सरकार के इस पक्षपात की शिकायत कर रहे हैं; पर उनकी कौन सुनता है। हाँ, हाल में मज़दूर दल के नेता तथा भारत के भूतपूर्व मंत्री लार्ड ओलिवियर ने अपनी स्पष्ट-भाषिता और निष्पक्षपात का अच्छा परिचय दिया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया है कि सरकार भारत के मुसलमानों का अनुचित पक्षपात करती है। इस घोषणा से सरकार का आसन हिल गया है, और लाबड़तोड़ भारत के वायसराय लार्ड इर्विन और सेक्रेटरी अर्ल विंटरटन के भाषण हुए हैं। वायसराय महोदय का भाषण बड़ा ही सुंदर और सद्भावनाओं से भरा है। यदि उन्होंने सब बातें सचमुच सच्चे हृदय से कही हैं, तो वह अवश्य ही भारत के भारी हित-चिंतक हैं। सरकार मुसलमानों का पक्षपात करती है, इस कथन का आपने खंडन किया है। पर खंडन की तर्क-शैली न तो ज़ोरदार है, और न अखंडनीय। इससे तो पक्षपात का संदेह और बढ़ जाता है। विंटरटन साहब के भाषण में तो कोरा वाग्जाल और वक्तृत्व-कौशल है। पर दंगों और इन भाषणों के अतिरिक्त एक बात ऐसी अवश्य दिखलाई पड़ रही है, जिससे स्थिति में सुधार हो सकता है। वह है कई मुसलमान-नेताओं की निष्पक्ष एवं स्पष्ट सम्मति। इन सज्जनों ने एक स्वर से मुसलमानों के मसजिदों के सामने बाजा बजाने के आंदोलन का विरोध किया है। यह भाव सर्वथा उचित और प्रशंसनीय है। डॉक्टर किचलू ने ऐसा स्पष्ट कथन करके उदारता और निर्भयता का परिचय दिया है। डॉक्टर अंसारी आदि नेता भी जाति-गत आंदोलनों से पीछे हट रहे हैं। अस्तु, यदि मुसलमान-नेताओं में यह सद्भाव बढ़ता गया, तो स्थिति सुधर सकती है। अन्यथा नहीं।

× × ×

६. गोवध और मसजिदों के सामने बाजा

हिंदू लोग उस स्वराज्य का स्वप्न देख रहे हैं, जिसमें गोवध बिलकुल बंद हो जायगा, तथा मुसलमान उस स्वराज्य का जिसमें उनकी मसजिदों के सामने हिंदू किसी प्रकार का भी बाजा न बजा सकेंगे। दोनों जातियों के इस दृष्टि-कोण से यह पता चलता है कि हिंदू लोग अपने स्वराज्य में चरम सीमा के सुख का अनुभव गोवध बंद होने में ही करते हैं, तथा मुसलमान अपने स्वराज्य में मनमाना गोवध कर सकने और मसजिदों के सामने विधर्मियों के जलूसों के बाजे रुकवा सकने को ही सर्वोत्कृष्ट स्वराज्य मान बैठे हैं। उभय जातियों का ऐसा कल्पित स्वराज्य-सुख चाहे सर्व-व्यापी न हो—सभी हिंदू और सभी मुसलमान चाहे केवल ऐसे ही स्वराज्य के लिये लालायित न हों—पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अधिकांश हिंदू और अधिकांश मुसलमान ऐसे ही स्वराज्य को आदर्श मानते हैं, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। कलकत्ते के 'माडर्न रिव्यू' ने हिंदू-मुसलमानों के इसी तरह के स्वराज्य पर अच्छा विचार किया है। एक संपादकीय दलील पर हम भी यहाँ कुछ लिखते हैं।

भारतवर्ष में दो बहुत बड़ी देशी रियासतें हैं—काश्मीर और हैदराबाद। काश्मीर के अधिकांश निवासी मुसलमान हैं; पर वहाँ का राजा हिंदू है। हैदराबाद के अधिकांश निवासी हिंदू हैं; पर वहाँ का नवाब मुसलमान है। काश्मीर-नरेश ने क़ानून बना दिया है, और उसके अनुसार उक्त राज्य में गोवध नहीं हो सकता। मसजिदों के सामने बाजा बजने की भी रोक-टोक नहीं है। उधर हैदराबाद में मुसलमान जितनी गउएँ चाहें, काट सकते हैं; मसजिदों के सामने हिंदुओं के बाजे सर्वथा रुकवा सकते हैं। ऊपर जिस तर्क-शैली से विचार किया गया है, उसको देखते हुए यह कहना धृष्टता न होगी कि हैदराबाद-रियासत में रहनेवाले मुसलमानों को अभीष्ट स्वराज्य प्राप्त है—वहाँ का शासक मुसलमान है, गोवध की रोक-टोक नहीं, मसजिदों के सामने हिंदू बाजा नहीं बजा सकते। उसी प्रकार काश्मीर के हिंदुओं को भी मनमाना स्वराज्य प्राप्त है—वहाँ का शासक हिंदू है, गोवध असंभव है, बाजा बजाने की रोक-टोक नहीं। अच्छा, तो अब यह देखना चाहिए कि क्या काश्मीर के हिंदू वहाँ के मुसलमानों से अधिक सुखी हैं? क्या उनका स्वास्थ्य, उनकी शिक्षा और उनका अर्थ-कोष वहाँ के मुसलमानों से बढ़कर है?

बंगाल में उनका सबसे अधिक आदर है। महात्मा गांधी का संदेश असहयोग है। यह असहयोग और कुछ नहीं, केवल सत्प्रवृत्तियों का सत्कार और कुप्रवृत्तियों का त्याग है। श्रीरवींद्रनाथजी का संदेश 'विश्व-प्रेम' है। उधर अहमदाबाद में सत्याग्रह-आश्रम स्थापित करके महात्माजी एक बड़े ही दिव्य जीवन की झाँकी दिखला रहे हैं। वह जीवन सत्य में शराबोर है। इसमें तपस्या है, पूरी आत्म-निर्भरता है। यहाँ बुद्धि पर हृदय की विजय है। बोलपुर में ठाकुर महोदय का शांति-निकेतन भी दिव्य है, विचित्र है। यहाँ बुद्धिवाद के ज़ोर से विश्व-प्रेम की शिक्षा दी जाती है। इस निकेतन में बुद्धि-वैभव की घोषणा है, प्राचीन भारत के अध्ययन-जीवन का विज्ञापन है, और विश्व-प्रेम का प्रदर्शन। महात्मा गांधी की दृष्टि में आधुनिक भारत का त्राण खद्दर और चरखे में है। खद्दर और चरखे का आर्थिक महत्त्व उतना नहीं; पर सरल जीवन और सब प्रकार के लोगों की परस्पर सहानुभूति की उपलब्ध करने तथा संयम और अध्यवसाय की शिक्षा के लिये महात्माजी इन दिव्यास्त्रों का अंगीकार अनिवार्य मानते हैं। ठाकुर महोदय का खद्दर और चरखे में बहुत कम विश्वास है। उनका ख़याल है कि भिन्न-भिन्न जातियों के विद्वानों के परस्पर सम्मिलन से—उनके विचारों के आदान-प्रदान से—जिस सहिष्णुता, प्रेम और सहानुभूति का आविर्भाव होता है, भारत का त्राण उसी से संभव है। और कोई उपाय नहीं। भारत के मुसलमान रवींद्रनाथ की अपेक्षा गांधी पर अधिक विश्वास करते हैं। ठाकुर महाशय साहित्य का निर्माण करके उसके द्वारा विचार क्रांति उत्पन्न करना चाहते हैं। महात्माजी अपने आदर्श पवित्र जीवन से लोगों का हृदय बदलना चाहते हैं। श्रीरवींद्रनाथजी ने जितना साहित्य-निर्माण किया है, श्रीगांधीजी ने उतना नहीं किया। पर सिद्धांत के लिये महात्मा गांधी ने जितना शारीरिक कष्ट झेला है, उसका बहुत थोड़ा भी ठाकुर महोदय को नहीं झेलना पड़ा। भारत-सरकार ने गांधीजी की अपेक्षा रवींद्रनाथजी का सत्कार कहीं अधिक किया है। ठाकुर महोदय धनी पुरुष हैं, और धनी होना वह पाप भी नहीं समझते। गांधीजी निर्द्धन हैं, दरिद्र हैं; पर वह अपनी इस स्थिति से संतुष्ट हैं। उनका ख़याल है कि धनवान् की अपेक्षा निर्द्धन को अधिक सुख है। विदेशों में दोनों का नाम ख़ूब है। साहित्य-जगत् में रवींद्र की पूजा है, तो मनुष्यता, उदारता और उच्च आदर्श के नाते लोग गांधीजी पर तन-मन-धन न्योछावर कर रहे हैं। रवींद्रनाथजी अपने समय के प्रतिनिधि-कवि हैं। इस समय चारों ओर क्या हो रहा है, इसको वह भली भाँति जानते हैं। किंतु गांधीजी भविष्य की पीढ़ियों के पैग़ंबर हैं। उनकी निगाह केवल 'आज' पर नहीं है। वह केवल यह नहीं बतलाते कि इस समय क्या हो रहा है, वरन् यह बतलाना अधिक आवश्यक समझते हैं कि क्या होना चाहिए। यदि रवींद्रनाथ भारत के मन हैं, तो गांधीजी उसके प्राण।

× × ×

४. हिंदू-मुसलिम-समस्या

धीरे-धीरे हिंदू-मुसलिम-समस्या जटिलतर होती जाती है। हिंदू-मुसलिम-विरोध के संबंध में इधर कई महत्त्व-पूर्ण घटनाएँ घटी हैं। इनमें कई से स्थिति का सुधार हो सकता है; पर कई ऐसी हैं, जिनसे समस्या और भी उलझ गई है। पबने की बग़ावत, पाइकपाड़े का दंगा, देवी राजराजेश्वरी के जलूस पर अकारण आक्रमण तथा मोहर्रम के ताज़ियों के जलूस से संबंध रखनेवाले उपद्रव ऐसे हैं, जो स्थिति को और भी भयंकर करते जा रहे हैं। पबने के आक्रमणों में मुसलमानी गुंडों ने जिस बर्बरता का परिचय दिया है, उसका प्रतीकार सरकार तभी कर सकती है, जब वह इन उपद्रव-कारियों को बिलकुल कुचल दे। देवी राजराजेश्वरी के जलूस पर हमला करके तो मुसलमानों ने ऐंग्लो-इंडियन पत्रों—स्टेट्समैन और इँगलिश मैन—का सर्टिफ़िकेट भी हासिल कर लिया है। इन पत्रों की सम्मति में उक्त जलूस के अवसर पर होने-वाले उपद्रवों का सारा उत्तरदायित्व मुसलमानों पर है, हिंदू बिलकुल निर्दोष हैं। कहने का तात्पर्य यह कि धर्मांध गुंडे मुसलमानों के कुकृत्य इसलाम के गौरव को बिगाड़ रहे हैं, तथा उनका भविष्य मलिन होता जा रहा है। किंतु मुसलमानों की इन ज़्यादतियों का उत्तरदायित्व सरकार पर भी है। मसजिदों के सामने जलूस के बाजे रुकवाना न तो न्याय-संगत है, और न युक्ति-पूर्ण। रवाज और क़ानून भी इसके विरुद्ध हैं। फिर भी सरकार ने मुसलमानों को ख़ुश करने के लिये कई जगह मसजिदों के सामने बाजा बंद करने की आज्ञा दे रक्खी है। यह सरासर अन्याय है, ज़्यादती है, ज़ुल्म है। सरकार की इस

अनुचित नीति से मुसलमान गुंडों के हौसले बढ़ गए, और इसी से उपद्रव भी बढ़ रहे हैं। इधर मसजिद के सामने बाजा रोकने में तो सरकार इस नीति को अमल में ला रही है, और उधर दिल्ली की पहाड़ी-धीरजवाली सड़क पर उस ने क़ुरबानी के लिये सजी हुई गाय को घुमाने में मुसलमानों को नहीं रोका, बल्कि मदद की। उसके संबंध में उसने हिंदुओं के विरोध की भी परवा नहीं की। हिंदू-नेता और पत्र गला फाड़-फाड़कर सरकार के इस पक्षपात की शिकायत कर रहे हैं; पर उनकी कौन सुनता है। हाँ, हाल में मज़दूर दल के नेता तथा भारत के भूतपूर्व मंत्री लार्ड ऑलिवियर ने अपनी स्पष्ट-भाषिता और निष्पक्षपात का अच्छा परिचय दिया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया है कि सरकार भारत के मुसलमानों का अनुचित पक्षपात करती है। इस घोषणा से सरकार का आसन हिल गया है, और ताबड़तोड़ भारत के वायसराय लार्ड इर्विन और सेक्रेटरी अर्ल विंटरटन के भाषण हुए हैं। वायसराय महोदय का भाषण बड़ा ही सुंदर और सद्भावनाओं से भरा है। यदि उन्होंने सब बातें सचमुच सच्चे हृदय से कही हैं, तो वह अवश्य ही भारत के भारी हित-चिंतक हैं। सरकार मुसलमानों का पक्षपात करती है, इस कथन का आपने खंडन किया है। पर खंडन की तर्क-शैली न तो ज़ोरदार है, और न अखंडनीय। इससे तो पक्षपात का संदेह और बढ़ जाता है। विंटरटन साहब के भाषण में तो कोरा वाग्जाल और वक्तृत्व-कौशल है। पर दंगों और इन भाषणों के अतिरिक्त एक बात ऐसी अवश्य दिखलाई पड़ रही है, जिससे स्थिति में सुधार हो सकता है। वह है कई मुसलमान-नेताओं की निष्पक्ष एवं स्पष्ट सम्मति। इन सज्जनों ने एक स्वर से मुसलमानों के मसजिदों के सामने बाजा बजाने के आंदोलन का विरोध किया है। यह भाव सर्वथा उचित और प्रशंसनीय है। डॉक्टर किचलू ने ऐसा स्पष्ट कथन करके उदारता और निर्भयता का परिचय दिया है। डॉक्टर अंसारी आदि नेता भी आतिशबाज़ी आंदोलनों से पीछे हट रहे हैं। अस्तु, यदि मुसलमान-नेताओं में यह सद्भाव बढ़ता गया, तो स्थिति सुधर सकती है। अन्यथा नहीं।

× × ×

६. गोवध और मसजिदों के सामने बाजा

हिंदू लोग उस स्वराज्य का स्वप्न देख रहे हैं, जिसमें गोवध बिलकुल बंद हो जायगा, तथा मुसलमान उस स्वराज्य का जिसमें उनकी मसजिदों के सामने हिंदू किसी प्रकार का भी बाजा न बजा सकेंगे। दोनों जातियों के इस दृष्टि-कोण से यह पता चलता है कि हिंदू लोग अपने स्वराज्य में चरम सीमा के सुख का अनुभव गोवध बंद होने में ही करते हैं, तथा मुसलमान अपने स्वराज्य में मनमाना गोवध कर सकने और मसजिदों के सामने विधर्मियों के जलूसों के बाजे रुकवा सकने को ही सर्वोत्कृष्ट स्वराज्य मान बैठे हैं। उभय जातियों का ऐसा कल्पित स्वराज्य-सुख चाहे सर्व-व्यापी न हो—सभी हिंदू और सभी मुसलमान चाहे केवल ऐसे ही स्वराज्य के लिये लालायित न हों—पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अधिकांश हिंदू और अधिकांश मुसलमान ऐसे ही स्वराज्य को आदर्श मानते हैं, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। कलकत्ते के 'माडर्न रिव्यू' ने हिंदू-मुसलमानों के इसी तरह के स्वराज्य पर अच्छा विचार किया है। एक संपादकीय दलील पर हम भी यहाँ कुछ लिखते हैं।

भारतवर्ष में दो बहुत बड़ी देशी रियासतें हैं—काश्मीर और हैदराबाद। काश्मीर के अधिकांश निवासी मुसलमान हैं; पर वहाँ का राजा हिंदू है। हैदराबाद के अधिकांश निवासी हिंदू हैं; पर वहाँ का नवाब मुसलमान है। काश्मीर-नरेश ने क़ानून बना दिया है, और उसके अनुसार उक्त राज्य में गोवध नहीं हो सकता। मसजिदों के सामने बाजा बजाने की भी रोक-टोक नहीं है। उधर हैदराबाद में मुसलमान जितनी गाएँ चाहें, काट सकते हैं; मसजिदों के सामने हिंदुओं के बाजे सर्वथा रुकवा सकते हैं। ऊपर जिस तर्क-शैली से विचार किया गया है, उसको देखते हुए यह कहना धृष्टता न होगी कि हैदराबाद-रियासत में रहनेवाले मुसलमानों को अभीष्ट स्वराज्य प्राप्त है—वहाँ का शासक मुसलमान है, गोवध की रोक-टोक नहीं, मसजिदों के सामने हिंदू बाजा नहीं बजा सकते। उसी प्रकार काश्मीर के हिंदुओं को भी मनमाना स्वराज्य प्राप्त है—वहाँ का शासक हिंदू है, गोवध असंभव है, बाजा बजाने की रोक-टोक नहीं। अच्छा, तो अब यह देखना चाहिए कि क्या काश्मीर के हिंदू वहाँ के मुसलमानों से अधिक सुखी हैं? क्या उनका स्वास्थ्य, उनकी शिक्षा और उनका अर्थ-कोष वहाँ के मुसलमानों से बढ़कर है?

उक्त रियासत की शासन-रिपोर्ट के पढ़ने से इसका तो कुछ पता नहीं चलता। उलटे मुसलमान ज़्यादा ख़ुशहाल जान पड़ते हैं। अब हैदराबाद की बात लीजिए। उस रियासत में क्या धन, क्या शिक्षा, क्या स्वराज्य, सभी में हिंदू मुसलमानों की अपेक्षा अच्छी दशा में हैं। न तो हिंदू-राजा होने और गोवध बंद होने से काश्मीर के हिंदू मुसलमानों से बढ़ गए हैं, और न मुसलमान शासक और गोहत्या के होते हुए भी हैदराबाद के मुसलमानों के सुरख़ाब के पर लग गए हैं। इससे नतीजा यह निकलता है कि ब्रिटिश-भारत में भी मसजिदों के सामने बाजा बंद करवाने से मुसलमानों का सुख बढ़ न जायगा, तथा गोवध बंद कराने से मुसलमान पामाल भी न हो जाएँगे। जिस जाति के पास विद्या, धन, स्वास्थ्य और सदाचार तथा धर्म होगा, वही सुखी होगी। हिंदू गोवध बंद कराकर भी, उपर्युक्त गुणों से हीन होने पर, ढाक के तीन पात बने रहेंगे; और मुसलमान भी उनके अभाव में, मसजिदों के सामने बाजा बंद कराकर भी, उसी प्रकार निबुआ-नोन चाटते रहेंगे। ये धर्मांधता और हठ की बातें हैं। इनका स्वराज्य के वास्तविक सुख से कोई संबंध नहीं है।

× × ×

७. श्रीकृष्णमूर्ति और उनका जगद्गुरुत्व

डॉक्टर एनी बेसंट की राय में संसार के परित्राण के लिये नवीन अवतार का आविर्भाव हो गया है, और शीघ्र ही वह अवतार अपने उपदेशामृत से दुःखाभिभूत मृतप्राय जगत् को पुनः जीवित और जागृत कर देगा। मदरास के प्रसिद्ध बालक कृष्णमूर्ति का नाम पाठक भूले न होंगे। इस बालक के कारण उसके पिता और श्रीमती एनीबेसंट के बीच में जो मुक़दमे-बाज़ी हुई थी, लेडबीटर लीला की जो बातें प्रकट हुई थीं और उसके थिआसोफ़ी और उसके प्रधान के प्रतिकूल जो भाव फैले थे वे पाठकों को भूले न होंगे। उनके यहाँ पर दोहराकर लिखने की ज़रूरत भी नहीं है। किसी-न-किसी प्रकार से कृष्णमूर्ति श्रीमती बेसंट की अभिभावुकता में ही इँगलैंड में रहे और उच्च शिक्षा प्राप्त की। यद्यपि युनिवर्सिटी में उन्होंने अपने बुद्धि-वैभव और प्रतिभा-प्रताप का कोई बड़ा चमत्कार-पूर्ण परिचय नहीं दिया। फिर भी उनकी गणना सदा अच्छे विद्यार्थियों में रही। शिक्षा-काल में भी वे विद्यार्थियों से अधिक संपर्क न रखने पाते थे और उनके लिये एकांत-वास की पूर्ण व्यवस्था थी। कहा जाता है कि संसार को उपदेश देने का उनका समय अब बिलकुल सन्निकट है और आजकल वे स्कॉटलैंड के एक धनी पुरुष के प्रासाद में कठोर एकांत वास कर रहे हैं। संसार के समक्ष जगद्गुरु-रूप में आविर्भूत होने के पूर्व उनके लिये १२ प्रधान शिष्य भी चुने जाएँगे। इन शिष्यों में से ७ चुने जा चुके हैं। कहा जाता है, हाल में उन्होंने एक व्याख्यान दिया था, जिसमें उनके मुख से कुछ ऐसे वाक्य निकल गए, जिनका अभिप्राय यह था कि जगद्गुरु-रूप से उपदेश करने का उनका समय आ गया है। उन वाक्यों की बड़ी प्रशंसा सुनी जाती है, और कहा जाता है कि वे वाक्य निश्चय ही ईश्वर-प्रेरित थे। इन नवीन जगद्गुरु के धर्म का प्रचार करने के लिये 'आर्डर आफ़ दि स्टार इन दि ईस्ट' (Order of the Star in the East) नामक संस्था कई साल पहले से स्थापित है, और वही नवीन धर्म का प्रचार-कार्य करेगी। वान पैलान डॉट-नामक प्रसिद्ध डच बैरन को कृष्णमूर्ति में बड़ा विश्वास है। इन्होंने ५,०००) एकड़ की एक रियासत नवीन धर्म के प्रचार-कार्य के लिये 'आर्डर आफ़ दि स्टार' संस्था को भेट कर दी है। अभी हाल ही में हालैंड के ओमेन नगर में इस संस्था की वार्षिक महासभा थी। संसार-भर के २,००० प्रतिनिधि एकत्रित थे। लकड़ी के लट्ठों का वर्तुलाकार स्थान बनाकर उसके प्रदीप्त करने की रस्म भी अदा की गई थी। यहाँ पर कृष्णमूर्ति के लिये एक काष्ठ का सिंहासन रक्खा गया था। महासभा में डॉक्टर एनीबेसंट ने 'संसार के अंतःशासन' पर एक व्याख्यान भी दिया था। पर देखते हैं, कृष्णमूर्ति के जगद्गुरुत्व प्रश्न को लेकर थिआसोफ़िस्टों में बड़ा मतभेद पैदा हो गया है। मिस्टर डब्ल्यू० लॉफ़्टस हेयर नाम के सज्जन इस संबंध में डॉक्टर बेसंट का खुल्लमखुल्ला विरोध कर रहे हैं। उनका कहना है कि थिआसोफ़ी के तीन उद्देश्यों में जगद्गुरुत्व की बात नहीं आती है। उनका यह भी कहना है कि जगद्गुरु मानने का अर्थ है नवीन धर्म की स्थापना। इससे थिआसोफ़ी और प्रचलित धर्मों में स्पर्द्धा बढ़ जायगी। यह ठीक न होगा; क्योंकि थिआसोफ़ी की तो सभी धर्मों से मित्रता है। कनाडा के थिआसोफ़िस्टों ने कृष्णमूर्ति के जगद्गुरुत्व को अस्वीकृत कर दिया है। ज़िकोस्लोवो-किया लोगों का भी यही हाल है। दक्षिण आफ़्रिका

और आल्ड़े बिस्कर के भी बहुत-से थियासोफ़िस्ट कृष्णमूर्ति-कांड से अलग हो रहे हैं। इन सबका कहना है कि डॉक्टर एनीबिसंट को कोई अधिकार नहीं कि वह ज़बर्दस्ती थियासोफ़ी के सिर कृष्णमूर्ति का जगद्गुरुत्व लादें। जान पड़ता है, सन् १९०८ के समान थियासोफ़ी संसार में एकबार फिर चहल-पहल मचेगी।

× × ×

८. संयुक्त-प्रदेश की राजनीति

इस समय भारत में राजनीतिक आंदोलन बहुत शिथिल पड़ गया है। नेताओं में भारी मत-भेद और फूट है। हिंदू-मुसलमानों के झगड़े इतने बढ़ गए हैं कि देश उन्हीं के प्रहारों से जर्जरीभूत हो रहा है; उसे दम मारने की फ़ुरसत नहीं है; फिर राजनीतिक आंदोलन की प्रगति कैसे हो? लिबरल-दल अपने को पुराना कांग्रेसी दल मानता है, और इस हिसाब से भारतीय राजनीति में दिलचस्पी लेनेवाला सबसे पु ना दल कहा जाता है; पर पिछले निर्वाचन की पराजय के बाद से वह ऐसा कुछ बेदम हो गया है कि चिंतामणिजी-जैसे कार्यपटु नेता के रहते भी वह एक प्रकार से निष्क्रिय हो रहा है। उसकी सूखी हड्डियों में जान फूकनेवाला कोई दिखलाई नहीं पड़ता। कम-से-कम संयुक्त-प्रदेश में तो असहयोग आंदोलन के क्रूरता-पूर्ण दमन में—पं० मोतीलाल नेहरू-सदृश नेताओं के जेल भेजे जाने के मामले में—लिबरल मंत्रियों का सरकार से अवश्य सहयोग था। चाहे पं० मोतीलालजी के जेल भेजे जाने में लिबरल मंत्रियों का हाथ न हो, पर हमको यह बात अब तक नहीं मालूम हुई कि उक्त पंडितजी के जेल में ठूसे जाने के कार्य का विरोध किसी भी मंत्री ने, किसी भी रूप में, किया था। हाँ, यह हम अवश्य जानते हैं कि अवध के कई ज़िलों में राजद्रोह-सभा-क़ानून का प्रयोग लिबरल मंत्रियों की राय से हुआ था। इस प्रांत में लिबरल-दल के मंत्रियों ने अपने दल के मस्तक पर जो यह कलंक का टीका लगा रक्खा है, वह सहज में मिटने का नहीं, और इस प्रांत के वोटर लिबरल उम्मेदवार को वोट देने के पूर्व इस बात पर अवश्य ध्यान देंगे। प्रतिसहयोगी-दल और लिबरल-दल में हमें कुछ विशेष अंतर नहीं दिखलाई पड़ता। लिबरलों में कदाचित् कुछ मुसलमान नेता भी हैं; पर प्रतिसहयोगियों में सभी हिंदू-नेता हैं। प्रतिसहयोगी हिंदुत्व-विशिष्ट हैं। और, शायद कांग्रेस के बाहर नहीं हैं; पर साथ ही कानपुर-कांग्रेस के आदेश को मानते भी नहीं। संयुक्त-प्रदेश में पं० मदनमोहनजी मालवीय प्रतिसहयोगी-दल के कर्णधार हैं। इस दल की घोषणा सहयोगी 'अभ्युदय' ज़ोरों के साथ करता और 'सैनिक' तथा 'प्रताप' से डटकर मोर्चा लेता है। लिबरल-दल की अपेक्षा यह दल प्रबल है। पर हिंदू-सभा की सहायता बिना इसकी पृथक् सत्ता बने रह सकने में संदेह है। हिंदू-सभा का हमारे सूबे में इस समय बोलबाला है; पर इसके नेताओं में अभी इस बात पर मतभेद है कि वह निर्वाचन की लड़ाई में पड़े या नहीं। संभवतः यह संस्था प्रतिसहयोगी-दल का समर्थन करेगी। स्मरण रहे, इन दोनों दलों के नेता पं० मदनमोहन मालवीय हैं। प्रतिसहयोगी और हिंदू-सभा-दल मिलकर जो काम करना चाहते हैं, वह मुसलमानों का अकेला मुस्लिमलीग-दल कर रहा है। कांग्रेस और स्वराज्य-दल में अब कोई भेद नहीं रह गया। यह तथ्य बात है कि अन्य सभी दलों को देखते प्रतिनिधित्व और राष्ट्रीयता की दृष्टि से यही दल सबसे बड़ा है। अगर देश में अब ऐसी कोई संस्था रह गई है, जिसमें हिंदुओं के रहते भी मुसलमानों का कुछ विश्वास बना है, तो वह कांग्रेस दल ही है। ख़िलाफ़त-दल, कांग्रेस-दल कुछ परिवर्तनों के साथ मुसलमानी संस्करण है। कांग्रेस और ख़िलाफ़त-दल ने देश-सेवा के नाम पर और सब दलों से अधिक कष्ट झेले हैं। कांग्रेस-दल का नेतृत्व पं० मोतीलालजी नेहरू के हाथ में है। हिंदी में 'आज' और 'प्रताप' तथा 'सैनिक' कांग्रेस-पक्ष का समर्थन ज़ोरों के साथ करते हैं। अँगरेज़ी का 'आई० डी० टी०' पत्र भी इसी पक्ष का समर्थक है। प्रयाग का 'लीडर' लिबरल दल का समर्थक होते हुए भी हिंदू-हितों का रक्षक और प्रांत का सर्वोत्कृष्ट ग़ैर-सरकारी दैनिक है। काशी का 'सूर्य' भी लिबरल-नीति और सनातनधर्म का पृष्ठ-पोषक है।

× × ×

९. लंदन के कुछ प्राचीन पत्र

विशाल लंदन-नगर से निकलनेवाले पत्रों के वर्णन के लिये एक बहुत बड़ी पुस्तक की आवश्यकता है। स्थल-संकोच के कारण हम यहाँ पर उनका परिचय-मात्र देते हैं। योरप में छापेख़ाने की उन्नति करने में इँगलैंड सबसे पिछड़ा रहा। परंतु जब से उसने इस काम को अच्छी

तरह से हाथ में लिया, तब से इस दृष्टि से भी उसने संसार को चकित कर रक्खा है। जिस समय उक्त देश में गृह-युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय ही छोटे-छोटे पत्रों के प्रचार का आरम्भ हो गया था। परंतु वास्तविक दैनिक पत्र सन् १७०२ ई० महारानी 'एन' के राजत्व-काल में निकला था। इस पत्र का नाम 'डेली कोरेंट' था। इसके दो बरस बाद 'रिव्यू' नाम के पत्र का प्रादुर्भाव हुआ। इसके प्रचारक संपादन-कला के आचार्य डेनियल डीफ़ो थे। यह पत्र नव वर्ष तक 'डीफ़ो' की अधीनता में चलता रहा, और इस दीर्घकाल-व्यापी संपादन में प्रायः ५,००० पृष्ठ लिख डाले। मनुष्य विज्ञान के सभी विषयों को लेकर आपने विवेचना की। सारांश यह कि आपने संपादकला की जड़ जमा दी। आपकी लेखन-शैली बड़ी ही प्रौढ़, प्रभावोत्पादक और लोकमत-निर्माण-कारिणी थी। इसके बाद सन् १७०६ में 'टैटलर' पत्र निकला, और १७११ में 'स्पेक्टेटर'। ये पत्र ऐसे न थे कि लोक-प्रिय हो सकें। 'स्पेक्टेटर' के लेखक मिस्टर 'स्टील' और 'एडिसन' बड़े प्रतिभाशाली गद्य-लेखक थे। ये लोग जिस राजनीतिक मत के समर्थक थे, उसके स्वीफ़्ट-सदृश लेखक घोर विरोधी थे। ये लोग अपना मत 'एक्ज़ामिनर' पत्र द्वारा प्रकट करते थे। जानसन महोदय अपने विचार 'रैंबुलर' पत्र द्वारा प्रकाशित करते थे। इसके बाद 'नार्थ ब्रिटेन' और 'पब्लिक एडवर्टाइज़र' पत्रों की धूम मची। इनका संपादन बहुत कुछ आधुनिक ढंग का था। इन पत्रों के द्वारा यह सिद्धांत दृढ़ हो गया कि अधिकारियों का कृपाभाजन बनने की अपेक्षा यह उत्तम है कि लोकमत के सहारे पत्र की स्थिति दृढ़ की जाय। अँगरेज़ी-पत्र-संपादन में जिस स्वतंत्रता और निर्भीकता का परिचय मिलता है, उसकी नींव इसी समय पड़ी थी। सन् १८०२ में 'वीकली पोलिटिकल रजिस्टर' निकला। इसके सर्वेसर्वा मि० कार्बेट थे। आप सैनिक आंदोलनकर्ता और संपादक, सभी कुछ थे। आपके पत्र में आपके व्यक्तित्व की छाप थी। बात को साफ़-साफ़ कह डालने में आप एक ही थे। अँगरेज़ी समाचार-पत्रों का शैशव काल इसी समय से समाप्त होता है।

× × ×

१०. समाचार-पत्र और मान-हानि के मुक़दमे

समाचार-पत्रों के संवाद-दाताओं या अन्य ऐसे ही लेखकों को मान-हानि के मुक़दमों के लिये सदा भयभीत रहना पड़ता है। अपने संवाद-दाताओं के कामों की आँच समाचार-पत्र के मालिकों को भी लगती है। मान-हानि की बात यह है कि कभी तो वह जान-बूझकर की जाती है, और कभी अनजान में भी हो जाती है। 'पारनल' के पत्रों का प्रकाशित करना या 'पिगट' के मामले की बातें ऐसी हैं, जिन्हें अनजान की मान-हानि नहीं कह सकते। एक शब्द, एक शीर्षक, नामों का साम्य, वर्णनों की एकता आदि के कारण प्रायः अनजान में भी मान-हानि हो जाती है। एक समाचार-पत्र में एक सज्जन प्रायः लेख लिखा करते थे। एकबार उन्होंने एक कल्पित व्यक्ति का चरित्र-चित्रण किया। दैव-योग से इन महाशय ने जिस नाम की कल्पना की थी, उस नाम के एक सज्जन वास्तव में थे, और वह भी उस पत्र के लेखक थे। अस्तु, उन्होंने दावा दायर किया, और क्षतिपूर्ति के रूप में एक अच्छी रक़म भी पाई। एक साप्ताहिक पत्र प्रायः लोगों के कलंक की बातें छापा करता था। एकबार इसमें छपने के लिये एक कथा आई। इसमें भी कलंक की बातें थीं। पर प्रमाण काफ़ी न था। संपादक लोग मान-हानि के ख़याल से डर गए, और उस रूप में कथा छापने से इनकार कर दिया। फिर उस कथा में परिवर्तन किया गया। नाम बदले गए, घटनाएँ बदली गईं, तब वह छापी गई। पर जब वह कथा छप गई, तो मालूम हुआ कि बिलकुल एक वैसी ही घटना अन्यत्र वास्तव में घट चुकी है। अदालत तक मामला पहुँचा। संपादक का पक्ष नितांत निर्बल था, इसलिये दे-लेकर अदालत के बाहर ही मामले का फ़ैसला कर लिया गया।

एक अख़बार में छपने के लिये कुछ वकीलों ने एक विज्ञापन भेजा। विज्ञापन का आशय यह था कि अमुक अमुक कंपनी का कार-बार डावाँडोल है, इसलिये उसके विरुद्ध कारोबार स्थगित करने की कार्रवाई करनी चाहिए। यह विज्ञापन शनिवार के पत्र में छपने को था। शुक्रवार की रात्रि को उन्हीं वकीलों ने 'तार' भेजा कि कंपनी हमारा समझौता हो गया। अब विज्ञापन न छापना। दूसरे दिन कंपोज़ीटर की भूल से यह विज्ञापन तो छप गया, पर दूसरा रोक लिया गया। बड़ी ही हलचल मची। कंपनी की साख इतनी गिर गई कि उसका दिवाला निकल गया। यदि इस पत्र पर मुक़दमा चलाया जाता तो क्षतिपूर्ति के लिये एक लंबी रक़म देनी पड़ती, और शायद पत्र

भी आता। पर दिवालिया कंपनी को इतने रुपए के लाले पड़ गए कि वह समाचार-पत्र पर दावा कर सके। एकबार एक अदालत से एक सज्जन एक फ़ौजदारी मुक़दमे में निर्दोष प्रमाणित होकर छूट गए। परंतु समाचार पत्र के संवाद-दाता को यह ख़बर मिली कि सज़ा हो गई। ख़बर छपने जा चुकी थी कि इतने में सत्य बात मालूम हुई। संपादक और उनके सहकारी सभी मशीन रूम की ओर दौड़े कि इस संस्करण का छपना रोक दिया जाय। पर १७ कॉपियाँ बिक चुकी थीं। उद्योग करके उन १७ में से १४ कॉपियाँ भी प्राप्त की गईं। पर तीन न मिल सकीं। ख़याल यह था कि इन तीन से कोई विशेष हानि न होगी; पर यह अनुमान ठीक न निकला। परंतु इनमें से एक कॉपी एक अन्य पत्र-संवाद-दाता के हाथ में पड़ गई थी। उसने यह समाचार अन्य नगर से निकलनेवाले पत्र को भेज दिया था। आख़िर इन दोनों ही पत्रों को क्षतिपूर्ति में कई सौ पाउंड देने पड़े।

× × ×

११. समाचार-प्रकाशन में असाधारणता

समाचार-संग्राहकों का सदा यह लक्ष्य रहता है कि वे किसी सनसनी फैलानेवाले समाचार का भंडाफोड़ कर सकें। यह काम एक प्रकार से जासूसी का भी है। एक उदाहरण लीजिए। सन् १८९१ ई० में रसल सेज-नामक व्यक्ति को मार डालने का कुछ लोगों ने प्रयत्न किया। सनसनी फैलानेवाली बात यह थी कि जिस पुरुष ने बम फेंका था, वह स्वयं जल मरा था, और उसका शरीर इतना अधिक नष्ट हो गया था कि यह पता न चलता था कि वह कौन है। केवल उसके पहनने के कपड़ों के टुकड़े तथा दो-एक बटन बच गए थे। 'न्यूयार्क-वर्ल्ड' का संवाद-दाता घटना-स्थल पर पहुँचा, और उसने उन टुकड़ों में से एक टुकड़ा तथा एक बटन ले लिया। बटन पर बोस्टन-नगर के एक दर्ज़ी का नाम अंकित था। पुलिस का ध्यान इधर न गया। इधर रिपोर्टर महाशय फ़ौरन् रेल पर सवार होकर बोस्टन पहुँचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने दर्ज़ी से मुलाक़ात की, और मालूम कर लिया कि हेनरी नॉर-ऑस-नामक दल्लाल के लिये उस कपड़े का सूट थोड़े ही दिन हुए तैयार किया गया था। कुछ और जाँच करने से नॉर-ऑस के संबंध की और भी बातें मालूम कीं। फिर वह उसके घर पर भी गया। वहाँ पता चला कि नॉर-ऑस इस समय आर्थिक संकट में है, तथा कई दिन से लापता है। बस, उसने यह निष्कर्ष निकाला कि यह हत्या नॉर-ऑस ही ने की है। जब यह समाचार 'न्यूयार्क-वर्ल्ड' में छपा, तो उसकी धूम मच गई, और पत्र का नाम हो गया। बाद को सरकारी अनुसंधान से भी यही बात अक्षरशः सत्य प्रमाणित हुई। परंतु अब इस प्रकार के जासूसी कौशल कम होते जाते हैं। बात यह है कि इस कौशल का प्रदर्शन अधिकतर युद्ध-काल में ही संभव है। पर अब युद्ध-संबंधी समाचार तब तक नहीं प्रकाशित हो सकते, जब तक 'सेंसर' उनके प्रकाशित करने की आज्ञा न दे। ऐसी दशा में स्वतंत्र समाचार का प्रकाशित करना ही असंभव है। तब जासूसी की संभावना ही क्या? इसके अतिरिक्त संवाद-दाताओं द्वारा जासूसी करवाने के लिये विशेष संगठन और धन की भी आवश्यकता है। यदि जासूसी सफल हुई, तब तो ठीक है; नहीं तो सारा परिश्रम और अर्थव्यय व्यर्थ ही हो जाता है। अब इस प्रकार के जासूसी कौशल से भरे हुए संवादों के कुछ नमूने भी लीजिए। आफ़्रिका-महाद्वीप में मि० लिविंगस्टोन को खोज निकालने का श्रेय न्यूयार्क हेरल्ड और डेली टेलीग्राफ़ पत्र के संवाद-दाता मि० स्टैनली को प्राप्त है। इसमें ख़ूब रुपया ख़र्च हुआ था। पेकिन-नगरी में विदेशी राजदूतों की हत्या का समाचार और उसका रहस्य डेली-मेल ने बहुत रुपया ख़र्च करके प्रकाशित किया था। कैप्टेन अमंडस्यन ने दक्षिणी ध्रुव की पहले-पहल यात्रा की थी। उनकी इस यात्रा का वर्णन लंदन के डेली क्रानिकल-पत्र ने सबसे पहले प्रकाशित किया था। इस वर्णन के प्रकाशित करने में उक्त पत्र के संचालकों को बहुत पहले से प्रबंध करना पड़ा था, और रुपए तो ख़ूब ख़र्च ही हुए। डेली क्रानिकल की इस सफलता को सभी पत्रों ने मान लिया था, और उसके प्रकाशित वर्णन को, उक्त पत्र की आज्ञा लेकर, अन्य पत्रों ने भी प्रकाशित किया था। यह सन् १९१२ की बात है। उधर अमेरिका में इसी वर्णन को लेकर एक नवीन समस्या उठ खड़ी हुई। 'न्यूयार्क-टाइम्स'-नामक पत्र ने 'डेली-क्रानिकल' से इस वर्णन को अमेरिका में प्रकाशित करने का 'कॉपी-राइट' ले लिया। उसका विश्वास था कि अमेरिका में सबसे पहले इस समाचार को वही प्रकाशित कर सकेगा। पर ऐसा न हो सका। 'न्यूयार्क-अमेरिकन'-नामक पत्र को भी यह वर्णन योरप से 'तार' द्वारा मिल गया। इस कारण इन दोनों ही पत्रों में

उक्त समाचार साथ-ही-साथ निकला। तब तो विवाद उठा, और मामला अदालत तक पहुँचा। 'मैंचेस्टर-गार्जियन'-पत्र के कौशल की भी बात सुनिए। सोमवार को संध्या समय ६½ बजे महारानी विक्टोरिया की मृत्यु हुई। प्रातःकाल मंगलवार को मैंचेस्टर-गार्जियन का जो अंक निकला, उसमें २० पृष्ठ की महारानी की एक जीवनी भी थी। इस जीवनी के लेखक सब बड़े-बड़े आदमी थे। और, यद्यपि मैंचेस्टर-गार्जियन सचित्र नहीं प्रकाशित होता, फिर भी इस जीवनी में बहुत से सुंदर चित्रों का समावेश था। महारानी के प्रति सम्मान प्रकाशित करने के इस नवीन ढंग का बहुत प्रभाव पड़ा। हज़ारों की संख्या में यह अंक तुरंत बिक गया। कहीं-कहीं तो एक अंक पाँच-पाँच शिलिंग तक का बिका। इस अंक की बिक्री पाँच दिन तक बराबर जारी रही, और जब दस लाख कॉपियाँ बिक गईं, तब थककर प्रकाशकों ने उसकी बिक्री बंद कर दी। इँगलैंड में आक्सफ़र्ड और कैंब्रिज की ओर से नावों की दौड़ होती है, यद्यपि इस दौड़ में लोगों का चाव अब उतना नहीं है, जितना कि पहले था। एक बार यह दौड़ बहुत ज़ोरों से हो रही थी। जिस समय दौड़ का अंत होने को था, उसके कुछ समय पूर्व ही एक प्रांतीय पत्र ने बहुत-सा रुपया ख़र्च करके अपने पत्र के दो संस्करण तैयार कराए। एक में आक्सफ़र्ड की विजय-घोषणा थी और दूसरी में कैंब्रिज की। पत्र के स्वामी का अभिप्राय यह था कि जिसकी विजय होगी, उसकी जीतवाला संस्करण प्रकाशित करता और दूसरा नष्ट करा देता। पर यह सारी चतुराई किसी काम न आई, क्योंकि दौड़ में दोनों ही बराबर रहे। बेचारे पत्र को व्यर्थ का अर्थ-कष्ट सहन करना पड़ा। एक और भी ऐसा ही मज़ेदार मामला लीजिए। सन् १८४४ ई० में ओ-कॉनेल महाशय का विचार डब्लिन में हो रहा था। इस मुक़दमे की बहुत धूम थी। 'टाइम्स' पत्र ने समाचार लाने के लिये अपना विशेष प्रतिनिधि भेजा था, और इस काम के लिये एक बहुत तेज़ चाल-वाला अग्नि-बोट भाड़े पर कर लिया गया था। जैसे ही मुक़दमे का फ़ैसला सुनाया गया, वैसे ही यह प्रतिनिधि अग्नि-बोट पर आ गया। और अग्नि-बोट पूरी तेज़ी के साथ दौड़ाया गया। प्रतिनिधि जिस समय अपने पत्र के दफ़्तर में घुस रहा था, उसी समय एक सफ़ेद-पोश सज्जन ने आकर उसे सलाम किया, और कहा—"कहिए श्रीमन्! आख़िर ओ-कॉनेल अपराधी प्रमाणित हो गया न।" प्रतिनिधि महोदय ने निःसंकोच-भाव से उत्तर दिया कि "हाँ, बात तो ठीक है।" जिन सज्जन से प्रतिनिधि ने यह बात कही थी, वह 'मार्निंग-हेरल्ड' पत्र के भेदिया थे। उन्होंने तुरंत दौड़कर अपने दफ़्तर में ख़बर दी, और दोनों पत्रों में समाचार साथ-ही-साथ प्रकाशित हुए।

× × ×

१२. "विदेशी विनिमय"

हिंदी-संसार में अर्थ-शास्त्र-विषयक लेखकों की बहुत कमी है, और उनमें भी ऐसे लेखक तो उँगलियों पर ही गिने जा सकते हैं, जो इस विषय पर, अधिकार-पूर्वक, शुद्ध, सरल और उपयुक्त भाषा में, पुस्तक-प्रणयन कर सकते हों। सुप्रसिद्ध हिंदी-लेखक पं० दयाशंकरजी दुबे इन्हीं इने-गिने लेखकों में हैं। आप उन लेखक-रूपी मशीनों में नहीं, जिन्हें सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं पड़ती, और जिनके द्वारा जो कुछ इधर-उधर की सामग्री सामने आई, उसी से पुस्तक-रूपी पदार्थ सहज ही तैयार हो जाते हैं। आप जो कुछ लिखते हैं, ख़ूब अध्ययन और चिंतन करके लिखते हैं। यही कारण है कि आपकी रचनाएँ उच्च कोटि की होती हैं, और हिंदी-साहित्य-संसार में एक विशेष स्थान की अधिकारिणी हैं। माधुरी, सरस्वती आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित आपके गवेषणा-पूर्ण लेख हमारे इस कथन के प्रमाण हैं।

दुबेजी का जन्म सं० १९५३ वि० में, श्रावण-कृष्ण चतुर्थी को, खँडवा (ज़िला निमाड़) में, हुआ। आपके पिता पंडित बलरामजी दुबे बहुत सज्जन और प्राचीन परिपाटी के सनातनधर्मी हिंदू हैं। उनका यही गुण दुबेजी में भी वर्तमान है। दुबेजी की प्रारंभिक शिक्षा मध्य-प्रांत में हुई। सन् १९१३ ई० में आप मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, और सन् १९१७ में जबलपुर के रॉबर्टसन-कॉलेज से आपने बी० ए० की परीक्षा पास की। एक वर्ष नागपुर में रहने के पश्चात् अर्थ-शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन करने के लिये आप सन् १९१८ में प्रयाग आए। वहाँ के ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज से, सन् १९१९ में, आपने अर्थ-शास्त्र में एम० ए० पास किया। इस परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने के कारण आप एक वर्ष प्रयाग-

विश्वविद्यालय के अर्थ-शास्त्र-विभाग में रिसर्च-स्कॉलर रहे। फिर १९२० से २ वर्ष तक, इविंग क्रिश्चियन कॉलेज में, अर्थ-शास्त्र के अध्यापक के पद पर आसीन रहे। वहा से आपने सन् १९२२ में, ठीक उन्हीं दिनों, जब कि माधुरी का प्रादुर्भाव हुआ, लखनऊ-विश्वविद्यालय में पदार्पण किया। यहाँ आप अर्थ-शास्त्र, राष्ट्रीय आय-व्यय-शास्त्र, अंक-शास्त्र तथा भारतीय शासन के अध्यापक नियत किए गए। लखनऊ आने के पश्चात् ही हमें आपसे परिचय-लाभ करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, और अब यह परिचय मैत्री में परिणत हो गया है।

सन् १९२० में दुबेजी ने 'Study of the Indian Food Problem'-नामक निबंध लिखा। इससे इनकी कीर्ति-पताका बहुत दूर तक फैल गई, और प्रो० काले, सर एम्० विश्वेश्वरय्या प्रभृति अर्थ-शास्त्र के धुरंधर विद्वानों ने अपने निबंधों में इनके इस लेख के अंश उद्धृत किए हैं। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ी में आपने The Way to Agricultural Progress in India नाम की पुस्तक तथा Inequality of Taxation in India, Indian Currency Problem आदि निबंध भी लिखे हैं। इन्हें पढ़ने से आपके अर्थ-शास्त्र-विषयक प्रकांड पांडित्य का पता चलता है। गत वर्ष जो Indian Economic Enquiry Committee बैठी थी, उसमें लखनऊ-विश्वविद्यालय के डॉक्टर राधाकमल मुकर्जी के साथ-साथ साक्षी देने का असामान्य सम्मान इन्हें भी मिला था। यह कम गौरव की बात नहीं। इसके लिये हम अपने मित्र दुबेजी का हृदय से अभिनंदन करते हैं। हिंदी-संसार में अर्थशास्त्र-विषयक लेख लिखनेवालों का, जैसा हम शुरू ही में कह आए हैं, अत्यंत अभाव है। ऐसी स्थिति में इतने उच्च कोटि के विद्वान् का हिंदी को अपनाना बड़े सौभाग्य की बात है। हिंदी में अभी आपने विदेशी विनिमय विषय पर "विदेशी विनिमय" नाम की एक अनूठी पुस्तक लिखी है, जो गंगा-पुस्तकमाला द्वारा प्रकाशित हुई है। पुस्तक की विशेषज्ञों ने बड़ी प्रशंसा की है। इस पुस्तक के अतिरिक्त और अनेक पुस्तकें आपने लिखी हैं, जिनमें (१) भारत में कृषि-सुधार, (२) भारत के उद्योग-धंधे, (३) भारत की मनुष्य-गणना आदि विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं। आप अभी अल्पवयस्क हैं; पर इतने थोड़े समय ही में यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इनका अध्यवसाय देखकर हमें आशा हो रही है कि शीघ्र ही यह अपना यशःसौरभ दिगंत में प्रसारित कर भारत का अभ्युदय करनेवालों में प्रमुखता प्राप्त करेंगे। आर्थिक दृष्टि से देश की दशा दयनीय है। आप-जैसे सज्जनों के कृपा-कटाक्ष पर ही भारत की भविष्य-उन्नति निर्भर है।

आपका स्वभाव अत्यंत सरल और बाल-जनोचित है। कठिन-से-कठिन समय में भी आप प्रसन्न रहने की चेष्टा करते हैं। विद्वत्ता के साथ-ही-साथ इनकी सहज सरलता देखकर मित्र-मंडली इन्हें 'गणेशजी का अवतार' मानने लगी है। ईश्वर करे, हमारे 'गणेशजी' चिरजीवी हों, जिसमें इन्हें हिंदी-भाषा का अर्थ-शास्त्र-विषयक अंग अच्छी तरह सँवारने का यथेष्ट अवसर मिले। तथास्तु।

× × ×

१३. हिंदुओं का ह्रास

हिंदुओं की संख्या दिन-ब-दिन घटती ही जाती है। यह कोरी कल्पना-मात्र नहीं है। मर्दुम-शुमारी के अंक इस सत्य की स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं। फिर भी बहुत-से ऐसे हिंदू हैं, जो इस अप्रिय सत्य को जानकर भी नहीं जानना चाहते, देखकर भी नहीं देखना चाहते। हिंदुओं की संख्या घटने के कई कारण हो सकते हैं; पर मुख्य कारण यही है कि अब तक हिंदू एक लावारिस माल थे। जो चाहता था, वह इन्हें हड़प कर जाता था। क्या मुसलमान और क्या ईसाई, छल-बल-कौशल से हिंदू-जाति के बच्चों और स्त्रियों को छीन लेते थे; और हिंदू-जाति उसका कुछ प्रतीकार नहीं करती थी। हिंदू-जाति के घेरे से निकल जाने के अनेक मार्ग थे; पर भीतर आने का कोई द्वार न था। ईश्वर की कृपा से कुछ जाति-हितैषियों का ध्यान इधर गया, और उनके अनवरत आंदोलन का फल 'शुद्धि' है। आज हिंदू का बच्चा या हिंदू-नारी जाति-भ्रष्ट होकर भी, इच्छा होने से, हिंदू-जाति की गोद में लौटकर फिर स्थान पा सकती है। यही कारण है कि हिंदू-जाति के बच्चों और स्त्रियों को हड़प लेनेवाले लोग शुद्धि के नाम से इतना चिढ़ते हैं, शुद्धि के समर्थकों को अपना शत्रु समझते हैं। हम नायक-पत्र से वे अंक उद्धृत करते हैं, जिनसे यह विदित हो जायगा कि हिंदू-जाति की संख्या इधर कितनी घटी है—मर्दुम शुमारी की रिपोर्ट से मालूम होता है कि सन् १९११ ई० में समग्र भारत में २१,७३,३७,९४३ हिंदू थे, जो सन् १९२१ ई० में घटकर

२१,६२,६०,६२० रह गए। यानी १० साल ही मैं १०,७७,३२३ हिंदू कम हो गए। साधारणतः हिंदुओं की ८५ जातियाँ हैं, जिनमें से ५२ जातियों के हिंदू घटे हैं। विवरण देखिए—

जाति	सन् १९११	सन् १९२१	दस वर्ष में कितने घटे
१ ब्राह्मण	१,४५,९५,७०८	१,४२,५४,९९१	३,४१,७१७
२ अहीर	९५,७८,४८६	९१,६२,८६१	४,७५,६२५
३ बाँभन (?)	१२,६५,९८२	११,६७,३७३	९८,६०९
४ बागदी	१०,४१,८५२	८,९५,३९७	१,४६,४९५
५ बाउरी	१०,८४,९५५	६,५१ ९२७	४,३३,७२८
६ भुइँहार	८,५४,४४९	६,३३,२२	.२,२१,२२७
७ बारुई	१०,६७,०९३	६,५१,९२७	४,३३,०२८
८ चमार	१,१४,९३,७३३	१,१२,६३,६४८	२,३०,०८५
९ चावा	८,५१,८९४	७,५७,३४२	९४,७५२
१० चूहड़	१,६९,२५०	११,४६,७७९	१,२२,७१
११ धानुक	८,५९,७६२	७,५३,१८८	१,०६,५७९
१२ धोबी	२०,७४,४०५	२०,२०,५३१	५३,८७४
१३ डोम	९,२५,८२०	४,२४,९५०	५,००,८७०
१४ दुसाध	१३,१६,३८८	११,६७,६८६	१,४८,७०२
१५ फ़क़ीर	९,७९,२९३	७,९०,७१४	१,८८,५७९
१६ गड़रिया	१३,६८,९९०	१२,९९,७७०	६९.२२०
१७ गोंर	९, ०,१९२	८,५६,७३६	४३,६५६
१८ गोल्ला	१५,३८,०२१	१४,१६,७५८	१,२१,२६३
१९ गोंड	२९,१७,९५०	२९,०२,५९२	१५.३५८
२० गूजर	२१,९९,१९८	२९,७९,४८१	१*,७१३
२१ हज्जाम	३०,१३,७९९	२९,०५,७२४	१,०७,६७५
२२ जोगी	८,१४,३६५	६,६१,४६०	१,५२,९०५
२३ जुलाहा	२८.५८,३९९	२६,९८,१३२	२,००,२६७
२४ काछी	१३,०८,२६६	१२,२८,९९०	७६,३०६
२५ कहार	१८,३८,६९८	१७,०७ २२३	१,३१,४७५
२६ करन	११,०२,६९५	१०,४२,१३१	६०,५६४
२७ कसाई	९,६२,१२३	२,८५,७५८	६,७६,३६५
२८ केवट	१२,१५,६१६	११,५०,४२७	६५,१८१
२९ कोरी	१७,६६.७९६	१६,८०,६१५	८६,१८१
३० कोली	३१,७१,७९८	२४,९९,०१४	६,७२,९६४
३१ कुँभार	३४,२४,८१५	३३,५३,०२९	७१,७८६
३२ कुनबी	४५,१२,७२७	३२,२९,०१८	१२,८३,७१९
३३ कुरुमबान	९,४७,६१९	८,५५,२७९	९२,३४०
३४ लिंगायत	२९,७६,९३०	२७.३८,२१४	२,३८,०७९
३५ लोध	१७,३२.२३०	१६,१६,६६२	१,१५,५६८
३६ लुहार	२०,७०,३७३	१५,४६,३०८	५,२४,०६४
३७ मादिगा	१९,३१,०१७	१६,८७,८५७	२,४३,१६४
३८ महार	३३,४२,६८०	३०,०२,५१६	३,४०,१६४
३९ माल	२१,३५,३२९	१९,८६,४१४	१,४८,९१५
४० माली	२०,३५,८८३	१८,७५,६१०	१,६०,२५३
४१ मोची	१०,१८,३६६	९,२३,७१४	८४,६५२
४२ पल्ली	२८,२८,७९२	२८,०९,९६९	१८,८२३
४३ परिया	२४,४८,२९५	२४,०७,३०९	४०,९८६
४४ पासी	१४,९९.८२५	१४,८८,५८२	११,२४३
४५ पाटन	३७,९६,८१६	३५,४७,८६८	२,४८ ९४८
४६ राजबसी	२०,४९,४५४	१८,१८,६७४	२,३०,७८०
४७ साइजिद	१६,५५,५२५	१६.०१ २४७	५४,२७८
४८ साहा	८,००,८४९	६ ५६,७८०	१,४४,०६९
४९ सिद्दी	१७,०१,१५८	८,५८,८५४	८,४३,१०४
५० सुनार	१२,६२,९७८	११,३७,६११	१,२५,३६७
५१ तेली	४२.३३,२५०	४१,५९,४८८	७३,७६२
५२ वक्कालीर्ग	१५,०७,०९३	१३.०२ ५५२	२.०४,५४१

इन अंकों से स्पष्ट प्रकट है कि हिंदुओं का ह्रास किस तेज़ी के साथ हो रहा है। यह सब देख-सुनकर भी जो कोई शुद्धि का विरोध करे, वह जातिद्रोही नहीं, तो और क्या है ? यदि हिंदू-जाति को अपना अस्तित्व बनाए रखना है, तो उसके लिये शुद्धि के सिवा और कोई उपाय नहीं है। हमें आशा है, जो लोग भ्रम-वश शुद्धि का विरोध करते आ रहे हैं, वे भी इन अंको को देखकर शुद्धि की उपयोगिता को स्वीकार करेंगे, और उन्हें विश्वास होगा कि शुद्धि का आंदोलन किसी को हानि पहुँचाने के लिये नहीं, किंतु आत्मरक्षा के लिये है। देश के धनी हिंदू शुद्धि-कार्य के लिये यथेष्ट धन देकर अपनी जाति-वत्सलता का परिचय दें, यही हमारा उनसे अनुरोध है।

× × ×

१४. अ० भा० हि० सा० स० का अधिवेशन

अखिल भारतवर्षीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का आगामी अधिवेशन भरतपुर-राज्य में बड़ी धूम से होनेवाला है।

वहाँ के कार्यकर्ता लोग बड़ी लगन के साथ तैयारी में लगे हुए हैं। भरतपुर के नरेश स्वयं बड़े भारी हिंदी-प्रेमी हैं, और आप भी इस अधिवेशन की सफलता के लिये प्रयत्न करने में काफ़ी दिलचस्पी रखते हैं। स्थायी समिति की ओर से पत्रों में यह सूचना निकली है कि सभापति-पद के लिये पाँच सज्जनों की नामावली तैयार करने, समय निश्चित करने और प्रस्तावों का मसविदा बनाकर पास करने के लिये शीघ्र ही एक अधिवेशन होगा। हम भी इस संबंध में अपनी राय देना उचित समझते हैं। कानपुर में जो सम्मेलन हुआ था, उसके प्रथम हमने (माधुरी के प्रथम वर्ष, द्वितीय खंड की फाल्गुन की संख्या में) कुछ बातें सम्मेलन के कार्यकर्ताओं की सेवा में उपस्थित की थीं। पर उन पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। हमें विश्वास है कि उस कार्य-क्रम के अनुसार काम करने से सम्मेलन का काम बहुत कुछ उन्नति कर सकता है। हमने कहा था कि सम्मेलन के भू० पू० सभापतियों की एक समिति बना दी जाय, जो नियामक-समिति कहलावे। वह सम्मेलन पर अपना नियंत्रण रक्खे, उसे उचित परामर्श दे, और पथ-प्रदर्शक का कार्य करे। दूसरी संचालक-समिति हो। तीसरी प्रचारक-समिति हो। चौथी साहित्यिक-समिति और पाँचवीं समालोचक-समिति हो। इन समितियों के संगठन और कर्तव्य पर भी विस्तार से लिखा गया था। सम्मेलन के कार्यकर्ता चाहें, तो माधुरी की वह संख्या देखकर उस लेख की उपयोगी और उचित बातों पर ग़ौर कर सकते हैं। अगर हमारी सलाह में कुछ तथ्य हो, कुछ काम की सलाह हो, तो उस पर अमल करना चाहिए। अस्तु। इस बार सभापति बनाने के योग्य कई सज्जनों के नाम भी हम अपनी समझ के अनुसार लिखते हैं। हमारी राय में राजपूताने में सफलता प्राप्त करने के लिये किसी हिंदी-प्रेमी देशी नरेश को प्रधान सभापति बनाना उचित होगा। किंतु सभापति-पद का सम्मान किसी लब्धप्रतिष्ठ, सुपरिचित साहित्यिक को देना चाहिए। ऐसे सज्जनों में सर्वप्रथम जिन महानुभाव की ओर हमारी दृष्टि जाती है, वह हैं स्वनाम धन्य रायबहादुर पं० गौरीशंकर-हीराचंद-जी ओझा। आपकी विद्वत्ता और योग्यता के बारे में कुछ लिखने की आवश्यकता ही नहीं है। आप अपने विषय के और अपने ढंग के एक ही विद्वान् हैं। इस पद के लिये हम कई वर्ष से आपका नाम सुझाते आ रहे हैं। इस बार तो आपको सभापति बनाना कई दृष्टियों से महत्त्व-पूर्ण होगा। आशा है, आप ही इस बार सभापति चुने जायँगे, और आप भी स्वीकार करने की कृपा करेंगे। यह आपत्ति बिलकुल बेकार है कि ओझाजी राजपूताने के ही आदमी होने के कारण राजपूताने के अधिवेशन में सभापति नहीं बनाए जा सकते। यू० पी० (काशी और कानपुर) में ही यू० पी० (प्रयाग) के मालवीयजी और टंडनजी सभापति बनाए जा चुके हैं। ओझाजी के अलावा पाँच नाम हम और पेश करते हैं। यथा—पं० श्यामविहारी मिश्र एम्० ए०, बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए०, लाला कन्नोमल, पं० रघुवरप्रसादजी द्विवेदी और पं० लज्जाराम शर्मा मेहता। इन सज्जनों में से प्रथम, तृतीय और पंचम का संबंध देशी राज्यों से है और चौथे का सी० पी० की शिक्षा-व्यवस्था से। ये लोग प्रसिद्ध हैं, और आदरणीय माने जाते हैं। रत्नाकरजी की योग्यता का निदर्शन बिहारी-सतसई पर उनकी रत्नाकरी टीका है। इन्हीं सज्जनों में से किसी को अब की बार सभापति बनाना लाभदायक जान पड़ता है। समय के संबंध में हमारी राय यह है कि या तो दसहरे की तातीलों में और या बड़े दिन की छुट्टियों में अधिवेशन हो सकता है। अधिक सम्मतियाँ जिस समय के लिये हों, वही समय निश्चित होना चाहिए। प्रस्ताव इस बार यदि नए न पास हों, तो भी कुछ हर्ज नहीं। इतिहास-निर्माण और बृहत्संग्रहालय की स्थापना के पुराने प्रस्तावों को ही पुनः उपस्थित कर ज़ोर शोर से उनकी पूर्ति के उद्योग में लग जाना ही उचित और उपयोगी जान पड़ता है। पुराने प्रस्ताव पूरे किए बिना नए-नए प्रस्ताव पास करने में कुछ नहीं रक्खा है। पहले वह काम पूरा होना चाहिए, जिसको करने का निश्चय किया जा चुका है। संक्षेप में यही हमारा वक्तव्य है। हम आशा करते हैं, हमारी इस प्रार्थना की ओर सम्मेलन के कर्ण-धारों और अन्य साहित्यिक मंडलों की दृष्टि आकृष्ट होगी। तथास्तु।

× × ×

१५. कुछ जानने योग्य बातें

१—संपूर्ण भारत में ४८०६ प्रेस हैं। यथा—मदरास-प्रांत में १,२१३, बंगाल-प्रांत में ६६७, बंबई-प्रांत में ७७५, युक्त-प्रांत में ७०३, पंजाब प्रांत में ४४३, बर्मा-प्रांत में ३००, बिहार-उड़ीसा में १४६, मध्य-प्रांत-बरार में १४० दिल्ली में १०६, आसाम-प्रांत में ४६, अजमेर-मेरवाड़े में

२२, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत में १६ और कुर्ग-प्रांत में २।

२—पृथ्वी के सब देशों की मनुष्य-संख्या का टोटल एक अरब सत्तर करोड़ से भी कुछ अधिक है।

३—आजकल अमेरिका के संयुक्त-राज्य में जितनी ज़मीन जोती-बोई जा सकती है, उसकी उपज से अधिक-से-अधिक केवल दो अरब चौरानबे करोड़ बीस लाख मनुष्य साल-भर भोजन कर सकते हैं; और पृथ्वी-मंडल-भर पर जितनी खेती करने योग्य भूमि है, उसकी उपज से अधिक-से-अधिक नव अरब उन्नासी करोड़ बीस लाख मनुष्य साल-भर अपनी गुज़र कर सकते हैं। यदि पृथ्वी के सारे स्थल-भाग पर (मरुभूमि, पहाड़, जंगल, ऊसर आदि पर भी) खेती की जाय, तथा ढाई एकड़ की उपज से एक आदमी साल-भर गुज़र कर ले, तो अधिक से-अधिक तेरह अरब चवालीस करोड़ मनुष्य साल-भर भूखे नहीं रह सकते।

४—गत जून के अंत तक हिसाब लगाकर देखा गया है कि संसार-भर के जहाज़ ६,४७, ८४,००० टन के हैं। इनके मुक़ाबले में केवल इँगलैंड के जहाज़ १६४,०००००० टन के हैं। इस वर्ष संसार-भर के जहाज़ों में १,६३०,०० टन के जहाज़ बढ़े हैं। गत वर्ष जहाज़ों में ६,१८,००० टन की बढ़ती हुई थी। अमेरिका और इँगलैंड में क्रमशः ५०,०,००० और ४१,००० टन के जहाज़ कम हुए हैं।

५—सन् १८९२ में भारत के कारख़ानों में ४३,५६२ मर्द, १६,२६६ औरतें और २,८८६ बच्चे मज़दूरी करते थे। किंतु सन् १९२२ में इनकी संख्या बढ़कर इतनी हो गई—१,०६,८८७ मर्द, ५६,५५२ औरतें और ११,१०६ बच्चे। सन् १९२२ में खानों के भीतर २९७५३ और बाहर २५९३६ औरतें काम करती थीं। इस तरह खानों के भीतर ७८७ और बाहर ३,२६० बच्चे भी काम करते थे। सन् १९२३ में कपड़े की मिलों में ३,२३६४० मज़दूर काम करते थे, जिनमें ५७,३०८ औरतें और १८,०८७ बच्चे भी थे।

६—सुमात्रा-द्वीप में अब भी बहुत कुछ वहशीपन बना है। कुछ नमूने लीजिए—वहाँ आदमी की खोपड़ी बहुत से कामों में इस्तेमाल होती है। मनुष्य की खोपड़ी की खोज में अब भी वहाँ के लोग लगे रहते हैं। पहले वहाँ के लोग आदमी की खोपड़ी में शराब भरकर पीते थे। यह रवाज अब भी बना हुआ है।

यह वहाँ रईसी ठाट समझा जाता है। ब्याह में भी *यौतुक के रूप में कन्या को मनुष्य की खोपड़ियाँ दी जाती* हैं। खोपड़ी के उपहार बिना कन्या प्रसन्न नहीं होती। योरप में जैसे ब्याह के पहले वर कन्या को एक अँगूठी देता है, वैसे ही वहाँ मनुष्य की खोपड़ी। वहाँ कोई नया घर बनवाते समय नींव में मनुष्य की खोपड़ी डाली जाती है। इसे वहाँ मंगल-कार्य समझते हैं।

७—आस्ट्रेलिया के उत्तर-पूर्व भाग में एक द्वीप है। वहाँ कैनिबल या राक्षस लोग रहते हैं। वे मनुष्य का मांस खाते हैं, बाहु की हड्डी को गहने की जगह पहनते हैं, गले में भी हड्डियों की माला धारण करते हैं। बड़े आदमी की पहचान ही वहाँ हड्डियों की माला है। इस देश में ब्याह के पहले लड़की को एक पिंजड़े में बंद करते हैं। पिंजड़ा खजूर, ताड़ या नारियल के पत्तों का बना हुआ होता है। गाँव की बूढ़ी औरतें इस पिंजड़े पर पहरा देती हैं। दिन में केवल एक बार लड़की उस पिंजड़े से बाहर निकलने पाती है।

८—योरप के अनेक देश ऐसे हैं, जहाँ लड़कियाँ पहले अपने नाच और गान से पुरुष का मन-हरण करके उसको ब्याह करने के लिये उत्कंठित करती हैं। इसकी उन्हें बाक़ायदा शिक्षा मिलती है।

९—इँगलैंड में आजकल भी गधा, घोड़ा, बकरा, बंदर आदि बनकर नाचने की प्रथा बनी हुई है। इसे वे सामयिक आमोद समझते हैं। साल में कई विशेष अवसरों पर यह नृत्य होता है।

१०—लंदन के स्टैंफ़ोर्ड-ब्रिज में अभी एक क्रीड़ा-प्रदर्शिनी हुई है। उसमें मिस यान नाम की मिचैम् एथलेटिक क्लब की एक युवती ने १८ फ़ीट लंबी छलाँग मारकर लोगों को आश्चर्य-चकित कर दिया है। और कोई स्त्री कहीं कभी इतनी छलाँग नहीं मार पाई थी। इसी तरह एक दूसरी बालिका ने भी अपनी अद्भुत शक्ति एवं अभ्यास का अच्छा परिचय दिया है। चीज़विक में जो खेलों का दंगल हुआ था, उसमें लंदन के आर्लेसिया स्थान की रहनेवाली मिस ग्रीन ने ऊँची कुदान (High Jump) में कमाल कर दिखाया है। वह ५ फ़ीट और ९/१२ इंच की उँचाई फाँद गई। इसके प्रथम ५ फ़ीट ऊँचा कूदकर वह पृथ्वी के हाईजंपरों में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर चुकी थी।

११—बोस्टन शहर के रहनेवाले एक आदमी—एम० सी० प्लूमर—ने ७१ वर्ष की अवस्था में, हाल में, बोस्टन

से मान फ्रांसिस्को तक ४,२०० मील की लंबी यात्रा बाइसिकिल पर पूरी की है। यह ६० से १२० मील तक नित्य दौड़ लगाते थे। २४ घंटे में केवल ४-५ घंटे सोते थे। हमारे यहाँ के इतनी उम्र के बुड्ढों की कौन कहे, नौजवान हट्टे-कट्टे भी इतनी हिम्मत नहीं कर सकते!

१२—एल्० समुएल मूर नाम का एक १७ वर्ष का नवयुवक अमेरिका के एक शहर में रहता है। निशाना लगाने में इसने अद्भुत हस्त-कौशल का परिचय दिया है। यह लगातार साढ़े छः घंटे बंदूक़ से फ़ायर करता है। अभी उस दिन इसने साढ़े छः घंटे में २,५०० गोलियाँ चलाई, और २,४६६ बुल्स आई मार गिराई। केवल एक ही बार इसका निशाना ख़ाली गया। गोलियाँ इतनी जल्दी-जल्दी छोड़ी गई कि बंदूक़ का लोहे का हिस्सा जलने लगा, और उँगलियों में छाले पड़ गए।

× × ×

१६. चित्र-परिचय

महाकवि मतिराम सवैयों की रचना में, हमारी राय में, हिंदी-संसार में अपना जोड़ नहीं रखते। उनका निम्न-लिखित सवैया बहुत ही प्रसिद्ध है—उनके चोटी के छंदों में गिना जाता है—

"दोऊ अनंद सों आँगन माँझ बिराजे असाढ़ की साँझ सुहाई;
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई।
आयी उन्हैं मुँह में हँसी कोह तिया सुरचाप-सी भौंह चढ़ाई;
आँखिन ते गिरे आँसू के बूँद, सु हास गयो उड़ि हंस की नाई।"

(मतिराम-ग्रंथावली)

हमें भी यह इतना पसंद आया कि हमने इस पर अपने चित्रकार से एक सुंदर चित्र बनवा डाला, जो अन्यत्र प्रकाशित है। आशा है, पाठकों को भी वह ख़ूब पसंद आवेगा। सवैए के भाव को हमने, कुछ हेर-फेर के साथ, दोहे में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है। देखें, वह पाठकों को पसंद आता है या नहीं।

× × ×

१७. भारत में जहाज़ बनाने के कारख़ाने

इस समय की दशा देखकर किसी को यह ख़याल भी नहीं हो सकता कि भारत में भी कभी जहाज़ बनते थे। इस समय भारत में माल ढोने या यात्री ले जाने ले आने के लिये जितने जहाज़ आते-जाते हैं, वे सब अन्य राष्ट्रों के कारख़ानों के बने और विदेशी कारीगरों के बनाए ही होते हैं। यहाँ तक कि उनके संचालक और ख़लासी वग़ैरह भी प्रायः विदेशी ही होते हैं। पर सदा ऐसी ही दशा नहीं थी। अभी पूरी डेढ़ शताब्दी भी नहीं गुज़री, जब भारत में अच्छे-से-अच्छे जहाज़ बनते थे, यहाँ अच्छे जहाज़ बना सकनेवाले बढ़िया कारीगरों का अभाव नहीं था। उस समय भारतीयों द्वारा निर्मित और परिचालित जहाज़ दूर-दूर तक माल और यात्री लेकर आते-जाते रहते थे। भारतवर्ष नाम के मासिक पत्र में श्रीहरिहर सेठ नाम के एक विद्वान् लेखक ने एक लेख लिखकर इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। हम यहाँ उसी लेख का सारांश देते हैं। बंबई-प्रांत में जहाज़ बनने का प्रधान स्थान था। वहाँ आज से लगभग दो शताब्दी पहले भी अच्छे जहाज़ बनते थे। बंबई में सन् १७३५ ई० में डक बना था। सूरत और दामन में बहुत-से जहाज़ तैयार होते थे। पहले-पहल बंगाल में दामन से ही जहाज़ आते थे। बेचनेवालों को बहुत अधिक आर्थिक लाभ होता था। सन् १७१० से सन् १८१८ तक भारत के भिन्न-भिन्न बंदरगाहों के लिये १६,००० टन बोझ लादने की ताक़त रखनेवाले ३१ जहाज़ दामन में बनाए गए थे। अरब तथा अन्यान्य प्रदेशों में भी इसी स्थान से जहाज़ बनकर जाया करते थे। इन सब जहाज़ों को बनानेवाला कारीगर एक हिंदू था। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में बंबई-प्रांत में जहाज़ बनाने की कारीगरी के लिये एक पारसी बहुत प्रसिद्ध हुआ था। उसका नाम था जमशेदजी। उसने एक साधारण बढ़ई की हैसियत से इतनी उन्नति की थी। बंगाल में डक बनाने के लिये सन् १७५८ में पहले पहल प्रस्ताव किया गया था; किंतु निर्माण-कार्य का आरंभ सन् १७८० में हुआ। दस लाख रुपए इस डक के बनने में ख़र्च हुए थे। कलकत्ते में पहले-पहल जो दो जहाज़ बने थे, उनके बनने का समय क्रमशः सन् १७६६ और १७७० है। कर्नाटक में दुर्भिक्ष पड़ जाने के कारण ही इस ज़माने में तेज़ी के साथ अधिक जहाज़ बनाए गए थे। सन् १७८१ में कलकत्ते में पहले-पहल एक जंगी जहाज़ बना था। उसका नाम था नानसच (Nons ıch)। इसमें ३० तोपों के लिये स्थान था, और यह ४८३ टन बोझा लाद सकता था। सन् १७८६ में और एक सर्प्राइज़ (Surprize) नाम का जंगी जहाज़ बनाया गया। इस पर ३२ तोपें रह

सकती थीं। इसके बनानेवाले सभी कारीगर देशी थे, और इसमें कोई भी ऐब नहीं था। सुप्रसिद्ध यात्री ग्रांप्री (Granpre) अपने भ्रमण-वृत्तांत में (सन् १७८६-६० में) लिख गए हैं कि उन दिनों कलकत्ते में सागौन की लकड़ी के बहुत अधिक जहाज़ बनते थे, और वे विलायती ओक-लकड़ी के जहाज़ों की अपेक्षा सुदृढ़ होते थे। सन् १८८०-८१ में २७ और उसके बाद २१ वर्ष के अंदर कुल २२३ जहाज़ कलकत्ते और उसके आस-पास के स्थानों में बनाए गए थे। वे जहाज़ कुल मिलाकर १,०१,६०८ टन बोझा लाद सकते थे। कलकत्ते के अलावा टीटागढ़ तथा अन्य स्थानों में भी जहाज़ बनते थे। इसी समय हेस्टिंग्ज़, कासल, हंटली, वेली-टार्ट नाम के कई बहुत अच्छे जहाज़ कंपनी ने बनवाए थे। इनमें प्रधान रूप से सागौन और साल की लकड़ी इस्तेमाल की गई थी। सन् १७६५ में इस शिल्प की उन्नति के लिये भारत-सरकार ने बाहर से मँगाई जानेवाली लकड़ी पर से कर उठा दिया था। बंगाल के खालिला-नामक स्थान में अब भी एक डक मौजूद है, जिसे मि० वेकन नाम के कारीगर ने सन् १७६६ में तैयार कराया था। इस डक में पहले-पहल जो जहाज़ चलाया गया, उसका नाम आर्किंयस था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में कोलगर में एक डक था। उस में छोटे-छोटे जहाज़ बनते थे। मौलमीन में सन् १८२८ में पहले-पहल जहाज़ बनाने का कारख़ाना खोला गया था। अँगरेज़-गवर्नमेंट की आज्ञा के अनुसार भारत के पहले लाट लॉर्ड विलियम बेंटिंक के ज़माने में कलकत्ते में दो स्टीमर बनाए गए थे। वे कलकत्ते से प्रयाग (८०० मील) तीन सप्ताह में पहुँचते थे।

× × ×

१८. भारत में डाक-विभाग की उन्नति

पहले के नोट में सेठजी के जिस लेख का सारांश दिया गया है, उसी में एक स्थान पर सेठजी ने भारत में डाक-विभाग की उन्नति के इतिहास पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। इस संबंध में आप लिखते हैं—भारत में रेल-गाड़ी का चलन होने के पहले भी एक जगह से दूसरी जगह चिट्ठी या सँदेसा भेजने का चलन था। मुसलमानी ज़माने में कुछ धन लेकर लोगों की चिट्ठी-पत्री, सँदेसा, रुपए-पैसे या सामान वग़ैरह एक जगह से दूसरी जगह पहुँचा देना एक श्रेणी के लोगों का पेशा ही था। वे क़ासिद कहलाते थे। घोड़ा-गाड़ी पर डाक ले जाने की व्यवस्था भी जगह-जगह थी। सबसे पहले सन् १८५० ई० में कलकत्ते से कानपुर तक घोड़ा-गाड़ी पर डाक ले जाने की व्यवस्था हुई थी। किंतु सन् १७६६ में, लार्ड क्लाइव के समय में भी, यहाँ डाक का चलन था। वारन हेस्टिंग्ज़ के समय—सन् १७७४ में—इस काम में कुछ उन्नति हुई थी। चिट्ठी या कार्ड पर टिकट लगाने की प्रथा का आरंभ सन् १८३७ के बाद हुआ है। कलकत्ते की टकसाल के कर्मचारी कर्नल फ़ॉर्बस (Colonel Forbes) के डिज़ाइन के माफ़िक़ शेर और ताड़ के पेड़ के चित्र से युक्त दो आनेवाला टिकट पहले छपा था। सन् १८३८ से यह चलने लगा था। उसके बाद विलायत की दे-ला-रू कंपनी के यहाँ से टिकट छपकर आने लगे। मई, सन् १८५४ से अगस्त, १८५५ तक कलकत्ते में कुल ४,७७,३२,४१६ टिकट तैयार हुए थे। उस समय आध आने का टिकट नीले रंग का, एक आनेवाला टिकट लाल रंग का और चार आनेवाला लाल और नीले रंग का होता था। इसी समय डाक का महसूल सर्वत्र एक-सा और सस्ता कर दिया गया। सन् १८५५ में भारत-भर में कुल ३२,६१,६१,८११ चिट्ठियाँ बाँटी गई थीं। ब्रिटिश भारत के साथ विदेशों से डाक का संबंध पहले-पहल शायद बंबई से मुसलीपट्टम का ही हुआ था। सन् १७६० में गवर्नमेंट ने बंबई से भेजने में हर चिट्ठी के लिये निम्न-लिखित दर रक्खी थी—पूना २), क़ाज़िलपुर ३) और ५ पाई, हैदराबाद ३) और ८ पाई, मुसलीपट्टम ४) और १२ पाई, मदरास ६) और ७ पाई, गंजाम ८) और ४ पाई, कलकत्ता ५) और ६ पाई। चिट्ठी डाक में छोड़ने के समय ही यह महसूल चुका देना पड़ता था। इस देश से विलायत को पहले-पहल डाक गई थी सन् १७६८ की पहली जनवरी को। तब से हर महीने की पहली तारीख़ को एक बार विदेश डाक जाने लगी। उस समय ४ इंच लंबे और दो इंच चौड़े पत्र ही लिए जाते थे। इस आकार से बड़े या चपरा लाख की मोहर लगे हुए पत्र नहीं भेजे जा सकते थे। भेजनेवाले के दस्तख़त कराकर, सरकार के सेक्रेटरी की मारफ़त पत्र भेजे जाते थे। महसूल का नियम इस प्रकार था—३ माशे के लिये १०), छः माशे के लिये १५), और १ तोले के लिये २०)। उस समय विलायती चिट्ठियों का जो महसूल लगता था,

उसकी अपेक्षा यहाँ की चिट्ठियों का महसूल बहुत कम लगता था। ३ मार्च, सन् १७६५ को डाक विभाग के ऑफ़िसरों ने महसूल घटाने की सूचना प्रकाशित की थी। कलकत्ते से ढाई तोले वज़न की चिट्ठी भेजनेवाले को निम्नलिखित स्थानों के लिये निम्न-लिखित दर से महसूल देना पड़ता था—बनारस ।≶) पटना ।–), बारकपुर –), राजमहल =), मुंगेर ।), चटगाँव ।=), मदरास १=) १०, हैदराबाद ॥।), पूना १।), बंबई १॥), ढाका =), डायमंड पायंट =), काक्सद्वीप ।) बक्सर ।=), कटक ≶), चंदननगर –), मुर्शिदाबाद =), सिलहट ।–) इत्यादि।

× × ×

१९. भारत में रेलवे का प्रचार

उसी लेख में सेठजी लिखते हैं—लॉर्ड डलहौसी के शासन-काल में—सन १८४३ में—मिस्टर स्टिफ़ेंसन(Mr. Rowland Macdonald Stephenson)ने सुप्रीम गवर्नमेंट के पास रेलगाड़ी चलाने के लिये प्रथम आवेदन-पत्र भेजा था। सन् १८४५-४६ के शीत-काल में कलकत्ते से दिल्ली तक परीक्षा के तौर पर स्टिफ़ेंसन साहब ने लाइन की नाप-जोख की थी। उसके बाद विलायत जाकर उन्होंने बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स और ईस्ट इंडिया कंपनी के आगे अपना प्रस्ताव विशेष रूप से उपस्थित किया। सन् १८५० में परीक्षा के लिये कलकत्ते से रानीगंज तक रेल की राह बनाने की आज्ञा उन्हें मिल गई। रेलगाड़ी चलने की सफलता के संबंध में पहले गवर्नमेंट को विश्वास न होता था। इसी समय जी० आई० पी० रेलवे के प्रधान संचालकों को ५० मील तक रेलगाड़ी चलाने की अनुमति मिल गई। जार्ज टर्नबुल नाम के प्रथम प्रधान इंजीनियर ने स्टिफ़ेंसन के साथ सहकारी के रूप में रहकर उन्हें इस कार्य में सहायता पहुँचाई थी। पहले ऐसा कोई आईन न था, जिसके ज़ोर से रेल-कंपनी लाइन बनाने के लिये चाहे जो ज़मीन ले सकती। इस कारण लाइन बनाने में पहले-पहल विशेष असुविधा का सामना करना पड़ा। सन् १८५० के दिसंबर महीने में ज़मीन लेने के संबंध में एक ख़ास और नया क़ानून बनाया गया। किंतु इसी बीच में, इस क़ानून के पास होने के पहले ही, मि० टर्नबुल ने अपने दो सहकारियों (Messrs Purser and Evaul) ने मालिक ज़मींदारों को उनकी ज़मीन पर रेल-लाइन बनाने देने के लिये राज़ी कर लिया था। टर्नबुल और स्टिफ़ेंसन की बेहद कोशिश होने पर भी, अनेक प्रकार की असुविधाओं के कारण, और दो वर्ष की देर हो गई। सन् १८५३ के अंत में पांडुआ तक रेल गाड़ी चलाने लायक़ राह बन गई। किंतु एक तो गाड़ियों की कमी थी, दूसरे फ्रेंच-गवर्नमेंट का अधिकृत स्थान चंदननगर बीच में पड़ता था, इसलिये फ्रेंच गवर्नमेंट की मंज़ूरी लेनी पड़ी, जिससे और भी तीन वर्ष बीत गए। सन् १८५४ के जून महीने में पहला इंजिन आ पहुँचा, और २८ जून को मि० हडसन नामक ड्राइवर ने पांडुआ तक चलाकर उसकी परीक्षा की। उसके बाद इसी साल, १५ अगस्त को हुगली तक १ सेप्टेंबर को पांडुआ तक और दूसरे साल ३ फ़रवरी को रानीगंज तक १२० मील रेलवे-लाइन पक्की तौर से खोल दी गई। इसी साल मार्च के अंत तक फ़स्ट क्लास की ४, सेकिंड क्लास की ८, थर्ड क्लास की १७ और वैगनवान आदि ६४—सब मिलाकर ९३ गाड़ियाँ तैयार हुई थीं। ये सभी गाड़ियाँ कलकत्ते की प्रसिद्ध गाड़ी बनानेवाली स्टुअर्ट कंपनी और सेटन कंपनी ने बनाई थीं। पहले जो इंजिन विलायत से आया था, उसका नाम था—फ़ेयरी क्वीन। रेल चलने से यात्रियों और व्यापारियों को बड़ी सुविधा हुई। धीरे-धीरे रेलगाड़ी की लाइनें भारत में चारों ओर जाल की तरह फैल गईं, और आज यह हाल है कि ग़रीब-से-ग़रीब आदमी भी २-४ कोस रास्ता तक पैदल न चलकर रेलगाड़ी पर ही सफ़र करता है। यहाँ तक कि रेलगाड़ी छूट जाने पर ४-५ कोस का यात्री भी २-४ पहर स्टेशन पर पड़े रहकर दूसरी ट्रेन के आने की प्रतीक्षा करता रहता है।

× × ×

२०. स्वर्गीय गोविंद-गिल्ला भाई

प्रथम वर्ष की माधुरी में कविवर गोविंद-गिल्ला भाई पर एक नोट देते हुए हमने उनके दीर्घ जीवन की कामना की थी। किंतु खेद है, अभी गत महीने इस गुजराती-भाषा-भाषी हिंदी-कवि का देहावसान हो गया। गुजराती होकर भी आपने हिंदी की जैसी सेवा की, वह आदर्श है। आपने ७८ वर्ष के जीवन अथवा ५८ वर्ष के साहित्य काल में आपने सब मिलाकर छोटे-बड़े ३२ ग्रंथ लिखे। इनमें कुछ स्वतंत्र ग्रंथ, कुछ टीकाएँ, कुछ संग्रह और कुछ अपूर्ण कृतियाँ हैं। इन सबका उल्लेख उक्त संख्या में किया जा

चुका है। हिंदी के आप सबसे वयोवृद्ध सेवक थे, यहाँ तक कि भारतेंदु बाबू से भी अवस्था में बड़े थे।

भाईजी प्रकृत कवि थे, साहित्य-रसिक थे, और समाज-सुधारक भी। केवल हिंदी में नहीं, गुजराती में भी आपके मौलिक तथा अनुवाद-ग्रंथ मौजूद हैं, जिनमें विश्व-दर्पण, कुधारा पर सुधारा और व्यभिचार-निषेध बावनी तथा अमर-कोष, हेम-कोष आदि कोषों के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं।

आपकी जिन रचनाओं का उल्लेख हमने पहले किया था उनमें एक 'पावस-पयोनिधि' है। अपनी यह रचना भाईजी ने हमारे पास गत वर्ष प्रकाशनार्थ भेजी थी। इसमें, प्रत्येक छंद में, आपने पावस का रूपक बाँधा है, जो उनकी प्रतिभा का ही परिचय देता है। भाईजी की यह रचना सं० १६६२ की है, और इसमें ११५ छंद हैं। नीचे कुछ छंद दिए जाते हैं—

वाहन बयारि बैल ओपत अपार पुनि,
बिमल बकाली मुंडमाल कंठ धारे हैं;
बादर बिभूति बेष अंगनि लगाय लसै,
डमरू निनाद नेक दादुर पुकारे हैं।
गुरवा मसान जटा फैलिकै फबत पुनि,
भाल में त्रिपुंड बोरी भाय बहु भारे हैं;
"गोविंद" कहत रासै संकर को रूप यहि,
नैननि निहारि आली पावस पधारे हैं।

* * *

बिखरी बिसाल जटा सोहै जलधार अति,
तीसरो नयन ज्वाल भाय बिज्जु भारी है;
मृगिन के मोर-सोर चातक सबद पुनि,
बकन की माल ब्याल ओपत अपारी है।
सोहत है सक्रधनु भाल मैं त्रिपुंड पुनि,
सिंधुर चरम सोहै स्यामघटा कारी है;
"गोविंद" कहत रासै पावस को रूप धारि,
करत सहाय सिव आय सो हमारी है।

उपर्युक्त छंदों में भाईजी ने पावस का शंकर के साथ रूपक बाँधा है। इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु आदि के भी रूपक हैं। सच तो यह है कि भाईजी की रचना में काव्य-चमत्कार है। ब्रजभाषा-साहित्य का भी अच्छा संग्रह उनके पास है। पर अब उनके न रहने पर हमें आशंका हो रही है कि कहीं यह ब्रजभाषा का अमूल्य कोष नष्ट-भ्रष्ट न हो जाय। अच्छा हो, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन इस ओर ध्यान दे, और भाईजी हिंदी-भाषा के लिये जो कुछ कर गए हैं, उसकी रक्षा का आयोजन करे।

अवस्था को देखते हुए तो भाईजी की मृत्यु पर कुछ अधिक लिखना व्यर्थ है। पर इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान हिंदी-प्रासाद का एक प्राचीनतम स्तंभ टूट गया। ईश्वर भाईजी की आत्मा को शांति दे, और उनके कुटुंबियों को धैर्य।

× × ×

२१. विज्ञान का अद्भुत आविष्कार

'आनंद बाज़ार पत्रिका' में भारत-विज्ञानाचार्य श्रीयुत जगदीशचंद्र वसु के विषय में प्रकाशित हुआ है कि ब्रिटिश-एसोसिएशन के विज्ञान-विभाग ने वसु बाबू से उनके नवीन आविष्कार पर व्याख्यान दिलाने के लिये, इसी अगस्त के प्रथम सप्ताह में, एक सभा का आयोजन किया था। उस सभा में प्रिंस आफ़ वेल्स भी पधारे थे। ६ अगस्त को तीसरे पहर वसु बाबू ने अपने नवीन वैज्ञानिक आविष्कार पर एक व्याख्यान दिया, और व्याख्यान में कही हुई बातों को प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिखाया। आपके अपूर्व प्रयोगों को देख-सुनकर लोग आश्चर्य-चकित रह गए। वैज्ञानिकों का अब तक यही विश्वास था कि उद्भिद् जगत की जीवनप्रणाली प्राणिजगत् से भिन्न है—उद्भिद् जगत् सदैव निश्चेष्ट रहता है, और प्राणिजगत् चेष्टायुक्त। बाहरी दृष्टि से इन दोनों जड़-जंगम जगतों में कोई सामंजस्य या समता नहीं देख पड़ती। किंतु कलकत्ते में, अपनी रिसर्च इंस्टीट्यूट के भवन में बैठकर, बहुत दिनों तक लगातार परीक्षा करते रहने के बाद, प्रोफ़ेसर वसु ने यह निश्चय किया और प्रत्यक्ष प्रयोगों से सिद्ध कर दिखाया है कि वैज्ञानिकों का पूर्वोक्त सिद्धांत भ्रांत है। आपके इस नवीन आविष्कार से पृथ्वीमंडल के सभी वैज्ञानिकों में एक हल-चल-सी मच गई है। प्रोफ़ेसर साहब का कहना है कि उद्भिद् जीवों के भी हृदय है। आप वृक्षों के हृदय का स्पंदन प्रत्यक्ष दिखाकर सिद्ध कर देते हैं, उत्तेजक और निस्तेज औषधों के प्रयोग द्वारा वृक्ष आदि के हृत्पिंड के कार्य की कमी-बेशी दिखा देते हैं। विलायत में भी उस दिन प्रोफ़ेसर वसु ने एक अत्यंत सूक्ष्म यंत्र द्वारा वह प्रति-क्रिया दिखलाई, जो स्पंदन-युक्त उद्भिद् में औषध के प्रयोग से होती है। मनुष्य के शरीर में जिस तरह खून



जगदीशचंद्र वसु

दौड़ता है, उसी तरह वृक्ष-शरीर में रस भी परिचालित होता है। इस प्रयोग को दिखाने के लिये जगदीश-चंद्र ने एक मृतप्राय मेरीगोल्ड के वृक्ष को ईथर के बीच रक्खा, और दूसरे एक वैसे ही मेरीगोल्ड के वृक्ष को एक सांघातिक विष के बीच। पहले वृक्ष में फिर जीवन के लक्षण प्रकट होने लगे, और दूसरा धीरे-धीरे मुरझा-कर मर गया। इसके बाद एक छोटे-से पौदे को जीवित रहने के लिये विष के साथ प्राणपण से युद्ध और चेष्टा

करते दिखलाया। यह देखकर दर्शक बहुत ही विस्मित हुए। एक अँधेरे स्थान में उक्त पौदे को नाड़ी की एक प्रतिच्छवि, दीवार के ऊपर, प्रकाश-चिह्न के द्वारा दिखलाई गई थी। उक्त पौदे के बीच विष का प्रयोग किया गया। प्रकाश-बिंदु बाईं ओर अर्थात् मृत्यु की ओर खिसक गया। उसके बाद जब यह पौदा मृतप्राय हो गया, तब वह ईथर के बीच रक्खा गया। एक ही मिनट के बाद प्रकाश-बिंदु स्थिर हो गया, और पौदे के जीवन और मृत्यु में युद्ध आरंभ हो गया। उसके बाद ही प्रकाश-बिंदु दाहनी ओर अर्थात् जीवन की ओर हट गया। उस समय सभा में खूब आनंद की ध्वनि हुई। इसमें संदेह नहीं कि जगदीश बाबू ने अपनी अपूर्व योग्यता और अद्भुत आविष्कारों से भारतमाता का मुख उज्ज्वल किया है। ईश्वर आपको चिरायु करे।
